समर्पण

सर्वश्री बीम्स, ब्यूलर, ह्योर्नले, पिशल, ग्रियर्सन,
डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डॉ० एस्०
एम्० कात्रे आदि भाषा-शास्त्र के
आचार्यों को
परम श्रद्धावनत हृदय से

—हेमचन्द्र जोशी

वक्तव्य

प्राकृत भाषाओं के पाणिनि कहे जानेवाले रिचार्ड पिशल महोदय के जर्मन भाषा में लिखे ग्रन्थ (कम्परेटिव ग्रामर ऑफ् दि प्राकृत लैंग्वेजेज) का यह हिन्दी अनुवाद पहले पहल हिन्दी जगत् में प्रकट हो रहा है। यह हिन्दी अनुवाद मूल जर्मन भाषा से कराया गया है। अनुवादक महाशय जर्मन-भाषा के पण्डित एवं सुप्रसिद्ध हिन्दी-साहित्य सेवी हैं।

जर्मन से हिन्दी में उल्था करना कितना कठिन काम है, यह सहज ही अनुमेय है। व्याकरण स्वभावतः बड़ा कठोर विषय है। जर्मन भाषा की पारिभाषिक शैली को हिन्दी-पाठकों के लिए सुबोध बनाने का प्रयत्न उससे भी अधिक कठोर है। ऐसी स्थिति में यदि कहीं कुछ त्रुटि रह गई हो, तो आश्चर्य की बात नहीं। अनुवाद के गुण दोष की परख तो जर्मन और हिन्दी के विद्वान् ही कर सकते हैं। हम तो इतनी ही आशा करते हैं कि प्राकृत शब्दशास्त्र और भाषाशास्त्र का अध्ययन-अनुशीलन करनेवाले सज्जनों के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा।

बिहार के एक भाषा-तत्त्वज्ञ विद्वान् डॉ० सुभद्र झा ने पिशल साहब के मूल जर्मन ग्रन्थ का अनुवाद अँगरेजी में किया है, जो प्रकाशित[1] हो चुका है। किन्तु जिस समय मूल जर्मन-ग्रन्थ से यह हिन्दी-अनुवाद तैयार कराया गया था, उस समय तक किसी भाषा में भी मूल जर्मन ग्रन्थ का अनुवाद सुलभ नहीं था। यदि इस हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन में अनेक अनिवार्य कठिनाइयाँ बाधा न पहुँचातीं, तो यह हिन्दी अनुवाद उक्त अँगरेजी-अनुवाद से बहुत पहले ही प्रकाशित हो गया होता।

डॉ० हेमचन्द्र जोशी से मूल जर्मन ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद कराने का निश्चय बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने सन् १९५१-५२ ई० के सरकारी आर्थिक वर्ष में किया था। सन् १९५३-५४ ई० के आर्थिक वर्ष में इस अनुवाद की पाण्डुलिपि प्रकाशनार्थ स्वीकृत हुई थी। सन् १९५४ ई० में श्री जोशीजी ने पटना में कई सप्ताह रहकर अपनी पाण्डुलिपि की अंतिम आवृत्ति पूरी की थी। तत्पश्चात् मुद्रण कार्य का श्रीगणेश हुआ।

दुर्भाग्यवश, कुछ ही दिनों बाद श्रीजोशीजी बहुत अस्वस्थ हो गये। विवश होकर प्रूफ-संशोधन की नई व्यवस्था करनी पड़ी। पर जब श्रीजोशीजी कुछ स्वस्थ हुए और छपे पृष्ठों को देखने लगे, तब उन्हें कितनी ही अशुद्धियाँ सूझ पड़ीं। पूर्ण स्वस्थ न होने पर भी उन्होंने स्वयं शुद्धि पत्र तैयार किया। वह ग्रन्थ के अन्त में संलग्न है।

अशुद्धियों के कारण श्रीजोशीजी को बड़ा खेद हुआ है। उन्होंने अपनी भूमिका के अन्त में अपना खेद सूचित किया है। सम्भवतः पाठकों के मन में भी खेद हुए बिना नहीं रहेगा। पर समझ में नहीं आता कि हम अपना खेद निर्वेद कैसे प्रकट करें।

श्रीजोशीजी ने अपने ३-९-'५८ के कृपा पत्र में लिखा था—"कितने ही ध्यान से प्रूफ देखा जाय, जो प्राकृत, संस्कृत आदि भारोपा ग्रीक, वैदिक, खत्ति, मितन्नि,

---

[1] प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, मूल्य पचास रुपये।

लैटिन, जर्मन, स्लाविक, गॉथिक, लिथुआनियन, ईरानी, अवेस्ता की फारसी आदि-आदि भाषाओं को न जानेगा, वह प्रूफ देखने की धृष्टता करेगा, तो प्रशंसा का ही पात्र है !"

श्रीजोशीजी ने ठीक ही लिखा है। पर हम तो अपनी असमर्थता पर खिन्न हैं कि ऐसे बहुभाषाभिज्ञ प्रूफशोधक की व्यवस्था हम वहाँ नहीं कर सके, जहाँ ग्रन्थ यन्त्रस्थ था। सरकारी संस्था के वैधानिक प्रतिबन्धों का ध्यान रखते हुए जो कुछ करना शक्य और सम्भव था, हमने सब किया; तब भी ग्रन्थ में ग्रन्थियाँ रह ही गईं। अब तो सहृदय पाठक ही उन्हें सुलझा सकते हैं।

इस विशाल ग्रन्थ के प्रकाशन में जो कर्कश कठिनाइयाँ हमें झेलनी पड़ी हैं, वे अब हिन्दी-संसार के सामने प्रकट न होकर हमारे मन में ही गोई रहें, तो अच्छा होगा। मुद्रण-सम्बन्धी त्रुटियों के लिए हम दूसरों पर दोष थोपने की अपेक्षा उसे अपने ही ऊपर ओढ़ लेना उचित समझते हैं। अतः उदाराशय पाठकों से ही क्षमा-प्रार्थना करते हुए हम आशा करते हैं कि वे शुद्धि-पत्र के अनुसार ग्रन्थ को शोधने-बोधने का कष्ट करेंगे। अब तो दूसरे संस्करण का सुअवसर मिलने पर ही छापे की भूलें सुधर सकेंगी। अन्यान्य दोषों के परिमार्जन की सहानुभूतिपूर्ण सूचनाएँ सधन्यवाद स्वीकृत की जायँगी।

ग्रन्थ के अनुवादक श्रीजोशीजी से साहित्य-संसार भलीभाँति परिचित है। आजकल वे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कोष-विभाग में सम्पादक हैं। हम पहले-पहल सन् १९२० ई० में उनसे कलकत्ता में परिचित हुए थे। सन् १९२५-२६ ई० के लगभग लखनऊ की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'माधुरी' में उनकी विदेश-यात्रा-सम्बन्धी सचित्र लेखमाला छपती थी। उस समय हम वहाँ सम्पादकीय विभाग में काम करते थे। अन्यान्य प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में भी उनके विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित होते रहे हैं। उन्होंने 'विश्ववाणी'-नामक पत्रिका का सम्पादन और सञ्चालन कई साल तक किया था। उनके अनुज श्रीइलाचन्द्र जोशी भी हिन्दी के यशस्वी साहित्यकार हैं। यह ग्रन्थ स्वयं ही डॉ० जोशी की विद्वत्ता का प्रमाण है।

मूलग्रन्थकार पिशलसाहब का सचित्र जीवन-परिचय इस ग्रन्थ में यथास्थान संलग्न है। उसे प्राप्त करने में जिन सज्जनों और संस्थाओं से हमें सहायता मिली है, उनके नाम और पते उक्त जीवन-परिचय के अन्त में, पाद-टिप्पणी के रूप में, प्रकाशित हैं। हम यहाँ उनके प्रति, सहयोग और साहाय्य के लिए, सधन्यवाद कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

आवश्यक सूचना—इस ग्रन्थ की पृ०-सं० २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२ और २३३ में जो १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९ और १४० अनुच्छेद हैं, उनमें कुछ छूट रह गई थी, जिसकी पूर्ति अन्त की पृ०-सं० ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३ और ६४ में कर दी गई है।

विजयादशमी
शकाब्द १८८०

शिवपूजनसहाय
(सञ्चालक)

प्राकृत भाषाओं का व्याकरण

डॉ० आर० पिशल

डॉ० रिचार्ड पिशल

आपकी गणना विश्वविख्यात विद्वानों में होती है। श्री एल० डी० बार्नेट (L. D. Barnett) ने आपके विषय में लिखा है—

"........Few scholars have been more deeply and widely admired than he......In his knowledge of classical languages of India he was equalled by few and surpassed only by Keilhorn."—Journal of the Royal Asiatic Society, 1909–Page 537.

विद्वत्ता के साथ, अत्यधिक सरलता एवं विनम्रता आपकी विशेषता थी।

आपके पिता का नाम ई० पिशल था।

आपका जन्म आज से १०९ वर्ष पूर्व, सन् १८४९ ई० की १८ जनवरी को जर्मनी (Germany) के ब्रेजला (Breslau) नामक स्थान में हुआ था। वहीं आपने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। प्रारम्भिक शिक्षा-काल में ही आप संस्कृत के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुए। विख्यात विद्वान् स्टेन्जलर (Stenzler) से आपने संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया। सन् १८७० ई० में ब्रेजला-विश्वविद्यालय (Breslau University) से आपको 'De Kalidasse Cakuntali Recensionibus' नामक कृति पर 'डाक्टरेट' की उपाधि मिली। फ्रांस के युद्ध (French War) से आपके अध्ययन में बड़ी बाधा पहुँची थी, जिसे पूरा करने के लिए आपने अपना कुछ समय इङ्गलैण्ड (England) के विभिन्न पुस्तकालयों में बिताया।

सन् १८७४ ई० में आप ब्रेजला-विश्वविद्यालय में पुनः भारतीय विद्या-विभाग (Deptt. of Indology) के रीडर (Reader) पद पर नियुक्त होकर चले आये। सन् १८७५ ई० में वहाँ से आप कील-विश्वविद्यालय (Kiel University) में संस्कृत तथा तुलनात्मक भाषाशास्त्र-विभाग (Department of Sanskrit and comparative Philology) में प्राध्यापक (professor) के पद पर बुला लिये गये और ठीक दो वर्षों के पश्चात्, अर्थात् सन् १८७७ ई० में उक्त विश्वविद्यालय में ही भारतीय विद्या-विभाग के अध्यक्ष हो गये। सन् १८८५ ई० में आप हेली-विश्वविद्यालय (Halle University) में आये। इसके बाद सन् १९०२ ई० में अल्ब्रेच वेबर (Albrecht Weber) का देहान्त हो जाने पर आप उनके रिक्त पद पर बर्लिन विश्वविद्यालय (Berlin University) में चले आये। सन् १९०८ ई० की ३० अप्रैल के Sitzungsherichte (एकेडमी ऑफ सायन्सेज की पत्रिका) में आपने 'Ins. Gras berssen and its analogues in Indian literature' शीर्षक से एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखा। यही आपकी अन्तिम कृति थी।

सन् १९०९ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्राकृत भाषाओं पर भाषण देने के लिए आप आमंत्रित किये गये। नवम्बर मास में आप उक्त निमंत्रण पर जर्मनी से भारत के लिए चले। रास्ते में ही आप बहुत अस्वस्थ हो गये। जब लंका पहुँचे, तो आपने अपने को कुछ स्वस्थ पाया और बहुत आशा के साथ आप उत्तर की ओर बढ़े। किन्तु, मद्रास आते आते आपका स्वास्थ्य पुन. बिगड़ गया तथा २६ दिसम्बर को क्रिसमस (Christmas) के दिन वहीं आपका शरीरान्त हो गया, और इस प्रकार भारतीय साहित्य-संस्कृति में अपार श्रद्धा रखनेवाले विदेशी विद्वान् का शरीर भारत की मिट्टी में ही मिला।

अपने जीवन काल में आप कितनी ही विश्वविख्यात संस्थाओं के सदस्य रहे। ऐसी संस्थाओं में प्रमुख हैं—एकेडमीज ऑफ सायन्सेज, बर्लिन, गोटिंगेन, म्युनिक, पेटर्सबर्ग (Academies of Sciences, Berlin, Goettingen, Munich, Petersburg), इन्स्टिट्यूट डी फ्रांस (Institute de France), रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ् ब्रिटेन (Royal Asiatic Society of Britain), अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी (American Oriental Society)। इनके अतिरिक्त मध्यएसिया के तुरफान (Turfan) के अनुसन्धान-अभियान का संचालन तथा नेतृत्व भी आपने किया था।

आपकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—

1. Kalidasa's Shakuntala, The Bengali Recension with critical notes, Kiel 1877, 2nd Edition 1886.

2. Hemchandra's Grammatik der Prakritsprachen (Hemachandra's Grammar of the Prakrit languages), Halle a. s. 1877-1880, 2 vols.

3. Grammatik der Prakritsprachen (Grammar of the Prakrit Languages), Strassburg, 1900.

4. Pischel-Geldner: Vedische Studien (Vedic Studies), Stuttgart, 1889 1897, 2 vols.

5. Leben und Lehre des Buddha (Life and Teaching of the Buddha), Leipzig, 1906.
   2nd Edition 1910, edited by Heinrich Lueders.
   3rd „ 1916, „ „ „
   4th „ 1926, „ Johannes Nobel.

6. Stenzler—Pischel, Elementarbuch der Sanskritsprache (Elementary Grammar of the Sanskrit Language), Breslau, 1872, 1885 & 1892, Munich, 1902.

7. Various Treatises of the Prussian Academy of Sciences, f.i. "Der Ursprung des christlichen

Fischsymbols" (The Origin of the Christian Fish-symbol) and "Ins Gras beissen" (To Bite the Dust).

8. Vice-chancellor's Address : "Heimat des Puppenspiels" (Home of the Puppet-play).

9. Beitraege Zur Kenntnis der deutschen Zigeuner (Contributions towards the Study of German Gipsies), 1894.

इनमें प्राकृत भाषाओं की व्याकरण-सम्बन्धी रचना आपकी सर्वश्रेष्ठ कृति कही जाती है। भाषाशास्त्र पर वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कृति होने के कारण इसी पर आपको 'इन्स्टिट्यूट डी फ्रांस' से भोल्नी-पुरस्कार (Volney Prize) प्राप्त हुआ था। इस कृति का अभी हाल ही में डॉ० सुभद्र झा ने 'कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ् द प्राकृत लैंग्वेजेज' (Comparative Grammar of the Prakrit Languages) के नाम से अंगरेजी में अनुवाद किया है। किन्तु, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से मूल-जर्मन-ग्रन्थ का यह हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित किया गया है।*

---

* इस परिचय के तैयार करने में निम्नलिखित सामग्रियों का उपयोग किया गया है—

(क) जर्नल ऑफ् द रायल एसियाटिक सोसाइटी (१९०९) में प्रकाशित पिशल पर डॉ० एल्० डी० बार्नेट का लेख।

(ख) डिक्शनरी ऑफ् इण्डियन बायोग्राफी (बकलैण्ड) में प्रकाशित पिशल का परिचय।

(ग) डा० पिशल के पुत्र श्री डब्ल्यू० पिशल द्वारा जर्मन-दूतावास (दिल्ली) के अनुरोध पर परिषद् को प्रेषित जीवन-परिचय।

इसके अतिरिक्त डेकान कॉलेज (पूना) के निर्देशक श्री एल्० डी० शंकालिया, भण्डारकर-ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट (पूना) के क्यूरेटर श्री पी० के० गोरे तथा जर्मन-गणतंत्र दूतावास (दिल्ली) के सांस्कृतिक पार्षद डॉ० के० फीतर ने भी उक्त परिचय तैयार करने में अपना बहुमूल्य सहयोग देकर हमें अनुगृहीत किया है।

प्राकृत भाषाओं का व्याकरण

अनुवादक

डॉक्टर हेमचन्द्र जोशी, डी० लिट्

आमुख

पिशल का यह 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' पाठकों के सामने है। इस ग्रन्थ की महत्ता जगत् के भाषाशास्त्री मानते हैं। भारतीय मध्यकालीन या नवीन भाषाओं पर शायद ही कोई पुस्तक लिखी गई हो, जिसमें इससे सहायता न ली गई हो। इसका आधार प्रामाणिक माना जाता है। कारण यह है कि पिशल ने प्राकृतों का पूरा ज्ञान प्राप्त करने और उसके समय में प्राप्य सब व्याकरणों तथा नाना प्राकृतों के प्राप्य हस्तलिखित और छपे ग्रन्थों को गम्भीर और विस्तृत अध्ययन करने के बाद यह परम उपादेय ग्रन्थ लिखा। इसमें प्राकृत का कोई व्याकरणकार छूटा नहीं है। सबके नियम शृंखलाबद्ध दिये गये हैं। इन वैयाकरणों में समय की प्राचीनता तथा नवीनता के हिसाब से बहुत फेर फार पाया जाता है। देश-भेद से भी ध्वनि का हेर फेर पाया जाता है; और कई अशुद्धियाँ भी लिपिकारों के कारण आ गई हैं। इससे छपे ग्रन्थ भी दूषित हो गये हैं। इन सबका निराकरण, अर्थात् इनका नीरक्षीर विवेक पिशल ने अपने प्रगाढ पाण्डित्य से किया है। नाना प्राकृतों की ध्वनियों और बोलने के नियमों में भेद था। उन विभिन्नताओं का प्रभाव आज भी भारतीय नवीन आर्य-भाषाओं में वर्त्तमान है। उदाहरणार्थ, हिन्दी का सो और बँगला का से पर क्रमशः महाराष्ट्री और मागधी का प्रभाव है। मागधी में संज्ञा और सर्वनामों के अन्त में एकार आता था और वह पूर्वी बिहार तथा पश्चिमी बंगाल में बोली जाती थी। पिशल ने सब प्राकृतों के नियम बाँध दिये हैं। भारत में व्याकरण रटा जाता है, भले ही उसमें बीसियों अशुद्धियाँ हों। गुरु और चेला—किसी को यह नहीं सूझती कि 'दोषास्त्याज्या गुरोरपि', अर्थात् गुरु के दोष त्याज्य याने संशोधनीय हैं। लिपिकार की मोटी अशुद्धियाँ भी पाणिनि, वररुचि आदि के सर मढी जाती हैं। इस विषय पर यूरोपियन पण्डित सत्य की शोध में प्राचीनता को आदर-योग्य नहीं मानते। वे कालिदास की भाँति कहते हैं—

> पुराणमित्येव न साधु सर्वं
> न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
> सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
> मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

सत्य और शुद्ध बात का आविष्कार आज ही क्यों न हो, वह अवश्य ग्रहणीय है, असत्य चाहे अनादि काल से प्रचलित हो, शुद्ध रूप सामने आते ही छोड दिया जाना चाहिए। इस कारण ही कभी भारतीय आर्यों ने प्रार्थना की थी—

असतोऽन्मा सत्यं गमय।

बात यह है कि सत्य-मार्ग पर चलने पर ही, तथ्य की ही शोध करने पर, मानव मृत्यु को पार करके अमरत्व प्राप्त करता है। इस कारण ही भारतीय आर्यों ने सत्य को सबसे अधिक महत्त्व दिया। पश्चिमूमी रूप के निवासी असत्य को प्रत्येक क्षेत्र से

भगाने में कटिबद्ध हैं। इस कारण, वहाँ के भाषाशास्त्र के विद्वानों ने संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि पर जो भी लिखा, उस पर कलम तोड दी। प्राकृतों के विषय में पिशल ने वही काम किया है। यह देख आश्चर्य होता है कि उसने प्राकृत के सब व्याकरण और सारा प्राप्य साहित्य मथकर यह ग्रंथ ऐसा रचा कि प्राकृत के अधिकांश नियम पक्के कर दिये। कई तथ्य उसने नये और महत्त्व के ऐसे बताये हैं कि लेखक का अगाध पांडित्य देखकर वराहमिहिर के निम्न श्लोक की याद आती है —

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यग्शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते ·························॥

इन ऋषियों के सामने भारतीय विद्वत्ता पानी भरती है। हमारे विद्वान् प्राकृताचार्यों ने सदा **खंभा** की व्युत्पत्ति **स्तंभ** दी, किसी ने यह न देखा कि प्राकृत का एक स्रोत वैदिक भाषा है। सबने लिखा कि प्राकृत की प्रकृति संस्कृत है। **प्रकृतिः संस्कृतम्** (सब व्याकरणकार)। वह यही समझते रहे और इसी समझ पर काम करते रहे कि प्राकृत संस्कृत से निकली है। इसीलिए परम पंडित हेमचंद्र ने **खंभा** को **स्तंभ** से व्युत्पन्न किया। उसने संस्कृत का कोश अभिधान चिन्तामणि लिखा, पाणिनि के टक्कर का संस्कृत व्याकरण लिखा और उसके आठवें पाद में प्राकृतों का व्याकरण जोडा, पर यह न जाना कि ऋग्वेद में **स्कम्भ** शब्द **स्तम्भ** के अर्थ में कई बार आया है। यह तथ्य वैदिक भाषा, संस्कृत, पाली और प्राकृतों के परम विद्वान् पिशल ने बताया। ऐसे बीसियों शब्दों की ठीक व्युत्पत्ति इस ऋषिवत् म्लेच्छ यवन ने हमें दी है। **क्षाम** का **झाम** और **क्षर** का **झर** किस रीति से हुआ, इस तथ्य का पता भी अवेस्ता की भाषा के इस विद्वान् ने इसी ग्रंथ में खोज निकाला है। प्राकृत के नियमों में जहाँ अनस्थिरता या अस्थिरता थी, उन्हें इसने सकारण स्थिर नियमों के भीतर बाँध दिया। हमारे नाटकों या प्राकृत के ग्रंथों में जहाँ जहाँ नाना अशुद्धियाँ आई हैं, उन्हें पिशल ने शुद्ध किया है और नियम स्थिर कर दिये हैं कि प्राकृत शब्दों का रूप किस प्राकृत भाषा में क्या होना चाहिए, और यह सब असंख्य प्रमाण दे कर। अपनी मनमानी उसने कहीं नहीं की है। जो लिखा है, सब साधार, सप्रमाण। यह है विशाल विद्वत्ता का प्रताप। पाठक इस ग्रंथ में देखेंगे कि भारत की किसी आर्य भाषा और विशेष कर नवीन भारतीय आर्यभाषाओं पर कुछ लिखने के लिए केवल भारत की ही प्राचीन, मध्यकालीन और नवीन आर्यभाषाओं के ज्ञान की ही नहीं, अपितु ग्रीक, लैटिन, गौथिक, प्राचीन स्लैविक, ईरानी, आरमिनियन आदि कम-से कम बीस-पचीस भाषाओं के भाषाशास्त्रीय ज्ञान की भी आवश्यकता है। अन्यथा स्वयं हिंदी शब्दों के ठीक अर्थ का निर्णय करना दुष्कर है।

नवीन भारतीय आर्यभाषाओं के लिए प्राकृतों का क्या महत्त्व है और किस प्रकार हिंदी मध्यकालीन आर्यभाषाओं की परंपरा से प्रभावित है, इसका परिचय पाठक उन नोटों से पायेंगे, जो अनुवादक ने स्थान स्थान पर दे रखे हैं और मूल-भारोपा से हिंदी तक का प्राकृतीकरण का कार्य किस क्रम से एक ही परंपरा में आया है, यह भी ज्ञातव्य है। पिशल के प्राकृत व्याकरण की आलोचना देखने में नहीं आती।

इधर ही बीस-बाईस वर्ष पहले डौल्ची निति महोदय ने अपनी पुस्तक Les Grammariens Prakrit में पिशल पर कुछ लिखा है। पाठकों को उससे अवश्य लाभ मिलेगा, इसलिए हम यहाँ उसे उद्धृत करते हैं। डौल्ची निति का दृष्टिकोण प्राकृत भाषा के प्रकांड ज्ञान के आधार पर है, इस कारण उस पर ध्यानपूर्वक विचार करना प्रत्येक प्राकृत विद्वान् या निया के जिज्ञासु का कर्त्तव्य है। पिशल के व्याकरण पर इधर जो भी लिखा गया है, उसका ज्ञान होने पर ही पिशल के व्याकरण का सम्यक् ज्ञान निर्भर है। इस कारण उसके उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं—

"यदि हम पिशल के प्राकृत भाषाओं के व्याकरण का दूसरे पाराग्राफ को जाँचे और पड़ताल तो और इसकी लास्सन के ग्रन्थ 'इन्स्टिट्यूत्सिओने प्राकृतिकाए' के वर्णन से तुलना करें तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि लास्सन ने इस सम्बन्ध में सभी पहलुओं से विचार किया है और उसके निदान तथा मत पिशल से अधिक सुनिश्चित हैं।

कई कारणों से आज कल केवल पिशल की पुस्तक ही पढ़ी जाती है, इसलिए हम अति आवश्यक समझते हैं कि सबसे पहले, अर्थात् अपने मुख्य विषय पर कुछ लिखने से पहले, उन कुछ मतों की अस्पष्टता दूर कर दी जाय, जिनके विषय में पिशल साहब अपने विशेष विचार या पक्षपात रखते हैं।

अब देखिए जब कोई ग्रन्थकार दडिन् का काव्यादर्श (१।२४) वाला श्लोक उद्धृत करता है और महाराष्ट्री की चर्चा करता है, तो उसे उक्त श्लोक के पहले पाद को ही उद्धृत न करना चाहिए। क्योंकि यह बात दूसरे पाद में स्पष्ट की गई है। श्लोक यों है—

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥

इसका अर्थ है—'महाराष्ट्र में बोली जानेवाली भाषा को लोग प्रकृष्ट प्राकृत समझते हैं। इसमें सूक्ति रूपी रत्नों का सागर है और इसी में 'सेतुबन्ध' लिखा गया है।'

इस श्लोक में दडिन् का विचार यह नहीं था कि वह प्राकृत भाषाओं का वर्गीकरण करे। वह तो केवल यह एक तथ्य बताता है कि महाराष्ट्री इसलिए प्रकृष्ट है कि उसका साहित्य सबसे अधिक भरा-पूरा है।

अब यदि कोई यह दावा करे कि महाराष्ट्री सबसे उत्तम प्राकृत है, क्योंकि वह संस्कृत के सबसे अधिक निकट है, तो यह मत स्पष्ट ही अस्वीकार्य है और इस प्रकार की उल्टी बात भारत के किसी व्याकरणकार ने कभी नहीं व्यक्त की। उनके लिए तो संस्कृत के निकटतम शौरसेनी रही है। हम भी इसी निदान पर पहुँचे हैं। उदाहरणार्थ, मार्कण्डेय (प्राकृतसर्वस्व, ९।१) का निदान भी ऐसा ही है—

शौरसेनी महाराष्ट्र्याः संस्कृतानुगमात् क्वचित्।

यह भी ठीक नहीं है कि हम व्याकरणकारों की प्राचीनता तथा नवीनता की पहचान या वर्गीकरण इस सिद्धांत पर करें कि पुराने व्याकरणों में प्राकृत के कम भेद गिनाये गये हैं तथा नयों में उनकी संख्या बढ़ती गई है। कम या अधिक प्राकृत

भापाओं का व्याकरण देना अथवा उल्लेख करना प्राकृत भाषा के किसी व्याकरण की प्राचीनता या नवीनता से कुछ सबध नहीं रखता।

मेरी पुस्तक (प्राकृत के व्याकरणकार = ले ग्रामेरिआँ प्राकृत, अनु०) में इस तथ्य के प्रमाण कई स्थलों पर हैं। यहाँ पर मैं केवल एक बात की याद दिलाना चाहता हूँ कि अभिनवगुप्तवाला नाट्यशास्त्र प्राकृत भाषाओं के सब व्याकरणकारों के ग्रन्थों से पुराना है। केवल वररुचि इसका अपवाद है। उक्त नाट्यशास्त्र में नवीनतम प्राकृत व्याकरणकार से भी अधिक सख्यक प्राकृत भाषाएँ दी गई हैं।

साधारण बात तो यह है कि उन व्याकरणकारों ने, जिन्होंने नाट्यशास्त्र पर लिखा है, अनेक प्राकृत भाषाओं को अपने ग्रथ में लिया है, पुरुषोत्तम ने भी ऐसा ही किया है और पुरुषोत्तम तेरहवीं सदी से पहले का है।

महाराष्ट्री के व्याकरणकारों ने केवल महाराष्ट्री का विशेष अध्ययन किया है और उस पर जोर दिया है। हाल हाल तक भी वे ऐसा ही करते रहे हैं। प्राकृत प्रकाश में अन्य प्राकृत भाषाओं पर जो अध्याय जोड़े गये ह, वे भामह अथवा अन्य टीकाकारों ने जोड़े हैं। किन्तु प्राकृत सजीवनी और प्राकृत मजरी में केवल महाराष्ट्री का ही वर्णन है।

इन सबको पढकर जो निदान निकलता है, वह लास्सन और पिशल के इस मत के विरुद्ध पाया जाता है कि नये व्याकरणकार अधिकाधिक भाषाओं का उल्लेख करते हैं। वास्तव में पाया यह जाता है कि जितना नया व्याकरणकार है, वह उतनी कम प्राकृत भाषाओं का उल्लेख करता है। यह दशा विशेषकर जैन व्याकरणकारों की है, जो प्राकृत को अपनी धार्मिक भाषा मानते हैं, और जिन्हें नाटकों की भाषा में किसी प्रकार का रस नहीं मिलता, उनके व्याकरणों में केवल मुख्य प्राकृत के ही नियम मिलते हैं और ये भी किसी बड़े ग्रन्थ से उद्धृत करके दिये जाते हैं, जिनमें अन्य प्राकृत भाषाओं पर भी विचार रहता है। इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण मद्रास की सरकारी लाइब्रेरी में सुरक्षित 'वाल्मीकिसूत्र' है।

पिशल (प्राकृत भाषाओं का व्याकरण § २) के साथ यह भी नहीं कहा जा सकता कि वररुचि, महाराष्ट्री छोड़, अन्य प्राकृत भाषाओं के बारे में बहुत कम सूचना देता है। इस प्रकार वह वररुचि के व्याकरण पर भ्रम पैदा करता है। अभी इस तथ्य का भली भाँति निर्णय नहीं हो पाया है कि प्राकृतप्रकाश का अंतिम अध्याय क्षेपक है या स्वयं वररुचि ने लिखा है, तो भी यहाँ भारतीय व्याकरणकारों की पद्धति को समझना बहुत जरूरी है। भारतीय व्याकरणों में विशेष यत्न किया गया है कि कोई सूत्र या बात दुहराई न जाय। यह भली भाँति समझने का रहस्य है कि जब प्राकृत-प्रकाश का लेखक उदाहरणार्थ पैशाची पर लिखना आरभ करता है, तो उसके मन में स्वभावतः यह बात है कि आरभ में मुख्य प्राकृत (महाराष्ट्री, अनु०) पर जो कुछ लिखा गया है, विशेष बातों को छोड़, वह सब नई प्राकृत भाषा पर भी लागू होगा। इस प्रकार हमें यह न मान लेना चाहिए कि वररुचि ने पैशाची पर केवल चौदह सूत्र ही दिये हैं, बल्कि पैशाची पर महाराष्ट्री पर दिये गये ४२४ सूत्र भी लागू हैं तथा इनके

साथ पैशाची से संबंधित चौदह विशेष सूत्र भी हैं। ये चौदह विशेष सूत्र तो पैशाची में महाराष्ट्री से अधिक हैं और पैशाची की स्पष्ट विशेषताएँ हैं तथा उन्हें बताने दिये गये हैं। इसी प्रकार अन्य प्राकृत भाषाओं पर जो विशेष सूत्र दिये गये हैं, उनकी दशा समझिए।"

—डौल्ची निति के ग्रंथ, पृ० १,२ और ३

"मुख्य प्राकृत के सिवा अन्य प्राकृत भाषाओं को निकाल देने और प्राकृतप्रकाश के भामह-कौवेल-संस्करण में पाँचवें और छठे परिच्छेदों को मिला देने का कारण और आधार वररुचि की टीकाएँ और विशेषतः वसंतराज की प्राकृत संजीवनी है।

× × ×

कौवेल ने भामह की टीका का संपादन किया है। इसके अतिरिक्त इधर इस ग्रंथ की चार टीकाएँ और मिली हैं, जो सभी प्रकाशित कर दी गई हैं।

वसंतराज की प्राकृत संजीवनी का पता बहुत पहले से लग चुका है। कर्पूर-मंजरी के टीकाकार वसुदेव ने इसका उल्लेख किया है। मार्कण्डेय ने अपने प्राकृतसर्वस्व में लिखा है कि उसने इसका उपयोग किया है। कौवेल और ऑफरेष्ट ने प्राकृत के संबंध में इसका भी अध्ययन किया है। पिशल ने तो यहाँ तक कहा है कि प्राकृत संजीवनी कौवेल के भामह की टीकावाले संस्करण से कुछ ऐसा भ्रम पैदा होता है कि प्राकृत-संजीवनी एक मौलिक और स्वतंत्र ग्रंथ है। इस टीका की अंतिम पंक्ति में लिखा है—'इति वसन्तराजविरचितायां प्राकृतसंजीवनीवृत्तौ निपातविधिर् अष्टम परिच्छेदः समाप्तः।' रचयिता ने प्राकृत संजीवनी को इसमें 'वृत्ति' अर्थात् टीका बताया है।

पिशल ने अपने ग्रन्थ (प्राकृत भाषाओं का व्याकरण §४०) में इस लेखक का परिचय दिया है। यदि हम पिशल की विचारधारा स्वीकार करें तो प्राकृत संजीवनी का काल चौदहवीं सदी का अंत काल और पन्द्रहवीं का आरंभ काल माना जाना चाहिए।

× × ×

यह टीका भामह कौवेल-संस्करण की भूलों को शुद्ध करने के लिए बहुत अच्छी और उपयुक्त है। कुछ उदाहरणों से ही मालूम पड़ जाता है कि इससे कितना लाभ उठाया जा सकता है? इसमें अनेक उदाहरण हैं और वे पुराने लगते हैं। बहुसंख्यक कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं। इनमें से कुछ स्वयं भामह ने उद्धृत की हैं। इनसे पता लगता है कि वररुचि की परंपरा में बड़ी जान थी। इसकी सहायता से वररुचि के पाठ में जो कमी है, वह पूरी की जा सकती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वसंतराज ने वररुचि के सूत्रों की पुष्टि में अपना कोई वाक्य नहीं दिया है। कहीं कहीं छीन छूट, एक-दो शब्द या वाक्य इस प्रकार के मिलते हैं, वे भी बहुत साधारण ढंग के। वसंतराज ने किसी प्राकृतव्याकरणकार के नाम

का उल्लेख नहीं किया है। वह ग्रन्थ के अंत म (८, १९) में कहता है—'वह सब, जिसके लिए कोई विशेष नियम नहीं दिया गया है, प्राकृत में भी उसी प्रकार कहा जा सकता है, जिस प्रकार संस्कृत म। इनपर व्याकरणकार शाकटायन, चंद्र (—गोमिन्, अनु०) पाणिनि और सर्ववर्मन् के लिखे नियम चलेंगे।

प्राकृतसर्वस्व की सदानन्द कृत प्राकृतसुबोधिनी टीका भी सम्पादित हो चुकी है। यह प्राकृत-संजीवनी के साथ ही छपी है। इसम विशेष दिलचस्पी की कोई बात नहीं है। यह प्राकृतसंजीवनी का सार है और उसी पर आधारित है। यह न भी छपती, तो कोई हानि न होती। किन्तु इससे एक लाभ भी है। इसमें कुछ ऐसे सूत्र हैं, जो प्राकृत-संजीवनी से छूट हो गये हैं। मैं इसके रचयिता के विषय म कुछ नहीं जानता हूँ और न ही मुझे इसके समय का कुछ पता है।

तीसरी टीका का नाम प्राकृत मञ्जरी है। इसकी विशेषता यह है कि यह सारी की सारी श्लोकों म है। इसकी एक हस्तलिपि पिशल के पास थी, जो अधूरी थी। यह मलयालम वर्णमाला में लिखी थी। यह लन्दन की रॉयल एशियैटिक सोसाइटी म थी। पिशल का कहना है कि इसका रचयिता दक्षिण भारत का कोई भारतीय था। इसका नाम और काल का पता नहीं है। उसे कभी कात्यायन नाम दिया गया है, किन्तु यह स्पष्ट भूल है, क्योंकि इसके आरम्भ के श्लोक में कात्यायन का जो नाम दिया गया है, वह वररुचि के स्थानपर दिया गया है, जिसके सूत्रों पर इस टीका के लेखक ने टीका दी है (पिशल का प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ १०—११)।

मैंने इसके उस संस्करण का प्रयोग किया है, जिसका सम्पादन मुकुन्दशर्मन् ने किया है और जो १९०३ ई० में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, से छपा था। इसकी भूमिका संस्कृत में है, लेकिन उसमें लेखक तथा उसके समय के विषय में कुछ भी नहीं लिखा गया है। पी० एल० वैद्य (प्राकृतप्रकाश की भूमिका, पृ० ८) के अनुसार प्राकृत-मंजरी कलकत्ते से भी छपी थी। इसे श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय ने अपने प्राकृतप्रकाश के साथ छपवाया था (प्रकाशक थे एस० के० लाहिड़ी एण्ड क०, कलकत्ता)। निर्णयसागरवाले संस्करण के अन्त में परिशिष्ट में उक्त तीनों टीकाओं में वररुचि के सूत्रों में क्या-क्या अन्तर आ गया है, इसकी तालिका भी दे दी गई है। उसे देखकर कोई पिशल के मत के साथ अपना मत नहीं मिला सकता कि प्राकृत-मंजरी के रचयिता का भामह का परिचय था (पिशल का प्राकृत भाषाओं का व्याकरण § ३३)।"

—दौल्ची निचि रे प्रामैरियाँ प्राकृत, पृ० २१—२३

"हेमचन्द्र को सौभाग्य प्राप्त हुआ कि यह भारत की अस्वास्थ्य जलवायु में भी, चौरासी वर्ष की लंबी आयु में मरा। इस बीच वह जो काम कर गया, उसके मरने के बाद भी उसका प्रचार हुआ।

जैनों में धर्म का उत्साह बहुत होता है और उनमें अपने धर्म का प्रचार करने की बड़ी प्रतिमा है। इस पर हेमचन्द्र का दूसरा सौभाग्य यह रहा कि उसका मुकाबला

रिचार्ड पिशल ने किया। और, ऐसे समय किया, जब उसके प्राकृत व्याकरण की बहुत माँग थी। उन्नीसवीं सदी के दूसरे अर्द्धांश में प्राकृत भाषाओं के अध्ययन का उत्साह बहुत बढ गया था। कौवेल ने वररुचि का जो संस्करण निकाला था, वह हाथों हाथ निक गया और कुछ ही वर्षों में उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हो गया। सिद्धहेमचन्द्र के आठवें अध्याय के सामने वह फीका लग रहा था। इससे हेमचन्द्र की महिमा बढ रही थी। वह मानों प्रात काल की ऊषा की तुलना में दक्षिण दिशा के सूर्य की भाँति तप रहा था। × × ×

पिशल के लिए किसी व्याकरण का इतना बडा महत्त्व नहीं है, जितना सिद्ध-हेमचन्द्र का (दे० डे० ग्रामाटिका प्राकृतिका, पेज २७)। इस विषय पर वह नाम मात्र वादविवाद करना नहीं चाहता। उसे भय था कि कहीं यह वादविवाद लम्बा न हो जाय । सिद्ध हेमचन्द्र के सपादन और प्राकृत भाषाओं के व्याकरण लिखने के बाद उक्त भय ने उसका पीछा न छोडा, क्योंकि उसने अपने थीसिस में इस विषय पर जो मत दिया था, उसे उक्त पुस्तकों में उसने नाम मात्र न बदला। (दे० सिद्धहेमचन्द्र का सस्करण और प्राकृत भाषाओं का व्याकरण § ३६)।

यदि पिशल अधिक विनयशील होता, तो वह समझ जाता कि जो ग्रन्थ वास्तव में 'विशाल कार्य' था, वह सिद्धहेमचन्द्र का आठवाँ अध्याय नहीं, किन्तु इस ग्रन्थ का वह सस्करण था, जिसका सपादन स्वय पिशल ने किया था। इस ग्रन्थ की क्या सज धज है, इसकी छपाई में क्या चमत्कार है, इसकी सपादन की सावधानी अपूर्व है, परिशिष्ट की महान् महिमा है। थोडे में यही कहा जा सकता है कि इसमें विद्वानों को कोई कमी दिखाई नहीं देती। इसे देख लोग यही समझते हैं कि प्राकृत के व्याकरण की शोध के लिए इससे सभी काम चल जाते हैं। × × ×

यदि आप सचमुच में हेमचन्द्र का ठीक मूल्य आँकना चाहते हों और उसकी तुलना प्राकृत के अन्य व्याकरणकारों से करना चाहते हों, तो यह इसलिए कठिन हो गया है कि, क्या हिन्दू, क्या यूरोपियन, सबने जैनों के प्रचार कार्य तथा पिशल के प्रमाण पत्र के प्रभाव से उसका महत्त्व बहुत बढा दिया है।

प्राकृत के सभी व्याकरणकारों की कडी आलोचना की जा सकती है, और टौमस ब्लौख ने की भी है। किन्तु मैं ऐसी आलोचना के पक्ष में नहीं हूँ। × × × मैं, अवश्य, इतना कहूँगा कि मेरी सम्मति म प्राकृत भाषाओं के वैयाकरणों में हेमचन्द्र में लेशमात्र भी किसी विशेष प्रतिभा के दर्शन नहीं मिलते। खास कर उसने प्राकृत व्याकरण की पूर्णता और प्रौढता प्राप्त नहीं की। × × × पिशल ने ठीक ही देख लिया था कि उससे पहले प्राकृत के अनेक वैयाकरण हुए थे, जिनके व्याकरणो से उसने बहुत लिया है। उसका (हेमचन्द्र का) ग्रथ पढकर मेरे ऊपर तो ऐसा प्रभाव पडा है कि उसमें मौलिकता नाम मात्र को नहीं है और थोडा यत्न करने पर उसने कहाँ से क्या लिया है, इसका पता लगाया जा सकता है, क्योंकि उसके व्याकरण का प्रत्येक विषय अलग किया जा सकता है और उससे पहले के व्याकरणों से उसका मूल खोजा

जा सकता है। भारतीय परम्परा यही बताती है और नाना स्थलों पर हेमचन्द्र ने स्वयं यह माना है।

हेमचन्द्र ११४५ विक्रम संवत् में कार्तिक पूर्णिमा (= १०८८ या १०८९ ई० का नवम्बर दिसम्बर) को अहमदाबाद के निकट धंदूक गाँव में पैदा हुआ। उसके माँ बाप वैश्य या बनिया जाति के थे और दोनों ही जैन थे। उसने राजा जयसिंह की इच्छा को संतुष्ट करने के लिए अपना व्याकरण लिखा। एक अच्छे दरबारी की भाँति आरम्भ में उसने राजा की प्रशस्ति कही है, जिसमें तंतीस श्लोक हैं। इसमें सभी चालुक्यों का वर्णन है, अर्थात् मूलराज से लेकर उसके संरक्षक जयसिंह तक की विरुदावली है। जयसिंह के विषय में उसने कहा है—

> सम्यङ् निषेव्य चतुरश् चतुरोऽप्युपायान्
> जित्वोपभुज्य च भुवं चतुरब्धिकाञ्चीम्।
> विद्याचतुष्टयविनीतमतिर् जितात्मा
> काष्ठाम् अवाप पुरुषार्थ चतुष्टये यः ॥ ३४ ॥
> तेनातिविस्तृतदुरागमविप्रकीर्ण—
> शब्दानुशासनसमूहकदर्थितेन ।
> अभ्यर्थितो निरवमं विधिवद् व्यधत्त
> शब्दानुशासनमिदं मुनिहेमचन्द्रः ॥ ३५ ॥

अर्थात्, उस चतुर ने भली भाँति अथवा पूर्णतया चारों उपायों (साम, दाम, दण्ड, भेद) का उपयोग करके चारों सागरों से घिरी पृथ्वी का उपभोग किया। चारों विद्याओं के उपार्जन से उसकी मति विनीत हो गई और वह जितात्मा बन गया और इस प्रकार चारों पुरुषार्थों को (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) प्राप्त कर उसने सफल जीवन की चरम सीमा प्राप्त की ॥ ३४ ॥

जो अनेकानेक कठिन और नाना विषयों में शास्त्रों और अनादर पाये हुए शब्दानुशासनों के ढेर से घिरे, उसके प्रार्थना करने पर मुनि हेमचन्द्र ने यह शब्दानुशासन नियमानुसार रच दिया ॥ ३५ ॥

प्रभावक चरित्र के अनुसार (इस ग्रंथ में बाईस जैन मुनियों के जीवन-चरित हैं), जो प्रभाचंद्र और प्रद्युम्नसूरि ने तेरहवीं सदी में लिखा है, हेमचन्द्र ने राजा जयसिंह से निवेदन किया कि सब से पुराने आठ व्याकरणों की एक एक प्रति मेरे लिए प्राप्त की जायँ। इनकी बहुत खोज की गई। ये व्याकरण कहीं भी एक ठौर में एकत्र नहीं मिले। फिर पता लगा कि ये काश्मीर में सरस्वती के मन्दिर में हैं। इससे हेमचंद्र को संतोष हुआ। इस प्रकार उसका शब्दानुशासन प्राचीन व्याकरणों का सार है। इस विषय की सिद्धहेमचंद्र पढ़ने से पुष्टि ही होती है। किन्तु हेमचंद्र के व्याकरण के मूल स्रोतों की खोज अभी तक पूर्ण सफल नहीं हुई है।

इस विषय पर व्याकरणकार स्वयं, हमारी बहुत कम सहायता करता है। अपने विशाल ग्रंथ में नमस्कार कहीं भी अपने से पहले के वैयाकरणों का नाम नहीं लेता।

केवल एक शब्द के सिलसिले में उसने हुग्ग का नाम दिया है। यह नाम विचित्र है और अति अज्ञात है। यह उल्लेख वहाँ हुआ है, जहाँ यह बताया गया है कि कहीं कहीं क का ह हो जाता है—जैसे, सं० **चिकुर**->प्रा० **चिहुर** (हेमचंद्र १, १८६, वररुचि २, ४)। टीका में हेमचंद्र ने स्वयं बताया है कि **चिहुर** का प्रयोग सं० में भी है। लिखा है—'**चिहुरशब्दः संस्कृतेऽपीति हुग्गः।**' पिशल ने इसका अनुवाद किया है—'हुग्ग (§ ३६) कहता है कि **चिहुर** शब्द संस्कृत में भी पाया जाता है। किन्तु इस विषय पर हुग्ग के अतिरिक्त किसी दूसरे वैयाकरण का प्रमाण नहीं दे सका। हेमचंद्र के ग्रन्थ की हस्तलिपियों में इस नाम के नाना रूप पाये जाते हैं—कहीं **हुग्गः** है, तो कहीं **दुर्गः** पाया जाता है। त्रिविक्रम ने १, ३, १७ में **हुंगाचार्यः** लिखा है। त्रिविक्रम की दूसरी हस्तलिपि में इस स्थान पर **आहुर् आचार्याः** पाया जाता है। लक्ष्मीधर की छपी षड्भाषा चन्द्रिका की प्रति में (पृ० ७४) इसके स्थान पर **भृङ्गाचार्यः** (हस्तलिपि में भृङ्ग्याचार्यः है)। इन पाठांतरों से प्रमाणित होता है कि लिपिकार हुग्ग को जानते ही न थे तथा हेमचंद्र के चेले भी उससे अपरिचित थे।

हुग्ग की समस्या पिशल के समय से अभी तक एक कदम भी आगे नहीं बढी। पिशल के समय यह जहाँ थी, अभी वहीं है। मुझे लगता है कि यह समस्या हुग्ग के नाम से कभी सुलझेगी भी नहीं। हुग्गः संभवतः सिद्धः के स्थान पर अशुद्ध लिखा गया है। यह अशुद्धि एक बहुत पुरानी हस्तलिपि में पाई जाती है, जो हेमचंद्र के बाद ही लिखी गई थी। इस स्थान पर होना चाहिए—**चिहुरशब्दः संस्कृतेऽपि सिद्धः**, **चिहुर** शब्द संस्कृत से भी सिद्ध होता है। इससे थोड़े ही पहले ऐसे ही अवसर पर (हेमचंद्र १,१७१) आया है—**मोरो मऊरो इति तु मोरमयूरशब्दाभ्याम् सिद्धम्**, इसका अनुवाद पिशल साहब ने किया है—**मोर** और **मऊर** शब्द **मोर** और **मयूर** से सिद्ध होते हैं। '(इससे मालूम पड़ता है कि हेमचंद्र **मोर** को भी संस्कृत शब्द मानता है, किंतु अब तक यह संस्कृत में मिला नहीं है।)'

यदि हुग्ग ही भ्रमपूर्ण पाठ है, तो यह बहुत ही कठिन है कि जो आचार्य बिना नाम के उद्धृत किये गये हैं, उनका परिचय प्राप्त करना असंभव ही है। इति अन्ये, इति कश्चित्, इति कश्चित् आदि का क्या पता लग सकता है?"

—डौल्ची नित्तिः ले ग्रामेरियाँ प्राकृत, पृ० १४७ १५०

ऊपर के उद्धरणों से पिशल से, प्राकृत भाषाओं के विद्वान् डौल्ची नित्ति का मतभेद प्रकट होता है। साथ साथ तथाकथित आचार्य हुग्ग के नाम का कुछ खुलासा भी हो जाता है। मतभेद या आलोचना सत्य की शोध में मुख्य स्थान रखती है। हमारे विद्वानों ने कहा है—

शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषास्त्याज्या गुरोरपि।

यह महान् सत्य है। इसके अनुसार चलने से ज्ञान विज्ञान आगे बढ़ते हैं। इस कारण ही प्राकृत भाषाओं के इस व्याकरण के भीतर देखेंगे कि पिशल ने कई

आलोचनाओं का स्वागत किया है, याने अपने विरुद्ध लिखित सत्य को माना है। अपनी भूल न मानने के दुराग्रह से ज्ञान बढ़ने या शुद्ध होने नहीं पाता। इस दृष्टि से ऊपर की आलोचनाएँ जोड़ दी गई हैं। इससे 'प्राकृत भाषाओं के व्याकरण' में नवीनतम संशोधन भी जुड़ जाता है और यह संस्करण आधुनिकतम बन जाता है। इस प्रकार हिंदी के एक महान् अभाव की पूर्ति होगी। हिंदी भाषा में प्राकृत परंपरा का शुद्ध ज्ञान का प्रचार होगा। मध्यभारतीय आर्य तथा नवीन भारतीय आर्य भाषाओं पर संसार का जो भी विद्वान् कुछ लिखता है, पिशल के इस व्याकरण की सहायता के बिना उसका लेख या ग्रंथ पूरा नहीं होता। इससे इसके माहात्म्य पर उत्तमता और प्रमाणिकता की छाप लग जाती है। हिंदी में यह व्याकरण प्राप्त होने पर हिंदी-भाषा की शोध का मार्ग प्रशस्त हो जायगा, यह आशा है।

वाराणसी
जन्माष्टमी, संवत् २०१५

—हेमचंद्र जोशी

अत्यावश्यक सूचना

मेरा विचार था कि पिशल के इस 'प्राकृत भाषाओं के व्याकरण' का प्रूफ मैं स्वय देखूँ, जिससे इसमें भूल न रहने पायें। किन्तु वास्तव में ऐसा न हो पाया। कई ऐसे कारण आ गये कि मैं इस ग्रन्थ के प्रूफ देख ही नहीं पाया। जिन ५, ७ फर्मों के प्रूफ मैंने शुद्ध भी किये, तो वे शुद्धियाँ अशुद्ध ही छप गई। पाठक आरम्भ के प्रायः १२५ पृष्ठों में 'प्राकृत', दशरूप', 'वाग्भटालंकार' आदि शब्द उल्टे कौमाओं में बन्द देखेंगे तथा बहुत से शब्दों के आगे—० चिह्न का प्रयोग * के लिए किया गया है। यह अशुद्ध है और मेरी हस्तलिपि में इसका पता नहीं है। यह प्रूफ रीडर महोदय की कृपा है कि उन्होंने अपने मन से मेरी हिन्दी शुद्ध करने के लिए ये चिह्न जोड दिये। यह व्याकरण का ग्रन्थ है, इस कारण एक शुद्धि पत्र जोड दिया गया है। उसे देख और उसके अनुसार शुद्ध करके यह पुस्तक पढी जानी चाहिए।

पिशल ने गौण य को य़ रूप में दिया है। प्राकृतों में गौण य़ का ही जोर है **कृत** का **कय़**, **गणित** का **गणिय़** आदि आदि रूप मिलते हैं। अतः उसका थोडा-बहुत महत्त्व होनेपर भी सर्वत्र इस य़ की बहुलता देख, अनुवाद में यह रूप उड़ा देना उचित समझा गया। उससे कुछ बनता बिगडता नहीं। मुझे प्रूफ देखने का अवसर न मिलने के कारण इसमें जो अशुद्धियाँ शेष रह गई हों, उसके लिये मैं क्षमा चाहता हूँ। स्वय प्रूफ न देख सकना, मेरा महान् दुर्भाग्य रहा। यदि मैं प्रूफ देख पाता, तो अशुद्धियाँ अवश्य ही कम रह पातीं।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि सस्कृत मे चाहे **कार्य्य** लिखा जाय या **कार्य**, दोनो रूप शुद्ध माने जाते हैं, किन्तु विद्वान् वैयाकरण व्यर्थ को आधी मात्रा भी बढाने में सकुचाते हैं। इसलिए मैं **कार्य** लिखना उचित समझता हूँ, पाश्चात्य विद्वान् भी ऐसा ही करते हैं। सस्कृत में हर वर्ण के साथ उसके वर्ग का अनुनासिक **ङ, ञ, ण, न, म** जोडा जाता है। मध्य भारतीय आर्य भाषाओ के समय से इनका महत्त्व कम होने लगा। अब हिन्दी में अनुस्वार का महत्त्व बढ गया है, जो अनुचित नहीं कहा जा सकता। इससे लिखने की सुविधा और शीघ्रता होती है। किन्तु पिशल साहब ने अनुनासिकवाले रूप अधिक दिये हैं। ग्रन्थ में यदि कहीं, इस विषय की कोई गडबडी हो, तो पाठक, पिशल के शुद्ध रूप विषयानुक्रमणिका तथा शब्दानुक्रमणिका को देखकर शुद्ध कर लें। उनका प्रूफ मैंने देखा है, सो उनकी लेखन शैली पिशल की शैली ही रखी है। पिशल के मूल जर्मन ग्रन्थ में प्रूफ देखने में बहुत-सी भूलें रह गई हैं। इस ग्रन्थ का ढग ही ऐसा है कि एक मात्रा टूटी, या छूटी तो रूप कुछ का-कुछ हो गया। संस्कृत **कार्य** का रेफ टूटा या छूटा तो उसका रूप **काय** हो गया और ध्यान देने का स्थान है कि **कार्य**, **काय** में परिणत होकर 'शरीर' का अर्थ देने लगता है। यह महान् अनर्थ है। किन्तु राष्ट्रभाषा हिन्दी के मूल्यवान् ग्रन्थों और पत्रों

तथा पत्रिकाओं में हजारों अशुद्धियाँ देखने में आती हैं, जिसे हिन्दी का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए। यह दुर्दशा बँगला, मराठी, गुजराती ग्रन्थों और छापाखानों की नहीं है। इसका कारण क्या है? उसे ढूँढ हमें उसका कुछ इलाज करना चाहिए। क्या कारण है कि यूरप में भारतीय भाषाओं पर जो ग्रन्थ निकलते हैं, उनमें नाम मात्र भूल भी कम देखने में आती है और राष्ट्रभाषा में यह भूलों की भरमार! इसका शीघ्र उपाय होना चाहिए, अन्यथा हिन्दी पर चारों ओर से जो प्रहार हो रहे हैं, उनकी सार्थकता ही सिद्ध होगी और राष्ट्रभाषा, भले ही बहुजन प्रचलित होने के कारण, अपना पद बचाये रहे, किन्तु आज कल की ही भाँति अन्य नवीन भारतीय आर्य तथा अनार्य-भाषा-भाषी उसका आदर न कर सकेंगे। अतः आवश्यक है कि हमारी पुस्तकें ज्ञान, छपाई, सफाई, शुद्धि आदि में अन्य भाषाओं से बढ चढकर हों। इसीमें हिन्दी का कल्याण है।

निवेदक
हेमचन्द्र जोशी

जन्माष्टमी, सवत् २०१५

विपयानुक्रमणिका

(पिशल के अनुसार)

विषय		पारा
अ		
अंत में—अ वाली संज्ञाओं का सा वाला करण का रूप	...	३६४
अशक्रिया	...	५६०—५९४
अंश-स्वर	...	१३१—१४०
–अ में समाप्त होनेवाले वर्ग की रूपावली	...	३६३
–अ में समाप्त होनेवाले वर्ग की रूपावली में परिवर्त्तन	...	३५७
–अन में ,, ,, ,, ,, ,,	...	३५८
अनियमित समास (= शब्दक्रम)	...	६०३
अनुनासिक	...	१७९—१८०
अनुनासिक और अंतस्थों का महाप्राणीकरण	...	२१०
अनुनासिक स्वर	...	१७८—१८३
अनुस्वार	...	१७८—१८३
अनुस्वार का दीर्घीकरण (शब्दांत मे)	...	७५
अनुस्वार का बहुधा लोप (शब्दांत में)	...	३५०
अनुस्वार-युक्त दीर्घ स्वरों के अनुस्वार का लोप	...	८९
अपभ्रंश में स्वर	...	१००
अपूर्णभूत (तथाकथित)	...	५१५
अर्धचंद्र		१७९, १८०, ३५०
–अस् मे समाप्त होनेवाले नपुंसक शब्दों का पुलिंग मे परिवर्त्तन	...	३५६
आज्ञावाचक	...	४६७—४७१
आत्मनेपद	...	४५२—४५७
आत्मनेपद का सामान्य रूप	...	४५७—४५८
आत्मनेपदी अंशक्रिया	...	५६१—५६३
आरंभ के वर्णों का मध्यम वर्ण में बदलना (क्, त्, प्, का ग्, द्, व्, होना)		१९२—१९८—२००—२०२
आरंभिक वर्ण—श ष स-कार	...	३१६
इच्छावाचक	...	५५९—५५५
उपसर्गों के पहले स्वर का दीर्घीकरण	...	७७—७८
कण्ठ्य के स्थान पर ओष्ठ्य और व-कार		२१५, २३०, २३१, २६६, २८६

विषय		पारा
कर्त्तव्यवाचक अंशक्रिया	...	५७०—५७२
कर्मवाच्य	...	५३५—५५०
कर्मवाच्य का पूर्णभूत	..	५४९
कर्मवाच्य की भूतकालिक अंशक्रिया	...	५६४—५६८
कृदन्त (–त्वा और –य वाले रूप)	...	५८१—५९४
कृत्रिम प्राकृत भाषाएँ	..	८, ९
केवल संस्कृत ही प्राकृत का मूल नहीं है	...	६
क्रिया	...	४५२—५९४
घनत्ववाचक	..	५५६
चार भाषाएँ	..	४
छ भाषाएँ	...	४
जैन महाराष्ट्री और जैन प्राकृत	...	१६
–तर और –तम के रूप	...	४१४
तालव्य के स्थान पर दंत्य	...	२१५
तीन भाषाएँ	...	४
दंत्य के स्थान पर तालव्य	...	२१६
दंत्य के स्थान पर मूर्धन्य	...	२१८—२२४
दंत्य के स्थान पर मूर्धन्य		२८९—२९४, ३०८, ३०९, ३३३
दीर्घ स्वरों के बाद संयुक्त व्यंजनों का सरलीकरण	..	८७
दीर्घ स्वरों के स्थान पर अनुस्वार	...	८६
दीर्घ स्वरों का ह्रस्वीकरण	...	७९—८५
दीर्घीकरण, (उपसर्गों के पहले स्वर का)	..	७७—७८
देश्य या देशी	...	९
दो संयुक्त व्यंजन	...	२६८—३३४
दो ह्-कार युक्त वर्णों के द्विकार की अप्रवृत्ति	...	२१४
द्वि-कार, (व्यंजनों का)	...	९०, १९३—१९७
द्विवचन का लोप	...	३६०
नपुंसकलिंग का स्त्रीलिंग में परिवर्तन	...	३५८
नपुंसकलिंग तथा पुंलिंग के साथ सर्वनाम का संबंध	...	३५७
नामधातु		४९०, ४९१, ५५७—५५९
नासिक के स्थान पर अनुनासिक		२६०, ३४८, ३४९
नासिक के स्थान पर अनुस्वार	...	२६९
परस्मैपद का सामान्य रूप	...	४५३—५०१
परस्मैपद के स्थान पर कर्मवाच्य	...	५५०
परस्मैपद भविष्यत्काल के स्थान पर कर्मवाच्य	..	५५०

विषय		पारा
परस्मैपदी भूतकालिक अशक्रिया	...	५६१
परस्मैपदी वर्तमानकालिक अशक्रिया	...	५६०
परिवर्त्तन, (लिंग का)	...	३५६—३५९
पुल्गि का नपुसकल्गि में परिवर्त्तन	...	३५८
पुल्गि का स्त्रील्गि मे परिवर्त्तन	...	३५८
पुरुषों द्वारा भी प्राकृत का उपयोग	...	३०
पूर्णभूत	...	५१६, ५१७
पृथक्करण का नियम	...	५४
प्रकृष्ट या श्रेष्ठ प्राकृत	...	२
प्राकृत और वैदिक	...	६
प्राकृत और सस्कृत	...	३०
प्राकृत कवयित्रियाँ	...	१४
प्राकृत का ध्वनिबल	...	४६
प्राकृत की व्यापकता	...	३
प्राकृत की शब्द-सपत्ति	...	८
प्राकृत के भारतीय वैयाकरणो का महत्त्व	...	४२
प्राकृत के शिलालेख	...	१०
प्राकृत तथा मध्य और नवीन भारतीय आर्य भाषाएँ	...	७-८
प्राकृत भाषाएँ	...	१
प्राकृत भाषाओं के चार प्रकार	...	३
प्राकृत में ल्गि परिवर्त्तन	...	३५६—३५९
प्राकृत मे सप्रदान	...	३६१, ३६४
प्रार्थना-और-आशीर्वाचक रूप	...	४६६
प्रेरणार्थक रूप		४९०, ४९१, ५५१—५५४
भविष्यत्काल	...	५२०—५३४
भविष्यत्-काल (कर्मवाच्य)	...	५४९
भ्वादिगण की तुदादिगण में परिणति	...	४८२
मध्यम वर्णों का आरभिक वर्णों में परिवर्त्तन	...	१९०—१९१
महाप्राण, (अन्य शब्द)		३०१ और उसके बाद
महाप्राणों का ह् में बदलना	...	१८८
महाप्राणों (ह् युक्त वर्णों) का द्वि कार	...	१९३
मूर्धन्य के स्थान पर दत्य	...	२२५
लेण बोली	...	७
वर्णविच्युति (= वर्णलोप)	...	१४९
वर्णों का स्थान-परिवर्त्तन	...	३५४

विषय		पारा
वर्त्तमान काल	...	४५३—५१४
विंदु	...	१७९—१८०
विंदु वाला स्वर = दीर्घ स्वर के	...	३४८
वेश्याएँ	...	३०
व्यंजनांत शब्दों की रूपावली के अवशेष	...	३५५
व्यंजनों का आगम और लोप	...	३३५—३३८
व्यंजनों का द्विकार		९०, ९२, १९३—१९७
व्यंजनों का द्विकार, शब्द-मध्य में	...	१८७—१९२
व्यंजनों का द्विकार, शब्दारंभ में	...	१८४—१८५
व्यंजनों का द्विकार, शब्दांत में	...	३३९—३५२
व्यंजनों के स्थान में स्वर का आगमन	...	१८६
शब्दांत के दो व्यंजनों की संधि में पहले व्यंजन का लोप	...	२७०
शब्दमध्य में वर्ण का आगम	...	१७६
शब्द, संख्या	...	४३५—४५१
श ष-और स-कार + अंतस्थ	...	३१५
श ष-और स कार+अनुनासिक	...	३१२
श ष और स-कार + आरंभिक व्यंजन	...	३०१—३११
श ष-और स-कार = ह	...	३५३
शेष व्यंजनों की रूपावली	...	४१३
श्वेतांबर जैनों के धर्मशास्त्र	...	१९
संख्याशब्दों की रूपावली	...	४३५—४४९
संज्ञा की रूपावली	...	३३५—४१३
संधि के नियम	...	५४
संधि-व्यंजन	...	३५३
संप्रसारण	...	१५१—१५५
सर्वनामों की रूपावली	...	४१५—४३५
स श ष-कार का महाप्राणीकरण	...	२११
सादे व्यंजनों का महाप्राण में परिवर्तन	...	२०९
साधारण विशेषण के स्थान पर तर वाला रूप	...	४१४
साधारण व्यंजनों में ह-कार का आगमन	...	२०७—२११
सामान्य क्रिया	...	५७३—५८०
सामान्यक्रिया (कर्मवाच्य)	...	५८०
सामान्यक्रिया (कृदंत के रूप में)	...	५७६, ५७७, ५७९
सामान्यक्रिया के अर्थ में कृदंत	...	५८५, ५८८, ५९०
स्त्रियाँ कभी संस्कृत और कभी प्राकृत बोलती हैं	...	३०

विषय		पारा
स्त्रियों की प्राकृत	...	३०
स्वर, (अपभ्रंश में)	...	१००
स्वर का आगम	...	१४७
स्वर-भक्ति	...	१३१—१४०
स्वर-भक्ति की सहायता से व्यंजनों का पृथक्करण	...	१३१
स्वरलोप	...	१४८
स्वरविच्युति (अक्षरों की)	...	१५०
स्वरविच्युति (लोप)	...	१४१—१४६
स्वरविच्युति, (स्वरों की)		१४१—१४६, १७१, १७५
स्वरविच्युति (= स्वरलोप)	...	१४८
स्वर संधि	...	१५६—१७५
स्वर (दीर्घ) संयुक्त व्यंजनों के पहले	...	८७
स्वरों में समानता का आगमन	...	१७७
स्वरों (दीर्घ) का ह्रस्वीकरण	...	७८—१००
स्वरों (ह्रस्व) का दीर्घीकरण	...	७७—७८
ह-कार का आगम	...	२१२
ह्रस्व स्वरों का दीर्घीकरण	...	६२—७६
ह्रस्व-स्वरों का दीर्घीकरण और अनुस्वार का लोप	...	७६

विषय या नाम	पारा
अ	
--मि = -स्मिन्	३१३
--सि = -ष्मिन्	३१२
--सि= -स्मिन्	३१३
अ का इ मे परिवर्तन	१०१–१०३
अ का उ मे परिवर्तन	१०४–११६
अ में समाप्त होनेवाली संज्ञाओ की रूपावली	३६३–३७३
-अ= -क	५९८
अ, अम् का उ मे परिवर्तन	३५१
अड, अडी	५९९
अणअ	६०२
-अण, -अणहा, -अणहीं	५७९
अपभ्रंश	३ ५, २८, २९
अपभ्रश, नागर, व्राचड, उपनागर	२८
अपराजित	१३
अप्पयज्वन	४१
अप्पयदीक्षित	४१
अभिमान	१३
अभिमानचिह्न	१३, ३६
अर्, अह् = ओ	३४२, ३४३
अर्धमागधी	१६–१९
अवन्तिसुन्दरी	३६
अवहट्ठभासा	२८
अस, अह् = ओ	३४५, ३४७
,, ,, = ए	३४५
,, ,, = अ	३४७
,, ,, = उ	३४६
आ	
आ का इ में परिवर्तन	१०८, १०९
आ का ई ,, ,,	११०

विषय या नाम	पारा
आ का उ मे परिवर्तन	१११
आ का अ ,, ,,	११३
आ का अं ,, ,,	११४
आ उपसर्ग	८८
आ मे समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों की रूपावली	३७४–३७६
आ में समाप्त होनेवाली धातुओं की रूपावली	४८७, ४९२
-आप	५९३
आनन्दवर्धन	१४
आर्षम्	१६,१७
-आल -आलअ	३९५
-आलु, -आलुअ	५९५
आवन्ती	२६
इ	
-इ का -उ मे परिवर्तन	११७,११८
इ मे समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों की रूपावली	३७७–३८८
इ मे समाप्त होनेवाली धातुओं की रूपावली	४७३
-इ	५९४
इएँव्वउँ	५७०
-इक	५९८
-इत्त, -इत्तअ	६००
-इत्तए	५७८
-इत्तु	५७७
-इत्थ, -इत्था	५१७
-इम	६०२
-इय	५९८
-इर	५९६
-इरे	४५८

विषय या नाम — पारा

-इल्ल, -इल्लअ ५९५

ई

ई का ए में परिवर्तन १२१
ई का एँ, ए में परिवर्तन १२२
ई में समाप्त होनेवाले संज्ञाशब्दों की रूपावली ३७७-३८८
ई में समाप्त होनेवाली धातुओं की रूपावली ४७४

उ

उ का अ में परिवर्तन १२३
उ का इ ,, १२४
उ का ओँ ,, १२५
उ का अं, अम् ,, ३५१
उ में समाप्त होनेवाले संज्ञाशब्दों की रूपावली ३७७-३८८
उ में समाप्त होनेवाली धातुओं की रूपावली ४७३, ४९४
-उअ, -उय ११८
-उआण ५८४
-उं, -उ = -कम् ३५२
उदयसौभाग्यगणिन २९,३६
उद्‌दृत १६४ नोटसंख्या १
उद्‌वृत्त १६४
उपनागर, अपभ्रंश २८
-उल्ल, -उल्लअ ५९५
-उल्लड, उल्लडअ ५९९
ऊ का ओँ में परिवर्तन १२७
ऊ में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों की रूपावली ३७७-३८८
ऊ में समाप्त होनेवाली धातुओं की रूपावली ४७३, ४९४
-ऊण ५८४, ५८६
-ऊणं ५८४, ५८५

ऋ

ऋ ज्यों का त्यों बना रह गया है ४७
ऋ का अ, इ, उ में परिवर्तन ४७-५५

विषय या नाम — पारा

ऋ का रि ,, ५६
ऋ का लि ,, ५६
ऋ में समाप्त होनेवाली संज्ञाओं की रूपावली ३८९-३९२
ऋ में समाप्त होनेवाली धातुओं की रूपावली ४७७, ४७८

ॠ

ॠ का ई, ऊ में परिवर्तन ५८
ॠ में समाप्त होनेवाली धातुओं की रूपावली ४७७, ४७८

ए

ए का एँ में परिवर्तन ८५, ९४, ९५
ए का इ ,, ७९-८२, ८५
ए का एँ, इ ,, ८४, ८५, १२८
ए = अइ जो अति से निकला १६६
ए = अ १२९
ए = अर्, अस्, अह् ३४४, ३४५
एँ ४५
एँ, दो संयुक्त व्यंजनों से पहले अइ का एँ हो जाता है ६०
एँ, ए से ८४, ८५
एँ, ई से १२२
एँ का ए में परिवर्तन ६६, १२२
ए में समाप्त होने वाली क्रियाएँ ४७२
-एप्पि ५७०
-एवा ५७१
एव्वउँ (=वच्) ५७०

ऐ

अइ (=ऐ) का ए, एँ में परिवर्तन ६०, ६१
ऐ का अइ में परिवर्तन ६१
ऐ का इ ,, ८४

ओ

ओ का उ में परिवर्तन ८५
ओ का ओँ ,, ८५, ९४, ९५
ओ का उ, ओँ ,, ८४, ८५, २३०, ३४६

विषय या नाम | पारा
ओ = अर्, अः | ३४२, ३४३
ओ = अस्, अः | ३४५, ३४७
ओॅ | ४१
ओॅ, औ का ओ संयुक्तव्यजनों से पहले ओॅ बन जाता है | ६१ अ
ओॅ, औ का परिवर्तन | ८४
ओॅ का दीर्घाकरण | ६६, १२७
ओॅ का उ में परिवर्तन | ८४
ओ में समाप्त होनेवाली संज्ञाओं की रूपावली | ३९३

औ

औ ज्यों का त्यों बना रहता है | ६१ अ
औ का ओॅ, ओ, औ में परिवर्तन | ६१ अ
औ का उ में परिवर्तन | ८४
औ में समाप्त होनेवाली संज्ञाओं की रूपावली | ३९४
औदार्यचिन्तामणि | ४१

क

क का ख में परिवर्तन | २०६
क का ग ,, ,, | २०२
क का व ,, ,, | २३०
क का च ,, | २३०
–क | ५९८
कक्कुक शिलालेख | १०
कम् का उं ऊँ में परिवर्तन | ३५२
कात्यायन | ३२
कालापाः | ३६
कृष्णपण्डित | ४१
कैकेयपैशाच | २७
कोहल | ३१
क्क = ष्क | ३०२
क्क = स्क | ३०६
क्क = :क | ३२९
क्ख = ष्क, ष्ख | ३०२
क्ख = स्क, स्ख | ३०६

विषय या नाम | पारा
क्ख = :क, :ख | ३२९
क्ख देखो क्ष, ख
क्म का प्प में परिवर्तन | २७७
क्रमदीश्वर | ३७
क्ष का क्ख, च्छ में परिवर्तन | ३१७–३२२
क्ष का ह में परिवर्तन | ३२३
क्ष का स्क, :क में परिवर्तन | ३२४
क्ष का ज्झ ,, ,, | ३२६
क्ष्ण का ण्ह ,, ,, | ३१२
क्ष्म का म्ह ,, ,, | ३१२

ख

ख का घ में परिवर्तन | २०२
ख = ष | २६५
ख = क्ष | ३१७, ३१९, ३२०, ३२१
–ख | २०६, ५९८

ग

ग का घ में परिवर्तन | २०९
ग का व ,, ,, | २३१
ग का म ,, ,, | २३१
ग, व से निकला हुआ | २३१
ग, ज के स्थान पर | २३४
ग, य के स्थान पर | २५४
–ग = –क | ५९८
गउडवहो | १५
गाहा | १२
गीतगोविन्द | ३२
गुणाढ्य | २७
गोपाल | ३६
ग्म का ग्ग में परिवर्तन | २७७
ग्म का म्म ,, ,, | २७७
ग्राम्यभाषा | २७

च

च के स्थान में ज | २०२
च का च्च में परिवर्तन | २१७
चण्ड | ३४
चण्डीदेवशर्मन् | ३७

विषय या नाम	पारा
चन्द्र	३४
चन्द्रशेखर	४१
चम्पकराज	१३
चल्क (?)	२७
चाण्डाली	२४
चूलिकापैशाची	२७
च्च = त्य	२८०
च्च = त्व	२९९
च्च = श्च	३०१
-च्चा, च्चाणं, च्चाण	५८७
च्छ = क्ष	३१७, ३१८, ३२०, ३२१
च्छ = त्स	३२७
च्छ = थ्य	२८०
च्छ = थ्व	२९९
च्छ = प्स	३२८
च्छ = श्च, श्छ	३०१
छ	
छ = श	२११
छ का श्च में परिवर्तन	२३३
छ देखो च्छ	
छेकोक्तिविचारलीला	१३
ज	
ज का ग में परिवर्तन	२३४
ज का च ,, ,,	२०२
ज का झ ,, ,,	२०९
ज का य्ज ,, ,,	२१७
ज का य ,, ,,	२३६
जअवल्लह	१४
जयदेव	३२
जयवल्लभ	१२, १४
जूमरनन्दिन्	३७
जैन प्राकृत	१६
जैन महाराष्ट्री	१६, २०
जैन शौरसेनी	२१
जैन सौराष्ट्री	२०
ज्ज = द्य	२८०

विषय या नाम	पारा
ज्ज = द्व	२९९
ज्ज = य्य	२८४
ज्ज = र्य	२८४
ज्झ = क्ष	३२६
ज्झ = ध्य	२८०
ज्झ = ध्व	२९९
ज्झ = ह्य	३३१
ज्ञ का ञ्ञ में परिवर्तन	२७६
ज्ञ का ञ ,, ,,	२७६
ज्ञ का ञ्ज ,, ,,	२७६
ज्ञ का ण्ण ,, ,,	२७६
झ	
झ देखो ज्झ	
झ का ज्ह में परिवर्तन	२३६
झ का ह्य ,, ,,	३३१
ञ	
ञ	२३७
ञ्ञ का ण्ण में परिवर्तन	२७३
ञ्ज का ञ्ज ,, ,,	२७४
ट	
ट का ड में परिवर्तन	१९८
ट का ढ ,, ,,	२०७
ट का ळ ,, ,,	२३८
ट्ट = र्त	२८९
ट्ट = त्र	२९२
ट्ट = ट्ट	५७७
ट्ट का शट ,, ,,	३०१
ट का स्ट	३०१
ट्ठ = र्थ	२९०
ट्ठ = ष्ट, ष्ठ	३०३
ट्ठ = स्त, स्थ	३०८, ३०९
ठ	
ठ का ढ में परिवर्तन	१९८, २२१
ठ का ढ ,, ,,	२२१
ठ देखो ट्ठ ,, ,,	

विषय या नाम	पारा
ड	
ड का ट मे परिवर्तन	२४०
ड का ड़ ,, ,,	५९९
ड का र ,, ,,	२४१
ड्ड = र्द	२९१
ड्ढ = द्र	२९४
ड्ढ = र्ध	२९१
ढ	
ढ ज्यो का त्यो रह जाता है	२४२
ढ (गोण) का ठ हो जाता है	२४२
ढक्की	२५
ण	
ण का ञ मे परिवर्तन	२४३
ण का न ,, ,,	२२५, २४३
ण का ळ ,, ,,	२४३
णन्दिउड्ढ	१३
ण्ह = ह्ण	३१२
ण्ह = श्न्, ष्न, स्न	३१२, ३१३
ण्ह = ह्न, ह्ण	३३०
त	
तु में समाप्त होने वाले संज्ञाओं की रूपावली	३९५-३९८
त, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री मे त का ट में परिवर्तन	२१८
त का ड ,, ,,	२१८, २१९
त का थ ,, ,,	२०७
त का द ,, ,,	१८५, १९२, २०३, २०४
त का र ,, ,,	२४५
त का ळ ,, ,,	२४४
तज्ज	८
तत्तुल्य	८
तत्सम	८
तद्भव	८
–तुआण	५८४
–त्तुआण	५८४
–तूण	५८४, ५८६
–त्तूण	५८४, ५८५, ५८६
त्त = त्य	२८१
त्त = त्र, र्त	२८८
त्त = त्व	२९८, ५९७
त्त = स्त	३०७
–त्तए	५७८
–त्तण = त्वन	५९७
–त्ताणं	५८३
त्थ = त्र	२९३
त्थ = स्त, स्थ	३०७
त्रिविक्रम	३८
त्स, त्स का स्स, स मे परिवर्तन	३२७अ
थ	
थ का ढ में परिवर्तन	२२१
थ का ध ,, ,,	२०३
–थ	२०७
–थि	२०७
द	
द का ड मे परिवर्तन	२२२
द का त ,, ,,	१९०, १९१
द का ध ,, ,,	२०९
द का र ,, ,,	२४५
द का ळ ,, ,,	२४४
द का ल ,, ,,	२४४, २४५
दहमुहवओ	१५
दाक्षिणात्या	२६
दिगंबरों के धार्मिक नियम	२१
–दूण	५८४
देवराज	१३, ३३, ३६
देशभाषा	४, ६
देशी	८, ९
देशीनाममाला	३६
देशीप्रकाश	४१
देशीप्रसिद्ध	८
देशीमत	८

विषय या नाम	पारा
देशीशब्दसंग्रह	३६
द्रव्य	८, ९
द्रोण	३६
द्रोणाचार्य	३६
ध	
ध का ढ में परिवर्तन	२२३
ध का थ ,, ,,	२९२
धनपाल	३५, ३६
धात्वादेश	९
न	
न का अनुस्वार होता है	३४८
न में समाप्त होनेवाली संज्ञा की रूपावली	३९९
न का ञ में परिवर्तन	२४३
न का ण ,, ,,	२२४
न का न ,, ,,	२२४
न का ल ,, ,,	२४३
न-, अ-, अन्- के स्थान पर	१७१
नक्षत्र की व्युत्पत्ति	२७० नोटसंख्या ३
नन्दिवृद्ध	१३
नरसिंह	४१
नरेन्द्रचन्द्रसूरि	३६
नागर अपभ्रंश	२८
नागर	२९
नारायण विद्याविनोदाचार्य	४७
नृसिंह	४१
न्त का न्द में परिवर्तन	२७०
प	
प का फ में परिवर्तन	२०८
प का व ,,	१९९
प का भ ,,	२०८, २०९
प का म ,,	२४८
प का य ,,	१९९
[illegible]	२४
पाइयलच्छी	३६
पाञ्चाल पैशाचिक	२७
पाटलिपुत्र	२३८ नोटसंख्या ३, २९२

विषय या नाम	पारा
पाणिनि	३१
पादलिप्त	३६
पादलिप्ताचार्य	१३
पालित्त, पालित्तअ	१३
-प्पि	५८८
पिङ्गलछन्द सूत्र	२९
-प्पिणु	५८८
पुष्पवननाथ	४१
पूर्वनिपातानियम	६०३ नोट संख्या १
पैशाचिक, पैशाचिकी	२७
पैशाची	३, २७
पैशाची के ग्यारह प्रकार	२७
,, ,, तीन ,,	२७
पॉट्टिस	१३
प्प = त्म	२७७
प्प = त्व	३००
प्प = :प	३२९
प्प = ष्प	३०५
-प्पण = त्वन	३००, ५९७
-प्पि = -त्वी	३००, ५८८
-प्पिणु = -त्वीनम्	,, ,,
प्फ = ष्प, ष्फ	३०५
प्फ = स्प, स्फ	३११
प्फ = :प, :फ	३२९
प्रकाशिका	३६
प्रवरसेन	१३, १५
प्राकृत की व्युत्पत्ति	१, ९, १६, ३०
प्राकृतकल्पतरु	४१
प्राकृतकल्पलतिका	४३
प्राकृतकामधेनु	४१
प्राकृतकौमुदी	,,
प्राकृतचन्द्रिका	,,
प्राकृतदीपिका	३७
प्राकृतपाद	,,
प्राकृतपादटीका	,,
प्राकृतप्रकाश	३३

विषय या नाम — पारा

प्राकृतप्रबोध ३६
प्राकृतभाषान्तरविधान ३४
प्राकृतमञ्जरी ३३
प्राकृतमणिदीप ४१
प्राकृतरूपावतार ३९
प्राकृतलक्षण ३१, ३४
प्राकृतलंकेश्वर रावण ४१
प्राकृतव्याकरण ३८, ,,
प्राकृतशब्दप्रदीपिका ,,
प्राकृतसंजीवनी ४०
प्राकृतसर्वस्व ,,
प्राकृतसारोद्धारवृत्ति ३४
प्राकृतसाहित्यरत्नाकर ४१
प्राकृतानन्द ३९
प्राच्या २२

फ

फ का भ में परिवर्तन २००
फ का ह में ,, १८८, ,,

ब

ब का भ में परिवर्तन २०९
ब का म ,, ,, २५०
ब का व ,, ,, २०१
बप्पइराअ १५
बाह्लीकी २४
बृहत्कथा २७
ब्व = द्ध ३००
ब्भ = द्ध ३३२

भ

भ, व से निकला २०९
भ = ह्व ३३२
भट्टेन्दुराज १४
भरत ३१, ३६
भामह ३३, ,,
भाषाः ३, ४
भाषाभेद ४१
भाषार्णव ,,

विषय या नाम — पारा

भाषाविवेचन ४०
भुवनपाल १३
भूतभाषा २७
भूतभाषित ,,
भूतवचन ,,
भौतिक ,,

म

म के स्थान पर अनुस्वार ३४८
म, स्वर से पहले ज्यों का त्यों रह जाता है, यदि ह्रस्व वर्णों की आवश्यता पड़े ,,
म् का ∸ के स्थान पर अशुद्ध प्रयोग ३४९
म्, संधिव्यंजन के रूप में ३५३
म का वँ में परिवर्तन २५१
म का व ,, ,, ,,
म = श्म, ष्म ३१२
महुमथनविजय १३, १४
मनोरमा ३३
–मन्त ६०१
मलअसेहर १३
महाराष्ट्री २, १२–१५, १८
महुमहविअअ (§ १५ में महुमहविजअ पाठ है अनु०) ,, , १५
मागध पैशाचिक २७
मागधी १७, १८, २३
मार्कण्डेय कवीन्द्र ४०
–मीण ५६२
मृगाङ्कलेखाकथा १३
–म्मि = –स्मित् ३१३
–म्ह = क्ष्म, श्म, ष्म, स्म ३१२, ,,
म्ह = ह्म ३३०

य

य्, व्यंजनों और अन्तस्थों के साथ संयुक्त २७९–२८६
य्, ई ऊ के अनन्तर र् के परे लुप्त हो जाता है २८४

विषय या नाम	पारा
य्, सन्धि-व्यंजन के रूप में	३५३
य का ज में परिवर्तन	२५२
य का र ,, ,,	२५५
य का ल ,, ,,	,,
य ज्यों का त्यों बना रहता है	२५२
य, पल्लव- तथा विजयबुद्धवर्मन्-दानपत्रों में	२५३
-य् = -क	५९८
यश्रुति	१८७
-याण, -याणं	५९२
य्च = च	२१७
य्ज = ज	,,
र्य = द्य	२८०
र्य = र्यँ	२८४
र्ह = ह्य	३३१
र्य्ह = ह्य	२८०
र	
र का ड में परिवर्तन	२५८
र का ल ,, ,,	२८५
र, व्यंजनों के बाद रह जाता है	२६८
र, व्यंजनों और अंतस्थों से संयुक्त	२८७-२९५
र, शब्दांत में	३४? ३४४
र, संधि व्यंजन रूप में	३५३
र का ल में परिवर्तन	२५६ २५७
रघुनाथशर्मन्	३९
रत्नदेव	१४
रत्नावलि	२६
रत्नवती	२७
राजशेखर	१३, २२
रामतर्कवागीश	४१
रामदास	१५
राम	४?
रावणवहो	१०
राहुलक	१६

विषय या नाम	पारा
ल	
ल का ह्लि और ल्लि में परिवर्तन	५९
ल का ट में परिवर्तन	२२६
ल का ड ,, ,,	२२६
ल का ण ,, ,,	२२६
ळ, ल के स्थान पर	२४०
ल का ण में परिवर्तन	२६०
ल का न ,, ,,	२६०, २९६
ल, व्यंजनों और अंतस्थों से संयुक्त	२९५
ल का ळ में परिवर्तन	२६०
ल, र के स्थान पर	२५९
ल, ळ के ,, ,,	२२६
लक्ष्मीधर	१८७
लघुप्रयत्नतरयकार	
लङ्केश्वर	४१
ललितविग्रहराजनाटक	१०, ११
ल्ह = ह्ल = ह्ल	२९४
र्ह = ह्ल	३३०
व	
व, इ, उ, ऊ के स्थान पर (शब्दारंभ में)	३३७
व, व्यंजनों और अंतस्थों से संयुक्त	२९७-३००
व का ग में परिवर्तन	२३१
व, ग के स्थान पर	२३१
व का व में परिवर्तन	२६१
व का म में परिवर्तन	२६१
व, म के स्थान पर	२५१, २७७, ३१२
व, य ,, ,,	२५४
वज्जालग्ग	१२, १४
-वन्त	६०१
वररुचि	३२
वसंतराज	४०
वाक्पतिराज	१३, १५
वामनाचार्य	४१
वारेन्द्री भाषा	२८

विषय या नाम — पारा

वार्त्तिकार्णवभाष्य ३२, ४१
-वि ५८८
विजयबुद्धवर्मन् की रानी का शिलालेख १०
-विणु ५८८
विद्याविनोदाचार्य ३७
विभाषाः ३, ४, ५
विभ्रष्ट ८
विषमबाणलीला १४
विष्णुनाथ ३३
व्युत्पत्तिदीपिका २९, ३६
व्राचड अपभ्रंश २८
व्राचड पैशाचिक २७

श

श ज्यों का त्यों रह जाता है २२८, २२९
श का छ में परिवर्तन २११
श का स ,, ,, २२७
श का ह में परिवर्तन २६२
शकी ३, २८
शब्दचिन्तामणि ४१
शाकल्य ३१
शाकारी २४
शाबरी ,,
शिवस्कन्दवर्मन् का शिलालेख १०
शीलाङ्क ३६
शुभचन्द्र ४१
शेष १६४ नोटसंख्या १
शेषकृष्ण ४१
शौरसेन पैशाचिक २७
शौरसेनी २१, २२
श्क = ष्क ३०२
श्ख = ष्ख ३०३
श्च का प्रयोग मागधी में ३०१
श्ट = ष्ट, ष्ठ (?) ३०३
श्त = स्त ३१०
श्वेताम्बर जैनों के धार्मिक नियम १९

विषय या नाम — पारा

ष

ष का छ में परिवर्तन २११
ष का य में ,, २६५
ष का श में ,, २२९
ष का स में ,, २२७
ष का ह में ,, २६३
षड्भाषाचन्द्रिका ३९
षड्भाषासुबन्तरूपादर्श ,,

स

स का छ में परिवर्तन २११
स का य में ,, २६५
स का श में ,, २२९
स् में समाप्त होनेवाली संज्ञाओं की रूपावली ४०७-४१२
स = त्श ३२७ अ
स = त्स ,,
स = ह्श ३२९
स = ह्ष ,,
स = ह्स ,,
संक्षिप्तसार ३७
संस्कृतभव ८
संस्कृतयोनि ,,
संस्कृतसम ,,
सत्तसई १२, १३
सत्यभामासंवाद १४
समन्तभद्र ४१
समानशब्द ८
सर्वसेन १३, १४
-सा, अ में समाप्त होनेवाली संज्ञाओं का करण कारक का चिन्ह ३६४
सातवाहन १३, ३६
साध्यमानसंस्कृतभव ८
सिंहराज ३९
सिद्धसंस्कृतभव ८
सिद्धहेमचन्द्र ३६
सेतुबन्ध १५

विषय या नाम	पारा
सोमदेव	१९, २२
स्क = क्ष	३२४
स्क = ष्क	,,
स्क में समाप्त होनेवाली प्राचीन धातुओं की रूपावली	४८०
स्त = ष्ष	३०२
स्ट = ष्ट	३०३
स्ठ = ष्ठ	,,
स्ण = ण्ण	३१४
स्ण = ह्न	,,
स्त = र्थ	२९०
स्त = स्त	३१०
स्त = स्थ	,,
स्प = ष्प	३०५
स्फ = ष्फ	,,
स्म = ष्म	३१४
स्म = स्म	,,
स्म = ह्म	३२७ अ
स्स = ह्स	,,
स्म = :श	३२९
स्स = :ष	,,
स्स = :स	,,
-स्सिं = स्मिन्	३१३

ह

विषय या नाम	पारा
ह् की निच्युति नहीं होती	२६६
ह् का आगम, शब्दारम्भ में	३३८
ह् + अनुनासिक और अन्तस्थ	३३०-३३३
ह = क्ष	३२३
ह का घ में परिवर्तन	२६७
ह का स ,, ,,	२६४, ३१५
ह का ह-कार युक्त व्यंजनों (महाप्राण) में परिवर्तन	,,
-ह	२०६, ५९८
हर्त्तेलिनाटक	११
हरिउड्ढ	१३
हरिपाल	१५
हरिविजय	१३, १४
हरिवृद्ध	,,
हलायुध	३६
हाल	१२, १३
हिँ - = -ष्मिन्	३१२
-हिँ = -स्मिन्	३१३
-हिं = -ष्मिन्	३१२
-हिं = -स्मिन्	३१३
हुग्ग	३६
हेमचन्द्र	३६
- : क = -ह्व	३२९
- : क = -क्ख	,,
- : क = -क्ष	३२४
- : प = -प्प	३२९
- : प = -प्फ	,,

विषय-सूची

(अनुवादक के अनुसार)

विषय-प्रवेश — पृष्ठ

(अ) प्राकृत भाषाएँ ... १
(आ) प्राकृत व्याकरणकार ... ६५

अध्याय १

ध्वनि शिक्षा ... ९५

'अ' ध्वनित और स्वर

१. ध्वनित ... ९६

अध्याय २

स्वर

(अ) द्विस्वर ऐ और औ ... ११६
(आ) ह्रस्व स्वरों का दीर्घीकरण ... १२१
दीर्घ स्वर के स्थान पर ह्रस्व स्वर का प्रयोग ... १४९
(ए) स्वरों का लोप और दर्शन (आगम) ... २२६
(ऐ) स्वर-लोप ... २३३
(ओ) वर्णों का लोप और विकृति (अवपतन) ... २३६
(औ) सम्प्रसारण ... २३८
(अं) स्वर-संधि ... २४५
(अः) अनुस्वार और अनुनासिक स्वर ... २७३

ब. व्यंजन

(एक) युक्त स्वरों पर व्यंजन ... २८०
२. सरल व्यंजनों के संबंध में ... ३३१
(दो) संयुक्त व्यंजन ... ३८४
(तीन) शब्दों के आदि में व्यंजनों की विच्युति का आगमन ... ४७६
शब्द के अंत में व्यंजन ... ४८०
(पाँच) संधि व्यंजन ... ४९७
(छह) वर्णों का स्थान परिवर्तन (व्यत्यय) ... ५००

तीसरा खंड : रूपावली-शिक्षा

(अ) संज्ञा ... ५०३
(१) अ में समाप्त होनेवाला वर्ग ... ५१५
(अ) पुंलिंग तथा नपुंसक लिंग ... ५१५

(आ) आ-वर्ग के स्त्रीलिंग की रूपावली ... ५३८
(२) —इ, —ई और —उ, —ऊ वर्ग ... ५४४
(अ) पुलिंग और नपुसक लिंग ... ५४४
(आ) स्त्रीलिंग ... ५५७
(३) शब्द के अत में —ऋ-वाला वर्ग ... ५६३
(४) ओ और औ वर्ग ... ५७०
(५) अत में—त् लगनेवाले मूल सज्ञा शब्द ... ५७१
(६) —न् में समाप्त होनेवाला वर्ग ... ५८०
(७) शेष व्यजनों के वर्ग ... ६०४
(८) —तर और —तम के रूप ... ६०७
आ—सर्वनाम ... ६०८
(इ) सख्या शब्द ... ६४४
(ई) क्रिया शब्द ... ६७०
(अ) वर्तमान काल ... ६७१
(१) परस्मैपद का सामान्य रूप ... ६७१
(२) आत्मनेपद का वर्त्तमानकाल ... ६७६
(३) ऐच्छिक रूप ... ६७८
(४) आज्ञावाचक ... ६८१
अपूर्णभूत ... ७४१
पूर्णभूत (सबल) ... ७५१
पूर्णभूत ... ७५४
भविष्यत्काल ... ७५६
कर्मवाच्य ... ७७२
इच्छावाचक ... ७९३
घनत्ववाचक ... ७९३
नामधातु ... ७९४
धातुसधित संज्ञा ... ७९९
(अ) अक्रिया ... ७९९
सामान्य क्रिया ... ८१४
कृदन्त (—त्वा और—य वाले रूप) ... ८२१
(चौथा खंड) शब्द रचना ... ८४१
शुद्धि-पत्र ... १
१३३वें पारा के बाद के छूटे हुए पारा ... ५६
प्राकृत शब्दों की वर्ण-क्रम-सूची ... ६५
सहायक ग्रंथों और शब्दों के सक्षिप्त रूपों की सूची ... १

प्राकृत भाषाओं का व्याकरण

विषय-प्रवेश

अ. प्राकृत भाषाएँ

§ १—भारतीय वैयाकरणों और अलंकार शास्त्र के लेखकों ने कई साहित्यिक भाषाओं के समूह का नाम 'प्राकृत' रखा है और इन सब की विशेषता यह बताई है कि इनका मूल संस्कृत है। इसलिए वे नियमित रूप से यह लिखते हैं कि प्राकृत प्रकृति अथवा एक मूल तत्त्व या आधारभूत भाषा से निकली है तथा यह आधारभूत भाषा उनके लिए संस्कृत है। इस विषय पर 'हेमचन्द्र' आदि में ही कहता है—

प्रकृतिःसंस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। १।१

अर्थात् 'आधारभूत भाषा संस्कृत है और इस संस्कृत से जो भाषा निकली है या आई है, वह प्राकृत कहलाती है।' इसी प्रकार 'मार्कण्डेय' ने भी अपने 'प्राकृत सर्वस्वम्' के आरम्भ में ही लिखा है—

प्रकृतिःसंस्कृतम्। तत्रभवं प्राकृतम् उच्यते। १

'दशरूप' की टीका मे 'धनिक' ने २-६० में लिखा है—

प्रकृतेर् आगतं प्राकृतम्। प्रकृतिःसंस्कृतम्।

'वाग्भटालंकार' २-२ की टीका मे 'सिंहदेवगणिन्' ने लिखा है—

प्रकृतेःसंस्कृताद् आगतं प्राकृतम्।

पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट के ३४३-७ मे 'प्राकृत चन्द्रिका' मे आया है—

प्रकृतिःसंस्कृतम्। तत्र भवत्वात् प्राकृतम् स्मृतम्।

'नरसिंह' ने 'प्राकृत शब्द-प्रदीपिका' के आरम्भ में ही कहा है। उसकी तुलना कीजिए—

प्रकृतेःसंस्कृतायास् तु विकृतिः प्राकृती मता।

कर्पूरमंजरी के बम्बई संस्करण में वासुदेव की जो संजीवनी टीका दी गई है, उसमें लिखा है—

प्राकृतस्य तु सर्वम् एव संस्कृतम् योनिः । ९।२

अन्य व्युत्पत्तियों के लिए सोलहवाँ पाराग्राफ देखिए ।

§ २—गीतगोविन्द ५–२ की नारायण द्वारा जो 'रसिकसर्वस्व' टीका लिखी गई है, उसमें कहा गया है—

संस्कृतात् प्राकृतम् इष्टम् ततोऽपभ्रंश भाषणम् ।

अर्थात् 'ऐसा माना जाता है कि संस्कृत से प्राकृत निकली है और प्राकृत से अपभ्रंश भाषा जनमी है'* । शकुन्तला ९–१०[१] की टीका करते हुए 'शंकर' ने साफ लिखा है—

संस्कृतात् प्राकृतम् श्रेष्ठम् ततोऽपभ्रंश भाषणम् ।

अर्थात् 'संस्कृत से श्रेष्ठ (भाषा) प्राकृत आई है और प्राकृत से अपभ्रंश भाषा निकली है ।'†

दण्डिन् के काव्यादर्श १–३४ के अनुसार महाराष्ट्री श्रेष्ठ प्राकृत है (§ १२)—

महाराष्ट्राश्रयाम् भाषाम् प्रकृष्टम् प्राकृतं विदुः ।

दूसरा कारण यह है कि ये भारतीय विद्वान् ऐसा समझते थे कि संस्कृत महाराष्ट्री प्राकृत के बहुत निकट है । भारतीय जब कभी साधारण रूप से प्राकृत का जिक्र करते हैं तब उनका प्रयोजन प्रायः सर्वदा महाराष्ट्री प्राकृत[१] से होता है । ऐसा माना जाता है कि महाराष्ट्री वह भाषा है जो दूसरी प्राकृत भाषाओं का आधार है[२], और वह देसी वैयाकरणों द्वारा लिखे गये प्राकृत भाषाओं के व्याकरणों में सर्वप्रथम स्थान पाती है । सबसे पुराने वैयाकरण 'वररुचि' ने ९ अध्याय और ४२४ सूत्र में महाराष्ट्री का व्याकरण दिया है तथा उसने जो अन्य तीन प्राकृत भाषाओं के व्याकरण दिये हैं, उनके नियम एक एक अध्याय में, जिनमें क्रमशः १८, १७ और ३२ नियम हैं, समाप्त कर दिये हैं । वररुचि ने अन्त में (१२, ३२) लिखा है कि जिन जिन प्राकृत भाषाओं के विषय में जो बात विशेष रूप से न कही गई हो, वह महाराष्ट्री के समान ही मानी जानी चाहिए—

शेषम् महाराष्ट्रीवत् ।

अन्य वैयाकरण भी ऐसी ही बात लिखते हैं ।

* पिशल साहब का यह अर्थ ठीक नहीं जंचता, क्योंकि 'इष्ट' का अर्थ 'निकलना' नहीं होता, इष्टम् का अर्थ स्पष्ट है । यहाँ यह तात्पर्य है कि संस्कृत से प्राकृत मनोहर और प्रिय है और प्राकृत से भी प्यारी मीठी अपभ्रंश भाषा है । प्राकृत कवि 'नयणु' ने साफ लिखा है—"देसी भासा उभय तडुज्जल" अर्थात् अपभ्रंश भाषा संस्कृत और प्राकृत से भी उज्ज्वल है ।—अनु०

† इस पद का अर्थ भी 'पिशल' ने ठीक नहीं दिया है । इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि संस्कृत से प्राकृत श्रेष्ठ है और प्राकृत से भी उत्तम अपभ्रंश है ।—अनु०

१. पिशल द्वारा लिखे गये डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज, १—२. लास्सन इन्स्टीट्यूत्सीओनेस लिंगुआए प्राकृतिकाए पेज, ७। म्यूर ओरिजिनल सँस्कृत टेक्स्टम्. २, २, पेज ४३ और आगे—३. मार्कण्डेय पन्ना ४। ४ वररुचि ने १०,२;११,२ में इससे भिन्न मत दिया है। म्यूर के उक्त स्थल की तुलना करें।

§ ३—प्राकृत के रूप के विषय में व्यापक रूप से हमें क्या समझना चाहिए? इस विषय पर भारतीय आचार्यों के विचार भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर विरोधी भी हैं। वररुचि के मत से महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी प्राकृत भाषाएँ हैं। हेमचन्द्र इनके अलावा आर्ष, चूलिका, पैशाचिक और अपभ्रंश को भी प्राकृत भाषाएँ मानता है। त्रिविक्रम, सिंहराज, नरसिंह और लक्ष्मीधर भी उक्त भाषाओं को प्राकृत समझते हैं; पर त्रिविक्रम आर्षम् भाषा को प्राकृत भाषा नहीं मानता। सिंहराज, नरसिंह और लक्ष्मीधर इस भाषा का उल्लेख ही नहीं करते। मार्कण्डेय का कहना है कि प्राकृत भाषाएँ चार प्रकार की हैं—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच। वह भाषाओं में निम्नलिखित प्राकृत भाषाओं को गिनता है—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी। वह एक स्थान पर किसी नामहीन लेखक[1] के विरुद्ध लिखते हुए यह बात बताता है कि अर्द्धमागधी शौरसेनी से दूर न रहनेवाली मागधी ही है। दाक्षिणात्या प्राकृत के विशेष लक्षणवाली 'प्राकृत' भाषा नहीं है और वाहीकी भी ऐसी ही है। ये दोनों भाषाएँ मागधी के भीतर शामिल हैं। वह विभाषाओं में शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरिकी, शाक्की आदि सत्ताइस प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं के केवल तीन भेद करता है अर्थात् नागर, व्राचड और उपनागर। वह ग्यारह प्रकार की पैशाची बोलियों को तीन प्रकार की नागर भाषाओं के भीतर शामिल कर लेता है—कैकेय, शौरसेन और पांचाल[2]। रामतर्कवागीश[3] भी प्राकृत भाषाओं और अपभ्रंश के इसी प्रकार के भेद करता है; किन्तु सब वैयाकरण महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची को प्राकृत भाषाएँ मानते हैं।

१. जैसा कई विद्वान् समझते हैं कि यह नामहीन लेखक 'भरत' है, मुझे ठीक नहीं जँचता। यद्यपि विभाषा पर उक्त श्लोक भारतीय नाट्यशास्त्र १७—४९ से बिलकुल मिलता-जुलता है; पर और सूत्र 'भरत' से भिन्न हैं। यह उद्धरण पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट के ३४६ और उसके बाद के पन्नों में छपी हुई कृष्ण पण्डित की 'प्राकृतचंद्रिका' में भी आया है। इस विषय पर लास्सन की इन्स्टीट्यूत्सीओनेस लिंगुआए प्राकृतिकाए पेज २१ में रामतर्कवागीश की पुस्तक से इसकी तुलना करने योग्य है—२. यह, इस पुस्तक का कुछ अंश जो औफरेष्ट ने औक्सफोर्ड से प्रकाशित अपने काटालोगुस काटालोगोरम के पेज १८१ में प्रकाशित किया है, उसमें लिया गया है—३. लास्सन इन्स्टीट्यूत्सीओनेस लिंगुआए प्राकृतिकाए, पेज १९ से २३; इस विषय पर क्रमदीश्वर ५,९९ और भारतीय नाट्यशास्त्र १७,४८ तथा उसके बाद के पेज तुलना करने योग्य है।

§ ४—'वररुचि' अपभ्रंश का नाम नहीं लेता (§ ३), पर इससे लास्सन[1] की भाँति इस निदान पर पहुँचना कि अपभ्रंश भाषा वररुचि[2] के बाद चली है, भ्रमपूर्ण है। वररुचि ने अपभ्रंश का उल्लेख नहीं किया है, इसलिए ब्लौख[3] की भाँति 'वररुचि' पर यह दोष मढ़ना कि उसके ग्रंथ में छिछलापन और तथ्यों के विपरीत बातें लिखी गई हैं, भूल है। वररुचि के ऐसा लिखने का कारण यह है कि वह अन्य वैयाकरणों के साथ-साथ यह मत रखता है कि अपभ्रंश भाषा प्राकृत नहीं है, जैसा कि 'रुद्रट' के 'काव्यालंकार' २-११ पर टीका करते हुए 'नमिसाधु' ने स्पष्ट लिखा है कि कुछ लोग तीन भाषाएँ मानते थे—प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश—

यद् उक्तम् केश्चिद् यथा । प्राकृतम् संस्कृतम् चैतद् अपभ्रंश इति त्रिधा ।

इन विद्वानों में एक दण्डिन भी है जो अपने 'काव्यादर्श' के १-३२ में चार प्रकार की साहित्यिक कृतियों का उल्लेख करके, उनके भेद बताता है। ये कृतियाँ संस्कृत अथवा प्राकृत या अपभ्रंश में लिखी गई हैं और ये ग्रन्थ एक से अधिक भाषाओं में निर्मित किये गये। ऐसे ग्रंथों को दण्डिन् मिश्र[4] भाषा में लिखे गये, बताता है। काव्यादर्श के १-३६ के अनुसार दण्डिन् यह मानता है कि आभीर आदि भाषाएँ अपभ्रंश हैं और केवल उस दशा में इन्हें अपभ्रंश भाषा कहना चाहिए जब कि ये काव्यों के काम में लाई जाती हों, पर शास्त्रों में अपभ्रंश भाषा वह है जो संस्कृत से भिन्न हो। मार्कण्डेय अपनी पुस्तक के (पन्ना २) एक उद्धरण में आभीरों की भाषा को विभाषाओं (§ ३) में गिनता है और साथ ही उसे अपभ्रंश भाषाओं की पंक्ति में भी रखता है। उसने पांचाल, मालव, गौड, ओड्र, कालिंग्य, कार्णाटक, द्राविड़, गुर्जर आदि २६ प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं का उल्लेख किया है। उसके अनुसार अपभ्रंश भाषाओं का तात्पर्य जनता की भाषाओं से है, भले ही वे आर्य या अनार्य व्युत्पत्ति की हों। इस मत के विरुद्ध 'रामतर्कवागीश' यह लिखता है कि विभाषाओं को अपभ्रंश नाम से न कहना चाहिए, विशेषकर उस दशा में जब कि वह नाटक आदि के काम में लाई जायँ। अपभ्रंश तो वे भाषाएँ हैं जो जनता द्वारा वास्तव में बोली जाती रही होंगी[5]। बौल्लेनसेन द्वारा १८४६ में सेन्ट पीटर्सबुर्ग से प्रकाशित 'विक्रमोर्वशी' के पृष्ठ ५०९ में 'रविकर' का जो मत उद्धृत किया गया है। उसमें दो प्रकार के अपभ्रंशों का भेद बताया गया है। उसमें यह कहा गया है कि एक ढंग की अपभ्रंश भाषा प्राकृत से निकली है और वह प्राकृत भाषा के शब्दों और धातुरूपों से बहुत कम भेद रखती है तथा दूसरी भाँति की भाषा देशभाषा[6] है जिसे जनता बोलती है[7]। एक ओर संस्कृत और प्राकृत में व्याकरण के नियमों का पूरा

* हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि सब प्रकार की जो प्राकृत भाषाएँ जनता द्वारा नाना प्रान्तों में बोली जाती थीं, हमारी हिन्दी उनकी उत्तर है किंतु प्राकृत ग्रंथों की 'साधु भाषा' में बोली जानेवाली भाषा कम मिलती है। स्वयं अपभ्रंश भाषा के ग्रंथों में प्रचलित भाषा को व्याकरण सम्मत बनाने के प्रयत्न में लेखकों ने साहित्यिक भाषा का रूप देकर उसे इतना सँवारा कि 'साधु' और 'प्रचलित' दो भिन्न भाषाएँ बन गईं, जिनमें बहुत कम साम्य रह गया। इसपर भी प्राकृत तथा अपभ्रंश से हिन्दी के व्याकरण का इतिहास स्पष्ट रूप से मिलता

पूरा पालन किया जाता है। दूसरे प्रकार की अपभ्रंश भाषा में जनता की बोली और मुहावरों का प्रयोग रहता है। पुराने 'वाग्भट' ने भी अपभ्रंश के इन दो भेदों का वर्णन किया है। 'वाग्भटालंकार' के २-१ में उसने लिखा है कि चार प्रकार की भाषाएँ हैं अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभाषित अथवा पैशाची तथा २-३ में लिखा है कि भिन्न-भिन्न देशों की विशुद्ध भाषा वहाँ की अपभ्रंश भाषा है।

अपभ्रंशस् तु यच् छुद्धम्तत्तद्देशेषु भाषितम्।

नया वाग्भट अलंकारतिलक के १५-३ में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और ग्राम्य-भाषा के भेद बताता है। वलभी की एक प्रस्तरलिपि में 'गुहसेन' की यह प्रशस्ति गाई गई है कि वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश—इन तीन भाषाओं में अनायास ही ग्रन्थों का निर्माण कर सकता था (इण्डियन ऐण्टीक्वैरी १०,२८४)। 'रुद्रट' ने 'काव्यालंकार' के २-१२ में ६ भाषाओं का उल्लेख किया है—प्राकृत, संस्कृत, मागधभाषा, पिशाचभाषा, शौरसेनी और अपभ्रंश। इस अपभ्रंश भाषा के बारे में उसने कहा है कि देश भेद से इसके नाना रूप हो जाते हैं—

षष्ठोत्र भूरि भेदो देशविशेषाद् अपभ्रंशः।

अमरचन्द्र ने 'काव्यकल्पलता' की वृत्ति के पृष्ठ ८ में छः प्रकार की भाषाओं का यही भेद बताया है।

१. इण्डिशे आल्टरटूम्सकुण्डे दूसरा वर्ष, दूसरा खंड, पृष्ठ ११६९—२. वेबर, इण्डिशे स्टूडिफन २,५७, पिशल, कून्स वाइत्रैगे ८,१४५—३. वररुचि उण्ट हेमचन्द्र नामक ग्रन्थ के पृष्ठ १४ और उसके बाद के पृष्ठ जो कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३३,३३० पृष्ठ और उसके बाद के पृष्ठों में छापा गया था—यह पुस्तक जर्मनी के ग्यूटर्सलोह नामक स्थान से १८९३ में प्रकाशित हुई थी—४. दण्डिन् का अनुसरण कविचन्द्र ने अपनी 'काव्यचंद्रिका' में किया है। यह पुस्तक लास्सन के इन्स्टीट्यूत्सीओनेस लिंगुआए प्राकृतिकाए के पेज ३२ से छपी है। भाषाओं की यह संख्या भोजदेव के सरस्वतीकंठाभरण २-७ पेज ५६ में बहुत अस्पष्ट है—५. लास्सन इन्स्टीट्यूत्सीओनेस लिं० प्रा० के २१ तथा उसके बाद के पृष्ठों में छपी है। इस संबंध में म्यूर के ओरिजिनल संस्कृत टेक्सटस्, दूसरे खंड के दूसरे भाग का पृष्ठ ४६ देखिए—६. संस्कृतम्, प्राकृतम् और देशभाषा सोमदेव के लिए (कथासरित्सागर ६,१४८) मनुष्य जाति की तीन भाषाएँ हैं। उसने लिखा है भाषात्रयम् यन्मनुष्येषु संभवेत्। इस संबंध में 'क्षेमेन्द्र' की 'बृहत्कथामंजरी' ६-४७ और ५० देखें।

है और विशुद्ध हिंदी शब्दों की व्युत्पत्ति भी उनमें मिलती है, क्योंकि जो शब्द वैदिक रूप में तथा संस्कृत से घिसते-मँजते प्राकृत वाली जनता की बोली के काम में आने लगे, उनका रूप बहुत बदल गया और कुछ का रूप ऐसा हो गया है कि पता नहीं लगता कि ये देशज हैं या संस्कृत। इनका शोध संस्कृत द्वारा नहीं, प्राकृतों के अध्ययन और ज्ञान से सरल हो जाता है।—अनु०

§ ५—इन मतों के अनुसार अपभ्रंश का तात्पर्य उन बोलियों से है, जिन्हें भारत की जनता अपनी बोलचाल के काम में लाती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इन अपभ्रंश बोलियों में बहुत प्राचीन समय से ही नाना प्रकार की साहित्यिक कृतियाँ लिखी जाती थीं। इन बोलियों में नाटक लिखे जाते होंगे, इस बात का प्रमाण भारतीय नाट्यशास्त्र १७–४६ में मिलता है। इसमें नाटक के पात्रों को यह आज्ञा दी गई है कि नाटकों की भाषा, शौरसेनी के साथ साथ, अपनी इच्छा के अनुसार वे अन्य कोई भी प्रान्तीय भाषा काम में लायें—

शौरसेनम् समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।
अथवा छन्दतः कार्या देश भाषा प्रयोक्तृभिः॥

यहाँ कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों के समय के नाट्यशास्त्र के नियमों से सर्वांगसुसज्जित नाटकों के विषय में नहीं लिखा गया है; बल्कि जनता द्वारा खेले जानेवाले उन नाटकों का उल्लेख है, जिन्हें बंगाल में[1] जात्रा और उत्तर भारत[2] में रास आदि कहा जाता है। ये वही नाटक हैं जो अल्मोड़ा[3]*और नैपाल[4] में भी जनता द्वारा जनता के आमोदप्रमोद के लिए खेले जाते हैं और जिनका एक नमूना 'हरिश्चन्द्र नृत्यम्'[5] के रूप में जर्मनी में प्रकाशित हुआ है। इस अपभ्रंश को कभी किसी ने प्राकृत नहीं बताया है। यह वह अपभ्रंश भाषा है जो 'दण्डिन्' के अनुसार काव्य के काम में लाई जाती थी, और जो 'रविकर' के मतानुसार प्राकृत से नाम मात्र को भिन्न होती थी (§ ४) तथा जिसका सम्बन्ध प्राकृत के साथ रहता था (§ २)। यह वह अपभ्रंश है जिसे पिंगल और दूसरे व्याकरणों में प्राकृत वैयाकरणों ने उल्लिखित किया है (§ २९)। भारतीय विद्वान् प्राकृत भाषाओं को केवल साहित्यिक भाषाएँ समझते हैं। 'मृच्छकटिक' की टीका की भूमिका में 'पृथ्वीधर' (गोडबोले[6] द्वारा सम्पादित बम्बई में छपे संस्करण के पृ० ४९३ में) स्पष्ट शब्दों में कहता है—

महाराष्ट्र्याद्याः काव्य एव प्रयुज्यन्ते।

हेमचन्द्र ने ४–३७४ पृष्ठ ६८ में उन शब्दों का वर्णन किया है, जिनका प्रयोग प्राचीन कवियों ने नहीं किया था (पूर्वैः कविभिः) और जिनका प्रयोग कवियों को न करना चाहिए। दण्डिन् ने 'काव्यादर्श' के १–३५ में लिखा है कि नाटक के पात्रों की बातचीत में शौरसेनी, गौडी, लाटी और इस प्रकार की अन्य भाषाएँ प्रयोग में लाई जा सकती हैं, और 'रामतर्कवागीश' ने लिखा है कि जब नाटक के आदि में विभाषाएँ काम में लाई जायँ तब उन्हें अपभ्रंश भाषा न कहना चाहिए। इस प्रकार हमें एक भाषा शौरसेनी-अपभ्रंश के रूप में मिलती है जो शूरसेन प्रदेश में जनता की बोली रही थी। आजकल इसकी परम्परा में गुजराती

* अल्मोड़े में आज भी गाँव गाँव में रामलीला नाट्य खेला जाता है। प्राय सौ वर्ष पहले यह स्थानीय बोली में किया जाता था, किन्तु इस समय इसकी बोली हिंदी हो गई है। फिर भी नवरात्र के अवसर पर आश्विन मास में कुमाऊँ भर में इसकी जो धूम रहती है और जनता इसमें जो रस लेती है, वह देखने योग्य है। अनु०

और मारवाड़ी[९] भाषाएँ हैं और एक शौरसेनी प्राकृत भी मिलती है, जो कृत्रिम भाषा थी और नाटकों के गद्य में काम में लाई जाती थी। इसकी सारी रूपरेखा संस्कृत से मिलती है, किन्तु शौरसेनी अपभ्रंश में भी आत्म संवेदनामय कविता लिखी जाती थी और आत्म संवेदनामय कविता की मुख्य प्राकृत भाषा में—महाराष्ट्री के ढंग पर—गीत, वीर रस की कविताएँ आदि रची जाती थीं; पर इसमें बोली के मुहावरे आदि मुख्य अंग वैसे ही रहते थे जैसे जनता में प्रचलित थे। हेमचन्द्र ने ४,४४६ में इसका एक उदाहरण दिया है—

कंठि पालम्बु किदु रदिए,*

शौरसेनी प्राकृत में इसका रूप—

कंठे पालंबं किदं रदीए,

पर महाराष्ट्री में इसका रूप होता है—

कंठे पालंबं कअम् रईए।

इसमें 'द्' के स्थान पर 'अ' आ जाता है। 'हेमचन्द्र' ने भूल से अपभ्रंश में भी शौरसेनी के नियम लागू कर दिये हैं (§ २८)। इसी तरह एक महाराष्ट्र-अपभ्रंश† भाषा भी थी। इसकी परम्परा में आजकल की बोली जानेवाली मराठी[८] है और एक महाराष्ट्र प्राकृत भी थी; जिसे वैयाकरण महाराष्ट्री कहते हैं। एक भाषा मागध अपभ्रंश भी थी जो लाट बोली के द्वारा धीमे धीमे आजकल के बिहार और पश्चिमी बंगाल की भाषा बन गई है और एक मागध प्राकृत भी थी जिसे वैयाकरण मागधी[१०] कहते हैं। पैशाची भाषा के विषय में २७ वाँ पाराग्राफ देखिए और आर्ष भाषा के सम्बन्ध में १६ वाँ।

१ विल्सन की 'सीलेक्टेड स्पेसिमेन्स ऑफ द थियेटर आफ द हिन्दूज' खण्ड २ भाग ३, पेज ४१२ और उसके बाद के पेज, निशिकान्त चट्टोपाध्याय द्वारा लिखित 'इंडिशे एसेज' (ज्युरिच १८८३) पृष्ठ १ और उसके बाद—२ एफ० रोजन द्वारा लिखित 'डी इन्द्रसभा डेस अमानत' (लाइपत्सिख १८९२), भूमिका—३ ओल्टनबुर्ग, 'जापिस्की वोस्तोच्नागो ओतदेलेनिया इम्पराटोरस्कागो रस्कागो आरकेओलोजिचेस्कागो ओब्श्चेस्त्वा' ७,२९० और

* रति ने गले में (अभी-अभी फिर) लम्बी माला डाल दी। —अनु०

† जो प्राकृत,महाराष्ट्री नाम से है, वह सारे भारत राष्ट्र में गाथाओं में काम में लाई जाती थी। भले ही लेखक कश्मीर का हो अथवा दक्षिण का, गाथाओं में काम में यह प्राकृत लाता था। इसलिए महाराष्ट्री को महाराष्ट्र तक सीमित रखना या यह समझना कि यह महाराष्ट्र की जनता या साहित्यिकों की ही बोली रही होगी, भ्रामक है। महाराष्ट्र का पुराना नाम महरठाड़ा था जिसका रूप आज भी मराठा है। इसका स्थानीय बोली भिन्न थी, जो कई स्थानीय प्रयोग व मराठी शब्दों से आज भी प्रमाणित होती है। मराठी में जो आँख को डोला, कमरे को खोली, निचले भाग को खाली आदि कहते हैं, व शब्द मराठी देशी प्राकृत के हैं जिसे यहाँ पिशल ने देशी अपभ्रंश कहा है। तुलसीदास ने मुह या वचन को 'वयन' कहा है, यह महाराष्ट्री प्राकृत 'वअन' का रूप है। —अनु०

बाद के पेज—४. क्लात्त—'दे ग्रेमेन्तिस चाणक्यायें पोपुलाए इण्डिचि सैंटेंटिस' (हाल्ले, १८७३) पृष्ठ १ और उसके बाद; पिशल, 'काटालोग डेर बिब्लिओटेक डेर डी० एम० जी०' (लाइपत्सिख १८८१) २,५ वाँ और उसके बाद—५. दास हरिश्चन्द्रनृत्यम्। आइन आल्टनेपालेजीशेस टान्त्सस्पील। (लाइपत्सिख १८९१ में आ० कौनराडी द्वारा प्रकाशित)—६. इसमें ललित दीक्षित का वह उद्धरण आया है जो गाँट्सबोले द्वारा सम्पादित पुस्तक के पृष्ठ १ में दिया गया है—७. आकाडेमी १८७३ के पृष्ठ ३९८ में पिशल का लेख; होएर्नले का 'कौम्पैरेटिव ग्रैमर' की भूमिका का पृष्ठ २५—८. गारेज का 'जूर्नाल आशियाटीक' ६,२० पेज २०३ और उसके बाद का लेख (पैरिस १८७२); यह बात होएर्नले ने अपने 'कौम्पैरेटिव ग्रैमर' में अशुद्ध दी है—९. होएर्नले की 'कौम्पैरेटिव ग्रैमर' की भूमिका पेज २४। मैंने ऊपर दी गई 'आकाडेमी' पत्रिका में भूल से लिखा था कि पाली मागध की अपभ्रंश है, इसके विरुद्ध कून ने अपने 'बाइत्रैगे त्सूर पाली ग्रामाटीक' (बर्लिन १८७५) के पृष्ठ ८ में ठीक ही लिखा था। यह भूल मैंने १८७५ के 'येनाएर लितेरातूर त्साइटुंग' के पेज ३१६ में स्वीकार की है—१०. 'आकाडेमी', १८७३ के पृष्ठ ३७९ और उसके बाद के पृष्ठों में जो सिद्धान्त मैंने स्थिर किया था, उसको मैंने कई प्रकार से और भी पुष्ट कर दिया है। मेरा ही जैसा मत होएर्नले ने भी अपने 'कौम्पैरेटिव ग्रैमर' की भूमिका के १७ वें और उसके बाद के पृष्ठों में प्रकट किया है। किन्तु मैं कई छोटी-छोटी बातों में उससे मतभेद रखता हूँ जैसा कि नीचे लिखे गये पाराग्राफों से स्पष्ट है। 'गौडवहो' की भूमिका के पृष्ठ ५५ और उसके बाद के पृष्ठों में शंकर पांडुरंग पंडित ने अपभ्रंश और प्राकृत को अदल-बदल दिया है।

§ ६—प्राकृत भाषाएँ वास्तव में कृत्रिम और काव्य की भाषाएँ हैं, क्योंकि इन भाषाओं को कवियों ने अपने काव्यों के काम में लाने के प्रयोजन से, बहुत तोड़-मरोड़ और बदल दिया। किन्तु वह इस अर्थ में तोड़ी मरोड़ी हुई या कृत्रिम भाषाएँ नहीं हैं कि हम यह समझें कि वे कवियों की कल्पना की उपज हों[१]। इनका ठीक वही हिसाब है जो संस्कृत का है, जो शिक्षित भारतीयों की सामान्य बोलचाल की भाषा नहीं है और न इसमें बोलचाल की भाषा का पूरा आधार[२] मिलता है; किन्तु अवश्य ही यह जनता के द्वारा बोली गई किसी 'भाषा' के आधार पर बनी थी और राजनीतिक या धार्मिक इतिहास की परम्परा के कारण यह भारत की सामान्य साहित्यिक भाषा बन गई[३]। भेद इतना है कि यह पूर्णतया असम्भव है कि सब प्राकृत भाषाओं को संस्कृत की भाँति एक मूल भाषा तक पहुँचाया जाय। केवल संस्कृत को ही इनका मूल समझना, जैसा कि कई विद्वान् समझते हैं और इन विद्वानों में होएफर[४], लास्सन[५], भण्डारकर[६], याकोबी[७] भी शामिल हैं, भ्रमपूर्ण है। सब प्राकृत भाषाओं का वैदिक व्याकरण और शब्दों का नानारूपों में साम्य है और ये बातें संस्कृत में नहीं पाई जातीं। ऐसे स्थल निम्नलिखित हैं—संधि के नियम बिलकुल भिन्न हैं। स्वरों के बीच के ड और ढ का ल और ळ्ह हो जाना है; —त्तण का वैदिक

रूप –त्वनं' होता है;* स्वर-भक्ति। स्त्रीलिंग का षष्ठी एकवचन का रूप –आए होता है; जो वैदिक –आयै से निकला है। तृतीया बहुवचन का रूप–एहिं वैदिक-एभिः से निकला है। आज्ञावाचक होहि = वैदिक बोधि है। ता, जा, ऍत्थ = वैदिक तात्, यात्, इत्था; कर्मणि ते, मि वैदिक हैं; अम्हे = वैदिक अस्मे के; प्राकृत पासो(आँख) = वैदिक पश' के; अर्धमागधी वग्गूहिं = वैदिक वग्नुभिः; सद्धिं =वैदिक सध्रीम् के; अपभ्रंश दिवें दिवे = वैदिक दिवे, दिवे; जैन शौरसेनी और अपभ्रंश किध, अर्धमागधी और अपभ्रंश किह = वैदिक कथा है; माई = वैदिक माकीम्; णाइम् = वैदिक नाकीम्; अर्धमागधी विऊ = वैदिक विदुः[10]; मागधी -आहो, -आहु;अपभ्रंश आहो = वैदिक आसः; मागधी, जैन-महाराष्ट्री, अपभ्रंश कुणइ, जैन-शौरसेनी कुणदि = वै० कृणोति के; अर्धमागधी, जैन-महाराष्ट्री सक्का=वैदिक शक्याद् के; अपभ्रंश साहु = वैदिक शश्वत् के; अर्धमागधी घिंसु = वैदिक ग्रंस के; -म = वै० स्कं-भ, मागधी, अर्धमागधी जैन-महाराष्ट्री, और शौरसेनी रुक्ख (रूख)=वैदिक रुक्ष के है; भविष्यकाल वाचक सोच्छं का संबंध वैदिक श्रुप् से है। अर्धमागधी सामान्य रूप (intnitive) जिसके अन्त में -अए, -त्तए = वैदिक -तवै; अर्धमागधी शब्द जिनका अर्थ 'करके' होता है; जैसे– -प्पि, -पि,-वि = वैदिक -त्वी = जो शब्द -प्पिणु में समाप्त होते हैं, वे = वैदिक -त्वीनं आदि-आदि, जो इस व्याकरण में प्रासंगिक स्थलों पर दिये गये हैं। केवल एक यह बात सिद्ध करती है कि प्राकृत का मूल संस्कृत को बताना सम्भव नहीं है और भ्रमपूर्ण है[11]।

१. बीम्स का 'कम्परेटिव ग्रैमर ऑफ द मौडर्न एरियन लैंग्वेजेज', खण्ड १, पेज २०१; २२३; सौरेन्सेन कृत 'औम सांस्कृत्स स्टिलिङ्ग इ डेन आलमिंडेलिगे स्प्रोगउटविक्लिङ्ग इ इण्डियन' (क्योवनहान [कोपनहागन] १८९४), पेज २१० और उसके बाद के पृष्ठ— २. फ्रांके 'बेत्सेनबर्गर्स बाइत्रेगे त्सूर कुंडे डेर इंडोगर्मानिशन स्प्राखन' १७, ७१। मुझे इस बात पर सन्देह है कि सारे आर्यावर्त में कभी कोई ऐसी भाषा रही होगी, जिसे सभी शिक्षित भारतवासी बोलते होंगे। इस विषय पर वाकरनागल की 'आल्टइंडिशे ग्रामाटीक' की भूमिका के पृष्ठ ४२ का नोट नं० ७ देखने योग्य है— ३. मैंने 'गोएटिंगिशे गेलैर्ते आन्त्साइगन' १८८४ के पेज ५१२ में अपना यह निदान प्रकट किया है कि साहित्यिक संस्कृत का आधार ब्रह्मावर्त की बोली है— ४.'डे प्राकृत डिआलेक्टो' पाराग्राफ ८— ५. लास्सन कृत 'इन्स्टीट्यूत्सीओनेस०' पृष्ठ २५ और उसके बाद; इंडिशे आल्टरटूम्स कुंडे २, २, ११६३, नोट पाँचवाँ— ६. जोर्नाल ऑफ द बोम्बे ब्रांच ऑफ द एशियैटिक सोसाइटी १६, ३१५— ७. 'कून्स त्साइटश्रिफ्ट' २१, ६१४ जिसमें लिखा गया है कि 'पाली और प्राकृत मोटे

* इस त्वन का त्तण बनकर हिंदी में पन या प्पन बन गया। जैसे–छुटपन, बड़प्पन आदि। अतः हिंदी का आधार केवल संस्कृत या मुख्यतः संस्कृत मानना भूल है। हिंदी के अनेक शब्द प्राकृतों और देशी-अपभ्रंशों द्वारा वैदिक बोलियों से आये हैं। इसका प्रमाण इस ग्रंथ में नाना स्थलों पर दिया गया है।–अनु०

बाद के पेज—५ बलास—'दे प्रेचेन्तिस चाणक्याये पोएटाए दृष्टिचि मैंटेंड्रिस' (हाल्ले, १८७३) पृष्ठ १ और उसके बाद, पिशल, 'काटालोग डेर बिब्लिओटेक डेर डी० एम० जी०' (लाइपत्सिख १८८१) ५,७ वाँ और उसके बाद—७ दाम हरिश्चन्द्रनृत्यम्। आइन आल्टनेपालेजीशेस तान्सस्पील। (लाइपत्सिख १८९१ में आ० कोनाडी द्वारा प्रकाशित)—६ इसमें ललित दीक्षित का यह उद्धरण आया है जो गौडबोले द्वारा सम्पादित पुस्तक के पृष्ठ १ में दिया गया है—७. आकाडेमी १८७३ के पृष्ठ ३९८ में पिशल का लेख, होएर्नले का 'कॉम्परेटिव ग्रैमर' की भूमिका का पृष्ठ २७—८. गारेज का 'जूर्नाल आसियाटीक' ६,२० पेज २०३ और उसके बाद का लेख (पैरिस १८७२), यह बात होएर्नले ने अपने 'कॉम्परेटिव ग्रैमर' में अशुद्ध दी है—९ होएर्नले की 'कॉम्परेटिव-ग्रैमर' की भूमिका पेज २४। मैंने ऊपर दी गई 'आकाडेमी' पत्रिका में भूल से लिखा था कि पाली मागधी का अपभ्रंश है, इसके जिन्द कृन ने अपने 'बाइत्रेगे त्सूर पाली ग्रामाटीक' (बर्लिन १८७०) के पृष्ठ ८ में ठीक ही लिखा था। यह भूल मैंने १८७० के 'येनाएर लिटेराटूर त्साइटुंग' के पेज ३१६ में स्वीकार की है—१०. 'आकाडेमी', १८७३ के पृष्ठ ३७९ और उसके बाद के पृष्ठों में जो सिद्धान्त मैंने स्थिर किया था, उसको मैंने कई प्रकार से और भी पुष्ट कर दिया है। मेरा ही जैसा मत होएर्नले ने भी अपने 'कॉम्परेटिव ग्रैमर' की भूमिका के १७ वें और उसके बाद के पृष्ठों में प्रकट किया है। किन्तु मैं कई छोटी छोटी बातों में उससे मतभेद रखता हूँ जैसा कि नीचे दिए गए पाराग्राफों से स्पष्ट है। 'गौडवहो' की भूमिका के पृष्ठ ५७ और उसके बाद के पृष्ठों में शंकर पाण्डुरंग पंडित ने अपभ्रंश और प्राकृत को अंडबंड कर दिया है।

§ ९—प्राकृत भाषाएँ वास्तव में कृत्रिम और काव्य की भाषाएँ हैं, क्योंकि इन भाषाओं को कवियों ने अपने काव्यों के काम में लाने के प्रयोजन से, बहुत तोड़-मरोड़ और बदल दिया। किन्तु वह इस अर्थ में तोड़ी मरोड़ी हुई या कृत्रिम भाषाएँ नहीं हैं कि हम यह समझें कि वे कवियों की कल्पना की उपज हों। इनका ठीक वही हिसाब है जो संस्कृत का है, जो शिक्षित भारतीयों की सामान्य बोलचाल की भाषा नहीं है और न इसमें बोलचाल की भाषा का पूरा आधार मिलता है, किन्तु अवश्य ही यह जनता के द्वारा बोली गई किसी 'भाषा' के आधार पर बनी थी और राजनीतिक या धार्मिक इतिहास की परम्परा के कारण यह भारत की सामान्य साहित्यिक भाषा बन गई। भेद इतना है कि यह पूर्णतया असम्भव है कि सब प्राकृत भाषाओं को संस्कृत की भाँति एक मूल भाषा तक पहुँचाया जाय। केवल संस्कृत को ही इसका मूल समझना, जैसा कि कई विद्वान समझते हैं और इन विद्वानों में होएफर, लास्सन, भंडारकर, याकोबी भी शामिल हैं, भ्रमपूर्ण है। सब प्राकृत भाषाओं का वैदिक व्याकरण और शब्दों का नानास्थलों में साम्य है और ये बातें संस्कृत में नहीं पाई जातीं। ऐसे स्थल निम्नलिखित हैं—संधि के नियम बिलकुल भिन्न हैं। स्वरों के बीच ड और ढ का ळ और ळ्ह हो जाता है, —त्तण का वैदिक

'लेण' बोली में उ (ॅ) बुदिपम्हि (कार्ले के प्रस्तर लेख, संख्या १)[1], थुवम्हि, स्तूपे[2] के स्थान में आया है। अनुगामिम्हि (नासिक के प्रस्तर लेख संख्या ६)[3], तिरण्हुम्हि (नासिक संख्या ११-१९)[4], इसमें तिरण्हुमि अर्थात् तिरण्हुम्मि[5] भी आया है। मागधी, जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसेनी और अर्धमागधी भाषाओं में यह सप्तमी वाचक रूप म्मि और अर्धमागधी में सि लिखा जाता है। इसके अतिरिक्त अस्ति का बहुवचन में प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है; क्योंकि प्राकृत में भी अत्थि बहुवचन में भी काम में आता है (देखो § ४९८), से शब्द के विषय में भी यही बात है। यह अर्धमागधी में आता है और वैदिक है। 'लेण' बोली के विषय में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि इसमें इ और उ में अन्त होनेवाले शब्दों के रूप षष्ठी में ध्यान देने योग्य हैं। इनका षष्ठी एकवचन नो और स अर्थात् स्स बोला जाता है जैसा कि प्राकृत में भी होता है। इन बातों तथा और बहुत सी बातों में प्राकृत भाषाएँ मध्यकालीन भारतीय जनता की बोलियों से मिलती-जुलती हैं, और ये सब बातें संस्कृत में बिल्कुल नहीं मिलतीं।

१. पियदासी के प्रस्तर लेख २, ४८८ सोसेन्सन ने पेज १८७ में इसके अनुसार ही लिखा है— २. 'ओवर डे यारटेलिंग डेर जुइडेल्कि बुधिस्टन', आम्सटरडाम १८७३, पेज १४ और उसके बाद— ३. आक्ट्स सीजीएम कौंग्रैस ऑतरनासिओनाल देजोरीऑतालिस्त', (लाइडन १८८५) ३, २— ४. पिशल, 'गोएटिंगिशे गेलैर्ते आन्त्साइगन' १८८१, १३२३ पेज १३२३ और उसके बाद— ५. जेम्स बर्गेस और भगवानलाल इन्द्रजी कृत इन्सक्रिप्शन्स फ्रौम द केव-टेम्पल्स ऑफ वेस्टर्न इंडिया', (बंबई १८८१) पेज २८— ६. ऊपर उद्धृत पुस्तक २, ४७२— ७. 'आर्किओलॉजिकल सर्वे ऑफ वैस्टर्न इंडिया, ४, १०१, १५४— ८. 'आर्किओलौजिकल सर्वे ओफ वेस्टर्न इंडिया,' ४, १०६, ११४— ९.'आर्किओलौजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया' ४, ९९।

§ ८—आधुनिक भारतीय भाषाओं का सन्धिहीन रूप या पृथक्करणशीलता की प्रवृत्ति देखकर प्राकृत और हिन्दी की विभक्तियों में, प्राकृत में विभक्तियाँ जुड़ी रहने और हिन्दी में अलग हो जाने के कारण, संज्ञा के इन रूपों में समानता दिखाना बहुत कठिन है। इसके विपरीत ध्वनि के नियमों और शब्द सम्पत्ति में समानता बहुत साफ और स्पष्ट दिखाई पड़ती है। पतञ्जलि अपने व्याकरण-महाभाष्य १, पेज ५ और २१ तथा उसके बाद यह बताता है कि प्रत्येक शब्द के कई अशुद्ध रूप होते हैं। इन्हें उसने अपभ्रंश कहा है। उदाहरणार्थ—उसने गो शब्द दिया है जिसके अपभ्रंश रूप गावी गोणी, गोता और गोपोतालिका दिये हैं[1]। इनमें से गावी शब्द प्राकृत में बहुत प्रचलित है। जैन महाराष्ट्री में गोणी शब्द प्रचलित है और इसका पुँल्लिंग गोणो भी काम में आता है (§ ३९३)। पाणिनीय व्याकरण १, ३, १ की अपनी टीका में 'कात्यायन' आणपयति का उल्लेख करता है। इसमें 'पतञ्जलि' ने वट्टति, वड्ढति दो शब्द और जोड़े हैं। पाणिनि के ३, १, ९१ (२, ७४) सूत्र पर 'पतञ्जलि' ने खुपति शब्द दिया है जिसे 'कैयट' ने अस्पष्ट शब्दों में अपभ्रंश शब्द बताया है[2]। अशोक के प्रस्तर लेखों में आनपयति शब्द आया है

हिसाब से संस्कृत के नये रूप हैं'— ८. फ्रीत माटके, 'त्साइटश्रिफ्ट डेर डौयत्शन मौर्गनलैण्डिशन गैजेलशाफ्ट ४०, ६७३— ९. पिशल और गेल्डनर 'वेदिशे स्टूडियन' १, भूमिका के पृष्ठ ३१ का नोट २— १०, 'वेदिशे स्टूडियन' २, २३५ और उसके बाद के पृष्ठ— ११ इस विषय पर वेबर ने 'इंडिशे स्टूडियन' ११ में जो लिखा है कि प्राकृत भाषाएँ प्राचीन वैदिक बोली का विकास नहीं है, इसका तात्पर्य है कि वह अपनी भूल में बहुत आगे बढ़ गया है। § ९ देखिए।

§ ७. जितना घना सम्बन्ध प्राकृत भाषाओं का वैदिक बोली के साथ है, उतना ही घना सम्बन्ध इनका मध्यकालीन और नवीन भारतीय जनता की बोलियों से है। ईसा के जन्म से पूर्व दूसरी सदी से लेकर ईसवी सन् की तीसरी सदी तक जो प्रस्तर लेख गुफाओं, स्तूपों, स्तम्भों आदि में मिलते हैं, उनसे सिद्ध होता है कि उस समय जनता की एक भाषा ऐसी थी जो भारत के सुदूर प्रान्तों में भी समान रूप से समझी जाती थी। फ्रेंच विद्वान् 'सेनार' ने इन प्रस्तरलेखों की भाषा को 'स्मृतिस्तम्भों की प्राकृत' कहा है[1]। यह नाम भ्रमपूर्ण है, क्योंकि इससे यह अर्थ निकलता है कि यह भाषा सोलह आने कृत्रिम भाषा रही होगी। इस मत को मानने के लिए उतने ही कम प्रमाण मिलते हैं जितने कि डच विद्वान् 'कर्न' के इस मत के लिए कि पाली में कृत्रिम भाषा का रूप देखना चाहिए। चूँकि गुफाओं में अधिकांश प्रस्तर लेख इस बोली में पाये जाते हैं, इसलिए मेरा सुझाव है कि इस बोली का नाम 'लेण' बोली रखा जाय। 'लेण' का अर्थ गुफा है। यह शब्द संस्कृत **लयन** से निकला है जो इन प्रस्तर लेखों में बहुधा पाया जाता है। ऐसा ही एक शब्द **लाट** है जो प्राकृत में **लट्ठी** कहा जाता है और संस्कृत में **यष्टि** (स्तंभ) है। ये बोलियाँ संस्कृत की परंपरा में नहीं हैं, बल्कि संस्कृत की 'बहन बोलियों से निकली हैं', और इनकी विशेषताएँ प्राकृतों में बहुतायत से देखने में आती हैं। अशोक के पहले स्तम्भ में से कुछ उदाहरण यहाँ देता हूँ। 'गिरनार' के इस प्रस्तर लेख में लिख् धातु से बना हुआ रूप **लेखापिता** मिलता है और शाहबाजगढ़ी में लिखापितु, जौगढ़ में लिखापिता तथा मनशेरा में (लू) **इखपित** है। व्यञ्जनों में समाप्त होनेवाले धातुओं के ऐसे ही रूप 'लेण' बोली में मिलते हैं—व (˚) **धापयति, कीडापयति, पीडापयति,** व ( ) **दापयति** (हाथी गुफा के प्रस्तर लेख पृष्ठ १५५, १५८, १६०, १६३)[1], इसी प्रकार पाली **लिखापेति** और **लिहाविय** ६३, ३१[1]औसगवैल्ते एर्त्सेलुंगन इन महाराष्ट्री, इसका प्रयोग प्राकृत में बहुत किया जाता है। (§५५२), अशोक का **लिखापित** जैन-महाराष्ट्री **लिहाविय** का प्रतिशब्द है। संपादक हरमान याकोबी, लाइप्त्सिख १८८६), अशोक के स्तम्भों का **लिखापइस्** (गिरनार १४, ३), मागधी **लिहावइश्शाम** (मृच्छकटिक १३६, २१)। हु (हवन करना) से प्र के साथ **प्रजूहितव्यम्** से मालूम होता है कि इसमें पाली और प्राकृत में प्रचलित रीति के अनुसार वर्तमान काल के धातु का विस्तार हो गया है। 'गिरनार' के स्तम्भ में **समाजम्हि और महानसम्हि** सप्तमी में है जिसमें सर्वनामों के अंत में लगनेवाला सप्तमी बतानेवाला पद **म्हि** संज्ञा के साथ जोड़ दिया गया है। शाहबाजगढ़ी और खालसी के स्तम्भों में यह रूप **महनसस्सि, महानशसि** अर्थात् **महानशसि** दिया गया है।

'लेण' बोली में ज (ं) वुद्धिषम्हि (यातें के प्रस्तर लेख, संख्या १)[1], धुवम्हि, स्तूपे[2] के स्थान में आया है। अनुगामिम्हि (नासिक के प्रस्तर लेख संख्या ६)[3], तिरण्हुम्हि (नासिक संख्या ११-१९)[4], इसमें तिरण्हुमि अर्थात् तिरण्हुम्मि[5] भी आया है। मागधी, जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसेनी और अर्धमागधी भाषाओं में यह सप्तमी वाचक रूप म्मि और अर्धमागधी में 'सि लिखा जाता है। इसके अतिरिक्त अस्ति का बहुवचन में प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है; क्योंकि प्राकृत में भी अत्थि बहुवचन में भी काम में आता है (देखो § ४९८); से शब्द के विषय में भी यही बात है। यह अर्धमागधी में आता है और वैदिक है। 'लेण' बोली के विषय में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि इसमें इ और उ में अन्त होनेवाले शब्दों के रूप षष्ठी में ध्यान देने योग्य हैं। इनका षष्ठी एकवचन नो और स अर्थात् स्स बोला जाता है जैसा कि प्राकृत में भी होता है। इन बातों तथा और बहुत सी बातों में प्राकृत भाषाएँ मध्यकालीन भारतीय जनता की बोलियों से मिलती जुलती हैं, और ये सब बातें संस्कृत में बिल्कुल नहीं मिलतीं।

१. पियदासी के प्रस्तर लेख २, ४८८ सोसेन्सन ने पेज १८७ में इसके अनुसार ही लिखा है— २. 'ओवर दे यारटेलिंग डेर बुद्धिस्टिके धुविस्टन', आम्सटरडाम १८७३, पेज १४ और उसके बाद— ३. आक्ट्स दू सीज़ीएम कोंग्रेस आँतरनासिओनाल देज़ोरीआँतालिस्त', (लाइडन १८८५) ३, २— ४ पिशल, 'गोएटिंगिशे गेलैर्ते आन्त्साइगन' १८८१, १३२३ पेज १३२३ और उसके बाद— ५. जेम्स बर्गेस और भगवानलाल इन्द्रजी कृत इन्सक्रिप्शन्स फ्रौम द केव-टेम्पल्स औफ वैस्टर्न इंडिया', (बंबई १८८१) पेज २८— ६. सनार की ऊपर उद्धृत पुस्तक २, ४७२— ७. 'आर्किओलौजिकल सर्वे औफ वैस्टर्न इंडिया, ४, १०१, १५४— ८. 'आर्किओलौजिकल सर्वे औफ वैस्टर्न इंडिया,' ४, १०६, ११४— ९.'आर्किओलौजिकल सर्वे औफ वैस्टर्न इंडिया' ४, ९९।

§ ८—आधुनिक भारतीय भाषाओं का सन्धिहीन रूप या पृथक्करणशीलता की प्रवृत्ति देखकर प्राकृत और हिन्दी की विभक्तियों में, प्राकृत में विभक्तियाँ जुड़ी रहने और हिन्दी में अलग हो जाने के कारण, संज्ञा के इन रूपों में समानता दिखाना बहुत कठिन है। इसके विपरीत ध्वनि के नियमों और शब्द सम्पत्ति में समानता बहुत साफ और स्पष्ट दिखाई पड़ती है। पतञ्जलि अपने व्याकरण महाभाष्य १, पेज ५ और २१ तथा उसके बाद यह बताता है कि प्रत्येक शब्द के कई अशुद्ध रूप होते हैं। इन्हें उसने अपभ्रंश कहा है। उदाहरणार्थ—उसने गौ शब्द दिया है जिसके अपभ्रंश रूप गावी गोणी, गोता और गोपोतालिका दिये हैं[1]। इनमें से गावी शब्द प्राकृत में बहुत प्रचलित है। जैन महाराष्ट्री में गोणी शब्द प्रचलित है और इसका पुँल्लिंग गोणो भी काम में आता है (§ ३९३)। पाणिनीय व्याकरण १, ३, १ की अपनी टीका में 'कात्यायन' आणपयति का उल्लेख करता है। इसमें 'पतञ्जलि' ने वट्टति, वड्ढति दो शब्द और जोड़े हैं। पाणिनि के ३, १, ९१ (२, ७४) सूत्र पर 'पतञ्जलि' ने लुपति शब्द दिया है जिसे 'कैयट' ने अस्पष्ट शब्दों में अपभ्रंश शब्द बताया है[2]। अशोक के प्रस्तर लेखों में आनपयति शब्द आया है

(सेनार २, ५५९) और यही शब्द 'रेण' बोली में भी मिलता है (आर्किओलौजिकल सर्वे ऑफ वैस्टर्न इण्डिया ४,१०४,१२०), शौरसेनी और मागधी में इसके स्थान पर आणवेदि शब्द प्रचलित है और पाली में आणपेति शब्द चलता है। वट्टति, वट्ढति, सुपति के लिए पाली में भी यही शब्द हैं। यह बात 'कीलहौर्न' ने पहले ही सूचित कर दी थी। प्राकृत भाषाओं में महाराष्ट्री, अर्ध मागधी और जैन महाराष्ट्री में वट्टइ, जैन शौरसेनी और शौरसेनी में वट्टदि तथा महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में वट्ढइ, शौरसेनी में वट्ढदि (§ २८९ और २९१), महाराष्ट्री में सुवइ, सुअइ और जैन महाराष्ट्री में सुयइ (§ ४९७) होता है। भारतीय वैयाकरण और अलंकार शास्त्र के लेखक प्राकृत की शब्द सम्पत्ति को तीन वर्गों में बाँटते हैं (१) —संस्कृतसम अर्थात् ये शब्द संस्कृत शब्दों के समान ही होते हैं (चंड १,१, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस्, पेज ८०)। इन शब्दों को तत्सम यानी उसके समान भी कहते हैं। प्रयोजन यह है कि ये शब्द संस्कृत और प्राकृत में एक ही होते हैं (पिशल द्वारा सम्पादित त्रिविक्रम पेज २९; मार्कण्डेय पन्ना २; दण्डिन् के काव्यादर्श १,३३२; धनिक के दशरूप २,६०), और वाग्भटालंकार २,२ में तत्तुल्य शब्द काम में लाया गया है और भारतीय 'नाट्यशास्त्रम्' में समान शब्द काम में आया है। सिंहराज संस्कृतभव यानी 'संस्कृत से निकला हुआ' शब्द काम में लाया है। इस शब्द को त्रिविक्रम, मार्कण्डेय, दण्डिन् और धनिक तद्भव कहते हैं। हेमचन्द्र ने १, १ में तथा चण्ड ने तद्भव के स्थान पर संस्कृतयोनि शब्द का व्यवहार किया है। 'वाग्भट' ने इसे तज्ज कहा है और 'भारतीय नाट्यशास्त्र' ने १७, ३ में विभ्रष्ट शब्द दिया है। हेमचन्द्र, त्रिविक्रम, सिंहराज, मार्कण्डेय और वाग्भट ने देश्य या देशी शब्द (देशी नाममाला, पेज १, २ दण्डिन् और धनिक), तथा चण्ड ने इसे देशी प्रसिद्ध कहा है और भारतीय नाट्यशास्त्रम् १७,३[1] ने इसे देशी मत नाम दिया है। तत्सम वे शब्द हैं जो प्राकृत में उसी रूप में आते हैं जिसमें वे संस्कृत में लिखे जाते हैं, जैसे—कर, कोमल, जल, सोम आदि। तद्भव के दो वर्ग किये गये हैं—साध्यमान संस्कृतभवा और सिद्ध संस्कृतभवा। पहले वर्ग में वे प्राकृत शब्द आते हैं जो उन संस्कृत शब्दों का, जिनसे वे प्राकृत शब्द निकले हैं, बिना उपसर्ग या प्रत्यय के मूल रूप बताते हैं। इनमें विशेषकर शब्द-रूपावली और विभक्तियाँ आती हैं जिनमें यह शब्द व्याकरण के नियमों के अनुसार बनाया जाता है और जिसे साध्यमान कहते हैं। बीम्स ने इन शब्दों को आदि तद्भव (Early tadbhavas[2]) कहा है। ये प्राकृत के वे अंश हैं, जो सब सर्वांगपूर्ण हैं। दूसरे वर्ग में प्राकृत के वे शब्द शामिल हैं, जो व्याकरण से सिद्ध संस्कृत रूपों से निकले हैं; जैसे—अर्धमागधी वन्दित्ता जो संस्कृत वन्दित्वा का विकृत रूप है। चूँकि आधुनिक भारतीय भाषाओं में अधिकांश शब्द तत्सम और तद्भव हैं, इसलिए यह मानना भ्रमपूर्ण है कि इस प्रकार के सभी शब्द संस्कृत से निकले हैं। अब हम लोग यह बात भी अच्छी तरह जानते हैं कि आधुनिक भारत की सब भाषाएँ संस्कृत से ही नहीं निकली हैं।

१. वेबर, 'इण्डिशे स्टूडियन' १३, ३६५— २. कीलहौर्न 'त्साइटश्रिफ्ट

डेर डौयत्शन मौर्गन लैण्डिशन गेज़ेलशाफ्ट' ३९, ३२७ सोरेन्सन— ३. बीम्स 'कम्पैरेटिव ग्रैमर', पेज १, ११ और उसके बाद के पेजों से तुलना कीजिए; होएर्नले, 'कम्पैरेटिव ग्रैमर' भूमिका का ३८ वाँ और उसके बाद के पेज के ऊपर आये ग्रंथ के पेज १८० से तुलना कीजिए। वेबर, 'इण्डिशे स्टूडियन' १६, ५९ में भुवनपाल के ये शब्द उद्धृत हैं कि एक चौथा वर्ग भी है जिसके शब्द सामान्य भाषा से लिये गये हैं— ४. 'कम्पैरेटिव ग्रैमर' १, १७— ५. पिशल की हेमचन्द्र के १, १ सूत्र पर टीका।

§ ९—देश्य अथवा देशी वर्ग में भारतीय विद्वान् परस्पर विरोधी तत्त्व सम्मिलित करते हैं। वे इन शब्दों के भीतर वे सब शब्द रख लेते हैं जिनका मूल उनकी समझ में संस्कृत में नहीं मिलता। संस्कृत भाषा के अपने अपने ज्ञान की सीमा के भीतर या शब्दों की व्युत्पत्ति निकालने में अपनी कम या अधिक चतुराई के हिसाब से देश्य शब्दों के चुनाव में नाना मुनियों के नाना मत हैं। कोई विद्वान् एक शब्द को देशी बताता है तो दूसरा उसे तद्भव या तत्सम श्रेणी में रखता है। इस प्रकार देशी शब्दों में ऐसे शब्द आ गये हैं जो स्पष्टतया संस्कृत मूल तक पहुँचते हैं। किन्तु जिनका संस्कृत में कोई ठीक ठीक अनुरूप शब्द नहीं मिलता, जैसे—**पासो** (= आँख, त्रिविक्रम का ग्रन्थ जो 'बेत्सेनबर्गर्स बाइत्रैगे त्सूर कुण्डे डेर इण्डोगर्मानिशन स्प्राखन' ६,१०४ में छपा है) या **पासम** (देशी० ६,७५) जो अर्धमागधी **पासइ = पश्यति** (देखता है) का एक रूप है, अथवा **सिव्वी** (= सूई; देशी० ७,२९; अथवा बेत्सेनबर्गर की ऊपर लिखी पुस्तक के ३,२६० में छपा है) जो संस्कृत **सीव्यति** से निकला है। देशी भाषा में कुछ ऐसे सामासिक और सन्धियुक्त शब्द भी रख दिये गये हैं, जिनके सब शब्द अलग अलग तो संस्कृत में मिलते हैं, किन्तु सारा सन्धियुक्त शब्द संस्कृत में नहीं मिलता; जैसे—**अच्छिवडणम्** (= आँख बन्द करना, देशी० १, ३९, बेत्सेनबर्गर की ऊपर लिखी पुस्तक में त्रिविक्रम, १३, ५)। असल में यह शब्द **अक्षि + पतन** से बना है, पर संस्कृत में **अक्षिपतन** शब्द इस काम में नहीं आता, अथवा **सत्तावीसजोअणो**, जिसका अर्थ चाँद है (देशी० ८, २२, चंड १, १ पेज ३९ और 'वाग्भटालंकार' की 'सिंहदेवगणिन्' की टीका २, २ में भी आया है) **सप्तविंशति + द्योतन** है¹ जो इस रूप में और इस अर्थ में संस्कृत में नहीं मिलता। देश्य या देशी में ऐसे शब्द भी रख दिये गये हैं जिनका मूल संस्कृत में नहीं मिलता। जैसा—**जोडम्** (= कपाल, देशी ३, ४९), **जोडो** (बेत्सेनबर्गर की ऊपर लिखी गई पुस्तक में त्रिविक्रम १३, १७ और उसके बाद), अथवा **तुप्पो*** (= चुपड़ा हुआ; **पाइयलच्छी** २३३; देशी० ५, २२, हाल २२, २८९, ५२०), जिसको आजकल मराठी में तूप कहते हैं और जिसका अर्थ शुद्ध किया हुआ मक्खन या घी है²। देश्य या देशी में वह शब्द भी शामिल किये गये हैं जो ध्वनि के नियमों की विचित्रता दिखाते हैं, जैसे—

* 'तुप्प' शब्द कुमाउनी बोली में 'तोपो' हो गया है। कभी इसका अर्थ 'घी' रहा होगा और बाद को घी महँगा होने से तथा निर्धन लोगों में एक दो पैसे का कम घी मिलने के कारण इस शब्द का अर्थ 'कम मात्रा' हो गया। अब कम घी को 'तोपो घी' कहते हैं।—अनु०

गहग्गे (=गिद्ध; पाइयलच्छी १२६; देशी० २, ८४; वेत्सेनबर्गर की पुस्तक में त्रिविक्रम ६, ९३)। त्रिविक्रम ने इस शब्द का मूल 'गृध्र' ठीक ही बताया है; अथवा विहुण्डुओ (=राहु; देशी० ७, ६५; वेत्सेनबर्गर की पुस्तक में त्रिविक्रम ३, २५२) शब्द बराबर है—विधुन्तुद[1] के। इन देशी शब्दों में क्रिया वाचक शब्दों की बहुतायत है। इन क्रिया-वाचक शब्दों को वैयाकरण धात्वादेश, अर्थात् संस्कृत धातुओं के स्थान पर बोलचाल के प्राकृत धातु, कहते हैं (वररुचि ८, १ और उसके बाद, हेमचन्द्र ४, १ और उसके बाद; क्रमदीश्वर ४, ४६ और उसके बाद, मार्कण्डेय पन्ना ५२ और उसके बाद)। इन क्रिया वाचक शब्दों अर्थात् धातुओं का मूल रूप संस्कृत में बहुधा नहीं मिलता; पर आधुनिक भारतीय भाषाओं के धातु इनसे पूरे मिलते जुलते हैं; जैसा कि देशी शब्द के नाम से ही प्रकट है। ये शब्द प्रादेशिक शब्द रहे होंगे और बाद को सार्वदेशिक प्राकृत में सम्मिलित कर लिये गये होंगे। इन शब्दों का जो सबसे बड़ा संग्रह है, वह हेमचन्द्र की 'रयणावली' है। ऐसे बहुत से देशी शब्द प्राकृत या अपभ्रंश से संस्कृत कोशों[2] और धातु-पाठ[3] में ले लिये गये। यह सम्भव है कि देशी शब्दों में कुछ अनार्य शब्द भी आ गये हों, किन्तु बहुत अधिक शब्द मूल आर्य भाषा * के शब्द भंडार से हैं, जिन्हें हम व्यर्थ ही संस्कृत के भीतर ढूँढते हैं। 'रुद्रट' के 'काव्यालंकार' २, १२ की अपनी टीका में 'नमिसाधु' ने प्राकृत की एक व्युत्पत्ति दी है जिसमें उसने बताया है कि प्राकृत और संस्कृत की आधारभूत भाषा प्रकृति अर्थात् मानव जाति की सहज बोल चाल की भाषा है, जिसका व्याकरण के नियमों से बहुत कम सम्बन्ध है अथवा यह प्राकृत ही स्वयं वह बोल चाल की भाषा हो सकती है, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, यह मत भ्रमपूर्ण है। बात यह है कि (कई प्राकृत भाषाओं का मुख्य भाग संस्कृत शब्दों से बना है, विशेषतः महाराष्ट्री का जो काव्यों और नाटकों में मुख्यतया प्रयोग में आती है।) 'गउडवहो' और 'रावणवहो' में महाराष्ट्री प्राकृत भाषा का बोलबाला है, तथा ये काव्य संस्कृत काव्यों की ही रूपरेखा के अनुसार रचे गये हैं। इन काव्यों में इसलिए देशी शब्दों की संख्या नाममात्र की है, जब कि जैन महाराष्ट्री में देशी शब्दों की भरमार है। मेरा मत 'सेनार'[4] से बिल्कुल मिलता है कि प्राकृत भाषाओं की जड़ जनता की बोलियों के भीतर जमी हुई हैं और इनके मुख्य तत्व आदि काल में जीती जागती और बोली जानेवाली भाषा से लिये गये हैं, किन्तु बोलचाल की वे भाषाएँ, जो बाद को साहित्यिक भाषाओं के पद पर चढ़ गईं, संस्कृत की भाँति ही बहुत ठोकी-पीटी गईं, ताकि उनका एक सुगठित रूप बन जाय।

१. इसका अर्थ २७ नक्षत्र है— २. वेबर, त्साइटश्रिफ्ट देर डौयत्शन मौर्गेनलैण्डिशन गेज़ेलशाफ्ट २८, ३५५— ३. देखिए देशी० १, ३, ब्यूलर, पाइयलच्छी, पेज ११ और उसके बाद— ४ इसके बीसियों उदाहरण हेमचन्द्र

* मूल अथवा आदि आर्य भाषा वह भाषा है जिससे कुछ रूप आर्ष कहे जानेवाले वैदिक शब्दों ने लिये हैं और जिन्हें मानव ने आदि-आर्य अपने मूल देश में, यहाँ से इधर उधर बिखरने के पहले, व्यवहार में लाते होंगे। —अनु०

के अनुवाद और 'हाल' की 'सप्तशती' में वेबर ने जो टिप्पणियाँ दी हैं, उनमें मिलते हैं — ५. लाखारिआए की पुस्तक 'बाइत्रैगे त्सूर इण्डिशन लेक्सीकोग्राफी' (बर्लिन १८८३), पेज ५३ और उसके बाद; वाकरनागल की आल्ट इण्डिशे ग्रामाटीक, भूमिका के पेज ५१ और उसके बाद— ६. बेन्फे, फौल्स्टैण्डीगे ग्रामाटीक, पाराग्राफ १४०, २, पिशल, ब्यूलर, फ्राके आदि सब विद्वान् इस मत का समर्थन करते हैं— ७ पिशल, गोएटिंगीशे गेलैर्ते आन्त्साइगन १८८०, पेज ३२६ जिसमें यह बताया गया है कि रावणवहो की टिप्पणियों में इस विषय पर बहुत सामग्री प्राप्य है; शकर पाण्डुरग पण्डित, गउडवहो, भूमिका का पेज ५६—८, लेपिग्राफी ए लिस्स्तार लागिस्तीक द लाद, एक्सत्रैदे कौंत रौंदू दे सेआस द लाकादेमी देजास्क्रिपसिओं ए बैलर्लेत्र (पैरिस १८८६) पेज १७ और उसके बाद, लेज़ास्क्रिप्सिओं द पियदासी, २, पेज ५३० और उसके बाद।

§ १०—प्रस्तर लेखों में प्राकृत भाषा का प्रयोग निम्नलिखित लेखों मे हुआ है—पल्लव राजा 'शिवस्कन्दवर्मन्' और पल्लव युवराज 'विजयबुद्धवर्मन्' की रानी के दान पत्रों में, कक्कुक का घटयाल प्रस्तर लेख तथा सोमदेव के 'ललित विग्रहराज' नाटक के अशो में। पहले प्रस्तर लेखों का प्रकाशन ब्यूलर ने एपिग्राफिका इण्डिका १, पेज २ और उसके बाद के पेजों मे प्रकाशित किया है। 'लौयमान' ने एपिग्राफिका इडिका के २,४८३ और उसके बाद के पेजों में ब्यूलर के पाठ में कुछ सशोधन किये है। पिशल ने भी १८९५ ई० में ब्यूलर के पाठ की कुछ भूल शुद्ध की है। मैने इन दान पत्रों को 'पल्लवग्राण्ट' नाम दिया है। ब्यूलर ने विद्वानों का ध्यान इस तथ्य की तरफ खीचा है कि इन प्रस्तर लेखों मे कुछ बातें ऐसी हैं जो स्पष्ट बताती हैं कि इनपर प्राकृत का बहुत प्रभाव पड़ा है और ये विशेषताएँ केवल साहित्यिक प्राकृत में ही मिलती हैं, उदाहरणार्थ इन लेखों मे(य ज में परिवर्तित हो गया है।) इसके उदाहरण हैं—**कारवेज्ञा, वट्टेज, होज, जो, संजुत्तो**। न बहुधा ण मे परिणत हो गया है। प व लिखा जाने लगा है, जैसे—**कस्सव, अणुवट्टावेति,** वि,भड, कड आदि,(व्यञ्जनों के द्वित्व का प्रयोग होने लगा है, जैसे—**अग्निष्टोम** का **अग्गिट्ठोम, अश्वमेध** का **अस्समेध, धर्म** का **धम्म सर्वत्र** का **सवत्थ, राष्ट्रिक** का **रट्ठिक** *आदि*।)(*ये विशेषताएँ 'लेण' बोली के किसी न किसी प्रस्तर लेख में मिलती ही हैं।*) यद्यपि दूसरे प्रस्तर लेखों में यह विशेषता इतनी अधिक नहा मिलती और इस कारण इस भाषा को हम प्राकृत मान सकते हैं, तथापि यह सर्वत्र विशुद्ध प्राकृत नहीं है। इनमें कहीं य के स्थान पर ज हो गया है और कहीं वह सस्कृत य के रूप मे ही दिखाई देता है। न बहुधा न ही रह गया है और प का व नहा हुआ है। प्राकृत के दुहरे व्यञ्जन,के स्थान मे इकहरे काम में लाये गये हैं; जैसे—शिव खंधवमो, सुमिरे, वधनिक आदि। प्राकृत भाषा के नियमो के बिल्कुल विपरीत शब्द भी काम में लाये गये हैं, जैसे— **कांचीपुरा** जो प्राकृत में **कंचीपुरा** होता है, आत्ते° (६,१३) जो प्राकृत में अत्तं° होता है, वत्स° (६,२२) प्राकृत वच्छ° के लिये, **चात्तारि** (६,३९) प्राकृत चत्तारि के लिए। कुछ शब्दों का प्रयोग असाधारण हुआ है, जैसे—प्राकृत वितरामो (५,७) के स्थान

पर वितराम और (दुद्ध के स्थान पर दूध (६,२१) का प्रयोग,)* दिण्णम् के स्थान पर दत्तम् (६,१२) और दिण्णा के स्थान पर दत्ता (७,४८) अर्थात् दत्ता का प्रयोग। इन प्रयोगों से स्पष्ट पता चलता है कि इस भाषा में कृत्रिमता आ गई थी। प्राकृत के इतिहास के लिए प्रस्तर लेख भी महत्त्व के हैं, और वे इसलिए इस व्याकरण में सर्वत्र काम में लाये गये हैं। 'लेण' बोली और 'गाथा'[1] की बोली हमारे विषय से बहुत दूर है और इसलिए हमने प्राकृत भाषाओं के इस व्याकरण में उन भाषाओं का प्रयोग नहीं किया। कक्कुक प्रस्तर-लेख मुन्शी देवीप्रसाद ने सन् १८९५ के जोर्नल ऑफ द रौयल एशियैटिक सोसाइटी के पेज ५१३ और उसके बाद के पेजों में प्रकाशित कराया है। वह जैन महाराष्ट्री में लिखा गया है।

१. फ्लीट द्वारा इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, ९, पेज १०० और उसके बाद के पेजों में प्रकाशित। इसके साथ एपिग्राफिका इण्डिका १,२ में प्रकाशित ब्यूलर के लेख में उसके नोट भी देखिए— २. ब्यूलर के उक्त लेख का पेज २ और उसके बाद— ३. सेनार, पियदसी २, पेज ४८९ और उसके बाद तथा पेज ५१८ और उसके बाद— ४. ब्यूलर, एपिग्राफिका इण्डिका में छपे उक्त निबन्ध का पेज २ और उसके बाद— ५. यह बात 'सेनार' ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक के २, ४९४ पेज में 'लण' बोली के बारे में और भी जोर देकर कही है— ६. सेनार का मत है कि नाम उचित नहीं है; देखो उसकी उपर्युक्त पुस्तक २, पेज ४६९, उसका यह प्रस्ताव कि इस भाषा को 'संस्कृत मिश्रित' कहना चाहिए, बहुत कमजोर है। इस विषय पर 'वाकरनागल' ने अपने ग्रन्थ 'आल्टइण्डिसे ग्रामाटीक' की भूमिका के पेज ३९ और उसके बाद विस्तार से लिखा है।

§ ११—सोमदेव के 'ललितविग्रहराज' नाटक के अंश काले पत्थर की दो पट्टियों में खुदे हैं जो 'अजमेर' में पाये गये थे। वे कीलहौर्न द्वारा इण्डियन एण्टीक्वेरी २०, २२१ पेज और उसके बाद के पेजों में प्रकाशित किये गये थे। उनमें तीन प्राकृत बोलियाँ मिलती हैं। महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी। कोनो ने यह सिद्ध कर दिया है कि इन भाषाओं के प्राकृत रूप, मोटे तौर पर, हेमचन्द्र के व्याकरण के नियमों से मिलते हैं; किन्तु जिन नियमों के अनुसार 'सोमदेव' ने अपना नाटक लिखा है, उनका आधार हेमचन्द्र नहीं, कोई दूसरा लेखक होना चाहिए (यह बात मैंने इन प्रस्तर लेखों के प्रकाशित होते ही समझ ली थी[1])। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के ४, २७१ में इस बात का अधिकार दिया है कि शौरसेनी प्राकृत के लेखक हिंदी शब्द 'करके' के स्थान पर 'दूण' लिख सकते हैं, पर सोमदेव ने इसके स्थान पर ऊण लिखा है जो महाराष्ट्री प्राकृत का रूप है। हेमचन्द्र ने ४, २८० में बताया है कि य्येव होना चाहिए, पर सोमदेव ने इसके स्थान पर ज्जेव लिखा है। सोमदेव ने मागधी के संयुक्त व्यञ्जनों में श का प्रयोग किया है, किन्तु हेमचन्द्र ४, २८९ में इस

* 'दुद्ध' के स्थान पर 'दूध' का प्रयोग बताता है कि इस बोली में जनता की बोलचाल की भाषा से संपर्क का परिचय मिलता है और यह भी सिद्ध होता है कि दूध शब्द बहुत पुराना है।—अनु०

श के स्थान पर स् का प्रयोग उचित बताता है; सोमदेव ने र्थ के स्थान पर स्त का प्रयोग किया है जिसके स्थान पर हेमचन्द्र ४,२९१ में स्त को उचित समझता है और वह ᳲक के स्थान पर स्क का प्रयोग करता है जिसके लिए हेमचन्द्र ४,२९६; २९७[1] में स्क का प्रयोग ठीक समझता है। हिन्दी 'करके' के स्थान पर ऊण का प्रयोग अशुद्ध भी माना जा सकता है और यह सम्भव है कि स्वयं सोमदेव ने यह अशुद्धि की हो; इसके स्थान पर -इूण शब्द भी अशुद्ध है (§ ५८४); स्त के स्थान पर स्त आदि नकल करनेवाले अर्थात् लिखनेवाले की भूल हो सकती है, जिस भूल की परम्परा ही चल गई, क्योंकि ऐसी एक और गलती ५६६, ९ में यथार्थम् के स्थान पर यहस्तं रह गई है। किन्तु ᳲक के स्थान पर स्क के लिए 'कोनो'' के मत से मत मिलाना पड़ता है कि स्क पत्थर पर खोदनेवाले की भूल नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इसके कई उदाहरण मिलते हैं। इस प्रस्तर-लेख की लिपि के बारे में यह बात स्पष्ट है कि यह एक ही लेखक द्वारा लिखी गई है। इस लेख में बहुत बड़ी-बड़ी अशुद्धियाँ हैं जो उस समय की बोलचाल की भाषा के नियमों के विरुद्ध जाती हैं और जो अशुद्धियाँ उस समय के नाटकों की हस्तलिपियों में भी मिलती हैं। कोनो द्वारा बताई गई ऊपर लिखी भूलों (पेज ४७९) के अतिरिक्त मैं इस प्रस्तर-लेख की कुछ और अशुद्धियाँ यहाँ देता हूँ—शौरसेनी तुज्झ (५५४, १३; § ४२१); ज्जेव (५५४, ४; ५५५, १८)। यह शब्द अनुस्वार के बाद जेव हो जाता है; णिम्माय (५५४, १३ देखो § ५९१); कर्मवाच्य विलोइज्जन्ति, पॅक्खिज्जन्ति (५५४, २१,२२); किज्जदु (५६२, २४); जम्पिज्जदि (५६८,६) आये हैं, जिन्हें हेमचन्द्र विलोईअन्ति, पेक्खीअन्ति, करिअदु, जम्पीअदि के स्थान पर स्वीकार करता है (देखो § ५३५); किंति के लिए (५५५, ४) किंत्ति शब्द काम मे आया है, रदणाइं के स्थान पर रयणाई (५५५,१५) रदण के स्थान पर रअण (५६०,१९) आया है और गहिद के स्थान पर गिर्हीद (५६०, २०) और पदारिसम् के स्थान पर पआरिसम् खोदा गया है। मागधी प्राकृत में भी बोली की अशुद्धियाँ हैं—पॅक्किय्यन्दि (५६५, १३) पॅक्कीअन्ति के स्थान पर लिखा गया है; पॅक्कीअसि के स्थान पर पॅक्किय्यसि (५६५, १५) आया है; याणीअदि के स्थान पर याणिय्यदि (५६६, १) खोदा गया है; पच्चक्की कदं के स्थान पर पचक्खी कदं (५६६,१) लिखा गया है; यदूहस्तम् के स्थान पर यहस्तम् (५६६, ९) का प्रयोग किया गया है। णिय्यहल, युय्यह के स्थान पर निज्झल और युज्झ (५६६,९;११) का प्रयोग है (§ २८०; २८४ देखिए); येव के लिए एव (५६७, १) शब्द है। ये सब वे अशुद्धियाँ हैं जो हस्तलिखित पुस्तकों में भी सदा देखी जाती हैं जैसा कि तमपसर (५५५, ११), पचक्खाइं (५५५,१४) दशल्लूवं (५६५, ९)। जो हस्तलिखित नाटक हमें आजकल प्राप्त हैं, उनके लिखे जाने से पहले इन प्रयोगों का लोप हो गया था, इनमें से कुछ अशुद्धियाँ जैसा कि ऊण शौरसेनी और इज्ज- मागधी रूप-इय्य-लेखकों की अशुद्धियाँ समझी जा सकती हैं। राजशेखर(देखो § २२)और उसके बाद के कवियों ने भी नाना प्रान्तीय

बोलियों को आपस में मिला दिया है। ण के स्थान पर न और अन्य शब्दों में य[1] का आगम बताता है कि यह भाषा जैन है।'हरकेलि नाटक' का एक अंश जो अजमेर में मिला है, 'विग्रहराज देव' का लिखा हुआ बताया जाता है और यह पता चलता है कि इसमें २२ नवम्बर, ११५३ की तिथि पड़ी है[2]। इससे ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र का व्याकरण अधिक से-अधिक विक्रम संवत् ११९७ के अन्त में तैयार किया गया था[3] अर्थात् यह ११४० ई० में लिखा गया था। साथ साथ यह बात भी जान लेना चाहिए कि 'सोमदेव' और 'हेमचन्द्र' समकालीन थे। 'हरकेलि' नाटक में यद्यपि बहुत अशुद्धियाँ पाई जाती हैं तथापि मागधी प्राकृत के लिए ये अत्यन्त महत्त्व की हैं। मागधी प्राकृत केवल इन अंशों में ही उस रूप में मिलती है, जो पूर्णतया व्याकरण के नियमों के अनुकूल है।

१. गोएटिंगिशे गेलैर्ते आन्त्साइगन १८९४ पेज ४७८ और उसके बाद— २. इंडियन ऐंटिक्वेरी २०, २०४— ३. कोनो की उपर्युक्त पुस्तक पेज ४८१— ४. उक्त पुस्तक पेज ४८२— ५. उक्त पुस्तक पेज ४८०—६. इण्डियन ऐंटिक्वेरी में कीलहौर्न का लेख २०, २०१— ७. ब्यूलर की पुस्तक; 'इ. यूवर दास लेबन डेस् जैन मोएंशेस् हेमचंद्रा, विएना १८८९, पे. १८।

§ १२—प्राकृत भाषाओं में महाराष्ट्री प्राकृत (§ २) सर्वोत्तम गिनी जाती है, जो महाराष्ट्र देश के नाम पर, जहाँ मराठे रहते हैं, महाराष्ट्री कही जाती है और जैसा कि गारेंज ने (§ ५) बताया है कि वर्तमान मराठी के साथ निःसन्देह और स्पष्ट सम्बन्ध सिद्ध करती है[ ]। न कोई दूसरी प्राकृत साहित्य में कविता और नाटकों के प्रयोग में इतनी अधिक लाई गई है और न किसी दूसरी प्राकृत के शब्दों में इतना अधिक फेर-फार हुआ है। महाराष्ट्री प्राकृत में संस्कृत शब्दों के व्यंजन इतने अधिक और इस प्रकार से निकाल दिये गये हैं कि अन्यत्र कहीं यह बात देखने में नहीं आती। इसका फल यह हुआ है कि इस प्राकृत का एक शब्द कई संस्कृत शब्दों का अर्थ देता है और उनके स्थान पर प्रयोग में आता है। महाराष्ट्री कअ शब्द = कच और कृतके; कइ = कति, कपि, कवि, कृति; काअ = काक, काच, काय; गआ = गता, गदा, गजा; मअ = मत, मद, मय, मृग, मृत; वअ = वचस्, वयस्, व्रत, पद-, सुअ = शुक, सुत, श्रुत आदि आदि[ ]। इसलिए बीम्स[ ] साहब ने ठीक ही बात कही है कि महाराष्ट्री 'Emasculated stuff' अर्थात् पुंसत्वहीन भाषा है। जैसा कि विद्वान् लोग पहले से मानते आ रहे हैं कि महाराष्ट्री प्राकृत से व्यंजन इसलिए भगा दिये गये कि इस प्राकृत का प्रयोग सबसे अधिक गीतों में किया जाता था तथा इसमें अधिकाधिक लालित्य लाने के लिए यह भाषा श्रुतिमधुर बनाई गई[ ]। ऐसे पद गाहा = संस्कृत गाथा हैं। ये गाहा हमें 'हाल' की सत्तसई और 'जयवल्लभ'[ ] के 'वज्जालग्ग' में संगृहीत मिलती हैं; ये गाहाएँ पुराने कवियों के संग्रहों में भी कई स्थानों पर रख दी गई हैं। इनका नाम स्पष्ट रूप में गाहा रक्खा गया है और ये गाये जानेवाले गीत हैं (देखिए हाल ३, ५००, ६००, ६९८, ७०८, ७०९, ८१५, वज्जालग्ग ३, ४, ९,

१०)। 'मुद्राराक्षस' ८३,२;३ में दिया गया पद जो विशुद्ध महाराष्ट्री में है और जो एक सपेरे तथा प्राकृत कवि के रूप में पार्ट खेलनेवाले पात्र 'विराधगुप्त' ने मन्त्री 'राक्षस' के पास भेजा था, वह गाथा बताया गया है। 'विश्वनाथ' ने भी 'साहित्यदर्पण' ४३२ में बताया है कि नाटक में कुलीन महिलाएँ शौरसेनी प्राकृत में बोलती हैं; किन्तु अपने गीतों में (आसाम् एव तु गाथासु) इनको महाराष्ट्री काम में लानी चाहिए। 'शकुन्तला नाटक' में ५५, १५ और १६ में ५४, ८ को 'प्रियंवदा' गीदअम् = गीतकम् बताती है और ५५, ८ को गीजिआ = गीतिका कहती है। मुद्राराक्षस ३४, ६ और उसके बाद के पद्य ३५, १ के अनुसार गीदाई यानी गीतानि अर्थात् गीत हैं। नाटक की पात्री अपने पदों को महाराष्ट्री में गाती है (गायति), उदाहरणार्थ देखो 'शकुन्तला नाटक' २, १३; 'मल्लिका मारुतम्' १९, १; 'कालेय कुतूहलम्' १२, ६ (वीणम् वादयन्ती गायति); 'उन्मत्त' 'राघव' २, १७; तुलना कीजिए 'मुकुन्दानन्द भाण' ४, २० और उसके बाद; महाराष्ट्री भाषा में लिखे गये उन पदों के विषय में, जो कि रंगमंच के भीतर से गाये जाते थे, लिखा गया है कि 'नेपथ्ये-गीयते'। उदाहरणार्थ—'शकुन्तला' नाटक ९५, १७; 'विद्धशालभंजिका' ६, १; कालेयकुतूहलम् ३, ६; कर्णसुन्दरी ३, ४ गीतों अथवा गाये जाने के लिए लिखी गई कविता में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग निस्सन्देह बहुत प्राचीन काल से है और मुख्यतया इस एक कारण से ही, श्रोताओं के आगे 'कोमलकान्तपदावली' गाने के लिए अधिकांश व्यञ्जन संस्कृत शब्दों से रगड़ कर ही महाराष्ट्री कर्णमधुर बनाई गई[१]।

१. ई. कून ने कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३३,४७८ में यह मत दिया है कि महाराष्ट्री प्राकृत का सबसे प्राचीन रूप पाली में देखा जाना चाहिए; मैं इस मत को भ्रमपूर्ण समझता हूँ— २. इसके कुछ उदाहरण शंकर पाण्डुरंग पण्डित द्वारा सम्पादित 'गउडवहो' की भूमिका के पेज ५६ और ५८ में मिलते हैं— ३. कम्पैरेटिव ग्रैमर १, २२३— ४. भण्डारकर, रिपोर्ट १८८३ और १८८४ (बम्बई १८८७), पेज १७ और ३२४ तथा उसके बाद; इसका शुद्ध नाम वज्जालग्ग है (३ और ४ तथा ५; पेज ३२६,९), जिससे वज्जालय (पेज ३२६,५) शब्द निकला है; यह शब्द वज्जा=व्रज्या (बोएटलिंक और रोट का पीटर्सबुर्गर कोश; वेबर, हाल की भूमिका का पेज ३८; पिशल, डी होफडिस्टर डेस, लक्ष्मण सेन (गोएटिंगन १८९३) पेज ३०; और लग्ग (=लक्षण चिह्न; देशी० ७,१७)। इस शब्द का संस्कृत रूप 'लग्न' है। इस शब्द का संस्कृत अनुवाद पद्यालय अशुद्ध है— ५. वेबर, इण्डिशे स्टूडिएन ३, १५९; २७९; हाल' की भूमिका का पेज २०।

§ १३—महाराष्ट्री प्राकृत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'हाल' की 'सत्तसई' है। इसके आरम्भ के ३७० पद वेबर ने १८७० में ही प्रकाशित करवा दिये थे और अपनी इस पुस्तक का नाम रक्खा था; 'इ. यूबर डास सप्तशतकम् डेस हाल, लाइप्त्सिख १८७०' अर्थात् 'हाल' की सप्तशती के विषय

में, लाइप्सिस १८७०[१]। वेबर ने इस विषय पर जर्मन पौर्वात्य विद्वत् समिति की पत्रिका के २६ वें वर्ष के ७३५ पेज और उसके बाद के पेजों में अपने नये विचार और पुराने विचारों में सुधार प्रकाशित किये हैं। इसके बाद उसने १८८१ ई० में लाइप्सिस से 'हाल' की सत्तसई का सम्पूर्ण संस्करण निकाला, जिसमें उसका जर्मन अनुवाद और शब्द सूची भी दी है। वेबर ने, 'हाल' की सप्तशती पर 'भुवनपाल' ने 'छेकोक्ति विचारलीला' नाम से जो टीका लिखी है, उसके विषय में अपने इण्डिशे स्टूडिएन के १६ वें भाग में विचार प्रकट किये हैं। इस ग्रन्थ का एक उत्तम संस्करण दुर्गाप्रसाद और काशीनाथ पाण्डुरंग परब ने निकाला है, जिसका पाठ कई स्थानों पर बहुत अच्छा सुधारा गया है और जिसमें एक उत्तम टीका भी दी गई है। 'सातवाहन' की यह 'गाथा सत्तसई' बम्बई के निर्णय सागर प्रेस से 'गंगाधर भट्ट' की टीका सहित काव्य माला के २१ वें भाग के रूप में निकली है। वेबर का मत है कि यह सत्तसई अधिक से अधिक ईसा की तीसरी सदी से पुरानी नहीं है, किन्तु यह सातवीं सदी से पहले लिखी गई होगी। उसने अपनी भूमिका में इस ग्रन्थ की अन्य छ हस्तलिपियों पर बहुत कुछ लिखा है और फिर 'भुवनपाल' की सातवीं हस्तलिपि पर विस्तार के साथ विचार किया है। सत्तसई को देखने से यह पता चलता है कि महाराष्ट्री प्राकृत में बहुत ही अधिक समृद्ध साहित्य रचा गया होगा। आरम्भ में सत्तसई के प्रत्येक पद के लेखक का नाम उसके पद के साथ दिया जाता रहा होगा (देखो, हाल ७०९)। खेद है कि इन नामों में से कुछ इने गिने नाम ही हम तक पहुँचे हैं और उनमें से भी बहुत-से नाम विकृत रूप में मिल रहे हैं। कुछ टीकाकारों ने ११२ नाम दिये हैं। 'भुवनपाल' ने ३८४ नाम दिये हैं जिनमें से सातवाहन, शालिवाहन, शालाहण और हाल एक ही कवि के नाम हैं। इनमें से दो कवि 'हरिवृद्ध' (हरिउड्ढ) और 'पोट्टिस' के नाम 'राजशेखर' ने अपनी 'कर्पूरमंजरी' में दिये हैं। इस ग्रन्थ में कुछ और नाम भी आये हैं जैसे णन्दिउड्ढ (नन्दिवृद्ध), हाल, पालित्तअ, चम्पअराअ और मलअसेहर[१]। इनमें से 'पालित्तअ' के नाम पर 'भुवनपाल' ने सत्तसई के दस पद लिखे हैं। यदि 'पालित्तअ' वही कवि हो, जिसे वेबर[१] ने 'पादलिप्त' बताया है तो वह वही पादलिप्ताचार्य होगा, जिसे हेमचन्द्र ने 'देशी नाम माला' के १,२ में 'देशीशास्त्र' नामक ग्रन्थ के एक लेखक के नाम से लिखा है। 'मलअसेहर' पर 'कोनो' ने जो लेख लिखा है, उससे उक्त लेखक के नाम के विषय में (भुवनपाल ने मलयशेखर को मलयशेखर लिखा है) अब किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह गया है। 'भुवनपाल' के अनुसार 'अभिमान', जिसका पद 'हाल' ५१८ है, 'अभिमानचिह्न' के नाम से विदित था। 'पादलिप्त' के सूत्र में किसी अन्य लेखक ने वृत्ति जोड़ रक्खी है, पर 'अभिमान' ने अपने ग्रन्थ में अपने ही उदाहरण दे रक्खे हैं (देखो देशीनाममाला १,१४४, ६,९३, ७,१, ८,१२ और १७)। भुवनपाल के अनुसार हाल, २२० और ३६९ के कवि 'देवराज' के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। 'देशीनाममाला' ६,५८ और ७२; ८,१७ के अनुसार 'देवराज' देसी भाषा का लेखक था। 'अपराजित' जिसे भुवनपाल सत्तसई के ७५६ पद

का लेखक मानता है, उस 'अपराजित' से भिन्न है जिसके विषय में 'कर्पूरमंजरी' ६,१ में लिखा गया है कि उसने 'मृगांकलेखाकथा' नामक ग्रन्थ लिखा और यह 'अपराजित' 'राजशेखर' का समकालीन था। इस बात का कुछ पता नहीं चलता कि यह दूसरा 'अपराजित' संस्कृत का प्रयोग बिल्कुल नहीं करता था; क्योंकि यह भी हो सकता है कि ऊपर लिखा हुआ प्राकृत पद स्वयं 'राजशेखर' ने संस्कृत से प्राकृत में कर दिया हो। 'सुभाषितावली' का १०२४ वाँ संस्कृत श्लोक 'अपराजित' के नाम से दिया गया है। 'भुवनपाल' के अनुसार 'हाल' की सत्तसई के श्लोक २१७ और २३४ 'सर्वसेन' ने लिखे हैं और इस सर्वसेन के विषय में 'आनन्दवर्द्धन' के 'ध्वन्यालोक' १४८,९ में लिखा गया है कि इसने 'हरिविजय' नामक ग्रन्थ लिखा है और १२७,७ में उसके एक पद को उद्धृत भी किया गया है। हेमचन्द्र ने 'अलंकार चूडामणि' में भी यह पद दिया है (कीलहौर्न की हस्तलिखित प्रतियों की रिपोर्ट, पेज १०२, संख्या २६५। यह रिपोर्ट बम्बई में १८८१ ई० में छपी थी[१])। नामी कवियों में भुवनपाल ने 'प्रवरसेन' का नाम 'वाक्पतिराज' भी लिखा है, पर 'रावणवहो' और 'गउडवहो' में ये पद नहीं मिलते। 'गउडवहो' के अनुसार वाक्पतिराज ने 'महुमहविअअ' नाम का एक और काव्य लिखा था। आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक १५२,२, 'सोमेश्वर' के 'काव्यादर्श' के पेज ३१ (कीलहौर्न की हस्तलिखित प्रतियों की रिपोर्ट पेज ८७ संख्या ६६) और हेमचन्द्र के 'अलंकारचूडामणि' के पेज ७ के अनुसार उसने 'मधुमथन विजय' रचा है, इसलिए उसके नाम पर दिये गये श्लोक उक्त ग्रन्थों में मिलने चाहिए, किन्तु इस विषय पर भी मतभेद है और कोई विश्वसनीय बात उनमें नहीं पाई जाती। यह सब होने पर भी यह बात तो पक्की है और सत्तसई से इस बात का प्रमाण मिलता है कि प्राकृत में उससे पहले भी यथेष्ट समृद्ध साहित्य रहा होगा और इस साहित्य में महिलाओं ने भी पूरा पूरा भाग लिया था[५]।

१. इसकी एक महत्त्वपूर्ण सूचना गारेंज ने जूरनाल आसियाटीक के खण्ड ४,२०,१९७ और उसके बाद छपवाई है— २. पिशल, गोएटिंगिशे गेलेर्ते आन्त्साइगन १८९१,३६५, कर्पूरमंजरी १९,२ भी देखिए— ३. इण्डिशे स्टूडिएन १६,२४, नोट १— ४. पिशल, त्साइटुङ्ग डेर, मौरगेन लैण्डिशन गेज़ेलशाफ्ट ३९, ३१६— ५. वेबर के दोनों संस्करण हाल[१] और हाल[२] छापकर उनमें भेद दिखा दिया है, जो आवश्यक है। बिना संख्या के केवल 'हाल' से दूसरे संस्करण का बोध होता है।

§ १४—प्राकृत में समृद्ध साहित्य के विषय में दूसरा संग्रह अर्थात् 'जयवल्लभ' का 'वज्जालग्ग' भी (देखो § १२) प्रमाण देता है। 'जयवल्लभ' श्वेताम्बर सम्प्रदाय का जैन था। हस्तलिखित पुस्तकों की उक्त रिपोर्ट में भण्डारकर ने बताया है कि इस पुस्तक में ४८ खण्ड हैं, जो ३२५ पृष्ठों में पूरे हुए हैं और इसमें ७०४ श्लोक हैं जिनके लेखक, दुर्भाग्य से इनमें नहीं बताये गये हैं। इसका दूसरा श्लोक 'हाल' की सत्तसई का दूसरा श्लोक है। ३२५ पेज में छपे हुए ६ से १० तक श्लोक 'हाल' के नाम पर दिये गये हैं, पर सत्तसई में ये देखने को नहीं मिलते। यह लक्षणीय है कि

'जयवल्लभ' का 'वज्जालग्ग' शीघ्र प्रकाशित किया जाय। 'वज्जालग्ग' के ऊपर १३९३ संवत् में (१३३६ ई०) 'रत्नदेव' ने छाया लिखी थी। इसके पेज ३२४,२६ के अनुसार इस संग्रह का नाम 'जअवल्लहम्' है। इसके अतिरिक्त अन्य कई कवियों ने महाराष्ट्री में बहुत से पद बनाये हैं। वेबर ने हाल की सत्तसई के परिशिष्ट में (पेज २०२ और उसके बाद) 'दशरूप' की 'धनिक' द्वारा की गई टीका, 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' से ६७ पद एकत्र किये हैं और उसने ३२ पद ऐसे दिये हैं, जो सत्तसई की नाना हस्तलिखित प्रतिलिपियों के अलग अलग स्थान में मिलते हैं। इनमें से ९६८ वॉं पद, जिसके आरम्भ में दे आ पसिअ है, 'ध्वन्यालोक' ४२,२ में पाया जाता है। यह 'अलंकारचूडामणि' के चौथे पृष्ठ में भी मिलता है तथा अन्यत्र कई जगह उद्धृत किया गया है, ९६९ वाँ पद जो अण्णम् लडहत्तणअम् से आरम्भ होता है, 'रुय्यक' के 'अलंकार सर्वस्व' के ६७,२ में पाया जाता है और 'अलंकारचूडामणि' के १७ वें पेज में भी है, यह श्लोक अन्यत्र भी कई जगह मिलता है। ९७० वाँ श्लोक 'जयरथ' की 'अलंकार विमर्षिणी' के २४ वें पेज में पाया जाता है (यह ग्रन्थ हस्तलिखित है जो ब्यूलर द्वारा लिखी गई डिटेल्ड रिपोर्ट संख्या २२७ में मिलता है)। इस संग्रह के अन्य पद भी नाना लेखों ने उद्धृत किये हैं। ९७९ वाँ पद, जो जोपरिहरिडँ शब्दों से आरम्भ होता है, ९८८ वाँ श्लोक जो ताण से आरम्भ होता है, ९८९ वाँ पद जिसके प्रारम्भ में ताला जाअन्ति है और ९९९ वाँ पद जो होमि वहरिथअरेहो से आरम्भ होता है, आनन्दवर्द्धन की कविता 'विषमबाणलीला' से लिये गये हैं। इन पदों को स्वयं 'आनन्दवर्द्धन' ने ध्वन्यालोक ६२,३, १११,४, १५२,३, २४१,१२ और २० में उद्धृत किया है और 'आनन्दवर्द्धन' के अनुसार ये कवियों की शिक्षा के लिए (कविव्युत्पत्तये) लिखे गये थे। इस विषय पर ध्वन्यालोक २२२,१२ पर अभिनव गुप्त की टीका देखिए। ९७९ वें पद के बारे में 'सोमेश्वर' के काव्यादर्श के ५२ वें पेज (कीलहौर्न की हस्तलिखित प्रतियों की रिपोर्ट १८८०,८१, पेज ८७, संख्या ६६) और जयन्त की 'काव्यप्रकाशदीपिका' के पेज ६५ में (ब्यूलर की हस्तलिखित प्रतियों की डिटेल्ड रिपोर्ट संख्या २४४) प्रमाण मिलते हैं कि ये पद उद्धृत हैं। उक्त दोनों कवियों ने इसे 'पंचबाणलीला' से लिया हुआ बताया है। ९८८ और ९८९ संख्या के पद स्वयं 'आनन्दवर्द्धन' ने ध्वन्यालोक में उद्धृत किये हैं और ९९९ वाँ पद अभिनवगुप्त ने १५२, १८ की टीका करते हुए उद्धृत किया है। ये पद 'विषमबाणलीला' के हैं, यह बात सोमेश्वर (उपर्युक्त ग्रन्थ पेज ६२) और जयन्त ने (जयन्त का ऊपर दिया गया ग्रन्थ, पेज ७९) बताई है। इस 'वज्जालग्ग' ग्रन्थ से 'आनन्दवर्द्धन' ने पा अ ताण घडइ से आरम्भ होनेवाला पद 'ध्वन्यालोक' २४१,१३ में उद्धृत किया है। २४३ पेज का २० वाँ पद यह प्रमाणित करता है कि कवि अपभ्रंश भाषा में भी कविता करता था। 'ध्वन्यालोक' की टीका के पेज २२३ के १३ वें पद के विषय में 'अभिनवगुप्त' लिखता है कि यह श्लोक मैंने अपने गुरु 'भट्टेन्दुराज' की प्राकृत कविता से लिया है, और इस भट्टेन्दुराज को हम बहुत पहले से संस्कृत कवि के रूप में जानते हैं। इसमें से अधिकांश प्राकृत पद 'भोजदेव' के

'सरस्वतीकण्ठाभरण' में मिलते हैं। 'सास्सारिआए'[1] के मत से इसमें ३५० पद उद्धृत मिलते हैं, जिनमें से १५० (जेकब[2] के अनुसार केवल ११३) सत्तसई के पद हैं, प्रायः ३०[3] पद 'रावणवहो' से लिये गये हैं; महाराष्ट्री प्राकृत के और पद कालिदास, श्रीहर्ष, राजशेखर आदि से लिये गये हैं और बहुत से पद उन कवियों से[4] उद्धृत किये गये हैं जिनका अभीतक कुछ पता नहीं चल सका। 'बरुवा'[5] का यह मत कि इन पदों में एक कविता 'सत्यभामासंवाद' या इसी विषय पर कोई इसी भाँति की किसी कविता से उद्धृत है, कुविआ च सच्चहामा (३२२,१५) और सुरकुसुमेहि कलुसिअम् (३२७,२५) इन दो पदों पर आधारित है। कहा जाता है कि ये पद 'सत्यभामा' ने 'रुक्मिणी' से कहे थे, इस विषय पर इस ग्रन्थ के ३४०,९; ३६९,२१; ३७१,८ पद तुलना करने योग्य हैं। इस विषय पर मुझे जो कुछ ज्ञात हुआ है, उससे तो मालूम पड़ता है कि ये पद 'सर्वसेन' के 'हरिविजय' या 'वाक्पतिराज' के 'मधुमथन विजय' से लिये गये है। इनमें महाराष्ट्री प्राकृत के नाटक और गाथाएँ हैं।

१. बे'त्सेनबैर्गेर्स, बाइत्रैगे १६,१७२ में पिशल का लेख देखिए—२.काव्यमाला में इसका जो संस्करण छपा है, उसमें बहुत लीपा-पोती की गई है। हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर यह इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिए—महु महु त्ति, भणंत्तिअहो वज्जइकालु जणस्सु। तो वि ण देउ जणद्दणऊ गोअरि होइ मणस्सु— ३. औफरेष्ट, काटालोगुस, काटालोगोरुम १,५५— ४. गोएटिंगिशे गेलैर्ते आन्त्साइगन १८८४, पेज ३०९— ५. जोरनल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी १८९७, पेज ३०४; वेबर के हाल[1] की भूमिका के पेज ४३ नोट १ में औफरेष्ट ने ७८ की पहचान दी है— ६. सास्सारिआए की उपरि लिखित पुस्तक— ७. बरुवा का संस्करण (कलकत्ता १८८३), भूमिका का पेज ४।

§ १५—महाराष्ट्री प्राकृत, महाकाव्यों की भाषा भी है, जिनमें से दो काव्य अभी तक प्रकाशित हो चुके हैं। इनके नाम हैं, 'रावणवहो' और 'गउडवहो'। रावणवहो का कवि अज्ञात है। 'रावणवहो' को 'दहमुहवहो' भी कहते हैं तथा यह ग्रन्थ अपने संस्कृत नाम 'सेतुबन्ध' से भी विख्यात है। साहित्यिक परम्परा के अनुसार इसका लेखक प्रवरसेन है। सम्भवतः यह कश्मीर का राजा 'प्रवरसेन' द्वितीय हो[1], जिसके कहने पर यह काव्य ग्रन्थ लिखा गया हो। 'बाण' के समय में अर्थात् ईसा की ७वीं सदी में यह ग्रन्थ ख्याति पा चुका था, क्योंकि 'हर्षचरित' की भूमिका में इसका उल्लेख है। दण्डिन् के 'काव्यादर्श' १,३४ में इसका जो उल्लेख है, उससे पता चलता है कि यह 'बाण' के समय से भी कुछ पहले का हो। 'रावणवहो' के तीन पाठ अभी तक मिले हैं, एक चौथा पाठ भी मिला है जिससे यह ज्ञात होता है कि इसका कभी संस्कृत में भी अनुवाद हुआ था जिसका नाम 'सेतुसरणि'[2] था। इसका एक प्राकृत संस्करण 'अकबर' के समय में 'रामदास' ने टीका सहित लिखा था; पर उसने मूल का अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझा। इस विषय पर आधुनिक काल में सबसे पहले 'होएफर' ने काम किया जिसका १८४६ ई० में यह विचार था[3] कि 'रावणवहो'

का एक संस्करण प्रकाशित किया जाय, पर उसे सफलता न मिली। इस काव्य में १५ 'आश्वास' हैं। इनके पहले १५ वें 'आश्वास'के दोनों अंश पौल गोल्डश्मित्त ने १८७३ ई० में प्रकाशित करवाये। इस पुस्तक का नाम पड़ा—'स्पिसिमैन डेस् सेतुबन्ध'। यह पुस्तक गोएटिंगन से १८७३ ई० में निकली। स्ट्रासबुर्ग से १८८० ई० में 'रावण वह ओडर सेतुबन्ध' नाम से जीगफ्रीड गोल्डश्मित्त ने सारा ग्रन्थ प्रकाशित करवाया तथा मूल के साथ उसका जर्मन अनुवाद भी दिया और यह अनुवाद १८८३ ई० में प्रकाशित हुआ। इसका एक नया संस्करण जो वास्तव में'गोल्डश्मित्त' के आधार पर है, बम्बई से 'शिवदत्त'और'परब'ने निकाला। इसमें रामदास की टीका भी दे दी गई है। इस ग्रन्थ का नाम है 'द सेतुबन्ध औफ प्रवरसेन' बम्बई १८९५ (काव्यमाला संख्या ४७)। 'गउडवहो' का लेखक 'बप्पइराअ' (संस्कृत वाक्पतिराज) है। वह कान्यकुब्ज के राजा 'यशोवर्मन्' के दरबार में रहता था अर्थात् वह ईसा की ७वीं सदी के अन्त या ८ वीं सदी के आरम्भकाल का कवि है। उसने अपनेसे पहले के कुछ कवियों के नाम गिनाये हैं, जो ये हैं—भवभूति, भास, ज्वलनमित्र, कान्तिदेव, कालिदास, सुबन्धु और हरिचन्द्र। अन्य महाकाव्यों से 'गउडवहो' में यह भेद है कि इसमें सर्ग, काण्ड आदि नहीं हैं। इसमें केवल श्लोक हैं, जिनकी संख्या १२०९ है और यह'आर्या'छन्द में है। इस महाकाव्य के भी बहुत पाठ मिलते हैं, जिनमें श्लोकों में तो कम भेद दीख पड़ता है, किन्तु श्लोकों की संख्या और उनके क्रम में प्रत्येक पाठ में बहुत भेद पाया जाता है। इस ग्रन्थ पर 'हरिपाल' ने जो टीका लिखी है, उसमें इस महाकाव्य के विषय पर मुख्य मुख्य बातें ही कही गई हैं। इसलिए 'हरिपाल' ने अपनी टीका का नाम 'गौडवध सार' टीका रखा है। इस टीका में विशेष कुछ नहीं है, प्राकृत शब्दों का संस्कृत अर्थ दे दिया गया है। 'गउडवहो' महाकाव्य 'हरिपाल' की टीका सहित और शब्द सूची के साथ शंकरपाण्डुरंग पंडित ने प्रकाशित करवाया है। इसका नाम है—"द गउडवहो ए हिस्टोरिकल पोयम इन प्राकृत, बाइ वाक्पति,' बम्बई १८८७ (बम्बई संस्कृत सिरीज संख्या ३४)। यह बात हम पहले ही (§ १२) बता चुके हैं कि 'वाक्पतिराज' ने प्राकृत में एक दूसरा महाकाव्य भी लिखा है, जिसका नाम 'महुमहविजअ' है। इसका एक श्लोक 'अभिनवगुप्त' ने 'ध्वन्यालोक' १५२, १५ की टीका में उद्धृत किया है तथा दो और श्लोक सम्भवतः 'सरस्वती कण्ठाभरण' ३२२, १५; ३२७, २५ में उद्धृत हैं। पंडित के संस्करण में, हेमचन्द्र की भाँति ही श्लोकों की लिखावट है अर्थात् इसमें जैन लिपि का प्रयोग किया गया है जिसमें आरम्भ में न लिखा जाता है और यश्रुति रहती है। बात यह है कि इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ जैनों की लिखी हैं और जैनलिपि में हैं। 'भुवनपाल' की टीका सहित सत्तसई की जो हस्तलिखित प्रति मिली है, उसका मूल ग्रन्थ भी जैन लिपि में मिलता है। 'रावणवहो' और 'गउडवहो' पर उनसे पहले लिखी गई उन संस्कृत की पुस्तकों का बहुत प्रभाव पड़ा है जो भारी भरकम और कृत्रिम भाषा में लिखी गई थीं [भवभूति के नाटकों में और कहीं कहीं 'मृच्छकटिक' में भी ऐसी भाषा का प्रयोग किया गया है। गउडवहो,'हाल' की सत्तसई और रावणवहो—

ये तीनों ग्रन्थ महाराष्ट्री प्राकृत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण साधन हैं। चूँकि इन ग्रन्थों में महाराष्ट्री के उत्तम-उत्तम शब्द आये हैं, इसलिए मैंने 'ध्वनि-शिक्षा' नामक अध्याय में ऐसे शब्दों को गउड०, हाल और रावण० संक्षिप्त नाम से दिया है। वेबर ने 'हाल' की सत्तसई के पहले संस्करण में महाराष्ट्री प्राकृत के व्याकरण की रूपरेखा दी है, पर यह उस समय तक प्रकाशित सत्तसई के अंशों तक ही सिमित है।

१. मैक्समूलर, इण्डिएन इन साइनर वेल्टगेशिष्टलिशन वेदौयटुङ्ग (लाइप्त्सिख १८८४) पेज २७२ और उसके बाद; यह मत कि कालिदास रावणवहो का लेखक है, उस सामग्री पर आधारित है जो कालिदास के समय से बहुत बाद की है—२. एस गोल्डस्मित्त, रावणवहो, भूमिका का पेज ५ औरउसके बाद—३.डौयत्शन् मौर्गेन लेन्डिशन गेजेलशाफ्ट की १८४५ की वार्षिक रिपोर्ट (लाइप्त्सिख १८४६) पेज १७६, त्साइटश्रिफ्ट फ्यूर डी विस्सन् शाफ्ट डेर स्प्राखे २,४८८ और उसके बाद—४.इसके साथ गोएटिंगिशे गेलेर्ते आन्त्साइगन १८८०, पेज ३८० और उसके बाद के छपे पेजों में पिशल का लेख देखिए—५. पण्डित, गउडवहो, भूमिका के पेज ६४ और उसके बाद—६.पण्डित, गउडवहो भूमिका का पेज ८ और ग्रन्थ के पेज ३४५ तथा उसके बाद—७.पण्डित, गउडवहो, भूमिका के पेज ७ में इस विषय पर कई अन्य बातें बताई गई हैं; याकोबी, गोएटिंगिशे गेलेर्ते आन्त्साइगन १८८८, पेज ६३—८.गोएटिंगिशे गेलेर्ते आन्त्साइगन १८८०, पेज ६१ और उसके बाद के पेजों में याकोबी का लेख—९ पण्डित ने गउडवहो की भूमिका के पेज ५२ और उसके बाद के पेजों में वाक्पतिराज को आसमान पर चढ़ा दिया है; इस विषय पर गोएटिंगिशे गेलेर्ते आन्त्साइगन १८८८, पेज ६५ में याकोबी का लेख देखिए।

§ १६—महाराष्ट्री के साथ साथ लोग जैनों के द्वारा काम में लाई गई दोनों बोलियों का निकट सम्बन्ध मानते हैं। इन दोनों बोलियों को हरमान याकोबी[1] जैन महाराष्ट्री और जैन प्राकृत के नाम से अलग अलग करता है। वह जैन महाराष्ट्री नाम से टीकाकारों और कवियों[2] की भाषा का अर्थ समझता है और जैन प्राकृत, उस भाषा का नाम निर्दिष्ट करता है जिसमें जैनों के शास्त्र[3] और जैन सूत्र[4] लिखे गये हैं। जैन प्राकृत नाम जो 'ई. म्यूलर'[5] ने अपनाया है, अनुचित है और उसका यह दावा कि जैन प्राकृत पुरानी या अतिप्राचीन महाराष्ट्री है, भ्रामक है[6]। भारतीय वैयाकरण पुराने जैन सूत्रों की भाषा को **आर्षम्** अर्थात् 'ऋषियों की भाषा' का नाम देते हैं। हेमचन्द्र ने १,३ में बताया है कि उसके व्याकरण के सब नियम आर्ष भाषा में लागू नहीं होते, क्योंकि आर्ष भाषा में इसके बहुत से अपवाद हैं और वह २,१७४ में बताता है कि ऊपर लिखे गये नियम और अपवाद आर्ष भाषा में लागू नहीं होते, उसमें मनमाने नियम काम में लाये जाते हैं। त्रिविक्रम[7] अपने व्याकरण में आर्ष और देश्य भाषाओं को व्याकरण के बाहर ही रखता है; क्योंकि इनकी

उत्पत्ति स्वतन्त्र है जो जनता में रूढि बन गई थीं; (रूढत्वात्)। इसका अर्थ यह है कि आर्षभाषा की प्रकृति या मूल संस्कृत नहीं है और यह बहुधा अपने स्वतन्त्र नियमों का पालन करती है (स्वतन्त्रत्वाच् च भूयसा)। प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ने दण्डिन् के काव्यादर्श १,३३ की टीका करते हुए एक उद्धरण दिया है जिसमें प्राकृत का दो प्रकारों में भेद किया गया है। एक प्रकार की प्राकृत वह बताई गई है जो आर्षभाषा से निकली है और दूसरी प्राकृत वह है जो आर्ष के समान है— **आर्षोत्थम् आर्षतुल्यम् च द्विविधम् प्राकृतम् विदुः।** 'रुद्रट' के काव्यालंकार २,१२ पर टीका करते हुए 'नमिसाधु' ने प्राकृत नाम की व्युत्पत्ति यों बताई है कि प्राकृत भाषा की प्रकृति अर्थात् आधारभूत भाषा वह है जो प्राकृतिक है और जो सब प्राणियों की बोलचाल की भाषा है तथा जिसे व्याकरण आदि के नियम नियन्त्रित नहीं करते, चूँकि वह प्राकृत से पैदा हुई है अथवा प्राकृत जन की बोली है, इसलिए इसे प्राकृत भाषा कहते हैं। अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि **प्राक्कृत** शब्दों से बनी हो। इसका तात्पर्य हुआ कि वह भाषा जो बहुत पुराने समय से चली आई हो। साथ ही यह भी कहा जाता है कि वह प्राकृत जो आर्ष शास्त्रों में पाई जाती है अर्थात् अर्द्धमागध वह भाषा है, जिसे देवता बोलते हैं— **आरिसवयणे सिद्धम् देवाणम् अद्धमागहा वाणी।** इस लेखक के अनुसार प्राकृत वह भाषा है जिसे स्त्रियाँ, बच्चे आदि बिना कष्ट के समझ लेते हैं, इसलिए यह भाषा सब भाषाओं की जड़ है। बरसाती पानी की तरह प्रारम्भ में इसका एक ही रूप था, किन्तु नाना देशों में और नाना जातियों में बोली जाने के कारण (उनके व्याकरण के नियमों में भिन्नता आ जाने के कारण) तथा नियमों में समय समय पर सुधार चलते रहने से भाषा के रूप में भिन्नता आ गई। इसका फल यह हुआ कि संस्कृत और अन्य भाषाओं के अपभ्रंश रूप बन गये, जो 'रुद्रट' ने २,१२ में गिनाये हैं (देखो § ४)। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'नमिसाधु' के मतानुसार संस्कृत की आधारभूत भाषा अथवा कहिए कि संस्कृत की व्युत्पत्ति प्राकृत से है। यह बात इस तरह स्पष्ट होती है कि बौद्धों ने जिस प्रकार मागधी[^] को सब भाषाओं के मूल में माना है, उसी प्रकार जैनों ने अर्धमागधी को अथवा वैयाकरणों द्वारा वर्णित आर्ष भाषा को वह मूल भाषा माना है जिससे अन्य बोलियाँ और भाषाएँ निकली हैं। इसका कारण यह है कि 'महावीर' ने इस भाषा में अपने धर्म का प्रचार किया। इसलिए समवायंगसुत्त ९८[^] में कहा गया है—**भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्मं आइक्खइ। सा वि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियं-अणारियाणम् दुप्पय चोप्पयमियपसुपक्खिसरी सिवाणं अप्पणो हियसिवसुहदाय भासत्ताए परिणमइ** अर्थात् 'भगवान यह धर्म (जैनधर्म) अर्द्धमागधी भाषा में प्रचारित करता है और यह अर्द्धमागधी भाषा जब बोली जाती है तब आर्य और अनार्य, दोपाये और चौपाये, जंगली और घरेलू जानवर, पक्षी, सरीसृप (साँप, कछुआ) आदि सब प्रकार के कीड़े इसी में बोलते हैं और यह सबका हित करती है, उनका कल्याण करती है और उन्हें सुख देती है।'

वाग्भट ने 'अलकार तिलक' १,[१] मे कहा है—सर्वार्धमागधीम् सर्वभाषासु परिणामिणीम्। सार्वीयाम्[१०] सर्वतोवाचम् सार्वज्ञीम् प्रणिद्‌ध्महे। अर्थात् हम उस वाच का प्रणिधान करते हैं जो विश्वभर की अर्द्धमागधी है, जो विश्व की सब भाषाओं में अपना परिणाम दिखाती है, जो सब प्रकार से परिपूर्ण है और जिसके द्वारा सब कुछ जाना जा सकता है। 'पण्णवणासुत्त' ५९ मे आर्यों की ९ श्रेणियाँ की गई हैं जिनमें से छठी श्रेणी भासार्या, *अर्थात् वह आर्य जो आर्य भाषा बोलते हैं,* उनकी है। ६२ वें[११] पेज में उनके विषय में यह बात कही गई है—से किं तं भासारिया। भासारिया जे णं अद्धमागहाए भासाए भासन्ति : जत्थ वि य णं बम्भी लिवी पवत्तइ अर्थात् 'भासारिया' (भाषा के अनुसार आर्य) कौन *कहलाते हैं? भाषा के अनुसार आर्य वे लोग हैं जो अर्द्धमागधी भाषा में बातचीत* करते और लिखते-पढते हैं और जिनमें ब्राह्मी लिपि काम में लाई जाती है'। महावीर ने अर्द्धमागधी भाषा में ही अपने धर्म का प्रचार किया, इस बात का उल्लेख ऊपर बताये गये 'समवायगसुत्त' के अतिरिक्त 'अववाइअसुत्त' के पारा ५६ में भी है : तए णं समणे भगवं महावीरे अद्धमागहाए भासाए भासइ। अरिहा धम्मं परिकहेइ। तेसिं सव्वेसिं आर्य अणारियाणं अगिलाए धम्मं आइक्खइ। सवियणं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियं-अणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ अर्थात् 'भगवान महावीर इन श्रमणों से...अर्द्ध-मागधी भाषा में (अपने धर्म का व्याख्यान करता है)। अर्हत् धर्म को भलीभाँति फिर फिर समझाता है। वह उन सब आर्यों और अनार्यों के आगे धर्म की शिक्षा देता है। वे सब लोग भी इस अर्धमागधी भाषा से सब आर्य और अनार्यों के बीच *अपनी अपनी बोली में अनुवाद करके इस धर्म का प्रचार करते हैं।'* इस *तथ्य का* उल्लेख 'उवासगदसाओ' के पेज ४६ में 'अभयदेव' ने किया है और वेबर द्वारा प्रकाशित 'सूरियपन्नति' की टीका में मलयगिरि ने भी किया है (देखो भगवती २,२४५), हेमचन्द्र की 'अभिधान चिन्तामणि' ५,९ की टीका भी तुलना करने योग्य है। हेमचन्द्र ने ४,२८७ में एक उद्धरण में कहा है कि जैनधर्म के प्राचीन सूत्र अद्धमागह भाषा में रचे गये थे[१२]—' पोराणं अद्धमागह भासा नियय हवइ सुत्तं। इसपर हेमचन्द्र कहता है कि यद्यपि इस विषय पर बहुत प्राचीन परम्परा चली आई है तो भी इसके अपने विशेष नियम हैं, यह मागधी व्याकरण के नियमों पर नहीं चलती[१३]। इस विषय पर उसने एक उदाहरण दिया है कि से तारिसे दुक्खसहे जिइन्दिये (दसवेयालियसुत्त ६३३,१९) मागधी भाषा में अपना रूप परिवर्तन करके तालिशे दुक्खशहे यिदिंदिए हो जायगा।

१ कल्पसूत्र पेज १७, औसगेवैल्ते एर्सैलुंगन, इन महाराष्ट्री (लाइप्त्सिख १८८६), भूमिका का पेज ११—२.कल्पसूत्र पेज १७—३.एर्सैलुंगन भूमिका का पेज १२—४.कल्पसूत्र पेज १७—५.बाइत्रैगे त्सूर ग्रामाटीक डेस जैन प्राकृत (बर्लिन, १८७६)—६.§ १८ देखिए—७.पिशल, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज २९—८.दालिवस, ऐन इन्ट्रोडक्शन टु कचाय-

भाज ग्रैमर औफ द पाली लैंग्वेज (कोलम्बो १८९२), भूमिका का पेज १०७; म्यूर, ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्टस् २, ५४; ऑफ्रेर, प्रोसीडिंग्स औफ द एशियाटिक सोसाइटी औफ बैंगाल १८७९, १५५।—९. इसका पाठ वेबर ने अपनी फैरसाइशनिस २, २, ४०६ में भी छापा है; अववाइअसुत्त से आगे के पाराग्राफों से उद्धृत वाक्यों से भी तुलना कीजिए—१०. हस्तलिखित प्रतियों में ऐसा पाया जाता है; बम्बई १८९४ में प्रकाशित काव्यमाला संख्या ४३ में छपे संस्करण में सर्वेषाम् छपा है—११. इसका पाठ वेबर ने इण्डिशे स्टुडियन १६, ३९९ और फैरसाइशनिस २, ५६२ में छापा है—१२. लौयमान ने औपपातिक सूत्र (लाइप्त्सिख् १८८३) पेज ९६ में निययम् बताया है, अद्ध मागही भाषा में यह निजक (बाँधना) के समान है; किन्तु हेमचन्द्र स्वयं इसका अर्थ नियत देता है, जो ठीक है—१३. होएर्नले ने अपने ग्रन्थ द प्राकृत—लक्षणम् और चण्डाज ग्रामर औफ द एन्शण्ट आर्ष प्राकृत (कलकत्ता १८८०) भूमिका का पेज १९ और उसका नोट।

§ १७—उक्त बातों से यह पता लगता है कि आर्ष और अर्धमागधी भाषाएँ एक ही हैं और जैन-परम्परा के अनुसार प्राचीन जैन सूत्रों की भाषा अर्धमागधी थी[1]। इन तथ्यों से एक बात का और भी बोध होता है कि 'दसवेयालियसुत्त' से हेमचन्द्र ने जो उद्धरण लिया है, उससे प्रमाण मिलता है कि अर्धमागधी में गद्य ही गद्य नहीं लिखा गया; बल्कि इसमें कविता भी की गई। किन्तु गद्य और पद्य की भाषा में जितनी अधिक समानता देखी जाती हो, साथ ही एक बहुत बड़ा भेद भी है। मागधी की एक बड़ी पहचान यह है कि र का ल हो जाता है और स का श तथा अ में समाप्त होनेवाले अथवा व्यजनों में अन्त होनेवाले ऐसे शब्दों का कर्ता कारक एक वचन, जिनके व्यंजन अ में समाप्त होते हों, ए में बदल जाते हैं* और ओ के स्थान में ए हो जाता है। अर्धमागधी में र और स बने रहते हैं; पर कर्त्ता कारक एकवचन में ओ का ए हो जाता है। समवायंगसुत्त पेज ९८[2] और 'उवासगदसाओ' पेज ४६ की टीका में अभयदेव इन कारणों से ही इस भाषा का नाम अर्धमागधी पड़ा, यह बात बताता है—अर्धमागधी भाषा यस्याम् रसोर् लशौ मागध्याम्[3] इत्यादिकं मागधभाषा लक्षणं परिपूर्ण नास्ति। स्टीवेनसन[4] ने यह तथ्य सुझाया है और वेबर[5] ने शब्दों के उदाहरण देकर प्रमाणित किया है कि अर्धमागधी और मागधी का सम्बन्ध अत्यन्त निकट का नहीं है। कर्त्तावाचक एकवचन के अन्त में ए लगाने के साथ साथ, अर्धमागधी और मागधी में एक और समानता है, वह यह कि क्त में समाप्त होनेवाले धातु के त के स्थान में ड हो जाता है†। किन्तु मागधी में यह नियम भी सर्वत्र लागू नहीं होता (देखो § २१९)। इन दोनों भाषाओं में एक और समानता देखी जाती है कि इन दोनों में य का बहुत प्राबल्य है; लेकिन इस बात में भी दोनों भाषाओं के नियम भिन्न-भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त क का ग हो जाता है

* जैसे सः का रूप 'से' हो जाता है।—अनु०

† जैसे गत का 'गड', कृत का 'कड' आदि।—अनु०

(दे० § २०२) जो मागधी में कहीं कहीं होता है। सम्बोधन के एकवचन में अ में समाप्त होनेवाले शब्दों में बहुधा प्लुति आ जाती है; किन्तु प्लुति का यह नियम ढक्की और अपभ्रंश भाषा में भी चलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अर्धमागधी और मागधी में बहुत से सम्बन्ध प्रमाणित किये जा सकते, यदि मागधी में बहुत से स्मृति-स्तम्भ वर्त्तमान होते और वे अच्छी दशा में रक्षित मिलते। वर्तमान स्थिति में तो इनकी समानता के प्रमाण मिलना किसी सुअवसर और सौभाग्य पर ही निर्भर है। ऐसा सयोग से प्राप्त एक शब्द अर्धमागधी उसिण है (= सस्कृत उष्ण) जो मागधी कोशिण (= सस्कृत कोष्ण) की रीति पर है, (दे० § १३३)। यह बात भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि अर्धमागधी और मागधी सस्कृत षष्ठी एकवचन तव का ही रूप व्यवहार में लाते हैं और यह रूप अन्य प्राकृत भाषाओं में नहीं मिलता (§ ४२१)। अर्धमागधी में लाटी प्राकृत से अ में समाप्त होनेवाले शब्दों का सप्तमी एकवचन के अन्त में 'सि' लगने की रीति चली है। अर्धमागधी में बहुधा यह देखने में आता है कि प्रथमा के एकवचन के अन्त में ए के स्थान पर ओ का भी प्रयोग होता है। मेरे पास जो पुस्तकें हैं, उनमें अगर एक स्थान में प्रथमा एकवचन के लिए शब्द के अन्त में ए का प्रयोग हुआ है, तो उसके एकदम पास में ओ भी काम में लाया गया है। 'आयारंगसुत्त', पेज ४१ पंक्ति १ में अभिवायमाणे आया है, पर पंक्ति २ में हयपुव्वो है और ३ में लसियपुव्वो है। पेज ४५ की पंक्ति १९ में नाओ है, किंतु २० में से महावीरे पाठ है। २२ में फिर अलद्धपुव्वो आया है और गामो भी है। पेज ४६, ३ में दुक्खसहे, अपडिन्ने, ४ में सूरो, ५ में संवुडे, ६ में पडिसेवमाणो, ७ में अचले, १४ में अपुट्ठे और उसी के नीचे १५ में पुट्ठो, अपुट्ठो पाठ है। ऐसे स्थलों पर लिपिकारों की भूल भी हो सकती है जो प्रकाशकों को शुद्ध कर देनी चाहिए थी। कलकत्ते के सस्करण में ४५ पेज की लाइन २२ में गामे शब्द है और ४६, ६ में पडिसेवमाने छपा है। एक स्थान पर ओ भी है। उक्त सब शब्दों के अन्त में ए लिखा जाना चाहिए। कविता में लिखे गये अन्य ग्रंथों में, जैसा कि 'आयारंगसुत्त' पेज १२७ और उसके बाद, के पेजों में १ पेज १२८, ३ में मउडे के स्थान पर हस्तलिखित प्रति बी. के अनुसार, मउडो ही होना चाहिए। यह बात कविता में लिखे गये अन्य ग्रंथों में भी पाई जाती है। 'सूयगडंगसुत्त,' 'उत्तरज्झयणसुत्त', 'दसवेयालियसुत्त' आदि में ऐसे उदाहरणों का बाहुल्य है। कविता की भाषा गद्य की भाषा से ध्वनि तथा रूप के नियमों में बहुत भिन्न है और महाराष्ट्री और जैनों की दूसरी बोली जैन महाराष्ट्री से बहुत कुछ मिलती है; किन्तु पूर्णतया उसके समान भी नहीं है। उदाहरणार्थ सस्कृत शब्द म्लेच्छ अर्धमागधी के गद्य में मिलक्खु हो जाता है, पर पद्य में महाराष्ट्री, जैन महाराष्ट्री, शौरसेनी, अपभ्रंश की भाँति मेच्छ (§ ८४) होता है। केवल काव्य ग्रंथों में, महाराष्ट्री, और जैन महाराष्ट्री की भाँति, अर्धमागधी में कृ धातु (§ ५०८) का रूप कुणइ* होता है। साथ ही

* यह 'कुणइ' शब्द कुमाऊँ की बोली में आज भी चलता है। 'तुम क्या करते हो' के लिए कुमाउनी बोली में 'तुमके कणौ छा' का व्यवहार होता है। उत्तर भारत के कई स्थानों में यह शब्द मिल सकता है।—अनु०

केवल कविता में, महाराष्ट्री और जैन महाराष्ट्री की तरह, संस्कृत—त्वा के स्थान में —तूण या ऊण होता है (§ ५८४ और उसके बाद)। संधि के नियमों, संज्ञा और धातु के रूपों और शब्दसंपत्ति में पद्य में लिखे गये ग्रन्थों और गद्य की पुस्तकों में महान् भेद मिलता है। इसके ढेर-के ढेर उदाहरण आप 'दसवेयालियसुत्त', 'उत्तरज्झय णसुत्त' और 'सूयगडंगसुत्त' में देख सकते हैं। काव्यग्रंथों की इस भाषा पर ही 'क्रमदी श्वर' की (५, ९८) यह बात ठीक बैठती है कि अर्धमागधी, महाराष्ट्री और मागधी के मेल से बनी भाषा है—**महाराष्ट्री मिश्रार्ध मागधी**"। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अर्धमागधी जैनियों की प्राचीन प्राकृतों का तीसरा भेद है। पाली भाषा में भी कविता की भाषा में बहुत पुराने रूप और विशेषता पाई जाती हैं जो गद्य में नहीं मिलतीं, किंतु इस कारण किसी ने यह नहीं कहा कि गद्य और पद्य की भाषाएँ दो विभिन बोलियाँ हैं। इसलिए, चूँकि, अर्धमागधी के गद्य और पद्य की भाषा का आधार निस्सन्देह एक ही है, इसलिए मैंने इन दोनों प्रकार की भाषाओं को, परम्परा से चला आया हुआ एक ही नाम अर्धमागधी दिया है। 'भारतीय नाट्यशास्त्र' १७,४८ में मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या के साथ अर्ध मागधी को भी सात भाषाओं के भीतर एक भाषा माना है और १७, ५० में (= साहित्य दर्पण, पेज १७३, ३) कहा है कि यह नाटकों में नौकरों, राजपूतों और श्रेष्ठियों द्वारा बोली जानी चाहिए—**चेटानाम् राजपुत्राणाम् श्रेष्ठिनाम् चार्ध मागधी**। किन्तु संस्कृत नाटकों में यह बात नहीं मिलती तथा मार्कण्डेय (§ ३) का मत है कि अर्धमागधी और मागधी शौरसेनी की ही बोलियाँ हैं जो आपस में निकट संबंधी हैं। ऐसी आशा करना स्वाभाविक है कि नाटकों में जब जैन पात्र आते होंगे तब उनके मुँह में अर्धमागधी भाषा की बातचीत रखी जाती होगी। लास्सन ने अपनी पुस्तक 'इस्टिट्यूत्सिओनेस लिंगुआए प्राकृतिकाए' में 'प्रबोधचन्द्रो दय' और 'मुद्राराक्षस' नाटकों से उदाहरण देकर अर्धमागधी की विशेषताएँ दिखाने का प्रयत्न किया है और उसका मत है कि 'धूर्तसमागम' नाटक में नाई अर्धमागधी बोलता है। 'मुद्राराक्षस' नाटक के पेज १७४ १७८, १८३ १८७ और १९० १९४ में 'जीवसिद्धि क्षपणक' पात्र आता है। इसके विषय में टीकाकार 'ढुंढिराज' ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है—क्षपणको जैनाकृति, अर्थात् भीख माँगनेवाला साधु जीवसिद्धि जैन के रूप में है। इस क्षपणक की भाषा अर्धमागधी से मिलती है और उसने ओ के स्थान पर ए का प्रयोग किया है, उदाहरणार्थ—कुचिदे, भदन्ते (१७८, ४)। उसने नपुंसक लिंग में भी ए का प्रयोग किया है, जैसे—अदपिदणे णक्खत्ते (१७६, १ और २)। इसके अतिरिक्त उसकी भाषा में क ग में परिणत हो गया है। यह बात विशेषकर **शावगाणं** (१७५,१; १८५,१, १९०,१०) सम्बोधन का एक वचन **शावगा** (१७८,३; १७७,२, १८३,५ आदि) से प्रमाणित होती है। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इसका अन्तिम स्वर भी लम्बा कर दिया गया है (§ ७१)। कर्ता एकवचन में ए जोड़ दिया गया है, जैसे—शावगे (१७८,२, १९३,१) और अहक° का हगे हो गया है (§ १४२, १९४ और ४१७)। उसकी

और बातें मागधी भाषा में लिखी गई हैं, इसलिए स्वयं हेमचन्द्र अपने प्राकृत व्याकरण के ४,३०२ में 'क्षपणक' की भाषा के शब्द मागधी भाषा के उदाहरण के रूप में देता है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के पेज ४६ से ६४ तक एक क्षपणक आया है जो दिगम्बर जैन साधु बताया गया है। रामदास ठीक ही कहता है कि उसकी भाषा मागधी है और वह यह भी निर्देश करता है कि भिक्षु, क्षपणक, राक्षस और अन्तःपुर के भीतर महिलाओं की नौकरानियाँ मागधी प्राकृत में बातचीत करती हैं। 'लटक मेलक' के पेज १२–१५ और २५ से २८ में भी एक दिगम्बर पात्र नाटक में खेल करता है, जो मागधी बोलता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि नाटकों में सर्वत्र ये 'क्षपणक' दिगम्बर होते हैं। इसकी बोली मुख्य मुख्य बातों में श्वेताम्बर जैनियों की बोली से थोड़ी ही भिन्न है और काफी मिलती-जुलती है और ध्वनि के महत्त्वपूर्ण नियमों के अनुसार मागधी के समान ही है (§ २१)। नाटकों में अर्धमागधी काम में बिल्कुल नहीं लाई गई है। उनमें इसका कहीं पता नहीं मिलता।

१. विलसन, सिलेक्ट वर्क्स १,२८९, वेबर, भगवती, १,३९२—२. वेबर ने फैर्त्साइशनिस २,२,४०६ में यह पाठ छापा है, इसका नोट संख्या ८ भी देखिए—३. वेबर अपने उपर्युक्त ग्रन्थ में सत्य लिखता है कि यह उद्धरण किसी अज्ञातनामा व्याकरण से लिया गया है। यह 'रुद्रट' के काव्यालंकार २,१२ की टीका में 'नमिसाधु' ने भी दिया है। उसमें उसने **मागध्याम्** के स्थान पर **मागधिकायाम्** शब्द का उपयोग किया है। चण्ड ३,३९ में लिखा गया है— **मागधिकायाम् रसयोर् लशौ**। वेबर का यह मत (फैर्त्साइशनिस २,३ भूमिका का पेज की नोट संख्या ७), कि यह नाम 'अद्धमागहा भासा' इसलिए पड़ा कि इसका अर्थ 'एक छोटी सी भाषा अर्थात् इस भाषा में बहुत कम गुण हैं' इस तात्पर्य से रखा गया, अशुद्ध है—४.द कल्पसूत्र एण्ड नवतत्त्व (लण्डन १८४८), पेज १३७ तथा उसके बाद—५.भगवती १,३९३ और उसके बाद—६.ई० म्यूलर, बाइत्रैगे पेज ३, म्यूलर ने इस भाषा का सम्बन्ध दिखाने के लिए साम्य की जो और बातें बताई हैं, वे और बोलियों में भी मिलती हैं—७ होएर्नले ने चण्ड की भूमिका के पेज १९ में जो लिखा है कि अर्धमागधी + महाराष्ट्री=आर्ष, यह बात भ्रमपूर्ण है।

§ १८—कोलब्रुक[१] का मत था कि जैनों के शास्त्र मागधी प्राकृत में लिखे गये हैं और साथ ही उसका यह विचार था कि यह प्राकृत उस भाषा से विशेष विभिन्नता नहीं रखती, जिसका व्यवहार नाटककार अपने ग्रन्थों में करते हैं और जो बोली वे महिलाओं के मुख में रखते हैं। उसका यह भी मत था कि मागधी प्राकृत संस्कृत से निकली है और वैसी ही भाषा है जैसी कि सिंहल देश की पाली भाषा। लास्सन[२] का विचार था कि मागधी प्राकृत और महाराष्ट्री एक ही भाषाएँ हैं।

होएफर[1] इस मत पर डटा था कि जैन शास्त्रों की प्राकृत भाषाएँ कुछ भिन्नताएँ और विशेषताएँ अवश्य हैं, जो अन्य प्राकृतों में साधारणतया देखी नहीं जातीं। लेकिन जब हम व्यापक दृष्टि से इस भाषा पर विचार करते हैं तब स्पष्ट पता चल जाता है कि यह भी वही प्राकृत है। याकोबी इस सिद्धान्त पर पहुँचा है कि जैन शास्त्रों की भाषा बहुत प्राचीन महाराष्ट्री[2] है; किन्तु इस मत के साथ ही वह यह भी लिखता है कि यदि हम जैन प्राकृत को अर्थात् जैन शास्त्रों के सबसे पुराने उस रूप को देखें, जो इस समय हमें मिलता है* और उसकी तुलना एक ओर पाली और दूसरी ओर हाल, सेतुबन्ध आदि ग्रन्थों में मिलनेवाली प्राकृत से करें तो साफ दिखाई देता है कि यह उत्तरकालीन प्राकृतों[3] से पाली भाषा के निकटतर है, यह एक पुरानी भारतीय बोली है जो पाली से घना सम्बन्ध रखती है, पर इससे[4] नवीनतर है। इस मत के विरुद्ध वेबर[5] का कहना है कि अर्धमागधी और महाराष्ट्री के बीच कोई निकटतर सम्बन्ध नहीं है और पाली के साथ भी इसका सम्बन्ध सीमित है तथा जैसा कि वेबर से पहले स्पीगल[6] बता चुका था और उसके बाद इसकी पुष्टि याकोबी[7] ने भी की है कि अर्धमागधी पाली से बहुत बाद की भाषा है। अर्धमागधी ध्वनितत्त्व, संज्ञा और धातु की रूपावलियाँ तथा अपनी शब्द सम्पत्ति में महाराष्ट्री से इतना अधिक भेद रखती है कि यह सोलह आने असम्भव है कि इसके भीतर अति प्राचीन महाराष्ट्री का रूप देखा जाय। स्वयं याकोबी ने इन दोनों भाषाओं में जो अनगिनत भेद हैं, वे एकत्र किये हैं और इन महत्त्वपूर्ण भेदों का उससे भी बड़ा संग्रह ई. म्यूलर[10] ने किया है। ई. म्यूलर स्पष्ट तथा ओजस्वी शब्दों में यह अस्वीकार करता है कि अर्धमागधी प्राचीन महाराष्ट्री से निकली है। वह अर्धमागधी को प्रस्तर लेखों की मागधी से सम्बन्धित करता है। प्रथमा एकवचन का—ए इस बात का पक्का प्रमाण है कि अर्धमागधी और महाराष्ट्री दो भिन्न भिन्न भाषाएँ हैं। यह ऐसा ध्वनि-परिवर्तन नहीं है जिसके लिए यह कहा जाय कि यह समय बदलने के साथ-साथ घिस मज कर इस रूप में आ गया, बल्कि यह स्थानीय भेद है जो भारतीय भाषा के इतिहास से स्पष्ट है। भारतीय भाषा का इतिहास बताता है कि भारत के पूर्वी प्रदेश में अर्धमागधी बहुत व्यापक रूप में फैली थी और महाराष्ट्री का प्रचलन उधर कम था। यह सम्भव है कि देवर्धिगणिन् की अध्यक्षता में 'वलभी' में जो सभा जैनशास्त्रों को एकत्र करने के लिए बैठी थी या 'स्कन्दिलाचार्य'[11] की अध्यक्षता में मथुरा में जो सभा हुई थी, उसने मूल अर्धमागधी भाषा पर पश्चिमी प्राकृत भाषा महाराष्ट्री का रंग चढ़ा दिया हो। यह बहुत सम्भव है कि अर्धमागधी पर महाराष्ट्री का रंग वलभी में गहरा जम

* इस रूप का प्रचार संज्ञा शब्दों के षष्ठी बहुवचन में हिन्दी में विभक्तियों के प्रयोग के बाद कम हो गया है, फिर भी सुदूर प्रान्तों में जहाँ भाषा के रूप में, प्राचीनता के कुछ अवशेष बचे हैं, ऐसे प्रयोग मिल सकते हैं। इन्हें ढूँढ़ने का काम विश्वविद्यालयों और कालेजों के हिन्दी के अध्यापकों और शोध में रस लेनेवाले छात्रों का है। कुमाऊँ की बोली में आज भी ऐसा प्रयोग मिलता है। वहाँ बामणान कणं दियौ का अर्थ है—ब्राह्मणों को दो, बानरान का अर्थ है—बन्दरों को आदि।—अनु०

हो"। ऐसा नहीं मालूम होता कि महाराष्ट्री का प्रभाव विशेष महत्त्वपूर्ण रहा, *क्योंकि अर्धमागधी का जो मूल रूप है, वह इसके द्वारा अछूता बचा रह गया।*

अर्धमागधी की ध्वनि के नियम जैसा कि एव से पहले अम् का आ हो जाना ६८), इति का ई हो जाना (§ ९३), उपसर्ग प्रति से इ का उड जाना; पकर इन शब्दों में—पडुच्च, पडुपन्न, पडोयारय, आदि (§ १६३), तालव्य के र पर दन्त्य अक्षरों का आ जाना (§ २१५), अहा (= यथा) में से य का जाना (§ ३३५), सधि व्यजनों का प्रयोग (§ ३५३), इसके अतिरिक्त दान कारक के अन्त में-त्ताए (§ ३६४) का व्यवहार, तृतीया विभक्ति का-मे समाप्त होना (§ ३६४), कम्म और धम्म का तृतीया का रूप कम्मुणा धम्मुणा (§ ४०४), उसके विचित्र प्रकार के सख्यावाचक शब्द, अनेक ओं के रूप जैसे कि स्या धातु से आइक्खइ रूप (§ ४९२), आप् धातु म उपसर्ग जोडकर उसका पाउणइ रूप (§ ५०४), कृ धातु का कुव्वइ (§ ५०८),-इ और इत्तु और त्ताए म समाप्त होनेवाला सामान्य रूप nfinitive) (§ ५०७), सस्कृत त्वा और हिन्दी करके के स्थान पर-त्ता § ५८२), -त्ताणं (§ ५८३),-च्चा, -च्चाण, -च्चाण (§ ५८७), -याण, ाण (§ ५९२) आदि महाराष्ट्री भाषा में कहीं भी नहीं मिलते। अर्धमागधी महाराष्ट्री से भी अधिक व्यापक रूप से मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग किया गया (§ २१९, २२२, २८९ और ३३३), इसी प्रकार अर्धमागधी में ल के न पर र हो गया है। (§ २५७)। ध्वनि के वे नियम जो अर्धमागधी चलते हे, महाराष्ट्री में कभी कभी और कहीं कहीं दिखाई पडते है। इसके दाहरण हे, अशस्वर* अ का प्रयोग (§ १३२) दीर्घ स्वरों का व्यवहार र-त्र (§ ८७) प्रत्यय और क्ष (§ ३२३) व्यजन को सरल कर देना, का ग में परिणत हो जाना (§ २०२), प का म हो जाना (§ २४८) ादि। य श्रुति (§ १८७) जो बहुधा शब्द सम्पत्ति के भिन्न भिन्न रूप दिखाती और कई अन्य बातें अकाट्य रूप से सिद्ध करती हैं कि अर्धमागधी और हाराष्ट्री मूल से अलग होते ही अलग अलग भाषाएँ बन गईं। साहित्यिक ापा के पद पर बिठाई जाने के बाद इसमें से भी व्यजन खदेड दिये गये और ह अन्य प्राकृत बोलियों की भाँति ही इस एक घटना से बहुत बदल गई। *समें कर्त्ता कारक के अन्त में जो ए जोडा जाता है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है*

* अश स्वर या आशिक स्वर अ का मतलब है कि अ बोलने में कम समय लगता है अर्थात् उसका कालमान या काल की मात्रा घट जाती है। 'प्रमाण' का आज भी गावों में 'परमाण' बोला जाता है, किन्तु प्रमाण में प हल्त है और उसका स्वर अश-स्वर है, किन्तु परमाण बोलने के समय की मात्रा समान ही रह जाती है और र में जो अकार है, उसे बोलने में आधा या आशिक समय लगता है। यही बात प्रसन्न का परसन्न, श्लाघा का सलाहा (=सराहना) होने पर घटती है। यहाँ सलाहा में स पहले हलत था, अब इसका अश अ बन गया है। प्रमाण में प हलत है, पर परमाण में प में अ जुड़ गया है अर्थात् इसका अश बन गया है। इस शब्दप्रक्रिया में जो अ आता है, उसे अश स्वर कहते हैं। —अनु०

कि अर्धमागधी भाषा का क्षेत्र शायद ही 'प्रयाग' के बाहर पश्चिम की ओर गया होगा। इस समय तक इस विषय पर हमें जो कुछ तथ्य ज्ञात हैं, उनके आधार पर इस विषय पर कुछ अधिक नहीं लिखा जा सकता।

१. मिसलेनिअस एसेज ३१, २१३— २. इन्स्टीट्यूत्सीओनेस पेज १ और ४२ तथा ४३— ३. त्साइटश्रिफ्ट फ्यूर डी विस्सनशाफ्ट देर स्प्राखे ३, २७१— ४. कल्पसूत्र पेज १८, इस ग्रन्थ का पेज १९ और एर्सेलुंगन की भूमिका के पेज १२ से भी तुलना कीजिए; वेबर, फैरत्साइशनिस २, ३ भूमिका के पेज १४ का नोट संख्या ७ — ५. सेक्रेड बुक्स औफ द ईस्ट खंड २२ की भूमिका का पेज ४१— ६. आयारंग सुत्त की भूमिका का पेज ८— ७. भगवती १, ३९६— ८. स्युत्सनर गेलैर्तें आन्त्साइगन १८४९, पेज ९१२— ९. कल्पसूत्र पेज १७; एर्सेलुंगन, भूमिका का पेज १२— १०. बाइत्रैगे पेज ३ और उसके बाद— ११. याकोबी, कल्पसूत्र पेज १५ और उसके बाद, सेक्रेड बुक्स औफ द ईस्ट १२ वाँ खंड, भूमिका का पेज ३७ और उसके बाद, वेबर इण्डिशे स्टूडिएन १६, २१८— १२. एर्सेलुंगन की भूमिका के पेज १२ में याकोबी की स्वीकारोक्ति इस विषय पर § २४ भी देखिए।

§ १९—वेबर ने अपने इण्डिशेस्टूडिएन के १६ वें खड (पेज २११ ४७९) और १७ व खण्ड (पेज १-९० तक) में अर्धमागधी में रचे गये श्वेताम्बरों के धर्मशास्त्रों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। उसका यह लेख उन उत्तम और चुनिन्दा उद्धरणों से सब तरह सम्पूर्ण हो गया है। जो उसने बर्लिन के सरकारी पुस्तकालय के संस्कृत और प्राकृत की हस्तलिखित प्रतियों के सूचीपत्र के खड २, भाग २ में, पेज ३५५ से ८२३ तक में दिये हैं। इसी सूची के भीतर उन ग्रन्थों के उद्धरण भी हैं जो भारत और यूरोप में अबतक प्रकाशित हो चुके हैं। अबतक व्याकरण साहित्य के बारे में जो कुछ भी लिखा जा चुका है, वे सब उपयोग में लाये जा चुके हैं। अत्यन्त खेद है कि अभी तक इन ग्रन्थों के आलोचनात्मक संस्करण नहीं निकल पाये हैं। जो मूल पाठ प्रकाशित भी हो पाये हैं, वे अर्धमागधी के व्याकरण का अध्ययन करने की दृष्टि से बिल्कुल निकम्मे हैं। इस भाषा के गद्य साहित्य का अध्ययन करने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण पाठ पहले अग अर्थात् 'आयारंगसुत्त' है। इसमें अन्य, सब ग्रन्थों से अधिक पुरानी अर्धमागधी मिलती है। इसके बाद महत्त्व में विशेष स्थान दूसरे अग का है अर्थात् 'सूयगडंगसुत्त' का, जिसका पहला भाग, जो अधिकांशतः छंद में है, भाषा के अध्ययन के लिए बड़े महत्त्व का है। जो स्थान 'आयारंगसुत्त' का गद्य के लिए है, वही स्थान 'सूयगडंगसुत्त' का छन्द की भाषा के लिए है। चौथा अग अर्थात् 'समवायंग' संख्या वाचक शब्दों के अध्ययन के लिए महत्त्व रखता है। छठा अग 'नयाधम्मकहाओ' सतवाँ 'उवासगदसाओ', ग्यारहवाँ 'विवागसुय' और पाँचवाँ अग अथवा 'विवाहपन्नत्ति' है कई अग एक के बाद एक कहानियों से भरे हैं और अपनी भाषा के द्वारा अन्य सब ग्रन्थों से अधिक संज्ञा और धातु के रूपों पर प्रकाश डालते हैं। यही बात दूसरे

उपाग अर्थात् 'ओववाइयसुत्त' और 'निरयावलियाओ' और छेदसूत्रों में से 'कप्पसुय' के पहले भाग के विषय में कही जा सकती है। मूल सूत्रों में से बहुत ही अधिक महत्त्व का 'उत्तरज्झयण सुत्त' है, जो प्राय सम्पूर्ण छन्दों में लिखा गया है। इसके भीतर अति प्राचीन और चित्र विचित्र रूपों का ताँता बँधा हुआ है। 'दसवेयालियसुत्त' भी महत्त्व का है, किन्तु कई स्थलों पर उसकी भाषा में विकृति आ गई है। एक ही शब्द और कथोपकथन सैकड़ों बार दुहराये जाने के कारण बुरे-से बुरे पाठ की जाँच पडताल पद्य कर देता है, पर सर्वत्र यह जाँच पडताल नहीं हो सकती। कई स्थलों पर पाठ इतना अशुद्ध है कि लाख जतन करने पर भी दीवार से सर टकराना पडता है। यह सब होने पर भी वर्तमान स्थिति में अर्धमागधी भाषा का शुद्ध और स्पष्ट रूप सामने आ गया है, क्योंकि यह अर्धमागधी भाषा विशुद्ध रूप से रक्षित परपरा से चली आ रही है और यही सब प्राकृत बोलियों में से सर्वथा भरपूर बोली है।" अर्धमागधी प्राकृत पर सबसे पहले 'स्टीवेनसन' ने कल्पसूत्र (पृ० १२१ और उसके बाद) में बहुत अशुद्ध और बहुत कम बातें बताई। इससे कुछ अधिक तथ्य 'होएफर' ने 'त्साइट्श्रिफ्ट डेर विस्सनशाफ्ट डेर स्प्राख' में दिये (३रे खड पेज ३६४ और उसके बाद)। 'होएफर' ने विद्वानों का ध्यान अर्धमागधी की मुख्य विशेषताओं की ओर खींचा, जिनमें विशेष उल्लेखनीय य श्रुति, स्वरभक्ति और क का ग में परिवर्तन आदि हैं। इस भाषा के विषय में इसके अध्ययन की जड जमा देनेवाला काम वेबर ने किया। 'भगवती के एक भाग पर' नामक पुस्तक के खड १ और २ में, जो बर्लिन से १८६६ और १८६७ में पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए थे और जो बर्लिन की 'कोएनिगलिशे आकोडेमी डेर विस्सनशाफ्टन' के कार्यक्रम की रिपोर्ट देनेवाली पत्रिका के पृष्ठ ३६७ ४४४ तक में १८६५ में और उसी रिपोर्ट की १८६६ की सख्या के पेज १५२ ३५२ तक में निकले थे। वेबर ने इसके आरम्भ में जैनों की हस्तलिखित पुस्तकों की लिपि की रूपरेखा पर लिखा है और यह प्रयत्न किया है कि जैन लिपि म जो चिह्न काम में लाये जाते हैं, उनकी निश्चित ध्वनि क्या है, इसका निर्णय हो जाय, भले ही इस विषय पर उसने भ्रामक विचार प्रकट किये हों। अपने इस ग्रन्थ में उसने व्याकरण का सारांश दिया है जो आज भी बडे काम का है तथा अन्त में इस भाषा के नमूनों के बहुत से उद्धरण दिये हैं। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि 'भगवती' ग्रन्थ श्वेताम्बर जैनों का पाँचवाँ अग है और उसका शास्त्रीय नाम 'विवाहपन्नत्ति' है और वेबर के व्याकरण में केवल 'भगवती' नाम से ही इस ग्रन्थ के उद्धरण दिये गये हैं। ई म्युलर ने इस विषय पर जो शोध की है, वह इस प्राकृत के ज्ञान को बहुत आगे नहीं बढाती। ई म्युलर की पुस्तक का नाम 'बाइत्रैगे त्सूर ग्रामाटीक डेस जैन प्राकृत' (जैन प्राकृत के व्याकरण पर कुछ निबन्ध) है, जो बर्लिन में १८७६ ई० में छपी थी। इस पुस्तक में जैन प्राकृत के ध्वनि तत्त्व के विषय में वेबर की कई भूलें सुधार दी गई हैं। हरमान याकोबी ने 'आयारगसुत्त' की भूमिका पृष्ठ ८ १४ के भीतर जैन प्राकृत का बहुत छोटा व्याकरण दिया है, जिसमें उसकी तुलना पाली भाषा के व्याकरण से की गई है।

१. इस ग्रन्थ में जो-जो सस्करण उल्लिखित किये गये हैं, उसकी सूची

और ग्रन्थसूचक संक्षिप्त नामों की तालिका इस व्याकरण के परिशिष्ट में देखिए। —२ यह बात उस बुरी परम्परा के कारण हुई है जो कुछ विद्वानों ने जैन-ग्रन्थों के नाम संस्कृत में देकर चलाई है। इन ग्रन्थों के नाम कल्पसूत्र, औपपातिकसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, भगवती, जीतकल्प आदि रखे गये हैं। केवल हयर्नले ने बहुत अच्छा अपवाद किया है और अपने संस्करण का नाम 'उवासगदसाओ' ही रखा है। इस व्याकरण में मैंने ये संस्कृत नाम इसलिए दिये हैं कि पाठकों को नाना संस्करणों के सम्पादकों के दिये गये नाम पुस्तक ढूँढने की सुविधा प्रदान करें और किसी प्रकार का भ्रम न होने पाये। —३. होयर्नले का संस्करण, जो बिबलिओथेका इण्डिका में कलकत्ते में १८९० ई० में छपा है, जैन ग्रन्थों का केवल एकमात्र संस्करण है, जिसके पाठ और टीका की आलोचनात्मक दृष्टि से जाँच की गई है। ये पाठ बहुधा नाममात्र भी समझ में नहीं आते, जब तक कि इनकी टीका से लाभ न उठाया जाय।—४. पिशल, ग्योटिंगिशे गेलेर्टे आन्त्साइगेन ७२, पृष्ठ ९५।

§ २०—श्वेताम्बरों के जो ग्रंथ धर्मशास्त्र से बाहर के हैं, उनकी भाषा अर्धमागधी से बहुत भिन्नता रखती है। याकोबी ने, जैसा कि हम पहले (§ १६ में) उल्लेख कर चुके हैं, इस प्राकृत को 'जैन महाराष्ट्री' नाम से संबोधित किया है। इससे भी अच्छा नाम, संभवत, जैन सौराष्ट्री होता और इससे पहले याकोबी ने इस भाषा का यह नाम रखना उचित समझा था[1]। यह नाम तभी ठीक बैठता है जब हम यह मान लें कि महाराष्ट्री और सौराष्ट्री ऐसी प्राकृत बोलियाँ थीं, जो बहुत निकट से संबन्धित थीं, पर इस बात के प्रमाण अभी तक नहीं मिले हैं। इसलिए हमें जैन महाराष्ट्री नाम ही स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह बोली महाराष्ट्री से बहुत अधिक मिलती जुलती है, भले ही उसकी महाराष्ट्री से सोलहों आने समानता न हो। याकोबी[2] का यह कहना पूर्णतया भ्रामक है कि हेमचन्द्र द्वारा वर्णित महाराष्ट्री जैन महाराष्ट्री है और यह हाल, सेतुबन्ध आदि काव्यों तथा अन्य नाटकों में व्यवहार में लाई गई महाराष्ट्री से नहीं मिलती जुलती। हेमचन्द्र के ग्रन्थों में दिये गये उन सब उद्धरणों से, जो उन प्राचीन ग्रन्थों से मिलाये जा सकते हैं और जिनसे कि ये लिये गये हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि ये उद्धरण हाल, रावणवहो, गउडवहो, विषमबाणलीला और कर्पूरमंजरी से उद्धृत किये गये हैं। हेमचन्द्र ने तो केवल यही फेर-फार किया है कि जैनों की हस्तलिखित प्रतियों में, जो जैन लिपि काम में लाई जाती थी (§ १५), उसका व्यवहार अपने ग्रन्थों में भी किया है। हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं कि हेमचन्द्र ने जैनों के अर्धमागधी भाषा में लिखे गये ग्रन्थों के अलावा वे विशेष जैन कृतियाँ भी देखी थीं जो जैन महाराष्ट्री में लिखी गई थीं। कम से कम, इतना तो हम सब जानते हैं कि हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में जो नियम बताये हैं, उनका पूरा समाधान जैन महाराष्ट्री से नहीं होता और न वे उसपर पूरी तरह लागू ही होते हैं। एक और बात पर भी ध्यान देना उचित है, वह यह कि जैन महाराष्ट्री पर अर्धमागधी अपना प्रभाव डाले बिना न रही। ऊपर

(§ १८ मे) अर्धमागधी की जो विशेषताएँ बताई गई हैं, उनमें से अधिकांश जैन-महाराष्ट्री में भी मिलती हैं। उदाहरणार्थ, सन्धि व्यजन, त में समाप्त होनेवाले सज्ञा-शब्दों के कर्ताकारक में म्, साधारण किया रूपों की इत्तु में समाप्ति, त्त्वा (क्त्वा) के स्थान पर त्ता, क के स्थान पर ग का हो जाना आदि। विशुद्ध महाराष्ट्री प्राकृत और जैन महाराष्ट्री एक नहीं है; किन्तु ये दोनों भाषाएँ सब प्रकार से एक दूसरे के बहुत निकट हैं। इसलिए विद्वान् लोग इन दोनों भाषाओं को महाराष्ट्री नाम से सम्बोधित करते हैं। जैन महाराष्ट्री में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'आवश्यक कथाएँ' है। इस ग्रन्थ का पहला भाग एर्नस्ट लौयमान ने सन् १८९७ ई० मे लाइप्त्सिख से प्रकाशित करवाया था। इस पुस्तक में कोई टीका न होने से समझने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पडता है। इसके बहुत से भाग अन्धकारमय लगते हैं। इसपर भी इस पुस्तक के थोड़े से पन्ने यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि हमें जैन महाराष्ट्री प्राकृत की पुस्तकों से बहुत कुछ नई और महत्त्वपूर्ण सामग्री की आशा करनी चाहिए। विशेषकर शब्द सम्पत्ति के क्षेत्र में, क्योंकि शब्द सम्पत्ति के विषय मे बहुत से नये नये और चुनिन्दा तथा उपयुक्त प्रयोग इसमें किये गये हैं। जैन महाराष्ट्री के उत्तरकालीन ग्रन्थो का समावेश 'हरमान याकोबी' द्वारा प्रकाशित—'औसगेवैल्ते एर्सेलुगन इन महाराष्ट्री, त्सूर आइनफ्यूरुग इन डास स्टूडिउम डेस प्राकृत ग्रामाटीक टैक्स्ट, वोएरतरबुख' (महाराष्ट्री से चुनी हुई कहानियाँ) प्राकृत के अध्ययन में प्रवेश कराने के लिए हुआ है। व्याकरण, मूल पाठ और शब्दकोष जो १८८६ ई० में लाइप्त्सिख से छपा था और इसके आरम्भ मे जो व्याकरण-प्रवेशिका है, उसमें वाक्य रचना पर भी प्रकाश डाला गया है। पर यह व्याकरण के उन्हीं रूपों तक सीमित है, जो पुस्तक में दी हुई प्राकृत कहानियों मे आये हुए हैं। जैन महाराष्ट्री के अध्ययन के लिए कक्कुक प्रस्तर लेखों (§ १०) और कुछ छोटे छोटे ग्रन्थों का जैसे कि कालकाचार्यकथानक, जो 'त्साइटुग डेर डौयत्शन मौर्गनलण्डिशन गेजेल्शाफ्ट (जर्मन प्राच्य विद्या समिति की पत्रिका) के ३४ वें खण्ड मे २४७ व पृष्ठ और ३५ व में ६७५ और ३७ वें में ४९३ पृष्ठ से छपा है, द्वारावती के पतन की कथा, जो उक्त पत्रिका के ४२ वें खण्ड में ४९३ पृष्ठ से छपी है, और मथुरा का स्तूप जिसके बारे में वियना की सरकारी एकेडेमी की रिपोर्ट में लेख छपा है, 'ऋषभपञ्चाशिका', जो जर्मन प्राच्यविद्यासमिति की पत्रिका के ३३ वें खण्ड मे ४४३ पृष्ठ और उसके आगे छपा है तथा १८९० ई० में बम्बई से प्रकाशित 'काव्यमाला' के ७ वें भाग में पृष्ठ १२४ से छपा है। इस भाषा के कुछ उद्धरण कई रिपोर्टों में भी छपे हैं। जैन महाराष्ट्री में एक अलकार ग्रन्थ भी लिखा गया था, जिसके लेखक का नाम 'हरि' था और जिसमें से 'रुद्रट' के 'काव्यालकार' २,१९ की टीका मे 'नमिसाधु' ने एक श्लोक उद्धृत किया है[3]।

१ कल्पसूत्र पृष्ठ १८।—२ कल्पसूत्र पृष्ठ १९।—३ पिशल त्साइटुंग डेर मौर्गेन लैण्डिशन गेजेल्शाफ्ट ३९, पृष्ठ ३१४। इस ग्रन्थ की १,२ की टीका में 'रुद्र' के स्थान पर 'हरि' पढ़ा जाना चाहिए।

§ २१—दिगम्बर जैनों के धर्म शास्त्रों की भाषा के विषय में, जो श्वेताम्बर

जैनों की भाषा से बहुत भिन्न' नहीं है, हमें अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाया है। यदि हम इसके विषय में धर्म शास्त्रों को छोड़ अन्य ऋषियों के ग्रन्थों की भाषा पर विचार करते हैं, तो इसकी ध्वनि के नियमों का जो पता चलता है, वह यह है कि इसमें त के स्थान पर द और थ के स्थान पर ध हो जाता है। यह भाषा श्वेताम्बर जैनों की अर्धमागधी की अपेक्षा मागधी के अधिक निकट है। दिगम्बर जैनों के उत्तरकालीन ग्रन्थ उस तथ्य को सिद्ध करते हैं। याकोबी द्वारा वर्णित 'गुर्वावलि' की गाथाएँ' और भण्डारकर' द्वारा प्रकाशित 'कुन्द-कुन्दाचार्य' के 'पवयणसार' और 'कार्तिकेय स्वामिन्' की 'कत्तिगेयाणुप्पेक्खा' से यह स्पष्ट हो जाता है। ध्वनि के ये नियम शौरसेनी में भी मिलते हैं और अ में समाप्त होनेवाले संज्ञा-शब्दों के कर्त्ता एकवचन का रूप दिगम्बर जैनों की उत्तरकालीन भाषा में ओ में समाप्त होता है। इसलिए हम इस भाषा को जैन शौरसेनी कह सकते हैं। जिस प्रकार ऊपर यह बताया जा चुका है कि जैन महाराष्ट्री नाम का चुनाव समुचित न होने पर भी काम चलाऊ है, वही बात जैन शौरसेनी के बारे में और भी जोर से कही जा सकती है। इस विषय पर अभी तक जो थोड़ी सी शोध हुई है, उससे यह बात विदित हुई है कि इस भाषा में ऐसे रूप और शब्द हैं, जो शौरसेनी में बिलकुल नहीं मिलते, बल्कि इसके विपरीत वे रूप और शब्द कुछ महाराष्ट्री में और कुछ अर्धमागधी में व्यवहृत होते हैं। ऐसा एक प्रयोग महाराष्ट्री की सप्तमी (अधिकरण) का है। महाराष्ट्री में अ में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों का सप्तमी का रूप म्मि जोड़ने से बनता है, जैसा कि दाणंम्मि, सुहम्मि, असुहम्मि, णाणम्मि, दसणमुहम्मि (पवण० ३८३, ६९, ३८५, ६१, ३८७, १२), कालम्मि (कत्तिगे ४००, ३२२); और संस्कृत इव के स्थान पर व्व का प्रयोग (पवयण० ३८३, ४४)। कृ धातु के रूप भी महाराष्ट्री से मिलते हैं और कहीं-कहीं इससे नहीं मिलते। 'कत्तिगेयाणुप्पेक्खा' ३९९, ३१० और ३१९, ४०२, ३६९।३६७।३७० और ३७१, ४०३, ३८५; ४०४, ३८८, ३८९ और ३९१ में महाराष्ट्री के अनुसार कुणदि आया है और कहीं कहीं कृ धातु के रूप अर्धमागधी के अनुसार कुव्वदि होता है जैसा कि कत्तिगेयाणुपेक्खा ३९९, ३१३, ४००, ३२९, ४०१, ३४० में दिया गया है और ४०३, ३८४ में कुव्वदे रूप है। इन रूपों के साथ साथ शौरसेनी के अनुसार कृ धातु का करेदि भी हो गया है (पवयण० ३८४, ५९, कत्तिगे० ४००, ३२४, ४०२, ३६९, ४०३, ३७७।३७८। ३८३ और महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री तथा अर्धमागधी करदि भी आया है (४००, ३३२)। इस धातु का कर्मवाच्य कीरदि मिलता है जो महाराष्ट्री और जैन-महाराष्ट्री रूप है (कत्तिगे० ३९९, ३२०, ४०१, ३४२।३५०)। सं० क्त्वा (करके) के स्थान में त्ता आता है, जो अर्धमागधी रूप है। उदाहरणार्थ सं०-क्त्वा के स्थान पर-त्ता हो जाता है। (पवयण० ३८५, ६४, कत्तिगे० ४००, ३७४); जाणित्ता (पवयण० ३८५, ६८, कत्तिगे० ४०१, ३४०।३४२ और ३५०), वियाणित्ता (पवयण० ३८७,२१), णयसित्ता, णिरुझित्ता (पवयण० ३८६,६ और ७०), णिहणित्ता (कत्तिगे० ४०१, ३३९), संस्कृत क्त्वा (करके) के स्थान में कभी कभी -य

भी होता है; जैसे—**भविर्य** (पवयण० ३८०, १२; ३८७, १२); **आपिच्छ** संस्कृत **आपृच्छ** के स्थान पर आया है (पवयण० ३८६, १); **आसिज्ज, आसेॅज्ज** जो संस्कृत **आसाद्य** के स्थान पर आया है (पवयण० ३८६, १ और ११), **समासिज्ज** (पवयण० ३७९, ५); **गहियॅ** (कत्तिगे० ४०३, ३७३); **पप्प** (पवयण० ३८४, ४९) और यही **क्त्वा** (करके), शब्द के अन्त में-**च्चा** से भी व्यक्त किया जाता है; जैसे—**किच्चा** (पवयण० ३७९, ४); (कत्तिगे० ४०२, ३५६।३५७।३५८।३७५। ३७६); **ठिच्चा** (कत्तिगे० ४०२, ३५५); **सोॅच्चा** (पवयण० ३८६, ६)। उक्त रूपों के अतिरिक्त **क्त्वा** के स्थान में-**दूण, कादूण, णेदूण** काम में आते हैं (कत्तिगे० ४०३, ३७४ और ३७५), अशुद्ध रूपों में इसी के लिए-**ऊण** भी काम में लाया जाता है। जैसे—**जाइऊण, गमिऊण, गहिऊण, भुजाविऊण** (कत्तिगे० ४०३, ३७३।३७४।३७५ और ३७६)। हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में इस प्रयोग के लिए जो—**त्ता** और **दूण** आदि प्रत्यय दिये हैं, जो नाटकों की शौरसेनी में कहीं नहीं पाये जाते हैं, उनके कारण दिगम्बर ग्रन्थों के ऐसे प्रयोग रहे होंगे (§ २२,२६६,३६५, ४७५, ५८२ और ५८४)। इस भाषा में अर्धमागधी **पप्पोदि** (= संस्कृत **प्राप्नोति**) (पवयण० ३८९, ५) के साथ साथ साधारण रूप **पावदि** भी मिलता है (पवयण० ३८०, ११); (कत्तिगे० ४००, ३२६, ४०३, ३७०); शौरसेनी **जाणादि** (पवयण० ३८२, २५) के साथ साथ **जाणदि** भी आया है (कत्तिगे० ३९८, ३०२ और ३०३, ४००, ३२३) और इसी अर्थ में **णादि** भी है (पवयण० ३८२, २५)। उक्त शब्दों के साथ **मुणदि** भी काम में लाया गया है (कत्तिगे० ३९८, ३०३; ३९९, ३१२।३१६ और ३१७) **मुणेदव्वो** भी आया है (हस्तलिखित प्रति में ०एय० है; पवयण० ३८०, ८)। यह बात विचित्र है कि इसमें महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी के रूप एक दूसरे के पास पास आये हैं। इस विषय पर जो सामग्री अभी तक प्राप्त हुई है, उससे यही निदान निकलता है कि जैन महाराष्ट्री से जैन-शौरसेनी का अर्धमागधी से अधिक मेल है और जैन-शौरसेनी आशिक रूप में जैन महाराष्ट्री से अधिक पुरानी है। इन दोनों भाषाओं के ग्रन्थ छन्दों में है।

१. भण्डारकर, रिपोर्ट ओन द सर्च फौर संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स् इन द बौम्बे प्रेजीडेंसी ड्यूरिंग द ईयर १८८३–८४ (बौम्बे १८८७), पेज १०६ और उसके बाद · वेबर, फैर्त्साइशनिस २, २, ८२३— २.कल्पसूत्र पेज २०— ३.इसी ग्रन्थ के पेज ३७९ से ३८९ तक और ३९८ से ४०४ तक। ये उद्धरण पेजों और पदों के अनुसार दिये गये हैं। इस विषय पर पिटर्सन की फोर्थ रिपोर्ट के पेज १४२ और उसके बाद के पेजों की भी तुलना कीजिए— ४.हस्तलिखित प्रतियों में शौरसेनी रूप के स्थान पर बहुधा महाराष्ट्री रूप दिया गया है।

§ २२—प्राकृत बोलियों में जो बोलचाल की भाषाएँ व्यवहार में लाई जाती हैं, उनमें सबसे प्रथम स्थान शौरसेनी[1] का है। जैसा कि उसका नाम स्वयं बताता है, इस प्राकृत के मूल में शौरसेन में बोली जानेवाली बोली है। इस शौरसेन की राजधानी मथुरा थी[2]। भारतीय नाट्यशास्त्र १७,४६ के अनुसार नाटकों की बोलचाल में शौरसेनी

जैनों की भाषा से वस्तुत भिन्न' नहीं है, इसे अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाया है। यदि हम इसके विषय में धर्म शास्त्रों को छोड़ अन्य ऋषियों के ग्रन्थों की भाषा पर विचार करते हैं, तो इसकी ध्वनि के नियमों का जो पता चलता है, वह यह है कि इसमें त के स्थान पर द और थ के स्थान पर ध हो जाता है। यह भाषा श्वेताम्बर जैनों की अर्धमागधी की अपेक्षा मागधी के अधिक निकट है। दिगम्बर जैनों के उत्तरकालीन ग्रन्थ उक्त तथ्य को सिद्ध करते हैं। याकोबी द्वारा वर्णित *'गुरुवाविलि' की गाथाएँ'* और भण्डारकर' द्वारा प्रकाशित *'कुन्द-कुन्दाचार्य'* के 'पवयणसार' और 'कार्तिकेय स्वामिन्' की 'कत्तिगेयाणुप्पेक्खा' से यह स्पष्ट हो जाता है। ध्वनि के ये नियम शौरसेनी में भी मिलते हैं और अ में समाप्त होनेवाले संज्ञा-शब्दों के कर्त्ता एकवचन का रूप दिगम्बर जैनों की उत्तरकालीन भाषा में ओ में समाप्त होता है। इसलिए हम इस भाषा को जैन शौरसेनी कह सकते हैं। जिस प्रकार ऊपर यह बताया जा चुका है कि जैन महाराष्ट्री नाम का चुनाव समुचित न होने पर भी काम चलाऊ है, वही बात जैन शौरसेनी के बारे में और भी जोर से कही जा सकती है। इस विषय पर अभी तक जो थोड़ी-सी शोध हुई है, उससे यह बात विदित हुई है कि इस भाषा में ऐसे रूप और शब्द हैं, जो शौरसेनी में बिल्कुल नहीं मिलते; बल्कि इसके विपरीत वे रूप और शब्द कुछ महाराष्ट्री में और कुछ अर्धमागधी में व्यवहृत होते हैं। ऐसा एक प्रयोग महाराष्ट्री की सप्तमी (अधिकरण) का है। महाराष्ट्री में अ में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों का सप्तमी का रूप -म्मि जोड़ने से बनता है; जैसा कि **दाणम्मि, सुहम्मि, असुहम्मि, णाणम्मि, दंसणमुहम्मि** (पवण० ३८३, ६९; ३८५, ६१; ३८७, १३); **फालम्मि** (कत्तिगे ४००, ३२२); और संस्कृत **इय** के स्थान पर **व्य** का प्रयोग (पवयण० ३८३, ४४)। कृ धातु के रूप भी महाराष्ट्री से मिलते हैं और कहीं-कहीं इससे नहीं मिलते। 'कत्तिगेयाणुप्पेक्खा' ३९९, ३१० और ३१९; ४०२, ३५९।३६७।३७० और ३७१; ४०३, ३८५; ४०४, ३८८, ३८९ और ३९१ में महाराष्ट्री के अनुसार कुणदि आया है और कहीं-कहीं कृ धातु के रूप अर्धमागधी के अनुसार कुव्वदि होता है जैसा कि कत्तिगेयाणुप्पेक्खा ३९९, ३१३; ४००, ३२९; ४०१, ३४० में दिया गया है और ४०३, ३८४ में कुव्वदे रूप है। इन रूपों के साथ साथ शौरसेनी के अनुसार कृ धातु का करेदि भी हो गया है (पवयण० ३८४, ५९; कत्तिगे० ४००, ३२४; ४०२, ३६९; ४०३, ३७७।३७८। ३८३ और महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री तथा अर्धमागधी **करदि** भी आया है (४००, ३३२)। इस धातु का कर्मवाच्य **कीरदि** मिलता है जो महाराष्ट्री और जैन-महाराष्ट्री रूप है (कत्तिगे० ३९९, ३२०; ४०१, ३४२।३५०)। सं० क्त्वा (करके) के स्थान में **त्ता** आता है, जो अर्धमागधी रूप है। उदाहरणार्थ सं०-क्त्वा के स्थान पर-त्ता हो जाता है। (पवयण० ३८५, ६४; कत्तिगे० ४००, ३७४); **जाणित्ता** (पवयण० ३८५, ६८; कत्तिगे० ४०१, ३४०।३४२ और ३५०); **वियाणित्ता** (पवयण० ३८७,२१); **णयसित्ता, णिरुक्षित्ता** (पवयण० ३८६,६ और ७०); **णिह्-णित्ता** (कत्तिगे० ४०१, ३३९); संस्कृत क्त्वा (करके) के स्थान में कभी-कभी -य

भी होता है; जैसे—भविर्य (पवयण० ३८०, १२; ३८७, १२); आपिच्छ संस्कृत आपृच्छ के स्थान पर आया है (पवयण० ३८६, १); आसिज्ज, आसेज्ज जो संस्कृत आसाध्य के स्थान पर आया है (पवयण० ३८६, १ और ११); समासिज्ज (पवयण० ३७१, ५); गहियँ (कत्तिगे० ४०३, ३७३); पप्प (पवयण० ३८४, ४९) और यही क्त्वा (करके), शब्द के अन्त में–च्चा से भी व्यक्त किया जाता है; जैसे—किच्चा (पवयण० ३७९, ४); (कत्तिगे० ४०२, ३५६।३५७।३५८।३७५। ३७६); ठिच्चा (कत्तिगे० ४०२, ३५५); सोॅच्चा (पवयण० ३८६, ६) । उक्त रूपों के अतिरिक्त क्त्वा के स्थान में–दूण, कादूण, णेदूण काम में आते हैं (कत्तिगे० ४०३, ३७४ और ३७५), अशुद्ध रूपों में इसी के लिए–ऊण भी काम में लाया जाता है। जैसे—जाइऊण, गमिऊण, गहिऊण, भुआविऊण (कत्तिगे० ४०३, ३७३।३७४।३७५ और ३७६)। हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में इस प्रयोग के लिए जो—त्ता और दूण आदि प्रत्यय दिये हैं, जो नाटकों की शौरसेनी में कहीं नहीं पाये जाते हैं, उनके कारण दिगम्बर ग्रन्थों के ऐसे प्रयोग रहे होंगे (§ २२,२६६,३६५, ४७५, ५८२ और ५८४) । इस भाषा में अर्धमागधी पप्पोदि (= संस्कृत प्राप्नोति) (पवयण० ३८९, ५) के साथ साथ साधारण रूप पावदि भी मिलता है (पवयण० ३८०, ११); (कत्तिगे० ४००, ३२६; ४०३, ३७०); शौरसेनी जाणादि (पवयण० ३८२, २५) के साथ-साथ जाणदि भी आया है (कत्तिगे० ३९८, ३०२ और ३०३; ४००, ३२३) और इसी अर्थ में णादि भी है (पवयण० ३८२, २५)। उक्त शब्दों के साथ मुणदि भी काम में लाया गया है (कत्तिगे० ३९८, ३०३; ३९९, ३१३।३१६ और ३३७) मुणेदव्वो भी आया है (हस्तलिखित प्रति में ०व्य० है; पवयण० ३८०, ८) । यह बात विचित्र है कि इसमें महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी के रूप एक दूसरे के पास पास आये हैं। इस विषय पर जो सामग्री अभी तक प्राप्त हुई है, उससे यही निदान निकलता है कि जैन महाराष्ट्री से जैन-शौरसेनी का अर्धमागधी से अधिक मेल है और जैन-शौरसेनी आंशिक रूप से जैन महाराष्ट्री से अधिक पुरानी है। इन दोनों भाषाओं के ग्रन्थ छन्दों में हैं।

१. भण्डारकर, रिपोर्ट ओन द सर्च फौर संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स् इन द बौम्बे प्रेजीडेंसी ड्यूरिंग द ईयर १८८३–८४ (बौम्बे १८८७), पेज १०६ और उसके बाद : वेबर, फैर्त्साइशनिस २, २, ८२३— २.कल्पसूत्र पेज ३०— ३.इसी ग्रन्थ के पेज ३७९ से ३८९ तक और ३९८ से ४०४ तक। ये उद्धरण पेजों और पदों के अनुसार दिये गये हैं। इस विषय पर पीटर्सन की फोर्थ रिपोर्ट के पेज १४२ और उसके बाद के पेजों की भी तुलना कीजिए— ४.हस्तलिखित प्रतियों में शौरसेनी रूप के स्थान पर बहुधा महाराष्ट्री रूप दिया गया है।

§ २२—प्राकृत बोलियों में जो बोलचाल की भाषाएँ व्यवहार में लाई जाती हैं, उनमें सबसे प्रथम स्थान शौरसेनी[1] का है। जैसा कि उसका नाम स्वयं बताता है, इस प्राकृत के मूल में शौरसेन में बोली जानेवाली बोली है। इस शौरसेन की राजधानी मथुरा थी[2]। भारतीय नाट्यशास्त्र १७,४६ के अनुसार नाटकों की बोलचाल में शौरसेनी

भाषा का आश्रय लेना चाहिए और इसी ग्रन्थ के १७,५१ के अनुसार नाटकों में महिलाओं और उनकी सहेलियों की बोली शौरसेनी होनी चाहिए। 'साहित्यदर्पण' के पृष्ठ १७२,२१ के अनुसार शिक्षित स्त्रियों की बातचीत, नाटकों के भीतर शौरसेनी प्राकृत में रखी जानी चाहिए, न कि नीच जाति की स्त्रियों की और इसी ग्रन्थ के पृष्ठ १७३,११ के अनुसार उन दासियों की बातचीत, जो छोटी नौकरियों में लगी हैं, तथा बच्चों, हिजड़ों, छोटे मोटे ज्योतिषियों, पागलों और रोगियों की बोलचाल भी इसी भाषा में कराई जानी चाहिए। 'दशरूप' २,६० में बताया गया है कि स्त्रियों का वार्तालाप इसी प्राकृत में कराया जाना चाहिए। 'भरत' १७,५१; 'साहित्यदर्पण' १७३,४, (स्टेन्त्सलर द्वारा सम्पादित 'मृच्छकटिक' की भूमिका के पृष्ठ ५ के अनुसार जो गोडबोले द्वारा सम्पादित और बम्बई में प्रकाशित 'मृच्छकटिक' के पृष्ठ ४९३ के बराबर है, उसमें पृथ्वीधर की टीका में बताया गया है कि विदूषक तथा अन्य हँसोड़ व्यक्तियों को प्राच्या में वार्तालाप करना चाहिए। 'मार्कण्डेय' ने लिखा है कि प्राच्या का व्याकरण शौरसेनी के समान ही है और उसके लिखा है—प्राच्यायाः सिद्धिः शौरसेन्याः। मार्कण्डेय ने ऊपर लिखा मत भरत से लिया है। मार्कण्डेय की हस्तलिखित प्रतियाँ इतनी अस्पष्ट और न पढ़ी जाने लायक हैं कि उसने प्राच्या की विशेषताओं के विषय में जो कुछ लिखा है, उसका कुछ अर्थ निकालना कठिन ही नहीं, असम्भव है। दूसरी बात यह है कि इस विषय पर उसने बहुत कम लिखा है और जो कुछ लिखा है, उसमें भी अधिकांश शब्दों का संग्रह ही है। प्राच्या बोली में मूर्ख के स्थान पर मुरुक्ख व्यवहार में लाया जाना चाहिए, सम्बोधन एक वचन भवती का भोदि होना चाहिए, वक्र के लिए एक ऐसा रूप+ बताया गया है जो शौरसेनी से बहुत भिन्न है। अ में समाप्त होनेवाले कुछ शब्दों के सम्बोधन एक वचन में प्लुति* होनी चाहिए; अपना सन्तोष प्रकट करने के लिए विदूषक को ही ही भो कहना चाहिए, कोई अद्भुत बात या घटना होनेपर (अद्भुते†) ही माणहे कहना चाहिए और गिरने-पड़ने की हालत में अविद का व्यवहार करना चाहिए। ऐसा भी आभास मिलता है कि णम्, एव और सम्भवतः भविष्यकाल के विषय में भी उसने एक एक नियम दिये हैं। पृथ्वीधर ने इस प्राकृत की विशेष पहिचान यह बताई है कि इसमें बहुधा कः स्वार्थे का प्राचुर्य है। हेमचन्द्र ४,२८५ में हीही विदूषकस्य सूत्र में बताता है कि विदूषक शौरसेनी प्राकृत बोलचाल के व्यवहार में लाता है और ४,२८२ में ही माणहे विस्मय निर्वेदे में बताता है कि ही माणहे भी शौरसेनी है और उसकी यह बात बहुत पक्की है। विदूषक की भाषा भी शौरसेनी है, इसी प्रकार नाटकों में आनेवाले

+ मार्कण्डेय ने लिखा है—'वङ्कमकेचिदिच्छन्ति' अर्थात् प्राच्या में कोई लोग वङ्कुम बोलते हैं। और 'वक्रे तु वक्कुच' वक्र के स्थान पर वक्कु शब्द आता है। वक्कु का वैदिक रूप वङ्कु है, जिसका अर्थ बकनेवाला है। —अनु०

* दीर्घ से भी एक मात्रा अधिक। —अनु०

† मेरे पास मार्कण्डेय की जो छपी प्रति है, उसमें 'अद्भुते(सु)ही माणहे' पाठ है। और उदाहरण दिया गया है—'हीमाणहे! अदिट्ठपुव्वं अस्सुदपुव्वं सु ईदिसं रूवं।' म्—अनु०

अनेक पात्र इसी प्राकृत मे बातचीत करते हैं। प्राचीन काल के व्याकरणकार शौरसेनी प्राकृत पर बहुत थोडा लिख गये हैं। वररुचि ने १२,२ में कहा है कि इसकी प्रकृति सस्कृत है अर्थात् इसकी आधारभूत भाषा सस्कृत है। वह अपने ग्रन्थ में शौरसेनी के विषय में केवल २९ नियम देता है, जो इस ग्रन्थ की सभी हस्तलिखित प्रतियों में एक ही प्रकार के पाये जाते हैं और १२,३२ में उसने यह कह दिया है कि शौरसेनी प्राकृत के और सब नियम महाराष्ट्री प्राकृत के समान ही हैं—**शेषम् महाराष्ट्रीवत्**। हेमचन्द्र ने ४,२६०से २८६ तक इस प्राकृत के विषय में २७ नियम दिये हैं, इनमें से अन्तिम अर्थात् २७ वाँ नियम **शेषम् प्राकृतवत्** है, जो वररुचि के १२,३२ से मिलता है, क्योंकि प्राकृत भाषाओं में महाराष्ट्री ही श्रेष्ठ और विशुद्ध प्राकृत मानी गई है। अन्य नियमों में वररुचि और हेमचन्द्र बिलकुल अलग अलग मत देते हैं, जिसका मुख्य कारण यह मालूम पडता है कि हेमचन्द्र की दृष्टि के सामने दिगम्बर जैनों की शौरसेनी भी थी (§ २१), जिसकी विशेषताओं को भी जैनियों ने नाटकों की शौरसेनी के भीतर घुसेड दिया। इस कारण शुद्ध शौरसेनी का रूप अस्पष्ट हो गया और इससे उत्तरकालीन लेखकों पर भ्रामक प्रभाव पडा[१]। 'क्रमदीश्वर' ५,७१–८५ में शौरसेनी के विषय में बहुत कम बताया गया है, इसके विपरीत उत्तरकालीन व्याकरणकार शौरसेनी पर अधिक विस्तार के साथ लिखते हैं। पृष्ठ ६५–७२ तक में 'मार्कण्डेय' ने इस विषय पर लिखा है और ३४ व पन्ने के बाद 'रामतर्कवागीश' ने भी इसपर लिखा है। यूरोप में उक्त दोनों लेखकों के ग्रन्थों की जो हस्तलिखित प्रतियाँ पाई जाती हैं, वे इतनी बुरी हैं कि उन्होंने जो कुछ लिखा है, उनके केवल एक अशमात्र का अर्थ समझ में आ पाया है। इन नियमों की जाँच पड़ताल बहुत कठिन हो जाती है, क्योंकि सस्कृत नाटकों के जो सस्करण छपे है, उनमें से अधिकाश मे आलोचना-प्रत्यालोचना का नाम नहीं है। जो सस्करण भारत में छपे है, उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जो किसी काम में आ सकते हों। हाँ, भण्डारकर ने १८७६ मे बम्बई से 'मालती माधव' का जो सस्करण निकाला है, वह आलोचनात्मक है। यूरोप में इन नाटकों के जो पाठ प्रकाशित हुए हैं, वे भाषाओं के अध्ययन की दृष्टि से नाममात्र का महत्त्व रखते हैं। इन नाटकों के हाल में जो सस्करण प्रकाशित हुए हैं, उनमें भी कोई प्रगति नहीं दिखाई देती। तैलग के १८८४ ई० में बम्बई से प्रकाशित 'मुद्राराक्षस' के सस्करण से सवत् १९२६ (= सन् १८६९ ई०) में कलकत्ते से प्रकाशित मजुमदार सिरीज में जो 'मुद्रा राक्षस' तारानाथ तर्कवाचस्पति ने सम्पादित किया है, वह अच्छा है और बौल्लें नसेन ने १८७९ ई० में लाइप्सिख से 'मालविकाग्निमित्र' का जो सस्करण निकलवाया है, वह दुर्भाग्य से बहुत बुरा है। जो हो, मैने छपे हुए ग्रन्थों और हस्तलिखित प्रतियों इन दोनों से ही लाभ उठाया है; कहीं कहीं हस्तलिखित प्रतियों के पाठ में बहुत शुद्धता देखने मे आती है, इसलिए उनका प्रयोग भी अनिवार्य हो जाता है। अनेक स्थलों पर तो एक ही नाटक के अधिक से-अधिक पाठों को देखने से ही यह सम्भव हो सका कि किसी निदान पर पहुँचा जाय[१]। कई सस्करण भाषाओं के मिश्रण का विचित्र नमूना दिखाते है। अब देखिए कि 'बालेयकुतूहल' के प्रारम्भ में ही ये प्राकृत

शब्द आये हैं—भो किं ति तुए हक्कारिदो हगे। मं खु पणिह। (पाठ पहणि है) छुट्टा चाहेइ। इस वाक्य में तीन बोलियाँ हैं—हक्कारिदो शौरसेनी है, हगे मागधी, और पणिह तथा चाहेइ महाराष्ट्र हैं। मुकुन्दानन्द भाण ५८, १४ और १५ में जो पाठ है, वह महाराष्ट्री और शौरसेनी का मिश्रण है। उसमें शौरसेनी कदुअ की बगल में ही महाराष्ट्री शब्द काऊण आया है। इस सम्बन्ध में अधिक सम्भव यह मालूम पड़ता है कि यह इन संस्करणों की भूल है। अन्य कई स्थलों में स्वयं कवि लोग यह बात न समझ पाये कि भाषाओं को मिलाकर खिचड़ी भाषा में लिखने से कैसे बचा जाय। इसका मुख्य कारण यह था कि वे भाषाओं में भेद न कर सके। 'सामदेव' (§ ११) और 'राजशेखर' में यह भूल स्पष्ट देखने में आती है। 'कर्पूरमंजरी' का जो आलोचनात्मक संस्करण कोनो ने निकाला है, उससे यह ज्ञात होता है कि राजशेखर की पुस्तकों में भाषा की जो अशुद्धियाँ हैं, उनका सारा दोष हस्तलिखित प्रतियों के लेखकों के सर पर ही नहीं मढ़ा जा सकता, बल्कि ये ही अशुद्धियाँ उसके दूसरे ग्रंथ 'बाल रामायण' और 'विद्धशालभंजिका' में भी दुहराई गई हैं। कोनो द्वारा सम्पादित कर्पूरमंजरी ७,६ में जो बम्बइया संस्करण का ११,२ है, सब हस्तलिखित प्रतियाँ घे त्तूण लिखती हैं जो शौरसेनी भाषा में एक ही शुद्ध रूप में अर्थात् गे ण्हिय लिखा जाता है। यह भूल कई बार दुहराई गई है (§ ५८४), कोनो (९,५ = बम्बइया संस्करण १३,५) में सम्प्रदान में सुहाअ दिया गया है। यह अशुद्ध, शौरसेनी है (§ ३६१)। शौरसेनी भाषा पर चोट पहुँचानेवाला प्रयोग तुज्झ है (कोनो १०९=ब० स० १४,७, और कोनो १०,१० = ब० स० १४,८) तथा मुज्झ भी इसी श्रेणी में आता है (§ ४२१ और ४१८ क्रमशः), विय (§ १४३) के स्थान पर व्व (कोनो १४,३ = ब० स० १७,५) लिखा गया है। सप्तमी रूप मज्झम्मि* (कोनो ६,१ = ब० स० ९, ५) मज्झे के लिए आया है और कव्वम्मि (कोनो १६,८=ब० सं० १९,१०) कव्वे के लिए आया है (§ ३६६ अ)। अपादान रूप पामराहिंतो† (कोनो २०,६ = ब० स० २२,९) पामरादो (§ ३६५) के लिए आया है, आदि। राजशेखर ने अपने ग्रन्थों में देशी शब्दों का बहुत प्रयोग किया है; उसकी महाराष्ट्री में कई गलतियाँ हैं, जिनकी ओर 'मार्कण्डेय' ने ध्यान खींचा है—राजशेखरस्य महाराष्ट्र्याः प्रयोगे श्लोकेषु अपि दृश्यत इति केचित्, जिसका अर्थ यह मालूम पड़ता है कि इसमें द के स्थान पर त कहीं कहीं छूट गया है। उसके नाटकों की हस्तलिखित प्रतियों में, बहुधा शौरसेनी द के स्थान पर त मिलता है। शकुन्तला नाटक के देवनागरी और दक्षिण भारतीय पाठों में नाना प्राकृत भाषाएँ परस्पर में मिल गई हैं और इस कारण इन भाषाओं का घोर जंगल सा

* मज्झम्मि में म्मि का अर्थ में है। पुरानी हिंदी रूप माँहि म्हि का रूपान्तर है। वेदों का स्मिं और म्मि, म्हि तथा म्मि रूपों में प्राकृत भाषाओं में आया है। इसमें 'माँहि' और 'में' दोनों रूप निकले। खेद है कि हिन्दी के विद्वानों ने इस क्षेत्र में नहीं के बराबर खोज की है।—अनु०

† यह प्रयोग हिन्दी भाषा के प्राचीन रूपों में मिलता है और कुमाऊँ में जहाँ आज भी अधिकांश प्राकृत रूप बोलचाल में वर्तमान हैं, इसका प्रचलन है। —अनु०

बन गया है; यही हाल दक्षिण भारतीय 'विक्रमोर्वशी'[५] का भी है जो किसी प्रकार की आलोचना के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी यह संभव हो गया है कि शौरसेनी प्राकृत का रूप पूर्णतया निश्चित किया जाय। ध्वनि-तत्त्व के विषय में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि त के स्थान पर द और थ के स्थान पर ध हो जाता है (§ २०३)। संज्ञा और धातु के रूपों का जहाँ तक सम्बन्ध है, इसमें रूपों की वह पूर्णता नहीं है जो महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी में है। इस कारण अ में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों में केवल अपादान एकवचन में दो और अधिकरण (सप्तमी) एकवचन में ए लगाया जाता है। बहुवचन में सभी संज्ञा शब्दों के अन्त में करण कारक (तृतीया), सम्बन्ध (षष्ठी) और अधिकरण में भी अनुनासिकों का प्रयोग होता है। इ और उ में समाप्त होने वाले संज्ञा शब्दों के सम्बन्ध कारक एकवचन के अन्त में केवल णो आता है -स्स नहीं आता। क्रिया में आत्मनेपद का नाम मात्र का चिह्न भी नहीं रह गया है। इच्छार्थक धातुओं के रूपों के अन्त में एअ और ए रहता है। बहुत सी क्रियाओं के रूप महाराष्ट्री रूपों से भिन्न होते हैं। भविष्य काल के रूपों के अन्त में इ लगता है, कर्मवाच्य के अन्त में ईअ जोड़ा जाता है। संस्कृत आदि के स्थान पर महाराष्ट्री भाषा के नियमों के विपरीत, धातु के रूप के अन्त में इय लगाया जाता है (= संस्कृत य) आदि[१०]। शौरसेनी भाषा धातु और शब्द-रूपावली तथा शब्द सम्पत्ति में संस्कृत के बहुत निकट है और महाराष्ट्री प्राकृत से बहुत दूर जा पड़ी है। यह तथ्य 'वररुचि' ने बहुत पहले ताड़ लिया था।

१. उसे कई विद्वान सूरसेनी भी कहते हैं। वह बहुधा सूरसेनी नाम से लिखी गई है जो अशुद्ध हैं— २. लास्सन, इन्डिशे आल्टरटूम्स कुण्डे १[२], १५८ नोट २, ७९६ नोट २ : २[२], ५१२, कनिंहम, द एन्सेण्ट जिओग्रैफी ऑफ़ इण्डिया (लण्डन १८७१) १, ३७४— ३. पिशल, डी रेसेन्सीओनन डेर शकुन्तला (ब्रासलौ १८७५) पृष्ठ १६— ४. पिशल द्वारा सम्पादित हेमचन्द्र १,२६ में पिशल की सम्मति— ५. पिशल कून्सबाइत्रैगे ८,१२९ और उसके बाद— ६. लौयमान, इन्डिशे स्टूडिएन १७,१३३ के नोट संख्या १ से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि हेमचन्द्र स्वयं श्वेताम्बर जैन था। उसने दिगम्बर जैनों के ग्रन्थों से काम लिया है— ७ पिशल, हेमचन्द्र की भूमिका १,११। खेद है कि १८७७ ई० से अब तक किसी विद्वान् ने उस मत का संशोधन नहीं किया। व्याकरण के रूपों के प्रतिपादन के लिए प्रमुख ग्रन्थ स्टेन्सलर द्वारा सम्पादित मृच्छकटिक, पिशल द्वारा सम्पादित शकुन्तला और बौल्लें नसें न द्वारा सम्पादित विक्रमोर्वशी से सहायता ली गई है, इसके बाद सहायता लेने योग्य ग्रन्थ कापेलर द्वारा सम्पादित रत्नावली है, जो वास्तव में इस संस्कृत नाटक का सर्वोत्तम संस्करण है, किन्तु खेद है कि इसमें पाठ-भेद नहीं दिये गये हैं और इसका सम्पादन रूखे ढंग से किया गया है। कोनो ने कर्पूरमंजरी का जो उत्तम संस्करण निकाला है, उसके प्रूफों से ही मैंने सहायता ली है। जैसा कि मैं ऊपर बता चुका हूँ राज-

दोस्पर शौरसेनी का प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है— ८. जिन पाठों से मैंने इस ग्रन्थ में सहायता ली है, उनकी सूची इस व्याकरण के अन्त में दी गई है— ९ पिशल, फून्स बाइत्रैगे ८२९ और उसके बाद डी रेसेन्सीओनन डेर शकुन्तला पृष्ठ १९ और उसके बाद, मोनाट्सबेरिष्टे, डेर कोएनिगलिशें आकादेमी डेर विस्सनशाफ्टन त्सुबर्लिन १८७५, पृष्ठ ६१३ और उसके बाद। बुर्क हार्द, गिरेक्ति ओनेम प्राकृतिकाए वचास वृदिसिओनि, सुआए शाकुन्तलए प्रो सुप्लीमेन्टो आर्डजेसिट। (प्रासिलावित्राए १८७४)— १०. पिशल येनायेर लिटेराटूरत्साइटुंग १८७५, पृष्ठ ७९४ और उसके बाद, याकोबी, एर्सेलुंगन भूमिका के पृष्ठ ७० और उसके बाद इस विषय पर इस व्याकरण के अनेक पाराओं में विस्तारपूर्वक लिखा गया है।

§ २३—शौरसेनी से भी अधिक अस्पष्ट दशा में मागधी की हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे पास तक पहुँची हैं। मार्कण्डेय के ग्रन्थ के ७४वें पन्ने में कोहल का मत है कि यह प्राकृत राक्षसों, भिक्षुओं, क्षपणकों, दासों आदि द्वारा बोली जाती है*। 'भरत' १७,५० और 'साहित्यदर्पण' पृष्ठ १७३,२ में बताया गया है कि राजाओं के अन्त पुर में रहनेवाले आदमियों द्वारा मागधी व्यवहार में लाई जाती है। 'दशरूप' का भी यही मत है। 'साहित्यदर्पण' ८१ के अनुसार मागधी नपुंसकों, किरातों, बौनों, म्लेच्छों, आभीरों,शकारों, कुबड़ों आदि द्वारा बोली जाती है। 'भरत' २४,५० ५९ तक में बताया गया है कि मागधी नपुंसकों, स्नातकों और प्रतिहारियों द्वारा बोली जाती है। 'दशरूप' २,६० में लिखा गया है कि पिशाच और नीच जातियाँ मागधी बोलती हैं और 'सरस्वतीकण्ठाभरण' का मत है कि नीच स्थिति के लोग मागधी प्राकृत काम में लाते हैं। संस्कृत नाटकों में प्रतिहारी हमेशा संस्कृत बोलता है (शकुन्तला नाटक ९३ पृष्ठ और उसके बाद, विक्रमोर्वशी पृष्ठ ३७ और उसके बाद, वेणीसंहार पृष्ठ १७ और उसके बाद, नागानन्द पृष्ठ ६१ और उसके बाद, मुद्राराक्षस पृष्ठ ११० और उसके बाद, अनर्घराघव पृष्ठ १०९ और उसके बाद, पार्वतीपरिणय पृष्ठ ३६ और उसके बाद, प्रियदर्शिका पृष्ठ २ और पृष्ठ २८ तथा उसके बाद; प्रतापरुद्रीय पृष्ठ १३२ और उसके बाद)। 'मृच्छकटिक'में शकार, उसका सेवक स्थावरक, मालिश करनेवाला जो बाद को भिक्षु बन जाता है, वसन्तसेना का नौकर कुम्भीलक वर्द्धमानक जो चारुदत्त का सेवक है, दोनों चाण्डाल, रोहसेन और चारुदत्त का छोटा लड़का मागधी में बात करते हैं। शकुन्तला नाटक म पृष्ठ ११३ और उसके बाद, दोनों प्रहरी, और धीवर, पृष्ठ १५४ और उसके बाद शकुन्तला का छोटा बेटा 'सर्वदमन' इस प्राकृत में वार्तालाप करते हैं। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के पेज २८ व ३२ के भीतर चार्वाक का चेला और उड़ीसा से आया हुआ दूत, पृष्ठ ४६ से ६४ के भीतर दिगम्बर जैन मागधी बोलते हैं। 'मुद्राराक्षस' में पृष्ठ १५३ में, वह नौकर जो स्नान बनाता है, पृष्ठ १७४ १७८, १८३ १८७ और १९० से १९४ के भीतर जैन साधु इस प्राकृत में बातचीत करते हैं तथा पृष्ठ १९७ में दूत[१] भी मागधी बोलता है। पृष्ठ २५६ २६९ के

* 'राक्षसभिक्षुक्षपणकचेटाद्या मागधीं प्राहु' इति कोहल। —अनु०

भीतर सिद्धार्थक और समिद्धार्थक, जो चाण्डाल के वेश में अपना पार्ट खेलते हैं, मागधी बोलते हैं और ये ही दो पात्र जब पृष्ठ २२४ और उसके बाद के पृष्ठों में दूसरे पात्र का पार्ट खेलते हैं तब शौरसेनी प्राकृत में बातचीत करने लगते हैं। 'ललितविग्रहराज' नाटक में ५६५ से ५६७ के भीतर भाट और चर, ५६७ पृष्ठ में मागधी बोलते हैं और ५६७ तथा उसके बाद के पृष्ठ में ये एकाएक शौरसेनी भी बोलने लगते हैं। 'वेणीसंहार' नाटक में पृष्ठ ३३ से ३६ के भीतर राक्षस और उसकी स्त्री, 'मल्लिकामारुतम्' के पृष्ठ १४३ और १४४ में महावत; 'नागानन्द' नाटक में पृष्ठ ६७ और ६८ में और 'चैतन्यचन्द्रोदय' में पृष्ठ १४९ में सेवक और 'चण्डकौशिकम्' में पृष्ठ ४२ और ४३ में धूर्त, पृष्ठ ६० ७२ के भीतर चाण्डाल, 'धूर्तसमागम' के १६ व पृष्ठ में नाई, 'हास्यार्णव' के पृष्ठ ३१ में साधुहिंसक; 'लटकमेलक' के पृष्ठ १२ और २५ तथा उनके बाद दिगम्बर जैन, 'कंसवध' के पृष्ठ ४८ ५२ में कुबड़ा और 'अमृतोदय' पृष्ठ ६६ में जैन साधु मागधी बोलते हैं। 'मृच्छकटिक' के अतिरिक्त मागधी में कुछ छोटे छोटे खण्ड लिखे हुए मिलते हैं और इनके भारतीय संस्करणों की यह दुर्दशा है कि इनमें मागधी भाषा का रूप पहचाना ही नहीं जा सकता। खेद है कि बम्बई की संस्कृत सिरीज में 'प्रबोधचन्द्रोदय' छापने की चर्चा बहुत दिनों से सुनने में आ रही है, पर वह अभी तक प्रकाशित न हो सका। ब्रोकहाउस ने इसका जो संस्करण प्रकाशित किया है, वह निकम्मा है। पूना, मद्रास और बम्बई के संस्करण इससे अच्छे हैं। इसलिए मैंने सदा इनकी सहायता ली है। इन सब ग्रन्थों से 'ललितविग्रहराज' नाटक में जो मागधी काम में लाई गई है, वह व्याकरणकारों के नियमों के साथ अधिक मिलती है। अन्य ग्रन्थों में मृच्छकटिक और शकुन्तला नाटक की हस्तलिखित प्रतियाँ स्पष्टतया कुछ दूसरे नियमों के अनुसार लिखी गई हैं। मोटे तौर पर ये ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत से जो वररुचि ११,२ के अनुसार मागधी की आधारभूत भाषा है और हेमचन्द्र ४,३०२ के अनुसार अधिकांश स्थलों में मागधी से पूरी समानता दिखाती है, इतनी अधिक प्रभावित हुई है कि इस बोली का रूप लीपापोती के कारण बहुत अस्पष्ट हो गया है। सबसे अधिक सचाई के साथ हेमचन्द्र के ४,२८८ वें नियम रसोर्लशो का पालन किया गया है। दूसरे नियम ४,२८७ का भी बहुत पालन हुआ है। इसके अनुसार जिन सज्ञा शब्दों की समाप्ति अ में होती है, मागधी के कर्ता एकवचन में इस अ के स्थान में ए हो जाता है। वररुचि ११,९ तथा हेमचन्द्र ४,३०१ के अनुसार अहं के स्थान पर हगे हो जाता है और कभी कभी वयं के स्थान पर भी हगे ही होता है। इसके विपरीत, जैसा कि वररुचि ११,४ और ७ तथा हेमचन्द्र ४,२९२ में बताया गया है, य जैसे का तैसा रहता है और ज के स्थान पर भी य हो जाता है। द्य, र्य और र्ज के स्थान पर य्य होता है, जो 'ललितविग्रहराज' के सिवा और किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। किन्तु इसमें नाममात्र का सन्देह नहीं है कि यह नियम व्याकरणकारों के अन्य सब नियमों के साथ साथ कभी चलता रहा होगा और यह हमें मानना ही पड़ेगा, भले ही हमें जो हस्तलिखित प्रतियाँ इस समय प्राप्त हैं, उनमें इनके उदाहरण न मिलें। वररुचि से लेकर सभी प्राकृत व्याकरणकार

मुख्य-मुख्य नियमों के विषय में एक मत है[४]। हेमचन्द्र ने ४,३०२ के अनुसार ये विशेषताएँ मुद्राराक्षस, शकुन्तला और वेणीसंहार में देखीं, जो उन हस्तलिखित प्रतियों में, जो हमें आजकल प्राप्य हैं, बहुत कम मिलती हैं और हेमचन्द्र के ग्रन्थों की जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्य हैं, उनमें तो ये विशेषताएँ पाई ही नहीं जातीं। जितनी अधिक हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती जायँगी, उनमें उतने भिन्न-भिन्न पाठ मिलेंगे, जो अभी तक प्राप्य हस्तलिखित प्रतियों के विरुद्ध जायँगे। 'मृच्छकटिक' के स्टेन्सलरवाले संस्करण के २२,४ में जो गौडबोले द्वारा प्रकाशित संस्करण के ६१,५ से मिलता है (और गौडबोले ने स्टेन्सलर के पाठ का ही अनुकरण किया है) यह पाठ है – तवज्जें व्व हस्ते चिट्टदु। व्याकरणकारों के नियमों के अनुसार यह पाठ यों होना चाहिए—तव य्यें व्व हस्ते चिष्टदु। गौडबोले की (D. H.) हस्तलिखित प्रति में ऍव्व है और (C) में ज्जें व्व है; सब हस्तलिखित प्रतियों में हस्ते और चिष्टदु अर्थात् चिष्टदु है। चिष्टदु जे (J) हस्तलिखित प्रति में है। ऐसे पाठ बराबर मिलते रहते हैं। मुद्राराक्षस १५४,३ में हेमचन्द्र के ४,३०२ के अनुसार य्यें व्व पाठ मिलता है (E हस्तलिखित प्रति में) और इसी ग्रन्थ के २६४,१ में अधिकांश हस्तलिखित प्रतियाँ ऍव्व पाठ देती हैं। वेणीसंहार ३५,७ और ३६,५ में भी ऍव्व पाठ है। हेमचन्द्र का नियम ४,२९५ जिसमें कहा गया है कि यदि संस्कृत शब्द के बीच में छ रहे तो उसके स्थान पर श्च हो जाता है। मैंने शकुन्तला की हस्तलिपियों से उदाहरण देकर प्रमाणित किया है और मृच्छकटिक की हस्तलिखित प्रतियाँ उक्त नियम की पुष्टि करती हैं (§ २३३)। उन्हीं हस्तलिखित प्रतियों में हेमचन्द्र ४,२९१ वाले नियम कि स्थ और र्थ के स्थान पर स्त हो जाता है, के उदाहरण मिलते हैं (§ ३१० और २९०)। मागधी के ध्वनितत्त्व के विषय में विशेष मार्के की बात ये हैं; र के स्थान पर ल हो जाता है, स के स्थान पर श हो जाता है, य जैसे का तैसा बना रहता है, ज बदल कर य हो जाता है, द्य, र्ज, र्य का य्य हो जाता है; ण्य, न्य, ज्ञ, का ञ्ञ हो जाता है, च्छ का श्च बन जाता है, ष्ट और ष्ठ का स्ट हो जाता है आदि (§ २४)। शब्द के रूपों में इसका विशेष लक्षण यह है कि अ में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों के अन्त में ए लगता है। शब्दों के अन्य रूपों में यह प्राकृत शौरसेनी से पूर्णतया मिलती है (§ २२) और यह शौरसेनी के अनुसार ही त के स्थान पर द और थ के स्थान पर ध कर देती है।

१. औपस्थायिक (भरत नाट्यशास्त्र) निमुण्डाः का क्या अर्थ है, यह अस्पष्ट है—२. यह बात स्टेन्सलर की भूमिका के पृष्ठ ५ और गौडबोले के ग्रन्थ पृष्ठ ४९३ में पृथ्वीधर ने बताई है। इन संस्करणों में वह शौरसेनी बोलता है, किन्तु हस्तलिखित प्रतियों में इन स्थानों में सर्वत्र मागधी का प्रयोग किया गया है। १६१,९ अले अले १६१,१६ में मालेध, १६५-२५ में अले गौडबोले के पृष्ठ ४४९,९ में मालेध भी आया है। जो दृश्य यहाँ दिखाया गया है, उसमें ३२७,१० जो गौडबोले के संस्करण के ४८४,१२ में है, उसमें

आउत्ते रूप मिलता है। ब्लौख में वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा के पृष्ठ ४ के विषय में भ्रामक सम्मति दी है। पारा ४२ से भी तुलना कीजिए— ३. हिल्लेब्रान्त, त्साइटुंश्रिफ्ट देर, मौर्गेन लैण्डिशन गेजेलशाफ्ट ३९,१३० से तुलना करें— ४. इस विषय पर पारा २४ और इस व्याकरण के वे पाराग्राफ भी देखिए, जिनमें इस विषय पर लिखा गया है।

§ २४—स्टेन्त्सलर द्वारा सम्पादित 'मृच्छकटिक' की भूमिका के पृष्ठ ५ और गौडबोले के संस्करण के पृष्ठ ४९४ में जो संवाद है, वह राजा शाकारी और उसके दामाद का है और यह 'पृथ्वीधर' के अनुसार अपभ्रंश नामक बोली में हुआ है। इस अपभ्रंश बोली का उल्लेख 'क्रमदीश्वर' ने ५,९९, लास्सन के इन्स्टिट्यूत्सिओनेस लिंगुआए प्राकृतिकाए में पृष्ठ २१ में, 'रामतर्कवागीश' के ग्रन्थ में, मार्कण्डेय के पन्ने ७६ में, भरत के १७,५३, साहित्यदर्पण पृष्ठ १७३,६ में है। लास्सन ने अपने इन्स्टीट्यूत्सिओनेस के पृष्ठ ४२२ और उसके आगे के पृष्ठों में यह प्रयत्न किया है कि इस अपभ्रंश बोली के विशेष लक्षण निश्चित कर दिये जायँ और वह अपने इस ग्रन्थ के पृष्ठ ४२५ में इस निदान पर पहुँचा है कि शाकारी मागधी की एक बोली है। इसमें सन्देह नहीं कि उसका यह मत ठीक है। यही मत मार्कण्डेय का भी है, जिसने अपने ग्रन्थ के ७६ वें पन्ने में बताया है कि शाकारी बोली मागधी से निकली है— मागध्याः शाकारी, साध्यतीति शेषः। 'मृच्छकटिक' के स्टेन्त्सलरवाले संस्करण के ९,२२ (पृष्ठ २४०) से, जो गौडबोले के संस्करण के पृष्ठ ५०० के समान है, यह तथ्य मालूम होता है कि इस बोली में तालव्य वर्णों से पहले य बोलने का प्रचलन था अर्थात् संस्कृत तिष्ठ के स्थान पर यचिष्ठ बोला जाता था (§ २१७)। यह *य इतनी हल्की तरह से बोला जाता था कि कविता में इसकी मात्रा की गिनती ही* नहीं की जाती थी। 'मार्कण्डेय' के अनुसार यही नियम मागधी और व्राचड अपभ्रंश में भी बरता जाता था (§ २८) और विशेषताएँ जैसे कि त के स्थान पर द का प्रयोग (§ २१९), अ में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों के षष्ठी एकवचन के अन्त में—अस्स के साथ साथ आह का प्रयोग (§ ३६६), अन्य पात्रों की भाषा में पाये जाते हैं; किन्तु सप्तमी के अन्त में—आहिं (§ ३६६अ) और सम्बोधन बहुवचन के अन्त में आहो का प्रयोग (§ ३७२) शाकार की बोली में ही पाये जाते हैं। ऊपर कहे हुए अन्तिम तीन रूपों में शाकारी बोली अपभ्रंश भाषा से मिलती है। इसलिए 'पृथ्वीधर' का इस बोली को अपभ्रंश बताना अकारण नहीं है। ऊपर लिखे गये व्याकरणकार और अलंकारशास्त्री एक बोली चाण्डाली भी बताते हैं। 'मार्कण्डेय' के ग्रन्थ के पन्ने ८१ के अनुसार यह चाण्डाली बोली मागधी और शौरसेनी के मिश्रण से निकली थी। लास्सन ने अपने इन्स्टिट्यूत्सिओनेस के पेज ४२० में ठीक ही कहा है कि यह बोली एक प्रकार की मागधी समझी जाती थी। 'मार्कण्डेय' ने पन्ने ८१ में चाण्डाली से शाबरी बोली का निकलना बताया है। इसकी आधारभूत भाषाएँ शौरसेनी, मागधी और शाकारी है (इस विषय पर लास्सन के इन्स्टिट्यूत्सिओनेस के § १६२ को भी देखिए)। 'मार्कण्डेय' के अनुसार मागधी की एक बोली

बाहीकी भी है जो भरत १७,५२ और साहित्यदर्पण पेज १७३, में नाटक के कुछ पात्रों की बोली बतलाई गई है तथा कुछ लेखकों के अनुसार बाहीकी पिशाचभूमि में बोली जाती है (§ २७)। इसमें नाममात्र का भी संशय नहीं कि मागधी एक भाषा नहीं थी; बल्कि इसकी भिन्न भिन्न बोलियाँ स्थान स्थान में बोली जाती थीं। यही कारण है कि क्ष के स्थान पर कहीं ह्क और कहीं श्क, र्थ के स्थान पर कहीं स्त और श्त, ष्क के स्थान पर कहीं स्क और कहीं श्क लिखा मिलता है। हमें मागधी में वे सब बोलियाँ सम्मिलित करनी चाहिए, जिनमें ज के स्थान पर य, र के स्थान पर ल, स के स्थान पर श लिखा जाता है और जिनके अ में समाप्त होनेवाले संज्ञाशब्दों के अन्त में अ के स्थान पर ए जोड़ा जाता है। मैंने (§ १७ और १८ में) यह बताया है कि कर्ता एकवचन के अन्त में ए जोड़नेवाली बोलियों का प्रवेश सारे मगध में व्याप्त था। भरत ने १७,५८ में यह बात कही है कि गंगा और समुद्र के बीच के देशों में कर्ता एकवचन के अन्त में ए लगाये जानेवाली भाषाएँ बोली जाती हैं। इससे उसका क्या अर्थ है, यह समझना टेढ़ी खीर है। होएर्नले ने सब प्राकृत बोलियों को दो वर्गों में बाँटा है, एक को उसने शौरसेनी प्राकृत बोली कहा है और दूसरी को मागधी प्राकृत बोली तथा इन बोलियों के क्षेत्रों के बीचोबीच में उसने इस प्रकार की एक रेखा खींची है, जो उत्तर में खालसी से लेकर वैराट, इलाहाबाद और फिर वहाँ से दक्षिण को रामगढ होते हुए जौगढ तक गई है। ग्रियर्सन होएर्नले के मत से अपना मत मिलाता है और उसका विचार यह भी है कि उक्त रेखा के पास आते आते धीमे धीमे ये दोनों प्राकृत भाषाएँ आपस में मिल गईं और इसका फल यह हुआ कि इनके मेल से एक तीसरी बोली निकल आई, जिसका नाम अर्धमागधी पड़ा। उसने बताया है कि यह बोली इलाहाबाद के आस पास और महाराष्ट्र में बोली जाती होगी। मेरा विश्वास है कि इन बातों में कुछ धरा नहीं है। एक छोटे से प्रदेश में बोली जानेवाली लाट बोली में भी कई बोलियों के अवशेष मिलते हैं, बल्कि धौली और जौगढ के बीच, जो बहुत ही संकीर्ण क्षेत्र है, उस लाट भाषा में भी कई बोलियों का मेल हुआ था; किन्तु मोटे तौर पर देखने से ऐसा लगता है कि किसी समय लाट भाषा सारे राष्ट्र की भाषा थी और इसलिए वह भारत के उत्तर, पश्चिम और दक्षिण में बोली और समझी जाती रही होगी। खालसी, दिल्ली और मेरठ के अशोक के प्रस्तर लेख, वैराट के प्रस्तर लेख तथा दूसरे लेख इस तथ्य पर कुछ प्रकाश नहीं डालते कि इन स्थानों में कौन-सी बोलियाँ बोली जाती रही होंगी। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन समय में और आज भी एक ही प्रवृत्ति काम करती थी और कर रही है अर्थात् अड़ोस पड़ोस की बोलियों के शब्द धीरे धीरे आपस में एक दूसरे की बोली में घुल मिल जाते हैं तथा उन बोलियों के भीतर इतना अधिकार कर जाते हैं कि बोलनेवाले नहीं समझते कि हम किसी दूसरी बोली का शब्द काम में लाते हैं* (प्राचीन समय में जो बोलियाँ

* हिंदी में प्रचलित आलमारी, पेड़ा, व्यापार, उपन्यास, गदर आदि शब्द यद्यपि मराठी और बंगला से आये हैं, किन्तु बोलनेवाले इनको हिंदी ही समझते हैं। रेल, लालटेन, आलमारी, गमला आदि भी ऐसे ही शब्द हैं। —अनु०

इस प्रकार आपस में मिल गई थीं, उन्हें हम प्राकृत नहीं कह सकते)। इसके लिए अर्धमागधी एक प्रबल प्रमाण है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि आज की मागधी[6] और पुरानी मागधी में कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता।

१. कम्पेरेटिव ग्रैमर, भूमिका के पेज १७ और उसके बाद के पेज— २. चण्ड की भूमिका का पेज २१— ३. सेवन ग्रैमर्स ऑफ द डायलेक्ट्स एण्ड सबडायलेक्ट्स ऑफ द बिहारी लैंग्वेज; खण्ड १ (कलकत्ता १८८३) पेज ५ और उसके बाद— ४. सेनार, पियदसी २, ४३२— ५. सेनार पियदसी २, ४३३ और उसके बाद— ६. ग्रियर्सन, सेवन ग्रैमर्स, भाग ३ (कलकत्ता १८८३)।

§ २५—पूर्व बंगाल में स्थित 'ढक' प्रदेश के नाम पर एक प्रकार की प्राकृत बोली का नाम ढक्की है। 'मृच्छकटिक' के पृष्ठ २९–३९ तक में जुआ-घर का मालिक और उसके साथी जुआरी जिस बोली में बातचीत करते हैं, वह ढक्की है। मार्कण्डेय पन्ना ८१, लास्सन के इन्स्टीट्यूत्सीओनेस पृष्ठ ५ में 'रामतर्कवागीश' और स्टैन्सलर द्वारा प्रकाशित 'मृच्छकटिक' की भूमिका के पृष्ठ ५ में, जो गौडबोले के संस्करण में पृष्ठ ४९३ है, 'पृथ्वीधर' का भी मत है कि शाकारी, चाण्डाली और शाबरी के साथ-साथ ढक्की भी अपभ्रंश की बोलियों में से एक है। उसकी भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार यह वह बोली है, जो मागधी और अपभ्रंश बोली बोलनेवाले देशों के बीच में रही होगी। पृथ्वीधर के अनुसार इसकी ध्वनि की यह विशेषता है कि इसमें लकार का जोर है और तालव्य शकार और दन्त्य सकार की भी बहुतायत है—लकार **प्रायो ढकविभाषा, संस्कृत प्रायत्वे दन्त्यतालव्य सशकारद्वययुक्ता' च।** इसका तात्पर्य इस प्रकार है कि जैसे मागधी में र के स्थान पर ल हो जाता है, ष स में बदल जाता है, स और श अपने संस्कृत शब्दों की भाँति स्थान पर रह जाते हैं, ऐसे ही नियम ढक्की के भी हैं। इस प्राकृत की जो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, उनकी लिपि कहीं व्याकरण-सम्मत और कहीं उसके विपरीत है; पर अधिकांश में पाठ जैसा चाहिए, वैसा है। स्टैन्सलर ने २९,१५;३०, १ में अरेरे पाठ दिया है, ३०, ७ में रे और ३०, ११ में अरे पाठ दिया है; किन्तु गौडबोले ने ८२, १; ८४,४;८६, १ में अले और ८५,५ मे ले दिया है, जो उसे मिली हुई हस्तलिखित प्रतियों में से अधिकांश का पाठ है। इस प्रकार का पाठ स्टैन्सलर की हस्तलिखित प्रतियों में भी, ऊपर लिखे अपवादों को छोड अन्य सब स्थानों पर मिलता है (३०,१६;३१, ४।९ और १६;३५,७ और १२;३६,१५; और ३९,१६)। इस भाषा के नियम यह बताते हैं कि रुद्धः के स्थान पर लुद्धु हो जाता है (२९,१५ और ३०,१) **परिवेषित** के स्थान पर **पलिवेविद** होता है (३०,७), कुरुकुरु के स्थान पर कुलुकुलु का प्रयोग किया जाता है (३१,१६), धारयति का धालेदि होता है (३४,९ और ३९,१३), पुरुषः पुलिसो बन जाता है (३४,१२); किन्तु अधिकाश स्थलों में इन ग्रन्थों और हस्तलिखित प्रतियों में र ल नहीं हुआ है, र ही रह गया है। इस प्रकार सर्वत्र जूदिअर ही मिलता है (२९,१५;३०,१ और १२;३१,१२ और ३६,१८), केवल ३६,१८ मे जो स्थल गौडबोले के सस्करण में १०६,४ है, वहाँ ल का प्रयोग

किया गया है। 'मृच्छकटिक' के कलकत्तावाले संस्करण में जो शाके १७९२ में प्रकाशित हुआ था, पृष्ठ ८५,३ में **जूदकलस्स** शब्द का प्रयोग किया गया है और कलकत्ता से १८२९ ई० में प्रकाशित इसी ग्रन्थ के पेज ७४,३ में अन्य संस्करणों में छपे हुए **मुट्ठिप्पहारेण** के स्थान पर **मुट्ठिप्पहालेण** छापा गया है, जब कि इसकी दूसरी ही पंक्ति में **रुहिरपहम् अणुसरेम्ह** मिलता है, यद्यपि हमें आशा करनी चाहिए थी कि इस स्थान पर **लुहिलपधम् अणुसलेय** होगा। ३०,४ और ५ के श्लोक में **सलणम्** शब्द आया है, जिसके स्थान पर शाके १७९२ वाले कलकत्ता के संस्करण में शुद्ध शब्द **शलणम्** है और **रुद्दो रक्खिदुं तरइ** आया है, जिसके स्थान पर **लुद्दो लक्खिदुं तलीद** होना चाहिए था। ऐसे अन्य स्थल ३०,१३ है जिसमें **अनुसरे`म्ह** आया है, ३२,३ और ३४,२५ में **माधुर** शब्द का व्यवहार किया गया है, ३२,१० और १२ में **पिदरम्** और **मादरम्** का व्यवहार किया गया है, ३२,१६ में **पसरु**, ३४,११ में **जज्जर** (इसके बगल में ही **पुलिशो** शब्द है) ३६,२४ में **उअरोधेण** और ३९,८ में **अहरेण रइ** लिखा गया है, जो सब शब्द ढक्की के नियमों के अनुसार शुद्ध नहीं हैं, क्योंकि जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, ढक्की बोली में र के स्थान में ल होना चाहिए। ये हस्तलिखित प्रतियाँ बहुधा स के स्थान पर श और श का स लिख देती हैं। शुद्ध शब्द **दशसुवण्णाह** (२९,१५ और ३०,१) के पास में ही **दशसुवण्णम्** (३१,४,३२,३,३४,९ और १२ इत्यादि), **शुण्णु** (३०, ११), **शेल** (३०,१७) के पास में ही **जंस** (३०,९) आया है, जो अशुद्ध है। **आदसआमि** (३४,२५) **पडिस्सुदिय** (३५,५) प्रयोग भी किये गये हैं। कई स्थलों पर तालव्य **शकार** का अशुद्ध प्रयोग हुआ है जैसे **शमविशयं**, **सकुलशअम्** (३०,८ और ९)। इस स्थान पर गौडबोले ने (८५,६ और ७) **समविसअं** पाठ दिया है जो शुद्ध है, और **अइ कसण** (अइ के स्थान पर अदि होना चाहिए), इसके विपरीत ११४, ९ में **कदश** शब्द अशुद्ध आया है, इसके स्थान पर स्टेन्सलर के संस्करण के पेज ३९,८ में **कस्स** शब्द आया है, जो शुद्ध है। लकार और शकार का प्रयोग ढक्की को मागधी से मिलाता है, इसी प्रकार संज्ञा शब्दों के अन्त में—उ जो संस्कृत के—अः के काम में आता है और—अम् का प्रयोग तथा आज्ञावाचक के द्विवचन का रूप इसे अपभ्रंश से सम्बन्धित करता है। इस विषय पर भी हस्तलिखित प्रतियों के पाठ पर भरोसा नहीं किया जा सकता। **देउलु** (३०,११) शब्द के नीचे ही **देउलम्** (३०,१२) का उपयोग किया गया है। **एसु** (३०,१२,३४, १७ और ३५,१५) उसके निकट ही **एसो** (३०,१०) का प्रयोग हुआ है। संस्कृत शब्द **प्रसर** के लिए **पसलु** (३२,१६) शब्द आया है और उसके पास ही **गेण्ह** (२९, १६ और ३०,२) काम में लाया गया है, प्रयच्छ के लिए **पअच्छ** लिखा गया है (३१,४,७,९;३२,८;१२,१४,३४,२४,२५,७)। अनेक स्थानों पर कर्त्ता कारक के लिए—उ आया है जैसे रुद्र के स्थान में **लुद्द** (२९,१५ और ३०,१), **त्रिपदीउपादु** जो संस्कृत विप्रतीप- पाद- (३०,११) के लिए आया है, **धुत्तु माधुलु** और **निउणु** (३२,७) **विद्दु** (३४,१७) उकारान्त हैं। इनके साथ

गाय वद्दो (३१,१२) व्पाउडो, पुलिसो संस्कृत प्रावृत्तः, पुरुषः के लिए आये हैं (३४,१२)। आचस्ख्न्तो (पारा ४९९) है और वुत्तो संस्कृत वृत्तः के लिए लिखा गया है। कर्त्ताकारक के अन्त में कहीं कहीं ए का प्रयोग भी किया गया है जैसे, संस्कृत पाठ: के लिए पाढे (३०,२५ और ३१,१) का पाठ, लव्धः पुरुषः के स्थान पर लव्धे गोहे का प्रयोग मिलता है। इन अशुद्धियों का कारण लेखकों की भूल ही हो सकती है और इनमें बोलियों की कोई विशेषताएँ नहीं हैं, इसका पता स्पष्ट रूप से इस बात से चलता है कि मागधी प्रयोग वघ्घे के स्थान पर (३१,१४ में) वघ्घो लिखा मिलता है, जो किसी दूसरे संस्करण में नहीं मिलता। माधुर (३२,७ और ३४,२५) का प्रयोग भी अशुद्ध है, इसमें थ के स्थान पर ध होना चाहिए। इसका शुद्ध पाठ माधुलु है। सब संस्करणों के पाठे के स्थान पर भी (३०,२५ और ३१,१) और स्वय मागधी में भी (३१,२) गौडबोले के डी० तथा एच० संस्करणों के अनुसार, जिसका उल्लेख उसकी पुस्तक के पेज ८८ में है, पाढे होना चाहिए। *के० हस्तलिखित प्रति में पाढे पाठ है, ढक्की प्राकृत में यही पाठ* शुद्ध है। इस प्रकार ३०,१६ में भी कथम् का रूप कधम् दिया गया है, जो ठीक है, किन्तु ३६,१० में रुधिरपथम् के लिए रुहिरपहम् आया है, जो अशुद्ध है। शुद्ध रूप लुधिलपधम् होना चाहिए। जैसा मैंने ऊपर शौरसेनी और मागधी के विषय में कहा है, यही बात टक्की के बारे में भी कही जा सकती है कि इस बोली में जो हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं, उनपर भी कोई भरोसा नहीं किया जा सकता और चूँकि इस बोली का उल्लेख और इस बोली के ग्रन्थ बहुत कम मिलते हैं तथा ऐसी आशा भी नहीं है कि भविष्य में भी इसके अधिक ग्रन्थ मिलेंगे। इसलिए इस बोली पर भविष्य में अधिक प्रकाश पड़ेगा, यह भी नहीं कहा जा सकता[३]। इस विषय पर § २०३ भी देखिए।

१. स्टेंसलर ने इस शब्द का पाठ शुद्ध दिया है, पृष्ठ २ और ४९४ में गौडबोले ने इसका रूप वकार प्राया लिखा है— २ यह पाठ गौडबोले ने शुद्ध दिया है— ३ लास्सन, इन्स्टीट्यूत्सीओनेस पृष्ठ ४१४ और उसके बाद में लिखता है कि जुआरी दाक्षिणात्या, माधुर और आवन्ती में बातचीत करता है। इस विषय पर § २६ भी देखिए, वररुचि उण्ड हेमचन्द्रा पेज ४ में ब्लौख की सम्मति भ्रमपूर्ण है।

§ २६—व्याकरणकारों द्वारा वर्णित अन्य प्राकृत बोलियों के विषय में यही कहा जाना चाहिए कि ढक्की बोली के समान ही, इनपर अधिक प्रकाश पड़ने की, बहुत कम आशा है। 'पृथ्वीधर' के मतानुसार 'मृच्छकटिक' नाटक में वीरक और चन्दनक नाम के दोनों कोतवाल पृष्ठ ९९ १०६ में आवन्ती भाषा बोलते हैं। पृथ्वीधर ने यह भी बताया है कि आवन्ती भाषा में स, र तथा मुहावरों की भरमार है—तथा शौरसेन्य् अवन्तिजा प्राच्या। एतासु दन्त्यसकारता। तत्रावन्तिजा रेफवती लोकोक्ति बहुला। पृथ्वीधर का यह उद्धरण भरत के नाट्यशास्त्र के १७,४८ से मिलता है। भरत १७,५१ और 'साहित्यदर्पण' पृष्ठ १७३,४ के अनुसार नाटकों में

धूर्ताः को अवन्तिजा बोली बोलनी चाहिए। लास्सन के इन्स्टीट्यूत्सीओनेस पेज ३६ में कई प्राचीन टीकाकारों का मत दिया गया है कि धूर्ताः का तात्पर्य जुआरियों से है। इस कारण लास्सन ने पृष्ठ ४१७-४१९ में माथुर की बोली को आवन्ती बताया है; पर यह मत भ्रामक है (मार्कण्डेय के ग्रन्थ के ३ रे पन्ने और 'क्रमदीश्वर' ५,९९ में कहा गया है कि आवन्ती भाषाः में गिनी जाती है और मार्कण्डेय ने पन्ना ७३ में कहा है कि आवन्ती शौरसेनी और महाराष्ट्री के मेल से बनी है और यह मेल एक ही वाक्य के भीतर दिखाई देता है—आवन्ती स्यान् महाराष्ट्री सोरसेन्यास् तु संकरात्। अनयोः संकराद् आवन्ती भाषा सिद्धा स्यात्। संकरश् चैकस्मिन्नेव वाक्ये बोद्धव्यः। इस बोली में भवति के स्थान पर होइ, प्रेक्षते की जगह पॅच्छदि और दर्शयति के लिए दरिसेदि आता है। हस्तलिखित प्रतियों में दोनों कोतवालों का जो वार्तालाप मिलता है, उससे ऊपर लिखे वर्णन का पूरा साम्य है, उस श्लोक में, जो ९९,१६ और १७ में आया है, शौरसेनी अच्छध के पास में ही महाराष्ट्री में त्तूण और वच्चइ है, ९९,२४ और २५ में शौरसेनी आअच्छध और महाराष्ट्री तुरियम्,जत्तेह, करेॅज्जाह और पहवइ एक ही श्लोक में आये है। दरिसेसि शब्द १००,४ में आया है और १००,१२ में महाराष्ट्री जइ आया है, जिसके एकदम बगल में शौरसेनी शब्द खुडिदो है; १००, १९;१०१,७ और १०५,९ में वच्चदि शब्द आया है जो महाराष्ट्री वच्चइ (९९,१७) और शौरसेनी वज्जदि का वर्णसंकर है और तमाशा देखिए कि १००,१५ में वज्जइ शब्द आया है, जो उक्त दोनों भाषाओं का मिश्रण है, १०३,१५ में कड्ढिज्जदि शब्द आया है और उसी के नीचे की लाइन १६ में सासिज्जइ आया है। यह दूसरा शब्द विशुद्ध महाराष्ट्री है और पहला शब्द महाराष्ट्री कड्ढिज्जइ और शौरसेनी कढीअदि की खिचड़ी है। गद्य और पद्य में ऐसे दसियों उदाहरण मिलते हैं। इन सब उदाहरणों से यह ज्ञान पड़ता है कि 'पृथ्वीधर' का मत ठीक ही है। किन्तु चन्दनक की बोली के विषय में स्वयं चन्दनक ने पृथ्वीधर के मत का खण्डन किया है। उसने १०३,५ में कहा है—वअम् दक्खिणत्ता अव्वत्त भाषिणो...म्लेच्छ-जातीनाम् अनेकदेशभाषाविज्ञा यथेष्टम् मंत्रयामः . , अर्थात् "हम दाक्षिणात्य अस्पष्टभाषी हैं। चूँकि हम म्लेच्छ जातियों की अनेक भाषाएँ जानते हैं, इसलिए जो बोली मन में आई, बोलते हैं "। चन्दनक अपने को दाक्षिणात्य अर्थात् दकन का बताता है। इस विषय पर उसने १०३,१६ में भी कहा है—कणाट कलहप्पओअम् करेमि। अर्थात् मैं कर्णाट देश के ढंग से झगड़ा प्रारम्भ करता हूँ। इसलिए इसपर सन्देह करने का सबल कारण है कि उसने आवन्ती भाषा में बातचीत की होगी; वरन् यह मानना अधिक संगत प्रतीत होता है कि उसकी बोली दाक्षिणात्या रही होगी। इस बोली को 'भरत' ने १७,४८ में सात भाषाः के नामों के साथ गिनाया है और 'भरत' के 'नाट्यशास्त्र' के १७,५२ और 'साहित्यदर्पण' पृष्ठ १७३५ में इस बोली के विषय में कहा गया है कि इसे नाटकों में शिकारी और कोतवाल बोलते हैं। 'मार्कण्डेय' ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' में इसे भाषा मानना अस्वीकार किया है, क्योंकि

इसमें भाषा के कोई विशेष लक्षण नहीं पाये जाते (लक्षणाकरणात्)। लास्सन ने अपने इन्स्टीट्यूत्सीओनेस के पृष्ठ ४१४-४१६ में 'मृच्छकटिक' के अज्ञातनामा जुआरी को दाक्षिणात्या बोलनेवाला बताया है और कोतवाल की बोली में भी इसी भाषा के लक्षण पाये हैं (शकुन्तला पेज ११३ ११७)। ये दोनों मत भ्रमपूर्ण हैं। जुआरी की बोली टक्की है (§ २५) और शकुन्तला में कोतवाल की जो भाषा पाई जाती है, वह साधारण शौरसेनी से कुछ भी भिन्नता नहीं रखती। यह बात 'बोएटलिंक' ने[1] पहले ही ताड़ ली थी। शकुन्तला नाटक की जो हस्तलिखित प्रतियाँ बंगाल में पाई गई हैं, उनमें से कुछ में महाप्राण वर्णों का द्वित्त किया गया है। पहले[2] मेरा ऐसा विचार था कि यह विशेषता दाक्षिणात्या प्राकृत के एक लक्षण के रूप में देखी जानी चाहिए। किन्तु उसके बाद मुझे मागधी की हस्तलिखित एक ऐसी प्रति मिली, जिसमें महाप्राण वर्णों का द्वित्त किया गया है। यह लिपि का लक्षण है न कि भाषा का (§ १९३)। अबतक के मिले हुए प्रमाणों से हम इस विषय पर जो कुछ निदान निकाल सकते हैं, वह यह है कि दक्खिणात्ता बोली उस आवन्ती बोली से, जिसे वीरक बोलता है, बहुत घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है और ये दोनों बोलियाँ शौरसेनी के बहुत निकट हैं। इसमें बोलियों का मिश्रण तो हो ही गया है; किन्तु अम्हे के स्थान में **वअम्**, द्वौ के स्थान पर दो का प्रयोग शौरसेनी भाषा के व्यवहार के विरुद्ध है तथा बड़े मार्के की बात है। **दक्खिणत्ता** में त्य के स्थान पर **त्त** का प्रयोग (§ २८१) तथा **दरिसअन्ति** भी, जो 'मृच्छकटिक' ७०,२५ में शौरसेनी भाषा में भी काम में लाया गया है, बहुत खटकते हैं।

1. शकुन्तला के अपने संस्करण के पृष्ठ २४० में— 2. नाखरिष्टन फौन डेर कोयेनिगलिशे गेज़ेलशाफ्ट डेर विस्सनशाफ्टन त्सु गोएटिंगन १८७३, पेज २१२ और उसके बाद।

§ २७—एक बहुत प्राचीन प्राकृत बोली पैशाची है। 'वररुचि' १०,१ तथा उसके बाद इस नाम की एक ही बोली का उल्लेख करता है। 'क्रमदीश्वर' के ५,९६ में भी इसका नाम आया है। 'वाग्भटालंकार' २,३ की टीका में 'सिंहदेव गणिन्' ने इसका उल्लेख पैशाचिक नाम से किया है। 'रुद्रट' के 'काव्यालंकार' २,१२ की टीका में 'नमिसाधु' ने भी इसे पैशाचिक ही बताया है और किसी व्याकरणकार का एक उद्धरण देकर इसका नाम पैशाचिकी दिया है। हेमचन्द्र ने ४,३०३ से ३२४ में पैशाची के नियमों का वर्णन किया है और उसके बाद ३२५–३२८ में चूलिका पैशाचिक के नियम बताये हैं, उसके बाद 'त्रिविक्रम' ३,२,४३,'सिंहराज' पृष्ठ ६३ और उसके बाद इसका उल्लेख करते हैं। उन्होंने चूलिका पैशाचिक के स्थान पर चूलिका पैशाची के नियम बताये हैं। एक अज्ञातनामा लेखक द्वारा (§ ३ नोट १) जिसका उल्लेख मार्कण्डेय के 'प्राकृतसर्वस्व' में है, ११ प्रकार की प्राकृत भाषाओं के नाम गिनाये गये हैं—**कांचिदेशीयपाण्ड्ये च पांचालगौडमागधम्। व्राचडम् दाक्षिणात्यम् च शौरसेनम् च कैकयम्। शाबरम् द्राविडम् चैव एकादश पिशाचकाः।** किन्तु स्वयं 'मार्कण्डेय' ने केवल तीन प्रकार की पैशाची बोलियों

का उल्लेख किया है—कैकेय, शौरसेन और पाचाल। ऐसा मालूम पड़ता है कि मार्कण्डेय के समय में ये तीन ही साहित्यिक पैशाचिक बोलियाँ रही होंगी। उसने लिखा है—**कैकेयम् शौरसेनम् च पांचालम् इति च त्रिधा। पैशाच्यो नागरा यस्यात् तेनाप्यन्या न लक्षिताः।** 'मार्कण्डेय' के मतानुसार कैकेय पैशाची संस्कृत भाषा पर आधारित है और शौरसेनपैशाची शौरसेनी पर। पाचाल और शौरसेनी पैशाची में केवल एक नियम में भेद है। यह भिन्नता इसी में है कि र के स्थान पर ल हो जाता है। लास्सन के इन्स्टीट्यूत्सीओनेस के पृष्ठ २२ में उद्धृत 'रामतर्कवागीश' ने दो वर्ग गिनाये हैं। एक का नाम 'कैकेयपैशाचम्' है और दूसरी पैशाचीका नाम लेखकों ने अक्षर बिगाड़ बिगाड़ कर ऐसा बना दिया है कि अब पहचाना ही नहीं जाता। यह नाम हस्तलिखित प्रतियों में 'चस्क' पढ़ा जाता है, जिसका क्या अर्थ है, समझ में नहीं आता। न्यूनाधिक विशुद्धता की दृष्टि से इनके और भी छोटे छोटे भेद किये गये हैं। लास्सन के इन्स्टीट्यूत्सीओनेस के परिशिष्ट के पृष्ठ ६ में मागध और ब्राचड (हस्तलिखित प्रतियों में यह शब्द ब्राव्ड लिखा गया है) पैशाचिका, ये दो नाम आये हैं। लास्सन के इन्स्टीट्यूत्सीओनेसके पृष्ठ १२ में उद्धृत लक्ष्मीधर के ग्रन्थ में यह लिखा पाया जाता है कि पैशाची भाषा का नाम पिशाच देशों से पड़ा है, जहाँ यह बोली जाती है। प्राचीन व्याकरणकारों के मत के अनुसार उसने इसके निम्नलिखित भेद दिये हैं—पाण्ड्य, केकय, वाह्लीक, सह्य*, नेपाल, कुन्तल, गान्धार। अन्य चारों के नाम विकृत हो गये हैं और हस्तलिखित प्रतियों में इस प्रकार मिलते हैं—सुदेश, भोट, हैव और कनोजन। इन नामों से पता चलता है कि पैशाची प्राकृत की बोलियाँ भारत के उत्तर और पश्चिमी भागों में बोली जाती रही होंगी। एक पैशाच जाति का उल्लेख महाभारत ७,१२१,१४ में मिलता है। भारतीय लोग पिशाच का अर्थ भूत करते हैं (कथासरित्सागर ७,२६ और २७)। इसलिए वररुचि १०,१ की टीका में 'भामह' ने कहा है—**पिशाचानाम् भाषा पैशाची** और इस कारण ही यह बोली भूतभाषा अर्थात् भूतों की बोली कही जाती है (दण्डिन् का 'काव्यादर्श' १,३८, 'सरस्वतीकण्ठाभरण' ९५,११ और १३, 'कथासरित्सागर' ७,२९ और ८,३०, हौल द्वारा सम्पादित 'वासवदत्ता' पृष्ठ २२ का नोट) अथवा यह भूतभाषित और भौतिक भी कही जाती है (वाग्भटालंकार २,१ और ३), भूतवचन (बालरामायण ८,५ और 'सरस्वती कण्ठाभरण' ५७,११)। भारतीय जनता का विश्वास है कि भूतों की बोली की एक अचूक पहचान यह है कि भूत जब बोलते हैं तब उनका जोर नाक के भीतर से बोलने में लगता है और 'मुक' ने इसलिए यह अनुमान लगाया है कि यह भाषा आजकल की अंगरेजी की भाँति पिशाच भाषा कही गई। इस लक्षण का उल्लेख प्राकृत व्याकरणकारों में कहीं नहीं मिलता। मैं यह बात अधिक संगत समझता हूँ कि आरम्भ में इस भाषा का नाम पैशाची इसलिए पड़ा होगा कि यह महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी की भाँति ही पिशाच जनता द्वारा या पिशाच देश में

* सह्य महाराष्ट्र में सह्याद्रि प्रदेश का नाम है।—अनु०

बोली जाती होगी और बाद को पिशाच कहे जानेवाले भूतों की भाषा पिशाच नाम के कारण भूल से पैशाची कही गई होगी। इसका अर्थ यह है कि पिशाच एक जाति का नाम रहा होगा और बाद को भूत भी पिशाच कहे जाने लगे तो जनता और व्याकरणकार इसे भूतभाषा कहने लगे। पिशाच जनता या पैशाच लोगों का उल्लेख 'महाभारत' के ऊपर दिये गये स्थल के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलता; किन्तु इस जाति की उपजातियों के नाम बहुधा देखने में आते हैं, जैसे कैकेय या कैकय और बाह्लीक। इनके बारे में 'मार्कण्डेय' का कहना है कि ये मागधी बोलते हैं (§२४) तथा कुन्तल और गान्धार। 'दशरूप' २,६० के अनुसार पिशाच और बहुत नीची जाति के लोग पैशाच या मागध प्राकृत बोलते हैं। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' ५६,१९ और 'साहित्यदर्पण' पृष्ठ १७३,१० के अनुसार पैशाची पिशाचों की भाषा है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' ५०,२५ में भोजदेव ने उच्च जाति के लोगों को विशुद्ध पैशाची बोलने से रोका है—**नात्युत्तमपात्रप्रयोज्या पैशाची शुद्धा**। उसने जो उदाहरण दिया है, वह हेमचन्द्र ४,३२६ में मिलता है; किन्तु हेमचन्द्र ने इसे 'चूलिकापैशाचिक' का उदाहरण बताया है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' ५८,१५ में यह कहा गया है कि उत्तम मनुष्यों को, जो ऊँचे पात्रों का पार्ट नहीं खेलते, ऐसी भाषा बोलनी चाहिए जो एक साथ संस्कृत और पैशाची हो। बात यह है कि पैशाची में भाषाश्लेष को चातुरी दिखाने की बहुत सुविधा है; क्योंकि सब प्राकृत भाषाओं में पैशाची संस्कृत से सबसे अधिक मिलती-जुलती है। 'वररुचि' १०,२ में शौरसेनी को पैशाची की आधारभूत भाषा बताता है और इस मत से हेमचन्द्र अपने प्राकृत व्याकरण के ४,३२३ में पूर्णतया सहमत है। पर पैशाची अपनी ध्वनि-सम्पत्ति के अनुसार—जैसा कि हेमचन्द्र ने ४,३२४ में बताया है—संस्कृत, पाली और पल्लववंश के दानपत्रों की भाषा से मिलती है। पैशाची और इससे भी अधिक चूलपैशाचिक, जिन दोनों भाषाओं को व्याकरणकार विशेष रूप से अलग-अलग नहीं समझते (§ १९१), मे मध्यवर्ण बदल कर प्रथमवर्ण हो जाते है, जैसा पैशाची और चूलपैशाचिक में **मदन** का **मतन**, **दामोदर** का **तामोतर**, पैशाची में **प्रदेश** का **पतेश**, चूलिकापैशाचिक में **नगर** का **नकर**,* **गिरि** का **किरि**, **मेघ** का **मेख**, **धर्म** का **खम्म**, **राजा** का **राचा**, **जीमूत** का **चीमूत** आदि हो जाता है (§ १९०, १९१)। इसका एक विशेष लक्षण यह भी है कि इसमें अधिकांश व्यजन वैसे ही बने रहते हैं और **न** भी जैसे का तैसा ही रह जाता है, बल्कि **ण** बदल कर **न** हो जाता है और इसके विपरीत **ल** बदल कर **ळ** हो जाता है। मध्यवर्णों का प्रथमवर्ण में बदल जाने, **ण** का **न** हो जाने और **ल** के स्थान पर **ल्ड** हो जाने के कारण होएर्नले इस निदान पर पहुँचा है कि पैशाची आर्यभाषा का वह रूप है जो द्राविड भाषाभाषियों के मुँह से निकली थी जब

* कुमाऊँ के विशेष स्थानों और विशेषकर पिठौरागढ़ (= पिथौरागढ़) की बोली में पैशाची के कई लक्षण वर्तमान समय में भी मिलते हैं। वहाँ **नगरी** का **नकरी** बोला जाना होगा जो आजकल **'नाकुरी'** कहा जाता है। —अनु०

कि वे आरम्भ में आर्यभाषा बोलने लगे होंगे। इसके विरुद्ध 'सेनार'[१] ने पूरे अधिकार के साथ अपना मत दिया है। होएर्नले के इस मत के विरुद्ध कि भारत की किसी भी अन्य आर्य बोली में मध्यमवर्ण बदल कर प्रथमवर्ण नहीं बनते, यह प्रमाण दिया जा सकता है कि ऐसा शाहबाजगढ़ी,[४] लाट[५] तथा लेण[६] के प्रस्तरलेखों में पाया जाता है और नई बोलियों में से दरद्, काफिर और जिप्सियों[७] की भाषा में महाप्राणवर्ण बदल जाते हैं। इन तथ्यों से इस बात का पता चलता है कि पैशाची का घर भारत के उत्तरपश्चिम में रहा होगा[८]। पैशाची ऐसे विशेष लक्षणों से युक्त और आत्मनिर्भर तथा स्वतन्त्र भाषा है कि वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के साथ, अलग भाषा गिनी जा सकती है (कथासरित्सागर ७,२९ और साथ ही ६,१४८ की तुलना भी कीजिए; बृहत्कथामंजरी ६,५२, बालरामायण ८,४ और ५; वाग्भटालंकार २,१)। सम्भवतः ग्राम्यभाषा का तात्पर्य पैशाची भाषा ही रहा होगा जिसमें 'वाग्भट' के 'अलंकारतिलक' १५,१३ के अनुसार 'भीम' काव्य रचा गया था। ये सब बातें देखकर खेद और भी बढ़ जाता है कि हमें इस भाषा के ज्ञान और इसकी पहचान के लिए व्याकरणकारों के बहुत ही कम नियमों पर अवलम्बित रहना पड़ता है। 'गुणाढ्य' की 'बृहत्कथा' पैशाची में ही रची गयी थी[१०] और ब्यूलर के अनुसार यह ग्रन्थ ईसा की दूसरी शताब्दी में लिखा गया था। एक दूसरे से सम्बद्ध इस भाषा के कुछ टुकड़े हेमचन्द्र ४,३१०। ३१६। ३२०। ३२२। और ३२३[११] में मिलते हैं और सम्भवतः हेमचन्द्र के ४,३२६ में भी इस भाषा के ही उदाहरण दिये गये हैं। उत्तराखण्ड के बौद्ध धर्मावलम्बियों की विवरणपत्रिकाओं में यह बात लिखी गई है कि बुद्ध के निर्वाण ११६ वर्ष बाद चार स्थविर आपस में मिले थे जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची भाषाएँ बोलते थे*। ये स्थविर भिन्न भिन्न वर्णों के थे। इन स्थविरों ने, जो वैभाषिक की एक मुख्य शाखा के थे, आपस में पैशाची में बातचीत की।

१. एन इंट्रोडक्शन टु द पॉपुलर रिलीजन एण्ड फोकलोर ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया (इलाहाबाद १८९४) पेज १४९— २ कम्पैरेटिव ग्रैमर की भूमिका का पेज १९— ३ पियदसी २,१०१ (सेनार) नोट संख्या १— ४. योहान्सोन, शाहबाजगढ़ी १,१७२— ५ सेनार, पियदसी २,३७५ (कम्बोच), ३७६ पतिपातय्हिम् आदि, ३९७ (तुफे आदि)— ६ बुल्हर, त्साइटुङ डेर मौर्गेन लैण्डिशन गेजेलशाफ्ट ३७,५४९, ४०,६६ नोट संख्या ५— ७. मिक्लोजिश, बाइत्रेगे त्सूर केण्टनिस डेर त्सिगोयनर मुण्डआर्टन एक और दो (विएना, १८७४) पेज १५ और इसके बाद, चार (विएना १८७८) पेज ५१। पिशल, बाइत्रैगे त्सूर केण्टनिस डेर डॉयचन त्सिगोयनर (हाल्ले आम जार १८९४) पेज २४ से तुलना कीजिए। जिप्सियों का मूल शब्द हिन्दी के

* इन्हीं का प्रभाव कुमाऊँ की बोलियों में बहुत अधिक पड़ा है। अशोक के समय से ही कुमाऊँ ने बौद्धधर्म को भूल रही, इसलिए बहुत सम्भव है कि एक स्थविर कुमाऊँ का भी रहा हो। — अनु०

छूर शब्द के समान है, फलश का खास शब्द जिप्सियों के खस शब्द के समान है जो हिन्दी में घास् के समान और संस्कृत में घास है।— ८. पिशल, डौयत्से एण्डशौ ३५ (बर्लिन १८८३), पेज १६८ इस मासिक पत्रिका में यह मत अशुद्ध है कि गुणाढ्य कश्मीरी था। वह दक्षिणी था; किन्तु उसका ग्रन्थ कश्मीर में बहुत प्रसिद्ध था जैसे कि सोमदेव और क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ। —९. हौल, वासवदत्ता (कलकत्ता १८५९) पेज २२ का नोट; व्यूलर, इण्डियन एण्टीक्वैरी १,३०२ और उसके बाद : लेवि, जूरनाल आजिआटीक १८८५, ४,४१२ और उसके बाद; रुद्रट के काव्यालंकार के २,१२ की टीका में नमिसाधु का मत देखिए।— १०. डिटेल्ड रिपोर्ट पेज ४७।— ११. पिशल, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज ३३, मैं यह प्रमाण नहीं दे सकता हूँ कि यह वाक्य सोमदेव ने कहाँ लिखा है। कथासरित्सागर ११,४८ और ४९ उससे कुछ मिलता-जुलता है; किन्तु पूरा नहीं। बेन्फे द्वारा रूसी से अनूदित वासिलिऐफ का ग्रन्थ, डेर बुधिज्मुस, जाइने डौगमन, गेशिष्ट उण्ट लिटेराटूर, १,२४८ नोट ३; २९५ (सेण्टपीटर्सबुर्ग १८६०)।

§ २८—मोटे तौर पर देखने से पता चलता है कि प्रामाणिक संस्कृत से जो बोली थोड़ा-बहुत भी भेद दिखाती है, वह अपभ्रंश है। इसलिए भारत की जनता द्वारा बोली जानेवाली भाषाओं का नाम अपभ्रंश पड़ा (§ ४) और बहुत बाद को प्राकृत भाषाओं में से एक बोली का नाम भी अपभ्रंश रखा गया। यह *भाषा जनता के रात दिन के व्यवहार में आनेवाली बोलियों से उपजी और प्राकृत* की अन्य भाषाओं की तरह थोड़ा-बहुत फेर फार के साथ साहित्यिक भाषा बन गई (§ ५)। हेमचन्द्र ने अपने *प्राकृत व्याकरण* के ४,३२९ से ४४६ सूत्रों तक एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में अपभ्रंश के नियम बताये हैं। किन्तु उसके नियमों को ध्यान से देखते ही यह निदान निकलता है कि अपभ्रंश नाम के भीतर उसने कई बोलियों के नियम दे दिये हैं। **ध्रुम्**, **त्रम्** (४,३६०), **तुध्र** (४,३७२), **प्रस्सदि** (४,३९३), **ब्रौप्पिणु**, **ब्रौप्पि** (४,३९१), **गृहन्ति**, **गृण्हेप्पिणु** (४,३४१; ३९४ और ४३८) और **व्रासु** (४, ३९९); जो कभी **र** और कभी **ऋ** से लिखे जाते है। ये दूसरी दूसरी बोलियों के शब्द हैं और हेमचन्द्र ने इनके विषय में अपने अन्य दूसरे सूत्रों में भी बहुत लिखा है। उसका नियम ४,३९६, जिसके अनुसार अपभ्रंश भाषा में **क**, **ख**, **त**, **थ**, **प**, **फ** क्रमशः **ग**, **घ**, **द**, **ध**, **ब** और **भ** में बहुधा बदल जाते हैं, यह अन्य अनेक नियमों और उदाहरणों के विरुद्ध जाता है। नियम ४,४४६ भी, जिसमें यह कहा गया है कि अपभ्रंश के अधिकांश नियम शौरसेनी के समान ही हैं[1], हेमचन्द्र के *अन्य नियमों के विरुद्ध है*। पिंगल की *भाषा अक्षरों* के सरलीकरण की प्रक्रिया में कालिदास की 'विक्रमोर्वशी' हेमचन्द्र के प्राकृत में दी हुई *अपभ्रंश भाषा से बहुत आगे बढ़ गई है। हेमचन्द्र के पन्ना २ में एक अज्ञातनामा* लेखक ने २७ प्रकार की भिन्न भिन्न अपभ्रंश बोलियों के नाम गिनाये हैं। इनमें से *अधिकांश ही नहीं; बल्कि प्रायः सभी नाम पैशाची भाषा के विषय पर लिखते हुए*

मैंने § २७ में दे दिये हैं। 'मार्कण्डेय' ने लिखा है कि थोड़े थोड़े भेद के कारण (सूक्ष्मभेदत्वात्) अपभ्रंश भाषा के तीन भेद हैं—नागर, ब्राचड और उपनागर। यही भेद 'क्रमदीश्वर' ने भी ५,६९ और ७० में बताये हैं। पर 'क्रमदीश्वर' ने दूसरे उपप्रकार का नाम ब्राचट बताया है। मुख्य अपभ्रंश भाषा नागर है। 'मार्कण्डेय' के मतानुसार पिंगल की भाषा नागर है और उसने इस भाषा के जो उदाहरण दिये हैं, वे पिंगल से ही लिये गये हैं। ब्राचड, नागर अपभ्रंश से निकली हुई बताई गई है जो 'मार्कण्डेय' के मतानुसार सिन्ध देश की बोली है —सिन्धुदेशोद्भवो ब्राचडोऽपभ्रंशः। इसके विशेष लक्षणों में से 'मार्कण्डेय' ने दो बताये हैं—१. च और ज के आगे इसमें य लगाया जाता है और ष तथा स का रूप श में बदल जाता है। ध्वनि के वे नियम, जो मागधी में व्यवहार में लाये जाते हैं और जिन्हें पृथ्वीधर सकार की भाषा के ध्वनि नियम बताता है (§ २८), अपभ्रंश में लागू बताये गये हैं। इसके अतिरिक्त आरम्भ के त और द वर्ण को इच्छा के अनुसार ट और ड में बदल देना और जैसा कि कई उदाहरणों से आभास मिलता है, भृत्य आदि शब्दों को छोड़कर ऋ कार को जैसे का तैसा रहने देना इसके विशेष लक्षण हैं। इस भाषा में लिखे गये ग्रन्थों या ग्रन्थखण्डों की हस्तलिखित प्रतियाँ बहुत विकृत रूप में मिलती हैं। नागर और ब्राचड भाषाओं के मिश्रण से उपनागर निकली है। इस विषय पर 'क्रमदीश्वर' ने ५,७० में जो लिखा है, वह बहुत अस्पष्ट है। 'मार्कण्डेय' के पन्ना ८१ के अनुसार 'हरिश्चन्द्र' ने 'शाकरी' या 'शकरी' को भी अपभ्रंश भाषा में सम्मिलित किया है जिसे मार्कण्डेय संस्कृत और शौरसेनी का मिश्रण समझता है और पन्ना ३ में इसे एक प्रकार की विभाषा मानता है। इस भाषा का एक शब्द है 'पहुट्टजेब्ब, जो संस्कृत शब्द एव यदि के स्थान पर आया है। यह शब्द 'पिंगल १,४ में आया है। 'रविकर' के मतानुसार, जो 'बौल्लें नसेन' द्वारा सम्पादित 'विक्रमोर्वशी' के पेज ५२७ की टीका में मिलता है, यह शब्द पान्द्री भाषा का है जिससे पता चलता है कि यह बंगाल[1] में बोली जाती होगी। इस विषय पर § २५ में ढक्की भाषा का रूप भी देखिए। इन बातों से कुछ इस प्रकार का निदान निकल सकता है कि अपभ्रंश भाषा की बोलियाँ सिन्ध से लेकर बंगाल तक बोली जाती रही होंगी, चूँकि अपभ्रंश भाषा जनता की भाषा रही होगी, इस दृष्टि से यह बात जँचती है। अपभ्रंश भाषा का एक बहुत छोटा हिस्सा प्राकृत ग्रंथों में प्राकृत भाषा के रूप में बदल कर ले लिया गया है, पिंगल १, १, २१ और ६२ में 'लक्ष्मीधर भट्ट' ने कहा है कि पिंगल की भाषा अवहट्ट भाषा है, जिसका संस्कृत रूप अपभ्रष्ट है। किन्तु पेज २२, १५ में यही 'लक्ष्मीधर भट्ट' कहता है कि वह वर्णमर्कटी का, जिसे पिंगल और अन्य लेखकों ने छोड़ दिया था, संक्षेप में शब्दैः प्राकृतैर् अवहट्ठकैः' वर्णन करना चाहता है। हेमचन्द्र ने देशीनाममाला १, ३७ में कहा है अवज्झाओ (=उपाध्याय) उसने अपने ग्रंथ में नहीं रखा है, क्योंकि इसका प्राकृत

[1] यह शब्द अपभ्रंश भाषा के काव्यों में पुष के स्थान पर बार बार आया है। जैसे 'धाहिल' विरचित 'पउमसिरीचरिउ' में पुँह भी है और पुँहु भी (२,१०६, १०८, १०९)—अनु०

अपभ्रष्टं इव रूपं है। इसी ग्रन्थ के १, ६७ में उसने कुछ विद्वानों के मत उद्धृत किये हैं जिनके अनुसार आसिअओ आयसिकः का अपभ्रंश है और १७, १४१, में विशुद्ध महाराष्ट्री शब्द 'एसो ठिओ पखु मज्जाणे'[५] अपभ्रष्ट भाषा के शब्द हैं। साहित्यिक अपभ्रंश प्राकृतोऽपभ्रंशः अर्थात् प्राकृत अपभ्रंश है। इसकी ध्वनि के अनुसार स्वरों को दीर्घ और ह्रस्व करने की पूरी स्वतन्त्रता रहती है जिसके कारण कवि महोदय चाहें तो किसी स्थान पर और अपनी इच्छा के अनुसार स्वरों को उलट-पलट दें, चाहें तो अन्तिम स्वर को उड़ा ही दें, शब्दों के वर्णों को खा जायँ, लिंग, विभक्ति, एकवचन, बहुवचन आदि में उथलपुथल कर दें और कर्तृ तथा कर्मवाच्य को एक दूसरे से बदल दें आदि-आदि बातें अपभ्रंश को असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण और सरस बना देती हैं। अपभ्रंश भाषा की विशेषता यह भी है कि इसका सम्बन्ध वैदिक भाषा से है (§ ६)।*

१. पिशल, हेमचन्द्र १, भूमिका का पेज ९। — २. बौल्लेनसेन के पाठ में एँद्दो रूप है, किन्तु टीका में एँद्द शब्द है; बम्बई के संस्करण के पाठ में एँओ आया है। — ३. बोएटलिंक और रोट के संस्कृत-जर्मन कोश में घरेन्द्र और घारेन्द्र देखिए। — ४. बम्बई के संस्करण में सर्वत्र—हट्ट—आया है, इस सम्बन्ध में सरस्वतीकंठाभरण ५९, ९ देखिए। — ५. ग्रौकहाउस ने अशुद्ध रूप मज्जाओ दिया है। दुर्गाप्रसाद और परब ने ठीक ही रूप दिया है। इन्होंने केवल खु रूप दिया है।

§ २९—अबतक जो सामग्री प्राप्त हुई है, उसमें से, हमारे अपभ्रंश के ज्ञान के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अध्याय ४ के सूत्र ३२९ से ४४६ तक हैं। त्रिविक्रम ३,३ और १ तथा उसके बाद के पेजों में हेमचन्द्र का ही अनुसरण किया गया है। मेरे द्वारा सम्पादित हेमचन्द्र के संस्करण में मैंने जो सामग्री एकत्र की है, उसके अतिरिक्त इस व्याकरण में मैंने उदय सौभाग्यगणिन् की 'व्युत्पत्तिदीपिका' ग्रन्थ की पूना से प्राप्त दोनों हस्तलिखित प्रतियों का प्रयोग किया है। इस ग्रन्थ में इसका नाम हेमप्राकृतवृत्तिढुंढिका लिखा हुआ है तथा इसमें हेमचन्द्र के नियमों के आधार पर कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति भी दी गई है। इसलिए

* इस अपभ्रंश भाषा से भारत की वर्तमान आर्यभाषाओं का निकट सम्बन्ध है। अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि कभी यह भाषा भारत-भर में व्याप्त थी—विशेषतः उस क्षेत्र में जहाँ आजकल नवीन आर्यभाषाएँ बोली जाती हैं। इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि अपभ्रंश कभी उत्तरभारत में बंगाल से सिन्ध तक और कश्मीर से महाराष्ट्र तक फैली थी। साहित्य की भाषा हमें आज भी मिलती है, जिसमें जनता की बोली के शब्दों के साथ उच्च साहित्यिक भाषा के प्रयोग मिलते हैं। किन्तु अपभ्रंश से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश-काल हिन्दी का आरम्भ-काल था। प्रायः १२०० वर्ष पुराना एक उदाहरण पाठक पढ़ें—जलइ मरइ उवज्जइ बज्झइ लहइ परम महासुह सिज्झइ। इसमें वर्तमान धातु का एक रूप, जले, मरे, उपजे, बंधे, सीझे स्पष्ट है। पुरानी हिन्दी में जो लहइ, सोहइ आदि रूप हैं, उनकी उत्पत्ति भी अपभ्रंश में दिखाई देती है, पाता है, सोहता है, लेता है आदि रूप जो आजकल हिन्दी में चलते हैं, शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित अपभ्रंश के रूप हैं जो ब्रजभाषा और मेरठी बोली से आये हैं। इस विषय पर भूमिका देखिए। —अनु०

अधिकांश में यह ग्रन्थ सर्वथा अनुपयोगी है। इसका पाठ दो हस्तलिखित प्रतियाँ मिलने पर भी नहीं सुधारा जा सका है, क्योंकि इसमें वे ही सब दोष हैं जो उन हस्तलिखित प्रतियों में हैं, जिनका मैंने इससे पहले उपयोग किया। किन्तु 'उदय सौभाग्यगणिन्'ने, 'त्रिविक्रम' के समान ही अपभ्रंश के उदाहरणों के साथ साथ संस्कृत अनुवाद भी दे दिया है और इस एक कारण से ही इसे समझने में बड़ी सुविधा हो जाती है तथा मेरा तो इससे बहुत काम निकला है। इसका अभी तक कुछ पता नहीं चला है कि हेमचन्द्र ने अपने उदाहरण किस ग्रंथ से लिये। उन्हें देखकर कुछ ऐसा लगता है कि ये किसी ऐसे संग्रह से लिये गये हैं, जो सत्तसई के ढंग का है जैसा कि 'त्साखारिआए'[1] ने बताया है। हेमचन्द्र के पद ४,३५७,२ और ३, 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के पेज ७६ में मिलते हैं, जिसमें इनकी सविस्तर व्याख्या दी गई है; इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र ४,३५३ चण्ड १,११ अ (पेज ३६) में मिलता है, ४,३३०,२, भी चण्ड २,२७ (पेज ४७) में मिलता है। इस ग्रन्थ के २,२७ में (पेज ४७) एक स्वतन्त्र अपभ्रंश पद भी है, § ३४ नोट ४ हेमचन्द्र ४,४२०,५ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के ९८ में मिलता है और ४,३६७,५ शुकसप्तति के पेज १६० में आया है। 'हेमचन्द्र' के बाद, महत्त्वपूर्ण पद 'विक्रमोर्वशी' पेज ५५ से ७२ तक में मिलते हैं। शंकर परब पण्डित[2] और ब्लौख[3] का मत है कि ये मौलिक नहीं, क्षेपक हैं, किन्तु ये उन सभी हस्तलिखित प्रतियों में मिलते हैं जो दक्षिण में नहा लिखी गई हैं। यह बात हम जानते हैं कि दक्षिण में लिखी गई पुस्तकों में पूरे पाठ का संक्षेप दिया गया है और अंशके अंश निकाल दिये गये हैं[4]। इन पदों की मौलिकता के विरुद्ध जो कारण दिये गये हैं, वे टहर नहीं सकते, जैसा कि कोनो[5] ने प्रमाणित कर दिया है। यदि 'पिंगल छन्द सूत्र' का हमारे पास कोई आलोचनात्मक संस्करण होता तो उसमें अपभ्रंश की सामग्री का जो खजाना है उसमें बहुत कुछ देखने को मिलता। इस शोध का आरम्भ 'बौल्लें नसॅन' ने 'विक्रमोर्वशी' के अपने संस्करण के पेज ५२० और उसके बाद के पेजों में किया है। उसकी सामग्री जीगफ्रीद गौल्दस्मित्त बर्लिन[6] ले आया था, क्योंकि उसका विचार एक नया संस्करण निकालने का था। और सामग्री बहुत समृद्ध रूप में भारतवर्ष में है। इस संस्करण का नाम 'श्रीमद्वाग्भटविरचित प्राकृत पिंगलसूत्राणि, लक्ष्मीनाथ भट्ट विरचितया व्याख्ययानुगतानि' है। यह ग्रन्थ शिवदत्त और काशिनाथ पाण्डुरंग परब द्वारा सम्पादित किया गया है और बम्बई से १८९४ में निकली है। यह 'काव्यमाला' का ४१ वाँ ग्रन्थ है और अधिक काम का नहीं है। मैंने इस ग्रन्थ को एस० द गौल्दस्मित्त द्वारा संशोधित पिंगल २,१४० तक के पाठ से मिलाया है। कुछ स्थलों में गौल्दस्मित्त का पाठ मेरे काम का निकला, किन्तु अधिकांश स्थलों में यह बम्बई के संस्करण से स्वयं अशुद्धियों में भी मिलता है, जिससे यह बात साफ हो जाती है कि यूरोप में इस विषय पर पर्याप्त सामग्री नहीं है। निश्चय ही गौल्दस्मित्त का पाठ, प्रकाशित किये जाने के लिए संशोधित नहीं किया गया था, यह उसने अपने काम के लिए ही ठीक किया था। इस क्षेत्र में अभी बहुत काम करना

बाकी है। जबतक कोई ऐसा सस्करण नहीं निकलता जिसमें आलोचनापूर्ण सामग्री हो तथा सबसे पुराने और श्रेष्ठ टीकाकारों की टीका भी साथ हो, तबतक अपभ्रंश के ज्ञान के बारे में विशेष उन्नति नहीं हो सकती। अपभ्रंश के कुछ पद इधर उधर बिखरे भी मिलते हैं। 'याकोबी' द्वारा प्रकाशित एर्से लुगन पेज १५७ और उसके बाद, कालकाचार्य कथानक २६०,४३ और उसके बाद के पेजों में, २७२, ३४ से ३८ तक, द्वारावती ५०४, २६ ३२, सरस्वतीकंठाभरण पेज ३४; ५९, १३०, १३९, १४०, १६५, १६०, १६१, १७७, २१४, २१६, २१७, २१९, २५४, २६०, दशरूप १३९, ११ और १६२, ३ की टीका में ध्वन्यालोक २४३, २० में और शुकसप्तति में अपभ्रंश के पद मिलते हैं। रिचार्ड श्मित्त (लाइप्त्सिख १८९३) में प्रकाशित शुकसप्तति के पेज ३२, ४९, ७६, १२२, १३६, १५२ का नोट, १६० नोट सहित, १७० नोट, १८२ नोट, १९९, ऊले द्वारा सम्पादित 'वेतालपचविंशति' के पेज २१७ की सख्या १३, २२० सख्या २०, इडिशेस्टुडिएन १५,३९४ में प्रकाशित 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' में, बम्बई से १८८० में प्रकाशित 'प्रबन्धचिन्तामणि' के पेज १७, ४६, ५६, ५९, ६१, ६२, ६३, ७०, ८०, १०९, ११२, १२१, १४१, १५७, १५८, १५९, २०४; २२८, २३६, २३८, २४८, बीम्स के कम्पेरेटिव ग्रैमर २,२८४ में मिलते हैं। इन पदों में से अधिकाश इतने विकृत हैं कि उनमें से एक दो शब्द ही काम के मिलते हैं। वाग्भट्ट ने 'अल्कारतिलक' १५,१३ में 'अब्धिमथन'[१०] नाम से एक ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जो अपभ्रंश में था।

१ श्रीधर आर० भण्डारकर, ए कैटलौग ओफ द कलेक्शन्स औफ मेन्युस्क्रिप्ट्स् डिपौजिटेड इन द डेकन कालेज इन (बम्बई १८८८) पेज ६८ सख्या २७६, पेज ११८ सख्या ७८८।— २ हेमचन्द्र १,भूमिका का पेज ९।— ३ गोएटिंगिशे गेलेर्ते आन्त्साइगेन १८८४, पेज ३०९।— ४ विक्रमोर्वशीयम् (बम्बई १८८९) पेज ९ और उसके बाद।— ५ वररुचि उण्ट हेमचन्द्र, पेज १५ और उसके बाद।— ६ *पिशल नाखरिष्टन फोन डेर कोएनिग्लिशे गेजेल्शाफ्ट डेर विस्सन* शाफ्टन त्सु गोएटिंगन १८७४, २१४, मोनाट्स बेरिष्टे डेर आकाडेमी त्सु बर्लिन १८७५, ६१३। पचतत्र और महाभारत के दक्षिणी सस्करण सक्षिप्त हैं, किन्तु सबसे प्राचीन नहीं हैं।— ७ गोएटिंगिशे गेलेर्ते आन्त्साइगेन १८९४, ४७५।— ८ वेबर, फेर्त्साइशनिस २,१,२६९ और उसके बाद।— ९ ओफरेष्ट,काटालोगुस काटालोगोरुम १,३३६ और उसके बाद, २, ७५, इसमें ठीक ही लिखा गया है कि इन ग्रन्थों में बाहर से ली गई बहुत-सी सामग्री मिलती है, उदाहरणार्थ कर्पूरमजरी पेज १९९, २०० और २११ के उद्धरण।— १० वेबर, फेर्त्साइशनिस २,१, २७० सख्या १७११।

§ ३०—'भारतीय नाट्यशास्त्र' १७, ३१–४४[१], दशरूप २, ५९ तथा ६० और 'साहित्यदर्पण' ४३२ में यह बताया गया है कि उच्चकोटि के पुरुष, महिलाओं में तपस्विनियों, पटरानियों, मन्त्री की कन्याओं और मगलामुखियों को सस्कृत में बोलने का अधिकार है। 'भरत' के अनुसार नाना कलाओं में पारगत महिलाएँ सस्कृत बोल

सकती हैं। अन्य स्त्रियाँ प्राकृत बोलती हैं। इस ससार में आने पर अप्सराएँ संस्कृत या प्राकृत, जो मन में आये, बोल सकती हैं। संस्कृत नाटकों को देखने पर पता चलता है कि उनमें भाषा के इन नियमों के अनुसार ही पात्रों से बातचीत कराई जाती है। इन नियमों के अनुसार यह बात पाई जाती है कि पटरानियाँ यानी महिषियाँ प्राकृत में बोलती हैं। 'मालतीमाधव' में मन्त्री की बेटी मालती और 'मदयन्तिका' प्राकृत बोलती हैं। 'मृच्छकटिक' में वेश्या 'वसन्तसेना' की अधिकांश बातचीत प्राकृत में ही हुई है, किन्तु पेज ८३–८६ तक में उसके मुँह से जो पद्य निकले हैं, वे सब संस्कृत में हैं। वेश्याओं के विषय में यह बात सरलता से समझ में आ जाती है कि वे प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाएँ साधिकार बोलती रही होंगी। एक सर्वगुण सम्पन्न वेश्या का यह लक्षण होता था कि वह चौंसठ गुणों की खान होती रही होगी और उसका जनता की १८ प्रकार की बोलियों से भी परिचय रहता होगा—गणिया .. चौसट्ठि कलापंडिया चोसट्ठि गणियागुणोववेया . अट्ठारसदेसीभासा विसारया (नायाधम्मकहा ४८०, विवागसुय ५५ और उसके बाद)। व्यवसाय में विशेष लाभ करने के लिए उक्त बातों का गणिका में रहना जरूरी समझा जाता रहा होगा, जो स्वाभाविक है। 'कुमारसम्भव' ७,९० में नवविवाहित दम्पती की प्रशंसा करते समय सरस्वती शिव के बारे में संस्कृत में श्लोक पढ़ती है और पार्वती की जो स्तुति करती है, वह सरलता से समझ में आनेवाली भाषा में अर्थात् प्राकृत में करती है। 'कर्पूरमंजरी' ५,३ और ४ में 'राजशेखर' ने अपना मत व्यक्त किया है कि संस्कृत के ग्रन्थों की भाषा कठोर होती है तथा प्राकृत पुस्तकों की कान्त और कोमल, इनमें उतना ही भेद है जितना कि पुरुष और स्त्री में। 'मृच्छकटिक' के ४४,१ में विदूषक कहता है कि उसे दो बातों पर बहुत हँसी आती है, उस स्त्री को देखकर जो संस्कृत बोलती है और उस पुरुष को देखकर, जो बड़ी धीमी आवाज में गाता है, वह स्त्री जो संस्कृत बोलती है उस सुअर की भाँति जोर जोर से सु सु करती है जिसकी नाक में नकेल डाल दी गई हो और वह आदमी, जो धीमे स्वर में गाता है, उस बूढ़े पुरोहित के समान है जो हाथ में सूखे फूलों का गुच्छा लेकर अपने यजमान के सर पर आशीर्वाद के श्लोक गुनगुनाता है। 'मृच्छकटिक' का सूत्रधार, जो बाद को विदूषक का पार्ट खेलता है, आरम्भ में संस्कृत बोलता है, किन्तु जैसे ही वह स्त्री से सम्भाषण करने की तैयारी करता है, वैसे ही वह कहता है (२,१४) कि 'परिस्थिति और परम्परा के अनुसार' मैं प्राकृत में बोलना चाहता हूँ। पृथ्वीधर (४९५,१२) ने इस स्थान पर उद्धरण दिया है जिसके मतानुसार पुरुष को स्त्री से बातचीत करते समय प्राकृत बोली का उपयोग करना चाहिए—स्त्रीषु नाप्राकृतम् वदेत्। उक्त सब मतों के अनुसार प्राकृत भाषा विशेषकर स्त्रियों की भाषा मान ली गई है और यही बात अलंकारशास्त्रों के सब लेखक भी कहते हैं। किन्तु नाटकों में स्त्रियाँ संस्कृत भलीभाँति समझती ही नहीं, बल्कि अवसर पड़ने पर संस्कृत बोलती भी हैं विशेषकर श्लोक संस्कृत में ही वे पढ़ती हैं। 'विद्धशालभंजिका' पेज ७५ और ७६ में विचक्षणा, मालतीमाधव पेज ८१ और

८४ में मालती, पेज २५३ में लवगिका, 'प्रसन्नराघव' के पेज ११६–११८ तक मे गद्य वर्तालाप में भी सीता और पेज १२०, १२१ और १५५ में श्लोकों में, 'अनर्घराघव' के पेज ११३ में कल्हसिका, कर्णसुन्दरी के पेज ३० में नायिका की सहेली और पेज ३२ में स्वय नायिका,'बालरामायण'के पेज १२० और १२१ मे सिन्दूरिका,'जीवानन्दन' के पेज २० में छर्दि, 'सुभद्राहरण' नाटक के पेज २ में नाटक खेलनेवाली और पेज १३ में सुभद्रा, 'मल्लिकामारुतम्' के ७१,१७ और ७५,४में मल्लिका, ७२,८में और ८५,१० में नवमालिका, ७८,१४ और १५१,३ में सारसिका, ८२,२४, ८४, १० और ९१,१५ में कालिन्दी, धूर्तसमागम के पेज ११ में अनंगसेना वार्तालाप में भी प्राकृत का ही प्रयोग करती हैं। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में भी स्त्रियाँ प्राकृत बोलती हैं। बुद्धरक्षिता ने इस विषय पर 'मालतीमाधव' पेज २४२ और 'कामसूत्र' १९९,२७ के उद्धरण दिये हैं। वे पुरुष, जो साधारण रूप से प्राकृत बोलते हैं, श्लोक पढते समय सस्कृत का प्रयोग करते हैं ऐसा एक उदाहरण 'विद्धशालभजिका' के पेज २५ में विदूषक है जो अपने ही मुँह से यह बात कहता है कि उस जैसे जनों के लिए व्यवहार की उपयुक्त भाषा प्राकृत है – अम्हारिसजणजोग्गे पाउदमग्गे। 'कर्णसुन्दरी' के पेज १४ और 'जीवानन्दन' के पेज ५३ और ८३ ऐसे ही स्थल हैं। 'कसवध'के पेज १२ का द्वारपाल,'धूर्तसमागम' के पेज ७ का स्नातक और 'हास्यार्णव'के पेज २३,३३ और ३८ के स्थल तथा पेज २८ में नाऊ भी ऐसे अवसरों पर सस्कृत का प्रयोग करते हैं, 'जीवानन्द' के पेज ६ और उसके बाद के पेजों मे 'धारणा' वैसे तो अपनी साधारण बातचीत मे प्राकृत का प्रयोग करती है, परन्तु जब वह तपस्विनी के वेष में मन्त्री से बातचीत करती है तब सस्कृत में बोलती है, 'मुद्राराक्षस' के ७० और उसके बाद के पेजों में विराधगुप्त वेष बदल कर सँपेरे का रूप धारण करता है तो प्राकृत में बोलने लगता है, किन्तु जब वह अपने असली रूप में आ जाता है और मन्त्री राक्षस से बातें करता है तब (पेज ७३,८८ और ८५) साधारण भाषा सस्कृत बोलता है। 'मुद्राराक्षस' २८,२ में वह अपनेको प्राकृत भाषा का कवि भी बताता है। एक अज्ञातनामा कवि को यह शिकायत है कि उसके समय में ऐसे बहुतेरे लोग थे जो प्राकृत कविता पढना नहीं जानते थे और एक दूसरे कवि ने ('हाल' की सत्तसई २ और वज्जालग्ग ३२४,२०) यह प्रश्न उठाया है कि क्या ऐसे लोगों को लाज नहीं आती जो अमृतरूपी प्राकृत काव्य को नहीं पढते और न उसे समझ ही सकते हैं, साथ ही वे यह भी कहते हैं कि वे प्रेम के रस में पगे हैं। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' ५७,८ मे नाट्यराजस्य शुद्ध पाठ है और उससे किसका प्रयोजन है, यह अभी तक अस्पष्ट ही रह गया है और इसी प्रकार 'साहसाक' ५७,९ का किससे सम्बन्ध है,इसका भी परदा नहीं खुला है। ऊपर लिखे हुए 'सरस्वती कण्ठाभरण' के उद्धरण स यह पता लगता है कि उक्त राजा के राज्य म एक भी मनुष्य ऐसा नहीं था जो प्राकृत बोलता था और साहसाक क उक्त वाक्य से मालूम होता है कि उस समय में एक भा आदमी ऐसा नहीं था जो सस्कृत न बोलता हो"। यद्यपि कहीं कहीं प्राकृत भाषा की बहुत प्रशसा की गई है, तथापि ऐसा आभास मिलता है कि सस्कृत की तुलना में प्राकृत का पद नीचा ही माना जाता होगा और इस कारण

ही इस भाषा का नाम प्राकृत पड़ने से भी प्राकृत का तात्पर्य, जैसा कि अन्य स्थलों पर इसका अर्थ होता है, 'साधारण'; 'सामान्य', 'नीच' रहा होगा। प्राकृत की बोलियों की प्राचीनता और ये बोलियाँ एक दूसरे के बाद किस क्रम से उपजीं, इन विषयों पर शोध करना व्यर्थ ही है (§ ३२)।

१. भरत ने बहुतेरी विशेषताएँ दी हैं जिनके बारे में मैं बहुत कम लिख रहा हूँ; क्योंकि पाठ कई प्रकार से अनिश्चित हैं।— २. जनता की बोलियों की संख्या १८ थी, इसका उल्लेख ओववाइयसुत्त § १०९ में, नायाधम्मकहा § १२१ और रायपसेणसुत्त, २९१ में भी उदाहरण मिलते हैं। कामसूत्र ३३,९ में देशी भाषाओं का उल्लेख मोटे तौर पर किया गया है।— ३. पिशल, हेमचन्द्र २ पेज ४४, जिसमें हेमचन्द्र १,२१ की टीका है। — ४. दोनों पद ५७,१० और ११ बालरामायण ८,४ और १३ का शब्द-प्रतिशब्द नकल हैं और पद ५७,१२ बालरामायण ८,७ से मिलता-जुलता है। चूँकि राजशेखर भोज से सौ वर्ष पहले वर्तमान था, इसलिए सरस्वतीकण्ठाभरण के लेखक ने ये पद उद्धृत किये हैं।

आ. प्राकृत व्याकरणकार

§ ३१—प्राकृत के विषय में जिन भारतीय लेखकों ने अपने विचार प्रकट किये हैं, उनमें सब से श्रेष्ठ 'भरत' को मानना चाहिए। यदि हम इस नाम से प्राचीन भारत के विद्वानों के साथ उस लेखक को ले जो भारतीय नाट्यशास्त्र का, देवताओं के तुल्य, एक आदि लेखक और स्रष्टा माना जाता है। 'मार्कण्डेय' ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' के आरम्भ मे ही[†] 'भरत' का नाम उन लेखकों में दिया है जिनके ग्रन्थों से उसने अपनी सामग्री ली है। मेरी हस्तलिखित प्रति में भारतीय नाट्यशास्त्र के अध्याय १७ में भाषाओं के ऊपर लिखा गया है और ६-२३ तक श्लोकों में प्राकृत व्याकरण का एक विकृत रूप भी सार रूप मे दिया गया है। भारतीय नाट्यशास्त्र में उन विद्वानों के भी नाम मिलते हैं, जिनका उल्लेख 'मार्कण्डेय' ने अपनी पुस्तक में किया है। इसके अतिरिक्त अध्याय ३२ में प्राकृत के बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनका कुछ अर्थ नहीं लगता और वे कहाँ से लिये गये हैं, इसका भी कुछ पता नहीं चलता। ऐसा कहा जाता है कि 'भरत' ने एक और ग्रन्थ भी लिखा था जिसका नाम 'संगीतनृत्याकर' था। 'देवीप्रसाद'[१] के कथनानुसार यह एक अद्भुत ग्रन्थ है जिसके विशेष उद्धरण नहीं मिलते; बल्कि नाट्यशास्त्र के एक दूसरे पाठ के उद्धरण मिलते हैं। 'मार्कण्डेय' ने 'भरत' के साथ साथ 'शाकल्य' और 'कोहल' के नाम प्राकृत व्याकरणकारों में गिनाये हैं। मार्कण्डेय के 'प्राकृतसर्वस्व' के पन्ना ४८ में यह लिखा पाया जाता है कि **तुज्झेसु, तुम्भेसु** के साथ साथ **तुज्झिसुं, तुम्भिसुं** रूप भी होते हैं; पर इन रूपों को अनेक विद्वान् स्वीकार नहीं करते (एतत् तु न बहुसंमतम्।) और पन्ना ७१ में शौरसेनी प्राकृत में भोदि के साथ होदि[१] रूप भी होता है। 'कोहल' से § २३ में उल्लिखित उदाहरण दिया गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि ये दोनों व्याकरणकार[१] वे ही हैं, जो प्राचीन समय में अन्य विषयों के भी लेखक थे। पाणिनि के विषय में भी बहुत कम सामग्री मिलती है जिससे उसने प्राकृत पर क्या लिखा है, इस विषय में कुछ निदान निकाला जाय। 'केदारभट्ट' ने 'कविकण्ठपाश'[१] में और 'मलयगिरि'[१] ने भी बताया है कि पाणिनि ने 'प्राकृत-लक्षण'* नामक ग्रन्थ लिखा था।

---

† शाकल्यभरतकोहलवररुचिभामहवसन्तराजाद्यैः।
प्रोक्तान् ग्रन्थाग्रानालक्ष्याणि च निपुणमालोक्य ॥
आन्याकीर्णं विशद्मार स्वल्पाक्षरप्रथितपद्यम्।
मार्कण्डेयकवीन्द्रः प्राकृतसर्वस्वमारभते ॥

* पाणिनि के समय में जनता प्राकृत ही बोलती थी, इसके प्रमाण उस समय के प्रस्तर-लेखों की भाषा है। पाणिनि ने धातुपाठ में भी कई धातु ऐसे दिये हैं, जिनके विषय में सन्देह नहीं रहता कि ये प्राकृत धातु हैं; जैसे—भट्ट अभियोगे, इससे हिन्दी अड़ना निकला है; कट्ट कार्दैश्ये; इससे कड़ा (=कठिन) निकला है; कुट दाहे; यह धातु नेपाल और कुमाऊँ में घीरा और कोड़ा (=दाद) के मूल में आज भी प्रयोग में आता है, घिणि ग्रहणे;

यह भी कहा जाता है कि पाणिनि ने प्राकृत में दो काव्य लिखे थे। एक का नाम था 'पातालविजय' और दूसरे का 'जाम्बवतीविजय'[१]। यद्यपि 'पातालविजय' से गृह्य और पश्यती रूप उद्धृत किये गये हैं, तथापि पाणिनि के अपने सूत्र ७,१,३७ और ८१ इन रूपों के विरुद्ध मत देते हैं। इसलिए 'कीलहौर्न'[१०] और 'भण्डारकर'[११] 'पातालविजय' और 'जाम्बवतीविजय' के कवि और व्याकरणकार पाणिनि को एक नहीं समझते और इस मत को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। इधर शोधों से पता चला है कि उक्त दो काव्यों की प्राचीनता उससे और भी अधिक है, जितनी कि आजतक मानी जाती थी।[१२] गृह्य शब्द रामायण और महाभारत में बार बार आया है और इसी प्रकार अन्तों के स्थान पर अती में अन्त होनेवाले कृदन्त रूप भी उक्त ग्रन्थों में कम बार[१३] नहीं आये हैं। यह असम्भव है कि पाणिनि ने महाभारत से परिचय प्राप्त न किया हो। उसका व्याकरण कविता की भाषा की शिक्षा नहीं देता, बल्कि ब्राह्मणों और सूत्रों म काम में लाई गई विशुद्ध संस्कृत[१४] के नियम बताता है और चूँकि उसने अपने ग्रन्थ में ब्राह्मणों और सूत्रों के बहुत से रूपों का उल्लेख नहीं किया है, इस बात से यह निदान निकालना अनुचित है कि ये रूप उसके समय में न रहे होंगे और कवि के रूप म वह इनका प्रयोग न कर सका होगा। भारतीय परम्परा, व्याकरणकार और कवि पाणिनि को एक ही व्यक्ति[१५] समझती है तथा मुझे कोई कारण दिखाई नहीं देता कि इस परम्परा पर सन्देह किया जाय। पाणिनि प्राकृत के व्याकरण पर भी बहुत कुछ लिख सकता था। सम्भवतः उसने अपने संस्कृत व्याकरण के परिशिष्ट रूप में प्राकृत व्याकरण लिखा हो। किन्तु पाणिनि का प्राकृत व्याकरण न तो मिलता है न उसके उद्धरण ही कहा पाये जाते हैं। पुराने व्याकरणकारों के नामों में मार्कण्डेय के ग्रन्थ के पन्ना ७१ में 'कपिल' भी उद्धृत किया गया है।

१. पिशल, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज १।—२ मैंने इस विषय पर काव्यमाला संख्या ४२ म प्रकाशित शिवदत्त और परब द्वारा सम्पादित संस्करण के साथ साथ पूना की दोनों हस्तलिखित प्रतियों म सहायता ली है। इनकी जो प्रतिलिपियाँ मेरे पास आई है, वे बहुत पुरानी हैं और यह संस्करण

जिसका प्राकृत में गेण्हइ, घेप्पइ रूप होते हैं, घुण भ्रमणे जिसम घूर्ण धातु के मूल और नक्श पर हिन्दी घूमना निकला है, चक तृप्तौ जिसम छकना, चकाचक आदि शब्द आय हैं, चप सान्त्वने जो हिंदी चुप का मूल है, चुट छेदने जिसम च्यूटी शब्द आया है, जम् अदने से जमना और जीमना निकले हैं, जुड बंधने, जुड़ा और जोड़ने के मूल में है, टक बँधने जिसम टाँका लगाना, टाँकना आदि निकले हैं, टग गत्यर्थे टाँग, टाँगना आये हैं, दम दर्शने दम्नयो जिसम प्राकृत दमण बना है, धोर गतिचातुर्ये जिसमे दौड़ना निकला है, पट ग्रन्थे धातु पट्या की जड में है, पार शब्द इसम ही आया है, पीड अव गाहने से पूड़ना निकला है, पेल गतौ से पेलना (रेल), पेल भ प है, याड आप्लाव्ये स याड़ निकला है, मक मण्डने से माँग शब्द बना है, मस्र गत्यर्थे (टम भे–) मम की जड में है, हिट गत्यर्थे का बंगाली हाँटा और कुमाऊनी हिटणों के मूल में है, हल चलने से हल चल की व्युत्पत्ति मिलती है आदि। इन धातुओं का व्यवहार संस्कृत में नहीं मिलता और रूप भी स्पष्ट प्राकृत है।—अनु०

इनके आधार पर ही निकाला गया है। ग्रोस्से का संस्करण, जो १८९७ में फ्रांस के लीओं नगर से प्रकाशित हुआ था, केवल चौथे अध्याय तक है।—३. औफरेष्ट, काटालोगुस काटालोगोरुम १, ३९६ और ६८६।—४. अ कैटैलोग औफ सैंस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स एक्जिस्टिंग इन अवध फौर द इअर १८८३ (इलाहाबाद १८८४) पेज १००।—५. पिशल, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस, पेज २ और ३।—६. औफरेष्ट, काटालोगुस काटालोगोरुम १, १३० में किसी कोहल का उल्लेख करता है, जो संगीतशास्त्र का लेखक था। हो सकता है कि यह लेखक प्राकृत का व्याकरणकार भी हो। इस सम्बन्ध में वेबर, इण्डिशे स्टूडिएन ८, २७२; इण्डिशे स्ट्राइफेॅन २, ५९ और बोएटलिंक तथा रोट का पीटर्सबुर्गर कोश भी देखिए।—७. इस नाम के एक ग्रन्थ का उल्लेख कई बार आया है; किन्तु इसके लेखक का नाम कहीं नहीं दिया गया (औफरेष्ट, काटालोगुस काटालोगोरुम १, ८६; २, १६)। दालविश का मत है कि इस ग्रन्थ का लेखक केदार भट्ट होगा। यह बात उसने अपनी पुस्तक एन इन्ट्रोडक्शन टू कच्चायनाज़ ग्रैमर औफ द पाली लैंग्वेज (कोलम्बो १८६३) की भूमिका के पेज २५ में दी है। इस विषय पर वेबर, इण्डिशे स्ट्राइफेन २, ३२५ का नोट संख्या २ देखिए।—८. वेबर, इण्डिशे स्ट्राइफेन २, ३२५ नोट संख्या २; इण्डिशे स्टूडिएन १०,२७७, नोट संख्या १; क्लात्त, त्साइटश्रिफ्ट डेर डौयत्शन मौरगेनलैण्डिशन गेज़ेलशाफ्ट ३३, ४७२; लौयमन, आक्ट दु सेजीयम कौंग्रेस आंतरनासिओनाल दे ओरिआंतालीस्त (लाइडन १८८५) ३, २, ५५७।—९. औफरेष्ट, त्साइटश्रिफ्ट डेर मौरगेनलैण्डिशन गेज़ेलशाफ्ट १४, ५८१; २८, ११३; ३६, ३३६ और उसके बाद; हलायुधकोश में ध्रिक्वन शब्द मिलता है (२, ३६५); पीटर्सन, सुभाषितावलि (बम्बई १८८६) पेज ५४ और उसके बाद, पीटर्सन ने ठीक ही लिखा है कि दोनों नामों से सम्भवतः एक ही पद्य से तात्पर्य हो; पिशल, त्साइटश्रिफ्ट डेर डौयत्शन मोरगेनलैण्डिशन गेज़ेलशाफ्ट ३९, ९५ और उसके बाद तथा ३१६।—१० नाखरिख्टन फौन डेर कोयनिगलिशे गेज़ेलशाफ्ट डेर विस्सनशाफ्टन त्सु गोएटिंगन १८८५, १८५ और उसके बाद।—११. जोरनल औफ द बौम्बे एशियाटिक सोसाइटी १६, ३४३ और उसके बाद।—१२. ब्यूलर, डी इण्डिशन इनश्रिफ्टन उण्ट डास आल्टर डेर इण्डिशन कुन्स्टपोएज़ी (वियना १८९०)।—१३. होल्त्समान, ग्रामाटीशेस औस् डेम महाभारत (लाइप्त्सिख १८८४)।—१४. लीबिश, पाणिनि (लाइप्त्सिख १८९१) पेज ४७ तथा उसके बाद।—१५. औफरेष्ट, त्साइटश्रिफ्ट डेर डौयत्शन मौरगेनलैण्डिशन गेज़ेलशाफ्ट २६, ३६५; पिशल, यही पत्रिका ३९, ९७।

§ ३२—सबसे पुराना प्राकृत व्याकरण, जो हमें मिलता है, वह 'वररुचि' का 'प्राकृतप्रकाश' है। इसी नाम[1] के बहुत से व्यक्तियों में से यह व्याकरणकार अपनेको अलग करने के लिए, अपने नाम के साथ, अपना गोत्र कात्यायन भी जोड़ता है। 'प्राकृतप्रकाश' की 'प्राकृतमंजरी' टीका में जिसे किसी अज्ञातनामा[2] लेखक ने लिखा है

यह नाम बहुत बार आया है और अपनी भूमिका में इस लेखक ने 'कात्यायन' और 'वररुचि' नाम मे बडी गडबडी की है तथा 'प्राकृतप्रकाश' के २, २ में उसने वररुचि के स्थान पर कात्यायन नाम का प्रयोग किया है[1]। वार्तिककार कात्यायन के नाम के विषय में भी ऐसी ही गडबडी दिखाई देती है। सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' २,१ और क्षेमेन्द्र ने 'बृहत्कथामंजरी' १, ६८ और २, १५ में यह बताया है कि कात्यायन का नाम वररुचि भी था। यह परम्परा प्राचीनता में 'गुणाढ्य' तक पहुँचती है[2] और 'सायण'[3] तक चली आई है तथा सब कोशकारों[4] ने इसको लगातार पुष्ट किया है। सुभाषितों के एक संग्रह 'सदुक्तिकर्णामृत' में एक श्लोक लिया गया है जो वार्तिककार[5] का बताया गया है। इस नाम से केवल 'कात्यायन' का ही बोध हो सकता है[6], किन्तु पाणिनि के सूत्र ४३,१०१ (जो कीलहौर्न के संस्करण २, ३१५ में है) की टीका में पतजलि ने किसी वाररुचं[7] काव्य का उल्लेख किया है। इससे यह सम्भावना होती है कि वार्तिककार कात्यायन केवल व्याकरणकार नहीं था; बल्कि कवि भी था, जैसा कि उससे पहले पाणिनि रहा होगा (§ ३१) और उसके बाद पतजलि[10] हुआ होगा। इससे यह मालूम होता है कि कात्यायन, वररुचि के नाम से बदला जा सकता था और यह वररुचि परम्परा से चली हुई लोककथा के अनुसार कालिदास का समकालीन था तथा विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक था[11]। वेबर[12] ने बताया है कि 'प्राकृतमंजरी' के लेखक ने भी इस विषय पर गडबडी की है और वेबर[13], वेस्टरगार्ड[14] तथा ब्लौख्[15] ने कौवेल[16], मैक्सम्यूलर[17], पिशल[18] और कोनो[19] के मत के विरुद्ध यह बात कही है कि वार्तिककार और प्राकृतवैयाकरण एक ही व्यक्ति होने चाहिए। यदि वररुचि को हेमचन्द्र तथा दक्षिण के अन्य प्राकृत वैयाकरणों ने आलोचना के क्षेत्र में कुछ पीछे छोड दिया तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि 'आलोचनात्मक ज्ञान में बहुत ऊँचा उठा हुआ वार्तिककार' 'पाणिनि के व्याकरण का निर्दय चीर फाड करनेवाला'[20] कात्यायन उससे अलग करने योग्य है। हेमचन्द्र के समय में प्राकृत व्याकरण ने बहुत उन्नति कर ली थी। यह बात वररुचि के समय में नहीं हुई थी, उसके समय में प्राकृत व्याकरण का श्रीगणेश किया जा रहा था। यह बात दूसरी है कि सामने पड़े हुए ग्रन्थों का संशोधन और उनसे संग्रह किया जाय किन्तु किसी विषय की नींव डालना महान् कठिन उद्योग है। पतजलि ने कात्यायन के वार्तिक की धज्जियाँ उड़ाई हैं ; पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वररुचि ने जिन प्राकृत भाषाओं की शिक्षा दी है और जिनमें विशेष उल्लेखनीय महाराष्ट्री प्राकृत है, अशोक और नासिक[21] के प्रस्तर-लेखों से ध्वनि तत्त्व की दृष्टि से नई है। चूँकि प्राकृत भाषाओं का प्रयोग काव्यों में कृत्रिम भी हुआ है और ये प्राकृत बोलियाँ जनता और राज्य की भाषा के साथ साथ चल रही थीं, इसलिए यह विपरीत भ्रम होगा कि हम इन प्रस्तर लेखों से प्राकृत भाषाओं के विषय में ऐसे निदान निकालें, जिनसे उनके काल क्रम का ज्ञान हो। याकोबी और ब्लौख् का मत है कि महाराष्ट्री ईसवी तीसरी सदी के प्रारम्भ से पहले व्यापक रूप से काम में नहीं आने लगी थी ; परन्तु यह मत भ्रमपूर्ण है। यह इससे प्रमाणित होता है कि यदि सतसई एक ही लेखक द्वारा लिखी

गई होती, तो भी वह पुरानी है। किन्तु ३८४ कवि, जिनके नाम हमें स्वयं सतसई में मिलते हैं, यह सिद्ध कर देते हैं कि इस ग्रन्थ से पहले भी प्राकृत भाषाओं का साहित्य समृद्ध रहा होगा (§ १३)। यह भाषा ईसा की बारहवीं शताब्दी अर्थात् 'गोवर्धनाचार्य' के समय तक कविता की एकमात्र भाषा थी, विशेषकर शृंगाररस की कविता की आर्या छन्द में लिखे गये, उन गाने योग्य पदों की भाषा थी, जो संग्रहों के रूप में पदों को एकत्र करके तैयार किये जाते थे[१]। 'जयदेव' का 'गीतगोविन्द' का मूल अपभ्रंश[२] में लिखा गया था और बहुत से संस्कृत ग्रन्थ प्राचीन प्राकृत काव्यों के अनुकरणमात्र हैं[३]। ब्लौख का मत कि वररुचि ईसा की ५ वीं सदी से पहले न जनमा होगा, भाषातत्त्व की दृष्टि से पूर्णतया अनावश्यक है। दूसरी ओर यह सम्भावना है कि शायद उक्त समय में 'प्राकृतमंजरी' का लेखक जीवित रहा हो। इस लेखक ने दोनों वररुचियों में बड़ी गड़बड़ी मचाई है और उसके ग्रन्थ में व्याकरणकार 'वररुचि' का रूप स्पष्ट नहीं दिखाई देता जैसा कि तिब्बतीय लेखक तारानाथ के ग्रन्थ में दिखाई देता है। भारतीय परम्परा की किंवदन्ती है कि 'कात्यायन' ने एक प्राकृत व्याकरण भी लिखा। मुझे ऐसा लगता है कि इसकी पुष्टि 'वार्तिकार्णवभाष्य' के नाम से होती है जिसके अन्त में एक प्राकृत व्याकरण भी जोड़ दिया गया था। इस ग्रन्थ का नाम 'अप्पय दीक्षित' ने 'प्राकृतमणिदीप' में **वाररुचा ग्रन्थाः** के ठीक बाद में दिया है। ये सब प्रमाण मिलने पर भी यह कहना कठिन है कि 'कात्यायन' और 'वररुचि' एक ही व्यक्ति थे।

१. ऑफरेष्ट, कातालोगुस कातालोगोरुम १,७५१।— २. लिस्टस् ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स् इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ औफ सदर्न इण्डिया (मद्रास, १८८० और १८८५) १,२९० संख्या ३४२६ और २,३३१ संख्या ६,३४१ में लेखक का नाम कात्यायन दिया गया है।— ३. पिशल, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज १०।— ४. कोनो, गोएटिंगिशे गेलैर्ते आन्साइगेन १८९४,४७३।—५ कोवेल, द प्राकृतप्रकाश दूसरे संस्करण की प्रस्तावना, पिशल, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज ९, भंडारकर की रिपोर्ट १८८३–८४ पेज ३६२,१८ में प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद से भी तुलना कीजिए।— ६. पीटर्सबुर्गर कोश में कात्यायन देखिए।— ७. ऑफरेष्ट, त्साइटुंग डेर डौयत्शन मौर्गेनलेण्डिशन गेज़ेलशाफ्ट, ३६, ५२४।— ८ पिशल, यही पत्रिका ३९,९८। प्राकृतमंजरी में महाकवि कात्यायन का उल्लेख है।—९. वेबर ने इण्डिशे स्टूडिएन ३,२७७ में लिखा है कि जिस प्रकार इस काव्यम् का महाभाष्य में उल्लेख किया गया है, उससे इस बात का कहाँ तक निश्चय होता है कि इस काव्य का लेखक महाभाष्यकार का भगवान् कात्यः अथवा वररुचि नहीं हो सकता है—यह मैं नहीं जानता।— १०. ऑफरेष्ट, बर्लिन की प्राच्य विद्वत्सभा की पत्रिका ३६,३७०।— ११. कोनो, गोएटिंगिशे गेलैर्ते आन्साइगेन १८९४,४७१।—१२ इण्डिशे स्टूडिएन ३,२७८। —१३ इण्डिशे स्टूडिएन २,५३ और उसके बाद, ३,२७७ और उसके बाद।— १४. इ यूबर डेन कुल्टेस्टेन ग्राइटरीम आदि (मेमोर्स १८६२) पेज ८६।—

१५. वररुचि उण्ड हेमचन्द्रा पेज ९ और उसके बाद।—१६. द प्राकृतप्रकाश २ पेज ४ भूमिका।—१७.हारयार्णव पेज १४८ और २३९। —१८.डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज ९ और उसके बाद।— १९. गोएर्टिगिशे गेलैर्ते आन्त्साइगेन १८९४,४७३।— २०. वेबर, इण्डिशे स्टूडिएन, ३,२७८।— २१. याकोबी, एर्सेलुंगन भूमिका का पेज १४; वररुचि और हेमचन्द्र पेज १२।— २२. पिशल, ह्रोफडिस्टर पेज ३०।— २३. पिशल, उपर्युक्त ग्रन्थ पेज २२।—२४. पिशल, रुद्रराज शृंगारतिलक का पेज (कील १८८६) पेज १३ नोट १।

§ ३३—वररुचि इस प्रकार से, यदि प्राचीनतम नहीं तो प्राचीनतम प्राकृत-व्याकरणकारों में से एक है। उसके व्याकरण का नाम प्राकृतप्रकाश है और इसे कौवेल ने अपनी टिप्पणियों और अनुवाद के साथ प्रकाशित कराया है जिसका नाम रखा गया है—'द प्राकृतप्रकाश' और, 'द प्राकृत ग्रैमर ऑफ वररुचि विथ द कमेंटरी (मनोरमा) ऑफ भामह', सेकंड इश्यू। लंदन १८६८ (पहला संस्करण हर्टफोर्ड से १८५४ ई. में छपा था)। इसका एक नया संस्करण रामशास्त्री तैलंग ने १८९९ ई. में बनारस से निकाला है जिसमें केवल मूलपाठ है। वररुचि १-९ तक परिच्छेदों में महाराष्ट्री का वर्णन करता है, दसवें में पैशाची, ग्यारहवें में मागधी और बारहवें में शौरसेनी के नियम बताता है। हमारे पास तक जो पाठ पहुँचा है, वह अशुद्धिपूर्ण है और उसकी अनेक प्रतियाँ मिलती हैं जो परस्पर एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं।[१] इससे निदान निकलता है कि यह ग्रन्थ पुराना है। इस ग्रंथ का सब से पुराना टीकाकार 'भामह' है जो कश्मीर का निवासी था और स्वयं अलंकारशास्त्र का रचयिता और कवि था।[२] इसके समय का केवल इतना ही निर्णय किया जा सकता है कि यह (भामह) 'उद्भट' से पुराना है।'उद्भट' कश्मीर के 'जयापीड' राजा के राज्यकाल(७७९-८१३ ई.)में जीवित था और इसने भामह के अलंकारशास्त्र की टीका लिखी[३]। 'भामह' की टीका का नाम 'मनोरमा'[४] है। पर बारहवें परिच्छेद की टीका नहीं मिलती। इसमें संदेह नहीं कि और अशुद्धियों के साथ साथ 'भामह' ने 'वररुचि' को गलत ढंग से समझा है। ठीक नहीं समझा, इसका ज्वलंत प्रमाण ४, १४[५] है। यह भी अनिश्चित है कि उसने 'वररुचि' की समझ के अनुसार शब्दों का उपयोग किया हो। इस कारण से पाठक को सूत्र और टीका का अर्थ भिन्न भिन्न लगाना चाहिए और यह बात सारे व्याकरण में सर्वत्र पाई जाती है। 'भामह' ने कहाँ कहाँ से अपनी सामग्री एकत्र की है, इस पर सूत्रों से संबंध रखनेवाले उद्धरण प्रकाश डालते हैं। ऐसे उदरण वह वररुचि के निम्नलिखित सूत्रों की टीका में देता है—८, ९; ९, २ और ४ से ७ तक, ९ से १७ तक; १०, ४ और १४; ११, ६। इनमें से ९, २ हुं साहसु सम्भावय् हेमचन्द्र के ४५३ के समान है; पर हेमचन्द्र की किसी हस्तलिपि में हु नहीं मिलता। 'भुवनपाल' के अनुसार (इण्डिशे स्टूडिएन १६, १२०) इस पद का कवि 'विष्णुनाथ' है। ९, ९ किणो धुवसि हेमचन्द्र के ३६९ के समान है और यह पद हेमचन्द्र ने २, २१६ में भी उद्धृत किया है। 'भुवनपाल' का मत है कि यह पद 'देवराज' का है (इण्डिशे स्टूडिएन १६, १२०)। इन उद्धरणों के प्रमाण मैं नहीं दे सकता। १०, ४ और १४ के उद्धरण 'गृहत्कथा' से लिये

गये होंगे। ९, ४ में सभी उद्धरणों के विषय में गाथाओं की ओर संकेत किया गया है। एक नई टीका 'प्राकृतमञ्जरी' है। इसका अज्ञातनामा लेखक पद्यों में टीका लिखता है और स्पष्ट ही यह दक्षिण भारतीय है। इसकी जिस हस्तलिखित प्रति से मैं काम ले रहा हूँ, वह लंदन की रौयल एशियाटिक सोसाइटी' की है। यह भ्रष्ट है और इसमें कई स्थल छूट गये हैं। यह टीका वररुचि के ६, १८ तक की ही प्राप्त है। यह साफ है कि इस टीकाकार को 'भामह' का परिचय था। जहाँ तक दृष्टांतों का संबंध है, ये दोनों टीकाकारों के प्रायः एक ही हैं, किंतु अज्ञातनामा टीकाकार 'भामह' से कम 'दृष्टांत देता है। साथ ही एक दो नये दृष्टांत भी जोड़ देता है। उसका 'वररुचि का पाठ 'कौवेल' द्वारा संपादित पाठ से बहुत स्थलों पर भिन्न है।' यह टीका विशेष महत्त्व की नहीं है।

१. कौवेल पेज ९७; पिशल, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज १० और १३; ब्यूलर, डिटेल्ड रिपोर्ट पेज ७५, होएर्नले, प्रोसीडिंग्स औफ द एशियाटिक सोसाइटी औफ बैंगोल १८७९, ७९ और बाद का पेज।— २. इण्डिशे स्टुडिएन १६, २०७ ओर बाद के पेज में औफरेष्ट का लेख, काटालोगुम काटालोगोरम १, ४०५ और बाद का पेज, पीटर्सन, सुभाषितावली पेज ७९; पिशल, रुद्रट पेज ६ और बाद का पेज।— ३. पिशल, रुद्रट पेज १३।— ४. औफरेष्ट अपने काटालोगुस काटालोगोरम में इसे भूल से प्राकृतमनोरमा नाम देता है। उसका यह कथन भी असत्य है कि इसका एक नाम प्राकृतचंद्रिका भी था। इन दोनों अशुद्धियों का आधार कीलहोर्न की पुस्तक अ कैटलोग औफ सैंस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स एक्जिस्टिंग इन द सेंट्रल प्रौविन्सेज (नागपुर १८७४) पेज ८४ संख्या ४४ है। औफरेष्ट ने जिन-जिन अन्य मूलस्रोतों का उल्लेख किया है उन सबमें केवल मनोरमा है। होएर्नले ने भी प्रोसीडिंग्स ओफ द एशियाटिक सोसाइटी औफ बैंगोल १८७९, ७९ और बाद के पेज में जिस हस्तलिखित प्रति का उल्लेख किया है, उसमें इसके लेखक रूप में वररुचि का नाम दिया गया है।—५. ब्लौख, वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा, पेज २८१।— ६. यह बिलकुल निश्चित नहीं है कि ब्लौख की 'वररुचि उण्ट हेमचंद्रा' ग्रन्थ में दिया मत, कि गणों का कभी निश्चित ध्वनिरूप नहीं था, ठीक है। जैसा संस्कृत में वैसा ही प्राकृत में नाना विद्वानों में इस विषय पर मतभेद रहा होगा।— ७. इस प्रकार कौवेल्के के साहुसु के स्थान पर तैलंग का कथेहि साहुसु पढ़ना चाहिए और इसका अनुवाद साधुपु किया जाना चाहिए।— ८. यह तथा औफरेष्ट के काटालोगुस काटालोगोरम १, ३६० में दृष्टि से चूक गया है।— ९. इस विषय पर और भी महत्त्वपूर्ण तथ्य पिशल के ग्रन्थ 'द ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस' के पेज १०-१६ में दिये गये हैं।

§ ३४—चंड के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। इसका ग्रन्थ 'प्राकृत लक्षण' होएर्नले ने प्रकाशित किया है। इसका नाम उसने रखा है—'द प्राकृत लक्षणम् और चडाज ग्रैमर औफ द एन्शेण्ट (आर्ष) प्राकृत', भाग १, टेक्स्ट विथ अ क्रिटिकल

इण्ट्रोडक्शन एण्ड इंडेक्सेज कलकत्ता १८८०। होएर्नले का दृष्टिकोण है कि चंड ने आर्ष भाषा का व्याकरण लिखा है (§ १६ और १७)। उसके संस्करण के आधार 'ए' और 'बी' हस्तलिखित प्रतियाँ हैं। इनका पाठ सबसे संक्षिप्त है। उसका यह भी विचार है कि 'सी' 'डी' हस्तलिखित प्रतियाँ बाद को लिखी गईं और उनमें क्षेपक भी हैं। उसके मत से चंड, वररुचि और हेमचन्द्र से पुराना है। इस हिसाब से चंड आजतक के हमें प्राप्त प्राकृत व्याकरणकारों में सबसे प्राचीन हुआ। इसके विपरीत ब्लौख' का मत है कि चंड का व्याकरण 'और ग्रन्थों से लिया गया है और वह अशुद्ध तथा छीछला है। उसमें बाहरी सामान्य नियम हैं। सम्भवतः उसमें हेमचन्द्र के उद्धरण भी लिये गये हों।' दोनों विद्वानों का मत असत्य है। चंड उतना प्राचीन नहीं है जितना होएर्नले मानता है। इसी एक तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि पहले ही श्लोक में चंड ने साफ बताया है कि मैं इस ग्रन्थ को पुराने आचार्यों के मत के अनुसार (वृद्धमतात्) तैयार करना चाहता हूँ। प्रारम्भ का यह श्लोक होएर्नले की सभी हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है। यह श्लोक पीटर्सन की थर्ड रिपोर्ट (बम्बई १८८७) पेज २६५ और भण्डारकर के लिस्टस् ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्टस् इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन द बम्बे प्रेजिडेन्सी; भाग १ (बम्बई १८९३) पेज ५८ में वर्णित चण्ड-व्याकरण में भी मिलता है। इसलिए होएर्नले के पेज १ के नोट में दिया गया मत कि यह श्लोक क्षेपककारों का है, तर्क के लिए भी नहीं माना जा सकता। बात तो सच यह है कि क्षेपक के प्रश्न को मानना ही सन्दिग्ध है। सब दृष्टियों से देखने से 'सी' हस्तलिखित प्रति की टीका से मालूम पड़ता है कि टीका में क्षेपकों का जोर है। 'सी डी' में दिये गये सभी नियम नहीं, बल्कि 'बी सी डी' में एक समान मिलनेवाले नियम और भी कम मात्रा में मूल पुस्तक में क्षेपक माने जा सकते हैं। चंड ने स्पष्ट ही महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनशौरसेनी का वर्णन किया है जो एक के बाद एक है। इसके प्रमाण नियम जैसे १,५ है जिसमें षष्ठी के दो रूप—आणम् और आहम् साथ साथ दिये गये हैं, २,१० है जिसमें प्रथमा का रूप 'ए' और साथ ही 'ओ' में समाप्त होता है, करके सिखाया गया है; २,१९ जिसमें संस्कृत 'कृत्वा' के महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी तथा स्वयं अपभ्रंश के रूप तक (२,११ और १२ में) गड्डमड्ड मिला दिये गये हैं। 'सी डी' हस्तलिखित प्रतियों में यह विशेषता बहुत अधिक बढ़ाई गई है। १,२६ ए में (पेज ४२) ऐसा ही हुआ है, क्योंकि यहाँ अपभ्रंश रूप हउं के साथ-साथ हं और अहं रूप भी दे दिये गये हैं; २,१९ में महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और अपभ्रंश के 'कृत्वा' के रूपों के साथ साथ महाराष्ट्री और अपभ्रंश के कुछ और रूप भी दे दिये गये हैं; २,२७ ई-१ में अधिकांश अपभ्रंश के कई अतिरिक्त शब्द भी दे दिये गये हैं, २७ आइ-के में अधिकांश जैनशौरसेनी के; ३,६ में (पेज ४८) जैनशौरसेनी, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री के रूप मिला दिये गये हैं; ३-११ ए में चूलिकापैशाचिक के सम्बन्ध में २,११ और १२ का परिशिष्ट दिया गया है। इनमें ३,६ (पेज ४८) ग्रन्थ का

साधारण रूप का प्रतिनिधि है। कहीं-कहीं हेमचन्द्र के व्याकरण से अतिरिक्त नियम लिये गये हैं, ऐसा मालूम पड़ता है। इस प्रकार चण्ड के १,१ में प्राकृत की जो व्याख्या की गई है, वह वही है जो हेमचंद्र १,१ में दी गई है; किन्तु केवल आरम्भिक भाग १,११ ए (पेज ३६) हेमचन्द्र के ४,३५३ के समान है। २-१ सी (पेज ३७) हेमचन्द्र के १,६ के समान, पर उससे कुछ छोटा है। ३,११ ए (पेज ४८) हेमचन्द्र के ४,३२५ से मिलता है; किन्तु और भी छोटा है। इस प्रकार चण्ड सर्वत्र संक्षिप्त है और कहीं कहीं जैसे ३,३४ में (पेज ५१), जो हेमचन्द्र के १, १७७ के समान है, चण्ड सब प्रकार से मिलान करने पर इतना विस्तृत है कि वह हेमचन्द्र से नियम नहीं ले सकता। इसके विपरीत हेमचन्द्र का सूत्र ३, ८१ चण्ड के १,१७ पर आधारित मालूम पड़ता है। यह बात होएर्नले ने अपने ग्रन्थ की भूमिका के पेज १२ में उठाई है। चण्ड ने वहाँ पर बताया है कि षष्ठी बहुवचन में से भी आता है और हेमचन्द्र ने ३,८१ में बताया है कि कोई विद्वान षष्ठी बहुवचन में से प्रत्यय का प्रयोग चाहते हैं—**इदंतदोर् आमापि से आदेशम् कश्चिद् इच्छति**। अवश्य ही ब्लौख[1] का मत है कि हेमचन्द्र ने एकवचन **कश्चित्** पर कुछ जोर नहीं दिया है। किन्तु हेमचन्द्र के उद्धृत करने के सारे ढंग पर ब्लौख का सारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण है और वास्तव में इस विषय पर सभी भारतीय व्याकरणकारों का सारा दृष्टिकोण दोषपूर्ण है। हेमचन्द्र ने जो **कश्चित्** कहा है, उसका तात्पर्य एक व्याकरणकार से है। अभी तक चण्ड के अतिरिक्त किसी व्याकरणकार का पता नहीं लगा है जिसने यह नियम दिया हो। इसलिए सबसे अधिक संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि जिन जिन स्थानों पर चण्ड और हेमचन्द्र एक समान नियम देते हैं, वहाँ चण्ड ने नहीं, बल्कि हेमचन्द्र ने उससे सामग्री ली है। होएर्नले ने अपने ग्रन्थ की भूमिका के पेज १२ और उसके बाद के पेजों में इस विषय पर बहुत सामग्री एकत्र की है[2]। ' मुझे इस विषय पर इतना और जोड़ना है कि चण्ड के पेज ४४ में २,१२ अ में उदाहरण के रूप पर **चऊवीसम् पि** ' उदाहरण दिया गया है, वह हेमचन्द्र के ३,१३७ में भी है; पर चण्ड ने इसे बहुत विस्तार के साथ दिया है। दोनों व्याकरणकारों की परिभाषा की शब्दावली सर्वत्र समान नहीं है। उदाहरणार्थ, चण्ड ने अपने ग्रन्थ के पेज ३७ के २,१ बी में व्यंजनों के लुप्त होने पर जो स्वर शब्द में शेष रह जाता है, उसे **उद्धृत** कहा है और हेमचन्द्र ने १, ८ में उसी का नाम **उद्वृत्त** रखा है। चण्ड २,१० में **विसर्जनीय** शब्द आया है, किन्तु हेमचन्द्र १,३७ में **विसर्ग** शब्द काम में लाया गया है। चण्ड २,१५ में (जो पेज ४५ में है) **अर्धानुस्वार** शब्द का व्यवहार किया गया है; किन्तु हेमचन्द्र ने ३,७ में इस शब्द के स्थान पर ही **अनुनासिक** शब्द का प्रयोग किया है; आदि। इन बातों के अतिरिक्त चण्ड ने बहुत से ऐसे उदाहरण दिये हैं जो हेमचन्द्र के व्याकरण में नहीं मिलते। ऐसे उदाहरण २, २१।२२ और २४; ३, ३८ और ३९ हैं। पेज ३९ के १,१ में वाग्भटालंकार २, २ पर सिंहदेवगणिन् की जो टीका है, उसका उदाहरण दिया गया है (§ ९)। पेज ४६ के २, २४; २, २७ बी और २, २७ आइ (पेज ४७) में ऐसे उदाहरण हैं। चण्ड ने कहीं यह इच्छा प्रकट नहीं

की है कि वह केवल आर्षभाषा का व्याकरण बताना चाहता है। तथाकथित प्राचीन रूपों और शब्दों का व्यवहार, जैसा कि संस्कृत त और थ को प्राकृत में भी जैसे का तैसा रखना, शब्दों के अन्त में काम में लाये जानेवाले वर्ण–आम्, –ईम्, –ऊम् को दीर्घ करना आदि हस्तलिखित प्रतियों के लेखकों की भूलें हैं। ऐसी भूलें जैन हस्तलिखित प्रतियों¹ में बहुत अधिक मिलती हैं। बल्कि यह कहा जा सकता है कि चण्ड के ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियों में ये अशुद्धियाँ अन्य ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों की तुलना में कम पाई जाती हैं। चण्ड ने मुख्यतया जिस भाषा का व्याकरण लिखा है, वह महाराष्ट्री है, किन्तु इसके साथ साथ वह स्वयं ३, ३७ में अपभ्रंश ३, ३८ में पैशाचिकी ३, ३९ में मागधिका का उल्लेख करता है, पेज ४४ के २, १३ ए और बी में आर्षभाषा का, जिसके बारे में हम पहले ही लिख चुके हैं, ए और बी पाठों में इस विषय पर भी बहुत विस्तार के साथ लिखा गया है। ३, ३९ ए (पेज ५२) में शौरसेनी का उल्लेख भी है। डी पाठ में पेज ३७ के २, ? सी में जो उदाहरण दिया गया है, वह गउडवहो का २२० वाँ श्लोक है और हेमचन्द्र १, ६ में भी उद्धृत किया गया है। सी और डी पाठों में दूसरा उदाहरण जो पेज ४२ के १, २६ ए में तेण अहम् दिट्ठो हाल की सत्तसई ४४१¹ में लिया गया है। चूँकि सभी हस्तलिखित प्रतियों में ये उदाहरण नहीं मिलते, इसलिए यह उचित नहीं है कि हम इनका उपयोग चण्ड का कालनिर्णय करने के विषय में करें। इस ग्रन्थ का मूल पाठ बहुत दुर्दशा में हमारे पास तक पहुँचा है, इसलिए यह बड़ी सावधानी के साथ और इसके भिन्न-भिन्न पाठों की यथेष्ट जाँच पड़ताल हो जाने के बाद में काम में लाया जाना चाहिए। किन्तु इतनी बात पक्की मालूम पड़ती है कि चण्ड प्राकृत का हेमचन्द्र से पुराना व्याकरणकार है और हेमचन्द्र ने जिन जिन प्राचीन व्याकरणों से अपनी सामग्री एकत्र की है, उनमें से एक यह भी है। इसकी अतिप्राचीनता का एक प्रमाण यह भी है कि इसके नाना प्रकार के पाठ मिलते हैं। चण्ड संज्ञा और सर्वनाम के रूपों से (विभक्तिविधान) अपना व्याकरण आरम्भ करता है। इसके दूसरे परिच्छेद में स्वरों के बारे में लिखा गया है (स्वरविधान) और तीसरे परिच्छेद में व्यंजनों के विषय में नियम बताये गये हैं (व्यंजनविधान)। सी तथा डी पाठों में यह परिच्छेद ३,३६ के साथ समाप्त हो जाता है और ३,३७—३९ ए तक चौथा परिच्छेद है जिसका नाम (भाषान्तरविधान) अर्थात् 'अन्य भाषाओं के नियम' दिया गया है। इस नाम का अनुसरण करके इस परिच्छेद में महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और जैन शौरसेनी को छोड़कर अन्य प्राकृत भाषाओं के नियमों और विशेषताओं के बारे में लिखा गया है। इस कारण ब्यूलर (त्साइटश्रिफ्ट डेर मौरगेन लैण्डिशन गेजेलशाफ्ट ४२,५५६) और भण्डारकर ने (रिपो, पेज ५८) इस सारे ग्रन्थ का नाम ही प्राकृत भाषान्तरविधान रख दिया था। ब्यूलर और भण्डारकर इस लेखक का नाम चन्द्र बताते हैं। यह लेखक चण्ड ही है, इसका पता भण्डारकर द्वारा दिये गये उद्धरणों से चलता है। सी और डी पाठों में इस ग्रन्थ के जो विभाग किये गये हैं, वे निश्चय ही ठीक हैं। इसमें बहुत कम सन्देह इसलिए होता है कि भण्डारकर की हस्तलिखित प्रति

बाकी शब्द तत्सम और तद्भव है* (§ ८)। इस कारण यह ग्रन्थ विशेष महत्त्व का नहीं है। इसमें आर्याछन्द के २७९ श्लोक हैं, जिनमें से पहला श्लोक मंगलाचरण का है और अन्तिम ४ श्लोक इस पुस्तक के तैयार करने के विषय में स्वीकारोक्तियाँ है। १-१९ तक के श्लोकों में एक-एक पदार्थ के पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। २० ९४ तक के श्लोकों में ये पर्यायवाची शब्द एक एक पद में आये हैं, ९५ २०२ तक में आधे पद में आये हैं और २०३-२७५ तक छुट्टे शब्द आये हैं जो एक एक पर्याय देकर अधिक से अधिक आधे पद में आ गये हैं। हेमचन्द्र ने अपने देशी नाममाला के १, १४१, ३, २२; ४, ३०; ६,१०१ और ८,१७ में बताया है कि उसने धनपाल से भी बहुत कुछ सामग्री ली है। उसने जो उद्धरण दिये हैं, वे 'पाइय-लच्छी' ३, २२; ४, ३० और ८, १७ से बिल्कुल नहीं मिलते और आंशिक रूप में १, ४१ और ६, १०१ में हेमचन्द्र ने जो बात कही है, उनसे भी नहीं मिलते। इस लिए ब्यूलर ने ठीक ही अनुमान लगाया है कि (पेज १५) 'धनपाल' ने प्राकृत में इसी प्रकार का एक और ग्रन्थ भी लिखा होगा, जिसमें से हेमचन्द्र ने उक्त सामग्री ली होगी। जैनधर्म ग्रहण करने के बाद 'धनपाल' ने 'ऋषभपंचाशिका' नाम की एक और पुस्तक लिखी थी।

१. इस विषय पर अधिक बातें ब्यूलर के ग्रन्थ के पेज ५ तथा इसके बाद के पेजों में दी गई हैं। — २. ब्यूलर का उक्त ग्रन्थ के पेज १२ और उसके बाद—§ २० देखिए, ब्यूलर का ग्रंथ पेज ९, त्साइटुङ्ग डेर मौरगेन लैण्डिशन गेजलशाफ्ट खण्ड ३३, ४४५ में क्लात्त का लेख। धनपाल की अन्य साहित्यिक कृतियों के संबंध में ब्यूलर के ग्रन्थ का पेज १० देखिए, त्साइटश्रिफ्ट डेर मौरगेन लैण्डिशन गेजेलशाफ्ट के खण्ड २७, ४ में औफरेष्ट का लेख, काटालागुस काटालोगोरुम १, २६७।

§ ३६—आजतक के प्रकाशित सभी प्राकृत व्याकरणों से सर्वोत्तम और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हेमचन्द्र (ई. सन् १०८८-११७२ तक) का प्राकृतभाषा का व्याकरण है। यह प्राकृत व्याकरण सिद्ध हेमचन्द्र नामक ग्रन्थ का ८ वाँ अध्याय है। उक्त नाम का अर्थ यह है कि यह व्याकरण 'सिद्धराज' को अर्पित किया गया और 'हेमचन्द्र' द्वारा रचा गया है[१]। इसके १-७ अध्याय संस्कृत व्याकरण के नियमों पर हैं। हेमचन्द्र ने स्वयं अपने व्याकरण की दो टीकाएँ भी की हैं। एक का नाम है—'बृहती-वृत्ति', दूसरी का 'लघु वृत्ति'[२]। लघु-वृत्ति का नाम 'प्रकाशिका' भी है, बम्बई ड संवत् १९२९ में प्रकाशित महाबल कृष्ण के संस्करण और जर्मनी में ईस्वी १८७७ में हाल्ले आम जार से प्रकाशित पिशल के हेमचन्द्राज ग्रामाटीक डेर प्राकृत स्प्राखन (सिद्ध हेमचन्द्रम् अध्याय ८) से मालूम होता है जिसके भाग १ और २ स्वयं पिशल ने अनूदित और संशोधित किये हैं। 'उदयसौभाग्यगणिन्' ने इस वृत्ति की एक टीका लिखी है जिसमें

* मध्यकाल में वे सब शब्द देशी या देशी मान लिये गये थे जो वास्तव में संस्कृत से निकले थे, पर उनका रूप इतना अधिक विकृत हो गया था कि बहुत कम पहचान रह गई थी। —अनु०

विशेष कर शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है। इस टीका का नाम 'हैमप्राकृत-वृत्ति-ढुंढिका' है और पूरी पुस्तक का नाम 'व्युत्पत्तिदीपिका' (§ २९) है। और केवल ८ वें अध्याय की टीका 'नरेन्द्रचन्द्र सूर्य' ने की है जिसका नाम 'प्राकृतप्रबोध' है। हेमचन्द्र ने अपना व्याकरण चार पादों में विभाजित किया है जिनमें से पहिले दो पादों में मुख्यतया ध्वनिशास्त्र की बातें हैं, तीसरे पाद में शब्दरूपावलि पर लिखा गया है और चौथे पाद में सूत्र १-२५८ तक धात्वादेश हैं * और धातु के वे गण बताये गये हैं जो संस्कृत से भिन्न हैं तथा कर्मवाच्य धातु के कुछ नियम हैं। २५९ में धातुओं के अर्थ पर कुछ लिखा गया है। २६०-२८६ तक सूत्रों में शौरसेनी प्राकृत, २८७-३०२ तक मागधी, ३०३-३२४ तक पैशाची, ३२५-३२८ तक चूलिका पैशाचिक और ३२९-४४६ सूत्र तक अपभ्रंश भाषा के नियम बताये गये हैं। ४४७ और ४४८ वें सूत्रों में साधारण बातें बताई गई हैं। जो भाषा हेमचन्द्र १, १ से ४, २५९ तक सिखाता है, वह प्रधानतया महाराष्ट्री है। किन्तु उसके साथ साथ उसने जैनमहाराष्ट्री से बहुत-कुछ लिया है और कहीं-कहीं अर्धमागधी से भी लिया है। पर सर्वत्र यह नहीं लिखा है कि यह अन्य भाषाओं से भिन्न अर्धमागधी भाषा है। २६०-२८६ तक के नियमों में उसने जैन शौरसेनी के नियमों पर विचार किया है (§ २१)। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में अपनेसे पहले के किन-किन लेखकों से लाभ उठाया है, यह बताने का समय अभी तक नहीं आया है। उसने स्वयं एक ही नाम उद्धृत किया है। १, १८६ में उसने 'हुग्ग' का नाम दिया है; पर इस 'हुग्ग' को व्याकरणकार नहीं; बल्कि कोशकार बताया है और वह भी संस्कृत भाषा का। अन्य स्थलों पर उसने किसी का नाम नहीं दिया है। साधारण और अस्पष्ट सर्वनाम दे दिये हैं जैसे २, ८० और २, ८१ में किसी व्याकरणकार के लिए लिखा है—कश्चित् १, ६७ और २०९; २, ८०; १२८।१३८।१४५ और १८८ में केचित् दिया है; २, १०३ और ११७ में अन्यः; १, ३५ और ८८; २, १६३; १७४ और २०७ में तथा ३, १७७ में अन्यैः; ४, २ में अन्ये; ४, ३२७ में अन्येषाम् और १, ३५ में अपनेसे पहले के प्राकृत व्याकरणकारों और कोशकारों के लिए एके दिया है। याकोबी का मत है कि हेमचन्द्र ने वररुचि के सूत्रों के आधार पर उसी प्रकार अपना व्याकरण तैयार किया है जिस प्रकार 'भट्टोजी दीक्षित' ने पाणिनि के आधार पर अपनी 'सिद्धान्तकौमुदी' तैयार की। मध्ययुग में वररुचि के सूत्र अकाट्य माने जाते थे और प्राकृत व्याकरणकारों का मुख्य काम उनकी विस्तृत व्याख्या करना तथा उनमें क्या कहा गया है, इसकी सीमा निर्धारित करना ही था। 'हेमचन्द्र का वररुचि से वही सम्बन्ध है जो कात्यायन का पाणिनि से है।' याकोबी का यह मत भ्रमपूर्ण है जैसा कि ब्लोख ने विशेष विशेष बातों का अलग-अलग खण्डन करके सिद्ध कर दिया है। यह बात भी हम अधिकार के साथ और निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि हेमचन्द्र ने वररुचि से नाममात्र भी लाभ उठाया हो। सम्भवतः उसने लाभ उठाया हो, किन्तु यह बात

* धात्वादेश उन धातुओं को कहते हैं, जो जनता की बोली में काम में आते थे और प्राकृत भाषाओं में से लिये गये थे। चूकना, खोजना आदि ऐसे धात्वादेश हैं।—अनु०

विशेष कर शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है। इस टीका का नाम 'हैमप्राकृत-वृत्ति-ढुंढिका' है और पूरी पुस्तक का नाम 'व्युत्पत्तिदीपिका' (§ २९) है। और केवल ८ वें अध्याय की टीका 'नरेन्द्रचन्द्र सूर्य' ने की है जिसका नाम 'प्राकृतप्रबोध' है। हेमचन्द्र ने अपना व्याकरण चार पादों में विभाजित किया है जिनमें से पहिले दो पादों में मुख्यतया ध्वनिशास्त्र की बातें हैं, तीसरे पाद में शब्दरूपावलि पर लिखा गया है और चौथे पाद में सूत्र १ २५८ तक धात्वादेश हैं * और धातु के वे गण बताये गये हैं जो संस्कृत से भिन्न हैं तथा कर्मवाच्य धातु के कुछ नियम हैं। २५९ में धातुओं के अर्थ पर कुछ लिखा गया है। २६०-२६६ तक सूत्रों मे शौरसेनी प्राकृत, २८७-३०२ तक मागधी, ३०३-३२४ तक पैशाची, ३२५-३२८ तक चूलिका पैशाचिक और ३२९-४४६ सूत्र तक अपभ्रंश भाषा के नियम बताये गये हैं। ४४७ और ४४८ वें सूत्रों में साधारण बातें बताई गई हैं। जो भाषा हेमचन्द्र १, १ से ४, २५९ तक सिखाता है, वह प्रधानतया महाराष्ट्री है। किन्तु उसके साथ साथ उसने जैनमहाराष्ट्री से बहुत-कुछ लिया है और कहीं-कहीं अर्धमागधी से भी लिया है। पर सर्वत्र यह नहीं लिखा है कि यह अन्य भाषाओं से भिन्न अर्धमागधी भाषा है। २६०-२८६ तक के नियमों में उसने जैन शौरसेनी के नियमों पर विचार किया है (§ २१)। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में अपनेसे पहले के किन-किन लेखकों से लाभ उठाया है, वह बताने का समय अभी तक नहीं आया है। उसने स्वयं एक ही नाम उद्धृत किया है। १, १८६ में उसने 'हुग्ग' का नाम दिया है; पर इस 'हुग्ग' को व्याकरणकार नहीं;बल्कि कोशकार बताया है और वह भी संस्कृत भाषा का। अन्य स्थलों पर उसने किसी का नाम नहीं दिया है। साधारण और अस्पष्ट सर्वनाम दे दिये हैं जैसे २, ८० और ३, ८१ मे किसी व्याकरणकार के लिए लिखा है—कश्चित् १, ६७ और २०९; २, ८०; १२८।१३८।१४५ और १८८ मे केचित् दिया है; ३, १०३ और ११७ में अन्यः; १, ३५ और ८८; २, १६३; १७४ और २०७ में तथा ३, १७७ में अन्ये; ४, २ में अन्ये; ४, ३२७ में अन्येषाम् और १, ३५ में अपनेसे पहले के प्राकृत व्याकरणकारों और कोशकारों के लिए एके दिया है। याकोबी का मत है कि हेमचन्द्र ने वररुचि के सूत्रों के आधार पर उसी प्रकार अपना व्याकरण तैयार किया है जिस प्रकार 'भट्टोजी दीक्षित' ने पाणिनि के आधार पर अपनी 'सिद्धान्तकौमुदी' तैयार की। मध्ययुग में वररुचि के सूत्र अकाट्य माने जाते थे और प्राकृत व्याकरण-कारों का मुख्य काम उनकी विस्तृत व्याख्या करना तथा उनमें क्या कहा गया है, इसकी सीमा निर्धारित करना ही था। 'हेमचन्द्र का वररुचि से वही सम्बन्ध है जो कात्यायन का पाणिनि से है।' याकोबी का यह मत भ्रमपूर्ण है जैसा कि ब्लोख ने विशेष विशेष बातों का अलग-अलग खण्डन करके सिद्ध कर दिया है। यह बात भी हम अधिकार के साथ और निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि हेमचन्द्र ने वररुचि से नाममात्र भी लाभ उठाया हो। सम्भवतः उसने लाभ उठाया हो, किन्तु यह बात

---

* धात्वादेश उन धातुओं को कहते हैं, जो जनता की बोली में काम में आते थे और प्राकृत भाषाओं में ले लिये गये थे। चूकना, बोलना आदि ऐसे धात्वादेश हैं।—अनु०

प्रमाण देकर किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं की जा सकती। हेमचन्द्र की दृष्टि में वह या ग्रंथ रहा होगा, इस विषय का § ३४ में उल्लेख किया जा चुका है। व्याकरण के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने 'देशी नाममाला' या देशी शब्दसंग्रह नाम से एक कोश भी लिखा है। इस कोश का नाम स्वयं हेमचन्द्र के शब्दों में 'रयणावलि' अर्थात् 'रत्नावलि' (८, ७७) है। पेज १, ४ और उसके बाद हेमचन्द्र ने लिखा है कि यह कोश प्राकृत व्याकरण के बाद लिखा गया और १, ३ के अनुसार यह व्याकरण के परिशिष्ट के रूप में लिखा गया है। यह पुस्तक पिशल ने बम्बई से १८८८ ई० में प्रकाशित कराई थी। इसका नाम है—'द देशी नाममाला ऑफ हेमचन्द्र पार्ट वन् टेक्सट ऐण्ड क्रिटिकल नोट्स।' धनपाल की भाँति (§ ३५) हेमचन्द्र ने भी देशी शब्दों के भीतर संस्कृत के तत्सम और तद्भव रूप भी दे दिये हैं, पर उसके ग्रन्थ में, ग्रन्थ का आकार देखकर यह कहा जा सकता है कि ऐसे शब्दों की संख्या बहुत कम है और प्राकृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह ग्रन्थ असाधारणतया महत्त्वपूर्ण है। देशी-नाममाला में आठ वर्ग हैं जिनमें वर्णमाला के क्रम से शब्द सजाये गये हैं। शब्द दो प्रकार से रखे गये हैं। आरम्भ में अक्षरों की संख्या के अनुसार सजाये गये वे शब्द हैं जिनसे केवल एक अर्थ (एकार्था) निकलता है। ऐसे शब्दों के बाद वे शब्द सजाये गये हैं जिनके कई अर्थ (अनेकार्थाः) निकलते हैं। पहले वर्ग में शब्दों पर प्रकाश डालने के लिए कविताओं के उदाहरण दिये गये हैं जो कविताएँ स्वयं हेमचन्द्र ने बनाई हैं, जो बहुत साधारण हैं और कुछ विशेष अर्थ नहीं रखतीं। इसका कारण यह है कि उदाहरण देने के लिए हेमचन्द्र को विवश होकर नाना अर्थों के द्योतक कई शब्द इस कविता में भर्ती करने पड़े। ये पद्य केवल इसलिए दिये गये हैं कि पाठकों को हेमचन्द्र के कोश में दिये गये देशी शब्द जल्दी से याद हो जायँ। इन पद्यों में देशी शब्दों के साथ साथ कुछ ऐसे प्राकृत शब्द और रूप ठूँसे गये हैं जिनके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ये कब और किन ग्रन्थों में काम में लाये गये। इन पद्यों में रखे गये बहुत से देशी शब्दों के अर्थ भी ठीक खुलते नहीं। हेमचन्द्र ने देशीनाममाला की एक टीका भी स्वयं लिखी है। हेमचन्द्र ने थोड़े से भी यह बात नहीं कही है कि उसका ग्रन्थ मौलिक है और उसमें प्राचीन ग्रन्थों से कोई सामग्री नहीं ली गई है, बल्कि उसने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि 'देशीनाममाला' इसी प्रकार के पुराने ग्रन्थों से संगृहीत की गई है। उसने १,३७ में इस बात का निर्णय कि अम्बसमी या अम्मसमी इन दोनों में से कौन सा रूप शुद्ध है, विद्वानों पर छोड़ा है...अम्मसमीति केचित् पठन्ति। तत्र केषाम् चिद्भ्रमोऽभ्रमो वेति बहुदर्शन एव प्रमाणम्। वह १,४१ में अच्छिवडली के रूप और अर्थ के विषय में कुछ अंधकार में है, इसलिए उसने लिखा है कि चूँकि इस विषय पर पुराने लेखकों में मतभेद रहा है, इसलिए इसके ठीक रूप और अर्थ का निर्णय बहुश्रुत विद्वान् ही कर सकते हैं, तद् एव ग्रन्थकृद्विप्रतिपत्तौ बहुश्रुता प्रमाणम्। १,४७ में उसने अयडाकिय और अवडकिय इन दो शब्दों को अलग अलग किया है। पहले के लेखकों ने इन दोनों शब्दों को समानार्थी बताया था, पर हेमचन्द्र ने इन

शब्दों के विषय पर उत्तम ग्रन्थों की छानबीन करके अपना निर्णय दिया—अस्माभिस् तु सारदेशीनिरीक्षणेन विवेकः कृतः। वह १, १०५ में बहुत विचार-विमर्श करने के बाद यह निश्चय करता है कि उत्तुहिअ शब्द के स्थान पर पुरानी हस्तलिखित प्रतियों की प्रतिलिपि करनेवालों ने भूल से उड्डुहिअ लिखा है, इसी प्रकार ६, ८ में उसने बताया है कि चोर के स्थान पर योर हो गया है। उसने २, २८ का निर्णय करने के लिए देशीभाषा के कई ग्रन्थों का उल्लेख किया है और ३, १२ और ३३ में अपना मत देने से पहले इस विषय पर सर्वोत्तम ग्रन्थों का मत भी दिया है। जब उसने ८,१२ पर विचार किया है तब देशी ग्रन्थों के नवीनतम लेखकों और उनके टीकाकारों का पूरा पूरा हवाला दिया है; ८, १३ का निर्णय वह सहृदयों अर्थात् सज्जन समझदारों पर छोड़ता है—केवलम् सहृदयाः प्रमाणम्। उसने १, २ में बताया है, इस ग्रन्थ में उसने जो विशेषता रखी है, वह वर्णक्रम के अनुसार शब्दों की सजावट है और १, ४९ में उसने लिखा है कि उसने यह ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिए लिखा है। जिन लेखकों के नाम उसने दिये हैं, वे हैं—अभिमानचिह्न (१, १४४, ६, ९३; ७, १; ८, १२ और १७); अवन्तिसुन्दरी (१, ८१ और १५७), देवराज (६, ५८ और ७२; ८,१७), द्रोण अथवा द्रोणाचार्य (१, १८ और ५०, ६, ६०, ८, १७), धनपाल (१, १४१, ३, २२; ४, ३०, ६, १०१, ८, १७); गोपाल (१, २५। ३१ और ४५, २, ८२; ३, ४७, ६, २६। ५८ और ७२; ७, २ और ७६; ८, १। १७ और ६७); पादलिप्त (१, २), राहुलक (४,४), शीलाङ्क (२, २०; ६, ९६; ८, ४०); सातवाहन (३, ४१; ५, ११; ६, १५। १८। १९। ११२ और १२५)। इनमें से *अभिमानचिह्न, देवराज, पादलिप्त* और सातवाहन सत्तसइ म (§ १३) प्राकृत भाषा के कवियों के रूप में भी मिलते हैं। 'अवन्तिसुन्दरी'[१०] के बारे में ब्यूलर का अनुमान है कि वह वही सुन्दरी है जो धनपाल की छोटी बहन है और जिसके लिए उसने 'पाइयलच्छी' नाम का देशी भाषा का कोश लिखा था। पर ब्यूलर ने यह कहीं नहीं बताया कि सुन्दरी ने स्वयं भी देशी भाषा में कुछ लिखा था, यह बात असम्भव लगती है। हेमचन्द्र ने जिस अवन्तिसुन्दरी का उल्लेख किया है, उसका 'राजशेखर' की स्त्री 'अवन्तिसुदरी' होना अधिक सम्भव है। 'कर्पूरमंजरी' ७, १ के कथनानुसार इस अवन्तिसुन्दरी के कहने पर ही प्राकृतभाषा में लिखा हुआ कर्पूरमंजरी नामक नाटक का अभिनय किया गया था और हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में उक्त नाटक से कई वाक्य उद्धृत किये हैं। 'शारंगधर पद्धति' और 'सुभाषितावलि' में राहुलक का नाम संस्कृत कवि के रूप में दिया गया है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में संस्कृत ग्रन्थकारों के निम्नलिखित नाम आये हैं—कालापाः (१, ६), भरत (८, ७२), भामह (८, ३९) और बिना नाम बताये उसने हलायुध से भी (१, ५ और २, ९८) में उद्धरण लिये हैं। उसने अधिकतर लेखकों का उल्लेख बिना नाम दिये साधारण तौर पर किया है। उदाहरणार्थ—अन्ये (१, ३।२०।२२।२५।४७।५२,६२।६३।६५।६६ ७०।७२।७५,७८। ८७।८९।९१।१००।१०२।१०७।११२।१५१।१६० और १६३, २,११।१२।१८।२४।२६।

२९।३६।४५।४७।५०।५१।६६।६७ ६९।७७।७९।८९ और ९८; ३,३।६।८।२८।४०।४१। ५८ और ५९; ४, ३।४।५।६।७।१८।२२।२३।२६।३३।८४ और ४७; ५, ९।३०।३३। ३६।४०।४५।५० और ६१; ६, १४।१५।१६।२१।२४।२५।२६।२८।४२।४८।५३।५४। ६१।६३।७५।८१।८६।८८।९१।९३।९४।९७।९९।१०५।१०६।११६। १२१। १३२। १३४। १४० और १४५; ७, २।१६।१७।१८।२१।२१।३३।३७।४४।४५।४८।६२।६८।६९।७४। ७५।७६।८८ और ९१; ८, १०।१५।१८।२२।२७।३५।३६।३८।४४।४५।५९ और ६७; एके (२,८९; ४,५ और १२; ६,११; ७,२५; ८,७); कश्चित् (१, ४१; २, १८; ३,५१; ५,१२; ८,७५); केचित् (१, ५।२६।३४।३७।४१।४६।४७।६७।७९।१०३। १०५।११७।१२०।१२९।१३१ और १५३; २, १३।१५।१६।१७।२०।२९।३३।३८।५८। ८७ और ८९; ३, १०।१२।२२।२३।३३।३४।३५।३६।४४ और ५५; ४, ४।१०।१५ और ४५; ५,१२।२१।४४ और ५८; ६, ४।५५।८०।९०।९१ ९२।९३।९५।९६।११० और १११; ७, २।३।६।४७।५८।६५।७५।८१ और ९३; ८,४।५२।६९ और ७०); पूर्वाचार्याः (१,११ और १३), यदाह (यद् आह) (१, ४ और ५) (हलायुध) ३७।७५।१२२।१७१; २,३३।४८।९८ (हलायुध) ३, २३।५४ (संस्कृत); ४, ४।१० २१।२४ और ४५; ५, २ और ६३; ६, १५।४२।७८।८१।९३।१४० और १४२; ७, ४६।५८ और ८४; ८,३।१३।४३ और ६८), यदाहुः (१,५; ३,६ और ४,१५); ऐसे ही अन्य सर्वनामों के साथ। १, १८।९४।१४४ और १७४; ३३३; ४, ३७, ६, ८।५८ और ९३; ८, १२।१७ और २८)। इतने अधिक अपने से पहले के विद्वानों के ग्रन्थों से बहुत सावधानी के साथ उनसे सहायता लेने पर भी हेमचन्द्र बड़ी मोटी मोटी अशुद्धियों से अनेकों बचा न सका। इसका कारण कुछ ऐसा लगता है कि मूल शुद्ध ग्रन्थ उसके हाथ में नहीं लगे; बल्कि दूसरे-तीसरे के हाथ से लिखे तथा अशुद्धियों से भरे ग्रन्थों से उसने सहायता ली। इसलिए वह २, २४ में लिखता है कि कंटदीणार 'अशुनवाली माला के सिक्के' में एक छेद है (= वृत्ति-विवर), ६,६७ में उसने बताया है कि पपरी अन्य अर्थों के साथ साथ माला के सिक्के में छेद का अर्थ भी देता है (वृत्तिविवर) और एक तरह का गहने का नाम है जिसे कंटदीणार कहते हैं। इसका कारण स्पष्ट ही है कि उसने ६, ६७ से मिलते जुलते किसी पद्य में सप्तमी के स्थान पर कर्ता एकवचन कंठदीणारो पढ़ा होगा और उसे देख उसने २, २४ वाला रूप बना दिया। बाद को उसने ६, ६७ में शुद्ध पाठ दे दिया, पर वह अपनी पुरानी भूल ठीक करना भूल गया। निश्चय ही कंटदीणार गले में पहनने का एक गहना है जिसे दीणार नामक सिक्कों की माला कहना चाहिए। पोआलो जिसका अर्थ बैल है और जो ६, ६२ में आया है अवश्य ही ७, ७९ में आनेवाले वोआलो शब्द का ही रूप है, यह सन्धि में उत्तर पद में आनेवाला रूप रहा होगा"। चाहे जो हो, 'देशीनाममाला' 'उत्तम श्रेणी की सामग्री देनेवाला एक ग्रन्थ है"'। इस ग्रन्थ से पता चलता है कि इससे भारतीय भाषाओं पर बहुत महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है और यह मालूम होता है कि प्राकृत भाषा में अभी और भी अधिक सम्पन्न साहित्य मिलने की आशा है।

१. ब्यूलर की पुस्तक 'इयूबर डास लेबन डेस जैन मोएन्शेस हेमचन्द्रा' (विएना १८८९) पेज १५। — २.ब्यूलर का उपर्युक्त ग्रन्थ, पेज ७२ नोट ३४। — ३.औफरेष्ट के ग्रन्थ काटालोगुस काटालोगोरुम १, ३६० में इसके लेखक का नाम नरेन्द्रचन्द्र सूर्य दिया गया है। पीटर्सन द्वारा सम्पादित 'डिटेल्ड रिपोर्ट' के पेज १२७ की संख्या ३०० और भण्डारकर द्वारा सम्पादित 'ए कैटेलौग ऑफ द कलेक्शन्स ऑफ द मैनुस्क्रिप्टस् डिपौजिटेड इन द डेकान कॉलेज' (बम्बई १८८८) के पेज ३२८ की संख्या ३०० में इस लेखक का नाम 'नरेन्द्रचन्द्रसूरि' दिया गया है। मैं इस हस्तलिखित ग्रन्थ को देखना और काम में लाना चाहता था; पर यह लाइब्रेरी से किसी को दी गयी थी। — ४. पिशल की हेमचन्द्रसम्बन्धी पुस्तक १, १८६; गोएर्टिंगिशे गेलैर्ते आन्त्साइगेन १८८६, ९०६ नोट १ तथा डी इण्डिशन व्योर्टरव्यूशर (कोश) स्ट्रासबुर्ग १८९७; ग्रुण्डरिस १, ३ बी पेज ७; 'मेखकोश' के संस्करण की भूमिका (विएना १८९९) पेज १७ और उसके बाद। — ५. येनायेर लिटेराटूरत्साइटुंग १८७६, ७९७। — ६. पिशल की हेमचन्द्र-सम्बन्धी पुस्तक २, १४५। — ७. वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा पेज २१ तथा उसके बाद। यह ग्रन्थ ब्यूलर ने खोज निकाला था। देखिए 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' २, १७ और उसके बाद के पेज। — ८. इसका दूसरा खण्ड, जिसमें कोश है, ब्यूलर प्रकाशित करना चाहता था, पर प्रकाशित न कर सका। — ९. पिशल द्वारा सम्पादित 'देशीनाममाला' पेज ८। — १०. पाइयलच्छी पेज ७ और उसके बाद। — ११. जीगफ्रीड गौल्दश्मित्त ने डौयत्शे लिटेराटूरत्साइटुंग २, ११०९में कई दूसरे उदाहरण दिये हैं। — १२.जीगफ्रीड गोल्डश्मित्त की उपर्युक्त पुस्तक।

§ ३७—'क्रमदीश्वर' के समय का अभी तक कोई निर्णय नहीं हो सका। अधिकतर विद्वानों का मत है कि वह हेमचन्द्र के बाद और बोपदेव के पहले जीवित रहा होगा। रसाख्रारिआए[१] का मत है, और यह मत ठीक ही है कि प्रमाणों से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि क्रमदीश्वर हेमचन्द्र के बाद पनपा होगा। साथ ही, बहुत कम ऐसे प्रमाण इकट्ठे किये जा सकते हैं जिनसे यह प्रायः असम्भव मत सिद्ध हो सके कि क्रमदीश्वर ने हेमचन्द्र से भी पहले अपना व्याकरण लिखा होगा। क्रमदीश्वर ने अपना व्याकरण, जिसका नाम 'संक्षिप्तसार' है, हेमचन्द्र की ही भाँति ८ भागों में बाँटा है जिसके अन्तिम अध्याय का नाम 'प्राकृत-पाद' है और इस पाद में ही प्राकृत व्याकरण के नियम दिये गये हैं। इस विषय में वह हेमचन्द्र से मिलता है; और बातों में दोनों व्याकरणकारों का नाममात्र भी मेल नहीं है। सामग्री की सजावट, पारिभाषिक शब्दों के नाम आदि दोनों में भिन्न भिन्न हैं[२]। क्रमदीश्वर की प्राचीनता का इससे पता चलता है कि उसने अपने संस्कृत व्याकरण में जो श्लोक उद्धृत किये हैं वे ईसा की आठवीं शताब्दि के अन्तिम भाग और नवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल से अधिक पुराने नहीं हैं। सबसे नवीन लेखक, जिसका उद्धरण उसने अपने ग्रन्थ में दिया है, मुरारि[३] है। मुरारि के विषय में हम इतना जानते हैं कि यह 'हरविजय'[४] के कवि 'रत्नाकर' से पुराना है, जो ईसा की

नवीं शताब्दी के मध्यकाल में जीवित था। 'क्रमदीश्वर' हेमचन्द्र के बाद जन्मा। इसका प्रमाण इससे मिलता है कि उसने उत्तरकालीन व्याकरणकारों की भाँति प्राकृत की बहुत अधिक बोलियों का जिक्र किया है जो हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में नहीं मिलता। 'क्रमदीश्वर' पर सब से पहले 'लास्सन' ने अपने इन्स्टीट्यूत्सीओनेस में विस्तारपूर्वक लिखा है। इसके व्याकरण का यह भाग, जिसमें धातुओं के रूप, धात्वादेश आदि पर लिखा गया है, देलिउस द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। इसका नाम है— 'राडिचेसप्राकृतिकाए' (बोन्नाएआडरेनुम् १८,३९)। 'प्राकृतपाद' का सम्पूर्ण संस्करण राजेन्द्रलाल मित्र ने 'बिब्लिओटेका इण्डिका' में प्रकाशित कराया था। मैं यह ग्रन्थ प्राप्त न कर सका। मेरे पास 'क्रमदीश्वर' की पुस्तक के मूल पाठ के पेज पर १७ २४ तक और शब्दसूची के पेज १४१–१७२ तक जिनमें भादुको से सद्यविश्रदि तक शब्द हैं तथा अंग्रेजी अनुवाद के पेज १–८ तक हैं। इन थोड़े से पेजों से कुछ निष्कर्ष निकालना इसलिए और भी कठिन हो जाता है कि यह संस्करण अच्छा नहीं है। क्रमदीश्वर के 'प्राकृतव्याकरण' अर्थात् 'संक्षिप्तसार' के ८ वें पाद का एक नया संस्करण सन् १८८९ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। '*गौए' की कृपा से यह ग्रन्थ मुझे मिला है और मैंने इस ग्रन्थ में जो उद्धरण दिये हैं वे उसी पुस्तक से ही दिये गये हैं। इस पुस्तक में भी बहुत सी अशुद्धियाँ हैं और मैंने जो उद्धरण दिये हैं वे 'लास्सन' की पुस्तक में जो उद्धरण दिये गये हैं उनसे मिलाकर ही दिये हैं। क्रमदीश्वर ने वररुचि को ही अपना आधार माना है और 'प्राकृत प्रकाश' तथा 'संक्षिप्तसार' में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई देता है, किन्तु जैसा लास्सन ने अपने 'इन्स्टीटयूत्सीओनेस' के परिशिष्ट के पेज ४० और उसके बाद के पेजों में उत्तम रीति से दिखाया है कि यह कई स्थलों पर वररुचि के नियमों से बहुत दूर चला गया है। इन स्थलों से यह पता लगता है कि इन नियमों और उदाहरणों की सामग्री उसने किसी दूसरे लेखक से ली होगी। क्रमदीश्वर ने अपभ्रंश पर भी लिखा है, पर वररुचि में इस प्राकृत भाषा का उल्लेख नहीं मिलता। क्रमदीश्वर ने 'संक्षिप्तसार' पर स्वयं एक टीका लिखी है। इसी टीका की व्याख्या और विस्तार जूमरनन्दिन्[8] ने 'रसवती' में किया है। केवल 'प्राकृतपाद' की टीका चण्डीदेव[8] शर्मन ने 'प्राकृतदीपिका' नाम से की है। राजेन्द्रलाल मित्रने 'प्राकृत पाद टीका' नामकी तीसरी टीका का भी नाम दिया है। इसका लेखक 'विद्याविनोद' है जो 'जटाधर'[9] का प्रपौत्र, 'वाणेश्वर' का पौत्र और 'नारायण' का पुत्र है। इस टीका का उल्लेख औफरेष्ट[10] ने भी किया है, जिसने बहुत पहले[11] इसके लेखकका नाम 'नारायण विद्याविनोदाचार्य' दिया है। मैंने औक्सफोर्ड की इस हस्तलिखित प्रति से काम लिया है, किन्तु उस समय, जब छपा हुआ 'संक्षिप्तसार' न मिलता था[12]। राजेन्द्रलाल मित्र ने जिस हस्तलिखित प्रति को छपाया है वह औफरेष्ट की प्रति से अच्छी है। उसकी भूमिका और प्रत्येक पाद के अन्त में जो समाप्तिसूचक पद हैं उनमें हस्तलिखित प्रति के लेखक ने जो वर्णन किया है, उससे विदित होता है कि लेखक का नाम 'विद्याविनोदाचार्य' है और उसने जटाधर के पौत्र तथा वाणेश्वर के पुत्र 'नारायण' के किसी पुराने ग्रंथ को सुधार कर यह पुस्तक तैयार की थी। शायद इसी नारायण के

भाई का नाम 'सुमेरु' था। 'नारायण' ने इससे भी बडा एक ग्रन्थ तैयार किया था जिसे किसी दुष्ट व्यक्ति ने नष्ट कर दिया। प्रस्तुत ग्रन्थ 'विद्याविनोद'[11] ने बनाया जिसमें 'नारायण' के बडे ग्रन्थ के उद्धरण हैं। 'प्राकृतपाद' क्रमदीश्वर की टीका है। उसमें इस पुस्तक का कहीं उल्लेख नहीं है। समाप्तिसूचक वाक्य में लेखक का नाम 'विद्याविनोदाचार्य' दिया गया है और पुस्तक का नाम 'प्राकृतपाद' है। इसलिए मुझे यह बात सन्देहजनक लग रही है *कि राजेन्द्रलाल मित्र का संस्करण ठीक है या नहीं।* इस ग्रन्थ के लेखक ने हर बात में वररुचि का ही अनुकरण किया है और इस पुस्तक का विशेष मूल्य नहीं है।

१.बेत्सनबेगर्स बाइत्रैगे ५,२६। — २.बेत्सनबेगर्स बाइत्रैगे में त्साखारिआए का लेख ५,२६; आठवें पाद के अंत में *क्रमदीश्वर ने संक्षेप में छंद और अलंकार* पर विचार किया है। — ३. बेत्सनबेगर्स बाइत्रैगे ५,५८ में त्साखारिआए का लेख। — ४. पीटर्सन द्वारा संपादित 'सुभाषितावलि' पेज ९१। — ५. राजेन्द्रलाल मित्र के 'अ डेस्क्रिप्टिव कैटेलौग ऑफ सैंस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द लाइब्रेरी ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बैंगौल, प्रथम भाग' ग्रैमर (कलकत्ता १८७७), पेज ७५; जौर्नल औफ द बौंबे एशियाटिक सोसाइटी १६, २५० में भंडारकर का लेख। — ६.यह सूची पुस्तक का अंग नहीं है, किंतु इसमें बहुत से प्राकृत शब्दों के प्रमाण वररुचि, मृच्छकटिक, शकुंतला, विक्रमोर्वशी, मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, वेणीसंहार, मालतीमाधव, उत्तररामचरित, महावीरचरित, चैतन्यचंद्रोदय, पिंगल और साहित्यदर्पण से उद्धरण दिये गये हैं। — ७. लास्सन, इन्स्टीट्यूत्सीओनेस, पेज १५ ; बेत्सनबेगर्स बाइत्रैगे ५,२२ और उसके बाद के पेजों में त्साखारिआए का लेख; औफरेष्ट का काटालोगुस काटालोगोरम १,६८४। — ८.लास्सन, इन्स्टीट्यूत्सीओनेस, पेज १६; औफरेष्ट का काटालोगुस काटालोगोरम १,६८४। — ९.नोटिसेज औफ सैंस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स ४,१६२ तथा बाद के पेज (कलकत्ता १८७८)। — १०.काटालोगुस काटालोगोरम १,६८४। — ११.औक्सफोर्ड का कैटेलौग पेज १८१। — १२.डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस, (व्रात्स्लाविआए १८७४,पेज १९)। —१३. इसकी भूमिका बहुत अस्पष्ट है, और यह संदेहास्पद है कि ऊपर दिया हुआ स्पष्टीकरण ठीक हो, इस विषय पर औफरेष्ट द्वारा संपादित औक्सफोर्ड का कैटेलौग से तुलना करें, पेज १८१। काटालोगुस काटालोगोरम में ८,२१८ में औफरेष्ट ने पीटर्सन के अल्वर कैटेलौग के साथ मेरी सम्मति (व्याख्या) दी है। पुस्तक अब नहीं मिलती। इनमें इस ग्रंथ का नाम स्पष्ट ही 'प्राकृत व्याकरण' दिया गया है।

§ ३८—'आदित्य वर्मन' के पौत्र और 'मल्लिनाथ' के पुत्र 'त्रिविक्रम देव' ने प्राकृत व्याकरण की टीका में हेमचन्द्र को ही अपना सम्पूर्ण आधार माना है। मैंने इस पुस्तक की दो हस्तलिखित प्रतियों से लाभ उठाया है। इण्डिया औफिस लाइब्रेरी के 'बुर्नेल कलेक्शन' संख्या ८४ वाली हस्तलिखित प्रति तंजौर की एक हस्तलिखित प्रति की नकल है और ग्रन्थ लिपि में है। दूसरी हस्तलिखित प्रति १०००६ संख्यावाली तंजौर की हस्तलिखित प्रति की नागरी में नकल है तथा जिसके सूत्र

भाग की हस्तलिखित प्रति की संख्या १०००४[1] है। ये दोनों नकलें बुर्नेल ने मेरे लिए तैयार करा दी थीं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ प्रदर्शनी पुस्तकमाला की संख्या १-३२ में, जो प्राचीन ग्रन्थों के पाठों का संग्रह छपा है, छपे इस ग्रन्थ के संस्करण का भी मैंने उपयोग किया है, किन्तु यह ग्रन्थ केवल पहले अध्याय के अन्त तक ही छपा है। 'त्रिविक्रम देव' ने अपने व्याकरण[2] के सूत्रों में एक विचित्र पारिभाषिक शब्दावलि का प्रयोग किया है। उसने इन शब्दों को अपने ग्रन्थ के आरम्भ में अर्थ देकर समझाया है[3]। सूत्रों में लिखी हुई अपनी वृत्ति में उसने १, १, १७ से आगे प्रायः सर्वत्र हेमचन्द्र के शब्दों को ही दुहराया है, इसलिए मैंने उसमें से बहुत कम उद्धरण लिये हैं। 'त्रिविक्रम देव' ने अपनी प्रस्तावना में यह उल्लेख किया है कि उसने अपनी सामग्री हेमचन्द से ली है। मैंने हेमचन्द के व्याकरण का जो संस्करण प्रकाशित किया है उसके पेज की किनारी में 'त्रिविक्रम देव' से मिलते जुलते नियम भी दे दिये हैं। उसने जो कुछ अपनी ओर से लिखा है वह १, ३, १०५; १, ४, १२१; २, १, ३०, ३, १, १३२ और ३, ४, ७१ में है। इन स्थलों में ऐसे शब्दों का संग्रह एक स्थान पर दिया गया है जो व्याकरण के नियमों के भीतर पकड़ में नहीं आते और जिनमें से अधिकतर ऐसे शब्द हैं जो देशी शब्द द्वारा व्यक्त किये जा सकते हैं। ३, ४, ७१ में दिये गये शब्दों के विषय में तो स्वयं ग्रन्थकार ने लिखा है कि ये देशी अर्थात् देश्याः हैं। इसके प्रारम्भ के दो अध्यायों को मैंने प्रकाशित कराया है और वेत्सनबेर्गर्स बाइत्रैगेत्सूर कुण्डेडेर इण्डोगरमानिशन श्प्राखन के ३, २३५ और उसके बाद के पेजों में, ६, ८४ और उसके बाद के पेजों में तथा १३, १ और उसके बाद के पेजों में इस ग्रन्थ की आलोचना भी की है। त्रिविक्रमदेव के काल का निर्णय इस प्रकार किया जा सकता है कि वह हेमचन्द्र के बाद का लेखक है और हेमचन्द्र की मृत्यु सन् ११७२ ई० में हुई है। वह 'कोलाचल मल्लिनाथ' के पुत्र कुमार स्वामिन् से पहिले जीवित रहा होगा, क्योंकि विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रीय' ग्रन्थ की टीका में, जो सन् १८६८ ई० में मद्रास से छपा है, २१८, २१ में वह नाम के साथ उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त ६२, १९ और उसके बाद के पेजों में, २०१, २१ और २१४, ४ में 'त्रिविक्रम देव' बिना नाम के उद्धृत किया गया है[4]। द्वितीय प्रतापरुद्र, जिसको विद्यानाथ ने अपना ग्रन्थ अर्पित किया है, ईसवी सन् १२९५-१३२३[5] तक राज्य करता था। कुमार स्वामिन् ने १२३, १ और उसके बाद लिखा है कि पुरानी बात है (पुराकिल) कि प्रतापरुद्र सिंहासन पर बैठा था। उसके पिता कोलाचल मल्लिनाथ ने वोपदेव[6] से उद्धरण लिये हैं जो देवगिरि[7] के राजा महादेव के दरबार में रहता था। महाराज महादेव ने ईसवी सन् १२६०-१२७१ तक राज्य किया[8]। इससे औफरेष्ट के इस मत की पुष्टि होती है कि 'मल्लिनाथ' का समय ईसा की १४ वीं सदी से पहले का नहीं माना जा सकता।[9] इस गणना के अनुसार त्रिविक्रम का काल १३ वीं शताब्दी में रखा जाना चाहिये।

१. बुर्नेल का 'क्लैसिफाइड इण्डेक्स' १,४३। — २ त्रिविक्रम सूत्र का रचयिता भी है, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज २९ में निजसूत्रमार्गम् के

निज को, जो त्रिविक्रम से सम्बद्ध है, गलत समझा है। इस ग्रन्थ का नाम 'प्राकृतव्याकरण' है, 'वृत्ति' नहीं। यह वृत्ति उपनाम है और इसका सम्बन्ध टीका से है। — ३. इसका उल्लेख पिशल ने अपने 'डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस' के पेज ३४–३७ तक में किया है। — ४. डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज ३८। — ५. सेवेल की पुस्तक 'अ स्केच ऑफ द डाइनैस्टीज ऑफ सदर्न इण्डिया' (मद्रास १८८३), पेज ३३। — ६. औफरेष्ट द्वारा सम्पादित ऑक्सफोर्ड का कैटेलौग, पेज ११३। — ७. औफरेष्ट का काटालोगुस काटालोगोरुम १, ६१६। — ८. सेवेल की ऊपर लिखी पुस्तक पेज ११४। — ९. ऑक्सफोर्ड का कैटेलौग पेज ११३।

§ ३९—'त्रिविक्रम देव' के व्याकरण को आधार मान कर 'सिंहराज' ने अपना 'प्राकृतरूपावतार' लिखा। यह सिंहराज 'समुद्रबन्धयज्वन्' का पुत्र था। मैंने लन्दन की रौयल एशियैटिक सोसाइटी की दो हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया है। इनमें से १५९ संख्यावाली प्रति ताड के पत्रों पर मलयालम् अक्षरों में लिखी हुई है और दूसरी हस्तलिखित प्रति ५७ संख्यावाली है जो कागज पर मलयालम् अक्षरों में लिखी गयी है। वास्तव में यह संख्या १५९ वाले की प्रतिलिपि है। सिंहराज ने 'त्रिविक्रम देव' के व्याकरण को कौमुदी के ढंग से तैयार किया। ग्रन्थ के प्रारम्भ में उसने **संज्ञा विभाग** और **परिभाषा विभाग** में पारिभाषिक शब्दों पर सार रूप से लिखा है और **संहिता विभाग** में उसने सन्धि और लोप के नियम बताये हैं। इसके बाद ही उसने **सुबन्त विभाग** दिया है जिसमें रूपावलि और अव्ययों के नियम दिये हैं; जिसके बाद **तिङन्त विभाग** आरम्भ होता है जिसमें धातुओं के रूपों के नियम हैं और जिसके भीतर धात्वादेश (**धात्वादेशाः**) भी शामिल हैं। इसके अनन्तर **शौरसेन्यादि विभाग** है जिसमें शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका-पैशाचिक और अपभ्रंश के नियम दिये गये हैं। प्रत्येक प्रकार की संज्ञा के लिए उसने अलग अलग रूपावलियाँ दे दी हैं। 'अ' में अन्त होनेवाली संज्ञा की रूपावली के नमूने के तौर पर उसने वृक्ष शब्द की रूपावली दी है। 'इ' में अन्त होनेवाली संज्ञा का नमूना उसने अग्नि लिया है। 'उ' के लिए तरु, 'ऊ' के लिए खलपू* और 'ऋ' के लिए भर्तृ दिया है। उसने बताया है कि इन संस्कृत शब्दों से प्राकृत शब्द किन नियमों के अनुसार बनते हैं। उसके बाद वह बताता है कि शब्दों के नाना रूपों के अन्त में अमुक अमुक स्वर और व्यंजन लगते हैं तथा वे अमुक प्रकार से जोड़े जाते हैं। इसी प्रकार उसने स्वरान्त स्त्री और नपुंसक-लिंग, व्यंजनान्त संज्ञा, युष्मद् और अस्मद् सर्वनाम तथा धातुओं पर लिखा है। धातुओं के लिए उसने नमूने के तौर पर हस् और सह् धातुओं के रूप दे दिये हैं। संज्ञा और क्रियापदों की रूपावली के ज्ञान के लिए 'प्राकृतरूपावतार' कम महत्वपूर्ण नहीं है। कहीं कहीं सिंहराज ने हेमचन्द्र और त्रिविक्रम देव से भी अधिक

* खलपू का अर्थ मेहतर या खलिहान साफ करनेवाला है। —अनु०

भाग की हस्तलिखित प्रति की संख्या १०००४[1] है। ये दोनों नकलें बुर्नेल ने मेरे लिए तैयार करा दी थीं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ प्रदर्शनी पुस्तकमाला की संख्या १–३२ में, जो प्राचीन ग्रन्थों के पाठों का संग्रह छपा है, छपे इस ग्रन्थ के संस्करण का भी मैंने उपयोग किया है, किन्तु यह ग्रन्थ केवल पहले अध्याय के अन्त तक ही छपा है। 'त्रिविक्रम देव' ने अपने व्याकरण[2] के सूत्रों में एक विचित्र पारिभाषिक शब्दावलि का प्रयोग किया है। उसने इन शब्दों को अपने ग्रन्थ के आरम्भ में अर्थ देकर समझाया है[3]। सूत्रों में लिखी हुई अपनी वृत्ति में उसने १, १, १७ से आगे प्रायः सर्वत्र हेमचन्द्र के शब्दों को ही दुहराया है, इसलिए मैंने उसमें से बहुत कम उद्धरण लिये हैं। 'त्रिविक्रम देव' ने अपनी प्रस्तावना में यह उल्लेख किया है कि उसने अपनी सामग्री हेमचन्द्र से ली है। मैंने हेमचन्द्र के व्याकरण का जो संस्करण प्रकाशित किया है उसके पेज की किनारी में 'त्रिविक्रम देव' से मिलते जुलते नियम भी दे दिये हैं। उसने जो कुछ अपनी ओर से लिखा है वह १, ३, १०६, १, ४, १२१; २, १, ३०, ३, १, १३२ और ३, ४, ७१ में है। इन स्थलों में ऐसे शब्दों का संग्रह एक स्थान पर दिया गया है जो व्याकरण के नियमों के भीतर पकड़ में नहीं आते और जिनमें से अधिकतर ऐसे शब्द हैं जो देशी शब्द द्वारा व्यक्त किये जा सकते हैं। ३, ४, ७१ में दिये गये शब्दों के विषय में तो स्वयं ग्रन्थकार ने लिखा है कि ये देशी अर्थात् देश्याः हैं। इसके प्रारम्भ के दो अध्यायों को मैंने प्रकाशित कराया है और बेत्सनबेर्गर्स बाइत्रैगेत्सूर कुण्डेडेर इण्डोगरयानिशन श्प्रासन के ३, २३५ और उसके बाद के पेजों में, ६, ८४ और उसके बाद के पेजों में तथा १३, १ और उसके बाद के पेजों में इस ग्रन्थ की आलोचना भी की है। क्रमदीश्वर के काल का निर्णय इस प्रकार किया जा सकता है कि वह हेमचन्द्र के बाद का लेखक है और हेमचन्द्र की मृत्यु सन् ११७२ ई० में हुई है। वह 'कोलाचल मल्लिनाथ' के पुत्र कुमार स्वामिन् से पहिले जीवित रहा होगा, क्योंकि विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रीय' ग्रन्थ की टीका में, जो सन् १८६८ ई० में मद्रास से छपा है, २१८, २१ में वह नाम के साथ उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त ६२, १९ और उसके बाद के पेजों में, २०१, २१ और २१४, ४ में 'त्रिविक्रम देव' बिना नाम के उद्धृत किया गया है[4]। द्वितीय प्रतापरुद्र, जिसको विद्यानाथ ने अपना ग्रन्थ अर्पित किया है, ईसवी सन् १२९५–१३२३[5] तक राज्य करता था। कुमार स्वामिन् ने १२३, १ और उसके बाद लिखा है कि पुरानी बात है (पुराकिल) कि प्रतापरुद्र सिंहासन पर बैठा था। उसके पिता कोलाचल मल्लिनाथ ने बोपदेव[6] से उद्धरण लिये हैं जो देवगिरि[7] के राजा महादेव के दरबार में रहता था। महाराज महादेव ने ईसवी सन् १२६०-१२७१ तक राज्य किया[8]। इससे औफरेष्ट के इस मत की पुष्टि होती है कि 'मल्लिनाथ' का समय ईसा की १४ वीं सदी से पहले का नहीं माना जा सकता।[1] इस गणना के अनुसार त्रिविक्रम का काल १३ वीं शताब्दी में रखा जाना चाहिये।

१ बुर्नेल का 'क्लैसिफाइड इण्डेक्स' १,४३। — २ त्रिविक्रम सूत्र का रचयिता भी है, दे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज २९ में निजसूत्रमार्गम् के

निज को, जो त्रिविक्रम से सम्बद्ध है, गलत समझा है। इस ग्रन्थ का नाम 'प्राकृतव्याकरण' है, 'वृत्ति' नहीं। यह वृत्ति उपनाम है और इसका सम्बन्ध टीका से है। — ३ इसका उल्लेख पिशल ने अपने 'डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस' के पेज ३४–३७ तक में किया है। — ४. डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज ३८। — ५. सेवेल की पुस्तक 'अ स्केच ऑफ द डाइनैस्टीज ऑफ सदर्न इण्डिया' (मद्रास १८८३), पेज ३३। — ६ ओफरेष्ट द्वारा सम्पादित ऑक्सफोर्ड का कैटेलौग, पेज ११३। — ७. ओफरेष्ट का काटालोगुस काटालोगोरुम १, ६१६। — ८. सेवेल की ऊपर लिखी पुस्तक पेज ११४। — ९. ऑक्सफोर्ड का कैटेलोग पेज ११३।

§ ३९—'त्रिविक्रम देव' के व्याकरण को आधार मान कर 'सिंहराज' ने अपना 'प्राकृतरूपावतार' लिखा। यह सिंहराज 'समुद्रबन्धयज्वन्' का पुत्र था। मैंने लन्दन की रौयल एशियैटिक सोसाइटी की दो हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया है। इनमें से १५९ संख्यावाली प्रति ताड के पत्रों पर मल्यालम् अक्षरों में लिखी हुई है और दूसरी हस्तलिखित प्रति ५७ संख्यावाली है जो कागज पर मल्यालम् अक्षरों में लिखी गयी है। वास्तव में यह संख्या १५९ वाले की प्रतिलिपि है। सिंहराज ने 'त्रिविक्रम देव' के व्याकरण को कौमुदी के ढग से तैयार किया। ग्रन्थ के प्रारम्भ में उसने **संज्ञा विभाग** और **परिभाषा विभाग** में पारिभाषिक शब्दों पर सार रूप से लिखा है और **संहिता विभाग** में उसने सन्धि और लोप के नियम बताये हैं। इसके बाद ही उसने **सुबन्त विभाग** दिया है जिसमें रूपावलि और अव्ययों के नियम दिये हैं, जिसके बाद **तिङन्त विभाग** आरम्भ होता है जिसमें धातुओं के रूपों के नियम हैं और जिसके भीतर धात्वादेश (**धात्वादेशाः**) भी शामिल हैं। इसके अनन्तर **शौरसेन्यादि विभाग** है जिसमें शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाचिक और अपभ्रंश के नियम दिये गये हैं। प्रत्येक प्रकार की संज्ञा के लिए उसने अलग अलग रूपावलियाँ दे दी हैं। 'अ' में अन्त होनेवाली संज्ञा की रूपावली के नमूने के तौर पर उसने वृक्ष शब्द की रूपावली दी है। 'ई' में अन्त होनेवाली संज्ञा का नमूना उसने **अग्नि** लिया है। 'उ' के लिए तरु, 'ऊ' के लिए खलपू* और 'ऋ' के लिए **भर्तृ** दिया है। उसने बताया है कि इन संस्कृत शब्दों से प्राकृत शब्द किन नियमों के अनुसार बनते हैं। उसके बाद वह बताता है कि शब्दों के नाना रूपों के अन्त में अमुक अमुक स्वर और व्यंजन लगते हैं तथा वे अमुक प्रकार से जोड़े जाते हैं। इसी प्रकार उसने स्वरान्त स्त्री और नपुंसक लिंग, व्यंजनान्त संज्ञा, युष्मद् और अस्मद् सर्वनाम तथा धातुओं पर लिखा है। धातुओं के लिए उसने नमूने के तौर पर हस् और सह् धातुओं के रूप दे दिये हैं। संज्ञा और क्रियापदों की रूपावली के ज्ञान के लिए 'प्राकृतरूपावतार' कम महत्वपूर्ण नहीं है। कहीं कहीं सिंहराज ने हेमचन्द्र और त्रिविक्रम देव से भी अधिक

* खलपू का अर्थ मेहतर या खलिहान साफ करनेवाला है। —अनु०

रूप दिये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें से अधिकतर रूप उसने नियमों के अनुसार गढ लिये हैं, पर इस प्रकार के नये नये रूप व्याकरण के अनुसार गढने की किसी दूसरे को नहीं सूझी, इसलिए उसका यह विषय बहुत ही सरस है। ठीक जिस प्रकार 'सिंहराज' ने 'त्रिविक्रम देव' के सूत्रों को बड़े ढंग से सजाया है, उसी प्रकार 'रघुनाथ शर्मन्' ने वररुचि के सूत्रों को अपने 'प्राकृतानन्द' में सजाया है। 'लक्ष्मीधर' ने भी अपनी 'षड्भाषा चन्द्रिका'[१] में सूत्रों का क्रम इस तरह से ही रखा है। प्राकृत के सबसे नये ग्रन्थ 'षड्भाषा सुबन्त रूपादर्श' में 'नागोबा' ने भी यही ढंग रखा है। यह ग्रन्थ गम्भीर ज्ञान का नहीं वल्कि चलतू ज्ञान का परिचय देता है। नागोबा की पुस्तक प्राकृत की 'शब्दरूपावलि' है।

१. इस विषय में पिशल के 'डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस' में पेज ३९-४३ तक सविस्तर वर्णन दिया गया है। — २. प्रोसीडिङ्ग ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बैंगौल, १८८० के पेज ११० और उसके बाद के पेजों में होएर्नले का लेख। — ३. बुर्नेल द्वारा सपादित 'क्लैसिफाइड इंडेक्स' पेज ४३; लास्सन के 'इन्स्टीट्यूत्सीओनेस. .' के पेज ११-१५ तक की तुलना भी करें।— ४. बुर्नेल की उपर्युक्त पुस्तक, पेज ४४।

§ ४०—महाराष्ट्री, जैन महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैन शौरसेनी के अतिरिक्त अन्य प्राकृत बोलियों के नियमों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'मार्कण्डेय कवीन्द्र' का 'प्राकृतसर्वस्वम्' बहुत मूल्यवान है। मैंने इस पुस्तक की दो हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया है। एक ताडपत्र पर लिखी हुई है और इण्डिया आफिस में है। मैकजी की हस्तलिखित प्रतियों में इसकी संख्या ७० है और यह नागरी लिपि में लिखी गयी है। इसे सुरक्षित रखने के लिए इसके बाहर लकडी के दो टुकड़े रखे गये हैं। उनमें से ऊपर की लकड़ी के टुकड़े पर नागरी अक्षरों में लिखा है—'पिंगल व्याकरण' और रोमन अक्षरों में लिखा है—'पिंगल, प्रौक्रीत, सुर्वे, भाषा व्याकरनम्।' अब यह शीर्षक मिट गया है और नीचे के तख्ते म लिखा है—'पगल प्रौक्रीत सुर्वे भौषा व्याकरणम्।' पहले ही पन्ने में नागरी में लिखा है—'श्री राम, पिंगलप्राकृत सर्वस्व भाषाव्याकरणम्। दूसरी हस्तलिखित प्रति औक्सफोर्ड की है जिसका वर्णन औफरेष्ट के काटालोगुस काटालोगुरुम के पेज १८१ संख्या ४१२ में है। ये दोनों हस्तलिखित प्रतियाँ एक ही मूल पाठ से उतारी गयी हैं और इतनी विकृत हैं कि इसका अर्थ लगाना कठिन हो जाता है। इसलिए इसके कुछ अंश ही मैं काम में ला पाया हूँ। इस ग्रन्थ के अन्त में इस ग्रथ की नकल करनेवाले का नाम, ग्रन्थकार का नाम और जो समय दिया गया है, उससे ज्ञात होता है कि 'मार्कण्डेय' उडीसा का निवासी था और उसने 'मुकुन्ददेव' के राज्य में अपना यह ग्रन्थ लिखा। औफरेष्ट का अनुमान है कि यह 'मुकुन्ददेव' वही राजा है जिसने 'स्टर्लिंग' के मतानुसार सन् १६६४ ई० में राज्य किया, किन्तु निश्चित रूप से यह बात नहीं कही जा सकती। 'मार्कण्डेय' ने जिन जिन लेखकों के ग्रन्थों से अपनी सामग्री ली है उनके नाम हैं— शाकल्य, भरत, कोहल, वररुचि, भामह (§ ३१ से ३३ तक) और वसन्तराज।

वसन्तराज वह है जिसने 'प्राकृतसंजीवनी' बनायी है। कौवेल्[1] और औफरेष्ट[2] यह मानते हैं कि 'प्राकृतसंजीवनी' वररुचि की टीका है। किन्तु यह बात नहीं है। यद्यपि वसन्तराज ने अपना ग्रन्थ वररुचि के आधार पर लिखा तथापि उसका ग्रन्थ सब भाँति से स्वतंत्र है। यह ग्रंथ कर्पूरमंजरी ९, ११ में (बम्बई संस्करण) उद्धृत किया गया है : 'तद् उक्तम् प्राकृतसंजीविन्याम्। प्राकृतस्य तु सर्वम् एव संस्कृतम् योनि :' (§ १)। मुझे अधिक सम्भव[3] यह मालूम पड़ता है कि यह वसन्तराज[4] *राजा कुमारगिरि वसन्तराज है, जो काटयवेम[5] का दामाद है, क्योंकि काटयवेम ने यह* बात कही है कि वसन्तराज ने एक नाट्यशास्त्र लिखा, जो उसने वसन्तराजीयम्[6] बताया है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि उसे स्वभावतः प्राकृतभाषा से प्रेम और उसका ज्ञान रहा होगा। काटयवेम के शिलालेख ईसवी[7] सन् १३९१, १४१४ और १४१६ के मिलते हैं। यदि मेरे अनुमान के अनुसार नाट्यकार और महाराजकुमार वसन्तराज एक ही हों तो 'मार्कण्डेय' का काल १५ वीं सदी की पहली चौथाई में होना चाहिए। वह वसन्तराज, *जिसने शाकुन ग्रंथ लिखा है,* हुल्त्श[8] के मतानुसार प्राकृत व्याकरणकार से भिन्न है। अपने ग्रंथ मे मार्कण्डेय ने अनिरुद्धभट्ट, भट्टिकाव्य, भोजदेव, दण्डिन्, हरिश्चन्द्र, कपिल, पिंगल, राजशेखर, वाक्पतिराज, सप्तशती और सेतुबन्ध[9] का उल्लेख किया है। इनमें सबसे बाद का लेखक 'भोजदेव' है जिसने अपना करण ग्रथ 'राजमृगाङ्क' शक सवत् ९६४ (ईसवी सन् १०४२-४३) में रचा[10] है। विषय प्रवेश के बाद मार्कण्डेय ने प्राकृत भाषाओं का विभाजन किया है। इसी *विभाजन के अनुसार उसने पुस्तक में* प्राकृत भाषाओं का साररूप से व्याकरण दिया है। सबसे पहले उसने महाराष्ट्री प्राकृत के नियम बताये हैं, जो आठ पादों में पूरे हुए हैं। पुस्तक का यह सबसे बड़ा खंड वररुचि के आधार पर है और हेमचन्द्र के व्याकरण से बहुत छोटा है, जिसमें कई बातें छूट गयी हैं और कई स्वतन्त्र नियम जोड दिये गये हैं। इसके अनन्तर ९वाँ पाद है, जिसके ९वें प्रकरण में शौरसेनी के नियम हैं। १०वे पाद में प्राच्य भाषा के विषय में सूत्र हैं। ११वे में आवन्ती और बाल्हीकी का वर्णन है और १२वें पाद में मागधी के नियम बताये गये हैं, जिनमें अर्धमागधी का उल्लेख है (§ ३)। ९ से १२ तक के पाद एक अलग खण्ड सा है और इसका नाम है 'भाषाविवेचनम्'। १३ से १६वें पाद तक में विभाषाः (§ ३) का वर्णन है। १७ और १८ वें में अपभ्रंश भाषा का तथा १९ और २० वें पाद में पैशाची के नियम बताये गये हैं। शौरसेनी के बाद अपभ्रंश भाषा का वर्णन बहुत शुद्ध और ठीक-ठीक है। हस्तलिखित प्रतियों की स्थिति बहुत दुर्दशाग्रस्त होने के कारण इसमें जो बहुमूल्य सामग्री है उससे यथेष्ट लाभ उठाना असम्भव है।

१. 'वररुचि' की भूमिका का पेज १० और बाद के पेज। — २.काटालोगुस काटलोगोरुम १, ३६०। — ३.राजा का नाम 'कुमारगिरि' और उसका उपनाम 'वसन्तराज' है, 'एपिग्राफिका इण्डिका' ४, ३१८ पेज तथा बाद के पेजों से प्रमाण मिलता है। हुल्त्श पेज ३२७ से भी तुलना करें। — ४.काटयवेम नाम

मैंने पहले-पहल जी० एन० पत्रिका १८७३ में पेज २०१ और बादके पेजों में सप्रमाण दिया है। औफरेष्ट ने इस नाम को अपने 'कातलोगुस कातालोगोरुम' में फिर से अशुद्ध 'काटयवेम' कर दिया है। 'एपिग्राफिका इण्डिका' ४,३१८ तथा बाद के पेजों के शिलालेख इस नाम के विषय में नाममात्र सन्देह की गुंजाइश नहीं रखते। — ५.डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज १८। इस तथ्य से कि काटयवेम ने नाटकों की जो टीकाएँ लिखी हैं उनमें 'प्राकृतसंजीवनी' का उल्लेख नहीं किया है। यदि ये दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हों तो हम यह निदान निकाल सकते हैं कि ये टीकाएँ वसन्तराज ने अपने अलंकारशास्त्र की पुस्तकों के बाद और 'काटयवेम' नाम से लिखी होंगी। — ६. डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज १८, एपिग्राफिका इण्डिका ४, ३२७, पद १७। — ७. हुल्श, एपिग्राफिका इण्डिका ४, ३१८। — ८. वसन्तराज शाकुन 'तेक्स्ट टेक्स्टप्रोबेन' नामक ग्रन्थ की भूमिका (लाइप्सिख १८७९) पेज २९। — ९. पिशल, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस, पेज १७। — १०. थीबो, आस्ट्रोनोमी, आस्ट्रोलोजी उण्ट मार्थेमाटीक (स्ट्रासबुर्ग १८९९, ग्रुंडरिस, भाग ३, ९), § ३७।

§ ४१—'मार्कण्डेय' के व्याकरण से बहुत कुछ मिलता जुलता, विशेषतः महाराष्ट्री को छोड़ अन्य प्राकृत भाषाओं के विषय में मेल खानेवाला एक और ग्रन्थ रामतर्कवागीश का 'प्राकृतकल्पतरु' है, जिसकी एकमात्र हस्तलिखित प्रति बंगाला लिपि में इण्डिया आफिस में ११०६ संख्या देकर रखी गयी है। यह बहुत दुर्दशाग्रस्त है इसलिए इसका बहुत कम उपयोग किया जा सकता है। 'रामतर्कवागीश' पर 'लास्सन' ने अपने 'इन्स्टीट्यूत्सीओनेस' के पेज १९ से २२ तक में विचार किया है। पेज २० से यह पता चलता है कि 'रामतर्कवागीश' ने 'लंकेश्वर' द्वारा लिखे गये किसी प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर अपनी पुस्तक लिखी। यह पुस्तक रावण द्वारा लिखी गयी 'प्राकृत कामधेनु' है। इसका दूसरा नाम 'प्राकृत लंकेश्वर रावण' भी है और कई लोग इसे केवल 'लंकेश्वर' भी कहते[१] हैं। अभीतक 'प्राकृतकामधेनु' के खण्ड-खण्ड ही मिले हैं, पूरी पुस्तक प्राप्त नहीं हुई है[२]। यदि यह लंकेश्वर वही है जिसने 'काव्य माला खण्ड' में पेज ६ से ७ तक में छपी शिवस्तुति लिखी है तो वह 'अप्पयदीक्षित' से पुराना है, क्योंकि बनारस से संवत् १९२८ में प्रकाशित 'कुवलयानन्द' के श्लोक ५ की टीका में अप्पयदीक्षित ने इसका उद्धरण[३] दिया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह ईसवी सन् की १६ वीं सदी[४] के अन्त से पहले का है। 'रामतर्कवागीश' उसके बाद के हैं। नरसिंह की 'प्राकृतशब्दप्रदीपिका' त्रिविक्रम के ग्रंथ का महत्वहीन अवतरण है। इसका प्रारम्भिक भाग[५] 'ग्रंथ प्रदर्शनी' नामक पुस्तक संग्रह की संख्या ३ और ४ में प्रकाशित किया गया है। ऊपर दिये गये ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक लेखकों के नाम हस्तलिखित प्रतियों में पाये जाते हैं, इनमें से अधिकांश के विषय में हम इनके लेखकों और ग्रन्थों के नामों को छोड़कर और कुछ नहीं जानते और किसी किसी लेखक और ग्रन्थ का यह हाल है कि कहीं कहीं केवल रचयिता का और कहीं कहीं केवल ग्रन्थ का नाम मिलता है। शुभचन्द्र ने 'शब्दचिन्तामणि'

नाम का ग्रन्थ लिखा। होएर्नले[9] के कथनानुसार इस ग्रन्थ में चार चार पादों के दो अध्याय हैं। यह पुस्तक हेमचन्द्र के व्याकरण का अनुसरण करती है। दक्षिण के लेखक 'त्रिविक्रम देव' और 'सिंहराज' (§ ३८ और ३९) की भाँति 'शुभचन्द्र' इसका प्रारम्भ कई राशासूत्रों से करता है। सम्भवत राजेन्द्रलाल मित्र[8] ने जिस 'औदार्यचिन्तामणि' का उल्लेख किया है और जिसके विषय में उसने लिखा है कि इसका लेखक कोई 'शुभसागर'[4] है, वह यही ग्रन्थ है। 'कृष्णपंडित' अथवा 'शेषकृष्ण' की 'प्राकृतचन्द्रिका' श्लोकों में लिखा गया दोषपूर्ण ग्रन्थ है। पीटर्सन ने थर्ड रिपोर्ट के पेज ३४२ से ३४८ तक में उसके उद्धरण दिये हैं। ३४३, ५ से ज्ञात होता है कि उसका गुरु 'नृसिंह' था और ३४८, २१ मे इस गुरु का नाम 'नरसिंह' बताया गया है। सम्भवत 'प्राकृत शब्दप्रदीपिका' का रचयिता इसीको समझना चाहिए। इस ग्रथ के ३४६, ६ के अनुसार यह पुस्तक बच्चों के लिए लिखी गयी थी (शिशुहिता कुर्वे प्राकृतचन्द्रिकाम्)। ३४३, १९ के अनुसार ऐसा भान होता है कि वह महाराष्ट्री और आर्षम् को एक ही मानता है, क्योंकि वह वहाँ पर उसका उल्लेख नहीं करता यद्यपि केवल इस बोली पर उसने अन्यत्र लिखा है। जैसा उसके उदाहरणों से पता चलता है, उसने हेमचन्द्र के ग्रन्थ का बहुत अधिक उपयोग किया है। नाना प्राकृतों का विवरण और उनके विभाग, जो विशेष व्यक्तियों के नाम पर किये गये हैं (पेज ३४६ ३४८), शब्द प्रतिशब्द 'भरत' और 'भोजदेव' जैसे प्राचीन लेखकों से ले लिये गये हैं। इनमें पेज ३४८ मे 'भारद्वाज' नया है। एक 'प्राकृतचन्द्रिका' वामनाचार्य ने भी लिखी है, जो अपना नाम 'करञ्जकविसार्वभौम' बताता है और 'प्राकृतपिंगल' (§ २९) की टीका का भी रचयिता है[9]। प्राकृत शिक्षा प्रारम्भ करनेवालों के लिए एक सक्षिप्त पुस्तक प्रार्थितनामा अप्पयदीक्षित[10] का 'प्राकृतमणिदीप' है। यह लेखक सोलहवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में हुआ है। जिन जिन ग्रन्थों से उसने अपनी सामग्री एकत्र की है उनका उल्लेख करते हुए वह त्रिविक्रम, हेमचन्द्र, लक्ष्मीधर, भोज, पुष्पवननाथ, वररुचि तथा अप्पयज्वन् के नाम गिनाता है (§ ३२)। 'वार्त्तिकार्णवभाष्य', जिसका कर्त्ता या स्वतन्त्र लेखक 'अप्पयज्वन्' ही है, कि तु वास्तव में उसका ग्रन्थ त्रिविक्रम की पुस्तक में से सक्षिप्त और अशुद्ध उद्धरणमात्र है जिसका कोई मूल्य नहीं है। इसका बहुत छोटा भाग 'ग्रन्थप्रदर्शिनी' की सख्याएँ २, ५, ६, ८ १० और १३ में छपा है। एक प्राकृतकौमुदी[11] और समन्तभद्र[12] आदि के प्राकृतव्याकरण का उल्लेख और करना है। 'साहित्यदर्पण' १७४, २ के अनुसार 'विश्वनाथ' के पिता 'चन्द्रशेखर' ने 'भाषार्णव' नाम का ग्रन्थ लिखा था। पिशल द्वारा सम्पादित शकुन्तला के १७५, २४ मे 'चन्द्रशेखर' ने अपनी टीका में 'प्राकृत साहित्य रत्नाकर' नाम के ग्रन्थ का उल्लेख किया है और इसी ग्र थ के १८०, ५ में भाषाभेद से एक उद्धरण दिया गया है, जो सम्भवत प्राकृत पर कोई ग्रन्थ रहा होगा। 'मृच्छकटिक' १४, ५ पेज २४४ (स्टेंत्सलर का एक सस्करण जो गौडबोले के ४०, ५ पेज ५०३ में है) की टीका म 'पृथ्वीधर' ने 'देशीप्रकाश' नाम के किसी ग्रन्थ से काणेली कन्यका माता उद्धृत किया है। टीकाकारों ने स्थान स्थान पर प्राकृत सूत्र

दिये हैं जिनके बारेमें यह पता नहीं चलता कि ये किन ग्रन्थों से लिये गये हैं।

१. यही स्वीकारोक्ति संभव है। राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा संपादित 'नोटिसेज ९, २३९, संख्या ३१५७' में उसके ग्रंथों की भूमिका में स्पष्ट शब्दों में ग्रंथकर्ता का नाम 'रावण' दिया गया है और समाप्तिसूचक पंक्तियाँ हैं—इति रावणकृता प्राकृतकामधेनुः समाप्ता। संख्या ३१५८ की समाप्तिसूचक पंक्ति में रचयिता का नाम 'प्राकृतलंकेश्वर रावण' दिया गया है। 'लास्सन' ने अपने ग्रंथ 'इन्स्टीट्यूत्सीओनेस'' ' में 'कोलब्रुक' के मतानुसार ग्रन्थ का नाम 'प्राकृत-लंकेश्वर' दिया है। उसका यह भी मत है कि यह ग्रन्थ 'प्राकृतकामधेनु' से भिन्न है और 'लाइडन' के साथ उसका भी यह मत है कि इसका कर्ता 'विद्या-विनोद' है। रामतर्कवागीश ने (लास्सन : इन्स्टीट्यूत्सीओनेस'' पेज २०) ग्रन्थ-कर्ता का नाम 'लंकेश्वर' बताया है। यही नाम 'शिवस्तुति' और 'कालाग्निरुद्रो-पनिषद्' के रचयिता का भी है (औफरेष्ट : काटालोगुस काटालोगोरम १,५४२)। यह स्पष्ट ही रावण का पर्याय है। राजेन्द्रलाल मित्र की इस सम्मति पर विश्वास हो जाता है कि राक्षस दशमुख रावण से यह 'रावण' भिन्न है। — २. नोटिसेज ९, २३८ और उसके बाद के पेज में संख्या ३१५७ और ३१५८ में स्पष्टतः इस ग्रन्थ के कई भागों के उद्धरण दिये गये हैं। संभावना यही है। पहले खंड में ऐसा मालूम होता है कि पिंगल के अपभ्रंश पर लिखा गया है। — ३. दुर्गा-प्रसाद और परब : काव्यमाला १, ७ में नोट १। — ४. काव्यमाला १, ९१ नोट १; एपिग्राफिका इण्डिका ४, २७१। — ५. औफरेष्ट के काटालोगुस काटालोगो-रम २, ८१ के अनुसार ऐसा मत बन सकता है कि यह ग्रन्थ संपूर्ण प्राप्त है, पर केवल आठ ही पन्ने छपे हैं। — ६. एपिग्राफिका इण्डिका २, २९। — ७. प्रोसीडिंग्स ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल १८७५, ७७। — ८. इस सम्बन्ध में औफरेष्ट के काटालोगुस काटालोगोरम १,६५९ की तुलना कीजिए। — ९ औफरेष्ट : काटालोगुस काटालोगोरम १, २३७, ३६०, ५६४, 'राजेन्द्रलाल' मित्र के 'नोटिसेज ४,१७२की संख्या १६०८'से पता चलता है कि 'प्राकृतचंद्रिका' इससे पुराना और विस्तृत ग्रन्थ है। — १०. औफरेष्ट - काटालोगुस काटालोगो-रम १,३२, २,५ में समयसम्बन्धी भूल है। हुल्श की 'रिपोर्ट्स ऑन संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स् इन सदर्न इण्डिया' १,६७ की संख्या २६५ में बताया गया है कि इस ग्रन्थ का रचयिता 'चिनबोम्मभूपाल' है। यही बात समाप्तिसूचक पद में भी है। इस संस्करण के पेज २१ और २७ से भी तुलना करें। — ११. औफरेष्ट : काटालोगुस काटालोगोरम १, ३६०। —१२. औफरेष्ट . काटालोगुस काटालोगोरम १,३६१।

§ ४२—भारत के प्राकृत व्याकरणकारों के विषय में 'ब्लौख' ने विशेष प्रतिष्ठासूचक सम्मति नहीं दी है। उसकी यह सम्मति चार वाक्यों में आ गयी है'— '(१) प्राकृत व्याकरणकारों का हमारे लिए केवल इसलिए महत्त्व है कि इतने प्राचीन समय की एक भी हस्तलिखित प्रति हमारे पास नहीं है और न मिलने

की आशा है। (२) उनकी लिखी बातों की शुद्धि के विषय में उन्हीं को हस्तलिखित प्रतियों से छानबीन की जा सकती है। (३) हमारे पास जो हस्तलिखित प्रतियाँ हैं उनमें कहीं-कहीं जो मतभेद दिखाई देता है उसे तबतक असत्य मानना पड़ेगा जबतक कोई अच्छी हस्तलिखित प्रति प्राप्त न हो और उसके द्वारा इसके मतभेद की पुष्टि न मिले। (४) हमें यह न मानना चाहिये कि हमारी हस्तलिखित प्रतियों की ये बातें, जिनके विषय में उन्होंने मौन धारण कर रखा हो, वे न जानते थे और इससे भी बड़ी बात यह है कि ये बातें या रूप उनके समय में विद्यमान न थे। प्राकृत व्याकरणकारों के विषय में यह दलील गलत है कि उन्होंने जो बात न लिखी हो उसे वे न जानते हों।' इन चार बातों में से चौथी बात अंशतः ठीक है। अन्य तीन बातें मूलतः गलत हैं। हमें हस्तलिखित प्रतियों के अनुसार व्याकरणकारों को शुद्ध करना नहीं है, बल्कि व्याकरणकारों के अनुसार हस्तलिपियाँ सुधारनी हैं[१]। इस विषय पर मैं यह संकेत करके संतोष कर लूँगा कि पाठक २२ से २५ § तक शौरसेनी, मागधी, शाकारी और ढक्की के विषय में पढ़कर उनपर इस दृष्टि से विचार करें। इन बोलियों का चित्र व्याकरणकारों के नियमों को पढ़कर ही हम बहुत-कुछ तैयार कर सकते हैं; हस्तलिखित प्रतियों में बहुत-सी बातें मिलती ही नहीं। उदाहरणार्थ 'क्लौख'[२] के मतानुसार 'मृच्छकटिक' की 'पृथ्वीधर' की टीका में पृथ्वीधर के मत से 'चारुचन्द्र' का पुत्र 'रोहसेन' मागधी प्राकृत में बातचीत करता है, किन्तु 'स्टैन्सलर' के मतानुसार वह शौरसेनी बोलता है। इन दो भिन्न-भिन्न मतों से यह पता चलता है कि इन विद्वान टीकाकारों पर कितना भरोसा किया जा सकता है। जैसा § २३ के नोट, संख्या २ में दिखाया गया है कि हस्तलिखित प्रतियों में ऐसे लक्षण विद्यमान हैं जिनसे ज्ञात होता है कि यह दोष हस्तलिखित प्रतियों के सिर पर मढ़ा जाना चाहिए न कि विद्वानों के। मेरे द्वारा सम्पादित शकुन्तला का संस्करण प्रकाशित होने के पहले विद्वानों को यह मानना पड़ा कि 'सर्वदमन' (पेज १५४ से १६२ तक) शौरसेनी प्राकृत में बोलता होगा। मेरे सस्करण में जो आलोचना की गई है उससे ज्ञात होता है कि मागधी के चिह्न कितने कम मिलते हैं। ऐसी स्थिति में आज भी किसी विद्वान को यह कहने में कोई हिचक नहीं हो सकती कि भले ही अधिकांश हस्तलिखित प्रतियों में इसके बहुत कम चिह्न मिलते हैं जिनसे कि मागधी नियम स्पष्ट रूप से समझ में आयें तो भी मागधी का शुद्ध रूप हमें खड़ा करना होगा। इसलिए 'कापेलर'[४] की बात बिलकुल ठीक है कि 'सर्वदमन' और 'रोहसेन' एक ही भाषा बोलते होंगे। इस बात में सन्देह नहीं कि व्याकरणकारों ने इस विषय में जो नियम बनाये हैं उनकी उचित रीति से छानबीन और पूर्ति की जानी चाहिए। मुझे कोई कारण नहीं दीखता कि हेमचन्द्र[५] के बारे में जो सम्मति मैं दे चुका हूँ उसे बदलूँ। हमें यह न भूलना चाहिए कि प्राचीन काल के व्याकरणकारों के सामने जो-जो सामग्री प्रस्तुत थी हमें अभी तक उस साहित्य का केवल एक छोटा सा भाग प्राप्त हुआ है*। हेमचन्द्र के व्याकरण

* अपभ्रंश, जैन महाराष्ट्री आदि पर इधर बहुत सामग्री प्रकाशित हुई है। उसका लाभ उठाया जाना चाहिए। —अनु०

वे ग्रन्थ के समान ग्रन्थ बहुत प्राचीन साहित्य के आधार पर लिखे गये हैं। जैन शौरसेनी के (§ २१) थोड़े से नमूने इस बात पर बहुत प्रकाश डालते हैं कि शौरसेनी के नियमों पर लिखते हुए हेमचन्द्र ने ऐसे रूप दिये हैं जो प्राचीन व्याकरणकारों के ग्रन्थों और नाटकों में नहीं मिलते। 'लास्सन' ने १८३७ ई० में व्याकरणकारों के ग्रन्थों से बहुत से रूपों की पुष्टि की थी और आज कई ग्रन्थों में उनके उदाहरण मिल रहे हैं। इसी प्रकार हम भी नये नये ग्रन्थ प्राप्त होने पर यही अनुभव प्राप्त करेंगे। व्याकरणकारों की अवहेलना करना उसी प्रकार की भयंकर भूल होगी जिस प्रकार की भूल विद्वानों ने वेद की टीका करते समय इस विषय की भारतीय परम्परा की अवहेलना करके की है। इनका निरादर न कर हमें इनके आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित करने चाहिए।

१ वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा पेज ४८। — २.उपर्युक्त ग्रन्थ पेज ४। — ३. येनायेर लिटराटूरत्साइटुंग १८७७, १२४। — ४ याकोबी गे० गे० आ १८८८, ७१। — ५. हेमचन्द्र २, भूमिका पेज ४।

§ ४३–प्राकृत व्याकरण पर सबसे पहले 'होएफर' ने अपनी पुस्तक 'डे प्राकृत डिआलेक्टो लिब्रि दुओ' में, जो बर्लिन से सन् १८३६ ई० में प्रकाशित हुई थी, अपने विचार प्रकट किये। प्रायः उसी समय 'लास्सन' ने अपनी पुस्तक 'इन्स्टीट्यूत्सीओनेस लिंगुआए, प्राकृतिकाए' प्रकाशित की। इसमें उसने प्राकृत की प्रचुर सामग्री एकत्र की। यह पुस्तक बौन से सन् १८३९ ई० में प्रकाशित हुई। 'लास्सन' की उक्त पुस्तक निकलनेके समयतक भारतीय व्याकरणकारों की एक भी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी। प्राकृत में जो साहित्य है उसमें से नाटकों का कुछ हिस्सा छप सका था। 'मृच्छकटिक', 'शकुन्तला', 'विक्रमोर्वशी', 'रत्नावली', 'प्रबन्धचन्द्रोदय', 'मालतीमाधव', 'उत्तररामचरित' और 'मुद्राराक्षस' छप चुके थे, किन्तु इनके संस्करण अति दुर्दशाग्रस्त तथा बिना आलोचना के छपे थे। यही दशा 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' की थी जिनमें अनेक भूलें ज्यों की त्यों छोड़ दी गयी थीं। ऐसी अवस्था में 'लास्सन' ने मुख्यतया केवल शौरसेनी पर लिखा। महाराष्ट्री पर उसने जो कुछ लिखा उसमें व्याकरणकारों के मतों की कुछ चर्चा कर दी तथा 'मृच्छकटिक', 'शकुन्तला' और 'प्रबन्धचन्द्रोदय' से उद्धरण लेकर मागधी प्राकृत पर भी विचार किया। ऐसी स्थिति में, जब कोई प्राकृत व्याकरण प्रकाशित नहीं हुआ था तथा संस्कृत नाटकों के भी अच्छे संस्करण नहीं निकल सके थे, अपर्याप्त सामग्री की सहायता से प्राकृत पर एक बड़ा ग्रन्थ लिखना 'लास्सन' का ही काम था। उसकी इस कृति को देखकर इस समय भी आश्चर्य होता है। अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि और उत्तम ढंग से उसने बिगड़े हुए असंख्य स्थलों पर विकृत तथा अशुद्ध पाठों को सुधारा तथा उसका ठीक ठीक संशोधन किया। उसकी बुनियाद पर बाद में संस्कृत और प्राकृत पाठोंके संशोधन का भवन निर्माण किया गया। फिर भी उसके आधार पर काम करनेवाला अभी तक कोई पैदा नहीं हुआ। 'वेबर' ने महाराष्ट्री और अर्धमागधी पर काम किया। 'एडवर्ड म्यूलर' ने अर्धमागधी पर शोध की। 'याकोबी' ने जैन महाराष्ट्री बोली पर बहुत कुछ लिखा।

इन विद्वानों का उल्लेख यथास्थान किया गया है। 'कौवेल' ने 'ए शोर्ट इण्ट्रोडक्शन टू द ओर्डनरी प्राकृत औफ द संस्कृत ड्रामाज् विथ ए लिस्ट औफ कौमन् इरेगुलर प्राकृत वर्ड्स्' पुस्तक लिखी, जो लन्दन से सन् १८७५ ईसवी में प्रकाशित हुई। यह ग्रन्थ वररुचि के आधार पर लिखा गया है। इसमें प्राकृत पर कुछ मोटी-मोटी बातें हैं। इसके प्रकाशन से कोई विशेष उद्देश्य पूरा न हो सका[१]। रिशी केश शास्त्री ने (जिनका शुद्ध नाम 'हृषीकेश' होना चाहिए) सन् १८८३ ई० में कलकत्ता से 'ए प्राकृत ग्रैमर विथ इङ्गलिश ट्रान्सलेशन' पुस्तक प्रकाशित की थी। इसमें भारतीय प्राकृत व्याकरणकारों के विचारों को यूरोपियन ढंग से सजाने का उसने प्रयास किया है। उसने उन हस्तलिपियों का उपयोग किया जिनका पाठ बहुत अशुद्ध था। आलोचनात्मक दृष्टि से पाठों को उसने देखा तक नहीं इसलिए उसका व्याकरण निकम्मा है। बहुधा प्राकृत के मोटे मोटे नियम देने में ही वह अपने व्याकरण की सफलता समझता है। उसने केवल एक नयी बात बतायी है, एक अज्ञात नामा पुस्तक 'प्राकृतकल्पलतिका' की सूचना उसने पहले पहल अपनी पुस्तक में दी है। 'हौग' ने सन् १८६९ ई० में बर्लिन से 'फैरग्लाइशुङ्ग डेस प्राकृता मित डेन रोमानिशन् ष्प्राखन' पुस्तक प्रकाशित करायी। इसमें उसने प्राकृत और स्पैनिश, पोर्तुगीज, फ्रेञ्च, इटालियन आदि रोमन भाषाओं के रूपों में, जो समान ध्वनि परिवर्तन के नियम लागू हुए हैं, तुलना की है। प्राकृत व्युत्पत्ति शास्त्र के इतिहास पर होएर्नले[३] ने भी लिखा है। इस विषय पर सन् १८७०-८१ ई० तक जो जो पुस्तकें निकली हैं या जो कुछ लिखा गया है, उनपर वेबर[४] ने अपने विचार प्रकट किये हैं।

१. बेनारी द्वारा सम्पादित 'यारब्यूशर फ्यूर विस्सनशाफ़्लिशे क्रिटीक १८३६', ८६३ और उसके बाद के पेज। — २. बेनाएर, लिटराट्रस्साइटुंग १८७५ के ७९४ और उसके बाद के पेजों में पिशल के लेख की तुलना कीजिए। — ३. 'कलकत्ता रिव्यू' सन् १८८० के अक्तूबर अंक में 'अ स्केच ऑफ द हिस्ट्री ऑफ प्राकृत फाइलोलौजी' शीर्षक लेख। 'सेंटिनरी रिव्यू ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बैंगौल (कलकत्ता १८८५)' खण्ड २ पेज १५७ और उसके बाद के पेज। — ४. हाल २ (लाइपत्सिग्न १८८१) भूमिका के पेज ७ ओर उसके बाद, नोट सहित।

§ ४४—इस व्याकरण में पहली बार मैंने यह प्रयत्न किया है कि सभी प्राकृत बोलियाँ एक साथ रख कर उन पर विचार किया जाय तथा जो कुछ सामग्री आज तक प्राप्त हुई है उसका पूरा पूरा उपयोग किया जाय। 'लास्सन' के बाद इस समय तक अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और महाराष्ट्री का प्रायः नब्बे प्रतिशत नया ज्ञान प्राप्त हुआ है। ये प्राकृत बोलियाँ बड़े महत्त्व की हैं, क्योंकि इनमें प्रचुर साहित्य रहा है। मैंने इस पुस्तक में ढक्की, दाक्षिणात्या, आवन्ती और जैन शौरसेनी प्राकृत बोलियों पर बिलकुल नयी सामग्री दी है। ये ये बोलियाँ हैं जिन पर विचार प्रकट करने के लिए अभी तक बहुत कम पाठ मिल पाये हैं। शौरसेनी और मागधी पर मैंने फिर से विचार किया तथा उसका संशोधन किया है, जैसा

मैं पहले लिख चुका हूँ (§ १९, २२ और २३)। अधिकांश ग्रन्थों के पाठ, जो अर्धमागधी, शौरसेनी और मागधी में मिलते हैं, छपे संस्करणों में आलोचनात्मक दृष्टि से सम्पादित नहीं किये गये हैं, इसलिए इनमें से ९९ प्रतिशत ग्रंथ व्याकरण की दृष्टि से निरर्थक हैं। इस कारण मेरे लिए एक बहुत बड़ा काम यह आ गया कि कम से कम शौरसेनी और मागधी पर कुछ ऐसी सामग्री इकट्ठी की जाय जो भरोसे के योग्य हो, और मैंने इसलिए अनेक नाटकों के तीन या चार संस्करणों की तुलना करके उनका उपयोग किया है। इस काम में मुझे बहुत समय लगा और खेद इस बात का है कि इतना करने पर भी मुझे सफलता नहीं मिली। अर्धमागधी के लिए ऐसा करना सम्भव न हो सका। इस भाषा के ग्रन्थों का आलोचनात्मक दृष्टि से सम्पादन करने पर इनमें बहुत संशोधन किया जा सकता है। यद्यपि मैं पहले कह चुका हूँ कि प्राकृत भाषा के मूल में केवल एक संस्कृत भाषा ही नहीं अन्य बोलियाँ भी हैं, तथापि यह स्वयंसिद्ध है कि संस्कृत भाषा ही प्राकृत की आधारशिला है। यद्यपि मेरे पास अन्य भाषाओं की सामग्री बहुत है तथापि मैंने पाली, अशोक के शिलालेखों की भाषा, लेण प्रस्तर लेखों की बोली और भारतीय नयी बोलियों से बहुत सीमित रूप में सहायता ली और तुलना की है। यदि मैं इस सामग्री से अधिक लाभ उठाता तो इस ग्रंथ का आकार, जो वैसे ही अपनी सीमा से बहुत बढ चुका है, और भी अधिक बढ जाता। अतः मैंने भाषासम्बन्धी कल्पित विचारों को इस ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया। मेरी दृष्टि में यह बात रही कि भाषा शास्त्र की पक्की बुनियाद डाली जाय और मैंने अधिकांश प्राकृत भाषाओं के भाषा शास्त्र की नींव डालने में सफलता प्राप्त की। जितने उद्धरणों की आवश्यकता समझी जा सकी, उनसे भी अधिक उद्धरण मैंने इस ग्रन्थ में दिये। प्राकृत भाषाओं और उनके साहित्य का ज्ञान अति संकीर्ण दायरे में सीमित है। इसलिए मैंने यह उचित समझा कि प्राकृत भाषाओं के नियमों का उदारता से प्रयोग किया जाय और साथ ही इनके शब्द-संग्रह का आरम्भ किया जाय।

अध्याय दो

ध्वनिशिक्षा

§ ४५—प्राकृत की ध्वनिसम्पत्ति का प्राचीन संस्कृत से यह भेद है कि प्राकृत में ऍ ओ॑[1] ळ (§ २२६) बोलियों में और स्वतन्त्र ञ (§ २३७), ल्ह (§ २४२) और संयुक्त ध्वनियाँ ञ्ञ (§ २८२), ञ्च, ञ्ज (§ २१७), म्ह (§ ३३१), ल्ह (§ ३३०), स्क, स्ख, ह्क (§ ३०२, ३२४), स्त (§ ३१०), श्ट (ष्ट = श्ट), श्ठ, स्ट (§ ३०३) संस्कृत से भिन्न हैं। इसके विपरीत सभी प्राकृत बोलियों में ऋ, ऌ, ऐ, औ[2] और ष नहीं होते। केवल मागधी में ष कभी आता है[3] जैसे तिष्ठति का मागधी रूप चिष्ठदि है। (§ ३०३) विसर्ग (:) और बिना स्वर के व्यंजन नहीं मिलते[1]। अधिकांश प्राकृतों में ङ, न, य और श भी नहीं मिलते। अस्वर व्यंजन अर्थात् हलन्त्य अक्षर प्राकृत में नहीं होते। ङ, ञ स्ववर्ग के साथ संयुक्त होते हैं, जो व्यंजन शब्द के भीतर स्वरों के बीच में होने से लुप्त हो जाते हैं और उनके स्थान पर हलके य की ध्वनि बोली जाती है। जैन हस्तलिपियों में यह य लिखा मिलता है (§ १८७)।

१. एस० गौल्डश्मित्त ऍ और ओ को अस्वीकार करता है। देखिए उसकी पुस्तक 'प्राकृतिका' पेज २८ से। याकोबी और पिशल इस मत के विरुद्ध हैं। — २. प्राकृत में केवल विस्मयबोधक ऐ रह गया है। देखिए § ६०। — ३. चण्ड २, १४ पेज १८ और ४४; हेच १, १; त्रिवि० और सिंह० पिशल की पुस्तक के ग्रामाटिकिस पेज ३४ और बाद के पेज में; पीटर्सन की थर्ड रिपोर्ट ३४४, १ में; कृष्णपण्डित, आव० एर्त्से० के पेज ६ के नोट ४ में; कल्पचूर्णी = पिंगल १, २ पेज ३, ४ और बाद के पेज, जिसमें ५ पंक्तियों में म के स्थान में भ पढ़ना चाहिए। लाइन ६ है सआदपुट्ठे दि चे वि। पादवे ण दुअंति के स्थान पर कुछ ऐसा पाठ होना चाहिए पाउए णत्थि अत्थि; इसमें अत्थि, जैसा बहुधा होता है (§ ४९८) बहुवचन सन्ति के लिए आया है। इस छन्द में न तो हवन्ति और न होंति=भवन्ति ही मात्रा के हिसाब से ठीक बैठता है। छठी पंक्ति में भी म के स्थान में भ पढ़ा जाना चाहिए और सातवीं पंक्ति में अड अः य य। इस उक्ति के अनुसार प्राकृत में य भी नहीं होता। इस विषय पर § २०१ देखिए।

§ ४६—महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री का ध्वनिबल (ऐक्सेंट) तथा अपभ्रंश कविता और अधिकांश में जैन शौरसेनी का भी वैदिक से मिलता है। चूँकि ध्वनिबल पर स्वरों का निबल (अशक्त) पड़ना और उतार चढ़ाव निर्भर करता है और कहीं-कहीं निश्चित स्थिति में व्यंजनों को द्विज करना भी इसी पर

अवलम्बित करता है, इसलिए यह केवल संगीतमय अर्थात् ताल-लय की ही दृष्टि से नहीं वल्कि यह प्रधानतया गले से निकालनेवाले निःश्वास प्रश्वास से सम्बन्ध रखता होगा। शौरसेनी, मागधी और ढक्की में प्राचीन संस्कृत का ध्वनिबल प्रमाणित किया जा सकता है। यह ध्वनिबल (ऐक्सेंट) लैटिन से बिल्कुल मिलता है। पाराग्राफों में इस पर सविस्तर लिखा गया है। पिशल के इस मत का विरोध 'याकोबी' और 'ग्रियर्सन' करते हैं।

अ। ध्वनित और स्वर

१ ध्वनित

§ ४७—अपभ्रंश प्राकृत में ऋ बोली में (§ २८) रह गया है। (हेमचन्द्र ४, ३२९; क्रमदीश्वर ५, १६; नमिसाधु की टीका, जो उसने रुद्रट के 'काव्यालंकार' पर २, १२ और पेज १५९ में की है): तृणु=तृणम् (हेमचन्द्र ४, ३२९; नमिसाधु उपर्युक्त स्थान पर): सुकृदु (हेमचन्द्र ४, ३२९), सुकृदम् (क्रमदीश्वर ५, १६) = सुकृतम्; गृण्हइ=गृह्णाति, गृहन्ति=गृह्णन्ति, गृण्हेप्पिणु=गृहित्वीनम् (§ ५८८)=गृहीत्वा (हेमचन्द्र ४, ३३६ और ३४१, २)। कृदन्त हों=कृतान्तस्य(हेमचन्द्र ४,३७०,४) अधिकांश अपभ्रंश बोलियों में, जैसा सभी प्राकृत भाषाओं का नियम है, 'ऋ' नहीं होता। चूली पैशाचिक पृत= घृत, यह शब्द क्रमदीश्वर ५,१०२ में आया है और ऐसा लगता है कि इसका पाठ घत* होना चाहिए जैसा कि इसी ग्रन्थ के ५,११२ में दढ़हृदयक के लिए त ठ हितपक दिया गया है। यह उदाहरण 'लास्सन' के 'इन्स्टीट्यूत्सीओनेस' के पेज ४४१ में नहीं पाया जाता। ध्वनित अक्षर के रूप में 'ऋ' हस्व 'अ' 'इ' और 'उ' के रूप में बोला जाता है। जैसा व्यञ्जन र कार (§ २८७ से २९५) वैसे ही ध्वनित ऋ-कार भी अपने पहले आये हुए व्यंजन से मिल जाता है जिसके कारण केवल स्वर ही स्वर (अर्थात् अ या इ) शेष रह जाता है। इस नियम के अनुसार प्राकृत और अपभ्रंश में व्यञ्जनों के बाद का ऋ, अ, इ, उ, में परिणत हो जाता है।[१] शब्दों के आरम्भ में आनेवाले ऋ के विषय में § ५६ और ५७ देखिए। ऋ के लिए ए कहीं पर आता है इस विषय पर § ५३ देखिए।

१. मालीव : आन्त्साइगर प्यूर डौयत्शेस आल्टरटूम उण्ट डौयत्शे लिटेराटूर २४,१०। योहान्नेस श्मित्त लिखित 'त्सूर गेशिष्टे डेस इण्डोगर्मानिशन वोकालिज्मुस' २,२ और बाद के पेज, क्रिटीक डेर सोनांटन थेओरी पेज १७५ और बाद के पेज, वेष्टल : 'डी हौप्टप्रौब्लेमेडेर इण्डोगर्मानिशन लौटलेरे जाइट इलाइशर' पेज १२८ और उसके बाद के पेज। इस विषय का विस्तृत साहित्य 'वाकरनागल' के 'आल्टइण्डिशे ग्रामाटीक' § २८ और उसके आगे मिलता है। 'वाकरनागल' के मत से इसका मूल र स्वर था।

§ ४८—'ऋ' के साथ कौन स्वर बोला जाता है, यह अनिश्चित होने के कारण

* घृत का प्राकृतों में घत भी होता है। चूलीपैशाचिक में साधारणतया घ का ख हो जाता है। —अनु०

ऋकार भिन्न-भिन्न प्राकृतों में नहीं, बल्कि एक ही बोली में और एक ही शब्द के भीतर ध्वनियाँ बदलता है। भारतीय व्याकरणकार अकार को ऋकार का नियमित प्रतिनिधि समझते हैं और उन्होंने उन शब्दों के गण तैयार कर दिये हैं, जिनमें अकार के स्थानपर इकार या उकार हो जाता है (वररुचि १;२७-२९; हेमचन्द्र १,१२६-१३९; क्रमदीश्वर १,२७,३०,३२; मार्कण्डेय पेज ९ और १० ; 'प्राकृतकल्पलतिका' पेज ३१ और उसके बाद)। प्राकृत के ग्रन्थ साधारणतया अपने मत का प्रतिपादन करते हैं और विशेषकर वे ग्रन्थ, जो महाराष्ट्री में हैं, इन नियमों के अनुसार लिखे जाते हैं तथा इन ग्रन्थों में जो अशुद्धियाँ भी हों तो वे इस नियम के अनुसार सुधारी जानी चाहिए। इस विषय के जो उदाहरण दिये जायेंगे वे जहाँ तक सम्भव हों, व्याकरणकारों द्वारा इस सम्बन्ध में दिये गये नियमों का ध्यान रखकर ही दिये जायेंगे।

§ ४९—ऋकार के स्थानपर अकार हो जाता है। उदाहरणार्थ, महाराष्ट्री घअ= घृत (हाल=२२), अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री घय (चण्ड २,५; हेमचन्द्र १,१२६; पाइयलच्छी १२३; आयारंगसुत्त २,१,४,५:२,६,१,९ और १२:२,१३,४; विवाहपन्नत्ति ९१०; उत्तररामचरित १७०।४३२ ; कप्पसुत्त ; आवश्यक एर्सेलुंगन १२;१२ : तीर्थकल्प ६,४।७), किन्तु शौरसेनी और मागधी में घिद मिलता है (मृच्छकटिक ३,१२ : ११७,८ : १२६,५ [-यह शब्द घिअ* के स्थान पर आता है])। पल्लवदानपत्र में तण = तृण (६,३३), महाराष्ट्री प्राकृत में भी यही रूप आया है (भामह १,२७; हेमचन्द्र १,१२६; क्रमदीश्वर १,२७; गउड० ७०;हाल; रावण); अर्धमागधी में यही रूप है(आयारगसुत्त १,१,४,६ : १,६,३,२ : सू० १२९।८१०।८१२:विवाहपन्नति १२०।४७९।५००।६४५।६५८।१२४५।१२५० : उत्तररामचरित१०६।२१९।३७१।५८२। ६९५।१०४८ : जीवा० ३५६।४६४।४६५: पण्णव० ३३।४३ आदि), तणग=तृणका† (आयारगसुत्त२,२३,१८: दश० ६२३,१), तणइल्ल (= तृण से भरा हुआ; जीवा० ३५५); यह शब्द जैन महाराष्ट्री में भी आया है (कक्कुक शिलालेख १२; द्वारा० ५०२, ३१ : ५०४, १३), यह शौरसेनी में भी मिलता है (शकुन्तला १०६, १३); अपभ्रंश में भी है (हेमचन्द्र ४, ३२९, ३३४।३३९); अर्धमागधी में तिण हो जाता है (विवाहपन्नति १५२६), जैन महाराष्ट्री में, (एर्सेलुंगन), जैनशौरसेनी में, (कत्तिगे० ३९९,३१३), शौरसेनी में, (विक्रमोर्वशी १५,११), महाराष्ट्री कअ = कृत (भामह १, २७; हेमचन्द्र १, १२६ ; पाइयलच्छी ७७ ; गउड०; हाल; रावण०), पल्लवदानपत्र में अधिकते = अधिकृतान (५, ५) है। कड (७, ५१) अर्धमागधी में कय (उवा०; ओव०) और कड (आयारंगसुत्त १, ८, १; ४; सूय० ४६; ७४; ७७; १०४; १०६; १३३; १३६; १५१; २८२; ३६८ ४६९; निरया०; भग०; कप्प०), इसी प्रकार सन्धि के साथ अकड‡ शब्द आया

* यह घिअ हिन्दी 'घी' का पूर्वज है। —अनु०

† यह तिनके का पूर्वज है। इसका रूप कुमाऊनी बोली में आज भी तणिल है। तणग से पाठक हिन्दी तनिक[तनक] की तुलना करें।—अनु०

‡ किसी भाषा की शब्द-सम्पत्ति किन किन स्रोतों से शब्दसागर में आती है, यह अकड़ शब्द

है (आयार० १, २, १, ३, ५, ६), दुक्कड (आयार० १, ७, १, ३; सूय० २३३।२७५।२८४।३५९; उत्तर० ३३), वियड़ वियॅड़* (आयार० १, ८, १, १७; सूय० ३४४; उत्तर० ५३), सुकड़† (आयार० १, ७, १, ३; २, ४, २, ३; उत्तर० ७६), संखय = संस्कृत (सूय० १३४, १५०; उत्तर० १९९), पुरेकड़ = पुरस्कृत (§ ३०६ और ३४५), थाह्याकड़‡ = याथाकृत (§ ३३५) : जैन महाराष्ट्री कय (एर्त्सेलुगन और कक्कुक शिलालेख), दुक्कय (पाय० ५३ : एर्त्सेलुगन), जैन शौरसेनी कद (पवय० ३८४, ३६ किन्तु पाठ में कय है : मृच्छ० ३,१९;४१,१८; ५२,१२: शकुन्तला ३६,१६;१०५,१५;१४०,१३: विक्रमो० १६,१२;३१,९;२३८): मागधी कद (मृच्छ० ४०,५; १३३,८; १५९,२२) और कड (मृच्छ० १७,८; ३२,५; १२७,२३ और २४ आदि आदि); कल (मृच्छ० ११,१;४०,४); पैशाची कत (हेम० ३,३२२ और ३२३) अपभ्रंश कअ (हेमचन्द्र ४,४२२,१०), कअऊ= कृतकः = कृतः (हेमचन्द्र ४,४२९,१), किन्तु शौरसेनी और मागधी में जो पाठ मिलते हैं वे बहुत शुद्ध हैं और उनकी हस्तलिखित प्रतियों में कृत के लिए बहुधा किद शब्द आया है। शौरसेनी के कुछ उदाहरण ये हैं—(मृच्छ० २,२१;३६,४;६८, १२;शकु० १२४,७; १५४,९; १६१,५;विक्रमो० २३,११; ३५,६; ७२,१६; ८४,२१)। मागधी के उदाहरण—(मृच्छ० ११२,१६; १२१,६; १६५,२)। इन दोनों बोलियों के लिए सम्भवतः एक ही शुद्ध रूप है और उस स्थितिमें तो यही रहना चाहिए जब किसी सन्धिवाले पद के अन्त में यह आता है। जैसे, शौरसेनी सिद्धीकिद (मृच्छ० ६,११ और १३;७,५), पुराकिद (शकु० १६२,१३), पञ्चक्खीकिद (विक्रमो० ७२,१२)। मागधी दुरिकद (मृच्छ १२५,१ और ४) महाराष्ट्री में व्यञ्जन और भी कम हो जाते हैं। द्विधाकृत का दुहाइय होता है (हेमचन्द्र १, १२६; रावण० ८, १०६), दोहाइय (रावण); वैसे महाराष्ट्री मे किअ शब्द अशुद्ध है। अपभ्रंश में अकार और ऋकार के साथ साथ इकार भी होता है। अकृत के स्थान पर अकिय हो जाता है (हेमचन्द्र ४, ३९६, ४), किअउ=कृतकम्=कृतम् (हेमचन्द्र ४, ३७१), किदु (हेम० ४, ४४६ इस विषय पर § २१९ की भी तुलना कीजिए)। वसह = वृषभ (भामह १, २७ : चड २, ५ पेज ४३ ; ३, १३ : हेमचन्द्र १, १२६ : पाइय० १५१), महाराष्ट्री में यह रूप है—(गउड०, रावण०); अर्धमागधी में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है (विवाह० २२५ : उत्तर० ३३८ : कप्प०, § ४।३२।६१; नायाध० § ४७), अर्धमागधी में वसभ शब्द भी काम में लाया गया है (आयार० २, १०, १२ : २, ११, ७ और ११ : विवाह०,

उसका नमूना है। अक्कड़ शब्द संस्कृत अकृत के स्थान पर आता था। आज भी हिन्दी अकड़ उसी स्थान पर प्रयुक्त होता है, पर अर्थ का विकार और विस्तार हो गया है। हिन्दी में अकड़ का अर्थ है खिंचाव तनाव, काम न करने का भाव जिसके साथ कुछ गर्व भी मिला रहता है। अकड़ का दूसरा रूप ऍंकड़ी देखिए। क्रिया अकड़ना बन गयी है। —अनु०

* हिन्दी बिगाड़ और बिगड़ना। —अनु०

† सुघड़ शब्द सुकड़ से निकला है। सुघड़ वह काम है जो उत्तम रीति से किया गया हो।—अनु०

‡ यह 'क्रिया' का श्रीगणेश है। —अनु०

१०४८; पण्णव० १२२ : अणुओग०, ५०२ : कप्प० § ११४ और १०८); जैन-महाराष्ट्री में वसह आया है (द्वारा० ४९८, २४ : कक्कुक शिलालेख : एर्से०) और वसभ भी चलता है (एर्से०) : जैन शौरसेनी में वसह रूप है (पवयण० ३८२,२६ और ४३) : किन्तु शौरसेनी में वृषभ के लिए सदा वुसह शब्द आता है (मृच्छ० ६, ७; मालवि० ६५, ८; बा० रा० ७३, १८; ९३, १०; २८७, १५; प्रसन्न० ४४, १३), महाराष्ट्री के उदाहरणों में कहीं कहीं उसह मिलता है लेकिन यह अशुद्ध है (हाल ४६० और ८२०; इसके बम्बई संस्करण में वु के स्थान पर व ही छपा है) । — अर्धमागधी मे धृष्ट के स्थान पर धट्ठ* मिलता है (हेमचन्द्र १, १२६ : आयार० २, २, १, ३; २, ५, १, ३; २, १०, ५ : पण्णव० ९६ और ११० : जीवा० ४३९।४४७।४४९।४५३।४८३ और उसके बाद, ओव०) । मृत्तिका के स्थान पर अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में मट्टिया तथा शौरसेनी में में मट्टिआ होता है (आयार० २, १, ६, ६ ; २, १, ७, ३ ; २, ३, २, १३ : विवाह० ३३१।४४७।८१०।१२५३।१२५५, ठाणग० ३२१, पणहावा० ४१९ और ४९४ : उत्तर०, ७५८ : नायाध० ६२१ : रायपसे०, १७६ : उवास० : ओवे० : एर्से० : मृच्छ० ९४, १६; ९५, ८ और ९; शकु० ७९, १; १५५, १०; भर्तृहरि निर्वेद १४, ५) । — अर्धमागधी में वृत्त के स्थान पर वट्ट शब्द आता है (हेमचन्द्र २, २९; आयार० १, ५, ६, ४, २, ४, २, ७ और १२ : सूय० ५९०; ठाणग० २०; विवाह० ९४२; उत्तर १०२२; पण्णव० ९ और उसके बाद; उवास०; ओव०; कप्प०) ।—अर्धमागधी में वृष्णि शब्द का रूप वण्हि हो जाता है (उत्तर ० ६६६; नायाध० १२६२)। अन्धकवृष्णि के स्थान पर अन्धक-वण्हि हो जाता है (उत्तर ० ६७८; दसवे० ६१३, ३३; विवाह० १३९४; अन्तग० ३) ।

§ ५०—सभी प्राकृत भाषाओं में अत्यधिक स्थानों में ऋ का रूप इ हो जाता है और आज भी भारतीय भाषाओ में ऋ का रि होता है। वररुचि १,२८; क्रमदीश्वर १, २२; मार्कण्डेय पेज ९ और उसके बाद 'प्राकृत कल्पलतिका' पेज ३१ में ऋ से आरम्भ होनेवाले शब्दों के लिए ऋष्यादि गण बनाया गया है, हेमचन्द्र ने १,१२८ में कृपादि गण दिया है, जो हेमचन्द्र के आधार पर लिखे गये सब व्याकरणों में मिलता है। इस नियम के अनुसार महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी में कृप शब्द का रूप किस† हो जाता है (हेमचन्द्र १, १२८, हाल; उत्तर० ७५०; उवास; शकु० ५३, ९)।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी, शौरसेनी और मागधी में कृपण के लिए किविण रूप काम आता है (हेमचन्द्र १,१२८; गउड०, हाल०; कप्प०; कालेयक० २६,१ [इस ग्रन्थ में वि के स्थान में व आया है जो अशुद्ध पाठ है]; मृच्छ० १०,६;

---

* धट्ठ शब्द ढीठ का प्रारम्भिक रूप है। धिट्ठ रूप भी चलता है। इसमें हमारा ढीठ बना है। मट्टिआ, मट्टिअ, मट्टी, मृ का मि भी कहीं होता होगा, इसलिए मिट्टी और मट्टी दो रूप हो गये। —अनु०

† पाठक 'विमान' शब्द से तुलना करें। —अनु०

१३६, १८ और १९) । अर्धमागधी में गृध्र का गिद्ध* हो जाता है जिसका अर्थ लोभी है (सूय० १०५; विवाह० ४५० और ११२८; उत्तर० ५९१; नायाध० ४३३ और ६०६); इस शब्द का अर्थ जैन महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी में गीध पक्षी होता है (वररुचि १२, ६; मार्कण्डेय पेज ९; एर्त्से०; विक्रमो० ७५, ११; ७९, १५; ८०, २०; मालवि० २८, १२; शकु० ११६,३) । —अर्धमागधी में गृध्रिय = गिद्धिय के स्थान पर गिद्धि शब्द आता है (हेमचन्द्र १, १२८; सूय० ३६३।३७१ और ४०६; उत्तर० ९३३।९३९।९४४।९५४ आदि आदि) और गृद्धि के स्थान पर गिद्धि शब्द आता है (पण्णव० १५०) ।— महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसेनी, शौरसेनी और अपभ्रंश में दृष्टि का रूप दिट्ठि हो जाता है (भामह १, २८; हेमचन्द्र १, १२८; क्रमदीश्वर १, ३२; मार्कण्डेय पेज १०; गउड०; हाल; रावण०; मग०; उवास०; एर्त्से०; कक्कुक शिलालेख; पव्य० ३८८, ५; मृच्छ० ५७, ३।१० और १७; ५९, २४; ६८, २२; १५२, २५; शकु० ५३, ८; ५९, ७; ७९, १० आदि आदि; हेमचन्द्र ४, ३३०, ३) ।—महाराष्ट्री में वृश्चिक का विंचुअ हो जाता है -(भामह १, २८; हाल २३७); कहीं विंचुअ भी मिलता है (चण्ड० २, १५; हेमचन्द्र १, १२८; २, १६ और ८९; क्रमदीश्वर २, ६८; [पाठ में विंचओ शब्द आया है और राजकीय संस्करण में विच्चुओ† दिया गया है]) : विंछिअ भी है (हेम० १, २६; २, १६), विंछुअ भी काम में लाया गया है (मार्कण्डेय पेज १०), अर्धमागधी में वृश्चिक का रूप विच्छिय‡ हो जाता है (उत्तर० १०६४[1]) । —शृगाल शब्द महाराष्ट्री में सिआल हो जाता है (भामह १, २८; हेमचन्द्र १, १२८; क्रमदीश्वर १, ३२; मार्कण्डेय पेज ९); अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में सियाल (आयार० २, १, ५, ३; सूय० २९६; पण्णव० ४९।३६७।३६९; जीवा० ३५६; कक्कुक शिलालेख), सियालग भी कहीं-कहीं आता है (नायाध० ५११), सियालत्ताए (ठाणंग २९६), सियाली (पण्णव० ३६८), शौरसेनी में सिआल मिलता है (मृच्छ० ७२, २२; शकु० ३५, ९); मागधी में शिआल हो जाता है (मृच्छ० २२, १०; ११३,२०; १२०, १२; १२२, ८; १२७, ५; शकु० ११६, २), शिआली भी मिलता है (मृच्छ० ११, २०) ।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और अपभ्रंश में शृंग का रूप सिंग हो जाता है (हेमचन्द्र १, १३०; पाइय० २१०; गउड०; हाल; विवाह० ३२६ और १०४२; उवास०; ओव०; कप्प०; एर्त्से०; हेमचन्द्र ४, ३३७), हेमचन्द्र १, १३० के अनुसार शृंग के स्थानपर संग भी होता है ।— महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अपभ्रंश में हृदय के लिए हिअअ काम में आता है (भामह १, २८; हेमचन्द्र १, १२८; क्रमदीश्वर १,३२; मार्कण्डेय पेज १०; गउड०; हाल; रावण०; और मृच्छ० १७,१५; २७,४; १९ और २१; ३७, १६ आदि

---

* यह शब्द हिन्दी में आज भी ज्यों-का-त्यों है । —अनु०

† बिच्छू का आदि प्राकृत रूप जो हिन्दी में आया है । —अनु०

‡ कई स्थानीय हिन्दी बोलियों में यह रूप रह गया है । उनमें विच्छिय का बिच्छी रूप चलता है । इनमें एक बोली कुमाउनी है जिसमें इस शब्द का बहुत उपयोग होता है।—अनु०

आदि), मागधी (मृच्छ० २९,२१; १२८,२; १६९,६; प्रबन्ध० ६३,१५ [यह रूप महाराष्ट्री में पढ़ा जाना चाहिए])। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **हियय** काम में आता है (भग०; उवास०; नायाध०; कप्प०; ओव; आदि आदि; एर्त्से०; कक्कुक शिलालेख); मागधी में अधिकांश स्थलों में **हडक्क** आता है (§ १९४) **हडक**, **हडअ** भी मिलता है (§ २४४); पैशाची में **हितप** और **हितपक** कहा जाता है (§ १९१)।

१. जब और अधिक आलोचनात्मक संस्करण छपने लगेंगे तब इस शब्द के विशुद्ध रूप अलग-अलग पाठों से स्थिर किये जा सकेंगे।

§ ५१—विशेषतया ओष्ठ्य अक्षरों के अनन्तर और जब ऋ के बाद उ आता है तब ऋकार का उकार हो जाता है। प्राकृत के सभी व्याकरणकार उन शब्दों को, जिनमें ऋ का रूप उ हो जाता है, **ऋत्वादिगण** में रखते हैं। इस प्रकार संस्कृत **निभृत** का महाराष्ट्री में **णिहुअ** हो जाता है (हेमचन्द्र १,१३१; देशी० ५,५०; मार्कण्डेय पेज १०; हाल; रावण०); अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में इसका रूप **निहुय** हो जाता है (पाइय० १५; उत्तर० ६२७; ओव०; एर्त्से०); शौरसेनी में **णिहुद** मिलता है (शकु० ५३,४ और ६; मुद्रा० ४४,६; कर्ण० १८,१९; ३७,१६)। § २१९ से तुलना कीजिए।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में **पृच्छति** का **पुच्छइ*** हो जाता है, और इस धातु के अन्य रूपों में भी **प** में उ लगाया जाता है (हेमचन्द्र ४,९७; हाल; रावण०; उवास०; भग०; कप्प०; आदि आदि; एर्त्से); शौरसेनी में **पुच्छदि** हो जाता है (मृच्छ० २७,१७; १०५,८; १४२,९; विक्रमो० १८, ८); मागधी में **पुश्चदि** रूप मिलता है (हेमचन्द्र ४, २९५), **पुश्चामि** रूप भी है (प्रबन्ध० ५१, १; ६२, ६); अपभ्रंश में **पुच्छिमि** (विक्रमो० ६५, ३) और **पुच्छहु**† रूप मिलते हैं (हेम० ४,३६४।४६४।४२२,९)।—**पृथ्वी** शब्द का महाराष्ट्री में **पुहई** और **पुहवी** हो जाता है (§ ११५ और १३९; भामह १,२९: चण्ड ३, ३० पेज ५०; हेमचन्द्र १, १३१; क्रमदीश्वर १, ३०; मार्कण्डेय पेज १०; गउड०; हाल; रावण०); अर्धमागधी और जैन शौरसेनी में **पुढवी** शब्द मिलता है (ठाणग० १३५; उत्तर० १०३४ और १०३६; सूय० १९।२६।३२५।३३२; आयार० १, १, २, २ और उसके बाद; विवाह० ९२० और १०९९; पण्णव० ७४२; दशवे० ६३०, १७; उवास० आदि आदि; कत्तिगे० ४०१, ३४६); जैन महाराष्ट्री में भी यह शब्द मिलता है (एर्त्से०), शौरसेनी में भी पाया जाता है (शकु० ५९, १२)। कहीं-कहीं यह शब्द और **पुहवी** भी आया है (एर्त्से०; कक्कुक शिलालेख; द्वारा० ५०१, २३; विक्रमो० ११, ४; प्रबन्ध० ३९, ६), मागधी में भी यह शब्द मिलता है (मृच्छ० ३८, ७) और अपभ्रंश में भी यह रूप काम में आया है (पिंगल २, ३०; विक्रमो० ५५, १८)।—**स्पृशति** के स्थानपर अर्धमागधी में **फुसइ**

* 'पुच्छइ' का हिन्दी रूप 'पूछे' है। पूछना है यह शौरसेनी 'पुच्छदि' से निकला है।—अनु०

† यह रूप अवधी, भोजपुरी आदि के साहित्य में बहुत मिलता है। ध्वनि परिवर्तन के नियमों के अनुसार इससे ही बाद में **पूछो** रूप बना।—अनु०

आया है।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी, शौरसेनी और अपभ्रंश में मृणाल शब्द का मुणाल हो जाता है (भामह १, २९; हेमचन्द्र १, १३१; क्रमदीश्वर १, ३०; मार्कण्डेय पेज १०, गउड०; हाल, रावण०; शकु० ८८, २; जीवा० २९०; राय० ५५; ओव०; मृच्छ० ६८, २४; शकु० ६३, २ और १५; कर्पूर० ४१, १; वृषभ० ५०, १; हेमचन्द्र ४, ४४४,२)।—महाराष्ट्री में मृदंग का मुइङ्ग होता है (हेमचन्द्र १,४६ और १३७; मार्कण्डेय पेज १०)। अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में इस शब्द के रूप मुयिंग और मुइंग होते हैं (पण्हा० ५१२; ठाणग० ४८१ ; विवाह० ७९७, [टीका में यह शब्द आया है] और ९२० ; राय० २० और २३१ ; जीवा० २५१ ; पण्णव० ९९ और १०१ , एत्सें०); शौरसेनी में मुदंग लिखा जाता है (मालवि० १९, १ , हेमचन्द्र १, १३७ , मार्कण्डेय पेज १०, [इस ग्रन्थ में मिइंग शब्द भी आया है]) । मागधी में मिर्डंग (मृच्छ० १२२, ८,इसमें मुदंग शब्द भी मिलता है। गौडबोले ३३७, ७)।—जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी में वृत्तान्त के स्थान पर वुत्तन्त शब्द आता है (भामह १, २९ ; हेमचन्द्र १, १३१, एत्सें०, कक्कुक शिलालेख, शकु० ४३, ६; विक्रमो० ५२, १; ७२, १२; ८१; २)।—अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में वृष्टि शब्द का वुट्ठि हो जाता है (हेमचन्द्र १, १३७, पाइय० २२७, विवाह० ३३१, कप्प०, एत्सें०), महाराष्ट्री में विट्ठि भी होता है (हेमचन्द्र १, १३७ ; क्रमदीश्वर १, ३२, हाल २६१), वृष्ट के स्थान पर वुट्ठ हो जाता है (हेमचन्द्र १, १३७), महाराष्ट्री में उव्वुट्ठ शब्द भी मिलता है (गउड० ३७५), अर्धमागधी में सिलावुट्ठ शब्द भी पाया जाता है (दस० ६३०, २१), शौरसेनी में पवुट्ठ शब्द मिलता है (शकु० १३९, १५)।—महाराष्ट्री, जैन महाराष्ट्री और अपभ्रंश में तथा कहीं कहीं अर्धमागधी में भी कृणाति अथवा वैदिक कृणोति के स्थान पर कुणई मिलता है और शौरसेनी में कुणदि पाया जाता है (§ ५०८) मूसा° मोसा° और मुसा कुणदि=मृसा कृणोति के लिए § ७८ देखिए।

§ ५२—ऊपर दिये गये शब्दों के अतिरिक्त अन्य बहुत से शब्दों में एक ही शब्द के स्वर नाना रूपों में बदलते हैं। संस्कृत दृढ के लिए महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी में दढ़* होता है और जैन शौरसेनी, शौरसेनी तथा अपभ्रंश में दृढ़ शब्द का भी प्रयोग किया जाता है (§ २४२)।—धृष्ट के के लिए कहीं धट्ठ (हेमचन्द्र १, १३०) और कहीं धिट्ठ होता है (हेमचन्द्र १,१३०, चण्ड १, २४ पेज ४१)।—निवृत्त के लिए महाराष्ट्री में णिअत्त लिखा जाता है (हेमचन्द्र १, १३२, गउड०, हाल, रावण०), और कहीं कहीं णिवुत्त पाया जाता है (हेमचन्द्र १,१३२)।—मृत्यु के लिए अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में मच्चु शब्द आता है (हेमचन्द्र १, १३०, सूय० ४५, पण्हा ४०१, द्वारा० ५०१,

---

* इस शब्द का प्रचार अभी तक उन बोलियों में है जिनमें प्राकृत का जोर है। कुमाउनी में इसका रूप दड़ो है और ध्वनिशासन का एक नियम द और ज का परस्पर रूप परिवर्तन है, इसके अनुसार गुजराती मजबूत या मोटे को जाड़ो कहते हैं।—अनु०

२५; एर्से) और शौरसेनी में यह शब्द मिच्चु* हो जाता है (हेमचन्द्र १,१३०; मालवि० ५४,१६; कर्ण० ३२, १७)।—मसृण शब्द के लिए महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी में मसिण शब्द का प्रयोग है (हेमचन्द्र १, १३०; क्रमदीश्वर १,३२; मार्कण्डेय पेज १०; पाइय० २६१; गउड०; हाल; रावण०; ओव०; एर्से; उत्तर० ११,८; १६१,४) और कभी-कभी मसण भी मिल जाता है (हेमचन्द्र १,१३०)।—अर्धमागधी और शौरसेनी में मृदु के स्थान पर मिउ होता है (विवाह० ९४३ और ९४९; ओव०; कप्प०; वृषभ० १३,१३ [पाठ में मिदु मिलता है जो नकल करनेवाले की अशुद्धि है]); किन्तु महाराष्ट्री में यह सदा मउअ रूप में मिलता है, अर्धमागधी में मृदुक के लिए मउय भी मिलता है (हेमचन्द्र १,१२७; हाल; रावण०; विवाह० ९४३ और ९५४; उत्तर० १०२२; जीवा० ३५० और ५४९; अणुओग० २६८; नायाध०); अर्धमागधी में कहीं-कहीं मउग भी मिलता है (जीवा० ५०८); महाराष्ट्री में मउइअ भी मिलता है जो सम्भवतः मृदुकित के स्थान पर हो, और मृद्वी के स्थान पर मउई भी मिलता है (गउड०)।—वृन्दारक शब्द के लिए कहीं वन्दारअ आता है (हेमचन्द्र १, १३२) और कहीं वुन्दारअ मिलता है (हेमचन्द्र १, १३२; क्रमदीश्वर १, ३०)।—अर्धमागधी वृक के लिए वग आता है (आयार० २, १, ५, ३; विवाह० २८२ और ४८४ [पाठ में वग्ग लिखा है और टीका में विग लिखा है]; पण्णव० ३६७), वृकी के स्थान पर वगी आया है (पण्णव० ३६८) और विग शब्द भी मिलता है (आयार० २, १, ८, १२; नायाध० ३४४), शौरसेनी में विअ हो जाता है (उत्तर० १०५, १२। § २१९ से भी तुलना कीजिए)।—हेमचन्द्र २, ११० के अनुसार कृष्ण शब्द का अर्थ जब काला होता है तब इसके प्राकृत रूप कसण, कसिण और कण्ह होते हैं, पर जब व्यक्ति के नाम के लिए यह शब्द आता है तो इसका रूप सदा कण्ह रहता है। भामह ३, ६१ के अनुसार जब इसका अर्थ काला होता है तो सदा कसण रूप काम में आता है, और यदि इसका अभिप्राय कृष्ण भगवान से हो तो केवल कण्ह रूप होता है; 'प्राकृत-कल्पलतिका' पेज ३३ के अनुसार इसके दो रूप होते हैं : कण्हट और किण्ह, इसमें कसण और कण्ह का भेद नहीं माना गया है, पर हेमचन्द्र के अनुसार एक ही रूप कण्ह होता है (मार्कण्डेय पेज २९ और क्रमदीश्वर २, ५६ के अनुसार कसण और कण्हट मे कोई भेद नहीं माना गया है)। महाराष्ट्री और शौरसेनी में जहाँ काले से तात्पर्य होता है वहाँ कसण आता है (गउड०; हाल; रावण०; प्रचण्ड० ४७, ४; मृच्छ० २, २१; विक्रमो० २१, ८; ५१, १०; ६७, १८; रत्ना० ३११, २१; मालती० १०३, ६; २२४, ३; महा० ९८,४; वेणी० ६१, १०), अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्री में कसिण का प्रयोग मिलता है (पण्णव० १०१; पण्हा० २८५; सूय० २८२; उत्तर० ६४४; ओव०; भग०; द्वारा० ५०३, ६; एर्से०; वृषभ०)। ऐसा मालूम पड़ता है कि यह भी अशुद्ध रूप है, महाराष्ट्री में भी यह रूप पाया जाता है (गउड० ५६३), और शौरसेनी में भी यह रूप मिलता है (मल्लिका० १२२, ६); महाराष्ट्री,

* इसका रूप अवधी में मीचु मिलता है।—अनु०

अर्धमागधी और शौरसेनी में **कण्ह** भी मिलता है (गउड०, आयार० २,४,२,१८, पण्णव० ४९६ और उसके बाद; जीवा० ३२०; चण्ड० ८६,८।९।१० [इस ग्रन्थ में कण्हादि शब्द भी आया है; पाठ में **कहूण** शब्द है और **कण्ह** भी है]), अर्धमागधी में कहीं कहीं **किण्ह** भी मिलता है (आयार० २,५,१,५; विवाह० १०३३; राय० ५०।५१।१०४।१२०।१२६।२२८; पण्हा० २८५ [यह शब्द **फलिण** के साथ आया है]; पण्णव० ४९६ और उसके बाद [इस ग्रन्थ में यह शब्द **कण्ह** है, कभी **किण्ह** है], जीवा० २५५।२७२।२७४।४५३।४५७); महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी में व्यक्तिविशेष के नाम के लिए **कण्ह** शब्द का प्रयोग होता है (हाल, आयार० पेज १२६, १, पण्णव० ६१; निरया० § २; [इस ग्रन्थ में व्यक्तिविशेष के नामों के लिए **सुकण्ह**, **महाकण्ह**, **वीरकण्ह**, **रामकण्ह**, **सेणकण्ह**, **महासेणकण्ह** शब्द आये हैं], ओव०, कप्प०; द्वारा० ४९७,६ और ३३; ४९८, ३४; ४९९, ३७ आदि आदि, चैतन्य० ७५,१४, ७७,३, ७८,१०; ७९,६ और १४, ९२,१३ [इसमें अधिकांश स्थलों में **कण्ह** छापा गया है, कहीं **कन्हड कह्न** भी मिलता है], वृषभ० ९, ४, १८, १५; ३२, १८ आदि आदि [इस ग्रन्थ में भी अधिकांश स्थलों में **कण्ह**, **कण्हड** और *कहूण* छपा है]), **किसण** रूप (बाल० १४१,३, कर्पूर० ५०, १२ [बम्बई संस्करण में **किसण** छापा है, किन्तु 'कोनो' द्वारा सम्पादित संस्करण के पेज ४८ में केवल **कसण** छपा गया है]) और **किण्ह** (निरया० ७९) अशुद्ध रूप है। कृष्णायित के स्थान पर **कसणिय** और कृष्णपक्ष के स्थान पर **कसण पक्ख** (पाइय० १९८ और २६८), कृष्णसित के स्थान पर **कसणसिय** (देशी० २,२३) होता है।—वृद्धि जब बढ़ने के अर्थ में आती है तब उसका रूप प्राकृत में **वुड्ढि** हो जाता है (हेमचन्द्र १, १३१, २, ४०, मार्कण्डेय पेज २४, अर्धमागधी रूप उवास० § ५० में आया है) और जब यह शब्द ब्याज के अर्थ में आता है तब अर्धमागधी में **वड्ढि** हो जाता है (उवास०)। महाराष्ट्री म **परिवड्ढि** शब्द भी मिलता है (मार्कण्डेय पेज २४, रावण० ५, २) और जैन महाराष्ट्री में बढ़ती के अर्थ में **विड्ढि** शब्द भी आता है (कक्कुक शिलालेख २०)। और इस विषय पर § ५३ भी देखिए।

§ ५३—कभी कभी किसी बोली में एक ही शब्द में तीन तीन स्वर पाये जाते हैं। **प्राकृत** शब्द के लिए अर्धमागधी में **पायय** काम में लाया जाता है (हेमचन्द्र १६७, नायाध० § १४५), जैन महाराष्ट्री में इसके लिए **पागय** शब्द मिलता है (एत्सें० २, २८) और कहीं कहीं **पायय** भी आता है (हेमचन्द्र १, ६७, आव० एत्सें० की कल्पचूर्णी टीका ६, २९), महाराष्ट्री में **पाइअ** शब्द है और जैन महाराष्ट्री में **पाइय** शब्द काम में आता है (हेमचन्द्र १, १८१ का उद्धरण, वज्जालग्ग ३२५, २, पाइय० १) और महाराष्ट्री में **पाउअ** भी होता है (हाल २ और ६९८; वज्जालग्ग ३२४, २०, कर्पूर० ५, ३), शौरसेनी **पाउद** (कर्पूर० ५, १; मुद्रा० ८२, २, ५; विद्ध० २५, ८ [इस ग्रन्थ में सर्वत्र **पाउअ** पाठ पढ़ना चाहिए])। मागधी में **प्राकृत** शब्द के लिए **पाकिद** लिखा जाता है

(वेणी० ३४, २०) ।—महाराष्ट्री में संस्कृत रूप पृष्ठ का पट्ठी हो जाता है (हेमचन्द्र १, १३१; गउड०), कहीं पुट्ठ* मिलता है (भामह ४, २०; रावण०), कहीं कहीं पुट्ठी भी मिलता है (भाम० ८, २०; हाल; रावण०; कर्पूर० ५७, ६), अर्धमागधी में पिट्ठ रूप मिलता है (हेमचन्द्र १, ३५; सूय० १८०।२८५।२८६; नायाध० § ६५; पेज ९३८।९५८।९५९।९६४ और ११०७; उत्तर० २९ और ६९; उवास०; ओव०), कहीं-कहीं पिट्ठी† भी आता है (हेमचन्द्र १, ३५ और १२९; आयार० १, १, २, ५; नायाध० ९४०; दस० ६३२, २४), और कहीं पुट्ठ का प्रयोग भी मिलता है (निरया० § १७), पुट्ठी भी कहीं-कहीं लिखा गया है (सूय० २९२), जैन महाराष्ट्री में पृष्ठ शब्द के पिट्ठ, पिट्ठी और पुट्ठी रूप चलते हैं (एर्त्सें०), शौरसेनी और दाक्षिणात्य में पिट्ठ रूप भी मिलता है (विक्रमो० ३९, ३; मालवि० ३३, २; ५९, ३; ६९, ६, मल्लिका० १४५, २१; १९१, ५; मुद्रा० २५४, १; मृच्छ० १०५, २५), कहीं पिट्ठी मिलता है (कस० ५७, ९), और पुट्ठ भी देखा जाता है (प्रसन्न० ४४, १४ ; रत्ना० ३१६, २२), पुट्ठी भी काम में लाया गया है (बाल० २३८, १०), मागधी में पृष्ठ का रूप पिस्ट मिलता है (मृच्छ० ९९, ८ ; १३०, १, वेणी० ३५, ५ और १०), कुछ स्थानों पर पिस्टी भी आया है (मृच्छ० १६५, ९), अपभ्रंश में इस शब्द के रूप पट्ठि, पुट्ठि और पिट्ठि मिलते हैं (हेमचन्द्र ४, ३२९)। हेमचन्द्र के १, १२९ के अनुसार जब पृष्ठ शब्द किसी सन्धिवाले शब्द के अन्त में जोड़ा जाता है तब ऋकार केवल अकार में बदल जाता है। इस नियम के अनुसार महाराष्ट्री और जैन महाराष्ट्री में महिवट्ठ शब्द मिलता है (हेमचन्द्र १, १२९ ; प्रताप० २१४, ९ [इस ग्रन्थ में वट्ठ के स्थान पर पट्ठ मिलता है]; आव०, एर्त्सें० १२, २३), शौरसेनी में उक्त शब्द के स्थान पर धरणिवट्ठ पाया जाता है (उत्तर० ६३, १२; बाल० २४८, ५, २८७, १६), जैन महाराष्ट्री में धरणिविट्ठ शब्द भी पाया जाता है (सगर० ७, १२), जो सम्भवतः अशुद्ध‡ है, शौरसेनी में धरणीपिट्ठ भी मिलता है (यह शब्द हस्तलिखित प्रति में धरणिपिट्ठ लिखा हुआ है; बाल० २४५, १५; वेणी० ६४, १८) में उसके छपे ग्रन्थों और हस्तलिखित प्रतियों में कहीं काल पुट्ठ कहीं काल वुट्ठ और कहीं कालपिट्ठ शब्द मिलता है।— बृहस्पति शब्द के वहप्फई, विहप्फई और बुहप्फई+ (चण्ड २, ५ पेज ४३; हेमचन्द्र १, १३८;

* हिन्दी की स्थानीय बोलियों में अब भी कहीं पूठ बोला जाता है। कुमाउनी में इस रूप का ही प्रचार है। पेट के लिए मराठी में पोट शब्द काम में आता है, वह भी पुट्ठ का एक रूप मालूम पड़ता है। पृष्ठ के अर्धमागधी रूप पिट्ठ से पीठ हुआ है। इसी पठि का एक रूप पेट तो नहीं है ? ध्वनिशास्त्र के अनुसार ई ए बन जाता है। शरीर के दो पृष्ठ होते हैं। एक का नाम पेट और पेट पड़ा, दूसरे का पीठ। भाषाशास्त्रियों के लिए यह विचारणीय है।—अनु०

† अवधी पीठी। —अनु०

‡ इस नियम के अनुसार हिंदी की कुछ बोलियों में शिलापृष्ठ के लिए सिलवट शब्द काम में आता है। —अनु०

+ हिन्दी बिरफै, कुमाउनी बीफै। —अनु०

विहराज पेज २६), तथा बहुत से दूसरे रूप मिलते हैं जिनमें इसी प्रकार स्वर बदलते रहते हैं (§ २१२)। अर्धमागधी में वहस्सइ रूप होता है (सूय० ७०९ [इसमें व के स्थान पर य लिखा गया है]; ठाणग० ८२; पण्णव० ११६ [इस ग्रन्थ में भी य के स्थान पर व पाया जाता है]), कहीं विहस्सइ मिलता है (अणुओग० ३५६ [इस ग्रन्थ में वि के स्थान पर वि है], ओव० § ३६ [इसमें भी वि आया है]), शौरसेनी में वहप्पदि होता है (मल्लिका० ५७,३, १८४,३ [ग्रन्थ में व लिखा गया है]); कहीं विहप्पदि मिलता है (रत्ना० ३१०,२९)। वृद्ध शब्द सब प्राकृत बोलियों में वुड्ढ हो जाता है (चण्ड० २,५; ३, १६ पेज ४९; ३,२६; हेमचन्द्र १,१३१; २,४० और ९०; मार्कण्डेय पेज २४, हाल; आयार० २,२,३,२४; ओ०; एर्से०), शौरसेनी के लिए (मृच्छ० ४४,४, ६९,२०; ७१,२२; अनर्घ० १५६, ५) देखिए। अर्धमागधी के लिए (मृच्छ० ११७,२३; १२०,९; १२४, ४ आदि आदि) देखिए। भामह १,२७ के अनुसार मागधी में इसका वद्ध रूप होता है (हेमचन्द्र १,१२८ और २,४० के अनुसार इसका रूप विद्ध भी होता है)।—वृन्त शब्द का अर्धमागधी में विण्ट हो जाता है (हेमचन्द्र १, १३९; समव० ९८; पण्णव० ४० [पाठ में वि के स्थान पर वि आया है]), एक स्थान पर तालविण्ट शब्द भी आया है (पण्हा० ३३), पत्तविण्ट भी है (जीवा० ६८१) दो मिले हुए (संयुक्त) व्यजनों के पहले जब यह शब्द आता है तब इकार एकार में बदल जाता है और विण्ट का वे ण्ट हो जाता है (§ पारा ११९), इस नियम के अनुसार महाराष्ट्री में वे ण्ट मिलता है (हेमचन्द्र १,१३९; २,३१, मार्कण्डेय पेज २६, हाल; शकु० ११९,६), तालवेण्ट मिलता है (कर्पूर० ८२,२), अर्धमागधी में भी वे ण्ट शब्द है (जीवा० ३२९ [पाठ में वें मिलता है]; पण्णव० ४० [पाठ में वें मिलता है]); तालवे ण्ट भी मिलता है (नायाध० § १२६), पत्तवे ण्ट भी आया है (जीवा० ५८९ [पाठ में वें के स्थान पर वें आया है]), शौरसेनी में भी वे ण्ट शब्द मिलता है (विद्ध० १४,१३), तालवे ण्ट भी मिलता है (मित्रमो० ७५,१०; उत्तर० १६,७; विद्ध० ६१,१; वेणी० ९२,२२ [इसका यह पाठ होना चाहिए] बाल० १३१,१३ [इसमें भी यही पाठ होना चाहिए]), तालवें ण्ट पाठ भी मिलता है (मृच्छ० ३८,४, ७१,७), मागधी में भी यह शब्द मिलता है (मृच्छ० २१,१६), हेमचन्द्र ने २,३१ में तालवे ण्ट लिखा है और १,६७ में तलवें ण्ट भी दिया है। भामह १,१० में तलवें ण्टअ के साथ साथ तालवें ण्टअ भी मिलता है। हेमचन्द्र ने १,१३९ में वों ण्ट शब्द भी दिया है, १६७ में तालवों ण्ट और तलवण्ट भी दिया है। इसका अर्थ यह हुआ कि वृन्त का रूप किसी प्राकृत बोली में वुण्ट* रहा होगा और फिर दुहरे व्यंजन ण्ट के आगे उ या ओं हो गया (§ १२५)। अर्धमागधी में बहुधा तालियण्ट शब्द काम में आता है (आयार० २, १, ७, ५; पण्हा० ३३६ और ५३३; अणुत्तरो० १०; नायाध० २७७; विवाह० ८०७।८३१ और ९६४, ओव० ५२ [इसका पाठ तालियण्ट होना चाहिए], दस० ६१६,२८; ६२६,३), कहीं कहीं तालियन्टफ

---

* राम पाणिवाद ने अपने ग्रंथ 'कंसवहो' में तलवुण्टकारिश का प्रयोग किया है।—अनु०

आता है (पण्हा ४८८)। तालियन्टक, तालिवृन्त से निकला प्रतीत होता है इसमें ऋकार अकार में परिणत हो गया। वृन्त शब्द पाली में वण्ट लिखा जाता था, शायद यह उसका प्रभाव हो।

§ ५४—महाराष्ट्री में मृगतृष्णा के लिए मअतण्हा आता है (रावण०), कहीं कहीं मअतण्हिया* मिलता है (सरस्वती० १७२,१८ इस शब्द के बगल में ही मुद्धमिअ आया है), शौरसेनी में मिअतण्हा का प्रयोग मिलता है (धूर्तस० ११,६), कहीं कहीं मिअतण्हा मिलता है (अनर्घ० ६०,४), कहीं मअतण्हिआ है (विक्रमो० १७,१), मअतिण्हआ मिलता है (विद्ध० ४७,९ कलकत्ते के संस्करण में यह ३६,१ में है, लेकिन वहाँ मिअतण्हिआ का प्रयोग है), मिअतिण्हिआ शब्द शौरसेनी में भी मिलता है (विद्ध० ११५,५)। महाराष्ट्री मे मृगाङ्क के लिए मिअंक, मृगेन्द्र के स्थान पर मइन्द, विशृंखल के स्थान पर विसंखल और शृंखला के स्थान पर सिंखला काम में लाया जाता है (§ २१३)। महाराष्ट्री और शौरसेनी में मृगलांछन‡ के स्थानपर मअलंछण होता है। जैन महाराष्ट्रीमें यह शब्द मयलाछेण लिखा जाता है (हाल, कर्पूर० ६५, १०; १०५, ७, मृच्छ० १६९, १४, विक्रमो० ४३, ११; ४५, २०[१], पाइय० ५; द्वारा० ५००, १८; एत्सें०)। मयंक के स्थानपर मअंक (हेमचन्द्र १, १३०; अपभ्रंश प्राकृत के वर्णन में इसी ग्रन्थ में ४, ३९६, १), और जैन महाराष्ट्री में यह शब्द मयंक रूप में काम में आता है (एर्से०), महाराष्ट्री, दाक्षिणात्य, शौरसेनी और मागधी में यह शब्द साधारण रूप से मिअंक लिखा जाता है (हेमचन्द्र १, १३०; गउड०, हाल, रावण०, कर्पूर० ६०, १; ८४, ८), दाक्षिणात्या का उदाहरण (मृच्छ० १०१, ११) में मिलता है। शौरसेनी के उदाहरण (विक्रमो० ५८, १०; विद्ध० १०९, ५: कर्पू० १०५, ७ में मिलते हैं), मागधी का उदाहरण (मृच्छ० ३७, २५) में मिलता है। जैन महाराष्ट्री में मियंक शब्द भी देखने में आता है (एत्सें०)। मृग के लिए शौरसेनी में मअ के साथ साथ मिअआ भी मिलता है, इस मिअआ से मृगया का तात्पर्य है (शकु० २९, २ और ३) और महाराष्ट्री तथा शौरसेनी में मृगी के लिए मई काम में आता है (शकु० ८५, २ और प्रसन्न० ६७, १२)। शौरसेनी में मृगवधू के लिए मअवहू‖ शब्द काम में लाया जाता है (शकु० ८६, ४) और इसके साथ साथ शाखामृग के लिए साहामिअ[१] शब्द भी चलता है (मृच्छ० ६९, ११, विक्रमो० ८१, १३),

---

* इस विषय पर इन शब्दों को देखकर बौल्लेनसन ने एक नियम बनाया जिसका नाम उसने रखा अंगीकरण का नियम (Rule of Assimilation)। —अनु०

† ये शब्द देखकर बौल्ल गौल्दश्मित्त ने पृथक्करण का नियम (Rule of Dissimilation) बनाया। ये दोनों नियम पूरे प्रमाणित न हो सके। —अनु०

‡ भाषाशास्त्रज्ञ विद्वान अध्यापक श्री विधुशेखर भट्टाचार्य ने यह बताया है कि लांछन शब्द लक्षण का प्राकृत रूप है, जो संस्कृत में चलने लगा था। इस शब्द का प्रयोग कालिदास ने भी किया है। —अनु०

‖ राम पाणिपाद 'वम्भहा' में शौरसेनी में मअलंक्षणो के भीतर मअ रूप का प्रयोग किया है, जो उचित है। —अनु०

अर्धमागधी में इहामिय शब्द है (जीवा० ४८१।४९२।५०८ ; नायाध ७२१; राय० ५८ [इसमें मिय के स्थानपर मिग है]), अर्धमागधी में जैसे मिग, मिय सर्वत्र एक समान चलते हैं (आयार० २, ३, ३, ३; ३; ५, १, ५ ; विवाह० पेज ११९ और उसके बाद, उत्तर० ३३८।४१२।४९९।५९५।६०१; दस० ६४८, ७; सूय० ५२, ५४, ५६, ३१७, ओव० § ३७), मृगशिरः के स्थानपर मियसिराओ आता है (ठाणंग० ८१), मृगान्य के लिए मिगन्न शब्द है (उत्तर० ४९८), जैन महाराष्ट्री में मृग के लिए मय* शब्द आता है (द्वारा० ५०१, १३), मृगाक्षी के लिए मयच्छी (ऋषभ० २६), महाराष्ट्री में इसके लिए मअच्छी शब्द है (कर्पूर० ६५,४)। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन्धिवाले शब्दों में लेखकों ने स्वरों की मधुरता पर भी ध्यान दिया होगा जिससे एक ही स्थान के लिए नाना स्वर काम में लाये गये।

१. विक्रमो० १०, १, पेज २१६। — २. स्पेसिमेन देस सेतुबन्ध (गोएटिंगन १८७३), पेज ८३, २. २ पर। उक्त पुस्तक में मिअ है और 'विद्धशालभंजिका' में भी यही पाठ है।

§ ५५—उन संज्ञा शब्दों का, जिनका अन्त ऋ में होता है, अन्त में क प्रत्यय लगने से और जब यह संज्ञा शब्द किसी सन्धि या समास में पहला शब्द हो तब ऋकार का अधिकांश स्थलों में उकार हो जाता है (हेमचन्द्र १, १३४), पल्लव दानपत्र में जामातृकस्य के स्थान पर जामातुकस आया है (६, १४) और भातृकाणाम् की जगह भातुकाण आया है (६, १८), महाराष्ट्री में जामातृक के लिए जामाउअ होता है (भामह, १, २९, हेमचन्द्र १, १३१, मार्कण्डेय पेज १०, हाल), जैनमहाराष्ट्री में जामाउय हो जाता है (एत्सें), शौरसेनी में यही शब्द जामादुअ होता है (महावी० २७,२२, मल्लिका० २०९, २२), इस प्राकृत में जामातृ शब्द के लिए जामादुसद हो जाता है (मल्लिका० २०९, १), जैन महाराष्ट्री में भ्रातृवत्सल शब्द के लिए भाउवच्छल† आता है (द्वार० ५०३, ३८, ५०७, ३०), इसी प्राकृत में भाउघायग और भाउय शब्द भी व्यवहृत हुए हैं, (एत्सें) शौरसेनी में भ्रातृशत के स्थान पर भादुसअ आया है (वेणी० ५९, ३),शौरसेनी में भादुअ शब्द काम में लाया गया है(विक्रमो० ७५, ८)। मागधी में वंचित भ्रातृक के स्थान पर वंचिद भादुक आया है (मृच्छ० १२९, ६), अर्धमागधी में पुत्रनप्तृपरिचार के लिए पुत्तनत्तुपरियार लिया गया है (विवाह० ४८२), अर्धमागधी में अम्मापिउसन्तिए (आयार० २, १५, १५) व्यवहार में आया है और एक स्थान पर अम्मपिउसुस्सूसग भी मिलता है (विवाह०

* हिन्दी के कवियों ने मयंक शब्द में इस रूप का बहुत व्यवहार किया है। मअ का रूप हिन्दी में मय हो गया है। हिन्दी में अ के स्थान में य और कहीं व रूप मिलता है। यह नियम आया, आवे, जावेगा, जायेगा आदि में स्पष्ट देखा जाता है।—अनु०

† इस रूप की परम्परा में महाराष्ट्री और मराठी भाऊ शब्द है जो कुमाउनी में भी बोला जाता है।—अनु०

‡ =भ्रातृघातक।—अनु०

६०८); अन्य एक स्थल में **माउ-पिउ-सुजाय** शब्द मिलता है (सूय० ५८५; ओव० § ११); **मात्रोजः पितृशुक्र** के लिए **माउओय पिउसुक्क** शब्द आया है (सूय० ८१७, ८२२ ; ठाणंग० १५९ ; विवाह० १११); और **माउया** भी मिलता है (नायाध० १४३०), शौरसेनी में **माउघर** शब्द मिलता है (मृच्छ० ५४, ४), मागधी में **मादुका** होता है (मृच्छ० १२२, ५), महाराष्ट्री में **पितृवध** के लिए **पिउवह** शब्द काम में आता है (गउड० ४८४), जैन महाराष्ट्री में **नप्तृक** के स्थान पर **नत्तुय** हो जाता है (आव०; एर्त्से ८, ३१), अर्धमागधी में **नप्तृकी*** के स्थान पर **नत्तुई** का प्रयोग मिलता है (कप्प० § १०९)। इस **नप्तृ** शब्द के प्राकृत रूप में इकार भी मिलता है; महाराष्ट्री में **नप्तृक** के लिए **णत्तिय** मिलता है (हेमचन्द्र १, १३७, सरस्वती० ८, १३), इस प्राकृत में **त्वष्टृ घटना** के लिए **तट्ठिवढना** मिलता है (गउड० ७०४), हेमचन्द्र० १, १३५ में **माइहर†** शब्द मिलता है, अर्धमागधी में **माइमरण** और **भाइमरण** शब्द मिलते हैं (सूय० ७८७), **माइरक्खिय** शब्द भी मिलता है (ओव० § ७२), शौरसेनी मे **मादिच्छल** शब्द आया है (शकु० १५८, १२)। अर्धमागधी में **पेतृक** के लिए **पेइय** का प्रयोग किया गया है (विवाह० ११३), जैन महाराष्ट्री में **भाइवच्छल** और **भाइघायय** शब्द मिलते हैं (द्वारा० ५०१, २ और ३८), कहीं-कहीं **भातृवधक** के लिए **भाइवहग** शब्द मिलता है (एर्त्से० १४, २८, २३, १९); **भ्रातृशोक** के लिए **भाइसोग** शब्द आया है (एर्त्से० ५३, ११)। अर्धमागधी मे **अम्मापिइसमाण** और **भाईसमाण** शब्द मिलते हैं (ठाणग २८४), अपभ्रंश में **पितृमातृमोषण** के लिए **पिइभाइमोसण+** (एर्त्से० १५८, २) है, अर्धमागधी में **भर्तृदारक** के लिए **भट्टिदारय** शब्द आया है (पण्णव० ३६६); शौरसेनी में **भट्टिदारअ** मिलता है (महावी० २८, २; ३२, २२), शौरसेनी मे **भट्टिदारिआ** शब्द भी मिलता है (ललित विग्रह० ५६०, ९; ५६१, ६ और १२, ५६२, २२, ५६३, ५, मालती० ७२, २, ४ और ८ ; ७३, ५, ८५, ३, नागा० १०, ९ और १३, १२,५ और १०, १३, ४ आदि आदि)। जब पुल्लिंग संज्ञा शब्दों में विभक्तियाँ जोड़ी जाती हैं तब उनके रूप अ, इ और उ में अन्त होनेवाले शब्दों के समान होते हैं और स्त्रीलिंग के रूप आ में अन्त होनेवाले शब्दों के समान होते हैं। **मातृ** शब्द के रूप **ई** और **ऊ** में समाप्त होनेवाले शब्दों के समान होते हैं (§ ३८९–३९८)।

§ ५६—आरम्भ का ऋ नियमित रूप से रि में परिणत हो जाता है (वररुचि १,३०; चंड २,५; हेमचंद्र १,१४०, क्रमदीश्वर १, २८; मार्कण्डेय पेज ११)। यह **रि** मागधी में **लि** बन जाता है। अतः **ऋद्धि** महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसेनी, शौरसेनी और अपभ्रंश में **रिद्धि** रूप में पाया जाता है (पाइय० ६२; गउड०; हाल, सूय० ९५४; ओव०, कक्कुक शिलालेख १२, एर्त्से०, कालका०,

---

* हिंदी में इस रूप से नाती शब्द बना है। —अनु०

† हिंदी रूप 'मैहर'। —अनु०

\+ पिट पर = पी हर = पीहर। —अनु०

ऋषभ०; वत्तिगो० ४००,३२५; ४०२,३७०; मृच्छ० ६, ४; २१, ७; ७७, १०; ९४, १९; हेमचंद ४,४१८, ८)। ऋक्ष का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी में रिच्छ रूप मिलता है (हेमचन्द्र २,१९; पाइय० ९६; हाल; नायाध०; ओव०; कप्प०; एत्सें०; बालरा० २२१,५; २५०,१८) तथा महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी में रिच्छ* रूप भी चलता है (वररुचि १,३०; ३,३०; हेमचन्द्र १,१४०;२,१९; पाइय० १२८;रावण०; शकु० १२४; शकु० ३५,९;अनर्घ० १५६,५)। ऋण का महाराष्ट्री और जैन महाराष्ट्री में रिण हो जाता है (भामह १,३०; चंड २,५; हेमचन्द्र १, १४१; मार्कण्डेय पेज ११; हाल; कालका०), अनृण का शौरसेनी में अरिणा होता है (मृच्छ० ६४,२२; शकु० २४,१२; १४१,१०)। मागधी में ऋण का लीण रूप मिलता है, इसमें छन्द की मात्राएँ ठीक रखने के लिए ह्रस्व इ दीर्घ कर दी गयी है (मृच्छ० २१,१९; देखिए § ७३)। ऋतु का अर्धमागधी में रिउ रूप देखने में आता है (हेमचन्द्र १,१४१ और २०९; पाइय० २०८;समवा० ११९;निरयाव० ८१); शौरसेनी में इसका रूप रिदु है (बाल० १३१,१२)। अर्धमागधी में ऋग्वेद को रिउव्वेय कहते हैं (ठाणंग० १६६; विवाह० १४९ और ७८७; निरयाव० ४४; ओव० § ७७ (यहां यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए); कप्प० § १०)। ऋषभ महाराष्ट्री और अर्धमागधी में रिसह रूप ग्रहण लेता है (चण्ड० २,५ पेज ४३;हेमचन्द्र १, १४१; रावण० [इसमें यह व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में आया है]; पण्हा० २७०; विवाह० १०; उवास; ओव०); अर्धमागधी और शौरसेनी में इसका रूप रिसभ भी मिलता है (ठाणंग० २६६ [इस ग्रन्थ में यह शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में आया है], शकु० ९५,७)।—ऋचः शब्द शौरसेनी में रिचाइं हो गया है (रत्ना० ३०२,११)। —ऋषि शब्द अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी में रिसि हो जाता है (हेमचन्द्र १,१४१; पाइय० ३२; सूय० २०२; एत्सें०; मृच्छ० ३२६,१४ [यह शब्द इसमें क्षेपक है]); मागधी में इसका रूप लिशि हो जाता है (प्रबन्ध० ४६,१५ और १६; ४७,१); अर्धमागधी में महारिसि शब्द भी मिलता है (सूय० २०३; नायाध० १४७५)। ऐसे स्थानों में जैसे राजर्षि के लिए अर्धमागधी में रायरिसि (विवाह० ९०८,९१५ और ९१६; नायाध० ६०० और उसके बाद, १०२२; उत्तर० २७९ और उसके बाद तथा ५६३), ब्रह्मर्षि के लिए माहणरिसि (§ २५०; निरयाव० ४८ और पेज ५० के बाद) तथा महर्षि के स्थान पर जैन महाराष्ट्री रूप महरिसि (एत्सें०) और सप्तर्षि के लिए शौरसेनी रूप सत्तरिसि (विद्ध० ४९, ४; ६ और ८) तथा द्वीपायनर्षि के लिए जैन महाराष्ट्री दीवायणरिसि (द्वारा० ४९६, ७ और ३८, ४९७,३; स्वरभक्ति का सिद्धान्त मानना पड़ेगा) (§ १३५)। ये रूप संस्कृत मूल से सम्बन्ध रखते हैं।

* हिन्दी का रीछ शब्द शौरसेनी रिच्छ से निकला है। संयुक्त अक्षर च्छ का मान ठीक रखने के लिए रि री में बदल गया है। —अनु०

† हिन्दी में संस्कृत अन् का जो अ होता है वह प्राकृत काल से चला है परन्तु इसका निश्चित नियम नहीं है। अजान, अनजान, अपढ़, अनपढ़, अहित, अनहित आदि इस अनिश्चितता के प्रमाण हैं। —अनु०

§ ५७—रि के अतिरिक्त शब्द के आरम्भ में आनेवाला ऋकार बहुत स्थानों पर अ,इ,उ में परिणत हो जाता है। इस नियम के अनुसार संस्कृत ऋच्छति महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, आवन्ती और अपभ्रंश में अच्छइ हो जाता है तथा पैशाची में अच्छति होता है (§ ४८०)।—ऋक्ष शब्द अर्धमागधी में अच्छ बोला जाता है (आयार० २,१,५,३, विवाह० २८२ और ४८४, नायाध० ३४५ [इस ग्रन्थ में अच्छ के साथ साथ रिच्छ शब्द भी है], पण्णव० ४९ और ३६७), कहीं अच्छी मिलता है (पण्णव० ३६८), संस्कृत शब्द अच्छभल्ल से इसकी तुलना कीजिए।—ऋण शब्द अर्धमागधी में अण हो जाता है (हेमचन्द्र १, १४१, पण्हा० १५०)।—ऋद्धि शब्द अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में इड्ढी हो जाता है (ठाणग० ८० और १७८, उत्तर० ११६ और ६६६, विवाह० ५५ और २२१, नायाध० ९९०, ओव० § ३३ और ६९, उवास०, कप्प०, निरयाव० § १६, दस० ६३५, ३८, ६४०, ५, दस० नि० ६५२, २८)। जैसा लौयमान ने 'औपपत्तिक सुत्त' में ठीक ही लिखा है कि इड्ढी पुराने ग्रन्थों के पाठों में मिलता है और रिद्धी बाद के लिखे गये ग्रन्थों में काम में लाया गया है। अर्धमागधी में भी यही बात लागू होती है और अन्य रूपों के लिए भी, जो रि से आरम्भ होते हैं, और उन शब्दों के लिए, जो स्वरों से आरम्भ होते हैं, यही नियम लागू होता है।—ऋषि शब्द अर्धमागधी और शौरसेनी में इसि हो जाता है (वररुचि १, २८, चण्ड० २,५, हेमचन्द्र १, १४१, क्रमदीश्वर १, ३२, मार्कण्डेय पेज १०, पण्हा० ४४८ [इस ग्रन्थ में खुड्डसि शब्द आया है], उत्तर० ३७५ ३७७ और ६३०, विवाह० ७९९ और ८९१, शकु० ४१, १, ६१, ११, ७०, ६, ७९, ७ ९८, ८, १५५, ९, विक्रमो० ८०, १७, उत्तर० १२३, १०, उन्मत्त० ३, ७ आदि आदि), व्यक्तिवाचक संज्ञा में अर्धमागधी में इसिगुत्त, इसिगुत्तिय, इसिदत्त, इसिपालिय शब्द पाये जाते हैं (कप्प०) और सन्धिवाले शब्दों में अर्धमागधी और शौरसेनी में महर्षि के लिए महेसि काम में आता है (सूय० ७४ और १३७, उत्तर० ७१७, ७२० और ८१५, अनर्घ० १५१, १०, उन्मत्त० ४, १८) राजर्षि शब्द के लिए महाराष्ट्री और शौरसेनी में रायेसि शब्द काम में लाया जाता है (गउड०, शकु० १९, ५, २०, १२, २१, ४, ५०, १, ५२, १६, ५७, १२, विक्रमो० ६, १३ और १६, ७, २, ८, १४, १०, २, ४ और १४ आदि आदि)।—ऋतु शब्द के लिए अर्धमागधी में उउ आया है (हेमचन्द्र १, १३१, १४१ और २०९; विवाह० ४२३ और ७९८, पण्हा० ४६४ और ५३४, नायाध० ३४४, ९१२, ९१६, ९१८, अणुओग० ४४२ और ४३२, दस० ६२७, ११, दस० नि० ६४८, १४), शौरसेनी में यह शब्द उदु हो जाता है (शकु० २, ८)। § १५७ से भी तुलना कीजिए। तथाकथित महाराष्ट्री उदु के लिए § २०४ भी देखिए।—अर्धमागधी और शौरसेनी में ऋजु का उज्जु हो जाता है (हेमचन्द्र १, १३१ और १४१, २, ९८, पण्णव० ८४७; अणुओग० ५४१, ५४२, ५५२ और ६३३; उत्तर० ६९८ और ६९९, ओव०;

कक्ष० ५७, २०); ऋजुकृत अर्धमागधी में उज्जुकड हो जाता है (आयार० १, १, ३, १)।—ऋजुक का सामान्य रूप से उज्जुअ हो जाता है (वररुचि १, ५२); महाराष्ट्री में भी यही रूप होता है (हाल)। शौरसेनी में भी यही रूप है (मृच्छ० ८८, १८; ९०, २१[1]; शकु० ८०, ४; १३०, ५; रत्ना० ३०२, १९; ३०८, ७; मुद्रा० १९२, १३; अनर्घ० ११३, ९; कर्ण० २०, १३ आदि आदि), अदिउज्जुअ भी आया है (रत्ना० ३०९, २४ ; प्रिय० ४३, १५); अर्धमागधी में उज्जुग शब्द भी देखा जाता है (पण्हा० ३८१; उवास०), उज्जुय का भी प्रयोग किया गया है (पाइय० १७५, आयार० २, १, ५, ३; २, ३, २, १४ और १६; उत्तर० ११७ ; ओव० ; कप्प०), अणुज्जुय भी मिलता है (उत्तर० ९१०)।—ऋषभ शब्द के लिए उसह शब्द का प्रयोग हुआ है (चण्ड० २, ५ पेज ४३; ३, ३४ पेज ५१; हेमचन्द्र १, १३१ और १३३); अर्धमागधी में ऋषभ का उसभ भी हो जाता है (आयार० २, १५, २१; नायाध०; ओव० ; कप्प०), जैन महाराष्ट्री में भी उसभ काम में लाया जाता है (हेमचन्द्र १, २४, कप्प०; ओव०; एर्से० ४६, २१ ; एर्से०) ; जैन महाराष्ट्री में उसभय भी दिखाई देता है (ओव०, एर्से० ४६, २१), अर्धमागधी में उसभदत्त (आयार० २, १५, २ , कप्प०) और उसभसेण नाम भी मिलते हैं (कप्प०)।—क्रमदीश्वर १, ३१ के अनुसार ऋण शब्द का प्राकृत रूप सदा उण होना चाहिए, किन्तु अब तक प्राप्त ग्रन्थों में रिण (§ ५६) और अण (§ ५७) शब्द मिलते हैं।

१. इसका यही पाठ होना चाहिए, पिशल का हेमचन्द्र पर निबन्ध २, ९८ की तुलना कीजिए। गौडबोले २४९, ९, ७५६, १ में उज्जअ लिखा मिलता है। इसका अनुवाद टीकाकार उज्ज्वल और उद्यत करता है।

§ ५८—जिस प्रकार ऋ का रूप प्राकृत में इ हो जाता है वैसे ही ऋ का रूप अन्त में ऋ आनेवाले शब्दों की रूपावलि में ई और ऊ होता है, अर्धमागधी में अम्मापिईणम्, अम्मापिऊणम्, माईणम् रूप मिलते हैं (§ ३९१ और ३९२)। प्राचीन ऋ से उत्पन्न ईर् और ऊर् के रूप सदा नियमित रूप से प्राकृत के ध्वनि नियमों के अनुसार बदलते हैं। तीर्यते का महाराष्ट्री और जैन महाराष्ट्री में तीरइ, तीरए हो जाता है (§ ५३७)। महाराष्ट्री में प्रकीर्ण का पइण्ण हो जाता है (गउड०, हाल; रावण०), विकीर्ण का विइण्ण (हाल), विप्रकीर्ण का विवइण्ण (हाल, रावण०), वितीर्ण का जैन महाराष्ट्री में विइण्ण रूप मिलता है (एर्से०); महाराष्ट्री में पूर्यते का पूरइ मिलता है (§ ५३७), पूर्ण का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी में पुण्ण हो जाता है (हाल, रावण०, उवास०, कप्प०, कालका०; प्रबन्ध० ५७, २)। जीर्ण के प्राकृत में नाना रूप मिलते हैं। महाराष्ट्री और शौरसेनी में जिण्ण शब्द काम में आता है (हेमचद १, १०२, हाल, प्रताप० २०१, १३, मृच्छ० ९३, ९)। किन्तु मागधी में इसका रूप यिण्ण भी मिलता है (मृच्छ० १६२, २३), महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी में बहुधा यह शब्द जुण्ण रूप में भी मिलता है। यह वैदिक जूर्ण शब्द से

सीधे जनता की बोली में चला आया है[1] (हेमचंद्र १,१०२; गउड०; हाल; कर्पूर० ८८, ३; आयार० २,१६,९; विवाह० १३०८; नायाध० ३२१; ९८३; ९८५; ९८७, उत्तर० ४४०; राय० २५८ और बाद का पेज; अणुओग ५९२; आव० एर्त्से० ३७, २६; ४०, १६; एर्त्से०; शकु० ३५ ९; कर्पूर० ३५, ५; विद्ध० ११४, ६; मल्लिका० ८८, २३; हास्या० २५, ५)। अर्धमागधी में परिजुण्ण रूप भी मिलता है (आयार० १, ७, ६, १; ठाणंग० ५४०; उत्तर० ६३)। अर्धमागधी मे जुण्णिय (नायाध० ३४८); जैनमहाराष्ट्री में जुण्णग रूप भी पाया जाता है (आव० एर्त्से० ४१, १)। तीर्थ के लिए महाराष्ट्री में तित्थ के साथ साथ तूह भी चलता है। इस तूह का मूल तूर्थ संस्कृत में कभी और कहीं चलता होगा (हेमचन्द्र १, १०४; हाल; सरस्वती० ४४, १२)। उत्तूह = उत्तूर्थ (ऊपर को छूटनेवाला फव्वारा) हेमचद्र की 'देशीनाममाला' १, ९४ में दिया गया है। पल्लव दानपत्र ५, ५ में तूथिके शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका मूल संस्कृत तूर्थिकान् या तीथिकान् होगा। अर्धमागधी में अण्णउत्थिय रूप पाया जाता है, जो अन्यतूर्थिक के स्थान पर होना चाहिए (विवाह० १२९; १३०; १३७; १३९; १४२; १७८, ३२३, ३२४ आदि आदि; नायाध० ९८४ और बाद के पेजों मे, ठाणंग० १४७, ओव०)। परउत्थिय = परतूर्थिक[2]। तूह को तूथ से निकला बताना[3] भूल है[4]।

१. वेबर : इण्डिशे स्टूडियन १६, १४ और ४६, नोट २; लौयमान : औपपातिक सुत्त पेज ९५।—२. लौयमान की उपर्युक्त पुस्तक।—३. वाकरनागल : आल्टइण्डिशे ग्रामाटीक § २४।—४. बार्तोलोमाए का त्साइटश्रिफ्ट डेर मौरगेनलैण्डिशन गेजेलशाफ्ट ५०, ६८०।

§ ५९—व्यजनों के बाद जब ऌ आता है तब प्राकृत में उसका रूप इलि हो जाता है। क्लृप्त का किलित्त रूप बन जाता है (वररुचि १,३३; हेमचन्द्र १,१४५; क्रमदीश्वर १,३३; मार्कण्डेय पन्ना ११)। क्लृप्ति का किलित्ति होता है (क्रमदीश्वर १,३३; मार्कण्डेय पन्ना ११)। क्रमदीश्वर ५,१६ के अनुसार अपभ्रंश में ऌ जैसे का तैसा रह जाता है अथवा कभी ऌ का इ हो जाता है। क्लृप्त का अपभ्रंश में या तो क्लृप्त ही रह जाता है या यह कप्त रूप धर लेता है। हेमचन्द्र १,१४५; ४,३२९ में क्लिन्न (=भीगा) में ऌ मानता है (हेमचन्द्र पर पिशल का निबन्ध १,१४५)। उसने इस शब्द के जो प्राकृत किलिन्न और अपभ्रंश किण्ण रूप दिये हैं उनकी उत्पत्ति प्राकृत नियमों के अनुसार क्लिन्न से भी सिद्ध हो सकती है (§ १३६)। ऌ जब स्वतन्त्र अर्थात् किसी व्यजन की मिलावट के बिना आता है तब वह लि में परिणत हो जाता है। ऌकार के प्राकृत रूप लिआर (मार्कण्डेय पन्ना ११), लिकार (कल्प० पेज ९६) पाये जाते है।

अध्याय २

स्वर

(अ) द्विस्वर ऐ ओ औ

§ ६०—ऐकार प्राकृत में केवल विस्मयबोधक शब्द के रूप में रह गया है, वह भी केवल कविता में पाया जाता है (हेमचन्द्र १,१६९), किन्तु इस ऐ के स्थान पर महाराष्ट्री और शौरसेनी में अइ लिखा जाता है जो संस्कृत अयि की जगह काम में आता है (वररुचि ९,१२, हेमचन्द्र १,१६९, २,२०५, हाल, मृच्छ० ६३,१३, ६४, २५,८७,२१, विक्रमो० २८,१०, ४२,१९, ४५,२, मालती० ७४,५, २४७,१, २६४,३, आदि आदि)। कुछ लेखकों ने हेमचन्द्र १,१, प्राकृतचन्द्रिका ३४४,५, चन्द्र० २,१४ पेज ३७ के अनुसार प्राकृत में ऐ भी चलाया जैसा कैतव के लिए कैअव और ऐरावत के लिए ऐरावण का प्रयोग (मल्लिकामारुत १३,२२)। किन्तु जहाँ कहीं यह ऐकार पाया जाता है इसे अशुद्ध पाठ समझना चाहिए (हेमचन्द्र १,१ पिशल की टीका)। मार्कण्डेय, पन्ना १२ में, बहुत स्पष्ट रूपसे इस प्रयोग की निन्दा करता है। ऐ नियमित रूप से ए हो जाता है और संयुक्त व्यंजनों से पहले उसका उच्चारण एँ होता है, पल्लव दान पत्र में संस्कृत शब्द विजय वैजइकान् के लिए विजय वेजईके शब्द का प्रयोग हुआ है (६,९)।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में ऐरावण का एरावण हो जाता है (भामह १,३५, वररुचि २,११, हेमचन्द्र १,१४८ और २०८; क्रमदीश्वर २,३१, मार्कण्डेय पन्ना १५, रावण०, सूय० ३७०, कप्प०, एर्त्से०, मृच्छ० ६८,१४), अपभ्रंश में ऐरावत का एरावइ हो जाता है (पिंगल १,२४), इस सम्बन्ध में § २४६ भी देखिए। अर्धमागधी में ऐश्वर्य का एसज्ज हो जाता है (ठाणंग० ४५०)—जैनशौरसेनी में एकाग्र्य का एयग्ग हो जाता है (पव० ३८८, १)।—शौरसेनी में ऐतिहासिक के लिए एदिहासिअ काम में लाया जाता है (ललित० ५५५,२)।—महाराष्ट्री में कैटभ के लिए केढव शब्द आया है (वररुचि २,२१ और २९, हेमचन्द्र १,१४७, १९६ और २४०, क्रमदीश्वर २,११, मार्कण्डेय पन्ना १६)।—महाराष्ट्री में गैरिक शब्द का गेरिअ होता है (कर्पूर० ८०,१०), अर्धमागधी में गेरुय * हो जाता है (आयार० २,१,६,६, सूय० ८३४, पण्णव० २६; दस० ६१९,४१) —

ऐसा मालूम पड़ता है कि गेरुय शब्द गेरिक से न निकला होगा। इसकी व्युत्पत्ति किसी स्थानविशेष में बोले जानेवाले गैरुक शब्द को मानने से ही ठीक बैठेगी।—अर्धमागधी में नैयायिक (जो सम्भवतः कहीं नैयायुक बोला जाता हो) के लिए नेयाउय आता है (सूय० ११७ और ३६१, ९९४ और उसके बाद [इस

* यह गेरू का पूर्वरूप है। —अनु०

स्थान में ने के स्थान पर णे शब्द आया है]; नायाध० § १४४ ; उत्तर० १५८, १८०, २३८ और ३२४ ; ओव०); एक-दो स्थान पर अणेयाउय शब्द भी मिलता है (सूय० ७३६)।—अर्धमागधी में मैथुन के लिए मेहुण शब्द मिलता है (आयार० २, १, ३, २ और ९, १ ; २, २, १, १२ और २, १० ; सूय० ४०९, ८१६, ८२२, ९२३ और ९९४ ; भग० ; उवास०; ओव०); जैनमहाराष्ट्री में यह शब्द मेहुणय* है (एर्त्से०), जैनशौरसेनी मे मेधुण मिलता है (कत्तिगे० ३९९ और ३०६ [पाठ में हु है जो अशुद्ध है])।—महाराष्ट्री मे वैधव्य के लिए वेहव्व आता है (गउड०; हाल०; रावण०)।—अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में वैताढ्य के स्थान पर वेयड्ढ लिखा जाता है (चण्ड० २, ६ ; विवाह० ४७९ ; ठाणग० ७३; विवाग० ९१; निरया० ७९ ; एर्त्से०)।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में शैल का सेल हो जाता है (भामह १, ३५ ; पाइय० ५०; गउड; रावण०; मृच्छ० ४१, १६; कर्पूर० ४९, ६; आयार० २, २, २, ८, २, ६, १, २; कप्प०; ओव० ; एर्त्से० ; ऋषभ०), किन्तु चूलीपैशाचिक में यह शब्द सैल हो जाता है (हेमचन्द्र ४, ३२६)।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी में तैल शब्द का रूप तॆल्ल हो जाता है (§ ९०)।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में चैत्र का चॆत्त हो जाता है (कर्पूर० १२, ४ और ९; विद्ध० २५, २; ऋम० १९; आयार० २, १५, ६; कप्प०)।—महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में मैत्री का मॆत्ती हो जाता है (हाल; रावण०; कक्कुक शिलालेख ७; एर्त्से०)।—महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में वैद्य का वॆज्ज हो जाता है (हेमचन्द्र १, १४८; २, २४; हाल; आव० एर्त्से० १६, ८; एर्त्से०; विक्रमो० ४७, २; मालवि० २६, ५; कर्पूर०; १०४, ७)।—महाराष्ट्री और शौरसेनी में सैन्य शब्द का रूप सेण्ण मिलता है (§ २८२)।

§ ६१—ऐ के स्थान पर प्राकृत व्याकरणकार कुछ शब्दों के लिए सदा और अन्य शब्दों के लिए विकल्प से अइ लिखने का नियम बतलाते हैं। जिन संस्कृत शब्दों के प्राकृत रूप मे अइ होना चाहिए वे सब दैत्यादिगण में एकत्र किये गये हैं (वररुचि १, ३६; हेमचन्द्र १, १५१; क्रमदीश्वर, १,३७; मार्कण्डेय पन्ना १२; प्राकृत-कल्पलता पेज ३६)। सब प्राकृतों में एक समान प्रयोग में आनेवाले निम्नलिखित शब्द हैं—दैत्य का महाराष्ट्री रूप दइच्च (पाइय० २६ और ९९; गउड०); वैदेह का वइदेह (क्रमदीश्वर में वइदेही रूप मिलता है); अर्धमागधी में वैशाख का वइसाह रूप पाया जाता है (आयार० २, १५, २५ [साथ ही वेसाह रूप भी प्रयोग में आया है]; विवाह० १४२६; निरयाव० १० ; उत्तर० ७६८; कप्प०)। हेमचन्द्र और चंड ने ऐश्वर्य के स्थान पर अइसरिअ दिया है। इस शब्द का मागधी में एसज्ज रूप दिखाई देता है (§ ६०)। केवल हेमचन्द्र ने दैन्य का दइन्न रूप दिया है, और साथ ही वैजवन का वइजवण, दैवत का दइवय, वैतालीय का वइआलीअ, वैदर्भ का वइदब्भ, वैश्वानर का वइस्साणर और वैशाल का

* सम्भवत इसका मूल संस्कृत रूप मैथुनक शब्द हो। —अनु०

वइस्साल रूप दिये हैं। भामह, हेमचन्द्र, मार्कण्डेय और प्राकृतकल्पलता स्वैर के स्थान पर सइर बतलाते हैं। यह रूप 'पाइयलच्छी' ने भी दिया है। भामह, हेमचन्द्र और मार्कण्डेय वैदेश के लिए वइएस रूप देते हैं। भामह, हेमचन्द्र, मार्कण्डेय और प्राकृतकल्पलता कैतव के स्थान पर महाराष्ट्री रूप कइअव देते हैं (गउड०; हाल)। यह शब्द जैनमहाराष्ट्री में कइयव पाया जाता है (पाइय० १५७; एत्सें०)। 'क्रमदीश्वर' और 'प्राकृतकल्पलता' में चैत्य का प्राकृत रूप चइत्त है (विवाग० १५२; उत्तर० ७५४), इसके साथ साथ अर्धमागधी में चेत्त रूप भी चलता है (सूय० ७७३), इसके अतिरिक्त चैदेश्य का चइदेसिअ हो जाता है और वैपयिक का वेसइय। केवल क्रमदीश्वर में वैषम्य का वइसम्म रूप मिलता है। केवल 'प्राकृत-कल्पलता' में क्षेत्र का गइत्त बताया गया है। अन्य शब्दों के रूपों के विषय में मतभेद है। वररुचि १,३७ और क्रमदीश्वर १,३८ केवल दैव शब्द में इस बात की अनुमति देते हैं कि इसमें लेखक की इच्छा के अनुसार ए या ए लगाया जा सकता है। इस शब्द के विषय में हेमचन्द्र ने १,१५३ में एक विशेष नियम दिया है यद्यपि वह इस प्रकार अपने स्वर बदलनेवाले अन्य कई शब्दों से भलीभाँति परिचित है। 'प्राकृतकल्पलता' पेज २७ और 'त्रिविक्रम' १,२,१०२ में यह शब्द वैरादि गण में शामिल किया गया है। मार्कण्डेय पन्ना १२ में इस शब्द को दैवादि गण में शामिल किया गया है। वररुचि १,३७ की टीका में भामह का मत है कि यह शब्द दइव बोला जाता है; किन्तु जब व का द्वित्व हो जाता है तब अइ के स्थान पर ए आ जाता है। वररुचि ने इसका उदाहरण देव्व दिया है (३,५२)। क्रमदीश्वर ने भी ये दोनों रूप दिये हैं, किन्तु हेमचन्द्र ने तीन रूप दिये हैं—देव्व, दइव्व और दइव, मार्कण्डेय ने देव्व, देव रूप सिखाये हैं। यह देव्व और दइव संस्कृत दैव्य के रूप हैं। अपभ्रंश दइव (हेमचन्द्र ४, ३३१. ३४०,१, ३८९) होता है। मार्कण्डेय पन्ना ६६ के और 'रामतर्कवागीश' के अनुसार (हेमचन्द्र १,१५३ पर पिशल की टीका देखिए) शौरसेनी प्राकृत में इस शब्द में अइ का प्रयोग नहीं किया जाता और 'रामतर्कवागीश' का मत है कि शौरसेनी में अइ स्वरों का प्रयोग बिलकुल नहीं होता। सच बात यह है कि जो सबसे उत्तम हस्तलिखित प्रतियाँ पायी जाती हैं (हेमचन्द्र १,१४८ पर पिशल की टीका देखिए) उनमें शौरसेनी और मागधी भाषा के ग्रन्थों में ऐकार का एकार दिया गया है और जिन शब्दों में अन्य प्राकृत भाषाओं में केवल अइ स्वरों का प्रयोग होता है उनमें भी उपर्युक्त प्राकृतों में अइ काम में नहीं आता। इस कारण शौरसेनी में कैतव का केदव हो जाता है (शकु० १०६, ६), वैशाख का वेसाह होता है (विद्ध० ७७,७) और स्वैर का सेर होता है (मृच्छ० १४३, १५; मुकुन्द० १७,१८ और १९) । जिन शब्दों में कभी अइ और कभी ए होता है उनमें शौरसेनी और मागधी में सदा ए का प्रयोग किया जाता है। इसलिए शौरसेनी और मागधी में देव्व शब्द आता है (मृच्छ० २०,२४; शकु० ६०,१७ ; ७१,४ ; १६१,१२, मालवि० ५७,१९; रत्ना० ३१७,३२, मृच्छ० १४०,१०)।—भामह १,३५ के अनुसार कैलास शब्द का केलास

हो जाता है और हेमचन्द्र, मार्कण्डेय तथा प्राकृतकल्पलता के अनुसार कइलास* अथवा कैलास होता है, पाइयलच्छी ९७ में कइलास शब्द है, महाराष्ट्री (गउड०; रावण०; बाल० १८१,१४) और शौरसेनी (विक्रमो० ४१,३; ५२,५; विद्ध० २५,९) मे केलास मिलता है। —भामह १,३६ और चण्ड० २,६ के अनुसार वैर शब्द का प्राकृत रूप वइर होता है और हेमचन्द्र, मार्कण्डेय तथा प्राकृतकल्पलता का मत है कि इसका दूसरा रूप वेर भी होता है। इस प्रकार जैन-महाराष्ट्री में वइर (एत्सें०), वइरि (एत्सें०, कालेयक०), इसके साथ साथ महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी मे वेर शब्द काम में लाया जाता है (रावण०, सूय० १६, ३५९, ३७५, ४०६, ८७२ और ८९१; आयार० १,२,५,५; भग०, एत्सें०; कालेयक०; मृच्छ० २४,४, १४८,१, महावीर० ५२, १८ और १९; प्रबन्ध० ९,१६), मागधी में वइर के लिए वेल शब्द है (मृच्छ० २१,१५ और १९; १३३,९, १६५,२), महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में वेरि शब्द मिलता है (गउड०; एत्सें०; कालेय०), जैनमहाराष्ट्री में वैरिक के लिए वेरिय शब्द आया है (कालेय०), अपभ्रंश वेरिअ है (हेमचन्द्र ४,४३९,१), मागधी में वेलिय लिखा जाता है (मृच्छ० १२६,६)।—क्रमदीश्वर के अनुसार कैरव का प्राकृत रूप कइरव होता है, किन्तु हेमचन्द्र, मार्कण्डेय और प्राकृतकल्पलता के अनुसार केरव भी इसका एक रूप है। क्रमदीश्वर ने बताया है कि चैत्र शब्द का प्राकृत रूप चइत्त है,किन्तु हेमचन्द्र, मार्कण्डेय और प्राकृतकल्पलता कहते हैं कि इसका एक रूप चेत्त भी होता है और महाराष्ट्री, अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्री में (§ ६०) इसके लिए जाइत्त शब्द है। मार्कण्डेय ने इसे जइत्त और जेत्त लिखा है। भामह, हेमचन्द्र और क्रमदीश्वर भैरव शब्द के स्थान पर प्राकृत में भइरव लिखते हैं, किन्तु मार्कण्डेय और प्राकृत कल्पलता का मत है कि इसका दूसरा रूप भेरव भी है। महाराष्ट्री में भइरवी का प्रयोग हुआ है (गउड०), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में भेरव पाया जाता है (सूय० १२९ और १३०; आयार० १,६,२,३, १,७,६,५, २,१५,१५, ओव०; कप्प०, एत्सें०), शौरसेनी में महाभेरवी शब्द मिलता है (प्रबन्ध० ६५,४, ६६,१० [यहाँ महाभेरवी पाठ ही पढ़ा जाना चाहिए क्योंकि यही शुद्ध है]), मागधी में महाभेलव का प्रयोग होता है (प्रबन्ध० ५८,१८ [यहाँ भी महाभेलवी पढ़ा जाना चाहिए])। —व्यक्तिवाचक नामों में जैसे भैरवानन्द, जो 'कर्पूरमंजरी' २४, २ में मिलता है, इसके स्थान पर हस्तलिखित प्रतियों में तथा 'कर्पूरमंजरी' के बम्बइया संस्करण के २५, ४ तथा उसके बाद अधिकतर भेर का प्रयोग ही मिलता है, किन्तु कोनो ने इस शब्द का शुद्ध रूप भेर दिया है जैसा 'कालेयकुतूहलम्' के १६, १४ में मिलता है। भामह, क्रमदीश्वर, मार्कण्डेय और 'प्राकृतकल्पलता' के अनुसार वैशम्पायन का वइसम्पाअण होता है और हेमचन्द्र ने बताया है कि इसका दूसरा रूप वेसम्पाअण भी होता है। हेमचन्द्र ने बताया है कि वैश्रवण के वइसवण और वेसवण दो रूप होते हैं। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में

* हिंदी, विशेष कर अवधी में इसकी परिणति कबिलास में हुई। —अनु०

इसका रूप **वेसमण** ही चलता है (नायाध० ८५२ और ८५३, उत्तर० ६७७, भग०, ओव०, कप्प०, एत्सें०)। इन शब्दों के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने लिखा है कि **वैतालिक** तथा **वैशिक** शब्दों में भी अइ और ए बदलते रहते हैं। इस स्थान पर भामह के मत से केवल अइ होना चाहिए। अर्धमागधी में इस शब्द का एक ही रूप **वेसिय** पाया जाता है (अणुओग०)। व्याकरणकारों के सब गण आकृतिगण हैं, यह प्राकृत सा हत्य की नयी नयी पुस्तकें निकलने के साथ साथ संख्या में बढ़ते जाते हैं। ऐसे उदाहरण अर्धमागधी में **वैरोचन** के स्थान पर **वइरोयण** मिला है (सूय० ३०६, भग०) और **वैकुण्ठ** के लिए **वइकुण्ठ** आदि आदि।

§ ६१ अ—जैसा ऐकार के विषय में लिखा गया है उसी प्रकार हेमचन्द्र १,१, प्राकृतचन्द्रिका ३४४,५, और चण्ड २, १४ पेज ३७ में बताया गया है कि कुछ शब्दों में औ ही रहता है, **सौदर्य** का **सौअरिय**, **कौरव** का **कौरव**, **कौलव** (चण्ड) होता है, हस्तलिखित प्रतियों में ऐसी अशुद्धियाँ बहुधा देखने में आती हैं। साधारण नियम यह है कि **औ** का **ओ** हो जाता है (वररुचि १,४१; चण्ड० २,८, हेमचन्द्र १,१५९ क्रमदीश्वर १,३९, मार्कण्डेय पन्ना १३), और मिले हुए दो व्यजनों के पहले आने पर **औ** के स्थान पर **ओ॑** हो जाता है, पल्लवदानपत्र में **कौलिकाः** के स्थान पर **कोलिका** आया है (६,३९), **कौशिक** के स्थान पर **कोसिक** है (६, १६), महाराष्ट्री में इस शब्द के लिए **कोसिअ** आया है (हेमचन्द्र , गउड० ३०६), शौरसेनी में भी **कोसिअ** रूप ही मिलता है (शकु० २०,१२)। —**औरस** शब्द के लिए शौरसेनी में **ओरस** पाया जाता है (विक्रमो० ८०,४)।—**औपम्य** के लिए अर्धमागधी में **ओवम्म** चलता है (ओव०)। —**औषध** के लिए महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और शौरसेनी में **ओसह** शब्द काम में लाया जाता है (§ २२३)।—अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **कौतुक** के लिए **कोउय** और **कोउग** चलता है (पाइय० १५६, सूय० ७३०, ओव०, कप्प०, एत्सें०)। —महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **कौमुदी** के लिए **कोमुई** आता है (भामह १,४१, हेमचन्द्र, क्रमदीश्वर, हाल, ओव०, एत्सें०), शौरसेनी में **कोमुदी** शब्दका प्रचार है (विक्रमो० २३,२०, प्रिय० १९,११, ४०,५)। —शौरसेनी में **कौशाम्बी** के लिए **कोसम्बी** शब्द आता है (भामह, हेमचन्द्र, रत्ना० ३१०, २१), किंतु शौरसेनी में **कौशाम्बिका** के लिए **कोसम्बिआ** आया है। —**कौतूहल** शब्द महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **कोउहल** हो जाता है (गउड०, उत्तर० ६३१, एत्सें०, कालेय०) और शौरसेनी में इसका रूप **कोदूहल** मिलता है (मृच्छ० ६८,१४, शकु० १९,२ , १२१,१०, १२९१, विक्रमो० १९,७, मालती० २५७,१, मुद्रा० ४३,५, विद्ध० १५,२, प्रसन्न० ११,४, चैतन्य० ४२,१ और ४४,१२) शौरसेनी में **कोदूहलिल्ल** भी पाया जाता है (बाल० १६८, २), महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **कौतूहल्य** के लिए **कोउहल्ल** शब्द मिलता है (हेमचन्द्र १,११७ और १७१, २,९९, पाइय० १५६; गउड०, हाल, कर्पूर० ५७,१, वियाह० ११,१२ और ८१२)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **कोऊहल्ल** भी मिलता है

(ओव०; कालेय०)। कोहल के विषय में § १२३ देखिए। —द्यौ शब्द का महाराष्ट्री अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, दाक्षिणात्या और अपभ्रंश में दो हो जाता है (§ ४३६)। —जैनमहाराष्ट्री में द्यौष्पति के लिए दोवइ शब्द चलता है (कालका०)। —अर्धमागधी में द्रौपदी का प्राकृत रूप दोवई है (नायाध० १२२८), मागधी में दोवदी होता है (मृच्छ० ११,७; १६, २३; १२८,१४ [यह पाठ अधिकतर हस्तलिखित प्रतियों में सर्वत्र पढ़ा जाना चाहिए; इस ग्रन्थ के १२९,६ में द्रौपदी के लिए दों प्पदी पाठ आया है जो अशुद्ध है बल्कि यह दों प्पदी दुष्पतिः के स्थान पर आया है।]) —जैनशौरसेनी में धौत शब्द के लिए धोद मिलता है (पव० ३७९,१)। —पौराण के लिए महाराष्ट्री और अर्धमागधी में पोराण चलता है (हाल; ओव०; कप्प० राय० ७४ और १३९; हेमचन्द्र ४, २८७), जैनमहाराष्ट्री में इसका प्राकृत रूप पोराणय है (एत्सें०)। —सौभाग्य के लिए महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में सोहग्ग है (गउड०; हाल; रावण०; ओव०; एत्सें०; मृच्छ० ६८,१७; शकु० ७१,८; विक्रमो० ३२,१७; महावी० ३४,११; प्रबन्ध० ३७,१६; ३८,१; ३९,६)। —कौस्तुभ के लिए महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में कों त्थुअ* होता है (भाम०; हेमचन्द्र; गउड०; हाल; रावण०; एत्सें०)। —यौवन (§ ९०) के लिए महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश में जों व्वण मिलता है। —महाराष्ट्री में दौत्य के स्थान पर दों च्च होता है (हाल ८४)। —दौर्बल्य के लिए महाराष्ट्री और शौरसेनी में दों ब्बल होता है (गउड०; हाल; रावण०; शकु० ६३,१)। —जैनमहाराष्ट्री में प्रपौत्र के लिए पवों त्त होता है (आव०; एत्सें० ८,३१)। —मौक्तिक शब्द के लिए महाराष्ट्री और शौरसेनी में मों त्तिअ तथा जैनमहाराष्ट्री में मों त्तिय काम में आता है (गउड०; हाल; रावण०; मृच्छ० ७०,२५; ७१,३; कर्पूर० ७३,५; ८२,८; विद्ध० १०८,२; एत्सें०)। —सौख्य शब्द के लिए महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी, शौरसेनी और अपभ्रंश में सों क्ख होता है (मार्क०; गउड०; हाल; रावण०; ओव०; कप्प०; एत्सें०; और कक्कुक शिलालेख ९; पव० ३८१,१९ और २०; ३८३,७५; ३८५,६९; कत्तिगे० ४०२, ३६१, ३६२ और ३६९; मालती० ८२, ३; उत्तर० १,२१, ४; हेमचन्द्र ४, ३३२, १) और मागधी में शों क्ख होता है (प्रबन्ध० २८, १५; ५६, १; ५८, १६)। — सौम्य शब्द महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी से सों म्म हो जाता है (गउड०; रावण०; कक्कुक शिलालेख ७; रत्ना० ३१७,३१; महावी० ६,८; उत्तर० ३१,२० ; ६२,८; ७१,८; ९२, ८; अनर्घ० १४९,९; कंस० ९,२), इस रूप के साथ-साथ अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में सोम शब्द भी चलता है (नायाध०; कप्प०; एत्सें०)। जैसा संस्कृत ऐ का प्राकृत में अइ हो जाता है वैसे ही अनेक शब्दों में औकार अउकार में परिणत हो जाता है। व्याकरणकारों ने ऐसे शब्दों को आकृतिगण पौरादि में संगृहीत किया है (वररुचि १,४२; हेमचन्द्र १,१६२; क्रम० १,४१; मार्क० पन्ना १३; प्राकृत० पेज ३८)। किन्तु जहाँ ये ऐकार

* शौरसेनी में यह कोत्थुह पाया जाता है (कंसवहो) —अनु०

वाले बहुत से शब्दों में अइ के साथ साथ ए लिखने की भी अनुमति देते हैं, वहाँ अउ के साथ साथ ओ वाले शब्दों की अनुमति बहुत थोड़ी दी गयी है। वररुचि के १,४२ पर टीका करते हुए भामह ने लिखा है कि **कउसल** के साथ साथ **कोसल** भी इच्छानुसार लिखा जा सकता है। हेमचन्द्र, क्रमदीश्वर, मार्कण्डेय और प्राकृत लता में केवल **कउसल** शब्द आया है। हेमचन्द्र १,१६१ और १६२ में कउच्छेअय के साथ साथ **कोच्छेअय** दिया गया है। मार्कण्डेय पन्ना १२ में **मउण** के साथ साथ **मोण** लिखने की अनुमति दी गयी है और हेमचन्द्र का भी यही मत है। मार्कण्डेय ने **मउलि** के साथ साथ **मोलि** लिखने की भी आज्ञा दी है क्योंकि उसका आधार कर्पूरमंजरी ६,९ है जहाँ यह शब्द मिलता है। हेमचन्द्र और प्राकृतकल्पलता ने भी यही अनुमति दी है। मार्कण्डेय के मतानुसार **कौरव** और **गौरव** में शौरसेनी में अउ नहीं लगता और प्राकृतकल्पलता में बताया गया है कि शौरसेनी में **पार** और **कोरव** में अउ नहीं लगाया जाता। भामह, हेमचन्द्र, क्रमदीश्वर, प्राकृत कल्पलता और मार्कण्डेय में बताया गया है कि **पोर** शब्द में प्राकृत में ओ नहीं बल्कि अउ लगाया जाता है और इन व्याकरणकारों के मत से **कोरव** में भी अउ लगना चाहिए। इस विषय पर चण्ड का भी यही मत है। चण्ड और क्रमदीश्वर को छोड़कर सब व्याकरणकार **पोरुष** में भी अउ लगाना उचित समझते हैं। हेमचन्द्र और चण्ड **सोर** और **काल** के लिए भी यही नियम ठीक समझते हैं। हेमचन्द्र और प्राकृत कल्पलता **गोड** के लिए (अर्धमागधी, अपभ्रंश रूप **गोड**), मार्कण्डेय और प्राकृत कल्पलता **क्षोरित** के लिए, हेमचन्द्र **शोध** के लिए, मार्कण्डेय **क्षोर** के लिए और प्राकृतकल्पलता **ओचित्य** के लिए अउ का प्रयोग ठीक समझते हैं। महाराष्ट्री में **फोल** का (गउड०) **फउल** और **फोल** होता है (कर्पूर० २५,२, काल्येय० १६,२१ [पाठ में **फो** है जो **फउ** होना चाहिए।])। —महाराष्ट्री में **गउड** (गउड०) मिलता है, किंतु अर्धमागधी और अपभ्रंश में **गोड** आया है (पण्हा० ४१ [पाठ म **गौ** है किन्तु इस विषय पर वेबर, फेरस्लाइक्नानिश २, २, ५१० देखिए], पिंगल० २, १२२ और १३८)। —महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में **पार** के लिए **पउर** होता है (गउड० , कक्कुक शिलालेख १२, एत्सं०, ऋषभ०), किन्तु शौरसेनी म **पोर** होता है (शकु० १३८, ११, मुद्रा० ४२, १० [मूल पाठ म **पो** छपा हुआ है], २६१, १ , मालती० २८८,३, उत्तर० २७,३, बाल० १४९, ८१, काल्येय० ७५, ५), मागधी म **पोर** का **पोल** हो जाता है (मृच्छ० १६७, १ और २ [ग्रन्थ म **पो** छपा है]), इसलिए मृच्छकटिक १६०, ११ म **पोला** शब्द सुधार कर **पोल** पढ़ा जाना चाहिए। —भामह, हेमचन्द्र, मार्कण्डेय और प्राकृतकल्पलता के अनुसार **पौरुष** का **पारिस** होना चाहिए, किन्तु जैनमहाराष्ट्री म **पोरिस** आता है (एत्सें०) और अर्धमागधी में **पोरिसी** मिलता है (आयार० १, ८, १, ४, सम० ७८, उवास०, कप्प०), **पोरिसीय** भी मिलता है (सूय० २८१), **अपोरिसीय** (निरया० ४४७, नायाध० ११२३) शब्द भी मिलता है। इस विषय पर § १२८ भी देखिए। —**मोन** शब्द के लिए हेमचन्द्र और मार्कण्डेय ने **मउण** रूप दिया है और शौरसेनी म भी यही रूप

मिलता है (विद्ध० ४६, ११), पर यह रूप अशुद्ध है, इस स्थान पर **मोण** रूप होना चाहिए, जैसा महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और अर्धमागधी में होता है (मार्क०, हाल, आयार० १, २, ४, ४, १, २, ६, ३, सूय० १२०, १२३, ४९५ और ५०२, पण्हा० ४०३, एर्त्से०, ऋषभ०) ।—**मौलि** शब्द के लिए महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में **मउलि** होता है (गउड० कर्पूर० २, ५, सूय० ७३० और ७६६, ठाणग० ४८०, ओव० § ३३, कालका०) और महाराष्ट्री में **मोलि** होता है (कर्पूर० ६,९) । शौरसेनी में भी **मोलि** आता है (कर्पूर० ११२, ३, मल्लिका० १८३,५, प्रसन्न० ३३,६ [पाठ मे **मौ** है]), किन्तु **मउलि** भी मिलता है (विक्रमो० ७५, ११, माल्ती० २१८, १) । विक्रमोर्वशी के सन् १८८८ ई० मे छपे बम्बई संस्करण १२२, १ और शकर परब पण्डित की इसी पुस्तक के १३१, ४ के तथा 'मालतीमाधव' की एक हस्तलिखित प्रति और मद्रास के संस्करण मे **मोलि** मिलता है और सन् १८९२ ई० के बम्बई के संस्करण १६७, २ मे **मउलि** मिलता है । नियम के अनुसार इन दोनों स्थानों पर **मोलि** शब्द होना चाहिए ।—हेमचन्द्र के अनुसार **शौध** के लिए प्राकृत मे **सउह** होना चाहिए, किन्तु शौरसेनी में **सोध** रूप पाया जाता है (माल्ती० २९२, ४) । इन सब उदाहरणों से यह पता चलता है कि बोली बोली म शब्दों के उलटफेर अधिक हैं, किन्तु व्याकरण कारों में इतना अधिक मतभेद नहीं है । शौरसेनी और मागधी के लिए शुद्ध रूप **ओ** वाला होना चाहिए । **गौरव** क लिए वररुचि १, ४३, हेमचन्द्र १, १६३, क्रमदीश्वर १,४२ मे बताया गया है कि **गउरव** के साथ साथ **गारव** भी चलता है और मार्कण्डेय पना १३ के अनुसार इन रूपो के अतिरिक्त **गोरव** भी चलता है जो केवल शौरसेनी मे काम मे लाया जा सकता है, जैनमहाराष्ट्री म **गउरव** है (एर्त्से०), महाराष्ट्री और शौरसेनी म **गोरव** भी पाया जाता है (हाल, अद्भुत द० ५४, १०), महाराष्ट्री, अर्ध मागधी और जैनमहाराष्ट्री में **गारव** भी पाया जाता है (गउड०, हाल, रावण०, दस० ६३५, ३८, पण्हा० ३०७, उत्तर० ९०२, एर्त्से०) , जैनमहाराष्ट्री में **गारविय** भी मिलता है (कक्कुक शिलालेख ६) । **गारव** शब्द पाली **गरु** और प्राकृत **गरुअ** और **गरुय** से सम्बन्ध रखता है जो संस्कृत शब्द **गुरुक** § १२३, **गरीयस** और **गरिष्ठ** से सम्बन्ध रखते हैं । **औ** से निकले हुए **ओ** के स्थान पर कहीं **'उ'** हो जाता है, इस विषय पर § ८४ देखिए ।

(आ) ह्रस्व स्वरों का दीर्घीकरण

§ ६२—**र** के साथ दूसरा व्यजन मिलने पर विशेषत **श ष** और **सकार** (उष्म वर्ण) मिलने से और **श ष** और **सकार** तथा **य र** और **व** (अतस्थ) मिलने से अथवा तीनो प्रकार के **सकार** (श, ष, स) आपस मे मिलने से दीर्घ हो जाते हैं और उनके बाद संयुक्त व्यजन सरल बना दिये जाते हैं । यह दीर्घीकरण महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री म शौरसेनी और मागधी से बहुत अधिक मिलता है । शौरसेनी और मागधी म ह्रस्व स्वर ज्यो के त्यो बने रहते हैं और व्यजन उनम मिल जाते हैं । **र** के साथ मिले हुए व्यजन के उदाहरण 'पल्लवदान पत्र' म **'कार्यानम्'** क

लिए **फातूणम्**; पैशाची में **कातूनम्** और अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्री में **काऊणम्** है (§ ५८५ और ५८६); 'विजयबुद्ध वर्मन' के दानपत्र में **कातूण** मिलता है। जैनशौरसेनी में **कादूण** आया है (§ २१)। महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में **काऊण** रूप भी मिलता है जो सम्भवतः ***कर्त्वान** से निकला है (§ ५८६); महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **काउं**, शौरसेनी और मागधी में **कादुं** मिलता है जो **कर्तुम्** के रूप हैं (§ ५७४)। महाराष्ट्री में **काअव्व**, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **कायव्व**, जैनशौरसेनी, शौरसेनी में **कादव्व** रूप मिलते हैं जो **कर्तव्य** शब्द के प्राकृत भेद हैं (§ ५७०)। संस्कृत **गर्गरी** (देशी० २, ८९) के **गायरी** (जो ***गागरी** के समान है) और **गग्गरी*** रूप मिलते हैं।—महाराष्ट्री में **दुर्भग** के लिए **दूहव** रूप मिलता है (हेमचद्र १, ११५ और १९२, कर्पूर० ८६, २)। इस रूप की समानता के प्रभाव से शौरसेनी में **सुभग** का **सूहव** हो जाता है (हेमचद्र १, ११३ और १९२; मल्लिका० १२६, २)।—अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **निर्णयति** का **नीणेइ** होता है (निरया० § १७, उत्तर० ५७८, एर्त्से०); जैनमहाराष्ट्री में **निर्णयत** का **नीणेह** हो जाता है (द्वारा० ४९६, ५), **निर्णायमान** का **नीणिज्जन्त** और **नीणिज्जमाण** रूप है (आव०, एर्त्से० २४, ४, २५, ३४), **निर्णेष्यति** का **नीणेहिइ** होता है और **निर्णीय** का **णीणेऊण** होता है (एर्त्से०), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **निर्णीत** का **णीणिय** होता है (नायाध० ५१६, एर्त्से०)।—अपभ्रंश में **सर्व** का **साव** हो जाता है (हेमचद्र ४, ४२०, ५, सरस्वती० १५८,२२)।—**र** के साथ अंतिम ध्वनि अथवा अनुस्वार या अनुनासिक लगने से स्वर नियमित रूप से ह्रस्व ही रह जाता है और व्यञ्जन शब्द में मिल जाते हैं।—अर्धमागधी में **परिमर्दिन्** के लिए **परिमासि** रूप है (ठाणग० ३१३)।—अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी में **स्पर्श** के लिए **फास**† शब्द है (हेमचद्र २, ९२, आयार० १, २, ३, २, १, ४, २, २ और ३, २, १, ५, ४, ५, १, ६, ३, २, सूय० १७०, १७२, २५७ और ३३७, पण्णव० ८, १०, ३६०, अणुओग० ९६८, ओव०, कप्प०, एर्त्से०, पव० ३८४, ४७)।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्री में **वर्ष** का **वास** होता है (हेमचद्र १, ४३, हाल, सूय० १४८, विवाह० ४२७, ४७९ और १२४३, उत्तर० ६७३, दस० ६३२, ४२, सम० १६६, उवास०, एर्त्से०)। अर्धमागधी में **वर्षति** के लिए **वासइ** चलता है (दस०, नि० ६४८, ७ और १३ तथा १४), **वर्षितुकाम** के लिए **वासिउकाम** होता है (ठाणग० १५५), किन्तु शौरसेनी में **वर्षतु** के लिए **वस्सारिदु** मिलता है (विद्ध० ९९, १, [इसी ग्रन्थ में एक पाठ **वासारिदु** भी है])। मागधी में **वस्सदि** रूप मिलता है (मृच्छ० ७९, ९)।—**सर्षप** शब्द के लिए अर्धमागधी रूप **सासव** है (आयार० २, १, ८, ३)।—अर्धमागधी में कहीं-कहीं 'ढ' के साथ संयुक्त व्यञ्जन से पहले ह्रस्व स्वर का रूप दीर्घ हो

* हिन्दी में 'गगरी' और कुमाउनी में 'गागरि' रूप आज भी वर्तमान हैं। —अनु०

† हिंदी फास, फासी आदि से तुलना कीजिए। ये शब्द स्पर्श=फास और फंस के ही विकार हैं। —अनु०

जाता है; अर्धमागधी में **फल्गुन** शब्द **फागुण*** हो जाता है (विवाह० १४२६), इसके साथ-साथ **फग्गुण** शब्द भी चलता है, **फग्गुमित्त** (कप्प०), **फग्गुणी** (उवास०) भी मिलते हैं। महाराष्ट्री में **फग्गुछे** शब्द आया है (हाल), शौरसेनी में **उत्तरफग्गुणी** और **फग्गुण** रूप मिलते हैं (कर्पूर० १८, ६; २०, ६; धनजय० ११, ७)। अर्धमागधी में **वल्कल** के लिए **वागल** रूप है (नायाध० १२७५; निरया० ५४), **वल्क** के लिए **वाग** आता है (ओव० § ७४; [पाठ में वाक् है]), किन्तु महाराष्ट्री और शौरसेनी में **वक्कल** आता है (गउड०; शकु० १०, १२; २७, १०; विक्रमो० ८४, २०; अनर्घ० ५८, ११), महाराष्ट्रीमें **अपवल्कल** के लिए **अववक्कल** शब्द आया है (गउड०) तथा मागधी में **निरवल्कल** के लिए **णिव्वक्कल** मिलता है (मृच्छ० २२, ७)।

§ ६३—इस स्थान पर **श ष-स**-कार और **य** के मेल से बने द्वित्व व्यञ्जन का प्राकृत में क्या रूप होता है उसके उदाहरण दिये जाते हैं, अर्धमागधी में **नश्यसि** का रूप **नाससि** होता है (उत्तर० ७१२); महाराष्ट्री में **णासइ, णासन्ति** और **णासउ** रूप मिलते हैं (हाल, रावण०), जैनमहाराष्ट्री में **नासइ** और **नासन्ति** रूप पाये जाते हैं (एर्त्से०); अर्धमागधी में **नस्सामि** रूप भी मिलता है (उत्तर० ७१३); अर्धमागधी में **नस्सइ** (हेमचन्द्र ४, १७८ और २३०; आयार० १,२,३,५ [ऊपर लिखा **नासइ** देखिए]), **नस्समाण** (उवास०), **विणसइ** (आयार० १, २, ३, ५) रूप भी काम में आये हैं; जैनमहाराष्ट्री में **नस्सामो, णस्स** है (एर्त्से०)। शौरसेनी में **णस्सदि** (शकु० ९५, ८) और मागधी में **विणश्शदु** (मृच्छ० ११८,१९) रूप मिलते हैं।—अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **पश्यति** का रूप **पासइ** चलता है (आयार० १,१,५,२, सूय० ९१; विवाह० १५६, २३१, २७४, २७५, २८४ और १३२५; विवाग० १३९; नन्दी० ३६३ और ३७१; राय० २१ और २४०; जीवा० ३३९ और उसके बाद; दस० ६४३, १३ आदि-आदि; एर्त्से०)। अर्धमागधी में एक वाक्य है, **पासियव्वं न पासइ, पासिउ कामे न पासइ, पासित्ता वि न पासइ** (पण्णव० ६६७)। इस प्राकृत में **अणुपस्सिया** भी है (सूय० १२२); **पास** आया है (इस शब्द का अर्थ आँख है, देशी० ६,७५; त्रिविक्रम में जो बेत्सेनबर्गर्स बाइत्रैगे ६, १०४ में छपा है, ये रूप आते हैं)।—अर्धमागधी में **क्लिश्यन्ते** शब्द के लिए **कीसन्ति** (उत्तर० ५७६) रूप मिलता है, किन्तु जैनमहाराष्ट्री में **कीलिस्सइ** हो जाता है (एर्त्से०), शौरसेनी में **अदिकिलिस्सदि** रूप पाया जाता है (मालवि० ७, १७)।—**शिष्य** के लिए अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **सीस**† शब्द का प्रचलन है (हेमचन्द्र १, ४३; ४, २६५; पाइय० १०१; दस० नि० ६४५, १२ और १३; कप्प०; आव०; एर्त्से० ४०,८ और उसके बाद, ४१, ११, द्वारा० ४९९,१३, एर्त्से०)। **शिष्यक** के लिए **सीसग** रूप मिलता है (आव०, एर्त्से० ४०,२२; द्वारा० ४९८,१३); इस शब्द के साथ-साथ जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **सिस्स** रूप भी मिलता है

* यह रूप 'फागुन' और 'फाग' रूप में हिंदी में वर्तमान है।—अनु०

† यह सीस प्राचीन हिंदी कवियों ने धड़क्के से व्यवहार किया है—अनु०

(आव०; एर्से० ३३, २१; प्रिय० ३५, ५; हास्य० ३५, १३; २७, १९; ३४, ३ और ६, १०; मल्लिका० १५६, २३; कालेय० १८, ३ और ९; १९, १३; २४, १४; १६, ८ [इस स्थान पर अशुद्ध शब्द **सीस** आया है]), शौरसेनी में **सुशिष्य** के लिए **सुसिस्स** है (शकु० ७७, ११) और **शिष्या** के स्थान पर **सिस्सा** रूप आया है (मल्लिका० २१९, २०); इस शब्द के लिए अर्धमागधी में **सिस्सणी** का प्रयोग मिलता है (विवाह० ३४२ [पाठ में **सिसिणी** आया है] ; नायाध० १४९८; सम० २४१)।—महाराष्ट्री में **तूसइ** (वररुचि ८, ४६ ; हेमचन्द्र ४, २३६ ; क्रमदीश्वर ४, ६८; हाल) आया है। जैनशौरसेनी में **तूसेदि** (कत्तिगे० ४००,३३५), किन्तु शौरसेनी रूप **तुस्सदि** मिलता है (मालवि० ८,३)।—**मनुष्य** के लिए अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **मणूस** आया है (हेमचन्द्र १, ४३; सूय० १८०, विवाह० ७९, ३४१,३६१ और ४२५, उत्तर० १७५; पण्णव ७०६; दस० नि० ६५३, ११; ओव०; आव०, एर्से० २६, ३८; एर्से०), अर्धमागधी में **मणुसी*** (पण्णव० ७०६), किंतु साथ-साथ **मणुस्स** शब्द भी मिलता है (विवाह० ३६२ और ७१७ ; पण्णव ३६७, उवास०), यही शब्द जैनशौरसेनी में भी मिलता है (कत्तिगे० ३९९, ३०८) और महाराष्ट्री तथा शौरसेनी में सदा **मणुस्स**† का प्रयोग होता है (चण्ड० २, २६ पेज ४२, पाइय० ६०, हाल; मृच्छ० ४४, २ और ३; ७१, ९; ११७, १८, १३६, ७), मागधी में **मणुश्श** (मृच्छ० ११, २४; १३, ४; १७, १७; ३०, २१; १२५, २१ और १६४, ६)। **मणुश्शक** (मृच्छ० १३१, १०) और **मणुश्शक** (मृच्छ० ११३, २१) मिलते हैं।—मागधी के सम्बन्धकारक में भी दीर्घीकरणका यही नियम लागू होता है। **कामस्य** के स्थान पर उसमें कभी °**कामास** रूप चलता होगा, इस रूपका फिर **कामाह** हो गया, इसी प्रकार **चारित्रस्य** का **चालित्ताह** हो गया और **शरीरस्य** शब्द का **शलीलाह** रूप चला। अपभ्रंश में भी **कनकस्य** शब्द का **कणअह** रूप बन गया और **चण्डालस्य** का **चण्डालह** हो गया। बाद को **आ** ह्रस्व होकर **अ** बन गया, इसके उदाहरण § २६४, ३१५ और ३६६ में देखिए और **करय, यस्य** तथा **तस्य** का सम्बन्धकारक अपभ्रंश में कैसे **कासु, जासु** और **तासु** रूप हो गये उसके लिए § ४२५ देखिए। अपभ्रंश में **करिष्यामि** का **करिष्यम्** (= **करिष्यामि**) और उससे **करीसु** तथा **प्राप्स्यामि** का **प्राप्स्यम्**‡ और उससे **पावीसु**, **प्रेक्षिष्ये** का **प्रेक्षिष्यामि** और उससे **पेक्खीहिमि**, **सहिष्ये** का **सहीहिमि** तथा **करिष्यसि** से **करीहिसि** बना, इसके लिए § ३१५, ५२०, ५२५, ५३१ और ५३३ देखिए।

§ ६४—**श ष** और **सकार** में **र** मिले हुए द्वित्व व्यंजनवाले संस्कृत शब्दों से व्युत्पन्न प्राकृत शब्दों के उदाहरण इस § में दिये जाते हैं ; महाराष्ट्री में **श्वश्रु** शब्द का

---

* यह रूप नेपाली शब्द **मानुसि** (=**मनुष्य**) में पाया जाता है। —अनु०

† इसकी तुलना पाठक बँगला रूप **मानुष** से करें। —अनु०

‡ इन प्राकृत रूपों का प्रभाव आज भी मारवाड़ी **करस्यूँ, पास्यूँ** और गुजराती करसी, जासी आदि भविष्यकालसूचक धातुओं के रूपों में स्पष्ट है।—अनु०

सासू होता है (हाल) और शौरसेनी में **सासुए** होता है जो सम्भवतः किसी स्थान-विशेष में बोले जानेवाले संस्कृत रूप **श्वश्रुके** से निकला हुआ प्रतीत होता है (बाल० १५३, २०)।—संस्कृत शब्द **मिश्र** का महाराष्ट्री में **मीस** हो जाता है (हेमचन्द्र १, ४३; २, १७०; हाल)। अर्धमागधी में **मिश्रजात** का **मीसजाय** होता है (ओव०); **मिश्रक** का **मीसय** होता है (ठाणंग० १२९ और उसके बाद; कप्प०); **मीसिज्जइ** (उवास०), **मीसिय** (कप्प०), **मीसालिय** भी अर्धमागधी में मिलते हैं, साथ ही हेमचन्द्र ४, २८ में **मिस्सइ*** शब्द भी मिलता है ; शौरसेनी में **मिस्स** (मृच्छ० ६९, १२; शकु० १८, ३) ; **मिश्रिका** के लिए **मिस्सिया**† (शकु० १४२, १०) और **मिस्सिद** (प्रबन्ध० २९, ८) मिलते हैं। मागधी में **मिश्श** चलता है (मृच्छ० ११, ६; ११७, ८)।—अर्धमागधी में **विस्र** शब्द के लिए **वीस** आता है (सूय० ७५३)।—**विश्रामयति** के लिए महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में **वीसमइ** मिलता है और शौरसेनी में **विस्समीअदु** आया है (§ ४८९)।—**विस्रम्भ** के लिए महाराष्ट्री में **वीसम्भ** होता है (हेमचन्द्र १,४३;हाल; रावण०) किन्तु शौरसेनी में **विस्सम्भ** होता है (मृच्छ० ७४,८;शकु०१९,४;मालती० १०५,१[A और D हस्तलिखित में यह पाठ है]; २१०,७) ।—शौरसेनी में **उस्रा** शब्द का **ऊसा** हो जाता है (ललित० ५५५,१) ।—**उच्छ्रपयत** शब्द का अर्धमागधी में **ऊसवेह** होता है;**उच्छ्रपयत** शब्द सम्भवतः °**उत्श्रपयत** से निकला है (विवाह० ९५७); °**उच्छ्रपित** से **ऊसविय** हुआ है (ओव०; कप्प०); अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **उच्छ्रत** शब्द का **ऊसिय** हो जाता है (सूय० ७७१ और ९५८ [पाठ में दीर्घ ऊ के स्थान पर ह्रस्व उ लिखा गया है]; पण्हा० २८७; नायाध० ४८१; उत्तर० ६६४; नन्दी० ६३ और ६८; ओव०; कप्प०; एर्त्से०), किन्तु अर्धमागधी में **ऊसिय** के साथ साथ **उस्सिय** (सूय० ३०९) और **समुस्सिय** (सूय० २७५) तथा **उस्सविय** (आयार० २, १, ७, १) भी मिलते हैं; शौरसेनी में **उच्छ्रापयति** के लिए **उस्सावेदि** होता है (उत्तर० ६१, २) ।—**श-ष-**और **स**—कार के साथ **व** मिले हुए द्वित्व व्यञ्जनवाले संस्कृत शब्दों के प्राकृत रूपोंके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं; **अश्व** शब्द का प्राकृत रूप महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **आस** हो जाता है (भामह १, २; हेमचन्द्र १, ४३; रावण०; आयार० २, १, ५, ३; विवाह० ५०३; विवाग० ६१; उत्तर० १९५, २१७, ३३६, ५००, ५०१; नायाध० ७३१, ७८०, १२३३ १२६६, १३८८ और १४५६; पण्णव० ३६७; अणुओग० ५०७; निरया० ; ओव०; आव० एर्त्से० ३५, १२ और १३, १६, २१ और २४; एर्त्से०; कालका०), इस शब्द के साथ साथ **अस्स** भी चलता है (भामह १, २; आयार० २, १०, १२; २, ११, ११ और १२; २, १५, २०; सूय० १८२; उत्तर० ६१७; आव० एर्त्से० ११, १८ और उसके बाद), **अस्स** शब्द शौरसेनी में सदा ही चलता है (मृच्छ० ६९, १०; बाल० २३८, ८)।—संस्कृत **निः**-

* हिंदी की एक बोली कुमाउनी में इन प्राकृत रूपों का आज भी प्रचलन है। मिसर्ण, मिसाल आदि रूप मराठी में चलते हैं। स्वयं हिंदी में इन रूपों का बाहुल्य है। —अनु०

† इससे **मिस्सा मिस्सी** शब्द बने हैं। हिंदी में इनका अर्थ है—अनेक दालों का मिलाकर बनाया हुआ आटा।—अनु०

श्वस्य के लिए महाराष्ट्री में **नीससइ**; अर्धमागधी मे **नीससन्ति** और जैनमहाराष्ट्री मे **नीससिऊण*** रूप मिलते है (एर्से०); शौरसेनी मे **णीससदि**, मागधी मे **णीश-शदु** आता है। **उत्श्वस्** धातु के रूप प्राकृत मे, महाराष्ट्रीमें **उससइ**, अर्धमागधी में **ऊससन्ति** और मागधी में **ऊशशदु** मिलते हैं।† **श्वस्** धातु के पहले **नि**, **उद्** और **वि** लगने से (§ ३२७ अ और ४९६) नाना रूप महाराष्ट्री मे **वीससइ**, अर्धमागधी मे **वीससे**, शौरसेनी मे **वीससदि**; अर्धमागधी में **उस्ससइ**, **निस्ससइ** मिलते हैं (§ ३२७ अ और ४९६) ।—**विश्वस्त** शब्द का अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **वीसत्थ** होता है (ओव०; कप्प०; एर्से०, मृच्छ० ९९, २४, १००, ४; १०५, १; शकु० ७०, ९; विक्रमो० ८, ८; २३, ६ और ४७, १)।—अपभ्रंश में **शश्वत** शब्द का **साह** हो जाता है (हेमचन्द्र ४,३६६ और ४२२, २२), हेमचन्द्र ने **शश्वत** शब्द का पर्याय **सर्व** लिखा है।—संस्कृत '**त्स**' का प्राकृत में '**स्स**' हो जाता है; **उत्सव** शब्द का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी मे **ऊसव** और **ऊसअ** हो जाता है। अधिक सम्भव यह लगता है कि पहले इन शब्दों का रूप °**उस्सव** और °**उस्सअ** रहा होगा (§ ३२७ अ)।—**उत्सुक** शब्द का महाराष्ट्री मे **ऊसुअ**, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **उस्सुय** तथा शौरसेनी मे **उस्सुव** होता है (§ ३२७ अ) ।—**विस्मृत** शब्द का महाराष्ट्री मे **वीसरिअ**, जैनशौरसेनी मे **वीसरिद** और जैनमहाराष्ट्री में **विस्सरिय**× होता है (§ ४७८)। **निःशंक** का महाराष्ट्री मे **णीसंक** (गउड०; हाल), अर्धमागधी मे **नीसंक** (आयार० १, ५, ५, २) और अपभ्रंश मे पद्यों मे लघु मात्रा ठीक बैठने के कारण **णिसंक** (हेमचन्द्र ४, ३९६, १; ४०१, २) और जैनमहाराष्ट्री मे **निस्संक**‡ रूप मिलते हैं (एर्से०) ।—**नि सह** के लिए महाराष्ट्री और शौरसेनी मे **णीसह** आता है (हेमचन्द्र १,४३; गउड०; हाल, रावण०; उत्तर० ९२, १०) और **निस्सह** रूप भी चलता है (हेमचन्द्र १, १३) ।—**दुःस्सह** के लिए महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश में **दूसह** रूप मिलता है (हेमचन्द्र १, १३ और ११५, क्रम० २,११३; पाइय० २३४; हाल, रावण०; आव० एर्से० १२, ३१; कर्पूर० ८०, ७, माल्ती० ७९, २; विक्रमो० ६०, १८), शौरसेनी मे **दुःसहत्व** का **दूसहत्तण** मिलता है (मालती० ८१,२) और इसके साथ-साथ **दुस्सह** शब्द भी चलता है (हेमचन्द्र १, १३ और ११५; क्रमदीश्वर २, ११३; प्रबन्ध० ४४, १) तथा महाराष्ट्री मे कविता मे ह्रस्व रूप **दुसह** भी आता है (हेमचन्द्र १, ११५; गउड० और हाल) । —**तेज कर्मन्** के लिए अर्धमागधी में **तेयाकम्म** मिलता है (ओव०) । —**मनःशिला** के लिए **मणसिला** होता है

---

* **निसासीण**, **निसासणो** आदि रूप कुमाउनी में वर्तमान है, प्राचीन हिंदी में **निसास**=गहरी या ठंडी सांस, **नीसासी**=जिसका श्वास न चलता हो।—अनु०

† हिंदी में इसके वर्तमान रूप **उसास** और **उसासी** चलते हैं।—अनु०

× इसका हिन्दी रूप **विसारना** है। —अनु०

‡ हिन्दी में 'निशंक' शब्द देखने में आया। ध्यान रखना चाहिए कि संस्कृत रूप 'निश्शंक' वा 'निःशंक' है और तद्भव रूप 'निसंक' होना चाहिए। —अनु०

(हेमचन्द्र १, २६ और ४३), इसके साथ साथ **मणोसिला, मणसिला** (§ ३४७) और **मणंसिला** भी चलते हैं (§ ७४)।

§ ६५—अन्य शब्दों के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि स्वरों का दीर्घीकरण अपवाद रूप से मिलता है और आशिक रूप से यह स्थान विशेष की बोलियों का प्रभाव है। **गव्यूत** शब्द का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **गाउय** हो जाता है (§ ८०)।—**जिह्वा** शब्द का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और शौरसेनी मे **जीहा** होता है (वररुचि १, १७, हेमचन्द्र १, ९२, २, ५७, क्रम० १, १७, मार्क० पन्ना ७, पाइय० २५१, गउड०, हाल, रावण०, आयार० पेज १३७, ७ और ९, विवाह० ९४३, पण्णव० १०१, जीवा० ८८३, उत्तर० ९४३ [इस ग्रन्थमें **जीहा** के साथ साथ **जिब्भा** रूप भी आया है, देखिए § ३३२], उवास०, ओव०, कप्प०, एर्त्से०, कालका०, कत्तिगे० ४०३,३८१, विक्रमो० १५, ३, १६,१२, १८,१०, कर्पूर० ६६, ५, वृषभ० २०, ९, चण्ड० १७, ३, मल्लिका० ९०, २३, कस० ७, १७), मागधी में **यीहा** मिलता है (मृच्छ० १६७, ३)।—**दक्षिण** शब्द का, जो सम्भवत कहा की बोली मे °**दाखिण** रूप मे बोला जाता होगा, महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी मे **दाहिण** रूप होता है (हेमचन्द्र १, ४५, २, ७२, गउड०, हाल, रावण०, रत्ना० २९३, ३, आयार० १, ७, ६, ४, २, १, २, ६, जीवा० ३४५, भग०, ओव०, कप्प०, एर्त्से०, मृच्छ० ९७, १५, ११७, १८, वेणी० ६१, ६, नाग० २४९, ७), अर्धमागधी मे **दाहिणिल्ल** शब्द मिलता है (ठाणग० २६४ और उसके बाद, ३०८ , विवाग० १८०, पण्णव० १०२ और उसके बाद, विवाह० २१८, २८०, १२८८ और उसके बाद, ३३१ और उसके बाद और १८७४, नायाध० ३३३, ३३५, ८६७ और १३४९, जीवा० २२७ और उसके बाद तथा ३४५, राय० ७२ और ७३), अर्धमागधी म **आदक्षिण** और **प्रदक्षिण** के लिए **आयाहिण** और **पायाहिण** रूप मिलते हैं (सूय० १०१७, विवाह० १६१ और १६२, निरया० § ४ , उवास०, ओव०, [पाठ में **आदाहिण** है जो **आयाहिण** होना चाहिए]), **पायाहिण** (उत्तर० ३०२) म आया है , पल्लवदानपत्र म **दखिण** शब्द आया है (६, २८), मागधी, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और आवन्ती म **दक्खिण*** रूप मिलता है (हेमचन्द्र १, ४५, २, ७२, गउड०, हाल, रावण०, प्रताप० २१५, १९, सूय० ५७४, एर्त्से०, मृच्छ०, ९, ९, १५५, ४, विक्रमो० २०, ~, ३१, ५, ४५, २ और ७६, १७, नाग० २६४,४, २७८, १९, मृच्छ० ९९, १९), शौरसेनी म **दक्खिण** शब्द मिलता है (चण्ड० ३,१६), अर्धमागधी मे **दाहिणिल्ल** के साथ-साथ **दक्खिणिल्ल** भी मिलता है (सम० १४४, नायाध० ८६६, ९२१, ९२९, ९३० और १३५०)।—पल्लवदानपत्र म **दुग्ध** के स्थान

* यह रूप हिंदी की कई बोलियों में इस समय भी वर्तमान है और अँगरेजों द्वारा सुना गया रूप भी यही रहा होगा क्योंकि उन्होंने दक्खिन का Deccan बनाया। यदि इस शब्द में क्ख या दक्खिन हिंदी (हिंदवी) (जिसका नाम उर्दू लिपि में लिखी जाने के कारण उर्दू बना दिया गया है) क्ख न रहता तो उक्त अँगरेजी रूप में दो cc न होतीं, एक ही रखी जाती। —अनु०

पर दूध* रूप मिलता है (६,३१)।—धुक्ता, धूता शब्दों के लिए महाराष्ट्री में धूआ, अर्धमागधी में धूया, शौरसेनी और मागधी में धूदा होता है। इसके रूप आ में समाप्त होनेवाले राजा शब्दों के समान होते हैं (§ २१२ और ३९२)।—भस्मन् शब्द के लिए अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में भास शब्द है (ठाणग० ५८९; पण्हा० ५०७; अन्तगड० ६८, विवाह० १७१, १०३३, १२३२, १२४७, १२५४, १२८१ और १२८२; कप्प०; सगर० ४, ९), किन्तु शौरसेनी में भस्स रूप है (हास्य० २७, १९; ४१, ४)।—°रक्तगति अथवा °रातगति से रायगइ† हो गया है (देशी० ७, ५)।

§ ६६—ऍ और ओं जो § ११९, १२२ और १२५ के अनुसार सयुक्त स्वरों से पहले आते हैं और जो मूल में ऋकार से निकले हैं अथवा ऋ से निकले हुए इ, उ, ई ऊ से आये हों। उनका कई प्राकृत बोलियों में दीर्घीकरण और इनके साथ के सयुक्त व्यंजन का सरलीकरण हो जाता है। कुष्ट शब्द का °कुट्ठ उससे कोॅट्ठ और उससे अर्धमागधी में कोढ‡ हो जाता है (नायाध० १०४६, १०४७ और ११७७, उवास० § १४८; विवाग० ३३, ३४ [पाठ में कोॅड्ढ शब्द मिलता है] और १९८), कुष्टिन् शब्द से कुट्ठि बना (आयार० २, ४, २, १) और इससे कोॅट्ठि हुआ (आयार० १, ६, १, ३) और फिर कोॅढि हो गया (पण्हा० ५२३) तथा °कुष्टिक का कोढ़िय हो गया (विवाग० १७७)।—अर्धमागधी में गृद्धी (आयार० १,६,२,२; सूय० ९७; ३२१ और ३४८; पण्हा० १४७, १४८ और ३२३, सम० ८३ और ११३; विवाह० १०२६; उत्तर० २१७) से गिद्धि बना (§ ५०) और गिद्धि से गेद्धि और उससे गेहि आया। गेहि का मतलब गिद्ध है। संस्कृत शब्द निर्लक्ष से किसी समय °णिल्लच्छ हुआ होगा और उसमें °णेॅल्लच्छ हुआ और उससे णेलच्छ बना (पाइय० २३५, हेमचंद्र १, १७४, देशी० ४, ४४)। इस णेलच्छ का अर्थ नपुंसक है। लक्ष का अर्थ यहाँ लक्षण से है अर्थात् इससे 'नपुंसक लिंग' का बोध होता है।—अर्धमागधी में देहई का अर्थ 'देखता है' होता है, ऐसा अनुमान होता है कि किसी दृक्षति (§ ५५४) रूप से प्राकृत रूप दिक्खई बना होगा और इससे देक्खइ रूप निकला। इस देक्खइ से यह देहइ आया (उत्तर० ५७१)। इसी प्रकार °दृक्षेॅत् का देहे बन गया (दस० ६३१, २२), दृक्षते का देहए बन गया (सूय० ५२), देहयाणि शब्द भी मिलता है (विवाह० ७९४ और उसके बाद)। अपभ्रंश में दृष्टि के लिए द्रेहि शब्द मिलता है (हेमचंद्र ४, ४२२, ६)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में श्लिष्टि शब्द का सेढि (पंक्ति, सीढी) रूप होता है। श्लिष्टि से कभी °सिट्ठि बना होगा और इससे °सेट्टि रूप बना

* उस समय की जनता की बोली का यह शब्द आज भी हिंदी में ज्यों का त्यों चला आ रहा है।—अनु०

† सभव यह भी है कि देशी भाषा में सैकड़ों शब्द जनता द्वारा हँसी में रख दिये गये थे, जैसे 'गधे' का नाम कुरूप होने के कारण 'कामकिशोर' रख दिया गया। ऐसे ही जौंक नाम उसकी धीमी और मंद चाल के कारण रायगइ अर्थात् राजगति रखा गया हो।—अनु०

‡ हिंदी रूप आज भी यही है।—अनु०

जिससे **सेढि** बना (ठाणग० ४६६, -५४६ और ५८८; पण्हा० २७१ और २७२; समा० २२०; विवाह० ४१०, ४८१, ९९१, १३०८, १६६९, १६७५, १८७० और १८७५; राय० ४९, ९० और २५८; जीवा० ३५१, ४५६, ७०७ और ७०९; अणुओग० २१८, २२१, २४५, ३८१ आदि आदि; पण्णव० ३९६, ३९८, ४०१, ७२७ और ८४७; नन्दी० १६५ और ३७१; उत्तर० ८२९, ८८२ और ८८७; ओव० एर्त्से०); अर्धमागधी मे **सेढीय** शब्द भी मिलता है (पण्णव० ८४६; ओव०), **अणुसेढि** (विवाह० १६८० और १८७७), **पसेढ़ि** (राय० ४९, ९०) और **विसेढि** (विवाह० १६८०, १८७७; नन्दी० ३७३[1]) रूप भी पाये जाते हैं।—**स्वर्णकार**[1] शब्द से **सुण्णार*** हुआ (हाल १९१) और उससे कभी **सोण्णार** बना होगा। इस शब्द से महाराष्ट्री **सोणार** बना।—**ओक्खल** शब्द से (वररुचि १, २१; हेमचंद्र १, १७१; क्रमदीश्वर १, २४) **ओहल** बन गया (हेमचंद्र १, १७१ ; मार्क० पन्ना ८) । अर्धमागधी मे **उक्खल** मिलता है (देशी० १, ३०; मार्क० पन्ना ९; पण्हा० ३४), अर्धमागधी में **उक्खलग** रूप भी आया है (सूय० २५०)।—यह **उक्खल**† **उदूखल** के समान है; मागधी में इसका रूप **उदूहल** भी है (आयार० २,१,७,१), महाराष्ट्री मे **ऊऊहल** होना चाहिए (हेमचन्द्र १, १७१)।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **क्षुब्ध** का दीर्घ होकर **छूड**‡ हो जाता है (हेमचन्द्र २, १९, ९२ और १२७; हाल; रावण०; पण्हा० २०१, १०; ६४१, १५; उत्तर० ७५८; आव० एर्त्से० १४, १८; १८, १३; २५, ४, ४१, ७; एर्त्से०) और महाराष्ट्री तथा अर्धमागधी मे उपसर्गवाला रूप **उच्छूढ** (हेमचन्द्र २, १२७; हाल; पण्हा० २६८; नायाध० § ४ और ४६; उवास०; ओव०) मिलता है। अर्धमागधी मे **पर्युत्क्षुब्ध** के लिए **पलिउच्छूढ** शब्द आया है (ओव० पेज ३०, ३)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री मे **विच्छूढ** मिलता है (विवाग० ८४ और १४३; नायाध० ८२५, ८३३, ११७४, १३१३ और १४११; पण्णव० ८२८ और ८३५; नन्दी० ३८०; पण्हा० १५१; आव० एर्त्से० १६, १ और २१, ५ [यह शब्द हस्तलिखित प्रतियो मे इस रूप में ही पढा जाना चाहिए])। महाराष्ट्री में **परिच्छूढ** (देशी० ६, २५; रावण०) और **विच्छूढ** (पाइय० ८४; गउड०; रावण०) तथा **विच्छूढव्वा** (रावण०), **ऊढ, गूढ, मूढ** और **रूढ** के नियमो के अनुसार ही बने हैं, **क्षुभन्ति** शब्द के लिए (पण्हा० ५६ पाठ मे **छ्भ** है) **'भ'** रह गया है, **छुभेज्ज** (दस० ६५२, २४), **छुभित्ता** (उत्तर० ४९९), **उच्छुभइ** (नायाध० ३२५), **उच्छुभ** (पण्हा० ५९; इसकी टीका भी देखिए); **निच्छुभइ**× (नायाध० १४११; विवाह० ११४; पण्णव० ८२७, ८३२ और ८३४), **निच्छुभन्ति** (नायाध० ५१६; विवाग० ८४),

* यह रूप हिंदी में सरलीकरण के कारण **सुनार** हो गया है।—अनु०

† हिंदी में सरल रूप 'ऊखल' है जिसमें अक्षरों की मात्राएँ समान रखने के लिए खल के ख हो जाने पर ह्रस्व उ, ऊ हो गया।—अनु०

‡ हिन्दी खुलबुलाहट इस छूढ से निकला जान पड़ता है। कुमाउनी में बेचैनी के लिए खुद-भुदाट शब्द है। खुलबुलाहट का खुल उसका दूसरा रूप है। —अनु०

× प्राचीन हिंदी में इसके निछोह और निछोही रूप मिलते हैं।—अनु०

निच्छुभावेइ (नायाध० ८२३, ८२४ और १३१३; विवाग० ८६ और १४३), **निच्छुभाविय** (नायाध० ८२३; विवाग० ८७), **विच्छुभ** (पण्हा० ५९; इसकी टीका भी देखिए)। इसी प्रकार जैनमहाराष्ट्री में भी **छुभइ** मिलता है (एर्त्से०) और धर्मवाच्य में **छुब्भइ** (आव० एर्त्से० २५, ३), **निच्छुब्भई** (आव० एर्त्से० ४२, ३५), किन्तु जैनमहाराष्ट्री में **छुद्धामि** और **छुढइ** रूप भी मिलते हैं (एर्त्से०)। महाराष्ट्रीमें सदा ही **विच्छुढइ** (हाल; रावण०), **विच्छुढिरे** (विमनद्र ३,१४२) और उससे निकला हुआ धातु छुढ् मिलते हैं और अन्य शब्दों के समान इस धातु के नाना कृदन्त रूप पाये जाते हैं[4]।—संस्कृत **क्षुब्ध** का नियमानुसार प्राकृत रूप **छुद्ध** है (भामह ३, ३०)। § ६७ और ५६५ में जढ शब्द भी देखें।—**मूसल** शब्द (हेमचन्द्र १, ११३) और उसके साथ-साथ चलनेवाला **मुसल** (हाल; रावण०) धातु पाठ २६, १११ में आये हुए **मुस्** और **मुष्** खण्डने धातु के वर्तमानकाल के रूप **मुस्य, मुष्य** से निकले हैं अर्थात् इसका मूल संस्कृत रूप कभी "**मुष्यल** रहा होगा"[5]।

१. टीकाकारों ने **सेढि** शब्द को **श्रेणि** से निकला बताया है और हेमचन्द्र ने अपने लिंगानुशासन २, २५ में **सेढि** बताया है। इस विषय पर उणादिगण सूत्र भी देखिए। बोएटलिंक और रोट ने अपने 'सांस्कृत-वोएर्तरबुख' में **श्रेढी** शब्द दिया है और बताया है कि यह शब्द बाद को संस्कृत में भी लिया गया था। —२. यह शब्द इस रूप में 'कून्स त्साइटश्रिफ्ट' ३४,५७३ में दिये गये रूप से शुद्ध है। उ § १५२ के अनुसार है और इसका संक्षिप्त रूप § १६७ के अनुसार साफ हो जाता है। —३. मार्कण्डेय पन्ना ८ में उड्डुखल शब्द मिलता है। § १४८ भी देखिए। —४. गौल्डश्मित्त, **छुहइ** का **क्षुभ्** धातु से सम्बन्ध के बारे में मतभेद रखता है और इसका विरोध करता है, पर 'प्राकृतिका' पेज २० में उसने जो प्रमाण दिये हैं वे उसका पक्ष सिद्ध नहीं करते। इस विषय पर 'लौयमान' द्वारा सम्पादित 'औपपातिक सूत्र' में उच्छूढ शब्द से तुलना कीजिए। बेत्सनबैर्गर त्साइटश्रिफ्ट १५, १२३ और § १२०। पिशल के इस ग्रन्थ का § १२० देखिए। —५. पुरुषोत्तम के 'द्विरूपकोश' से तुलना कीजिए।

§ ६७—जैसा एँ और ओँ का कई स्थलों पर दीर्घीकरण होता है, अ का ठीक इसके विपरीत है। संयुक्त व्यंजनों के पहले आने पर यह बहुत दीर्घ नहीं होता क्योंकि संयुक्त स्वर सरल कर दिये जाते हैं। ऐसे स्थलों पर संस्कृत के मूल शब्द में शब्द के अंतिम अक्षर पर जोर पडता था अर्थात् यह स्वरित होता था। **महाराष्ट्री** प्राकृत में **मरढी** होता है। इस शब्द से वर्तमान भारतीय भाषा का **मराठी** शब्द बना है (कर्पूर० १०, ५, § ३५४ भी देखिए)।—**हा** धातु के वर्तमान के रूप **जहाति** से प्राकृत में **जहइ** बना जिससे "**जढ** (=छोडा हुआ) शब्द निकला, फिर इसके रूप अर्ध मागधी में **विजढ** और **विप्पजढ** हुए। जढ का अर्थ है किसी चीज को छोडना। **हा** धातु का रूप **जहु** भी रहा होगा (§ ५६५)।—अर्धमागधी में **अष्ट** का **अढ** (=८) हो गया तथा जैनमहाराष्ट्री और अर्धमागधी में **अढतालीस** (=४८) के स्थान पर **अढ**-

यालीस है और अर्धमागधी म **अढयाल** भी मिलता है। **अढसठ** के लिए **अढसत्तिम्** (=६८) है। अपभ्रश म **अठाईस** के लिए **अढाइस** है ओर **अढतालीस** के लिए **अढआलिस** भी है, **अट्ठारहवें** के लिए अर्धमागधी में **अढारसम** है (§ ४४२ और ४४९)।—**स्रज्** धातु से निकले हुए **स्रष्ट** के सन्धि ओर समासो के रूप इस प्रकार हैं अर्धमागधी में **उत्सृष्ट** के लिए **उसढ** चलता है (आयार० २, २, १७)। **उत्सृष्ट** शब्द का अर्थ है 'अलग कर देना' या 'अलग निकाल देना'। कहीं-कहीं इसका अर्थ 'चुना हुआ' या 'उत्तम' होता हे (आयार ० २, ४, २, ६ और १६, दस० ६२३, १३)। **निसृष्ट** के लिए अधमागधी म **निसढ** का प्रयोग होता है (नायाध० १२७६)। **विसृष्ट** के लिए महाराष्ट्री मे **विसढ*** का प्रयोग है। इस विसृष्ट का अर्थ है 'किसी पदार्थ से अलग किया हुआ' (रावण० ६, ६६), दूसरा अथ है 'किसी पदार्थ का त्याग कर देना' (रावण० ११, ८९), तीसरा अर्थ है 'ऊबड खाबड' अथवा जो समतल न हो (हेमचद्र १, २४१, पाइय० २०७), चौथा अर्थ है 'कामवासना से रहित' अर्थात् स्वस्थ (देशी० ७, ६२[१]), **समवसृष्ट** के लिए अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में **समोसढ** आता है। इस शब्द का अथ है 'जो मिला हो' और 'जो आया हुआ हो' (विवाह० ९११, ९५७ और ६२२, नायाध० ५५८, ५६७, ६१९, ६७१, ८७४, ९६७, १३३१, १४४६, १४५४ आदि आदि, विवाग १०३, निरया० ४१, ४३, ७४, दस० ६२४, २१, उवास०, ओव०, आव० एर्त्से० १६, २०, द्वारा० ४९७, २७[२])।

१ हेमचन्द्र इस शब्द की व्युत्पत्ति जब इसका अर्थ ऊबड-खाबड होता है, विषम से बताता है। एस० गौल्डस्मित्त इसका अर्थ 'रावणवहो' मे 'ढीला-ढाला' और 'थककर चूर करता है' बताता है और इसे स्पष्ट करने के लिए कहता है कि यह शब्द सस्कृत 'विश्लथ' के कहीं बोले जानेवाले रूप °'विश्रथ' से निकला है।—२ भारतीय सस्करणों मे बहुधा 'समोसढ्ढ' मिलता है (विवाह० ५११, ५१४, ७८८, ९१२, ९३४, ९७१, ९७८, ९८८ आदि आदि, विवाग० १६०, २००, २१४ और २४८, नायाध० ९७३, ९८२, १०१८, १०२५ आदि आदि)। कहीं 'समोसट्ठ' भी मिलता है (राय० १२ और २३२) और कहीं 'समोसढ' मिलता है (राय० २३३)। § २३५ भी देखिए।

§ ६८—प्रत्यय **एव** शब्द के पहले अम् म जो 'अ' है उस पर जोर डालने के लिए अर्धमागधी म उसे बहुधा दीघ कर दिया जाता है और § ३४८ म बताये हुए नियम के अपवादस्वरुप **म्** बना रहता है। **एवामेव = एवाम् एव** (विवाह० १६२, उवास० § २१९), **खिप्पामेव = खिप्पाम् एव = क्षिप्रम् एव** (आयार० २, ६, २, ३, पेज १३०, १, विवाह० १०६, १५४, २४१, सम० १००, उवास०; निरया०, नायाध०, कप्प०), **जुत्तामेव = जुत्ताम् एव = युक्तम् एव** (विवाह० ५०३ और ७९०, उवास०, निरया०), **भोगामेव** (आयार० १,२,४,२), **पुव्वामेव = पूर्वम् एव** (आयार० २,१,२,४), **संजयाम् एव = संयतम् एव** (आयार० २, १,

* यह प्राकृत शब्द हिंदी 'बिछुड़ने' का आरंभिक रूप है।—अनु०

१, २ और ४; ५, २, ४ तथा ६ आदि आदि)। विशुद्ध प्राकृत अनुस्वार (ं) के पहले भी ऐसा ही होता है और अनुस्वार का **म्** बन जाता है, जैसे **ताम् एव-जाणप्पवरम्** = तदेव-यानप्रवरम् (उवास० § २११)। गौण अनुस्वार के पहले भी यही नियम लगता है। यहाँ भी गौण अनुस्वार का हलन्त 'म्' हो जाता है, जैसे **जेणाम् एव-चाउग्घण्टे आसरहे, तेणामेव उवागच्छइ** = येनैव चतुर्घण्टोऽश्वरथस्, तेनैवोपागच्छति (नायाध० ३७३); **जेणाम् एव सोहम्मे कप्पे तेणामेव उवागच्छइ** (कप्प० § २९)। इस दशा में § ८३ में दिये गये नियम के विरुद्ध आ ज्यों-का त्यों रह जाता है। **जाम् एवदिसम् पाउब्भूया ताम् एव दिसम् पडिगया** = याम् एव दिशाम् प्रादुर्भूताः ताम् एव दिशम् प्रतिगताः (विवाह० १९०; विवाग० ३८ [इसमें 'दिसिम्' शब्द लिखा है]) बहुधा स्त्रीलिंग—**भूता, प्रादुर्भूता** और **प्रतिगता** अर्थात् **पाउब्भूया** और **पडिगया** रूप मिलते हैं (विवाग० ४; उवास० § ६१, २११ और २४९; निरया० § ५; ओव० § ५, ९; नायाध० § ५); इस सम्बन्ध में सूय० १०१२; ओव० § ६० और ६१; कप्प० § २८; **तामेवपइसेज्जम्** = **तामेवप्रतिशय्याम्** (ओव० ७२ का उद्धरण भी देखिए)। अर्धमागधी में **अवि** शब्द के पहले भी इसी प्रकार स्वर दीर्घ हो जाता है; **किसाम् अवि** = **कृशमपि** (सूय० १); **तणामवि** = **तृणमपि** (उत्तर० २१९); **अन्नयराम् अवि** = **अन्यतरम् अपि**; **अणुदिसाम् अवि** = **अणुदिशमपि** (दस० ६२५, १५ और ३७)।

§ ६९—संस्कृत में पंचमी एकवचन में लगनेवाले चिह्न—**तस्** के पहले भी ह्रस्व स्वर दीर्घ कर दिये जाते हैं (प्राकृत में इस **तस्** के स्थान पर **हि** और **हिन्तो** हो जाता है)। इ और उ बहुवचन में व्यञ्जन में समाप्त होनेवाले प्रत्यय के पहले भी दीर्घ हो जाते हैं (§ ३६५; ३७९; ३८१)। **तस्** (प्राकृत—**हि, हिन्तो**) के पहले अ आने से यदि यह अ मूल संस्कृत में भी ह्रस्व हो और ऐसा शब्द हो जो क्रियाविशेषण के काम में आनेवाले शब्दों से निकला हो, उसमें अ ह्रस्व ही रह जाता है। **अग्रतस्** के स्थान पर अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्री में **अग्गओ** (हेमचंद्र १, ३७; नायाध० ११०७; उवास०; कप्प०; एर्त्सें०)। *शौरसेनी में* **अग्गदो** (मृच्छ० ४०, १४; १५१, १८; ३२७, १; शकु० ३७, ७; १३१, १०; विक्रमो० २५, १५; ३३, ४; ४१, ११, ४२, १८; रत्ना० ३१७, १२ और १४)। मागधी में **अग्गदो** (मृच्छ० ११९, ३ और ६; १२१, १०; १२६, १४; १३२, ३; १३६, २१) रूप मिलते हैं।—**अन्यतः** का शौरसेनी, मागधी और दाक्षिणात्या में **अण्णदो** (शकु० १७, ४; मृच्छ० २९, ३३; ९६, २५; १०२, १८) आया है।—शुद्ध क्रियाविशेषण के रूप में काम में लाया गया अर्धमागधी रूप **पिट्ठओ** है (सूय० १८०; १८६, २०४, २१३; नायाध० § ६५, पेज ११०७; उत्तर० २९ और ६९; उवास०; ओव०)। इसी प्रकार का क्रियाविशेषण रूप जैन-महाराष्ट्री में भी **पिट्ठओ** है (एर्त्सें०)। शौरसेनी और दाक्षिणात्या में यह रूप **पिट्ठदो** है (मालवि० ३३, २; ५९, ३; ६९, ६; मल्लिका० १४५, २१; मुद्रा०

२५४,१; मृच्छ० १०५, २५)। इसका संस्कृत रूप **पृष्ठात्** है। शौरसेनी में **पुट्टदो** रूप भी पाया जाता है (रत्ना० ३१६, २२)। मागधी में यह रूप **पिस्टदो** है (मृच्छ० ९९, ८; १३०, १; वेणी० ३५, ५ और १०)।—अर्धमागधी **दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ, गुणओ** = **द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतो, गुणतः** (विवाह० २०३ और २०४ और १५७ [इस स्थान पर **गुणओ** नहीं है]; ओव० § २८; कप्प० ११८); **दव्वओ, वण्णओ, गन्धओ, रसओ, फासओ०** (विवाह० २९); **सोयओ, घाणओ, फासओ** = **श्रोत्रतो, घ्रणतः, स्पर्शतः**। इसके साथ-साथ **चक्खुओ, जिब्भाओ, जीहाओ** = **चक्षुतः जिह्वातः** (आयार० २,१५,५,१ से ५ तक)।—शौरसेनी में **जन्मतः** का **जम्मदो** होता है (रत्ना०२९८,११), किन्तु शौरसेनी में **कारणतः** का सदा **कारणादो** और मागधी में **कालणादो** होता है (मृच्छ० ३९, १४ और २२; ५५,१६;६०,२५;६१,२३;७४,१४;७८,३;१४७,१७ और १८ आदि आदि), मागधी के उदाहरण (मृच्छ० १३३, १; १४०, १४; १५८, २१; १६५, ७)। जैन-महाराष्ट्री में **दूराओ** (एर्से०); शौरसेनी में **दूरादो** (हेमचंद्र ४, २७६); पैशाची में **तूरातो** होता है (हेमचंद्र ४, ३२१); और मागधी में **दूलदो** होता है (मृच्छ० १२१, ११)। सर्वत्र अ का **आ** हो जाता है, किन्तु मागधी में अ बना रहता है। **पश्चात्** शब्द का महाराष्ट्री में **पच्छओ** होता है (रावण०), साधारण रूप से **पच्छा** की ही भरमार है (गउड०; हाल; रावण०), किन्तु शौरसेनी में इसका रूप **पच्छादो** है (मृच्छ० ७१, २२)।—मृच्छकटिक ९, ९ में **दक्खिणादो, वामादो** शब्द मिलते हैं जो पंचमी स्त्रीलिंग के रूप हैं। ये **छाआ** = **छाया** के विषय में आये हैं; किन्तु अन्य स्थानों पर शौरसेनी और मागधी में **वामदो** शब्द आया है (मृच्छ० १४, ८; १३, २५; १४, ७)। शुद्ध पंचमी के रूप में स्वरों की ह्रस्वता के विषय में § ९९ देखिए।

§ ७०—संधियुक्त शब्द में अन्तिम शब्द के पहले का ह्रस्व स्वर कभी-कभी दीर्घ हो जाता है। इसके अनुसार—**मय, °मइक** से पहले भी अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्री में ऐसा होता है। अर्धमागधी में **रजतमय** का रूप **रययामय** हो जाता है (उवास०); **स्फटिकरत्नमय** का **फलिहरयणामय** हो जाता है (विवाह० २५३)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **सर्वरत्नमय** का **सव्वरयणामय** (विवाह० १३२२; १३२३ और १४४८; जीवा० ४८३; कप्प०; ओव० एर्से०) और **सव्वरयणामइ** रूप मिलते हैं (ठाणग० २६६)। अर्धमागधी में **वज्रमय** के लिए **वइरामय** आता है (विवाह० १४४१; जीवा० ४९४, ५६३ और ८८३; सम० १०२ और १३२; राय० ६३, ६९, १०५; ओव०)। **अरिष्टमय** के लिए **रिट्ठामय** मिलता है (जीवा० ५४९; राय० १०५), **वैडूर्यमय** के लिए **वेरुलियामय** आया है (जीवा० ४९४; राय० १०५), **सर्वस्फाटिकमय** के लिए **सव्वफालियामय** लिखा गया है (पण्णव० ११५), **आकाशस्फटिकमय** के लिए **आगास-फालियामय** दिया गया है (सम० ९७; ओव०)। जैनमहाराष्ट्री में **रयणमय** के साथ साथ (एर्से०) **रयणामय** मिलता है (तीर्थ० ५, १२)। अर्धमागधी में

नाणामणिमय (जीवा० ४९४), **आहारमइय** (दस० ६३१, २४), **पराणुविसिमइय** (दश० नि० ६६१, ५) शब्द मिलते हैं। जैनशौरसेनी में **पुग्गलमइय, उवओगमय, पोग्गलदव्वमय** शब्द मिलते हैं जो **°पुद्गलमयिक, उपयोगमय, पुद्गलद्रव्यमय** के प्राकृत रूप हैं (पव० ३८४, ३६ और ४९ तथा ५८)। **असुइमय** (कत्तिगे० ४००, ३३७); **वारिमई** तथा **वारीमई** (हेमचन्द्र १, ४) मिलते हैं। महाराष्ट्री में **°स्नेहमयिक** के लिए **णेहमइअ** शब्द आया है (हाल ४५०)। ५ से लेकर ८ तक सख्या शब्दों के साथ सन्धि होने पर भी इन सख्या-शब्दों का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है, जैसे **पंचा, छा, सत्ता, अट्ठा** (§ ४४० और उसके बाद)। इसी प्रकार **अउणा** जो सस्कृत **अगुण** का प्राकृत रूप है, उसके अन्त में भी ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है और **अद्धा** का, जो **अर्द्ध** शब्द का प्राकृत रूप है, भी अन्तिम ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है (§ ४४४ और ४५०)। इसी प्रकार उपसर्गों का अन्तिम स्वर और विशेषकर उपसर्ग **प्र** का, जहाँ इसकी मात्रायें स्थिर नहीं रहती जैसा कि **प्रदेश** है, जिसका दूसरा रूप **प्रादेश** (पुरुषोत्तम द्विरूपकोष २५) भी पाया जाता है, वहाँ इन उपसर्गों का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है। इस नियम से **प्रकट** शब्द महाराष्ट्री में **पअड** (गउड०) तथा महाराष्ट्री और मागधी में **पाअड** हो जाता है (भामह १, २; हेमचद्र १, ४४; क्रमदीश्वर १, १; मार्कण्डेय पन्ना ४ और ५; गउड०; हाल; रावण०; वज्जा० ३२५, २३; मृच्छ० ४०, ६); जैनमहाराष्ट्री में इसका **पयड** रूप मिलता है (एर्से०; काल्का०)। अर्धमागधी में **पागड** देखा जाता है (ओव०; कप्प०)। **प्रकटित** के लिए महाराष्ट्री में **पाअडिअ** (हाल); अर्धमागधी में इसका रूप **पागडिय** है (ओव०)।—**प्ररोह** का महाराष्ट्री में **पारोह** होता है (हेमचद्र १,४; गउड०; हाल; रावण०)। **प्रसुप्त** का महाराष्ट्री में **पसुत्त** और **पासुत्त** रूप होते हैं (भामह १,२; हेमचद्र १,४४; क्रम० १,१;मार्कण्डेय पन्ना ४,५;गउड०; हाल; रावण०), किन्तु शौरसेनी में केवल एक रूप **पसुत्त** मिलता है (मृच्छ० ४४, १८;५०, २३)।—**प्रसिद्धि** के लिए महाराष्ट्री में **पसिद्धि** (गउड०) और **पासिद्धि** (भामह १,२; हेमचद्र १,४४; क्रमदीश्वर १,१; मार्कण्डेय ४,५) रूप मिलते हैं। **प्रवचन** के लिए अर्धमागधी में **पावयण** मिलता है (हेमचद्र १, ४४; भग०; उवास०; ओव०)। **प्रस्विद्यते** का महाराष्ट्री में **पसिज्जइ** होता है (हाल ७७१)। अर्धमागधी में **प्रस्रवण** शब्द का रूप **पासवण*** पाया जाता है (उवास०)। यह शब्द § ६४ में भी आ सकता था, पर इस स्थान पर ठीक बैठता है।—**अभिजित्** का अर्धमागधी में **अभीइ** होता है (कप्प०), **°व्यतिव्रजित्वा** का **वीईवइत्ता** (ओव० § ६३) होता है; इस प्राकृत में **वीईवयमाणे** शब्द भी मिलता है (उवास० § ७९ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]; § १५१ भी देखिए)। कई स्थलों पर जहाँ ह्रस्व स्वर दीर्घ किया जाता है उसका कारण यह है कि कविता में मात्रा न घटे, छन्द दोष न आये, इसलिए स्वर लम्बा कर दिया जाता

* पाली में पस्सवण रूप है जिसमें पाली पस्साव पेशाब के अर्थ में आया है। पेशाब फारसी शब्द है जिसके मूल में आर्यभाषा जेन्द है। दोनों शब्दों में साम्य देखकर ही जनता ने पेशाब शब्द अपना लिया है।—

है, जैसा महाराष्ट्री में **दृष्टिपथे** के लिए **दिट्ठीपहम्मि** (हाल ४५६), **नाभि-कमल** के लिए **नाहीकमल**, **अरतिविलास** के लिए **अरईविलास** (गउड० १३ और १११) आया है। अर्धमागधी में **गिरीवर** दिया गया है (सूय० ११०), जैनमहाराष्ट्री मे **वैडूर्यमणिमौल्य** के स्थान पर **वेरुलियमणीमो ल्ल** लिखा हुआ है (एर्से० २९, २८)। **पतिघर** का **पईहर*** हो जाता है, साथ-साथ **पइहर** भी चलता है (हेमचंद्र १, ४); शौरसेनी मे **पदिघर** मिलता है (माल्ती० २४३, ४)। **वेणुवन** के लिए **वेलूवण** और **वेलुवण** दोनों चलते हैं (हेमचंद्र १, ४)। **शकार** बोली में मृच्छकटिक के भीतर—**क** प्रत्यय के पहले कुछ शब्दों मे कहीं कहीं ह्रस्व स्वर दीर्घ कर दिये गये हैं; **चालुदत्ताके** (मृच्छ० १२७, २३; १२८, ६; १४९, २५); **चालुदत्ताकम्** (१२७, २५; १६६, १८), **चालुदत्ताकेण** (१३३, १; १३७, १; १५१, २३), **वाशुदेवाकम्** (१२१, १६); **गुडक** के लिए **गुडाह** शब्द मिलता है (११६, २५); इस विषय पर § २०६ भी देखिए। **सपुत्रकम्** के स्थान पर **सपुत्ता-कम्** शब्द आया है (१६६, १८)।—मागधी में भी '**क**' प्रत्यय के पहले इसी प्रकार ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है। **मुहूर्तक** के लिए **मुहुत्ताग** शब्द मिलता है (आयार० १, ८, २, ६); **पिटक** के लिए **पित्ताग** (सूय० २०८), **क्षुद्रक** के लिए **खुड्डाग** और **खुड्डाय** आते हैं (विवाह० १८५१; ओव०, आयार० २, १, ४, ५; इस विषय पर § २९४ भी देखिए); और **अनादिक** के लिए अर्धमागधी में **अणादीय** और **अणाईय** रूप मिलते हैं (सूय० ८४ और ८६७; ठाणंग० ४१ और १२९; पण्हा० ३०२; नायाध० ४६४ और ४७१; विवाह० ३९, ८४८ और ११२८), **अणादिय** (सूय० ७८७; उत्तर० ८४२, विवाह० १६०) और **अणाइय** भी पाये जाते हैं। जैनमहाराष्ट्री में भी ये रूप आये हैं (एर्से० ३३, १७)। जैनशौरसेनी में **आदीय** रूप आया है (कत्तिगे० ४०१, ३५३)। पल्लवदानपत्र में **आदीक** रूप है (५, ४; ६, ३४)। इस सम्बन्ध मे वैदिक शब्द **जहक** और उसके स्थान पर अन्यत्र आये हुए शब्द **जहाक**† विचारणीय है (वेदिशे स्टुडियन १, ६३ और § ७३ तथा ९७ भी देखिए)।

§ ७१—सम्बोधन एकवचन और सम्बोधन शब्दों में अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाते हैं। इसे संस्कृत में **प्लुति** कहते हैं। **रे रे चप्फलया ; रे रे निग्घणया ; हे हरी ; हे गुरू ; हे पहू** में सभी अन्तिम स्वर दीर्घ कर दिये गये हैं (हेमचन्द्र ३,३८), अर्धमागधी में **आणन्दा** (उवास० § ४४ और ८४); **कालासा** (विवाह० १३२); **गोयमा** (हेमचन्द्र ३, ३८, विवाह० ३४, १३११, १३१५ और १४१६, ओव० § ६६ और उसके बाद, उवास० आदि आदि); **कासवा** (हेमचन्द्र ३, ३८; विवाह०

* हिंदी **पीहर** इस दीर्घीकरण का फल है तथा मात्राओं का मान समान रखने के लिए भी दीर्घीकरण का उपयोग किया गया है।—अनु०

† ऋग्वेद में ऐसे प्रयोगों का ताना बंधा है। **भूमि, बूमि, बूम** जगत् अर्थात् धरा के स्थान पर आये हैं, कहीं आत्मने है तो कहीं केवल त्मने है। इससे पता चलता है कि वैदिक कविता जनता की बोलियों में की गयी है।—अनु०।

१२३७ और उसके बाद); **चमर**, .**असुरेन्द्र**, **असुरराज अप्रार्थ्यप्रार्थिक** के लिए सम्बोधन में **चमरा**, **असुरिन्दा**, **असुरराया** और **अप्पत्थियपत्थिया** का व्यवहार हुआ है (विवाह० २५४)। **हन्ता मन्दियपुत्ता** (विवाह० २६८), **पुत्र** के स्थान पर **पुत्ता** (उवास०; नायाध०), **हन्त** के स्थान पर **हन्ता** (भग०; उवास०; ओव०), **सुबुद्धी** (नायाध० ९९७, ९९८ और १००१), **महरिसी** (सूय० १८२), **महामुने** के स्थान पर **महामुणी** (सूय० ४१९), **जम्बू** (उवास०) ऐसे उदाहरण हैं। शौरसेनी में **दास्याःपुत्र** के स्थान पर **दासीएउत्ता** (मृच्छ० ४,९; ८०,१३ और २३; ८१,१२; ८२,४ और १०८,१६),**कणेलीसुत राजश्याल संस्थानक उच्छूंखलक** के स्थान पर **अरे रे, कणेलीसुदा राअसाल-संठाणआ उस्संखलआ** हो गया है (मृच्छ० १९१, १६)। मागधी में **हण्डे, कुम्भिलक** का रूप **हण्डे,कुम्भिलआ** आया है(शकु०११३, २)। **रेमन्थिच्छेदक** के स्थान पर **लेमगन्थिश्छेदआ** दिया गया है (शकु० ११५,४), **रे चर** के लिए **ले चला** दिया गया है (ललित० ५६६, १४ और १८), **पुत्रक हृदयक्** के लिए **पुत्तका हडक्का** (मृच्छ० ११४, १६) आये हैं। वररुचि ११, १३ के अनुसार मागधी में **अ** में समाप्त होनेवाले सभी संज्ञा शब्दों में **अ** के स्थान पर **आ** हो जाता है, किन्तु मागधी के ग्रन्थ इस नियम की पुष्टि नहीं करते; मागधी में लड़की के लिए **दाशू** रूप मिलता है (मृच्छ० ९, २४; १७, १; १२७, ७); आवन्ती में **अरे रे पवहणवाहआ** रूप मिलता है (मृच्छ० १००, १७); ढक्की में **विप्रलम्भक** के लिए **विप्पलम्भआ** का प्रयोग किया गया है। **परिवेपितांगक** के लिए **पलिवेवंगआ**, **स्खलन** के स्थान पर **खलन्तआ**, **कुर्वन्** के स्थान पर **कलेन्तआ** का व्यवहार पाया जाता है (मृच्छ० ३०, ६ और उसके बाद)। अपभ्रंश में **भ्रमर** के लिए **भमरा** (हेमचन्द्र ४, ३८७, २), **मित्र** के लिए **मित्तड़ा** (हेमचन्द्र ४, ४२२, १), **हंस** के लिए **हंसा** (विक्रमो० ६१, २०), **हृदय** के लिए **हियड़ा** (हेमचन्द्र ४, ३५७,४ और ४२२, १२ और २३; ४३९, १) का प्रयोग है। इस प्रकार के शब्दों में क्रिया के आज्ञासूचक रूप में अन्तिम **अ** को दीर्घ किया जाता है, उसका उल्लेख भी यहाँ पर किया जाना चाहिए, जैसा अर्धमागधी में **कुव्वत** का जो कभी °**कुर्वत** रूप रहा होगा, उसका **कुव्वहा** हो गया (आयार० १,३,२,१); **पश्यत** का **पासहा** बन गया (*आयार० १, ६, ५, ५; सूय० १४४ और १४८*), **संबुध्यध्वम्** का **संबुज्झहा** बन गया (सूय० ३३५)। जैनमहाराष्ट्री में अन्तिम व्यंजन के लुप्त हो जाने के बाद अन्तिम ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है। संस्कृत **धिक्** शब्द का **धी** रूप मिलता है (द्वारा० ५०१, ३३), शौरसेनी में **हाधिक्, हाधिक्** का **हद्धी हद्धी** हो जाता है (मृच्छ० १२, ६; १६, ६; ५०, २३; ११७, ३; शकु० २७, १; ६२,

---

* हिंदी में जब बच्चों या कुत्तों से ले ले कहते हैं तो उसका तात्पर्य सदा कोई चीज 'लेना' नहीं रहता। कभी इस सम्बोधक शब्द का अर्थ रे रे भी होता है। मागधी प्राकृत में र का ल होने से यह रूप आया है। हिंदी व एक बोली कुमाउनी में ले ले का अर्थ अपमान भी है। उसकी ले ले हो गयी का अर्थ है उसकी तू तू रे रे हो गयी। यह अर्थ कोशकारों और भाषाशास्त्रियों के लिए विचारणीय है।—अनु०

७२, ७, विक्रमो० २५, १४ और ७५, १०। इस विषय पर § ७५ भी देखिए)। अर्धमागधी में प्रति ध्वनिबलयुक्त शब्द **णम्** से पहले **होउ** (= **भवतु**) का **उ** दीर्घ हो जाता है—**भवतु ननु** का **होऊ णम्** हो जाता है (नायाध० १०८४, १२२८ और १३५१; ओव० § १०५)।

§ ७२—शब्द के अन्तिम वर्ण में जब विसर्ग रहता है तब विसर्ग के लुप्त होने पर **इः** और **उः** का प्राकृत रूप **ई** और **ऊ** हो जाता है। यह रूप पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के कर्त्ता एकवचन के शब्दों का होता है। महाराष्ट्री में **अग्निः** का **अग्गी** रूप है (हाल १६३), अर्धमागधी में **अगणी** (सूय० २७३; २८१; २९१)। मागधी में **रोपाग्नि** का प्राकृत रूप **लोशग्गि** पाया जाता है (मृच्छ० १२३, २)। महाराष्ट्री और अर्धमागधी में **असिः** का **असी** बन जाता है (गउड० २३९, सूय० ५९३)। मागधी में **अशी** मिलता है (मृच्छ० १२, १७)। जैनमहाराष्ट्री में °**सखिः** का **सही** रूप मिलता है। यह °**सखिः** = संस्कृत **सखा** (कक्कुक शिलालेख १४)। शौरसेनी में **प्रीतिः** का **पीदी** रूप है (मृच्छ० २४, ४)। महाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और शौरसेनी में **दृष्टिः** का **दिट्ठी** पाया जाता है (हाल १५, पव० ३८८, ५, मृच्छ० ५७,१०)। दाक्षिणात्या में **सेनापतिः** का **सेणावई** चलता है (मृच्छ० १०१, २१)। महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में **तरुः** का **तरू** होता है (हेमचन्द्र ३, १९; हाल ९१३; एर्त्से ४, २९)। अर्धमागधी और शौरसेनी में **भिक्षुः** का **भिक्खू** रूप है (आयार० १, २, ५, ३, मृच्छ० ७८, १३)। जैनमहाराष्ट्री में **गुरुः** का **गुरू** रूप पाया जाता है (कक्कुक शिलालेख १४), **विन्दुः** का **बिंदू** (आव० एर्त्से० १५, १८)। जैनमहाराष्ट्री और दाक्षिणात्या में **विष्णुः** का **विण्हू** होता है (आव० एर्त्से० ३६, ४१; मृच्छ० १०५, २१)। हेमचन्द्र के सूत्र ३, १९ के अनुसार कई व्याकरणकार इस दीर्घ के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग बताते हैं, जैसे **अग्गिं, निहिं, वाउं, विहुं**। **–भिः** में समाप्त होनेवाले तृतीया बहुवचन और इसके साथ ही, अपभ्रंश को छोड़ और सब प्राकृत भाषाओं में इसके समान ही **–भ्यः** में समाप्त होनेवाले पंचमी बहुवचन में विसर्ग लुप्त होने पर मात्राएं दीर्घ नहीं होतीं वरन् ह्रस्व मात्रा के साथ यह अनुस्वार हो जाता है : **–हि, –हिं, –हीँ** (§ १७८)। अपभ्रंश में पंचमी में **हु, हुं** और **हुँ** होता है (§ ३६८, ३६९; ३८१, ३८७ आदि आदि)। *शौरसेनी और मागधी में केवल* **हिं** *का प्रयोग है।*

§ ७३—छन्दों में केवल यतिभंग-दोष बचाने के लिए भी ह्रस्व स्वर और मात्रायें दीर्घ कर दी जाती हैं। ये स्वर भले ही शब्द के बीच में या अन्त में हों। ऐसा विशेष कर अर्धमागधी और अपभ्रंश में होता है। महाराष्ट्री में **अश्रु** का **अंसू** हो जाता है (हाल १५३)। अर्धमागधी में **धूतमतः** का **धीमओ** प्रयोग मिलता है (आयार० २, १६, ८), **मतिमान्** का **मईयं** (सूय० ३९७), **मतिमता** का **मईमया** (आयार० १, ८, २, १६, सूय० ३७३), °**अमतिमत्कः** का **अमईमया** (सूय० २१३), **प्रांजलिकः** का **पंजलीओ** (दस० ६३४, २३), **जातिजरामरणैः** का **जाइजरामरणेहिं** (सूय० १, ५६), **प्रव्रजितः** का **पव्वईए** (सूय० ४९५), **महर्धिकाः** का

महिह्रीया (आयार० २, १५, १८, ४); **शोणितम्** का **शोणीयं** (आयार० १, ७, ८, ९) और **साविका** का **साहिया** (ओव० § १७४) होता है। मागधी मे **ऋणम्** का **लीणे** होता है (मृच्छ० २१, १९)। आधे या पूरे श्लोक के अंत में आनेवाली **इ** का बहुधा **ई** हो जाता है और यह विशेषकर क्रियापदों में। अर्धमागधी मे **सहते** का **सहई** रूप मिलता है (आयार० १, २, ६, ३); **स्मरति** का **सरई** (सूय० १७२; उत्तर० २७७); °**कुर्वति** = **करोति** का **कुव्वई** (दस० ६२३, ३३); **भाषते** का **भासई** (सूय० १०६); **म्रियते** का कहीं **मरति** रूप बन गया होगा उससे **मरई** हो गया (उत्तर० २०७); **क्रियते** का **किच्चई** (सूय० १०६); **बध्यते** का **वज्झई** (उत्तर० २४९), **करिष्यति** का **करिस्सई** (दस० ६२७, २४); **जानन्ति** और **अनुभवन्ति** के **जाणन्ती** और **अणुहोन्ती** (ओव० § १७९ और १८८); **अत्येहि** का **अत्थेही** (सूय० १४८) हो जाता है। अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्री मे **भुनक्ति** का **भुञ्जई** (सूय० १३३; आव० एर्त्से० ८, ४ और २४)। मागधी में **अपचलाति** का **ओवगदी** (मृच्छ० १०, ५) होता है। इसके अतिरिक्त अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में संस्कृत **-य-** का, जिसका अर्थ हिन्दी में 'कर' या 'करके' होता है, उसके स्थान पर प्राकृत शब्दों के अन्त मे आनेवाला **-अ-** भी दीर्घ हो जाता है। संस्कृत शब्द **प्रतिलेख्य** के लिए अर्धमागधी मे **पडिलेहिया** आता है, **ज्ञात्वा** के लिए **मुणिया**, **सम्प्रेक्ष्य** के लिए **सापेहिया** और **विधूय** के लिए **विहू-णिया** (आयार० १, ७, ८, ७ और १३ तथा २३ और २४) रूप हैं। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में °**पश्य** के लिए **पासिया** शब्द प्रयोग में लाया जाता है (उत्तर० ३६१; एर्त्से० ३८, ३५)। **विज्ञाय** के लिए अर्धमागधी में **वियाणिया** है (दस० ६३७, ५; ६४२, १२ आदि आदि)। इस सम्बन्ध में § ५९० और ५९१ भी देखिए। अन्य कई अवसरों पर शब्दों का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है, जैसे **जगति** शब्द अर्धमागधी में **जगई** हो जाता है (सूय० १०४) और **केचित्** का **केई** हो जाता है (ओव० ६३, २०); **कदाचित्** शब्द का जैनमहाराष्ट्री मे **कयाई** रूप पाया जाता है (आव० एर्त्से० ८, ७; ३७, ३७)।

§ ७४—संयुक्त व्यञ्जन के सरल करने पर अर्थात् जहाँ दो संयुक्त व्यञ्जन मिले हों उनमें से संयुक्त व्यञ्जन को जहाँ केवल एक-एक व्यञ्जन का रूप दे दिया जाता हो वहाँ स्वर को दीर्घ करने के स्थान पर ह्रस्व और अनुनासिक स्वर अर्थात् यह स्वर जो नाक से बोला जाता है, आ जाता है। ऐसे स्थलों पर वे नियम लागू होते हैं जिनका उल्लेख § ६० से ६५ तक में किया गया है। व्याकरणकारों के मत से (वररुचि ४, १५; हेमचन्द्र १, २६; मार्कण्डेय पन्ना ३४; प्राकृतकल्पलतिका पेज १०) ऐसे शब्द **वक्रादिगण** में शामिल किये गये हैं। क्रमदीश्वर २, १२२ में **वक्रादि** के स्थान पर **अश्र्वादिगण** दिया गया है। **कर्कोट** शब्द के लिए हेमचन्द्र ने **कंकोट** शब्द दिया है। महाराष्ट्री में **कंकोल्ल** शब्द आता है (शुकसप्तति १३३, २ [पाठ में **ल्ल** के स्थान पर **ट** दिया गया है]) और महाराष्ट्री तथा अर्धमागधी में **कक्कोल्ल** भी आता है (गउड० ५८२; पण्हा० ५२७

[पाठ मे 'ळ' के स्थान पर ल है], इस सम्बन्ध मे § २३८ भी देखिए)।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी, शौरसेनी और अपभ्रंश में **दर्शन** शब्द के लिए **दंसण** का व्यवहार है (भामह; हेमचन्द्र; क्रमदीश्वर; मार्कण्डेय, प्राकृतकल्प०; गउड०; हाल, रावण०; सूय० ३१२ और ३१४; भग०; नायाध०; उवास०; कप्प०; आदि आदि, एर्त्से०; कालका०; ऋषभ०; पव० ३७९, २; ३८०, ६; ३८७, १३; ३८९, ९ और ४, कत्तिगे० ४००, ३२८ और ३२९, ललित० ५५४, ७ और ८; मृच्छ० २३, १४ और २१; २९, ११; ९७, १५; १६९, १४, शकु० ५०, १; ७३, ९; ८४, १३; विक्रमो० १६, १५; १९, ३ आदि आदि; हेमचन्द्र ४, ४०१, १),मागधी मे **दंशण** होता है (मृच्छ० २१, ९; ३७, १०; प्रबन्ध० ५२, ६; ५८, १६), इसी प्रकार **दर्शिन** का **दंसि** (विक्रमो० ८,११), **दंसइ, दंसेइ** (§ ५५४) आदि हो जाता है। महाराष्ट्री और शौरसेनी मे **स्पर्श** का **फंस** हो जाता है (भामह; क्रमदीश्वर; मार्कण्डेय; प्राकृतकल्प०; गउड०; हाल, रावण०; विक्रमो० ५१,२; मालती० ५१७,५; २६२, ३; उत्तर० ९२,९; ९३, ७, १२५, ७; १६३, ४; विद्ध० ७०, १०, बाल० २०२, ९)। शौरसेनी में **परिफंस** भी आया है (बाल० २०२, १६), मागधी में **स्फंश** मिलता है (प्रबन्ध० ५७, ८) और **फंसइ** भी (हेमचन्द्र ४, १८२) ।—**पर्शु** के लिए **पंसु** शब्द मिलता है (हेमचन्द्र) ।—महाराष्ट्री में **निघर्षण** के लिए **णिहंसण** (गउड०; रावण०) और **निघर्ष** के लिए **णिहंस** शब्द आया है (गउड०) ।—अपभ्रंश में **बर्हिन्** के लिए **बंहिण** शब्द मिलता है (विक्रमो० ५८, ८) ।—मार्कण्डेय ने किसी व्यञ्जन से पहले आये हुए ल के लिए भी अनुस्वार का प्रयोग किया है। उसने **शुल्क** के स्थान पर **सुंक** शब्द दिया है। अर्धमागधी में **उस्सुंक** शब्द मिलता है (कप्प० § १०२ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए] और २०९, नायाध० § ११२; पेज १३८८ [यहाँ भी यही पाठ पढा जाना चाहिए]) । विवागसुय २३० मे **सुक्क** शब्द आया है। **श + -य** और **सं + -य** *के स्थान पर भी अनुस्वार आता है; अर्धमागधी में* **नमस्यति** *के लिए* **नमंसइ** का प्रयोग हुआ है (आयार० २, १५, १९; नायाध० § ७, पेज २९२; उवास०; भग०; कप्प०; ओव० § २०, ३८ और ५० आदि-आदि की भी तुलना कीजिए)।—जैनमहाराष्ट्री मे °**नमस्यित्वा** के लिए **नमंसित्ता** (पव० ३८६, ६) पाया जाता है।—जैनमहाराष्ट्री में **निवसत**, जिसका कभी वर्तमान काल का रूप °**निवस्यत** बोला जाता होगा, **नियंसइ** हो गया (एर्त्से० ५९, ३०) और इसका अर्धमागधी रूप **नियंसेइ** होता है (जीवा० ६११), कहीं कहीं **नियंसेह** भी आता है (विवाह० १२६२), **नियंसित्ता** (जीवा० ६११), **नियंसावेइ** (आयार० २, १५, २०) और वर्तमान काल के रूप से निकला हुआ स्वर भक्तिवाला रूप **निअंसण** भी महाराष्ट्री में मिलता है (हाल) । **विनिअंसण** भी काम मे आया है (हाल), अर्धमागधी में **नियंसण** भी पाया जाता है (पण्णव० १११ [टीका में दिया हुआ यही रूप पढा जाना चाहिए]; राय० ८७, ओव० § ३९), **विअंसण** (मार्क०), **पडिणिअंसण*** = रात के कपड़े,

---

* पाली में **पटिनिवासन** का अर्थ कपड़ा है। वहाँ पटि = प्रति है। देशी प्रयोग में अर्थ बदल जाता है। —अनु०

(देशी० ६, ३६)।—महाराष्ट्री में **वयस्य** का **वअंस** हो जाता है (हेमचन्द्र; मार्क०; प्राकृत०); **वयस्यी** का **वअंसी** भी मिलता है (कर्पूर० ४६,८); जैनमहाराष्ट्री में **वयंस** (एर्त्सें०) है।—अपभ्रंश में °**वयस्यिकाभ्यः** का **वअंसिअहु** होता है (हेमचन्द्र० ४,३५१); महाराष्ट्री में **वअस्स** शब्द भी आया है (हाल) और शौरसेनी में तो सदा यही शब्द चलता है (मृच्छ० ७, ३ और १४ तथा १९; शकु० २९, २; ३०, ६; विक्रमो० १६, ११; १८, ८)।—श+ –, ष+ – और स – कार + र के स्थान पर भी अनुस्वार हो जाता है; महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और अपभ्रंश में **अश्रु** का **अंसु** हो जाता है (भामह; हेमचन्द्र; क्रम०; मार्क०; प्राकृतक०; गउड०; हाल; रावण०; कर्पूर० ४४, २०; एर्त्सें०; द्वार० ५०१, ३२; पिंगल० १, ६१ (अ)), किन्तु शौरसेनी में **अस्सु** होता है (वेणी० ६६, ७; सुभद्रा० १७, ३; मुकुन्द १५, १ और इसी प्रकार विक्रमोर्वशी ८३, १३ [पंडित द्वारा सम्पादित बम्बइया संस्करण १५०, १२; पिशल द्वारा सम्पादित ६६६, ३ में **अंसु** के स्थान पर **अस्सु** पढ़ा जाना चाहिए]; मुद्रा० २६०, ३; विद्ध० ७१, ६; ८०, २)।—अर्धमागधी में **श्मश्रु** के स्थान पर **मंसु** होता है (भामह; हेमचन्द्र; क्रम०; मार्क०; पाइय० ११२; आयार० १, ८, ३, ११; २, ८, ५; पण्हा० ३५१; भग; ओव०); **निःश्मश्रु** के लिए **निम्मंसु** आता है (अणुत्तर० १२; [पाठ में **स्सु** के स्थान पर **स्स** है]); जैनशौरसेनी में **श्मश्रुक** के लिए **मंसुग** आता है (पव० ३८६, ४)। इस सम्बन्ध में § ३१२ भी देखिए।—महाराष्ट्री और अर्धमागधी में **त्र्यस्र** का **तंस** होता है (भामह; हेमचन्द्र; मार्क०; कर्पूर० ३७, ७; ४०, ३; आयार० १, ५, ६, ४; सूय० ५९०; ठाणंग० ४८५ और ४९३); अर्धमागधी में **चतुरस्र** का **चउरंस** (आयार० १, ५, ६, ४; सूय० ५९०; ठाणंग० २० और ४९३; उवास०; ओव०), **षडस्र** का **छलंस** (ठाणंग० ४९३) मिलता है; **षडस्रिक**, **अष्टास्र** के लिए **छलंसिय** और **अट्ठंस** शब्द काम में आये हैं (सूय० ५९०)।— श–,ष–,स–कार में संस्कृत में जब **य** लगता है तब प्राकृत में वहाँ भी अनुस्वार हो जाता है; **अश्य** का **अंस** हो जाता है (भामह) और अर्धमागधी में **अश्वत्थ** का **अंसोत्थ** आया है (विवाह० १५३०); कहीं-कहीं **अस्सोत्थ** भी मिलता है (ठाणंग० ५५५), **आसोत्थ** भी पाया जाता है (आयार० २, १, ८, ७; पण्णव० ३१) और **आसत्थ** (सम० २३३) भी है।—महाराष्ट्रीमें **मनस्विन्** के लिए **मणंसि** आता है (हेमचन्द्र; मार्क०; हाल), **मनस्विनी** के लिए **मणंसिणी** प्रयोगमें आता है (भामह; क्रम०; प्राकृतक०) और महाराष्ट्री तथा शौरसेनी में **माणंसिणी** रूप भी आया है (हेमचन्द्र; हाल; बाल० १४७, ३; २४२, ४), इसी प्रकार संस्कृतके जो विशेषण शब्द—**विन्**—में समाप्त होते हैं उनमें भी अर्धमागधीमें अनुस्वार आता है, जैसे **ओजस्विन्** का **ओयंसि** हो जाता है (आयार० २, ४, २, ७; नायाध०; ओव०); **यशस्विन्** का **जसंसि**, **तेजस्विन्** का **तेयंसि** और **तेजंसि** होता है (आयार० २, ४, २, २; नायाध०); **वर्चस्विन्** का **वच्चंसि** हो जाता है (नायाध०; ओव०)।—**ह्रस्व** का **हंस** हो जाता है (भामह; इस ग्रन्थका § ३५४ भी देखिए)।—जहाँ, श–, ष–, स–कार आता है वहाँ भी अनुस्वार आ

जाता है, **मनःशिला** का **मणंसिला** होता है, किन्तु इसके साथ **मणासिला, मणोसिला** और **मणसिला** रूप भी मिलते हैं (§ ६४ और ३४७)। अर्धमागधीमें ध्वनिका यह नियम कुछ अन्य शब्दोंपर भी लागू होता है जब संयुक्त अक्षरोंमेंसे एक **श-, ष-, स**-कार हो। इस प्रकार **शष्कुलि** शब्द में **ष्क** होने के कारण इसका रूप **संकुलि** हो जाता है (आयार० २, १, ४, ५, पण्हा० ४९०), साथ-साथ **सक्कुलि** रूप भी चलता है (ठाणग० २५९ [टीका में **संकुली** शब्द आया है]; दस० ६२१, ७), **पाणौ** शब्दका किसी समय भूलसे °**पाणिष्मिन्** रूप हो गया होगा उसका **पाणिंसि** हो गया, यह **स्+म** का प्रभाव है। **लेष्टौ** शब्द का कभी कहीं °**लेष्टुष्मिन्** हो गया होगा, उसका अर्धमागधी में **लेलुंसि** हो गया (§ ३१२ और ३७९) और **अस्मि** का **अंसि** हो जाता है (§ ३१३ और ४९८)। उक्त दोनों शब्दो में अनुस्वार आया है वह **स्+म** का प्रभाव है। सर्वनामों के सप्तमी एकवचन और सर्वनामों की नकल में बने हुए संज्ञा शब्दों की सप्तमी मे भी अनुस्वार आ जाता है, जैसे **कस्मिन्, यस्मिन्, तस्मिन्** के अर्धमागधी रूप **कंसि, जंसि, तंसि** हो जाते है, **लोके** शब्द का **लोगंसि** हो जाता है। **तादृश** और **वासघरे** का **तारिसगंसि** और **वासघरंसि** हो जाता है (§ ३१३, ३६६ (अ) और ४२५ तथा उसके बाद), **क्+ष (क्ष)** आने पर भी अनुस्वार आ जाता है। **प्लक्ष्य** का **पिलंखु** हो जाता है (आयार० २, १, ८, ७), इसके स्थान पर कई जगहों मे **पिलक्खु** मिलता है (विवाह० ६०९, १५३०), **पिलुक्ख** (पण्णव० ३१), **पिलुंक** (सम० २३३) रूप भी देखे जाते है, आयारगसुत्त मे **पिलक्खु** है। **पक्ष** के स्थान पर **पंख** शब्द भी आया है (उत्तर० ४३९), **पक्षिन्** का **पंखि** (राय० २३५), **पक्षिणी** का **पंखिणी** (उत्तर० ४४५) हो जाता है। **त्+स् (त्स)** अक्षर आने पर भी अनुस्वार हो जाता है। **जिघत्सा** शब्द के लिए **दिगिंछा** होता है (उत्तर० ४८ और ५० [टीका में **दिगंछा** शब्द दिया गया है])। **विचिकित्सा, विचिकित्सती** और **विचिकित्सित** के लिए **वितिगिंछा** (आयार० १, ३, ३, १, १, ५, ५, २), **वितिगिंछइ** (सूय० ७२७) और **वितिगिञ्छिय** (विवाह० १५०) रूप मिलते हैं (§ २१५ और ५५५)। **प्+स (प्स)** संयुक्त अक्षर किसी शब्द में आने से भी अनुस्वार आ जाता है। **जुगुप्सा** के लिए **दुगंच्छा** शब्द आता है (ठाणग १५१, विवाह० ११०, उत्तर० ९६०), **दुगुंछा** भी मिलता है (पण्हा० ५३७), **दुगुंछण** भी व्यवहार में आया है (आयार० १,१,७,१, उत्तर० ६२८ [इसमें **दुगंछा** छपा है]), **जुगुप्सिन्** के लिए **दोगंछि** का प्रयोग मिलता है (उत्तर० ५१ और २१९ [यहाँ **दोगुछि** छपा है]), **दुगंछणिज्ज** भी मिलता है (उत्तर० ४१०), जैनमहाराष्ट्री म **दुगंछा** शब्द भी है (पाइय० २४५, एर्त्से०), अर्धमागधी में **दुगुंछइ,दुउंछइ, दुगंछमाण** और **दुगुंछमाण** (§ २१५ और २५५) रूप भी आये हैं। **प्रतिजुगुप्सिन्** के लिए **पडिदुगुंछि** मिलता है (सूय० १२३)। **ष्+ट (ष्ट)** संयुक्त स्वर आने पर भी अनुस्वार आ जाता है। **गृष्टि** शब्द के लिए **गंठि** (मार्क०), **गिंठि** (हेमचन्द्र) और **गुंठि** (भामह) मिलते हैं। किन्तु शौरसेनी म **गिट्टि** शब्द आया

है (मृच्छ० ४४, ३), हेमचन्द्र ने भी यही बताया है। ऐसे स्थल जहाँ अनुस्वार तो हो गया है किन्तु न तो **र** व्यञ्जन और न **श-ष सकार** ही उन शब्दों में आते हैं, वे यहाँ दिये जाते हैं। संस्कृत शब्द **गुच्छ** का हेमचन्द्र के मतानुसार **गुंछ** हो जाता है, किन्तु शौरसेनी में **गुच्छ** शब्द का ही प्रयोग है (रत्ना० ३१८)। —महाराष्ट्री में **पुच्छ** शब्द का **पिच्छ** होकर **पिंछ** हो जाता है (गउड०; रावण०), महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी में **पिच्छ** शब्द भी काम में आता है (कर्पूर० ४६, १२; आयार० १, १, ६, ५; अणुओग० ५०७; उवास०; विक्रमो० ३२, ७)। **पुच्छ** शब्द का हेमचन्द्र तथा मार्कण्डेय के अनुसार **पुंछ** * भी हो जाता है, किन्तु अर्धमागधी में **पुच्छ** ही, काम में आता है (आयार० १, १, ६, ५); मागधी में **पुश्च** हो जाता है (मृच्छ० १०, ४)।—अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **सनत्कुमार** का **सणंकुमार** हो जाता है (ठाणग० ९० और २००; सम० ९, १६ और १८, पण्हा० ३१४; पण्णव० १२३ और १२४, विवाह० २४१ और २४२; ओव०; एर्त्से०)। यह अनुस्वार § ७५ में बताये नियम के अनुसार लगा है। अर्धमागधी में **महाश्व** का **महंआस** होता है (विवाह० ८३०; ओव०)। लौयमान के अनुसार यह **महं महन्त**+ से निकला है¹ जो प्राकृत में अन्यत्र **महंत** रूप में ही आता है। इस सम्बन्ध में § १८२ भी देखिए। **मज्जा** शब्द का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में पाली शब्द **मिञ्जा** के प्रभाव से **मिंजा** हो जाता है। यह **इ** § १०१ के नियम के अनुसार अ के स्थान पर आयी है (आयार० १; १, ६, ५; सूय० ७७१; ठाणग० १८६ और ४३१, पण्हा० २६; पण्णव० ४०; विवाह० ११२, ११३, २८० और ९२६; जीवा० ४६४, उवास०, ओव०; एर्त्से०), **मिंजिया** रूप भी मिलता है (पण्णव० ५२९; विवाह० ४४८)। ये रूप आदि-आर्य शब्द **मज्जा** और °**मज्जिका** तक पहुँचते हैं। **बुध्न** का प्राकृत रूप **बुंध** है (हेमचन्द्र)। अपनी बनावट और तात्पर्य के हिसाब से अपभ्रंश **वंक** = **वक्र** से मिलता है। दूसरी ओर यह लैटिन शब्द **फुण्डुस** से मिलता है और इस दृष्टि से इसका **बुंध** रूप ठीक ही है। महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और अपभ्रंश में **वक्र** का **वंक** हो जाता है (वर०, हेम०, क्रम०, मार्क०, प्राकृतक०, हाल, आयार० १,१,५,३, पण्णव ४७९ और ४८२; निरया०, एर्त्से; कालका०; पिंगल १,२, हेम० ४,३३०; ३,३५६ और ४१२)। इसका सम्बन्ध **वक्रित** = **वंकिय** से है (रावण०)। महाराष्ट्री और अपभ्रंश **वंकिम** (विद्ध० ५५,७; हेम० ८,३४४) और अपभ्रंश **वंकुडअ** (हेम० ४,४१८,८) का सम्बन्ध वैदिक **वंकु** से है¹। यह **वकि कौटिल्ये** (धातु० ४,१४) का रूप है, इसलिए इसका शुद्ध रूप **वंक** लिखा जाना चाहिए। **वक्र** से शौरसेनी **वक्क** बना है (रत्ना० ३०२, १९, ३०८,

---

* इससे हिंदी में पूछ हो गया। **पिंछ** रूप पाली में भी आया है, इसलिए यह विचारणीय हो जाता है कि महाराष्ट्री **पिंछ** पर पाली का प्रभाव तो नहीं पड़ा है ? —अनु०

\+ **महन्त** शब्द वैदिक है। ऋग्वेद के कोशकार 'ग्रासमान' का यह मत है कि यह **मह्** धातु की आसन्नभूतकालिक स्वरभक्ति है। कुछ विद्वान् समझते हैं **महत्** का प्राचीनतम रूप न कारयुक्त **महन्त** ही है। अवेस्ता में भी इसका रूप **मजन्त** आया है, लैटिन **मागुस्** में भी न है। पाली रूप भी **महन्त** है। इसलिए निष्कर्ष निकलता है कि **महन्त** शब्द वेदकालिक है।—अनु०

७; वृषभ० २४,७; २६,९; मल्लिका० २२३,१२; कस० ७,१८)। इसके रूप **चक्कदर** (प्रसन्न० १४०,१), **चक्किद** (बाल० २४६,१४), **अणुचक्क** (मालवि० ४८,१९) मिलते हैं; अर्धमागधी **चक्कय** = **चक्रक** (ओव०) है। कर्णसुन्दरी २०,१९ में **चंक** रूप अशुद्ध दिया गया है। 'प्रसन्नराघव' ४६,५ में **चंकुण** का स्त्रीलिंग **चंकुणी** आया है। कंसवध ५५,११ में **तिचंकुणी** नाम आया है। § ८६ भी देखिए। **विंछुअ**, **विंछिअ** और **विंचुअ** के बारे में § ३०१ भी देखिए।

१. औपपत्तिक सूत्र देखिए। —२. हेमचंद्र पर पिशल का लेख १, २६; गेल्दनर का वेदिशे स्टुडियन २, १६४ और २५८।

§ ७५—प्लुति के अतिरिक्त (§ ७१) अंतिम व्यंजन का लोप हो जाने पर किसी किसी प्राकृत बोली में कभी अनुस्वार के साथ दीर्घीकरण का रूप उलटा हो जाता है (देखिए § १८)। अर्धमागधी और महाराष्ट्री में **विंशति** का °**विंशत्** होकर **वीस** रूप बन जाता है, **त्रिंशत्** का **तीसा** और **तीस**, **चत्वारिंशत्** का **चत्तालीसा** और **चत्तालीसम्** रूप बनते हैं। अपभ्रंश में ये शब्द अन्तिम वर्ण को ह्रस्व करके **वीस**, **तीस**, **चउआलीस** और **चोआलीस** रूप धारण कर लेते हैं (§ ७५ और ४४५)। अर्धमागधी में **तिर्यक्** का रूप **तिरिया** हो जाता है (हेमचन्द्र २,१४३) और साथ साथ **तिरियं** भी चलता है (आयार० १,१,५,२; १,५,६,२; १,७,१,५; १,८,४,१४; सूय० १९१; २७३; ३०४; ३९७; ४२८; ९१४; ९३१, उत्तर० १०३१; पण्णव० ३८१; कप्प०), संधि में भी यही रूप रहता है। **तिर्यग्घात** का **तिरियंघाय** हो जाता है, **तिर्यग्भागिन्** का **तिरियंभागि** हो जाता है (सूय० ८२९)। अर्धमागधी में **सम्यक्** का **समिया** हो जाता है (सूय० ९१८; आयार० १, ४, ८, ६; १, ५, २, २ और ५, ३), *साथ साथ इसी प्राकृत में* **समियं** *भी चलता है (आयार० १, ५, ५, ३;* सूय० ३०४)। अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और शौरसेनी में **सम्मं** का भी प्रचलन है (हेमचंद्र १, २४, आयार० १, २, १, ५; १, ५, ५, १ और ६, १; सूय० ८४४; ९५८; ९९४; ९९६, ठाणग २४३, विवाह० १६३; १६५; २३८; उत्तर० ४५०; एर्त्से०, कालका०; पव० ३८९, ३; कत्तिगे० ३९९, ३०८ और ३०९; कालेयक० २१, १५, २४, १८)। अर्धमागधी में **समियाए** भी होता है (आयार० १, ५, ५, ३ और ५)। § ११४ से *भी तुलना कीजिए।* **यस्मिन्** *के लिए अर्धमागधी में* **जंसि** के साथ साथ **जंसी** भी काम में आता है। **यस्याम्** के भी ये ही रूप हैं (सूय० १३७; २७३; २९७)। अपभ्रंश में **यस्मिन्** का **जहीं**, **जहि**, **जहिं** होता है (पिंगल २, १३५ और २७७) और **किं** के साथ ही **किं**, **की** रूप भी चलते हैं (पिंगल २, १३८)। संभवतः ये रूप सीधे **जस्सि**, **जहिं** और **किं** से संबंध रखते हैं और इनका दीर्घीकरण केवलमात्र छंद की मात्रायें ठीक करने के लिए है।

§ ७६—यदि कोई स्वर अनुस्वारवाला हो और उसके ठीक बाद ही **र**, **श**, **ष**, **स** और **ह** हो तो स्वर कभी कभी दीर्घ हो जाता है और अनुस्वार का लोप हो जाता है। **विंशति** का °**विंशत्** होकर अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **वीसा**,

वीसं हो जाता है। इसी प्रकार **त्रिंशत्** का **तीसा, तीसं** होता है, **चत्वारिंशत्** का **चत्तालीसा, चत्तालीसं** हो जाता है आदि आदि। अपभ्रंश में ये शब्द अन्तिम अक्षरको ह्रस्व करके **वीस, तीसा, चउआलसा** और **चोआलीसा** रूप धारण कर लेते हैं (§ ७५ और ४४५)। संस्कृत शब्द **दंष्ट्रा** का पाली में **दाठा** हो गया, चूलिका पैशाची में **ताठा** तथा महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी में यह रूप बदलकर **दाढा** बन गया (वररुचि ४, ३३; चण्ड० ३, ११; हेमचन्द्र २, १३९; क्रम० २, ११७; मार्क० पन्ना ३९; गउड०; हाल०; रावण०; आयार० १, १, ६, ५; जीवा० ८८३; अणुओग० ५०७; उवास०; कप्प०; मालती० २५१, ५; चण्डकौ० १७, ८; बाल० २४९, ८; २५९, १७; २७०, ६); अर्धमागधी और शौरसेनी में **दंष्ट्रिन्** का **दाढि** बन गया (अणुओग० ३४९; वेणी० २४, ७ [यहाँ यही पढ़ा जाना चाहिए]) ।—**सिंह** शब्दका महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, अर्धमागधी और अपभ्रंश में **सीह** हो जाता है (वररुचि १, १७; हेमचन्द्र १, २९ और ९२ तथा २६४; क्रम० १, ७७; मार्क० पन्ना ७; पाइय० ४३; गउड०; हाल; रावण०; आयार० २, १५, २१; सूय० २२५, ४१४ और ७४८; पण्णव० ३६७; राय० ११४; उत्तर० ३३८; दस० नि० ६४७, ३६; एत्सें०; कालका०; हेमचन्द्र० ४, ४०६, १; ४१८, ३), **सिंही** का अर्धमागधीमें **सिंही** हो जाता है (पण्णव० ३६८) और **सिंघ** (§ २६७) तथा **सिंह** रूप भी चलते हैं। शौरसेनी में भी **सिंह** रूप चलता है (बाल० २०९, ११ में **सिंहणाद** आया है; २३४, ८ में **णरसिंह** शब्द मिलता है; चण्डकौ० १७, १ में **घणसिंह** पाया जाता है)। इन सन्धि शब्दों के अनुसार ही हेमचन्द्र १, ९२ में **सिंघदत्त** और **सिंघराअ** मिलता है। इसी प्रकार मागधी में भी **सिंघसावक** के लिए **सिंहशावअ** आता है (शकु० १५४, ६), किन्तु अर्धमागधी में **सीहगुहा** शब्द मिलता है (नायाध० १४२७ तथा उसके बाद)। बालरामायण ५०, ११ में शौरसेनी भाषा में **सीहसंढा** मिलता है [? शायद °**संघा**] (मल्लिका० १४३, १४ में मागधी में **सीहमुह** मिलता है, किन्तु १४४, ३ में **सिंघमुह** आया है) ।—**किंशुक** के लिए **किंसुअ** (गउड०, हाल; कर्पूर० १०, ७) और फिर कहीं कहीं °**केंसुअ** रूप रहा होगा (§ ११९) और इससे **केसुअ** हो गया है, सिन्धी में यह शब्द **केसू** है। —**पिनष्टि** का कभी °**पिंसति** हुआ होगा, जिसका शौरसेनी में **पीसेदि** बना, फिर उससे **पीसइ*** हो गया (§ ५०६; हेमचन्द्र ४, १८५; मृच्छ० ३, १, २१); कभी कहीं °**पिंसन** रहा होगा जिससे अर्धमागधी में **पीसण**† बन गया (पण्हा० ७७) अर्धमागधी में **बृंहयेत्** रूप से **वूहए** हो गया (सूय० ८९४); **अणुवूहइ** आया है; (नायाध०; कप्प०), **दुप्पडिवूहण** और **पडिवूहण** भी मिलते हैं (आयार० १, २, ५, ४ और ५)। अर्धमागधी में **सम** उपसर्ग बहुधा दीर्घ हो जाता है, जैसे—**संरक्षण** का **सारक्खण** हो गया (ठाणग० ५५६), **संरक्षणता** का **सारक्खणया** बन जाता है (ठाणग० २३३), **संरक्षिन्** का **सारक्खी** (ठाणग० ३१३) रूप

* यह रूप पीसे रूप में हिन्दी में आ गया है। —अनु०

† हिन्दी पीसना, पिसन हारी, पिसान आदि इसीके नाना रूप हैं।—अनु०

मिलता है **सारक्खमाण** भी आया है (आयार० १,५,५,१०; उवास०; निरया०); जैनमहाराष्ट्री में **सारक्खणिज्ज** और **सारक्खन्तस्स** रूप आये हैं (आव० एर्त्से० २८, १६ और १७); अर्धमागधी में **संरोहिन्** का **सारोहि** हो गया है (ठाणग० ३१४) और **संहरति** का **साहरइ** (कप्प०) देखा जाता है। उसमे **साहरेज्जा** (विवाह० ११५२), **साहरन्ति** (ठाणंग० १५५) और **साहट्टु**=**संहर्तुं** रूप भी मिलते हैं (§ ५७७), **पडिसाहरइ** (पण्णव० ८४१; नायाध०; ओव०), **साहणन्ति** और **साहणित्ता** शब्द भी आये हैं (विवाह० १३७, १३८ और १४१)। यही नियम **संस्कृत** शब्द के लिए महाराष्ट्री में, जो **सक्कअ**, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री मे **सक्कय** और शौरसेनी में भी **सक्कद** रूप आता है, उस पर भी लागू होता है (चण्ड० २, १५ पेज १८; हेमचन्द्र १, २८; २, ४; मार्क० पन्ना ३५; कर्पूर० ५, ३; ५, १; वज्जाल० ३२५, २०; मृच्छ० ४४, २), **असंस्कृत** के लिए अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **असक्कय** शब्दका प्रयोग होता है (पण्हा० १३७; वज्जाल० ३२५, २०); इनके अतिरिक्त **संस्कार** के लिए **सक्कार** शब्द काममें लाया जाता है (हेमचन्द्र १, २८; २, ४; मार्क० पन्ना ३५; रावण० १५, ९१); जैनमहाराष्ट्री मे **संस्कारित** के लिए **सक्कारिय** आता है (एर्त्से०)। इसकी व्युत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है—**संस्कृत**, **सांस्कृत**, **साक्कअ** और **सक्कअ**। इस सम्बन्धमें § ३०६ भी देखिए। मार्क० पन्ना ३५ और ऋषिकेष पेज १२ के नोट मे वामनाचार्य के अनुसार **संस्तुत** का **सत्थुअ** और **संस्तव** तथा **संस्ताव** का क्रमशः **सत्थव** और **सत्थाव** हो जाता है, किन्तु अर्धमागधी में इसका रूप **संथुय** मिलता है (आयार० १, २, १, १)। इस सम्बन्ध मे § १२७ मे **कोहण्डी** और **कोहण्ड** शब्दों से तुलना कीजिए।

§ ७७—संस्कृत में कभी-कभी उपसर्गों का पहला स्वर शब्दो के पहले जुड़ने पर दीर्घ कर दिया जाता है; **अभिजाति** का **आभिजाति** हो जाता है, **परिप्लव** का **पारिप्लव** बन जाता है, **प्रतिवेश्य** **प्रातिवेश्य** हो जाता है। यही नियम प्राकृत भाषाओं में भी पाया जाता है (वररुचि १, २; हेमचन्द्र १, ४४; क्रम० १, १; मार्क० पन्ना ४, ५; प्राकृत कल्प० पेज १९); **अभिजाति** का **अहिजाइ** हो जाता है और महाराष्ट्री में इसका रूप **आहिजाइ** (हाल) और **आहिआइ** (रावण०) होता है; **प्रतिपद्** का महाराष्ट्री मे **पडिवआ** और **पाडिवआ** होता है; **प्रत्येक** शब्द का महाराष्ट्री और अर्धमागधी मे **पाडिएक्क** होता है (§ १६३); **प्रतिस्पर्धिन्** का प्राकृत में **पडिप्फद्धि** और **पाडिप्फद्धि** हो जाता है (हेमचन्द्र; क्रम० १, १; २, १०१); ***प्रतिसिद्धि** (जिसका अर्थ जुए का जोड़ा है) प्राकृत मे **पडिसिद्धि** और **पाडिसिद्धि** हो जाता है (हेमचन्द्र २, १७४; देशी० ६, ७७ ; शौरसेनी के उदाहरण, कर्पूर० १८, १; २१, ५; ४४, ९); ***प्रतिस्मार** (=चालाकी) का प्राकृत मे **पडिसार** और **पाडिसार** रूप होते हैं (देशी० ६, १६); **समृद्धि** का महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में **समिद्धि** (गउड०; हाल; कक्कुक०) और महाराष्ट्री मे **सामिद्धि** भी होता है (हाल); **अध्युपपन्न** का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **अज्झोववन्न**, **अज्झोववण्ण** होता है (आयार० १, १, ६, ६; २, १, ७, २; सूय० १८५, २१०,

७५१ और ९२३; नायाध० १००६, १३८७, १४६१, १४६९; विवाग० ८७ और ९२; उवास०; आव० एर्त्से० २६, २५; ३०, २६; एर्त्से०) और ये शब्द भी मिलते हैं—**अज्झोयवज्जह, अज्झोयवज्जइ** (नायाध० ८४१ और १३४१), **अज्झोयवज्जिहिहिइ** (ओव०) ; अर्धमागधी में **आभ्युपगमिकी** का **अब्भोवगमिया** होता है (भग०; [औपपातिक सूत्र के शब्द **आहेवच्च** की तुलना कीजिए])। महाराष्ट्री में उपसर्ग का अन्तिम स्वर दीर्घ करने का प्रचलन दिखाई देता है, उसमें **वितारयितुम्** और **वितारयसे** का **वेआरिउं, वेआरिज्जसि** होता है (हाल २८६ और ९०९); **वेआरिअ** भी मिलता है किन्तु इसका अर्थ केश और ताना हुआ है (देशी० ७, ९५); अर्धमागधी में **आधिपत्य** का **आहेवच्च** होता है (सम० १३४; नायाध० २५७, ३१०, ३२९, ४८१, ५२९, १४१७, १५०७; विवाग० २८ और ५७ [इसमें **आहेवच्च** की जगह **अहेवच्च** है]; पण्णव० ९८, १००, १०३; अन्तग० ३ [इसमें भी **अहेवच्च** मिलता है]; ओव०; कप्प०)। ऐसे स्थलों पर जहाँ ***अनुपानहनक** अर्धमागधी में **अणोवाहणग** अथवा **अणोवाहणय** (सूय० ७५९; विवाह० १३५; ओव०) अथवा अर्धमागधी और जैनशौरसेनी में **अनुपम** के स्थान पर **अणोवम** (पण्णव० १३६; ओव०; पव ३८०, १३); या **अनृतुक** के स्थान में **अणोउय** (ठाणग० ३६९) अथवा **अनुपनिहित** के लिए **अणोवनिहिय** (अणुओग० २२८, २४१ और २४२) या **अनुपसंख्य** के स्थान पर **अणोवसंख** आता है, वहाँ दीर्घीकरण का नियम लागू नहीं होता बल्कि यहाँ **अण** जिसका अर्थ **नहीं** होता है, उसके आरम्भ में आने के कारण ये रूप हो जाते हैं। यह तथ्य एस० गौल्दस्मित्त[1] ने सिद्ध कर दिया है; और यही नियम अर्धमागधी **अणईइ= अन्नीति**[2], जैनशौरसेनी **अणउदय** (कत्तिगे० ३९९, ३०९), महाराष्ट्री **अणहिअअ= अहृदय** (हाल; रावण०), **अभवद्** के लिए महाराष्ट्री रूप **अणहोन्त*** (हाल) है, **अणरसिय** (हाल), **अदीर्घ** के लिए **अणदीहर** (रावण०) आया है; **अमिलित** के लिए **अणमिलिअ** (देशी० १, ४४) और **अरति** से निकले हुए, कभी कहीं बोले जाने वाले ***अरामक** के रूप **अणराम** (देशी० १, ४५) आदि आदि इस नियम के उदाहरण हैं।† इस विषय पर § ७० भी देखिए।

१. त्साइट्श्रिफ्ट डेर मौर्गेन लैण्डिशन गेज़ेलशाफ्ट, ३२, ९९ और उसके बाद; कून्स त्साइटश्रिफ्ट २४, ४२६। — २. लॉयमान, औपपातिक सूत्र। — ३.

* यह रूप हिन्दी में अनहोत, अनहोनी आदि में मिलता है। कुमाउनी में इसका रूप अणहुति हो गया है। —अनु०

† उक्त रूपों से हिन्दी की एक परंपरा पर प्रकाश पड़ता है। हिन्दी के बूढ़े साहित्यिक यह न भूले होंगे कि कभी श्रद्धेय स्व० बाबू बालमुकुन्द गुप्त, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी और प० महावीरप्रसाद द्विवेदी में अस्थिरता, अनस्थिरता और अपढ़ तथा अनपढ़ पर प्रचण्ड वादविवाद चल गया था। तथ्य यह है कि प्राकृत के नियम से गोस्वामी तुलसीदास ने अनभल, अनहित आदि का प्रयोग किया है। हिन्दी में अनहोनी, अनरीति आदि रूप प्राकृत परिपाटी के साथ और संस्कृत व्याकरण के नियम के विरुद्ध जाते हैं। —अनु०

पिशल, बेत्सेनबैरगैर्स बाइत्रैगे ३, २४३ और उसके बाद; वेबर, हाल ४१ में। योहान्नेस श्मित्त, कून्स त्साइटश्रिफ्ट २३, २७१ और उसके बाद।

§ ७८—प्राकृत भाषाओं में कई अन्य अवसरों पर संस्कृत के नियमों के विपरीत भी स्वर दीर्घ कर दिये जाते हैं। इस प्रकार **परकीय** का **पारकेर** हो जाता है (हेमचन्द्र १, ४४), किन्तु शौरसेनी में **परकेर** (मालवि० २६, ५) और **परकेरअ** (शकु० ९६, १०) रूप होते हैं, मागधी में स्वभावतः **पलकेलअ** हो जाता है (मृच्छ० ३७, १३ ; शकु० १६१, ७)।—महाराष्ट्री में **मनस्विन्** और **मनस्विनी** का **मांणसि** और **माणंसिणी** हो जाता है (§ ७४)।—**तादृक्ष**, **यादृक्ष** के जोड़ के शब्द **°सादृक्ष** का महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी में **सारिच्छ** हो जाता है (भाम० १, २ ; हेमचन्द्र १, ४४ ; क्रम० १, १ ; मार्क० पन्ना ५ ; प्राकृतकल्प० पेज १९ ; हाल ; एर्त्से० ; कालका० ; कत्तिगे० ४०१, ३३८)।—**चतुरन्त** का अर्धमागधी में **चाउरन्त** हो जाता है (हेमचन्द्र १, ४४ ; सूय० ७८७ और ७८९ ; ठाणंग० ४१, १२९ और ५१२ ; सम० ४२ ; पण्हा० ३०२ ; नायाध० ४६४ और ४७१; उत्तर० ३३९, ८४२ और ८६९; विवाह० ७, ३९, १६०, ८४८, १०४९, ११२८ आदि आदि) और **चतुष्कोण** का **चाउकोण** हो जाता है (नायाध० १०५४; जीवा० २८९ और ४७८)। प्राकृत में **चाउघण्ट** शब्द मिलता है (नायाध० § १३० ; पेज ७३१, ७८०, ७८४, ८२६, १०६०, १२३३, १२६६ और १४५६ ; विवाह० ११४, ८०१, ८०२ और ८३० ; राय० २३१, २३७, २३९; निरया० § २१), **चतुर्याम** का **चाउज्जाम** रूप होता है (विवाह० १३५); **चतुरंगिणि** का **चाउरंगिणी** (नायाध० § ६५, १०० और १०३ ; पेज ५३१ और ५४८ ; ओव०, निरया०) बन जाता है।—**चिकित्सा** का अर्धमागधी में **तेइच्छा** रूप है (§ २१५)। यह दीर्घत्व **ऋ** वाले शब्दों में भी मिलता है। इस प्रकार **गृहपति** का **गाहावइ** हो जाता है, इस शब्द में **गृ** और **ह** दोनों दीर्घ हो गये हैं [यह § ७० के नियम के अनुसार हुआ है] (आयार० १, ७, २, १ और २ ; ३, ३ ; ५, २ ; २, १, १ और उसके बाद, सूय० ८४६, ८४८, ८५० और और ९५७ तथा उसके बाद ; विवाह० १६२, २२७, ३४५, ३४६ और १२०७ तथा उसके बाद ; निरया० ४१ और ४३; उवास०; कप्प०); **गृहपत्नी** का **गाहावइणी** हो जाता है (विवाह० १२६६, १२७० और १२७१ ; नायाध० ५३० , उवास०)।—**मृषा** के लिए अर्धमागधी में **मुसं** (सूय० ७४, ३४० और ४८९ ; दश० ६१४, २९ ; उत्तर० ११६) ; और **मुसावाद** होते हैं (सूय० २०७; उवास० § १४ [पाठ में **मूसवाद** शब्द है]; और ४६ इसमें **मूसावाय** शब्द है), **मुसावादि** भी पाया जाता है (आयार० २, ४, १, ८) और बहुधा **मोप** शब्द भी काम में आता है (उत्तर० २७३, ९५२ और ९५७), **मोस**, **सच्चामोस** और **असच्चामोस** भी मिलते हैं (आयार० २, ४, १, ४ ; पण्णव० ३६२ ; ठाणंग० २०३ ; ओव० § १४८ और १४९), **सच्चमोस** भी आया है (ठाणंग० १५२ ; पण्णव ३६२), **परयामोस** भी काम में लाया जाता है (ठाणंग० २१ ; विवाह०

१२६ ; पण्हा० ८६ , पण्णव ६३८ ; कप्प० § ११८ ; ओव०)। रू, धौ और स्वप् धातु के वर्त्तमान काल तृतीय वचन के रूप **रोवइ, धोवइ** और **सोवइ** होते हैं (§ ४७३, ४८२ और ४९७) ; **सोवण** शब्द भी मिलता है (देशी० ८, ५८) ; **अवस्वापनी** का अर्धमागधी में **ओसोवणी** रूप है (कप्प० § २८), **स्वापनी** का **सोवणी** भी मिलता है (नायाध० १२८८)। —**श्वपलक** शब्द का अर्धमागधी में **वेसलग** रूप होता है (सूय० ७२९), **श्वपाक** का **सोवाग** पाया जाता है (आयार० १, ८, ४, ११ ; उत्तर० ३४९, ३७१, ४०२, ४०९ और ४१०), **श्वपाकी** का **सोवाकी** बन जाता है (सूय० ७०९)। —अर्धमागधी में **ग्लान्य** शब्द का **गेलन्न** रूप पाया जाता है (ठाणंग० ३६९) और **ग्लान** शब्द का (जिससे **ग्लानि** शब्द निकला है) **गिलाण** बन जाता है (§ १३६)। —**बहिः** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में जो **बाहिं** रूप हो जाता है उसके सम्बन्ध में § १८१ देखिए। अर्धमागधी में अन्तिम व्यञ्जन का लोप होकर उसके स्थान पर जो स्वर आता है वह निम्नलिखित शब्दों में दीर्घ हो जाता है। **पृथक्** शब्द का कभी °**पुढु** बन गया होगा उसका फिर **पुढो** हो गया (आयार० १, १, २, १ और २ ; ३, ४ और उसके बाद ; १, २, ६, २ आदि आदि , सूय० ८१ और १२३ ; ठाणंग० ३३२), **पृथक्छ्रित** शब्द का पहले **पुढोसिय** रूप मिलता है (आयार० १, १, २, २ ; ६, ३ , सूय० ३३८ और ४६८), **पुढोछन्द** शब्द भी मिलता है (आयार० १, ५, २, २ , सूय० ४१२ से भी तुलना कीजिए) , **पृथग्जीव** के लिए **पुढोजिय** शब्द मिलता है (सूय० ४६), **पृथक्सत्त्व** के लिए **पुढोसत्त** शब्द आया है (सूय० ४२५ , ४०१ से भी तुलना कीजिए)। **पुढ** शब्द के लिए जो कभी कभी °**पुहू** आता है उसमें अन्तिम अकार **पु** के उ की नकल पर उ कर दिया गया है जैसा **पृथकत्व** के लिए **पुहुत्त** आता है (ठाणंग० २१२ , अणुओग० ४५ और ४०५ तथा उसके बाद ; नन्दी० १६०, १६३ और १६८) ; इस शब्द के लिए कहीं कहीं **पुहत्त**[1] भी मिलता है (पण्णव० ६०२ और ७४४ , विवाह० १८१, १८२ और १०५७) **पोहत्त** भी आता है (सम० ७१ , विवाह० १७८), **पोहत्तिय** भी देखा जाता है (पण्णव० ६३९, ६४० और ६६४) इसमें **उकार** दीर्घ होकर **ओ** बन गया है। यह ढंग पाली भाषा से निकला है जिसमें **पृथक्** के लिए **पुत**[2] मिलता है। पाली में **पुथुज्ज** शब्द आया है और अर्धमागधी में इसका **पुढोजग** रूप है, संस्कृत रूप **पृथग्जग** है (सूय० १०४ और ३४२), पाली के **पुथुज्जन** शब्द के लिए अर्धमागधी में **पुढोज्जण** रूप आया है (सूय० १६६)। हेमचन्द्र १, २४, १३७ और १८८ के अनुसार **पिहं, पुहं, पिढं ,** और **पुढं** रूप भी होते हैं। इस नियम के अनुसार जैनमहाराष्ट्री में **पिहप्प** तथा **पिहं** रूप भी मिलते हैं (आव० एर्त्से० ७, ८ और १७), अर्धमागधी में **पृथग्जन** के लिए **पिहज्जण** शब्द मिलता है (ठाणंग० १३२)।

१. सन्धियुक्त शब्दों के अन्त में अधिकतर स्थलों पर सारिच्छ आता है और यहाँ यह संज्ञा के रूप में लिया जाता है। यह शब्द कभी क्रियाविशेषण

भी रहा होगा, इसका प्रमाण महाराष्ट्री एत्सेंलुगन ७१, ३३ से मिलता है। इस विषय पर § २४५ भी देखिए। — २ वेबर ने भगवती २, २०० के नोट (१) में बताया है कि हस्तलिखित प्रतियों में पुहुत्त रूप भी पाया जाता है। —३ एर्नेस्ट कून,बाइत्रेगे पेज २३ , ई० म्युलर, सिम्प्लिफाइड ग्रैमर पेज ६।

दीर्घ स्वर के स्थान पर ह्रस्व स्वर का प्रयोग

§ ७९—महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और अपभ्रंश में तथा अपवाद रूप से अन्य प्राकृत भाषाओं में भी दीर्घ स्वर ह्रस्व कर दिये जाते हैं, **ए इ** में परिणत हो जाता है जब मूल शब्दों में दीर्घ स्वर से पहले के या बाद के अक्षर पर बल पड़ता था। — वररुचि १, १० , क्रम० १, ९ , मार्क पन्ना ६ , प्राकृतकल्प० पेज २२ में **आ** वाले शब्दों को **आकृतिगण यथादि** में सूचित किया गया है हेमचन्द्र ने १, ६७ में इनके दो विभाग किये हैं, एक तो साधारण रूप से किया विभाजन है, जिसे उसने अव्यय कहा है और दूसरा विभाग **उत्खनादि आकृतिगण** है तथा उसने १, ६८ में कुछ शब्द उपर्युक्त शब्दों से अलग कर दिये हैं। ये शब्द हैं— **प्रवाह, प्रहार, प्रकार** आदि जो कृदन्त उपसर्ग — अ (घञ्) से बनाये जाते हैं तथा जिनमें वृद्धि हो जाती है। त्रिविक्रम तथा अन्य व्याकरणकार (१, २, ३७ और ३८) उसका अनुकरण करते हैं। वररुचि १, १८ , हेमचन्द्र १, १०१ , प्राकृतकल्प० पेज २८ में **ई** वाले शब्द **पानीयादिगण** में रखे गये हैं। मार्कण्डेय ने पन्ना ८ **गृहीतादिगण** में ये शब्द सम्मिलित किये हैं (त्रिविक्रम १, २, ५१ तथा अन्य व्याकरणकार एक **गभीरकगण** भी बताते हैं और **ई**-वाले शब्दों को जैसे **पानीय, अलीक, करीन, उपनीत, जीवित** आदि शब्दों को **पानीयगण** में रखते हैं। क्रमदीश्वर ने १, ११ में वे शब्द, जिनके दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है, **पानीयादिगण** में रखे हैं और जिन शब्दों में विकल्प से ऐसा होता है अर्थात् यह लेखक की इच्छा पर छोड़ दिया जाता है कि वह चाहे तो दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर दे अथवा ह्रस्व ही रहने दे, ऐसे शब्दों को उसने **गभीरादिगण** में (१, १२) शामिल किया है। हेमचन्द्र यह मानता है कि इन शब्दों के इन नियमों के अपवाद भी हैं। **ऊ** वाले शब्दों के लिए व्याकरणकारों ने कोई गण नहीं दिया है।

§ ८०— नीचे दिये गये शब्दों में उन शब्दों का दीर्घ स्वर ह्रस्व कर दिया गया है जब ध्वनि का बल दीर्घ स्वर से पहले के अक्षर पर पड़ता है, महाराष्ट्री में **उत्खात** का **उक्खअ** और जैनमहाराष्ट्री में **उक्खय** हो जाता है (सब व्याकरणकार, गउड०, रावण० एर्से०) महाराष्ट्री में **समुक्खअ** मिलता है (हाल) और साथ-साथ **उक्खाअ** भी पाया जाता है (हाल) अर्धमागधी में **कुलाल** (जिसका अर्थ उल्लू है) के लिए **कुल्ल** आता है (सूय० ४३७ , उत्तर० ४४७ , दस० ६३२, ३७), **निःसाद** के लिए महाराष्ट्री में **नीसह** रूप है (हाल), **वराकी** के लिए **वरई** है (हाल)। इस रूप के साथ-साथ बहुधा — **वराअ** और **वराई** भी आता है (हाल), **श्यामाक** के लिए **सामअ** मिलता

है (हेमचन्द्र १, ७१ ; क्रिविक्रम २, २३ , ३, १८) । श्रीहर्ष, द्विरूप कोष ४८ तथा संस्कृत मे यह शब्द **श्यामक** रूप मे है। — अर्धमागधी में **अनीक** के लिए **अणिय** चलता है (ठाणंग० ३५७ ; ओव०) ; **अनीकाधिपति** के लिए अणिया- हिवइ आया है (ठाणंग० १२५ और ३५७) ; **पायत्ताणिय, पीढाणिय, कुञ्जरा- णिय, महिसाणिय** और **रहाणिय** शब्द अर्धमागधी में चलते है (ठाणंग० ३५७) ; साथ साथ **अणीय** शब्द भी चलता है (निरया० ; ओव०; नायाध०) ; महाराष्ट्री मे **अलीक** के लिए **अलिअ** और अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्री मे **अलिय** रूप चलता है (सब व्याकरणकार ; गउड० ; हाल ; रावण० ; विवाह० ३५२ ओर ६८७ ; पण्हा० १३४ ; उत्तर० १९ ; द्वारा० ४९७, १९ ; एर्त्से०) । शौरसेनी में भी यही शब्द चलता है (मृच्छ० २४, २५ ; ५७, १४, १५ ; ९५, १७ ; १५३, १८ ; विक्रमो० ३०, २१ , मालवि० ४१, १८ ; रत्ना० ३२४, १९ ; चण्डको० ९, १७, ५२, १० ; ८६, १० ; ८७, १३ और १६ आदि आदि) और मागधी में भी यह शब्द मिलता है (मृच्छ० १४५, १६ ; १६५, १) । किन्तु शौरसेनी और मागधी के लिए कविता को छोड़कर अन्यस्थलों मे **अलिय** शब्द उचित तथा आदिक रूप से अधिक प्रामाणिक दिखाई देता है (मृच्छ० १४५, १६, १५३, १८) । इस **अलिय** रूप को व्याकरणकारों की अनुमति भी मिली हुई है तथा शौरसेनी मे भी यह शब्द आया है (प्रबन्ध० ३७, १६ [३८, १ मे **अलियत्तण** शब्द मिलता है], नागान० ४५, ११ ; १०३, ३ ; मुद्रा० ५९, १ , प्रसन्न० ३७, १७ ; ४४, ११ ; ४६, १४ ; ४७, ११ और १२०, १ ; वेणी० २४, ४ ; ९७, ९ ; १०७, ४ आदि आदि), महाराष्ट्री एर्त्सेलुगन में **अलीय** शब्द मिलता है । **अवलीदत्त** के लिए महाराष्ट्री में **ओलियत्त** शब्द आया है (रावण०) ; **प्रसीद** के लिए **पसीय*** चलता है (हेमचन्द्र ; हाल), किन्तु शौरसेनी मे **पसीद** रूप है (मृच्छ० ४, ५ ; प्रबन्ध० ४४, २ ; नागान० ४६, ११ ; ४७, ६) ; मागधी मे **पशीद** का प्रचलन है (मृच्छ० ९, २४ , १३१, १८ ; १७०, १८ और १७६, ९) ; अर्धमागधी में **करीष** का **करिष** होता है (सब व्याकरणकार ; उवास०) ; महाराष्ट्री मे इसका रूप **करीस** हो जाता है (गउड०) , **वल्मीक** का महाराष्ट्री में **वम्मीअ** (गउड०) और अर्धमागधी में **वम्मिय** चलता है (हेमचन्द्र , सूय० ६१३ ; विवाह० १२२६ और उसके बाद [इस ग्रन्थ में अधिकतर स्थलों मे **वम्मीय** आया है ।] पुरुषोत्तम के द्विरूप कोष ८ के अनुसार **वाल्मीक** शब्द मिलता है, श्रीहर्ष द्विरूप कोष (५१) और संस्कृत में यह शब्द **वल्मिक** मिलता है । उज्ज्वलदत्त ने उणादि सूत्र ४, २५ की टीका में इसे **वाल्मीक** लिखा है । **शिरीष** का **शिरिस** हो जाता है (हेमचन्द्र), किन्तु महाराष्ट्री मे **सिरीष** मिलता है (शकु० २, १५) । — **उलूक** का अर्धमागधी म **उलुग** और महाराष्ट्री में **उलुअ** होता है (सरस्वती १६, १० ; सूय० ६९५) ; अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **गव्यूत** का **गाउय** होता है (ठाणंग०

---

* हिंदी **पसीजना** इसका रूप है जिसमें य नियमानुसार ज बन गया है । द का भी ज होना स्वाभाविक शब्दप्रक्रिया है । —अनु०

८३, ८८ और ८९ ; विवाह० ४२५ और १५२९ ; जीवा० २७६ ; अणुओग० ३८१, ३८५, ३९७ और ४०७ ; पण्णव० ५२, ६०१ और ६०२ ; नन्दी० १६०, १६३ और १६८ ; ओव० ; एर्त्से०)।

वैडूर्य का महाराष्ट्री और शौरसेनी में **वेरुलिअ** तथा अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्री में **वेरुलिय** होता है (हेमचन्द्र २, १३३ ; क्रम० २, ११७ ; [पाठ में **वेरुणिय** रूप दिया गया है] ; मार्क० पन्ना २, ९ ; पाइय० ११९ ; गउड० ; मृच्छ० १७, २५ ; ७१, ३ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) ; कर्पूर० ३३, १ ; सूय० ८३४ ; ठाणग० ७५, ८६, ५१४ और ५६८ ; पण्हा० ४४० ; विवाह० ११४६, १३२२ और १३२४ ; पण्णव० २६ और ५४० ; नन्दी० ७२ ; राय० २९, ५४, ६९ ; जीवा० २१७, ४९४ और ५४९ ; उत्तर० ६२९, ९८१ और १०४२ ; एर्त्से०) ; इस विषय पर § २४१ भी देखिए।—**विरूप** का **विरुअ** हो गया है (देशी० ७, ६३)।—**चपेटा** का **चविडा** और **चविला** हो गया है (हेमचन्द्र १, १४६ और १९८) ; इन रूपों के साथ महाराष्ट्री और अर्धमागधी में **चवेडा** रूप भी मिलता है (हेमचन्द्र ; हाल ; उत्तर० ५९६)।

§ ८१—नीचे वे शब्द दिये जाते हैं जिनमें दीर्घ स्वर के अनन्तर आनेवाले अक्षर पर ध्वनिबल पड़ने के कारण दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। **आचार्य** का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्र में **आयरिय** हो जाता है (§ १३४)[1] ; **अमावस्या** का अर्धमागधी में **अमावसा** होता है (कप्प०) ; **स्थापयति** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **ठवेइ** होता है तथा कुछ अन्य शब्द होते हैं (§ ५५१ और ५५२)। महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में **कुमार** का **कुमर** हो जाता है (सब व्याकरणकार; एर्त्से०)। महाराष्ट्री में **कुमारी** का **कुमरि** हो जाता है (गउड०, कर्पूर० ८०, ६), **कुमारपाल** का महाराष्ट्री में **कुमरवाल** हो जाता है (देशी० १, १०४, ८८), इसके साथ-साथ महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और अपभ्रंश में **कुमार कुमारी** रूप भी आते हैं (गउड० ; हाल ; एर्त्से० ; हेमचन्द्र ४, ३६) और शौरसेनी में सदा ही **कुमार** शब्द चलता है (विक्रमो० ५२, १६; ७२, १५ और २१; ७९, १५ ; मुद्रा० ४४, ३ ; प्रसन्न० ३५, २ और ७), **कुमारअ** भी आता है (शकु० ४१, २ , १५५, ९ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] , १५६, ६ और १४ ; मुद्रा० ४३, ५ और ४४, १), **कुमारि** भी मिलता है (माल्वी० ६८, १०), अर्धमागधी में **कुमाल** आता है (नागान० ६७, १ और १४ [यहाँ कुमाल पाठ पढ़ा जाना चाहिए])।—**खादित** का **खइअ** हो जाता है तथा जैनमहाराष्ट्री में यह रूप **खइय** हो जाता है (भाम० ; मार्क० ; प्राकृतकल्प० ; एर्त्से०) और **खादिर** का **खइर** हो जाता है (सब व्याकरणकार)।—अपभ्रंश में **तादृश** का **तइस** और **यादृश** का **जइस** हो जाता है (हेमचन्द्र ४, ४०३ और ४०४)।—**पर्याय** का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **पज्जव** हो जाता है (आयार० १, ३, १, ४ ; २, १५, २३ ; पण्णव० २३७ और उसके बाद ; जीवा० २३८, २६२, ४५० और ४५१ ; उत्तर० ७९७ और ८९५ ; अणुओग० २७०; विवाह० १२८ ; ओव० ; आव० एर्त्से० ४३, ४ और ९), जैन-

शौरसेनी में पज्जय रूप मिलता है—(पव० ३८८, ४ ; कत्तिगे० ३९८, ३०२)।—
प्रवाह का महाराष्ट्री में **पवह** हो जाता है (सब व्याकरणकार ; गउड० ; हाल ;
रावण०)। इसके साथ-साथ महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में **पवाह** शब्द भी चलता है
(सब व्याकरणकार ; गउड० ; एत्सें० ; कालका०) शौरसेनी में भी यह रूप है (मृच्छ
२, २०)।—**मारजार** का महाराष्ट्री में **मंजर** होता है (चण्ड २, १५ ; हेमचन्द्र
२, १३२; हाल २८६), **मज्जर** भी देखा जाता है (मार्क० पन्ना ६) इसके साथ साथ
मंजार* भी आया है (हेमचन्द्र १, २६) और अर्धमागधी, जैनशौरसेनी तथा शौरसेनी
में **मज्जार** शब्द मिलता है (पण्हा० २०, ६४ और ५२८ ; नायाध० ७५६ ; कत्तिगे०
४०१, ३४७ ; शकु० १४५-९), महाराष्ट्री और शौरसेनी में **मज्जारी** शब्द भी मिलता
है (पाइय० १५० ; देशी० १, ९८ ; ८२ ; विद्ध० ११४, १६), **मज्जारिया** भी
आया है (कर्पूर० ३५, ५)।—**शाकम्** शब्द का **सक्कुँ** रूप अपभ्रंश में होता है
(§ २०६)।—महाराष्ट्री में **हालिक** का **हलिअ** होता है (सब व्याकरणकार ;
हाल)।—**गभीर** का महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में **गहिर** होता है (सब व्याक-
रणकार ; गउड० ; रावण० ; एत्सें०), साथ-साथ **गहीर** शब्द भी चलता है
(गउड०)।—**नीत** शब्द का महाराष्ट्री में **णिअ** हो जाता है (रावण०), अर्ध-
मागधी में **निय** (उत्तर० ६१७) और सन्धि में भी यही रूप चलता है जैसे **अतिनीत**
का **अइणिअ** (देशी० १, २४), महाराष्ट्री में यह रूप **आणिअ** (सब व्याकरणकार;
गउड० ; रावण०) ; जैनमहाराष्ट्री में **आणिय** होता है (द्वारा० ४९६, ३० और
और ३२ ; एत्सें०), महाराष्ट्री में **समाणिअ** शब्द भी मिलता है (हाल), **उणिय**
शब्द भी आया है (रावण०), **उवणिअ** भी मिलता है (हेमचन्द्र ; मार्क० ; रावण०),
अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **निणिय** रूप आया है (नायाध० ५१६ ; एत्सें०),
इसके साथ साथ महाराष्ट्री में **णइअ** (हाल) और जैनमहाराष्ट्री में **नीय** मिलता है
(एत्सें०) ; शौरसेनी में सदा दीर्घ रूप **णीद** (मृच्छ० ९५, ७ , शकु० १२७, ९),
और **अवणीद** (विक्रमो० ८७, ४), **पच्चणीद** (विक्रमो० १०, ४), **उवणीद**
(मृच्छ० १७, १४, २५, १४, ६१, ७ , शकु० १९, ७), **परिणीद** (शकु०
७६, १०), **दुव्विणीद** (शकु० १७, ४), **अविणीद** (शकु० १३५, २;३५४,
७), और मागधी में भी **णीद** है (मृच्छ० १६२, १९), **अवणीद** (मृच्छ० १०९
१६) और **आणीद** (मृच्छ० ९९, २, १२४, १९ , १५५, १५) रूप भी मिलते हैं।
त्रिविक्रम १, २, ५१ में यह बताया गया है कि स्त्रीलिंग में केवल **आनीत**
शब्द दीर्घ होता है। — त्रिविक्रम ने जो **आणीदा—भुवणब्भुदेक्कजणणी**
(= **अनीताभुवनाद्भुतैक जननी**) दिया है, भाषा के हिसाब से यह जैनशौरसेनी
अथवा शौरसेनी है। — **तूष्णीक्** का **तुण्हिक्य** हो जाता है (भाम० ३, ५८ ;
हेमचन्द्र २, ९९), इसके साथ-साथ अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में इसका रूप
तुसिणीय हो जाता है (आयार० २, ३, १, १६ और उसके बाद ; आव० एत्सें०
२५, २०)। — **चूर्णित** का महाराष्ट्री में **चिलिअ** हो जाता है (सब व्याकरणकार,

---

* वर्तमान मराठी में बिल्ली को मंजार कहते हैं। —अनु०

देशी० १, २० ; ७, ६५ ; रावण० १, ६ ; अच्युत० ८२), **विढिअ** रूप भी मिलता है (रावण०), अर्धमागधी में **सविढिय** रूप आया है (नायाध० ९५८)। — **सरीसृप** का अर्धमागधी में **सरिसिव** होता है (आयार० २, ४, २, ७ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; सूय० १०५ और ७४७ ; पण्णव० ३४ और ३५ [यहाँ **सरिसव** पाठ है] ; जीवा० २६३ और २६४ [यहाँ **सरीसव** पाठ है] ; निरया० ४४), **सरीसव** पाठ भी मिलता है (आयार० २, ३, ३, ३ ; सूय० १२९ और ९४४; सम० ९८) और **सरीसिव** पाठ भी मिलता है (सूय० ३३९ ; राय० २२८ [यहाँ **सरीसव** पाठ है] और २३५)। — महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **एन** का **इण** हो जाता है (§ ४३१)। — **वेदना** शब्द का महाराष्ट्री में **विअणा** और जैनमहाराष्ट्री में **वियणा** होता है (वररुचि १, ३४ ; हेमचन्द्र १, १४६ ; क्रम० १, ३४ ; मार्क० पन्ना ११; पाइय० १६१ ; गउड ; हाल ; रावण० ; एर्त्से०)।

१. याकोबी ने कून्स त्साइटश्रिफ्ट २३, ५९८ और ३५, ५६९ में इस विषय पर भ्रामक बातें लिखी हैं। ध्वनिदल पर अंश-स्वर तथा स्वरित शब्दों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। § १३१ भी देखिए।

§ ८२—जिन शब्दों का ध्वनिबल हम तक परम्परागत रूप से नहीं पहुँचता है उनमें स्वरों की जो ह्रस्वता आ जाती है उनका कारण भी उनके विशेष वर्णपर जोर पड़ना है। इस प्रकार महाराष्ट्री मे **अहीर** = **आभीर** है [यह शब्द हिन्दी में भी अहीर ही है।] कसवह में **अहीर अभीर** के लिए और **आहीर आभीर** के लिए आये हैं, जो शौरसेनी में है। यह सम्भवतः भूल है और छन्द की मात्राए ठीक करने के लिए हो (१, ५६) —अनु०] (हाल ८११) , **कलअ** और उसके साथ-साथ **कलाअ** = **कलाय** हैं (गौडदस्मित्त , त्रिवि० और अद्भुत० १, २, ३७) , हेमचन्द्र में **कालअ** = **कालक** है , **मरल** (मार्क० पन्ना ६) = **मराल** ; जैनमहाराष्ट्री मे **महुअ** और उसके साथ साथ **महूअ** = **मधूक** है (वर० १, २४ , हेमचन्द्र १, १२२, क्रम० १, १३ ; मार्क० पन्ना ९ ; कक्कुक शिलालेख १८) ; अर्धमागधी मे **सरडुय** = **शलाटुक** है (आयार० २, १, ८, ६)। प्राकृत में एक ही शब्द के जो दो दो या उससे अधिक रूप मिलते हैं, इनके मूल में संस्कृत शब्दो का ध्वनिबल ही है। इस प्रकार **खाइर** = **खादि'र** किन्तु **खइर** = **खादिर** है , **देवर** = **दे'वर** है (पिट्सून ३, १८), किन्तु महाराष्ट्री **दिअर** (वर० १, ३४ , हेमचन्द्र १, १४६ , क्रम० १, ३४ ; मार्क० पन्ना ११ ; हाल), जैनमहाराष्ट्री **दियर** (पाइय० २५२) = **देवर** हैं (उणादिसूत्र ३, १३२) ; अर्धमागधी **पायय**, जैनमहाराष्ट्री **पागय**, **पायय**, महाराष्ट्री **पाइअ**, जैनमहाराष्ट्री **पाइय**, महाराष्ट्री **पाउअ**, शौरसेनी **पाउद** तथा मागधी **पाकिद** (§ ५३) = **प्राकृत** हैं, किन्तु **पअअ** (हेमचन्द्र १, ६७ , त्रिवि० १, २, ३७), **पउअ** (भामह० १, १० , क्रम० १, ९ , मार्क पन्ना ६) = **प्राकृत** हैं (**सं'स्कृत** और **संस्कृत** की तुलना करें)। **वलआ** (हेमचन्द्र १, ६७ , त्रिवि० , अद्भुत० १, २, ३७) तथा इसके साथ-साथ **वलाआ** = **वलाका** से पता लगता है कि

जोर °चंटाका अथवा °घलाम्र्' पर पड़ता होगा, जैसे अर्धमागधी सुहुम = सूक्ष्म (§ १३०) में जोर °सूक्ष्म पर रहा होगा, किन्तु उणादिसूत्र ४, १७६ में °सूक्ष्म दिया गया है। क्रमवाचक संख्या दुइअ (भाम० १, १८ ; हेमचन्द्र १, ९४ और १०१ ; क्रम० १, ११ ; मार्क० पन्ना ८), जैनमहाराष्ट्री दुइय (एर्त्से०), शौरसेनी दुदिअ (मृच्छ० ५१, १० ; ६९, ५ और ६ ; ७८, ८; शकु० १३७, २, विक्रमो० ५, १२ ; १०, १ ; १९, ८ , महाव० ५२, १७ आदि आदि[1]), मागधी दुदिअ (मृच्छ० ८१, ५ ; १३४, २), महाराष्ट्री विइअ (हेमचन्द्र १, ९४ ; गउड० १०८ ; रावण०), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री विइय (सूय० १७७ ; उवास० ; नायाध०, कप्प० और बहुधा अध्याय शेष के वाक्य में जैसे आयार० पेज ३, ८, १५, २९, ३४ आदि आदि ; एर्त्से०), महाराष्ट्री तइअ (भाम० १, १८ ; हेमचन्द्र १, १०१ ; क्रम० १, ११ ; मार्क० पन्ना ८ ; गउड०), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री तइय (ओव० § १०५ और १४४ , उवास० , निरया० , कप्प० और बहुधा अध्याय समाप्तिसूचक पद में जैसे आयार० पेज० ४, १०, १६, १७, २०, २४ आदि आदि एर्त्से० ऋषभ०), शौरसेनी तदिय (मृच्छ० ६९, १४ और १५ ; मुद्रा० ४१, ७ [यहाँ पर यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), मागधी तदिअ (मृच्छ० १६६, २४ [पाठ में तइअ आया है])। ये शब्द द्वितीय' तृतीय से नहीं निकले बल्कि इनकी व्युत्पत्ति °द्वित्य और °तृत्य[2] से है। ऐसे स्थलों में जैसे जीवति के महाराष्ट्री रूप जिअइ और आरोहति के लिए महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री रूप आरुहइ के लिए § ४८२ देखिए[3]। पाणिअ के लिए § ९१ देखिए और गृहीत से निकले हुए गहिअ के लिए § ५६४ देखिए। दीर्घ स्वर जब ह्रस्व कर दिये जाते हैं तब वे संयुक्ताक्षर और अपभ्रंश को छोड़कर अन्यत्र ह्रस्व नहीं किये जाते। कालायसं से कालाअस हुआ, फिर उससे कालास बन गया (§ १६५) ; कुम्भकार शब्द से कुम्भआर बना, उससे कुम्भार निकला। कार में अन्त होनेवाले दूसरे शब्द के लिए § १६७ देखिए। चक्रवाक शब्द से चक्कआअ बना, फिर उसका चक्काअ हो गया (§ १६७) ; पादातिक से पाइक्क बन गया (§ १९४) , °द्वित्य और °तृत्य का द्विइअ और °तिइअ बना और इनसे दिअ और तिअ हो गया (§ १६५)। नाराच का णराअ और उसके साथ साथ महाराष्ट्री रूप नाराअ (रावण०), और अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्री में नाराय बन गया (उवास० , ओव० , प्रबन्ध चि० १००, ७ , एर्त्से० , हेमचन्द्र १, ६७)[4]। अर्धमागधी पडिन् के लिए § ९९ देखिए।

१. ग्रन्थों में बहुधा दुदीअ शब्द मिलता है। जैसे मुद्रा० ४१, ७ ; मालती० ३१, ६ ; ७१, ३ ; ७२, ४ , १०३, ८ , बाल० १७४, १० ; अनर्घ० ६१, ६ ; वृषभ० २३, ९ आदि आदि, शुद्ध पाठ अधिकतर मालतीमाधव में मिलता है। — २. कल्पसूत्र पर याकोबी की पुस्तक का पेज १०३, नोट २८। कून्स त्साइटश्रिफ्ट में पिशल का लेख (३५, १०४ में) देखिए। इसी पत्रिका के ३५, ५७० और बाद के पेजों में याकोबी का लेख देखिए। — ३.

याकोबी ने उक्त पत्रिका के ३५, ५६९ और बाद के पेजों में इस क्रम की स्वीकृति के विरुद्ध लिखा है किन्तु लचर प्रमाणों के साथ। — ४. कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५६५ के नोट १ में याकोबी का मत है कि यहाँ पर संकोच का सिद्धान्त स्वीकार करना कोई कारण नहीं रखता। यह सिद्ध करना पड़ेगा। पीटर्सबर्ग के संस्कृत-कोश में नाराच ध्वनिबल के साथ दिया गया है। इसका कारण वैदिक नाराचा है। बोएटलिंक के संक्षिप्त संस्कृत शब्द-कोश में ध्वनिबल नहीं है। सम्भवतः मोटी बात यह हो कि इस शब्द के दो रूप रहे हों नाराच और नराच § ७९-८२ तक के लिए साधारण रूप से कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३४, ५६८ तथा उसके बाद के पेजों में और ३५, १४० तथा उसके भी बाद के पेजों में पिशल के लेख से तुलना कीजिए। इसके विपरीत उक्त पत्रिका के ३५, ५६३ और उसके बाद के पेजों में याकोबी का जो लेख है, वह भ्रमपूर्ण है।

§ ८३—हेमचंद्र १, ८४ के अनुसार कुछ शब्दों में दीर्घ स्वर, ह्रस्व हो जाता है। पल्लवदानपत्र में **राष्ट्रिक** का **रट्ठिक** लिखा गया है (५, ४)। **अमात्यान्** का **अमच्चे** हो गया है (५, ५)। **वास्तव्यानाम्** का रूप **वत्थवाण** है (६, ८)। **ब्राह्मणानाम्** का **बम्हणानम्** बन गया है (६,८; २७; ३०; ३८)। **पूर्च** की सूरत **पुव्व** बन गयी है (६, १२; २८)आदि आदि। पल्लवदानपत्र में निम्नलिखित शब्दोंमे संस्कृताऊपन दिखाई देता है: **कांचीपुरात्** के लिए प्राकृत रूप **कंचीपुरा** के स्थानपर **कांचीपुरा** (५, १) और **आत्रेय** के लिए शुद्ध प्राकृत रूप **अत्तेय** के स्थान पर **आत्तेय** (६, १३)। संस्कृत शब्द **चत्वारि** के लिए शुद्ध प्राकृत **चत्तारि** के स्थान पर **चात्तारि** में भी संस्कृताऊपन दिखाया गया है (६, ३९)।—पल्लवदानपत्र, महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और ढकी में **काष्ठ** का **कट्ठ** रूप मिलता है (पल्लवदानपत्र ६,३३; हाल; ओव०; एर्त्से०, मृच्छ० ३०,१६)[1]।—महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **काव्य** का **कव्व** रूप हो जाता है (गउड०; हाल; रावण०; एर्त्से०; विक्रमो० ३१,११; ३५, ५)।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **गात्र** का **गत्त** रूप पाया जाता है (रावण०; ओव०; एर्त्से०)।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **राज्य** का **रज्ज** हो जाता है (हाल, रावण०; नायाध०; निरया०; ओव०, एर्त्से०, विक्रमो० ७५,५)।—जैनशौरसेनी में **उपशांत** का **उवसंत** बन जाता है (कत्तिगे० ४०३, ३७७)।—मागधी में **श्रांत** का **शंत** रूप है (मृच्छ० १३, ७)।—अपभ्रंश में **कांत** का रूप **कंत** मिलता है (हेमचन्द्र ४, ३४५; ३५१; ३५७, १, ३५८, १; विक्रमो० ५८, ९)।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और अपभ्रंश में **कीर्ति** **कित्ति** हो जाता है (वर० ३, २४, हेमचन्द्र २, ३०; क्रम० २, ३४; मार्क० पन्ना २२; गउड०; रावण०; उवास, ओव०; कप्प०, एर्त्से०, हेमचन्द्र ४, ३३५), शौरसेनी में **कीर्तिका** का **कित्तिआ** हो जाता है (विक्रमो० १२, १४)।—**तीर्थ** का अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और शौरसेनी तथा अपभ्रंशमें **तित्थ** हो जाता है (ओव०; कप्प०; एर्त्से०; पव० ३७९, १; शकु० ७९, १, १०५, ४; १०८, १०; हेमचन्द्र ४, ४४१, २)।—**ग्रीष्म** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, शौरसेनी, मागधी

और अपभ्रंश में **गिम्ह** रूप बन जाता है (गउड०; हाल; रावण०; ओव०; कप्प०; मृच्छ० ८०, २३; शकु० १०, १; मृच्छ० १०, ४; हेमचन्द्र ४, ३५७, ३)।—ऊर्ध्व का महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अपभ्रंश में **उद्ध** होता है (गउड०; हाल; रावण०; एर्त्सें०; मृच्छ० ३९, २; ४१, २२; १३६, १६; हेमचन्द्र० ४, ४४४, ३), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **उड्ढ** रूप मिलता है तथा जैनमहाराष्ट्री में **उब्भ** भी (§ ३००)।—**कूर्म** शब्द के लिए महाराष्ट्री और अर्धमागधी मे **कुम्म** शब्द आता है (गउड०; उवास०; ओव०; कप्प०), महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अपभ्रंश में **चूर्ण** का **चुण्ण** हो जाता है (गउड०; हाल; रावण०; आयार० २, १, ८, ३; २, २, ३, ९; कप्प०; कालका०; मृच्छ० ६८, २५; ११७, ७; हेमचन्द्र ४, ३९५, २)।—**मूल्य** शब्द का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनशौरसेनी और शौरसेनी में **मुल्ल** हो जाता है (हाल; कर्पूर० ७३, १०; ओव०; कत्तिगे० ४०० ३३५; मृच्छ० ५५, १५; ७८, ३; ८२, १५; ८८, २१ और उसके बाद; शकु० ११६, १२)।—अनुनासिक और अनुस्वारवाले सभी शब्द भले ही संस्कृतमें अनुनासिक अथवा अनुस्वार **म** से (§ ३४८ के अनुसार) प्राकृत में गये हों (हेमचन्द्र १, ७०), किन्तु ऐसे स्थलों के लिए भी यही नियम लागू होता है। **कांस्यताल** के लिए महाराष्ट्री और शौरसेनी मे **कंसताल** होता है (गउड०; मृच्छ० ६९, २४; कर्पूर० ३, ३)।—**पांसु** शब्दका महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **पंसु** हो जाता है (गउड०; रावण०; विवाग० १५५; भग०; एर्त्सें०; माल्ती० १४२, ६; मल्लिका० २५३, १८; ३३६, ९)।—**मांस** शब्द का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और शौरसेनी मे **मंस*** हो जाता है (हाल; सूय० २८१; दस० ६३२, २४; उवास०; ओव०; एर्त्सें०; आव० एर्त्सें० २७, १२; कत्तिगे० ४००, ३२८; शकु० २९, ६)। मागधी मे **मंश** होता है (मृच्छ० १०, १; २१, १७; ११७, ९; १२३, ७, १२६, ५; १६३, ९; वेणी० ३३, ६; ३४, २; ३३, १२ में **मंशप** मिलता है)। यह नियम संस्कृत की विभक्तियों **-आम्**, **-ईम्**, **-ऊम्** और **-आन्** जिन-जिन कारकों में लगती हैं उन पर बहुत अधिक लागू होता है। उदाहरणार्थ **पुत्राणाम्** का महाराष्ट्री में **पुत्ताणम्** हो जाता है, **अग्नीनाम्** का **अग्गीणं**, **वायुनाम्** का **वाउणं**, **मालाम्** का **मालं**, **सखिम्** का **सहिं** आदि आदि हो जाता है (§ ३७० और ३९६)। क्रियाविशेषणों मे भी यह नियम चलता है, जैसे **इदानीम्** का **दाणिं** (§ १४४), **सध्रीम्** का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **सद्धिं** हो जाता है (§ १०३)। यह नियम विस्मयादिवाचक शब्दों के लिए किसी प्रकार लागू नहीं होता। शौरसेनी और मागधी में संस्कृत **आम्** का **आं** हो जाता है (मृच्छ० २७, १०; शकु० ७१, १३; विक्रमो० १३, २; ३५, ९; ७५, ५; मालवि० ६, ३; ८०, ८, बाल० १२३, १७; मृच्छ० १३६, १९)। अपभ्रंश मे **कुतः**, **यतः** और **ततः** का **कहां**, **जहां** और **तहां** होता है (हेमचन्द्र ४, ३५५), इसमें स्वर दीर्घ बन गया है जिसके लिए § ६८ देखिए।

* यह हिन्दी की बोलियों में चलता है। कुमाउनी बोली में **मांसभक्षी** का पर्याय **मॅंसखद्दा** है। —अनु०

१. इस प्रकार के नियमों के लिए, जिनके शब्द ग्रन्थों में बार-बार मिलते हैं, थोड़े में महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री की ऐसी पुस्तकों से शब्द लिये गये हैं जिनकी शब्द-सूची अन्त में दी गयी है और ये उदाहरण मुख्यतया उन शब्दों के दिये गये हैं जो यथासम्भव बहुत-सी प्राकृत भाषाओं में एक ही प्रकार के मिलते हैं।

§ ८४—संयुक्ताक्षरों से पहले **ए** आने पर **ऍ** हो जाता है और **ओ** का **ओं** हो जाता है। महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री में कभी-कभी **इ** और **उ** हो जाता है : **प्रेक्षते** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **पे`च्छइ** होता है (हेमचन्द्र ४, १८१; गउड०; हाल; रावण०; ओव०; एर्त्से०)। अर्धमागधीमें **प्रेक्षणीय** का **पे`च्छणिज्ज** हो जाता है (नायाध०; ओव०; कप्प०), **प्रेक्षक** का **पेच्छग** बन जाता है (विवाह० ९२९) और अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्रीमें **पिच्छइ** (कप्प०; काल्का०)। अर्धमागधीमें **पिच्छणे`ज्ज** भी मिलता है (जीवा० ३५३)। जैनशौरसेनी में **पे`च्छदि** (पव० ३८४, ४८)। शौरसेनीमें **पे`क्खदि** आया है (शकु० १३, ६; विक्रमो० ८४, ५), मागधी में **पेस्कदि** (हेमचन्द्र ४, २९५ और २९७; मृच्छ० ८०, ४; ११२, १७)। महाराष्ट्री में **अपेक्षिन्** का **अवे`क्खि** हो जाता है (गउड०)। महाराष्ट्री में **दुष्प्रेक्ष** का **दुप्पे`च्छ** बन जाता है (रावण०)। शौरसेनी में **दुप्पे`क्ख** (प्रबोध० ४५, ११) मिलता है। मागधी में **दुप्पेक्ख** (मृच्छ० ११६, ७)।—**दुर्भेद्य** का **दुब्भे`ज्ज** हो जाता है (मृच्छ० ६८, १९)।—अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश में **म्लेच्छ** का **मे`च्छ** हो जाता है (ओव० § १८३ [इस ग्रन्थ में **म्लेच्छ** के लिए **मिच्छ** भी मिलता है]; आव० एर्त्से० ३९, २; मुद्रा० २२९, ९; चैतन्य० ३८, ६ [ग्रन्थ में **मले`च्छ*** शब्द आया है]; पिंगल० १, ७७ और ११७ (अ); २, २७२) और **मिलिच्छ**† भी मिलता है (हेमचन्द्र १, ८४), अर्धमागधी में **मिच्छ** चलता है (पण्णव० १३६)।—**क्षेत्र** का महाराष्ट्री में **खे`त्त** हो जाता है (भाम० ३, ३०; हेमचन्द्र २, १७; गउड०; हाल), अर्धमागधी में **छित्त** रूप आया है (ओव० § १)। अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और शौरसेनी में **खेत्त** रूप भी आता है (आयार० १,२,३,३; सूय० ६२८; विवाह० ९७, १५७, २०३ और ५८३ तथा उसके बाद; उत्तर० ३५५ और उसके बाद; दस० नि० ६५३, १४; एर्त्से०; पव० ३७९, ३; ३८७, २१; कत्तिगे० ४०१, ३५२; मृच्छ० १२०, ७; अनर्घ० २६१, ५)। अर्धमागधी में **खित्त** रूप भी मिलता है (उत्तर० ५७६ और १०१४)। —महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **ओष्ठ** का **ओ`ट्ठ** हो जाता है (गउड०; हाल; रावण०; कर्पूर० ८, ३; ५०, ५; पण्हा० ६३; आव० एर्त्से० ४१, ६ और एर्त्से०) और जैनमहाराष्ट्री में **उट्ठ** (एर्त्से०) तथा अर्धमागधी में **हुट्ठ** आता है

* कुछ बोलियों में **मले`च्छ** का प्रचार रहा होगा क्योंकि आज भी कुमाउनी बोली में इसका प्रचलन है।—अनु०

† हिंदी में **मलिच्छ** और **मलेच्छ** रूप पाये जाते हैं। देखिए 'संक्षिप्त हिंदी शब्द-सागर' आदि कोश।—अनु०

(आयार० १, १, २, ५) ।—अन्योन्य का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **अण्णोॅण्ण** हो जाता है (गउड०; हाल; रावण०; सूय० १३७; ओव०; एर्त्सें०; मृच्छ० २४, १६; ७१, १ और १३; शकु० ५६, १५; विक्रमो० ५१, १६) और महाराष्ट्री में **अण्णुण्ण** रूप है (हेमचन्द्र १, १५६; गउड०), बालरामायण ७१८, ८ में भी शौरसेनी में **अण्णुण्ण** रूप मिलता है, किन्तु यह अशुद्ध है।—**प्रकोष्ठ** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनीमें **पओॅट्ठ** हो जाता है (मार्क० पन्ना १३; कर्पूर० ४७, ६; ओव०; मृच्छ० ६८, २३; ६९, ५ तथा उसके बाद; ७०, ५ और उसके बाद; ७१, ११ और १२; ७२, १; बाल० ८०, १; विद्ध० § २७६)।—यह नियम उन **ऐ** और **औ** पर भी लागू होता है जो बाद में **ए** और **ओ** हो जाते हैं (§ ६० और उसके बाद) और जो सम्प्रसारण* द्वारा भी **ए** और **ओ** हो जाते हैं (§ १५३ और १५४) तथा सम्प्रसारण द्वारा **अइ** और **अउ** (§ १६६) से निकले हुए हैं। **ए** और **ओ** तथा **ऐ** एवं **औ** से निकले हुए **ए** और **ओ** पर भी यह नियम लागू होता है। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्रीमें संस्कृत **ऐ** सदा ही **एॅ** बन फिर **इ** हो जाता है, **ऐक्ष्वाक** का **इक्खाग** रूप हो जाता है (आयार० २, १, २, २; ठाणंग० ४१४ और ४५८; नायाध० ६९२, ७२९, १५०५; पण्णव० ६१; उत्तर० ५३२; ओव०; कप्प०; आव० एर्त्सें० ४६, १९; एर्त्सें०)। लौयमान और याकोबीने इस **इक्खाग** के लिए संस्कृत रूप **इक्ष्वाकु** दिया है जो स्पष्टतया अशुद्ध है। शौरसेनी में **मैत्रेय** का **मित्तेअ** हो जाता है (मृच्छ० ४, २२ और २३; ६, ३; १७, २०; २२, १५; ५३, १८; ७४, १९; १५०, १२), मागधी में भी यही रूप काम में आता है (मृच्छ० ४५, १)। **सैन्धव** का **सिन्धव** रूप हो जाता है (वररुचि १, ३८; हेमचन्द्र १, १४९; क्रम० १, ३६; मार्क० पन्ना १२)। महाराष्ट्री और अर्धमागधी में **शनैश्चर** का **सणिच्छर** हो जाता है (हेमचन्द्र १, १४९ और उसपर नोट; पण्हा० ३१२; पण्णव० ११६; ओव०), अर्धमागधी में इसका रूप **शणिचर** (ठाणंग० ८२ और ३९९; भग० २, २२५) होता है। यह शब्द त्रिविक्रम ने मेरी हस्तलिखित प्रति १, २,९४ में दिया है, किन्तु छपी प्रति में **शणिच्छर** है। इसका समाधान इस प्रकार होता है कि या तो इसपर § ७४ में वर्णित नियम लगता है या महाराष्ट्री और शौरसेनी **सणिअम्** की नकल पर बने हुए किसी **सणिअंचर** से यह शब्द बना हो। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **सणियम्** आता है। पाली में **सनिकम्** और **सनिम्** (हेमचन्द्र २, १६८; पाइय० १५; गउड०; हाल; आयार० २, १५, १९ और २० तथा २२; विवाह० १७२, १७३; उवास०; एर्त्सें०; मालती० २३९, ३; उत्तर० ३२, ८; प्रियद० १७, १३; प्रसन्न० ४५, २; मल्लिका० २४२, १)। विद्धशालभञ्जिका १२०, ९ में शौरसेनी में **सणिचर** शब्द मिलता है।—मार्कण्डेय ने पन्ना १२ में बताया है कि **सैन्धव** के अतिरिक्त **भैक्षाजीविक**, **नैयायिक** और **पैण्डपातिक** के रूप भी बदलते हैं। इनमें से **भिक्खाजीविअ** की

* सम्प्रसारण उस नियम को कहते हैं जिसके प्रभाव से **य** का **इ**, **अय** का **ए**, **व** का **उ** और **अव** का **ओ** होता है। इसका पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए § १५१ से § १५५ तक देखिए।—अनु०

उत्पत्ति भिक्षाजीविक से हो सकती है, पिण्डवाइअ की पिण्डपाचिक से। तथा नैयाइक का अर्धमागधी में नेयाउय रूप है (§ ६०)। जो शब्द औ के स्थान पर ओं का प्रयोग करने के बाद इस ओं को भी उ में बदल देते हैं उन्हें व्याकरणकारों ने सौन्दर्यादिगण में रखा है (वररुचि १, ४४ ; हेमचन्द्र १, ६६ ; क्रम० ; १, ४३ ; मार्क० पन्ना १३ ; प्राकृतकल्प० पेज ३७)। मार्कण्डेय और प्राकृतकल्पलता के अनुसार यह (ये ग्रन्थ आपस में बहुत मिलते हैं) एक आकृतिगण है। त्रिविक्रम १, २, ९७ के अनुसार शौण्डग् आकृतिगण में ये रूप दिये गये हैं।

इन शब्दों में सौन्दर्य्य का रूप सुन्देर है। महाराष्ट्री शब्द कर्पूरमंजरी ६६, ७ में मिलता है ओर शौरसेनी धूर्त० १०, ९ में। इस शब्द के लिए प्रतापरुद्रिय २२०, ९ में सों॑ण्डज्ज मिलता है। हेमचन्द्र ने सुन्दरिय रूप भी दिया है। औपरिष्ठक का उवरिट्ठअ होता है (मार्क० ; प्राकृतकल्प०), कौक्षेयक के लिए कुक्खेअअ रूप है (भाम०; क्रम० ; मार्क० ; प्राकृतकल्प०) इसके लिए हेमचन्द्र १, १६१ और त्रिविक्रम १, २, ९६ में कुच्छेअअ और कों॑च्छेअअ शब्द बताते हैं। दौवारिक का दुवारिय होता है (भाम० [यहाँ दुःवारिअ पाठ है जो दुवारिअ पढा जाना चाहिए]; हेमचन्द्र ; क्रम० ; मार्क० ; प्राकृतकल्प०)। यह दुवारिअ बहुत सम्भव है कि द्वारिक से निकला हो। दौःसाधिक का दुस्साहिअ होता है (मार्क ; प्राकृतकल्प०)। पौलोमी का पुलोमी हो जाता है (हेमचन्द्र , मार्क० ; प्राकृतकल्प०)। पौष्य का पुस्स हो जाता है (मार्क० [इस ग्रन्थ में पौस पाठ है] प्राकृतकल्प० में पौरुप पाठ है, जो अशुद्ध है)। मौञ्जका मुञ्ज हो जाता है (मार्क० ; प्राकृतकल्प०)। मौञ्जायन का मुंजाअण होता है (भाम० , हेमचन्द्र ; क्रम० ; मार्क०)। शौण्ड का सुंड हो जाता है (भाम०, हेमचन्द्र; क्रम० ; मार्क०; प्राकृतकल्प०)। शौण्डिक का सुण्डिअ मिलता है (क्रम०; मार्क० ; प्राकृतकल्प०) और इस प्रकार मागधी में शौण्डिकागार का सुंडिका-गाल हो जाता है (शकु० ११८, ७)। शौद्धोदनि का सुद्धोअणि मिलता है (हेमचन्द्र), सौवर्णिक का सुवण्णिय हो जाता है (हेमचन्द्र)। इस शब्द के लिए यह सम्भावना अधिक है कि यह °सुवर्णिक से निकला हो। सौगन्ध्य के लिए सुग-न्धत्तण आता है (हेमचन्द्र)। अधिक सम्भव है कि यह शब्द °सुगन्धत्वन* से निकला होगा।

§ ८५—शब्द की समाप्ति में रहनेवाले ए और इसी स्थान पर रहनेवाले मौलिक और गौण (§ ३४२ और उसके बाद) ओ, ऐसे प्रत्यय से पहले जो संयुक्ताक्षरों से प्रारम्भ होते हैं, अपभ्रंश को छोड़, दूसरी प्राकृत भाषाओं में ए॑ और ओं॑ में परिणत हो जाते हैं, इ और उ में नहीं, वैदिक प्रयोग युस्मे-स्थ का (महाराष्ट्री में) तुम्हे॑ त्थ हो जाता है (रावण० ३, ३)। सागर इति का साअरे॑-त्ति (रावण० ४, ३९), अणुराग-इति का अणुराओं॑त्ति (गउड० ७१५)। प्रिय इति का पिओं॑-त्ति

* इस त्वन का हिन्दी में पन हो गया है। यह उसी नियम से हुआ जिसमें आत्मा का अप्पा बन गया।—अनु०

(हाल ४६)। **पुरुष इति** का जैनमहाराष्ट्री म **पुरिसो त्ति** (आव० एर्त्से० १३, ३), **गत-इति** का **गओ त्ति** (आव० एर्त्से० १७, ६)। **काल-इव** का **कालों-व्व** (एर्त्से० ७१, २७ और ३५), जैनशौरसेनी मे **सम इति** का **समों-त्ति** (पव० ३८०, ७)। कुछ अशुद्ध पाठ यहाँ दिये जाते है . अर्धमागधी में (आयार० १, १, ३, ४) जो **मु-त्ति** शब्द आया है वह **मों-त्ति** के लिए है। यह पाठ कलकत्ते के सस्करण में शुद्ध छपा है। ये शब्द सस्कृत **स्म-इति** के प्राकृत रूप हैं। जैनशौरसेनी **माया-चारुव्व माया-चारोव्व** का अशुद्ध पाठ है (पव० ३८३, ४४)। अर्धमागधी मे **लोह-भारोव्व** और **गंगसोओं व्व** के लिए अशुद्ध पाठ **लों हभारुव्व** और **गगसोउव्व** आये हैं (उत्तर० ५८३) और कई अन्य जगहों पर भी ये पाठ मिलते है। इस विषय पर § ३४६ भी देखिए। शौरसेनी मे **अवहितोऽस्मि** के स्थान पर **अवहिदों-म्हि** हो जाता है (विक्रमो० ७८, १४)। **ब्राह्मणएव** के स्थान मे **ब्रह्मणोज्जें व्व** होता है (मृच्छ० २७, १४)। **एषखलु** का मागधी में **°एशे क्खु** होता है (मृच्छ० ४०, ९)। **पुस्तक-इति** का **पुत्तकें-त्ति** होता है (शकु० १६१, ७)। इसके विपरीत महाराष्ट्री में **ए** और **ओ** का दीर्घ स्वरो के बाद कारको की विभक्तियों के अन्त में **इ** और **उ** हो जाता है जब कविता मे मात्रा का हिसाब ठीक बैठाने के लिए ह्रस्व अक्षर की आवश्यकता पडती है : **पृष्टाया मुग्धायाः** का **पुच्छिआइ मुद्धाए** होता है (हाल १५)। **गोदायास् तीर्थानि** का **गोलाइ तूहाइं** होता है (हाल ५८)। **ग्रामतरुण्यो हृदयम्** का **गामतरुणीउ हिअअं** (हाल ५४६) और **उदधेर्-निर्गतम्** का **उअहीउणिग्गअम्** (गउड० ५६) है। सभी हस्तलिखित प्रतियों में **एँ** और **ओं** बहुत कम लिखे जाते हैं और प्राकृत तथा अपभ्रंश के सभी व्याकरणकार एँ और ओं लिखने के पक्ष म मत देते हैं (आव० एर्त्से० पेज ६ **नोट** ४, सगीतरत्नाकर ४, ५५ और ५६, पिंगल १, ४)। कुछ उदाहरण इनके प्रयोग के ये हैं : **यशोदायाश्चुम्बितम्** का **जसोआएँ चुम्बिअं** मिलता है (गउड० २१) अथवा **कौस्तुभकिरणायमाना कृष्णस्य** का **कों त्थुहकिरणाअन्तीओ कण्हस्स** (गउड० २२) है। हस्तलिखित प्रतियाँ अधिक स्थलों पर डॉवाडोल हैं, जैसे गउडवहो ४४ म **हरालिंगणलज्जियाएँ अज्जाएँ** के स्थानपर सर्वोत्तम हस्तलिपि के पाठ में **हरालिंगणलज्जियाइ अज्जाइ** मिलता है। प्राय सर्वत्र पाठों की यही दशा है। अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी पाठों पर भी यही कहा जा सकता है। तो भी अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री के हस्तलिखित पाठों म दीर्घ स्वरों के बाद कभी कभी **एँ, ओं** मिल जाता है और बहुधा इनका प्रयोग भी अशुद्ध मिलता है। इस प्रकार **सर्वकर्मावहाः** के स्थान पर अर्धमागधी म **सव्वकम्मावहाओं** मिलता है (आयार० १, ८, १, १६)। कलकत्ते के छपे सस्करण म यह अशुद्धि शुद्ध कर दी गयी है और उसमे छपा है **सव्वकम्मावहाउ**। **लेपमात्रायां संयत** का **लेवमायाएँ संजए** मिलता है (दस० ६२२, १३)। **निर्ग्रन्थत्वाद् भ्रश्यति** के स्थान पर **निग्गन्थत्ताओं भस्सई** (दस० ६२४, ३३)। जैनमहाराष्ट्री मे **बुद्ध्याचतुर्विधया युत.** क स्थान पर **बुद्धीएँ चउव्विहाएँ जुओ** आया है (आव०

एर्त्से० ७, २३)। **मुद्रयांकितः** के स्थान पर **मुद्दाएँअंकिओ** (आव० एर्त्से० ८, १४)। **यूथात्परिभ्रष्टः** का **जूहाओँ परिब्भट्ठो** (एर्त्से० ६९,१४)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में और स्वयं स्वरों तथा सरल व्यञ्जनों से पहले कविता में कई अन्य स्थलों पर **एँ** और **ओँ** ह्रस्व गिने जाते हैं, जैसे—**उन्नतो वा पयोदः** के स्थान पर **उन्नएँ वा पओए** हो जाता है। **वृष्टो वलाहक इति** का **वुट्ठे वलाहएँत्ति**(दस०६२९, ३१ और ३२)। **अलोलो भिक्षुः** का **अलोलेॅ भिक्खू** होता है (दस० ६४०-३)। जैनमहाराष्ट्री में **मन्य एव** का **मन्ने एस*** हो जाता है (आव० एर्त्से० ७, ३०), **नीत उज्जयिनीम्** का **निओँ उज्जेणिं** होता है (आव० एर्त्से० ८, १४)। विभक्ति के प्रयोग में आनेवाले **में** के स्थान पर **मि** भी पाया जाता है, **से** के लिए अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री मे **सेॅ** भी मिलता है और अर्धमागधी में कविता में **सि** का प्रयोग पाया जाता है (§ ४१८ और ४२३), **शक्यः** के स्थान पर **शक्के** के लिए मृच्छ० ४३, ६ और उसके बाद कविता में **शक्कि** शब्द का व्यवहार किया गया है आदि आदि (§ ३६४)[१]। अर्धमागधी मे **उताहो** का **उदाहु** (उवास०) अथवा **उयाहु** (आयार० १, ४, २, ६)। इस सम्बन्ध में § ३४६ भी देखिए। अपभ्रंश में शब्द के अन्त में आनेवाले **ए** और **ओ** सभी स्थलों पर या तो ह्रस्व हो जाते हैं या **इ** और **उ** मे परिणत हो जाते हैं। **प्रियेणदृष्टके** के स्थान पर **पिएँदिट्ठई** देखा जाता है (४, ३६५, १)। **हृदये** के स्थान पर **हिअइ** मिलता है (हेमचन्द्र ४, ३३०, ३ ; ३९५, ४ और ४२०, ३)। **प्रिये प्रवसति** के स्थान पर **पिएँ पवसन्तेॅ** होता है (हेमचन्द्र ४, ४२२, १२)। **कलियुगे दुर्लभस्य** के स्थान पर **कलिजुगि दुल्लहहोॅ** व्यवहार मे आया है (हेमचन्द्र ४,३३८)। **अंगुल्यो जर्जरिताः** के लिए **अंगुलिउ जज्जरिआउ** का प्रयोग हुआ है (हेमचन्द्र ४, ३३)। **दिनकरः क्षयकाले** के लिए **दिणअरु खअगालि** हो गया है (हेमचन्द्र ४, ३७७)। **कृतान्तस्य** का **कृदन्तहोॅ** रूप बन गया है (हेमचन्द्र ४,३७०, ४)। इस सम्बन्ध में § १२८, १३० और ३४६ भी देखिए। कई ग्रन्थों मे संयुक्त व्यञ्जनों से पहले अ के स्थान पर **एँ** और **ओँ** लिखे गये हैं। यह रूप अशुद्ध है। इस भूल के अनुसार **प्रस्मृतवान् अस्मि** के लिए **पम्हट्ठोॅम्हि** होना चाहिए था जिसके लिए लिखा गया है—**पम्हट्ठुम्हि** (रावण० ६, १२ । स्वयं हेमचन्द्र ३, १०५ मे यह अशुद्ध रूप मिलता है)। शौरसेनी मे **हतो-ऽस्मि** का **हदम्हि** लिखा पाया जाता है, किन्तु होना चाहिए था—**हदोॅम्हि** (शकु० २९, २)। मागधी मे **कदेॅम्हि** के लिए अशुद्ध रूप **कदम्हि** मिलता है (मृच्छ० ३८, १५)[२]। इस सम्बन्ध में § १५ और ३४२ भी देखिए।

१. § ३६५, ३७५ और ३८५ ; लास्सन, इन्स्टीट्यूत्सीओनेस पेज ४८ ; वेबर, त्साइटुंग डेर मौरगेनलैण्डिशन-गेज़ेलशाफ्ट २८,३५२; एस. गोल्दस्मित्त, प्राकृतिका, पेज २९। — २. पिशल, गोएटिंगिशे गेलैर्ते आन्त्साइगेन १८८०,

* एस का यह अर्थ हिन्दी के एक सीमित क्षेत्र अर्थात् दो-तीन सौ गाँवों के भीतर आज भी प्रचलित है। कुमाऊँ में अल्मोड़े की एक तहसील पिठौरागढ़ में यह को एस कहते हैं।—अनु०

३२४ ; इस विषय पर एस. गोल्दश्मित्तने अपने ग्रन्थ प्राकृतिका के पेज २७ में जो लिखा है वह भ्रमपूर्ण है।

§ ८६—ऐसे संयुक्ताक्षरों से पहले, जिनमें एक अक्षर र हो, जब कोई दीर्घ स्वर आता है तब कहीं कहीं अनुस्वारयुक्त ह्रस्व स्वर बन जाता है और संयुक्त व्यञ्जन सरल हो जाते हैं। **मार्जार** शब्द महाराष्ट्री में **मंजर** (§ ८१), **वंजर** (हेमचन्द्र २, १३२), **मंजार** (हेमचन्द्र १, २६) हो जाता है जिसके साथ साथ **मज्जर** शब्द भी चलता है। अर्धमागधी, जैनशौरसेनी और शौरसेनी में इसका रूप **मजार** हो जाता है (§ ८१)। **मूर्धन्** शब्द **मुंढ** हो जाता है (हेमचन्द्र १,२६ ; २, ४१) जो केवल अर्धमागधी में मिलता है। जैनमहाराष्ट्री में यह शब्द **मुद्ध** (§ ४०२ ; एर्त्से०) हो जाता है। यह **मुद्ध*** शब्द महाराष्ट्री और शौरसेनी में काम में लाया हुआ नहीं जान पड़ता है (हेमचन्द्र २, ४१ पर पिशल की टीका)। अर्धमागधी में **मेंढ** शब्द =**मेंढा** (ठाणग० २५०), **मिंढ** (ठाणग० २०५ ; सूय० ७०८), **मेंढग** (ठाणग० २६०), **मिंढग** (ओव० § १०७), **मिंढय** (सम० १३१)=संस्कृत मेढ्र या **मेढ्रक** के हैं। ये शब्द **मेंढ, मेंढक** और **मेंढण** संस्कृत कोशों में भी स्थान पा गये हैं। इसका स्त्रीलिंग **मेंढी** (देशी० ६, १३८), **मिंढिया** (पाइय० २१९) होता है। देशीनाममाला ६, १३८ के अनुसार इसका रूप **मेंठी**† भी होता था।

§ ८७—मूल व्यंजन समूह से पहले यदि दीर्घ स्वर बना रहे तो मिश्रण से उत्पन्न दो व्यजनों में से एक व्यंजन शेष रह जाता है या ध्वनितत्व के अनुसार वह व्यंजन इस स्थान पर आ जाता है जो उसका प्रतिनिधि हो। (हेमचन्द्र २, ९२)। यह बहुधा तब होता है जब दो व्यजनों में से एक र या, श, ष, स हो। इस नियम से **आस्य** का प्राकृत रूप **आस** रह जाता है (हेमचन्द्र)। **ईश्वर** का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **ईसर** रूप बन जाता है (हेमचन्द्र ; उवास० ; कप्प० ; एर्त्से०)। मागधी में इसका रूप **ईशल** होता है (मृच्छ० १७, ४ ; शकु० ११६, २), साथ-साथ **इस्सर** रूप भी चलता है (भाम० ३, ५८)। — **ईर्ष्या** का महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **ईसा** हो जाता है (गउड० ; हाल, रावण०; एर्त्से०; मृच्छ० ६९,२५)। किन्तु शौरसेनी में **इस्सा** रूप भी चलता है (प्रबन्ध० ३९, २ और ३)। मागधी में **इश्शा** होता है (प्रबन्ध० ४७, १)। — महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी तथा अपभ्रंश में **दीर्घ** का **दीह** हो जाता है (भाम० ३, ५८, हेमचन्द्र २, ९१ ; गउड०, हाल, रावण० ; नायाध० ; कप्प०, एर्त्से० ; मृच्छ० ३९, २, ४१, २२ ; ६९, ८ ; ७५, २५, रत्ना० ३०७, १ ; ३१८, २६ ; मालती० ७६, ५ ; मृच्छ० ११६, १७ ; १६८, २०; हेमचन्द्र ४, ३३०, २)। शौरसेनी में **दीर्घिका** का **दीहिआ** रूप पाया जाता है (प्रिय० ११,

* इसका एक विकसित रूप **मुद्द** कुमाऊँ में मुदिये के स्थान पर काम में आता है। —अनु०

† इन रूपों से भी पुराने रूप पाली में **मेंढ** और **मेंढक** पाये जाते हैं। मेंढे के विषय में एक जातक ही है जिसका उल्लेख मिलिन्दपन्हो में है, इसका नाम मेंढक पन्ह अर्थात् 'मेंढे के विषय में प्रश्न' है। —अनु०

२ और ५; १२, ११ ; सूयग० ३९, ३)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री मे दीहिया (आयार० २, ३, ३, २ ; ओव० ; एर्से०), साथ साथ दिग्घ शब्द भी मिलता है (भाम० ३, ५८ ; हेमचन्द्र २, ९१)। शौरसेनी और मागधी मे दिग्घिआ रूप है (रत्ना० २९९, १२ ; नागानन्द ५१, ६ ; प्रिय० ८, १३ ; १२, २ ; १९, १७ ; २३, ११ ; २४, ९ और १५ ; मागधी के लिए, मृच्छ० १३४, ७)। — महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में पार्श्व का पास हो जाता है (हेमचन्द्र २, ९२ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; आयार० १, १, २, ५ ; ओव० ; कप्प० ; एर्से० ; विक्रमो० १७, ११ ; २४, ४ और ५ ; ३६, १२ ; ७५, १५ ; प्रबन्ध० ६४, २ ; प्रिय० ८, १४)। — अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री मे प्रेक्षते का पेहइ रूप चलता है (§ ३२३)। — महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश में वाष्प का वाह (= आँसू) और वप्फ (= भाप) होता है। शौरसेनी में एक रूप वप्प (= आँसू) भी है (§ ३०५)। — रूक्ष के अर्धमागधी मे लूह और लुक्ख रूप चलते हैं ; रूक्षपति का लूहेइ होता है (§ २५७)। — लेष्टुक का लेढुक होता है (§ ३०४)। — लोघ्र का अर्धमागधी और जैनशौरसेनी में लोढ हो जाता है (§ ३०४)। — वेष्टते, वेष्टित का महाराष्ट्री मे वेढइ, अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्री में वेढेइ, शौरसेनी मे वेढिद = पाली वेठति, वेठित (§ ३०४)। — शीर्ष का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश में सीस होता है (हेमचन्द्र २, ९२ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; आयार० १, १, २, ६ ; उवास० ; एर्से० ; मृच्छ० २४, १४ और १६ तथा १७ ; ६८, १४ ; ७४, ५ ; ७८, १० ; शकु० ३९, ४ ; हेमचन्द्र ४, ३८९ और ४४६)। मागधी में शीश (मृच्छ० १२, १८ ; १३, ९ ; ४०, ६ ; ११३, १ ; १२७, १२), शीशक (मृच्छ० २०, १७)। — सौम्य का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में सोम और महाराष्ट्री तथा शौरसेनी में सोॅम्य चलता है (§ ६१ अ) — इस विषय पर § २८४ की तुलना कीजिए। अन्य सब प्राकृत भाषाओं से भिन्न अर्धमागधी मे — त्र प्रत्यय से पहले दीर्घ स्वर ज्यों का त्यों रह जाता है ; — त का य में रूप परिवर्तन हो जाता है। गात्र का गाय बन जाता है (आयार० १, ८, १, १९ ; २, २, ३, ९ ; ठाणग० २८९ ; नायाध० २६७ ; विवाह० ८२२ ; १२५७ ; १२६१ ; उत्तर० ६१ ; १०६ ; १०९ ; उवास० ; ओव० ; कप्प०) ; गोत्र का गोय हो जाता है (आयार० १, २, ३, १ ; २, २, ३, ४ ; पण्णव० ७१६ ; उत्तर० ९६७; ओव० ; कप्प०), साथ-साथ इसके गोॅत्त रूप भी चलता है (दस० ६२८, ३; उवास० ; ओव० ; कप्प०)। धात्री का धाई लिखा जाता है (हेमचन्द्र २, ८१ ; आयार० १, २, ५, १ ; २, १५, १३ ; सूय० २५५ ; विवाग० ८१ ; विवाह० ९५९; नायाध० § ११७ ; राय० २८८; ओव० [§ १०५])। पात्र का पाय हो जाता है (आयार० १, ८, १, १८ ; २, ६, १, १ ; सूय० १९४ ; उत्तर० २१९ ; ओव०) ; पात्री का पाई पाया जाता है (सूय० ७८३)। कांस्यपात्री का कंसपाई होता है (ठाणग ५२८ ; कप्प०)। लोहितपूय-पात्री का लोहियपूयपाई मिलता है (सूय० २८१)। मात्रा का माया रूप बन जाता

है (आयार० १, २, ५, ३ ; ओव०)। **मात्राज्ञ** का **मायन्न** बन जाता है (आयार० १, २, ५, ३ ; १७३२,; १, ८, १, १९ ; दस० ६२३, १५; उत्तर० ५१)। **तन्मात्र** **तणमाय** बन जाता है (सूय० ६०८)। **मूत्र मूय** होता है (आयार० १, ६, १, ३)। **श्रोत्र** का रूप **सोय** है (आयार० १, २, १, २ और ५ ; सूय० ६३९)। केवल **रात्रि** शब्द ऐसा है जिसपर यह नियम अर्धमागधी में ही नहीं (भाम० ३, ५८ ; हेमचन्द्र २, ८८ ; मार्क० पन्ना २८) और बोलियों में भी लागू होता है। अर्धमागधी में **राई** का प्रयोग हुआ है (विवाह० ९३६ और ९३८), रात्रिभोजन का **राईभोयण** (ठाणंग० १८० ; ओव०)। **रात्रिंदिव** का **राइंदिय** है (ठाणंग० १३३ ; नायाध० ३४७ ; विवाह० १२९३ ; कप्प०)। **-रात्र** का **-राय** होता है (कप्प०)। **-रात्रिक** का रूप **-राइय** है (सूय० ७३१ ; ओव० ; कप्प०)। महाराष्ट्री में भी **रात्रि** का **राइ** बन जाता है (हाल), साथ ही **रत्ति** रूप भी चलता है (हाल ; रावण० ; शकु० ५५, १५)। जैनशौरसेनी में **राईभोयण** मिलता है (कत्तिगे० ३९९, ३०६), साथ ही **रत्तिम्** भी चलता है (कत्तिगे० ४०३, ३८४ और ३८५), **रत्तिदिवहम्** का प्रयोग भी है (कत्तिगे० ४०२, ३६४)। शौरसेनी में **रादी** आया है (मृच्छ० ९३, १२ और १५), **रत्ती** भी पाया जाता है (मृच्छ० ९३, ६ और ७ ; १४७, १६ ; १४८, २ ; शकु० २९, ७)। मागधी में रात को **लत्ति** कहते थे (मृच्छ० २१, १८)। **लत्तिं**, **लत्तिंदिवं** शब्द भी साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं (मृच्छ० ४५, २१; १६९, ४)।

§ ८८—**आ** उपसर्ग, **ख्या** धातु से पहले बहुधा और **ज्ञा** धातु से पहले सदा, ज्यों का त्यों बना रहता है और धातुओं की प्रारम्भिक ध्वनियों में परिवर्तन के समय ये भीतरी ध्वनियों के समान माने जाते हैं। अर्धमागधी में **आख्यान** का रूप **आघम्** है (सूय० ३९७), **आख्याय** का **आघाय** (सूय० ३६७)। **आघावेइ, आघावेमाण, आघविय, आघवित्तए, आघविज्जंति** (§ ५५१) भी मिलते हैं। **आख्यापन** **आघवणा** हो जाता है (नायाध० § १४३ पेज ५३९; उवास० § २२२)। शौरसेनी में **प्रत्याख्यातुम्** का **पच्चाचक्खिदुं** हो जाता है (विक्रमो० ४५, ५)। ढक्की में **अक्खंतो** का प्रयोग पाया जाता है (मृच्छ० ३४, २४) पर यह अशुद्ध है, इसके स्थान पर **आचक्खंतो** होना चाहिए (§ ४९९ ; ४९९)। अर्धमागधी में भी किन्तु **अक्खाइ, अक्खन्ति** और **पच्चक्खाइ** रूप मिलते हैं (§ ४९२)।—अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **आज्ञापयति** के लिए **आणवेइ** और शौरसेनी तथा मागधी में **आणवेदि** होता है (§ ५५१) ; महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **आज्ञा** के लिए **आणा** शब्द आता है (वररुचि ३, ५५ ; हेमचन्द्र २, ९२ ; क्रम० २, १०९ ; मार्क० पन्ना २७ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; सम० १३४ ; ओव० ; कप्प०, आव० एर्त्से० ८, १७ और १८, कालका०; ऋषभ०)। विजयवर्मन् दानपत्र, महाराष्ट्री, अर्धमागधी, आवन्ती, शौरसेनी और मागधी में **आज्ञप्ति** का **आणत्ति** हो जाता है (भामह० ३, ५५ , हेमचन्द्र २, ९२ ; क्रम० २, १०९ ; मार्क० पन्ना २७ ; विजयवर्मन् दानपत्र १०२, १६ ; रावण०; निरया०; प्रिय० ; ११, १० ; मृच्छ० १०५, १ ; १६६, २१ ; १०२, १७ ; वेणी० ३६, ६)। अर्धमागधी में **आणत्तिया** शब्द मिलता है (उवास० ; ओव० ;

निरया०) । आज्ञापन के लिए आणवण रूप आया है (हेमचन्द्र २, ९२ ; उवास०), और *आज्ञापनी के लिए आणमणी लिखा गया है (पण्णव० ३६३ और ३६९) । अन्य स्थलों पर यह नियम स्थिर नहीं है, जैसे—आश्वसिति का महाराष्ट्री में आससइ हो जाता है, किन्तु शौरसेनी में समस्ससदु मिलता है । इसमें अस्ससदु का प्रयोग हुआ है जिसमें आ उपसर्ग का अकार हो गया है । मागधी में भी संस्कृत शब्द समाश्वसितु का शमश्शशदु हो गया है (§ ४९६) । आक्रन्दामि का शौरसेनी में अक्कन्दामि रूप है (उत्तर० ३२, १), अक्कन्दसि रूप भी मिलता है (मुद्रा० २६३, ४) । मागधी में अकन्दामि मिलता है (मृच्छ० १६२, १७), किन्तु स्टेन्त्सलर द्वारा सम्पादित ग्रन्थ छोड़कर अन्य ग्रन्थों तथा अधिकतर हस्तलिखित प्रतियों में आक्कन्दामि रूप मिलता है । यह रूप आकन्दामि भी पढ़ा जा सकता है, किन्तु महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में अक्कमइ, अक्कन्त और समक्कन्त (गउड० ; हाल; रावण० ; एर्से० ; कालका०) रूपों में सदा ह्रस्व ही देखा जाता है । इन भाषाओं में क्रन्द् का रूप भी इसी प्रकार का होता है । बिना रकार और श ष-स-कार वाले संयुक्ताक्षर सहित शब्दों के पहले आने वाले दीर्घ स्वर अपवाद रूप से ही अपनी दीर्घता को बनाये रहते हैं । जैनशौरसेनी में आत्मन् का आद रूप मिलता है (पव० ३८०, ८ और १२ ; ३८१, १५ और १६ , ३८२, २३, २४ और २५ ; ३८३, ७७ और ७४), अर्धमागधी में आयरूप चलता है (आयार० १, १, १, ३ और ४ तथा ५ ; १, २, २, २ और ५ तथा ४ ; सूय० २८ ; ३५ ; ८१ ; १५१ ; २३१ ; ८३८ , विवाह० ७६ ; १३२ ; २८३ ; १०५९ और उसके बाद [पाठ में अधिकतर स्थलों पर आत आया है] उत्तर० २५१) ।—अर्धमागधी में शाल्मली के लिए सामली रूप दिया गया है (सूय० ३१५ ; ठाणंग० ८८ ; ५५५ , पण्हा० २७४ , अणुत्तर० ९ , ओव ० § १६ , उत्तर० ६२६ में कूड सामली शब्द आया है) । स्थानीय बोली के रूप में सामरी मिलता है (पाइय० २६४ ; देशी० ८, २३ ; त्रिविक्रम० १, ३, १०५ ; इस विषय पर § १०९ भी देखिए) ।—*स्ताघ्य और *अस्ताघ्र के लिए महाराष्ट्री, अर्धमागधी और अपभ्रंश में थाह रूप मिलता है जिसका अर्थ गहराई या तल है (पाइय० २४९ ; देशी० ५, ३० , रावण० ; पण्हा० ३८० ; नायाध० ९०४ ; ११११ , १३४१ , हेमचन्द्र ४, ४४४, ३) । हेमचन्द्र के अनुसार इस शब्द के अर्थ 'गहरा पानी' और 'चौड़ा' होते हैं * । इसका एक रूप थह भी है जिसका अर्थ 'घर' है (देशी० ५, २४), और थग्घ भी है जिसका अर्थ 'गहरा' है (पाइय० २४९ , देशी० ८, २४)[१] , अर्धमागधी में अतल या गहरे के लिए अत्थाह शब्द मिलता है (देशी० १, ५४ ; नायाध० १११२ ; विवाह० १०४ और ४४७), इसके साथ अत्थग भी चलता है (देशी० १, ५४) । इस विषय पर § ३३३ भी देखिए ।

१. देशीनाममाला ५, २४ में थग्घोऽगाधे और थग्घोऽगाधः पढ़ा

* हिन्दी में ये दोनों अर्थ इस समय भी चलते हैं । हेमचन्द्र ने ये अर्थ जनता की बोली से लिये हैं ।—अनु०

जाना चाहिए। टीकाकार इसका पर्यायवाची शब्द **स्ताघ** देते हैं। गोएटिंगिशे गेलैर्ते आन्त्साइगेन, १८८०, ३३४ के अनुसार पाठक इसे उक्त प्रकार से सुधार लें।

§ ८९—किसी किसी प्रादेशिक बोली में § ८३ के नियम के विपरीत कभी कभी अनुस्वारयुक्त दीर्घ स्वर तो रह जाता है किन्तु अनुस्वार का लोप हो जाता है; **कान्स्य** का **कास** हो जाता है और **पांसु** का **पासु** होता है (हेमचन्द्र १, २९ और ७०)। महाराष्ट्री में **मांस** का **मास** हो जाता है (वररुचि ४, १६ ; हेमचन्द्र १,२९ और ७०; मार्क० पन्ना ३४ ; गउड० ; रावण०), **मांसल** का **मासल** हो जाता है (हेमचन्द्र १, २९ ; गउड० ; रावण०), **मासलअन्त** और **मासलिअ** शब्द भी मिलते हैं (गउड०)। पाली **गोण** अनुस्वारयुक्त स्वर पर यही नियम लागू होता है। **प्रेंखण** के लिए पाली में **पेखुण** और **पेक्खुण** होते हैं, महाराष्ट्री और अर्धमागधी में **पेहुण** होता है। यह **पेहुण** और पाली **पेखुण** शब्द किसी स्थानविशेष में कभी बोले जानेवाले * **प्रेंखुण** और * **प्रेंखुण** से निकले ज्ञात होते हैं। इस शब्द का अर्थ पक्षियों के पर (पख) होता है, पास या झूला होता है (पण्णव० ५२९ ; नायाध० ५०० ; जीवा० ४६४ ; देशी० ६, ५८ ; गउड० ; रावण० ; हाल ; आयार० २, १, ७, ५ ; पण्हा० ३३, ४८९, ५३३)। इस शब्द की व्युत्पत्ति **पक्ष्मन्** से देना (जैसा कि चाइल्डर्स् ने **पेखुण** शब्द के साथ दी है और एस० गोल्दश्मित्त ने कून्स त्साइटश्रिफ्ट २५, ६११ में लिखा है) या यह कहना कि यह शब्द **पक्ष** से निकलता है (जैसा वेबर ने इण्डिशे स्टूडिएन ३, २९६ में लिखा है) भाषा शास्त्र की दृष्टि से असम्भव है। इसी नियम के अनुसार संस्कृत—**आन्-ईन्-ऊम्** के स्थान पर प्राकृत में कर्मकारक बहुवचन में जो **आ-ई-ऊ** में बदल जाते हैं, मागधी, अर्धमागधी और अपभ्रंश में भी उन शब्दों पर यही नियम लागू होता है। **गुणान्** का महाराष्ट्री में **गुणा** हो जाता है। अर्धमागधी में **रुक्षान्** का **रुक्खा** हो जाता है। अपभ्रंश में **कुञ्जरान्** का **कुञ्जरा** होता है, **मल्लकीन्** का अर्धमागधी में **मल्लई** रूप बन जाता है और **बाहून्** का **बाहु** (§ ३६७ और ३८१)। ये रूप स्पष्ट अनुस्वार वाले संस्कृत रूप **°गुणाम्**, **°गुणां**, **°बाहूम्** तथा **बाहूं** से निकले होंगे, इस बात की थोड़ी-बहुत पुष्टि मागधी शब्द **दालं** से होती है जो **दारान्** से निकला है (§ ३६७)। यहाँ **केसुआ** की तुलना भी की जानी चाहिए जो **किंशुक** से **कें**सुअ होकर **केसुअ** बना है ; और **कोहण्डी** तथा **कोहण्ड** से जो **कूष्माण्डी** और **कूष्माण्ड** से *कोहँडी और *कोहंड बनकर **कोहंडी** और **कोहंड** रूप में आ गये (§ ७६ और १२७)।

§ ९०—बहुधा यह भी देखने में आता है कि सरल व्यंजनों के पहले दीर्घ स्वर ह्रस्व बना दिया जाता है और व्यंजन का द्वित्व हो जाता है। यह उस दशा में ही

---

* रिस डेविड्स और डब्ल्यू० स्टेड के पाली अंगरेजी कोश के सन् १९५२ के तीसरे संस्करण में केवल पेखुण रूप मिलता है। इसका अर्थ चिड़िया द्वारा बताया गया ही मान्य समझा गया है।—अनु०

होता है जब मूल संस्कृत शब्द में अन्तिम अक्षर पर ध्वनिबल का जोर पड़ता था। कहीं-कहीं सरल व्यंजन वहां भी द्विगुणित कर दिये जाते हैं जब कि ये व्यंजन ह्रस्व स्वर के बाद आते हैं (§ १९४)। वे शब्द जिनमें व्यंजन द्विगुणित कर दिये जाने चाहिए, वररुचि ३, ५२ ; क्रम० २, १११ ; मार्क० पन्ना० २७ में **नीड़ादि** आकृतिगण के भीतर दिये गये हैं। हेमचन्द्र २, ९८ और त्रिविक्रम १, ४, ९३ में इसका नाम **तैलादि** गण है तथा वे शब्द जिनमें व्यंजनों का द्वित्त किया जा सकता है वररुचि ३, ५८ ; हेमचन्द्र २, ९९ ; क्रम० २, ११२ ; मार्क० पन्ना २७ में **सेवादि** आकृतिगण नाम से दिये गये हैं। ऐसे शब्द त्रिविक्रम ने **दैवग** नाम से एकत्र किये हैं (१, ४, ९२)। बहुत से उदाहरण, जो भामह और मार्कण्डेय में मिलते हैं, इस नियम के भीतर नहीं लिये जा सकते।—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और ढक्की में **एवं** का **ऍव्वम्** हो जाता है (हाल ; मृच्छ० ४, २० ; ९, १ ; १२, २५ ; आदि आदि ; विक्रमो० ६, १५ ; १३, १८ ; १८, ८ आदि आदि, मागधी के लिए मृच्छ० ३१, १७ ; ३९, २० ; २८, १८ आदि आदि ; ढक्की के लिए मृच्छ० ३०, १४ और १८ ; ३१, १९ और २२ ; ३५ , १७)। इस रूप के साथ साथ **एवं** भी चलता है।—शौरसेनी में **कार्य** का **कच्च** रूप चलता है (कर्पूर० १९, ८)।—अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **क्रीडा** का **किड्डा** चलता है (आयार० १, २, १, ३ ; सूय० ८१ ; जीवा० ५७७ ; उत्तर० ४८३ ; नायाध० ; आव० एर्त्से० १५, १३)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में इसका रूप **खे॑ड्ड** होता है (हेमचन्द्र २, १७४; त्रिविक्रम० १, ३, १०५ ; ओव० ; एर्त्से०)। अपभ्रंश में यह शब्द **खेड्डअ** बन जाता है (हेमचन्द्र ४, ४२२, १०)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **कीडा** रूप भी चलता है (उवास० ; एर्त्से०)।—अर्धमागधी में **कीळण** (ओव०), **कीलावण** (राय० २८८ ; ओव०) रूप भी पाये जाते है। महाराष्ट्री और शौरसेनी में **कीळा** आया है (गउड०, चैतन्य० ६९, ९)। शौरसेनी में **क्रीडापर्वत** के लिए **कीळापव्वद** आया है (विक्रमो० ३१, १७ ; मल्लिका० १३५, ५; अद्भुत० ६१, २० [पाठ में **कीडापव्वद** है]), **क्रीडनक** के लिए **कीळणअ** आया है (शकु० १५५, १)। इस सम्बन्धमें § २०६ और २४० भी देखिए। संस्कृत **स्थाणु** शब्द का किसी प्रदेश में कभी ***स्त्थाणु** रूप बोला जाता होगा जिसका **खण्णु** और **खणु** बन गया (हेमचन्द्र २, ९९ ; मार्क० पन्ना २१ और २७)। महाराष्ट्री में इसका **खण्णुअ** हो गया (हाल) है। इस सम्बन्ध में § १२० और ३०९ भी देखिए। **खात** शब्द अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **खत्त** बन गया। महाराष्ट्री में **उक्खाअ**, **उक्खअ** के साथ साथ **उक्खत्त** रूप भी चलता है (§ ५६६)। **एवं** का शौरसेनी में **जे॑व्व**, पैशाची और मागधी में **य्यॅव्व** होता है। इनके साथ साथ **जेव** और **एव** रूप भी चलते हैं (§ ९५ और ३३५)।—**यौवन** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश में **जो॑व्वण** होता है (सब व्याकरणकार ; गउड० ; हाल , रावण० ; आयार० १, २, १, ३ ; सूय० २१२ ; ठाणंग० ३६९ , पण्हा० २८८ ; पण्णव० १०० ; विवाह० ८२५ और ८२७ , दस० ६४१,

१६; पक्कुक शिलालेख १३; एर्त्सें० ; मृच्छ० २२, २२ ; १४१, १५ ; १४२, १२ ; १४५, १२ ; शकु० ११, ४ ; १३, २ ; प्रबोध० ४१, ५ [इसमें यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; धूर्त० १५, ८ ; मल्लिका० २२१, २ ; हेमचन्द्र ४, ४२२, ७ ; विक्रमो० ६८, २२)। अर्धमागधी में युवन् का जुवणग (विवाह० ९४६) और सन्धि तथा समास में जुव—और जुअ—होता है (§ ४०२)। इसी नियम के अनुसार महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में युवति और युवती का जुवइ और जुवई होता है (गउड० ; हाल ; रावण० ; शकु० १२०, ७ ; रत्ना० २९३, ५ ; प्रताप० २१८, ११ ; एर्त्सें०)। शौरसेनी में जुवदि रूप है (मृच्छ० ६९, २३ ; ७३, ९), और मागधी में युवदि चलता है (मृच्छ० १३६, १३[1])। नीड का णेड्ड हो जाता है (सब व्याकरणकार)। इसके साथ साथ महाराष्ट्री में णीड रूप भी चलता है (गउड० ; हाल[1])।—तूष्णीक का महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री मे तुण्हिक्क हो जाता है (हाल ; रावण० ; आव० एर्त्सें० ; ३८, २ ; एर्त्सें०), साथ-साथ तुण्हिअ रूप भी चलता है। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में तुसिणीय आया है (§ ८१)।—तैल का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी में तेल्ल हो जाता है (सब व्याकरणकार; हाल; आयार० २, १, ४, ५, ९ तथा ३,२,६,१,९ और १२ ; २, ७, १, ११ ; २, १२, ४ और १५, २० ; सूय० २४८ और ९३५ ; पण्हा० ३८१ ; विवाग० २३५ ; विवाह० १२८८ ; १३२७ ; १३२९ ; राय० १६७ और १७५ ; उवास० ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्सें० ; मृच्छ० ६९, ७ और १२ ; ७२, १० ; शकु० २९, ४ ; मृच्छ० २५, १९ ; ११७, ८)। अर्धमागधी में तिल्ल रूप भी मिलता है (पण्णव० ६३ ; उत्तर० ४३२ और ८०६)। स्त्यान का थिण्ण और थीण दो रूप होते हैं (हेमचन्द्र १, ७४)। महाराष्ट्री मे स्त्यानक का थिण्णअ हो जाता है (रावण०)।—स्थूल का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में थुल्ल और अर्धमागधी, जैनशौरसेनी तथा शौरसेनी में थूल रूप आया है (§ १२७)।—स्तोक का थोक्क रूप (हेमचन्द्र १२५) और साथ साथ थोव और थोअ रूप भी मिलते हैं (§ २३०)।—दुकूल का अर्धमागधी में दुगुल्ल हो जाता है (हेमचन्द्र १, ११९ ; पाइय० २६६ ; आयार० २, ५, १, ४ ; पण्हा० २३८ ; विवाह० ७९१, ९४१, ९६२ ; जीवा० ५०८ और ५५९ ; ओव० ; कप्प०)। वररुचि १, २५ ; हेमचन्द्र १, ११९; क्रम० १, २५ और मार्कण्डेय पन्ना ९ के अनुसार दुअल्ल रूप भी होता है। इसका महाराष्ट्री और शौरसेनी रूप दुऊल है (हेमचन्द्र ; मार्क० ; हाल ; मल्लिका० ६८, ५ ; ६९, १३)।—ध्मात शब्द का अर्धमागधी मे धत्त होता है (नायाध० § ६१)।—प्रेमन् महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश मे पेम्म हो जाता है (सब व्याकरणकार ; गउड० ; हाल ; रावण०; रत्ना० २९९,१८; विद्ध०,६,३; बाल० १२२, १३ और १६ ; सूय० ७७१ ; एर्त्सें० ; मृच्छ० ७२, २५ ; विक्रमो० ४५, २ ; ५१,१६ ; विद्ध० ५९,१ ;अनर्घ० २९७,१४ ; वृषभ० ९, १ ; २९, ६ ; ४३ ; ८ मल्लिका० २२५, १; हेमचन्द्र ४, ३९५, ३ और ४२३,

[1] इसका टुल्ल रूप कुमाउनी में चलता है। —अनु०

१ ; विक्रमो० ६४,४)। अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्री में **पिम्म** भी होता है (राय० २५२ ; एर्त्सें०) और अर्धमागधी में **पेम** भी चलता है (सूय० ९२३, ९५८ ; दस० ६२१, १९ ; उवास०; ओव०)।—**मूर्क** शब्द का **मुक्क** और **मूअ** होता है (हेमचन्द्र २, ९९)।—**लाजः** शब्द का महाराष्ट्री में **लज्जा** हो जाता है (हाल ८१४)।—**व्रीडा** का अर्धमागधी के **विड्डा** हो जाता है (हेमचन्द्र २, ९८ ; देशी० ७, ६१ ; निरया० § १३)। इस सम्बन्ध में § २४० भी देखिए।—**सेवा** का **सेॅव्वा** होता है (सभी व्याकरणकार)। इस रूप के साथ-साथ महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में **सेवा** भी व्यवहार में आता है (गउड० ; हाल ; एर्त्सें०)।

१. क्रमदीश्वर २, १११ के अनुसार **युवन्** का **व** भी द्विगुणित हो जाना चाहिए। इसकी पुष्टि किसी ग्रन्थ से नहीं होती अतः यह नियम-विरुद्ध मालूम पड़ता है। कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५६५ में याकोबी ने लिखा है कि **यौवन** शब्द में 'व' का द्वित्त होता है और 'न' का नहीं, किन्तु इस नियम के अनुसार वे व्यञ्जन ही द्विगुणित किये जा सकते हैं जिनके ठीक पीछे दीर्घ स्वर स्थित हो। कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५७५ और उसके बाद तथा ३५, १४० और उसके बाद के पेजों में याकोबी ने पिशल की कड़ी आलोचना की है। किन्तु इससे तथ्य में नाममात्र का भी फेरफार नहीं हो पाया। कोई भी विद्वान् इस तथ्य को किसी भी प्रकार से समझाने की चेष्टा क्यों न करे, पर *ग्रन्थों से यही सिद्ध होता है कि जिस अक्षर पर जोर दिया जाता है* उससे पहले आनेवाला व्यंजन द्विगुणित कर दिया जाता है।—२. हेमचन्द्र १, १०६ पर पिशल की टीका देखिए।

§ ९१—धातु के जो इच्छार्थक रूप-**ज्जा**-**ज्ज**-**ऍज्जा**-**ऍज्ज**-**इज्जा** ओर **इज्ज** लगाकर बनाये जाते हैं उन पर भी § ९० में बताया हुआ नियम लागू होता है। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **कुर्यात्** का **कुज्जा**, **देयात्** का **देज्जा**, **भूयात्** का **होॅज्जा**, *भुञ्ज्यन्* का **भुञ्जेज्जा** (यह शब्द संस्कृत *भुञ्ज्यात्* से निकला होगा), **जानीयात्** का **जाणेज्जा** और **जाणिज्जा** होता है (§ ४५९ और उसके बाद)। इसके अतिरिक्त मागधी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी, दाक्षिणात्या और अपभ्रंश में यह नियम—जहाँ कर्मवाच्य में –**ज्ज** और–**इज्ज** लगता है वहाँ भी—लागू होता है। और पैशाची में, –**य्य** और –**इय्य** होता है, जैसा महाराष्ट्री, जैन-महाराष्ट्री और अपभ्रंश में **दीयते** का **दिज्जइ**। जैनशौरसेनी में **दिज्जदि** और पैशाची में **तिय्यते** होता है। अर्धमागधी में **कथ्यते** का **कहिज्जइ** और दाक्षिणात्या में **कहिज्जदि** हो जाता है (§ ५३५ और उसके बाद), यद्यपि शौरसेनी रूप **करणीअ** और **रमणीअ** तथा मागधी रूप **कलणीअ** और **लमणीअ** एवं इस प्रकार बने और संज्ञा विशेषण के रूप महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और अर्धमागधी में **करणिज्ज**, **रमणिज्ज** आदि हैं (§ ५७१), इस कारण ये शब्द *करण्य* और **रमण्य** आदि से निकले प्रतीत होते हैं। अपभ्रंश में **रमणीय** के लिए **रवण्ण** शब्द आता है

* विद्वानों के लिए यह शोध का विषय है कि क्या रवडी रवण्ण रूप से तो नहीं निकली

(हेमचन्द्र ४, ४२२, ११)। इस शब्द से भी आभास मिलता है कि कभी कहीं संस्कृत शब्द **रमणीय** का *रमण्य हो गया होगा। यही बात महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अपभ्रंश रूप **पाणिअ** से पुष्ट होती है जो अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **पाणिय** होता है। संस्कृत रूप **पानीय** का कभी कहीं *पान्यं कहा जाता होगा, उससे *पाण्य होकर **पाणिय** हो गया (वररुचि १, १८ ; हेमचन्द्र १, १०१ ; क्रम० १, ११ ; मार्क० पन्ना ८ ; प्राकृतकल्प० पेज २८ ; हाल ; रावण० ; नायाध० १००९ ; १०११ ; १०१३ ; १०३२ ; १०५३ ; १०५८ ; १३७५ ; १३८६ ; उवास० ; ओव० ; आव० एर्त्से० २५, ३ ; ४०, ६ ; ११५, १ और २ ; १३६, ११ ; हेमचन्द्र ४, ३९६, ४ ; ४१८, ७ और ४३४, १)। *हास्यार्णव नाटक में ३७, ७ में* शौरसेनी में **पाणिअ** रूप मिलता है। अर्धमागधीमें उत्तररामचरित ८९५ में सम्भवतः छन्द की मात्रा के कारण **पाणीय** शब्द आया है।—महाराष्ट्री में **विइज्ज** (हेमचन्द्र १, २४८), **तिइज्ज** (क्रम० २, ३६), अपभ्रंश में **तइज्जी** (हेमचन्द्र ४, ३३९) रूप मिलते हैं और महाराष्ट्री में **विइअ** रूप भी होता है जिससे मिलता जुलता रूप जैनमहाराष्ट्री और अर्धमागधी में **विइय** है। महाराष्ट्री में **तइअ** रूप भी चलता है, इससे मिलता जुलता रूप अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री **तइय** है। शौरसेनी और मागधी में **तदिअ** रूप चलता है जिसकी व्याख्या § ८२ में की गयी है। **-ईय** प्रत्यय में समाप्त होनेवाले शब्दों के समान ही **-एय** और **-य** में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों के रूपपरिवर्तन का नियम भी है ; जैसा **नामधेय** शब्दका अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **नामधिॆज्ज** होता है (§ ५५२)। *अर्धमागधी में* **पेय** *का* **पॆज्ज** होता है (§ ५७२)। यह परिवर्तन बहुत सरलता से हो सकता है क्योंकि ऐसे शब्दों में अधिकांश ऐसे हैं जिनके अन्तिम अक्षर पर जोर पड़ता है (ह्विटनी, संस्कृत ग्रैमर § १२१६ ए तथा अन्य स्थलों में) और थोड़े-से **तर** सूचक विशेषण हैं जिन पर यह नियम लागू होता है। अर्धमागधी में **प्रेयस्** का **पेॅज्जय्** होता है और **भूयस्** का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **भुज्जो** रूप मिलता है (§ ४१४)। इस सम्बन्ध में § २५२ भी देखिए।—**त्रीणि** का **तिण्णि** होता है (§ ४३८)। किन्तु यह रूप **त्रीणि** से नहीं बना है। षष्ठी रूप **त्रीणाम्** के प्राकृत रूप **तिण्णम्** से निकला है। इस **तिण्णि** के अनुकरण पर **दोण्णि, वेण्णि** और **विण्णि** शब्द बने हैं (इनका संस्कृत रूप **द्वौ और द्वे** है)। इसी तरह **तिण्णम्** से **दोॅण्णम्** रूप भी निकला है (§ ४३६)। कुछ फुटकर शब्दों में, जो प्रत्यक्षतः इस नियम के विरुद्ध जाते हैं, व्यञ्जनों का जो द्वित्त हो जाता है, उसका कारण दूसरा है। ऐसा एक शब्द **अधीन** है जो अपभ्रंश में **अधिण्ण** हो जाता है (हेमचन्द्र ४, ४२७)। प्रायः सभी बोलियों में साधारणतः **पंक** का **पॅंक** हो जाता है। इसके साथ-साथ अर्धमागधी और महाराष्ट्री में **पग** रूप भी चलता है (§ ४२५)। **कर्पाल** अथवा

है ! इस दृष्टि से रवडी=रमणीय, रमणीय, रवड़ीम, रवड़ी का सम्बन्ध राब से होना भी अधिक सम्भव है। इसका अर्थ देशी प्राकृत में 'गुड़ का पानी' है। राब शब्द हिन्दी में प्रचलित है।—अनु०

कपाल का अर्धमागधी में **कवल्ल** और **कमल्ल** होता है तथा पाली में इसका रूप **कपल्ल** है (§ २०८)। महाराष्ट्री में और स्वय पाली में **शेप** का **छेप्प*** (§ २११) ; **श्रोतस्** का महाराष्ट्री मे **सोत्त** हो जाता है (भामह ३, ५२ ; हेमचन्द्र २, ९८ ; मार्क० पन्ना २७ ; गउड० ; हाल ; रावण०)। अर्धमागधी में **प्रतिश्रोतोगामिन्** का **पडिसोत्तगामि** हो गया है (उत्तर० ४४१)। ***विश्रोतसिका** का **विसोत्तिया** होता है (आयार० १, १, ३, २)। इसके साथ साथ **सोय** (ओव०), **पडिसोय** और **विस्सोअसिया** रूप भी मिलते हैं (हेमचन्द्र २, ९८)। महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **मण्डुक्क** (हेमचन्द्र २, ९८ ; क्रम० २, ११२ ; मार्क० पन्ना २७ ; पाइय० १३१ ; सरस्वती० ३४, १७ ; ठाणग० ३११ और ३१२ ; पण्हा० १८ ; विवाह० ५५२ ; ५५३ ; १०४८ ; आव० एर्त्से० ७, २९) ; अर्धमागधी मे **मण्डुक्किया** (उवास० § ३८) रूप मिलते हैं। ये दोनों रूप श्रीहर्ष रचित 'द्विरूप कोष' ३५ में आये हुए **मण्डुक** शब्द से निकले हैं। इस **मण्डुक** शब्द पर ध्वनि का बल कहाँ पडता था इसका उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु इतना स्पष्ट है कि ऊपर दिये गये प्राकृत शब्द **मण्डूक** से नहीं निकले हैं। इस दूसरे सस्कृत शब्द से अर्धमागधी में **मण्डूय**, शौरसेनी और अपभ्रंश मे **मण्डूअ** (मृच्छ० ९, १२ ; गौडबोले के सस्करण मे २५, ६, पिंगल १, ६७) शब्द निकले हैं।

१. कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५७५ में याकोबी का मत है कि कर्मवाच्य में नियम के विरुद्ध जो य का द्वित्त हो जाता है वह धातु के एकवचन के साधारण वर्तमान रूप को छोडकर अन्यत्र इसलिए नहीं होता कि अन्तिम अक्षर पर जोर पडता है बल्कि इसलिए कि इन शब्दों में य स्वरित रहता है जो अन्तिम अक्षरसे पहले आता है। यहाँ वह बात स्वयं शब्दों से ही स्पष्ट है कि यहाँ (§ ९० की नोट संख्या १ देखिए) उस अक्षर का प्रश्न है जो दीर्घ स्वर के तुरत बाद आता है अर्थात् उस अक्षर का उल्लेख है जो धातु के अन्त में आता है। —२. पिशल, कून्स त्साइटश्रिफ्ट ४५, १४२।

§ ९२—दीर्घ स्वर, जिनके बाद शब्द के अन्त में प्रत्यय लगते हैं, बहुधा ह्रस्व कर दिये जाते हैं और प्रत्यय के पहले अक्षर का द्वित्त किया जाता है। **आत्मनाचैव** का महाराष्ट्री मे **अप्पणच्चेअ** हो जाता है (गउड० ८३) ; **तृष्णाचैव** का **तण्हच्चिअ** (हाल ९३) ; **घरस्वामिनी चैव** का **घरसामिणी च्चेअ** (हाल ७३६) ; **उन्मीलन्ती चैव** का **उम्मिल्लन्ति च्चेअ** (रावण० १२,२४) होता है। अर्धमागधी में **ह्रीश् चैव** का **हिरि च्चेव** होता है (ठाणग० ७६)। जैनमहाराष्ट्री में **सच्चेव सा** रूप मिलता है (आव० एर्त्से० १८, १९)। **अभणंतश्चैव** का **अभणंत च्चिय** (ऋषभ० १३) और **सहसा चैव** का **सहस च्चिय** हो जाता है (एर्त्से० ८३, ३७)। **गगने चैव** का महाराष्ट्री **गअणे च्चिअ** (गउड० ३१९), **मृतश्चैव** का **मुओ च्चेअ** (हाल ४९७), **आपाते चैव** का **आवाए च्चिअ**, **ते चैव** का **ते**

* छेप्प रूप छिप्प होकर छिप क्ली में प्रयोग में आया है। शेप या छेप का अर्थ पूँछ है। लम्बी पूँछ ही उस जीव की विशेषता होने के कारण यह सार्थक नाम पड़ा। —अनु०

च्चेअ और सचैव का सो च्चेअ (रावण० १, ५८; ५, ६७; ६, ६७) रूप मिलते हैं। पल्लवदानपत्र में द्वे इति का वे त्ति आया है (६, ३९), भूयाद् इति का होजति (७, ४८), छतेति का कड त्ति (७, ५१) आया है। सहसे ति का महाराष्ट्री में सहस त्ति, भिक्षेति का भिक्ख त्ति (हाल ४५९ और ५५४), नीतेति का णिअ त्ति (रावण० ५, ६); त्वादृश इति का तुम्हारिस त्ति (गउड० ७०६), माणिणि त्ति (हाल ८०७), महि त्ति (रावण० ५, २०), सागर इति का साअरे त्ति रूप हैं (रावण० ४, ३९)। अनुराग इति का अणुराओ त्ति (गउड० ७१५); तथेति का अर्धमागधी में तह त्ति (उवास० § ६७, ८७; १२० आदि आदि), त्यागी इति का चाइ त्ति (दस० ६, ११, १८ और २०), अन्तकृद् इति का अन्तकडे त्ति (आयार० २, १६, १०, ११), त्रसकाय इति का तसकाओ त्ति (दस० ६१५, १२); जैनमहाराष्ट्री में सा सा स त्ति (आव० एत्सें० १६, २६), का एसा कमलामेल त्ति (आव० एत्सें० ३०, ५), सर्वज्ञ इति का सव्वन्नु त्ति (आव० एत्सें० १६, २१), श्लोक इति का सिलोगो त्ति (आव० एत्सें० ८, ५६) होता है।—महाराष्ट्री में सुवर्णकारतुलेव का सोणारतुल व्व (हाल १९१), सोहव्व, वणमाला व्व, कित्ति व्व, आणव्व संस्कृत शब्द शोभेव, वनमालेव, कीर्तिरिव, आज्ञेव के प्राकृत रूप मिलते हैं (रावण० १, ४८)। वनहस्तिनीव का वणहत्थिणि व्व (रावण० ४, ५९), अतिप्रभात इव और अन्तविरस इव का अइप्पहाए व्व और अन्तविरसो व्व होता है (हाल ६८)। अर्धमागधी में गिरिर् इव का गिरि व्व (आयार० २, १६, ३), म्लेच्छ इव का मिलक्खु व्व (सूय० ५७), दीप इव का दीवे व्व (सूय० ३०४), अयःकोष्ठक इव का अयकोट्ठओ व्व (उवास० § ९४) होता है। जैनमहाराष्ट्री में स्तम्भितेव, लिखितेव, कीलितेव और टंकोत्कीर्णेव का थंभिय व्व, लिहिय व्व, कीलिय व्व और टंकुक्करिय व्व (एत्सें० १७, ८), जननीव का जणणि व्व (कक्कुक शिलालेख ९), तनय इव का तणओ व्व (कक्कुक शिलालेख १४)। चन्द्र इव और महीव का चन्दो व्व और महि व्व आया है (एत्सें० ८४, २०)। अर्धमागधी में छन्द की मात्रा ठीक रखने के लिए व को ह्रस्व करने या दो के स्थानों पर एक रखने का भी प्रयोग पाया जाता है। प्रियप्रभ्रष्टेव का पिय पब्भट्ठ व आया है (हेमचन्द्र ४, ४३६)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में चेव से पहले आनेवाला दीर्घ स्वर नियमित रूप से ज्यों का त्यों बना रहता है। शौरसेनी और मागधी में न तो चेव आता है, न व का ही व्यवहार है। जहाँ कहीं ये शब्द मिलते हैं वहाँ ये अशुद्धियाँ समझी जानी चाहिए जो बोली के नियम के प्रतिकूल जाती हैं। ऐसी अशुद्धियाँ हैं :—गोसम्मिच्चेअ जो गोसेचैव का समानार्थी है। तच्चेव का तं चेअ, प्रवृत्तं चैव का पवट्टं चेअ (पालेय० २, ५ और १७; ३, १२); शौरसेनी नामेण व्व (ललित० ५६०, २२); भणिदम् व (विक्रमो० २६, १३); पंडित के संस्करण में ये शब्द ४७, २ में और दूसरे बम्बइया संस्करण में ४६, २ में आये हैं जहाँ अशुद्ध रूप ए व्व लिखा हुआ है। पिशल के संस्करण ६३२, १८

में ये शब्द आये हैं। **सुत्तधालि व्व** मागधी में **शुत्तधालि व्व** मिलता है (मृच्छ० २१, ९; २३, २१)। मागधी में **चर इव** का **चले व्व**, **अस्मदेशीया इव** का **अम्हदेशीय व्व**, **देसीय इव** का **देसीये व्व** (ललित० ५६५, ८ और १२ तथा १४), **गोण व्व** (मृच्छ० ११२, १७) रूप आये हैं। भारतीय संस्करणों में इनकी भरमार है।

§ ९३—अर्धमागधी में **इति** से पहलेवाला दीर्घ स्वर बना रहता है जब यह प्लुति स्वर होता है, और जब यह **इति वा** से पहले आता हो तो इन स्थलोंपर **इति** का **ति** बनकर **इ**[1] रह जाता है। **अयमुपुला इ** (विवाह० १२६० [पाठ में **ति** शब्द आया है]), **सीहा इ** (विवाह० १२६८ ; [पाठ में **दि** शब्द आया है]), **गोयमा इ** (विवाह० १३११ और १३१५ [पाठ में दि अक्षर है] ; उवास० § ८६)। **आणन्दा इ** (उवास० § ४४) ; **कामदेवा इ** (उवास० § ११८) ; **काली इ** (निरया० § ५ [पाठ में **ति** मिलता है]) ; **अज्जो इ** (उवास० § ११९ और १७४)।— **मातेति वा, पितेति वा, भ्रातेति वा, भगनीति वा, भार्य्येति वा, पुत्रइति वा, दुहितेति वा, स्नुषेति वा** का **माया इ वा, पिया इ वा, भाया इ वा, भयिणी इ वा, भज्जा इ वा, पुत्ता इ वा, धूया इ वा, सुण्हा इ वा** होता है (जीवा० ३५५ ; सूय० ७५० से भी तुलना कीजिए ; नायाध० ११३०)। **उत्तानम् इति वा, कर्मेति वा, बलम् इति वा, वीर्यम् इति वा, पुरुषकार पराक्रम इति वा** के लिए **उट्ठाने इ वा, कम्मे इ वा, बले इ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार परक्कमेइ वा** होता है (विवाह० ६७ और ६८ ; उवास० § १६६ और उसके बाद), सूय० ७४७, ७५८; ८५७, विवाह० ४१ ; ७० ; ओव० § ९६ , ११२ ; १६५ , कप्प० § १०९ और २१० से भी तुलना कीजिए।

१. हस्तलिखित प्रतियों तथा छपे ग्रन्थों में बहुधा अशुद्ध रूप **ति** और **दि** आया है। वेबर, भगवती १, ४०५ और २, २५६ के नोट देखिए। २९० का बारहवाँ नोट भी देखिए।

§ ९४—पहले आये हुए अक्षरों की ध्वनि के प्रभाव से जब **खलु** शब्द का **खु** रूप बन जाता है तो मागधी और शौरसेनी में **ए** और **ओ** का ह्रस्व हो जाता है और **खु** का रूप **क्खु** हो जाता है। शौरसेनी में **असमयेखलु** का **असमएँक्खु** (शकु० १८, ६), **एदँ क्खु** (मृच्छ० ८, २ , शकु० ४१, १ ; ७९, ६), **माया खलु** का **मएँक्खु** (विक्रमो० २६, १५) और **महन्तो क्खु** मिलता है (विक्रमो० ४५, १; ७३, ११ ; ८१, २० ; मालती० २२, २)। मागधी में **महन्ते क्खु** रूप आया है प्रबोध० ५८, ९)। संस्कृत शब्द **महान् खलु** के ये प्राकृत रूप हैं। शौरसेनी में **कामो क्खु** (मृच्छ० २८०१) और **मअणो क्खु** (विक्रमो० २३, २) मिलते हैं। मागधी में **अहं खलु** का रूप **हगे क्खु** होता है (शकु० ११३, ९) और **हगेक्खु** रूप भी मिलता है जो अशुद्ध है (ललित० ५६६, ६)। **दुष्करःखलु** का **दुक्कले क्खु** आया है (मृच्छ० ४३, ४)। अन्य दीर्घ स्वर सभी प्राकृत भाषाओं

मे (पैशाची और चूलिका पैशाची के विषय में कुछ मत नहीं दिया जा सकता क्योंकि उसके ग्रन्थ न मिलने के कारण सामग्री का ही अभाव है) बने रहते है, और महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी तथा अपभ्रंश में सब स्वरों के बाद अधिकतर स्थलो पर खु और हु हो जाता है। शौरसेनी और मागधी में ए और ओ छोड अन्य दीर्घ स्वरों के बाद खु बना रहता है और ह्रस्व स्वरों के बाद क्खु हो जाता है, केवल कहीं-कहीं प्रायः सब हस्तलिखित प्रतियो में खु के स्थान पर हु भी मिलता है, जैसे शौरसेनी में णहु रूप आया है (मृच्छ० ६०, १ और २४ ; ६१, २३ ; ११७, १६ और १७ ; १५०, १८ ; १५३, २ ; ३२७, ४), णुहु (मृच्छ० ५९, २२) ; मागधी में णहु (मृच्छ० १६१, १७)। इसी पंक्ति में लाअणिओए (यह पाठ इसी रूप में पढा जाना चाहिए) क्खु पाठ आया है, णुहु (मृच्छ० १३३, १४ और १५ तथा २२ ; १६९, १८) मे है। अन्यथा सर्वत्र णक्खु और णुक्खु पाठ सभी ग्रन्थों तथा उनके पाठभेदो मे मिलता है। शकुन्तला के भीतर भी आदि से अन्त तक सर्वत्र यही पाठ आता है, केवल ५०, २ मे णहु मिलता है। इस स्थान पर भी श्रेष्ठ हस्तलिखित प्रतियों के साथ णक्खु पढा जाना चाहिए। शौरसेनी में भी केवल कविता में (मृच्छ० ४०, २५) और मागधी मे (मृच्छ० ९, २५ ; २१, १७ और १९ ; २९, २२ ; ४३, ३ ; १६१, १४ , शकु० ; ११४, ६) हु रूप ठीक है[1]। इसका अर्थ यह हुआ कि महाराष्ट्री और अपभ्रंश मे ह्रस्व स्वरों के बाद णहु बोला जाता है (गउड० ७१८ ; ८६४ ; ९०० ; ९०८ ; ९११ ; १००४ ; ११३५ ; हाल ; रावण० ३, ७ ; ६, १६ ; ७, ६ ; हेमचन्द्र ४, ३९० ; विक्रमो० ७२, ११)। इसी प्रकार ढक्की मे भी यह रूप आता है (मृच्छ० ३०, १८ ; ३१, १) ; अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में न हु (उत्तर० ५८३; ७४३, आव० एर्त्से० ११, ९ , एर्त्से० ७९, १४ ; ८१, ३५), किन्तु शौरसेनी और मागधी में णक्खु रूप आया है (शकु० १३, ७ ; ६०, १८ और १७ ; ७२, ९ ; १५६, १४ ; प्रबोध० १०, १७ ; शकु० १६०, १४)। महाराष्ट्री में णु हु रूप मिलता है (गउड० १८३ और ९९६), किन्तु शौरसेनी और मागधी मे णु क्खु भी आया है (शकु० १८, १०; १९, ९; ३९, १२, ७७, १; ८६, ८ आदि आदि)। अर्धमागधी में म य हु (आयार० १, २, ०, ५), महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में चि हु रूप व्यवहार मे आता है (गउड० ८६५, ८८५; ८८६ आदि आदि; हाल, रावण० १, १५; ५, १७; ७, ६३, दस० ६३४, २; एर्त्से० ८०, ७ ; कालका० २७२, १ , २७७, २३)। अर्धमागधी में भवति खलु का होइ हु आया है (उत्तर० ६२८ और ६२९)। जैनशौरसेनी मे हवदि हु हो जाता है (पव० ३८०, ९)। अस्ति खलु का शौरसेनी में अत्थि क्खु (शकु० १२७, १४) ; अर्हति खलु का अरिहदि क्खु, लज्जामि खलु (शकु० ५८, १३ ; १६४, ५), स्मर खलु का सुमरेसु क्खु और बिभेमि खलु का भाआमि क्खु हो जाता है (विक्रमो० १३, ४ ; २४, १३)। राजशेखर में ण हु मिलता है (उदाहरणार्थ कर्पूर० २२, ७ ; ३२, १० ; ३३, १)। इसके साथ साथ णु क्खु भी आया है (कर्पूर० ९३, ८)। यह भूल इस बोली के नियम के विरुद्ध है। इससे

स्वरों के बाद ये रूप मिलते हैं : महाराष्ट्री और अर्धमागधी में **मा हु** रूप आया है (हाल ५७१, ६०७, रावण० ८, १४, उत्तर० ४४० [इस ग्रन्थ में **हु** पाठ है] और ६१७), किन्तु शौरसेनी में **मा खु** मिलता है (मृच्छ० ५४, २१, शकु० १५३, १३, १५९, ७, विक्रमो० ४८, ३, ४९, १)। महाराष्ट्री में **को खु** (हेमचन्द्र २, १९८), **को हु** (हेमचन्द्र ३, ८४) किन्तु शौरसेनी में **कों क्खु** भी आता है (मृच्छ० ६४, १८)। महाराष्ट्री में **सो खु** (हाल ४०१), जैनशौरसेनी में **सो हु** (कत्तिगे० ३१७ और ३१८, ४००, ३२३), किन्तु शौरसेनी में **सों क्खु** (मृच्छ० २८, २०, १४२, १०), अर्धमागधी में **से हु** (आयार० १, १, ७ और २, ६; १, २, ६, २, १, ६, ५, ६, २, १६, ९ और १०), लेकिन मागधी में **शे क्खु** आया है (मृच्छ० १२, २०)। शौरसेनी में **सो खु** अशुद्ध है (ललित० ५६०, १९) और इसके साथ साथ जो **अणिरूद्धेण खु** आया है वह भी शुद्ध नहीं है (५५५, १)। जैनमहाराष्ट्री में **सा हु** (एर्से० ७७, १३), अर्धमागधी में **एसो हु** (उत्तर० ३६२), शौरसेनी में **एसों क्खु** (मृच्छ० १८, ८, २३, १९), मागधी में **एशे क्खु** (मृच्छ० ४०, ९, वेणी० ३६, ४), अर्धमागधी में **विमुक्ताः खलु** के स्थान पर **विमुक्का हु** आया है (आयार० १, २, २, १)। **स्यात् खलु** के स्थान पर **सिया हु** मिलता है (उत्तर० २९७, दस० ६३४, ५), जैनमहाराष्ट्री में **विषमा खलु** के स्थान पर **विसमा हु** आया है (ऋषभ० १७), शौरसेनी में **अबला खु** मिलता है (मृच्छ० १२, २१), **अक्षमा खलु** के स्थान पर **अक्खमा खु**, **बहुवल्लभाः खलु** के लिए **बहुवल्लहा खु**, **एषा खलु** के स्थान पर **एसा खु**, **रक्षिणीया खलु** के लिए **रक्खणीया खु** रूप आये हैं (शकु० ५३, ७, ५८, १, ६७, १, ७४, ८)। **परिहासशीला खलु** के लिए **परिहाससीला खु**, **मन्दभागिणी खलु** के स्थान पर **मन्दभाइणी खु** (मृच्छ० २२, २५), **दूरवर्त्तिनी खलु** के स्थान पर **दूरवत्तिणी खु** (शकु० ८५, ७) रूप मिलते हैं। मागधी में **आगता खलु** के स्थान पर **आअदा खु** (मृच्छ० ९९, ७), **अवसरोपसर्पणीया खलु राजानः** के लिए **अवशलोवशप्पणीया खु लाआणो** (शकु० ११५, १०), **नियतिः खलु** के लिए **णिअदी खु** मिलता है (मृच्छ० १६१, ५)। इस नियम के अनुसार शकुन्तला ९९, १६ में **दर्शनीयाकृतिः खलु** के लिए **दसणीआकिदी खु** शुद्ध पाठ होना चाहिए। पल्लवदानपत्र में **तस खु** (७, ४१) और **स च खु** (७, ४७) में **खु** प्रस्तर लेखों की लिपि के ढंग के अनुसार **क्खु** के लिए आया है। कापेलर ने हस्तलिखित प्रतियों के विरुद्ध अपने संस्करणों में, जो **क्खु** दीर्घ स्वरों के बाद आये हैं, उनको सर्वत्र ह्रस्व कर दिया है। वह उदाहरणार्थ **एसा खु** (रत्ना० ३०२, २, ३१८, ११, ३२०, १) के स्थान पर **एस क्खु** कर दिया है। **सा खु** (रत्ना० ३०२, ३१, २९५, ८, २९७, २४, ३००, ४ आदि, आदि) के लिए **स क्खु**, **मा खु** (रत्ना० ३०१, १७, ३२५, १३) के लिए **म क्खु**, **मुहरा खु** (=**मुखरा खलु**) (रत्ना० ३०५, १९) के स्थान पर **मुहर क्खु**, **मदनज्वरातुरा खलु** के लिए **मअणजराउल क्खु**

(हास्या० २५, २२), महती खलु के स्थान पर महदि क्खु और पृथवी खलु के स्थान पर पुढ़वि क्खु देता है (रत्ना० २९९, ५ ; ३२८, २७) आदि आदि। यह रूप भी अशुद्ध है जैसा कि नाटकों के कई दूसरे संस्करणों में शुद्ध खु के स्थान पर अनुस्वार के बाद कभी कभी क्खु दे दिया जाता है, जैसा शौरसेनी किं क्खु (मृच्छ० १३, ३), उपकृतम् खलु के लिए उअकिदं क्खु, कुत्र खलु के लिए कहिं क्खु, अमृतम् खलु के लिए अमदं क्खु रूप मिलते हैं (विक्रमो० ८, १५ ; ९, ३ और ११)। अनुस्वार के बाद खलु का खु रूप ही आना चाहिए जैसा मार्कण्डेय ने पन्ना ७२ में शौरसेनी के लिए बताया है। महाराष्ट्री और अर्धमागधी में भी यही रूप है। उदाहरणार्थ, महाराष्ट्री में तत् खलु के लिए तं खु रूप मिलता है (गउड० ८६० और ८७९ , हाल १४२)। एतत् खलु के लिए अर्धमागधी में एवं खु (सूय० ९५ और १७६) और एयं खु (उत्तर० १०६)[1] आये हैं। महाराष्ट्री, अर्धमागधी और विशेष कर जैनमहाराष्ट्री में खु और हु कम मिलते हैं। अर्धमागधी में बहुधा खलु आता है। यह रूप जैनशौरसेनी में भी मिलता है (पव० ३८०, ७ ; ३८१, १८ और २१ , कत्तिगे० ४०१, ३४३), जैनमहाराष्ट्री में यह रूप कम दिखाई देता है। उसमें तच्छ्रेयः खलु के लिए एक स्थान में तं सेयं खलु मिलता है (एर्त्से० ३३, १८)। अर्धमागधी में खलु रूप बहुत मिलता है (नायाध० ३३३ और ४८२ ; विवाग० २१८ ; उवास० § ६६ ; १३८ , १४० और १५१ ; निरया० § १२ ; १४, १८ , २० ; २३ ; ओव० § ८५ और ८६, कप्प० § २१)। ऐसा जान पड़ता है कि जैनमहाराष्ट्री में यह शब्द किसी दूसरी प्राकृत बोली से लिया गया होगा। अर्धमागधी में इस अव्यय के दोनों रूप साथ साथ आये हैं। आत्मा खलु दुर्दमः के लिए अप्पा हु खलु दुद्दमो आया है (उत्तर० १९)।

१. लास्सन, इन्स्टीट्यूत्सीओनेस, पेज १९२, ७ में उसने शुद्ध नहीं दिया है ; बौँल्लेॅनसेॅन द्वारा सम्पादित विक्रमो० ११, ५ पेज ९६ । — २. कापेलर, येनायेर लिटराटूरत्साइटुंग १८७७, पेज १२५ । इस विषय पर लास्सन ने अपने उक्त ग्रन्थ में ठीक लिखा है और स्टेन्सलर ने मृच्छकटिक २, २९ में शुद्ध ही दिया है । —३. यह मत कि यहाँ सर्वत्र क्खु रूप लिखा जाना चाहिए (पिशल द्वारा संपादित शकुन्तला पेज २१० में टीका देखिए) , हेमचन्द्र २, १९८ से पुष्ट किया गया है ।

§ ९५—एव के लिए § ९४ में जो नियम बताये गये हैं वे शौरसेनी जेव, जेॅव्व, पैशाची और मागधी य्येव, य्येॅव्व (§ ३३६) के लिए भी लागू हैं। ह्रस्व स्वरों और ए तथा ओ के बाद (ए, ओ, इस दशा में ह्रस्व हो जाते हैं) जेव का पहला अक्षर द्वित्त हो जाता है। शौरसेनी में आर्यस्यैव का अज्जस्स ज्जेॅव्व (मृच्छ० ४, ८ और १२), अचिरेणैव का अइरेणज्जेव्व पढ़ा जाता है (ललित० ५६२,२३), इदेव का इध ज्जेव (ज्जेव्व होना चाहिए) (शकु० १०, ८, रत्ना० २९३, २५ , मागधी के लिए मृच्छ० ११४, २१), दृश्यत एव के लिए दीसदि ज्जेॅव (रत्ना० २९५, १०), सम्पद्यत एव के लिए सम्पज्जदि ज्जेॅव्व (शकु० १२०, २),

संतप्यन्त एव के **संतप्पदि ज्जे ॅव्व** (मृच्छ० ६३,२४) होता है। मागधी में **तवैव** के स्थान पर **तव य्येव** (मृच्छ० २२, ४), **तेनैव** के लिए **तेण य्ये ॅव्व** (मृच्छ० १३३, ७), पैशाची में **सर्वस्यैव** के लिए **सव्वस्स य्ये ॅव्व** (हेमचन्द्र ४, ३१६), शौरसेनी में **भूम्याम् एव** के लिए **भुमीए ज्जे ॅव्व** (मृच्छ० ४५, १५), **मुख एव** के लिए **मुहे ज्जे ॅव, सूर्योदय एव** के लिए **सुज्जोदए ज्जे ॅव्व** (शकु० ७७, ११ ; ७९, ९), **इत एव** के लिए **इदो ज्जे ॅव्व** (मृच्छ० ४, २२ ; ६, १३), **य एव जनः...स एव** के स्थान पर **जो ज्जे ॅव्व अणो...सो ज्जे ॅव्व** आया है (मृच्छ० ५७,१३), **स सत्य एव स्वप्ने दृष्ट इति** का प्राकृत रूप **सो सच्चो ज्जेव सीविणए दिठ्ठो ॅत्ति** (ललित० ५५५, १) रूप मिलता है। मागधी में **दर्शयन्नेव** के स्थान पर **दंशअन्ते ज्जेव** (शकु० ११४, ११), ***अनाचक्षित एव** के स्थान पर **अणाचक्खिकदे य्ये ॅव्व** रूप, **पृष्ठत एव** के स्थान पर **पिस्टदो य्ये ॅव्व** और **भट्टारक एव** के स्थान पर **भस्टालके य्ये ॅव्व** रूप आया है (मृच्छ० ३७, २१ ; ९९, ८ ; ११२, १८)। पैशाची में **दूराद् एव** का **तूराते य्ये ॅव्व** (हेमचन्द्र ४, ३२३) रूप होता है। अन्य दीर्घ स्वर इस प्रत्यय से पहले दीर्घ ही रह जाते हैं। शौरसेनी में **अस्मत्स्वामिनैव** का **अम्हसामिणा जेव, तथैव** का **तधा जेव** और **निष्कम्पा एव** का **णिक्कंपा जेव** रूप होता है (शकु० ११६, ८ ; १२६, १० और १४ ; १२८, ६)। मागधी में **दृश्यमानैव** का **दीशन्ती ये ॅव्व** होता है (मृच्छ० १४, ११)। कापेलर ऐसे स्थलों में भी (देखिए § ९४) ह्रस्व स्वर देता है, जो अशुद्ध रूप है। उदाहरणार्थ रत्नावली २९१, १ ; २९५, २३, २९६, २४ आदि-आदि। इसी प्रकार ललितविग्रहराज नाटक में भी ऐसी अशुद्धियाँ आयी हैं (५५४, ५ और ६ तथा २१)। इसमें ५५४, ४ और ५५५, १८ में अनुस्वार के पीछे **ज्जेव** भी आया है और ५६७, १ में स्वयं **एव** मिलता है। मृच्छकटिक ९६, २४ में मागधी में **शहश ज्जे ॅव्व** गलत है। इस स्थान पर **शहशा ये ॅव्व** रूप होना चाहिए।

§ ९६—अस् धातु के नाना रूपों के अन्त में जहाँ जहाँ संयुक्त व्यंजन आते हैं उन व्यंजनों से पहले के अन्तिम दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाते हैं। महाराष्ट्री में **स्थितास्मि** का **ठिअम्हि** हो जाता है। **दूनास्मि** का **दूमिअ म्हि** (हाल २३९ और ४२३), **असत्य स्मः** का **असइ म्ह, क्षपिताः स्मः** का **खविय म्हो, रोदिता स्मः** का **रोविअ म्ह** (हाल ४१७ और ४२३ तथा ८०७), **युष्मे स्थ** का **तुम्हे त्थ** (रावण० ३,३) रूप हो जाते हैं। **परिश्रान्तोऽस्मि** का जैनमहाराष्ट्री में **परिसन्तो म्हि** (एत्सें० ६, २५) ; **उपोषितास्मि** का **उववसिद म्हि, अलंकृतास्मि** का **अलंकिद म्हि** (मृच्छ० ४, ६ ; २३, २५), **आयत्तास्मि** का **आअत्त म्हि, पतदवस्थास्मि** का **पदावत्थ म्हि, असहायिन्यास्मि** का **असहाइणि म्हि** (शकु० २५,३ ; ५२,८ ; ५९,११), **विरहोत्कंठितास्मि** का **विरहुक्कंठित म्हि, विस्मृतास्मि** का **विम्हरिद म्हि** (विक्रमो० ८२, १६ ; ८३, २०), **अपराद्धा स्मः** का **अवरद्ध म्ह, निवृत्ता स्मः** का **णिव्वुत्त म्ह** (शकु० २७, ६ ; ५८, ६), **अलंघनीयाःकृताः स्मः** का **अलंघणीअ कद म्ह** और **उपगताः स्मः** का **उअगद**

म्ह (विक्रमो० २३, ८ और १४) रूप हो जाता है। ऍ और ओँ तथा अशुद्ध रूपों के विषय में जैसे महाराष्ट्री **पम्हुट्ठम्हि**,शौरसेनी **हद म्हि** और मागधी **कद म्हि**; §८५ देखिए। जनता में प्रचलित संस्कृती रूपों के आधार पर बने अशुद्ध प्राकृत रूप नाना हस्तलिखित प्रतियों के भिन्न भिन्न पाठों में मिलते हैं, जैसे महाराष्ट्री में **व त्ति** के स्थान पर **वे ॅत्ति, सहस त्ति** के लिए **सहसे ॅत्ति** (हाल ८५५ और ९३६), **पिअ त्ति** के स्थान पर **पीऍत्ति, णिसण्ण त्ति** की जगह **णिसण्णे ॅत्ति, धीर त्ति** के लिए **धीरे ॅत्ति, पेलव त्ति** के स्थान पर **पेलवे ॅत्ति, तणुअ त्ति** के लिए **तणुऍत्ति** (रावण० ५, ५ और ६ तथा ८), **विहिण व्व** की जगह **विहिणे ॅव्व** (रावण० १४, १६); जैनशौरसेनी में **मम त्ति** के स्थान पर **ममे ॅत्ति** (पव० ३८८, २७); शौरसेनी में **पिदर त्ति** के लिए **पिदरे ॅत्ति, व त्ति** के बदले **वे ॅत्ति, पडिवादणिज्जे ॅत्ति, णीदे ॅत्ति** (शकु० बोएटलिंक द्वारा संपादित— ९, ८ ; ३७, १३ ; ४३, १४ ; ८३, ६) ; और महाराष्ट्री में **गलित इव** के लिए **गलिअ व्व** को वास्तव में **गलिए व्व** होना चाहिए था। **चंदए व्व** के स्थान पर **चंदअ व्व** तथा **सेउबंध व्व** के लिए **सेउबंधो ॅव्व** (रावण० १, २; ३, ४८ ; १५, ११)[1]।

१. पिशल, डे कालीदासाए शाकुंतलि रेसेन्सिओनिबुस पेज ५३ ; गोए-टिंगिशे गेलैर्ते आन्त्साइगेन १८८०, ३२५ ; बुर्कहार्ड, शकुंतला ग्लौसारिउम पेज ३६ का नोट ; बौल्लेनसेन, मालविकाग्निमित्र भूमिका का पेज १४ ; वेबर, इन्डिशे स्टूडिएन १४, २९८ ; होएफर, डे प्राकृत डिआलेक्टो पेज २४; लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस पेज १८८ ; एस. गौल्डश्मित्त, प्राकृतिका पेज २७ में अशुद्ध रूप हैं।

§ ९७—शब्द के अन्त में जो दीर्घ स्वर आता है वह महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी में सन्धि होते ही ह्रस्व रूप धारण कर लेता है (वररुचि ४, १; हेमचन्द्र १, ४ ; क्रमदीश्वर २, १४३ ; मार्कण्डेय पन्ना ३१)। ऐसा बहुधा उन शब्दों में होता है जिनके अन्त में ई आती है (§ ३८४); आ और ऊ में समाप्त होनेवाले शब्दो में बहुत कम ह्रस्व होता है। शौरसेनी और मागधी में गद्य में सदा दीर्घ स्वर दीर्घ ही रह जाता है। महाराष्ट्री में **ग्रामणीपुत्र** का **गामणिउत्त** हो जाता है (हाल ३१) ; **नदीपूर** का **णइपूर, नदीनिकुञ्ज** का **णइणिउंज, णइफेण** (हाल ४५ ; ११८ ; ६७१), इसके साथ साथ **नदीकच्छ** का **णईकच्छ** रूप भी आया है (हाल ४१६) ; **नदीतट णइअड** हो गया है (गउड० ४०७) ; **नदीस्रोतस्** का **णइसों ॅत्त** (रावण० १, ५४) ; **नदीतडाग** का **णइतलाय** (नायाध० और इस विषयपर § ११८ भी देखिए)। इस शब्द के साथ-साथ **नईतीर** भी मिलता है (कप्प० § १२०) ; किन्तु शौरसेनी में **नदीवेग** का केवल एक रूप **णईवेअ** होता है (शकु० ३१, १) ; मागधी में **शोणितनदीदर्शन** का **शोणिअण-ईदंशण** हो जाता है (वेणी० ३५, ७) ; अर्धमागधी में **स्त्रीवेद** का **इत्थियवेय** रूप मिलता है (सूय० २३४ ; विवाह० १७९ ; १८० ; उत्तर० ९६०), इसके साथ ही, **इत्थीवेय** रूप भी आया है (सूय० २३७), **इत्थिभाव** (ठाणग० § २४६),

इत्थिलक्खण (नायाध० § ११९), **स्त्रीसंसर्ग** के लिए **इत्थिसंसग्गि** (दस० ६३३, १) रूप पाये जाते हैं। इसके साथ-साथ जैनशौरसेनी में **इत्थीसंसग्ग** भी मिलता है (कत्तिगे० ४०२, ३५८), अर्धमागधी में **स्त्रीवचन** का **इत्थीवयण** (आयार० २, ४, १, ३), **स्त्रीविग्रह** का **इत्थीविग्गह** (दस० ६३२, ३८), जैनमहाराष्ट्री में **इत्थिलोल** (= स्त्री के पीछे पागल ; आव० एर्त्से० १६, ३०) और इसके साथ ही **स्त्रीरत्न** के लिए **इत्थीरयण** (एर्त्से० ३, ३३ ; १३, ५) रूप भी आया है ; किन्तु केवल शौरसेनी में **स्त्रीकल्यवर्त** के लिए **इत्थीकल्लवत्त** रूप मिलता है (मृच्छ० ६०, १९), **स्त्रीरत्न** का रूप **इत्थीरदन** हो जाता है (शकु० ३८, ५; १०३, ६), **इत्थीजण** भी आया है (रत्ना० २९८, ४); **पृथ्वीशस्त्र** का अर्धमागधी में **पुढविसत्थ** रूप पाया जाता है (आयार० १, १, २, २ और ३ तथा ६), **पृथ्वीकर्मन्** के लिए **पुढविकम्म** (आयार० १, १, २, २ और ४ तथा ६), **पुढविजीव** (दस० ६२०, ३४), **पृथ्वीशिलापट्टक** के लिए **पुढविसिलापट्टय** (ओव० § १० ; उवास० १६४ ; १६६ ; १७०) ; जैनमहाराष्ट्री में **पुहविमण्डल** (एर्त्से० ४१, २४) रूप आया है। **'पृथ्वी में विख्यात'** के लिए **पुहविविक्खाय** रूप है (एर्त्से० ६४, २३), महाराष्ट्री में **पृथ्वीपति** के लिए **पुहवीवइ** मिलता है (गउड०), शौरसेनी में **पृथ्वीनाथ** के लिए **पुढवीनाढ** पाया जाता है (शकु० ५९, १२)। अर्धमागधी में **अप्सरागण** का रूप **अच्छरागण** हो जाता है (पण्हा० ३१५ ; पण्णव० ९६ , ९९ ; निरया० ७८ ; नायाध० ५२६ ; ओव०)। इस रूप के साथ ही **अच्छराकोडि** रूप भी मिलता है (विवाह० २५४); शौरसेनी में **अप्सरातीर्थ** का केवल **अच्छरातित्थ** रूप है, **अच्छरासंबंध** भी मिलता है (शकु० ११८, १०, १५८, २), **अप्सराकामुक** के लिए **अच्छराकामुअ** आया है, **अप्सराव्यापार** के लिए **अच्छरावावार** पाया जाता है, **अच्छराविरहिद** भी मिलता है (विक्रमो० ३१, १४; ५१, १३, ७५ , १०), **अच्छराजण** (पार्वती० ९, ९ ; १०, २) , अर्धमागधी में **क्रीडाकर** का **किड्डकर** होता है (ओव०); महाराष्ट्री में **जमुनातट** का **जाऊणअड** और **जाऊणाअड** होता है (भामह ४, १; हेमचन्द्र ४, १ ; मार्कण्डेय पन्ना ३१), **जाउणासंगअ** (गउड० १०५३) = हिन्दी **जमुनासंगम** का प्राकृत रूप है। इसका शौरसेनी रूप **जमुणासंगम** है (विक्रम० २३, १३) ; महाराष्ट्री में **भिक्षाचर** का रूप **भिच्छअर** होता है (हाल १६२) , अर्धमागधी में **भिक्खकाल** रूप मिलता है (दस० ६१८, १७)। इस प्राकृत में **मुत्तजाल, मुत्तदाय** और **मुत्ताजाल** शब्द मिलते हैं (ओव०)।— **वधूमाता** का महाराष्ट्री में **वहुमाआ** रूप है (हाल ५०८) ; **वधूमुख** का **वहुमुह** और **वहूमुह** रूप पाये जाते हैं (भामह ४, १ , हेमचन्द्र १, ४ ; मार्कण्डेय पन्ना ३१) ; किन्तु जैनमहाराष्ट्री में **वधूसहाय** का रूप **वहूसहिज्ज** हो जाता है (एर्त्से०, ६, १२) और शौरसेनी में **नववधू केशकलाप** का **नववहू केसकलाव** हो गया है (मृच्छ० ४, १०)। इस संबंध में § ७० देखिए।

* इस रूप की बर्वरता में मृदुता भर कर तुलसीदास ने रतन का प्रयोग किया है। —अनु०

† यवन का मूल प्राकृत रूप। —अनु०

§ ९८—**श्री** शब्द भले ही नाम, आदरार्थ अथवा गुण बताने के लिए जहाँ भी आता हो, अन्य संज्ञाओं के आगे ह्रस्व हो जाता है। अर्धमागधी में **ह्री** शब्द भी ह्रस्व हो जाता है (क्रम० २, ५७)। **श्रीस्तन** शब्द का महाराष्ट्री में **सिरिथण** हो जाता है (गउड० २८), **श्रीसेवित, सिरिसेविअ** बन जाता है (रावण० १, २१), **श्रीदर्शन** का **सिरिदंसण** रूप है (गउड० ५१४)। अर्धमागधी में **श्रीगुप्त** का **सिरिगुत्त** रूप देखा जाता है; **श्रीधर** का **सिरिहर** (कप्प०) रूप मिलता है। जैनमहाराष्ट्री में **श्रीकान्ता** का **सिरिकन्ता** रूप आया है, **श्रीमती** का **सिरिमई** हो गया है (एर्त्से०)। शौरसेनी में **श्रीपर्वत** का **सिरिपव्वद** हो गया है (रत्ना० २९७, ३१; माल्ती० ३०, २ और ८)। —महाराष्ट्री में **मधुश्रीपरिणाम** का **महुसिरिपरिणाम** होता है (गउड० ७९१), **नभःश्रीकंठ** का **णहसिरिकंठ** रूप मिलता है (हाल ७५), **राजश्रीभाजन** का **राअसिरिभाअण** रूप पाया जाता है (रावण० ४, ६२)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **श्रीवत्स** का **सिरिवच्छ** हो जाता है (ओव० ; कप्प० ; एर्त्से०); अर्धमागधी में **श्रीधर** का **सिरिधर** रूप मिलता है (विवाह० ८२० और ९६२), **हिरि सिरि परिवज्जिय** रूप भी आया है (विवाह० २५०), **ह्रीश्रीधृतिकीर्ति परिवर्जित** का **हिरि सिरि धिइ किचि परिवज्जिय** रूप बन गया है (उवास० § ९५), **सिरिसमुदय** भी मिलता है (कप्प० § ४२)। जैनमहाराष्ट्री में **श्रीसूचक** का प्राकृत रूप **सिरिसूयग** हो गया है (एर्त्से० ६७, १२), **श्रीकच** का **सिरिकय** मिलता है (कालका० २७६, १३), अपभ्रंश में **सिरिआणन्द** शब्द व्यवहार में आया है (हेमचन्द्र ४, ४०१, ३)।— **श्रीयशोवर्मन** के लिए महाराष्ट्री में **सिरिजसवम्मय** का प्रयोग किया गया है (गउड० ९९), **सिरिहाल** का व्यवहार भी हुआ है (हाल ६९८), **सिरिकमला-उह** भी मिलता है (गउड० ७९८), **सिरिराअसेहर** भी पाया जाता है (कर्पूर० ६, ५)। जैनमहाराष्ट्री में **श्रीलक्ष्मण** का **सिरिलक्खण** रूप है, **श्रीहरिचन्द्र** का **सिरिहरिअन्द** रूप आया है, **सिरिरज्जिल, सिरिणाहड, सिरिभिल्लुअ, सिरिकक, सिरिकक्कुय** (कक्कुक शिलालेख २; ३, ४, ५; ६; २०; २२) नाम भी मिलते हैं। शौरसेनी में **सिरि खण्ड दास** (रत्ना० २९७, ३१), **सिरि चारु दत्त** (मृच्छ० ९४, ५); गौडबोले के संस्करण के २६७, ५ में यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए। मागधी में **श्री सोमेश्वर देव** का **शिलि सोमेशलएव** रूप व्यवहार में आया है (ललित० ५६६, ६)। जैनमहाराष्ट्रीमें **श्रीश्रमणसंघ** का **सिरिसमण-संघ** रूप बन गया है (कालका० २६६, ३, २७०, ५ और ३८)।—छन्दों में मात्रा के लिए महाराष्ट्री में कभी कभी दीर्घ रूप भी मिलता है जैसे, **सिरीसमुल्लास** (गउड० ८५६), और इसी प्रकार अर्धमागधी में गद्य में **श्रीसमानवेदयाः** का रूप **सिरीसमाणवेसाओ** मिलता है (नायाध० § ६५, ओव०)। इसके साथ ही **सिरि-समाणवेसाओ** रूप भी मिलता है (विवाह० ७९१)। कप्पसुत्त § ३५ में **धयणसिरीपल्लव** पाया जाता है। **श्री** का स्वर स्थिर नहीं है। अर्धमागधी में यह शब्द **सिरीय** हो जाता है (नायाध०), **सिरिय** भी मिलता है (कप्प०), **ससिरिय** का व्यवहार भी है(पण्णव० ९६), साथ ही **सस्सिरीय** भी आया है (पण्णव०

११६)। बहुधा **सस्सिरीय** शब्द भी मिलता है जो गद्य के लिए एकमात्र शुद्ध रूप है (समः २१३ ; २१४ ; पण्हा० २६३ ; विवाह० १६८; १९४; जीवा० ५०२; ५०४; ५०६ ; नायाध० ३६९ ; निरया० ; ओव० ; कप्प०) ; शौरसेनी में **सस्सिरिय** रूप आया है (शकुन्तला, बोएटलिंक का संस्करण ६२,१३; विक्रमो० ४१,४ [इसमें यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए])[1]। **सस्सिरीअदा** का भी प्रयोग पाया जाता है (मृच्छ० ६८, २१ ; ७३, ८ और ११ ; १०७, २), **सस्सिरीअत्तण** (रत्ना० २९२, १२ पाठ में **ससिरीअत्तण** लिखा है; कलकत्ते के संस्करण मे **सस्सिरीअदा** आया है)।— अर्धमागधी में **ह्रीप्रतिच्छादन** का **हिरिपडिच्छायण** हो गया है (आयार० १, ७, ७, १) ; **सिरिहिरि**—(निरया० ७२), **हिरि**—(ठाणग० १५१) रूप भी मिलते हैं। अर्धमागधी मे व्यक्तिवाचक शब्द **ह्रीरेव** का **हिरिच्चेव**, (ठाणंग० ७६) और बहुवचन रूप **हिरीओ** और साथ ही **सिरीओ** (विवाह० ९६२)। अन्य प्राकृत भाषाओं मे मेरे देखने मे नहीं आये[2]। **हिरी** और **अहिरीयाण** विशेषण रूप में (आयार० १, ६, २, २) मिलते हैं। **ह्रीमान्** के लिए **हरिमे** का उपयोग किया गया है (उत्तर० ९६१), किन्तु यहाँ शुद्ध पाठ **हिरिमे** होना चाहिए। इसी प्रकार शौरसेनी मे **अपह्रिये** के लिए जो **ओहरिआमि** का प्रयोग हुआ है, उसका शुद्ध रूप **ओहिरिआमि** होना चाहिए (उत्तर० २३, १२)। बोएटलिक द्वारा सम्पादित शकुन्तला मे **हिरियामि** रूप आया है जो शौरसेनी है (१०८, २१)। बगला संस्करण में शौरसेनी में **हिरियामि** के ढग पर **लज्जामि** भी पाया जाता है। काश्मीरी संस्करण मे (१५३, ३) **अर्हामि** के स्थान पर अशुद्ध रूप **अरिहामि** आया है। इस सम्बन्ध में § १३५ और १९५ भी देखिए।

1. बोएटलिंक ने शकुन्तला ६२, १३ में अशुद्ध रूप दिया है। बोल्लेनसेन द्वारा सम्पादित विक्रमोर्वशी ४१, ४। — २. हेमचन्द्र २, १०४ पर पिशल की टीका।

§ ९९—कविता मे § ६९ के मत के विपरीत **इ** और **उ** कभी कभी दीर्घ नहीं होते, बल्कि जैसे के-तैसे रह जाते है। महाराष्ट्री में *द्विजभूमिषु* का *दिअभूमिसु* होता है (हेमचन्द्र ३, १६ ; गउड० ७२७), **अंजलिभिः**, का **अंजलिहिं** हुआ है (हाल ६७८),—**प्रणतिषु** का **प्पणइसु**, **विरहिषु** का **विरहिसु**, **चतुःपार्श्वाम्** **सूक्तिषु** का **चउसट्ठिसु सुत्तिसु** (कर्पूर० २, ३ ; ३८, ५ ; ७२, ६) मिलता है; अर्धमागधी में **पक्षिभिः** का **पक्खिहिं** रूप हो गया है (उत्तर० ५९३), **वग्नुभिः** का **वग्गुहिं** (सम० ८३), **हेतुभिः** का **हेउहिं** (दस० ६३५, ३४), **प्राणिनाम्** का **पाणिणम्** (आयार० पेज १५, ३३ ; ३५६ ; उत्तर० ३१२ ; ७१५ ; ७१७), **कुकर्मिणाम्** का **कुकम्मिणम्** (सूय० ३४१), **पक्षिणाम्** का **पक्खिणं** (उत्तर० ६०१), **चायिणाम्** का **ताइणं** (उत्तर० ६९२), **गिरिषु** का **गिरिसु** (सूय० ३१०), **जातिषु** का **जाइसु**, **अगारिषु** का **गारिसु**, **जंतुषु** का **जंतुसु**, **योनिषु** का **जोनिसु** और **गुप्तिषु** का **गुत्तिसु** हो जाता है (उत्तर० १५५; २०७; ४४६ ; ५७४; ९९२)। जैनमहाराष्ट्री में **व्याख्यानादिषु** का **वक्खाणाइसु** रूप

मिलता है (आव० एर्त्से० ४१, २८)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में सर्वत्र यही नियम चलता है, **चतुर्भिः** और **चतुर्षु** का सदा **चउहिं** तथा **चउसु** रूप होते हैं (§ ४३९)। इस नियम के विपरीत संस्कृत और प्राकृत में विभक्ति जुड़ते समय दीर्घ स्वर बहुधा कविता में ह्रस्व हो जाते हैं। इस नियम के अनुसार अपादान एकवचन में अर्धमागधी में **स्थानात्** का **ठाणओ** रूप होता है, **संयमात्** के स्थान पर **संजमओ** आता है (सूय० ४६), **कुलालात्** के लिए **कुललओ** पाया जाता है, **विग्रहात्** का रूप **विग्गहओ** मिलता है (दस० ६३२, ३७ और ३८), **श्रियः** का **सिरिओ** हो गया है (दस० ६४१, २८), जैनशौरसेनी में **उपशमात्** का **उवसमदो** रूप बन गया है (कत्तिगे० ३९९, ३०८)। इस विषय पर § ६९ भी देखिए। कर्ता और कर्म-कारक के बहुवचन में :—महाराष्ट्री में **दिव्यौषधयः** का **दिव्वोसहिओ** रूप मिलता है (मुद्रा० ६०, ९)। अर्धमागधी में **ओसहिओ** है (दस०; निरया० ६४८, १०)। इस प्राकृत में **स्त्रियः** का **इत्थिओ** हो गया है (आयार० १, ८, १, १६ ; सूय० २१८ ; २२२ ; २३७ ; ५४० ; उत्तर० ७६, ९२१), **इत्थिउ** रूप भी व्यवहार में आया है (उत्तर० ३७३), **नारिओ** (उत्तर० ६७९ [पाठ में **नारीओ** लिखा है]; दस० ६१३, २५ ; ६३५, १४), **कोट्यः** का **कोडिओ** (उत्तर० ५०२ [पाठ में **कोडिओ** है]), **रात्र्यः** का **राइओ** रूप आये हैं (सूय० १०० ; उत्तर० ४१६ और ४३६)। तृतीया (करण) बहुवचन में :—अर्धमागधी में **स्त्रीभिः** का **इत्थिहिं** रूप मिलता है (उत्तर० ५७०)। षष्ठी (सम्बन्ध) बहुवचन में :—अर्धमागधी में **ऋषीणाम्** का रूप **इसिणं** हो जाता है, **भिक्षुणाम्** का **भिक्खुणं** और **मुनीनाम्** का **मुणिणं** बन जाता है (उत्तर० ३७५; २७७ ; ४०८ ; ९२१)। सप्तमी (अधिकरण) एकवचन में :—अर्धमागधी में **राजधान्याम्** के स्थान पर **रायहाणिए** आता है (उत्तर० ८६ ; [पाठ में **राजहाणीए** लिखा है] टीका में शुद्ध रूप ही मिलता है), **काशीभूम्याम्** का रूप **कासिभूमिए** बन गया है (उत्तर० ४०२)। सप्तमी (अधिकरण) बहुवचन में :—अर्धमागधी में **स्त्रीषु** का **इत्थिसु** हो जाता है (सूय० १८५ [पाठ में **इत्थीसु** मिलता है]; उत्तर० २०४)। इसी प्रकार अपभ्रंश में **रत्या** का **रदिए** रूप है (हेमचन्द्र ४, ४४६)। कुछ शब्दों के भीतर दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है :—मागधी में **अभिशार्यमाणा** का **अहिशालीअंती** के स्थान पर **अहिशालिअंति** होता है (मृच्छ० ११, १९), अर्धमागधी में **प्रतिचीनम्** का **पडीणं** के स्थान पर **पडिनम्** हो जाता है (§ १६५ ; दस० ६२५, ३७)। यह § ८२ का अपवाद है। श्रीहर्ष के द्विरूपकोश १५२ के अनुसार **प्राचीनं प्राचिनं च स्यात्** संस्कृत में **प्राचीन** और **प्राचिन** दो रूप चलते हैं जिनमें **प्राचिन** ह्रस्व है।

§ १००—अपभ्रंश में ह्रस्व और दीर्घ में भेद नहीं माना जाता*। छंद की मात्रा की सुविधा के अनुसार मात्राएँ दीर्घ अथवा ह्रस्व कर दी जाती हैं। तुक मिलाने के लिए भी मात्रा में घट-बढ़ कर दी जाती है। तुक मिलाने के कारण स्वर की ध्वनि

* इसीलिए तुलसीदास ने राम और रामा लिखा है। रामु रामू भी अपभ्रंश के रूप हैं।—अनु०

भी बदल दी जाती हैं। पिंगल की भाषा इस विषय पर बहुत फेर-फार दिखाती है। **श्यामला धन्या सुवर्णरेखा** के लिए हेमचन्द्र ने **सामला धण सुवण्णरेह** दिया है (४, ३३०, १), **सकर्णा भल्लिः** के स्थान पर **सकण्णी भल्ली** आया है (४, ३३०, ३), **फलानि लिखितानि** का रूप **फल लिहिआ** बन गया है (४, ३३५), **पतिता शिला** का **पडिअ सिल** रूप मिलता है (४, ३३७), **अर्धानि वलयानि मह्यांगतानि अर्धानि स्फुटितानि** को **अद्धा वलआ महीहिं गअ अद्धा फुट्ट** लिखा गया है (४, ३५२) और **विधिर्विनटयतु पीडन्तु ग्रहाः** का अपभ्रंश रूप **विहि विनडऊ पीडंतु गह** हो गया है (४, ३८५)। कालिदास की विक्रमोर्वशी में **परभृते मधुरप्रलापिनि कांते**···**भ्रमंति** के लिए **परहुअ महुरपलाविणि कंती**···**भमंती** लिखा गया है (५९, ११ और १२)। **सा त्वया दृष्टा जघनभरालसा** का **गइल्लालस** से तुक मिलाने के लिए **सा पइं दिट्ठी जहणभरालस** कर दिया गया है (६२, १२) और **क्रीडंति धनिका न दृष्टा त्वया** (६३, ५) का **कीलंती धणिअ ण दिट्ठि पइं** रूप दिया गया है। पिंगल में **सूच्यते मेरुर्निःशंकम्** के लिए **सूइ मेरु णिसंकु** दिया है (१, ४०), **महीधरास्तथा च सुरजनाः** का रूप **महिहर तह अ सुरअणा** हो गया है (१, ८०), **यस्यकंठेस्थितम् विषम् पिधानम् दिशः संतारितः संसारः** के स्थान पर अपभ्रंश में **जसु**·· **कंठट्ठिअ दीसा पिंधण दीसा संतारिअ संसारा** दिया गया है (१, ८१), **वरिसइ** (वर्षति) के लिए **वरीसए** आया है क्योंकि ऊपर लाइन में **दृश्यते** के लिए **दीसए** से तुक मिलाना है (१, १४२) और **नृत्यंती संहरतु दुरितम् अस्मदीयम्** का अपभ्रंश रूप **णच्चंती संहारो दूरित्ता हम्मारो** आया है (२, ४३) आदि आदि। इस विषय पर § ८५ और १२८ भी देखिए।

§ १०१—जहाँ पहले अक्षर में ध्वनि पर बल पड़ता है, ऐसे कई शब्दों में **अ** का **इ** हो जाता है। हेमचन्द्र ने १, ४६ में ऐसे शब्द **स्वप्नादि** आकृतिगण में दिये हैं और १, ४८ में **मध्यम** और **कतम** शब्द दिये हैं तथा १, ४७ में **पक्व, अंगार** और **ललाट** भी दिया है। १, ४९ में **सप्तपर्ण** भी गिनाया है। वररुचि १, ३ ; क्रमदीश्वर १, २ और मार्कण्डेय पन्ना ५ में केवल **ईषत्, पक्व, स्वप्न, वेतस, व्यजन, मृदंग** और **अंगार** शब्द ही इस गण में देते हैं। यह परिवर्तन अधिकतर महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में होता है। शौरसेनी और मागधी में कई अवसरों पर **अ** का **अ** ही रह जाता है, जैसा मार्कण्डेय ने **अंगार** और **वेतस** शब्दों के बारे में स्पष्ट ही कहा है। इस नियम के अनुसार अर्धमागधी में **अशर्न** का **असिण** हो जाता है (आयार० २, १, ५,१)। जैनमहाराष्ट्री में **उत्तम** का **उत्तिम**. रूप मिलता है (हेमचन्द्र १, ४६ ; कक्कुक शिलालेख ९), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **उत्तमांग** का **उत्तिमंग** बन जाता है (पण्हा० २७४, २८५ ; ओव० , एर्त्से०), जैनमहाराष्ट्री में इस रूप के साथ साथ **उत्तमंग** भी चलता है (पाइय० १११ ; एर्त्से०); महाराष्ट्री,

* यह उच्चारण हिंदी की कई बोलियों में रह गया है। कुमाऊँ में उत्तिम, मूरिख आदि प्रचलित हैं।—अनु०

अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **उत्तम** रूप भी पाया जाता है (गउड० ; नायाध० ; कप्प०; एर्त्से०) ।—महाराष्ट्री में **कतम** का **कइम*** हो जाता है (हेमचन्द्र १,४८ ; हाल ११९), किंतु शौरसेनी और मागधी में **कदम** चलता है (मृच्छ० ३९, ६ ; शकु० १३२, ७ ; विक्रमो० ३५, १३ , मागधी के लिए :—मृच्छ० १३०, ३) ।—**कृपण** का महाराष्ट्री, मागधी और अपभ्रंश प्राकृतों में **किविण** रूप पाया जाता है (हेमचन्द्र १, ४६ ; गउड० ; हाल ; मृच्छ० १९, ६ ; १३६, १८ और १९ ; हेमचन्द्र ४, ४१९, १ ; [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), शौरसेनी में **अकिविण** शब्द मिलता है (मृच्छ० ५५, २५) । —**घ्रंस** का अर्धमागधी में **घिंसु** हो जाता है (§ १७५) । —**चरम** शब्द का अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी में **चरिम** रूप हो जाता है (पण्णव० ६५ और उसके बाद ; विवाह० ११३ ; १७३ ; ५९८ ; १२५४ ; १२६२ ; एर्त्से ; कत्तिगे० ४०१, ३४८), **अचरिम** रूप भी मिलता है (पण्णव० ३६ और उसके बाद) ।—अर्धमागधी में **नग्न** का **नगिण** हो जाता है (§ १३३) ।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी में **पक्व** का **पिक्क**† हो जाता है (सब व्याकरणकार ; हाल ; कर्पूर० ६७, ८ ; विवाह० ११८५ ; बाल० २९२, १३), अर्धमागधी में **विपक्व** का **विविक्व** रूप होता है (ठाणंग० ३७७ ; ३७८), शौरसेनी में **परिपिक्क** शब्द आया है (बाल० १४२, २ ; २०९, ७), इसके साथ साथ अर्धमागधी और शौरसेनी में **पक्क** शब्द आया है (हेमचन्द्र १, ४७ ; आयार० २, ४, २, १४ और १५ ; ठाणंग० २१८; पण्णव० ४८३ ; दस० ६२८, २९ ; ६२९, ८ ; धूर्त० १२, ९), शौरसेनी में **सुपक्क** (मृच्छ० ७९, २५), **परिपक्क** (रत्ना० ३०१, १९) है ।—महाराष्ट्री में **पृशत** का **पुसिअ** हो जाता है (=एक प्रकार का हरिण ; हाल ६२१) । इसका अर्धमागधी में **फुसिय** रूप हो जाता है (§ २०८ ; [**फुसिय** का अर्थ यहाँ पर बूंद किया गया है] ; आयार० १, ५, १ ; नायाध० ; कप्प०) हरिण के अर्थ में , आयार० २, ५, १, ५) ।—**मध्यम** शब्द का महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **मज्झिम** हो जाता है (हेमचन्द्र १, ४८ ; हाल , ठाणंग० १२८ ; १४१ ; १५२ ; १७५ , सूय० ३३४ ; पण्णव० ७६ ; जीवा० १७५; ४०८ ; विवाह० १४१२ ; अणुओग० २६६ ; उवास०; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से०), अर्धमागधी में **मध्यमक** का **मज्झिमय** हो गया है (उवास०; कप्प०) । इसका स्त्रीलिंग रूप **मज्झिमिया** आया है (जीवा० ९०५ और उसके बाद), **मज्झिमिल्ल**‡ रूप भी मिलता है (अणुओग० ३८३), किन्तु शौरसेनी में केवल एक रूप **मज्झम** मिलता है (विक्रमो० ६, १९ ; महावी० ६५, ५ ; १२३, ९ ; वेणी० ६०, ६ ; ६३, ४ ; ६४, २३ ; ९९, १२) ।—**मज्जा** का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **मिंजा** हो जाता है (§ ७४) ।—**मृदंग** का अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री में **मुइंग** रूप मिलता है (आयार० २, ११, १ ; सूय० ७२१ ; पण्हा० ५१२ ; पण्णव० ९९ ; १०१ ; जीवा० २५१ ; विवाह० ७९७ [पाठ

* इस रूप से कई होकर कई शब्द हिंदी में आया है । —अनु०

† पीक शब्द जिसका अर्थ पान का लाल थूक है, इसी से निकला प्रतीत होता है । —अनु०

‡ मध्यमिल्ल, मझमिल्ल, मझिमिल्ल, मझिल्ल, मझिला और अब मझला । —अनु०

में **मुयंग** शब्द मिलता है परन्तु टीका में **मुइंग** शब्द आया है]; राय० २० ; २३१ ; उवास० ; ओव० ; कप्प०; एर्त्सें०), **मिइंग** शब्द भी मिलता है (हेमचन्द्र १, १३७), किन्तु शौरसेनी में **मुदंग** शब्द मिलता है (मालवि० १९, १) । मागधी में **मिदंग** रूप मिलता है (मृच्छ० १२२, ८ ; गौड्बोले द्वारा सम्पादित संस्करण ३, ३०७), **मुदंग** रूप भी ठीक मालूम पड़ता है (इस सम्बन्ध में § ५१ भी देखिए) ।
—महाराष्ट्री में **चेतर्स** का **चेद्दिस** हो जाता है (सब व्याकरणकार ; हाल), किन्तु पैशाची में **चेतस** रूप आया है (हेमचन्द्र ४, ३०७), शौरसेनी में इस शब्द का रूप **चेदस** हो जाता है (शकु० ३१, १६ ; १०५, ९) । **शय्या** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **सेज्जा** हो जाता है और यह **सेज्जा** रूप **सिज्जा** से निकला है (तीर्थ० ५, १५ ; § १०७ ; सेज्जा के लिए ; वररुचि० १, ५ ; ३,१७ ; हेमचन्द्र १, ५७ ; २, २४ ; क्रम० १, ४ ; २, १७ ; मार्क० पन्ना ५ और २१ ; गउड० ; कर्पूर० ३५, १ ; ३९, ३ ; ७०, ६ ; आयार० २, २, १, १ और २, ३४ और उसके बाद ; सूय० ९७ और ७७१ ; पण्हा० ३७२ ; ३९८ ; ४१० ; ४२४ ; विवाह० १३५ ; १८५ ; ८३९ ; १३१० ; पण्णव० ८४४ ; उत्तर० ४८९ ; ४९५ ; दस० ६४२, ३६ ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्सें०) । मागधी में **शिय्या** रूप मिलता है (चैतन्य० १४९,१९ ; [पाठ में से॑ज्जा रूप दिया है]) । अर्धमागधी में **निसेज्जा** (दस० ६४२, ३६), **निसिज्जा** (कप्प० § १२०), **पडिसे॑ज्जा** (विवाह० ९६५) रूप मिलते हैं । जैनमहाराष्ट्री में **से॑ज्जायर** (काल्का०) और **सिज्जायरी** (तीर्थ० ४, १७) शब्द मिलते हैं[1] ।

१. पिशल, कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३४, ५७० । याकोबी, कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५७२ के अनुसार कड्डम शब्द में जो इकार आया है वह उसका सम्बन्ध कति के साथ होने से वहाँ बैठा है, और अन्तिम (यह रूप संस्कृत में भी है), उत्तिम, चरिम और मज्झिम संस्कृत शब्द पश्चिम की नकल पर बन गये हैं । सिज्जा, निसिज्जा, साहिज्जा और मिंजा ज्ज के प्रभाव से बने हैं ।

§ १०२—इस नियम के अपवाद केवल देखने मात्र के हैं । महाराष्ट्री में **अंगार** (हेमचन्द्र १, ४७; पाइय० १५८), **अंगारअ** (हाल २६१), **अंगाराअन्त** जो संस्कृत **अंगारायमाण** का रूप है (गउड० १३६), शौरसेनी और मागधी रूप **अंगाल** (प्रसन्न० १२०, २ और १२ ; १२१, ८ ; जीवा० ४३, ९ [इसमें **अंगार** पाठ पढा जाना चाहिए] ; मृच्छ० १०,१ ; [शौरसेनी में **अंगारक** रूप भी मिलता है]; मालवि० ४८,१८), अर्धमागधी में **अंगार** (पण्हा० २०२ ; ५३४), **अंगारक** (पण्हा०३१३ ; ओव०§ ३६), **अंगारग** (पण्णव० ११६), **अंगारय** (ठाणग० २६३) रूप आये हैं जो **अंगार** और **अंगारक** के प्राकृत रूप हैं ; इनका अर्थ कहीं कोयला और कहीं मगल ग्रह होता है । इन शब्दों के साथ अर्धमागधी में **इंगाल** भी मिलता है (सब व्याकरणकार) जिनमें चण्ड० २, ४ भी है ; (पाइय० १५८ ; आयार० २, २, २, ८ ; २, १०, १७ ; सूय० २१७ ; ७८३ ; ठाणग० २३० ; ३९१ ; ४७८ ; पण्णव० २८ ; विवाग० १०८ ; १४१ ; नायाध० ३७१ ; विवाह० २३७ ; २५४ ;

३२२ ; ३४८ ; ४८० ; ६०९ ; ८८३ ; १२८६ ; १२९३ ; जीवा० ५१ ; २५७ ; २९३ , निरया० ४७ ; उत्तर० १०५३ ; [पाठ में इंगार शब्द आया है] ; दस० ६१६, ३२; ६१८, २९ ; ६२०, २५ ; उवास० § ५१), **सइंगाल, विइंगाल** (विवाह० ४५० , ४५१), **इंगालग** (ठाणग० ८२), शब्द जो स्वयं संस्कृत में प्राकृत से ले लिया गया है (त्साखारिआए, गोएटिंगिशे गेलैर्तें आन्त्साइगेन १८९४, ८२०), **अंगुअ** और साथ साथ **इंगुअ** (= **इंगुद** ; हेमचन्द्र १, ८९), इसका शौरसेनी रूप **इंगुदी** आया है (शकु० ३९, ४), **अगालिअ** और **इंगाली** (=ईसकी गंडेरी देशी० १, २८ और ७९) आपस में वैसा ही सम्बन्ध रखते हैं जैसा **अंगति** और **इंगति, अटति** और **इर्तन्त** तथा **अर्द्धा** और **इर्द्धा** जो वास्तव में आरम्भ में एक दूसरे के साथ सम्बन्धित थे। **ईपत्** शब्द के लिए पिशल द्वारा लिखित डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस में पेज १३ में प्राकृतमंजरी में बताया गया है कि इसके **ईस, ईसि** और **इसि** रूप होते हैं, इनमें से **ईस** रूप शौरसेनी में मालतीमाधव २३९, ३ में मिलता है और यह सभी संस्करणों में पाया जाता है। वहाँ **ईस मण्णुम्** (कहीं कहीं **मण्णे**) **उज्झिय** वाक्य मिलता है। वेणीसंहार १२, १० ; ६१, १५ में **ईस विहसिअ** आया है। महाराष्ट्री में **चिरेहि ईस वृत्ति** (प्रताप० २०६, ११ ; [पाठ में **इसि** रूप दिया गया है], **पाचइ इसी स** भी आया है (हाल ४४४ ; [कहीं-कहीं **ईसमपि** भी मिलता है])। **ईसी सः मणम् कुणन्ति** (कर्पूर० ८, ९) शुद्ध रूप है, क्योंकि यहाँ **ईसत्** स्वतन्त्र रूप में आया है। अन्य स्थलों पर यह शब्द सन्धि के पहले शब्द के रूप में मिलता है, जैसे **ईसज्जल** प्रेषिताक्ष के लिए महाराष्ट्री में **ईसिज्जल पेसि अच्छ** होता है। **ईसदूरजोभिन्न** का **ईसिरभिण्ण** रूप मिलता है; **ईपन्निभ** का **ईसिणिह** आया है और **ईपद्विवृत** का **ईसिविअत्त** हो गया है (रावण० २, ३९ , ११, ४३ , १२, ४८ , १३ , १५०)। **ईपतदृष्टः** का **ईसिदिट्ठ** रूप व्यवहार में आया है (बाल० १२०, ५), **ईपिसंचरण चंचुरा** (कर्पूर० ८६, १ , इसका बम्बई से प्रकाशित संस्करण में **ईप संचरण वन्धुरा** रूप मिलता है), **ईपुब्भिज्जन्त** [पाठ में यह शब्द **ईसुब्भिणन्दन** दिया गया है और यह संस्कृत **ईपदुद्भिद्यमान** है] (मल्लिका० २२९, ५)। जैनमहाराष्ट्री में **ईपद्विपासम्** का **ईसविआसम्** रूप मिलता है (कक्कुक शिलालेख ७)। शौरसेनी में **ईपत्परिश्रान्ता** का **ईसिपरिसन्ता** रूप है (मृच्छ० १३३, १), **ईपत्विकसित** का **ईसिवियसिद** (मालती० १२१, ५), **ईपत्मुकुलित** का **ईसिमउलिद, ईपन्मग्ण** का **ईसिमसिण** (महावीर० २२, २० , २४,६) रूप मिलते हैं। **ईसिविरल** (उत्तर० ७३, ५), **ईसिघलिद** (नागा० ८, १५) और **ईपद्दारदेशदापित** का **ईसिदार देस दाविद** रूप काम में लाया गया है (मुद्रा० ४३, ८), **ईपन्निद्रामुद्रित** के लिए **ईसिणिदामुदिद** रूप आया है (बाल० २२०, ६), **ईपत्तिर्य्यक्** के लिए **ईसितिरिच्छि** [पाठ में **इसितिरच्छि** मिलता है], **ईपच्चूयमाण** के स्थान पर **ईसिचुणिज्जन्त** मिलता है, **ईपद्धनुरित** (?) के लिए **ईसिचउरिम** व्यवहार में आया है। **ईपन्मुकुलायमान** का रूप **ईसिमउलन्त** हो गया है [पाठ

में **ईसिम्मुलन्त** मिलता है] आदि-आदि (मल्लिका० ७४, २ ; १२३, ५ ; १४१, ८ ; २२५, ८) ; महाराष्ट्री में **ईसिसि** भी चलता है :—**ईसीसिचलन्त** (हाल ३७०)। शौरसेनी में **ईसीसिजरढाअमाण** (कर्पूर० २८, १) शब्द आया है। शौरसेनी में **ईसीसि वेअणा समुप्पण्णा** (कर्पूर० ७३, ६) स्पष्टतः अशुद्ध रूप है। इसका शुद्ध रूप स्टेन कोनो ने सुधार कर **ईसिस** किया है। इस **इकार** का स्पष्टीकरण उन स्थलों के उदाहरणों से होता है जो पाणिनि ६, २, ५४ के अनुसार सन्धिवाले शब्दों में पहला शब्द **ईषत्** आने से अस्वरित होने के कारण अपना **अ**, **इ** में बदल देते हैं। इस विषय पर हेमचन्द्र २, १२९ भी देखिए। प्राकृतमंजरी में **इसि** रूप भी दिया गया है और यह रूप कई हस्तलिखित प्रतियों में भामह १, ३ ; मार्कण्डेय पन्ना ५ तथा बहुत से भारतीय संस्करणों में पाया जाता है। बोएटलिंक द्वारा सम्पादित शकुन्तला ४, ९ में **ईसीसि चुम्बिअ** रूप मिलता है। शौरसेनी में **ईस संकमिद** (जीवा० ४३, ८) रूप अशुद्ध है, इसके स्थान पर **ईसिसंकमिद** होना चाहिए। **ईषत् समीपेभव** का **ईसिसमीवेहोहि**, **ईषद् विलम्ब** का **ईसिविलम्बिअ** और **ईषद् उत्तानम् कृत्वा** के स्थान पर **ईसि उत्ताणम् कडुअ** रूप आये है (मल्लिका० ८७, १८ ; १२४, ५ ; २२२, ८) तथा जैनमहाराष्ट्री में **ईसिं हसिऊण** के स्थान पर **ईसि हसिऊण** रूप मिलता है (एत्सें० ५७, १७), क्योंकि अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्री में जब **ईषत्** स्वतन्त्र रूप से आता है और सन्धि होने पर बहुधा अनुस्वारित रूप का प्रयोग किया जाता है तब ऐसे अवसरों पर **ईषत्** का **ईसिम्** हो जाता है (ठाणंग० १२५ ; २९७ ; आयार० २, १५, २० [यहाँ पाठ में **ईसि–** रूप मिलता है], २१ ; २२ ; पण्णव० ८४६ ; जीवा० ४४४ ; ५०१ , ७९४ ; ८६० ; ओव० § ३३ ; ४९ भूमिका पेज ७ [सर्वत्र **ईसि** के स्थान पर यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; कप्प० § १५ ; आव० एत्सें० ४८, १४ , नायाध० १२८४; विवाह० २३९ ; २४८ ; ९२० [पाठ में यहाँ भी **ईसि** रूप दिया है] ; एत्सें०)। अर्धमागधी में **ईषत्क** के लिए **ईसि** मिलता है (नायाध० ९९०)।

§ १०३—इस नियम की नकल पर जैनशौरसेनी और अपभ्रंश मे **किध** रूप आया है (पव० ३८४, ४७ ; ३८८, २ और ५ , हेमचन्द्र ४, ४०१, १) और अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री तथा अपभ्रंश में **किह** रूप आया है (आयार० १, ६, १, ६; आव० एत्सें० १०, २३, २५, १८, ४६, ३१, एत्सें०; हेमचन्द्र ४, ४०१, ३)। वास्तव में यह शब्द वैदिक **कथा** से निकला है। इस नकल के आधार पर ही अपभ्रंश में **जिध**, **तिध**, **जिह**, **तिह** बन गये हे (हेमचन्द्र ४, ४०१)। ये शब्द **यथा** और **तथा** के रूप है। नकल के आधार पर ही इन शब्दों के अन्त में **आ** का **अ** हो गया है, जैसे अर्धमागधी, महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और अपभ्रंश में **जह**, **तह**, जैनशौरसेनी में **जध**, **तध** रूप भी बन गये हैं (§ १०३)। इसी प्रकार अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्री में **तस्याः** और **यस्याः** के **कीसे** और **किस्सा** की नकल पर (§ ४२५ और उसके बाद) **तीसे** और **जीसे** तथा महाराष्ट्री में **तिस्सा** और **जिस्सा** रूप आ गये हैं[१]। — **घस्ति** और **घसति** का **घिसइ** हो गया है (वररुचि ८, २८

[यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; हेमचन्द्र ४, २०४) । — महाराष्ट्री और अपभ्रंश शब्द **चंदिमा** (= चाँदनी ; वररुचि २, ६ ; हेमचन्द्र १; १८५ ; क्रम० २, २५ ; मार्कण्डेय पन्ना १४ ; पाइय० २४४ ; गउड० , हाल ६०९ [इसमें यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; रावण० ; हेमचन्द्र ४, ३४९) के विषय मे भारतीय व्याकरणकारों ने लिखा है कि यह रूप **चन्द्रिका** से निकला है तथा लास्सन[1], ई. कून[1], एस. गौल्दस्मित[1] और याकोबी[1] कहते हैं कि यह **चन्द्रमास्** से निकला है। इन विद्वानों के मत के विरुद्ध इस शब्द का लिंग और अर्थ जाते हैं। मेरे विचार से **चंदिमा** शब्द ***चन्द्रिमन्**[1] से निकला है जो हेमचन्द्र १, ३५ के अनुसार स्त्रीलिंग हो सकता है और **चन्द्रिमा** रूप में संस्कृत में भी बाद मे ले लिया गया था (पीटर्सबुर्गर कोश देखिए)। पाली **चन्दिमा** (कर्त्ता एकवचन), अर्धमागधी **चंदिम-** (निरया० ३८ ; ओव० ; कप्प०), अर्धमागधी और अपभ्रंश (कर्त्ताकारक) **चंदिमा** (सूय० ४३३ [पाठ मे **चंदमा** आया है] ; ४६० ; दस० ६२७, ११ ; पिंगल १, ३० [इसके पाठ मे भी **चंदमा** शब्द है]) । ये दोनों शब्द पुल्लिंग हैं तथा इनका अर्थ चाँद है। ये **चन्दिमा** (स्त्रीलिंग) शब्द से गौण रूप से निकले हैं और **चन्द्रमस्** के आधार पर ये नकल किये गये हैं। शौरसेनी मे **चन्द्रिका** का **चंदिआ** हो जाता है (चैतन्य० ४०, १५ ; अद्भुत० ७१, ९) ।—हेमचन्द्र १, ४९ और २६५ तथा मार्कण्डेय पन्ना १८ के अनुसार **सप्तपर्ण** के दो रूप होते हैं—**छत्तवण्ण** (वररुचि २, ४१; क्रम० २, ४६) और **छत्तिवण्ण**। भारतीय व्याकरणकार **सप्तपर्ण** शब्द में **सप्त** पर जोर देते हैं, इसलिए वे इसे **सप्तपर्ण** पढते है। किन्तु **सप्तन्** से यह पता चलता है कि अन्यत्र कहीं भी इसके सकार का छकार नहीं हुआ है, जहाँ आरम्भ मे **स** आता है वहाँ **अन्** से निकला हुआ **अ** कभी **इ** नहीं होता, जैसा **पंचम, सप्तम, अष्टम, नवम** और **दशम** के रूप **पंचम, सत्तम, अट्ठम, नवम** और **दसम** होते हैं आदि-आदि[1] (§ ४४९)। इसलिए **छत्तवण्ण सप्तपर्ण** नहीं हो सकता, बल्कि यह **छत्त्रपर्ण** से निकला कोई शब्द है और यह भी सम्भव है कि **छत्रीपर्ण**, जो **छत्री** शब्द से (हेमचन्द्र उणादिगण सूत्र ४४६) जो स्वय **छत्र** से आया है, बना है। अर्धमागधी, में यह शब्द **सत्तवर्ण** के रूप मे आया है (पण्णव० ३१ ; नायाध० ९१६ ; विवाह० ४१ और १५३०, ओव० § ६) और कहीं कहीं **सत्तिवण्ण** भी मिलता है (ठाणग० २६६ [टीका में **सत्तवण्ण** दिया गया है], ५५५, विवाह० २८९), यहाँ यह विचारणीय है कि यह पाठ शुद्ध है या अशुद्ध ! हो सकता है कि **छत्तिवण्ण** की नकल पर यह **सत्तिवण्ण** बना दिया गया हो। शौरसेनी में इसका रूप **छत्तवण्ण** है (शकु० १८, ५) और **सत्तवण्ण** भी मिलता है (प्रिय० १०, १३) ।—अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री में **पुव्विं** शब्द (आयार० १, २, १, २ और ३ तथा ४ ; सूय० २०२ ; २०३ [यहाँ पाठ में **पुव्वम्** दिया गया है] ; दस० ६४१, ४ ; नायाध० ; उवास०, ओव०, कप्प०, एर्त्से०) **पूर्वम्** का प्राकृत रूप नहीं है बल्कि यह ***पूर्वीम्** से निकला मालूम होता है। अर्धमागधी **पुव्वाणुपुव्विम्** (निरया० § १) से इसकी तुलना कीजिए। **पुव्वाणुपुव्विं** शब्द के बारे में वारन ने **पूर्व + आनुपूर्वीम्** संस्कृत

रूप दिया है।—अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **सद्धिं** (आयार० १, २, १ २, और ३ तथा ४; नायाध०; उवास०; ओव० § १५ और १६; कप्प०; एर्सें०) **सार्धम्** का प्राकृत रूप नहीं है बल्कि यह वैदिक शब्द **सर्ध्रीम्** से निकला है।—**अवतंस** और **अवतंसक** शब्दों में किस अक्षर पर जोर है इसका पता नहीं लगता। अर्धमागधी में इन शब्दों के रूप **वडिंस** (राय० १०२), **वडिंसग** मिलते हैं (सम० १०; १२; १६; २३; राय० १०३; १३९; विवाह० ४१; उवास०; ओव०; कप्प०), इनके साथ ही **वडिंसय** रूप आया है (उवास०; नायाध०; कप्प०)। इकार और आरम्भ के अकार का लोप (§ १४२) बताता है कि इस शब्द में अन्तिम अक्षर स्वरित होगा। इस नियम के अपवाद केवल अर्धमागधी में मिलते हैं, उसमें **कुणप** का **कुणिम** और **चिटप** का **चिणिम** (§ २४८) हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि इनमें अन्तिम अक्षर स्वरित हैं। महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी **णिडाल** तथा अर्धमागधी और महाराष्ट्री **णिलाड** (=ललाट) के लिए § २६० देखिए। अर्धमागधी **आइक्खइ** § ४९२ और **दिण्ण** के लिए § ५६६ तथा अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री **अघिणइ** के विषय में § ५५७ देखिए।

१. तिस्सा आदि षष्ठी रूप के बारे में फ्रांके का मत दूसरा है जो उसने नाखरिष्टन फौन डेर कोएनिगलिशे गेज़ेलशाफ्ट डेर विस्सनशाफ्टन त्सु गोएटिंगन १८९५, ५२९ के नोट में दिया है। — २. इन्स्टिट्यूत्सिओनेस पेज २०३। — ३. बाइत्रैगे पेज २२। — ४. रावणवहो पेज १५६, नोट संख्या १। — ५. कल्पसूत्र; कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५७३। — ६. पिशल, कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३४, ५७२। — ७. यह बात याकोबी ने कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५७२ में नहीं स्वीकार की है। — ८. पिशल, वेदिशे स्टुडिएन २, २३५।

§ १०४—ओष्ठ्य वर्णों के पहले और बाद में कभी कभी अ उ में परिणत हो जाता है :— **प्रथम** के **पुढम**, **पढुम** और **पुढुम** रूप मिलते हैं (चण्ड० ३, ९ पेज ४८; हेमचन्द्र १, ५५)। सभी प्राकृतों में साधारण रूप **पढम** है। महाराष्ट्री में यह रूप (गउड० ; रावण० ; हाल) मिलता है, अर्धमागधी में (आयार० २, २, ३, १८ ; २, ५, १, ६ ; सूय० ४५ ; उवास० ; नायाध० ; कप्प० ; निरया० आदि आदि); जैनमहाराष्ट्री में (कक्कुक शिलालेख १ ; एर्सें० ; कालका०) ; जैनशौरसेनी में (कत्तिगे० ३९८, ३०४ ; ४००, ३३२, ४०१, ३४२ और ३४४) ; शौरसेनी में (मृच्छ० ६८, २३ ; ९४, ३ ; १३८, १५ ; शकु० ४३, ६ ; ५०, १ ; ६७, ११ ; विक्रमो० २२, २०, २७, १३); मागधी में (मृच्छ० १३०, १३ और १८; १३९, १०; १५३, २१) ; दाक्षिणात्या में (मृच्छ १०२, १९) ; अपभ्रंश में (पिंगल १, १ ; १० ; २३ ; ४० आदि आदि)। **पुढम** महाराष्ट्री में आया है (हाल ८३२), शौरसेनी में (मुद्रा० १८२, ३ ; २०४, ४ और ६), मागधी में (मुद्रा० १८५, ४) मिलता है, किन्तु अधिकतर और मुद्राराक्षस की हस्तलिखित श्रेष्ठ प्रतियों में **पढम** मिलता है (२५३, ४)। एस. गौल्दश्मित्त द्वारा संपादित रावणवहो में कई बार **पढुम** आया है और एम. बौल्लेनसेन द्वारा संपादित विक्रमोर्वशी में भी आया है (२३, १९ ; २४, १.

८३, १९)। इस शब्द के विषय में भी हस्तलिखित प्रतियों में बहुत अंतर पाया जाता है और महाराष्ट्री, शौरसेनी तथा मागधी में यह शब्द सदा **पढम** पढ़ा जाना चाहिए। इसका पैशाची रूप **पथुम**[1] है (हेमचन्द्र ४, ३१६)। दक्षिण भारत की हस्तलिखित प्रतियाँ और उनके आधार पर छपे संस्करणों में अधिकतर **पुडम**[1] पाया जाता है।—**प्रलोकयति** का महाराष्ट्री में **पुलअइ, पुलएइ** और **पुलइअ** (वररुचि ८, ६९ ; हेमचन्द्र ४, १८१; पाइय० ७८; हाल ; रावण०), इस प्राकृत में **पुलोएइ, पुलोइअ** और साथ-साथ **पलोएइ, पलोइअ** रूप भी मिलते हैं (हेमचन्द्र ४, १८१ ; हाल ; रावण० ; प्रसन्न० ११३, १९), शौरसेनी में इस धातु के रूप **पुलोएदि, पुलोअंत, पुलोइद** और इसी प्रकार के अन्य रूप होते हैं (महावीर० ९९, ३ ; १००, १० ; बाल० ७६, १ ; वृषभ० १४, ९ ; १५, १ ; १७, १ ; २२, ९ ; ३४, २ ; ४२, १० ; ४८, १० ; ५५, ३ ; ५७, १ ; ५९, १७ ; प्रसन्न० ११, १४ ; १२, १ ; १३, १४ ; १६, १७ ; ३५, ७ ; ४१, ३ ; ११५, १७ [इसमें **पुलोवेदि** आदि पाठ हैं])।—**प्रावरण** का अर्धमागधी में **पाउरण** (हेमचन्द्र १, १७५ ; त्रिविक्रम० १, ३, १०५ ; आयार० २, ५, १, ५ ; पण्हा० ५३४ ; उत्तर० ४८९), पाली में **पावुरण** और **पापुरण** होता है। अर्धमागधी में **कर्णप्रावरणाः** का **कण्णपाउरणा** रूप मिलता है (पण्णव० ५६; ठाणंग० २६०); ***प्रावरणी**[1] का **पाउरणी** (= कवच, देशी० ६, ४३)।—**अर्पयति, अर्पित** का महाराष्ट्री में **उप्पेइ, उप्पिअ** (हेमचन्द्र १, २६९ ; गउड० ; कर्पूर० ४८, ४) होता है, किन्तु साथ-साथ **अप्पेइ, अप्पिअ, ओ॑प्पेइ, ओ॑प्पिअ** भी होते हैं (§ १२५ ; हेमचन्द्र १, ६३)।—अर्धमागधी में ***उन्मुग्ना** के स्थान पर **उम्मुग्गा** रूप चलता है (= गोते मारना ; आयार० पेज १५, ३२ ; २७, ९), इसके साथ साथ **उम्मग्गा** शब्द भी मिलता है (उत्तर० २३५), ***अवमाननिमग्नित** के लिए **ओमुग्गानिमग्गिय** रूप आया है (आयार० २, ३, २, ५)।—**कर्मणा, कर्मणः, कर्मणाम्** और **धर्मणा** का अर्धमागधी में **कम्मुणा, कम्मुणाओ, कम्मुणो** और **धम्मुणा** रूप पाये जाते हैं। इन्हीं शब्दों के जैनमहाराष्ट्री रूप भी **कम्मुणा** आदि हैं (§ ४०४)।—**पंचविंशति** का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **पणुवीसम्** और **पणुवीसा** हो जाता है (§ २७३)।—**वक्ष्यामि** का अर्धमागधी में **वोच्छम्** होता है जो ***वुच्छम्** से निकला है (§ १२५); महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **वो॑त्तुम्** रूप मिलता है जो **वक्तुम्** से निकले ***वुत्तुम्** की उपज है (§ ५२९ और ५७४)।— **व्रज्** के एक रूप **व्रज्यांति** का अपभ्रंश में **वुञ्जइ** और मागधी में **वञ्जदि** रूप हो गये हैं (§ ४८८)। **वह्य** का **वो॑ज्झअ, वो॑ज्झअमल्ल** हो गया है। वास्तव में **वुज्झअमल्ल** का **वोज्झअमल्ल** बना है (= बोझ ; देशी० ७, ८०), अर्धमागधी में इसका रूप **वो॑ज्झ** है (§ ५७२)।— **श्मशान** का **श्मुशान** होकर अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **सुसाण** बन गया है (हेमचन्द्र २, ८६ ; आयार० २, २, २, ८ ; पण्हा० १७७ ; ४१९ ; उत्तर० १००६; ओव०; कप्प०; आव० एर्त्से० ३१, २४), पर महाराष्ट्री और शौरसेनी में **मसाण** का प्रचलन है (वररुचि ३, ६; चंड० ३, २३; हेमचन्द्र

२, ८६ ; क्रमदीश्वर २, ५३ ; मार्कण्डेय पन्ना २१ ; पाइय० १५८ ; गउड० ; हाल ; कर्पूर० १०१, ७ ; मृच्छ० ९२, ८; १५५, ४ ; मालती० ३०, ४; २२४, ३; अनर्घ० २७९, १० ; चण्डकौ० ८६, ७ ; ९२, ११), मागधी में इस शब्द का रूप **मसाण** है (मृच्छ० १६८, १८ ; मुद्रा० २६७, २ ; चण्डकौ० ६१, ११ ; ६३, ११ ; ६४, ९ [इस स्थल में **मसाणअ** पाठ है] ; ६६, १३ ; ७१, ९ और ११)।—महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और अर्धमागधी **मुणइ** और जैनशौरसेनी **मुणदि** के विषय में § ४८९ देखिए और ध्वनि से निकले अपभ्रंश **झुणि** तथा शौरसेनी **धुणि** के लिए § २९९ देखिए। § ३३७ से भी तुलना कीजिए।

१. हेमचन्द्र १, ५५ पर पिशल की टीका।— २. पिशल, डी रेसेन्सिओनन डेर शकुन्तला पेज १३ ; पिशल द्वारा संपादित विक्रमोर्वशीय ६२९, २६; ६३०, १८ और २० ; ६३३, १८ ; पार्वती० २८, २२ [ग्लाजर का संस्करण] ; मल्लिका० १५२, १८ ; इसमें **पुढम** और ५६, ११ में **पढम** रूप मिलता है। हस्तलिखित प्रतियों की शौरसेनी में इस विषय पर भिन्न-भिन्न पाठों के बारे में (कहीं प- और कहीं पु-) माल्वि० २९, ५ और ६ तथा ७ देखिए।— ३. पिशल, बेत्सनबेर्गेर्स बाइत्रैगे ३, २४७।

§ १०५—कुछ बोलियों में अ में समाप्त होनेवाले कुछ संज्ञा शब्द अपने अन्त में उ जोड़ने लग गये हैं; ऐसे शब्द विशेषतः वे हैं जो ज्ञ- और ज्ञक-में समाप्त होने वाले हैं। महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी में इस ज्ञ का **ण्ण** हो जाता है और अर्धमागधी में **न्न** रूप भी मिलता है (हेमचन्द्र १, ५६ ; मार्क० पन्ना २०)। इस नियम के अनुसार महाराष्ट्री में **अकृतज्ञक** का **अकअण्णुअ** हो जाता है (हाल ; रावण०), **अज्ञक** का **अण्णुअ** हो जाता है (हाल), **अभिज्ञ** का **अहिण्णु** रूप बन जाता है (हेमचन्द्र १, ५६), किन्तु शौरसेनी में **अनभिज्ञ** का **अणहिण्ण** रूप मिलता है (शकु० १०६, ६ ; मुद्रा० ५९, १ [इस ग्रन्थ में **अणभिण्ण** पाठ है]) ; **आगमज्ञ** का **आगमण्णु** रूप हो गया है (हेमचन्द्र १, ५६)। **गुणज्ञक** का महाराष्ट्री में **गुणण्णुअ** रूप व्यवहार किया गया है (गउड०), **गुणअण्णुअ** रूप भी मिलता है (हाल), किन्तु शौरसेनी में **गुणज्ञ** का **गुणण्ण** हो गया है (कालेय० २५, २२)। अर्धमागधी में **दोषज्ञ** का **दोसन्नु** हो जाता है (दस० ६२७, ३६)। **प्रतिरूपज्ञ** का अर्धमागधी में **पडिरूवण्णु** रूप का व्यवहार किया गया है (उत्तर० ६९४), **पराक्रमज्ञ** का **परक्कमण्णु** मिलता है (सूय० ५७६ ; ५७८)। **विज्ञ** और **विज्ञक** का अर्धमागधी में **विन्नु** (आयार० २, १६, १ और २ ; सूय० २६) और महाराष्ट्री में **विण्णुअ** पाया जाता है (मार्क० पन्ना २०)। **विधिज्ञ** का अर्धमागधी में **विहिन्नु** रूप है (नायाध० § १८)। **सर्वज्ञ** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी में **सव्वण्णु** रूप मिलता है (हेमचन्द्र १, ५६; वज्जाल० ३२४, ९ ; आयार० २, १५, २६; विवाह० ९१६; अणुओग० ९५; ५१८; उत्तर० ६८९, दस० नि० ६५५, ८; ओव०; कप्प०; द्वारा० ४९५, ९; ४९७, ३८; एर्से०; पव० ३८१, १६;

पत्तिगे० ३९८, ४०२ और ४०३ [पाठ में सव्वणहु रूप दिया गया है]), किन्तु मागधी में सव्वञ्ज रूप मिलता है (हेमचन्द्र ४, २९३), पैशाची में यह रूप सव्वञ्ज मिलता है (हेमचन्द्र ४, ३०३) । इस विषय पर § २७६ भी देखिए। ऊपर लिखे गये शब्दों के अतिरिक्त नीचे दिये गये शब्द भी उ में समाप्त होते हैं।—अर्धमागधी में घ्रंस शब्द का घिंसु रूप मिलता है (§ १०१; सूय० २४९; उत्तर० ५८, १०९)। अर्धमागधी में जब प्राण शब्द एक निश्चित समय की अवधि बताता है तब[1] उसका पाणु रूप हो जाता है (विवाह० ४२३, अणुओग० ४२१ और ४३२; ओव०; कप्प०), आणापाणू रूप भी देखने में आता है (ठाणग० १७३; अणुओग० २४२; दस० नि० ६५४, २; ओव०) । अर्धमागधी में प्लक्ष शब्द का पिलंखु और पिलक्खु रूप होते हैं (§ ७४)। मंथ शब्द का अर्धमागधी में मंथु रूप आया है (आयार० १, ८, ४, ४ ; २, १, ८, ७ , उत्तर० २४९ ; दस० ६२२, ८; ६२३, १०) । म्लेच्छ शब्द का रूप अर्धमागधी में मिलक्खु हो जाता है (आयार० २, ३, १, ८; सूय० ५६ ; ५७ ; ८१७ [§ ८१६ में मिलुक्खुय पाट मिलता है]; ९२८ ; पण्णव० ५८, पण्हा० ४१ [पाठ में मिलुक्खु दिया गया है]। इस विषय पर वेबर के फैर्त्साइशनिस २, २, ५१० से तुलना कीजिए) । पाली में म्लेच्छ शब्द के मिलक्खु और मिलिच्छ दो रूप आते हैं (§ २३३) । अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और अपभ्रंश में इस शब्द का रूप मेंच्छ हो गया है तथा अर्धमागधी में मिच्छ (§ ८४) । पावासु और पवासु के लिए § ११८ देखिए। उपर्युक्त सभी शब्द अन्तिम वर्ण में स्वरित हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस स्वरितता पर स्वर का परिवर्तन निर्भर है। उ में परिणत होनेवाले शब्दों में आर्या शब्द भी है जिसका अर्थ सास होता है। इसका प्राकृत रूप अज्जू हो जाता है (हेमचन्द्र १, ७७) । आर्यका भी ऐसा ही शब्द है। इसका अर्थ है घर की मालकिन और शौरसेनी में इसका रूप अज्जुआ हो जाता है (मृच्छ० २७, २ और उसके बाद ; २८, २ और उसके बाद , २९, १ और उसके बाद , ३४, ४ , ३७, ३ और उसके बाद आदि आदि) , मागधी में अय्युआ रूप मिलता है (मृच्छ० १०, २ . ३९, २० और २४ तथा २५, ४०, २ और ४ तथा १०), अय्युका भी मिलता है (मृच्छ० १३, ८) । मागधी में अय्युआ का अर्थ माता है (शकु० १५७, ११) । इसके सम्बन्ध में चन्द्रशेखर पेज २०८ के अनुसार शंकर का मत है .—अज्जुका शब्दो मातरि देशीयः। अर्धमागधी आहु, उदाहु, अदक्खु, निण्णक्खु आदि के लिए § ५१६ देखिए।

१. लौयमान, औपपातिकसुत्त में पाणु शब्द मिलता है और विशेष कर अणुओग० ४३१ में।

§ १०६—अपभ्रंश में शब्द के अन्त में जो अ आता है वह संज्ञा के षष्ठी एक वचन में और इसी प्रकार बने हुए साधारण सर्वनामों के रूपों में, सर्वनाम के प्रथम और द्वितीय वचन में, आज्ञासूचक धातु के मध्यमपुरुष के एकवचन में, सामान्य और आज्ञासूचक धातु के मध्यमपुरुष बहुवचन तथा कुछ क्रियाविशेषणों को छोड़कर अन्यत्र उ में परिणत हो जाता है। सुजनस्य का सोअणस्सु रूप बन जाता है, प्रियस्य का

पिअस्सु, स्कन्धस्य का रान्धस्सु और फान्तस्य का फन्तस्सु रूप हो जाते हैं (हेमचन्द्र ४,३३८ और ३५४ तथा ४४५,३), तस्य, यस्य, कस्य का तस्सु, तासु, तसु, जासु, जसु, कसु, कासु और फसु रूप मिलते हैं (§ ४२५; ४२७, ४२८)। परस्य का परस्सु रूप हो जाता है (हेमचन्द्र ४, ३३८ और ३५४)। मम का महु और मज्झु रूप होते हैं। तव का *तहु होकर तउ हो जाता है, तव (=तेरा) का तुहु [यही पाठ होना चाहिए] और तुज्झु रूप बनते हैं (हेमचन्द्र)। पिव का पिउ हो जाता है (हेमचन्द्र ४, ३८३, १), पीवत का पिअहु (हेमचन्द्र ४, ४२२, २०) रूप मिलता है और भण का भणु (हेमचन्द्र ४, ४०१, ४, पिंगल १, १२० और इस ग्रन्थ मे सर्वत्र ही भण के स्थान पर भणु पाठ ठीक है)। शिक्ष का सिक्खु (हेमचन्द्र ४, ४०४), इच्छथ था इच्छहु, पृच्छथ का पुच्छहु (हेमचन्द्र ४, ३८४ और ४२२, ९), कुरुत का कृणुत होकर कुणहु (पिंगल १, ८९ और ११८), दयत का देहु (हेमचन्द्र ३८४ , पिंगल, १, १०), जानीत का जाणेहु (पिंगल १, ५ और १४ तथा ३८), विजानीत का विआणेहु (पिंगल १, २५ और ५०), नमत का णमहु (हेमचन्द्र ४, ४६) , अत्र, यत्र, तत्र का एत्थु, जॅत्थु, तॅत्थु (§ १०७ , हेमचन्द्र , पिंगल १, ११४) , यत्र, तत्र का जत्तु और तत्तु (हेमचन्द्र ४, ४०४), अद्य का अज्जु रूप होते हैं (हेमचन्द्र ४, ३४३, २ और ४१८, ७, इस ग्रन्थ मे जहाँ भी अज्ज पाठ है वहाँ अज्जु पढा जाना चाहिए (§ १०७)। कभी कभी ए के स्थान पर जो अ हो गया है, वह आता है। महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी में एॅत्थ बहुत अधिक आया है (पल्लवदानपत्र ५, ७) , दाक्षिणात्या (मृच्छ० १०२, १८, १०३, १६, १०५, १५), आवन्ती (मृच्छ० १०२, २५, १०३, ४), अपभ्रंश में एत्थु रूप हो जाता है (§ १०६)। ये सब रूप न तो अत्र से निकलते हैं (हेमचन्द्र १, ५७)[१] और न ही *इत्र[२] अथवा *एत्र[३] से बल्कि इनका सम्बन्ध इह से है, जैसा तह का तत्थ से, जह का जत्थ से तथा कह का कत्थ से। इसका तात्पर्य यह है कि यह शब्द *इत्थ से निकला है जो वेद म इत्था[४] रूप से आया है। अपभ्रंश इथी (गौल्दस्मित्त ने एथि पाठ दिया है), इथि (गौल्दस्मित्त का पाठ इत्थि है) जो अत्र के समान है (पिंगल १, ५ अ और ८६) और अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री तथा अपभ्रंश में वैदिक कथा (§ १०३) शब्द से किह रूप हुआ है तथा जैनशौरसेनी और अपभ्रंश में यह रूप किध भी मिलता है, अपभ्रंश में केॅत्थु और साथ-साथ किध तथा किह मिलते है। केत्थु मे व्यञ्जन का द्वित्व § १९४ के अनुसार हुआ है, इसके अतिरिक्त यहाँ (§ १०३ से तुलना कीजिए) सर्वनामो में बीच तथा अन्त के अक्षरों ने परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव डाला है।—महाराष्ट्री मे उक्केर (=ढेर और पुरस्कारः भामह १, ५, हेमचन्द्र १, ५८, क्रम० १, ४, मार्क० पन्ना ५, देशी० १, ९६, पाइय० १८; गउड०, कपूर० ६९, ६, विद्ध० ११, ६), जो शौरसेनी मे भी प्रचलित है (बाल० १२९, ६ और ७ , १६७, १०, २१०, २) जिसके समान ही एक शब्द उक्कर (चण्डकौ० १६, १७) महाराष्ट्री तथा अर्धमागधी में है (गउड०, नायाध०, कप्प०)

जो उत्कर्' से नहीं निकला है बल्कि लास्सन के मतानुसार या तो *उत्कर्य' से अथवा **उत्किरति** (=खींचता है) से इसका सम्बन्ध है। बालरामायण २३४, ९ में व्यतिकर के लिए **वइयर** शब्द सम्पादक ने दिया है, किन्तु शुद्ध रूप **वविअर** है (अनु० १३, २)।—महाराष्ट्री और शौरसेनी में **गेंदुअ** (विद्ध० ५६, २; ५८, ६; मल्लिका० १३४, २१ और २३ [पाठ में **गंदुअ** शब्द आया है]) तथा अपभ्रंश **गिंदु** (पिंगल १, १२५) फन्दुक से नहीं निकले हैं जैसा हेमचन्द्र ने १, ५७ और १८२ में इसकी व्युत्पत्ति दी है। महाराष्ट्री और शौरसेनी **फन्दुअ** शब्द इस फन्दुक, से निकला है (गउड० ७५२ ; मालवी० ६८, १०) बल्कि **गेण्डुई** (=खेल ; देशी० २, ९४) पाली **गिण्डुक** और संस्कृत में सम्मिलित **गेन्दुक**, **गिन्दुक**, **गेण्डु**, **गेण्डुक** और **गेण्डूक** शब्दों से सम्बन्धित हैं और *गिद् तथा *गिड् धातुओं से सम्बन्धित हैं जिनका वर्तमानकाल ***गिण्डइ** और *गेण्डइ (=खेलना) से सम्बन्धित हैं और जो धातु इस समय साहित्य में नहीं मिलता। इस शब्द की तुलना **झेण्डुअ** से कीजिए (=गेंद : देशी० ३, ५९)। इसी प्रकार **घेप्पइ** शब्द है जो ***घिप्पइ** के स्थान पर आता है। इसकी उत्पत्ति ग्रभ् (ग्रहणे —अनु०) से नहीं किन्तु किसी ***घृप्** धातु से है जो कभी काम में आता रहा होगा (§ २१२ और ५४८)। —**ढेंकुण** (=ढेंकी : देशी० ४, १४ ; त्रिविक्रम० १, ३, १०५, ६०) और **ढंकुण** (देशी० ४, १४) अर्धमागधी **ढिंकुण** के पर्यायवाची हैं (जीवा० ३५६ ; उत्तर० १०६४ [पाठ में **ढिंकण** शब्द आया है]), जिसकी सम्भावना संस्कृत शब्द **ढिंकक** से और भी बढ़ जाती है ; वास्तव में ***दंखुण** शब्द से निकला है, जो संस्कृत धातु ***दंश्** के **दंख्** रूप से निकला है (§ २१२ और २६७)[*]। — महाराष्ट्री **वेंल्लि** (=लता : भामह १, ५ ; हेमचन्द्र १, ५८ ; मार्कण्डेय पन्ना ५ ; गउड० ; हाल) संस्कृत **वल्लि** से नहीं निकला है बल्कि ***विरिलि** का रूप है। यह शब्द **वेंल्ला** (=लता), **वेंल्ल** (=केश, बच्चा, आनन्द : देशी० ७, ९४), **विल्ली** (=लहर : देशी० ७, ७३ ; त्रिविक्रम० १, ३, १०५, ८०), **वेल्लरी** (=वेश्या : ७, ९६), महाराष्ट्री और शौरसेनी **वेल्लिर** (=लहरानेवाला : गउड० १३७ , विद्ध० ५५, ८ [पाठ में **चवेल्लिर** शब्द आया है] ; बाल० २०३, १३), अपभ्रंश **उव्वेंल्लिर** (विक्रमो० ५६, ६), महाराष्ट्री और शौरसेनी **उव्वेंल्ल**, जो *उद्विलम के बराबर है, (§ ५६६ ; गउड० ; रावण० ; कर्पूर० ३७, ५; मालती० २०१, १ ; २५८, २ , महावीर० २९, १९) एक धातु ***विल्** (=लहराना) से निकले हैं। इस धातु से **वेलु** (=वेणु : § २४३) भी बना है[^]। महाराष्ट्री और शौरसेनी **वेल्लइ** तथा इसके संधि शब्द **उव्वेल्लइ**, **णिव्वेल्लइ** और **संवेल्लइ** (गउड०, हाल , रावण० ; प्रताप० ११९,११ ; बाल० १८०, ७ ; १८२, २ , विक्रमो० ६७, १९) , शौरसेनी **वेंल्लमाण** (बाल० १६८,३), **उव्वेंल्लिद** (रत्ना० ३०२,३१), **उव्वेल्लंत** (मालती० ७६, ३ ; १२५, ४ ; १२९, २) जो बाद में संस्कृत में ले लिये गये और बहुधा मिलते हैं, या तो **वेल्ल** = **विल्ल** से निकले हैं या *विल्यति, **विल्वति** से निकले हैं।— **सेज्जा** (=शय्या) **सिज्जा** से निकला है (§ १०१)।—महाराष्ट्री **सुहेंल्ली** (पाइय०

१५९ ; देशी० ८, ३६ ; हाल) खुद्दिल्ली का रूप है जो खुरत+प्रत्यय इल्ल का प्राकृत रूप है और इसका पर्यायवाची रूप खुद्दल्ली (देशी० ८, ३६) खुरत+अल्ल का प्राकृत है (§ ५९५), इस प्रकार से ही इनकी सिद्धि हो सकती है।[९]—अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री हेट्ठा (= अधस्तात् : सम० १०१ ; ओव० § १० और १५२ ; एर्त्से०) यह प्रमाण देता है कि कभी इसका रूप *अधेस्तात् भी रहा होगा। ऐसा एक शब्द पुरेक्खड है जो अपने रूप से ही बताता है कि यह कभी कहीं प्रचलित रूप *पुरेष्कृत से निकला है। यह तथ्य वेबर[१०] पहले ही लिख चुका है। रूप की व्युत्पत्ति इससे ही स्पष्ट होती है, पुरस्कृत से नहीं। पाली में मिलनेवाला शब्द अधस्तात् से अलग नहीं किया जा सकता ; इसलिए *अधेष्टा[११] रूप से हेट्ठा की व्युत्पत्ति बताना भ्रमपूर्ण है। अर्धमागधी अहे (= अधस्) और पुरे (= पुरस्) के लिए § ३४५ देखिए। हेट्ठा शब्द से महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और अर्धमागधी में हेट्ठ विशेषण बना है। इससे अर्धमागधी में हेट्ठम् रूप निकला है (हेमचन्द्र २, १४१ ; ठाणग० १७९, ४९२ ; [ग्रंथ में हेट्ठिम् पाठ है]), जैनमहाराष्ट्री में इसका हेट्ठेण रूप पाया जाता है (एर्त्से०), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में हेट्ठओ मिलता है (विवाग० १४३ ; एर्त्से०)। इस शब्द का रूप पाली में हेट्ठतो है। महाराष्ट्री में हेट्ठम्मि रूप भी आया है (हाल ३६५), जैनमहाराष्ट्री में हेट्ठयम्मि मिलता है (एर्त्से०), हेट्ठट्ठिअ (हेमचन्द्र ४, ४४८) और हिट्ठ (देशी० ८, ६७) तथा हिट्ठम् (ठाणग० १७९; [ग्रन्थ में हिट्ठिं पाठ है])। इसमें § ८४ के अनुसार ए का इ हो गया है। इनके अतिरिक्त जैसा पाली में पाया जाता है, अर्धमागधी में भी चरमतासूचक हेट्ठिम शब्द भी मिलता है (ठाणग० १९७; सम० ६६ ; ६८ ; ७२ ; विवाह० ५२४ ; ५२९ ; १४१२ , अणुओग० २६६)। हेट्ठिमय (विवाह० ८२), हिट्ठिम (पण्णव० ७६ ; ठाणग० १९७ ; उत्तर० १०८६) और एक बार बार मिलनेवाला विशेषण, अर्धमागधी में मिलता है, वह है हेट्ठिल्ल रूप (ठाणग० ३४१ ; ५४५ ; सम० १३६ और उसके बाद ; पण्णव० ४७८ ; नायाध० ८६७ ; विवाह० १२८ ; ३४७ ; ३९२ और उनके बाद ; ४३७ , ११०१ ; १२४० ; १३३१ और उसके बाद; १७७७ ; अणुओग० ४२७ और उसके बाद, जीवा० २४० और उसके बाद; ७१० ; ओव०)। इस सम्बन्ध में § ३०८ भी देखिए। —अपभ्रंश हेल्लि (= हे सखी : हेमचन्द्र ४, ३७९, १ और ४२२, १३), जैनमहाराष्ट्री हले, अपभ्रंश हलि और महाराष्ट्री तथा शौरसेनी हला (§ ३७५) *हलिल्ली और * हर्लि से निकले हैं। इनमें § १९४ के अनुसार ल का द्वित्व हो गया है।

१. चाइल्डर्स का भी यह मत है ; एस. गौल्दस्मित्त, प्राकृतिका पेज ६। — २. लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस पेज १२९; योहानसोन, शाहबाजगढ़ी १, १३३। — ३. फौसब्यौल, धम्मपद पेज ३५०। — ४. पिशल, वेदिशे स्टुडिएन २, ८८। — ५. ब्यूलर, पाइयलच्छी। — ६. इन्स्टिट्यूत्सिओनेस पेज ११८। — ७. पिशल, बेत्सेनबैर्गेर्स बाइत्रैगे ३, २५५। — ८. पिशल, बेत्सेनबैर्गेर्स बाइत्रैगे ३, २६३। इस विषय पर योहानसोन, इंडिशे फौर्शुंगन

३, २४९ भी देखिए। — ९. इस शब्द की व्युत्पत्ति सुरत-केलि से देना जैसा वेबर ने हाल पेज ४० में कई टीकाकारों के मतों को उद्धृत करके दिया है, असम्भव है। — १०. भगवती १, ४०४, इस सम्बन्ध में ई० कून, बाइत्रेगे पेज २१। — ११. योहानसोन, इंडिशे फौर्शुंगन ३, २१८। पाली में पुरे, पुरेक्खार, स्वे, सुवे आदि शब्द मिलते हैं, इसलिए इस मत की कोई आवश्यकता नहीं है कि पाली से पहले भी ए का व्यवहार होना चाहिए।

§ १०७—आ कभी कभी उन अक्षरों में इ हो जाता है जो स्वरित वर्णों के बाद आते हैं। यह परिवर्तन विशेष कर सर्वनामों के षष्ठी कारक बहुवचन और परस्मैपद धातु के सामान्य रूप के उत्तमपुरुष बहुवचन में होता है। महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और अपभ्रंश में बहुधा यह देखा जाता है। तेषाम् का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में तेसिं हो जाता है, तासाम् का तासिं, एतेषाम् का एएसिं, एतासां का एयासिं, येषां का जेसिं, यासां का जासिं, केषां का केसिं मूल शब्द इम का इमेसिं, इमासिं, अन्येषां का अण्णेसिं और अन्यासाम् का अण्णासिं रूप बन जाते हैं। इनकी नकल पर अन्य सर्वनामों के रूप भी ऐसे ही बन गये और चलने लगे। महाराष्ट्री में कभी कभी एषाम् का एसिं, परेषाम् का परेसिं और सर्वेषाम् का सव्वेसिं हो जाता है (§ ४२० और उसके बाद)[1]।— जल्पामः का महाराष्ट्री में जंपियो बन जाता है, महाराष्ट्री और अर्धमागधी में वंदामहे का वंदिमो, अपभ्रंश में लभामहे का लहिमु होता है आदि आदि। महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में नमामः का नमिमो रूप मिलता और भणामः का भणिमो। इन रूपों की नकल पर पृच्छामः का पुच्छिमो, लिखामः का लिहिमो, *श्रुणामः का सुणिमो आदि रूप बन गये (§ ४५५)[1]। महाराष्ट्री में धातु के सामान्य रूप में उत्तमपुरुष एकवचन के वर्तमानकाल और अपभ्रंश में सामान्य रूप वर्तमान और भविष्यकाल में भी कभी कभी यह परिवर्तन हो जाता है (§ ४५४, ५२०)। व्याकरणकारों ने प्राकृत धातुओं के कुछ ऐसे रूप बताये हैं जो -अमि, -अम, -इम, -आमो और -अमु में समाप्त होते हैं। इनमें से -अमि में समाप्त होनेवाले रूप जैनमहाराष्ट्री और अपभ्रंश में मिलते हैं (§ ४५४)। साहाय्य का महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में जो साहिज्ज और साहेज्ज रूप मिलते हैं जो इस नियम के अनुसार ही बनते हैं (पाइय० २१८, गउड० ११२६, विवाह० ५०२, एर्त्से०)[2]।

१. पिशल, कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३४, ५७०, याकोबी, कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५७४। इस लेख में याकोबी ने भूल से बताया है कि मैंने केवल तीन उदाहरण दिये हैं, किंतु मैंने पाँच उदाहरण दिये थे। उसने इस तथ्य की ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया कि त-, एत-, य-, क- और इम- की षष्ठी का बहुवचन ही प्रयोग में अधिक आते हैं, अन्य सर्वनामों के बहुत कम मिलते हैं। वह स्वयं इ का शब्द में आ हो जाने का कोई कारण न बता सका। — २. याकोबी, कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५७४ से पता चलता है कि उसका विश्वास

है कि मैंने कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३४, ५७१ में जो उदाहरण दिये उनसे अधिक उदाहरण नहीं मिल सकते। **गणिमो** और **जाणिमो** के विषय में उसका मत भ्रामक है। इस सम्बन्ध में § ४५५ भी देखिए। याकोबी का विचार है कि **-इमो** प्रत्यय किसी अपभ्रंश बोली से आया है लेकिन अभी तक अपभ्रंश बोलियों में **-इमो** मिला ही नहीं। — ३. याकोबी, कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५७३ और ५७५ के अनुसार यहाँ ज्ञ होना चाहिए जैसा **सिज्ञा, निसिज्ञा, मिंजा** में इसके कारण ही इ बन गया है। यह विचार पुराना है जो वेबर ने हाल[1] पेज ३८ में दिया है। यहाँ पर वेबर का मत है कि इ य के प्रभाव से आया है। वास्तविकता यह है कि ज्ञ का उक्त स्वर पर नाममात्र का भी प्रभाव नहीं है। इस सम्बन्ध में § २८० ; २८४ और २८७ भी देखिए।

§ १०८—कभी-कभी अ (§ १०१) के समान **आ** भी स्वरित वर्ण से पहले मे बदल जाता है और यह स्पष्ट ही है कि पहले **आ** का **अ** होता है। इस प्रकार हेमचन्द्र १, ८१ के अनुसार **-मात्र** का **-मत्त** और **-मेत्त** हो जाता है। **मेत्त** होने से पहले **मित्त** रूप हो जाता होगा, जैसे अर्धमागधी में **वितस्तिमात्र** का **विहत्थिमित्त** रूप मिलता है (सूय० २८०), **इत्थामात्र** के लिए **इत्थामित्त** आया है (सूय० ३३९), **विज्ञातपरिणयमात्र** के स्थान पर **विन्नायपरिणयमित्त** रूप है (नायाध० § २७ ; कप्प० § १० ; ५२ ; ८०) और **स्वादनमात्र सायणमित्त** हो जाता है (कप्प० § २६)। **मेत्त** के साथ प्रायः सर्वत्र **मित्त** रूप चलता है (गउड० ; हाल ; रावण०), अर्धमागधी मे (विवाह० २०३ ; २०४ ; ४५२ ; १०४२), जैनमहाराष्ट्री मे (एर्त्से० ; कालका०), शौरसेनी मे (शकु० ३९, १२ ; ६०, १५ ; ९६, २ ; विक्रमो० ७, १२ ; ४१, १३ ; ८०, १३ ; ८४, ६ ; उत्तर० २१, १० ; १००, १ आदि आदि), मेत्तक रूप भी मिलता है (शकु० ३१, ११ [यहाँ यही पाठ शुद्ध माना जाना चाहिए] ; ७६, ७), **अतिमात्रम्** के लिए अदिमेत्तं आया है (मृच्छ० ८९, ४ ; ९०, १३ और २१), मागधी मे **जातमात्रक** के लिए **यादमेत्तक** रूप चलता है (मृच्छ० ११४, ८)[1]। **महामेत्थ** (= **महामात्रक**) और **मेत्थपुरिस** के सम्बन्ध में § २९३ देखिए। -**भ्रासति** का ***भासंति** और इसका ***भसंति** तब **भसइ** रूप आया और फिर यह छठे वर्ग का धातु बन गया (§ ४८२)। **ग्राह्य** और **दुर्ग्राह्य** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी मे **गेज्झ** और मागधी में **दुग्गेज्झ** तथा अपभ्रंश मे **दुग्गेज्झ** वर्तमानकाल से बने हैं अर्थात् ***गृह्य** और ***दुर्गृह्य** से निकले हैं और इस कारण इनका रूप कभी ***गिज्झ** और ***दुग्गिज्झ** रहा होगा (§ ५७२)।—**शाल्मली** का अर्धमागधी मे **सामली** और बोलचाल में **सामरी** रूप भी है (§ ८८)। इसके साथ साथ पाया जानेवाला रूप **सिम्बली** (पाइय० २६४ ; देशी० १, १४६; विवाह० ४४७ ; उत्तर० ५९० [टीका मे शुद्ध रूप आया है] ; दस० ६२१, ५ [पाठ में **संबली** है]) और **णक्कसिंबली** (= **शाल्मलीपुष्पैर् नवफलिका** : देशी० ४, १४६), वैदिक **सिम्बल** (= रुई

के पेड का फूल[2]] से निकला है, संस्कृत से नहीं। **कुप्पिस** और **कुप्पास** शब्द (हेमचन्द्र १, ७२) बताते हैं कि संस्कृत शब्द **कूर्पास** रहा होगा।

१. ब्रुगमान, कून्स त्साइटश्रिफ्ट २७, १९८ से तुलना कीजिए। — २. सायण ने यह अर्थ दिया है जिसकी पुष्टि गेल्डनर ने वैदिशे स्टुडिएन २, १५९ में की है। वैदिक **शिम्बलि** का उल्लेख ब्यूलर ने **शिम्बलिम्** रूप से पाइयलच्छी में किया है।

§ १०९—कृदन्त वर्तमानकाल आत्मनेपद के प्रत्यय **–मान** का **आ** कभी कभी **इ** हो जाता है। इस प्रकार महाराष्ट्री में **मिल्** धातु से **मेलइ** बनकर **मेलिण** (= **मेली**) बन जाता है। विशेष कर बहुत पुरानी मागधी में ऐसे शब्द मिलते हैं, जैसे **आगममीण**, **समणुजाणमीण** और **आढायमान** आदि आदि (§ ५६२)। —**खल्वाट** का **खल्लीड** रूप हो जाता है (हेमचन्द्र १, ७४)। यह शब्द **खल्लीट** और **खल्लिट** रूप में बाद को संस्कृत में ले लिया गया। ऐसा पता चलता है कि संस्कृत शब्द मूल में **खल्वाट** होगा (पाणिनि ५, २, १२५; हेमचन्द्र उणादिगणसूत्र १४८)। अपभ्रंश रूप **खल्लिहडउं** (हेमचन्द्र ४, ३८९) में § २४२ के विपरीत **ट** होकर (§ २०७) **ड** रह गया। इस सम्बन्ध में § १३८ भी देखिए।

§ ११०—**सास्ना** शब्द का **सण्हा** बन कर **सुण्हा** रूप हो गया। इसमें **आ** **उ** में बदल गया है। **थुवअ** (हेमचन्द्र १, ७५) **स्तावक** का रूप नहीं है, बल्कि ***स्तुवक** से निकला है जो **स्तुवन्** का वर्तमानकाल का प्राकृत रूप **थुव-** से बना है। इस धातु से ही कर्मवाच्य **थुव्वइ** बन गया है (§ ४९४)।—महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी **उल्ल** (हेमचन्द्र १, ८२; पाइय० १८५; गउड०; हाल; प्रचण्ड० ४७, ६; आयार० २, १, ६, ५ और ६; २, १, ७, १; २, ३, २, ६ और ११ तथा १२ [इस स्थल में **उदुल्ल** शब्द है]; उत्तर० ७५८; कप्प०; मालती० २०७, ६ [**रसोॅल्लोॅल्ल**]), महाराष्ट्री **उल्लअ** (रावण०; विक्रमो० ५३, ६ [यहाँ **जलोॅल्लअ** पढा जाना चाहिए जो शब्द बम्बई के संस्करण में ८९, ३ में मिलता है]), महाराष्ट्री **उल्लेइ** (गउड०; हाल), जैनमहाराष्ट्री **उल्लेॅत्ता** (एर्त्से०), अर्धमागधी **उल्लण** और **उल्लणिया** (उवास० और § १२५ के अनुसार **ओॅ** के साथ महाराष्ट्री और अर्धमागधी **ओॅल्ल** (हाल; रावण०; कर्पूर० २७, १२; ६९, ४; ९४, ६; ९५, ११; दस० ६१९, १८; ६२२, ८), महाराष्ट्री **ओॅल्लअ** (रावण०), **ओॅल्लेइ** (हाल), **ओॅल्लण** (रावण०); शौरसेनी **ओॅल्लविद** (मृच्छ० ७१, ४) **आर्द्र** से नहीं निकले हैं जैसा हेमचन्द्र का मत है, पर ये शब्द वेबर[1] के मतानुसार **उद्**, **उन्द** से सम्बन्धित हैं जिनका अर्थ भिगाना है। इनसे ही **उदन्** और **उदक** निकले हैं, ***उद्र** के पर्यायवाची हैं जिसके नाना रूप **उद्र** (ऊद [बिलाव]), **अनुद्र** (बिना पानी), **उद्रिन्** (पानीवाला) हैं। उक्त सभी शब्दों के मूल में ***उद्र** शब्द है[1]।—**आर्द्र** का रूप महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **अद्द** होता है (हेमचन्द्र १, ८२; मार्कण्डेय पन्ना २२; गउड०; कर्पूर० ४५, ७; ओव०; एर्त्से०; बाल० १२५, १३), महाराष्ट्री और अर्धमागधी में इसका रूप **अल्ल**

भी मिलता है (हेमचन्द्र १, ८२ ; मार्कण्डेय पन्ना २२ ; हाल ; निरया० ; उवास०)। —अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री शब्द **देवाणुप्पिय** जैसा वेबर[1], लौयमान[2], वारन[3], स्टाइनटाल[4] और याकोबी[5] का मत है कि **देवानांप्रिय**[6] का प्राकृत रूप है वह ठीक नहीं है ; यह शब्द **देवानुप्रिय** का प्राकृत रूप है जो **देव+अनुप्रिय** की संधि है। पाली में **अनुप्पिय**[9] शब्द पाया जाता है। **ऊसार** (=वर्षा ; हेमचन्द्र १, ७६) **आसार** से नहीं निकला है। **आसार** तो महाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश में **आसार** रूप में ही प्रचलित है (गउड० ; रावण० ; चंडकौ० १६, १८ ; विक्रमो० ५५, १७) बल्कि **उत्सार** का रूप है। **आर्या** का **अज्जू** रूप के लिए § १०५ देखिए।

१. त्साइटुंग डेर डोयत्शन मोर्गेनलेंडिशन गेज़ेलशाफ्ट २६, ७४१ ; हाल ; हाल १ में अशुद्ध है। गउडवहो ५२७ में हरिपाल की टीका में आया है ; उल्लिअं इति देशीधातुर् आर्द्रीभावे। — २. पी० गौल्दश्मित्त, स्पेसिमेन २, ८ पेज ८४। — ३. भगवती १, ४०५। — ४. औपपातिक सूत्र ; वीनर त्साइटश्रिफ्ट फ्यूर डी कुण्डे डेस मौर्गेनलांडेस ३, ३४४। — ५. निरयावलियाओ। —६. स्पेसिमेन। — ७. कल्पसूत्र और औसगेवैल्टे एर्सेलुंगन इन महाराष्ट्री ; इस विषय पर ई० म्युलर, बाइत्रैगे पेज १५ से भी तुलना कीजिए। — ८. उवासगदसाओ, परिशिष्ट ३, पेज ३१। — ९. मौरिस, जोर्नल ऑफ द पाली टेक्स्ट सोसाइटी, १८८६, पेज ११७।

§ ११४—अर्धमागधी **पारेवय** (हेमचन्द्र १, ८० ; पण्णव० ५४, ५२६ ; जीवा० ४५९ ; राय० ५२ [पाठ में **परेव** है] ; उत्तर० ९८१), **पारेवयग** (पण्हा० २४ , ५७), स्त्रीलिंग **पारेवई** (विवाग० १०७) पाली में **पारेवत** है। यह शब्द महाराष्ट्री **पारावअ** का दूसरी बोलियों में थोड़ा बहुत बदला हुआ रूप है (हेमचन्द्र १, ८० ; पाइय० १२४ , गउड०, हाल , कर्पूर० ८७, १०)। शौरसेनी में इसका रूप **पारावद** हो गया है (मृच्छ० ७१, १४ , ७९, २४ , ८०, ४ , शकु० १३८, २ ; विद्ध० १११, ३) , यह शब्द संस्कृत और पाली में **पारापत** है। **पारे** सप्तमी का रूप है, जैसे **पारेगंगम्** , **पारेतरंगिणि** आदि। अर्धमागधी **पारेवय** (= खजूर का पेड़ . पण्णव० ४८३ , ५३१) का मूल संस्कृत रूप **पारेवत** है ।—अर्धमागधी में **पश्चात्कर्मन्** का **पच्छेकम्म**– रूप मिलता है (हेमचन्द्र १, ७९)। यह रूप वास्तव में **पुरेकम्म**– की नकल पर बनाया गया है (§ ३४५)। पण्हावागरणाइ ४९२ में **पच्छाकम्मं** और **पुरेकम्मं** रूप मिलते हैं। **देर** (=दरवाजा : हेमचन्द्र १, ७९) जिसके अन्य रूप **दार, वार, दुवार, दुआर** (§ २९८ ; ३०० , १३९) सिंहली रूप **देर** के समान है, संभवतः किसी *द्वर्य से निकला है जो कभी किसी प्रांत में बोला जाता रहा हो। इस विषय पर **दरी** शब्द विचारणीय है, जिसका अर्थ गुफा होता है। **उक्कोस** जिसे टीकाकार उत्कर्ष से निकला बताते हैं तथा वेबर[1] जिसका एक रूप *उक्कास भी देता है और जिसे वारन[2] लेख की निरी अशुद्धि समझता है, उसका मूल *उत्कोष है जो **कुष् निष्कर्षे** से निकला है (धातुपाठ ३१,४६)। यह **कुष्** संस्कृत में **उद्** के साथ नहीं मिलता। साधारणतः **उक्कोसेणम्** और **जह-**

सेणम् शब्द मिलते हैं (अणुत्तर० ३, ठाणंग० १०६ ; १३३ ; सम० ८ ; ९ ; ११ ; पण्णव० ५२ ; २०५ और उसके बाद ; विवाह० २६ और उसके बाद ; ५९ ; ६० ; १४३ ; १८२; ५७२ और उसके बाद ; ३५८ ; २७३ आदि आदि ; जीवा० १८ ; ३५ ; ३९ ; ४९ आदि आदि ; अणुओग० १६१ और उसके बाद ; ३९८ और उसके बाद ; उत्तर० २०१ ; ओव०)। **उक्कोसेणम्** का अर्थ 'अति उत्तमता से' और 'अति' है तथा **जहन्नेणम्** का 'कम से कम' है। कभी इसके स्थान पर **उक्कोसम्** आता है (विवाह० १८० ; ३७१ ; ३९० ; उत्तर० ३१२ और उसके बाद)। विशेषण के रूप में (पण्हा० १२९) यह **मज्झिम और जहन्न** के साथ पाया जाता है (ठाणंग० १२८ ; १४१ ; १५२ ; १५५)। व्याकरणकार (हेमचन्द्र ८, २५८ ; त्रिविक्रम० ३, १, १३२) और उनके टीकाकार इसका अर्थ 'उत्कृष्ट' देते हैं। **उक्कोसिय** (ठाणंग० ५०५ ; विवाह० ८३ ; ९३ ; उत्तर० ९७६ ; कप्प०) न तो वेबर[3] के अर्थ 'उत्तर्षित' और न ही याकोबी[4] के 'उत्कृष्ट' का पर्यायवाची प्राकृत रूप है, किन्तु * **उत्कोषित** है। **धावति** के रूप **धोवइ** के सम्बन्ध में § ४८२ देखिए।

१. भगवती १, ४४३ ; इस विषय पर लौयमान का औपपातिक सूत्र भी देखिए। — २. ओवर डे गौड्सडीन्स्टिगे पुन वीसगेरिगे बेग्रिप्पन डेर जैना ज (त्सवौल्ले १८७५) पेज ४३ नोट १। — ३. भगवती १, ४४३। — ४. कल्पसूत्र।

§ ११३—क्रियाविशेषणों में अन्तिम अस्वरित **आ** महाराष्ट्री में बहुधा और स्वयं कविता में भी, तथा अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और अपभ्रंश में कभी कभी ह्रस्व हो जाता है (सब व्याकरणकार ; § ७९) ; **अन्यथा** का महाराष्ट्री में **अण्णह** हो जाता है (हाल), इसके साथ-साथ जैनमहाराष्ट्री और महाराष्ट्री में **अण्णहा** भी पाया जाता है (गउड० ; कालका०), जैनशौरसेनी में **अण्णधा** रूप मिलता है (मृच्छ० २४, ४ , ५१, २४ , ५२, १३ ; ६४, २५ ; शकु० ५२, १६ ; ७३,८ ; ७६, ५ ; विक्रमो० १८, ८ , ४०,१६), मागधी में भी यही रूप है (मृच्छ० १६५, ४)। महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **यथा** और **तथा** के **जह** और **तह** रूप हैं (गउड० ; हाल , रावण० , उवास० ; कप्प० , एर्त्से०; कालका०)। जैनशौरसेनी में **जध** (पव० ३८६, ४ ; ३८७, २४ [इस स्थान में जह पाठ है]) । अपभ्रंश में **जिह, जिध, तिह** और **तिध** रूप मिलते हैं (हेमचन्द्र ४, ४०१)। इनमें जो **इ**कार आया है वह अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और अपभ्रंश **किह** की नकल पर। जैनशौरसेनी और अपभ्रंश में **किध** भी मिलता है जो वैदिक **कथा** का प्राकृत रूप है। वास्तव में इसके कारण ही महाराष्ट्री **कह** और प्राकृत **जह** और **तह** में अ आया है (गउड० ; हाल ; रावण० ; § १०३)। शौरसेनी और मागधी में गद्य में केवल **जधा** और **तधा** रूप पाये जाते हैं (मागधी रूप **यधा** है)। इन प्राकृतों में **कधा** नहीं बल्कि गद्य में **कधम्** रूप आया है। आवन्ती में पद्य में **जह** आया है (मृच्छ० १००, १२)। मृच्छकटिक १२३, ७ में मागधी में जो **तह** शब्द आया है, वह प्रतियों में **तध** पढ़ा जाना चाहिए और जैनशौरसेनी में भी यही

पाठ होना चाहिए ।—महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और अर्धमागधी में **वा** का **व** हो जाता है (गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्से० ; काल्का०; दस० ६१८, २५ ; ६२०, ३२ और ३३) । शौरसेनी और मागधी में गद्य में **वा** ही होता है । कविता में मात्रा की आवश्यकता के अनुसार ह्रस्व या दीर्घ **व** या **वा** काम में लाया जाता है। एक ही पद में दोनों रूप मिल जाते हैं जैसे, महाराष्ट्री में **जह...ण तहा** (हाल ६१) । जैनमहाराष्ट्री में **किं चलिओ व्व...किं वा जलिओ** (एर्से० ७१, २२) है । जैन-शौरसेनी में **गुणे य जधा तध वंधो** (पव० ३८८, ४८) है। अर्धमागधी में **पडिसेहिए व दिन्ने वा** (दस० ६२२,३७) है। महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और अर्धमागधी में **सदा** का **सइ** हो जाता है (वररुचि १,११ , हेमचन्द्र १, ७२ ; क्रम० १, १०९; मार्कण्डेय पन्ना ७ , पाइय० ८७ ; गउड० ; रावण० ; प्रताप० २२५, १४ ; अच्युत० १ ; २० ; २२ ; ६२ , ६६ ; ६९ , ९३ ; दस० ६२२, २३ ; काल्का० २५९, २४[१]); इसमें **इ** नियम के अनुसार (§ १०८) आ गयी है। महाराष्ट्री में **सआ** रूप भी पाया जाता है पर बहुत कम (हाल ८६१) । भामह १, ११ में बताया गया है कि **यदा** का **जइ** और **तदा** का **तइ** हो जाता है । इससे पता लगता है कि ये शब्द कभी इस प्रकार रहे होंगे : *यदा और *तदा जैसा ऋग्वेद में नकारात्मक शब्दो के बाद आने पर **कदा** का **कदा** हो जाता है । और इस स्वरित शब्द पर ही महाराष्ट्री **कइ** (हाल) का आधार है और इसका प्रभाव **जइ** और **तइ** पर भी पड सकता है। **तइयम्** शब्द याकोबी[२] ने **तदा** के लिए दिया है और यह उदाहरण उसने यह बताने को दिया है कि अन्तिम वर्ण स्वरित होने से **आ** का **इ** हो जाता है, किन्तु मुझे यह *शब्द ही नहीं मिला । यदि यह शब्द कहीं मिलता हो तो यह कहा जा सकता है कि* § ११४ के अनुसार **तइआ** का दूसरा रूप है जो **कइआ** और **जइआ** के साथ महाराष्ट्री में प्रयोग में आता है (वररुचि ६, ८ , हेमचन्द्र ३,६५ , मार्कण्डेय पन्ना ४६ , गउड०; हाल , रावण० , केवल **कइआ**, अच्युत० ८६ , ९१ , अर्धमागधी **तइया** उत्तर० २७९ , **जइया** कहीं नहीं पाया जाता है)। इनकी उत्पत्ति ***कयिदा**, ***ययिदा** और **तयिदा** से है जो **कया**, **तया** और **यया + दा** से हैं (§ १२१)। यह रूप परिवर्तन भी नियम के अनुसार ही है । **कृत्वा** और **गत्वा** के स्थान पर शौरसेनी, मागधी और ढक्की में **कदुअ** और **गदुअ** रूप होते हैं, ये पहले ***कदुवा** और ***गदुवा** रहे होंगे ।

१. याकोबी ने इसे **स्वयं** का पर्यायवाची बताया है जो अशुद्ध है। — २. कून्सं त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५७५ , यह शब्द याकोबी ने हेमचन्द्र के अन्त में दी हुई शब्द-सूची से लिया है। वहाँ **तइयम् = तृतीयम्** के नीचे ही **तइआ = तदा** दिया हुआ है ।

§ ११३—अन्तिम **आ** अथवा शब्द के अन्तिम व्यञ्जन के लोप हो जाने पर उसके स्थान पर आये हुए क्रियाविशेषण का **आ** कुछ बोलियों में अनुस्वार हो जाता है और अपभ्रंश में अनुनासिक । महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **यथा** का **जहा** और अपभ्रंश में **जिहां** रूप *मिलता है* (हेमचन्द्र ४, ३३७) ।—*सब बोलियों के*

ण्णेणम् शब्द मिलते हैं (अणुत्तर० ३, ठाणग० १०६ ; १३३ ; सम० ८ ; ९ ; ११ ; पण्णव० ५२ ; २०५ और उसके बाद ; विवाह० २६ और उसके बाद ; ५९ ; ६० ; १४३ ; १८२; ५७२ और उसके बाद ; ३५८ ; ३७३ आदि आदि ; जीवा० १८ ; ३५ ; ३९ ; ४९ आदि आदि ; अणुओग० १६१ और उसके बाद ; ३९८ और उसके बाद ; उत्तर० २०१ ; ओव०)। **उक्कोसेणम्** का अर्थ 'अति उत्तमता से' और 'अति' है तथा **जहन्नेणम्** का 'कम से कम' है। कभी इसके स्थान पर **उक्कोसम्** आता है (विवाह० १८० ; ३७१ ; ३९० ; उत्तर० ३१२ और उसके बाद)। विशेषण के रूप में (पण्हा० १२९) यह **मज्झिम** और **जहन्न** के साथ पाया जाता है (ठाणग० १२८ ; १४१ ; १५२ ; १७५)। व्याकरणकार (हेमचन्द्र ४, २५८ ; त्रिविक्रम० ३, १, १३२) और उनके टीकाकार इसका अर्थ 'उत्कृष्ट' देते हैं। **उक्कोसिय** (ठाणग० ५०५ ; विवाह० ८३ ; ९३ ; उत्तर० ९७६ ; कप्प०) न तो वेबर[3] के अर्थ 'उत्कर्षित' और न ही याकोबी[4] के 'उत्कृष्ट' का पर्यायवाची प्राकृत रूप है, किन्तु *उत्कोपित है। **धावति** के रूप **धोवइ** के सम्बन्ध में § ४८२ देखिए।

१. भगवती १, ४४३ ; इस विषय पर लॉयमान का औपपातिक सूत्र भी देखिए। — २. ओवर डे गौड्सडीन्स्टिगे एन वीसगेरिगे बेग्रिप्पन डेर जैना न (ल्सवौल्ले १८७५) पेज ४३ नोट १। — ३. भगवती १, ४४३। — ४. कल्पसूत्र।

§ ११३—क्रियाविशेषणों में अन्तिम अस्वरित **आ** महाराष्ट्री में बहुधा और स्वयं कविता में भी, तथा अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और अपभ्रंश में कभी कभी ह्रस्व हो जाता है (सब व्याकरणकार ; § ७९) ; **अन्यथा** का महाराष्ट्री में **अण्णह** हो जाता है (हाल), इसके साथ-साथ जैनमहाराष्ट्री और महाराष्ट्री में **अण्णहा** भी पाया जाता है (गउड० ; कालका०), जैनशौरसेनी में **अण्णधा** रूप मिलता है (मृच्छ० २४, ४ ; ५१, २४ ; ५२, १३ ; ६४, २५ ; शकु० ५२, १६ ; ७३,८ ; ७६, ५ ; विक्रमो० १८, ८ , ४०,१६), मागधी में भी यही रूप है (मृच्छ० १६५, ४)। महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **यथा** और **तथा** के जह और तह रूप हैं (गउड० ; हाल ; रावण० , उवास० , कप्प० ; एर्त्सें०; कालका०)। जैनशौरसेनी में **जध** (पव० ३८६, ४ ; ३८७, २८ [इस स्थान में **जह** पाठ है])। अपभ्रंश में **जिह, जिध, तिह** और **तिध** रूप मिलते हैं (हेमचन्द्र ४, ४०१)। इनमें जो इ-कार आया है वह अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और अपभ्रंश **किह** की नकल पर। जैनशौरसेनी और अपभ्रंश में **किध** भी मिलता है जो वैदिक **कथा** का प्राकृत रूप है। वास्तव में इसके कारण ही महाराष्ट्री **कह** और प्राकृत **जह** और **तह** में अ आया है (गउड० ; हाल ; रावण० ; § १०३)। शौरसेनी और मागधी में गद्य में केवल **जधा** और **तधा** रूप पाये जाते हैं (मागधी रूप **यधा** है)। इन प्राकृतों में **कधा** नहीं बल्कि गद्य में **कधम्** रूप आया है। आवन्ती में पद्य में **जह** आया है (मृच्छ० १००, १२)। मृच्छकटिक १२३, ७ में मागधी में जो **तह** शब्द आया है, वह कविताओं में **तध** पढ़ा जाना चाहिए और जैनशौरसेनी में भी यही

§ ११४—इ का अ में परिणत हो जाने का व्याकरणकारों ने उल्लेख किया है (वररुचि १, १३ और १४, हेमचन्द्र १,८८ से ९१ तक ; क्रम० १,१८ और १९ ; मार्कण्डेय पन्ना ७)। इस प्रकार के बहुत कम शब्द ग्रन्थों में मिलते हैं और जो मिलते भी हैं उन पर दूसरा नियम लागू होता है। **प्रतिश्रुत्** के लिए **पडंसुआ** (हेमचन्द्र १, २६ और ८८ तथा २०६) और **पडंसुअ** रूप (मार्कण्डेय पन्ना ३४) मिलते हैं ; पर ये रूप वास्तव मे * **प्रत्याशनुत्** अथवा * **प्रत्याश्रुत** से निकले हैं। यह बात इन रूपों से तथा **प्रत्याश्राव** शब्द से मालूम होती है। अर्धमागधी में **प्रतिश्रुत्** शब्द से **पडिंसुया** शब्द की उत्पत्ति होती है (ओव०)। **प्रतिश्रुत** शब्द के लिए भामह ने **पडिंसुद** रूप दिया है। — **पृथ्वी** के लिए महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अपभ्रंश में **पुहवी** रूप मिलता है और अर्धमागधी, जैनशौरसेनी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी में **पुढवी** रूप आता है (§ ५१), इसमें अ अंश-स्वर है अर्थात् उच्चारण में हलन्त है, जैसा **पुहुवी** रूप में अंश-स्वर है, जो उच्चारण में ह्रस्व से भी ह्रस्व बन जाता है (§ १३९)।—**बिभीतक** से **बहेडअ** की उत्पत्ति नहीं हुई है, जैसा हेमचन्द्र १, ८८ में बताया गया है, बल्कि यह शब्द **बहेटक** से निकला है (वैजयन्ती० ५९, ३५१, देखिए बोएटलिंक **बहेडक**)।—**सढिल** (हेमचन्द्र १, ८९), अर्धमागधी **पसढिल** (हेमचन्द्र १, ८९, पण्णव० ११८)। महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी **सिढिल** (वररुचि २, २८, हेमचन्द्र १, ८९ और २१५ तथा २५४, क्रम० २, १७, गउड०, हाल, रावण०, आयार० १, ५, ३, ४, नायाध० ९४९, राय० २५८, विवाह० ३९ ; १३६, ३८२ ; १३०८, उत्तर० १९६, शकु० १३२, १२, विक्रमो० ३०,४)। महाराष्ट्री **सिढिलत्तण** (= *शिथिलत्वन, गउड०), शौरसेनी **सिढिलदा** (शकु० ६३, १), महाराष्ट्री और शौरसेनी **सिढिलेइ** और **सिढिलेदि** (रावण०, शकु० ११, १, बाल० ३६, ५ ; चण्डकौ० ५८, १०), महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी **पसिढिल** (गउड०, हाल, रावण०, विवाह० ८०६, उत्तर० ७७३, नायाध०, ओव०, विद्ध० ६४, ६५) **शिथिल** शब्द से नहीं निकले हैं, ये किसी पुराने रूप * **श्रृथिल**[1] से निकले हैं जिसके **ऋकार** का रूप कहीं **अ** और कहीं **इ** हो गया है (§ ५२)।—**हलद्दा** और **हलद्दी**[*] (सब व्याकरणकार) और महाराष्ट्री, अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्री **हलिद्दा** (हेमचन्द्र १, ८८, गउड०, हाल, उत्तर० ९८२, १०८५, राय० ५३, एर्से०), महाराष्ट्री **हलिद्दी** (हेमचन्द्र १, ८८ और २५४, गउड० ; कर्पूर० ६९, ३) **हरिद्रा** से निकले हैं, किन्तु अर्धमागधी **हालिद्द** संस्कृत **हारिद्र** का रूप है (आयार० १, ५, ६, ४ [यहाँ **हालिद्द** पढ़ा जाना चाहिए], पण्णव० ५२०, सम० ६४, जीवा० २२४, ओव०, कप्प०)। ऊपर लिखे गये सब रूपों में अ और इ स्पष्टतः स्वरभक्ति हैं। **इंगुद** शब्द के रूप **अंगुअ** और **इंगुअ** के विषय में § १०२ देखिए।

१. एस० गौल्दश्मित्त ने रावणवहो में **सिढिल** रूप दिया है। पीटर्सबुर्गर कोश में **शिथिर** शब्द से तुलना कीजिए और इसी संबंध में वाकरनागल का आल्ट इण्डिशे ग्रामाटीक § १६ देखिए।

* हमारी हल्दी का प्रारम्भिक प्राकृत रूप। —अनु०

मा के साथ साथ अपभ्रंश में **मां** और **मम्** रूप मिलते हैं (हेमचन्द्र ४,४१८ ; हेमचन्द्र के अनुसार सर्वत्र **मां** और जब इसे ह्रस्व करना हो तो **मम्** लिखा जाना चाहिए)। सभी प्राकृत भाषाओं के **विणा** रूप के साथ साथ अपभ्रंश में **विणु*** रूप भी आता है (हेमचन्द्र)। यह **विना** के एक रूप *विणम् से निकला है (§ ३५१)।—**मनाक्** का **मणा** हो जाता है (हेमचन्द्र २, १६९)। इसके साथ-साथ महाराष्ट्री और शौरसेनी में **मणम्** का प्रचलन भी है (मार्कण्डेय पन्ना ३९ ; हाल ; शकु० १४६, ८ ; कर्ण० ३१, ९) ; जैनमहाराष्ट्री में **मणागम्** रूप आया है (एर्त्से०), अपभ्रंश में **मणाउं** का व्यवहार है (§ ३५२) और जैनमहाराष्ट्री में **मणयम्** (हेमचन्द्र २, १६९ ; कक्कुक शिलालेख १०) और **मणियम्**† रूप मिलते हैं (हेमचन्द्र २, १६९)।—अर्धमागधी में **मृषा** के लिए **मुसम्** और **मुसा** रूप चलते हैं (§ ७८)।—अर्धमागधी में **साक्षात्** के लिए **सक्खम्** शब्द मिलता है (हेमचन्द्र १, २४ ; उत्तर० ११६ ; ३७०, ओव०) ; शौरसेनी में इसका रूप **सक्खा** है (मल्लिका० १९०, १९)।—अर्धमागधी में **हिट्ठम्** और इस रूप के साथ साथ अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **हेट्ठा**, द्वितीया और इसके साथ साथ पंचमी के रूप हैं, सम्भवतः **सक्खम्** शब्द भी इन कारकों का ही रूप हो। अर्धमागधी में **तहा** के साथ साथ स्वरों से पहले **तहम्** रूप भी चलता है। **एवम्**, **एतत्**, **तथैतद्**, **अवितथम्**, **एतद्** का **एवम्**, **एयम्**, **तहम्**, **अवितहम्** और **एयम्** हो जाता है (विवाह० ९४६ ; उवास० § १२ ; ओव० § ५४ ; कप्प० § १३ ; ८३)। यह **तहम्** **तहं** के स्थान पर आता है (§ ३४९) और **तथा** के साथ-साथ कभी किसी प्रदेश में बोले जानेवाले *तथम् का प्राकृत रूप है, जैसे वैदिक **कथा** के साथ-साथ **कथम्** रूप भी चलता है। इसी प्रकार अपभ्रंश **जिहाँ** भी **यथा** के साथ साथ चलनेवाले *यथम् का रूप है। इस सम्बन्ध में § ७२ ; ७४, ७५ और ८६ से भी तुलना कीजिए। इसी प्रकार **श्रुत्वा** और **दृष्ट्वा** के लिए **सोच्चा** और **दिस्सा** के साथ-साथ **सोच्चं** और **दिस्सं** के लिए स्वरोंसे पहले अर्धमागधी में **सोच्चम्** और **दिस्सम्** रूप चलते हैं (§ ३३८, ३४९)। इ, ई और उ, ऊ में समाप्त होनेवाले स्त्रीलिंग शब्दों के अन्त में तृतीया एकवचन में लगनेवाला **आ**, और **आः** से निकले पंचमी, षष्ठी तथा सप्तमी एकवचन में लगनेवाला **आ** महाराष्ट्री में ह्रस्व हो जाता है ।—**वन्द्या** का **वन्दीअ** ; **कोटे** का **कोडीअ** ; **नगर्याम्** का **णअरीअ** और **वध्वा** का **वहुअ** हो जाता है (§ ३८५)। इस प्रकार के अन्य रूप, जो अ में तथा स्त्रीलिंग होने पर **आ** में समाप्त होते हैं और जिनका उल्लेख कई व्याकरणकारों ने किया है, प्राकृत ग्रन्थों में न मिलने तथा उनके पक्के प्रमाण न मिलने के कारण यहाँ नहीं दिये गये। कर्पूरमंजरी के पहले के संस्करणों में कुछ ऐसे रूप थे वे अब कोनो के आलोचनात्मक संस्करण से निकाल दिये गये हैं (§ ३७५)।

---

* अवधी आदि बोलियों में यही विणु बिनु हो गया है।—अनु०

† इस मणियम् का हिन्दी की कुछ बोलियों विशेषतः उत्तरी भारत की पहाड़ी बोलियों में मिणि या मिणी बोला जाता है।—अनु०

§ ११४—इ का अ में परिणत हो जाने का व्याकरणकारों ने उल्लेख किया है (वररुचि १, १३ और १४ ; हेमचन्द्र १,८८ से ९१ तक ; क्रम० १,१८ और १९ ; मार्कण्डेय पन्ना ७)। इस प्रकार के बहुत कम शब्द ग्रन्थों में मिलते हैं और जो मिलते भी हैं उन पर दूसरा नियम लागू होता है। **प्रतिश्रुत्** के लिए **पडंसुआ** (हेमचन्द्र १, २६ और ८८ तथा २०६) और **पडंसुअ** रूप (मार्कण्डेय पन्ना ३४) मिलते हैं ; पर ये रूप वास्तव में *प्रत्याशनुत् अथवा *प्रत्याश्रुत से निकले हैं। यह बात इन रूपों से तथा **प्रत्याश्राव** शब्द से मालूम होती है। अर्धमागधी में **प्रतिश्रुत्** शब्द से **पडिंसुया** शब्द की उत्पत्ति होती है (ओव०)। **प्रतिश्रुत** शब्द के लिए भामह ने **पडिंसुद** रूप दिया है। — **पृथ्वी** के लिए महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अपभ्रंश में **पुहवी** रूप मिलता है और अर्धमागधी, जैनशौरसेनी, जैन-महाराष्ट्री और शौरसेनी में **पुढवी** रूप आता है (§ ५१), इसमें अ अंश-स्वर है अर्थात् उच्चारण में हलन्त है, जैसा **पुहुवी** रूप मे अंश-स्वर है, जो उच्चारण में ह्रस्व से भी ह्रस्व बन जाता है (§ १३९)।—**विभीतक** से **वहेडह** की उत्पत्ति नहीं हुई है, जैसा हेमचन्द्र १, ८८ में बताया गया है, बल्कि यह शब्द **वहेटक** से निकला है (वैजयन्ती० ५९, ३५१ ; देखिए बोएटलिक **वहेडक**)।—**सढिल** (हेमचन्द्र १, ८९), अर्धमागधी **पसढिल** (हेमचन्द्र १, ८९ ; पण्णव० ११८)। महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी **सिढिल** (वररुचि २, २८ ; हेमचन्द्र १, ८९ और २१५ तथा २५४ ; क्रम० २, १७ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; आयार० १, ५, ३, ४ ; नायाध० ९४९ ; राय० २५८ ; विवाह० ३९ ; १३६ ; ३८२ ; १३०८ ; उत्तर० १९६ ; शकु० १३२, १२ ; विक्रमो० ३०,४)। महाराष्ट्री **सिढिलत्तण** (=*शिथिलत्वन : गउड०) ; शौरसेनी **सिढिलदा** (शकु० ६३, १), महाराष्ट्री और शौरसेनी **सिढिलेइ** और **सिढिलेदि** (रावण० ; शकु० ११, १ ; बाल० ३६, ५ ; चण्डकौ० ५८, १०), महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी **पसिढिल** (गउड० ; हाल ; रावण०; विवाह० ८०६ ; उत्तर० ७७३ ; नायाध० ; ओव० ; विद्ध० ६४, ६५) **शिथिल** शब्द से नहीं निकले हैं ; ये किसी पुराने रूप *श्रृथिल[1] से निकले हैं जिसके **ऋकार** का रूप कहीं **अ** और कहीं **इ** हो गया है (§ ५२)।—**हलद्दा** और **हलद्दी*** (सब व्याकरणकार) और महाराष्ट्री, अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्री **हलिद्दा** (हेमचन्द्र १, ८८ ; गउड० ; हाल ; उत्तर० ९८२ ; १०८५ ; राय० ५३ ; एर्से०), महाराष्ट्री **हलिद्दी** (हेमचन्द्र १, ८८ और २५४ ; गउड० ; कर्पूर० ६९, ३) **हरिद्रा** से निकले हैं, किन्तु अर्धमागधी **हालिद्द** संस्कृत **हारिद्र** का रूप है (आयार० १, ५, ६, ४ [यहाँ **हालिद्द** पढ़ा जाना चाहिए] ; पण्णव० ५२५ ; सम० ६४ ; जीवा० २२४ ; ओव०; कप्प०)। ऊपर लिखे गये सब रूपों में अ और इ स्पष्टतः स्वरभक्ति हैं। **इंगुद** शब्द के रूप **अंगुअ** और **इंगुअ** के विषय मे § १०२ देखिए।

१. एस० गौल्दश्मित्त ने रावणवहो में **सिढिल** रूप दिया है। पीटर्सबुर्गर कोश में **शिथिर** शब्द से तुलना कीजिए और इसी संबंध में वाकरनागल का आल्ट-इण्डिशे ग्रामाटीक § १६ देखिए।

* हमारी हल्दी का प्रारम्भिक प्राकृत रूप। —अनु०

मा के साथ साथ अपभ्रंश में मां और मम् रूप मिलते हैं (हेमचन्द्र ४,४१८ ; हेमचन्द्र के अनुसार सर्वत्र मां और जब इसे ह्रस्व करना हो तो मम् लिखा जाना चाहिए)। सभी प्राकृत भाषाओं के विणा रूप के साथ साथ अपभ्रंश में विणु* रूप भी आता है (हेमचन्द्र)। यह विना के एक रूप *विणम् से निकला है (§ ३५१)।—मनाक् का मणा हो जाता है (हेमचन्द्र २, १६९)। इसके साथ-साथ महाराष्ट्री और शौरसेनी में मणम् का प्रचलन भी है (मार्कण्डेय पन्ना ३९ ; हाल ; शकु० १४६, ८ ; कर्ण० ३१, ९) ; जैनमहाराष्ट्री में मणागम् रूप आया है (एर्त्से०), अपभ्रंश में मणाउं का व्यवहार है (§ ३५२) और जैनमहाराष्ट्री में मणयम् (हेमचन्द्र २, १६९ ; कक्कुक शिलालेख १०) और मणियम्† रूप मिलते हैं (हेमचन्द्र २, १६९)।—अर्धमागधी में मृषा के लिए मुसम् और मुसा रूप चलते हैं (§ ७८)।—अर्धमागधी में साक्षात् के लिए सक्खम् शब्द मिलता है (हेमचन्द्र १, २४ ; उत्तर० ११६ ; ३७०; ओव०) ; शौरसेनी में इसका रूप सक्खा है (मल्लिका० १९०, १९)।—अर्धमागधी में हिट्ठम् और इस रूप के साथ साथ अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में हेट्ठा, द्वितीया और इसके साथ साथ पचमी के रूप हैं, सम्भवतः सक्खम् शब्द भी इन कारकों का ही रूप हो। अर्धमागधी में तहा के साथ साथ स्वरों से पहले तहम् रूप भी चलता है। एवम्, एतत्, तथैतद्, अवितथम्, एतद् का एवम्, एयम्, तहम्, अवितहम् और एयम् हो जाता है (विवाह० ९४६, उवास० § १२ ; ओव० § ५४ ; कप्प० § १३ ; ८३)। यह तहम् तहं के स्थान पर आता है (§ ३४९) और तथा के साथ-साथ कभी किसी प्रदेश में बोले जानेवाले *तथम् का प्राकृत रूप है, जैसे वैदिक कथा के साथ-साथ कथम् रूप भी चलता है। इसी प्रकार अपभ्रंश जिहँ भी यथा के साथ साथ चलनेवाले *यथम् का रूप है। इस सम्बन्ध में § ७२, ७४, ७५ और ८६ से भी तुलना कीजिए। इसी प्रकार श्रुत्वा और दृष्ट्वा के लिए सोॅच्चा और दिस्सा के साथ-साथ सोच्चं और दिस्सं के लिए स्वरोंसे पहले अर्धमागधी में सोच्चम् और दिस्सम् रूप चलते हैं (§ ३३८, ३४९)। इ, ई और उ, ऊ में समाप्त होनेवाले स्त्रीलिंग शब्दों के अन्त में तृतीया एकवचन में लगनेवाला आ, और आः से निकले पचमी, षष्ठी तथा सप्तमी एकवचन में लगनेवाला आ महाराष्ट्री में ह्रस्व हो जाता है :—वन्द्या का वन्दीअ ; कोटे का कोटीअ ; नगर्याम् का णअरीअ और वध्वा का वहूअ हो जाता है (§ ३८५)। इस प्रकार के अन्य रूप, जो अ में तथा स्त्रीलिंग होने पर आ में समाप्त होते हैं और जिनका उल्लेख कई व्याकरणकारों ने किया है, प्राकृत ग्रन्थों में न मिलने तथा उनके पक्के प्रमाण न मिलने के कारण यहाँ नहीं दिये गये। कर्पूरमजरी के पहले के सस्करणों में कुछ ऐसे रूप थे वे अब कोनो के आलोचनात्मक सस्करण से निकाल दिये गये हैं (§ ३७५)।

---

* अवधी आदि बोलियों में यही विणु विनु हो गया है।—अनु०

† इस मणियम् का हिन्दी की कुछ बोलियों विशेषत उत्तरी भारत की पहाड़ी बोलियों में मिणि या मिणी बोला जाता है।—अनु०

§ ११४—इ का अ मे परिणत हो जाने का व्याकरणकारों ने उल्लेख किया है (वररुचि १, १३ और १४ ; हेमचन्द्र १,८८ से ९१ तक ; क्रम० १,१८ और १९ ; मार्कण्डेय पन्ना ७)। इस प्रकार के बहुत कम शब्द ग्रन्थों मे मिलते हैं और जो मिलते भी हैं उन पर दूसरा नियम लागू होता है। **प्रतिश्रुत्** के लिए **पडंसुआ** (हेमचन्द्र १, २६ और ८८ तथा २०६) और **पडंसुअ** रूप (मार्कण्डेय पन्ना ३४) मिलते हैं ; पर ये रूप वास्तव मे *प्रत्याशृनुत् अथवा *प्रत्याश्रुत से निकले हैं। यह बात इन रूपो से तथा **प्रत्याश्राव** शब्द से मालूम होती है। अर्धमागधी मे **प्रतिश्रुत्** शब्द से **पडिसुया** शब्द की उत्पत्ति होती है (ओव०)। **प्रतिश्रुत** शब्द के लिए भामह ने **पडिसुद** रूप दिया है। — **पृथ्वी** के लिए महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अपभ्रंश मे **पुहवी** रूप मिलता है और अर्धमागधी, जैनशौरसेनी, जैन-महाराष्ट्री और शौरसेनी मे **पुढवी** रूप आता है (§ ५१), इसमें अ अंश-स्वर है अर्थात् उच्चारण में हलन्त है, जैसा **पुहुवी** रूप में अंश-स्वर है, जो उच्चारण मे ह्रस्व से भी ह्रस्व बन जाता है (§ १३९)।—**विभीतक** से **बहेडञ** की उत्पत्ति नहीं हुई है, जैसा हेमचन्द्र १, ८८ मे बताया गया है, बल्कि यह शब्द **बहेटक** से निकला है (वैजयन्ती० ५९, ३५१ ; देखिए बोएटलिंक **बहेडक**)।—**सढिल** (हेमचन्द्र १, ८९), अर्धमागधी **पसढिल** (हेमचन्द्र १, ८९ ; पण्णव० ११८)। महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी **सिढिल** (वररुचि २, २८ ; हेमचन्द्र १, ८९ और २१५ तथा २५४ ; क्रम० २, १७ , गउड० , हाल ; रावण० , आयार० १, ५, ३, ४ , नायाध० ९४९ ; राय० २५८ ; विवाह० ३९ ; १३६ ; ३८२ ; १३०८ ; उत्तर० १९६ ; शकु० १३२, १२ , विक्रमो० ३०,४)। महाराष्ट्री **सिढिलत्तण** (= *शिथिलत्वन : गउड०) ; शौरसेनी **सिढिलदा** (शकु० ६३, १), महाराष्ट्री और शौरसेनी **सिढिलेइ** और **सिढिलेदि** (रावण० , शकु० ११, १ ; बाल० ३६, ५ ; चण्डकौ० ५८, १०), महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी **पसिढिल** (गउड० ; हाल ; रावण० ; विवाह० ८०६ , उत्तर० ७७३ ; नायाध० ; ओव० ; विद्ध० ६४, ६५) **शिथिल** शब्द से नहीं निकले हैं ; ये किसी पुराने रूप *श्रृथिल[1] से निकले हैं जिसके **ऋकार** का रूप कहीं अ और कहीं इ हो गया है (§ ५२)।—**हलद्दा** और **हलद्दी*** (सब व्याकरणकार) और महाराष्ट्री, अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्री **हलिद्दा** (हेमचन्द्र १, ८८ , गउड० ; हाल ; उत्तर० ९८२ ; १०८५ ; राय० ५३ ; एर्सें०), महाराष्ट्री **हलिद्दी** (हेमचन्द्र १, ८८ और २५४ ; गउड० ; कर्पूर० ६९, ३) **हरिद्रा** से निकले हैं, किन्तु अर्धमागधी **हालिद्द** संस्कृत **हारिद्र** का रूप है (आयार० १, ५, ६, ४ [यहाँ **हालिद्द** पढ़ा जाना चाहिए] ; पण्णव० ५२५ ; सम० ६४ ; जीवा० २२४ ; ओव०, कप्प०)। ऊपर लिखे गये सब रूपों मे अ और इ स्पष्टतः स्वरभक्ति है। **इंगुद** शब्द के रूप **अंगुअ** और **इंगुअ** के विषय में § १०२ देखिए।

१. एस० गौल्दश्मित्त ने रावणवहो में **सिढिल** रूप दिया है। पीटर्सबुर्गर कोश में **शिथिर** शब्द से तुलना कीजिए और इसी संबंध में वाकरनागल का आल्ट इण्डिशे ग्रामाटीक § १६ देखिए।

* हमारी हल्दी का प्रारम्भिक प्राकृत रूप। —अनु०

§ ११५—इति शब्द में जो दूसरी इ अर्थात् ति में जो इकार है और जिसके स्थान पर लैटिन में इत रूप है, महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में अ के रूप में ही वर्तमान है जब इति शब्द स्वतंत्र रूप से अथवा किसी वाक्य के आरम्भ में आता हो; और अर्धमागधी में सन्धि के आरम्भ में इति आने पर अ ही रह गया है; महाराष्ट्री में इति का इअ रूप मिलता है (वररुचि १, १४ ; हेमचन्द्र १,९१ ; क्रम० १,१९; मार्क० पन्ना ७ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; बाल० ११३, १७ ; कर्पूर० ६, ४ ; ४८, १४ ; ५७, ७ ; विद्ध० ६४, ७ ; अच्युत० २२ ; ४९ ; ८२ ; ९३ ; १०३) ; अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में इय रूप आता है (चण्ड० २,२८ ; पाइय० २४४ ; आयार० १, २, १, १ ; १, २, ३, १ और ५ ; १, ४, ३, २ ; ओव० § १८४ ; १८६ ; कक्कुक शिलालेख १४ ; काल्का०) ; अर्धमागधी में इतिच्छेक, इतिनिपुण, इतिनयवादिन्, इत्युपदेशलब्ध और इतिविज्ञानप्राप्त के रूप इयच्छेय, इयनिउण, इयनयवादि, इयउवदेसलद्ध और इयविण्णाणपत्त आये हैं (उवास० § २१९) । अर्धमागधी ग्रन्थों में इय के स्थान पर अधिकतर स्थलों में इइ रूप भी आया है (सूय० १३७ ; २०३ [इस स्थल में इति पाठ मिलता है] ; उत्तर० ६३ ; ९९ ; ११६ ; ३११ ; ५०८ ; ५१२ ; ५१३ ; दस० ६२६, ११ ; ६३०, १४ ; उवास० § १२४) । चूँकि जैन हस्तलिखित प्रतियों में इ और य सदा एक दूसरेका रूप ग्रहण करते हैं इसलिए यह सन्देह होता है कि ये अशुद्धियाँ कहीं लिखनेवालों की न हों । जैनशौरसेनी में इसका एक रूप इदि भी मिलता है (पव० ३८५, ६५, ३८७, १८ और २४ ; कत्तिगे० ३९९, ३१४), पर इस बात का कोई निदान नहीं निकाला जा सकता कि यह रूप शुद्ध है या अशुद्ध । कालेयकुतूहलम् २७, १६ में शौरसेनी में इअ रूप आया है जो स्पष्टतः अशुद्ध है । प्रत्यय रूप से इति का ति और त्ति हो जाता है (§ ९२), अर्धमागधी में इसका इ भी हो जाता है ।

§ ११६—बाद को आनेवाले उ की नकल पर, इस उ से पहले जो इ आती है वह कभी-कभी उ में परिणत हो जाती है । महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में इक्षु का रूप उच्छु हो जाता है (वररुचि १, १५ ; भामह ३, ३० ; हेमचन्द्र १, ९५ ; २, १७ ; क्रम० १, २२ , मार्क० पन्ना ७ ; पाइय० १४३ ; गउड० , हाल ; आयार० २, १, ८, ९ और १० , २, १, १०, ४ ; २, ७, २, ५ ; पण्हा० १२७; उत्तर० ५९० ; दस० ६१४,१३ , ६२१,५ और ४१ ; दस० नि० ६६०, ४ ; ओव० ; आव० एर्त्से० २३, २४ ; एर्त्से०) । इसके साथ-साथ अर्धमागधी में इक्खु* रूप भी मिलता है (हेमचन्द्र २, १७ ; सूय० ५९४ ; पण्णव० ३३ ; ४० ; जीवा० ३५६ ; विवाह० १५२६), इक्खुय का प्रयोग भी हुआ है (पण्णव० ३३ ; ४०) और शौरसेनी में हस्तलिखित प्रतियों में उच्छु रूप के स्थान पर इक्खु किया जाना चाहिए, जो शकुन्तला १८४, १२ में मिलता है । महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में इच्छु रूप का व्यवहार हुआ है (हाल ७४० ; ७७५ ; कक्कुक शिलालेख १८), किन्तु यह प्रयोग शायद ही शुद्ध

---

* ईख का प्रारंभिक प्राकृत रूप यह इक्खु है । —अनु०

हो। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में ऐक्ष्वाक के लिए जो **इक्खाग** रूप आता है उसके लिए § ८४ देखिए।—अर्धमागधी में **इषु** का **उसु** हो जाता है (सूय० २७०; २८६ ; २९३ ; विवाह० १२१ ; १२२ ; ३४८ ; ५०५ ; ५०६ ; १३८८ ; राय० २५७ ; निरया० § ५) । अर्धमागधी में **इषुकार** के स्थान पर **उसुगार** (ठाणग० ८६) और **उसुयार** (ठाणग० ३८३ ; उत्तर० ४२१ ; ४२२ ; ४४९ ; पण्हा० ३१७ [पाठ में रूप **इक्खुयार** मिलता है, किन्तु इसकी टीका से तुलना कीजिए]) । इसके अतिरिक्त **इषुशास्त्र**[1] के लिए अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **ईसत्थ** रूप का प्रयोग किया गया है (पण्हा० ३२२ ; ओव० § १०७ पेज ७८, ४ ; एर्से० ६७, १ और २) । **इष्वासस्थान** के लिए अर्धमागधी में **ईसासट्ठाण** आया है (निरया० § ५); इस ग्रन्थ में इस रूप के साथ साथ **उसु** रूप भी मिलता है) । महाराष्ट्री में **इसु** रूप मिलता है (पाइय० ३६ ; गउड० ११४५ ; [कामेसु] ; कर्पूर० १२, ८ ; ९४, ८ [पंचेसु]) ।—**शिशुमार** शब्द में **शिशु** शब्द का **सुसु** हो जाता है और सारे शब्द का **सुसुमार** रूप बन जाता है (सूय० ८२१ ; पण्हा० १९ ; विवाग० ५० ; १८६) ; और बहुधा इसका रूप **सुंसुमार** मिलता है (पण्णव० ४७ ; ४८ ; जीवा० ७१ , नायाध० ५१० , उत्तर० १०७२ ; विवाह० १२८५ [पाठ में **सुंसमार** शब्द है]), स्त्रीलिंग में **सुंसुमारी** रूप मिलता है (जीवा० १११) , किन्तु अर्धमागधी में **सिसुपाल** (सूय० १६१), **सिसुनाग** (उत्तर० २०५) ; महाराष्ट्री में **सिसु** (पाइय० ५८) ; शौरसेनी में **शिशुभाव** है (विद्ध० २१, १२) और **शिशुकाल** के लिए **सिसुआल** रूप मिलता है (चैतन्य० ३७, ७) ।

१. इस प्रकार पण्हा० ३२२ की टीका में अभयदेव ने शुद्ध रूप दिया है। लौयमान ने औपपातिक सूत्र और याकोबी ने एर्सेलुंगन में इष्वस्त्र शब्द अशुद्ध दिया है।

§ ११७—**म**-कार से पहले **नि** आने पर **नि** में **इ** का **उ**-कार हो जाता है और यह उस दशा में जब § २४८ के अनुसार यह **म प** में और फिर § २५१ के अनुसार **व** में परिवर्तित हो गया हो। **निपद्यते** का **णुमज्जइ** (हेमचन्द्र १, ९४ ; ४, १२३ ; क्रम० ४, ४६) और **निपन्न** का **णुमण्ण** हो जाता है (हेमचन्द्र १, ९४ और १७४) । **णुवण्ण** (गउड० ११६१) और इसका अर्थ 'सोना' (देशी० ४, २५) साफ-साफ बताता है कि इसमें **प** से **म** और **म** से **व** हो गया। **मज्ज** से इस रूप की उत्पत्ति बताना अशुद्ध है क्योंकि न तो इससे अर्थ ही स्पष्ट होता है और न भाषा शास्त्र की दृष्टि से शब्द का प्रतिपादन होता है। हाल की सत्तसई के श्लोक ५३०, ६०८ और ६६९ में वेबर ने हस्तलिखित प्रतियों में **णिमज्जसु, णिमज्जन्त, णिमज्जइ** और **णिमज्जिहिसि** पाठ पढ़े हैं। श्लोक ६६९ के बारे में वेबर ने लिखा है कि यह शब्द **णुमज्जिसि** भी हो सकता है और हेमचन्द्र, 'ध्वन्यालोक' पेज २० और 'काव्य प्रकाश' पेज १२३ में पुरानी शारदालिपि में लिखित इन ग्रन्थों में यही पाठ पढ़ा है। शोभाकर, 'अलंकाररत्नाकर' ६७ आ (ब्यूलर की हस्तलिखित प्रति, 'डिटेल्ड रिपोर्ट' में जिसकी संख्या २२७ है);

हेमचन्द्र, 'अलंकारचूडामणि' पन्ना ४ आ (कीलहौर्न की हस्तलिखित प्रति रिपोर्ट, बम्बई, १८८१ पेज १०२, संख्या २६५); मम्मट, 'शब्दव्यापार विचार' पन्ना ६ अ; जयन्त, 'काव्यप्रकाशदीपिका' पन्ना ६ आ ; २२ आ में भी यही पाठ पढ़ा है, किन्तु 'साहित्यदर्पण' में यह शब्द पेज ५ में णि- मिलता है। वास्तव में यह शब्द सर्वत्र णु पढ़ा जाना चाहिए। त्रिविक्रम० १, २, ४८ में णुमन्न की व्युत्पत्ति निर्मन्न से दी गयी है, यह शब्द हेमचन्द्र में णुमन्न है, जो शुद्ध रूप है। णुमइ (हेमचन्द्र ४, १९९) और णिमइ (हेमचन्द्र ४, १९९) रूप भी मिलते हैं तथा महाराष्ट्री में णिमेइ आया है जिसका अर्थ 'नीचे फेंकना या पटकना' है (रावण०)। ये रूप चि धातु से निकले हैं जिसका अर्थ 'फेंकना' है (धातुपाठ २४, ३९)। इसके आरंभ में नि उपसर्ग लगाया गया है। इसके दो रूप मिलते हैं : णिचिय और णिमिय'।—कभी-कभी संस्कृत प्रत्यय-इक के स्थान पर -उक रूप मिलता है जिसमें प्रत्यक्ष ही इ के स्थान पर उ आया है। इस नियम के अनुसार वृश्चिक के महाराष्ट्री में विंछुअ, विंचुअ और विच्छुअ रूप होते हैं। अर्धमागधी में यह रूप विच्छुय* हो जाता है। साथ ही महाराष्ट्री में विंछिय रूप भी है जिसमें इकार रह गया है और अर्धमागधी में विच्छियां† है (§ ५०)। गैरिक शब्द का अर्धमागधी में गेरुय‡ रूप है और महाराष्ट्री में गेरिअ। अर्धमागधी में नैयायिक का नेयाउय रूप बन जाता है (§ ६०)। महाराष्ट्री में ज्ञानिक का जाणुअ रूप हो जाता है (हाल २८६)। इस प्राकृत में अकृतज्ञ का अकअजाणुअ, विज्ञ का विजाणुअ, दैवज्ञ का देव्वजाणुअ आदि रूप मिलते हैं (मार्कण्डेय पन्ना २०)। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में भी ये रूप पाये जाते हैं :—शौरसेनी में जाणुअ और मागधी में याणुअ शब्द पाया जाता है (मृच्छ० ११५, १ और ९ तथा ११)। प्रावासिक महाराष्ट्री में पावासुअ और अपभ्रंश में पवासुअ बन जाता है (हेमचन्द्र १, ९५, ४, ३९५, ४); प्रवासिन् के पावासु और पवासु रूप पाये जाते हैं (हेमचन्द्र १, ४४)। ये रूप प्रवासं से पवासु बन कर हो गये हैं (§ १०५), इससे ही पावासुअ रूप भी निकल सकता है।—अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री दुरुहइ (§ ४८२) की उत्पत्ति अधिरोहति' से नहीं है बल्कि उद्रोहति' से कभी किसी स्थान में उद्रुहति रूप बना होगा जिससे प्राकृत में दुरुहइ बन गया। होएर्नले का मत है कि वर्णों के उलट पलट (वर्णविपर्यय) के कारण उद् का दु बन गया, किन्तु यह मत भ्रमपूर्ण है। वास्तविकता यह है कि उदुरुहइ शब्द से उ उड़ गया और ओ का उ स्वर भक्ति होने से रह गया (§ १३९ ; १४१)।—हेमचन्द्र १, ९६, १०७, २५४ के अनुसार युधिष्ठिर के दो रूप होते हैं—जहुट्ठिल और जहिट्ठिल (भामह २, ३० ; क्रम० २,३५, मार्कण्डेय पन्ना १७)। किन्तु इस तथ्य का कुछ पता नहीं लगता कि जहु और जहि कैसे बन गये ? अर्धमागधी में यह शब्द जुहिट्ठिल रूप में भी पाया जाता

* हिंदी बिच्छू का प्रारंभिक प्राकृत रूप यही है जो आज भी कुमाऊँ में चलता है।—अनु०

† हिंदी की कुछ बोलियों में बिच्छी रूप चलता है।—अनु०

‡ हिंदी गेरू का प्रारंभिक प्राकृत रूप यही गेरुय है।—अनु०

है (त्साइट्सुंग डेर डौयत्शन मौर्गेनलैंडिशन गेजेलशाफ्ट ४२, ५२८ में छपा उ साओ, नायाध० १२८७ और उसके बाद ; १३५५ और उसके बाद ; [पाठ जुहिट्ठिल्ल आया है]) शौरसेनी और अपभ्रंश में जुहिट्ठिर रूप मिलता है १८, ४ ; वेणी० १०२, ४ ; प्रचड० २९, १२ ; ३१, १३; ३४, ८ २, १०२) ।

१. हाल ५३० में वेबर ने यह बात हेमचन्द्र और काव्यप्रकाश के कह रखी है पर इससे उसने कोई निदान नहीं निकाला है । — २. निमि या णिमिय से व्युत्पत्ति बताना भ्रामक है ; एस० गौल्दश्मित्त पुस्तक रावणवहो में णिम शब्द दिया है । — ३. वेबर, भगवती० १, लौयमान, औपपातिक सूत्र ; स्टाइनटाल, स्पेसिमेन ; ई० म्युलर, पेज ३४ । — ४. होएर्नले, उवासगदसाओ का अनुवाद पेज ३८, नोट

§ ११८—संयुक्त व्यंजनों से पहले आने पर इ का रूप एँ हो जाता है १, १२ ; हेमचन्द्र १, ८५ ; क्रम० १, १६ ; मार्कण्डेय पन्ना ७ ; प्राकृतकल्प २५ ; देशी० १, १७४) ; इत्थं का पल्लवदानपत्र, महाराष्ट्री, अर्धमाग महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, दाक्षिणात्या और आवती में एॅत्थ तथा में एॅत्थु हो जाता है (§ १०७) । अर्धमागधी में आगमिष्यंत का आ मिलता है (आयार० १, ४, ३, २) । चिह्न के चेॅन्ध और चिन्ध दो जाते हैं (§ २६७ ; भामह १, १२) । निद्रा का णेॅड्डा हो जाता है, र णिड्डा रूप भी चलता है (भामह १, १२) । धम्मेॅल का एक दूसरा रूप ध भी पाया जाता है (सब व्याकरणकार) । पिंड का पेॅडः और पिंड रू हैं (सब व्याकरणकार) । पिष्ट के भी रूप पेॅट्ठ और पिट्ठ होते हैं । अर्धम लिच्छवि का लेॅच्छइ हो जाता है (सूय० १९५ ; ५८५ ; विवाह० ८००; नि ओव० ; कप्प०) । विष्टि का पल्लवदानपत्र में (क्रमदीश्वर ; मार्कण्डेय) रूप दिया गया है (पल्लवदानपत्र ६, ३२ ; उत्तर० ७९२) और साथ सा रूप भी आता है । विष्णु का वेण्हु और विण्हु रूप चलते हैं (सब व कार) । अर्धमागधी में विह्वल का वेॅब्भल हो जाता है (पण्हा० १६५) ; के सेॅंदूर और सिंदूर रूप मिलते हैं (सब व्याकरणकार) । किंशुक का से*केंसुअ और तब केसुअ हो जाता है (§ ७६) । यह नियम अभी तक प्रात के आधार पर बहुधा ऋ से निकली इ पर अधिक लागू होता है : —मात्र क और उससे मेॅत्त बन जाता है (§ १०९) । गृह्णाति का गिण्हइ रूप के स गेण्हइ रूप भी प्रचलित है (§ ५१२) । ग्राह्य का *गृह्य रूप बना, उससे गिज्झ जिससे गेज्झ बन गया (§ १०९ ; ५७२) । वृंत के वेॅंट और वि साथ साथ चलते हैं (§ ५३) । अर्धमागधी में गृध्र के गेॅद्ध (ओव० § ७० गिद्ध रूप बन जाते हैं (§ ५०) ; गृद्धि का रूप गेहि पाया जाता है जो * गिद्धि बन कर निकला है (§ ६०) । मार्कण्डेय पन्ना ६६ के अनुसार वररु

प्राकृतकल्पलता में दिये गये आकृतिगण **पिंडसम** तथा मार्कण्डेय और क्रमदीश्वर के **पिंडादिगण** में उल्लिखित शब्दों में शौरसेनी में **ए** नहीं लगता। इन शब्दों में भामह, क्रमदीश्वर, मार्कण्डेय तथा हेमचन्द्र के **पिंडादि** में आये शब्द जिनमें भामह, क्रमदीश्वर, मार्कण्डेय और हेमचन्द्र के १, ८५ में दिये **पिंड, धम्मिल्ल, सिंदूर, विष्णु** और **पिष्ट** हैं। हेमचन्द्र और मार्कण्डेय इस गण में **बिल्व** को भी, जिसका **बिल्ल** के साथ साथ **बे`ल्ल** रूप भी मिलता है, इसमें गिनते हैं (§ २९६)। भामह **निद्रा** और **चिह्न**, मार्कण्डेय और क्रमदीश्वर **विष्टि** और क्रमदीश्वर **किंशुक** को इस नियम के भीतर रखते हैं। इस विषय पर हेमचन्द्र ने अपना विशेष नियम बनाया है और मार्कण्डेय ने शौरसेनी में **ए** नहीं लगाया जाना चाहिए, लिखा है। शौरसेनी भाषा के वाक्य, जो ग्रन्थों में मिलते हैं, इस नियम की पुष्टि करते हैं। शौरसेनी में **पे`ड** रूप नहीं बल्कि **पिंड** मिलता है (मृच्छ० ४१, ११, ६१, १२, प्रबोध० ४९, ४)। मागधी में भी यह रूप पाया जाता है (मृच्छ० १२५, ५; प्रबोध० ४६, १४)। मागधी में **चिण्ह** रूप है (मृच्छ० १५९, २३)। शौरसेनी में **निद्रा** का **णिद्दा** होता है (मृच्छ० ४५, २४, विक्रमो० २४, १७, प्रबोध० १७, १, ३८, २ और ६, ३९, ८)। शौरसेनी में **विण्हुदास** रूप मिलता है (मुद्रा० २४३, २, २४७, १, २४८, ७, २४९, ५ और ६, २५०, ७)। इ के लिए तथा इ के साथ **ए** अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री इच्छासूचक रूप में मिलता है। इनमें **ए`ज्जा** और **इज्जा** रूप आते हैं (§ ९१, ४५६ और उसके बाद)। संख्यासूचक शब्दों में **ते–**, जैसे अर्धमागधी **तेरस**, अपभ्रंश **तेरह** और **तेइस**, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री **तेत्तीसम्**, जैनमहाराष्ट्री **तेयालीसम्**, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री **तेवीसम्**, **तेसट्ठिम्** और **तेवट्ठिम्** (=६३) आदि आदि (§ ४४३ और उसके बाद) हैं। इसी प्रकार अर्धमागधी **तेइंदिय** और **तेंदिय** में त्रि से ते नहीं निकला है बल्कि त्रय से। **तेरस** का रूप कभी ***त्रयदशन्** रहा होगा।—अर्धमागधी **तेइच्छा** (= चिकित्सा) और इसके साथ साथ **वितिगिन्छा** और **वितिगिंछा** (§ २१५) में वर्ण दुहराये गये हैं, जैसे संस्कृत **चेकित्ते, चेक्रितत्** तथा **चेकितान**† में।

§ ११९—**हरीतकी** और **हरितकी** का प्राकृत में **हरडई** रूप हो जाता है (हेमचन्द्र १, ९९ और २०६)। अ संभवतः स्वरभक्ति है, जैसा संस्कृत में इ और ई हैं। प्राकृत में ट वर्ण बताता है कि कभी किसी स्थान में संस्कृत रूप ***हर्तकी** रहा होगा।—हेमचन्द्र ने १, १००, २, ६० और ७४ में बताया है कि कभी-कभी **आ** का **ई** हो जाता है, जैसे **कश्मीर** का **कम्हार** और **कम्भार**। **कश्मीर** शब्द का रूप त्रिविक्रम ने **काश्मीर** दिया है (संस्कृत में—एक वृक्ष का नाम **कम्भारी** तथा **काश्मीरी** मिलता है)। शौरसेनी में इसका रूप **कम्हीर** है (मुद्रा० २०४, ७)। ई के स्थान पर इ के संबंध में § ७९ तथा उसके बाद देखिए।—अर्धमागधी में **उद्दुभद**

* हिंदी का प्रारंभिक प्राकृत रूप आज भी ज्यों का त्यों बना है। —अनु०

† यहां दुहराने का अर्थ है चेकिते का मूल रूप चेचिते होना पर उच्चारण की सुविधा के लिए

शब्द मिलता है (=थूको : विवाह० १२६३), **उड्डुभंति** (=वे थूकते हैं : विवाह० १२६४ [पाठ **उड्डुमहंति** है]), **अणिट्ठुभय** (=नहीं थूकता हुआ : पण्हा० ३५० ; ओव० § ३०, खड ५) इसी बोली में **णिट्ठुहिअ** (=जोर से थूका गया : देशी० ४,४१) भी पाये जाते हैं, और पाली में **निट्ठुहति, नुट्ठुहति, णुट्ठुभि** और **निट्ठुभन** इसी अर्थ में मिलते हैं, जो ष्ठिव् धातु से निकले बताये जाते हैं, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। ये शब्द **स्तुभ्** धातु से बने हैं जिसका अर्थ 'खखारना' या (**स्तुंभु निष्कोषणे**, धातुपाठ ३३, ७) । यह धातु संस्कृत में 'ध्वनि बाहर निकालने' के अर्थ में आया है। इसका पर्यायवाची दूसरा शब्द **क्षुभ्** है (**स्तुभ् : क्षुभ्=स्तंभ् : स्कंभ्**=संस्कृत **स्थाणु**=प्राकृत **खाणु=दुत्थ=दुक्ख** [जघन, चूतड़ : देशी० ५, ४२]; § ९० ; ३०८ ; ३०९), इस धातु का प्राकृत रूप **छुभइ** है जिसका महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री रूप **छुहइ** हो जाता है और यह सन्धियुक्त शब्दों में भी पाया जाता है। पाली **निच्छुभति** का अर्थ 'थूकना' (समुद्र का)[1] है जिससे पता चलता है कि इस धातु के अर्थ में परिवर्तन कैसे हुआ, जैसा स्वयं संस्कृत में **निरसन** शब्द का हुआ है। पहले इसका अर्थ बाहर फेंकना था, फिर बाहर डालना हुआ और तब थूकना (= गले से खखार कर थूक बाहर फेंकना) में परिणत हो गया।—**हूण** (हेमचन्द्र १, १०३), महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनशौरसेनी और अपभ्रंश **विहूण** (हेमचन्द्र १,१०३ ; शुकसप्तति १५, ३ ; नायाध० ९५० ; विवाह० २०२ ; ११२३ ; १८१६ ; १८२५ ; निरया० ४४ ; उत्तर० ३५७ ; ४३९ ; ६३३ ; ८०९; पव० ३८०, ७ ; ३८१, १७ ; ३८७, १२ ; पिंगल १, ७) और अर्धमागधी **विप्पहूण** (सूय० २७१ ; २८२ ; नायाध० ३२२; पण्हा० ५६) है। हेमचन्द्र के अनुसार **हीन, विहीन** और **विप्रहीण** से नहीं निकले हैं वरन् **धून** से बने हैं (पाणिनि की काशिकावृत्ति ८, २, ४४), जो **धु, धू** (= **कंपने विधूनने च**) के रूप हैं। अर्धमागधी में इसके **धुणाइ**, महाराष्ट्री और अर्धमागधी में **धुणइ** और **विहुणइ** रूप हैं (§ ५०३)।—सब प्राकृत बोलियों में **हा** धातु से **हीण** बनता है। इस प्रकार महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनशौरसेनी और शौरसेनी में **हीण** रूप पाया जाता है (गउड० ; हाल; उवास० ; पव० ३८२, २४ और २५ ; ३८८,३ ; विक्रमो० २४,२०), जैनमहाराष्ट्री में **अइहीण** आया है (कालका०), महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी में **परिहीण** मिलता है (हाल ; कक्कुक शिलालेख ८ ; एर्त्से० ; कालका० ; कत्तिगे० ४००, ३, २९), अर्धमागधी में **पहीण** आया है (भग०), शौरसेनी में **अवहीण** रूप व्यवहार में आता है (शकु० ३०, २), महाराष्ट्री में एक रूप **अणोहीण** मिलता है (रावण०), जैनशौरसेनी और शौरसेनी में **विहीण** का प्रयोग भी पाया जाता है (कत्तिगे० ४०४, ३८७ और ३८९ ; मृच्छ० १८, १०)।—**जुण्ण = जूर्ण** और **तीर्थ = तूह** के विषय में § ५८ देखिए।

१. कर्न, बीड्रागे टोट डे फैरक्लारिंग फान एनिगे वोर्डेन इन पाली-गाथिपटन फोरकोमेंडे (आम्स्टरडाम १८८६) पेज १८ ; फौसबोएल, नोगले बेमैर्कनिंगर ओम एनकेल्टे फान्स्केलिगे पाली-ओर्ड इ जातक-योगेन (कोपनहागन १८८८) पेज १९। ट्रेंकनर, मिलिंदपञ्हो पेज ४, २३ में अशुद्ध रूप दिया गया है।

§ १२०—**ईदृश**, **ईदृक्ष** और **कीदृश**, **कीदृक्ष** में प्रयुक्त **ई** के स्थान पर अधिकतर प्राकृत बोलियों में **ए** हो जाता है। अशोक के शिलालेखों में **एदिस**, **हेदिस** और **हेडिस** रूप *मिलते हैं (कालसी)*, **एदिश**, **हेदिश** ; *पाली में* **एदिस**, **एरिस** **एदिक्ख**, **एरिक्ख** और इनके साथ साथ **ईदिस**, **ईरिस**, **ईदिक्ख** रूप मिलते हैं किन्तु **कीदृश** और **कीदृक्ष** के केवल **कीदिश**, **कीरिस**, **कीदिक्ख** और **कीरिक्ख** रूप मिलते हैं। महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **एरिस** रूप मिलता है (वररुचि १, १९ और ३१ ; हेमचन्द्र १, १०५ और १४२ ; क्रम० १, १५ ; मार्कण्डेय पन्ना ८ और ११ ; हाल १० ; रावण० ११, १०४ ; सूय० १९७ ; दस० ६२६, २७ ; ओव० ; निरया० ; भग० ; आव० एर्त्से० २४, ३ और उसके बाद ; २५, ३१ और ३२ ; २७, २ और ६ तथा २५ ; द्वारा० ५०८, ६ ; एर्त्से० ; काल्का० ; ललित ५५५, ६ ; ५६२, २२ ; मृच्छ० १५१, २० ; १५५, ५ ; शकु० ५०, ४ ; प्रबन्ध० ४, ९)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **एरिसय** का भी व्यवहार होता है (नायाध० १२८४ ; आव० एर्त्से० २४, १०)। अपभ्रंश मे **एरिसअ** आया है (पिंगल २, १८५)। अर्धमागधी में **एलिस** (चंड० २, ५ पेज ४३) और **अणेलिस** रूप भी काम में लाये गये हैं (आयार० १, ६, १, १ ; १, ७, २, ४ ; १, ७, ८, १ और १७ ; १, ८, १, १५ ; २, १६, २ ; सूय० ३०१ ; ४३४ [पाठ में **अणालिस** है] ; ५३३ ; ५४४ ; ५४६ ; ५४९ ; ८६९)। पैशाची मे **एतिस** रूप *मिलता है (हेमचन्द्र ४, ३१७ और ३२३)।* शौरसेनी मे बहुधा **ईदिस** रूप *मिलता* है (मृच्छ० २४, २० ; ३९, ११ ; ५४, १ ; ७२, १९ ; ८०, ९ ; ८२, १२ ; ८८, १६ ; १५१, १६ ; शकु० १०३, ५ ; १०४, ७ , १२३, १२ ; १२७, ७ ; १३०, १ , १३५, १५ ; विक्रमो० २०, ६ ; ४४, १३ ; रत्ना० ३१७, ३२ ; ३१८, १६ और २२ ; कर्पूर० १९, ६ ; २१, ४ आदि आदि)। मागधी मे एक ही रूप **ईदिश** है (मृच्छ० ३८, ७ ; १२९, ७ ; १३१, ७ ; १५८, २४ , १६५, १३ ; १६६, २१ ; १७७, १०)। अर्धमागधी में **एलिक्ख** (उत्तर० २३७) और **एलिक्खय** भी देखे जाते हैं (आयार० १, ८, २, ५)। *महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी में* **केरिस** *रूप काम में आता है (सब व्याकरणकार ;* हाल ३७४ ; निरया० ; भग० ; एर्त्से० ; मृच्छ० १४१, ७ , विक्रमो० ५०, ६ ; ५२, ३ ; प्रबन्ध० १०, १५ ; ३९, १३)। जैनमहाराष्ट्री में **केरिसय** पाया जाता है (*काल्का०*)। मागधी मे **केलिश** का प्रचलन है (प्रबन्ध० ४६, १४ और १६ ; ५०, १४ , ५३, १५ और १६ ; ५६, १ ; वेणी० ३५, ३)। शौरसेनी में **कीदिस** रूप भी आता है (मृच्छ० २७, १८ ; शकु० ३९, ६ ; विक्रमो० २८, १९ ; मुद्रा० ५८, ६, १८४, ५)। *महाराष्ट्री* **ईरिसअ** *(हाल १४०), जैनमहाराष्ट्री* **ईइस** *(एर्त्से०), शौरसेनी* **ईरिस** (उत्तर० २६, ६ [इसके साथ साथ २६, ८ मे **इदिस** रूप मिलता है] , मालवि० ६, १ ; ४४, १८ ; ४७, ३ ; महावीर० ११९, १२ और १४ *तथा* २० ; मुद्रा० २३३, १), **कीरिस** (मालवि० ५, ३ और १७)[1], मागधी **कीलिश** (मृच्छ० १२५, २ और ४; १३२, ९ ; गोडबोले का संस्करण ३४४, ७ ; ३४५, १ [इसमें

केलिश पाठ है] केवल २६३, २ में **कीलिश** है) सन्देहपूर्ण रूप है। शौरसेनी में श्रेष्ठ हस्तलिखित प्रतियों के प्रमाण के अनुसार केवल **एरिस, केरिस** और **ईदिस, कीदिस** रूप शुद्ध हैं। मागधी में **एलिश, केलिश** और **ईदिश, कीदिश** शुद्ध रूप हैं। इस सम्बन्ध में § २४४ और २४५ भी देखिए। **ए** का कारण अबतक स्पष्ट न हो पाया था[1]। अब ज्ञात होता है कि यह **ए—अयि** और **अइ** से निकला है। **केरिस** वैदिक **कया + दृश** और **एरिस** वैदिक **अया + दृश** से निकले हैं, जैसे **कइआ, जइआ, तइआ** वैदिक **कया + दा, यया + दा** और **तया + दा** से निकले हैं (§ ११३)। **अया** पर **कया** का प्रभाव पड़ा है। अपभ्रंश में **ईदृश** का **अइस** और **कीदृश** का **कइस** (हेमचन्द्र ४, ४०३) में यह समझना चाहिए कि ये अपभ्रंश में **तादृश** का **तइस** और **यादृश** का **जइस** की नकल पर बन गये हैं और इनके बीच के रूप **एरिस** और **केरिस** हैं। वैदिक **कयस्य**, अर्धमागधी **अयंसि**, महाराष्ट्री **अअम्मि** तथा अपभ्रंश **आअम्मि** की तुलना कीजिए (§ ४२९)। **ऍद्दह, कॆद्दह, तॆद्दह** और **जॆद्दह** के सम्बन्ध में § १२२ देखिए। संस्कृत में **पीयूष** *के साथ साथ एक रूप* **पेयूष** *भी चलता है, इसी प्रकार प्राकृत में शौरसेनी* **पीऊस** (बाल० २६६, १९) के साथ साथ महाराष्ट्री और शौरसेनी **पेऊस** भी चलता है (हेमचन्द्र १, १०५ ; हाल, शौरसेनी में कर्पूर० ८२, ५; बाल० १५०, १९ ; २२३, ५ ; २९४, १० ; मल्लिका० २४५, ६)। **बहेडअ = बिभीतक** के सम्बन्ध में § ११५ देखिए। अर्धमागधी में **विमेलय = विभेदकः** पण्णवणा ३१ में मिलता है। इस सम्बन्ध में § २४४ देखिए।

1. मालविका० ५, २ से ५ तक पेज १२२ में बौँल्लेनसेन ने बिना आलोचना प्रत्यालोचना के एक संग्रह दिया है। — २. इस सम्बन्ध का साहित्य योहानसोन, शाहबाजगढ़ी १, १३४ में देखिए।

§ १२१—जैसे इ (§ ११९) वैसे ही ई भी संयुक्त व्यजनों से पहले ऍ में परिणत हो जाती है, **क्रीडा** का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **किड्डा**, अर्धमागधी में **खेड्डा**, बोलचाल में **खेड्ड** और अपभ्रंश में **खेड्डअ** हो जाता है (§ ९०)। **णेड्ड** और **णीड** रूप मिलते हैं (§ ९०)। **जानीयात्** का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **जाणिज्जा, जाणेज्जा** रूप आते हैं (§ ९१) महाराष्ट्री में **ईदृश** का **एद्दह** रूप भी पाया जाता है, इसमें § ९० के अनुसार द्वित्व होता है और § २६२ के अनुसार **श** के स्थान पर **ह** आ जाता है (वररुचि ४,२५ और एपेंडिक्स बी पेज १०१; हेमचन्द्र २, १५७ ; मार्कण्डेय पन्ना ४० , देशी० १, १४४ ; हाल ; शौरसेनी में, विद्ध० ७१,१ [सर्वत्र **ईदृशमात्र** के लिए **एद्दहमेत्त'** रूप मिलता है])। **कीदृश** के लिए **केद्दह** रूप है तथा इसकी नकल पर **तादृश** का **तेद्दह** और **यादृश** के स्थान पर **जेद्दह** का प्रयोग मिलता है (सब व्याकरणकार)। इसी नियम के अनुसार महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **आमेळ** (= बालों की लट : वररुचि २, १६; हेमचन्द्र १, १०५ और २०२ तथा २३४, क्रम १, १५ ; २, ९ ; मार्कण्डेय पन्ना ८ और १६; पाइय० १४०, देशी० १, ६२, गउड० ११२; पण्णव० १११, ओव०) रूप है।

जैनमहाराष्ट्री में **कमलामेला** शब्द मिलता है (आव० एर्से० २९, १८ और उसके बाद)। महाराष्ट्री में **आमेलिअअ** रूप काम में आता है (रावण० ९, २१)। अर्धमागधी में **आमेलग** चलता है (राय० १११) और **आमेलय** भी रूप है (उवास० § २०६ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]; ओव०)। यह **आमेळ** आपीड से नहीं, जैसा कि प्राकृत व्याकरणकारों ने बताया है वरन् **आपीड्य** से **आपिड्ड**, ***आपेड्ड** और क्रमशः ***आपेड** हो गया, इसमें § २४८ के अनुसार **प** के स्थान पर **म** हो गया और § ६६ के अनुसार **ए** के स्थान पर **ए** आ गया तथा § २४०[1] के अनुसार ड के लिए ळ उच्चारण हो गया। शौरसेनी में आपीड (मालती०, २०७) और हेमचन्द्र १, २०२ के अनुसार बोलचाल में **आवेड** रूप भी चलता है। ठीक इसी प्रकार **णिमेळ*** की उत्पत्ति (=दंतमांस देशी० ४, ३०) ***निपीडय** से है। अर्धमागधी में **वेड** शब्द वर्तमान रूप **व्रीडय**– से * **विड्ड** होकर **वेड्ड** से बन गया है। इस सम्बन्ध में § २४० भी देखिए। **पेढ** में **ए** कहाँ से आ गया यह विषय विवादास्पद है। **पीठ** के लिए साधारणतः **पीढ** रूप चलता है। महाराष्ट्री **पेढाल** (गउड० ७३१) का अर्थ हरिपाल ने **पीठयुक्त** दिया है जो अशुद्ध है। वास्तव में **पेढाल**† का अर्थ चौड़ा और गोल है (पाइय० ८४, देशी० ६, ७) तथा सम्भवतः **पिंड** से सम्बन्धित है।–**इज्ज** में समाप्त होनेवाले अकर्मक वाच्य में अथवा **अणिज्ज** में समाप्त होनेवाले कृदंत अथवा विशेषण में **ए** नहीं लगता, विशेषकर महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी में (§ ९१)।

१. सब व्याकरणकार इनका अर्थ **एतावत्** देते हैं, हेमचन्द्र, देशीनाममाला १, १४४ में **इयत्** देता है। वेबर ने हाल[1] पेज ५९ में इसे ठीक ही **ईदृश** का रूप बताया है। —२ व्याकरणकार बताते हैं कि **आमेळ=आपीड**; लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस पेज २०७ में यही मत पुष्ट किया है। एस० गौल्दश्मित्त, प्राकृतिका पेज १५; लौयमान औपपातिक सूत्र तथा पाइयलच्छी में ब्यूलर ने भी यही मत दिया है। इस मत के अनुसार यह कारण अज्ञात ही रह जाता है कि इस रूप में **ए** कहाँ से आ घुसा है। त्रिविक्रम १, २, ५६ में, मेरे संस्करण में **आमेल** है किन्तु हस्तलिखित प्रति में **आमेळ** है।

§ १२३—प्राकृत में संस्कृत शब्द का पहला **उ** जब कि एक शब्द में दो **उ** आते हैं, **अ** रूप धारण कर लेता है। ऐसे शब्दों में मौलिक रूप में **उ** के स्थान पर **अ** रहता था और दूसरे **उ** की नकल पर पहला **अ**, **उ** बन गया (वररुचि १, २२, हेमचन्द्र १, १०७, क्रम० १, ६, मार्कण्डेय पन्ना ९)। **गुरुक** का महाराष्ट्री, शौरसेनी, आवती और अपभ्रंश में **गरुअ** रूप पाया जाता है और अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्री में **गरुय** (गउड०, हाल, रावण०, सूय० ६९२, ७४७, ७८०, पण्णव० ८, ९०, विवाह० १२६, ८३६, अणुओग० २६८, नायाध०, एर्से०,

* णिमेळ का मेळ होकर कुमाउनी में दंतमांस को मिरि कहा जाता है।—अनु०

† हिंदी की एक बोली कुमाउनी में कई स्थानीय प्रयोगों में हिंदी ऐसा का एक रूप इसी आज भी व्यवहार में आता है।—अनु०

शकु० १०, ३ ; मालवि० ३४, ९ ; ३७, ८ ; प्रिय० ४, ७ ; आवती में मृच्छ० १४८, १ ; अपभ्रंश में ; हेमचन्द्र ४, ३४०, २)। स्त्रीलिंग में महाराष्ट्री और अर्धमागधी में **गरुई** रूप आता है (सब व्याकरणकार ; गउड० ; नायाध० ; § १३९ से भी तुलना कीजिए), इससे निकले शब्दों का भी यही रूप मिलता है, जैसे महाराष्ट्री में *गुरुत्वन का **गरुअत्तण** रूप मिलता है (गउड० ; हाल ; रावण०), **गरुइअ** (गउड०; रावण०) और **गरुएइ** (गउड०) भी हैं, जैनमहाराष्ट्री में **गुरुत्व** का **गरुक्क** रूप बन जाता है (कक्कुक शिलालेख १३ ; § २९९ भी देखिए)। शौरसेनी में **गरुदा** और **अगरुदा** रूप मिलते हैं (महावीर० ५४, १९)। **गारव** और **गोरव** रूपों के सम्बन्ध में § ६१ अ देखिए। जैसा हेमचन्द्र ने १, १०९ में साफ बताया है, **गरुअ** का अ इसलिए है कि इस रूप की उत्पत्ति **गुरुक** से है, और क का अ रूप हो गया है। **गुरु** (= मन या शिक्षा देनेवाला) सब प्राकृतों में **गुरु** रूप में ही व्यवहृत होता है ; इसमें उ, अ में परिणत नहीं होता।[1] महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **अगरु** शब्द मिलता है (सब व्याकरणकार ; गउड० ; सुय० २४८ ; उवास० ; एर्से०)। संस्कृत में भी **अगरु** और **अगुरु** रूप पाये जाते हैं। अर्धमागधी में **अगलुय** रूप भी काम में आता है (ओव०), महाराष्ट्री में **कालाअरु** (गउड०) और अर्धमागधी में **कालागरु** रूप आये हैं (ओव० कप्प०)।—**गुडूची** का प्राकृत रूप **गलोई** है (§ १,२७)।—**मुकुट** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **मउड** रूप हो जाता है (सब व्याकरणकार ; गउड०, आयार० २, १३, २०, पेज १२८, ३ ; पण्हा० १६०, २३४ ; २५१ ; ४४० ; पण्णव० १००, १०१ ११७, विवाग० १६१, नायाध० § ३५ ; ९२, पेज २६९, १२७४ ; जीवा० ६०५, राय० २१; ओव०; कप्प० ; एर्से०; वेणी० ५९, २२)।—**मुकुर** का **मउर** हो जाता है (सब व्याकरणकार ; किन्तु शौरसेनी में **रदनमुउर** रूप पाया जाता है (मल्लिका० १९४, ४ [पाठ में **रअणमुउर** है])।—**मुकुल** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **मउल** होता है (सब व्याकरणकार, गउड० ; हाल ; रावण० ; अनर्घ० २०, ३, कंस० ९, ३ ; पण्हा० २८४ ; पण्णव० १११, उवास० ओव० ; एर्से ; मुद्रा० ४६, ७ [यहाँ पर यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; मालवि० ६९, २), इससे निकले शब्दों में भी यही रूप रहता है, जैसे **मुकुलित** का महाराष्ट्री में **मउलिअ** रूप बनता है (गउड० ; हाल ; रावण०), अर्धमागधी में **मउलिय** (ओव०, कप्प०), शौरसेनी में **मउलिद** रूप मिलता है (शकु० १४, ६, महावीर० २२, १० ; उत्तर० १६३, ५)। महाराष्ट्री में **मउलाइअ** (रत्ना० २९३, २), शौरसेनी में **मउलाअंत** (मालती० १२१, ५ ; २५४, २) और **मउलाविज्जंति** (प्रिय० ११, ३, [यहाँ **मउलावीअंति** पाठ है]) पाये जाते हैं। मागधी और शौरसेनी में **मउलें** ति रूप आया है (मृच्छ० ८०, २१ ; ८१, २)। **मुकुलिनः** का अर्धमागधी में **मउली** हो गया है (पण्हा० ११९)[1]। **कुतूहल** का प्राकृत रूप जो **कोहल** हो जाता है, उसका भी यही कारण है (हेमचन्द्र १, १७१)। वास्तव में कभी ***कुतूहल** रूप रहा होगा

जिसका प्राकृत *कऊहल हो गया, इससे कोहल रूप स्वभावतः बन जाता है। यह शब्द महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **कोऊहल** रूप में और शौरसेनी में **कोदूहल** भी पाया जाता है (§ ६१ अ)। **सुकुमार** के महाराष्ट्री रूप **सोमार** (हाल ; रावण०) और **सोमाल** देखे जाते हैं (भामह २३० ; हेमचन्द्र १, १७१ और २५४ ; पाइय० ८८, ललित० ५६३, २)। यह रूप *सकुमार और उसके प्राकृत रूप *सउमार से निकला है (§ १६६)। किन्तु अर्धमागधी **सूमाल** रूप (आयार० २, १५, १७ ; निरया० ; कप्प०) अर्धमागधी **सुकुमाल** से आया है (विवाह० ८२२ ; ९४६ ; अतग० ७ ; १६ ; २१ ; जीवा० ३५० ; ५४९ ; ९३८; पण्हा० २७८ ; २८४ ; ओव० § ४८ ; आदि आदि)। महाराष्ट्री में **सुउमार** भी मिलता है (शकु० २, १४), शौरसेनी में केवल **सुउमार** रूप पाया जाता है (मृच्छ० ३७, ५ ; शकु० १९, ६ ; ५४, ४), एक स्थान में **सुकुमार** भी है (विक्रमो० ५, ९)। जैनमहाराष्ट्री में **सुकुमारता** के स्थान पर **सुकुमारया** मिलता है (एर्त्से०)। प्राकृत **सोमाल** स्वयं संस्कृत में ले लिया गया[1]। **सौकुमार्य** का **सोअमल्ल** पाया जाता है (§ २८५) जिससे ज्ञात होता है कि कभी कभी दूसरा उ भी अ में बदल जाता था, जैसे अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **जुगुप्सा** के **दुगंछा** और **दुगुंछा** रूप हो जाते हैं। महाराष्ट्री में **उपरि** का **अवरिं** हो जाता है, इसका कारण यह है कि **प** के अकार पर ध्वनि स्वरित है, इसलिए उसकी नकल पर कहिए या ध्वनि पर तीव्रता आ जाने के कारण कहिए, उ अ बन जाता है (सब व्याकरणकार ; गउड०)। इसके साथ साथ महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **उवरिं** रूप भी प्रचलित है (हेमचन्द्र १, १०८ ; हाल ; रावण० ; पण्णव० ९० और उसके बाद ; सम० १०१ ; राय० ६२ ; विवाह० १९८ ; ओव०, आव० एर्त्से० ८, १२ ; एर्त्से०)। महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **उवरि** भी पाया जाता है (गउड०, हाल ; रावण०, एर्त्से०, मृच्छ० ४१, २२ ; शकु० ३०, १ ; मालवि० ६६, २ ; प्रबन्ध० ३८, ८)। शौरसेनी में **उवरिदण** रूप भी आया है (मृच्छ० ४२, १३)। मागधी में **उवलि** रूप है (मृच्छ० १३४, ८)। अर्धमागधी में **उप्पिं** है (§ १४८)। **अवरिं** का सम्बन्धी महाराष्ट्री में **अवरिल्ल** शब्द है (=ऊपर का पहरावा ; हेमचन्द्र २, १६६ ; पाइय० १७५) और **वरिल्ल** है (कर्पूर० ५६, ७, ८०, ८ ; ९५, ११) महाराष्ट्री **अवहोवास** और **अवहोआस** में उ के स्थान पर अ हो जाने का कारण भी यही नियम है (भामह ४, ३३ ; हेमचन्द्र २, १३८ ; हाल ; रावण०)।[2] इसका अर्धमागधी रूप **उभओपासं** है (सम० १५१ ; ओव०) ; **उभयोपासं** (पण्हा० २८८), **उभओपासिं** (सम० ९८, जीवा० ४९६ ; ५०० ; ५०२ ; ५०४ ; नायाध० २७५ ; विवाह० ८२६ ; ८३०) और **उभओपासे** (कप्प० पेज ९६, २४) रूप भी देखने में आते हैं। अर्धमागधी में **उभयोकालं** (हेमचन्द्र २, १३८) **उभओकुलेणं** (ओव०) रूप भी मिलते हैं। **उभओ** (विवाह० ९४१ ; नायाध ; कप्प०) *उभतस् से निकलता है जो रूप कभी कहीं **उभे** के एक रूप **उभयतस्** के स्थान पर प्रचलित रहा होगा।

अवहो, *उवथस् का रूप है (§ २१२) जिससे अवह और कुछ व्याकरणकारों के अनुसार उवह (हेमचन्द्र २, १३८) निकले हैं। इस प्रकार *भ्रुवका से भमया (§ १२४) और उपाध्याय से अवज्झाओ[1] निकला है (देशी० १, ३७; § २८ भी देखिए)।—अर्धमागधी में तरक्षु का तरच्छ हो जाता है (आयार० २, १, ५, ३; पण्णव० ४९, ३६७; ३६९; विवाह० २८२; ४८४; नायाध० ३४५), इसका स्त्रीलिंग का रूप तरच्छी भी पाया जाता है (पण्णव० ३६८)। कुत्र का कत्थ रूप और कुतः के प्राकृत रूप कओ, कदो, कत्तो और कओहिंतो के संबंध में § २९३ और ४२८ देखिए। जहिट्ठिल, जुहिट्ठिल = युधिष्ठिर के लिए § ११८ देखिए।

१. बौँल्लेनसेन ने मालविका० पेज १७२में अशुद्ध बात बतायी है कि गरु विशेषण है और गुरु संज्ञा। जीवाभिगमसुत्त २२४ में गरु पाठ अशुद्ध है, बोएटलिंक द्वारा संपादित शकुंतला ७९, ९; ८६, २ में भी शुद्ध पाठ नहीं है। — २. मउड और मउल के संबंध में ई० कून, कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३१, ३२४ देखिए। — ३. त्साखारिआए, बेत्सनबैर्गर्स बाइत्रैगे १०, १३५ और उसके बाद। — ४. पी० गौल्दश्मित्त, स्पेसिमेन पेज ८१; वेबर, त्साइटुंग डेर डौयत्शन मौर्गेनलैंडिशन गेज़ेलशाफ्ट २८, ३९०। — ५. लौयमान, औपपातिक सूत्र।

§ १२३—तुम्बुरु के साथ साथ (=उदुंबर का फल) देशी बोली में टिंबरु* रूप भी चलता है (देशी० ४, ३), टिंबरुय भी मिलता है (पाइय० २५८)। पुरुष के लिए सब बोलियों में पुरिस और मागधी में पुलिस होता है (वररुचि १, २३; हेमचन्द्र १, १११, क्रम० १, २६, मार्कण्डेय पन्ना ९; महाराष्ट्री उदाहरण : गउड०; हाल; रावण०; अर्धमागधी : आयार० १, ३, ३, ४; सूय० २०२; २०३; पण्हा० २२२; ठाणग० ३६० तथा अन्य अनेक स्थल; जैनमहाराष्ट्री : एर्त्से०; जैन-शौरसेनी : कत्तिगे० ४०१; ३४५; शौरसेनी : मृच्छ० ९, १०; १७, १९; २४, २५; २९, ३; शकु० १२६, १४; १४१, १०; विक्रमो० ३५, १२; प्रबंध० ३९, १३; मागधी : ललित० ५६५, १३; मृच्छ० ११३, २१; ११६, १७; १४७, १४; प्रबंध० ५१, ८; ५३, ११; ६२, ७; दाक्षिणात्या : मृच्छ० १०४, ७)। पउरिस (सब व्याकरणकार) है, जैनमहाराष्ट्री पोरिस, अर्धमागधी पोरिसी, पोरिसीय और अपोरिसीय रूप मिलते हैं (§ ६१ अ)। उत्तररामचरित, २१७; एर्त्सेलुगन '१७, ३५ में अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री रूप पोरुस दिया गया है जो अशुद्ध है। शौरसेनी में पुरुसोत्तम (विक्रमो० ३५, १५) में जानबूझ कर उ रहने दिया गया है क्योंकि इसकी ध्वनि पुरूरव से मिलानी थी, यह अशुद्ध रूप मल्लिका-मारुतम् ७३, ६ में भी रहने दिया गया है। अन्यथा यह शब्द शौरसेनी में पुरिसोत्तम (मालती० २६६, ४; वेणी० ९७, ९) ही ठीक है। मागधी रूप पुलिसोत्तम है (प्रबंध० ३२, ७ और १८)।—भृकुटि का महाराष्ट्री, अर्धमागधी,

* वर्तमान बंगाली रूप डिमुर है। —अनु०

जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **भिउडि** होता है (हेमचन्द्र १, ११० ; गउड० ; हाल ; रावण० ; विवाग० ९० ; १२१ ; १४४ ; १५७ ; नायाध० ७५३ ; १३१० ; १३१२ ; विवाह० २३७ ; २५४ ; उवास० ; निरया० ; आव० एर्त्से० १२, २७ ; एर्त्से० ; वेणी० ६०, ५ ; ६१, १८ ; बाल० २७०, ५), अर्धमागधी में **भिगुडि** रूप भी चलता है (पण्हा० १६२ ; २८५) ; यह रूप **भ्रुकुटि** नहीं बल्कि **भृकुटि** से बना है। महाराष्ट्री में **भुउडि** रूप (प्रताप० २२०, २०) अशुद्ध है और हुहुडि भी (अच्युत० ५८)। किंतु उक्त रूपों के विपरीत **भमया** में (हेमचन्द्र २, १६७) उ का § १२३ के अनुसार अ हो जाता है। अर्धमागधी में **भमुहा** रूप है (§ २०६ ; पाइय० २५१ ; आयार० १, १, २, ५, २, १३, १७ [यहाँ यह शब्द नपुंसक लिंग में आया है] ; जीवा० ५६३ ; राय० १६५ ; ओव० ; कप्प०)। अपभ्रंश में इसका रूप **भौंहा** है (पिंगल २, ९८ ; § १६६ ; २५१)। महाराष्ट्री में **भुमआ** का व्यवहार है (भामह ४, ३३ ; हेमचन्द्र १, १२१, २, १६७ ; क्रम० २, ११७ ; मार्कण्डेय पन्ना ३९ ; गउड० ; हाल ; रावण०)। अर्धमागधी में **भुमया** (पाइय० २५१ ; उवास० ; ओव०) और **भुमगा** भी काम में लाये जाते हैं (पण्हा० २७२ ; २८५ [पाठ **भूमगा** है] ; उवास०)। **भुमा** रूप भी पाया जाता है (ओव०)। इस संबंध में § २०६ ; २५४ और २६१ भी देखिए। अर्धमागधी **छीय** (= वह जिसने छींका हो : हेमचन्द्र १, ११२ ; २, ११७ ; नंदी० ३८०) **क्षुत** से नहीं निकला है बल्कि कभी कहीं प्रयोग में आनेवाले ***छीत** शब्द से। इससे अर्धमागधी में **छीयमाण** (= छींकता हुआ : आयार० २, २, ३, २७) बना है। **छिक्क** की व्युत्पत्ति भी इसी प्रकार की है (देशी० ३, ३६)। संस्कृत **छिक्का** और **छिक्कण** से भी तुलना कीजिए। **सूहत्त** = सुभग के लिए § ६२ देखिए और **मूसल** = मुसल के संबंध में § ६६ देखिए।

१. लिम्मर, कून्स त्साइटश्रिफ्ट २४, २२० ; एस० गोल्दश्मित्त, कून्स त्साइटश्रिफ्ट २५, ६१५ ; वाकरनागल, आल्टइंडिशे ग्रामाटीक § ५१।

§ १२४—जैसे इ ए में परिणत हो जाती है वैसे ही संयुक्त व्यंजनों से पहले उ का ओ॑ हो जाता है (वररुचि १, २०, हेमचन्द्र १, ११६ ; क्रम० १, २३ ; मार्कण्डेय पन्ना ८ ; प्राकृतकल्पलता पेज ३१)। मार्कण्डेय पन्ना ६६ के अनुसार शौरसेनी में यह नियम केवल **मुक्ता** और **पुष्कर** में लागू होता है। इस तथ्य की पुष्टि सब ग्रंथ करते हैं। पल्लवदानपत्रों में **स्कंदकुंडिनः** का **खंदकोंडिस** रूप पाया जाता है (६, १९)। महाराष्ट्री में **गुच्छ** का **गो॑च्छ** हो जाता है (हाल ; रावण०), **गो॑च्छअ** रूप भी मिलता है (हाल)। महाराष्ट्री में **तो॑ड** (सब व्याकरणकार ; हाल ४०२ [यहाँ पर यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), किंतु मागधी में इस शब्द का रूप **तुंड** है। महाराष्ट्री में **मुंड** का **मो॑ड*** रूप है (सब व्याकरणकार), साथ ही महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी में **मुंड** भी चलता है (गउड० ; मृच्छ० ८०, २० ; प्रबंध० ४९, ४ ; मागधी के लिए : मृच्छ० १२२, ७ ; प्रबंध० ५३, १४)। शौरसेनी में **पुष्कर** का **पो॑क्खर** रूप मिलता है (सब व्याकरणकार ; मृच्छ० २,

---

* गुजराती में इसका रूप मोड़ चलता है। —अनु०

१६ ; ५४, २ ; ९५, ११) और अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्री में **पुक्खर** रूप मिलता है (कप्प० ; एर्त्से०)। शौरसेनी में **पुष्कराक्ष** के लिए **पुक्खरक्ख** आया है (मुद्रा० २०४, ३)। अर्धमागधी और शौरसेनी में **पोक्खरिणी** शब्द भी पाया जाता है (आयार० २, ३, ३, २ [पाठ में **पोक्खरणी** रूप है]; नायाध० १०६० ; धूर्त० ५, १०)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **पुक्खरिणी** भी प्रचलित है (सूय० ५६५ ; ६१३ ; तीर्थ० ४, ९)। मागधी में **पोॅस्कलिनी** आया है (मृच्छ० ११२, ११) और साथ **पुस्कलिनी** भी चलता है (मृच्छ० ११३, २२)। **पुंडरीक** के रूप अर्धमागधी मे **पोॅडरीय** (सूय० ८१३ ; पण्णव० ३४ ; ओव०), जैनमहाराष्ट्री मे **पुंडरीय** (एर्त्से०) और शौरसेनी मे **पुंडरीअ** होते हैं (माल्ती० १२२, २)। जैनमहाराष्ट्री मे **कोॅट्टिम** (सब व्याकरणकार ; एर्त्से०) और महाराष्ट्री मे **कुट्टिम** रूप चलता है (रावण०)। **पुस्तक** का शौरसेनी मे **पोॅत्थअ** (सब व्याकरणकार ; मृच्छ० ६९, १७ ; कर्पूर० १२, ११), अर्धमागधी मे **पोॅत्थय** (ओव०) होता है। **लुब्धक** का **लोॅद्धअ** होता है (सब व्याकरणकार ; पाइय० २४८)। महाराष्ट्री मे **मुस्ता** का **मोॅत्था** रूप है (हेमचन्द्र १, ११६, सरस्वती० १६, ९)। **मुद्गर** का महाराष्ट्री और शौरसेनी में **मोॅग्गर** बन जाता है (सब व्याकरणकार ; रावण० ; बाल० २४५, १८ ; २५१, ३), साथ-साथ **मुग्गर** रूप भी प्रचलित है (रावण०)। अर्धमागधी और जैनशौरसेनी मे **पुद्गल** या **पोॅग्गल** रूप है (हेमचन्द्र १, ११६ ; आयार० २, १, १०, ६ , भगवती० ; उवास० ; ओव०; कप्प० ; पव० ३८४, ५८)। इसके साथ-साथ जैनशौरसेनी और मागधी मे **पुग्गल** रूप भी मिलता है (पव० ३८४, ३६ और ४७ तथा ५९ ; प्रबध० ४६, १४)। महाराष्ट्री और शौरसेनी में **मोत्ता** रूप आया है (भामह ; क्रम०, मार्कण्डेय; प्राकृतकल्पलता, रावण० ; विक्रमो० ४०,१८), साथ साथ इन दोनों प्राकृतो में **मुत्ता** रूप भी चलता है (गउड० ; रावण० ; मृच्छ० ६९, १ ; कर्पूर० ७२, २)। शौरसेनी मे **मुक्ताफल** के लिए **मुत्ताहल** रूप काम में लाया गया है (कर्पूर० ७२, ३ और ८ ; ७३, ९), महाराष्ट्री मे **मुत्ताहलिल्ल** रूप मिलता है (कर्पूर० २, ५ ; १००, ५), इस प्रकार का गौण **ओॅ** कहा-कहा दीर्घ होता है, इस सम्बन्ध मे § ६६ देखिए और § १२७ से तुलना कीजिए।

§ १२५—**दुऊल** और अर्धमागधी **दुगुल्ल** के साथ-साथ सब व्याकरणकारों के मत से प्राकृत भाषाओं में **दुअल्ल** रूप भी चलता है (§ ९०)।—अर्धमागधी **उव्वीढ**, जो हेमचन्द्र १, १२० के अनुसार **उद्व्यूढ** से निकलता है, वास्तव में **विध्** (**व्यध्**) धातु मे **उद्** उपसर्ग **उद्विध्यति** से जो **उव्विहइ** रूप बनता है उससे यह रूप बना है (§ ४८९) और यह तथ्य *विवाहपन्नत्ति* १३८८ में स्पष्ट हो जाता है : **से जहा नामए के इ पुरिसे···उसुम्···उव्विहइ उव्विहित्ता···तस्स उसुस्स···उव्वीढस्स समाणस्स** जैसे **लिह्** से **लीढ** और **मिह्** से **मीढ** बना है वैसे ही **विध्** धातु से निकले गौण प्राकृत रूप **विह्** से यह रूप निकला है। **उद्व्यूढ** अर्धमागधी मे नियमित रूप से **उव्वूढ** रूप धारण करता है (हेमचन्द्र १, १२० ;

शकु० ८८, २ ; जीवा० ८२६), ऊ के स्थान पर उ आसीन किये जाने के सम्बन्ध में § ८० से ८२ तक देखिए ।—**नूपुर** के लिए सब प्राकृत बोलियों में **णेउर** रूप चलता है । मागधी में **णेउल** हो जाता है जो भारत की वर्तमान बोलियों में अब तक सुरक्षित शब्द **नेपूर** और **नेपुर** से निकला था जो संस्कृत शब्द **केयूर** और उसके प्राकृत रूप **केऊर** की नकल पर बना है । इस विषय पर शौरसेनी शब्द **णेउरकेऊरम्** (बाल० २४८, १७) तुलना करने लायक है ; अपभ्रंश में **णेउरकेउरओ** (पिंगल १, २६) मिलता है । इस प्रकार महाराष्ट्री और शौरसेनी में **णेउर** रूप मिलता है (वररुचि १, २६; हेमचन्द्र १, १२३; क्रम० १, ५; मार्कण्डेय पन्ना ९; गउड०; हाल; रावण० ; मृच्छ० ४१, २ ; विक्रमो० ३१, ७ ; मालवि० ४०७ ; रत्ना० २९४, ३२ ; प्रबन्ध० २९, ८ ; प्रसन्न० ३९, १८ ; ११४, ९ ; कर्पूर० २१, १ ; बाल० २४८, १७) । महाराष्ट्री में **णेउरिल्ल** (=नूपुरवत् : गउड०) से आया है । शौरसेनी में **सणेउर** पाया जाता है (मालवि० ३७, १५, ४३, २) । अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **नेउर** रूप है (चंड० २, ४ [यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए], ३, ३४ पेज ३५; पाइय० ११८ ; पण्हा० २३६ ; ५१४ ; नायाध० § ६५ ; १०९ ; पेज ९४८ ; विवाह० ७९१ ; ओव० ; आव० एर्त्से० १२, ६) । मागधी में **णेउल** (मृच्छ० ९९, ७ और १०) और अपभ्रंश में **णेउर** का प्रचार है (पिंगल १, १७ और २२ तथा २६) । हेमचन्द्र १, १२३ और देशीनाममाला ४, २८ में **णिउर** रूप मिलता है और १, १२३ में **णूउर** आया है । प्रतापरुद्रीय २२०, १४ में शौरसेनी में **णूपुराइ** मिलता है जो अशुद्ध रूप है ।

§ १२६—उ की भांति ही (§ १२५) ऊ भी संयुक्त व्यंजनों से पहले आने पर **ओॅ** में परिणत हो जाता है , **कूर्पर** का अर्धमागधी में **कोॅप्पर** हो जाता है (हेमचन्द्र १, १२४ ; विवाग० ९०) और महाराष्ट्री में **कुप्पर** चलता है (गउड०) । **मूल्य**[1] का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **मोॅल्ल** (हेमचन्द्र १, १२४ ; आयार० २; ५, १, ४ ; २, ६, १, २ ; पेज १२८, ६ ; आव० एर्त्से० ३१, १० ; एर्त्से० ३१, १० ; एर्त्से०) । महाराष्ट्री में **अमोॅल्ल** रूप मिलता है (गउड०) और **मुल्ल** तो बार-बार आता है (§ ८३) । जैसे उ से निकला **ओॅ** वैसे ही ऊ से निकला हुआ **ओॅ** भी दीर्घ हो जाता है जब मूल संयुक्त व्यंजन सरल कर दिये जाते हैं । इस नियम के अनुसार **तूण** का अर्धमागधी में **तोण** रूप हो जाता है (हेमचन्द्र १, १२५ ; पण्णव० ७२ ; ७९ ; ८१, ८३ ; विवाग० ११२ ; नायाध० १४२६) । शौरसेनी में **तूणि** होता है (वेणी० ६२, ४; मुकुंद० ६९, १४) । **तूणीर** का महाराष्ट्री में **तोणीर** रूप है (हेमचन्द्र १, १२४ ; कर्पूर० ४७, ८) । **स्थूणा** का **थोणा** और **थूणा** रूप होते हैं (हेमचन्द्र १, १२५) । इनके मूल रूप कभी ***टोण्ण**, ***टोण्णीर** तथा ***तुल्ल**, ***तुल्लीर** और ***स्थुरला**[1] रहे होंगे । महाराष्ट्री **थोर** शब्द भी इसी तरह बना है ; **स्थूर** का ***थोर्र** रूप बन कर यह **थोर** निकला है (हेमचन्द्र १, १२४ और २५५ ; २, ९९ ; गउड० ; हाल , रावण० ; सरस्वती० १७१, २२ ; कर्पूर० ५०, ११ ; ६४, २ ; ७४, ७ ; ८१, ४) । अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **स्थूल**

से थुल्ल'- हो गया है (हेमचन्द्र २, ९९ ; आयार० २, ४, २, ७ , आव० एर्त्से० २२, १५ और ४२), अइथुल्ल रूप भी मिलता है (आव० एर्त्से० २२, ३५) और अर्धमागधी, जैनशौरसेनी तथा शौरसेनी में थूल भी व्यवहार में आता है (आयार० पेज १३३, ३३ ; १३६, ३ ; सूय० २८६; पण्हा० ४३७; कत्तिगे० ३९८, ३०३ और ३०५ ; कर्पूर० ७२, १ ; हास्य० ३२, १ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए और आव० एर्त्से० २२, ३४ में थुल्ल और २२, ३३ में अइथुल्ल का भी शोधन होना चाहिए]) । इनके अतिरिक्त अर्धमागधी में लांगूल का रूप णंगोल हो जाता है (नायाध० ५०२), लांगूलिन् का णंगोली (जीवा० ३४५), लांगूलिक का णंगोलिय (जीवा० ३९२) और साथ साथ णंगूल (जीवा० ८८३ ; ८८६ ; ८८७), गोणंगुल (विवाह० १०४८), णंगूलि-(अणुओग० ३४९) रूप काम में आये हैं । महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और शौरसेनी में तांबूल का तंबोल† हो जाता है (हेमचन्द्र १, १२४ ; मार्कण्डेय पन्ना ८ ; गउड० ; अणुओग० ६१ ; उवास० ; ओव० ; एर्त्से०; कत्तिगे० ४०१, ३५० ; मृच्छ० ७१, ६; मालती० २०१, २ [यहाँ यही पाठ होना चाहिए]; कर्पूर० ९८, ४; विद्ध० २८, ७ ; कस० ५५, १३ [यहाँ तंबोल्ल पाठ मिलता है]) । अर्धमागधी में तंबोलय शब्द भी देखा जाता है (सूय० २५०), तंबोली † भी आया है (जीवा० ४८७ ; राय० १३७) । इन शब्दों में ओ के आने से ज्ञात होता है कि लांगूल और तांबूल के अन्तिम अक्षर स्वरित रहे होंगे । इसलिए §९०के अनुसार ल का द्वित्त होकर मुल्ल दुगुल्ल रूप बन गये । इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार सिद्ध होती है; तांबूल, *तंबुल्ल, *तंबोल[1] । कोहंडी का ओ भी गौण है (कोहडी = कूष्माडी : हेमचन्द्र १, १२४ ; २, ७३ ; क्रम० २, ७३ ; पाइय० १४६), अर्धमागधी कोहंड= कूष्मांड (पण्णव० १११), इसके साथ-साथ कुहंड भी चलता है (पण्णव० ११५)। शौरसेनी शब्द कोहंड (कर्पूर० [बम्बई का सस्करण] ९९, ३) जिसे मार्कण्डेय शौरसेनी में अस्वीकार करता है, कोनो इसे कुंभुंड पढता है, यही पाठ विद्धशालभंजिका २३, २ में भी पढ़ा जाना चाहिए ; इसकी परंपरा यह है : *कुम्हंडी, *कोम्हंडी, कोंहंडी, को॑हंडी और कोहंडी (§ ७६ ; ८९ ; ३१२) । कोहली (हेमचन्द्र १, १२४; २, ७३) और कोहलिया (पाइय० १४६) भी उक्त रीति से को॑हंडी से निकलते हैं । मराठी कोहळँ की तुलना कीजिए और गलोई (= गुडुची : हेमचन्द्र १, १०७ और १२४ ; § १२३) कभी कहीं बोले जानेवाले रूप *गडोची से निकला है ।

१. याकोबी ने एर्त्सेलुंगन में मो॑ल्ल=मौल्य दिया है जो अशुद्ध है। मौल्य प्राकृत से संस्कृत बन गया। — २. विंडिश, कून्स त्साइटश्रिफ्ट २७, १६८; बुब्रमान, त्साइटुंग डेर डौयत्शन मौर्गेनलैंडिशन गेज़ेलशाफ्ट ३९, ९२ और

* इस थुल्ल का मराठी में थोर और कुमाउनी में ठुल्ल रूप होता है । यह शब्द तिब्बत पहुँच गया है । वहाँ का एक बड़े तीर्थ ठुल्लिंग में इसका प्रयोग हुआ है । —अनु०

† इस तंबोल से हिंदी तंबोली बना । —अनु०

उसके बाद ; फौर्तुनातौफ, कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३६, १८। — ३. लौयमान ने औपपातिक सूत्र में इस शब्द की उत्पत्ति ताम्रगुल से दी है, जो असंभव है।

§ १२७—पहले का या बाद का वर्ण स्वरित रहने से ए कभी कभी इ में परिणत हो जाता है (§ ७९ के ८२ तक) और संयुक्त व्यजनों से पहले ऍ या इ हो जाता है (§ ८४)। विभक्ति के रूप में ऍ तथा बोलियों में दीर्घ स्वर के अनन्तर इ बन जाता है (§ ८५)। गौण ऍ अर्थात् वह ऍ, जो मूल शब्द में ए, इ या अन्य कोई स्वर के रूप में हो, भी कभी-कभी दीर्घ कर दिया जाता है और शब्द के संयुक्त व्यंजन सरल कर दिये जाते हैं (§ ६६ ; १२२)। अपभ्रंश में तृतीया एकवचन का **-एन** और बहुवचन **एहिं** कभी कभी ह्रस्व हो जाते हैं (इस सम्बन्ध में संगीत रत्नाकर ४, ५६ से तुलना कीजिए)। इस भाँति के रूप **बोलिऍण** (हेमचन्द्र ४, ३८३, २ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), **पाणिऍण** (हेमचन्द्र ४, ४३४), **बाणे ँण** (हेमचन्द्र ४, ३५६ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) ; **अत्थे ँहिं, सत्थे ँहिं, हत्थे ँहिं** (हेमचन्द्र ४,३७१), **वंके ँहिं, लोअणे ँहिं** (हेमचन्द्र ४,३५८) [यहाँ यही पाठ ठीक है], **दंतेहिं** (हेमचन्द्र ४, ४१९, ५ [यहाँ भी यही पाठ ठीक है]), **अम्हेहिं, तुम्हेहिं** (हेमचन्द्र ४, ३७१) हैं। हेमचन्द्र की मेरी छ हस्तलिखित प्रतियों में ये शब्द कई प्रकार से लिखे गये हैं। मैंने हेमचन्द्र के अपने द्वारा सम्पादित संस्करण के पाठों में **बोल्लिऍ, पाणिऍ, वंकहिँ** अथवा **वंकिहिँ, लोअणिहिँ** आदि दे दिये हैं। जिनमें पाठभेद नहीं मिलता, वे हैं तृतीया बहुवचन के रूप **अहिं, अहिँ**, ये अ से बने हैं (§ ३६८)। उत्तम और मध्यमपुरुष सप्तमी बहुवचन के रूप में **-एसु** के अतिरिक्त कई व्याकरणकारों ने **-असु** भी बताया है। शाकल्य ने **तुज्झसुं** और **तुम्मिसुं** रूप बताये हैं (§ ४१५ , ४२०)। जैनमहाराष्ट्री में **एइना**, शौरसेनी और मागधी में **एदिना**, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी में **इमिणा** और **एएणा** रूप होते हैं। शौरसेनी और मागधी में **एदेण, इमेण** रूप भी आते हैं (§ ४२६ , ४३०)। ये सब रूप इ से निकले हैं, जैसा लास्सनने इन्स्टिट्यूत्सिओनेस § १०७ में बताया है। यह बात **केन** के **किणा** रूप के सम्बन्ध में निश्चित है और इस **किणा** की नकल पर **जिणा, तिणा** बने हैं (§ ४२८)।—अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **अउण-, अउणा** शब्द आये हैं जिन्हें कई विद्वान **एकोन** का पर्यायवाची मानते हैं पर वास्तव में ऐसा नहीं है। ये दोनों **अगुण** से निकले हैं (§ ४४४)। जैनमहाराष्ट्री **आणसु** और अपभ्रंश **आणहि** के लिए § ४७४ देखिए। ए के स्थान पर अ में समाप्त होनेवाले प्रेरणार्थक धातु के लिए § ४९१ देखिए।

§ १२८— **णालिअर** (= **नारिकेल**) में ए के स्थान पर अ हो जाता है (देशी० २, १०), इसके साथ साथ महाराष्ट्री में **णालिएरी** (गउड०) और शौरसेनी में **णारिएल*** रूप मिलते हैं (शकु० ७८, १२)। सब व्याकरणकारों ने **प्रवेष्ट** के लिए **पवट्ठ** रूप लिखा है[1] (वररुचि १, ४० , हेमचन्द्र १, १५६ , क्रम० १, ४० , मार्कण्डेय पन्ना १३), किन्तु यह शब्द **प्रकोष्ठ** से निकला है और महाराष्ट्री

* हिन्दी नारियल का प्रारम्भिक प्राकृत रूप। —अनु०

तथा अर्धमागधी मे **पओट्ट** लिखा जाता है (कर्पूर० ४७, ६ ; ओव०)। इसका एक रूप **पउट्ट** भी है (गउड०; कप्प०) । जैसा मार्कण्डेयने स्पष्ट रूप से बताया है, शौरसेनी में केवल **पओट्ट** चलता है (बाल० ८०, १ ; विद्ध० १२६, ३ ; ऑगन के अर्थ में, मृच्छ० ६८, २३ और उसके बाद) ।—**स्तेन** शब्द के **थूण** (हेमचन्द्र १, १४७ ; देशी० ५, २९) और **थेण** रूप मिलते हैं और अर्धमागधी मे इसका रूप **तेण**[२] हो जाता है (§ ३०७) । यह शब्द देशीनाममाला ५, २९ में घोडे के लिए आया है, इसलिए यह ***स्तूर्ण** = तूर्ण से निकला है जिसका अर्थ जल्दी दौड़नेवाला है*। देशीनाममाला ५, ३२ मे **थेणिल्लिअ** = फलवान आया है जिससे उक्त शब्द की तुलना कीजिए और § २४३ में **थेळ** = चोर भी देखे। अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी में **दोस** (= घृणा : देशी० ५, ५६ ; त्रिविक्रम १, ४, १२१ ; आयार० १, ३, ४, ४ ; सूय० १९८ ; पण्णव० ६३८ ; दस० नि० ६५३, ६ ; उत्तर० १९९ ; ४४६ ; ६४८ ; ७०७ ; ८२१ ; ८७६ ; ९०२ ; ९१० और उसके बाद ; विवाह० १२५ ; ८३२ ; १०२६ ; एर्त्से०; ऋषभ० ; पव० ३८४, ५४ ; ३८५, ६१ ; कत्तिगे० ४०४, ३८९), अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी मे **पदोस** भी मिलता है, साथ साथ **पओस** भी चलता है (सूय० ८१; उत्तर० ३६८ ; एर्त्से० ; पव० ३८५, ६९) । ये शब्द **द्वेष** और **प्रद्वेष** से नहीं निकले हैं वरन् **दोष** और **प्रदोष** से, हाँ इनका अर्थ बदल गया है[३]। ऐसा एक शब्द **दोसाकरण** है[३] (= क्रोध : देशी० ५, ५१) । **द्वेष** का प्राकृत रूप **वेस** होता है (§ ३००) ।

१. लास्सन ने इन्स्टिट्यूत्सिओनेस पेज १२६ के नोट में यही भूल की है। —२. वाइडर्स ; वेबर, भगवती ; याकोबी, कल्पसूत्र ; एर्त्से० भूमिका का पेज २५, नोट ; लौयमान, औपपातिक सूत्र ; बलाट्ट ; ऋषभ० ; इ० म्युलर ; बाइत्रैगे पेज २३ । — ३. पिशल ; बेत्सनबैर्गर्स बाइत्रैगे १३, १४ और उसके बाद ।

§ १२९—संयुक्त व्यजनों से पहले **ओ** का **ओ॑** और **उ** हो जाता है, दो संयुक्त व्यजनवाले प्रत्ययों से पहले **ओ॑** तथा बोलियों में **ओ**, **उ** मे परिणत हो जाता है (§ ८५ ; ३४६) । गौण **ओ॑** कभी-कभी दीर्घ हो जाता है और शब्द के संयुक्त व्यजन सरल कर दिये जाते हैं (§ ६६ ; १२७) । अपभ्रंश में केवल अन्तिम **ओ** ही नहीं बल्कि शब्द के मध्य का **ओ** भी **उ** बन जाता है। जैसा, **वियोगेन** का **विओएं** के स्थान पर **विउएं** हो जाता है (हेमचन्द्र ४, ४१९, ५) ।—महाराष्ट्री **अण्णण्ण** (हेमचन्द्र १, १५६ ; गउड० ; हाल), जैनमहाराष्ट्री **अन्नन्न** (एर्त्से०) **अन्योन्य** से नहीं निकले हैं ; **अन्योन्य** का प्राकृत **अण्णोण्ण** या **अण्णुण्ण** (§ ८४) होता है, किन्तु वैदिक **अन्यान्य** से आये हैं ।—**आवज्ज आतोद्य** से नहीं निकला है (हेमचन्द्र १, १५६), इससे **आओॅज्ज** और **आउज्ज** निकले हैं किन्तु ***आवाद्य** से ।

* तुरग, तुरग, तुरगम, अश्व आदि शब्दों का अर्थ भी तेज दौड़नेवाला है। तुर् का अर्थ है जल्दी करना । —अनु०

इसी भाँति शौरसेनी **पक्खाउज्ज**† भी **पक्षातोद्य** से नहीं निकला है (कर्पूर० ३, ३)। ओ के स्थान पर **पुलश्इ, पुलएइ** और **पुलइय** में अ हो गया है। इनके रूप **पुलोएइ, पलोएइ, पुलोइअ, पलोइअ** भी होते हैं। ये रूप **प्रलोकयति** तथा **प्रलोकित** से निकले हैं (§ १०४)। **पल्लट्टइ, पलोट्टइ** (=पलटना : हेमचन्द्र ४, २००), **पल्लट्ट** (२, ४७, ६८) और **पलोट्ट** (हेमचन्द्र ४, २५८) में भी अ का ओ हुआ है। इसके दो या तीन मूल रूप हैं, यही सम्भव लगता है। **पवट्ठ=प्रकोष्ठ** के लिए § १२९ देखिए। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री **थेव** (= बूंद, लेशमात्र : पाइय० १६४ ; हेमचन्द्र २, १२५ ; देशी० ५, २९; दस० नि० ६५२, ३२ ; कक्कुक शिलालेख ७ ; आव० एत्सें० ४५, २ ; एत्सें०) का **थोव** या **स्तोक** से कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु **थिप्पइ** (हेमचन्द्र ४, १७५) **स्तिप्** धातु या **स्तेप्** से निकला है (धातुपाठ १०, ३ और ४)। यह बात चाइल्डर्स ने पालि **थेव** के सम्बन्ध में पहले ही लिख दी थी।

§ १३०—प्राकृत में संयुक्त व्यंजन स्वरभक्ति की सहायता से अलग अलग कर दिये जाते हैं और तब सरल व्यंजनों के रूप नाना प्राकृत भाषाओं के ध्वनि-नियमों के अनुसार होते हैं। यह स्वरभक्ति तब दिखाई देती है जब एक व्यंजन **य, र, ल** अथवा अनुस्वार और अनुनासिक हो। स्वरभक्ति की ध्वनि अनिश्चित थी, इसलिए यह कभी अ, कभी इ और कभी उ रूप में मिलता है। कविता में स्वरभक्ति का विशेष ध्यान नहीं रखा जाता। इस प्रकार अर्धमागधी **अगणि** में अ स्वरभक्ति वर्तमान है : **निव्वावओ अगणिँ निवायएॅज्जा, ण पंडिए अगणिँ समारभेज्जा** (सूय० ४३०)। **गरहिओ** में स्वरभक्ति है : **मुसावाओ य लोगम्मि सव्वसाहूहि गरहिओ** (दस० ६३१, ८)। इस सम्बन्ध में सूय० ९१२ और ९१४ से तुलना कीजिए। **किरियाकिरियम् वेणइयाणुवायम्** में **किरियाकिरियम्** में इ स्वरभक्ति है (सूय० ३२२)। **किंपुरिस** में स्वरभक्ति है :—**असोगो किंणराणाम् च किंपुरिसाणाम् च चंपओ** (ठाणंग० ५०५ ; सम० २१ की टीका में अभयदेव)। **अरहइ** में स्वरभक्ति : **भिक्खू अक्खाउम् अरिहइ** (दस० ६३१, ८), **सोभासिउम् अरिहइ किरियवादम्** (सूय० ४७६ ; यहाँ **किरिय-** में भी स्वरभक्ति है)। **आयरिय** में स्वरभक्ति :—**आयरियस्स महप्पणो** (दस० ६३१, ३३)।[1] स्वरभक्ति के कारण कोई अक्षर स्वरित होने से दीर्घ स्वर के ह्रस्व हो जाने में कोई बाधा नहीं पड़ती जैसा अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री मे **आचार्य** का **आयरिय** होता है (§ ८१;१३४), महाराष्ट्री और शौरसेनी में **वैडूर्य** का **वेरुलिअ** तथा अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **वेरुलिय** होता है (§ ८०)। शौरसेनी में **मूर्ख** का **मुरुक्ख** रूप बन जाता है (§ १३९) एवं अर्धमागधी में **सूक्ष्म** का **सुहुम** रूप प्रचलित है (§ ८२ ; चंड० ३,३० ; हेमचन्द्र १, ११८ ; २,११३ ; आयार० २, ४, १, ७ ;

† यह पक्खाउज्ज, जो पिशल साहब ने पक्षावाद्य = पक्ष + आवाद्य से निकला बताया है, पखवाज का प्रारम्भिक प्राकृत रूप है। हिन्दी कोशकारों ने इसकी व्युत्पत्ति नहीं दी है। कहीं दी भी है तो वह भ्रामक है। —अनु०

२, १५, ३ ; पेज १३१, ३२ ; सूय० १२८ ; २१७ ; ४९२ ; पण्णव० ७२ ; ७९ ; ८१ ; ८३ ; पण्हा० २७४ ; जीवा० ३९ ; ४१ ; ४१३ ; अणुओग० २६० ; ३९१ ; ३९२ ; विवाह० १०५ ; ९४३ ; १३८५ ; १४३८ ; उत्तर० १०४० ; ओव० ; कप्प०)।[1] न तो § १९५ के अनुसार व्यजनो का द्वित्व होना बन्द होता है, न § १०१ के अनुसार अ का इ होना, जैसे नग्न का अर्धमागधी मे निगिण होता है, न स्य का च्च में और ध्य का ज्झ मे परिणत होना रुकता है (§ २८०)।

१. याकोबी, कून्स त्साइटश्रिफ्ट २३, ५९४ और उसके बाद मे अन्य कई उदाहरण दिये गये हैं। —२. सूयगडंगसुत्त १७४ (= ३, २, १) मे (मेरे पुस्तकालय के संस्करण में यह इमे सुहुमा संगा मिलता है, इसलिए याकोबी का कून्स त्साइटश्रिफ्ट २३, ५९५ में सुह्या रूप स्वीकार नहीं किया जा सकता। § ३२३ से भी तुलना कीजिए।

§ १३१—अ केवल अर्धमागधी और अपभ्रंश मे स्वरभक्ति के रूप मे आता है। अन्य प्राकृत भाषाओं में इस स्वरभक्ति का नाममात्र का ही प्रयोग है। अर्धमागधी मे अग्नि का अगणि रूप बन जाता है (हेमचन्द्र २, १०२ ; आयार० १, १, ४, ६ ; सूय० २७३ ; विवाग० २२४ ; विवाह० १२० ; दस० ६१६, ३२ और बहुत ही अधिक सर्वत्र)। अभीक्ष्णम् का अर्धमागधी मे अभिक्खणाम् आया है (कप्प०), गर्हा का गरहा (विवाह० १३२), गर्हणा का गरहणा (ओव०), गरहामो, गरहई (सूय० ९१२ , ९१४), गरहइ (विवाह० १३२ , ३३२) रूप मिलते हे। जैनमहाराष्ट्री मे गरहसि (एर्त्से० ५५, २९), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री मे गरहिय (सूय० ५०४ ; दस० ६२५, ३ , एर्त्से० ३५, १५) रूप व्यवहार मे आये है। अर्धमागधी में विगरहमाण (सूय० ९१२), जैनशौरसेनी मे गरहण (कत्तिगे० ४००,३३१), गरिह (वररुचि ३,६२, क्रम० २,५९), अर्धमागधी में गरिहा (हेमचन्द्र २, १०४ , मार्कण्डेय पन्ना २९ ; पाइय० २४५ ; ठाणग० ४०), गरिहामि (विवाह० ६१४), गरिहसि* (सूय० ९१२ [पाठ गरहसि है]), जैनमहाराष्ट्री में गरिहसु (एर्त्से० ४२, १८) रूप भी प्रयोग में आये ह। अरत्नि का अर्धमागधी मे रयणि (§ १४१),[1] ह्रस्व का रहस्स होता है। महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश मे दीर्घ का दीहर रूप होता है (§ ३५४)। अर्धमागधी मे सक्थीनि का सकहाओ (§ ३५८), ह्रद का हरय (हेमचन्द्र २, १२० ; आयार० १, ५, ५, १ ; १, ६, १, २ , सूय० १२३ , उत्तर० ३७६ ; विवाह० १०५ ; १९४ ; २७०) होता है। अपभ्रंश मे ग्रास का गरास (पिंगल २, १४०), त्रस्यति का तरसइ (पिंगल २, ९६), प्रमाण=परमाण (पिंगल १, २८), प्रसन्न=परसण्ण (पिंगल २, ४९), प्राप्नुवंति=पराबहिं (हेमचन्द्र ४,४४२,१) रूप हो जाते हे। अन्य प्राकृत भाषाओं के कुछ उदाहरण ये हैं :— महाराष्ट्री रत्न का रअण रूप मिलता है (वररुचि ६० , क्रम० २, ५५ , मार्कण्डेय पन्ना २९ , गउड० , हाल, रावण०)। अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी मे रयण रूप पाया जाता है (§ ७० ; चंड० ३, २० , हेमचन्द्र २, १०१ , कत्तिगे० ४००, ३२८)। शौरसेनी

* हिन्दी शब्द गरियाना इस गरहइ मे निकला है। —अनु०

में **रदण** का व्यवहार होता है (मृच्छ० ५२, ९, ६८, २५ ; ७०, २४ ; ७१, १ ; शकु० ३८, ५, १०३,६ ; ११७,७ ; विक्रमो० ७७, १५; आदि आदि[1] । दाक्षिणात्या में भी **रदण** प्रचलित है (मृच्छ० १०१, १२), मागधी में **लदण** (मृच्छ० १४६, ४ ; १५९, १२ ; १६४, २० ; शकु० ११३, ३, ११७, ५) । **शत्रुघ्न** के लिए शौरसेनी में **सत्तुहण** (बाल० ३१०, १५ ; अनर्घ० ३१७, १७) और **सत्तुग्घ** रूप चलते हैं (बाल० १५१, १) । महाराष्ट्री तथा शौरसेनी में **श्लाघा** का **सलाहा** हो जाता है (वररुचि ३, ६३, हेमचन्द्र २, १०१, क्रम० २, ५७ ; मार्कण्डेय पन्ना ३० ; गउड० ; चंड० ९५, ८) । महाराष्ट्री में **श्लाघन** का **सलाहण** बन जाता है (हाल), **सलाहन** रूप भी पाया जाता है (हेमचन्द्र ४, ८८) । महाराष्ट्री में **सलाहमाण** (हाल), **अहिसलाहमाण** (गउड०) और **सलहणिज्ज** रूप भी मिलते हैं (हाल) । शौरसेनी में **सलाहणीय** रूप आया है (मृच्छ० १२८, ४, प्रबन्ध० ४, ८ [यहाँ यही पाठ होना चाहिए], रत्ना० ३०४, १८, ३११, १५, मालती० ८२, ८ [यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; रत्ना० ३१९,१५) । मागधी में **सलाहणीय*** मिलता है (मृच्छ० ३८, १ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए]) । किन्तु शौरसेनी **सलाहीअदि** रूप भी मिलता है (रत्ना० ३०९, ५, प्रबन्ध० १२, ११ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए]) । अपभ्रंश में **सलहिज्जसु** और **सलहिज्जइ** रूप देखे जाते हैं (पिंगल १, ९५ और ११७) । जैनमहाराष्ट्री में **भस्मन्** का **भसम** हो जाता है (एत्सें०) । **गृध्र**=* **गृधर** = **गद्दर** की प्राकृत भाषा निश्चित करना कठिन है (पाइय० १२६, देशी० २, ८४) । **प्लक्ष** का **पलक्ख** होता है (चंड० ३, ३०, हेमचन्द्र २, १०३), इसके लिए अर्धमागधी में **पिलखु, पिलक्खु** रूप व्यवहार में आते हैं (§ ७४, १०५) । **शार्ङ्ग** के स्थान पर **सारंग** रूप मिलता है (वररुचि ३, ६० ; हेमचन्द्र २,१००, क्रम० २,५५, मार्कण्डेय पन्ना २९) । **पूर्व** शब्द के रूप हेमचन्द्र ४, २७० के अनुसार शौरसेनी और ४, ३२३ पैशाची में **पुरव** और ४, ३०२ के अनुसार मागधी में **पुलव** होते हैं ।[3] मुख्य नियम के विरुद्ध **कष्ट** का पैशाची में **कसट** हो जाता है (वररुचि १०, ६, हेमचन्द्र ४, ३१४, क्रम० ५, १०९, इस सम्बन्ध में लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस पेज ४४१ से भी तुलना कीजिए) । शौरसेनी में **प्राण** के लिए **पराण** रूप अशुद्ध है (चैतन्य० ५८, १० [यहाँ **पाण** पाठ पढा जाना चाहिए], जैसा मृच्छकटिक १५५, १८, १६६, ९ और १४ तथा १५ में आया है । § १४० से भी तुलना कीजिए ।

१. **यथारत्निकाय** के लिए अर्धमागधी में **अहाराइणियाए** (ठाणग० ३५५, ३५६) मिलता है, वहाँ **अहारायणियाए** पढ़ा जाना चाहिए । — २. सब संस्करण सर्वत्र ही शौरसेनी में **रअण** तथा मागधी में **लअण** पाठ देते हैं जो इन भाषाओं के नियमों के विरुद्ध हैं । — ३. शौरसेनी और मागधी के ग्रन्थ इस तथ्य की पुष्टि नहीं करते (हेमचन्द्र ४, २७० पर पिशल की टीका देखिए) । सम्भवत यहाँ शौरसेनी शब्द से जैनशौरसेनी का तात्पर्य है ।

* सराहना का प्रारम्भिक प्राकृत रूप सलाहण है ।—अनु०

§ १३२—स्वरभक्ति के रूप मे सबसे अधिक प्रयोग **इ** का पाया जाता है। जिस स्थल में अन्य बोलियों मे व्यजन का एकीकरण हो जाता है वहाँ अर्धमागधी में अशस्वर **इ** का प्रयोग मिलता है। निम्नलिखित अवस्थाओ में यह स्वरभक्ति आ जाती है। (१) जब एक व्यजन अनुनासिक हो ; **उष्ण** का अर्धमागधी में **उसिण** रूप है (आयार० २, १, ६, ४ ; २, २, १, ८ ; २, २, ३, १० ; सूय० १३२ ; ५९० ; ठाणग० १३१ ; १३५ ; पण्णव० ८ ; १० ; ७८६ और उसके बाद ; जीवा० २२४; २९५ ; विवाह० १९४, १९५ ; २५० ; ४३६ ; ४६५ ; १४७० तथा उसके बाद ; अणुओग० २६८ ; उत्तर० ४८, ५७), **अत्युष्ण** का **अच्चुसिण** हो जाता है (आयार० २, १, ७, ५), **शीतोष्ण** **सीयोशिण** बन जाता है (आयार० १, ३, १, २; विवाह० ८६२; ८६३), साथ साथ इसका रूप **सीउण्ह** भी मिलता है (सूय० १३४)। मागधी में **कोष्ण** का **कोशिण** रूप व्यवहार मे आता है (वेणी० ३४, ४)। इस सम्बन्ध मे § ३१२ भी देखिए। **कृत्स्न** का अर्धमागधी मे **कसिण** रूप है (हेमचन्द्र २, ७५ और १०४ ; सूय० २८ ; १७२ ; २९२ ; ४१६ ; ४३९ ; ४६० ; विवाह० २०५ ; अणुओग० १०४ ; उत्तर० २५१ ; ओव०; कप्प०)। **कृष्ण** के लिए भी **कसिण** आता है। **कसण, कण्ह, किण्ह** रूप भी चलते हैं (§ ५२)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **तूष्णीक** का **तुसिणिय** रूप हो जाता है, साथ-साथ **तुण्हिय** और **तुण्हिक्क** रूप भी चलते हैं (§ ८१ ; ९०)। **ज्योत्स्ना** का रूप अर्धमागधी मे **दोसिणा** बन जाता है। शौरसेनी में **दोसिणी** रूप का व्यवहार है और कहीं कहीं **ज्यौत्स्नी** भी पाया जाता है (§ २१५)। **नग्न** का अर्धमागधी मे **निगिण** रूप मिलता है (आयार० २, २, ७, ११; २, ७, १, ११ ; सूय० १०८ [पाठ मे **निगण** रूप है])। इस स्थान मे § १०१ के अनुसार **इ** पहले अक्षर में ही है, साथ ही **नगिण** रूप भी मिलता है (आयार० १, ६, २, ३; सूय० १६९ ; दस० ६२७, १), **नगिणिन** रूप भी मिलता है (उत्तर० २०८), **नगिणिय** भी काम में आया है (१ ; सूय० ३४४) । ये शब्द **नग्नत्व** के पर्यायवाची है। अर्धमागधी में **प्रश्न** का **पसिण** रूप मिलता है (आयार० २, ३, २, १७ , सूय० ३८३ ; ९१८ ; नायाध० ३०१ ; ५७७ ; ५७८ , विवाह० १५१ ; ९७३ ; ९७८ ; १२५१ ; १२६१ ; १४०८ ; नदी० ४७१ ; उत्तर० ५१३ , उवास० ; ओव०)। **स्नान** का अर्धमागधी मे **सिणाण** रूप मिलता है (मार्कण्डेय पन्ना २९ ; आयार० २, १, ६, २ ; २, २, १, ८ ; २, १, ११; सूय० ३४४ ; ३८२ ; दस० ६२६ , दस० ६२६, ४०; शौरसेनी मे भी अशुद्ध रूप मिलता है ; चैतन्य० ४४, ४ ; ९२, १४ ; १३४, ९ ; १५०, ७ ; १६०, ४)। अर्धमागधी में **असिणाण** होता है (दस० ६२६, ३९), **प्रातःस्नान** का **पाओसिणाण** (सूय० ३३७), **स्नाति** का **सिणाइ** (मार्कण्डेय पन्ना २९ ; सूय० ३४०)। **असिणाइत्ता** (सूय० ९९४), **सिणायंत, सिणायंति** (दस० ७२६, २७ और ३८), शौरसेनी मे **सिणावेंति** का प्रयोग भी अशुद्ध है (चैतन्य० ४४, १३)। **स्नातक** का **सिणायग** मिलता है (सूय० ९२९; ९३३; ९४०)। **सिणायय** रूप भी है (उत्तर० ७५५; पाठ मे **सिणाइओ** रूप है)। पैशाची

में **स्नात** का **सिनात** रूप पाया जाता है (हेमचन्द्र ४, ३१४), **कृतस्नानेन** का **कतसिनानेन** हो गया है (हेमचन्द्र ४, ३२२; यहाँ यही पढ़ा जाना चाहिए)। **स्वप्न** का **सिविण, सिमिण, सुविण, सुमिण** रूप पाये जाते हैं (§ १७७)। **राजन्** शब्द की विभक्ति के रूपों में जैसा कि तृतीया एकवचन में जैनमहाराष्ट्री में **राइणा** पैशाची में **राचिञा** हो जाता है (§ ३९९)।

(ए) स्वरों का लोप और दर्शन

§ १४२—जब स्वर ध्वनिबलहीन होते थे तब मौलिक अर्थात् संस्कृत शब्द के आदिस्वर का लोप हो जाता था। इस नियम के अनुसार अन्तिम वर्ण स्वरित होने से दो से अधिक वर्णों के शब्दों में निम्नलिखित परिवर्तन हुए : **उदकं** शब्द अर्धमागधी में **दग** बन गया (सूय० २०२ ; २०९ ; २४९ ; ३३७; ३३९; ३४०; ठाणंग० ३३९ ; ४०० ; पण्हा० ३५३ ; ५२१ ; विवाह० १४२ ; दस० ६१९, २७ ; ६२०, १३ ; ओव० ; कप्प०), साथ साथ **उदग, उदय** शब्दों का प्रयोग भी पाया जाता है (ओव० § ८३ और उसके बाद के § ; उवास० ; नायाध०)। कभी कभी दोनों रूप पास पास में ही पाये जाते हैं, जैसे सूयगड ३३७ में **उदगेण** [=**दगेण**] **जे सिद्धि उदाहरंति सायं च पायं उदगं फुसंता। उदगस्स** [= **दगस्स**] **फासेण सिया य सिद्धी सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि** ॥ यह लोप अन्य प्राकृत भाषाओं में नहीं देखा जाता। **उदक** का रूप महाराष्ट्री में **उअअ** (गौड० ; हाल ; रावण०), जैनमहाराष्ट्री में **उदय** (एर्से०); शौरसेनी में **उदअ** (मृच्छ० ३७, २३ ; शकु० १०, १ ; १८, ३ ; ६७, ४ , ७२, १३ ; ७४, ९ ; विक्रमो० ५३, १३) और मागधी में **उदअ** (मृच्छ० ४५, १२ , ११०, १०; १३३, ७ ; १३४, ७) मिलता है।—अर्धमागधी में ***उद्रूहति** का **दुरुहइ** रूप पाया जाता है (§ ११८ ; १३९ ; ४८२)।—अर्धमागधी में **उपानहौ** का **पाहणाओ** हो जाता है (सूय० २८४ [पाठ में **पाणहाओ** रूप है] ; ठाणंग० ३५९ [पाठ में **वाहणाओ** और टीका में **पाहणाओ** रूप मिलता है] ; पण्हा० ४८७ [पाठ में **वाहणाओ** रूप है] ; विवाह० १५२ [पाठ में **वाहणाओ** है] ; १२१२ [पाठ **वाणहाओ** है], ओव० [पाठ में **पाणहाओ** और **वाणहाओ** दोनों रूप चलते हैं])। शौरसेनी में इनके अतिरिक्त **उवाणह** रूप भी मिलता है (मृच्छ० ७२, ९)। अर्धमागधी में **छत्तोवाहण** (सूय० २४९ [पाठ में **छत्तोवाणह** रूप है] ; विवाह० १५३) पाया जाता है। **अणोवाहणग** और **अणोवाहणय** शब्द भी देखने में आते हैं (§ ७७)।—**उपवसथ** के लिए अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी में **पोसह** रूप काम में लाया जाता है (अतगड १९ , सूय० ७७१ , ९९४ ; उवास० ; नायाध० ; भग०; ओव० ; कप्प० ; एर्से०; कत्तिगे० ४०२, ३५९ ; ४०३,३७६)। अर्धमागधी में **उपवसथिक** का **पोसहिय** रूप प्रचलित है (नायाध० ; उवास०)। —**अरत्नि** का अर्धमागधी में **रयणि** हो जाता है (§ १३२ ; विवाह० १५६३ ;

ओव०)।— अर्धमागधी में अलाबू का लाऊ और अलाबु का लाउ* हो जाता है (हेमचन्द्र १, ६६ ; आयार० २, ६, १, १ ; अणुत्तर० ११ ; ओव०)। इस प्राकृत में अलाबुक का लाउय रूप मिलता है (आयार० २, ६, १, ४ ; ठाणग० १५१ ; विवाह० ४१ ; १०३३ ; पण्णव० ३१), कहीं कहीं लाउं भी देखने में आता है (हेमचन्द्र १, ६६), साथ ही अलाऊ भी चलता है (सूय० २४५), अलाउय का भी प्रयोग है (सूय० ९२६ ; ९२८ [पाठ में अलाबुय है])। शौरसेनी में अलाबू रूप है (हेमचन्द्र १, २३७ ; बाल० २२९, २१)।

§ १३४—अर्धमागधी में अगार का गार हो जाता है। इसका कारण भी अन्तिम वर्ण का स्वरित होना ही माना जाना चाहिए (आयार० १, ५, ३, ५ ; सूय० १२६ ; १५४ ; ३४५)। अगारस्थ का गारत्थ रूप मिलता है (सूय० ६४२ ; ९८६ ; उत्तर० २०८)। अगारिन् का गारि (उत्तर० २०७) पाया जाता है। इनके साथ साथ अगार शब्द भी चलता है (आयार० १, २, ३, ५ ; नायाध०)।— अरघट्ट के लिए महाराष्ट्री और अर्धमागधी में रहट्ट† का प्रयोग चलता है (हाल ४९० ; पण्हा० ६७), इसके साथ साथ महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में अरहट्ट रूप भी चलता है (गउड० ६८५ ; ऋषभ० ३० ; ४७ [बम्बई के संस्करण में ४७ में जो पलिआ रहट्टव्व छपा है, अशुद्ध है]) ।—अवतंस का महाराष्ट्री में वअंस हो जाता है (हाल ४३९)। अर्धमागधी में इसके रूप वडिंस और वडिंसग (§ १०३) पाये जाते हैं। महाराष्ट्री में इसका एक रूप अवअंस भी मिलता है (हाल १७३ ; १८०)। महाराष्ट्री में एक प्रयोग अवअंसअंति भी पाया जाता है (शकु० २, १५)।—मागधी में *अहकः के स्थान पर हगे और हग्गे काम में आते हैं। अपभ्रंश में अहकम् के स्थान पर हउँ चलता है (§ ४१७)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में अर्धस्तात् के हेट्ठा तथा इससे नाना रूप निकलते हैं (§ १०७)।—इस नियम के भीतर ही कुछ अन्य रूप भी आते हैं, जैसे अर्धमागधी में अतीत तीय में परिणत हो जाता है (सूय० १२२; ४७०; ठाणग० १७३; १७४; विवाह० २४; १५५; उत्तर० ८३३; उवास०; कप्प०)। अर्धमागधी में *अपिनिधातवे का पिणिधत्तए रूप चलता है (ओव०)।—अर्धमागधी में *अप्यूढ का पूढ हो जाता है (§ २८६)।—अर्धमागधी में अपक्रामति का वक्कमइ चलता है, साथ-साथ अवक्कमइ भी देखा जाता है। यह शब्द शौरसेनी और मागधी में अवक्कमदि रूप ग्रहण कर लेता है (§ ४८१)। अपक्रांत का अर्धमागधी रूप वक्कंत है (पण्णव० ४१; कप्प०), अपक्रांति का वक्कंति रूप मिलता है (कप्प०)। अवलग्यंति का महाराष्ट्री रूप वलग्गंति मिलता है (गउड० २२६; ५५१)। अवस्थित का शौरसेनी में वट्ठिद रूप पाया जाता है (मृच्छ० ४०, १४)। अपस्मारः का रूप शौरसेनी में वंहल है (हेमचन्द्र २, १७४), इसमें स्मा के आ का अ हो जाने का कारण भी रः पर ध्वनिबल का पड़ना है।—संस्कृत से मिलता शब्द

---

* इस लाउ से लाउ+की=लौकी बना। —अनु०

† हिन्दी रहँट या रहट का प्रारम्भिक रूप। —अनु०

पिनद्ध का प्राकृत रूप **पिणद्ध** है (गउड० ; हाल ; रावण० ; राय० ८१ और उसके बाद ; ओव० ; नायाध०)। संस्कृत से भिन्न ध्वनिबल महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और अपभ्रंश शब्द **रण्ण** में सूचित होता है जो **अरण्य** से निकला है (वररुचि १, ४; हेमचन्द्र १, ६६ ; क्रमदी० १, ३ ; मार्कण्डेय पन्ना ५; गउड०; हाल; रावण०; नायाध० ११११७; १४३९; ओव० ; एर्त्से०; विक्रमो० ५८,९ ; ७१, ९ ; ७२,१०)। साथ-साथ **अरण्ण** भी देखने में आता है, पर बहुत कम (गउड० ; हाल ; आयार० पेज १३३, ३२ ; कप्प० ; एर्त्से०)। शौरसेनी में एकमात्र रूप **अरण्ण** पाया जाता है (शकु० ३३, ४; रत्ना० ३१४, ३२ ; माल्ती० ३०, ९ ; उत्तर० १९०, २ ; धूर्त० ११, १२ ; कर्ण० ४६, १२ ; वृष० २८, १९ ; ५०, ५ ; चड० १७, १६ ; ९५, १०), इस प्राकृत के नियम के विरुद्ध इस बोली में एक शब्द **पारद्धिरण्ण** पाया जाता है (विद्ध० २३, ९)।—महाराष्ट्री और अपभ्रंश में **अरिष्ट** का **रिट्ठ** रूप होता है (रावण० १, ३ ; पिंगल २, ७२)। जैनमहाराष्ट्री में **अरिष्टनेमि** के स्थान पर **रिट्ठनेमि** आया है (द्वार० ४९६, २ ; ४९९, १३; ५०२, ६; ५०५, २७)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **अरिट्ठनेमि** रूप पाया जाता है (कप्प० ; द्वार० ४९५, ९ ; ४९७, २० ; ५०४, १९ ; ५०५, ५)। अर्धमागधी में एक मूल्यवान पत्थर (हीरे) का नाम **रिट्ठ** है (जीव० २१८ ; राय० २९ ; विवाह० २१२ ; ११४६ ; नायाध० ; ओव० ; कप्प०); इसका संस्कृत रूप **अरिष्ट** है जो पाली में **अरिट्ठ**[1] रूप में पाया जाता है। अर्धमागधी में **रिट्ठग** (नायाध० § ६१ ; उत्तर० ९८०) और **रिट्ठय** पाये जाते हैं (ओव०), ये संस्कृत **अरिष्टक** के प्राकृत रूप हैं। **अरिष्टमय** का **रिट्ठामय** रूप भी मिलता है (जीव० ५४९ , राय० १०५), इनके साथ **अरिट्ठ** (= एक वृक्ष : पण्ण० ३१) भी मिलता है। इस सम्बन्ध में **अरिष्टताति** की तुलना भी कीजिए। इन शब्दों में **तो** भी गिना जाना चाहिए जो महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, मागधी और अपभ्रंश में चलता है। इसे प्राकृत व्याकरणकार और उनके साथ एस० गौल्दश्मित्त[2] **त**– का प्राकृत रूप बताते हैं, किन्तु अच्छा यह होता कि यह **अतस्** का प्राकृत रूप माना जाय।

१. त्साइटश्रिफ्ट डेर मौर्गेनलैंडिशन गेज़ेलशाफ्ट ४९, २८५ में विंडिश का लेख। उसके स्पष्टीकरण के विरुद्ध स्वयं प्राकृत भाषा प्रमाण देती है। — २. प्राकृतिका० पेज २२।

§ १३५—ध्वनिबल की हीनता के प्रभाव से अव्यय (जो अपने से पहले वर्ण को ध्वनिबलयुक्त कर देते हैं तथा स्वयं बलहीन रहते हैं) बहुधा आरम्भ के स्वर का लोप कर देते हैं। जब ये शब्द उक्त अव्यय रूप में नहीं आते तो आरम्भिक स्वर बना रहता है। इस नियम के अनुसार अनुस्वार के बाद आने पर **अपि** का **पि** रूप हो जाता है, स्वर के बाद यह रूप **वि** में परिणत हो जाता है। पल्लवदानपत्रों में **अन्यान् अपि** का **अन्ने वि** रूप आया है (५, ६), **अस्माभिर् अपि** का **अम्हेहि वि** रूप मिलता है (६, २९)। महाराष्ट्री में **मरणं पि** (हाल १२), **तं पि** (गउड० ४३०), **चहुलं पि** (रावण० २, १८),

अज्ज वि (=अद्यापि : हाल), **तह वि** (=तथापि : रावण० १, १५), **णिम्मला वि** (=निर्मला अपि : गउड० ७२), **अम्हे वि** (=अस्मे अपि : हाल २३२), **अप्पयसो वि** (अल्पयशो ऽपि : हाल २६५) रूप पाये जाते हैं। अन्य प्राकृत भाषाओं में भी यह नियम लागू होता है। वाक्य के आरम्भ में अ बना रहता है : पल्लवदानपत्रो में **अपि** (६, ३७) मिलता है ; महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **अवि** प्रचलित है (रावण० ; आयार० १, ८, १, १० ; दस० ६३२, ४२ ; काल्का० २७०, ४६ ; मृच्छ० ४६, ५ ; ५७, ६ ; ७०, १२ ; ८२, १२ ; शकु० ४९, ८ ; इसमें बहुधा **अवि अ** और **अवि णाम** मिलता है)। यही नियम पद्य में भी चलता है जब **अवि** से पहले **म्** आता है और जब एक ह्रस्व वर्ण आवश्यक होता है, जैसे अर्धमागधी में **मुहुत्तं अवि** (**मुहुत्तमवि**) पाया जाता है (आयार० १, २, १, ३), **कालगं अवि** (कप्प० १२, ३)। यह अ तब भी बना रहता है जब अन्य प्राकृत भाषाओं के नियम के विरुद्ध **आम्** हो जाता है (§ ६८)। इसके अतिरिक्त अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री **पुनर् अपि** का **पुनर्** + **अवि** पाया जाता है (§ ३४२)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **य** + **अवि** का **यावि** (=**चापि**) होता है (उदाहरणार्थ, आयार० १, १, १, ५ ; १, १, ५, ३ ; सूय० १२० ; उवास० ; कप्प० ; आव० एर्से० ८, १३ ; एर्से० ३४, १५)। ऐसे और उदाहरण हैं : महाराष्ट्री और शौरसेनी **केणावि** (हाल १०५ ; विक्रमो० १०, १२ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी **तेणावि** (एर्से० १०, २५ ; १७, १७ ; २०, ९ ; मालती० ७८, ८), शौरसेनी **पत्तिकेणावि** (शकु० २९, ९), शौरसेनी और अर्धमागधी **ममावि** (मृच्छ० ६५, १९ ; शकु० ९, १३ ; १९, ३ ; ३२, ३ ; ५०, ४ ; मृच्छ० १४०, १), शौरसेनी और मागधी **तवावि** (मालती० ९२, ४ ; मृच्छ० १२४, २०), अर्धमागधी **खणं अवि** (=क्षणं अपि : नायाध० § १३७), जैनमहाराष्ट्री **एवं अवि** (आव० एर्से० १६, २४), जैनमहाराष्ट्री **सयलं अवि जीवलोयं** (कप्प० § ४४), महाराष्ट्री **पिअत्तणेणावि** (=*प्रियत्वनेनापि : हाल २६७), शौरसेनी **जीविदसव्वस्सेणावि** (=जीवितसर्वस्वेनापि : शकु० २०, ७) देखा जाता है। इन सब उदाहरणों में **अवि** से पहले आनेवाले शब्द पर ही विशेष ध्यान या जोर दिया जाना चाहिए[1]। अर्धमागधी रूप **अप्प** के लिए देखिए § १७४ ।—अनुस्वार के बाद **इति** का रूप **ति** हो जाता है ; स्वरों के अनन्तर इसका रूप **त्ति** बनता है ; इससे पहले के दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाते हैं (§ ९२) : पल्लवदानपत्र में **चेति** का **च त्ति** रूप आया है (६, ३७)। महाराष्ट्री में **जीवितम् इति** का **जीविअं ति** (रावण० ५, ४) रूप मिलता है ; **नास्तीति** का **णत्थि त्ति** हो गया है (गउड० २८१)। अर्धमागधी में **एतद् इति** का **इणं ति** रूप पाया जाता है (आयार० १, २, १, ३), **अनुपरिवर्तत इति** का **अणुपरियट्टइ त्ति** आया है (आयार० १, २, ३, ६)। शौरसेनी में **लभेयम् इति** का **लहेअं ति** हो गया है (शकु० १३, ९), **प्रेक्षत इति** का **पेक्खदि त्ति** रूप मिलता है (शकु० १३, ६)। सभी प्राकृतों में

ऐसा ही पाया जाता है। अर्धमागधी इ के लिए § ९३ देखिए। महाराष्ट्री इअ, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री इय, जो वाक्य के आरंभ में आते हैं, उनके संबंध में § ११६ देखिए, अर्धमागधी इच्च् के संबंध में § १७४ देखिए। महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में अनुस्वार और ह्रस्व स्वर के बाद इव का रूप व हो जाता है। दीर्घ स्वरों के बाद स्वरों के ह्रस्व होने और इव के रूप बदलने के संबंध में § ९२ देखिए। पद्यों में ह्रस्व स्वर के बाद भी कभी-कभी व्व हो जाता है : महाराष्ट्री में कमलम् इव का कमलं व मिलता है (गउड० ६६८), उदकस्येव का उअअस्स व रूप आया है (हाल ५३), पक्षैर् इव का पक्खेहि व हो गया है (हाल २१८), आलाण स्तंभेषु इव का आलाणखंभेसु व पाया जाता है (रावण० ३, १), किंतु मधुमथनेनेव का महुमहणेणव्व पाया जाता है (हाल ४२५), समुच्छ्वसंतीव का प्राकृत रूप समूससंति व्व मिलता है (हाल ६२५), दार्व इव का दारु व्व प्रयोग है (हाल १०५)। अर्धमागधी में पुच्छम् इव का पुंछं व रूप मिलता है (उवास० § ९४)। जैनमहाराष्ट्री मे पुत्रम् इव का पुत्तं व हो गया है (एर्त्से० ४३, ३४), कनकम् इव का कणगं व मिलता है (कालका० २५८, २३)। शौरसेनी और मागधी में यह रूप नहीं है, इन प्राकृतो में इसके स्थान पर विअ रूप चलता है (वररुचि १२, २४)। महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में इव रूप भी प्रचलित है : महाराष्ट्री में यह रूप गउडवहो में आया है ; अर्धमागधी में टंकणा इव (सूय० १९८) पाया जाता है, मेघम् इव का मेहं इव हो गया है (उवास० § १०२) ; इस संबंध में § ३४५ देखिए ; जैनमहाराष्ट्री में किंनरो इव मिलता है (आव० एर्त्से० ८, २८), तृणम् इव का तिणं इव रूप है, मन्मथ इव का वम्महो इव आया है (एर्त्से० २४, ३४ ; ८४, २१)। अपभ्रंश जिवँ और महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री तथा पैशाची पिव, विव और मिव के लिए § ३३६ देखिए।

१. इस प्रकार की लेखनपद्धति को यौँ दर्ले नर्सँन अपनी संपादित विक्रमो० पेज १५६ और उसके बाद के पेज में बुरा बताता है जो वास्तव में उचित नहीं है।

§ १३६—शौरसेनी और मागधी में इदानीम् प्रत्यय के रूप में काम में लाया जाता है। अधिकतर स्थानों में इसके अर्थ का संकोच अब, अच्छा और तब में हो जाता है। इन अर्थों में इसका प्राकृत रूप दाणिम् चलता है (हेमचन्द्र ४, २७७ ; ३०२)। शौरसेनी में व्यापृत इदानीम् अहम् का रूप वावडो दाणिं अहं मिलता है (मृच्छ० ४, २४), जो दाणिं'' सो दाणिं भी आया है (मृच्छ० ६, ४ ; ८ ; १४७, १६ ; १७), किं खल्व् इदानीम् का किं खु दाणिं हो गया है (मृच्छ० १३, ३), क इदानीम् सः का को दाणिं सो मिलता है (मृच्छ० २८, १३), अनंतरकरणीयम् इदानीम् आज्ञापयत्वार्यः के लिए अणंतरकरणीअं दाणिं आणावेदु अज्जो रूप आया है (हेमचन्द्र ४, २७७ = शकु० २, ५)। मागधी में आजीविक्येदानीम् संवृत्ता का रूप आयीविआ दाणिं संवुत्ता मिलता है (मृच्छ० ३७, ६), शे दाणिं, के दाणिं भी मिलता है (मृच्छ० ३७, ११; २५),

एत्थ दाणि (मृच्छ० १६२, १८) का प्रयोग भी है। **तोषित इदानीम् भर्ता** का **तोशिदे दाणि भट्टा** बन गया है (शकु० ११८, १)। अन्य प्राकृतों में इस रूप का प्रचलन बहुत कम है : पल्लवदानपत्र में **एत्थ दाणि** मिलता है (५, ७)। महाराष्ट्री में **अन्यां इदानीम् बोधिम्** का **अण्णम् दाणि बोहिं** रूप पाया जाता है (हेमचन्द्र ४, २७७), **किं दाणि** (हाल ३९०), **तो दाणि** (रावण० ११, १२१) भी प्रयोग में आये हैं। वाक्य के आरम्भ में और जब 'अभी' का अर्थ स्पष्ट बताना होता है तब शौरसेनी और मागधी में भी **इ** बना रहता है[1] : **इदाणिं** (मृच्छ० ५०,४; शकु० १०, २ ; १८, १ ; २५, ३ ; ५६, ९ ; ६७, ६ ; ७७, ६ ; ८७, १ ; १३९, १; विक्रमो० २१, १२ ; २२, १४ ; २४, १ ; २७, ४ आदि-आदि [सर्वत्र यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए])। महाराष्ट्री में इस शब्द का प्रयोग कहीं नहीं पाया जाता, वरन् इसमे **इण्हिम्** , **एण्हिम्** , **एत्तहे** काम में आते हैं। ये रूप शौरसेनी और मागधी में नहीं होते। वाक्य के भीतर भी अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी में **इयाणिं** और **इदाणिम्** का प्रयोग होता है (उदाहरणार्थ : आयार० १, १, ४, ३ ; उवास० § ६६ ; ओव० § ८६ ; ८७ ; आव० एर्त्से० १६, १४ ; ३०, १० ; ४०, ५; पव० ३८४, ६०), छन्द की मात्रा मिलाने के लिए अर्धमागधी में **इयाणिं** का प्रयोग भी देखा जाता है (दस० नि० ६५३, ४०)।

1. येनाएर लिटराटूरत्साइटुंग १८७७, पेज १२५ में कापेलर का लेख। कापेलर ने अपने सम्पादित 'रत्नावली' के संस्करण में इस भेद के रूप को भली-भाँति बताया है।

§ १३७—प्रथम और द्वितीयपुरुष वर्तमान काल में **अस्** धातु का आरम्भिक अ तब लुप्त हो जाता है जब इनके रूपों का प्रयोग या व्यवहार प्रत्यय रूप से होता है : अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **अस्मि** के लिए **मि** (§ ४९८), महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **म्हि**, **सि** और मागधी में **स्मि** [पाठ में **म्हि** है] तथा **सि** चलते हैं। उदाहरणार्थ इस नियम के अनुसार अर्धमागधी में **वंचितो स्मीति** के लिए **वंचियो मि त्ति** पाया जाता है (उत्तर० ११६)। जैनमहाराष्ट्री में **विद्धो मित्ति** आया है (आव० एर्त्से० २८, १४)। महाराष्ट्री में **स्थितास्मि** के स्थान पर **ठिअ म्हि** मिलता है (हाल २३९)। शौरसेनी में **इयम् अस्मि** का **इअं म्हि** हो गया है (मृच्छ० ३, ५ ; शकु० १, ८ ; रत्ना० २९०, २८ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; नागा० २, १६ [यहाँ भी यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]; पार्वती० १, १८ [यहाँ भी यही पाठ होना चाहिए])। मागधी में **क्लान्तोऽस्मि** का **किलंते स्मि** रूप मिलता है (मृच्छ० १३, १०) ; इस सम्बन्ध में § ८५ और ९६ भी देखिए।—महाराष्ट्री में **अथासि** का **अज्ज सि** रूप है (हाल ८६१), **त्वम् असि** का **तं सि** हो गया है (गउड० ; हाल ; रावण०), **दृष्टासि** का **दिट्ठा सि** मिलता है (रावण० ११, १२९) और **मूढो सि** रूप भी पाया जाता है (गउड० ४८७)। जैनमहाराष्ट्री में **का सि** मिलता है और **मुक्तो ऽसि** का **मुक्को सि** (कालका० २६६, २९), **त्वम् असि** का **तं सि** (ऋषभ० १५) हो गया है।

शौरसेनी में **प्रत्यादिष्टोऽसि** का **पच्चादिट्ठो सि** (मृच्छ० ५, ३), **पृष्टासि** का **पुच्छिदा सि** (मृच्छ० २८, २१) रूप मिलता है ; इस प्राकृत में **दाणि सि** (मृच्छ० ९१, १८), **सरीरं सि** रूप भी काम में आये हैं (मालवि० ३८,५)। मागधी में **श्रान्तो सि क्लान्तो सि** का **शते शि किलंते शि** रूप आया है (मृच्छ० १३, ७) और **एषासि = एशा शि** हो गया है (मृच्छ० १७, १)। —*अस्ति=अत्थि का प्रयोग प्रत्यय के रूप में कभी नहीं होता क्योंकि इसके भीतर* **यह है, यह** अर्थ सदा **वर्तमान** है किंतु छिपा रहता है। महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन-*महाराष्ट्री में इसके स्थान पर अन्य क्रियाओं के साथ होइ रूप* आता है। जैनशौरसेनी में **होदि** रूप है ; शौरसेनी और मागधी में **भोदि (=भवति)** काम में आता है†। यह तथ्य लास्सन ने अपने ग्रन्थ इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए के पेज १९३ में पहले ही सूचित कर दिया है। अर्धमागधी **नमो त्थु णं** के संबंध में § १७५ और ४९८ देखिए। महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री **किं थ** के विषय में § १७५ में लिखा गया है। अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी, मागधी तथा ढक्की **णं=नूनं** के विषय में § १५० में लिखा गया है।

§ १३८—*अ में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों के तृतीया एकवचन का अन्तिम* अ अपभ्रंश प्राकृत में लुप्त हो जाता है (पिशल के ग्रन्थ में 'लुप्त हो जाता' के लिए 'गिर जाता है' या 'छूट जाता है', आया है।—अनु०)। **अग्निकेन** का **अग्गिएँ, वातेन** का **वाएँ** (हेमचन्द्र ४, ३४३, १), **पन चिह्नेन** का **पँ चिण्हेँ** रूप मिलता है (विक्रमो० ५८, ११)। **क्रोधेन** का **कोहेँ** (पिंगल १, ७७ अ), **दयितेन** का **दइएँ**‡ (हेमचन्द्र ४, ३३३, ३४२), **दैवेन** का **दइवेँ** (हेमचन्द्र ४, ३३१), **प्रहारेण** का **पहारेँ** (विक्रमो० ६५, ४), ***भ्रमतेन=भ्रमता** का **भमंतेँ** (विक्रमो० ५८, ९, ६९, १ , ७२, १०), **रूपेण** का **रूएँ** (पिंगल १, २ अ), **सहजेन** का **सहजेँ** (१, ४ अ) रूप मिलते हैं। **इ** और **उ** में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों के तृतीया (करण कारक) एकवचन में **आ** भी पहले **अ** में परिणत होकर फिर लुप्त हो जाता है, जैसे **अग्निना** का **अग्गिणा** होकर **अग्गिण** रूप बनता है। इसके साथ साथ **अग्गिं** रूप भी प्रचलित है (हेमचन्द्र ४, ३४३)। **न्** से **म्** (—) हो जाने के विषय में § ३४८ देखिए। अपभ्रंश में संस्कृत **य** प्रत्यय का **इअ** होकर **इअ** के **अ** का लोप हो जाता है शौरसेनी **दइअ** का अपभ्रंश रूप **दइ** है‡ (§ ५९४)।

§ १३९—**स्त्री** शब्द की संस्कृत रूपावली से प्रमाण मिलता है कि मूल में इस शब्द में दो अलग-अलग अक्षर रहे होंगे। अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और शौरसेनी में इस शब्द का रूप **इत्थी** पाया जाता है (हेमचन्द्र २, १३० , इसके उदाहरण § ९७ और १६० में हैं)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **इत्थिया** रूप भी

* इसके द्वारा बंगला, मैथिली, गुजराती, कुमाउनी आदि भाषाओं में छे, छै, आछि, आछ, छौं, छ आदि रूप आये हैं। —अनु०

† 'भयो' आदि रूप इस 'भोदि' तथा इसके रूपों से निकले हैं। —अनु०

‡ इसका प्रचलित रूप कुमाउनी में दै हो गया है। —अनु०

चलता है (दस० ६२८, २ ; द्वार० ५०७, २ ; आव० एर्त्से० ४८, ४२); शौरसेनी मे इत्थिआ रूप है (उदाहरणार्थ : मृच्छ० ४४, १ और २ ; १४८, २३ ; विक्रमो० १६, ९ ; २४, १०, ४५, २१ ; ७२, १८ ; मालवि० ३९, २ ; प्रबध० १७, ८ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; ३८, ५ ; ३९, ६ आदि-आदि)। अपभ्रंश में भी यही रूप मिलता है (मृच्छ० १४८, २२)। मागधी मे स्त्रीका से इस्तिआ रूप आया है (§ ३१०), यही पता चलता है कि इ किसी पुराने स्वर का अवशेष है। यह तथ्य योहानसोन ने ठीक ही जान लिया था।[१] महाराष्ट्री मे इत्थी का प्रयोग बहुत कम देखने में आता है और वह भी बाद के नये कवियो मे मिलता है (अच्युत० १५ ; प्रताप० २२०, ९ ; साहित्यद० १७८, ३); इत्थिअजण भी मिलता है (शुकसप्तति ८१, ५)। शौरसेनी के लिए वररुचि १२, २२ में इत्थी रूप ठीक ही बताता है[२]। अर्धमागधी में, विशेषतः कविता मे, थी रूप भी चलता है (हेमचन्द्र २, १३० ; आयार० १, २, ४, ३ ; उत्तर० ४८२ ; ४८३ ; ४८५), थिया = स्त्रीका भी पाया जाता है (सूय० २२५), किन्तु फिर भी स्वय पद्य मे साधारण प्रचलित रूप इत्थी है। अपभ्रश में भी थी चलता है (कालका० २६१, ४)।

१. शाहबाजगढी (अशोक का प्रस्तरलेख—अनु०) १,१४९। किन्तु योहानसोन की व्युत्पत्ति अशुद्ध है। इसकी शुद्ध व्युत्पत्ति बेत्सेनबैर्गर ने नाखरिष्टन फौन डेर कोएनिगलिशन गेज़ेलशाफ्ट डेर विस्सनशाफ्टन त्सु गोएटिंगन १८७८, २७१ और उसके बाद के पेजो में दी है। — २. पिशल द्वारा संपादित हेमचन्द्र का संस्करण २, १३० ; त्साइटश्रिफ्ट डेर डौयत्शन मौर्गेनलैंडिशन गेज़ेलशाफ्ट २६, ७४५ में एस. गौल्दश्मित्त का लेख और हाल[३] पेज ४५४ में वेबर की टिप्पणी देखिए।

(ऐ) स्वर-लोप

§ १४०—ध्वनिबलहीन स्वर, विशेषकर अ, शब्द के भीतर होने पर कभी-कभी उडा दिये जाते है : कलत्र का *कलत्त्र होकर कत्त हो जाता है (= धर्मपत्नी : त्रिविक्रम १, ३, १०५ ; इस सबध मे बेत्सेनबैर्गर्स बाइत्रैगे ३, २५१ भी देखिए)। अर्धमागधी मे पितृष्वसृका से *पिउसृसिया रूप बन कर पिउसिया हो गया है (हेमचन्द्र १, १३४ ; २, १४२)। महाराष्ट्री में पिउसिआ (मार्कण्डेय पन्ना ४०). और अर्धमागधी में पिउसिया (विवाग० १०५; दस० ६२७, ४०) रूप हैं। अर्धमागधी मे माउसिया (हेमचन्द्र १, १३४ ; २, १४२ ; पाइय० २५३ ; विवाग० १०५ [पाठ मे मासिया मिलता है, टीका मे शुद्ध रूप आया है] ; दस० ६२७, ३९ [पाठ मे माउ सिउ त्ति है])। महाराष्ट्री मे माउस्सिआ (मार्क० पन्ना ४० ; हस्तलिखित लिपि मे माउस्सा आ पाठ है), यह रूप मातृष्वसृका से निकला है। महाराष्ट्री पिउच्छा, माउच्छा (हेमचन्द्र १, १३४ ; २, १४२ ; मार्कण्डेय पन्ना ४०; पाइय० २५३; हाल), अर्धमागधी पिउच्छा (नायाध० १२९९; १३०० ; १३४८), शौरसेनी में मादुच्छआ, मादुच्छिआ (कर्पूर० ३२, ६ और ८)

शौरसेनी में **प्रत्यादिष्टोऽसि** का **पचादिट्ठो सि** (मृच्छ० ५, ३), **पृष्टासि** का **पुच्छिदा सि** (मृच्छ० २८, २१) रूप मिलता है ; इस प्राकृत मे **दाणिं सि** (मृच्छ० ९१, १८), **सरीरं सि** रूप भी काम में आये हैं (मालवि० ३८,५)। मागधी में **श्रान्तो सि** **श्लान्तो सि** का **शते शि किलंते शि*** रूप आया है (मृच्छ० १३, ७) और **एषासि = पशा शि*** हो गया है (मृच्छ० १७, १)। —**अस्ति=अत्थि** का प्रयोग प्रत्यय के रूप में कभी नहीं होता क्योंकि इसके भीतर **यह** है, यह अर्थ सदा वर्तमान है किंतु छिपा रहता है। महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन-महाराष्ट्री में इसके स्थान पर अन्य क्रियाओं के साथ **होइ** रूप आता है। जैनशौरसेनी में **होदि** रूप है ; शौरसेनी और मागधी में **भोदि** (=**भवति**) काम में आता है† । यह तथ्य लास्सन ने अपने ग्रन्थ इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए के पेज १९३ मे पहले ही सूचित कर दिया है। अर्धमागधी **नमो त्थु णं** के संबंध में § १७५ और ४९८ देखिए। महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री **किं थ** के विषय मे § १७५ में लिखा गया है। अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी, मागधी तथा ढक्की **णं=नूनं** के विषय में § १५० मे लिखा गया है।

§ १३८—**अ** में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों के तृतीया एकवचन का अन्तिम **अ** अपभ्रंश प्राकृत में लुप्त हो जाता है (पिशल के ग्रन्थ में 'लुप्त हो जाता' के लिए 'गिर जाता है' या 'छूट जाता है', आया है।—अनु०)। **अग्निकेन** का **अग्गिएँ**, **वातेन** का **वाएँ** (हेमचन्द्र ४, ३४३, १) , **एन चिह्नेन** का **एँ चिण्हेँ** रूप मिलता है (विक्रमो० ५८, ११)। **क्रोधेन** का **कोहेँ** (पिंगल १, ७७ अ), **दयितेन** का **दइएँ‡** (हेमचन्द्र ४, ३३३, ३४२), **दैवेन** का **दइवेँ** (हेमचन्द्र ४, ३३१), **प्रहारेण** का **पहारेँ** (विक्रमो० ६५, ४), ***भ्रमतेन = भ्रमता** का **भमंतेँ** (विक्रमो० ५८, ९, ६९, १ , ७२, १०), **रूपेण** का **रूपेँ** (पिंगल १, २ अ), **सहजेन** का **सहजेँ** (१, ४ अ) रूप मिलते हैं। **इ** और **उ** में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों के तृतीया (करण कारक) एकवचन में **आ** भी पहले **अ** में परिणत होकर फिर लुप्त हो जाता है , जैसे **अग्निना** का **अग्गिणा** होकर **अग्गिण** रूप बनता है। इसके साथ साथ **अग्गिं** रूप भी प्रचलित है (हेमचन्द्र ४, ३४३)। **न्** से **म्** (ं) हो जाने के विषय में § ३४८ देखिए। अपभ्रंश में संस्कृत **य** प्रत्यय का **इअ** होकर **इअ** के **अ** का लोप हो जाता है शौरसेनी **दइअ** का अपभ्रंश रूप **दइ** है‡ (§ ५९४)।

§ १३९—**स्त्री** शब्द की संस्कृत रूपावली से प्रमाण मिलता है कि मूल में इस शब्द में दो अलग-अलग अक्षर रहे होंगे। अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और शौरसेनी में इस शब्द का रूप **इत्थी** पाया जाता है (हेमचन्द्र २, १३० , इसके उदाहरण § ९७ और १६० में है)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **इत्थिया** रूप भी

---

* इसके द्वारा बंगला, मैथिली, गुजराती, कुमाऊनी आदि भाषाओं में छे, छै, आछि, आछ, छौ, छ आदि रूप आये हैं। —अनु०

† 'भया' आदि रूप इस 'भोदि' तथा इसके रूपों से निकले हैं। —अनु०

‡ इसका प्रचलित रूप कुमाउनी में दै हो गया है। —अनु०

चलता है (दस० ६२८, २ ; द्वार० ५०७, २ ; आव० एर्त्से० ४८, ४२); शौरसेनी में **इत्थिआ** रूप है (उदाहरणार्थ : मृच्छ० ४४, १ और २ ; १४८, २३ ; विक्रमो० १६, ९ ; २४, १०, ४५, २१ ; ७२, १८ ; मालवि० ३९, २ ; प्रबध० १७, ८ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; ३८, ५ ; ३९, ६ आदि आदि)। अपभ्रंश में भी यही रूप मिलता है (मृच्छ० १४८, २२)। मागधी में **स्त्रीका** से **इस्तिआ** रूप आया है (§ ३१०), यही पता चलता है कि **इ** किसी पुराने स्वर का अवशेष है। यह तथ्य योहानसोन ने ठीक ही जान लिया था।[1] महाराष्ट्री में **इत्थी** का प्रयोग बहुत कम देखने मे आता है और वह भी बाद के नये कवियों में मिलता है (अच्युत० १५ ; प्रताप० २२०, ९ ; साहित्यद० १७८, ३); **इत्थिअजण** भी मिलता है (शुकसप्तति ८१, ५)। शौरसेनी के लिए वररुचि १२, २२ में **इत्थी** रूप ठीक ही बताता है[2]। अर्धमागधी में, विशेषतः कविता में, **थी** रूप भी चलता है (हेमचन्द्र २, १३० ; आयार० १, २, ४, ३ ; उत्तर० ४८२ ; ४८३ ; ४८५), **थिया = स्त्रीका** भी पाया जाता है (सूय० २२५), किन्तु फिर भी स्वय पद्य में साधारण प्रचलित रूप **इत्थी** है। अपभ्रश में भी **थी** चलता है (कालका० २६१, ४)।

१. शहबाजगढ़ी (अशोक का प्रस्तरलेख—अनु०) १,१४९। किन्तु योहानसोन की व्युत्पत्ति अशुद्ध है। इसकी शुद्ध व्युत्पत्ति बेत्सेनबैर्गर ने नाखिष्टन फौन डेर कोएनिगलिशन गेजेल्शाफ्ट डेर विस्सनशाफ्टन त्सु गोएटिंगन १८७८, २७१ और उसके बाद के पेजों में दी है। — २. पिशल द्वारा संपादित हेमचन्द्र का संस्करण २, १३० ; त्साइटश्रिफ्ट डेर डौयत्शन मौर्गेनलैंडिशन गेज़ेलशाफ्ट २६, ७४५ में एस. गौल्दश्मित्त का लेख और हाल[2] पेज ४५४ में वेबर की टिप्पणी देखिए।

(ऐ) स्वर-लोप

§ १४०—ध्वनिबलहीन स्वर, विशेषकर अ, शब्द के भीतर होने पर कभी-कभी उड़ा दिये जाते हैं : **कलत्र** का ***कलत्र** होकर **कत्त** हो जाता है (= धर्मपत्नी : त्रिविक्रम १, ३, १०५ ; इस सबध में बेत्सेनबैर्गर्स बाइत्रैगे ३, २५१ भी देखिए)। अर्धमागधी में **पितृष्वसृका** से ***पिउस्सिया** रूप बन कर **पिउसिया** हो गया है (हेमचन्द्र १, १३४ ; २, १४२)। महाराष्ट्री में **पिउसिआ** (मार्कण्डेय पन्ना ४०) और अर्धमागधी में **पिउसिया** (विवाग० १०५; दस० ६२७, ४०) रूप हैं। अर्धमागधी में **माउसिया** (हेमचन्द्र १, १३४ ; २, १४२ ; पाइय० २५३ ; विवाग० १०५ [पाठ में **मासिया** मिलता है, टीका में शुद्ध रूप आया है] ; दस० ६२७, ३९ [पाठ में **माउ सिउ त्ति है**])। महाराष्ट्री में **माउसिआ** (मार्क० पन्ना ४० ; हस्तलिखित लिपि में **माउस्सा** आ पाठ है), यह रूप **मातृष्वसृका** से निकला है। महाराष्ट्री **पिउच्छा, माउच्छा** (हेमचन्द्र १, १३४ ; २, १४२ ; मार्कण्डेय पन्ना ४०; पाइय० २५३; हाल), अर्धमागधी **पिउच्छा** (नायाध० १२९९; १३०० ; १३४८), शौरसेनी में **मादुच्छआ, मादुच्छिआ** (कर्पूर० ३२, ६ और ८)

§ २११ के अनुसार इस तथ्य की सूचना देते हैं कि प का छ हो गया है। **पितृष्वसा** से **पुप्फा** और **पुप्फिआ** कैसे बने इसका कारण अस्पष्ट है (देशी० ६, ५२ ; पाइय० २५३)। ब्यूलर ने त्सा० मौ० गे० ४३, १४६ में और अर्नेस्ट कून ने कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३३, ४७८ और उसके बाद के पेज में यह कारण बताने का प्रयास किया है, किंतु **ड्** का लोप हो जाने का कहीं कोई उदाहरण देखने में नहीं आता। **पूगफल** का महाराष्ट्री में ***पूग्फल** फिर ***पुप्फल** होकर **पो`प्फल** हो गया है ( § १२५ ; १२७ ; हेमचन्द्र १, १७० ; कर्पूर० ९५, १ ), इसके साथ अर्धमागधी में **पूयफल** ( सूय० २५० ), महाराष्ट्री और शौरसेनी में **पूगफली** से निकला रूप **पो`प्फली** (हेमचन्द्र १, १७० ; शुकसप्तति १२३, ९ ; विद्ध० ७५, २ [पाठ में **पोफल्लि** है]) मिलते हैं। अर्धमागधी में **सनखपद** का **सणप्फय** रूप पाया जाता है (सूय० २८८ ; ८२२ ; ठाणंग० ३२२ ; पण्णव० ४९ ; पण्हा० ४२ , उत्तर० १०७५)[१]। इस प्राकृत में **सुरभि** का **सुब्भि** रूप मिलता है (आयार० १, ६, २, ४ ; १, ८, २, ९ ; २, १, ९, ४ ; २, ४, २, १८ ; सूय० ४०९ ; ५९० ; ठाणंग० २० ; सम० ६४ ; पण्णव० ८, १० और इसके बाद के पेज ; पण्हा० ५१८ ; ५३८ ; विवाह० २९ ; ५३२ ; ५४४ ; उत्तर० १०२१ , १०२४), इसकी नकल पर **दुब्भि** शब्द बना दिया गया है और बहुधा **सुब्भि** के साथ ही प्रयुक्त होता है। विवाहपन्नत्ति २९ में **सुब्भि दुरभि** का प्रयोग हुआ है और आयार० १, ५, ६, ४ में **सुरभि दुरभि** एक के बाद एक साथ साथ मिलते हैं। **खलु** के प्राकृत रूप **खु** और **हु** में (§ ९४), जो ***ख्लु** से निकले हैं, **अ** इसलिए उड गया है कि **खलु** का प्रयोग प्रत्यय रूप में होता है। अर्धमागधी रूप **उप्पिं** (उदाहरणार्थ : ठाणंग० १७९; ४९२; विवाग० ११७ ; २१६ ; २२६ ; २२७ , २३५ ; २५३ ; विवाह० १०४ , १९९ , २३३ ; २५० , ४१० ; ४१४ ; ७९७ ; ८४६ , जीवा० ४३९; ४८३ आदि आदि) से पता लगता है कि इसके मूल संस्कृत शब्द का ध्वनिबल पहले ***उपरि** या ***उपरिं** रहा होगा ; और महाराष्ट्री, अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्री **उवरिं**, **उपरि** से निकला है। महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **उवरि** भी चलता है, मागधी में **उवलि** और महाराष्ट्री में **अवरिं** का भी चलन है (§ १२३)।—जैनमहाराष्ट्री **भाउज्जा** में, जो **भ्रातृजाया** से निकला है, **आ** उड गया है (देशी० ६, १०३ ; आव० एर्त्से० २७, १८ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए])। महाराष्ट्री और शौरसेनी **मज्झण्ण** में, जो **मध्यंदिन** से निकला है, **इ** का लोप हो गया है (वररुचि ३, ७ ; हेमचन्द्र २, ८४ , क्रम० २, ५४ , मार्कण्डेय पन्ना २१ ; हाल ८३९ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; मालवि० २७, १८ ; नागा० १८, २ , मल्लिका० ६७, ७ ; जीवा० ४२, २० [इसके साथ ४६, १० और १७ में **मज्झण्ह** से भी तुलना कीजिए], मागधी **मय्यहण्ण** [पाठों में **मज्झण्ण** है] , मृच्छ० ११६, ६ ; मुद्रा० १७५, ३), **मय्यहण्णिका** रूप भी मिलता है (मृच्छ० ११७, १४)। शौरसेनी में **मज्झंदिन** रूप है (शकु० २९, ४)। प्राकृत व्याकरणकार **मज्झण्ण** की व्युत्पत्ति **मध्याह्न** से बताते हैं और यूरोपियन विद्वान उनका अनुसरण करते हैं।

ब्लौख[1] ने यह रूप अशुद्ध बताया है, पर उसके इस मत का खण्डन वाकरनागल[2] ने किया है किन्तु वह स्वयं भ्रम मे पड़कर लिखता है कि इस शब्द में से ह उड़ जाने का कारण यह है कि प्राकृत भाषाओ मे जब दो ह-युक्त व्यंजन किसी संस्कृत शब्द मे पास-पास रहते हैं तो उनके उच्चारण की ओर अप्रवृत्ति-सी रहती है। इस अप्रवृत्ति का प्राकृत मे कहीं पता नही मिलता (§ २१४)।—अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **इषुशास्त्र** का **ईसत्थ** रूप मिलता है जिसमें से उ उड़ गया है (सम० १३१; पण्हा० ३२२ [पाठ में **इसत्थ** है]; ओव० § १०७; एर्से० ६७, १ और २)[3]। अर्धमागधी मे **पहुल्लूक** के लिए **छल्लुय** शब्द आया है (ठाणंग० ४७२; कप्प० § ६ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए])। इसमें § ८० के अनुसार **उल्लूक** का ऊ ह्रस्व हो गया है। जैनमहाराष्ट्री **धीया** और शौरसेनी तथा मागधी **धीदा** एक ही हैं (वररुचि ४, ३ में प्राकृतमंजरी का उद्धरण है—**धीदा तु दुहिता मता**)। यह अधिकतर **दासी** से संयुक्त पाया जाता है। जैनमहाराष्ट्री मे **दासीएधीया** मिलता है, शौरसेनी में **दासीएधीदा** और मागधी मे **दाशीएधीदा** पाया जाता है (§ ३९२)। इस शब्द की व्युत्पत्ति **दुहिता**[4] के स्थान पर ***दुहीता** से हुई होगी। महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी **सुण्हा** (हेमचन्द्र १, २६१; हाल; आयार० १, २, १, १; २, २, १, १२; सूय० ७८७; अन्त० ५५; जीवा० ३५५; नायाध० ६२८; ६३१; ६३३; ६३४; ६४७; ६६०; ८२०; १११०; विवाग० १०५; विवाह० ६०२; आव० एर्से० २२,४२; बाल० १६८,५ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), महाराष्ट्री **सोण्हा** रूप में जिसमे § १२५ के अनुसार उ का ओ हो गया है, (वररुचि २, ४७; क्रम० २, ९१; मार्कण्डेय पन्ना ३९; हाल), कालेयकुतूहलम् १४; ७ में शौरसेनी मे भी [पाठ में **सोहणा** मिलता है] यह शब्द आया है। ये संस्कृत **स्नुषा** के रूप हैं और पैशाची **सुनुसा** (§ १३९) तथा ***सुणुहा** (§ २६३)[1] से निकले हैं। यही नियम अर्धमागधी **सुण्हत्त** के लिए भी लागू है, जो ***स्नुषात्व** से निकला है (विवाह० १०४६), इसके साथ अर्धमागधी **ण्हुसा*** रूप भी चलता है (सूय० ३७७)। शौरसेनी में **सुसा** रूप हो गया है (हेमचन्द्र १, २६१; बाल० १७६, १५ [इसमें दिया गया रूप क्या ठीक है?])। उदूखल से निकले **ओहल** और **ओक्खल** मे ऊ उड़ गया है और अर्धमागधी रूप उक्खल है (§ ६६)। इससे ज्ञात होता है कि इसका ध्वनिबल का रूप उलूखल[2] न रहा होगा। **एत्तो**, **अण्णो** के सम्बन्ध मे § १९७ देखिए।

1. पाठों में बहुधा यह शब्द अशुद्ध लिखा गया है। कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३४, ५७३ में ठीक ध्यान न रहने से इस शब्द को मैंने अव्ययीभाव बताया है। याकोबी उक्त पत्रिका ३५, ५७१ में ठीक ही इस भूल की निन्दा करता है, किन्तु वह यह बताना भूल गया है कि यह समास बहुव्रीहि है। ऐसा न करने से इसका अर्थ खुलता नहीं और जैसे का तैसा रह जाता है। — २. वररुचि और हेमचन्द्र पेज ३३ और उसके बाद का पेज। — ३. कून्स त्साइटश्रिफ्ट

* इस ण्हुसा का एक रूप नूं पंजाबी में वर्तमान है। —अनु०

३३, ५७५ और उसके बाद का पेज ; आल्टइण्डिशे ग्रामाटीक § १०५ का नोट ; § १०८ का नोट। —४. लौयमान द्वारा सम्पादित औपपातिक सूत्र तथा याकोबी द्वारा सम्पादित 'औसगेवैल्ते एर्सेलुंगन इन महाराष्ट्री' में इष्वस्त्र रूप देकर इसकी व्युत्पत्ति स्पष्ट की गयी है। किन्तु यह शब्दसामग्री और भाषाशास्त्र के नियम के अनुसार असम्भव है। पण्हावागरणाइं ३२२ में इसका शुद्ध रूप अभयदेव ने रखा है, अर्थात् यह = इषुशास्त्र। इस सम्बन्ध में § ११७ भी देखिए। — ५. डे प्राकृत डियालेक्टो पेज ६१ में होएफर और त्सा. डे. डौ. मौ. गे. ५०, ६९३ में इन शब्द की व्युत्पत्ति धे धातु से बने धीता शब्द से बताते हैं, मालविकाग्निमित्र पेज १७२ में अन्य लेखकों के साथ बौँ ल्लें नसेन भी दुहिदा = दुहिता बताता है, इससे धीता की ई का कोई कारण नहीं खुलता। — ६. याकोबी के 'औसगेवैल्ते एर्सेलुंगन इन महाराष्ट्री' की भूमिका के पेज ३२ की नोट संख्या ३ में बताया गया है कि ण्हुसा से वर्णविपर्यय होकर सुण्हा रूप हो गया है, जो अशुद्ध है। अर्धमागधी से प्रमाण मिलता है कि ण्हुसा बोलने में कोई कष्ट नहीं होता होगा जिससे यह शब्द भाषा से उड़ गया हो। इस सम्बन्ध में कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३३, ४७१ की तुलना कीजिए। क्रमदीश्वर २, ९१ में सॉण्हा और णोहा दिया गया है। — ७. त्सा. डे. डौ. मौ. गे. ४७, ५८२ में याकोबी का मत अशुद्ध है ; कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३४, ५७३ और उसके बाद के पेज में पिशल का मत।

(ओ) वर्णों का लोप और विकृति (अवपतन)

§ १४१—महाराष्ट्री और अपभ्रंश अत्थमण में य उड गया है क्योंकि यह अस्तमयन से निकला है (हाल ; हेमचन्द्र ४, ४४४, २)। संस्कृत में यह शब्द अस्तमन रूप में ले लिया गया है। अर्धमागधी णिम्म = नियम (पिंगल १, १०४; १४३)। इसमें § १९४ के अनुसार म का द्वित्व हो गया है। णिसाणी, णिसाणिआ (=सीढी : देशी० ४, ४३)= निःश्रयणी, निःश्रयणिका हैं। इसके साथ अर्धमागधी में निस्सेणी* रूप भी चलता है (आयार० २, १, ७, १ ; २, २, १, ६)। —अड शब्द में व का लोप हो गया है। यह शब्द अवट का प्राकृत रूप है (हेमचन्द्र १, २७१; पाइय० १३०)। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में एवम् का एम् रूप मिलता है। एवम् एते का अर्धमागधी में एम् एए रूप है (ठाणंग० ५७६ ; ५७९ ; दस० ६१३, ९), जैनमहाराष्ट्री में एवमादि का एमाइ मिलता है (एर्त्से०, सगर ८, १२), महाराष्ट्री में इसका रूप एमेअ हो जाता है (गउड० ; हाल), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री एमेव मिलता है (हेमचन्द्र १, २७१ ; पाइय० १६६ [यहाँ पाठ में एमेय है] ; आयार० २, १, ६, ४ ; ७, ५ ; २, ५, १, ११ ; उत्तर० ४४२ ; ६३३ ; ८०४ ; दस० नि० ६४६, ९ ; ६५०, २८ ; ६५२, २१ ; ६६०, २९ ; ६६२, ४३ ; आव० एर्त्से० १९, ३७)। जैनमहाराष्ट्री के एवड्ड और एवड्डग

* हिन्दी में निसेनी और निसैनी इस अर्धमागधी रूप से आये हैं। —अनु०

(= इतना बडा : आव० एर्त्से० ४५, ६ और ७), अर्धमागधी का **एमहालय** और स्त्रीलिंग का रूप **एमहालिया** (विवाह० ४१२ ; ४१५ [स्त्रीलिंग रूप] ; १०४१ ; उवास० § ८४), **एमहिड्डिया** (विवाह० २१४), **एसुहुम** (विवाह० ११९१ और उसके बाद ; ओव० § १४०) होएर्नले[1] के नियम **ए = एवम्** से सिद्ध नहीं होते, बल्कि वेबर[2] के **इयत्** तथा इससे भी ठीक रूप ∗अयत् से निकले हैं। यही आधार अर्धमागधी रूप **एवइय** (विवाह० २१२ ; २१४ ; ११०३ ; कप्प०), **एवइखुत्तो** (कप्प०) और इनके समान **केमहालिया** (पण्णव० ५९९ और उसके बाद ; जीवा० १८, ६५ ; अणुओग० ४०१ और उसके बाद के पेज ; विवाह० ४१५), **केमहिड्डिय, केमहज्जुईय, केमहाबल, केमहायस, केमहासोॅक्ख, केमहाणुभाग** (विवाह० २११), **केमहेसक्ख** (विवाह० ८८७), **केवइय** (आयार० २, ३, २, १७ ; विवाह० १७ ; २६ ; २०९ ; २११ ; २३९ ; २४२ ; ७३४ ; ७३८ ; १०७६ और इसके बाद), **केवचिरं** (विवाह० १८० : १०५० ; पण्णव० ५४५ और इसके बाद), **केवच्चिरं** (जीवा० १०८ ; १२८ और इसके बाद), महाराष्ट्री **केॅच्चिर, केॅच्चिरं** (रावण० ३, ३०; ३३)[3], शौरसेनी **केच्चिरं** (मालती० २२५, २ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; २७८, ८ ; विद्ध० १८, ११ ; ६१, ८ ; कालेय० ९, २२), **केच्चिरेण** (मालती० २७६, ६) प्रमाणित करते हैं। वेबर ने पहले ही इन रूपों से वैदिक **ईवत्** की तुलना की है। इसी प्रकार **केव-** की तुलना में वैदिक **कीवत्** है। इस सम्बन्ध में § १५३ ; २६१ और ४३४ की तुलना कीजिए। **कलेर** (= पसलियाँ : देशी० २, ५३ ; त्रिविक्रम १, ३, १०५) में भी **व** का लोप हो गया है। यह **कलेवर = कलेवर** से निकला है।[4] **दुर्गादेवी** से बना रूप **दुग्गावी** अपने ढंग का एक ही उदाहरण है।

१. उवासगदसाओ एमहालय। — २. भगवती १, ४२२। — ३. एस गौल्दश्मित्त लिखित प्राकृतिका पेज २३ नोट १। — ४. बेत्सेनबैर्गेर बाइत्रैगे ६, ९५ में पिशल का लेख।

§ १४२—अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, ढक्की और आवन्ती में प्रारम्भिक अक्षर की विच्युति **नूनम्** से निकले **णं** में स्पष्ट है (हेमचन्द्र ४, २८३ ; ३०२; उदाहरणार्थ : आयार० १, ६, ३, १ ; १, ७, १, ५, ३,१ ; ४, १ और २ ; ६, १ और ३ ; आदि आदि ; ओव० § २ और उसके बाद ; उवास० ; नायाध० ; निरया० ; कप्प० ; आव० एर्त्से० १५, ३ ; १६, १७ ; १७,१२ ; एर्त्से० ; काल्का० ; मृच्छ० ४, १२ ; १७, २२ ; २३, १० ; शकु० ३, ४ ; २७, ५ ; ३७,७ ; मागधी : मृच्छ० १२, १६ ; २२, ५ ; ३१, २ ; ८१, १५ ; ढक्की : मृच्छ० ३२, २३ ; आवती : मृच्छ० १०३, १० और १३)। इस शब्द की व्युत्पत्ति **ननु**[1] से बताना, जैसा हेमचन्द्र ने ४, २८३ में किया है, ध्वनिबल के कारण खंडित हो जाता है क्योंकि **णं** शौरसेनी, मागधी और ढक्की में वाक्य के आरम्भ में भी आता है, जिसका अर्थ यह हुआ कि यह शब्द सदा ही पादपूरक अव्यय न था। किन्तु अर्धमागधी **णं** को, वेबर के मत के अनुसार, किसी सर्वनाम जाति **न** का अवशेष मानना और

नाटकों के णं से अलग समझना असम्भव है क्योंकि सर्वत्र इसका प्रयोग समान ही है। अर्धमागधी में कभी कभी **नूणं** का प्रयोग ठीक णं के अर्थ में ही होता है, उदाहरणार्थ **से नूणं** (उवास० § ११८ ; १७३ ; १९२), से णं (आयार० २, ३, १, १७ और उसके बाद का) जैसा ही है। इसके साथ **नूणं** वाक्य के आरम्भ में भी आता है, उदाहरणार्थ, जैनमहाराष्ट्री : **नूणं गहेण गहिय त्ति तेण तीए ममं दिन्नाº** (आव० एर्त्से० १२, २८) ; शौरसेनी : **णूणं पस दे अन्तगदो मणोरधो** (शकु० १४, ११), मागधी : **णूणं...तक्केमि** (मृच्छ० १४१, १) देखिए। इसका वही प्रयोग है जो शौरसेनी और मागधी में णं का होता है। अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में णं नित्य ही मूर्धन्य ण से लिखा जाता है (§ २२४)। इससे प्रमाण मिलता है कि आरम्भ में यह ण शब्द के भीतर रहा होगा। इसका कारण सम्भवतः इसका वाक्य-पूरक अव्यय होना भी हो।—महाराष्ट्री **ढिल्ल*** = शिथिल (§ १९४ ; कर्पूर० ८, ५ ; ७०, ८) जैसा भारत की वर्तमान भाषाओं[1] में (ढीला आदि) चलता है, साथ साथ दूसरे प्राकृत रूप **सढिल, सिढिल** भी चलते हैं (§ ११५)। इसके समान ही **ढेॅल्ल** शब्द भी है (= निर्धन : देशी० ४, १६) जिसमें § ११९ के अनुसार इ के स्थानपर एॅ हो गया है।—**ओव** में अतिम अक्षर की विच्युति है (= हाथी पकड़ने का गड्ढा : देशी० १, १४९)। यह *अवपत का प्राकृत रूप है। अर्धमागधी **ओवा** (आयार० २, १, ५, ४) और **ओआअ** (देशी० १, १६६) = अवपात हैं ; **किसलय** से **किसल** बना है, उसका य भी लुप्त हो गया है (हेमचन्द्र १, २६९) ; **पिसल्ल** की भी इससे तुलना कीजिए (§ २३२)। **जेव = एव** के लिए महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री में **जे** और अपभ्रंश में **जि** का प्रयोग प्रचलित है (§ ३३६)। **दाव= तावत्** के लिए महाराष्ट्री में **दा** काम में आता है, **या दा** (रावण० ३, १० और २७) में इसका प्रयोग हुआ है (§ १८५)। मागधी **घड्डक्क** में भी अन्तिम वर्ण उड़ गया है। यह **घटोत्कच** का प्राकृत रूप है (मृच्छ० २९, २०)। **सहिय=सहृदय** में विच्युति नहीं मानी जानी चाहिए (हेमचन्द्र १, २६९)। यह शब्द मूल संस्कृत में *सहृद है जो अ में समाप्त होनेवाले संज्ञाशब्दों में नियमित रूप से मिल गया है। इसी प्रकार **हिअ** (मार्कण्डेय पन्ना ३३) अर्धमागधी **हिय** (आयार० १, १, २, ५) = हृद है। मागधी रूप **हडक्क** (§ १९४) = † **हृदक** है।

१. लास्सन कृत इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए पेज १७३ ; बोएटलिंक द्वारा सम्पादित शकुन्तला ४, ४ पेज १४९ आदि। —२. भगवती १, ४२२ और उसके बाद के पेज। —३. हेमचन्द्र १, ८९ पर पिशल की टीका।

(औ) संप्रसारण

§ १४३—प्राकृत में संप्रसारण ठीक उन्हीं अवसरों पर होता है जिन पर संस्कृत में, ध्वनिबलहीन अक्षर में **य** का **इ** और **व** का **उ** हो जाता है : **यज्** धातु से **इष्ट** बना ;

* हिन्दी ढीला=दिया का प्राकृत रूप। —अनु०

† दीला का प्राकृत रूप। —अनु०

शौरसेनी मे इसका रूप **इट्ठि** है (शकु० ७०, ६)। **वप्** से **उत्त** बना, महाराष्ट्री में इसका रूप **उत्त** है (गउड०)। **स्वप्** से **सुत्त** निकला, इसका महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **सुत्त** रूप है (हाल ; कप्प० ; एत्सें०)। प्राकृत मे किन्तु कई ऐसे शब्दों मे ध्वनि का यह परिवर्तन दिखाई देता है जिनमें संस्कृत में **य** और **च** बने रहते हैं : **य** की ध्वनि **इ** कर देनेवाले कुछ शब्द ये है : **अभ्यन्तर** का अर्धमागधी में **अब्भिंतर** रूप है (नायाध० ; ओव० ; कप्प०)। **तिर्यक्** शब्द कभी किसी स्थानविशेष में ***तिर्यक्ष** बोला जाता होगा, उससे अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री मे **तिरिक्ख** हो गया है (ठाणंग० १२१ ; ३३६ ; सूर्य० २९८ ; भग० ; उवास० ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से०)। महाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश में इसका रूप **तिरिच्छि*** हो जाता है (हेमचन्द्र २, १४३ ; ४, २९५ ; कर्पूर० ३७, ५ ; मल्लिका० ७४, २ [पाठ में **तिरच्छ** है]; हेमचन्द्र ४, ४१४, ३ और ४२०, ३) ; मागधी मे **तिलिच्छि** (हेमचन्द्र ४, २९५ [यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए]); शौरसेनी मे **तिरिच्छ*** रूप (बाल० ६८, १४, ७६, १९; २४६, ९ ; विद्ध० ३४, १० ; १२४, ३) है; अर्धमागधी मे **वितिरिच्छ** पाया जाता है (विवाह० २५३)। अर्धमागधी में **प्रत्यनीक** का **पडिनीय** पाया जाता है (ओव० § ११७); **व्यजन** का **विअण** रूप है (वररुचि १, ३ ; हेमचन्द्र १, ४६ ; क्रम० १, २ ; मार्कण्डेय पन्ना ५)। महाराष्ट्री मे **व्यलीक** का **विलिअ** (हेमचन्द्र १, ४६ ; हाल) पाया जाता है। महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री मे भविष्यकालवाचक शब्द, जैसे **काहिमि**, जो ***कर्ष्यामि** से निकला है और **दाहिमि**, जो ***दास्यामि** से बना है और **इहिसि-**, **इहिइ-**, जो शब्द के अन्त में जुड़ते हैं, इस शीर्षक के भीतर ही आते हैं (§ ५२० और उसके बाद)। **वाहिं** के सम्बन्ध मे § १८१ देखिए। अर्धमागधी मे कभी कभी गौण **य**, जो किसी दूसरे व्यजन के स्थान पर बैठा हुआ हो, **इ** बन गया है : **आचार्य** के लिए **आइरिय** और **आयरिय** रूप आते हैं (§ ८१ और १३४)। **राजन्य** का **रायण्ण** रूप होकर **राइण्ण** हो गया है (ठाणग० १२०, समा० २३२; विवाह० ८०० ; ओव० ; कप्प०)।[१] **व्यतिक्रान्त** = अर्धमागधी **वीइक्कंत** में **य** का **इ** हो गया है (आयार० २, १५, २, २५ [पाठ में **विइक्कंत** है]; नायाध० ; कप्प० [इसमें **विइक्कंत** भी मिलता है] ; उवास० [इसमे **वइक्कंत** है])। **व्यतिव्रजमाण** का **वीईवयमाण** हो गया है (नायाध० ; कप्प०); ***व्यतिव्रजित्वा** का **वीईवइत्ता** रूप मिलता है (ओव०)।[१] **स्त्यान** = **थीणा** और **ठीणा** मे या के स्थान पर **ई** हो गया है (हेमचन्द्र १, ७४ ; २, ३३ और ९९), इसके साथ साथ **ठिण्ण** रूप भी मिलता है। महाराष्ट्री में **ठिण्णअ** रूप है (रावण०)।

१. कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३४, ५७० से यह अधिक शुद्ध है; याकोबी ने कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५७३ में अशुद्ध लिखा है। जैन हस्तलिखित प्रतियों में बहुधा य और इ आपस में बदल जाते हैं, यहाँ इस प्रकार का हेरफेर नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि यह शब्द सदा इ से लिखा जाता है और आइ-

* ये तिरछी, तिरछा के आदि-प्राकृत रूप हैं। —अनु०

रिय शब्द के विषय में प्राकृत व्याकरणकारों ने स्पष्ट रूप से बताया है कि इसमें इ आ गया है। — २. इससे यह भास होता है कि निश्चित रूप से हमें ची लिखना चाहिए न कि चि या च। दूसरी ई का दीर्घत्व § ७० के अनुसार है।

§ १४४—व का उ हो जाता है और संयुक्त व्यंजन से पहले ओं भी हो जाता है (§ १२५): अर्धमागधी में **अश्वत्थ** के **अंसों त्थ, अस्सों त्थ** और **आसों त्थ** रूप मिलते हैं (§ ७४); **गवर्य** = **गउअ** होता है और स्त्रीलिंग में **गउआ** होता है (हेमचन्द्र १, ५४ और १५८; २, १७४; ३, ३५)। अपभ्रंश में **यावत्** का **जाउँ** और **तावत्** का **ताउँ** (हेमचन्द्र ४, ४०६ और ४२३, ३; ४२६, १ [यहाँ जाउँ पढिए])। महाराष्ट्री और अपभ्रंश में **त्वरित** का **तुरिअ** पाया जाता है (वररुचि ८, ५; हेमचन्द्र ४, १७२; गउड०; हाल; रावण०; पिंगल १, ५); अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **तुरिय** रूप मिलता है (पाइय० १७३; विवाह० ९४९; नायाध०; ओव०; कप्प०), शौरसेनी में इसका रूप **तुरिद** होता है (मृच्छ० ४०, २४; ४१, १२; १७०, ४; रत्ना० २९७, १२; वेणी० २२, २०; माल्ती० २८४, ११; २८९,६ आदि-आदि), मागधी रूप **तुलिद** मिलता है (मृच्छ० ११, २१; ९६, १८; ९७, १; ९८, १ और २; ११७, १५; १३३, ११; १७१, २; चंड० ४३, ८), अपभ्रंश, दाक्षिणात्या और आवंती में **तुरिअ** रूप प्रचलित है (विक्रमो० ५८, ४, मृच्छ० ९९,२४, १००, २ और ११)। **विष्वक्** का **वीसुं** रूप मिलता है (हेमचन्द्र १, २४; ४३; ५२); *स्वपिति* से **स्वपति* रूप बना होगा जिससे **सुअइ, सुवइ** रूप बन गये; जैनमहाराष्ट्री में **सुयइ** रूप मिलता है। जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **सुवामि** रूप है और अपभ्रंश में **सुअहि** पाया जाता है (§ ४९७)। अर्धमागधी में **स्वप्न** का **सुविण***, **सुमिण** हो गया है, अपभ्रंश में **सुइण*** रूप है (§ १७७)। वास्तव में ये रूप **सुअइ, सुवइ** आदि क्रियाओं पर आधारित हैं। महाराष्ट्री और शौरसेनी में **स्वस्ति** का **सों त्थि** रूप मिलता है (क्रम० २, १४८; हाल; मृच्छ० ६, २३, २५, ४; ५४, ११ और १९; ७३, १८, विक्रमो० १५, १६; २९, १, ४४, ५ आदि आदि), **स्वस्तिवाचन** का **सों त्थिवाअण** (विक्रमो० ४३, १४, ४४, १३), **सोत्थिवाअणअ** (विक्रमो० २६, १५) हो गया है, अर्धमागधी में **स्वस्तिक** का **सों त्थिय** रूप काम में आता है (पण्हा० २८३ और २८६; ओव०)। **शौवनिक** (= कुत्ते का रखवाला : सूय० ७१४, किंतु इसी ग्रंथ के ७२१ में **सोवणिय** शब्द मिलता है), अर्धमागधी में **सोउणिय** मिलता है। गौण व, जो प्राकृत भाषा में ही आविर्भूत हुआ हो, कभी कभी **उप** प्रत्यय में उ हो जाता है (§ १५५); इसके अतिरिक्त अपभ्रंश में **नाम** का *णावम् रूप बन कर **णाउँ** हो जाता है (हेमचन्द्र ४; ४२६, १)। कभी कभी गौण उ भी व में बदल जाता है, जैसे **सुवइ** का **सोवइ**; जैनमहाराष्ट्री में **सोवें ति, सोउं** रूप मिलते हैं, अपभ्रंश में **सोप्पा, सोवण**; अर्धमागधी में **ओसोवणी**,

* कुमाउनी बोली में स्वप्न को स्वीण कहते हैं। —अनु०

सोवणी रूप है। इन सब का आधार **स्वप्** धातु है (§ ७८ और ४९७); इस प्राकृत में **श्वपाक** का **सोवाग** और **श्वपाकी** का **सोवागी** रूप हैं (§ ७८) और **उ** से आविर्भूत **ओ** भी दीर्घ हो जाता है, जैसे महाराष्ट्री में **स्वर्णकार = सोणार** (§ ६६)। पल्लवदानपत्र, महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में जहाँ **करके** बताना होता है वहाँ **वा** का **उ** हो जाता है : वैदिक **-त्वानम्** इन प्राकृत भाषाओं में **तूणं**, पैशाची में **तूनं**, महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में-**ऊणं**,-**तूण**, पैशाची में-**तून**, जैनशौरसेनी में-**दूण**, महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **-ऊण** रूपों में पाया जाता है। पल्लवदानपत्र में **कातूणं** पाया जाता है, पैशाची में **कातूनं**, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **काऊणं**, जैनशौरसेनी में **कादूण**, महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में **काऊण** रूप मिलते हैं ; ये सब ***कर्त्वानम्**-और ***कर्त्वान** के नाना प्राकृत रूप है (§ ५८४ और उसके बाद)। **दो** और **दु** के विषय में जो संस्कृत **द्वि** के रूप समझे जाते है, § ४३५ देखिए।

§ १४५—सप्रसारण के नियम के अधीन **अय** का **ए** और **अव** का **ओ** में बदलना भी है। इस प्रकार दसवें गण की प्रेरणार्थक क्रियाओं और इसी प्रकार से बनी संज्ञाओं में **अय** का **ए** हो जाता है, जैसे पल्लवदानपत्र में **अनुप्रस्थापयति** का **अणुवट्ठावेति** रूप आया है, अर्धमागधी में **ठावेइ** रूप पाया जाता है और महाराष्ट्री, अर्धमागधी तथा जैनमहाराष्ट्री में **ठवेइ** रूप **स्थापयति** के लिए आते है (§ ५५१ और उसके बाद का §)। **कथयति** के लिए महाराष्ट्री और अर्धमागधी में **कहेइ** और मागधी मे **कधेदि** हो जाता है। **कथयतु** का शौरसेनी में **कधेदु** रूप है (§ ४९०)। **शीतलयति** का शौरसेनी मे **सीदलावेदि** रूप है (§ ५५९)। निम्नलिखित उदाहरणों में भी यही नियम लागू है : **नयति** का महाराष्ट्री रूप **णेइ** और जैनमहाराष्ट्री **नेइ** होता है। शौरसेनी में **नयतु** का **णेदु** रूप है (§ ४७४)। ***दयति** का महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री मे **देइ** तथा शौरसेनी मे **देदि** होता है। मागधी में ***दयत** का **देध** होता है (§ ४७४)। **त्रयोदश = *त्रयदश** का अर्धमागधी में **तेरस** और अपभ्रंश में **तेरह** हो जाता है (§ ४४३)। **त्रयोविंशति=*त्रयविंशति** का अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **तेवीसम्** और अपभ्रंश मे **तेइस** होता है। **त्रयस्त्रिंशत** के अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **तेत्तीसं** और **तित्तीसं** रूप होते हैं (§ ४४५)। **निःश्रयणी** का अर्धमागधी मे **निस्सेणी** बन जाता है (§ १४९)।—**लयन** का अर्धमागधी में **लेण** हो जाता है (सूय० ६५८ ; ठाणग० ४९० ; ५१५; पण्हा० ३२ ; १७८ ; ४१९ ; विवाह० ३६१ और उसके बाद का पेज ; ११२३ ; ११९३; ओव०; कप्प०)।—महाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश **एॅत्तिअ** (हेमचन्द्र २, १५७ ; गउड० ; हाल ; मृच्छ० ४१, १९ ; ६०, १२ ; ७७, १० और २४ ; विक्रमो० ४५, ४ ; मालवि० २६, १० ; मालती० ८२, ९ ; उत्तर० १८, २ ; ६६, १ ; ७२, ६ ; हेमचन्द्र ४, ३४२, २), जैनमहाराष्ट्री **एॅत्तिय** (आव० एर्त्से० १८, ६ ; एर्त्से०), शौरसेनी और मागधी **एॅत्तिक** (शकु० २९, ९ ; ५९, ३ ; ७०, १० ; ७१, १४; ७६, ६ ; विक्रमो० २५, ७ ; ४६, ८ ; ८४,९ ; मागधी : मृच्छ० १२५,२४ ; १६५,

१४ ; शकु० ११४, ११), इत्तियः (हेमचन्द्र २, १५६) न तो लास्सन[1] के बताये *अति और न ही एस० गौल्दश्मित्त[2] की सम्मति के अनुसार हेमचन्द्र से सम्बन्धित सीधे इयत् से निकले हैं ; बल्कि ये एक *अयत् की सूचना देते हैं जो *अयत्तिय की स्वरभक्ति के साथ *अयत्त से निकला होगा। इससे मिलते जुलते संस्कृत रूप इद्दत्य, कत्य और तद्दत्य हैं। इसी प्रकार का शब्द महाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश के`त्तिअ और ( हेमचन्द्र २, १५७ ; हाल ; मृच्छ० ७२, ६ ; ८८, २० ; विक्रमो० ३०, ८ ; हेमचन्द्र० ४, ३८३, १ ) जैनमहाराष्ट्री के`त्तिय (एर्लें०) है जो कय-जाति का है और =*कयत्य तथा *कयत्तिय है। अर्धमागधी, महाराष्ट्री और शौरसेनी सर्वियुक्त शब्दों के आरम्भ के ए और के इस नियम के अनुसार सिद्ध होते हैं (§ १४९)। इस नियम से सिद्ध शब्दों की नकल पर बने शब्द ये हैं : महाराष्ट्री जे`त्तिअ ( हेमचन्द्र २,१५७; गउड०; हाल०; रावण० ), मागधी ये`त्तिक और ये`त्तिअ (मृच्छ० १३२, १३ ; १३९, ११), जित्तिअ (हेमचन्द्र २,१५६), महाराष्ट्री, मागधी और अपभ्रंश ते`त्तिअ (हेमचन्द्र २, १५७ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; मृच्छ० १३९, १२ ; हेमचन्द्र ४, ३९५, ७), मागधी ते`त्तिक ( मृच्छ० १३२, १४ ), तित्तिअ (हेमचन्द्र २, १५६)। इनसे निकले शब्द ये हैं : ए`त्तिल, के`त्तिल, जे`त्तिल और ते`त्तिल ( हेमचन्द्र २, १५७ ), जैनमहाराष्ट्री एत्तिलिय ( आव० एर्लें० ४५, ७ ) और अपभ्रंश ए`त्तुल, के`त्तुल, जे`त्तुल और ते`त्तुल (हेमचन्द्र ४, ४३५)।

1. इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए पेज १२५। — 2. प्राकृतिका पेज २३।

§ १४६—अव, अउ होकर ओ बन गया है, उदाहरणार्थ महाराष्ट्री में अवतरण का ओअरण हो गया है (गउड० , हाल)। अवतार का महाराष्ट्री में ओआर (गउड०; हाल), शौरसेनी में ओदार (शकु० २१, ८) और साथ साथ अवदार (विक्रमो० २१, १) हो गया है। शौरसेनी में अवतरति का ओदरदि रूप है ; मागधी में अवतर का ओदल बन गया है (§ ४७७)। अवग्रह का जैनशौरसेनी में ओग्गह बन गया है (पव० ३८१, १२)। अर्धमागधी में अवम का रूप ओम पाया जाता है (ठाणग० ३२८ , उत्तर० ३५२ , ७६८ ; ९१८), अनवम का अणोम रूप आया है (आयार० १, ३, २, ३), अवमान का ओमाण हो गया है (उत्तर० ७९०), व्यवदान का वोदाण रूप चलता है (सूय० ५२३)। इस प्रकार सभी प्राकृत भाषाओं में अव उपसर्ग का रूप बहुधा ओ पाया जाता है (वररुचि ४, २१ ; हेमचन्द्र १, १७२ ; मार्कण्डेय पन्ना ३५)। अवश्याय का अर्धमागधी में ओसा रूप है (सूय० ८२९ ; उत्तर० ३११ , दस० ६१६,२१), उस्सा रूप भी मिलता है (ठाणग० ३३९ ; कप्प० § ४५, इसमें ओसा रूप भी है जो सर्वत्र ही पढ़ा जाना चाहिए) जो ओ`स्सा रूप बन कर उक्त रूप में बदल गया हो। बहुओस रूप भी चलता है (आयार० २, १, ४, १), अप्पोस (आयार०

* इसका एक रूप ऐंत्तुक कुमाउनी बोली में सुरक्षित है। दूसरा रूप इत्ये पंजाबी में चलता है। —अनु०

१, ७, ६, ४ ; २, १, १, २) रूप भी है। महाराष्ट्री और शौरसेनी में **अवश्याय** का **ओसाअ** रूप मिलता है (रावण० ; विक्र मो० १५, ११ [यहाँ तथा पिशल द्वारा सम्पादित द्राविड संस्करण ६२५, ११ में यही पाठ पढा जाना चाहिए]) । **अवधि** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में **ओहि** रूप मिलता है (हाल ; उवास० ; ओव० ; कप्प०; एर्त्से०) । **यवनिका** का अर्धमागधी मे **जोणिया** रूप मिलता है (विवाह० ७९२ ; ओव० ; नायाध०), किन्तु **जवण** रूप भी पाया जाता है (पण्हा० ४१; पण्णव० ५८), **जवणिया** रूप भी आया है (कप्प०), **नवमालिका** का महाराष्ट्री और शौरसेनी मे **णोमालिआ** मिलता है (हेमचन्द्र १, १७० ; हाल ; मृच्छ० ७६, १० ; ललित० ५६०, ९ ; १७ ; २१ [इसमें यह किसी का नाम है] ; मालती० ८१, १ ; शकु० ९,११ ; १२, १३ ; १३, ३ ; १५, ३) ; **नवमल्लिका** का **णोमल्लिआ** (वररुचि १, ७) रूप पाया जाता है और **नवफलिका** का महाराष्ट्री में **णोहलिया** रूप है (हेमचन्द्र १,१७० ; क्रम० २, १४९ [इसमें **णोहलिअम्** पाठ है], हाल) । **लवण** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और अपभ्रंश रूप **लोण** है (वररुचि १,७ , हेमचन्द्र १,१७१ , क्रम० १,८ ; मार्कण्डेय पन्ना ६ ; गउड० ; हाल ; कालेय० १४, १३ ; आयार० २, १, ६, ६ और ९ ; २, १, १०, ७ , सूय० ३३७ , ८३४ ; ९३५ , दस० ६१४, १५ और १६ , ६२५, १३ ; आव० एर्त्से० २२, ३९ ; हेमचन्द्र ४, ४१८, ७ , ४४४, ४), पल्लवदानपत्र और जैनमहाराष्ट्री मे **अलवण** का **अलोण*** हो गया है (६, ३२ ; आव० एर्त्से० २२, ३९), जैनमहाराष्ट्री मे **लोणिय*** और **अलोणिय*** रूप मिलते हैं (आव० एर्त्से० २२, १४ ; ३०, ३१) । मार्कण्डेय पन्ना ६६ के अनुसार शौरसेनी मे केवल **लवण** है। **भवति** का महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और अपभ्रंश मे **होइ**, जैनशौरसेनी **होदि**, शौरसेनी और मागधी मे **भोदि** होता है (§ ४७५ और ४७६) । कभी गौण **अव**, जो **अप** से बनता है, **ओ** मे परिणत हो जाता है (वररुचि ४, २१, हेमचन्द्र १, १७२ ; मार्कण्डेय पन्ना ३५), जैसा **अपसरति** का महाराष्ट्री और जैनमहाराष्ट्री में **ओसरइ** हो जाता है, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी मे **अपसर** का **ओसर** मिलता है तथा मागधी मे **अपसरति** का रूप **ओशलदि** पाया जाता है (§ ४७७) ।—महाराष्ट्री **आवलि** = **ओलि** मे **आव** **ओ** के रूप मे दिखाई देता है (हेमचन्द्र १, ८३ ; इस व्याकरणकार ने इसे = **आली** बताया है ; गउड० ; हाल ; रावण०), यही रूपांतर अपभ्रंश **सलावण्य** = **सलोण**† (हेमचन्द्र ४, ४४४, ४) और **लावण्य** = **लोॅण्ण** मे दिखाई देता है (मार्कण्डेय पन्ना ६) । यह **लवण**=**लोण** की नकल पर है । मार्कण्डेय पन्ना ६६ के अनुसार शौरसेनी मे केवल **लावण्ण** है, यही रूप शकुन्तला १५८, १० मे पाया जाता है ।

§ १४७—हेमचन्द्र १, १७३ के अनुसार **उप** प्राकृत मे **ऊ** और **ओ** मे बदल जाता है । उसने निम्नलिखित उदाहरण दिये है • **ऊहसियं**,**ओहसियं**, **उवहसियं**=

---

* कुमाउनी में अलुणो और अलुणिय रूप में यह रूप आज भी सुरक्षित है । —अनु०

† हिन्दी रूप सलोना=सलावण्यक=अपभ्रंश सलोणअ है । —अनु०

उपहसितम्, 'उज्झाओ, ओज्झाओ, उवज्झाओ=उपाध्यायः ; ऊआसो, ओआसो, उववासो=उपवासः। मार्कण्डेय पन्ना ३५ में लिखा गया है कि यह भी किसी किसी का मत है (कस्यचिन् मते)। जैनमहाराष्ट्री पद्य में जो उज्झाअ रूप का प्रयोग पाया जाता है (एर्लें० ६९, २८ ; ७२, ३१) वह *उउज्झाअ से *ऊज्झाअ बनकर हो गया है=महाराष्ट्री और शौरसेनी उवज्झाअ (हाल ; कर्पूर० ६, ३ ; विक्रमो० ३६, ३ ; ६ और १२ ; मुद्रा० ३५, ९ ; ३६, ४ और ६ ; ३७, १ ; प्रिय० ३४, १४ ; १७ ; २१ ; ३५, १५), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री उवज्झाय (आयार० २, १, १०, १ ; २, ३, ३, ३ और इसके बाद ; सम० ८५ ; ठाणग० ३५८ और बाद का पेज ; ३६६ ; ३८४ और उसके बाद के पेज ; एर्लें०)=उपाध्याय। इसमें § १५२ के अनुसार व का उ हो गया है और साथ-साथ आ जानेवाले दो उ दीर्घ हो गये हैं। ऊहसिय में भी यही मार्ग तय किया गया है (हेमचन्द्र), उपहसित=उवहसिय=*उउहसिअ=ऊहसिय। इसके साथ साथ जनता के मुँह में इसका एक रूप ऊहट्ट (=हसना : देशी० १, १४०) हो गया। यह उपहसित का उपहस्त होकर बना। इसके अतिरिक्त उपवास=उवआस= *उउआस=ऊआस (हेमचन्द्र); ' उपनंदित=ऊणंदिअ (=आनंदित : देशी० १, १४१) ; ऊयट्ट (पाइय० १९७)=उपवृत्त और ऊसित्त (पाइय० १८७)[1] =उपसिक्त। इसके विरुद्ध ओ वाले सब रूप उप पर आधारित नहीं हैं। ओज्झाअ में जिससे वर्तमान भारतीय भाषाओं में ओझा' बना है, ओ की सिद्धि § १२५ के अनुसार होती है। अर्धमागधी में प्रत्युपचार=पडोयार, प्रत्युपचारयति= पडोयारइ (§ १६३), यदि यह पाठ शुद्ध हो तो ओ की सिद्धि § ७७ के अनुसार होती है। शेष सभी उदाहरणों में ओ=अव या उप होता है जो § १५४ के अनुसार है ; भले ही संस्कृत में इसके जोड़ का कोई शब्द न मिले। इस हिसाब से ओहसिअ (हेमचन्द्र)=अपहसित और ओहट्ट (देशी० १, १५३)=*अपहस्त ; ओआस (हेमचन्द्र)=*अपवास ; ओसित्त (देशी० १, १५८)=अवसिक्त। उअ का कभी ओ नहीं होता क्योंकि महाराष्ट्री ओ (रावण०) को हेमचन्द्र १, १७२ तथा अधिकतर टीकाकार और विद्वान उत का प्राकृत रूप बताते हैं, अन्य इसे अथ या वा का रूप मानते हैं', यह पाली शब्द आदु' से निकला है, अर्धमागधी में इसका रूप अदु है (सूय० ११८, १७२ ; २४८ ; २५०, ५१४ ; उत्तर० ९०), अदु वा भी मिलता है (सूय० १६, ४६ ; ९२ ; १४२ ; उत्तर० २८, ११६ ; १८०, ३२८, सम० ८२ ; ८३), अदु व रूप भी पाया जाता है (सूय० १८२, २४९ ; सम० ८१), शौरसेनी और मागधी में आदु रूप मिलता है (मृच्छ० २, २३, ३, १४, ४, १ ; १७, २१ ; ५१, २४ ; ७३, ४, मालती० ७७, ३ ; प्रिय० ३०, १३ ; ३७, १४ ; अद्भुत० ५३, ३, मागधी : मृच्छ० २१, १४ ; १३२, २१, १५८, ७)। यह कभी कभी ओ=अथ वा बताया जाता है। ओ, *आउ और *अउ से भी निकला है'।

१. अन्तिम दोनों उदाहरणों में ऊ=उद् भी कहा जा सकता है, जो § ६४

और ३२७ अ के अनुसार अधिकांश में होता ही है। — २. क्रुक कृत 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द पौप्युलर रिलीजन ऐंड फौकलोर औफ नौर्दर्न इण्डिया' (प्रयाग १८९४), पेज ९६ का नोट। अन्य विद्वानों के साथ पिशल ने भी गोएटिंगिशे गेलैर्तें आन्साइगन १८९४, ४१९ के नोट की संख्या १ में अशुद्ध लिखा है। —३. एस० गौल्दश्मित्त द्वारा सम्पादित रावणवहो में ओ के सम्बन्ध में देखिए। —४. कर्न अपने ग्रन्थ 'बियद्रागे टोट डे फैरक्लारिंग फान एनिगे वोर्डेन इन पाली—गेश्रिफटन फोरकोमेंडे' (ऐम्सटरडैम १८८६), पेज २५ में इसे वैदिक आद् उ से निकला बताता है जो अशुद्ध है। इस सम्बन्ध में फौसबौल कृत 'नोगले बेमैर्कनिंगर ओम एनकेल्टे फान्सकेलिगे पाली–ओर्ड इ जातक बोगेन' (कोपनहागन १८८८), पेज २५ और उसके बाद के पेज। इन शब्दों के अर्थ एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं। — ५. याकोबी ने त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ४७, ५७८ और कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५६९ में अशुद्ध बात छापी है। पाली ओक =उदक, 'उक और *ओक से बना है। इसकी सिद्धि § ६६ से होती है। अर्धमागधी अदु अतः से नहीं निकला है (वेबर द्वारा संपादित भगवती १, ४२२ ; ए० म्युलर कृत बाइत्रैगे, पेज ३६) क्योंकि अर्धमागधी में त का द नहीं होता। § २०३, २०४ में भी तुलना कीजिए।

(अं) स्वर-संधि

§ १४८—समान स्वर जब एक साथ आते हैं तब उनकी सन्धि हो जाती है और वे संस्कृत के समान ही मिल जाते हैं; अ, आ + अ, आ मिलकर आ हो जाते हैं; इ, ई + इ, ई मिलकर ई हो जाती हैं; उ, ऊ + उ, ऊ मिलकर ऊ बन जाते हैं। पल्लवदानपत्र में महाराजाधिराजो (५, २) आया है, आरक्षाधिकृतान् के लिए आरक्खाधिकते रूप है (५, ५), सहस्रातिरेक का सहस्सातिरेक हो गया है (७, ४२), वसुधाधिपतीन्=वसुधाधिपतये (७, ४४), नराधमो (७, ४७) भी आया है। महाराष्ट्री* में कृतापराध के लिए कआवराह (हाल ५०) मिलता है। अ० माग० में कालाकाल (आयार० १, २,१,१) ; जै० महा० में इंगियाकार (आव० एर्त्से० ११,२२) ; जै० शौर० में सुरासुर (पव० ३७९, १) ; शौर० में संस्कृत सन्धि क्लेशानल का किलेसाणल रूप है (ललित० ५६२, २२) ; माग० में द्यूतकरावमान का दूदिअलावमाण मिलता है (मृच्छ० ३९, २५) ; अप० में श्वासानल का सासाणल (हेमचन्द्र ४, ३९५, २), महा० में पृथिवीश का पुहवीस रूप है (हाल ७८०) ; अप० में अश्रूच्छ्वासैः का अंसूसासहिँ है (हेमचन्द्र ४, ४३१)। गौण स्वरों की भी इसी प्रकार सन्धि हो जाती है। महा० में ईषत्+ईषत् के ईसीस और ईसीसि रूप मिलते हैं (§ १०२)।

* यहाँ तक हमने महाराष्ट्री, अर्धमागधी आदि प्राकृत भाषाओं के पूरे नाम दिये थे। अब इस विश्वास से कि पाठकों को इनका अभ्यास हो चुका होगा, इनके संक्षिप्त रूप दिये जा रहे हैं।—अनु०

§ ८३ के अनुसार व्यंजनों के द्वित्व (संयुक्त व्यञ्जन) से पहले या दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है : महा० में ऊर्ध्वाक्ष = उद्धच्छ (हाल १६१), कवीन्द्र=कइंद (कर्पूर० ६, ९) ; जै० शौर० में अतीन्द्रियत्व = अदिंदियत्त (पव० ३८१, २०) ; अ० माग० में गुणार्थिन् = गुणट्ठि । आयार० (१,२,१,१) ; जै० महा० में रक्ताक्ष = रत्तच्छ (आव० एर्त्सें० १२,२७) ; शौर० में जन्मान्तरे=जम्मंतरे (मृच्छ० ४, ५), माग० में अन्यग्रामान्तर = अण्णग्गामंतल (मृच्छ० १३, ८) ; पल्लवदानपत्र में अग्गिट्ठोमवाजपेयस्समेधयाजी मिलता है (५, १) । अ० माग० में पद्य में असंयुक्त साधारण व्यंजन से पहले आये हुए आ या ह्रस्व अ हो जाता है : राजामात्य का रायमच्च रूप मिलता है (सूय० १८२ ; दस० ६२४, २२) । बहुधा अ० माग० में और कभी कभी जै० महा० और जै० शौर० में समान स्वर मिलते नहीं, उनकी सन्धि नहीं की जाती, विशेषतः द्वन्द्व समास में । इस नियम के अनुसार श्रमणब्राह्मणातिथि का समणमाहणअइहि रूप है (आयार० २, १, ११, ९ ; २, २, १, २ और २, ८ ; २, १०, ४ भी देखिए), पुव्वविदेहअवरविदेह (जीवा० १६१ ; १७४ और उसके बाद ; २१० ; अणुओग० ३९६ ; ३९७ ; भग०), स्वांग = सअंग (सूय० ३४६), सार्थ = सअट्ठ (सू० ५७९), खरपरुषास्निग्धदीप्तानिष्टाशुभाप्रियाकांतवग्नुभिश्च = खरफरुसअसिणिद्धदित्त अणिट्ठअसुभअप्पियअकंतवग्गुहिं य (नायाध० ७५७), पृथिव्युदकाग्नि = पुढवीदगअगणि (पण्हा० ३५३), इन्द्रनीलातसिकुसुम = इंदणीलअयसिकुसुम (ओव० § १०), मनोगुप्ति, कायागुप्ति = मणअगुत्ति, कायअगुत्ति (विवाह० १४६२) हैं । अ० माग० में सुरासुराः का सुरअसुरा, जै० महा० में सुरासुरमनुजमहिताः का सुरअसुरमणुयमहिया (आयार० २, १५,१२ , कालका० २६९,२६) । जै० महा० में एकाक्षर = एगअक्खर (आव० एर्त्सें० ७, २७), अतिरेकाष्टवर्ष = अइरेगअट्ठवास (आव० एर्त्सें० ८, ९), सकलास्तमितजीवलोक = सयलअत्थमियजियलोअ (आव० एर्त्सें० ८, २२) हैं । जै० शौर० में सर्वार्थेषु का सव्वअत्थेसु होता है, वंदनार्थम् = वंदणअत्थं (कत्तिगे० ३९९,३१३ , ४०२,३५६) हैं ।—अ+आ : अ०माग० में अक्रियात्मानः = अकिरियआया (सूय० ४१० , इसमें § ९७ के अनुसार आ के स्थान पर अ हो गया है), शैलकयक्षारोहण = सेलगजक्खआरुहण (नायाध० ९६६) हैं ।—आ + अ : अ० माग० में महाअडवी (नायाध० १४४९) और साथ साथ महाडवी रूप मिलते हैं (एर्त्सें०); जै०महा० में धर्मकथावसान = धम्मकहाअवसान (आव० एर्त्सें० ७, २७), महाक्रन्द = महाअक्कंद (द्वार० ५०५, २०) ।—इ + इ : अ० माग० में मतिऋद्धिगौरव = मइइड्ढिगारव (दस० ६३५,३८), यहाँ दूसरी इ भी गौण है ।—उ +उ : अ० माग० में बहुज्झितधार्मिक=बहुउज्झियधम्मिय (आयार० २, १, १०, ४ और ११, ९, दस० ६२१, ६),बहूदक = बहुउदग (सूय० ५६५), इसके साथ साथ बहूदय भी मिलता है (ठाणंग० ४००), बहूत्पल = बहुउप्पल (नायाध० ५०९), देवकुरूत्तरकुरु (जीवा० १४७ ; १७४ ; १९४;

२०५ ; २०९ , २११ ; अणुओग० ३९६) **देवकुरुउत्तरकुरुग** (विवाह० ४२५), **देवकुरुउत्तरकुराओ** (सम० १११), **देवकुरुउत्तरकुरयाओ** मिलते हैं (सम० ११४), **ऋजुकार=सुउज्जुयार** है (सूय० ४९३), **सुउद्धर** (दस० ६३६, ३०) है; इनमें दूसरा उ गौण है। महा० में बहुत कम किन्तु शौर० में बहुधा स्वर बिना मिले रहते हैं, जैसे **प्रवालांकुरक** महा० में = **पवालअंकुरअ** (हाल ६८०), **प्रियाधर** = **पिआअहर** (हाल ८२७), **धवलांशुक=धवलअंसुआ** (रावण० ९, २५) ; शौर० में **प्रियंवदानुसूये=पिअंवदाअनुसूआओ** (शकु० ६७, ६), **पुंजीकृतार्य-पुत्रकीर्त्ति** का **पुंजीकदअज्जउत्तकित्ति** (बाल० २८९, २०) होता है, **अग्निशरणालिन्दक** = **अग्गिसरणआलिन्दअ** (शकु० ९७, १७), **चेटिकार्चनाय** = **चेडिआअच्चणाअ**, **पूजार्ह** = **पूआअरिह** (मुकुंद० १७,१२ और १४) हैं। अप० में भी ऐसा ही होता है **अर्धार्ध** का **अद्धअद्ध** हो जाता है, **द्वितीयार्ध** = **विअअद्ध** (पिंगल १, ६ और ५०) है। पिंगल १, २४ और २५ के दृष्टांत में संधि न मानी जानी चाहिए वरन् यहाँ पर शब्द कर्त्ताकारक में है। साधारण नियम हेमचन्द्र १, ५ माना जाना चाहिए।

§ १४९—साधारण व्यंजनों से पहले **अ** और **आ** असमान स्वरों से मिलकर संधि कर लेते हैं। यह संधि संस्कृत नियमों के अनुसार ही होती है अ, आ+इ=ए ; अ, आ+उ=ओ। इस नियम के अनुसार महाराष्ट्री में **दिश् + इभ = दिशा + इभ = दिसा + इभ = दिसेभ** (गउड० १४८), **संदष्टेभमौक्तिक = संदट्ठेभमोत्तिअ** (गउड० २३६), **पंचेषु = पंचेसु** (कर्पूर० १२, ८ , ९४, ८), **कृशोदरी = किसोअरी** (हाल ३०९), **श्यामोदक = सामोअअ** (रावण० ९, ४० , ४३ , ४४), **गिरिलुलितोदधि = गिरिलुलिओअहि** (गउड० १४८) है। अन्य प्राकृत भाषाओं में भी यही नियम चलता है। गौण **इ** और **उ** की भी संधि हो जाती है, जैसा अ० माग० और शौर० में **महा + इसि** (= ऋषि)=**महेसि**, महा० और शौर० में **राअ** (= राज)+**इसि=राएसि** (§ ५७) , अ० माग० में **सर्वर्तुक** के **सव्व+ऋतुक** का **उउय** होकर **सव्वोउय** हो जाता है (पण्हा० २४९ , सम० २३७, विवाग० १० ; विवाह० ७९१ ; नायाध० ५२७ , पण्णव० १११ , ओव० , कप्प०), **नित्यर्तुक** का **णिच्चोउग** और **णिच्चोउय** हो जाता है (सम० २३३ ; ठाणग० ३६९), **अनृतुक=अणोउय** (§ ७७, ठाणग० ३६९) होता है। अ० माग० में स्वर बहुधा संधि नहीं करते जैसे, **सघउवरिल्ल** (जीवा० ८७८ और उसके बाद), साथ ही **सघुप्परिल्ल** (जीवा० ८७९) भी पाया जाता है , **प्रथमसमयोपशांत** का **पढमसमयउवसंत** होता है (पण्णव० ६५), **कघोलउसीर** भी आया है (पण्हा० ५२७) , **आचार्योपाध्याय** = **अयरियउवज्झाय** (ठाणग० ३५८ और उसके बाद , ३६६ , ३८४ और उसके बाद , सम० ८५) है, **देट्ठिमउवरिय** (सम० ६८ ; ठाणग० १९७ [यहाँ पाठ में **हिट्ठिय** है]) भी आया है , **वातघनोदधि** = **वायघनउदहि** (विवाह० १०२), **कंठसूत्रोरस्थ = कंठमुत्तउरत्थ** (विवाह० ७९१) ; **अल्पोदक=अप्पउदय** (आयार० २, ३, २, १७) , **द्वीपदिगुदधी-**

नाम् = दीर्घदिसाउद्दीर्ण (विवाह० ८२); महोदक=महाउदग (उत्तर० ७१४) हैं। गौण दूसरे स्वर के लिए भी यही नियम है : **ईहामृगर्षभ = ईहामिगउसभ** (जीवा० ४८१ ; ४९२ ; ५०८ ; नायाध० ७२१ [पाठ में **ईहमिगउसभ** है] ; ओव० § १० ; कप्प० § ४४) ; **रुरुगर्षभ=रुरुगउसभ** (ओव० § ३७)। अन्य प्राकृत भाषाओं में शायद ही कभी स्वर अत्यधिक रहते हों, जैसे—जै० महा० में **प्रवचनोपघातक=पवयणउवघोयग, संयमोपघात=संजमउवघाय** (कालका० २६१, २५ और २६) ; शौर० **मेवसंतोरसवोपायण = वसंतुस्सवउवाअण** है (मालवि० ३९, १० [यह अनिश्चित है]); गौण दूसरे स्वर में शौर० **विसर्जितपिंदारक = विसज्जिदइसिदारअ** (उत्तर० १२३, १०) है।

§ १५०—यदि किसी संधियुक्त शब्द का दूसरा पद इ और उ से आरम्भ होता हो और उसके बाद ही संयुक्त (द्वित्व) व्यंजन हो या उसके आरम्भ में मौलिक या गौण ई या ऊ हो तो पहले पद का अन्तिम अ और आ उड़ जाता है अर्थात् उसका लोप हो जाता है (चंड० २, २; हेमचन्द्र १, १० से भी तुलना कीजिए) । इस नियम के अनुसार महा० और अप० में **गजेन्द्र = गइंद** (गउड० ; हाल ; रावण० ; विक्रमो० ५४, १), अप० में **गइंदअ** भी होता है (विक्रमो० ५९, ८ ; ६०, २१ ; ६३, २) ; जै० शौर०, शौर० और अप० में **नरेन्द्र = नरिंद** (कत्तिगे० ४००, ३२६; माल्ती० २०६, ७ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; २९२, ४ ; पिंगल १, २१ ; २४), माग० में **नलिंद** रूप है (मृच्छ० ४०, ६) ; अ० माग०, शौर० और माग० में **महेन्द्र = महिंद** (ठाणग० २६६ ; माल्ती० २०१, ५ ; मृच्छ० १२८, ८) है ; अ० माग० और जै० शौर० में **देवेन्द्र=देविंद** (चंड० २,२ ; हेमचन्द्र ३, १६२ ; कत्तिगे० ४००, ३२६) ; अ० माग० में **ज्योतिषेन्द्र = जोइसिंद** (ठाणग० १३८) है; अ० माग०, जै०महा० और जै०शौर० में **जिनेन्द्र=जिणिंद** (ओव० § २७ ; आव०एर्त्से० ७,२४ ; एर्त्से० ; कालका० ; पव० ३८२,४२), शौर० में **मृगेन्द्र = मइंद** (शकु० १५५, १ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; १५६, ७) । सभी प्राकृत भाषाओं में **इन्द्र** के साथ बहुत अधिक सन्धियाँ मिलती हैं (§ १५९ से तुलना कीजिए) ; **मायेन्द्रजाल**=जै० महा० **माइंदजाल** (आव० एर्त्से० ८, ५३) ; **एकेन्द्रिय**=अ० माग० **एगिंदिय** (विवाह० १०० ; १०९ ; १४४) ; **श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय** = अ० माग० **सोइंदिय, घाणिंदिय, जिब्भिंदिय** और **फासिंदिय** (ठाणग० ३०० ; विवाह० ३२ ; ओव० पेज ४०, भूमिका छ ; उत्तर० ८२२); **जिह्वेन्द्रिय** = अप० **जिब्भिंदिय** (हेमचन्द्र ४, ४२७ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) , **तद्दिवसेन्दु** का महा० में **तद्दिअसिंदु** होता है (गउड० ७०२); **त्रिदशेश = तिअसीस** (हेमचन्द्र १, १०) ; **राजेश्वर** = जै० महा० **राईसर** (एर्त्से०) ; **पर्वतेश्वर** = शौर० **पव्वदीसर** (मुद्रा० ४०, ६ ; ४६, ९ ; २१६, १३) ; **कर्णोत्पल** = महा० **कण्णुप्पल** (गउड० ७६०), अ० माग० और जै०महा० में **नीलुप्पल** और शौर० में **णीलुप्पल** रूप मिलते हैं = **नीलोत्पल** (उवास० § ९५ ; ओव० § १० ; कक्कुक शिलालेख १८ [यहाँ **णीलुप्पल**

पाठ है] ; एर्से० ७९, ८ ; प्रिय० १५, ८ ; ३३, २ ; ३९, २) ; **नखोत्पल** = माग० **णहुप्पल** (मृच्छ० १२२, १९); **स्कंधोत्क्षेप**=महाराष्ट्री **खंधुक्खेव** (गउड० १०४९) ; **पदोत्क्षेप** = चू० पैशा० **पातुक्खेव** (हेमचन्द्र ४, ३२६) ; **गंधोद्धूत** = अ० माग० **गंधुद्धुय** और अप० **गंधुद्धुअ** (ओव० § २ ; विक्रमो० ६४, १६) ; **रत्नोज्ज्वल** = जै० महा० **रयणुज्जल** (आव० एर्से ८, ४) ; **मंदमारुतोद्वेलित** = शौर० **मंदमारुदुव्वेलिद** (रत्ना० ३०२, ३१ ; मालती० ७६, ३ से भी तुलना कीजिए) , **पर्यंतोन्मूलित** = **पव्वदुम्मूलिद** (शकु० ९९, १३) ; **सर्वोद्यान** = माग० **शव्वुय्याण** (मृच्छ० ११३, १९) ; **कृतोच्छ्वास**= महा० **कऊसास**, **लीढोप** = **लीढूस** (गउड० ३८७ ; ५३६), **गमनोत्सुक** = **गमणूसुअ** (रावण० १, ६) ; **एकोन** = अ० माग० **एगूण*** (§ ४४४), **पंचूण** (सम० २०८ ; जीवा० २२१), **देसूण** (सम० १५२ ; २१९), **भागूण, कोसूण** (जीवा० २१८ ; २३१) रूप भी मिलते हैं। **ग्रामोत्सव** = महा० **गामूसव** (गउड० ५९, ८) ; **महोत्सव** = महा०, जै० महा० और शौर० **महूसव** (कर्पूर० १२, ९ ; एर्से०; मृच्छ० २८, २; रत्ना० २९२, ९ और १२ ; २८३, १३; २९५, १९ ; २९८, ३० ; मालती० २९, ४ ; ११९, १ ; १४२, ७ ; २१८, ३ आदि-आदि ; उत्तर० १०८, २ ; ११३, ६ ; चड० ९३, ६ ; अनर्घ० १५४, ३ ; नागा० ४२, ४ [पाठ में **महूस्सव** है] ; ५३, १९ ; वृषभ० ११, २ ; सुभद्रा० ११, ५ और १७) ; **वसंतोत्सव** का शौर० रूप **वसंतूसव** है (शकु० १२१, ११ ; विक्रमो० ५१, १४, मालवि० ३९, १० [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए])। यही नियम दूसरे गौण स्वर के लिए भी लागू होता है : अ० माग० में **उत्तम+ऋद्धि**= **उत्तमिड्ढि** (ठाणंग० ८०), **देविड्ढि** (उवास०), **महिड्ढि** (ठाणंग० १७८), **महिड्ढिय** (ओव०) रूप भी देखने में आते हैं। साधारण अथवा अकेले व्यंजनों से पहले यह नियम बहुत कम लागू होता है, जैसे **विशेषोपयोग** = जै० महा० **विसेसुवओगो** (कालका० २७७, ९) और **अर्धोदित** = आ० **अद्धुइअ** (मृच्छ० १००, १२)।

§ १५१— § १५८ में वर्णित उदाहरणों में तब सन्धि होती है जब दूसरा पद संस्कृत में ई और ऊ से आरम्भ होता है और इसके बाद साधारण अथवा अकेला व्यंजन आता है : **वातेरित** = शौर० **वादेरिद** (शकु० १२, १) ; **करिकरोरु** = महा० **करिअरोरु**=**करिअर + ऊरु** (हाल ९२५); **पीणोरु**=**पीणा + ऊरु** (रावण० १२, १६) ; **प्रकटो**=**पाअडोरु** (हाल ४७३) ; **वलितोरु** = **वलिओरु** (गउड० ११६१) ; अ० माग० **वरोरु** (कप्प० § ३३ और ३५); **पीवरोरु**, **दिसागइंदोरु** (= **दिग्गजेन्द्रोरु** : कप्प० § ३६) ; **एगोरुय** (= **एकोरुक** : पण्णव० ५६), किन्तु **एगूरुय** भी है (जीवा० ३४५ और उसके बाद ; विवाह० ७१७); जै० महा० में **करिकरोरु** आया है (एर्से० १६, २०) ; शौर० में **मंथरोरु** रूप है

* मारवाड़ी में गुणतीस, गुणचालीस, उनतीस, उनचालीस आदि के स्थान पर चलता है। —अनु०

(मालती० १०८, १), **पीवरोरु** भी है (मालती० २६०, ३ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) । यदि पहला पद उपसर्ग हो तो नियमित रूप से सधि कर दी जाती है : प्रेक्षते = महा०, अ० माग० और जै० महा० **पेच्छइ**, जै० शौर० **पेच्छदि**, शौर० **पेक्खदि**, माग० **पेस्कदि** (§ ८४) ; अनपेक्षित = महा० **अणवेक्खिअ** (रावण०), जै० महा० में **अवेक्खइ** रूप मिलता है (एर्से०) ; अपेक्षते=शौर० **अवेक्खदि** (शकु० ४३, १० ; १३०, २) ; उपेक्षित = महा० **उवेक्खिअ** (हाल); प्रेरित = महा० **पेल्लिअ** (गउड० ; हाल) । बहुत कम स्थलों में दूसरे पद में इ या उ आरम्भ में आने पर और उसके बाद द्वित्व व्यजन होने पर सधि भी हो जाती है , जैसे निशाचरेन्द्र=**णिसाअरेंद** (रावण० ७, ५९); महेन्द्र का महा० और माग० में **महेंद** रूप मिलता है (रावण० ६, २२ ; १३, २० ; मृच्छ० १३३, १२), राक्षसेन्द्र = महा० **रक्खसेंद** (रावण० १२, ७७) ; नरेन्द्र का शौर० में **नरेंद** मिलता है (मालती० ९०, ४ ; १७९, ५) ; रक्तोत्पल = शौर० **रत्तोप्पल** (मृच्छ० ७३, १२) है । पंचेन्द्रिय=जै० शौर० **पंचेंदिय** (पव० ३८८, ९) भूल जान पड़ती है । इन सधि शब्दों के पास ही (ऊपर देखिए) सदा इ या उ वाले शब्द भी मिलते हैं, जैसे उदाहरणार्थ शौर० **महेंद** (विक्रमो० ५, १० ; ६, १९ ; ८, ११ ; १३ ; ३६, ३ ; ८३, २० ; ८४, २) के स्थान पर बगाली हस्तलिपियाँ सर्वत्र **महिंद** लिखती हैं, वैसे शौर० में साधारणत यही रूप मिलता है (§ १५८)[1] । निम्नोन्नत के लिए शौर० में **णिण्णोण्णद** रूप देखा जाता है (शकु० १३१, ७), इसे ऊपर दिये नियम के अनुसार **णिण्णुण्णद** पढ़ना चाहिए, इसका महा० रूप **णिण्णुण्णअ** मिलता है (गउड० ६८१) ; शौर० **उण्होण्ह** के स्थान पर (शकु० २९, ६) शुद्ध रूप **उण्हुण्ह** होना चाहिए, शौर० **मद्दलोद्दाम** (= मर्दलोद्दाम) के लिए (रत्ना० २९२, ११) **मद्दलुद्दाम**[2] रूप होना चाहिए । निम्नलिखित उदाहरणों में सधि ठीक ही है : जै० महा० **अहेसर**, **रायरेसर**, **नरेसर** (एर्से०), शौर० **परमेसर** (प्रबन्ध० १४, ९ ; १७, २), जिनमें गौण **ईसर** के साथ सधि की गयी है ; शौर० **पुरिसोत्तम** और माग० **पुलिशोत्तम** रूप भी (§ १२४) ठीक है क्योंकि ये सीधे सस्कृत से लिये गये हैं, अन्यथा अ० माग० में **पुरिसुत्तम** रूप मिलता है (दस० ६१३, ४० ; [*इसके मूल स्थान उत्तर० ६८१ में* **पुरिसोत्तम** *है*] ; *कप्प०* § १६ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; ओव० § २० [यहाँ भी यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; नीचे आये हुए **लोगुत्तम** रूप से भी तुलना कीजिए]) ।

१. बॉल्लेनसेन जब विक्रमोर्वशी ८, ११ पेज १७६ में जोर देकर कहता है कि **महिंद** रूप मुख्य प्राकृत की, जिससे उसका तात्पर्य शौर० से है, सीमा का उल्लंघन करता है, तो वह सर्वथा भूल करता है । — २. ओं की सिद्धि इन उदाहरणों में § १२५ के अनुसार संपादित करना, इनके विरुद्ध उद्धृत उदाहरणों में संभव नहीं दीखता । मेरा अनुमान है कि इस प्रकार के उदाहरणों में संस्कृतापन आ गया है, इसे शुद्ध करना चाहिए । इस सम्बन्ध में लास्सनकृत इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज १७५ का नोट देखिए ।

§ १५२—इ और उ के बाद भले ही संयुक्त व्यंजन क्यों न आये अ० माग० में अ, आ ज्यों के त्यों रह जाते हैं, जैसा साधारण या अकेले व्यंजन रहनेपर होता है (§ १५७; § १५६ की भी तुलना कीजिए)। इसके अनुसार **कर्केतनेन्द्रनील** = अ० माग० **कक्केयणइंदणील**, **माडंविकेभ्य** = **माडंबियइब्भ**, **कौटुंविकेभ्य** = **कोडुंबियइब्भ** (ओव० § १०; ३८; ४८); **भूतेन्द्र** = **भूयइंद** (ठाणग० ९०), किंतु एक स्थान पर **भूइंद** भी है (ठाणग० २२९), साथ साथ **जक्खिंद**, **रक्खसिंद**, **किंनरिंद** आदि रूप भी देखे जाते हैं (ठाणग० ९०; § १५८ की भी तुलना कीजिए); **पिशाचेन्द्र** = **पिसायइंद** (ठाणग० ९०), किंतु **पिसाइंद** रूप भी देखा जाता है (ठाणग० १३८ और २२९); **अज्ञातोञ्छ** = **अन्नायउंछ** (दस० ६३६, १७); **लवणसमुद्रोत्तरण** = **लवणसमुद्दउत्तरण** (नायाध० ९६६), **प्रेंखणोत्क्षेपक** = **पेहुणउक्खेवग** (पण्हा० ५३३); **नावोत्सिचक** = **नावाउस्सिंचय** (आयार० २, ३, २, १९ और २०); **इन्द्रियोद्देश** = **इंदियउद्देस**, **दुकूलसुकुमारोत्तरीय** = **दुगुल्लसुगुमालउत्तरिज्ज**, **अनेकोत्तम** = **अणेगउत्तम**, **भयोद्विग्न** = **भयउव्विग्ग**, **सौधर्मकल्पोर्ध्वलोक** = **सोहम्मकप्पउड्ढलोय** (विवाह० १७७ और उसके बाद; ७९१; ८०९; ८३५; ९२०), **आयामोत्सेध** = **आयामउस्सेह** (ओव० § १०)। अन्य प्राकृत भाषाओं में एक के साथ दूसरा स्वर बहुत कम पाया जाता है जैसा महा० में **प्रनष्टोद्योत**=**पणट्ठउज्जोअ**, **खोत्पात**=**खउप्पाअ** (रावण० ९,७७ ; ७८), **पीनस्तनोत्थंभितानन**=**पीणत्थणउत्थंभिआणण** (हाल २९४); **मुखोद्व्यूढ**=**मुहउव्वूढ** (शकु० ८८, २) है। **मौक्तिकोत्पत्ति** का प्राकृत रूप **मोत्तिअउप्पत्ति** अशुद्ध है (विद्ध० १०८, २)। यह **मोत्तिउप्पत्ति** होना चाहिए (ऊपर **मोत्तिओप्पत्ति** देखिए), जैसा **पितामहोत्पत्ति** = महा० **पिआमहुप्पत्ति** (रावण० १, १७) है। अ० माग० में **अंकुरुप्पत्ति** मिलता है (पण्णव० ८४८) और प्रबन्धचन्द्रोदय १७, २ में **प्रबोधोत्पत्ति** के लिए शौर० **पवोहोप्पत्ति** मिलता है जिसका शुद्ध रूप **पवोहुप्पत्ति** होना चाहिए। सभी प्राकृत भाषाओं में **स्त्री** = **इत्थि**, दूसरे शब्दों से मिलता नहीं (§ १४७) ; अ० माग० में **असुरकुमारइत्थीओ**, **थाणियकुमारइत्थीओ**, **तिरिक्खजोणियइत्थीओ** **मणुस्सइत्थीओ**, **मणुस्सदेवइत्थीओ** (विवाह० १३९४); जै० शौर० में **परस्त्र्यालोक** का **परइत्थीआलोअ** मिलता है (कत्तिगे० ४०१, ३४४), **भूसणइत्थीसंसग्ग** (कत्तिगे० ४०२, ३५८) भी आया है , शौर० में **अंतेउरइत्थी** रूप पाया जाता है (शकु० ३८, ५)। तो भी अ० माग० में **मणुस्सित्थीओ** रूप भी वर्तमान है, **देवित्थीओ** मिलता है और **तिरिक्खजोणित्थीओ** भी साथ-साथ प्रचलित है (ठाणग० १२१), जै० शौर० में **पुरिसित्थी** मिलता है (कत्तिगे० ४०१, ३४५)।

§ १५३—ए, ओ से पहले, किन्तु उस ए, ओ से पहले नहीं जो संस्कृत ऐ और औ से निकले हों, अ और आ का लोप भी मानना पड़ता है, भले ही यह मौलिक या गौण हो ; **ग्राम**+**पणी** का **गामेणी** रूप पाया जाता है (=बकरी : देशी० २, ८४) ; **नव**+**पला** = महा० **णवेला**[1], **फुल्ल**+**पला** = **फुल्लेला** (रावण० १,

६२ और ६३), उत्संदितैकपार्श्व = उच्छंडिएक्कपास (रावण० ५, ४३); अवलंबितेरावणहस्त = शौर० अवलंबिदेरावणहत्थ (मृच्छ० ६८, १४), शिलातलैकदेश = सिलादलेक्कदेस (शकु० ४६, ११), करुणैकमनस् = करुणेक्कमण (माल्ती० २५१, ७); कुसुमावस्तृत = महा० कुसुमओत्थअ (रावण० १०३६), प्रथमापसृत = पढमोसरिअ (हाल ३५१), बाष्पावमृष्ट = बाहोमट्ठ (रावण० ५, २१), ज्वाल (=जाल) + आवलि (=ओलि) = जालोलि (§ १५४ ; हाल ५८९), जैसे, वन+आवलि = वणोलि (हेमचन्द्र २, १७७ = हाल ५७९, जहाँ वणालि पाठ है), वात + आवलि = वाओलि, प्रभा+आवलि=पहोलि (गउड० ५५४, १००८) ; अ० माग० और जै० महा० उदक + ओल्ल (=उद्र) का उदओल्ल रूप देखा जाता है (§ १११ ; दस० ६२५, २७ ; आव० एर्ले० ९, ३), इसके साथ साथ अ० माग० में उदक + उल्ल का उदउल्ल रूप भी मिलता है (आयार० २, १, ६, ६ ; २, ६, २,४), अ० माग० में वर्षण + ओल्ल का रूप वासेणोल्ल है (उत्तर० ६७३) ; अ० माग० में मालोहड=माला (=मच, प्लैटफार्म : देशी० ६, १४६)[1] + ओहड=अवहृत (आयार० २, १, ७, १ ; दस० ६२०,३६), मृत्तिका + ओलित्त (=अवलिप्त) का रूप मट्टिओलित्त आया है (आयार० २, १, ७, ३) ; जलौघ= जै० महा० जलोह (एर्लें० ३, २६), संस्थानावसर्पिणी=संठाणोसप्पिणि (ऋषभ० ४७) है; गुडौदन = शौर० गुडोदन (मृच्छ० ३, १२), वसंतावतार=वसंतोदार (शकु० २१, ८), करुरुह + ओरंप=करुहोरंप (= आक्रमण : मालती० २६१, २ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; देशी० १, १७१ से तुलना कीजिए ; पाइय० १९८) है। कभी कभी एक के पास दूसरा स्वर ज्यों का त्यों रहता है, जैसे महा० वाअंदोलणओणविअ = वातान्दोलनावनमित (हाल ६८७); अ० माग० खुड्डगएगावलि = क्षुद्रकैकावलि (ओव० [§ ३८]), विप्पइाइयओलंब = विप्रभाजितावलंब (ओव० § ६), जै० महा० सभाओवास = सभावकाश (आव० एर्ले० १५, १२)।

१. पणेला, जलोह और गुडोदन उदाहरणों के विषय में संदेह उत्पन्न होने की गुंजाइश है। इस नियम की स्वीकृति उन संधियों द्वारा प्रमाणित होती है जो गौण एँ, ओ और औ के साथ होती हैं, इस कारण ही मुख्यतया उदाहरणों के लिए ये शब्द चुने गये हैं। — २. इस विषय में याकोबी द्वारा संपादित 'सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट', खंड बारह, पेज १०५ की नोटसंख्या १ से तुलना कीजिए।

§ १५५—निम्नलिखित असमान स्वरों से इ, ई, उ, ऊ नियमानुसार कोई संधि नहीं करते (हेमचन्द्र १, ६): महा० णहप्पहावलिअरुण = नखप्रभावल्यरुण (हेमचन्द्र १, ६), रत्तिअंधअ = रात्र्यंधक (हाल, ६६९), मंझावहुअपऊढ = संध्यावधूपगूढ (हेमचन्द्र १, ६); अ० माग० जाइआरिय = जात्यार्य (ठाणंग० ४२४), जाइअंध = जात्यंध (सूय० ४३८), सच्चि-

अग्ग = शक्त्यग्र (दस० ६३४, ११), **पुढविआउ** = *पृथिव्यापः (पण्णव० ७४२), **पंतोवहिउवअरण** = प्रांतोपध्युपकरण (उत्तर० ३५०), **पगइ उवसंत** = प्रकृत्युपशांत (विवाह० १००; १७४), **पुढवीउड्ढलोय** = पृथिव्यूर्ध्वलोक (विवाह० ९२०), **कदलीऊसुग** = कदली + ऊसुग (बीच में, भीतर : बोएटलिंक २ ऊप १ (बी) और (सी) से भी तुलना कीजिए ; आयार० २, १, ८, १२), **सुअहिज्जिय** = स्वधीत (ठाणग० १९० ; १९१), **बहुअट्ठिय**=बह्वस्थिक (आयार० २, १, १०, ५ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए]; दस० ६२१, ४), **साहुअज्जव** = साध्वार्जव (ठाणग० ३५६), **सुअलंकिय** = स्वलंकृत (दस० ६२२, ३९), **कविकच्छुअग्गणि**=कपिकच्छ्वग्नि (पण्हा० ५३७), **बहुओस**= बह्ववश्य (आयार० २, १, ४, १) ; गौण दूसरे स्वर के साथ भी यही नियम लागू होता है, जैसे अ० माग० **सुइसि**=स्वृषि (पण्हा० ४४८), **बहुइड्ढि**=बह्वृद्धि (नायाध० ९९०)। अ० माग० **चक्खुइन्दिय** = चक्षुरिन्द्रिय (सम० १७) के साथ साथ **चक्खिंदिय** = चक्ख=चक्षस् + इन्द्रिय (सम० ६९ ; ७३, ७७ और इसके बाद ; विवाह० ३२ ; उत्तर० ८२२ ; ओव० पेज ४०) हैं। जै० महा० में **ओसप्पिणिउस्सप्पिणि** = अवसर्पिण्युत्सर्पिणि (ऋषभ० ४७), **सुअणुवत्त** = स्वनुवृत्त (आव० एर्से० ११, १५), **मेरुआगार** (तीर्थ० ५, ८) ; शौर० में **संतिउदअ** = शांत्युदक (शकु० ६७, ४), **उवरिअलिंदअ** = उपर्यलिन्दक (मालती० ७२, ८ ; १८७, २), **उदसीअक्खर** = उर्वश्यक्षर (विक्रमो० ३१, ११), **सरस्सदीउवाअण**=सरस्वत्युपायन (मालवि० १६, १९), **सीदामंडवीउम्मिला** = सीतामांडव्युर्मिला (बाल० १५१, १), **देहच्छवीउल्लुंचिद**= देहच्छव्युल्लुंचित (प्रबन्ध० ४५, ११)। अ० माग० **इत्थत्थ** मे जो इत्यर्थ का प्राकृत रूप है, इ का छूट जाना अपने ढग का अकेला उदाहरण है (दस० ६३८, १८), और इसी प्रकार का **किंचूण** भी है जो ***किंचिऊण**=किंचिदून से निकला है (सम० १५३ ; ओव० § ३०), ऐसा एक उदाहरण है **बेंदिय** (ठाणग० २७५; दस० ६१५, ८), **तेंदिय** (ठाणग० २७५ ; ३२२) जिनका आरम का इ उड गया है, इनके साथ-साथ **बेइंदिय**, **तेइंदिय** शब्द भी पाये जाते हैं (ठाणग० २५ ; १२२; ३२२ [यहाँ बेइंदिय पाठ है] सम० २२८ ; विवाह० ३० ; ३१ ; ९३ ; १४४; दस० ६१५, ८) = द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय अ० माग० **ईसास**=इष्वास (§ ११७) सीधा सस्कृत से लिया गया है।

§ १५५—उपसर्गों के अंत मे आनेवाले इ और उ अपने बाद आनेवाले स्वर के साथ सस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुसार संधि कर लेते हैं। इस प्रकार उत्पन्न ध्वनिवर्ग नाना प्राकृत भाषाओं के अपने अपने विशेष नियमों के अनुसार व्यवहृत होता है। महा०, अ० माग०, जै० महा०, जै० शौर० और शौर० **अच्चंत** =अत्यंत (गउड० ; निरया० ; एर्से०; पव० ३८०, १२ ; ३८९, १ ; मृच्छ० ६०, २५ ; मालवि० २८, १३) ; अ० माग० **अच्चेइ**=अत्येति (आयार० १, २, १, ३) ; अ० माग० और जै० महा० **अज्झोववन्न**=अध्युपपन्न (§ ७७) ;

महा० **अब्भागअ**=**अभ्यागत** (हाल), जै० महा० **अब्भुवगच्छाविय**, *****अब्भुवगय**=**अभ्युपगमित**, **अभ्युगत** (आव० एर्त्से० ३०, ९ ; १०) ; शौर० और माग० **अब्भुववण्ण**=**अभ्युपपन्न** (मृच्छ० २८, १८ , विक्रमो० ८,१२ ; माग० : मृच्छ० १७५, १८) है, महा०, अ० माग०, शौर० और अप० **पज्जत्त**=**पर्याप्त** (गउड० , हाल , रावण०; उवास०; शकु० ७१, ७ ; विक्रमो० २५, ६ ; हेमचन्द्र ४, ३६५, २) है, महा० और शौर० : **णिव्वूढ**=**निर्यूढ** (गउड० ; हाल, रावण०, मालती० २८२, ३) है, महा० **अण्णेसइ**, माग० **अण्णेशदि**= **अन्वेषति** (गउड०, मृच्छ० १२, ३) है, जै० महा०, शौर० और आव० **अण्णेसंत**=**अन्वेषत्** (एर्त्से०, विक्रमो० ५२, २०; मृच्छ० १४८,७ और ८) है। त्य और र्य ध्वनिवर्ग बहुधा और विशेषकर अ० माग० और महा० में स्वरभक्ति द्वारा अलग अलग कर दिये जाते हैं जिससे अ० माग० और जै० महा० में बहुधा तथा अन्य प्राकृत भाषाओं में य सदा लुप्त हो जाता है, और स्वर § १६२ के अनुसार एक दूसरे के पास पास आ जाते हैं ; महा० **अइआअर** (हाल), जै० महा० **अइयायर** (एर्त्से०)=*****अतियादर**=**अत्यादर** ; अ० माग० **णाइ-उण्ह**=**नात्युष्ण** (विवाह० ९५४), इसके साथ साथ **अच्चुसिण** (आयार० २, १, ७, ५) और महा० **अच्चुण्ह** (हाल) पाये जाते हैं , महा० **अइउज्जुअ** (हाल) और शौर० **अदिउज्जुअ** (रत्ना० ३०९, २४ ; प्रिय० ४३, १५)= **अत्यृजुक** , अ० माग० **अहियासिज्जंति**=**अध्यासंते** (ओव०), जै० महा० **पडियागय** = **प्रत्यागत** (एर्त्से०) है, इसके साथ साथ महा० में **पच्चागअ** रूप मिलता है (हाल), जै० महा० मे **पच्चागय** आया है (एर्त्से०), और शौर० में **पच्चागद** (उत्तर० १०६, १०), अ० माग० **पडियाइक्खिय** = **प्रत्याख्यात** है, साथ साथ **पच्चक्खाअ** भी चलता है (§ ५६५), अ० माग० **पडिउच्चारेयव्व**=**प्रत्युच्चारयितव्य** (विवाह० ३४) है, अ० माग० **परियावन्न**= **पर्यापन्न** (आयार० २, १, ९, ६ और ११, ७ तथा ८) है, अ० माग० **पलिउ-च्छूढ**=**पर्युत्क्षुब्ध** (§ ६६) है , महा० **विओल**=**व्याकुल** (§ १६६) है। अ० माग० में, पर अन्य प्राकृतों में बहुत कम, प्रति का इ नीचे दिये हुए असमान स्वरों से पहले भी उड़ा दिया जाता है इस नियम के अनुसार महा० और अ० माग० **पाडिएक्क** = **प्रत्येक** के साथ साथ (हेमचन्द्र २,२१० ; रावण० , नायाध० १२२४, विवाह० १२०६ , ओव० [**पाडियक्क** के स्थान पर सर्वत्र **पाडिएक्क** पढ़ा जाना चाहिए]), **पाडेक्क** के स्थान पर **पाडिक्क** मिलता है (§ ८४ ; हेमचन्द्र २, २१० ; **पडंसुअ**=**प्रत्याश्रुत** (§ ११५) ,**पडायाण**=**प्रत्यादान** (§ २५८) है, **वच्चइ**=**व्रजति** के साथ *****पडिउच्च** के स्थान पर **पडुच्च** (§ २०२ ; ५९०), **पाडुच्चिय** = **प्रातीतिक** (ठाणंग० ३८) भी है ;अ० माग० **पडुप्पन्न** = **प्रत्युत्पन्न** (आयार० १, ४,१,१ ; सूय० ५३३ ; ठाणंग १७३ ; १७८ ; विवाह० २४ ; ७८ ; ७९ ; ८० ; ६५१ ; जीवा० ३३७ ; ३३८ ; अणुओग० ४७३ ; ५१० और उसके बाद ; उवास०), जै० महा० **अपडुप्पन्न** (आव० एर्त्से० १७, ३१) ; अ०-

माग० **पडोयार=प्रत्यवतार** (लौयमान द्वारा सम्पादित औप० सु०) और **प्रत्युपचार** के भी (§ १५५ ; विवाह० १२३५ ; १२५१), **पडोयारेउ=प्रत्युपचारयतु, पडोयारेह=प्रत्युपचारयत, पडोयारेंति=प्रत्युपचारयंति, पडोयरिज्जमाण = प्रत्युपचार्यमाण** (विवाह० १२३५ ; १२५१ ; १२५२) हैं। महा० **पत्तिअइ**, अ० माग० और जै० महा० **पत्तियइ**, शौर० और माग० **पत्तिआअदि** और अ० माग० **पत्तेय** के विषय में § २८१ तथा ४८७ देखिए।

§ १५६—वह स्वर, जो व्यंजन के लोप होने पर शेष रह जाता है, **उद्वृत्त**[1] कहलाता है। नियमानुसार **उद्वृत्त** स्वर उससे पहले आनेवाले स्वर के साथ संधि नहीं करता (चंड० २, १ पेज ३७ ; हेमचन्द्र १, ८ ; वररुचि ४, १ से भी तुलना कीजिए)। इस नियम के अनुसार महा० **उअअ = उदक** (गउड० ; हाल ; रावण०[2]) ; **गअ = गज** और **गत** ; **पअवी=पदवी** (गउड ; हाल) ; **सअल= सकल** ; **अणुराअ=अनुराग** ; **घाअ=घात** (हाल ; रावण०) हैं ; **कइ = कति** (रावण०),=**कपि** (गउड० ; हाल ; रावण०),=**कवि** (गउड० ; हाल) है ; **जइ = यदि** ; **णई=नदी** ; **गाइआ = गायिका** (हाल) ; **तउसी=त्रपुषी** (हाल); **पउर=प्रचुर** (हाल) ; **पिअ=प्रिय** ; **पिअअम = प्रियतम** , **पिआसा=पिपासा** (हाल) ; **रिउ=रिपु** ; **जुअल = युगल** ; **रूअ=रूप** ; **सूई=सूची** (गउड० ; हाल) ; **अणेअ = अनेक** (गउड० हाल) ; **जोअण=योजन** (रावण०) ; **लोअ=लोक** हैं। प्रत्येक प्रकार की संधि पर यह नियम लागू होता है : महा० **अइर= अचिर** ; **अउव्व=अपूर्व** ; **अवअंस=अवतंस** (हाल , रावण०) ; **आअअ = आयत** (हाल ; रावण०) ; **उवऊढ=उपगूढ** ; **पआव = प्रताप** ; **पईव = प्रदीप** ; **दाहिणंसअड = दक्षिणांशतट** (गउड० १०४) ; **सअण्ह = सतृष्ण** (हाल) ; **गोलाअड=गोदातट** (हाल १०३) , **दिसाअल=दिक्तल** (रावण० १, ७) ; **वसहइंध = वृषभचिह्न** (गउड० ४२५) ; **णिसिअइ = निशिचर** (रावण०) ; **सउरिस = सत्पुरुष** (गउड० ९९२) ; **गंधउडी = गन्धकुटी** (गउड० ३१९) ; **गोलाउर=गोदापुर** (हाल २३१), **विइण्णऊर=वितीर्णतूर्य** (रावण ८, ६५) ; **गुरुअण = गुरुजन** (हाल) हैं। ऐसे समान अवसर उपस्थित होने पर सभी प्राकृत भाषाओं के रूप इसी प्रकार के हो जाते हैं।

१. हेमचन्द्र इस स्वर को उद्वृत्त कहता है (१, ८)। चंड० २, १ पेज २७ में इसका नाम उद्धृत दिया गया है (त्रिवि० १, १, २२ ; सिंह० पन्ना ३ ; नरसिंह १, १, २२ ; अप्पयदीक्षित १,१,२२ में इसे शेष नाम देते हैं जो उचित नहीं जँचता क्योंकि हेमचन्द्र २, ८९ और त्रिवि० १, ४, ८६ में शेष उस व्यंजन का नाम बताया गया है जो एक पद में शेष रह जाता है। —२. ये उद्धरण नीचे दिये गये उन सब शब्दों के लिए हैं जिनके सामने कोई उद्धरण उद्धृत नहीं किये गये हैं।

§ १५७—उद्वृत्त स्वर उनसे ठीक पहले आनेवाले समान स्वरों से कभी कभी संधि कर लेते हैं। इस नियम के अनुसार अ, आ ; अ, आ से संधि कर लेते हैं :

अ० मा० आर* जो अअर से निकला है = अवर (सूय० १०६; ३२२) और जै० महा० में यह आदर का रूप है (काल्का०) : ओआअव (=सूर्यास्त का समय : देशी० १, १६२) = *ओअआअव = अपगतातप, जब कि ओवाअअ (त्रिवि० १, ४, १२१; संपादक ने ओआवअ रूप दिया है; इस संबंध में वेत्सेनबैर्गर बाइत्रैगे १३, १३ भी देखिए) = अपवातक ; कालास और कालाअस का मार्कण्डेय के अनुसार शौर० में सदा कालायस होता है (वर० ४, ३; हेच० १, २६९); अप० में खाइ और खाअइ = खादति (वर० ८, २७; क्रम० ४, ७७; हेच० ४, २२८; ४१९,१); अप० में खंति = खाअंति, *खांति† = खादंति (हेच० ४,४४५,४), खाउ = खादतु (भाम० ८, २७), इससे एक धातु खा का पता लगता है जिसका भविष्यकाल-वाचक रूप खाहिइ भी मिलता है (§ ५२५), अप० में आज्ञावाचक एकवचन का रूप खाहि भी पाया जाता है (हेच० ४, ४२२, ४ और १६) और एक अप० रूप खाअं = *खात है (हेच० ४, २२८); गाअण से गाण हुआ है = गायन (देशी० २,१०८); गाणी‡ (= वह भाड़ा जिसमें सना हुआ चारा गाय को खिलाया जाता है : देशी० २, ८२) *गआअणी से निकला है, इसका अ० माग० रूप गवाणी है (आयार० २, १०, १९) = गवादनी ; माग० गोमाओ जो *गोमा-अओ से निकला है = गोमायवः (मृच्छ० १६८, २०) है ; अप० चंपावण्णी = चंपकवर्णी (हेच० ४,३३०,१); छाण (= पोशाक : देशी० ३,३४) = छादन; अप० जाइ जअइ से निकला है = जयति (पिंगल १, ८५ अ); धाइ और साथ ही धावइ = धावति (वर० ८, २७; हेच० ४, २२८), महा० उद्धाइ = उद्धावति (रावण०) है, इससे खाद के समान ही एक नये धातु धा का पता लगता है, जिससे निम्नलिखित रूप निकले हैं : धाउ (भाम० ८,२७), धाइ (हेच० २,१९२), धाहिइ (§ ५२५), धाओ (हेच० ४, २२८) बनाये गये हैं; अ०माग० और अप० पच्छित्त (सम० ९१; हेच० ४, ४२८) और इसके साथ अ० माग० पायच्छित्त (जीव० १८ ; उवास० ; नायाध० ; ओव० ; कप्प०) = प्रायश्चित्त है ; पावडण और इसके साथ ही महा० पाअवडण (हाल; [पाठ में पअवडण है]) = पाद-पतन (भाम० ४, १; हेच० १, २७०; मार्क० पन्ना ३१) है ; महा०, जै० महा० और शौर० पाइक्क = पादातिक (§ १९४); पावीढ और इसके साथ दूसरा रूप पाअ-वीढ = पादपीठ (हेच० १, २७०; मार्क० पन्ना ३१); अ० माग० रूप भंते = भदंतः (§ ३६६); भाणं = भाजन (वर० ४,४; हेच० १, २६७; क्रम० २, १५१), जब मार्कण्डेय के कथनानुसार इस शब्द का शौर० रूप भाअण है (मृच्छ० ४१, ६; शकु० ७०, १६; १०५, ९; प्रबध० ५९, ४; वेणी० २५, ३ और ५; मल्लिका०

* यह बंगला में अभी तक प्रचलित है। हिंदी और प्राकृत अउर का रूप है। —अनु०

† खांति रूप अवश्य कभी कहीं बोला जाता होगा। कुमाउनी बोली में नियमानुसार खांति = खानि प्रचलित है। भाण भी कुमाउनी में चलता है। इसी प्रकार गाण कुमाउनी में चलता है। ग्वाअ शब्द मुझे हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण में नहीं मिला। —अनु०

‡ इस गाणी से घाणी निकला है जो अनेक वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं में प्रचलित है। —अनु०

साथ चलनेवाला **चउत्थ = चतुर्थ** (§ ४४९) है ; **चों द्दह** और इसके साथ अप० रूप **चउद्दह**, अ० माग० **चों द्दस** और इसके साथ चलनेवाला दूसरा रूप **चउद्दस=चतुर्दश** (§ ४४२), अ० माग० **चों द्दसम=चतुर्दशम्** (§ ४४९); **चोंग्गुण** और इसके साथ ही चलनेवाला दूसरा रूप **चउग्गुण = चतुर्गुण**, **चोंव्वार** और इसके साथ काम में आनेवाला दूसरा रूप **चउव्वार = चतुर्वार** (हेमचन्द्र १, १७१) हैं, **तोवट्ट** और इसके साथ चलनेवाला **तउवट्ट = त्रपुपट्ट** (कान का एक गहना : देशी० ५, २३ ; ६, ८९) हैं ; महा० और अ० माग० **पोंम्म = पद्म** (हेमचन्द्र १, ६१ ; २, ११२ है ; मार्कण्डेय पन्ना ३१ ; काल्येय० १४, १५ ; पार्वती० २८, १५ ; उत्तर० ७५२ [पाठ में **पोमं** है], **पोंम्मा= पद्मा** (हाल) है ; महा० और शौर० **पोंम्मराअ = पद्मराग** (मार्कण्डेय पन्ना ३१ ; हाल ; कर्पूर० ४७, २ ; १०३, ४ (शौर०), १६८, ४ (शौर०) है ; महा० **पोंम्मासण = पद्मासन** (काल्येय० ३, ११) है ; इनसे निकले और इन रूपों के साथ साथ महा०, अ० मा०, जै० महा० और शौर० में **पउम** और **पउमराअ** मिलते हैं (§ १३९) ; **वोहारी** और इसके साथ साथ **वउहारी** (झाड़ : देशी० ६, ९७ ; ८, १७) ; अप० **भों हा** जो *भॅउहा से निकला है = **भमुहा** (पिंगल २, ९८ ; § १२४ और २५१) ; **मोड** के साथ **मउडी** (सँवारे हुए बालों की लट : देशी० ६, ११७ ; पाइय० ५७) ; महा०, अ० माग०, जै० महा०, शौर० और अप० में **मोर** रूप मिलता है (वररुचि १, ८ ; क्रम० १, ७ ; मार्कण्डेय पन्ना ६ ; पाइय० ४२ ; हाल ; अणुओग० ५०२ ; ५०७ ; नदी० ७० ; पण्णव० ५२६ ; राय० ५२ ; कप्प० ; कक्कुक शिलालेख ; शकु० १५५, १० ; १५८, १३ ; उत्तर० १६३, १० ; जीवा० १६, १२ ; विक्रमो० ७२, ८ ; पिंगल २, ९०), अप० में **मोरअ** रूप भी मिलता है (पिंगल १,२२८) । स्त्रीलिंग में महा० और शौर० में **मोरी** रूप मिलता है (शकु० ८५, २ ; शौर० में : शकु० ५८, ८; विद्ध० २०, १५), माग० में **मोली** रूप पाया जाता है (मृच्छ० १०,४ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), अ० माग० **मोरग = मयूरक** (आयार० २, २, ३, १८), इससे निकला तथा इसके साथ साथ अ० माग०, जै० महा० और शौर० में **मऊर** रूप भी प्रचलित है (सब व्याकरणकार ; गउड० ; पण्णव० ५४ ; दस० नि० ६६२,३६ ; एत्सें० ; विक्रमो० ३२, ७ , मल्लिका० २२०, २०), अ० माग० में **मयूर** भी (विवाग० १८७, २०२), **मयूरत्त = मयूरत्व** मिलता है (विवाग० २४७), माग० में **मऊलक** देखा जाता है (शकु० १५९, ३), स्त्रीलिंग में अ० माग० में **मयूरी** (नायाध० ४७५ ; ४९० ; ४९१) रूप आया है । **मोर** रूप प्राकृत से फिर संस्कृत में ले लिया गया है, इस कारण हेमचन्द्र १, १७१ में संस्कृत माना गया है । महा० **मोह = मयूख** (सब व्याकरणकार ; रावण० १, १८), महा० और शौर० में साथ-साथ **मऊह** रूप भी चलता है (सब व्याकरणकार ; पाइय० ४७ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; प्रबध० ४६, १) ; महा० **विओल** जो *वियाउल से निकला है = **व्याकुल** (देशी० ७, ६३ ; रावण० ;

नायाध० ; एत्सें० ; कक्कुक शिलालेख ; अनर्घ० ६३, ४ [यहाँ **टेर** रूप है]) ; महा० और शौर० में **थविर** रूप भी है (प्रबध० ३८, १० [बबई, पूना और मद्रास के संस्करणों में **टविर** छपा है] ; नागा० ३, २ [इसमें **टविर** और **टेर** रूप हैं]) ; महा० **थेरी** है (पाइय० १०७ ; हाल ६५४ [पाठ में **ठेरी** है, बम्बई के संस्करण ७, ५२ में **टेर** है]) ; अ० माग० रूप **थेरग्र** मिलता है (सूय० १७६), **थेरग** (सूय० ३३४), **थेरिया** (कप्प०), **थेरासण** (=कमल : देशी० ५, २९); **थेरोसण** (=कमल : त्रिवि० १, ४, १२१) = * **स्थविरासन**[२] है। **मेडंभ** निकला *मइडंभ से = *मृगीदंभ (=मृगतंतु : देशी० ६,१२९) है; **मेहर**[३] और इसके साथ **मइहर**=*मतिधर (गाँव का मुखिया, ग्रामप्रवर : देशी० ६, १२१) ; अ० माग० **वेर** (कप्प० § ४५) निकला है **वइर** से (§ १३५) = **वज्र** ; अप० **एह**, **जेह**, **तेह** और **केह** (हेमचन्द्र ४, ४०२) और इनके साथ साथ **अइस**, **जइस**, **तइस** और **कइस** (हेमचन्द्र ४, ४०३) = **ईदृश**, **यादृश**, **तादृश** और **कीदृश** (§ १२१) हैं; अप० **जे** जो प्रचलित रूप **जइ** के लिए आता है = **यदि** (पिंगल १, ४ अ ; ९७ [गौल्दश्मित्त के संस्करण में **जं** पाठ है]) है; अप० **दे** और इसके साथ **दइ** रूप = शौर० **दइअ**, **दय** के रूप हैं (§ ५९४) । अ० माग० और अप० पद्यों में क्रिया के अंत में **अइ** = **अति** है और यह तृतीयपुरुष एकवचन में संधि होकर **ए** रूप धारण कर लेता है। इस भाँति अ० माग० **अट्टे**=**अट्टइ** (सूय० ४१२ (इस सम्बन्ध में **परिअट्टइ** हेमचन्द्र ४, २३० की भी तुलना कीजिए) = ***अर्त्यति** जो **अट्** धातु का रूप है (इसका **अट्ट** = **आर्त** से कोई सम्बन्ध नहीं है); **कप्पे** = ***कल्पति** है, (आयार० १,८,४,२), **भुंजे** निकला है **भुंजइ** से (§ ५०७)= **भुनक्ति** (आयार० १, ८, ४,६ और ७)है, **अभिभासे**=**अभिभाषते**, **पडियाइक्खे** = **प्रत्याख्याति** हैं (§ ४९१), **सेवे***=**सेवति**, **पडिसेवे**=***प्रतिसेवति** (आयार० १, ८, १, ७; १४; २७, ४, ५) हैं; अप० **णच्चे*** = **नृत्यति**, **सद्दे** = ***शब्दति**= **शब्दयति**, **गज्जे***=**गर्जयति**, **वोॅल्ले**=**वोल्लइ** (हेमचन्द्र ४,२) है, **उग्गे*** निकला है ***उग्गइ** से=***उद्गाति** (उगना, ऊपर को उठना : पिंगल २, ८२ ; ९० ; २२८; २६८), **होसे** (प्रबन्धचन्द्रोदय ५६,६) निकला है **होसइ** से (हेमचन्द्र ४, ३८८ ; ४१८, ४) = ***भोष्यति** = **भविष्यति** (§ ५२१) । इसी ढंग से अ० माग० **बेमि** निकला है ***बवेमि** से = **ब्रवीमि** (§ ४९४) है। अप० **चो** = **चउ** = **चतुर्** (पिंगल १, ६५ ; इस स्थान पर गौल्दश्मित्त, कलकत्ता संस्करण के **चो** लघु करथ वि की जगह **अट्ठ** वि लहुआ पढता है), **चोवीसा**, **चोविस** और इनके साथ का रूप **चउवीसइ** = **चतुर्विंशति**, **चोआलीसइ** और इसके साथ **चउआलीसा** भी मिलता है, अ० माग० रूप **चोयालीसम्** और इसके साथ-साथ ही चलनेवाला **चउयालीसम्** = **चतुश्चत्वारिंशत्** , **चोॅत्तीसम्** = **चतुस्त्रिंशत्** आदि आदि (§ ४४५) हैं ; महा० **चोॅत्थ** और इसके साथ-

* यह रूप हिन्दी में सेवे, नाचे, गाजे, उगे आदि में रह गया है। गुजराती और मारवाड़ी में ये रूप वर्तमान हैं। —अनु०

२८९, ३ ; अद्भुत० २, १५)। **गाइ = गायति, झाइ = ध्यायति, जाइ = जायते, पलाइ = पलायते** रूपों के संबंध मे § ४७९; ४८७ और ५६७ देखिए। —महा० और अप० मे इ, ई की संधि उद्वृत्त इ और ई से कर दी जाती है : **वीअ** (हेच० १, ५ और २४८; २, ७९ ; गउड० [इसमें **वीय** पाठ मिलता है] ; हाल [इसमे वीअ आया है] ; रावण० [इसमे **विइअ** है] ; पिंगल १, २३ ; ४९ ; ५६ ; ७९ ; ८३), अप० मे **विअ** भी मिलता है (पिंगल १, ५०), अ० माग० और जै० महा० रूप **वीय** है (विवाह० ५५ ; उवास० ; कप्प० ; कक्कुक शिलालेख २१ ; एर्त्से०), इनके साथ साथ महा० मे **विइअ**, अ० माग० और जै० महा० मे **विइय** (§ ८२) = **द्वितीय** है ; अप० में **तीअ** रूप है जो ***तिइअ** = **तृतीय** से निकला है (पिंगल १, ४९ ; ५९ ; ७०) ; अ० माग० **पडीण, उडीण** = **प्रतीचीन, उदीचीन** (आयार० १, ४, ४, ४ ; १, ६, ४, २ ; ओव० § ४), **पडीण** (विवाह० १६७५ और उसके बाद) का छंदों की मात्रा ठीक रखने के लिए ह्रस्व रूप **पडिण** भी हो जाता है (दस० ६२५, ३७ ; § ९९ से भी तुलना कीजिए) ; अ० माग० **सीया** = **शिबिका** (आयार० पेज १२७, १५ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए] है ; ओव० ; एर्त्से०) ; भविष्यकाल मे, जैसे जै० महा० **होहि** और इसके साथ साथ महा० और जै० महा० **होहिइ** = ***भोष्यति** = **भविष्यति** (§ ५२१)। जै० महा० **विणासिही** (§ ५२७), **जणेहि, निवारेहि** (§ ५२८), **छी**, अप० **एसी** (§ ५२९), जै० महा० **दाही** (§ ५३०), **सक्केही** (§ ५३१), अ० माग० और जै० महा० **काही** (§ ५३३) और अ० माग० **नाही** (§ ५३४) देखिए। महा० **चीअ** (हाल १०४) = ***चिइअ** जो ***चितिय** से निकला है और = **चित्य**, अ० माग० **चीवंदन** का **ची** (जो हेमचन्द्र १, १५१ के अनुसार **चैत्यवंदन** का प्राकृत रूप है),यह=***चिइ**=**चिति** है। अ० माग० **उंवर** मे, जो **उउंवर** से निकला है और ***ऊंवर** = **उदुंवर** का रूप है, उ, ऊ उद्वृत्त उ और ऊ से सन्धि द्वारा मिल गये हैं (वर० ४, २ ; हेमचन्द्र १, २७० ; क्रम० २, १५२ ; अणुत्तर० ११ ; नायाध० § १३७ ; पेज २८९, ४३९ ; ठाणग० ५५५ ; जीवा० ४६ ; ४९४; निरया० ५५ ; पण्णव० ३१ ; विवाह० ८०७ ; १५३०)।

§ १५८—कभी कभी अ और आ किसी उद्वृत्त इ और ई तथा उ और ऊ से संधि कर लेते हैं : **केली** निकला ***कइली** से = ***कदिली** = **कदली**, इसमें इ § १०१ के अनुसार आयी तथा इसके अनुसार **केल** निकला ***कइल** से = ***कदिल** = **कदल** (हेमचन्द्र १, १६७ और २२०)[१] ; महा०, अ० माग०, जै० महा० और शौर० मे **थेर** निकला **थइर** से = **स्थविर** (हेमचन्द्र १, १६६ ; २, ८९ ; पाइय० २ ; देशी० ५, २९ ; हाल १९७ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए ; पाठ मे ठेर रूप मिलता है] ; सरस्वती० ८, १३ [यहाँ भी पाठ मे ठेर रूप है] ; अच्चुत० ३२ [यहाँ भी ठेर है] ; ठाणग० १४१ ; १५७ ; २८६ ; विवाह० १३१; १३२; १६९ ; १७२ ; १७३ ; १८५ ; ७९२ ; उत्तर० ७८६ ; ओव० ; कप्प० ;

नायाध० ; एर्त्स० ; कक्कुक शिलालेख ; अनर्घ० ६३, ४ [यहाँ ठेर रूप है]); महा० और शौर० में थविर रूप भी है (प्रबंध० ३८, १० [बम्बई, पूना और मद्रास के संस्करणों में ठविर छपा है] ; नागा० ३, २ [इसमें ठविर और ठेर रूप हैं]) ; महा० थेरी है (पाइय० १०७ ; हाल ६५४ [पाठ में ठेरी है, बम्बई के संस्करण ७, ५२ में ठेर है]) ; अ० माग० रूप थेरय मिलता है (सूय० १७६), थेरग (सूय० ३३४), थेरिया (कप्प०), थेरासण (=कमल : देशी० ५, २९); थेरोसण (=कमल : त्रिवि० १, ४, १२१)=*स्थविरासन[1] है। मेडंभ निकला *मइडंभ से=*मृगीदंभ (=मृगतंतु : देशी० ६,१२९) है; मेहर[2] और इसके साथ मइहर=*मतिधर (गाँव का मुखिया, ग्रामप्रवर : देशी० ६, १२१) ; अ० माग० वेर (कप्प० § ४५) निकला है वइर से (§ १३५)=वज्र ; अप० एह, जेह, तेह और केह (हेमचन्द्र ४, ४०२) और इनके साथ साथ अइस, जइस, तइस और कइस (हेमचन्द्र ४, ४०३)=ईदृश, यादृश, तादृश और कीदृश (§ १२१) हैं; अप० जे जो प्रचलित रूप जइ के लिए आता है = यदि (पिंगल १, ४ अ ; ९७ [गौल्दश्मित्त के संस्करण में जं पाठ है]) है; अप० दे और इसके साथ दइ रूप = शौर० दइअ, दय के रूप हैं (§ ५९४)। अ० माग० और अप० पद्यों में क्रिया के अंत में अइ = अति है और यह तृतीयपुरुष एकवचन में संधि होकर ए रूप धारण कर लेता है। इस भाँति अ० माग० अट्टे=अट्टइ (सूय० ४१२ (इस सम्बन्ध में परिअट्टइ हेमचन्द्र ४, २३० की भी तुलना कीजिए)= *अर्त्यति जो अट्ट् धातु का रूप है (इसका अट्ट=आर्त से कोई सम्बन्ध नहीं है); कप्पे=*कल्पति है, (आयार० १,८,४,२), भुंजे निकला है भुंजइ से (§ ५०७)= भुनक्ति (आयार० १, ८, ४,६ और ७) है, अभिभासे=अभिभाषते, पडियाइक्खे = प्रत्याख्याति है (§ ४९१), सेवे*=सेवति, पडिसेवे=*प्रतिसेवति (आयार० १, ८, १, ७; १४; १७, ४, ५) है; अप० णच्चे* = नृत्यति, सद्दे =*शब्दति= शब्दयति, गज्जे*=गर्जयति, बोल्ले=बोल्लइ (हेमचन्द्र ४,२) हैं, उग्गे* निकला है *उग्गइ से=*उद्गाति (उगना, ऊपर को उठना : पिंगल २, ८२ ; ९० ; २२८; २६८), होसे (प्रबन्धचन्द्रोदय ५६,६) निकला है होसइ से (हेमचन्द्र ४, ३८८ ; ४१८, ४)=*भोष्यति=भविष्यति (§ ५२१)। इसी ढंग से अ० माग० बेमि निकला है *ब्रइमि से=ब्रवीमि (§ ४९४) है। अप० चो=चउ= चतुर् (पिंगल १, ६५ ; इस स्थान पर गौल्दश्मित्त, बरह्या संस्करण के चो लघु कत्थ वि की जगह अट्ठ वि लहुआ पढता है), चोवीसा, चोविस और इनके साथ का रूप चउवीसइ=चतुर्विंशति, चोआलीसइ और इसके साथ चउआलीसा भी मिलता है, अ० माग० रूप चोयालीसम् और इसके साथ-साथ ही चलनेवाला चउयालीसम्=चतुश्चत्वारिंशत्, चोत्तीसम्= चतुस्त्रिंशत् आदि आदि (§ ४४५) हैं ; महा० चोत्थ और इसके साथ-

* यह रूप हिन्दी में सेवे, नाचे, गाजे, उगे आदि में रह गया है। गुजराती और मारवाड़ी में ये रूप वर्तमान हैं। —अनु०

साथ चलनेवाला **चउत्थ = चतुर्थ** (§ ४४९) है ; **चोँद्दह** और इसके साथ अप० रूप **चउद्दह**, अ० माग० **चोँद्दस** और इसके साथ चलनेवाला दूसरा रूप **चउद्दस=चतुर्दश** (§ ४४३), अ० माग० **चोँद्दसम=चतुर्दशम्** (§ ४४९); **चोँग्गुण** और इसके साथ ही चलनेवाला दूसरा रूप **चउग्गुण = चतुर्गुण**, **चोँव्वार** और इसके साथ काम में आनेवाला दूसरा रूप **चउव्वार = चतुर्वार** (हेमचन्द्र १, १७१) हैं, **तोवट्ट** और इससे साथ चलनेवाला **तउवट्ट = त्रपुपट्ट** (कान का एक गहना : देशी० ५, २३ ; ६, ८९) हैं ; महा० और अ० माग० **पोँम्म = पद्म** (हेमचन्द्र १, ६१ ; २, ११२ है ; मार्कण्डेय पन्ना ३१ ; कालेय० १८, १५ ; पार्वती० २८, १५ ; उत्तर० ७५२ [पाठ में **पोमं** है], **पोँम्मा= पद्मा** (हाल) है ; महा० और शौर० **पोँम्मराअ = पद्मराग** (मार्कण्डेय पन्ना ३१ ; हाल ; कर्पूर० ४७, २ ; १०३, ४ (शौर०) ; १६८, ४ (शौर०) है ; महा० **पोँम्मासण = पद्मासन** (कालेय० ३, ११) है ; इनसे निकले और इन रूपों के साथ साथ महा०, अ० मा०, जै० महा० और शौर० में **पउम** और **पउमराअ** मिलते हैं (§ १३९) ; **वोद्दारी** और इसके साथ साथ **वउहारी** (झाड़ : देशी० ६, ९७ ; ८, १७) ; अप० **भोँहा** जो ***भँउहा** से निकला है **= भमुहा** (पिंगल २, ९८ ; § १२४ और २५१) ; **मोड** के साथ **मउडी** (सँवारे हुए बालों की लट : देशी० ६, ११७ ; पाइय० ५७), महा०, अ० माग०, जै० महा०, शौर० और अप० में **मोर** रूप मिलता है (वररुचि १, ८ ; क्रम० १, ७ ; मार्कण्डेय पन्ना ६ ; पाइय० ४२ ; हाल ; अणुओग० ५०२ ; ५०७ ; नदी० ७० ; पण्णव० ५२६ ; राय० ५२ ; कप्प० ; कक्कुक शिलालेख ; शकु० १५५, १० ; १५८, १३ ; उत्तर० १६३, १० ; जीवा० १६, १२ ; विक्रमो० ७२, ८ ; पिंगल २, ९०), अप० में **मोरअ** रूप भी मिलता है (पिंगल २,२२८) । स्त्रीलिंग में महा० और शौर० में **मोरी** रूप मिलता है (शकु० ८५, २ , शौर० में : शकु० ५८, ८; विद्ध० २०, १५), माग० में **मोली** रूप पाया जाता है (मृच्छ० १०,४ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), अ० माग० **मोरग = मयूरक** (आयार० २, २, ३, १८), इससे निकला तथा इसके साथ साथ अ० माग०, जै० महा० और शौर० में **मऊर** रूप भी प्रचलित है (सब व्याकरणकार ; गउड० ; पण्णव० ५४ ; दस० नि० ६६२,३६ ; एर्त्से० , विक्रमो० ३२, ७ ; मल्लिका० २२०, २०), अ० माग० में **मयूर** भी (विवाग० १८७, २०२), **मयूरत्त = मयूरत्व** मिलता है (विवाग० २४७), माग० में **मऊलक** देखा जाता है (शकु० १५९, ३), स्त्रीलिंग में अ० माग० में **मयूरी** (नायाध० ४७७ ; ४९० ; ४९१) रूप आया है। **मोर** रूप प्राकृत से फिर संस्कृत में ले लिया गया है, इस कारण हेमचन्द्र १, १७१ में संस्कृत माना गया है। महा० **मोह = मयूख** (सब व्याकरणकार ; रावण० १, १८), महा० और शौर० में साथ साथ **मऊह** रूप भी चलता है (सब व्याकरणकार ; पाइय० ४७ ; गउड० , हाल ; रावण० ; प्रबंध० ४६, १) ; महा० **विओल** जो ***विआउल** से निकला है **= व्याकुल** (देशी० ७, ६३ ; रावण० ;

§ १६२ से भी तुलना कीजिए)*; अप० संहारो० संहरउ से निकला है = संहरतु (पिंगल २, ४३)। § १२३ में कोहल, सोमार और सोमाल से भी तुलना कीजिए, § १५५ में ओ की तुलना भी कीजिए। महा० और अ० माग० बोर = बदर (वररुचि १, ६ ; हेमचन्द्र १, १७० ; क्रम० १, ८ ; मार्कण्डेय पन्ना ५ ; गउड० ; हाल ; पण्णव० ५३१ ; विवाह० ६०९ ; १२५६ ; १५३०), अ० माग० बोरी = बदरी (हेमचन्द्र १, १७० ; मार्कण्डेय पन्ना ५ ; पाइय० २५४ , अणुत्तर० ९) बताते हैं कि कभी कहीं यह शब्द प्रचलित होने से पहले बदुर और बदुरी रूप में बोले जाते होंगे[१]। अ० माग० बूर (=पूर रूप भी देखिए : जीवा० ४८९ ; ५०९ ; ५५९ ; राय० ५७ ; उत्तर० ९८६ ; विवाह १८२ ; ओव० ; कप्प० ; नायाध०), बदुर का रूपान्तर नहीं है किन्तु पूर का रूप है (=नींबू का पेड़), इसका शुद्ध पाठ पूर ही पढ़ा जाना चाहिए। टीकाकार इसे सर्वत्र वनस्पतिविशेष[१] बताते हैं। हेमचन्द्र १, १७० में पोरं = पूतर अस्पष्ट है।

१. कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३४, ५७२ में पिशल का लेख ; त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ४७, ५७५ में याकोबी का लेख भ्रमपूर्ण है, कून्स त्साइटश्रिफ्ट ३५, ५७३ में भी याकोबी का लेख शुद्ध नहीं है। — २. बे० बाइत्रैगे १३, ३ में पिशल का लेख। — ३. पिशल द्वारा सपादित देशीनाममाला की भूमिका का पेज ७। — ४. गे० गो० आ० १८८०, पेज ३२५ में पिशल का निबन्ध। — ५. कू० त्सा० ३४, ५७२ में पिशल का लेख, त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ४७, ५७५ और कू० त्सा० ३५, ५७३ में याकोबीका मत अशुद्ध है। मार्कण्डेय पन्ना ६६ के अनुसार शौर० में केवल बअर रूप है। — ६. पिशल ने १६६ § में नोट देने के लिए वनस्पतिविशेष के ऊपर संख्या ६ डाली है, पर नीचे नोट में वह कुछ उल्लेख करना भूल गया है।

§ १६७—सधि में और स्वरों के साथ-साथ उद्वृत्त स्वर भी प्रथम पद के अंतिम स्वर के साथ मिल जाता है। महा० और अप० में अधार = अंधकार (मार्क० पन्ना ३१ ; हाल ; पिंगल १, ११७ अ , २, ९०), अप० में अधारअ रूप भी मिलता है (हेमचन्द्र ४, ३४९), महा० अंधारिअ = अंधकारित (हाल), जै० महा० में अंधारिय। (एर्से०, कक्कुक शिलालेख) और इसके साथ साथ महा० और शौर० में अंधआर रूप भी चलता है (गउड०, हाल, रावण० ; मृच्छ० ४४, १९ , ८०, ९ , ८८, १७ , १३८, ३ , मुद्रा० १४१, ७ , प्रिय० ५२, १२ ; कर्पूर० ८५, ६ , मल्लिका० २०१, १७ ; प्रबोध० १४, १७ ; चैत० ४०, १५), माग० में अंधआल रूप देखा जाता है (मृच्छ० १४, १० और २२, १६,२२)। अ० माग० और जै० महा० में अंधयार चलता है (ओव०;

* यहाँ इ पर स्वनिबल पड़ने से थ का आ रूप हो गया है। हिन्दी में सभी अपभ्रंश की आज्ञावाचक क्रियाओं का अउ, ओ हो गया है, करो, मारो आदि। यह शब्दप्रक्रिया अपभ्रंश काल से ही आरम्भ हो गयी थी। —अनु०

† यह पोर सम्भवतः पुत्र के लिए है जो आज भी मराठी में चलता है। —अनु०

कप्प० ; नायाध० ; ओव०), जै० महा० में अंधयारिय रूप भी आया है (एर्त्से०)। महा०, जै० महा० और अप० में आअअ से निकला और उसके साथ साथ चलनेवाला आअ = आगत (हेमचन्द्र १, २६८ ; हाल ; आव० एर्त्से० ८, ४७ ; पिंगल २, २५५ और २६४)। कंसाल = कांस्यताल (हेमचन्द्र २, ९२), इसका शौर० रूप कंसतालअ है (मृच्छ० ६९, २४)। अ० माग० कम्मारः = कर्मकार (जीवा० २९५) ; इसी प्रकार संधि उन सभी पदों की होती है जिनमें कार का उद्वृत्त रूप आर जोड़ा जाता है, जैसे अ० माग० में कुंभार = कुंभकार (हेमचन्द्र १, ८ ; मार्क० पन्ना ३२ ; उवास०), इसके साथ-साथ कुंभआर रूप भी चलता है (सब व्याकरणकार), अ० माग० में कुंभकार भी मिलता है (उवास०), जै० महा० में कुंभगार रूप भी आया है (एर्त्से०)। दाक्षि० में चम्मारअ = चर्मकारक (मृच्छ० १०४, १९)। महा० में मालाकारी मालारी (हाल ; देशी० १, १४६, ११४) ; अ० माग० लोहार = लोहकार (जीवा० २९३), दोधार = द्विधाकार (ठाणंग० ४०१)। महा० में वलयकारक = वलआरअ (हाल), सोणार = स्वर्णकार (§ ६६)। अप० पिआरी = प्रियकारी (पिंगल २, ३७)। जै० महा० में खंधार = स्कंधावार (मार्क० पन्ना ३२ ; एर्त्से०) इसके साथ साथ खंधवार शब्द भी मिलता है (एर्त्से०)। महा० में चक्काअ = चक्रवाक (हेमचन्द्र १, ८ ; क्रम० २, १५१ ; मार्क० पन्ना ३२ ; शकु० ८८, २ पेज १९२ की टीका में चन्द्रशेखर ; गउड० ; रावण०, शकु० ८८, २), अ० माग० में इसका रूप चक्काग मिलता है (पण्णव० ५४)। अ० माग०† णिण्णार=निर्नगर (विवाह० १२७७)। अ० माग० निंबोलिया† = निंबगुलिका (नायाध० ११५२ ; ११७३) ; तलार=तलवार (देशी० ५, ३ ; त्रिवि० १, ३ और १०५, पिशल बे० बा० ३, २६१)। पार और इसके साथ चलनेवाला दूसरा रूप पाआर = प्राकार (हेमचन्द्र १, २६८)। महा० में पारअ (हेमचन्द्र १, २७१ ; हाल ; इंडिशे स्टुडिएन १६, १७ जो १८४ की टीका है) और इसके साथ साथ चलनेवाला रूप पावारअ=प्रावारक, पागअ और इसका दूसरा पर्याय पारावअ=पारावत (भामह ४, ५ ; § ११२ से भी तुलना कीजिए)। महा० में पावालिआ = प्रपापालिका (हाल)। जै० महा० में वरिसाल = वर्षाकाल (एर्त्से०), वारण और इसके साथ चलनेवाला वाअरण=व्याकरण (हेमचन्द्र १, २६८), महा० में सालाहण = सातवाहन (हेमचन्द्र १, ८ ; २११ ; हाल)। महा० में साहार = सहकार (कर्पूर० ९५, १)। अ० माग० में सूमाल और साथ ही सुकुमाल = सुकुमार (§ १२३) ; सूरिस और इसका पर्याय सुउरिस = सुपुरुष (हेमचन्द्र १, ८)। महा० रूप जाला, ताला (हेमचन्द्र ३, ६५ , मार्क० पन्ना ४६ ; ध्वन्यालोक ६२, ४) भी संधियुक्त रूप माने जाते हैं ; अशुद्धि से शौर० में भी ये रूप आये हैं (मल्लिका० ८७, ११ , १२४,

* यह शब्द कामार रूप में बंगला में वर्तमान है। —अनु०

† यह शब्द औपपातिक सूत्र में भी आया है। —अनु०

१४) और माग० में भी मिलते हैं (मल्लिका० १४४, ३) = *यानुकालात् और *तात्कालात्। काला (हेमचन्द्र ३, ६५, मार्क० पन्ना ४६) = *कात् कालात् (पिशल वे० बाइ० १६, १७२ में) । § २५४ से भी तुलना कीजिए।

§ १६०—सधियुक्त शब्द के पहले पद के अंतमें जो अ आता है वह कुछ अवसरों पर, उसके बादके पदमें जो असमान उद्वृत्त स्वर आता हो, उसमें लुप्त हो जाता है। *इंदओव से निकला इंदोव = इन्द्रगोप (पाइय० १५० ; देशी० १, ८१), अ० माग० में इसका रूप इंदगोव मिलता है (अणुओग० ३४४), एक रूप इंदगोवग भी है (उत्तर० १०६२), इंदगोवय भी पाया जाता है (पण्णव० ४५) ; इंदोवत्त = *इंद्रगोपाल (= घोंघा : देशी० १,८१ [इंदोवत्तो अ इंदोवे कीडेसु अर्थात् कीड़े का नाम इंदोवत्त है। टीका में है : इंदोवत्तो इंद्रगोपकः ।—अनु०]); *घरओली से घरोली० रूप बना = *घरगोली = गृहगोली (घरकी दीवारों में चिपका रहनेवाला एक प्रकार का कनखजूरा : देशी० २, १०५) ; अ० माग० में घरोलिया रूप है = गृहगोलिका (पण्हा० २२ ; पण्णव० ५३ [पाठ में घरोइल मिलता है]) ; *घरओल से निकला एक घरोल रूप भी है, *घरगोल = गृहगोल(क) (एक घरेलू पकवान : देशी० २, १०६) । महा०, अ० माग०, जै० महा०, शौर०, माग० और ढक्की में देउल = देवकुल (हेच० १, २७१ ; मार्क० पन्ना ३३ ; हाल ; अणुओग० ३८७ ; नायाध० ५३५ ; तीर्थ० ४, ९ ; ७, १८ ; एर्त्से० ; मृच्छ० १५१, १४; कर्ण० २५, १; मृच्छ० २९, २४ ; ३०, ११ ; १२), इसके साथ-साथ और इससे ही निकला एक रूप देवउल भी है (हेच०; मार्क० ; एर्त्से० ; विद्ध० ५९, ७ ; चैतन्य० १३४, १० और १४), अ० माग० में देवकुल का भी प्रयोग हुआ है (आयार० २, २, २, ८ ; २, १०, १४ ; २, ११, ८ ; पण्हा० ५२१ ; नायाध० ५८१; कप्प०), जै० महा० देउलिया = देवकुलिका पाया जाता है (आव० एर्त्से० ३१, १०) । जै० महा० और दाक्षि० में राउल = राजकुल (भाम० ४, १ ; हेच० १, २६७ ; मार्क० पन्ना ३२ , एर्त्से० , मृच्छ० १०५, ४), माग० में लाउल रूप है (ललित० ५६५, ७ ; ९ ; १५ , ५६६, १३ , २० ; मृच्छ० ३६, २२ ; १३५, २), यह रूप शौर० में अशुद्ध है (प्रबोध० ४७, ५ और ९ , ४९, १३ और १५ ; मद्रासी सस्करण में सर्वत्र लाअउल है, पूना सस्करण ४७, ९), इन स्थानों में राअउल पढा जाना चाहिए (सब व्याकरणकार) जैसा शकुन्तला ११५, ३ और ६ ; ११९, १ ; रत्नावली ३०९, ९ , नागानद ५७, ३ , प्रियदर्शिका ९, १३ में हैं। प्रबोधचद्रोदय ३२, ९ में माग० का रूप लाजउल दिया गया है (मद्रास सस्करण में राजउल है), ये रूप लाअउल पढ़े जाने चाहिए; जै० महा० में रायउल रूप मिलता है (एर्त्से०)[1] ; *लाअउत्त से निकला माग० रूप लाउत्त = राजपुत्र (शकु० ११४, १ ; ११५, ७ और ९ , ११६, ९ ; ११७, ५) । वाउत्त और इसके साथ साथ दूसरा रूप वाअउत्त = वातपुत्र (देशी० ७, ८८) ।

* घरोली का रूप कुमाउनी में घिरौली है। यह कनखजूरा नहीं है बल्कि एक प्रकारकी बड़ी चमकदार रंग की छोटी छिपकली सा जतु है। —अनु०

१. शकुंतला ११४, १ (पेज १९७) पर चंद्रशेखर की टीका की तुलना कीजिए, उसमें आया है राउल शब्द (यहाँ यही पढ़ा जाना चाहिए) ईश्वरे देशी। इस अर्थ में यह शब्द प्रबोधचंद्रोदय और संस्कृत शिलालेखों में पाया जाता है (एपिग्राफिका इंडिका ४, ३१२ में कीलहॉर्न के लेख की नोट संख्या ७)। त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ४७, ५७६ में याकोबीने इस विषय में सोलह आने अशुद्ध लिखा है।

§ १६१—एक वाक्य में स्वर चाहे मौलिक रूप से एक के बाद दूसरा आ जाये या व्यंजन के लुप्त होने पर एक के पास दूसरा स्वर खिसक आये, नियम यह है कि ऐसी अवस्था में शब्द का अंतिम स्वर बिना किसी प्रकार के परिवर्तन के ज्यों का त्यों बना रहता है। पल्लवदानपत्र में कांचीपुराद् अग्निष्टोम का रूप कांचीपुरा अग्गिठोम है (५, १), शिवस्कंदवर्मास्माकम् विषये का शिवखंधवमो अम्हं विसये (५, २), गोवल्लवान् अमात्यान् आरक्षाधिकृतान् का गोवल्लवे अमच्चे आरक्खधिकते (५, ५) हो गया है। इतिअपि चापि ऊँयम् का त्ति अपि च आविट्टीअं रूप मिलता है (६, ३७)। इति एव का त्ति एव (६, ३९); तस्य खल्वस्ये का तस खु अम्हे (७, ४१); स्वककाल उपरिलिखितम् का सककाले उपरिलिखितं हो गया है (७, ४४)। महा० में न च म इच्छया का रूप ण अ ये इच्छाइ पाया जाता है (हाल ५५५); त्वम् अस्य अविनिद्रा का तं सि अविणिद्दा आया है (हाल ६६), दृष्ट्वोन्नमतः का दट्ठूण उण्णमंते हो गया है (हाल ५३९), जीवित आशंसा का जीविद आसंघो रूप है (रावण० १,१५); प्रवर्ततताम् उदधिः का पअट्टउ उअही मिलता है (रावण० ३, ५८); अमुञ्चत्य अंगानि, आमुअइ अंगाइं में परिणत हो गया है (रावण० ५,८); यात पलासुरभौ, जाओ पलासुरहिम्मि बन गया है (गउड० ४१७); स एष केशव उपसमुद्रम् उद्दाम का सो एस केसव उवसमुद्दम् उद्दाम रूप देखा जाता है (गउड० १०४५)। अ० माग० में अस्ति म आत्मौपपातिकः का अत्थि मे आया ओववाइए बन गया है (आयार० १,१,१,३), चत्वार एते का चत्तारि एए मिलता है (दस० ६३२, ७), ता आर्या एयमानाः पश्यति का ताओ अज्जाओ एज्जमाणीओ पासइ रूप पाया जाता है (निरया० ५९), एक आह का एगे आह रूप है (सूय० ७४), क्षीण आयुषि का खीणे आउम्मि रूप आया है (सूय० २१२), य इमा दिशा अनुदिशोऽनुसंचरति, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ अणुसंचरइ बन गया है (आयार० १, १, १, ४)। यही नियम अन्य प्राकृत भाषाओं में भी लागू है।

§ १६२—संधिवाले शब्द में न (= नहीं) दूसरे पद के आरम्भिक स्वरके साथ और विशेषतः जब यह पद क्रिया हो तब बहुधा संधि कर लेता है। महा०, अ० माग०, जै० महा०, जै० शौर० और शौर० में नास्ति = णत्थि* (गउड०; हाल ; रावण० ; आयार० १, १, १, ३ ; आव० एर्से० ९, ९ ; पव० ३८०, १० ;

* इसके गुजराती में नथी और कुमाउनी में न्हाति रूप शेष रह गये हैं। —अनु०

मृच्छ० २, २४)। माग० में नास्ति का णस्ति रूप है (उदाहरणार्थ, मृच्छ० १९, ११ [पाठ में णत्थि छपा है])। महा० में णायी रूप मिलता है जो=न+अमी है (गउड० २४६), णल्लिअइ भी पाया जाता है जो=न + अल्लिअइ (रावण० १४, ५)। महा०, जै० शौर० और शौर० में णाहं रूप आता है जो =न+अहम् है (हाल १७८ ; पव० ३८४, ३६ ; विक्रमो० १०,१३)। महा० में णाउलभाव = न+आउलभाव (गउड० ८१३), णागअ=न+आगत (हाल ८५६), णालवइ=न + आलपति (हाल ६४७)। अ० माग० और जै० शौर० में नेव और णेव रूप मिलते हैं, ये न + एव से निकले हैं (आयार० १, ४, २, २), नाभिजाणइ=नाभिजानाति (आयार० १, ५, १, ३), नारभे=न+आरभेत (आयार० १, ५, ३४), नाभिभासिंसु=न + अभिभासिंसु, नाइवत्तई= न+अतिवर्तते (आयार० १, ८, १, ६)। शौर० में णागदा = न + आगता (मालती० ७२, ६)। माग० में णाअश्चदि=न+आगच्छति (मृच्छ० ११६, ५ ; १९ ; ११७, ११)। अ० माग० और जै० महा० में नाइदूर (·उवास० § २०८ ; ओव० § ३३ ; नायाध० § ७ ; एर्त्से० २२, २३) और शौर० में इसका रूप णादिदूर हो जाता है (मालती० ३०, ८), माग० में इसका रूप णादिदूल मिलता है (चंड० ६६, १३) ; ये सब रूप=न+अतिदूर ; शौर० णारिहदि=न+ अर्हति (शकु० २४, १२)। महा० णेच्छइ = न+इच्छति (हाल २०५), शौर० में णेच्छदि रूप होता है (शकु० ७३, ४), माग० में णेश्चदि (मृच्छ० ११, १)। शौर० णालंकिदा=न + अलंकृता (मृच्छ० १८, १०), णोदरदि= न+अवतरति (मृच्छ० १०८, २१)। ऐसे अवसरों में न उपसर्ग सा बन जाता है और इसका वही उपयोग होता है मानो यह संधि का पहला पद हो। ज्ञा धातु के विषय में भी यही नियम लागू होता है जो न के बाद आने पर ज छोड देता है, अ० माग० और जै०महा० में यह ज्ञ एक शब्द के भीतर के अक्षर की भाँति य में बदल जाता है : महा० में ण आणामि, ण आणासि, ण आणइ, ण आणिमो, ण आणह और ण आणंति रूप मिलते हैं ; अ० माग० और जै० महा० में ण याणामि (नायाध० § ८४ ; आव० ; एर्त्से० २९,१९), जै०महा० में ण याणसि और ण याणइ* रूप देखे जाते हैं, अ०माग० में ण याणामो और शौर० में ण आणामि रूप मिलता है (मृच्छ० ५२,१६ , ६५, ११ , विक्रमो० ४३,१४ ; ४६,१) ; माग० में ण आणामि पाया जाता है (मृच्छ० १४०, १२) ; शौर० और दाक्षि० में ण आणादि ; दाक्षि० में ण आणासि ; शौर० में ण आणीयदि=न ज्ञायते ; महा०, अ० माग० और शौर० में ण आणे=न जाने। इनके प्रमाण के लिए उद्धरण § ४५७; ५१० और ५४८ में दिये गये हैं। यह शब्द निर्माण प्रक्रिया निम्नलिखित संधि प्रक्रिया के बिल्कुल समान है, जैसे शौर० में अआणतेण=अजानता (मृच्छ० १८, २२ ; ६३, २४), अआणिअ=अज्ञात्वा (शकु० ५०, १३), अ० माग० में वियाणाइ,

* हिन्दी में अयाना और सयाना इस नियम और अ० माग० तथा जै० महा० के अवशेष हैं। –अनु०

शौ० और माग० में धिक्षाणादि, अ० मा० में परियाणइ और माग० में पचभि-आणादि (§ ५१०)। बहुत अधिक अवसरों पर न उपसर्ग के रूप में प्रयुक्त नहीं होता, इसलिए यह सब स्वरों से पहले अधिकांश में अपरिवर्तित रह जाता है, जैसा महा० रूप ण इट्ठं=नेष्टम् (हाल ५०१), ण ईसा=नेर्ष्या (हाल ८२९), ण उत्तरइ=नोत्तरति (हाल २७१), ण एइ=नेति (रावण० १४, ४३), ण ओहसिया=नावहसिता (हाल ६०), अ० माग० रूप न अम्बिले, न उण्हे, न इत्थी, न अन्नहा=नाम्लः, नोष्णः, न स्त्री, नान्यथा, इनके साथ-साथ नत्थि रूप चलता है (आयार० १, ५, ६, ४); सब प्राकृत भाषाओं में यही नियम है।[१]

१. लासनकृत इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतकाए, पेज १९३ से तुलना कीजिए; विक्रमोर्वशी, पृष्ठ १९३ और ३०२ पर बौल्लें नसेंन की टीका; त्सा० डे० डो० मौ० गे० ३२,१०४ में एस० गौल्दश्मित्त का लेख भी देखिए।

§ १६३—जैसा संस्कृत में कभी-कभी होता है, वैसा ही प्राकृत में भी संधि के प्रथम पद के रूप में अ और अन् के स्थान पर न आता है। महा० णसहिआलोअ=असोढालोक (गउड० ३६४), णसहिअपडिवोह=असोढप्रतिबोध (गउड० ११६२), णप्पहुप्पंत=अप्रभवत् (गउड० १६ और ४६), णपहुत्त=अप्रभूत (गउड० ११४), रावणवहो ३, ५७ में इसके स्थान पर णवहुत्त रूप आया है, इसमें छन्द मिलाने और अनुप्रास के लिए, जैसा प्राकृत में बहुधा होता है, प, व में बदल गया है। नीचे दिये गये अ० मा० दृष्टांतों में इसी न को मानने का बहुत झुकाव दिखाई देता है, जैसे तंमग्गं णुत्तरं=तं मार्गम् अनुत्तरम् (सूय० ४१९); दिसं णंतजिणेन=दिशं अनंतजिनेन (आयार० २, १६, ६); दिट्ठीहिं णंताहिं=दृष्टिभिर् अनंताभिः, मुत्तिसुहं णंताहिं पि [पाठ में वि है] वग्गवग्गूहिं=मुक्तिसुखम् अनंतैर् अपि वर्गवर्गुभिः (पण्णव० १३५); अग्गिवण्णाइं णेगसो=अग्निवर्णान्य् अनेकशः (उत्तर० ५९८); एगपए णेगाइं पदाइं=एकपदेऽनेकानि पदानि (पण्णव० ६३); एस्संति णंतसो=एष्यंत्य् अनंतशः (सूय० ४५; ५६, ७१), बंधणेहिं णेगेहिं=बंधनैर् अनेकैः (सूय० २२५); गंडवच्छासु [पाठ में गंडवत्थासु है] णेगचित्तासु=गंडवक्षःस्व् अनेकचित्तासु (उत्तर० २५२), इत्तो णंतगुणिया=इतोऽनंत-गुणिकाः (उत्तर० ५९९), विरायए णेगगुणोववेए=विराजतेऽनेकगुणोपेतः (सूय० ३०९), बुद्धेहिं णाइण्णा=बुद्धैर् अनाचीर्णा (दस० ६२७, १६)। इस भाँति के सभी दृष्टान्तों में किन्तु आरम्भिक अ की विच्युति हो जाती है (§ १५७) और पाठ में सदा ण, न कभी नहीं, लिखा मिलता है, यहाँ भी अ की विच्युति माननी पड़ेगी। फिर भी लेखनशैली कुछ बदल कर मग्गंऽणुत्तरं आदि आदि रूप लिखने से अधिक सुविधा होगी।

§ १६४—न को छोड़कर उस अवसर पर वाक्य में बहुधा संधि हो जाती है जब उसमें एक शब्द सर्वनाम, क्रियाविशेषण, विभक्ति चिह्न अथवा किसी संज्ञा का

कोई कारक हो, जो विभक्ति के चिह्न के रूप में व्यवहृत हुआ हो, उसे शब्द के अथवा पादपूरण का रूप मानना चाहिए। इस प्रकार की संधि सबसे अधिक अ०माग० और जै० महा० में होती है। इस तरह : **अहावरा** = अथापरा (आयार० २,१, ११,४ और उसके बाद ; २, २, ३, १९ और उसके बाद ; २, ५, १, ७ और उसके बाद ; आदि आदि), **न याहं** = न चाहं (आयार० १, ७, ६, १), **जेणाहं**= येनाहं (उत्तर० २४१) ; जै० महा० में **जेणाहं** रूप होता है (एर्त्से० १०, १४), **जेणाणीयाहं** = येनानीताहं (एर्त्से० ८, २३); **इहागवीए** = इहाटव्याम् (एर्त्से० ३०, १३); महा० **सहसागअस्स**=सहसागतस्य (हाल २९७) ; अ० माग० **पुरासी**=पुरासीत् (सूय० ८९८) ; जै० महा० **सहामच्चेण**=सहामात्येन (आव० एर्त्से० ११,१८) ; अ० माग० **दारिगेयं**=दारिकेयम् (दस० नि० ४४८,२); महा० **ण हुज्जला**=न खलूज्ज्वला (हाल ९९३ की टीका) ; अ० माग० **नो हूवणमंति**=नो खलूपनमंति (सूय० १००), **पत्थोवरए**=अत्रोपरतः (आयार० १, ६, २, ४) ; जै० महा० **सिहरोवरिं**=शिखरोपरि (तीर्थ० ५, १०) ; शौर० **ममोवरिं**=ममोपरि (मृच्छ० ४१, २२); जै० शौर० **जस्सेध** [पाठ में **जस्सेह** मिलता है]= यस्येह (पव० ३८२, २४)। **अज्जावि, केणावि, तेणावि** आदि के लिए § १४३ देखिए। अन्य अवसरों पर बहुत ही कम संधि होती है, जैसे अ० माग० **समासज्जावितहं**=समासाद्यावितथम् (आयार० १, ७, ८, १७), **जाणित्तायरियस्स**=ज्ञात्वाचार्यस्य (उत्तर० ४३), **कम्माणाणफला**=कर्माण्य् अज्ञानफलानि (उत्तर० ११३), **तहोसुयारो**=तथेषुकारः (उत्तर० ४२२), **इसिणाहारम्-आईणि**=ऋषिणाहारादीनि (दस० ६२६, ६) ; जै० महा० में **माणुसेसूववन्ना, तिरिक्खेसूववन्ना**=मानुषेषूपपन्ना,*तिर्यक्षेषूपपन्ना (आव० एर्त्से० १९, २२ और २३), **पडिकप्पियणागओ** = प्रतिकल्पितेनागतः (एर्त्से० ३२, १८), **सुवुद्धिनामेणामच्चेण**=सुबुद्धिनाम्नामात्येन (एर्त्से० १७, १९)। अ० माग० पद्य में कभी कभी उन स्वरों की संधि हो जाती है जो अमौलिक अर्थात् गौण रूप में पास-पास चले आते हैं। इस नियम के अनुसार : **एसोवरए**=एष उपरतः (आयार० १,१,५,१) ; **उवसग्गा भीमासि** = उपसर्गा भीमा आसन् (आयार० १, ८, २, ७) ; **तम्हाविज्जो**=तस्माद् अतिविद्यः (आयार० १, ४, ३, ३); **वुद्धानुसासंति** = बुद्धा अनुशासंति (उत्तर० ३३) ; **पराजियावसप्पामो** = पराजिता अपसर्पामः (सूय० १८६) ; **अकयकरणाणभिगया य** = अकृतकरणा अनभिगताश् च (जीयकप्प० ७३)। **मग्गं अनुसासंति** से निकले रूप **मग्गाणुसासंति** में **मग्ग** के अनुस्वार की ध्वनि अस्पष्ट होने से यहाँ संधि रह गयी है। यह बराबर है **मार्गम् अनुशासति** (सूय० ४६५ और ५१७), **अद्धं अणुगच्छइ, पंथं अणुगामिए** से निकले रूप **अद्धाणुगच्छइ** और **पंथाणुगामिए**=अध्वानम् अनुगच्छति और **पंथानम्** : अनुगामिकः (सूय० ५९)। § १७३ और १७५ से भी तुलना कीजिए।

§ १६५—महा० और शौर० में और विशेषतः जै० महा० और अ० माग० में संधि-

युक्त शब्द के प्रथम पद के अंतिम स्वर, दूसरे पद के आरम्भिक स्वर से पहले आने पर उड़ा दिये जाते हैं : महा० जेण्' अहं=येनाहम् (हाल ४४१), तुज्झ्' अवराहे =तवापराधे (हाल २७७) ; जै० महा० कुणालेण्' इमं=कुणालेनेमम् (आव० एर्त्से० ८, १६), तायस्स्' आणं=तातस्याज्ञाम् (आव० एर्त्से० ८, १८), जेण्' एवं=येनैवम् (एर्त्से० १४, ८), इह्' एव = इहैव (आव० एर्त्से० २९, १४ ; एर्त्से० १७, ३ ; २०, १४), जाव्' एसा=यावद् एषा (एर्त्से० ५३, २८), तह्' एव=तथैव (आव० एर्त्से० १२, २६ ; २७, १९), तस्स् अण्णेसणत्थं= तस्यान्वेषणार्थम् (एर्त्से० १३, ८) ; जै० शौर० में तेण्' इह पाया जाता है (पव० ३८७, २१), जत्थ्' अत्थि=यत्रास्ति (कत्तिगे० ४०१, ३५३), तेण्' उवइट्ठो=तेनोपदिष्टः (कत्तिगे० ३९८, ३०४); अ० माग० में अक्खाय्' अनेलिसं= आख्यातानीदृशम् (आयार० १, ८, १, १५), जत्थ्' अत्थमिए, जत्थ्' अवसप्पंति, जत्थ्' अगणी = यत्रास्तमितः, यत्रावसर्पंति, यत्राग्निः (सूय० १२९ ; १८१ ; २७३) है ; वुड्ढेण अणुसासिए = वृद्धेनानुशासितः (सूय० ५१५), उभयस्स्' अंतरेण = उभयस्यांतरेण (उत्तर० ३२), विन्नवण्' इत्थीसु = विज्ञापना स्त्रीषु (सूय० २०८ , २०९), जेण्' उवहम्मई=येनोपहन्यते (दस० ६२७, १३), जह्' एत्थ्=यथात्र (आयार० १,५,३,२), विप्पडिवन्न्' एगे = विप्रतिपन्ना एके (सूय० १७०), तस्स्' आहरह = तस्याहरत रूप मिलते हैं (आयार०, २,१, ११, २)। निम्नलिखित अ० माग० और जै० महा० शब्दों में इ की विच्युति पाई जाती है, उदाहरणार्थ : णत्थ्' एत्थ = नास्त्य् अत्र (आयार० १, ४, २, ५ ; एर्त्से० १०, २१), इसके विपरीत शौर० में णत्थि एत्थ मिलता है (शकु० १२१, ५); अ० माग० जंस्' इमे=यस्मिन्निमे (आयार० १,२,६,२), संत्' इये = संतीमे (आयार० १,१,६,१ ; सूय० ६५ ; उत्तर० २०० ; दस० ६२५,२५ ; ६२६, ३६), वयंत्' एगे = वदंत्य् एके (सूय० ३७), चत्तार्' इत्थियाओ = चतस्रः स्त्रियः (ठाणंग २४७), चत्तार अंतरदीवा = चत्वारो' तरद्वीपाः (ठाणंग० २६०) हैं। चत्तार रूप पद्य में मिलता है, इसके साथ गद्य में चत्तारि, चत्तार रूप चलते हैं : चत्तारि अगणिओ = चतुरो' ग्नीन् (सूय० २७४) यह भी पद्य में आया है, कीळंत' अन्ने = क्रीडंत्य् अन्ये, तरंत्' एगे=तरंत्य् एके (उत्तर० ५०४; ५६७), तिन्न्' उदही, दोन्न्' उदही=त्रय उदध्यः, द्वाव् उदधी (उत्तर० ९९६; १०००),दलाम्' अहं=दलाम्य (ददाम्य्) अहम् (उत्तर० ६६३) है। निम्नलिखित शब्दों में ए की विच्युति है, उदाहरणार्थ : अ० माग० स्' एवं=स एवम् (आयार० १, ७, ३, ३ ; २, ३, १, १ और उसके बाद), पढम्' इत्थ=प्रथमो' त्र (नंदी० ७४), तुब्भ्' एत्थ = युष्मे अत्र, इम्' एए = इम एते, मन्न् एरिसम्=मन्य ईदृशम् (उत्तर० ३५८ ; ४३९ ; ५७१), इम्' एयारूवे=अयम् एतद्रूपः (विवाग० ११६, विवाह० १५१; १७०; १७१ ; उवास०) हैं। अ० माग० गुरुण्' अंतिए=गुरुणो अंतिए=गुरोर् अंतिके में ओ की विच्युति है (उत्तर० २९ ; दस० ६३२, २२)। नीचे दिये शब्दों में नाक की (नासिक) ध्वनि बिगड़ने पर

अनुस्वार की विच्युति हो गयी है, उदाहरणार्थ : अ० माग० में णिओयजीवाण्' अणंताणम्=नियोगजीवानाम् अनंतानाम् (पण्णव० ४२), चरिस्स्' अहं, चरिस्सं अहं के लिए आया है=चरिष्याम्य् अहम् (सूय० २३९), पुच्छिस्स्' अहं, पुच्छिस्सं अहं के लिए आया है=अप्राक्षम् अहम् (सूय० २५९), वेणइयाण्' उ वायं=वैनयिकानाम् उ वादम् (सूय० ३२२), विप्परियास्' उवेंति=विपर्यासम् उपयंति (सूय० ४६८ ; ४९७) दुक्खाण्' अंतकर= दुःखानाम् अंतकरः (उत्तर० १००५), सिद्धाण्' ओगाहना=सिद्धानाम् अवगाहना (ओव० § १७१), पढम्' इत्थ=प्रथमम् अत्र (कप्प० § ९), इम्' एयारूवं=इयम् एतद्रूपम् (आयार० २,१५,२४ ; कप्प० § ९४), इम् एरिसम् अणायारं=इमम् ईदृशम् अनाचारम् (दस० ६२६, २७) है; जै० महा० में मोरियवंसाण्' अम्हं = मौर्यवंशानाम् अस्माकम् (आव० एर्त्से० ८, १७), इम् एरिसम्=इमम् ईदृशम् (आव० एर्त्से० २५, २६) हैं। इस प्रकार के प्रायः सभी उदाहरण पद्य में मिलते हैं। अ० माग० के बार-बार दुहराये जानेवाले वाक्य नो इण्' अट्ठे समट्ठे (सूय० ८९२ ; ९८६ ; ९९२ ; पण्णव० ३६६ ; नायाध० ५७० ; विवाह० ३७ ; ४४ ; ४६ और उसके बाद ; ७९ ; १०६ ; ११२ और उसके बाद ; २०४ ; ओव० § ६९ ; ७४ ; उवास० [इसमें समट्ठ मिलता है]), इसके साथ-साथ नो इणम् अट्ठे समट्ठे भी देखा जाता है (§ ओव० ९४)='ऐसी बात नहीं है' में इण्' हेमचंद्र ३, ८५ के अनुसार नपुंसक लिंग का कर्ता एकवचन माना जाना चाहिए और यह वैसे अ० माग० में (§ ३५७) पुलिंग के साथ भी सबंधित है।[1] अन्य प्राकृत भाषाओं में अंतिम स्वर की विच्युति बहुत कम देखने में आती है, जैसे, शौर० में एत्थ्' अंतरे आया है (मृच्छ० ४०, २३; जै० महा० में भी एर्त्सेलुगन १७, ३० में यह रूप पाया जाता है) ; माग० तत्र्' एदेण = तत्रैतेन (मृच्छ० १२, १९) पद्य में पाया गया है।

1. वेबर द्वारा संपादित भगवती १, ४०९ में जहाँ विवाहपन्नत्ति से संधियुक्त शब्दों का संग्रह किया गया है वहाँ यह अशुद्ध दिया गया है ; ए० म्युलर कृत बाइत्रैगे, पेज ७० ; होएर्नले द्वारा संपादित उवासगदसाओ, अनुवाद की नोटसंख्या १०१। बॉ० मा० कु० मॉ० ३, ३४४ और उसके बाद में लॉयमान के निबंध से भी तुलना कीजिए।

§ १६६—अ० माग० में अपि और इति के अंतिम स्वर कभी-कभी-उन स्थलों में, जहाँ संस्कृत में व्याकरण के नियमों से संधि हो जाती है, दूसरे पद के आरंभिक और असमान स्वर से संधि कर लेते हैं। अपि=अप्प्, यह एक के साथ घुल-मिलकर एक शब्द *अप्येकस्य का रूप धारण कर लेता है, जैसा पाली में होता है : अप्पेगे = *अप्येकः (आयार० १,१,२,५ और उसके बाद), अप्पेगे = *अप्येके (आयार० १, १, ६, ५), जंसि, तंसि, प्पेगे = यस्मिन्, तस्मिन्, *अप्येके (आयार० १, ८, २, १३), इसके साथ-साथ शब्दों के भीतर भी इ के ध्वनिपरिवर्तन के उदाहरण भी मिलते हैं : वि एगे (आयार० १, ५, ४, १), वि एए

(उत्तर० १०१६) और य' एगे (आयार० १, ७, ५, २ ; १, ६, ४, १ ; सूय० २३४), य' एए (विवाह० १०१ ; १८०), य' एग' एवम् आहंसु = * अप्येक एवम् आहुः (सूय० २४०), एवं प' एगे (आयार० १, ६, १, १ और २), पुव्वम् प' एयं पच्छा य' [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] एयं = पूर्वं अप्य् एतत् पश्चाद् अप्य् एतत् (आयार० १, ५,२,३), अ० माग० में अप्पेगइया = पाली अप्पेकच्चे = *अप्येकत्याः (ओव०) हैं, जै० महा० में भी इओ 'प्प' एव = इतो 'प्य् एव (आव० एर्त्से० १९,२३) है। इसी प्रकार इति शब्द है : अ० माग० में इच्चाइ = इत्यादि (कप्प० § १९६ और उसके बाद), इच्चेव रूप भी मिलता है (आयार० १, ५, ५, ३ ; सूय० ५५७), इच्चेव' एगे (आयार० १, ३, २, २), इच्चत्थं (आयार० १, २, १, १), इच्चेवं (आयार० १, २, १, ३), इच्चेए (आयार० १, १, ३, ७ , ४, ७ , १, ५, ४, ५), इच्चेहिं (आयार० १, २, १, ५), इच्चेयाओ, इच्चेयासिं (आयार० २, १, ११, १० और ११), इच्चेयावंति (आयार० १, ५, ६, ४) रूप मिलते हैं। शौर० में एतद् से पहले नु आने पर इसका रूप ण्व् हो जाता है और फिर यह ण्व् एतद् के साथ एक शब्द बन कर घुल मिल जाता है : शौर० में एवं (एँव्वं) णेदम् = एवम् न्व् एतत् (मृच्छ० २२, १६ ; ७७, २० , शकु० २, ५ ; ४७, १३ , ७१, ६ , प्रबोध० ८, ६ ; रत्ना० २९२, ८), किं णेदम् = किं न्व् एतत् (मृच्छ० ३, २ ; २७, १७ , ४०, १७ , ७४, १५ ; ६०, ४ , ९७, १४ , ११७, १७ , १६९, २० , १७१, ४ , १७२, २२ , विक्रमो० २७, १८ , ३१,४ , रत्ना० ३०१, २८), इसी प्रकार माग० में (मृच्छ० ४०, ८ , १३४, १७ , १७१, ५) तथा इस प्राकृत के इस नियम के विपरीत शब्दों के लिए § ४२९ देखिए। त णिदं = तन् न्व् इदम् (ललित० ५६६, २०) है।

§ १६७—पद्य में शब्द का आरम्भिक अ जब वह ए और ओ के बाद आया हो तब संस्कृत के समान ही कभी कभी लुप्त कर दिया जाता है। महा० में पिओ 'ज्ज = प्रियो 'द्य (हाल १३७) है, अ०माग० में आसीणे 'णेलिसं = आसीनो 'नीदृशम् (आयार० १, ७, ८, १७), फासे 'हियासए = स्पर्शान् अध्यासयेत् (आयार० १, ७, ८, १८), से 'भिन्नायदंसणे = सो 'भिज्ञातदर्शनः (आयार० १, ८, १, १०), सीसं से 'भितावयंति = शीर्षम् अस्याभितापयंति (सूय० २८०), से 'णुतप्पई = सो 'नुतप्यते (सूय० २२६), उवसंते 'णिहे = उपसांतो 'नीहः (सूय० ३६५), तिप्पमाणो 'हियासए = तृप्यमाणो 'ध्यासयेत् (आयार० १, ७, ८, १०), इणयो 'ब्बवी = इदम् अब्रवीत् (सूय० २५९), आभोगओ 'इवहुसो = आभोगतो 'तिबहुशः (जीयकप्प० ४४), बालो 'वरज्झई = बालो 'पराध्यते (दस० ६२४, ३२) , मागधी में स्नादे 'हं = स्नातो 'हम् (मृच्छ० १३६,११) है। गद्य में अ का लोप अ० माग० में अभिवादन के लिए सदा चलनेवाले रूप णमो 'त्थु णं = नमो 'स्तुनूनम् (§ ४९८) और जै० महा० में अहम् के साथ पाया जाता है, जैसे तीए 'हं = तस्याम्

अहम् (एर्त्से० १२,२२), तओ 'हं = ततो 'हम् , जाओ 'हं = जातो 'हम् (एर्त्से० ९, ३४ , ५३, ३४) है। अ० माग० में और जे० महा० तथा महा० में बहुत कम शब्दों का आरम्भिक अ, ए और ओ के अतिरिक्त अन्य स्वरों के बाद भी बहुधा लोप हो जाता है। इसके अनुसार आ के बाद **पज्जिज्जमाणा 'ट्टतरं = पाच्यमाना आर्ततरम्** मे अ उड गया है (सूय० २८२), **जाइजरामरणेहि 'भिद्दुआ = जातिजरामरणैर् अभिद्रुताः** में इ के बाद अ उड़ा दिया गया है (सूय० १५६), **चिट्ठंति 'भितप्पमाणा = तिष्ठंत्य् अभितप्यमानाः** (सूय० २७४), **सूलाहि' भितावयंति = शूलाभिर् अभितापयंति** (सूय० २८० , २८९), **जावंति 'विज्जापुरिसा = यावंतो विद्यापुरुषाः** (उत्तर० २१५), **नोवलभामि 'हं = नोपलभे 'हम्** (उत्तर० ५७७), **चत्तारि भोज्जाइं = चत्वार्य् अभोज्यानि** (दस० ६२६, ६), **जइ 'हं = यद्य् अहम्** (दस० ६४१, २१) हैं। रावणवहो १५, ८८ में महा० में भी ऐसा रूप पाया जाता है, **अगुणेहि 'साहू = अगुणैर् असाधून्** (दस० ६३७, ३) है; नीचे दिये अ० माग० की सन्धियों में ई के बाद अ का लोप हुआ है : **वेयरणी 'भिदुग्गा = वैतरण्य् अभिदुर्गा** (सूय० २७०), **लहई 'भिदुग्गे = लभते 'भिदुर्गे** (सूय० २६७), **जंसी भिदुग्गे = यस्मिन्न् अभिदुर्गे** (सूय० २८७ , २९७ [यहाँ 'भिदुग्गंति पाठ है]) हैं, **नदी 'भिदुग्गा** रूप भी मिलता है (सूय० २९७), जै०महा० में निम्नलिखित उदाहरण में उ के बाद अ छोड़ दिया गया है : **दोसु 'भिग्गहो = द्वयोर् अभिग्रहः** (आव० एर्त्से० १९, ३६) ; नासिक ध्वनि कुछ बिगडने पर अनुस्वार के बाद : जैसे अ० माग० में **कहं 'भितावा = कथं अभितापाः** (सूय० २५९), **वेयरणिं 'भिदुग्गं = वैतरणीम् अभिदुर्गाम्** (सूय० २७०), **वयणं 'भिउंजे = वचनम् अभियुञ्जे** (सूय० ५२९) हैं। गद्य में **तेसिं 'तिए** (आयार० १,६,४,१) अशुद्ध रूप है, टीकाकार बताते हैं कि इसके स्थान पर **तेसिं अंतिए** लिखा जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में § १७१ , १७२ और १७३ की भी तुलना कीजिए। अ० माग० में ए, ओ के बाद कभी कभी अ के सिवा अन्य स्वरों का भी लोप हो जाता है। इस प्रकार **ये इमे** के स्थान पर **जे 'मे** (सूय० ४५४) आया है जो **जे इमे** का रूप है, **जे इह** के स्थान पर **जे 'ह** आया है (सूय० ३०४) = **य इह** , अ० माग० **अकारिणो 'त्थ = अकारिणो 'त्र** में ए उड गया है (उत्तर० २९०), **अन्नो'त्थ = अन्यो'त्र** (उत्तर० ७९१), महा० में **को'त्थ** रूप मिलता है (हाल ३६४) और महा० तथा जै० महा० में नासा ध्वनि बिगड़ने के कारण उसके बाद **किं त्थ = किं एत्थ = किम् अत्र** (हाल , आव० एर्त्से० २६, ९) हो गया है।

§ १६८—ध्वनिवर्ग **र्य** में (§ १३४) **र्य** की स्वरभक्ति की अभिव्यक्ति, जो अक्षरस्वर **इ** है, वह अपने से पहले पद के साथ जुड़ जाती है और उसके **अ** या **आ** के साथ जुड़ मिलकर **ए** बन जाती है , महा० और अ० माग० **अच्छेर**, अ०माग० और जै० महा० **अच्छेरय**, अ० माग० **अच्छेरग**, इनके साथ साथ महा० और शौर० **अच्छरिअ**, जै०महा० **अच्छरिय**, शौर० **अच्छरीअ**, माग० **अश्चलिअ** तथा अन्य

माहृतो का भच्छरिज्ज और अच्छअर=आश्चर्य (§ १३८) हैं। महा० केर=कार्य[1] (=का [तुलसी रामचरितमानस का केर, केरा आदि—अनु०], मार्क० पन्ना ८०, कस० ५२,११), केरं (=के लिए काव्यप्रकाश २८, ७)भी है, शौर० अम्हकेर (हेमचन्द्र २, १४७, जीवा० ११, ९), तुम्हकेर (हेमचन्द्र २, १४७, जीवा० १०४, ६), परकेर (मालवि० २६, ५), उक्त रूपो के अतिरिक्त शौर० म केरक, केरअ (मृच्छ० ४, ३, ३८, ३, ५३, २०, ६३, १६, ६४, १९, ६५, १०, ११, ७४, ८, १५३, ९, शकु० ९६, १०, १६०, ९, मालती० २६७, २, मुद्रा० ३०, ८, प्रिय० ४३, १६, ४४, ६, जीवा० ९, १, कस० ५०, ११), आव० म भी केरक रूप मिलता है (मृच्छ० १००, १८), स्त्रीलिंग में शौर० म केरिका, केरिआ (मृच्छ० ८८, २४ [यहाँ केरिकात्ति पढना चाहिए], ९०, १४, ९५, ६, निद्ध० ८३, ४)हैं, आव० में भी केरिका (मृच्छ० १०४, ९) रूप पाया जाता है, शौर० म परकेरअत्तण=*परकार्यत्वन (मालती० २१५, ३), माग० में केलक, केलअ (मृच्छ० १३, ९, ३७, १३, ४०, ९, २१ और २२, ९७, ३, १००, २०, ११२, १०, ११८, १७, ११९, ५, १२२, १४ और १५ [यहाँ केलकाइ पढिए], १३०, १०, १३३, २, १४६, १६, १५२, ६, १७३, ९, शकु० ११६, ११, १६१, ७), प्रबोधचन्द्रोदय ३२, ८ म जहाँ दो, ३४ और ११५ के अनुसार भट्टालककेल्केहिं पढा जाना चाहिए, इसी रूप की प्रतिष्ठा करनी पड़ेगी, स्त्रीलिंग के रूप केलिका, केलिआ (मृच्छ० २१, २१, २३२, १६ [यहाँ केलिकाए पढिए], १३९, १६ [यहाँ केलिका पढिए], १६४, ३ और ८, १६७, ३ और २१) रूप देखे जाते हैं, अप० में केर [हेमचन्द्र ४, ४२२, २०) और केरअ रूप है (हेमचन्द्र ४, ३५९ और ३७३)। महा०, अ० माग० और शौर० में पेरत=पर्यन्त (वर० ३, १८, भामह १, ५, हेमचन्द्र १, ५८, २, ६५ और ९३, क्रम० १, ४, २, ७९, मार्क० पन्ना ५ और १२, पाइय० १७३, गउड०, हाल, ओव०, ललित० ५५०, ११ ५६७, १३, विक्रमो० ३१, १७, मालती० ७६, ५, १०३, ३, ११८, ६ २४८, ५ महावीर० ९७, १३, बाल० ४९, २, ६७, १५, ७६, १६, २२६, ३, २७८, २०, २८७, ९, अनर्घ० ५८, ९, मल्लिका० ५५,१०, ५७,१७) है, अ०माग०म परिपेरत रूप भी मिलता है (नायाध० ५१३, १३८३ और उसके बाद विवाग० १०७), बम्हचेर (हेमचन्द्र १, ५९, २, ६३, ७४ और ९३), अ० माग० और अप० रूप बम्भचेर (हेमचन्द्र २, ७४, आयार० १, ५, २, ४, १, ६, २, १, १, ६, ४, १, २, १५, २४, सूय० ८१, १७१, ३१८, ६४३, ६५२, ७०९, ८६६, विवाह० १०, १३५, ७२२, ७२६, दस० ६१८, ३३, दस० नि० ६४९, ३८, उवास०, ओव० § ६९, नायाध०, निरया०, एर्त्से० ३, २४) तथा इनके साथ साथ काममें आनेवाला बम्हचरिअ (हेमचन्द्र २,६३ और १०७)=ब्रह्मचर्य हैं। अ० माग० और जै० महा० मेरा=मर्या[1] (=मर्यादा हेमचन्द्र १, ८७, आयार० २, १, २, ५ २, ३, १, १३ २, ५, १, २, २, ६, १, १, आव० एत्सें० ८७, २३ और २५, कप्प०) है,

अ० माग० निम्मेर = निर्मर्य (ठाणग० १३६; १४३ [पाठ में णिम्मेर है]; विवाह० ४८३ ; १०४८ ; ओव०), समेर = समर्य (ठाणंग० १३६ [पाठ में सम्मेर रूप है] हैं; १४३) ; अ० माग० और जै० महा० में पाडिहेर = पाली पाटिहारिय = प्रातिहार्य (विवाह० १०४७ ; ११८९ ; ओव० ; आव० एर्से० १४, १२), जै० महा० पाडिहेरत्तण (आव० एर्से० १३, २५), अ० माग० परिहेरग = परिहार्यक (ओव०); महा० और शौर० सुन्देर = सौन्दर्य (§ ८४) है। उक्केर के विषय में § १०७ और देर के विषय में § ११२ देखिए। *सणिअं से निकला माग० सेणं अपने ढग का एक है (मृच्छ० १३४, २४) = महा० और शौर० सणिअं, अ० माग० और जै०महा० सणियं = पाली सनिकं (§ ८४) है। उ का रूप परिवर्तन अ०माग० पोर में दिखाई देता है जो पौर्व से निकला है = पर्वन्[1] (आयार० २, १, ८, ११) है।

१. इण्डियन एंटिक्वेरी २, १२१ और उसके बाद पिशल का लेख ; ३६६ और उसके बाद लेख ; हेमचन्द्र २, १७४ पर पिशल की टीका। गो० ए० सो० ब० ४१, १, १२४ और उसके बाद ; इ० ऐ० २, २१० और उसके बाद होएर्नले के निबन्ध और उसका कंपेरेटिव ग्रैमर § ३७७ ; बीम्स का कंपेरेटिव ग्रैमर २, २८१ और उसके बाद। —२. लौयमान द्वारा सम्पादित औपपातिक सूत्र में निम्मेर देखिए। हेमचन्द्र और त्रिविक्रम इसे मिरा से निकला बताते हैं। —३. लौयमान द्वारा सम्पादित औपपातिक सूत्र देखिए।

§ १६९—कई प्राकृत बोलियों में कभी कभी पास पास के वर्णों के स्वर एक दूसरे की नकली पर समान रूप ग्रहण कर लेते हैं। अ०माग० मिरीइ=मरीचि(जीवा० ५४२; पण्हा० २५४ [पाठ में मीरिय है] ; ओव० [§ ३८] ; ४८ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; नायाध० § १२२), समिरीय = समरीचिक (सम० २११ [पाठ में समरीय है] ; ओव०)|; अ० माग० मिरिय = मरिच (हेमचन्द्र १, ४६ ; आयार० २, १, ८, ३ ; पण्णव० ५३१) है ; महा० अवरिं = उपरि है ; महा० अवहोआस, अवहोवास = *उभयःपार्श्व (§ २१२), अवज्झाअ = उपाध्याय (§ १२३) है; भमया और उसके साथ साथ महा० भुमआ, अ० माग० भुमया = *भ्रुवका (§ १२४) है; महा०, अ०माग० और जै० महा० उच्छु = इक्षु; अ० माग० उसु = इषु; सुसु = शिशु (§ ११७) है; अ०माग० पुहुत्त = पृथक्त्व, साथ ही पुहत्त रूप भी मिलता है (§ ७८)। नीचे दिये अ० माग० शब्दों में संस्कृत क्रम के अनुसार ही स्वर पास पास में आते हैं : निउरम्ब = निकुरम्ब (ओव०) और निउदम्ब = निकुदम्ब (सम० २११ ; ओव०) ; सरीसिव = सरीसृप के साथ साथ सिरीसिव, सिरिसिव रूप भी चलते हैं (§ ८१)। महा० और शौर० सिविण = स्वप्न (वर० १, ३ ; ३, ६२ ; चंड० ३, १५ अ; पेज ४९ ; हेमचन्द्र १, ४६ और २५९ ; २, १०८ ; क्रम० १, २ ; २, ५९ ; मार्कण्डेय पन्ना ५ और २९ ; हाल ; रावण० ; प्रताप० २१२, ९ ; वृषभ० १४, ६ ; १७, १ और २), महा० और शौर० में सिविणअ = स्वप्नक (हाल २,१८६; हाल ; कर्पूर० ७५,४; ललित० ५५४, २१ और २२ ; ५५५, १ ; विद्ध० २६, १७ ; मालवि० ६३, ५ ; माल्वी०

१७९, ९ ; बाल० २३८, १४; कर्पूर० ७०,३ ; ११, १२ ; ७१,१ ; ७३, ४ ; वेणी० १८, १३ ; २० ; २१ ; नागा० १२, ११ ; १३, ४ ; २३, ३ ; कर्ण० १६, ९ और १२) ; महा० में **पडिसिविणअ = प्रतिस्वप्नक** (कर्पूर० ७५, ५) है ; **सिमिण** (चड० ३, १५ अ पेज ४९ ; हेमचन्द्र १, ४६ और २५९), इस रूप के साथ अ० माग० और जै० महा० **सुविण** (सूय० ८३८ और उसके बाद ; विवाह० ९४३ और उसके बाद ; १३१८ और उसके बाद ; उत्तर० २४९ और ४५६ ; नायाध० ; कप्प० ; एर्से०), अप० **सुइण** (हेमचन्द्र ४, ४३४, १) और अ० माग० तथा जै० महा० **सुमिण** (हेमचन्द्र १, ४६, ठाणग० ५६७; नदी० ३६५; सम० २६; विवाह० ९४७ ; १३१८ ; नायाध० ; कप्प० ; एर्से०) रूप मिलते हैं । जै० महा० **सुविणग, सुमिणग** (एर्से०) = स्वप्नक (§ १३३ ; १५२ ; २४८) है । **किलिस्मइ, किलिस्मिहिइ, किलित** और इनके साथ साथ **किलम्मइ, किलंत** जैसे रूप एस० गौल्दश्मित्त[1] के मतानुसार शुद्ध न समझे जाने चाहिए, वरन् ये रूप प्राकृत में बहुधा काम मे आनेवाले **किलिस्सइ**[2] पर भूल से आधारित हैं । भविष्यकालवाचक रूप, जैसे **भविस्सिदि** के सम्बन्ध में § ५२० देखिए ।

१. त्सा० डे० डौ० मो० गे० ३१, १०७ । — २. गे० गो० आ० १८८०, ३२८ और उसके बाद के पेज में पिशल का लेख । § १३६ की भी तुलना कीजिए ।

(अः) अनुस्वार और अनुनासिक स्वर

§ १७०—अनुस्वार के साथ साथ प्राकृत मे दो प्रकार के अनुनासिक स्वर है, जिनमें से एक अनुस्वार के चिह्न द्वारा और दूसरा अनुनासिक द्वारा व्यक्त किया जाता है । अनुस्वार और पहले अनुनासिक में जो भेद है वह सब अवसरों पर निश्चित रूप में सामने नहीं आता, विशेष कर शब्द के अन्त में आने पर जहा इसका व्यवहार अधिकतर शब्दों में एक सा रहता है ; किंतु इसके मूल का पता नहीं मिलता । उदाहरणार्थ, इस प्रकार तृतीया (= करण) बहुवचन **-हिं** का जहाँ प्रयोग किया जाता है वहाँ **हिँ** और **हि** का भी व्यवहार किया जाता है । यदि हम शौर० **देवेहिं** (शकु० २१, ५) = वैदिक **देवेभिः** मानें और म इस समानता को ठीक समझता हूँ, तो मानना पड़ेगा कि इसमें अनुनासिक है , किन्तु जब हम यह मान लें कि **देवेहिं** = ग्रीक **देओफिन्**, जैसा प्रायः सब मानते हैं, तो अनुस्वार होना सभव है । इसी प्रकार दृष्टान्तों में, जैसे **अग्गिं** = **अग्निः** और इसके साथ साथ **अग्गी** और **वाउं** = **वायुः** तथा इसके साथ **वाऊ** (§ ७२) में अनुनासिक मानना पड़ेगा[1] । इन रूपों के साथ साथ ठीक **देवेहिं, देवेहि** और **देवेहि** के समान ही **देवाणा** और **देवाण** रूप पाये जाते हैं । क्रिया विशेषणों में, जैसे **उवरिं** और इसके साथ चलनेवाले दूसरे रूप **उवरि = उपरि** में अनुस्वार और **बाहिं = बहिः** मे अनुनासिक का होना सभव है । जहाँ अनुस्वार (ं) का पता लग जाता है कि यह **न्** या **म्** से निकला है, उस शब्द में मैं अनुस्वार मानता हूँ अन्यथा नियमित रूप से अनुनासिक मानता हूँ[2] ।

१. यह समीकरण या तुलना केवल अंतिम अक्षर तक सीमित है। — २. अनुस्वार और अनुनासिक के विषय में वाकरनागल कृत आल्ट इंडिशे ग्रामाटीक के § २२३ और २२४ की साहित्य-सूची देखिए।

§ १७१—जैसा वेद[1] में मिलता है वैसा ही प्राकृत में भी हस्तलिखित प्रतियाँ अधिकांश में अनुनासिक का चिह्न नहीं लिखतीं, इसलिए बहुत अधिक अवसरों पर उसका अस्तित्व केवल व्याकरणकारों का वर्णन देखकर ही जाना जा सकता है। इस कथन के अनुसार हाल ६५१ में हस्तलिखित प्रतियों में **जाइ वअणाइ** मिलता है, बवइया संस्करण में **जाणि वअणाणि** मिलता है, किन्तु हेमचन्द्र ३, २६ में **जाइँ वअणाइँ** को प्रधानता दी गयी है [पिशल द्वारा संपादित और पूना के भंडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट द्वारा प्रकाशित १९३६ के संस्करण में **जाइँ वयणाइँ** छपा मिलता है। —अनु०] और यह वेबर ने[2] छन्द की मात्रा के विरुद्ध बताया है, किन्तु यह उसकी भूल है क्योंकि अर्धचन्द्र[3] से मात्रा घटती बढ़ती नहीं है। शकुंतला ११६, ३ में माग० में **शउलाणं मुहं = स्वकुलानां मुखम्**, इसकी हस्तलिखित प्रति जेड् (= Z) में **सअणाणं मुहं = स्वजनानां मुखम्** मिलता है, किन्तु हेमचन्द्र ४, ३०० के अनुसार यह रूप स्पष्ट ही **शअणाहँ मुहँ** होना चाहिए और यह रूप किसी हस्तलिखित प्रति में नहीं मिलता। वररुचि २, ३; क्रमदीश्वर २, ५ और मार्कण्डेय पन्ना १४ में ये व्याकरणकार बताते हैं कि **यमुना** में **म्** उड़ जाता है। इसके विपरीत हेमचन्द्र १, १७८ में लिखता है और निस्सन्देह ठीक ही लिखता है कि इस **म्** के स्थान पर अनुनासिक आ जाता है: **जउँणा** रूप हो जाता है। हस्तलिखित प्रतियाँ और छपे पाठ दोनों महा० और अ० माग० में केवल **जउणा** और शौर० में **जमुणा** लिखते हैं (§ २५१)। सत्तसई की हस्तलिखित प्रति में कभी-कभी अर्धचन्द्र मिलता है। इस स्थान पर शेष हस्तलिखित प्रतियाँ बिंदु देती हैं, पर सदा उचित स्थान पर नहीं।[4] हेमचन्द्र ४, ३९७ में बताता है कि अप० में **म्** के स्थान पर **वँ** आता है, उदाहरणार्थ **कवँलु** और उसके साथ-साथ काम में आनेवाला रूप **कमलु = कमलम्** है। अप० की हस्तलिखित प्रतियाँ सदा **म्वू** लिखती हैं। इसलिए हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर इस स्थान पर अर्धचन्द्र का प्रयोग उचित नहीं जँचता।

१. ऋग्वेद प्रातिशाख्य ६४ पर मैक्सम्युलर की टीका; वाजसनेयिप्रातिशाख्य ४, ९ और १३ पर वेबर की टीका। — २. हाल ६५१ की टीका। — ३. हाल पेज ४ में इस चिह्न को मैं वेबर के मतानुसार अनुनासिक मानता हूँ। रामतापनीय-उपनिषद (बर्लिन १८३४), पेज ३३४ में वेबर के मतानुसार बोएटलिंक और रौट ने अर्धचंद्र = अनुस्वार लिखा है जो अशुद्ध है। अनुस्वार के चिह्न का नाम बिंदु है जैसा ऊपर कहा जा चुका है, और आगे के पाराओं में कहा जायेगा। — ४. वेबर द्वारा संपादित हाल, पेज ५, हाल २०४; २८९; २९२; ४८९; ५०७; ५४८; ५५६; ५७२; ५९७)।

§ १७२—व्याकरणकार बताते हैं कि प्राकृत और अप० में पद के अंत में आनेवाले **-इं, -हिं, -उं, -हुं** और **-हं** तथा संगीतरत्नाकर के अनुसार अप० में पद के

मध्य मे भी आनेवाले हुं और इं का उच्चारण लघु हो जाता है अर्थात् उसमें उच्चारण का हलकापन आ जाता है (आव० एर्से० पेज ६, नोट ४ ; सगीतरत्नाकर ४, ५५ और ५६; पिंगल १, ४; हेमचन्द्र ४, ४११)। इनके अनुसार पुराने आचार्यों ने, जब उनको लघु मात्रा की आवश्यकता पडती थी, स्वरों और व्यजनों से पहले इन पादपूरक अक्षरो को जोडकर उन्हे लघु बना दिया। वेबर[1] का मत है कि इन अवसरों पर सर्वत्र बिंदु छोड देना चाहिए और सभी प्राकृत पुस्तकों के यूरप के सम्पादकों ने उसका अनुकरण किया है।[2] श० प० पडित ने अपने गउडवहो के सस्करण में लाघव का चिह्न बिंदु के ऊपर ˘ दिया है, उदाहरणार्थ १, १६ मे **अङ्गाइं˘ विण्हुणो भरिआइं˘ व** छापा है और इसी प्रयोजन के लिए दुर्गाप्रसाद, शिवदत्त और परब ने अपनी सत्तसई, रावणवहो, पिंगल और कर्पूरमजरी के सस्करणों मे अर्धचद्र (ँ) का प्रयोग किया है।[3] बौ˘ल्लें˘नसे˘न[4] पहले ही मात्रालाघव का चिह्न अर्धचद्र को मानना चाहता था, इसका वेबर[5] ने ठीक ही खडन किया। जब उचारण लाघव की आवश्यकता हो तब हेमचन्द्र ३, ७ और २६ मे बताता है कि **–हि, –हिँ, –हिं** और **इँ** तथा **इं** का प्रयोग करना चाहिए और रावणवहो की हस्तलिखित प्रति आर^एच (R^H) मे **इँ** और **हिँ** ही लिखा गया है[6]। समवायगसुत्त के सस्करण में पद्य मे (पेज २३२ ; २३३ ; २३९) इसी ढग से लिखा गया है, जैसे **तिहि तिहिँ सएहिं, छहिँ पुरिससएहिँ निक्खंतो, सवेइया तोरणेहिँ उववेया = त्रिभिस् त्रिभिः शतैः, पड्भिः पुरुषशतैर् निष्क्रान्तः, सवेदिकातोरणैर् उपेताः** है। निस्सदेह उक्त उद्धरण अर्धचद्र के प्रयोग के लिए आवश्यक प्रमाण पेश करता है। यह वहाँ लिखा जाना चाहिए जब लघुमात्रा की आवश्यकता पडे और उसके बाद आनेवाले शब्द के आरंभ मे कोई स्वर हो या पहले अथवा बाद के शब्द की समासि ँ मे हो, जैसा समवायगसुत्त से उद्धृत ऊपर के उदाहरणों में से दो मे हुआ है। इसके अनुसार हमे लिखना चाहिए : **सालंकराणँ गाहाणं** (हाल ३) ; **सीलुम्मूलिआइँ कुलाइं** (हाल ३५५) ; **तुम्हेहिँ उवे˘क्खिओ** (हाल ४२०) ; **–पसाहिआइँ अंगाइं** (हाल ५७८) ; **पंकूइँ सलिलाइँ** (गउड० ५७७) ; **वेविरपओहराणं दिसाणँ–तणुमज्झाणं…णिमीलिआइं मुहाइं** (रावण० ६, ८९) ; **धूसराइँ मुहाइं** (रावण० ८, ९) ; **सणचुंबिआइँ भमरेहिँ उअह सुउमारकेसरसिहाइं** (शकु० २, १४)। अर्धचद्र ऐसे अवसरों पर भी लिखा जाना चाहिए, जैसे : **तणाइं सोत्तुं दिण्णाइँ जाइँ** (हाल ३७९), **जाइँ वअणाइँ** (हाल ६५१), ऐसे अवसरों के लिए इसका प्रयोग स्पष्ट रूप से बताया गया है (§ १७९); इसके अतिरिक्त ऐसे अवसरों पर, जैसे अप० **तरुहुँ वि** (हेमचन्द्र ४, ३४१, २) ; **अत्थे˘हिँ सत्थे˘हिँ हत्थे˘हिँ वि** (हेमचन्द्र ४, ३५८, १) ; **मुक्काहँ वि** (हेमचन्द्र ४, ३७०, १), इन स्थलों पर बिंदु अशुद्ध होता। बिंदु लगाने पर यहाँ वि के स्थान पर **पि** रहना चाहिए। ँ कभी ˘ का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता (§ ३४८ ; ३५०)[7]।

१. हेमचन्द्र ३ पर टीका। — २. जैसा एस० गौल्दश्मित्त ने रावणवहो

की भूमिका के पेज १९ में लिखा है। इसके विपरीत क्लाश ने त्सा० डे० डौ० मौ० गे ३३, ४५१ और उसके बाद अपने निबंध में लिखा है। — ३. हेमचन्द्र १, २ टीका पर नोट संख्या ३ देखिए। — ४. पेज ५२१ में विक्रमोर्वशी की टीका पर नोट देखिए ; पेज ५२५ और उसके बाद के नोट देखिए। — ५. हेमचन्द्र ४८१ पर टीका देखिए। — ६. एस० गौल्दश्मित्त द्वारा संपादित रावणवहो की भूमिका के पेज १९ की नोट संख्या २। — ७. बिंदु द्वारा जो अनुनासिक व्यक्त किया जाता है वह निश्चय ही अर्धचंद्र द्वारा चिह्नित नासिक ध्वनि से अधिक जोर का होता है। इतने तक बौप ने कोई बड़ी भूल नहीं की जैसा वर्गेन्य का मत है (मेम्वार द ला सोसिएटे द लिंग्विस्टीक द पारी (= पेरिस) २, २०४, नोट संख्या १)।

§ १७३—मौलिक अंतिम स्वरों या व्यंजन के स्थान पर, और शब्द के अंत में आये हुए उद्वृत्त स्वरों के स्थान में § ७५ और ११४ में दिये गये दृष्टांतों को छोड़ कर, अन्यत्र क्रियाविशेषणों में बहुधा अनुस्वार हो जाता है। महा० अज्जं (हाल ; रावण०) और उसके साथ चलनेवाला अज्ज = अद्य ; अ० माग० और जै० महा० इहं और उसका पर्याय इह=इह है, इसका एक रूप इहयं भी मिलता है (हेमचन्द्र १, २४); अ० माग० और जै० महा० में ईसिं और साथ ही महा० और शौर० में ईसि रूप पाया जाता है (§ १०२); अ० माग० और जै० महा० पभिइं = प्रभृति (उवास० ; कप्प० ; एर्त्से० ; कालका०) ; अ० माग० उप्पिं, महा०, अ० माग० और जै० महा० उवरिं, महा० अवरिं तथा इसके साथ साथ महा०, जै० महा० और शौर० उवरि, माग० उवलि = उपरि (§ १२३ और १४८); अ० माग० सइं = सकृत् (आयार० २, १, १, ५ , उत्तर० २०१ और २३५) है, असइं = असकृत्[1] (आयार० १, २, ३, १ ; जीवा० ३०८ ; उत्तर० २०१) है ; अ० माग० जुगवं = युगपत् (ठाणंग० २२७ , विवाह० १४४०; उत्तर० ८१०, ८७८, ८८१ ; १०३२; ओव०) ; अ० माग० जावं, तावं=यावत्, तावत् (विवाह० २६८ और २६९) हैं। महा०, अ० माग० और जै० महा० में बाहिं=बहिः (हेमचन्द्र २, १४० ; मार्कण्डेय पन्ना ४० ; पाइय० २२४ ; गउड० ; आयार० २, ७, २, १ ; २, १०, ६ ; सूय० ७५३; नायाध० § १२२ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; एर्त्से०), बाहिंसल्ल में भी जो = बहिःशल्य है, अनुस्वार आया है (ठाणंग० ३१४) और बाहिंहिंतो में भी यही हुआ है (ठाणंग ४०८) और अ० माग० में पाउं = प्रादुः (§ ३४१) तथा मुहुं = मुहुः (उत्तर० १९७) में भी अनुस्वार का आगमन मानना पड़ता है (§ १७८)। § १५१ के अनुसार यह भी संभव है कि बाहिं = बाह्यम् हो। चूँकि मार्कण्डेय पन्ना ४० में बहि रूप भी बताया गया है, इसलिए यह प्रतिपादन अवश्य ही अधिक शुद्ध होगा। सबसे ठीक तो यह जँचता है कि बाहिं और बहिं अलग अलग रूप समझे जाय। इसी सिलसिले में सणिंचर (§ ८४) और § ३४९ की भी तुलना कीजिए।

१. होएर्नले के द्वारा सम्पादित उवासगदसाओ के अनुवाद की नोट-संख्या २१७ से भी तुलना कीजिए।

§ १७४—अ में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों के पुलिंग और नपुंसक लिंग की तृतीया एकवचन में शब्द के अन्तिम अ के स्थान पर कभी कभी महा० में अनुस्वार आ जाता है (हेमचन्द्र १, २७) : **सब्भावेणं = सद्भावेन** (हाल २८६) है; **परुण्णेणं मुहेणं = प्रसदितेन मुखेन** (हाल ३५४) है; **समअवसेणं** [पिशल के व्याकरण में **समअअवसेणं** छपा है जो स्पष्ट ही कंपोजिटर और प्रूफरीडर की भूल है। —अनु०] = **समयवशेन** (हाल ३९८) है, **–लोअणेणं, –सेएणं = –लोचनेन, स्वेदेन** (हाल ८२८) हैं; **कवाडंतरेणं = कपाटान्तरेण** (गउड० २१२) है; **पंजरेणं** (गउड० ३०१) भी है; **–विसअंसेणं = –विशदांसेन** (रावण० ३, ५५) है। यह आगम अ० माग० और जै० महा० में अति अधिक है। अ० माग० में **तेणं कालेणं तेणं समएणं = तेन कालेन तेन समयेन** (आयार० २, १५, १; ६; १७ और २२; उवास० § १ और उसके बाद के §; ९; ७५ और उसके बाद; नायाध० § १; ४; ६; ओव० § १; १५; १६; २३ और उसके बाद; कप्प० § १; २; १४ आदि-आदि) है; अ० माग० **समणेणं भगवया महावीरेणं = श्रमणेन भगवता महावीरेण** (नायाध० § ८ [इस § में इसके अतिरिक्त तृतीया एकवचन के २२ और रूप हैं जो णं में समाप्त होते हैं] : उदाहरणार्थ उवास० § २ और ७८ तथा ९१) है, **कोहेणं माणेणं लोभेणं = क्रोधेन मानेन लोभेन** (विवाह० ८५) हैं, **सक्केणं देविंदेणं देवरण्णेणं = शक्रेण देवेन्द्रेण देवराजेन** (नायाध० ८५२), **परवागरणेणं = परव्याकरणेन** (आयार० १, १, १, ४, १, ७, २, ३), **हिरण्णेणं=हिरण्येन** (आयार० १, २, ३, ३) हैं; जै० महा० में **वच्चंतेणं=व्रजता, वड्डेणं, सद्देणाम् = वड्ढेण, शब्देन, उप्पहेणं=उत्पथेन, सुरेणं=सुरेण** (आव० एत्सें० ११, १९; २३, १४; ३६, ३२ और ३७), **सणंकुमारेणं नायामच्चवुत्तंतेणं कोवं उवगएणं=सनत्कुमारेण ज्ञातामात्यवृत्तान्तेन कोपम् उपगतेन** (एत्सें० ३, २९) हैं। ऐसा ही उन अवसरों पर होता है जब तृतीया का उपयोग क्रियाविशेषण रूप से किया जाता है, जैसे अ० माग० में **आणुपुव्वेणं = आनुपूर्व्येन** (आयार० १, ६, ४, १; १, ७, ७, ५ [यहाँ पाठ में **अणुपुव्वेणं** है]; निरया० § १३; नायाध० § ११८ [यहाँ भी पाठ में **अणुपुव्वेणं** मिलता है]) है; **परंपरेणं** (कप्प० एस० § २७) आया; अ० माग० और जै० महा० में **सुहेणं = सुखेन** (विवाग० ८१; ओव० § १६; निरया०; नायाध०; एत्सें०) है; अ० माग० **मज्झेणं=मध्येन** (उवास०; नायाध०; कप्प०; निरया०; विवाह० २३६; ओव० § १७)[१] है। नपुंसक लिंग के प्रथमा और द्वितीया बहुवचन में वररुचि ५, २६ के अनुसार शब्द के अन्त में इ लगना चाहिए : **वणाइ, दहीइ** और **महूइ = वनानि, दधीनि** तथा **मधूनि**; पर मार्कण्डेय पन्ना ४३ के अनुसार अंत में इँ आना चाहिए। **वणाइँ, दहीइँ** और **महूइँ**, क्रमदीश्वर ३, २८ में लिखता है कि इँ के अतिरिक्त जैसे **धणाइँ, जसाइँ** और **दहीइँ** कई व्याकरणकारों की सम्मति में **धणांइ,**

वणाइं आदि रूप भी होते हैं। हेमचंद्र ३, २६ में इस अवसर पर इँ और इं का प्रयोग बताता है। गद्य में सभी प्राकृतों में केवल इं का प्रयोग दिखाई देता है, जैसा अ० माग० में **से जाइं कुलाइं = स यानि कुलानि** (आयार० २, १, २, २) है, इसके सिवा **कुलाणि** रूप भी पाया जाता है (§ ३६७), जै० महा० में **पंच पगुणाइं अट्ठागसयाइं···पक्खित्ताइं = पंचैकोनान्य् आदर्शशतानि···प्रक्षिप्तानि** (आव० एर्त्से० १७, १५) है; शौर० में **राअरक्खिदाइं तवोवणाइं = राजरक्षितानि तपोवनानि** (शकु० १६, १३) है; माग० में **–शवलाइं दुश्शगंधिआइं चीवलाइं = –शवलानि दूष्यगंधिकानि चीवराणि** (मृच्छ० ११३, २२) है; ढ० में **भूदाइं सुवण्णाइं = भूतानि सुवर्णानि** (मृच्छ० ३६, २१) है। छंदों में जब लघु मात्रा की आवश्यकता पड़ती है तब इस अवसर पर इ लिख दी जाती है। यह प्रयोग अधिकतर स्थानों पर ही नहीं वरन् सर्वत्र (§ १७९ और १८०) पाया जाता है, किंतु अशुद्ध है। हेमचंद्र इस स्थान पर इँ बताता है और वररुचि ५,२६ में जो इ मिलता है यह बहुत संभव है कि इं का अशुद्ध पाठ हो। क्रमदीश्वर ३, २८ में जो बताया गया है कि कई व्याकरणकार इं से पहले भी अनुस्वार लगाना ठीक मानते हैं उसका तात्पर्य अधिक शुद्ध यह जान पड़ता है कि वे व्याकरणकार पाठ में दिये गये **धणाइं, वणाइं** के स्थान पर **धणंइं, वणंइं** रूप सिखाते हैं जो अ० माग० **महंआस** से मिलता जुलता रूप है। यह **महंआस, महंत + अश्व** से निकला है और = महाश्व (§ ७४) है। यहाँ अनुस्वार दीर्घमात्रा का द्योतक है। सब संज्ञाओं के सप्तमी बहुवचन में –सु के साथ साथ –सुं भी चलता है और शौर० तथा माग० में इसका बड़ा जोर है (§ ३६७)। नपुंसक लिंग की प्रथमा और द्वितीया के एकवचन में –इ और उ के स्थान पर बहुधा –इं और उं भी चलता है, जैसे **दहिं, महुं** और इन रूपों के साथ **दहि, महु** भी काम में लाये जाते हैं (§ ३७९), इस इं, उं का आधार नपुंसकलिंग का चिह्न–अ है। हेमचन्द्र ३, २५ में बताया गया है कि कुछ व्याकरणकार **दहिँ, महुँ** रूप सिखाते हैं। **सम** के साथ महा०, अ० माग० और जै० महा० में **समं** रूप भी पाया जाता है (§ ४१८, हाल, विवाग० १२१ और १२२; उवास०; माग०; आव० एर्त्से० ११, २८)। आकारांत रूप के चिह्न –हिं के लिए कई छपे ग्रंथ हस्तलिखित प्रतियों की नकल करके –हि देते हैं (उदाहरणार्थ, आयार० २, १, ५, ५ में **परिभाएहिं** आया है और इसी ग्रंथ में –हि भी आया है; पेज १२६, ७ में **पच्चचेहिं** आया है और उसी में **पचचेहि** भी छपा है, नायाध० § १४४; विवाह० ६१२ और ६१३ में **भुंजाहिं** मिलता है, साथ ही **भुंजाहि** भी छपा है; कप्प० § ११४ में **जिणाहिं** है और वहां **जिणाहि, धम्माहिं** छपा है, **जिणाहि, निद्दणाहिं** और **निद्दणाहि** भी छपा है; विवाह० ६१२ और ६१३ में **दलयाहिं** और वहीं **दलयाहि** भी पाया जाता है)। कभी कभी अनुस्वार छंद में मात्रा ठीक करने के लिए भी जोड़ा जाता है, जैसे **देवंणागसुवण्ण = देवनागसुपर्ण** (हेमचन्द्र १, २६) है; अ० माग० में **छंदंनिरोहेण = छन्दोनिरोधेन** (उत्तर० १९५) है। संधियों, जैसे महा० **उवरिंधूमणिवेस=उपरिधूमनिवेश** (गउड० १४०), अ० माग० **उवरिं-**

पुंछणीओ = उपरिपुच्छिन्यः (राय० १०८ ; पाठ मे–पुच्छणीउ है) है, ये रूप § १८१ के अनुसार सिद्ध होते हैं। अ० माग० तिरियंवाय = तिर्यग्वात, तिरियं-भागी=तिर्यग्भागिन् (राय० ८२९) § ७५ के अनुसार व्युत्पन्न होते हैं।

१. एणम् में समाप्त होनेवाले इस तृतीया या करण कारक से दोनों वैदिक तृतीया के रूप घनेन और तेंजनेना की तुलना करनी चाहिए (ऐन-मैन, नौन-इन्फ्लेक्शन, पेज ३३१),–एना में समाप्त होनेवाले तृतीया की तुलना करना कठिन है (ऐनमैनका उपर्युक्त ग्रंथ, पेज ३३२)।—२. लौयमान द्वारा संपादित औपपातिक सूत्र, पेज ५८, नोटसंख्या ९।

§ १७५—शब्द के अन्तिम न् और म् नियमित रूप से अनुस्वार में परिणत हो जाते हैं, और यह अनुस्वार महा०, अ० माग० और जै० महा० में स्वरों और व्यञ्जनों से पहले बहुधा लुप्त हो जाता है (§ ३४८ और उसके बाद)। लघु अनुनासिक और अनुस्वार बहुधा अननुनासिक दीर्घ स्वरों से बदल जाते हैं (§ ७२ ; ७४ ; ७५ ; ८६ ; ११४)। र् और ह् के ठीक बाद जब श, ष और स आते हैं तब ये र् और ह् लघु अनुनासिक स्वर हो जाते हैं और बहुधा अनुनासिक की ध्वनि के लुप्त हो जाने पर दीर्घ हो जाते हैं (§ ७६)। दीर्घ अनुनासिक स्वर और दीर्घ स्वर, जिनके बाद अनुस्वार आये, व्यञ्जनों से पहले और शब्द के अन्त में या तो ह्रस्व कर दिये जाते हैं (§ ८३) अथवा उनकी अनुनासिक ध्वनि लुप्त हो जाती है (§ ८९)। शब्द के अन्त में ह्रस्व स्वर की भी यही दशा होती है (§ ७२ ; १७३ ; १७५ ; ३५०)।

ब. व्यंजन

(एक) युक्त स्थलों पर व्यंजन

१—साधारण और सब अथवा अधिकांश वर्गों से सम्बद्ध नियम

§ १७६—न्, य्, श और स् को छोड शब्द के आरम्भ मे आनेवाले अन्य व्यजन नियमित रूप से अपरिवर्तित रहते हैं। सधि के दूसरे पद के आरभ में आने पर और स्वरों के बीच मे होने पर वे § १८६ और १८८ के अनुसार शब्द के भीतरी व्यंजनों के नियमानुसार चलते हैं, हाँ धातु का रूप, भले ही उससे पहले स्वर में समाप्त होने वाला प्रत्यय[1] उसमे क्यों न जुड़े, बहुधा अपरिवर्तित रहता है : महा० मे **पआसेइ** = **प्रकाशयति** (गउड०) ; **भमरउल** = **भ्रमरकुल** (हाल ६६८) हैं ; इसके साथ **महुअरकुल** = **मधुकरकुल** भी चलता है (गउड० ४६८) ; **आइण्ण** = **आकीर्ण** (गउड०); **पइण्ण** = **प्रकीर्ण** (गउड० ; हाल, रावण०) हैं ; **आअअ** (हाल) = **आगत**, इसके साथ साथ **आगअ** रूप भी पाया जाता है (गउड० ; हाल ; रावण०); **वसहइंध** = **वृषभचिह्न** (गउड०) है, इसके साथ साथ **अणुमरण मंडणचिन्ध** भी प्रचलित है (गउड० ४७९)। **करतल** = **करतल** (हाल १७०) है, इसके साथ साथ **चलणतल** = **चरणतल** (रावण० ९, ३७) का भी प्रयोग मिलता है; **उवइसइ**=**उपदिशति** (हाल) ; **अवसारिअ** = **अप्रसारित**; **विहलवसारिअ** = **विह्वलप्रसारित** (रावण० १, १ ; १३, २७) हैं और इस प्रकार § १८९ के विपरीत पल्लवदानपत्र मे भी **अणुवट्ठावेति** = **अनुप्रस्थापयति** (७, ४५)[2] है, **गहवइ** = **गृहपति** (हाल) ; **वंसवत्त** = **वंशपत्र** (हाल ६७६) हैं, इसके साथ साथ **अंकोल्लपत्त** रूप भी देखने में आता है (हाल ३१३) ; शौर० मे **अज्जउत्त** = **आर्यपुत्र** (उदाहरणार्थ, मृच्छ० ५३, १८), इसके साथ साथ माग० में **अय्य पुलिश** = **आर्यपुरुष** रूप भी है (मृच्छ० १३९,२३)। ह्-युक्त व्यजन § १८८ के अनुसार केवल ह रह जाते हैं : जैसे महा० मे **वालहिल्ल**=**वालखिल्य** (गउड०), **रइहर**=**रतिधर** (हाल), **जलहर** = **जलधर** (गउड०, हाल ; रावण०), **मुत्ताहल** = **मुक्ताफल** (गउड०), **ठणहर** = **स्तनभर** (हाल), इसके साथ साथ **सरिसवखल** = **सर्पपखल** (हेमचन्द्र १, १८७), **पलअघण** = **प्रलयघन** (रावण० ५, २२), **वम्महधणु** = **मन्मथधनुः** (रावण० १, २९), **णिवफल** आया है (हाल २४८), **रक्खाभुअंग** = **रक्षाभुजंग** (गउड० १७८) है। इसी प्रकार आरम्भ या अत में आनेवाले अधिकाश पादपूरक अव्यय स्वरों के बाद शब्द के भीतरी अक्षरों के अनुसार व्यवहार मे आते हैं : शौर०, माग० और दाक्षि० मे **अध इं** = **अथ किं** (उदाहरणार्थ, मृच्छ० १७, २४ ; ६०, ६ , ६७, ११ ; माग० मे : मृच्छ० १४, ७ ; २२, १ ; ११८, २ ; ४ ; ६ ; २५ ; दाक्षि० में : मृच्छ० १०१, ३) ;

महा०, शौर०, माग०, दाक्षि०, आ०, अप० और चू० पै० में (हेमचन्द्र ४, ३२६) अ० तथा अ० माग०, जै० महा० और जै० शौर० में य=च ; महा० में इर = फिर= संस्कृत किल (वररुचि ९, ५ ; हेमचन्द्र २, १८६ ; गउड० ; रावण०) है ; महा०, जै०महा०, शौर० और माग० में उण = पुनर् है जिसका अर्थ फिर और अब होता है (हेमचन्द्र १, ६५ और १७७ ; मार्क० पन्ना ३९ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; आव० एर्से० ८, ३३ ; एर्से० ; कालका० ; शौर० में : उदाहरणार्थ मृच्छ० ९, ८ ; १३,२२ ; २५,१ ; २९, ६ ; आदि आदि, माग० में : उदाहरणार्थ मृच्छ० १४,२२ ; ३८, ८ ; ४३, ४ ; १२७, २४ आदि-आदि)। अनुस्वार के बाद भी यह परिवर्तन होता है, जैसे महा० और शौर० में किं उण=किं पुनर् (हाल २५, ४१७ ; रावण० ३,२८ ; ३२ ; ४,२६ ; ११,२६ ; मृच्छ० ३,२० ; १८,३; प्रबोध० १५,९ ; ३८,६; ४२, ६) है ; महा० में एण्हिं उण = इदानीं पुनर् (हाल ३०७), हिअअं उण=हृदयं पुनर् (हाल ६६०) है ; शौर० में संपदं उण = साम्प्रतं पुनर् (मृच्छ० २८,२३), अहं उण (मृच्छ० २५,१४), तस्सि उण=तस्मिन् पुनर् (विक्रमो० ३५, ५), कधं उण=कथं पुनर् (विक्रमो० ७३, १४) ; शौर० और माग० में किंणिमित्तं उण (मृच्छ० ८८, १६ ; १५१, २ हैं ; माग० में : १९, ५) ; वि= अपि (§ १४३) ; महा० में ण बहुत्तं=न प्रभूत है (रावण० ३, ५७), यहा ध्वनि समान रखने के कारण[1], नहीं तो इसके साथ बिना अनुस्वार का रूप अपहुत्त भी चलता है (हाल २७७ और ४३६)। अप० में क्त्वा के अर्थ में इस प्रकार का त्व से निकला गौण प का व्यवहार होता है (§ ३००) ; जैसे पेॅक्खेविणु, पेॅक्खेवि और पेक्खिवि = *प्रेक्षित्वी, भणिवि=*भणित्वी, पिअवि=*पिबत्वी, रमेवि = *रमयित्वी (§ ५८८) है। महा० और अप० णवर, णवरं, जै०महा० नवरं (एर्से० ; ऋषभ०) का अर्थ 'केवल' है (वर० ९, ७ ; हेमचन्द्र २,१८७ ; गउड०; हाल ; रावण० ; हेमचन्द्र ४, ३७७ और ४०१, ६ [यहा यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) का अर्थ भी गौल्दश्मित्त न परम्[2] बताता है, पर इसे शुद्ध समझने में कठिनाइयाँ आ पड़ती हैं क्योंकि इसका अनुस्वार गौण मालूम पड़ता है । महा० और अप० णवरि (वर० ९, ८ , हेमचन्द्र २, १८८ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; हेमचन्द्र ४, ४२३, २), जै० महा० नवरि (पाइय० १७; एर्से० ; कालका०) का अर्थ 'अनंतर' और 'किसी घटना के तुरत बाद' है, इसे न परे से व्युत्पन्न करना निश्चय ही अशुद्ध है क्योंकि इकार इसमें अड़चन डालता है (§ ८५)। सब प्राकृत भाषाओं में न के बाद क्ष या ज्ञ निकल जाता है। अ० माग० और जै० महा० में बहुधा इसका य हो जाता है, भले ही यह शब्द दूसरे शब्द के भीतर क्यों न आये (§ १७०)।

१. इस नियम के लिए जो सब प्राकृत भाषाओं में समान रूप से लागू होता है, स्थान की कमी के कारण केवल महाराष्ट्री के प्रमाण दिये गये हैं। —२. ना० गे० वि० गो० १८९५, पेज २११ में पिशल का निबन्ध। —३. जोॅघणाइँ की आरम्भिक व्यंजन की विच्युति और ओघणाइँ रूप हो जाने का

निर्णयात्मक कारण ध्वनिसाम्य है (रावण० ७, ६२) ; ऐसे अन्य उदाहरणों में ये है : ण दाणं के स्थान पर ण ईणं (रावण० ८, ६१), जणेहिं के लिए अणेहिं, दूरं के स्थान पर ऊरं (रावण० ८, ६५)। एस. गौल्दश्मित्त द्वारा उल्लिखित स्थल (त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ३२, १०५) 'अधिक शुद्ध और कठिनतर' पाठ प्रस्तुत नहीं करते बल्कि उसके पाठान्तर अशुद्ध हैं (गो० गे० आ० १८८०,३२७ में पिशल का निबन्ध। —४. ना० गे० वि० गो० १८७४, ५७३ में नोट ; त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ३२, १०५ में एस० गौल्दश्मित्त के लेख की तुलना कीजिए।

§ १७७—तावत् , तु और ते में प्राकृत बोलियों की दृष्टि से और शब्द के भीतर आने पर त का द हो जाता है। हेमचन्द्र ने ४, २६२, ३०२ और ३२३ में बताया है कि शौर०, माग० और पैशा० में तावत् का ताव और दाव रूप चलते हैं। शौर० और माग० में नियम है कि सब स्वरों और अनुस्वार के बाद तावत् का दाव रूप हो जाता है, जैसे चिट्ठ दाव (मृच्छ० १३८, १६ ; १३९, ३ ; शकु० १२५, १), माग० में : चिष्ठ दाव (मृच्छ० ९, २४ ; ११४, १२)=तिष्ठ तावत् ; शौर०, माग० और दाक्षि० में या दाव = या तावत् (मृच्छ० १८, २ ; २९, ११ ; ५५, १५ ; माग० में : ११७, १४ ; १५१, २५ ; १७०, २४ , दाक्षि० में : १००, १७) ; शौर० में उवणेहि दाव = उपनय तावत् (मृच्छ० ६१, १०) है ; माग० में याणाहि दाव = जानीहि तावत् (मृच्छ ८०, २१) ; शौर० में चिट्ठदु दाव, माग० में चिष्ठदु दाव = तिष्ठतु तावत् (विक्रमो० ३४, ५ ; मृच्छ० १६७, २१) है, शौर० में अज्जुआए दाव = आर्यायै तावत् (मृच्छ० ९४,७) ; माग० में : तुम्हे दाव = युष्मे तावत् (मृच्छ० १६, २०) ; शौर०, माग० और आ० में : इदो दाव = इतस् तावत् (मृच्छ० ३, ३ ; विक्रमो० ४५,१७ ; माग० में : मृच्छ० १६, १६ ; आ० में : मृच्छ० ९९,२०) है, शौर० में : अणसं दाव (रत्ना० २९८,१३) ; दइस्सं दाव = *दायिस्यामि तावत् (मृच्छ० ३५, ८) ; शौर० और माग० में : पच्चं दाव = पचं तावत् (मृच्छ० १२, २५ ; २४, २० ; २९, १ ; माग० में : १२३,४ ; १२६,८) हैं। महा० में भी यह रूप मिलता है (हाल, रावण०) किन्तु ताव का प्राधान्य है, जैसे रावणवहो ३, २६ और २९ में, इसलिए महा० और अ० माग० तथा जै० महा० में केवल ताव रूप ही शुद्ध होगा और यही रूप शौर० और माग० में वाक्य के आरम्भ में रहता है।[१] महा० दा के विषय में § १५० देखिए। जै० शौर० में तु (= किंतु) स्वरों के बाद आने पर दु हो जाता है (पव० ३८१, १८ और २० ; ३८४, ५८ ; ३८५, ६४ ; कत्तिगे० ४०४, ३८८), अनुस्वार के बाद तु रह जाता है (पव० ३८२, २३), महा० में भी ऐसा ही होता है (गउड० ९०७), अ० माग० में भी (सूय० १८८ ; ४१४ ; ४२९ ; ४३७ ; ४३९ ; ४९७), जै० महा० में (आव० एर्लें० १९,३२ ; २०,८), शौर० में (विक्रमो० ४०, २०), दाक्षि० में (मृच्छ० १२५, ११)। इनके अतिरिक्त जै० शौर० को छोड़ अन्य प्राकृत भाषाओं में तु बहुत ही कम दिखाई देता है, शौर० में कुछ अधिक काम में आता है परन्तु

केवल किं तु में (मृच्छ० ५३, २० ; शकु० १७, ११ ; ५०, ११ ; ५१, १२ ; ५४, ९ ; ७३, ८ ; ७८, ७ ; ९८, ७ ; ११९, २ ; १२६, ८ ; विक्रमो० ३३, ११ ; ४०, ६) ; इसके स्थान पर शकुन्तला के द्राविडी और देवनागरी संस्करण तथा विक्रमोर्वशी का द्राविडी संस्करण अशुद्ध रूप किं दु देते हैं।[१] महा० में (गउड० ९६४), जै० महा० में (आव० एर्त्से० ७, ३८ ; ८, १ [पाठ में णु है] ; १९, ३० ; ३४ ; २०, १ ; ३ ; ७ ; एर्त्से० ; कालका०) और विशेष रूप से अ० माग० में (उदाहरणार्थ, सूय० ५० ; १७० ; २०४ ; २९७ ; ३१२ ; ३१६ ; ३३० ; ४०३ ; ४०६ ; ४१० ; ४१५ ; ४१६ ; ४६५ आदि आदि ; उत्तर० ४३ ; २१९ ; २९५ ; ३१२ और उसके बाद ; ३२९ और उसके बाद ; ३५३ ; दस० ६२२, ११ ; २७ ; निरया० § २ ; पत्र में सर्वत्र) पाया जानेवाला उ न तो श० प० पण्डित[२] और याकोबी[३] के अनुसार तु से और न बारन के मतानुसार च[४] से व्युत्पन्न होता है वरन् यह = उ है जो महा० किं उ (कर्पूर० ७८,९ ; १३ ; १४) में मिलता है।— द्वितीय पुरुष का सर्वनाम ते शौर०, माग०, आ० और दाक्षि० में स्वरों और अनुस्वार के बाद दे रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार शौर० में ण दे = न ते (शकु० ६५, १०), अणुभव दाव दे (शकु० ६७, १२) ; मा दे (विक्रमो० ६, १७), का वि दे (मृच्छ० ५, २), परहीअदि दे = परहीयते ते (शकु० ९१, ५), सुट्ठु दे = सुष्ठु ते (मृच्छ० २९, १४), अमदं खु दे = अमृतम् खलु ते (विक्रमो० ९, ११), एसो दे (मृच्छ० ७, ३), कुदो दे (मृच्छ० ३६, ७), पिदुनो दे = पितुस् ते (मृच्छ० ९५, १५ ; [गौडबोले के संस्करण के पेज २७१ में यही पाठ पढा जाना चाहिए]), साअदं दे = स्वागतं ते (मृच्छ० ३, ६), जं दे = यत् ते (मृच्छ० ५५, ४, विक्रमो० ४८, १८), मंतिदं दे = मंत्रितं ते (विक्रमो० ४४, ९) ; शौर० में मत्थअं दे = मस्तकं ते (मृच्छ० १८, ५ ; २१, २२) है, माग० रूप एदे वि दे = एतेऽपि ते (मृच्छ० १२८, १२), तदो दे = ततस् ते (प्रबोध० ५७, १४), पण्हं दे = प्रश्नं ते (मृच्छ० ८०, १८), एव्वं दे = एवं ते (मृच्छ० १२८, १४) ; आ० में पिदा वि दे = पितापि ते, जदि दे = यदि ते (मृच्छ० १०४,१७,१०५,३) हैं ; दाक्षि० में अहिण्णाणं दे = अभिज्ञानं ते (मृच्छ० १०५, ९) है। महा० में भी यह ध्वनिपरिवर्तन होता है, ऐसा आभास मिलता है। इसमें वि दे = अपि ते मिलता है (हाल ७३७); व्व दे = इव ते (रावण० ४,३१) हैं ; परिअणेण दे = परिजनेन ते (रावण० ४,३३) ; पि दे (रावण० ११, ८३) ; अ दे = च ते (रावण० ११, १२६) रूप पाये जाते हैं। हाल के द्राविडी संस्करण को छोड अन्य स्थलों पर सदा ते रूप मिलता है अर्थात् स्वयं अनुस्वार के बाद भी (हाल के ऊपर के स्थल में दे है; रावण० में एक स्थान पर तु है), इस दशा में पाठ का ढङ्ग संदिग्ध रह गया है। शौर० और माग० में ते (= थे) भी अन्य सर्वनामों के बाद आने पर दे हो जाता है (§ ४२५)। ऐसा ही उदाहरण महा० में जाला दे = यावत् कालात् ते (ध्वन्यालोक ६२, ४=हाल ९८९) है। महा० में दावइ = तापयति के विषय में § २७५ देखिए।

१. कापेल्लर का येनाएर लिटेराट्रसाइटुंग १८७७, पेज १२५ में लेख ; बोएटलिंक कृत संस्कृत खेस्टोमाटी[^1], पेज ३६९। हेमचन्द्र ४, २६२ पर पिशल की टीका देखिए ; मालविकाग्निमित्र, पेज १२२ पर बौ ल्लें नसें न की टीका देखिए। — २. § २०५ से तुलना कीजिए। — ३. गउडवहो देखिए। — ४. औसगेवैल्ते एर्सेलुंगन इन महाराष्ट्री देखिए। — ५. निरयावलियाओ देखिए।

§ १७८—अधिकतर प्राकृत भाषाओं में क, ग, च, ज, त और द शब्द के भीतर और साधारणतः स्वरों के बीच में आने पर और प, य और व कभी कभी तथा कभी कभी य भी, निकाल दिये जाते हैं (वर० २, २ ; चंड० ३, ३४ ; हेमचन्द्र १, १७७ ; क्रम० २, १ ; मार्क० पन्ना १४)। पल्लवदानपत्र, विजयबुद्धवर्मन् दानपत्र, पै० और चू० पै० में यह नियम देखने में नहीं आता। इस प्रकार महा० में उअअ = उदक (गउड० ; हाल ; रावण०)[1] ; लोअ=लोक ; सअल = सकल (हाल ; रावण०) ; सुअ=शुक (हाल ; रावण०) ; अणुराअ = अनुराग ; जुआल = युगल ; णअर = नगर (गउड० ; हाल) ; तुरअ=तुरग (गउड० ; रावण०) ; णाराअ = नाराच (रावण०) , पउर = प्रचुर (हाल) ; वीइ=वीचि (गउड०; रावण०); गअ = गज ; णिअ = निज ; भोअण = भोजन (हाल); रअअ=रजत (रावण०) ; कअंत = कृतान्त (गउड० ; रावण०); णिअंब= नितम्ब ; रसाअल=रसातल (गउड० ; रावण०) ; गआ = गदा (रावण०); पाअ = पाद ; मअण=मदन (हाल ; रावण०) ; हिअअ=हृदय ; णिउण = निपुण (हाल ; रावण०) ; रिउ = रिपु ; रूअ=रूप ; आलाऊ, लाऊ=अलाबू (§ १४१) ; विउह = विबुध (हेमचन्द्र) ; छाआ = छाया ; पिअ = प्रिय ; विओअ = वियोग (हाल , रावण०), जीअ = जीव ; दिअह = दिवस ; लाअण्ण=लावण्य (गउड०) , वळआणल=वडवानल (हेमचन्द्र) हैं। § १९९ से भी तुलना कीजिए।

१. जिन शब्दों के लिए उन ग्रंथों का उल्लेख नहीं किया है जिनसे वे लिये गये हैं, वे भी इन्हीं ग्रन्थों से लिये गये हैं। § १८४ की नोट संख्या १ से भी तुलना कीजिए।

§ १७९—जिन व्यंजनों की विच्युति हो जाती है, उनके स्थान पर लघुप्रयत्नतर यकार अर्थात् हल्की ध्वनि से उच्चारित य बोला जाता है (§ ४५ ; चंड० ३, ३५ ; हेमचन्द्र १, १८० ; क्रम० ३, २)। जैनों के द्वारा लिखित हस्तलिपियों को छोड़ यह य लेख में विशेष तौर पर नहीं लिखा जाता अर्थात् साधारण य और इस य में भेद दिखाने के लिए यह लघुप्रयत्नतर यकार भिन्न रूप में व्यक्त नहीं किया जाता। हेमचन्द्र १, १८० में बताता है कि यह केवल अ और आ के बीच में आता है किंतु उसने यह भी माना है कि पियइ=पिबति और सरिया= पाली सरिता =सरित्। मार्कण्डेय ने पन्ना १४ में एक उद्धरण दिया है जिसके अनुसार य श्रुति तब आती है जब एक स्वर अ या इकार हो : अनादाव् अदितौ वर्णौ पठित-यौ यकारवद् इति पाठशिक्षा। क्रमदीश्वर के अनुसार य अधिकांश में अकारों के

बीच में आता है, ऐसा बताया गया है, जैसे (१) सयलाण, (९) पया, (१०) णाय, मणयं पि (?), (११) सयलम् पि (?); इसके विपरीत यह इकार के बाद अधिकांश में देखने में नहीं आता। किंतु इस विषय पर लिपि में गड़बड़ है याने अनियमितता है। णिय (९) के साथ साथ णिअ (१२) भी दिया गया है; १४ वाँ इय है और वहीं १३ वाँ णेय = नैत्र है। अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० की प्राचीनतम हस्तलिपियाँ अ, आ से पहले और सभी स्वरों के बाद अर्थात् इनके बीच में य लिखती हैं और इन्हीं प्राकृतों की यह य खास पहचान है।[1] इस हिसाब से ये लिपिभेद भी शुद्ध हैं, जैसे इन्दिय = इन्द्रिय, हियय=हृदय; गीय=गीत; दीहिया= दीर्घिका; रुय=रुत; दूय=दूत; तेय=तेजस् और लोय=लोक। प्राकृतों में निम्नलिखित उदाहरण भी मिलते हैं:—पति के स्थान पर पइ बोला जाता है, लोके को लोए कहते हैं; दूतः के लिए दूओ रूप है; उचित को उइय बोलते हैं और ऋतूनि के लिए उऊइं आता है। पहले के तथा बाद में आने वाले पाराओं में बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं। जैन लोग ऐसी तथा अन्य लिपिभेदों का भूल से अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० से दूसरी प्राकृत भाषाओं में भी प्रयोग करते हैं (§ ११ और १५)।

१. त्सा० वि० स्प्रा० ३, ३६६ में होएफर का निबंध; वेबर द्वारा संपादित भगवती १, ३९७ और उसके बाद; ए० म्युलर का बाइत्रैगे, पेज ४ और उसके बाद का लेख, पिशल का हेमचन्द्र १, भूमिका के पेज १० और उसके बाद; हेमचन्द्र १, १८० पर उसी की टीका; त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ३३, ४४७ में क्लात्त का मत, उक्त पत्रिका के ३४, १८१ में याकोबी का मत; कू० त्सा० २५, २९५ में स्टाइनटाल द्वारा संकलित नमूने पेज ३।

§ १८८—छ, झ, ठ और ढ को छोड़ अन्य ह युक्त वर्ण (महाप्राण, जैसे ख, घ, थ, ध, फ और भ। —अनु०) स्वरों के बीच में आने पर ह में परिणत हो जाते हैं (वर० २, २७; हेमचन्द्र १, १८७; क्रम० २, १४; मार्क० पन्ना १६)। इस प्रकार महा० में: मुह=मुख (गउड०, हाल; रावण०)[१]; मेहला = मेखला; साहा = शाखा, जहण = जघन; मेह = मेघ; रहुणाह = रघुनाथ (रावण०); लहुअ = लघुक; अह = अथ, जूह = यूथ; महुमहण = मधुमथन; रह=रथ; अहर = अधर; रुहिर = रुधिर (गउड०; रावण०); वहू = वधू; सीहु = सीधु (गउड०; हाल); सहर = शफर (गउड०); सेहालिआ = शेफालिका (हाल); अहिणव = अभिनव; णह = नभस् और = नख; रहस = रभस; सहा = सभा (रावण०); सेरिह = सैरभ (गउड०; हाल) हैं। फ के विषय में विशेष बातें § २०० में देखिए। शब्द के आरम्भ में होने पर इनका दो चार स्थान पर ही ह रूप होता है; हम्मइ और इसकी सन्धियाँ णिहम्मइ, णीहम्मइ, आहम्मइ, पहम्मइ (हेमचन्द्र ४, १६२), णीहम्मिअ (=बाहर निकल गया या चला गया: देशी० ४, ४३) हैं, महा० में पहम्मंति (गउड० ८७१) =पाली घम्मति। इस शब्द में संस्कृत में भी ह है और सुराष्ट्र[२] की भाषा में है; हरिपाल ने

गउडवहो ८७१ की टीका में इसे कनोज की भाषा का शब्द बताया है। कई प्राकृत भाषाओं में भू धातु का भ बहुधा ह बन जाता है। इसकी संधियों में भी ह रूप ही रहता है। यह ह रूप उन रूपों से निकला है जो पादपूरक रूप में व्यवहृत हुए हैं। इस प्रकार अ० माग० और जै०महा० में हवइ, जै०शौर० में हवदि, महा०, जै० महा० और अप० में होइ और जै० शौर० होदि = भवति है; महा० में हुवंति= भवन्ति, पल्लवदानपत्र में होज रूप आया है, पै० में हुवेय्य = भवेत् मिलता है, माग० में हुवीअदि = *भूयते, शौर० में हविस्सदि, माग० में हविश्शदि= भविष्यति, अ० माग० और जै०महा० होयव्व, शौर० और माग० में होदव्व, माग० में हुविदव्व = भवितव्य ; महा० और जै०महा० होउं, जै०शौर० होदुं = भवितुम् (§ ४७५ ; ४७६ ; ५२१ और ५७०) हैं। हाल के तेलुगू संस्करण में भ के स्थान पर बहुधा ह आया है : हट्ट = भ्रष्ट ; हणिद = भणित ; भणिरी के लिए हणिरी रूप मिलता है ; हंडण = भडन है ; भमिर का हमिर रूप लिखा है ; हाआ = भ्राता ; हुअग, हुअंग=भुजग, भुजंग ; हुमआ = भ्रुमआ ; हूसण = भूषण ; हेअ = भेद और होअण = भोजन हैं।[3] संधि के दूसरे पद में आरम्भ में आनेवाले इन ह-युक्त वर्णों के विषय में § १८४ देखिए।

१. § १८६ नोट संख्या १ से तुलना कीजिए।—२. पातंजलि व्याकरण महाभाष्य के कीलहौर्न द्वारा संपादित संस्करण खंड १, पेज ९, २६ ; नैघण्टुक २, १४ (रौट के संस्करण के पेज १४ और १७ = सत्यव्रत सामाश्रमी के संस्करण का खंड १, २३८) ; वेबर, इं० स्टु० १३, ३६३ और उसके बाद ; ए० कून कृत बाइत्रैगे, पेज ४२। — ३. वेबर द्वारा संपादित हाल।

§ १८९—पल्लव और विजयबुद्धवर्मन् के दानपत्रों में सब व्यंजन और भ को छोड़ जिसमें होज (§ १८८) रूप मिलता है, ह युक्त वर्ण भी अपरिवर्तित रहते हैं : पल्लवदानपत्र में आरखाधिकते गुमिके तूथिके=आरक्षाधिकृतान् गुल्मिकान् तीर्थिकान् (५, ५) है ; उदकादिं (६, २९) ; जामातुकस = जामातृकस्य (६, १४) ; नागनदिस = नागनंदिनः (६, २५) ; पतिभाग = प्रतिभाग (६, १२) ; महाराजाधिराजो (५, १) है ; अप्पतिहत = अप्रतिहत (६, १९) ; वरिससतसहस्सातिरेक = वर्षशतसहस्रातिरेक (७, ४२) ; आपिट्टि (६, ८ और ३७) हैं; अपि (६, ३७) ; परिहापेतव्व = परिहापयितव्य (६, ३६) ; पमुखाणं = प्रमुखाणाम् (६, २७ और ३८) ; उपरिलिखितम् (७, ४४) ; अथ (६, ४०) ; तूथिके = तीर्थिकान् (५, ५) ; अस्समेध = अश्वमेध (५, १) ; नराधमो (७, ४७) ; वसुधाधिपतये = वसुधाधिपतीन् (७, ४४) ; -च्छोभं = -क्षोभम् (६, ३२) ; वल्लभमदेन (६, ४०) रूप आये हैं। अपवाद रूप हैं : कस्सव=काश्यप (६, १८), कारवेज्जा = पाली कारापेय्य (६, ४०), अणुवट्ठावेति = अनुप्रस्थापयति (§ १८४); वि = अपि (५, ६ ; ६, २९) ; भड = भट (५, ७ ; ७, ४३) ; कोडी =

कोटी (६, १०) और फड = कृत (७, ५१) है। एपिग्राफिका इंडिका १, ३ में ब्यूलर का मत और § १० से तुलना कीजिए।

§ १८२—पै० में शब्द के आरम्भ और मध्य में अधिकतर व्यजन बने रहते हैं (हेमचन्द्र ४, ३२४ ; रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ की नमिसाधु कृत टीका) : **अनेकप ; मकरकेतु ; सगरपुत्तवचन ; विजयसेनेन लपितं ; पाटलिपुत्त ; पताका ; वेतस** (हेमचन्द्र ४, ३०७) ; **पाप ; आयुध ; सुख ; मेघ ; समा ; कमठ ; मठ** पै० है।—आरम्भ तथा मध्य में द् आने पर उसके स्थान में त आ जाता है (हेमचन्द्र ४, ३०७) और नमिसाधु के मतानुसार द का त इच्छानुसार होता है : **तामोतर = दामोदर ; तिट्ठ = दृष्ट** (हेमचन्द्र ४, ३१४; ३२१; ३२३) ; **तट्ठूण, तत्थून** (हेमचन्द्र ४, ३१३ ; ३२३) ; **तातिसं = तादृश, यातिस = यादृश** (हेमचन्द्र ४, ३१७) ; **तेत्ति = * दयांत** (हेमचन्द्र ४, ३१८) ; **तेवर= देवर** (हेमचन्द्र ४, ३२४) ; **मतन = मदन, सतन=सदन, पतेस = प्रदेश, वतनक=वदनक** (हेमचन्द्र ४, ३०७) हैं।—हेमचन्द्र के अनुसार थ, ध में परिणत हो जाता है : **अध = अथ** (हेमचन्द्र ४, ३२३) ; **कधितून=*कथितवान** (हेमचन्द्र ४, ३१२) ; **पुधुम = प्रथम** (हेमचन्द्र ४, ३१६) ; **कधं = कथम्** (हेमचन्द्र ४, ३२३) ; नमिसाधु का कथन है कि थ बना रहता है : **पथम=प्रथम ; पुथुवी = पृथ्वी** है।

§ १८३—चू० पै० में पै० के ही समान वर्गों के पहले दो वर्ण बने रहते हैं, बल्कि तीसरे और चौथे वर्ण शब्द के आरम्भ या मध्य में होने पर यथाक्रम वर्ग के पहले और दूसरे वर्णों में बदल जाते हैं (हेमचन्द्र ४, ३२५ ; क्रम० ५, १०२)[1] : **ककन=गगन ; किरितट=गिरितट ; खम्म = घर्म ; खत=घृत** (§ ४७) ; **चात=जात ; चीमूत् = जीमूत ; छच्छर=झर्झर ; छंकार=झंकार ; टमरुक= डमरुक ; टिम्ब= डम्ब ; टक्का = ढक्का ; तामोतर=दामोदर ; थूळी = धूली ; पालक=बालक ; पिसर्=दिस ; फकवती=भगवती ; फूत=भूत ; नकर= नगर ; मेख = मेघ; राच=राजन् ; तटाक = तडाग; काट=गाढ ; मतन = मदन; मथुर=मधुर; साथु=साधु; रफस=रभस** होता है। हेमचन्द्र ४, ३२५ और क्रमदीश्वर ५, १०३ के अनुसार गौण ध्वनियों [उन ध्वनियों से तात्पर्य है जो अन्य प्राकृतों में मूल संस्कृत से बदल कर आयी हों।—अनु०] में भी ध्वनि-परिवर्तन का यह नियम लागू होता है, जैसे **चचन** = प्राकृत **जजण** = संस्कृत **यजन** ; **पटिमा** = प्राकृत **पडिमा** = **प्रतिमा** ; **ताठा** = प्राकृत **दाढा=दंष्ट्रा** (§ ७६) हैं। हेमचन्द्र और क्रमदीश्वर के मतानुसार चू० पै० में संयुक्त वर्ण भी शब्दों में डाले जाते हैं : **तुक्का=दुर्गा ; मक्कन=मागण, वक्ख=-व्याघ्र ; चच्चर=जर्जर ; निच्छर=निर्झर ; कंट=गड ; मंटल=मंडल; खंट=षंट ; कंतप्प=कंदर्प ; पंधव=बंधव ; टिम्प= डिम्ब** और **रम्फा = रंभा** है। वररुचि १०, ३ में बताता है कि शब्द के आरम्भ के वर्ण और संयुक्त व्यंजन चू० पै० में अपरिवर्तित रहते हैं। भामह ने इसके ये उदाहरण दिये हैं : क्रमदीश्वर के कथन के विपरीत भामह का मत है कि **गकन = गगन; गमन;**

दसवतन; गोपिन्त = गोविन्द; संगाम = संग्राम, वग्घ= व्याघ्र होते हैं; इस शब्द का रूप हेमचन्द्र ने वग्घ दिया है। उपर्युक्त शब्दों में गोपिन्त का न्त वररुचि के मत के विरुद्ध है, किन्तु हेमचन्द्र और क्रमदीश्वर के मत के अनुसार है और शब्द के मध्य की ध्वनि के विषय में भामह द्वारा दिये उदाहरण भी इनके मत से मिलते हैं : जैसे मेरव, राच-, णिच्छर, वटिस=वडिश, माथव = माधव, सरफस, सलफ= शलभ है। हेमचन्द्र ४, ३२७ में उल्लेख करता है कि अन्य आचार्यों के मत से आरम्भ के व्यजनों और युज् धातु में ध्वनि परिवर्तन नहीं होता : गति ; घम्म ; जीमूत ; झच्छर ; डमरुक ; ढक्का ; दामोतर ; बालक ; भकवती ; नियोजित ; ४,३२५ में हेमचन्द्र ने नियोचित रूप बताया है। व की प्रक्रिया संदिग्ध है। भामह के मत से गोपिन्त=गोविन्द ; केसप = केशव किन्तु वटिस = वडिश; दसवतन = दशवदन; माथव=माधव और वग्घ = व्याघ्र है। हेमचन्द्र के उदाहरणों में मौलिक व (= संस्कृत व।—अनु०) सर्वत्र ज्यों का त्यों रह जाता है : वक्ख = व्याघ्र ; पन्धव=बांधव ; फकवती=भगवती और वसुधा=वसुधा है। क्रमदीश्वर ५, १०८ में है पन=वन, किन्तु ५, ११० में है वञ्ञ या ञ्ञ = वर्ण ; ५, १०७ में भी व ज्यों का त्यों रहता है, ऐसा विचार प्रकट किया गया है और ये उदाहरण दिये गये हैं : ध्वलति=ध्वनति, ध्वटित=ध्वनित।[1] इन सब तथ्यों से आभास मिलता है कि (व के स्थान पर।—अनु०) प हो जाना चाहिए, यदि यहां नाना प्राकृत भाषाएँ आपस में मिलकर गड़बड़ा न गयी हों। पै० में य से निकला एक गौण व (§ २५४) प बन गया है : हितप=हृदय (सिंह० पन्ना ६४), हितपक=हृदयक (वर० १०, १४ ; हेमचन्द्र ४, ३१० ; क्रम० ५, ११२, रुद्रट २, १२ की टीका में नमिसाधु; वाग्भटालंकार २, ३ की टीका में सिंहदेवगणिन्[2]) है। पिव के विषय में § ३३६ देखिए। जिप्सियों की तथा दर्दु और काफिर भाषाओं में समान रूप के वर्णपरिवर्तन के विषय में मिक्लोशिच की पुस्तक बाइत्रैगे त्सुर कैंटनिस डेर त्सिगौयनरमुंडआर्टन (विएना, १८७४ और १८७४) पहले भाग का दूसरा खंड, पेज १५ और उसके बाद; खंड चार, पेज ५१ देखिए। § २७ की नोट संख्या ७ और ८ की भी तुलना कीजिए।

१. § २७ में बताया गया है कि व्याकरणकार पै० और चू० पै० को स्पष्ट रूप से अलग अलग नहीं करते। वररुचि और क्रमदीश्वर का पै० से चू पै० का प्रयोजन है और हेमचन्द्र ४, ३०४ में पैशाची राजन् के विषय में दिया गया नियम स्पष्ट ही चू० पै० के विषय में है क्योंकि हेमचन्द्र ४, ३०४ में राजा और राचा रूप दिये गये हैं (जिनमें राचा चू० पै० है), भामह १०, १२ में राचानं रूप आया है और (हेमचन्द्र। —अनु०) ४, ३२१ (पैशाची के लिए। —अनु०) राजं, राजा रूप दिये हैं और इसके विपरीत ४, ३२५ में चू० पै० का रूप राचा बताया गया है। हेमचन्द्र ४, ३२६ में चू. पै. में है : अमालगपतिविम्बं ; लुद्धं समुद्दा जो ४, ३२७ के अनुकूल हैं, किन्तु इसके विपरीत—पातुनखेपेन है जो पातुपखेपेन रूप में सुधारा जाना चाहिए। —२. इन्डिश० स्टि० भा०, पेज ४४१ में लास्सन के कथनानुसार

पेरिस की हस्तलिखित प्रति में भी यही पाठ है ; इस विषय पर § २४३ की भी तुलना कीजिए। — ३. वररुचि में जो अशुद्ध पाठ हितअकं है उसके और क्रमदीश्वर के इस पाठ के स्थान पर हितपकं पढ़ना चाहिए (वररुचि के उस स्थान की तुलना भी कीजिए जहाँ प के स्थान पर भूल से व पढ़ा गया है)।

§ १८४—हेमचन्द्र ४, ३९६ के अनुसार अप० में जब क, त और प स्वरों के बीच में आते हैं तब लोप होने के बजाय क्रमशः ग, द और ब मे बदल जाते हैं तथा ख, थ, फ और ह में बदलने के स्थान पर क्रमशः घ,ध और भ मे परिवर्तित हो जाते हैं। इस नियम के उदाहरण अधिक नहीं मिलते : खअगालि = क्षयकाले (हेमचन्द्र ४, ३७७), णाअगु = नायकः (हेमचन्द्र ४, ४२७), विच्छोहगरु = विक्षोभकरम् (हेमचन्द्र ४, ३९६, १); सुधे = सुखे (हेमचन्द्र ४, ३९६, २); आगदो = आगतः (हेमचन्द्र ४, ३५५ और ३७२); करदि, चिट्ठदि = करोति, तिष्ठति (हेमचन्द्र ४, ३६०); कीळदि = क्रीडति (हेमचन्द्र ४, ४४२, २); कृदन्तहों = कृतान्तस्य (हेमचन्द्र ४, ३७०, ४); घडदि, प्रआवदी = घटते, प्रजापतिः ; थिदो=स्थितः (हेमचन्द्र ४, ४०५); मदि = मति (हेमचन्द्र ४, ३७२); विणिम्मविदु, किदु, रदिएँ, विहिदु = विनिर्मापितम्, कृतम्, रत्याः, विहितम् (हेमचन्द्र ४,४४६); गञ्जिदु, मळिदु, हराविदु, भामिदु और हिंसिदु = गञ्जितम् (=पीडितम् : हेमचन्द्र ४, ४०९ ; इस सम्बन्ध में आर्यासप्तशती ३८४, ६८५ की तुलना कीजिए ; गीतगोविन्द १, १९), मर्दितुम्, हारितम्, भ्रामितम्, हिंसितम् (कालका० २६०, ४३ और उसके बाद); सवधु = शपथम्, कधिदु = कथितम्, सभलउँ = सफलम् (हेमचन्द्र ४, ३९६, ३) है। बहुत अधिक अवसरों पर अप०, महा० मे चलनेवाले नियमों का ही अनुसरण करती है, पिगल की अप० तो सदा उन नियमों का ही पालन करती है केवल एक अपवाद है अर्थात् उसमें मदगल=मदकल आया है (§ २०२), कालिदास भी अपनी अप० में महा० के नियमों को ही मानता है, इसलिए ध्वनि का यह नियम स्थान विशेष की बोली से सम्बन्धित माना जाना चाहिए (§ २८)।

§ १८५—व्यजनों की विच्युति अथवा ह युक्त वर्णों के ह मे बदल जाने के स्थान पर बहुधा द्वित्व हो जाता है। ह युक्त वर्ण अपने वर्ग के अपने से पहले अक्षर को अपने मे मिला लेते हैं, इसलिए वे अपना द्वित्व रूप इस प्रकार का बना लेते हैं : क्ख, ग्घ, च्छ, ज्झ, ट्ठ, ड्ढ, त्थ, द्ध, प्फ और ब्भ (वररुचि ३, ५१ ; चड० ३, २६ ; हेमचन्द्र २, ९० , क्रम० २, १०८ , मार्कण्डेय पन्ना २६)। पहले आये हुए तथा आगामी पाराओं में इस नियम के अनगिनत उदाहरण आये है। पल्लवदानपत्रों में ह युक्त द्वित्व व्यजन अन्य शिलालेखों की भाँति ही दिये गये हैं और आशिक रूप में एक ही ह युक्त वर्ण देते हैं : आरखाधिकते = आरक्षाधिकृतान् (५, ५) ; वधनिके = वर्धनकान् (६, ९) ; दखिण = दक्षिण (६, २८) और पुफ = पुष्प (६, ३४) है। शिलालेखों में बहुधा हस्तलिखित प्रतियों की नकल होती है : अगिदठोम [यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]=अग्निष्टोम (५, १) ; सवत्थ =

सर्वत्र (५, ३) ; रट्टिक=राष्ट्रिक (५, ४) ; पॅ त्थ=इत्था (५, ७) ; वत्थ-याण = वास्तव्यानाम् (६ ८) ; रट्ठे = राष्ट्रे (६, २७) ; अरट्ठ = अराष्ट्र (६, ३२) ; अट्ठारास = अष्टादश (६, ३४) ; वे ट्ठि = विष्टि (६, ३२) ; –च्छोभ=क्षोभम् (६, ३२) ; फट्ठ = काष्ठ (६, ३३) ; अग्धिका = अर्धिका: (६, ३९) ; अणुपट्ठावेति = अनुप्रस्थापयति (७, ४५) ; विधे = विद्वान् (७,४६) ; सहत्थ = स्वहस्त (७, ५१) और अभत्थेमि = अभ्यर्थयामि (६,४४) में दोनों प्रकार की लेखनपद्धतियाँ सम्मिलित हैं। उन हस्तलिपियों में, जो द्राविडी लिपि में हैं और जो इनसे देवनागरी लिपि में नकल की गयी हैं तथा जो दक्षिण भारत में छापी गयी हैं, ह युक्त वर्णों को भी द्वित्व में छापा गया है तथा अन्य व्यंजन भी द्वित्व में हैं अथवा अधिकांश में ह युक्त वर्ण के आगे एक छोटा गोल बिन्दु उसी पंक्ति में रखकर द्वित्व का संकेत किया गया है : यह रूप अग्घ अथवा अ०घ=अग्घ= संस्कृत अर्घ्य, अब्भत्थणा अथवा अ०भ०थणा = अब्भत्थणा=संस्कृत अभ्यर्थना; वच्छत्थल अथवा व०छ०थल=वच्छत्थल=संस्कृत वक्षःस्थल और घ का द्वित्व बहुत कम देखने में आता है ; ह युक्त अन्य वर्णों के लिए हस्तलिपियाँ भिन्न भिन्न रूप देती हैं, एकरूपता नहीं पायी जाती। बंगला हस्तलिपियों में द्वित्व बहुत ही कम पाया जाता है, कभी-कभी पुराने संस्करणों की भी यही दशा है, जैसे प्रबोधचन्द्रोदय, पूना शाके १७७३ में ह युक्त कुछ वर्ण द्वित्व में पाये जाते हैं : ख का द्वित्व, रक्खसी= राक्षसी (पन्ना १३ अ) ; घ का द्वित्व, उग्घाडीअदि=उद्घाट्यते (पन्ना १२ ब), ठ का द्वित्व, सुट्ठु= सु ट्ठु (पन्ना १९ ब), फ का द्वित्व, विप्फुरंत = विस्फुरत् (पन्ना १६ ब) ; भ का द्वित्व, णिब्भरिसिद = (विचित्र रूप !) णिब्भच्छिदं के स्थान पर=निर्भर्त्सित (पन्ना ६ अ) है। इस संस्करण में एक स्थान पर संस्कृत रूप उज्झित भी आया है (पन्ना १३ अ)। पूना का यह संस्करण स्पष्ट ही दक्षिण भारत के किसी पाठ पर आधारित है क्योंकि यह तेलुगु संस्करण से बहुधा मिलता है। अपनी हस्तलिपियों के आधार पर शं० पं० पंडित ने मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशी के अपने संस्करणों में इनकी पूरी पूरी प्रतिलिपि छपा दी है और सभी ह युक्त वर्णों का द्वित्व हूबहू दे दिया है, उदाहरणार्थ : पुच्छिदुं, दिट्ठिं, णिज्झाअन्ती, सिणिद्धं (मालवि० पेज ५), उब्भिण्ण, पडिच्छदा (पेज ६) आदि आदि रूप छापे गये हैं।[१] यह द्वित्व हाल[२] की हस्तलिखित प्रतियों में भी देखा जाता है और एक आध ह युक्त वर्णों का, खास कर भ का, कलकत्ते से प्रकाशित कुछ जैन पुस्तकों में, जैसे 'पण्हावागरणाइं' में द्वित्व मिलता है : खोखुब्भमाण (१६९, २१०) ; पब्भट्ठ (२१६) ; लब्भा (३६३, ४६६), विब्भमो (२२७, ४६८) ; अब्भुण्णय (२८४) ; विवागसुय में : तुब्भेहिं (१७) ; तुब्भं (२०, २१), खल (२१४) ; पामोक्खं (२१५) ; पामोक्खाणं, पामोक्खेहिं, अब्भुगए (२१६) ; जीवाभिगमसुत्त में : सच्चरखुत्तो (६२१), दरीखिणिल्ल (८४२), सव्वब्भंतरिल्ल (८७८ और उसके बाद), –णरखाणं (८८३ ; ८८६, ८८७), मज्झिमिया (९०५ और उसके बाद), अघद्धा (१०५५ और उसके

वाद) आदि-आदि रूप पाये जाते हैं। इस लेखनपद्धति का महत्व भाषासम्बन्धी नहीं, शब्दसम्बन्धी है (§ २६)।

१. यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; एपि० इंडिका० २, ४८४ में लौयमान का लेख। — २. पण्डित द्वारा सम्पादित मालविकाग्निमित्र (बंबई १८८९), भूमिका का पेज ५ और उसके बाद की तुलना कीजिए। —३. वेबर द्वारा सम्पादित हाल का पेज २६ और उसके बाद।

§ १८९—एक व्यंजन, यदि दो स्वरों के बीच में हो तो लुप्त हो जाने अथवा यदि ह युक्त वर्ण हो तो ह् में बदल जाने के स्थान पर, बहुधा उसका द्वित्व हो जाता है जब वह मूल में (=संस्कृत में।—अनु०) किसी ध्वनिबलयुक्त स्वर से पहले आया हो। अर्धस्वर और अनुनासिक भी इस नियम के अनुसार द्वित्व प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अ० माग० उक्खा = उर्खा (आयार० २, १, २, १) ; अ० माग० और शौर० उज्जु = ऋजुं (§ ५७) ; अप० कंथु = कथा (§ १०७) ; जै० महा० जित्त = जिर्त (एर्त्से० ३, ६) ; अ०माग० णिज्जित्त = निर्जिर्त (सूय० ७०४) ; महा० णक्ख, अ०माग० नक्ख और इसके साथ साथ णह और नह रूप = नर्ख (भाम० ३, ५८ ; हेमचन्द्र २, ९९ ; क्रम० २, ११२ ; मार्क० पन्ना २७ ; पाइय० १०९ ; हाल ; रावण० ; उवास०) ; अप० णिम्म = नियर्म (§ १४९) ; महा०, अ०माग० णोल्लइ णुल्लइ = नुर्दति (§ २६४) ; महा० फुट्टइ = स्फुटति है। (हेमचन्द्र ४, १७७ और २३१ ; गउड० ; हाल ; रावण०) ; अप० फुट्ट = स्फुटे (हेमचन्द्र ४, ३५७, ४) : फुट्टिसु = स्फुटिष्यामि (हेमचन्द्र ४, ४२२, १२) ; फिट्टइ = *स्फिटति (हेमचन्द्र ४, १७७ और ३७०) है, इसके साथ साथ फुडइ, फिडइ रूप भी चलते हैं ; साल्लइ = सुदयति (§ २४४) ; हत्त=हर्त, ओहत्त = अवहर्त (=नीचे को झुका हुआ : देशी० १, १५६), पलुहत्त, परलुहत्त = पर्युहत, परःहत (=वृक्ष : देशी० ६, २९) ; अप० दुरित्त=दुरित (पिंगल २, १७ ; ३५ ; ४३ [पाठ में दूरित्ता रूप छपा है] ; १८६) ; मालत्ती = मालती (पिंगल २, ११६) ; वत्त = वर्तम् (हेमचन्द्र ४, ३९४) है।—क उपसर्ग के सम्बन्ध में यही ध्वनिबल स्वीकार करना पड़ेगा : महा० सीसक्क = शीर्षक (रावण० १९, ३०) ; लेडुक्क, लेढुक = लेप्टुक (§ ३०४) ; महा०, जै० महा०, शौर० और अप० पाइक्क = पादातिक (हेमचन्द्र २, १३८ ; रावण० ; एर्त्से० ; मालती० २८८, ६ ; बाल० १९९, १० ; प्रिय० ४४, १८ [कलकतिया संस्करण ४९, २ के साथ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; पिंगल १, १०७ ; १२१; १४३ अ; १५२ अ [पइक्क ; पाठ में पइक है]; २,१३८) ; माग० में हडक्क=हृदक (§ १५० ; वर० ११; ६ ; क्रम० ५, ८९ [पाठ में हृदक्को आया है। लास्सन के इन्स्टि० लि० प्रा० पेज ३९३ में हृदक्को दिया गया है] ; मृच्छ० ७९, ११ ; ११४, १४ ; १६ ; १८ ; ११५, २३), पद्य में हडक रूप भी मिलता है (मृच्छ० ९, २५ [हक्कार] और हडक १०, २१ में आया है) ; माग० में हग्गे = *अहकः (§ १४२ और ४१७) ; अयक्क और साथ साथ एक ही अर्थ में चलनेवाला अयग = अजक

(=दानव : देशी० १, ६)[1] ; अप० में फालिका = फालिका (पिंगल २, ४३); शौर० में चच्चिका = -चर्चिक (मृच्छ० ७३, १५) ; अप० में णाअक्क = नायक (पिंगल १, ३४ ; ५७ ; ११६); दीपक्क=दीपक (पिंगल १, १३८) ; रूअक्का = रूपक (पिंगल २, १३७); सारंगिक्का = सारंगिका (पिंगल २, ७१ [पाठ में सरंगिका है] ; १८७) । यही नियम प्रत्यय त पर भी लागू होता है। अ० माग० में विउद्दिवत्त = विवुर्वित (सूय० ७९२ और ८०६), इसके साथ साथ साधारण रूप विउव्विय भी चलता है। इसी नियम के अनुसार ही ल का द्वित्वीकरण भी सिद्ध हो जाता है ; -अल्ल, -इल्ल, -उल्ल = अर्ल, -इर्ल और -उर्ल (§ ५९९) । इस नियम के विपरीत किन्तु इससे देखादेखी निम्नलिखित शब्द बन गये हैं : अप० में पउमावत्ती=पद्मावती और मेणक्का=मेनका (पिंगल १, ११६; २, २०९) हैं । *दीर्घ स्वर के बाद भी बहुधा द्वित्वीकरण हो जाता है किन्तु दीर्घ स्वर द्वित्वीकरण के बाद ह्रस्व बन जाता है :* जैसे, **पॅव्वं** = पर्वम् ; **किड्डा** = क्रीडा ; **जॅव्व** = पर्व ; **णॅड्ड** = नीड ; **तुण्हिक्क** = तूष्णीक ; **तॅल्ल**=तैल और **दुगुल्ल** = दुकूल है आदि-आदि (§ ९०)[1] । शब्द के आरम्भ में पादपूरक अव्ययों के द्वित्वीकरण के सम्बन्ध में § ९२ और उसके बाद देखिए ; **णिड्डित्त, वाड्डित्त** आदि पर § २८६ देखिए ।

१. कोएनिगलिशे आकाडेमी डेर विस्सनशाफ्टन की मासिक रिपोर्ट (बर्लिन, १८७९, ९२२) में एस० गौल्दश्मित्त ने भूल से इस शब्द को फारसी से निकला बताया है । वेबर ने हाल[1] की भूमिका के पेज १७ में और याकोबी ने अपने ग्रंथ महाराष्ट्री एर्सेलुंगन में गौल्दश्मित्त का अनुसरण किया है । यह भूल इस कारण हुई कि उसे क उपसर्ग के द्वित्वीकरण के अनगिनत रूप ज्ञात न थे। गो० गे० आ० १८८१, १३२१ में मैंने पाइक्क शब्द को पादिक से निकला बताया था; मेरी यह व्युत्पत्ति भी अशुद्ध थी, भले ही भाषाशास्त्र की दृष्टि से इस पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती ।— २. असक के सम्बन्ध में बोएटलिंक की तुलना कीजिए और पुरिल्लदेव = असुर (देशी० ६, ५५) = दैत्य (त्रिवि० १, ४, १२१ ; बे० बाइ० १३, १२ से भी तुलना कीजिए । — ३. कू० त्सा० ३५,१४० और उसके बाद में पिशल का निबंध ; कू० त्सा० ३५, ५७५ और उसके बाद के पेजों में *याकोबी ने भिन्न मत प्रकट किया है ।*

§ १८७—यदि संयुक्त व्यंजन स्वरभक्ति से अलग कर दिये जायं तो वे इस स्थिति में सरल कर दिये जाते हैं अथवा § १८६ और १८८ के अनुसार रूप धारण कर लेते हैं । कभी कभी इन स्थितियों में कोई व्यंजन, संयुक्त व्यंजनों के लिए लागू नियमों के अनुसार द्वित्व रूप ग्रहण कर लेता है (§ १३१) । अ०माग० का **सस्सिरीय** और शौर० का **सस्सिरिअ** = सश्रीक ; शौर० में **सस्सिरीअदा, सस्सिरीअत्तण** = सश्रीकता, = सश्रीकत्वन (§ ९८ ; १३५)[1]; **पुरुव्व** = पूर्व ; **मुरुक्ख** = मूर्ख ; अ०माग० में **रिउव्वेय** = ऋग्वेद (§१३९) ; शौर० में **सक्कणोदि, सक्कुणोदि** = शक्नोति (§ १४० और ५०५); अ०माग० में **सक्कि**-

रिय=स**क्रिय** (ओव० § ३०, दो, ४ ब ; इस हस्तलिपि का यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए); अ० माग० का **सुक्किल***=शुक्ल, जै०महा० मे **सुक्किल्लिय**= शु क्लित (§ १३६) है। जै०महा० के **नमो क्कार**, महा० और अ० **अवरो प्पर**, महा०, अ० माग०, जै० महा० और शौर० का **परो प्पर**=नमस्कार, अपरस्पर, परस्पर में अस् का ओ रूप हो गया है। साथ ही स्क का रूप-परिवर्तन क्क में और स्प का प्प में हो गया है (§ ३०६ ; ३११ और ३४७)। महा० और अ० माग० मे **पो म्म**=पद्म और **पो म्मा**=पद्मा, महा० और शौर० में **पोम्मराअ** =पद्मराग है; इसमे अ की सन्धि उद्वृत्त स्वर से हो गयी है (§ १३९ और १६६), इसके विपरीत भी द्वित्वीकरण इसमें हो गया है।[१] य के स्थान पर —ज्ज के सम्बन्ध मे § ९१ देखिए।

१. काव्यप्रकाश ७२, ११ में **जअसिरी** शुद्ध रूप है जैसा गउडवहो २४३ में भी **जअसिरीए** रूप मिलता है ; इसमें १० वीं पंक्ति में **वलामोडिइ** पढ़ना चाहिए (§ २३८ और ५८९)। तात्पर्य यह है कि यह रूप वेबर द्वारा संपादित हाल[१] अ० २२ ; [२]९७७ में दिये शब्द **जअस्सिरी** न लिखा जाना चाहिए। — २. कू० त्सा० ३५, १४६ और उसके बाद में पिशल का लेख। पाली के सम्बन्ध में ना० गे० वि० गो० १८९५, ५३० में फ्रांके का लेख देखिए।

§ १८८—समास के दूसरे पद के आरम्भ में जो व्यंजन आते हैं, उनके साथ वैसा ही व्यवहार होता है मानो वे एक शब्द के आरम्भ में आये हों और तब वे सरल कर दिये जाते हैं (§ २६८ ; वर० ३, ५७ ; हेमचन्द्र २, ९७ ; क्रम० २, ११५ ; मार्क० पन्ना २८): महा० में **वारणखन्ध**=वारणस्कन्ध (गउड० १२००), इसके साथ चलनेवाला रूप **महिसक्खन्ध**=महिषस्कन्ध (हाल ५६१); महा० मे **हत्थफंस**=हस्तस्पर्श (हाल ३३०), इसके साथ ही दूसरा रूप **हत्थप्फंस** भी देखने में आता है (हाल ४६२); शौर० में **अणुगहिद**=अनुगृहीत (मृच्छ० २५, ३); इसी के साथ साथ **परिअग्गहिद**=परिगृहीत भी पाया जाता है (मृच्छ० ४१, १०); **णइगाम** और इसके साथ ही **णइग्गाम**=नदीग्राम (भाम० ; हेमचन्द्र) है ; **कुसुमपभर** और इसका दूसरा रूप **कुसुमप्पअर**= कुसुमप्रकर (भाम० ; हेमचन्द्र) ; **देवथुइ** और साथ में चलनेवाला दूसरा रूप **देवत्थुइ**=देवस्तुति (भाम० ; हेमचन्द्र० ; क्रम०) ; **आणालखम्भ** और इसका दूसरा प्राकृत रूप **आणालक्खम्भ**=आलानस्तम्भ (भाम०; हेमचन्द्र)है; **हरखन्दा** और साथ साथ मे **हरक्खन्दा**=हरस्कन्दौ (हेमचन्द्र) है। नियम तो द्वित्वीकरण का है अर्थात् दूसरे पद के आरम्भिक अक्षर के साथ मध्य अक्षर के जैसा व्यवहार होना चाहिए, इसलिए इस समानता[१] पर समास के दूसरे पद का आरम्भिक सरल व्यंजन अनेक स्थानों पर दिया जाता है : शौर० में **अपखाइद**=अख्यादित (मृच्छ० ५५,१५) ; **अदंसण**=अदर्शन (हेमचन्द्र २,९७) ; माग० में **अदिट्ठ**=

* इस प्राकृत शब्द के रूप सुकिलो और सुकिल कुमाउनी बोली में प्रचलित है।—अनु०

अद्दए (गउड० ; हाल ; रावण०) ; महा० में अद्दाअ, अ०माग० और जै०महा० में अद्दाग और अद्दाय = *आदापक¹ (= आरसी : देशी० १, १४; पाइय० ११९ ; हाल ; ठाणग० २८४ ; पण्णव० ४३५ और उसके बाद; नन्दी० ४७१ ; आव०एर्त्से० १७, १० ; १४ ; १५ ; १६ ; एर्त्से०) ; महा० पब्बुद्ध = प्रबुद्ध (रावण० १२, ३४) ; अब्बुद्धसिरी = अबुद्धश्री (देशी० १, ४२ ; त्रिवि० १, ४, १२१) ; महा० अप्फंडिअ = अस्फंडित (हाल ६८९) ; महा० अल्लिअइ, जै०महा० अल्लियउ, अ०माग० उवल्लियइ, महा० समल्लिअइ, जै०महा० समल्लियइ (§ ४७४); महा० और जै०महा० अल्लीण¹ (गउड० ; हाल ; रावण० ; आव० एर्त्से० १४, २२ ; २४, १७ ; २६, २८ ; एर्त्से०); महा० अणल्लीण (रावण०), समल्लीण (हाल) जिसमें आ, उप, अया के साथ ली है; अल्लियइ = *आलिपंति = आलिम्पति (हेमचन्द्र ४, ३९) ; अवल्लाव = अपलाप (देशी० १, ३८) ; अप० रूप उद्धब्भुअ = ऊर्ध्वभुज (हेमचन्द्र ४, ४४४, ३) ; ओग्गाल और इसका दूसरा प्राकृत रूप ओआल जो *ओगाल के लिए आया है (= छोटी नदी : देशी० १, १५१) = *अवगाल जिसमें अव के साथ गल् धातु है ; अ० माग० में कायंग्गरा = कायागरा (दस० ६३४,२४) ; महा० और शौर० तेल्लोक्क (भाम० में १,३५ ; ३, ५८ ; हेमचन्द्र २, ९७ ; क्रम० २, ११४ ; मार्कण्डेय पन्ना २७ ; रावण० ; धूर्त० ४, २० ; अनर्घ० ३१७, १६ ; कर्ण० १३, ९ और ११ ; महावीर० ११८, ३; उत्तर० ६४, ८ [यहाँ तेल्लोअ पाठ है] ; मल्लिका० १३३, ३), इसके साथ साथ महा० और अ० माग० रूप तेलोक्क (सब व्याकरणकार ; गउड० ; पण्णव० २ और १७८ और इसके बाद [पाठ मे तेलुक्क रूप है] ; दस० नि० ६५५, २८ ; उवास० ; कप्प०) = त्रैलोक्य ; माग० पञ्चय्यण = पञ्चजनाः (मृच्छ० ११२, ६); पडिक्कूल और इसके साथ अधिक प्रचलित रूप पडिऊल = प्रतिकूल ; महा० पब्बल = प्रबल (रावण०) ; पम्मुक्क (हेमचन्द्र २, ९७) और इससे भी अधिक प्रचलित रूप पमुक्क = प्रमुक्त (§ ५६६) ; महा०, अ० माग०, जै० महा० और शौर० परव्वस (हाल ; रावण० ; पण्हा० ३१६ ; तीर्थ० ६, १४ ; एर्त्से० ; ललित० ५५४, ५ ; विक्रमो० २९,१२ ; नागा० ५०,१३); माग० पलब्वश (मल्लिका० १४३, ११ , यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए) = परवश ; अ०माग० अणुब्वस = अनुवश (सूय० १९२) ; पव्वाअइ = *प्रवायति = प्रवाति (हेमचन्द्र ४, १८), महा० पव्वाअ = प्रवात (हाल ; रावण०) ; महा० आणामेत्तप्फल = आज्ञामात्रफल (रावण० ३, ६), अहिणवदिण्णप्फल = अभिनवदत्तफल (रावण० ३, ३७), पाअवप्फल = पादपफल (रावण० ९, ४ ; रावण० १२, १२ से भी तुलना कीजिए ; १३, ८९ ; हाल ५७६) ; वक्कप्फल तथा दूसरा रूप वक्कफल (हेमचन्द्र २, ९७ ; मार्कण्डेय पन्ना २९) ; जै०महा० वहुप्फल (कालका० २७१, २०), इसके साथ दूसरा रूप बहुहल (क्रम० २, ११६ ; § २०० से भी तुलना कीजिए) ; अ०माग० पुरिसक्कार = पुरुषकार (विवाह० ६७, ६८, १२५ ; नायाध० ३७४ ; उवास० ; ओव०)⁴,

ठीक जैसे महा० **साहुक्कार = साधुकार** (रावण०) और अ०माग० **तहक्कार = तथाकार** (ठाणंग० ५६६); जै०महा० **भत्तिब्भर = भक्तिभर** (कालका० २६९, १४); महा० **मणिक्खइअ = मणिखचित** (मृच्छ० ४१, २); महा० **मलअसिहरक्खंड = मलयशिखरखंड** (हेमचन्द्र २, ९७ = रावण० ८, ६९); महा० **वण्णग्घअ = वर्णघृत** (हाल ५२०) ; अप० रूप **विज्जज्झर = विद्याधर** (विक्रमो० ५९, ५ ; § २१६ भी देखिए) ; अप० **विप्पक्ख = विपक्ष** (पिंगल १, १३८ अ); अ० माग० **सकडब्भिं, सगडब्भि = स्वकृतभिद्** (आयार० १, ३, ४, १ और ४) ; महा० **सज्जीअ = सजीव** (रावण० १, ४५) ; **सत्तण्ह = सतृष्ण** (रावण० १, ४६) ; **सप्पिवास = सपिपास** (हेमचन्द्र २, ९७ ; रावण० ३, २१); **सेसप्फण = शेषफण** (रावण० ६, १९ ; इसके साथ ६, ६३ ; ६९ ; ७२ ; ७, ५९ ; ९, १४ ; ३४ और ४५ की भी तुलना कीजिए) ; **पंडुरप्फेण** (रावण० ८, ९ ; और इसके साथ ८, ४९ ; १३, २४ ; ५३ और ६६ की भी तुलना कीजिए ; अ०माग० और जै०शौर० **सच्चित्त = सचित्त** (दस० ६२२,३९ ; कत्तिगे० ४०३, ३७९) हैं । **-क्कार** और **क्ख** से आरम्भ होनेवाले शब्दों से और **-प्फल** में सम्भवतः आरम्भ में आनेवाले **स** के कारण द्वित्व हो गया है, अन्य अनेक अवसरों पर यह द्वित्वीकरण छन्दों की मात्राएँ भंग न होने देने के लिए किया गया है, जैसा महा० **तणुल्लआ** (कर्पूर० २७,१२) में अवश्य ही किया गया है, क्योंकि इसका साधारण प्रचलित रूप **तणुलआ = तनुलता** है ; अ०माग० **रागद्दोस**, (उत्तर० ७०७ ; दस० नि० ६५३, ६ जिसका साधारण प्रचलित रूप **रागदोस** (§ १२९) है, का द्वित्वीकरण छन्द ठीक बैठाने के लिए किया गया है, इसी प्रकार जै० शौर० **कुदिट्ठि = कुदृष्टि** (कत्तिगे० ३९९, ३१८ , ४००, ३२३), इस पर इसके साथ साथ चलनेवाले **सद्दिट्ठि = सद्दृष्टि** का (कत्तिगे० ३९९, ३१७ और ३२०) प्रभाव पड़ा है ; आदि आदि इस प्रकार के अन्य बहुत रूप हैं ।

१. कू० त्सा० ३५, १४७ और उसके बाद के पेजों में पिशल का लेख । — २. बे० बाइ० ३, १४७ में दिये रूप से यह अधिक शुद्ध है जैसा जै० महा० रूप **डहग** से सिद्ध होता है । सन्धि के विषय में § १६५ की तुलना कीजिए और **दावइ** रूप के लिए § ५५४ देखिए ; हाल' पेज २९ में हाल ने अशुद्ध लिखा है ; हाल' ४, २०४ पर टीका । — ३. बे० बाइ० १३, पेज १० उसके बाद के पेज में दिये गये रूप से यह अधिक शुद्ध है ; कू० त्सा० ३५, १४९ से तुलना कीजिए । — ४. होएर्नले अपने संपादित उवासगदसाओ के अनुवाद के पेज १११, नोट २५४ में तथा लौयमान वी० त्सा० कु० मौ० २, ३४५ में इस रूप को **बलावक्कार = बलात्कार** की नकल पर बनाना ठीक नहीं समझते । उतने ही अधिकार के साथ हम इसे **सक्कार = सत्कार** के अनुसार बना सकते हैं ।

§ १८९—बहुत से उदाहरणों में व्यंजन के द्वित्वीकरण का समाधान प्राकृत के शब्द-निर्माण की प्रक्रिया या रूप बनने का ढंग संस्कृत से भिन्न होने के कारण

होता है। इस प्रकार कत्तो = कुतः है जो कत्तः = कद् + तः से निकला होगा ; जत्तो = यद् + तः, तत्तो = तद् + तः ; अण्णत्तो = अन्यद्+तः है। इनकी नक्ल पर अत्तो = अतः ; ऍक्कत्तो = एकतः; सव्वत्तो = सर्वतः बनाये गये हैं, इत्तो = इतः भी इसी नियम के अनुसार बन सकता है, किन्तु यह रूप नियमानुसार § १९४ में वर्णित द्वित्वीकरण की प्रक्रिया से भी बन सकता है। एत्तो = *एततः जो एत = एतद् + तः से निकला है, जैसे अण्णो, § ३३९ के अनुसार अन्य = अन्यद्+तः से निकला है और जिसमें से § १४८ के अनुसार अ उड़ा दिया गया है। तो के विषय में § १४२ देखिये[1] संस्कृत के चौथे और छठे वर्ग की (गण) धातुओं का प्राकृत ध्वनि नियमों के अनुसार द्वित्वीकरण हो जाता है, जैसा अल्लिअइ (§ १९६); फुट्टइ, फिट्टइ (§ १९४); कुक्कइ, कोक्कइ = *कुक्यति ; चल्लइ = *चल्यति = चलति ; उम्मिल्लइ = *उन्मील्यति = उन्मीलति है ; शौर० में रुच्चदि = * रुच्यते = रोचते, लग्गइ = लग्यति = * लगति और वज्जदि = *व्रज्यति = व्रजति (§ ४८७ और ४८८) हैं[2]। वर्तमानकालिक क्रिया से कर्तृकारक संज्ञा बनने के कारण निम्नलिखित उदाहरणों का स्पष्टीकरण होता है : ओअल्ल (प्रस्थान करना [= ओअल्लोपल्हत्थ : देशी नाममाला। —अनु०]; कांपना : देशी० १, १६५, त्रिवि० १, ८, १२१=बे० बाइ० १३, ८) = *अपचल्य; महा० ओअल्लंति, ओअल्लंत (रावण०) की तुलना कीजिए ; उव्वल्ल (हेमचन्द्र २, १७४ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]; अनुवाद का पेज ८९ भी देखिए) ; त्रिवि० १, ४, १२१ = बे० बाइ० १३, ७), ओंज्जल्ल (देशी० १, १५४) = शक्तिशाली, उज्जल्ला (= हठ या बलात्कार : देशी० १, ९७) का सम्बन्ध *उज्ज्वल्य से है ; कोप्प (= अपराध, देशी० २, ४५ ; त्रिवि० १, ४, १२१ = बे० बाइ० ३, २६०) ; सिव्विणी ([= सुई। —अनु०], देशी० ८, २९) सीव्य से निकला है[3]।

1. इसके प्रमाण § ४२५ और उसके बाद दिये गये हैं ; कू० त्सा० ३५, १४९ में पिशल के लेख की तुलना कीजिए। प्राकृतिका पेज २२ में एस० गौल्दश्मित्त कुछ भिन्न मत रखता है, कू० त्सा० ३५, ५७८ में याकोबी का मत अशुद्ध है ; औपपातिक सूत्र में तत्तो शब्द में लौयमान ने बताया है कि यहां द्वित्वीकरण इसलिए हुआ है कि छंद की मात्राएँ पूरी हो जायं, पर यह भूल है। — 2. बे० बाइ० १३, ८ और उसके बाद के पेजों में पिशल का लेख। — 3. बे० बाइ० ६, ८६ में पिशल का लेख।

§ १९०—ट वर्ग में प्रथम वर्ण क्रमशः तीसरे और द्वितीय वर्ण चौथे का रूप धारण कर लेता है जब वे शब्द के भीतर असंयुक्त दो स्वरों के बीच में आते हैं, ट ड बन जाता है और ठ ढ में बदल जाता है (वर० २, २० और २४ ; हेमचन्द्र १, १९५ और १९९, क्रम० २, १० और १८ ; मार्क० पन्ना १६)। इस नियम के अनुसार महा० कडअ = कटक (गउड० ; हाल ; रावण०)[1]; कुडुम्ब = कुटुम्ब (गउड० ; हाल) ; घडिअ = घटित ; चडुल = चटुल ; तड = तट ;

पडल = पटल; विडव = विटप । —कढिण = कठिन (गउड० ; हाल), कढिणत्तण = *कठिनत्वन (रावण०), कमढ = कमठ (गउड०, हाल); जरढ = जरठ (गउड० ; रावण०), पढइ = पठति (हाल); पीढ = पीठ (गउड०), हढ = हठ (गउड०) है। पल्लवदानपत्रों में भी यह अदल बदल दिखाई देता है, किंतु अपवादरूप से ; उनमे भड=भट और कोडी = कोटी (§ १८९) है। हेमचन्द्र १, १९५ के अनुसार कभी-कभी ट ज्यों का त्यों बना रह जाता है, जैसे अटइ = अटति का ट ; यह अशुद्ध पाठान्तर होना चाहिए।

१. § १८७ की नोट-संख्या १ से तुलना कीजिए ; § १८६, नोट १।

§ १९१—लोप होने के बजाय (§ १८६) प अधिकाश मे व का रूप धारण कर लेता है[1]। अप० बोली में इस व का द्व हो जाता है (§ १९२), जैसा सब लोगों ने पहले इस तथ्य को सामान्यत स्वीकार कर लिया था (वर० २, १५ ; हेच० १, २३१ ; क्रम० २, ८, मार्क० पन्ना १६) । इस नियम से महा० आअव = आतप (गउड०, हाल ; रावण०)[2], उवल = उपल (गउड०), कोव = कोप ; चाव = चाप, णिव = नृप (रावण०), दीव = दीप ; पआव=प्रताप ; विविण = विपिन (गउड०), सवह = शपथ (हाल), सावअ = श्वापद (गउड०, रावण०) है। अपवादरूप से पल्लवदानपत्रों मे भी अनुवट्ठावेति, कस्सव और कारवेज्ञा में व आया है, वि के लिए (§ १८९) देखिए। आरम्भिक और गौण प के स्थान पर व के लिए § १८४ देखिए। हेमचन्द्र ने १, २३१ मे बताया है कि प का व कर देने या प उडा देने का एकमात्र कारण श्रुतिसुख है अर्थात् यह हेरफेर ऐसा किया जाना चाहिए कि कानो को अच्छा लगे। वर० २, २ की टीका में भाम० और पन्ना १४ मे मार्क० ने बताया है कि यह अदल बदल मुख्यतः § १८६ में उल्लिखित ध्वनिग्रो की विच्युति के लिए निर्णायक है।[3] साधारण तौर पर अ और आ से पहले प का व हो जाता है और इसके विपरीत उ तथा ऊ से पहले यह लुप्त हो जाता है, अन्य स्वरो से पहले यह नियम स्थिर नहीं रहता। जैन हस्तलिखित प्रतियों मे भूल से व के स्थान पर बहुधा व लिखा मिलता है।

१. कौवेल द्वारा संपादित वर०[2] की भूमिका का पेज १४ ; गो० गे० आ० १८७३, पेज ५२ में पिशल का लेख ; आकाडेमी १८७३, पेज ३९८ ; ये० लि० १८७५, पेज ३१७, ना० गे० वि० गो० १८७४, ५१२ में भी गौल्दश्मित्त के लेख का नोट। — २. § १८४ का नोट १ और § १८६ का नोट १ की तुलना कीजिए। — ३. हेच० १, २३१ पर पिशल की टीका।

§ १९२—वर० २, २६ के अनुसार शब्द के भीतर आने और स्वरो के बीच में होने पर फ सदा भ बन जाता है। भाम० ने इस नियम के उदाहरण दिये हैं: सिभा = शिफा, सेभालिआ=शेफालिका ; सभरी = शफरी और सभलं= सफलम् है। मार्क० पन्ना १६ म यह बताया गया है कि यह परिवर्तन शिफादि गण के भीतर ही सीमित है, इस गण के भीतर उसने निम्नलिखित शब्द गिनाये हैं : सिभा= शिफा, सेभ = शेफ ; सेभालिआ = शेफालिका ; उसने सभरी = शफरी भी

होता है। इस प्रकार कत्तो = कुतः है जो *कत्तः = कद् + तः से निकला होगा ; जत्तो = यद् + तः, तत्तो = तद् + तः ; अण्णत्तो = अन्यद्+तः है। इनकी नकल पर अत्तो = अतः ; एँकत्तो = एकतः; सव्वत्तो = सर्वतः बनाये गये हैं, इत्तो = इतिः भी इसी नियम के अनुसार बन सकता है, किन्तु यह रूप नियमानुसार § १९४ में वर्णित द्वित्वीकरण की प्रक्रिया से भी बन सकता है। एत्तो = *एततः जो एत = एतद् + तः से निकला है, जैसे अण्णो, § ३३९ के अनुसार अन्य = अन्यद्+तः से निकला है और जिसमें से § १४८ के अनुसार अ उड़ा दिया गया है। तो के विषय में § १४२ देखिये[1] संस्कृत के चौथे और छठे वर्ग की (गण) धातुओं का प्राकृत ध्वनि नियमों के अनुसार द्वित्वीकरण हो जाता है, जैसा अल्लिअइ (§ १९६); फुट्टइ, फिट्टइ (§ १९४); कुक्कइ, कोक्कइ = *कुक्यति ; चल्लइ = *चल्यति = चलति ; उम्मिल्लइ = *उन्मील्यति = उन्मीलति है ; शौर० में रुच्चदि = *रुच्यते = रोचते, लग्गइ = लग्यति = *लगति और वज्जदि = *व्रज्यति = व्रजति (§ ४८७ और ४८८) हैं[2]। वर्तमानकालिक क्रिया से कर्ताकारक संज्ञा बनने के कारण निम्नलिखित उदाहरणों का स्पष्टीकरण होता है : ओअल्ल (प्रयाण करना [= ओअल्लोपरहत्थ : देशी नाममाला। —अनु०], कांपना : देशी० १, १६५; त्रिवि० १, ४, १२१=बे० बाइ० १३, ८) = *अपचल्य; महा० ओअल्लति, ओअल्लंत (रावण०) की तुलना कीजिए; उज्जल्ल (हेमचन्द्र २, १७४ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]; अनुवाद का पेज ८९ भी देखिए); त्रिवि० १, ४, १२१ = बे० बाइ० १३, ७), ओज्जल्ल (देशी० १, १५४) = शक्तिशाली, उज्जल्ला (= हठ या बलात्कार। देशी० १, ९७) का सम्बन्ध *उज्ज्वल्य से है ; कोप्प (= अपराध, देशी० २, ४५ ; त्रिवि० १, ४, १२१ = बे० बाइ० ३, २६०); सिव्विणी ([= सुई। —अनु०], देशी० ८, २९) सीव्य से निकला है[3]।

१. इसके प्रमाण § ४२५ और उसके बाद दिये गये हैं ; कू० त्सा० ३५, १४९ में पिशल के लेख की तुलना कीजिए। प्राकृतिका पेज २२ में एस० गौल्दश्मित्त कुछ भिन्न मत रखता है, कू० त्सा० ३५, ५७८ में याकोबी का मत अशुद्ध है ; औपपातिक सूत्र में तत्तो शब्द में लौयमान ने बताया है कि यहां द्वित्वीकरण इसलिए हुआ है कि छंद की मात्राएँ पूरी हो जायं, पर यह भूल है। — २. बे० बाइ० १३, ८ और उसके बाद के पेजों में पिशल का लेख। — ३. बे० बाइ० ६, ८६ में पिशल का लेख।

§ १९०—ट वर्ग में प्रथम वर्ण क्रमशः तीसरे और द्वितीय वर्ण चौथे का रूप धारण कर लेता है जब ये शब्द के भीतर असंयुक्त दो स्वरों के बीच में आते हैं, ट ड बन जाता है और ठ ढ में बदल जाता है (वर० २, २० और २४ ; हेमचन्द्र १, १९५ और १९९ , क्रम० २, १० और १८ ; मार्क० पन्ना १६)। इस नियम के अनुसार महा० फडअ = फटक (गउड० ; हाल ; रावण०)[1], कुडुम्ब = कुटुम्ब (गउड० ; हाल) ; घडिअ = घटित ; चडुल = चटुल ; तड = तट ;

पडल = पटल, विडव = विटप। —कढिण = कठिन (गउड०, हाल), कढिणत्तण = कठिनत्वन (रावण०), कमढ = कमठ (गउड०, हाल), जरढ = जरठ (गउड०, रावण०), पढइ = पठति (हाल), पीढ = पीठ (गउड०), हढ = हठ (गउड०) है। पल्लवदानपत्रों में भी यह अदल-बदल दिखाई देता है, किंतु अपवादरूप से, उनमें भड=भट और कोडी = कोटी (§ १८९) है। हेमचन्द्र १, १९५ के अनुसार कभी कभी ट ज्यों का त्यों बना रह जाता है, जैसे अटइ = अटति का ट, यह अशुद्ध पाठान्तर होना चाहिए।

१ § १८४ की नोटसंख्या १ से तुलना कीजिए, § १८६, नोट १।

§ १९१—लोप होने के बजाय (§ १८६) प अधिकांश में व का रूप धारण कर लेता है[1]। अप० बोली में इस व का व्व हो जाता है (§ १९२), जैसा सब लोगों ने पहले इस तथ्य को सामान्यतः स्वीकार कर लिया था (वर० २, १५, हेच० १, २३१, क्रम० २, ८, मार्क० पन्ना १६)। इस नियम से महा० आअव = आतप (गउड०, हाल, रावण०)[2], उवल = उपल (गउड०), कोव = कोप, चाव = चाप, णिव = नृप (रावण०), दीव = दीप, पआव=प्रताप, विविण = विपिन (गउड०), सवह = शपथ (हाल), सावअ = श्वापद (गउड०, रावण०) है। अपवादरूप से पल्लवदानपत्रों में भी अनुवट्ठावेति, कस्सव और कारवेज्जा में व आया है, वि के लिए (§ १८९) देखिए। आरम्भिक और गौण प के स्थान पर व के लिए § १८४ देखिए। हेमचन्द्र ने १, २३१ में बताया है कि प का व कर देने या प उड़ा देने का एकमात्र कारण श्रुतिसुख है अर्थात् यह हेरफेर ऐसा किया जाना चाहिए कि कानों को अच्छा लगे। वर० २, २ की टीका में भाम० और पन्ना १४ में मार्क० ने बताया है कि यह अदल-बदल मुख्यतः § १८६ में उल्लिखित ध्वनियों की विच्युति के लिए निर्णायक है।[1] साधारण तौर पर अ और आ से पहले प का व हो जाता है और इसके विपरीत उ तथा ऊ से पहले यह लुप्त हो जाता है, अन्य स्वरों से पहले यह नियम स्थिर नहीं रहता। जैन हस्तलिखित प्रतियों में भूल से व के स्थान पर बहुधा व लिखा मिलता है।

१ कोवेल द्वारा संपादित वर०[2] की भूमिका का पेज १४; गो० गे० आ० १८७३, पेज ५२ में पिशल का लेख, आकाडेमी १८७३, पेज ३९८, ये० लि० १८७५, पेज ३१७, ना० गे० वि० गो० १८७४, ५१२ में भी गौल्दश्मित्त के लेख का नोट। — २. § १८४ का नोट १ और § १८६ का नोट १ की तुलना कीजिए। — ३ हेच० १, २३१ पर पिशल की टीका।

§ १९२—वर० २, २६ के अनुसार शब्द के भीतर आने और स्वरों के बीच में होने पर फ सदा भ बन जाता है। भाम० ने इस नियम के उदाहरण दिये हैं सिभा = शिफा, सेभालिआ=शेफालिका, सभरी = शफरी और सभल= सफलम् हैं। मार्क० पन्ना १६ में यह बताया गया है कि यह परिवर्तन शिफादि गण के भीतर ही सीमित है, इस गण के भीतर उसने निम्नलिखित शब्द गिनाये हैं सिभा= शिफा, सेभ = शेफ, सेभालिआ = शेफालिका, उसने सभरी = शफरी भी

उद्धृत किया है और बताया है कि किसी ने इसका व्यवहार किया है[1]। क्रम० ने २, १६ में बताया है कि **शिफा** और **शफर** के **फ**, **भ** में बदल जाते हैं। हेच० १, २३६ में अनुमति देता है कि **फ** के स्थान पर प्राकृत में **भ** और **ह** दोनों रखे जा सकते हैं ; वह बताता है कि **रेभ = रेफ** और **सिभा = शिफा** में **भ** काम में लाया जाता है, **मुत्ताहल=मुक्ताफल** में **ह** हो गया है। **सभल, सहल = सफल ; सेभालिआ, सेहालिआ = शेफालिका ; सभरी, सहरी = शफरी ; गुभइ, गुहइ = गुफति** में **भ** और **ह** दोनों चलते हैं। अभी तक जिन-जिन शब्दों के प्रमाण मिल पाये हैं, उनसे पता लगता है कि सर्वत्र **ह** का जोर है अथवा समास के दूसरे पद के आरम्भ में आने पर **फ** भी मिलता है। इस नियम के अनुसार महा०, जै०महा० और शौर० में **मुत्ताहल = मुक्ताफल** (गउड०; कर्पूर० ७३, ९; एर्त्से० ; कर्पूर० ७२, ३ ; ७३, २), महा० में **मुत्ताहलिल्ल** रूप आया है (कर्पूर० २, ५ ; १००, ५); **सहर, सहरी** रूप भी देखने में आते हैं (गउड०); महा० और शौर० में **सेहालिआ** (हाल ; मृच्छ० ७३, ९ [इस स्थान पर यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; प्रिय० ११, १ ; १२, ३ ; १३, १६) ; शौर० में **चित्तफलअ=चित्रफलक** (उदाहरणार्थ मृच्छ० ५७, ३ ; ५९, ७ ; ६९, १९ ; शकु० १२५, ७ ; १३३, ८ ; १३४, ४ ; १४२, ११; विक्रमो० २४, १८; रत्ना० २९८, ४; ३०३, १९; मालती० १२७, ११); **वहुहल** = (क्रम० २, ११६) ; शौर० में **वहुफल** (विक्रमो० ४५, १३), **सफल** (मालवि० ४४, १ ; ४६, ११) ; **सग्गफल = स्वर्गफल** (प्रबोध० ४२, ५) ; माग० में **पणसफल** (मृच्छ० ११५, २०) और अन्य रूप मिलते हैं, अप० के विषय में § १९२ देखिए। — **प्फल** के विषय में § १९६ देखिए। इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता कि **फुमइ** और **भुमइ = भ्रमति** का परस्पर में क्या सम्बन्ध है (हेच० ४, १६१)। द्राविडी हस्तलिपियाँ संस्कृत और प्राकृत शब्द **भण** (= बोलना, कहना) के लिए बहुधा **फण्** रूप लिखती हैं (उदाहरणार्थ पिशल द्वारा संपादित विक्रमो० ६२२, १० ; ६३२, १७ और १८ ; ६३९, ८ ; मल्लिका० ८३, ४)। § २०८ की भी तुलना कीजिए।

१. इसकी हस्तलिखित प्रति में पढ़ा जाता है **सपरिद् यासउद्** (अथवा **यासडद्**) इत्याद्य पि कश्चित्।

§ १९३—शब्द के मध्य में दो स्वरों के बीच में **व** आने पर प्राकृत में उसका रूप **व** हो जाता है (हेच० १५,२३७); महा०, अ०माग०, जै०महा०, आ०, शौर०, दाक्षि० और अप० में **कलेवर = कलेवर** (गउड० ; रावण० ; विद्ध० १३०३ [**फडेवर** पाठ है] ; १३९० [यहा भी **फडेवर** पाठ है] ; एर्त्से० ; मृच्छ० १४८, २२ और २३ ; पिंगल १, ८६ अ ; हेच० ४, ३६५, ३); माग० में **कलेवल** (मृच्छ० १६८, २०) ; महा०, अ०माग०, शौर०, माग० और अप० में **कवल= कवल** (गउड० ; हाल ; शकु० ८५, २ ; नायाध०; ओव०; मृच्छ० ६९, ७ ; हेच० ४, २८९ और ३८७, १) ; महा०, जै०महा० और अप० में **कवन्ध = कवन्ध** (रावण० ; एर्त्से० [पाठ में **कवन्य** है] ; पिंगल २, २३०) ; अ०माग० में

किलीव = **क्लीव** (आयार० २, १, ३, २) ; **छाव** = **शाव** (§ २११) ; महा० मे **थवअ** = **स्तवक** (रावण०), अ०माग० में **थवइय** = **स्तवकित** (विवाह० ४१ ; ओव०) ; महा० मे **दावइ** = **मराठी दावणें** (शकु० ५५, १६)[1] ; महा० और जै०महा० मे **सव** = **शव** (गउड० ; आव० एर्त्से० ३६, ३४) ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **सवर** = **शवर** (गउड० [पाठ में **सबर** है] ; विवाह० २४६ [पाठ में **सब्बर** है] ; पण्हा० ४१ [पाठ में **सबर** है] ; पण्णव० ५८ ; एर्त्से० ; प्रसन्न० १३४, ६ और ७ [पाठ में **सबर** आया है]); महा० और अ०माग० मे **सवरी** रूप मिलता है (गउड० [पाठ में **सबरी** रूप है], विवाह० ७९२ [यहा भी पाठ मे **सबरी** है) ; नायाध० § ११७ [पाठ में **सबरी** है] ; ओव० § ५५ [पाठ में **सबरी** आया है]) ; महा० मे **सवल** = **शबल** (हाल) ; अ०माग० और जै०महा० में **सिविया** = **शिविका** (§ १६५), जै०महा० मे **सिविर** रूप पाया जाता है (एर्त्से० ; पाठ मे **सिबिर** मिलता है]); माग० में इसका रूप **शिविल** हो गया है (ललित० ५६५, ६ और ८) = **शिविर**[2] है। **व** बहुत कम लोप होता है, जैसे अ०माग० **अलाउ, अलाउय, लाऊ, लाउ, लाउय** और साथ साथ शौर० रूप **अलावू** = **अलाबू** , **अलाबु** (§ १४१) हैं ; **णिअन्धण** = **निवन्धन** (= वस्त्र : देशी० ४, ३८ ; त्रिवि० १, ४, १२१)[3] ; **विउह** (हेच० १, १७७) और इसके साथ इस शब्द का जै०महा० रूप **विवुह** (एर्त्से०) = **विबुध** है। —**व** बहुत ही अधिक स्थलों में बना रहता है, विशेषकर अ ध्वनियों के मध्य मे, जैसा **प** के विषय मे लिखा गया है, इस विषय पर भी श्रुति मधुरता अतिम निर्णय करती है।

१. शकुन्तला ५५, १६ पेज १८४ पर जो नोट है उसे इसके अनुसार बदलना चाहिए। — २. जैसा उदाहरणों से पता लगता है, जैन हस्तलिपियों विशेषकर **व** के स्थान पर **ब** लिखा मिलता है। इसे याकोबी अपने ग्रन्थ 'औसगेवैल्ते एर्सेलुंगन इन महा०' § २०, २ की भूमिका के पेज २८ में ध्वनि का नियम बताता है, पर यह कोई नियम नहीं है, यह तो हस्तलिखित प्रतियाँ लिखनेवालों की भूल है। इसी प्रकार ये लेखक कभी-कभी शब्द के आरम्भ में भी **व** के स्थान पर **ब** लिखते हैं (ए० म्युलर, बाइत्रैगे, पेज २९)। अन्य हस्तलिखित प्रतियों की भाँति ललितविग्रहराज नाटक में भी (द्राविडी प्रतियों को छोड़) जहां **व** होना चाहिए वहाँ भी केवल **ब** लिखा मिलता है। इस विषय में § ४५, नोट संख्या ३ की भी तुलना कीजिए। — ३. बे० बाइ० १३, ८ में पिशल का लेख।

§ १९४—§ १९२ और १९८ से २०० तक में वर्णित स्थलों को छोड अन्यत्र वर्णमाला के वर्गों के प्रथम और तृतीय वर्णों का द्वितीय और चतुर्थ वर्णों में बदल जाने अथवा इसके विपरीत द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का प्रथम और तृतीय में बदल जाने के उदाहरण (§ १९० और १९१) एक आध ही मिलते हैं और वह भी एक दो बोलियों मे। अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **क** इस होने के

स्थान पर दो स्वरों के बीच में आने पर बहुत अधिक अवसरों पर ग में बदल जाता है, विशेषकर प्रत्यय – क का (हेच० १, १७७) ऐसा होता है : अ०माग० और जै०महा० में **असोग** = अशोक (उदाहरणार्थ, विवाह० ४१ ; उवास० ; नायाध० ; ओव० ; कप्प० [इनमें शब्दसूची में **असोग** आया है] ; एर्से०) ; जै०महा० में **असोग** (आव० एर्से० ८, २ और ३२) ; अ०माग० और जै० महा० में **आगास***= आकाश (उवास० ; ओव० ; आव० एर्से० २१, १५) ; अ०माग० में **एगमेग** = एकैक (§ ३५३) ; अ०माग० और जै०महा० में **कुलगर**=कुलकर (कप्प० ; आव० एर्से० ४६, २० और २२) ; अ०माग० और जै०महा० में **जमगसमग** = यमकसमक (उवास० § १४८ और १५३ ; कप्प० § १०२ ; ओव० § ५२ ; आव० एर्से० १७, १५) ; अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में **लोग** = लोक है (उदाहरणार्थ, आयार० १, १, १, ५ और ७ ; १, १, ३, २ ; एर्से० ; पव० ३८१, १६ ; ३८७, २५), जै०शौर० में **लोगालोगं** आया है (पव० ३८२, २३), इसके साथ ही **लोयालोयं** (कत्तिगे० ३९८, ३०२) रूप भी काम में आता है ; अ०माग० में **सागपागाए** = शाकपाकाय (सूय० २४७ और २४९) ; **सिलोगगामी** = श्लोककामिन् (सूय० ४९७) ; अ०माग० और जै० शौर० में **अप्पग** = अल्पक (सूय० १८८ ; पव० ३८५, ६६ और ६८) ; जै० शौर० में **मंसुग** = श्मश्रुक (पव० ३८६, ४) ; अ०माग० में **फलग** = फलक (सूय० २७४ ; उवास० ; ओव०) ; जै०महा० में **तिलगचोद्दसग** = तिलक-चतुर्दशक (आव० एर्से० १७, १ ; ३७, २९ ; ३८, २४) है। इन प्राकृत भाषाओं की एक विशेष पहचान यह है कि इनमें ग का लोप होने के बजाय वह बहुधा बना रहता है। इनको छोड़ अन्य प्राकृत भाषाओं में भी ऐसे विरले उदाहरण मिलते हैं जिनमें क, ग में बदल जाता है। इस प्रकार माग० में सर्वत्र ही **हगे**, हग्गे = *अहकः (§ १४२; १९४; ४१७) है, इसके अतिरिक्त **शावग** = श्रावक (मुद्रा० १७५, १ और ३ ; १७७, २ ; १७८, २ ; १८३, ५ ; १८५, १ ; १९०, १० ; १९३, १ [यहां यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]); प्रबोधचंद्रोदय ४६, १३ और ४७, ७ में **शावगा** रूप मिलता है, ५८, १५ में **शावगी** है ; पाठ में आये हुए **सावका**, **शावका**, **सावकी** और **शावकी** के लिए ये ही शब्द पढ़े जाने चाहिए क्योंकि ये शब्द अ० माग० और जै० महा० **सावग** से मिलते हैं (उदाहरणार्थ, उवास० ; एर्से०) है। इस संबंध में § १७ की भी तुलना कीजिए। महा० और अप० **परगअ**, अ०माग० और जै०महा० **मरगय**, शौर० रूप **मरगद** = मरकत (हेच० १, १८२ ; मार्क० पन्ना १४ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; कर्पूर० ४६, ८ ; ६१, ८ ; ८०, १० ; सूय० ८३४ ; पण्णव० २६ ; उत्तर० १०४२ ; ओव०; कप्प०; आव० एर्से० १२, ४३ ; मृच्छ० ७१, १ [पाठ में **मरगद** है] ; कर्पूर० ५३, २ ; ५९, १ ; ६१, ७ और ८ ; ६२, ११ ; मल्लिका० २०१, १३ [पाठ में **मरगद** मिलता है] ; हेच० ४, ३४, ९) है ; अच्युतशतक ४३ में **मरगअ** और अग०

---

* आगास शब्द आज भी कुमाउनी तथा अन्य बोलियों में प्रचलित है।—अनु०

२, २८ में **मरअद्** रूप अशुद्ध हैं। हेच० १, १८२ और मार्क० पन्ना १४ के अनुसार **मदकल** में भी **क** का **ग** हो जाता है, प्रमाण में केवल अप० रूप **मदगल** मिलता है (पिंगल १, ६४ ; हेच० ४, ४०६, १), इन स्थलों पर यह § १९२ के अनुसार भी सिद्ध होता है। महा० में **पागसासण = पाकशासन** पाया जाता है (गउड० ३८०)। **गेन्दुअ** के विषय में § १०७ देखिए। — अ० माग० **आघावेइ = आख्यापयति**, **आघवणा = आख्यापना** (§ ८८ और ५५१) और **णिघस = निकष** (§ २०६) में **ख** का **घ** हो गया है। **अहिलंखइ**, **अहिलंघइ** में (= इच्छा करना : हेच० ४, १९२) मूल में **ख** अथवा **घ** है, इसका निर्णय करना टेढ़ी खीर है। —**पिसाजी = पिशाची** में **च** का **ज** बन गया है (हेच० १, १७७)। इसके विपरीत ऐसा मालूम पड़ता है कि महा० और शौर० **चक्खइ** (=चखना, खाना : वर० परिशिष्ट ए पेज ९९, सूत्र २०)[1], महा० **चक्खिअ** (चखा हुआ : हेच० ४, २५८ ; त्रिवि० ३, १, १३२ ; हाल ६०५), **अचक्खिअ** (हाल ११७), **चक्खन्त** (हाल १७१), शौर० **चक्खिअ** (=चखकर . नागा० ४९, ५), **चक्खिज्जन्त** (शुद्ध रूप **चक्खीअन्त** है, चड० १६, १६)[2] **जक्ष** से निकले हैं, इनमें **ज** का **च** हो गया है। **मच्चइ** और साथ साथ **मज्जइ = माद्यति** जो **मद्** धातु से निकला है (हेच० ४, २२५) ; अप० में **रच्चसि = रज्यसे** जो **रज** धातु का रूप है (हेम० ४, ४२२, २३) ; महा० और जै०महा० **वच्चइ** (वर० ८, ४७ ; हेच० ४, २२५ ; क्रम० ४, ४६ ; गउड० ; हाल , रावण०, एर्त्से०, कालका०, ऋषभ०), आ० **वच्चदि** (मृच्छ० ९९, १७ [यहा यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; १००, १९ , १०१, ७ ; १४८, ८) , दाक्षि० **वच्चइ** (मृच्छ० १००, १५ [यहा यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) ; **वच्च**, **वच्चदि** (मृच्छ० १०५, ४ और ९), ढ० में **वज्जदि** रूप मिलता है, शौर० में **वच्चम्ह** और माग० में **वच्चेन्ति** रूप पाये जाते हैं (§ ४८८)[3]। अ०माग० **पडुच्च** जो *पडिच्च के स्थान पर आया है (§ १६३ और ५९०) और जो संस्कृत **प्रतीत्य** का ठीक प्रतिरूप है, **वच्चइ** से संबंध रखता है। टीकाकार इसके द्वारा ही इसके रूप का स्पष्टीकरण करते हैं , इसका संबंध अप० **विच्च** (=पथ . हेच० ४, ४२१) से भी है।

१. वेबर द्वारा संपादित भगवती १, ३८७ , त्सा० डे० डौ० मौ० गे० २८, ३९१। — २. हेच० ४, २५८ की पिशल की टीका जहाँ पर भारतीय नयी भाषाओं का उल्लेख भी है। — ३. **वच्चइ** संभवतः **व्रात्य = व्रात्यति** का रूप है और **वज्जइ**, **व्रज्या = *व्रज्यति** का। इस स्थिति में **च्च** ध्वनि नियम के अनुसार ठीक बैठ जाता है। — ४. भगवती १, ३८१, में वेबर ने अशुद्ध लिखा है ; ए० म्युलर, बाइ० पेज २१।

§ १९५—यह मानना कि अ०माग० और जै०महा० में प्रत्येक **त** ज्यों का त्यों बना रह सकता है या लोप हो सकता है[1] अथवा दो स्वरों के बीच में, जिनमें से एक **इ** हो तो **त** रख दिया जाता है[2], भूल है। जैसा वेबर[3] पहले ही अनुमान लगा चुका

था, ऐसे सब उदाहरण ऐसे लेखकों (=हस्तलिपियाँ लिखनेवालों) के माथे पर मढ़े जाने चाहिए जिन्होंने बहुधा पाठ के भीतर संस्कृत रूप घुसा दिये हैं। इस विषय पर जैन लेखकों ने प्राकृत भाषाओं के विरुद्ध लिपि की महान् भूलें की हैं"। जै०शौर०, शौर०, माग० और ढ० में बोली के रूप में तथा अप० में त का द और थ का ध रूप बन जाता है (§ १९२)। इस प्रकार जै० शौर० चंदिद और धोद= चन्दित और धौत (पव० ३७९, १); संपज्जदि=संपद्यते; भमदि=भ्रमति; पेच्छदि=प्रेक्षते (पव० ३८०, ६; ३८०, १२; ३८४, ४८), भूदो और जादि =भूतः और याति (पव० ३८१, १५); अजधागहिदत्था एदे=अयथागृहीतार्था एते (पव० ३८९, १); देवदजदि=दैवतयति (पव० ३८३, ६९); तसघाद, करदि, कारयदि, इच्छदि और जायदे=त्रसघात, करोति, कारयति, इच्छति और जायते (कत्तिगे० ४००,३३२) हैं; शौर० में अदिधि=अतिथि (शकु० १८,१ और ८; २०, ५; २३, ९; ५१, १२); शौर० में कधेहि, कधेदु रूप=कथय, कथेदु=कथयतु, माग० में कधेदि=कथयति (§ ४९०); शौर० में चूदलदिअं=चूतलतिकाम् (शकु० ११९, ९); जै०शौर० जध, शौर० जधा और माग० यधा=यथा, जै० शौर० तध, शौर० और माग० तधा= तथा (§ ११३) हैं; शौर० में पारिदोसिअ और माग० पालिदोशिय=पारितोषिक (शकु० ११६, १ और ५); जै० शौर० हवदि, होदि; शौर०, माग० और ढ० भोदि=भवति (§ ४७५ और ४७६) है; शौर० रूप साअदं (मृच्छ० ३, ६; ५९, १९; ८०, ७; ८६, २५; ९४, २२; शकु० ५६, ४; ८०, ३), माग० में शाअदं (मृच्छ० ११३, ७; १२९, १८)=स्वागतम् है; ढ० में जूदिअल=द्यूतकर (§ २५); जूद=द्यूत (मृच्छ० ३०, १८; ३४, २५ [यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए]; ३५, ५ [यहा भी यही पाठ पढा जाना चाहिए]; ३९, १७); पलिवेविद=परिवेपित (मृच्छ० ३०, ७); वज्जदि, धालेदि, भणादि और जिणादि=व्रजति, धारयति, भणति और जयति (मृच्छ० ३०, १०; ३४, ९; १२ और २२) हैं, शौर० और ढ० में सम्पदं= साम्प्रतम् (मृच्छ० ६, २२; १७, १८; १८, २३; शकु० २५, २; ३०, ४; ६७, १२ आदि-आदि; ढ०: मृच्छ० ३०, ४; ३१,९; ३२, ८); माग० शम्पदं (मृच्छ० १६, २०; ३२, २; ४ और ५; ३८, १९; ९९, ११ आदि-आदि) है। ढ० में माधुर=माथुरः के विषय में § २५ देखिए। वर० १२, ३ और मार्क० पन्ना ६६ और उसके बाद के पन्ने में बताते हैं कि शौर० में और उसके साथ माग० में भी त का द या ध हो जाता है; किन्तु हेच० ४, २६० और २६७ में तथा उसके बाद के सब व्याकरणकार कहते हैं कि त का केवल द होता है। हेच० और उसके बाद के व्याकरणकार यह अनुमति देते हैं कि थ का ध होता है जो ठीक है, किन्तु वे थ के स्थान पर ह की अनुमति भी देते हैं जो अशुद्ध है"। जै०शौर०, शौर०, माग० और ढ० में मौलिक द और ध बने रह जाते हैं, उनकी विच्युति नहीं होती और न उनका रूप ह में बदलता है। सर्वत्र बहुधा

ऐसा नहीं होता है (क्रम० ५, ७१ ; मार्क० पन्ना ६६)। पल्लवदानपत्र ७, ५१ में कदत्ति = कृतेति नकल करने में छापे की भूल रह गयी है ; कडत्ति का कद त्ति लिखा गया है। पिधं, पुधं और इनके साथ पिहं, पुहं = पृथक् के विषय में § ७८ देखिए। आ० और दाक्षि० के विषय में § २६ देखिए।

१. औसगेवैल्ते एर्सेलुंगन इन महाराष्ट्री (याकोबी द्वारा संकलित) § २०, १, नोट-संख्या २। — २. ए. म्युलर कृत बाइत्रैगे, पेज ५ ; स्टाइनटाल कृत स्पेसीमेन, पेज २ की भी तुलना कीजिए। — ३. भगवती १, ४०० ; इस सम्बन्ध में इ० स्टु० १६, २३४ और उसके बाद की तुलना कीजिए। — ४. होएर्नले द्वारा संपादित उवासगदसाओ की भूमिका के पेज १७ और उसके बाद। यह स्पष्ट है कि तवणिज्जमतीउ, कणगमतीउ, पुलकामतीउ, रिट्ठामतीउ और वइरामतीउ (जीवा० ५६३) जैसे शब्दों में त का कोई अर्थ नहीं है। यह भी समझ में आने की बात नहीं है कि एक ही भाषा में एक दूसरे के पास-पास कभी भवति और कभी भवइ लिखा जाय, कहीं भगवता और कहीं भगवया का व्यवहार हो ; एक स्थान पर मातरं रूप और दूसरी जगह पियरं लिखा जाय आदि आदि (आयार० १, ६, ४, ३)। यह भी देखने में आता है कि सब हस्तलिपियों में सर्वत्र एक-सा त नहीं मिलता। जब भविष्यकालवाचक रूप में एहीं कहा जाता है तब इससे मालूम हो जाता है इसका रूप पहले एहिइ रहा होगा न कि एहिंति जैसा आयारंगसुत्त २, ४, १, २ में पाया जाता है (§ ५२९)। इसलिए वी० त्सा० कु० मौ० ३, ३४० में लौयमान ने जो मत प्रकट किया है वह पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं माना जा सकता। उवासगदसाओ को छोड़ माग० और जै० महा० के अन्य ग्रन्थों का पाठ अनगिनत भूलों के कारण बिगड़ गया है। § ३४९ की भी तुलना कीजिए। — ५. शौर० के विषय में कु० बाइ ८, १२९ और उसके बाद पिशल का लेख देखिए। अब तक के तथा आगे के पाराओं में बहुत-से उदाहरण दिये गये हैं। § २२ से २५ तक की भी तुलना कीजिए।

§ १९६—वर० २, ७ ; क्रम० २, २८ और मार्क० पन्ना १५ में बताया गया है कि महा० में भी अनेक शब्दों में त का द हो जाता है। इन शब्दों को उक्त व्याकरणकारों ने ऋत्वादिगण में एकत्र किया है। भाम० इन शब्दों में उदु = ऋतु ; रअद = रजत ; आअद = आगत ; णिव्वुदि = निर्वृति ; आउदि = आवृति ; संवुदि = संवृति ; सुइदि = सुश्रुति ; आइदि = आकृति ; हद = हत ; संजद = संयत ; सम्पदि = सम्प्रति ; विउद = विवृत ; संजाद = संयात ; पड्विद्दि = प्रतिपत्ति और जोड़ता है। क्रम० ने इसमें ये शब्द शामिल किये हैं : ऋतु, रजत, आगत, निर्वृत, सुरत, मरकत, सुकृत, संयत, विवृति, प्रवृत्ति, आवृति, आकृति, विधृति, संहृति, निवृत्ति, निष्पत्ति, संपत्ति, प्रतिपत्ति, श्रुत, ख्याति, तात और साम्प्रतम्। मार्क० ने ऋत्वादिगण में बताये हैं : ऋतु, रजत, तात, संयत, किरात (चिलाद रूप में),

संहृति, **सुसंगत**, **ऋतु**, **सम्प्रति**, **साम्प्रतम्**, **कृति** और **वृति** जब इनमें उपसर्ग लगाये जाते हैं तब भी, जैसे : **आकृति**, **विकृति**, **प्रकृति**, **उपकृति**, **आवृति**, **परिवृति**, **निर्वृति**, **संवृति**, **विवृति**, **आवृत**, **परिवृत**, **संवृत**, **विवृत**, **प्रभृति** [हस्तलिपि में **पहुदि** रूप है] और **व्रत** । इसके बाद के सूत्र में मार्क० ने बताया है कि **सुरत**, **हृत**, **आगत** इत्यादि में लेखक के इच्छानुसार **त** या **द** रह सकता है । इस मत के विरुद्ध हेच० ने १, २०९ में कड़ी आलोचना की है । *बात यह है कि यह ध्वनि परिवर्तन शौर० और माग० में होता है, महा० में* में नहीं ; यदि महा० में कहीं यह ध्वनि परिवर्तन पाया जाता हो तो यह माना जायेगा कि यहां पर बोली में हेर फेर हो गया है[1] । रावणवहो में सर्वत्र उदु काम में लाया गया है (१, १८ , ३, २९ ; ६, ११ ; ९, ८५), उउ कहीं भी नहीं । अ०माग० में **उउ** के स्थान पर **उदु** अशुद्ध पाठ है (आयार० २,२,२,६ और ७, ठाणग० ५२७) । इसके अतिरिक्त रावणवहो में **मइलदा** और साथ साथ **पडिआ** रूप मिलते हैं (३, ३१) ; एक ही श्लोक में **विवण्णदा** और **रामादो** पाये जाते हैं जिसमें इन रूपों के साथ ही **अरई** और **सेउम्मि** रूप भी काम में लाये गये हैं (८, ८०) ; इसके समान ही समास में **मन्दोदरि** रूप मिलता है । **मन्दोदरिसुअदूमिअवाणर-परिओस** में **द** तो बना रह गया है, पर इस पद में से ३ **त** उड़ा दिये गये हैं । नाटकों की गाथाओं में भी ठीक यही बात देखने में आती है, जैसा **मालई** के स्थान पर **मालदी** = **मालती** (ललित० ५६३, २) है ; **ओदंसन्ति** = **अवतंसयन्ति** (बोएटलिंक द्वारा सम्पादित शकु० ४, १०) ; **लदाओ** = **लताः** (बोएटलिंक द्वारा सम्पादित शकु० ५३, ७ ; पिशल द्वारा सम्पादित संस्करण ८५, ३ और बुर्कहार्ड द्वारा सम्पादित काश्मीरी पाठ ८४,१५ की भी तुलना कीजिए) , **उवणइदव्वो**=**उपनेतव्यः** (मालवि० २३, ३) ; **उवणीदे**=**उपनीते** (हाल० ८२७) , **होदु** और इसके साथ ही **होइ** रूप (हाल ८७८) ; **कादुं**=**कर्तुम्** (हाल ९२४) ; **हृणिदा**= **भणिता** (हाल ९६३) आदि आदि हैं । हाल से हमने जो उदाहरण दिये हैं वे सब तेलुगू पाठों से संकलित हैं । हेच० जब बताता है कि ऐसे रूप महा० में अशुद्ध हैं तो एस. गौल्दश्मित्त[2] के मतानुसार उसके सूत्र में 'शुद्धिकरणात्मक निषेध' न देखना चाहिए । असल बात यह है कि इन उदाहरणों से महा० भाषा पर चोट पड़ती है । इसके विपरीत शौर० हस्तलिखित प्रतियों में से महा० के असंख्य रूप दिये जा सकते हैं । वर०, क्रम० और मार्क० के सूत्र महा० से किसी प्रकार से भी सम्बन्ध नहीं रखते । विशेष रूप से खटकनेवाले रूप **पडिवद्दी** (भाम०) जिसके स्थान पर सम्भवत: **पदिवत्ती** पाठ ठीक रहेगा और जिसमें और एक खटकनेवाली बात **ड** के स्थान पर **द** का होना है तथा **निवद्दी** (?), **निप्पद्दी** (?), **संपद्दी** और **पडिपद्दी** (क्रम०) हैं , ये रूप अवश्य ही नासमझी के फल हैं । अ०माग० **अदु** और **अदुवा** के विषय में § १५५, नोट संख्या ५ देखिए ।

१. पिशल द्वारा संपादित विक्रमोर्वशीय, पेज ६१४ और उसके बाद। —२. रावणवहो की भूमिका का पेज १७ ; रावणवहो १३, ९७ पेज ३०९ की नोट-संख्या ४ की भी तुलना कीजिए ।

§ १९७—संस्कृत ह्-युक्त वर्णों से भिन्न रीति का अनुसरण करके प्राकृत में आरम्भिक और शब्द के मध्य का ह युक्त वर्ण § १८८ के अनुसार ह् रह जाता है। इस ह् करण का कारण सर्वत्र एक नहीं है। एक असंयुक्त र् अथवा स् या संयुक्त र् का निकट में होना दूसरा कारण नहीं है, जैसा बहुधा समझा जाता है[1]। वर्ग के प्रथम दो वर्णों, अनुस्वार और ल में जो ह् कार आता है उसका कारण मूल संस्कृत में इनसे पहले श्-, ष्- और स कार का आ जाना है, ये ध्वनियाँ संस्कृत में लुप्त हो गयी हैं। मूल ध्वनिवर्ग स्क, स्त, स्प, स्न और स्म शब्द के आरम्भ में रहने पर, § ३०६ से ३१३ तक के अनुसार ख, थ, फ, ण्ह और म्ह बन जाते हैं[2]।

१. लास्सनकृत इन्स्टि. लि. प्रा., पेज १९७ और उसके बाद और पेज २५१ ; याकोबी कृत औसगेवैल्ते एर्त्सेलुंगन § २१, २ भूमिका का पेज २८। बे. बाइ. ३, २५३ में पिशल का लेख। — २. वाकरनागलकृत आल्ट इंडिशे ग्रामाटीक § २३० और २३१।

§ १९८—संस्कृत क, शब्द के आरम्भ में ख बन जाता है और समास के दूसरे पद के आरम्भ में तथा शब्द के मध्य में, ह बन जाता है ; यह विशेषकर नीचे दिये गये शब्दों में : जै०महा० में **खंधरा = कंधरा** (मार्क० पन्ना १७; एर्सें० १,१७), किन्तु महा० और शौर० में **कंधरा** रूप मिलता है (गउड० ; मल्लिका० १९२,२२ ; २०१, ७ ; २२०, २०) ; **खप्पर = कर्पर** (हेच० १, १८१) ; अ०माग० **खसिय = कसित** (हेच० १, १८१) ; **खासिय = कासित** (हेच० १, १८१ ; नंदी० ३८०) ; अ०माग० और जै०महा० में **खिंखिणि = किङ्किणि** (पण्हा० ५१४ ; राय० १०९ ; १२९ ; १४२ ; जीवा० ३४९ [पाठ में **खकिंणि** रूप मिलता है] ; ४४३ ; नायाध० ९४८ [पाठ में **खंकिणि** है] , उवास० ; ओव० ; एर्सें०), **सखिंखिणी** (जीवा० ४६८ ; आव० एर्सें० ३५, २५), **खिंखिणिय=किङ्किणीक** (उवास०), **सखिंखिणीय** (नायाध० § ९३ ; पेज ७६९ ; ८६१ [पाठ में **सखखिणीय** है]), किन्तु महा० और शौर० में **किंकिणी** (पाइय० २७३ ; गउड० ; विद्ध० ५६, १ ; कर्पूर० ५५, ७ ; ५६, ४ ; १०२, १ ; वेणी० ६३, १० ; बाल० २०२, १४ ; शौर० में : कर्पूर० १७, ६ ; मालती० २०१, ६) है, शौर० में : **किंकिणीआ = किङ्किणीका** (विद्ध० ११७, ३) ; अ०माग० : **खील = कील, इंदखील = इन्द्रकील** पाया जाता है (जीवा० ४९३ ; ओव० § १), साथ ही जै०महा० में **इंदकील** रूप आया है (द्वार०), **खीलअ = कीलक** (हेच० १, १८१) ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **खुज्ज = कुब्ज** (वर० २, ३४ ; हेच० १, १८१ ; क्रम० २,४० ; मार्क० पन्ना १७ ; पाइय० १५५ ; हाल ; अंतग० २२ ; अणुओग० २५० ; जीवा० ८७ ; नायाध० § ११७ ; पेज ८३२ और ८३७ ; पण्णव० ४२८ ; पण्हा० ७८ और ५२३ [पाठ में कुज्ज है] ; विवाग० २२६ ; विवाह० ७९१ और ९६४ ; ओव० ; निरया० ; आव० एर्सें० २१, ५ और १३ ; एर्सें० , शकु० ३१, १६ ; मालवि० ७०, ७ ; प्रसन्न० ४४, १ और उसके बाद), अ०माग० में **अंबखुज्जय = आम्रकुब्जक** (विवाह० ११६), **खुज्जत्त =**

संहृति, सुसंगत, ऋतु, सम्प्रति, साम्प्रतम्, छृति और **वृति** जब इनमें उपसर्ग लगाये जाते हैं तब भी, जैसे : **आकृति, विकृति, प्रकृति, उपकृति, आवृति, परिवृति, निर्वृति, संवृति, विवृति, आवृत, परिवृत, संवृत, विवृत, प्रभृति** [हस्तलिपि में **पहुदि** रूप है] और **व्रत**। इसके बाद के सूत्र में मार्क० ने बताया है कि **सुरत, हत,** आगत इत्यादि में लेखक के इच्छानुसार **त** या **द** रह सकता है। इस मत के विरुद्ध हेच० ने १, २०९ में बड़ी आलोचना की है। बात यह है कि यह ध्वनि परिवर्तन शौर० और माग० में होता है, महा० में में नहीं ; यदि महा० में कहीं यह ध्वनि-परिवर्तन पाया जाता हो तो यह माना जायेगा कि यहा पर बोली में हेर-फेर हो गया है[1]। रावणवहो में सर्वत्र **उदु** काम में लाया गया है (१, १८ ; ३, २९ ; ६, ११ ; ९, ८५), **उउ** कहीं भी नहीं। अ०माग० में **उउ** के स्थान पर **उदु** अशुद्ध पाठ है (आयार० २,२,२,६ और ७, ठाणंग० ५२७)। इसके अतिरिक्त रावणवहो में **मइलदा** और साथ साथ **पडिआ** रूप मिलते हैं (३, ३१) ; एक ही श्लोक में **विवण्णदा** और **रामादो** पाये जाते हैं जिसमें इन रूपों के साथ ही **अरई** और **सेउम्मि** रूप भी काम में लाये गये हैं (८, ८०) ; इसके समान ही समास में **मन्दोदरि** रूप मिलता है। **मन्दोदरिसुअट्टमिअवाणर-परिओस** में **द** तो बना रह गया है, पर इस पद में से ३ **त** उड़ा दिये गये हैं। नाटकों की गाथाओं में भी ठीक यही बात देखने में आती है, जैसा **मालई** के स्थान पर **मालदी = मालती** (ललित० ५६३, २) है ; **ओदंसन्ति = अवतंसयन्ति** (बोएटलिंक द्वारा सम्पादित शकु० ४, १०) ; **लदाओ = लताः** (बोएटलिंक द्वारा सम्पादित शकु० ५३, ७ ; पिशल द्वारा सम्पादित संस्करण ८५, ३ और बुर्कहार्ड द्वारा सम्पादित काश्मीरी पाठ ८४,१५ की भी तुलना कीजिए) ; **उवणइदव्वो=उपनेतव्यः** (मालवि० २३, ३) ; **उवणीदे = उपनीते** (हाल० ८२७) ; **होदु** और इसके साथ ही **होइ** रूप (हाल ८७८) ; **कादुं = कर्तुम्** (हाल ९२४) ; **हणिदा= भणिता** (हाल ९६३) आदि-आदि हैं। हाल से हमने जो उदाहरण दिये हैं वे सब तेलुगू पाठों से संकलित हैं। हेच० जब बताता है कि ऐसे रूप महा० में अशुद्ध हैं तो एस. गौल्दश्मित्त[2] के मतानुसार उसके सूत्र में 'शुद्धिकरणात्मक निषेध' न देखना चाहिए। असल बात यह है कि इन उदाहरणों से महा० भाषा पर चोट पड़ती है। इसके विपरीत शौर० हस्तलिखित प्रतियों में से महा० के असंख्य रूप दिये जा सकते हैं। वर०, क्रम० और मार्क० के सूत्र महा० से किसी प्रकार से भी सम्बन्ध नहीं रखते। विशेष रूप से खटकनेवाले रूप **पडिवद्दी** (माम०) जिसके स्थान पर सम्भवतः **पदिवत्ती** पाठ ठीक रहेगा और जिसमें और एक खटकनेवाली बात त के स्थान पर द का होना है तथा **निवद्दी** (?), **निप्पद्दी** (?), **संपद्दी** और **पडिपद्दी** (क्रम०) हैं ; ये रूप अवश्य ही नासमझी के फल हैं। अ०माग० **अदु** और **अदुवा** के विषय में § १५५, नोट संख्या ५ देखिए।

१. पिशल द्वारा संपादित विक्रमोर्वशीय, पेज ६१४ और उसके बाद। —२. रावणवहो की भूमिका का पेज १७ ; रावणवहो १३, ९७ पेज ३०९ की नोट-संख्या ४ की भी तुलना कीजिए।

§ १९७—संस्कृत ह-युक्त वर्णों से भिन्न रीति का अनुसरण करके प्राकृत में आरम्भिक और शब्द के मध्य का ह युक्त वर्ण § १८८ के अनुसार ह रह जाता है। इस ह करण का कारण सर्वत्र एक नहीं है। एक असंयुक्त र् अथवा स् या संयुक्त र् का निकट में होना इसका कारण नहीं है, जैसा बहुधा समझा जाता है[1]। वर्ग के प्रथम दो वर्णों, अनुस्वार और ळ में जो ह कार आता है उसका कारण मूल संस्कृत में इनसे पहले श्, ष् और स कार का आ जाना है, ये ध्वनियाँ संस्कृत में लुप्त हो गयी है। मूल ध्वनिवर्ग स्क, स्त, स्प, स्न और स्म शब्द के आरम्भ में रहने पर, § ३०६ से ३१३ तक के अनुसार ख, थ, फ, ण्ह और म्ह बन जाते हैं[1]।

१. लास्सनकृत इन्स्टि. लि. प्रा., पेज १९७ और उसके बाद और पेज २५१ ; याकोबी कृत औसगेवैल्ते एर्सेलुंगन § २१, २ भूमिका का पेज २८। बे. बाइ. ३, २५२ में पिशल का लेख। — २. याकरनागलकृत आल्ट इंडिशे ग्रामाटीक § २३० और २३१।

§ १९८—संस्कृत क, शब्द के आरम्भ में ख बन जाता है और समास के दूसरे पद के आरम्भ में तथा शब्द के मध्य में, ह बन जाता है ; यह विशेषकर नीचे दिये गये शब्दों में : जै०महा० में खंधरा = कंधरा (मार्क० पन्ना १७; एर्से० १,१७), किन्तु महा० और शौर० में कंधरा रूप मिलता है (गउड० ; मल्लिका० १९२,२२ ; २०१, ७ ; २२०, २०) ; खप्पर = कर्पर (हेच० १, १८१) ; अ०माग० खसिय = कसित (हेच० १, १८१) ; खासिय = कासित (हेच० १, १८१ ; नदी० ३८०) ; अ०माग० और जै०महा० में खिंखिणि = किङ्किणि (पण्हा० ५१४ ; राय० १०९ ; १२९ , १४२ ; जीवा० ३४९ [पाठ में खंकिणि रूप मिलता है] ; ४४३ ; नायाध० ९४८ [पाठ में खंकिणि है] , उवास० ; ओव० ; एर्से०), सखिंखिणी (जीवा० ४६८ ; आव० एर्से० ३५, २५), खिंखिणिय=किङ्किणीक (उवास०), सखिंखिणीय (नायाध० § ९३ ; पेज ७६९ ; ८६१ [पाठ में ससखिंणीय है]), किन्तु महा० और शौर० में किंकिणी (पाइय० २७३ ; गउड० ; विद्ध० ५६, १ ; कर्पूर० ५५, ७ ; ५६, ४ ; १०२, १ ; वेणी० ६३, १०; बाल० २०२, १४ ; शौर० में : कर्पूर० १७, ६ , मालती० २०१, ६) है, शौर० में : किंकिणीआ = किङ्किणीका (विद्ध० ११७, ३) ; अ०माग० : खील = कील, इंदखील = इन्द्रकील पाया जाता है (जीवा० ४९३ ; ओव० § १), साथ ही जै०महा० में इंदकील रूप आया है (द्वार०.) ; खीलअ = कीलक (हेच० १, १८१).; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में : खुज्ज = कुब्ज (वर० २, ३४ ; हेच० १, १८१ ; क्रम० २,४० ; मार्क० पन्ना १७ ; पाइय० १५५ ; हाल ; अतग० २२ , अणुओग० २५० ; जीवा० ८७ ; नायाध० § ११७ ; पेज ८३२ और ८३७ ; पण्णव० ४२८ , पण्हा० ७८ और ५२३ [पाठ में कुज्ज है] ; विवाग० २२६ ; विवाह० ७९१ और ९६४ ; ओव० ; निरया० ; आव० एर्से० ~१, ५ और १३ ; एर्से० ; शकु० ३१, १६ ; मालवि० ७०, ७ ; प्रसन्न० ४४, १ और उसके बाद), अ०माग० में अंबखुज्जय = आम्रकुब्जक (विवाह० ११६), खुज्जत्त =

कुब्जत्व (आयार० १, २, ३, २), खुज्जिय = कुब्जित (आयार० १, ६, १, ३) ; किन्तु पुष्प के अर्थ में कुज्ज होता है (हेच० १, १८१ ; मार्क० पन्ना १७), अ०माग० कोज्ज (कप्प० § ३७), कुज्जय (पण्णव० ३२) ; खुड्डिअ (=सुरत : देशी० २, ७५), खंखुड्डइ (= रमता : हेच० ४, १६८) जो कुर्द् या कूर्द् धातु से है; इस संबंध में धातुपाठ २, २१ में[1] खुर्द्, खूर्द् धातुओं की भी तुलना कीजिए। अ०माग० और जै०महा० खेड्ड, अप० खेड्डय (§ ९०), खेड्डइ (=खेलता है : हेच० ४, १६८) ; अप० खेल्लन्ति (= खेलते हैं : हेच० ४, ३८२), जै०महा० रूप खेल्लाविऊण (एर्से०), खेल्ल (एर्से०), अ०माग० खेल्लावण (आयार० २, १४, १३) ; शौर० खेलदि (मुद्रा० ७१, ४ ; विद्ध० २७, ५), खेलिदुं (मुद्रा० ७१, ३ , ८१, २), खेलण (विद्ध० ५८, ६ ; मल्लिका० १३५, ५), अप० खेलन्त (पिंगल १, १२३ अ), खेल्लिअ (= खिलखिलाना : देशी० २, ७६) जो क्रीड्[2] धातु से निकला है, अ०माग० खुत्तो, महा० हुत्तं = कृत्वः (§ ४५१) है ; खुलुह = गुल्फ (देशी० २, ७५ ; पाइय० २५० ; § १३९ की भी तुलना कीजिए) है, महा० णिहस=निकष (वर० २, ४ ; हेच० १, १८६ ; २६० ; क्रम० २, २४ ; मार्क० पन्ना १४ ; गउड० ; रावण०) है ; अ०माग० में § २०२ के अनुसार चौथे वर्ण में बदल कर इसका रूप निघस[3] बन गया है (विवाह० १० ; राय० ५४ ; उवास०; ओव०), महा० णिहसण = निकषण (गउड० ; हाल ; रावण०) ; धातुपाठ १७, ३५ में खष् और उसके साथ कष् की तुलना कीजिए। अप० में विहसन्ति=विकसन्ति (हेच० ४, ३६५, १)। संस्कृत प्रत्यय -क के समान ही पिशल § ११९९ प्राकृत में एक प्रत्यय -ह है जो अप० रूप णवखी=नवकी में है (हेच० ४, ४२०, ५)। मार्क० पन्ना ३७ में बताया गया है कि अर्थ में बिना नाममात्र परिवर्तन किये ह वाक्य में आ सकता है (स्वार्थे च हश् च) : पुत्तह=पुत्रक ; एकह=एकक। इसमें फिर एक कः स्वार्थे लग कर : पुत्तहअ बन गया है। यह : -ह और -ह अ०माग० सहयर में पाया जाता है ; इसका दूसरा रूप सहचर भी मिलता है = *सकचर=खचर (=पक्षी : आयार० २, ३, ३, ३ , सूय० ८२५ ; अणुओग० २६५ और ४०८ तथा ४४९ ; जीवा० ७१; ८३ ; ८६ ; ११७ और उसके बाद ; ३१७ ; ३१९ ; ३२३ ; नायाध० ११७९ ; पण्णव० ४७ ; ५४ ; ५५ ; ३०२ और ५९३ तथा उसके बाद ; सम० १३२; ठाणंग० १२१ और उसके बाद ; विवाह० ४७२ , ४७९ ; ५२२ और उसके बाद ; ५२६ ; १२८५ ; १५२५ ; विवाग० ५० , १०८ ; १८७ ; २०४ और उसके बाद ; उत्तर० १०७२ ; १०७८ और उसके बाद , ओव० § ११८), सहचरी (= पक्षी की स्त्री :- ठाणंग० १२१ और उसके बाद)[4], माग० वचाहगंठी, शगुडाहगुंठी = वचाका-ग्रन्थिः, सगुडकगुण्ठी (मृच्छ० ११६, २५ ; § ७० की भी तुलना कीजिए) ; महा० छाहा,- छाही = छायाका (§ २५५) है ; अ०माग० फलह= फलक (विवाह० १३५ , ओव०), और दो प्रत्यय लग कर यह फलहग बन जाता है (आयार० २, १, ७, १ ; ओव०), यह रूप फलहक बन कर संस्कृत में ले

लिया गया है, इसके साथ साथ अ०माग० फलग चलता है (आयार० २, २, १, ६ ; २, ३, १, २ ; उवास० ; ओव०) और फलय रूप भी मिलता है (आयार० २, ७, १, ४) ; महा०, अ०माग० और शौर० में फलिह = स्फटिक (वर० २, ४ और २२ ; हेच० १८६ ; १९७ ; क्रम० २, २४ ; मार्क० पन्ना १४ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; विवाह० २५३ ; राय० ५३ ; नायाध० ; कप्प० ; मृच्छ० ६८,१८ ; ६९, १ ; विक्रमो० ३९,२ ; ६६,१३ ; मालवि० ६३, १ ; नागा० ५४, १२ ; कर्पूर० ५४, १ ; विद्ध० २४, ९, २८, ५ ; ७४, ७), जै०महा० में फलिहमय (एर्सें०) तथा इसके साथ ही अ०माग० में फालिय (नायाध० § १०२ ; ओव० [§ ३८], कप्प० § ४०), फालियामय (पण्णव० ११५ ; सम० ९७ ; ओव० § १६ पेज ३१, १९), शौर० मे फडिय रूप है (रत्ना० ३१८, ३० ; प्रसन्न० १०, २० ; § २३८ में भले ही फॉलिअ पढ़ा जाना चाहिए) ; फलिहगिरि = स्फटिकगिरि = कैलास (पाइय० ९७) ; अ०माग० भमुहा = पाली भमुक = *भ्रुका (§ १२४)', जै०महा० सिरिहा = श्रीका (एर्सें० ८६, १९), महा०, अ०माग०, जै०महा० और दाक्षि० सुणह = पाली सुनख = संस्कृत शुनक (हाल ; पण्हा० २० ; नायाध० ३४५ ; पण्णव० १३६ ; आव० एर्सें० ३४, २० और २४ ; एर्सें० ; मृच्छ० १०५, ४), इसके साथ महा० में सुणअ (हेच० १, ५२ ; हाल ; सरस्वती० ८, १३), अ०माग० और जै०महा० मे सुणग रूप मिलता है (जीवा० ३५६ [२५५ की तुलना कीजिए जहां पर पाठ मे सुणमडे रूप है] ; नायाध० ४५० ; पण्णव० ४९ ; उत्तर० ९८५ ; आव० एर्सें० ३५, ६ और १०), सुणय भी आया है (आयार० १, ८, ३, ४ और ६ ; पण्हा० २०१ ; पण्णव० ३६७ और ३६९ ; आव० एर्सें० ३५, ९ ; ३६, २८ और इसके बाद; द्वार० ४९७, १८), कोलसुणय (सूय० ५९१; पण्णव० ३६७), स्त्रीलिंग मे सुणिया रूप है (पण्णव० ३६८), माग० शुणहक (मृच्छ० ११३, २०) और अप० सुणहउ (हेच० ४, ४४३) में सुणह में एक –क और जोड दिया गया है। सम्भवतः लेखकों ने अनुमान लगाया होगा कि सुणह = सुनख = सु+नख' ; ढ० तुहं और अप० तुहुँ = त्वकं (§ ४८१) जिसमें § १५२ के अनुसार उ हुआ और ३५२ के अनुसार उँ लगा। अप० सहुँ = साकम् (हेच० ४, ३५६ और ४१९), इसमें § ८१ के अनुसार आ का अ हो गया और § ३५२ के अनुसार उँ लगा। अ०माग० फणिह (? ; कप्पी० ; सूय० २५०) और फणग (? ; उत्तर० ६७२) की तुलना कीजिए। महा० चिहुर (वर० २, ४ ; हेच० १, १८६ ; क्रम० २, २४ ; मार्क० पन्ना १४ ; पाइय० १०९ ; गउड० ; हाल; प्रचंड० ४३, १५ ; कर्पूर० ४८, १० अच्युत० ३५) ; माग० चिहुल (मृच्छ० १७१, २ [यहां यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), महा० मे चिउर (साहित्य० ७३, ४ ; विद्ध० २५, १), यह रूप शौर० मे शुद्ध ही है इस बात का कोई निश्चय नहीं (प्रबोध० ४५, ११), यह रूप = चिकुर नहीं हो सकता। इसका अर्थ 'रंगने का मसाला' है और इसका रूप अ०माग० में चिउर होगा (नायाध० § ६१), प्रत्युत यह = *चिक्षुर है जो क्षुर् धातु से (= काटना) निकला रूप है और द्वित्व होकर बना है ; यह प्राकृत में

*चिक्खुर अथवा चिखुर, चिहुर होना चाहिए चिहुर का चिकुर से वही सम्बन्ध है जो स्फुर् धातु का कुर् धातु से। अ०माग० चिक्खल्ल में (= मैला ; चिकट ; दलदल : हेच० ३, १४२ ; देशी० ३, ११; पण्हा० ४७ [पाठ में चिक्खल है]; अणुओग० ३६७), महा० और अ०माग० चिक्खिल्ल (हाल ; रावण० ; पण्णव० ८९ और उसके बाद [९१ में चिक्खल्ल रूप आया है] ; विवाह० ६५८ और उसके बाद [टीका में चिक्खल्ल रूप दिया है] ; पण्हा० १६४ और २१२ [टीका में यहा भी चिक्खल्ल रूप है]) और अ०माग० रूप चिखिल्ल (ओव० § ३२ ; पाठ में चिखल्ल दिया गया है) = चिक्षाल्य जो क्षल् धातु से बना है जिसका अर्थ है *'धोकर साफ किया जानेवाला', 'धोया जाने योग्य'*।*
—महा० णिहाअ (= समूह : देशी० ४, ४९ ; पाइय० १९ ; गउड० ; हाल ; रावण०) = निकाय[८] नहीं है वरन् = निघात है[९]। —णिहेलण (= गृह ; निवासस्थान : हेच० २, १७४ ; क्रम० २, १२० ; देशी० ४, ५१ ; ५, ३७ ; पाइय० ४९ [पाठ में णिहेलण है]; त्रिवि० १, ३, १०५) = निकेतन[१०] नहीं है प्रत्युत अ०माग० निभेलण है (कप्प० § ४१) और इसका सम्बन्ध धातुपाठ ३२, ६६ के भिल् धातु से है जिसका अर्थ भेदना है और अ०माग० भेलइत्ता (ठाणग० ४२१) में मिलता है[११] ; विल् और विल धातुओं से भी तुलना कीजिए।
—विहल = विकल नहीं है बल्कि विह्वल है (§ ३३२)। -महा० सिहर (पाइय० २५९ ; रावण०) = शीकर नहीं है (हेच० १, १८४)[११], वरन् महा० सीभर से निकला है (रावण०) जिसे व्याकरणकार (वर० २, ५ ; हेच० १, १८४ ; क्रम० २, २६ ; मार्क० पन्ना १४) इसी भांति शीकर से निकला बताते हैं, किन्तु जो वैदिक शीभम्, शीभ (= शीघ्र) से सम्बन्ध रखता है[१२]।

१. बे० बाइ० ३, २५४ में पिशल का लेख। — २. बे० बाइ० ३, २५४ और उसके बाद में पिशल का लेख। खेलदि और खेल्लइ, खेल धातु के रूप में संस्कृत में मिला लिया गया है। बे० बाइ० ६, ९२ से मतभेद रखते हुए मैं इस समय अधिकांश दूसरे शब्दों में भी ख की विच्युति मानता हूँ। — ३. *टीकाकार अधिकांश में बताते हैं कि णिहस = निघर्ष और णिहसण =* निघर्षण, *किन्तु यह भाषाशास्त्र की दृष्टि से असंभव है क्योंकि इन शब्दों का* सम्बन्ध णिहंस और णिहंसण से होगा। — ४. ठाणंगसुत्त १२१ की टीका में अभयदेव ने बताया है : खहं ति प्राकृतत्वेन खम् आकाशम् इति। —५. लौयमान औपपातिक सूत्र में ह को पादपूरक बताता है, जो अशुद्ध है। — ६. ह-कार मुख्यतया इस अशुद्ध व्युत्पत्ति पर आधारित है जैसा पाली भाषा में माना गया है (पाली मिसेलानी, पेज ५८, नोट ६), पर यह भ्रमपूर्ण है। एक साथ दो-दो प्रत्यय लगाने के सम्बन्ध में अ०माग० फलहग भूमियागा (§ २०८) *और मार्क० पन्ना ३७ देखिए*। — ७. चिक्खल की एक सुंदर व्युत्पत्ति उदाहरणार्थ और यह समझाने के लिए कि शब्दों की व्युत्पत्ति कैसे निकाली जानी चाहिए, अणुओगदारसुत्त ३७ में दी गयी है : चिच्च करोति

खल्लंच भवति चिप्पल्लम्। इसका विशेषण चिप्पिलि है (स्त्रीलिंग ; [?] ; प्रबंध० ५६, ६)। ये दोनों शब्द, चिट्टुर (हेच० १, १८६ पर पिशल की टीका) और चिप्पल्ल (स्साखारिआए कृत बाइत्रैगे त्सूर इंडिशन लेक्सिकोग्राफी, पेज ५६) संस्कृत में भी ले लिये गये हैं। — ८. पाइयलच्छी पेज १२ पर ब्यूलर का मत। — ९. बे० बाइ० ६, ९१ में पिशल का लेख। — १०. पाइयलच्छी पेज १२ पर ब्यूलर। — ११. बे० बाइ० ३, २५२ और ६, ९१ में पिशल का लेख ; ए० म्युलरकृत बाइत्रैगे, पेज ३४। — १२. ना० गे० वि० गो० १८७४, पेज ४७० में गौल्दश्मित्त का लेख। — १३. बे० बाइ० ६, ९१ में पिशल का लेख।

§ १९९—अ०माग० चिमिढ = चिपिट में (§ २४८) ट पहले ड बना और फिर ढ हो गया ; वढ = वट (हेच० २, १७४ ; त्रिवि० १, ३, १०५[1]) ; सअढ = शकट (वर० २, २१ ; हेच० १, १९६ ; क्रम० २, ११ ; मार्क० पन्ना १६), किन्तु अ०माग० में इसका रूप सगड पाया जाता है (आयार० २, ३, २, १६ ; २, ११, १७ ; सूय० ३५०), शौर० में सअडिआ = शकटिका आया है (मृच्छ० ९४, १५ और उसके बाद), माग० रूप शअळ है (मृच्छ० १२२, १० ; § २३८) ; सढा = सटा (वर० २, २१ ; हेच० १, १९६ ; क्रम० २, ११ ; मार्क० पन्ना १६), किन्तु महा० में इसका रूप सडा है (रावण०)। अप० के खलिहडउ रूप (§ ११०) की भी तुलना कीजिए। थिम्पइ = तृम्पति में त, थ के रूप में दिखाई दे रहा है (वर० ८, २२), थिप्पइ (हेमचन्द्र ४, १३८ ; क्रम० ४, ४६) और थेॅप्पइ (क्रम० ४,४६) = तृप्यते = *स्तृम्पति, स्तृप्यते। थिप्पइ (= बूंद बूंद टपकना : हेच० ४, १७५) इसका समानार्थी नहीं है, इसका सम्बन्ध थेव (= बूंद : § १३०) से है जो धातुपाठ १०, ३ और ४ के धातु स्तिप् और स्तेप् से निकला है। महा०, अ०माग० और जैन०महा० रूप भरह = भरत में (वर० २, ९ ; चंड० ३,१२ पेज ४९ ; हेच० १, २१४ ; क्रम० २, ३० ; मार्क० पन्ना १५ ; गउड० ; रावण० ; अन्त० ३ ; उत्तर० ५१५ और ५१७; ओव०; सगर० २, ६ ; द्वार० ; एर्त्से० ; कालका०)। -त प्रत्यय के स्थान में थ रहा होगा ; अ०माग० दाहिणड्ढभरहे = दक्षिणार्धभरते (आयार० २,१,५,२ ; नायाध० § १३ और ९३) ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और अप० रूप भारह = भारत (गउड० ; आयार० २,१५,२ ; ठाणग० ७० और ७३ ; विवाह० ४२७ और ४७९; उत्तर० ५१५, ५१७ ; ५३२ ; ५४१ ; नायाध० ; उवास० ; निरया० ; कप्प० ; एर्त्से० ; हेच० ४, ३९९), महा० में भारही रूप भी मिलता है (गउड०)। भरथ रूप जिससे भरह रूप निकला है, जैसे *भारथ[1] से भारह बना, उणादि सूत्र ३, ११५ के अनुसार बना है और शौर० रूप भरध भी (मार्क० ; बाल० १५५, ३ ; ३१०, ९ [इसमें ५५, १७ और १५०, २१ में भरद पाठ अशुद्ध है] ; अनर्घ० ३१६, १५ [पाठ में भरद है] ; किन्तु कलकत्ते से शके १७८२ में प्रकाशित संस्करण के पेज ३३७, ४ में शुद्ध रूप भरध ही है ; प्रसन्न० ९१, १२ [पाठ में

;भरद है]) ; माग० **भालध** भी (मृच्छ० १२८, १३ [स्टेन्त्सलर के संस्करण में **भालिध** पाठ है, गौडबोले के संस्करण ३५३, १२ भी देखिए] ; १२९, ३ [पाठ में **भालदे** मिलता है])।[1] संस्कृत शब्द **आवसथ** का -थ प्रत्यय के स्थान पर मिलता जुलता प्राकृत रूप **आवसह** है (उदाहरणार्थ, आयार० १,७,२,१ और उसके बाद; ओव०), संस्कृत **उपवसथ**, **निवसथ** और **प्रवसथ** आदि आदि के लिए महा०, अ०माग० और जै०महा० में **वसहि**=*वसधि=**वसति** रूप है (वर० २, ९, चंड० ३, १२ पेज ४९ ; हेच० १, २१४ ; क्रम० २, ३० ; मार्क० पन्ना १५ ; पाइय० ४९ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; पण्हा० १३६, १७८ ; २१५ ; विवाह० १५२ ; ११२३ ; ११९३ , नायाध० ५८१ ; उत्तर० ४४९ ; ९१८ [इसमें साथ में **आवसह** रूप भी आया है] ; दस० नि० ६४७, ४९ ; ओव० ; आव० एर्से० २७, २५ ; कालका०), अ०माग० **कुवसहि**=**कुवसति** (पण्हा० १४०)[2] है। आज्ञावाचक का द्वितीय बहुवचन में जुड़नेवाला -ह और उसका शौर० तथा माग० रूप ध भी -थ से निकला है, यह द्वितीय पुरुष बहुवचन आज्ञावाचक के रूप में काम में लाया जाता है (§ ४७१)। —**काहल** (= कायर : डरपोक : चंड० ३,१२ पेज ४९ ; हेच० १,२१४ ; = कायर आदमी : देशी० २,५८) जिसे सब व्याकरणकार और पी० गौल्दश्मित्त[3] = **कातर** बताते हैं; **काहल** (= सुकुमार ; कोमल : देशी० २,५८) और **काहली** (= तरुणी: देशी० २, २६) से अलग नहीं किया जा सकता। **काहल** और **काहली** संस्कृत में भी काम में लाये जाते हैं किन्तु उसमें ये प्राकृत से घुसे हैं और ऐसा अनुमान होता है कि इनका सम्बन्ध महा० **थरथरेइ** और शौर० **थरथरेदि** से है (= थरथराना ; काँपना, हृदय का धड़कना ; § ५५८) = **का** + **थर** के, इसमें **का** वैसा ही है जैसा संस्कृत **कापुरुष**, **काभर्तृ** आदि में , **कातर** का महा० और अप० रूप **कायर** होता है (गउड० ; रावण० : हेच० ४, ३७६, १), अ०माग० रूप **कायर** (नायाध०), शौर० में **कादर** (शकु० १७, १२ ; ८४, १६ ; विक्रमो० २७, ६ ; मालवि० ४०, १३), माग० में **कादल** (मृच्छ० १२०, ९) होता है। **कातर** और ***काथर** मूल रूप ***कास्तर** से सम्बन्ध रखते हैं।—हेच० १,२१४ के अनुसार **मातुलिङ्ग** का प्राकृत रूप **माहुलिङ्ग** होता है और **मातुलुङ्ग** का **माउलुङ्ग** जैसा कि अ०माग० और शौर० में पाया जाता है (आयार० २, १, ८, १ ; पण्णव० ४८२ , अद्भुत० ६८, ६ [इसमें **मातु**– का **मादु**- रूप मिलता है])। **माहुलिङ्ग** (चंड० ३,१२, पेज ४९ में भी), **मधुकर्कटिका**, **मधुकुक्कुटिका**, **मधुजम्बीर**, **मधुजम्भ**, **मधुबीजपूर**, **मधुरजम्बीर**, **मधुरबीजपूर**, **मधुरवल्ली**, **मधुवल्ली**, **मधूल** और **मधूलक** से सम्बन्ध रखता है, जो नाना प्रकार के नीबुओं के नाम हैं। इसलिए **माहुलिङ्ग**=***माधुलिङ्ग** हुआ , पण्णवणा ५३१ में अ०माग० में **माउलिङ्ग** छापा गया है। अ०माग० **विहत्थि** (सूय० २८० ; विवाह० ४२५ ; नंदी० १६८ ; अणुओग० ३८४ और ४१३) = **वितस्ति** नहीं है (चंड० ३,१२, पेज ४९ ; हेच० १, २१४)[4] प्रत्युत **तम्** धातु से **स्** की विच्युति हो गयी है, इस प्रकार **विहत्थि**, ***वियत्थि** = ***विस्तस्ति** के स्थान पर है।[5]

१. अन्यप्रदर्शिनी के संस्करण में इसके स्थान पर छपा है (पेज ९३) पोडो। दोडः। आअणो। डोला। ? ; बे० बाइ० ६, ८८ और उसके बाद देखिए। — २. पारनकृत ओवर दे गौडस्ट्रीन्स्टिगे पुन बाइजगेरिगे वेम्रिप्पन डेर जैनाज (स्वीटसे १८५७), पेज १०६ का नोट। — ३. ना० गे० वि० गो० १८७४, पेज ४७३ में गोल्दश्मित्त ने अशुद्ध मत दिया है। — ४. बे० बाइ० ६, ९२ और उसके बाद में पिशल का लेख ; ना० गे० वि० गो० १८७४, पेज ४७३ में गौल्दश्मित्त ने अशुद्ध मत व्यक्त किया है। — ५. ना० गे० वि० गो० पेज ४७३ में पी० गौल्दश्मित्त का मत। — ६. ना० गे० वि० गो० १८७४, पेज ४७३ में गौल्दश्मित्त का मत। — ७. *विहत्ती रूप स्वीकार करने से यह रूप अधिक सम्भव मालूम देता है (बे० बाइ० ६, ९३)।

§ २००—अ०माग० और शौर० **फणस = पणस** में संस्कृत के **प** के स्थान पर प्राकृत में **फ** हो गया है (वर० २, ३७ ; हेच० १, २३२ ; जीवा० ४६ ; पण्णव० ४८२ ; ५३१; विवाह० १५३० ; ओव० ; बाल० २०९, ७ ; ८ [पाठ में **पणस** है] ; विद्ध० ६३, २), इसका रूप महा० में **पणस** हो जाता है (कर्पूर० ११५,२), माग० में **पणश** पाया जाता है (मृच्छ० ११५, २०) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० **फरुस = परुष** (वर० २, ३६ ; चंड० ३, ११ ; हेच० १, २३२ ; क्रम० २, ४३ ; मार्क० पन्ना १८ ; गउड० ; हाल [३४४ में यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए; इसकी शब्दसूची भी देखिए और इस विषय में इडि० स्टुडि० १६, १०४ भी देखिए]; रावण० ; आयार० १, ६, ४, १ और २ ; १, ८, १, ८ ; १, ८, ३, ५ और १३ ; २, १, ६, ३ ; २, ४, १, १ और ६ ; सूय० १२२ [पाठ में **परुस** आया है] ; १७२ ; ४८५ ; ५१७ ; ५२७ ; ७२९ ; जीवा० २७३ ; नायाध० § १३५ पेज ७५७ ; पण्हा० ३९३ ; ३९४ ; ३९६ ; ५१६ ; विवाह० २५४ ; ४८१ ; उत्तर० ९२ ; उवास० ; ओव० ; एत्सें०) ; जै०महा० **अइफरुस = अतिपरुष** (काल्का०) महा० **फरुसत्तण = परुषत्वन** (रावण०) ; अ०माग० **फरुसिय=परुषित** है (आयार० १, ३, १, २ ; १, ६, ४, १) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० **फलिह=परिघ** (वर० २, ३० और ३६ ; हेच० १, २३१ और २५४ ; क्रम० २, ४३ ; मार्क० पन्ना १७ और १८, पाइय० २६७ ; रावण० ; आयार० २, १, ५, २ ; २, ३, २, १४ ; २, ४, २, ११ ; २, ११, ५ ; सूय० ७७१ ; विवाह० ४१६ , दस० ६२८, २२ ; द्वार० ५००, ३०) ; महा० में **फलिहा = परिघा** (वर० २, ३० और ३६; हेच० १, २३२ और २५४; क्रम० २, ४३; मार्क० पन्ना १७ और १८ ; पाइय० २४० ; रावण०) है; अ०माग० में इसका रूप **फरिहा** हो जाता है (नायाध० ९९४ ; १००१ और उसके बाद ; १००६ ; १००८ ; १०१२ ; १०१४ ; १०२३ ; ये सब **फलिहा** पढ़े जाने चाहिए) ; **फालिहद्द = पारिभद्र** (हेच० १, २३२ और २५४); अ०माग० **फरसु** = पाली **फरसु = परशु** (विवाग० २३९) है ; किन्तु महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **परसु** रूप पाया जाता है (गउड० ; नायाध० § १३४ ; पेज ४३८ [पाठ में **परिसु** आया है] ; १४३८ ;

पण्हा० १९८ [पाठ में परिसु है] ; निरया० ; एत्सें० ; कालका० ; महावीर० २९, १९), मागः० में पलसु चलता है (मृच्छ० १५७, १२), शौर० में परसुराम रूप देखने में आता है (महावीर० ५५, १२ ; ६४, २० ; बाल० ३६, ५ और ६) ; अ०माग० रूप फुसिय=पाली फुसिय=पृशत (§ १०१) है; अ०माग० और जै०महा० में फासुय रूप है (आयार० २, १, १, ४ और ६ ; २, १, २, १ और उसके बाद ; पण्हा० ४९७ ; उवास० ; त्सा० टे० टी० मौ० गे० ३४, २९१ ; कालका०)=पाली फासुक और ध्वनि के अनुसार=प्रासुक, जो अवश्य ही प्राकृत शब्द का अशुद्ध संस्कृतीकरण है[1] ; अफासुय (आयार० २, १, १, १ ; ३ ; ६ ; ११ और उसके बाद) ; बहुफासुय (आयार० २, २, ३, २८ और उसके बाद) और फासुय का सम्बन्ध स्पृश् धातु से होना चाहिए = *स्पर्शुक' (§ ६२); हेच० १, १९८ में फाडेइ को = पाटयति बताता है, पर यह वास्तव में=स्फाटयति है ।—मार्क० पन्ना १८ में एक शब्द के विषय में और बताया गया है कि फलिहि= परिधि है और साथ ही लिखा गया है कि फलम = पलम है जो वास्तव में फणस= पणस होना चाहिए । पन्ना १८ का ऊपर दिया गया पहला शब्द भी विकृत रूप में होना चाहिए । रम्फइ और रम्फइ में (= लकड़ी तराशना; तोड़ना : हेच० ४,१९४) में प या फ मौलिक है या नहीं, यह कहा नहीं जा सकता; इस सम्बन्ध में रम्प = छोटी कुल्हाड़ी (हाल ११९ और १२० और साथ ही साथ, रम्प रूप भी देखिए [1]) ।— अ०माग० में और कभी-कभी जै०महा० में शब्द के मध्य में स्थित प, फ बनकर भ में बदल गया है । इस प्रकार अ०माग० रूप कच्छभ = कच्छप (जीवा० ७१ ; २९० ; ४७८ ; नायाध० ५१० ; पण्हा० १८, ११९ और १७० ; पण्णव० ४७ ; विवाग० ४९ और १८६ ; विवाह० २४८ ; ४८३ ; १०३३ और १२८५ ; उत्तर० १०७२), कच्छभी = कच्छपी (= वीणा : पण्हा० ५१२ ; नायाध० १२७५ और १२७८ ; राय० ८८) ; अ०माग० में कभल्ल = कपाल (§ ९१; उवास० § ९४ ; अंत० २७ ; अणुत्तर० १० [पाठ में कवल्ल है और टीका में कभल्ल]), इसके साथ ही कवल्ल रूप भी पाया जाता है (सूय० २७५ ; विवाह० २७० और ३८३), कवल्ली भी देखने में आता है (विवाग० १४१), कवाल का प्रचलन भी है (आयार० २, १, ३, ४) ; इनके साथ कफाड रूप भी है (=गुफा : देशी० २, ७) ; अ०माग० में थूभ = स्तूप (आयार० २, १, २, ३ , २, ३ ३, १ ; सूय० २६ ; पण्हा० ३१ , २३४ ; २८६ ; अणुओग० ३८७ ; जीवा० ५४६ और उसके बाद ; पण्णव० ३६९ ; राय० १५३ और उसके बाद और '१९५ तथा उसके बाद ; विवाह० ५६० ; ६५९ और १२४९ ; ठाणंग० २६६), जै०महा० में भी यह रूप वर्तमान है (सगर० २, ७ ; तीर्थ० ५, ११, १३ और १६ ; ६, १३ ; १५ ; ७, ८; त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ३४, २९१, ४७ और ४९) , अ०माग० में थूभिया = स्तूपिका (आयार० २, १०, १७ ; जीवा० ४९२ ; ४९५ और ५०६ , नायाध०; ओव०), और दूने अथवा दो प्रत्ययों के साथ थूभियागा = *स्तूपिकाका (सम० २१३ ; पण्णव० ११६ ; राय० ११६ ; नायाध० § १२२) ; अ०माग० में गोथूभ =

गोस्तूप (ठाणग० २६२ और २६८ ; जीवा० ७१५ और उसके बाद ; ७१८ और उसके बाद ; राय० १०६ ; १०८ ; ११३, ११६ और उसके बाद ; १२७ ; १४३ और उसके बाद; २३३ में [छन्द की मात्रायें मिलाने के लिए गोथुभ रूप आया है] विवाह० १९८) है। इसका बाद का रूप थूह (=प्रासादशिखर ; चीटियों का ढेर : देशी० ५, ३२) है। लेण बोली के थुप रूप की भी तुलना कीजिए (आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया ५, ७८, १०)। अ०माग० में **विभासा = विपाशा** (ठाणग० ५४४) है।

१. याकोबी द्वारा संपादित कालकाचार्यकथानकम् में **फासुय** शब्द देखिए इसमें इसके मूल संस्कृत रूप के ये खंड किये गये हैं प्र + असु + क। जहां तक मेरा ज्ञान है **प्रासुक** शब्द केवल जैनियों के व्यवहार में आता है। — २. होएर्नले द्वारा संपादित उवासगदसाओ में इसका स्पष्टीकरण अशुद्ध है ; चाइल्डर्सने अपने पाली कोश में **फासु = स्पार्ह** को ठीक माना है। — ३. त्सा० डे० डौ० मौ० गे० २८, ३७८ में वेबर का लेख।

§ २०१—वर्गों का तीसरा वर्ण शायद ही कभी चतुर्थ वर्ण में बदलता हो पर यह भी देखा जाता है, किन्तु बहुत कम : घाअण = **गायन** (गायक : हेच० २, १७४ ; देशी० २, १०८ ; त्रिवि० १, ३, १०५ = बे० बाइ० ३, २५५) में ग का घ हो गया है ; अ०माग० **सिंघाडग = शृंगाटक** (उवास० ; नायाध० ; ओव०; कप्प०) है। **घिसइ = ग्रसति** नहीं है प्रत्युत *घर्सति है (§ १०३ और ४८२)।— झडिल और इसका दूसरा रूप **जडिल = जटिल** में (हेच० १, १९४) ज, झ के रूप में दिखाई देता है : झत्थ (गत या नष्ट : देशी० ३, ६१) जस् धातु का रूप है ; इसकी तुलना झप् धातु से भी कीजिए। अ०माग० **झूसित्ता** (त्ता = त्वा, विवाग० २७० और उसके बाद, अत० ६९ [पाठ में **झुसित्ता** है]; नायाध० ३८३ ; ३८८; उवास० ; ओव०), **झूसिय** (ठाणग० ५६ [टीका में], १८७ और २७४; नायाध० ३८२ ; अत० ६९ [पाठ में **झुसिय** है] ; जीवा० २८९ [पाठ में **झुसिय** है] ; विवाह० १६९ ; १७३ ; ३२१ ; उवास० ; ओव०), ये रूप अधिकांश में **क्षीण** या **क्षपित** द्वारा स्पष्ट किये जाते हैं[१], **झूसणा** (नायाध० ३७६ ; विवाह० १६९ और १७३ ठाणग० ५६, १८७ और २७४ ; उवास० ; ओव०), **परिझूसिय** (ठाणग० २०२) का झूष् (झस्—अनु०) धातु से सम्बन्ध है जो धातुपाठ १७, २९ में **जुष्** और **युष** धातुओं के साथ उल्लिखित है। **धिप्पइ** और इसके साथ का रूप **दिप्पइ = दीप्यते** (हेच० १, २२३) में **द** का रूप **ध** हो गया है ; **कउह**[२] (हेच० १, २२५) जो किसी प्राकृत बोली में **ककुध** रूप में देखा जाता है (त्रिवि० १, ३, १०५) = पाली **ककुध** जो **ककुभ** का एक समानांतर रूप है। —अ०माग० **भिम्भिसार = बिम्बिसार** में (ठाणग० ५२३ ; ओव० [के पाठ भम्भसार के स्थान पर यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) ब के स्थान पर भ हो गया है : महा० **भिसिणी = बिसिनी** (वर० २, ३८ ; हेच० १, २३८ ; क्रम० २, ४४ ; पाइय० १४९ ; हाल ; साहित्य० ७९, १) है। शौर० में इसका रूप **बिसिणी** (वृषभ० ३९, ३ ; मालवि० ७५, ८)

है। वर० २, ३८ पर भाम० की टीका और हेच० १, २३८ के अनुसार विस के व में ह्‌कार नहीं लगाया जाता और इस कारण महा० में इसका रूप विस ही है (पाइय० २५६ ; गउड० ; हाल ; कर्पूर० ९५, १२)। मार्क० पन्ना १८ में बताया गया है कि भिस = विस, किन्तु उदाहरण रूप में हाल ८ दिया गया है जहा भिसिणिसंडं आया है। भिस पाली की भांति अ०माग० में भी आया है (आयार० २, १, ८, १० ; सूय० ८१३ ; जीवा० २९० और ३५३ ; पण्णव० ३५, ४० ; राय० ५५)। भाम० १, २८ और हेच० १,१२८ में बताते हैं कि बृसी के स्थान पर प्राकृत रूप विसी होता है, पाइय० २१५ में भिसी रूप है। बृसीका में ह्‌-कार आ गया है, प्राकृत में भिसिआ रूप है (देशी० ६, १०५), अ०माग० में भिसिगा रूप है (सूय० ७२६), भिसिया भी पाया जाता है (आयार० २, २, ३, २ ; नायाध० १२७९ और १२८३ ; ओव०)। भुक्कइ (= भौंकना : हेच० ४, १८६), भुक्किय (= भौंकना : पाइय० १८२), भुक्कण (= कुत्ता : देशी० ६, ११०) और इसके साथ ही बुक्कइ = गर्जति (हेच० ४, ९८), उबुक्कइ (= कहता है ; बोलता है : हेच० ४, २), बुक्कण (= कौवा : देशी० ६, ९४ , पाइय० ४४) रूप भी हैं। भस्सइ, भप्पइ, भप्फइ आदि के सबध मे § २१२ देखिए।—भिब्भल, भिंभल (हेच० २, ५८), महा० और शौर० भेंभल (रावण० ६, ३७ , चैतन्य० ३८, ९ [पाठ मे भेम्हणो है]), शौर० में भेंभलदा रूप (चैतन्य० ४४, ९) है, और भेंभलिद भी है (चैतन्य० ५५, १३ [पाठ मे भेम्हलिद आया है]), ये सब रूप हेमचद्र के कथनानुसार विब्भल = वेॅब्भल = विह्वल (§ ३३२) से सम्बन्धित नहीं किये जा सकते क्योंकि व के साथ ह जुड़ने से (वि) ह्वल का (वि) हल होना चाहिए, जैसा विहल रूप प्रमाणित करता है। भेंभल आदि रूप भंभल (= जड , मूर्ख ; अप्रिय देशी० ६, ११०) से सम्बन्ध रखते हैं जो धातुपाठ १५, ७१ के भर्व हिंसायाम् धातु से बने हैं। इसलिए इसमें अनुस्वार लिखा जाना चाहिए जैसा हेच० २, ५८ की टीका में दिया गया है और इसका स्पष्टीकरण § ७४ के अनुसार होता है।

१. इसके अर्थ के सम्बन्ध में लौयमान द्वारा सम्पादित औपपातिक सूत्र में झूसिय शब्द देखिए , होएर्नले के द्वारा सम्पादित उवासगदसाओ के अनुवाद का नोट, संख्या १६० ।— २. होएर्नले का उक्त उवासगदसाओ , लौयमान द्वारा सपादित औपपातिक सूत्र में इनका उल्लेख नहीं है, इस ग्रथ में झुस् शब्द देखिए। अ०माग० झुसिर के साथ इसका सम्बन्ध बताना अशुद्ध है (वी० त्सा० कु० मौ० ३, ३४३ में लौयमान का मत) । § २११ से भी तुलना कीजिए। — ३. फडइ स्वभावत फकुभ से भी व्युत्पन्न हो सकता है। बे० बाइ० ३, २५७ में पिशल के लेख की तुलना कीजिए , त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ४०, ६६० में फॉन श्राडके का लेख ; वाकरनागलकृत आल्ट इण्डिशे ग्रामाटीक § १७६ घी। ना० गे० वि० गो० १८७४, पेज ४७३ में पी० गौल्द-श्मित्त का मत अशुद्ध है।

§ २०२—ण्हाविय=नापित (हेच० १, २३० ; पाइय० ६१) वास्तव में =*स्नापित' में अनुस्वार और अर्धस्वरों में ह्-कार आ गया है ; अ०माग० ण्हाविया = स्नापिका (विवाह० ९६४), स्ना धातु से व्युत्पन्न अन्य शब्दों में भी यह नियम लागू होता है (§ ३१३) । शौर० और माग० में णाविद = नापित (हास्या० २८, १९ ; मृच्छ० ११३, १०)[1] है। —महा० पम्हुसइ = *प्रस्मृपति'= प्रमृप्यति (हेच० ४, ७५ और १८४ ; गउड०), महा० पम्हसिज्जासु=प्रमृप्येः (हाल ३४८), महा० पम्हुसिअ (गउड०), शौर० में पम्हसिद (महावीर० ६५, १ ; बम्बइया संस्करण १८९२, पेज १६१, ८ [पाठ में -प्पमुसिद है]), महा० और जै०महा० में यह रूप पम्हुट्ठ आया है (हेच० ३, १०५ = रावण० ६, १२ ; हेच० ४, २५८ ; आव० एर्से० ७, ३१) ; अप० में भुम्हडण्डी=भूमि (हेच० ४, ३९५, ६), इसमें अड और स्त्रीलिंग में—अडी प्रत्यय लगाया गया है (हेच० ४, ४२९ और ४३१) । —अ०माग० ल्हसुन = लशुन (आयार० २, ७, २, ६ ; विवाह० ६०९ ; पण्णव० ४० ; जीयक० ५४), इसके साथ ही अ०माग० और जै०महा० में लसुण रूप चलता है (आयार० २, १, ८, १३ ; सूय० ३३७ [पाठ में लसण है] ; आव० एर्से० ४०, १८) ; लिहक्कइ और इसके साथ लिक्कइ (=छुकना ; छिपना : हेच० ४, ५५) है, महा० लिहक्क = *श्लिक्क (हेच० ४, २५८ ; गउड०) से सम्बन्धित है, इस सम्बन्ध में श्लिकु 'अवलम्बित' और § ५६६ देखिए।

१. कू० बाइ० १, ५०५ में वेबर का लेख । — २. अपने ग्रन्थ प्राकृतिका के पेज ७, नोट संख्या ३ में एस० गौल्दश्मित्त ने बताया है कि संस्कृत शब्द नापित प्राकृत रूप णाविअ से निकला है, यह कथन अशुद्ध है । आरंभिक अक्षर स् का लोप ध्वनिबल पर निर्भर करता है = नापित, ठीक जैसा वैदिक पद्भिः स्पश् धातु से निकला है (पिशलकृत वैदिशे स्टुडिएन १, २३९)। — ३. हाल १३५८ पर वेबर की टीका, हाल[2] ३४८ ; त्सा० डे० डौ० मौ० गे० २८, ४२५ में वेबर का लेख।

§ २०३—संस्कृत शब्दों के आरम्भ में आनेवाले श-, ष- और स-कार में प्राकृत भाषाओं में कभी-कभी ह्-कार जोड़ दिया जाता है । ये श्ह, ष्ह और स्ह तब समान रूप से छ बन जाते हैं। इस छ की व्युत्पत्ति ध्वनि-समूह क्ष या स्क से निकालने के लिए कोई निश्चित प्रमाण नहीं प्राप्त है। छमी = शमी (हेच० १, २६५) ; अ०माग० में छाव=पाली छाप = शाव (हेच० १, २६५ ; क्रम० २, ४६ ; सूय० ५११)[1], छावअ = शावक (वर० २, ४१ ; मार्क० पन्ना १८), किन्तु माग० में शावक रूप मिलता है (मृच्छ० १०, ६) ; अ०माग० छिवाडी = शिवाटी (आयार० २, १, १, ३ और ४) ; महा० और अ०माग० छेप्प, छिप्प = शेप (देशी० ३; ३६ ; पाइय० १२८ ; गउड० ; हाल , विवाग० ६०)[2]; इसके साथ साथ छिप्पालुअ (=पूछ : देशी० ३, २९) रूप भी मिलता है ; किंतु शौर० में शुणस्सेह = शुनःशेफ (अनर्घ० ५८, ५ ; ५९, १२) है ; छिप्पीर (=पुआल का तिनका । —अनु०) ; देशी० ३, २८ ; पाइय० १४२) इसके साथ

दूसरा रूप सिप्पीर (=पुआल : हाल ३३०) और सिप्प (=पुआल : देशी० ८, २८) भी आये हैं ; इनके साथ छिप्पिण्डी (=आटा : देशी० ३, २७) और छिप्पाल (=अनाज खानेवाला बैल : देशी० ३, २८) भी सम्मिलित करने चाहिए; छुई (=बलाका ; बगली ; बगले की स्त्री : देशी० ३, ३०)= शुचिः है ; छ= षट् ; छट्ठ=षष्ठ तथा छ- और छळ—बहुत-से समासों में जुड़ते हैं (§ २४० और ४४१)[1] ; अ०माग० छुहा=क्षुधा (हेच० १, २६५ ; देशी० ३, ४२ ; विवाह० ६५८ और उसके बाद) है, इनके साथ छुहिअ (=लिप्त ; लीपा-पोता ; चूने से पोता हुआ : देशी० ३, ३०) भी सम्मिलित है ; अ०माग० छिरा=सिरा* (हेच० १, २६६ ; ठाणग ५५ ; जीवा० २७१ ; सम० २२७ ; विवाह० ८९ और ८१०), छिरत्त (अणुओग० १२), इनके साथ सिरा रूप भी है (हेच० १, २६६) । महा० और अ०माग० में पिउच्छा, महा० रूप माउच्छा और शौर० रूप मादुच्छआ, मादुच्छिआ=पितृष्वसा, मातृष्वसा, मातृष्वसृका के सम्बन्ध में § १४८ देखिए ; छत्तवण्ण और छत्तिवण=तथाकथित सप्तपर्ण के विषय में § १०३ देखिए । —अ०माग० झुसिर (=छेदवाला ; खोखला : आयार० २, ११, ४ ; २, १५, २२ [पेज १२९, १] ; पण्हा० १३७ ; नायाध० ७५२ ; दस० ६२०, ३० ; उवास०), अझुसिर (जीयक० ५५), अन्तोझुसिर (नायाध० ३९७)=*झुषिर=क्षुषिर अथवा झुषिर=शुषिर[2] में आरम्भिक ध्वनित श-, ष-, स-कार रहने का पता लगता है । सम्भवतः झला (=मृगतृष्णा : देशी० ३, ५३ ; पाइय० २३२) का सम्बन्ध शल् धातु से है जिसका अर्थ जल्दी सरकना है= झला तथा इनके भीतर झरुअ रूप भी आता है (=मच्छड : देशी० ३, ५४) और झारुआ (=झिल्ली : देशी० ३, ५७) का सम्बन्ध शर्व् हिंसायाम् धातु से है जो धातुपाठ १५, ७६ में दिया गया है और जिससे शरु (=धनुष)[3] बना है ।

१. पौटकृत डी त्सिगौयनर इन औयरोपा उण्ट आजियन, २, १२१ और उसके बाद ; गो० गे० आ० १८७५, पेज ६२७ में पिशल का लेख ; हेच० १, २६५ पर पिशल की टीका । मिक्लोशिश ने अपने ग्रंथ बाइत्रैगे त्सूर केण्टनिस डेर त्सिगौयनर मुण्डआर्टेन खंड १ और २ (विएना १८७४), पेज २६ में अशुद्ध लिखा है । — २. योहान्ससोन ने (इ० फो ३, २१३), जिसकी पुष्टि वाकरनागल ने अपने ग्रन्थ आल्ट इण्डिशे ग्रामाटीक § २३० बी, पेज २६६ में की है, इस शब्द की तुलना लैटिन फिस्पुम् और ग्रीक रूप स्फोद्योस् से की है । — ३. षष् के मूल रूप के विषय में हुब्शमान ने जो नाना अनुमान लगाये हैं, उनके लिए कू० त्सा० २७, १०६ देखिए ; कू० त्सा० २९, ५७६ में बार्टोलोमाए का लेख । — ४. बी० त्सा० कु० मी० ३, २४१ में ऐपमान का

* यहाँ छिरा होना चाहिए क्योंकि यहाँ तथा इसके नीचे दोनों स्थानों पर एक ही रूप गिरा कोई अर्थ नहीं रखता । हेम० के प्राकृत व्याकरण में १, २६६ सूत्र है : शिरायां वा और इसके नीचे टीका है : शिराशब्दे आदेश्छो वा भवति । 'छिरा गिरा' इसलिए छिरा= गिरा में गिरा के स्थान पर शिरा होना चाहिए । —अनु०

ऐस। सुषिर अथवा शुषिर में कौन शुद्ध रूप है, यह नहीं कहा जा सकता। श्रीहर्षरचित द्विरूपकोश १५० में सुषि और शुषि रूप मिलते हैं। त्साखरिआए द्वारा संपादित शाश्वतकोष १८५ में उत्तम-उत्तम हस्तलिपियों के विपरीत सुषिर रूप दिया गया है किंतु हेच० के अनेकार्थसंग्रह ३, ६०७ में शुषिर रूप है और यही रूप उणादिसूत्र ४१६ में शुष् से निकाला गया है। इन शब्दों का अ०माग० झुस् (§ २०९) से किसी प्रकार नहीं हो सकता; शुष् से इसे व्युत्पन्न करना अनिश्चित है। होएर्नले द्वारा संपादित उवासगदसाओ के अनुवाद के नोट, संख्या १७२ में अशुद्ध मत है। जीवानंदन २७३ में सुसिर पाठ है। — ५. इस शब्द का सम्बन्ध क्षारक से भी जोड़ा जा सकता है।

§ २०४—कुछ उदाहरणों में प्राकृत भाषाओं में शब्द के उस वर्ण में ह-कार दिखाई देता है जिसमें संस्कृत में ह-कारहीन वर्ण है। किसी किसी शब्द में इसका कारण यह बताया जा सकता है कि संस्कृत शब्द में आरम्भिक और अंतिम वर्ण ह-कार-युक्त थे और प्राकृत बोलियों की दृष्टि से यह समाधान दिया जा सकता है कि ध्वनि का ह-कार नाना प्रकार से उड़ गया। किन्तु अधिकांश वर्णों में यह मानना पड़ता है कि, और एक यही स्पष्टीकरण शेष रह जाता है कि, 'वर्णों का ह-कार एक से दूसरे वर्ण में चला गया।' महा० शब्द इहरा निकला *इथरता, *इहरआ से = इतरथा (§ ३५४), उवह, महा० में अवह, निकला *उवथ से जो स्वयं *उभत से आया, और इस तथ्य का पता चलता है महा० शब्द अवहोवासं और अवहो आसं से = अ०माग० उभओपासं = उभतःपार्श्वम् (§ १२३) है, केढव निकला है कैटभ के बदले कभी और कहीं बोले जानेवाले रूप *कैढव से (वर० २, २१ और २९, हेच० १, १९६ और २४०, क्रम० २, ११ और २७; मार्क० पन्ना १६ और १७), गटइ निकला *गठति से = घटते (हेच० ४, ११२); इसका अधिक प्रचलित रूप घडइ काम में आता ही है; महा०, अ०माग०, जै०महा० और अप० में घेप्पइ रूप निकला है *घृप्यति से = गृह्यते (§ ५४८), इसका सामान्य रूप महा० घेत्तुं = *घृप्तुं = ग्रहीतुम् (§ ५७४) है, इसका 'करके' अथवा 'क्त्वा सूचक' रूप घेत्तुआणं और घेत्तुआणं हैं (§ ५८४), महा०, अ०माग० और जै०महा० रूप घेत्तूण = *घृत्वानम् = गृहीत्वा (§ ५८६) है, कर्तव्य सूचक रूप घेत्तव्व = *घृप्तव्य = ग्रहीतव्य (§ ५७०) है, जै०महा० भविष्यकालवाचक घेच्छामो (§ ५३४) *घृप् धातु से सम्बन्ध रखता है, जो गृभ् धातु का समानार्थवाची धातु है (§ १०७)[१]; ढंकुण, ढेंकुण तथा अ०माग० रूप ढिंकुण (= खटमल) डंखुण से निकले हैं जिसका सम्बन्ध मराठी शब्द डसणे (डसना, डक मारना), डंस (= डक) से है = दंश् (§ १०७ और २६७) है, महा० ढज्झइ (जीवा० ९७, ९), शौर० रूप ढज्झदि (मालवि० २८, ८; मल्लिका० ९० २३ [पाठ में ढज्झइ है]), माग० ढय्यदि* (मृच्छ० ९, २५) रूप *डज्झदि

* हिन्दी शब्द ढहना = मकान का गिरना, नष्ट होना, मिट जाना, इस प्राकृत रूप से निकला है। जलने पर स्वभावत मकान गिर कर नष्ट हो जाता है। —अनु०

के स्थान पर आये हैं, इनके साथ महा०, अ०माग० और जै०महा० रूप **डज्झइ** भी प्रचलित है, ये सब रूप = दह्यते से निकले हैं, शौर० **विडज्झिअ** = विदह्य (महावीर० ९६,११) है, **डज्झन्त**-(मालती० ७९,२ [इस ग्रन्थ में यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए और मद्रास के संस्करण में भी ; रुक्मिणी० २०, ७ ; ३५, ९ ; मल्लिका० ५७, ७ ; १३३, १३) तथा हाल ३७३ के **डज्झइ** की भी तुलना कीजिए ; महा० में **दिहि** शब्द निकला *दृधि से = धृति (हेच० २, १३१ ; साहित्य० २१९, १४) है ; महा० **धूआ**, अ०माग० और जै०महा० **धूया** और शौर० तथा माग० **धूदा**=*धुका=दुहिता (§ ६५ और ३९२) है; जै०शौर०, शौर०, माग० और अप० रूप **बहिणी** जो **वघिणी** से निकला है = भगिनी (हेच० २, १२६ ; पाइय० २, ५२ ; कत्तिगे० ४०१, ३३८ ; मालती० ३१, ५ ; माग० : मृच्छ० ११, ९ ; ११३, १९ ; १३८, २५ ; १४०, १ और ७ ; अप० : हेच० ४, ३५१) है, अधिकांश में **कः** स्वार्थे के साथ, शौर० में **वहिणिआ**=भगनिका (मृच्छ० ९४, ४ ; ३२८, ५ ; शकु० १५, ४ ; ८५, ४ और ६ ; मालती० १३०, ३ ; महावीर० ११८, १८ ; ११९, ३ ; रत्ना० ३२४, २३ ; ३२७, ७ और ९ तथा १३ ; ३२८, २० ; प्रबोध० ६८, ७ ; चैतन्य० ८८, १२ ; ९२, १५ ; कर्पूर० ३३, ४ और ७ ; ३४, ३ ; ३५, २ आदि-आदि), अप० में **बहिणुए** रूप भी मिलता है (हेच० ४, ४२२, १४) । बृहस्पति के रूप अ०माग० में **बहस्सइ**, **विहस्सइ** और शौर० में **बहप्पइ** तथा **विहप्पदि** पाये जाते हैं (§ ५३) । सब व्याकरणकार ऊपर दिये गये तथा बहुत से अन्य रूप देते हैं : **वहस्सइ**, **विहस्सइ** और **बुहस्सइ** (चंड० २, ५ पेज ४३ ; हेच० २, ६९ और १३७ ; सिंह० पन्ना ३६), **बहप्पइ**, **विहप्पइ** और **बुहप्पइ** (चंड० २, ५ पेज २३ ; हेच० २, ५३ और १३७ ; सिंह० पन्ना ३४), **बहप्फइ**, **विहप्फइ** और **बुहप्फइ** (चंड० २, ५ पेज ४३ ; हेच० १, १३८ ; १, ५३ ; ६९ ; १३७); माग० में **बुहस्पदि** (हेच० ४, २८९), और **विहस्पदि** (रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका) हैं; इनके अतिरिक्त कई रूप हैं जिनके आरम्भ के अक्षर में ब, ह-कारयुक्त अर्थात् भ बन गया है : **भअस्सइ** (चंड० २, ५ पेज ४३ ; हेच० २, ६९ और १३७ ; सिंह० पन्ना ३६), **भिअस्सइ** और **भुअस्सइ** (चंड० २, ५ पेज ४३); **भअप्पइ** (चंड० २, ५ पेज ४३; हेच० २, १३७; मार्क० पन्ना ३८; प्राकृतमंजरी की यह हस्तलिखित प्रति जो पिशल काम में लाया ; डे० ग्रामा० प्राकृ० पेज १५ ; सिंह० पन्ना ३६), **भिअप्पइ** और **भुअप्पइ** (चंड० २, ५ पेज ४३) ; **भअप्फइ** (वर० ४, ३० ; चंड० २, ५ पेज ४३ ; हेच० २, ६९ और १३७ ; क्रम० २, ११७ ; सिंह० पन्ना ३६), **भिअप्फइ** और **भुअप्फइ** (चंड० २, ५ पेज ४३)[1] भी मिलते हैं ।

१. कू० त्साइ० ८, १४८ और उसके बाद पिशल का लेख । ना० गे० वि० गो० १८७४, पेज ५१२ में पी० गौल्दश्मित्त का मत अशुद्ध है ; इं० स्टुडि० १४, ७३ में वेबर के लेख का नोट, संख्या १ ; कू० त्सा० २८, २५३ और उसके बाद याकोबी का लेख कू० त्सा० ३२, ४४७ में योहान्सोन का लेख ।

त्सा० डे० डौ० मौ० गे० २९, ४९३ में एस० गौल्दश्मित्त के लेख की भी तुलना कीजिए। हाल २८६ पर वेबर की टीका देखिए। — २. हेच० १, १३८ पर पिशल की टीका। त्रिविक्रम, सिंहराज और प्राकृतमंजरी में भ के स्थान पर ह से आरम्भ होनेवाले जो रूप दिये गये हैं वे ग्रंथ की नकल करनेवाले की भूलें हैं और ये प्रतियां द्राविड़ी हस्तलिपियों की नकलें हैं। त्रिविक्रम के संस्करण में भ है।

§ २०५—नीचे दिये शब्दों मे ह्-कार उड गया है : अ०मा०, जे०महा० और शौर० में **संकला** = शृङ्खला (पण्हा० १८३ ; जीवा० ५०३ ; ऋषभ० ३३ ; एटक० १८, ४), अ०माग० और जै०महा० में **संकलिया**=शृंखलिका (सूय० २९६ ; आव० एर्त्से० १४, १७) है, जे०महा० में **संकलिय** = शृङ्खलित (आव० एर्त्से० १३, २८) और अ०माग० **संकल**=शृङ्खल (हेच० १, १८९; पण्हा० ५३६) है। भारत की नवीन आर्यभाषाओं मे ये रूप आ गये हैं[१], किन्तु महा० और शौर० में **संखला** रूप मिलता है (गउड० ; मृच्छ० ४१, १०) ; शौर० में **उस्संखल** (मृच्छ० १५१, १७) रूप देखा जाता है ; महा० और शौर० में **विसंखल** (रावण० ; मालती० २९१, २) है, माग० मे **शंखला** रूप आया है (मृच्छ० १६७, ६) ; महा० और शौर० में **सिंखला** (रावण० ; अच्युत० ४१ ; मालती० १२९, १ ; प्रिय० ४, ५ ; मल्लिका० १८१, ७ ; अनर्घ० २६५, २ ; ३०८, ९ ; वृषभ० ३८, १० ; विद्ध० ८४, ९ [पाठ मे **संखल** है] ; ८५, ३ और ८)[२] है। अ०माग० **ढंक** = पाली **धंक** = संस्कृत **ध्वांक्ष** ; इसका रूप कभी किसी स्थान विशेष मे ***ढंख** रहा होगा (=कौवा ; हस ; गिद्ध : देशी० ४, १३ ; पाइय० ४४ ; सूय० ४३७ और ५०८ ; उत्तर० ५९३), **ढिंक** रूप भी पाया जाता है (पण्हा० २४), यह रूप तथा **ढेंकी** (=हसिनी ; बलाका : देशी० ४, १५), ***ढिंखी** के स्थान पर आये हैं, ध्वांक्ष के ध्वनिबल की सूचना देते हैं। भ्रमरों का प्रिय एक पौधा-विशेष महा० मे ढंख (=ढाक।—अनु०) रूप में आया है और बोएटलिंक ने इसका संस्कृत रूप ध्वांक्ष दिया है (हाल ७५५)[३]। अ०माग० **बीहण** = **भीषण** (पण्हा० ७८), **विहणग** = **भीषणक** (पण्हा० ४८, ४९ ; १६७ और १७७) हैं किन्तु महा० और शौर० में स्वय **भीषण** रूप भी चलता है (गउड० ; रावण० ; विक्रमो० २८, ८; महावीर० १२, १; बाल० ५४, ७, अनर्घ० ५८, ५ ; मल्लिका० ८२, १८ ; १४१, ९), शौर० में **अदिभीषण** रूप भी आया है (मल्लिका० १८३, ३)। **भीष्** धातु से सम्बन्ध रखनेवाले **बीहइ** और **बीहेइ** रूप भी हैं (§ ५०१)। § २६३ से भी तुलना कीजिए। **पंगुरण** (= प्रावरण , ओढनी : हेच० १, १७५ ; त्रिवि० १, ३, १०५) के मराठी रूपों : **पांघरूं, पांघरणें** और **पांघुर्णे** में ह्-कार[४] आ गया है। —अ०माग० **सण्डेय** = *पाण्ढेय (ओव० § १) जो वास्तव में **सण्ढेय** लिखने का अशुद्ध ढंग है, जैसा स्वय संस्कृत की हस्तलिखित प्रतियों मे षण्ड और षण्ढ बहुधा एक दूसरे से स्थान बदलते रहते हैं। गौण क्क, च्च, त्त, प्प के लिए जो क्ख, च्छ, त्थ और प्फ के स्थान में आते हैं, § ३०१ और उसके बाद देखिए।

के स्थान पर आये हैं, इनके साथ महा०, अ०माग० और जै०महा० रूप डज्झइ भी प्रचलित है, ये सब रूप = दह्यते से निकले हैं, शौर० विढज्झिअ = विदह्य (महावीर० ९६,११) है, ढज्झन्त–(मालती० ७९,२ [इस ग्रन्थ में यही पाठ पढा जाना चाहिए और मद्रास के संस्करण में भी ; रुक्मिणी० २०, ७ ; ३५, ९ ; मल्लिका० ५७, ७ ; १३३, १३) तथा हाल ३७३ के ढज्झइ की भी तुलना कीजिए ; महा० में दिहि शब्द निकला *दधि से = धृति (हेच० २, १३१ ; साहित्य० २१९, १४) है ; महा० धूआ, अ०माग० और जै०महा० धूया और शौर० तथा माग० धूदा=*धुक्ता=दुहिता (§ ६५ और ३९२) है; जै०शौर०, शौर०, माग० और अप० रूप बहिणी जो बघिणी से निकला है = भगिनी (हेच० २, १२६ ; पाइय० २, ५२ ; कत्तिगे० ४०१, ३३८ ; मालती० ३१, ५ ; माग० : मृच्छ० ११, ९ ; ११३, १९ ; १३८, २५ ; १४०, १ और ७ ; अप० : हेच० ४, ३५१) है, अधिकांश में क: स्वार्थे के साथ, शौर० में बहिणिआ=भगनिका (मृच्छ० ९४, ४ ; ३२८, ५ ; शकु० १५, ४ ; ८५, ४ और ६ ; मालती० १३०, ३ ; महावीर० ११८, १८ ; ११९, ३ ; रत्ना० ३२४, २३ ; ३२७, ७ और ९ तथा १३ ; ३२८, १० ; प्रबोध० ६८, ७ ; चैतन्य० ८८, १२ ; ९२, १५ ; कर्पूर० ३३, ४ और ७ ; ३४, ३ ; ३५, २ आदि आदि), अप० में बहिणुएँ रूप भी मिलता है (हेच० ४, ४२२, १४) । बृहस्पति के रूप अ०माग० में बहस्सइ, विहस्सइ और शौर० में बहप्पइ तथा विहप्पदि पाये जाते हैं (§ ५३) । सब व्याकरणकार ऊपर दिये गये तथा बहुत से अन्य रूप देते हैं : बहस्सइ, विहस्सइ और बुहस्सइ (चंड० २, ५ पेज ४३ ; हेच० २, ६९ और १३७ ; सिंह० पन्ना ३६), बहप्पइ, विहप्पइ और बुहप्पइ (चंड० २, ५ पेज २३ ; हेच० २, ५३ और १३७ ; सिंह० पन्ना ३४), बहप्फइ, विहप्फइ और बुहप्फइ (चंड० २, ५ पेज ४३ ; हेच० १, १३८ ; २, ५३ , ६९ ; १३७); माग० में बुहस्पदि (हेच० ४, २८९), और विहस्पदि (रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका) हैं; इनके अतिरिक्त कई रूप हैं जिनके आरम्भ के अक्षर में ब, ह–कारयुक्त अर्थात् भ बन गया है : भअस्सइ (चंड० २, ५ पेज ४३ हेच० २, ६९ और १३७ , सिंह० पन्ना ३६), भिअस्सइ और भुअस्सइ (चं २, ५ पेज ४३), भअप्पइ (चंड० २, ५ पेज ४३, हेच० २, १३७; मार्क० पन्ना ३ प्राकृतमंजरी की यह हस्तलिखित प्रति जो पिशल काम में लाया ; डे० ग्रामा० प्रा पेज १५ ; सिंह० पन्ना ३६), भिअप्पइ और भुअप्पइ (चंड० २, ५ पेज ४३ भअप्फइ (वर० ४, ३० ; चंड० २, ५ पेज ४३ ; हेच० २, ६९ और १ क्रम० २, ११७ ; सिंह० पन्ना ३६), भिअप्फइ और भुअप्फइ (चं ५ पेज ४३)[1] भी मिलते हैं ।

१. कू० त्साइ० ८, १४८ और उसके बाद पिशल का लेख । ना० गे गो० १८७४, पेज ५१२ में पी० गौल्दश्मित्त का मत अशुद्ध है ; इं० १४, ७३ में वेबर के लेख का नोट, संख्या २ ; कू० त्सा० २८, = उसके बाद याकोबी का लेख कू० त्सा० ३२, ४४७ में योहान्ससोन

दो ह–कारयुक्त वर्ण एक के बाद एक आते हैं, उदाहरणार्थ : गिड्ढिणी, सहचर, थूभ, फच्छभ (§ २०६ और २०८)। § ३१२ और उसके बाद के कई § प्रमाणित करते हैं कि याकोबी[4] द्वारा उपस्थित किये गये उदाहरण एक दूसरे के बाद आनेवाले ह–कारयुक्त दो वर्णों की इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रस्तुत नहीं किये जा सकते।

१. भगवती १, ४११। — २. कू० त्सा० ३३, ५७५ और उसके बाद; भाल्ट इंडिशे ग्रामाटीक § १०५ का नोट। — ३. वाकरनागल के साथ मैं भी यहां पर संक्षेप करने के लिए ह्ह को ही ह–कारयुक्त वर्णों में सम्मिलित कर रहा हूं। — ४. औसगेवैल्टे एर्सेलुंगन की भूमिका के पेज संख्या ३२ की नोट संख्या ३ और भूमिका के पेज संख्या ३३ की नोट संख्या २।

§ २०७—कई बोलियों में कवर्ग, पवर्ग और च–कार में परिणत हो जाता है (§ २३० ; २३१ ; २६६ और २८६)। तालव्य वर्णों के स्थान पर कई प्राकृतों में दन्त्य आ जाते हैं ; त के स्थान पर च और द के लिए ज वर्ण आ जाता है। अ०माग० तेइच्छा = चेकित्सा = चिकित्सा (आयार० १, २, ५, ६; १, ८; ४, १ ; २, १३, २२ ; कप्प० एस० § ४९), तिगिच्छा (ठाणग० ३१३ ; पण्हा० ३५६ ; नायाध० ६०३ और ६०५ ; उत्तर० १०६), तिगिच्छय और तिगिच्छग रूप भी मिलते हैं = चिकित्सक के (ठाणग० ३१३ ; नायाध० ६०३ और ६०५ ; उत्तर० ६२०) हैं, तिगिच्छइ, तिगिच्छिय (§ ५५५), वितिगिच्छा = विचिकित्सा रूप भी देखने में आते हैं (ठाणग० १९१ ; आयार० २, १, ३, ५ ; सूय० १८९ ; ४०१ ; ४४५ ; ५१४ और ५३३ ; उत्तर० ४६८ और उसके बाद), वितिगिंछा, वितिगिंछइ, वितिगिंछिय (§ ७४ और ५५५), वितिगिच्छामि (ठाणग० २४५), निव्वितिगिच्छ (सूय० ७७१ ; उत्तर० ८११ ; विवाह० १८३ ; ओव० § १२४) रूप भी चलते हैं। अ०माग० में दिगिच्छत्त- और दिगिंछा = जिघत्सत् और जिघत्सा हैं, अ०माग० और जै०महा० में दुगंछा और दुगुंछा रूप पाये जाते हैं, अ०माग० में दुगुंछण, दुगुंछणिज्ज, दोगंछि-, दोगुंछि-, पडिदुगंछि-, दुगुंछइ, दुगुंछमाण तथा अदुगुंछियं रूप मिलते हैं (§ ७४ और ५५५), इनके साथ-साथ जुगुच्छा (भाम० ३, ४०), जुउच्छइ, जुगुच्छइ आदि-आदि रूप चलते ही हैं (§ ५५५)। — अ०माग० दोसिणा = ज्योत्स्ना (त्रिवि० १, ३, १०५ = बे० बाइ० ३, २५० ; ठाणग० ९५ ; पण्हा० ५३३), दोसिणाभा रूप भी आया है (नायाध० १५२३) ; दोसिणी = ज्यौत्स्नी (देशी० ५, ५१), शौर० में वणदोसिणी = वनज्यौत्स्नी (शकु० १२, १३) है; दोसाणिअ (= उजाला ; साफ : देशी० ५, ५१ [देशीनाममाला में दिया हुआ है : दोसाणिअं च विमली कयम्मि और टीका में है:—दोसाणिअं निर्मलीकृतम्। –अनु०])। — § २५२ के अनुसार य से निकले हुए गौण ज के द्वारा दोग्ग में ध्वनि परिवर्तन आ गया है (= युगल; युग्म ; देशी० ५, ४९ ; त्रिवि० १, ३, १०५ = बे० बाइ० ३, २४१), इस स्थिति में इसे युग्म का प्राकृत रूप मानना पड़ेगा (यह शब्द प्रक्रिया यों माननी

१. हेच० १, १८९ पर पिशल की टीका। — २. § ५४ से तुलना कीजिए। — ३. जिस पद को वेबर ने नहीं समझा है उसमें ढंकरसेसो = ध्वांक्षरसैवः और मुक्को के बाद का कौमा हटा देना चाहिए। — ४. बे० बाइ० ३, २४० और उसके बाद में पिशल का लेख।

§ २०६— वेबर[1] ने अधिकार के साथ कहा है कि प्राकृत में पहले आनेवाले ह–कारयुक्त वर्ण के प्रभाव से 'गौण ह–कार या प्रत्यक्ष ह आ जाता है।' उसने इस सिलसिले अर्थात् प्रसग मे जो उदाहरण दिये हैं : भारह, धरणिधील या घील रूप और फलह, उनका ठीक ठीक स्पष्टीकरण और समाधान § २०६ और २०७ में किया गया है। दूसरी ओर वाकरनागल' ने लिखा है कि प्राकृत में 'दो ह-कारयुक्त वर्ण एक दूसरे के बाद साथ साथ रखने की अप्रवृत्ति' देखी जाती है। उसने अपनी पुष्टि मे एकमात्र उदाहरण मज्झण्ण प्रस्तुत किया है जिसे वह भूल से मध्याह्न से निकला बताता है, किन्तु मज्झण्ण = मध्यंदिन (§ १४८) है। अन्य एक कारण से भी यह उदाहरण प्रमाणित नहीं किया जा सकता क्योंकि प्राकृत में मज्झण्ह रूप भी चलने योग्य सर्वथा ठीक है (§ ३३०)। बाइनैगे पेज ४१ मे ए० कून ने इस विषय पर जो कुछ लिखा है उसका कुछ भी अर्थ नहीं होता। पाली रूप मज्झत्त = मध्यस्थ के लिए सभी प्राकृत भाषाओं मे, जिनमे इसके प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं अर्थात् महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर० और शौर० म मज्झत्थ काम मे लाया गया है (हाल ; रावण० ; आयार० १, ७, ८, ५ ; सूय० ९७ ; नायाध० १२७४ ; तीर्थ० ५, १६ ; ऋषभ० ४९ ; कालका० २७५, ४५ , पव० ३८९, ३ ; मृच्छ० ६८, २१ , बाल० २३८, ८ ; कर्ण० ३१, १० , मल्लिका० २५०, २ और ३), पाली रूप मज्झत्तता के लिए शौर० में मज्झत्थदा रूप देखने में आता है (शकु० २७, ५ ; मालवि० ३९, ९ , अद्भुत० ४, १०)। पाली में शब्दों में से ह–कार उड जाने का कारण वाकरनागल द्वारा निर्धारित 'अप्रवृत्ति' नहीं है, इसका प्रमाण पाली रूप : इन्दपत्त = इन्द्रप्रस्थ, मट्ठ और उसके साथ चलनेवाला रूप मट्ठ = मृष्ट, वट्ट = वृष्ट, अत्त = अस्त, भद्दमुत्त = भद्रमुस्त आदि आदि हैं (ए० कून कृत बाइनैगे पेज ४१ और ५३'), प्राकृत रूप समत्त और इसके साथ-साथ समत्थ = समस्त (§ ३०७) है। इन उदाहरणों से जैसे महा० तक्खणुक्खअहरिहत्थुक्खित्तमेमला (रावण० ६, ३७), खन्धुक्खेव (गउड० १०४९), अ०माग० रूप मज्झभागत्थ (नायाध० § ९२), जै०महा० मे हत्थिक्खंध (आव० एर्त्से० २५, ३९), जै०शौर० में मोहक्खोहविहूणो (पव० ३८०, ७), शौर० में फलिहत्थंभ मिलता है (मालवि० ६३, १), शब्दों जैसे खम्भ, खुहा, जज्झर, झंखइ, झुज्झइ, भिप्फ और भिब्भल तथा असख्य अन्य उदाहरणों से जैसे, घट्ठ, भट्ठ, हत्थ' हित्थ, डज्झिहिइ, दुहिहिइ, बुज्झिहिइ आदि-आदि से यह निदान निकलता है कि प्राकृत में वह झुकाव नहीं है जो इसके माथे मढा गया है और न इसके ध्वनिपरिवर्तन के नियमों के अनुसार यह प्रवृत्ति इसमे हो ही सकती है। इसके विपरीत कुछ प्राकृत भाषाओं में और विशेष कर अ०माग० में बड़े चाव से

दो ह्-कारयुक्त वर्ण एक के बाद एक आते हैं, उदाहरणार्थ : खिङ्घिणी, खद्धचर, थूभ, फच्छभ (§ २०६ और २०८)। § ३१२ और उसके बाद के कई § प्रमाणित करते हैं कि याकोबी[4] द्वारा उपस्थित किये गये उदाहरण एक दूसरे के बाद आनेवाले ह्-कारयुक्त दो वर्णों की इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रस्तुत नहीं किये जा सकते।

१. भगवती १, ४११। — २. कू० त्सा० ३३, ५७५ और उसके बाद; आल्ट इंडिशे ग्रामाटीक § १०५ का नोट। — ३. वाकरनागल के साथ में भी यहां पर संक्षेप करने के लिए द्ध को ही ह्-कारयुक्त वर्णों में सम्मिलित कर रहा हूं। — ४. औसगेवैल्ते एर्सेलुंगन की भूमिका के पेज संख्या ३२ की नोट संख्या ३ और भूमिका के पेज संख्या ३३ की नोट संख्या २।

§ २०७—कई बोलियों में कवर्ग, पवर्ग और च-कार में परिणत हो जाता है (§ २३० ; २३१ ; २६६ और २८६)। तालव्य वर्णों के स्थान पर कई प्राकृतों में दन्त्य आ जाते हैं ; त के स्थान पर च और द के लिए ज वर्ण आ जाता है। अ०माग० तेइच्छा=*चेकित्सा = चिकित्सा (आयार० १, २, ५, ६; १, ८; ४, १ ; २, १३, २२ ; कप्प० एस० § ४९), तिगिच्छा (ठाणग० ३१३ ; पण्हा० ३५६ ; नायाध० ६०३ और ६०५ ; उत्तर० १०६), तिगिच्छय और तिगिच्छग रूप भी मिलते हैं = चिकित्सक के (ठाणग० ३१३ ; नायाध० ६०३ और ६०५ ; उत्तर० ६२०) हैं, तिगिच्छइ, तिगिच्छिय (§ ५५५), वितिगिच्छा=विचिकित्सा रूप भी देखने में आते हैं (ठाणग० १९१ ; आयार० २, १, ३, ५ ; सूय० १८९ ; ४०१ ; ४४५ ; ५१४ और ५३३ ; उत्तर० ४६८ और उसके बाद), वितिगिंछा, वितिगिंछइ, वितिगिंछिय (§ ७४ और ५५५), वितिगिच्छामि (ठाणग० २४५), निव्वितिगिच्छ (सूय० ७७१ ; उत्तर० ८११ ; विवाह० १८३ ; ओव० § १२४) रूप भी चलते हैं। अ०माग० में दिगिच्छत्त-और दिगिंछा = जिघत्सत् और जिघत्सा हैं, अ०माग० और जै०महा० में दुगंछा और दुगुंछा रूप पाये जाते हैं, अ०माग० में दुगुंछण, दुगुंछणिज्ज, दोगंछि-, दोगुंछि-, पडिदुगंछि-, दुगुंछइ, दुगुंछमाण तथा अदुगुंछियं रूप मिलते हैं (§ ७४ और ५५५), इनके साथ-साथ जुगुच्छा (भाम० ३, ४०), जुउच्छइ, जुगुच्छइ आदि-आदि रूप चलते ही हैं (§ ५५५)। — अ०माग० दोसिणा = ज्योत्स्ना (त्रिवि० १, ३, १०५ = बे० बाइ० ३, २५० ; ठाणग० ९५ ; पण्हा० ५३३), दोसिणाभा रूप भी आया है (नायाध० १५२३) ; दोसिणी=ज्यौत्स्नी (देशी० ५, ५१), शौर० मे वणदोसिणी = वनज्यौत्स्नी (शकु० १२, १३) है; दोसाणिअ (=उजाला ; साफ : देशी० ५, ५१ [देशीनाममाला मे दिया हुआ है : दोसाणिअं च विमलीकयम्मि और टीका मे है:—दोसाणिअं निर्मलीकृतम्। -अनु०])। — § २५२ के अनुसार य से निकले हुए गौण ज के द्वारा दोग्ग मे ध्वनि परिवर्तन आ गया है (=युगल; युग्म ; देशी० ५, ४९ ; त्रिवि० १, ३, १०५ = बे० बाइ० ३, २४१), इस स्थिति में इसे युग्म का प्राकृत रूप मानना पड़ेगा (यह शब्द प्रक्रिया यों माननी

पड़ेगी : युग्म=जुग्ग=दोँग्ग। –अनु०)। इसका सम्बन्ध अ०माग० और जै०महा० दुग=द्विक से भी (§ ४५१) जोड़ा जा सकता है¹।

१. अ०माग० पादीणं=प्राचीनं (आयार० २, १, ९, १) अशुद्ध पाठ या छापे की भूल है, इसका शुद्ध रूप पाईणं होना चाहिए जैसा आयारंगसुत्त १, १, ५, २ और ३, २, २, २, ८ में ठीक ही दिया गया है। कलकत्ते के संस्करण में पाइणं रूप आया है। वेबर द्वारा सम्पादित भगवती १, ४१३, इं० स्टुडि० १४, २५५ और उसके बाद, ए० म्युलरकृत बाइत्रैगे पेज २५; बे० बाइ० ३, २४१ और २५० तथा ६, १०० और उसके बाद में पिशल का मत।

§ २०८—जैसे तालव्य वर्णों के लिए दन्त्य वर्ण आ जाते हैं (§ २१५) वैसे ही कुछ प्राकृत बोलियों में इसका ठीक विपरीत क्रम मिलता है अर्थात् दन्त्य वर्णों के स्थान पर तालव्य वर्ण आ बैठते हैं। इस प्रकार का रूप चच्छइ है जो *त्यक्षति से निकला है, इसके साथ साथ तच्छइ=तक्षति रूप भी काम में आता है (हेच० ४, १९४)।—महा०, अ०माग० और जै०महा० में चिट्ठइ रूप मिलता है, शौर० और अप० में चिट्ठदि है तथा माग० रूप चिष्ठदि=तिष्ठति है जो स्था धातु से निकला है (§ ४८३)।—छुच्छ और इसके साथ साथ तुच्छ रूप (हेच० १, २०४) तथा हेच० के अनुसार इसका छ-कारयुक्त आरम्भिक वर्णमाला रूप छुच्छ भी पाया जाता है।—अप० विज्जज्झर=विद्याधर (विक्रमो० ५९,५) है। अ०माग० चियत्त=त्यक्त, चिच्चा और चेँच्चा=त्यक्त्वा के विषय में § २८० देखिए।

२०९—स्टेन्त्सलर के मृच्छकटिक के संस्करण के ९, २२ (पेज २४०) जो= गौडबोले के संस्करण के २६, ८ (पेज ५००) की टीका में पृथ्वीधर के मतानुसार शकार प्राकृत में च से पहले एक लघुप्रयत्नतर य् बोला जाता है जिसकी मात्रा गिनी नहीं जाती : य्चिष्ठ=तिष्ठ है। मार्क०पन्ना ७५ और ८५ के अनुसार यह य् माग० और व्राचड० अप० में ज के पहले आता है माग० य्चिलं=चिरम् ; य्जाया= जाया; य्चलआ=चरक हैं; अप० में . य्चलइ=चलति , य्जलइ=ज्वलति (§ २४ और २८) हैं। वर० ११, ५ में दिये गये माग० भाषासम्बंधी नियम सम्भवतः इसी स्थान पर लागू होते हैं, क्रमदीश्वर ५, ८८ भी इसी बारे में है। हमारे पास तक जो पाठ आये हैं उनमें बहुत अशुद्धियाँ रह जाने के कारण इसका निश्चित तात्पर्य नहीं समझा जा सकता। इस सम्बन्ध में कौवेल द्वारा सम्पादित वर० पेज १७९ की नोट संख्या १ तथा लास्सन कृत इन्स्टिट्यूत्सिओनेस, पेज ३९३ और ३९६ और § १४६, १ भी देखिए।

§ २१०—संस्कृत के दंत्य वर्ण प्राकृत में बहुधा मूर्धन्य बन जाते हैं। इसकी उल्टी ध्वनि प्रक्रिया जिसमें मूर्धन्य वर्ण प्राकृत बोलियों में दंत्य बन जाते हैं, (§ २२५) प्रमाण देती है कि इसका सम्बन्ध नाना प्राकृत बोलियों के भिन्न भिन्न उच्चारणों से है, इसके अतिरिक्त अन्य अनुमान भ्रमात्मक है। टगर=तगर में शब्द के आरम्भ में ही त के स्थान पर ट आया है (हेच० १, २०५), टिम्बरु=तुम्बुरु

(देशी० ४, ३), टिम्बरुय = तुम्बुरुक (पाइय० २५८) है, इनके साथ में ही टिम्बुरिणी रूप भी शामिल किया जाना चाहिए ; टूवर = तूवर (हेच० १, २०५) है। इस सम्बन्ध में § १२४ की भी तुलना कीजिए। चू०पै० पटिमा=प्रतिमा में शब्द के भीतर आनेवाले त के स्थान पर ट आया है (हेच० ४, ३२५), इस रूप के स्थान पर अन्य प्राकृत बोलियों में § २१९ के अनुसार पडिमा रूप चलता है। हेच० १, २०६ ; क्रम० २, २९ और मार्क० पन्ना १५ में वे शब्द दिये गये हैं जिनमें त के स्थान पर ड आता है और ये सब शब्द प्रत्यादिगण में एकत्र कर दिये गये हैं। हेच० के अनुसार यह आकृतिगण है, क्रम० ने इसमें केवल प्रतिबद्ध, प्राभृत, वेतस, पताका और गर्त शब्द दिये हैं ; मार्क० एक श्लोक में केवल सात शब्दों के नाम देता है : प्रति, वेतस, पताका, हरीतकी, व्यापृत, मृतक और प्राकृत। इस अन्तिम शब्द के स्थान पर प्राभृत पढा जाना चाहिए। पै० और चू०पै० को छोड़ सभी प्राकृत भाषाओं में प्रति शब्द का त बहुत ही अधिक बार ट रूप ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार महा०, अ०माग०, जै०महा० और ढक्की में पडिमा = प्रतिमा (चंड० ३,१२ पेज ४९; हेच० १, २०६ ; पाइय० २१७ ; गउड० ; हाल ; रावण०; ठाणग० २६६ ; आयार० २, २, ३, १८ और उसके बाद ; २, ६, १, ४ और उसके बाद ; २, ७, २, ८ और उसके बाद ; २, ८, २ और उसके बाद ; उवास० ; ओव० ; एर्से० ; मृच्छ० ३०, ११ ; १६ और १७) ; अ०माग० , जै०महा० और जै०शौर० पडिपुण्ण = प्रतिपूर्ण (नायाध० ४४९ ; ५०० ; उवास०; कप्प०; एर्से० ; पव० ३८७,१३) है; महा०, शौर० और माग० में पडिवअण = प्रतिवचन (हाल ; रावण० ; मृच्छ० ३७, ८ ; विक्रमो० १८, ११ ; माग० में : मृच्छ० ३२, १९) है; महा०, जै०महा० और शौर० में पडिवक्ख = प्रतिपक्ष (पाइय० ३५ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्से० ; विक्रमो० २३, ७ ; प्रबोध० ७,९ ; १२,५) है ; महा०, अ०माग० और शौर० में पडिवद्ध = प्रतिवद्ध (गउड० ; हाल ; रावण० ; मृच्छ० ४१,३ ; उवास० ; मृच्छ० ६८,२० और २५) है; जै०शौर० में अप्पडिवद्ध (पव० ३८७, २५) रूप मिलता है, शौर० में पडिवन्धेध आया है (शकु० ११३, १२), अ०माग० में पडिवन्धण पाया जाता है (दस० ६४३, १६) ; महा० और अप० में पडिहाइ देखने में आता है, इनके साथ शौर० रूप पडिहादि और पडिहाअदि=प्रतिभाति (§ ४८७) है, इस प्रकार के रूपों की गिनती नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में § १६३ और २२० की भी तुलना कीजिए। त का ड में यह ध्वनि परिवर्तन हेच० ४, ३०७ और रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका के अनुसार, पै० और चू०पै० भाषाओं में नहीं होता, (इसमें प्रतिविम्ब का —अनु०) पतिविम्ब होता है (हेच० ४, ३२६), इस नियम का एक अपवाद है पटिमा (हेच० ४, ३२५)। अन्य उदाहरण हैं—महा०, अ०माग०, जै०महा० और अप० रूप पडइ = पतति (वर० ८, ५१ ; हेच० ४, २१९ ; गउड० ; हाल ; रावण० है; निरया० § ११ ; नायाध० १३९४ ; सगर० ३, १० ; हेच० ४, ४२२, ४ और १८) है ; माग० में पडदि रूप पाया जाता है (मृच्छ० ३१, १० ; १५८, ७

और ९ ; १६९, ५) ; महा० और अ०माग० में **पडउ = पततु** (हाल ; आयार० २, ४, १, १२) है, जै०महा० में **पडामो = पतामः** (आव० एर्त्से० ८, ५०) है; माग० में **पडेमि** मिलता है (मृच्छ० १२७, १२); महा० और अप० में **पडिअ = पतित** (गउड० ; हाल ; रावण० ; हेच० ४, ३३७) है ; जै०महा० में **पडिय** रूप है (एर्त्से०), शौर० और माग० में यह रूप **पडिद** बन जाता है (मृच्छ० ५४, ३; ८१, ९ ; ९५, ११ ; १२०, ७ ; मुद्रा० १०४, ८ ; रत्ना० ३१४, २७ ; मृच्छ० १०, १ ; १३३, १० ; १६९, ५ ; १७०, १६), शौर० में **निवडिद = निपतित** (शकु० ३५, १० ; ७७, ११) है; अ०माग० में **पवडेॅज्ज = प्रपतेत्** , **पवडेमाण = प्रपतमान** (आयार० २, २, १, ७ ; २, २, ३, २ और २३ ; २, ३, २, १५) है और **पत्** धातु तथा उसके नाना रूपों का सर्वत्र यही ध्वनिपरिवर्तन होता है, जैसे महा०, जै०महा० और माग० में **पडण = पतन** (गउड० ; हाल ; रावण०; एर्त्से०; मृच्छ० ३०,२३) है, किन्तु चूपै० में **निपतत्ति** रूप आया है (हेच० ४, ३२६) । महा० और शौर० में **पडाआ=पताका** (सब व्याकरणकार ; गउड० ; रावण० है ; मृच्छ० ६८, १७) ; अ०माग० और जै०महा० में **पडागा** रूप चलता है (ठाणंग० २८४ ; जीवा० ४८३ ; नायाध० § १२२ ; पेज १३१८ ; पण्हा० १६० ; राय० ५९; ६८ ; ७० ; विवाह० २७६ ; ८३३ ; निरया ; ओव० ; एर्त्से० ; कप्प०); जै०महा० में **पडाया** रूप भी चलता है (पाइय० ६८ ; एर्त्से०) ; अ०माग० में **सपडाग** आया है (राय० १२८) किंतु पै० में **पताका** रूप है (हेच० ४, ३०७) ।— **पहुटि=प्रभृति** (हेच० १, २०६), किंतु शौर० और माग० में इसका रूप **पहुदि** मिलता है (मृच्छ० २३, १५ और २३; ७३, १० ; शकु० ५२, ५ ; ८५, ७; विक्रमो० १५, ८ और ९; ४५, २० ; मुद्रा० २५३, ८ ; प्रबोध० ९, ५; २८, १७ ; माग० में : मृच्छ० १३, २५ ; ३१, ११ ; १३३, २१ ; वेणी० ३५, ५) ; शौर० में **पहुदिय = प्रभृतिक** (मृच्छ० ७१, १) । — अ०माग० और जै०महा० में **पाहुड = प्राभृत** (सब व्याकरणकार ; पाइय० २३६ ; आयार० २, २, २, १० और उसके बाद ; विवाग० १२८ और १३२ ; नायाध० ४३९ ; ५३९ ; ५४० ; ७७४ और उसके बाद ; ११४३ और उसके बाद ; १३७५ और उसके बाद ; १४३१ ; राय० २२६ ; अणुओग० ५५८ ; एर्त्से०) ; **पाहुडिय = प्राभृतिक** (आयार० २, २, ३, १ ; अणुओग० ५५८) हैं ।—महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर०, माग० और दाक्षि० में **वावड = व्यापृत** (हेच० ; मार्क० ; हाल ; रावण० ; उत्तर० ४९६ ; एर्त्से० ; कालका० ; मृच्छ० ४, २४ ; २९, २१ ; १०४, ८) है, जै०महा० में **वाउळ** रूप भी आया है (कालका०) ; अ०माग० में **वाउय** रूप भी मिलता है (ओव०), शौर० में **वावुड** भी चलता है (मालवि० ७२, २), **वावुडदा = व्यापृतता** (मृच्छ० ३२५, १९) है ।—महा० में **वेडिस**, किंतु पै० में **वेतस** और शौर० में **वेदस = वेतस** (§ १०१) है ।—**हरडई = हरीतकी** (§ ११०) है ।

§ २११—अ०माग० (जिसे जैन आर्षभाषा भी कहते हैं ।—अनु०) में और किसी अंश तक जै०महा० में भी मूर्धन्य वर्णों का जोर है (हेच० १, २०६) । इन

भाषाओं में इसका प्राधान्य विशेषकर उन रूपों में है जिनमें कृत लगता है, इनमें कृ का ऋ, उ में परिणत हो जाता है, इस प्रकार अ०माग० में कड=कृत, अकड= अकृत, दुक्कड=दुष्कृत, सुकड=सुकृत, विगड, वियड=विकृत,पगड=प्रकृत, पुरेकड = पुरस्कृत, आहाकड = यथाकृत हैं, इनके साथ-साथ महा० और अप० में (कृत या।—अनु०) कअ रूप भी चलता है, अ०मा० और जै०महा० में कय, पल्लवदानपत्रो और पै० में कत्त हैं ; जै०शौर०, शौर० और माग० में कद ; शौर०, माग० और अप० में किद, अप० में अकिअ (§ ४९, इस सम्बन्ध में § ३०६ से भी तुलना कीजिए) रूप देखने में आते हैं।—अ०माग० में पत्थड = प्रस्तृत (ठाणग० १९७), वित्थड = विस्तृत (जीवा० २५३ ; ओव० § ५६), संथड = संस्तृत (आयार० २, १, ३, ९ ; २, १, ६, १) है, असंथड रूप भी पाया जाता है (आयार० २, ४, २, १४), अहासंथड भी मिलता है जो = यथासंस्तृत के (आयार० २, ७, २, १४) है।—अ० माग० में मड* = मृत (विवाह० १३ ; उत्तर० ९८९ ; जीवा० २५५ ; कप्प०), अ०मा० और जै०महा० में मडय = मृतक (हेच० १, २०६ ; पाइय० १५८ ; आयार० २, १०, १७ ; आव० एर्त्से० २४, ४), इसके साथ साथ अ०माग० और जै०महा० में मय (=मृत या मृतक। —अनु०) रूप भी चलता है (विवाह० १६ ; १०४१ ; १०४२ ; द्वार० ५०३ , ५ और ७ ; ५०४, ४ और १७), जै०महा० में मुय रूप है (आव० एर्त्से० २८, ८), महा० में मअ चलता है (गउड०), मुअ† रूप भी पाया जाता है (हाल ; रावण०), जै०शौर० में मद देखा जाता है (पव० ३८७, १८), शौर० में मुद रूप हो गया है (मृच्छ० ७२, २० ; कर्पूर० २२, ९)।—वृत का रूप अ०माग० में वुड है, अभिनिव्वुड = अभिनिर्वृत (सूय० ११० ; ११७ [यहां अभिणिव्वुड पाठ है] और ३७१), निव्वुड = निर्वृत (आयार० १, ४, २, २ ; सूय० ५५०), पाउड = प्रावृत (आयार० १, २, २, १ , सूय० १३४ और १७०), परिनिव्वुड= परिनिर्वृत (कप्प०) हैं, इसके साथ ही परिनिव्वुय रूप भी चलता है (ओव० ; कप्प०), परिवुड = परिवृत (ओव०), संपरिवुड = संपरिवृत (विवाह० १८६ ; ८३० ; नायाध० § ४ और १३० ; पेज ४३१ ; ५७४ ; ७२४ ; ७८४ ; १०६८ ; १०७४ ; १२७३ ; १२९० ; १३२७ ; उवास० ; ओव० ; कप्प०), संवुड = संवृत (आयार० १, ८, ३, १३ ; २, १, ९, १ ; सूय० ८१ ; ११७ ; १४४ ; विवाह० ९४२ ; कप्प०) हैं, असंवुड रूप भी मिलता है (सूय० १०८ और ११५), सुसंवुड रूप भी आया है (सूय० १४१), इनके साथ साथ महा० में णिव्वुअ, जै०महा० में णिव्वुय, शौर० में णिव्वुद रूप पाये जाते हैं (§ ५१) ; महा० में पाउअ (हाल) तथा ढक्की और शौर० में पावुद रूप मिलते हैं (मृच्छ०

* यह शब्द और इसके रूप कुमाउनी तथा हिंदी भाषाभाषी राज्यों के कई गावों में अब भी प्रचलित हैं। —अनु०

† उर्दू का साहित्यिक मूल रूप दक्षिण से आने के कारण उसमें मरे मनुष्य के लिए या गाली में मुआ रूप बहुत मिलता है।—अनु०

३४, १२ ; ७२, २ और ९) ; शौर० में **अवावुद = अपावृत** (मृच्छ० १६, ३ ; ५ और ९) ; शौर० और दाक्षि० **परिवुद = परिवृत** (मृच्छ० ६, ६ और १०६, १), शौर० में **संवुद** (मृच्छ० १५, ७) तथा अ०माग० में **संवुय** रूप पाये जाते हैं (ओव०) । —अ०माग० और जै०महा० में **हड=हृत** (आयार० २, २, २, ४ ; आव० एर्त्से० ४४, ७) ; अ०माग० में **अवहड = अपहृत** (हेच० १, २०६), **अभिहड** रूप भी मिलता है (आयार० १, ७, १, १ ओर २ ; २, १, १, ११ ; २, २, १, २), **अहड** भी देखने में आता है (आयार० १, ७, ५, ४ ; २, १, ९, २ ; सूय ३८२) ; **असमाहड** भी काम में आता था (आयार० २, १, ३, ५) ; **नीहड=निर्हृत** (आयार० २, १, १, ११ ; २, १, ९, ७ ; २, १०, २, ४) है, इनके साथ साथ महा० में **हिअ = हृत** रूप काम में आता है (हाल ; रावण०) ; शौर० में **अवहद=अपहृत** (मृच्छ० ५२, १३ और २१ ; ५३, २ और २१ ; ५५, १६ ; ७४, १२ ; ७८, २ ; ८९, ८ ; १४७, १७ ; १५४, १३ ; विक्रमो० ४१, १२) है। वर० ११, १५ के अनुसार माग० में भी निम्नलिखित शब्दों में **त** के स्थान पर **ड** आ बैठा है : **फड=कृत, मड = मृत** और **गड = गत** । इस प्रकार माग० में **फड** रूप पाया जाता है (मृच्छ० १७, ८ ; ३२, ५ ; १२७, २३ और २४ ; १३२, १० ; ११ और १२ ; १४९, २४ ; १५४, २० ; १६४, १०) ; **मड** भी देखने में आता है (मृच्छ० ११९,१५), **मडअ** रूप भी आया है (चंड० ६३, ११), **गड** भी मिलता है (मृच्छ० १०,६ ; १३, ८ ; २०, १६ ; ३६,१३), इनके साथ साथ **कद, किद** (§ ४९) और **गद** रूप भी काम में आते हैं (मृच्छ० ३९, २० ; ११६, ७ ; १२८, २ ; १७१, ११ ; प्रबोध० ५०, ६ ; चंड० ७०, १४ ; वेणी० ३४, ९ आदि आदि) । पल्लवदानपत्र ७, ५१ में भी **कड** रूप पाया जाता है (एपिग्राफिका इण्डिका २, ४८५ की भी तुलना कीजिए), इसके साथ साथ उसमें **अधिकते=अधिकृतान्** भी आया है (५, ५) । देशीनाममाला ६, १४१ में **मड** रूप देशी अर्थात् किसी देश विशेष की बोली का शब्द बताया गया है (संस्कृत से निकला नहीं बताया गया है । —अनु०) । **फळ** और **मळ** के विषय में § २४४ देखिए । **त** के **ड** बन जाने के अ०माग० के अन्य उदाहरण यहां दिये जाते हैं : **दुक्कडि— = दुष्कृतिन्** (सूय० २९५) ; **उवक्खडेइ = *उपस्कृतयति** हैं और **उवक्खडावेइ** रूप भी पाया जाता है (§ ५५९) ; **पुरेक्खड = पुरस्कृत** (पण्णव० ७९६ और उसके बाद) ; **नियडि=निकृतिन्** (दस० ६३५, ७), **नियडिल्ल = निकृतिमत्** (उत्तर० ९९०), **नियडिल्लया = निकृतिमत्ता** (ठाणंग० ३२८ ; विवाह० ६८७ ; ओव०), **संखडि=संस्कृति** (आयार० १,८, १,१८), **पगडि= प्रकृति** (ठाणंग० २१६ ; विवाह० ७४) है, जै०शौर० में इसका रूप **पयडि** (कत्तिगे० ३९९, ३०८) और इसके साथ साथ **पगइ** भी पाया जाता है (ओव० ; कप्प०), महा० में **पअइ** (हाल ; रावण०) और शौर० में **पइदि** रूप मिलता है (शकु० २५, ८ ; ६६, ८ ; ११७, ११ ; १५३, १४ ; विक्रमो० ७३, १२ ; ७५, ४) ; **वडिंस, वडिंसग** और **वडिंसय=अवतंस** और **अवतंसक** (§ १०३) हैं; **वेया-**

वडिय और साथ साथ वेयावच्च=वैयापृत्य (लौयमान द्वारा सम्पादित ओववाइयसुत्त मे वेयावच्च शब्द देखिए)। माग० रूप विडत्त, प्पट्टवदि (मृच्छ० १६५, ११) का तात्पर्य सदिग्ध है। गौडबोले द्वारा सपादित मृच्छकटिक पेज ४४८ में इन शब्दों का स्पष्टीकरण कि इनके सस्कृत रूप वितत्त और प्रतपति है, बहुत तोड़ मरोड़े रूप हैं। अनुमान से यह पाठ पढा जाना चाहिए : विधत्ते चेदे किं ण प्पलवदि= विदग्धस् चेतः किं न प्रलपति है। विधत्त की तुलना महा० रूप ढड्ढइ, शौर० ढड्ढदि और विढड्ढिअ तथा माग० रूप ढय्यदि से कीजिए (§ २२२) और प्पलवदि की गौडबोले के ऊपर दिये गये ग्रन्थ मे प्पतवदि से।

§ २१२—कई अवसरों में यह मूर्धन्यीकरण नियमानुसार छिपा सा रहता है : महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० मे पइण्णा = प्रतिज्ञा (हेच० १, २०६ ; गउड० ; रावण० ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से० ; कालका० ; मालवि० ६६, १८ ; ६९,५) है, इसके साथ साथ अ०माग० मे अपडिन्न = अप्रतिज्ञ (आयार० १, ८, १, १९ और २२ ; १, ८, २, ५ ; ११ ; १६ ; १, ८, ३, ९ ; १२ और १४ ; १, ८, ४, ६ ; ७ और १४) है; अ०माग० और जै०महा० में पइट्ठान = प्रतिष्ठान (ठाणगं० ५१३ ; नायाध० ६२३ ; विवाह० ४१८ और ४४७ ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से०) है; नगर के नामों मे भी जै०महा० और शौर० में यही होता है : पइट्ठाण (आव० एर्त्से० २१, १ ; कालका० २६९, ४४ [पाठ के पयट्ठाण के स्थान पर यही पाठ पढा जाना चाहिए]; विक्रमो० २३,१४ ; ७३,११ [इसकी सब हस्तलिखित प्रतियों के साथ (पेज २५५) भारतीय तथा द्राविडी सस्करणों में यही पाठ पढा जाना चाहिए]), लेण बोली मे इससे पहले ही पइठाण और उसके साथ साथ पतिठाण रूप मिलते हैं (आर्किऔलौजिकल सर्वे औफ वेस्टर्न इण्डिया ५, ७६, ८); अ०माग० मे पइट्ठा = प्रतिष्ठा (हेच० १, २०६) ; अ०माग० और जै०महा० मे पइट्ठिय = प्रतिष्ठित (उवास० ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से० ; कालका०) है, इसके साथ साथ महा० पडिट्ठिअ रूप भी चलता है (गउड० ; रावण०) और अ०माग० मे पडिट्ठिय (ओव०), पइट्ठावय=*प्रतिष्ठापक (ओव०) ; जै०महा० पइट्ठा-विय=प्रतिष्ठापित (तीर्थ० ७,२ ; एर्त्से०) है, इसके साथ साथ महा० मे पडिट्ठविय रूप मिलता है (रावण०), शौर० मे पटिट्ठावेहि = प्रतिष्ठापय (रत्ना० २९५, २६) है; जै०महा० में पडिदिणं=प्रतिदिनम् (एर्त्से० ; कालका०), पडदियहं= प्रतिदिवसम् (कालका०), पडसमयं = प्रतिसमयम् (हेच० १, २०६), पडवरिसं=प्रतिवर्षम् है (तीर्थ० ७, १) ; स्वतन्त्र और अकेले प्रति का रूप जै० महा० में पइ (कालका०) और शौर० मे पदि होता है (चैतन्य० ८८, १२ ; ९०, ४ और ५) ; पईव=प्रतीप (हेच० १, २०६ ; पाइय० १५४), इसके साथ साथ माग० मे विप्पडीव=विप्रतीप (मृच्छ० २९, २३) है, ढक्की मे इसका रूप विप्पदीव हो जाता है (मृच्छ० ३०, ११ और १२ ; इस विषय पर गौडबोले द्वारा सम्पादित मृच्छकटिक के पेज ८६, १ और २ देखिए) ; महा० और जै०महा० में संपइ= संप्रति (हेच० १, २०६ ; पाइय० ६७ ; गउड० ; रावण० ; एर्त्से० , कालका० ;

ऋषभ०) है; जै०महा० में **संपयं** = साम्प्रतम् (पाइय० ६७ ; एर्से० ; कालका०), इसके साथ साथ शौर० और ढक्की रूप **सम्पदं** है (उदाहरणार्थ, शौर० ; मृच्छ० ६, २२ ; १७, १९ ; १८, २३ ; ३६, ९ ; ४२, ९ ; शकु० २५, २ ; ३०, ४ ; ६७, १२ ; विक्रमो० २६, १२ ; २७, २१ ; ४६, १५ ; ढक्की : मृच्छ० ३०, ४ ; ३१, ९ ; ३२, ८), माग० में इसका रूप **शम्पदं** चलता है (उदाहरणार्थ, मृच्छ० १६, २० ; ३२, २ ; ४ और ५ ; ३८, १९ ; ९९, ११ ; ११९, ११ ; १५३, २२ ; प्रबोध० ५८, १७)।

§ २१३—महा० रूप **ढक्कइ** और **ढक्केइ** (=ढकना ; छाना ; बन्द करना : हेच० ४, २१ ; हाल), जै०महा० **ढक्केमि** (तीर्थ० ७, ९) और **ढक्केऊण** (एर्से० ; द्वार० ४९९, ८), शौर० **ढक्केहि** (मृच्छ० ३६, ३) ; माग० **ढक्किद** और **ढक्केध** (मृच्छ० ७९, १७ ; १६४, १४) तथा अनुस्वार लगे हुए रूप **ढंकिरंश** (प्रबोध० ५८, १० ; यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए ; ब्रौकहौस के संस्करण में **टंकिस्सं** पाठ है और बम्बइया तथा पूना के संस्करणों में **ढंकिस्सं** पाठ दिया गया है, मद्रास में छपे संस्करण में **थगइस्सं** पाठ आया है = पाली **थकेति**[1]), **ढंकणी** (= ढकना ; पिधानिका : देशी० ४, १४) भी मिलता है, **ढक्क** (= ठग ; लाल्ची : एर्से०) में **थ** का **ठ** रूप बनकर **ढ** हो गया है। इस सबंध में § २०९ भी देखिए। यह ध्वनिपरिवर्तन शब्द के भीतर भी है ; महा० रूप **कढइ** = क्कथति (वर० ८, ३९ ; हेच० ४, ११९ और २२० ; क्रम० ४, ४६) है, **कढमाण** (गउड०), **कढ्दसि** और **कढ्दसु** (हाल ४०१ [यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए]), **कढिअ** (कर्पूर० ४०, २), शौर० रूप **कढीअमाण** (अनर्घ० २७०, १ [पाठ में **कढिज्जमाण** रूप आया है]) और **कढिद** (कर्पूर० ८२, ७), अ०माग० रूप **सुकढिय** (जीवा० ८२३ और ८६० तथा उसके बाद) में और अ०माग० रूप **गढिय** = ग्रथित (आयार० १, २, ३, ५, १, २, ४ २ और १, २, ५, ४ [पाठ में **गड्डिय** है] , १, ४, ४, २; १, ६, ५, ५ ; १, ८, १, ९ : २, १, ८, २ ; सूय० ८४ ; ६०१ ; ६९९ ; ७५१ ; ठाणग० १५६ ; विवाह० ४५० और ११२८ ; नायाध० ४२३ और ६०६ ; विवाग० ८७ [यहा पाठ में **गड्डिय** है], ९२ है)। अ०माग० में **अगढिय** रूप भी मिलता है (आयार० २,१, ५, ५ ; पण्हा० ३५९ ; ३७०)। इसी प्राकृत में **निसीढ** और इसके साथ साथ चलनेवाला रूप **निसीह** = निशीथ (हेच० १, २१६) हैं। शौर० में भी यही रूप न का ण होकर **णिसीढ** रूप में आया है (मल्लिका० २०१, ६ और २०९, १८), **णिसीह** रूप में भी यह काम में आता है (कालेयक० २६, ७), वास्तव में यह रूप अशुद्ध है और **णिसीढ** के स्थान में आया है। अ०माग० में **निज्जूढ** = निर्यूथ (= निचोड़ा हुआ ; अलग किया हुआ ; बाहर निकाला हुआ : नायाध० ३२३ ; विवाह० १३४; दस० ६३१, ११ ; ६४४, १२ ; १९ ; २१ ; २२ और २४) रूप पाया जाता है, **अनिज्जूढ** रूप भी मिलता है (विवाह० १३४)। इन रूपों के साथ साथ महा०, अ०माग०, जै०महा० और अप० में **जूह** = यूथ (गउड० ; हाल ; रावण० ;

नायाध० ; आव० एर्त्से० ४२, ७ ; एर्त्से० ; विक्रमो० ५६, २१), शौर० में **यूथ** का **जूध** रूप मिलता है (चड० १७, १२), महा० में **जूहिया** = **यूथिका** (गउड०), अ०माग० में इसका **जूहिया** रूप चलता है (कप्प०), शौर० में **जूधिया** देखा जाता है (वृषभ० १४, ९ ; १६, २ ; १७, २ ; २१, १४ [पाठ में सर्वत्र **जूहिया** रूप दिया गया है]), अ०माग० में **निज्जूहग** = ***निर्यूथक** और **निज्जूहिय** = **निर्यूथित** (दस० ६४४, १६ और १७) हैं, जै०महा० रूप **निज्जूहिज्जइ** मिलता है (आव० एर्त्से० ४२,१५) ; **पढम**, **पढुम**, **पुढम** और **पुढुम** तथा इनके साथ साथ पै० **पुधुम** रूप = **प्रथम** (§ १०४) हैं ; **पुढवी** और इसके साथ साथ **पुहवी** और **पुढई** = **पृथ्वी** (§ ५१)[1] हैं ; अ०माग० में **पुढो** = **पृथक्** है, इसके साथ साथ **पुहुत्त** और **पुहत्त** = **पृथक्त्व** (§ ७८) हैं ; अ०माग० में **मेढि** = **मेथि** (हेच० १, २१५ ; नायाध० ६३० ; उवास०) है ; **साढिल**, **पसढिल**, **सिढिल** और **पसिढिल** = **शिथिल** और **प्रशिथिल** (§ ११५) हैं ।

१. एस० गौल्दश्मित्त ने अपने प्राकृतिका ग्रंथ के पेज २ और उसके बाद में अशुद्ध लिखा है । इस शब्द के रूप से स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि इसका मूल रूप कभी *स्थक् रहा होगा । इस संबंध में § ३०१ की भी तुलना कीजिए । बे० बाइ० १५, १२५ में पिशल ने जो मत दिया है वह पूर्ण शुद्ध नहीं है ।— २. बार्टोलोमाए ने इं० फौ० ३, १६४ और उसके बाद में इस विषय पर कृत्रिम और अशुद्ध लिखा है ।

§ २१४—नीचे दिये गये रूपों में शब्द के आरंभ में द् का ड हो गया है : महा०, अ०माग० और जै०महा० में **दश्** और **दह्** धातुओं तथा इनसे निकले सब रूपों में यह ध्वनि-परिवर्तन हुआ है (हेच० १, २१७ और २१८ ; मार्क० पन्ना १७) । वररुचि २, ३५ में केवल **दशन** का उल्लेख करता है और क्रमदीश्वर २, ४२ में इसके अतिरिक्त **दहन** भी जोड़ता है, जिसके लिए वह और मार्क० यह ध्वनि-परिवर्तन आवश्यक मानते हैं, जब कि हेच० १, २१७ में बताता है कि **दशन**, **दष्ट**, **दग्ध** और **दाह** में यह परिवर्तन इच्छानुसार किया जा सकता है, किंतु साथ ही यह भी कहता है कि धातुओं में नित्य द् का ड कर दिया जाना चाहिए । जै०महा० में **डसइ** रूप मिलता है (आव० एर्त्से० ४२, १३) किंतु अ०माग० में **दसमाण** रूप पाया जाता है (ऊपर के ग्रन्थ में इसकी तुलना कीजिए), **दसन्तु** भी देखा जाता है (आयार० १, ८, ३, ४) ; महा० में **डट्ठ** (हाल) रूप है और महा० और जै० महा० में **दट्ठ** भी आया है (रावण० ; कालका०) ; महा०, अ०माग० तथा जै० महा० में **डक्क** रूप भी चलता है (§ ५६६) ; अ०मा० में **संडास** = **संदंश** (उत्तर० ५९३) है; **उड्डुस** रूप भी मिलता है (= खटमल : देशी० १, ९६), **उड्डास** भी है (= संताप : देशी० १, ९९) ; किंतु अ०माग० और जै०शौर० में **दंस** = **दंश** (आयार० २, २, ३, २८ ; ओव०; कत्तिगे० ४०१,३५३) है; ढक्की में **दट्ठ** रूप आया है (मृच्छ० ३९, ८) ; महा० में **दसण** रूप भी प्रचलित है (गउड०) और वररुचि १२, ३१ के अनुसार शौर० में सर्वत्र यही रूप होना चाहिए और स्वयं

मूल धातु भी आरंभिक वर्ण में दत्य ध्वनि ज्यों का त्यों बनाये रहता है : शौर० में **दसणादसणि** रूप आया है (लटक० ७, ६), **दंसदि** मिलता है (शकु० १६०, १), **दट्ठ** और **दंसिद** रूप पाये जाते हैं (मालवि० ५३, १७ ; ५४, ६)। इसी प्रकार का रूप **दाढा = दंष्ट्रा** है (§ ७६)।—दह् से महा० रूप डहइ बनता है (हाल), जै०महा० में **डहे** पाया जाता है (एर्त्से० ३८, १८), अ०माग० में **डहथ** रूप चलता है (सूय० ५९६), **डहेज्जा** भी आया है (दस० ६३४, ५), **डहिज्जा** रूप भी चलता है (सूय० ७८३) ; महा० में **डहिऊण** रूप है (हाल ; रावण०) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० में **डज्झइ** चलता है (हेच० ४, २४६ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; आयार० १, २, ३, ५ ; १, २, ४, २ और १; ३, ३, २ ; सूय० २७३ ; उत्तर० २८२ और २८४), महा० में **डज्झसि** और **डज्झसु** भी काम में आये हैं (हाल), महा०, अ०माग० और जै०महा० में **डज्झन्ति** भी देखने में आता है (गउड० ; पण्हा० ३८१ ; द्वार० ४८९, २६), महा० में **डज्झिहिसि** भविष्यत्कालवाचक मिलता है (हाल); इसी के लिए जै०महा० में **डज्झिहिइ** रूप है (आव० एर्त्से० ३२, ३५) ; जै०महा० में **डज्झए** रूप भी देखा जाता है (द्वार० ४९८, २२) ; अ०माग० में **डज्झंतु** (पण्हा० १२७) है ; महा० और अ०माग० **डज्झंत** आया है (गउड० ; रावण० ; कर्पूर० ८७, ९ ; जीवा० ५९१ ; पण्हा० ६३ ; पण्णव० ९९ ; नायाध० ; कप्प०), जै० महा० में **डज्झिन्ती** रूप है (द्वार० ४९९, २३) ; अ०माग० और जै०महा० में **डज्झमाण** है (सूय० २७० ; २८६ ; पण्हा० ५९ और २१७ ; उत्तर० ४४६ ; द्वार० ४९८, २५), **डज्झमाणी** रूप भी मिलता है (उत्तर० २८४ ; द्वार० ४९८, २८ ; ४९९, ७) ; अ०माग० में **विडज्झमाण** रूप भी आया है (आयार० १,६,४,१) ; **अडज्झ** भी है (ठाणग० १४६); महा० में **दड्ढ** पाया जाता है (हाल ; रावण०) किन्तु केवल रावणवहो ३, ४८ में **उड्ढ** रूप आया है। इस ग्रन्थ में स्वयं अन्यत्र यह रूप नहीं है और ग्रन्थ भर में सर्वत्र ही **दड्ढ** मिलता है जो अ०माग० और जै०महा० में भी पाया जाता है (चंड० ३, १६ ; सूय० २८८ और ७८३ ; पण्हा० १७६ ; पण्णव० ८४८ ; विवाह० १३ ; १६; ६१७ ; आव० एर्त्से० ९, १६ और २० ; १९, १३ और १५; द्वार० ४९९, २१ और २२ ; ५००, १६ ; ५०१, २४), *महा० में उक्त ग्रन्थों को छोड़ रावणवहो में केवल ७, ५२ में यह रूप है। इस सम्बन्ध में क्रमदीश्वर २, १७ की भी तुलना कीजिए।* महा० में मूर्धन्यीकरण का प्राबल्य इतना अधिक है कि ऊपर दिये गये उद्धरणों के साथ साथ रावणवहो १५, ५८ में भी **डहिउं** पढ़ा जाना चाहिए[1] यद्यपि जै०महा० में **दहिउं** रूप भी मिलता है (एर्त्से० २४, २५)। समासों में दत्य वर्णों का बोलबाला दिखाई देता है : **विदड्ढ** (क्रम० २,१७) ; महा० **विअड्ढ=विदग्ध** (गउड०; हाल ; अनर्घ० २०, ३) है ; जै०महा० में **निद्दड्ढ** रूप भी मिलता (एर्त्से० ३,१७) है, अ०माग० में **निद्दहेज्जा** रूप देखने में आता है (उत्तर० ३६३), जै०महा० में **निद्दड्ढ** रूप भी पाया जाता है (द्वार० ५०४, ९ और १०) ; अ०माग० में **समादहमाण** आया है (आयार० १, ८, २, १४) ; **दड्ढ** को छोड़ अन्यत्र इसका प्रमाण

अनिश्चित है, जैसे दहिञ्छद रूप (हेच० ४,२४६), अ०माग० दज्झमाण (विवाह० १३ ; १६ ; ६१७) है, इस रूप पर इसके पास ही आनेवाले रूप दड्ढ का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है, जैसे जै०महा० मे दड्ढ (एर्त्से० ३,१८) पर इससे पहले आनेवाले निड्डड्ढ (एर्त्से० ३, १७) का प्रभाव पड़ा है। शौर० में दत्य वर्ण सदा ज्यो के त्यों बने रहते हैं, हा कभी कभी उनमें द्द कार जुड जाता है (§ २१२) : दहिदुं (शकु० ७२, १२) ; दड्ढ=दग्ध (अनर्घ० १५०, ४ ; पाठ में दद्ध* रूप है ; किन्तु इसके कलकतिया सस्करण ३९,२ से भी तुलना कीजिए) है; विअड्ढ=विदग्ध (मालती० ७६, ६ ; २५०, ३ ; हास्या० २५, ८ और २२ ; ३१, १७)। दह् धातु से जो रूप निकलते हैं उनमे मूर्धन्यीकरण हो जाता है, उदाहरणार्थ, महा० और अ०माग० मे डाह (पाइय० ४६ ; हाल ; आयार० २, १०, १७), महा० और जै०महा० में डहण रूप पाया जाता है (पाइय० ६ ; गउड० ; एर्त्से०), इसके साथ साथ जै०महा० में दहण (एर्त्से० ; काल्का०) भी मिलता है। इस प्रकार का एक रूप डड्ढाडी (=वनआग; दावानल; दवमार्ग : देशी० ४,८) है जो दग्ध + वाटी (=मार्ग) (क्या यह रूप दग्धावली और दग्धावलि से व्युत्पन्न नहीं हो सकता ? — अनु०) से निकला है, इसमें § १६७ के अनुसार सधि हो गयी है। नीचे दिये गये शब्दों में द् के स्थान पर ड आ गया है : जै०महा० मे डंड = दंड (वर० २, ३५ ; चंड० ३, १६ ; हेच० १, २१७ ; क्रम० २, ४२ ; मार्क० पन्ना १८ ; आव०एर्त्से० ४७, २६ और उसके बाद) है, इसके साथ साथ सभी प्राकृत भाषाओं में दंड भी चलता है (उदाहरणार्थ, महा० मे : गउड० ; हाल ; रावण० ; अ०माग० में : आयार० १, ८, १, ७ [इसमें डंड पाठ है] ; १, ८, १, ८ ; १, ८, ३, ७ और १० ; उवास० ; ओव० ; नायाध० ; जै०महा० में : एर्त्से० ; काल्का० ; जै०शौर० में : कत्तिगे० ४०१, ३४५ और उसके बाद ; शौर० मे : वर० १२, ३१ ; मृच्छ० ४१, ६ ; १५५, ५ ; शकु० १२५, १ , १३०, ४ ; मालवि० ७१, ६ ; ७८, ७ ; प्रबोध० ४, ३ ; माग० में : मृच्छ० १५४, १० ; १५५, ५) ; डब्भ=दर्भ (हेच० १, २१७) है, इसके साथ साथ महा० और अ०माग० में दब्भ रूप भी है (गउड० ; शकु० ८५, २ ; उवास०), डम्भ और इसके साथ साथ दम्भ=दम्भ (हेच० १, २१७) है, डंभिअ=दाम्भिक (=जुआरी ; कितव : देशी० ४,८), इसी दंभ=डम्भ से सम्बन्ध रखता है ; अ०माग० और जै०महा० में डहर=दहर (=शिशु : देशी० ४, ८ ; पाइय० ५८ ; आयार० २, ११, १८ ; सूय० १०० ; ११३ ; ४७२ ; ५१५ , अंत० ५५ ; दस० ६२३, २० ; ६३३, २८ ; ३२ और ३५ ; ६३६, १४ ; ६३७, ७ ; आव० एर्त्से० ४२, १६) , डोला = दोला (सब व्याकरणकार, देशी० ४, ११ ; पाइय० २३२) है, इसके साथ महा० और शौर० में दोला (वर० १२, ३१ ; हेच० ; मार्क० , गउड० ; कर्पूर० २३, ५ ; ५४, १० ; ५५, ४ ; ५७, २ ; ५ और ७ ; मालवि० ३२, १२ , ३४, १२ ; ३९, ७ और १५ ; ४०, ५ ; कर्पूर० ५४, ५, ५८, १ ; विद्ध० ११७, १), महा० मे डोलाइअ = दोलायित (हाल १६६ की

* हिन्दी में दग्धाक्षर=दद्धच्छर इसी प्रक्रिया का फल है। —अनु०

टीका) हैं, इसके साथ साथ शौर० में **दोलाअमाण** रूप मिलता है (मृच्छ० ६८,१४); **डोल** (= आँख [यह शब्द आख के लिए मराठी में चलता है। —अनु०] : देशी० ४, ९ ; त्रिवि० १, ३, १०५), **डोलिअ** (= कृष्णसार मृग : देशी० ४,१२)[१] भी इन्हीं शब्दों से सम्बन्ध रखते हैं ; अ०माग० और जै०महा० **डोहल**=**दोहद** (हेच० १,२१७; मार्क० पन्ना १८; नायाध०; एर्त्से०), इसके साथ साथ महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में साधारणतया प्रचलित रूप **दोहळ** है (वर० २,१२; हेच० १, २१७; मार्क० पन्ना १८; हाल; रावण०; विवाग० ११६; नायाध०; कप्प०; निरया०; एर्त्से० ; मालवि० ३०, १३ ; ३४, १३ ; ३६, २ ; ४०, ६ ; ४८, १४ ; कर्पूर० २०, २ और ६ ; ६४, ९ ; ६६, १ ; रत्ना० २९७, ३२), महा० और शौर० **दोहळअ** = **दोहलक** (हाल ; कर्पूर० ६२, ९ ; विद्ध० १२१, ५ ; रत्ना० ३००, १७) है। इस सबध मे § २४४ और ४३६ की भी तुलना कीजिए। अ०माग० मे नीचे दिये गये धातुओं के द्वित्कार का आरभिक वर्ण **द** के स्थान पर **ड** हो जाता है : **आडहइ** = **आदधाति** (ओव० § ४४), **आडहन्ति** = **आदधति** (सूय० २८६)[२]। इस सबध मे § २२३ और ५०० की तुलना कीजिए। 'भय' के अर्थ में **दर** शब्द का रूप **डर** हो जाता है (हेच० १, २१७), जैसा 'डरने' या 'भय से कापने' के अर्थ मे **दरति** का **डरइ** रूप बन जाता है (हेच० ४, १९८)[३] ; इसके विपरीत 'थोड़ा','नाममात्र' और 'आधा' के अर्थ में **दर** प्राकृत में भी **दर** ही रह जाता है (महा०, जै०महा० और शौर० के लिए—हेच० १, २१७ ; २ , २१५ ; देशी० ५, ३३ ; पाइय० २१२ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; कर्पूर० ४६, १४ ; ५६, ७ ; ६६, ११ ; एर्त्से० , माल्ती ११८, ५ ; उत्तर० १२५, ४ ; चड० १६, १६ ; विद्ध० ११७, ४ ; १२६, ३)। रावणवहो ६, ५६ में भय के लिए जो **दर** रूप आया है, उसका कारण **दर** और **कन्दर** का तुक मिलाकर छद की सुदरता बढाना है। शब्द के भीतर के **द** का नीचे दिये गये शब्दों में **ड** हो गया है : **कदन** का प्राकृत रूप **कडण** और इसके साथ साथ **कअण** हो गया है (हेच० १, २१७ [मेरे पास पूना के, भडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट द्वारा सन् १९३६ ई० मे प्रकाशित और स्व० शकर पाडुरग पडित एम० ए० तथा पी० एल० वैद्य एम० ए०, डी० लिट्० द्वारा सपादित जो संस्करण इस ग्रंथ का है उसमें कडण रूप नहीं है, अपितु कअण मिलता है। —अनु०]) , महा० में **खुडिअ** और शौर० रूप **खुडिद**=***क्षुदित** = **क्षुण्ण**, महा० रूप **उक्खुडिअ** = ***उत्क्षुदित** (§ ५६८) ; अ०माग० **तुडिय** = ***तुदित** (§ २५८) ; माग० **हडक** = **हृदक** (§ १९४) हैं। **सडइ** रूप हेच० ४, २१९ के अनुसार **सद्** से बना है और वर० ८, ५१ तथा क्रम० ४, ४६ के अनुसार **शाद्** से निकला है। सभवत: इसका सबंध **शट्** से करना चाहिए जिसकी पुष्टि अ० माग० रूप **पडिसाडेत्ति** और **पडिसाडित्ता** (आयार० २, १५,१८) हैं तथा जै० महा० **पडिसडण** (काल्का० २६८, २२) है[१]।

१. गो० गे० आ० १८८०, पेज ३८७। रावणवहो पेज ३२२, नोटसंख्या ५ में एस० गौल्दस्मित्त ने अशुद्ध मत दिया है क्योंकि उसने यह विचार नहीं

किया कि प्राकृत बोलियों में क्या-क्या भिन्नता मिलती है। — २. बे० बाइ० ६, ८९ में पिशल का मत। — ३. से० बु० ई० ४५, २८१ में याकोबी ने टीकाकारों के साथ एकमत होकर जो बताया है कि यह रूप दह् (= जलना) धातु से निकला है, यह अशुद्ध है। — ४. हेच० १, २१७ और ४, १९८ पर पिशल की टीका। — ५. हेच० ४, २१९ से यह मत अधिक शुद्ध लगता है।

§ २१५—महा० ढंख और अ०माग० ढंक तथा ढिंक = पाली ढंक = संस्कृत ध्वांक्ष है एवं ढें`की = ध्वांक्षी में शब्द का पहला वर्ण ध, ढ में बदल गया है। अ०माग० निसढ और णिसढ = निषध (हेच० १, २२६ ; मार्क० पन्ना १७ ; ठाणग० ७२ ; ७५ ; १७६ ; सम० १९ ; १६१ ; १६२ ; जीवा० ५८३ ; नायाध० ६६८ ; निरया० ७९ और उसके बाद ; पण्हा० २४३ ; राय० १७७) हैं, किंतु साथ ही निसह रूप भी काम में आया है (सूय० ३१३) ; ओसढ रूप मिलता है (हेच० १, २२७ ; क्रम० २, १ ; मार्क० पन्ना १७), इसके साथ साथ महा०, अ०माग० ; जै०महा०, जै०शौर० और शौर० में ओसह रूप भी चलता है (चंड० २, ८ ; हेच० १, २२७ ; हाल ; विन्नाह० ५१६ ; उत्तर० ६०२ और ९१८ ; सूय० ७७१ ; उवास० ; ओव० ; एर्त्से० ; कत्तिगे० ४०२, ३६२ ; मालवि० २६, १५) और शौर० में ओसध रूप भी पाया जाता है जो लद्धोसध में वर्तमान है (शकु० ५६, १६) = औषध है। प्रेरणार्थक रूप आढवइ, विढवइ, आढप्पइ, आढवीअइ, विढप्पइ और विढविज्जइ[1] (§ २८६) और भूतकालसूचक धातु के रूप जैसे, महा०, अ०माग० और जै०महा० रूप आढत्त, महा० रूप समाढत्त, महा०, जै०महा० और शौर० में विढत्त तथा अप० में विढत्तउँ में शब्द के भीतर मूर्धन्यीकरण हो गया है। हेमचन्द्र २, १३८ के अनुसार आढत्त रूप जो आरब्ध[2] से निकला बताया गया है, भाषाशास्त्र की दृष्टि से असंभव है। आढिय (= इष्ट ; धनी ; आढ्य ; सावधान ; दृढ : हेच० १, १४३ ; देशी० १,७४), जै०महा० रूप आढिय (आव० एर्त्से० ४३, २५) = *आधित = आहित, द धातु से नहीं किंतु धा धातु से निकले हैं। मूर्धन्यीकरण के विषय में अ०माग० सड्ढा = श्रद्धा, सड्ढ = श्राद्ध और सड्ढि = श्राद्धिन् (§ ३३३) और अ०माग० रूप आडहइ और आडहंति की भी तुलना कीजिए (§ २२२)।

१. अपने ग्रंथ बाइत्रैगे पेज ५७ में ए० म्युलर भूल से आराधति से आढाइ रूप की व्युत्पत्ति बताता है और उवासगदसाओ के अनुवाद की नोट-संख्या ३०६ में होएर्नले उक्त प्राकृत रूप को अर्धयति अथवा आर्धयति से व्युत्पन्न करता है, यह भी अशुद्ध है। — २. ए० म्युलर-कृत बाइत्रैगे, पेज ५७ ; वेबर द्वारा संपादित हाल ग्रंथ में आढत्त शब्द देखिए : ना० गे० वि० गो० १८७४, पेज ५१२ नोट देखिए ; एस० गौल्दश्मित्त द्वारा संपादित रावणवहो में रभ् शब्द देखिए और त्सा० डे० डो० मौ० गे० २९, ४९४ में भी यही शब्द देखिए। कू० त्सा० ३८, २५३ में याकोबी द्वारा प्रतिपादित मत अशुद्ध है।

§ २१६—पल्लव और विजयबुद्धवर्मन् के दानपत्रों, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर०, पै० और चू०पै० को छोड़ अन्य सब प्राकृत भाषाओं में न, शब्दों के आरम्भिक और मध्यस्थ (भीतर आये हुए) वर्णों में ण रूप ग्रहण कर लेता है (वर० २, ४२ ; हेच० १, २२८ , क्रम० २, १०६ ; मार्क० पन्ना १८) : महा० में न=ण ; **णअण = नयन** (गउड० ; हाल , रावण०)[१] ; **णलिणी = नलिनी** ; **णासन = नाशन** (रावण०) , **णिहण = निधन** (गउड०; रावण०) ; **णिहाण=निधान**; **णिहुअण=निधुवन** (हाल) और **णूणं** (हाल), **णूण** (गउड० ; रावण०)= **नूनम्** है। यही नियम शौर०, माग०, ढक्की, आव०, दाक्षि० और अप० के लिए भी लागू है। अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में विशुद्ध न शब्दों के आरम्भ में और द्वित्व न (=न्न । —अनु०) शब्दों के मध्य में ज्यों के त्यों बने रहते हैं। क्रम० २, १०७ में शब्द के आरम्भ में मुख्यतया न लिखने की आज्ञा देता है : **णई** अथवा **नई = नदी** है। ताडपत्र में लिखी हस्तलिपियों में स्वयं अ०माग० और जै०महा० में साधारणतया ण लिखा पाया जाता है और कक्कुक शिलालेखों में सर्वत्र ही ण का प्रयोग पाया जाता है, जब कि कागज में लिखी हस्तलिपियाँ शब्द के आरम्भ में और बहुधा दन्त्य न के द्वित्व (=न्न ।—अनु०) को भी बनाये रखती हैं[२]। अव्यय **णं = नूनम्** में सदा ण लिखा जाता है, इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार होता है कि न मूल में शब्द के भीतर था और णं पादपूरणार्थ है (§ १५०)। जैन लोग इस लिपिपद्धति को अन्य प्राकृत बोलियों के काम में भी लाते हैं जिससे वे कभी कभी भूल से महा० में भी काम में लाते हैं, उदाहरणार्थ गउडवहो में हस्तलिखित प्रतियों की नकल पर प्रकाशकों ने यही रूप ज्यों का त्यों रहने दिया है। अशुद्ध पाठों के आधार पर ही हेमचन्द्र ने १, १२८ में बताया है कि अ०माग० में भी शब्द के मध्य में आया हुआ विशुद्ध न कभी कभी वैसा ही बना रह गया है, जैसा **आरनाल**, **अनिल** और **अनल** में। शिलालेखों में शौर० रूप **नोमालिए = नवमालिके** (ललित० ५६०, ९ और १७ ; इसमें २१ में उक्त रूप के साथ साथ **णोमालिए** रूप भी पाया जाता है) और अ०माग० **निज्झर = निर्झर** (५६६, ९) है, जब कि ५६१, २ में **निरंतर** रूप आया है और ५६७, १ में **निअ** मिलता है, वास्तव में ये न वाले रूप छापे की भूलें हैं[१]। पल्लवदानपत्रों में केवल एक **मदेन** रूप को छोड़ कर (६, ४०) न का विभक्ति के रूप में सर्वत्र मूर्धन्यीकरण हो गया है : पल्लवाण मिलता है (५, २), **वत्थवाण=वास्तव्यानाम्** (६, ८), **बम्हणाणं = ब्राह्मणानाम्** (६, ८ ; २७ ; ३० और ३८), **कातूणं=*कृत्वानम्** (६, १० और २९), **नातूणं=ज्ञात्वानम्** (६,२९) है, **लिखितेण** (७,५१) भी है, इसके अतिरिक्त शब्द के भीतर का विशुद्ध न आशिक रूप में बना रहता है, जैसे **सेनापति** (५, ३), **वधनिके=*वर्धनिकान्** (६, ९), **अनेक** (६, १०), **-प्पदायिनो = प्रदायिनः** (६, ११), **सातादनि** (६, २७), **विनेसि** (६, ३१), आशिक रूप में न का ण हो जाता है जैसे, **मणुसाण = मनुष्याणाम्** (५, ७), **दाणि = इदानीम्** (५, ७), **अप्पणो*** =

* यह अप्पण हिंदी अपना का आदि प्राकृत रूप है। इसका रूप आपणो कुमाउनी में वर्तमान है। —अनु०

आत्मानः (६, ८), सासणस्स = शासनस्य (६, १०), निवतणं = निवर्तनम् (६, ३८), अणु = अनु (७, ४५) है। इसके विपरीत, शब्द के आरम्भ में और शब्द के भीतर का द्वित्व न सदा बना रहता है : नेयिके=नैयिकान् (५, ६), कुमारनंदि (६, १७), नंदिजस=नंदिजस्य (६, २१), नागनंदिस=नागनन्दिनः (६, २५), निवतणं=निवर्तनम् (६, ३८), संविनयिक (६, ३२), निगह=निग्रह (७, ४१), नराधमो (७, ४७), अने = अन्यान् (५, ७ ; ७, ४३) हैं। इस प्रकार शिलालेख में ज्ञ से व्युत्पन्न तथा सरलीकृत गौण अनुनासिक में भी भेद किया गया है : आणतं = आज्ञप्तम् (७,४९) है, क्योंकि यहां ज्ञ शब्द के भीतर माना गया है, इसके साथ साथ नातूणं = *ज्ञात्वानम् आया है (६, ३९), तात्पर्य यह है कि शिलालेख अंतिम दो बातों में साधारणतः बाद की जैन हस्तलिखित प्रतियों की लिपिपद्धति से मिलते जुलते हैं[१]। यही परिपाटी विजयबुद्धवर्मन के दानपत्रों में देखी जाती है : पल्लवाणं (१०१, २), नारायणस्स (१०१, ८), वद्धनीयं (१०१, ८), कातूण (१०१, ९), नातूण (१०१, १० ; एपिग्राफिका इण्डिका १, २ नोट संख्या २ की भी तुलना कीजिए) आये हैं। पै० और चू०पै० में सर्वत्र न ही रह जाता है। पै० में : धन और मतन = धन और मदन, सतन = सदन, वतनक = वदनक, चिन्तयमानी=चिन्तयमाना, गन्तून=*गन्त्वान, नत्थून=नष्ट्वान आदि आदि हैं, इनके अतिरिक्त सिनान = स्नान, सिनात = स्नात, सुनुसा = स्नुषा हैं ; चू०पै० में : मतन = मदन, तनु तनु ही रह गया है, नकर = नगर है आदि आदि (वर० ४, ७ और १३ ; हेच० ४, ३०४ ; ३०७ ; ३१० ; ३१२ ; ३१३ ; ३१४ ; ३२५ ; ३२८ ; रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ की टीका में नमिसाधु का मत।

१. § १८६ की नोट संख्या १ की तुलना कीजिए। —२. लीयमान द्वारा संपादित आवश्यक एर्सेलुंगन, पेज ६, नोटसंख्या ४। हस्तलिपियों के लिपिभेद के विषय में वेबर द्वारा संपादित भगवती १, ४०२ और उसके बाद देखिए ; ए. म्युलर कृत बाइत्रैगे, पेज २९ और उसके बाद ; त्सा. डे. डौ. मौ. गे. ३४, १८१ में याकोबी का कथन जिसके अनुसार ठीक सबसे पुरानी हस्तलिपियों में ण कम नहीं पाया जाता ; स्टाइनटाल कृत स्पेसिमेन का पेज ३। —३. ना. गे. वि. गो. १८९४, ४८० में स्टेन कोनो का लेख। —४. एपिग्राफिका इण्डिका १, ३ में ब्यूलर ने अशुद्ध विचार प्रकट किये हैं।

§ २२७—संस्कृत के मूर्धन्य वर्ण बहुत ही कम और केवल कुछ बोलियों में दंत्य वर्णों में परिणत होते हैं। पै० में ट्ठ का तु होता है (हेच० ४, ३११), इसमें कुतुम्बक और कुटुम्बक दो रूप पाये जाते हैं। पै० और चू०पै० में ण का न बन जाता है। पै० में गुनगनयुत्त = गुणगणयुक्त ; गुनेन = गुणेन ; तलुनी = तरुणी; विसान = विषाण और गहन = ग्रहण (वर० १०, ५ ; चंड० ३, ३८ ; हेच० ४, ३०६ ; ३०९ और ३१३, रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका) है, चू०पै० में : मक्कन = मार्गण, पनय = प्रणय, नपातप्पनेसुं =

नखदर्पणेषु और **पातुक्खेपेन = पादोत्क्षेपेण** (हेच० ४, ३२५ और ३२६) है। वाग्भटालंकार २, १२ पर सिंहदेवगणिन् की टीका में बताया गया है कि माग० में भी ण का न हो जाता है : **तलुन = तरुण** है। सिंहदेवगणिन् ने माग० को पै० के साथ बदल दिया है। पै० और चू०पै० को छोड़ अन्य प्राकृत भाषाओं की हस्तलिखित प्रतियों के ण्ण के स्थान पर अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० हस्तलिखित प्रतियां मानो न्न के स्थान पर (§ २२४) बहुधा न्न ही लिखती हैं : **निसन्न = निषण्ण, पडिपुन्न = प्रतिपूर्ण,** और **वन्न = वर्ण** ; गौण ण्ण में भी यह परिवर्तन होता है जैसे, **अन्न** = महा० और शौर० **अण्ण** = संस्कृत **अन्य** आदि-आदि।

§ २२८—यदि व्याकरणकार ठीक बताते हों, और उत्तर भारत की हस्तलिपियां उनके साथ बिल्कुल मिलती जुलती हैं, तो मूर्धन्य वर्ण बहुत विस्तार के साथ दंत्य वर्ण में परिवर्तित हो जाने चाहिए क्योंकि उनके बताये हुए नियम के अनुसार **ट, ड** और **ण** का परिवर्तन **ल** में हो जाता है (वर० २, २२ और २३ ; चंड० ३, २१ ; हेच० १, १९७ ; १९८ ; २०२ ; २०३ , क्रम० २, १२ और १३ ; मार्क० पन्ना १६)। किंतु **ल** के स्थान पर सर्वत्र, जैसा ऐसे अवसरों पर पाली[1] में भी होता है, **ळ** लिखा जाता है। उत्तरी भारत की हस्तलिपियां इस **ळ** और अनुनासिक (§ १७९) को इतना कम जानती हैं कि वे ऐसे स्थलों में भी जैसे हेमचन्द्र ४,३०८, जिसमें बताया गया है कि पै० में **ल** के स्थान पर **ळ** हो जाता है, वहां भी इस **ळ** का प्रयोग नहीं करते[2]। त्रिविक्रम की ग्रंथ हस्तलिपियां ऐसे स्थलों पर ३, २, ४८ (हस्तलिपि बी ३९) सर्वत्र **ळ** लिखती हैं परंतु हेमचन्द्र १, १९७ और २०२ में, जो त्रिविक्रम से मिलते-जुलते सूत्र हैं, उनके उदाहरणों में भी कुछ अपवाद छोड़कर, जो लेखक की भूलें हैं, **ल** लिखा गया है। इसका कारण है लेखकों का एक नियम का पालन न करना और इस विषय पर निश्चित नीति का अनुसरण न करना[3]। उक्त उदाहरणों में अपवाद छोड़ कर सर्वत्र **ळ** लिखा गया है। ग्रन्थ प्रदर्शनी के संस्करण में सर्वत्र **ल** का ही प्रयोग है। त्रिविक्रम के अपने ही सूत्र १, ३, २४ की यही दशा है : उसमें आया है **टोर् वडिडादो लः**। हस्तलिखित प्रतियों का पाठ और छपे संस्करणों में मेल नहीं है, भिन्नता पायी जाती है, उदाहरणार्थ, हेमचन्द्र १, २०२ में है, **कीलइ = क्रीडति** किंतु त्रिविक्रम १, ३, ३० में हस्तलिखित प्रति ए में **कीलइ** है और बी में **कीळइ**। शकुन्तला १५५, १ में (बंगला और नागरी हस्तलिखित प्रतियों में) है, **कीलणअं = क्रीडनकम्** और १५५, १२ में आया है, **कीलिस्सं** अथवा अशुद्ध रूप **कीलिस्सं = क्रीडिष्यामि**। दक्षिणी भारत की हस्तलिपियों में से ग्रंथहस्तलिपि एल[4] में **कीळणिज्जं = क्रीडनीयम्** है, किंतु साथ ही इसमें **कीलिस्सं** रूप भी मिलता है। तेलगू हस्तलिपि एफ० में **किलनिज्जं** और **कीलिस्सं** रूप पाये जाते हैं। पूना के संस्करण में **कीळणं** रूप आया है किंतु साथ ही **कीलिस्सं** भी है। मलयालम हस्तलिपि बी में **किलणीयं** रूप देखने में आता है, किंतु इसके साथ ही **कीलिस्सं** रूप है। मद्रास में १८७४ में छपे तेलगू संस्करण के पेज ३०४ में **कीळणीअअं** रूप छपा है और पेज ३०५ में **कीळइस्सं** रूप है। विक्रमोर्वशी ४१, ७, ५२,९ के **कीडिस्सं, कीलमाणा**

के स्थान पर दक्षिण भारतीय सस्करण के ६४३, १, ६५०, १७ में **कौळिस्सं, कीळमाणा** रूप आये हैं; और ३१, १७ के **कीलापव्वदपेरन्ते = क्रीडापर्वतपर्यन्ते** के स्थान पर ६३६, १७ में **कीळापव्वत्ते = क्रीडापर्वते** मिलता है। लदन के इडियर औफिस की तेलगू हस्तलिपि में मालविकाग्निमित्र ६०, ११ में **कीलिस्सं** रूप मिलता है। मालतीमाधव १४२, १ के **कीलणादो** के स्थान पर तेलगू सस्करण १२३, ८ में **कीळणादो** रूप छपा है आदि आदि। अन्य शब्दों की भी यही दशा है। दक्षिण भारतीय पाठों में अधिकाश मे **ळ** है जिसे वे उन शब्दों में काम में लाते हे जहा पर सस्कृत में **ण** आता है अर्थात् वे उदाहरणार्थ **तरळ, मराळ, सरळ** आदि रूप लिखते हैं। भट्टिप्रोलु शिलालेख एक ए[५] में **फाळिग** रूप आया है जो = **स्फाटिक** है, जब कि पल्लवदानपत्र में **पिला=पीडा** (६, ४०) है, इस स्थान पर **पीळा** अपेक्षित है[६]। पाली के समान ही प्राकृत में भी **ट** और **ड** के लिए **ळ** का व्यवहार किया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि यहा वर्ण-वर्ग में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जब हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि २५८ (बोएटलिंक द्वारा सपादित सस्करण का पेज ३२२) की टीका, सरस्वतीकठाभरण पेज ९८, वाग्भट, अलकारतिलक पेज १४, साहित्यदर्पण २६१, २१ में बताया गया है कि **ड** और **ल** एक समान हैं, इनमें भेद नहीं है और कालिदास ने रघुवश ९, ३६ में **भुजलताम्** और **जडताम्** का तुक या मेल ठीक समझा है (इस संबध मे मल्लिनाथ **डलयोर् अभेदः** कहता है), तो इसका *स्पष्टीकरण इसी तथ्य द्वारा होता है कि उत्तरभारत की पूर्वमध्यकालीन सस्कृत की लिपि* और उच्चारण से **ळ** लुप्त हो चुका था। इससे नवीन भारतीय भाषाओं के विरुद्ध कुछ प्रमाणित नहीं होता केवल प्राकृत[७] के रूप पर प्रकाश पडता है। इस सबध में § २३८ और २४० की तुलना कीजिए।

१. ए० कून कृत बाइत्रैगे पेज ३६ और उसके बाद ए० म्युलर कृत सिम्पलिफाइड ग्रैमर पेज २७। — २. इस नियम पर सिंहराजगणिन् की टीका में उसकी आलोचनात्मक टिप्पणिया। — ३. इस प्रकार, उदाहरणार्थ, १, ३, ३० में ए हस्तलिपि में **चलहामुहं** है, बी में **चळहामुहं** रूप है; ए में **गलुलो** है; बी में **गरुळो = गरुड**; ए में **तलार्अ.** बी में **तळार्अ = तडाकं** है; १, ३, २४ में ए में **चलिसं** तथा बी में **चळिसं = वडिशम्** है आदि आदि। — ४. हस्तलिपियों की पहचान के लिए उनके नाम विभाग के विषय में ना० गे० वि० गो० १८७३, १९० और उसके बाद का पेज देखिए। — ५. एपिग्राफिका इंडिका २, ३२४। — ६. शिलालेखों में **ळ** के प्रयोग के सबंध में एपिग्राफिका इंडिका २, ३६८ मे ब्यूलर का लेख; फ्लीट CII (?) ३,४,२६९। — ७. गो० गे० आ० १८७३ पेज मे पिशल का मत; हेमचन्द्र १, २०२ और ४, ३२६ पर पिशल की टीका।

§ २२९—ढक्की और माग० को छोड अन्य प्राकृत भाषाओं में **श** और **ष**, **स** में परिणत हो जाते हैं, इसका परिणाम यह हुआ है कि अधिकाश प्राकृत भाषाओं में **श, ष** और **स** में से केवल **स** ध्वनि रह गयी है (वर० २, ३; हेच० १, २६०;

क्रम० २, १०३ ; मार्क० पन्ना १८)। पल्लवदानपत्रों में : सिवखंधवमो = शिवस्कन्दवर्मा (५, २), विसये = विषये (५, ३), पेसण = प्रेषण (५, ६), यसो = यशः (६, ९), सासणस्स = शासनस्य (६, १०), सत = शत (६, ११), कोसिक = कौशिक (६, १६), साक = शाक (६, ३४), विसय = विषय (६,३५) हैं, इत्यादि। महा० में असेस = अशेष (गउड० ; हाल), आसीविस = आशीविष (रावण०), केस = केश (गउड०; हाल; रावण०), घोस = घोष (गउड० ; हाल), पसु = पशु (गउड०), मसी = मषी (हाल ; रावण०), महिस = महिष (गउड० ; हाल ; रावण०), रोस = रोष (गउड० ; हाल ; रावण०), सिसिर = शिशिर (गउड०; हाल; रावण०), सिसु=शिशु (गउड०)। शौर० में : किदविसेसआ...सोहदि = कृतविशेषका...शोभते (मृच्छ० २,२१), परिसीलिदासेसदेसंतरव्ववहारो=परिशीलिताशेषदेशांतरव्यवहारः (ललित० ५६०, १९), ससिसेहरवल्लहा = शशिशेखरवल्लभा (ललित० ५६१, ९) और सुस्सूसिदपुरुव्वो सुस्सूसिदव्वो = सुश्रूषितपूर्वः शुश्रूषितव्यः (मृच्छ० ३९, २३) हैं। यही नियम अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर०, पै०, चू०पै०, आ०, दाक्षि० और अप० में भी लागू है।

§ २२०—ढक्की में ष का स तो हो गया है किन्तु श ज्यों का त्यों बना रह गया है : एस, पसु और एसो = एष (मृच्छ० ३०, १० ; ३१, ८ ; ३४, १७ ; ३५; १५ ; ३६, २३) ; पुलिसो = पुरुषः (मृच्छ० ३४,१२); मूसिदो = मूषितः (मृच्छ० ३८, १८ ; ३९, १) ; समविसमं और सकलुसअं [यहां यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए।]= समविषमम् और सकलुषकम् (इसी ग्रंथ में अइकसणं = अतिकृष्णम् है; मृच्छ० ३०,८ और ९) हैं; किंतु आदंशआमि [यहां यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए।]= आदर्शयामि (मृच्छ० ३४, २५) ; जशं [यहां यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]= यशः (मृच्छ० ३०, ९) ; दशसुवण्ण = दशसुवर्णं (मृच्छ० २९, १५ ; ३०, १ ; ३१, ४ आदि-आदि) ; शलणं = शरणम् (मृच्छ० ३०, ४) ; शुण्णु = शून्यः (मृच्छ० ३०, ११) और शेल = शैल (मृच्छ० ३०, १७) हैं। इस संबंध में § २५ भी देखिए।

§ २२१—जब ये असंयुक्त रहते हों तो माग० में ष-और स-कार शब्द के आरंभ या मध्य में श का रूप धारण कर लेते हैं ; और संस्कृत का श ज्यों का त्यों बना रहता है (वर० ११, ३ ; चंड० ३, ३९ ; हेच० ४, २८८ ; क्रम० ५, ८६ ; मार्क० पन्ना ७४ ; रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका)। यह नियम उस अवस्था में भी लागू होता है जब उक्त ध्वनियां य, र, ल और व के साथ संयुक्त होती हैं अथवा व्यंजन-समूह अंश स्वर द्वारा अलग-अलग हो गया हो या ऐसा हो गया हो कि प्राकृत के ध्वनि नियमों के अनुसार शब्द के संयुक्त अक्षर सरल बन गये हों : ईदिशादश अकय्यदश = ईदृशस्याकार्यस्य (शकु० ११३,५); अवशलोवशप्पणीअ = अवसरोपसर्पणीय (शकु० ११५, १०), केशेशु = केशेषु (मृच्छ० १२२,२२ ; वेणी० ३५,१९) ; दुश्शाशणश्श = दुःशासन— (मृच्छ०

१२, १५ ; वेणी० ३५, १२); पुलिश = पुरुष (§ १२४) ; भूशणशद्द = भूषणशब्द (मृच्छ० १४, २३) ; महिशमहाशुल = महिषमहासुर (चंडकौ० ६८, १६) ; माशुशमंश = मानुषमांस (वेणी० ३३, ३) ; माशलाशि = माषराशि (मृच्छ० १४, १०) ; लाअशि = राजर्षि (वेणी० ३४,१) ; लोशग्गि = रोषाग्नि (मृच्छ० १२३,२); लोशामलिपलव्वश = रोषामर्षपरवश (मल्लिका० १४३, ११) ; वलिशशद = वर्षशत (वेणी० ३३,४) ; विशकण्णआ = विषकन्या (मुद्रा० २१३, ३ ; १९४, ६) ; विशेश = विशेष (मृच्छ० ३८, १३) ; विश्शावशुदश = *विश्वावसुष्य = विश्वावसोः (मृच्छ० ११, ९); शलिल = सलिल (मृच्छ० १३६, ११ ; १५८, १३) ; शलील = शरीर (मृच्छ० १२४, २१ ; १२७, ५ ; १४०, १० ; १५४, १० ; वेणी० ३४, १) ; सहस्श = सहस्र (§ ४४८) ; शमश्शशदु = समाश्वसितु (मृच्छ० १३०, १७) ; शमाशाशीअदि = समाश्वास्यते (वेणी० ३४, १३) ; शिलशि = शिरसि (मृच्छ० ११६, १५) ; शिलिशोमेशलएव = श्रीसोमेश्वरदेव (ललित० ५६६, ६) ; शिविलणिवेश = शिविरनिवेश (ललित० ५६५, ६) ; शोणिदवशाशमुद्दुश्शंचल = शोणितवशासमुद्रदुःसंचर (वेणी० ३४, ५) और शोशावेदुम् = शोषयितुम् (मृच्छ० १४०, ९) हैं।

२. सरल व्यंजनों के सम्बन्ध में

§ २२२—किरात शब्द के क का च हो जाता है : महा० में चिलाअ रूप है (वर० २, ३३ [भाम० ने इस स्थान पर और २, ३० में चिलाद दिया है] ; हेच० १, १८३ ; २५४ ; क्रम० २, ३५ और ४१ ; मार्क० पन्ना १७ [चिलाद] ; रावण०), अ०माग० में चिलाय रूप मिलता है (पण्हा० ४२ ; पण्णव० ५८), स्त्रीलिंग में चिलाई रूप देखा जाता है (ओव०) ; चिलाइया भी काम में लाया जाता है (विवाह० ७९१ ; राय० २८८ ; नायाध० ; ओव०) ; इस संबंध में ऋषभपंचाशिका ३८ की टीका में आये हुए चिलातीपुत्र की भी तुलना कीजिए। 'शिव' के अर्थ में हेमचन्द्र और मार्कण्डेय के अनुसार क का च नहीं होता, क ही बना रहता है (इस विषय पर हेमचन्द्र १, १३५ में दिया गया है : किराते चः ॥१८३॥ किराते कस्य चो भवति ॥ चिलाओ ॥ पुलिन्द एवायं विधिः। कामरूपिणि तु नेष्यते। नमिमो हर-किरायं—अनु०)। इस प्रकार महा० में किराअ का व्यवहार है (गउड० ३५), मार्क० के अनुसार जाति के नाम में भी क बना रहता है : किराद जाति के नाम के लिए आया है (बाल० १६८, २ ; कर्पूर० ९०, ८)। पाइयलच्छी २७३ में किराय रूप दिया गया है। महा० ओवास में क के स्थान में व बैठ गया है। यह ओवास = अवकाश (पाइय० २६१ ; गउड०; हाल , रावण०), इसके साथ साथ ओआस रूप भी चलता है (हेच० १, १७२ ; गउड० , हाल ; रावण०) ; महा० और शौर० मे अवआस रूप पाया जाता है (हेच० १, १७२ ; गउड० ; मृच्छ० ४४, १९ ; विक्रमो० ४१, ८ ; प्रबोध० ४६, २)। जै०महा० में

अवगास आया है (एत्सें०), अ०माग० में अवगासिय रूप देखने में आता है। यह = *अवकाशिक (उवास०); ओवासइ = अवकाशते (वर० ८, ३५, हेच० ४, १७९); महा० अन्तोवास=अन्तरवकाश (गउड० ८४८; § ३४३)[1]। इसके अतिरिक्त अ०माग० में जूव=यूक (जीवा० ३५६), इसके साथ-साथ जूआ और ऊआ रूप भी चलते हैं, अ०माग० में जूया रूप भी पाया जाता है (§ ३३५); महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर० और अप० में थोव=स्तोक (हेच० २, १२५; गउड०; आयार० १, २, ४, ४; सूय० ९५०; ठाणंग० २३८; जीवा० ७९८; विवाह० २६ और ४२३; उत्तर० ३११ और ९५९; दस० ६२१, १३; जीयक० ९२; ओव०; कप्प०; आव०एर्त्से० ४१, ९; ४३, ३ और ५; द्वार० ५०४, ८; एर्त्से०; कत्तिगे० ४००, ३३५ [पाठ में थूव रूप आया है]; हेच० ४, ३७६, १), अ०माग० और जै०महा० में थोवय=स्तोकक (नायाध०; एर्त्से०), *अ०माग० में थोवयरं (जीयक० ९२), जै०महा० में थोवाथोवं (आव० एर्त्से० ४२, ७)*, इनके साथ साथ महा०, शौर० और माग० में थोअ रूप भी देखने में आता है (हेच० २, ४५ और १२५; गउड०; हाल; रावण०; कर्पूर० १०, ६; ३७, ५; शौर० में : कर्पूर० ४५, ९; माग० में : मृच्छ० १५७, ६), थोक्क रूप भी मिलता है (§ ९०)[2]; अ०माग० दिवड्ढ=द्विकार्ध (§ ४५०) है। § १९९ के अनुसार प से व का निकलना बताया गया है, इसका प्रयोजन यह हुआ कि ओप्प और कव्व की अदलाबदली होती है। इस सम्बन्ध में § २३१, २६६ और १८३ की तुलना कीजिए। पवट्ठ=तथाकथित प्रकोष्ठ के विषय में § १२९ देखिए; चंदिमा = तथाकथित चंद्रिका के विषय में § १०३ देखिए; अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर०, माग० और अप० में संस्कृत क के स्थान पर जो ग आता है, उसके विषय में § १९२ और २०२ देखिए, क के स्थान पर जो ख और ह आते हैं उसके लिए § २०६ देखिए।

१. आस्कोली कृत क्रिटिशे स्टुडिएन पेज २१६ नोटसंख्या ३५ अशुद्ध है। —२. अन्य अवसरों की भाँति इस अवसर पर भी गो० गे० आ० १८८१, पेज १३२२ में पिशल के मत के बल पर यह बताना कि इस उदाहरण में हलक से उच्चारित किये जानेवाले (जैसे, अरबी क़ाफ़, ग़ैन आदि—अनु०) क़ से व निकला है, कठिन मालूम पड़ता है। कू० त्सा० २६, ११२, नोटसंख्या १ में एस० गौल्दश्मित्त भूल से यह मत देता है कि यह शब्द में छूट या विच्छेद की पूर्ति के लिए डाल दिया गया है।

§ २२३—ओवाहइ में ग, व के रूप में प्रकट होता है, इसके साथ-साथ इसका एक रूप ओगाहइ=अवगाहते मिलता है (हेच० ४, २०५)[1]; अ०माग० में जुवल=युगल (विवाह० ९६२), जुवलय=युगलक (विवाह० ८२), जुवलिय=युगलित (विवाह० ४१; ओव०) हैं; § २८६ में जुप्पइ रूप की भी इस संबंध में तुलना कीजिए, अ०माग० में तळाव=तडाग (विवाह ६१०; उवास०), इसके साथ साथ अ०माग० और जै०महा० में तळाग रूप भी चलता है (आयार० २, ३, ३, २; पण्हा० ३१; २४६; ४३७ और ५२०; पण्णव०

८४ ; उत्तर० ८८४ ; ओव० ; आव० एर्त्से० ११, ४४ और ४५ ; एर्त्से०), अ० माग० में **तळाय** रूप भी पाया जाता है (ओव०), **तडाग** भी पाया जाता है (आयार० २, १, २, ३) ; महा० में **तळाअ** रूप है (वर० २, २३ ; चंड० ३, २१ पेज ५० ; हेच० १, २०२ ; क्रम० २, १३ ; मार्क० पन्ना १६ ; गउड० ; हाल); शौर० में **तडाग** आया है (मृच्छ० ३७, २३ ; १५१, १५) ; महा० **दूहव=दुर्भग** (हेच० १, ११५ ; १९२ ; कर्पूर० ८६, २) और इस रूप की नकल पर उ स्वर को दीर्घ करके **सूहव=सुभग** रूप भी चलता है (हेच० १, ११३ और १९२) । अ० माग० और जै०महा० रूप **अगड=अवट** में व के स्थान पर ग आ बैठा है (आयार० २, १, २, ३ ; ओव० ; एर्त्से०), इसके साथ साथ **अयड** रूप भी पाया जाता है (देशी० १, १८ ; पाइय० १३०) और इसका साधारण प्रचलित रूप **अवड** चलता ही है ; अ०माग० **णिण्हग=*नैन्हव**[२] (=नास्तिक : ओव० § १२२), इसके साथ साथ अ० माग० में **निण्हवे**[३]**ज्ज** भी देखने में आता है (आयार० १, ५, ३, १), **निण्हवे** भी है (दस० ६३१, ३१), **अनिण्हवमाण** भी चलता है (नायाध० § ८३); इस सबंध में § ४७३ भी देखिए ; अ०माग० **अण्हग=आस्रव** (पण्हा० ३२४), इसके साथ-साथ **अण्हय** रूप भी काम में आता है (आयार० २, ४, १, ६ ; पण्हा० ७ ; ओव०)[१], **पण्हय=प्रस्रव** (विवाह० ७९४) है ; अ० माग० में **महाणुभाग=महानुभाव** (भग०; ओव०)[४] है । § २५४ मे अ०माग० रूप **परियाग** और **नियाग** की भी तुलना कीजिए ।—महा० में **पुण्णाम=पुंनाग** (हेच० १, १९० ; रावण०) इसके साथ-साथ अ०माग० मे **पुन्नाग** का भी प्रचलन है (आयार० २, १०, २१ ; नायाध० ६९९ [यहा **पुण्णाग** पाठ आया है]), शौर० में **पुण्णाअ** रूप है (मल्लिका० ११६, ९) और **भामिणी=भागिनी** (हेच० १, १९०), इसके साथ-साथ महा० और शौर० में **मन्दभाइणी** रूप भी मिलता है (हाल ; मृच्छ० २२,२५ ; १२०,६ ; १७०,३ और २५ ; विक्रमो० ८४, २१ तथा अन्य अनेक स्थलों पर), ये उस रूप-विकास की गति की सूचना देते हैं जो **पुण्णाग**, ***पुण्णाव** और **पुण्णाम** के क्रम से चला (§ २६१)[५] । संस्कृत में जो **पुंनामन्** शब्द आया है वह प्राकृत से लिया गया है ।— यह माना जाता है कि **छाल=छाग** और **छाली=छागी** (हेच० १, १९१) ; ये रूप § १६५ के अनुसार **छागल** और **छागली** से व्युत्पन्न हुए हैं । माग० रूप **छेलिआ** के स्थान पर (लटक० १२, १४) **छालिआ** पढा जाना चाहिए । शौर० में **छागला** रूप है (मृच्छ० १७, १५) । ग के स्थान पर घ आने के सम्बन्ध में § २०९ देखिए । § २३० की तुलना कीजिए ।

१. आस्कोली कृत क्रिटिशे स्टुडिएन पेज १२६ की नोटसंख्या ३५ अशुद्ध है।—२. ऐसा नहीं, यह = निह्नव (लौयमान द्वारा संपादित औपपातिक सूत्र में यह शब्द देखिए), वहां यह शब्द रखा जाना चाहिए । § ८४ के अनुसार ऐ के स्थान पर इ आ गया है । —३. लौयमान के औपपातिक सूत्र में अशुद्ध है । —४. लौयमान के औपपातिक सूत्र में यह रूप शुद्ध है, इस पुस्तक में अणुभाग शब्द देखिए । भगवती २,२९० में वेबर का ध्यान संस्कृत अनुभाग

की ओर गया है। मैं यह नहीं समझ पाया कि लौयमान के औपपातिक सूत्र में पूसमाणग=पुष्यमानव की समानता क्यों बतायी गयी है। ओववाइयसुत्त § ५५ में पूसमाणग से पहले जो वर्धमाणग रूप आया है उससे यह संभव-सा लगता है कि यह शब्द पुष्यमाण+क होगा। लौयमान के मत के अनुसार इसमें घ की विच्युति किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती। —५ एस० गौल्द-श्मित्त कृत प्राकृतिका के पेज १५ की तुलना कीजिए; रावणवहो की शब्द-सूची, पेज १७२ अ, नोटसंख्या १, किन्तु इसमें भूल से यह बताया गया है कि घ का शब्द में आगमन बीच में छूट का स्थान भरने के लिए हुआ है। इस संबंध में § २३० की नोटसंख्या २ की तुलना कीजिए।

§ २२४—अ०माग० रूप आउण्टन हेमचन्द्र १, १७७ के अनुसार= आकुञ्चन नहीं माना जाना चाहिए परन्तु यह=*आकुण्टन है, जो धातुपाठ २८,-७३ के कुट कौटिल्ये धातु से बना है और जो धातुपाठ ९, ३७ के कुटि वैकल्ये के समान है। तात्पर्य यह कि उक्त रूप वर्तमानवाचक आकुण्ट से बनाया गया है जो अ०माग० रूप आउण्टिय और आउण्टेज्जा में पाया जाता है (विवाह० ११५१ और ११५२)[1]। इसी धातुमें संस्कृत शब्द कुटिल, प्राकृत रूप कुडिल्ल और कुडिल्लअ (=कुटिलः देशी० २,४०; पाइय० १५५) है, कोडिल्ल (=पिशुन: देशी० २, ४०) और कुण्टी (=पोटली : देशी० २, ३४) निकले हैं।—हेमचन्द्र १, १९३ के अनुसार खसिअ=खचित है, किन्तु अधिक सम्भव है कि यह रूप हेमचन्द्र १, १८१ के अनुसार=कसित हो; इस सम्बन्ध में § २०६ की तुलना कीजिए।— अ०माग० में पिसल्ल (पण्हा० ७९), सपिसल्लग (पण्हा० ५२५) जिन रूपों को हेमचन्द्र १, १९३ में=पिशाच मानता है, ये § १५०, १६५ और १९४ के अनुसार=पिशाचालय के होने चाहिए। नियम के अनुसार पिशाच महा० और शौर० रूप पिसाअ या का मूल रूप होना चाहिए (हाल; प्रबोध० ४६, २; मुद्रा० १८६, ४ [यहां पिशाच रूप मिलता है]; १९१, ५ [यहां भी पिसाच आया है]), अ०माग० और जै०महा० रूप पिसाय (ठाणंग० ९०; १३८; २२९; पण्हा० १७२; २३०; ३१२; उवास०; ओव०; एत्सें०) है।

1. आउंट्टावेमि (?; नायाध० ६०३, टीका में आउंटावेमि रूप है), आउंटेइ और आउटेहि (?; नायाध० ६०५) अशुद्ध रूप हैं, इनके स्थान पर क्रमशः आउट्टावेमि, आउट्टेइ और आउट्टेन्ति रूप आने चाहिए, जैसा कि आउट्टइ रूप (ठाणंग० १५२; सूय० ४०३), आउट्टामो (आयार० २, १, ३, २) और आउटित्तए (कप्प० एस० § ५९) में आये हैं, इसके दूसरे इसी प्रकार के रूप विउट्टामि (विवाह० ११४), विउट्टण (सूय० ४७९) मिलते हैं। ये रूप वृत् धातु से सम्बन्ध रखते हैं।

§ २२५—शब्द के आरम्भ में छ अपरिवर्तित बना रहता है। शब्द के मध्य में यह संस्कृत के समान ही प्राकृत में भी च्छ रूप ग्रहण कर लेता है। अनुनासिक स्वरों और अनुनासिक के बाद यह च्छ रूप में ज्यों का त्यों बना रहता है, भले ही यह मौलिक हो

अथवा गौण। इस रीति से महा० छल (गउड०; हाल); छवि (गउड०; रावण०), छाआ=छाया (गउड०; हाल; रावण०); छेअ=छेद (गउड०; हाल; रावण०), इच्छइ=इच्छति (हाल; रावण०); उच्छंग=उत्संग (गउड०; हाल; रावण०), गच्छइ=गच्छति (हाल); पुच्छइ=पृच्छति (रावण०); मुच्छा=मूर्छा (रावण०); पिंछ=पिच्छ, पुंछ=पुच्छ (§ ७४) और पुञ्छइ=प्रोञ्छति (हेच० ४, १०५) हैं। माग० को छोड़ अन्य प्राकृत भाषाओं में भी यही नियम लागू होता है: अ०माग० में मिलक्खु और इसके साथ साथ मिलिच्छ रूप पाया जाता है, अ०माग०, जै०महा०, शौर० और अप० में मेच्छ और अ०माग० रूप मिच्छ=म्लेच्छ (§ ८४; १०५ और १३६) है, इन सब की व्युत्पत्ति इन सब के मूल रूप *म्लस्क' से स्पष्ट हो जाती है। माग० में मौलिक और गौण च्छ का श्च रूप हो जाता है (हेच० ४, २९५; रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका): इश्चीअदि=*इच्छ्यते=इष्यते (शकु० १०८, ६); गश्च=गच्छ (हेच०; ललित० ५६६, १८; शकु० ११५, ४), गश्चम्ह=गच्छाम (शकु० ११८, ७), पुश्चन्दे=पृच्छन् (ललित० ५६५,२०) हैं, मश्च रूप साधारण प्राकृत शब्द मच्छ से निकला है=मत्स्य (मृच्छ० ११, ११ और १२ [यहा यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]; शकु० ११४, २ और ९) है, मश्चली (=मछली: शकु० ११८, २)=गुजराती माछली, हिंदी मछली और सिन्धि मछिं'; आवण्णवश्चल=आपन्नवत्सल, पिश्चिल=पिच्छिल (हेच०; नमिसाधु); उश्चलदि=उच्छलति, तिलिश्चि पेश्कदि=महा० तिरिच्छि पेच्छइ=तिर्यक् प्रेक्षते, पुश्चदि=पृच्छति (हेच० ४, २९५) है, यीवन्तवश्च=जीवद्वत्सा (हेच० ४, ३०२) है। छपे ग्रथों के पाठों में अधिकाश में च्छ छपा है किंतु हस्तलिपियों में इस नियम के चिह्न स्पष्ट पाये जाते हैं। इस प्रकार गच्छशि, गच्छ (मृच्छ० २०, १४) के लिए कुछ हस्तलिपियों में गश्चसि रूप लिखा हुआ पाया जाता है, गश्छसि, गश्च रूप भी लिखे मिलते हैं, मच्छाशिका के स्थान पर (मृच्छ० १०, २३) स्टेन्सलर द्वारा सपादित मृच्छकटिक पेज २४१ में पृथ्वीधर ने मश्चाशिका रूप दिया है; गच्छ (मृच्छ० १३२, १६) के स्थान पर गश्च और गश्श रूप मिलते हैं; आअच्छामि (मृच्छ० १३२, १७) के लिए आअश्चामि और अअश्वामि रूप आये है, आगच्छदि (मृच्छ० १३३, ८) के लिए आगश्चदि, आगश्छदि रूप लिखे हैं आदि-आदि[1]। निम्नलिखित शब्दों में आरभ का वर्ण ज्यों का त्यों बना रह जाता है: छः छाल (हेच० ४,२९५), छाआ=छाया (मुद्रा० २६७,२)। छेदअ शब्द का छ जो गंठिछेदअ=ग्रंथिछेदक में आया है, शब्द का आरंभिक वर्ण माना जाना चाहिए (शकु० ११५, ४ और १२)। रावणवहो का श्छेदआ आभास देता है कि इस छेदअ का रूप भी सभवत: श्चेदअ रहा हो। इस सबंध में § ३२७ भी देखिए।

१. ए० कून का कू० त्सा० २५, ३२७ में लेख। —२. शकुतला पेज १९९ में पिशल की नोटसख्या १। —३ गो० गे० आ० १८८१, पेज १३१९ में पिशल का मत।

§ २२६—अञ्ज् धातु और उससे निकले उपसर्गवाले नाना रूपों में नाना प्राकृत बोलियों में ज के स्थान पर इस ज का प्राचीन और मूल वर्ण ग बना रह गया अ०माग० अब्भंगेइ (आयार० २, २, ३, ८; २, १५, २०), अब्भंगेज्ज = अभ्यञ्ज्यात्, टीका में लिखा गया है = अभ्यंग्यात् (आयार० २, २, १, ८), अब्भंगेत्ता = *अभ्यञ्जित्वा (आयार० २, ६, १, ९; ठाणग० १२६), अब्भंगावेइ = अभ्यञ्जयति (विवाग० २३५; पाठ में अब्भिगावेइ है); जै०महा० में *अब्भंगिज्जह = अभ्यज्यध्वे* (एर्से० ५९, ३०) हैं, *अब्भंगिउं रूप भी मिलता है* (एर्से० ५७, १०); अ०माग० और जै०महा० में अब्भंगिय रूप पाया जाता है (ओव० [यहा अब्भिगिय पाठ है]; कप्प०; नायाध० [यहाँ भी पाठ में अब्भिगिय है]; एर्से०); उक्त दोनों प्राकृतों में अब्भंगण = अभ्यञ्जन रूप भी देखा जाता है (उवास०; ओव०; कप्प०, एर्से०); माग० में अब्भंगिद = अभ्यक्त (मृच्छ० ६९, ७) है; अ०माग० मे निरंगण रूप आया है (ओव०), इसके विपरीत महा० में निरंजन रूप व्यवहार मे आता है (गउड०; हाल)। स्वय सस्कृत शब्द अभ्यङ्ग = अ०माग० रूप अब्भंग में कण्ठ्य वर्ण आया है (ओव०)। सूय० २४८ में मुद्दभिंजाए छापा गया है। इस साधारण धातु और उससे निकले सब प्राकृतों के नाना रूपों में केवल ज आता है।—अ०माग० रूप ओमुग्गनिमुग्गिय जिसका सस्कृत रूप टीकाकार ने मज्जनोन्मज्जन देकर इस शब्द की व्याख्या की है = *अवमग्ननिमग्नित ठीक जैसे उम्मग्गा और उम्मुग्गा = *उन्मग्ना (§ १०४) हैं।

§ २२७—हेमचन्द्र ४, २२९ में बताता है कि सृज् धातु के ज का र हो जाता है। उसने अपने प्रमाण मे उदाहरण दिये हैं: निसिरइ, वोसिरइ और वोसिरामि = व्यवसृजति और व्यवसृजामि, ये रूप अ०माग० और जै०महा० में बार-बार पाये जाते हैं। इस प्रकार अ०माग० रूप निसिरामि (आयार० २,१,१०, ७) मिलता है, निसिरइ देखा जाता है (पण्णव० ३८४ और उसके बाद; विवाह० १२० और उसके बाद; २१२; २५४; १२१७ और १२७१; नायाध०), निसिरामो आया है (आयार० २, १, ९, १; २, २, २, १०), निसिरिंति काम में आया है (सूय० ६८०), निसिरेज्जा (आयार० २, १, १०, १; २, ५, २, ३; २, ६, १, ११; सूय० ६८२; ठाणग० ५९० [यहा पाठ में निसिरिज्जा रूप आया है]) भी देखा जाता है, निसिराहि (आयार० २, १, १०, १) भी चलता है, निसिर देखने में आता है (दस० ६३२, २८), निसिरंत का प्रयोग भी है (सूय० ६८०), निसिरित्ता* (= निकल करके: विवाह० १२५१), निसिरिज्जमाण (विवाह० १२२), निसिरावेन्ति (सूय० ६८०) रूप हैं, सज्ञा रूप निसिरण* (दस० नि० ६५८, ३३) मिलते हैं। अ०माग० में वोसिराम रूप पाया जाता है (*आयार० पेज* १३२, २; १३३, ६; १३४, ३; १३६, ५; *नायाध०* ११६५; विवाह० १७३; दस० ६१४, १९; ६१६, २०; ओव०); जै०महा० में वोसिरइ

* यह रूप कुमाउनी बोली में आज भी निरञ्ना और हग्ने के अर्थ में काम में आता है। इससे निरुक्त की पुष्टि होती है कि यह सृ धातु से व्युत्पन्न है।—अनु०

रूप है (एर्त्से० ५०, ३७) ; अ०माग० में **वोसिरेॅज्जा** भी है (आयार० २, १०, १ और उसके बाद), **वोसिरे** (आयार० १, ७, ८, २२ ; सूय० २१४ ; उत्तर० ७३७ और ९२३ ; दस० ६१९, १४) ; जै०महा० में **वोसिरिय** रूप आया है (आव० एर्त्से० ११, १९ ; एर्त्से० ५०, ३६) ; अ०माग० में **विओसिरे** भी चलता है (आयार० २, १६, १) । इन सब रूपों की व्युत्पत्ति **सृज्**[1] धातु से बताना असम्भव है । अ०माग० और जै०महा० रूप **समोसरिय = समवसृत** (विवाग० १५१ ; उवास० § २ ; ९, ७५ और १८९ ; निरया० § ३ ; आव० एर्त्से० ३१, २२ ; इस सबध में § ५६५ की भी तुलना कीजिए) और इसके साथ साथ बार बार आनेवाला रूप **समोसढ = समवसृष्ट** (§ ६७), इसके अतिरिक्त अ०माग० **समोसरेॅज्जा, समोसरिउकाम** (ओव०) तथा **समोसरण** (भग० ; ओव०) यह प्रमाणित करते हैं कि अ०माग० और जै०महा० में **सृज्** और **सृ** धातु आपस मे मिलकर एक हो गये हैं । **सृ** से **सरइ = सरति** रूप बना जिसका अर्थ 'जाना' और 'चलना' होता है किन्तु **सिरइ = सरति** का अर्थ है 'किसी को चलना', 'छोड देना' आदि । इन धातुओं के आपस में मिल जाने का प्रमाण अ०माग० रूप **निसिरिज्जमाण** और इसके पास में ही **निसिट्ठ** (विवाह० १२२) और **निसिरइ** (विवाह० २५४) के पास ही **निसिट्ठ** रूप (विवाह० २५७) आने से भी मिलता है ।

१. ए० म्युलर कृत बाइत्रैगे पेज ६५ ; लौयमान द्वारा सम्पादित औपपातिक सूत्र में **वोसिर** और **विओसग्ग** रूप देखिये ; याकोबी द्वारा सम्पादित औसगेवैल्ते एर्त्सेलुंगन में **वोसिरइ** शब्द देखिए ।

§ २३६—माग० में ज का य हो जाता है (वर० ११, ४ ; हेच० ४, २९२; क्रम० ५, ९० ; रुद्रट के काव्यालकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका) : **याणिदव्वं = ज्ञातव्यम्**, **याणिदश्शह = ज्ञास्यामः**, **या** [**णे**] **= जाने**, **याणिय्यदि = ज्ञायते**, **याणिदं = ज्ञातम्**, **यम्पिदेन = जल्पितेन** (ललित० ५६५, ७; ९ ; १३; ५६६, १ ; ८ ; १२) रूप मिलते है ; **याणादि = जानाति** (हेच० ; नमिसाधु); **यणवद = जनपद** (हेच०; नमिसाधु) ; **यलहल = जलधर** (हेच० ४,२९६) हैं ; **यायदे = जायते**, **याआ = जाआ** रूप देखने मे आते है (हेच०) । नाटकों की हस्तलिपिया, नाममात्र के अपवाद छोडकर माग० मे केवल ज लिखती है क्योंकि नवीन भारतीय भाषाओं में बहुधा य और ज आपसे घुलमिल कर एक हो गये हैं[1] । यह वास्तवमें प्रतिलिपि लिखनेवालों की भूल है,[2] क्योंकि व्याकरणकारों के मतानुसार सर्वत्र य बैठाया जाना चाहिए, जैसा कि हमने इस व्याकरण में किया है । इस नियम के अनुसार हमें, उदाहरणार्थ जाल (शकु० ११४, २) के स्थान पर हस्तलिपि आर के साथ याल लिखना चाहिए, **जमदग्गि** (मृच्छ० १२, १२) के लिए **यमदग्गि**, **जीअदि** (मृच्छ १२, २०) के स्थान पर **यीअदि**, **जाणामादि** की जगह (वेणी० ३४, १८) **याणाशि**, **जोइस** के लिए (मुद्रा० १७७, ४) **योइश = ज्योतिष**, **जिण** के बदले (प्रबोध० ४६, १२) **यिण**, **जर्णार्द्द** **जम्मन्तल**-(चंड० ४२, ११)

के स्थान पर **यणेहिं यम्मन्तल** = जनैर् जन्मान्तर—आदि आदि रूप लिखे जाने चाहिए। शब्द के भीतर यदि ज स्वरों के बीच में आये तो § १८६ के अनुसार उसकी विच्युति हो जाती है अर्थात् वह उड जाता है। नीचे दिये गये उदाहरणों में ठीक वैसे ही जैसे ज के स्थान पर य लिखा जाना चाहिए ज्ह (= झ) के स्थान पर य्ह लिखा जाना चाहिए : **झण्णज्झणन्त** (मृच्छ० ११, ६) के स्थान पर **य्हण्णय्हणंत**, **झत्ति** = **झटिति** (मृच्छ० २९, २१ ; ११४, २१ ; १६८, १९) के लिए **य्हत्ति** रूप आना चाहिए और संयुक्त व्यंजनों में जैसे कि **निज्झल** = **निर्झर** (ललित० ५६६, ९) के स्थान पर **णिय्ह्हल** रूप रखा जाना चाहिए, **उज्झिअ** = **उज्झित्वा** (मुद्रा० १७८, ६ ; हेच० ४, ३०२ में भी इस जगह पर ज्झ है) का **उय्य्हिद्त्त** रूप लिखा जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में § २१७ और २८० की तुलना कीजिए।—पल्लव और विजयबुद्धवर्मा के दानपत्रों में जहाँ नियम से ज रहना चाहिए (§ १८९) वहाँ भी य लिखा गया है, पल्लवदानपत्रों में : **भारद्दायो**, **भारदाय°** और **भारदायस** = **भारद्वाजः**, **भारद्वाज** और **भारद्वाजस्य** (५, २ ; ६, १६ और १९) रूप हैं ; विजयबुद्धवर्मा के दानपत्रों में : **भारद्दायस्स** मिलता है (१०१, २ ; इस सम्बन्ध में एपिग्राफिका इंडिका १, २ की नोटसंख्या २ की तुलना कीजिए)। § २५३ की भी तुलना कीजिए।—वर० ८, ४३ ; हेच० ४, २२७ ; क्रम० ५, ४६ के अनुसार **उव्विवइ** = **उद्विजते** है ; अधिक संभावना यह है कि यह = *उद्विपते = **उद्वेपते** है तथा इसी प्रकार **उव्वेव** = **उद्वेग** (हेच० ४, २२७) नहीं है अपितु = ***उद्वेप** जो विप् वेपते से निकला है। अ०माग० **मुरव** = **मुरज** के विषय में § २५४ देखिए।

१. बीम्स कृत कम्पेरेटिव ग्रैमर १, § २३ ; होएर्नले : कम्पेरेटिव ग्रैमर § १७।—२. यह तथ्य लास्सन ने अपने ग्रंथ इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए में के § १५४, ३ में पहले ही शुद्ध रूप से लिख दिया था। § २३ की तुलना कीजिए।

§ २३७— चू०पै० में **राजन्** शब्द की रूपावलि में जब कि § १३३ के अनुसार ध्वनिसमूह ज्ञ स्वरभक्ति द्वारा अपने भागों में बँट जाता है और § १९१ के अनुसार (नोटसंख्या १ की तुलना कीजिए) चिञ् रूप ग्रहण कर लेता है तो स्वतन्त्र ञ पाया जाता है : **राचिञा** और **राचिञो** = **राज्ञा** तथा **राज्ञः** (हेच० ४, ३०४ ; § ३९९) है। भाम० १०,१२ में दन्त्य न के साथ **राचिना**, **राचिनो** और **राचिनि** रूप दिये गये हैं। ञ अप० में भी मिलता है ; **युञइ** = *यज्ञाति = यजति ; परस्मैपदी रूप **युञेप्पि** और **युञेप्पिणु** (हेच० ४, ३९२) = माग० **यञ्ञदि** (§ ४८८) हैं।

§ २३८—महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में ट् का ड् बन जाता है, ड नहीं; ट का ळ हो जाता है : **फलिह** = **स्फटिक** है, अ०माग० में इसका रूप **फालिय** = **स्फाटिक** मिलता है (§ २०६) ; महा० में **फडिह** रूप देखने में आता है (रावण० में यह शब्द देखिए, इससे अधिक शुद्ध पाठ सी में **फलिह** आया

है), शौर० में फडिश रूप (§ २०६) संभवतः अशुद्ध है। —फालेइ (= फाड़ना ; चीर-फाड़ करना) हेमचंद्र १, १९८ के अनुसार पट् धातु से व्युत्पन्न है, किंतु यह व्युत्पत्ति अशुद्ध है, यह रूप फल्, स्फल् धातु से निकला है। —चपेटा से महा० और अ०माग० में चवेडा रूप बनने के अतिरिक्त (हेच० १, १४६ ; हाल ; उत्तर० ५९६) चविडा और चविळा रूप भी निकलते हैं (हेच० १, १४६ और १९८)। इस संबंध में § ८० की तुलना कीजिए। बोली के हिसाब से भी ट का ळ में परिवर्तन हो जाता है, इस ळ के स्थान पर उत्तर भारतीय हस्तलिपियाँ ल लिखती हैं (§ २२६)। इस नियम से महा० और अ०माग० में फक्कोळ = कर्कोट (गउड० ; पण्हा० ५२७); अ०माग० में फळिस्त = फटित्र (ओव० § १०) ; अ०माग० में खेळ (=कीचड़; कर्दम) = खेट (आयार० २,१,५,२,२,१,७ ; ठाणंग० ४८३ ; पण्हा० ३४३ और ५०५ ; अत० २३ ; विवाह० १६४ ; उत्तर० ७३४ ; कप्प०), खेळेइ = खेटयति (विवाह० ११२) हैं; अ०माग० में पिळाग = पिटक (सूय० २०८) ; यूळक = जूटक (मृच्छ० १३६, १५) है; माग० में शअळ=शकट (मृच्छ० १२२, १०), इसके साथ-साथ शौर० में सअडिआ=शकटिका हैं, अ०माग० में सगड* रूप मिलता है, बोली के हिसाब से सअढ रूप भी है (§ २०७)। पिंगल के अप० में यह ध्वनि-परिवर्तन विशेष रूप से अति अधिक पाया जाता है : णिअळ=निकट (१,१२७ अ; १२९ अ ; २, ८४) ; पअळ=प्रकट (१,७२ ; २,९७ और २७२) ; पअळिअ= प्रकटित (२, २६४) ; फुळ=स्फुट (२, ४८); फुळे=स्फुटति, इस स्थान पर इसका आशय स्फुटन्ति से है (२, २३०) ; मक्कळ = मर्कट (१,९१ और ९९); वहुळिआ = वधूटिका (२, ८४)। वलमोळिअ=वलमोटित (१, १४० अ) के साथ साथ मोळिअ = मोटितः (२, ११२) भी मिलता है जो मोडिआ पढ़ा जाना चाहिए अथवा उससे तुक मिलाने के लिए आये हुए छोडिआ (एस० गौल्दश्मित्त लोडिआ के स्थान पर यह रूप देता है) के लिए छोळिआ = छोटितः होना चाहिए। रावणवहो० १०, ६४ में महा० में वलामोळी रूप आया है ; किंतु इस ग्रन्थ में ही वलामोडीं रूप भी पाया जाता है और यही रूप यहां पर पढ़ा जाना चाहिए क्योंकि मुट् धातु में सदा ड लगता है। इस नियम से महा० में वलमोडिं (हाल) रूप पाया जाता है ; महा०, जै०महा० और शौर० में वलामोडी है (देशी० ६, ९२ ; पाइय० १७४ ; त्रिवि० २, १, ३० ; काव्यप्रकाश ७२, १० (§ ५८९ की भी तुलना कीजिए) ; बालका० २६०, ३५ ; मल्लिका० १२२, ८) ; शौर० में वलामोडिय रूप है जिसका अर्थ है बाराजोरी करके (मालती० ७६, ४ ; १२८, ८; २५३, ७ ; २३५, ३ ; रुक्मिणीप० १५, १३ ; २१, ६)', पच्छामोडिअ (शकु० १४४, ११) रूप काम में आया है ; महा० में आमोडन है (गउड०) ; माग० में मोडइश्शं और मोडइश्शामि रूप मिलते है (मृच्छ० ११३, १ ; १२८, १४) ;

* पहियेदार छोटी अंगीठी को कुमाउनी बोली में सगड कहते हैं। वलामोडी का प्रचलन कम होने पर ब्रजभाषा में फारसी-मिश्रित बाराजोरी उसी अर्थ में चला। यहां बारा= बला। —अनु०

मोडेमि और मोडिअ (मृच्छ० १२८, २ ; १३७, १) भी चलते हैं। आमोट्ट और मोड (=जूट ; बालों की लट : देशी० १, ६२ ; ६, ११७) भी इससे ही सम्बंधित हैं और शौर० मोट्टिम भी इनमें ही है (अनर्घ० १५२, ९; रुचिपति ने दिया है मोट्टिमं बलात्कारे देशी), मोट्टाअइ=रमते भी इन्हीं में है (हेच० ४, १६८) ।— कडसी (=श्मशान : देशी० २, ६)=*कटशी जो कट (=शव : उदाहरणार्थ विष्णुपुराण ३,१३,१०)=प्राकृत कड (क्षीण ; मृत ; उपरत : देशी० २,५१) है शी (शयन करना ; लेटना); हेमचन्द्र २,१७४ की हस्तलिपियों में इसका रूप करसी लिखा मिलता है, इस प्रकार ट का ड बनकर र वर्ण में परिवर्तित हो गया है। अ०माग० रूप पुरभेयणी (=नगर : उत्तर० ६१८)=पाली पुटभेदन[1] में यही परिवर्तन है, ट का र हो गया है। ट के स्थान पर ढ आ जाने के विषय में § २०७ देखिए।

१. गो० गे० आ० १८८०, पेज ३५१ और इसके बाद में पिशल के मतानुसार ; वेबर हाल[1] पेज २१० ; तथा ब्यूलर के मतानुसार जो अपने संपादित ग्रंथ पाइयलच्छी में बलामोडी के प्रथम पद को पंचमी रूप बलात् से निकालना चाहता है, बला के रूप की व्युत्पत्ति न ढूँढ़ी जानी चाहिए। इससे अधिक शुद्ध इसमें आ उपसर्ग मानना होगा, जैसे आमोड और आमोटन से प्रमाण मिलता है। —२. याकोबी ने 'सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' भाग ४५, १०२ की नोटसंख्या २ में बहुत अशुद्ध लिखा है। पुट शब्द मूल से पुत्र बन गया है (वर० १२, ५ से तुलना कीजिए) और संस्कृत रूप पाटलिपुत्र में आया है। § २९२ की तुलना कीजिए।

§ २३९—शब्द के भीतर स्वरों के बीच में ठ का ढ हो जाता है (§ १९८)। यह बोली के हिसाब से ह रूप बहुत ही कम ग्रहण करता है : अ०माग० और जै० महा० में कुहाड=कुठार (सूय० २७४ ; उत्तर० ५९६ ; तीर्थ० ६, १६ ; १७ और १८), जै०महा० में कुहाडय रूप भी मिलता है (तीर्थ० ७, १) ; पिढ्ढ = पिठर (हेच० १, २०१), अ०माग० में पिढ्ढडग आया है (जीवा० ३५१), पिढ्ढडय भी है (उवास० § १८४), इसके साथ साथ पिढर रूप भी काम में आता है (हेच० १, २०१ ; पाइय० १७२), अ०माग० में पिढरग भी है (आयार० २,१,११,५)। ढ और र के परस्पर परिवर्तन के विषय में § २४१ और २५८ देखिए।

§ २४०—ड रूप असंयुक्त और दो स्वरों के बीच में आया हो तो यह नियमानुसार ळ हो जाता है। उत्तर भारतीय हस्तलिपियाँ और छपी पुस्तकें ळ के स्थान पर ल लिखती हैं (§ २२६ ; वर० २, २३ ; चंड ३, २१ ; हेच० १, २०२ ; क्रम० २, १३ ; मार्क० पन्ना १६)। वररुचि, चंड और मार्कण्डेय यह आवश्यक बताते हैं कि इस अवसर पर ड के स्थान पर ळ लिखा जाना चाहिए, भामह का मत है कि इच्छानुसार ड या ळ रखा जा सकता है और यह दाडिम, वडिश और निविड में ड बने रहने देने की अनुमति देता है : घटयामुख, गरुड, तडाग, क्रीडति में ळ होना चाहिए करके बताता है, किंतु मत देता है कि वडिश, दाडिम, गुड, नाडी,

नड और आपीड में इच्छानुसार ळ या ड रखा जा सकता है तथा **निबिड, गौड, पीडित, नीड, उड्ड** और **तडित्** में ड का रहना आवश्यक मानता है। त्रिविक्रम हेमचद्र से पूरा सहमत है और उसने इस नियम को दो भागों में बाँटा है, १, ३, २४ (**वडिशादौ**) और १, ३, ३०। क्रमदीश्वर ने भी त्रिविक्रम के साथ **वडिशादि** गण का उल्लेख किया है किन्तु इसको **वडिश, निबिड** और **जड** शब्दों में ही सीमित रखा है और बताया है कि उक्त गण में ड बना रहना चाहिए। प्राकृत बोलियों को देखने पर इस प्रकार का कोई पक्का विभाग अर्थात् बँधी सीमा नहीं है। उदाहरणार्थ आदमी अ०माग० आदि में बोलते थे **आमेळिय = आम्रेडित** (अणुओग० ३७); अ०माग० में **गवेळग = गवेडक** (ओव०); अ०माग० और जै०महा० में **गुळ = गुड** (आयार० २,१,४,५; ओव०; एर्से०) है; माग० में **गुळोदण** रूप मिलता है (मृच्छ० १६३, २०); **गुड** भी पाया जाता है (हेच० १, २०२); माग० में **गुडाह = गुडक** (मृच्छ० ११६, २५); महा० और माग० में **णिअळ=निगड** (गउड०; हाल; रावण०; मृच्छ० १०९, १६; १३२, २०; १६२, १७); अ०माग० में **निगड** आया है (जीवा० ३४९; ओव०); महा० रूप **णिअळिअ = निगडित** (गउड०; रावण०) है; जै०महा० में **नियळिय** देखने में आता है (पाइय० १९७); महा० में **णिअळाविय** रूप भी मिलता है (हाल); शौर० में **णिगळवदी** पाया जाता है (मालवि० ५१, २१)। अ०माग० में **पळय = पडक** (उत्तर० ३२,६ है; पण्णव० ३६६ और उसके बाद; ओव०); महा०, अ०माग० और जै०महा० में **गरुळ = गरुड** (हेच० १,२०२; पाइय० २५; गउड०; ठाणग० ७१ और ८५ है; सूय० ३१७ और ७७१; आयार० २, १५, १२, १३; पण्हा० २३५ और ३११; विवाह० १८३ और ९६४ [यहां **गरुड** पाठ है]; पण्णव० ९७; जीवा० ४८५ और ४८८; निरया०; ओव०; द्वार० ५०७, ३७); इसके साथ साथ महा० में **गरुड** भी चलता है (रावण०); जै०महा० में **गरुडवूह** और साथ ही **गरुळसत्थ** रूप मिलते हैं (एर्से०); शौर० में **गरुड** है (नागा० ६६,१०; ७१, १२; ९९, १), माग० में **गलुड** आया है (पाठ में **गरुड** मिलता है; नागा० ६८, ४ और १३), *अच्युतशतक २; २९ और ३४ में महा० में* **गलुड** *पाया जाता है। अ०माग०* में **छळंस = षडश्र** (ठाणग० ४९३) है, **छळंसिय** (सूय० ५९०), **छळाययण = षडायतन** (सूय० ४५६), **छळसीइ = षडशीति** (विवाह० १९९; समव० १४३) हैं § २११ और ४४१ की तुलना कीजिए; अ०माग० और जै०महा० **सोळस** और अप० रूप **सोळह=षोडश** (§ ४४३) है। **वडवा** (पाइय० २२६); महा० **वडवामुह** (रावण०), अप० रूप **वडवाणल** (हेच० ४, ३६५, २ और ४१९, ६), इसके साथ साथ महा० **वळवामुह** और **वळआमुह** (रावण०), **वडआणल** (रावण० २, २४; ५, ७७) और जै०महा० **वळयामुह** है। शौर० **दाडिम** (माग० २, २३; हेच० १, २०२; विद्ध० १५, २), महा० **दाडिमी** (गउड०) और इनके साथ साथ अ०माग० में **दालिम** का प्रचलन था (हेच० १, २०२; आयार० २, १, ८, १; विवाह० १५३०; पण्णव० ४८३ और ५३१; ओव०)। महा०, अ०माग० और जै०महा० रूप **आमेळ**, महा० **आमेळिअअ**, अ०माग० **आमेळग** और **आमे-**

ळय=*आपीड्य (§ १२२) हैं, इनके साथ-साथ आवेड रूप भी मिलता है (हेच० १, २०२) और शौर० में इसका रूप आपीड है (माल्ती० २०७, ४)। अ०माग० में तळाग और तळाय तथा इसके साथ साथ तडाग=तडाक (§ २३१) हैं। महा० कीळेइ (गउड०), अ०माग० कीळन्ति (राय० १३८ ; उत्तर० ५०४), कीळए (उत्तर० ५७०), कीळिय (आयार० पेज १३५, १७ ; समव० २३), जै०महा० कीळेइ, कीळन्त–, कीळन्ती और कीळिऊण (एर्स्से०), शौर० रूप कीळसि (मृच्छ० ५४, ३ ; ९५, ११), कीळ (मृच्छ० ९५, २३), कीळम्ह (रत्ना० २९३, २५), शौर०, ढक्की और माग० रूप कीळेम्ह (मृच्छ० ९४, १५ ; ३०, १८ ; १३१, १८), शौर० कीळिस्सं (विक्रमो० ४१, ७ ; ४७, ११ [इन दोनों स्थानों पर द्राविडी पाठ के साथ और उक्त ग्रन्थ के ४७, ११ के साथ कीडिस्सं के स्थान पर यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; मालवि० ६०, ११), कीळिस्ससि (मृच्छ० ९४, १९ ; ९५, १०), माग० कीळिदशाम् (मृच्छ० ३०, २३ ; शकु० १५५, १२), माग० और आव० कीळिदुं (मृच्छ० १००, २१ ; १४०,७ ; १४८, १३), शौर० रूप कीळिद (मृच्छ० ९५,७ ; रत्ना० २९३,२९) और कीळमाण (विक्रमो० ५२,९), अप० कीळइ (विक्रमो० ६४,५), कीळदि (हेच० ४, ४४२, २), कीळन्ति (विक्रमो० ६३,५) क्रीड् धातु से सम्बन्ध रखते हैं ; महा० और शौर० कीळा = क्रीडा ; शौर० में कीळणअ और अ०माग० कीळण तथा कीळावण, इनके साथ-साथ अ०माग० और जै०महा० कीडा तथा खिड्डा (§ ९०), उसी प्रकार शौर० रूप खेळदि, अप० खेळन्त, अ०माग० खेॅळ्ळावण, जै०महा० खेॅळ्ळावेऊण और खेळ्ळ तथा अप० खेळन्ति, इनके साथ साथ अ०माग० और जै०महा० खेड्ड, अप० खेॅड्डुअ, खेड्डइ, बोलियों में इस विषय पर अनियमितता का प्रमाण देते हैं (§ ९० और २०६)। अ०माग० में ताळेइ=ताडयति (नायाध० १२३६ ; १३०५) ताळेन्ति रूप आया है (विवाह० २३६), ताळयन्ति मिलता है (उत्तर० ३६० और ३६५), ताळेज्जा (उवास० § २००), ताळेह (नायाध० १३०५), ताळेमाण (विवाग० १०२), ताळिज्जमाण (पण्हा० १९६), ताळिय (नायाध० १२३६), ताळण (पण्हा० ५३५ ; उत्तर० ५८९; ओव०) दक्की माग० में ताळिअ रूप पाया जाता है (मृच्छ० १६७, ६) ; किन्तु अन्यथा महा० और माग० में ताडण आया है (गउड० ; हाल ; रावण० ; कर्पूर० १, ७ ; ६५,९ ; मृच्छ० १२२, २०); महा० में ताडिज्जमाणा (कर्पूर० ७०,७), ताडिअ मिलते हैं (रावण०) ; जै०महा० में ताडिय और ताडिज्जमाण आये हैं (एर्स्से०) ; शौर० ताडेदि (मृच्छ० ७९, २२), ताडिअ (मृच्छ० १५५, ४), ताडिद (मृच्छ० ६९, २३), ताडियिदुं और ताडइस्सं (मालवि० ४४, १६ ; ६५, २०), ताडीअदि (माल्ती० २६७, ६), ताडीअंत–, ताडीमाण (मुद्रा० २११, ५ ; २१२, २ ; २०३, १) है ; माग० रूप ताडेध (मृच्छ० १६६, २४ ; १६९, २२), ताडइश्शं (मृच्छ० ८०, ५) हैं तथा माग० और आव० में ताडिद रूप पाया जाता है (मृच्छ० २९, १९ ; १०५, २ ; १४८, १०)। महा० और अ०माग० में

हेमचन्द्र से सर्वथा मिलता हुआ रूप उड्डु आया है (पाइय० ९६ ; कर्पूर० ३६, ३ जीवा० ३५१) ; महा० मे गउड है (गउड०) ; अ०माग० और अप० में इसके स्थान पर गोड रूप चलता है (पण्हा० ४१ ; पिंगल २, ११२ ; १३८ ; § ६१ अ की तुलना कीजिए) ; महा० में णिविड मिलता है (गउड० ; हाल ९९६ की टीका ; कर्पूर० ४९, ११), णिविडिय (गउड०) है ; जै०महा० में निविड है (एर्त्से०)। महा० में णीड और णेड्ड रूप मिलते हैं (§ ९०) । महा० और जै०महा० में तडि (पाइय० ९८ ; गउड० ; एर्त्से० १४, २२ ; ७१, २३) है, अ०माग० मे तडिया है (विवाह० ९४३), किंतु अप० मे तळि है (विक्रमो० ५५, २) । महा० मे पीडिअ (गउड० ; रावण०), अ०माग० और जै०महा० में पीडिय (पाइय० १९० ; उत्तर० ५७७ ; (एर्त्से०), शौर० पीडिद (मृच्छ० २२, १३ ; शकु० ११, १), इनके अतिरिक्त महा० मे णिप्पीडिअ (रावण०), संपीडिअ (गउड०), पीडि-ज्जन्त— (हाल ; रावण०) और पीडण रूप मिलते हैं (हाल), महा०, जै०महा० और शौर० मे पीडा आया है (पाइय० १६१ ; गउड०; एर्त्से० ; मृच्छ० २२,१३ ; शकु० २९, ९ ; विक्रमो० १८, ५) और शौर० मे पीडीअदि (मृच्छ० ७२, १५) तथा पीडेदि मिलते हैं (विक्रमो० १६, १७) । अ०माग० में किंतु ळ का प्राधान्य है : पीळिय (उत्तर० ५९०) ; पीळियग (ओव०) ; पीळेइ (दस० ६३१,३७ ; उत्तर० ९२७ ; ९३५ ; ९४० ; ९४५ और ९५०) : आवीळए, पवीळए और निप्पीळए हैं (आयार० १,४,४,१) ; उप्पीळवेज्जा रूप पाया जाता है (आयार० २,३,१,१३) ; परिपीळेज्ज (सूय० २०८) ; ओवीळेमाण (विवाग० १०२ ; पाठ में उवीटेमाण रूप है) ; आवीळियाण और परिपीळियाण (आयार० २, १, ८, १) ; पीळा* (पण्हा० ३९४ ; ४०२ और ४२६ ; उत्तर० ६७५) ; संपीळा (उत्तर० ९२६ ; ९३४ ; ९४०, ९४५ और ९५०) ; पीळण (पण्हा० ५३७ ; विवाह० ६१० ; उवास०) रूप देखने में आते हैं। उत्तरज्झयणसुत्त ६२० में पीडई रूप आया है किंतु इसके साथ ही आविळिज्ज भी है । पिंगल १, १४५ अ मे एस० गौल्दश्मित्त के कथनानुसार पीळिअ पढ़ना ही ठीक है, इसकी आवश्यकता यहा पर इसलिए भी है कि मीळिअ के साथ इसका तुक ठीक बैठता है। अ०माग० पडेइ = पडयति मे सदा ड आता है (विवाह० २४८), इसके ये रूप भी मिलते हैं : पडन्ति (विवाह० २३६), पडेन्ति (ओव०), पडित्ता (विवाह० २३६ और २४८) । अ०माग० विड्डु = व्रीडा (§ ९०) के साथ साथ इस प्राकृत में एक विशेषण विड्डु भी है (विवाह० १२५८) ; पर टीकाकार इसे खेड पढता है जो ठीक भी होगा और वेळण्य (अणुओग० ३३३) से सबंध रखता है ; यह रूप देशीनाम माला ७, ६५ में संज्ञा रूप मे आया है (केचित् वेळणयं लज्जेत्याहुः । टीका मे आया है । —अनु०) और बोली में वेळणा हो गया है (देशी० ७, ६५) । इसका ए (= ॆ, अनु०) § १२२ के अनुसार स्पष्ट हो जाता है। महा० मे विडिअ और साथ

* यह पीळा, पीला रूप से कुमाउनी में फोडे के लिए आता है। बिल्ली के लिए कुमाउनी में बिराळु और स्त्रीलिंग का रूप बिराळी चलता है। —अनु०

साथ विळिअं = व्रीडित रूप हैं, अ०माग० मे सविळिय मिलता है (§ ८१)। देशीनाममाला ७, ६५ में विड्डूण और वेड्डूण रूप भी दिये गये हैं।

§ २४१—महा० और शौर० वेरुलिअ मे ड का र हो गया है, इसका अ०माग० और जै०महा० रूप वेरुलिय = वैडूर्य (§ ८०) है। भामह ४, ३३ मे वेलुरिअ रूप है जिसका वेळुरिअ से तात्पर्य है जैसा कि वेलुलिअ (देशी० ७, ७७) और वेळुलिअ रूप सूचित करते हैं। हेमचन्द्र २,१३३ के अनुसार वेडुज्ज भी है। इसके अतिरिक्त अ०माग० और जै०महा० में विराल = विडाल[1] (आयार० २, १, ५, ३ ; पण्णव० ३६७ और ३६९ ; नायाध० ३४५ ; उत्तर० ९१८ ; आव० एर्से० ४२, २०), अप० में विरालअ रूप है (पिंगल १, ६७ ; बंबइया संस्करण में विडालअ पाठ है), इसका स्त्रीलिंग विराली है (नदी० ९२ ; पण्णव० ३६८ ; आव० एर्से० ४२, ४२), अ०माग० में विरालिया (सूय० ८२४) है। और एक पौधे का नाम भी छीरविराली = क्षीरविडाली (विवाह० १५३२) है, विरालिय रूप भी (आयार० २, १, ८, ३) है। बिडाल (जीवा० ३५६) के लिए विराल पढा जाना चाहिए। शौर० में बिडाल है (मालवि० ५०, १६ ; इस ग्रंथ में बिडाल पाठ है ; शकु० बोएटलिंग का संस्करण ९४, ७, जहा दक्षिण भारतीय हस्तलिपिया और छपे ग्रंथ विडाल, विडाळ, विळाळ और विलाळ के बीच लटकते हैं), इसका स्त्रीलिंग बिडाळी है (हास्या० २५, ७), बिडालिया (मालवि० ६७, ९ ; इसी ग्रंथ मे विआरिया, विलालिआ, और बुडालिया भी हैं) ; पाली में बिळाल और बिळार रूप हैं।

1. नंदीसुत्त ९२ और सूयगडंगसुत्त ८२४ के अतिरिक्त पाठों में सर्वत्र विडाळ मिलता है। संस्कृत के लिए एकमात्र विश्वसनीय रूप विडाल है और प्राकृत के लिए भी यही मानने योग्य है।

§ २३४—सब प्राकृत बोलियों में ढ अपरिवर्तित रहता है : अ०माग० और जै०महा० आढय = आढ्य (ओव०, एर्से०) ; अ०माग० आसाढ=आषाढ (आयार० २, १५, २ ; कप्प०) ; महा०, जै०महा० और शौर० गाढ=गाढ (पाइय० ९० ; गउड०; हाल; कर्पूर० ६४,७ ; एर्से० ; शौर० मे : कर्पूर० १५,५) ; महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर० और माग० दढ (पाइय० ९० ; आयार० १, ६, २, २ ; सूय० १६१ और ५४४ ; मृच्छ० ६९,११ ; शकु० ११,१ ; विक्रमो० १६, १६ और ३०, ३ ; माग० मे : मृच्छ० ११६, ८), जै०शौर०, शौर० और अप० दिढ (कत्तिगे० ४००, ३२९ ; ३३० और ३३६ ; ४०३, ३७० ; मृच्छ० ४४, ५ ; विक्रमो० १२, २० ; २२, १४ ; मल्लिका० २२५, ११ ; प्रिय० ४२, ४ ; ४३, ६ ; प्रबोध० १८, १ ; पिंगल १, ८६ अ) = दृढ है। महा० और जै०महा० वाढ = वाढ (पाइय० ९०; गउड० ; एर्से०) है। अप० दाढ़िहडउँ के विषय में § ११० और २०७ देखिए। गौण ढ जो ष्ट से निकलता है (§ ६६, ६७ और ३०४) ळ्ह में परिणत हो गया है (लिखित रूप ल्ह पाया जाता है)। यह ध्वनि परिवर्तन केवल नीचे दिये रूपों में ही दिखाई देता है : कोळ्हुअ (=सियार ; [और

कोल्हू। —अनु०] : देशी० २, ६५ ; पाइय० १५२)*कोट्ठुअ से निकला है = क्रोष्टुक' ; कुळ्ह रूप भी कोळ्ह से निकला है जो = *कोट्ट = क्रोष्ट और इसीसे संबंध रखता है। कोळ्हाहल (= बिंबफल : देशी० २,३९) = *क्रोष्टाफल ; इसकी तुलना क्रोष्टुफल रूप से भी कीजिए। इसी प्रकार गोळ्हा = गूढा (=बिंबीफल : देशी० २, ९५) ; गोळ्हाफल = गूढफल (पाइय० २५५)[1] है।

1. गे० गु० आ० ३, ६, ११७ में लौयमान के लेख का नोट। —2. प्राकृत भाषा से प्रमाणित होता है कि बोण्टलिंक की भाँति इस शब्द पर संदेह करने का कारण नहीं है, यह भी ध्यान देने योग्य है कि ढ का स्थान ळ्ह ले लेता है।

§ २३५—वेणु का ण ळ बन सकता है : अ०माग० मे वेळु रूप है (हेच० १, २०३ ; पाइय० १४४ ; सूय० १९७ और २४८ ; पण्णव० ३३ ; राय० ३३, ८९ और १८४), इसके साथ साथ वेणु भी चलता है (आयार० २,११,४ ; सूय० १९७ और २४८ , विवाह० १५२६ ; पण्णव० ४०), वेणुदेव मिलता है (सूय० ३१७) ; इसी प्रकार अ०माग० मे वेळुग और वेळुय = वेणुक (आयार० २, १, ८, १४ ; विवाह० १५२६ , दस० ६२३, ४ ; पण्णव० ४३) है। क्योंकि पाली में वेळु रूप है इसलिए प्राकृत में भी ळ होना चाहिए। सभव यह है कि वेणु और वेळु दोनों का मूल रूप *वेल्लु हो जो प्राकृत मे व्यवहार में बहुत आनेवाले और शाखा प्रशाखायुक्त धातु वेल्, वेल्ल् से निकला हो (§ १०७ ; [इस § मे विल् धातु का उल्लेख है। —अनु०]) । इसी धातु से इस शब्द के अन्य अर्थ भी निकले हैं : वेळु = चोर और 'मुसल'* (देशी० ७, ९४) का अर्थ भी उक्त धातुओं से स्पष्ट होता है ; इस संबध मे § १२९ मे थूण = चोर की तुलना कीजिए।—पै० और चू०पै० मे ण का न हो जाता है (§ २२५)। क्रमदीश्वर ५, १०७ और १०८ में बताता है कि ण के स्थान पर ल बैठ जाता है : फलति=भणति , ध्वलति [?]= ध्वनति ; फलितं = भणितम् ; ध्वलित = ध्वनितम् ; पलं = प्राकृत वणं=वनम् ; फलह [?]= भणत (५, ११२) और फलामो = भणामः (५,११४) है। क्रमदीश्वर ने उदाहरणों मे दिए हैं : ककुण = गगण (५, १०२) ; जजण, चचण = यजन (५,१०३) ; चलण = चरण; उसण = उष्ण ; पसण = प्रश्न तथा सिनाण=स्नान (५, १०९) है, इस प्रकार छपा संस्करण ण देता है और चूँकि बंगला लिपि की हस्तलिपियों में ण, न और ल मे बहुत ही अधिक अदला बदली हुई है, इस कारण यह मानना प्रायः ठीक ही है कि जहा जहा ल आया है, वहा अन्य व्याकरणकारों के साथ न पढा जाना चाहिए। क्रमदीश्वर ५, ११० के अनुसार पै० मे ण और न, ञ भी हो जाते हैं : कञक = कनक और दञ्ञ = स्वर्ण।

§ २३६—कभी-कभी त और द, ल बन जाते हैं। मध्य प्रक्रिया में ट और ड का रूप धारण करके (§ २१४ और २१९) फिर ळ बन जाते हैं (§ २२६ ; २३८

* देशीनाममाला में वेल=मुसल बताया गया है, पर इसी वेल् धातु से बेलन भी निकला है। इस नियम के अनुसार कुमाउनी में ने=ले हो गया है। —अनु०

और २४०) ; इस ळ को उत्तर भारतीय हस्तलिपियाँ ल लिखती हैं, इसलिए निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अमुक अवसर पर ल लिखना है अथवा ळ : शौर० में **अलसी** = **अतसी** (हेच० १, २११ ; मल्लिका० ८७,१५) ; किंतु माग० में **अयसी** रूप है (विवाह० ४१ और १५२६ ; पण्णव० ३४ और ५२६ ; उत्तर० ५९२ ; ओव०) ; अ०माग० में **आसिल** = **असित** (सूय० २०३) ; **पलिल** (हेच० १, २१२) और इसके साथ साथ महा० रूप **पलिअ** = **पलित** (हेच० १,२१२ ; गउड० ; हाल) ; महा० **विज्जुला** = पाली **विद्युता** = **विद्युत** (हेच० २, १७३ ; मार्क० पन्ना ३७ ; रावण०), **विज्जुली** = **विद्युती** (वर० ४, २६ , मार्क० पन्ना ३७), महा०, शौर० और अप० **विज्जुलिआ** = ***विद्युतिका**[1] (हाल ५८४ ; विक्रमो० २७, १३ ; पिंगल १, १४२ अ) । वररुचि ४,९ ; हेमचन्द्र १,१५ ; क्रमदीश्वर २,१२९ और मार्कण्डेय पन्ना ३३ में बताया गया है कि **विज्जुआ** रूप महाराष्ट्री में निषिद्ध है, परन्तु यह रूप हाल ५८४ में आया है और शायद शुद्ध नहीं है क्योंकि अन्यथा महा० में केवल **विज्जुला** और **विज्जु** रूप चलते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०), शौर० में **विज्जुदा** (मृच्छ० ९१,१९ ; वेणी० ६०,१७) है ; महा० में **सालवाहण** और **सालाहण** = **सातवाहन** (हेच० १, ८ और २११ ; हाल ; § १६७ की भी तुलना कीजिए), परन्तु जै०महा० में **सालिवाहण** के साथ साथ **सायवाहण** रूप भी है (कालका०); माग० में **शूल** = **सूत** (मृच्छ० ९७, ३) । —अ०माग० रूप **सलिल** (=नदी : सूय० ३१७ और ४६० ; उत्तर० ३४२ ; संभवतः विवाह० ४७९ में भी यही रूप है) या कोयी के मतानुसार = पाली **सरिता** = संस्कृत **सरित्** है जो ठीक नहीं है क्योंकि इनमें सदा **र** रहता है, परन्तु यह संज्ञा विशेषण रूप **सलिल** (आयार० २,१६,१० = सूय० ४६८) का स्त्रीलिंग है और संस्कृत **सलिल** से संबंध रखता है । —माग० **फळ** (मृच्छ० ११,१; ४०,४), **मळ** (मृच्छ० ११८,१४, १५ और २४, १३२,२१) में **ळ** लगाया जाना चाहिए, साथ-साथ **फड** और **मड** रूप भी चलते हैं = **घृत** और **मृत** (§ २१९) ; जै०महा० में **वाउड** = **व्यापृत** (कालका० , § २१८) ; अप० में **पळइ** जो **पडइ** के लिए आया है (§ २१८) = **पतति** (पिंगल० १, ७८ ; ११६ ; १२० अ, १२३; १२५, १२५अ, १३३ और १३५; २,६०; १३५, २०२; २३१ और २६१)।—महा० और अ०माग० **फलंब**=**कदंब** में द का ल हो गया है (वर० २, १२; हेच० १,२२२; क्रम० २,२०; मार्क० पन्ना १५; पाइय० २५५; गउड०; हाल०; रावण०; पण्हा० ६०; ठाणंग० ३२१), इसके साथ साथ **कअम्ब** भी चलता है (हेच० १, २२२), अ०माग० में **कयंबग** मिलता है (नायाध० ३५४ और १०४५), **कयंबय** भी है (कप्प० ; पाठ में अशुद्ध रूप **कयंबुय** आया है ; इसी ग्रंथ में **फलंबय** आया है ; इसी ग्रंथ में **फलंबय**, **फलंब** और **कयंब** रूप भी हैं) ; अ०माग० **कालंब** (ठाणंग० ५०५), महा० **काअंब** (गउड० ; रावण०) = **कादम्ब** है ।—महा० में **गोळा**=**गोदा** (हेच० २, १७४ ; मार्क० पन्ना० ३९ ; देशी० २, १०४ ; पाइय० १३२ ; त्रिवि० १, ३, १०५ ; हाल), यह रूप स्वयं संस्कृत में ले लिया गया है[1] । त्रिविक्रम की हस्तलिपियाँ ळ लिखती हैं जिसे हाल का **गोडा** रूप पुष्ट करता है। महा०

और अ०माग० णो॑ल्लइ और णुल्लइ = नुदति, इसमे ल का जो द्वित्व हुआ है वह § १९४ के अनुसार है (वर० ८, ७ ; हेच० ४, १४३ ; क्रम० ४, ४६ ; [पाठ मे णोण्ण रूप है] ; मार्क० पन्ना ५३); महा० में णो॑ल्लेइ (हाल; रावण०), णो॑ल्लें॑न्ति (गउड०), णो॑ल्लिअ (रावण०) और पणोल्लिअ (गउड० ; रावण०) रूप मिलते हैं ; अ०माग० में णो॑ल्लाहिंति, णोल्लाविय (विवाह० १२८०), पणो॑ल्ल (सूय० ३६०), चिपणो॑ल्लए (आयार० १,५,२,२) और पणुल्लेमाण रूप देखे जाते हैं (नदी० १४६ ; टीका में पणोल्लेमाण रूप है) ।— जै०महा० में पलीवेइ = प्रदीपयति (हेच० १, २२१ ; आव०एर्त्से० ९, १३), पलीवेसि और पलीवेही भी मिलते हैं (आव० एर्त्से० ९, १९ ; ३२, २१) ; इस प्राकृत में पलीवइ रूप भी है (हेच० ४, १५२ ; मार्क० पन्ना १५ ; एर्त्से०) ; महा० मे पलीवेसि, पलीविउं और पलिप्पमाण (हाल), पलिवेइ (रावण० ५, ६७)[४] ; महा० और अ०माग० में पलित्त (वर० २, १२ ; हेच० १, २२१ ; क्रम० २, २० , हाल ; रावण० ; नायाध० १११७) ; महा० में पलीविअ (हाल) ; जै० महा० मे पलीविय (पाइय० १६ ; आव० एर्त्से० ९, १५ ; ३२,२२ और २६) रूप पाये जाते हैं । अ०माग० में आलीविय (विवाग० २२५) ; आलीवण = आदीपन (देशी० १, ७१) है, जै०महा० पलीवणग (आव० एर्त्से० १९, ९) ; किंतु बिना उपसर्ग के महा० दिप्पन्त-(रावण०), दिप्पन्ति और दिप्पमाण (गउड०), अप० दीविअ = दीपित (विक्रमो० ६०,१९) और उपसर्ग के साथ शौर० में उद्दीवन्ति (मृच्छ० २, २२) और पडिवेसी रूप हैं (उत्तर० ८३, २ ; कलकतिया सस्करण १८३१ पेज ५५, १९ मे पलिवेसी पाठ है) ।— अ०माग० और० जै०महा० में दुवालस = द्वादश (पण्हा० ३४७ , विवाह० १६८ ; १७३ , २४९ और ६०८ ; उवास० ; कप्प०, एर्त्से०), दुवालसंग (हेच० १,२५४ , सम० ३ ; ठाणग० ५६९ ; सूय० ६१६ ; नदी० ३८८ और ३९४), दुवालसविह भी मिलता है (विवाह० २५९ और ५२४ ; पण्णव० ३० और ३७४ ; जीवा० ४४), दुवालसम भी आया है (आयार० १, ८, ४, ७ ; सूय० ६९९) ।— अ०माग० और जै०महा० में डोहळ रूप है, महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० मे दोहळ = दोहद है, महा० और शौर० में दोहळअ रूप है (§ २२२) जो पाली के प्रमाण के अनुसार ळ लिखा जाना चाहिए, जैसा कि माग० हळक (मृच्छ० ९,२५), हळअ (मृच्छ० १६३, २४) और इनके साथ साथ चलनेवाला साधारण रूप हडक्क (§ १९४) सिद्ध करता है । इस सम्बन्ध में § ४३६ की तुलना कीजिए ।— महा० मळइ = म्रदते (वर० ८, ५० ; हेच० ४, १२६ , रावण०), मळेसि (हाल), मळे॑इ (रावण०), मळिअ (गउड०, हाल, रावण०), परिमळसि (हाल), परिमळिअ (हाल, रावण०), विमलइ (गउड०), विमळिअ (गउड० ; रावण०), ओमळिअ (रावण०), मळण (गउड०) तथा परिमळण रूप मिलते हैं (हाल), इन सब मे ळ है जैसा मराठी और गुजराती में होता है[१] ।— अ०माग० मे एलिस = ईदृश, अनेलिस = अनीदृश, एलिक्ख और एलिक्खय = ईदृक्ष और ईदृक्षक (§ १२१) ।—

सोॅल्लइ (=वह पकाता है : हेच० ४, ९०)=सूदयति, इसमें ल का द्वित्व १९४ के अनुसार हुआ है। अ०माग० **सोॅल्ल** (पकाया हुआ; भूना हुआ : उवास० निरया०), **सोॅल्लय** (उवास०)=सूद्+न, सूद्+न+क (§ ५६६)[1] और वर्तमान रूप से निकला हुआ **सोल्लिय**=सूदित (ओव०)।—**वेळ्णा** रूप मिलता है जिसके साथ-साथ **वेड्णा** और **विड्डुणा** रूप भी हैं (§ २४०); अ०माग० में **विभेलय**=विभेदक (§ १२१) है।

1. बौल्लें नसेन द्वारा सम्पादित *विक्रमोर्वशी* २७, १३ पेज २७९ में यह शुद्ध है। हाल ५८४ की टीका में वेबर के विचार अशुद्ध हैं, वह इस स्थान पर विद्युल्लता रूप की बात सोचता है। —२. 'सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' ४५, ६८ नोटसंख्या १। याकोबी ने कुलल का स्पष्टीकरण भी अशुद्ध किया है (§ ८० देखिए)। —३. बे० बाइ० ३, २३७ और उसके बाद में पिशल का मत। —४. एक ही पाद में पटिवेद के साथ साथ पलित्त भी आया है, १, ५ देखिए ; ५, ८७ में पडित्त रूप है, १५, ७३ में केवल पइत्त है। —अन्यथा ड वाले रूपों के उदाहरण कहीं दिखाई नहीं देते। —५. हेच० ४, १२६ पर पिशल की टीका। —६. होएर्नले उवासगदसाओ में इन शब्दों को = शूल्य और शूल्यक बताता है, यह अर्थ ऐसे स्थलों से जैसा ओववाइय-सुत्त § ७४ का इंगालसोल्लिय से असत्य सिद्ध हो जाता है।

§ २३७—**सत्तरि**=सप्तति में (हेच० १, २१०) त, ड होकर (§ २१८) र बन जाता है ; अ०माग० और जै०महा० **सत्तरिं** और **सत्तरि** है, जै०महा० में **सयरि** भी है (=७०); अ०माग० में **एगूणसत्तरिं** (=६९) आया है, **एक्कसत्तरिं** (= ७१), **बावत्तरिं** (= ७२), जै०महा० में इसके लिए **बिसत्तरि** (=७२) मिलता है, अ०माग० **तेवत्तरिं** (=७३), **चवत्तरिं** और जै०महा० **चउहत्तरि** (=७४), आदि आदि। अप० में **एहत्तरि** (= ७१) और **छाहत्तरि** (=७६) § ४४६ भी देखिए। माग० में द बहुत ही अधिक स्थलों पर ड के द्वारा र बन कर ल हो गया है : अ०माग० में **उराल**=उदार (आयार० १, ८, १, ९; २, १५, १४ और १५ [पाठ में =ओराल' है]; सूय० ९५ ; ३९२ ; ४०८ और ६३९ ; ठाणग० १७७ , नायाध० § ४ ; पेज ३६९ और ५५६ ; अंत० ५७; विवाह० १० ; १५५ ; १६८ ; १७० ; २३१ ; २४८ ; ९४२ ; १०३९ और १२२८ तथा उसके बाद ; उत्तर० १०५२ और १०५८ ; उवास० ; निरया० ; कप्प० ; इसमें ओराल शब्द देखिए); **ओरालिअ**=औदारिक (पण्णव० ३९६ ; [पाठ में **उरालिय** है][2] ; ४६१ और उसके बाद ; उत्तर० ८८१ ; विवाह० १११ ; १४६ ; ५२८ और उसके बाद तथा ६२० ; ठाणग० ५४ और ५५ ; ओव०)।—**कयली**=कदली जब कि इसका अर्थ *'हाथी की सवारी पर लगायी गयी पताका'* होता है; किन्तु 'केले' के अर्थ में **कअली** रूप चलता है (हेच० १, २२० [इस सूत्र में दूसरा रूप 'केली' भी है जो हिन्दी 'केले' का आरम्भिक *प्राकृत रूप है। —अनु०*])। शौर० **कणअकेरिआ** (बाल० १३१, १४)=कनककदलिका अशुद्ध है क्योंकि महा०

और शौर० में कअली रूप (कर्पूर० ४६, १४ ; १२०, ६) है, शौर० में कदलिआ है (प्रबोध० ६६, २), अ०माग० और जै०महा० में कयली है (पाइय० २५४ ; आयार० २, १, ८, १२ [यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए ; इस ग्रन्थ में उक्त शब्द की तुलना कीजिए]) ।—गग्गर = गद्गद् (वर० २, १३ ; हेच० १ ; २१९ ; क्रम० २,२१ ; मार्क० पन्ना १५) है ।—सख्यावाचक शब्दों में दश के रूप रस और रह हो जाते हैं, ये सख्याए हैं : ग्यारह से तेरह तक, पन्द्रह और सत्रह तथा अठारह (वर० २, १४ ; हेच० १, २१९ ; क्रम० २, २१ ; मार्क० पन्ना १५) । इस नियम से : अ०माग० में एक्कारस होता है, अप० में एआरह, एगारह* और गारह रूप हैं, किन्तु अप० में एग्गदह भी आया है, चू०पै० में एकातस (= ११); अ०माग० और जै०महा० मे बारस, अप० में बारह और इसके साथ साथ अ०माग० और जै०महा० में दुवालस भी है (§ २४४) (= १२) ; अ०माग० में तेरस, अप० में तेरह (= १३) है; अ०माग० और जै०महा० पण्णरस और अप० पण्णरह (= १५) है; अ०माग० और जै०महा० सत्तरस (= १७) ; अ०माग०, जै०महा० और पल्लवदानपत्रों का अट्ठारस ; अप० अट्ठारह (= १८) है । § ४४३ भी देखिए । क्रम सख्या में भी यही नियम चलता है (§ ४४९) ।— इसके अतिरिक्त—दृश् ,—दृश और—दृक्ष से मिलकर जो विशेषण अथवा सर्वनाम बनते हैं उनमें भी द, र का रूप धारण कर लेता है : महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० एरिस, अ०माग० और जै०महा० एरिसय, अप० एरिसिअ, इनके साथ-साथ अ०माग० एलिस, अनेलिस, पै० एतिस, शौर० ईदिश = ईदृश (§ १२१) हैं ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० केरिस, जै०महा० केरिसय, माग० केलिश और इनके साथ साथ शौर० कीदिस = कीदृश (§ १२१) है , जै०महा० अन्नारिस= अन्यादृश (हेच० १,१४२ ; एर्त्सें०) है, शौर० रूप अण्णारिस है (विक्रमो० ५२,१९; मालती० ८९, ७ ; १३८, १० ; २१७, ४ ; महावीर० १२८, ७ ; भर्तृहरिनिर्वेद ४, १), किन्तु पै० में अञ्ञातिस (हेच० ४, ३१७), अप० में अण्णाइस (हेच० ४, ४१३) रूप मिलते हैं ; महा०, जै०महा० और शौर० में अम्हारिस = अस्मादृश (हेच० १, १४२ ; हाल ; एर्त्सें० ; मृच्छ० ४, १६ ; १७ और २१ ; १८, ३ ; मुद्रा० ३६, ४ ; २४१, ८ ; २५९,१; कर्पूर० १२, ८ ; विद्ध० २५, ८) है; स्त्रीलिंग में शौर० में अम्हारिसी है (विद्ध० ७१, ९; ११६, ५), किन्तु पै० में अम्हातिस है (हेच० ४, ३१७) ; महा०, जै०महा० और शौर० में तुम्हारिस=युष्मादृश (हेच० १,१४२ ; गउड० ; रावण० ; एर्त्सें० ; विद्ध० ५१, १२ ; १२१,९; कर्पूर० ९३, ९), किन्तु पै० मे युस्मातिस (हेच० ४, ३१७) है ; एआरिस = एतादृस (हेच० १, १४२) है, शौर० में एदारिस (विद्ध० १०२, २ ; यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए) है, स्त्रीलिंग मे एदारिसी है (प्रबोध० ४४,१२ ; यही पाठ पढना चाहिए) ; अ०माग० और जै०महा० जारिस = यादृश (हेच० १, १४२ ;

* घिसकर इस रूप का हिन्दी में ग्यारह हो गया है किन्तु हिन्दी की कई बोलियों में इग्यारह और इस प्रकार के अन्य रूप देखे जाते हैं । —अनु०

क्रम० १, २९; उत्तर० ७९४; एर्त्सें०), अ०माग० में जारिसय (नायाध० १२८४), किन्तु पै० में यातिस (हेच० ४,३१७) और शौर० जादिस (विद्ध० २९,३ ; ३२, १ और २) है, स्त्रीलिंग जादिसी (शकु० ५१, ११ और १२ ; प्रबोध० १६, १०) और अप० में जइस है (हेच० ४,४०३ और ४०४) ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० मे तारिस = तादृश (भाम० १, ३१, हेच० १, १४२ ; क्रम० १, २९ ; रावण० ; कर्पूर० ११५, ४ ; सूय० ३६५ और ४२९ ; उत्तर० ७९४; दस० ६३३, १९ = हेच० ४,२८७ ; आव० एर्त्सें० २७,२ ; ६ और २५ ; एर्त्सें०; विक्रमो० ५२, १९ ; महावीर० १२६, ७ ; प्रबोध० ४४, १२ [यहा तारिसीए है]) है अ०माग० मे अतारिस (आयार० १, ६, १, ६), तारिसग (नायाध०, कप्प०), माग० तालिश (मृच्छ० ३७, ११), किन्तु शौर० मे तादिस है (शकु० ३२, ५ ; विक्रमो० ५२, ७ ; ५३,११ ; प्रबोध० १६,१०), स्त्रीलिंग तादिसी (शकु० ५१, १२ ; विद्ध० ३२, १ और २), माग० तादिशी (मृच्छ० ४०, १२; प्रबोध० ६२, ७), पै० में तातिस (हेच० ४, ३१७) और अप० मे तइस रूप मिलता है (हेच० ४, ४०३) ; अ०माग० और अप० सरि = सदृक् (हेच० १, १४२ ; नायाध० ; पिंगल १,४२) ; महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर०, शौर०, दाक्षि० और अप० मे सरिस = सदृश (भाम० १, ३१ ; हेच० १, १४२ ; मार्क० पन्ना ११ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; उवास० ; निरया० ; नायाध० ; कप्प० ; कक्कुक शिलालेख १२ ; एर्त्सें० ; कत्तिगे० ३९९, ३१६ ; मृच्छ० १७, १८ ; २४, १६ ; ५५, ४ ; ९५, ११ ; १३४, १८ ; १५२, २१; शकु० १३२,१ ; १३४,८ ; विक्रमो० ६, १ ; ८, १३ [यहा यही पाठ पढना चाहिए] ; ३९, १२ ; मालवि० ६, २० आदि आदि ; दाक्षि० में : मृच्छ० १०२, २३ ; १०५, ४ ; अप० में : पिंगल १, १०), अ०माग० में सरिसय और स्त्रीलिंग सरिसया है (नायाध०), माग० में शलिश (मृच्छ० १५४, १४ ; १६४, २० ; १७६, ९) है, अप० मे सरिसिय = *सदृशिमन्=सादृश्य (हेच० ४,३९५,१) है; महा० और शौर० मे सरिच्छ=सदृक्ष (हेच० १,४४ और १४२ ; हाल; विद्ध० २३, ४), महा०, जै०महा० और जै०शौर० में सारिच्छ भी है (§ ७८) और शौर० में सारिक्ख (कर्पूर० १०८,२), सारिच्छ=*सादृक्ष्य (हेच० २,१७; गउड० ८५२ ; इसमें यह शब्द देखिए) है, अ०माग० और अप० में सारिक्ख (हेच० २, १७ ; ४, ४०४) है ; शौर० मे सारिक्खदा (कर्पूर० १०९, ७ और १०) रूप भी मिलता है। भवारिस (हेच० १, १४२) की भी तुलना कीजिए और इसके साथ अप० अवराइस=अपरादृश (हेच० ४,४१३ को मिलाइए।

१. ओराल उसी प्रकार अशुद्ध है जैसा उराल्यि। दोनों रूपों के आरम्भिक वर्ण हस्तलिपियों और छपे संस्करणों में मनमाने रूप से इधर उधर डाल दिये हैं।

§ २३८—कभी कभी त और द के स्थान मे व आसमान-सा होता है। आवज्ज = आतोद्य नहीं है (हेच० १, १५६), परन्तु = *आवाद्य (§ १२०)।

अ०माग० उज्जोवेमाण (पण्णव० १०० ; १०२ ; ११२ ; उवास० ; ओव०), उज्जोविय (नायाध० ; कप्प०) और उज्जोवेंत (नायाध०)= भीतर बिठाये हुए च[1] के साथ उद्योतयमान, उद्योतित और उद्योतयन्त नहीं है, परन्तु द्यु धातु से सम्बन्ध रखते हैं जो संस्कृत मे द्यु (=दिन), दिद्यु (=वज्र ; बिजली की चमक) मे है, सम्भवतः यह अप० जोण्दि (=जोहना ; देखना है : हेच० ४, ४२२, ६ और उसकी शब्दानुक्रम सूची में है) और यह शब्द निश्चय ही नवीन भारतीय आर्य भाषाओं में है[1]। महा० रुवइ और महा० तथा जै०महा० रोवइ रुद् धातु से नहीं निकले हैं, परन्तु इनकी व्युत्पत्ति रु धातु से है (§ ४७३)। कवट्टिअ=कदर्थित नहीं है (हेच० १, २२४ ; २, २९), परतु=कद् अर्थ मे कव = कु+*आर्तित = आर्त (§ २८९ और ४२८) है। प्राकृत के सभी व्याकरणकारों द्वारा मान्य ध्वनि परिवर्तन के कई अन्य उदाहरण भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से गिर जाते हैं। एरावण=ऐरावत नहीं है (वर० २,११ ; भाम० १,३५ ; क्रम० २, ३१ ; मार्क० पन्ना १५); किंतु यह=ऐरावण (हेच० १, १४८ ; २०८ ; § ६०) है। गब्भिण=गर्भित नहीं है (वर० २, १० ; हेच० १, २०८ ; क्रम० २, ३१ ; मार्क० पन्ना १५), किन्तु यह = गर्भिन् है जिसका हलन्त प्राकृत में अ रूप मे परिवर्तित हो गया है (§ ४०६)। हेमचन्द्र १,२६ ; १७८ और २०८ के अनुसार अतिमुक्तक का अणिंउंतअ और इसके साथ साथ अइमुंतअ हो जाता है (मेरे पास हेमचन्द्र का जो व्याकरण है उसमें अणिउँतय और अइमुंतय रूप हैं न कि पिशल द्वारा दिये गये अतिम स्वर–अ वाले रूप। —अनु०), अ०माग० मे यह नियमानुसार अइमुत्तय (हेच० १, २६ ; और ओव० § ८ ; [इस पर अनु० की ऊपर दी हुई टिप्पणी देखिए। –अनु०]), शौर० मे अदिमो त्तअ (मृच्छ० ७३, १०), जै०महा० में अतिमुक्त के समान अइमुत्त (पाइय० २५६) और शौर० में अदिमुत्त रूप है (विक्रमो० २१,९ ; वृषभ० १५,१७ ; ४७, १५ , मल्लिका० ९७,६ ; १२८, १५)। मार्कण्डेय पन्ना ३४ मे हस्तलिपि मे अइमुत्त है, इसके स्थान पर अइमुंत पढा जाना चाहिए ; भामह ४, १५ मे अइमुंक मिलता है, यह अहिमुंक के लिए आया है और अभिमुक्त से इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। अणिंउंतअ कहा से आया यह अस्पष्ट है। —अ०माग० में त के अशुद्ध प्रयोग के लिए § २०३ देखिए ; त के स्थान पर द के लिए § १९२, २०३ और २०४ देखिए ; त के स्थान पर ट और ड के लिए § २१८ और २१९ ; द के स्थान पर त् के लिए § १९० और १९१ तथा द के स्थान पर ड के लिए § २२२ देखिए।

१. लौयमान द्वारा संपादित औपपातिक सुत्त में उज्जोय् शब्द देखिए। हेमचन्द्र ४, ३३२ पर पिशल की टीका।

§ २३९—थ का ढ (§ २२१), ध का ढ (§ २२३) और चू०पै० में ध का थ बन जाता है (§ १९१)। अ०माग० में समिला (उत्तर० ५९२ और ७८८) रूप का स्पष्टीकरण याकोबी[1] इसे समिध से निकला बताकर करते हैं। यह ध्वनि के नियमों के अनुसार असभव है और अर्थ के विपरीत भी है। टीकाकार ने इसका स्पष्टी-

करण कीलिका, युगकीलिका से किया है, यह साफ संकेत करता है कि यह *समिता का रूप है ; समित् और समित्ति की तुलना कीजिए।—न अधिकांश में ण हो जाता है (§ २२४)। निम्ब में यह ल बन जाता है : लिम्ब (हेच० १,२३०)= मराठी लिंब, अप० लिम्बडअ रूप है (हेच० ४, ३८७, २)=गुजराती लिंबड, इसके साथ साथ महा० में णिम्ब भी है (हेच० १, २३० ; हाल), अ०माग० निम्बोलिया = निम्बगुलिका (नायाध०११५२ ; ११७३ ; § १६७ की तुलना कीजिए)। —ण्हाविय = नापित के विषय में § २१० देखिए।

१. 'सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' ४५ पेज ९४, नोटसंख्या ४।

§ २४०—प के स्थान पर नियम के अनुसार व (§ १९९) हो जाता है और बोली के हिसाब से यह ब (§ १९२) तथा भ (§ २०९) रूप ले लेता है तथा कभी-कभी म बन जाता है : महा०, अ०माग० और जै०महा० आमेळ = आपीड, महा० में आमेळिअअ भी है, अ०माग० में आमेळग और आमेळय भी हैं (§ १२२) ; णिमेळ=*णिपीड्य (§ १२२) है; महा० में णुमज्जइ = निपद्यते, णुमण्ण = निपन्न (§ ११८) हैं; अ०माग० आणमणी = आज्ञापनी (पण्णव० ३६३ और उसके बाद ; ३६९) है, इसके साथ साथ आणवणी भी है (पण्णव० ३६४ और उसके बाद) ; अ०माग० में चिमिढ = चिपिट (नायाध० ७५१ ; टीका में चिमिट्ठ रूप है) है, इसके विपरीत चिविढ भी है (नायाध० ७४५; पाठ में चिविट्ठ है, टीका में चिमिट्ठ, पाठ में ७५१ की भाँति चिमिढ पढना चाहिए ; § २०७ की तुलना कीजिए) ; अ०माग० में कुणिम = कुणप (सूय० २२५ ; २८२ ; ४८३ ; ८११; ठाणग० ३३८ ; पण्हा० १७९; जीवा० २५५ ; ओव०) है; अ०माग० तलिम = तल्प (देशी० ५, २० ; पाइय० १७७ और १२२ ; नायाध ११९२ और उसके बाद) है ; अ०माग० में नीम और णीम = नीप (हेच० १, २३४३ ; दस० ६२३,५ ; पण्णव० ३१ ; ओव० ; ओव० ६ ६ नोटसंख्या १२ की तुलना कीजिए) है, इसके साथ साथ अ०माग० नीव और अप० णीव चलता है (हेच० १, २३४ ; ओव० ; पिंगल १, ६० ; २, ८२) ; अ०माग० भिण्डिमाल = भिण्डिपाल (जीवा० २५७ और २७९ ; पण्हा० ६१ और १५८ ; ओव०), इसके साथ साथ भिण्डिवाल भी है (वर० ३, ४६ ; हेच० २, ३८ [इस पर पिशल की टीका देखिए] ; ८९ ; क्रम० २, ६५ ; मार्क० पन्ना २६) ; अ०माग० मणाम = पाली मनाप (ठाणग० ६५ ; ६६ ; ५२७ ; सम० ९४ ; विवाह० १६२ और ४८० ; नायाध० ; निरया० ; ओव०; कप्प०) है, स्त्रीलिंग मणामी है (विवाह० १९६), अमणाम भी मिलता है (सूय० ६३० ; विवाग० ४० और उसके बाद ; सम० २२७ ; जीवा० २५६ ; विवाह० ८९ ; ११७ और २५४) ; अ०माग० में वणीमग और वणीमय = वनीपक (आयार० २, १, १, १२ ; २, १ ; ५, १ ; २, २, २, ८ और उसके बाद ; २, ३, १, २ ; २, ५, १, ९ और उसके बाद ; २, ६, १, ७ ; २, १०, २ और ३ ; २, १५, ११ ; पण्हा० ४९२ ; ठाणग० ३, ९७ ; नायाध० १०८६ ; दस० ६२२, ३१ और ३५ ; ६२६, २९ ; कप्प०), वणीमयत्ताए = वनीपकतया (पण्हा० ३५८ ; पाठ में

घणीययाए है) ; अ०माग० में विडिय = विटय (= शाखा : आयार० २, ४, २, १२ ; पण्हा० ४३७ ; जीवा० ५४८ और उसके बाद ; दस० ; ६२८, २८ ; ओव० § ४ ; = पेड ; वृक्ष : दस० नि० ६४५, ५ ; = गेंदा : देशी० ७, ८९ ; ओव० § ३७ । [३७] ; = बालमृग ; शिशुमृग : देशी० ७, ८९), किंतु महा० और शौर० मे विडव है (भाम० २, २० ; क्रम० २, १० ; गउड० ; हाल ; रावण० ; शकु० ६७, २ ; १३७, ५ ; विक्रमो० १२, १७ ; २२, १२ ; ३१, १) ; विडवि = विटपिन् (पाइय० ५४) ; अ०माग० और जै०महा० मे सुमिण और उसके साथ साथ सुविण ; जै०महा० में सुमिणग और इसके साथ साथ सुविणग ; सिमिण और इसके साथ साथ महा० सिविण, शौर० और माग० सिविणअ=पाली सुपिन= संस्कृत स्वप्न (§ १७७) । यह ध्वनि परिवर्तन प्रायः पूर्ण रूप से अ०माग० तक ही सीमित है और इसका स्पष्टीकरण म तथा व के परस्पर स्थानपरिवर्तन से हो जाता है (§ २५१ और २६१) ।

§ २४९—शौर० पारद्धि (= आखेट : विद्ध० २३, ९) जिसे हेमचन्द्र १, २३५ मे और नारायणदीक्षित विद्धशालभंजिका २३, ९ की टीका मे = पापर्धि बताते हैं = प्रारब्धि ; इसका समानार्थक पारद्ध (देशी० ६,७७), जो 'पूर्वकृतकर्मपरिणाम' और 'पीडित' अर्थ का द्योतक है = प्रारब्ध ।

§ २५०—जिस प्रकार प (§ २४८) वैसे ही कभी-कभी व भी म रूप धारण कर लेता है : कमन्ध = कबन्ध (वर० २, १९ ; हेच० १, २३९ ; मार्क० पन्ना १६) । हेच० १, २३९, मार्क० पन्ना १६, पिशल द्वारा संपादित प्राकृतमंजरी, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस, पेज १४ मे बताया गया है कि इसका एक रूप कयंध भी होता है, जो अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० से निकला है, इसलिए यह मानना होगा कि कयंध का य लघुप्रयत्नतर यकार है । महा०, जै०महा० और अप० कवन्ध के उदाहरण मिलते हैं (§ २०१), जो रूप मार्क० पन्ना ६७ के अनुसार शौर० में भी सदा पाया जाता है । —समर = शबर (हेच० १,२५८), किंतु महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में सवर है , महा० और अ०माग० में स्त्रीलिंग सवरी है (§ २०१) । जै०महा० माहण जिसे वेबर[1], ए. म्युलर[2], याकोबी[3], लौयमान[4] ; एस. गौल्दश्मित्त[5], आस्कोली[6] और होएर्नले[7] = ब्राह्मण बताते हे, भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह समता असभव है । अ०माग० और जै०महा० में बम्भ = ब्रह्मन्, बम्भयारि= ब्रह्मचारिन्, बम्भण्णय = ब्राह्मण्यक, बम्भलोय = ब्रह्मलोक आदि आदि (§ २६७) के रूपो के अनुसार ब्राह्मण शब्द का प्राकृत बम्भण होना चाहिए था क्योंकि ऊपर इसी प्रकार का ध्वनिपरिवर्तन का क्रम है । और ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, अ०माग० और जै०महा० में बंभण (उत्तर० ७४८ ; ७५३ और उसके बाद ; आव०एर्त्से० १८, १५ ; एर्त्से० ; कालका०), अ०माग० में सुबम्भण आया है (पण्हा० ४४८) । कभी कभी ये दोनों शब्द एक साथ मिलते हैं, जैसा औसगेवैल्ते एर्त्सेलुगन १, ७ मे माहणस्स रूप है और १, ८ मे बम्भणेण लिखा है ; कालका० २७६,२५ में बम्भणरूव है किंतु दो, ५०८,१९ मे माहणरूवग है । अ०माग० प्रायः

सर्वत्र **माहण** का व्यवहार करती है[8] (उदाहरणार्थ, आयार० २,१,१,१२ ; २, १ ; ३ ; ११, ९ ; २, २, १, २ ; २, ८ और ९ ; २,६,१,१ ; २, ७, २, १ ; २, १५, २ ; ४ और ११ ; सूय० १७ ; ५६ ; ७४ ; १०५ ; १०६ ; ११३ ; ११८ ; ३७३ ; ४१९ ; ४६५ ; ४९५ ; ५५३ ; ६२० ; ६४२ और उसके बाद ; विवाह० ११५ ; ११९ ; ३४३ ; विवाग० १५२ और उसके बाद ; ओव० ; कप्प०), **महामाहण** है (उवास०), अ०माग० और जै०महा० मे स्त्रीलिंग **माहणी** है (आयार० २, १५, २ ; नायाध० ११५१ ; विवाह० ७८८ ; कप्प० ; आव०एत्सें० १२, १), **माहणत्त**=ब्राह्मणत्व (उत्तर० ७५६) है। मैं इस सम्बन्ध में संस्कृत शब्द **मख** (=यज्ञ) को अधिक उपयुक्त मानता हूँ, **मख** का अर्थ होता है यज्ञ सम्बन्धी, इसलिए मेरे विचार से *माखन='यज्ञ करानेवाला पुरोहित'।

१. भगवती १, ४१०, नोट-संख्या ५। —२. बाइत्रैगे पेज २९। —३. कल्पसुत्त और औसगेवैल्ते एत्सेंलुंगन में यह शब्द देखिए। —४. औपपातिक सूत्र में यह शब्द देखिए। —५. प्राकृतिका० पेज १५। —६. क्रिटिशे स्टुडिएन पेज २२१, नोटसंख्या ८ के साथ। —७. उवासगदसाओ, अनुवाद पेज १२०, नोटसंख्या २७१। —८. इस संबंध में उत्तरज्झयणसुत्त ७४८ की तुलना करें जिसमें आया है 'जे लोए बम्भणो वुत्तो...तं वयं बूम माहणं।'

§ २५१—शब्द के भीतर का **म** अप० में **वँ** हो जाता है (हेच० ४, ३९७) : **कवँल** और उसके साथ साथ **कमल** है (हेच० ४, ३९७) ; **भवँर** और उसके साथ साथ **भमर** है (हेच० ४,३९७); **नीसावँण्ण**=निःसामान्य (हेच० ४,३४१,१); **पवाँण**=प्रमाण (हेच० ४, ४१९, ३), इसके साथ-साथ **पमाण** (हेच० ४,३९९, १) चलता है ; **भँवइ**=भ्रमति (हेच० ४,४०१,२) ; **वज्जवँ**=वज्रमय (हेच० ४, ३९५, ५) ; **सवँ**=सम (हेच० ४, ३५८, २) ; **सुवँरहि** और इसके साथ साथ **सुमरि**=स्मर (हेच० ४, ३८७)। यह ध्वनिपरिवर्तन अन्य प्राकृत भाषाओं और कुछ अश मे स्वय अप० मे धुँधला हो गया है, क्योंकि या तो अनुनासिक के बाद का **व** या इससे भी अधिक स्थलों पर **व** से पहले का अनुनासिक लुप्त हो गया है। परिणाम यह हुआ है कि इसका केवल ँ या **व** शेष रह गया है। इस प्रकार हेमचन्द्र १; १७८ के अनुसार **म्** के स्थान पर **अणिउंतय**=अतिमुक्तक मे अनुनासिक आ गया है (§ २४६) ; **काँउअ**=कामुक ; **चाँउण्डा**=चामुण्डा ; **जँउणा**=यमुना। वर० २, ३ ; क्रम० २, ५ और मार्क० पन्ना १४ के अनुसार **यमुना** के **म** की विच्युति हो जाती है और इस प्रकार महा०, अ०माग० और जै०महा० में **जउणा** है (गउड० ; हाल ६७१ की टीका में यह शब्द देखिए ; कंस० ५५, ५ ; प्रबन्ध० २७, २ ; ठाणग० ५४४ ; विवाग० २०८ ; द्वार० ४९७, २० ; तीर्थ० ४, ८)। अधिकाश हस्तलिपियों में हाल ६७१ में **जमुणा** पाया जाता है तथा शौर० में भी यही रूप है (विक्रमो० २३, १३ ; ४१, ३)। महा०, अ०माग० और जै०महा० में शुद्ध लिपि **जँउणा** होना चाहिए (§ १७९)। **काँउअ** के स्थान पर महा० और शौर० में **कामुअ** है (हाल ; मृच्छ० २५, २१ ; ७१, ६ ; विक्रमो० २१, १८ ; ३१, १४),

जै०महा० में **कामुय** भी मिलता है (एर्से०) ; **चाँउण्डा** के स्थान पर शौर० में **चामुण्डा** है (मालती० ३०,५ ; कर्पूर० १०५, २ ; १०६, २ ; १०७, १) । महा० में **कुमरी** के लिए **कुअरी** रूप जो =**कुमारी** है, अशुद्ध है (हाल २९८) और वेबर के हाल[1] भूमिका के पेज ६१ श्लोक २९८ की टीका में अन्य शब्दों पर जो लिखा गया है वह भी देखिए। अप० में **थाउँ** = **स्थामन्** में यही ध्वनि-परिवर्तन माना जाना चाहिए (हेच० ४, ३५८, १ ; पाठ में थाउ है), टीकाकारों के अनुसार इसका अर्थ 'स्थान' है। क्रम० ५, ९९ में **थाम** स्थनि है। इसके अतिरिक्त **भमुहा** से जो **भोँहा** निकला है (पिंगल २, ९८ ; पाठ में **भोहा** है ; एस० गौल्दश्मित्त **भमुहा** ; § १२४ और १६६ की तुलना कीजिए) और **हणुँआ** = **हनुमान** (पिंगल १,६३ अ; पाठ में **हणुआ** है) में भी यही ध्वनि परिवर्तन है। —अ०माग० **अणवदग्ग**, अ०माग० और जै०महा० **अणवयग्ग** = पाली **अनमतग्ग** = **अनमदग्र**[1] (सूय० ४५६ [पाठ में **अणोवदग्ग** है] ; ७८७; ७८९; ८६७; ठाणंग० ४१ और १२९ ; पण्हा० २१४ और ३०२ ; नायाध० ४६४ और ४७१ ; विवाह० ३८ ; ३९ ; १६० ; ८४८ ; ११२८; १२९० ; १३२४ ; उत्तर० ८४२ ; एर्से०) में **म** के स्थान पर **व** बैठ गया है ; इसका संबंध **नम्** धातु से है, इसके महा०, जै०महा० और अप० रूप में भी कभी-कभी **व** मिलता है ; **णवइ** (हेच० ४, २२६) ; महा० **ओणविअ** = ***अवनमित** = **अवनत** (हाल ६३७) ; जै०महा० में **नवकार** = **नमस्कार** (एर्से० ३५, २३ ; २५ ; २७ और २९) ; अ०माग० **विप्पणवन्ति** = **विप्रणमन्ति** (सूय० ४७२) ; अप० **णवहिँ** = **नमन्ति** (हेच० ४, ३६७, ४), **णवन्ताहँ** = **नमन्ताम्** (हेच० ४, ३९९) । अधिकांश में **नम्** सभी प्राकृत भाषाओं में **म** बनाये रहता है। **अहिवण्णु** (हेच० १, २४३) और इसके साथ साथ **अहिमण्णु** (हेच० १, २४३ ; ३४, १२ ; ६४, १६) रूप मिलते हैं ; अप० में **रवण्ण** = **रमण्य** (हेच० ४,४२२, ११); अ०माग० में **वाणवन्तर**[2] और इसके साथ साथ साधारण प्रचलित **वाणमन्तर** पाये जाते है (नायाध० ११२४ ; ठाणग० २२२ ; भग० ; ओव०; कप्प०) । —शब्द के आरम मे भी कभी कभी **म** का **व** हो जाता है : अ०माग० मे **वीमंसा** = **मीमांसा** (सूय० ५९; ठाणग० ३३२ और उसके बाद; नंदी० ३५१; ३८१; ३८३ और ५०५), **वीमंसय** = **मीमांसक** (पण्हा० १७९)[3] ; **वंजर** (हेच० २, १३२) और इसके साथ साथ **मंजर** (§ ८१; ८६) रूप मिलते हैं [=मार्जार। —अनु०]; महा०, जै०महा० और अप० **वम्मह** = **मन्मथ** (वर० २,३९ ; चड० ३,२१ ; हेच० १,२४२ ; क्रम० २, ४५ ; मार्क० पन्ना १८ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; कर्पूर० ३८,११ ; ४७,१६ ; ५७, ६ ; विद्ध० २४, १२ ; धूर्त० ३, १३ ; उन्मत्त० २, १९ ; एर्से० ; पिंगल २, ८८), पद्य में माग० में भी यही रूप आया है (मृच्छ० १०, १३ ; पाठ मे **वम्मह** है ; गोडबोले के सस्करण में २८, ४ की नोट सहित तुलना करें), किंतु शौर० में **मम्मध**[4] रूप है (शकु० ५३, २ ; हास्या० २२, १५ ; २५, ३ और १४ ; कर्पूर० ९२, ८ ; मालती० ८१, २ ; १२५, २ ; २६६, ३ ; नागा० १२, २ ; प्रसन्न० ३२, १२ ; ३६, १८ ; ८४; ३ ; वृषभ० २९, १९ ; ३८, ११ ; ४२, ११ ; ४९, ९ ;

५१, १० ; पार्वती० २४,१५ ; २६, २३ ; २८, ५ ; ३०,१७ ; बाल० १३५, १० ; कर्ण० ३०, ५ ; अनर्घ० २७०, ८ आदि आदि)। व्यंजन समूह के भीतर म का व हो जाने के विषय में § २७७ और ३१२ देखिए। शास्त्रोली कृत त्रिदिशे स्टुडिएन, पेज २०० और उसके बाद की तुलना कीजिए। महा० और अप० भसल (=भौंरा : हाल ; कर्पूर० १०, ७ ; ८ ; ६४, ५ ; हेच० ४, ४४४, ५); हेच० १, २४, ४ और २५४ ; देशी० ६, १०१ के अनुसार 'भ्रमर' से नहीं निकला है और नहीं वेबर के अनुसार भ्रंश धातु से कोई संबंध रखता है परन्तु भस्मन् (=राख), भसद् (=गुदा-द्वार) और भस्त्रा के साथ-साथ (=धौंकनी) भस् धातु जिसका अर्थ ध्वनि के साथ धौंकना है, उससे निकला है अर्थात् 'अस्पष्ट ध्वनि करनेवाले'[1] के रूप में भौंरे का नाम है। यह रूप संस्कृत में भी ले लिया गया है[2]।

१. इस शब्द का ठीक अर्थ जो विवाहपन्नत्ति ९९१ को छोड़कर अन्यत्र 'संसार' शब्द का पर्याय है, इसका शब्दार्थ है 'जिसका आरंभ अपने पथ से मुड़ता नहीं' = 'जिसका आरंभ अपने पथ से बदलता नहीं' = अनंत। याकोबी ने नम् का ठीक अर्थ पकड़ा है, औसगेवैल्ते एर्सेलुंगन में यह शब्द देखिए, इसका और अर्थ अशुद्ध है। बे. बाइ. ३, २४५ में पिशल का मत भी अशुद्ध है। टीकाकार इस शब्द का अर्थ अनंत, अपर्यंत और अपर्यवसान करते हैं और अवदग्ग तथा अवमग्ग को देशी शब्द बताते हैं जिसका अर्थ 'अंत' है, इस प्रकार वे इस शब्द को दो भागों में विभक्त करते हैं : अण् + अवदग्ग। — २. लौयमान द्वारा संपादित औपपातिक सूत्र में वाणमन्तर शब्द देखिए। — ३. टीकाकार इस शब्द का अर्थ विमर्द और विमर्दक करते हैं। — ४. भारतीय संस्करणों में सदा मम्मह रूप लिखा मिलता है। उनमें शौर० में कभी-कभी अशुद्धि के कारण वम्मह भी मिलता है (बाल० २४, ११ ; २४२, ४ ; विद्ध० २३, ९ ; ९९, ८ ; रुक्मिणी० १९, १० ; २०, ७ ; २८, ६ ; ३०, १४ ; मल्लिका० १२२, १८ ; १२४, ३ ; १५८, १९ आदि-आदि), इसके ठीक विपरीत महा० में मम्मह आता है (अच्युत० ५८; हाल ३२७ और ५७६ में अशुद्धि के कारण यह रूप आया है [इस ग्रंथ में इस शब्द की तुलना कीजिए]) । एस. गौल्दश्मित्त अपने ग्रंथ स्पेसिमेन, पेज १० में भूल से वम्मह रूप लिखना चाहता था। — ५ हाल ४४४ की टीका। — ६. पिशल कृत वैदिशे स्टुडिएन १, ६३। — ७. हेच० १, २४४ पर पिशल की टीका।

§ २५२—माग०, पै० और चू०पै० को छोड़ अन्य प्राकृत भाषाओं में शब्द के आरंभ में आनेवाला य ज बन जाता है (वर० २, ३१ ; चण्ड० ३, १५ ; हेच० १, २४५ ; क्रम० २, ३८ ; मार्क० पन्ना १७) : महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै० शौर० और दाक्षि० में ! (मृच्छ० १०१,९ ; १०२, २१ ; १०३, १५ ; १०५,७)। ढक्की और अप० में जइ रूप है, शौर० और आव० में भी (मृच्छ० १०५, ३) जदि = यदि, किंतु माग० में यइ, यदि रूप हैं, महा०, अ०माग०, जै०महा० और आव० में (मृच्छ० १००, १२)। अप० जइ, जै०शौर० जध, शौर० और दाक्षि० (मृच्छ०

२०५, २१) जधा = यथा, किंतु माग० में यधा रूप है (§ ११३) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० में जक्ख = यक्ष (गउड० ; हाल ; कर्पूर० २६, १ ; आयार० २,१,२,३; सूय० ६७४; पण्णव० ७५ ; ठाणग० ९० और २२९; नायाध० ; ओव० ; आव०एर्से० १३, २५ और इसके बाद ; एर्से०) ; जै०शौर० जदि = यति (पव० ३८३, ६९) ; महा०, अ०माग० ; जै०महा० और अप० जूह, शौर० जूध = यूथ (§ २२१) ; महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर० और अप० जोॅव्वण = यौवन (§ ९०) ; अ०माग० और जै०महा० जारिस और पै० यातिस = यादृश, शौर० में जादिसी = यादृशी (§ २४५)। शब्द के भीतर यही परिवर्तन होता है, जब यह § ९१ के अनुसार महा०, अ०माग०, जै० महा०, जै०शौर०, दाक्षि० और अप० में द्वित्व रूप ग्रहण कर लेता है (वर० २, १७ ; चण्ड० ३, २५ ; हेच० १, २४८; क्रम० २, ३६ और ३७ ; मार्क० पन्ना १६) जैसा कि अ०माग०, जै०महा० और अप० में दिज्जइ, जै०शौर० में दिज्जदि = दीयते किन्तु पै० में तिय्यते रूप है, शौर० और माग० में दीअदि है (§ ५४५); अ०माग० और जै०महा० में होॅज्जा = भूयात्, अ०माग० में देॅज्जा = देयात्, अहिट्ठेॅज्जा= अधिष्ठेयात् और पहेॅज्जा = प्रहेयात् (§ ४६६) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० में करणिज्ज=करणीय, किन्तु शौर० में करणीअ रूप है। अ०माग० में वन्दणिज्ज किन्तु शौर० में वन्दणीअ रूप मिलता है (§ ५७१) ; अ०माग० में अंगुलिज्जक = अङ्गुलीयक (नायाध० ; पाठ में अंगुलेॅज्जक रूप है ; ओव० ; कप्प०) ; अ०माग० और जै०महा० में कञ्चुइज्ज = कञ्चुकीय (कमरे की देख-भाल करनेवाला : विवाह० ७९२ ; ८०० ; ९६३ ; ९६६ ; राय० २८९ ; नायाध० § १२८ ; ओव० ; आव० एर्से० ८, ८); अ०माग० कोसेॅज्ज = कौशेय (ओव०); अ०माग० गेवेज्ज = ग्रैवेय (उत्तर० १०८६ ; नायाध० ; ओव०; कप्प० [पाठ में गेविज्ज है]) , अ०माग० और जै०महा० नामधेज्ज = नामधेय (आयार० २, १५, ११, १५ ; नायाध० § ९२ ; ११६ ; पेज १२२८ और १३५१ ; पाठ में नामधिज्ज है ; पण्हा० ३०३ और ३२७ ; ओव० § १६ ; १०५ और १६५ ; निर-या० ; कप्प० ; आव० एर्से० १०, २)। शब्द के भीतर आने पर § १८६ के अनु-सार य की विच्युति हो जाती है। माग०, पै० और चू०पै० में शब्द के आरम्भ और मध्य में य बना रहता है, अ०माग० में शब्द के आदि में केवल तब बना रहता है इसका द्वित्व हो जाता है (हेच० ४, २९२) ; माग० में युग=युग (हेच० ४, २८८); यादि = याति, यधाशलूव=यथास्वरूप, याणवत्त = यानपत्र (हेच० ४, २९२); युत्त = युक्त (हेच० ४, ३०२) ; यक्ख = यक्ष (रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ की टीका में नमिसाधु) ; यधा – यथा, यंयं=यद्-यद्, यधस्तं [पाठ में यधस्तं है] = यथार्थम् (ललित० ५६६, ५ , ८ और ९ शब्द के भीतर ; अलक्ष्यिय्यमाण = अलक्ष्यमाण, पेक्खिय्यन्दि और पेक्खिय्यसि [पाठ में पेक्खिय्यशि है]= प्रेक्ष्यन्ते और प्रेक्ष्यसे, याणिय्यादि=ज्ञायते (ललित० ५६५, ७ ; १३ और १५; ४६६, १)। जैसे ज के विषय में वैसे ही (§ २३६) यहाँ भी हस्तलिपियाँ इस नियम

की अशुद्ध पुष्टि नहीं करतीं। पै० में युत्त = युक्त, यातिम, युम्हातिस और यद् = यादृश,युष्मादृश और यद् (हेच० ४, ३०६ ; ३१७ और ३२३) शब्द के भीतर: गिय्यते = गीयते, तिय्यते = दीयते, रमिय्यते = रम्यते, पढिय्यते=पठ्यते, हुवेय्य=भवेत् (हेच० ४, ३१५ ; ३२० और ३२३) ; चू०पै० में नियोचित= नियोजित (हेच० ४, ३२५ ; ३२७ की भी तुलना कीजिए)। दोॅग्ग=युग्म के विषय मे § २१५ और येव=एव के विषय में § ३३६ देखिए।

§ २५३—जैसा न के व्यवहार मे (§ २२४), वैसे ही य के प्रयोग में भी पल्लवदानपत्रों में मार्के का भेद दिखाई देता है। नीचे दिये शब्दों में यह शब्द के आदि मे बना रह गया है :— याजी (५, १);—प्पयुत्ते = प्रयुक्तान् (५, ६) ; —यसो = यशस् (६, ९) ; योल्लक (१६, ३१) ; यो = यः (७, ४६); इसके विपरीत ७, ४४ में जो रूप आया है और—संजुत्तो = संयुक्तः (७, ४७)। विजयबुद्धवर्मन के दानपत्रों में युच– आया है (१०१, २)। शब्द के मध्य में सरल य पल्लव और विजयबुद्धवर्मन के दानपत्रों में अपरिवर्तित रह गया है : पल्लवदानपत्र में—वाजपेय—(५, १); विसये = विषये (५, ३) ; नेयिके = नैयिकान् (५, ६) ; —आयु = आयुस्—, विजयवेजयीके=विजयवैजयिकान् (६, ९) ;—प्पदायिनो=प्रदायिनः (६, ११); आत्तेय–=आत्रेय–(६, १३); संविनयिकम् (६, ३२); विसय– = विषय–(६, ३५) ; आपिट्टीयं = आपिष्यम् (६, ३७) ; भूयो=भूयः (७, ४१); वसुधाधिपतये = वसुधाधिपतीन् (७, ४४); अजातायें = अ०माग० अज्जत्ताए (कप्प० ; ठाणग० २ ; एस [S.] ६, ७) = अद्यत्वाय (७, ४५)[1]; सहस्साय=सहस्राय (७, ४८); विजयबुद्धवर्मन् के दानपत्रों में : विजय (१०१, १ और ३); नारायणस्स, आयुं, वद्धनीयं (१०१, ८) ; गामेयिका (१०१, १०; एपिग्राफिका इण्डिका १, २ नोटसख्या २ की तुलना कीजिए); परिहरयं (१०१, ११ ; एपिग्राफिका इण्डिका १, २ नोटसख्या २ की तुलना कीजिए)। द्वित्व य के विषय में पल्लवदानपत्रों के विषय मे वही भेद दिखाई देता है जो शब्द के आरम्भ मे य के विषय में देखा जाता है : ६, ४० मे कारॅय्य और कारवेज्जा = कुर्यात् और कारयेत् साथ साथ आये हैं ; ७, १ मे कारेय्याम = कुर्याम, किन्तु ७, ४६ वट्टेजा = वर्तयेत् और ७, ४८ में होज = भूयात्[2]। अजातायें में द्य का जैसा कि § २८० में साधारण नियम बताया गया है ज्ज हो जाता है ; गोलसमंजस, अगिसयंजस्स, दत्तजस, दामजस, सालसमजस और अगिसमजस (६, १२; १३, २१; २३ ; २७ और ३७), यें नियमानुसार ज्ज हो गया है, यदि ब्यूलर ने अज– = आर्य की समता ठीक बैठायी हो तो[3] किन्तु नंदिजस और सामिजस (६, २१ और २६) ध्वनि के अनुसार ब्यूलर के मत से = नंद्यार्यस्य और स्वाम्यार्यस्य नहीं हो सकते अपितु = नंदिजस्य और स्वामिजस्य है। इस प्रकार के अन्य शब्दों के लिए भी ज माना जाना चाहिए।

१. लौयमान का यह स्पष्टीकरण ठीक है; ना० गे० वि० गो० १८९५, २११

में पिशल का मत अशुद्ध है। — २. एपिग्राफिका इंडिका १, २ और उसके बाद ब्यूलर के मत की तुलना कीजिए। — ३. एपिग्राफिका इण्डिका १, २।

§ २५४—अ०माग० **परियाग=पर्याय** में भासमान होता है कि **य** के स्थान पर **ग** हो गया है (आयार० २, १५, १६; विवाग० २७०; विवाह० १३५ ; १७३ ; २२० ; २२३ ; २३५ ; २४१; ७९६ ; ८४५; ९६८ ; ९६९ ; नायाध० १२२५ ; उवास०; ओव०), इसके साथ **परियाय** भी चलता है (उवास०; ओव०) । होएर्नले के अनुसार (उवास० मे यह शब्द देखिए) **परियाग= पर्यायक**, इसमें § १६५ के अनुसार सन्धि हुई है और इसका पद्य में प्रयोग सर्वथा असम्भव है। मेरा अनुमान है कि **परियाग=** * **परियाव** और इसमें § २३१ के अनुसार **व** के स्थान पर **ग** बैठ गया है। इसका प्रमाण अ०माग० और जै०महा० **पज्जव=पर्याय** से मिलता है। इसी प्रकार अ०माग० **नियाग** (आयार० १, १, ३, १ ; सूय० ६६५ [पाठ में **णियाग** है])=**न्याय** जो **न्याय** के लिए आया है ; टीका में इसका अर्थ= **मोक्ष मार्ग, संयम** और **मोक्ष**। — **कइअवं = कतिपयम्** में (हेच० १, २५०) संस्कृत[1] और पालि[2] मे होता है, **य** और **व** मे स्थानपरिवर्तन हो गया है ; अ०माग० और जै०महा० **पज्जव = पर्याय** (§ ८१) ; अ०माग० **तावत्तीसा = त्रयस्त्रिंशत्**, इन प्राकृतों में **तावत्तीसगा** और **तावत्तीसया=त्रयस्त्रिंशकाः** (§ ४३८) ; अप० **आवइ = आयाति** (हेच० ४, ३६७, १, ४१९, ३), **आवहि** (हेच० ४, ४२२, १) और **आव** [गौल्दश्मित्त ने **आउ** रूप दिया है] = **आयाति** (पिंगल २, ८८)[3], अप० मे **गाव** [गौल्दश्मित्त ने **गाउ** रूप दिया है] = **गायन्ति** (पिंगल २, ८८), **गावन्त** रूप भी मिलता है (पिंगल २,२३०), इनके अतिरिक्त अवश्य कर्त्तव्य सूत्र के क्रिया के रूप में अप० मे **-एव्वा, -ऍव्वउँ, -इऍव्वउ**, जैश **-सोएवा = *स्वपेय्य** (§ ४९७), **जगोवा =** * **जाग्रेय्य** मे भी **य** के स्थान पर **व** पाया जाता है, ऐसा ही **करिऍव्वउँ=*कर्येय्यकम्** कर्मवाचक रूप है (§ ५४७), **सहेव्वउँ = सहेय्यकम्** भी ऐसा ही है (§ ५७०)। नीचे दिये गये शब्दों में गौण **य** के स्थान पर **व** आ गया है : अ० माग० **मुरव** ***मुरय** के स्थान पर आया है और = **मुरज** (पण्हा० ५१२, विवाह० ११०२ ; ओव० ; कप्प० [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), **मुरवी = मुरजी** (ओव०), इसका महा० और शौर० मे **मुरअ** रूप हो जाता है (पाइय० २६६ ; हाल ; मृच्छ० ६९, २३)। **मुरव** जनता के व्युत्पत्तिशास्त्र मे **मु + रव** पर आधारित भी हो सकता है। **य** के स्थान पर गौण **व** का **प** भी हो जाता है : पै० में **हितय = हृदय** और **हितपक=हृदयक** (§ १९१), इस रूप मे **व** का **य** हो गया है जैसा कि **गोविन्त=गोविन्द** और **केसव=केशव** (§ १९१)।

१. वाकरनागल कृत आल्टइंडिशे ग्रामाटीक § १८८ सी. । —२ ए. म्यून कृत बाइत्रैगे पेज ४२ और उसके बाद ; ए. म्युलर कृत सिम्प्लीफाइड ग्रैमर पेज ३० और उसके बाद। —३. हेमचंद्र ४, ३६७, १ पर पिशल की टीका ; अट् धातु (=जाना) और वैदिशे स्टुडिएन १ भूमिका पेज ६ की तुलना कीजिए।

§ २५५—पाली में नहारु, ग्रीक नेउरॉन और लैटिन नेर्वुस् मिलता जुलता है। अ०माग० और जै०महा० में ण्हारु = स्नायु (ठाणंग० ५५; पण्हा० ४९; विवाह० ८९; ३४१; ८१७; जीवा० ६६; २७१; एत्सें०), अ०माग० में ण्हारुणी = *स्नायुनी (आयार० १, १, ६, ५; सूय० ६७६)। समवायंगसुत्त २२७ में दो बार ण्हाउ रूप आया है। —यष्टि में य का ल हो गया है (वर० २, ३२; चंड० ३, १७अ पेज ४९; हेच० १,२४७; २, ३४; क्रम० २,३९; मार्क० पन्ना १७); महा०, जै०महा० और अ०माग० में लट्ठी और लट्ठि रूप मिलते हैं (हाल; रावण०; कर्पूर० ४४, ३; ४९, १२; ५८, ५; ६९, ८; ७३, १०; ८०, १०; विद्ध० ६४, ४; आयार० १, ८, ३, ५; २, ४, २, ११; सूय० ७२, ६; पण्हा० २८२; नायाध० § १३५; १३६; पेज १४२०; विवाह० ८३१; उवास०; ओव०; कप्प०; एत्सें०)। मार्क० पन्ना ६७ के अनुसार शौर० में केवल जट्ठि रूप होता है और यह रूप वृषभ ३७, २ में है और मल्लिकामारुतम् १२९, १९ में, जहाँ पाठ में तणुयट्ठी है तथा १९२, २२ में जहाँ ग्रंथ में हारयट्ठी है इसी रूप से तात्पर्य है, किंतु राजशेखर शौर० में लट्ठि का प्रयोग करता है (कर्पूर० ११०, ६; विद्ध० ४२, ७; ९७, ११; १२२, ३ [यहाँ हारलट्ठी है]; बाल० ३०५, १०) और लट्ठिआ रूप भी आया है (विद्ध० १०८, ३) जो महा० लट्ठिआ से मिलता जुलता है (चंड० ३, १७अ पेज ४९), अ०माग० में लट्ठिया है (आयार० २, २, ३, २)। साहित्य-दर्पण ७३, ५ जट्ठि अशुद्ध है। पाली में इस शब्द के लट्ठि* और यट्ठि* रूप मिलते हैं। —हेच० १, २५० के अनुसार कइवाहं = कतिपयम् है और = पाली कतिपाहम् = संस्कृत कतिपयाहम् (§ १६७)। —महा० छाहा (= छाया; छाह : वर० २, १८; हाल), शौर० रूप सच्छाह (हेच० १, २४९; मृच्छ० ६८, २४) और महा० में छाही (= छाया; स्वर्ग : हेच० १, २४९; मार्क० पन्ना १९; देशी० ३, २६; पाइय० २३६; हाल, रावण०) = छाया नहीं है परंतु = *छायारवा = *छायाका अर्थात् ये *छाया और *छाखी के लिए आये हैं जिनमें § १६५ के अनुसार संधि हुई है और § २०६ के अनुसार ह कार आ बैठा है। 'कान्ति' के अर्थ में हेच० १, २४९ के अनुसार केवल छाआ रूप काम में लाया जाना चाहिए, जैसा कि महा०, शौर० और माग० में छाया का मुख्यतः छाआ रूप हो जाता है (गउड०; हाल, रावण०; कर्पूर० ६९, ५, मृच्छ० ९, ९; शकु० २९, ४; ५१, ६; विक्रमो० ५१, ११; कर्पूर० ४१, २; माग० में : मुद्रा० २६७; २), अ०माग० और जै०महा० में छाया रूप है (पाइय० ११३ और २३६; कप्प०; एत्सें०)।

§ २५६—माग० में र सदा ल का रूप ग्रहण कर लेता है (चंड० ३, ३९; हेच० ४, २८८; क्रम० ५, ८७; मार्क० पन्ना ७४, रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका; वाग्भटालंकार २, २ पर सिंहदेवगणिन् की टीका) और ढक्की

* लट्ठि रूप हिंदी में आया है और यट्ठि जट्ठि बनकर जोठी रूप से कुमाउनी में और जेठा रूप से गुजराती में चलता है। कुछ विद्वानों के मत से यष्टि का आदि रूप लयष्टि रहा होगा। —अनु०

में भी यही नियम है (§ २५)। इस प्रकार माग० में : **लहशवशणमिलशुलशिलवि-अलिदमन्दालललाविदहियुगे वीलयिणे** = रभसवशनम्रसुरशिरोविचलितमन्दाररराजितांह्रियुगो वीरजिनः (हेच० ४, २८८); **शायंभलीशलशिविल**=शाकम्भरीश्वरशिविर, **विग्गहलाअणलेशलशिलीणं** = विग्रहराजनरेश्वरश्रीणाम्। (ललित० ५६५, ६ और ११); **णगलन्तल**=नगरान्तर, **दलिद्दचालुदत्ताह अणुलत्ता**=दरिद्रचारुदत्तस्यानुरक्ता, **अन्धआलपूलिदः** = अन्धकारपूरित, **ओवालिदशलील**=अपवारितशरीर (मृच्छ० १३, ८ और २५ ; १४, २२ ; १२७, २५) ; **महालदनभाशुल**=महारत्नभासुर, **उदलब्भन्तल**=उदराभ्यन्तर (शकु० ११३, ३ ; ११४, १०) ; **समले पिअभत्तालंकुहिलपिअं**=समरे प्रियभर्तारम्रुधिरप्रियम् (वेणी० ३३, ८); **बहुणलकदुक्खदालुणपलिणाये दुकले**=बहुनरकदुःखदारुणपरिणायो दुष्करः (चंड० ४२, ६) में सर्वत्र र का ल हो गया है। —ढक्की में : **अले ले**=अरे रे ; **लुद्धु**=रुद्धः ; **पलिवेविद**=परिवेपित ; **कुरु**=**कुलु** ; **धालेदि**=धारयति और **पुलिस**=पुरुष (§ २५)। —चंड० ३, ३८ ; क्रमदीश्वर ५, १०१ और वाग्भटालंकार २, ३ पर सिंहदेवगणिन् की टीका के अनुसार पै० में भी **र**, **ल** में बदल जाता है : **अले अले दुट्ठलक्खसा**=अरे अरे दुष्टराक्षसाः (चंड०) ; **चलण**=चरण (क्रम० ५, १०१) ; **छंकाल**=झंकार (क्रम० ५, १०२ ; **हलि**=हरि (क्रम० ५, १११) ; **लुद्द**=रुद्र (एस०)। इसमें नाममात्र सन्देह नहीं कि चंड०, क्रमदीश्वर और एस० ने पै० और चू० पै० में अदला-बदली कर दी है (§ १९१ नोटसंख्या १)। हेच० ४, ३०४ ; ३०७ ; ३१४ ; ३१६; ३१९ ; ३२०, ३२१ ; ३२३ और ३२४ में जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें सर्वत्र **र** ही आया है; क्रमदीश्वर ५, १०९ में भी ऐसा ही है : **उसर**=उष्ट्र और **कारिअ**=**कार्य**। हेमचन्द्र ४, ३२६ में इसके विपरीत यह सिखाता है कि चू०पै० में **र** के स्थान पर **ल** आ सकता है : **गोलीचलन**=गौरीचरण, **एकातसतनुधलं लुद्दम्**=एकादशतनुधरम् रुद्रम्, **हल**=हर (हेच० ४, ३२६), **नल**=नर, **सल**=सरस् (त्रिवि० ३, २, ६४)। सिंहराज ने भी पन्ना ६५ में यही बात कही है। किन्तु चू०पै० के अधिकांश उदाहरणों में **र** मिलता है, जैसे **नगर**, **किरितट**, **राच**—, **चच्चर**, **निच्छर**, **छच्छर**, **तमरक**, **तामोतर**, **मधुर** आदि (हेच० ४, ३२५) ; इसलिए हेच० ४, ३२६ के उदाहरण निश्चय ही एक तीसरी पैशाची बोली से निकले हैं जिसे मार्कंडेय **पांचाल** नाम देता है (§ २७)। ऐसा अनुमान है कि इसमें भी **र** का **ल** में ध्वनिपरिवर्तन उतना ही आवश्यक था जितना माग० और ढक्की में।

§ २५७—माग०, ढक्की और पांचाल को छोड़कर अन्य प्राकृत भाषाओं में (§ २५६) र का ल में परिवर्तन एक दो स्थानों पर ही मिलता है और वह अनिश्चित है। वर० २, ३० ; हेच० १, २५४ ; क्रम० २, ३५ ; मार्कंडेय पन्ना १७ और प्राकृतकल्पलतिका पेज ५२ में वे शब्द दिये गये हैं जिनमें यह **ल** आता है, ये आकृतिगण **हरिद्रादि** में एकत्र किये गये हैं। इनके उदाहरण सब प्राकृत बोलियों के लिए

समान रूप से लागू नहीं होते। सिंधी में हलदा और सिंधी में हलदी बोला जाता है (सब व्याकरणकार), महा०, अ०माग० और जै०महा० में हलिद्दा, महा० में हलिद्दी, अ०माग० में हलिद्द (§ ११५) चलता है। महा०, जै०शौर० और शौर० में दलिद्द=दरिद्र* (सब व्याकरणकार; गउड० ८५९ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए; शब्दसूची में यह शब्द देखिए]; हाल; कत्तिगे० ४०४, ३८७; मृच्छ० १८, ९; २९, १ और २; ५४, ३; ५५, २५; ७०, ७), दलिद्ददा रूप पाया जाता है (मृच्छ० ६, ८; १७, १८; ५४, १), किन्तु महा० में दरिद्दत्तण रूप भी है (कर्पूर० १६, २), शौर० में दरिद्ददा भी आया है (मालवि० २६, १५), अ०माग० और जै०महा० में दरिद्द है (कप्प०; एर्त्से०), जै०महा० में दरिद्दी=दरिद्रिन् है, दरिद्दिय भी मिलता है (एर्त्से०)। जहिट्ठिल (सब व्याकरणकार), जहुट्ठिल (हेच०) और अ०माग में जुहिट्ठिल है किन्तु शौर० और अप० में जुहिट्ठिर=युधिष्ठिर है (§ ११८)। महा०, जै०महा० और शौर० में मुहल=मुखर (सब व्याकरणकार; गउड०; हाल; रावण०; एर्त्से०; प्रबोध० ३९, ८)। अ०माग० और जै०महा० में कलुण=करुण (सब व्याकरणकार; आयार० १, ६, १, २; सूय० २२५; २७०; २७३; २८२; २८६; २८८; २८९ और २९१; नायाध०; ओव०; सगर ५, १५; एर्त्से०; इसमें सर्वत्र क्रियाविशेषण रूप कलुणं है), इसके साथ-साथ जै०महा०, शौर० और अप० में करुण है (एर्त्से०; शकु० १०९, ९; विक्रमो० ६७, ११) तथा महा०, अ०माग० और जै०महा० में सदा करुण रूप है (=दया: गउड०; आयार० २, २, १, ८; २, ३, ३, १५ [यहाँ पाठ में अशुद्ध रूप कलुण- है]; सगर ५, १८; काल्का०), महा० में करुणअ=करुणक (=दया; गउड०)। महा० में चिलाअ, अ०माग० चिलाय=किरात, अ०माग० में चिलाई=किराती, चिलाइया=किरातिका, इन रूपों के साथ साथ शौर० में किराद, जै०महा० में किराय और महा० रूप किराअ 'शिव' के अर्थ में आते हैं (§ २३०)। महा०, अ०माग० और जै०महा० में फलिह=परिघ, महा० और अ०माग० में फलिहा=परिखा (§ २०८), फालिहद्द=पारिभद्र (§ २०८)। चलुण= चरण (हेच० १, २५४) किन्तु महा० में चरण चलता है (हाल), शौर० में वारुणी रूप मिलता है (बाल० १-४, १३)। अ०माग० में अन्तलिक्ख=अन्तरिक्ष (आयार० २, १, ७, १, २, २, १, ८; २, ४, १, १३; २, ५, १, २० और २१; २, ७, १, ७; सूय० २९४ और ७०८; उत्तर० ४५६ और ६५१; दस० ६२९, ३३, नायाध० § ९३; उवास०), किंतु शौर० में अन्तरिक्ख पाया जाता है (पाइय० २७; मृच्छ० ४४,१९, मालवि० २५,१४)। अ०माग० में रुइल=रुचिर (सूय० ५६५, सम० २५ [पाठ में रुइल्ल है]; ५९; पण्हा० २६९ और २८५; पण्णव० ११६; नायाध०; ओव०; कप्प०)। अ०माग० में लूह (आयार० १,२,६,३; १,५,३,५, १,६,५,५; १,८,४,४; सूय० १६५;

* हिंदी की बोलचाल में दलिद्दर रूप चलता है। दलिद्र और दलिद्री कुमाउनी बोली में भी चलते हैं। —अनु०

१८५ ; ५७८ ; ६६५ ; पण्हा० ३४८ और उसके बाद ; विवाह० २७९ और ८३८ ; ठाणग० १९८ ; उत्तर० ५६ और १०६ ; ओव०), लुल्लूह (सूय० ४९७) और लुक्ख (आयार० १,५,६,४ ; १,८,३,३ ; २,१,५,५ ; सूय० ५९० ; ठाणंग० १९८; विवाह० १४७० और उसके बाद ; नायाध० १४७० और उसके बाद ; पण्णव० ८ ; ११ ; १२ ; १३ ; ३८० ; अणुओग० २६८ ; जीवा० २८ और २२४ ; उत्तर० १०२२ ; कप्प०) = रूक्ष ; लुक्खय (उत्तर० १०२८), लुक्खत्त (ठाणंग० १८८ ; विवाह० १५३१), लूहेइ और लूहित्ता (जीवा० ६१० ; नायाध० २६७ ; राय० १८५), लूहिय (नायाध० ; ओव० ; कप्प०), रुक्ख रूप अशुद्ध है (सूय० २३९) और अ०माग० में भी सदा =रुक्ष (=वृक्ष : § ३२०) ; किंतु अप० में रुक्ख आया है (पिंगल २, ९८) और यह रूप जै०महा० में भी जब शब्दों का चमत्कार दिखाना होता है तो रुक्ख (=रूखे, के साथ) रुक्ख = वृक्ष (ऋषभ० ३९) का मेल किया जाता है। नीचे दिये शब्दों में अ०माग० में ल देखा जाता है : लाधा = राढा (आयार० १, ८, ३, २) और = राढा (आयार० १, ८३, १) और = राढाः (आयार० १, ८, ३, २ ; ६ और ८ ; पण्णव० ६१ ; विवाह० १२५४) = शौर० राढा (कर्पूर० ९, ४) = संस्कृत राढा ; इसके अतिरिक्त परियाल = परिवार में (नायाध० § १३० ; पेज ७२४ ; ७८४ ; १२७३; १२९० ; १३२७ ; १४६० [पाठ में परियार है] ; १४६५ ; निरया०), इसके साथ साथ परिवार भी चलता है (ओव० ; कप्प०) ल आया है ; सूमाल, सुकुमाल तथा इनके साथ साथ महा० सोमार और सोमाल तथा सुउमार, शौर० सुउमार, सुकुमार और जै०महा० सुकुमारया में ल अ०माग० में आता है (§ १२३); संख्या शब्दों में अ०माग० और जै०महा० में चत्तालीसं, अ०माग० चत्तालीसा, जै०महा० चायालीसं, चालीसा—, अप० चालीस=चत्वारिंशत् और इस रूप के साथ अन्य संख्या शब्द जुड़ने पर भी ल आता है, जैसे अ०माग० और जै०-महा० बायालीसं (=४२), चउयालीसं और चोयालीसं (=४४) आदि-आदि (§ ४४५) हैं। अ०माग० में बहुधा परि का पलि हो जाता है, यह विशेष कर अत्यन्त प्राचीन बोली में : उदाहरणार्थ पलिउञ्चयन्ति = परिकुञ्चयन्ति (सूय० ४८९), पलिउञ्चिय=परिकुञ्च्य (आयार० २, १, ११, १), पलिउञ्चय= परिकुञ्चन (सूय० ३८१) और अपलिउञ्चमाण=अपरिकुञ्चमान में (आयार० १, ७, ४, १ ; २, ५, २, १) ; पलियन्त = पर्यन्त (आयार० १, २, ४, १ और ४ ; सूय० १०८ और १७२) ; पलेइ=पर्येति (सूय० ४९५), पलिन्ति = परियन्ति (सूय० ९५ और १३४) ; पलियंक = पर्यंक (आयार० २, ३, १९ और २० ; सूय० ३८६ ; ओव०), पलिक्खीण=परिक्षीण (सूय० ९७८) ; पलिच्छिन्न=परिच्छिन्न(आयार० १, ४, ४, २ ; सूय० ५६०), पलिच्छिन्दिय = परिच्छिद्य (आयार० १, ४, ४, ३ ; २, ५, २, ३ और ५), पलिओच्छिन्न = पर्यवच्छिन्न (आयार० १, ५, १, ३) ; पलिभिन्दियाणं=परिभिद्य (सूय० २४३) ; पलिच्छाएइ = परिच्छादयति (आयार० २, १, १०, ६) ; पलिम-

देज्जा=परिमर्दयेत् (आयार० २, १३, २); पलिउच्छूढ = पर्युरक्षुब्ध (§ ६६); संपलिमज्जमाण रूप भी है (आयार० १, ५, ४, ३) । इससे यह निदान निकलता है कि अ०माग० में अन्य प्राकृत भाषाओं से अधिक बार र के स्थान पर ल का प्रयोग पाया जाता है । इस बात में यह मागधी के समीप है और महा० से दूर है (§ १८) । हेच० १, २५४ के अनुसार जढर = जठर, वढर=वठर और णिट्ठुर=निष्ठुर के साथ साथ जढल, वढल और णिठल भी बोला जाता है । अभी तक निम्नलिखित रूपों के उदाहरण मिलते हैं, महा० और शौर० में जढर (पाइय० १०२; गउड०; मृच्छ० ७२, १९) ; महा० में णिट्ठुर (गउड०, हाल ; रावण०), अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में निट्ठुर (पाइय० ७४ ; ओव०; एर्सें० ; कत्तिगे० ४००, ३३३ [यहाँ पाठ में णिट्ठुर है]) । हेच० १, २५४ और त्रिविक्रम० १, ३, ७८ में बताते हैं कि चरण का जब पाँव अर्थ होता है तब उसका रूप चलण हो जाता है अन्यथा चरण ही बना रह जाता है । भामह, मार्क० और प्राकृतकल्पलता में बिना अपवाद के चलण ही है । इस प्रकार महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर० और अप० में पाव के लिए चलण ही है (पाइय० १०९; गउड० ; हाल ; रावण०[२] ; कर्पूर० ४६, ८ ; ५६, १ ; ५०, १ ; ६२, ८ ; उवास० , ओव० ; कप्प०[३] ; ऋषभ[४] ; मृच्छ० ४१, ४ और १२ ; शकु० २७, ९ ; ६२, ६ ; ८४, १४; मालवि० ३४, १२; कर्पूर० २२, १[५]; हेच० ४,३९९) । अ०माग० में चरण का अर्थ 'जीवनयात्रा' भी है (नायाध०), अप० में इसका अर्थ 'श्लोक या कविता' का पाद भी (पिंगल १, २ ; १३ ; ७९ ; ८० आदि आदि), साथ ही इसका अर्थ 'पाव' भी होता है (पिंगल १, ४ अ ; २२; ८५ अ ; ११६ ; २, १८६) । सक्काल=सत्कार (हेच० १, २५४) के स्थान पर महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में केवल सक्कार के प्रमाण मिलते हैं (गउड० ; रावण०; नायाध० ; निरया० ; कप्प० ; एर्सें० , कालका०; शकु० २३, ८ ; २७, ६ ; मालवि० ४४, ४ ; ७०, २ ; ७२, २) । —इंगाल और इसके साथ साथ अंगार रूपों के लिए § १०२ देखिए, काहल और इसके साथ साथ चलनेवाले रूप कायर के विषय में § २०७ देखिए और भसल के लिए § २५१ देखिए ।

१. रूप के हिसाब से परियाल=परिवार को प्राथमिकता मिलनी चाहिए किन्तु अर्थ के हिसाब से वट=परिवार । — २. रावणवहो ६, ७ , ८, २८ में चलण पढ़ा जाना चाहिए और ६, ८ , १३, ४९ में चलण शुद्ध किया जाना चाहिए । — ३. कप्पसुत्त § ३६ में पहली पंक्ति के चलण के बाद दूसरी पंक्ति में चरण रूप छपा है । यहाँ चलण सुधारा जाना चाहिए । — ४ ऋषभपंचाशिका २८ में बंबइया संस्करण के साथ चलणा पढ़ा जाना चाहिए । — ५. विक्रमोर्वशी ५३, ९ और ७२, १९ में बॉल्लें नसेन ने चरण रूप दिया है । द्राविड़ी संस्करण में पहले स्थान पर यह शब्द नहीं आया है, पण्डित अपनी हस्तलिपियों के अनुसार दूसरे स्थल पर चरण पढ़ता है (१२७, १) । पिशल यहाँ चलण पढ़ता है (६५८, १८) । यह रूप सुधार कर चलण पढ़ा जाना चाहिये ।

§ २५८—अ०माग० तुडिय (आयार० २, ११, १४ ; पण्हा० ५१३ ; नायाध० ८७० ; राय० २० ; २१ ; ६० ; ८० ; निरया० ; ओव० ; कप्प०) टीकाकारों, याकोबी[1], ए० म्युलर[2], वारन[3] और लौयमान[4] के अनुसार = तूर्य है, किन्तु यह = तूर्य नहीं = *तुदित = तुन्न है जो तुडइ से निकला है (हेच० ४, ११६) = तुदति है जिसके द का § २२२ के अनुसार मूर्धन्यीकरण हो गया है। संस्कृत तुड्, तोडी और तोडिका (भारतीय संगीत के एक राग या रागिनी का नाम) तथा तोद्य और आतोद्य (= मजीरा)। —यह माना जाता है किडि और भेड = किरि और भेर (हेच० १, २५१) किन्तु ये = संस्कृत किटि और भेट[5] के। —अ०माग० पडायाण (= पलान; जीन : हेच० १, २५२)। हेच० के अनुसार = पर्याण है, किन्तु यह § १६३ के अनुसार = *प्रत्यादान है ; इस विषय में संस्कृत आदान (=जीन की झूलन या अलंकार) की तुलना कीजिए। —अ०माग० और जै०महा० कुहाड = कुठार में र के स्थानपर ड आ गया है, यही ध्वनिपरिवर्तन पिहड = पिठर में हुआ है (§ २३९)। —अ०माग० कणवीर* = करवीर (हेच० १, २५३ ; पाइय० १४६ ; पण्णव० ५२६ ; राय० ५२ और उसके बाद ; पण्हा० १९४), कणवीरय रूप भी पाया जाता है (पण्णव० ५२७ और उसके बाद), § २६० के अनुसार *कलवीर अथवा कलवीर से सम्भवतः यह भी सभव है कि इसका पर्यायवाची शब्द *कणवीर भी किसी ग्रंथ में मिल जाय। महा० में इसका रूप करवीर है (गउड०), माग० कलवील (मृच्छ० १५७, ५) है। § १६६ और १६७ के अनुसार कणवीर से कणेर निकला है (हेच० १, १६८), [यहाँ भंडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट के १९३६ के संस्करण में, जो मेरे पास है, कण्णेर रूप है। —अनु०]। हेमचद्र बताता है : कणेर = कर्णिकार और ए०, बी०, सी०, ई० हस्तलिपियाँ तथा त्रिविक्रम १, ३, ३ में कण्णेरो है (मेरी प्रति में हेमचद्र भी कण्णेरो रूप देता है ; उसमे १, १६२ में कण्णेरो और कण्णिआरो दो रूप हैं। —अनु०)। इसके अनुसार मेरे संस्करण में भी यही दिया गया है। किंतु एफ० हस्तलिपि और बबइया संस्करण कणेरो पाठ है और मराठी, गुजराती, हिन्दी तथा उर्दू में कणेर का अर्थ जो दिया जाता है, किसी प्रकार ठीक नहीं है, क्योंकि कर्णिकार § २८७ के अनुसार साधारण ण के साथ कणिआर रूप ग्रहण कर सकता है इसलिए मालूम होता है कि हेमचद्र ने स्पष्ट ही दो प्रकार के पौधों को एक में मिला दिया है। जै०महा० कणेरदत्त (एर्से०) = करवीरदत्त होगा। करवीर, करवीरक और करवीर्य मनुष्यों के नामों के लिए प्रसिद्ध हैं। कर्णिकार नामों में नहीं आता। कणेर को कर्णिकार से व्युत्पन्न करना[1] भाषाशास्त्र की दृष्टि से असमव है।

१. यह शब्द कल्पसूत्र में देखिए। — २. बाइत्रैगे पेज २८। — ३. निरयावलिआओ में यह शब्द देखिए। — ४. औपपातिक सूत्र में यह शब्द

---

* यह एक जंगली पौधा है जो कुमाऊँ के पहाड़ों में जंगली दशा में बरसात में होता है। इसका नाम एकनवीर है। यह वैदिक शब्द है और ऋग्वेद में आया है। —अनु०

देखिए। — ५. हेमचंद्र १, २५१ पर पिशल की टीका। — ६. त्सा. डे. डौ. मौ. गे. ४७, ५७८ में याकोबी का मत।

§ २५९—संस्कृत किल के लिए बोली के हिसाब से फिर रह गया है : महा०, जै०महा० और अप० में फिर है (वर० ९, ५ ; हेच० २, १८६ ; क्रम० ४, ८३ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्सें० ; पिंगल १, ६० ; हेच० ४, ३४१)। इसके साथ साथ जै०महा० में किल भी आया है (आव० एर्सें० ८, ४५ ; एर्सें०), शौर० में सदा यही रूप काम में आता है (मृच्छ० २, २४ ; शकु० २१, ४ ; ३०, १ ; ११६, ७ ; १५९, १२ ; विक्रमो० ५२, ४ ; ७२, १८ ; ८०, २० आदि आदि)। भारतीय संस्करणों में जहाँ कहीं शौर० में फिर रूप मिलता है जैसे कि प्रसन्नराघव ४६, ७ ; ४८, १२ ; १०१, ३ ; ११९, १२ वहाँ या तो पाठ अशुद्ध है या बोली में कुछ हेरफेर हो गया है। महा० इर जिसके साथ साथ फिर रूप भी काम में आता है (वर० ९, ५ ; हेच० २, १८६ ; क्रम० ४, ८३ ; गउड० ; रावण०) § १८४ से स्पष्ट हो जाते हैं। हिर (हेच० २, १८६) का स्पष्टीकरण § ३३८ में है। अन्यथा ल के स्थान पर र का प्रयोग बहुत ही कम होता है और कहीं कहीं बोली में होता है : शौर० में **फरअ = फलक** (देशी० ६, ८२ ; कर्पूर० ८७, ६) है। अ०माग० में **सरडुय = सलाटुक** होता है (आयार० २, १, ८, ६), **सामरी = शाल्मली**, इसके साथ साथ अ०माग० में **सामली** रूप भी चलता है (§ ८८ और १०९)।

§ २६०—शब्द के आदि में नीचे दिये रूपों में ल का ण और न हो गया है : **णाहल = लाहल** (वर० २, ४० ; हेच० १, २५६), इसके साथ साथ **लाहल** भी है (हेच० १, २५६)। **णंगल** और अ०माग० **नंगल = लांगल** (हेच० १, २५६ ; क्रम० २, ४७ ; मार्क० पन्ना १८ ; पाइय० १२१ [पाठ में **नंगल** है] ; आयार० २, ४, २, ११ ; पण्हा० २३४, दस० नि० ६४६, १०), इसके साथ साथ **लंगल** रूप भी है (हेच० ; मार्क०), **नंगलिय = लांगलिक** (ओव० ; कप्प०)। अ०माग० में **णंगुल = लांगुल** (मार्क० पन्ना १८ ; जीवा० ८८३ ; ८८६ और ८८७), **गोणंगुल** रूप आया है (विवाह० १०४८), **णंगूल = लांगूल** (हेच० १, २५६), **नंगूली = लांगुलिन्** (अणुओग० ३४९), **णंगोल** भी पाया जाता है (नायाध० ५०२), **णंगोली** (जीवा० ३४५), **णंगोलिय** (ठाणंग० २५९ ; जीवा० ३९२ [यहा **नंगोलिय** है]), इनके साथ-साथ महा० में **लंगूल** चलता है (हेच० १, २५६ ; गउड०)। **णोहल = लोहल** (क्रम० २, ४७ ; मार्क० पन्ना १८), इसके साथ साथ **लोहल** भी है (मार्क०)। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अ०माग० के पाठों में शब्दों के आदि में अधिकांश में ण लिखा गया है। मार्कण्डेय पन्ना ६७ के अनुसार यह ध्वनिपरिवर्तन शौर० में कभी नहीं होता। पाली **नलाट** और इसके साथ साथ **ललाट** के समान ही प्राकृत में **णलाड** रूप है (हेच० २, १२३), § १०३ के अनुसार महा० और अ०माग० में इसमें इ आ जाता है इसलिए **णिलाड** रूप होता है (रावण० ; आयार० १, १, २, ५ [पाठ में **निलाड** है] ; नायाध० १३१० ; १३१२ ; पण्हा० २७३ [पाठ में **निलाड** और टीका में **निडाल** है] ; विवाग० ९०

[टीका में निडाल है] ; १२१ ; १४४ ; १५७ ; १६९), महा० मे बहुधा अंतिम वर्णों के परस्पर स्थान विनिमय के कारण और § ३५४ के अनुसार णडाल (हेच० १, २५७ ; २, १२३ ; क्रम० २, ११७ ; मार्क० पन्ना ३८ ; गउड०), महा०, अ० माग०, जै०महा० और शौर० में णिडाल (अ०माग० और जै०महा० में कभी कभी निडाल रूप मिलता है ; भाम० ४, ३३ ; हेच० १, २५७ ; हाल ; रावण० ; कर्पूर० ४८, ६ ; नायाध० ७५४ ; ७९० ; ८२३ ; विवाह० २२७ ; राय० ११३ ; जीवा० ३५१ ; ३५३ ; पण्हा० १६२ ; २८५ ; उवास० ; निरया० ; ओव० ; आव० एर्से० १२,२७ ; एर्से० ; बाल० १०१,६ ; २५९, ८ [पाठ मे णिडोल है] ; चडकौ० ८७,८; मल्लिका० १९५,५) । अप० मे णिडला आया है (पिंगल २,९८ ; पाठ मे णिअला है) । ऐसी सभावना है कि शौर० रूप अशुद्ध हो । शौर० के लिए ललाड रूप निश्चित है क्योंकि इसका ध्वनिसाम्य ललाडे = लाडेसर से है (बाल० ७४, २१); यह रूप बालरामायण २७०, ५; वेणीसहार ६०, ५ [पाठ मे ललाट है; इस ग्रथ मे णिडाल, णिडल और णिडिल शब्द भी देखिए] मे भी देखिए । अ०माग० में लिलाड (राय० १६५) रूप अशुद्ध है । मार्कडेय पन्ना ३८ में बताया गया है शौर० में लडाल और णिडिल रूप भी चलते हैं, (पार्वतीपरिणय ४२, १२ में [ग्लाजर के सस्करण के २३, ३१ में णिडल रूप आया है ; वेणीसहार ६०, ५ में यह शब्द देखिए]) । यह रूप निटल, निटाल और निटिल रूप मे सस्कृत मे ले लिया गया है[१] । महा० णाडाल (= ललाट मे रहनेवाला : गउड० २९), णडाल से सबध रखता है ; णिडाल का लोगों के मुँह मे णेडाली (=शिरोभूषणभेदः ; पट्टवासिता : देशी० ४, ४३) बन गया । जम्पइ = जल्पति और इससे निकले अन्य रूपो में ल का म हो गया है (§ २९६) । —पै० और चू०पै० में शब्द के भीतर का ल ळ मे बदल जाता है : धूळि = धूलि ; पाळक और वाळक = वालक ; मण्टळ = मण्डल ; लीळा = लीला ; सइळ = शैल (हेच० ४,३२५–३२७) । उच्छळ्ळन्ति भी (हेच० ४, ३२६) इसी प्रकार लिखा जाना चाहिए । § २२६ की तुलना कीजिए ।

१. कू. त्सा० ३५, ५७३ में याकोबी ने मत दिया है कि णिडाल रूप ललाट से सीधा बिना किसी फेरफार के मिलाने में कठिनाई पैदा होती है ।

§ २६१—अप० मे कभी-कभी व वँ मे परिणत हो जाता है[१] : एवँ = एव और इसका अर्थ है 'एवम्' (हेच० ४, ३७६, १ और ४१८,१) ; एवँइ = एव+ अपि, इसका अर्थ है 'एवम् एव' (हेच० ४, ३३२,२ ; ४२३,२ ; ४४१,१ ; [मेरी प्रति मे हेच० मे एम्वइ रूप है । —अनु०]) । एवँहिं, इदानीम् के अर्थ में वैदिक एवैः है (हेच० ४ , ३८७, ३ ; ४२०, ४) ; केवँ (हेच० ४, ३४३, १ और ४०१, १), किवँ (४, ४०१, २ और ४२२, १४), कथम् अर्थ मे = *केव (§ १४९ और ४३४ की तुलना कीजिए), केवँइ (हेच० ४, ३९० ; ३९६, ४) = कथम् अपि ; तेवँ (हेच० ४, ३४३, १ ; ३९७ और ४०१, ४), तिवँ (हेच० ४,३४४; ३६७, ४ ; ३७६, २ ; ३९५,१ ; ३९७ और ४२२; २ [३६७, ४ मे तिवँ रूप नहीं आया है, मेरी प्रति में यह रूप ३६७,३ में है । —अनु०] ; तथा के अर्थ में = *तेव,

तेवँइ रूप भी है (हेम० ४, ४३९, ४) ; जेवँ (हेच० ४, ३९७ ; ४०१, ४ ; क्रम० ५, ६ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), जिवँ (हेच० ४, ३३०, ३ ; ३३६ ; ३४४ ; ३४७ ; ३५४ ; ३६७, ४ ; ३७६, २ ; ३९७ आदि-आदि; कालका० २७२, ३७ [पाठ में जिव है], [जिवँ रूप अनुवादक की प्रति में ३६७,३ में है, जिवँ जिवँ और तिवँ तिवँ इस एक ही दोहे में हैं, इनके वर्तमान हिन्दी में ज्यों ज्यों और त्यों त्यों रूप मिलते हैं। —अनु०]) । यथा के अर्थ में=* येव और * यिव (§ ३३६) ; जावँ = यावत् (हेच० ४, ३९५, ३) ; तावँ = तावत् (हेच० ४, ३९५, ३) है। अप० में इस वँ का विकास पूर्ण म में हो गया है : जाम = यावत् (हेच० ४, ३८७, २, ४०६, १ ; वेताल० पेज २१७, संख्या १३) ; ताम = तावत् (हेच० ४,४०६,१ वेताल पेज २१७, संख्या १३) ; जामँहि और मामँहि = यावद्भिः और तावद्भिः किन्तु इनका अर्थ = यावत् और तावत् (हेच० ४,४०६,३ ; एर्से० ८६, १७ और उसके बाद [पाठ में जावहि तावहि है]) । जिन-जिन प्राकृत भाषाओं में म, व का प्रतिनिधित्व करता है उन-उन में व के विकास का यही क्रम माना जाना चाहिए : अज्जम = आर्जव (त्रिवि० १, ३, १०५)[1] ; ओहामइ (किसी से बढ़ जाना ; तुलइ : हेच० ४, २५) ; ओहामिय (अधिक तोला गया : पाइय० १८७), इनके साथ साथ ओहाइय (हेच० ४,१६०; इसका अर्थ = आक्रमण करना । —अनु०) और ओहाइय रूप देखने में आते हैं; यह ओहाइय = * ओहाविअ (= झुका हुआ मुख ; अधोमुख : देशी० १, १५८) = * अपभावति और अपभावित[2] । गमेसइ और इसके साथ साथ गवेसइ = गवेषति (हेच० ४, १८९) । णीमी और इसके साथ साथ णीवी = नीवी (हेच० १, २५९) । णुमइ और णिमइ वी धातु के रूप हैं (§ ११८) । शौर० में दमिळ (मल्लिका० २९६,१८) = द्रविड, अ०माग० में दमिळा (विवाह० ७९२ ; राय० २८८) और दमिळी (नायाध० ; ओव०) = पाली दमिळी = संस्कृत द्राविडी, इनके साथ साथ अ०माग० में दविळ भी है (पण्हा० ४१), शौर० का दविड (मृच्छ० १०३, ६ ; विद्ध० १०५, २) = द्रविड, महा० दविडी = द्रविडी (विद्ध० २४, १२) । अ०माग० और जै०महा० का वेसमण = वैश्रवण (§ ६०) । कर्मवाच्य में गौण व का म में ध्वनिपरिवर्तन इसी क्रम से हुआ है : चिम्मइ और इसके साथ साथ चिव्वइ चीव् धातु के रूप हैं और जै०महा० सुम्मउ तथा इसके साथ सुव्वइ, स्वप् धातु से निकले हैं (§ ५३६) ; इसके अतिरिक्त अ०माग० में भूमा = * भ्रुवा = भ्रूः, महा० भुमआ, अ०माग० भुमया, भुमगा और भुमहा = * भ्रुवका (§ १२४ और २०६) । —प और व के ध्वनिपरिवर्तन पहले व होकर म हो जाने के विषय में § २४८ और २५० देखिए ; म के स्थान पर व आ जाने के विषय में § २५१ और २७७ देखिए ; व के लिए ग आ जाने के विषय में § २३१ ; व के स्थान पर प के विषय में § १९१ तथा २५४ और य के लिए व ध्वनिपरिवर्तन पर § २५४ देखिए ।

१. हस्तलिपियाँ वँ के स्थान पर सदा म्व लिखती हैं, कहीं-कहीं व भी मिलता है जो वँ के साथ-साथ सम्भवतः ठीक ही लगता है । —२. बे० बाइ०

६, ९४ में पिशल का मत। —३. एस० गौल्दश्मित्त कृत प्राकृतिका पेज १४ और उसके बाद, इसमें यह भूल से अवभू मानता है। § २८६ की तुलना कीजिए।

§ २६२—श, ष और स-कार कभी जनता के मुँह से ह- रूप में बाहर निकलते हैं, विशेष करके दीर्घ स्वर और स्वरों के द्वित्व के बाद। वररुचि २,४४ और ४५; चंड० ३, १४; क्रम० २, १०४ और १०५; मार्क० पन्ना १९ के अनुसार महा० में **दशन्** का **श** दशन् और उन सख्या शब्दों में, जिनके साथ यह **दशन्** जुड़ता है, निश्चय ही ह में परिणत होता है और व्यक्तियों के नाम में इच्छानुसार ह बन जाता है; हेच० १, २६२ के अनुसार ह की यह परिणति स्वयं सख्या शब्दों में इच्छानुसार या विकल्प से है, इस मत की सभी पाठ पुष्टि करते हैं। महा० **दस** (रावण० [इस ग्रन्थ में बहुधा **दह** मिलता है]; कर्पूर० ७३, ९; ८७,१), **दह** (कर्पूर० १२,७); **दसकन्धर** (गउड० ; रावण०) ; **दसकण्ठ**, **दहकण्ठ** (रावण०) ; **दहमुह**, **दहरह**, **दासरहि**, **दहवअण** और **दसाणण** (रावण०) में इच्छानुसार **स** या **ह** है। अप० में भी **ह** है (पिंगल १, ८३ [एस० गौल्दश्मित्त ने यही दिया है]; १२३; १२५; १५६; २ १९६); **दस** (विक्रमो० ६७,२०) भी है। अ०माग० और जै०महा० में केवल **दस** रूप है (§ ४४२)। मार्कण्डेय पन्ना ६७ के अनुसार शौर० में **दशन्** और **चतुर्दशन्** का **श**, **स** या **ह** रूप ग्रहण कर लेता है। इसके विपरीत नामों में **स** ही आता है तथा **दश** सख्यायुक्त शब्दों में स्वयं **दशन्** और **चतुर्दशन्** को छोड़ सब में **ह** आता है। **दस** मिलता है (कर्पूर० ७२, ३; प्रसन्न० १९,५) और **दह** (रत्ना० २९२, १२) में; **दसकन्धर** रूप भी आया है (महावीर० ११८, ३), **दासरध** भी है (उत्तर० २७, ४ [पाठ में **दासरह** है]; बाल० १५२, १० [पाठ में **दासरह** है]; अनर्घ० १५०,१२ [पाठ में **दासरह** है]); **दासरधि** (अनर्घ० १५७, १० [पाठ **दासरहि** है]), **दसमुह** (महावीर० २२,२०; प्रसन्न० १४३,६; बाल० २०, १५), **दसाणण** (बाल० ५७, २; १२३, १७; १२५, १०; १३९, १३), **दसकण्ठ** (बाल० १२२, १५; १४३, १७) रूप मिलते हैं। माग० और ढक्की में केवल **दश** रूप है (मृच्छ० ११, १; ३२, १८; ३८, १७; १२१, २५; १२२, १९; १३३, २०; १३४, १३; ढक्की में : मृच्छ० २९, १५; ३०, १; ३१; ४; ३२, ३; ३४, ९; १२; १७; ३५, ७; ३९, १३), माग० में **दशकन्धल** मिलता है (मृच्छ० १२, १३), माग० में **दह** (ललित० ५६६, ११) अशुद्ध है। दस सख्यायुक्त अन्य शब्दों में महा० और अप० में **ह** लगता है। अन्य प्राकृतों में **स** है (§ ४४३)। महा० और शौर० **ऍद्दहमेत्त**=**ईदृशमात्र**, महा० **तॅद्दह** = **तादृश**, **जेद्दह** = **यादृश** (§ १२२); अप० **एद्द**, **केह**, **जेह** और **तेह** तथा इनके साथ चलने वाले **अइस**, **कइस**, **जइस** और **तइस** = **ईदृश**, **कीदृश**, **यादृश** और **तादृश** (§ १२१ और १६६); अप० **साह** = **शाश्वत** (§ ६४) में भी **श** ने **ह** रूप ग्रहण कर लिया है। क्रमदीश्वर २, १०४ के अनुसार **पलाश** का **पलाह** हो गया है। उदाहरण रूप से महा०, अ०माग० और शौर० में **पलास** (गउड० ; हाल ;

कप्प० ; मृच्छ० १२७, २१) तथा माग० रूप पलाश (मृच्छ० १२७, २४) देखने में आते हैं।

§ २६३—नीचे दिये गये उदाहरणों में ष ने ह रूप धारण कर लिया है : महा० में **धणुह** = *धनुष = धनुस् (हेच० १, २२ ; कर्पूर० ३८, ११ ; प्रसन्न० ६५, ५), **धणुहो** = धनुषः (बाल० ११३, १७)। — महा० **पच्चूह** = प्रत्यूष, इसका अर्थ है 'प्रातःकाल का सूर्य' (हेच० २, १४ ; देशी० ६, ५ ; पाइय० ४ ; हाल ६०६ [इस रूप के अन्य शब्दों के तथा टीकाकारों के अनुसार यह रूप पढ़ा जाना चाहिए]), किन्तु महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर० और शौर० में **पच्चूस** रूप 'प्रातःकाल का सूर्य' के अर्थ में आया है (हेच० २, १४ ; पाइय० ४६; गउड० ; हाल ; रावण० ; नायाध० , कप्प० ; एत्सें० ; कत्तिगे० ४०३, ३७३ ; ३७५; शकु० २९, ७ ; मल्लिका० ५७, १६ ; विद्ध० ११५, ४)। —महा०, अ०माग० और जै०महा० **पाहाण** = पाषाण (चंड० ३, १४ ; हेच० १, २६२ ; क्रम० २, १०४ ; मार्क० पन्ना १९ ; गउड० ; हाल ; उवास० ; एत्सें०), जै०महा० में **पाहाणग** (एत्सें०) और इसके साथ साथ **पासाण** रूप है (हेच० ; मार्क०), जो मार्क० पन्ना ६७ के अनुसार शौर० में सदा ही होता है। —अ०माग० **विहण** = भीषण और **वीहणग** = भीषणक ; महा० और जै०महा० में **वीहइ** (= भय करता है; बिभेति का रूप है।—अनु०), इनके साथ साथ महा० और शौर० में **भीसण** रूप है जो=भीषण (§ २१३ और ५०१ । —अप० में **एहो, एह** और **एहु**=एष, एषा और * **एषम्** = एतद् (हेच० ४, ३६२ और शब्द सूची ; पिंगल १, ४ [बौल्लेनसेन विक्रमो० की टीका में पेज ५२७] ; ६१, ८१ ; २, ६४ ; विक्रमो० ५५, १६)। — अप० **अक्खिँहि** जो * अक्खिँसि से निकला है = *अक्षिस्मिन् अक्षिण (§ ३१२ और ३७९) —अ० **छह** = * षष = षष् जिसके रूपों के अन्त में अ आ गया है (पिंगल १, ९५; ९६ और ९७)। महा०, अ०माग० , जै०महा० और शौर० रूप **सुण्हा**, महा० **सोॅण्हा** जो पै० **सुनुसा** जो वास्तव में **सुणुहा** (§ १४८) के स्थान पर आया है, इनका ह भी इसी प्रकार व्युत्पन्न या सिद्ध किया जा सकता है। **काहावण** (वर० ३, ३९ ; हेच० २, ७१ ; क्रम० २, ७१ ; मार्क० पन्ना २५) जो * **कासावण** से निकला है (§ ८७) = कार्षापण, आदि-अक्षर के आ के ह्रस्वीकरण के साथ भी (§ ८२) **कहावण** रूप में मिलता है (हेच० २, ७१), अ०माग० में **कूडकहावण** रूप आया है (उत्तर० ६२९)। भविष्य कालवाचक रूप **काहिमि**, **होहिमि**, **काहामि**, **काहं** और **होहामि** = *कर्ष्यामि, * भोष्यामि (§ ५२० और उसके बाद), भूतकाल में जैसे, **काही** और इसके साथ साथ **कासी** (§ ५१६) में भी ष का ह हो जाता है। — टीकाकारों के मत से बहक कर याकोबी[1] ने अ०माग० में **विह** (आयार० १, ७, ४, २) = विष लिखा है जो भूल है। यह शब्द आयारांगसुत्त २, ३, १, ११; २, ३, २, १४, २, ५, २, ७ में बार बार आया है और टीकाकारों ने अधिकांश स्थलों पर इसका अर्थ = **अटवी** रखा है जो जंगल का पर्याय है, इसलिए स्पष्ट ही = **विय** है जिसका शाब्दिक अर्थ 'बिना आकाश के' = 'ऐसा

स्थान जहाँ मनुष्य आकाश नहीं देखता' (= घना जगल । —अनु०) है। आयारागसुत्त १, ७, ४, २ का अनुवाद इस व्युत्पत्ति के अनुसार यों किया जाना चाहिए : *'तपस्वी के लिए यह अधिक अच्छा है कि वह अकेला जगल जाय।'* महा०, अ०माग०, जै०-महा० और शौर० मे विष का रूप **विस** होता है (गउड० ; हाल ; रावण० ; उवास० ; निरया० ; ओव० ; एर्त्से० ; ऋषभ० ; प्रिय० ५१, १ ; ८ ; १५ ; १६; ३३, १४ ; मुद्रा० ४०, ६ ; मालवि० ५६, ८ ; ६५, १०) ; माग० में **विश** है (मृच्छ० १३६, १७ ; १६४, १ ; मुद्रा० १९३, ३ ; १९४, ६) ; जै०महा० **निव्विस = निर्विस** (सगर० ६, २) ।

१. सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट २२, पेज ६८ ।

§ २६४—नीचे दिये गये शब्दों में **स**, **ह** में परिणत हो गया है : **णीहरइ** और इसके साथ-साथ **णीसरइ = निःसरति** (हेच० ४, ७९) । वररुचि २, ४६ के अनुसार **दिवस** में **स** का बना रहना आवश्यक है, किंतु हेमचद्र १, २६ ; क्रम-दीश्वर २, १०५ ; मार्कडेय पन्ना १९ ; पिगल द्वारा सपादित प्राकृतमजरी ; डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज १४ में बताया गया है कि इस शब्द मे विकल्प से **ह** भी रखा जा सकता है । महा० में **दिअस**, **दिवस** (गउड० ; रावण०) और **दिअह** (गउड० ; हाल ; कर्पूर० १२, ७ ; २३, ७ ; ४३, ११ आदि आदि) ; अ०माग० में केवल **दिवस** रूप है (नायाध० ; निरया० ; उवास० ; कप्प०) ; जै०महा० में भी **दिवस** है (*एर्त्से०* ; *कालका०*), **दियस** *भी मिलता है* (*प्राकृतमजरी*), **दियसयर** भी आया है (पाइय० ४), साथ ही **दियह** भी है (पाइय० १५७ ; एर्त्से०), **अणुदियहं** है (कालका०), जै०महा० में **दिवह** है (कत्तिगे० ४०२, ३६४) ; शौर० मे केवल **दिवस** और **दिअस** है (मृच्छ० ६८, ४ ; शकु० ४४, ५ ; ५३,९ ; ६७, १० ;१२१,६ ; १६२,१३ ; विक्रमो० ५२,१ ; मुद्रा० १८४, ५ ; कर्पूर० ३३,७ ; १०३, २ ; ११०, ६), **अणुदिवसं** (शकु० ५१, ५), इसके विपरीत महा० में **अणुदिअहं** है (हाल ; कर्पूर० ११६, १ [पाठ में **अणुदिअहँ** है]) ; माग० में **दिअश** है (शकु० ११४, ९), **दिअह** (वेणी० ३३, ५) अशुद्ध है ; अप० में **दिअह** (हेच० ४, ३८८ ; ४१८, ४), **दिअहडा** (हेच० ४, ३३३ और ३८७, ५) आये हैं । —**दूहव** (= दुर्भग ; अभाग्य : देशी० ५, ४३) तथा इसके साथ-साथ **दूसल** (देशी० ५, ४३ ; त्रिवि० १, ३, १०५ = बे. बाइ. ६, ८७) = **दुःसर** । — महा० और जै० महा० **साहइ** = *शासति[1] (हेच० ४, २ ; हाल ; रावण० ; एर्त्से०) । —अ०माग०, जै०महा० और अप० —**हत्तरिं**, अ०माग० —**हत्तरिं** = *सप्तति, जैसे जै०महा० **चउहत्तरि** (७४), अ०माग० **पञ्चहत्तरिं** (७५), **सत्तहत्तरिं** (७७), **अट्ठहत्तरिं** (७८), अप० में **एहत्तरि** (७१), **छाहत्तरि** (७६) (§ २४५ और ४४६) । —भविष्यकालवाचक जैसे **दाहिमि**, **दाहामि** और **दाहं** = **दास्यामि** (§ ५२० और उसके बाद) तथा भूतकाल के रूप जैसे **ठाही** और इसके साथ साथ **ठासी** (§ ५१५) रूप पाये जाते हैं । स का ह सर्वनाम के सप्तमी एक-वचन में भी पाया जाता है, त–, य– और क– के रूप **तहिं**, **जहिं** और **कहिं** होते

हैं, इनके साथ साथ **तस्सि, जस्सि** और **कस्सि** भी चलते हैं (§ ४२५; ४२७ और ४२८) और माग० में इनकी नकल पर बने संज्ञा की सप्तमी के रूप में ह आता है जैसे, **कुलाहिं = कुले** ; **पवहणाहिं = प्रवहणे** तथा अप० में जैसे **अंतहिँ = अंते, चित्तहिँ = चित्ते, घरहिँ = घरे ; सीसहिँ = शीर्षे** (§ ३६६) ; इसी प्रकार सर्वनाम के रूपों की नकल पर बने माग० और अप० षष्ठी बहुवचन के रूपों में जिनके अंत में संस्कृत में—साम् लगता है, जैसे माग० **शअणाहँ = स्वगणनानाम्** ; अप० **तणहँ = तृणानाम्** , **मुक्काहँ = मुक्तानाम्** , **लोअणहँ = लोचनयोः, सउणाहँ= शकुनानाम्** (§ ३७०) में भी **स** का ह रूप हो जाता है। उन षष्ठी रूपों में जो हेमचंद्र ४, ३०० के अनुसार महा० में भी पाये जाते हैं जैसे **सरिआहँ = सरिताम्** , **कम्माहँ = कर्मणाम्** , **ताहँ = तेषाम्** , **तुम्हाहँ = युष्माकम्** , **अम्हाहँ = अस्माकम्** (§ ३९५ ; ४०४ ; ४१९ और ४२२) ; माग० में षष्ठी एकवचन में—जो आह में समाप्त होते हैं और –*आस से निकले हैं = –**आस्य**, जैसे **कामाह = कामस्य ; चलित्ताह = चरित्रस्य ; पुत्ताह = पुत्रस्य** और उन अप० रूपों में जो –**आह**, –**आहों** में समाप्त होते हैं, जैसे **कणअह = कनकस्य**, **चण्डालह = चण्डालस्य, कामहों = कामस्य, सेसहों = शेषस्य** (§ ३६६) और अप० में द्वितीयपुरुष एकवचन कर्तृवाच्य में जो –**हि** –**सि** में समाप्त होते हैं, जैसे **नीसरहि = निःसरसि** ; **रुअहि = वैदिक रुवसि** ; **लहसि = लभसे** (§ ४५५)। विशेष व्यजनों के अभाव से ह = **स** के विषय में § ३१२ और उसके बाद देखिए।

१. पी. गौल्दश्मित्त कृत स्पेसिमेन पेज ७२ ; त्सा. डे. डौ. मौ. गे. २८, ३६९ में वेबर का मत।

§ २६५—**षष्ठि** के **ष** (=६०) और **सप्तति** (७०) के **स** के स्थान पर, छ, स और ह के (§ २११ और २६४) साथ साथ अ०माग० और जै०महा० में इकाइयों से जुड़ने पर **व** भी आता है : **बावट्ठिं** (= ६२), **तेवट्ठिं** (= ६३), **चउवट्ठि** (= ६४) ; **छावट्ठिं** (= ६६), **बावत्तरिं** (= ७२), **तेवत्तरिं** (=७३), **चोवत्तरिं** (= ७४), **छावत्तरिं** (= ७६) , (§ ४४६)। अ०माग० में **तिन्नि तेवट्ठाइं पावादुयसयाइं** (= ३६३ प्रवा) ; जै०महा० में **तिण्हं तेवट्ठीणं नयरसयाणं** (= ३६३ नगर) ; (§ ४४७) है। यह **व** संख्याशब्द ५० की नकल पर है, जैसे **एगावण्णं** (= ५१), **बावण्णं** (=५२), **तेवण्णं** (= ५३), **चउवण्णं** (= ५४), **पणपण्णं** (=५५), **सत्तावण्णं** (= ५७), **अट्ठावण्णं** (= ५८)। अप० रूप है : **बावण्ण** (= ५२), **सत्तावण्णाइं** (= ५७) ; (§ २७३), इस बोली में यह नियमानुसार (§ १९९) ***पञ्चत्** के **प** के स्थान पर आता है। **अउणट्ठिं** (=५९), **अउणत्तरिं** (= ६९) ; (§ ४४४), **पण्णट्ठिं** (=६५) ; (§ ४४६), ***अगुणवट्टिं**, ***अगुणाअट्ठिं**, ***अगुणाट्ठिं**, ***अगुणवत्तरिं**, ***अगुणअत्तरिं**, ***अगुणात्तरिं**, ***पण्णवट्ठिं**, ***पण्णट्ठिं**, ***पण्णाट्ठ** § १६७ और ८३ के अनुसार इन चिह्नित रूपों के स्थान पर आये हैं। लिपिप्रकार जैसे, **सडंगवी = षडंगविद्** (वेबर द्वारा संपादित भगवती १, ४२५), **सोडसम = षोडश** (सूय०

५६२), होॅक्खइ = *भोष्यति (§ ५२१) प्राकृत रूपों का संस्कृतीकरण है जिनका लिपिप्रकार भ्रमपूर्ण है क्योंकि यहां क्ख ष* के लिए आया है। आज भी उत्तर भारत में ये ध्वनियां एक हो गयी हैं[1]। इसी आधार पर अ०माग० में अशुद्ध पाठभेद (पढने का ढग) पाखण्ड पाया जाता है (ठाणंग० ५८३), यह शब्द पाहण्ड = पाषण्ड है (प्रबोध० ४८,१)। मद्रास से प्रकाशित सस्करण (५९, १४) और बंबइया संस्करण (१०३, ३) मे शुद्ध रूप पासण्ड दिया गया है, अ०माग० में भी शुद्ध रूप आया है (अणुओग० ३५६ ; उवास० ; भग०)[2] और जै०महा० मे पासण्डिय = पाषण्डिक है (कालका०)।

1. बीम्स कृत कंपॅरेटिव ग्रैमर ऑफ मॉडर्न इंडियन लैंग्वेजेज १, २६१ और उसके बाद ; होएर्नले, कंपॅरैटिव ग्रैमर § १९ पेज २४ ; वाकरनागल, आल्ट-इंडिशे ग्रामाटीक § ११८। —२. वेबर, भगवती २,२१३ नोटसंख्या ६ ; कर्न, यारटेलिंग पेज ६७ का नोट ; ए. म्युलर, बाइत्रैगे पेज ३२ और उसके बाद।

§ २६६—ह की न तो विच्युति होती है और नहीं यह कोई रिक्त स्थान भरने के लिए शब्द के भीतर इसका आगमन होता है। सभी अवसर जहाँ उक्त बातें मानी गयी हैं[1], वे आशिक रूप में अशुद्ध पाठभेदों पर और कुछ अश में अशुद्ध व्युत्पत्तियों[2] पर आधारित हैं। जहाँ सस्कृत शब्दो मे दो स्वरों के बीच में ह कार के स्थान पर ह युक्त व्यंजन आता है, उसमे ह का कठिनीकरण[3] न देखना चाहिए अपितु यह प्राचीन ध्वनि सपत्ति है[4]। इस प्रकार शौर०, माग० और आव० इध = इह (शौर० : मृच्छ० २, २५ ; ४, १४ ; ६, ९ ; ९, १० और २४, २० ; ५१,२४ ; ५७, १७ ; ६९, ६ और १५ आदि-आदि ; शकु० १२, ४ ; २०, ३ ; ६७, ५ ; ११५, ५ ; १६८, १५ ; विक्रमो० ३०, १७ ; ४८, ४ ; माग० मे : मृच्छ० ३७,१० ; १००, २० ; ११३, १७ ; ११४, २१ ; १२३ ; २१ ; १३३, १५ और १६ ; १६४, १० ; शकु० ११४, ११ ; आव० मे : मृच्छ० १००, १८) है। शौर० और माग० में कभी-कभी अशुद्ध रूप इह दिखाई देता है, जैसे शौर० मे (मृच्छ० ७०, १२ ;७२, १३ ; विक्रमो० २१, १२), इहलोइओ (मृच्छ० ४, १), माग० में (मृच्छ० ३७, १० [इसके पास में ही इध भी है] ; १२२, १२), ये सब स्थल शुद्ध किये जाने चाहिए[5]। शेष प्राकृत बोलियों मे इह है , स्वय दाक्षि० में भी यही रूप है (मृच्छ० १०१, १३) और जै० शौर० में भी इह मिलता है (पव० ३८९,२), इहलोग भी आया है (पव० ३८७, २५), इहपरलोय भी देखा जाता है (कत्तिगे० ४०२, ३६५)। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हेमचद्र ४, २६८ मे शौर० में इह और इध दोनों रूपों की क्यों अनुमति देता है (§ २१)। ढक्की में आशा की जाती है कि इध रूप रहना चाहिए किंतु इसमें इसके प्रयोग के उदाहरण नहीं मिलते। —दाघ = दाह (हेच० १, २६४) ; सस्कृत शब्द निदाघ की तुलना कीजिए। अ०माग० में निभेलण के साथ साथ णिहेलण रूप मिलता है और महा० मे सीभर और इसके साथ साथ सीहर है (§ २०६)। —अ०माग० के मघमघन्त और मघमघेन्त के साथ साथ

* तुलसीदास ने षन्त्व के आधार पर भाषा आदि शब्दों का प्रयोग किया है। —अनु०

महा० में मह्मह्इ और जै०महा० में मह्महिय रूप मिलते हैं (§ ५५८)।—अ०माग० में वेभार (विवाह० १९४ ; १९५ ; उत्तर० १९४) और उसके बाद वेब्भार (नायाध०) और विब्भार (नायाध० १०३२) = वैहार जिसे जैनी संस्कृत में भी वैभार लिखते हैं। कर्मवाच्य रूप घुब्भइ = उह्यते, दुब्भइ = दुह्यते और लिब्भइ= लिह्यते (§ ५४१ और ५४४) जोड़ी के धातु *घभ्, *दुभ् और *लिभ् से निकले हैं। भ का वैदिक और संस्कृत ह्र और घ के साथ वही संबंध है जो व का फ और ग के साथ (§ २३० और २३१), *इसका प्रयोजन यह है कि यहा कण्ठ्य वर्णों का ओष्ठ्य* में परिवर्तित होने का नियम प्रस्तुत है। रुध् धातु से रुम्भइ निकला है और परस्मैपद में भी इसका रुम्भइ हो जाता है, ये रूप महा० और अ०माग० में चलते हैं (§ ५०७) तथा यह कण्ठ्य वर्णों के धातुओं की नकल है। —ह्म्मइ = पाली घम्मति के विषय में § १८८ देखिए। —भिमोर = हिमोर अस्पष्ट है (हेच० २, १७४ ; त्रिवि० १, ३, १०५ = बे. बाइ. ३, २५, ९) क्योंकि संस्कृत में हिमोर शब्द कहीं देखने में नहीं आता और नहीं भिमोर का अर्थ हम तक पहुँचा है।

१. वेबर, हाल' पेज २९ में विच्युति बताता है, यह सत्तसई के श्लोक ४ ; ४१० और ५८४ के विषय में है ; रिक्तस्थान की पूर्ति बताते हैं वेबर, हाल' पेज २९ ; भगवती १, ४११ ; पी. गौल्दश्मित्त, ना. गे. वि. गो. १८७४ पेज ४७३ में ; एस. गौल्दश्मित्त, रावणवहो थाह शब्द में ; लौयमान, औपपातिक सूत्र भमुहा शब्द में। —२. गो. गे. आ. १८८० पेज ३३३ और उसके बाद , बे. बाइ. ३, २४६ और उसके बाद ; ६, ९२ और उसके बाद ; § २०६ की तुलना कीजिए। —३. ना. गे. वि. गो. १८७४ पेज ४६९ और उसके बाद में पी. गौल्दश्मित्त का मत। —४. बे. बाइ. ६, ९१ और उसके बाद में पिशल का मत। —५ कू. बाइ. ८, १३७ में पिशल का मत।

§ २६७—अनुनासिक स्वर के बाद ह, घ रूप ग्रहण कर सकता है, अनुनासिक के बाद अनुनासिक वर्ण के वर्ग का ह्कारयुक्त वर्ण आ जाता है। यहा भी बहुत से अवसरों पर ह्कारयुक्त वर्ण उस समय का होना चाहिए जब कि शब्द में बाद *को इसके स्थान पर ह का आगमन हुआ हो जैसा कि संघअण में निश्चय ही हुआ* है (= शरीर : देशी० ८, १४ ; पाइय० ५९ ; त्रिवि० १, ३, १०५ = बे० बाइ० ३, २५५), अ०माग० में संघयण है (जीवा० ६६ ; विवाह० ८३ और ८९ ; उवास० ; ओव०) = *संघतन = संहनन, अ०माग० में संघयणी रूप भी है (जीवा० ६६ और ८७) = *संघतनी। शौर० में संघडि = संहति (अनर्घ० २९०,२)। इस नियम के अन्य उदाहरण ये हैं : संघार = संहार (हेच० १,२६४), सिंघ = सिंह (हेच० १, २६४), इसके साथ साथ महा०, अ०माग०, जै०महा० और अप० में सीह है, शौर० में सिंह, माग० में शिंह रूप है (§ ७६); शौर० में सिंघ (शकु० १०२, २ [बोएटलिंक के संस्करण में कई हस्तलिपियों के आधार पर यह रूप दिया गया है]) अशुद्ध है, वीरसिंघ भी है (कर्ण० ५३, २०); सिंघल (मल्लिका० ८८, २१) भी है। महा० में सिंघली = सिंहली (विद्ध० २४, ११) है। अ०माग० में हम्मो

(आयार० १,४,२,६ ; सूय० ५७९ ; विवाह० २५४ ; दस० ६४०, २७ ; नायाध० ७४० ; ७६१ ; ७६७ ; ७६९ ; १३३७ ; उवास० ; निरया०) = शौर० और माग० हंहो" (विद्ध० ९७, १० ; माग० में : मृच्छ० १४०, १२ ; १४१, १ ; १४९, १७ ; १६३, २ ; १६५, ८ ; १६७, २) = संस्कृत हंहो । —अनुनासिक के बाद ह के स्थान पर ह्-कारयुक्त वर्ण आ जाता है, महा०, अ०माग० और जै० महा० चिन्ध रूप में जो ं चिन्ह से निकला है (§ ३३०) = चिह्न (वर० ३,३४ ; हेच० २, ५० ; क्रम० २, ११७ [पाठ में चिण्णं है] ; मार्क० पन्ना २५ ; पाइय० ६८ ; ११४ ; गउड० ; आयार० २, १५; १८ ; नायाध० § ६४ ; पेज १३१८ ; पण्णव० १०१ ; ११७ ; विवाह० ४९८ ; पण्हा० १५५ ; १६७ ; ओव० ; उवास० ; निरया० ; आव० एर्त्से० १३, ५ ; द्वार० ५०७, ३८), जे०महा० में चिन्धिय = चिह्नित (आव० एर्त्से० २७, १) बोली में चिन्धाल शब्द भी चलता था (= रम्य, उत्तम : देशी० ३,२२), महा० में समासों में -इन्ध है (गउड०), इसके साथ साथ महा०, शौर०, माग० और अप० में चिण्ह है (हेच० २, ५० ; रावण० ; नागा० ८७, ११ ; माग० में : मृच्छ० १५९, २३ ; नागा० ६७, ६ ; अप० में : विक्रमो० ५८, ११)। मार्कंडेय पन्ना ६८ के अनुसार शौर० में केवल चिण्ह रूप है। भामह १, १२ में चिन्ध के साथ साथ चेन्ध रूप भी बताता है (§ ११९)। इन रूपों के अतिरिक्त अ०माग०, जै०महा० और अप० में बम्भ = ब्रह्मन् (जीवा० ९१२ ; सूय० ७४ ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से० ; तीर्थ० ५,१५ ; हेच० ४,४१२) ; अ०माग० में बम्भ = ब्रह्मन् (उत्तर० ९०४ ; ९०६ ; दस० नि० ६५४, ३९), बम्भ = ब्राह्म (आयार० पेज १२५, ३४), स्त्रीलिंग में बम्भी है (विवाह० ३ ; पण्णव० ६२, ६३) ; महा० बम्भण्ड = ब्राह्माण्ड (गउड०) ; अ०माग० में बम्भलोय = ब्रह्मलोक (उत्तर० १०९० ; विवाह० २२४ , ४१८ ; ओव०) ; अ०माग० में बम्भचारि- (आयार० २,१,९,१ ; उत्तर० १६४ , उवास०), अ०माग० और जै०महा० में बम्भयारि = ब्रह्मचारिन् (दस० ६१८, ३४ ; ६३२, ३८ ; उत्तर० ३५३ ; ४८७ ; ९१७ और उसके बाद ; नायाध० ; ओव० ; कप्प० , एर्त्से०) ; अ०माग० और अप० में बम्भचेर = ब्रह्मचर्य (§ १७६) ; अ०माग० और जै० महा० में बम्भण = ब्राह्मण (§ २५०) ; अ०माग० में बम्भणय = ब्रह्मण्यक (ओव० कप्प०) इत्यादि। और बोलियों में केवल बम्ह- और बम्हण रूप है (§ २८७ ; ३३०)। यही ध्वनिपरिवर्तन गौण अर्थात् श-, ष- और स-कार से निकले ह में हुआ है : आसंधा = *आसंहा = आशंसा (देशी० १,६३ [=इच्छा; आस्था। —अनु०]), इसमें लिंग का बहुत फेरफार है (§ ३५७)[१], महा० और शौर० में आसंघ रूप है (त्रिवि० १,३,१०५ = बे० बाइ० ३, २५० ; गउड० , रावण० ; शकु० १६०, १४ ; विक्रमो० ११, २ ; विद्ध० ४२, ७ ; कंस० ७, २०), शौर० में अणासंघ है (मल्लिका० ९३,९) , महा० आसंघइ = आशंसति (हेच० ४,३५ ;

* यह हंहो रूप में कुमाउनी में वर्तमान है। कुमाउनी में 'किसी प्राणी या स्थान की विशेष पहिचान के चिह्न' के लिए चिंधाणी है। —अनु०

गउड० ; रावण०) ; **संघइ** = **शंसति** (हेच० ४, २) । अ०माग० **ढिंकुण** जो बोली में **ढंकुण** और **ढेंकुण** हो गया है = *दंखुण जो **दंश्** धातु का एक रूप है (§ १०७ और २१२)[1] । अ०माग०, जै०महा० और अप० **सिम्भ**– के साथ साथ (हेच० २, ७४ ; पण्हा० ४९८ ; एर्त्से० ; हेच० ४, ४१२), अ०माग० में **सेँम्भ**– (वेबर, भग० १, ४३९), इसका स्त्रीलिंग रूप **सेँम्भा** भी मिलता है (मार्क० पन्ना २५) = **श्लेष्मन्** । यह **सेँम्भा** *सेँम्ह– और *सिम्ह– से निकला है । अ०माग० **सेँम्भिय** रूप है (वेबर, भग० १, ४१५ ; २, २७४ ; २७६), **सिम्भिय** भी है (ओव०) = **श्लैष्मिक** ; अ०माग० में गौण अनुनासिक स्वर के साथ **सिंघाण**– रूप भी है जो *श्लेष्माण– से निकला है (§ ४०३), इसका यह क्रम है : **सेम्हाण**–, **सिम्हाण**– और अंत में ***सिंहाण**– (आयार० २,२,१,७ [यहां भी यह पाठ होना चाहिए] ; ठाणग० ४८३ ; पण्हा० ५०५ ; विवाह० १६४ ; दस० ६३१, ३ ; उत्तर० ७३४ ; सूय० ७०४ ; ओव० ; कप्प० ; भग०) । यह शब्द **शिंघाण** और **शृंघाणिका** रूप में संस्कृत में ले लिया गया है । इसका एक रूप अ०माग० में **सिंघाणइ** है (विवाह० ११२) । अप० में भी **गिम्भ** = **ग्रीष्म** है (हेच० ४, ४१२) । **कम्भार** = **काश्मीर** के विषय में § १२० देखिए । **सेफ** = **श्लेष्मन्** पर § ३१२ और **भरइ** = **स्मरति** के लिए § ३१३ देखिए ।

१. त्सिक्मो० ११, २ पेज १९६ पर बौँल्लेँनसेन की टीका ; पिशल, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस पेज और उसके बाद में पिशल के मत की तुलना कीजिए ; हेमचंद्र ४, ३५ पर पिशल की टीका ; बे. बाइ. ३, २५० । —२. बे. बाइ. ३, २५५ ; ६, ८५ और उसके बाद में पिशल के मत की तुलना कीजिए ।

दो—संयुक्त व्यंजन

§ २६८—भिन्न-भिन्न वर्गों के सयुक्त व्यजन या तो अंश स्वर द्वारा अलग अलग कर दिये जाते है (§ १३१-१४०) या मिला लिये जाते हैं । शब्द के आरम्भ मे ण्ह, म्ह और ल्ह और बोली की दृष्टि से व्यजन र को छोडकर केवल सरल व्यजन ही रहते हैं; शब्द के भीतर उसमें मिला लिये जाने वाले सयुक्त व्यजन में से आरम्भ में केवल दूसरा व्यजन रहता है । समास या सन्धि के दूसरे शब्द का आरम्भिक वर्ण साधारणतया ध्वनि नियमों के व्यवहार के लिए शब्द के भीतर का वर्ण माना जाता है (§ १९६) : महा० में **कढइ** = **कथति** ; **कीळइ** = **क्रीडति** ; **खन्ध** = **स्कन्ध** ; **गंण्ठि** = **ग्रन्थि**; **जलइ** = **ज्वलति** ; **थल** = **स्थल** ; **थामत्थाम**– = **स्थामस्थाम**–(गउड०) ; **दिअ** = **द्विज** ; **भमइ** = **भ्रमति** ; **ण्हाण** = **स्नान** ; **ण्हाविय** = **नापित** और **ल्हसइ** = **ह्रसति** । —**म्हि** = **अस्मि** ; **म्ह** और **म्हो** = **स्मः** हो सकते हैं, क्योंकि ये अव्यय रूप से पादपूरणार्थ काम में आते हैं और इनके साथ ऐसा व्यवहार होता है मानो ये शब्द के भीतर के वर्ण हों[1] । व्यजन + र प्राकृत व्याकरणकारों के अनुसार शब्द के आदि या मध्य में आ सकता है (वर० ३, ४ ; हेच० २, ८० ; मार्क० पन्ना २०) ;

दोह और द्रोह=द्रोह (भामह ३, ४), दह और द्रह=ह्रद (§ ३५४ ; भामह; हेच० २, ८० ; देशी० ८, १४); चन्द और चन्द्र दोनों रूप हैं (सब व्याकरणकार) ; रुद्द और रुद्र साथ साथ चलते है (भाम० ; हेच०) ; इन्द और इन्द्र (मार्क०); भद्द और भद्र (हेच०; मार्क०); समुद्द और समुद्र (हेच०) दोनों रूप साथ साथ एक ही अर्थ में काम में आते है। महा० मे वोद्रह आया है (पाइय० ६२; देशी० ७,८० की तुलना कीजिए) अथवा वोद्रह रूप आया है (= तरुण पुरुष ; तरुण : हेच० २, ८० ; देशी० ७, ८० ; हाल ३९२)[2] (इस वोद्रह या वोद्रह का एक ही रूप है।—अनु०); जै०महा० मे वन्द्र (= वृन्द; झुंड : हेच० १, ५३; २, ५३ ; २, ७९; देशी० ७, ३२; एर्से० २६, ३), इसके रूप वन्द्र और वुन्द्र भी होते हैं[3]। अप० में व्यंजन+र बहुधा आता है और कभी-कभी यह गौण भी रहता है। इस प्रकार हेच० में : त्रं = तद् तथा इससे भी शुद्ध त्यद् है (४, ३६०) ; द्रम्म = ग्रीक द्राख्ये (४, ४२२, ४) ; द्रवक्क (भय ; दवक (ना) ; (४, ४२२, ४) ; द्रह = ह्रद (४, ४२३, १) ; द्रेहि = *देखि = दृष्टि (४, ४२२, ६ ; § ६६ की तुलना कीजिए) ; ध्रु यद् और यस्मात् के अर्थ मे (४, ३६० ; ४३८, १), क्रमदीश्वर ५, ४९ मे द्रं = तद्, ज्रं = यद् और ५, ६९ के अनुसार ये रूप व्राचड अपभ्रंश मे काम में आते है ; ध्रुवु = ध्रुवम् (४, ४१८ ; क्रम० ५, ५ की तुलना कीजिए जहाँ ध्रुव और ध्रु रूप छपे है) ; प्रङ्गण = प्राङ्गण (४, ३६० ; ४२०, ४) ; प्रमाणिअ = प्रमाणित (४, ४२२, १) ; प्रआवदि = प्रजापति (४, ४०४) ; प्रस्सदि = पश्यति (४, ३९३) ; प्राइव, प्राइवँ और प्राउ=प्रायः (४, ४१४) ; प्रिअ = प्रिय (४, ३७०, २ ; ३७७ ; ३७९, २ ; ३९८ ; ४०१, ६ ; ४१७) ; ब्रुवह = ब्रूत ; ब्रोँ प्पि और ब्रोँ प्पिणु = *ब्रूत्वा (४, ३९१; क्रम० ५, ५८ भी) ; भ्रन्ति = भ्रान्ति (४, ३६०) ; व्रत्त=व्रत (४, ३९४) ; व्रास = व्यास (४, ३९९ ; क्रम० ५, ५)। क्रमदीश्वर में उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त भ्रास = भाष्य मिलता है (५, ५)। शब्द के भीतर अन्त्रडी = अन्त्र (हेच० ४, ४४५, ३) ; भ्रन्ति = भ्रान्ति (४, ३६०) ; पुत्र (क्रम० ५, २) ; सभवतः जत्रु, तत्रु = यत्र, तत्र (हेच० ४, ४०४) में भी यही नियम है और एत्रुल, केत्रुल, जेत्रुल तथा तेत्रुल में भी = इयत्, कियत्, यावत् और तावत् (हेच० ४, ४३५) जिनके विषय मे हस्तलिपियों त्त और त्र के बीच अदला बदली करती रहती हैं। क्रमदीश्वर के सस्करण मे ५, ५० में यद्रु और तद्रु रूप आये है जो = यत्र तथा तत्र। —माग० और अप० में बोली में शब्द के आरभ में य्च और य्ज (= यच और यज) आये हैं (§ २१७)।

१. इनके उदाहरण उन पाराओं में हैं जिनमें इनके विषय में लिखा गया है। — २. हेमचंद्र २, ८० के अनुसार यह है। वेबर की हाल ३९२ की टीका और इंडिशे स्टुडिएन १६, १४० और उसके बाद के अनुसार हस्तलिपियों में र नहीं है। — ३. हेमचंद्र १, ५३ पर पिशल की टीका।

§ २६९—शब्द के भीतर सयुक्त व्यंजनों मे से केवल नीचे दिए गए रहते है : (१) द्वित्तीकृत व्यंजन और वह सयुक्त व्यजन जिसमें एक व्यंजन के वर्ग

का ह कार युक्त व्यजन भी मिला हो ; (२) सयुक्त ध्वनियाँ ण्ह, म्ह और ल्ह ; (३) किसी बोली में व्यंजन+र्, (§ २६८) ; (४) अनुनासिक+व्यजन जो अनुनासिक के वर्ग का हो। हस्तलिपियों में अनुनासिक के स्थान बहुधा अनुस्वार लिखा पाया जाता है और व्याकरणकार इस विषय पर स्थिर मत नहीं रखते। क्रमदीश्वर २, १२१ और मार्कडेय पन्ना ३४ में बताया गया है कि न और ङ के स्थान पर वररुचि ४, १४ के अनुसार न और ञ के स्थान पर व्यजन से पहले — आ जाता है[1] : वंचणीअ=वञ्चनीय ; विंझ = विन्ध्य ; पंति = पङ्क्तिः और मंति = मन्त्रिन्। हेच० १, १ के अनुसार अपने वर्ग के व्यजनों से पहले के ङ और ञ बने रह जाते हैं तथा १, २५ के अनुसार व्यजनों से पहले के ङ, ञ, ण और न — हो जाते हैं तथा १, ३० के अनुसार वे ज्यों के त्यों बने रह सकते हैं, तोभी हेच० से अनुसार कई व्याकरणकार इनका ज्यों का त्यों बना रहना आवश्यक समझते हैं। देशीनाममाला १, २६ से यह निदान निकलता है कि अहरिंप न कि अद्दरिंप लिखा जाता था। देशीनाममाला १, १८ में यह सभावना छिपी है कि अन्धन्धु न कि अंधंधु पढा जाना चाहिए[1]। व्याकरणकारों के उदाहरण आंशिक रूप से ऐसे शब्दों के हैं जिनमें प्राकृत के ध्वनि नियमों के अनुसार अनुनासिक अपने वर्ग से निकल जाता है और तब उस स्थान पर — लिखा जाता है[1]। इस प्रकार शौर० में अवरंमुह = अपराङ्मुख (विक्रमो० ४४, ९); अ०माग० में छंमासिय= षण्मासिक (आयार० २, १, २, १) ; महा० और अप० में छंमुह = षण्मुख (§ ४४१) ; महा० और शौर० में दिंमुह = दिङ्मुख (कर्पूर० ३९, ३ ; विद्ध० ३४, ११ ; लटक० ४, ३) ; महा० में दिंमोह = दिङ्मोह (हाल ८६६) ; जै०-महा० और शौर० में परंमुह = पराङ्मुख (गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्त्से ; शकु० ७५, १५ ; महावीर० ३४, १२ , भर्तृहरिनि० २२, १३) ; महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर० और अप० में पंति = पङ्क्ति (रावण० , कर्पूर० ४७, १२, १०१, १ ; जीवा० ८४६ और ५१२ ; पण्हा० ५२० ; राय० १४३ ; विवाह० १३२५ ; ओव० ; कप्प० ; आव० एर्त्से० ३६, ३६ , पाल० ४१, २ , कर्पूर० ३७, ९ ; पिंगल १, १०) ; महा० और शौर० में—पंति मिलता है (हाल ; मृच्छ० ६९, १) ; अ०माग० में पंतिया = पङ्क्तिका (आयार० २, ३, ३, २ ; २, ११, ५ ; अणुओग० ३८६ ; ठाणग० १४ , विवाह० ३, ६, १ , पण्णव० ८० , ८४ और ८५) ; अ०माग० वंझ = वंध्य (सूय० ४६० [पाठ में वंझ है]), अवंझ रूप भी मिलता है (सूय० ६०६ [पाठ में अवंझ है]) ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में विंझ = विन्ध्य (गउड० ; हाल , रावण० ; मृच्छ० ४१, १६; विवाह० ११८९ ; १२७४ ; १२८७ ; एर्त्से० ; रुक्मिणी० ४८, ३) ; शौर० में विंझकेदु मिलता है (प्रिय० १४, ६ ; ५२, ६); महा०, जै०महा० और शौर० में संझा= सन्ध्या (गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्त्से० ; कर्पूर० ६७, ४)। इसकी पुष्टि में प्रमाण भी हैं, जैसे वररुचि ३, ४३ = हेमचन्द्र २, ६१ ; क्रमदीश्वर २, ९८ ; मार्कण्डेय पन्ना २५, जहाँ विशेष रूप से यह नियम बताया गया है कि न्म के स्थान पर म्म में

ध्वनिपरिवर्तन हो जाता है। अनुनासिक+अनुनासिक में किसी प्रकार का अपवाद करना है या नहीं अर्थात् परम्मुह और छम्मासिअ लिखना चाहिए या नहीं, यह अनिश्चित ही रह गया है। (५) माग० में शब्द के भीतर श्च, स्च्ह, ष्ट, स्क, ष्ख, स्क, स्ख, स्त, स्ट, स्त, स्प, स्फ और ह्क पाये जाते हैं (§ २३३; २३६; २७१; २९०; ३०१ और उसके बाद और ३३१)।

१. भामह द्वारा इस नियम की भ्रान्तिपूर्ण धारणा के विषय में वररुचि पेज १३४ में नोटसंख्या पर कौवेल की टीका देखिए। — २. पिशल, देशीनाममाला की भूमिका का पेज ८ और उसके बाद। — ३. हेमचन्द्र १, २५ पर पिशल की टीका।

§ २७०—नाना वर्गों के सयुक्त व्यजनों की शेष ध्वनि में संयुक्त व्यंजनों में से पहला व्यंजन लुप्त हो जाता है और दूसरे व्यंजन का रूप धारण कर उससे मिल जाता है (वर० ३, १ और ५० ; चंड० ३, ३ और २४ ; हेच० २, ७७ और ८९ ; क्रम० २, ४९ और १०८, मार्क० पन्ना १९ और २६)। (१) क् + त = त्त हो जाता है : महा० में आसत्त = आसक्त (गउड० ; हाल) ; जुत्त = युक्त (हाल ; रावण०) ; भत्ति = भक्ति (गउड०; हाल) ; मोत्तिय = मौक्तिक (गउड०; हाल; रावण०)। यही नियम अन्य प्राकृत भाषाओं में भी है[1]। मुक्क और उसके साथ साथ कभी-कभी व्यवहार में आनेवाला रूप मुत्त = मुक्त, *मुक्क से निकला है, जैसे रग्ग और उसके साथ साथ चलनेवाला रत्त = रक्त, *रग्ण से निकला है (§ ५६६)। सक्क जो हेमचंद्र २,२ के अनुसार = शक्त बताया गया है, सर्वत्र ही=शक्य (क्रम० २,१)[2]। नक्कंचर (हेच० १, १७७) = नक्तंचर, किंतु यह समानता यदि ठीक होती तो इसका रूप णत्तंचर होना चाहिए था किंतु यह *नर्का से निकले रूप *नक्का से संबंधित है (§ १९४ और ३, ५५) = वैदिक नक्त तक पहुँचता है[3]।—(२) क् + थ, त्थ हो जाता है : जै०महा० मे रित्थ = रिक्थ (पाइय० ४९ ; एर्से० ; कालका०) ; अ०माग० मे सित्थ = सिक्थ (हेच० २, ७७ ; ओव० ; कप्प०) ; सित्थअ = सिक्थक (भाम० ३,१; पाइय० २२८)। —(३) क्+प=प्प : महा० में वप्पइराअ= वाक्पतिराज (गउड०)। —(४) ग्+ध=द्ध: महा० में दुद्ध=दुग्ध(गउड०; हाल); महा० में मुद्ध = मुग्ध (गउड० ; हाल ; रावण०), महा० णिद्ध (हाल ; रावण०); सिणिद्ध = स्निग्ध (गउड०)।—(५) ग् + भ=ब्भ हो जाता है : महा० में पब्भार= प्राग्भार(गउड०; रावण०)[4]। —(६)ट्+क=क्क बन जाता है : अ०माग० छक्क=षट्क (§ ४५१) ; जै०माग० छक्कट्ठग=षट्काष्टक (नायाध०)। —(७) ट्+च=च्च : अ० माग० छच्=च=षट् च ; छच्चरण = षट्चरण (§ ४४१)। —(८) ट् + त=त्त हो जाता है : अ०माग० छत्तल = षट्तल ; छत्तीसं और छत्तीसा = षट्त्रिंशत् (§ ४४१)।—(९) ट्+प = प्प हो जाता है : महा० छप्पअ और जै०महा० छप्पय= षट्पद; अ०माग० छप्पण्ण और अप० छप्पण="षट्पञ्चत् (=५६; § ४४१ और ४४५)।—(१०) ट्+फ=प्फ बन जाता है : कप्फल = कट्फल (हेच० २, ७७)। ड् —(११) +ग=ग्ग हो जाता है : महा० रूप खग्ग = खड्ग (गउड०; हाल ;

रावण०); महा० छग्गुण = षड्गुण और शौर० छग्गुणअ = षड्गुणक (§४४१)। —(१२) ड्+ज=ज्ज हो जाता है : अ०माग० छज्जीव=षड्जीव (आयार० १, १, ७,७) ; सज्ज = षड्ज (हेच० २,७७)। —(१३) ड्+द=द्द रूप साधारण कर लेता है। अ०माग० छद्दिसिं=षड्दिशम् (§ ४४१)। —(१४) ड्+भ=ब्भ बन जाता है : अ०माग० में छब्भाय और छब्भाग = षड्भाग (§ ४४१); शौर० छब्भुअ = षड्भुज (चैतन्य० ४२,७)। —(१५) ड्+व=व्व हो जाता है : अ०माग०, जै०महा० और अप० में छव्वीसं = षड्विंशति (§ ४४, १)। — (१६) त्+क=क्क हो जाता है : महा० उक्कण्ठा=उत्कण्ठा (गउड०; हाल); अ०माग० उक्कलिया = उत्कलिका (ओव०) ; शौर० बलक्कार=बलात्कार (मृच्छ० १३, २२ ; १७, २१ ; २३, २३ और २५ ; शकु० १३७, ३), माग० में इसका रूप बलक्काल देखा जाता है (मृच्छ० १४०, १५ ; १४६, १७ ; १५८, २२ ; १६२, २० और १७३, १२)। — (१७) त्+प=प्प बन जाता है : महा० उप्पाअ और जै०महा० उप्पाय = उत्पात (§ ८०)। — (१८) त्+प=प्प हो जाता है : महा० उप्पल = उत्पल (गउड०; हाल ; रावण०) ; अ०माग० तप्पढमया = तत्प्रथमता (ओव० ; कप्प०) ; महा० सप्पुरिस = सत्पुरुष (गउड० ; हाल)। — (१९) त्+फ = प्फ बन जाता है : महा० उप्फुल्ल=उत्फुल्ल (हाल ; रावण०); महा० और माग० में उप्फाल=उत्फाल (रावण० ; मृच्छ ९९, १०)। — (२०) द्+ग=ग्ग हो जाता है : महा० उग्गम = उद्गम (गउड० ; हाल ; रावण०) ; महा० और शौर० मोॅग्गर = मुद्गर ; अ०माग० और जै०शौर० पोॅग्गल = पुद्गल (§ १२५)। — (२१) द्+घ = ग्घ हो जाता है : महा० उग्घाअ = उद्घात (गउड० ; हाल ; रावण०) ; महा० उग्घुट्ठ = उद्घुष्ट (रावण०)। — (२२) द्+ब = ब्ब होता है : महा० बब्बुअ = बुद्बुद (गउड०) ; शौर० उब्बंधिअ = उद्बध्य (§ ५९३)। — (२३) द्+भ = ब्भ हो जाता है : महा० उब्भड = उद्भट (गउड० ; रावण०) ; महा० उब्भेय = उद्भेद (गउड०; हाल ; रावण०); महा० सब्भाव=सद्भाव (गउड०; हाल; रावण०)। — (२४) प्+त = त्त हो जाता है : महा० मे उक्खित्त = उत्क्षिप्त (गउड० ; हाल ; रावण०) ; महा० पज्जत्त = पर्याप्त (गउड० ; हाल ; रावण०) ; महा० सुत्त = सुप्त (हाल)। —(२५) ब्+ज=ज्ज हो जाता है : महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० खुज्ज = कुब्ज (§ २०६)। — (२६) ब्+द = द्द हो जाता है : अद्द = अब्द (हेच० २, ७९) ; महा० सद्द = शब्द (गउड० ; हाल ; रावण०)। — (२७) ब्+ध=द्ध हो जाता है : आरद्ध = आरब्ध (रावण०) ; महा० लद्ध = लब्ध (गउड० ; हाल ; रावण०) और लोॅद्धअ = लुब्धक (§ १२५)।

१. § १८४ नोटसंख्या १ की तुलना कीजिए। — २. विक्रमोर्वशी १२, ३० पर बॉल्लें नसेन की टीका ; हेमचंद्र २, २ पर पिशल की टीका। § २७९ की तुलना कीजिए। — ३. संस्कृत नक्षत्र 'सितारा' 'तारों का समूह' = नक्‌क्षत्र 'रात के ऊपर राज करनेवाले' रूप में रखा जाना चाहिए। इसका साधारण अर्थ यह कि *नक्‌तत्र से निकला है (औफरेष्ट, कू० त्सा० ८, ७१ ; इस विषय पर

वेबर, नक्षत्र २, २६८ की तुलना कीजिए) अथवा नक्ष् से (=पहुँचना। —अनु०)। इसकी व्युत्पत्ति बताना (ग्रासमान के वैदिक कोश मे यह शब्द देखिए) सब भाँति इसके अर्थ को तोड़ना मरोड़ना है। — ४. इसकी जो साधारण व्युत्पत्ति दी जाती है उसके अनुसार यह रूप दिया गया है। त्सात्तारिआए (वाइत्रैगेत्सूर इंडिशन लेक्सिकोग्राफी, पेज ६० और उसके बाद मे) प्राग्भार में ठीक ही पाता है कि संस्कृत मे यह शब्द पब्भार का संस्कृत रूप बनाकर फिर भरती कर लिया गया है। वह पब्भार को जो अ०माग० में बहुत आता है (उदाहरणार्थ : उत्तर० १०३४ ; अणुओग० ४१६ ; विवाह० २४८ और ९२० ; ठाणंग० १३५ और २९७ ; ओव० , निरया०) और जै०महा० मे भी पाया जाता है (कालका०) तथा शौर० मे भी मिलता है (अनर्घ० १४९, १०) *प्रह्वार से व्युत्पन्न करना चाहता है। इसका साधारण अर्थ 'ढेर , राशि' दिशा दिखाता है कि इससे अच्छा *प्रभर शब्द है (याकोबी, काल्काचार्यकथानक में यह शब्द देखिए)। इसमे § १९६ के अनुसार द्वित्व हो जाना चाहिए।

§ २७१—एक ही वर्ग के सयुक्त व्यजनों की शेष ध्वनियाँ § ३३३ मे बताये गये नियम को छोड अन्यत्र लोगों की बोली मे ही बदल जाता है। माग० मे ट्ट स्ट का रूप धारण कर लेता है (हेच० ४, २९०) : पस्ट = पट्ट ; भस्टालिका = भट्टारिका ; भस्टिणी = भट्टिनी। स्टेन्त्सलर ने मृच्छकटिक मे ट्ट के लिए ष्ट रूप दिया है : भष्टक = भट्टक (१०, ५ ; १६, १८ , २२, ३ और ५ , ११४, १६ ; ११८, ८ ; १२ , २२ , १११, ९ , १२२, १० ; १२४, १२ और उसके बाद , १२५, १ ; ३ ; ८ ; २४ ; १३२, ११ , १५ और १८) ; भश्टालअ और भश्टालक = भट्टारक (२२, ५ ; ३२, ४ , ११२, १८ ; ११९, १३ , १२१, १२ ; १५४, ९ ; १६४, १२ , १६५, १ और ५ ; १७६, ४) , पिश्टदु = *पिट्टतु = पिट्टयतु (१२५,८)। जैसा कि अन्यत्र बहुधा किया है, इस सबध मे भी गौडबोले ने उसका साथ दिया है। यद्यपि हस्तलिपियों में सर्वत्र भट्टक, भष्टक, भष्ठक, भट्टालक और भष्टालक (भष्टालअ) रूप आये हैं, केवल एक दो हस्तलिपिया १०, ५ ; २२, ३ और ५ ; ३२, ४ , ११९, १३ ; १२४, २४ , १३२, ११ मे -श्ट- लिखती हैं। सब हस्तलिपियों मे पिश्टदु के स्थान पर पिट्टदु' रूप है, कहीं चिट्टदु भी है, इसी प्रकार अट्टहासश्श आया है (१६८, २१), इस रूप के स्थान पर हेमचद्र के अनुसार अस्टहाशश्श लिखा जाना चाहिए। कलकत्ते के सस्करणों मे सर्वत्र ट्ट आया है। इस प्रकार सभी सस्करणों मे शकुन्तला ११४, १२ ; ११६, ११ , ११८, ४; प्रबोधचन्द्रोदय ३२, ८ ; १०, ११ और १२ ; चडकौशिक ६०, १२ आदि आदि। मृच्छकटिक में ष्ट स्ट के स्थान पर बोली का एक भेद माना जाना चाहिए जैसा ह्क और उसके साथ साथ ह्क=क्ष। किंतु अन्यत्र हेच० के अनुसार ट्ट के स्थान पर स्ट लिखा जाना चाहिए। § २९० की तुलना कीजिए। हेच० २, १२ के अनुसार कृत्ति (=चमड़ा; खाल) का रूप किच्चि होना चाहिए। इसके उदाहरण केवल महा० में कत्ति (पाइय० ११०; ११० , गउड० , हाल) और किंत्ति (हाल) मिलते हैं। हाल

९५१ में हस्तलिपि इन्डू=कत्तिओ के स्थान पर कत्ती अ लिखा गया है, ध्वन्यालोक के छपे संस्करण में १२८, ६ में कर्त्ती अ मिलता है और काव्यप्रकाश के छपे संस्करण में ३२९, १० में भी यही रूप है तथा उत्तम हस्तलिपियों में यही देखने में आता है। काप्पे और पिशेल यह सूचना देते हैं कि इनका संस्कृत मूल *कृत्या =कर्त्या:* रहा होगा, (=त्वचा) 'जानवरों का काट कर उतारा गया चमड़ा।' अ०माग० विणिञ्छइ = * विछन्त्यति (§ ४८५) की तुलना कीजिए। च्छ के स्थान पर माग० में श्च आने के विषय में § २३३ देखिए।

१. गौडबोले पेज ३४५ नोटसंख्या ९ में पिट्टदु छापे की भूल है। —२. स्ट=ट्ट के विषय में निम्नलिखित विद्वानों का मत अशुद्ध है: आस्कोली, क्रिटिशे स्टुडिएन पेज २३३ का नोट ; सेन्तर, पियदसी १, २९ और उसके बाद ; २, ४१८ और उसके बाद ; योहान्ससोन, शाहबाजगढ़ी २, १८ नोटसंख्या १। मो० गे० सा० १८८१, १३१८ और उसके बाद में पिशल का मत देखिए।

§ २७२—दो संयुक्त व्यजनों में से पहला यदि अनुनासिक हो तो नियम के अनुसार ध्वनिसमूह में अपरिवर्तित रहता है, जब कि अनुनासिक पहले आता है : महा० अंक (गउड० , हाल , रावण०) रूप है ; महा० और शौर० में संखला = शृंखला (§ २१३), महा० में सिंग = शृंग (गउड० ; हाल) ; महा० में जंघा है (गउड०), महा० में कोंञ्च = क्रौञ्च (गउड०) ; महा० में लञ्छण = लाञ्छन (गउड० ; हाल ; रावण०), महा० में मञ्जरी रूप आया है (गउड० ; हाल) ; महा० में कण्ठ का कण्ठ ही है (गउड०; हाल ; रावण०) और खण्ड, खण्ड रूप में ही बना रह गया है (गउड०; हाल ; रावण०) तथा अन्त जैसे का तैसा बना हुआ है (गउड० ; हाल; रावण०)। मन्थर मन्थर रूप से चलता है (गउड० ; हाल ; रावण०), महा० में मअरन्द = मकरन्द (हाल; रावण०), बन्ध बन्ध रूप में बधा है (गउड० ; हाल ; रावण०) तथा जम्बू अपने मूल रूप में स्थित है (गउड० ; हाल)। यदि अनुनासिक अपने वर्ग से बाहर का आता है तो इसका रूप — हो जाता है (§ २६९)।

§ २७३—पञ्चदशन् और पञ्चाशत् में ञ्च का ण्ण हो जाता है (वर० ३, ४४ ; हेच० २, ४३ , क्रम० २, ६६ ; मार्क० पन्ना २५) इस प्रकार : पण्णारह (=१५ : सब व्याकरणकार , अप० में पिंगल १, ११२ और ११४) ; अ०माग० और जै०महा० म पण्णरस रूप है और कहीं कहीं पन्नरस भी पाया जाता है (हेच० ३, १२३ ; कप्प० ; भग० ; एत्सें० पेज भूमिका का ४१), पण्णरसी (कप्प०) ; पण्णासा (=५० : वर० ३, ४४ ; हेच० २, ५३ ; मार्क० पन्ना २६ ; कप्प०) ; अ०माग० और जै०महा० में पण्णासं रूप भी आता है (क्रम० २, ६६ ; ठाणंग० २६६ ; भग० ; एर्से०), पन्ना रूप भी है (चंड० ३, ३२), पचास के अन्य संख्यायुक्त शब्दों में पचास का पण्णं हो जाता है और वण्णं

* इस *कर्त्या का एक रूप कर्ता और कर्तो इसी अर्थ में कुमाउनी बोली में है, ढूंढ़ने पर अन्यत्र भी मिलने की सम्भावना है। —अनु०

भी : **एकावन्नं** (इसका संपादन **एकावन्नं** भी हुआ है ;=५१ : सम० ११२) ; **बावण्णं** (=५२) ; **तेवण्णं** (=५३) ; **चउवण्णं** (= ५४) ; **पणवण्णं** (= ५५) ; **छप्पण्णं** (= ५६) ; **सत्तावण्णं** (= ५७); **अट्ठावण्णं** (= ५८ : वेबर ; भगवती १, ४२६ , सम० ११३–११७ ; एत्सें० भूमिका का पेज ४१) ; **अउणापण्णं** (=४९ : ओव० § १६३) ; **पणवण्णइम** (= ५५ वाँ : कप्प०) ; अप० में **बावण्ण** (=५२), **सत्तावण्णई** (=५७ : पिंगल १, ८७ और ५१) । इसी प्रकार अ०माग० में भी **पण्णट्ठि** (= ६५ : कप्प०) और **पन्नत्तरिं** (=७५ : सम० १३३) । २०–६० तक संख्या शब्दों से पहले अ०माग० और जै०महा० में **पञ्च** का **पण्ण** और अधिकांश स्थलों में इसका छोटा रूप **पण** हो जाता है : **पणवीसं** (= २५) ; **पणतीसं** (= ३५) ; **पणयालीसं** (=४५) ; **पणवण्णं** (=५५), इसका रूप **पणवण्णा** भी मिलता है (चंड० ३, ३३ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; हेम० २, १७४ ; देशी० ६, २७ ; त्रिवि० १, ३, १०५ =बे० बाइ० ३, २४५ ; इस ग्रंथ में इस रूप के साथ साथ **पञ्चावण्णा** भी है) ; **पणसट्ठिं** (वेबर, भगवती १, ४२५ ; सम० ७२—१२३ , एत्सें० भूमिका का पेज ४१) । इसी प्रकार अ०माग० में भी **पणपण्णइम** (=५५ वाँ : कप्प०) और अप० में **छप्पण** मिलता है (=५६ : पिंगल १, ९६) । पाली रूप **पण्णुवीसति** और **पण्णुवीसं** (= २५) के समान ही अ०माग० में **पणुवीसाहि** रूप है (इसमें **हि** तृतीया की विभक्ति है, आयार० पेज १२७, २५), **पणुवीसं** भी देखा जाता है (राय० ११४ और उसके बाद ; जीवा० ६७३ ; जीयक० १९, २०) ; जै०महा० में **पणुवीसा** मिलता है जिसका **उ** § १०४ के नियम से सिद्ध किया जाना चाहिए । पाली में भी **पन्नरस, पन्नरसी, पण्णरस, पण्णास** और इनके साथ साथ **पञ्ञास** रूप हैं । ए० कुन का अनुमान है (कू० त्सा० ३३, ४७८) कि '**ञ्च, च** और **श** के बीच भेद की गड़बड़ी से स्पष्ट होता है और उसके अनुसार यह उस काल तक पीछे पहुँचता है जब **श** का दत्त्य **स**–कार नहीं हुआ था परंतु जब लोगों के मुँह में (उच्चारण में) स्पष्ट ही **च** से संबंधित था ।' यह तथ्य **पण्ण** के लिए संभव नहीं है । पंजाबी और सिंधी **पंजाह्**, **पं-चंजा**, सिंधी–**चंजाह** (होएर्नले, कंपेरेटिव ग्रैमर २५९) संकेत करते हैं कि ये रूप **ञ्च** से **ञ्ञ**, **ञ्य** और **न्य** बनकर आये हैं । पाली **आणा**=**आज्ञा** और **आणापेति** = **आज्ञापयति** और § २७४ ; २७६ , २८२ तथा २८३ की तुलना कीजिए । अप० में **पचीस** (=२५), **पचआलीसहिं** (=४५ ; तृतीया) में अनुनासिक लुप्त हो गया है । § ४४५ देखिए । अ०माग० **आउण्टण** जो=**आकुञ्चन** माना जाता है । § २३२ देखिए ।

§ २७४—हेमचन्द्र ४, २९३ ; सिंहराज पन्ना ६२ ; रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका के अनुसार अ०माग० में **ञ्ञ** का रूप **ञ्ज** में परिवर्तित हो जाता है : **अञ्जलि**=**अञ्ञलि**; **धणञ्जअ**=**धनंजय**; **पञ्जल**=**प्राञ्जल** । इसके अनुसार **ज** मानो शब्द के आदि में **य** हो गया हो । मृच्छकटिक १९, ६ में **अञ्जलि** रूप है ।

§ २७५—हेमचंद्र ४ और ३०२ ; रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका और अमरचंद्र की काव्यकल्पलतावृत्ति पेज ९ के अनुसार शौर० और माग० में न्त, न्द में परिवर्तित हो जाता है। व्याकरणकारों ने नीचे दिये उदाहरण प्रस्तुत किये हैं : शौर० में **अन्देउर** = अन्तःपुर ; **णिच्चिन्द** = निश्चिन्त ; **महन्द** = महत् ; माग० में भी **महन्द** मिलता है ; इसके साथ शौर० में तथाकथित **रन्दूण** = रत्वा (हेच० ४, २७१) और त्रिविक्रम ३, २, १ में **सउन्दले** = शकुन्तले है। ललितविग्रहराज नाटक में माग० में सर्वत्र न्त के स्थान पर सर्वत्र न्द आया है : **पयन्दे**= पर्यन्ते (५६५, ७) ; **अवय्यन्ददा**=अपर्यन्तता (५६५, १२) ; **पेॅक्खिय्यन्दि** = प्रेक्ष्यन्ते (५६५, १३) ; **पुश्चन्दे** और **णि [रिक्क] दे** = पृच्छन् और निरीक्षमाणः (५६५; २०) ; **वज्जन्दस्स** = व्रजतः (५६६, ७) ; जब कि शौर० में बिना अपवाद के न्त बना रहता है : **विलोअन्ति** = विलोक्यन्ते (५५४, २१) ; **पेक्खिज्जंति** = प्रेक्ष्यन्ते (५५४, २२) ; **वुत्तंता···सुणीयन्ति** = वृत्तान्ताः···श्रूयन्ते (५५५, २) ; **हुवंति** = भवन्ति (५५५, ५) ; **पेरंतेसु**=पर्यन्तेषु (५५५, ११) ; **देसंतर** = देशान्तर (५६०,१९) आदि आदि। होएफर[1] और लास्सन[1] ने प्राचीन पाठों से पहले ही बहुत से ऐसे उदाहरण एकत्र कर रखे हैं जो नये संस्करणों से आशिक रूप में नये संस्करणों से उड़ गये हैं, जैसे **भक्खन्दि** जिसके स्थान पर स्टेनसलर मृच्छकटिक ६९, ३ में अपनी हस्तलिपियों के अनुसार **भक्खन्ति**=भक्षयन्ति रूप देता है ; **संदाव** रूप है जिसके स्थान पर मृच्छकटिक ७८, ८ , शकुंतला ५५, १ , ६८, ९ ; रत्नावली २९८, १० ; २९९, १० में **संताव** रूप मिलता है। प्रबोधचंद्रोदय के पूना, बंबई और मद्रास के छपे संस्करण साथ ही ब्रौकहौस के संस्करण में बहुधा न्द मिलता है। ब्रौकहौस के संस्करण में आये रूपों के अतिरिक्त अन्य संस्करणों में न्द वाले नये शब्द भी देखने में आते हैं, जैसे बंबइया संस्करण ३९, २ में **रमन्दी** आया है, मद्रास तथा पूना के संस्करण में **रमंदी** छपा है, ब्रौकहौस ९ में **संभावअन्दी** है और मद्रास तथा पूनावाले में **संहावअंदी** छपा है, बंबइया में **संभावयंदी** आया है, किंतु ब्रौकहौस ४ में **चिट्ठन्ति**, मद्रास में **चिट्ठन्दि**, पूना में **चिट्ठन्दि** रूप आये हैं ; बंबइया में **तुस्सन्ति** है , ब्रौकहौस में **पडीछन्ति** है, बंबइया और मद्रासी में **पडिच्छन्ति** और पूनावाले में **पडिच्छन्ति** छपा है, इन सब में न्ति आया है। यहाँ भी यही अस्थिरता बहुत मिलती है और भारतीयों द्वारा प्रकाशित कई संस्करणों में भी पायी जाती है। इस प्रकार शंकर पांडुरंग पंडित मालविकाग्निमित्र ७, २ में **ओलोआलो** १, ३ में अन्तरे किंतु ५ में **उवआराणन्दरं** रूप देता है (बॉल्लें नसेन ने ६, ९ में शुद्ध रूप **उवआराणन्तरं** दिया है), ६६, १ में **पञ्चरस्सव्यंन्दरे** दिया है (बॉल्लें नसेन ने ३४, १३ में **पञ्चरस्सब्भन्तरे** दिया है) किंतु ६६, ५ में **आअन्तव्वं** छापा है, आदि आदि ; ताराकुमार चक्रवर्ती ने उत्तररामचरित ५९, ५ ; ६९, १० ; ७७, ४ ; ८९, ११ में **वासन्दी** = वासन्ती छापा है ; तैलंग ने मुद्राराक्षस ३६, ४ में **जाणन्दि** किंतु ३८, २ में **जाणन्तं** छापा है ; ३९, ४ में **सहन्दि** परंतु ३९, ७ में **निवेदिअन्ति** है ; दुर्गाप्रसाद और परब ने उन्मत्तराघव ३, २ और ५ तथा ७, ४ में **दीसन्दि** दिया है किन्तु ५, ४ में

दीसन्ति = दृश्यन्ते छापा है ; ७, ४ में अण्णेसन्दीए दिया है = अन्वेषन्त्या किन्तु ५, ४ में संभमन्ता रूप आया है = संभ्रमन्तः ; मुकुन्दानन्द भाण १३, २ में किंदि = किम् इति है, परन्तु १३, १८ में अन्द्रेण = अन्तरेण है ; १७, १४ में सन्दि = शान्ति है किन्तु २१, १२ में अक्कन्दो = आक्रान्तः पाया जाता है । लिखने का यह ढंग पार्वतीपरिणय के दोनों संस्करणों में बहुत प्रयुक्त हुआ है, जैसे निरन्दरं चिन्दाउल (२, १५ और १६), वासन्दिए (९, ३); वासन्दिआ (९, १५), अहिलसन्दी (२४, १६ ; २८, ४) आदि । लास्सन का झुकाव कुछ ऐसा था कि वह इसमें शौर० की विशेषता देखता था[1] । किन्तु न्द माग० में मिलता है और महा० में भी उदाहरणार्थ जाणन्ता के स्थान पर जाणन्दा मिलता है (हाल ८२१) ; किंदेण (हाल ९०५); भणन्दि (पार्वती० २८, २); रमन्दि = रमन्ति ; उज्झन्दो = उज्झन्तः ; रज्जन्दि = रज्यन्ते (मुकुन्द० ५, २ ; २३, २) । हेच० २, १८० में बताया गया है कि हन्दि का प्रयोग विषाद, विकल्प, पश्चात्ताप, निश्चय और सत्य को व्यक्त करने के लिए किया जाता है और २, १८१ में कहता है कि हन्द 'ले' और 'ध्यान दे' के अर्थ में काम में लाया जाता है । हंद = हन्द = संस्कृत हन्त के । हेच० द्वारा दिया गया उदाहरण हाल २०० है जहाँ हस्तलिपि में गेॅण्हह, गिण्हह और हंद है, जैन हस्तलिपि आर० में यहाँ हन्दि है, भुवनपाल (इण्डिशे स्टुडिएन १०, ७० श्लोक १३५ की टीका) इस स्थान पर हंत पाठ पढ़ता है । अ०माग० में हंद ह हंद हं रूप देखे जाते हैं (आयार० २, १, १०, ६ ; ११, १ और २ ; ठाणग० ३५४) ; अन्यथा महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में हन्त मिलता है, अ०माग० में एक रूप हन्ता भी है (गउड० ; आयार० २, ५, ०, ४ ; नायाध० १३३२; विवाग० १६, उवास०, भग० ; ओव० ; कप्प० ; विक्रमो० ३१, ७) । अ०माग० हंदि (सूय० १५१ ; दस० ६२४, २६ [पाठ में हन्दि है] ; दस०नि० ६४७, ४१ [पाठ में हन्दि है] ; ६५२, १३ [पाठ में हन्दि है] ; ठाणग० ४८८ ; अणुओग० ३२३ ; नायाध० ११३४) । जै०महा० रूप हंति से निकला है और हम् इति है। § १८५ और § २६७ में अ०माग० हंभो की तुलना कीजिए । हाल के उदाहरण हन्द को छोड़कर शेष सब तेलगू संस्करण से आये हैं और जैसा कि हकार युक्त वर्णों का द्वित्व होता है (§ १९३), वैसे ही न्त के स्थान पर न्द लेखनशैली द्रविड से आयी है जहां न्त का उच्चारण न्द किया जाता है । इसलिए न्द द्राविडी और द्राविडी हस्तलिपियों के आधार पर बनायी गयी प्रतिलिपियों में अधिकतर पाया जाता है । द्राविडी हस्तलिपियां कभी कभी न्त के स्थान पर न्त लिखती हैं । उदाहरणार्थ, शकुन्त्तल[2] ताकि न्त का उच्चारण सुरक्षित रहे और दक्षिण भारतीय पल्लवदानपत्र ७,४३ की प्राकृत में यही लेखनशैली व्यवहृत हुई है। उसमें महंत्ते, महंते = महतः के स्थान पर आया है (द्वितीया बहुवचन)[3] । यह ठीक वैसा ही है जैसे प्राकृत की प्राचीन हस्तलिपियां — के बाद के त का द्वित्त करना पसंद करती थीं ।[4] महा० में संदाव रूप बहुत अधिक पाया जाता है (हाल ८१७ ; परिशिष्ट ९९४), और शौर० में (माल्ती० ७९, १ ; ८१, २ ; २१९, १ ; उत्तर० ६, १ ; ९२, ९ ; १६३, ५ ; नागा०

८७, १२ ; विद्ध० ८१,४ ; प्रिय० ४, ७ ; २२,१२ ; २४, ७ ; २५, १३ ; मल्लिका० २१८, १० ; २२३, १६ ; २३०, १७ ; रुक्मिणी० २७, ६ और ११ ; ३३, १३), **संदावेदि** (प्रिय० २०,७ ; मुकुन्दा० ७३, ३ [यहां यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), **संदाविद** (मालती० ७९, १) रूप मिलते हैं। शकुतला ५५, १ में भी अधिकाश हस्तलिपियां **सन्दाव** लिखती हैं, दो हस्तलिपियां ६८, १ में यही रूप देती हैं, १२७,७ में अधिकाश ने **सन्दावेदि** रूप दिया है। महा० में एक क्रिया **दावइ = ताप्यति** है (शकु० ५५, १६, नोट के साथ, पेज १८४ ; किंतु § २०१ नोट संख्या १ की तुलना कीजिए), इसलिए **संदाव** उससे सबधित किया जा सकता है। किंतु महा० में भी **संताव** रूप है जो सबसे अधिक प्रमाणित है (गउड० ; हाल ; रावण०) और यही शौर० में भी एकमात्र शुद्ध रूप है। **ओअन्दइ = अपक्तन्ति** (§ ४८५) और **विहुंडुअ = विधुंतुद** (देशी० ७, ६५ ; त्रिवि० १,३,१०५ = बे० बाइ० ३, २५२) में भी बोली की दृष्टि से वही ध्वनिपरिवर्तन आ गया है।

१. हे० प्राकृत डियालेक्टो पेज ५४। — २. इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए पेज २६३ ; नोटसंख्या ३७८। — ३. ऊपर उद्धृत ग्रंथ पेज २२८। — ४. ना. गे. वि. गो. १८७३, २११ और उसके बाद तथा कू. बाइ. ८, १३० और उसके बाद में पिशल का मत ; विक्रमोर्वशीय पेज ६१५। — ५. ना. गे. वि. गो. १८९५, २१० में पिशल। — ६. एस. गौल्दश्मित्त, त्सा. डे. डौ. मौ. गे. २९, ४९४, नोटसंख्या १, रावणवहो की भूमिका का पेज ११।

§ २७६—यदि अनुनासिक सयुक्त व्यजनों का दूसरा वर्ण हो तो यह अतिम **ण** और **न** पहले आये हुए वर्ण में जुड जाते हैं : महा० में **अग्गि = अग्नि** (गउड० ; हाल ; रावण०) ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **उव्विग्ग = उद्विग्न** (गउड० , हाल ; रावण० , उवास० , एर्त्से० ; मृच्छ० १५०, १६ ; १५१, २)। **उव्विण्ण** जिसे हेमचद्र २,७८ में = **उद्विग्न** के बताता है वह बहुत करके = ***उद्वृण्ण** जो वैदिक धातु **व्रद्** और ***वृद्** धातु का रूप है जिसमें **उद्** उपसर्ग लगाया गया है। मौलिक **ऋ** **वुण्ण** (= भीत , उद्विग्न : देशी० ७, ९४ , पाइय० ७६) और **उव्वुण्ण** (= उद्विग्न , उद्भट . देशी० १, १२३) रूप ठीक हैं। जै० महा० में **नग्ग = नग्न** (एर्त्से०) ; महा० में **रुग्ग = रुग्न** (गउड०) ; महा० में **विग्घ = विघ्न** (रावण०) ; अ०माग० में **सयग्घी = शतघ्नी** (उत्तर० २, ८५ ; ओव०) , **सुरग्घ = सुरघ्न** (हेच० २, ११३) , अ०माग० में **पत्ती = पत्नी** (उत्तर० २६३ , ४२९) , महा० में **सवत्त = सपत्न** (गउड० , रावण०) ; महा०, जै०महा० और शौर० में **सवत्ती = सपत्नी** (हाल ; आव०एर्त्से० २८, ९ ; अनर्घ० २८७, १ ; वेणी० १२, ६) ; शौर० में **णीसवत्त = निःसपत्न** (मृच्छ० ५, १), महा० में **पअत्त = प्रयत्न** (हाल) ; अ०माग० में **पप्पोइ** और जै०शौर० **पप्पोदि** = **प्राप्नोति** (§ ५०४)। § ५६६ देखिए। ध्वनिसमूह ज्ञ नियम के अनुसार **ण्ण** बन जाता है और यह शब्द के आरभ में हो तो इसका रूप **ण** हो जाता है (वर० ३, ४४ ; हेच० २, ४२ ; क्रम० २, १०२ ; मार्क० पन्ना २५) : महा० में **अहिण्णाण** =

अभिज्ञान (रावण०) ; महा० में जण्ण = यज्ञ (हाल) ; *पण्णा = प्रज्ञा (हेच० २,४२); महा० में सण्णा* = संज्ञा (रावण०); महा०, अ०माग० और जै०महा० में आणा = आज्ञा ; अ०माग० और जै०महा० में नज्जइ = ज्ञायते (§ ५४८), अ०माग० णाण = ज्ञान (आयार० १, ६, १, ६)। हेच० २, ८३ में आज्ञा देता है कि अज्ञा = आज्ञा भी हो सकता है ; और पज्ञा = प्रज्ञा ; संज्ञा = संज्ञा ; जाण = ज्ञान और इसके साथ साथ ण्ण और ण्णु भी होता है (§ १०५), ज्ञ भी होता है जब ज्ञ एक समास का दूसरा पद होता है : अप्पण्णु और अप्पज्ञ = आत्मज्ञ ; अहिण्णु और अहिज्ञ = अभिज्ञ ; इंगिअण्णु और इंगिअज्ञ = इंगितज्ञ ; दइवण्णु और दइवज्ञ = दैवज्ञ ; मणोण्ण और मणोज्ञ = मनोज्ञ ; सव्वण्णु और सव्वज्ञ=सर्वज्ञ किन्तु एकमात्र विण्णाण = विज्ञान। वररुचि ३, ५ ; क्रम० २, ५२ और मार्क० पन्ना २० के अनुसार सर्वज्ञ के रूप के शब्दों मे केवल ज्ञ को ही काम मे लाया जाता है : सव्वज्ञ, अहिज्ञ, इंगिअज्ञ, सुज्ञ = सुज्ञ। इसके विपरीत शौर०मे वररुचि १२,८ के अनुसार केवल सव्वण और इंगिदण्ण का व्यवहार है और १२,७ के अनुसार विज्ञ और यज्ञ मे इच्छानुसार ज्ञ भी होता है, क्रम० ४, ७६ के अनुसार इच्छानुसार अहिज्ञो और अहिञ्ञो रूप होते हैं, ५, ७७ के अनुसार पडिञ्ञा = प्रतिज्ञा है। शुद्ध लिपि प्रकार क्या है इसका वररुचि और क्रमदीश्वर मे पता नहीं चलता। यह संदिग्ध है। अनुमान यह है कि ज्ञ और ण्ण अनुमत माने जायें। शौर० अणहिण्ण=अनभिज्ञ (शकु० १०६,६ ; मुद्रा० ५९, १) ; जण्ण = यज्ञ (शकु० १४२, ३; मालवि० ७०, १५) ; पइण्णा (§ २२०) के सप्रमाण उदाहरण मिलते हैं। अ०माग० मे ण्णु और न्नु के साथ साथ ण्ण तथा न्न भी चलते हैं : समणुण्ण = समनुज्ञ (आयार० १, १, १,५); खेयन्न = खेदज्ञ (आयार० १, १, ४, २ ; १, २, ३, ६ ; १, २, ५, ३ ; १, २, ६, ५ ; १, ३, १, ३ और ४ ; १, ४, १, २ ; १, ५, ६, ३; सूय० २३४ [यहाँ पाठ में खेदन्न है] ; ३०४ और ५६५); मायन्न = मात्रज्ञ (आयार० १, २, ५, ३ ; १, ७, ३, २ ; १, ८, १, १९ ; दस० ६२३, १५ ; उत्तर० ५१) ; कालन्न; बलन्न ; खणयन्न ; खणन्न; विणयन्न ; समयन्न और भावन्न (आयार० १, २, ५, ३ ; १, ७, ३ ,२); मेयन्न (उत्तर० ५०८) ; पन्न = प्रज्ञ (उत्तर० ३३) ; आसुपन्न = आशुप्रज्ञ (उत्तर० १८१); महापन्न (उत्तर० २००); मणुन्न और अमणुन्न = मनोज्ञ और अमनोज्ञ (आयार० २, १, १०, २ ; ११, २ ; २, ४, २, ६ ; पेज १३६, ७ और उसके बाद ; सूय० ३९० ; ओव० § ५३ और ८७), किन्तु शौर० में मणोज्ञ रूप है (मल्लिका० १०५, ५)। इसी प्रकार अ०माग० में भी जन्न=यज्ञ (उत्तर० ७४२), जण्णइ=यज्ञकृत् (ओव०)। —माग० में ज्ञ का ञ्ञ हो जाता है (हेच० ४, २९३) ; अवञ्ञा = अवज्ञा ; पञ्ञाविशाल = प्रज्ञाविशाल ; शव्वञ्ञ = सर्वज्ञ । वररुचि, क्रमदीश्वर और मार्कण्डेय में यह नियम नहीं मिलता और हस्तलिपियाँ केवल ण्ण

* इस सण्णा का हिन्दी रूप सैन और कुमाउनी सान है। —अनु०

लिखती हैं। इस प्रकार : जण्ण = यज्ञ (मृच्छ० १७१, ११); जण्णसेनी = यज्ञसेनी (वेणी० ३४, १३); हेच० के अनुसार इनके स्थान पर यञ्ञ और यञ्ञसेणी लिखा जाना चाहिए ; पडिण्णाद=प्रतिज्ञात (वेणी० ३५,१३); विण्णाद = विज्ञात (मृच्छ० ३७, २१); विण्णविअ = विज्ञाप्य (मृच्छ० १३८, २५ ; १३९, १ आदि-आदि)। यञ्ञदि = *ज्ञाति (§ ४८८) के नियम से पुष्टि होती है। इसे प्रतिलिपियों के लेखकों ने नहीं बदला है, क्योंकि वे इसे जानते ही न थे।—पै० में भी ज्ञ का ञ्ञ हो जाता है (हेच० ४, ३०३ ; रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका); पञ्ञा = प्रज्ञा; सञ्ञा=संज्ञा ; सव्वञ्ञ =सर्वज्ञ ; ञान=ज्ञान ; विञ्ञान=विज्ञान ; यञ्ञ=यज्ञ ; रञ्ञा और रञ्ञो= राज्ञा और राज्ञः (हेच० ४, ३०४)। इनके साथ-साथ राचिञा और राचिञो रूप भी चलते हैं (§ २३७ और ३९९)। वररुचि १०, ९ और १२ में हस्तलिपियों में ञ्ज और ज्ञ लिखा गया है जो ञ्ञ के स्थान पर केवल अशुद्धियाँ हैं।

§ २७७—अंतिम ध्वनि के बाद अनुनासिक म आये तो ध्वनिसमूह के साथ भिन्न व्यवहार किया जाता है। ग्म नियमानुसार ग्ग हो जाता है : महा० और अ०माग० में जुग्ग = युग्म (भाम० ३, ३ ; हेच० २, ६२ ; क्रम० २, ५१ ; मार्क० पन्ना १९ ; विवाह० २५५ और ३६२); तिग्ग=तिग्म (हेच० २, ६२); वग्गि = वाग्मिन् (भाम० ३, २); दोग्ग=युग्म भी है (§ २१५) किन्तु लोगों की जबान पर चढ कर इसका रूप ग्म भी हो जाता है : अ०माग० में जुग्म = युग्म (हेच० २, ६२); (विवाह० १३९१ और उसके बाद ; १६६६ और उसके बाद ; ठाणग० २७५ ; सम० १३८); तिग्म = तिग्म (हेच० २, ६२)। क्म का प्प बन जाता है (वर० ३, ४९ ; हेच० २,५२ ; क्रम० २,६३ ; मार्क० पन्ना २६) : रुप्प = रुक्म (भाम० ३, ४९ ; क्रम० २, ६३); अ०माग० में रुप्पि- = रुक्मिन् , हेच० २, ५२ में इसका रूप रुच्मिन् दिया गया है (सम० ११४ ; ११७ ; १३९ ; १४४ ; १५७ ; १६० ; ठाणग० ७५ ; नायाध० ७८१ और उसके बाद ; राय० १७७) ; अ०माग०, जै०महा० और शौर० में रुप्पिणी = रुक्मिणी (अंत० ३,४३, नायाध० ५२९; निरया० ७९ ; पण्हा० २९२ ; द्वार० ४९७, ३१ और उसके बाद ; ५०२, ३४ ; ५०५, ३४ ; प्रचंड० १८, १५ ; माल्ती० २६६, ४ [यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए]; नागा० ५१, ८ [इस स्थान का यह शब्द =जीवानंद विद्यासागर का संस्करण ४९,७ किंतु यहा रुक्किणी पाठ है])। हेच० २,५२ के अनुसार कुड्मल का प्राकृत रूप कुम्पल हो जाता है जो रूप पाइयलच्छी ५४ में भी है। इसके साथ साथ कुड्मल भी पाया जाता है (देशी० २, ३६ ; पाइय० ५४) जो न तो कुड्मल और न कुड्मल से निकल सकता है, इसलिए कुम्पल और कुड्मल के साथ इसे बोली का एक भेद समझना चाहिए। मार्कंडेय पन्ना २६ में हस्तलिपि में कुप्पल रूप लिखा मिलता है। आत्मन् महा० में प्रायः सदा और अप० में नित्य ही अप्प हो जाता है (वर० ३,४८ ; क्रम० २,६३ ; गउड० ; हाल ; रावण०)[१]। बहुत ही कम स्थलों पर अत्तणो

में (गउड० ६३ ; ९६ ; कर्पूर० ८२,२); महा० में अत्त- मिलता है। अन्य बोलिया डावाडोल रहती हैं (हेच० २,५१ ; मार्क० पन्ना २६)। अ०माग० और जै०महा० में पास पास अप्प और अत्त रूप मिलते हैं, न्यय समासों में भी पाये जाते हैं, जैसे अ० माग० में अज्झप्प- = अध्यात्मन् (आयार० १,५,४,५ ; पण्हा० ४३७) ; अ० माग० और जै०महा० में अत्तय = आत्मज (विवाह० ७९५ ; एर्से०), अ०माग० अत्तया = आत्मजा (नायाध० ७२७ ; १२२८ ; १२३२) ; अ०माग० में *आत- के स्थान पर आय रूप भी है ; जै०महा० में इसका पर्याय आद- है (§ ८८), इनके साथ जै०शौर० में अप्प- रूप है ; शौर० और माग० में कर्ता एकवचन अप्प बहुत आता है, अन्य कारकों में सदा केवल अत्त पाया जाता है। कर्मकारक में अत्ताणअं रूप है ; ढक्की में अप्प- है (§ ४०१ और ४०३)। गिरनार के शिलालेखों में पाया जानेवाला रूप आत्प- जिसे आस्कोली[1] और सेनार[2] बताते हैं कि आत्प पढ़ा जाना चाहिए[3], इस दिशा की ओर संकेत करता है कि अप्प- जब अपने क्रमविकास में आगे बढ़ रहा था तो आत्म-, *आत्व (§ २५१ और ३१२), *आत्प हो गया। यह आत्प- अंतिम ध्वनि के स्थान परिवर्तन से बना और अत्त- आत्मन् का नियम पूर्वक क्रमविकास है[5]। त्म = प्प के बीच में एक रूप त्म भी रहा होगा : रुक्म, *रुत्म = रुप्प। —द्म का म्म हो जाता है : छण्म = छद्म (हेच० २,११२)। इसके साथ साथ साधारण प्रचलित रूप छउम भी है (§ १३९) ; पोॅम्म = पद्म (§ १६६ और १९५)। इसके साथ साथ पउम रूप भी चलता है (§ १३९)।

१. हाल २०१ में अत्तणो के स्थान पर, जैसा बंबइया संस्करण में भी है, हस्तलिपि एस. के अनुसार अप्पणो पढ़ा जाना चाहिए ; इसी प्रकार गउडवहो ९० में सर्वोत्तम हस्तलिपि जे. के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए। संभव तो यही है कि महा० में सर्वत्र अत्तणो के स्थान पर अप्पणो पढ़ा जाना चाहिए। — २. क्रिटिशे स्टुडिएन पेज १९७, नोट-संख्या १०। — ३. पियदसी १, २६ और उसके बाद। — ४. भगवानलाल इंद्रजी, इंडियन एण्टिक्वेरी १०, १०५ ; पिशल, गो. गे. आ. १८८१, पेज १३१७ और उसके बाद ; ब्यूलर, त्सा. डे. डौ. मौ. गे. ३७, ८९। — ५. पिशल, गो. गे. आ. १८८१, पेज १३१८।

§ २७८—यदि भिन्न वर्गों के अनुनासिक आपस में मिल जाते हैं तो ण्म और न्म – म में परिवर्तित हो जाते हैं (§ २६९), न्म म्म बन जाता है (वर० ३, ४३ ; हेच० २, ६१ ; क्रम० २, ९८ ; मार्क० पन्ना २५) और म्न का ण्ण हो जाता है, अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में यह रूप न्न भी हो जाता है (वर० ३, ४४ ; हेच० २, ४२ ; मार्क० पन्ना २५) : महा० में उम्मुह=उन्मुख (गउड० ; रावण०); उम्मूल = उन्मूल (हाल), उम्मूलण = उन्मूलन (रावण०) ; जम्म=जन्मन् (हाल ; रावण०) ; मम्मण = मन्मन् (हेच० २, ६२), महा०, जे०महा० और अप० में वम्मह = मन्मथ (§ २५१) ; महा० णिण्ण=निम्न (हेच० २, ४२, गउड०) ; णिण्णआ=निम्नगा (गउड०), अ०माग० में निण्ण है (विवाह०

१२४४) ; ईसिंणिण्णयर=ईषन्निम्नतर (विवाह० २३९) ; निन्नगा (पण्हा० ४४०) ; महा० और शौर० मे पज्जुण = प्रद्युम्न (भाम० ३, ४४ ; हेच० २, ४२ ; रत्ना० २९५, २६ ; २९६, ५ और १७) । हेमचद्र २, ९४ के अनुसार धृष्टद्युम्न का म्न, ण में परिवर्तित हो जाता है : धट्ठज्जुण । शौर० में धट्ठज्जुण्ण रूप है (प्रचड० ८, १९), माग० मे धिट्ठज्जुण (वेणी० ३५, १९), इस स्थान पर धिट्ठय्युण्ण पढा जाना चाहिए । यदि धट्ठज्जुण केवल मात्र छद की मात्राए ठीक करने के लिए न आया हो तो सभवतः यह *धृष्टार्जुन रूप मे ठीक किया जाना चाहिए क्योंकि द्युम्न के स्थान पर उसका पर्यायवाची अर्जुन है ।

§ २७९—जब अन्तिम ध्वनि या शेष वर्ण अथवा अनुनासिक, अर्ध स्वर से टकराते हैं तो, जब तक उनके बीच मे अश-स्वर न आये (§ १३०–१४०) नियम यह है कि अर्धस्वर शब्द में मिला लिया जाता है । (१) जहाँ एक ध्वनि य है (वर० ३, २ ; चड० ३, २ ; हेच० २, ७८ ; क्रम० २, ५१ ; मार्क० पन्ना १९) क्य = क्क : शौर० में चाणक्क = चाणक्य (मुद्रा० ५३, ८ और उसके बाद) ; पारक्क=पारक्य (हेच० १, ४४ ; २, १४८) ; अ०माग० मे वक्क=वाक्य (हेच० २, १७४ ; सूय० ८३८ ; ८४१ ; ८४२ ; ८४४ ; उत्तर० ६७४ ; ७५२ ; दस० ६३६, १० और १६ ; दस० नि० ६४४, २१ ; ६४९, २६ ; ६५८, २९ और ३१ ; ६५९, २२ और २३) ; शौर० मे शक्क = शक्य (शकु० ७३, ११ ; १५५,८ ; विक्रमो० १०, १३ ; १२, २० ; १८, १६ ; २२, १४ ; ४०, ७) । —ख्य = क्ख : महा० में वक्खाणअ = अख्यानक (हाल) ; अ०माग० अक्खाइ = अख्याति (§ ४९१); शौर० वक्खाणइस्सं=*व्याख्यानयिष्यामि=व्याख्यास्ये (विद्ध० ६३, ३ ; रुक्मिणी० १९, ३) ; महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर०, शौर० और अप० में सोॅक्ख = सौख्य (§ ६१ अ) । अ०माग० रूप आघावेइ के विषय में § ८८ और ५५१ देखिए । ग्य = ग्ग : जोॅग्ग = योग्य (गउड० ; हाल ; रावण०), अ० माग० और जै०महा० वेरग्ग = वैराग्य (ओव० ; एर्त्से०) ; महा० सोॅहग्ग = सौभाग्य (गउड० ; हाल ; रावण०) । — च्य=च्च : अ०माग० में चुय = च्युत (आयार० १, १, १, ३ ; कप्प०) ; महा० में मुच्चइ = मुच्यते (गउड०) ; अ० माग० मे वुच्चइ और शौर० में वुच्चदि = उच्यते (§ ५४४) । — ज्य = ज्ज : महा० जुज्जइ = युज्यते (हाल) ; भुज्जन्त = भुज्यमान (गउड०), रज्ज = राज्य (हाल ; रावण०) — ट्य = ट्ट : शौर० णट्टअ = नाट्यक (मृच्छ० ७०, २) ; महा० मे तुट्टइ आता है (हेच० ४,११६), महा० और अप० मे तुट्टइ (§ २९२) = त्रुट्यति ; महा० लोट्टइ = लुट्यति (हेच० ४, १४६ ; कर्पूर० ३९, ३) । —ड्य = ड्ड : महा० कुड्ड = कुड्य (हेच० २, ७८ ; हाल) ; अ०माग० पिड्डइ = पीड्यते (आयार० १, २, ५, ४) ।—ढ्य = ड्ढ : महा० और अ०माग० अड्ढ = आढ्य (गउड० ; सूय० ९५७ ; उवास० ; ओव० ; निरया०) ; अ०माग० और जै०महा० वेयड्ढ = वैताढ्य (§ ६०) । —प्य = प्प : अ०माग० अप्पेगे = *अप्येके, अप्पेगइया = *अप्येकतया = पाली अप्येकच्चे (§ १७४) ; महा० कुप्पइ = कुप्यति (हाल,

गउड०) ; सुप्पउ = सुप्यताम् (हाल) । —भ्य = ब्भ : महा० अब्भन्तर = अभ्यन्तर (गउड० ; हाल ; रावण०) ; शौर० और माग० अब्भुववण्ण = अभ्युपपन्न (§ १६३) ; अ०माग० और जै०महा० में इब्भ = इभ्य (ठाणंग० ४१४ और ५२६ ; पण्हा० ३१९ ; नायाध० ५४७ ; १२३१ ; विवाग० ८२ ; ओव० ; एर्से०) । ज्य् के स्थान पर द् आने के विषय में § २१५ देखिए ।

§ २८०—दंत्य वर्णों के साथ य् तब मिलता है जब यह पहले अपने से पहले आनेवाले दंत्य वर्ण को तालव्य बना देता है । इस प्रकार त्य = च्च (वर० ३, २७ ; हेच० २, १३ ; क्रम० २, ३२ ; मार्क० पन्ना २३), थ्य = च्छ (वर० ३, २७ ; हेच० २, २१ ; क्रम० २, ९२ ; मार्क० पन्ना २३), द्य = ज्ज (वर० ३, २७ ; हेच० २, २४ ; क्रम० २, २२ ; मार्क० पन्ना २३), ध्य = ज्झ (वर० ३, २८ ; हेच० २, २६ ; क्रम० २, ८७ ; मार्क० पन्ना २३) । —त्य = च्च : महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर० और शौर० में अच्चन्त = अत्यन्त (§ १६३) ; णच्चइ = नृत्यति (वर० ८, ४७ ; हेच० ४, २२५ ; हाल) ; महा० दोच्च = दौत्य (हाल) ; अ०माग० वेयावच्च = वैयापृत्य (ओव०) ; महा० सच्च = सत्य (गउड० ; हाल) । —थ्य = च्छ : महा० और शौर० णेवच्छ तथा अ०माग० और जै०महा० नेवच्छ = नेपथ्य (गउड० ; रावण० ; विक्रमो ७५, १४ ; रत्ना० ३०९,१६ [पाठ में णेवत्थ है] ; मालती० २०६,७ ; २३४,२ [दोनों स्थानों में णेवत्थ है ; प्रसन्न० ४१, ७ ; मालवि० ३३, १८ ; ३६, ३ ; ३८, ३ ; ७३, १७ ; ७४, १७ [सर्वत्र णेवत्थ है] ; प्रिय० २७, १८ ; २८, १ और ४] ; विद्ध० ३०, ८ ; १२०, ११ [दोनों स्थानों में णेवत्थ है] ; रुक्मिणी० ३७, १५ ; ४१, ११ [णेवच्च रूप है] ; ४२, ५ ; ४३, ५ और ९ ; आयार० २, १५, १८ [पाठ में नेवत्थ है] ; नायाध० ११७ [पाठ में नेवत्थ है] ; ओव० ; आव०एर्से० २७, १७ ; एर्से०, अ०माग० और जै०महा० नेवच्छिय में रूप भी मिलता है (विवाग० १११ ; पण्हा० १९६ [दोनों पाठों में नेवत्थिय है] ; आव०एर्से० २८, ५) = *नेपथ्यित ; जै०महा० में नेवच्छेत्ता (= नेपथ्य में करके : आव० एर्से० २६, २७) रूप भी मिलता है ; अ०माग० पच्छ = पथ्य (सब व्याकरणकार ; कप्प०) ; महा० और शौर० रच्छा = रथ्या (गउड०; हाल ; मृच्छ० २, २० ; कर्पूर० २०, ४ ; ३०, ७) । —द्य = ज्ज : पल्लवदानपत्र में अजाताए = आद्यत्वाय (§ २५३) ; महा० में अज्ज = अद्य (गउड० ; हाल ; रावण०) ; महा० में उज्जाण = उद्यान (गउड० ; रावण०) ; छिज्जइ = छिद्यते (रावण०) ; विज्जुज्जोअ = विद्युद्योत (गउड० ९०७) ; महा० जै० महा० और शौर० में वेज्ज = वैद्य (§ ६०) । —ध्य = ज्झ : महा० और शौर० में उवज्झाअ, अ०माग० और जै०महा० में उवज्झाय = उपाध्याय (§ १५५) ; महा० मज्झ = मध्य (गउड० ; हाल ; रावण०) ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में विंझ = विन्ध्य (§ २६९); महा०; जै० महा० और शौर० में संझा = सन्ध्या (§ २६९) । § ५३६ में बताये ढंग से में द्य का य्य हो जाता है (हेच० ४, २९२ ; क्रम० ५, ९० ; रुद्रट

के काव्यालंकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका) : अय्य=अद्य ; अवय्य=अवद्य ; **मय्य** = *मद्य ; **विय्याहल** = विद्याधर । इसकी समानता पर ध्य का य्ह हो जाता है : मध्यंदिन का मय्यण्ण रूप मिलता है (§ १४८ ; २१४ ; २३६)। माग० की हस्तलिपियां अन्य प्राकृत भाषाओं की भांति ज्ज और ज्झ लिखती हैं ; इस प्रकार ललितविग्रहराजनाटक ५६६, ११ में युज्झ = *युद्ध्य = युद्ध = महा०, अ० माग०, जै०महा०, शौर० और अप० जुज्झ (गउड० ; हाल ; बाल० १८०, ५ ; नायाध० १३११ और १३१६ ; एर्से० ; ललित० ५६८,४ ; बाल० २४६,५ ; जीवा० ८६, १० ; हेच० ४, ३८६)। अक्षरश्र इ तालव्याकरण में कोई बाधा नहीं डालता : अ०माग० **चियत्त** जो तियक्त से निकला है = त्यक्त (ठाणंग० ५२८ [पाठ में वियत्त है] ; कप्प० § ११७ ; इस सबध में § १३४ देखिए), चिच्चा, चे घा, चिन्चाण. और चेच्चरण = *तियक्त्वा, *तिकित्वा, *तिकत्वा = त्यक्त्वा (§ ५८७), ये रूप ठीक वैसे ही हैं जैसे **चयइ** = त्यजति (हेच० ४,८६ ; उत्तर० ९०२ ; दस० ६३८,१८), **चयन्ति** = त्यजन्ति (आयार० १,४,३,१ ; १,६,१,२ ; सूय० १०० [पाठ में चियन्ति है] ; १७४), **चए** = त्यजेत् (आयार० १,५,४,५), **चयाहि**= त्यज (आयार० १,६,१,५), **चइस्सन्ति** = त्यक्ष्यन्ति (सूय० ३६१), **चत्त**= त्यक्त (आयार० २,१५,२२ और २४), जै०महा० में **चाई** = त्यागी (ऐ० ज़े० ५)। अ०माग० में **झियाइ** = ध्याति वैसा ही है जैसे महा० रूप झाइ (§ ४७९) ।

१. जैसा कि पाठ से देखा जाता है इन शब्दों को केवल जैन हस्तलिपियां जो निरंतर च्छ और त्थ को आपस में बदलती रहती हैं, बहुत अधिक बार त्थ से लिखती हैं अपितु नाटकों की हस्तलिपियां भी ऐसा ही करती हैं । इनमें केवल णेवच्छ रूप सर्वत्र शुद्ध लिखा गया है।

§ २८१—§ २८० के नियम का एक अपवाद दाक्षि० **दक्खिणत्ता**=दाक्षिणात्याः है (मृच्छ० १०३, ५)। § २६ देखिए । इसके अतिरिक्त अ०माग० में **घत्त** (सूय० ९६४), **अघत्त** (सूय० ९६९ ; ९८३), यदि टीकाकारों के अनुसार ये =घात्य और आघात्य के । § ९० के अनुसार **घत्त**= घात भी हो सकता है, इसमें § ३५७ के अनुसार लिंग का परिवर्तन हुआ है, यह बात अधिक संभव दीखती है । अन्य उदाहरण का अपवाद केवल आभास देते है । **चइत्त** (हेच० १, १५१ ; २, १३ ; मार्क० पन्ना २३) = चैत्य[1] नहीं है, परंतु = **चैत्र** जिसका अर्थ चैत्य है (बोएटलिंक और रोट के संस्कृत शब्दकोश में **चैत्र** शब्द देखिए)।—महा० **पत्तिअइ**, अ०माग० और जै०महा० **पत्तियइ**, शौर० और माग० **पत्तिआअदि** (§ ४८७) = **प्रतियाति** और अ०माग० **पत्तेय** = **प्रत्येक** (हेच० २,२२० ; आयार० १,१,६,२; १,२,१,५ ; सूय० २८; ७८३ ; जीवा० ४४ ; ४७ ; ४३६ ; ४७८ और उसके बाद ; पण्णव० ३० ; ३२ ; ३५, ४० ; राय० ६८ ; १२४ ; १२६ ; १३८ ; १३९ ; १५२ और उसके बाद ; नायाध० § ४२ ; पेज १२६८ ; ओव०; कप्प०) ; *पत्तेयबुद्ध= **प्रत्येकबुद्ध** (नदी० २४५ ; पण्णव० १९) ; **पत्ति** = *परति, *पर्ति जिसमें **प्रति** का अक्षरश्र है (§ १३२)। **प्रति** और *पर्ति ग्रीक रूप **प्रोति** और **पोर्ति**[1] के

समान है। अ०माग० -चत्तियं (ओव०) को लौयमान[1] = प्रत्ययम् बताता है, परतु यह = वृत्तिकम् है। अ०माग० पडुच्च और पडुप्पन्न आदि आदि के विषय में § १६३ देखिए। —अ०माग० और जै०महा० तच्च (हेच० २,२१; उवास०; कप्प०; कत्तिगे० ४००, ३२४) होएर्नले के विचार से =तत्त्व, हेमचंद्र और टीकाकारों के अनुसार = तथ्य है, परतु वेबर[2] और होएर्नले[3] के अनुसार तत्त्व है, किंतु इसका इससे भी अधिक शुद्ध रूप *तात्त्व है जिसकी बीच की कड़ी *तात्य है (§ २९९)। अ०माग० में तथ्य का रूप अंशस्वर के साथ तहिय है = *तथिय, कभी कभी यह तच्च के पास पास आता है, जैसे तच्चाणं तहियाणं (नायाध० १००६ ; उवास० § ८५), तच्चेहिं तहिएहिं (उवास० § २२० और २५९)। —सामत्थ और इसके साथ साथ चलनेवाला रूप सामच्छ (हेच० २, २२) = सामर्थ्य नहीं है, परतु इससे पता लगता है इसका मूल रूप *सामर्थ रहा होगा। —महा० कुत्थसि और कुत्थसु = कथ्यसे और कथ्यस्व (हाल ४०१) अशुद्ध पाठ है (हाल में यह शब्द देखिए) और कहसि तथा कहसु के स्थान पर आया है और कढइ = कथति का कर्मवाच्य है (§ २२१)।

१. वेबर त्सा. डे. डौ. मौ. गे. २८, ४०९ में हेमचंद्र के अनुसार मत देता है ; वेबर की हाल २१६ पर टीका। —२ हेमचंद्र २, २१० पर पिशल की टीका ; होएर्नले, उवासगदसाओ में पत्तिय शब्द देखिए और उसकी तुलना कीजिए। बौँल्लेंनसेन विक्रमोर्वशीय पेज ३३१ और उसके बाद में इससे भिन्न मत रखता है ; हाल ३१६ पर वेबर की टीका ; ए. म्युलर, बाइत्रैगे पेज ६४। —३. औपपातिक सूत्र में यह शब्द देखिए। —४. भगवती १, ३९८, नोटसंख्या २। —५. उवासगदसाओ, अनुवाद पेज १२७, नोटसंख्या २८१।

§ २८२—एक अनुनासिक के साथ य मिल जाता है ; ण्य और न्य, ण्ण बन जाते हैं, अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में इसका रूप न्न भी हो जाता है, माग० में (हेच० ४, २९३ , रुद्रट के *काव्यालंकार* २, १२ पर *नमिसाधु की टीका*), पै० और चू०पै० (हेच० ६,३०५ में ञ्ञ रूप मिलता है। इस प्रकार महा०दक्खिण्ण = दाक्षिण्य (गउड० , हाल , रावण०) ; पुण्ण=पुण्य (हाल ; रावण०) ; अ०माग० और जै०महा० में हिरण्ण = हिरण्य (आयार० १, ३, ३, ३ ; २, १५, १० ; १२ ; १७ ; १८, उवास० ; कप्प० ; नायाध०; एर्त्से०); माग० शहिलण्ण = सहिरण्य (मृच्छ० ३१, ९) ; अ०माग० मे पिन्नाग=पिण्याक (आयार० २, १, ८, ८ ; सूय० ९२६ ; ९२८ ; ९३१ ; दस० ६२३, ७) ; पन्न = पण्य (सूय० ९२१), महा०, शौर० और माग० अण्ण=अन्य ; महा० णास = न्यास (हाल) ; विण्णास=विन्यास (गउड०); महा० और शौर० मण्णे=मन्ये (§ ४५७) ; महा० और शौर० सेँण्ण = सैन्य (गउड० ; रावण० ; अद्भुत० ५६,६ और १९)। —माग० में अवम्हञ्ञ=अब्राह्मण्य; पुञ्ञ=पुण्य; अहिमञ्ञु=अभिमन्यु (§२८३ की तुलना कीजिए); अञ्ञदिशं=अन्यदिशम् ; कञ्ञका = कन्यका ; शामञ्ञ = सामान्य (हेच० ; नमिसाधु)। नाटकों की हस्तलिपियों में केवल ण्ण आता है। —

पै० में पुञ्ञ = पुण्य ; अभिमञ्ञु = अभिमन्यु ; कञ्ञका = कन्यका (हेच०)। वररुचि १०, १० के अनुसार पै० में कन्या का कञ्ञा हो जाता है, १२, ७ के अनुसार शौर० में ब्राह्मण्य का बम्हञ्ञ और कन्यका का कञ्ञका रूप होता है। क्रम० ५, ७६ के अनुसार शौर० में ब्राह्मण्य का बम्हण्ण अथवा बम्हञ्ञ हो जाता है, कन्या के रूप कण्णा अथवा कञ्ञा होता है। वररुचि और क्रमदीश्वर का पाठ रूप अति सन्देहास्पद है। सप्रमाण उदाहरण शौर० में बम्हण्ण (मृच्छ० ८९, १२), अब्बम्हण्ण = अब्राह्मण्य (शकु० १४२, ८ और १४ ; विक्रमो० ८४, १३ ; कर्ण० १०, ३ ; ३३, १०) ; कण्णआ (शकु० ३०, ३ ; ७१, ३ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; १३४, ८ ; मालती० ७३, ८ ; ८०, १ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; २२३, १ ; २४३, १ [यहा यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; मुद्रा० २०, ६ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; रत्ना० २९९, ६ ; नागा० १०, १४ [पाठ में कण्णका है] ; ११, १ और १० ; आदि आदि) ; माग० में भी कण्णआ रूप मिलता है (मुद्रा० १९१, ३ ; १९४, ६ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) । —म्य का म्म हो जाता है और दीर्घ स्वर के बाद म : महा० किलम्मइ, शौर० किलम्मदि = क्लाम्यति (§ १३६) ; महा० तामइ = ताम्यति (हाल) ; शौर० उत्तम्म = उत्ताम्य (शकु० १९, ८) ; उत्तम्मिअ = उत्तम्य (शकु० ५६, ९) ; महा० और शौर० सोम्म, अ०माग० और जै०महा० सोम=सौम्य (§ ६१) ; शौर० कामाए = काम्यया (मृच्छ० ४९, १४)।

§ २८३—वर० ३, १७ ; क्रम० २, ७० और मार्क० पन्ना २१ के अनुसार अभिमन्यु का अहिमन्नु भी हो जाता है और हेच० २, २५ में बताया गया है कि इस शब्द के रूप अहिमञ्ञु, अहिमज्जु और अहिमण्णु होते हैं। शौर० में अहिमण्णु रूप है (मार्क० पन्ना ६८ ; वेणी० ६४, १६), यही रूप माग० में भी है (वेणी० ३४,१२), इसके स्थान पर § २८२ के अनुसार अहिमञ्ञु होना चाहिए था। महा० और शौर० मण्णु के साथ साथ (हाल , रावण० ; वेणी० ९, १९ ; ११, १५ ; १२, १ ; ६१, २२) हेच० २, ४४ के अनुसार मन्यु के लिए मन्तु भी काम में लाया जाता था। हाल के तेलगू संस्करण में इस मन्तु रूप का मण्णु[1] के स्थान पर बार बार प्रयोग हुआ है। पाइय० १६५ के अनुसार 'लज्जा' और 'अप्रिय' है, देशी० ६, १४१ में मन्तक्ख के ये ही अर्थ दिये गये हैं (=लज्जा और दुःख। —अनु०)। मन्तु रूप संस्कृत[2] में भी है। रूप की दृष्टि से यह कन्तु से मिलता है (= प्रेम , काम : देशी० २, १)।

१. हाल ६८३ पर हाल की टीका। २.—ब्यूलर द्वारा संपादित पाइयलच्छी में यह शब्द देखिए।

§ २८४—य्य का ज्ज हो जाता है (वर० ३, १७ ; हेच० २, २४ ; क्रम० २, ७० ; मार्क० पन्ना २१) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० में सेज्जा = शय्या (§ १०१), माग०, पै० और चू०पै० में य्य ही रहता है (§ २५२)। माग० छोड़ अन्य सब प्राकृत भाषाओं में र्य का ज्ज हो जाता है (वर० ३, १७ ; चण्ड० ३,

१५ ; हेच० २, २४ ; क्रम० २, ८९ ; मार्क० पन्ना २१) ; महा० में अज्ज = आर्य (गउड०) ; अज्जा = आर्या (हाल), कज्ज = कार्य (गउड० ; हाल), मज्जा = मर्यादा (हाल ; रावण०) । हेच० ४, २६६ और ३७२ के अनुसार शौर० और माग० में र्य का ज्ज और य्य हो जाता है : शौर० में अय्यउत्त पय्याकुलीकदम्हि = आर्यपुत्र पर्याकुलीकृतास्मि सुय्य = सूर्य और इसके साथ साथ पज्जाउल=पर्याकुल, कज्जपरवस = कार्यपरवश ; माग० में अय्य=आर्य । य्य लिपिभेद कभी कभी दक्षिण भारतीय हस्तलिपियों में पाया जाता है, किन्तु अधिकांश हस्तलिपियाँ य्य या ज्ज के स्थान पर एक विंदु ० दे देती हैं ; अ० अ = आर्य ; प०अवट्ठावहि = पर्यवस्थापय ; सु० अ=सूर्य ; इस लेखनशैली से यह पता नहीं चलता कि इस विंदु (=०) से य्य का तात्पर्य है या ज्ज का और यहाँ कौनसा उच्चारण होना चाहिये[1] ? अथवा इससे इनके बीच की किसी ध्वनिसमूह का प्रतीक है ? यह गोलाकार विंदु जैसा ए. म्युलर ने ठीक ही कहा है[2] वही अर्थ रखता है जैसा जैन हस्तलिपियों का विचित्र ध्वनिचिह्न जिसे वेबर[3] य्य पढने के पक्ष में था किन्तु जिसे अब याकोबी[4] और ए. म्युलर[5] के अनुसार ज्ज पढा जाता है । सम्भवत. गोलाकार विंदु दोनों के बीच की ध्वनिविशेष है । इस कारण हेच० का नियम जैनों के उच्चारण का स्पष्टीकरण करता है । नाटकों की हस्तलिपिया उक्त दोनो प्राकृत भाषाओं में ज्ज का प्रयोग करती ह । शौर० के लिए ज्ज, माग० के लिए य्य शुद्ध रूप है जिन्हें वर० ११,७ में बताता है : कय्य = कार्य और ललितविग्रहराज नाटक मे नीचे दिये उदाहरण पाये जाते है : पय्यन्दे = पर्यन्ते (५६५, ७), अवय्यन्ददा = अपर्यन्तता (५६५,१२) । ज्ज के स्थान पर अशस्वर द्वारा उत्पन्न रूप रिअ और रिय के अतिरिक्त (§ १३४) र भी आ जाता है अर्थात् § ८७ के अनुसार य का लोप हो जाता है (वर० ३,१८ ; १९ ; हेच० २,६३ ; क्रम० २,७९; मार्क० पन्ना २२) : महा० गम्भीर = गाम्भीर्य (रावण०) ; महा० , अ०माग० ; जै०महा० , शौर० और अप० में तूर = तूर्य (सब व्याकरणकार ; गउड० , हाल , रावण० ; आयार० पेज १२८, ३२ , एर्सें० ; विक्रमो० ५६, ५ , महा० १२१,७ ; वेणी० २३, ११ ; ६४, २ ; ७३, १६ ; बाल० १४७, १८ , २००,१० ; पिंगल १,९५) , महा० में सोडीर = शौतीर्य (मार्क०; रावण०), शौर० में सोडीरत्तण रूप भी मिलता है (कर्पूर० ३०, ७); सोण्डीर= शौण्डीर्य (हेच० ; मल्लिका० १४६, ६), सोण्डीरदा रूप भी आया है (मृच्छ० ५४, ४ , ७४, १२) । यह र विशेष कर कर्मवाच्य में पाया जाता है, जैसे जीरइ = जीर्यते, महा० और जै०महा० में तीरइ, तीरए = तीर्यते, महा० और जै०महा० हीरइ = ह्रियते (§ ५३७), महा०, अ०माग० और जै०महा० में कीरइ=क्रियते (§ ५४७)[1] । सब प्राकृत भाषाओं मे बार बार आनेवाला रूप सूर, माग० शूल, हेच० २,६४ के अनुसार सूर से व्युत्पन्न हुआ है (हेच० ने लिखा है : सूरो सुज्जो इति तु सूरसूर्य प्रकृतिभेदात् । —अनु०) । वर० १०, ८ के अनुसार पै० में आवश्यक रूप से तथा हेच० ४, ३१४ के अनुसार कभी कभी शब्द में अशस्वर आ

जाता है : भारिआ = भार्या। हेच० सुज्ज = सूर्य बताया है। यह सुय्य की अपेक्षा की जानी चाहिए थी ; उसने *कीर्यते = क्रियते के स्थान पर किरते = कीर्यते लिया है (४, ३१६)। —कच्च (=पेशा : देशी० २, २ ; यहा पिशल ने कच्च का अर्थ पेशा किया है, किंतु हेच० ने कच्चं...कज्जे की टीका कच्चं...कार्यम् की है जिससे अर्थ पेशा करना उचित नहीं जंचता क्योंकि कार्य अथवा कृत्य का पेशे से कोई विशेष संबंध नहीं है, कार्य का अर्थ काम है और कृत्य का धार्मिक काम। —अनु०) = कार्य नहीं है, अपितु =कृत्य।

१. पिशल ना. गे. वि. गो. १८७३, पेज २०८ ; मोनाट्सबेरिष्टे डेर कोए-निगलिशे आकादेमी डेर विस्सनशाफ्टन त्सु बर्लीन, १८७५ पेज ६१५ और उसके बाद। —२. बाइत्रैगे पेज १२। —३. भगवती १, ३८८ और उसके बाद। —४. कल्पसूत्र पेज १८ नोटसंख्या १। —५. बाइत्रैगे पेज १२ और उसके बाद। —६. याकोबी ने कू. त्सा. २८,२५० में अशुद्ध लिखा है।

§ २८५—जिस प्रकार र्य का कभी कभी केवल साधारण र रह जाता है (§ २५६ और २५७), उसी भांति कभी कभी य से संयुक्त र की ध्वनि ल में परिवर्तित हो जाती है, इस अवसर पर य शब्द में समा जाता है : जै०महा० में पल्लाण = पर्याण (हेच० २, ६८ ; क्रम० २, ८० ; मार्क० पन्ना २२ ; एर्से०), जब कि अ०माग० में पडायाण=प्रत्यादान (§ २५८) ; सोअमल्ल=सौकुमार्य (वर० ३, २१ ; हेच० २, ६८ ; क्रम० २,८० ; मार्क० पन्ना २२ ; § १२३ की तुलना कीजिए)। महा० पल्लंक (वर० ३, २१ ; चंड ३, २२ ; क्रम० २, ८० ; मार्क० पन्ना २, २ ; गउड० ; कर्पूर० ३६, ३), अ०माग० पलियंक के समान ही (§ २५७) हेच० के अनुसार मूल में संस्कृत पल्यंक तक पहुँचाये जा सकते हैं, यदि स्वयं पल्यंक संस्कृत पर्यंक से निकला रूप न हो। पल्लह (हेच० २, ६८), शौर० पल्लत्थ (वर० ३, २१ ; हेच० २, ६८ ; क्रम० २, ८० ; मार्क० पन्ना २२ ; बाल० २४३, ११ ; वेणी० ६०, १० ; ६५, १३ ; मल्लिका० २६, १८ ; ५७, ९ ; १२५, ६ ; १३५, १६ ; १०५, ३ ; रुक्मिणी० २९, ८), महा०, अ०माग० और शौर० पल्हत्थ (हेच० ४, २५८ ; त्रिवि० ३, १, १३२ ; गउड० ; रावण० ; इसमें अस् शब्द देखिए ; कप्प० ; मृच्छ० ४१, २० ; माल्ती० ११८, ३ ; २६०, ५), महा० विवल्हत्थ, शौर० विपल्हत्थ (उत्तर० ६३,१३ [पाठ में विपन्हत्थ है] ; ९२,१० [पाठ में विपण्हत्थ है]) और उसके क्रिया रूप पल्लट्टइ और पल्हत्थइ (हेच० ४, २६ और २०० ; गउड० ; रावण० ; इस ग्रंथ में अस्[१] शब्द देखिए), अ०माग० पल्हत्थिय (पाइय० २०१ ; विवाह० २८२ और २८४ ; नायाध० १३२६ ; उत्तर० २९) रूपों में जिन्हें व्याकरणकारों और टीकाकारों तथा नवीन युग के यूरोपियन विद्वानों ने अस् (= फेंकना) और परि उपसर्ग से व्युत्पन्न किया है, वास्तव में दो भिन्न भिन्न धातुओं से बनाये गये हैं। पल्लट्ट और पल्लत्थ = पर्यस्त है (§ ३०८), इसके विपरीत पल्हत्थ = *प्रल्हस्त जो ह्रस् = ह्रस् से प्र उपसर्ग जुड़कर बना है ; इस संबंध में निर्ह्रस्त और निर्ह्रसित की तुलना कीजिए। महा० पल्हत्थरण (रावण०

११, १०८) पच्चत्थरण के स्थान पर है और पाठ में अशुद्ध रूप है, जैसा कि सीके में है = * प्रत्यास्तरण ; प्रत्यास्तार (= गलीचा) से तुलना कीजिए।

१. वेबर, भगवती १, ४०९, नोटसंख्या २ ; पी० गोल्दश्मित्त, ना० गे० वि० गो० १८७४ पेज ५२१ ; ए० म्युलर, बाइत्रैगे पेज ४५ और ६४ ; एस० गौल्दश्मित्त, रावणवहो से दूसरा अस् देखिए। शं० प० पंडित गउडवहो में अस् शब्द देखिए ; याकोबी के कल्पसूत्र में पल्हत्थ शब्द देखिए, योहान्ससोन, कू० त्सा० ३२, ३५४ और उसके बाद ; होएर्नले, कम्पैरेटिव ग्रैमर § १२७ और १४३।

§ २८६—ल्य का ल्ल हो जाता है : महा० कल्ल = कल्य (गउड० ; हाल), महा० कुल्लाहि तुल्ला = कुल्याभिस् तुल्याः (कर्पूर० ४४, ६), महा०, अ०माग०, जै०शौर० और शौर० में मुल्ल, अ०माग० और जै०महा० मोॅल्ल = मूल्य (§ ८३ और १२७)। — व्य का व्व हो जाता है : ववसाय = व्यवसाय (गउड० ; रावण०) ; वाह=व्याध (गउड० ; हाल) ; कव्व = काव्य (गउड०, हाल, रावण०) ; अवश्य कर्तव्यसूचक तव्य का भी अ०माग० और जै०महा० में एक रूप होयव्व ; शौर० और माग० में होदव्व, जै०शौर० और शौर० में भविदव्व, माग० हुविदव्व=भवितव्य (§ ५७०)। अ०माग० पित्तिज्ज (कप्प०) पितृव्य[1] नहीं है, किन्तु = पित्रिय। अ०माग० में वूह (नायाध० § १८ ; पेज ३३१ ; ३५३ ; ८४५ ; ओव०) = व्यूह[2] नहीं है किन्तु = * अव्वूह के स्थान पर * व्यूह रूप है जो उह् धातु में अपि उपसर्ग जुड कर बना है (§ १४२)। कुछ कर्मवाच्य रूपों में जो प्प आता है, जिसे पी० गौल्दश्मित्त[3] और एस० गौल्दश्मित्त[4] व्य से स्पष्ट करना चाहते हे, जिसे इन विद्वानों से भी पहले वेबर[5] ने बताया था, यह प्य की अशुद्ध प्रतिलिपि है तथा जिसे याकोबी[6] और उसके बाद योहान्ससोन[7] भ्रमपूर्ण मिलान से इसकी व्युत्पत्ति देना चाहते थे, वास्तव में नियमानुसार प्य से उत्पन्न हुआ है। महा०, जै०महा०, अ०माग० और अप० घे॑प्पइ = * घृप्यते जो * गृभ्यते = गृह्यते के स्थान पर आया है (§ २१२ और ५४८)। जै०महा० आढप्पइ (हेच० ४, २५४; आव०एर्सें० १२, २१) और इसके साथ साथ आढवीअइ (हेच० ४, २५४) और महा० विढप्पइ (हेच० ४, २५१ ; रावण०) और इसके साथ साथ विढ-विज्जइ (हेच० ४, २५१) आढवइ के नियमानुसार कर्मवाच्य रूप हैं (हेच० ४, १५५ ; क्रम० ४, ४६) और विढवइ (हेच० ४, १०८ धा धातु का प्रेरणार्थक रूप है (§ ५५३), इनमें § २२३ के अनुसार मूर्धन्यीकरण हो गया है। महा०, अ०माग० और जै०महा० आढत्त, महा० समाढत्त, महा०, जै०महा० और शौर० विढत्त तथा अप० विढत्तउँ (§ ५६५ प्रेरणार्थक रूप बताये जा सकते हैं मानो आढत्त = * आधप्त हों, ठीक जैसे आणत्त = आज्ञप्त हैं ; इससे भी अच्छा यह है कि इन्हें वर्तमान रूप से व्युत्पन्न किया जाय (§ ५६५)[8]। —सिप्पइ = स्निह्यते और सिच्यते (हेच० ४, २५५), महा० रूप सिप्पन्त (हाल १८५ में यह शब्द देखिए) का सम्बन्ध सिप्पइ (हेच० ४, ९६) से है, जिससे मराठी रूप शिंपणें

और गुजराती छिंपुं निकले हैं[9] और सूचना देता है कि कभी एक धातु *क्षिप् वर्तमान था जो *छिप् से निकले छिप् धातु का समानार्थी था। अर्थात् यहाँ कण्ठ्य और ओष्ठ्य वर्णों का परस्पर में परिवर्तन हुआ है (§ २१५)। महा०, अ०माग० और शौर० सिप्पी (= शुक्ति : हेच० २, १३८ ; मार्क० पन्ना ४० ; हाल ; रावण० ; कर्पूर० २, ४ ; विद्ध० ६३, ८ ; उवास० ; बाल० १९५, ५ ; २६४, ३ ; विद्ध० १०८, २) = पाली सिप्पी, मराठी में इसके रूप शीप और शिंप हैं, गुजराती में सीप है, हिन्दी में सीपी और सीप है और सिन्धी में सिप[10] चलता है। वाहिप्पइ (हेच० ४, २५३) और जै०महा० वाहिप्पन्तु (आव० एत्सें० ३८, ६), जिसे विद्वान् हेच० के अनुसार हृ धातु निकला तथा = व्याह्रियते मानते हैं, उसकी अधिक सम्भावना व्याक्षिप्यते की है जिसका अर्थ संस्कृत से कुछ भिन्न और विशेष है जैसा कि स्वयं संस्कृत में संयोगज संक्षिप् का अर्थ है। इस नियम का प्रमाण महा० णिहिप्पन्त (रावण० ८, ९७) से मिलता है जो = निक्षिप्यमाण और जिसे भूल से एस० गोल्दश्मित्त धा धातु का एक रूप बताता है। इसी से सम्बन्धित महा० णिहित्त, अ०माग० और जै०महा० निहित्त (भाम० ३, ५८ ; हेच० २, ९९ ; क्रम० २, ११२ ; मार्क० पन्ना २७ ; गउड० ; रावण० ; कर्पूर० २, ५ ; विवाह० ११६ ; एत्सें०), अप० णिहित्तउ (हेच० ४, ३९५, २) और महा०, अ०माग० और जै०महा० वाहित्त (हेच० १, १२८ ; २, ९९ ; पाइय० २४७ ; हाल ; उत्तर० २९ ; आव०एत्सें० ३८, ६) शब्दों में ये शब्द दिये जा सकते हैं[11] और ये = निक्षिप्त और व्याक्षिप्त। § १९४ के अनुसार यह भी सम्भावना है कि उक्त रूपों का स्पष्टीकरण निहित और व्याहृत से हो। — अब तक प्प वाले कई रूप भूल से कर्मवाच्य समझे जाते रहे हैं क्योंकि न तो इनके रूप के अनुसार और न ही इनके अर्थ के अनुसार ये कर्मवाच्य हैं। खुप्पइ (= गोता मारना ; डूब जाना [वास्तव में खुप्प का अर्थ शरीर में किसी हथियार का घुसना है, इस अर्थ में ही इसका तात्पर्य डूबना है, कुमाउनी में खोपणो इसी प्रयोजन में आता है, हिन्दी में इसका रूप खुभना है जिसके अर्थ कोश में चुभना, घुसना और धँसना है। —अनु०] ; वर० ८, ६८ है ; हेच० ४, १०१ ; क्रम० ४, ५१)। महा० रूप खुप्पन्त (रावण०), महा० और अ०माग० खुत्त (रावण० ; पण्हा० २०१) जिसे एस० गोल्दश्मित्त ने[12] *खुम्पइ द्वारा स्पष्ट और व्युत्पन्न किया है और खु = पत् से सम्बन्धित किया है, वास्तव में = *क्षुप्यति जो क्षुप् अवसादने, सादे से निकला है (वेस्टरगार्ड, राडिचेस पेज ३३३)। — जुप्पइ (= योग करना ; बाँधना : हेच० ४, १०९) = युप्यति जो युप् एकीकरणे, समीकरणे से बना है (बोएटलिंक-रोट के कोश में यह शब्द देखिए), इसके साथ अ०माग० जुयल, जुयलय और जुयलिय की तुलना कीजिए। महा० पहुप्पइ (हेच० ३, १४२ ; ४, ६३ ; मार्क० पन्ना ५३ ; गउड० ; हाल ; रावण०) जो वेबर[13] के अनुसार प्र के साथ भू का एक रूप है। प्रभुत्व = *प्रभुत्वति से बनी क्रिया है, इसका अर्थ है 'राज करना', 'किसी काम के योग्य होना'। इसका प्रमाण अप० पहुच्चइ से मिलता है (हेच० ४, ३९० ; ४१९) जो बताता है कि इसका रूप संस्कृत में

प्रभुत्यति और इसमें § २९९ में बताया गया ध्वनिपरिवर्तन भी हो गया। इसी प्रकार का रूप महा० **ओहुप्पन्त** है (रावण० ३, १८)= अपभुत्वन्त–। टीकाकार इसके अर्थ का स्पष्टीकरण **आक्रम्यमाण** और **अभिभूयमान** लिख कर करते हैं। इसका सम्बन्ध **ओहावइ** = ***अपभावति** = **अपभावयति** जिसका तात्पर्य **आक्रामति** है (हेच० ४, १६०), इसी रूप से **ओहाइअ**, **ओहामइ**, **ओहामिय** (§ २६१) और **ओहुअ** = ***अपभूत** निकले हैं। —महा० **अप्पाहइ** (= सन्देशा देता है : हेच० ४, १८०), **अप्पाहेइ**, **अप्पाहेन्त**, **अप्पाहेउँ**, **अप्पाहिज्जइ** और **अप्पाहिअ** (हाल ; रावण०) रूप जिन्हें एस० गौल्दश्मित्त[११] कृत्रिम ढंग से भाषाशास्त्र की दृष्टि से एक असम्भव रूप ***अव्याहृत** से व्युत्पन्न करता है और वेबर[१२] सदिग्ध मन से = **हृ** अथवा से निकला बताता है नियमानुसार = ***आप्राथयति** जो **प्रथ प्रख्याने** से बना है (धातुपाठ ३२, १९) ; **विप्रथयति** और **संप्रथित** की तुलना कीजिए।

१. याकोबी, कल्पसूत्र में यह शब्द देखिए ; ए० म्युलर, बाइत्रैगे पेज १७ और ३५। — २. लौयमान, औपपातिक सूत्र में टीकाकारों के अर्थ सहित यह शब्द देखिए। — ३. ना० गे० वि० गो० १८७४ पेज ५१२ और उसके बाद। — ४. त्सा० डे० डौ० मौ० गे० १९, ४९१ और उसके बाद, प्राकृतिका पेज ३ और १३ नोटसंख्या १ और १७ तथा उसके बाद। — ५. त्सा० डे० डौ० मौ० गे० २८, ३५० ; हाल पेज ६४ ; इंडिशे स्टुडिएन १४, ९२ और उसके बाद। — ६. कू० त्सा० २८, २४९ और उसके बाद। — ७. कू० त्सा० ३२, ४४६ और उसके बाद, यहाँ इस विषय पर विस्तार के साथ साहित्य-सूची भी दी गयी है। — ८ इस रूप को रभ् से व्युत्पन्न करना भाषाशास्त्र की दृष्टि से असम्भव है। —९. हेच० ४, ९६ पर पिशल की टीका। — १०. हेच० २,१३८ पर पिशल की टीका। — ११. पी० गौल्दश्मित्त, ना० गे० वि० गो० १८७४, पेज ५१३ के नोट की तुलना कीजिए , याकोबी, औसगेवैल्ते एर्त्सेलुंगन में निहित्त शब्द देखिए। — १२. प्राकृतिका पेज १७ और उसके बाद, इसके विपरीत योहान्स-सोन, कू० त्सा० ३२, ४४८, नोटसंख्या १। — १३. हाल, ७ की टीका। — १४. रावणवहो में यह शब्द देखिए। — १५. हाल में यह शब्द देखिए।

§ २८७—(दो) **र**, एक ध्वनि है [जिसका भले ही वह वर्ण के ऊपर या नीचे हो रेफ लोप हो जाता है। —अनु०] (वर० ३, ३, चंड० ३, ९, हेच० २, ७९ ; क्रम० २, ५०, मार्क० पन्ना १९), **र्क** = **क्क** : महा० में **अक्क** = **अर्क** (गउड०) ; अ०माग० में **कक्केयण** = **कर्केतन** (ओव० ; कप्प०), शौर० में **तक्केमि** = **तर्कयामि** (§ ४९०)। महा० में **ककोट**, **ककोळ** और इनके साथ साथ ही महा० और अ०माग० रूप **कक्कोड** = **कर्कोट** ; § ७४ देखिए। —**क्र** = **क्क** ; अप० में **किज्जइ** = **क्रियते** (§ ५४७) , महा० **चक्क** = **चक्र** (गउड०), **विक्कम** = **विक्रम** (गउड०)। महा०, अ०माग०, जै०महा० और अप० में **चक्क** = **चक्र** ; § ७४ देखिए। —**र्ग** = **ग्ग** ; शौर० और माग० में **मुक्ख** = **मूर्ख** (§ १३९)। —

र्ग = ग्ग : शौर० में णिग्गममग्ग = निर्गममार्ग (ललित० ५६७,-२४) ; महा० दुग्गम=दुर्गम (गउड० ; रावण०) ; वग्ग = वर्ग (गउड० ; हाल ; रावण०)। —ग्र = ग्ग : पल्लवदानपत्र में गामागामभोजके = ग्रामग्रामभोजकान् (५, ४), गामे = ग्रामे (६, २८) ; गहणं = ग्रहणम् (६, ३१ ; ३३ और ३४) ; निगह = निग्रह (७, ४१) ; महा० में गह = ग्रह (गउड० ; हाल ; रावण०) ; अ०माग० और जै०महा० में नग्गोह और णग्गोह = न्यग्रोध (चंड० ३,९, आयार० २, १, ८, ५ और ७ ; जीवा० ४६ ; पण्णव० ३१ ; विवाह० ४१ [पाठ में निग्गोह है] ; १५३० ; कप्प० § २१२ [पाठ में निग्गोह है; इस ग्रन्थ में यह शब्द देखिए], आव० एर्से० ४८, २५ ; एर्से०); अ०माग० और जै०शौर० में निग्गन्थ = निर्गन्थ (उदाहरणार्थ, आयार० २, १५, २९ ; पेज १३२, ४ ; ६ ; १५ और उसके बाद ; उवास०, ओव० ; कप्प० ; कत्तिगे० ४०४,३८६) । —र्घ = ग्घ : महा० णिग्घिण = निर्घृण (हाल); णिग्घोस = निर्घोष (रावण०); शौर० और माग० में दिग्घिआ = दीर्घिका (§ ८७) । —घ्र = ग्घ ; आइग्घइ = अजिघ्रति, जिग्घिअ = *जिघ्रित ; महा० और अ०माग० अग्घइ = आघ्राति, अग्घाइअ = * आघ्रायित (§ ४०८ ; § ४०८ में संज्ञा का विषय है, वहाँ अग्घाइ पर कुछ नहीं है। —अनु०) । —र्च = च्च : महा० में अच्चा = अर्चा (गउड०) ; जै०महा०, शौर० और दाक्षि० में कुच्च = कूर्च (एर्से०); शकु० १३८, ४ ; कर्पूर० २२, ८ ; दाक्षि० : मृच्छ० १०४, ७) ; शौर० चच्चरी = चर्चरी (रत्ना० २९३, १७ और १८) । —र्छ = च्छ : महा० मुच्छा = मूर्छा (रावण०) । —छ्र = च्छ : शौर० समुच्छिद = समुच्छ्रित (मृच्छ० ६८, १५) । —र्ज = ज्ज : महा० अज्जुण = अर्जुन (गउड०) , गज्जिअ=गर्जित (गउड० ; हाल , रावण०) , जज्जर = जर्जर (गउड० ; हाल) । भुअ (=भूर्ज . देशी० ६,१०६) = भूर्ज नहीं है, परन्तु = भुजः (वैजयन्ती ४८, ८९), महा० भुअवत्त भी (गउड० ६४१) = *भुजपत्र । माग० में र्ज का य्य रूप हो जाता है (वर० ११,७ , हेच० ४, २९२) : अय्युण = अर्जुन ; कय्य=कार्य ; गय्यदि = गर्जते ; गुणवय्यिद = गुणवर्जित ; दुय्यण = दुर्जन । नाटकों की हस्तलिपियों में केवल ज्ज पाया जाता है जैसे कज्ज (मृच्छ० १२६, ६ ; १३९,२३) ; दुज्जण (मृच्छ० ११५, २३) । —ज्र = ज्ज : महा० में वज्ज = वज्र (गउड० ; हाल , रावण०) । —र्झ=ज्झ : महा० में णिज्झर = निर्झर (गउड०, हाल) । —र्ण = ण्ण : महा० में कण्ण = कर्ण (गउड०, हाल ; रावण०), चुण्ण = चूर्ण (गउड०, हाल ; रावण०) ; वण्ण = वर्ण (गउड०; हाल) । कर्णिकार का कण्णिआर के साथ साथ कणिआर रूप भी बन सकता है (भाम० ३,५८ ; हेच०; क्रम० २, ११४ ; मार्क० पन्ना २७) । इस प्रकार अ०माग० में कणियार रूप होता है (आयार० पेज १२८, २८), अप० में कणिआर है (हेच० ४, ३९६, ५) । इन रूपों से प्रमाणित होता है कि ध्वनिबल अन्तिम वर्ण पर है = *कर्णिकारं । कणेर के विषय में § २५८ देखिए । अप० रूप चूर (हेच०

* कुमाउनी में भुजपत्र वर्तमान है , हिन्दी में इसका भोजपत्र हो गया है । —अनु०

४, ३७७) = चूर्ण नहीं है, इसका अप० में चुण्ण-भी होता है (हेच० ४, ३९५, २) परन्तु = ॰ चूर्य । —र्प = प्प : माग० कुप्पर, अ०माग० कोप्पर और महा० कुप्पास = कूर्पास (गउड०; हाल) ; दप्प = दर्प (गउड० ; हाल ; रावण०) । —प्र = प्प : पल्लवदानपत्र में, अम्हपेसणप्पयुत्ते = अस्मत्प्रेपणप्रयुक्तान् (५,६), अप्पातिहत = अप्रतिहत (६, १०), सतसहस्सप्पदायिनो = शतसहस्र-प्रदायिनः (६, ११), पतिभागो = प्रतिभागः (६, १२ आदि) आदि आदि ; महा० में पिअ = प्रिय (गउड० ; हाल ; रावण०), अप्पिअ* = अप्रिय (हाल) । र्ब = ब्ब : अ०माग० में कब्बड = कर्वट (आयार० १, ७, ६, ४ ; २, १, २, ६; सूय० ६८४ ; ठाणग० ३४७ ; पण्हा० १७५ , २४६ ; ४०६ ; ४८६ ; नायाध० १२७८ ; उत्तर० ८९१; विवाह० ४० ; २९५ ; ओव० ; कप्प०) ; शौर० में णिब्ब-न्ध = निर्बन्ध (मृच्छ० ५, ४ ; शकु० ५१,१४); महा० में दोब्बल्ल = दौर्बल्य (गउड० ; हाल ; रावण०) । —ब्र = ब्ब : पल्लवदानपत्र मे बम्हणार्ण = ब्राह्मणा-नाम् (६, ८; २७; ३०; ३८), अ०माग० और जै०महा० मे बम्भण है (§ २५०), शौर० और माग० में बम्हण है (उदाहरणार्थ, मृच्छ० ४, १६ ; १८ ; २१ ; २४ ; ५, ५ ; ६, २ ; माग० में : मृच्छ० ४५, १७ ; १२१, १० ; १२७, ४ ; शकु० ११३, ७); शौर० में अब्बम्हण्ण = अब्राह्मण्य (§ २८२) । —र्भ = ब्भ : महा० में गब्भ = गर्भ (गउड० ; हाल ; रावण०) ; णिब्भर = निर्भर (गउड०; हाल ; रावण०); शौर० दुब्भेज्ज = दुर्भेद्य (मृच्छ० ६८, ९) । —भ्र = ब्भ : पल्लवदानपत्र में, भातुकाण = भ्रातृकाणाम् (६,१८) ; महा० में परिब्भमइ= परिभ्रमति (गउड० , हाल) ; भमर=भ्रमर (गउड० ; हाल ; रावण०) । — र्म = म्म : अ०माग० में उम्मि = उर्मि (ओव० ; कप्प०); पल्लवदानपत्र और महा० मे धम्म = धर्म [धम्म रूप पाली से चला आ रहा है । —अनु०] (५,१ ; गउड० ; हाल ; रावण०), पल्लवदानपत्र में धमायुबल = धर्मायुर्बल-(६, ९), सिवखंदवमो = शिवस्कन्दवर्मा (५, २) ; शौर० में दुम्मणुस्स = दुर्मनुष्य (मृच्छ० १८, ८ ; ४०, १४) है । —म्र = म्म : महा० में धुम्मक्ख = धूम्राक्ष (रावण०) ; अ०माग० मक्खेइ = म्रक्षयति (आयार० २,२,३,८) ; मक्खेज्ज = म्रक्षयेत् (आयार० २, १३, ४) है। —र्ल = ल्ल : महा० में णिल्लज्ज = निर्लज्ज (हाल ; रावण०) ; दुल्लह = दुर्लभ (हाल) । —र्व = व्व : पल्लवदानपत्र में, सव्वत्थ = सर्वत्र (५, ३) ; पुव्वदत्तं = पूर्वदत्तम् (६, १२ और २८) ; महा० में पुव्व = पूर्व और सव्व = सर्व (गउड० ; हाल ; रावण०) है । —व्र = व्व : शौर० में परिव्वाजअ = परिव्राजक (मृच्छ० ४१, ५ : ७ ; १० ; १७) ; महा० में वअ=व्रज (हाल) ; अ०माग० में वीहि=व्रीहि (आयार० २, १०, १०; सूय० ६८२ ; ठाणग० १३४ ; विवाह० ४२१ और ११८५ ; जीवा० ३५६) है। र्य के विषय में § २८४ और २८५ देखिए ।

* अप्पिअ = अर्पित भी होता था, इसका रूप गुजराती में आपना = देना प्रचलित है। इस रूप की तुलना फारसी आर्य रूप दुश्मन से कीजिए। —अनु०

§ २८८—दंत्य वर्णों के साथ संयुक्त होने पर र उनमें एकाकार हो जाता है। र्त=त्त : पल्लवदानपत्र में, निवत्तणं=निवर्तनम् (६, ३८); महा० में आवत्त= आवर्त (गउड० ; रावण०), कित्ति=कीर्ति (गउड० ; रावण० ; § ८३ की तुलना कीजिए) ; दक्की में धुत्त=धूर्त (मृच्छ० ३०, १२ ; ३२, ७ ; ३४, २५ ; ३५, १ ; ३६, २३) ; महा० में मुहुत्त=मुहूर्त (हाल ; रावण०) है। —त्र=त्त : पल्लवदानपत्र में, गोत्तस्स=गोत्रस्य (६, ९ आदि) ; महा० में कलत्त= =कलत्र (हाल ; रावण०), चित्त=चित्र, पत्त = पत्र और सत्तु=शत्रु (गउड०; हाल) है। —र्थ=त्थ : महा० में अत्थ = अर्थ (गउड०; हाल ; रावण०); पत्थिव= पार्थिव (गउड० ; रावण०) ; सत्थ=सार्थ (गउड० ; हाल ; रावण०) ; समत्थ=समर्थ (हाल ; रावण०) है। —र्द = द्द : वलिवद्द = वलीवर्द (पल्लवदानपत्र ६, ३३) ; महा० में कद्दम = कर्दम (गउड०; हाल ; रावण०) ; दद्दुर= दर्दुर (गउड०) ; दुद्दिण = दुर्दिन (गउड० ; रावण०) है। —द्र = द्द : पल्लवदानपत्र में, आचंद = आचन्द्र (६, २९) ; महा० में इन्द=इन्द्र ; णिद्दा=निद्रा (गउड० ; हाल ; रावण०) ; भद्द = भद्र (गउड० ; हाल) ; समुद्द=समुद्र (गउड०; हाल ; रावण०) है। —र्ध=द्ध : पल्लवदानपत्र में, वद्धनिके=वर्धनिकान् (६, ९) ; महा० अद्ध=अर्ध (गउड० ; हाल ; रावण०) ; णिद्धूम=निर्धूम (हाल ; रावण०) ; अ०माग० में मुद्धः=मूर्धन् (§ ४०२) है। —ध्र=द्ध : अ०माग० में सद्धि = सध्रीम् (§ १०३) है।

§ २८९—जिस वर्णसमूह में र रेफ रूप में व्यंजन से पहले आता हो उसमें दंत्य वर्णों के स्थान पर बहुधा मूर्धन्य वर्ण आ जाते हैं। यह ध्वनिपरिवर्तन विशेषतः अ०माग० में होता है। व्याकरणकारों के अनुसार (वर० ३, २२ ; हेच० २, ३० ; क्रम० २, ३४ ; मार्क० पन्ना २२) र्त में मूर्धन्यीकरण का नियम निश्चित है। वे शब्द जिनमें दंत्य बने रहते हैं उन्हें वररुचि ३,२४, हेमचन्द्र, क्रमदीश्वर और मार्कंडेय आकृतिगण धूर्तादि में एकत्र करते हैं। नाना प्राकृत बोलियों में इस विषय पर बहुत अस्थिरता है। कभी कभी एक ही शब्द के नाना रूप दिखाई देते हैं : अ०माग० और जै०महा० में अट्ट=आर्त (आयार० १,१, २, १ , १,२,५, ५ ; १, ४, २, २; १, ६, १, ४ ; सूय० ४०१ , नायाध० ; निरया० , उवास० , ओव० ; कप्प० ; एत्सें०) ; अ०माग० में अट्टतरं आया है (सूय० २८२) , अ०माग० अट्टिय= =आर्तित (ओव०) ; इससे सम्बन्धित कवट्टिअ भी है (§ २४६) ; किन्तु शौर० में अत्ति=आर्ति (शकु० ५७, ४) है। —अ०माग० किट्टइ=कीर्तयति (आयार० १, ५, ४, ३ ; १, ६, १,१), किट्टे (सूय० ६६१), किट्टमाण (सूय० ६६३), किट्टित्ता (आयार० पेज १३७, २७ ; कप्प०) और किट्टिय रूप मिलते हैं (आयार० पेज १३२, ३३ , १३७, २३ ; सूय० ५७८ और ६६१), किन्तु अन्य सभी प्राकृत बोलियों में कित्ति=कीर्ति (§ ८३ और २८८) है। —केवट्ट=कैवर्त (हेच०, मार्क०) और केवट्टअ भी मिलता है (भाम०) । —महा०, अ०माग० और जै०महा० में चक्कवट्टि=चक्रवर्तिन् (कर्पूर० ७, ३ ; ७९, ४ ; ११५, १० , ठाणग० ८० और

१८७ ; सम० ४२ ; विवाह० ७ और १०४९; नायाध० ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से०), किन्तु शौर० में चक्कवत्ति रूप है (चड० ८७, १५ ; ९४, १० ; हास्या० २१, ७), जैसा कर्पूरमजरी १०४, २ और ४ में इसी रूप के अनुसार पढना चाहिए। — अ०माग० नट्टग=नर्तक (ओव० ; कप्प०) ; णट्टअ (भाम० ३,२२ ; मार्क० पन्ना २२) ; णट्टई = नर्तकी (भाम० ३, २२ ; हेच० २, ३०) है। — शौर० और ढकी मे भट्टा=भर्ता जिसका अर्थ 'पति' या 'स्वामी' होता है, किन्तु सब प्राकृत भाषाओं में 'दूल्हा', 'वर' के अर्थ में भट्टा आता है (§ २९०) ; अ०माग० मे भट्टिदारय और शौर० मे भट्टिदारअ तथा भट्टिदारिआ रूप पाये जाते हैं (§ ५५)। — वृत् धातु से महा० में वट्टसि (हाल), वट्टइ (रावण०); अ०माग० और जै०महा० में वट्टइ (विवाह० २६८ और १४०८ ; एर्त्से० ६, ३); अ०माग० रूप वट्टन्ति है (आयार० २, २, २११ और १२, कप्प० एस० § ३५), महा०, अ०माग० और जै०महा० वट्टन्त—(रावण० ; उत्तर० ७१२ ; एर्त्से० २२, ९), अ०माग० और जै०महा० वट्टमाण (आयार० २, २, २, १ ; विवाह० २६८; उवास० ; ओव ; नायाध० ; कप्प० , एर्त्से०), जै०शौर० और शौर० में वट्टदि रूप मिलता है (पव० ३८२, २७ ; ललित० ५६०, १५ ; मृच्छ० २, २० ; ३, १ और २० ; १६९, २१ ; शकु० ३७, ७ ; ५९, १२ ; विक्रमो० २१, १० ; ५२, १ ; चंड० ८६, ४ ; हास्या० २१, ८ ; २५, ३ ; २८, २० आदि आदि), जै०शौर० मे वट्टदु (पव० ३८७, २१) और माग० में वट्टामि रूप हैं (मृच्छ० ३२, २२)। उपसर्गों के साथ भी यही नियम लागू होता है ; उदाहरणार्थ, महा० में आअट्टन्त और आवट्टमाण (रावण०) ; अ०माग० में अणुपरियट्टमाण (सूय० ३२८), अणुपरियट्टइ (आयार० १, २, ३, ६ ; १, २, ६, ५), नियट्टइ (उत्तर० ११६), नियट्टन्ति (आयार० १, २, २, १ ; १, ६, ४, १), नियट्टमाण (आयार० १, ६, ४, १), नियट्टपण्णा (सूय० ४१५), उव्वट्टेज्ज (आयार० २, २, १, ८), उव्वट्टेन्ति (आयार० २, २, ३, ९), जै०महा० उव्वट्टिय (एर्त्से०), शौर० में पअट्टदि = प्रवर्तते (मृच्छ० ७१, ७), अप० पअट्टइ (हेच० ४, ३४७) और इससे निकले नाना रूप जैसे परियट्टणा (आयार० १, २, १, १ ; २, १, ४, २ ; ओव०) और परियट्टय (कप्प०) किन्तु महा० और शौर० मे परिअत्तण और परिवत्तण रूप मिलते हैं (गउड० ; रावण० ; मृच्छ० २, २० ; विक्रमो० ३१, ६), अ०माग० में परियत्त = परिवर्त (ओव०) ; अ०माग० में संवट्टग रूप भी है (उत्तर० १४५६) जैसा कि व्याकरणकारों के उदाहरणों से पता लगता है उपसर्गों से संयुक्त होने पर दंत्य वर्णों की प्रधानता रहती है। इस प्रकार उदाहरणार्थ, महा० में उव्वत्तइ (गउड०), णिअत्तइ (गउड०; हाल ; रावण०), परिअत्तइ (गउड०), परिवत्तसु (हाल), परिअत्तन्त- और परिवत्तिउं (रावण०) ; अ०माग० मे पवत्तइ (पण्णव० ६२) ; शौर० में णिअत्तीअदि (विक्रमो० ४६, १९), णिअत्तीअदु (मृच्छ० ७४,२५ ; ७८, १० [पाठ में णिवत्तीअदु है]), णिवत्तिस्सदि (विक्रमो० १७,२), णिअत्तइस्सदि

(शकु० ९१, ६), णिअत्तावेहि और णिअत्तदु (शकु० ९१, ५ और ६), **णिअत्तसु** (शकु० ८७, १ और २ [यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए]), **णिवत्तमाण** (विक्रमो० ५,११), **णिव्वत्तेहि** और **णिव्वत्तेदु** (मृच्छ० २७,१२ और १५), **णिव्वत्तम्ह** (शकु० ७४, २) आदि-आदि रूप पाये जाते हैं। इनसे निकले रूपों के लिए भी यही नियम लागू होता है। —अ०माग० **वट्टय** = **वर्तक** (= वतकः आयार० २, १०, १२ ; सूय० १०० ; उवास०), **वट्टग** रूप भी है (सूय० ६८१ ; ७०८ ; ७२२ ; ७४७), **वट्टिया** (मार्क०) के विपरीत किंतु **वत्तिआ** = **वर्तिका** भी रूप है (भाम० ; हेच०)। —अ०माग० में **वट्टि** = **वर्ति** (हेच० २, ३०), यह रूप **गन्धवट्टि** में भी आया है (ओव० ; कप्प० ; नायाध०), इसके विपरीत महा० में **वत्ति** रूप है (हाल)। —करके अर्थवाले रूपों मे सर्वत्र मूर्धन्य वर्ण आते हैं : **कट्टु** = **कर्तु-**, **आहट्टु** = **आहर्तु-**, **समाहट्टु** = **समाहर्तु** आदि-आदि (§ ५७७) हैं। —**काउं** और **काउं** = **कर्तुम्** आदि आदि के विषय में § ६२ देखिए। —अ०माग० **गड्ड** = **गर्त** में **र्त** का **ड्ड** हो गया है (वर० ३, २५ ; हेच० २, ३५ ; मार्क० पन्ना २३ ; विवाह० २४६ और ४७९) ; **गड्डा** = **गर्त्ता** (हेच० २, ३५) है।

§ २९०—अ०माग० और जै०महा० मे **र्थ** का **ट्ठ** हो जाता है : 'कारण', 'मूल कारण', 'पदार्थ' और 'इतिहास' के अर्थ मे **अट्ठ** = **अर्थ**, किंतु 'सपत्ति' और 'धन' के अर्थ में इसका रूप **अत्थ** मिलता है (हेच० २, ३३)। इस प्रकार विशेषतः अ०माग० पाठशैली मे **जो इण' अट्ठे समट्ठे** (§ १७३) और क्रियाविशेषण रूप से काम मे आये हुए शब्द मे जैसे, **से तेण' अट्ठेणं** (विवाह० ३४ और उसके बाद ; ४५ और उसके बाद ; उवास० § २१८ और २१९), **से केण अट्ठेणं** (उवास० § २१८ और २१९) ; अ०माग० और जै०महा० में **अट्ठाए** (उत्तर० ३६३; उवास०; ओव० ; नायाध० ; निरया० ; एर्त्से०) है ; **अट्ठयाए** भी मिलता है (नायाध० ; ओव० ; एर्त्से०) ; जै०महा० मे **अट्ठा** रूप है (एर्त्से०)। तो भी 'पदार्थ' और 'इतिहास' के अर्थ में दत्य वर्णवाला रूप मिलता है (ओव०) और साथ ही क्रियाविशेषणके तौर पर काम में आये हुए रूप मे भी दत्य वर्ण ही रहता है, जैसे **इणत्थं** (आयार० १,२,१,१), तथा जै०महा० मे यह अधिक बार आता है (एर्त्से०)। इनको छोड अन्य प्राकृत भाषाओं मे इस शब्द के सभी अर्थों मे दत्य वर्णों का जोर है। अ०माग० मे **अणट्ठ** रूप भी है जिसका अर्थ है 'बेमतलब', 'निरर्थक' (उवास०; ओव०), एक दूसरा रूप **निरट्ठग** है (उत्तर० ११३), **समट्ठ** भी है (§ ११३)। महा०, अ०माग०, जै०महा० और अप० में **चउत्थ**=**चतुर्थ**, किंतु हेमचद्र २, ३३ में बताता है कि इसका **चउट्ठ** भी होता है और शौर० में **चदुत्थ** रूप है जिसके साथ-साथ **चदुट्ठ** रूप भी काम में आता है (§ ४४९)। अ०माग० **अद्धुट्ठ** = **अर्ध** + **चतुर्थ** (§ ४५०)। **कवट्टिअ** जिसका तथाकथित अर्थ = **कदर्थित** है, इसके विषय में § २४६ और २८९ देखिए। — माग० में **र्थ** का **स्त** हो जाता है (हेच० ४,२९१ ; रुद्रट के काव्यालकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका) : **पस्ते** **यस्ते** = **पर्थो' र्थः** (नमिसाधु) ; **अस्तवदी** = **अर्थवती**, **शस्तवाहे** = **सार्थवाहः** (हेच० ४,२९१);

तित्त = तीर्थं (हेच० ४, २०१) है। इसके अनुसार ललितविग्रहराजनाटक ५६६, ९ में यहस्तं रूप आया है (इसे यधस्तं पढ़िए) = यथार्थम्, किंतु ५६६, ७ में शस्तदश रूप है = सार्थस्य और ५६६, ८ में पस्तिदुं है = प्रार्थयितुम् जिसमें स्त है। मृच्छकटिक १३१, ९; १३३, १, १४०, १३; १४६, १६; १५२, ६; १६८, २ में सब हस्तलिपियों में अत्थ रूप है, यही रूप चंडकौशिक ६०, ११ और प्रबोधचंद्रोदय २८, १४ में भी है; बल्कि मद्रास के संस्करण में पलमश्शो पाठ है। मृच्छकटिक १४५,१७ मे गौडबोले के संस्करण में अच्छ है, और एक उत्तम हस्तलिपि ई (E) में इसके स्थान पर अश्त है। मृच्छकटिक १३८, १७ में हस्तलिपियों में कय्यस्ती के स्थान पर कज्जत्थी पाठ मिलता है; शकुंतला ११४,११ में विक्कत्थं= विक्रयार्थम् आया है और ११५, ७ मे शामिप्पशादत्थं = स्वामिप्रसादार्थम् है; प्रबोधचिंतामणि २८, १५ में तित्थिपहिं = तीर्थिकैः है और २९, ७ में तित्थिआ= तीर्थिकाः है। मृच्छकटिक १२२, १४; १२८, ३ और १५८, १९ मे स्टेन्सलर ने सत्थवाह = सार्थवाह दिया है, १३३, १ मे शट्ठवाह आया है। हस्तलिपिया बहुत अस्थिर है, नाना रूप बदलती रहती हैं और १२८,३ में गौडबोले की हस्तलिपि ई (E) ने शुद्ध रूप शस्तवाह दिया है, जिसकी ओर हस्तलिपि बी (B) का शस्यस्तवाह और हस्तलिपि एच. (H) का शत्थवाह भी संकेत करते हैं[1]। हस्तलिपियाँ सर्वत्र ही व्याकरणकारों के नियमों के अनुसार सुधारी जानी चाहिए।

1. हेमचंद्र २, ३३ की पिशलकृत टीका। लौयमान, औपपातिक सूत्र में अत्थ शब्द देखिए, इसमें इस शब्द की व्याख्या पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं है। — २. गो० गे० आ० १८८१, पेज १३१९ और उसके बाद में पिशल का मत।

§ २९१—कवड्ड = कपर्द में र्द का ड्ड हो गया है (हेच० २, ३६, मार्क० पन्ना २३)। — गड्डह = गर्दभ (वर० ३, २६, हेच० २, ३७, क्रम० २, २३; मार्क० पन्ना २३), इसके साथ साथ गद्दह रूप भी चलता है (हेच० २, ३७; पाइय० १५०), केवल यही एक रूप अ०माग०, जै०महा०, शौर०, माग० और ढक्की से प्रमाणित किया जा सकता है और मार्क० पन्ना ६७ में स्पष्ट बताया गया है कि शौर० में यही रूप है (सूय० २०४; ७२४ और उसके बाद, ७२७ [यहाँ गद्दभ पाठ है]; सम० ८३; उत्तर० ७९४; कालका०; शौर० में : मृच्छ० ४५, १६; माग० में : मृच्छ० ७९; १३; १७५, १४), जै०महा० में गद्दभी = गर्दभी और गार्दभी (कालका०), गद्दभिल्ल रूप भी आया है (कालका०), गद्दभ = *गार्दभ्य (कटुध्वनि; बेसुरी ध्वनि : देशी० २, ८२; पाइय० २०४); गद्दह (= कुमुद। —अनु० : देशी० २, ८३), गद्दहय (पाइय० ३९, श्वेत कमल; कुमुद) और ढक्की में गद्दही रूप पाये जाते हैं। कालेयकुतूहल २५, १५ में शौर० रूप गड्डुहो (?) छापा गया है। — छड्डइ = छर्दति (हेच० २, ३६); अ०-माग० में छड्डेज्जा (आयार० २, १, ३, १), छड्डेसि (उवास० § ९५), जै०महा० में छड्डिज्जइ (आव० एर्त्से० ४१, ८), छड्डेइ, छड्डिज्जड और छड्डिय (एर्त्से०) रूप मिलते हैं। अप० में छड्डेविणु रूप पाया जाता है (हेच० ४, ४२२,

३) ; जै०शौर० में छड्डिद रूप भी आया है (पव० ३८७, १८ ; [पाठ में छड्डिय है]) ; छड्डि = छर्दि (हेच० २, ३६) ; जै०महा० में छड्डी = छर्दिस् (एर्से०) ; अ०माग० में छड्डियल्लिया रूप भी है (ओव०) । महा०, जै०महा० और शौर० में विच्छड्ड = विच्छर्द (हेच० २, ३६ ; मार्क० पन्ना २३ ; पाइय० ६२ ; देशी० ७, ३२ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; कालका० ; एर्से० ; अनर्घ० २७७, ३ [कलकतिया संस्करण के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) ; विच्छड्डि = विच्छर्दि (वर० ३, २६ ; क्रम० २, २३) ; अ०माग० में विच्छड्डइत्ता (ओव० ; कप्प०); महा० में विच्छड्डिअ (रावण०) ; अ०माग० और जै०महा० में विच्छड्डिय (ओव० ; पाइय० ७९) और शौर० में विच्छड्डिद रूप मिलते हैं (उत्तर० २०, ११ ; मालती० २४१, ५ ; २५४, ४ ; २७६, ६ ; अनर्घ० १४९, १० [इस ग्रंथ में सर्वत्र यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) । —मड्डइ = मर्दते (हेच० ४,१२६), किन्तु शौर० में मड्डीअदि = मर्द्यते (मृच्छ० ६९, ९) ; मड्डिअ = मर्दित (हेच० २, ३६) ; संमड्ड = संमर्द (वर० ३, २६ ; हेच० २, ३६ ; क्रम० २, २३; मार्क० पन्ना २३) रूप हैं, किन्तु महा०, जै०महा० और शौर० में संमद्द रूप मिलता है (गउड० ; एर्से० ; मृच्छ० ३२५, १७) ; संमड्डिअ = संमर्दित (हेच० २, ३६) है । इसके विपरीत शौर० में उवमद्द = उपमर्द (मृच्छ० १८, ११) ; अ०माग० में पमद्दण रूप आया है=प्रमर्दन (ओव० ; कप्प०), पमद्दि = प्रमर्दिन् (नायाध०; ओव०) ; पामद्दा = *पादमर्दा (= पादाभ्या धानमर्दनम् ; धान को पाँव से कुचलना : देशी० ६, ४०) ; अ०माग० में परिमद्दण = परिमर्दन (नायाध० ; ओव०; कप्प०), पीढमद्द = पीठमर्द (ओव० ; कप्प०), शौर० में पीढमद्दिआ रूप मिलता है (मालवि० १४, ९ ; अद्भुत० ७२, १३ ; ९१, ९); अ०माग० में वामद्दण = व्यामर्दन (ओव० ; कप्प०) है । — विअड्डि = वितर्दि (वर० ३, २६ ; हेच० २, ३६ ; क्रम० २, २३) । — खुड्डिअ= कूर्दित, संखुड्डइ = संकूर्दति (§ २०६), इसके साथ साथ अ०माग० में उक्कुद्दइ रूप है (उत्तर० ७८८)। मार्क० पन्ना २३ के अनुसार कुछ व्याकरणकार तड्ड = तर्द भी सिखाते थे । — निम्नलिखित शब्दों में र्ध=ड्ढ हो गया है : अ०माग० और जै०महा० में अड्ढ = अर्ध, इसके साथ साथ अद्ध रूप भी चलता है और यह रूप अन्य सभी प्राकृत बोलियों में एक मात्र काम में आता है (हेच० २,४१ ; § ४५०) ; अड्ढ अ०माग० में अन्य शब्दों से संयुक्त रूप में भी चलता है, जैसे अवड्ढ = अपार्ध (जीवा० १०५५ और उसके बाद; विवाह० १०५७ और १३०६), सअड्ढ, अणड्ढ (विवाह० ३५४) ; दिवड्ढ (§ ४५०) ; जै०महा० में अड्ढमास रूप (एर्से०) रूप है, इसके साथ साथ अद्धमास भी चलता है (कालका०) और अ०माग० में मासद्ध भी है (विवाह० १६८) ; जै०महा० में अड्ढरत्त = अर्धरात्र (एर्से०) आदि-आदि ; महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर०, माग०, आव० और अप० में अद्ध रूप चलता है (गउड० ; हाल ; रावण० ; सम० १५६ ; १५८ ; ठाणंग० २६५ ; जीवा० २३१ और ६३२ तथा उसके बाद ; विवाह० २०९ ; ११७८ ; § ४५० ; एर्से० ;

बालरा० ; ऋषभ० ; मृच्छ० ६९, १६ ; चंड० ५१, ११ ; कर्पूर० ६०, ११ ; माग० में : मृच्छ० ३१, १७ ; २० ; २३ ; २५ ; ३२, ५ ; १३३, १० ; १६८, २० और २१ ; शकु० ११८, ४ ; आव० में : मृच्छ० १००, १२ ; अप० में : हेच० ४, ३५२ ; पिंगल १, ६ और ६१ तथा उसके बाद) । — महा०, अ०माग० और जै०महा० वड्ढइ = वर्धते (वर० ८, ४४ ; हेच० ४, २२० ; क्रम० ४, ४६ ; मार्क० पन्ना २३ ; हाल ; रावण०; आयार० २, १६ ; ५ [पाठ में वड्ढई रूप है] ; सूय० ४६० ; विवाह० १६० ; बालरा०) ; शौर० में वड्ढदि का प्रचलन है (विक्रमो० १०, २० ; १९, ७ ; ४९, ४ ; ७८, १५ ; ८८, १४ ; मालवि० २५, ४) । उपसर्ग के साथ प्रेरणार्थक में और इससे निकले अन्य रूपों में भी यही नियम चलता है । व्यक्तिवाचक नाम वर्धमान अ०मा०, जै०शौर० और शौर० में वड्ढमाण हो जाता है (आयार० २, १५, ११ ; पव० ३७९, १ ; मृच्छ० २५, १८ ; ४४, २४ ; ४५, ५ आदि आदि), किंतु अ०माग० में वद्धमाण रूप भी मिलता है (चंड० ३, २६ ; आयार० २, १५, १५ ; आव० ; कप्प०), जैसे अ०माग० में नंदिवद्धण रूप भी है (आयार० २, १५, १५ ; कप्प०) और वद्धावेइ भी चलता है (ओव० ; कप्प० ; निरया०) । मार्कडेय पन्ना २४ में बताया गया है कि गोवर्द्धन के स्थान पर प्राकृत में गोवद्धण होना चाहिए । शौर० में गोवड्ढण मिलता है (वृषभ० १९, ५) ।

§ २९२—नीचे दिये गये उदाहरणों में त्र का ट्ट हो गया है : महा० और अप० में तुट्टइ = त्रुट्यति (रावण० ; पिंगल १, ६५ और ६८) है । इसके साथ साथ अ०माग० में तुट्टइ (सूय० १०० ; १०५ ; १४८) भी चलता है, तुट्टन्ति (सूय० ५३९) और तुट्टइ (हेच० ४, २३०) रूप भी मिलते हैं ; अप० में तुट्टउ देखा जाता है (हेच० ४, ३५६) । वररुचि १२, ५ के अनुसार शौर० में कभी कभी (क्वचित्) पुत्र का रूप पुड भी होता है । सभवत: यह पाटलिपुत्र के नाम के प्राचीन रूप के विषय में कहा गया है जो कभी * पालटिपुट कहा जाता होगा (§ २३८, नोट सख्या २) और प्राकृत के नियमों के अनुसार * पाडलिउड हो जाना चाहिए था । इसका संस्कृत रूप महा० और माग० पाडलिउत्त से मिलता है (हेच० २, १५० , मृच्छ० ३७, ३) , जै०महा० में पाडलिपुत्त रूप है (आव० एत्सें० ८, १ ; १२, १ और ४०, एर्त्सें०), शौर० में पाडलिपुत्तअ है (मुद्रा० १४९, ३) । स्टेन्त्सलर मृच्छकटिक ११८, १ ; ११९, ११ और २१ ; १२४, ५ ; १२९, १८; १३२, ९ ; १६४, १६ ; १६५, ३ में पुत्थक = पुत्रक लिखता है । इस रूप के विषय में हस्तलिपियाँ बहुत अस्थिर है, कभी कोई रूप लिखती है कभी कोई, किन्तु वे दो रूपों को विशेष महत्व देती हैं, पुस्तक अथवा पुश्तक । प्रायः सर्वत्र यह रूप पुत्तक पाया जाता है, और यह माग० में मृच्छकटिक में पुत्त लिखा गया है (१९, १९ , ११६, ८ ; १२९, ७ , १३३, १ , १६०, ११ ; १६६, १ ; १६७, २४ ; १६८, ३), पुत्तक भी आया है (मृच्छ० ११४, १६ , १२२, १५ ; १५८, २०) ; रापुत्ताक भी है (मृच्छ० १६६, १८ और २१) । स्टेन्त्सलर चाहता है कि

मृच्छकटिक पेज २१४ में ११४, १६ में **पुत्तक** के स्थान पर सुधार कर **पुस्थक** रूप रखा जाय, किन्तु केवल १५८, २० में इनी गिनी हस्तलिपियों में **पुस्तके, पुइतके** और **पुत्थके** रूप आये हैं अन्यथा सब में **पुत्तक** आया है जो शुद्ध होना चाहिए। १५८, १९ में **णत्तिके**=नप्तृकः और भिन्न भिन्न हस्तलिपियों में पाठभेद से **णत्थिके** (स्टेन्त्सलर और गौडबोले के तथा कलकतिया संस्करण में यही पाठ है), **णस्तिके** और **णद्तिके** रूप दिये गये हैं। इनसे ऐसा लगता है कि र्थ (§ २९०) के क्रमविकास में ध्वनिपरिवर्तन हुआ होगा। अ०माग० में दीर्घ स्वर के बाद त्र का त बनकर बहुधा य हो गया है जैसे, **गाय**=**गात्र** ; **गोय**=**गोत्र** ; **धाई**=**धात्री** ; **पाई**=**पात्री** (§ ८७)। **रात्री** के विषय में *महा० और शौर० में भी यह नियम लगाया जाता है* (§ ८७)। **धारी** (=धाई : हेच० २, ८१)=**धात्री** नहीं है अपितु धे (=छाती से दूध चूसना) धातु में र प्रत्यय लगाकर बना है = 'स्तन का दूध पिलानेवाली' है। इस सम्बन्ध में **धारू** की तुलना कीजिए।

§ २९३ — § २८८ के विपरीत—त्र में समाप्त होनेवाले क्रियाविशेषणों में त्र देखने में त्थ का रूप धारण कर लेता है जैसे, **अण्णत्थ**=**अन्यत्र** (हेम० २, १६१ ; ३, ५९) ; शौर० **अत्थभवं** में **अत्थ**=**अत्र** (शकु० ३३, ३ ; ३५, ७ ; विक्रमो० ३०, ९), *अत्थभवदो* (*मालवि०* २७, ११) और *अत्थभोदि* रूप भी मिलते हैं (विक्रमो० ३८, १७ ; ८३, १३ ; मालवि० २६, १)। महा० ; अ०माग० और जै०महा० **कत्थ**=**कुत्र** (भाम० ६, ७ ; हेच० २, १६१ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; कप्प० ; ओव० ; एर्त्से०, कालका०) ; महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर०, शौर० और दाक्षि० में **जत्थ**=**यत्र** (भाम० ६, ७ ; हेच० २, १६१ ; हाल ; रावण०, कप्प० ; एर्त्से० ; कालका० ; कत्तिगे० ४०१, ३५३ ; उत्तर० २०, ११ ; २१, १० ; दाक्षि० में : मृच्छ० १००, ३) ; महा०, अ०माग०, जै० महा०, शौर० और माग० में **तत्थ**=**तत्र** (भाम० ६, ७ ; हेच० २, १६१ ; क्रम० ३, ४२ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; आयार० १, १, १ ७ ; १, १, २, १ और २ आदि आदि ; नायाध० ; उवास० ; कप्प० ; कालका० ; विक्रमो० ४८, १४, माग० में : प्रबोध० ३२, ६), शौर० में **तत्थभवं** (विक्रमो० ४६, ६ ; ४७, २ ; ७५, ३ और १५), **तत्थभवदा** (शकु० ३०, २ ; विक्रमो० १६, ११ ; ८०, १४ ; ८४, १९ ; मालवि० १०, १३) ; **तत्थभवदो** (मृच्छ० ६, ४ ; २२, १२ ; विक्रमो० ३८, १८ ; ५१, १३ ; ७९, १६) और **तत्थभोदी** (मृच्छ० ८८, १३ ; शकु० ९५, १२ ; १२५, ७ ; १३२, ७ ; १३४, १३ , विक्रमो० १६, ४ ; ७ और १३ ; १८, ५ आदि आदि) रूप पाये जाते हैं ; **इअरत्थ**=**इतरत्र** (भाम० ६, २) और महा० तथा जै०महा० में **सव्वत्थ**=**सर्वत्र** रूप मिलता है (भाम० ६, २ ; हेच० ३, ५९ और ६०, गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्त्से०)। इनमें पल्लवदानपत्र, महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर०, माग०, दाक्षि० और आव० में **एत्थ** तथा अप० में **एत्थु** (§ १०७) **ए** के कारण=**अत्र** नहीं हो सकते अपितु ये रूप वैदिक हैं और=**इत्था** हैं। शेष क्रिया विशेषण वैदिक शब्दों से अलग नहीं किये जा सकते क्योंकि ये **कत्थ** : **कत्था** और

जत्थ : यत्था तक पहुँचाये जाने चाहिए[1]। अप० में यत्र, तत्र के क्रमविकसित नियमानुसार रूप जन्तु और तन्तु होते हैं (हेच० ४, ४०४ ; § २६८ की तुलना कीजिए) ; अन्यत्र का ढक्की में अण्णत्त रूप होता है (मृच्छ० ३६, २३ ; ३९, १०)। मृच्छकटिक १६१, १७ ; १६७, १७ में अत्त = अत्र आया है जो अशुद्ध है। डी. (D) हस्तलिपि में पहले के स्थान पर ऍत्थ है, दूसरे के स्थान पर अधिकांश हस्तलिपियों में यह है ही नहीं। अत्तभवं और तत्तभवं लिपिप्रकार जो शकुंतला और मालविकाग्निमित्र के द्राविडी और देवनागरी संस्करणों में पाया जाता है[2] तथा जो कभी कभी अन्यत्र भी संयोग से पाया जाता है, अशुद्ध है[3]। अप० रूप केत्थु, जेत्थु और तेत्थु के विषय में § १०७ देखिए। शौर० रूप महामें त्थ = महामात्र (मृच्छ० ४०, २२) महामें त्त का अशुद्ध पाठ है, जैसा कि गौडबोले के संस्करण के पेज १, २० में डी. (D) और एच. (H) हस्तलिपियों का पाठ बताता है, और में त्थ पुरिस = मात्रपुरुष (मृच्छ० ६९, १२) यह रूप = महामेत्तपुरिस (गौडबोले के संस्करण में पेज १९६ में हस्तलिपि डी. (D) की तुलना कीजिए) क्योंकि मात्र के प्राकृत रूप केवल में त्त और मित्त होते हैं (§ १०९)। में ण्ठ और जै०महा० मिण्ठ (= महावत : देशी० ६, १३८ ; एर्से०), पाली में में ण्ड है। — महा० पत्थी (हाल २४०), जिसे वेबर = पात्री मानना चाहता है, पच्छी का अशुद्ध रूप है। — (= पिटिका —अनु० । देशी० ६, १), पाली में भी यह शब्द पच्छि है ; त्साइटश्रिफ्ट डेर डौयत्शन मौर्गेनलैण्डिशन गेजेलशाफ्ट २८, ४०८ और इण्डिशे स्टुडिएन १६, ७८ में श्लोक १८५ की टीका में इस शब्द की तुलना कीजिए।

१. एस. गौल्दश्मित्त प्राकृतिका पेज २२ में भिन्न मत देता है ; रावणवहो में कत्थ शब्द देखिए, हाल २४० पर वेबर की टीका। बे. बाइ. ३, २५३ में पिशल। — २. शकुंतला २०, ११ पेज १७७ पर बोएटलिंक की टीका। —३. पिशलकृत दे० कालिदासाए शकुंतलि रेसेन्सिओनिबुस, पेज ३४ और उसके बाद।

§ २९४—नीचे दिये शब्दों में द्र का ड्ड हो गया है : अ०माग० और जै०महा० खुड्ड = क्षुद्र (देशी० २, ७४, आयार० २,२,३,२ ; सूय० ४१४), ठाणंग० ५४६, उत्तर० १३ ; जीवा० ४७६ और उसके बाद ; ५५९, ६२२, ६६३, १०१३ और उसके बाद, कप्प०, एर्से०), खुड्डअ रूप भी मिलता है (हेच० २, १७४ ; त्रिवि० १,३,१०५), अ०माग० और जै०महा० में खुड्डय तथा स्त्रीलिंग में खुड्डिया रूप मिलते हैं (आयार० १,३,३,२, २,२,१,४ ; २,२,३,२, ठाणंग० ६७ ; पण्हा० ५२० ; विवाह० ११००, कप्प०, आव० एर्से० २३, ६), अ०माग० में खुड्डग भी पाया जाता है (सूय० ८७२, ठाणंग० ५४५, विवाह० ११०१, ओव०), खुड्डाग भी है (§ ७०), बहुत ही कम पर माग० में खुद्द (सूय० ५०४) और खुद्दाय (कप्प०) रूप भी देखने में आते हे। — जैसे साधारण द, ल में परिवर्तित हो जाता है (§ २४४), वैसे ही द्र के रूपपरिवर्तन से व्युत्पन्न द्द भी ल्ल में परिवर्तित हो जाता है : महा० और अ०माग० में अल्ल और इसके साथ साथ महा०, अ०माग०,

जै०महा० और शौर० का अद्द = आर्द्र (§ १११) और छिल्ल (= छिद्र; कुटिया : देशी० ३, ३५), उच्छिल्ल (= छिद्र : देशी० १, ९५) तथा इसके साथ साथ महा०, अ०माग० और जै०महा० छिद्द (हाल ; उवास० ; एत्सें०) और अ०माग० तथा जै०महा० छिड्ड (निरया० ; आव० एत्सें० ४१, ४ और ५ ; एत्सें० [इसमें यह शब्द देखिए]) और महा० में छिड्डिअ = छिद्रित है (गउड०)। चुल्ल के विषय में § ३२५ देखिए। महा० रूप मलइ = मर्दति नहीं है, किंतु म्रदते है (§ २४४)। इसका समानार्थी मढइ (हेम० ४, १२६) = मठति जो मठ मर्दनिवासयोः से निकला है (धातुपाठ ९, ४७ पर बोपदेव की टीका) तथा जो मथ और मंथ से संबंधित है। द्र और इसके साथ साथ द्द के विषय में § २९८ देखिए।

§ २९५—आम्र और ताम्र रूपों में म और र के बीच में ब जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार उत्पन्न म्ब्र में या तो अंश स्वर द्वारा वर्ण अलग अलग कर दिये जाते हैं जैसे, अम्बिर और तम्बिर (§ १३७) या र शब्द में घुल-मिल जाता है। इस प्रकार महा०, अ०माग० और जै०महा० में अम्ब रूप होता है (वर० ३, ५३ ; चंड० ३, ९ ; हेच० २, ५६ ; क्रम० २,६४ ; मार्क पन्ना २७; पाइय० १४५ ; हाल ; आयार० २,१,८,१ ; ४ और ६ ; २,७,२,२ और उसके बाद ; २,१०,२१ ; ठाणंग० २०५ ; पण्णव० ४८२ और ५३१ ; विवाह० ११६ और १२५६ ; एत्सें०) ; अ०माग० में अम्बग मिलता है (अणुत्तर० ११ ; उत्तर० २३१ और ९८३ तथा उसके बाद) ; अ०माग० में अम्बाडग भी है = आम्रातक (आयार० २, १, ८, १ और ४; पण्णव० ४८२)। — महा० और अ०माग० में तम्ब = ताम्र (सब व्याकरणकार ; पाइय० ९३ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; सूय० २८२ और ८३४ ; उत्तर० ५९७ ; विवाह० १३२६ ; ओव० ; कप्प०) ; अ०माग० में तम्बग (उत्तर० १०६५), तम्बिय (ओव०) भी देखने में आते हैं ; महा० और शौर० में तम्बवण्णी = ताम्रपर्णी (कर्पूर० १२, ४ ; ७१, ८ ; बाल० २६४, ३ और ४ ; अनर्घ० २९७, १५ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) ; महा० में आअम्ब और अ०माग० में आयम्ब = आताम्र (गउड० ; हाल ; शकु० ११९, ६ ; ओव०) ; तम्बकिमि = ताम्रकृमि (= इन्द्रगोप : देशी० ५, ६) ; तम्बरत्ती = *ताम्ररक्ती (= गेहूँ की लाली ; गेहुँआ रंग : देशी० ५, ५) ; तम्बसिह = ताम्रशिखा (= अरुणशिखा ; मुर्गा : पाइय० १२५) ; महा० में तम्बा = ताम्रा (= ताँबे के रंग की गाय ; यह शब्द गाय के लिए उसी प्रकार प्रयुक्त होता होगा जैसे, धौली, काली आदि नाम — अनु० ; देशी० ५, १ ; पाइय० ४५ ; हाल)। — मार्कंडेय पन्ना २७ के अनुसार कम्र का कम्ब रूप हो जाता है। इसी प्रकार की प्रक्रिया म्ल की भी है। अम्ल का रूप या तो अम्बिल होता है (§ १३७ या अम्ब) ; अ०माग० में सेहम्बदालियम्बेहिं = सेधाम्लदालिकाम्लैः (उवास० § ४०) ; अप० में अम्बणु = आम्लत्वम् है (हेच० ४, ३७६, २)।

§ २९६—(तीन) लोप होनेवाला एक वर्ण ल् है (वर० ३, ३ ; चंड० ३, ९ ; हेच० २, ७९ ; क्रम० २, ५० ; मार्क० पन्ना १९) : उल्क = उक्क : महा० में

उक्का = उल्का (गउड० ; रावण०) ; कक्क = कल्क (विवाह० १०२५) ; महा० और शौर० वक्कल = वल्कल (§ ६२) । — क्ल = क्क : अ०माग० में कीलन्ति = = क्लिद्यन्ति (उत्तर० ५७६), केस = क्लेश (उत्तर २०२ और ५७५), कीव = क्लीव (ठाणंग० १८१), विक्कव = विक्लव (भाम० ३, ३ ; हेच० २, ७९) । शुक्ल अ०माग० रूप सुक्क (सूय० ३१३ ; ठाणंग० २५ और उसके बाद), के साथ साथ सुइल्ल रूप भी ग्रहण करता है, अ०माग० में सुक्किल भी है (§ १३६) और हेमचंद्र २, ११ के अनुसार इसका एक रूप सुङ्ग भी है। यदि यह रूप शुल्क* से निकला हो तो इसका रूप सुंग होना चाहिए, जो सुंक = शुल्क से (§ ७४) से मिलता-जुलता है । — ल्ग = ग्ग : महा० में फग्गु = फल्गु , अ०माग० और शौर० में फग्गुण = फल्गुन (§ ६२) ; अ०माग० में वग्गइ और वग्गित्ता = वल्गति और वल्गित्वा (विवाह० २५३), वग्गण = वल्गन (ओव०) और वग्गु = वल्गु (सूय० २४५) । — ल्प = प्प : अ०माग०, जै०महा० और शौर० में अप्प = अल्प (सूय० ३७१ ; उवास० ; नायाध० ; निरया० ; ओव० ; कप्प० ; एत्सें० ; कालका०; मृच्छ० १५०, १८) ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में कप्प= कल्प (गउड० ; हाल ; रावण० ; उवास० ; नायाध० ; ओव० ; कप्प० ; एत्सें० ; कालका०; विक्रमो० ११, ४), महा०, अ०माग० और जै०महा० मे सिप्प† = शिल्प (हाल ; नायाध० ; उवास० ; कप्प०; एत्सें० ; ऋषभ०), अ०माग० और शौर० में सिप्पि = शिल्पिन् (उवास० ; ओव० ; मृच्छ० १५२, २५ ; १५३, ३) । जल्प और इससे निकले रूपोंमें ल् का म् मे परिवर्तन हो जाता है : महा० और जै०महा० में जम्पइ = जल्पति (वर० ८, २४ , हेच० ४, २ ; क्रम० ४, ४६ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; एत्सें० ; कालका०) ; जै०महा० में जम्पिअ (!) और जम्पन्तेण रूप मिलते हैं (कक्कुक शिलालेख ८ और १५) ; अ०माग० में जम्पन्ता आया है (सूय० ५०) , जै०महा० मे पयम्पए = प्रजल्पते (एत्सें०) है, ढक्की में जम्पिदुं और जम्पसि मिलते हैं (मृच्छ० ३४, २४ ; ३९, ९) ; शौर० में भी जम्पसि आया है (विक्रमो० ४१, ११), जंपिज्जदि (ललित० ५६८, ६), जम्पिस्सं (मालती० २४७, २) रूप पाये जाते हैं । जम्पण (= अकीर्त्ति ; वक्त्र ; मुख : देशी० ३, ५१); जै०महा० में अजम्पण (= विश्वास की बात बाहर न कहना : एत्सें० १०, ३४) ; महा० और अप० मे जम्पिर रूप देखा जाता है (हेच० २, १४५ ; हाल ; हेच० ४, ३५०, १) ; अ०माग० मे अयम्पिर का प्रयोग है (दस० ६१९, २२ ; ६३१, १३ ; ६३२, २८), अ०माग० में पजम्पावण = *प्रजल्पापन (बोलना सिखाना : ओव०) ; माग० में यम्पिदेण (ललित० ५६६, १२) चलता है ; अप० में पजम्पइ आया है (हेच० ४, ४२२, १० ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए)। ल्प के स्थान पर बहुधा प्प हो जाता है : अ०माग० में जप्पत्ति (सूय० २६) ; शौर०

* यह रूप कुमाउनी में इसी रूप में चलता है ; हिंदी प्रान्तों में शुद्द का शुक्लि, शुकुल रूप बोली में चलते हैं । —अनु०

† सिप्प पाली से आया है और कुमाउनी में वर्तमान है । — अनु०

जप्पेसि (हास्या० ३१, २१), जप्पसि (कंस० ४९, ७), जप्पेसि (हास्या० ११, १० और १२ ; २४, ३ और ७), जप्पिस्ससि (प्रसन्न० १४४, २), जप्पिदुं (हास्या० ३३, १९), जप्पन्ती (प्रबोध० ४४, १ ; बबई, पूना और मद्रास के संस्करणों में यही पाठ है),—जप्पिणि (प्रसन्न० ३७, १६ ; वृषभ० २६, ७) और जप्पिदु आदि आदि रूप मिलते हैं (प्रसन्न० १२०, १) आदि-आदि। इन स्थलों पर अवश्य ही सर्वत्र रूप पढ़ा जाना चाहिए जैसा कि रत्नावली ३२२, ४ के जै०महा० रूप जप्पिएण के स्थान पर निश्चय ही जम्पिएण होना चाहिए ; कर्पूरमंजरी ३८, ४ में इसका ठीक रूप जम्पिअ आया है और अप० में शुद्ध रूप जम्पिअउं मिलता है (पिंगल १, ५०)। — प्लु = प्प : महा० में पवंग = प्लवंग, पवंगम = प्लवंगम (रावण०), परिप्पवयन्त = परिप्लवयंत — (गउड० ; रावण०), पप्पुअ = प्रप्लुत (गउड०) ; अ०माग० में पविउं = प्लावितुम् (सूय० ५०८) ; विप्पव=विप्लाव (हेच० २, १०६)। — ल्फ=प्फ : अ०माग० में गुप्फ = गुल्फ (आयार० १, १, २, ५ ; ओव०)। — ल्व = व्व : महा० में उव्वण = उल्वण (गउड० ७१४ ; पाठ में उब्वण है) ; अ०माग० में किब्बिस = किल्बिष (उत्तर० १५६ [पाठ में किव्विस है] ; दस० ६२४, ११ और १२), किब्बि-सिय = *किल्बिषिक (ओव०), सुव्व = शुल्व (हेच० २, ७९)। — ल्भ = म्भ : अ०माग० में पगम्भइ=प्रगल्भते (आयार० १, ५, ३ ३ [पाठ में पगम्भई है] ; सूय० १३४ और १५०), पगम्भिय (सूय० ३१ ; १४६ और ६१८), पागम्भिय (सूय० ५९९), पगम्भित्ता (सूय० ३५८), विप्पगम्भिय (सूय० ५०), पगम्भि — (सूय० ३३२), पागम्भिय (सूय० २६८ और २९९) रूप प्रयुक्त हुए हैं। इसलिए पगम्भई (उत्तर० २०२) छापे की भूल है जो पगम्भइ = पगम्भई के लिए भूल से आयी है। — ल्म = म्म : कम्मस=कल्मष (हेच० २,

३, २ ; हेच० २, ७९ ; क्रम० २, ५० ; मार्क० पन्ना २९) : क्थ = क्ख : महा० में फढइ = क्रथति, शौर० फढिद और अ०माग० में सुक्कढिया रूप मिलता है (§ २२१) । महा० में कणक्कणिअ=कणकणित (कर्पूर० ५५, ७) महा० , अ०माग० और शौर० मे पिक्क और अ०माग० तथा शौर० में पक्क = पक्व (§ १०१) । — दिव्वासा = दिग्वासाः में ग्ग के स्थान पर व्व का व्व हो गया है (चामुंडा० ; देशी० ५, ३९) । — ज्व=ज्ज महा० में ज्जलइ = ज्वलति, उज्जल = उज्वल, पज्जलइ = प्रज्वलति (गउड० ; हाल ; रावण०) । महा० में जर=ज्वर (हाल)। — ण्व = ण्ण : महा० में किण्ण = किण्व (गउड०) ; शौर० कण्ण = कण्व (शकु० ०, १० ; १४, १; १५, १ आदि-आदि) ; शौर० रुमण्णदो=*रुमण्वतः (रत्ना० ३२०, १६) । व्य के विषय में § २८६ ; र्व और ह्व के विषय में § २, ८७ तथा ल्व के सम्बन्ध में § २९६ देखिए ।

§ २९८—शब्द के अन्तिम दंत्य वर्ण के साथ व आने पर यह व दत्य वर्ण से घुल मिल जाता है । त्व = त्त : पल्लवदानपत्र, महा०, अ०माग०, जै०महा० में चत्तारि, माग० चत्तालि = चत्वारि (§ ४३९) ; महा० और शौर० मे सत्त= सत्व (हाल ; शकु० १५४, ७) ; प्रत्यय त्त = त्व : जैसे पीणत्त = पीनत्व ; अ०माग० में भट्टित्त=भर्तृत्व; भट्टित्तण = भर्तृत्वन जैसे महा० पीणत्तण = पीन-त्वन ; शौर० मे णिउणत्तण=*निपुणत्वन ; अप० पत्तत्तण = *पत्रत्वन (§ ५९७) । — द्व = द्द : महा०, अ०माग० और जै०महा० दार = द्वार (चड० ३, ७ ; हेच० १, ७९ ; २, ७९ और ११२ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; सूय० १२९ ; नायाध० ; ओव० ; एर्से०) ; महा० , शौर० और अप० में सदा दिअ रूप काम मे आता है और जै०महा० में दिय=द्विज (हेच० १, ९४ ; पाइय० १०२ ; गउड० ; एर्से० ; कक्कुक शिलालेख ११ [यहाँ दिअ पाठ है]; चड० ३, १६ ; ५२, ६ ; ५६, ६ ; ९३, १३ ; पिंगल २, ४८), दिआहम = द्विजाधन (भासपक्षी : देशी० ५, २९) = द्विप भी है (हेच० २, ७९); शौर० में दिउण = द्विगुण (शकु० १४०, १३), दिउणदर = द्विगुणतर (मृच्छ० २२, १३), दिउणिद = द्विगुणित (नागा० १८, २) ; माग० मे दिउण रूप मिलता है (मृच्छ० १७७, १०) ; दिरअ = द्विरद (हेच० १, ९४) ; अ०माग० में दावर = द्वापर (सूय० ११६), दन्द = द्वन्द्व, दिगु = द्विगु (अणुओग० ३५८) ; अ०माग० और जै०महा० जम्बुद्दीव = जम्बुद्वीप (उवास० ; निरया० ; नायाध०; ओव० ; कप्प० ; कालका०) ; पल्लवदानपत्र मे भरद्दायो = भरद्वाजः (५, २), भारद्दाय और भारद्दायस रूप भी मिलते हैं (६, १६ और १९) ; महा० में सद्दल = शाद्वल (गउड०) । — ध्व = द्ध : धत्थ = ध्वस्त (हेच० २, ७९), महा० उद्धत्थ = उद्ध्वस्त (गउड० ६०८ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए)। व से आरम्भ होनेवाले किसी शब्द मे यदि उद् उपसर्ग आ जाय तो उसका द्व, व्व में परिणत हो जाता है : महा० मे उव्वत्तण = उद्वर्तन (गउड० ; हाल ; रावण०), अ०माग० में उव्वट्टण (उवास०) रूप आता है और जै०महा० में उव्वट्टिय

(एत्सें०) ; महा० में उव्वह्ण = उद्वहन (गउड० ; रावण०) ; महा०, अ०-माग०, जै०महा० और शौर० में उव्विग्ग = उद्विग्न (§ २७६) ।

§ २९९—बोली में कभी कभी त्व, त्य बन कर च्च, थ्य,थ्य बनकर च्छ, द्व, द्य बन कर ज्ज और ध्व, ध्य के माध्यम से ज्झ बन जाते हैं। त्व = च्च : महा०, अ०माग० और जै०महा० में चच्चर = चत्वर (हेच० २, १२ ; क्रम० २, ३३ ; हाल ; विवाग० १०३ और उसके बाद ; ओव० ; कप्प० ; एत्सें०), इसके साथ-साथ चत्तर भी चलता है (हेच० २, १२ ; क्रम० २, ३३ ; हाल ; मृच्छ० ६, ७ ; २८, २०, बाल० १४७, २०) । अ०माग० और जै०शौर० में तच्च = *तात्त्व (§ २८१) । अप० में पहुच्चइ = *प्रभुत्वति (§ २८६) । अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० किच्चा = कृत्वा ; सोँच्चा = श्रुत्वा ; अ०माग० में भोँच्चा = भुक्त्वा । अ०माग०चिच्चाण और चेँच्चाण = *त्यक्त्वान और हिच्चाणं = *हित्वानम् (§ ५८७) । — थ्व = च्छ : अ०माग० में पिच्छी=पृथ्वी (हेच० २, १५) । — द्व = ज्ज : अ०माग० में विज्जं=विद्वान् (हेच० २, १५ ; सूय० १२६ और ३०६) । — ध्व = ज्झ : अ०माग० और जै०महा० झय (हेच० २,२७ ; नायाध० § ४७ ; विवाद० ६१; कप्प० § ४ ; ३२ ; तीर्थ० ५,१०; एत्सें०); अ०माग० में इसिज्झय = ऋषिध्वज (उत्तर० ६३०), अरुणज्झय रूप मिलता है (उवास० § १७९ ; २७७, ५), इन्दज्झय (सम० ९७), महिन्दज्झय (ठाणंग० २४६ ; जीवा० ५५१ और उसके बाद, कप्प० पेज ९६, २६), मंगलज्झय (जीवा० ५५२), उसियज्झय = उच्छ्रितध्वज (नायाध० ४८१ ; ओव० § ४०), कणगज्झय (नायाध० १०८४), चिन्धज्झय = चिह्नध्वज (निरया० § ५), धम्मज्झय (ओव० § १६), छत्तज्झय=छत्रध्वज (पण्हा० २६६), तालज्झउव्विद्ध = तालध्वजोद्विद्ध (पण्हा० २६९), रुज्झय (सम० ९७ ; राय० ; १२८ ; ओव० § २ ; ४२ और ४९) । इनके साथ-साथ महा० में धअ रूप है (हेच० २, २७ ; हाल ; रावण०), जै०महा० में धय है (पाइय० ६९ ; एत्सें०) ; महा० और शौर० मे मअरद्धअ आया है (हाल ; कर्पूर० ६६, ११ ; ७६, ९ ; ८३, १ ; ११०, ५ ; शकु० १२०, ५ ; बाल० २८९, १३ ; विद्ध० १०५, ८) ; इसका पै० रूप *मकरद्धज* है (हेच० ४, ३२३), *किन्तु अ०माग० में* मयरज्झय *मिलता है* (पण्हा० २८६) ; जै०महा० में गरुलद्धय पाया जाता (द्वार० ५०७, ३७), किन्तु अ०माग० में गरुलज्झय रूप है (पण्हा० २३५) ; अ०माग० में तालद्धय रूप भी मिलता है (सम० २३६) । — अप० में झुणि (हेच० १,५२ ; ४, ४३२), इसके साथ साथ शौर० में धुणि (प्रसन्न० १४, १० ; कस० ९, १५ ; वृषभ० ४८, ९)=ध्वनि जो ध्वुनि रूप से निकला है, इसमें § १७४ के अनुसार उ का आगमन हुआ है । — अ०माग० में बुज्झा = बुद्ध्वा (हेच० २, १५), अबुज्झ रूप भी आया है (सूय० ५०४) । — महा०, जै०महा० और शौर० में सज्झस = साध्वस (हेच० २,२६ ; क्रम० २७५ ; मार्क० पन्ना २३; गउड० ; एत्सें०; जीवा० २८८,४ ; मालती० २७६, ६ ; पार्वती० १२, ४ और २३), इसके साथ-साथ सद्धस भी

मिलता है (मार्क०)। नागानन्द २७, १४ में अद्दिसद्धसेण रूप आया है जो कलकतिया संस्करण १८७३, पेज ३७,१ में अदिसज्झसेण है। —माउक्क = मृदुत्व नहीं है (हेच० २, २ ; मार्क० पन्ना २६) परन्तु मार्दुक्य है जिसका सम्बन्ध मृदुक से है (§ ५२ की तुलना कीजिए), जैसे जै०महा० में गरुक्क है (कक्कुक शिलालेख १३) = *गुरुक्य जो गुरुक से सम्बधित है (§ १२३)।

§ ३००—त के बाद व आने से यह व, प का रूप धारण कर लेता है। द् के बाद व आने से व में परिणत हो जाता है। इस ढंग से बोली में त्व का प्प रूप हो जाता है और द्व का व्व*। त्व=प्प : महा० में पहुप्पइ = प्रभुत्वति (§ २८६); अप० पइँ = त्वाम्, त्वया और त्वयि (§ ४२१); अप० में — प्पण = त्वन जैसे, वड्डप्पण और इसके साथ साथ वड्डत्तण=*भद्रत्वन, मणुसप्पण=*मनुषत्वन (§ ५९७); अप० में -प्पि = -त्वी (=करके) जैसे, जिणेँप्पि और जेँप्पि=*जित्वी; गम्प्पि=*गन्त्वी = वैदिक गत्वी, गमेँप्पि = *गमित्वी और -प्पिणु = -त्वीनम्, जैसे, गमेँप्पिणु और गम्पिणु = *गमित्वीनम्; करेप्पिणु = *करित्वीनम् (§ ५८८)। यह गौण प, व भी हो जाता है जैसे, करेवि जिसके साथ साथ करेँप्पि भी चलता है, लेविणु है और लेँप्पिणु भी है, रपेवि और रमेँप्पि है। त्म से निकले प्प के विषय में § २७७ देखिए। द्व = व्व : पल्लवदानपत्र, महा० और अ०माग० में वे*, अप० में वि = द्वे, वेँण्णि और विण्णि = *द्वे नि (§ ४३६ और ४३७), महा० में विउण = द्विगुण (हेच० १,९४ ; २, ७९ ; गउड० ; हाल ; रावण०)', किंतु शौर० और माग० में दिउण रूप मिलता है (§ २९८)। अ०माग० और जै० महा० में बारस, अप० में *बारह = द्वादश (§ ४४३), जैसा कि अ०माग०, जै० महा० और शौर० में प्रधानतया बा = द्वा* होता है (§ ४४५ और उसके बाद); महा० में विइअ, वीअ और विइज्ज रूप, अ०माग० और जै०महा० में बिइय और बीय, अप० में बीय = द्वितीय (§ ८२ ; ९१,१६५ , ४४९)। महा० में बार = द्वार (चंड ३, ७ , हेच० १, ७९ , २, ७९ ; ११२ ; हाल ; हेच० ४, ४३६), अ०माग० और जै०महा० में बारवई = द्वारवती (नायाध० ५२४ ; १२९६ और उसके बाद ; निरया० ७९ , द्वार० ४९५, १ और उसके बाद); विसंतवा = द्विशंतप (हेच० १, १७७)। महा० में वेस = द्वेष (गउड०), महा० और अ०माग० में द्वेँप्य (हेच० २,९२ , गउड०, हाल , पण्हा० ३९७ ; उत्तर० ३३)। छंद की मात्रा ठीक करने के लिए अ०माग० में वइस्स भी आया है (उत्तर० ९६१)। — ध्व = ब्भ : जै०महा० में उब्भ = ऊर्ध्व (हेच० २, ५९ ; एर्से०); जै०महा० में उब्भय = ऊर्ध्वक (पाइय० २३४), महा० में उब्भिअ और जै० महा० में उब्भिय = *ऊर्ध्वित (रावण०, एर्से०), उब्भेह = *उर्ध्वयत (एर्से० ४०, १५)। इसके साथ साथ महा०, जै०महा०, शौर०, माग० और अप० में उद्ध रूप भी काम में आता है (§ ८३)। अ०माग० और जै०महा० में उड्ढ का भी प्रच

* वेन्दो के लिए गुजराती में चलता है। द्वा का बा और तब द्वादश का बारस के माध्यम से बारह बनकर अप० में अब तक हिंदी में वर्तमान है। —अनु०

ल्न है (आयार० १,१,१,१ ; ५, २ और ३ ; १,२,५,४ ; ६,५ ; १,४,२,३ और ४ आदि आदि ; सूय० २१५ ; २७३ ; २८८ ; ३०४ ; ५१० ; ९१४ ; ९३१ ; विवाह० ११ ; १०१ ; १०५ और उसके बाद ; २६० आदि आदि ; एर्से०)। — न्व = ण्ण : महा० और जै०महा० में **अण्णेसण = अन्वेषण** (गउड०; एर्से०), शौर० में **अण्णेसणा = अन्वेषणा** (विक्रमो० ३२,३), **अण्णेसीअदि = अन्विष्यते**, **अण्णेसिदव्व = अन्वेषितव्य** (मृच्छ० ४,४ और २१)। शौर० में **धण्णन्तरि = धन्वन्तरि** (बाल० ७६, १)। माग० में **मण्णन्तल = मन्वन्तर** (प्रबोध० ५०, १३ ; बम्बई, पूना और मद्रास के संस्करणों के अनुसार यही रूप ठीक है)। शौर० में **एवं णेदं = एवं न्व् एतत्** ; शौर० और माग० में **किं णेदं = किं न्व् एतत्** (§ १७४)।

१. आस्कोली फोरलेजुंगन, पेज ५९ ; क्रिटिशे स्टुडिएन, पेज १९७ और उसके बाद ; पिशल गो. गे. आ. १८८१, पेज १३१७ और उसके बाद। — २. भारतीय संस्करण और हाल में वेबर भी व के स्थान पर अधिकांश व लिखते हैं।

§ ३०१—यदि संयुक्त व्यंजनों में पहला **श**, **ष** और **स** हो और उसके बाद आनेवाला वर्ण **च** या **छ** हो तो नियम यह है कि **श**, **ष** और **स**, **च** या **छ** के साथ घुल-मिल जाते हैं और तब उनमें **ह** कार आ जाता है। यदि **श**, **ष** और **स** एक समास के एक पद के अंत में आयें तो उनमें **ह** कार नहीं आता, दूसरे पद के आदि के **च** में **ह** कार नहीं आता, विशेष करके जब पहला पद उपसर्ग हो[1]। **श्च=च्छ** (वर० ३, ४० ; हेच० २, २१ ; क्रम० २, ९२ ; मार्क० पन्ना २५) : महा० और शौर० में **अच्छरिअ**, जै०महा० में **अच्छरिय**, शौर० में **अच्छरीअ**, महा० और अ०माग० **अच्छेर** और **अच्छरिज्ज** ; अ०माग० और जै०महा० **अच्छेरय** तथा अ०माग० में **अच्छेरग = आश्चर्य** और **आश्चर्यक** (§ १३८ और १७६)। महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० **पच्छा=पश्चात्** (गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्से० ; विवाह० १०१ ; उवास० ; नायाध० ; कप्प० ; मृच्छ० १५०, १८ ; शकु० १०५, १४ ; कर्पूर० ३३,८) ; अप० में **पच्छि = *पश्चे** (हेच० ४,३८८) ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और आव० में **पच्छिम=पश्चिम** (सब व्याकरणकार ; गउड० ; रावण०; विवाह० ६३ ; उवास० , ओव० ; कप्प० ; एर्से० ; मृच्छ० ९९, १८)। शौर० में **पच्छादाव = पश्चात्ताप** (विक्रमो० ३३,११; ३८,१७)। अ०माग० में **पायच्छित्त** तथा अ०माग० और अप० में **पच्छित्त = प्रायश्चित्त** (§ १६५) है। अ०माग० और जै०महा० में **निच्छय**, अप० में **णिच्छअ = निश्चय** (उवास० ; ओव० ; एर्से० ; कालका० ; हेच० ४, ४२२, १०) है, किन्तु महा० में **णिच्चअ** रूप है (रावण०) ; अ०माग० और जै०महा० में, **निच्छिय = निश्चित** (दस० ६४२, ७ ; निरया० ; एर्से०) तथा शौर० में **णिच्छिद** रूप आया है (बाल० ८७, १), किन्तु शौर० में भी **णिच्चिद** रूप मिलता है (मुद्रा० २०८, १० [कलकतिया संस्करण संवत् १९२६]; महावीर० ५५, १ [बंबइया संस्करण])। महा०, शौर० और अप० में **णिच्चल =**

निश्चल (हेच० २, २१ और ७७ ; मार्क० पन्ना २५ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; मृच्छ० ५९, २४ ; मुद्रा० ४४, ६ ; हेच० ४, ४३६) है, अ०माग० और जै०महा० में निच्चल आया है (उवास० ; कप्प० ; एर्त्से०) । महा० और अ०माग० में णिच्चेट्ठ = निश्चेष्ट (रावण०; निरया०) । महा० में दुच्चरिअ, जै०महा० में दुच्चरिय और शौर० में दुच्चरिद = दुश्चरित है (हाल ; एर्त्से०; महावीर० ११८, ११) ; अ०माग० दुच्चर = दुश्चर (आयार० १, ८, ३, २) है, दुच्चण रूप भी है (आयार० १, ८, ३, ६) । जै०महा० और शौर० में तवच्चरण = तपश्चरण (द्वार० ४९६, १९ ; ५०२, ३६ ; ५०५, १५ और ३८ ; मृच्छ० ६८, ८ और ९ ; ७२, ६ ; पार्वती० २४, ३ ; २५, १९ ; २६, १३ ; २७, २ और १०) है । — णहअर = नमश्चर क्रम० २, ११० नहीं है परन्तु *नभचर है (§ ३४७) । — महा०, जै०महा० और शौर० में हरिअन्द (गउड० ; कक्कुक शिलालेख ; कर्पूर० ५८, ४) है, जै०महा० का हरियन्द रूप (द्वार० ५०३, १६ ; हेच० २, ८७ ; क्रम० २, ११० [पाठ में हरिअण्णो तथा लास्सन ने हरिअंडो रूप दिया है]) है, और जिसका माग० रूप हलिचन्द (चड० ४३, ५) होता है = हरिश्चन्द्र नहीं है किन्तु = हरिचन्द्र, जैसा कि महा० हारिअन्द (गउड०) = हारिचन्द्र है । — चुअइ= *श्चुतति (हेच० २, ७७; § २१० का नोट संख्या २ की तुलना कीजिए) अथवा = *च्युतति हो सकता है । — महा० में विंछुअ, विंछिअ और इनके साथ साथ विच्छुअ तथा अ०माग० विच्छुअ और विच्छिय रूप = वृश्चिक(§ ५० और ११८) है, इसमें महा० रूप पिंछ = पिच्छ, गुंछ = गुच्छ और पुंछ = पुच्छ की भाँति ही अनुनासिक स्वर का आगमन होता है (§ ७४) । विंचुअ रूप समास और संधि के लिए लागू होनेवाले नियम के अनुसार § ५० में वर्णित किया गया है । — पुराना च्छ, *श्च में बदल जाता था । इस नियम के अनुसार (§ २३३) माग० में श्च बना रह जाता है । इसमें परिवर्तन नहीं होता : अश्चलिअ = आश्चर्य (§ १३८) ; णिश्चअ= निश्चय (मृच्छ० ४०, ४ ; पाठ में णिच्चअ है) है ; णिश्चल रूप भी मिलता है (मृच्छ० १३५, २) ; पश्चादो=पश्चात् (वेणी० ३५, १० ; जिसे हेच० ने ४, २९९ से *उद्धृत किया है ; कलकत्ते के संस्करण में पच्चादो रूप है*)[२] ; *पश्चा भी* दिखाई देता है (मुद्रा० १७४, ८ [पाठ में पच्छा है ; इस नाटक में यह शब्द देखिए] ; चड० ४२, १२ [यहाँ भी पाठ में पच्छा रूप है]) ; पश्चिम (=पीछे । —अनु०) रूप भी पाया जाता है (मृच्छ० १६९, २२ ; [पाठ में पच्छिम है]; इस नाटक में पच्चिम और पश्चिम रूप भी देखिए) ; शिलश्चालण=शिरश्चालन (मृच्छ० १२६, ७) । — श्छ का च्छ हो जाता है : महा० में णिच्छलिअ = निश्छलित (गउड०) ; अ०माग० में णिच्छोडेज्ज = निश्छोटेयम् (उवास० § २००) ; जै०महा० में निच्छोलिऊण = निश्छोल्य (एर्त्से० ५९, १३) है ।

१. लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज २६१ और २६४ ।
— २. हेच० ४, २९९ की पिशल की टीका ।

§ ३०२—नियम के अनुसार ष्क और ष्ख, क्ख बन जाते हैं (वर० ३, २९ ;

हेच० २, ४ ; क्रम० २, ८८ ; मार्क० पन्ना २४) : णिक्ख=निष्क (हेच० २, ४)। मार्कण्डेय पन्ना २४ के अनुसार णिक्क रूप भी होता है। शौर० में पोॅक्खर और अ०माग० तथा जै०महा० पुक्खर = पुष्कर ; अ०माग० और शौर० में पोॅक्खरिणी और अ०माग० रूप पुक्खरिणी छोटे पोखर के लिए आये हैं (§ १२५)। मुक्ख=मुष्क (भाम० ३, २९) । महा० और अ०माग० में विक्खम्भ = विष्कम्भ (क्रम० २, ८८ ; रावण० ; ओव०) । बहुत से अवसरों पर ष्क का क्ख शब्द में नहीं आता, किन्तु कभी कभी समास या सन्धि में नियम के विपरीत भी दिखाई देता है : महा० और शौर० किक्किन्ध = किष्किन्ध (रावण० ; अनर्घ० २६२, ५) । महा०, अ०माग० और जै०महा० में चउक्क=चतुष्क (=चकुक्क=चत्वरम् [नगर का चौक । —अनु०]; देशी० ३, २ ; गउड०; आयार०; २, ११, १० ; अणुओग० २८८ ; पण्णव० ७०२ ; नायाध० § ६५ ; पेज १२९४; ओव० ; निरया० ; कप्प०; एत्सें०; कालका०) है । शौर० में चदुक्किका=चतुष्किका (=चौकी; चौका; पीढा। —अनु०; बाल० १३१, १६; विद्ध० ५२, ४; [पाठों में चउक्किआ है]) । अ०माग० और जै०महा० में तुरुक्क = तुरुष्क (पण्हा० २५८ ; सम० २१० ; पण्णव० ९६ ; ९९ और ११० ; विवाह० ९४१ ; राय० २८ ; ३६ ; ६० ; १९० ; उवास० ; ओव० ; नायाध० ; कप्प० ; आव०एत्सें० ४०, १७ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) । शौर० में धाणुक्क = धानुष्क (मार्क० पन्ना २४ ; बाल० ८६, १५ ; २०२, १६), धाणुक्कदा (बाल० २६१, १) आया है । सक्कइ = ष्वष्कति (मार्क० पन्ना ५५ ; हाल ६०८ पर वेबर की टीका) है । ओसक्क=अपष्वष्क (= अपसृत ; चला गया : देशी० १, १४९ ; पाइय० १७८) है ; अ०माग० में ओसक्कइ रूप मिलता है (पण्णव० ५४१) ; महा० में ओसक्कन्त पाया जाता है (रावण०) ; अ०माग० में अवसक्केज्जा रूप है (आयार० १, २, ५, ३) ; अ०माग० रूप पच्चोसक्कइ=प्रत्यपष्वष्कति (नायाध० १४६३ ; विवाह० १०३५ ; १२१७ ; १२४८) ; महा० में परिसक्कइ आया है (हाल ; रावण० ; [पाठ में भूल से पडिसक्कइ है]) ; महा० में परिसक्कण रूप भी है (गउड० ; रावण०) । अ०माग० में सक्कुलि और इसके साथ साथ संकुलि=शाष्कुलि (§ ७४) है । अ०माग० और जै०महा० में सुक्क=शुष्क (हेच० २, ५; अणुत्तर० ११, १३ ; नायाध० ९८४ ; विवाह० २७० ; उत्तर० ७५८ और उसके बाद ; उवास० ; कप्प० ; एत्सें०) है, सुक्कन्ति (देशी० ८, १८ के नीचे दिया गया उदाहरण का २३ वाँ श्लोक) पाया जाता है, अप० में सुक्कहिॅ रूप आया है (हेच० ४, ४२७) = *शुष्कन्ति ; महा० और अ०माग० में परिसुक्क = परिशुष्क (गउड० ; उत्तर० ५३) है, इसके साथ-साथ महा०, अ०माग० और शौर० में सुक्ख रूप भी मिलता है (हेच० २, ५ ; हाल; रावण० ; दस० नि० ६६०, १६ ; मृच्छ० २, १५ ; ४४, ४); शौर० में सुक्खाण रूप देखा जाता है (मृच्छ० १८, ४) ; महा० में सुक्खन्त-है (हाल), ओसुक्ख और ओसुक्खन्त-रूप भी आये हैं (रावण०) । सन्धि और समास के उदाहरण ये हैं : महा० में णिक्कइअव=निष्कैतव (हाल) ; महा० और शौर० में णिक्कम्प =

निष्कम्प (गउड० ; रावण० ; शकु० १२६, १४ ; महावीर० ३२, २१) ; महा० और जै०महा० में णिक्कारण = निष्कारण (गउड० ; रावण० ; द्वार०) ; अ०माग० में णिक्खण=निष्क्रण (विवाग० १०२) है । निक्कंकड=निष्कंकट (पण्णव० ११८ ; ओव०); महा० और शौर० में णिक्किव=निष्कृप (पाइय० ७२ ; हाल ; शकु० ५५, १६ ; चंड० ८७, २) है । महा०, अ०माग०, शौर० और अप० में दुक्कर = दुष्कर (हेच० २, ४ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; विवाह० ८१७ ; उवास० ; मृच्छ० ७७, १४ ; हेच० ४, ४१४, ४ और ४४१) है ; अ०माग० में निक्खमइ (§ ४८१) आया है, निक्खम्म = निष्क्रम्य (आयार० १, ६, ४, १; कप्प०), निक्खमिस्सन्ति, निक्खमिंसु और निक्खमिन्ताए रूप भी मिलते हैं (कप्प०) ; अ०माग० और जै०महा० मे निक्खन्त रूप पाया जाता है (आयार० १, १, ३, २ ; एत्सें०) ; अ०माग० में पडिनिक्खमइ है (§ ४८१); अ०माग० और जै०महा० में निक्खण देखा जाता है (कप्प० ; एत्सें०) ; महा० में णिक्कमइ भी मिलता है (हाल), विणिक्कमइ भी (गउड०) और इसके साथ साथ विणिक्खमइ भी चलता है (गउड०) । इस रूप के सम्बन्ध मे हस्तलिपियाँ कभी एक और कभी दूसरा रूप लिखती है । शौर० मे केवल णिक्कमदि रूप है (§ ४८१), णिक्कमिदुं भी मिलता है (मुद्रा० ४३, ६), णिक्कमन्त भी काम मे आया है (मुद्रा० १८६, २), णिक्कन्त (मृच्छ० ५१, ५ , ८ और १२), णिक्कामइस्सामि (मृच्छ० ३६, २३) रूप भी मिलते हैं ; दाक्षि० मे णिक्कमन्तस्स पाया जाता है (मृच्छ० १०५, २४) ।
—माग० मे ष्क का स्क हो जाता है और ष्ख, स्ख बन जाता है (हेच० ४,२८९) : शुस्क=शुष्क ; धणुस्खण्ड=धनुष्खण्ड । रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ की टीका में बताया गया है कि ष्क और ष्ख के स्थान मे माग० में श्क और श्ख वर्ण आ जाते हैं और इस नियम के अनुसार ललितविग्रहराजनाटक में तुलुश्क = तुरुष्क (५६५ १४ और १७), शुश्के = शुष्क· (५६६, १२)है। हस्तलिपियोंमें ष्ख और क्ख पाठ मिलता है । इस प्रकार मृच्छकटिक २१, १७ मे शुक्खे है, किंतु हस्तलिपि ए. (A) मे शुस्खे हैं ; १३२, २४ ओर १३३, १७ मे शुक्ख रूप आया है ; १६१, ७ में शुक्खा है ; इस नाटक मे शुष्का और शुष्कः शब्द देखिए ; १३३, १५ और १६ में शुक्खावइश्शं आया है , ११२, ११ में पोॅक्खलिणीए और ११३, २२ मे पुक्खलिणीए मिलता है , १३४, १ ; १६५, २२ और १६६, २२ में णिक्कमदि और णिक्कम साथ ही १३३, २१ मे णिष्कम और णिक्खम रूप मिलते हैं; १७३, ९ मे णिक्किदे हैं और १३४, १३ मे णिक्किदं = निष्क्रीतः है और निष्क्रीतम् ; ४३, ४ और १७५, १५ में दुक्कल = दुष्कर है और १२५, १ और ४ में दुक्किद = दुष्कृत और साथ ही दुक्खिद, दुष्खिद और दुःकिद आदि रूप भी आये हैं। शुस्क, पोॅस्कलिणी, णिस्कीद, दुस्कल, दुस्किद आदि-आदि रूप भी पढने को मिलते हैं ।

§ ३०३—ष्ट और ष्ठ, ट्ठ बन जाते हैं (वर० ३, १० और ५१ ; चंड० ३, ८ और ११; हेच० २, ३४ और ९० ; क्रम० २, ८६ और ४९ ; मार्क० पन्ना २१

और १९) : पल्लवदानपत्र में अग्गिट्ठोम = अग्गिष्टोम (५, १ ; लौयमान, एपिग्राफिका इंडिका २, ४८४ की तुलना कीजिए), अट्ठारस = अष्टादश (६, ३४), वेॅट्ठि = विष्टि (६, ३२), महा० में इट्ठ = इष्ट (हाल), दट्ठि = दृष्टि (गउड० ; हाल ; रावण०) और मुट्ठि = मुष्टि (गउड० ; हाल ; रावण०) रूप आये हैं। — पल्लवदानपत्र में कट्ठ = काष्ठ (६, ३३) ; महा० मे गोॅट्ठी = गोष्ठी (गउड०) ; णिट्ठुर = निष्ठुर (गउड० ; हाल ; रावण०) तथा सुट्ठु = सुष्ठु (गउड० ; हाल ; रावण०) है। माग० को छोड अन्य प्राकृत भाषाओं में भी यही नियम चलता है। माग० मे ष्ट और ष्ठ का स्ट हो जाता है (हेच० ४, २९९ और २९०) : कस्ट = कष्ट ; कोस्टागाल = कोष्ठागार ; शुस्टु = शुष्ठु रूप मिलते हैं। रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ की टीका में नमिसाधु बताता है कि व्यंजन समूह में ष के स्थान पर श हो जाता है (§ ३०२ की तुलना कीजिए) : इस ग्रन्थ में कोश्टागाल रूप है (हस्तलिखित प्रतियों में फोस्ठागाल, कोष्ठागाल तथा छपे संस्करण में कास्यगाल रूप मिलता है)। नाटकों की हस्तलिपियाँ अनिश्चित हैं और रूप बदलती रहती हैं। पाठ में बहुधा ट्ठ मिलता है जो अशुद्ध है। स्टेन्सलर अपने संपादित मृच्छकटिक में अधिकांश स्थलों पर श्ट देता है। इस प्रकार इस मृच्छकटिक में कश्ट = कष्ट (२९, १८ ; १२७, १३) ; हस्तलिपियों में कष्ट, कट्ठ, कट्ट, दश्टूण, पन्भशूटे और दुश्ट = दुष्ट रूप मिलते हैं (१९, ५ ; २०, १७ ; २१, ८ ; ४०, ९ ; ७९, १७ ; १८ ; ११२, १४ और २१ ; ११३, १९ ; १३३, ७ ; १५१, २५) ; हस्तलिपियों में अधिकांश में दुट्ठ रूप आया है; वैसे दुष्ट, दुष्ठ, दुस्थ, दुट्ट, दुद्द, दुश्ट और दुछ रूप लिखे गये हैं, पणश्टा = प्रनष्टा (१४, ११)। हस्तलिपियों में पणट्ठा, पणश्टा, पणष्टा और पणष्ठा रूप लिखे मिलते हैं। पलामिश्टा = परामृष्टा (१६, २३) ; हस्तलिपियों में पलामिश्चा, पलामिश्था, पलामिट्ठा, पलामिष्ठा, पलामिश्टा, पलामिष्टा और पलामिट्टा लिखा मिलता है। उवविश्टे, उपविश्टा और उप्पविश्टम् = उपविष्टः और उपविष्टम् (१४, १० ; २१, १२ ; २१ ; २३)। हस्तलिपियों में उपविश्चे, उपविट्ठे; उपविश्टे, उपविष्टम्, उपविष्ट, उपविट्ठ, उपविश्टम्, उपविट्ठा, उपविश्टा, उपविष्ठा आदि रूप लिखे गये हैं। लश्टिअ = राष्ट्रिक (१२१, १२ ; १२५, २१ ; १३०, १३ ; १३८, १४), हस्तलिपियों में लट्ठिअ, लट्ठिश, लष्टिअ और लष्टिअ रूप पाये जाते हैं। शवेट्ठणम् (११, २२) किन्तु शवेश्टणेण भी लिखा मिलता है (१२७, १२) = सवेष्टनम्, सवेष्टनेन। हस्तलिपियाँ इस रूप के विषय में वेद की ओर निर्देश करती हैं (स्टेन्सलर पेज २४२ और ३०१ ; गौडबोले पेज ३२ और ३५ तथा § ३०४ देखिए) और गौडबोले ३२, ९ में हस्तलिपियों में शवेढणं आदि-आदि रूप पढ़ता है। प्रबोधचन्द्रोदय में : मिट्ठं = मिष्टम् (४६, १७), पणट्ठस्स = प्रनष्टस्य (५०, १८) ; उवदिट्ठे = उपदिष्टः (५१, ७) ; दुट्ठ = दुष्ट (५१, १०) ; दिट्ठान्दे (१ ; ५१, १० ; बम्बइया संस्करण दिट्टंदो, मद्रासी में दिट्टन्दे और पूना-संस्करण में दिटन्दे रूप छपा है) है ; बंबइया और मद्रासी

संस्करणों में इसी प्रकार के रूप आये हैं, पूना में छपे संस्करण में सदा—ट्ठ वाले रूप आये हैं। त्रावईश ये रूप नहीं देता। वेणीसंहार में **पणट्ठ = प्रनष्ट** (३५, २ और ७) है। यह बिना किसी दूसरे रूप के सदा चलता है; मुद्राराक्षस में : **पवेट्ठुं = प्रवेष्टुम्** (१८५, ६), किन्तु यह छपा है **पवेट्ठुं**, उत्तम हस्तलिपियों में और कलकतिया संस्करण १५६, ८ **पविसिदुं**, इस स्थान पर **पविसिदुं** है (कहीं कहीं **पविशिदुं** रूप भी है) आदि आदि। — पृ: मृच्छकटिक में : **कोश्टके = कोष्ठक** (११३, १५), हस्तलिपियों में **कोघटके** (?), **कोष्टके, कोट्ठके, कोशके** और **कोष्ठके** रूप मिलते हैं, दूसरी ओर वेणीसंहार ३३, ६ में **गोट्ठागाले** रूप आया है, कलकतिया संस्करण पेज ६९, १ में **कोट्ठागाले** है तथा हस्तलिपियों में अधिकांश में **कोट्ठागाले** मिलता है। इनमें हेमचंद्र के संभवत इन्हीं हस्तलिपियों से लिये गये रूप **कोस्टागालं** (हेच० ४, २९०) का कहीं पता नहीं चलता और न कहीं नमिसाधु द्वारा उद्धृत **कोश्टागालं** का। **पिट्ठि** और **पुट्टि = पृष्ठ** ([इसकी फारसी आर्य शब्द **पुश्त = पीठ** से तुलना कीजिए। —अनु०], ७९, ९ ; १६५, ९), हस्तलिपियों में **पिष्ठि** और **पुष्टि** रूप मिलते हैं तथा वेणीसंहार ३५, ५ और १० में यही रूप है : **पिट्ठदो 'गुपिट्ठं = पृष्ठतो' 'तुपृष्टम्** यहाँ **पिस्टदो अणुपिस्टं** रूप पढ़ा जाना चाहिए। **शुश्टु = सुष्ठु** (३६, ११ ; ११२, ९ ; ११५, १६, १६४, २५) है, हस्तलिपियाँ हेमचंद्र द्वारा उद्धृत **शुस्टु** रूप के विपरीत **सुट्ठु** और **शुष्टु** रूप देते हैं, **शोट्ठकं** (२१, २०) के स्थान पर **शोस्टुकं = *सुष्ठुकम्** पढ़ा जाना चाहिए, हस्तलिपियों में **शोणुकं, शोणुकं, शोट्ठिकम्, शोट्ठक** और **शोस्तकं** रूप लिखे गये हैं, कलकतिया संस्करण में **शोट्ठिकं** रूप छपा है जिसे **= स्वस्तिकम्** बनाकर स्पष्ट किया गया है। **शेट्टि = श्रेष्ठि-**(३८, १) है, हस्तलिपियों में **शेट्ठ-**रूप मिलता है, जैसा कि मुद्राराक्षस २७५, ५ में। कलकतिया संस्करण २१२, १० में **शेट्ठि** [इस रूप से द्रविड भाषाओं में **सेठ** के स्थान पर **चेट्टि** और फिर इससे **चेट्टियर** बना है। —अनु०], छपा है, आदि आदि। **चिष्ठदि = तिष्ठति** में वररुचि० ११, १४, हेमचंद्र ४, २९८ के अनुसार **ष्ठ** बना रहता है। स्टेन्त्सलर अपने द्वारा संपादित मृच्छकटिक में सर्वत्र **चिष्ठदि** रूप देता है (उदाहरणार्थ, ९, २२ और २४, १०, २ और १२, ७९, १६ ; ९६, ३, ९७, २ आदि आदि), किंतु हस्तलिपियों में अधिकांश म **चिष्ठ, चिष्ट** और बहुत ही कम स्थलों में **चिट्ट** रूप भी लिखा देखने में आता है। प्रबोधचंद्रोदय ३२, ११ और मुद्राराक्षस १८५, ८ तथा २६७, २ में **चिट्ठ-, चिट्ट-** और **चिट्ठ** उक्त नाटकों के नाना संस्करणों में आये है। क्रमदीश्वर ५, ९५ में छपे संस्करण में **चिष्ट** छपा है और लास्सन के इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ३९३ में **चिट्ठ** है। क्रमदीश्वर के अनुसार पै० में भी यही रूप है। वाग्भटालंकार २, २ की सिंहदेवगणिन् की टीका में **चिट्ठ** छापा गया है। हेमचंद्र ४, ३१३ के अनुसार **'ष्ठान = करके** के स्थान पर पै०

* कुमाउनी में पीठ को **पुठि** कहते हैं। इससे यह पता चलता है कि बोलचाल में व्याकरण की चिंता कम की जाती थी और गुजराती में इसका **शेठ** और हिंदी में **सेठ** है। — अनु०

(वर० ८, ४० ; हेच० ४, २२१ ; क्रम० ४, ६७)। इस प्रकार महा० में वेढिअ और आवेढिअ रूप मिलते हैं (हाल), अ०माग० में वेढेमि (उवास० § १०८), वेढेइ (नायाध० ६३१ ; उवास० ११० ; निरया० § ११ ; विवाह० ४४७), वेढेन्ति (पण्हा० ११२) ; उव्वेढेज्ज वा निव्वेढेज्ज वा (आयार० २,३,२,२), वेढित्ता (राय० २६६), वेढावेइ (विवाग० १७०) और आवेढिय तथा परिवेढित रूप पाये जाते हैं (ठाणंग० ५६८ ; नायाध० १२६५ ; पण्णव० ४३६ ; विवाह० ७०६ और उसके बाद; १३२३); जै०महा० में वेढेत्ता, वेढियव, वेढिउं, वेढेउं (कालका०), परिवेढिय (ऋषभ० २०), वेढियय (पाइय० १९९), वेढाविय और परिवेढाविय (तीर्थ० ७, १५ और १७) रूप देखने में आते हैं ; शौर० में वेढिद (मृच्छ० ४४, ४ ; ७९, २० [यहां यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; इस नाटक में यह शब्द देखिए]) ; महा०, अ०माग० और शौर० में वेढ = वेष्ट (गउड० ; हाल ; रावण० ; अणुओग० ५५७ ; जीवा० ८६२ ; नायाध० १३२३ ; १३७० ; राय० २६६ ; बाल० १६८, ६ ; २६७, १) ; महा० में वेढण = वेष्टन (हाल ; रावण०) है ; माग० में आवेढण रूप देखने में आता है (मृच्छ० ११, २२ ; १२७, १२ ; [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; § ३०३ भी देखिए)*। अ०माग० में वेढिय (आयार० २, १२, १ ; २, १५, २० ; अणुओग० २९ ; पण्हा० ४९० और ५१९ ; ठाणग० ३३९ ; नायाध० २६९ ; विवाह० ८२३ ; जीवा० ३४८ ; ६०५ ; राय० १८६ ; नंदी० ५०७ ; दस० नि० ६५१, १० ; ओव०) ; महा० और अ०माग० में आवेढ (रावण० ; पण्हा० १८५) आया है और महा० में आवेढण भी मिलता है (गउड०)। इसी प्रकार बने हुए नीचे लिखे शब्द भी हैं : अ०माग० में *कोट्ठ और *कुट्ठ से कोढ = कुष्ठ निकला है, कोढि [कुमाउनी में इससे निकले कोढि- और कोड़ि रूप चलते हैं], कोट्ठि-, कुट्ठि- और कोढिय के साथ साथ चलता है और इन रूपों से ही निकला है = *कुष्ठिक (§ ६६)। अ०माग० में सेढि, *सेट्ठि और *सिट्ठि से निकलकर = श्लिष्टि, इस शब्द के अन्य रूप सेढीय, अणुसेढि, पसेढि और विसेढि हैं (§ ६६)। अ०माग० और जै०शौर० में लोढ = लोष्ट (दस० ६२०, १४ ; पव० ३८९, १०), इसके साथ साथ शौर० में लोट्ठक रूप है (मृच्छ० ७९, २१), माग० में लोस्टगुडिआ रूप मिलता है (मृच्छ० ८०,५)। नियमानुसार बने अ०माग० रूप लेट्टु = लेष्टु (पण्हा० ५०२ ; ओव० ; कप्प०), जै०महा० में लेट्टुय = लेष्टुक (एर्त्से०), शौर० में लेट्टुआ=लेष्टुका (मृच्छ० ७८, १२) । इन रूपों के साथ लेडुक भी मिलता है (देशी० ७, २४ ; पाइय० १५३) जिसमें § १९४ के अनुसार क का द्वित्व हो गया है। इसके अतिरिक्त ह कार का लोप हो जाने पर लेडु रूप भी देखने में आता है (पाइय० १५३), लेडुअ रूप आया है (देशी० ७, २४ ; पाइय० १५३), लेडुक्क भी मिलता है (देशी० ७,२९ [यहा पाठ में लेडुक्को लम्पडलुट्टएसु लोढो अ, मेरे विचार में लेडुक्क का एक अर्थ लोढा हो सकता है, अन्यथा लम्पड = लम्पट और लुट्टअ में लुट्टअ को लोष्टक या लेष्टुक पा

* वेढिय रूप वेढिय और वेढुअ रूप में कुमाउनी बोली में प्रचलित है। —अनु०

में दत्य वर्ण आ जाते हैं : णत्थून और इसके साथ साथ णट्ठूण = *नष्ट्वान ; तत्थून और इसके साथ साथ तट्ठूण = * दृष्ट्वान । पै० कसट = कष्ट के विषय में § १३२ देखिए । महा० मे वुत्थ अपनी सधि के साथ, उव्वुत्थ, पउत्थ, पडिउत्थ, परिवुत्थ और जै०महा० पवुत्थ (§ ५६४) = * उष्ट (ब्यूलर द्वारा सपादित पाइय० में वुत्थो शब्द देखिए) अथवा * उट्ठ या *वुट्ठ नहीं है, परतु = *वस्त जिसका अ § १०४ के अनुसार दूसरी बार उ में परिवर्तित हो गया है । जैसे महा० में वसिअ और उसकी सधियों के रूप, जैसे उव्वसिअ, पवसिअ और शौर० मे उव वसिद् = * वसित (§ ५६४), इसी प्रकार वुत्थ भी = * वस्त वर्तमानवाचक रूप से बना है । इसके साथ साथ महा० मे नियमानुसार शुद्ध रूप उसिअ = उसित रूप भी है (गउड०) । § ३३७ की तुलना कीजिए । आलेँद्धुअं (हेच० १, २४; २, १६४) । आलेँद्धं (हेच० २, १६४), आलिद्ध (हेच० २, ४९ , पाइय० ८५; देशी० १,६६) और महा० आलिद्धअ (विक्रमो० ५१, ६) है। हेमचद्र के अनुसार श्लिष्ट् धातु से सबधित नहीं हैं परतु आलिहइ (छूना ; स्पर्श करना . हेच० ४, १८२ , ब्यूलर द्वारा सपादित पाइय० मे आलिद्धं शब्द देखिए) जो = आलेढि और जो लिह् धातु का एक रूप है जिनमें छठे गण के नियम के अनुसार आ जोडा गया है = *आलिहति है । इस ह् के साथ वही प्रक्रिया की गयी है जो प्राचीन घ–वाले धातुओं के साथ की जाती है = * आलेग्धुकम् , *आलेग्धुम् , *आलिग्ध, और *आलिग्धक । इस दृष्टि से बोॅल्लेनसेन ने विक्रमोर्वशी पेज ३६४ में शुद्ध बात छापी थी ।

§ ३०४—इट्टा (हेच० २, ३४), उट्ट (हेच० २, ३४ ; मार्क० पन्ना २१) और सदट्ट (हेच० २, ३४) मे ष का ह–कार छिपा रह जाता है : महा०, अ० माग० और जै०महा० इट्टा=इष्टा (गउड० , ठाणग० ४७८ ; अत०, २९ , तीर्थ० ७, ९ और १५ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए ; इस ग्रन्थ म ७, १५ मे इस शब्द की तुलना कीजिए]) , अ०माग० और जै०महा० में इट्टगा = इष्टका (अत० २८ , पण्हा० १२८ [यहाँ इट्टका पाठ है] , आव०एर्त्से० १६, १० और १३ , १९, ४), अ०माग० में इट्टयगिणि = इष्टकाग्नि (जीवा० २९३) । — अ०माग० मे उट्ट = उष्ट्र (सूय० २५३ , ७२४ और उसके बाद ; ७२७ , विवाग० १६३ , जीवा० ३५६ , पण्हा० ३६६ और ३७६ ; उवास० , ओव०), उट्टिय=औष्ट्रिक (उवास०), उट्टिया=उष्ट्रिका (उवास० , ओव०) है । मार्कण्डेय पन्ना २१ के अनुसार उट्ठ रूप भी पाया जाता है । महा० में संदट्ट = संदष्ट (देशी० ८, १८, गउड० ; रावण०) है । इन ग्रथों म दंश और दश् देखिए ([देशी० में इसका अर्थ इस प्रकार है ' संदट्टयं च संलग्गयम्मि अथात् इसका अर्थ हुआ 'चिपका हुआ' या 'साथ लगा हुआ', इस दृष्टि से इसका दंश या दश् से क्या सबध हो सकता है, यह विचारणीय है । —अनु०]) । दंष्ट्रा महा०, अ०माग० और शौर० मे दाढा हो जाता है, चू०पै० में ताठा तथा दंष्ट्रिन् अ०माग० और शौर० में दाढी- बन जाता है (§ ७६) । —§ ८७ के अनुसार वेष्टते दीर्घ स्वर बनाये रखता है तथा वेढइ बन जाता है = पाली वेठति

(वर० ८, ४० ; हेच० ४, २२१ ; क्रम० ४, ६७)। इस प्रकार महा० में वेढिअ और आवेढिअ रूप मिलते हैं (हाल), अ०माग० में वेढेमि (उवास० § १०८), वेढेइ (.नायाध० ६३१ ; उवास० ११० ; निरया०.§ ११ ; विवाह० ४४७), वेढेन्ति (पण्हा० ११२) ; उव्वेढेज्ज वा निव्वेढेज्ज वा (आयार०.२,३,२,२), वेढित्ता (राय० २६६), वेढावेइ (विवाग० १७०) और आवेढिय तथा परिवेढित रूप पाये जाते हैं (ठाणग० ५६८ ; नायाध० १२६५ ; पण्णव० ४३६ ; विवाह० ७०६ और उसके बाद; १३२३); जै०महा० में वेढेत्ता, वेढियक, वेढिउं, वेढेउं (पालका०), परिवेढिय (ऋषभ० २०), वेढिअय (पाइय० १९९), वेढाविय और परिवेढाविय (तीर्थ० ७, १५ और १७) रूप देखने में आते हैं ; शौर० में वेढिद (मृच्छ०४४, ४ ; ७९, २० [यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए ; इस नाटक में यह शब्द देखिए]) ; महा०, अ०माग० और शौर० में वेढ = वेष्ट (गउड० ; हाल ; रावण० ; अणुओग० ५५७ ; जीवा० ८६२ ; नायाध० १३२३ ; १३७० ; राय० २६६ ; बाल० १६८, ६ ; २६७, १) ; महा० में वेढण = वेष्टन (हाल ; रावण०) है ; माग० में शवेढण रूप देखने में आता है (मृच्छ० ११, २२ ; १२७, १२ ; [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; § ३०३ भी देखिए)*। अ०माग० में वेढिय (आयार० २, १२, १ ; २, १५, २० ; अणुओग० २९ ; पण्हा० ४९० और ५१९ ; ठाणग० ३३९ ; नायाध० २६९ ; विवाह० ८२३ ; जीवा० ३४८ ; ६०५ ; राय० १८६ ; नंदी० ५०७ ; दस० नि० ६५१, १० ; ओव०) ; महा० और अ०माग० में आवेढ (रावण० ; पण्हा० १८५) आया है और महा० में आवेढण भी मिलता है (गउड०)। इसी प्रकार बने हुए नीचे लिखे शब्द भी हैं : अ०माग० में *कोट्ठ और *कुट्ठ से कोढ = कुष्ट निकला है, कोढि [कुमाउनी में इससे निकले कोढि– और कोढ़ि रूप चलते हैं], कोट्ठि–, कुट्ठि– और कोढिय के साथ साथ चलता है और इन रूपों से ही निकला है = *कुष्ठिक (§ ६६)। अ०माग० में सेढि, *सेट्ठि और *सिट्ठि से निकलकर = श्रिष्टि, इस शब्द के अन्य रूप सेढीय, अणुसेढि, पसेढि और विसेढि हैं (§ ६६)। अ०माग० और जै०शौर० में लोढ = लोष्ट (दस० ६२०, १४ ; पव० ३८९, १०), इसके साथ साथ शौर० में लोट्ठुक रूप है (मृच्छ० ७९, २१), माग० में लोस्टगुडिआ रूप मिलता है (मृच्छ० ८०,५)। नियमानुसार बने अ०माग० रूप लेट्ठु = लेष्टु (पण्हा० ५०२ ; ओव० ; कप्प०), जै०महा० में लेट्ठुय = लेष्टुक (एर्त्से०), शौर० में लेट्ठुआ=लेष्टुका (मृच्छ० ७८, १२) । इन रूपों के साथ लेडुक भी मिलता है (देशी० ७, २४ ; पाइय० १५३) जिसमें § १९४ के अनुसार क का द्वित्व हो गया है। इसके अतिरिक्त ह कार का लोप हो जाने पर लेड्डु रूप भी देखने में आता है (पाइय० १५३), लेडुअ रूप आया है (देशी० ७, २४ ; पाइय० १५३), लेडुक्क भी मिलता है (देशी० ७,२९ [यहा पाठ में लेडुक्को लम्पटलुट्ठएसु लोढो अ, मेरे विचार में लेडुक्क का एक अर्थ लोढा हो सकता है, अन्यथा लम्पड = लम्पट और लुट्ठअ में लुट्ठअ को लोष्टक या लेष्टुक पा

* वेढिय रूप बेढिय और वेढुअ रूप में कुमाउनी बोली में प्रचलित है। —अनु०

रूप समझना उचित इसलिए नहीं जान पड़ता कि लुट्ठ लोढे या रोटे के अर्थ में अभी तक देखने में नहीं आया। भले ही यह लुटेरे के लिए आया हो। लोढ़ो व इसी के जोड़ने से लेड्डक का अर्थ लोढ़ा भी हो जाता है। —अनु०])=पाली लेड्डु और अ०माग० रूप लेट्ठु भी, जो लेलु लिखा जाता है (§ २२६ ; आयार० १,८,३,१० ; २, १, ३, ४ ; ५, २ ; २, १०, ८ ; सूय० ६४७ ; ६९२ ; दस० ६१४, १४ ; ६३०, ३७) इसी से संबंधित है। कोट्टलुअ = कोष्टुक, कुल्ह = कोष्ट और कोल्हाहल = *कोष्ठफल (§ २४२)। बिना स्वर को दीर्घ किये यही ध्वनि-परिवर्तन महा० में मरहट्ठी = महाराष्ट्री ; अ०माग० में अट्ठ = अष्ट; उसट्ठ = उत्सृष्ट और निसट्ठ = निसृष्ट में पाया जाता है ; महा० में विसट्ठ = विसृष्ट ; अ०माग० और जै०महा० में समोसट्ठ = समवसृष्ट (§ ६७)। § ५६४ की भी तुलना कीजिए।

§ ३०५—प्प और ष्फ, प्फ-रूप धारण कर लेते हैं (वर० ३, ३५ और ५१ ; हेच० २, ५३ और ९० ; क्रम० २,१०० और ४९ ; मार्क० २५ और १९) : पल्लवदानपत्र में पुफ जिसका तात्पर्य है पुप्फ = पुष्प (६, ३४), महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में भी पुप्फ रूप आता है (हाल ; रावण० ; आयार० २, ३, ३, ९ ; उत्तर० ९८१ ; कप्प० ; एर्त्से० ; हास्या० ३१, ३२), शौर० में पुप्फक = पुष्पक (मृच्छ० ६८, ९) ; शौर० और आव० में पुप्फकरण्डअ = पुष्पकरण्डक (मृच्छ० ९३, ९ ; १६७, २ ; १००, २४) ; अप० में पुप्फवई = पुष्पवती (हेच० ४,४३८,३)। सप्फ = शष्प (भाम० ३, ३५ ; हेच० २,५३) है। 'आसुओं' के अर्थ में § ८७ और १८८ के अनुसार बाप्प शब्द का : वाफ रूप के द्वारा बाह बन जाता है तथा 'धुएँ' के अर्थ में इसका रूप बप्फ हो जाता है (वर० ३, ३८ ; हेच० २, ७० , मार्क० पन्ना १५)। इस प्रकार महा०, जै०महा०, शौर० और अप० में बाह (=आसू : गउड० ; हाल ; रावण० ; अच्युत० ६० ; विक्रमो० ५२, ८ ; ५३, ६ ; ५४, १० ; कर्पूर० ४३, १२ ; ४४, ६ ; बाल० १५६, १६ ; एर्त्से० ८, ९ [यहा वाह पाठ है] ; द्वार० ५०७,१६ ; सगर० ८,१४ ; ऋषभ० १२ ; मृच्छ० ३२५, १५ ; शकु० ८२, ११ ; मालती० ८९, ७ ; उत्तर० ७८,९ ; रत्ना० २९८, २६ ; बाल० २८१,३ ; कर्पूर० ८३,२ ; मल्लिका० १६१,११ ; १९६, १८ [पाठ में वाह है] , चैतन्य० ३८, १० [पाठ में वाह है] ; हेच० ४, ३९५, २ ; विक्रमो० ५९, ६ ; ६०, १७ ; ६१, ५ ; ६१, २१) ; शौर० में बप्फ पाया जाता है (=धुआ : जीवा० ४३, १०)। वप्फ के स्थान पर मार्कण्डेय पन्ना २५ में वप्प रूप मिलता है, जैसा कि पाली में है और उसने जिस पाद में शौर० पर लिखा है उसमें पन्ना ६८ में बताया है कि शौर० में 'आसुओं' के अर्थ में वप्प का भी प्रयोग किया जा सकता है। निश्चय के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि यह वप्प रूप वप्फ के स्थान पर भूल से हस्तलिपियों में लिखा गया या नहीं ? वेणीसंहार ६२,१३ ; ६३, १७ ; ७६, ४ में वप्फ रूप छापा गया है, किंतु १८७० के कलकतिया संस्करण में बाप्प और वाप्प छपा है ; मुद्राराक्षस २६०, ४ में पाठ में वाह आया है। सबसे

अच्छी हस्तलिपियों में पाया देखा जाता है। पै० में थाप्फ रूप है [इस व
तुलना पारसी रूप भाप से कीजिए। —अनु०], संवत् १९२६ के व
संस्करण में पेज २१४, ६ में थाप्प रूप छपा है, रुक्मिणीपरिणय
पाठ में घप्फ रूप मिलता है, यही रूप मल्लिकामारुतम् ८५,१४, १२४,२
पाठ में घप्फ रूप है] में पाया जाता है। घप्प अथवा घप्फ की ओर नीचे
रूप भी निर्देश करते हैं : थस्प, थास्प और थाप्फ। शकुन्तला १
और प्रियदर्शिका ४२,२ की टीका में भी घप्फ रूप आया है। मल्लिकाम
४७, १ में थप्प मिलता है। चैतन्यचन्द्रोदय ४४, ८ में थास्प रूप पाया
शकुन्तला ८२, ११ की टीका में (हस्तलिपि जेड् (Z) में थाप्फ आया है,
शौर० में भी थप्फ रूप शुद्ध माना जाना चाहिए) थप्प की भी सम्भावना है
साथ साथ 'आसुओं' के अर्थ में वाह रूप भी शुद्ध माना जाना चाहिए। पा
११२ में 'आसुआ' के अर्थ में थप्फ और वाह दोनों रूप दे दिये गये
साधिया कभी प्प और कभी प्फ रूप देती है। एक स्थिर रूप उनमें नहीं दिख
किंतु यह स्पष्ट है प्प का बोलबाला है अ०माग० और जै०महा० रूप च
अ०माग० चउप्पय और अप० चउप्पअ = चतुष्पद (§ ४३९), शौर० में च
=चतुष्पथ (मृच्छ० २५,१४, पाठ में चउप्पह आया है) है। अ०माग०
धसग = दुष्प्रधर्षक (उत्तर० २८६), महा० में दुप्परिइअ=दुष्परिचित (र
महा० और जै०महा० में दुप्पेच्छ और शौर० में दुप्पेक्ख=दुष्प्रेक्ष्य (र
एर्त्से०, ललित० ५५५,११, प्रबोध० ४५,११) है। महा० में णिप्पच्छिम,
और णिप्पिवासे = निष्पश्चिम, निष्पच्च और निष्पिपास (हाल), णिप्प
निष्पक्ष (गउड०), णिप्पअम्प, णिप्पसर और णिप्पह = निष्प्रकम्प, नि
तथा निष्प्रभ (रावण०), अ०माग० में निप्पक = निष्पक (पण्णव०
जीव०), महा० में णिप्पण्ण=निष्पन्न के साथ साथ (हाल), महा०
साधारण बोलचाल का रूप णिप्फण्ण भी चलता था। जै०महा० और अ
में निप्फन्न रूप है (रावण०, एर्त्से०, कालका०, ठाणंग० ५२५, दस० नि०
२०, ६५७, ५, नायाध०, कप्प०), निप्फेस = निष्पेष (हेच० २,
अ०माग० में निप्पाव = निष्पाव (ठाणंग० ३९८) किंतु बार बार आनेवा
निप्फाव (भाग० ३,३५, हेच० २, ५३, सूय० ७४७, पण्णव० ३४), जै
में निप्फाइय=निष्पादित (एर्त्से०), महा० और शौर० में सदा ही णि
रूप आता है। अ०माग० निप्फन्द, जो = निष्पन्द के रखा जाना चाहिए (
रावण०, अंत० ४८, नायाध० १३८३, उवास०, कप्प०, महावीर० १४
मल्लिका० ८५, १४, ८७, ९, १२४, ६, १५४, २१, २२१, १२, चैतन्य
४)। — प्फ = प्फ महा० में णिप्फुर = निष्फुर (गउड०), मह
शौर० में णिप्फल और जै०महा० में निप्फल = निष्फल (हाल, रावण०
५०१, ३०, ऋषभ० १४ ललित० ५५५,८, मृच्छ० १२०,७, मुद्रा० २६
चंड० ८, ११, मल्लिका० १८१, १७, २२४, ५)। — माग० में प्प

ार ष्फ का स्फ हो जाता है (हेच० ४, २८९) : शस्यकवल= शप्पकवल ;
ास्फल=निष्फल है । रुद्रट के काव्यालंकार २,१२ की टीका में नमिसाधु ने बताया
कि उक्त रूपों के स्थान में श्प और श्फ लिखा जाना चाहिए । मृच्छकटिक में
ुष्फकलण्ड=पुष्पकरण्ड (११३, २०), पुष्फकलण्डअ रूप भी मिलता है
९६, १८ ; ९९, ४ ; १००, २१ ; १५८,२२०), पुष्फकलण्डक भी देखा जाता
(१२९, ५ ; १३२, २ ; १३३, २ ; १४०, ८ और १४, १४६, १६ ; १६२,
८ ; १७३,११) । हस्तलिपियों मे आधिक पुष्प और आधिक पुष्फ मिलते हैं। ११६,
में दुप्पेक्खे=दुष्प्रेक्ष्यः ; कहीं दुप्पेच्छे भी पाया जाता है । इस स्थान पर
श्य और दुस्पेस्के रूप पढ़े जाने चाहिए ।

१. रावणवहो ४, ३२ के अनुवाद में एस. गौल्दश्मित्त इस विषय पर ठीक लिखा है ; गो० गे० आ० १८८०, पेज ३२९ में पिशल ने जो मत दिया वह अशुद्ध है ।

§ ३०६—स्क और स्ख, क्ख बन जाते हैं (वर० ३, २९ और ५१ ; चंड० ३ ; हेच० २, ४ और ९० ; क्रम० २, ८८ और ४९ ; मार्क० पन्ना २४ और) : महा०, अ०माग० और जै०महा० मे खन्ध=स्कन्ध (गउड० ; हाल ; ाण० ; आयार० २, १, ७, १ और ८, ११ ; उवास० ; नायाध० ; निरया० ; व० ; कप्प० ; एर्त्से०) ; पल्लवदानपत्रों मे खंधकोंडिस=स्कन्दकुण्डिनः ;, १९) ; महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर० और अप० मे खम्भ=स्कम्भ उड० ; रावण० ; अच्युत० ४२ और ५१; सूय० ९६१ , जीवा० ४४८ और ४८१; ा० २७९ ; सम० १०१ ; विवाह० ६५८ ; ६६० और ८२३ ; राय० ५८ और ४ ; नायाध० § २१ और १२२ ; पेज १०५४ , ओव० ; एर्त्से० , मृच्छ० ४०, और ६८, १८, विद्ध० ६०,२ , धूर्त० ६,५ ; हेच० ३,२९९) है। व्याकरणकार र० ३, १४ ; भाम० ३, ५० ; चंड० ३, १० और १९ , हेच० १, १८७ ; २, और ८९ ; क्रम० २, ७७ , मार्क० पन्ना २१) खम्भ रूप को स्तम्भ से निकला ते हैं क्योंकि ये संस्कृत को ही प्राकृत का आधार मानते हैं । किन्तु यह स्वभावतः क स्कम्भ का रूप है । अवखन्द=अवस्कन्द (हेच० २, ४) , अ०माग० में रणक्ख और समणक्ख=अमनस्क और समनस्क (सूय० ८४२) ; मक्खर= कर (क्रम० २,८८) है । हेमचन्द्र २,५ और मार्कण्डेय पन्ना २४ के अनुसार स्कन्द ् कार कभी-कभी नहीं रहता : खन्द और साथ साथ कन्द रूप भी चलता है । ाम यह है कि सन्धि होने पर ह कार नहीं रहता (§ ३०१) : ऍक्कार=अयस्कार च०१, १६६); अ०माग० और जै०महा० मे नमोक्कार=नमस्कार (हेच० २, ; आयार० २, १५, २२ ; एर्त्से० ; कालका०), इसके साथ साथ णमोयार और ायार (चंड० ३, २४ पेज ५१) रूप भी चलते हैं तथा महा० में णमक्कार रूप देखा जाता है (गउड०) , § १९५ की तुलना कीजिए ; अ०माग० और जै० ० में तक्कर=तस्कर (पण्हा० १२० ; नायाध० १४१७ उत्तर० २९९ ; ास० ; ओव०, एर्त्से०); अ०माग० रूप तक्करत्तण भी मिलता है (पण्हा० १४७);

शौर० में तिरक्कार=तिरस्कार (प्रबोध० १५, १); शौर० में तिरछरिणी = तिरस्करिणी (शकु० ११९,३) है। काश्मीरी संस्करण में यही पाठ है (११२,१४)। परन्तु बोएटलिंक द्वारा सम्पादित देवनागरी संस्करण ७७, ९ में और दक्षिण भारतीय संस्करण २५६, १७ में हस्तलिपि में तिरक्खरणी पढते हैं, जैसा कि बौ ल्लें नसेन ने विक्रमोर्वशीय २४, ४ ; ४२, १९ में किया है ; यह उसने अपनी श्रेष्ठ हस्तलिपियों के विपरीत छापा है क्योंकि उनमें तिरक्करिणी पाठ है ; बंबइया संस्करण १८८८ के ४१, ६ और ७२, १ में शुद्ध पाठ तिरक्करिणी है ; शकुन्तला और विक्रमोर्वशीय इस विषय पर अनिश्चित हैं। वे कभी तिरक्खरिणी और कभी तिरक्करिणी पाठ देते हैं। महा० में सक्कअ, अ०माग० और जै०महा० में सक्कय और शौर० में सक्कद = संस्कृत ; अ०माग० और जै०महा० में असक्कय = असंस्कृत है ; महा० में सक्कार = संस्कार ; जै०महा० में सक्कारिय = संस्कारित (§ ७६) है। अ०माग० में पुरक्कड = पुरस्कृत (सूय० ६९२) है, इसका एक रूप पुरक्केड भी है (सूय० २८४ और ५४० ; दस० ६२७, ७ और ६३३, १७ ; ओव०)। इसके साथ साथ अ०माग० में संखय (§ ४९) और संखडि रूप = संस्कृति (कप्प०) है। उवक्खड = उपस्कृत (उत्तर० ३५३), पुरेक्खड रूप भी देखा जाता है (पण्णव० ७९६ और उसके बाद)। § ४८ और ११८ की तुलना कीजिए। णिक्ख* (= चोर : देशी० ४, ३७) = *निष्क्रि इसी नियम से सम्बन्धित है। अ०माग० में नक्क* (= नाक : देशी० ४, ४६ ; आयार० २, ३, २, ५ ; सूय० २८० और ७४८) = *नास्क है जो वैदिक नास् का रूप है और जिसका लिंग बदल गया है। इससे नक्कसिरा (= नाक में छेद नथने : पाइय० ११४) भी सम्बन्धित है। — स्ख = क्ख : महा० और जै०महा० में खलइ , शौर० में खलदि = स्खलति (रावण० ; द्वार० ५०४, ३४ ; शकु० १३१,६) ; ढक्की में खलन्तआ रूप आया है (मृच्छ० ३०, ८) ; महा० में खलिअ मिलता है; जै०महा० में खलिय और शौर० में खलिद = स्खलित (गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्से०; विक्रमो० ३५,९); महा० और शौर० में परिक्खलन्त रूप भी पाया जाता है (हाल ; रावण० ; मृच्छ० ७९, २); महा० में परिक्खलिअ आया है (गउड० ; रावण०)। हेच० ४, २८९ के अनुसार माग० में स्क और स्ख ज्यों के त्यों बने रहते हैं : मस्कलि=मस्करित् ; पस्खलदि= प्रस्खलति है। रुद्रट के काव्यालंकार की नमिसाधु की टीका के अनुसार स का श हो जाता है। पाठों में क्ख पाया जाता है : खलन्ती रूप है (मृच्छ० १०, १५), पक्खलन्ती रूप भी आया है (मृच्छ० ९, २३ ; १०, १५) और खन्धेण भी देखा जाता है (मृच्छ० २२, ८)। इस रूप में फेरफार नहीं है। हत्थिक्खन्धं (शकु० ११७, ४) जहाँ हस्तलिपि आर. (R) में हत्थिस्कन्धं है। इनके रूप स्खलन्ती , पस्खलन्ती, स्कन्धेण और हस्तिस्कन्धं होने चाहिए। सभी अवसरों पर यही नियम लागू होना चाहिए।

§ ३०७—स्त और स्थ, त्थ बन जाते हैं (वर० ३, १२ और ५१ ; हेच०

---

* णिक्ख का नक्को रूप होकर कुमाउनी में 'बुरे आदमी' के अर्थ में आता है। —अनु०

२, ४५ और ९० ; क्रम० २, ८५ और ४९ ; मार्क० पन्ना २१ और १९) : महा० में **थण** = **स्तन** (गउड० ; हाल ; रावण०), **थुइ** = **स्तुति** (गउड० ; रावण०), **थोअ** = **स्तोक** (गउड० ; हाल ; रावण०), **अत्थ** = **अस्त** (गउड० ; रावण०) और = **अस्त्र** (रावण०), **अत्थि** = **अस्ति** (§ ४९८) है । **पत्थर** = **प्रस्तर** (हाल), **हत्थ** = **हस्त** (गउड० ; हाल ; रावण०) ; पल्लवदानपत्रों में **चत्थवाण** = **चास्तव्यानाम्** (६, ८) और **सहत्थ** = **स्वहस्त** (७, ५१) है। अन्य प्राकृत भाषाओं में भी यही नियम चलता है। सधिवाले रूपों में नियमानुसार ह कार नहीं आता (§ ३०१) : अ०माग० और जै०महा० में **दुत्तर** = **दुस्तर** (आयार० २, १६, १० ; सूय० २१३ ; एर्से०) ; महा० में **दुत्तार** = **दुस्तार**, **दुत्तारत्तण** = ***दुस्तारत्वन** (रावण०); अ०माग० मे **सुदुत्तार** रूप मिलता है (ओव०)। अ०माग० में **नित्तुस** = **निस्तुस** (पण्हा० ४३५) है। इसी प्रकार महा० और अ०-माग० में **समत्त** = **समस्त** (हेच० २, ४५ ; रावण० ; नायाध० ; ओव० ; कप्प०)। इसके साथ साथ महा०, जै०महा० और शौर० में **समत्थ** भी काम में आता है (रावण० ; एर्से० ; कालका० ; महा० २७, ६ ; २८, १० ; किन्तु बबइया सस्करण ५९, ४ तथा ६१, १ में **समत्त** रूप दिया गया है)। क्रमदीश्वर २, ११० में **उरअड** = **उरस्तट** बताता है किन्तु इसका स्पष्टीकरण जैसा कि लास्सन[1] न पहले ही बता दिया था **उर** रूप से होता है (§ ४०७ [इस § मे **उर** का उल्लेख नहीं है। सम्भवतः यह छापे की भूल हो और यह प्रसग किसी दूसरे § में आया हो। —अनु०])। **थेण** = **स्तेन** के साथ साथ (= चोर : हेच० १, १४७ ; देशी० ५, २९ ; पाइय० ७२), *थेणिल्लिअ (= लिया हुआ ; भीत : देशी० ५, ३२* [देशी-नाममाला में लिखा है **थेणिल्लिअं हरिअभीएसु** और टीका मे हेमचद्र ने कहा है **थेणिल्लिअं हृतं भीतं च**, इस कारण ज्ञात होता है **थेणिल्लिअ** का अर्थ रहा होगा 'चोरी में खोयी गयी सपत्ति'। **हृत** का अर्थ बगाल म आज भी 'हारा' होता है, इसलिए **थेणिल्लिअ** = 'हाराधन'। कुमाउनी में भी **हृत** से प्राकृत में जो **हरिअ** रूप बना है, उसका यही तात्पर्य है। **हरैद्** रूप का अर्थ है 'खोया हुआ या चोरी में गया माल'। इस निदान के अनुसार **थेणिल्लिअ** का सम्बन्ध **थेण** से स्पष्ट हो जाता है। —अनु०])। **थूण** भी है (§ १२९ [**थूण** का अर्थ देशीनाममाला में **तुरग** है। इससे पता लगता है कि § १२९ के अनुसार यह शब्द **तूर्ण** से निकला होगा ; **तुरग** अर्थात् 'शीघ्रता से जानेवाला'; हेमचद्र १, १४७ में दिया है : **ऊः स्तेने वा**··· टीका में दिया है **थूणो, थेणो**, इसमें अवश्य ही हेमचद्र दो भिन्न भिन्न शब्दों की गडबडी से भ्रम में पड गया है, क्योंकि **थेण** रूप तो **स्तेन** का प्राकृत है, पर उसके समय में चोर को **थूण** भी कहते होंगे और उसने समझ लिया कि जनता के मुख में **ए** का **ऊ** हो गया होगा। पर वस्तुस्थिति यह है कि चोर के नाममात्र के खटके में भाग निकलने के कारण उसका एक नाम **थूण** पड गया होगा, जो अर्थसंगत है])। अ०माग० और जै०महा० मे बिना अपवाद के **तेण** रूप काम में आता है (आयार० २, २, ३, ४ ; २, ३, १, ९ और १० ; २, ४, १, ८ ; पण्हा० ४१२ और उसके

बाद ; सम० ८५ ; उत्तर० २२८ ; ९९० ; दस० ६२३, ३६ और ४० ; ६२४, १० ; ६२७, ३४ ; उवास० ; आव० एर्त्से० ४४, ७) ; अ०माग० में अतेण = अस्तेन रूप पाया जाता है (आयार० २, २, २, ४), तेण है (ओव०), तेणिय रूप भी काम में आया है (जीयक० ८७ ; कप्प०) जो = स्तैन्य है। थेण का तेण से वही सम्बन्ध है जो स्नायु का नायु से है। तेन (= चोरी) रूप जैन लोगों की संस्कृत भाषा में भी ले लिया गया है[1]। हेच० २, ४६ और मार्क० पन्ना २१ के अनुसार थव = स्तव के साथ साथ तव भी काम में लाया जा सकता है। वर० ३, १३ ; हेच० २, ४५ और मार्क० पन्ना २१ में बताया गया है कि स्तम्ब का रूप तम्ब हो जाता है[2]। — स्थ = त्थ : महा० में थउड = स्थपुट (गउड०), थल = स्थल (गउड० ; हाल), थिर = स्थिर (गउड० ; हाल), अवत्था = अवस्था (हाल ; रावण०) और शौर० में काअत्थअ = कायस्थक (मृच्छ० ७८, १३)।

१. इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए § ८२, पेज २७१ । — २. ए. म्युलर, बाइत्रैगे, पेज १७ ।

§ ३०८—दन्त्य त्थ के स्थान पर कभी-कभी स्त और स्थ के लिए मूर्धन्य ट्ठ आ जाता है। बीच बीच में त्त और ट्ठ दोनों रूप पास पास में ही एक साथ देखने में आते हैं और एक ही प्राकृत बोली के एक ही धातु से निकले नाना शब्दों के भिन्न-भिन्न रूपोंमें भी यह प्रक्रिया चलती है। परिणाम यह हुआ कि इसका नियम स्थिर करना असम्भव हो गया है कि कहा त्थ ध्वनि आनी चाहिए और कहा ट्ठ। महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में अट्ठि = अस्थि (वर० ३, ११ ; हेच० २, ३२ ; क्रम० २, ६९ ; मार्क० पन्ना २१ ; गउड० ; हाल ; अणुत्तर० ११ और २२ ; आयार० १, १, ६, ५ ; २, १, १, २ ; ३, ४ ; सूय० ५९४ ; विवाग० ९० ; विवाह० ८९; ११२; १६८ ; १८३ ; २८० ; ९२६ ; ठाणग० ५४ और उसके बाद ; १८६ और ४३१ ; उवास० ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से० ; चंड० ८७, ९) ; महा० में अट्ठिअ और जै०महा० में अट्ठिय = अस्थिक (हाल ; आयार० २, १, १०, ६), शौर० में अट्ठिअ = अस्थिज (मृच्छ० ६९, १२ ; यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए) ; अ०माग० मे बहुअट्ठिय रूप भी देखनेमें आता है (आयार० २, १, १०, ५ और ६)। — स्तम्भ के दो रूप बनते हैं—थम्भ और ठम्भ। यह केवल तब होता है जब इसका अर्थ 'अस्पन्द' या 'अटलता' होता है (हेच० २, ९)। मार्कंडेय पन्ना २१ में केवल थम्वम्भ रूप आया है और महा० में इसी का व्यवहार है (रावण०) ; जै०महा० में गईथम्भ = गतिस्तम्भ रूप मिलता है (एर्त्से० ८२, २१), मुहरथम्भ = मुखरस्तम्भ भी है (एर्त्से० ८२, २२); शौर० में ऊरुत्थम्भ रूप देखा जाता है (शकु० २७, १ ; प्रिय० १७, १२)। 'खंभे' के अर्थ में महा०, अ०माग० और शौर० मे केवल थम्भ शब्दका प्रयोग होता है (चंड० ३, ११ ; हेच० २, ८ ; रावण०; विवाह० १३२७ ; मालवि० ६३, १ ; विद्ध० ७४, ७ , [हेमचद्र २, ८ में बताया गया है कि काठ आदिका खम्भा होनेपर खम्भ और थम्भ रूप काम में

लाये जाते हैं ; स्त के स्थान पर त्त आ जाने का अर्थ 'काष्ठादिमय' समझा है। —अनु०])। थम्भिज्जइ = स्तभ्यते के साथ साथ हेमचन्द्र २, ९ में ठम्भिज्जइ रूप भी सिखाता है [हेमचन्द्र ने पिशल के स्तभ्यते के स्थान पर स्तम्भ्यते रूप दिया है, हस्तलिपि बी. (B) में स्तभ्यते भी लिखा है। —अनु०])। बहुत अधिक उदाहरण दन्त्य थ–वाले ही मिलते हैं, जैसे महा० में थम्भिअ, अ०माग० और जै०महा० में थम्भिय (गउड० ; नायाध० ; ओव० ; कप्प० ; एत्सें० ; कालका०) पाये जाते हैं ; महा० में उत्तम्भिज्जइ और उत्तम्भिज्जन्ति रूप भी देखने में आते हैं (गउड० ; रावण०) ; महा० में उत्तम्भिअ रूप भी है (हाल ; रावण०) ; शौर० में उत्तम्भिद का प्रयोग है (प्रिय० ४, ७) ; अप० रूप उट्ठब्भइ में स्पष्ट ही मूर्धन्य ठकार का व्यवहार किया गया है (हेच० ४, ३६५, ३)[1]। खम्भ के विषय में § ३०६ देखिए। — थेर के साथ साथ बहुधा ठेर भी पाया जाता है = स्थविर (§ १६६) है। — अ०माग० मे तत्थ = त्रस्त के साथ साथ (उवास०), महा० में उत्तत्थ (हाल), संतत्थ (गउड०) देखने मे आते ही हैं किंतु हेमचन्द्र २, १३६ के अनुसार तट्ठ रूप भी चलता है। महा० में हित्थ (हाल ; रावण०) और आहित्थ रूपों को व्याकरणकार (वर० ८, ६२ ; परिशिष्ट ए. (A) ३७ ; हेच० २, १३६ ; देशी० ८, ६७ ; पाइय० २६० ; त्रिवि० ३, १, १३२) इसी त्रस्त से निकला बताते हैं। एस० गौल्दश्मित्त[1] हित्थ को भीप् से जोड़ता है। वेबर[1] इसे ध्वस्त या अधस्तात् से सम्बन्धित मानता है। इस अधस्तात् से महा०, अ०माग० और जै०महा० हेट्ठ और हिट्ठ बनते हैं (§ १०७)। होएफर[1] का विचार था कि त्रस्त के आरम्भिक वर्ण त का ह कारयुक्त हो जाने के कारण हित्थ रूप बन गया। जनता में प्रचलित बोली में यह रूप चला गया था और हित्थ देशीभाषा में भी मिलता है (= लज्जा : पाइय० १६७), हित्था (= लज्जा : देशी० ८, ६७), हित्थ (= लज्जित ; भयत्रस्त : देशी० ८, ६७ पर गोपाल की टीका ; हाल ३८६ की टीका में उल्लिखित देशीकोश की तुलना कीजिए), आहित्थ (= चलित ; कुपित ; आकुल : देशी० १, ७६ ; पाइय० १७१ [हित्थ का बँगला में हाठुनि, हाटा, हॉटि आदि रूप वर्तमान हैं और कुमाउनी में हिटणो रूप है। यह रूप हिंदी में हटकना, हटना आदि में आया है। प्राकृत में इसी अर्थ का एक शब्द ओहट्टोः अपसृतः भविसत्त कह में मिलता है। इसमें ओहट्ट = अवहट्ट और इसका अर्थ है 'अलग हट जाना'। यह हट् धातु = घट् गमने। आहित्थ या हित्थ जब इसका अर्थ 'त्रस्त होता है' तो यह पीत, *भित्त, *हित्त और इससे हित्थ बना है। इसको इसी प्रकार व्युत्पन्न किया जा सकता है। —अनु०]) और इसका मूर्धन्यीकरण होकर इसके रूप हिट्ठ और हिट्ठाहिड मिलते हैं (= आकुल : देशी० ८, ६७)। त्थ से ट्ठ में ध्वनिपरिवर्तन से ऐसा निर्देश होता है कि इसमें स्त रहा होगा और मेरा यह मानना है कि इस रूप का अधस्तात् से निकलना शुद्ध है [इसमें एक आपत्ति यह की जा सकती है कि हित्थ अधस्तात् से ह का आगमन कैसे हो गया ? —अनु०]। शौर० में पल्लत्थ और इसके साथ साथ जनता की बोली के रूप पल्लट्ट और पल्लट्टइ (§ २८५) = पर्यस्त ;

पल्लट्ट में ह्-कार लोप हो गया है, जैसे समत्त और इसके साथ साथ चलनेवाले रूप समत्थ = समस्त (§ ३०७) [प्राकृत में पर्यस्त से बना पल्हत्थ रूप, जिसमें ह् कार है, मिलता है] है। रावणवहो ११,८५ में पल्हथा आया है। इस पर ए० सी० वुल्नर ने अपने ग्रंथ 'इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत', पेज १२१ में यह टीका की है; पल्हत्थ टीकाकार के अनुसार = पर्यस्त अर्थात् आकुल, पर यह रूप पल्लत्थ होना चाहिए (र य को अपने में मिला लेता है और फिर ल रूप ग्रहण कर लेता है)। पल्हत्थ = *प्रह्लस्त जो ह्लस् = ह्रस धातु से बना है जिसका अर्थ 'ह्रास होना' अर्थात् 'घटना' है [न मालूम उक्त उदाहरण महाविद्वान लेखक पिशल की दृष्टि से कैसे बच गया। —अनु०]। महा०, शौर० और अप० में विसंठुल = विसंस्थुल, इसका एक रूप विसंस्ठुल संस्कृत में भी इसका एक रूप विसंस्ठुल लिखा जाता है (हेच० २, ३२ ; मार्क० पन्ना २१ ; पाइय० २६४ ; गउड० ; हाल० ; रावण० ; मृच्छ० ४१, १० ; ११७, १९ ; विक्रमो० ६०, १८ ; प्रबोध० ३९, ८ ; मल्लिका० १३, ३ ; हेच० ४, ४३६ [हेच० २, ३२ और ४, ४३६ में प्राकृत के विसण्ठुल रूप के उदाहरण दिये गये हैं, न कि किसी विसंठुल रूप के, जो संस्कृत में भी लिखा जाता हो —अनु०]।

१. पिशल, बे० बा० १५, १२२। — २. रावणवहो में भीप् शब्द देखिए। — ३. हाल ३८६ की टीका। — ४. त्सा० वि० स्प्रा० २, ५१८।

§ ३०९—एक ही शब्द में कभी त्थ और कभी ट्ठ की अदला-बदली विशेषकर स्था धातु और उससे निकले रूपों में दिखाई देती है। इसमें इस बात की आवश्यकता नहीं है कि हम ओस्टहोफ[1] की भाँति झूठी समानता के आधार पर ठ को शुद्ध सिद्ध करें। लोग बोलते थे ; पल्लवदानपत्रों में अणुवट्टावेति=अनुप्रस्थापयति (७, ४५; § १८४ और १८९ की तुलना कीजिए) ; महा० और जै०महा० में ठाइ= *स्थाति , महा० में णिट्ठाइ और संठाइ रूप मिलते हैं ; जै०महा० में ठाह रूप आया है; अ०माग० में अब्भुट्ठन्ति देखने में आता है तथा जै०महा० में ठायन्ति रूप है, किन्तु अप० में थन्ति पाया जाता है ; अप० में उट्ठेइ, जै०महा० में उट्ठह, अ०माग० और जै०महा० में उट्ठेइ, जै०महा० और शौर० में उट्ठेहि रूप मिलते हैं, किन्तु शौर० में उत्थेहि और उत्थेदु रूप भी प्रचलित है (§ ४८३); महा० में ठिअ ; अ०माग० और जै०महा० में ठिय तथा शौर० में ठिद रूप = स्थित (गउड० ; हाल ; रावण० ; आयार० १, ६, ५,५; नायाध०; कप्प०; एत्सें०; कालका०; विक्रमो० ४२, १८; ५२, २), किन्तु साथ ही थिअ रूप भी काम में आता है। शौर० में थिद चलता है (हेच० ४, १६; विक्रमो० ८३, २०) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० में ठवेइ, अप० में ठवेहु, अ०माग० में ठावेइ और जै०महा० में ठावेमि रूप देखे जाते हैं। अप० में पट्ठाविअइ ; शौर० में पट्ठाविअ आये हैं, इसके साथ-साथ शौर० में समवत्थावेमि भी काम में आता है और पज्जवत्थावेहि रूप भी चलता है (§ ५५१); महा० में उट्ठिअ आया है; अ०माग० और जै०महा० में उट्ठिय रूप का प्रचार है (हेच० ४, १६; रावण०; अणुओग० ६०; विवाह० १६९; आयार० १, ५, २, २; नायाध०;

कप्प०; एर्त्से०), परन्तु उत्थिअ रूप भी चलता है और शौर० में उत्थिद आता है (हेच० ४,१६; विक्रमो० ७५, १५; इस नाटक में उट्ठिद शब्द भी देखिए)। पट्ठिअ = प्रस्थित (हेच० ४, १६), किन्तु महा० में पत्थिअ रूप आया है (हाल; रावण०), शौर० में पत्थिद मिलता है (शकु० १३६,१६; विक्रमो० १६, २; २२,१७; मालती० १०२, ८; १०४, २ और ३; १२४, ६; मुद्रा० २२८, ५ ; २६१, ३; प्रबोध० १७, ९; प्रिय० ८, १६)। अ०माग० और जै० महा० में उवट्ठिय = उपस्थित (भग०; एर्त्से०; कालका०), पर शौर० में उवत्थिद रूप मिलता है (शकु० १३७, ९; विक्रमो० ६,१९; १०,२; ४३३)। महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर०, जै०शौर० और अप० में ठाण=स्थान (हेच० ४, १६ ; पाइय० २६१ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; आयार० १,२,३,६ ; २,२,१,१ और उसके बाद ; सूय० ६८८ ; उत्तर० ३७५ ; विवाह० १३१० ; उवास० ; नायाध० ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से० ; कालका० ; ऋषभ० २९ ; पव० ३८३, ४४ ; मृच्छ० ७०, २५ ; १४१, २ ; शकु० १२३, ७ ; १५४, ८ ; विक्रमो० २३, १५ ; ४४, ७ आदि-आदि ; हेच० ४, ३६२) है, परन्तु महा० में थाण रूप भी चलता है (हेच० ४, १६ ; रावण०) ; अ०माग० में ठाणिज्ज (= गौरवित; प्रतिष्ठित : देशी० ४,५; निरया० § १०) है। इसके साथ साथ थाणिज्ज रूप भी चलता है (देशी० ४,५ ; देशी० ४, ५ की टीका में दिया गया है : अयं दन्त्यादिपीत्येके। थाणिज्जो [इसके ऊपर श्लोक में ठाणिज्जो गोरविअम्मि लिखा है। —अनु०]) = स्थानीय [इसकी तुलना हिंदी के स्थानीय शब्द के अर्थ से कीजिए। —अनु०] ; महा०, अ०माग० और जै०महा० में ठिइ तथा शौर० में ठिदि = स्थिति (हाल ; रावण० ; उवास ; ओव० ; निरया०; नायाध० ; कप्प०; एर्त्से०) हैं, किन्तु साथ साथ महा० में थिइ और शौर० में थिदि रूप भी मिलते हैं (रावण० ; विक्रमो० २८, १९ ; ७२, १६ ; शकु० १०७, १२ की टीका) और इसी भाँति और बहुत से उदाहरण हैं। संधि के अन्त में -स्थ सदा -त्थ रूप धारण कर लेता है : महा० में कमलत्थ और करत्थ रूप मिलते हैं (हाल), दूरत्थ रूप भी पाया जाता है (रावण०) ; अ०माग० में आगारत्थ आया है (आयार० १, ८, १, ६), गारत्थिय देखने में आता है (आयार० २, १, १, ७) ; जै०महा० में आसन्नत्थ, जोॅव्वणत्थ, सहावत्थ और हिययत्थ रूप मिलते हैं (एर्त्से०) ; शौर० में एकत्थ (मृच्छ० ७३, ३ ; शकु० २६, १४) है। वअत्थ = वयस्थ (शकु० १४१, ९) और पइदित्थ = प्रशतिस्थ रूप काम में आते हैं (शकु० १६०, १३) ; महा०, अ०माग०, जै० महा०, जै०शौर० और शौर० में मज्झत्थ = मध्यस्थ (§ २१४) है। संस्कृत त्थ की समानता में अश्वत्थ अ०माग० में अंसोॅत्थ, अस्सोॅत्थ, आसोॅत्थ और आसत्थ रूप ग्रहण करता है (§ ७४) ; अ०माग० और माग० में कपित्थ का रूप कवित्थ बन जाता है (आयार० २, १, ८, १ तथा ६ ; मृच्छ० २१, २२), किंतु अ० माग० में अधिकांश में कविट्ठ रूप ही चलता है (निरया० ४५ ; पण्णव० ३१ और ४८२ ; जीवा० ४६ ; दस० ६२३, ८ ; उत्तर० ९८३ और उसके बाद)। — 'शिव' के अर्थ में स्थाणु का प्राकृत रूप वररुचि ३, १५ ; हेमचन्द्र २, ७ ; क्रमदीश्वर २,

७८ और मार्कंडेय पन्ना २१ के अनुसार थाणु होता है और 'खंभ, थूनी तथा ठूंठ' के अर्थ में खाणु हो जाता है [हेच० २, ७ के पाठ में खाणू रूप छपा है। मेरे पास मार्कंडेय का जो प्राकृतसर्वस्वम् है और जो बंबई का छपा लगता है, उसमें पेज १९ और ३, १८ में खण्णू रूप छपा है। —अनु०]। इसके अनुसार थाणु = शिव (पाइय० २१ ; गउड०); अ०माग० में 'ठूंठ या खंभ' के अर्थ में खाणु मिलता है (पण्हा० ५०९ ; नायाध० ३३५ ; उत्तर० ४३९) ; परन्तु जै०महा० में 'पेड़ के ठूंठ' और 'खंभ' अर्थ में थाणु रूप काम में आता है (पाइय० २५९ ; द्वार० ५०४, ९)। खाणु रूप जिसके साथ साथ खण्णु रूप भी बोला जाता था (हेच० २, ९९ ; मार्क० पन्ना २१ और २७ ; इन सूत्रों में भी हेच० में खण्णू, खाणू और मार्क० में खण्णू रूप आया है [ग्रन्थों में दीर्घ का ह्रस्व रूप बहुधा हो जाता है, इस कारण ही विद्वान लेखक ने ह्रस्व रूप दिया होगा। —अनु०])। स्थाणु के एक दूसरे पर्याय * स्खाणु से निकले हैं। थाणु का खाणु से वही संबंध है जो स्तुभ् का क्षुभ् से है तथा स्तम्भ का स्कम्भ से। यही संबंध प्राकृत दुरथ का दुक्ख से है (§ ९०, १२० ; ३०६ और १३१)। — स्थग् के महा० रूप का आरंभिक वर्ण दत्य है : थएइ (रावण०) रूप आया है, थएसु, थइस्सं और थइउं भी काम में आते हैं (हाल), थइअ भी पाया जाता है (हाल ; रावण०), उत्थइअ और समुत्थइउं भी पाये जाते हैं (हाल), ओत्थइअ और समोत्थइअ रूप भी चलते हैं (रावण०), *किन्तु जै०महा० में मूर्धन्यीकरण हो गया है :* ढइय और ढाइऊण रूप देखने में आते हैं (आव० एत्सें० ३०, ४)। स्थार के पर्याय धातु * स्थक् से पाली में थकेति रूप बना है। इसके रूप महा०, जै०महा०, शौर० और माग० में ढक्कइ और ढक्कदि (§ २२१) होते हैं। इस पर भी जै०महा० में थक्किस्सइ रूप भी मिलता है (तीर्थ० ५, १९)।

१. येनाएर लितेरातूर त्साइटुंग १८७८, पेज ४८६।

§ ३१०—माग० में स्त बना रहता है (हेच० ४, २८९) और स्थ के स्थान में स्त आ जाता है (हेच० ४, २९१ ; रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ पर नमिसाधु की टीका) : हस्ति = हस्तिन्, उवस्तिद = उपस्थित ; समुवस्तिद = समुपस्थित और शुस्तिद = सुस्थित। नमिसाधु ने बताया है कि स्त का श्त बन जाता है। ललितविग्रहराजनाटक में नीचे दिये रूप आये हैं : तस्थ स्तेहिं = तत्रस्थैः (५६५, २०), उवस्तिदाणं = उपस्थितानाम्, कटस्तलाणं = कटस्थलानाम् ; पाशस्तिदे=पार्श्वस्थितः, णिअस्ताणादो = निजस्थानात् (५६६, ३, ९, १२ और १५) ; स्तिदा = स्थिताः और अस्ताणस्तिदे = अस्थानस्थितः (५६७, १ और २) हैं। स्टेन्त्सलर और गौडबोले, जो यहां पर तथा बहुधा अन्य स्थलों पर भी स्टेन्त्सलर का अनुसरण करता है, मृच्छकटिक में स्त के स्थान पर अधिकांश स्थलों में श्त लिखता है, पर स्थ के लिए स्थ ही देता है। इस ढंग से हश्त = हस्त (१२, १४, १४, १, १६, २३, २१, १२, २२, ४, १२१, २५, १२२, २० ; १२६ २४) है, किन्तु उक्त नियम के विपरीत हस्थ रूप भी मिलता है (२१, १८, २९, २०,

१३४, १ ; २ और ३ ; १३५, १ और २ ; १६०, ३ ; १७१, ३) और हत्थि- = हस्तिन् (४०, ९ ; १६८, ४) जैसा कि शकुन्तला ११७, ४ तथा वेणीसंहार ३४, १४ में आया है। मृच्छकटिक की हस्तलिपियों में अधिकाश स्थलों पर -त्थ- आया है, केवल एक हस्तलिपि में १६, २३ तथा २१, १२ में -हत मिलता है। एक दूसरी हस्तलिपि में हुच्छे भी देखने में आता है तथा एक बार हन्छे रूप भी पाया जाता है। इसके विपरीत एक हस्तलिपि में १४, १ में हस्तादो रूप लिखा गया है। २२, ४ में ५ हस्तलिपियों ने हस्ते रूप प्रयुक्त किया है और १२६, २४ में हस्तलिपियों ने हस्ते लिखा है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि हत से स्त के अधिक प्रमाण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त एक उदाहरण शुणु है जो = स्तुहि के (११३, १२ ; ११५, ९), किन्तु हस्तलिपियों में स्तुणु और स्तुण अथवा शुणु, सुणु तथा इसी प्रकार के रूप मिलते हैं जो = शृणु हैं ; मस्त और मस्तक=मस्त और मस्तक है (१२, १७; २०, १७ ; २१, २२ ; १४९, २५ ; १५२, २४), परन्तु मत्थ रूप भी आया है (१६१, ७) ; हस्तलिपियों में अधिकाश स्थलों पर -स्त-, बहुत कम स्थलों में -त्थ- और केवल एक बार १६१, ७ में -हत- लिखा मिलता है ; हस्तलिपि ए. (A) १२, १७ और १४९, २५ में मस्थक रूप लिखती है, जैसा कि स्टेन्त्सलर ने इस्थिआ = इत्थिआ=स्त्रीका में लिखा है (१०, ३ और ५ ; ११९, २३ ; १३६, १३ ; १४०, १० ; १४५, ३ और ४ ; १४६, ४ ; १६४, २०)। इसके विपरीत उसने इत्थिआ रूप भी दिया है (११२, ६ ; १३४, १ और ५)। हस्तलिपिया अधिकाश स्थलों में -त्थि- देती हैं, केवल ११२, ६ बी. (B), १४०, १० ई. (E) और १४५, ४ डी. (D) में -स्थि- आया है। इन रूपों के विपरीत ११२, ६ एच. (H) में ईस्थिअं, सी. में -स्थि-, १३६, १३ डी. और ई. (D E), १४०, १० डी. (D) में -स्ति- लिखा है जिसकी ओर सी. हस्तलिखित प्रति का -स्थि- निर्देश करता है। हस्तलिपि ए. में ११९, २३ और १४०, १० -स्थि- की ओर निर्देश करते हैं। यहा हमें इस्तिआ पढना चाहिए। प्रबोधचन्द्रोदय ६२, ७ में इस्थिआ रूप मिलता है, मृच्छकटिक में भी यह रूप पाया जाता है और वेणीसंहार तथा मुद्राराक्षस में सदा यही रूप आया है। मृच्छकटिक में बहुधा -स्त- के स्थान पर -त्थ- मिलता है। मृच्छकटिक में स्थ के लिए त्थ मिलता है, उदाहरणार्थ थावलअ और थावलक= स्थावरक (९६, १७ ; ११६, ४ ; ११८, १ ; ११९, ११ और २१, १२१, ९, १२२, ९ आदि आदि), ९६, १७ को छोड जहा हस्तलिपिया बी, सी, डी, एफ (B. C. D. F.) स्थावलअ रूप देती हैं, हस्तलिपियों में सर्वत्र ही उक्त रूप पाया जाता है ; थोअं = स्तोकम् (१५७, ६) ; अवत्थिदे = अवस्थितः (९९, ३) ; उवत्थिद = उपस्थित (११८, २३ ; १३८, १३ ; १७५, १७), और ट्ठ के उदाहरण भी मिलते हैं : पट्ठाविअ = प्रस्थाप्य (२१, १२), संठावेहि = संस्थापय (१३०, ११) ; संठिद (इस नाटक में संथिद शब्द भी देखिए) = संस्थित (१५९, १५) ; आहलणट्ठाणेहिं (इस नाटक में आहलणत्थाणेहिं भी देखिए) = आभरणस्थानैः (१४१, २) है। इस ध्वनिपरिवर्तन की अनिश्चितता और अस्थिरता, कुछ अपवादों

को छोड, सभी नाटकों में दिखाई देती हैं, जैसे—मस्तिए = मस्तिके, वस्तिए = *वस्त्रिके और इसके साथ साथ —हस्थिए = —हस्तिके (चड० ६८, १६; ६९, १), अस्तं रूप आया है (चंड० ७०, १४)। इसके साथ ही समुत्थिदे भी पाया जाता है (७२, १); पस्तिदे = प्रस्थितः, णिवस्तिदे = निवस्त्रितः (मल्लिका० १४४, ४ और ११) है। इन नाटकों में और अधिक उदाहरण भरे पड़े हैं। इन स्थानों में हेमचन्द्र के अनुसार सर्वत्र स्त लिखा जाना चाहिए।

§ ३११—स्प और स्फ, प्फ बन जाते हैं (वर० ३, ३६ और ५१ ; हेच० २, ५३ और ९० ; क्रम० २, १०० और ४९ ; मार्क० पन्ना २५ और १९)। स्प = प्फ : महा० और शौर० में फंस = स्पर्श, शौर० में परिफंस रूप भी मिलता है (§ ७४), महा० और अ०माग० में फरिस पाया जाता है, अ०माग० में फरिसग रूप भी है (§ १३५), अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में फास रूप देखा जाता है (§ ६२); फन्दन = स्पन्दन (हेच० २, ५३) ; पडिप्फद्धि- = प्रतिस्पर्धिन् (§ ७७) है। अ०माग० में ह-कारयुक्त वर्णका लोप हो जाता है : पुट्ठ = स्पृष्ट (आयार० १, १, ४, ६ ; ७, ४; १६, २, ३; १, ८, ३, ६ और ४, १; सूय० ६५, १११; १२२; १४४; १७०; ३५०; उत्तर० ४८; ५१; ६१, १०६ ; १२६ ; विवाह० ९७ और इसके बाद ; ११६; १४५ ; पण्णव० १३४; ओव०), अपुट्ठ (आयार० १, ८, ४, १; विवाह० ८७ और उसके बाद), अपुट्ठय (सूय० १०४) है। उपर्युक्त रूप कई बार फरिस या फास और फुसइ=स्पृशति के साक्षात् पास में ही आते हैं (§ ४८६)। आयारगसुत्त १, ६, ५, १ में पुट्ठो आया है। इसी प्रकारके रूप फुसइ और पुसइ (=पोछना : § ४८६) है। सन्धि में नियमानुसार ह-कार का लोप हो जाता है (§ ३०१) : महा० और अप० में अवरोप्पर = अपरस्पर (गउड०; हेच० ४, ४०९); महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में परोप्पर= परस्पर (हेच० १, ६२; २, ५३ ; गउड० ; कर्पूर० ७७, १० ; १०१, १, पण्हा० ६८; पण्णव० ६४६; विवाह० १०९१; आव०एर्त्से० ७, ११; एर्त्से०; प्रबोध० ९, १६; बाल०, २१८, ११; मल्लिका० १२४, ८; १५८, १९; १६०, ८; २२३, १२), शौर० में भी परप्पर रूप देखने में आता है, भले ही यह अशुद्ध हो, (मालती० ११९, ६ ; ३५८, १ ; उत्तर० १०८, १ ; मल्लिका० १८४, २०)। § १९५ की तुलना कीजिए। अ०माग० मे दुप्परिस = दुःस्पर्श (पण्हा० ५०८) है। — निप्पिह = निःस्पृह (हेच० २, २३) है। वृहस्पति के शौर० रूप विहप्फदि और वहप्पदि के साथ साथ अ०माग० में बहस्सइ और बिहस्सइ रूप मिलते हैं (§ ५३) और व्याकरणकार इसके बहुसख्यक अन्य रूप भी देते हैं (§ २१२)। इसी प्रकार अ०माग० में वणप्फइ = वनस्पति के साथ साथ (हेच० २, ६९ ; पण्हा० ३४१; पण्णव० ३५ ; जीवा० २१३ ; २१६ ; विवाह० ९३ और १४४), जै०शौर० में वणप्फदि रूप मिलता है (कत्तिगे० ४०१, ३४६) और स्वय अ०माग० मे वणस्सइ आया है (हेच० २, ६९; मार्क० पन्ना २९ ; आयार० १, १, ५, ४ ; २, १, ७, ३ और ६ ; २, २, ३, १३ ; सूय० ७९२ ; ८५७ ; पण्हा० २९ ; जीवा० १३ ; ३१६

[चणप्फइ के पास ही यह चणस्सइ रूप मिलता है] ; ९६९ और उसके बाद; पण्णव० ४४ और ८४२; उत्तर० १०३९; १०४८; विवाह० ३० ; ४३० ; ४६५ और उसके बाद; ठाणग० २५; २६; ५२)। स्स-वाले रूप यह सूचना देते हैं कि पति शब्द मानो स्वरों के बाद और संधि के दूसरे पदके आरम्भिक वर्ण के रूप में वइ बन गया है जिस कारण स्स = स्व हो गया। § १९५ और ४०७ की तुलना कीजिए। इसके समान ही ध्वनिपरिवर्तन सिहइ = *स्पृहति में आता है (हेच० ४, ३४ और १९२ ; मार्क० पन्ना २५)। यह सिहइ रूप ः स्पिहइ के लिए आया है। अ०माग० में पीहेंजा = स्पृहयेत् रूप भी है (ठाणग० १५८)। छिहा = स्पृहा (हेच० १, १२८; २, २३, मार्क० पन्ना २५) नहीं है परन्तु छिहइ के साथ-साथ (= छूना : हेच० ४, १८२) *क्षिभ् धातु का एक रूप है जो क्षुभ् धातु का पर्यायवाची धातु है (§ ६६)। स्फ = प्फ : महा०, अ०माग० और शौर० में फलिह = स्फटिक (§ २०६), महा० में फुड = स्फुट (गउड० ; हाल ; रावण०) ; महा० में फुलिंग = स्फुलिंग (गउड० ; रावण०) ; अप्फोडण = आस्फोटन (गउड०), अप्फालिअ = आस्फालित (गउड०; रावण०) ; पप्फुरइ = प्रस्फुरति (गउड०; हाल) रूप मिलते हैं। खोडअ = स्फोटक (वर० ३, १६; हेच० २, ६; क्रम० २, ७६, मार्क० पन्ना २१) तथा खेडअ = स्फेटक और खेडिअ = स्फेटिक (हेच० २, ६) नहीं है, किन्तु इन रूपोंसे पता चलता है कि स्फोटक, स्फेटक और स्फेटिक के प्रतिरूप रहे होंगे जो स्ख से आरम्भ होते होंगे। § ९० ; १२० ; ३०६ और ३०९ की तुलना कीजिए। मार्क० पन्ना ६७ के अनुसार शौर० में केवल फोडअ रूप की अनुमति है ; इस प्रकार विप्फोडअ=विस्फोटक (शकु० ३०, १) है। — ४, २८९ में हेमचन्द्र बताता है कि माग० में स्प और स्फ बने रहते हैं : बुहस्पति = बृहस्पति ; रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ की टीका में नमिसाधु लिखता है स्प और स्फ, श्प तथा श्फ बन जाते हैं, विहश्पदि रूप हो जाता है। मृच्छकटिक १३३, २४ ; शकुन्तला ११५, ११ में फुलन्ति = स्फुरन्ति रूप मिलता है, प्रबोधचन्द्रोदय ५८, १ फलस रूप है, ५८, ८ में फंस ; बम्बई और पूना के संस्करणों में दोनों बार फलस रूप मिलता है, महा० में शुद्ध रूप फलिश है। इन स्थानो पर हमें स्फुलन्ति और स्फलिश पढ़ना चाहिए तथा इस प्रकार के अवसरों पर यही पाठ ठीक है।

§ ३१२—श, ष और स के बाद आनेवाला व्यंजन यदि अनुनासिक हो तो उक्त वर्ण ह में परिवर्तित हो जाते हैं (§ २६२—२६४) तथा वर्णों के स्थान में अदल बदल हो जाता अर्थात् वर्णों का स्थानपरिवर्तन भी हो जाता है। इस नियम के अनुसार श्न, ष्ण और स्न जब कि वे अंशस्वर द्वारा अलग अलग न किये जाय (§ १३१ और उसके बाद) तो समान रूप से ण्ह में परिवर्तित हो जाते हैं और श्म, ष्म तथा स्म समान रूप से म्ह में बदल जाते हैं (वर० ३, ३२ और ३३; चण्ड० ३, ६; हेच० २, ७४ और ७५; क्रम० २, ९० और ९४; मार्क पन्ना २५ और २६)। — श्न=ण्ह : अण्हइ और अ०माग० में अण्हाइ = अश्नाति (§ ५१२),

अ०माग० और जै०शौर० में पण्ह = प्रश्न (सूय० ५२३ ; कत्तिगे० ३९९, ३११); सिण्ह = शिप्न (भाम० ३, ३३; हेच० ३, ७५) है। — श्म = म्ह : कम्हार, शौर० में कम्हीर = काश्मीर (§ १२०); कुम्हाण = कुश्मान (हेच० २, ७४) है। रश्मि का सदा रस्सि हो जाता है (भाम० ३, २; हेच० १, ३५; २, ७४ और ७८; पाइय० ४७) ; अ०माग० और शौर० में सहस्सरस्सि = सहस्ररश्मि (विवाह० १६९; राय० २३८; नायाध०; ओव०; कप्प०; रत्ना० ३११, ८; प्रबोध० १४, १७ ; प्रिय० १८, १५) है। शब्द के आदि में आने पर श्, म में घुलमिल जाता है : अ०माग० में मंसु = श्मश्रु , निम्मंसु = निःश्मश्रु , जै०शौर० में मंसुग = श्मश्रुक (§ ७४) है ; इसका रूप मस्सु भी होता है (भाम० ३, ६ ; हेच० २, ८६ ; क्रम० २, ५३) और मासु रूप भी चलता है (हेच० २, ८६)। महा० और शौर० मसाण तथा माग० में मशाण = श्मशान, इसके विपरीत अ०माग० और जै०महा० सुसाण में म, स में घुलमिल गया है (§ १०४)। — ष्ण = ण्ह : महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में उण्ह = उष्ण (गउड०; हाल ; रावण०; कर्पूर० ४५, ५; आयार० १, ५, ६, ४; उत्तर० ५८; कप्प०; एर्त्से०; ऋषभ०; शकु० २९,५ और ६; ७४,९; विक्रमो० ४८, ११); शौर० में अणुण्हदा = अनुष्णता (मालवि० ३०, ६) ; अप० में उण्हअ = उष्णक और उण्हत्तण = *उष्णत्वन (हेच० ४, ३४३, १) ; अ०माग० में सीउण्ह = शीतोष्ण, किन्तु अ०माग० में साधारणतया उसिण रूप आता है (§ १३३)। — उण्हीस = उष्णीष (हेच० २, ७५) ; महा०, अ०माग० और शौर० में कण्ह, अ०माग० में किण्ह, इनके साथ साथ महा० और शौर० में कसण, अ०माग० और जै०महा० कसिण = कृष्ण है ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में कण्ह = कृष्ण (§ ५२) है। जै०महा० और दाक्षि० में विण्हु = विष्णु (§ ७२ और ११९) है। — ष्म = म्ह : महा० में उम्हा = ऊष्मन् (सब व्याकरणकार ; गउड०), उम्हविअ और उम्हाल रूप भी मिलते हैं (गउड०)। महा०, अ०माग०, शौर०, माग० और अप० में गिम्ह = ग्रीष्म (§ ८३) है। महा०, जै०महा० और शौर० में तुम्हारिस = युष्मादृश (§ २४५) ; महा०, जै०महा०, शौर० और अप० में तुम्हे = युष्मे (§ ४२२) है। — महिष्मती का शौर० में महिस्सदि हो गया है (बाल० ६७, १४)। — हेमचद्र २, ५४ के अनुसार भीष्म का भिप्फ और श्लेष्मन् का हेमचद्र २, ५५ और मार्कण्डेय पन्ना २५ के अनुसार सेफ- और सिलिम्ह दो रूप होते हैं तथा अ०माग०, जै०महा० और अप० में सिम्भ- एव अ०माग० में सेंम्भ रूप चलते हैं (§ २६७)। ये रूप अपनी ध्वनिपरिवर्तन की प्रक्रिया के मध्यवर्ती रूपों का क्रम यों बताते हैं : *भीष्व, *भीष्प ; *श्लेष्मन् और श्लेष्पन् (§ २५१ और २७७)। कोहण्डी = कूष्माण्डी, अ०माग० रूप कोहण्ड, कूहण्ड और कुहण्ड = कूष्माण्ड के विषय में § १२७ देखिए, अप० में गिम्भ = ग्रीष्म के विषय में § २६७ देखिए। — सर्वनाम की सप्तमी (हिन्दी में अधिकरण) की विभक्ति ष्मिन् में, जो बोली में इ और उ में समाप्त होनेवाली सज्ञाओं में जोडी जाने

[वणप्फइ के पास ही यह वणस्सइ रूप मिलता है]; ६६९ और उसके बाद; पण्णव० ४४ और ७४२; उत्तर० १०३९; १०४८; विवाह० ३० ; ४३० ; ४६५ और उसके बाद; ठाणग० २५; २६; ५२)। स्स–वाले रूप यह सूचना देते हैं कि पति शब्द मानो स्वरों के बाद और संधि के दूसरे पदके आरम्भिक वर्ण के रूप में यह बन गया है जिस कारण स्स = स्व हो गया। § १९५ और ४०७ की तुलना कीजिए। इसके समान ही ध्वनिपरिवर्तन सिहइ = *स्पृहति में आता है (हेच० ४, ३४ और १९२ ; मार्क० पन्ना २५)। यह सिहइ रूप * स्पृहइ के लिए आया है। अ०माग० में पीहेज्जा = स्पृहयेत् रूप भी है (ठाणग० १५८)। छिहा = स्पृहा (हेच० १, १२८; २, २३; मार्क० पन्ना २५) नहीं है परन्तु छिहइ के साथ-साथ (= छूना : हेच० ४, १८२) *क्षिभ् धातु का एक रूप है जो क्षुभ् धातु का पर्याय-वाची धातु है (§ ६६)। स्फ = प्फ : महा०, अ०माग० और शौर० में फलिह = स्फटिक (§ २०६), महा० में फुड = स्फुट (गउड० ; हाल ; रावण०); महा० में फुलिंग = स्फुलिंग (गउड० ; रावण०); अप्फोडण = आस्फोटन (गउड०), अप्फालिअ = आस्फालित (गउड०; रावण०); पप्फुरइ = प्रस्फुरति (गउड०; हाल) रूप मिलते हैं। खोडअ = स्फोटक (वर० ३, १६; हेच० २, ६; क्रम० २, ७६; मार्क० पन्ना २१) तथा खेडअ = स्फेटक और खेडिअ = स्फेटिक (हेच० २, ६) नहीं है, किन्तु इन रूपोंसे पता चलता है कि स्फोटक, स्फेटक और स्फेटिक के प्रतिरूप रहे होंगे जो स्ख से आरम्भ होते होंगे। § ९० ; १२० , ३०६ और ३०९ की तुलना कीजिए। मार्क० पन्ना ६७ के अनुसार शौर० में केवल फोडअ रूप की अनुमति है ; इस प्रकार विप्फोडअ=विस्फोटक (शकु० ३०, १) है। — ४, २८९ में हेमचन्द्र बताता है कि माग० में स्प और स्फ बने रहते हैं : बुहस्पति = बृहस्पति ; रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ की टीका में नमिसाधु लिखता है स्प और स्फ, ष्प तथा ष्फ बन जाते हैं, विहष्पदि रूप हो जाता है। मृच्छकटिक १३३, २४ , शकुन्तला ११५, ११ में फुलन्ति = स्फुरन्ति रूप मिलता है, प्रबोधचन्द्रोदय ५८, १ फलस रूप है, ५८, ८ में फंस ; बम्बई और पूना के संस्करणों में दोनों बार फलस रूप मिलता है, महा० में शुद्ध रूप फलिश है। इन स्थानों पर हमें स्फुलन्ति और स्पलिश पढ़ना चाहिए तथा इस प्रकार के अवसरों पर यही पाठ ठीक है।

§ ३१२—श, ष और स के बाद आनेवाला व्यंजन यदि अनुनासिक हो तो उक्त वर्ण ह में परिवर्तित हो जाते हैं (§ २६२—२६४) तथा वर्णों के स्थान में अदल बदल हो जाता अर्थात् वर्णों का स्थानपरिवर्तन भी हो जाता है। इस नियम के अनुसार श्न, ष्ण और स्न जब कि वे अंशस्वर द्वारा अलग अलग न किये जायँ (§ १३१ और उसके बाद) तो समान रूप से ण्ह में परिवर्तित हो जाते हैं और श्म, ष्म तथा स्म समान रूप से म्ह में बदल जाते हैं (वर० ३, ३२ और ३३; चण्ड० ३, ६; हेच० २, ७४ और ७५; क्रम० २, ९० और ९४; मार्क पन्ना २५ और २६)। — श्न=ण्ह : अण्हइ और अ०माग० में अण्हाइ = अश्नाति (§ ५१२),

अ०माग० और जै०शौर० में **पण्ह = प्रश्न** (सूय० ५२३ ; कत्तिगे० ३९९, ३११); **सिण्ह = शिप्न** (भाम० ३, ३३; हेच० ३, ७५) है। — **श्म = म्ह : कम्हार**, शौर० में **कम्हीर = काश्मीर** (§ १२०); **कुम्हाण = कुश्मान** (हेच० २, ७४) है। **रश्मि** का सदा **रस्सि** हो जाता है (भाम० ३, २; हेच० १, ३५; २, ७४ और ७८; पाइय० ४७) ; अ०माग० और शौर० में **सहस्सरस्सि = सहस्ररश्मि** (विवाह० १६९; राय० २३८; नायाध०; ओव०; कप्प०; रत्ना० ३११, ८; प्रबोध० १४, १७ ; प्रिय० १८, १५) है। शब्द के आदि में आने पर **श्**, म में घुलमिल जाता है : अ०माग० में **मंसु = श्मश्रु**, **निम्मंसु = निःश्मश्रु**, जै०शौर० में **मंसुग = श्मश्रुक** (§ ७४) है ; इसका रूप **मस्सु** भी होता है (भाम० ३, ६ ; हेच० २, ८६ ; क्रम० २, ५३) और **मासु** रूप भी चलता है (हेच० २, ८६)। महा० और शौर० **मसाण** तथा माग० में **मशाण = श्मशान**, इसके विपरीत अ०माग० और जै०महा० **सुसाण** में म, स में घुलमिल गया है (§ १०४)। — **ष्ण = ण्ह** : महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **उण्ह = उष्ण** (गउड०; हाल ; रावण०; कर्पूर० ४५, ५; आयार० १, ५, ६, ४; उत्तर० ५८; कप्प०; एर्त्से०; ऋषभ०; शकु० २९,५ और ६; ७४,९; विक्रमो० ४८, ११) ; शौर० में **अणुण्हदा = अनुष्णता** (मालवि० ३०, ६) ; अप० में **उण्हअ = उष्णक** और **उण्हत्तण = *उष्णत्वन** (हेच० ४, ३४३, १) ; अ०माग० में **सीउण्ह = शीतोष्ण**, किन्तु अ०माग० में साधारणतया **उसिण** रूप आता है (§ १३३)। — **उण्हीस = उष्णीष** (हेच० २, ७५) ; महा०, अ०माग० और शौर० में **कण्ह**, अ०माग० में **किण्ह**, इनके साथ साथ महा० और शौर० में **कसण**, अ०माग० और जै०महा० **कसिण = कृष्ण** है ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **कण्ह = कृष्ण** (§ ५२) है। जै०महा० और दाक्षि० में **विण्हु = विष्णु** (§ ७२ और ११९) है। — **ष्म = म्ह** : महा० में **उम्हा = ऊष्मन्** (सब व्याकरणकार ; गउड०), **उम्हविअ** और **उम्हाल** रूप भी मिलते हैं (गउड०)। महा०, अ०माग०, शौर०, माग० और अप० में **गिम्ह = ग्रीष्म** (§ ८३) है। महा०, जै०महा० और शौर० में **तुम्हारिस = युष्मादृश** (§ २४५) ; महा०, जै०महा०, शौर० और अप० में **तुम्हे = युष्मे** (§ ४२२) है। — **माहिष्मती** का शौर० में **महिस्सदि** हो गया है (बाल० ६७, १४)। — हेमचंद्र २, ५४ के अनुसार **भीष्म** का **भिप्फ** और **श्लेष्मन्** का हेमचंद्र २, ५५ और मार्कण्डेय पन्ना २५ के अनुसार **सेफ-** और **सिलिम्ह** दो रूप होते हैं तथा अ०माग०, जै०महा० और अप० में **सिम्भ-** एवं अ०माग० में **सेँम्भ** रूप चलते हैं (§ २६७)। ये रूप अपनी ध्वनिपरिवर्तन की प्रक्रिया के मध्यवर्ती रूपों का क्रम यों बताते हैं : ***भीष्व, *भीष्प** ; ***श्लेष्मन्** और **श्लेष्पन्** (§ २५१ और २७७)। **कोहण्डी = कूष्माण्डी**, अ०माग० रूप **कोहण्ड, कूहण्ड** और **कुहण्ड = कूष्माण्ड** के विषय में § १२७ देखिए, अप० में **गिम्भ = ग्रीष्म** के विषय में § २६७ देखिए। — सर्वनाम की सप्तमी (हिन्दी में अधिकरण) की विभक्ति **ष्मिन्** में, जो बोली में इ और उ में समाप्त होनेवाली संज्ञाओं में जोड़ी जाने

ल्गी, प, म में घुलमिल गया है : महा० में उअहिम्मि; जै०महा० में उयहिम्मि = उदधौ ; अ०माग० सहस्सरस्सिम्मि = सहस्ररश्मौ ; अ०माग० में उडम्मि = ऋतौ ; महा० में पहुम्मि = प्रभौ (§ ३६६ और ३७९) है। अ० माग० में –स्मिन् अधिकांश स्थलों में — सिं रूप धारण कर लेता है : कुच्छिंसि = कुक्षौ ; पाणिंसि = पाणौ ; लेलुंसि = लेष्टौ (§ ७४ और ३७९); अप० में सिं से निकल कर हिँ रूप काम में आता है (§ २६३ और ३१३) : अक्खिहिँ = अक्षिण, कलिहिँ = कलौ [अप० का यह हिँ कुमाउनी में रह गया है और वर्तमान समय में भी काम में आ रहा है। —अनु०] (§ ३७९) है। —ण्ण और प्म की भाँति ही क्ष्ण और क्ष्म के रूप भी होते हैं : सण्ह = श्लक्ष्ण (§ ३१५) ; महा० और अ०माग० में पम्ह- = पक्ष्मन् (वर० ३, ३२ ; हेच० २, ७४ ; क्रम० २, ९४ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; उवास० ; ओव०), महा० ; अ०माग० और शौर० में पम्हल = पक्ष्मल (हेच० २, ७४ ; मार्क० पन्ना २५ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; विवाह० ८२२ ; नायाध०; ओव०; कप्प०; मालती० २१७, ४ ; मल्लिका० २४९, १० [पाठ में वह्मल है] ; चंड० ८७, ८) ; शौर० में पम्हलिद रूप मिलता है (महावीर० १०१, १७) । तिण्ह = तीक्ष्ण (भाम० ३, ३३ ; चंड० ३, ६ पेज ५४ ; हेच० २, ७५ और ८२ , क्रम० २, ९०) के साथ साथ दूसरा रूप जिसके उदाहरण मिलते हैं वह महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर०, माग० और अप० रूप तिक्ख है (चंड० २, ३ ; ३, ६ पेज ४८ ; हेच० २, ८२ ; हाल , कर्पूर० २८, ७ ; ३८, ११ ; ३९, ७ ; ६५, २ , सूय० २८० और २८९, उत्तर० ३३८ ; दस० ६२५, ३६ ; कप्प०; एर्लें०; शकु० १३५, १४ ; प्रबोध० ४, ४ [यही रूप शुद्ध है और बंबई, मद्रास तथा पूना के संस्करण में छपा है] ; वेणी० ६१, १४ , महावीर० १०१, १६ ; बाल० २८९, १३ ; मल्लिका० ८२, १४ ; हास्या० ३२, ४ , माग० में : मृच्छ० १६४, १५; अप० में : हेच० ४, ३९५, १) ; अ०माग० में सुतिक्ख रूप मिलता है (विवाह० ४२४) ; शौर० में तिक्खत्तण आया है (विद्ध० ९९, ९) , अप० में : तिक्खेइ चलता है (हेच० ४, ३४४) तथा इसका देशी रूप तिक्खालिअ (= तीखा किया हुआ : देशी० ५, १३ , पाइय० २०० [यहा दिया हुआ है — तिण्हीकयम्मि तिक्खालिअं, इस प्रकार इस एक ही श्लोक में तिण्ह और तिक्ख दोनों रूप आ गये हैं । —अनु०])। मार्कण्डेय पन्ना २६ के अनुसार इसके शाब्दिक अर्थ में तिक्ख रूप काम में आता है और इससे निकले गौण प्रयोग में तिण्ह चलता है, जैसे तिण्हो रइअरो का अर्थ है 'तेज सूरज' [मार्कण्डेय ३, ६८ (= पन्ना ३६) का पाठ यह है : तीक्ष्णे निदितार्थे यः निदितार्थे तीक्ष्णे युक्तस्य यः स्यात्। तिक्खो सरो। अन्यत्र तिण्हो रइकिरणो॥ रइअरो = रविकरो, इस दृष्टि से यह = रइकिरणो के। अतः रइअरो और रइकिरणो पाठभेद हैं। —अनु०]। किन्तु कर्पूरमञ्जरी में सीधे अर्थ से अन्यत्र भी निकले हुए अर्थ में तिक्ख का ही प्रयोग देखने में आता है। लक्ष्मी सदा ही भले ही यह नाम के लिए काम में आये, महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर०, शौर० और दाक्षि० में लच्छी (भाम० ३, ३० ; चंड०

३, ६ और ३६ ; हेच० २, १७ ; क्रम० २, ८२ ; मार्क० पन्ना २४ ;-पाइय० ९६ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; कर्पूर० ३१, २ ; ४९, २ ; नायाध० ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से० ; कालका० ; ऋषभ० १२ ; कत्तिगे० ३९९, ३१९ और ३२० ; ४०१, ३४४; शकु० ८१, ११ ; विक्रमो० ३५, ६ और ११ ; ५२, ५ ; मालवि० ३३, १७ ; प्रबोध० ४, ८ ; माल्ती० २१८, २ ; कर्पूर० २२, ५ ; ३५, ३ ; ११०, ८ ; अनर्घ० २७७, १ ; मल्लिका० ७३, ६ ; दाक्षि० में : मृच्छ० ९९, २५ ; अप० में : हेच० ४, ४३६) है; इसके विपरीत लक्ष्मण महा०, जै०महा० और शौर० में सदा लक्खण रूप ग्रहण करता है (चंड० ३, ६ ; मार्क० पन्ना २४ ; रावण० ; कक्कुक शिलालेख २ ; उत्तर० ३२, ५ ; १२७, ५ ; १९०, १ ; २०४, ११ ; महावीर० ५२, १४ ; अनर्घ० ११५, १२ ; ३१७, १६ ; उन्मत्त० ६, २ ; प्रसन्न० ८८, ६) ।

§ ३१३—अ०माग०, जै०महा० और शौर० में जो अधिकांश अवसरों पर और स्वय शब्द के आदि वर्ण में भी स्न का केवल न वर्ण बनाये रहती है [ण नहीं ।—अनु०], स्न का सदा ण्ह हो जाता है (§ २२४) : ण्हाइ = स्नाति (हेच० ४, १४); जै०महा० ण्हामो = स्नामः (आव०एर्त्से० १७, ७), ण्हाइत्ता रूप मिलता है (आव० एर्त्से० ३८, २), ण्हाविऊण आया है (एर्त्से०), ण्हावेसु और ण्हाविन्ति रूप भी पाये जाते हैं (तीर्थ० ६, ५) ; अ०माग० में ण्हाणेइ और ण्हाणित्ता रूप हैं (जीवा० ६१०), ण्हाणे न्ति भी मिलता है (विवाह० १२ ६५), ण्हावेइ भी आया है (निरया० § १७), ण्हावे न्ति (विवाह० ८२२) और ण्हावेइ रूप भी देखने में आते हैं (विवाह० १२६१) ; शौर० में ण्हाइस्सं (मृच्छ० २७, ४), ण्हादुं (मल्लिका० १२८, ११) और ण्हाइय रूप पाये जाते हैं (नागा० ५१, ६ ; प्रिय० ८, १३ ; १२, ११) ; महा० में ण्हाअ, अ०माग० और जै०महा० में ण्हाय तथा शौर० में ण्हाद = स्नात (पाइय० २३८ ; हाल ; सूय० ७३० ; विवाह० १८७ और ९७० और उसके बाद ; उवास० ; नायाध० ; ओव० ; कप्प० ; निरया० ; आव० एर्त्से० १७, ८ ; एर्त्से०; मृच्छ० २७, १२); महा० में ण्हावअन्तो [पाठ मे ण्हावयन्दो है] = स्नापयन् (मल्लिका० २३९, ३) ; अ०माग० और जै०महा० मे ण्हाविय = स्नापित (उवास० ; एर्त्से०) ; अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर०, शौर० और अप० में ण्हाण = स्नान (वर० ३, ३३ ; क्रम० २, ९० ; राय० ५६ ; नायाध०; ओव०; एर्त्से० ; कत्तिगे० ४०२, ३५८ ; मृच्छ० ९०, १४ ; विक्रमो० ३४, ६ ; मल्लिका० १९०, १६ ; हेच० ४, ३९९) ; अ०माग० में अण्हाण = आस्नान (पण्हा० ४५२), अण्हाणय रूप भी है (ठाणग० ५३१ ; विवाह० १३५) ; जै०महा० में ण्हवण = स्नपन (तीर्थ० ६, १ ; ३ ; ६ [पाठ में न्हवण है] ; कालका०) ; शौर० में ण्हवणअ = स्नपनक (नागा० ३९, ४ और १३) ; अ० माग० में ण्हाविया = स्नापिका (विवाह० ९६४) है । इसी प्रकार ण्हाविअ = *स्नापित ; किंतु शौर० और माग० मे इसका रूप णाविद है (§ २१०) । शौर० में पण्हुद = प्रस्तुत (महावीर० ६५, ४ ; उत्तर० ७३, १०) है । स्नेह और स्निग्ध शब्दों में महा०, अ०माग०, जै०महा० और अप० में नियम है कि स्, न के साथ घुल-

मिल जाता है (वर० ३, ६४ ; भाम० ३, १ ; हेच० २, ७७ और १०२ तथा १०९ ; क्रम० २, ५८ ; मार्क० पन्ना २६) । इस नियम के अनुसार महा० और अप० में णेह रूप मिलता है (गउड० ; हाल ; रावण० ; हेच० ४, ३३२, १ ; ४०६, २ ; ४२२, ६ और ८ ; ४२६, १ ; पिंगल २, ११८) ; अ०माग० और जै०महा० नेह आया है (चंड० २, २७ ; पाइय० १२० ; नायाध०, निरया० ; एत्सें० ; कालका०), पद्य में माग० में भी णेह देखा जाता है (मृच्छ० १५, ७, ६) और दाक्षि० में भी (मृच्छ० १०५, १६) । महा० में णिद्ध, अ०माग० और जै०महा० में निद्ध और णिद्ध (हाल ; रावण० ; आयार० १, ५, ६, ४ ; २, १, ५, ५ ; सूय० ५९० ; जीवा० २२४ , ३५१ ; पण्हा० २९५ ; उत्तर० १०२२ ; ओव० ; कप्प० ; एत्सें०) रूप मिलते हैं । णेहालु = स्नेहवत् (चंड० २, २० पेज ४५ ; हेच० २, १५९ [पाठ में नेहालु है] ; अप० में णिण्णेह मिलता है, जै०महा० से निन्नेह आया है =निःस्नेह (हेच० ४, ३६७, ५ ; एत्सें०) है । इस रूप के साथ-साथ सणेह भी पाया जाता है, अप० में ससणेही आया है, सणिद्ध भी मिलता है, महा०, जै०महा० और शौर० में सिणेह रूप है, महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में सिणिद्ध चलता है, किंतु ये रूप ऐसे हैं जो केवल शौर० में काम में आने चाहिए (§ १४०) । सुसा = स्नुषा (हेच० १, २६१) तथा इसके साथ साथ अ०माग० रूप ण्हुसा, महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में सुण्हा, महा०, सोॅण्हा (§ १४८) और पै० सुनुसा में (§ १३४ और १४८) न, स में घुलमिल गया है । — स्म = म्ह : पल्लवदानपत्रों, महा०, अ०माग०, शौर० और अप० में अम्हे = अस्मे (§ ४१९) ; जै०महा० और शौर० में अम्हारिस = अस्मादृश (§ २४५) हो जाता है । महा०, शौर० और अप० में विम्हअ तथा जै०महा० में विम्हय = विस्मय है (गउड० ; रावण०, एत्सें० , शकु० ३८, ८ ; हेच० ४, ४२०, ४) । — भस्मन् अ०माग० और जै०महा० रूप भास, शौर० में भस्स (§ ६५) के साथ साथ जै०महा० में भसम (§ १३२) हो जाता है तथा हेमचन्द्र २, ५१ के अनुसार इसका रूप भप्प भी होता है, जो निर्देश करता है कि इसकी शब्द प्रक्रिया का क्रम यों रहा होगा : *भस्वन् तब भस्पन् (§ २५१ ; २७७ और ३१२) । सर्वनाम की विभक्ति -स्मिन् जो लोगों की बोली में अ में समाप्त होनेवाली संज्ञा में भी प्रयुक्त होने लगा था तो स्सिं तथा माग० में श्शि बन गया, जैसे शौर० में तस्सिं और माग० में तश्शि = तस्मिन् (§ ४२५) ; एदस्सिं, शौर० में एदस्सिं और माग० में एदश्शि रूप = एतस्मिन् (§ ४२६) है । पल्लवदानपत्र में चासि - चास्मिन् ; अ०माग० और शौर० में अस्सिं = अस्मिन् (§ ४२९) अथवा महा०, अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में -म्मि बन जाता है, जैसे तम्मि, एअम्मि और एयम्मि (§ ४२५ और ४२६), महा० में जोव्वणम्मि = यौवने, अ०माग० में बम्भम्मि कप्पम्मि = ब्राह्मे कल्पे, जै०महा० में पाडलिपुत्तम्मि = पाटलिपुत्रे (§ ३६६ अ) अथवा अ०माग० में अधिकांश स्थलों में -सि रूप आता है, जैसे तंसि, इमंसि (§ ४२५ और ४३०), लोगंसि = लोके, दारगंसि = दारके (§ ३६६

अ), जैसा अ०माग० में अंसि = असि बोला जाता है (§ ७४ और ४९८)। स्सि, *स्सि के द्वारा सभी प्राकृत बोलियों में सर्वनाम की रूपावली में और माग० तथा अप० में संज्ञा की रूपावली में हिं भी हो गया है, जैसे तहिं, जहिं और कहिं = तस्मिन्, यस्मिन् और कस्मिन् ; माग० में कुलहिं = कुले और अप० में घरहिं = घरे (§ २६४ ; २६६ अ ; ४२५, ४२७ और ४२८) है। हेमचंद्र १, २३ में बताता है कि म्मि के स्थान पर मिं भी हो सकता है अर्थात् ऐसा करने की अनुमति देता है : वणम्मि और वणंमि = वने। ऐसी लेखपद्धति अ०माग० हस्तलिपियों में बहुत अधिक मिलती है और बहुत से छपे संस्करणों में ज्यों का त्यों रहने दिया गया है तथा संभवतः यह ठीक है। —निम्नलिखित रूपों में स, म के साथ घुलमिल गया है : अ०माग० में मि = *स्मि = अस्मि, अ०माग० और जै०महा० में यो = स्यः। इन रूपों के साथ साथ म्हि, म्ह और म्हो भी चलते हैं (§ ४९८) ; इसके विपरीत जै० महा० रूप सरामि और सरइ, अ०माग० सरई और जै०महा० सरसु में जो = स्मरामि, स्मरति और स्मर है, म, स के साथ घुलमिल गया है। नीचे दिये गये रूपों में भी यही नियम चलता है : महा० वीसरिअ, विसरिअ ; जै०शौर० वीसरिद = विस्मृत, इनके साथ साथ जै०महा० में विस्सरिय रूप भी पाया जाता है। बोली में विम्हरइ भी चलता है जो = विस्मरति, सुमरइ, शौर० में सुमरेदि और विसुमरामि तथा माग० में शुमलेदि और विशुमलेदि साधारण रूप हैं (§ ४७८)। सेरं = स्मेरम् (हेच० २, ७८) है। महा० में [स्मरति के स्थान पर। —अनु०] मरइ भी काम में आता है (वर० ८, १८, हेच० ४, ७४, क्रम० ४, ४९; मार्क० पन्ना ५३ ; गउड० [इसमें स्मृ शब्द देखिए] , हाल ; रावण० [इसमें स्मर् शब्द देखिए]), जै०महा० में मरिय = स्मृत (पाइय० १९४ , एत्सें०), मलइ भी दिखाई देता है (हेच० ४, ७४), महा० में सभरण रूप आया है (गउड०), ये रूप *म्हरइ, *स्भरइ के स्थान पर आये हैं (§ २६७)। मार्कंडेय पन्ना ५४ के अनुसार कुछ विद्वानों ने बताया है कि मरइ विभरइ (हस्तलिपि में पाठ विभंरइ है) रूप भी चलते हैं।

§ ३१४—हेमचंद्र ४, २८९ के अनुसार माग० में ष्ण और स्न, स्ण हो जाते हैं तथा ष्म और स्म, स्य बन जाते हैं, केवल 'ग्रीष्म' शब्द का ष्म, म्ह रूप धारण कर लेता है : विस्णु = विष्णु , उस्म = ऊष्मन् [मेरी प्रति में उस्मा छपा है। —अनु०]; विसअ = विस्मय किंतु गिम्ह=ग्रीष्म है। स्म के विषय में शीलांक प्रमाण प्रस्तुत करता है क्योंकि वह अकस्मात् (आयार० १, ७, १, ३), अकस्माद्दण्ड (सूय० ६८२) और अस्माकं (सूय० ९८३) के विषय में टीका करता है कि ये शब्द मगध देश में सब लोगों द्वारा यहाँ तक कि ग्वालिनें भी संस्कृत रूप में ही बोलती हैं। इस प्रकार ये शब्द यहाँ भी उसी रूप में उच्चरित किये गये हैं। इसी प्रकार की सम्मत्ति अभयदेव ने ठाणंगसुत्त ३७२ में अकस्माद्दण्ड शब्द पर दी है। अ०माग० के लिए अकम्हाभय (हेच० १९ , ठाणंग० ४५५) जैसे रूप ही केवलमात्र विशुद्ध रूप माने जाने चाहिए। जिन रूपों में स्म आता है वे संस्कृत से

उठा लिये गए हैं। रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ की टीका में नमिसाधु ने बताया है कि विणु = विष्णु और अप्रत्येक्ष रूप से ष के लिए श का होना कहा है तथा अन्य ध्वनिसमूहों में स का स्न और स्म के सम्बन्ध में हेमचन्द्र ने कोई नियम नहीं दिये हैं। इस कारण यह अनिश्चित ही रह गया है कि ये श्न और स्म ही रह जाते हैं अथवा स्ण और स्म में परिणत हो जाते हैं या ण्ह और म्ह रूप ग्रहण करते हैं। नाटकों की हस्तलिपियों में केवल गिम्ह रूप ही मृच्छ० १०, ४ में नहीं मिलता, अपितु पण्ह = प्रश्न (मृच्छ० ८०, १८ ; ८१, ५) रूप भी मिलता है ; उण्ह=उष्ण भी आया है (मृच्छ० ११६, १७ ; वेणी० १३३,१२) ; विण्हु = विष्णु भी देखा जाता है (प्रबोध० ६३, १५) ; तुण्णीअ=तूष्णीक भी पाया जाता है (मृच्छ० १६४, १४) ; पर सदा ही अम्हाणं, अम्हे, तुम्ह, तुम्हाणं और तुम्हे काम में आते हैं (उदाहरणार्थ, मृच्छ० ३१, १५ ; १५८,२३ ; प्रबोध० ५३, १५ , १६ ; मृच्छ० १३९, १३ ; १६, १९) ; अम्हालिश = अस्मादृश (मृच्छ० १६४, ५) ; ण्हाआमि = स्नामि, ण्हादे = स्नातः (मृच्छ० ११३, २१ ; १३६, ११) आदि-आदि हैं। हस्तलिपियों में विभक्ति का रूप—स्मिन् सदा ही—स्सिं लिखा मिलता है और स्म के स्थान पर म्ह लिखा पाया जाता है। इस प्रकार, ललितविग्रहराज नाटक में भी एदश्शिं = एतस्मिन् (५६५, ६), याणिश्शम्ह = यास्यामः (५६५, ९), अम्हदेशीय, अम्हाणं और तुम्हाणं रूप मिलते हैं (५६५, १२ और १४; ५६६, ९) ; पयासॅम्ह (?)=प्रकाशयाम भी मिलता है (५६७, १)।

§ ३१५—यदि अक्षरस्वर बीच में न आ जाय तो अर्धस्वर मुख्य नियमों के अनुसार (§ २७९ ; २८७ ; २९६ और २९७) श, ष और स के बाद इनके साथ घुलमिल जाते हैं। —श्य = स्स और माग० में = श्श : अवस्सं=अवश्यम् (एत्सें० ; ललित० ५५५, ५ ; शकु० ४४, ६ ; १२८,९ ; विक्रमो० ५३, १२; मुद्रा० २६४, ५ ; कर्पूर० १०३, ६), महा० में णासइ, अ०माग० में णस्सइ, जै०महा० में नासइ और शौर० में णस्सदि = नश्यति है , जै०महा० में नस्सामो=नश्यामः, माग० में विणश्शदु रूप भी देखा जाता है (§ ६०)। शौर० में राअसाल= राजश्याल (मृच्छ० २३, १९ ; ५८, ७ , १५१, १६ ; १७३, १) है। महा० में वेसा = वेश्या (हाल), शौर० में वेसाजण (मृच्छ० ५७, १५) और वेस्साजण रूप आये हैं (मृच्छ० ५३, २०)। अ०माग० में वेॅस्स और वइस्स = वैश्य (§ ६१) है। — श्र = स्स तथा = माग० में श्श : महा० शौर० अ०माग० में मंस, शौर० में मिस्स तथा माग० रूप मिश्श = मिश्र (§ ६४) है। महा०, जै०महा० और शौर० में वीसमइ = विश्राम्यति, शौर० में विस्समीअदु रूप भी मिलता है (§ ६४ और ४८९)। शौर० में सुस्सूसिदपुरुव्वो सुस्सूसिदव्वो= शुश्रूषितपूर्व. शुश्रूषितव्यः (मृच्छ० ३९, २३) ; शुश्शूशिदे = शुश्रूषितः (मृच्छ० ३७,१) है। अ०माग०, जै०महा० और शौर० में सेॅट्ठि=श्रेष्ठिन् (उवास० ; नायाध० ; निरया० ; ओव० ; एत्सें० ; मृच्छ० २८, २० ; १४२, १२ ; शकु० १३९, ५; मुद्रा० ४१, ८ ; ४३, १ ; २४३, २ ; २४८, ७ ; २५२, २५४,४) है।

अंसु = अश्रु और मंसु = श्मश्रु के विषय में § ७४ देखिए। — श्ल=स्ल और = माग० में श्श : महा० और अ०माग० में **सण्ह** = **श्लक्ष्ण**[1] (भाम० ३,३३ ; हेच० १, ११८ ; २, ७५ और ७९ ; मार्क० पन्ना २१ और २६ ; हाल ; रावण० ; विवाह० ४२६ ; उत्तर० १०४० ; नायाध० ; ओव० ; कप्प०) ; महा० में परि- **सण्ह** = **परिश्लक्ष्ण** (रावण०), किन्तु यह रूप महा० में **लण्ह** भी मिलता है (हेच० २, ७७ ; मार्क० पन्ना २१ ; कर्पूर० ८८, २ ; ९६, २), **लण्हअ** भी आया है (कर्पूर० ४९, ११) ; इन रूपों में स्, ल के साथ घुलमिल गया है। अ०माग० में कभी कभी दोनों रूप एक दूसरे के बाद साथ साथ आते हैं, जैसे : **सण्ह लण्ह** (सम० २११ और २१४ ; पण्णव० ९६ ; ओव० § १६६) है। अ०माग० में **सग्घ** = **श्लाघ्य** (सूय० १८२) ; **साहणीअ** = **श्लाघनीय** (मालवि० ३२,५), किन्तु इसी अर्थ में **लाहइ** भी आता है जो = **श्लाघते** (हेच० १,१८७) है। अ०माग० में **सेॅम्भ**, अ०माग०, जै०महा० और अप० में **सिम्भ** तथा बोली में चलनेवाला रूप **सेफ** = **श्लेष्मन्** (§ २६७ और ३१२) है, किन्तु अ०माग० में **लिस्सन्ति*** = **श्लिष्यन्ते** (सूय० २१८) है। — अ०माग० में **लेसणया** लौयमान[2] के अनुसार = (सं) **श्लेषणता** होना चाहिये पर ऐसा नहीं है, यह = **रेषणता** (= हानि पहुँचाने का भाव) है। साधारणतया यह ध्वनिसमूह अ तथा इ द्वारा पृथक् कर दिया जाता है (जैसे 'श्लाघनीय' का हिन्दी रूप 'सराहनीय' है। —अनु०)। — श्व=स्स और माग० में = श्श : महा०, अ०माग० और जै०महा० में **आस**, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **अस्स** = **अश्व** (§ ६४) है। महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **पास**=**पार्श्व** (§ ८७), शौर० में **पस्स** रूप अशुद्ध है [**पस्स** रूप पाली भाषा का है। —अनु०] (प्रिय० २३, १६)। जै०शौर० में **विणस्सर** = **विनश्वर** (कत्तिगे० ४०१, ३३९) है। शौर० में **विस्सावसु** = **विश्वावसु** (मल्लिका० ५७, १), माग० में इसका **विश्शावशु** रूप है (मृच्छ० ११, ९)। महा० में **ससइ**, **आससइ** = **श्वसिति** और **आश्वसिति** ; महा० में **ऊससइ** = **उच्छ्वसिति** ; महा० में **णीस- सइ**, अ०माग० में **निस्ससइ** और शौर० रूप **णीससदि** = **निःश्वसिति** ; माग० में **शसदि**, **ऊशशदु**, **णीशशदु** और **शमश्शसदु** रूप पाये जाते हैं (§ ४९६)। महा० **सावअ**, जै०महा० **सावय** और शौर० तथा अप० रूप **सावद** = **श्वापद** (गउड० ; रावण० ; एत्सें० ; शकु० ३२, ७ ; मृच्छ० १४८,२२) है। — ष्य = स्स और माग० में = श्श : शौर० में **अभुजिस्सा** = **अभुजिष्या** (मृच्छ० ५९, २५ ; ६०, ११ ; ६५,१) है। अ०माग० में **आरुस्स** = **आरुष्य** (सूय० २९३), इसके साथ साथ **आरुसीयाणं** रूप भी पाया जाता है (आयार० १, ८, १, २)। शौर० में **पुस्सराअ** = **पुष्यराग** (मृच्छ० ७०, २५ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिये)[1] है। अ०माग० और जै०महा० में **मणूस**, महा०, अ०माग० और शौर० में **मणुस्स** तथा माग० में **मणुश्श** = **मनुष्य** (§ ६३) है। अ०माग० और जै०महा०

* इस लिस् से कुमाउनी में कई शब्द बने हैं, जैसे लिसो = चीड़ के पेड़ की राल, लसो = तेल का चिपकाट और चिपकटपना और लेसीणो = चिपकना। —अनु०

नीस, जै०महा० और शौर० सिस्स = शिष्य (§ ६३) है। भविष्यकालवाचक रूपों में जैसे, अप० में करीसु = करिष्यामि (हेच० ४, ३९६, ४), फुट्टिसु = = स्फुटिष्यामि (हेच० ४, ४२२, १२), इसी प्रकार जै०महा० में भविस्सइ, शौर० में भविस्सदि, माग० में भविदशदि, महा० में होस्सं और अप० में होस्सइ रूप है (§ ५२१)। महा०, अ०माग०, जै०महा० और अप० में दीर्घ स्वर से पहले और बहुधा ह्रस्व स्वर से पहले भी सरल स बनकर ह रूप धारण कर लेता है, जैसे काहिमि, काहामि और काहं = *काष्यामि = करिष्यामि ; होहामि और होहिमि = *भोष्यामि ; कित्तइहिमि = कीर्तयिष्यामि और अप० में पेक्खीहिमि = *प्रेक्षिष्यामि (§ २६३ और ५२० तथा उसके बाद) है। — ष्व = स्स और = माग० में श्श : अ०माग० में ओसक्कइ और पच्चोसक्कइ = *अपष्वष्कति और *प्रत्यपष्वष्कति ; महा० में परिसक्कइ = *परिष्वष्कति (§ ३०२); शौर० में परिस्सअदि = परिष्वजते (मालती० १०८, ३ ; मृच्छ० ३२७, १० = गौडबोले संस्करण का ४८४, १२), परिस्सअध = परिष्वजध्वम् (शकु० ९०, ८ ; विक्रमो० ११, २ ; उत्तर० २०४, ५), परिस्सइअ = परिष्वज्य (शकु० ७७, ९ ; मालती० २१०, ७) है। अ०माग० पिउसिया, महा० पिउस्सिआ, अ०माग० पिउस्सिया तथा महा० और अ०माग० पिउच्छा = पितृष्वसा और अ०माग० में माउसिया, महा० माउस्सिआ एवं माउच्छा = मातृष्वसा जो लोगों की बोली में पुप्फा और पुप्फिआ बन गये हैं। इनके विषय में § १४८ देखिए। — स्य = स्स और = माग० श्श : महा०, जै०महा० और शौर० में रहस्स = रहस्य (गउड०; हाल ; कर्पूर० ६६, ११ ; एत्सें० ; मृच्छ० ६०, ७ ; विक्रमो० १५, ३ और १२ ; १६, १ ; ११ और १८ ; ७९, ९ ; कर्पूर० ६७, १) है। महा० और शौर० में वअस्स, महा० में वअंस तथा जै०महा० रूप वयंस = वयस्य (§ ७४) है। शौर० में हस्स = हास्य (मृच्छ० ४४, १) है। षष्ठी एकवचन में जहाँ –स्स लगता है, जैसे महा० और शौर० कामस्स = कामस्य (हाल २ ; १४८ ; ३२६ ; ५८६ ; शकु० १२०, ६ ; प्रबोध० ३८, १२ ; कर्पूर० ९३, १) में भी स्य का स्स हो जाता है। लोगों की बोली में स द्वारा (§ २६४) इसका रूप ह हो जाता है : माग० में कामाह (मृच्छ० १०, २४), अप० में कामहों (हेच० ४, ४४६), इनके साथ-साथ महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर० और ढक्की में तस्स, माग० में तश्श, अप० में तस्सु , तसु और तासु, महा० में तास, माग० रूप ताह और अप० ताहों = तस्य (§ ४२५) है। भविष्यकालवाचक क्रिया में भी यही नियम है, जैसे अ०माग० दाहामो और इसका पर्याय दासमो = दास्यामः (§ ५३०) ; जै०महा० में पाहामि और अ०माग० रूप पाहं = पास्यामि तथा अ०माग० पाहामो = पास्यामः (§ ५२४) है। — स्र = स्स और = माग० श्श : शौर० में उस्सा = उस्रा (ललित० ५५५, १) ; जै०महा० में तमिस्सा = तमिस्रा (कालका०) ; महा० में वीसम्भ और शौर० में विस्सम्भ = विस्रम्भ (§ ६४) ; महा०, अ० माग०, जै०महा०, जै०शौर० और शौर० में सहस्स ; माग० में

शहस्श = सहस्र (§ ४४८) है। —स्व = स्स और = माग० श्श : पल्लव दानपत्रों में वप्पसामीहि = वप्पस्वामिभिः (६, ११), सककाले = स्वककाले (७, ४४), सहत्थ = स्वहस्त (७, ५१) ; जै०महा० और शौर० में तवस्सि-, माग० में तवश्शि = तपस्विन् (एर्त्से० ; कालका० ; शकु० २२, ७ ; ७६, ८) ; जै०महा० और शौर० में तवस्सिणी तथा माग० में तवश्शिणी = तपस्विनी (कालका० ; शकु० ३९, ४ ; ७८, ११ ; १२३, १२ ; १२९, १६ ; माग० में : (मृच्छ० १५२, ६) ; महा० और जै०महा० में सरस्सइ और शौर० में सरस्सदी = सरस्वती (गउड० ; एर्त्से० ; विक्रमो० ३५, ५) ; महा० में सिण्ण = स्विन्न (गउड० ; हाल) ; शौर० में साअदं और माग० में शाअदं = स्वागतम् (§ २०३) है। महा० रूप मणंसि = मनस्विन् और अ०माग० ओयंसि = ओजस्विन् तथा अन्य इसी प्रकार रूपों के लिए § ७४ देखिए। हंस = ह्रस्व और इसके साथ साथ ह्रस्स, रहस्स आदि के लिए § ३५४ देखिए।

१. हेमचंद्र और कू० स्सा० २३, ५९८ में याकोबी अशुद्ध रूप में सण्ह का संबंध सूक्ष्म से बताता है और हेमचंद्र २, ७५ में स्पष्ट ही इसके दो भेद करता है, सण्ह = सूक्ष्म, सण्ह = श्लक्ष्ण। त्सा०डे०डौ०मौ०गे० २८, ४०२ में वेबर ने इस विषय पर ठीक ही लिखा है, पी० गौल्दश्मित्त, स्पेसिमेन पेज ६८, चाइल्डर्स [के पाली कोश में। — अनु०] सण्हो शब्द देखिए। — २. औपपत्तिक सूत्र में यह शब्द देखिए। — ३. रुद्रट के शृंगारतिलक, पेज १०२ और उसके बाद में पिशल का मत, महाव्युत्पत्ति २३५, २८।

§ ३१६— क, त, प + श, ष, स की सन्धि होने पर संस्कृत व्याकरणकारों के अनुसार क, त और प की ध्वनि जनता की बोली में ह्-कार युक्त हो जाती है : क्षीर का रूप ख्षीर हो जाता है, वथ्स होता है और साथ साथ वत्स भी तथा अफ्तरस् हो जाता है और साथ-साथ अप्सरस् चलता है[१]। प्राकृत में सर्वत्र ही त्स और प्स के लिए इस उच्चारण की सूचना मिलती है। मौलिक क्ष पर यह नियम तब लगता है जब क्ष, ष्श तक पहुँचता है[२]। इस दशा में ह्-कार श, ष और स में आ जाता है और § २११ के अनुसार च्छ हो जाता है। इसके विपरीत मौलिक क्ष में ह्-कार का लोप हो जाता है और ध्वनियाँ पल्ट जाती हैं, जैसे माग० रूप स्क और ह्क प्रमाणित करते हैं और क्ष के स्थान पर एक होकर क्ख बन जाता है (§ ३०२)। आस्कोली[३] का यह मानना कि ष बाद को ख बन गया है प्राकृत भाषाओं से पुष्ट नहीं किया जा सकता (§ २६५), इसी भाँति योहानसोन[४] के इस सिद्धान्त को भी कोई पुष्टि नहीं मिलती। भिन्न भिन्न ध्वनिपरिवर्तनों का आधार उच्चारण, वर्ण पृथक्त्व और ध्वनिबल पर स्थिर है[५]।

१. योहानसोन, शाहबाजगढ़ी २, २१ और उसके बाद में साहित्य सूची, वाकरनागल, आल्ट इंडिशे ग्रामाटीक § ११, ३। — २. वाकरनागल, आल्ट इंडिशे ग्रामाटीक § ११६। — ३ क्रिटिशे स्टुडिएन, पेज २३६ और उसके बाद। — ४. शाहबाजगढ़ी २, २२। — ५ गो०गे०आ० १८८१, पेज १३२२ और उसके बाद में पिशल का मत।

§ ३१७—प्राकृत व्याकरणकार क्ष का ख में ध्वनिपरिवर्तन को नियमानुसार मानते हैं (वर० ३, २९ ; हेच० २, ३ ; क्रम० २, ८८ ; मार्क० पन्ना २४) और उन्होंने वे शब्द जो क्ष की ध्वनि ख में नहीं प्रत्युत छ में परिवर्तित करते हैं, आकृतिगण अक्षादि में एकत्रित किये हैं (वर० ३, ३० ; हेच० २, १७ ; क्रम० २, ८२ ; प्राकृत कल्पलतिका पेज ६०) । मार्क० पन्ना० २४ में उन शब्दों की सूची दी गयी है जो क्ष के स्थान पर छ रूप ग्रहण कर लेते हैं ; इनको मार्कंडेय ने आकृतिगण क्षुरादि में एकत्रित किया है और इसमें ये शब्द गिनाये हैं : **क्षुर, अक्षि, मक्षिका, क्षीर, सदृक्ष, क्षेत्र, कुक्षि, इक्षु, क्षुधा** और **क्षुध्** । मार्कंडेय उन शब्दों को जिनमें क्ष, छ और ख दोनों रूप धारण करता है आकृतिगण **क्षमादि** में एकत्रित करता है । व्याकरणकारों ने जिन शब्दों के लिए ये गण दिये हैं महा० के ही लिए वे प्रयुक्त हो सकते हैं । अन्य प्राकृत भाषाओं में ध्वनि बदलती रहती है, यहाँ तक कि एक प्राकृत बोली में ख–और छ वाले रूप पास पास में दिखाई देते हैं । यह सब इस प्रकार होता है कि ध्वनि–परम्परा को कोई दोष नहीं दिया जा सकता (§ ३२१) । इसकी मूल परिस्थिति क्या थी इसके उत्तम निदर्शन 'अवेस्ता' में मिलते हैं ।

§ ३१८—संस्कृत क्ष आदिकाल में क्ष्य तक पहुचता है तो अवेस्ता में इसका रूप श्रॅ हो जाता है और प्राकृत में मौलिक *क्ष्ह और *क्छ के द्वारा च्छ रूप ग्रहण कर लेता है : छअ = अवेस्ती शॅत जो हुशॅत में पाया जाता है और = क्षत जो क्षन् धातु का एक रूप है (हेच० २, १७ ; [इसमें **छय = क्षत** दिया गया है । पुरानी हिन्दी में **छय** रूप मिलता है, कुमाउनी में क्षय रोग को छे कहते हैं । —अनु०]) ; इससे सम्बन्धित अ०माग० में **छण** (=हत्या) रूप है जो= **क्षण** के (आयार० १, २, ६, ५ ; १, ३, १, ४ , १, ५, ३, ५), **छणे** = *क्षणेत् (आयार० १, ३, २, ३ , १, ७, ८, ९), **छणावए** और **छणत्तं** = *क्षणापयेत् और *क्षणत्तम् (आयार० १, ३, २, ३ ; [कुमाउनी बोली छन का अर्थ हत्या होता है । यह अ०माग० शब्द इसमें रह गया है । अनु०]) ; किन्तु महा० में **खअ** = **क्षत** (गउड० ; हाल ; रावण०), **परिक्खअ** रूप मिलता है (रावण०) ; अ०माग० में **खणह** रूप है = *क्षणत (आयार० १, ७, २, ४) ; अ०माग० में **अक्खय** रूप भी है और जै०शौर० में **अक्खद** आया है (सूय० ३०७ , पव० ३८५, ६९) ; शौर० में **परिक्खद** (मृच्छ० ५३, २५ ; ६१, २४ ; शकु० २७, ९), **अपरिक्खद** (विक्रमो० १०, ४), **अवरिक्खद** (मृच्छ० ५३, १८ और २४) रूप पाये जाते हैं । — महा०, अ०माग० और जै०महा० **छुहा** = अवेस्ती **शुॅध** = **क्षुधा** (सब व्याकरणकार , हाल ; ठाणग० ३२८ , विवाह० ४० और ६४७ , राय० २५८ ; नायाध० ३४८ ; ओव० ; द्वार० ५००, ७ ; एर्से०), **छुहाइय** (=भूखा : पाइय० १८३) रूप भी देखने में आता है , किन्तु अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **खुहा** रूप भी चलता है (ठाणग० ५७२ ; विवाह० १६२ ; ४९३ ; ८१६ ; पण्हा० २०० ; नायाध० ; ओव० ; दस० ६३५, १६ [पाठ में **खुप्पिवासाए** है] ; दस० नि० ६६२, १ और २ ; एर्से०; कर्पूर० बबइया सस्करण

७६, ९ जब कि कोनो ७५, ६ में छुहा पढता है); अ०माग० मे खुहिय = क्षुधित (पण्हा० ३४०) है। — महा० में छेत्त और अ०माग० मे छित्त = अवेस्ती शोइध्र = क्षेत्र किन्तु अ०माग०, जै०महा०, जै० शौर० और शौर० में खेत्त तथा अ०माग० मे खित्त रूप भी है (§ ८४)। — महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में अच्छि = अवेस्ती अशि = अक्षि (सब व्याकरणकार; गउड०; हाल; रावण०; आयार० १, १, २, ५; १, ८, १, १९; २, २, १, ७; २, ३, २, ५; विवाग० ११; विवाह० ११५२; आव० एर्त्से० ८, २०; ३०, ४; द्वारा० ३०, ५; ३१, १३; विक्रमो० ४३, १५; ४८, १५; रत्ना० ३१९, १८; कर्पूर० ११, २; नागा० ११, ९; जीवा० ८९, ३); किन्तु अ०माग०, जै०महा०, शौर० और अप० में अक्खि भी मिलता है (सूय० ३८३; एर्त्से०; विक्रमो० ३४, १; अनर्घ० ३०५, १३; हेच० ४, ३५७, २)। — अ०माग० अच्छ (§ ५७); महा०, अ०माग० और शौर० रिच्छ (§ ५६) = अवेस्ती अरेशो = ऋक्ष; किन्तु महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० मे रिक्ख रूप भी मिलता है (§ ५६)। — महा० कच्छ = अवेस्ती कशो = कक्ष (हाल); किन्तु अ०माग० और जै०महा० मे कक्ख रूप भी मिलता है (गउड०; रावण०; नायाध० ४३४)। — तच्छइ (हेच० ४, १९४), अ०माग० मे तच्छिय (उत्तर० ५९६ [पाठ में तच्छिय है]) = अवेस्ती तशो = तक्षति और *तक्षित; किन्तु तक्खइ रूप भी पाया जाता है (हेच० ४, १९४), तक्खाण = तक्षन् (§ ४०३) है।

§ ३१९—मौलिक क्ष अवेस्ता में ह्शॅ (उच्चारण में प्रायः क्ष। —अनु०) और प्राकृत में ख्ख हो जाता है : अ०माग० में खत्तिय और शौर० में खत्तिअ = क्षत्रिय (सूय० १८२; ३७३; ४९५; ५८५; सम० २३२; उत्तर० १५५ और उसके बाद; ५०६; ७५४, विवाग० १५२ और उसके बाद; विवाह० १३५; ओव०; कप्प०; महावीर० २८, १४; २९, २२, ६४, २१; उत्तर० १६७, १०; अनर्घ० ५८, ८; ७०, १; १५५, ५, १५७, १०; हास्या० ३२, १; प्रसन्न० ४७, ७; ४८, ४ और ५); जै०महा० में खत्तिआ रूप आया है (कक्कुक शिलालेख ३); अ०माग० खत्तियाणी = क्षत्रियाणी (कप्प०), खत्ति = क्षत्रिन् (सूय० ३१७), शौर० में णिःखत्तीकद रूप = निःक्षत्रीकृत (महावीर० २७, ६), इन सबका सम्बन्ध अवेस्ती ह्शॅथ्र से है। — अ०माग० और जै०महा० में खीर = अवेस्ती ह्शीर = क्षीर (हेच० २, १७; सूय० ८१७ और ८२२; विवाह० ६६० और ९४२; पण्णव० ५२२; उत्तर० ८९५, उवास०; ओव०; कप्प०; नायाध०; आव० एर्त्से० २८, २३; ४२, २); खीरी = क्षीरी (पाइय० २४०); महा० खीरोअ और जै०महा० खीरोय = क्षीरोद (गउड०; हाल; एर्त्से०); अ०माग० में खीरोदय रूप भी मिलता है (ओव०); शौर० में खीरसमुद्द = क्षीरसमुद्र (प्रबोध० ४, ७); किन्तु महा० में छीर रूप भी है (सब व्याकरणकार; पाइय० १२३; गउड०; हाल); अ०माग० मे छीरविराली = क्षीरविडाली (विवाह० १५३२; [पाठ मे छीरविराली है]) है। मार्कण्डेय पन्ना ६७ में स्पष्ट रूप में लिखता

है कि शौर० में खीर रूप ही आना चाहिए। — खिवइ = क्षिपति का सम्बन्ध अवेस्ता के ह्शिप् से है (हेच० ४, १४३), महा० में अक्खिवइ = आक्षिपति (रावण०), उक्खिवइ = उत्क्षिपति (हाल), समुक्खिवइ रूप भी पाया जाता है (गउड०) ; जै०महा० में खिवत्ति रूप मिलता है (एर्त्सें० ८३, १८), खिवेइ भी आया है (एर्त्सें०) ; अ०माग० में खिवाहि देखा जाता है (आयार० २, ३, १, १६), पक्खिवइ भी है (आयार० २, ३, २, ३), पक्खिवेज्जा (आयार० २, ३, २, ३ ; विवाह० २७०), निक्खिवयव्व (पण्हा० ३७३), पक्खिवप (सूय० २८० ; २८२ ; २८८ ; ३७८) ; शौर० का खिविदुं = क्षेप्तुम् (विक्रमो० २५, १६), खित्त = क्षिप्त (मृच्छ० ४१, ६ और २२ ; [यह रूप कुमाउनी में प्रच लित है, इसके नाना रूप चलते हैं। —अनु०]), अक्खित्त = आक्षिप्त (विक्रमो० ७५, २ [यहां यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), उवक्खिव = उपक्षिप (मृच्छ० ७२, १४), उक्खिविअ = उत्क्षिप्य (मृच्छ० ३, १७), णिक्खिविदुं = निक्षेप्तुम् (मृच्छ० २४, २२) रूप पाये जाते हैं, णिक्खित्त भी मिलता है (मृच्छ० २९, १३ ; १४५, ११ ; शकु० ७८, १३ ; विक्रमो० ८४, ८ ; [इसका कुमाउनी में निखित्त और निक्खिद्द रूप बुरे के अर्थ में वर्तमान है। —अनु०]), णिक्खिविअ भी आया है (विक्रमो० ७५, १०), परिक्खिवीआमो = परिक्षिप्यामहे (चंड० २८, ११) आदि आदि ; किन्तु उच्छित्त रूप भी देखने में आता है जो = उत्क्षिप्त (भाम० ३, ३० ; देशी० १, १२४ ; पाइय० ८४) और महा० में छिवइ रूप भी है (= छूना [यह रूप स्पृश् से निकला है न कि क्षिप् धातु से। —अनु०] : हेच० ४, १८२ ; गउड० ; हाल ; रावण०), छित्त (= छुआ हुआ : हेच० ४, २५८ ; पाइय० ८५ ; हाल) भी आया है। — अ०माग० और जै०महा० में खुद्द = क्षुद्र, खुड्डय और अ०माग० खुड्डग = क्षुद्रक (§ २९४ ; [पाठक इसकी तुलना फारसी रूप खुर्द से करें जो खुर्दबीन में है। —अनु०]) = अवेस्ती ह्शुद्र (= बीज ; वीर्य) है। — महा० में खुण्ण = क्षुण्ण (देशी० २, ७५ ; पाइय० २२२ ; हाल), इसका सम्बन्ध अवेस्ता के ह्शुस्त से है ; किन्तु उक्खुण्ण रूप भी मिलता है जो = उत्क्षुण्ण के (पाइय० २०१) है। — महा० में खुब्भइ = क्षुभ्यति (हेच० ४, १५४ ; रावण०), संखुहिअ भी देखा जाता है (गउड०), अ०माग० में खोभइउं = क्षोभयितुम् है (उत्तर० १२१), खोभित्तए (उवास०), खुभिय (ओव०), फोखुन्भमाण (§ ५५६ रूप भी पाये जाते हैं, शौर० में संखोहिद = संक्षोभित (शकु० ३२, ८) है ; अप० में खुहिअ आया है (विक्रमो० ६७, ११) ; महा० में खोह = क्षोभ (रावण०), जै०शौर० में मोहक्खोह आया है (पव० ३८०, ७) ; किन्तु पल्लवदानपत्र में छोभं = क्षोभम् (६, ३२) है ; विच्छुहिरे = विक्षुभ्यन्ति (हेच० ३, १४२) ; अ०माग० में छुभन्ति, उच्छुभइ और निच्छुभइ रूप मिलते हैं ; जै०महा० में छुभइ और छुहइ रूप काम में आये हैं ; महा० में विच्छुहइ तथा अन्य इसी प्रकार के रूप हैं (§ ६६)। — महा० में खिक्खइ = दिक्षति (हाल) ; महा० और अप० में सिक्खिअ , जै०महा० में

सिक्खिय तथा शौर० में सिक्खिद रूप = शिक्षित (गउड० ; हाल ; एर्त्से० ; मृच्छ० ३७, ५ ; विक्रमो० ६२, ११) ; जैमहा० और शौर० मे सिक्खत्त रूप आया है (एर्त्से०; मृच्छ० ७१, २१) ; शौर० में सिक्खीअदि और सिक्खिदुकाम रूप देखे जाते हैं (मृच्छ० ३९, २२, ५१, २८)। सिक्खावेमि भी पाया जाता है (प्रिय० ४०, ४) । इन सबका सम्बन्ध अवेस्ता के असिह्शॅन्त से है।

§ ३२०—कभी कभी अवेस्ता की भाषा और प्राकृत भिन्न भिन्न पथ पकड़ते हैं। उच्छ = उक्षन् (भाग० ३,३० ; हेच० २,१७ ; ३,५६), उच्छाण भी मिलता है, किन्तु अवेस्ता मे उह्शॅन् रूप है, किन्तु मार्कण्डेय पन्ना २४ में उक्ख तथा इसके साथ-साथ उच्छ रूप काम मे लाने की अनुमति देता है। — पल्लवदानपत्र, महा०, अ०माग०, जैमहा०, शौर० और आव० में दक्खिण = दक्षिण (§ ६५); शौर० में दक्खिणा = दक्षिणा (मृच्छ० ५, १ ; कर्पूर० १०३, ६), किन्तु अवेस्ती मे दशिॅन रूप है। तो भी अ०माग० मे दच्छ (उवास० रूप मिलता है [कभी इस च्छ युक्त रूप का यथेष्ट प्रचार रहा होगा क्योंकि प्राचीन तथा सुरक्षित और प्राकृत रूप बहुत कुमाउनी बोली में दक्षिण को दच्छिण और दक्षिणा को दच्छिणा कहते हैं। —अनु०] ; इसके साथ साथ अ०माग० तथा जैमहा० में दक्ख भी पाया जाता है (नायाध० ; ओव० ; एर्त्से०)। — महा० मच्छिआ (सब व्याकरणकार ; हाल), अ०माग० और जैमहा० मच्छिया (विवाग० १२; उत्तर० २४५; १०३६ ; १०६४ ; ओव० ; द्वार० ५०३, ६) और अ०माग० मच्छिगा (पण्हा० ७२) = अवेस्ता का मह्शिॅ= मक्षिका ; किन्तु शौर० में णिम्मक्खिअ = निर्मक्षिक है (शकु० ३६, १६ ; १२४, ७ ; विद्ध० ६२, २) । — महा०, अ०माग०, जैमहा० और शौर० मे रक्खस = राक्षस (रावण०, सूय० १०५ ; ३३९, ४६८ ; उत्तर० ६९६ ; १०८४; ठाणग० ९० ; ओव० ; एर्त्से० ; मृच्छ० ६८८ ; शकु० ४३, ६ ; ४५, १ ; महावीर० ९६, १२ ; ९७, ७ ; १५ ; ९९, २ , बाल० २२१, ५) ; अ०माग० मे रक्खसी= राक्षसी (उत्तर० २५२) का सम्बन्ध अवेस्ता के रशॅ और रॅशंह से है। — महा० और जैमहा० में वच्छ = वृक्ष (सब व्याकरणकार ; पाइय० ५४ ; गउड०; कर्पूर० ६४, २ ; एर्त्से० ; दस० नि० ६४५, ६ [इस स्थान पर यह एक सूची मे गिनाया गया है जिसमें वृक्ष के पर्यायवाची शब्दों की तालिका दी गयी है]) है। इसका सम्बन्ध अवेस्ता के उर्वाश् (= उर्वरा होना ; पेड पौधों का बढना) से है। वर० ३, ३१ ; हेच० २, १२७ , क्रम० २, ८३ और मार्क० पन्ना २४ के अनुसार वृक्ष शब्द से वच्छ के अतिरिक्त रुक्ख रूप भी बनता है तथा रामतर्कवागीश और मार्कण्डेय पन्ना ६६ के अनुसार शौर० मे केवल रुक्ख रूप ही काम मे लाया जाता है (हेच० १, १५३ ; २, १७ पर पिशल की टीका) । अ०माग० और शौर० मे केवल रुक्ख काम मे आता है (आयार० १, ७, २, १ ; १, ८, २, ३ ; २, १, २, ३ ; २, ३, २, १५ ; २, ३, ३, १३ ; २, ४, २, ११ और १२ ; सूय० १७९ ; ३१४ ; ३२५ ; ४२५ ; ६१३ ; विवाह० २७५ और ४४५ ; सम० २३३ ; पण्णव० ३०; राय० १५४ ; जीवा० ५४८ और ५५० तथा उसके बाद दस० नि० ६४५, ५ ; नायाध०; ओव०; कप्प०, मृच्छ०

४०, २४ ; ७२, ८ ; ७३, ६ और ७ ; ७७, १६ ; ८७, ११ और १२; शकु० ९, १० ; १० , २ ; १२, २ और ६; मालवि० ७२, ३) ; अ०माग० और शौर० में कप्परुक्ख = कल्पवृक्ष रूप मिलता है (आयार० २, १५, २० ; मल्लिका० २११, २) ; महा० और जै०महा० में भी रुक्ख रूप पाया जाता है (हाल ; रावण० ; आव० एर्त्से० ४७, ११ और उसके बाद ऋषभ० २१ ; एर्त्से०) ; जै०महा० में कप्परुक्ख देखा जाता है (एर्त्से०) किन्तु इस प्राकृत में वच्छ रूप भी चलता है। रुक्ख रूप का वृक्ष से नाममात्र का सम्बन्ध नहीं है परन्तु रुक्ख = रुक्ष, जिसे रोट ने 'यूबर गोविस्से क्युर्त्सुंगन डेस वीर्टेस इम वेदा' पेज ३ में प्रमाणित कर दिया है। इस शब्द का अर्थ वेद में पेड़ था।

§ ३२१—ऊपर दिये गये शब्दों के अतिरिक्त भी अन्य शब्दों में कभी क्ख और कभी च्छ देखा जाता है। ऐसा एक रूप महा०, अ०माग०, जै०महा० में उच्छु है, अ०माग० और शौर० में इक्खु है जो = इक्षु है [उच्छु से मराठी में ईख के लिए ऊस शब्द बना है और शौर० रूप इक्खु से हिन्दी का ईख बना है, कभी क्खु वर्ण के प्रभाव से शौर० में बोली में *उक्खु रूप चलता होगा जिससे हिन्दी में ऊख भी हो गया है। —अनु०], अ०माग० और जै०महा० में इक्खाग = ऐक्ष्वाक (§ ११७ और ८४) है। — महा०, अ०माग० और जै०महा० में कुच्छि = कुक्षि (गउड०, आयार० २, १५, २ ; ४, १० और १२ ; पण्हा० २८१ ; विवाह० २९५ ; १०३५ ; १२७४ ; उवास० ; कप्प० ; एर्त्से०) ; कुच्छिमई = कुक्षिमती (गर्भिणी : देशी० २, ४१), इसके साथ साथ अ०माग० और शौर० में कुक्खि रूप भी चलता है (नायाध० ३०० ; पण्हा० २१७ ; मालवि० ६५, १६), हेच० ने देशीनाममाला २, ३४ में इस रूप को देशी बताया है [कुक्खी शब्दोदेश्यः ; हेच० २, ३४ । —अनु०] । — छुर = क्षुर (सब व्याकरणकार), छुरमड्ढि- और छुरहत्थ=क्षुरमर्दिन् और क्षुरहस्त (=नाई : देशी० ३, ३१)। इसके साथ साथ महा० और अ०माग० में खुर भी मिलता है (कर्पूर० ९४, ४ , सूय० ५४६ ; विवाह० ३५३ ; १०४२ ; नायाध० ; उवास० ; कप्प०)। खुरपत्त = क्षुरपत्त्र (ठाणग० ३२१) है। —अ०माग० और अप० में छार = क्षार (=नमक का खार ; पोटाश [इसका अर्थ राख होना चाहिये जैसा कि हेच० ४, ३६५, ३ से सिद्ध होता है, वहाँ अइउज्झइ तो छारु पद है जिसका अर्थ हुआ 'यदि जल जाय तो राख हो जाय'। —अनु०] ; सब व्याकरणकार, उवास०, हेच० ४, ३६५, ३), छारीभूय = क्षारीभूत (विवाह० २३७), क्षारिय = क्षरित (विवाह० ३२२ और उसके बाद; ३४८), इसके साथ साथ अ०माग० और जै०महा० में खार मिलता है (सूय० २५० और २८१ ; ओव०; कालका०)। — § ३२६ की तुलना कीजिए। — महा०, अ०माग० और जै०महा० में पेच्छइ रूप आता है, किन्तु शौर० में पेक्खदि = प्रेक्षते है (§ ८४) । — महा०, अ०माग० और जै०महा० में वच्छ = वक्षम् (सब व्याकरणकार ; गउड० ; हाल ; रावण० ; कर्पूर० ८१, ४ ; उवास० ; नायाध० ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से०), किन्तु शौर० में वक्खत्थल = वक्ष स्थल

(मृच्छ० ६८, १९ ; धनजयवि० ११, ९ ; हास्या० ४०, २२)। यह प्रयोग बोली में काम में लाये जानेवाले रूप **वच्छयल** के विपरीत है (बाल० २३८, ९ ; मल्लिका० १५६, १० [पाठ में **वच्छट्ठल** है] ; [पाठ में **वच्छट्टल** है]; चैतन्य० ३८,११ ; ४९, ९)। — महा०, जै०महा० और जै०शौर० रूप **सारिच्छ**, किन्तु अ०माग०, शौर० और अप० में **सारिक्ख** = *सादृक्ष्य (§ ७८ और २४५) है। रूप की यह अस्थिरता यह सिद्ध करती है कि भारतीय भूमि में स्वयं एक ही बोली में बिना इसका नाममात्र विचार किये कि क्ष की भिन्न भिन्न व्युत्पत्तियाँ हैं दोनों उच्चारण [च्छ और क्ख । — अनु०] साथ-साथ चलने लगे[1]। उदाहरणार्थ लोग अश्चि और अक्षि उच्चारण करते थे और इसकी परम्परा प्राकृत में अच्छि और अक्खि रूप में व्यक्त हुई।

1. इस दृष्टि से क्रिटिशे स्टुडिएन, पेज २३८ और उसके बाद में आस्कोली ने शुद्ध लिखा है ; योहानसोन, शाहबाजगढ़ी २, २०। गो० गे० आ० १८८१, पेज १३२२ और उसके बाद में पिशल के विचार की तुलना कीजिए।

§ ३२२—क्ष पर नाना दृष्टि से विचार करने के साथ साथ यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्षण और क्षमा में अर्थ की विभिन्नता जुड़ी हुई है। भाम० ३, ३१, हेच० २, २० और मार्क० पन्ना २४ के अनुसार क्षण का जब छण रूप होता है तब उसका अर्थ 'उत्सव' होता है। इसके विपरीत जब खण होता है तब उसका अर्थ 'समय का छोटा भाग' या 'पल' होता है (गउड० ; हाल ; रावण० ; नायाध० § १३५ ; १३७ ; पेज ३००; दस० ६१३, ३९ ; कप्प० ; एर्त्से० ; कालका० ; ऋषभ० ; शकु० २, १४ ; १२६, ६ ; विद्ध० ९९, १ ; कर्पूर० ५८, ३ ; ५९, ६ ; १०५, ४)। मार्कण्डेय पन्ना ६७ के अनुसार शौर० में छ आता ही नहीं है [मेरे पास मार्कण्डेय के 'प्राकृतसर्वस्वम्' की जो प्रति है उसका आवरणपृष्ठ फट जाने से तिथि और प्रकाशनस्थान का कुछ पता नहीं चलता किन्तु छपाई यथेष्ट शुद्ध और साफ है। इससे पता नहीं लगता कि छ शौर० में आता ही नहीं है, क्योंकि इस आशय का सूत्र नहीं छपा है। इसमें इस विषय पर दो सूत्र हैं। एक मे है : (आदौपदस्य) **शावे छो न स्यात्** [शाव, शाव होना चाहिए], **सावो** ; दूसरा है : **क्षण क्षीर सदृक्षाणां छः** (न स्यात्), **खणो**, **खीरं** और **सरिक्खो** इनमें छ के स्थान पर ख आता है, इससे यह अर्थ लगाना चाहिए कि शौर० में क्ष का छ नहीं होता, जैसे **प्रेक्षते** का **पेक्खदि** होता है, **पेच्छदि** नहीं, किन्तु इस विषय पर कोई स्पष्ट और विशेष सूत्र नहीं दिया गया है। —अनु०]। शकुन्तला ११८, १३ मे भी तीन हस्तलिखित प्रतियों में **उवत्थिदक्खणे** आया है। क्रमदीश्वर २, ८३ में खण और छण रूप देता है, पर अर्थ में कोई भेद नहीं बताता। हेमचन्द्र २, १८ के अनुसार क्षमा का रूप जब **छमा** होता है तब उसका अर्थ 'पृथ्वी' होता है और जब **खमा** होता है तब उसका अर्थ 'क्षान्ति' या 'शांति' होता है। वररुचि ३, ३१ ; क्रमदीश्वर २, ८३ और मार्कडेय पन्ना २४ में **खमा** और **छमा** पास पास में आये हैं और इनके अर्थ में कोई भिन्नता नहीं बतायी

गयी है ; चड० ३, ४ में केवल खमा रूप दिया गया है। अ० माग० में छमा = 'पृथ्वी' के अर्थ में आया है (दस० ६४१, १०) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० में खमा = शांति (हाल ; विवाह० १६२ ; द्वार० ५०२, १९); अ०माग० में खमासमण = क्षमाश्रमण (कप्प०) है।

§ ३२३—अ०माग० और महा० में कभी कभी क्ष के आगे अर्थात् क्ष के बाद का दीर्घ स्वर बना रह जाता है। इस दशा में क्ख, ख रूप धारण करके (§ ८७) ह रूप धारण कर लेता है (§ १८८)। यह परिवर्तन बहुत अधिक ईस् धातु तथा इससे निकले नाना रूपों में होता है : अ०माग० में ईहा = ईक्षा[1] (नायाध० ; ओव० ; कप्प०); अ०माग० मे अणुप्पेहन्ति = अनुप्रेक्षन्ते (ओव० § ३१), अणुप्पेहाए रूप आया है (आयार० २, १, ४, २), अणुप्पेहा = अनुप्रेक्षा (ठाणग० २११ और २१३ ; उत्तर० ८९, ९ ; ओव०), उवेहेज्जा भी मिलता है (आयार० २, १, ५, ५ और ९, २ ; २, ३, १, १६ और १८ ; २, ३, २, १ और ३, ८), उवेहमाण = उपेक्षमाण (आयार० १, ३, १, ३ ; १, ४, ४, ४ ; २, १६, ४), पेहे= प्रेक्षेते (उत्तर० ७२६), पेह = प्रेक्षस्व (सूय० १३९), पेहमाण भी है (आयार० १, ८, २, ११ ; १, ८, ४, ६ ; २, ३, १, ६) ; जै०महा० में पेहमाणीओ रूप पाया जाता है (आव० एर्सें० १७,१०) ; अ०माग० में पेहाए चलता है (आयार० १, २, ५, ५ ; १, ८, १, २० ; १, ८, ४, १० ; २, १, १, ३ ; २, १, ४, १ और ४ तथा उसके बाद ; २, १, ९, २ ; २, ४, २, ६ ; उत्तर० ३३), पेहिय भी काम में आया है (उत्तर० ९१९), पेहिया (सूय० १०४), पेहियं (दस० ६३३, ३), पेहा = प्रेक्षा (दस० ६१३, २१), पेहि = प्रेक्षिन् (आयार० १,८,१,२०; उत्तर० ३०), पेहिणी (उत्तर० ६६३), समुप्पेहमाण (आयार० १, ४, ४, ४), समुपेहमाण (सूय० ५०६), समुपेहिया (दस० ६२९,३९), संपेहेइ (विवाह० १५२ ; २४८ ; ८४१ ; ९१६ ; उवास० ; नायाध० ; निरया० ; कप्प०), संपेहेई (दस० ६४३, १०), संपेहाए (आयार० १, २, ४, ४ ; १, ५, ३, २ ; १, ६, १, ३ [पाठ में सँपेहाए है] ; सूय० ६६९), सँपेहिया (आयार० १, ७, ८, २३) और संपेहित्ता रूप पाये जाते हैं (विवाह० १५२ और २४८)। इसके अतिरिक्त अ०माग० लूह और इसके साथ-साथ लुक्ख = रूक्ष, लूहेइ और लूहिय = रूक्षयति तथा रूक्षित[1] (§ ८७ और २५७); अ०माग० और जै०महा० में सेह = पाली सेख = संस्कृत शैक्ष (आयार० २, २, ३, २४ ; सूय० १६५ ; ५११ और ५२० ; ओव० ; कप्प० ; कालका०) ; अ०माग० में सेहन्ति = *शैक्षन्ति (सूय० ११५), सेहावेइ = शैक्षापयति[1] (विवाह० ७९७ ; ओव० ; नायाध०), सेहाविय रूप भी मिलता है (विवाह० १२४६)। — यही ध्वनिपरिवर्तन अ०माग० में गौण ह्रस्व स्वर में भी हुआ है : सुहुम और सुहम = सूक्ष्म (§ ८२ ; १३१ और १४०); महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में गौण दीर्घ स्वर में भी यही परिवर्तन हुआ है : दाहिण = दक्षिण ; अ०माग० में दाहिणिल्ल, आयाहिण,

पयाहिण, पायाहिण (§ ६५) और **देहई, देहए** = *दक्षति, *दक्षते तथा अप० में **द्रेहि** ऐसे ही रूप हैं (§ ६६ और ५४६)।

१. लौयमान द्वारा संपादित औपपत्तिक सूत्र में यह शब्द देखिए, इस नियम के अनुसार लौयमान ने ठीक ही लिखा है ; कल्पसूत्र में यह शब्द देखिए, याकोबी ने=ईहा अशुद्ध लिखा है और स्टाइनटाल ने भी अशुद्ध लिखा है, उसका स्पेसिमेन देखिए। — २. इस नियम के अनुसार लौयमान ने शुद्ध लिखा है। उसके औपपत्तिक सूत्र में यह शब्द देखिए; याकोबी और स्टाइनटाल ने अपने उक्त ग्रन्थों में=लूपित अशुद्ध लिखा है। — ३. इस नियम के अनुसार लौयमान ने शुद्ध लिखा है, औपपत्तिक सूत्र में यह शब्द देखिए ; स्टाइनटाल ने अपने ऊपर दिये गये ग्रन्थ में = **सेधयति** लिखा है जो अशुद्ध है।

§ ३२४— वररुचि ११, ८ के अनुसार माग० में **क्ष** का **स्क** हो जाता है : **लस्कशे = राक्षसः ; दस्के = दक्षः**। हेच० ४, २९७ में तथा रुद्रट के काव्यालंकार २, १२ की टीका में नमिसाधु बताते हैं कि यह ध्वनिपरिवर्तन केवल **प्रेक्ष्** (अर्थात् प्र उपसर्ग समेत ईक्ष) और **आचक्ष** (अर्थात् आ समेत **चक्ष्**)का होता है : **पेस्कदि = प्रेक्षते, आचस्कदि = आचष्टे** है। इनके अतिरिक्त अन्य सब शब्दों में उनके (हेच० ४, २९६) अनुसार शब्द के भीतर आने पर **क्ष** का रूप **क'** हो जाता है : **यके = यक्षः ; लःकशे = राक्षसः ; पःक = पक्ष** (हेच० ४, ३०२ [हेच० ने इस विसर्ग का रूप **पक** दिया है। —अनु०])। शब्द के आरम्भ में **क्ष** अन्य प्राकृत बोलियों पर लगनेवाले नियमों के अनुसार अपना रूप बदलता है : **खअयलहला = क्षयजलधराः** है। पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट पेज ३४४ में उद्धृत कृष्णपंडित' के मत के अनुसार **क्ष** के स्थान पर **ह्क** आना चाहिए : **पह्क = पक्ष ; लह्का = लाक्षा ; पह्कालदु = प्रक्षालयतु**। इस रूप के स्थान पर चंड० ३,३९ पेज ५२ और हेच० ४, २८८ में एक ही श्लोक के भीतर **पक्खालदु** रूप देते हैं। इसमें **क्ष** के ध्वनिपरिवर्तन से पता लगता है कि यहाँ **क्ष** की शब्द प्रक्रिया इस प्रकार चली है मानो **क्ष** शब्द के आदि में आया हो। ललितविग्रहराज नाटक में सर्वत्र **ह्क** मिलता है : **अलह्किय्यमाण = अलक्ष्यमाण** (५६५, ७) ; **लह्किदं=लक्षितम्** (५६६, ४), **भिह्कं=भिक्षाम्** (५६६, ८) ; **युज्झह्कमाणं = युद्धक्षमाणाम्** (५६६; ११) ; **लह्कं** और **लह्काइं = लक्षम्** और **लक्षाणि** (५६६, ११) रूप हैं। इसी प्रकार **पेह्किय्यंन्दि, पेह्किय्यदि** [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] और **पेह्किदुं = प्रेक्ष्यन्ते, प्रेक्ष्यसे** और **प्रेक्षितुम्** हैं (५६५, १३ ; १५ और १९ ; ५६६, ७)। उक्त बोली के विपरीत **पच्चक्खीकदं = प्रत्यक्षीकृतम्** रूप खटकता है (५६६, २)। नाटकों की हस्तलिपियाँ और उनके अनुसार ही छपे संस्करण माग० में **क्ष** के लिए वही प्रक्रिया काम में लाते हैं जो अन्य प्राकृत भाषाओं में **क्ष** के लिए काम में लायी जाती है, यह भी शब्द के केवल आदि में नहीं जैसे, **खण = क्षण** (मृच्छ० १३६, १५ और १६ ; १६०, ११ ; प्रबोध० ५०, ९), परन्तु शब्द के भीतर भी सर्वत्र वैसा ही व्यवहार करते हैं। कुछ हस्तलिपियों में, जो नाममात्र

के पाठभेद मिलते हैं, जैसे मृच्छकटिक १३,६ में पेष और पे ँस्थ, २१,१५ में पे ँच्छ, १३२, २० में लश्चिदे और लश्छिदे तथा १३२, २१ में पेश्चामि और पेछामि, इस प्रकार के नहीं हैं कि इनसे व्याकरणकारों का कोई नियम निकाला जा सके। तो भी इनसे नियमों का आभास मिल सकता है। जेण अत्तणो पक्खं उज्झिअ परपक्खो पमाणीकरिअदि (मुद्रा० १७८, ६)[1] को हेमचंद्र ने ४, ३०२ में यों पढा—ये अप्पणो पःकं उज्झिअ पलश्श पःकं पमाणीकलेशि[2] और अमच्चरक्खसं पे ँक्खिदुं इदो एव्वं आअच्छदि (मुद्रा० १५४, ३७५) के स्थान पर इसी सूत्र में अमच्च-ल.कशं पेस्किदुं [मेरी प्रति में पाठ में पिप्किदुं और पाटान्तर पेक्खिदुं है। —अनु०], इदो ँ य्येव आअश्चदि[3] [मेरी प्रति में आगश्चदि पाठ है। —अनु०] पढता है। उदाहरणार्थ, मृच्छकटिक १२०, १३ में भी अक्खीहिं भक्खीअदि दन्तेहिं पे ँक्खीअदि = अक्षिभ्याम् भक्ष्यते दन्तैः प्रेक्ष्यते पढा जाना चाहिए। अःकीहिं भःकीअदि दन्तेहिं पेस्कीअदि। हस्तलिपियाँ पाठभेद नहीं देतीं।

१. इस संस्करण के पेज १४, २ में छपा है क्षस्य ःको नादौ। यथा यःके लःकशे, यक्षो राक्षस इति। किन्तु सर्वोत्तम हस्तलिपि (कीलहौर्न, रिपोर्ट बंबई १८८१, पेज ३४, संख्या ५३): को, यःके और ल.कसे (?) आया है। — २. कृष्णपण्डित के शब्दों से: जिह्वामूलीयश् च क्वचिच् छौरसेन्यादौ वक्ष्यते। तक्षः त.को। शकारश् च मागध्यां वक्ष्यते। पक्षः पःको (?)। लाक्षा लाःका (?)। इसके बाद कोई आवश्यक बातें नहीं हैं। एक बात यह है कि वह तःक को शौरसेनी रूप मानता है, बीच-बीच में इस हस्तलिपि में कर्ता एकवचन में स्वयं माग० में भी ओ लिखा मिलता है; नीचे दिये शब्द यह सम्भव बना देते हैं कि त.क रूप माग० न हो। इस विषय में त्रिविक्रम और सिंहराजगणिन् हेमचंद्र से एकमत हैं। — ३. तेलंग का यही मत है। हस्तलिपियों से कम-से-कम शुद्ध रूप पल अथवा पलश्श और कलीअदि अथवा कलेशि रूप स्थिर किये जा सकते हैं। — ४. शुद्ध रूप उय्यिद्धअ होता (§ २३६)। — ५ तेलंग का यही मत है। हस्तलिपि ई. (E) में शुद्ध रूप य्येव है अन्यथा सब में अशुद्ध रूप एव अथवा उज्जे ँव्व और रक्खसं आये हैं, कलकतिया संस्करण में भी यही रूप है।

§ ३२५—पाली की भाँति अ०माग० और जै०महा० में भी क्षुल्ल का क्ष–कार लुप्त हो जाता है और तब यह शब्द चुल्ल रूप धारण कर लेता है (देशी० ३, २२; पाइय० ५८); जै०महा० में चुल्लताय = क्षुल्लतात (= चाचा : एर्त्से०); अ०माग० और जै०महा० में चुल्लपिउ = क्षुल्लपितृ (= चाचा : दस० ६२८, ५; एर्त्से०); अ०माग० में चुल्लमाउया रूप भी आया है (= चाची ; अन्त० ७०; नायाध० § ८४—८७; ९५; ९६, निरया०); अ०माग० में चुल्लसयय और चुल्लसयग रूप भी मिलते हैं जो = क्षुल्लशतक (उवास०), चुल्लहिमवंत = क्षुल्लहिमवत् (ठाणग० ७२; ७४; १७६, १७७); चुल्लोडअ (= ज्येष्ठ भाई : देशी० ३, १७)। चुल्लक शब्द जैनियों की संस्कृत में ले लिया गया है (पाइय० में यह शब्द देखिए और उस पर ब्यूलर का मत भी देखिए)।

§ ३२६—क्ष यदि प्राचीन ज्ञ से निकला हो तो [यह ज्ञ अवेस्ता मे मिलता है, आर्यों के भारत पहुँचने पर इसका लोप हो गया था। वैदिक और संस्कृत भाषाओं मे इसका अवशेष यही क्ष है। —अनु०], इसका प्राकृत मे ज्झ होकर च्छ और फिर ज्झ[1] हो गया है : झरइ = क्षरति (हेच० ४, १७३), जै०महा० मे झरेइ आया है (एर्से०) ; णिज्झरइ=निःक्षरति (हेच० ४, २०) ; महा० में ओज्झर = अवक्षर (हेच० १७, ९८ ; देशी० १, १६० ; पाइय० २१६ ; हाल ; रावण०), हेमचन्द्र के मत में = निर्झर है, किन्तु स्वय यह निर्झर शब्द प्राकृत है[2] और महा० तथा शौर० णिज्झर (गउड० ; हाल ; प्रसन्न० १२४, ७ ; शौर० में : मल्लिका० १३४, ७ ; बाल० २४१, ६ ; २६३, २२ [पाठ में णिज्जर है]); अ०माग० और जै०महा० मे इसका रूप निज्झर हो जाता है (पाइय० २१६)। अ०माग० में पण्णव० ८०, ८४ और उसके बाद तथा ९४ में [पाठ मे उज्झर और अधिक बार निजर है] ओज्झर और निज्झर साथ-साथ आये है। अप० में पज्झरइ = प्रक्षरति (हेच० ४, १७३ ; पिंगल १, १०२), पज्झरिद्च रूप भी मिलता है (क्रम० २, ८४) ; शौर० में पज्झरावेदि आया है (कर्पूर० १०५, ८)। झरअ रूप भी अवश्य इन रूपों के साथ सम्बन्धित है (= सुनार : देशी० ३, ५४ [झरअ झरने से कैसे सम्बन्धित है, यह बताना कठिन है ; किन्तु सोनार अवश्य ही गहनों को झलता है अर्थात् उनमें घोकर चमक लाता है, इसलिए यह क्षर् का नहीं क्षालक* का प्राकृत रूप होना चाहिए, क्षल् और क्षाल् पर्यायवाची धातु हैं।—अनु०])। —अ०माग० में *झाइ के स्थान पर झियाइ रूप = *क्षाति = क्षायति[1] (= जलाना [अकर्मक] : सूय० २७३ ; नायाध० १११७ ; ठाणग० ४७८), झियायन्ति (ठाणग० ४७८ [कुमाउनी में जब बच्चा आग के पास जाता है तब 'पास मत जा, आग है' बताने के लिए ('झि झि हो जायगी' कहते हैं, इसका वास्तव मे अर्थ है 'जल जायगा'। —अनु०]) ; महा० मे विज्झइ रूप है (हेच० २, २८ ; हाल), विज्झाअन्त भी मिलता है ; महा० मे विज्झाअ (गउड०; हाल; रावण०), अ०माग० और जै०महा० में विज्झाय (नायाध० १११३ ; दस० ६४१, २९ ; आव० एर्से० २५, ३) पाये जाते हैं ; महा० मे विज्झवइ (गउड०), विज्झवेइ (हाल ; रावण०) और विज्झविअ रूप भी देखने मे आते हैं (हाल , रावण०) ; अ०माग० में विज्झवेज्झ, विज्झवेन्तु (आयार० २, २, १, १०) और विज्झाविय रूप आये हैं (उत्तर० ७०९)। समिज्झइ रूप, जो उपर्युक्त रूपों की नकल पर बना है, इन्ध[2] धातु से सम्बन्ध रखता है। — अ०माग० में झाम = क्षाम (जला हुआ ; राख : आयार० २ , १, १०, ६ ; २, १०, २२), झामेइ (सूय० ७२२ ; विवाह० १२५७), झामावेइ और झामत्त रूप हैं (सूय० ७२२) ; अ०माग० और जै०महा० मे झामिय (देशी० ३, ५६ ; विवाह० ३२१ ; १२५१ ; आव० एर्से० २५, १ ; २६, १७) पाया जाता है ; जै०महा० में निज्झामेमो मिलता है (द्वार० ५०५, ९), इनके साथ साथ महा०

* इस क्षलक या क्षालक से संबंधित झला = मृगतृष्णा, झलुंकिअ = दग्ध शब्द देशीनाममाला ३, ५३ और ३, ५६ में यथाक्रम मिलते हैं। — अनु०

और शौर० में खाम रूप मिलता है (=जलकर सूखा ; दुबला पतला : गउड० ; कर्पूर० ४१, १)। — महा० और अ०माग० के झिज्जइ=क्षीयते (वर० ८, ३७ ; हेच० २, ३ ; ४, २० ; हाल ; रावण० ; ललित० ५६२, २१ ; उत्तर० ६३३) ; महा० में झिज्जए, झिज्जामो [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए], झिज्जिहिसि (हाल) और झिज्जन्ति रूप मिलते हैं (गउड० ; हाल) ; जै०महा० में झिज्जामि पाया जाता है (ऋषभ० ३५ [बबइया सस्करण के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) ; अप० में झिज्जउं देखा जाता है (हेच० ४, ४२५, १) ; महा० और जै०महा० में झिज्जन्त-(गउड० ; हाल ; रावण० ; कालका० तीन (III), ६८) रूप हैं ; शौर० में झिज्जन्ती आया है (विद्ध० ९९, २) ; महा०, शौर० और अप० में झीण=क्षीण (हेच० २, ३ ; क्रम० २, ८४ ; पाइय० १८१ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; मृच्छ० २९, ५ ; ६९, २३ ; ७४, २० ; अप० में : विक्रमो० ५६, २१) ; इन झ वाले रूपों के साथ-साथ महा०, अ०माग० और शौर० में खीण भी चलता है (हेच० २, ३ ; हाल ; अणुओग० २८२ और उसके बाद ; सूय० २१२ ; सम० ८८ ; कप्प० ; अनर्घ० २९३, १० ; किन्तु इसके कलकतिया सस्करण २१६, ६ में झीण रूप आया है) और छीण रूप भी है (हेच० २, ३ [यह रूप कुमाउनी में बहुत चलता है और प्राचीन हिन्दी में प्रयुक्त हुआ है। —अनु०])। झोडइ= क्षोटयति (फेकना ; झड़ाना ; जोर से फेकना : धातुपाठ ३५, २२) ; यही धातु झोडिअ में भी है (=शिकारी ; व्याध : देशी० ३, ६०), णिज्झोडइ इइ=*निःक्षोट्यति (फाड़ना ; छेदना : हेच० ४, १२४), सभवतः इसी धातु से झोण्डलिआ (=रास के समान एक खेल : देशी० ३, ६०) भी निकला हो। बहुत सभव है कि झम्पइ (भ्रमण करना : हेच० ४, १६१) भी इसी से सम्बद्ध हो, क्योंकि यह क्षप् धातु से (बाहर भेजना : धातुपाठ, ३५, ८४ सी (C) सबधित होना चाहिए। यही धातु अ०माग० झम्पित्ता=अनिष्टवचनावकाशम् कृत्वा (गाली देना : सम० ८३) और झम्पिय (टूटा हुआ ; फटा हुआ ; हिलाया हुआ : देशी० ३, ६१, एर्सें० ८५, २८) और झम्पणी में है (=पक्ष्म ; भौं : देशी० ३, ५४; पाइय० २५०)[१]। — झसअ (मशक, मच्छड़ : देशी० ३, ५४) क्षस् धातु से निकाला गया प्रतीत होता है जिसमें उक प्रत्यय जोड़ा गया है (§ ११८ और ५९६), इसका सम्बन्ध क्षार (=तेज ; तीखा ; तीखी धारवाला ; कटु) से है जो सज्जी मिट्टी और रेह के अर्थ में आता है ; अ०माग० और अप० में इसका रूप छार है, अ०माग० और जै०महा० मे इसका खार रूप हो जाता है (§ ३२१)। — अवच्छइ= *अवचक्षति (§ ४९९) के साथ-साथ हेमचद्र ४, १८१ में अवअज्झइ रूप भी देता है।

१. वाक्रनागल कृत, लिटेराटूर-ब्लाट फ्यूर ओरियंटालिशे फिलोलॉजी, ३, ५८ ; आर्टट इंडिशे ग्रामाटीक § २०९। — २. त्साखरिआए कृत, बाइत्रैगे त्सूर इंडिशन लेक्सिकोग्राफी, पेज ५९ में याकोबी का मत। — ३. इस रूप को अ०माग० झियाइ=ध्याति से मिलाना न चाहिए (§ १३१ ; २८० ;

४७९)। — ४. त्सा०डे०डौ०मौ०गे० २८,३७४ और ४२८ में वेबर का मत ; हाल १०९ ; ३३३ और ४०७ पर वेबर की टीका ; एस० गौल्दश्मित्त, प्राकृतिका, पेज १६ और उसके बाद ; विज्झाइ, विध्या रूप में जैनों की संस्कृत में भी ले लिया गया है। त्साखरिआए के 'अनेकार्थसंग्रह' के छपे संस्करण की भूमिका पेज १ और उसके बाद (विएना, १८९३)। — ५. ब्यूलर द्वारा संपादित पाइयलच्छी में झंपणीउ शब्द देखिए।

§ ३२७—त्स, थ्स, त्श और त्च रूपों से होकर (§ ३१६) च्छ बन जाता है (वर० ३, ४० ; चंड० ३, ४ ; हेच० २, २१ ; क्रम० २९२ ; मार्क० पन्ना २५), माग० में इसका रूप श्च हो जाता है (§ २३३) : अ०माग० में कुच्छणिज्ज = कुत्सनीय (पण्हा० २१८) ; कुच्छिअ = कुत्सित (क्रम० २, ९२) ; चिइच्छइ = चिकित्सति, शौर० में चिकिच्छिदव्व रूप आया है। अ०माग० में तिगिच्छई और वितिगिच्छामि रूप पाये जाते हैं (§ २१५ और ५५५) ; अ०माग० में तेइच्छा और तिगिच्छा = चिकित्सा, वितिगिच्छा = विचिकित्सा और तिगिच्छग = चिकित्सक (§ २१५), शौर० में इसका रूप चिइच्छअ है (मालवि० २७, १२ ; इस प्रकार बंगला हस्तलिपियों और बौँल्लें नसेन की तेलगू हस्तलिपि के साथ पंडित के संस्करण ५२,२ में चिकिस्सअ और चिइस्सअ के स्थान पर यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए)। अ०माग०, जै०महा० और शौर० में वीभच्छ (उवास० § ९४ ; आव०एर्त्से० ८, १९ ; द्वार० ५०६,२१ ; कालका० २६४, २६ ; मालती० २१५, १), शौर० रूप वीहच्छ (प्रबोध० ४५, ११ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) और माग० वीहश्च (मृच्छ० ४०, ५ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) = वीभत्स है। महा०, जै०महा०, शौर० और अप० में मच्छर = मत्सर (चंड० ३,४ ; हेच० २, २१ , गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्त्से० ; शकु० १६१, १२ ; मालवि० ६४, २० ; हेच० ४, ४४४, ५) है। जै०महा० और शौर० में वच्छ = वत्स (भाम० ३, ४० , एर्त्से० ; कालका० ; मृच्छ० ९४, १५ ; १५०, १२ ; विक्रमो० ८२, ६ ; ८ और १३ ; ८७, १७), माग० में इसका वश्च रूप है (हेच० ४, ३०२) , अ०माग० और जै०महा० में सिरिवच्छ = श्रीवत्स (पण्हा० २५९ ; सम० २३७ ; ओव० ; एर्त्से०) है। महा०, जै०महा० और शौर० में वच्छल = वत्सल (गउड० ; हाल ; द्वार० ५०१, ३ ; ५०३, ३८ ; ५०७, ३० ; एर्त्से० ; शकु० १५८, १२), माग० में इसका रूप वश्चल है (मृच्छ० ३७, १३ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए)। — अ०माग० में छरु = त्सरु है (पाइय० ११९ ; देशी० ५, २४ ; पण्हा० २६६ ; सम० १३१ ; ओव० ; नायाध०)। यही शब्द लोगों की जबान पर चढ़कर थरु=*स्तरु हो गया है (देशी० ५, २४ ; [यह शब्द इस स्थान पर मिला है किन्तु ऊपर जो छरु शब्द दिया गया है वह न तो ५, २४ में है और न छ-वाले शब्दों में मिला है। यह रूप अवश्य ही कहीं न कहीं होगा पर यहाँ वर्ग और श्लोक संख्या में कुछ भ्रम है। —अनु०])। पण्हावागरणाइ ३२२ में पाठ में घ्छरु और टीका में त्थरु रूप आया है।

§ ३२७ अ—संधि में जिसमें एक पद के अंत में त् हो और उसके बाद के पद के आदि का वर्ण मौलिक श अथवा स से आरम्भ हो तो ध्वनिसमूह *च्छ और स्स, स्स रूप धारण कर लेते हैं, नहीं तो त् के आगे के स्वर का दीर्घीकरण हो जाता है और स्स के स्थान पर स रह जाता है। त्+श : अ०माग० में ऊसवेह = उच्छ्रपयत जो *उत्श्रपयत से निकला है, उसविय = उच्छ्रपित ; अ०माग० और जै०महा० में ऊसिय = उच्छ्रित, अ०माग० में उस्सिय, समुस्सिय और उस्सविय रूप भी पाये जाते हैं; शौर० में उस्सावेदि (§ ६४) आया है। महा० में उस्सून=उच्छून (गउड०) है। अ०माग० में उस्सुंक = उच्छुल्क (§ ७४) है। महा० में ऊससइ=उच्छ्‌सिति, अ०माग० में इसका रूप ऊससन्ति है ; माग० में ऊशशदु रूप मिलता है ; अ०माग० में उस्ससइ रूप भी देखा जाता है (§ ६४ और ४९,६) ; अ०माग० में उस्सास = उच्छ्‌वास (मायाध० ; भग० ; ओव०) ; महा० और अप० में उसास आया है (गउड० ; रावण० ; हेच० ४, ४३१, २) ; ऊससिर = *उच्छ्वसिर (हेच० २, १४५) ; ऊसीस (पाइय० ११८) और जै०महा० उसीसअ (आव० एत्सें० १६,१८) = उच्छीर्षक है। इसी का पर्यायवाची रूप ऊसअ (देशी० १, १४०) = उच्छ्रय के है जो = उद्+श्रय है। ऊसुअ = *उच्छुक जो उद्+शुक से बना है (हेच० १, ११४)। अ०माग० में तस्स-किणा = तच्छंकिन. जो तद् + शंकिणः से बना है (सूय० ९३६)। —त् + स : अ०माग० में उस्सग्ग = उत्सर्ग (भग० , कप्प०) है। अ०माग० और जै०महा० में उस्सप्पिणी = उत्सर्पिणी (कप्प० ; ऋषभ०) है। अ०माग० में उस्सेह = उत्सेध (पाइय० १६८ ; भग० ; उवास० ; ओव०) है। अ०माग० में तस्सण्णि = तत्संज्ञिन् (आयार० १, ५, ४२) और तस्संधिचारि = तत्संधिचारिन् (आयार० २,२, २,४) है। ऊसरइ = उत्सरति (हेच० १, ११४), ऊसारिअ = उत्सारित (हेच० २, २१), जै०महा० में उस्सारित्ता रूप आया है (एत्सें० ३७, २८ , इस ग्रंथ में ऊसारित्ता शब्द देखिए)। अ०माग० में ऊसत्त = उत्सक्त (कप्प०) और ऊसित्त. = उत्सिक्त (हेच० १,११४ ; पाइय० १८७) है, किंतु उस्सिक्कइ रूप भी मिलता है जो = उत्सिक्ति (मुक्त करना ; छोड देना ; ऊपर को फेंकना : हेच० ४,९१; १४४) है। —हेमचंद्र १, ११४ के अनुसार उत्साह और उत्सन्न में त्स, च्छ में बदल जाता है : महा०, शौर० और अप० में उच्छाह रूप है (गउड० , रावण० ; शकु० ३६,१२ ; मालवि० ८,१९ [यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए] , पिंगल १,९६ अ); उच्छन्न है (हेच० १,११४) ; ढक्की में उच्छादित = उत्सादित मिलता है (मृच्छ० ३८,१८ ; ३९,१)। वर० ३, ४२ ; क्रम० २,९३ ; मार्क० पन्ना २६ के अनुसार उत्सुक और उत्सव में च्छ कभी नहीं आता पर हेमचंद्र २,२२ में बताया गया है कि स के साथ साथ विकल्प से च्छ भी यहा काममें लाया जा सकता है। इस नियमसे महा० में उच्छुअ रूप आया है (हेच० ; हाल ९८४ की टीका), किंतु महा० में अधिक स्थलों में ऊसुअ मिलता है (सब व्याकरणकार ; गउड० ; हाल' ; रावण० ; शकु० ८७, १४ ; कर्पूर० ५८, २), शौर० में उस्सुअ रूप भी है, अ०माग० और

जै०महा० में उस्सुय रूप भी है (शकु० ८४, १३ ; मालवि० ३५, १ ; ३७, २० ; ओव० : एर्से०) ; शौर० में पज्जुस्सुअ = पर्युत्सुक (शकु० १९, ६ ; ५७, १) और पज्जूसुअ (विक्रमो० २१,१९) रूप भी पाया जाता है ; शौर० में समूसुअ = समुत्सुक (शकु० १४२,४ ; विक्रमो० ६७,१२) ; महा० में ऊसुइअ = उत्सुकित (हाल) ; अ०माग० में ओसुय = औत्सुक्य (ओव०) है। —महा० और शौर० में ऊसव = उत्सव (गउड० ; हाल ; रावण० ; शकु० १२१, १२ ; चैतन्य० २४४, १८), अ०माग० में उस्सव रूप है (विवाह० ८२२) और ऊसअ भी काम में आता है (निरया०) ; महा० में गामूसव = ग्रामोत्सव (गउड०) ; महा०, जै० महा० और शौर० में महूसव = महोत्सव ; शौर० में वसन्तूसव = वसन्तोत्सव (§ १५८), इनके साथ साथ महा० और शौर० में उच्छव रूप भी चलता है (हाल ३६९ ; मल्लिका० २०९,१८ ; [यह रूप कुमाउनी में वर्तमान है तथा गुजराती भाषामें इन रूपोंका बहुत प्रचलन है। पुरानी हिंदी में यह आया है। —अनु०]) ; शौर० में णिरुच्छव भी मिलता है (शकु०११८,१३)[1]। —उत्संग महा०, अ०माग० जै०महा० और अप० में सदा उच्छंग रूप धारण करता है (गउड०; हाल ; [श्लोक ४२२ पढ़िए], रावण० ; ओव० ; एर्से० ; हेच० ४,३३६ ; विक्रमो० ५१,२) । — महा० और चू०पै० में उच्छल्लइ रूप है (गउड० ; हाल , रावण० ; हेच० ४,३२६), जै०महा० में उच्छल्लिय रूप आया है (एर्से०), इसके साथ-साथ ऊसलइ रूप भी मिलता है (हेच० ४,२०२), ऊसलिअ (देशी० १, १४१), ऊसलिय (पाइय० ७९) के विषय में भारतीयों से सहमत हूँ कि ये उद् + शल् से निकले हैं, किंतु त्सासारिआए[2] की अपेक्षा, जिसने इसे उद् + *सल् से व्युत्पन्न किया है, मैं भारतीय व्युत्पत्ति ठीक मानता हूँ । —उत्थल्लइ (हेच० ४, १७४ ; क्रम० ४, ४६ की तुलना कीजिए) , उत्थल्लिय (पाइय० १७९) और उत्थलिअ रूप (देशी० १, १०७), ब्यूलर[3] के मत से स्थल + उद् से निकले हैं तथा यह मत ठीक है। —अ०माग० में त् + श के समान ही ट् + श का रूपपरिवर्तन हुआ है : छस्सय = षट्शत (कप्प०) है।

१. हाल ४७९ की टीका और ठीक इसके समान ही वररुचि ३, ४ में इस शब्द का रूप देखकर पता लगता है कि उस्सुअ से ऊसुअ के अधिक प्रमाण मिलते हैं अर्थात् ऊसुअ रूप अधिक शुद्ध है। — २. लास्सन ने अपने इन्स्टि-ट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज १५१ में इस रूप पर संदेह प्रकट करके अन्याय किया है और इसे शकुंतला ७७, ६ में अशुद्ध बताकर बोएटलिंक ने लास्सन का साथ दिया है। — ३ कू० त्सा० ३३, ४४४ और उसके बाद । — ४. पाइय-लच्छी में उत्थल्लियं शब्द देखिए।

§ ३२८—अंतरिम काल में प्स, प्श, प्छ रूपों से गुजर कर प्स और च्छ रूप धारण कर लेता है (§ ३१६ ; वर० ३, ४०, चंड० ३, ४ ; हेच० २, २१ ; क्रम० २, ९२ ; मार्क० पन्ना २५)[1] · छाअ = पाली छात = प्सात (भूखा ; दुबला-पतला : देशी० ३, ३३ ; पाइय० १८३) है। दुबले-पतले के अर्थ में (देशी०

३, ३३ ; पाइय० ८७) छाअ=*क्षात[1] है । — अच्छरा और अच्छरसा = प्राचीन हिंदी रूप अच्छर और सिंधी अच्छरा[1] के = अप्सरा अप्सराः के (§ ४१०) । यह छर = प्सरस् (= रूप : [जैसा विद्वान् लेखक ने ऊपर दिया है कि छात = प्सात = भूखा के है, वही अर्थ छर = प्सर का भी लगाया जाना चाहिए । इस दृष्टि से और वैदिक भाषा में भी प्सर् का अर्थ भोजन है, इसलिए अप्सरस् का अर्थ था 'भोजन न करनेवाली' ; 'भूखी रहनेवाली' और 'दुबली-पतली' ; देशीनाममाला का छात जो प्सात का प्राकृत और देशी रूप है, हेमचंद्र ने उसका ठीक ही अर्थ दिया है, इसलिए छर = प्सरस् = रूप ठीक नहीं बैठता और न इसके प्रमाण मिलते हैं । —अनु०]) से निकला है । महा० में समच्छरेहिं = समरूपैः है (रावण० ७, ६२) और अ०माग० में उत्तरकुरुमाणुसच्छराओ = उत्तरकुरुमानुषरूपाः (पण्हा० २८८)[4] है [यहाँ अच्छर रूप है, इसके अर्थ दूसरे हैं, अक्षर = वर्ण = ध्वनि का साक्षात् रूप और अक्षर = शब्द = वस्तु या रूप । तुलसी ने जहाँ 'आखर अरथ' लिखा है वहाँ आखर का अर्थ शब्द अथवा किसी पदार्थ या मनोभाव का ध्वनि रूप है । अच्छर या छर के मूल अर्थ के लिए हमें वैदिक प्सर का अर्थ ढूँढ़ना होगा जो वैदिक परम्परा के कारण जनता की बोली अर्थात् देशी भाषा में अपने मूल रूप में उतरा था । —अनु०] । — जुगुच्छा = जुगुप्सा ; महा० में इसका एक रूप जुउच्छइ आया है ; अ०माग० में दुगुच्छइ मिलता है ; शौर० में दुगच्छेदि = जुगुप्सति (§ २१५ ; ५५५) है । — जै०महा० में घेच्छामो = घुप्स्यामः (आव० एर्त्से० २३, ६) है । — लिच्छइ = लिप्सति (हेम० २, २१) ; लिच्छा = लिप्सा (भाम० ३, ४० ; मार्क० पन्ना २५) ; अ०माग० में लिच्छु = लिप्सु है (उत्तर० ९६१) ।

१. वेबर ने भगवती १, ४१४ में भूल से बताया है कि इस प्स का प्प में ध्वनिपरिवर्तन हो जाता है और पिशल ने वेदिशे स्टुडिएन १, ७९ में भूल से कहा है कि इसका रूप प्फ बन जाता है । — २. ब्यूलर, पाइयलच्छी में छायं शब्द देखिए ; त्सा०डे० डौ०मौ०गे० ५२, ९६ में पिशल के विचार । यह शब्द छात रूप में संस्कृत में ले लिया गया है (त्साखरिआए द्वारा संपादित 'अनेकार्थसंग्रह' की भूमिका, विएना १८९३, पेज १५, नोटसंख्या २) । — ३. बीम्स, कंपैरैटिव ग्रैमर १, ३०९ । अब्भरा रूप, जिसका उल्लेख लास्सन ने इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज २६७ में किया है, आस्कोली ने क्रिटिशे स्टुडिएन, पेज २६२ में तथा जिसकी व्युत्पत्तियाँ बार्टोलोमाए ने त्सा०डे०डौ०मौ० गे० ५०, ७२२ में दी हैं, अशुद्ध पाठांतर है, जैसा पिशल ने त्सा०डे०डौ०मौ०गे० ५१, ५८९ और उसके बाद के पृष्ठों में दिखाया है । — ४. त्सा० डे० डौ०मौ०गे० ५२, ९३ और उसके बाद के पृष्ठों में पिशल का मत ।

§ ३२९—ःक, ःख, ःप और ःफ जो हेमचंद्र २, ७७ के अनुसार शुद्ध रूप में ≍क, ≍ख, ≍प और ≍फ है, इसी प्रकार के श–, ष– और स–कारयुक्त संयुक्त वर्णों अर्थात् ध्वनिसमूहों के समान ही बरते जाने चाहिए (§ ३०१ और उसके बाद), तात्पर्य यह कि इनका क्क (संधि में), क्ख, प्प (संधि में) और प्फ रूप

हो जाते हैं शौर० में अन्तकरण = अन्त करण (विक्रमो० ७२,१२), णिक्खत्ती फद = नि क्षत्रीकृत (महावीर० २७, ६) है। महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै० शौर०, शौर०, माग०, दाक्षि० और अप० म दुक्ख = दु ख (गउड०, हाल, रावण०, आयार० १, १, १, ७, २, ३, ३, ५, ६, २ आदि आदि, उवास०, कप्प०, निरया०, नायाध०, आव० एर्त्से० ९, ६, १०, २०, एर्से०, काल्का०, ऋषभ०, पव० ३८०, १२, ३८१, १४ और २०, ३८३, ७५, ३८५, ६७ और ६९, मृच्छ० २८, ११, ७८, १२, शकु० ५१, १४, ८४, १४, १३६, १३, विक्रमो० ९, १९, ५१, १२, ५३, ११, माग० में मृच्छ० १५०, २२, प्रबोध० २८, १७, २९, ७, दाक्षि० म मृच्छ० १०१, १२, अप० म: हेच० ४, ३१७, ४, विक्रमो० ५९, ६ और ६०,१८) है, शौर० में णिद्दुक्ख = निर्दु ख (शकु० ७६,८) है, शौर० में दुक्खिद = दु खित (विक्रमो० १६, ६, ३४, ९) है। —अ०माग०, जै०महा० और शौर० में दुक्ख के साथ साथ दुह रूप भी पाया जाता है (सूय० १२६, १५६, २५९ और ४०६, उत्तर० ५०५, ५७४, ५९९ और ६२६, पण्हा० ५०४, दस० नि० ६४६, ६ और १४, नायाध० ४७८, एर्से०, काल्का०, कत्तिगे० ४०१, ३४९)। इसी भाँति महा० में दुहिअ (हेच० १, १३ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए], क्रम० २, ११३ [यहाँ भी यही पाठ पढा जाना चाहिए], हाल, रावण०), अ०माग० और जै०महा० में दुहिय रूप है (उत्तर० ५९९, विवाह० ११६, तीर्थ० ६, १०, द्वार० ५०१, १०, काल्का०) तथा जै०महा० का दूसरा रूप दुहिद (पव० ३८३, ७५) = दु खित है, महा० में दुहाविअ रूप भी पाया जाता है (गउड०) और अ०माग० में दुहि- = दुखिन् देखा जाता है (सूय० ७१, उत्तर० ५७७)। दु ख के ह-युक्त प्राकृत रूप प्राय बिना अपवाद क पद्य म पाये जाते हैं और दुह रूप बहुधा सुह के ठीक बगल में आता है [अथात् सुह- दुह रूप में। —अनु०] = सुख है। इसकी नकल पर दुह बना है[1] ठीक इसके विपरीत सुग्ग (= आत्मकुशल, निर्विघ्न देशी० ८५६), जो दुग्ग = दुर्ग (= दु ख देशी० ५, ५३, त्रिवि० १, ३, १०५) की नकल पर बना है[1]। — पुणपुणकरण = पुन पुन करण (देशी० १,३२) है। अन्तप्पाअ = अन्त पात (हेच० २,७७) है। माग० मे सयुक्त वण अथात् ध्वनिसमूह हस्तलिपियों में व्याकरण के नियमो के अनुसार लिखे गये हैं, यह सदिग्ध है। § ३४२ और ४४७ की तुलना कीजिए। — श, ष और स, स्स बन जाते हैं तथा माग० में स्स के स्थान म श्श आता है अथवा इससे पहले आनेवाले स्वर का दीर्घीकरण होने पर स आता है जो माग० म श रूप धारण करता है (§ ६४) शौर० में चदुस्साल = चतु शाल (मल्लिका० २०९, १९, २१५, ५, पाठ में चउस्साल है), चदुस्सालअ = चतु शालक (मृच्छ० ६, ६, १६, ११, ४५, २५, ९३, १६, १८, धूर्त० ६, ५), शौर० में चदुस्समुद्द= चतु समुद्र (मृच्छ० ५५, १६, ७८, ३, १४७, १७) है। माग० मे णिश्शलिद = नि सृत (ललित० ५६६, १५) है। महा० में णीसक = नि शक, जै०महा० में यह निस्सक हो जाता है (§ ६४)। महा० और शौर० में णीसद्द = नि सद्द,

इसके साथ साथ निस्सह रूप भी काम में आता है (§ ६४)। जै०महा० में णीसेस = निःशेष (कक्कुक शिलालेख १) है। शौर० में दुस्सत्त = दुःसत्त (शकु० १६, १२; ७६,१०), माग० में दुश्शन्त हो जाता है (शकु० १५०, १०)। दुस्संचर और दूसंचर = दुःसंचर (क्रम० २,११३) है। शौर० में दुस्सिलिट्ठ = दुःश्लिष्ट(महावीर० २३, १९) है। महा०, जै०महा०, शौर० और अप० में दूसह और इसके शौर० रूप दुस्सह = दुःसह (§ ६४) है। शौर० में शुणस्सेह = शुनःशेफ (अनर्घ० ५८,५ ; ५९,१२) है। दुस्सील = दुःशील (देशी० ६,६०) है। § ३४० की तुलना कीजिए।

१. कू० त्सा० ३५, ४३८ और उसके बाद के पेजों में याकोबी के विचारों की तुलना कीजिए, किन्तु इनमें बहुत कुछ अशुद्ध भी है। २. — पिशल, बे० बाइ० ६, ९५।

§ ३३० — संयुक्त वर्ण ह्न, ह्म, ह्य और ह्ल व्यञ्जनों के स्थानपरिवर्तन के द्वारा क्रमशः ण्ह, म्ह और ल्ह रूप धारण कर लेते हैं (वर० ३, ८ ; हेच० २, ७४ ; ७५ और ७६; क्रम० २, ९५ ; ९६ और ९९; मार्क० पन्ना २१)। महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर० और शौर० में अवरंह = अपराह्ण (भाम० ३, ८ ; हेच० २, ७५ ; गउड० ; हाल ; अणुओग० ७८ ; भाग० ; एत्सें० ; कत्तिगे० ४०२, ३५४ ; ४०३, ३७३ , वृषभ० ४१, २) है। अ०माग० और जै०शौर० में पुव्वंह= पूर्वाह्ण (भाम० ३, ८ ; हेच० २,७५); मार्क० पन्ना २१ ; ठाणग० २४४ ; अणुओग०.७४ ; मग० ; कत्तिगे० ४०२,३५४) है ; अ०माग०में पुव्वावरंह रूप भी आया है (नायाध० ३३२ और ४८१ ; ठाणग० २८४; कप्प० § २१२ और २२७ ; निरया० ५३ और ५५ ; विवाग० १२४ [पाठ में पचावरंह है])। महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर० और शौर० में मज्झंह = मध्याह्न (हेच० २. ८४ ; हाल ४४९ ; कर्पूर० ९४, ६ ; ९६, २ ; ठाणग० २४३ ; आव० एत्सें० ४६, ६ ; एत्सें० ; कत्तिगे० ४०२ , ३५४ ; रत्ना० ३२१, ३२ ; धूर्त० ७, २० , कर्पूर० ५९, ४ ; विद्ध० ४०, ५ ; चैतन्य० ९२, १३ ; जीवा० ४६, १० और १७) है। मज्झण्ण=मध्यंदिन के विषय में § १४८ और २१४ देखिए। — महा०, अ०माग०, जै०महा० और अप० में गेण्हइ, जै०शौर० गिण्हदि और शौर० तथा माग० गेण्हदि = गृह्णाति (§ ५१२) है। — महा०, शौर०, माग० और अप० में चिण्ह = चिह्न , इसके साथ साथ महा०, अ०माग० और जै०महा० में चिन्ध रूप भी चलता है (§ २६७)। — जण्हु = जह्नु (भाम० ३, ३३ ; हेच० २, ७५) है। — णिण्हवइ= निह्नुते, अ०माग० में निण्हवेज्ज, निण्हवे और अणिण्हवमाण रूप पाये जाते हैं, महा० में णिण्हुविज्जन्ति और शौर० में णिण्हुवीअदि और णिण्हुविद रूप मिलते हैं (§ ४७३)। — अ०माग०, जै०महा० और शौर० में वण्हि = वह्नि (भाम० ३, ३३ ;हेच० २, ७५; क्रम० २, ९९ ; विवाह० ४१७ ; एत्सें० ; मुद्रा० २५३, ८) है। — महा० और दाक्षि० में बम्ह= ब्रह्मन् (हेच० २, ७४ ; हाल ; मृच्छ० १०५, २१) ; पल्लवदानपत्र , शौर० और माग० में बम्हण = ब्राह्मण (§ २८७) ; शौर० में बम्हण्ण = ब्राह्मण्य (§ २८२) ; बम्हचेर=ब्रह्मचर्य (§ १७६), इसके साथ साथ बोली में बम्भ, बम्भण

और बम्भचेर रूप भी चलते हैं (§ २५० और २६७)। — सुम्हा = सुह्माः (हेच० २, ७४) है। — अल्हाद = आह्लाद (भाम० ३, ८) है। अ०माग० में कल्हार = कह्लार (भाम० ३, ८ ; हेच० २, ७६ ; क्रम० २, ९५ ; मार्क० पन्ना २१ ; पण्णव० ३५ ; सूय० ८१३) है। पल्हाअ = प्रह्लाद (हेच० २,७६), अ० माग० में पल्हायणिज्ज = प्रह्लादनीय (जीवा० ८२१ ; नायाध० § २३); अ०माग० में पल्हायण = प्रह्लादन (उत्तर० ८३८) है। महा०, अ०माग और शौर० में पल्हत्थ = *प्रह्लस्त ; महा० में पल्हत्थइ रूप है और अ०माग० में पल्हत्थियं आया है (§ २८५)। अ०माग० और जै०महा० में पल्हव = पह्लव (पण्हा० ४२ [पाठ में पह्लव है] ; द्वार० ४९८, १७) ; अ०माग० में पल्हवी (नायाध० § ११७) और पल्हविया (विवाह० ७९२ ; ओव० § ५५) रूप आये हैं। ल्हसइ और परिल्हसइ = ह्लसति और परिह्लसति (हेच० ४, ४९७) हैं; अप० में ल्हसिउँ रूप मिलता है (हेच० ४, ४४५, ३)।

§ ३३१— हेच० २, ११४ के अनुसार ह्य ध्वनिपरिवर्तन अर्थात् वर्णव्यत्यय के कारण य्ह रूप धारण कर लेता है : गुय्ह = गुह्य और सय्ह = सह्य है। व्याकरणकार यही नियम सर्वनाम द्वितीय वचन के लिए भी बताते हैं : तुय्ह और उय्ह (§ ४२० और उसके बाद)। यह ध्वनिपरिवर्तन पाली में बहुत होता है किन्तु प्राकृत में इसके उदाहरण अभी तक नहीं मिले हैं। सम्भवतः यह माग०, पै० और चू०पै० के लिए बनाया गया होगा क्योंकि इन बोलियों के अन्य ध्वनिपरिवर्तनों के साथ इनका मेल है (§ २३६ ; २५२ ; २८० और २८७)। छपे संस्करण माग० में ज्झ देते हैं ; तोभी मृच्छ० १७०, १८ = गोडबोले के संस्करण का ४६३, ८ में पाठ के शज्झ के स्थान पर हस्तलिपियाँ सह्य, सय्थ, शय्थ और स्सय्थ देती हैं। इन रूपों से यह आभास मिलता है कि यहाँ पर शय्ह लिखा जाना चाहिए। शेष सभी बोलियों में य § २५२ के अनुसार बदल कर ज बन गया है। इस कारण ह्य का झ रूप हो गया है और शब्द के भीतर यह झ, ज्झ में परिणत हो जाता है (वर० ३, २८ ; चंड० ३, २० ; हेच० २, २६ ; १२४ , क्रम० २, ८७ ; मार्क० पन्ना २३)। शौर० में अणुगेज्झा = अनुग्राह्या (मृच्छ० २४, २१) ; अ०माग० में अभिरुज्झ = अभिरुह्य (§ ५९०), अभिणिगिज्झ = अभिनिगृह्य, परिगिज्झ = परिगृह्य (§ ५९१) , नज्झइ = नह्यते (हेच० २, २६), महा० में संणज्झइ रूप आया है (रावण०)। जै०महा० में गुज्झ = गुह्य (हेच० २, २६ ; १२४ , एर्से०) है ; गुज्झअ = गुह्यक (भाम० ३, २८) है। दुज्झ = दोह्य (देशी० १, ७) है। वज्झ = वाह्य(चंड० ३, २० , क्रम० २, ८७) , वज्झअ = वाह्यक (भाम० ३, २८) है। शौर० में सज्झ = सह्य (हेच० २, २६ ; १२४ ; शकु० ५१, १५), महा० में सज्झ = सह्य (रावण०) है। हिज्जो और शौर० हिओ = ह्यस् के विषय में § १३४ देखिए।

§ ३३२— ऱ्ह और ह् अधिकतर अंशस्वर द्वारा अलग अलग कर दिये जाते हैं (§ १३२—१४०)। दशार्ह का अ०माग० में दसार रूप हो जाता है (हेच०

२, ८५ ; अंत० ३ ; ठाणग० ८० और १३३ ; नायाध० ५२८ ; ५३७ ; १२३५ ; १२६२ ; १२७७ ; निरया० ७८ और उसके बाद ; सम० २३५ ; उत्तर० ६६५ ; ६७१)। अ०माग० में ह्रद का हरय हो जाता है (§ १३२) अथवा ध्वनि के स्थानपरिवर्तन या कहिए वर्णव्यत्यय के कारण अ०माग० और अप० में द्रह और अ०माग० में दह हो जाता है (§ २६८ और ३५४)। — ह्व की ध्वनि का स्थानपरिवर्तन होकर व्ह हो जाता है जो भ बनकर शब्द के भीतर ब्भ बन जाता है (चड० ३, १ ; २१ और २६ ; हेच० २, ५७ ; क्रम० २, ९७ ; मार्क० पन्ना २६) । गब्भर = गह्वर (क्रम० २, ९७) है । — अ०माग० और जै०महा० में जिब्भा = जिह्वा (चंड० ३, १ ; २१ और २६ ; हेच० २, ५७ ; मार्क० पन्ना० २६ ; आयार० १, १, २, ५ ; पेज १३७, १ ; सूय० २८० और ६३९ ; उत्तर० ९४३ और ९८६ ; उवास० ; ओव० ; आव० एर्से० ४२, ३) ; अ०माग० में जिब्भिन्दिय रूप भी है (विवाह० ३२ और ५३१; ठाणग० ३००; पण्हा० ५२९), अप० में जिभिन्दिउ है (हेच० ४, ४२७, १ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए), इनके साथ साथ महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर० और शौर० में जीहा रूप पाया जाता है और इसका माग० मे यीहा हो जाता है (§ ६५)। — विब्भल = विह्वल (चड० ३, १ ; हेच० २, ५८ ; क्रम० २, ७२) ; अ०माग० में वेब्भल रूप है (भाम० ३, ४७ ; पण्हा० १६५), इनके साथ साथ महा० और जै०महा० में विहल है (सब व्याकरणकार ; गउड० ; हाल ; रावण० ; कालका०), जै०महा० में विहलिय = विह्वलित मिलता है (एर्से०) । भिब्भल, भिभल, महा० में भैंभल और शौर० में भल्दा के विषय में § २०९ देखिए।

§ २३३—जैसा कि अकेले आनेवाले व्यजनों में होता है (§ २१८ और उसके बाद), वैसे ही एक ही वर्ग के सयुक्त अंतिम वर्णों मे सस्कृत दत्य वर्णों के स्थान पर मूर्धन्य वर्ण आ जाते हैं। — त्त = ट्ट : शौर० में मट्टिया = मृत्तिका (§ ४९) है। — अ०माग० में वट्ट = वृत्त (= गोल : § ४९) ; अ०माग० में ओणियट्ट = अवनिवृत्त (कप्प०), वियट्ट = विवृत्त (ओव०) , इसके साथ साथ अ०माग० में इसका वत्त हो जाता है (ओव०), निव्वत्त रूप भी पाया जाता है (ओव०) ; जै०महा० मे जहावत्त = यथावृत्त (एर्से०) है। अन्य सभी प्राकृत भाषाओं में सर्वत्र त्त दिखाई देता है। — सस्कृत मे साथ साथ और एक ही अर्थ में चलनेवाले दोनों शब्दों पत्तन और पट्टन में से अ०माग०, जै०महा० और अप० में केवल पट्टण काम में आता है (वर० ३, २३ ; हेच० २, २९ ; मार्क० पन्ना २३ ; आयार० १, ७, ६, ४; २, ११, ७ ; ठाणग० ३४७ , पण्हा० १७५ ; २४६ , ४०६ ; ४८६ ; उत्तर० ८९१ ; विवाह० ४० ; २९५ ; उवास० ; ओव० ; नायाध० ; कप्प० ; एर्से० ; हेच० ४, ४०७) । — त्थ = ट्ठ : अ०माग० और जै०महा० में उट्ठेइ, अप० में उट्ठइ=*उत्थाति, महा० में उट्ठिअ रूप आया है, अ०माग० और जै० महा० में उट्ठिय, इसके साथ साथ शौर० मे उत्थेहि, उत्थेदु और उत्थिद रूप चलते हैं। अ०माग० कविट्ठ तथा इसके साथ साथ अ०माग० और माग० रूप

कविस्थ = कपित्थ (§ ३०९) है। — द्ध = ड्ढ : अ०माग० और जै०महा० में इड्ढि और इसके साथ-साथ दूसरा रूप रिद्धि भी चलता है (§ ५७)। — अ०माग० में वड्ढि और वुड्ढि = वृद्धि, महा० में परिवड्ढि = परिवृद्धि, महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर० और माग० में वुड्ढ = वृद्ध (§ ५३) है। — अ०माग० में सड्ढा = श्रद्धा (हेच० २, ४१ ; सूय० ६०३ ; ६११ ; ६२० ; नायाध० ; भग० ; ओव० ; कप्प०), जायसड्ढ रूप पाया जाता है (विवाह० ११ ; १०१ ; ११५ ; १९१), उप्पण्णसड्ढ और संजायसड्ढ रूप भी काम में आते हैं (विवाह ११ और १२) ; अ०माग० में सड्ढि— = श्रद्धिन् (आयार० १, ३, ४, ३ ; १, ५, ५, ३ ; सूय० ७१ ; कप्प०) ; अ०माग० मे महासड्ढि भी चलता है (आयार० १, २, ५, ५) ; सड्ढिय = श्राद्धिक (ठाणग० १५२), सड्ढइ— = *श्राद्धकिन् (ओव०), इसके साथ साथ महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में सद्धा रूप भी काम में आता है (हेच० १, १२ ; २, ४१ ; हाल ; आयार० १, १, ३, २ ; उवास० ; एर्से० ; शकु० ३८, ५ ; प्रबोध० ४२, २ और ८ ; ४४,११ ; ४६, ८ ; ४८, १ और २ आदि-आदि), माग० में शद्धा रूप है (प्रबोध० ४७,२ ; ६३, ४), महा० मे सद्धालुअ आया है (हाल) और अ०माग० में सदा ही सद्दहइ रूप काम में आता है (वर० ८, ३३ ; हेच० ४, ९ ; क्रम० ४,४६ ; मार्क० पन्ना ५४ ; विवाह० ८४५ ; १२१५ ; उत्तर० ८०५), सद्दहाइ रूप भी देखने में आता है (उत्तर० ८०४), जै०शौर० में सद्दहदि रूप है (कत्तिगे० ३९९, ३११), अ०माग० में सद्दहामि भी पाया जाता है (विवाह० १३४ ; नायाध० ; § १५३), महा० में सद्दहिमो है (गउड० ९९०) ; अ०माग० मे सद्दहन्ति (विवाह० ८४१ और उसके बाद), सद्दहे (आयार० १, ७, ८, २४ ; उत्तर० १७०), सद्दहसु (सूय० १५१) और सद्दहाहि (विवाह० १३४) रूप पाये जाते हैं। जै०महा० में आसद्दहन्त आया है (आव० एर्से० ३५, ४) ; अ०माग० में सद्दहाण (हेच० ४, २३८ ; सूय० ३२२), असद्दहाण (सूय० ५०४) ; अ०माग० और जै०शौर० मे सद्दहमाण (हेच० ४, ९ ; सूय० ५९६ ; ६९५ ; पव० ३८८, ६) ; अ०माग० में असद्दहमाण (विवाह० १२१५) ; महा० मे सद्दहिअ (भाम० ८,३३ ; रावण० १, ३८) तथा जै०शौर० मे सद्दहण रूप है (पव० ३८८, ६)। — न्त = ण्ट : अ०माग० में विण्ट और तालविण्ट, महा० में वेण्ट, महा०, अ०माग० और शौर० में तालवेण्ट और अ०माग० में तलियण्ट = वृन्त और तालवृन्त है (§ ५३)। — न्थ = ण्ठ : गण्ठइ = *ग्रथ्नाति (हेच० ४, १२०), इसके साथ साथ गन्थइ रूप भी काम में आता है (मार्क० पन्ना ५४) ; महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर०, शौर० और दाक्षि० में गण्ठि = ग्रन्थि (हेच० ४, १२० ; गउड० ; हाल ; कर्पूर० १०, २ ; ७६, ४ ; सूय० ७१९ ; विवाह० १०४ ; उत्तर० ८७७ ; ओव० ; एर्से० ; पव० ३८५, ६९ ; शकु० १४४, १२ ; प्रबोध० १८, १ ; बाल० ३६, ३ ; १३०, ६ ; १४८, १६ ; २९७, १६ ; २९९, १ ; विद्ध० ७१, १ ; ८३, १ ; कर्पूर० २३, २ ; ७६, १० ; ११२, ५ ; कर्ण० ११, १ ; दाक्षि में : मृच्छ० १०४, ७) ;

अ०माग० में **गण्ठिल्ल** रूप है (विवाह० १३०८) ; अ०माग० **गण्ठिग** = ग्रन्थिक (सूय० ८६९) ; अ०माग० में **गण्ठिभेय** आया है (विवाग० १०० ; उत्तर० २८९ ; पण्हा० १५१ [पाठ में **गण्ठिभेद** है]) ; किंतु **गन्थिभेय** भी पाया जाता है (पण्हा० १२१) ; **गण्ठिच्छेय** = ग्रन्थिच्छेद (देशी० २, ८६ ; ३, ९) ; अ०माग० में **गण्ठिच्छेदय** रूप है (सूय० ७१४), **गण्ठिच्छेद** भी मिलता है (सूय० ७१९) ; माग० में **गण्ठिच्छेदअ** रूप देखा जाता है (शकु० ११५, ४ और १२ ; यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए) ; शौर० में **णिग्गण्ठिदगण्ठिर** रूप है (बाल० १३१,१४); जै०शौर० मे **दुग्गण्ठि** आया है (पव० ३८५, ६८) ; अ०माग० में **नियण्ठ** = निर्ग्रन्थ (सूय० ९६२ ; ९८६ ; ९८९ ; ९९२ ; विवाह० १४९ और उसके बाद), **महानियण्ठ** भी देखने मे आता है (उत्तर० ६३५), किंतु अ०माग० में **गंथिम** रूप भी चलता है (आयार० २, १२, १ , २, १५, २० ; पण्हा० ५१, ९ ; विवाह० ८२३ ; जीवा० ३४८ ; दस० नि० ६५१, १० ; अणुओग० २९ ; नंदी० ५०७ ; ओव० § ७९, ग्यारह [XI] ; यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए), बहुत ही कम **गण्ठिय** भी देखा जाता है (नायाध० २६९) ; अ०माग० और जै०शौर० में **गन्थ** = ग्रन्थ (आयार० १, ७, ८, ११ ; पण्हा० ५०६ ; कप्प० ; कत्तिगे० ३९९, ३१७ ; ३१८ और ४०४,३८६ ; ३८७) ; अ०माग० में **सगन्थ** है (आयार० १,२,१,१) ; अ०माग० और जै०शौर० **निग्गन्थ** = **निर्ग्रन्थ** (आयार० २, ५, १, १ ; २, ६, १, १ ; २,१५,२९ ; पेज १३२, ४ और उसके बाद ; सूय० ९३८ ; ९५८ ; ९६४ ; ९९२ ; विवाह० ३८१ ; उवास० ; ओव० ; कप्प०; आदि आदि ; कत्तिगे० ४०४, ३८६) ; अ०माग० मे **निग्गन्थी** भी है (आयार० २,५,१,१) । — **न्द** = **ण्ड** : **कण्डलिआ** = **कन्दरिका** (हेच० २, ३८), इसका अर्थ अनिश्चित है [सभवतः यह शब्द किसी जाति की स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होता या जिसके पुरुष कन्डरिअ या **कंन्दरिअ** इस कारण कहलाते होंगे कि ये लोग जगल आबाद करते होंगे और कदराओं में रहते होंगे। इस जाति का नाम वर्तमान हिंदी में पुल्लिंग **कंजड** और स्त्रीलिंग में **कंजडिन** है। हमारे कोशकारों ने भ्रम से बताया है कि यह शब्द देशज है अथवा **कालंजर** से निकला है। इसका अर्थ प्रायः ठीक दिया है : एक घूमनेवाली जाति ; *रस्सी बटने, सिरकी बनाने का काम करनेवाली एक जाति।* इसका एक रूप स्त्रीलिंग में **कन्दलिआ** या **कन्दरिआ** से **कंजड़ी** भी है। आजकल भी यह जाति घास फूस के मकानों में रहती है, प्राचीनकाल में अवश्य ही कन्दराओं में रहती होगी। इस जाति का एक काम जगलों से खस खस लाकर उसकी टट्टी बनाना भी है। **द** का **ज** में ध्वनिपरिवर्तन का नियम प्रसिद्ध ही है , **उद्योत** = **उज्जोअ** , **द्यूत** = **जूअ** आदि आदि इसके उदाहरण हैं। —अनु०] । **कण्डलि व्व** की तुलना कीजिए जो **विसलअ व्व** = **विपलतेव** के स्थान पर आया है (हाल ४१० ; [यह **कण्डलि** एक कदमूल है जो जगल में पानी के किनारे बहुतायत से पाया जाता है। इसके पत्ते और मूल की भूल से साग बनाने और उसे खाने पर ऐसा लगता है मानो किसी ने गले के भीतर खुरच डाला हो। यह एक प्रकार का जगली बडा है। कुमाउनी में इसका नाम **गंडली** है।

—अनु०]) । — अ०माग० में भिण्डिमाल और इसके साथ-साथ साधारण रूप भिण्डिवाल = भिन्दिपाल (§ २४९) है । — § २८९ और उसके बाद तथा § ३०८ और उसके बाद के § में वर्णित उदाहरणों को छोड़ भिन्न-भिन्न वर्गों के संयुक्त वर्णों का मूर्धन्यीकरण थह्व के ग्ध में है (पाइय० ७५), महा० में ठड्ढं (हेच० २, ३९ ; हाल ५३७) = *स्तग्ध जो *स्तघ् धातु से बना है । पाली ठहति (स्थिर रहना), प्राकृत रूप थाह (= आधारभूमि; फर्श; तला), थह (=निवासस्थान), थग्घ (गहरा), अत्थाह तथा अत्थग्घ (= अतल ; गहरा) (§ ८८) और उत्थंघइ (ऊपर को फेंकना या सहारा लगाकर ऊपर को उठाना) है । महा० में उत्थंघिअ (§ ५०५), उत्थंघण और उत्थंघि- (गउड०) इसी के रूप हैं । छूढ और इसके संधि-समास= क्षुब्ध इसकी नकल पर बने हैं (§ ६६) ।

§ ३३४—दो से अधिक व्यंजनों से संयुक्त वर्णों के लिए ऊपर के पाराओं में वर्णित नियम लागू होते हैं । उदाहरणार्थ, उप्पावेइ = उत्प्लावयति (हेच० २, १०६) ; महा० में उप्पुअ = उत्प्लुत (हाल) है । महा० में उत्थल = उत्स्थल (रावण०) है । महा० में उच्छेवण = उत्क्षेपण (रावण०) है । अ०माग० में णिट्ठाण = निःस्थान (विवाग० १०२) है । अ०माग० मे कयसावत्ता = कृतसापत्न्या (देशी० १, २५) है । माग० में माहप्प = माहात्म्य (गउड० ; रावण०) है । महा०, अ०माग० और शौर० में मच्छ = मत्स्य (रावण० ; सूय० ७१ ; १६६ ; २७४ ; उत्तर० ४४२ ; ५९५ ; ९४४ ; विवाग० १३६ ; विवाह० २४८ और ४८३) ; माग० मे यह रूप मश्च हो जाता है (§ २३३) ; अ०माग० में मच्छत्ताए रूप मिलता है (विवाग० १४८) और जै०महा० में मच्छबन्ध आया है (एर्से०) । महा० मे उज्जोअ = उद्योत (गउड० ; हाल ; रावण०) है । महा० और शौर० में अग्घ = अर्घ्य (हाल ; शकु० १८, ३ ; ७२, ३) है । महा० मे सामग्गय = सामग्र्यक (रावण०) है । महा० और अ०माग० में तंस = त्र्यस्त (§ ७४) है । जै०महा० में वट्टा = वर्त्मन् (= बाट : देशी० ७, ३१ ; एर्से०) है । महा० ; अ०माग०, जै०महा०, शौर० और अप० में पंति = पंक्ति (§ २६९) है । महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में विंझ = विन्ध्य (§ २६९) है । महा० में अत्थ=अस्त्र (रावण०; आदि-आदि) है । अपने अपने उक्त स्थान पर इनके अनगिनत उदाहरण दिये गये हैं । ज्योत्स्ना, महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर०, दाक्षि० और अप० मे जोॅण्हा रूप धारण करती है (हेच० २, ७५ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; कर्पूर० १, ४ ; २, ५ ; २९, १ ; ८८, २ ; मल्लिका० २३९, ३ ; जीवा० ७८७ ; कालका० ; शकु० ५५, २ ; मालवि० २८, १० ; बाल० २९२, १५ ; अनर्घ० २७७, ३ ; मल्लिका० १२४, ७ ; २४३, १५ ; २५२, ३ ; कर्ण० १६, ८ ; दाक्षि० मे : मृच्छ० १०१, ९ ; अप० में हेच० ४, ३७६, १), जोॅण्हाल = *ज्योत्स्नाल [यह जोॅण्हाल रूप कुमाउनी में वर्तमान है । —अनु०] (हेच० २, १५९), शौर० में जोण्हिआ = ज्यौत्स्निका [[यह रूप कुमाउनी में ज्यूनि रूप में है । —अनु०] (मल्लिका० २२८, ९) अथवा अ०माग० मे दोसिणा रूप है (§ २१५),

शौर० में दोसिणी रूप भी है = ज्यौत्स्नी (§ २१५) है। महा० और जै०महा० में सामत्थ (हेच० २, २२ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्लें० ; काल्का०) जो अपने पूर्व रूप *सामर्थ की सूचना देता है (§ २८१)। सामर्थ्य नियम के अनुसार शुद्ध रूप सामच्छ बनाता है (हेच० २, २१)। — पाली में दिस्वा = दृष्ट्वा इससे यह सम्भव मालूम पड़ता है कि अ०माग० दिस्सा में (सूय० ७२८ ; विवाह० १४१४) और पदिस्सा = प्रदृष्ट्वा में (विवाह० १४१५) दीर्घ स्वर मौलिक है और दिस्स रूप में ह्रस्व स्वर (सूय० १७४ ; १८८ ; उत्तर० २१९ ; ४४७ ; ६६६ ; ६९५ ; दस० ६२९, ३४ ; ६३९, २७) छन्द की मात्रा ठीक करने के लिए लगाया गया है। इसी तथ्य का निर्देश अ०माग० दिस्सम्-आगयं = दृष्ट्वागतम् (उत्तर० ६९५) करता है, जहाँ § ३४९ के अनुसार दिस्सम्, दिस्सं के स्थान पर आया है और यह दिस्सं § ११४ के अनुसार दिस्सा के लिए आया है। दृष्ट्वा का नियमानुसार रूप *दिट्ठा होना चाहिए था। संयुक्त व्यंजनों में ह-कार के लोप के विषय में § २१३ देखिए।

तीन—शब्द के आदि में व्यंजनों की विच्युति का आगमन

§ ३३५—समास के द्वितीय पद का आदि व्यंजन जब वह दो स्वरों के बीच में आया हो तब उसकी विच्युति हो जाती है ; इसी प्रकार पूर्वाधार आदि के अव्ययों तथा अग्राचारों के बाद भी विच्युति हो जाती है, क्योंकि इनके एक साथ सम्बन्धित शब्द एक समास समझे जाते हैं (§ १८४) अन्यथा आदि में आनेवाले व्यंजनों की विच्युति दो चार ही मिलती है और वह भी जनता की बोली में जाकर यह हुआ है : उआ = पाली ऊका = यूका (देशी० १, १३९ ; त्रिवि० १, ३, १०५), इसके साथ साथ जूआ रूप भी मिलता है (देशी० १, १५९), अ०माग० में जूया रूप है (आयार० २, १३, १८ ; वेबर द्वारा सम्पादित अणुओग० ; भग० २, २६५ पर नोट), जूव भी पाया जाता है (§ २३०)[1] ; ओक्कणी = *यूकनी (= जुवाँ : देशी० १, १५९) है। — अ०माग० में अहा- = यथा-(हेच० १, २४५, [इसमें हेच० ने टीका में बताया है कि आर्यभाषा में यथा के य का लोप भी हो जाता है, उदाहरण में अह-और अहा दिये हैं। —अनु०]), उदाहरणार्थ, अहासुयं = यथा-श्रुतम् (आयार० १, ८, १, १ ; पेज १३७, २६) ; अहासुत्तं, अहाकप्पं और अहामग्गं = यथासूत्रं, यथाकल्पं और यथामार्गम् (आयार० पेज १३७, २६ ; पाठ में अहासुयं है ; नायाध० ३६९ ; विवाह० १६५ ; उवास० ; कप्प०) ; अहाराइणियाए = *यथारत्निकाय (आयार० २, ३, ३, ५ ; ठाणग० ३५५ और उसके बाद) ; अहाणुपुव्वीए = यथानुपूर्व्या (आयार० २, १५, १३ ; ओव०) ; अहारिहं = यथार्हम् (आयार० २, १५, १६ ; सूय० ६९५ ; उवास०) ; अहासंथडं = यथासंस्तृतम् (आयार० २, ७, २, १४) ; अहासुहुमं = यथा-सूक्ष्म (आयार० २, १५, १८; विवाह० २१३); आहत्तहीयं = *याथातथ्यीयम्

(सूय० ४८४ ; ५०६) ; आहाकडं = *याथाकृतम् (आयार० १, ८, १, १७ ; सूय० ४०५ और ४०८) ; आहापरिग्गहिय = *याथापरिगृहीत (ओव०) है। — अ०माग० में आव– = यावत् ; आवकहा– = *यावत्कथा– (सूय० १२०) ; आवकहाए = *यावत्कथाये (आयार० १, ८, १, १ ; ठाणंग० २७४) ; आवकहं = यावत्कथाम् (आयार० १, ८, ४, १६) ; आवकहिय = *यावत्कथिक, इन सब में आह या आहा का अर्थ 'जब तक', 'लगातार' है। — अ०माग० आवन्ती = यावन्ति (आयार० १, ४, २, ३ ; १, ५, १, १ और उसके बाद) है। उथ्ह, उज्झ, उब्भ और उम्ह में शब्द के आदिवर्ण त अथवा य की विच्युति वर्तमान है (§ ४२० और उसके बाद)। § ४२५ में याइं की तुलना कीजिए।

१. पिशल, बे० बाइ० ३, २४१।

§ ३३६—पाली की भाँति माग० और पै० में एव से पहले य जोड़ा जाता है, जैसे येव ; लघु अथवा ह्रस्व स्वरों के बाद यह येव, य्येव रूप धारण कर लेता है। माग० में इदो य्येव और यम य्येव रूप पाये जाते हैं (हेच० ४, ३०२), एव रूप अशुद्ध है (ललित० ५६७, १) ; पै० में सवस्स य्येव = सर्वस्यैव ; तूरातो य्येव = दूराद् एव (हेच० ४, ३१६ ; ३२३) है, जैसे कि मौलिक [= संस्कृत। —अनु०] य के विषय में नाटकों की हस्तलिपियाँ जेव, ज्जेव, जें व्व और ज्जें व्व लिखती हैं जो रूप केवल शौर० में काम में आया है (§ ९५)। वर० १२, १३ में बताता है कि शौर० में य्यें व रूप का प्रयोग किया जाता है और हेच० ४, ४८० के अनुसार इस स्थान पर य्येव होना चाहिए जो दक्षिण भारतीय हस्तलिपियों के कुछ ही नाटकों में पाया जाता है[१]। अप० में जेव के व की विच्युति हो जाती है (§ १५०) और ए का परिवर्तन इ में होकर (§ ८५) जि रूप हो जाता है (चंड० २, २७ ब ; हेच० ४, ४२० शब्दसूची सहित)। इसका प्राचीन रूप जे महा० में पाया जाता है (हाल ५२४ का यह रूप = हेच० २, २१७ ; रावण० ४, ३६), अ०माग० में भी (उत्तर० ६६९) जे पाया जाता है और जै०-महा० में भी (आव०एर्त्से० १२, २४) तथा व्याकरणकारों ने इसे पादपूरक बताया है (हेच० २, २१७ ; चंड० २, २७ अ, पेज ४६ की तुलना कीजिए ; क्रम० ४, ८३)। शुद्ध रूप चिअ हाल ५२६ में देखा जाता है। य् अप० में भी इव[२] के पहले आता है जो फिर जिवँ और जेवँ = *यिव बन जाता है (§ २६१)। ऐसा लगता है कि अप० रूप जिवँ रूप साधारण नियम के अनुसार पाली चिय से निकला हो जो लोगों की जबान पर चढ़कर ध्वनियों के स्थान के परिवर्तन के कारण *यिव बन गया है। किन्तु पाली विय महा०, शौर० और माग० विअ तथा अ०माग० और जै०महा० विय से अलग नहीं किया जा सकता और ये रूप अ०माग० और जै०महा० चिय और पिव तथा बोली के अभाव से बना मिव रूप से पृथक् नहीं किये जा सकते, इसलिए हमें पाली का विय महा०, शौर० और माग० का विअ तथा अ०माग० और जै०महा० का विय, विव से बना मानना पड़ेगा और इसे § ३३७ के अनुसार

=प्+इव ठहराना होगा। शौर० और माग० में विअ ही मुख्य रूप है (वर० १२, २४; मृच्छ० २, १६; १९; २१; २२, २५; ३, १७ और २०, ८; ३ आदि-आदि; माग० में : मृच्छ० १०, १; १३३, १२ और २४; १३४, २; १३६, १४ आदि आदि), महा० में यह रूप कम चलता है (वर० ९, १६; हेच० २, १८२; हाल; रावण०, कर्पूर० १, ४, १६, ४; ६४, ८), अ०माग० और जै०महा० में विय इससे भी कम प्रचलित है (चंड० २, २२; भग०; एर्सें०) क्योंकि इन बोलियों में व, व्व और इव अधिक काम में लाया जाता है (§ ९२ और १४३)। अ०माग० और जै०महा० में स्वरों के बाद विय रूप पाया जाता है (हेच० २, १८२; क्रम० ४, ८३; पण्हा० ५०५, ६, ७; १०; नायाध० § ३५ और ९२; पेज ३४९ और १४५०; उत्तर० ५९३; ५९६; ६३४, विवाग० ८३ और २३९, विवाह० १७१; निरया०; कप्प०; एर्सें०; कालका०); महा० में भी यह शब्द देखने में आता है (हाल, रावण०)। महा०, अ०माग० और जै०महा० में अनुस्वार के बाद विय का रूप पिव हो जाता है (चंड० २, २२, हेच० २, १८२; क्रम० ४, ८३) जहाँ वि और पि = अपि[1] के चक्कर ने इस रूप पर प्रभाव डाला है। पिव की व्युत्पत्ति पि= अपि+इव से निकलने से इसका अर्थ हमें असमंजस में डाल देता है, कुछ असम्भव सा लगता है। महा० में भी यह पिव मिलता है (गउड० में इव शब्द देखिए; हाल; हाल १ पर वेबर की टीका), अ०माग० में भी पाया जाता है (सूय० ७५८, पण्हा० २३१; ३४०, ५०८, नायाध० § २३ और १२२; पेज २६९; २७१; २८९, ३५४; ४३९; ७४०; १०४५ और १४३३; विवाग० ११२, राय० २५५, विवाह० ७९४, ८०४; ८२३ और ९४३, निरया०, कप्प०, आव०एर्सें० ७, २९; द्वार० ४९७, ३७, एर्सें०, ऋषभ०)। पिव को वर० १०, ४ में केवल पै० में सीमित कर देता है जो अशुद्ध है। मिव (वर० ९, १६; चंड० २, २७ इ, पेज ४७, हेच० २, १८२; क्रम० ४, ८३), जो अनुस्वार के बाद महा० में पाया जाता है (हाल; हाल १ पर वेबर की टीका; रावण०) और जिसपर ब्लौख[2] को संदेह है[3], पर जिसका सन्देह करने की कोई कारण नहीं होना चाहिए। अपने से पहले आनेवाले — से घुलमिलकर विव या पिव से निकला होगा[4] जैसा मि भी वि और पि के साथ साथ = अपि पाया जाता है[5]। सेनार द्वारा सम्पादित अशोक शिलालेखों में हैं येव और हेवं मेव की तुलना कीजिए।

१. हेच० ४, २८० पर पिशल की टीका। — २. चाइल्डर्स के पाली-कोश में इव शब्द देखिए; ए० कून, बाइत्रैगे, पेज ६४, ए० म्युलर, सिम्प्लि-फाइड ग्रैमर, पेज ६२, विण्डिश, बे० को० सै० गे० वि०, पेज २३२; हाल एक की टीका के नोट की संख्या २ में वेबर का यह मत है किन्तु सन्देहपूर्ण रीति से। — ३. याकोबी, कल्पसूत्र, पेज १००, एस० गौल्दश्मित्त०, प्राकृतिका० पेज ३० की तुलना कीजिए; हाल १ पर वेबर की टीका, ब्लौख, वररुचि और हेमचंद्र, पेज ३४। — ४. वररुचि और हेमचंद्र, पेज ३४ और उसके बाद। — ५. विण्डिश, उपर्युक्त पत्रिका के पेज २३४ और उसके बाद के पेज में इसके

विरुद्ध लिखता है ; कोनो, गो० गे० आ० १८९४, पेज ४७८ । — ६. वेबर, हाल १ पेज ४७ में इसके स्पष्टीकरण अन्य रूप से दिये गये हैं ; पी० गौल्द-श्मित्त, स्पेसिमेन, पेज ६९; एस० गौल्दश्मित्त द्वारा सम्पादित रावणवहो में यह शब्द देखिए ; विण्डिश का उपर्युक्त ग्रंथ, पेज २३४ । वररुचि ९, १६ में म्मिव के स्थान पर अच्छा यह है कि पिव पढ़ा जाना चाहिए । — ७. एस० गौल्द-श्मित्त, प्राकृतिका०, पेज ३१; त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ३३, ४५९ में क्लान्त का मत ; वेबर, हाल में मि शब्द देखिए । जै०महा० में शिलालेख (कक्कुक शिला-लेख १० में वि और पि के साथ ही आया है) में भी यह रूप आया है ।

§ ३३७—निम्नलिखित शब्दों में शब्द के आदिवर्ण उ में व जोड़ दिया गया है : महा०, शौर० और माग० में विअ, अ०माग० और जै०महा० में विय तथा अ०-माग० और जै०महा० में विव = इव (§ ३३६) : अ०माग० में वुच्चइ और शौर० तथा माग० में वुच्चदि = उच्यते (§ ५४४) ; अ०माग० और जै०महा० में वुत्त = उक्त (सूय० ७४ ; ८४४ ; ९२१ ; ९७४ ; ९८६ और ९९३ ; उत्तर० ७१७ ; उवास०.; निरया०; ओव० ; कप्प० ; तीर्थ० ४, १९ ; ५, २ ; आव० एर्त्से० ११, २२ ; एर्त्से०) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० मे वुब्भइ = उह्यते (§ २६६ और ५४१) है । वुचइ, वुत्त और वुब्भइ वर्त्तमान काल के रूप से भी बनाये जा सकते हैं,[1] इस दशा में ये = *वच्यते, वक्त और वभ्यते हैं । इनमे अ का उ हो गया है जो § १०४ के अनुसार है । यह नियम महा० रूप वुत्थ के लिए प्रमाणित हो गया है, यह वुत्थ = *वस्त=उषित जो वस् धातु (= रहना; घर बसाना : § ३०३ और ५६४)[2] और अ०माग० परिवुसिय में भी यही नियम काम करता है जो वस् (= पहनना : आयार० १, ६, २, २ और ३, २ ; १, ७, ४, १ ; ५, १) धातु से बना है । जै०शौर०, शौर० और माग० मे उत्त रूप है (पव० ३८२, ४२ ; चैतन्य० ४१, १० ; ७२, ५ ; १२७, १७ ; कालेय० २३, ११ ; माग० में : मृच्छ० ३७, १२), और यही रूप सर्वत्र सन्धि और समास मे भी चलता है, जैसे महा० मे पच्चुत्त = प्रत्युक्त (हाल, ९१८) ; अ०माग० मे निरुत्त = निरुक्त (पण्हा० ४०६) ; महा० और शौर० में पुणरुत्त रूप है (गउड० ; हाल ; रावण० ; मृच्छ० ७२, ३ ; शकु० ५६, १६ ; मालवि० ८६, ४; बाल० १२०, ६; वृषभ० १५, १६ ; मल्लिका० ७३, ३), अ०माग० में अपुणरुत्त रूप भी पाया जाता है (जीवा० ६१२ ; कप्प०) । — अप० में वुट्ठए = उत्तिष्ठन्ति (पिंगल १, १२५ अ) ; महा० और जै०महा० में वूढ = ऊढ (रावण० ; एर्त्से०), इसके साथ-साथ महा० में ऊढ रूप भी चलता है (गउड०)[3]; जै०महा० मे वुप्पन्त = उप्यमान (आव० एर्त्से० २५,२९); वोच्चत्थ (= विपरीत रति : देशी० ७, ५८) = *उच्चस्थ जो उच्च से सम्बन्धित है, जैसा अ०माग० रूप वुच्चत्थ (= पर्यस्त ; भ्रष्ट : उत्तर० २४५) बताता है ।

१. बे० को० सें० गे० वि० १८९३, २३० की नोटसंख्या १ में विण्डिश का मत । — २. ए० कून, बाइत्रैगे, पेज ३७ की तुलना कीजिए । — ३. कभी-कभी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि रावणवहो में वूढ, जैसा

अन्य स्थलों पर बहुधा पाया जाता है = हपूढ न हो। बहुधा घु और घो= नि+उद् है।

§ ३३८—हरे (हेच० २, २०२; क्रम० ४, ८३) और हिरे में (वर० ९,१५), जिनके साथ साथ अरे भी चलता है, ह जोड़ा गया है [कुमाउनी में यह हूँरे रूप में चलता है। —अनु०]। हिंग (हेच० २,१८६; § २५९) में भी, जिसका महा० रूप इर है और जो = किर (§ १८४) है, ह जुट गया है। अ०माग० हुट्ठ = ओष्ठ (आयार० १,१,२,५) है। अ०माग० में हव्वाए जो *अर्वाक का सम्प्रदानकारक है = आर्वाञ्च (आयार० १, २, २, १ ; सूय० ५६५ ; ५७५ ; ५७८ ; ६०१ ; ६०९ ; ६१६ ; ६२५ और उसके बाद) है। यह रूप तथा अ०माग० क्रियाविशेषण हव्वं (=शीघ्र) जिसका स्पष्टीकरण टीकाकार शीघ्रम् अथवा अर्वाक् से करते हैं, वारन[1] तथा लौयमान[2] के मतानुसार ठीक ही अर्वाक् तक संबंधित किये जाने चाहिए। याकोबी[3] संदेह करता हुआ इसे = भव्यम् बताता है और वेबर[4] ने पहले, इसी भांति संदिग्ध मन से सव्वं = सर्वम् बताया था, बाद में = हव्यम्[5] बताया जिसका अर्थ 'पुकारने पर' है (ठाणग० १२४ ; १२५ ; १२७, १५५ और उसके बाद ; २०७ ; २०८ ; २८५ और उसके बाद ; ५३९ ; ५८५ ; अंत० १४ ; १८ और उसके बाद ; २० ; २२ ; समः ८९ ; ९५ ; ११० ; विवाग० १८ और उसके बाद ; १३० ; नायाध० § ९४ ; पेज ३०६ ; ३७८ ; ५६५ ; ६२० ; ६२४ और उसके बाद ; ७३७ ; ७९२ ; ८१९ आदि आदि ; विवाह० ९६ और उसके बाद ; १२५ और उसके बाद ; १४६ और उसके बाद ; १५४ और उसके बाद ; १७० ; १८१ और उसके बाद ; २३४ आदि-आदि ; राय० २४८ और उसके बाद ; जीवा० २६० ; ३५६ ; ४११ ; अणुओग० ३९४ ; ४२६ ; ४५४ ; ४५५ ; पण्णव० ८३८ ; निरया० ; उवास० ; ओव० ; कप्प०)।

१. पिशल, कू बाइ. ७, ४६२ ; पी. गौल्दश्मित्त, ना. गे वि. गो. १८७४, पेज ४७४। — २. ओवर डे गौड्सर्दीस्टिगे एन० वाइसगेरिगे बेग्रिफ्पन डेर जैनाज, पेज ५२ और उसके बाद। —३. औपपत्तिक सूत्र में यह शब्द देखिए। — ४. कल्पसूत्र में यह शब्द देखिए। — ५. भगवती १, ४१६, नोटसंख्या १। — ६. शब्दसूची २, २, ४२३, नोटसंख्या ३।

शब्द के अंत में व्यंजन

§ ३३९—प्राकृत में शब्द के अंत में साधारण अथवा अनुनासिक युक्त स्वर ही रहता है। अनुनासिक को छोड़ अन्य व्यंजनों की शब्द के अंत में विच्युति हो जाती है : मणा = मनाक् (हेच० २, १६९ ; [मणा, मणि = बहुत कम ; थोड़ा सा, कुमाउनी में चलता है। —अनु०]) ; महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर० और माग० में ताव = तावत् (§ १८५) ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में पच्छा = पश्चात् (§ ३०१ ; [यह रूप भी कुमाउनी में चलता है। —अनु०]) ;

अ०माग० अभू = अभूत् ; अकासी = अकार्षीत् (§ ५१६) ; अ०माग० में आकरिंसु = अकार्षुः (§ ५१६) है। § ३९५ की तुलना कीजिए। जो स्वर शब्द के अन्त में आते हैं वे कभी कभी सानुनासिक कर दिये जाते हैं (§ ७५ ; ११४ और १८१), ह्रस्व स्वर दीर्घ भी कर दिये जाते हैं (§ ७५ और १८१)।

§ ३४०—किसी सन्धि या समास के पहले पद की समाप्ति का व्यंजन, दूसरे पद के आदिवर्ण के साथ नियमानुसार घुलमिल जाता है (§ २६८ और उसके बाद), जबतक कि अ की रूपावली के अनुसार चलनेवाले व्यजन में समाप्त होनेवाली जाति के शब्द न आय (§ ३५५ और उसके बाद)। कभी कभी दूसरे पद के व्यजन के पहले, प्रथम पद के अन्तिम वर्ण के साथ पूर्णतया अन्तिम वर्ण के नियम के अनुसार व्यवहार होता है, मुख्यतया पद्य में। इस भाँति महा० में **उअमहिहर = उदक+महीधर** (गउड० ६३१) ; महा० में **उअसिन्धु = उदक+सिन्धु** (गउड० ३९५) ; महा० में **एअगुणा = एतद्गुणाः** (हेच० १, ११) ; महा० में **जअरक्खण = जगद्रक्षण** (गउड० और जगत् का सन्धि या गउडवहो और रावणवहो समास में अधिकतर यही रूप बन जाता है); अ०माग० में **तडितडिय = तडित्तडित** (ओव० § १६, पेज ३१, १३); महा० में **तडिभाव = तडिद्भाव** (गउड० ३१६); महा० में **विअसिअ = वियत्+श्रित**, छद में तुक मिलाने और चमत्कार पैदा करने के लिए इसके साथ **विअसिअ = विकसित** रूप आता है (रावण० ६, ४८) ; महा० में **विज्जुविलसिअ = विद्युद्विलसित** (रावण० ४, ४०) और गउडवहो तथा रावणवहो मे बहुधा विद्युत शब्द का यही रूप देखा जाता है। महा० **सरिसंकुल = सरित्संकुल**, पद्य में चमत्कार दिखाने और तुक मिलाने के लिए **सरिसंकुलम् = सदृशंकुलम्** काम मे लाया जाता है (रावण० २, ४६) ; महा० में **सउरिस = सत्पुरुष** (गउड० ९९२), इसके साथ साथ बार बार सप्पुरिस रूप भी आया है ; **सभिक्खु = सद्भिक्षु** (हेच० १, ११) है। दुस् के स् की विच्युति विशेष रूप से अधिक देखने मे आती है जिसका आधार सु–युक्त सन्धियाँ हैं जो बहुधा इसके बगल में ही पायी जाती हैं : महा०, अ०माग० और जै०महा० में **दुलह = दुर्लभ** (क्रम० २, ११४ , मार्क० पन्ना ३२ ; गउड० ११३३ ; हाल ८४४ ; कर्पूर० ९२, ४ ; दस० ६१८, १२ [यहाँ दुलह रूप सुलह के जोड़ मे आया है जो १४ में है]; बाल्का० २७१, ३३), महा० में **दुलहत्तण = दुर्लभत्व** पाया जाता है (गउड० ५०३) ; अ०माग० में **दुच्चिण्ण = दुश्चीर्ण** (ओव० § ५६, पेज ६२, १४), यह रूप इससे पहले आनेवाले दूसरे रूप **सुच्चिण्ण = सुचीर्ण** के बाद आया है ; अ०माग० में **दुमुह = दुर्मुख** (पण्हा० २४४), यहाँ भी उक्त रूप सुमुह के साथ आया है ; अ०माग० में **दुरूप = दूरूप** (सूय० ५८५ ; ६०३ ; ६२८ ; ६६९ ; ७३८ ; विवाह० ११७ ; ४८० , ठाणग० २०)। यह अधिकांश स्थलों पर **सुरुव = सुरूप** के साथ आया है , अ०माग० में **दुवन्न = दुर्वर्ण** (सूय० ६२८ , ६६९ ; और ७३८ ; विवाह० ४८० [पाठ में दुवण्ण है]), यह सुवन्न के साथ आया है ; महा० में **दुसह = दु सह** (हेच० १, ११५ , गउड० १५८ ; ५११ ; हाल ४८६);

दुहव = दुर्भग (हेच० १, ११५ ; § २३१ की तुलना कीजिए) और महा० में दोहग्ग = दौर्भाग्य (हाल) है।

§ ३४१—इसके विपरीत, विशेषकर स्वरों से पहले कभी कभी अन्तिम व्यञ्जन बना रह जाता है। यह समासों में नहीं होता, साधारणतः पादपूरक अव्ययों के पहले होता है। अ०माग० में छच् च = षट् च ; छच् चेव = षड् एव ; छप् पि = षड् अपि (§ ४४१) है। अ०माग० में असिणाद् इ वा अवहाराद् इ वा = अशनाद् इति वा अपहाराद् इति वा (आयार० २, १, ५, १) ; अ०माग० में सुचिराद् अवि = सुचिराद् अपि (उत्तर० २३५) ; अ०माग० में तम्हाद् अवि इक्ख = तस्माद् अपीक्षस्व (सूय० ११७) ; जद् अ०माग० में अत्थि = यद् अस्ति (ठाणग० ३३) ; अ०माग० में अणुसरणाद् उवत्थाणा = अनुसरणाद् उपस्थानात् (दस०नि० ६५६, १) ; माग० में यद् इश्चसे = यद् इच्छसे ; महद् अंतलं = महद् अंतरम् (मृच्छ० १२३, ५ ; १३६, १८) है। समासों में : अ०माग० में तद्दावरणिज्ज = तदावरणीय (उवास० § ७४) ; अ०माग० में तदज्झवसिया, तदप्पियकरणा और तयट्ठोवउत्ता = तदध्यवसिताः, तदर्पितकरणाः और तदर्थोपयुक्ताः हैं (ओव० § ३८, पेज ५०, ३१ और उसके बाद) ; अ०माग० में तदुभय रूप मिलता है (ओव० § ११७ तथा १२२) ; जै०महा० में तदुविक्खाकारिणो = तदुपेक्षाकारिणः (कालका० २६१, २७)। इनके साथ साथ ऐसे उदाहरण हैं जैसे, महा० में एआवत्था = एतदवस्था (रावण० १९, १३२), अ०माग० में एयाणुरूव = एतदनुरूप (कप्प० § ९१ और १०७) हैं। अ०माग० में तारूवत्ताए, तावन्नत्ताए और ताफासत्ताए = तद्रूपत्वाय, तद्वर्णत्वाय और तत्स्पर्शत्वाय है (पण्णव० ५२३ और उसके बाद ; ५४०), तागन्धत्ताए और तारसत्ताए = तद्गन्धत्वाय और तद्रसत्वाय (पण्णव० ५४०) और बहुत ही बार अ०माग० और जै०महा० में एयारूव = एतद्रूप (आयार० २, १५, २३ और २४ ; सूय० ९९२, विवाग० ११६ ; विवाह० १५१ ; १७० , १७१ ; उवास० , कप्प० , एत्सें०)। इन रूपों का या तो § ६५ या § ७० के अनुसार स्पष्ट किया जा सकता है। अ०माग० में सडंगवी = षडंगविद् (ओव० ; कप्प०) है। दुस् और निस् के स् से निकला र् स्वरों से पहले सदा बना रहता है (हेच० १, १४, क्रम० २, १२४) : दुरवगाह रूप आया है (हेच० १, १४), अ०माग० में दुरइक्कम = दुरतिक्रम (आयार० १, २, ५, ४) है ; महा० में दुरारोह रूप आया है (हाल) ; जै०महा० में दुरणुचर, दुरन्त और दुरप्प- = दुरात्मन् (एत्सें० ; अ०माग० में दुरहियास = दुरधिवास (उवास०) ; शौर० में दुरागद = दुरागत (विक्रमो० ३२, ११) है ; महा० और जै०महा० में दुरिअ = दुरित (गउड० ; कक्कुक शिलालेख १, २२) ; दुरुत्तर रूप पाया जाता है (हेच० १, १४) [कुमाउनी में दुरुत्तर को दुरंतर कहते हैं = दुरुत्तर। —अनु०], महा० और शौर० में णिरंतर और जै०महा० में निरंतर रूप मिलते हैं (हेच० १, १४ ; गउड० ; हाल ; एत्सें० ; मृच्छ० ६८, १९ ;

७३, ८ ; प्रबोध० ४,४) ; महा० में **णिरवेॅक्ख** = **निरपेक्ष** (रावण०) ; महा० में **णिरालंब** (हाल) देखने में आता है। महा० में **णिरिक्खण** = **निरीक्षण** (हाल) है ; अप० का **णिरुवम** रूप और जै०महा० का **निरुवम** = **निरुपम** (हेच० ४, ४०१, ३ ; एत्सें०), महा० मे **णिरूसुअ** = **निरुत्सुक** (गउड०) है। **प्रादुस्** मे यही नियम लगता है : **पादुरेसए** = **प्रादुरेषयेत्** (आयार० १, ७, ८, १७), **पादुरकासि** = **प्रादुरकार्षीत्** (सूय० १२३), इसके साथ साथ अ०माग० में **पाउब्भूय** रूप आता है जो = **प्रादुर्भूत** (विवाग० ४, ३८ ; विवाह० १९० ; कप्प०), **पाउब्भविस्था** (विवाह० १२०१) है और **पाउकुज्जा** = **प्रादुष्कुर्यात्** है (सूय० ४७४), **पाउकरिस्सामि** = **प्रादुष्करिष्यामि** (उत्तर० १)। इसके विपरीत **कारिस्सामि पाउं** (सूय० ४८४), **करेन्ति पाउं** [पाठ में **पाउ** है] और **करेमि पाउं** (सूय० ९१२ और ९१४) रूप आये हैं। § १८१ की तुलना कीजिए। इसी प्रकार महा० में **वाहिर् उण्हाइं** भी है = **वाहिर् उष्णानि** (हाल १८६) है। मौलिक **र्** के विषय में § ३४२ और उसके बाद तथा **म्** के बारे में § ३४८ और उसके बाद देखिए।

§ ३४२—मौलिक **अर्** से निकला **अः** सब प्राकृत बोलियों में अधिकांश स्थलों पर **ओ** बन जाता है : महा० और अ०माग० में **अन्तो** = **अन्तः** जो **अन्तर्** से निकला है (गउड० ; हाल ; रावण० , आयार० १, २, ५, ५ ; २, १, २, ७ और ३, १० ; २, ७, २, १ , सूय० ७५३ ; उवास०), अ०माग० मे **अहो** = **अहः** जो **अहर्** से निकला है (§ ३८६); अ०माग० में **पाओ** = **प्रातः** जो **प्रातर्** से निकला है (कप्प०)। **पुनर्** से निकला **पुनः** महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै० शौर०, शौर०, माग०, ढक्की और आव० में 'फिर', 'दूसरी बार' के अर्थ में **पुणो** हो जाता है (गउड० ; हाल , रावण० ; आयार० १, १, ५, ३ ; १, २, १, १ और २, २ ; १, ४, १, ३ और २, २ , १, ६, ४, २ ; सूय० ४५ ; १५१ ; १७८ ; २७७ ; ४३३ ; ४६८ ; ४९७ ; उत्तर० २०२ ; आव० एत्सें० २८, १४ ; एत्सें० ; कालका० ; पव० ३८३,२४ ; ३८४, ४९ ; ३८६,१० ; ३८८, ८ ; कत्तिगे० ४०३, ३७५ ; मृच्छ० २९, ११ ; ५८, ८ और १३; माग० में : १७६, ५ और ९ ; प्रबोध० ५८, ८ ; ढक्की में : मृच्छ० ३९,१७ ; आव० में : मृच्छ० १०३, ३), महा०, जै० महा०, जै०शौर०, शौर०, माग० और दाक्षि० में विशेष कर संयुक्त रूप **पुणो वि** बहुत ही आता है (क्रम० २, १२६ ; गउड० ; हाल ; आव० एत्सें० ८, ३४ और ५२ ; १२, २५ ; एत्सें० २७, ६ ; ३३, ३७ ; कत्तिगे० ४०२, ३६७ ; मृच्छ० २०, २४; २१, ७ ; ४१, ६ ; ४५, १६ ; ८१, ९ ; ९४, १९ ; शकु० २२, २ ; ६८,२ ; विक्रमो० ११, २ , १३, १८ ; २८, १ ; ८२, १७ ; महावीर० ६५, २ ; चंड० ९३, १४ ; माग० में : मृच्छ० ८०, ५ ; ११५, ९ ; ११७, ३ ; १३२, २२ ; १४८, १४ ; १६२, ९ ; दाक्षि० मे : मृच्छ० १०३, १७), जिसके स्थान पर अ०माग० में **पुणर् अवि** का अधिक व्यवहार किया जाता है (क्रम० २, १२६ ; आयार० १,८, २, ६ ; २, १, ७, ३ ; सूय० १००, ६४३ ; ८४२ ; विवाह० १०३८ ; १४९६ ;

दुहव = दुर्भग (हेच० १, ११५ ; § २३१ की तुलना कीजिए) और महा० में दोहग्ग = दौर्भाग्य (हाल) है।

§ ३४१—इसके विपरीत, विशेषकर स्वरों से पहले कभी कभी अन्तिम व्यंजन बना रह जाता है। यह समासों में नहीं होता, सामकर पादपूरक अव्ययों के पहले होता है। अ०माग० में छच् च = षट् च ; छच् चेव = षड् एव ; छप् पि = षड् अपि (§ ४४१) है। अ०माग० में असिणाद् इ वा अवहाराद् इ वा = अशनाद् इति वा अपहाराद् इति वा (आयार० २, १, ५, १) ; अ०माग० में सुचिराद् अवि = सुचिराद् अपि (उत्तर० २३५) ; अ०माग० में तम्हाद् अवि इक्खए = तस्माद् अपीक्षस्व (सूय० ११७) ; जद् अ०माग० में अत्थि = यद् अस्ति (ठाणग० ३३) ; अ०माग० में अणुसरणाद् उवत्थाणा = अनुसरणाद् उपस्थानात् (दस०नि० ६५६, १) ; माग० में यद् इच्चसे = यद् इच्छसे ; महद् अंतलं = महद् अंतरम् (मृच्छ० १२३, ५ ; १३६, १८) है। समासों में : अ०माग०में तदावरणिज्ज = तदावरणीय (उवास० § ७४) ; अ०माग० में तदज्झवसिया, तदप्पियकरणा और तदट्ठोवउत्ता = तदध्यवसिताः, तदर्पितकरणाः और तदर्थोपयुक्ताः हैं (ओव० § ३८, पेज ५०, ३१ और उसके बाद); अ०माग० में तदुभय रूप मिलता है (ओव० § ११७ तथा १२२) ; जै०महा० में तदुविक्खाकारिणो = तदुपेक्षाकारिणः (कालका० २६१, २७)। इनके साथ साथ ऐसे उदाहरण है जैसे, महा० में एआवत्था = एतदवस्था (रावण० १९, १३२), अ०माग० में पयाणुरूव = एतदनुरूप (कप्प० § ११ और १०७) है। अ०माग० में तारूवत्ताए, तावन्नताए और ताफासत्ताए = तद्रूपत्वाय, तद्वर्णत्वाय और तत्स्पर्शत्वाय है (पण्णव० ५२३ और उसके बाद ; ५४०), तागन्धत्ताए और तारसत्ताए = तद्गन्धत्वाय और तद्रसत्वाय (पण्णव० ५४०) और बहुत ही बार अ०माग० और जै०महा० में पयारूव = एतद्रूप (आयार० २, १५, २३ और २४ , सूय० ९९२ ; विवाग० ११६ ; विवाह० १५१ ; १७० , १७१ , उवास० , कप्प० ; एर्से०)। इन रूपों का या तो § ६५ या § ७० के अनुसार स्पष्ट किया जा सकता है। अ०माग० में सडंगवी = षडंगविद् (ओव० ; कप्प०) है। दुस् और निस् के स् से निकला र् स्वरों से पहले सदा बना रहता है (हेच० १, १४ , क्रम० २, १२४) : दुरवगाह रूप आया है (हेच० १, १४) ; अ०माग० में दुरइक्कम = दुरतिक्रम (आयार० १, २, ५, ४) है ; महा० में दुरारोह रूप आया है (हाल) ; जै०महा० में दुरणुचर, दुरन्त और दुरप्प- = दुरात्मन् (एर्से० (, अ०माग० में दुरहियास = दुरधिवास (उवास०) ; शौर० में दुरागद = दुरागत (विक्रमो० ३२, ११) है ; महा० और जै०महा० में दुरिअ = दुरित (गउड० ; कक्कुक शिलालेख १, २२); दुरुत्तर रूप पाया जाता है (हेच० १, १४) [कुमाउनी में दुरुत्तर को दुरंतर कहते हैं = छिरुत्तर। —अनु०] , महा० और शौर० में णिरंतर और जै०महा० में निरंतर रूप मिलते हैं (हेच० १, १४ ; गउड० ; हाल ; एर्से० ; मृच्छ० ६८, १९ ;

७३, ८ ; प्रबोध० ४,४) ; महा० में **णिरवेॅक्ख = निरपेक्ष** (रावण०) ; महा० में **णिरालंब** (हाल) देखने में आता है। महा० में **णिरिक्खण = निरीक्षण** (हाल) है ; अप० का **णिरुवम** रूप और जै०महा० का **निरुवम = निरुपम** (हेच० ४, ४०१, ३ ; एर्से०) ; महा० मे **णिरूसुअ = निरुत्सुक** (गउड०) है। **प्रादुस्** मे यही नियम लगता है : **पादुरेसए = प्रादुरेपयेत्** (आयार० १, ७, ८, १७), **पादुरकासि = प्रादुरकार्षीत्** (सूय० १२३), इसके साथ साथ अ०माग० में **पाउब्भूय** रूप आता है जो **= प्रादुर्भूत** (विवाग० ४, ३८ ; विवाह० १९० ; कप्प०), **पाउब्भवित्था** (विवाह० १२०१) है और **पाउकुज्जा = प्रादुष्कुर्यात्** है (सूय० ४७४), **पाउकरिस्सामि = प्रादुष्करिष्यामि** (उत्तर० १)। इसके विपरीत **कारिस्सामि पाउं** (सूय० ४८४), **करेन्ति पाउं** [पाठ में **पाउ** है] और **करेमि पाउं** (सूय० ९१२ और ९१४) रूप आये हैं। § १८१ की तुलना कीजिए। इसी प्रकार महा० में **बाहिर् उण्हाइं** भी है **= बाहिर् उष्णानि** (हाल १८६) है। मौलिक **र्** के विषय में § ३४२ और उसके बाद तथा **म्** के बारे मे § ३४८ और उसके बाद देखिए।

§ ३४२—मौलिक **अर्** से निकला **अः** सब प्राकृत बोलियों में अधिकाश स्थलों पर **ओ** बन जाता है : महा० और अ०माग० मे **अन्तो = अन्तः** जो **अन्तर्** से निकला है (गउड० ; हाल ; रावण० ; आयार० १, २, ५, ५ ; २, १, २, ७ और ३, १० ; २, ७, २, १ , सूय० ७५३ ; उवास०), अ०माग० मे **अहो = अहः** जो **अहर्** से निकला है (§ ३८६) ; अ०माग० में **पाओ = प्रातः** जो **प्रातर्** से निकला है (कप्प०)। **पुनर्** से निकला **पुनः** महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै० शौर०, शौर०, माग०, ढक्की और आव० में 'फिर', 'दूसरी बार' के अर्थ मे **पुणो** हो जाता है (गउड० ; हाल ; रावण० ; आयार० १, १, ५, ३ ; १, २, १, १ और २, २ ; १, ४, १, ३ और २, २ ; १, ६, ४, २ ; सूय० ४५ ; १५१ ; १७८ ; २७७ ; ४३३ ; ४६८ ; ४९७ ; उत्तर० २०२ ; आव० एर्से० २८, १४ ; एर्से० ; कालका० ; पव० ३८३,२४ ; ३८४, ४९ ; ३८६, १० ; ३८८, ८ ; कत्तिगे० ४०३, ३७५ ; मृच्छ० २९, ११ ; ५८, ८ और १३; माग० में : १७६, ५ और ९ ; प्रबोध० ५८, ८ ; ढक्की में : मृच्छ० ३९,१७ ; आव० में : मृच्छ० १०३, ३), महा०, जै० महा०, जै०शौर०, शौर०, माग० और दाक्षि० में विशेष कर संयुक्त रूप **पुणो वि** बहुत ही आता है (क्रम० २, १२६ ; गउड० ; हाल ; आव० एर्से० ८, ३४ और ५२ ; १२, २५ ; एर्से० २७, ६ ; ३३, ३७ ; कत्तिगे० ४०२, ३६७ ; मृच्छ० २०, २४ ; २१, ७ ; ४१, ६ ; ४५, १६ ; ८१, ९ ; ९४, १९ ; शकु० २२, २ ; ६८,२ ; विक्रमो० ११, २ ; १३, १८ ; २८, १ ; ८२, १७ ; महावीर० ६५, २ ; चंड० ९३, १४ ; माग० में : मृच्छ० ८०, ५ ; ११५, ९ ; ११७, ३ ; १३२, २२ ; १४८, १४ ; १६२, ९ ; दाक्षि० मे : मृच्छ० १०३, १७), जिसके स्थान पर अ०माग० में **पुणर् अवि** का अधिक व्यवहार किया जाता है (क्रम० २, १२६ ; आयार० १,८, २, ६ ; २, १, ७, ३ ; सूय० १००, ६४३ ; ८४२ ; विवाह० १०३८ ; १४९६ ;

जीवा० २८७ ; २८८ ; २९६ ; पण्णव० ८४८ ; नायाध० ; ओव० ; कप्प०), जै० महा० में भी इसका प्रचलन है किंतु अ०माग० से कम (आव० एर्त्से० ११, २४ ; द्वार० ४९६, २६ ; ४९८, १४ ; एर्त्से०) ; मग० २, १२६ के अनुसार लोग **पुण** वि बोलते थे। महा० में स्वरों और अनुस्वार के पीछे **उणो** रूप भी चलता था, इसमें § १८४ के अनुसार प् की विच्युति हो जाती है (गउड० ; हाल ; रावण०)। 'किंतु' तथा 'अब' के अर्थ में अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर० में **पुनः** का रूप **पुण** हो जाता है (आयार० १, ४, २, ५ ; २,१,१,१ ; ३ ; ४ ; १४ ; २, २ ; ३, १० ; सूय० ४६ ; २९२ ; विवाह० १३९ ; दस० ६४२,२ ; दस० नि० ६४८,३३ ; ६५२, ११ ; नायाध० ; ओव० ; कप्प० ; आव० एर्त्से० ८, ५० ; १२, २ ; एर्त्से० ; कालका० ; कत्तिगे० ४०४, ३८७ और ३८९)। महा० में भी कभी कभी अनुस्वार के पीछे **पुण** रूप आता है (गउड० ; हाल), किंतु अधिकांश स्थलों पर उण रूप आता है जैसा शौर० और माग० में भी होता है (§ १८४)। माग० में **किं पुण** के स्थान पर (मृच्छ० १६९, ४) जो गौडबोले के संस्करण के ४५८, ९ में आये हुए शुद्ध रूप के साथ **किं उण** पढा जाना चाहिए। 'किंतु' और 'अब' अर्थ में **पुणो** और **उणो** *रूप भी पाये जाते हैं। अप० में ऊपर दिये गये दोनों प्रकार के अर्थों में* **पुणु** रूप काम में आता है (हेच० ४,४२६ और शब्दसूची ; पिंगल १,३३ ; ३४ ; ३७ ; ४२ और उसके बाद ; ७७ ; ८४ ; ९० ; ९५ ; १००, विक्रमो० ७१, १०)। अंतिम र् की विच्युति के बाद जो रूप हो जाता है वह कभी कभी अ में समाप्त होनेवाले संज्ञाओं में माना जाता है तथा उसकी रूपावली भी उसी भाँति की गयी है। इसके अनुसार अ०माग० में **अन्तं** है (आयार० २, १०, ६)। **अंतो, अंतेण** संयुक्त शब्द में **अंतेण** रूप आया है (आयार० २, ५, १, १४ , २, ६, १, ११), **अंताओ** भी है (आयार० २,१०,६)। अ०माग० में **पायं = प्रातर्** (सूय० ३३७ और ३४१); **न उणा = न *पुनात्** (हेच० १, ६५) ; अ०माग० में **पुणाइं** रूप पाया जाता है (पण्हा० ३८९ ; उवास० § ११९ और १७४), **पुणाइ** (हेच० १, १६५ ; पण्हा० ४१४) है, **न उणाइ** भी मिलता है (हेच० १, ६५)। ये सब रूप कर्मकारक बहु-वचन माने जाने चाहिए। § ३४५ की तुलना कीजिए। **अन्तो** से अ०माग० में **अन्तोहिंतो** *रूप भी बनता है जो अपादानकारक का रूप है* = 'भीतर से' है (आयार० २, ७, २, १ , ठाणग० ४०८ , राय० २५४ और उसके बाद)। § ३४३ और ३६५ की भी तुलना कीजिए।

§ ३४३—दूसरे पद का आरंभिक वर्ण स्वर होने पर समासों में *मौलिक* **र्** गौण **र्** अधिकांश स्थलों पर बनकर रह जाता है (§ ३४१) : **अन्तरप्प = अन्तरात्मन्** (हेच० १, १४) ; महा० में –अन्तरिअ, अ०माग० और जै० महा० में **अन्तरिय** और शौर० में **अन्तरिद = अन्तरित्त** (गउड० ; हाल ; रावण० ; नायाध०; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से० ; शकु० ६७, २ ; ६३, १० ; विक्रमो० ३१, १ ; ४१, १७ ; ४३, ७)। महा० और शौर० में **पुणरुत्त = पुनरुक्त** है ; अ०माग० में **अपुणरुत्त** रूप पाया जाता है (§ ३३७) ; अ०माग० में

अपुणरावत्ति = अपुनरावर्तिन् (उत्तर० ८५९ ; कप्प०), अपुणरावत्तग रूप देखने में आता है (ओव०)। अ०माग० और जै०महा० में पुणर् अवि (§ ३४२) आता है और ऐसे स्थल देखे जाते हैं, जैसे अ०माग० पुणर् एइ और पुणर् एॅन्ति = पुनर् एति और पुनर् यन्ति (आयार० १, ३, १, ३ ; २, १)। यदि समास का दूसरा पद व्यंजन से आरम्भ होता हो तो नियम के अनुसार उसके साथ पूर्ण अन्तिम वर्ण का सा व्यवहार होता है : महा० में अन्तोमुह = अन्तर्मुख (गउड० ९४); अन्तोवीसम्भ = अन्तर्विश्रम्भ (हेच० १, ६०) ; महा० में अन्तोहुत्त रूप मिलता है ([=अधोमुख। —अनु०] ; देशी० १, २१ ; हाल ३७३), अन्तोसिन्दूरिअ भी पाया जाता है (हाल ३००) ; अ०माग० मे अन्तोजल आया है (नायाध० ७६४), अन्तोज्झुसिर = अन्त.सुषिर (नायाध० ३९७ ; § २११ की तुलना कीजिए), अन्तोदुट्ठ = अन्तर्दुष्ट (ठाणग० ३१४), अन्तोमास भी काम में आता है (ठाणग० ३६४) ; अ०माग० और जै०महा० में अन्तोमुहुत्त रूप मिलता है (विवाह० १८० और २७३ ; सम० २१५ ; जीवा० ४९ और ३२२ ; उत्तर० ९७७ और उसके बाद ; ९९७ ; १००३ ; १०४७ और उसके बाद ; कप्प० ; ऋषभ० ४३) ; अ०माग० में अन्तोमुहुत्तिय भी है (विवाह० ३०), अन्तोमुहुत्तूण भी देखने में आता है (सम० २१५), अन्तोसाला = अन्तःशाला (उवास०), अन्तोसल्ल = अन्तःशल्य (सूय० ६९५ ; ठाणग० ३१४ ; सम० ५१ ; विवाह० १५९ ; ओव०) ; जै०महा० में अन्तोनिक्खन्त = अन्तर्निष्क्रान्त (ऋषभ० ४५) है। अ०माग० में पाओसिणाण = प्रातःस्नान (सूय० ३३७) है। कभी कभी स्वरों से पहले भी यही रूप पाया जाता है : महा० मे अन्तोउवरिं = अन्तरुपरि (हेच० १, १४), इसके स्थान पर गउड० १०५६ में (अर्थात् हेच० द्वारा बताये गये स्थान में) अन्तोवरिं पाठ है, किन्तु (हस्तलिपि पी. में हस्तलिपि जे. (J) की तुलना कीजिए) अन्तो अवरिं च परिट्ठिएण आया है, जो पाठ पढा जाना चाहिए। अ०माग० में अन्तोअन्तेउर (§ ३४४) रूप भी है। महा० अन्तोवास = अन्तरवकाश में (§२३०), अन्त- बनाया जाना चाहिए। यह रूप व्यजनों से पहले भी आता है, जैसे अ०माग० मे अन्तभमर = अन्तर्भ्रमर (कप्प०), अन्तरायलेहा = अन्तरोजल्लेखा (कप्प०), अ०माग० में पुणपासणयाए = *पुनःपश्यन्तायै (विवाह० ११२८) है। व्यजनों से पहले दो वर्णों का योग भी पाया जाता है : शौर० में अन्तक्करण = अन्तःकरण (विक्रमो० ७२, १२) ; अन्तग्गअ = अन्तर्गत (हेच० २, ६०) ; अन्तप्पाअ = अन्तःपात (हेच० २,७७) है। जै०महा० और शौर० में पुणण्णव = पुनर्नव (द्वार० ५०४, ५ ; कर्पूर० ८३, ३) ; जै०शौर० मे अपुणब्भव = अपुनर्भव (पव० ३८६, ५) ; पुणपुणकरण ([=अभिसंधि ; षड्यंत्र। —अनु०] ; देशी० १, ३२) भी आया है। अपादान रूप पुणा = *पुनात् (§ ३४२) है। यह महा० रूप अपुणगमणाअ में वर्तमान माना जाना चाहिए (गउड० ११८३) ; अ०माग० में अपुणागम भी देखा जाता है (दस० ६४०, २२) ; अन्तावेइ = अन्तर्वेदि में (हेच० १, ४), इसके भीतर अन्ता माना जाना चाहिए। आ के दीर्घत्व का कारण § ७० के अनुसार भी स्पष्ट किया जा सकता है।

§ ३४४—अन्तःपुर और इससे व्युत्पन्न रूपों में सभी प्राकृत बोलियों में जैसा कि पाली में भी होता है, ओ के स्थान पर ए हो जाता है : महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में अन्तेउर रूप काम में आता है (हेच० १, ६० ; गउड० ; रावण० ; सूय० ७५१ ; पण्हा० २६२ ; नायाध० § ११ और १०२ ; पेज १०७५ ; १०७९ और उसके बाद ; १२७३ ; १२९० ; १३२७ ; १४६० और १४६५ ; विवाग० १५६ ; १५९ ; १७२ और उसके बाद ; विवाह० ७९२ और १२७८ ; निरया० ; ओव० ; कप्प० ; आव० एर्त्से० १५, १३ ; एर्त्से० ; शकु० ३८,५ ; ५७, ११ ; ७०, ७ ; १३७, ८ ; १३८, १ ; मालवि० ३३, १ ; ३८, ३ ; ७४, ७ ; ८४, १६ ; ८५, ६ ; बाल० २४३, १२ ; विद्ध० ८३, ७ ; कर्पूर० ३५, ३ ; ४५, १० ; ९९, ४ ; प्रसन्न० ४५, ४ और १३ ; जीवा० ४२, १६ ; कंस० ५५, ११ ; कर्ण० १८, २२ ; ३७, १६ आदि आदि) ; महा० में अन्तेउरअ रूप भी पाया जाता है (हाल ९८० की टीका) ; अ०माग० और जै०महा० में अन्तेउरिया है तथा शौर० में अन्तेउरिआ = अन्तःपुरिका (नायाध० १२२९ ; एर्त्से० ; कालका० ; विद्ध० ११, १ [प्राकृत में सर्वत्र अन्ते आने से यह सूचना भी मिलती है कि कभी और भारत के किसी आर्यभाषाभाषी भाग में इसका रूप *अन्तेपुर रहा होगा। इस प्रकार का एक रूप अन्तेवासी चलता ही है ; इस रूप से कुछ ऐसा भी आभास मिलता है कि प्राकृत भाषाओं में अन्तेउर प्रचलित हो जाने के बाद अन्तःपुर रूप संस्कृत में प्रचलित हुआ हो। यह रूप कुछ शोध करने पर निश्चित किया जा सकता है। —अनु०]) । अ०माग० में अन्तोअन्तेउर में अन्तो आया है (नायाध० ७२३ और १३०१ ; विवाह० ७९१ ; ओव०), अन्तोअन्तेपुरिया रूप भी देखने में आता है (ओव०) । विवाग० १४५ में संपादक ने अन्तेपुरियंसि रूप छापा है । –अन्तेआरि– = अन्तश्चारिन् में (हेच० १, ६०) भी अः के लिए ए आया है ।

§ ३४५—अ०माग० और माग० में –अ के समाप्त होनेवाले कर्ताकारक एकवचन और अ०माग० के थोड़े से क्रियाविशेषणों को छोड़ सब प्राकृत बोलियों में अस् से निकला अः , ओ रूप ग्रहण कर लेता है, अ०माग० और जै०महा० में इस अः का ए रूप हो जाता है। अ०माग० और जै०महा० में अग्गओ, शौर० और माग० में अग्गदो = अग्रतः (§ ६९) ; अ०माग० पिट्ठाओ = पृष्ठात्, अ०माग० और जै०महा० पिट्ठओ और शौर० तथा दाक्षि० पिट्ठदो = पृष्ठतः (§ ६९) ; पल्लवदानपत्र में कर्ता एकवचन में पतिभागो = प्रतिभागः (§ ३६३) ; महा० में राओ = रागः है (हाल १२) ; जै०महा० में पुत्तो = पुत्रः (एर्त्से० १, २) ; जै०शौर० में धम्मो = धर्मः (पव० ३८०, ७) है ; शौर० में णिओओ = नियोगः है (मृच्छ० ३, ७) है ; ढक्की में पुलिसो = पुरुषः है (मृच्छ० ३४, १२) ; आव० और दाक्षि० में गोवालदारओ = गोपालदारकः (मृच्छ० ९९, १६ ; १०२, १५) ; पै० में तामोतरो = दामोदरः (हेच० ४, ३०७) ; चू०पै० में मेखो = मेघः (हेच० ४, ३२५) , अप० में कामो = कामः (पिंगल २, ४) ; किन्तु अ०माग० में पुरिसे और माग० में पुलिशे = पुरुषः (आयार० १, १, १,

६ ; मृच्छ० ११३, २१) है। इसी प्रकार महा० में **मणो = मनः, सरो = सरः** तथा **जसो = यशः** है (§ ३५६)। अ०माग० के कर्त्ताकारक के पत्र में भी अः के स्थान में **ए** के बदले **ओ** भी पाया जाता है (§ १७) और गद्य मे भी **ओ** रूप **इव** से पहले आता है : **खुरो इव = क्षुर इव, वालुयाकवलो इव = वालुकाकवल इव, महासमुद्दो इव = महासमुद्र इव** (नायाध० § १४४) ; **कुम्मो इव = कूर्म इव, कुञ्जारो इव = कुञ्जर इव, वसभो इव = वृषभ इव, सीहो इव = सिंह इव, मन्दरो इव, साणो इव, चन्दो इव** और **सूरो इव** रूप पाये जाते हैं (सूय० ७५८ = कप्प० § ११८)। उपर्युक्त स्थान में कल्पसुत्त के **संखो इव** रूप के स्थान मे सूयगडगसुत्त में **संख [!] इव** रूप आया है ; कप्पसुत्त में **जीवे [!] इव** है, पर इसके साथ ही सूयगडगसुत्त में **जीव [?] इव** रूप मिलता है ; दोनों ग्रन्थों मे **विहग [!] इव** आया है और इसके साथ-साथ विशेषण सदा -- **ए** में समाप्त होते हैं। ये सब बातें देखकर यह सम्भव प्रतीत होता है कि यहाँ सस्कृताऊपन आ गया है और सर्वत्र **ए**- वाला रूप ही लिखा जाना चाहिए। यह अनुमान ठीक लगता है कि **इव** के स्थान पर **व** लिखा जाना चाहिए क्योंकि अ०माग० में इसके बहुत कम उदाहरण मिलते हैं और इसकी स्थिति अनिश्चित है (§ १४३)। उन सब अवसरों पर यही ध्वनिपरिवर्तन होना चाहिए जिनमें का सस्कृत अः, अस् से व्युत्पन्न हुआ हो, जैसा कि **तस्** में समाप्त होनेवाले अपादान-कारक एकवचन मे : महा० में **कोडराओ** और जै०महा० में **कोट्टराओ = *कोटरातः = कोटरात्** (हाल, ५६३) ; एर्से० १, १०) ; अ०माग० मे **आगाराओ = आगारात्** (उवास० § १२), जै०शौर० में **चरित्तादो = चरित्रात्** (पव० ३८०, ६), जै०शौर० में **मूलादो = मूलात्** (शकु० १४, ६), माग० मे **हडक्कादो = *हृदकात्** (मृच्छ० ११५, २३) है। प्रथमपुरुष बहुवचन साधारण वर्तमान काल में **मः = मस्** : महा० मे **लज्जामो** ; अ०माग० मे **वड्ढामो** ; जै०महा० में **तालेमो** ; शौर० में **पविसामो** पाये जाते हैं (§ ४५५) ; अ०माग० में **भविस्सामो** ; जै०महा० में **पेच्छिस्सामो** तथा अ०माग० और शौर० में **जाणिस्सामो** रूप पाये जाते हैं (§ ५२१, ५२५ और ६३४ आदि आदि)। अ०माग० में सदा **बहवे** बोला जाता है जो = **बहवः** और **बहून्** (§ ३८० और उसके बाद) है। महा० और अ०माग० में **णे = नः** (§ ४१९) है। अ०माग० के ग्रन्थों में क्रियाविशेषणों के सम्बन्ध में कभी कभी अस्थिरता देखी जाती है। अधः का महा० और अ०माग० में **अहो** रूप हो जाता है (गउड०, एर्से० ५०, ३० [हस्तलिपि ए. (A) के अनुसार यह रूप ही पढा जाना चाहिए] ; ऋषभ० ३०,), अ०माग० में किन्तु अधिकाश स्थलों पर **अहे** रूप मिलता है (आयार० १, ५, ६, २ ; १, ६, ४, २ ; १, ८, ४, १४ ; २, १, १, २ ; ३, २ ; १०, ६ ; २, १५, ८ ; सूय० ५२, २१५ ; २२२ ; २७१ ; २७३ ; ३०४ ; ३९७ ; ४२८ ; ५२० ; ५९० ; उत्तर० १०३१ और १०३३ ; विवाह० १०५ और उसके बाद ; २६० ; ४१० ; ६५३ ; उवास० ; ओव० ; कप्प०) ; **अहेदिसाओ = अधोदिशः** (आयार० १, १, १, २) ; **अहेभाग** रूप

भी मिलता है (आयार० १, २, ५, ४), अहेभागी- = अधोभागिन् (सूय० ८२९), अहेचर भी देखा जाता है (आयार० १, ७, ८, ९), अहेगामिनी पाया जाता है (आयार० २, ३, १, १३), अहेवाय = अधोवात (सूय० ८२९), अहेसिर = अधःशिरः (सूय० २८८) किन्तु इसके साथ साथ अहोसिरं रूप भी देखने में आता है (सूय० २६८ ; ओव० ; नायाध०), अहेलोग और इसके साथ-साथ अधोलोग रूप काम में आते हैं (ठाणंग० ६१ और उसके बाद) और अहे-अहोलोगे रूप भी चलता है (ठाणंग० १८९), स्वतन्त्र रूप में किन्तु अशुद्ध रूप अहो भी प्रचलित है (सूय० ४७६ ; उत्तर० ५१३)। पुरे = पुरः (आयार० २, १, ४, ५ ; ९, २), पुरेकम्म = *पुरस्कर्मन् (हेच० १, ५७ ; आयार० २, १, ६, ४ और ५ ; पण्हा० ४९२) ; पुरेकड, पुरेक्खड और पुरकड = पुरस्कृत (§ ४९ और ३०६) है। पोरेकच्च = *पौरःकृत्य (ओव० ; कप्प०), पोरेवच्च = *पौरोवृत्य (पण्णव० ९८ ; १०० ; १०२ ; विवाग० २८ और ५७ ; सम० १३४ ; ओव०; कप्प०)। उक्त रूप सर्वत्र आहेवच्च = आधिपत्य के साथ साथ आया है (§ ७७) रहे = रहः (उत्तर० ३३१ और ३३३), किन्तु साथ ही रहोकम्म - भी चलता है (ओव०)। शौर० में सुवो = श्वः किन्तु अ०माग० में सुवे और सुए रूप हैं (§ १३९), इनके साथ-साथ अ०माग० में सुयराए = श्वोरात्रे रूप मिलता है (आयार० २, ५, १, १०)। जैसा सुयराए में दिखाई देता है वैसा ही अ०माग० में अधं = अधः (आयार० १, १, ५, २ और ३) में इसका परि-वर्तन अ में समास होनेवाले सभी शब्दों में हो गया है। अहं रूप भी मिलता है (आयार० १, २, ६, ५ ; १, ४, २, ३ और ४ ; १, ७, १, ५) और पुरं = पुरः (नायाध०)। § ३४२ की तुलना कीजिए। यह अनिश्चित ही रह गया है कि सर्वत्र और स्वयं समासों में भी अहे -, रहे - रूप पढ़े जाने चाहिए या नहीं। अ०माग० और जै०महा० हेट्ठा और उससे निकले रूपों के विषय में § १०७ देखिए।

§ ३४६—अप० में अः का जो ध्वनिपरिवर्तन ओ में होता है उसका अधि-कांश स्थलों में उ रूप बन जाता है (हेच० ४, ३३१ ; क्रम० ५, २२) : जणु = जनः (हेच० ४, ३३६) ; लोउ = लोकः (हेच० ४, ३६६ ; ४२०, ४) ; सीहु = सिंहः (हेच० ४, ४१८, ३) ; भमरु = भ्रमरः , मक्कडु = मर्कटः , वाणरु = वानरः (पिंगल १, ६७) ; णिसिअरु = *निशिचरः [इस निशिचरः अथवा णिसिअरु का अर्थ बहुधा निशाकर या चन्द्रमा होता है। —अनु०], धाराहरु = धाराधरः है। इन रूपों के साथ साथ सामलो = श्यामलः भी मिलता है (विक्रमो० ५५, १ और २) ; तवु = तपः, सिरु = शिरः (हेच० ४, ४४१, २ ; ४४५, ३) ; अंगुलिउ जज्जरिआउ = अंगुल्यो जर्जरिताः (हेच० ४, ३३) ; विल-सिणीउ = विलासिनीः (हेच० ४, ३४८) ; सल्लइव = सात्वकीः (हेच० ४, ३८७, १) है। ढक्की में भी साधारणतः यही ध्वनिपरिवर्तन चलता है : लुद्ध जूदिअलु पपलीणु = लुब्धो द्यूतकरः प्रपलायितः (मृच्छ० ३०, १) ; विप्प दीवु पादु = विप्रतीपः पादः (मृच्छ० ३०, ११) ; एसु विहवु = एष विभवः

(मृच्छ० ३४, १७), इनके साथ साथ कर्त्ताकारक ओ में भी समाप्त होता है (§ २५ और ३४५)। इनके अतिरिक्त पै० में अपादान एकवचन में भी उ का प्रयोग किया जाता है : **तूरातु, तुमातु** और **ममातु** तथा इनके साथ साथ **तूरातो** , **तुमातो** और **ममातो** = **दूरात्** , **त्वत्** तथा **मत्** (हेच० ४, ३२१) है। महा० में **णहअलाउ** = **नभस्तलात्** , **रण्णाउ** = **अरण्यात्** (§ ३६५) ; जै०शौर० में **उदयादु** (पव० ३८३, २७), जिसका रूप देख हेमचद्र ने इसको शौर० और माग० में भी अनुमत किया है, देखा जाता है (§ ३६५) ; प्रथमपुरुष बहुवचन साधारण वर्तमान काल की क्रिया में : अ०माग० में : **इच्छामु, अच्चेमु, दाहामु, वुच्छामु** रूप आये हैं और अप० में **लहिमु** मिलता है (§ ४५५) । § ८५ की तुलना कीजिए।

§ ३४७—समास के पहले पद के अन्त में व्यजनों से पहले सस्कृत के **अस्** और **अः** के साथ ऐसा व्यवहार होता है मानों वे शब्द के अन्तिम वर्ण हो और इस प्रकार उसके स्थान पर ओ का आगमन होता है। किन्तु महा०, अ०माग० और जै०महा० में यह साधारणतः अ में समाप्त होनेवाली सज्ञा के रूप में दिखाई देता है (§ ४०७) और कभी-कभी यह घुलमिल जाता है : महा० में **जसवम्म** = **यशोवर्मन्** (गउड०), जै०महा० में **जसवद्धण** = **यशोवर्धन** (कक्कुक शिलालेख, ४), इसके साथ साथ **जसोआ** = **यशोदा** रूप भी देखा जाता है (गउड० ; हाल) । अ०माग० और जै०महा० में **नमोक्कार** और इसके साथ साथ **नमोयार** और **णवयार**, महा० में **णमक्कार** रूप पाये जाते हैं (§ ३०६) । **णहअर** = **नभश्चर** (§ ३०१) ; महा० **णहअल** = **नभस्तल** (गउड० ; हाल ; रावण०), **णहवट्ट** = **नभःपृष्ठः** (गउड०), **तमरअणिअर** = **तमोरजोनिकर** (रावण० ३, ३४) है। अ०माग० में **तवलोव** = **तपलोप** (ओव०), इसके साथ साथ अ०माग० और जै०महा० में **तवोकम्म** = **तप कर्मन्** (उवास० ; ओव० ; कप्प० ; एत्सें०), शौर० में **तवोवण** = **तपोवन** (शकु० १६, १३ , १८,१० ; १९,७ ; ९०, १४ ; विक्रमो० ८४, २०) ; जै०महा० और शौर० में **तवच्चरण** = **तपश्चरण** (§ ३०१) है। महा० और अप० में **अवरोप्पर** = **अपरस्पर**, महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **परोप्पर** = **परस्पर** (§ १९५ और ३११) है। महा०, अ०माग० और जै०महा० में **मणहर** = **मनोहर** (हेच० १, १५६ ; गउड० ; हाल ; राय० ११४ ; ओव० ; कप्प० ; एत्सें०), इसके साथ साथ अ०माग०, जै०महा० और अप० में **मणोहर** रूप भी चलता है (हेच० १, १५६ ; कप्प० ; एत्सें० ; विक्रमो० ६६, १५) ; महा० में **मणहरण** रूप भी है (कर्पूर० ५१, ६ ; ५५, ४ ; [मराठी भाषा में **मनहर** आज भी प्रचलित है। इस समय भी बबई में प्रसिद्ध गायक मनहर बर्वे की गायनशाला चलती है। —अनु०]) । अ०माग० में **मणपओग** = **मनःप्रयोग**, **मणकरण** (ठाणग० ११४) तथा इसके साथ साथ **मणोजोग** रूप भी चलता है (ठाणग० ११३) । **उरअड** = **उरःस्तट** (क्रम० २,११०), अ०माग० में **उरपरिसप्प** = **उरःपरिसर्प** है (ठाणग० १२१) । अ०माग० में **मिहोकहा** = **मिथ-कथा** है (आयार० १, ८, १, ९) । अ०माग० में **मणोसिला**

आया है (हेच० १, २६ ; क्रम० २, १५३ ; आयार० २, १, ६, ६ ; सूय० ८३४ ; जीवा० ५१९ ; राय० १२३ ; पण्णव० २५ ; उत्तर० १०४१), इसके साथ साथ मणसिला भी काम में आता है (हेच० १, २६ ; ४, २८६ ; क्रम० २, १५३), मणसिला भी देखा जाता है (हेच० १, २६ और ४३ ; § ६४ की तुलना कीजिए) और मणंसिला भी मिलता है (हेच० १, २६ ; § ७४ की तुलना कीजिए) । महा० में सिरविहत्त = शिरोविभक्त (गउड० ५१), इसके साथ साथ सिरच्छेअ = शिरश्छेद (गउड० ३२२), सिरकमल = शिरःकमल (गउड० ३४२) और सिरलग्ग = शिरोलग्न (हाल ५२९), किंतु शौर० में सिरोधर रूप मिलता है (शकु० १४४, १२), माग० में शिलोलुह = शिरोरुह (मृच्छ० १७, २) है । अप्सरस् का रूप अच्छरा हो जाता है (§ ९७ और ४१०) । अ०माग० रूप अहे– और परे– के विषय में (§ ३४५ देखिए । किसी समास का दूसरा पद यदि स्वर से आरम्भ होता हो तो प्रथम पद में –अ में समाप्त होनेवाली संज्ञा के रूप का आगमन हो जाता है । इस स्थिति में स्वर स्वरसंधि के नियमों का पालन करते हैं जो (§ १५६ और उसके बाद में दिया गया है : महा० में महिरअन्तरिअ = महीरजोन्तरित (रावण० १३,५२), महिरउट्ठान = महीरजउत्थान, महिरउग्घाअ= महीजउद्धात (रावण० १३, ३७ और ४९) है । असुरोरट्ठि = असुरोरोस्थि= असुर + उरस् + अस्थि (गउड० ७) है । णहंगण = नभोङ्गण (गउड० १३९ ; २३१ ; २३५ आदि-आदि), णहाहोअ = नभाभोग (गउड० ४१६), णहुद्देसो= नभउद्देश (गउड० ५५८) है । तमाणुबन्ध = तमोनुबन्ध (गउड० ५०६) और तमुग्घाअ = तमउद्घात (गउड० ११७९) आदि आदि हैं ।

§ ३४८—शब्द के अंतिम न् और म् अनुस्वार बन जाते हैं (वर० ४,१२ ; चड० २, ११ , हेच० १,२३ ; मार्क० पन्ना ३४) : शौर० में तस्सिं और माग० में तश्शिं = तस्मिन् ; एअस्सिं, शौर० में एदस्सिं = एतस्मिन् , शौर० मे जस्सिं तथा माग० में यश्शिं = यस्मिन् ; शौर० में कस्सिं और माग० मे कश्शिं = कस्मिन् ; अ०माग० और शौर० मे अस्सिं = अस्मिन् ; शौर० इमस्सिं और माग० में इमश्शिं = *इमस्मिन् (§ ४२५ और उसके बाद) है । अ०माग० और पै० में भगवं तथा शौर० और माग० में भअवं = भगवान् ; शौर० और माग० में भवं = भवान् , अ०माग० में आयवं = आत्मवान् , नाणवं = ज्ञानवान् , बम्भवं= ब्रह्मवान् , अ०माग० में चिट्ठं = तिष्ठन् , पयं = पचन्, कुव्वं = कुर्वन् , हणं = घ्नन् (§ ३९६) ; अ०माग० रायं, शौर० राअं, पै० राजं और माग० में लाअं = राजन् (§ ३९९) , अप० में वाएं = वातेन, कोहें = क्रोधेन, दइवें = दैवेन, ये रूप अंतिम अ की च्युति के बाद बने हैं (§ १४६) । — अहं = अहम् ; तुमं= त्वम् ; महा० और शौर० में अअं तथा अ०माग० और जै०महा० में अयं = अयम् ; शौर० में इअम् = इयम् (§ ४१७ और उसके बाद) ; अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में इयाणिं और इदाणिं तथा शौर० और माग० में दाणिं = इदानीम् में (§ १४४) है । शौर० में साअदं और माग० में शाअदं = स्वागतम् (§ २०३) है । महा०

जलं, जलहिं और वहुं = जलम्, जलधिम् और वधूम् है (हाल १६१ ; गउड० १४७ ; हेच० ३, १२४)। शौर० में अंगाणम् = अंगानाम्, देवीणं = देवीनाम् और वधूणं = वधूनान् है (शकु० ३२,८ ; ४३,११ ; ८९,६), माग० में देवदाणं वम्हणाणं च = देवतानां ब्राह्मणानां च (मृच्छ० १२१,१०) है। महा०, अ०माग० और जै०महा० मे काउं और शौर० तथा माग० मे कादुं = कर्तुम् (§ ५४७) है। § ७५, ८३ और १८१ की तुलना कीजिए। विंदु के साथ जो स्वर होता है (§ १७९, नोटसख्या ३) वह दीर्घ स्वर के समान माना जाता है (§ ७४, ७५ ; ८३ ; ८६ ; ११४)। इस कारण यदि पद्य में ह्रस्व वर्ण की आवश्यकता पडती है तो आगे आने वाले स्वर से पहले का म् बना रहता है, इसमे परिवर्तन नहीं होता (वर० ४, १३ ; हेच० १, २४ ; मार्क० पन्ना ३४)[1] : महा० मे सुरहिम इह गन्धम् आसिसिरवालमउलुग्गमाण जम्बूण मअरन्दम् आरविन्दं च = सुरभिम् इह गन्धम् आशिशिरबालमुकुलोद्गमानां जम्बूनां मकरन्दम् आरविन्दं च (गउड० ५१६); महा० में तम् अंगम् एण्हि = तद् अंगम् इदानीम् (हाल ६७) ; अ०माग० में अणिच्चम् आवासम् उवेन्ति जन्तुणो = अनित्यं आवासम् उपयन्ति जन्तवः (आयार० २, १६, १), अ०माग० में चित्तमन्तम् अचित्तं वा मिलता है (सूय० १), जै०महा० में कारविअं अचलम् इमं भवणं (कक्कुक शिलालेख २२) है, अप्पिअम् एअं भवणं भी पाया जाता है (कक्कुक शिलालेख २३); विस्सरियं तुहम् एगम् अक्खरं = विस्मृतं त्वयैकम् अक्षरम् (आव० एर्से० ७, ३३) है, जै०महा० में तवस्सिणिम् एयं = तपस्विनीम् एताम् (काल्का० २६२, १९) ; जै०शौर० मे अदिसयम् आदसमुत्थं विसयादीदं अणोवमम् अणन्तम् = अतिशयम् आत्मसमुत्थं विषयातीत अनुपमम् अनन्तम् (पव० ३८०, १३), माग० मे मअणम् अणंगम् = मदनम् अनंगम् ; संकलम् ईशलं वा = शंकरम् ईश्वरं वा (मृच्छ० १०, १३, १७, ४)[2]।

१. वेबर, हाल १, पेज ४७। —२. हस्तलिपियां और उनके साथ भारतीय छपे संस्करण स्वर के साथ विंदु के स्थान पर भूल से अशुद्ध रूप अनुनासिक देते हैं। शिलालेखों में इसी ढग से लिखा गया है, कक्कुक शिलालेख १० ; ११ ; १२ ; पल्लवदानपत्र ७, ४५ और ४९। नन्सो (कक्कुक शिलालेख २) और रोहिन्सकूअ (कक्कुक शिलालेख २० और २१) रूप भी अशुद्ध हैं। § १० की तुलना कीजिए।

§ ३४९—अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में अनुस्वार में बदल जाने के स्थान पर उस दशा में म् बना रहता है जब म् में समाप्त होनेवाले शब्द पर जोर देना और उसको विशेष रूप से महत्व देना होता है। यह विशेष कर एव के पहले होता है। इस स्थिति में पहले ह्रस्व स्वर बहुधा दीर्घ कर दिया जाता है और दीर्घ स्वर § ८३ के नियम के विपरीत बना रहता है (§ ६८) : अ०माग० मे एवम् एयं भन्ते, तहम् एयं भन्ते, अवितहम् एयं भन्ते, इच्छियम् एयं भन्ते, पडिच्छियम् एयं भन्ते,

इच्छियपडिच्छियम् एयं भन्ते आया है (उवास० § १२ ; विवाह० ९४६ की तुलना कीजिए ; ओव० § ५४ ; कप्प० § १३ और ७३ ; और ऊपर § ११४) ; अ०माग० में एवम् अक्खायं = एवं आख्यातम् (आयार० १, १, १,१) ; अ०माग० में एवम् एगेसिं नो नायं भवइ = एवम् एकेषां नो ज्ञातं भवति (आयार० १, १, १, २) ; अ०माग० में जम् एयं भगवया पवेइयं तम् एव अभिसमेच्चा = यद् एतद् भगवता प्रवेदितं तद् एवाभिसमेत्य (आयार० १, ७, ५, १) ; अ०माग० में अयं तेणे अयं उवचरए अयं हन्ता अयं एत्थम् अकासि = अयं स्तेनो 'यम् उपचरको 'यम् हन्तायम् इत्थम् अकार्षीत् (आयार० २, २, २, ४) ; अ०माग० में अहम् अवि = अहम् अपि (आयार० २, ५, २, ४) ; जै०महा० में अम्हहाणम् एव कुले समुप्पन्ना परमबन्धवा = अस्माकम् एव कुले समुत्पन्नाः परमबान्धवाः (द्वार० ५००,१) ; जै०महा० में एवम् इमं कज्जं= एवम् इदं कार्यम् (एत्सें० ५, ३५) ; जै०महा० में एवम् अवि भणिए = एवम् अपि भणिते (आव० एत्सें० १६, २४) ; जै०शौर० में पत्तेगम् एव पत्तेगं = प्रत्येकम् एव प्रत्येकम् (पव० ३७९, ३) ; सयं एवादा = स्वयं एवात्मा (पव० ३८१, १५) है। इन परिस्थितियों में कभी कभी अनुस्वार (§ १८१ म् में बदल जाता है : अ०माग० में इहम् एगेसिम् आहियं = इहैकेषाम् आहितम् है (सूय० ८१) ; सोच्चम् इदं श्रुत्वेदम् (आयार० २, १६, १ ; § ५८७ की तुलना कीजिए), दिस्सम् आगयं = दृष्ट्वागतम् (उत्तर० ६९५ ; § ३३४ की तुलना कीजिए), यह रूप विवश होकर छन्द की मात्रा ठीक करने के लिए काम में लाया गया है ; अ०माग० इहम् आगए = इहागतः (ओव० § ३८), इहम् आगच्छेज्जा = इहागच्छेत् (ओव० § ३८), इहम् आगच्छेज्जा = इहागच्छेत् (ओव० § २१), यहाँ जैसा कि प्रसग से पता चलता है इह के ऊपर जोर है और उसे महत्व दिया गया है। हस्तलिपियाँ ऊपर दिये गये स्थलों के अतिरिक्त बहुत अधिक स्थानों में — के बदले म् लिखती हैं जिन्हें याकोबी[1] शुद्ध मानता है और प्रायः सभी सम्पादकों ने इनको पाठ में दे दिये हैं, पर किसी ने भी न तो इनका क्रम देखा और नहीं कोई नियम। जैन हस्तलिपियों को छोड़ अन्य प्राकृत ग्रन्थों में भी बहुत अधिक स्थानों में — के लिए म् दिया है और ये रूप प्राचीन यूरोपीय तथा आजकल के भारतीय छपे ग्रन्थों में वर्तमान हैं। उदाहरणार्थ, कर्पूर० के बम्बइया संस्करण के ६, ४ में धुआगीदम् आलवीअदि है किन्तु कोनो द्वारा सम्पादित ग्रन्थ के २, ३ में शुद्ध रूप धुवागीदं आलवीअदि है ; बम्बइया संस्करण के २०, ८ में चारुत्तणम् अवलंबेदि छपा है किन्तु कोनो के संस्करण १७,७ में चंगत्तणं अवलंबेदि छापा गया है। बम्बइया संस्करण २५, २ में आसणम् आसणं रूप छपा है परन्तु कोनो के संस्करण के २३, ९ में आसणं आसणं छापा गया है, आदि आदि। जैसा ऊपर दिया गया है अ०माग० और जै०महा० में भी — के स्थान पर जो म् दिया गया है उसका निर्णय करना अभी शेष है, इसका तात्पर्य यह है कि हस्तलिपियाँ शुद्ध की जानी चाहिए। केवल एक बात संदिग्ध रह जाती है कि निर्णय करना अभी शेष है, इसका तात्पर्य यह है कि

हस्तलिपियाँ शुद्ध की जानी चाहिए। केवल एक बात संदिग्ध रह जाती है कि अति निकट-सम्बन्धी शब्दों में **म्** शुद्ध है या नहीं? याकोबी इसे शुद्ध मानता है। पर हस्तलिपियाँ इस मत को पुष्ट नहीं करती हैं **उपरिलिखितम् अजाताये**=उपरिलिखितम् *अघात्वाय (पल्लवदानपत्र ७, ४५) और **सयम् आणत्तं**=स्वयम् आज्ञप्तम् (पल्लवदानपत्र ७, ४९) संस्कृताऊपन के उदाहरण हैं, जब कि **एवमादीकेहि**=एवमादिकैः (पल्लवदानपत्र ६, ३४) समास के रूप में माना जा सकता है। — के स्थान में **म्** के विषय में लास्सन[1] की तुलना में होएफर[2] का निर्णय अधिक शुद्ध है।

१. त्सा० डे० डॉ० मो० गे० ३५, ६७७ ; पुर्से० § २४, भूमिका का पेज ३०। याकोबी के उदाहरणों में से बहुत अधिक संख्या में कविता में से हैं, इसलिए वे अधिकारयुक्त नहीं माने जा सकते, जैसे **मुहुत्तम् अवि** (आयार० १, २, १, ३) ; **इणम् एव** (आयार० १, २, ३, ४) ; **अत्ताणम् एव** (आयार० १, ३, ३, ४) जहाँ **एव** को काट देना है। इसी भाँति **सच्चम्** के बाद भी **एव** उड़ा देना चाहिए जिससे इस श्लोक का रूप यह हो जाता है : **सच्चं समभियाणाहि मेहावी मारं तरइ** ; **सत्थारम् एवं** (आयार० १, ६,४,१) आदि-आदि। पूर्ण संदिग्ध एक संस्कृताऊपन **तेणम् इति** है (आयार० २, २, २, ४)। **म्** के विषय में भी यही बात कही जा सकती है जो **न्** के लिए (§ २०३)। — २. इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए § ५३। — ३. डे प्राकृत डिआलेक्टो § ६६।

§ ३५०—मौलिक **न्** और **म्** से निकला अनुस्वार महा०, अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में स्वरों और व्यंजनों के आगे बहुधा लोप हो जाता है। महा०, अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में **तम्मि, जम्मि** और **कम्मि** तथा अ०माग० में **तंसि, जंसि** और **कंसि**=तस्मिन्, यास्मिन् और कस्मिन् (§ ४२५ और उसके बाद) ; महा० **जोव्वणम्मि**=*यौवनस्मिन् यौवने ; अ०माग० **लोगंसि**=लोके [**लोगंसि तैसि, केसि** आदि–**सि** या — **सि** में समाप्त होनेवाले रूप लोगों से, लोगों में, लोगों का आदि अर्थ में कुमाऊँ के कुछ भागों की बोलियों में प्रचलित हैं। —अनु०]; जै०महा० में **तिहुयणम्मि**=त्रिभुवने, जै०शौर० में **णाणम्मि**=ज्ञाने (§ २६६ अ) है। प्रथमपुरुष एकवचन इच्छावाचक रूप में भी यह नियम लगता है : **कुप्पेज्ज**=कुप्येम्। अ०माग० में भी यह नियम है किन्तु उसमें शब्द का अन्तिम वर्ण दीर्घ कर दिया जाता है . **हणेज्जा**=हन्याम्। शौर० में भी विच्युति होती है : *कुप्येम्=कुप्येयम् से निकल कर **कुप्पे** रूप मिलता है (§ ४६०)। करने वाचक धातु के *त्वानम् वाले रूप में भी **न्** और **म्** से निकले अनुस्वार का लोप हो जाता है : अ०माग० में **चिट्ठित्ताण** रूप आया है (§ ५८३), **फाउआण** भी पाया जाता है (§ ५८४) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० में **गन्तूण** है (§ ५८६), जै०शौर० में **काऊण** (§ २१ और ५८४) देखने में आता है [कुमाउनी में **काटूण** के स्थान पर **करूण** रूप वर्तमान है ;

इसकी शब्द प्रक्रिया कुछ इस प्रकार रही होगी *फत्वान, फअवान, फरवंण, फरूण। फरूण का अर्थ है फरवाना। —अनु०]। इसी प्रकार अ०माग० मे –ह्याण और –याण रूप मिलते हैं जिनके साथ साथ –ह्याणं और –याणं रूप भी चलते हैं (§ ५८७ और ५९२)। महा० में षष्ठी (सम्बन्धकारक) बहुवचन में बिना अनुस्वार के रूप का ही बोलबाला है (§ ३७०)। यह रूप अ०माग० में भी पाया जाता है और विशेषतः पादपूरक अव्ययों से पहले आता है जैसे, दुहाण य सुहाण य = दुःखानां च सुखानां च (उत्तर० ६२६); सुभद्दप्पमुहाण य देवीणं = सुभद्राप्रमुखाणां च देवीनाम् (ओव० § ४०, ४७ और ५६), इसके विपरीत सुभद्दप्पमुहाणं देवीणं रूप भी मिलता है (ओव० § ४३); दसण्ह वि...वट्टमाणाणं = दशानाम् अपि .वर्तमानानाम् (उवास० § २७५) है। इनके अतिरिक्त जै०महा० मे भी इस नियम का प्रचलन देखा जाता है जैसे, –पुरिमाण अट्ठारस पगइब्भन्तराण = पुरुषाणाम् अष्टादशप्रकृत्यभ्यन्तराणाम् (आव०एर्त्से० १२, ४४ और ४५), दोण्ह–विरुद्धाण नरवरिन्दाण = द्वयोर्–विरुद्धयोर् नरवरेन्द्रयोः (आव०एर्त्से० २६, ७), सवणाण = श्रवणयोः (एर्त्से० २, १३); पुत्ताण = पुत्राणाम् (एर्त्से० २९, ८) और जै०शौर० में भी ये रूप मिलते हैं जैसे, सगासत्ताण तद्ध [पाठ में तह है] असंगाणं = संगासक्तानां तथा संगानाम् (कत्तिगे० ३९८, ३०४), रदणाण [पाट में रमयाण है], सव्वजोयाण, रिद्धीण = रत्नानाम्, सर्वद्योतानाम्, ऋद्धीनाम् है (कत्तिगे० ४००, ३२५), दिसाण सव्वाण सुप्पसिद्धाणं = दिशां सर्वासां सुप्रसिद्धानाम् है (कत्तिगे० ४०१, ३४२) [यह बिना अनुस्वार का रूप अवश्य ही बोला जाता रहा होगा। इसका प्रमाण कुमाउनी बोली में आज भी इस रूप का उक्त प्राचीन अर्थ में व्यवहार है। इस बोली मे बामणान दियौ = ब्राह्मणों को दीजिये; मास्टराण बुलावौ = मास्टरों को बुलाइये आदि रूप वर्तमान हैं। इस दृष्टि से कुमाउनी बोली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसने प्राकृत बोली के बहुत शब्द सुरक्षित रखे हैं। हिंदी की शायद ही किसी बोली में प्राकृत की इतनी बड़ी शब्द सम्पत्ति एक स्थान पर एकत्र मिले। —अनु०]। ऊपर दिये गये उदाहरणों और इसी प्रकार के रूपों में जहा एक ही शब्द अनुस्वार सहित और रहित साथ साथ आता हो (§ ३७०), अन्य समान शब्दों की भाति ही (§ १८०) अननुनासिक रूपों के स्थान पर अर्धचंद्रयुक्त रूप लिखा जाना चाहिए। इसकी आवश्यकता विशेष करके मुझे उस स्थान पर मालूम होती है जहा छंदों की मात्रा मिलाने के लिए कर्त्ताकारक और कर्मकारक के एकवचन में पाठों में इस समय अननुनासिक रूप मिलता है। इस नियम के अनुसार महा० में णीससिअ वराईअ = निःश्वसितं वराक्या (हाल १४१), यह पाठ णीससिअँ वराईअ पढा जाना चाहिए क्योंकि अर्धचंद्र की मात्रा नहीं गिनी जाती। अ०माग० में तयं सं च जहाइ सेरयं = त्वचं स्वां च जहाति स्वैरकम् (सूय० ११८), पाणेहि णं पावं विओजयन्ति = प्राणैर् नूनं पापं वियोजयन्ति (सूय० २७८); अप्पेगे वइं जुञ्जन्ति = *अप्येके *वचीं (= वाचं) युञ्जन्ति (सूय० १६९);

वासं वयं वित्तिँ पकप्पयामो = वर्षे वयं वृत्तिं प्रकल्पयामः (सूय० ९४८); तं इसिँ तालयन्ति = तम् ऋषिं ताडयन्ति (उत्तर० ३६०); इस ग्रथ में तं जणँ तालयन्ति भी आया है (उत्तर० ३६५); अन्नं वा पुप्फँ सचित्तं = अन्यद् वा पुष्पं सचित्रम् (दस० ६२२, ३९); तिलपिट्टँ पूइपिन्नागं = तिलपिष्टं पूतिपिण्याकम् (दस० ६२३, ७); माग० मे गअणँ गश्चत्ते = गगनं गच्छन् (मृच्छ० ११३, ११); खणँ मूलके = क्षणं जूटकः (मृच्छ० १३६, १५); खणॅ उद्धचूडे = क्षणम् उद्धर्वचूडः (मृच्छ० १३६,१६); अप० में मइं जाणिअँ मिअलोअणिँ = मया ज्ञातं मृगलोचनीम्; णवतलिँ = नवतडितम्; पुहविँ और पिअँ = पृथ्वीम् तथा प्रियाम् (विक्रमो० ५५,१ ; २ और १८) है। सभी उदाहरणों में जहा ॅ आया है और छद की मात्रा ठीक बैठाने के लिए ह्रस्व वर्ण की आवश्यकता हो तो यही होना चाहिए जैसे, अ०माग० मे अभिरुज्झं कायँ विहरिउसु आरुतियाणँ तत्थ हिंसिंसु = अभिरुह्य कायं व्यहार्षुर आरुष्य तत्राहिंसिषुः (आयार० १, ८, १, २) है; अ०माग० मे संवच्छरँ साहियं मासं = संवत्सरं साधिकं मासम् (आयार० १, ८, १, ३) है; अ०माग० में न विज्जई वन्धणँ जस्स किंचि वि = न विद्यते बन्धनम् यस्य किंचिद् अपि (आयार० २, १६, १२) है। यही नियम बिन्दु द्वारा चिह्नित अनुनासिक स्वर के लिए भी लागू है। इन नियमों के अनुसार ही महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर० और अप० मे तृतीया बहुवचन में –हिं, –हिँ और –हि में समाप्त होनेवाले रूप एक दूसरे के पास पास पाये जाते हैं (§ १८० और ३६८) और अ०माग० तथा जै०महा० में पादपूरक अव्ययों से पहले अननुनासिक रूप काम में लाया जाता है। इस भांति अ०माग० मे कामेहि [पाठ मे कामेहिं है] य संथवेहि य = कामैश् च संस्तवैश् च (सूय० १०५) है; अ०माग० मे हत्थेहिं पाएहि य = हस्ताभ्यां पादाभ्यां च (सूय० २९२) है; अ०माग० मे बहूहिं डिम्भएहिं य डिम्भियाहि य दारएहि य दारियाहि य कुमारेहि य कुमारियाहि य सर्द्धि आया है (नायाध० ४३१ और १४०७); अ०माग० में परियणणयरमहिलियाहिं सर्द्धि = परिजननगरमहिलिकाभिः सार्धम् (नायाध० ४२९) किंतु परियणमहिलाहि य सर्द्धि भी साथ ही में मिलता है (नायाध० ४२६); अ०माग० मे बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य विण्णवणाहि य सण्णवणाहि य = बह्वीभिर् आख्यापनाभिश् च प्रज्ञापनाभिर् च विज्ञापनाभिश् च संज्ञापनाभिश् च है (नायाध० ५३९ ; *नायाध० § १४३ की तुलना कीजिए ; उवास० § २२२)।*

§ ३५१—शब्द के अंत मे आनेवाला –अम् = प्राकृत अं, उ में परिवर्तित हो जाता है। यह पुलिंग के कर्मकारक एकवचन मे और –अ में समाप्त होनेवाले नपुंसक लिंग की संज्ञाओं के कर्ताकारक और कर्मकारक एकवचन मे ; प्रथम और द्वितीय पुरुष के सर्वनामों की षष्ठी (संबंधकारक) एकवचन में, परस्मैपद मे भविष्यकालवाचक एकवचन मे करने वाचक रूप में जो मूल मे त्वीनम् से निकला हो और कुछ क्रियाविशेषणों में पाया जाता है : वाअसु = वायसम् (हेच० ४,३५२); भरु = भरम्

(हेच० ४,२४०,२) ; हत्थु = हस्तम् (हेच० ४,४२२,१), वणवासु = वनवासम् (एत्सें० ३,२२) ; अंगु = अंगम् (हेच० ४,३३२,२) ; घणु = घनम् (कालका० २७२, ३५) ; फलु = फलम् (हेच० ४,३४१,२) ; महु और मज्झु = मह्यम् (हेच० में म देखिए ; महु रूप उदाहरणार्थ विक्रमो० ५९,९ ; ५९,१३ और १४ में भी मिलता है) ; तुज्झु = *तुह्यम् (हेच० में तु देखिए, [ये म और तु रूप स्व० शंकर पाडुरंग पंडित द्वारा संपादित और पी० एल० वैद्य द्वारा संशोधित ग्रंथ में नहीं दिये गये हैं। मज्झु तो अस्मद् के नीचे दिया गया है, पर तुज्झु नहीं मिलता। यह रूप युष्मद् के नीचे दिया जाना चाहिए था किंतु मेरे पास जो ग्रंथ है उसमें हेमचंद्र के शब्दानुशासन के अष्टम परिच्छेद की सूची नहीं है जो हेमचंद्र का प्राकृत व्याकरण है। पिशल ने हेमचंद्र के इस अष्टम अध्याय अथवा प्राकृत व्याकरण का छपा संस्करण स्वयं संपादित कर टीका सहित छपाया, उसकी शब्दसूची में तुज्झु रूप भी तु के नीचे होगा। मेरे पास जो संस्करण है उसमें हेमचंद्र के प्राकृत द्व्याश्रय काव्य कुमारपाल-चरित की शब्दसूची है, उसमें तुज्झ मिलता है। —अनु०], पावीसु, करीसु और पइसीसु = प्राकृत पाविस्सं, करिस्सं तथा पविसिस्सं = प्राप्स्यामि, करिष्यामि और प्रवेक्ष्यामि (हेच० ४, ३९६, ४) ; गम्पिणु और गमेप्पिणु = *गन्त्वीनम् और *गमित्वीनम् ; करेप्पिणु = करित्वीनम्, ब्रोप्पिणु = *ब्रूत्वीनम् (§ ५८८-) ; णिच्चु = नित्यम् (एत्सें० ३,२३), णिसंकु = निःशंकम् (हेच० ४, ३९६, १) ; परमत्थु = परमार्थम् (हेच० ४, ४२२, ९) ; समाणु = समानम् (हेच० ४, ४१८, ३) है। इसी नियम के अनुसार विणु (हेच० ४, ४२६ और विक्रमो० ७१, ७ में यह शब्द देखिए) जो विना = *विणम् से निकला है, बना है (§ ११४)। ढक्की में भी अं का उ हो जाता है : पडिमाशुण्णु देउलु = प्रतिमा शून्यं देवकुलम् ; गन्थु = ग्रन्थम् ; दशसुवण्णु कलवत्तु = दशसुवर्णं कल्यवर्तम् (मृच्छ० ३०, ११ ; ३१, १६ ; ३६, १७), किंतु इनके साथ साथ बहुत अधिक स्थलों पर कर्मकारक के अंत में अं रूप रहता है : समविसयं = समविषयम् ; कुलं, देउलं, जूदं, सव्वं सुवण्णं ; दशसुवण्णं कल्लवत्तं आदि आदि रूप मिलते हैं (मृच्छ० ३०,८, ९, १२ और १८, ३२,८, ३४,१२)। पिंगल और कालिदास के अप० में अं और उँ रूपों का बोलबाला है।

§ ३५२—संस्कृत शब्द के अंत का -कम् अप० में -उं और उँ हो जाता है। इस भाँति -अ में समाप्त होनेवाली नपुंसक लिंग की संज्ञा के कर्त्ताकारक और कर्मकारक एकवचन में प्रथम तथा द्वितीय पुरुष के सर्वनामों के कर्त्ताकारक एकवचन में साधारण वर्तमान काल के प्रथम पुरुष एकवचन में और कुछ क्रियाविशेषणों में यह ध्वनिपरिवर्तन पाया जाता है : हिअडउ = हृदयकम् (हेच० ४, ३५०, २ और शब्दसूची भी देखिए), रूअडउ = रूपकम् ; कुडुम्बउ = कुटुम्बकम् (हेच० ४, ४१९, १, ४२२,१४) ; हउँ = *अहकम् (हेच० ४,३७५ और शब्दसूची भी देखिए) ; तुहुँ = त्वकम् (§ २०६) ; जाणउँ = *जानकम् = जानामि ; जीवउँ = जीवामि ; चजउँ = त्यजामि (§ ४५४), मणाउँ = जै०महा० मणागं

(§ ११४) = संस्कृत *मनाकम् = मनाक् (हेच० ४, ४१८ और ४२६) ; सहुं और सहुँ = सार्कम् है (§ २०६)। इनके अतिरिक्त वह संज्ञा जो तद्धित रूप में व्यवहृत होती है और जिसमें संस्कृत में –कम् लगता है जैसे, अक्खा णउँ = आख्यानकम् (§ ५७९) और एहउँ में जो = *एषकम् और जिसका अर्थ एतद् है (हेच० ४, ३६२)।

(पाँच)—संधि-व्यंजन

§ ३५३—जैसा कि पाली[1] में होता है उसी प्रकार बोली की दृष्टि से प्राकृत में भी संधि व्यंजन रूप से संस्कृत शब्दों के अन्त में जुड़नेवाले व्यंजन, जो दो शब्दों के बीच के रिक्त स्थानों को भरने के लिए मान्य किये गये हैं, चलते हैं। इसका श्रीगणेश (§ ३४१ ; ३४३ ; ३४८ और ३४९ में दिये गये उदाहरण करते हैं। इस काम के लिए विशेष कर बहुत अधिक बार म् काम में लाया जाता है : अ०माग० में अन्न,म्-अन्न- और अण्ण म्-अण्ण–[2] = अन्योन्य-(आयार० २, १४,१ ; उत्तर० ४०२ ; विवाह० १०५ और १०६), अन्न-म्-अन्नो (आयार० २, १४, १), अन्न-म्-अन्नं (आयार० २, ७, १, ११; सूय० ६३० ; पण्हा० २३१ ; विवाह० १८० ; उत्तर० ४०२ ; कप्प० § ४६ ; अण्ण-म्-अण्णेणं (विवाह० १२३ ; कप्प० § ७२ ; निरया० § ११), अण्ण-म्-अण्णाए (विवाह० ९३१), अन्न-म्-अन्नस्स (आयार० २, ५, २, २ ; ३ और ५ ; २, ८, ६,२ ; विवाह० १८७ ; ५०८ ; २८ ; उवास० § ७९ ; ठाणंग० २८७ ; निरया० § १८ ; ओव० § ३८ और ८९), अन्न-म्-अन्नेहिं (सूय० ६३३ और ६३५ ; निरया० § २७), अण्ण म्-अण्णाणं (विवाग० ७४) और जै०शौर० में अण्ण-म्-अण्णेहिं (पव० ३८४, ४७) रूप मिलते हैं। जब कि वैदिक भाषा में अन्यान्य, महा० अण्णण्ण और जै०महा० में अन्नन्न § १३० पाया जाता है संस्कृत में अन्योन्य रूप है तथा महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में अण्णोण्ण (§ ८४), यहाँ कर्त्ताकारक जम गया है : अ०माग० और जै०महा० में कर्मकारक यदि जम गया हो तो मौलिक म् यहाँ ठीक ही है। यही बात महा०, अ०माग० और अप० रूप एक्क–म्–ऍक्क के विषय में कही जा सकती है ; अ०माग० में एग–म्–एग रूप भी चलता है जो = एकैक ; महा० में एक्क-म्-एक्क–आता है (रावण० ५, ८५ और ८७ ; १३, ८७) ; महा० में एक्क–म-एक्कं रूप भी पाया जाता है (हेच० ३, १ ; रावण० ५, ४८ ; ८, ३२) ; अ०माग० में एग-म्-एगं देखने में आता है (सूय० ९४८ और ९५० ; नायाध० § १२५) ; अप० में ऍक्क-म्-ऍक्कउं मिलता है (हेच० ४, ४२२, ६) ; ऍक्क-म्-एक्केण रूप भी है (हेच० ३, १) ; अ०माग० में एग-म्-एगाए देखने में आता है (विवाह० २२४ ; नायाध० § १२५) ; महा० और अ०माग० में ऍक्क-म्-एक्कस्स पाया जाता है (हाल ४१६ ; ५१७ ; बाल० १०१, १४ ; उत्तर० ४०१) ; अ०माग० में एग-म्-एगस्स भी चलता है (ठाणंग० ४५६ ; विवाह० २१५ और

२२२); महा० में **पक्क-म्-पक्के** काम में आया है (रावण० ३, ५६) ; अ०माग० **पग-म्-पगंसि** का भी प्रचार है (विवाग० ५० ; विवाह० १०४३ और उसके बाद ; ११९१) ; अ०माग० में **पग-म्-पगे** (विवाह० २१४) और महा० में **पक्क-म्-पक्का** भी है (रावण० ७, ५९ ; १०, ४१)। नीचे दिये गये रूपों में संधि व्यंजन म् वर्तमान है : **अंग-म्-अंगम्मि** = अंगे-ङ्गे (हेच० ३, १) : अ०माग० में **विराइयंग-म्-अंगे** = विराजितांगांगः और **उज्जोइयंग-म्-अंगे** = उद्योतितांगांगः (ओव० § ११ और १६) ; **हट्ठतुट्ठचित्त-म्-आणन्दिय** = हृष्टतुष्टचित्तानंदित (नायाध० § २३ ; ओव० § १७ ; कप्प० § ५ और १५ ; भग० २, २६०) इसके साथ साथ-**चित्ते आणन्दिये** भी है (कप्प० § ५०)। आदि से पहले भी संधि व्यंजन म् बहुधा आता है : अ०माग० में **हय-म्-आइ, गोण-म्-आइ, गय-म्-आइ** और **सीह-म्-आइणो** = हयादयो, गवादयो, गजादयोः और सिंहादयः (उत्तर० १०७५) ; अ०माग० में **सुगन्धतेल्ल-म्-आइएहिं** = सुगन्धतैलादिकैः (कप्प० § ६०) ; अ०माग० में **चन्दण-म्-आदिएहिं** मिलता है (उवास० § २९) ; अ०माग० में **आहार-म्-आईणि** रूप भी आया है (दस० ६२६, ६) ; अ०माग० में-**रयण-म्-आईएणं** = रत्नादिकेन (कप्प० § ९० ; § ११२ की तुलना कीजिए ; ओव० § २३) ; जै०महा० में **पलण्डुलसुण-म्-आईहिं** रूप पाया जाता है (आव० एर्से० ४०, १८) ; जै०महा० में **कामधेणु-म्-आईण** और **लोगपाल-म्-आईणं** रूप पाये जाते हैं (कालका० २७०, २१ ; २७५, २७) ; जै०शौर० में **रूव-म्-आदीणि** = रूपादीनि (पव० ३८४, ४८) है। अन्य उदाहरण ये हैं : अ०माग० में **आरिय-म्-आणारियाणं** मिलता है (सम० ९८ ; ओव० § ५६) ; अ०माग० में **सारस्सय-म्-आइच्चा** = सारस्वतादित्यौ (ठाणंग० ५१६) ; अ०माग० में **एस-म्-अट्ठे** = एषो' र्थः (विवाह० १९३ ; नायाध० § २१ ; ओव० § ९० ; कप्प० § १३), **पम-म्-आयाओ** = पथ-आघातः (दस० ६२५, ३९), **एस-म्-अग्गी** = एषो'ग्निः (उत्तर० २८२), **एय-म्-अट्ठस्स** रूप भी चलता है (निरया० § ८), **आयार-म्-अट्ठा** = आचारार्थात् (दस० ६३६, १), **लाम-म्-अट्ठिओ** = लाभार्थिकः (दस० ६४१, ४२) ; अ०माग० **वत्थगन्ध-म्-अलंकारं** रूप पाया जाता है (सूय० १८३ ; ठाणंग० ४५० ; दस० ६१३, १७) ; अ०माग० में **सव्वजिण-म्-अणुण्णाअ** = सर्वजिनानुज्ञात (पण्हा० ८६९ और ५२९) ; अ०माग० में **तीय-उप्पन्न-म्-अणागयाइं** = अतीतोत्पन्नानागतानि (सूय० ४७० ; विवाह० १५५ की तुलना कीजिए ; दस० ६२७, २७) ; अ०माग० में **दीह-म्-अद्ध-** = दीर्घाध्व- (ठाणंग० ४१ ; १२९ ; ३७० ; ५७० ; सूय० ७८७ और ७८९ ; विवाह० ३८ ; ३९ ; ८४८ ; ११२८ ; १२९५ और उसके बाद ; १२९० ; पण्हा० २०२ ; ३२६ ; ओव० § ८३ ; नायाध० ४६४ और ११२७) ; अ०माग० **अत्थाह-म्-अतार-म्-अपोरिसीयंसि उदयंसि** = *अस्ताघातारापौरुषीये उदके (नायाध० १११३) ; अ०माग० में **आउखेमस्स-म्-अप्पणो** = आयुःक्षेमस्यात्मनः

(आयार० १,७, ८,६) ; जै०महा० में अट्ठारस-म्-अग्गलेसु = अष्टादशार्गलेषु (कक्कुक शिलालेख १९), ऊरु-म्-अन्तरे भी आया है (आव० एत्सें० १५, १८); अ०माग० में पुरओ-म्-अग्गओ य = पुरतोऽग्रतश् च है (विवाह० ८३०)। य और र बहुत ही कम स्थलों पर सन्धिव्यंजन के रूप में काम में लाये जाते हैं। अ०-माग० में एगाहेण वा दुयाहेण वा तियाहेण वा चउयाहेण वा पाया जाता है (आयार० २, ३, १, ११ ; २, ५, २, ३ और ४)। — एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा की तुलना कीजिए (जीवा० २६१, २८६ और २९५)। — चउयाहेण = चतुरहेण, दुयाहेण = द्व्यहेन और तियाहेण = त्र्यहेण से प्रभावित हुआ है, जैसा कि स्वर की दीर्घता अपने को एगाहेण और एगाहं की नकल पर स्पष्ट कर देती है। अ०माग० में किं अणेण भो-य्-अणेण रूप मिलता है (आयार० १, ६, ४, ३), अ०माग० मे सु-य्-अक्खाय = स्वाख्यात (सूय० ५९० ; ५२४), इसके साथ साथ सुअक्खाय रूप भी चलता है (सूय० ६०३ और ६२०) ; अ०माग० में वेयवि-य्-आयरक्खिए = वेदविदात्मरक्षितः है (उत्तर० ४५३) ; बहु-य्-अट्ठिय = बह्वस्थिक (आयार० २, १, १०, ५ ; § ६ की भी तुलना कीजिए जहाँ बिना य् की सन्धि है); अ०माग० महु-य्-आसव = मध्वास्रव (ओव० § २४) ; जै०महा० में राया-य्-उ = राजा + उ (आव० एत्सें० ८, १) ; जै०महा० में दु-य्-अंगुल = द्व्यंगुल (एत्सें० ५९, १३) है। र् व्युत्पत्ति शास्त्र की दृष्टि से अ०माग० रूप वाहि-र्-इवोसहेहिं = व्याधिर् इवौषधैः (उत्तर० ९१८), सिहि-र्-इव (दस० ६३३, ३४) और वायु-र्-इव (सूय० ७५८ , कप्प० § ११८) में बैठा हुआ है जहाँ र् कर्त्ताकारक का प्राचीन समाप्तिसूचक वर्ण है अर्थात् मानो ये रूप वाहिर् इवो-, सिहिर् इव (यह लौयमान का मत है), वायुर् इव (यह याकोबी का मत है) लिखा जा सकता है। नीचे दिये गये अ०-माग० के उदाहरणों की नकल पर र् सन्धिव्यंजन बन जाता है : अणु-र्-आगयम् = अन्वागतम् (विवाह० १५४)[1] ; अ०माग० में दु-र्-अंगुल = द्व्यंगुल (उत्तर० ७६७ , टीका में दुअंगुल रूप है ; ऊपर आगे हुए जै०महा० रूप दुयंगुल की तुलना कीजिए ; [यह र् कुमाउनी रूप एकवचा, दुर्-वचा और ति-र्-वचा में सुरक्षित है। वचा = वाच है। —अनु०]) , अ०माग० और जै०महा० में धि-र्-अत्थु = धिग् अस्तु (हेच० २, १७४ ; त्रिवि० १, ३, १०५ ; नायाध० ११५२ और ११७० तथा उसके बाद ; उत्तर० ६७२ और ६७७ ; दस० ६१३, ३१ ; द्वार० ५०७, २१) है। अ०माग० में सु-र्-अणुचर = स्वनुचर (ठाणंग० ३५०), ऊपर आये हुए रूप दुरणुचर[2] की नकल पर बन गया है, इसके विपरीत दुआइक्खं (ठाणंग० ३४९), यदि पाठ परंपरा शुद्ध हो तो सुआइक्खं की नकल पर बनाया गया होगा।

१. ए० कून, बाइत्रैगे, पेज ६१ और उसके बाद ; ए० म्युलर,-सिम्प्लिफाइड ग्रैमर पेज ६३ ; पिशल, बे०को०सं०गे०वि०, १८९३, २२८ और उसके बाद। — २. इन उदाहरणों के विषय में पाठ अस्थिर है, उनमें कभी ण और कभी

ण्ण रूप एक ही शब्द के रूपों में मिलता है। — ३. अभयदेव कहता है : रेफस्यागमिकत्वाद् अन्वागतम् अनुरूपम् आगमनं हे स्कन्दक तवेति दृश्यम्। — ४. अभयदेव - रेफः प्राकृतत्वात्। बेत्सनबैर्गर, बे०बाइ० ४, ३४० नोटसंख्या २ की तुलना कीजिए।

(छ)—वर्णों का स्थानपरिवर्तन (व्यत्यय)

§ ३५४—कुछ शब्दों मे एक दूसरे के बगल मे ही रहनेवाले वर्ण स्थानपरिवर्तन कर लेते हैं। यह स्थानपरिवर्तन इस भाँति होता है कि ध्वनिनियमों में इसका कोई आधार नहीं मिलता : अइराहा = अचिराभा और अइहारा (= बिजली : देशी० १,३४) है। — अलचपुर [= एलिचपुर, बरार में। —अनु०] = अचलपुर (हेच० २, ११८) है। — आणाल = आलान (वर० ४, २९ ; हेच० २, ११७; क्रम० २,११७), आणालक्खम्भ और आणालक्खम्भ = आलानस्तम्भ (हेच० २, ९७) है। — कणेरु = करेणु (वर० ४, २८ ; हेच० २, ११६ ; क्रम० २, ११९ ; मार्क० पन्ना ३८) है। व्याकरणकार बताते हैं कि शब्दों के वर्णों का यह स्थानपरिवर्तन स्त्रीलिंग में ही होता है। यह तथ्य पाली भाषा[1] के नियम से पूरा पूरा मिलता है। अ०माग० में स्त्रीलिंग रूप मे (नायाध० ३२७ ; ३२८ ; ३३७ और ३३८ ; उत्तर० ३३७ और ९५४), जैसा कि शौर० में पुल्लिंग रूप में (पाइय० ९ ; मालती० २०३, ४) करेणु ही बरता जाता है। इसी भाँति जै०महा० में भी करेणुया = करेणुका रूप है (पाइय० ९ ; एर्से०)। मार्कंडेय पन्ना ६८ के अनुसार शौर० में यह स्थानपरिवर्तन होता ही नहीं। महा० में णडाल, महा०, अ०माग० मे और जै०महा० णिडाल = ललाट, इसके साथ साथ णलाड रूप भी चलता है तथा महा० और अ०माग० में णिलाड एवं शौर० में ललाड रूप भी पाये जाते हैं (§ २६०)। — जै०महा० और अप० में द्रह = ह्रद (हेच० २, ८० ; देशी० ८, १४ ; आव० एर्से० ४२, २७ ; हेच० ४, ४२३, १), अ०माग० में इसका रूप दह है (हेच० २, ८० और १२० ; आयार० २, १, २, ३ ; २, ३, ३, २ ; अणुओग० ३८६ ; पण्णव० ८० ; नायाध० ५०८ और उसके बाद ; विवाह० ११९ ; ३६१ ; ६५९ ; ठाणग० ९४)। समासों मे भी यह स्थानपरिवर्तन (वर्णव्यत्यय) बहुधा देखा जाता है जैसे, केसरिद्दह, तिगिच्छद्दह (ठाणग० ७५ और ७६), पउमद्दह और पुण्डरीयद्दह (ठाणग० ७५ और उसके बाद ; जीवा० ५८२ और उसके बाद) ; महा० और अ०माग० मे महद्दह मिलता है (हाल १८६ ; ठाणग० ७५ और ३८२) ; अ०माग० और अप० में महादह रूप पाया जाता है (ठाणग० १७६ ; हेच० ४, ४४४, ३), इसके साथ साथ अ०माग० में अंशस्वर के साथ हरय रूप भी आया है (§ १३२)। — महा०, अ०माग, जै०महा०, शौर० और अप० में दीहर रूप है जो *दीरिह के स्थान पर आया है (§ १३२)[1] और जो = दीर्घ है (हेच० २, १७१ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; कर्पूर० ४३, ११ ; नदी० ३७७ ; एर्से० ; उत्तर० १२५, ६ ; बाल० २३५, १५ ; मल्लिका० ८१, ९ ; १२३, १५।

१६१, ८ ; १९८, १७ ; २२३, ९ ; हेच० ४, ४१४, १ ; ४४४, ४)। — अ०माग० में **पाहणाओ = उपानहौ**, अणोवाहणग और अणोवाहणय रूप भी पाये जाते हैं। अ०माग० में **छत्तोवाहण** है, पर इसके साथ साथ शौर० में **उवाणह** भी मिलता है (§ १४१)। —जै०महा०, शौर० और अप० मे **मरहट्ठ = महाराष्ट्र** (हेच० १, ६९ ; २, ११९ ; कालका० २६९, ४४ ; बाल० ७२, १९ ; १, ९१ ; ११६ अ, १४० अ), महा० में **मरहट्ठी** (विद्ध० २५, २) और इसके साथ साथ **मराठी** रूप आये हैं (§ ६७)। — अ०माग० मे **रहस्स** रूप है जो *ह्रस्स के स्थान पर है और = **ह्रस्व** है (ठाणग० २० ; ४० ; ४४५ ; ४५२), इसके साथ-साथ **हस्स** रूप भी चलता है (आयार० १, ५, ६, ४ ; २, ४, २, १० ; विवाह० ३८ ; ३९), **हस्सीकरेंति** भी पाया जाता है (विवाह० १२६)। हस्तलिपियो और पाठों मे बहुधा **ह्रस्स** रूप आया है (ठाणग० ११९ ; नन्दी ३७७ ; वेबर, भग० १, ४१९)। भाम० ४, १५ के अनुसार लोग **ह्रस्व** को **हंस** भी कहते थे (§ ७४)। अ०माग०, जै०महा० और अप० मे **वाणारसी = वाराणसी** (हेच० २, ११६ ; अंत० ६२, नायाध० ५०८ ; ७८७ ; ७९१ ; १५१६ ; १५२८ [पाठ में **वाराणसीए** है], निरया० ४३ और उसके बाद ; पण्णव० ६० ; ठाणग० ५४४, उत्तर० ७४२ ; विवाग० १३६ ; १४८ और उसके बाद ; विवाह० २८४ और उसके बाद ; एर्से० ; पिंगल १, ७३ [यहाँ **वणरसि** पाठ है और गौल्दश्मित्त द्वारा संपादित संस्करण में **वरणसि** है], हेच० ४, ४४२, १) है। शौर० मे **वाराणसी** रूप पाया जाता है (बाल० ३०७, १३, मल्लिका० १५, २४, १६१, १७, २२४, १०), माग० मे भी यही रूप है (प्रबोध० ३२, ६,९), जिसके स्थान पर बबइया संस्करण ७८, ११ मे **वालाणसी** पढा गया है, इसे सुधारकर **वालाणशी** पढना चाहिए। — **हलिआर** और इसके साथ साथ **हरिआल = हरिताल** (हेच० २,१२१) है। — **हलुअ** और इसके साथ साथ **लहुअ = लघुक** (हेच० २, १२२ ; [हिंदी में इसके **हलुक**, **हौले**, **हलुआ** आदि रूप हैं, पर अर्थ शीघ्रता के स्थान पर धीमे धीमे हो गया है। मराठी मे **लहुअ** का प्रचार है। इस भाषा में **लहुअ** का **लौ** बनकर **लौकर** शब्द बन गया है जिसका अर्थ शीघ्र है। —अनु०])। — **हुलइ** और इसके साथ साथ **लुहइ** रूप चलता है (= पोंछना : हेच० ४, १०५)। वर० ८, ६७ और क्रम० ४, ५३ में **लुहइ** का अर्थ **लुभइ** दिया गया है। इससे यह सभावना सामने आती है कि **हुलइ = *भुलइ** रखा जाना चाहिए और **हुलइ** (फेंकना : हेच० ४, १४३) इसी स्थिति में है, यह **भुल्लइ** (नीचे गिरना : हेच० ४, १७७) से जो अकर्मक है और जै०महा० और शौर० **भुल्ल** (भूलना ; भूल करने की बान, पड़ा हुआ ; भ्रांत : आव०एर्से० ४६, ५ ; कर्पूर० ११३, १) से निकला प्रतीत होता है[१]। — महा० में **हद्दरा** (पाइय० २४१ ; गउड०) व्याकरणकारों के अनुसार (हेच० २, २१२ ; मार्क० पन्ना ३८) = **इतरथा** होना चाहिए, किन्तु मार्कडेय और वेबर[२] के अनुसार यह स्थानपरिवर्तन करके ***इअरहा** से निकला है, पर ध्वनिनियमों से यह असभव है। महा० हस्तलिपियों में अधिकाश स्थलों पर **इअरा** रूप आया है (हाल ७११ ;

रावण० ११,२६), यह जैसा कि § २१२ में मान लिया गया है *इथरत्ता से निकल कर इहरा बन गया। मार्कंडेय पन्ना ६८ में बताया गया है कि शौर० में केवल एक ही रूप इदरधा है।

१. हेच० २, ११६ पर पिशल की टीका। —२. एस. गौल्दश्मित्त द्वारा संपादित रावणवहो में यह शब्द देखिए। —३. हेच० ४, ११७ पर पिशल की टीका। —४. हाल ७११ की टीका।

तीसरा खंड—रूपावली-शिक्षा

(अ) संज्ञा

§ ३५५—इस नियम के फलस्वरूप कि प्राकृत में शब्द के अंत के वर्णों की विच्युति हो जाती है (§ ३३९), व्यंजनांत शब्दों की रूपावली प्रायः संपूर्ण रूप से लुप्त हो गयी है। रूपावली के अवशेष त्, न्, श् और स में समाप्त होनेवाले शब्दों में पाये जाते हैं। अन्य शब्दों की रूपावली के अवशेष इधर उधर बिखरे हुए थोड़े से पद्य में पाये जाते हैं। इस प्रकार महा० में विवआ = विपदा (शकु० ३३, ७); अ०माग० में धम्मविओ = धर्मविदः (कर्त्ताकारक, बहुवचन ; सूय० ४३); अ०माग० में वाया = वाचा (दस० ६३०, ३२ ; उत्तर० ३८); अ०माग० में वेयविदो = वेदविदः (कर्त्ताकारक, बहुवचन ; उत्तर ४२५) है। व्यंजनों में समाप्त होने वाले शब्दों की रूपावली के अवशेष रूप में आओ (= पानी) भी है जो = आपः (वे० बाइ० ३,२३९ में त्रिविक्रम शीर्षक लेख) है। उणादिसूत्र २, ५४ में उज्ज्वलदत्त द्वारा वर्णित और अनेक भांति प्रमाणित किया जा सकनेवाला[1] नपुंसकलिंग आपस् कर्त्ताकारक बहुवचन से संबंधित है[2]। अ०माग० में आओ पुलिंग रूप आउ में (हेच० २,१७४ ; देशी० १,६१) परिवर्तित हो गया है, ठीक उसी भांति जैसे तेओ = तेजस् तेउ में। यह उ स्वर वाउ = वायु की नकल पर आया है क्योंकि अ०माग० में रीतिबद्ध रूप से आऊ, तेऊ, वाऊ का क्रम संयोग पाया जाता है जो = आपस्, तेजो, वायुः के और जिसके अ०माग० रूप में वाऊ की नकल पर आउ और तेउ [दीर्घ ऊ को ह्रस्व बनाकर। —अनु०] रूप बने। इसी नियम से कायेण के स्थान पर मनसा, वयसा के साथ साथ कायसा रूप मिलता है तथा सहसा के साथ साथ बलेण के लिए बलसा रूप लिया गया है (§ ३६४), इस प्रकार के अन्य शब्दों के रूपों की नकल पर बने अनेक कारक हैं (§ ३५८, ३६४, ३६७ ; ३७५; ३७९; ३८६)। आऊ, तेऊ और वाऊ इसी प्रकार बना (सूय० ६०६, सम० २२८ [पाठ में तेओ है], दस० ६१४, ४० [पाठ में तेउ है], आयार० २, २२, १३ [पाठ में आओ, तेओ, वाउ है]); वाऊ, तेऊ, आऊ रूप भी है (विवाग० ५०); आउ, तेऊ वा वाउ भी मिलता है (सूय० १९) ; आउ तेऊ य तहा वाऊ य भी पाया जाता है (सूय० ३७) ; आऊ अगणी य वाऊ रूप भी देखने में आता है (सूय० ३२५), पुढवी आउ गणि वाऊ भी चलता है (सूय० ३७८), आउतेउवाउवणस्सइसरीर है (सूय० ८०३) ; आउतेउवाउवणस्सइणाणाविहाणं भी पाया जाता है (सूय० ८०६) ; आउसरीर तेउसरीर वाउसरीर भी आया है (सूय० ७९२) ; आउतेउवणस्सइ– (विवाह० ४३०), तेउवाउवणस्सइ– (आयार० २,१,७,३), आउकाइय[1], तेउकाइय, वाउकाइय (विवाह० १४३८ और उसके बाद [पाठ में आऊ–, तेऊ–, वाऊ– है], अणुओग० २६० ; दस०

६१४, ३८), आउक्काइय (जीवा० ४१), आउलेस्से (विवाह० १०) ; आउबहुल (जीवा० २२६) और **आउजीवा तहागणी धाउजीवा** (सूय० ४२५, उत्तर० १०४५ और १०४७ की तुलना कीजिए) रूपों का भी प्रचलन है। **तेउफास= तेजःस्पर्श** (आयार० १, ७, ७, १ ; १, ८, ३, १) है ; **तेउजीव** रूप आया है (उत्तर० १०५३); **तेउ वाउ य** भी मिलता है (उत्तर० १०५२)। ये दोनों शब्द उ में समाप्त होनेवाले संज्ञावर्ग की भांति पूर्ण स्वतंत्र रूप से काम में लाये जाते हैं : कर्त्ताकारक एकवचन का रूप आऊ है (सूय० ३३२ ; पण्णव० ३६९,३) ; कर्त्ताकारक बहुवचन भी **आऊ** है (ठाणंग० ८२) ; संबंधकारक **आऊणं** (उत्तर० १०४७) और **तेऊणं** मिलता है (उत्तर० १०५५)। विशेष अर्थ में काम में न आने पर अ०माग० में **तेजस्** रूप चलता है और अस् में समाप्त होनेवाले नपुंसकलिंग के शब्दों की भांति बरता जाता है। — कर्त्ताकारक बहुवचन **सरओ = शरदः, शरद्** (= पतझड की ऋतु) का रूप है, इससे महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर० और अप० में पुंलिंग एकवचन का रूप **सरअ** तथा अ०माग० और जै०महा० में **सरय** का आविष्कार किया गया है। यह = पाली **सरद**[4] (वर० ४, १० और १८ ; हेच० १, १८ और ३१ ; क्रम० २, १३३ ; मार्क० पन्ना ३४ ; गउड० , हाल , रावण० ; ठाणंग० २३८ और ५२७ ; नायाध० ९१६ ; बालरा० २६४, ६ ; बाल० १२७, १४ ; हेच० ४, ३५७, २), इसी प्रकार **दिशः** से **दिसो** रूप बना है (क्रम० २, १३१ ; यदि इस स्थान पर **दिसा** रूप पढना न हो तो)। साधारण नियम के अनुसार व्यंजनों में समाप्त होनेवाले शब्दों के साथ दो प्रकार का व्यवहार होता है। बहुत कम स्थलों पर ऐसा शब्द, अंत में आये हुए व्यंजन के लुप्त हो जाने पर इससे पहले आनेवाले स्वर और इससे मिलते जुलते लिंग की रूपावली में ले लिया जाता है, किंतु अधिकांश स्थलों पर ऐसा संज्ञा शब्द –अ के आगमन के बाद पुंल्लिंग और नपुंसकलिंग में और –आ तथा –ई के आगमन के बाद स्त्रीलिंग में भर्ती कर लिया जाता है। § ३९५ और उसके बाद के § देखिए।

१. स्टेन्त्सलर, बे. बाइ. ६, ८४। —२. यह मत वेबर, भगवती १, ३९७, नोटसंख्या २ तथा ए. कून., बाइत्रैगे, पेज ६७ में व्यक्त किया गया है ; बे. बाइ. ३, २४० से यह अधिक शुद्ध है। —३. पण्णव० ३६९ पर मलयगिरि की टीका यों है : **आउ इति पुंलिंगता प्राकृतलक्षणवशात् संस्कृते तु स्त्रीत्वम् एव**। —४. यह रूप चाइल्डर्स ने अपने पाली-कोश में दिया है और यह बे. बाइ. ३, २४० से अधिक शुद्ध है।

§ ३५६—संस्कृत के लिंग की प्राकृत में सर्वत्र रक्षा नहीं की गयी है। कुछ अंश में यह लिंगपरिवर्तन शब्द के अंतिम वर्ण संबंधी नियम से उत्पन्न होता है। इसके अनुसार महा० और जै०महा० में अस् में समाप्त होनेवाले नपुंसकलिंग के शब्द कर्त्ताकारक में ओ में समाप्त होने पर (§ ३४८) पुंल्लिंग के समान बरते जाते हैं (वर० ४,१८ ; हेच० १,३२ ; क्रम० २,१३३ ; मार्क० पन्ना ३५) : महा० में **तुंगो च्चिय होइ मणो = तुंगम् एव भवति मनः** (हाल २८४) ; **एस सरो = एतत् सरः**

(गउड० ५१३) ; खुडिओ महेन्दस्स जसो = *क्षुदितं महेन्द्रस्य यशः (रावण० १, ४) ; अण्णो अण्णस्स मणो = अन्यद् अन्यस्य मनः (रावण० ३, ४४) ; माहअलद्धत्थामो महिरओ = मारुतलब्धस्थाम महीरजः (रावण० ४, २५) ; तमालकसणो तमो = तमालकृष्णं तमः (रावण० १०,२५); तारिसो अ उरो = तादृशं चोरः (सुभद्रा० ८, ३) हैं। जै०महा० में बारसाइच्चोदयाहिओ तेओ = द्वादशादित्योदयाहित तेजः (एर्से० २६, ३३) ; तवो कओ = तपः कृतम् (एर्से० २६, ३५) है। व्याकरणकारों के अनुसार नभस् और शिरस् शब्द (वर० ४, १९ ; हेच० १, ३२ ; क्रम० २, १३४ ; मार्क० पन्ना ३५) केवल नपुसकलिंग में और-अ में समाप्त होनेवाले शब्दों की रूपावली के अनुसार काम मे लाये जाते है : महा० मे णहं चलता है (गउड० ४५१ ; ४९५ ; १०३६ ; रावण० ४, ५४ ; ५, २ ; ६ ; ३५ ; ४३ ; ७४ आदि-आदि) ; महा० में सिरं आया है (रावण० ४, ५६ ; ११, ३६ ; ५६ ; १३२ आदि-आदि)। अ०माग० में भी-अस् मे समाप्त होने वाले नपुसकलिंग के शब्द पुलिंग मे काम में लाये जाते हैं और कुछ कम संख्या मे नहीं और अ०माग० मे आकर ये शब्द के अन्त मे -ए जोड़ कर कर्त्ताकारक एकवचन बन जाते हैं (§ ३४५) : माउ ओये = मात्रोजः (ठाणग० १५९) ; तमे = तमः (ठाणग० २४८) ; तवे = तपः (सम० २६) ; मणे = मनः (विवाह० ११३५ और उसके बाद) ; पेज्जे = प्रेयः और वच्छे रूप = वक्षः है (उवास० § ९४)। एएसोया = एतानि स्रोतांसि (आयार० १,५,६,२) है। इसके साथ साथ-अस् मे समाप्त होनेवाले नपुंसकलिंग के शब्द-अ मे समाप्त होने वाले नपुसकलिंग के सज्ञा-शब्दों की भाँति भी बरते जाते है : अ०माग० मे अयं = अयस् (सूय० २८६) ; अ०माग० सेयं = श्रेयस् (हेच० १, ३२ § ४०९) ; वयं = वयस् (हेच० १, ३२), इसके साथ साथ अ०माग० मे वाओ रूप भी चलता है (आयार० १, २, १, ३ ; यह रूप पद्य मे आया है) ; सुमणं = सुमनः (हेच० १, ३२) है। शौर० और अ०माग० मे प्रायः बिना अपवाद के ऐसे रूप बनते हैं (§ ४०७)। अप० में मणु (हेच० ४, ३५० और ४२२, ९) तथा सिरु रूप (हेच० ४, ४४५, ३) जो ध्वनि की दृष्टि से मनः और शिरः के समान है (§ ३४६), *मनम् और *शिरम् रूपों के समान रखे जा सकते हैं (§ ३५१)। सम्बोधन का रूप चेउ = चेतः (पिंगल १, ४ ब ; पाठ मे चेज है ; कहीं चेड भी आया है ; बौँ ल्लें नसेन, विक्रमो०, पेज ५२८ की तुलना कीजिए)।

§ ३५७—जैसे अस् में समाप्त होनेवाले नपुसकलिंग के शब्द वैसे ही -अ में समाप्त होनेवाले नपुसकलिंग के शब्द प्राकृत बोली में पुलिंग बन गये हैं। इस लिंग-परिवर्तन का प्रारम्भ कर्त्ताकारक और कर्मकारक के बहुवचन के रूप से हुआ है जिसकी समाप्ति वेद की भाँति -आणि और आइं होने के साथ साथ -आ में भी होती है और यह पुल्गि के समान है (§ ३६७)। अ०माग० में लोग इस प्रकार बोलते थे: तओ थाणाणि (ठाणग० १४३), तओ ठाणाइं (ठाणग० १५८) और तओ ठाणा (ठाणग० १६३ और १६५) = त्रीणि स्थानानि है। ऊपर दिये गये अन्तिम रूप से

कर्त्ताकारक एकवचन **ठाणे** का रास्ता खुल गया होगा। अ०माग० में **एस ठाणे अणारिए** = **एतत् स्थानम् अनार्यम्** है (सूय० ७३६)। अ०माग० में इसके अनगिनत उदाहरण पाये जाते हैं: **एस उदगरयणे** = **एतद् उदकरत्नम्** (नायाध० १०११); **उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए** = **उत्थानं कर्म बलं वीर्यम्** है (विवाह० १७१ ; नायाध० ३७४ ; उवास० § ७३); **दुविहे दंसणे पन्नत्ते** = **द्विविधं दर्शनं प्रज्ञप्तम्** (ठाणंग० ४४) है ; **मरणे** = **मरणम्** (सम० ५१ और ५२), **मत्तए** = **मात्रकम्**, इसके साथ साथ बहुवचन में **मत्तगाईं** रूप मिलता है (कप्प० एस० § ५६ ; [**मत्तए** रूप **मत्ते** बन कर मारवाड़ी बोली में इसी अर्थ में वर्तमान है। **मत्ते** का एक अर्थ मारवाड़ी में 'यों ही', 'व्यर्थ में' है। —अनु०]) और इस भाँति के बहुत से अन्य शब्द मिलते हैं [1]। आयार० १,२,१,३ में पद्य में एक के पास एक निम्नलिखित शब्द आये हैं : **वओ अच्चेइ जोव्वणं च जीविए** = **वयो'त्येति यौवनं च जीवितम्** है। अ०माग० में कभी कभी नपुंसकलिंग के सर्वनाम पुलिंग के साथ सम्बन्धित कर दिये जाते हैं : अ०माग० में **एयावन्ति सव्वावन्ति लोगंसि कम्मसमारंभा** = **एतावन्तः सर्वे लोके कर्मसमारम्भाः** (आयार० १, १, १, ५ और ७); **आवन्ती के यावन्ती लोगंसि समणा य माहणा य** = **यावन्तः के च यावन्तो लोके श्रमणाश् च ब्राह्मणाश् च** है (आयार० १, ४, २, ३ ; १, ५, २, १ और ४ की तुलना कीजिए), **याइं तुमाइं याइं ते जनगा** = **यस् त्वं यौ ते जनकौ** (आयार० २, ४, १, ८) है, **यइं** (§ ३३५ और ३५३) **भिक्खू** = **ये भिक्षवः** (आयार० २, ७, १, १); **जावन्ति 'विज्जापुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा** = **यावन्तो 'विद्यापुरुषाः सर्वे ते दुःखसंभवाः** (उत्तर० २१५; [विएना विश्वविद्यालय में प्रोफेसर क्रिश्चियान के नेतृत्व में एक इसके लिए ही बने हुए सूक्ष्म यन्त्र द्वारा ध्वनियों के माप और तुलना के उद्देश्य से चित्र लिये जाते थे। अनुवादक ने भी तीन महीने इस विभाग में चित्र द्वारा ध्वनि मापन और उसकी तुलना का ज्ञान सीखा। उसमें दुक्ख और दुःख के चित्र लिये थे और इन दोनों को मापने और उनकी तुलना करने पर पता लगा कि दोनों ध्वनियों में लेशमात्र का भेद हो तो अन्यथा चित्र एक से ही आये। —अनु०]), **जे गरहिया सणियाणप्पओगा ण ताणि सेवन्ति सुधीरधम्मा** = **ये गर्हिताः सनिदानप्रयोगा न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माः** है (सूय० ५०८)। इस नियम के अनुसार **णो इण्' अट्ठे** और **णो इणं अट्ठे** के लिंग प्रयोग का भी स्पष्टीकरण हो जाता है (§ १७३); **से** और माग० **शे** = **तद्** की भी तुलना कीजिए (§ ४२३)। जै०महा० में साधारणतः जब भिन्न भिन्न लिंगों के व्यक्तियों के विषय में कर्म या प्रश्न आता है तब वह नपुंसकलिंग में रहता है : **तओ सागरचन्दो कमलामेला य ..गहियाणुव्वयाणि सावगाणि संवुत्ताणि** = **ततः सागरचन्द्रः कमलापीडा च गृहीतानुव्रतौ श्रावकौ संवृत्तौ** (आव० एर्त्से० ३१, २२) और इससे पहले (३१, २१ में) इसी विषय पर कहा गया गया है : **पच्छा इमाणि भोगे भुञ्जमाणाणि विहरन्ति** = **पश्चाद् इमौ भोगान् भुञ्जानौ विहरतः** ; आवश्यक एर्त्सेलुंगन ३८, १ में **मायापिईणं** = **मातापित्रोः**

के लिए ताणि रूप आया है ; ताणि अम्मापियरो पुत्तिआणि = तौ अम्बापितरो पुत्रौ (एर्त्से० ३७, २९ ; [इस स्थान मे अम्मा शब्द ध्यान देने योग्य है। यह अब उर्दू मे अधिक प्रयोग मे आता है। हिन्दी मे यह शायद ही काम में आता हो, किन्तु यह वास्तव में संस्कृत शब्द नहीं है अपितु द्राविड भाषा से लिया गया है और संस्कृतीकरण है। ऐसा भी मत है कि यह इंडो-ऑस्ट्रिक शब्द है जो अन्य अनेक शब्दों की भाँति अवशेष रूप में द्रविड मे रह गया है। इसके अम्म, अम्मल आदि रूप द्राविडी भाषाओं मे आज भी चलते है (हेच० ने देशी० १, ५ अव्वा और अम्मा रूपों को देशी बताया है। उसे पता रहा होगा कि यह शब्द द्राविडी भाषाओं की देन है, इस कारण उसने इसे देशी माना। —अनु०]) ; ताहे राया सा य जयहत्थिम्मि आरूढाइं = तदा राजा सा च जयहस्तिन्य् आरूढौ है (एर्त्से० ३४, २९) ; [मयमञ्जरिया कुमारो च] नियमभवने गयाइँ सानन्दहिययाइं = [मदनमञ्जरिका कुमारश् च] निजकभवने गतौ सानन्दहृदयौ है (एर्त्से० ८४, ६)। याकोबी ने अपने औसगेवैल्ते एर्त्सेलुगन की भूमिका के पेज ५६ § ८० मे और बहुत से उदाहरण दे रखे हैं। —अ वर्ग के नपुंसकलिंग के शब्दों का पुलिंग में परिवर्तन माग० मे भी बार बार देखने म आता है, अन्य प्राकृत बोलियों मे नाममात्र ही मिलता है। इसके अनुसार माग० म एशे शे दशणामके मइ कले = एतत् तद् दशनामकं मया कृतम् (मृच्छ० ११, १), आमलणन्तिके वेले = आमरणान्तिकं वैरम् (मृच्छ० २१, १४), दुआलए = द्वारकम् (मृच्छ० ७९, १७), पवहणे = प्रवहणम् (मृच्छ० ९६, २२, ९७, १९ और २०, ९९, २, १००, २० आदि आदि), एशे चीवले = एतच्च चीवरम् है (मृच्छ० ११२, १०); शोहिदे = सोहृदम् (शकु० ११८, ६), भोअणे संचिदे = भोजनं संचितम् (वेणी० ३३, ३) है। उस्णे लुहिले = उष्णं रुधिरम् (वेणी० ३३, १२), भत्ते = भक्तम्, एशे शे शुवण्णके = एतत् तत् सुवर्णकम् (मृच्छ० १६३, १९, १६५, ७) है। शौर० और दाक्षि० में पुलिंग रूप पवहणो पाया जाता है (मृच्छ० ९७,७ ; दाक्षि में १००, १५)। इसके साथ साथ इससे भी अधिक चलनेवाला नपुंसकलिंगवाचक रूप पवहणं है, शौर० मे पभादो रूप मिलता है (मृच्छ० ९३, ७), किन्तु इसके साथ-साथ पभादं = प्रभातम् भी आया है (मृच्छ० ९३, ५ और ६) ; शौर० मे बहुधा हिअओ = हृदयम् और विशेषकर जब हृदय के विषय में कुछ कहा जाता हो (विक्रमो० २०, २१ [ए. (A) हस्तलिपि में लिखे हुए के अनुसार यही पढा जाना चाहिए], २३, १०, ४६, १७ और १९ की तुलना कीजिए ; रत्ना० २९८, ११ और १२, माल्ती० ३४८, ६, [इसी ग्रन्थ में आये हुए उक्त रूप के अनुसार यहाँ भी यही पढा जाना चाहिए], विद्ध० ९७, १०, प्रिय० २०, २ ; नागा० २०, १३ और १५)[१]। चत्तो = चत्रम् (= तकली · देशी० ३, १) की बोली कौन है, इसका पता नहीं चलता। § ३६० की तुलना कीजिए।

१. होएर्नले, उवासगदसाओ, अनुवाद की नोटसख्या ५५। — २. पिशल, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस, पेज ५।

§ ३५८—व्याकरणकारों के अनुसार – अन् में समाप्त होनेवाले नपुंसकलिंग के शब्द (वर० ४, १८ ; हेच० १, ३२ ; क्रम० २, १३३ ; मार्क० पन्ना ३५) — अ में समाप्त होनेवाले पुंलिंग शब्द बन जाते हैं : कम्मो = कर्म ; जम्मो = जन्म; णम्मो = नर्म ; मम्मो = मर्म ; वम्मे = वर्म है। इस नियम के अनुसार पल्लवदानपत्र में सम्मो = शर्म (७, ४६) पाया जाता है ; अ०माग० में कम्मे = कर्म है (सूय० ८३८ ; ८४१ और उसके बाद ; ८४४ ; ८४८ ; ८५४ ; नायाध० ३७४ ; उवास० § ५१; ७३ ; १६६) ; माग० में चम्मे = चर्म (मृच्छ० ७१, ९) है। किन्तु ये शब्द सभी प्राकृत भाषाओं में अ–वर्ग से नपुंसकलिंग बन जाते हैं, जैसा कि दामन् के विषय में हेमचन्द्र और प्रेमन् के बारे में मार्कण्डेय बताता है। इस नियम से महा० में कम्मं रूप बना है (रावण० १४, ४६) ; महा० और शौर० में णामं रूप है (हाल ४५२ और ९०५) ; विक्रमो० ३०, ९) ; महा० में दामं रूप आया है (हाल १७२) ; महा० में पेम्मं भी है (रावण० ११, २८ ; रत्ना० २९९, १८) ; महा० में रोमम् चलता है (रावण० ९, ८७) ; चम्मं सम्मं भी पाया जाता है (हेच० १, ३२)। –इमन् में समाप्त होनेवाले पुंलिंग संज्ञा शब्द स्त्रीलिंग रूप ग्रहण करके स्त्रीलिंग बन सकते हैं, इनको कर्त्ताकारक –आ में आने के कारण इस लिंग परिवर्तन में सुविधा हो जाती है : एसा गरिमा, महिमा, निलज्जिमा और धुत्तिमा ऐसे ही रूप हैं (हेच० १, ३५ ; मार्क० पन्ना ३५ की भी तुलना कीजिए)। इस नियम के अनुसार महा० और अप० में चन्दिमा = *चन्द्रिमन् है (§ १०३) ; अ०माग० में महिमासु रूप आया है (ठाणंग० २८८)। इसी प्रक्रिया से नीचे दिये शब्द स्त्रीलिंग बन गये हैं : अ०माग० अद्धा = अध्वा जो अध्वन् से निकला है (ओव०) ; महा० में उम्हा = ऊष्मा जो ऊष्मन् से निकला है (भाम० ३, ३२ ; हेच० २, ७४ ; गउड० ; रावण०) ; जै०महा० में वट्टा = वर्त्मा जो वर्त्मन् से निकला है (देशी० ७, ३१ , एर्से० ६०, ३० ; ३४ ; ३५ ; § २३४ की तुलना कीजिए) ; सेम्भा = श्लेष्मा जो श्लेष्मन् से निकला है (मार्क० पन्ना ३५ ; § २६७ की तुलना कीजिए)। अ०माग० में सकहाओ = सक्थीनि (सम० १०२ ; जीवा० ६२१)। यह *सक्थन् से निकला है और इसका कर्त्ताकारक के एकवचन का रूप *सकहा है। इसमें § २१२ के अनुसार अंशस्वर आ गया है। जैन लोग प्राचीन पद्धति से ऋतुओं का विभाग वर्ष में तीन ऋतु मान कर करते थे—ग्रीष्म, वर्षाः और हेमन्त[1]। जैसा कि अन्य अवसरों पर (§ ३५५ , ३६४ ; ३६७ ; ३७९ ; ३८६) होता है, अ०माग० में भी रीति के अनुसार तीन ऋतुओं के एक साथ रहने के कारण ग्रीष्म और हेमन्त के लिंग और वचन, जब कि इन तीनों को गिनाया जाता हो तो स्त्रीलिंग बहुवचन के रूप वर्षाः के अनुकरण पर स्त्रीलिंग बन गये हैं और बहुवचन भी। बोली में कहा जाता था : गिम्हाहिं = *ग्रीष्माभिः (सूय० १६६) ; गिम्हासु = *ग्रीष्मासु है (विवाह० ४६५) ; हेमन्तगिम्हासु" वासासु रूप भी मिलता है (कप्प० एस. (S) § ५५) ; गिम्हाणं भी पाया जाता है (आयार० २, १५, २ ; ६ और २५ ; नायाध० ८८० ; कप्प० § २ ; ९६ ; १२० ; १५० ;

१५९ ; आदि-आदि) ; हेमन्ताणं रूप भी देखने में आता है (आयार० २, १५, २२ ; कप्प० § ११३ ; १५७ ; २१२ ; २२७) । बोली के हिसाब से बहुधा –अ में समाप्त होनेवाले पुलिंग शब्दों से कर्त्ताकारक और कर्मकारक बहुवचन में नपुसकलिंग के रूप बना दिये गये जिसमें यहाँ भी अन्त में आनेवाले –आ रूप के कारण (§ ३५७) लिंगपरिवर्तन में सुविधा हो गयी होगी । इस ढग से महा०, अ०माग० और शौर० में **गुणाइं** = **गुणान्** (हेच० १, ३४ ; मार्क० ३५ ; गउड० ८६६ ; सूय० १५७ ; विवाह० ५०८ ; मृच्छ० ३७, १४) ; महा० में **फण्णाइं** = **फर्णा** (हाल ८०५) है ; महा० में **पवआइ, गआइं, तुरआइ** और **रक्खसाइ** = **प्लवगान्, गजान्, तुरगान्** और **राक्षसान्** है (रावण० १५, १७)[1] ; अ०माग० में **पसिणाणि** = **प्रश्नान्** (आयार० २, ३, २, १७), **पसिणाइं** (नायाध० ३०१ और ५७७ ; विवाह० १५१ ; ९७२ ; ९७८ ; नन्दी० ४७१ ; उवास० § ५८ ; १२१ ; १७६) रूप पाये जाते है, जैसा कि स्वय सस्कृत में **प्रश्न** नपुसकलिंग है (मैत्रुपनिषद १, २) ; अ०माग० में **मासाइं** = **मासान्** (कप्प० § ११४) है ; अ०माग० मे **पाणाइं** (आयार० १, ६, ५, ४ ; १, ७, २, १ और उसके बाद ; २, १, १, ११; पेज १३२, ६ ; २२), **पाणाणि** (आयार० २, २, ३, २; पेज १३२, २८), इसके साथ साथ साधारण रूप **पाणे** भी चलता है (उदाहरणार्थ, आयार० १, १, ६, २ ; १, २; १, ३ ; १, ६, १, ४) = **प्राणान्** ; अ०माग० मे **फासाइं** (आयार० १, ४, ३, २ , १, ८, २, १० ; ३, १ ; सूय० २९७) ओर इसके साथ-साथ **फासे** भी चलता है (आयार० १, ६, २, ३ ; ३, २ ; ५, १ ; १, ७, ८, १८) = **स्पर्शान्** है । अ०माग० में **रुक्खाइ** (हेच० १, ३४) तथा **रुक्खाणि** = **रुक्षान्** (= पेड [बहुवचन]: आयार० २, ३, २, १५ ; § ३२० की तुलना कीजिए) ; **देवाइं** (हेच० १,३४) और **देवाणि** (चड १,४) = **देवा.** ; जै०शौर० में **णिबन्धाणि** = **निबन्धान्** (पव० ३८७,१२) , माग० में **दन्ताइं** = **दन्तान्** (शकु० १५४,६), **गोणाइं** = **गाः** (मृच्छ० १२२,१५ ; १३२,१६), इसके साथ साथ साधारण पुलिंग रूप भी चलता है (§ ३९३) । हेमचद्र १, ३४ में एकवचन के रूपो का भी उल्लेख करता है : **खग्ग** और इसके साथ साथ **खग्गो** = **खड्गः** ; **मण्डलग्गं** तथा इसके साथ साथ **मण्डलग्गो** = **मण्डलाग्रः** , **कररुहं** और इसके साथ साथ **कररुहो** = **कररुहः**, जैसा कि मार्क० ने पन्ना ३५ में ठीक इसके विपरीत बताया है कि **वअणो** और इसके साथ साथ **वअणं** = **वदनम्** ; **णअणो** और इसके साथ साथ **णअणं** = **नयनम्** । –इ और –उ में समाप्त होनेवाले पुलिंग संज्ञा शब्दों मे से भी बने हुए नपुसकलिंग के बहुवचन के रूप पाये जाते हैं : अ०माग० में **सालीणि वा वीहिणिवा** = **शालीन् वा व्रीहिन् वा** है (आयार० २,१०,१० ; सूय० ६८२) ; अ०माग० मे **उऊइं** = **ऋतून्**, इसमें **तू** के प्रभाव से **ऋ** = **उ** हो गया है (कप्प० § ११४) ; **विन्दूइं** (हेच० १, ३४ ; मार्क० पन्ना ३५) रूप भी है ; अ०माग० में **हेऊइं** = **हेतून्** , इसके साथ साथ **पसिणाइं** भी चलता है (विवाह० १५१) । स्त्रीलिंग से नपुसकलिंग के रूप कम बने है। ऐसा एक रूप **तयाणि** है (आयार०

२, १३, २३ ; नायाध० ११३७ ; विवाह० ९०८) । इसका संबंध एकवचन के रूप तया से है (पण्णव० ३२ ; विवाह० १३०८ ; १५२१) ; इनसे तयापाणए की तुलना कीजिए (विवाह० १२५५) और तयामुहाए की भी (कप्प० § ६०) = *त्वचका = त्वक् है ; अ०माग० में पाउयाइं = पादुकाः (नायाध० १४८८) ; शौर० में रिचाइं जिसका संबंध *रिचा से है = ऋक् है (रत्ना० ३०२, ११) ; अ०माग० में पंतियाणि (आयार० २, ३, ३, २ ; २, ११, ५) और इसके साथ-साथ पंतियाओ (विवाह० ३६१ ; अणुओग० ३८६) = *पंक्तिका ; अ०माग० में भमुहाइं (आयार० २, १३, १७) और इसके साथ साथ भमुहाउ (जीवा० ५६३) = *भ्रुमुके (§ १२४ और २०६) ; यहाँतक कि अ०माग० में इत्थीणि वा पुरिसाणि वा = स्त्रियो वा पुरुषा वा (आयार० २, ११, १८) । अवश्य ही इन शब्दों का अर्थ 'कुछ स्त्रैण' और 'कुछ पुरुषत्वयुक्त' समझा जाना चाहिए । अक्षि स्त्रीलिंग रूप में काम में लाया जा सकता है (वर० ४, २० ; हेच० १, ३३ और ३५ ; क्रम० २, १३२ ; मार्क० पन्ना ३५) । हेच० १, ३३ के अनुसार यह शब्द पुलिंग रूप में भी काम में लाया जा सकता है । १, ३५ में हेच० बताता है कि पुलिंग शब्द अञ्जलि, कुक्षि, ग्रन्थि, निधि, रश्मि, बलि और विधि जिन्हें उसने अञ्जल्यादि गण में एकत्रित किया है, स्त्रीलिंग में भी परिवर्तित किये जा सकते हैं । इस सूत्र से अ०माग० के रूपों, अयं अट्ठी और अयं दही = इदम् अस्थि और इदम् दधि का स्पष्टीकरण होता है (सूय० ५९४), जिसका संप्रदानकारक का रूप अट्ठीए है (§ ३६१) और इसी नियम के भीतर कर्त्ताकारक सप्पी = सर्पिः (सूय० २९१) और हवी = हविः (दस० नि० ६४८, ९) माने जाने चाहिए क्योंकि सान्त (स् में समाप्त होनेवाले) सब शब्द स् की विच्युति के बाद इ में समाप्त होनेवाले सब शब्दों की रूपावली में सम्मिलित हो जाते हैं । पण्हो = प्रश्नः के साथ साथ प्राकृत में पण्हा रूप भी है (वर० ४, २० ; हेच० १, ३५ ; क्रम० २, १३२ ; मार्क० पन्ना ३५ ; सिंह० पन्ना १४) जो अ०माग० में पण्हावागरणाइं शब्द में (नंदी० ४७१ ; सम०) जो दसवें अंग का नाम है, वर्तमान है । चंड० २, ६ में इस रूप के उल्लेख में पण्हं भी दिया गया है ; अ०माग० बहुवचन के रूप पसिणाइं और पसिणाणि का उल्लेख ऊपर हो चुका है । अर्शांसि के अर्थ में अ०माग० में अंसियाओ = *अर्शिकाः (विवाह० १३०६) आया है । पट्ठ, पिट्ठ और पुट्ठ = पृष्ठ के साथ-साथ पट्ठी, पिट्ठी और पुट्ठी भी बार बार पाये जाते हैं (§ ५३ ; [इन रूपों में पिट्ठ = हिंदी पीठ ; पुट्ठ कुमाउनी में पूठ रूप से तथा पिट्ठी और पुट्ठी, पिठी पुठि रूप से चलते हैं । —अनु०] । स्त्रीलिंग का रूप आसीसा महा० और शौर० में आसंघो बन गया है (§ २६७) ; प्रावृष् महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में पुलिंग रूप पाउस = पाली पावुस (वर० ४, १८ ; हेच० १, ३१ ; क्रम० २,१३१ ; मार्क० पन्ना ३५ ; गउड० ; हाल ; नायाध० ८१ ; ६३८ और उसके बाद ; ६४४ और ९१२ ; विवाह० ७९८ ; एर्त्से० ; विक्रमो० ३३, १४ ; [पाउस रूप मराठी और गुजराती में वर्षा के अर्थ में वर्तमान है ।

२, १३, २३ ; नायाध० ११३७ ; विवाह० ९०८)। इसका मागध एकवचन के रूप तया से है (पण्णव० ३२ ; विवाह० १३०८ ; १५२९) ; इनसे तयापाणए की तुलना कीजिए (विवाह० १२५५) और तयासुहाए की भी (कप्प० § ६०) = *त्वचा = त्वक् है ; अ०माग० में पाउयाइं = पादुकाः (नायाध० १४८४) ; शौर० में रिचाइं जिसका संबंध *रिचा से है = ऋक् है (रत्ना० ३०२, ११) ; अ०माग० में पंतियाणि (आयार० २, ३, ३, २ ; २, ११, ५) और इसके साथ-साथ पंतियाओ (विवाह० ३६१ ; अणुओग० ३८६) = *पंक्तिकाः ; अ०माग० मे भमुहाइं (आयार० २, १३, १७) और इसके साथ साथ भमुहाउ (जीवा० ५६३) = *भ्रुवुके (§ १२४ और २०६) ; यहांतक कि अ०माग० में इत्थीणि वा पुरिसाणि वा = स्त्रियो वा पुरुषा वा (आयार० २, ११, १८)। अवश्य ही इन शब्दों का अर्थ 'कुछ स्त्रैण' और 'कुछ पुरुषत्वयुक्त' समझा जाना चाहिए। अक्षि स्त्रीलिंग रूप में काम में लाया जा सकता है (वर० ४, २० ; हेच० १, ३३ और ३५ ; क्रम० २, १३२ ; मार्क० पन्ना ३५)। हेच० १, ३३ के अनुसार यह शब्द पुलिंग रूप में भी काम में लाया जा सकता है। १, ३५ में हेच० बताता है कि पुलिंग शब्द अञ्जलि, कुक्षि, ग्रन्थि, निधि, रश्मि, बलि और विधि जिन्हें उसने अञ्जल्यादि गण में एकत्रित किया है, स्त्रीलिंग में भी परिवर्तित किये जा सकते हैं। इस सूत्र से अ०माग० के रूपों, अयं अट्ठी और अयं दही = इदम् अस्थि और इदम् दधि का स्पष्टीकरण होता है (सूय० ५९४), जिसका सम्प्रदानकारक का रूप अट्ठीए है (§ ३६१) और इसी नियम के भीतर कर्त्ताकारक सप्पी = सर्पिः (सूय० २९१) और हवी = हविः (दस० नि० ६४८, ९) माने जाने चाहिए क्योंकि सान्त (स् में समाप्त होनेवाले) संज्ञा शब्द स् की विच्युति के बाद इ में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों की रूपावली में सम्मिलित हो जाते हैं। पण्हो = प्रश्नः के साथ साथ प्राकृत में पण्हा रूप भी है (वर० ४, २० ; हेच० १, ३५ ; क्रम० २, १३२ ; मार्क० पन्ना ३५, सिंह० पन्ना १४) जो अ०माग० में पण्हावागरणाइं शब्द में (नंदी० ४७१ ; सम०) जो दसवें अंग का नाम है, वर्तमान है। चंड० २, ६ में इस रूप के उल्लेख में पण्हं भी दिया गया है ; अ०माग० बहुवचन के रूप पसिणाइं और पसिणाणि का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अर्शांसि के अर्थ में अ०माग० में अंसियाओ = *अर्शिकाः (विवाह० १३०६) आया है। पट्ठ, पिट्ठ और पुट्ठ = पृष्ठ के साथ-साथ पट्ठी, पिट्ठी और पुट्ठी भी बार बार पाये जाते हैं (§ ५३ ; [इन रूपों में पिट्ठ = हिंदी पीठ ; पुट्ठ कुमाउनी में पूठ रूप से तथा पिट्ठी और पुट्ठी, पिठी पुठि रूप से चलते हैं। —अनु०] । स्त्रीलिंग का रूप आशंसा महा० और शौर० में आसंसो बन गया है (§ २६७) ; प्रावृष् महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में पुलिंग रूप पाउस = पाली पावुस (वर० ४, १८ ; हेच० १, ३१ ; क्रम० २,१३१ ; मार्क० पन्ना ३५ ; गउड० ; हाल ; नायाध० ८१ ; ६३८ और उसके बाद ; ६४४ और ९१२ ; विवाह० ७९८ ; एर्त्से० ; विक्रमो० ३३, १४ ; [पाउस रूप मराठी और गुजराती में वर्षा के अर्थ में वर्तमान है।

—अनु०]) ; हेच० १, ३१ के अनुसार तरणि केवल पुलिंग में काम में आता है[४]। दिसो = दिक्, सरओ = शरद् के विषय में § ३५५ देखिए और २—४ तक संख्याशब्दों के लिए § ४३६ ; ४३८ और ४३९ देखिए।

१. एस. गौल्दश्मित्त, रावणवहो, पेज १५१ नोटसंख्या २। —२. कल्पसूत्र § २, पेज ९ में याकोबी की टीका। —३. ये रूप अन्य विषयों से अधिक यह प्रमाणित करते हैं कि रावणवहो १५, १६ और १७ में रूपों की अशुद्धियां हैं। यह मत एस. गौल्दश्मित्त ने रावणवहो, पेज ३१८ नोटसंख्या ९ में माना है, पर यह इतना निश्चित नहीं है। —४. पिशल, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस, पेज ५१ की सिंहावलोकन की दृष्टि से तुलना कीजिए।

§ ३५९—अप० में अन्य प्राकृत बोलियों की अपेक्षा लिंगनिर्णय और भी अधिक डावाडोल है, इस पर भी, जैसा कि हेच० ४, ४४५ मे मत देता है। यह सर्वत्र पूर्ण अनियमित नहीं है। पद्य में छद की मात्राएं और तुक का मेल खाना लिंग का निर्णय करता है : जो पाहसि सो लेहि = यत् प्रार्थयसे तल् लभस्व (पिंगल १, ५अ ; विक्रमो० पेज ५३० और उसके बाद की तुलना कीजिए) ; मत्ताइं = मात्राः (पिंगल १, ५१ ; ६० ; ८३ ; १२७) है ; रेहाइं = रेखाः (पिंगल १, ५२) ; विक्कमं = विक्रमः (पिंगल १, ५६) ; भुअणे = भुवनानि (कर्मकारक : पिंगल १, ६२बी) ; गाहस्स = गाथायाः (पिंगल १, १२८) ; सगणाइ = सगणान् (पिंगल १,१५२) ; कुम्भइँ = कुम्भान् (हेच० ४,३४५) ; अन्त्रडी = अन्त्रम् (हेच० ४, ३४५, ३) ; डालइँ (हेच० ४, ४४५, ४)। यह डाला (= शाखा : पाइय० १३६ ; देशी० ४, ९, यहां डाली रूप है) का बहुवचन का रूप है ; अ० माग० मे भी डाल रूप मिलता है। एगंसि रुक्खडालयंसि ठिच्चा पाया जाता है (नायाध० ४९२) और इसमें डालग रूप भी आया है (आयार० २,७,२,५) ; खलाइं = खलाम्। यह रअणाइं के साथ तुक मिलाने के लिए भी आया है (हेच० ४, ३३४) ; विगुत्ताइं = *विगुप्ताः = विगोपिताः (हेच० ४, ४२१, १) ; णिच्चिन्तइँ हरिणाइँ = निश्चिन्ताः हरिणाः (हेच० ४, ४२२, २०) ; अम्हाइं और इसके साथ साथ अम्हे = अस्मे है (हेच० ४, ३७६)।

§ ३६०—द्विवचन के रूप प्राकृत में केवल संख्या-शब्दों में रह गये हैं : दो = द्वौ और दुवे तथा वे = द्वे और कहीं नहीं मिलते। पूरे के पूरे लोप हो गये हैं। संज्ञा और क्रिया में इसके स्थान पर बहुवचन आ गया है (वर० ६, ६३ ; चंड० २, १२ ; हेच० ३, १३० ; क्रम० ३, ५ ; आव०एर्त्से० ६, १२) जो स्वयं संख्या शब्द दो के लिए भी काम में लाया जाता है (§ ४३६ और ४९७)। महा० में थलकेसयाणं = थलकेशययोः (गउड० २६) ; हत्था थरथरन्ति = हस्तौ थरथरयेते (हाल १६५) ; कण्णेसु = कर्णयोः (रावण० ५, ६१) ; अच्छिइं = अक्षिणी है (गउड० ४४) ; अ०माग० में जणगा = जनकौ (आयार० १, ६, १, ६) ; पाहणाओ = उपानहौ (ठाणग० ३५९) ; भुमगाओ, अच्छीणि, कण्णा, उट्ठा, अग्गहत्था, हत्थेसु, थणया, जाणूइं, जंघाओ, पाया

और पाएसु = भ्रुवौ, अक्षिणी, कर्णौ, ओष्ठौ, अग्रहस्तौ, हस्तयोः, स्तनकौ, जानुनी, जंघे, पादौ और पादयोः है (उवास० § ९४), जै०महा० में हत्था और पाया = हस्तौ तथा पादौ (आव०एर्त्से० ६, १४), तण्हाछुहाओ = तृष्णाक्षुधौ (द्वार० ५००, ७), दो वि पुत्ता जमलगा = द्वाव् अपि पुत्रो यमलकौ है (एर्त्से० १, ८), चित्तसंभूएहिं = चित्रसंभूताभ्याम् (एर्त्से० १,२६) है, शौर० में माहवमअरन्दा आअच्छन्ति = माधवमकरन्दाव आगच्छतः (मालती० २९३,४) है, रामरावणाणं = रामरावणयोः (बाल० २६०,२१), सीदारामेहिं = सीतारामाभ्याम् (प्रसन्न० ६४, ५), सिरीसरस्सदीणं = श्रीसरस्वत्योः है (विद्ध० १०८, ५), माग० में लामकण्हाण = रामकृष्णयोः (कंस० ४८, २०), अम्हे विं लुहिलं पिवम्हआवाम् अपि रुधिरम् पिबाव (वेणी० ३५, २१), फलेम्ह = फरवाव (चड० ६८, १५, ७१, १०) है, दाक्षि० में चन्दणअचीरएहिं = चन्दनकवीरकाभ्याम् (मृच्छ० १०५, ८); सुम्भणिसुम्भे = शुम्भनिशुम्भौ (मृच्छ० १०५, २२), अप० में रावणरामहँ, पट्टणगामहँ = रावणरामयोः, पट्टणग्रामयोः (हेच० ४, ४०७) है। ऐसे स्थलों पर जैसे शौर० में दुवे रुक्खसेअणके = द्वे रक्षसेचनके (शकु० २४, १) में द्विवचन नहीं है परन्तु यह कर्मकारक बहुवचन का रूप है (§ ३६७ अ) जिसमें § ३५७[1] के अनुसार लिंग परिवर्तन हुआ है।

१. होएफर, डे प्राकृत डिआलेक्टो, पेज १३६ और उसके बाद, लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ३०९, विक्रमोर्वशीय ३५७ पर बौँल्लें-नसेन की टीका, वेबर, इंडिशे स्टुडिएन १४, २८० और उसके बाद।

§ ३६१—वर० ६, ६४, चड० २, १३, क्रम० ३, १४, सिंह० पन्ना ७ के अनुसार आव०एर्त्से० ६, १२ में एक उद्धरण में प्राकृत में सम्प्रदानकारक के स्थान में सम्बन्धकारक का प्रयोग किया गया है। हेच० ३, १३२ में बताता है कि तादर्थ्य व्यक्त करने में चतुर्थी का प्रयोग किया जा सकता है [हेच० ने ३, १३२ में तादर्थ्य समझाने के लिए उदाहरण दिया है। देवस्स, देवाय। देवार्थ मित्यर्थ। —अनु०]। पाठ इस नियम की पुष्टि करते हैं। एक सम्प्रदान एकवचन का रूप प्रधानतः अ वर्ग के संज्ञा शब्दों का पल्लवदानपत्रों, महा०, अ०माग० और जै०महा० में मिलता है। पल्लवदानपत्र में अजाताए = अद्यत्वाय (७, ४५), वासससतसहस्साय = वर्षशतसहस्राय है (७, ४८), महा० में णिवारणाअ = निवारणाय, आआसाअ = आयासाय, मरणाअ = मरणाय, हराराहणाअ = हराराधनाय, हासाअ = हासाय, गारवाअ = गौरवाय, मोहाअ = मोहाय, अपुणागमणाअ = अपुनरागमनाय है (गउड० १५, १९, ३२४, ३२५, ३४, ८६९, १४६, ११८२), महा० में वणाअ = वनाय (बाल० १५६, १४), तावपरिक्खणाअ = तापपरीक्षणाय (कर्पूर० ५२, ३) है। हाल और रावणवहो में यह सम्प्रदान नहीं देखा जाता। अ०माग० में अहियाय = अहिताय (आयार० १, ३, १, १), गब्भाय = गर्भाय (सूय० १०८), अट्ठायाय =

अतिपाताय (सूय० ३५६) ; ताणाय = त्राणाय (सूय० ३९९) ; कूडाय = कूटाय (उत्तर० २०१) है और ये सभी रूप पद्य में पाये जाते हैं। अ०माग० और जै०महा० में सम्प्रदानकारक साधारणतः -आए में समाप्त होता है (§३६४) और अ०माग० में यह रूप असाधारणतया अधिक है। अ०माग० में परिवन्दणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए = परिवन्दनमाननपूजनाय जातिमरणमोचनाय है (आयार० १, १, १, ७), पद्य में ताणाय रूप के साथ साथ गद्य में ताणाए रूप पाया जाता है (आयार० १, २, १, २; ३ और ४) और यही ताणाए पद्य में भी मिलता है (उत्तर० २१७), मूलत्ताए कन्दत्ताए खन्धत्ताए तयत्थाए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टन्ति = मूलत्वाय कन्दत्वाय स्कन्धत्वाय त्वक्त्वाय शालत्वाय प्रवालत्वाय पत्रत्वाय पुष्पत्वाय फलत्वाय बीजत्वाय विवर्तन्ते (सूय० ८०६) है, एयं णे पेच्चभवे इहभवे य हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए अणुगामियत्ताए भविस्सइ = एतन्नः प्रेत्यभव इहभवे च हिताय सुखाय क्षमायै निःश्रेयसायानुगामिकत्वाय भविष्यति है (ओव० § ३८ ; पेज ४९, विवाह० १६२) आदि आदि ; अ०माग० और जै०महा० में वहाए = वधाय (आयार० १, ३, २, २ ; विवाह० १२५४ ; आव०एर्त्से० १४, १६ ; यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए) है, वहट्ठयाए = वधार्थकाय (एर्त्से० १, २१) ; हियट्ठाए = हितार्थाय (आव०एर्त्से० २५, २६) ; मम् 'अत्थाए = ममार्थाय है (एर्त्से० ६३, १२)। शौर० और माग० में सम्प्रदानकारक केवल पद्यों में ही शुद्ध रूप में आता है क्योंकि इन प्राकृत बोलियों में स्वय -अ वर्ग का सम्प्रदानकारक का रूप लुप्त हो गया है : माग० में : चालुदत्तविणासाअ = चारुदत्तविनासाय है (मृच्छ० १३३, ४)। हेन० के देवनागरी—, द्राविडी—और काश्मीरी पाठों में ४, ३०२ के उदाहरणों में शकुन्तला ११५, ७ से शामिपसादाअ = स्वामिप्रसादाय [मेरी प्रति में शामि-पसादाय पाठ है। —अनु०] है। इस स्थान में बंगला पाठ में शामिप्पशादत्थं रूप आया है। सभी अच्छे पाठों में शौर० और अ०माग० के गद्य में लिपिभेद अत्थं = अर्थम् और णिमित्तं = निमित्तम्[1] है। नीचे दिये शब्दों में जो गद्य में मिलते हैं, सम्प्रदानकारक अशुद्ध है : णिव्वुदिलाहाअ = निर्वृतिलाभाय (मालवि० ३३, १४), आसिसाअ (!) = आशिषे (मालवि० १७, १३) ; सुहाअ = सुखाय (कर्पूर० ९, ५ ; ३५, ६ ; ११५, १) ; असुसंरक्खणाअ = असुसंरक्षणाय है (वृषभ० ५१, ११), विवुधविजआअ = विवुधविजयाय (विक्रमो० ६, २०), तिलोदअदाणाअ = तिलोदयदानाय (मृच्छ० ३२७, ४) और चेडिआअच्चणाअ [पाठ में -अच्चणाअ के स्थान पर -अच्चणाय है] = चेटिकार्चनाय (मुकुन्द० १७, १२) है। अशुद्ध पाठों में से अन्य उदाहरण बोएटलिंक[1] और बौ ल्लें नसेन[1] ने एकत्र किये हैं। राजशेखर में यह दोष स्वयं लेखक का है प्रतिलिपि करनेवाले का नहीं (§ २२)। -अ वर्ग के संज्ञा शब्दों को छोड़ अन्य वर्गों के सम्प्रदानकारक के रूप भी पाये जाते हैं जैसे, अ०माग० में -अप्पेगे -अच्चाए हणन्ति अप्पेगे अजिणाए वहन्ति अप्पेगे मंसाए अप्पेगे सोणियाए

वहत्ति एवं हिदयाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दन्ताए दाढाए नहाए णहारुणीए अट्ठीए अट्ठिमिजाए अट्ठाए अणट्ठाए (आयार० १, १, ६, ५ ; सूय० ६७६) हैं, जहाँ अच्चाए, अच्चा (= देह ; शरीर) है ; टीकाकार ने दिया है = **शरीरम्** , **वसाए** = **वसायै** है, **दाढए** = **दंष्ट्रायै** है, **अट्ठिमिजाए** = **अस्थिमज्जायै** है जो -आ में समाप्त होनेवाले स्त्रीलिंग के रूप का सम्प्रदानकारक है। **णहरुणीए** का सम्बन्ध स्त्रीलिंग रूप ***स्नायुनी** से है (§ २५५) और **अट्ठीए** नपुसकलिंग **अस्थि** से सम्बन्धित है जो यहाँ स्त्रीलिंग रूप में काम में लाया गया है। शेष रूप पुलिंग और नपुंसकलिंग में काम में आये हैं : **से न हस्साए न विनड्डाए न रयीए न विभूसाए** = **स न हास्याय न क्रीडायै न रत्यै न विभूषायै** है (आयार० १, २, १, ३) ; जै०महा० में **कित्तिविद्धीए** = **कीर्तिवृद्धये** है (कक्कुक शिलालेख २०)। शौर० में निम्नलिखित रूप भी अशुद्ध हैं : **कज्जसिद्धीए** = **कार्यसिद्धये** (मालवि० ५६, १३ ; जीवा० २१, ७); **जधासमीहिदसिद्धीए** = **यथासमीहितसिद्धये** है (विद्ध० ४४, ७)।[1] व्यंजनांत वर्णों में से शौर० में कभी कभी केवल एक रूप **भवदे** मिलता है जो सम्प्रदानकारक है। यह शब्द 'धार्मिक अभिवादन' का रूप है[2] : **सोत्थि भवदे** = **स्वस्ति भवते** है (मृच्छ० ६, २३ ; ७७, १७ ; विक्रमो० ८१, १५)। इस विषय पर केवल एक रूप में सस्कृतापन है। यह **भवदो** लिपिभेद है जिसे काप्पेलर ने रत्ना० ३१९, १७ में छापा है ; **सोत्थि सव्वाणं** (विक्रमो० ८३, ८) की तुलना कीजिए और इस शब्द को विक्रमो० ८१, ५ में भी देखिए। प्राचीन सम्प्रदानकारक के रूप अ०माग० में **–त्ताए** और **–इत्ताए** में समाप्त होनेवाले रूप हैं (§ ५७८)।

१. एास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस, प्राकृतिकाए, पेज २९९ ; पिशल, बे०बाइ० १, १११ और उसके बाद , हेच० ३, १३, २ पर पिशल की टीका। हे प्राकृत डिआलेक्टो, पेज १२६ और उसके बाद में होएफर ने अशुद्ध लिखा है ; विक्रमो०, पेज १६८ में बौँल्लेँनसेन की टीका और मालविकाग्निमित्र, पेज २२३ ; वेबर, इंडिशे स्टुडिएन १४, २५० और उसके बाद , बे०बाइ० १, ३४२ और उसके बाद । — २. शकुंतला ४०, १८ की टीका, पेज २०३ । — ३. मालविकाग्निमित्र, पेज २२३ में टीका । — ४. वेबर, बे०बाइ० १,३४२ ।

§ ३६२—आगे के § में प्राकृत के कारकों का ठीक ठीक सिंहावलोकन करने के लिए नमूने की रूपावली बनायी जाती है जिसमें वे रूप जो व्याकरणकारों के ग्रंथों में दिये गये हैं किन्तु अभीतक प्रमाणों से पुष्ट नहीं किये जा सके थे, कोणयुक्त कोष्ठों में दिये गये हैं। पै० और चू०पै० के लिए अधिकांश सामग्री का अभाव है क्योंकि इन बोलियों का जो कुछ ज्ञान हमें है उसका आधार केवल व्याकरणकार हैं। हमने पल्लव और विजयबुद्धवर्मन के दानपत्रों का रूपावली में पहले पहल उल्लेख किया है। अ-रचना के रूप जैसे अ०माग० में **–संधिवालसद्धिं संपरिवुडे** (ओव० § ४८, पेज ५५, ११ ; कप्प० § ६१) जो **सद्धिं** के साथ अ०माग० में बहुधा पाया जाता है (नायाध० ५७४; ७२४ ; १०६८ ; १०७४ , १२७३ ; १२९० ; १३२७ ; आव०

§ ५५) इस रूपावली के भीतर नहीं लिये गये हैं। वे रूप जो सभी या सबसे अधिक प्राकृत बोलियों में पाये जाते हैं, उनके लिए कोई विशेष चिह्न काम में नहीं लाया गया है। इस रूपावली में आव०, दाक्षि० और ढक्की जैसी अप्रधान बोलियों का उल्लेख नहीं है।

(१) —अ में समाप्त होनेवाला वर्ग

(अ) पुलिंग तथा नपुंसक लिंग

§ ३६३—पुलिंग **पुत्त** = पुत्र है।

एकवचन

कर्त्ता० **पुत्तो** ; अ०माग० और माग० **पुत्ते** ; अ०माग० पद्य में **पुत्तो** भी है ; अप० अधिकांश **पुत्तु** है।

कर्म० **पुत्तं** ; अप० **पुत्तु** है।

करण० महा०, अ०माग० और जै०महा० **पुत्तेण, पुत्तेणं** ; जै०शौर०, शौर०, माग०, पै०, चू०पै० **पुत्तेण** ; अप० **पुत्तेण, पुत्तिण, पुत्तें** और **पुत्तं** हैं।

सम्प्रदान० महा० **पुत्ताअ** ; अ०माग० **पुत्ताय** पद्य में अन्यथा ; अ०माग० और जै०महा० **पुत्ताए** ; माग० **पुत्ताअ** ; पद्य में है।

अपादान० महा० **पुत्ताओ, पुत्ताउ , पुत्ता, पुत्ताहि, पुत्ताहिंतो, [पुत्ततो]** ; अ०माग० और जै०महा० **पुत्ताओ, पुत्ताउ, पुत्ता** ; **पुत्तादो, पुत्तादु, पुत्ता** ; शौर०, माग० **पुत्तादो** ; पै०, चू०पै० **पुत्तातो** ; **पुत्तातु** ; अप० **पुत्तहें , पुत्तहु** हैं।

संबंध० **पुत्तस्स** ; माग० **पुत्तश्श, पुत्ताह** ; अप० **[पुत्तसु], पुत्तहों , पुत्तहो, पुत्तह** हैं।

अधिकरण० महा०, जै०महा०, जै०शौर० **पुत्तम्मि , पुत्ते** ; अ०माग० **पुत्तंसि, पुत्तम्मि, पुत्तंमि, पुत्ते** ; शौर०, पै० और चू०पै० **पुत्ते** ; माग० **पुत्ते, पुत्ताहिं** ; अप० **पुत्तें, पुत्ते, पुत्ति, पुत्तहिं** हैं।

सम्बोधन० **पुत्त** ; महा० में **पुत्ता** भी ; अ०माग० **पुत्त, पुत्ता, पुत्तो** ; माग० **पुत्त, पुत्ते** हैं।

बहुवचन

कर्त्ता० **पुत्ता** ; अ०माग० **पुत्ताओ** भी ; अप० **पुत्त** भी।

कर्म० **पुत्ते** ; महा०, अ०माग० और अप० **पुत्ता** भी ; अप० **पुत्त** भी।

करण० महा०, अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० **पुत्तेहि, पुत्तेहिं, पुत्तेहिँ** ; शौर० और माग० **पुत्तेहिं** ; अप० **पुत्तहिं, पुत्तहिँ, पुत्तहि, पुत्तेहिं, पुत्तेहिँ, पुत्तेहि** हैं।

अपादान० [पुत्तासुंतो, पुत्तेसुंतो, पुत्ताहिंतो, पुत्ताहि, पुत्तेहि, पुत्ताओ, पुत्ताउ, पुत्तत्तो] ; अ०माग० पुत्तेहिंतो, पुत्तेहिं ; जै०महा० पुत्तेहिं ; अप० पुत्तहुँ [कुमाउनी में इनमें से बहुत रूप वर्तमान हैं। —अनु०] हैं।

सम्बन्ध० महा०, अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० पुत्ताण, पुत्ताणं, पुत्ताणँ ; शौर० और माग० पुत्ताणं ; माग० [पुत्ताहँ] भी ; अप० पुत्ताहँ, पुत्तहँ, पुत्ताणं हैं।

अधिकरण० महा०, अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० पुत्तेसु, पुत्तेसुं, पुत्तेसुँ ; शौर० और माग० पुत्तेसुं (पुत्तेसु) ; अप० पुत्तहिँ (पुत्तेहिँ, पुत्तिहिँ) हैं [इस पुत्तिहिँ रूप से कुमाउनी में पोथिहिँ रूप बन गया है, जो हिंदी की अन्य किसी बोली में नहीं है। कुमाउनी पोथि और पोथी का अर्थ पुस्तक नहीं, पुस्तक का पर्यायवाची पोथो है, जिसका एक अर्थ पुत्र भी है। —अनु०]।

संबोधन० पुत्ता ; माग० में पुत्ताहो ; अप० पुत्तहोँ, पुत्तहो हैं।

नपुंसकलिंग के शब्दों की, जैसे फल आदि की रूपावली इसी प्रकार की जाती है, भेद इतना है कि कर्त्ता- और कर्मकारकों के एकवचन में फलं रूप होता है; अप० में यहा पर फलु आता है ; कर्त्ता-, कर्म- और संबोधन कारकों के बहुवचन में महा०, अ०माग० और जै०महा० में फलाइं, फलाइँ, फलाइ रूप हो जाते हैं ; अ०माग० और जै०महा० में फलाणि भी होता है, फला भी ; जै०शौर० फलाणि, शौर० और माग० में फलाइँ ; अप० और महा० में फलइँ रूप भी पाया जाता है।

पल्लवदानपत्रों में नीचे दिये हुए रूप मिलते हैं। इनमें विजयबुद्धवर्मन् के दानपत्रों में से कुछ निश्चित रूप दे दिये गये हैं, किन्तु एपिग्राफिका इण्डिका १, पेज २ नोटसंख्या २ का ध्यान रखा गया है।

एकवचन

कर्त्ता० महाराजाधिराजो ५, १ ; भारद्दायो ५, २ ; पतिभागो ६, १२ ; और -ओ में समाप्त होनेवाले कर्त्ताकारक के रूप नीचे लिखे स्थानों में मिलते हैं : ६, १४ ; १९ २६ ; २९ ; ४० , ७, ४४ और ४७।

कर्म० परिहारं ५, ७ , चाट[कं] पुव्वदत्तं ६, १२ ; २८ ; ३०-३४ ; ३६ ; ३७ [यह रूप नपुंसकलिंग भी हो सकता है]।

करण० मदेन ६, ४० ; लिखितेण ७, ५१।

संप्रदान० अजाताये ७, ४९ ; वासमतसहस्साय ७, ४८।

अपादान० कांचीपुरा ५, १।

सम्बन्ध० कुल्लगोत्तस्स ६, ९ ; सासणस्स ६, १० ; और नीचे दिये हुए स्थानों में सम्बन्धकारक -स या -स्स में समाप्त हुआ है : ६, १९-२६, २८ ; ५० ; विजयबुद्धवर्मन् के दानपत्रों में १०१, १ ; २ ; ७ [देवकुलस्स] ; ८।

अधिकरण० विसये ५, ३ ; चिल्लरेककोडुंके ६, १२, और यह रूप नीचे दिये हुए स्थानों में भी आया है : ७, ४२ और ४४।

नपुसकलिंग में, कर्मकारक निवतणं ६, ३८, वारण [–] ७, ४१, उपरिलिखित ७, ४४ ; आणतं ७, ४९।

बहुवचन

कर्त्ता० पतीभागा ६, १३–१८ ; २०–२२, अद्धिका, कोलिका ६, ३९ ; गामेयिका आयुत्ता विजयबुद्धवर्मन् १०१, १०।

कर्म० **देसाधिकतादीके, भोजके** ५, ४, **वल्लवे गोवल्लवे अमच्चे आरखाधिकते गुमिके तूथिके** ५, ५, और ऐसे रूप नीचे दिये हुए स्थानों में भी आये हैं : ५, ६, ६, ९, ७, ३४ और ४६।

करण० **एवमादिकेहि** ६, ३४, **परिहारेहि** ६, ३५, विजयबुद्धवर्मन् १०१, ११, अधिक सम्भावना यह है कि यहाँ हि से हिं का तात्पर्य है। सम्बन्ध **पल्लवाणं** विजयबुद्धवर्मन् १०१, २, **पल्लवाण** ५, २ ; **मणुसाण** ५, ८, **वत्थवाण–वम्हणाणं** ६, ८, **भातुकाण**, ६, १८, **वम्हणाणं** ६, २७, ३०, ३८, **पमुखाण** ६, २७ और ३८ (यहाँ पाठ में **पमुग्वाण** है)। बात यह है कि इन दानपत्रों में सर्वत्र **–णं** होना चाहिए।

§ ३६४— –अ में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों की रूपावली के लिए वर० ५, १-१३, ११, १०, १२ और १३, चंड० १, ३, ५, ७, ८, १३ १६, २, १०, हेच० ३, २–१५, ४, २६३, २८७, २९९, ३००, ३२१, ३३०–३३९, ३४२, ३४४–३४७, क्रम० ३, १–१६, ५, १७, २१–२५ और २८–३४, ७८, मार्क० पन्ना ४१, ४२, ६८, ६९, ७५, सिंह० पन्ना ५–९ देखिए। अप० में बहुधा मूल संज्ञा शब्द कर्त्ता–, कर्म० और सम्बन्धकारक एकवचन और बहुवचन के काम में आता है। –अ वर्ग को छोड़ अन्य वर्गों म भी ऐसा होता है (हेच० ३४४, ३४५, क्रम० ५, २१)। अप० म अन्तिम स्वर, छन्द बैठाने और तुक मिलाने के लिए इच्छानुसार दीर्घ और ह्रस्व कर दिये जाते हैं (§ १००), इसलिए कर्त्ताकारक म बहुधा एकवचन के स्थान मे बहुवचन और बहुवचन के स्थान में एकवचन आ जाता है। इस *नियम के अनुसार* **फणिहारा, वीसा, कन्दा, चन्दा,** और **कन्ता** = **फणिहारः, विषः, कन्दः, चन्द्रः** और **कान्तः** (पिंगल १, ८१), **सीअला** = **शीतलः, दड्ढा** = **दग्धः** और **घरु** = **गृहः** से सम्बन्धित है (हेच० ४, ३४३), **गअ** = **गजाः, गजान्** और **गजानाम्** (हेच० ४, ३३५ और ४१८, ३ तथा ३४५), **सुपुरिस** = **सुपुरुषाः** (हेच० ४, ३६७) है। अन्य प्राकृत भाषाओं में भी अवसर आ पड़ने पर पद्य में किसी भी कारक के लिए मूल संज्ञाशब्द काम म लाया जाता है। इस नियम से अ०माग० **बुद्धपुत्त** = **बुद्धपुत्र** जो **बुद्धपुत्तो** के स्थान म आया है (उत्तर० १३), **पाणजाइ** = **प्राणजातयः** जो **पाणजाईओ** के लिए प्रयुक्त हुआ है (आयार० १, ८, १, २), **पावय** = **पावक** जो **पावओ** के स्थान में आया है (दस० ६३४,५), माग० में **पञ्चय्यण** = **पञ्चजनाः, गामा** = **ग्रामाः, चण्डाल** = **चण्डालः, णल** = **नरः** ; **शिल** = **शिरः** (मृच्छ० ११२,

६—९) है। मार्क० ने पन्ना ७५ में हस्तलिपि में शिलि रूप पढा है और इसलिए वह बताता है कि माग० में कर्त्ताकारक ए और इ में समाप्त होता है [कभी शिलि या शिरि रूप सिर के लिए काम म आता होगा। इसका आभास कुमाउनी सिरि शब्द से मिलता है जिसका अर्थ बड़े जानवर का सिर है। —अनु०]। वर० ने ११, ९ में यही बात सिखायी है कि कर्त्ताकारक के स्थान में केवल मूल संज्ञाशब्द भी काम में लाया जा सकता है। § ८५ के अनुसार शिलि, सिले रूप के लिए आया है, इसी प्रकार शक्के = शक्य' के स्थान में शक्कि आया है (मृच्छ० ४३, ६—९)। समाप्तिसूचक वर्ण -ओ और ए- = -अ के विषय में § ३४५ देखिए और -उ = -अ के संबंध में § ३४६। अप० म -उ = -अम् के लिए § ३५१ देखिए। — अ० माग० में करणकारक एकवचन म कई रूप पाये जाते हैं जो -सा में समाप्त होते हैं। ये ऊपर दिये हुए स्- वर्ग के करणकारक की समानता पर बनाये गये हैं। इनमें एक विशेष रूप कायसा है जो काय से बना है किंतु मनसा वयसा कायसा की जोडी में = मनसा वचसा कायेन (आयार० पेज १३२, १, १३३, ८, सूय० ३५८, ४२८, ५४६, विवाह० ६०३ और उसके बाद, ठाणग० ११८, ११९, १८७, उत्तर० २४८, उवास० § १३—१५, दस० ६२५, ३०), कायसा वयसा रूप भी मिलता है (उत्तर० २०४), मनसा वयसा काएण बहुत कम पाया जाता है (सूय० २'७) और कहीं कहीं मनसा कायवक्केण भी देखा जाता है (सूय० ३८०, उत्तर० २२२, ७५२)। इसके अतिरिक्त सहसा बलसा = सहसा बलेन (आयार० २,३,२,३, ठाणग० ३६८) है, पओगसा = पओगेण। यह विस्ससा की समानता पर बना है जो विस्रस् का एक रूप है (विवाह० ६४ और ६५)। ऐसे रूपों की समानता पर पद्य में नीचे दिये हुए रूप बनाये गये हैं णियमसा = नियमेण (ओव० § १७७), जोगसा = योगेन (दस० ६३१, १, सूरियपन्नति में शब्दसूची ५,२,२,५७५,४) है, भयसा = भयेन (दस० ६२९, ३७), इनके साथ कहा भी स्- वर्ग का रूप नहीं आया है। § ३५५, ३५८, ३६७, ३७५, ३७९ और ३८६ की तुलना कीजिए। महा०, अ०माग० और जै०महा० रूप पुत्तेण के विषय म § १८२, अप० पुत्तेण के बारे में § १२८ और पुत्ते के संबंध में § १४६ देखिए। — पल्लवदानपत्रों, अ०माग० और जै०महा० म (§ ३६१) सप्रदान कारक के रूप -आए यह संस्कृत भाषा के सप्रदानकारक के रूप -आय से संबंधित नहीं किया जा सकता। यह पल्लवदानपत्र में बना रहता है। अ०माग० म इसका रूप -आय और महा० -आअ हो जाता है (§ ३६१)। ध्वनि का रूप देखते हुए अ०माग० रूप आगमागाए (सूय० २४७, २४९) *आगमापायै से मिलता जुलता है अर्थात् संस्कृत चतुर्थी के स्त्रीलिंग रूप से। अ०माग० म सप्रदानकारक का यह रूप भाववाचक नपुंसकलिंग के उन रूपों में लगाया जाता है जिनके अंत में -त्ता = -त्वा आता है। जैसे इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए म हुआ है (सूय० ८१७), देवत्ताए = देवत्वाय (आयार० २, १०, १६, समव० ८, १०, १६, उवास०, ओव०), रक्खत्ताए = रक्षत्वाय (सूय० ७९२, ८०३),

गोणत्ताए = **गोत्वाय** (विवाग० ५१); **हंसत्ताए** = **हंसत्वाय** (विवाग० २४१), **णेरइयत्ताए दारियत्ताए** और **मयूरत्ताए** = **नैरयिकत्वाय, दारिकात्वाय** और **मयूरत्वाय** है (विवाग० २४४); **अट्ठिचम्मच्छिरत्ताए** = **अस्थिचर्मशिरात्वाय** है (अणुत्तर० १२) आदि आदि । § ३६१ की तुलना कीजिए। इनके साथ साथ **–ता** में समाप्त होनेवाले भाववाचक स्त्रीलिंग शब्दों के रूप हैं जिनमें **–आए** लगता है जैसे, **पडिवूहणयाए** = **प्रतिवृंहणतायै**, **पोसणयाए** = **पोषणतायै** (सूय० ६७६); **करणयाए** = **करणतायै** (विवाह० ८१७; १२५४; उवास० § ११३), **सवणयाए** = **श्रवणतायै** (नायाध० § ७७, १३७; ओव० § १८; ३८), **पुणपासणयाए** = ***पुनःपश्यनतायै** है (विवाह० ११२८; नायाध० § १३७) तथा अन्य अनेक रूप पाये जाते हैं। § ३६१ से देखा जाता है कि वैसे बहुधा पुलिंग और नपुंसकलिंग के सम्प्रदानकारकों के बीच में स्त्रीलिंग का सम्प्रदानकारक आता है। स्त्रीलिंग के द्वारा अन्य लिंगों पर प्रभाव पड़ना भी संभव है और अ०माग० में **देवत्ताए** का एक उदाहरण ऐसा मिलता है कि उसका **त्त** नपुंसकलिंग **देवत्व** के **त्व** का रूपपरिवर्तन है और अंतिम वर्णों पर स्त्रीलिंग **देवता** का प्रभाव है। किंतु पुलिंग और नपुंसकलिंग के **–आए** में समाप्त होनेवाले सम्प्रदानकारक इतने अनगिनत हैं कि यह स्पष्टीकरण सम्भव नहीं मालूम पड़ता। यह मानना पड़ता है कि बोली में पुलिंग और नपुंसकलिंग के सम्प्रदानकारक के अन्त में **–ऐ** भी काम में लाया जाता रहा होगा। **वहाइ** = **वधाय** (हेच० ३, १३२); यह संख्या छापे की भूल ज्ञात होती है, क्योंकि यह रूप हेच० ३, १३३ में मिलता है। ऊपर जो **–ऐ** दिया गया है उसके स्थान में भी **–आइ** रूप होना चाहिए। यह ३, १३३ सूत्र इस प्रकार है : **वधाड्डाइश्च** [टीका में ये रूप दिये गये हैं : **वहाइ, वहस्स** और **वहाय**। —अनु०] रूप या तो अ०माग० और जै०महा० रूप **वहाए** (§ ३६१ से § ८५) के अनुसार सम्बन्धित हो यदि यह रूप कहीं पत्र में पाया जा सके तो अन्यथा यह अवेस्ता के **यस्नाइ** और ग्रीक **हिप्पोइ** = **हिप्पो** [में ओ दीर्घ। —अनु०] से सम्बन्धित है।

§ ३६५—महा० में अपादानकारक एकवचन के रूप वर० ५, ६ से लिये जा सकते हैं, वर० के टीकाकार भामह से नहा जिसने **वच्छादो** और **वच्छादु** रूप दिये हैं, क्रम० ने भी ऐसे ही रूप दिये हैं (३, ८)। यह बात हेच० ३, ८ तथा मार्क० पन्ना ४१ से पुष्ट होती है [हेच० ने ये रूप दिये हैं : **वच्छत्तो, वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छाहिन्तो, वच्छा**। **दकारकरणं भाषान्तरार्थम्** भी जोड़ दिया है। —अनु०]। रावण० के रचयिता ने अपने ग्रन्थ के ८, ८७ में **रामादो** रूप लिखा है जिससे स्पष्ट होता है उसने भाम० का अनुसरण किया है जैसा उसने **उदु** = **ऋतु** रूप भी लिखा है (§ २०४)। महा०, अ०माग० और जै०महा० में अपादान कारक एकवचन में **–आओ** में समाप्त होता है = *–अतः (§ ६९, ३४५)। इस **–आओ** के साथ साथ छन्द की मात्राएँ ठीक बैठाने के लिए **–आउ** रूप भी चलता है। इस नियम के अनुसार : **सीसाउ** = **शीर्षात्** (गउड० ३७); **णहअलाउ** =

नभस्तलात् (हाल ७५) ; **रण्णाउ** = **अरण्यात्** (हाल २८७) ; अ०माग० में **पावाउ** = **पापात्** (सूय० ४१५), इसके साथ साथ **पावाओ** रूप भी चलता है (सूय० ११० और ११७) , **दुक्खाउ** = **दुःखात्** है (उत्तर० २१८) । हेच० ने ४, २७६ में शौर० के अपादानकारक के लिए जो –**दु** बताया है । उसका सम्बन्ध जै०शौर० से है (§ २१) । इस बोली में **उदयादु** = **उदयात्** मिलता है (पव० ३८३, २७), इसके साथ साथ **अणउदयादो** रूप भी आया है (कत्तिगे० ३९९, ३०९) और इस बोली में नीचे दिये हुए रूप भी पाये जाते हैं : **चरित्तादो** - **चरित्रात्** (पव० ३८०, ७), **णाणादो** = **ज्ञानात्** है (पव० ३८२, ५), **विसयादो** = **विषयात्** है (३८०, ६) और **वसादो** = **वशात्** है (कत्तिगे० ३९९, ३११) । शौर० और माग० में अपादानकारक में सदा अन्तिम वर्ण –**दो** रहता है (क्रम० ५, ७९ , मार्क० पन्ना ६८ [इसमें दिया गया है : **दो एव स्यात्तान्ये**। —अनु०], § ६९ और ३४५) । जिन रूपों के अन्त में ह्रस्व –**अओ** आता है जैसे अ०माग० में **ठाणओ** रूप उनके विषय में § ९९ देखिए । महा०, अ०माग० और जै०महा० में अपादानकारक की समाप्ति –**आ** = संस्कृत **आत्** में कम नहीं होती । इसके अनुसार महा० में : **वसा** = **वशात्** , **भआ** = **भयात्** , **गुणा** = **गुणात्** , **वेआ** = **वेगात्** **भवणा** = **भवनात्**, **देहत्तणा** = **देहत्वनात्** और **भारुन्वहणाअरा** = **भारोद्वहनादरात्** है (गउड० २४ : ४२ ; ८८ ; १२५ , २४२ ; ३९०; ७१६ , ८४८ ; ८५४ ; ९२४) ; **घरा** = **गृहात्** और **वला** = **वलात्** है (हाल ४९७ ; ८९८) ; **अइरा** = **अचिरात्** (रावण० ३, १५) है ; **णचिरा** रूप भी पाया जाता है (बाल० १७९, २) ; **भिसा** = **भिषात्** , **णिवेसा** = **निवेशात्** (कर्पूर० १२, ८; ७५, २) ; अ०माग० में **मरणा** रूप आया है (आयार० १, ३, १, ३ ; २, १) ; **दुक्खा** भी पाया जाता है (आयार० १, ३, १, २ ; उत्तर० २२०) , **कोहा**, **माणा** और **लोहा** = **क्रोधात्**, **मानात्** तथा **लोभात्** (आयार० २, ४, १, १) है ; **वला** भी मिलता है (सूय० २८७ ; २९३ ; उत्तर० ५९३) ; **आरम्भा** भी काम में आता है (सूय० १०४), **णायपुत्त** है (सूय० ३१८) ; **भया** = **भयात्** , **लोभा** , **मोहा** भी चलते हैं, **पमाया** = **प्रमादात्** है (उत्तर० २०७ ; २५१ ; ४३८ ; ६२७) ; **कोहा**, **हासा**, *लोभा*, **भया** आये हैं (*उत्तर० ७११; दस० ६१९, २८ की तुलना कीजिए*) । ये रूप अधिकांश स्थलों पर पद्य में आये हैं ; जै०महा० में **नियमा** आया है (कालका० २५९, ६ ; १८) ; अ०माग० और जै०महा० में **अट्ठा** मिलता है (दस० ६२०, २० ; एर्त्से०) ; जै०शौर० में **णियमा** रूप मिलता है (कत्तिगे० ४००, ३२८; ४०१, ३४१) । शौर० से मुझे केवल **वला** (मृच्छ० ६८, २२) तथा माग० से केवल **फलणा** (मृच्छ० १५२, ७ ; १४५, १७ की भी तुलना कीजिए) मिला है । ये भी उन संस्करणों में हैं जिनमें शब्दों पर भी विचार किया गया है । हस्तलिपियों में **फालणा** के स्थान पर **फालणे** पाया जाता है ; सन् १७९२ में प्रकाशित कलकतिया संस्करण के पेज ३२४, ११ और गौडबोले के संस्करण पेज ४१३, १ में इसका शुद्ध रूप **फालणादो** छापा गया है । स्टेन्त्सलर ने भी यही पाठ स्वीकृत किया है (१३३,

१ ; १४०, १४ ; १५८, २१ ; १६५, ७)। मार्क० पन्ना ६९ में बताया गया है कि शौर० में अपादानकारक के अन्त में –आ भी लगाया जा सकता है और मार्क० ने इसका उदाहरण कारणा दिया है। महा० में अपादानकारक एकवचन के अन्त में बहुधा –हि जोड़ा जाता है : **मूलाहि, कुसुमाहि, गअणाहि, वराहि** रूप मिलते हैं और बीआहि = बीजात् (गउड० १३, ६९ ; १९२ ; ४२६ ; ७२२ ; श्लोक १०९४ ; ११३१ ; ११७४ की भी तुलना कीजिए ; [बीआ का मराठी में बी हो गया है, कुमाउनी में बिया बी रूप चलते हैं। —अनु०]) ; **दूराहि** मिलता है, **हिअआहि** = हृदयात् है, **अंगणाहि** रूप भी आया है, **णिक्कम्माहि खाहि** भी आया है, कि **छेत्ताहि** = निष्क्रमणे 'पि क्षेत्रात् (हाल ५० ; ९५ ; १२० ; १६९ ; श्लोक १७९ ; ४२९ ; ५९४ ; ६६५ ; ८७४ ; ९२४ ; ९९८ की भी तुलना कीजिए) **धीराहि** = धैर्यात्, **दन्तुज्जोआहि** = दन्तोद्योतात्, **पच्चक्खाहि** = प्रत्यक्षात्, **घडिआहि** = घटितात् और **अणुहूआहि** = अनुभूतात् है (रावण० ३, २ ; ४, २७ ; इनके अतिरिक्त ४, ४५ और ५६, ६, १४ और ७७ ; ७, ५७ ; ८, १८ ; ११, ८८ ; १२, ८ और ११ ; १४, २० और २९ ; १५, ५० की भी तुलना कीजिए) ; **हिअआहि** रूप भी आया है (कर्पूर० ७९, १२ ; इसी नाटक में अन्यत्र हिअआउ रूप भी देखिए) ; **दण्डाहि** = दण्डात् (बाल० १७८, २० ; पाठ में छन्दों की मात्रा के विरुद्ध **दण्डाहिं** रूप है) है। अ०माग० में **पिट्ठाहि** रूप है जो = पृष्ठात् है (नायाध० ९५८ और उसके बाद), इसके साथ साथ **पिट्ठाओ** रूप भी चलता है (नायाध० ९३८ और ९६४)। **–हिंतो** में समाप्त होनेवाला अपादानकारक बहुत कम मिलता है : **कन्दलाहिंतो** = कन्दलात् (गउड० ५), **छेप्पाहिंतो** = शेपात्, **हिअआहिंतो** = हृदयात्, **रइहराहिंतो** = रतिगृहात् हाल २४० ; ४५१ ; ५६३) है , **मूलाहिंतो** = मूलात् (कर्पूर० ३८, ३) ; **रूआहिंतो** = रूपात् (मुद्रा० ३७, ४) है। राजशेखर शौर० में भी –हि और **–हिंतो** में समाप्त होनेवाला अपादानकारक काम में लाता है, जो अशुद्ध है : **चन्दसेहराहि** = चन्द्रशेखरात् (बाल० २८९, १ पाठ में ; चन्दसेहराहिं है) , **पामराहिंतो** = पामरात्, **चन्दाहिंतो** = चन्द्रात्, **जलाहिंतो** = जलात्, **तुम्हारिसाहिंतो** = युष्मादृशात् है (कर्पूर० २०, ६ , ५३, ६ , ७२, २ , ९३, ९) ; **पादहिंतो** = पादात्, **गमागमाहिंतो** = गमागमात्, **थणहराहिंतो** = स्तनभरात् (विद्ध० ७९, २; ८२, ४, ११७, ४) है। सर्वनाम के इनसे मिलते जुलते रूपों के लिए § ४१५ और उसके बाद देखिए। महा०, अ०माग० और जै०महा० में –हि में समाप्त होनेवाले क्रियाविशेषण मिलते हैं। **अलाहि** = अलम्[1] (वर० ९, ११ ; हेच० २, १८९ ; क्रम० ४, ८३ [पाठ में अणाहि है], हाल १२७ ; विवाह० ८१३ ; ९६५ ; १२२९, १२५४ ; तीर्थ० ५, ६ [पाठ में अलाहिं है], अ०माग० में क्रियाविशेषणों में **–हिंतो** है जैसे, **अन्तोहिंतो** = अन्तरात् है (§ ३४२) और **बाहिंहिंतो** = बहिष्टात् है (ठाणंग० ४०८)। **–हि** में समाप्त होनेवाले रूप जैसा ए० म्युलर[2] ने पहले ही ताड़ लिया था, क्रियाविशेषण

रूप उत्तराहि और दक्षिणाहि संस्कृत रूपों के जोड़ के हैं (ह्विटनी § ११०० सी. [C])। इसलिए हमें इस -हि के लिए न तो लास्सन[1] के अनुसार एक पुराना समाप्तिसूचक वर्ण -भि इसके मूल रूप के लिए ढूँढ़ना चाहिए और नहीं वेबर[2] के अनुसार इसमें बहुवचन का समाप्तिसूचक रूप देखना चाहिए। इसके साथ यह तथ्य *ध्यान देने योग्य है कि इस -हि के साथ -हिं[3] रूप कभी नहीं मिलता। समाप्तिसूचक* रूप -हिंतो लास्सन[4] के अनुसार ही -भिस् से अथवा इससे भी शुद्ध रूप -भ्यस् से - जो अपादानकारक बहुवचन का रूप है और तस् से जो अपादानकारक एकवचन का रूप है, निकला माना जाना चाहिए। इस कारण -हिंतो, हिंत्तो नहीं लिखा जाना चाहिए। अ- वर्ग का अ § ६९ के अनुसार दीर्घ हो जाता है। पुत्ततो रूप से मिलते-जुलते अपादानकारक के रूप वच्छत्तो (हेच० ३, ८; सिंह० पन्ना ७), रुक्खत्तो (सिंह० पन्ना ७) दुहरे अपादानकारक हैं = वृक्षात् + तस् और रूक्षात् + तस् हैं। — अप० में ये उदाहरण मिलते हैं : वच्छहें और वच्छहु = वृक्षात् हैं (हेच० ४, ३३६); जलहु = जलात् (हेच० ४, ४१५) है। क्रम० ५,३० में रुच्छहें के साथ साथ रुच्छादु रूप भी मिलता है [पाठ में रुच्छादु है] = वृक्षात् है। ये रूप लास्सन[5] के अनुसार वच्छहें और वच्छादु पढ़े जाने चाहिए। -हें और -हु वाले रूपों की व्युत्पत्ति अधकारपूर्ण है।

१. हाल', पेज ४९, नोटसंख्या १ में वेबर का मत ठीक है। — २. बाइत्रैगे, पेज २२। — ३. इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ३०३। — ४. हाल[1], १ पेज ४९। — ५. बालरामायण १७८, २० में -हिं है, जैसा उल्लेख किया गया है, २८९, १ में छंद की मात्राएँ ठीक नहीं बैठती हैं और -हिं भी आया है, यह अशुद्ध रूप है। — ६. इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ३१०। — ७. वही ग्रंथ पेज ४५१।

§ ३६६—व्याकरणकारों के नियमों के अनुसार (वर० ११, १२; हेच० ४, २९९) माग० में संबंधकारक एकवचन में समाप्तिसूचक रूप स्स = स्य के साथ साथ -स से निकला हुआ -ह भी पाया जाता है जिससे पहले आनेवाला *अ* शब्द का अंतिम अ दीर्घ बन जाता है (§ ६३ और २६४)। हेच० ने इस नियम के उदाहरणस्वरूप शकुंतला और वेणीसंहार से समाप्तिसूचक -आह वाले रूप दिये हैं [पलिदाह कम्माह काली; भंगदत्त शोणिदाह कुम्भे। —अनु०]। उनके स्थान पर छपे संस्करणों और हस्तलिपियों में -अस्स रूप पाया जाता है अथवा इससे भिन्न रूप मिलता है[1]। सम्बन्धकारक -आह वाले निम्नलिखित रूप मिलते हैं : कामाह = कामस्य (मृच्छ० १०; २४); चालुदत्ताह = चारुदत्तस्य (मृच्छ० ११, २५; १००, २०; १५४, १०; १६४, २ और ४), इसके साथ साथ चालुदत्तस्स रूप भी आया है (मृच्छ० ७९, १५; १००, २२); णिय्यादिमाणाह और अणिय्यादिमाणाह = निर्यात्यमानस्य तथा अनिर्यात्यमानस्य है; ऐकाह = एकस्य; अपलाह = अपरस्य; अय्यमिश्शाह = आर्यमिश्रस्य; शालशाह = श्याल-कस्य; शलीलाह = शरीरस्य और चालित्ताह = चारित्रस्य है, आदि आदि

(मृच्छ० २१, १३ और १४ ; २४, ३ ; ३२, ४ और ५ ; ४५, १ ; ११२, १० ; १२४, २१) । अप० में इसके स्थान पर सम्बन्धकारक का रूप –ह आया है जैसे, कणअह = कनलस्य ; चण्डालह = चंडालस्य ; कव्वह = काव्यस्य ; फणिन्दह = फणीन्द्रस्य ; कण्ठह = कण्ठस्य और पअह = पदस्य (पिंगल १,६२ ; ७० ; ८८ वी ; १०४ ; १०९ ; ११७) है । सम्बन्धकारक एकवचन का रूप अप० में साधारणतया –हो और अधिकांश स्थलों पर –हों है (हेच० ४, ३३८ ; क्रम० ५, ३१) : दुल्लहहों = दुर्लभस्य ; सामिअहों = स्वामिकस्य ; कृदन्तहों = कृतान्तस्य ; कन्तहों = कान्तस्य ; साअरहों = सागरस्य और तहों विरहहों णासन्तअहों = तस्य विरहस्य नश्यतः (हेच० ४, ३३८ ; ४४० ; ३७० ; ३७९ ; ३९५, ७ ; ४१६ ; ४१९, ६ ; ४३२) है । ध्वनिनियम के अनुसार एक कन्तहों, एक *कन्तस्यः के बराबर है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह रूप अ– वर्ग और व्यजनान्त रूपावली का गड्डमड्ड है । इसकी प्रक्रिया वैसी ही है जैसी –आओ में समाप्त होनेवाले कर्त्ताकारक बहुवचन की (§ ३६७) । अप० में ऊपर दिये रूप के साथ-साथ सम्बन्धकारक में –स्सु वाला रूप भी है जो –स्स = स्य से निकला है (§ १०६) जैसे, परस्सु = परस्य ; सुअणस्सु = सुजनस्य ; खन्धस्सु = स्कन्धस्य ; तत्तस्सु = तत्त्वस्य और कन्तस्सु = कान्तस्य (हेच० ४, ३३८ ; ४४० ; ४४५, ३) । हेमचन्द्र ४, ३३८ और क्रमदीश्वर ५, ३१ के अनुसार सम्बन्धकारक का एक रूप जो –सु में समाप्त होता है, काम में लाया जाता है : सक्खसु (क्रम० ५, ३१ ; लास्सन, इन्स्टि० प्रा०, पेज ४५१ में वच्छसु-) है । इस रूप को मैं कहीं कहीं सर्वनामों में उदाहरण देकर प्रमाणित कर सकता हूँ (§ ४२५ और ४२७) ।[1]

१. हेच० ४, २९९ पर पिशल की टीका ।

§ ३६६ अ—महा०, जै०महा० और जै०शौर० में अधिकरणकारक एकवचन के रूपों के अन्त में –ए लगता है और इसके साथ साथ सर्वनामों की रूपावली से ले लिया गया –म्मि = स्मिन् भी जोड़ा जाता है (§ ३१३ और ३५०) और बहुधा ये दोनों रूप पास-पास में आते हैं । इस तथ्य के अनुसार महा० में मुक्के वि णरमइन्दत्तणम्मि = मुक्तेऽपि नरमृगेन्द्रत्वे है (गउड० १०) ; दिट्ठे सरिसम्मि गुणे = दृष्टे सदृशे गुणे (हाल ४४) है ; णइपूरसच्छहे जोव्वणम्मि = नदीपूरसदृशे यौवने (हाल ४५) है ; सुणहपउरम्मि गामे = शुनकप्रचुरे ग्रामे (हाल १३८) है ; देवाअत्तम्मि फले = दैवायत्ते फले है (हाल २७९) ; हत्थन्ववम्मि दहमुहे = हतन्ये दशमुखे (रावण० ३, ३) ; अपूरमाणम्मि भरे = अपूर्यमाणे भरे (रावण० ६, ६७) ; गअम्मि पओसे = गते प्रदोषे (रावण० ११, १) और णिहअम्मि पहत्थे = निहते प्रहस्ते है (रावण० १५,१) । जै०महा० में निम्नलिखित रूप मिलते हैं : पाडलिपुत्तम्मिपुरवरे (आव०एर्त्से० ८, १) और पाडलिपुत्ते नगरम्मि (आव०एर्त्से० १२, ४०) ; दुल्लहलम्भम्मि माणुसे जम्मे = दुर्लभलम्भे मानुषे जन्मनि (आव०एर्त्से० १२, १३) ; कप्पे कप्प या वि कज्जम्मि = कृते वापि कार्ये (आव०एर्त्से० १२, १८) और

चेत्तम्मि णक्खत्ते विहुत्थे = चैत्रे नक्षत्रे विधुहस्ते (कक्कुक शिलालेख १९) है। जै०शौर० में तिविहे पत्तम्मि = त्रिविधे प्राप्ते (कत्तिगे० ४०२, ३६० ; पाठ में तिविहम्हि है) ; अच्चुदम्मि सग्गे = अच्युते स्वर्गे (कत्तिगे० ४०४, ३९१ ; पाठ में अच्चुदम्हि है)। उक्त सब रूप पद्य में मिलते हैं। गद्य में जै०महा० में अधिकरणकारक अधिकांश स्थलों पर -ए में समाप्त होता है, जैसे गिरिनगरे नगरे (आव०एर्त्से० ९, १२), मत्थए = मस्तके है (आव०एर्त्से० ११, १) ; पुरत्थिमे दिसीभाए आराममज्झे = *पुरस्तिमे दिग्भाग आराममध्ये है (आव०एर्त्से० १२, ३४) ; -म्मि और -मि में बहुत कम समाप्त होता है जैसे, रइघरम्मि = रतिगृहे (आव०एर्त्से० ११,१३) ; कोमुईमहूसवंमि = कौमुदीमहोत्सवे है (एर्त्से० २, ७) ; मज्झंमि रूप भी आया है (एर्त्से० ९, १)। कभी कभी गद्य में भी दोनों रूप साथ साथ चलते हैं जैसे, विज्जानिम्मियंमि सियरत्तपडायाभूसिए पासाए = विद्यानिर्मिते शितरक्तपताकाभूषिते प्रसादे है (एर्त्से० ८, २४)। पद्य में दोनों रूप काम में लाये जाते हैं। छंद में जो रूप ठीक बैठता है वही उसमें रख दिया जाता है जैसे, भरहम्मि = भरते, तिहुयणम्मि = त्रिभुवने और सीसम्मि = शीर्षे है (आव०एर्त्से० ७, २२ ; ८, १७ ; १२, २४)। साथ ही गुणसिलुज्जाणे = गुणशिलोद्याने है, अवसाणे है तथा सिहरे = शिखरे है (आव०एर्त्से० ७,२४, २६ और ३६)। जै०शौर० में भी दोनों प्रकार के अधिकरणकारक के रूप काम में लाये जाते हैं। कत्तिगेयाणुवेक्खा म हस्तलिपि में -म्मि के स्थान में बहुत बार -म्हि लिखा गया पाया जाता है : कालम्हि (३१९,३२१), इसके विपरीत कालम्मि भी आया है (४००, ३२२) ; पत्तम्हि रूप मिलता है (४०२, ३६०) ; अच्चुदम्हि पाया जाता है (४०४,३९१), सर्वनामों की भी यही दशा है : तम्हि = तस्मिन् (४००, ३२२)। इसके साथ साथ उसी पंक्ति म तम्मि रूप भी आया है, वहीं जम्मि भी मिलता है (३१९, ३२१)। यह हस्तलिपिक की भूल है। पवयणसार में केवल एक ही रूप -म्मि देखा जाता है : दाणम्मि रूप आया है (३८३, ६९) ; सुहम्मि, असुहम्मि भी मिलते हैं (३८५,६१) ; कायचेट्ठम्मि (३८६,१०, ३८७,१८), जिणमदम्मि काम में आया है (३८६, ११) आदि आदि। कत्तिगेयाणुवेक्खा में ह अशुद्ध प्रयोग की एक भूल और दिखाई देती है। शुद्ध रूप सव्वण्णू के स्थान में उसमें सव्वण्हू लिखा मिलता है। पवयणसार ३८१, १६ में भी यही भूल है = सर्वज्ञः (कत्तिगे० ३९८, ३०२ और ३०३) है। § ४३६ की तुलना कीजिए। — अ०माग० में सबसे अधिक काम में आनेवाला रूप -ंसि में समाप्त होनेवाला है जो = स्मिन् है (§ ७४ और ३१३) : लोगंसि = लोके (आयार० १, १, १, ५ और ७ ; १, ३, १, १ और २, १ ; १, ४, २, ३ ; १, ५, ४, ४ ; १, ६, २, ३ ; १, ७, ३, १ ; सुय० २१३, २८० ; ३८१, ४६३ ; ४६५ आदि आदि) है। सुसाणंसि वा सुन्नागारंसि वा गिरिगुहंसि वा रुक्खमूलंसि वा कुम्भाराययणंसि वा = श्मशाने वा शून्यगारे वा गिरिगुहायां वा रुक्षमूले वा कुम्भकारायतने वा है (आयार० १, ७, २, १), इमंसि दारगंसि जायंसि समाणंसि = अस्मिन्

दारके जाते सति है (ठाणंग० ५२५ ; विवाह० १२७५ ; विवाग० ११६ की तुलना कीजिए ; [ॅसि वाला रूप कुमाउनी में कहीं कहीं अब भी चलता है। यहा के बनियों की बोली में एक कहावत का प्रचार है कि अमावस के दिन किसी बनिये के घर कोई ब्राह्मण दान मागने गया और उसने सेठ से कहा—'आज अमूँसी है' (= कुमाउनी बोली में आज अमूँसी छ)। इस पर बनिया बोला 'अमूँसी न्हाते हमूँसि छ' अर्थात् आज अमावस नहीं बल्कि हममें या यह हमपर आयी है, तात्पर्य यह कि दान दच्छिना अपने ही गाठ से हमें देनी होगी। विद्वान पाठक हमूँसि से इमांसि की तुलना करें जो ऊपर के उद्धरण में आया है।—अनु०])। अ०माग० में –म्मि और ॅमि का प्रयोग पद्य में कुछ कम नहीं है : समयंमि आया है (आयार० १, ८, १, ९ ; २, १६, ९); धम्मम्मि य कप्पम्मि य = ब्राह्मे च कल्पे च (आयार० पेज १२५ ; ३४) है ; दाहिणम्मि पासम्मि (?) = दक्षिणे पार्श्वे (आयार० पेज १२८, २०) ; लोगंमि = लोके (सूय० १३६ और ४१०) ; संगाममंमि = संग्रामे (सूय० १६१) है ; आउयंमि = आयुषि (उत्तर० १९६) है ; मरणंतम्मि = मरणान्ते (उत्तर० २०७) और जलणम्मि = ज्वलने (नायाध० १३९४) है। बाद को ये रूप –ए के साथ-साथ अधिकरणकारक व्यक्त करने के लिए गद्य में भी प्रयुक्त होने लगे पर इनका प्रयोग शायद ही शुद्ध हो जैसे, दारुणम्मि गिम्हे (नायाध० ३४०) आया है ; उट्ठियंमि सूरे सहस्सरस्सिमि दिणयरे तेयसा जलन्ते = उत्थिते सूर्ये सहस्ररश्मौ दिनकरे तेजसा ज्वलति (विवाह० १६९, अणुओग० ६० ; नायाध० § ३४ ; कप्प० § ५९) और इनके साथ साथ ॅसि वाला अधिकरण का रूप चलता है जैसे, गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूलमासम्मि = ग्रीष्मकालसमये ज्येष्ठामूलमासे है (ओव० § ८२)। प्राचीन गद्य में ॅसि में समाप्त होनेवाले अधिकरणकारक की तुलना मे –ए वाले रूपों की सख्या कम है : हरए = ह्रदे (आयार० १, ६, १, २) ; वियाले = विकाले (आयार० २, १, ३, २ ; [हिंदी का ब्याल् इससे ही निकला है और कुमाउनी में सध्याकाल को ब्याल कहते हैं। व = व उच्चारण में। बगला में इसका सस्कृतीकरण होकर फिर विकाले (उच्चारण बिकाल) रूप चलता है। —अनु०]) ; लाभे सन्ते = लाभे सति (आयार० २, १, १, १ और उसके बाद ; [सन्ते का उत्तर भारत की कई पहाडी बोलियो में छनै रूप हो गया है। —अनु०]) ; पडिपहे = प्रतिपथे, परक्कमे = पराक्रमे (आयार० २, १, ५, ३), सपडिदुवारे = सप्रतिद्वारे है (आयार० २, १, ५, ५) ; लिद्धे पिण्डे = लब्धे पिण्डे (आयार० १, ८, ४, १३) ; लोए = लोके (आयार० १, ८, ४, १४ ; २, १६, ९ ; उत्तर० २२ और १०२) है ; ऐसा बहुधा पद्य में भी होता है : आरामागारे, नगरे, सुसाणे [कुमाउनी में स्मशान को मसाण और सुसाण कहते हैं ; बगला में लिखा जाता है स्मशाण पर इसका उच्चारण करते हैं शॅशाण। —अनु०], रुक्खमूले (आयार० १, ८, २, ३) ; मरणन्त (उत्तर० २१३) और धरणितले रूप आये हैं (सूय० २९६)। ये रूप –ॅसि और –म्मि में समाप्त होनेवाले अधिकरणकारकों के पास में ही

दिखाई देते हैं जैसे, **सिसिरंसि अद्धपडिवन्ने = शिशिरे अर्धप्रतिपन्ने** (आयार० १, ८, १, २१); **संसारंमि** [**मि** रूप में के लिए कुमाउनी में बहुत चलता है। —अनु०] अणन्तगे मिलता है (उत्तर० २१५ और २२२) तथा **पत्तम्मि आएसे = प्राप्त आदेशे** है (उत्तर० २२७)। बाद के गद्य में इनके साथ साथ **–ंसि** में समाप्त होनेवाला अधिकरणकारक का रूप भी आने लगा जैसे, **तंसि तारिसंसि वासघरंसि अब्भितरओ सचित्तकम्मे बाहिरओ दूमियघट्ठमट्ठे**—। इसके पश्चात् सात **–ए** वाले अधिकरणकारक एक साथ एक के बाद एक लगातार आये हैं — **तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सालिंगणवट्टीए**— इसके बाद आठ **–ए** वाले अधिकरणकारक एक साथ एक के बाद एक लगातार और भी आये हैं— **पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि** भी मिलता है (कप्प० § ३२)। लोगों की बोली में **–स्सिम्** से निकले हुए रूप **–हिं** में समाप्त होनेवाले अधिकरणकारक के रूप भी मिलते हैं (§ ६५ और २६४) : माग० में **पवंवड्डकाहिं गलकप्पमाणाहि कुलाहिं'** आया है जो **= पवंवड्डके गलकप्रमाणे कुले** है (मृच्छ० १२६, ९); माग० में **पवहणाहिं** मिलता है जो **= प्रवहणे** है (मृच्छ० ११९, २३)। इनके साथ-साथ अप० का अधिकरणकारक है जिसके अंत में **–हिँ** जोड़ा जाता है : **देसहिँ = देशे ; घरहिँ = गृहे** (हेच० ४, ३८६ ; ४२२, १५) है ; **हदहिं = ह्रदे ; पढमहिं = प्रथमे; तीए पाए = तृतीये पादे ; समपाअहिँ = समपादे ; सीसहिँ = शीर्षे ; अन्तहिँ = अन्ते ; चित्तहिँ = चित्त** और **वंसहिँ = वंशे** है (पिंगल १, ४यी ; ७० ; ७१ ; ८१ए ; १२० ; १५५ए ; २, १०२)। शौर० तथा अधिकांश स्थलों पर माग० में भी अधिकरणकारक गद्य में **–ए** में समाप्त होता है, यह तथ्य मार्कंडेय ने पन्ना ६९ में शौर० के विषय में स्पष्ट रूप से बतायी है : शौर० में **गेहे** रूप मिलता है, **आवणे = आपणे** है (मृच्छ० ३, ९ , १४ ; १५) ; **मुहे = मुखे** है (शकु० ३५, १०) ; माग० में **हस्ते** आया है ; **विहवे विहडिदे = विभवे विघटिते** है (मृच्छ० २१, १२ ; ३२, २१) ; **शमले = समरे** (वेणी० ३३, ८) है। माग० के पद्य में **–म्मि** वाला अधिकरणकारक भी पाया जाता है। कभी कभी तो इस **–म्मि** वाले रूप के बगल में ही **–ए** वाला रूप भी मिलता है : **चण्डालउलम्मि = चण्डालकुले ; कूवम्मि = कूपे** है (मृच्छ० १६१, १४ ; १६२, ७) ; **शोमम्मि गहम्मि = सौम्ये गृहे ; सेविदे अपथ्यम्मि = सेविते' पथ्ये** (मुद्रा० १७७, ५, २५७, २ ; त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ३९, १२५ और १२८ की तुलना कीजिए) है। इस विषय पर भी राजशेखर बोली के नियमों के विरुद्ध जाता है क्योंकि उसने शौर० में गद्य में भी **–म्मि** में समाप्त होनेवाले अधिकरणकारक का प्रयोग किया है : **मज्झम्मि** आया है (कर्पूर० ६, १) और इसके साथ साथ **मज्झे** भी दिया है (कर्पूर० १२, १० ; २२, ९) ; **कव्वम्मि** मिलता है जो **= काव्ये** है (कर्पूर० १६, ८) ; **रामम्मि = रामे ; सेदुसीमत्तम्मि = सेतुसीमत्वे** (बाल० ९६, ३ ; १९४, १४) है। भारत में छपे संस्करणों में शौर० में अधिकरणकारक का रूप बहुधा **–म्मि** में समाप्त होनेवाला पाया

जाता है। इसमें सम्भवतः हस्तलिपियों का दोष नहीं है परन्तु ग्रन्थ रचनेवालों का दोष है जिन्हें शौर० में लिखने का कम ज्ञान था। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित स्थलों की तुलना कीजिए—प्रसन्नराघव ३५, ३ ; ३९, २ ; ४४, ८ और ९ ; ४५, ५ ; ४७, ६; ११३, ८ और १२ ; ११९, १४ और १५ ; कर्णसुन्दरी २५, ३ ; ३७, ६ ; कंसवहो ५०, २ और १४ ; मल्लिका० ८७, ४ ; ८८, २३। नीचे दिये रूप भी स्वभावतः पूर्ण अशुद्ध हैं : चाणक्कम्मि अकरुणे (मुद्रा० ५३, ८) ; हिअअणिव्विसेसम्मि जणे = हृदयनिर्विशेषे जने है (विद्ध० ४२, ३) और गच्छन्तम्मि देवे (चैतन्य० १३४, १०) है। अप० में साधारणतया अधिकरणकारक अन्त में –ए से निकला हुआ रूप –इ आता है : तलि = तले [यह रूप कुमाउनी में वर्तमान है। —अनु०] ; पत्थरि = प्रस्तरे ; अन्धारि = अन्धकारे ; करि = करे ; मूलि विणट्ठइ = मूले विनष्टे [मूलि रूप इसी अर्थ में कुमाउनी में पाया जाता है। —अनु०] तथा बारि = द्वारे रूप पाये जाते हैं (हेच० ४, ३३४ ; ३४४ ; ३४९ ; ३५४ ; ४२७ ; ४३६)। कभी-कभी इसके अन्त में –ए भी देखा जाता है : अग्गिएँ दिट्ठइ और पिएँ दिट्ठइ = अप्रिये *दृष्टके तथा प्रिये *दृष्टके ; पिए दिट्ठे = प्रिये दृष्टे और सुघे = सुखे है (हेच० ४, ३६५, १ ; ३९६, ३)।

१. यह इसी रूप में पढ़ा जाना चाहिए ; मृच्छ० १३९, २३, गौडबोले ३४८, ३ में यही रूप और लास्सन के इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ४३० की तुलना कीजिए। — २. कलकतिया संस्करण, १८२६, पेज २२७, ६ और गौडबोले का संस्करण पेज ३३१, ८ के अनुसार यह शब्द पढ़ा जाना चाहिए।

§ ३६६ ब— अ– वर्ग के सम्बोधनकारक एकवचन में बहुधा प्लुति पायी जाती है (§ ७१)। हेच० ३, ३८ और सिंह० पन्ना ५ के अनुसार सम्बोधनकारक के अन्त में पुलिंग में –अ और –आ के साथ साथ –ओ वर्ण भी आता है : अज्जो= आर्य, देवो = देव ; खमासमणो = क्षमाश्रमण (हेच०) ; रुक्खो = रुक्ष और वच्छो = वृक्ष (सिंह०) है। ऐसे सबोधनकारक अ०माग० में पाये जाते हैं। उस भाषा मे ये केवल सम्बोधन एकवचन के ही काम मे नहीं आते परन्तु पुलिंग के सम्बोधन के बहुवचन के लिए भी प्रयोग मे आते हैं जिससे हम इस रूप को सम्बोधन के काम मे आनेवाला कर्त्ताकारक पुलिंग एकवचन नहीं मान सकते, भले ही कर्त्ताकारक पुलिंग एकवचन सदा ही गद्य मे –ए मे समाप्त होता है। इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं : अ०माग० अज्जो = आर्य (सूय० १०१६ ; उत्तर० ४१५ ; विवाह० १३२ और १३४ ; कप्प० थ. (Th) § १ और एस. (S) § १८ और ५२) ; बहुवचन में = आर्याः (ठाणंग० १४६ और १४७ ; विवाह० १३२ और १८८ तथा उसके बाद ; १९३ ; ३३२ ; उवास० § ११९ और १७४) ; ताओ = तात (नायाध० § ८३ ; ८५ ; ९८) ; देवो = देव (नायाध० § ३८) ; पुरिसो = पुरुष (सूय० १०८) ; अम्मयाओ = अम्बातातौ। बहुवचन में भी यही रूप है (अंत० ६१ और ६२ ; विवाह० ८०४ ; ८०५ ; ८०८ और उसके बाद [यहाँ पाठ में बहुधा अम्मताओ है] ; नायाध० § १३४ ; १३८ ; १४५ ; पेज २६० ; ८६२;

८८७ आदि आदि)। अ०माग० और जै०महा० में स्त्रीलिंग में भी यही रूप काम में आता है, अम्मो = अम्बा (हेच० ३, ४१ ; उवास० § १४० ; आव०एर्त्सें० १३, ३३ ; १४, २७) ; बहुवचन में भी यह रूप चलता है किन्तु बहुवचन में **अम्मो** 'मा-बाप' के लिए प्रयुक्त होता है (नायाध० § १३८ , उत्तर० ५७४)। हेच० ने जो उदाहरण दिया है **अम्मो भणामि भणिए** वह हाल ६७६ से लिया गया है। इस स्थान में वेबर और बंबइया संस्करण **भणिए भणामि अत्ता** देते हैं ; तीर्थकल्प में **अत्ता भणामि भणिए** पाठभेद है ; भुवनपाल में यह श्लोक ही उड़ गया है। हेच० ने महा० में भी अम्मो पाया है। सम्भवतः ओ के भीतर उ छिपा है जो कोशकारों के अनुसार आमन्त्रण और सम्बोधन में रहता है। इसके विपरीत अ०माग० **भन्ते = भदन्त**[1] सम्बोधन के स्थान पर प्रयुक्त कर्त्ताकारक माना जाना चाहिए (§ १६५) ; माग० में ऐसे रूप भावे = भाव (मृच्छ० १०, २२ ; ११, २४ ; १२, ३ ; १३, ६ और २४ ; १४, १० आदि आदि) ; **चेडे = चेट** (मृच्छ० २१, २५) और इसके साथ साथ चेडा रूप (मृच्छ० ११८, १, ११९, ११ और २१ ; १२१, ९, १२२, ९ आदि-आदि) ; **उवासके = उपासक** (मृच्छ० २१४, ७) ; **भट्टके = भट्टक** (शकु० ११४, ५ ; ११६, ११) ; **लाउत्ते = राजपुत्र** (शकु० ११७, ५) ; **पुत्तके = पुत्रक** (शकु० १६१, ७)[2] हैं। यदि अप० **भमरु = भ्रमर** (हेच० ४, ३६८) ; **महिहरु = महीधर** (विक्रमो० ६६, १६) में भी कर्त्ताकारक का रूप मानना चाहिए या नहीं, यह संदिग्ध है, क्योंकि अप० में अन्तिम वर्ण अ का उ हो जाता है (§ १०६)। माग० रूप मय **शिले शदखण्डे फलेशि = मम शिरः सतखण्डम् करोषि** (मृच्छ० १५१, २५) में अन्त में -ए वाला रूप कर्मकारक एकवचन में काम में लाया गया है। लास्सन[3] ने जिन अन्य उदाहरणों का उल्लेख किया है वे नवीनतर संस्करणों से उड़ा दिये गये हैं। § ३६७ अ की तुलना कीजिए। वेणीसंहार ३३, १२ में कलकतिया संस्करण के अनुसार **लम्भदि** पढ़ा जाना चाहिए न कि ग्रिल का दिया रूप **लम्भइ** जिससे § ३५७ के अनुसार **मंशए**, उण्हे [पाठ में उण्णेहिं] और लुहिले कर्त्ताकारक बन जाय।

1. यह शुद्ध स्पष्टीकरण है। वेबर, भगवती २, १५५ की नोटसंख्या १ की तुलना कीजिए ; हेच० ४, २८७ पर पिशल की टीका। ए० म्युलर, बाइत्रैगे, पेज ५० में अशुद्ध मत देता है। इस स्थान में इस विषय पर अन्य ग्रंथों की सूची भी है। — २. एस० गौल्दश्मित्त ने प्राकृतिका, पेज २८ में इसे ठीक नहीं समझा है। गो०गे०आ० १८९०, पेज ३२६ में पिशल का मत देखिए। — ३. इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ४२९।

§ ३६७—सभी प्राकृत भाषाओं में कर्त्ताकारक बहुवचन पुलिंग के अन्त में -आ = आः आता है : महा०, अ०माग० और शौर० में देवा = देवाः (हाल ३५५ ; ओव० § ३३ ; एर्त्सें० ४, ३१ ; मृच्छ० ३, १३) है ; जै०शौर० में अट्ठा = अर्थाः है (पव० ३८२, २६) ; माग० में पुलिशा = पुरुषा (ललित० ५६५, १३) है ; चू०पै० में समुदा और सइला = समुद्राः और शैलाः (हेच० ४, ३२६)

है ; दाक्षि० में दक्खिणत्ता = दाक्षिणात्याः (मृच्छ० १०३, ५) ; आव० में चीसद्धा = विश्रब्धाः है (मृच्छ० ९९, १६) ; अप० में घोडा = घोटाः है (हेच० ४, ३३०, ४)। अ०माग० में पद्य में भी कर्त्ताकारक बहुवचन पुलिंग के अन्त में –आओ लगता है : **माणवाओ = मानवाः** (आयार० १, ३, ३, ३ ; सूय० ४१२) ; **तहागयाओ = तथागताः** (आयार० १, ३, ३, ३) ; **हयाओ = हताः** (सूय० २९५) ; **समत्थाओ = समर्थाः** ; **ओमरत्ताओ = अवमरात्राः** ; **सीसाओ = शिष्याः** ; **आउजीवाओ = अप्जीवाः** (उत्तर० ७५५ ; ७६८ ; ७९४ ; १०४५) ; **विरत्ताउ** [टीका में यह रूप दिया गया है, पाठ में **विरत्ताओ** है] = विरक्ताः और **सागराउ = सागराः** हैं (उत्तर० ७५८ ; १०००)। अन्य उदाहरण उत्तरज्झयणसुत्त ६९८ ; ८९५ ; १०४८ ; १०४९ ; १०५३ ; १०५९ ; १०६१ ; १०६२ ; १०६४ ; १०६६ ; १०७१ और १०८४ में हैं। पिंगल १, २ (पेज ३, ५) की टीका में लक्ष्मीनाथ भट्ट ने व्याकरण का एक उद्धरण दिया है जिसमें महा० अथवा जै०महा० का रूप **वण्णाओ** और इसके साथ-साथ **वण्णा** आता है जो = **वर्णाः** हैं। भारतीय संस्करणों में बहुवचन का यह रूप शौर० में भी दिया गया है जो अशुद्ध है, उदाहरणार्थ धनञ्जयविजय ११, ७ और उसके बाद ; १४, ९ और उसके बाद ; चैतन्यचन्द्रोदय ४३, १८ और उसके बाद। शब्द के अन्त में **–आओ** जुड़कर बननेवाले इस बहुवचन रूप का, जिसका स्त्रीलिंग का रूप नियमित रूप से –आ में समाप्त होता है (§ ३७६), वैदिक **–आसस्** से सम्बन्धित करना अर्थात् प्राकृत रूप **जणाओ** को वैदिक **जनासः** से निकालना भाषाशास्त्र की दृष्टि से असम्भव है। इसकी सीधी परम्परा में माग० सम्बोधन का रूप **भस्टालका** हो और अप० रूप **लोअहों** हैं (§ ३७२)। प्राकृत से यह स्पष्ट हो जाता है कि **आसस्**, **आस्+अस्** है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अ वर्ग के सज्ञाशब्दों के बहुवचन के रूप में व्यञ्जनान्त शब्दों का बहुवचन का समाप्तिसूचक रूप **अस्** भी आ गया है। इस प्रकार प्राकृत रूप **प्राणवाओ** दुहरा रूप है जैसा अपादानकारक एकवचन का रूप **वच्छत्तो** है (§ ३६५)। अप० में समाप्तिसूचक –आ बहुधा ह्रस्व रूप में देखा जाता है (§ ३६४) : **गअ = गजाः** ; **सुपुरिस = सुपुरुषाः** ; **बहुअ = बहुकाः** ; **काअर = कातराः** और **मेह = मेघाः** (हेच० ४, ३३५ ; ३६७ ; ३७६ ; ३९५, ५ ; ४१९, १६) हैं। नपुंसकलिंग के कर्ता– और कर्मकारक बहुवचन में सबसे अधिक काम में आनेवाला समाप्तिसूचक रूप **–इं** है जिससे पहले का अ दीर्घ कर दिया जाता है अर्थात् आ रूप ग्रहण कर लेता है। पद्य में इसके साथ-साथ और इसके स्थान में **–इँ** और **–इ** का प्रयोग भी किया जाता है (§ १८० और १८२)। ५,२६ में वररुचि बताता है कि महा० में केवल **–इ** का व्यवहार किया जाना चाहिए। १, ३ में चण्ड० केवल **–णि** का प्रयोग ठीक समझता है। हेच० ३, २६ और सिंह० पन्ना १७ में **–इँ**, **–इं** और **–णि** तीनों रूपों का व्यवहार सिखाते हैं और क्रम० ३, २८ तथा मार्क० पन्ना ४३ में कहा गया है कि इस स्थान में केवल **–इं** काम में लाया जाना चाहिए। महा० में **–इं**, **–इँ** और **–इ** का प्रयोग मिलता है : **णअ-**

णाइं = नयनानि है (हाल ५); अगाइँ वि पिआइं रूप काम में आया है (हाल ४०); रअणाइ व गरुअगुणसआइ = रत्नानीव गुरुकगुणशतानि (रावण० २, १४) है। अ०माग० में सब से पुराने पाठों मे -इँ और उसके साथ साथ -णि पूर्ण शुद्ध रूप मान कर काम मे लाया गया है : पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं = प्राणान् भूतानि जीवानि सत्वानि (आयार० १, ६, ५, ४ ; १, ७, २, १ ; २, २, १,११), इसके साथ साथ पाणाणि वा भूयाणि वा जीवाणि वा सत्ताणि वा आया है (आयार० पेज १३२, २८) ; उदगपसूयाणि कन्दाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा भी पाया जाता है (आयार० २, २, १, ५) । दोनों रूप बहुधा साथ साथ मिलते हैं : से ज्जाइं पुण कुलाइं जाणेज्जा तं जहा उग्गकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइन्नकुलाणि वा...इसके पश्चात् कुलाणि वाले नौ समास और इस वाक्यांश में आये हैं (आयार० २, १, २, २) ; अगाराइं चेइयाइं तं जहा आएसणाणि वा आययणाणि वा देवकुलाणि वा—इसके बाद अन्त में -आणि वाले ग्यारह रूप हैं—तहप्पगाराइं आएसणाणि वा...भवणगिहाणि वा (आयार० २, २, २, ८) भी आया है ; अण्णाणि य बहूणि गब्भादाणजम्मण-मू-आइयाइं कोउयाइं (ओव० [§ १०५]) भी मिलता है। एक ही श्लोक मे खेत्ताइं और खेत्ताणि रूप आये हैं = क्षेत्राणि (उत्तर० २५, ६) है। शब्द के अन्त में -णि आनेवाला रूप जै०महा०[१] ही की भाँति ध्वनिबलहीन पूर्णाधार वर्णों से पहले चुना जाता है। अ०माग० में पद्य के भीतर छन्द की मात्राएँ भी -इं, -इँ और इ के चुनाव में निर्णायक हैं। इस तथ्य को ध्यान में रख कर उत्तरज्झयणसुत्त ३५७ पढ़ा जाना चाहिए। ताइं तु खेत्ताइँ सुपावयाइं = तानि तु क्षेत्राणि सुपापकानि है ; दसवेयलिय-सुत्त ६१९, १७ में पुप्फाइ बीआइं विप्पइण्णाइ रूप आया है ; ६२१, १ में सत्तु-चुण्णाइं कोलचुण्णाइँ आवणे पढ़ा जाना चाहिए। जै०महा० में इनका आपस का सम्बन्ध वही है जो अ०माग० में है : पञ्च पगूणाइं अद्दागसयाइं...पक्खित्ताइं = पञ्चैकोनान्य् आदर्शकशतानि...प्रक्षिप्तानि है ; निच्छिद्दाइं दाराइं = निश्छि-द्राणि द्वाराणि है (आव०एर्त्से० १७, १५ और १९) ; ताणि वि पञ्चचोर-सयाणि...संबोहियाणि पव्वइयाणि = तान्य् अपि पञ्चचोरशतानि... संबोधितानि प्रव्रजितानि (आव०एर्त्से० १९, २) है ; बहूणि वासाणि (एर्त्से० ३४, ३) और इसके साथ-साथ बहूइं वासाइं = बहूनि वर्षाणि है (एर्त्से० ३४, १७)। वाक्यांश जैसे वत्थाभरणाणि रायसन्तियाइं (एर्त्से० ५२, ८) अवश्य ही पद्य में अशुद्ध हैं, भले ही ये दोनों रूप बहुधा बहुत निकट पास पास में आते हों जैसे, पोंत्ताइं आणेहि। तीए रयणाणि आणियाणि (एर्त्से० ३१,८) है। वर० १२, ११ ; क्रम० ५, ७८ ; मार्क० पन्ना ६९ के अनुसार शौर० में -इं के साथ-साथ -णि भी काम में लाया जा सकता है। इस नियम के अनुसार सुहाणि = सुखानि (शकु० ९९, ४) और अपच्चणिव्विसेसाणि सत्ताणि = सपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि रूप आये हैं (शकु० १५४, ७)। अधिकांश हस्तलिपियाँ

में येही रूप हैं। वअणाणि = वचनानि के स्थान में (विक्रमो० २७, २२) उत्तम हस्तलिपियों मे वअणाइं लिखा पाया जाता है और इस प्रकार शौर० और माग० के सभी आलोचनापूर्ण पाठ केवल –इं देते हैं। बोली में कर्त्ता– और कर्मकारक बहुवचन के अन्त मे भी –आ आता है। यह बहुधा ऐसे रूपों के साथ जिनके अन्त में–इं अथवा –णि आता हो : अ०माग० में उदगपसूयाणि कन्दाणि वा मूलाणि वा तया पत्ता पुप्फा फला बीया आया है (आयार० २, ३, ३, ९); बहुसंभूया वणफला भी है (आयार० २, ४, २, १३ और १४), पाणा य तणा य पणगा य हरियाणि य (कप्प० एस. (S) § ५५) भी पाया जाता है। उपर्युक्त दूसरे उदाहरण में तया = *त्वचा = त्वचः हो सकता है (किन्तु *तयाणि की भी तुलना कीजिए, § ३५८)। तीसरे उदाहरण मे पाणा = प्राणाः ने उसके बाद आनेवाले तणा शब्द पर अपना प्रभाव डाला होगा। अन्य स्थलों पर यह मानने की नाममात्र भी सम्भावना नहीं है : माउयंगा = मात्रंगानि (ठाणंग० १८७); ठाणा = स्थानानि (ठाणंग० १६३ और १६५); पञ्च कुम्भकारावणसया = पञ्च-कुम्भकारावणशतानि (उवास० § १८४) है; नहा = नखानि, अहरोॅट्ठा और उत्तरोॅट्ठा = अधरोष्ठे और उत्तरोष्ठे है (कप्प० एस. (S) § ४३); चत्तारि लक्खणा आलम्बना = चत्वारि लक्षणानि, आलम्बनानि है (ओव० पेज ४२ और उसके बाद)। जे०महा० मे पञ्च सया पिण्डिया (आव०एर्त्से० २७, १) आया है, किन्तु इसके साथ-साथ पञ्च पञ्च सुवण्णसयाणि भी मिलता है (आव० १६, ३०), शौर० में मिधुणा (मृच्छ० ७१, २२) और इसके साथ-साथ मिधुणाइं (मृच्छ० ७१, १४) भी पाया जाता है; जाणवत्ता = यानपात्राणि (मृच्छ० ७२, २३ और ७३, १) है, विरइदा मए आसणा = विरचितानि मयासनानि है (मृच्छ० १३६, ६)। इसके साथ साथ आसणाइं रूप भी देखने में आता है (मृच्छ० १३६, ३) और माग० में भी यही रूप आया है (मृच्छ० १३७, ३); दुवे पिआ उअणदा = द्वे प्रिये उपनते है (विक्रमो० १०, ३) और अणुराअसूअआ अक्खरा = अनुरागसूचकानि अक्षराणि है (विक्रमो० २६, २)। १, ३३ में हेमचन्द्र निम्नलिखित रूपों का उल्लेख करता है : नअणा = नयनानि; लोअणा = लोचनानि; वअणा = वचनानि; दुक्खा = दुःखानि और भाअणा = भाजनानि। वह उक्त शब्दों में पुलिंग का रूप देखता है, जो सभव है। बहुसख्यक नपुसकलिंग के शब्द जो पुलिंग बन गये हैं, मेरे विचार से इस तथ्य का पता देते हैं कि जिस रूप के अत में –आ आता है वह इससे मिलते जुलते वैदिक रूप के समान माना जाना चाहिए और इसके कारण ही इस लिंगपरिवर्तन का अवसर मिला है। अप० में समाप्तिसूचक अथवा अतिम विभक्ति के रूप –इ और –इँ से पहले बहुधा ह्रस्व स्वर आता है : अहिउलइँ = अहिकुलानि, लोअणइँ जाईसरइँ = लोचनानि जातिस्मराणि; मणोरहइँ = मनोरथाः और णिच्चिन्तइँ हरिणाइँ = निश्चिन्ताः हरिणाः है (हेच० ४,३५३; ३६५,१,४१४,४, ४२२,२०)।

१. लास्सन का यही मत था, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ३०७।

— २. औसगेवैल्ते एर्सेलुगन की भूमिका का पेज ३६ § ३९। अ०माग० में बार-बार ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जै०महा० में भले ही मैंने अंत में -णि वाले रूप इतनी अधिक संख्या में उद्धृत किये हैं तो भी, मैं इस नियम को प्रमाणित नहीं कर सकता। — ३ पिशल, डे कालिदासाए शाकुंतलि रेसेन्सिओनिबुस, पेज २९ और उसके बाद, कू बाइ. ८, १४२। मालविका०, पेज १८३ और भूमिका के पेज ९ में बोॅल्लें नसेन ने अशुद्ध मत दिया है।

§ ३६७ अ—पुलिंग के कर्मकारक बहुवचन में सभी प्राकृत बोलियों में विभक्ति का रूप -ए अंत में लगाया जाता है। यह रूप सर्वनाम की रूपावली से ले लिया गया है[1]। महा० में चलणे = चरणो ; णीअअमे और गरुअअरे = नीचतमान् तथा गुरुकतरान् हैं, दोसे = दोषान् है (गउड० २४, ८२, ८८७), दोसगुणे = दोषगुणो, पाए = पादौ, सहत्थे = स्वहस्तौ है (हाल ४८, १३०, ६८०), धरणिहरे = धरणिधरान्, महिहरे = महीधरान् है, भिण्णअडे अ गरुए तरंगप्पहरे = भिन्नतटांश् च गुरुकान्स्तरंगप्रहारान् है (रावण० ६, ८५, ९०, ९, ५३), अ०माग० में समणमाहणअइहिकिवणवणीमगे = श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवनीपकान् (आयार० २,२,२,८ और ९), साहिए मासे = साधिकान् मासान् (आयार० १,८,१,२, ४,६) है, इमे एयारूवे उराले कल्लाणे सिवे धन्ने मंगल्ले सस्सिरीए चोद्दस महासुमिणे = इमान् एतद्रूपान् उदारान् कल्याणान् शिवान् धन्यान् मांगल्यान् सश्रीकाश् चतुर्दश महास्वप्नान् (कप्प० § ३) है, जै०महा० में भोए = भोगान् (आव०एर्त्से० ८, २४, १२, १४ और २०, द्वार० ४९५, ७) है, ते नगरलोए जलणसभमुब्भन्तलोयणे पलायमाणे = तान् नगरलोकान् ज्वलनसंभ्रमोद्भ्रान्तलोचनान् पलायमानान् है (आव०एर्त्से० १९, २०), ते य समागए = तांश् च समागतान् (कालका० २६३,२२), जै०शौर० में सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे समणे य -वीरियायारे = शेषान् पुनस् तीर्थकरान् सर्वसिद्धान् विशुद्धसद्भावाश् श्रमणांश् च -वीर्याचारान् है (पव० ३७९, २), विविधे विसए = विविधान् विषयान् है (पव० ३८४,४९), शौर० में अदिकन्तकुसुमसमए वि रुक्खए = अतिक्रान्तकुसुमसमयान् अपि रुक्षकान् है (शकु० १०, २), पुरा पडिण्णादे दुवे वरे = पुरा प्रतिज्ञातौ द्वौ वरौ (महावीर० ६५, ५) है, दारके = दारका (उत्तररा० १११, ८) है, माग० में अवले = अपरान् है (मृच्छ० ११८, १४), णिअपाणे विहवे कुले कलत्तेअ = निजप्राणान् विभवान् कुलानि कलत्राणि च (मुद्रा० २६५,७)[2], दाक्षि० में सुम्भणिसुम्भे = शुम्भनिशुम्भौ है (मृच्छ० १०५, २२)। इस बात का स्पष्टीकरण कि शब्द के अंत में नपुंसकलिंग में भी यही -ए आता है, जैसे अ०माग० में बहवे जीवे = बहूनि जीवानि है (उवास० § २१८), शौर० में दुवे रुक्खसेअणके = द्वे रुक्षसेचनके (शकु० २४,१) है, अप० में भुअणे = भुवनानि है (पिंगल १,६२ बी), § ३५६ और उसके बाद के § में वर्णित लिंगपरिवर्तन से होता है। बोली में पुलिंग का कर्म

कारक बहुवचन के अंत में भी **–आ** पाया जाता है जो = **–आन्** है (§ ८९ ; सिंह० पन्ना ६) : महा० में **गुणा = गुणान्** और **णिद्धणा = निर्धनान्** है (शकु० ५७, ५ और ६) ; सिंहासन जो इंडिशे स्टुडिएन १५, ३३५ में छपी है [यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; वेताल०, पेज २१९ संख्या १७, संस्करण, जले (हेच० २, ७२ की टीका) ; **दोसा = दोषान्** है (शकु० ५७, ५ और ६) ; अ०माग० में **रुक्खा महल्ला = रुक्षान् महतः** (आयार० २, ४, २, ११ और १२)[१] ; **पुरिसा** और **आसा = पुरुषान्** तथा **अश्वान्** हैं (नायाध० १३७८ ; १३८८ और उसके बाद) ; **वन्धवा = वान्धवान्** (उत्तर० ५७६) है ; **संफासा = संस्पर्शान्** है (आयार० १, ८, २, १४) ; **उवस्सया = उपाश्रयान्** [(कप्प० एस. (S) § ६०) है ; छंद की मात्राएँ ठीक करने के लिए **गुण = गुणान्** हो जाता है (दस० ६३७, ४) । अप० में –आ और –अ वाले रूप काम में लाये जाते हैं : **सरला सास = सरलाञ् श्वासान्** ; **णिरक्खअ गअ नीरक्षकान् गजान्** ; **देसडा = देसान्** ; **सिद्धत्था = सिद्धार्थान्** है (हेच० ४, ३८७, १ ; ४१८, ३ ; ६ ; ४२३, ३) ; **मण्डा = मण्डकान्** ; **विपक्खा = विपक्षाद्** ; **कुञ्जरा = कुञ्जरान्** और **कवन्धा = कवन्धान्** है (पिंगल १, १०४ ए ; ११७ ए ; १२० ए ; २, २३०) । अनुस्वार स्वर के साथ कर्मकारक का एकमात्र रूप माग० में **दालम् = दारान्** अवशेष के रूप में रह गया है (प्रबोध० ४७, १ = ५०,५ पूना संस्करण = ५८, १६ मद्रासी संस्करण), यदि इसका पाठ शुद्ध होतो। बबइया संस्करण १०२, ३ में व्याकरण और छन्द की मात्राओं के विरुद्ध **लिसिणं दालाणं** रूप छपा है।

१. वेबर, हाल[२], पेज ५१ ; एस. गौल्दश्मित्त, कू० त्सा० २५, ४३८ ।— २. यह पद इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिए : **यइ महध लक्किउं णिअपाणे विहवे कुले कलत्ते अ** (हिल्लेब्रांद्त, त्सा० डे० डो० मौ० गे० ३९, १२८)। § ३६६ ब के अनुसार **कुले** और **कलत्ते** कर्मकारक एकवचन भी माने जा सकते हैं। —३. § ३५८ और ३६७ के अनुसार नपुंसकलिंग कर्मकारक बहुवचन भी माना जा सकता है ।

§ ३६८—सभी प्राकृत भाषाओं में करणकारक बहुवचन के रूप के अंत में **–एहिं** आता है जो = वैदिक **एभिस्** के (§ ७२) जो पद्य में **–एँहि** और **एहि** रूपों में बदल जाता है (§ १७८), अ०माग० और जै०महा० में गद्य में भी ध्वनिबलहीन पृष्ठाधार अव्ययों से पहले **–एहिं** में परिवर्तित हो जाता है (§ ३५०) : महा० में **अमूलल्लुएहि सासेहिं = अमूललघुकैः श्वासैः** है (गउड० २३) ; **अवहत्थिअसब्भावेहि दक्खिण्णभणिएहिं = अपहस्तितसद्भावैर् दाक्षिण्यभणितैः** (हाल (३५३) है ; **कञ्चणसिलाअलेहिं छिण्णाअवमण्डलेहि = काञ्चनशिलातलैश्छिन्नातपमण्डलैः** है (रावण० ९, ५५) । अधिक सभव यह लगता है कि ऐसे स्थलों पर –हि के स्थान में **–हिँ** पढा जाना चाहिए (§ १७८ ; § ३७० की तुलना कीजिए) । अ०माग० में **तिलएहिं लउएहिं छत्तोवेहिं सिरीसेहिं सत्तवण्णेहिं**— इसके अनन्तर और १९ करणकारक एक के बाद एक लगातार आते हैं— = **तिलकैर्**

लकुचैश्" छत्रोपैः शिरीषैः सप्तपर्णैः है (ओव० § ६); सत्तेहिं तच्चेहिं तहियेहिं सम्भूएहिं अणिट्ठेहिं अकन्तेहिं अप्पियएहिं अमणुण्णेहिं अमणामेहिं वागरणेहिं = सद्भिस् ॰तात्वैस् (§ २८१) तथ्यैः सद्भूतैर् अनिष्टैर् अकान्तैर् अप्रियैर् अमनोज्ञैर् ॰ अमनापैर् व्याकरणैः है (उवास० § २५९); जै०महा० में मायन्द-महुअविन्देहिं = माकन्दमधुकवृन्दैः है (कक्कुक शिलालेख १८); वत्थाभरणेहिं = वस्त्राभरणैः (आव०एर्से० २६, २७); तेहिं कुमारेहिं = तैः कुमारैः (आव० एर्से० ३०, ९); जै०शौर० में विहवेहिं = विभवैः ; सहस्सेहिं = सहस्रैः है (पव० ३८०, ६ और १२); मणवयकाएहिं = मनोवचःकायैः (कत्तिगे० ४००,३३२) है ; शौर० में जणेहिं = जनैः (ललित० ५६८, ६ ; मृच्छ० २५, १४); जादसंकेहिं देवेहिं = जातशंकैर् देवैः है (शकु० २१, ५) ; भमर-संघविहडिदेहिं कुसुमेहिं = भ्रमरसंघविघटितैः कुसुमैः (विक्रमो० २१, ९) ; माग० में तत्तस्तेहिं = तत्रस्थैः है (ललित० ५६५, २०) ; अत्तणकेलकेहिं पादेहिं = आत्मीयाभ्याम् पादाभ्यां है (मृच्छ० १३,९); मश्चबन्धणोवाएहिं = मत्स्यबन्धनोपायैः है (शकु० ११४, २) ; ढक्की में, विप्पदीवेहिं पादेहिं = विपरीताभ्यां पादाभ्याम् है ; अप० में लक्खेहिं = लक्षैः ; सरेहिं, सरवरेहिं, उज्जाणवणेहिं, णिवसन्तेहिं और सुअणएहिं = शरैः, सरोवरैः, उद्यानवनैः, निवसद्भिः तथा सुजनैः (हेच० ४, ३३५ ; ४२२, ११) है। अप० में करणकारक के अन्त में बहुधा –अहिँ लगाया जाता है : गुणहिँ = गुणैः ; पआरहिँ = प्रकारैः ; सव्वहिँ पन्थिअहिँ = सर्वैः पन्थिकैः है (हेच० ४, ३३५ ; ३६७, ५; ४२९, १) ; खग्गहिँ = खड्गैः ; गअहिँ, तुरअहिँ और रहहिँ = गजैः, तुरगैः तथा रथैः (पिंगल १, ७ ; १४५ अ. ए.) हैं। इस विषय पर और अन्त में –एँहिं और –इहिं लगानेवाले करणकारक के विषय में § १२८ देखिए।

§ ३६९—व्याकरणकारों ने अपादानकारक बहुवचन के जो बहुसंख्यक रूप दिये हैं उनमें से अब तक केवल एक रूप जिसके अन्त में –एहिंतो आता है, प्रमाणित किया जा सका है। यह रूप अप० में बहुत अधिक आता है और स्पष्ट ही इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि यह करणकारक बहुवचन प्रत्यय –तस् से निकला है जो अपादानकारक एकवचन की विभक्ति है जैसा, –सुंतो वाला रूप अधिकरण बहुवचन तस् से निकला है : तिलेहिंतो = तिलेभ्यः (सूय० ५९४) ; मणुस्सेहिंतो वा पञ्चिन्दियतिरिक्खजोणिएहिंतो वा पुढविक्काइएहिंतो वा = मनुष्येभ्यो वा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकेभ्यो वा पृथिवीकायिकेभ्यो वा है (ठाणंग० ५८); णेरइएहिंतो वा तिरिक्खजोणिएहिंतो वा मणुस्सेहिंतो वा देवेहिंतो वा भी आया है (ठाणंग० ३३६ ; विवाह० १५३४ की तुलना कीजिए और यह रूप अन्य स्थलों पर भी बहुत मिलता है) ; सप्पिसएहिंतो रायकुलेहिंतो = सदृशकेभ्यो गजकुलेभ्यः (नायाध० § १२३) है ; कोलघरिएहिंतो घएहिंतो = कौलगृहिकेभ्यो घजेभ्यः (उवास० § २४२ और २४३) है। ऐसे स्थलों पर जैसे थेरेहिंतो णं गोदासेहिंतो, कासवगोत्तेहिंतो ; ···हुलुएहिंतो रोहगुत्तेहिंतो कोसियगोत्ते-

हिंतो आदि-आदि में बहुवचन का वृहत् रूप माना जाना चाहिए। इसके साथ साथ अ०माग० और जै०महा० में एक और अपादानकारक है जिसके अन्त में -एहिं लगता है = संस्कृत एभ्यः है। इसमें करणकारक और अपादानकारक एक में मिल गये हैं : अ०माग० में : -नामधेज्जेहिं विमाणेहिं ओइण्णा = -नामधेयेभ्यो विमानेभ्यो' वतीर्णः है (ओव० § ३७); सएहिं सएहिं गेहेहिंतो निग्गच्छन्ति = स्वकेभ्यः स्वकेभ्यो गृहेभ्यो निर्गच्छन्ति है (कप्प० § ६६ ; नायाध० १०४८ की तुलना कीजिए ; विवाह० १८७ ; ९५० ; ९८३); सएहिं सएहिं णगरेहिंतो णिग्गच्छन्ति = स्वकेभ्यः स्वकेभ्यो नगरेभ्यो निर्गच्छन्ति (नायाध० ८२६) है ; गारत्थेहि य सव्वेहिं साहवो संजमुत्तरा = गृहस्थेभ्यश् च सर्वेभ्यः साधवः संयमोत्तराः है (उत्तर० २०८); जै०महा० में झरेइ रोमकूवेहिं सेओ = क्षरति रोमकूपेभ्यः स्वेदः है (एर्से० ४, २३ ; याकोबी § ९५ की तुलना कीजिए)। § ३७६ की तुलना कीजिए। अप० में अपादानकारक के अन्त में -अहुँ आता है : गिरिसिंगहुँ = गिरिशृंगेभ्यः ; मुहहुँ = मुखेभ्यः है (हेच० ४, ३३७ ; ४२२, २०) ; रुक्खहुँ = रूक्षेभ्यः है (क्रम० ५, २९)। -हुँ और -हुँ ध्वनि की दृष्टि से अपादानकारक द्विवचन के विभक्ति के रूप -भ्याम् पूर्णतया मिलता है। यह -हुं और -हुँ सतो का संक्षिप्त रूप है करके लास्सन का मत है (लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ४६३), किन्तु यह मत अशुद्ध है।

§ ३७०—सम्बन्धकारक बहुवचन के अन्त में सभी प्राकृत भाषाओं में आणं आता है = संस्कृत -आनाम् है। किन्तु महा० में अनुनासिकहीन रूप -आण का बहुत अधिक प्रचलन है। यह रूप अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में भी पाया जाता है। अ०माग० में यह विशेष कर ध्वनिबलहीन पूर्वाधार अव्ययों के पहले आता है (§ ३५०), पर कभी कभी अन्यत्र भी देखने में आता है जैसे, गणाण मज्झे = गणानाम् मध्ये (कप्प० § ६१ = ओव० § ४८, पेज ५५, १३) = नायाध० § ३५) है। महा० में जिन स्थलों पर दोनों रूप एक के बाद एक आते हों जैसे, कुडिलाण पेम्माणं = कुटिलानां प्रेमणाम् (हाल १०) है ; मआण ओणिमिलच्छाणं = मृगानाम् अवनीमिलिताक्षाणाम् (रावण० ९, ८७) है ; सज्जणाणं पम्हुसिअदसाण = सज्जनानां विस्मृतदशानाम् (गउड० ९७१) में जैसे कि नपुंसकलिंग के कर्त्ता- और कर्मकारक, करण- और अधिकरणकारक बहुवचन के इसी प्रकार के स्थलों पर, -आण के स्थान में -आणँ पढ़ा जाना चाहिए (§ १७८)। इसकी ओर रावण० से उद्धृत ऊपर के उदाहरण की तुकबन्दी भी निर्देश करती है। शौर० और माग० में पद्य को छोड़ सर्वत्र केवल -आणं रूप काम में आता है। ४, ३०० में हेच० ने बताया है कि माग० में सम्बन्धकारक बहुवचन का एक और रूप -आहँ भी चलता है। उसने शकुंतला से जिस पद का उल्लेख उदाहरण में किया है वह किसी हस्तलिपि में नहीं पाया जाता है (§ १७८); स्वयं ललितविग्रहराजनाटक में, जो हेच० के नियमों से सबसे अधिक मिलता है, अन्त में -आणं वाला सम्बन्धकारक है (५६५, १४ , ५६६, ३ , १० और ११)। इसके विपरीत अप० में अपादानकारक

लकुचैश्* छत्रौपैः शिरीपैः सप्तपर्णैः है (ओव० § ६); सत्तेहिं तच्चेहिं तहियेहिं सब्भूएहिं अणिट्ठेहिं अकन्तेहिं अप्पिएहिं अमणुण्णेहिं अमणामेहिं वागरणेहिं = सद्भिस् ;तात्त्वैस् (§ २८१) तथ्यैः सद्भूतैर् अनिष्टैर् अकान्तैर् अप्रियैर् अमनोज्ञैर् *अमनापैर् व्याकरणैः है (उवास० § २५९); जै०महा० में मायन्द-महुअविन्देहिं = माकन्दमधुकवृन्दैः है (कक्कुक शिलालेख १८); वत्थाभरणेहिं = वस्त्राभरणैः (आव०एर्त्से० २६, २७); तेहिं कुमारेहिं = तैः कुमारैः (आव० एर्त्से० ३०, ९); जै०शौर० में विहवेहिं = विभवैः; सहस्सेहिं = सहस्रैः हैं (पव० ३८०, ६ और १२); मणवयकाएहिं = मनोवचःकायैः (कत्तिगे० ४००,३३२) है; शौर० में जणेहिं = जनैः (ललित० ५६८, ६; मृच्छ० २५, १४); जादसंकेहिं देवेहिं = जातशंकैर् देवैः है (शकु० २१, ५); भमर-संघविहडिदेहिं कुसुमेहिं = भ्रमरसंघविघटितैः कुसुमैः (विक्रमो० २१, ९); माग० में तत्तस्तेहिं = तत्रस्थैः है (ललित० ५६५, २०); अत्तणकेलकेहिं पादेहिं = आत्मीयाभ्याम् पादाभ्यां है (मृच्छ० १३,९); मच्छबन्धणोवाएहिं = मत्स्यबन्धनोपायैः है (शकु० ११४, २); ढक्की में, विप्पदीवेहिं पादेहिं = विप्रतीयाभ्यां पादाभ्याम् है; अप० में लक्खेहिं = लक्षैः; सरेहिं, सरवरेहिं, उज्जाणवणेहिं, णिवसन्तेहिं और सुअणएहिं = शरैः, सरोवरैः, उद्यानवनैः, निवसद्भिः तथा सुजनैः (हेच० ४, ३३५; ४२२, ११) है। अप० में करणकारक के अन्त में बहुधा –अहिं लगाया जाता है: गुणहिँ = गुणैः; पआरहिँ = प्रकारैः; सव्वहिँ पन्थिअहिँ = सर्वैः पन्थिकैः है (हेच० ४, ३३५; ३६७, ५; ४२९, १); खग्गहिँ = खड्गैः; गअहिँ, तुरअहिँ और रहहिँ = गजैः, तुरगैः तथा रथैः (पिंगल १, ७; १४५ अ. ए.) हैं। इस विषय पर और अन्त में –एँहिं और –इहिं लगानेवाले करणकारक के विषय में § १२८ देखिए।

§ ३६९—व्याकरणकारों ने अपादानकारक बहुवचन के जो बहुसंख्यक रूप दिये हैं उनमें से अब तक केवल एक रूप जिसके अन्त में –एहिंतो आता है, प्रमाणित किया जा सका है। यह रूप अप० में बहुत अधिक आता है और स्पष्ट ही इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि यह करणकारक बहुवचन प्रत्यय –तस् से निकला है जो अपादानकारक एकवचन की विभक्ति है जैसा, –त्तुंतो वाला रूप अधिकरण बहुवचन तस् से निकला है: तिलेहिंतो = तिलेभ्यः (सूय० ५९४); मणुस्सेहिंतो वा पञ्चिन्दियतिरिक्खजोणिएहिंतो वापुढविक्काइएहिंतो वा = मनुष्येभ्यो वा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकेभ्यो वा पृथिवीकायिकेभ्यो वा है (ठाणंग० ५८); णेरइ-एहिंतो वा तिरिक्खजोणिएहिंतो वा मणुस्सेहिंतो वा देवेहिंतो वा भी आया है (ठाणंग० ३३६; विवाह० १५३४ की तुलना कीजिए और यह रूप अन्य स्थलों पर भी बहुत मिलता है); नरिसप्पेहिंतो रायकुलेहिंतो = नदशकेभ्यो राजकुलेभ्यः (नायाध० § १२३) है; फोलघरिएहिंतो घरेहिंतो = कौलगृहिकेभ्यो ग्रहेभ्यः (उवास० § २४२ और २४३) है। ऐसे स्थलों पर जैसे थेरेहिंतो णं गोदामेहिंतो, कासवगोत्तेहिंतो; …छुलुएहिंतो रोहगुत्तेहिंतो कोसियगोत्ते-

गअहिँ = गतेषु ; केसहिँ = केशेषु और अण्णहिँ तरुअरहिँ = अन्येषु तरुवरेषु है (हेच० ४, ३४५ ; ३४७ ; ३७०, ३ ; ४२२, ९)। हेमचन्द्र ४, ४२३, ३ मे गवक्खेहिं के स्थान में गवक्खहिँ पढ़ा जाना चाहिए। ४४५, २ [मेरी प्रति में यह ४४५, १ है। —अनु०] मे भी [डुंगरिहिं। —अनु०] के स्थान पर डुंगरहिँ होना चाहिए। अ०माग० मे भी करणकारक का प्रयोग अधिकरण के अर्थ मे भी होता है जैसे, जगनिस्सिएहिँ भूएहिं तसनामेहि थावरेहिं च नो तेसिम् आरभे दण्डं है (उत्तर० २४८)। § ३७६ की तुलना कीजिए।

१. पिशल, डे कालिदासाए शाकुंतलि रेसेंन्सिओनिबुस, पेज १३० की तुलना कीजिए।

§ ३७२—प्राकृत भाषाओं मे संबोधनकारक कर्त्ताकारक के समान है। अ० माग० मे अज्जो और अम्मयाओ शब्द भी संबोधनकारक के बहुवचन रूप में व्यवहृत होते हैं (§ ३६६ ब)। माग० के संबंधकारक बहुवचन के लिए क्रमदीश्वर ५, ९४ में बताया गया है (इस संबंध मे लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ३९३ की तुलना कीजिए)। इसके अंत मे –हु रूप भी आता है और मार्कंडेय पन्ना ७५ में कहा गया है कि –हो आता है और मूल शब्द का –अ जो इस विभक्ति से पहले आता हो वह दीर्घ कर दिया जाता है : बम्हणाहु = ब्राह्मणाः (क्रम० ५, ९७) है। यही संबोधनकारक का रूप भस्टालकाहो में है, जो मृच्छकटिक १६५, १ और ५ में आया है पर भट्टालकाहो छापा गया है। यह भस्टालकाहो पढ़ा जाना चाहिए। यह अप० में भी साधारण रूप है जिसमें संबोधन बहुवचन के अंत में –हों आता है किंतु मूल शब्द का अ दीर्घ नहीं किया जाता : तरुणहों = तरुणाः ; लोअहों = लोकाः है (हेच० ४, ३४६, ३५०, २ ; ३६५, १)। अप० मे सभी वर्गों के अंत मे –हों लगाया जाता है : तरुणिहों = तरुण्यः (हेच० ३, ३४६) है, अग्गिहों = अग्नयः ; महिलाहों = महिलाः (क्रम० ५, २०), चदुम्मुहहों = चतुर्मुखाः ; हरिहों = हरयः और तरुहों = तरवः है (सिंह० पन्ना ६८ और उसके बाद)। लास्सन ने इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ३९९ मे पहले ही ठीक पहचान कर ली थी कि माग० के रूप –आहु (–आहो) के भीतर वैदिक विभक्ति –आसस् छिपी है। चूंकि उसने क्रमदीश्वर का मागधी का नियम भूल से कर्त्ताकारक बहुवचन पर लगा दिया, इस कारण उसने पेज ४६३ मे अप० रूप को मागधी से अलग कर दिया और हो सम्बोधन का रूप हो ढूँढ लिया जैसा लोग अबतक मृच्छकटिक १६५, १ और ५ के विषय में कर रहे हैं। अप० में –अ वर्ग के अन्त मे आनेवाली विभक्ति को शेष सभी स्वरों के वर्गों में ले लिया गया है, जो अ०माग० संज्ञाए –उ वर्ग में चली गयी हैं जैसे, भिक्खु–, पाणु–, पिलंखु–, मन्थु– और मिलक्खु के लिए § १०५ देखिए।

§ ३७३—पल्लव– और विजयबुद्धवर्मन् के दानपत्रों में अ– वर्ग की रूपावली शौर० से हूबहू मिलती है। कुछ भिन्नता देखी जाती है तो सम्प्रदानकारक एकवचन में, जो शौर० में काम में नहीं लाया जाता। पल्लवदानपत्रों में यह दो रूपों में देखा

बहुवचन व्यक्त करने के लिए शब्द के अन्त में –आहँ और इसका ह्रस्व रूप –अहं सबसे अधिक काम में लाया जाता है। इसका सम्बन्ध सर्वनाम की विभक्ति –साम् से है : णिवट्टाहँ = निवृत्तानाम् ; सोक्खहँ = सौख्यानाम् ; तणहँ = तृणानाम् ; मुक्काहँ = मुक्तानाम् ; मत्तहँ मअगलहँ = मत्तानां मदकलानाम् ; सउणाहँ = शकुनानाम् है (हेच० ४, ३३२ ; ३३९ ; ३७० ; ४०६ ; ४४५, ४) ; वंककडक्खहँ लोअणहँ = वक्रकटाक्षयोर् लोचनयोः है (वेताल० पेज २१७ संख्या १३) ; महब्भउहँ = महाभटानाम् है (कालका० २६१, ५)। चड० १, ५ के अनुसार इस कारक को व्यक्त करने के लिए कहीं कहीं शब्द के अन्त में –हं और इसके साथ साथ –णं भी आता है : देवाहं और इसके साथ साथ देवाणं तथा ताहं और इसके साथ साथ ताणं रूप चलते हैं [इन शब्दों और विभक्तियों के रूप कुमाउनी में *तनन् , हमन् , आपतन्* ; *आदि काम में आते हैं। –हं का यथेष्ट प्रचार है किन्तु इससे दूसरे कारक का बोध होता है। —अनु०*]। *चंड० के शेष उदाहरण –आ, –न* और सर्वनाम की रूपावली हेमचन्द्र ४, ३०० में दिये गये हैं, जो हेमचन्द्र ने महा० के रूप बताये हैं।

§ ३७१—महा०, अ०माग० और जै०महा० में अधिकरण बहुवचन के अन्त में –एसु = सस्कृत में –एषु बहुत अधिक पाया जाता है, इसके साथ कभी कभी एसुं काम में लाया जाता है जैसे, महा० में सचन्दनेसुं आरोविअरोअणेसु (पाठ में सुँ है ; § ३७०) = सचन्दनेष्व् आरोपितरोचनेषु है (गउड० २११) ; वणेसुं = वनेषु (हाल ७७) ; अ०माग० में नायाधम्मकहा § ६१ — ६३ में –सु से नाना रूपों का प्रयोग किया गया है। इस विषय पर हस्तलिपियों और कलकतिया संस्करण पेज १०६ और उसके बाद सर्वत्र आपस में नहीं मिलते इसलिए सर्वत्र –सु पढ़ा जाना चाहिए। शौर० के पाठों में आशिक रूप से –सु मिलता है (ललित० ५५५, ११ और १२ ; मृच्छ० ९, २ ; २४, २५ ; २५, १ ; ३७, २३ , ७०, ३ ; ७१, १७ ; ९७, २२ ; १००, २ आदि-आदि ; मालवि० १९, १२ ; ३०, ६ , ४१, १९ और २० ; ६७, १० ; ७५, १ ; विक्रमो० ३५, ६ , ७५, ३ और ६) और आधिक रूप में सुं आया है (विक्रमो० २३, १३ ; ५२, १ और ५ तथा ७[१] ; शकु० ९, १२ ; ३०, २ ; ५०, १२ ; ५१, ५ ; ५३, ९, ६०, ८ ; ६४, २ ; ७२, १२ आदि-आदि ; यह बगाली पाठों में मिलता है जब कि काश्मीरी, द्राविडी और देवनागरी पाठों में केवल –सु मिलता है)। भारतीय छपे सस्करणों में सबसे अधिक –सु मिलता है। माग० में मृच्छकटिक १९, ६ में पाण्डुं रूप है किन्तु १२१, २० और २२ में पादेशुं रूप दिया गया है। इनके साथ साथ पत्र में १२१, २४ में चळणेशु और १२२, २२ में फेलेशु रूप मिलते हैं। वेणीसहार ३५,१९ में फेलेशु रूप आया है। मुद्राराक्षस १९१, ९ में कम्मेशु = कर्मसु है और प्रबोधचन्द्रोदय ६२, ७ में पुलिशेशु पाया जाता है। करण- तथा सम्प्रदानकारक की नकल पर जिनके अन्त में सदा — आता है, गद्य में सुं और माग० में शुं शुद्ध माना जाना चाहिए। *अप० में अपादान- और अधिकरण* कारक आपस में एक हो गये हैं : सअहिँ = शतेषु ; मग्गहिँ = मार्गेषु ;

गअहिँ = गतेषु ; केसहिँ = केशेषु और अण्णहिँ तरुअरहिँ = अन्येषु तरुवरेषु है (हेच० ४, ३४५ ; ३४७ ; ३७०, ३ ; ४२२, ९) । हेमचन्द्र ४, ४२३, ३ में गवक्खेहिं के स्थान में गवक्खहिँ पढ़ा जाना चाहिए । ४४५, २ [मेरी प्रति में यह ४४५, १ है । —अनु०] में भी [डुंगरिहिं । —अनु०] के स्थान पर डुंगरहिँ होना चाहिए । अ०माग० में भी करणकारक का प्रयोग अधिकरण के अर्थ में भी होता है जैसे, जगनिस्सिएहिँ भूएहिं तसनामेहि थावरेहिं च नो तेसिम् आरभे दण्डं है (उत्तर० २४८) । § ३७६ की तुलना कीजिए ।

१. पिशल, डे कालिदासाए शाकुंतलि रेसेंसिओनिबुस, पेज १३० की तुलना कीजिए ।

§ ३७२—प्राकृत भाषाओं में संबोधनकारक कर्त्ताकारक के समान है । अ०माग० में अज्जो और अम्मयाओ शब्द भी संबोधनकारक के बहुवचन रूप में व्यवहृत होते हैं (§ ३६६ ब) । माग० के संबंधकारक बहुवचन के लिए क्रमदीश्वर ५, ९४ में बताया गया है (इस संबंध में लास्सन, इंस्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ३९३ की तुलना कीजिए) । इसके अंत में —हु रूप भी आता है और मार्कंडेय पन्ना ७५ में कहा गया है कि —हो आता है और मूल शब्द का —अ जो इस विभक्ति से पहले आता हो वह दीर्घ कर दिया जाता है : बम्हणाहु = ब्राह्मणाः (क्रम० ५, ९७) है । यही संबोधनकारक का रूप भस्टालकाहो में है, जो मृच्छकटिक १६५, १ और ५ में आया है पर भस्टालकाहो छापा गया है । यह भस्टालकाहो पढ़ा जाना चाहिए । यह अप० में भी साधारण रूप है जिसमें संबोधन बहुवचन के अंत में —हों आता है किंतु मूल शब्द का अ दीर्घ नहीं किया जाता : तरुणहों = तरुणाः ; लोअहों = लोकाः है (हेच० ४, ३४६, ३५०, २ ; ३६५, १) । अप० में सभी वर्गों के अंत में —हों लगाया जाता है : तरुणिहों = तरुण्यः (हेच० ३, ३४६) है, अग्गिहों = अग्नयः ; महिलाहों = महिलाः (क्रम० ५, २०), चउम्मुहहों = चतुर्मुखाः ; हारिहों = हरयः और तरुहों = तरवः है (सिंह० पन्ना ६८ और उसके बाद) । लास्सन ने इंस्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ३९९ में पहले ही ठीक पहचान कर ली थी कि माग० के रूप —आहु (—आहो) के भीतर वैदिक विभक्ति —आसस् छिपी है । चूंकि उसने क्रमदीश्वर का मागधी का नियम भूल से कर्त्ताकारक बहुवचन पर लगा दिया, इस कारण उसने पेज ४६३ में अप० रूप को मागधी से अलग कर दिया और हो सम्बोधन का रूप हो ढूंढ लिया जैसा लोग अबतक मृच्छकटिक १६५, १ और ५ के विषय में कर रहे हैं । अप० में —अ वर्ग के अन्त में आनेवाली विभक्ति को शेष सभी स्वरों के वर्गों में ले लिया गया है, जो अ०माग० संज्ञाए —उ वर्ग में चली गयी हैं जैसे, घिंसु—, पाणु—, पिलंखु—, मन्थु— और मिलक्खु के लिए § १०५ देखिए ।

§ ३७३—पल्लव— और विजयबुद्धवर्मन् के दानपत्रों में अ— वर्ग की रूपावली शौर० से हूबहू मिलती है । कुछ भिन्नता देखी जाती है तो सम्प्रदानकारक एकवचन में, जो शौर० में काम में नहीं लाया जाता । पल्लवदानपत्रों में यह दो रूपों में देखा

जाता है जिनमें से शब्द के अन्त में –आये जोडनेवाला रूप अ०माग० और जै०महा० के सम्प्रदानकारक के समान है (§ ३६१ और ३६४) ; किन्तु दूसरे रूप के अन्त में –आ आता है जब कि शौर० में सदा इस रूप के अन्त में –आदो लगाया जाता है (§ ३६५)।

(आ) आ–वर्ग के स्त्रीलिंग की रूपावली

§ ३७४—माला।

एकवचन

कर्त्ता—माला।

कर्म—मालं।

करण—महा० में मालाए, मालाइ, मालाअ, शेष प्राकृत बोलियों में केवल मालाए है, अप० में मालाएँ।

सम्प्रदान—मालाए, केवल अ०माग० में।

अपादान—महा०, अ०माग० और जै०महा० मे मालाओ, मालाउ [मालाहिंतो, मालाइ, मालाअ, मालत्तो] ; शौर० और माग० में मालादो तथा मालाए, अप० में मालहेँ है।

सम्बन्ध और अधिकरण—महा० में मालाए, मालाइ, मालाअ , शेष प्राकृत बोलियों में केवल मालाए पाया जाता है , अप० में सम्बन्धकारक का रूप मालहेँ और अधिकरण [मालहिं] है।

सम्बोधन—माले, माला।

बहुवचन

कर्त्ता, कर्म तथा सबोधन—महा०, अ०माग० और जै०महा० में मालाओ, मालाउ, माला ; शौर० और माग० में मालाओ, माला है।

करण—महा०, अ०माग० और जै०महा० मे मालाहि, मालाहिँ, मालाहिं ; शौर० और माग० मे मालाहिं है।

अपादान—महा० और अ०माग० में मालहिंतो [मालासुंतो, मालाओ, मालाउ], अप० में [मालाहु] है।

सबध—महा०, अ०माग० और जै०महा० में मालाण, मालाणँ, मालाणं ; शौर० और माग० में मालाणं , अप० में [मालहु] है।

अधिकरण—महा०, अ०माग० और जै०महा० में मालासु, मालासुँ, मालासुं ; शौर० और माग० मे मालासु, मालासुं है।

पल्लवदानपत्रों में कर्त्ताकारक एकवचन जैसे पट्टिका (७, ४८ और ५१) ; कड त्ति = कृतेति (७, ५१) और कर्मकारक एकवचन (अथवा बहुवचन) पाया जाता है। पिला याधा = पीडां बाधाम् (अथवा = पीडा बाधा.) है (६,४०), साथ साथ कर्मकारक एकवचन सीमं = सीमाम् मिलता है।

§ ३७५—आ–वर्ग की रूपावली के विषय में वररुचि ५, १९—२३; चंड० १, ३ ; ९ ; १० ; हेच० ३, २७ ; २९, ३० ; ४, ३४९–३५२ ; क्रम० ३, ७ ; २३ ; २५ ; २७ ; मार्क० पन्ना ४३ ; सिंह० पन्ना १४ और उसके बाद देखिए। अप० के कर्त्ताकारक एकवचन में –आ को ह्रस्व करने के विषय में § १०० देखिए। इस प्रकार से माग० रूप शेविद = सेविता है (मृच्छ० ११७, १)। इसमें करण–, संबंध– और अधिकरणकारक आपस में मिलकर एक हो गये हैं। व्याकरणकारों के अनुसार आंशिक रूप में अपादानकारक भी इनमें मिल गया है। इसका साधारण रूप मालाए = संस्कृत मालायै है। इसका तात्पर्य यह है कि यह = यजुर्वेद और ब्राह्मणों में काम में आनेवाला संबंध और अपादानकारकों का साधारण रूप, जिसका प्रचलन अवेस्ता में भी है[1]। पद्य में कभी-कभी –आए और –आइ में समाप्त होनेवाले रूप एक दूसरे के पास पास पाये जाते हैं जैसे, पुच्छिआइ मुद्धाए = पृष्टायाः मुग्धायाः (हाल १५) है। महा० में छंदों की मात्राएं ठीक करने के लिए –आइ रूप की प्रधानता दिखाई देती है। यही रूप सर्वत्र जहां तहां पाठों में –आए पढ़ा जाता हो, रखा जाना चाहिए। अधिकांश स्थलों पर शुद्ध पाठ –आइ पाया जाता है जैसे, गउड० ४४ ; ४६ ; ५६ ; ६५ ; ७१ ; २१२ ; २२२ ; २४३ ; २९० ; ४५३ ; ४७४ ; ६८४ ; ८७० ; ९३१ और ९५४ में। कुछ व्याकरणकार (हेच० ३, २९ ; क्रम० ३, २७ ; सिंह० पन्ना १४) –आअ में समाप्त होनेवाला एक और रूप बताते हैं। कुछ अन्य व्याकरणकार (वर० ५, २३ ; मार्क० पन्ना ४३) इसका निषेध करते हैं। ऐसे रूप बीच बीच में महा० में पाये जाते हैं। इस प्रकार : जोण्हाअ = ज्योत्स्नया है, णेवच्छकलाअ = नेपथ्यकलया ; हेलाअ = हेलया; हरिद्दाअ = हरिद्राया· और चंगिमाअ = चंगिमत्वेन (कर्पूर० बंबइया संस्करण ३१, १ ; ८६, ४ ; ५३, ९ ; ५५, २ ; ७१, ४ ; ७९, १२) है। कोनो ने इनके स्थान में यह पाठ पढ़ा है : जोण्हाइ, णेवच्छकलाइ, हेलाइ, हलिद्दीअ और चंगिमाइ (२९, १ ; ८६, ९ ; ५१, २ ; ५२, ४ ; ६९, ३ ; ७८, ९) है। कुछ हस्तलिपियों में कभी कभी अंत में –आअ लगानेवाला रूप भी मिलता है। चूंकि गउडवहो, हाल और रावणवहो यों –आअ से परिचित नहीं हैं इसलिए तिअडाय = त्रिजटायाः (रावण० ११, १००) और णिसण्णाअ = निषण्णायाः रूपों को एस० गौल्दश्मित्त के मत के अनुसार 'पंडितों का पाठ' न मानना चाहिए परंतु –आइ के स्थान में अशुद्ध रूप समझना चाहिए जैसा चंड ने किया है। यह –आअ रूप संस्कृत के अपादान– और संबंधकारक की विभक्ति –आयाः से निकली है जिस कारण जोण्हाअ = ज्योत्स्नायाः है और जिसका पूर्णतया मिलता जुलता रूप *जोण्हाआ, वररुचि ५, २३ ; हेमचंद्र ३,३० ; सिंहराज० पन्ना १४ में निषिद्ध है। अप० में –आए का ह्रस्व रूप –आएँ हो गया है : णिद्दए = निद्रया ; चन्दिमएँ = चन्द्रिमया ; उड्डावन्तिअएँ = उड्डापयन्त्या और मञ्जिट्ठएँ = मञ्जिष्ठया हैं (हेच० ४, ३३०, २ ; ३४९ ; ३५२ ; ४३८, २)। — अ०माग० में शब्द के अंत में –आए लगाकर बननेवाले संप्रदानकारक के विषय में § ३६१ और ३६४ देखिए।

व्याकरणकारों ने अपादानकारक एकवचन में जो जो रूप दिये हैं उनमें से मैं केवल -आओ में समाप्त होनेवाले तथा शौर० और माग० में -आदो वाले रूपों के प्रमाण बहुधा पाता हूं : अ०माग० में **पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहं अंसि दाहिणाओ वा दिसाओ...पच्चत्थिमाओ...उत्तराओ...उड्ढाओ = *पुरस्तिमातो वा दिश आगतो 'हम् अस्मि दक्षिणातो वा दिशः...* प्रत्यस्तिमातः .. उत्तरातः . ऊर्ध्वातः** है (आयार० १, १, १, २); **जिन्भाओ = जिह्वातः** है (आयार० पेज १३७,१); **सीयाओ = शिविकातः** है (नायाध० ८७० ; १०१७; ११८९ ; १३५४ ; १४१७); **छायाओ = छायातः** है (सूय० ६३९); **अट्टणसालाओ = अट्टनशालातः** है (कप्प० § ६० ; ओव० § ४८); **मायाओ = मायातः** (सूय० ६५४ ; ओव० § १२३); **सूणाओ = सूनातः** हैं (निरया० § १०) है ; शौर० में **बुभुक्खादो = बुभुक्षातः, दक्खिणादो** और **वामादो = दक्षिणातः** और **वामातः** तथा **पडो लिकोदा = प्रतोलिकातः** हैं (मृच्छ० २, २३ ; ९, ९ ; १६२, २३); माग० में **लच्छादो = रथ्यातः** (मृच्छ० १५८, १३) है। शब्द के अन्त में -आए लगा कर बननेवाला अपादानकारक (चंड० १, ९ ; हेच० ३, २९ ; सिंहराज० पन्ना १४); शौर० और माग० में पाया जाता है : शौर० में **इमाए मअतण्हिआए = अस्याः मृगतृष्णिकायाः** (विक्रमो० १७,१), जो बौँल्लेँनसेन के मत के अनुसार करणकारक नहीं माना जा सकता ; माग० में **शेँय्याए** (पाठ में **सेँज्जाए** है) = **शय्यायाः** है (चैतन्य० १४९, १९)। —**मालत्तो** रूप हेच० ३, १२४ से निकाला जा सकता है और त्रिविक्रम० २, २,३४ में स्पष्ट ही सिखाया गया है। यह रूप पुलिंग और नपुंसकलिंग की नकल पर बनाया गया है (§ ३६५)। अप० में अपादानकारक एकवचन, सम्बन्धकारक के साथ घुलमिल कर एक हो गया है। समाप्ति में आनेवाला -हेँ सर्वनाम के अन्त के रूप -स्याः समान है, इसलिए **तहेँ धणहेँ** (हेच० ४, ३५०) = ठीक **तस्याः धन्यस्याः** के **तस्या धन्यायाः** है। हेच० ने ४, ३५० में **बालहेँ** को अपादानकारक जैसा माना है। इस दृष्टि से **विसमथण** को बहुव्रीहि समास मानना पड़ेगा [मेरी प्रति में यह पद इस प्रकार है : **बालहे** (उच्चारण **हेँ** होना चाहिए) **जाया विसम थण** । —अनु०] = 'उस बाल स्त्री के सामने जिसके स्तन भयंकर हैं' है। इसी कविता में निम्नलिखित सम्बन्धकारक रूप हैं : **तुच्छमज्झहेँ, जम्पिरहे, तुच्छअरहासहेँ, अलहन्तिअहेँ, वम्महणिवासहेँ** और **मुद्धहेँ = तुच्छमध्यायाः, जल्पनशीलायाः, तुच्छतरहासायाः, अलभमानायाः, मन्मथनिवासायाः** तथा **मुग्धायाः** है (हेच० ४, ३५०); **तिसहेँ तृषायाः ; मूणालिअहेँ = मृणालिकायाः** (हेच० ४,३९५,७ ; ४४४) है। —अधिकरणकारक के उदाहरण निम्नलिखित हैं : महा० में **दुक्खुत्तराइ पव्वीए = दुःखोत्तरायां पटव्याम्** है ; **गामरच्छाए = ग्रामरथ्यायाम्** (हाल १०७ और ४१९) है , अ०माग० में **सुहम्माए सभाए = सुधर्मायां सभायां** है (कप्प० § १४ और बहुधा) ; अ० माग०, जै०महा० में **चम्पाए = चम्पायां** (ओव० § २ और ११ ; एर्से० ३४,२५);

जै०महा० में **सयलाए नयरीए**=**सकलायां नगर्याम्** (द्वार० ४९७, २१) है ; **इक्किक्काए मेहलाए**=**एकैकस्यां मेखलायाम्** (तीर्थ० ५, ११) ; शौर० में **सुसमिद्धाए**=**सुसमृद्धायाम्** ; **एदाएपदोसवेलाए**=**एतस्यां प्रदोषवेलायाम्** है ; **रुक्खवाडिआए**=**रूक्षवाटिकायाम्** (मृच्छ० ४, २० ; ९, १० ; ७३, ६ और ७) ; माग० में **अन्धआलपूलिदाए णासिआए**=**अन्धकारपूरितायां नासिकायां** है ; **पदोलिआए**=**प्रतोलिकायाम्** है तथा **सुवण्णचोलिआए**=**सुवर्णचोरिकायाम्** (मृच्छ० १४, २२ ; १६३,१६ ; १६५,२) है । अ०माग० में **गिरिगुहंसि** जो **गिरिगुहाए** के स्थान मे आया है=**गिरिगुहायाम्** है (आयार० १, ७, २,१) । यह इसके पास मे ही आये हुए पुलिंग और नपुसकलिंग के अन्त में –**सि** लगकर बननेवाले अधिकरणों से प्रभावित होकर बन गया है । § ३५५ ; ३५८ ; ३६४, ३६७; ३७९ ; ३८६ मे ऐसे उदाहरणों की तुलना कीजिए । सम्बोधन कारक एकवचन के अन्त मे नियमानुसार संस्कृत के समान ही –**ए** आता है । इस रूप का प्रयोग केवल वर० ने ५, २८ मे बताया है, जब कि हेच० ३, ४१ ; मार्क० पन्ना ४४ ; सिंह० पन्ना १४ में –**आ** में समाप्त होनेवाले कर्त्ताकारक के रूप को भी सम्बोधन के काम मे लाने की अनुमति देते हैं । शब्द के अन्त में –**आ** लगकर बननेवाले ऐसे सम्बोधन निम्नलिखित हैं : महा० में **अत्ता** (=सास : मार्क० पन्ना ४४ , हाल ८ ; ४६९ ; ५४३ ; ५५३ ; ६५३ ; ६७६ ; ८११) ; महा० और अ०माग० में **पिउच्छा**=**पितृष्वसः** है (हेच० ; मार्क० ; हाल ; नायाध० १२९९ ; १३४८) ; महा० मे **माउआ**=**मातृके** है (हाल) ; महा० में **माउच्छा**=**मातृष्वसः** है (हेच० ; मार्क० ; हाल) ; अ०माग० में **जाया** (उत्तर० ४४२), **पुत्ता**=**पुत्रि** (नायाध० ६३३ और उसके बाद ; ६४८ और उसके बाद ; ६५५ ; ६५८) और महा० तथा शौर० में बार बार आनेवाला रूप **हला** (हेच० २, १९५ ; हाल) है । यह सम्बोधन शौर० में जब व्यक्तिवाचक संज्ञा के साथ आता है तब अधिकांश स्थलों पर व्यक्ति के नाम के अन्त में –**ए** लगता है जैसे, **हला सउन्तले** (शकु० ९, १०) ; **हला अणुसूये** (शकु० १०, १२) ; **हला णोमालिए** (ललित० ५६०, ९ ; पाठ मे **नोमालिए** है) ; **हला चित्तलेहे** (विक्रमो० ९, ३) ; **हला मअणिए** (रत्ना० २९३, २९) ; **हला णिउणिए** (रत्ना० २९७, २८) आदि-आदि रूप पाये जाते हैं । ऐसे व्यक्तियों के साथ भी सम्बोधन का यह रूप आता है जिनके अन्त में अन्य स्वर हों जैसे, **हला उव्वसि** (*विक्रमो० ७, १७) अथवा उन विशेषणों के साथ यह* **हला** *लगता है जो संज्ञा के* स्थान में काम में लाये गये हों जैसे, **हला अपण्डिदे** (प्रिय० २२, ७) ; महा० और शौर० में यह बहुवचन में भी आता है (हाल ८९३ और ९०१ ; शकु० १६, १० ; ५८, ९ ; ६, १२ ; ७, १ ; ११, १; कर्पूर० १०८, ५) । जै०महा० मे **हले** रूप भी पाया जाता है (हेच० २, १९५ ; एर्त्से०) । इस रूप को क्रमदीश्वर ५, १९ मे अप० बताता है और अप० मे **हलि** के उदाहरण मिलते हैं (हेच० ४, ३३२ ; ३५८, १) । शौर० रूप **अम्ब** (=माता : बुर्कहार्ड द्वारा सम्पादित शकु० २०१,

१९ ; १०२, २० ; रत्ना० ३१५, २६ ; ३२७,-६ ; महावीर० ५६, ३ ; मालती० १९७, ६ ; २२५, ४ ; नागा० ८४, १५ ; अनर्घ० ३१०, १ आदि आदि) लैनमैन[1] और बेन्फेल[2] की सम्मति में क्रिया से निकली आशिक संज्ञा है। अप० में अन्तिम -ए ह्रस्व कर दिया जाता है जैसे, **सहिएँ = *सखिके** ; अम्मिएँ भी पाया जाता है ; **बहिणुए = भगिनिके** (हेच० ४, ३५८, १ ; ३६७, १ ; ३९६, २ ; ४२२, १४), अथवा यह -इ में परिवर्तित हो जाता है जैसा कि उपर्युक्त हलि में हुआ है और अम्मि तथा **मुद्धि = मुग्धे** में हुआ है (हेच० ४, ३९५, ५ ; ३७६, १)। अ०-माग० और जै०महा० रूप अध्यो के विषय में § ३६६ ब. देखिए।

१. पिशल, बे०बाइ० ६, २८१ नोटसंख्या ३। — २. इसे इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ४६२ में दी हुई लास्सन की सम्मति के अनुसार अ-वर्ग से परिवर्तन मान लिया जा सकता है। — ३. नौन-इन्फ्लेक्शन, पेज ३६०। — ४. हांप्टग्रांब्लेमे, पेज २६५ और उसके बाद।

§ ३७६—सब प्राकृत बोलियों में कर्ता- और कर्मकारक बहुवचन के अन्त में -ओ लगाया जाता है (§ ३६७) : महा० का कर्त्ताकारक **महिलाओ = महिलाः** (हाल ३९७) है ; अ०माग० और जै०महा० में **देवयाओ = देवदाओ** ; शौर० में देवता. है (ठाणग० ७६ ; एर्से० २९, ३ ; ऋषु० ७१, ८) ; अ०माग० में कर्मकारक **कलाओ = कलाः** है। उत्तर० ६४२ ; नायाध० § १११ ; ओव० § १०७ ; कप्प० § २११) ; जै०महा० में **चउव्विहाओवग्गणाओ = चतुर्विधाः** है। **वर्गणाः** (आव०एर्से० ७, ४) ; शौर० में **पदीविआओ = प्रदीपिकाः** (मृच्छ० २५, १८) और अप० में **सव्वंगाओ = सर्वांगाः** है (हेच० ४, ३४८)। पद्य में -ओ के स्थान में -उ भी आ जाता है जिसका प्राधान्य रहता है : महा० कर्त्ताकारक में **घण्णाउ ताउ** आया है जो = **घन्यास् ताः** (हाल १४७) है। इसके विपरीत शौर० में **धण्णाओं क्खु ताओ कण्णाओ** [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] **जाओ** पाया जाता है (मालती० ८०, १) ; अ०माग० में **थियाउ = स्त्रीकाः** (सूय० २२५) ; अप० कर्मकारक में **अणुरत्ताउ भत्ताउ = अनुरक्ताः भक्ताः** है (हेच० ४, ४२२, १०)। कभी-कभी छंद की मात्रा ठीक करने के लिए दोनों रूप पास पास पाये जाते हैं जैसे, महा० में **दारग्गलाउ जाआओ = द्वारार्गला जाता** (हाल ३२२) ; **रइविरमलज्जाओ अप्पत्तणि अंसणाउ = रतिविरामलज्जिता अप्राप्तनिवमनाः** (हाल ४५९) है ; **पडिगआउ दिसाओ = प्रतिगता दिशाः** (रावण० १, १९) है। कर्ता- और कर्मकारक के अन्त में -आ भी आता है, पर कहीं कहीं : महा० में **रेहा = रेखाः** (गउड० २२ ; हाल २०६), इसके साथ साथ **रेहाउ** भी चलता है (हाल ४७४) और **रेहाओ** रूप भी मिलता है (गउड० ५०९ ; ६८२) ; **सरिआ सरत्तपवहा**···**वूढा = सरितः सरत्प्रवाहा**··· उढाः (रावण० ६, ५०) रूप है ; **मेहला = मेखलाः** है (मृच्छ० ४१, २) ; अ०माग० में **दोज्झा = दोहा** · **दम्मा = दम्याः** और **रहजोग्गा = रथयोग्याः** है (आयार० २, ४, २, ९ ; ... **रूढा = रूढाः** है (आयार० २, ४, २, १५

और १६) ; भज्जा = भार्याः है (उत्तर० ६६०) ; नवाहि तारिमाओं त्ति पाणिपेज्जत्तिनो वए = नौभिस् *तारिमा इति पाणिपेया इति नो वदेत् (दस० ६२९, १) है ; शौर० में पूइज्जन्ता देवदा = पूज्यमाना देवताः ; गणिआ = गणिकाः (मृच्छ० ९, १ और १०) है ; अगहिदत्था = अगृहीतार्थाः है (शकु० १२०, ११) ; अदिट्ठसुज्जपाआ···णागकण्णा विअ = अदृष्टसूर्य-पादाः...नागकन्या इव है (मालवि० ५१, २१ ; इस वाक्यांश की इस नाटक में अन्यत्र तुलना कीजिए) । मार्कडेय पन्ना ६९ मे शौर० रूपों के अन्त मे केवल –आओ लगाने की अनुमति दी गयी है और इस नियम के अनुसार इसे सर्वत्र सुधार लेना चाहिए । मृच्छकटिक २५, २ मे इस –आओ रूप की एक के बाद एक लगातार झड़ी-सी लग गयी है : ताओ···पदीविआओ अवमाणिदणिद्धणकामु आविअ गणिआ णिस्सिणेहाओ दाणिं संवुत्ता = ताः···प्रदीपिका अवमानितनिर्धनकामुका इव गणिका निःस्नेहा इदानीं संवृत्ताः । संवुत्ता रूप स्टेन्सलर ने ए. और बी. (A and B) हस्तलिपियों के अनुसार संवुत्ताओ रूप में शुद्ध कर दिया है; गणिआ के स्थान में डी. और एच.(D and H) हस्तलिपियों में गौडबोले के संस्करण पेज ७२ में गणिआओ दिया गया है, इस प्रकार कामुआ के स्थान पर भी कामुआओ पढा जाना चाहिए । अ०माग० में भी कभी-कभी दोनों रूप एक साथ रहते है : इन्दभूइपमो-क्खाओ चोद्दससमणसाहस्सीओ उक्कोसिया समणसंपया = इन्द्रभूतिप्रमु-खाश् चतुर्दशश्रमणसाहस्य *उत्कोशिताः श्रमणसंपदः है (कप्प० § १३४; § १३५ और उसके बाद की तुलना कीजिए) । आयारगसुत्त २, ४, २, ९ ; १५ और १६ की तुलना कीजिए । — करण, सम्बन्ध और अधिकरणकारकों के अन्त में आनेवाले रूपों के लिए § १७८ और ३५० लागू है ; § ३६८ ; ३७० और ३७१ की तुलना कीजिए। — माग० मे अम्बिकमादुकेहिं = अम्बिकामातृकाभिः है। –आहिं के स्थान मे अधिकरणकारक में –एहिं आना चाहिए था (मृच्छ० १२२, ५) किन्तु शकार के मुह मे वह अशुद्धता समझ में आ जाती है, क्योंकि नाटककार ने यहाँ सोच-समझकर लिंगपरिवर्तन चुना है । इसके विपरीत रावणवहो ७, ६२ मे अच्छरा वर्ग के अच्छरेहिं = अप्सरोभि· में करणकारक नहीं है (§ ४१०)[1] जैसा पहले विक्रमो० ४०, ११ में भी पढा गया था[2], परन्तु पहला समुच्छरेहिं, सम+च्छरेहिं में बाँटना चाहिए जो = सम + प्सरोभिः बन जाता है (§ ३३८)[3] । — पुलिंग और नपुसकलिंग के समान ही (§ ३६९) स्त्रीलिंग में भी अपादानकारक में शब्द के अन्त में –हिं लगकर बननेवाला रूप ही काम में लाया जाता है, किन्तु हेमचन्द्र ३, १२७ मे इसका निषेध करता है : महा० मे धाराहिं = धाराभ्यः है (हाल १७०) और अधिकरणकारक का रूप भी है (§ ३७१) : महा० मे मेहलाहि (कर्पूर० १६, १) मेहलासु के अर्थ में आया है, जैसा इस शब्द का प्रयोग काव्यप्रकाश ७४, १ में हुआ है = मेखलासु है । अ०माग० में हत्थुत्तराहिं = हस्तोत्तरासु (आयार० २, १५, १ , २ ; ५ ; ६ ; १७ ; २२ ; २५ ; कप्प०) ; गिम्हाइ (सूय० १६६) रूप भी आया है जिसका अर्थ गिम्हासु है (विवाह० ४६५) = *ग्रीष्मासु (§

३५८) है ; अणत्ताहिं ओसप्पिणीउस्सप्पिणीहिं विछत्ताहिं = अनन्तासु अवसर्पिण्युत्सर्पिणीषु व्यतिक्रान्तासु है (कप्प० § १९); विसाहाहिं = विशाखासु है (कप्प० § १४९) और चित्ताहिं = चित्रासु है (ठाणग० ३६३ ; कप्प० § १७१ और १७४); उत्तरासाढाहिं और आसाढाहिं रूप भी पाये जाते हैं (कप्प० § २०५ और २११); छिन्नाहि साहाहि = छिन्नासु शाखासु (उत्तर० ४३९ ; पाठ में छिन्नाहिं साहाहिं है) है। — अ०माग० में निम्नलिखित अपादानकारक शब्द के अंत में –हिंतो जोड़कर बनाये गये हैं : अन्तोसालहिंतो = अन्तःशालाभ्यः (उवास० § १९५) और इत्थियाहिंतो = स्त्रीकाभ्यः (जीवा० २६३ और २६५) है। अप० में शब्द के अंत में –हु = भ्यः लगा हुआ अपादानकारक भी है : वयंसिअहु = वयस्याभ्यः (हेच० ४,३५१) है। हेमचन्द्र के अनुसार यही समाप्तिसूचक –हु सम्बन्धकारक बहुवचन के लिए काम में लाया जाता है। § ३८१ की तुलना कीजिए। यहां भी अधिकरणकारक में (§ ३७१ की तुलना कीजिए) अंत में –सु लगा हुआ रूप सबसे अधिक काम में आता है। शौर० में शकुतला २९, ४ में विरलपादवच्छाआसुं = वणराईसुं = विरलपादपच्छायासु वनराजिषु है, यह बगला संस्करण में आया है, अन्य संस्करणों और पाठों में –आसु और –ईसु रूप पाये जाते हैं। — सबोधनकारक में शब्द के अंत में –ओ लगकर बननेवाला रूप ही की प्रधानता है : शौर० में देवदाओ रूप आया है (बाल० १६८, ७ ; अनर्घ० ३००, १) ; दारिआओ = दारिकाः है (विक्रमो० ४५,६) और अवलोइदाबुद्धरक्खिदाओ = अवलोकिताबुद्धरक्षिते है (मालती० २८४, ११)। हला के विषय में § ३७५ देखिए। — अज्जू = आर्या के विषय में § १०५ देखिए [कुमाउनी में अज्जू का इजू और इज्यू रूप हो गए है। —अनु०]।

१. एस. गौल्दश्मित्त द्वारा रावणवहो, पेज २४७, नोटसंख्या ८ में जो प्रश्न उठाया गया है कि क्या हमको एक नपुंसकलिंग का रूप अच्छर भी मानना होगा ? इसका उत्तर स्पष्ट ही नकारात्मक है। — २. विक्रमोर्वशी, पेज ३२६ पर बौँल्लेनसेन की टीका ; होएफर, डे प्राकृत डियालेक्टो पेज १५० और उसके बाद की तुलना कीजिए ; लास्सन, इस्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ३१६ और उसके बाद तथा § ४१०। — ३. पिशल, त्सा. डे. डौ. मौ. गे. ५२, ९३ और उसके बाद। — ४. यहां करणकारक उपस्थित है इसका प्रमाण निम्नलिखित उदाहरण है : हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगोवगएणं (आयार० २, १५, ६ और १७ ; कप्प० § २ की तुलना कीजिए) है। कप्पसुत्त § १५७, १७४ ; २११ तथा स्पायर, वेदिशे उण्ट ज्ञांस्कृतसिण्टैक्स (स्ट्रासबुर्ग १८९६ ; ग्रुण्डरिस १, ६) § ४२।

(२) –इ, –ई और –उ, –ऊ वर्ग

(अ) पुलिंग और नपुंसकलिंग

§ ३७७—पुलिंग अग्गि = अग्नि।

एकवचन

कर्त्ता—अग्गी [अग्गिं]।
कर्म—अग्गिम्।
करण—अग्गिणा ; अप० में अग्गिण और अग्गिं भी।
अपादान—महा०, अ०माग० और जै०महा० मे अग्गीओ, अग्गीउ, अग्गिणो, अग्गिहिंतो [अग्गीहि, अग्गित्तो] ; जै०शौर० [शौर०माग०] में अग्गीदो ; अग्गिहे ।
सबध—महा०, अ०माग० और जै०महा० मे अग्गिणो, अग्गिस्स, [अग्गीओ] ; शौर० और माग० मे अग्गिणो ; अप० म [अग्गिहे]।
अधिकरण—अग्गिम्मि, अ०माग० में सबसे अधिक अग्गिंसि ; अ०माग० और जै० महा० में अग्गिंमि भी ; अप० में अग्गिहिँ ।
संबोधन—अग्गि, अग्गी।

बहुवचन

कर्त्ता—महा०, अ०माग० और जै०महा० में अग्गिणो, अग्गी, अग्गीओ, अग्गओ, अग्गउ ; शौर० में अग्गीओ, अग्गिणो।
कर्म—महा०, अ०माग० और जै०महा० मे अग्गिणो, अग्गी, अग्गओ।
करण—महा०, अ०माग० और जै०महा० में अग्गीहि अग्गीहिँ, अग्गीहिं ; शौर० और माग० मे अग्गीहिं।
अपादान—महा०, अ०माग० और जै०महा० मे अग्गीहिंतो [अग्गीसुंतो, अग्गित्तो, अग्गीओ] ; अग्गिहुँ।
सम्बन्ध—महा०, अ०माग० और जै०महा० में अग्गीण, अग्गीणँ, अग्गीणं ; शौर० और माग० मे अग्गीणं ; अप० मे अग्गिहिँ, अग्गिहुँ।
अधिकरण—महा०, अ०माग० और जै०महा० में अग्गीसु, अग्गीसुँ, अग्गीसुं ; शौ० और माग० मे अग्गीसु, अग्गीसुं ; अप० में अग्गिहिँ।
सम्बोधन—महा०, अ०माग० और जै०महा० में अग्गिणो, अग्गी ; अप० में अग्गिहो ँ।

नपुंसकलिंग के रूप भी इसी प्रकार चलते हैं जैसे, दहि = दधि ; केवल कर्त्ता- और कर्म- कारकों के एकवचन में महा०, अ०माग० और जै०महा० में दहिं, दहिँ और दहि रूप आते हैं, शौर० और माग० में दहिं और दहि रूप आते हैं ; सम्बोधन में दहि है ; कर्त्ता-कर्म- और सम्बोधनकारकों में के बहुवचन में दहीइं, दहीइँ (शौर० और माग० मे ये रूप नहीं होते), दहीणि (शौर० और माग० में यह रूप नहीं आता) और दही (शौर० और माग० में यह रूप भी नहीं है) हैं। —पल्लवदानपत्र में कर्मकारक एकवचन नपुंसकलिंग उदकादिं रूप मिलता है [६, २९) ; सम्बोधनकारक एकवचन पुलिंग में सत्तिस्स रूप मिलता है जो = शक्तेः है (६, १७), भट्टिस = भट्टेः भी आया है (६, १९) और

कर्मकारक बहुवचन पुलिंग में वसुधाधिपतये = वसुधाधिपतीन् है (७, ४४) (लौयमान, एपिग्राफिका इंडिका २, ४८४ की तुलना कीजिए) ।

§ ३७८—पुलिंग वाउ = वायु ।

एकवचन

कर्त्ता—वाऊ [वाउं] ।
कर्म—वाउं ।
करण—वाउणा ; अप० में वाउण और वाउं भी होते हैं ।
अपादान—महा०, अ०माग० और जै०महा० मे वाऊओ, वाऊउ, [वाउणो, वाऊहिंतो और वाउत्तो] ; अप० में वाउहेँ है ।
सम्बन्ध—महा०; अ०माग० और जै०महा० में वाउणो और वाउस्स, [वाऊओ]; शौर० और माग० में वाउणो, माग० पद्य में वाउश्श भी ; [अप० में वाउहे] है ।
अधिकरण—वाउम्मि, अ०माग० में वाउंसि भी, अ०माग० और जै०महा० मे वाउंमि भी ।
सम्बोधन—वाउ, वाऊ ।

बहुवचन

कर्त्ता—महा०, अ०माग० और जै०महा० में वाउणो, वाऊ, वाऊओ, वाअवो, वाअओ, वाअउ ; शौर० में वाउणो, वाअओ हैं ।
कर्म—महा०, अ०माग० और जै०महा० में वाउणो, वाऊ ; अ०माग० में वाअवो भी ।
करण—महा०, अ०माग० और जै०महा० मे वाऊहि, वाऊहिँ, वाऊहिं ; शौर० और माग० में वाऊहिं है ।
अपादान—[वाऊहिंतो, वाऊसुंतो, वाउत्तो, वाऊओ] ; अ०माग० में वाऊहिं भी ; अप० में वाउहुँ है ।
सम्बन्ध—महा०, अ०माग० और जै०महा० मे वाउण, वाउणँ, वाऊणं ; शौर० और माग० में वाऊणं ; अप० में वाउहँ, वाउहुँ हैं ।
अधिकरण—महा०, अ०माग० और जै०महा० में वाऊसु, वाऊसुँ, वाऊसुं ; शौर० और माग० में वाऊसु , वाऊसुं ; अप० में वाऊहिँ है ।
सम्बोधन—अ०माग० में वाअवो ; अप० में वाउहो है ।

नपुंसकलिंग की भी रूपावली इसी प्रकार की होती है जैसे, महु = मधु ; केवल कर्त्ता- और कर्मकारक एकवचन में महुं, महुँ और महु रूप होते हैं ; शौर० और माग० में महुं और महु रूप होते हैं ; सम्बोधन मे महु ; कर्त्ता- और कर्म- तथा सम्बोधनकारक बहुवचन में महूइं, महूइँ (शौर० और माग० मे नहीं), महूणि (शौर० और माग० में नहीं) और महू (शौर० और माग० में नहीं) रूप होते हैं ।
— पल्लवदानपत्रों में उ वर्ग नहीं पाया जाता ।

§ ३७९— -इ और -उ में समाप्त होनेवाले सशाशब्दों की रूपावली के सबंध मे वररुचि ५, १४—१८ ; २५—२७ ; ३० ; चड० १, ३ और ११—१४ ; हेमचद्र ३, १६—२६ ; ४, ३४० ; ३४१ ; ३४३—३४७ ; क्रमदीश्वर ३, ८ ; ११ ; १३ ; १५ ; १७—२२ ; २४ ; २८ ; २९ ; ५, २० ; २५—२७ ; ३३—३५ ; ३७ ; मार्कडेय पन्ना ४२—४४ ; सिंहराजगणिन् पन्ना ९—१२ देखिए। हेमचन्द्र ३, १९ के अनुसार कुछ व्याकरणकार बताते हैं कि कर्त्ताकारक एकवचन में दीर्घ रूप के साथ साथ [जैसे **अग्गी, णिही, वाऊ** और **विहू** । —अनु०] उतनी ही मात्रा का अनुनासिक रूप भी आता है (§ ७४) : **अग्गिं, णिहिं, वाउं** और **विहुं** । त्रिविक्रम० और सिंहराजगणिन् ने इस रूप का उल्लेख नहीं किया है ; पण्हावागरणाइ ४४८ में **सुसाहुं** का नपुसकलिंग मानकर सपादन किया गया है जो अशुद्ध रूप है और **सुसाहू** के स्थान में रखा गया है, क्योंकि उक्त शब्द **सुइसी** और **सुमुणी** के साथ ही आया है जो = **स्वृषिः** और **सुमुनि**: है। -ई और -ऊ मे समाप्त होनेवाले कर्त्ताकारक के विषय में § ७२ देखिए। सहि का कर्त्ताकारक एकवचन जै०महा० में सही पाया जाता है (कक्कुक शिलालेख १४)। नपुसकलिंग कर्त्ताकारक में अननुनासिक वाले रूप की प्रधानता है और कर्मकारक में अनुनासिकयुक्त की ; किंतु अ०माग० में कर्मकारक का रूप **तउ** = **त्रपु** (सूय० २८२) छद की मात्रा का हिसाब बैठाने पर निश्चित है, यहा पर सभवतः **तउं** पढा जाना चाहिए। अ०माग० और शौर० में कर्त्ताकारक में **दहिं** रूप आया है (ठाणग० २३० , मृच्छ० ३,१२ , [**दहीं** पाठ के स्थान पर **दहिं** पढा जाना चाहिए]), किंतु अ०माग० में **दहि** भी पाया जाता है (ठाणग० ५१४) ; अ०माग० और शौर० में **वत्थु** = **वस्तु** है (उत्तर० १७२ , ललित० ५१६, १२) ; शौर० मे **णअणमहु** = **नयनमधु** है (मालवि० २२, ३)। अ०माग० रूप **अट्ठी** और **दही** के विषय में § ३५८ देखिए। कर्मकारक रूप है : अ०माग० और शौर० में **अच्छि** (आयार० १, १, २, ५ ; शकु० ३१, १३) मिलता है , **अट्ठिं** = **अस्थि** है (सूय० ५९४) ; अ०माग० में **दहि** रूप आया है (आयार० २, १, ४, ५ ; ओव० § ७३ ; कप्प० एस. (S) § १७ , अ०माग० और शौर० में **महुम्** रूप देखने में आता है (आयार० २, १, ४, ५ , ८, ८ ; ओव० § ७३ ; कप्प० एस. (S) § १७ , शकु० ८१, ८ ; [**महु** का कुमाउनी में **मउ** और **मौ** रूप हैं। **मौ** रूप उत्तरप्रदेश की सरकार ने मान्य कर लिया है। बगला में भी **मौचाक** आदि में **मौ** वर्तमान है। यह रूप प्राचीन आर्य है। फारसी मे **मै** रूप में इसने अपना राज आज तक जमा रखा है जो उर्दू में भी एकछत्र राज जमाये बैठा है। इसके कोमल रूप **मेशौल** आदि फ्रेंच और इटालियन भाषाओं में मिलते हैं। अगरेजी में **मधु** का रूप भाषा के स्वभाव और स्वरूप के अनुकूल **मीड** बन गया। जर्मन भाषा में यही हिंगल सा रूप है। पाठक जानते ही है कि **मधु** का एक रूप **मद** भी है। अगरेजी आदि में इसके रूपों का प्रचार है। इसका **महु** से कुछ संबंध नहीं। प्राचीन हिंदी में **मधुमक्खी** के लिए **मुमाखी** रूप पाया जाता है। इसका **मु-** = **महु** है। —अनु०])। जै० शौर० में **वत्थुं** रूप आया है (कत्तिगे० ४००, ३३५)। सस्कृत मे बहुत अधिक

आनेवाला रूप स्वस्ति और० मे सदा सोत्थि हो जाता है (उदाहरणार्थ, मृच्छ० ६, २६ ; २५, ४ ; ५४, ११ और १९ ; विक्रमो० १५, १६ ; २९, १ ; ४४, ५ ; रत्ना० २९६, ३२ ; ३१९, १७ ; आदि आदि), यह भी कर्त्ताकारक समझा जाना चाहिए, ठीक उसी प्रकार जैसे साहु (उदाहरणार्थ, मृच्छ० २८, २४ ; ३७, १६ ; ४१, १९ ; विक्रमो० २६, ६ ; रत्ना० ३००, १३ ; ३०१, १) और सुट्ठु (उदाहरणार्थ, मृच्छ० २७, २१ ; २८, २४ ; २९, १४ ; ४१, १८ ; प्रबोध० १८, ३) ; माग० मे शाहु रूप है (वेणी० ३४, ३ और २२ ; ३५, १४ ; मृच्छ० ३८, ७ ; ११२, ९ ; १६१, १५ आदि आदि)। इसके विपरीत लहु के स्थान मे (मृच्छ० ७५,८ ; विक्रमो० २८,१०) कलकतिया और गौडबोले के संस्करण के अनुसार लहुं पढा जाना चाहिए जैसा शकुतला २९, २ ; ७६, १ ; मृच्छ० २१, १३ ; ५९, ८ ; १०७, ११ ; ११२, ११ ; ११६, ५ ; १६६, १६ ; १६९, २४ ; रत्ना० ३००, ५ ; ३०२, २५ ; ३०३, २० ; ३१२, ८ ; ३२०, ३२ ; आदि आदि में मिलता है। पद्य मे लहु रूप शुद्ध है (मृच्छ० ९९, २४ ; वेणी० ३३, १३)। — करणकारक के विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि महा० में पइणा = पत्या (हाल) होता है, जैसा कि पाया जाता है, महा० में गहवइणा रूप है (हाल १७२) ; अ०माग० में गहावइणा मिलता है (उवास० § ६) = गृहपतिना ; माग० मे वहिणीपदिणा = भगिनीपतिना है (मृच्छ० ११३,१९)। अक्षि का करणकारक महा० मे अच्छिणा है, जो = अक्ष्णा (गउड० ३२) ; दक्षिका और० मे सदहिणा पाया जाता है जो = सदध्ना है (मृच्छ० ६९, ३)। इसके अनुसार यह आशा करनी चाहिए थी कि अट्ठिणा = अस्थ्ना, मुट्ठिणा = मुष्टिना और लेट्ठुणा = लेष्टुना होगा, किंतु अ० माग० में अट्ठीण, मुट्ठीण और लेठ्ठूण रूप काम मे लाये गये है जिनमें पृष्ठाधार ध्वनि बलहीन अयय था से पहले आ ह्रस्व कर दिया गया है और मूल शब्द का अतिम स्वर दीर्घ कर दिया गया है ; यह इन रूपों के पहले और पश्चात् अत में -एन लगा कर बननेवाले करणकारकों की नकल पर बनाये गये है अर्थात् इनके साथ दण्डेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेठ्ठूण वा कवालेण वा रूप में ये करणकारक आये हैं (आयार० २, १, ३, ४ ; सूय० ६४७ ; ६९२ ; ८६३ ; [यहा हिंदी के सबंध में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि इस प्रकार के प्रयोगों का फल यह भी हुआ है कि अस्थि का रूप अट्ठि और स्वभावतः हड्डि होना चाहिए था जो उक्त प्रकार से अट्ठी (ण) बन गया और बाद को हड्डी रूप मे हमारे पास पहुचा। हड्डी रूप की अस्थिक = अट्ठिअ = हड्डी प्रक्रिया भी हो सकती है। मुट्ठी की प्रक्रिया भी इसी प्रकार की है। कुमाउनी में इन शब्दों का उच्चारण अभी तक ह्रस्व बना हुआ है। उसमें हड्डि और मुट्ठि रूपों का चलन है। इससे निर्देश मिलता है अधिक संभावना -एन की नकल पर इन शब्दों में दीर्घत्व का आगमन हुआ है। —अनु०])। इस प्रकार के दूसरे शब्दों की समानता पर बने रूपों के विषय में § ३५५ ; ३५८ ; ३६४ ; ३६७ ; ३७५, ३८६ और अप० में करणकारक के रूप अग्गिण, अग्गि और वाउं के लिए § १४६ देखिए। अपादानकारक के निम्नलिखित रूप उदाहरण और प्रमाण

रूप में मिलते हैं : महा० में उअहीउ = उदधेः है (गउड० ५६ और ४७०); अ०माग० में कुच्छीओ = कुक्षेः (कप्प० § २१ और ३२); दहीओ = दध्नः है (सूय० ५९४ ; पाठ में दहिओ है); जै०शौर० में हिंसाईदो = हिंसादे है (पव० ३८६, ४ ; पाठ में हिंसातीदो है); जै०माग० में कम्मग्गिणो = कर्माग्नेः (आव०एर्से० १९, १६); अ०माग० में इक्खूओ = इक्षोः (सूय० ५९४ ; पाठ में इक्खूतो है); जै०महा० में सूरीहिंतो रूप आया है (कालक, अध्याय दो ५०९, ४); अप० में गिरिहे रूप पाया जाता है (हेच० ४, ३४१, १)। — महा०, अ०माग० और जै०महा० में सम्बन्धकारक के अग्गिणो की भाँति के रूप होते हैं अर्थात् ये वे रूप हैं जो संस्कृत में नपुंसकलिंग में आते हैं किन्तु स्पष्ट ही -नान्त वर्ग (अर्थात् वे नपुंसक शब्द हैं जिनके अन्त में न् आता है) से ले लिये गये हैं जो -नान्त वर्ग -इ -वर्ग से घुलमिल गया है (§ ४०५) और अग्गिस्स रूप है जो अ- वर्ग की समानता पर बना लिया गया है। ये दोनों रूप एक दूसरे के पास पास में काम में लाये जाते हैं ; उ- वर्ग की भी यही दशा है, जै०शौर० में भी : महा० में गिरिणो रूप मिलता है (गउड० १४१) तथा महा० और अ०माग० में गिरिस्स भी चलता है (गउड० ५१० ; सूय० ३१२); महा० में उअहिणो आया है (रावण० ५, १०) और उअहिस्स भी पाया जाता है (रावण० ४,४३ और ६०)। ये दोनों रूप = उदधेः हैं ; महा० में रविणो आया है (गउड० ५० और २७२ ; हाल २८४) और इसके साथ साथ रविस्स तथा रइस्स रूप भी पाये जाते हैं (रावण० ४, ३० ; कर्पूर० २५, १३) = रवेः हैं ; महा० में पइणो (हाल ५४ ; ५५ और २९७) आया है और पइस्स भी काम में आता है (हाल ३८ और २००) = पत्युः है ; महा० में पसुवइणो = पशुपतेः (हाल १) और पआवइणो = प्रजापतेः है (हाल ९६९); भुअंगवइणो = भुजंगपतेः (गउड० १५५); नरवइणो = नरपतेः है (गउड० ४१३) [यह -णो लगा कर संबंधवाचक रूप गुजराती भाषा में वर्तमान है। गुजराती में रणछोडलाल का भाई = रणछोडलालनो भाई है। प्रयागजीभाई की मा = प्रयागजीभाईनी मा रूप चलते हैं। —अनु०]; किंतु अ०माग० और जै०महा० में गाहावइस्स = गृहपतेः (सूय० ८४६ ; विवाह० ४३५ और उसके बाद ; १२०७ और उसके बाद ; उवास० § ४ ; ६ ; ८ ; ११ ; कप्प० § १२० ; आव०एर्से० ७, ७ ; अ०माग० में मुणिस्स = मुनेः (आयार० २, १६ ; ५ ; सूय० १३२); इसिस्स = ऋषेः (उत्तर० ३६३ ; निरया० ५१); रायरिसिस्स = राजर्षेः (विवाह० ९१५ और उसके बाद ; नायाध० ६०० ; ६०५ ; ६११ ; ६१३); सारहिस्स = सारथेः (उत्तर० ६६८); अन्धगवण्हिस्स (अंत० ३) और अन्धगवण्हिणो (उत्तर० ६७८ ; दस० ६१३,३३) = अन्धकवृष्णेः ; अग्गिस्स है (विवाह० ९०९ ; दस०नि० ६५४, ६ ; निरया० ५०); जै०महा० में पञ्चालाहिवइणो = पञ्चालाधिपतेः (एर्त्से० ८, ८); हरिणो = हरेः (आव०एर्से० ३६,३० ; ३७,४९); नाभिस्स = नाभेः (आव० एर्से० ४८, १३ और ११) है। — महा० में पहुणो (गउड० ८४७ ; १००६ ;

१०६५) और पहुस्स (हाल २४३) = प्रभोः है ; अ०माग० में भिक्खुणो (आयार० १, ५, ४, १ ; २, १६, ८ ; सूय० १३३ और १४४ ; उत्तर० २८४) और अ०माग० तथा जै०महा० में भिक्खुस्स रूप बहुत ही अधिक काम में आता है (आयार० १, ७, ५, १ और उसके बाद ; पव० ३८७, १९) ; अ०माग० में उड्डुस्स = इवोः (विवाह० १३८८) ; मच्चुस्स = मृत्योः (पण्हा० ४०१) ; साहुस्स = साधोः (उत्तर० ४१८ और ५७१) ; वत्थुस्स = वस्तुतः (पण्हा० ३९८) है ; जै०महा० में बन्धुस्स = बन्धोः है (सगर ८, ५) ; महा० में विण्हुणो = विष्णोः (गउड० १६) ; चण्डंसुणो = चण्डांशोः (कर्पूर० ३५, ७) और अम्बुणो = अम्बुनः है (गउड० ११९६) । शौर० और माग० के गद्य में –स्स लगकर बननेवाला सबधकारक काम में नहीं लाया जाता : शौर० में रायसिणो = राजर्षेः (शकु० २१, ४ ; ५०, १ ; १३०, १ ; विक्रमो० ७, २ ; २२, १६ ; २३, १४ ; ३६, ८ ; ८०, ४ ; उत्तररा० १०६,१० ; ११३,१ ; प्रसन्न० ४६,९ ; अनर्घ० १११,१३) ; विहिणो = विधेः है (विक्रमो० ५२,१८ ; माल्ती० २६१,१०) ; सहस्सस्सिणो = सहस्ररश्मेः है (प्रबोध० १४, १७ ; वेणी० २५,६) ; पआवदिणो = प्रजापतेः (रत्ना० ३०६, २ ; माल्ती० ६५, ६) ; उदरंभरिणो = उदरंभरेः है (जीवा० ४३, १५) ; दासरहिणो = दाशरथेः (महावीर० ५२, १८ ; अनर्घ० १५७,१०) ; गुरुणो = गुरोः है (शकु० २२, १३ ; १५८, ३ ; विक्रमो० ८३, १ ; अनर्घ० २६७, १२) ; मुहमहुणो = मुखमधोः (शकु० १०८, १) ; अधम्मभीरुणो = अधर्मभीरोः है (शकु० १२९, १६) ; विक्कमबाहुणो = विक्रमबाहोः (रत्ना० ३२२, ३३) ; सत्तुणो = शत्रोः है (वेणी० ६२, ३ ; ९५, १५ ; जीवा० ९९, ९) ; पहुणो = प्रभोः (प्रबोध० १८, १ ; जीवा० ९, १) ; इन्दुणो = इन्दोः है (जीवा० ९९, १०) ; महुणो = मधुनः (हास्या० ४३,२३) है ; माग० में लायशिणो = राजर्षेः (वेणी० ३४, १) ; शत्तुणो = शत्रोः (शकु० ११८, २) है । माग० पत्र में विश्शावशुदश = विश्वावसो है (मृच्छ० ११,९) । दधि का सबधकारक रूप महा० में दहिणो आया है (कर्पूर० १५, १) । पल्लवदानपत्रों में इन रूपों के लिए § ३७७ देखिए । — जैसा –अ– वर्ग के लिए वैसा ही अन्य वर्गों के लिए अप० में सबधकारक के अंत में वही विभक्ति मानी जानी चाहिए जो अपादानकारक के काम में आती है, इसलिए इस प्रकार के रूप बनेंगे जैसे, गिरिहें, तरुहें आदि । — महा०, जै०महा० और जै०शौर० मे अधिकरणकारक म्मि लगाकर बनाया जाता है और जै०महा० मे इसके स्थान मे ंमि का भी प्रयोग किया जाता है : महा० में पइम्मि = पत्यै (हाल ३२४ और ८४९) ; जलहिम्मि = जलधौ ; गिरिम्मि = गिरौ और असिम्मि = असौ है (गउड० १४६ ; १५३, २२२) ; उअहिम्मि = उदधौ और जलणिहिम्मि = जलनिधौ है (रावण० २, ३९ ; ७, २ ; ७ और १२ ; ५, १) ; जै०महा० में गिरिंमि (कक्कुक शिलालेख १७), विहिम्मि = विधौ और उयहिम्मि = उदधौ है (सागर ७, १ ; ९, ३) । अ०माग० में –ंसि लगकर बननेवाला रूप ही साधारणतः काम में आता है :

कुच्छिसि = कुक्षौ (आयार० २, १५, २ और उसके बाद ; विवाह० १२७४ ; कप्प०); **पाणिसि = पाणौ** (आयार० २, १, ११, ५ ; २, ७, १, ५ ; विवाह० १२७१ ; कप्प० एस. (S) २९) और **रासिंसि = राशौ** है (आयार० २, १, १,२) । इनके साथ-साथ अ०माग० में निम्नलिखित वाक्यांश भी पाया जाता है : **तंमि रायरिसिंमि नमिंमि अभिनिक्खमन्तंमि = तस्मिन् राजर्षौ नमाव् अभिनिष्क्रामति** (उत्तर० २७९); **अच्चिंमि** और **अच्चिमालिंमि** रूप मिलते हैं (विवाह० ४१७) ; **अगणिम्मि** भी पाया जाता है (दस ६२०, २४) और **सह स्सरस्सिंमि** तो बार बार आता है (§ ३६६ अ) । उ– वर्ग के भी इसी भाँति के रूप होते हैं : महा० में **पहुम्मि = प्रभौ** (गउड० २१०) और **सेउम्मि = सेतौ** है (रावण० ८, ९३) ; जै०महा० में **मेरुम्मि** रूप आया है (तीर्थ० ५, ३) ; जै० शौर० में **साहुम्मि = साधौ** है (कत्तिगे० ३९९, ३१५ ; हस्तलिपि में **साहम्मि** है); अ०माग० में **लेळंसि = लेष्टौ** है (आयार० २, ५, १, २१) ; **बाहुंसि** और **उरुंसि = बाहौ** और **उरौ** है (दस० ६१७, १२) ; **उउंमि = ऋतौ** (ठाणग० ५२७ ; पाठ में **उदुंमि**) है । **राओ = रात्रौ** की समानता पर (§ ३८६) अ०माग० में **घिंसु** रूप भी मिलता है जो ***घिंसो = घ्रंसे** के स्थान में आया है (§ १०५ ; सूय० २४९ ; उत्तर० ५८ और १०९)। यह रूप पद्य में पाया जाता है । माग० पद्य में **केदुम्मि = केतौ** रूप देखने में आता है (मुद्रा० १७६, ४) । शौर० में **वत्थुणि = वस्तुनि** का प्रयोग मिलता है (बाल० १२२, ११ : धूर्त० ९, १०)। मार्कंडेय पन्ना ६९ के अनुसार [९, ६३ छपा संस्करण । —अनु०] शौर० में शुद्ध रूप **अग्गिम्मि** और **वाउम्मि** है । — अप० में अधिकरणकारक की विभक्ति **–हिँ** है जो **अस्मिन्** के : **कलिहिँ = कलौ** ; **अक्खिहिँ = अक्षिण** ; **संधिहिँ = संधौ** (हेच० ४, ३४१, ३ ; ३५७, २ ; ४३०, ३) है ; **आइहिँ = आदौ** (पिंगल १, ८५ और १४२) है । अप० में उ– वर्ग के उदाहरण मुझे नहीं मिल पाये हैं ; हेमचन्द्र ४, ३४१ में बताता है कि इ– और उ– वर्गों के लिए अधिकरणकारक में **–हि** विभक्ति लगायी जानी चाहिए । — सम्बोधनकारक में ह्रस्व के साथ-साथ दीर्घ स्वर भी पाया जाता है (§ ७१) : महा० में **गहवइ** (हाल २९७) किन्तु अ०माग० में **गाहावई** (आयार० १, ७, २, २ ; ३, ३ ; ५, २ ; २,३,३,१६) = **गृहपते** ; अ०माग० में **मुणी = मुने** (आयार० १, ६, १, ४ ; उत्तर० ७१३ ; ७१४ ; ७१९) है ; अ०माग० और जै०महा० में **महामुणी** रूप पाया जाता है (सूय० ४१९ ; कालका० अध्याय दो ५०५, २५) ; अ०माग० में **महरिसी = महर्षे** (सूय० १८२) ; अ०माग० में **सुबुद्धी = सुबुद्धे** (नायाध० ९९७ ; ९९८ ; १००३) और अ०माग० में **जम्बू = जम्बो** है (उवास० ; नायाध० और अन्य बहुत से स्थानों में) । वररुचि ५, २७ में दीर्घ स्वर का निषेध करता है, इस कारण अधिकांश स्थलों पर केवल ह्रस्व स्वर पाया जाता है : महा० में **खविअसरीरि = क्षपितशरीरक** और **दिणवइ = दिनपते** है (हाल ६५५) ; महा० में **पवंगवइ = प्रवंगपते** है (रावण० ८, १९) ; जै०महा० में **पावविहि = पापविधे** (सगर ७, १५) और **सुरवइ = सुरपते** है

(कालका० २७६, ११) ; अ०माग० में मुणि रूप पाया जाता है (सूय० २५१) ; अ०माग० में भिक्खु = भिक्षो है (सूय० २४५ और ३०१) ; महा० और जै०-महा० में पहु = प्रभो (गउड० ७१७ ; ७१९ ; ७३६ ; रावण० १५, ९० ; कालका २६९, ३५) ; शौर० मे रायसि = राजर्षे है (उत्तररा० १२५, ८) । शौर० में जडाओ = जटायो है (उत्तररा० ७०, ५), पर यह अशुद्ध पाठान्तर है ।

§ ३८०—महा०, अ०माग० और जै०महा० में कर्त्ताकारक बहुवचन के रूप अग्गिणो और अग्गी तथा वाउणो और वाउ साथ-साथ और एक दूसरे के पास-पास काम में आते हैं : महा० में कइणो = कवयः (गउड० ६२) और कई = कपयः है (रावण० ६, ५९ ; ८३) ; गिरिणो (गउड० ११४) और गिरी (गउड० ४५० ; रावण० ६, ३४ ; ६०) = गिरयः है ; रिउणो (गउड० ११९५) और रिउ (गउड० २४५ और ७२१) = रिपवः है ; पहुणो (गउड० ८५८ ; ८६१ ; ८७३ ; ८८० ; ९८४) और पहू (गउड० ८६८) = प्रभवः है ; अ०माग० में अमुणी और इसके साथ-साथ मुणिणो = अमुनयः तथा मुनयः है (आयार० १, ३, १, १,) ; गीयरईणो = गीतरतयः है । इसके साथ-साथ गीय-नच्चणरई = गीतनृत्यरतयः है (ओव० § ३५) ; णाणारुई = नानारुचयः है (सूय० ७८१) ; इसिणो = ऋषयः और इसके साथ साथ मुणी = मुनयः है (उत्तर० ३६७) ; हयम्-आई गोण-म्-आई गय-म्-आई सीह-म्-आइणो वाक्यांश पाया जाता है (§ ३५३ ; उत्तर० १०७५) ; विन्नू = विज्ञाः (§ १०५ ; आयार० १, ४, ३, १), गुरु = गुरवः (आयार० १, ५, १, १) और पसू = पशवः (आयार० २, ३, ३, ३) है । अपसू रूप भी पाया जाता है (सूय० ६०१) ; उऊ = ऋतवः (सम० १७ ; विवाह० ७९८ ; अणुओग० ४३२) ; धाउणो = धातवः (सूय० ३७) है ; जै०महा० में सूरिणो = सूरयः (कालका० २६४, ४१ ; २६७, ४१ ; २७०, ६ ; ३६ ; ४२ आदि-आदि), साहुणो = साधवः (आव०एर्से० ९, २२ ; २६, ३६ ; २७, ७ ; ४६, ३ और ९ ; कालका० २७४, ३६) और साहू (तीर्थ० ४, २०) भी उसी अर्थ में आया है ; गुरुणो = गुरवः है (कालका० २७१, ६ ; २७४, २८ और ३६) । *अ०माग० में कर्त्ताकारक बहुवचन के रूप में शब्द के अन्त में -इ और -उ लग कर बने हुए शब्दों की भरमार है । कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिनमें अपवादहीन रूप से अन्त में ये ही विभक्तियाँ आती हैं जैसे, ऊरू मे (उवास० § ९४; सूय० ६३३ और बार बार यह रूप आया है ; महा० मे भी गउड० ४८९ में यही रूप आया है) । इनमें हमें प्राचीन द्विवचन नहीं मानना चाहिए । इसकी उतनी ही कम सम्भावना है जितनी अ०माग० रूप पाणी में (कप्प० एस. (S) § ४३), अ०माग० में इन्दग्गी = इन्द्राग्नी (ठाणंग० ८२), अ०माग० में दो वाऊ = द्वौ वायू (ठाणंग० ८२) ; महा० में बाहू = बाहू (गउड० ४२८) है । ऊपर दिये गये रूपों के अतिरिक्त उक्त तीन प्राकृत भाषाओं में अन्य रूप बहुत कम मिलते हैं । इस प्रकार : अ०माग० में नायओ = ज्ञातयः (सूय० १७४ ; १७९ ; ६२८ ; ६३५) ; अनायओ रूप भी*

आया है (सूय० ६२८) ; अ०माग० में रागद्दोसादयो = रागद्वेषादयः है (उत्तर० ७०७) ; जै०महा० में भवत्तादयो रूप पाया जाता है (एर्से० १७, २८) ; अ०-माग० में रिसओ = ऋषयः है (ओव० § ५६, पेज ६१, २९) ; जै०महा० में महरिसओ रूप आया है (एर्से० ३,१४); अ०माग० में —प्पभियओ = प्रभृतयः है (ओव० § ३८, पेज ४९, ३२ ; ७३ यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; इस ग्रन्थ में अन्यत्र भी यह शब्द देखिए) ; अ०माग० में जन्तवो रूप आया है (पद्य में है ! आयार० १, ६, १, ४ ; उत्तर० ७१२ ; ७९८ ; ७९९ ; सूय० १०५), इसके साथ-साथ जन्तुणो रूप भी मिलता है (आयार० २, १६, १) ; अ०माग० में साहवो = साधवः है (उत्तर० २०८)। बहु (= बहुत) का कर्त्ताकारक बहुवचन का रूप अ०माग० में सदा बहवे होता है (§ ३४५ ; आयार० १, ८, ३, ३ ; ५ और १० ; २, १, ४, १ और ५ ; २, ५, २, ७ ; २, १५, ८ ; सूय० ८५२ ; ९१६ ; उत्तर० १५८ ; १६९ ; उवास० ; नायाध० ; कप्प० आदि आदि)। जै०महा० मे भी यह रूप आया है (एर्से० १७, २८), किन्तु यह अशुद्ध है। इस स्थान में बहवो होना चाहिए (एर्से० ३८, २४) अथवा बहू होना चाहिए (एर्से० ३८, २१)। शौर० में जिन शब्दों के अन्त में —ई और —ऊ आता है और जो अपना कर्त्ताकारक बहुवचन *अ—वर्ग की नकल या समानता पर बनाते हैं, काम में नहीं लाये जाते।* इ—वर्ग के सज्ञाशब्द अपना कर्त्ताकारक बहुवचन स्त्रीलिंग शब्दोंकी भाँति बनाते है जो कुछ तो शब्द के अन्त में —ईओ लगा कर बनाये जाते हैं जैसे, इसीओ = ऋषयः, गिरीओ= गिरयः है (शकु० ६१, ११ ; ९८, ८ ; ९९, १२ ; १२६, १५) ; रिसीओ = ऋषय (मृच्छ० ३२६, १४) है ; और कुछ के अन्त में —णो लगता है जैसे, कइणो = कपयः है (बाल० २३८, ५) ; महेसिणो = महर्षयः है (बाल० २६८, १) ; इसिणो = ऋषयः है (उन्मत्त० ३, ७) ; चिन्तामणिपहुदिणो = चिन्तामणिप्रभृतयः है (जीवा० ९५, १)। शौर० में उ—वर्ग में शब्द के अन्त में —णो लग कर बननेवाले रूपों के जैसे, पंगुणो = पंगवः (जीवा० ८७, १३) ; बालतरुणो = बालतरवः (कर्पूर० ६२, ३) ; तरुणो (कर्पूर० ६७, १), बिन्दुणो (मल्लिका० ८३, १५) के साथ साथ बिन्दओ = बिन्दवः (मृच्छ० ७४, २१) के समान रूप भी पाये जाते हैं। बंधू = बंधवः (शकु० १०१, १३) शौर० रूप नहीं है प्रत्युत महा० है। *माग० प्राकृत के साहित्य में से केवल एक शब्द* दीहगो-माओ जो * दीहगोमाअओ से निकला है (§ १६५) = दीर्घगोमायवः एक पद में आया हुआ मिलता है (मृच्छ० १६८, २०) अन्यथा इ— और उ— वर्ग के उदाहरण नाम को भी नहीं मिलते।

§ ३८१—वर० ने ५,१४ में बताया है कि कर्मकारक मे अग्गिणो और वाउणो की भाँति के रूप ही काम में लाये जा सकते हैं। प्राकृत बोलियों मे किन्तु ये सभी रूप इसके लिए काम में लाये जाते हैं जो कर्त्ताकारक के काम मे आते हैं : महा० में पइणो = पतीन् है (हाल ७०५) ; जै०महा० में सूरिणो = सूरीन् (कालका० २६७, ३८ ; २७०, २) ; अ०माग० में महेसिणो = महर्षीन् है (आयार० १,

५, ५, १) ; किन्तु अ०माग० में **मित्तनाई** = **मित्रज्ञातीन्** (उवास० § ६९ ; ९२; *मित्तनाई के स्थान में यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए*) है ; *मल्लई* और *लेच्छई* = **मल्लकीन्** और **लिच्छवीन्** है (विवाह० ४९० और उसके बाद ; निरया० § २५) ; **नायओ** = **ज्ञातीन्** (आयार० १, ६, ४, ३ ; सूय० ३७८ [पाठ में **णाइओ** है]) ; अ०माग० में **पसवो** = **पशून्** है (सूय० ४१४) ; जै०महा० में **गुरुणो** = **गुरून्** है (कालका० २६९, ३५) ; जै०महा० में **साहुणो** = **साधून्** (कालका० २७१, १५) है ; अ०माग० मे **बाहू** = **बाहू** (सूय० २२२ ; २८६) है ; अ०माग० में **सत्तू** = **शत्रून्** (कप्प० § ११४) ; अ०माग० में **बहू** = **बहून्** (आयार० १, ६, १, ४ ; उत्तर० २१६) । इसके साथ साथ **बहवे** रूप भी चलता है जैसा कर्त्ताकारक मे होता है (आयार० २, २, २, ८ और ९ ; उवास० § ११९ और १८४) । इन सभी रूपों के साथ साथ पल्लवदानपत्र का **वसुधाधिपतये** भी है । — नपुसकलिंग, जिसके कर्त्ता– और कर्मकारक एक समान होते हैं, के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं : महा० में **अच्छीइं** = **अक्षिणी** (हेच० १, ३३ ; २, २१७ ; गउड० ४४ ; हाल ४० ; ५४), **अच्छीइँ** रूप भी पाया जाता है (हाल ३१४) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० मे **अच्छीणि** रूप मिलता है (हाल ३१४ जो मार्क० पन्ना ४४ मे उद्धृत किया हुआ है ; इस ग्रन्थ में अन्यत्र भी यह शब्द देखिए और उसकी तुलना कीजिए ; आयार० २, २, १, ७ ; उवास० § ९४ ; आव०एर्से० ८, २० ; २०, ४) ; अ०माग० में **अच्छी** देखने में आता है (विवाग० ११) । शौर० में भी यह रूप मिलता किन्तु अशुद्ध है (जीवा० ८९, ३) ; अ०माग० में **अट्ठीणि** = **अस्थीनि** (सूय० ५९०) है ; अ०माग० मे **सालीणि** = **शालीन्** (आयार० २, १०, १०) ; **वीहिणि** = **व्रीहीन्** (आयार० २, १०, १० ; सूय० ६८२) और **दरीणि** = **दरीः** है (आयार० २, १०, ११) ; जै०महा० मे **आईणि** = **आदीनि** (कालका० २७४, ४) है ; जै०शौर० में **आदीणि** रूप पाया जाता है (पव० ३८४, ४८) ; महा० मे **अंसूइं** = **अश्रूणि** (ग.ड० १३० ; १२०८) है ; **पण्डूइं** = **पण्डूनि** है (गउड० ३८४ ; ५७७) और इसके साथ साथ **पण्डूइ** रूप भी चलता है (गउड० ; ४६२) ; **विन्दूइं** = **विन्दून्** है (गउड० २२३) ; अ०माग० में **मंसूइं** = **श्मश्रूणि** है (उवास० § ९४) । इसके साथ साथ **मंसूणि** रूप भी काम में आता है (आयार० १,८,३,११) ; **दारूणि** भी मिलता है (सूय० २४७) ; **पाणूणि** = **प्राणान्** (अणुओग० ४२२ ; विवाह० ४२३) ; **कंगूणि** = **कंगवः** है (सूय० ६८२) ; **मिलक्खूणि** = ***म्लेच्छामिमनि** (आयार० २, ३, १, ८) ; अप० में **अंसू** रूप पाया जाता है (पिंगल १, ६१) । वररुचि ५, २६ के अनुसार *केवल* **दहीइ**, **महूइ** *जैसे रूप ही काम में लाये जाते हैं । क्रमदीश्वर ३, २८ में बताता* है कि **दहीइं** काम में आता है । करण–, सबंध– और अधिकरणकारकों के अत मे लगनेवाली विभक्तियों के लिए § १७८ और ३५० लागू होते ; § ३६८ ; ३७० और ३७१ की भी तुलना कीजिए । करणकारक के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं : महा० मे **कईहिँ** और **कईहि** = **कविभिः** (*गउड० ८४ और ८८*) और साथ ही = **कपिभिः**

भी है (रावण० ६, ६४ ; ७८ और ९४) ; अ०माग० में किमीहिं = क्रमिभिः है (सूय० २७८) ; जै०महा० मे आईहिं = आदिभिः है (आव०एर्त्से० ७, १२) ; शौर० में इसीहिं = ऋषिभिः है (शकु० ७०, ६) ; माग० में -प्पहुदीहिं = -प्रभृतिभिः है (शकु० ११४,२) ; महा० में अच्छीहिं, अच्छीहिँ और अच्छीहि रूप मिलते हैं (हाल ३३८ ; ३४१ ; ४५७ ; ५०२) ; शौर० में अच्छीहिं होता है (विक्रमो० ४८,१५ ; रत्ना० ३१९,१८) ; माग० में अस्कीहिं पाया जाता है (मृच्छ० १२०, १३ ; १५२, २२) = अक्षिभ्याम् है ; महा० में रिऊहिं = रिपुभिः (हाल ४७१ ; गउड० ७१८) ; महा० में सिसुहिँ = शिशुभिः (गउड० १०४६) है ; अ०माग० मे वग्गूहिं = वग्नुभिः है (विवाह० ९४६ ; नायाध० § २५ और ७९ ; पेज ३०२ ; ७३६ ; ७५७ ; ११०७ ; राय० २६६ और उसके बाद ; उत्तर० ३०० ; ठाणग० ५२७ ; ओव० § ५३ और १८१ ; कप्प०) ; अ०माग० में ऊरूहिं = ऊरुभ्याम् है (ठाणग० ४०१) ; शौर० में गुरूहिं = गुरुभिः (हास्या० ४०, १७) ; शौर० में विन्दूहिं = विन्दुभिः (वेणी० ६६, २१ ; नागा० २४, १३ ; कर्पूर० ७२, १) है। — महा० रूप अच्छीहिंतो = अक्षिभ्याम् (गउड० २२३) में अपादानकारक वर्तमान है ; जै०महा० रूप उज्जाणाईहिंतो = उद्यानादिभ्यः (द्वार० ४९८, २०) और अ०माग० रूप कामिड्डीहिंतो = कामर्द्धेः में भी अपादानकारक है (पूर्ण बहुवचन ; कप्प० टी. एच. (T. H.) § ११)। जैसा अ- वर्ग में होता है वैसे ही इ- और उ- वर्ग मे भी करणकारक का उपयोग अपादानकारक की भाति होता है : सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा = सन्त्य् एकेभ्यो भिक्षुभ्यो गृहस्थाः संयमोत्तराः है (उत्तर० २०८)। — अप० में तरुहुँ = तरुभ्यः (हेच० ४,३४१) वास्तव मे तरुषु है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह = अधिकरण के जिससे अपादानकारक घुलमिल गया है और जिसके साथ हेमचन्द्र ४, ३४० के अनुसार सम्बधकारक भी उसमें मिल गया है ; फिर भी इस स्थान में अधिक उपयुक्त यह ज्ञात होता है कि इसे अधिकरणकारक माना जाय जब विहुँ = द्वयोः (हेच० ४, ३८३, १) सब बातों को ध्यान में रखते हुए सम्बधकारक के रूप में आया है। — सम्बधकारक के उदाहरण नीचे दिये जाते हे : महा० में कईणं = कवीनाम् (हाल ८६) ; कईण = कपीनाम् (रावण० ६, ८४) है ; गिरीण रूप भी पाया जाता है (गउड० १३७ ; ४४९ ; रावण० ६, ८१) ; अ०माग० में धम्मसारहीणं = धर्मसारथीनाम् है (ओव० § २० ; कप्प० § १६) ; छद की मात्राए ठीक बैठाने के लिए इसीण = ऋषीणाम् है (सूय० ३१७) और इसिणं भी इसके स्थान में आया है (उत्तर० ३७५ और ३७७) ; उदहिण = उदधीनाम् है (सूय० ३१६) और वीहीणं = व्रीहीणाम् है (विवाह० ४२१) ; जै०शौर० में जदीणं = यतीनाम् (पव० ३८५, ६३) और अईणं = आर्दीनाम् है (कत्तिगे० ४०१, ३४०) ; शौर० में महीवदीणं = महीपतीनाम् (ललित० ५५५, १४) और अच्छीणं = अक्ष्णोः है (विक्रमो० ४३, १५ ; नागा० ११, ९) ; महा० में इक्खूणं = इक्षूणाम् (हाल ७४०) ; रिऊण = रिपूणाम् (गउड० १०६ ; १६६ ; २३७) और तरूण =

तरूणाम् है (गउड० १४०) ; अ०माग० में **भिक्खूण = भिक्षूणाम्** (आयार० १, ७, ७, २) ; **सव्वण्णूणं = सर्वज्ञानाम्** (ओव० § २०) और **मिलक्खूणं = म्लेच्छानाम्** है (सूय० ८१७) ; माग० में **बाहूण = बाहोः** (यह पद्य में आया है ; मृच्छ० १२९, २) और **पहूणं = प्रभूणाम्** है (कस० ५०, ४) ; जै०शौर० में **साहूणं = साधूनाम्** है (पव० ३७९, ४)। अप० में सबधकारक बनाने के लिए शब्द के अंत में **-हुं** लगता है जो = **-साम्** के और यह चिह्न सर्वनामों का है : **सउणिहुँ = शकुनीनाम्** (हेच० ४, ३४०) है ; **-हुं** के विषय में ऊपर लिखा गया है। — निम्नलिखित रूपों में अधिकरणकारक पाया जाता है ; उदाहरणार्थ, महा० में **गिरीसु** रूप पाया जाता है (गउड० १३८) ; महा० और अ०माग० में **अच्छीसु** मिलता है (हाल १३२ ; आयार० २, ३, २, ५) ; शौर० में **अच्छीसुं** रूप है (शकु० ३०, ५) ; महा० में **रिऊसु = रिपुसु** है (गउड० २४१) ; जै०शौर० पद्य में **आदिसु = आदिषु** है (पव० ३८३, ६९) ; अ०माग० में **ऊऊसु = ऋतुषु** है (नायाध० ३४४) ; शौर० में **ऊरूसु = ऊर्वोः** है (बाल० २३८, ७ ; पाठ में **ऊरुसु** है)। अप० का **दुहुँ** रूप ***दुष्टु** का समानान्तर है (स्त्रीलिंग ; हेच० ४, ३४०) जब **तिहिँ** (हेच० ४, ३४७) वास्तव में = **त्रिभिः** के है अर्थात् = अ-वर्ग के करणकारक के (§ ३७१)। — नीचे दिये शब्दों में सबोधनकारक वर्तमान है : जै०महा० में **सुयलगुणनिहिणो = सकलगुणनिधयः** है (सगर ७, १२) ; अ०माग० में **जन्तवो** रूप है (सूय० ३३५ ; ४२४), **भिक्खवो** भी पाया जाता है (सूय० १५७ ; पाठ में **भिक्खुवो** है)। जै०महा० **गुरुओ** (कालका० अध्याय तीन, ५१३, २२) के स्थान में **गुरूओ** पढ़ा जाना चाहिए। अप० के विषय में § ३७२ देखिए।

§ ३८२—अ०माग० में बहु के बहुवचन रूप जो पुलिंग में काम में लाये जाते हैं वे अधिकांश स्थलों पर स्त्रीलिंग में भी काम में आते हैं : **बहवे पाणजाइ = बह्वयः प्राणजातयः** (आयार० १, ८, १, २) है ; **बहवे साहम्मिणीओ = बह्वीः *साधर्मिणीः** (आयार० २, १, १, ११ ; २, २, १, २ ; २, ५, १, २ ; २, १०, २०) है ; **बहवे देवा य देवीओ य** वाक्यांश मिलता है (आयार० २, १५, ८) ; **बहवे खुड्डाखुड्डियाओ वावीओ = बह्वयः क्षुद्राक्षुद्रिका वाप्यः** है (जीवा० ४७६), **बहूणं समणा णं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं बहूणं देवाणं बहूणं देवीणं** पाया जाता है (कप्प० एस. (S) § ६४ ; नायाध० ४९८ ; ५१८ ; ६१५ ; ६५४ ; विवाह० २४२) ; **बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य विण्णवणाहि सण्णवणाहि य = बहुभिर् *आख्यापनाभिश् च *प्रज्ञापनाभिश् च *विज्ञापनाभिश् च *संज्ञापनाभिश् च** (नायाध० § १४३ ; पेज ५३९ और ८८९ ; उवास० § २२२ ; विवाह० ८१४) है ; **बहूहिं खुज्जाहिं = बहुभिः कुब्जाभिः** है (निरया० § ४ ; विवाह० ७९१ ; नायाध० § ११७ ; पेज ८३२ और ८३७ ; निरया० २२६) ; **बहूसु वावीसु = बह्वीषु वापीषु** (नायाध० ९१५) है ; **बहूसु विज्जाहरिसु =**

बहुत्थिसु विद्याधरीषु (नायाध० १२७५ ; टीका में यह वाक्यांश आया है ; पाठ में बहुसु विज्जासु है) है। ओववाइयसुत्त § ८ की भी तुलना कीजिए। जो संस्कृत रूप रह गये हैं जैसे, गिरिसु और बग्गुहिं उनके विषय में § ९९ देखिए। महा० और अ०माग० में अ— वर्ग में जो उ— वर्ग की रूपावली आ गयी है उसके लिए § १०५ देखिए। अ०माग० में सकहाओ = सक्थीनि के विषय में § ३५८ देखिए।

§ ३८३—हेमचन्द्र ३, ४३ ; मार्कंडेय पन्ना ४२ और ४३ तथा सिंहराजगणिन् पन्ना १२ के अनुसार —ई और —ऊ में समास होनेवाले रूपावली बनने से पहले ह्रस्व हो जाते हैं और तब —इ और —उ के कर्त्ताकारक की भाँति उनके रूप किये जाते हैं। इसके अनुसार गामणी = ग्रामणीः कर्त्ताकारक है। इसका कर्मकारक गामणिम् ; करण गामणिना ; सम्बन्ध गामणिणो और गामणिस्स तथा सम्बोधन गामणि होता है। कर्त्ताकारक खलपू = खलपूः है ; कर्मकारक खलपु है ; करण खलपुणा ; सम्बन्ध खलपुणो और सम्बोधन खलपु है (हेच० ३, २४ ; ४२ ; ४३ ; १२४)। सिंहराजगणिन् ने कर्त्ताकारक बहुवचन के ये रूप भी दिये हैं ; खलवउ, खलवओ, खलवुणो और खलू। प्राप्त उदाहरण ये हैं : महा० में गामणी और गामणिणो = ग्रामणीः तथा ग्रामण्यः है (हाल ४४९ ; ६३३) ; गामणीणं (रावण० ७, ६०) ; जै०महा० में असोगसिरी और असोगसिरिणो = अशोकश्री तथा अशोकश्रियः है (आव०एर्से० ८, २ और ३२) ; शौर० में चन्दसिरिणो और चन्दसिरिणा = चन्द्रश्रियः तथा चन्द्रश्रिया है (मुद्रा० ३९, ३ ; ५६, ८; २२७, २ और ७) ; शौर० में माहवसिरिणो = माधवश्रियः है (मालती० २११, १) ; शौर० में अग्गाणी = अग्रणीः (मृच्छ० ४, २३ ; ३२७, १) है। सअंभुं और सअंभुणो = स्वयंभुवम् तथा स्वयंभुवः (गउड० १, ८१३) है, सअंभुणो, सअंभुस्स और सअंभुणा (मार्क० पन्ना ४२) का सम्बन्ध स्वयंभू अथवा स्वयंभु से हो सकता है।

(आ) स्त्रीलिंग

§ ३८४—प्राकृत भाषाओं में कहीं कहीं इक्के-दुक्के और वे भी-पद्यों में —इ तथा —उ वर्ग के स्त्रीलिंग के रूप पाये जाते हैं जैसे, भूमिसु और सुत्तिसु (§ ९९)। अन्यथा —इ और —उ वर्ग के स्त्रीलिंग जिनके साथ —ई और —ऊ वर्ग के शब्द भी मिल गये हैं, एक वर्णवालों और अनेक वर्णवालों में बाँटे गये हैं। इनकी रूपावली —आ में समाप्त होनेवाले इन स्त्रीलिंग शब्दों से प्रायः पूर्ण रूप से मिलती है जिनका वर्णन § ३७४ और उसके बाद किया गया है और इनकी विभक्तियों के विषय में वही नियम चलते हैं जो वहाँ दिये गये हैं। विस्तार में ध्यान देने योग्य बातें नीचे दी गयी हैं।

§ ३८५—करण—, अपादान—, सम्बन्ध— और अधिकरण—कारक एकवचन के रूप व्याकरणकारों ने निम्नलिखित दिये हैं : णई = नदी के रूप ये हैं, णईइ , णईए, णइअ, णईआ (भाम० ५, २२ ; क्रम० ३, २६ ; मार्क० पन्ना ४३) ; दइ = दधि

के, रईआ, रईइ, रईए रूप मिलते हैं (सिंहराज० पन्ना १५); बुद्धि के रूप हैं, बुद्धीअ, बुद्धीआ, बुद्धीइ और बुद्धीए; सही = सखी के रूप हैं, सहीअ, सहीआ, सहीइ और सहीए; घेणु = धेनु के रूप हैं, घेणूअ, घेणूआ, घेणूइ और घेणूए; वहू = वधू के रूप हैं, वहूअ, वहूआ, वहूइ और वहूए (हेच० ३, २९)। उक्त रूपों में से –ईआ और –ऊआ के प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये जा सकते और –ईइ तथा –ऊइ के प्रमाण भी पाठों में नाममात्र के हैं : महा० में णईइ = नद्याः (गउड० १०००) है; अ०माग० में महीइ = मह्याः (सूय० ३१२)। इस ग्रन्थ में यह रूप बहुधा –ईए के स्थान में शुद्ध आया है जैसे, गउडवहो १३९; ८६० और ९२२ में है। गब्भिणीइ = गर्भिण्याः के स्थान में जो हाल १६६ में आया है, वेबर ने इधर ठीक ही इसे गब्भिणीअ पढ़ा है। पाठों में जहाँ जहाँ –ईए और –ऊए रूप आये हैं वहाँ-वहाँ छंद में ह्रस्व मात्रा की आवश्यकता है, जैसे, महीएँ, सिरीएँ, तरुणीएँ, पविरत्थरणीएँ, णअरीएँ, णिवसिरीएँ, लच्छीएँ आदि आदि (गउड० १२२; २१२; २४७; २६८; ५०१; ९२८); वहूए (हाल ८७४; ९८१) रूप –ईअ अथवा –ईइ और –ऊअ अथवा –ऊइ में समाप्त होनेवाले माने जाने चाहिए जैसा कि वेबर ने हाल ६९ संशोधन किया है और हाल[1] पेज ४० में संगृहीत उदाहरणों की हस्तलिपियों ने भी पुष्टि की है। हाल ८६ में एक रूप हसंतीइ आया है और इसके साथ साथ इसी ग्रन्थ में हसंतीअ और हसंतीए रूप भी पाये जाते हैं (इण्डिशे स्टुडीएन १६, ५३ की भी तुलना कीजिए)। वहूए के स्थान में (हाल ८७४ और ९८१) काव्यप्रकाश की शारदा लिपि में लिखी गयी हस्तलिपियाँ ८७४ की टीका में वहूओ और वहूअ रूप लिखती हैं तथा ९८१ की टीका में वहूई और वहूइ रूप देती हैं अर्थात् यह रूप वहूअ अथवा वहूइ लिखा जाना चाहिए जैसा कि हाल ७८६, ८४० और ८७४ में भी होना चाहिए। हाल ४५७; ६०८; ६३५ और ६४८ में वहूअ रूप आया है। ग्रंथ में कहीं कहीं इन स्थानों में वहूए अथवा वहूए रूप भी मिलते हैं। § ३७५ की भी तुलना कीजिए। –इअ– और –उअ– वाले रूप भी ठीक जैसी दशा –ईइ– और –ऊइ– वाले रूपों की है, केवल पद्य तक सीमित हैं, किन्तु महा० में –इ और –ई वर्गों में इस रूप की भरमार है : एक। वन्दीअ = वन्द्या; वाहीअ = व्याध्या और ललिअंगुलीअ = ललितांगुल्या है (हाल ११८; १२१, ४५८); आहिआईआ = अभिजात्या; राअसिरीअ = राजश्रिया, दिट्ठीअ = दृष्ट्या; ठिईअ = स्थित्या और जाणईअ = ज्ञानक्या (रावण० १, ११; १३ और ४५; ४, ४२; ६, ६); सिप्पीअ = शुक्त्या; मुट्ठीअ = मुष्ट्या और देवीअ = देव्या (कर्पूर० २, ८; २९, ८; ४८, १४) है; शकुन्तलानाटक में कोडीअ = कोटेः; घरिणीअ = गृहिण्याः और गिरिणई = गिरिनद्या है (हाल ३, ११, १४ और ३७), घणरिद्धीअ सिरीअ अ मलिलुप्पण्णाइ याअणीअ अ = घनर्द्धयाः श्रियश्च मल्लिकोत्पन्नाया याचन्यायाश्च है (रावण० २, १७), धरणीअ = धरण्याः (रावण० २, २, ७, २८) है; सरस्सईअ = सरस्वत्याः और कईअ = कवेः (कर्पूर० २, १;

५१, ३) ; अधिकरण मे **पाणउडीअ** = **प्राणकुट्याम्** है (हाल २२७ ; इसके अर्थ के लिए पाइय० १०५ तथा देशी० ६, ३८ की तुलना कीजिए ; [देशी० ६, ३८ मे **पाण** का अर्थ श्वपच है। इस दृष्टि से **पाणउडी** = श्वपचकुटी हुआ। —अनु०]) ; दाक्षि० में **णअरीअ** = **नगर्याम्** है (मृच्छ० १००, २)। अपादानकारक के उदाहरण नहीं पाये जाते। अप० को छोड अन्य प्राकृत बोलियों मे **–ईए** और **–ऊए** लग कर बननेवाला केवल एक ही रूप है जो एकमात्र चड० ने १, ९ में बताया है किन्तु जो रूप अपादानकारक में कहीं न मिलने से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। करण कारक के रूप ये हैं : **भणतीए** = **भणन्त्या** (हाल १२३) ; अ०माग० मे **गईए** मिलता है, शौर० रूप **गदीए** है = **गत्या** (कप्प० § ५ ; शकु० ७२, ११) ; माग० मे **शत्तीए** = **शक्त्या** (मृच्छ० २९, २०) है ; पै० में **भगवतीए** = **भगवत्या** है (हेच० ४, ३२३) ; सम्बन्धकारक मे **लच्छीए** = **लक्ष्म्याः** (गउड० ६८) है ; अ०माग० मे **नागसिरीए माहणीए** = **नागश्रिया ब्राह्मण्याः** (नायाध० ११५१) है ; शौर० में **रदणावलीए** = **रत्नावल्याः** है (मृच्छ० ८८, २१) ; माग० में **मज्जालीए** = **मार्जार्या** है (मृच्छ० १७, ७) ; अधिकरण में **पअवीए** = **पदव्याम्** है (हाल १०७) ; अ०माग० में **वाणारसीए णयरीए** = **वाराणस्या नगर्याम्** है (अत० ६३ ; निरया० ०३ और ४५ ; विवाग० १३६ ; १४८ और १४९ ; विवाह० २८४ और उसके बाद , नायाध० १५१६ और १५२८)। अ०माग० और जै०महा० में **अडवीए** = **अटव्याम्** है (नायाध० ११३७ ; एत्सें० १, ४ ; १३, ३० ; २१, २१) ; शौर० मे **मसाणवीधीए** = **श्मशानवीथ्याम्** है (मृच्छ० ७२, ८) ; माग० में **धलणीए** = **धरण्याम्** है (मृच्छ० १७०, १६)। यह रूप **–इएँ** ह्रस्व रूप मे अप० मे भी पाया जाता है : करणकारक मे **मरगअकन्तिएँ** = **मरकत कान्त्या** ; सम्बन्धकारक मे **गणन्तिएँ** = **गणन्त्या** और **रदिएँ** = **रत्याः** है (हेच० ४, ३४९ , ३३३ और ४४६)।

§ ३८६—करणकारक में क्रियाविशेषण रूप से प्रयुक्त शौर० रूप **दिट्ठिआ** = **दृष्ट्या** मे (उदाहरणार्थ मृच्छ० ६८, २ , ७४, ११ ; विक्रमो० १०, २० , २६, १५ ; ४९, ४ आदि आदि) **–आ** मे समाप्त होनेवाला एक प्राचीन करणकारक सुरक्षित है। पिंगल के अप० मे **–ई** मे समाप्त होनेवाला एक करणकारक पाया जाता है : **कित्ती** = **कीर्त्या** (१, ६५ अ, २, ६६) ; **भत्ती** = **भक्त्या** है (२, ६७) और इसी प्रकार का शब्द **एअवीसत्ती** है जो **एअवीसत्ता** के स्थान में आया है (एस० गौल्दश्मित्त ने यह रूप **एअवीसत्ति** दिया है) = **एकविंशत्या** पढा जाना चाहिए (१, १४२)। — अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **–ईए** लग कर बननेवाले सम्प्रदानकारक के विषय में § ३६१ देखिए। — अपादानकारक में अप० को छोड जिसमें हेच० ४, ३५० के अनुसार सम्बन्धकारक के समान ही समाप्तिसूचक **हे** लगता है, **–ईओ** और **–ऊओ** चिह्न भी जोड़े जाते हैं तथा जै०शौर०, शौर० और माग० शब्दों के अत में **–ईदो** और **–ऊदो** भी आते है : अ०माग० में **अरइईओ** = **अरतितः** है (सूय० ६५४ ; ओव० § १२३) ; **कोसिओ** = **कोद्याः**

शौर० में **सहीओ** = **संख्यः** है (हाल १३१ ; ६१९ ; शकु० १२, १ , १०
चैतन्य० ७३, ३ ; ८३, १२ आदि-आदि) ; शौर० में **भोदीओ** = भवत्यः (
१२१,१) ; **भअवदीओ** = भगवत्यः है (उत्तररा० १९७,१० ; अनर्घ० ३०
महा० में **सहीउ** रूप पाया जाता है (हाल ४१२ और ७४३) । अप० में स
कारक रूप के अंत में –हों लगता है : **तरुणिहों** = तरुण्यः (हेच० ४, ३
हेमचंद्र ने ३, २७ और १२४ मे शब्द के अंत में –ई और –ऊ लगाकर बनने
रूप बताये हैं उनके उदाहरण और प्रमाण मिलते हैं : कर्त्ताकारक महा० में
ग्ह = **असत्यः** **स्मः** (हाल ४१७) है ; संबोधनकारक महा० में पिअस
प्रियसख्यः (हाल ९०३) है ; कर्मकारक अ०माग० में **इत्थी** = **स्त्रीः** (पद
उत्तर० २५३) है । अन्य शेष बहुवचन कारकों के लिए थोड़े से उदाहरण प
करणकारक महा० और शौर० में **सहीहिं** = **सखीभिः** है (हाल १४४,
१६७, ९) ; महा० में **दिट्ठीहिं** रूप मिलता है (गउड० ७५२) ; **सही**
साथ साथ **सहीहि** रूप आये हैं (हाल १५ ; ६० ; ६९ ; ८१० ; ८४०,
शौर० में **धूलीहिं** रूप देखने में आता है (पव० ३८४, ६०) ; अ०
चिलाईहिं वायणीहिं वडभीहिं बब्बरीहिं ..**दमलीहिं सिंहली**
किरातीभिर् वामनीभिर् वडभीभिर् वर्वरीभिर् द्रवडीभिः सिंह
(ओव० § ५५) ; शौर० में **अंगुलीहिं** = **अंगुलीभिः** (मृच्छ० ६,७ ; श
१) है । आयारंगसुत्त १, २, ४, ३ में **थीभि** = **स्त्रीभिः** है ; अप० में **पुप्फ**
पुष्पवतीभिः है (हेच० ४, ४३८, ३) और ह्रस्व स्वर के साथ : अ
असतीभिः ; **देंतिहिँ** = **ददतीभिः** (हेच० ४, ३९६, १ ; ४१९, ५
सम्बन्धकारक महा० में **सहीण** = **सखीनाम्** (हाल ४८२) है ; **थुईण** =
(गउड० ८२) है ; **तरुणीणं** रूप भी पाया जाता है (हाल ५४५),
की तुलना कीजिए ; अ०माग० में **सवत्तीणं** = **सपत्नीनाम्** (उवास०
२३९) ; महा० और शौर० में **कामिणीणं** रूप पाया जाता है (हा
मृच्छ० ७१, २२) ; महा० में **वहूणं** = **वधूनाम्** है (गउड० ११५
५२६ ; रावण० ९, ७१ और ९३) और साथ ही **वहूण** रूप भी पाय
(रावण० ९, ४० और ९६ ; ३५, ७८) । अधिकरणकारक महा०
= **रात्रिषु** है (हाल ४५) ; **गिरिअडीसु** = **गिरितटीषु** है (गउड०
अ०माग० में **इत्थीसु** = **स्त्रीषु** है (आयार० २, १६, ७ ; सूय०
४०९) ; जै०महा० में **कुजोणीसु** = **कुयोनिषु** (सगर ११, ४)
और अ०माग० में **वावीसु** = **वापीषु** है (गउड० १६६ ; नायाध
महा० में –**त्थालीसुं** रूप पाया जाता है (गउड० २५६) और इस
–**त्थालीसु** रूप भी मिलता है (गउड० ३५० और ४२१) = –
शौर० में **वणराईसं** = **वनराजिषु** है (शकु० २९, ४ ; उत्तररा०

[illegible]) ; [illegible]
(मृच्छ० १४१, २५ ; १५२, २२) ; पश्चात्तापः [illegible]
१) ; महा० मे वेवन्तोरु = वेपमानोरु (हाल ५६) [illegible]
(गउड० १८६ ; हाल) ; करिअगेह = करिकरोरु (हाल [illegible]
प्लुति होती है जैसे, यारू है (मृच्छ० १२७, ७)।

§ ३८७ — कर्त्ता–, कर्म– और संबोधनकारक बहुवचन में [illegible]
–ऊओ लगते हैं जो पद्य मे –ईउ और –ऊउ रूप मे परिवर्तित हो [illegible]
महा० मे कत्तीओ = कृत्तयः (हाल ९५१) और रिद्धीओ = ऋद्धयः है ([illegible]
९२) ; लुम्बीओ = *लुम्ब्यः (हाल ३२२) ; णईओ = नद्यः और णअरीओ =
नगर्यः है (गउड० ३६० ; ४०३); अ०माग० मे महाणईओ = महानद्यः (ठाणंग०
७६ ; ७७ और ७९) ; हिरण्णकोडीओ = हिरण्यकोट्यः (ठाणंग० [illegible]) है ;
इत्थीओ = स्त्रियः (ठाणंग० १२१) है ; महा० में तरुणीउ = तरुण्यः है (गउड०
११३ ; हाल ५४६); जै०महा० में पलवन्तीओ...अवरोहजुवईओ = प्रलपन्त्यः...
अवरोधयुवतयः (सगर ४,१३) ; वसहीओ = वसतयः (तीर्थ० ४,२२) है ;
गीईओ = गीतयः (महावीर० १२१, ७) है ; महुअरीओ = मधुकर्यः है
(मृच्छ० २९, ५ और ७ ; ७०, २) ; आइदीओ = आकृतयः है (शकु० ११२,
६) ; पइदीओ = प्रकृतयः (विक्रमो० ७३, १२ ; मुद्रा० ३९, १ ; ५६, ८) है।
अप० मे अंगुलिउ = अंगुल्यः (हेच० ४, ३३३) है, इसमे ह्रस्व स्वर आया है जो
पद्य मे है और छंद की मात्राएं ठीक करने के लिए काम मे लाया गया है। अन्य प्राकृत
बोलियो मे भी ऐसा होता है (§ ९९)। महा० मे कुलवहूओ = कुलवध्वः है
(हाल ४५९) ; अ०माग० में सुरवधूओ भी आया है (ओव० § [३८]) ;
रज्जूओ = रज्जवः है (जीवा० ५०३)। — कर्मकारक मे : महा० मे सहिरीओ =
सहनशीलः है (हाल ४७)। अ०माग० मे वल्लीओ = वल्लीः (आयार० २, ३,
२, १५) है ; ओसहीओ = ओषधीः है (आयार० २, ४, २, १६ ; सूय० ७२७ ;
दस० ६२८, ३३) , सवत्तीओ = सपत्नीः (उवास० § २३९) ; सयग्घीओ =
शतघ्नीः (उत्तर० २८५) है। जै०महा० में गोणीओ रूप पाया जाता है (आव०
एत्सें० ७, १०)। शौर० में भअवदीओ = भगवतीः (शकु० ७९,१३) है ; अप०
में विलासिणीउ = विलासिनीः और –इ के साथ सल्लइउ = शल्लकीः है (हेच०
४, ३८७, १)। अ०माग० में बहूओ चोरविज्जाओ = बह्वीः चोरविद्याः है
(नायाध० १४२१) किंतु इसके साथ साथ में बहवे साहम्मिणीओ = बह्वीः
*साधर्मिणीः भी देखने में आता है (§ ३८२)। — संबोधनकारक में जै०महा०
मे भयवईओ देवयाओ = भगवत्यो देवताः (द्वार० ५०३,२५) है ; महा० और

है (सूय० ५९३) ; णयरीओ = नगर्याः है (निरया० § १९ ; पेज ४४ और ४५; नायाध० ११३५) ; पोक्खरिणीओ = पुष्करिण्याः और चोरपल्लीओ = चोरपल्ल्याः है (नायाध० १०६० ; १४२७ ; १४२९) ; गंगासिन्धूओ = गंगासिन्धोः है (ठाणग० ५४४ ; विवाह० ४८२ और उसके बाद) ; शौर० में अडईदो = अटव्याः (शकु० ३५, ८) है ; उज्जइणीदो = उज्जयिन्याः (रत्ना० ३२१, २२ ; ३२२, ९) ; सचीदो = शच्याः है (विक्रमो० ४४, ८) ; माग० में णअलीदो = नगर्याः है (मृच्छ० १५९, १३)। — जैसा अ- वर्ग में होता है (§ ३७५) अप० में भी सम्बन्धकारक बनाने के लिए शब्द के अन्त में -हेँ लगता है जो स्वरों से पहले ह्रस्व कर दिया जाता है : जोअन्तिहे = पश्यन्त्याः ; मेल्लन्तिहेँ = मुञ्चन्त्याः, गोरिहेँ = गौर्याः ; तुम्बिणिहेँ = तुम्बिण्याः है (हेच० ४, ३३२, २ ; ३७०, ४ ; ३९५, १ ; ४२७, १) ; कंगुहेँ = कंगोः है (हेच० ४, ३६७, ४)। — अ०माग० में अधिकरणकारक में बहुधा राओ = रात्रौ पाया जाता है जो अकेले में भी मिलता है (आयार० १, ८, २, ६ ; सूय० २४७ ; २५५; ५१९ ; नायाध० ३०० और ३७४) और वाक्य के भीतर अन्य शब्दों के साथ भी आता है जैसे, अहो यह राओ (आयार० १, २, १, १ और २ ; २ ; १, ४, १, ३ ; सूय० २९५ ; ४१२ ; ४८५ ; उत्तर० ४३०) अथवा अहो यह राओ य = अहश् च रात्रौ च है (पण्हा० ३७३)। राओ वा वियाले वा वाक्यांश आया है (आयार० २, १, ३, २ ; २, २, ३, २ और २३ [कलकतिया संस्करण पेज १२६ के अनुसार यही पाठ शुद्ध है]), दिया य राओ य = दिवा च रात्रौ च है (आयार० १, ६, ३, ३ ; ४, १ ; उत्तर० ८४७), दिया वा राओ वा भी पाया जाता है (सूय० ८४६ ; दस० ६१६, १३)। कभी कभी अ०माग० में पुलिंग और नपुंसकलिंग के समाप्तिसूचक चिह्न स्त्रीलिंग शब्दों में भी अपना लिये गये हैं। पिट्ठी से सम्बधित पिट्ठिंसि रूप है (§ ५३ ; नायाध० ९४०) ; भित्तिंसि = भित्तौ (आयार० २,५,१,२१) है ; रायहाणिंसि = राजधान्याम् है (आयार० २, १, २, ६ ; २, १, ३, ४ ; २, ३, १, २)। § ३५५ ; ३५८ ; ३६४ ; ३६७ ; ३७५ और ३७९ की तुलना कीजिए। शौर० में रत्तिम्मि = रात्रौ है (जीवा० ९, २३ ; १७, २३ ; मल्लिका० २२६, ४) ; भूमिम्मि = भूमौ है (मल्लिका० ३३७,२१)। अप० में अधिकरणकारक में शब्द के अंत में -हिँ लगता है जो = याम् के : महिहिँ = मह्याम् ; रूदिहिँ = रूढौ ; सल्लइहिँ = शल्लक्याम् ; वाणारसिहिँ = वाराणस्याम् और उज्जेणिहिँ = उज्जयिन्यां (हेच० ४, ३५२ ; ४१८, ८ ; ४२२, ९ ; ४४२, १) ; णइहिँ = नद्याम् (पिंगल १, ५अ)। पिंगल की अप० में इ- वर्ग में अधिकरणकारक शब्द के अंत में -ई और इसके ह्रस्व रूप -इ लगाकर बनता है : पुहवी = पृथिव्याम् है (१, १२१ ; पाठ में पुहमी है) ; धरणी = धरण्याम् है (१, १३७अ) ; पुहवि = पृथिव्याम् (१, १३२अ) और महि = मह्याम् है (१, १४३अ)। शब्द के अंत में -इ और -उ लगकर संबोधनकारक बनता है : महा० में मादवि = माधवि ; मारुदि = मैत्रि ;

देवि = देवि है (गउड० २८५ ; २८७ ; २९० ; ३३१), थोरत्थणि = स्थूलस्तनि (हाल ९२५) ; शौर० में भअदि भाईरधि = भगवति भागीरथि (बाल० १६३, १० ; प्रसन्न० ८३, ४) ; जै०महा० और शौर० में पुत्ति = पुत्रि है (आव०एर्से० १२, ११ और १७ ; बाल० १६५, ३ ; १७४, ८) ; शौर० में सहि मालदि = सखि मालति है (मालती० ९४, २) ; माग० में वुड्ढकुस्टणि = वृद्धकुट्टनि है (मृच्छ० १४१, २५ ; १५२, २२) ; कच्चाइणि = कात्यायनि है (चंड० ६९, १) ; महा० में वेवन्तोरु = वेपमानोरु (हाल ५२) और सुअणु = सुतनु है (गउड० १८६ ; हाल) ; करिअरोह = करिकरोरु (हाल ९२५) ; माग० में प्लुति होती है जैसे, चारू है (मृच्छ० १२७, ७) ।

§ ३८७— कर्त्ता–, कर्म– और संबोधनकारक शब्द के अंत मे –ईओ और –ऊओ लगते हैं जो पद्य मे –ईउ और –ऊउ रूप में परिवर्तित हो जाते हैं : कर्त्ता– महा० मे कत्तीओ = कृत्तयः (हाल ९५१) और रिद्धीओ = ऋद्धयः है (गउड० ९२) ; लुम्बीओ = *लुम्ब्यः (हाल ३२२) ; णईओ = नद्यः और णअरीओ = नगर्यः है (गउड० ३६० ; ४०३); अ०माग० मे महाणईओ = महानद्यः (ठाणंग० ७६ ; ७७ और ७९) ; हिरण्णकोडीओ = हिरण्यकोट्यः (उवास० § ४) है ; इत्थीओ = स्त्रियः (ठाणग० १२१) है ; महा० में तरुणीउ = तरुण्यः है (गउड० ११३ ; हाल ५४६); जै०महा० में पलवन्तीओ...अवरोहजुवईओ = प्रलपन्त्यः... अवरोधयुवतयः (सगर ४,१३) ; वसहीओ = वसतयः (तीर्थ० ४,२२) है ; गीदीओ = गीतयः (महावीर० १२१, ७) है ; महुअरीओ = मधुकर्यः है (मृच्छ० २९, ५ और ७ ; ७०, २) ; आइदीओ = आकृतयः है (शकु० १३२, ६) ; पइदीओ = प्रकृतयः (विक्रमो० ७३, १२ ; मुद्रा० ३९, १ ; ५६, ८) है । अप० में अंगुलिउ = अंगुल्यः (हेच० ४, ३३३) है, इसमे ह्रस्व स्वर आया है जो पद्य में है और छद की मात्राए ठीक करने के लिए काम मे लाया गया है। अन्य प्राकृत बोलियों मे भी ऐसा होता है (§ ९९)। महा० मे कुलवहूओ = कुलवध्वः है (हाल ४५९) ; अ०माग० मे सुरवधूओ भी आया है (ओव० § [३८]) ; रज्जूओ = रज्जवः है (जीवा० ५०३) । — कर्मकारक मे : महा० मे सहिरीओ = सहनशीलः है (हाल ४७)। अ०माग० मे वल्लीओ = वल्लीः (आयार० २, ३, २, १५) है ; ओसहीओ = ओषधी. है (आयार० २, ४, २, १६ ; सूय० ७२७ ; दस० ६२८, ३३) ; सवत्तीओ = सपत्नीः (उवास० § २३९) ; सयग्घीओ = शतघ्नीः (उत्तर० २८५) है । जै०महा० मे गोणीओ रूप पाया जाता है (आव० एर्से० ७, १०)। शौर० में भअवदीओ = भगवतीः (शकु० ७९,१३) है ; अप० में विलासिणीउ = विलासिनीः और –इ के साथ सलइउ = शल्लकीः है (हेच० ४, ३८७, १)। अ०माग० में बहुओ चोरविज्जाओ = बह्वीः चोरविद्याः है (नायाध० १४२१) किंतु इसके साथ साथ मे बहवे साहम्मिणीओ = बह्वीः *साधर्मिणीः भी देखने में आता है (§ ३८२) । — संबोधनकारक में जै०महा० में भयवईओ देवयाओ = भगवत्यो देवताः (द्वार० ५०३,२५) है ; महा० और

शौर० में **सहीओ** = **संख्यः** है (हाल १३१ ; ६११ ; शकु० १२, १ ; ९०, ८ ; चैतन्य० ७३, ३ ; ८३, १२ आदि-आदि) ; शौर० में **भोदीओ** = **भवत्यः** (विद्ध० १२१,१) ; **भअवदीओ** = **भगवत्यः** है (उत्तररा० १९७,१० ; अनर्घ० ३००, १), महा० में **सहीउ** रूप पाया जाता है (हाल ४१२ और ७४३)। अप० में संबोधन-कारक रूप के अंत में **–हों** लगता है : **तरुणिहों** = **तरुण्यः** (हेच० ४, ३४६)। हेमचंद्र ने ३, २७ और १२४ में शब्द के अंत में **–ई** और **–ऊ** लगकर बननेवाले जो रूप बताये हैं उनके उदाहरण और प्रमाण मिलते हैं : कर्त्ताकारक महा० में **असइ-ग्ह** = **असत्यः सः** (हाल ४१७) है ; संबोधनकारक महा० में **पिअसही** = **प्रियसख्यः** (हाल ९०३) है ; कर्मकारक अ०माग० में **इत्थी** = **स्त्रीः** (पद्य में ! ; उत्तर० २५३) है। अन्य शेष बहुवचन कारकों के लिए थोड़े से उदाहरण पर्याप्त हैं : करणकारक महा० और शौर० में **सहीहिं** = **सखीभिः** है (हाल १४४ ; शकु० १६७, ९) ; महा० में **दिट्ठीहिं** रूप मिलता है (गउड० ७५२) ; **सहीहिँ** और साथ साथ **सहीहि** रूप आये हैं (हाल १५ ; ६० ; ६९ ; ८१० ; ८४०) ; जै० शौर० में **धूलीहिं** रूप देखने में आता है (पव० ३८४, ६०) ; अ०माग० में **चिलाईहिं वायणीहिं वडभीहिं वव्वरीहिं...दमलीहिं सिंहलीहिं** .. = **किरातीभिर् वामनीभिर् वडभीभिर् वर्बरीभिर् द्रवडीभिः सिंहलीभिः** है (ओव० § ५५) ; शौर० में **अंगुलीहिं** = **अंगुलीभिः** (मृच्छ० ६,७ , शकु० १२, १) है। आयारंगसुत्त १, २, ४, ३ में **थीभि** = **स्त्रीभिः** है ; अप० में **पुप्फवईहि** = **पुष्पवतीभिः** है (हेच० ४, ४३८, ३) और ह्रस्व स्वर के साथ : **असइहिँ** = **असतीभिः** ; **देँन्तिहिँ** = **ददतीभिः** (हेच० ४, ३९६, १ ; ४१९, ५) है। — सम्बन्धकारक महा० में **सहीण** = **सखीनाम्** (हाल ४८२) है ; **थुईण** = **स्तुतीनाम्** (गउड० ८२) है ; **तरुणीणं** रूप भी पाया जाता है (हाल ५४५) ; हाल १७४ की तुलना कीजिए ; अ०माग० में **सवत्तीणं** = **सपत्नीनाम्** (उवास० § २३८ ; २३९) ; महा० और शौर० में **कामिणीणं** रूप पाया जाता है (हाल ५६९ ; मृच्छ० ७१, २२) ; महा० में **वहूणं** = **वधूनाम्** है (गउड० ११५८ ; हाल ५२६ ; रावण० ९, ७१ और ९३) और साथ ही **वहूण** रूप भी पाया जाता है (रावण० ९, ४० और ९६ ; १५, ७८)। अधिकरणकारक महा० में **राईसु** = **रात्रिषु** है (हाल ४५) ; **गिरिअडीसु** = **गिरितटीषु** है (गउड० ३७४) ; अ०माग० में **इत्थीसु** = **स्त्रीषु** है (आयार० २, १६, ७ ; सूय० ४०५ और ४०९) ; जै०महा० में **कुजोणीसु** = **कुयोनिषु** (सगर ११, ४) हैं ; महा० और अ०माग० में **वावीसु** = **वापीषु** है (गउड० १६६ ; नायाध० ९१५) ; महा० में **–त्थालीसुं** रूप पाया जाता है (गउड० २५६) और इसके साथ ही **–त्थालीसु** रूप भी मिलता है (गउड० ३५० और ४२१) = **–स्थलीषु** है ; शौर० में **वणराईसुं** = **वनराजिषु** है (शकु० २९, ४ ; उत्तररा० २२, १३ ; पाठ में **वणराइसु** है) ; **देवीसुं** भी देखने में आता है (शकु० १४१, ९)। अप० में अधिकरण– और करण–कारक एकाकार हो गये हैं : **दिसिहिँ** = ***दिशीषु** =

दिक्षु किंतु साथ साथ दुहुँ = द्वयोः है (हेच० ४, ३४० ; § ३८१ की तुलना कीजिए) ।

§ ३८८—पल्लवदानपत्रों में केवल अधिकरणकारक एकवचन पाया जाता है। **आपिट्टीयं** (६, ३७) अर्थात् **आपिट्टियं = आपिट्टयाम्** है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह पाली का रूप है। — शब्द के अंत में –इ, –उ, –ई और –ऊ लगकर बननेवाले स्त्रीलिंग रूप जब एक समास के अंत में आते हैं तब वे स्वभावतः संस्कृत के समान ही पुलिंग अथवा नपुंसकलिंग के समाप्तिसूचक चिह्न जोड़ लेते हैं जब कि उनका संबंध पुलिंग या नपुंसकलिंग से होता है। इसके अनुसार : महा० मे **करेण च पञ्चंगुलिणा** आया है (गउड० १७) ; महा० में **ससिअलासुत्तिणा...कवालेण = शशिकलाशुक्तिना...कपालेन** (गउड० ४०) भी पाया जाता है ; शौर० में **मए मन्दबुद्धिणा = मया मन्दबुद्धिना** (शकु० १२६, १०) देखने में आता है ; शौर० में **मोहिदमदिणा = मोहितमतिना** है और **णीदिणिउणबुद्धिणा = नीतिनिपुणबुद्धिना** है (मुद्रा० २२८, १ ; २६९,३) ; शौर० में **उज्जुमदिणो = ऋजुमतेः** है (प्रसन्न० ४६, ९) । इसमें माग० के **मुस्टीए मुस्टिणा = मुष्टामुष्टि**, विशेषतः = **मुष्ट्या मुष्टिना** है (मृच्छ० १७०, १५) ।

शब्द के अंत में –ऋ वाला वर्ग

§ ३८९—सस्कृत मे जो भेद विशुद्ध कर्त्ताकारक तथा सगे-संबंधियों को व्यक्त करनेवाले शब्दों में किया जाता है वह प्राकृत में सुरक्षित बना रह गया है। संस्कृत के समान ही ध्वनिवाले रूप प्राकृत बोलियों में केवल कर्त्ता– और कर्मकारक एकवचन तथा कर्त्ताकारक बहुवचन में रह गये हैं। अन्यथा ऋ के इ अथवा उ में ध्वनिपरिवर्तन के साथ साथ (§ ५० और उसके बाद) ऋ– वर्ग इ– अथवा साधारणतया उ– वर्ग मे चला गया है अथवा कर्मकारक एकवचन का वर्ग नये रूप में सामने आता है और जिसकी रूपावली अ– वर्ग की भांति चलती है : **पिइ–, पिउ–** और **पिअर = पितृ–; भट्टि–, भत्तु–** और **भत्तार–** रूप हैं। सगे-संबंधियों को व्यक्त करनेवाले शब्दों की रूपावली भी आ– वर्ग की भांति चलती है। इस रूपावली का सूत्रपात कर्त्ताकारक एकवचन में हुआ : **माआ–, माई–, माऊ–** और **माअरा** रूप हैं [इन रूपों में से **माई** हिंदी में वर्तमान है और **माअरा** से बना **मैडो, मयाँडो** रूप कुमाउनी मे चलते हैं तथा **माऊ** से **माँ** निकला है जो संयुक्त शब्द **मौ–परिवार** मे मिलता है। इसका अर्थ है **मा–** और **परिवार**। इस शब्दके पीछे कुमाऊ के खसों और अन्य अनेक वर्णों का इतिहास छिपा है। —अनु०]। इस कारण व्याकरणकार (वर० ५, ३१—३५ ; हेच० ३, ४४—४८ ; क्रम० ३, ३०—३४ ; मार्क० पन्ना ४४ ; सिंहराज० पन्ना १३ ; १६ ; १८) ऋ– वर्ग के लिए वही रूपावली देते हैं जो अ– वर्ग की होती है और इस दृष्टि से ही आ– वर्ग और उ– वर्ग में चलनेवाले रूप देते हैं जिनमें से अब तक सभी के उदाहरण और प्रमाण नहीं पाये गये है। जिन रूपों के प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं वे इस रूपावलीका निम्नलिखित चित्र सामने रखते हैं।

§ ३९०—विशुद्ध कर्त्ता—भत्तु = भर्तृ ।

एकवचन

कर्त्ता—भत्ता ; अ०माग० में भत्तारे भी है ; जै०महा० में भत्तारो भी है ।
कर्म—भत्तारं ; माग० में भत्तालं ।
सबंध—भत्तुणो ; अ०माग० में भत्तारस्स भी है ।
अधिकरण—जै०महा० और शौर० में भत्तारे ।
सबोधन—भत्ता ।

बहुवचन

कर्त्ता—महा० और अ०माग० में भत्तारो ; अ०माग० में भत्ता भी होता है ।
करण—अ०माग० में भत्तारेहिं ।
अधिकरण—अ०माग० में भत्तारेसु ।
सम्बोधन—अ०माग० में भत्तारो ।

'स्वामी' के अर्थ में भर्तृ शब्द शौर० में इ- वर्ग में चला गया है (§ ५५ और २८९) और इस ध्वनिपरिवर्तन के कारण इसकी रूपावली नीचे दी जाती है : शौर० में कर्त्ता — भट्टा (ललित ५६३, २३ ; रत्ना० २९३, ३२ ; २९४, ११ आदि-आदि) , कर्म— भट्टारं (मालवि० ४५, १६ ; ५९, ३ ; ६०, १०) ; करण— भट्टिणा (शकु० ११६, १२ ; ११७, ११ ; मालवि० ६, २ और ९ ; ८, ७) ; सम्बन्ध— भट्टिणो (शकु० ४३, १० ; ११७, ७ ; मालवि० ६, २२ ; ४०, १८ ; ४१, ९ और १७ ; मुद्रा० ५४, २ ; १४९, २) ; सम्बोधन— भट्टा (रत्ना० ३०५, १७ और २३ ; शकु० १४४, १४) । यह रूप ढकी में भी पाया जाता है (मृच्छ० ३४, ११ और १७) । —इसके दुसरे कारकों के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं : कर्त्ता—अ०माग० में णेया = नेता है (सूय० ५१९ ; पाठ में णेता है) ; कण्ठच्छेत्ता रूप पाया जाता है (उत्तर० ६३३) ; जै०महा० में दाया = दाता है (एर्त्से० ५८, ३०) ; महा०, जै०महा० और शौर० में भत्ता मिलता है (कर्पूर० ४३, ४ ; आव०एर्त्से० ११, २ ; एर्त्से० ; मृच्छ० ४, ४ और ५) ; जै०शौर० में णादा = ज्ञाता और झादा = ध्याता है (पव० ३८२, ४२ ; ३८६, ७०), कत्ता = कर्त्ता है (पव० ३८४, ३६ ; ५८ और ६०) ; शौर० में सासिदा = शासिता; दादा = दाता है (काल्येय० २४, १६ ; २५, २२) ; शौर० में रक्खिदा = रक्षिता है (शकु० ५२,५ ; मुकुन्द० १५,५) ; अ०माग० में उदगदायारे [पाठ में उदगदातारो है]—उदकदाता है (ओव० § ८६) , अ०माग० में भत्तारे रूप पाया जाता है (नायाध० १२३०) ; अ०माग० में उवदंसेत्तारे [पाठ में उवदंसेत्तारो है] = उपदर्शयिता (सूय० ५९३) है ; जै०महा० में भत्तारो = भत्ता है (आव०एर्त्से० १२, ५ ; १२ ; १६ और १७ ; एर्त्से० ६, ३६ ; ८५, २२) । —कर्म— महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में भत्तारं रूप पाया जाता है (हाल ३९० ; सम० ८४ ; एर्त्से० ; मालती० २४०, २) ; माग० में भट्टालं आया है

(वेणी० ३३, ८); अ०माग० में उदगदायारं=उदकदातारम् (ओव० § ८५); पसत्थारं नेयारं=प्रशास्तारं नेतारम् (सम० ८४) और सत्थारं =शास्तारम् है (आयार० १, ६, ४, १); अ०माग० और जै०शौर० मे कत्तारं =कर्तारम् है (उत्तर० ४१२ ; पव० ३७९, १)। — सम्बन्ध— महा०, जै० महा० और शौर० में भत्तणो रूप पाया जाता है (कर्पूर० ७, १ ; एर्त्सें० ४१, २३ ; शकु० ८१, १० , विक्रमो० ५२, १४ ; ८२,६ और १६ ; ८८, १४ आदि आदि); अ०माग० में उदगदायारस्स=उदकदातुः (ओव० § ८५)। — शौर० में अधिकरणकारक का रूप भत्तरि (शकु० १०९, १०) इसी ग्रन्थ में अन्यत्र आये हुए रूप के अनुसार भत्तारे पढ़ा जाना चाहिए। यही रूप हेमचन्द्र ३, ४५ में सिखाता है और जै०महा० में भी यह रूप वर्तमान है (आव०एर्त्सें० २३, ५)। काश्मीरी संस्करण को (१०५, १५) भट्टरि पाठभेद, देवनागरी संस्करण का पाठभेद भत्तुणि और द्राविडी संस्करण का पाठभेद भत्तुम्मि अशुद्ध है (बोएटलिंक का संस्करण ७०, १२; मद्रासी संस्करण २४८, ६)। द्राविडी संस्करण की हस्तलिखित प्रतियाँ भत्तुम्मि, भट्टरि, भत्तरि तथा भत्तंमि के बीच में डावाडोल है। सम्बोधन— भट्टा है। इससे पहले इसका जो उल्लेख किया गया है वह भी देखिए। — बहुवचन : कर्त्ता— महा० में सोआरो = श्रोतारः (वज्जालग्ग ३२५, १७) ; अ०माग० मे पसत्थारो = प्रशास्तारः (सूय० ५८५ , ओव० § २३ और ३८) और उववत्तारो = उपपत्तारः है (सूय० ६९९ , ७६६ , ७७१ ; विवाह० १७९ , ५०८ , ६१० ; ओव० § ५६ ; ६९ और उसके बाद); अक्खायारो, आगन्तारो और णेयारो और [पाठ में णेतारो है] पन्नत्तारो रूप देखने में आते हैं जो=आख्यातारः, आगन्तारः, नेतारः और प्रज्ञातारः है (सूय० ८१ ; ४३९ , ४७० ; ६०३) ; अ० माग० मे गन्ता = गन्तारः है (सूय० १५०); सविया = सवितारो और तट्ठा = त्वष्टारो है (ठाणग० ८२)। अ०माग० में भयंतारो का उक्त रूपों से ही सम्बन्ध है, यह ओववाइयसुत्त § ५६ में भवन्तारो[1] रूप में दिखाई देता है और कर्त्ताकारक एकवचन (आयार० २, १, ११, ११ ; २, २, २, ६—१४ ; २, ५, २, ३ ; सूय० ५६२ ; ७६६ ; ओव० § ५६ और १२९) और सम्बोधन में भी (आयार० २, १, ४, ५ , सूय० २३९ , ५८५ , ६०३ , ६३० ; ६३५) काम में लाया जाता है। इसका अर्थ = भवन्त : अथवा भगवन्तः है। टीकाकार उक्त शब्द का अर्थ अन्य पर्यायों के साथ साथ इन शब्दों को भी देते हैं तथा यह सर्वनाम रूप से काम में आनेवाला कृदत रूप भवन्त से ठीक उसी प्रकार निकाला गया है जैसे, सम्बोधन का रूप आउसन्तारो = आयुष्मन्तः है (आयार० २, ४, १, ९ ; यहाँ पर इसका प्रयोग एकवचन में किया गया है) और आयुष्मंत से निकाला गया है। इसका सम्बन्धकारक का रूप भयन्ताराणं भी पाया जाता है (आयार० २, २, २, १० ; सूय० ६३५)। करणकारक में दायोरेहिं भी मिलता है जो = दातृभिः (कप्प० § ११२)। —अधिकरण में आगन्तारेसु[1] = आगन्तृषु (आयार० २, ७, १, २ ; ४ और ५ ; २, ७, २, १ ; ७ और ८) और दायारेसु = दातृषु है (आयार० २, १५, ११

और १७)। — सिंहराज० पन्ना १८ के अनुसार नपुंसकलिंग की रूपावली या तो मूल शब्द को अ- वर्ग बनाकर, उदाहरणार्थ कत्तार- से चलती है या मूल शब्द को उ-वर्ग में परिणत करके चलती है, उदाहरणार्थ कत्तु-से।

१. लौयमान, औपपत्तिकसूत्र में यह शब्द देखिए। वह इस शब्द को भवत्त और भवित् का वर्णसंकर मानता है। —२. स्टाइनटाल का यह कथन कि (स्पेसीमेन डेर नायाधम्मकहा, पेज ४०) जैन-प्राकृत (अर्थात् अ०माग० में) में विशुद्ध कर्त्ताकारक का अभाव है, भ्रमपूर्ण है। ठीक इस मत के विपरीत अ०माग० एकमात्र बोली है जिसमें इसका बहुधा प्रयोग देखने में आता है।

§ ३९१—ज्ञातिवाचक शब्द— पिउ = पितृ।

एकवचन

कर्त्ता—पिआ, [पिअरो] ; शौर० और माग० में पिदा।
कर्म—पिअरं ; अ०माग० और जै०महा० में पियरं ; शौर० में पिदरं ; माग० में पिदलं।
करण—पिउणा [पिअरेण] ; शौर० और माग० में पिदुणा ; अप० में पिअर।
सम्बन्ध—पिउणो ; अ०माग० में पिउणो और पिउस्स ; जै०महा० में पिउणो ; पिउस्स ; शौर० और माग० में पिदुणो० ; अप० में पिअरह।
संबोधन—[पिअ, पिआ, पिअरं, पिअरो और पिअर]।

बहुवचन

कर्त्ता—[पिअरा] [पिउणो] ; अ०माग० और जै०महा० में पियरो ; अ०माग० में पिई भी ; शौर० में पिदरो।
कर्म— [पिअरे, पिउणो] ; अ०माग० में पियरो ; शौर० में पिदरो, पिदरे।
करण—अ०माग० में पिऊहिं और पिईहिं भी [पिअरेहिं]।
सम्बन्ध—अ०माग० में पिऊणं और पिईणं भी।
अधिकरण—[पिऊसु]

एकवचन : कर्त्ता के रूप बहुधा निम्नलिखित प्रकार के होते हैं : महा० में पिआ (हाल० ९५,२६), अ०माग० और जै०महा० में पिया (सूय० ३७७ ; ६३५ ; ७५० ; जीवा० ३५५ ; नायाध० ११९० ; एर्से० १४, १३) रूप मिलता है ; शौर० में पिदा रूप चलता है (शकु० २१, २ ; उत्तररा० ११३,६ ; पार्लेय० २४,२८) ; आव० में भी पिदा रूप है (मृच्छ० १०४, १७) ; माग० में भी पिदा ही है (मृच्छ० ३२, ११)। अ०माग० और जै०महा० में भाया = भ्राता (आयार० २, १५, १५ ; सूय० ३७७ ; ६३५ ; ७५० ; उत्तर० २१७ ; एर्से० १४, १३) ; शौर० और आव० में भादा पाया जाता है (उत्तररा० १२८, १० ; प्रसन्न० ८३, ६ ; वेणी० १०२, ४ ; १०३, २२ ; आव० में मृच्छ० १०४, १८) ; शौर० में जमादा = जामाता (माल्ती० २३५, ४ ; मल्लिका० २१०, २३ ; प्रिय० २७, ४ [पाठ में जामादो है]) ; माग० में यामादा रूप पाया जाता है (मृच्छ० ११९,

२५)। कर्म : अ०माग० में **पियरं** चलता है (आयार० १, ६, ४, ३ ; सूय० १७६ ; २१७ ; ३३० ; ३४५) ; **अम्मापियरं** रूप भी आया है (ठाणग० १२६ ; उत्तर० ३७३) ; शौर० में **पिदरं** पाया जाता है (विक्रमो० ८१, १० ; ८२, ८ ; मालवि० ८४, ५ ; वेणी० ६१, ४ ; कालेय० १८, २२ ; कंस० ५०, १२ आदि-आदि) ; आव० में यही रूप हैं (मृच्छ० १०१, १७) और ढक्की में भी (मृच्छ० ३२,१०) । जै०महा० में **भायरं** और शौर० में **भादरं** रूप पाया जाता है = **भ्रातरम्** है (एर्त्से० ८५, ४ ; वेणी० ९५, १४ ; १०४, १२ ; माल्ती० २४०, २) । — करण : महा० और अ०माग० में **पिउणा** रूप पाया जाता है (गउड० ११९७ ; विवाह० ८२० और ८२७); माग० में **पिदुना** रूप है (मृच्छ० १६७, २४), अप० में **पिअर** काम में आता है (शुक० ३२, ३) । जै०महा० में **भाउणा** आया है (एर्त्से० ४५, २८); शौर० में **भादुणा** चलता है (मालवि० ७१, २ ; माल्ती० २४४, २) । शौर० में **जामादुना** रूप पाया जाता है (रत्ना० २९१, २) । — सम्बन्ध : महा० और अ०माग० में **पिउणो** रूप मिलता है (रावण० ८, २८ ; कालका० २६२, २८ ; नायाध० ७८४ ; कप्प० टी. एच. (T. H.) § ३) ; अ०माग० में **अम्मापिउणो** आया है (ठाणग० १२५), इसके साथ साथ **अम्मा-पिउस्स** रूप भी आया है (ठाणग० १२६) ; जै०महा० में **पिउणो** ही चलता है (एर्त्से० ९, १९ ; १७, १७) और साथ ही **अम्मापियरस्स** (एर्त्से० ७७, ३०) ; शौर० में **पिदुणो** का प्रचलन है (मृच्छ० ९५, २ और १५ ; उत्तररा० ७३, १० ; मुद्रा० २६२, ६ ; पार्वती० ११, ४ ; २८,६ ; मुकुन्द० ३४, ३) । शौर० में भाषा के स्वभाव के अनुसार **भादुणो** रूप है (माल्ती० २४२, १ ; २४५, ५ ; २४९, ४ ; बाल० ११३, ७ ; १४४, १० ; वेणी० ६०, २१ ; ६४, ७ ; मुद्रा० ३५, ९), शौर० में इसी प्रकार **जामादुनणो** रूप आया है (वेणी० २९, १२ ; मल्लिका० २१, ४ ; २१२, १७ ; विद्ध० ४८, ९) । अप० में **पिअरह** रूप चलता है (पिंगल १, ११६ , यह कर्मकारक का रूप है) । — बहुवचन : कर्त्ता— अ०माग० में **पियरो** है (ठाणग० ५११ और ५१२) । यह रूप समास में बहुत आता है जैसे, **अम्मापियरो** (आयार० २, १५, ११ और १६ ; विवाह० ८०९ और ९२६ ; ठाणग० ५२४ और ५२५ ; अंत० ६१ ; नायाध० § ११४ ; ११६ ; पेज २९२ ; ८८७ ; ९६५ और बहुत अधिक बार) ; अ०माग०-और जै०महा० में **भायरो** रूप है (सूय० १७६ ; सम० २३८ ; कालका० २६७, २६ ; एर्त्से०) ; अ०माग० में **भायरा** भी मिलता है (उत्तर० ४०२ ; ६२२) तथा अ०माग० में **दो पिई** = **द्वौ पितरौ** (तारों के नाम के अर्थ में ; ठाणग० ८२) , शौर० में **भादरो** रूप बन जाता है (उत्तर० १२, ७ ; वेणी० १३, ९) । शौर० में **मादरपिअरा** (! ; कंस० ५०, १४) और **भाअरा** (! ; कंस० ५०, १०) अशुद्ध हैं। इनके स्थान में **मादापिदरो** और **भादरो** पढ़ा जाना चाहिए । — कर्म- अ०माग० और जै०महा० में **अम्मापियरो** चलता है (अंत० ४ ; २३ ; ६१ ; नायाध० § १३४ और १३८ ; पेज २६० और ८८७ ; विवाह०

८०८ ; एर्त्सें० ३७, २९) ; शौर० में पिदरो रूप काम में आता है (विक्रमो० ८७, १७) ; अ०माग० में अम्मापियरे रूप भी पाया जाता है (उत्तर० ६४३ ; टीका में अम्मापियरं है) ; शौर० में मादापिदरे = मातापितरौ है (शकु० १५९,१२ ; [यह रूप कर्मकारक में गुजराती में वर्तमान है, उसमें घेरे जाऊं छूं = घर को जाता हूं । बंगाली में भी चलता है, आमि कालेजे जाइ = मैं कालेज को जाता हूं आदि आदि । —अनु०]) । — करण— अ०माग० में अम्मापिऊहिं रूप पाया जाता है (आयार० २, १५, १७ ; नायाध० § १३८ ; पेज ८८९) और अ०माग० तथा जै०महा० में अम्मापिईहिं रूप भी आया है (कप्प० § ९४ ; इस ग्रंथ में अन्यत्र अम्मापिऊहिं भी देखिए ; ठाणग० ५२७ ; विवाह० १२०६ ; आव०एर्त्सें० ३७,२ ; ३८, २) ; जै०महा० में मायापिईहिं मिलता है (आव०एर्त्सें० १७, ३१) ; अ०माग० में पिईहिं और भाईहिं रूप देखने में आते हैं (सूय० ६९४; पाठ में पिईइहिं तथा भाईइहिं है); अ०माग० में पियाहिं (१०४) और पिताहिं रूप अशुद्ध हैं (६९२) ; शौर० में भादरेहिं रूप काम में आता है ; यह मृच्छकटिक १०६, १ में है और केवल अटकलपच्चू है । — सबध— अ०माग० में अम्मापिऊणं रूप है (कप्प० § ९० ; नायाध० § १२० ; पेज ९०५ और ९६५) तथा इसके साथ साथ अम्मापिईणं रूप भी मिलता है (ओव० § ७२ ; इस ग्रंथ में अन्यत्र अम्मापिऊणं रूप भी देखिए ; § १०३ और १०७) ; जै०महा० में मायापिईणं पाया जाता है (आव०एर्त्सें० ३७, २१) । अ०माग० में व्यक्ति का नाम चुलणीपिय = चुलणीपितृ और इस मूल शब्द के अनुसार इसकी रूपावली की जाती है : कर्ता— चुलणीपिया, कर्म— चुलणीपियं, सबध— चुलणीपियस्स और संबोधन— चुलणीपिया होता है (उवास० में यह शब्द देखिए) ।

§ ३९२—मातृ (= मा) की रूपावली यों चलती है : कर्ता— महा० में माआ (हाल ४०० और ५०८) , अ०माग० और जै०महा० में माया रूप पाया जाता है (आयार० १, २, १, १ ; सूय० ११५ , १६१ ; ३७७ ; ६३५ ; ७५० ; नायाध० ११११ , जीवा० ३५५ ; कप्प० § ४६ और १०९ , एर्त्सें० ५, ११ ; १०, ४ और ७) ; शौर०, आव० और माग० में मादा रूप है (उत्तररा० १२६, ६ ; वेणी० २९, १२ ; आव० में मृच्छ० १०४, १७ , माग० में मृच्छ० १२९, ६ ; [अम्मापिअरो, मादरपिअरा, मादापिदरो और मादा रूपों की फारसी और उससे लिये गये अम्मा, मादा, मादर और पिदर शब्दों की तुलना कीजिए । इनका इतना अधिक साम्य बताता है कि प्राकृत और फारसी रूप एक ही मूल से आये हैं । इस दृष्टि से हमें फारसी के प्रति अपना रुख ठीक करना होगा । अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषाओं की समानता भाषाशास्त्र के क्षेत्र में एक आँख खोलनेवाला आविष्कार है । इसका कुछ आभास § ३२६ और उसके बाद के एक दो § में मिलता है । —अनु०]) । हेमचद्र ३, ४६ के अनुसार जब देवी को मा कहा जाता है जो उस अवसर पर रूपावली का मूल शब्द माअरा बन जाता है जिसकी अत में –आ लगकर बननेवाले स्त्रीलिंग रूप के समान ही रूपावली चलती है । –कर्म— महा० में इसका

रूप **माअरं** होता है (हेच० ३, ४६), अ०माग० और जै०महा० में **मायरं** मिलता है ; ढक्की तथा शौर० में **मादरम्** है (आयार० १, ६, ४, ३ ; सूय० १७६ ; २१७ ; ३३० ; ३४५ ; एर्त्से० ; ढक्की में मृच्छ० ३२, १२ ; शौर० में मृच्छ० १४१, ११ ; शकु० ५९, ७ ; विक्रमो० ८२, ३ ; ८८, १६ आदि आदि) ; महा० में **माअं** रूप भी पाया जाता है (हाल ७४१) । इस भांति यह शब्द सदा और सर्वत्र आ– वर्ग की रूपावली पर चलता है : एकवचन : करण— जै०महा० में **मायाए** (आव०एर्त्से० ११,३ और ९) ; सबध— शौर० में **मादाए** है (कर्पूर० १९,५) ; सबोधन— महा० में **माए** पाया जाता है (हाल में **माआ** शब्द और उसके रूप देखिए), शौर० में **मादे** चलता है (वेणी० ५८,१७ ; विद्ध० ११२, ८) । बहुवचन : करण— अ० माग० में **मायाहिं** पाया जाता है (सूय० १०४) और सबध— अप० मे **माअहँ** रूप मिलता है (हेच० ४, ३९९) । कर्त्ता बहुवचन अ०माग० मे **मायरो** है (ठाणग० ५१२ ; सम० २३० ; कप्प० § ७४ और ७७) । इसके अतिरिक्त अ०माग० और जै० महा० में ई– और ऊ– वर्ग के शब्द हैं (हेच० ३, ४६ [हेच० ने इनके उदाहरण **माईण** और **माऊए** रूप दिये है । —अनु०]) ; सबध और अधिकरण एकवचन मे **माऊए** रूप है (कप्प० § ९३ , आव०एर्त्से० १२,९ ; अधिकरण में विवाह० ११६) ; करण बहुवचन— **माईहिं** रूप पाया जाता है (सूय० ६९२ ; [पाठ मे **माइहिं** है] ; ६९४) ; सबध बहुवचन— **माईणं** और **माईण** रूप पाये जाते हैं (हेच० १,१३५ ; ३,४६) । ये रूप समासों मे बहुधा दिखाई देते हैं (§ ५५) । सबोधन एकवचन— पिंगल के अप० में **माई** रूप आया है (१, २ ; [सबोधन एकवचन का यह रूप हिंदी में पिंगल के समय से आज तक चल रहा है । —अनु०]) । **दुहितृ** का कर्त्ताकारक शौर० में **दुहिदा** है (मालवि० ३७, ८ , रत्ना० २९१, १ ; विद्ध० ४७, ६ और १० ; प्रिय० ५२, ६), शौर० मे कर्मकारक का रूप **दुहिदरं** पाया जाता है (शकु० १२८, २) , शौर० में सबोधन का रूप **दुहिदे** मिलता है (विद्ध० ३८, ३ ; कलकतिया सस्करण) । अधिकाश स्थलो पर जै०महा० में **धीया** रूप आता है । शौर० और माग० मे **धीदा** है और महा० में **धूआ** पाया जाता है । अ०माग० और जै०महा० में **धूया** मिलता है, शौर० और माग० मे **धूदा** भी काम में लाया जाता है (§ ६५ और १४८) । इन सभी रूपों में आ– वर्ग की रूपावली चलती है । जै०महा० **धीया** और शौर० तथा माग० **धीदा** विशेषकर समास के भीतर सयुक्त होकर (**दासीएउत्त** की तुलना कीजिए), जै०महा० में **दासीएधीया**, शौर० में **दासीएधीदा** और माग० में **दाशीएधीदा** जैसे रूप बनाते हैं । हस्तलिपियों और पाठों में शौर० और माग० में अधिकाश स्थलों पर अशुद्ध रूप **धीआ** पाया जाता है । कर्त्ता– शौर० मे **दासीएधीदा** मिलता है (रत्ना० ३०२, ८) ; अ०माग० और जै०महा० में **धूया** का प्रचलन है (आयार० १, २,१, १ ; २,१५,१५ ; सूय० ६३५ और ६५७ ; विवाग० १०५ ; २१४ और २२८ ; अत० ५५ ; नायाध० ५८६ ; ७८१ ; १०६८ , १०७० ; १२२८ ; विवाह० ६०२ और ९८७ ; जीवा० ३५५ ; आव०एर्त्से० १०, २३ ; ११, १० ; १२, ३ ; २९, १४ ; ३७, २६ और उसके

बाद ; एर्त्से० ५, ३८)। शौर० में **अज्जाधूदा** = आर्यादुहिता (मृच्छ० ५३, २३ ; ५४; ७ ; ९४,११ ; ३२५,१४); कर्म– महा० में धूअं रूप है (हाल ३८८), अ०माग० में धूयं रूप चलता है (विवाग० २२८ ; २२९ ; नायाध० ८२०) ; करण– महा० में धूआइ रूप पाया जाता है (हाल ३७०) ; धूआए भी है (हाल ८६४) ; शौर० मे **दासीएधीदाए** आया है (नागा० ५७, ४) ; माग० में **दाशीएधीदाए** देखा जाता है (मृच्छ० १७, ८) ; सम्बन्ध– शौर० में **दासीएधीदाए** रूप है (मृच्छ० ७७, १२ ; नागा० ४७, १०) ; शौर० मे **अज्जाधूदाए** भी पाया जाता है (मृच्छ० ५३, १५ ; ९४, ४) ; अधिकरण– अ०माग० में **धूयाए** आया है (नायाध० ७२७) ; सम्बोधन– जै०महा० मे **दासीएधीए** रूप है (एर्त्से० ६८, २०) ; शौर० मे **दासीएधीदे** पाया जाता है (मृच्छ० ५१, ७ और १० ; ७२, १९ ; कर्पूर० १३, २ [कोनो के संस्करण में **दासीएधूदे** है] ; विद्ध० ८५, ११ ; रत्ना० २९४, ३ ; ३०१, १८ ; नागा० ५७, ३ ; चड० ९, १६) ; माग० में **दाशीएधीदे** मिलता है (मृच्छ० १२७, २३)। बहुवचन : कर्त्ता– और कर्म- अ०माग० और जै०महा० में **धूयाओ** रूप होता है (आयार० २, १, ४, ५ ; २, २, १, १२ ; विवाग० २१७ ; आव०एर्त्से० १०, २३ ; १२,१ ;एर्त्से० १४, १२) ; करण— जै०महा० में **धूयाहि** आया है (एर्त्से० १४, १६) ; सम्बन्ध– अ०माग० में **धूयाणं** मिलता है (आयार० १, २, ५, १) ; शौर० में **धीदाणं** पाया जाता है (मालती० २८८, ५) ; सम्बोधन– शौर० में **दासीएधीदाओ** होता है (चैतन्य० ८४, ७) । मूल शब्द **धूयरा** से अ०माग० कर्मकारक एकवचन का रूप **धूयरं** पाया जाता है (उत्तर० ६४१) और करणकारक बहुवचन का रूप **धूयराहि** आया है (सूय० २२९)। – **स्वस्ट** शब्द के कर्त्ताकारक एकवचन का रूप अ०माग० में **ससा** मिलता है (हेच० ३, ३५ ; पाइय० २५२ ; सूय० १७६) ।

(४) ओ और औ वर्ग

§ ३९३—**गो** शब्द की पुरानी रूपावली बहुत थोड़े अवशेष अ०माग० में ऐसे रह गये हैं जिनके प्रमाण वर्तमान है : कर्त्ता— **सुयगो** = *अभिनवप्रसूतागौः* (सूय० १८०) । कर्त्ता बहुवचन— **गाओ** = **गावः** है (दस० ६२८, १९) ; कर्म बहुवचन— **गाओ** = *गावः = **गाः** (आयार० २, ४, २, ९ और १०) ; करण बहुवचन— **गोहिं** = **गोभिः** (अणुओग० ३५१) ; सम्बन्ध बहुवचन— **गवं** = **गवाम्** (सम० ८३ ; उत्तर० २९३) है । अ०माग० मे कर्त्ता एकवचन का रूप **गवे** = *गवः है (आयार० २, ४, २, १० ; दस० ६२८,१०) और यही रूप सूयगडंगसुत २४७ में आये हुए रूप **गवं** के स्थान में पढ़ा जाना चाहिए ; अ०माग० में कर्त्ता बहुवचन का रूप **गवा** है जो **जरग्गवा** में है और यह = **जरद्गवाः** है (सूय० १८५) । पुलिंग में अ०माग० और माग० में अधिकांश स्थलों पर **गोणो** रूप काम में लाया जाता है (हेच० २, १७४ ; देशी० २, १०४ ; त्रिवि० १, ३, १०५ ; आयार० २, १, ५, ३ ; २, ३, ३, ८ और ११ ; २, ४, २, ७ ; सूय० ७०८ ;

७२० ; ७२४ और उसके बाद ; ७२७ ; जीवा० ३५६ ; पण्हा० १९ ; सम० १३१ ; नायाध० ; ओव० ; उवास० ; मृच्छ० ९७, २१ ; ९८, २० ; ९९, १२ ; १००, १३ ; १०७, १८ ; ११२, १७ ; ११७, १५ ; ११८, ५ ; १२ ; १४ और २४ ; १२२, १५ ; १३२, १६ ; दो अन्तिम स्थानों में **गोणाइं** पाठ है जिसमें § ३५८ के अनुसार लिंगपरिवर्तन हो गया है) ; अ०माग० में **गोणत्ताए = गोत्वाय** (विवाग० ५१) है। स्त्रीलिंग का रूप जै०महा० मे **गोणी** (आव० ७, १० और १२ ; ४३, १०) अथवा महा० में **गाई** है (हेच० १, १५८०; हाल), अ०माग० और जै०-महा० में **गादी** है (चड० २, १६ ; हेच० २, १७४ ; आयार० २, १, ४, ३ और ४ ; विवाग० ६७ ; जीवा० ३५६ ; दस० ६१८, ३९ ; दस०नि० ६५८, ७ ; आव०एर्त्से० ४३, ११ और २० ; द्वार० ५०४, १२ और १४ ; एर्त्से०) । हेमचन्द्र १, १५८ में पुलिंग रूप **गाउओ** और **गाओ** देता है तथा स्त्रीलिंग के रूप **गाउआ** और **गाई** देता है । इनमें से **गाउओ = गवयः** , **गोणो** या तो = *गोॅण्णो के जो *गुण्णो के स्थान में आया है और = *गूर्णः जो § ६६[1] के अनुसार **गुर्** धातु से निकला है या = *गवन है । § ८ और १५२ की भी तुलना कीजिए ।

१. बे०बाइ० ३, २३७ से यह रूप अधिक अच्छा है ।

§ ३९४—**नौ** शब्द (= नाव) ध्वनिबल्युक्त मूल शब्द से स्त्रीलिंग का एक रूप **णावा** बनाता है जिसकी रूपावली नियमित रूप से **आ**– वर्ग के अनुसार चलती है (हेच० १,१६४ ; सिंहराज० पन्ना १६) : अ०माग० में कर्ता, एकवचन में **नावा**, शौर० में **णावा** (नायाध० ७४१ और १३३९ ; विवाह० १०५ ; उत्तर० ७१६ ; मृच्छ० ४१, २०) और अप० में **णाव** रूप है (हेच० ४, ४२३, १) ; कर्म– महा० में **णावं** रूप है (गउड० ८१२), अ०माग० में **नावं** आया है और **णावं** भी (आयार० २, ३, १, १५ और उसके बाद ; सूय० ६८ ; २७१ ; ४३८ ; विवाह० १०५ ; नायाध० ७४१) ; करण और सम्बन्ध– अ०माग० में **नावाए** रूप है (आयार० २, ३, १, १५ और उसके बाद ; नायाध० १३३९ और उसके बाद ; उवास० § २१८) ; अपादान– अ०माग० **नावाओ** रूप है (आयार० २, ३, २, २ और ३) ; करण बहुवचन– अ०माग० में **नावाहिं** रूप पाया जाता है (दस० ६२९, १) ।

(५) अंत में –त् लगनेवाले मूल संज्ञा शब्द

§ ३९५—*ये संज्ञा शब्द, जिनके अन्त मे* **–त्** *आता है और जिस* **त्** *से पहले* कोई स्वर आता हो, वे शब्द के अन्त में आनेवाले **त्** की विच्युति के बाद जो स्वर रह जाता है उससे मिलती रूपावली में सम्मिलित या परिवर्तित हो जाते हैं : महा० में **इन्दइणा = इन्द्रजिता** (रावण० १४, १६) ; सम्बन्ध— **इन्दइणो** रूप आया है (रावण० १०, ५८ और ८४) और साथ ही **इन्दइस्स** पाया जाता है (रावण० १५, ६१) ; अधिकरण— **इन्दइम्मि** है (रावण० १३, ९९) । **तडी = तडित्** (हेच० १, २०२), अप० में **तळी = तडितम्** है (विक्रमो० ५५, २) । **मारू =**

मारुत् (क्रम० २, १२३) है ; महा० में विज्जू = विद्युत् है (वर० ४, ९ ; भाम० ४, २६ ; हेच० १, १५ ; क्रम० २, १२९ ; हाल ५८५)। जगत् का कर्त्ताकारक एकवचन महा० में जअं है (रावण० ५, २० ; ९, ७३) ; अ०माग० में जगे रूप है (सूय० ७४), अप० में जगु मिलता है (हेच० ४, ३४३, १) ; अ०माग० में कर्मकारक का रूप जगं पाया जाता है (सूय० ४०५ और ५३७) ; अप० में सम्बन्धकारक का रूप जअस्सु आया है (हेच० ४, ४४०) ; महा० में अधिकरणकारक में जअम्मि देखा जाता है (हाल ३६४ ; रावण० ३, १२ ; कर्पूर० ७८, ४ और ८०, ४) तथा इसके साथ साथ जए भी पाया जाता है (गउड० २३१; हाल २०३); अ०माग० में जगई रूप है (सूय० १०४ ; पाठ में जगती है) और इसके साथ साथ जगंसि भी चलता है (सूय० ३०६) ; जै०शौर० में इस कारक में जगदि का प्रचलन है (पव० ३८२, २६ ; पाठ में जगति है) और अप० में जगि मिलता है (हेच० ४, ४०४ ; कालका० २६१, १)। स्त्रीलिंग के शब्द अधिकांश में शब्द के अन्त में -आ जोड़ लेते हैं : सरित् का रूप पाली की भाँति ही सरिता हो जाता है, महा० में सरिआ रूप आया है (गउड० ; हाल ; रावण०), जै०महा० में सरिया है (एर्त्से०), अप० में सरिअ पाया जाता है (विक्रमो० ७२, ९) ; महा० में सम्बन्धकारक बहुवचन का रूप सरिआहँ है (हेच० ४, ३००) ; अप० में करणकारक बहुवचन का रूप सरिहिँ = *सरिभिः = सरिद्भिः है (हेच० ४, ४२२, ११)। वर व्याकरणकारों ने विद्युत् के लिए आ- रूपावली में इसका आगमन निषिद्ध माना है । § २४४ की तुलना कीजिए । हेच० १, ३३ के अनुसार विज्जुए के साथ साथ विज्जुणा भी पाया जाता है और चंड० १, ४ के अनुसार कर्त्ताकारक बहुवचन का रूप विज्जुणो भी होता है ।

§ ३९६—जिन शब्दों के अंत में -अत्, मत् और वत् आते हैं उनकी रूपावली आंशिक रूप में संस्कृत के अनुसार चलती है, विशेषतः अ०माग० में और आंशिक रूप में सशक्त रूप -अन्त, -मन्त और -वन्त की अ- रूपावली के ढंग पर चलती है । इसके अनुसार संस्कृत रूपावली के ढंग पर : अ०माग० में कर्त्ताकारक एकवचन जाणं = जानम् है (सूय० १, ३२२) ; विज्जं = विद्वान् है (सूय० १२६ ; ३०६ ; ३८० और उसके बाद) ; चक्खुमं = चक्षुष्मान् (सूय० ५४६) ; दिट्ठिमं = दृष्टिमान् है (सूय० २०० और ५३१) ; आयवं नाणवं धम्मवं बम्भवं = आत्मवान् ज्ञानवान् धर्मवान् ब्रह्मवान् है (आयार० १, ३, १, २), पुट्ठवं = स्पृष्टवान् है (आयार० १, ७, ८, ८ ; यह कर्मवाच्य है), थामवं = स्थामवान् (उत्तर ५० और ९०), चिट्ठं और अचिट्ठं = तिष्ठन् और अतिष्ठन् है (आयार० १, ४, २, २), कुव्वं = कुर्वन् है (सूय० ३६ और ८६१), किणं, हणं और पयं = क्रीणन्, घ्नन् और पचन् है (सूय० ६०९) ; अ०माग० और जै०महा० में महं रूप पाया जाता है (आयार० १, ७, १, ४ ; सूय० ७८२ ; ओव० § ५ ; कालका० २७१, ११) ; जै०महा० में अरहं = अर्हन् है (द्वार० ४९५, ९)। इस रूप के उदाहरण और प्रमाण मुझे महा० में नहीं मिले । शौर० और माग० में

इस रूप के उदाहरण केवल भगवत् और भवन् (सर्वनाम) में ही सीमित हैं (हेच० ४, २६५)। इसके अनुसार शौर० में भअवं रूप आया है (मृच्छ० २८, १ ; ४४, १९ ; मुद्रा० २०, ७ ; १७९, ३ ; रत्ना० २९६, ५ और २३ ; विक्रमो० १०, २ ; २३, १९ , ४३, ११ आदि आदि) ; माग० में भी यही रूप है (मुद्रा० १७८, ६ ; चंड० ४३, ७) ; शौर० में भवं भी पाया जाता है (मृच्छ० ४, २४ ; ६, २३ ; ७, ३ ; १८, २५ ; शकु० ३७, १ आदि-आदि) ; अत्थभवं = अत्रभवान् (शकु० ३३, ३ ; ३५, ७), तत्थभवं = तत्रभवान् है (विक्रमो० ४६, ६; ४७, २ ; ७५, ३ और १५) ; इसी प्रकार पै० में भगवं रूप है (हेच० ४, ३१३) जैसा कि अ०माग० में भी है (आयार० १, ८, १, १ और उसके बाद ; उवास० और बहुत अधिक स्थलों पर) ।—अ०माग० में करणकारक का रूप मइमया = मतिमता है (आयार० १, ७, १, ४ और २, ५) ; मईमया भी पाया जाता है (आयार० १, ८, १, २२ ; २, १६ ; ३, १४ और ४, १७ ; सूय० २७३) ; अ०माग० में जाणया पासया = जानता पश्यता है (आयार० १, ७, १, ३) ; अ०माग० और जै०महा० में महया = महता (आयार० १,२, ११ ; सूय० ७१८ ; विवाग० २३९ ; नायाध० § १५ ; १३५ आदि-आदि ; कालका० २५९, ३७) ; आगे आनेवाले पुलिंग और नपुंसकलिंगों के रूपों की समानता से स्त्रीलिंग में भी ऐसे ही रूप (§ ३५५) काम में लाये गये हैं : महया इड्ढीए महया जुईए महया बलेणं… = महत्यद्ध्या महत्या द्युत्या महता बलेन…(जीवा० ५८८ [पाठ में जुत्तीए है] ; कप्प० १०२ ; ओव० § ५२) , महा० में भअवआ रूप मिलता है (गउड० ८९६), अ०माग० और जै०महा० में भगवया रूप पाया जाता है (आयार० १, १, १, १ और ७ तथा ३, ५ आदि आदि , उवास० ; और अधिकांश स्थलों पर ; कालका० २६८, १७), शौर० में भअवदा = भगवता (ललित० २६५, १८ ; शकु० ५७, १७ ; विक्रमो० २३, ६ , ७२, १४ , ८१, २) , शौर० में इसी प्रकार भवदा = भवता रूप भी पाया जाता है (शकु० ३६, १६ ; विक्रमो० १९, १५), अत्थभवदा और तत्थभवदा रूप प्रचलित हैं (विक्रमो० १६, ११ , ३०, ९ ; ८०, १४ ; ८४, १९ ; शकु० ३०, २) । सम्बन्धकारक में भी यह पाया जाता है : शौर० में भअवदो रूप मिलता है (शकु० १२०, ५ ; रत्ना० २९४, ५ , २९५, ६) , माग० में भी यही रूप चलता है (प्रबोध० ५२, ६ , चंड० ४२, ६) ; शौर० में भवदो आता है (शकु० ३८, ६ और ८ ; ३९, १२ ; मृच्छ० ५२, १२ ; विक्रमो० १८, १० ; २०, १९ , २१, १९ आदि आदि), अत्थभवदो आया है (विक्रमो० २१, १०), तत्थभवदो मिलता है (मृच्छ० ६, ४ ; २२, १२ ; विक्रमो० ३८, १८ ; ५१,१३ ; ७९, १६)। व्यक्तिवाचक संज्ञा की भी यही दशा है : शौर० में सम्बन्धकारक रुमण्णदो = रुमण्वतः है (रत्ना० ३२०, १६)। इसका कर्त्ताकारक रुमण्णो उच्चारित होता है अर्थात् यह संज्ञाशब्द न-वर्ग का है (प्रिय० ५, ५)। अन्यथा विशेषणों और कृदंतों में शौर० और माग० में केवल -अ वर्ग के रूप काम में आते हैं। इस कारण शौर० रूप गुणवदी (शकु० ७४, ८ संस्करण बुर्क०

हार्ड) जिसके स्थान में बोएटलिंक के संस्करण के ४३, १४, मद्रासी संस्करण के १८६, ११ और काश्मीरी संस्करण के ७२, १९ में अपादानकारक में अशुद्ध रूप **गुणवदे** आया है। दाक्षि० रूप **भवदे** के विषय में § ३६१ देखिए। — अ०माग० सम्बन्धकारक में **महओ** = महतः (सूय० ३१२), **भगवओ** = भगवतः है (आयार० १, १, २, ४ ; २, १५, ९ और उसके बाद ; कप्प० § १६ और २८ ; विवाह० १२७१ ; उवास० ; और अनेक स्थलों पर), **पडिवज्जओ** = *प्रतिपद्यतः, **विहरओ** = विहरतः है (उत्तर० ११६), **अवियाणओ** = अविजानतः है (आयार० १, १, ६, २ ; १, ४, ४, २ ; १, ५, १, १), **अकुव्वओ** = अकुर्वतः (सूय० ५४०), **पकुव्वओ** = प्रकुर्वतः (सूय० ३४०), **करओ** = कुर्वतः (आयार० १, १, १, ५), **हणओ** = घ्नतः (आयार० १, ६, ४, २ ; १, ७, १,३), **कित्तयओ** = कीर्तयतः (उत्तर० ७२६) और **धीमओ** = धृतिमतः है (आयार० २, १६, ८)। शौर० और माग० रूपों के विषय में इससे पहले देखिए। — अधिकरण शौर० में **सदि** = सति (शकु० १४१, ७) ; महा० में **हिमवइ** = हिमवति (मुद्रा० ६०, ९) है। — सम्बोधन : अ०माग० और जै०महा० में **भगवं** और **भयवं** रूप पाये जाते हैं (विवाह० २०५ ; कप्प० § १११ ; एर्त्से० २, ३२ ; ४४, १८ ; द्वार० ४९५, १३) ; शौर० में **भअवं** आया है (रत्ना० २९६, २४ ; २९८, १४ ; ३००, ३२ ; प्रबोध० ५९, ४ ; शकु० ७३, ५ ; विक्रमो० ८६, १० ; उत्तररा० २०४, ८ आदि-आदि) ; पै० में **भगवं** रूप है (हेच० ४, ३२३)। अ०माग० में **आउसं** = आयुष्मन् रूप के साथ-साथ (आयार० १, १, १, १ ; सूय० ७९२ ; *सम० १) अ०माग० में* **आउसो** *रूप बहुत ही अधिक देखा जाता है (आयार०* १, ७, २, २ ; २, २, २, ६—१४ ; २, ५, १, ७ और १३ ; २, ६, १, ५ और १० तथा ११ ; २, ७, १, २ ; २, ७, २, १ और २ ; सूय० ५९४ ; उवास० ; ओव० ; पण्ण० ; आदि आदि) ; इसके अतिरिक्त **समणाउसो** रूप भी बहुत प्रचलित है (सम० ३१ ; ओव० § १४० ; नायाध० ५१८ ; ६१४ ; ६१७ ; ६५२ और उसके बाद) जो बहुवचन के काम में भी आता है (सूय० ५७९ और ५८२ ; नायाध० ४९७ और ५०४)। लौयमान ने औपपातिक सूत्र में (इस ग्रन्थ में यह शब्द देखिए) आउसो रूप को ठीक ही = *आयुष्मस् माना है। इस दृष्टि से यह *शब्द के अन्त में –अस् लगनेवाले वैदिक सम्बोधन से सम्बन्धित (ह्विटनी § ४५४)* माना जाना चाहिए। बहुवचन में यह रूप बोली की परम्परा के अनुसार कर्त्ताकारक और सम्बोधन में प्राचीन रूपावली के अनुसार बनाया जाता है। कर्त्ता– : अ०माग० में **सीलमन्तो गुणमन्तो वइमन्तो** पाया जाता है (आयार० २, १, ९, १) ; **मूलमन्तो कन्दमन्तो खन्धमन्तो तयामन्तो सालमन्तो पवालमन्तो** आदि आदि *भी देखने में आता है (ओव० § ४),* **भगवन्तो** आया है (आयार० १, ४, १, १ ; २, १, ९, १ ; विवाह० १०३५ ; पण्ण० एस. (S.) § ६१) और इसी प्रकार शौर० में कर्त्ताकारक का रूप **भअवन्तो** मिलता है (मुद्रा० २०, ५)। शौर० में **किदवन्तो** = कृतवन्तः के स्थान में **किदवन्ता** पढ़ा जाना चाहिए। इसके *विपरीत*

सम्बोधनकारक भवन्ता (शकु० २७, १६, बोएटलिंक का संस्करण) के स्थान में मद्रासी संस्करण १३५, ७ के अनुसार भवन्तो पढ़ा जाना चाहिए जैसा कि वेणीसंहार १०२, २ में वर्तमान है। — कर्त्ताकारक बहुवचन नपुंसकलिंग में अ०माग० में परिग्गहावन्ती रूप आया है (आयार० १, ५, २, ४ ; १, ५, ३, १ की तुलना कीजिए); वलवन्ति भी पाया जाता है (उत्तर० ७५३); एयावन्ति सव्वावन्ति = एतावन्ति *सर्वावन्ति है (आयार० १, १, १, ५ और ७); आवन्ती = यावन्ति है (आयार० १, ४, २, ३ ; १, ५, २, १ और ४ ; § ३५७ की तुलना कीजिए ; [यावन्ति या कुमाउनी रूप सौभाग्यवती स्त्रियों के लिए आशीर्वाद में = अवैति है। —अनु०]) ; इसका एक रूप जावन्ति भी पाया जाता है (उत्तर० २१५)। एकवचन का रूप अभिद्दवं = अभिद्रवन् आयारंगसुत्त २, १६, २ में छन्द की मात्राएं ठीक रखने के लिए बहुवचन में आया है। इस सम्बन्ध में पिशल कृत [यह ग्रन्थ वास्तव में पिशल और गेल्डनर द्वारा लिखा गया है। इसमें वैदिक शब्दों पर उक्त दोनों विद्वान लेखकों के शोधपूर्ण निबन्ध हैं। —अनु०] वेदिशे स्टुडिएन २,२२७ की तुलना कीजिए। सम्बोधनकारक में जै०महा० में पद्य के भीतर भयवं रूप आया है (तीर्थ० ४, १४ और २०) जो बहुत से भिक्षुओं को सम्बोधित करने के लिए काम में लाया गया है। —जैसे अ०माग० रूप समणाउसो बहुवचन के काम में भी आता है उसी प्रकार बहुवचन का रूप आउसन्तो बहुत अधिक अवसरों पर एकवचन के लिए भी प्रयोग में लाया जाता है अर्थात् यह साधारण बहुवचन माना जाना चाहिए। हाँ, गद्य में कर्त्ताकारक एकवचन आवसन्तो होना चाहिए : आउसन्तो समणा = आयुष्माञ् श्रमण और आउसन्तो गाहावइ = आयुष्मन् गृहपते है (आयार० १, ७, २, २ ; ५, २ ; २, १, ३, २ ; २, ३, १, १६ और उसके बाद ; २, ३, २, १ ; २ ; १६, २, ३, ३, ५ और उसके बाद आदि आदि); आउसन्तो गोयमा = आयुष्मन् गोतम (सूय० ९६२ ; ९७२ ; ९८१), इसके साथ साथ आउसो गोयमा रूप भी चलता है (सूय० ९६४) ; आउसन्तो उदगा = आयुष्मान्‌ उदक (सूय० ९६९ ; ९७२ ; १०१२ ; १०१४) है। असदिग्ध बहुवचन उदाहरणार्थ आउसन्तो नियण्ठा = आयुष्मन्तो निर्ग्रन्थाः है (सूय० ९८२; ९९२)। अशक्त मूल शब्दों से जाणओ और अजाणओ रूप बनाये गये हैं (आयार० २, ४, १, १)। यदि हम टीकाकारों और याकोबी (सेक्रेड बुक्स औफ द ईस्ट, ग्रन्थमाला तेरहवीं, १४९ के मतानुसार इस रूप को कर्त्ताकारक बहुवचन मानना चाहें तो गद्य के सम्बन्ध में यह बात सम्भव नहीं है, इसलिए इन रूपों का स्पष्टीकरण इन्हें सम्बन्धकारक एकवचन मानने से होता है। ऐसा मानने से अर्थ भी अधिकतर उपयुक्त हो जाता है।

§ ३९७— § ३९६ में दिये गये उदाहरणों को छोड़कर सभी प्राकृत बोलियों में -अन्त, -मन्त और वन्त से बने रूपों की ही प्रधानता है : एकवचन कर्त्ता— महा० में पिअन्तो = पिबन् ; चलन्तो = चलन् ; बहुगुणवन्तो = बहुगुणवान् और कुणन्तो = कृण्वन् है (हाल १३ ; २५ ; २०३, २६५) ; अ०माग० में सासन्तो

और इसके साथ साथ सासं = शासत् है (उत्तर० ३८) ; अणुसासन्तो भी पाया जाता है (उत्तर० ३९) ; किणन्तो और विक्किणन्तो = क्रीणन् तथा विक्रीणन् हैं (उत्तर० १०१०) ; मूलमन्ते और कन्दमन्ते = मूलवान् और कन्दवान् हैं (ओव० § ५) ; वण्णमन्ते और गन्धमन्ते = वर्णवान् और गन्धवान् हैं (भग० १, ४२०) ; विरायन्ते = विराजन् है (ओव० § ४८); विसीयन्तो = विसीदन् और रमन्तो = रमन् है (दस० ६१३, १६ , ६४१, २१) , चुल्लहियवन्ते = चुल्लहिमवान् (ठाणग० १७६) ; जै०महा० में सन्थुव्वन्तो = संस्तूयमानः ; गायन्तो = गायन् ; देन्तो = ददयन ; अगृहन्तो = अगृहन् और पलोएन्तो = प्रलोकयन् है (आव०एर्त्सें० ७, २५ ; ८, २६ ; ९, ५ और ६ ; १५, २१) ; कन्दन्तो = क्रन्दन् है (एर्त्सें० ४२, १२) ; जै०महा० और शौर० में महन्तो रूप पाया जाता है (एर्त्सें० ८, ५ ; ५०, ५ ; ६३, २८ ; कालका० २७४, ४ ; विक्रमो० ४५, १ ; मल्लिका० २४५, ५ ; मुद्रा० ४३, ८) ; शौर० में करेन्तो = कुर्वन् है (मृच्छ० ६, १३ ; ४०, २३), जाणन्तो रूप भी मिलता है (मृच्छ० १८, २३ ; १०४, १), पुलोअन्तो = प्रलोकयन् (महावीर० ९९, ३) और चित्तवन्तो = चित्तवान् है (शकु० ८७, १३) ; माग० में पुश्चन्दे = पृच्छन् (ललित० ५६५, २०) है ; महन्ते = महान् है (मृच्छ० १३२, ११ ; १६९, १८ ; प्रबोध०,५८, ९ ; वेणी० ३५, १७ ; ३६, ३) ; चोलअन्ते = चोरयन् है(मृच्छ० १६५, ९) ; दंशअन्ते = दर्शयन् है (शकु० ११४, ११); मन्तअन्ते = मन्त्रयन् है (प्रबोध० ३२, १० ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; बंबइया संस्करण ७८, १२ में मत्त-अन्तो आया है) ; ढक्की में आचक्खन्तो = आचक्षत् है (§ ८८ ; मृच्छ० ३४, २४) ; पै० में चिन्तयन्तो = चिन्तयन् और परिब्भमन्तो = परिभ्रमन् हैं (हेच० ४, ३२३) ; अप० में हसन्तु = हसन् तथा दंसिज्जन्तु = दर्श्यमान् (हेच० ४, ३८३, ३ ; ४१८, ६) है, जग्गन्तो = जाग्रत् (पिंगल १, ६२ अ) है, चलन्ते = चलन् और उल्हसन्त = उल्लसन् तथा गुणवन्त = गुणवान् है (पिंगल १, ४ बी ; २, ४५) , कर्त्ताकारक नपुंसकलिंग में भणन्तं = भणत् (हाल २१८) है ; किरन्तं = किरत् है (गउड० ११८२) ; शौर० में दीसन्तं = दृश्य-मानम् है (उत्तररा० ७७, ६) और अप० में धणमन्त = धनवत् है (पिंगल २, ४५) । माग० में दहन्ते (इसका शुद्धतर रूप डहडहन्ते होना चाहिए । इसका यह रूप ग्रन्थ में अन्यत्र पाया जाता है ; वेणी० ३५; २३) नपुंसकलिंग के रूप शोणिदं = शोणितम् से सम्बन्ध रखता है । कर्मकारक पुलिंग में संस्कृत का रूप प्राकृत के नवनिर्मित रूप से मिलता है : अ०माग० और शौर० में महन्तं रूप आया है (आयार० १, ३, २, ३ , सूय० ९४४ ; मृच्छ० ४०, २२) ; महा० में पिज्जन्तं, अणुणिज्जन्तं, अवलम्बिज्जन्तं और पआसन्तं = पीयमानम्, अनुनीयमानम् , अवलम्ब्यमानम् और प्रकाशयन्तम् हैं (गउड० ४६६–४६९) ; अ०माग० में समारम्भन्तं = समारभमाणम् , किणन्तं = क्रीणन्तम् और गिण्हन्तं = गृह्णन्तम् (आयार० १, २, २, ३ ; १, २, ५, ३ ; २, ७, १, १) ; जै०महा० में

जम्पन्तं = जल्पन्तम् है (कालका० २६२, ५) ; शौर० में जाणन्तं, सन्तं और असन्तं रूप पाये जाते हैं (मुद्रा० ३८, २ ; ६३, ९ और १०), कप्पिज्जन्तं = कल्प्यमानम् है (मृच्छ० ४, १०) और उव्वहन्तं = उद्वहन्तम् है (मृच्छ० ४१, १०) । शौर० में भअवन्तं के स्थान में भअवदं रूप अशुद्ध है (विक्रमो० ८७, १७) । माग० में मालन्तं = मारयन्तम् और यीअन्तं = जीवन्तम् हैं (मृच्छ० १२३ ; २२, १७०, ५) ; अलिहन्तं = अर्हन्तम् है (लटक० १४, १९) ; अप० में दारन्तु = दारयन्तम् है (हेच० ४, ३४५) ; नपुंसकलिंग : महा० में सन्तम् असन्तं रूप पाया जाता है (हाल ५१३) ; शौर० में महन्तं आया है (मृच्छ० २८, ११) । — करण : महा० में पिअन्तेण = पिबता और पडन्तेण = पतता हैं (हाल २४६ और २६४) ; अ०माग० में विणिमुयन्तेणं = विनिमुञ्चता है (ओव० § ४८) ; अणुकम्पन्तेणं = अनुकम्पता है (आयार० २, १५, ४) ; जै०महा० में जम्पन्तेण = जल्पता (कक्कुक शिलालेख १५ ; एर्त्से० १०, २६) ; कुणन्तेण = वैदिक कृण्वता है (कक्कुक शिलालेख १५) ; वचन्तेणं = व्रजता है (आव०एर्त्से० ११, १९) ; जै०शौर० में अरहन्तेण = अर्हता है (पव० ३८५, ६३) ; शौर० में चलन्तेण = चलता है (ललित० ५६८, ५) ; गाअन्तेण = गायता और करेन्तेण = कुर्वता है (मृच्छ० ४४, २ ; ६०, २५ ; ६१, २४) ; हरन्तेण रूप भी पाया जाता है (उत्तररा० ९२, ९); भुत्तवन्तेण = भुक्तवता है (जीवा० ५३, ११) ; माग० में गश्चन्तेण = गच्छता है (मृच्छ० १६७, २४) और *आहिण्डन्तेण = आहिण्डमानेन* है (चड० ७१, १२) ; अप० में पवसन्तेण = प्रवसता (हेच० ४, ३३३), भमन्तें = भ्रमता है (विक्रमो० ५५, १८ ; ५८, ९ ; ६९, १ , ७२, १०) और रोअन्ते = रुदता (विक्रमो० ७२, ११) । है अपादान : अ०माग० में चुल्लहिमवन्ताओ = चुल्लहिमवतः है (ठाणंग० १७७) । — सम्बंध : महा० में आरम्भन्तस्स = आरभमाणस्य, रमन्तस्स = रमतः और जाणन्तस्स = जानतः है (हाल ४२ ; ४४ ; २४३), विसहन्तस्स = *विषहतः और वोच्छिन्दन्तस्स = व्यवच्छिन्दतः है (रावण० १२, २३ ; १५, ६२) ; अ०माग० में आउसन्तस्स = आयुष्मतः है (आयार० २, ७, १, २ ; २, ७, २, १) ; भगवन्तस्स = भगवतः है (कप्प० § ११८) ; वसन्तस्स = वसतः (उवास० § ८३), चयन्तस्स = त्यजतः है (ओव० § १७०) ; चुल्लहिमवन्तस्स रूप भी मिलता है (जीवा० ३८८ और उसके बाद), कहन्तस्स = कथयतः है (सूय० ९०७) ; जिणन्तस्स = जयतः है (दस० ६१८, १४) ; जै०महा० में अच्छन्तस्स = ऋच्छतः है, धूवेन्तस्स = धूपयतः और सारक्खन्तस्स = संरक्षतः है (आव०एर्त्से० १४, २५ ; २५, ४ ; २८, १६) ; फारेन्तस्स और कुणन्तस्स = कुर्वतः है (एर्त्से० १, २४ ; १८, १०); जै०महा० में चिन्तन्तस्स रूप पाया जाता है, शौर० में भी चिन्तन्तस्स = चिन्तयतः है (एर्त्से० ११, ८ ; १८, १६ ; शकु० ३०, ५) ; शौर० में महन्तस्स भी आया है जो = महतः है (उत्तररा० १०५, ५), मग्गन्तस्स = मार्गमाणस्य और णिक्कमन्तस्य = निष्का-

मतः (मृच्छ० ९५, ७ ; १०५, २४) और हणुमत्तस्स = हनुमतः (महावीर० ११५, १४) ; माग० में वञ्जदद्दश = व्रजतः (ललित० ५६६, ७) और अलिहत्तश = अर्हतः (प्रबोध० ५२,७) ; चू०पै० में णच्चत्तस्स = नृत्यतः है (हेच० ४, ३२६) ; अप० में मे ल्लत्तहों = त्यजतः, दे त्तहों = *द्दयतः, जुज्झत्तहो = *युद्धतः और करत्तहो = कुर्वतः है (हेच० ४, ३७०, ४ ; ३७९, १ ; ४००) । — अधिकरण : महा० में समारुहन्तम्मि = समारोहति, हो न्तम्मि = भवति और रुअत्तम्मि = रुदति रूप पाये जाते हैं (हाल ११ ; १२४ ; ५९६) ; हणूमन्ते और हणुमत्तम्मि = हनुमति (रावण० १, ३५ ; २, ४५), अ०माग० में जलन्ते = ज्वलति (कप्प० § ५९ ; नायाध० § ३४ ; उवास० § ६६ ; विवाह० १६९), सन्ते = सति (आयार० २, ५, १, ५ ; २, ८, १ ; २, ९, १), हिमवन्ते = हिमवति (उवास० § २७७) है ; अरहन्तसि = अर्हति (कप्प० § ७४ ; नायाध० § ४६), *अभिनिक्खमत्तम्मि* = अभिनिष्क्रामति है (उत्तरा० २७९) ; शौर० में महन्ते = महति है (शकु० २९, ७) ; दाक्षि० में जीअन्ते = जीवति है (मृच्छ० १००, ९) और अप० में पवसन्ते = प्रवसति है (हेच० ४, ४२२, १२) । — सम्बोधन : महा० में आलोअन्त ससन्त जम्भन्त गन्त रोअन्त मुच्छन्तपडन्त खलन्त = आलोकयन् श्वसन् जृम्भमाण गच्छन् रुदन् मूर्छन् पतन् स्खलन् है (हाल ५४७) ; महन्त रूप भी आया है (= इच्छा रखता हुआ) ; मुअन्त = मुञ्चन् है (हाल ५१० और ६४३) ; माग० में अलिहन्त = अर्हन् है (प्रबोध० ५४, ६ ; ५८, ७ ; लटक० १२, १३) । — कर्त्ता बहुवचन : महा० में पडन्ता और निवडन्ता = पन्तः तथा निपतन्तः हैं (गउड० १२२ ; १२९ ; ४४२) ; भिन्दन्ता = भिन्दन्तः और जाणन्ता = जानन्तः है (हाल ३२६ और ८२१) ; अ०माग० में सीलमन्ता = शीलमन्तः (आयार० १, ६, ४, १) और जम्पन्ता = जल्पन्तः है (सूय० ५०) ; वायन्ता य गायन्ता य नचन्ता य भासन्ता य सासन्ता य सावेन्ता य रक्खन्ता य = वाचयन्तश् च गायन्तश् च नृत्यन्तश् च भाषमाणाश् च शासतश् च श्रावयन्तश् च रक्षन्तश् च है (ओव० § ४९, पाँच) ; पूरयन्ता, पेच्छन्ता, उज्जोवेन्ता और करेन्ता = पूरयन्तः, प्रेक्षमाणाः, उद्योतन्तः और कुर्वन्तः है (ओव० [§ ३७]) ; बुद्धिमन्ता = बुद्धिमन्तः है (सूय० ९१६) ; अरहन्ता = अर्हन्तः है (कप्प० §१७ और १८) । स्वयं संयुक्त शब्दों में भी यही रूप पाया जाता है जैसे, अरहन्ता भगवन्तो रूप पाया जाता है (आयार० १,४,१,१; २,४,१,४ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; विवाह० १२३५) ; इसी प्रकार का रूप समणा भगवन्तो सीलमन्ता पाया जाता है (आयार० २, २, २, १०) ; जै०महा० में किड्न्ता = क्रीडन्तः है (आव०एर्से० ३०, १५) ; गवेसन्ता = गवेषयन्तः और चोइज्जन्ता = चोद्यमानाः है (कालका० २६३, ४२ ; २७४, ३) ; सन्ता = सन्तः और चरन्ता = चरन्तः हैं (एर्से० १, १२ और १३) ; शौर० में पूइज्जन्ता = पूज्यमाना और सिक्खन्ता = शिक्षन्तः हैं (मृच्छ० ९, १ ; ७१, २१) तथा खेलन्ता = खेलन्तः

है (उत्तररा० १०८, २) ; माग० में शशन्ता = श्वसन्तः और पडिवशन्ता = प्रतिवसन्तः हैं (मृच्छ० ११६, १७ ; १६९, ३) ; अप० में फुक्किज्जन्ता = फूत्कियमाणाः है (हेच० ४, ४२२, ३) ; गुणमन्त = गुणवन्तः है (पिंगल २, ११८) ; नपुंसकलिंग : अ०माग० में वण्णमन्ताइं गन्धमन्ताइं रसमन्ताइं फासअन्ताइं = वर्णवन्ति गन्धवन्ति रसवन्ति स्पर्शवन्ति है (आयार० २, ४, १, ४ ; विवाह० १४४ ; जीवा० २६) ; कर्म : महा० में उण्णमन्ते = उन्नमतः (हाल ५३९) है ; अ०माग० में अरहन्ते भगवन्ते = अर्हतो भगवतः (विवाह० १२३५ ; कप्प० § २१), समारम्भन्ते = समारभमाणान् है (आयार० १, १, ३, ५) ; जै०शौर० में अरहन्ते रूप मिलता है (पव० ३७९, ३) ; नपुंसकलिंग : अ०माग० में महन्ताइं रूप पाया जाता है (विवाह० १, ३०८ और उसके बाद) । — करण : महा० में विसंवडन्तेहिं = विसंघटद्भिः है (हाल ११५), विणितेहिं = विनिर्गच्छद्भिः है (गउड० १३८) ; अ०माग० में जीवन्तेहिं = जीवद्भिः और ओवयन्तेहिं य उप्पयन्ते हि य = अपपतद्भिश् चोत्पतद्भिश् च है (कप्प० § ९७) ; पन्नाणमन्तेहिं = प्रज्ञानमद्भिः है (आयार० १, ६, ४, १) ; आवसन्तेहिं = आवसद्भिः है (आयार० १, ५, ३, ४) ; भगवन्तेहिं = भगवद्भिः (अणुओग० ९५) ; अरहन्तेहिं = अर्हद्भिः है (ठाणंग० २८८ ; अणुओग० ५१८ [पाठ में अरिहन्तेहिं है]) ; सन्तेहिं = सद्भि है (उवास० § २२० ; २५९ ; २६२) ; जै०महा० में आपुच्छन्तेहिं = आपृच्छद्भि : है (आव०एर्त्से० २७, ११) ; मग्गन्तेहिं = मार्गमाणैः (आव०एर्त्से० ३०, १७) है ; गायन्तेहिं = गायद्भिः , भणन्तेहिं = भणद्भिः और आरुहन्तेहिं = आरोहद्भिः है (एर्त्से० १, २९ ; २, १५ और २१) ; शौर० में गच्छन्तेहिं = गच्छद्भिः है (मुद्रा० २५४, २) ; अणिच्छन्तेहिं = अनिच्छद्भिः (बाल० १४४, ९) ; गाअन्तेहिं = गायद्भिः (चैतन्य० ४२, २) ; माग० में पविशन्तेहिं = प्रविशद्भिः है (चड० ४२, ११) ; अप० में णिवसन्तहिँ = निवसद्भिः और चलन्तहिँ = चलद्भिः हैं (हेच० ४, ४२२, ११ और १८) । — सम्बन्ध : महा० में एन्ताणं = आयताम् और चिन्तन्ताण = चिन्तयताम् है (हाल ३८ ; ८३) ; अ०माग० में अरहन्ताणं भगवन्ताणं भी पाया जाता है (विवाह० १२३५ ; कप्प० § १६ ; ओव० § २० और ३८) ; सन्ताणं = सतां (उवास० § ८५) ; पन्नाणमन्ताणं = *प्रज्ञानमताम् है (आयार० १, ६, १, १,) ; जै०महा० में आयरन्ताणं = आचरताम् (द्वार० ५०२, २८) और चरन्ताणं = चरताम् है (आव० एर्त्से० ७, ९), कुणन्ताणं = कुर्वताम् (कालका० २७०, ४०) और जोयन्ताणं = पश्यताम् है (एर्त्से० ७३, १८) ; जै०शौर० में अरिहन्ताणं रूप पाया जाता है (पव० ३७९, ४ ; ३८३, ४४ [पाठ में अरहन्ताणं है]) ; शौर० में पेॅक्खन्ताणं = प्रेक्षमाणानाम् है (वेणी० ६४, १६ ; नागा० ९५, १३) ; माग० में अलिहन्ताणं = अर्हताम् और णयन्ताणं = नमताम् है (प्रबोध० ४६, ११ ; ४७, १) ; णिस्कयन्ताणं = निष्क्रामताम् है (चंड० ४२, १२) ; अप० में पेॅच्छन्ताण = प्रेक्षमाणानाम् , चिन्तन्ताहँ = चिन्तय-

ताम्, णवन्तहँ = नमताम् और जोअन्ताहँ = पश्यताम् हैं (हेच० ४, ३४८; ३६२; ३९९ और ४०९)। — अधिकरण : महा० में धवलाअन्तेसु = *धवलायत्सु (हाल ९); जै०महा० में नच्चन्तेसु = नृत्यत्सु (एर्से० २, २), गच्छन्तेसु = गच्छत्सु (आव०एर्से० ७, २६; एर्से० ७, १९) और कीलन्तेसु = क्रीडत्सु (एर्से० १६, १६); शौर० में परिहरीअन्तेसु = परिह्रियमाणेषु (मुद्रा० २८, १०) और वट्टन्तेसु = वर्तमानेषु हैं (पार्वती० २, ५; पाठ में वद्देसु है)। — सम्बोधन : अ०माग० में आउसन्ता = आयुष्यन्तः है (आयार० २, ३, २, १७)।

§ ३९८—शब्द के अन्त में -अत्, -मत् और -वत् लगाकर बननेवाले रूपों में इक्के दुक्के ऐसे रूप भी पाये हैं जो अशक्त मूल शब्द बनाये गये हैं : कर्त्ता— महा० में धणवो रूप मिलता है (एर्से० २५, १९); माग० में हणूमे = हनूमान् (मृच्छ० ११, ८); माग० रूप हणूमशिहले की तुलना कीजिए (मृच्छ० १३३, १२) और महा० रूप -वरिअहणुयं की भी (रावण० १२, ८८); अ०माग० में असं = असत् (सूय० ३५); कर्म : अ०माग० में महं = महन्तम् बार बार आता है और साथ ही महत् भी चलता है (आयार० २, १५, ८; उत्तर० ३२५; विवाग० २२१; विवाह० १३२५; उवास० में मह शब्द देखिए; नायाध० § २२ और १२२), इसका स्त्रीलिंग रूप भी पाया जाता है (विवाह० १०५) और भगवं = भगवन्तम् है (उवास० में यह शब्द देखिए; कप्प० § १५; १६ और २१; भग० १, ४२०; ओव० § ३३; ३८; ४० आदि-आदि)। — अंत में -न्त् लगकर बननेवाले अशक्त अथवा दुर्बल मूल शब्दों के अ-रूपावली में परिणत रूप भी पाये जाते हैं। इसके अनुसार कर्त्ता एकवचन में अ०माग० में अजाणओ = *अजानतः = अजानन् है (सूय० २७३; पाठ में अविजाणओ है), वियाणओ = विजानन् है (नन्दी० १); कर्त्ता बहुवचन स्त्रीलिंग : अमई मया = *अमतिमताः = अमतिमत्यः है (सूय० २१३); सम्ब बहुवचन पुलिंग : भवयअणं = *भवतानाम् = भवताम् (उत्तर० ३५४) है। शौर० रूप हिमवदस्स (पार्वती० २७, १३; ३२, १९; ३५, १) के स्थान में हिमवन्तस्स पढ़ा जाना चाहिए जैसा कि ग्लाजर द्वारा सपादित सस्करण के अंतिम स्थान में यही रूप दिया गया है (३१, १५)। -अर्हत् का अ०माग० कर्त्ताकारक में सदा अरहा और अरिहा रूप बनाये जाते हैं, मानो ये मूल शब्द अर्हत् से बने हों (उदाहरणार्थ, उवास० § १८७; कप्प०; ओव०); महा० में इसी प्रकार का रूप हणुमा पाया जाता है (हेच० २, १५९; मार्क० पन्ना ३७; रावण० ८, ४३)। § ६०१ की भी तुलना कीजिए। —अ०माग० रूप आउसन्तारो और भयन्तारो के विषय में § ३९० देखिए।

(६) -न् में समाप्त होनेवाला वर्ग

§ ३९९—(१) -अन्, -मन् और -वन् वाले वर्ग। — राअ-, अ०माग० और जै०महा० राय-, माग० में लाअ- = राजन् है। राजन् की रूपावली में

प्राचीन न्- वर्ग और समासके आरम में प्रकट होनेवाली अ- रूपावली पास पास चलती हैं। इसके अतिरिक्त मौलिक अक्षरस्वर ऋ (§ १३३) में से एक इ- वर्ग आविष्कृत होता है।

एकवचन

कर्ता—राआ [राओ] ; अ०माग० और जै०महा० में राया ; माग० लाआ ; पै० राजा ; चू०पै० राचा।

कर्म—राआणं [राइणं, राअं] ; अ०माग० और जै०महा० रायाणं, रायं ; माग० लाआणं।

करण—रण्णा, राइणा ; जै०महा० में राएण भी [राअणा ; राणा] ; माग० लञ्ञा ; पै० रञ्ञा, राचिञा।

अपादान—[रण्णो, राइणो, राआओ, राआदो, राआउ, राआदु, राआहि, राआहितो, राआ, राआणो]।

सबध—रण्णो, राइणो ; अ०माग० और जै०महा० में रायस्स भी [राआणो, राअणो] ; माग० लञ्ञो, लाइणो , पै० रञ्ञो, राचिञो।

अधिकरण—[राइम्मि, राअम्मि, राए]।

संबोधन—[राअ, राआ, राओ] ; अ०माग० और जै०महा० राय, राया , अ०माग० में रायं भी , शौर० राअं , माग० [लाअं] , पै० राजं।

बहुवचन

कर्ता—राआणो ; अ०माग० और जै०महा० रायाणो, राइणो [राआ] ; माग० लाआणो।

कर्म—राआणो , अ०माग० और जै०महा० रायाणो [राइणो, राए, राआ]।

करण—राईहिं [राएहिं]।

अपादान—[राईहिं, राईहिंतो, राईसुंतो, राआसुंतो]।

सबध—राईणं [राइणं, राआणं] , जै०महा० राईणं, रायाणं।

अधिकरण—[राईसुं, राएसुं]।

सबोधन = कर्ता के हैं।

राजन् शब्द की रूपावली के सम्बन्ध में वर० ५, ३६–४४ ; हेच० ३, ४९–५५ ; ४, ३०४ , क्रम० ३, ३५–४० ; मार्क० पन्ना ४४ और ४५ और सिंहराज० पन्ना २० देखिए। § १३३ ; १९१ , २३७ ; २७६ की तुलना कीजिए। अधिकाश कारक अ०माग०, जै०महा० और शौर० से उद्धृत और प्रमाणित किये जा सके हैं : एक वचन : कर्ता- शौर० में राआ (मृच्छ० २८, २ और १२ ; ६८, ८ , शकु० ४०, ७ ; विक्रमो० १५, ४ ; ३९, १३ ; ७५, ३ ; ७९, ७ आदि आदि) ; अ०माग० और जै०महा० मे राया रूप पाया जाता है (सूय० १०५ ; ओव० § ११ और १५ ; उवास० , कप्प० ; आव०एर्त्से० ८, २७ ; २१, १ और उसके बाद ; एर्त्से०) ; माग० में लाआ पाया जाता है (मृच्छ० १२८, १० ; १३९, २५ , १४०, १ ;

चड० ४३, ५) ; पै० में राज़ा और चू०पै० में राचा रूप है (हेच० ४, ३०४ ; ३२३ और ३२५)। — कर्म : जै०महा० में रायाणं रूप पाया जाता है (एर्त्सें० २, ५ ; २४, २६ ; कालका० तीन, ५१०, ३२) और साथ-साथ में रायं भी चलता है (उत्तर० ४४३ ; ओव० § ५५ ; नायाध० § ७८ ; निरया० ८ और २२; एर्त्सें० ; ३३, २३) ; माग० मे लाआणं हो जाता है (मृच्छ० १३८, २५)। — करण : अ०माग० और जै०महा० मे रण्णा और रन्ना रूप पाये जाते हैं (नायाध० § २३ ; ओव० § ४१ ; कप्प० ; आव०एर्त्सें० ८, २३ ; ३० ; ३३ ; ४० ; ५३ ; एर्त्सें० २४, २३ ; २५, ११) तथा जै०महा० में राइणा रूप भी देखने में आता है (आव०एर्त्सें० ८, ३५ और ३८, ९ ; १७ ; एर्त्सें० १, २२ ; १८, १९, २४, २८ ; २५, ६ ; कालका० २६०, ३० ; २६१, ७ ; २७०, ४२ ; तीन, ५१०, ६) ; जै०-महा० में रायण भी होता है (आव०एर्त्सें० ८, ६) ; शौर० मे रण्णा रूप है (मृच्छ० ४, १० ; १०२, १ ; १०३, १५ ; शकु० ५७, ४) ; माग० में लञ्ञा पाया जाता है (शकु० ११३, ७ ; ११७, ३), यह हेच० ४, ३०२ से पूर्ण रूप से मिलता हुआ रूप है जबकि मृच्छ० १५८, २३ और २५ में लण्णा रूप देखने में आता है ; पै० में रञ्ञा और राचिञा रूप होते हैं (हेच० ४, ३०४ और ३२०)। —सम्बन्ध : अ०माग० और जै०महा० में रण्णो और रन्नो रूप होते हैं (उवास०§ ११३, ओव०§ १२ ; १३ ; ४७ और ४९ ; कप्प० ; आव०एर्त्सें० ८,१२ ; २७ ; २९ और ५४ ; एर्त्सें १, २ ; ३२, १३ ; ३३, २५) ; जै०महा० में राइणो भी चलता है (एर्त्सें० ४६, २४ ; ४७,२ और ४, ४९, १) और रायस्स भी पाया जाता है (कालका० दो, ५०५, १७ ; तीन ५१२, ३४) ; शौर० में रण्णो का प्रचार है (मृच्छ० ९९, २५ ; १०१, २१ और २३ ; शकु० २९, ३ ; ५४, २ ; विक्रमो० २८, १९) और इसके साथ साथ राइणो भी काम में लाया जाता है (मालती० ९०, ६ ; ९९, ४ ; कस० ४९, १०) ; माग० लञ्ञो आता है, लण्णो लिखा मिलता है (मृच्छ० १६८, ३) और लाइणो भी प्रचलित है (मृच्छ० १७१, ११) ; पै० में रञ्ञो और राचिञो रूप मिलते हैं (हेच० ४,३०४)।—सम्बोधन : अ०माग० में राया रूप है (निरया० § २२), अधिकांश स्थलों पर रायं रूप मिलता है (उत्तर० ४०९ ; ४, १४ ; ४१७ ; ४१८ ; ४४४ और ५०३ आदि-आदि) ; जै०महा० मे राय रूप है (कालका० २६१, १२) ; शौर० में राअं पाया जाता है (हेच० ४, २६४ ; शकु० ३१, १०) ; माग० में लाअं काम में आता है (हेच० ४,३०२) ; पै० में राजं चलता है और अप० में राअ प्रचलित है (हेच० ४, ४०२)। — कर्त्ता और सम्बोधन में राओ, करणकारक मे राअणा, अपादान- और सम्बन्धकारक में राआणो केवल सिंहराजगणिन् ने बताये हैं और अपादानकारक के रूप राआदो तथा राआदु भामह ने दे रखे हैं। क्रम० ३, ४० में करणकारक के रूप राणा का उल्लेख है, चंड० ३,१९ पेज ४९ में भी इसी से तात्पर्य है। इस स्थान में राजा के लिए शुद्ध रूप राञा पढ़ा जाना चाहिए। — बहुवचन : कर्त्ता— अ०माग० और जै०महा० में रायाणो रूप पाया जाता है (आयार० १, २, ३, ५ ;

सूय० १८२ ; नायाध० ८२८ और ८३० ; जीवा० ३११ ; एर्से० १७, २९ ; ३२, २४ और ३२ ; कालका० २६३, १६), जै०महा० में **राइणो** रूप भी मिलता है (एर्से० ९, २० ; कालका० तीन, ५१२, १३ [रायणो के स्थान में यही रूप पढ़ा जाना चाहिए]) ; शौर० में **राआणो** रूप प्रचलित है (शकु० ५८, १ ; १२१, १२ ; मुद्रा० २०४, १) ; माग० में लाआणो आता है (शकु० ११५, १०) । — कर्म- अ०माग० और जै०महा० में **रायाणो** मिलता है (नायाध० ८३८ ; कालका० २६३ ; १६) । — करण : अ०माग० और जै०महा० में **राईहिं** पाया जाता है । नायाध० ८२९ और ८३३ ; एर्से०३२, १२) । — *सम्बन्ध : अ०माग० और* जै०महा० में **राईणं** काम में लाया जाता है (आयार० १, २, ५, १ ; नायाध० ८२२ और उसके बाद ; ८३२ और उसके बाद ; आव०एर्से० १५, १० ; कालका० २६३, ११) ; जै०महा० में **रायाणं** भी पाया जाता है (एर्से० २८, २२) ।

§ ४००—समासों के अन्त में संस्कृत की भाँति अ- वर्ग का प्राधान्य नहीं रहता परन्तु नाना प्राकृत बोलियों में अनमिल शब्द में सभी वर्गों का आगमन देखा जाता है : कर्त्ता एकवचन—अ०माग० में **इक्खागराया = ऐक्ष्वाकराजः है** (ठाणंग० ४५८ , नायाध० ६९२ और ७२९) ; **देवराया = देवराजः** है (आयार० २, १५, १८ ; उवास० § ११३ ; कप्प०) ; जै०महा० में **विक्कमराओ = विक्रम-राजः** (कालका० दो, ५०७, १२) किन्तु **दीहराया = दीर्घराजः** है (एर्से० ६, २), शौर० में **महाराओ = महाराजः** (शकु० ३६, १२ ; ५६, ११ ; ५८, १३ ; *विक्रमो० ५, ९ , ९, ४ ; १०, २०)* , **जुअराओ = युवराजः** (*शकु० ४५, ६)* है ; **अंगराओ** भी पाया जाता है (वेणी० ६६, १३) ; **वच्छराओ = वत्सराजः** है (प्रिय० ३२, २ ; ३३, ७) और **वल्लहराओ णाम राआ** भी काम में आया है (कर्पूर० ३२, ४) । — कर्म : जै०महा० में **गद्दभिल्लरायाणं** मिलता है (कालका० २६१, २९) , शौर० में **महाराअं** रूप पाया जाता है (विक्रमो० २७, १७) । — करण : अ०माग में **देवरत्ता** आया है (कप्प०) ; शौर० में **अंगराएण** पाया जाता है (वेणी० ६०, ५) ; **णाअराएण = नागराजेन** है (नागा० ६९, १८) ; **महा राएण** भी देखने में आता है (विक्रमो० ८,९ ; २९,१३) । नायाधम्मकहा ८५२ में अ०माग० में मिश्रित रूप **देवरण्णेणं** पाया जाता है। —सम्बन्ध : अ०माग० में **असुरकुमाररण्णो** और **असुररण्णो** रूप पाये जाते हैं (विवाह० १९८) तथा **देवरण्णो** (विवाह० २२० और उसके बाद) और **देवरन्नो** (कप्प०) रूप मिलते हैं ; जै०-महा० में **सगरन्नो = शकराज्ञः** है (कालका० २६८, १५) ; **वइरसिंहरायस्स** रूप भी देखने में आता है (कालका० दो, ५०५, १७) ; शौर० में **वच्छराअस्स** भी पाया जाता है (प्रिय० ३३, ९) ; **कलिंगरण्णो** (प्रिय० ४, १५) भी आया है ; **रिउराइणो = रिपुराजस्य** है (ललित० ५६७, २४) ; **महाराअस्स** भी मिलता है (विक्रमो० १२, १४ , २८, १) , **अंगराअस्स** भी देखने में आता है (वेणी० ६२, १३) ; माग० में **महालाअश्श** पाया जाता है (प्रबोध० ६३, ४) । सम्बोधन : अ०माग० में **पञ्चालराया** आया (उत्तर० ४१४) ; **असुरराया** भी

-

पाया जाता है (विवाह० २५४)। इन दोनों रूपों में प्लुति है ; शौर० में अंगराअ (वेणी० ६६, १४) और महाराअ रूप मिलते हैं। —कर्त्ता बहुवचन : अ०माग० में गणरायाणो काम में आया है (कप्प० § १२८) ; जै०महा० में लाडयविस रायाणो = लाटकविषयराजाः है (कालका० २६४, १८) ; शौर० में भीमसेणं गराआ = भीमसेनांगराजौ है (वेणी० ६४, ९)। —कर्म : अ०माग० में गणरायाणो रूप पाया जाता है (निरया० § २५)। —करण : अ०माग० में देवराईहिं पाया जाता है (विवाह० २४१)। —सबंध : अ०माग० में देवराईणं रूप आया है (विवाह० २४० और उसके बाद ; कप्प०) ; जै०महा० में सगराईणं रूप है (कालका० २६६, ४१)। शौर० और माग० के लिए केवल अ- वर्ग के रूप ही शुद्ध माने जाने चाहिए।

§ ४०१—आत्मन् की रूपावली इस प्रकार चलती है : कर्त्ता एकवचन—अ०माग० में आया मिलता है (आयार० १, १, १, ३ और ४ ; सूय० २८ ; ३५ ; ८१ ; ८३८ ; उत्तर० २५१ ; विवाह० १३२ और १०५९ और उसके बाद ; दस० नि० ६४६, १३) ; जै०शौर० में आदा रूप पाया जाता है (पव० ३८०, ८ आदि-आदि ; § ८८) ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में अप्पा रूप का बहुत प्रचलन है (गउड० ३३३ ; ७९८ ; ८८७ ; ८९९ ; ९५२ ; ९५६ ; ११२० ; हाल ३९ ; १९३ ; ३६१ ; ६७२ ; ७५४ ; ८८० ; रावण० ; उत्तर० १९ ; दस० नि० ६४६, ५ ; नायाध० ; भग० १,४२० ; एर्त्से० ; कालका० ; पव० ३८०, ११ ; ३८२, २७ ; ३८५, ६१ ; मृच्छ० १२, ७ ; ७८, ११ ; शकु० १९, ७ ; १३७, ६ ; १४०, ७ ; रत्ना० २९१, २ ; २९५, ९ ; २९९, १७ ; ३०७, ३१ आदि-आदि) ; शौर० और माग० में अत्ता मिलता है (शकु० १०४, ४ , माग० में मृच्छ० १४०, २१)[१]। —कर्म : महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर० और ढक्की में अप्पाणं रूप काम में लाया जाता है (गउड० २४० , ८६० ; ८९८ ; ९९३ ; १०७० ; १२०१ ; हाल ५१६ ; ७३० ; ७५६ ; ९०२ ; ९५३ ; रावण० ; आयार० १, ३, ३, २ ; २, ३, १, २१ ; सूय० ४१५ [पाठ मे अप्पाणा रूप है] ; विवाह० १७८; कप्प० § १२० ; नायाध० ; निरया० , आव०एर्त्से० १७, ९ और १० ; एर्त्से० ; कालका० ; पव० ३८२, २७ ; ३८५, ६५ ; ३८६, ७० ; कत्तिगे० ३९९, ३१३ ; मृच्छ० ३२, १४) , अ०माग० में अत्ताणं रूप भी पाया जाता है (आयार० १, १, ३, ३ ; १, ३, ३, ४ ; १, ६, ५, ४ ; २, ५, २, २ [पाठ के अत्ताणं के स्थान में यही पढा जाना चाहिए] ; सूय० ४७४ [पाठ में अत्ताणॅ है]) और आयाणं रूप भी साथ साथ चलता है (सूय० ३६७) ; शौर० और माग० में केवल अत्ताणअं रूप काम में आता है जो = *आत्मानकम् के (मृच्छ० ९०, २१ ; ९५, ४ ; ९६, ७ ; १० और १४ ; १४१, १७ ; शकु० १४, ३ [यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; २४, १ ; ६०, ८ ; ६३, ९ ; ६४, २ ; ७४, ५ ; १२४, ८ ; १३७, १२ ; १५९, १२ ; विक्रमो० ७, १७ ; २३, १३ आदि-आदि ; माग० में : मृच्छ० ३७, १३ ; १३३, २१ ; १६२, २१ और २४ ; १६९, ७) ; अत्ताणं

(मृच्छ० ३२७, ३ ; प्रिय० ४१, १४), अप्पाणं (प्रिय० १२, ९ ; २३, १० ; २८, १ और ५) तथा अप्पाणअं रूप (चैतन्य० ७५, १६)[१] अशुद्ध हैं। — करण : महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में अप्पणा पाया जाता है (गउड० ७८ ; ८३ ; ९१० ; हाल १५९ ; रावण० ; आयार० २, ५, २, २ और ३ ; सूय० १७० ; विवाह० ६७ और १७८ ; कप्प० एस. (S) § ५९ ; एर्त्से० ; विक्रमो० ८४, ७)। — अपादान : अ०माग० में आयओ = *आत्मतः (सूय० ४७४) और सूयगडंगसुत्त ४७२ मे पाठ के आत्तओ के स्थान मे उक्त रूप अथवा अत्तओ पढ़ा जाना चाहिए ; जै०महा० में अप्पप्पणो रूप पाया जाता है (तीर्थ० ५, १८)। — सबंध : महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर०, दाक्षि० और आव० में अप्पणो रूप काम मे लाया जाता है (हाल ६ ; २८१ ; २८५ ; रावण० ; आयार० १, २, ५, १ और ५ ; १, ३, २, १ ; सूय० १६ ; कप्प० § ८ ; ५० ; ६३ ; ११२ ; एस. (S) २ ; नायाध० ; एर्त्से० ; पव० ३८०, ७ ; दाक्षि० में : मृच्छ० १०३, २० ; आव० में : मृच्छ० १०४, ९) ; महा० में अत्तणो भी पाया जाता है (गउड० ६३ ; ९० [इस ग्रन्थ मे अन्यत्र अप्पणो भी है] ; ९६ ; हाल २०१ [इस ग्रंथ में भी अन्यत्र अप्पणो है] और यही रूप शौर० और माग० मे सदा आता है (मृच्छ० १४१, १५ ; १५०, १३ ; १६६, १५ ; शकु० १३, १० ; १५, १ ; ३२, १ और ८ ; ५१, ४ ; ५४, ७ आदि आदि ; माग० में : मृच्छ० ११४,१४ ; ११६, १९ ; १५४, २० ; १६४, ४)। — संबोधन : अप्पं रूप मिलता है (हेच० ३, ४९)। — कर्त्ता बहुवचन : अप्पाणो = आत्मानः (भाम० ५, ४६ ; हेच० ३, ५६ ; क्रम० ३, ४१ ; मार्क० पन्ना ४५)। — समास के आदि में दिखलायी देनेवाले मूल शब्द या रूप अप्प- = आत्म- से एक अप्प आविष्कृत हुआ है जिसकी रूपावली अ- वर्ग के अनुसार चलती है (हेच० ३, ५६ ; मार्क० पन्ना ४५) : कर्त्ता अप्पो ; अपादान — अप्पाओ, अप्पाउ, अप्पाहि, अप्पाहिंतो और अप्पा ; अधिकरण— अप्पे ; सम्बोधन— अप्प और अप्पा ; करण बहुवचन अप्पेहि ; अपादान— अप्पासुंतो ; सम्बन्ध— अप्पाणं , अधिकरण— अप्पेसु है। उक्त शब्दों के निम्नलिखित उदाहरण और प्रमाण मिलते हैं : कर्म— अ०माग० मे अप्पं पाया जाता है (सूय० २८२); करण— अ०माग० मे अप्पेण (सूय० २८२) और साथ ही अप्पेणं रूप मिलते हैं (सूय० २०७) ; सम्बन्ध— अप० मे अप्पहों = *आत्मस्यः रूप देखा जाता है (हेच० ४, ३४६) ; अधिकरण— अ०माग० में अप्पे (उत्तर० २९३) आया है ; बहुवचन— महा० मे सुहंभरप्प चिअ = सुखंभरात्मान एव (गउड० ९९३) में अप्पा रूप मिलता है। -क- स्वार्थे के साथ यही मूल शब्द जै०महा० अप्पयं (एर्त्से० ५२, १०) में भी पाया जाता है और अप्पउँ (हेच० ४, ४२२, ३) = आत्मकम् में भी मिलता है। प्राचीन दुर्बल और सबल मूल शब्दों से, उक्त रूपों के अतिरिक्त अ- वर्ग के नये नये रूप बनाये गये। इस रीति से सबल मूल शब्द से : कर्त्ता एकवचन— महा० में अप्पाणो = आत्मानः = आत्मा है (वर० ५, ४५ ; हेच० ३, ५६ ; मार्क० पन्ना ४५ ; गउड० ८८२ ; हाल १३३ ; रावण० ; सगर १०, १) ;

अत्ताणो भी है (मार्क० पन्ना ४५) ; अ०माग० में आयाणे रूप आया है (विवाह० १३२) । — करण : अ०माग० में अप्पाणेणं पाया जाता है (आयार० १, १, ७, ६ ; १, ५, ५, २ ; २, १, ३, ३ और ५ ; २, १५, २ और २४ ; विवाह० १६८) । —सम्बन्ध : जै०महा० में अप्पाणस्स रूप मिलता है (एर्त्सें०) । — अधिकरण : महा० में अप्पाणे रूप आया है (रावण०) । — कर्त्ता बहुवचन : अ०माग० में आयाणा रूप का प्रयोग हुआ है (सूय० ६५) ; अप्पाणा भी चलता है (हेच० ३, ५६) । क: स्वार्थे के साथ : कर्म— जै०महा० में अत्ताणयं (एर्त्सें०) रूप पाया जाता है ; शौर० और माग० में अत्ताणअं प्रचलित है (इसका उल्लेख आ चुका है) । — सम्बन्ध : महा० में अप्पाणअस्स रूप आया है (गउड० ९५५) । अ०माग० में समास के पहले पद में सबल मूल शब्द दिखाई देता है । अप्पाणरक्खी = आत्मरक्षी है (उत्तर० १९७) ; जै०शौर० में अप्पाणसमं रूप पाया जाता है (कत्तिगे० ४००, ३३१) । *दुर्बल वर्ग के रूप : कर्त्ता एकवचन— अप्पणो रूप* मिलता है (क्रम० ३,४१) । — कर्म अप० में अप्पणु रूप पाया जाता है (हेच० ४, ३५०, २) ; सम्ब— माग० में अत्तणअश्श रूप का प्रयोग किया जाता है (मृच्छ० १६३, २०) । — शौर० में समास के पहले पद में दुर्बल वर्ग आता है ; इसमें अत्तणकेरक रूप आया है (मृच्छ० ७४, ८ ; ८८,२४) ; माग० में अत्तण-केलक रूप पाया जाता है (मृच्छ० १३, ९ ; २१, २० ; ११८, १७ ; १३०,१० ; १३९, १६ ; १६४, ३ , १६७, २) ; अप० में अप्पणछन्दउँ = आत्मच्छन्दकम् मिलता है (हेच० ४,४२२,१४) । करणकारक के रूप अप्पणिआ और अप्पणइआ में यही *वर्तमान* है (हेच० ३१४ *और* ५७) । *इसका स्पष्टीकरण अनिश्चित है और* जै०महा० रूप सव्वप्पणयाए = * सर्वात्मनतया में भी यह है (एर्त्सें० ५८, ३१) क्योंकि अ०माग० कर्त्ता एकवचन का रूप आया स्त्रीलिंग माना गया था (§ ३५८) इस कारण लोगों ने अ०माग० म करणकारक एकवचन के रूप आयाए = आत्मना (विवाह० ७६ और ८४५) तथा अनयाए = अनात्मना बना लिये (विवाह० ७६) ।

१. शकुंतला १०४, ४ में करणकारक में अप्पा पढ़ा जाना चाहिए । —
२. हेमचन्द्र ३, ५६ पर पिशल की टीका । इण्डिशे स्टुडिएन १४, २३५ में वेबर ने अशुद्ध लिखा है ।

§ ४०२—जैसा कि आत्मन् के विषय में कहा जा चुका है (§ ४०१), वैसा ही –अन् में समाप्त होनेवाले अन्य पुलिंग शब्दों का भी होता है जो संस्कृत समासों में दिखाई देते हैं । इनमें सबल वर्ग की रूपावली अ– वर्ग के समान होती है तथा इसके साथ साथ संस्कृत की प्राचीन रूपावली भी काम में लायी जाती है । इसके अनुसार कर्त्ता एकवचन में अद्धा और अद्धाणो = अध्वा है (भाम० ५,४७ ; हेच० ३,५६ ; मार्क० पन्ना ४५) ; कर्म में अ०माग० में अद्धं के स्थान में अद्ध' रूप पाया जाता है (§ १७३ ; सूय० ५९) और बहुव्रीहि समास में दीह–म्–अद्धं = दीर्घाध्वानम् है (§ ३५३) ; अ०माग० में अधिकरण में अद्धाणे रूप पाया जाता है (उत्तर० ७१२) । किसी समास के पहले पद में अ०माग० में सबल वर्ग आता है जैसे,

अद्धाणपडिवण्ण = अध्वप्रतिपन्न है (विवाह० १५३)। अद्धा रूप अ०माग० में साधारणतया स्त्रीलिंग (§ ३५८) रूप में बरता जाता है, कर्मकारक का रूप अद्धं स्त्रीलिंग में भी लिया जा सकता है। — दाक्षि० कर्त्ता एकवचन में बम्हा रूप पाया जाता है (वर० ५, ४७ ; हेच० ३, ५६ ; मृच्छ० १०५, २१) ; जै०महा० में बम्भो काम में लाया जाता है (एर्से० ३०, २०) ; अ०माग० में बम्भे चलता है (कप्प० टी. एच. (TH) पर § ६) = ब्रह्मा ; कर्म महा० में बम्हं चलता है (हाल ८१६) ; सम्बध अ०माग० में बम्भस्स रूप पाया जाता है (जीवा० ९१२); कर्त्ता बहुवचन-अ०माग० मे बम्भा रूप पाया जाता है। यह ठीक वैसे ही चलता है जैसे अज्जमा = अर्यमणो है (ठाणग० ८२)। — कर्त्ता एकवचन मे मुद्धा तथा मुद्धाणो = मूर्धा है (हेच० ३, ५६ ; मार्क० पन्ना ४५) ; कर्म अ०माग० में मुद्धाणं रूप है (ओव० § १९ ; कप्प० § १५) ; करण अ०माग० में मुद्धेण पाया जाता है (उत्तर० ७८८) और मुद्धाणेणं चलता है (उवास० § ८१ और (८३) ; *अधिकरण अ०माग० मे* मुद्धि = मूर्ध्नि (*सूय० २४३*) है, *इसके साथ*-साथ मुद्धाणंसि रूप भी चलता है (विवाह० १४४२) ; कर्त्ता बहुवचन-अ०माग० में –कयमुद्धाणा = कृतमूर्धानः है (नायाध० § ४०)। — महा० में महिमं = महिमानम् (गउड० ८८५)। — महा० में सब्वत्थामेण = सर्वस्थाम्ना है (हाल ५६७)। — शौर० में विजअवम्मा = विजयवर्मा है (*रत्ना०* ३२०,१६)। इस शब्द का सम्बोधन में विजअवम्मं रूप होता है (रत्ना० ३२०, १९ और ३२) ; शौर० मे दिढवम्मा = दृढवर्मा है (प्रिय० ४,१५) ; किन्तु पल्लवदानपत्रों में सिवखन्दवमो = शिवस्कन्दवर्मा है (५, २), भट्टिसम्मस = भट्टिशर्मणः (७, ५०), *विजयबुद्धवर्मन् के दानपत्रों में* सिरिविजयबुद्धवमस्स रूप पाया जाता है (१०१, ३) ; शौर० मे चित्तवम्मो = चित्रवर्मा है (मुद्रा० २०४,२) ; शौर० में मिअंकवम्मो (विद्ध० ७३,२) और मिअंकवम्मस्स (विद्ध० ४३, ७ ; ४७, ६ ; ११३, ५) रूप देखने में आते हैं ; अप० में वंकिम = वक्रिमाणम् (*हेच० ४, ३४४*) ; *उच्छा और उच्छाणो = उक्षा है* (*हेच० ३, ५६* ; मार्क० पन्ना ४५), उक्त रूपों के साथ साथ उक्खाणो भी चलता है (मार्क० पन्ना ४५) ; गावा और गावाणो = ग्रावा है; पूसा और पूसाणो = पूषा है (हेच० ३, ५६ ; मार्क० पन्ना० ४५) ; तक्खा और तक्खाणो = तक्षा है (हेच० ३, ५६)। इसी प्रकार का स्पष्टीकरण सिंधाण = श्लेष्मन् का है (§ २६७)। बहुव्रीही समास के अन्त में अधिकांश स्थलों पर अ– रूपावली के शब्द आते हैं जो समास के मूल शब्द से लिये जाते हैं, विशेषकर जब अन्तिम पद नपुंसकलिंग होता है (§ ४०४ की तुलना कीजिए) ; महा० में थिरपेम्मो = स्थिरप्रेमा (हाल १३१ ; यहाँ पर हाल १, १३४ के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए, जैसा स्वयं भुवनपाल (इण्डिशे स्टुडिएन १६, ११७]) ने थिरपिम्मो रूप दिया है) ; महा० में अण्णोण्णप्परूढपेम्माणं रूप पाया जाता है (पार्वती० ४५, १३) ; अ०माग० में अकम्मे = अकर्मा है (आयार० १, २, ३, १) ; अ०माग० मे कयबलिकम्मे

= कृतबलिकर्मा है (ओव० § १७)। इसका स्त्रीलिंग रूप कयबलिकम्मा है (कप्प० § ९५) ; जै०शौर० में रहिदपरिकम्मो = रहितपरिकर्मा है (पव० ३८८, २७) ; अ०माग० मे संवुडकम्मस्स = संवृतकर्मणः (सूय० १४४) है ; अ० माग० में बहुकूरकम्मा = बहुक्रूरकर्माणः है (सूय० २८२) ; जै०महा० मे कयायमणकम्मा = कृताचमनकर्माणः है (द्वार० ५००, ३९) ; अ०माग० मे जायथामे = जातस्थामा है (कप्प० § ११८) ; अ०माग० मे इत्थियाओ… परूढनहकेसकक्खरोमाओ = स्त्रियः…प्ररूढनखकेशकक्षरोमायः है (ओव० § ७२) ; जै०महा० मे नमुईनामो = नमुचिनामा (एर्त्से० १, २०) ; किन्तु चित्तसंभूयनामाणो = चित्रसंभूतनामानो है (एर्त्से० २,१९); शौर० मे लद्धणामस्स = लब्धनाम्न. है (रत्ना० ३२१, २९) ; शौर० मे अण्णसंकन्तप्पेम्मा = अन्यसंक्रान्तप्रेमाणः (विक्रमो० ४५,२) ; शौर० मे किदाआरपरिकम्मं = कृताचारपरिकर्माणम् है (शकु० ३०, ६) ; माग० मे दिण्णकलदीलदामे = दत्तकरवीरदामा है (मृच्छ० १५७, ५), उद्दामे = उद्दामा (मृच्छ० १७९, १४)। माग० रूप उद्दामेव्व किशोली (मृच्छ० १६१, ५) = , उद्दामव्व किशोली पढ़ा जाना चाहिए ।

§ ४०३—मघवन् का कर्त्ता एकवचन का रूप मघोणो है (हेच० २, १७४) जो विस्तृत दुर्बल वर्ग से बना है। अ०माग० मे इसका कर्मकारक का रूप मघवं है (विवाह० २४९)। — युवन् की रूपावली नीचे दी जाती है : कर्त्ता एकवचन महा०, जै०महा० और शौर० में जुवा और जुआ रूप मिलते हैं (भाम० ५, ४७ ; हेच० ३,५६ ; हाल ; द्वार० ५०१,१५ ; मृच्छ० २८,५ और ९ ; पार्वती० ३१, ८), इनके साथ साथ महा० और जै०महा० मे जुवाणो भी मिलता है (भाम० ३, ४७ ; हेच० ३, ५६ ; क्रम० ३, ४१ ; मार्क० पन्ना ४५ ; हाल ; प्रबोध० ३८, १० ; द्वार० ५०६, ३१ तथा समासों के अन्त मे) ; अ०माग० में जुवाणो पाया जाता है (विवाह० २१२ ; २१४; २१८ ; २२२ ; २८० ; २८७ ; ३४९) और जुवं भी चलता है, मानो यह रूप त्- वर्ग का हो (§ ३९६ ; आयार० २, ४, २, १० ; २, ५, १, १) ; कः स्वार्थे के साथ : महा० में हंसजुआणओ रूप पाया जाता है (विक्रमो० ६४, ५ ; ७४, ४) ; महा० मे स्त्रीलिंग का रूप –जुआणा है (हाल) , करण-महा० में जुआणेण पाया जाता है (हाल), जै०महा० में जुवाणेण मिलता है (एर्त्से० ४३, १८) ; सम्बोधन-महा० में जुआण आया है (हाल), कर्त्ता बहुवचन— महा० मे जुआणा रूप पाया जाता है और अ०माग० में जुवाणा रूप आये हैं (हाल ; समासों के अन्त मे भी यह रूप आता है ; ठाणंग० ३७१ ; अन्त० ५५) ; करण महा० मे –जुआणेहिं चलता है (हाल) ; सम्बन्ध-अ०माग० मे जुवाणाणं रूप देखने में आता है (अणुओग० ३२८) ; सम्बोधन-अ०माग० मे हे जुवाण त्ति मे जुवाणा रूप मिलता है (ठाणंग० ४८८ ; अणुओग० ३२४)। — स्वन् के रूप नीचे दिये जाते हैं : कर्त्ता एकवचन साणो है (भाम० ५, ४७ ; हेच० ३, ५६), अ०माग० में इसका रूप साणे पाया जाता है (आयार०

२, ४, १, ८), अप० में **साण** मिलता है (पिंगल १,९९) अर्थात् यह मूल रूप है जो अ०माग० में भी इसी प्रकार ध्वनित होता है (पण्हा० २०); सम्बन्ध अ०-मा० में **साणस्स** रूप काम में आता है (उत्तर० १२)। — भिन्न भिन्न मूल शब्दों से *जिनके भीतर लोग* **पन्थन्** *अथवा* **पथिन्** *अथवा* **पथि** *अथवा* **पथ** *सम्मिलित या* एकत्रित करते हैं, इनकी रूपावली **पथ** सहित नीचे जाती है : कर्त्ता एकवचन-**पन्थो** पाया जाता है (हेच० १, ३०) और इसके साथ साथ **पहो** भी चलता है (वर० १, १३ ; हेच० १, ८८ ; क्रम० १, १८ ; मार्क० पन्ना ७) ; कर्म-अ०-माग० और जै०महा० में **पन्थम्** मिलता है (हेच० १, ८८ ; आयार० १, ७, १, २ ; *ठाणग० २४८ ; आव०एर्से० २२, २६ ; ४६, ५ ; ११ और १५), अ०माग०* मे **पन्थ'**=**पन्थं** (§ १७३ ; सूय० ५९), अ०माग० से **पहं** रूप भी चलता है (सूय० ५९ ; उत्तर० ३२४) ; करण महा० और जै०महा० मे **पहेण** पाया जाता है (गउड० ४२३ ; कालका० २६९, २९ ; आव०एर्से० २६, ३३), अ०माग० में **पहेणं** रूप काम में लाया जाता है (उत्तर० ६३५) ; अपादान-जै०महा० मे **पन्थाओ** मिलता है (कालका० २६६, ४) ; *अधिकरण-जै०महा० मे* **पन्थे** *आया* है (एर्से० ३६, २८), अप० मे **पन्थि** रूप है (हेच० ४, ४२९, १), अ०माग० मे **पहे** चलता है (उत्तर० ३२४) और जै०महा० मे **पहम्मि** पाया जाता है (द्वार० ५०४, १) ; कर्त्ता बहुवचन-महा० में **पन्थाणो** आया है (हाल ७२९), अ०-माग० और जै०महा० मे **पन्था** मिलता है (सूय० ११० ; एर्से० ७, ३) ; *सम्बन्ध अ०माग० मे* **पन्थाणं** है (*सूय० १८९*) ; *अधिकरण अ०माग० मे* **पन्थेसु** पाया जाता है (उत्तर० ५३)। समासों में निम्नलिखित मूल शब्द पाये जाते है : महा० और जै०महा० में **पन्थ** और **-वन्थ** लगते है (हाल ; रावण० ; आव० एर्से० ४६, ६) और **पह** तथा **-वह** भी प्रयोग में आते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०; कालका०; एर्से०)।

§ ४०४—अन्त में **-अन्** *लगकर बननेवाले नपुंसकलिंग के शब्द प्राकृत* बोलियों में कभी कभी पुंलिंग बन जाते हैं (§ ३५८) ; किन्तु अधिकांश स्थलों पर उनकी रूपावली -अ में समाप्त होनेवाले नपुंसकलिंग के शब्द ही की भाँति चलती है। इसके अनुसार उदाहरणार्थ **पें म्म**=**प्रेमन्** है : कर्त्ता एकवचन-महा० और शौर० मे **पेम्मं** रूप है (हाल ८१ ; ९५ ; १२४ ; १२६ ; २३२ ; रत्ना० २९९, १८ ; कर्पूर० ७८, ३ और ६) ; कर्म महा० और शौर० **पें म्मं** *मिलता है* (हाल ५२२ ; विक्रमो० ५१, १६ ; कर्पूर० ७६, ८ और १०) ; करण-**पें म्मेण** पाया जाता है (हाल ४२३ ; ७४६ ; ९६६) ; सम्बन्ध महा० और शौर० में **पेम्मस्स** चलता है (हाल ५३ ; ३९० ; ५११ ; ९१० ; ९४० ; कर्पूर० ७५, ९); अधिकरण महा० में **पेम्मम्मि** रूप आया है (कर्पूर० ७९, ५), महा० और शौर० में **पें म्मे** रूप भी मिलता है (हाल ३०४ ; कर्पूर० ७५ १०) ; कर्त्ता बहुवचन-महा० में **पेम्माइं** है (हाल १२७ ; २३६ ; २८७) ; सम्बन्ध महा० में **पेम्माणं** रूप पाया जाता है (हाल १०)। —कर्त्ता एकवचन : महा०, शौर० और माग० में

=कृतबलिकर्मा है (ओव० § १७)। इसका स्त्रीलिंग रूप **कयबलिकम्मा** है (कप्प० § ९५); जै०शौर० में **रहिदपरिकम्मो** = **रहितपरिकर्मा** है (पव० ३८८, २७); अ०माग० में **संवुडकम्मस्स** = **संवृतकर्मणः** (सूय० १४४) है ; अ० माग० में **बहुकुरकम्मा** = **बहुक्रूरकर्मणाः** है (सूय० २८२) ; जै०महा० में **कयायमणकम्मा** = **कृताचमनकर्माणः** है (द्वार० ५००, ३९) ; अ०माग० में **जायथामे** = **जातस्थामा** है (कप्प० § ११८) ; अ०माग० में **इत्थियाओ**''' **परूढनहकेसकक्खरोमाओ** = **स्त्रियः'''प्ररूढनखकेशकक्षरोमायः** है (ओव० § ७२) ; जै०महा० में **नमुईनामो** = **नमुचिनामा** (एर्त्से० १, २०) ; किन्तु **चित्तसंभूयनामाणो** = **चित्रसंभूतनामानौ** है (एर्त्से० १,१९); शौर० में **लद्धणामस्स** = **लब्धनाम्नः** है (रत्ना० ३२१, २९) ; शौर० में **अण्णसंकत्तप्पेम्मा** = **अन्यसंक्रान्तप्रेमाणः** (विक्रमो० ४५,२) ; शौर० में **किदाआरपरिकम्मं** = **कृताचारपरिकर्माणम्** है (शकु० ३०, ६) ; माग० में **दिण्णकलदीलदामे** = **दत्तकरवीरदामा** है (मृच्छ० १५७, ५), **उद्दामे** = **उद्दामा** (मृच्छ० १७५, १४)। माग० रूप **उद्दामेव्व किशोली** (मृच्छ० १६१, ५) = , **उद्दामव्व किशोली** पढ़ा जाना चाहिए।

§ ४०३—**मघवन्** का कर्त्ता एकवचन का रूप **मघोणो** है (हेच० २, १७४) जो विस्तृत दुर्बल वर्ग से बना है। अ०माग० में इसका कर्मकारक का रूप **मघवं** है (विवाह० २४९)। — **युवन्** की रूपावली नीचे दी जाती है : कर्त्ता एकवचन महा०, जै०महा० और शौर० में **जुवा** और **जुआ** रूप मिलते हैं (भाम० ५, ४७ ; हेच० ३,५६ ; हाल ; द्वार० ५०१,१९ ; मृच्छ० २८,५ और ९ ; पार्वती० ३१, ८), इनके साथ साथ महा० और जै०महा० में **जुवाणो** भी मिलता है (भाम० ३, ४७ ; हेच० ३, ५६ ; क्रम० ३, ४१ , मार्क० पन्ना ४५ , हाल ; प्रबोध० ३८, १० ; द्वार० ५०६, ३१ तथा समासों के अन्त में) ; अ०माग० में **जुवाणो** पाया जाता है (विवाह० २१२ ; २१४ ; २१८ ; २२२ ; २८० , २८७ ; ३४९) और **जुवं** भी चलता है, मानो यह रूप **तु-** वर्ग का हो (§ ३९६ ; आयार० २, ४, २, १० , २, ५, १, १) ; कः स्वार्थे के साथ : महा० में **हंसजुआणओ** रूप पाया जाता है (विक्रमो० ६४, ९ ; ७४, ४) ; महा० में स्त्रीलिंग का रूप **-जुआणा** है (हाल) ; करण-महा० में **जुआणेण** पाया जाता है (हाल), जै०महा० में **जुवाणेण** मिलता है (एर्त्से० ४३, १८), सम्बोधन-महा० में **जुआण** आया है (हाल), कर्त्ता बहुवचन— महा० में **जुआणा** रूप पाया जाता है और अ०माग० में **जुवाणा** रूप आये हैं (हाल ; समासों के अन्त में भी यह रूप आता है ; ठाणंग० ३७१ , अन्त० ५५) ; करण महा० में **-जुआणेहिं** चलता है (हाल), सम्बन्ध-अ०माग० में **जुवाणाणं** रूप देखने में आता है (अणुओग० ३२८), सम्बोधन-अ०माग० में **हे जुवाण त्ति** में **जुवाणा** रूप मिलता है (ठाणंग० ४८८ ; अणुओग० ३२४)। — **स्वन्** के रूप नीचे दिये जाते हैं : कर्त्ता एकवचन **साणो** है (भाम० ५, ४७ ; हेच० ३, ५६), अ०माग० में इसका रूप **साणे** पाया जाता है (आयार०

२, ४, १, ८), अप० में त्ताण मिलता है (पिंगल १,९९) अर्थात् यह मूल रूप है जो अ०माग० में भी इसी प्रकार ध्वनित होता है (पण्हा० २०); सम्बन्ध अ०-माग० में त्ताणस्स रूप काम में आता है (उत्तर० १२)। — भिन्न भिन्न मूल शब्दों से जिनके भीतर लोग **पन्थन्** अथवा **पथिन्** अथवा **पथि** अथवा **पथ** सम्मिलित या एकत्रित करते हैं, इनकी रूपावली **पथ** सहित नीचे जाती है : कर्त्ता एकवचन-**पन्थो** पाया जाता है (हेच० १, ३०) और इसके साथ साथ **पहो** भी चलता है (वर० १, १३ ; हेच० १, ८८ ; क्रम० १, १८ ; मार्क० पन्ना ७); कर्म-अ०-माग० और जै०महा० में **पन्थम्** मिलता है (हेच० १, ८८ ; आयार० १, ७, १, २ ; ठाणंग० २४८ ; आव०एर्त्सें० २२, २६ ; ४६, ५ ; ११ और १५), अ०माग० में **पन्थ'** = **पन्थं** (§ १७३ ; सूय० ५९), अ०माग० से **पहं** रूप भी चलता है (सूय० ५९ ; उत्तर० ३२४) ; करण महा० और जै०महा० में **पहेण** पाया जाता है (गउड० ४२३ ; कालका० २६९, २९ ; आव०एर्त्सें० २६, ३३), अ०माग० में **पहेणं** रूप काम में लाया जाता है (उत्तर० ६३५) ; अपादान जै०महा० में **पन्थाओ** मिलता है (कालका० २६६, ४) ; अधिकरण-जै०महा० में **पन्थे** आया है (एर्त्सें० ३६, २८), अप० में **पन्थि** रूप है (हेच० ४, ४२९, १), अ०माग० में **पहे** चलता है (उत्तर० ३२४) और जै०महा० में **पहम्मि** पाया जाता है (द्वार० ५०४, १) ; कर्त्ता बहुवचन-महा० में **पन्थाणो** आया है (हाल ७२९), अ०-माग० और जै०महा० में **पन्था** मिलता है (सूय० ११० ; एर्त्सें० ७, ३) ; सम्बन्ध अ०माग० में **पन्थाणं** है (सूय० १८९) ; अधिकरण अ०माग० में **पन्थेसु** पाया जाता है (उत्तर० ५३)। समासों में निम्नलिखित मूल शब्द पाये जाते हैं : महा० और जै०महा० में **पन्थ** और **–वन्थ** लगते हैं (हाल ; रावण० ; आव० एर्त्सें० ४६, ६) और **पह** तथा **–वह** भी प्रयोग में आते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०, कालका०, एर्त्सें०)।

§ ४०४—अन्त में **–अन्** लगकर बननेवाले नपुंसकलिंग के शब्द प्राकृत बोलियों में कभी कभी पुलिंग बन जाते हैं (§ ३५८), किन्तु अधिकांश स्थलों पर उनकी रूपावली **–अ** में समाप्त होनेवाले नपुंसकलिंग के शब्द ही की भाँति चलती है। इसके अनुसार उदाहरणार्थ **पे`म्म** = **प्रेमन्** है : कर्त्ता एकवचन महा० और शौर० में **पेम्मं** रूप है ( हाल ८१ ; ९५ , १२४ ; १२६ ; २३२ , रत्ना० २९९, १८ , कर्पूर० ७८, ३ और ६ ) ; कर्म महा० और शौर० **पे`म्मं** मिलता है (हाल ५२२ , विक्रमो० ५१, १६ , कर्पूर० ७६, ८ और १०) ; करण-**पे`म्मेण** पाया जाता है ( हाल ४२३ , ७४६ ; ९६६ ) ; सम्बन्ध महा० और शौर० में **पेम्मस्स** चलता है ( हाल ५३ ; ३९० ; ५११ ; ९१० , ९४० , कर्पूर० ७५, ९ ); अधिकरण महा० में **पेम्मम्मि** रूप आया है ( कर्पूर० ७९, ५ ), महा० और शौर० में **पे`म्मे** रूप भी मिलता है (हाल ३०४ ; कर्पूर० ७५ १०) ; कर्त्ता बहुवचन-महा० में **पेम्माइं** है (हाल १२७ ; २३६ , २८७) ; सम्बन्ध महा० में **पेम्माणं** रूप पाया जाता है (हाल १०)। —कर्त्ता एकवचन : महा०, शौर० और माग० में

णामं रूप है, अ०माग० और जै०महा० में **नामं** मिलता है (हाल ४५२ ; कप्प० § १०८ ; आव०एर्त्से० १३, २९ ; १४, १९ ; एर्त्से० ४, ३४ ; विक्रमो० ३०, ९ ; माग० में : मुद्रा० १९१, ५ ; १९४, ७) ; कर्म-शौर० और माग० में **णामम्** पाया जाता है (मृच्छ० २८, २१ ; ३७, २५) ; करण शौर० और माग० में **णामेण** आया है (विक्रमो० १६, ९ ; मृच्छ० १६१, २), जै०महा० में **नामेण** रूप मिलता है (आव०एर्त्से० ८, ५), अ०माग० में **णामेणं** पाया जाता है (ओव० § १०५) । इसके साथ साथ **नामेणं** भी चलता है (कप्प० § १०७) ; अधिकरण-महा० में **णामे** देखा जाता है (गउड० ८९) ; कर्त्ता बहुवचन जै०महा० मे **नामाणि** आया है (आव०एर्त्से० १३, २८) और अ०माग० तथा जै०-महा० मे **नामाइं** भी चलता है (उवास० § २७७ ; आव०एर्त्से० १४, १८) । संस्कृत शब्द **नाम** (= नाम से ; अर्थात्) महा०, शौर० और अ०माग० में **णाम** रूप में पाया जाता है (गउड० ; हाल ; रावण० ; मृच्छ० २३, २२ ; २८, २३ ; ४०, २२ ; ९४, २५ ; १४२, १२ आदि आदि ; माग० मे मृच्छ० २१, १० ; ३८, २ ; ४०, ९), जै०महा० में **नाम** होता है (आव०एर्त्से० १५, ८ ; १६, २९ ; ३१, २; एर्त्से० १, १ और २० ; ११,१७ आदि-आदि) किन्तु अ०माग० में **नामं** भी चलता है (ओव० § ११ ; कप्प० § १२४ ; उवास० ; भग० ; नायाध० ; निरया०) और साथ साथ **नाम** का प्रचलन भी है (ओव० § १ और १२ ; कप्प० § ४२ और १२९) । — कर्त्ता एकवचन : अ०माग० और जै०शौर० में **जम्मं** = **जन्म** है (उत्तर० ६३६ ; कत्तिगे० ३९९, ३२१) ; कर्म महा० और अ०माग० मे **जम्मं** रूप पाया जाता है (हाल ८४४ ; आयार० १, ३, ४, ४ ; सूय० ६८९) ; करण-शौर० में **जम्मेण** रूप चलता है (शकु० १४१, १०) ; अपादान अ०माग० में **जम्माओ** रूप है (सूय० ६८९ ; ७५६) ; सम्बन्ध अ०माग० में **जम्मस्स** रूप आया है (सूय०) ; अधिकरण जै०महा० और शौर० में **जम्मे** रूप काम में आता है (आव०एर्त्से० १२, १३ ; २५, ३७ ; नागा० ३५, ५) और अप० में **जम्मि** रूप मिलता है (हेच० ४, ३८३, ३ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) । — कर्त्ता एकवचन : महा० और अ०माग० मे **कम्मं** = **कर्म** है (रावण० १४, ४६ ; उत्तर० २४७ ; ४१३ ; ५०५) ; कर्म-अ०माग० और जै०शौर० में **कम्मं** रूप पाया जाता है (सूय० ३८१ ; ३८२ ; ४५६ ; ४९६ ; कत्तिगे० ३९९, ३१९ ; ४०० ३२७ ; ४०३, ३७३ ; ३७४ और ३७७) ; करण-अ०माग० में **कम्मेणं** मिलता है (विवाह० १६८ और १९० ; उवास० § ७२ और ७६) ; सम्बन्ध महा०, अ०-माग० और जै०शौर० में **कम्मस्स** आया है (हाल ६१४ ; उत्तर० १७८ ; पण्णव० ६६५ ; ६७१ और उसके बाद ; कप्प० § १९ ; पव० ३८३,२७), माग० में **कम्माह** रूप चलता है (हेच० ४, २९९ और इसके साथ जो टिप्पणी है उसके साथ ; शकु० के काश्मीरी संस्करण के १०८, १३ में **कम्मणो** रूप दिया गया है) ; अधिकरण-अ०माग० में **कम्मंसि** है (ठाणग० २०८ ; सूय० २४९), जै०महा० में **कम्मे** पाया जाता है (एर्त्से० ३८, ३१), शौर० में इस बोली के नियमों के विरुद्ध **कम्मम्मि**

देखने में आता है (कंस० ५०, २) जो शुद्ध रूप **कम्मे** (कालेय० २५, ८) के स्थान में आया है ; कर्त्ता बहुवचन अ०माग० में **कम्मा** रूप पाया जाता है (उत्तर० ११३) ; कर्म-अ०माग० में **कम्माइं** मिलता है (सूय० २८४ ; उवास० § १३८ ; ओव० § १५३) और इसके साथ-साथ **कम्मा** भी चलता है (उत्तर० १५५), **अहाकम्माणि** रूप भी आया है (सूय० ८७३) ; जै०शौर० में **कम्माणि** देखने में आता है (पव० ३८४, ५९) ; करण-अ०माग० में **कम्मेहिं** का प्रचलन दिखाई देता है (आयार० १, ४, २, २ ; ३, ३ ; १५, ६, ३ ; सूय० ७१६ ; ७१८ ; ७१९ ; ७२१ ; ७७१ ; उत्तर० १५५; १७५; २०५; २१८ ; २२१ ; ५९३; विवाह० १४७ ; १६८ ; १८५), **अहाकम्मेहिं** रूप भी पाया जाता है (उत्तर० १५५ और २०५) ; सम्बन्ध अ०माग० में **कम्माणं** आया है (सूय० १०१२ ; उत्तर० १५६ और २०५ ; सम० ११२ ; उवास० § ७४)। इसके साथ **कम्माण** रूप चलता है (उत्तर० १७७) ; हेच० ४, ३०० के अनुसार महा० में **कम्माहँ** रूप पाया जाता है ; अधिकरण शौर० में **कम्मेसु** मिलता है (विद्ध० २८, ६), माग० में **कम्मेशु** पाया जाता है (मुद्रा० १९१, ९)। शौर० कर्त्ताकारक **कम्मे** के विषय में § ३५८ देखिए। जो रूप इक्के दुक्के कहीं-कहीं देखने में आते हैं वे नीचे दिये जाते हैं : अधिकरण एकवचन-अ०माग० में **चम्मंसि = चर्मणि** है (कप्प० § ६०), **रोमंसि = रोम्णि** (उवास० § २१९), **अहंसि = अहनि** (आयार० २, १५, ११) है : शौर० में **पव्वे पव्वे = पर्वणि पर्वणि** है (कालेय० १३, २०) ; कर्म बहुवचन महा० में **चम्माइं** रूप पाया जाता है (हाल ६३१) ; करण-अ०माग० में **लोमेहिं = लोमभिः** है (उवास० § ९४ और ९५) ; अ०माग० और शौर० में **दामेहिं = दामभिः** है (जीवा० ३४८ ; राय० ६३ ; मृच्छ० ६९, १) ; अधिकरण महा० में **दामेसु** रूप पाया जाता है (गउड० ७८४) ; जै०शौर० में **पव्वेसु = पर्वसु** है (कत्तिगे० ४०२, ३५९)। जनता की बोलियों में कभी कभी प्राचीन संस्कृत रूप बने रह गये हैं : कर्त्ता एकवचन महा० में **चम्म = चर्म** है (हाल ९५५) कर्त्ता और कर्म अ०माग०, जै०शौर०, शौर० और माग० में **कम्म = कर्म** है (आयार० १, ४, ३, २ ; २, २, २,१३ और १४ ; सूय० २८२ ; उत्तर० ११३ और १७८ ; पव० ३८६,४ ; वेणी० ६२,५ ; उत्तररा० १९७,१०; माग० में : शकु० ११४,६ [पद्य में आया है] ; वेणी० ३३,५)। यह रूप शौर०और माग० में पद्य को छोड कर अन्यत्र अशुद्ध है। इस स्थान में **कम्मं** पढा जाना चाहिए जो शुद्ध रूप है। मृच्छ० ७०, २० में **अमूइं** **कम्मतोरणाइं** पढा जाना चाहिए जिसकी ओर अन्य स्थान पर गौडबोले के संस्करण पेज २०१ में निर्देश किया गया है ; शौर० रूप **पेम** (प्रबोध० ४१, ६) के स्थान में बम्बइया संस्करण ९१, ६ में **पेमा** पाठ आया है जिसके स्थान में **पे॑म्म** पढा जाना चाहिए (कर्पूर० ७७, १० बम्बइया संस्करण), कोनो ने ७६, ८ में शुद्ध रूप **पे॑म्मं** दिया है। करण-अ०माग० में **कम्मणा** आया है (आयार० १, ३, १,४)। यह वास्तव में **कम्मुणा** के स्थान में अशुद्ध रूप है जो अ०माग और जै०महा० में साधारणतः चलता है (§ १०४ ; आयार० १, ४,४, ३[१] ;

१, ८, १, १३ और १७ ; सूय० १०८ ; १५१ ; ३७७ ; ५४२ ; ८७३ ; ९७८ ; उत्तर० १८०८ ; एर्से० २५, २० ; सगर २, ९)। सम्बन्ध एकवचन के अ०माग० रूप **कम्मुणो** में अ के स्थान में उ आया है (उत्तर०१७० ; २२३ ; ३१२), सम्ब बहुवचन अ०माग० रूप **कम्मुणं** मे (सूय० ५४२) भी ऐसा ही हुआ है तथा करण एकवचन अ०माग० रूप **धम्मुणा** में भी, जो **धर्मन्** से निकला है, और शब्दसमूह **कालधम्मुणा संजुत्ता = कालधर्मणा संयुक्ता** में मिलता है अ के स्थान में उ आ गया है (ठाणग० १५७ ; विवाग० ८२ और उसके बाद ; ११७ ; १५५ ; २०७ ; २१७ ; २२५, २३८ ; नायाध० ३२९ ; १०९९ ; १४२१) । संस्कृत कर्मतः से मिलता जुलता अ०माग० में **कम्मओ** रूप है (उवास० §५१) और शौर० रूप **जम्मदो** (रत्ना० २९८ ; ११) = संस्कृत जन्मतः है। अधिकरण का शौर० रूप **कम्मणि** (बाल० २५१, ८) अशुद्ध होना चाहिए। अ०माग० में अधिकरण बहुवचन का रूप **कम्मसु = कर्मसु** सूयगडंगसुत्त ४०३ में पद्य में आया है। — जैसे पुलिंग शब्द अंत में **-आण** लगाकर एक नया मूल शब्द बनाते हैं वैसे ही नपुंसकलिंग भी **-अण** लगाकर नये मूल शब्द बनते हैं : अ०माग० में **जम्मणं = जन्म** (हेच० २, १७४ ; जीवा० १२२ ; १२३ ; १३६ और उसके बाद); अ०माग० और जै०महा० में **जम्मण-** रूप पाया जाता है (उत्तर० ११०५ ; पण्हा० ७२ और उसके बाद ; नायाध० २९० ; निवाह० ११५९ ; १७३८ ; १७४१ और उसके बाद ; १७७३ ; सगर ६, १० ; एर्से०) ; जै०महा० में **कम्मणं = कर्म** (एर्से० ५२, १७ ; ५६, ३१), **कम्मण-** भी देखने में आता है (एर्से० २४, २३) । जैसा कि **कर्मन्** के रूप *करण-* और *सम्बन्ध-कारक एकवचन तथा सम्बन्ध बहुवचन* में उ जुड़ कर देखा जाता है वैसा ही रूप अ०माग० अपादानकारक एकवचन **कम्मुणाउ** में वर्तमान है (आयार० १, ७, ८, २ ; सूय० १७)[1]। **बम्हण = ब्रह्मन्** भी नपुंसकलिंग माना जाना चाहिए। (क्रम० ३, ४१)।

१. हस्तलिपियों के पाठों के विपरीत और कलकतिया संस्करण के अनुसार याकोबी **कम्माणि** रूप ठीक समझता है, इस कारण उसने विवश होकर **सफलं** शब्द को उक्त रूप से मिलाने के लिए कर्मकारक बहुवचन माना है (सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, पुस्तकमाला की पुस्तक बाईसवीं, पेज ४१) । इस स्थान में हस्तलिपियों के अनुसार **कम्मुणा** पढ़ा जाना चाहिए और **सफलं = स्वफलम्** माना जाना चाहिए। — २. हम इस शब्द को **कम्मुणा** उ में विभाजित कर सकते हैं। तो भी उपर्युक्त रूप अधिक अच्छा है।

§ ४०५— (२) शब्द के अन्त में **-इन्**, **-मिन्** और **-विन्** लग कर बनने वाले वर्ग। **-इन्**, **-मिन्** और **विन्** में समाप्त होनेवाले वर्गों की रूपावली आंशिक रूप में संस्कृत की भाँति चलती है और आंशिक रूप में समास के आरम्भ में आनेवाले वर्ग के आधार पर समास के अन्त में **इ** लग कर **इ** की रूपावली के अनुसार चलती है। कर्त्ता एकवचन : महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० रूप **हत्थी**, माग० में **हस्ती** और अप० रूप **हत्थि = हस्ती** है (रावण० ८, ३६ ; ओव० § ११;

एर्त्से० १६, १८ ; मृच्छ० ४०, २२ और २५, माग० में : हेच० ४, २८९ ; मृच्छ० ४०, ९ ; १६८, ४ ; अप० में : हेच० ४, ४३३) ; महा० में **सिहि**=**शिखी** है (हाल १३) ; अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **तवस्सी** तथा माग० में **तवश्शी** = **तपस्वी** है (कप्प० एस. (S.) § ६१ ; आव०एर्त्से० ३२, १८ ; एर्त्से० २५, ६ ; शकु० १३२, ८ ; माग० में : मृच्छ० ९७, ३) ; अ०माग० में **मेहावी**= **मेधावी** (आयार० १, २, १, ३ ; १, २, ६, २ और ५ ; १, ६, ४, २ और ३), पद्य में छन्द की मात्राएं ठीक बैठाने के लिए **मेहावि** रूप भी पाया जाता है (सूय० ४१४) ; जै०शौर० में **णाणी** और अ०माग० में **नाणी ज्ञानी** है (कत्तिगे० ४०२, ३५८ और ३६० ; ४०३, ३७७ ; ३७९, ३८२ ; ३८४ ; ४०४, ३८६ ; सूय० ३१८) ; महा० में नपुंसकलिंग **विआसि** रूप पाया जाता है (मुकुन्द० १४, १०) ; शौर० में **कारि** आया है (बाल० ५६, १४) । कर्मकारक मुख्यत इ की रूपावली के अनुसार बनाया जाता है : महा०, अ०माग० और जै०महा० में **हत्थिं**=**हस्तिनम्** (मृच्छ० ४१, १६ ; आयार० २, १, ५, ३ ; विवाह० ८५० ; निरया० § १८ ; एर्त्से० ७२, २१) ; अ०माग० में **तवस्सिं** है (आयार० २, २, २, ४ ; विवाह० २३२), **बम्भयारिं**=**ब्रह्मचारिणम्** (उत्तर० ४८७), **ओयंस्सिं तेयंस्सिं वच्चंस्सिं जसंस्सिं**=**ओजस्विनं तेजस्विनं वर्चस्विनं यशस्विनं** है (आयार० २, २, १, १२), **पक्खिं**=**पक्षिणं** (आयार० २, ३, ३, ८ ; २, ४, २, ७) और **सेट्ठिं**=**श्रेष्ठिनम्** हैं (सम० ८४) ; जै०महा० में **सामिं**=**स्वामिनम्** है (आव०एर्त्से० ३२, १४ ; ३२ ; ३३, ६) ; शौर० में **कञ्चुइं** = **कञ्चुकिनम्** (विक्रमो० ४५,१० ; प्रिय० ४८, २१), किन्तु वैसे शौर० में **पिअआरिणं** (विक्रमो० १०, १४), **उअआरिणं** (विक्रमो० १२, ११ ; १३, १८) और **जालोवजीविणं**=**जालोपजीविनम्** जैसे रूप आते हैं (शकु० ११६, ७), **वालिणं** रूप भी पाया जाता है (महावीर० ५५, १२) । — करण : महा० में **ससिणा** रूप आया है (रावण० २, ३ ; १०, २९ और ४२), **अचलम्बिणा** भी देखने में आता है (गउड० ३०१), अ०माग० में **गन्धहत्थिणा** पाया जाता है (निरया० § १८), **नीहारिणा**=**निर्हारिणा** (ओव० § ५६) है और **ताम लिणा वालतवस्सिणा** रूप मिलता है (विवाह० २३५) ; जै०महा० और शौर० में **सामिणा** तथा माग० में **शामिणा**=**स्वामिना** हैं (आव०एर्त्से० ३२, २४ ; कालका० २६०, २९ ; शकु० ११६, ८ , महावीर० १२०, १२ , वेणी० ६२, २३ ; ६४, ५ ; ६६, ८ ; माग० में : मृच्छ० ११८, २१ ; १६२, १७ और १९ ; वेणी० ३५, १२) ; जै०महा० में **वीसम्भघाइणा**=**विस्रम्भघातिना** है (एर्त्से० ६८, ४), *मन्तिणा*=*मन्त्रिणा के स्थान में पद्य में छद की मात्राएं पूरी करने के लिए* **मन्तीणा** रूप भी आया है (आव०एर्त्से० १३, १३) ; शौर० में **कण्णोवघादिणा**=**कर्णोपघातिना** है (शकु० २९, ८) ; माग० में **कालिणा**=**कारिणा** है (मृच्छ० १५८, २१ ; प्रबोध० ५४, ६) । — अपादान : अ०माग० में **सिहरीओ**= **शिखारिणः** (ठाणग० १७७) । — संबंध : महा० में **पिणाइणो**=**पिनाकिनः**

है (गउड० ४१), ससिणो रूप भी पाया जाता है (गउड० ६० ; ९५३ ; ११०८ ; ११३२ ; हाल ३१९ ; रावण० १०, ४६), गुणसालिणो वि करिणो = गुणशालिनोऽपि करिणः है (हाल ७८८) ; अ०माग० में जसस्सिणो = यशस्विनः (सूय० ३०४), गिहिणो = गृहिणः है (उवास० § ८३ और ८४); जै०महा० में सामिणो रूप चलता है (तीर्थ० ५, १२) और अ०माग० तथा जै०महा० मे सामिस्स पाया जाता है (विवाह० १८८ ; आव०एर्त्से० ३२, २७); जै०महा० मे एगागिणो = एकाकिनः है (एर्त्से० ९, १६) । अ०माग० और जै०महा० में कारक का चिह्न –इस्स बार बार आता है, जो अन्यत्र केवल जै०शौर० मे प्रमाणित किया जा सकता है : अ०माग० में मायिस्स और अमायिस्स = मायिनः तथा अमायिनः हैं (ठाणंग० १५०) ; बम्भयारिस्स = ब्रह्मचारिणः है (नायाध० § ८७ ; उत्तर० ९१७ और उसके बाद), वत्थधारिस्स = वस्त्रधारिणः (आयार० २, ५, २, १) और अभिकंखिस्स = अभिकांक्षिणः हैं (उत्तर० ९२१), तवस्सिस्स (विवाह० २३१ ; २३३- ; २३६) और हत्थिस्स रूप भी आये हैं (राय० २७०) ; सम्बन्धकारक के ये दोनों रूप अ०माग० में साथ-साथ एक दूसरे के बाद आये हैं जैसे, एगन्तचारिस्स = तवस्सिणो में (सूय० ९०९) ; जै०महा० में पणइस्स = प्रणयिनः और विरहिस्स = विरहिणः है (काल्का० २७०, २३ ; २७४, ४), कामिस्स = कामिनः (एर्त्से० ७१, ४) और सेट्ठिस्स = श्रेष्ठिनः हैं (आव०एर्त्से० ३७, २६) ; जै०शौर० में केवलणाणिस्स = केवलज्ञानिनः है (पव० ३८१, २०) ; शौर० में विरोहिणो = विरोधिनः , वासिणो भी मिलता है, परिभोइणो = परिभोगिनः है (शकु० १८, ११ ; २३, ८ ; ३८, ५), अहिणिवेसिणो = अभिनिवेशिनः (मालवि० ४१, १७) तथा सोहिणो = शोभिनः हैं (रत्ना० २, ९२, १२) ; माग० में सामिणो = स्वामिनः (शकु० ११७, ६) और अणुमग्गगामिणो = अनुमार्गगामिनः हैं (वेणी० ३५, ६) । — अधिकरण– अ०माग० में रुप्पिम्मि = रुक्मिणि और सिहरिम्मि = शिखरिणि हैं (ठाणंग० ७५), चक्कवट्टिंसि = चक्रवर्तिनि है (नायाध० § ४६) । — संबोधन : अ०माग० और जै०महा० में सामी पाया जाता है (कप्प० § ४९ ; नायाध० § ४६ और ७३ ; आव०एर्त्से० ३२, २६) ; जै०महा० में सामि रूप है (आव०एर्त्से० १५, २४ ; एर्त्से० ६, ३४ ; ८, १९) ; शौर० में कञ्चुइ रूप देखा जाता है (विक्रमो० ४५, १५ ; रत्ना० ३२७, ७ ; प्रिय० ५०, ८ [पाठ में कञ्चुई है] । — कर्त्ता बहुवचन : महा० मे फंणिणो, विराविणो, संकिणो रूप पाये जाते हैं (गउड० ३९० ; ६११ ; ८६३ ; ८८०), गुणिणो = गुणिनः तथा चाइणो = त्यागिनः हैं (हाल ६७३), सामी जैसा रूप भी = स्वामिन. के स्थान में आया है और सामि चित्र मे मिलता है (हाल ९१), वणहत्थी = वनहस्तिनः (रावण० ८, ३६) ; अ०माग० में दुवालसंगिणो = द्वादशांगिनः है (ओव० § २६), दण्डिमोणो मुण्डिणो सिहण्डिणो जडिणो पच्छिणो और इसके साथ साथ दण्डी मुण्डिसिहण्डी पिच्छी एक ही अर्थ में और:

ठीक एक के बाद एक आनेवाले पद्यों में आये हैं (ओव० § ४९, पाँच), आगारिणो रूप पाया जाता है। दंसिणो = दर्शिनः है (सूय० ३०१ ; ३६८ ; ३७०), तस्संकिणो = तच्छंकिनः है (सूय० ९३६), अबम्भचारिणो = अब्रह्मचारिणः है (उत्तर० ३५१), पारगामिणो और धुवचारिणो रूप पाये जाते हैं। सम्मत्तदंसिणो = सम्यक्त्वदर्शिनः है (आयार० १, २, २, १ ; १२, ३, ४ ; १, २, ६, ३), इनके साथ-साथ शब्द के अन्त में –ई लगकर बननेवाला कर्ताकारक बहुत पाया जाता है जैसे, नाणी = ज्ञानिनः, अक्कन्दकारी = आक्रन्दकारिणः और पक्खी = पक्षिणः हैं (आयार० १, ४, २, ३ ; १, ६, १, ६ ; २, ३, ३, ३), हत्थी = हस्तिनः (आयार० २, ३, २, १७ ; सूय० १७२ ; नायाध० ३४८);—ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जसंसी = ओजस्विनस् तेजस्विनो वर्चस्विनो यशस्विनः (विवाह० १८५) है, रूवी य अरूवी य = रूपिणश् चारूपिणश् च (विवाह० २०७), चक्कवट्टी = चक्रवर्तिनः और चक्कजोही = चक्रयोधिनः (ठाणंग० १९७ और ५१२) है। जै०महा० में भी सम्बन्धकारक के दोनों रूप पास पास में चलते हैं : मन्तिणो = मन्त्रिणः (कालका० २६२, ३०) और दरिद्दिणो = दरिद्रिणः (एत्सें० ५०, २) हैं, महातवस्सी = महातपस्विनः (कालका० २६९, २४) तथा हत्थी = हस्तिनः है (एत्सें० ३२, ६)। शौर० में और जहाँ तक देखने में आता है माग० में भी –ई लगनेवाला रूप काम में नाममात्र ही आता है, उतना ही कम आता है जितना इ– वर्ग (§ ३८०) : शौर० में पक्खिणो = पक्षिणः, सिप्पिणो = शिल्पिनः और अव्वत्तभासिणो = अव्यक्तभाषिणः (मृच्छ० ३८, ३१ ; ७१, २ ; १०३, ६) हैं, कुसुमदाइणो = कुसुमदायिनः तथा धम्मआरिणो = धर्मचारिणः हैं (शकु० १०, २ ; २०, १), परिवन्थिणो = परिपन्थिनः है (विक्रमो० ८, ९) और कञ्चुइणो = कञ्चुकिनः है (मल्लिका० १८६, १६)। शौर० में बहुत कम काम में आनेवाला और अशुद्ध पाठभेद –ईओ में समाप्त होनेवाले रूप हैं : सामीओ = स्वामिनः (कस० ४८, १९ ; ५०, १)। नपुंसकलिंग अ०माग० में अकालपडिबोहीणि अकालपडिभोईणि = अकालप्रतिबोधिन्य् अकालप्रतिभोगीनि (आयार० २, ३, १, ८), रायकुलगामीणि रूप भी आया है (निरया० § २१)। — कर्म : अ०माग० में पाणिणो = प्राणिणः (सूय० २६६), मउली = मुकुलिनः (पण्हा० ११९) और ठाणी = स्थानिनः है (सूय०); जै०महा० में भरहणिवासिणो रूप भी पाया जाता है (सगर ९, ८)। — करण : अ०माग० में पक्खीहिं = पक्षिभिः (सूय० २८९), सव्वदरिसीहिं = सर्वदर्शिभिः (नदी० ३८८), परवाईहिं = परवादिभिः (ओव० § २६) और मेहावीहिं = मेधाविभिः (ओव० § ४८ ; कप्प० § ६०) है। हत्थीहिं रूप भी पाया जाता है (नायाध० ३३० और ३४०) ; जै०महा० में मत्तीहि = मन्त्रीभिः है (आव० एत्सें० ८, ३६ ; कालका० २६२, १७) ; माग० में वंदीहिं = वंदिभिः है (ललित० ५६५, १३)। — अपादान– अ०माग० में असण्णीहिंतो = असंज्ञिभ्यः और पक्खीहिंतो = पक्षिभ्यः हैं (जीवा० २६३ और २६५) ; अप० में सामिहुँ =

स्वामिभ्यः है (हेच० ४, ३४१, २)। — संबंध : महा० में **वरहीण = बर्हिणाम्** है (गउड० ३४९) ; अ०माग० में **महाहिमवन्तरुप्पीणं = महाहिमवद्रुक्मिणोः** है (सम० ११४ और ११७), **पक्खीणं = पक्षिणाम्** (जीवा० ३२५), **गन्धहत्थीणं, चक्कवट्टीणं** तथा **सव्वदरिसीणं** रूप भी पाये जाते हैं (ओव० § २० ; कप्प० § १६) ; जै०महा० में **कामत्थीणं = कामार्थिनाम्** और **वाईणं = वादिनाम्** हैं (एर्त्से० २९, ३१ ; ६९, २०), **पणईण = प्रणयिनाम्** है (कक्कुक शिलालेख १५) ; जै०शौर० में **देहीणं** रूप मिलता है (कत्तिगे० ४०२, ३६३), माग० में **शामीणं = स्वामिनाम्** है (कस० ४८, १७) ४९, १२ ; पाठ के **शामिणं** के स्थान में यही रूप पढ़ा जाना चाहिए)। — अधिकरण : महा० में **पणईसु = प्रणयिषु** है (गउड० ७२८) ; अ०माग० में **हत्थीसु = हस्तीषु** और **पक्खीसु = पक्षिषु** है (सूय० ३१७) तथा **तवस्सीसु = तपस्विषु** (पण्हा० ४३०) ; शौर० में **सामीसु** रूप देखने में आता है (महावीर० ११९, १४ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए)। — सम्बोधन : शौर० में **शंकरघराधिवासिणो** आया है (माल्ती० १२८, ७) ; माग० में **चंदिणो** रूप पाया जाता है (ललित० ५६५, १७ ; ५६६, ५ और १५)। *पद्य में और विशेषकर अ०माग० में संस्कृत रूपावली के रूपों की समानता के बहुत* सख्यक रूप बने रह गये हैं (§ ९९)।

§ ४०६— **-इन्** में समाप्त होनेवाले सज्ञा शब्दों मे कभी कभी **अ** द्वारा परिवर्धित मूल शब्द देखने मे आता है : **सक्खीणो = साक्षी** (हेच० २,१७४), किन्तु जै०महा० और शौर० में **सक्खी** रूप पाया जाता है तथा माग० मे **सक्खी** (आव० एर्त्से० ३८,५ ; मृच्छ० ५३,११ ; १६४,२५) , शौर० मे **सक्खीकदुअ = *साक्षीकृत्वा** (विक्रमो० ४५, २०), कर्त्ता बहुवचन में महा० और शौर० मे **सक्खिणो** रूप आया है (कर्पूर० ८६, ५ , शौर० में उत्तररा० ७७, ४ ; कर्पूर० १४, २) ; महा० में **सिहिणं = शिखि** है, इसका कर्त्ता बहुवचन **सिहिणा** होता है और करणकारक **सिहिणेहिँ** है (= स्तन : देशी० ८, ३१ ; त्रिवि० १, ४, १२१ ; कर्पूर० ३१, ७ ; ७९, १० ; ९५, १०) ; अ०माग० मे **किमिण = कृमिन्** तथा **सकिमिण = सकृमि** हैं (नायाध० ९९५ ; पण्हा० ५२५ और ५२९) ; अ०माग० मे **वरहिण** तथा अप० मे **बंहिण = बर्हिन्** है (पण्णव० ५४ ; ओव० § ४ ; नायाध० § ६१ और ६२ ; पेज ९१४ , उत्तररा० २१, ९ , अप० में : विक्रमो० ५८,८), अप० में **वरिहिण** रूप भी पाया जाता है (हेच० ४, ४२२, ८ , [यहाँ ८ के स्थान मे ७ होना चाहिए। —अनु०]), इसके साथ साथ महा० और शौर० में **वरहि-** मिलता है (गउड० ; विद्ध० ५१, ७) ; महा० और जै०महा० में **गब्भिण = गर्भिन्** (वर० २, १० , हेच० १, २०७ ; क्रम० २, ३१ ; मार्क० पन्ना १५ , गउड० ; रावण० ; सगर ४, ११ , § २४६ की तुलना कीजिए)। — पल्लवदानपत्रों मे नीचे दिये गये रूप देखने में आते हैं :— **याजी-** (५, १), सम्बन्ध — **-प्पदायिनो = प्रदायिनः** (६, ११), किन्तु **संधकोंडिस = स्कन्दकुण्डिनः** (६, १९), **नागनंदिस = नागनन्दिनः** (६, २५), **गोलिस = गोडिनः** (६, २५) जो **गोड = गोण्ड**

(२) से सम्बन्धित है। यह शब्द बोएटलिंक और रोट के संस्कृत-जर्मन वृहत्कोश में है ; करण बहुवचन में -**सामीहिं** = -**स्वामिभिः** है (६, ११) और -**वासीहिं** = **वासिभिः** है (६, ३५ और ३६)।

§ ४०७—जैसा कि -त् और -न् में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों के विषय में कहा जा चुका है, वैसे ही -स् में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों के भी तीन वर्ग हैं : (१) शब्द के अन्त में -स् लगकर बननेवाला वर्ग, (२) स् की विच्युति के बाद एक वर्ग जिसके अन्त में -आ, -इ अथवा -उ का आगमन हो जाता है, स्वर का यह आगमन और ध्वनि का निर्णय स् से पहले आनेवाले स्वर के अनुसार होता है और (३) एक वर्ग जो अ द्वारा परिवर्धित वर्ग जिसके अन्त में -स आता है। इसके अनुसार महा० में **सिरोअम्प** = **शिरःकम्प** है (रावण० १२, ३१), **सिरकवलण** = **शिरःकवलन** है (गउड० ३५१) ; अ०माग० में **देवीओ**···-**रइयसिरसाओ** = **देव्यः**···-**रचितशिरस्काः** है (ओव० § ५५) ; माग० में **शिलश्चालण** रूप पाया जाता है (मृच्छ० १२६, ७)। § ३४७ की तुलना कीजिए। अ०माग० में **जोइठाण** = **ज्योतिःस्थान** और **जोइसम** = **ज्योतिःसम** हैं (उत्तर० ३७५ और १००९) ; पल्लवदानपत्र मे **धमायुवलयसोवधनिके** = **धर्मायुर्वलयशोवर्धनकान्** है (६, ९ ; विजयबुद्धवर्मन के दानपत्र १०१,८ की तुलना कीजिए); महा० और जै०महा० में **आउक्खए** = **आयुःक्षये** है (हाल ३२१ ; एर्से० २४, ३६), जै०महा० मे **आउदलाणि** = **आयुर्दलानि** है (कालका० २६८, २२)। महा०, जै०महा० और अ०माग० में शब्द के अन्त में **अस्** लग कर बननेवाले नपुंसकलिंग के शब्द नियम के अनुसार पुलिंग रूप में काम मे लाये जाते हैं (३५६)।

§ ४०८—**अस्** में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्द। — प्राचीन **स्**- वर्ग से बनाये गये रूप नीचे दिये जाते हैं : कर्त्ता एकवचन पुलिंग अ०माग० में **दुम्मणा** और **सुमणा** रूप आये है (सूय० ६९२), शौर० में **दुव्वासा** = **दुर्वासाः** है (शकु० ७२, १०), **दुव्वासासावो** = **दुर्वासःशापः** (शकु० ७६, ५) समास में भी यही वर्ग आया है। इसमें § ६४ के अनुसार दीर्घीकरण हुआ है ; शौर० **पुरूरवा** = **पुरूरवाः** है (विक्रमो० ४०, २१), माग० मे **शमश्शशिदमणा** = **समाश्वस्तमनाः** है (मृच्छ० १३४, २३)। महा०, जै०शौर० और शौर० रूप **णमो** तथा अ०माग० और जै०महा० रूप **नमो** = **नमस्** को हमें नपुंसकलिंग मानना पड़ेगा क्योंकि शौर० और माग० में -**अस्** में समाप्त होनेवाले नपुंसकलिंग के शब्द पुलिंग नहीं बनते (उदाहरणार्थ, महा० में : गउड० ; हाल ; अ०माग० में : विवाह० १७२ ; ओव०; कप्प०; जै०महा० में : कक्कुक शिलालेख ; ऋषभ० ; जै०शौर० में : पव० ३७४, ४ ; ३८९, ४ ; शौर० में : मृच्छ० १२८, १८ और २१ ; शकु० १२०, ५ ; माग० में : मृच्छ० ११४, १० और २२ ; १३३, १७ ; प्रबोध० ४६, ११)। § १७५ और ४९८ की तुलना कीजिए। जै०शौर० में **तओ** = **तपः** भी नपुसकलिंग है (पव० ३८७, २६)। कर्म- शौर० **पुरूरवसं** रूप है (विक्रमो० ३६, ९) ; अ०माग० और जै०शौर० रूप **मणो** नपुसकलिंग है = **मनस्** (कप्प० § १२१ ; पव० ३८६, ७०)। —अ०माग०

और जै०महा० मे करणकारक में बहुत अधिक बार प्राचीन रूप आते हैं : अ०माग० और जै०महा० में **तेयसा** = **तेजसा** है (आयार० २, १६, ५ ; पण्हा०, ५०७ ; ठाणग० ५६८ ; ओव० § २२ ; विवाह० १६९ ; राय० २३८ ; कप्प० § ३९ ; ५९, ११८ ; एर्त्से० ३९, ८) ; अ०माग० में **मणसा वयसा** = **मनसा वचसा** है (ठाणग० ४०), बहुधा **मणसा वयसा कायसा** एक साथ आते हैं (§ ३६४) ; **न चक्खुसा न मणसा न वयसा** वाक्यांश भी पाया जाता है (पण्हा० ४६१) ; अ०माग० और जै०शौर० में **तवसा** = **तपसा** है (सूय० ३४८ ; उत्तर० १७४ ; उवास० § ७६ और २६४ ; ओव० § २१ ; २४ ; ३८ ; ६२ ; पव० ३८८, २७) ; अ०माग० में **रयसा** = **रजसा** (आयार० २, १, १, १ ; ३, ४ ; सूय० ५९१), **सहसा** रूप भी पाया जाता है (ठाणग० ३६८), **चेयसा** और **जससा** रूप मिलते हैं (सम० ८१ ; ८३ ; ८५), **सिरसा** भी देखने में आता है (कप्प० ; ओव०), शौर० में भी ऐसे रूप देखने में आते हैं (विक्रमो० २७, १७)। अ– वर्ग के **–सा** लग कर बननेवाले करणकारक के विषय में § ३६४ देखिए। — अधिकरण : **उरसि**, **सिरसि** और **सरसि** रूप मिलते हैं (हेच० ४, ४४८) ; अ०माग० में **तमसि** आया है (आयार० १, ६, १, ३) ; शौर० में **पुरूरवसि** पाया जाता है (विक्रमो० ३५, १५) और *तवसि भी आया है (शकु० २१, ५) ; माग० में* **शिलशि** *देखा जाता* है (मृच्छ० १७, १ ; ११६, १५)।

§ ४०९—शेष संज्ञा शब्दों की रूपावली अ– वर्ग की ही है : कर्त्ता– महा० में **विमणो** मिलता है (रावण० ५, १६) ; अ०माग० में **उग्गतवो** = **उग्रतपाः** है (उत्तर० ३६२), **तम्मणे** = **तन्मनाः** (विवाह० ११४) और **पीइमणे** = **प्रीतिमनाः** है (कप्प० § १५ और ५० ; ओव० § १७), **उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे घोरतवे** वाक्यांश पाया जाता है (ओव० § ६२) ; **–रइयवच्छे** = **–रचितवक्षा**: है (ओव० § १९) ; जै०महा० में **तम्मणो** = **तन्मनाः** और **भासुरसिरो** = **भासुरशिराः** है (एर्त्से० १२, ६ ; ६९, ६) ; जै०शौर० में **अधिकतेजो** = **अधिकतेजाः** है (पव० ३८१, १९) ; महा० में स्त्रीलिंग मे **विमणा** रूप आया है (रावण० ४, ३१), अ०माग० में **पीइमणा** पाया जाता है (कप्प० § ५) ; शौर० में **–संकत्तमणा** = **–संक्रान्तमनाः** है (मृच्छ० २९, ३) ; **पज्जुस्सुअमणा** = **पर्युत्सुकमनाः** है (शकु० ५०, २) ; महा० में नपुसकलिंग में **दुम्मणं** रूप पाया जाता है (रावण० ११, १४) ; अ०माग० और जै०महा० में **सेयं** = **श्रेयः** (उत्तर० २०४ ; ६७२ ; ६७८ ; विवाग० २१८ ; विवाह० २३२ ; नायाध० ३३३ ; ४८२ ; ५७४ ; ६०९ ; ६१६ ; उवास० ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से०)। माग० में **शिले** = **शिरः** के स्थान में छद की मात्राए ठीक करने के लिए **शिल** आया है (मृच्छ० ११२, ८ और ९)। § ३६४ की तुलना कीजिए। पुलिंग में **–यस्** में समाप्त होनेवाला तर–वाचक रूप अ०माग० और जै०महा० में आशिक रूप में सशक्त वर्ग को अ द्वारा परिवर्धित कर देता है जैसे, **सेयंसे** = **श्रेयान्** और **पावीयंसे** [पाठ में **पाँव** से है] = **पापीयान्** है (ठाणग० ३१४ और ३१५) और आशिक रूप में अशक्त वर्ग को

सहायता से बनता है जैसे, कणीयसे = कणीयान् (कप्प० टी. एच. (TH) § १ ; अन्त० ३२) है, जै०महा० में कणीयसो रूप आया है (द्वार० ५०१,२९), किन्तु यह अ०माग० और जै०महा० कर्मकारक के रूप कणीयसं के समान ही = संस्कृत कनीयस के रखा जा सकता है, परन्तु यह रूप स्वयं वास्तव में गौण है। प्राचीन तुलना- या तर-वाचक रूप बलीयस् विशेषण का एक रूप *बलीय और शौर० में कर्त्ताकारक का रूप बलीओ विकसित हुआ है (शकु० ५०, ५ ; ५१, २) जिसने नियम के अनुसार ई पर प्राचीन ध्वनिबल के प्रभाव से ह्रस्व इ को अपना लिया है : बलिअ रूप मिलता है (= मोटा ; सबल : देशी० ६, ८८ ; माग० में : मृच्छ० १४, १० ; जै०महा० और आव० में ३५, १७ ; एर्त्सें० ९, १७ ; कालका० २६१, ४२) और इसका नपुंसकलिंग का रूप बलिअं 'अधिक' के अर्थ में व्यवहृत होता है (पाइय० ९०; महा० में : शकु० ५५, १६ ; शौर० में : विक्रमो० २७, २१; ५१, १९ ; मालवि० ६१, ११ ; माग० में : शकु० १५४, १३ ; वेणी० ३४, ३)। — अ०माग० कर्मकारक पुलिंग में दुम्मणं रूप पाया जाता है (कप्प० § ३८), जायवेयं = जातवेदसं है (उत्तर० ३६५), जायतेयं = जाततेजसम् है (सम० ८१) ; महा० में स्त्रीलिंग रूप विमणं मिलता है (रावण० ११, ४९) ; यह कारक नपुंसकलिंग में अधिक देखने में आता है : महा० और अ०माग० में उरं पाया जाता है (रावण० १, ४८ ; ४, २० और ४७ ; आयार० १, १, १, ५ ; विवाग० १२७) ; महा० और अ०माग० में जसं = यशस् है (रावण० २, ५ ; ४, ४७ ; उत्तर० १७०), ढक्की में जशं रूप है (मृच्छ० ३०, ९) ; महा० में णहं और अ०माग० में नहं रूप पाये जाते हैं (रावण० १, ७ ; ५, २ और ६४ ; ओव०) ; अ०माग में तमं मिलता है (सूय० ३१ और १७०) ; महा० में सिरं काम में आता है (रावण० ११, ३५ ; ६४ ; ७३ , ९० और ९४) ; अ०माग० और माग० में मणं आया है (उत्तर० १९९ ; मृच्छ० ३०, २८) ; अ०माग० में वयं = वयस् है (आयार० १, २, १, २ और ५ ; इसके साथ साथ कर्त्ताकारक का रूप वओ भी पाया जाता है, १, २, १, ३) ; जै०महा० में तेयं = तेजस् है (एर्त्सें० ३, १० , ८, २४) ; अ०माग० और -जै०शौर० में रयं = रजस (सूय० ११३ ; पव० ३८५, ६१) ; अप० में तउ और तवु = तपस् है (हेच० ४, ४४१, १ और २)। —करण : महा० में वच्छेण = वक्षसा है (गउड० ३०१) और सिरेण = शिरसा है (हाल ९१६) ; अप० में भी यह रूप आया है (हेच० ४, ३६७, ४ [अपनी प्रति में यह हेच० ४, ३६७, ३ में है]), शौर० में यह रूप पाया जाता है (बाल० २४६, ६), अ०माग० में शिरेणं रूप है (ठाणग० ४०१), महा० में तमेण = तमसा है (रावण० २, ३३) ; अ०माग० में तेएण रूप मिलता है (उत्तर० ३६३) और तेएणं = तेजसा है (उत्तर० ३४१ ; विवाह० १२५० ; उवास० § ९४) ; महा० और अ०माग० में रएण मिलता है और अ०माग० में रएणं = रजसा है (हाल १७६ ; उत्तर० १०९.; ओव० § ११२) ; महा० में मणेण रूप पाया जाता है तथा अ०माग० में मणेणं = मनसा है (गउड० ३४७ ; सूय० ८४१ और उसके बाद ; ८४४ ; पण्हा०

१३४); जै०महा० में परितुट्ठमणेणं = परितुष्टमनसा है (पुलिंग ; एर्से० ३९, ९); शौर० में पुरूरवेण आया है (विक्रमो० ८, १४) ; अप० में छन्देण = छन्दसा है (पिंगल १, १५) ; महा० स्त्रीलिंग में विमणाइ रूप मिलता है (हाल ११८) ; शौर० में तग्गदमणाए = तद्गतमनस्कया (विद्ध० ४३, ८)। — अपादान : महा० में सिराहि आया है (गउड० ५८) ; णहाहि भी पाया जाता है (गउड० ११६४ ; रावण० १३, ५१) ; अ०माग० में तमाओ और पद्य में छन्द की मात्रा मिलाने के लिए तमओ रूप भी = तमसः है (सूय० ३१ और १७०), पेज्जाओ = प्रेयसः है (ओव० § १२३)। — सम्बन्ध : महा० में असुद्धमणस्स = अशुद्धमनसः है (पुलिंग ; हाल ३५) ; शौर० में पुरूरवस्स रूप मिलता है (विक्रमो० २२, १६), तमस्स और रजस्स रूप भी आये हैं (प्रबोध० ४८, १ ; ५६, १४) ; जै०महा० में जसस्स देखा जाता है (कक्कुक शिलालेख २१) और अप० में जसहु = यशसः है (एर्से० ८६, १९)। — अधिकरण : महा० और अ०माग० में उरे रूप का प्रचार है (गउड० ७३३ ; हाल ३१ ; २७६ ; २९९ ; ६७१ ; रावण० ११, ७६ ; १२, ५६ और ६२ ; १५, ५० ; ५३ और ६४ ; विवाग० १६८), महा० में उरम्मि भी पाया जाता है (गउड० १०२२ ; रावण० ११, १०० ; १५, ४६) तथा अ०माग० में उरंसि रूप भी पाया जाता है (कप्प० एस. (S) § २९ ; उवास०) ; महा० में णहम्मि रूप आया है (गउड० १३५ ; ४७६ ; ८१९ ; ८२९ ; रावण० १३, ५३ ; १४, २३ और ८३), णहे भी मिलता है (रावण० १३, ५८), अ०माग० में णभे पाया जाता है (सूय० ३१०) ; अ०माग० में तमंसि मिलता है (आयार० १, ४, ४, २) ; शौर० में सोत्ते = स्रोतसि है (कर्पूर० ७१, १) ; अ०माग० में तवे = तपसि है (विवाह० १९४) ; महा० और अ०माग० में सिरे रूप आया है (रावण० ४, ४ ; उत्तर० ६६४) ; जै०महा० में सिरम्मि पाया जाता है (एर्से० ५८, १ ; कालका० २६८, ३९) ; महा० में सरम्मि = सरसि है (हाल ४९१ और ६२४) ; महा०, जै०महा० और दाक्षि० में मणे = मनसि है (रावण० ५, २० ; एर्से० ७९, ३४ ; मृच्छ० १०४, २) ; अ०माग० और अप० में चन्दे = चन्दसि है (विवाह० १४९ ; पिंगल १, ९३) ; अप० में मणि और सिरि रूप पाये जाते हैं (हेच० ४, ४२२, ९९ ; ४२३, ४)। — बहुवचन : कर्ता– महा० में सरा = सरांसि (पुलिंग ; गउड० ५२४) ; अ०माग० में अहोसिरा = अधःशिरसः, महायसा = महायशसः और हारविराइयवच्छा = हारविराजितवक्षसः हैं (ओव० § ३१ और ३३), थूलवया = स्थूलवचसः (उत्तर० १५) तथा पावचेया = पापचेतसः हैं (सूय० २८९) ; अप० में आसत्तमणा = आसक्तमनसः है (कालका० २६१, ४) ; स्त्रीलिंग– महा० में गअवआओ = गतवयस्काः है (हाल २३२) ; अ०माग० में –रइयसिरसाओ = रचितशिरस्काः (ओव० § ५५) और मिगसिराओ = मृगशिरसि है (ठाणंग० ८१)। — कर्मकारक स्त्रीलिंग : शौर० में सुमणाओ = सुमनसः है (मृच्छ० ३, १ और २१) ; नपुसकलिंग : अ०माग० में सराणि मिलता है (आयार० २, ३,

३, २)। — करण : महा० में सरेहि पाया जाता है (हाल ९५३), सिरेहि और सिरेहिं रूप भी मिलते हैं (हाल ६८२ ; रावण० ६, ६०), —मणेहि भी आया है (पुलिंग ; गउड० ८८), उरेहि का भी प्रचलन है (रावण० ६, ६०) ; स्त्रीलिंग : महा० में विमणाहि रूप मिलता है (रावण० ११, १७), मंगलमणाहि भी पाया जाता है (रावण० १५, ४३) । — सम्बन्ध : महा० में सराण रूप पाया जाता है (हाल ९५३) ; जै०महा० में गयवयाण मिलता है (कक्कुक शिलालेख १४) ; स्त्रीलिंग : महा० मे गअवआण आया है (हाल २३३) । — अधिकरण : अ०माग० मे तवेसु रूप आया है (सूय० ३१८), सरेसु भी पाया जाता है (नायाध० ४१२) । जैसे आपस् का आऊ और तेजस् का तेऊ रूप बन जाता है, उसी भाँति अ०माग० में वचस् का वऊ रूप हो जाता है (स्त्रीलिंग में) : इत्थीवऊ = स्त्रीवचः है (पण्णव० ३६३ ; ३६८ , ३६९) ; पुंवऊ रूप भी आया है (पण्णव० ३६३), पुमवऊ भी देखने में आता है (पण्णव० ३६३ ; ३६८ , ३६९), नपुंसग वऊ भी पाया जाता है (पण्णव० ३६३ ; ३६९), एगवऊ और बहुवऊ रूप भी मिलते हैं (पण्णव० ३६७) । — —अस् लग कर बननेवाले शब्दों में —स वर्ग बहुत कम मिलता है : अ०माग० में अदीणमणसो = अदीनमनाः है (उत्तर० ५१) ; जै०महा में विउसो = *विदुष- = वैदिक विदुः = विद्वान् (एर्त्से० ६९, १८) ।

§ ४१०—सभी प्राकृत भाषाओं में अप्सरस् शब्द की रूपावली आ— वर्ग की भाँति होती है जो स्वयं संस्कृत में भी इसी प्रकार से चलती है : कर्त्ता एकवचन— अ०माग०, जै०महा० और शौर० मे अच्छरा पाया जाता है (पण्हा० २२९ ; ठाणंग २६९ और ४८९ , नायाध० १५२५ , एर्त्से० ६४, २६ , शकु० २१, ६ , विक्रमो० १६, १५ , कर्ण० १५, २) ; शौर० मे अणच्छरा रूप मिलता है जो = अनप्सराः (विक्रमो० ७, १८) , कर्त्ता बहुवचन : अ०माग० और शौर० में अच्छराओ रूप है (ओव० [§ ३८] , पण्हा० २८८ , विवाह० २४५ और २५४ , बाल० २१८, ११) , करण : अ०माग० और शौर० में अच्छराहिं आया है (विवाह० २४५ , रत्ना० ३२२, ३० , बाल० २०२, १३) और विक्रमोर्वशी ४०, २१ के अच्छरोहिं के स्थान में भी यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए । तथाकथित अच्छरेहिं के सम्बन्ध मे जो रावण० ७, ४५ मे धाराहरेहिं से सम्बन्धित एक बहुव्रीहि के अन्त में आया है और ठीक है के विषय मे § ३२८ और ३७६ देखिए , मूल शब्द अच्छरा— और अ०माग० अच्छर के विषय मे § ९७ और ३४७ देखिए । हेच० १, २० और सिंहराजगणिन् पन्ना २५ के अनुसार मूल शब्द अच्छरसा बनाया जाता है : कर्त्ता एकवचन— अच्छरसा है, कर्त्ता बहुवचन— अच्छरसाओ होता है । महा० रूप अच्छरसं इसी से सम्बन्धित कर्मकारक है जो रावण० १३, ४७ में आया है ।

§ ४११—(२) अन्त में —इस् और —उस् लग कर बननेवाले संज्ञा शब्द । प्राचीन रूप जो प्राप्त हैं वे नीचे दिये जाते हैं : करण एकवचन— अ०माग० में चक्खुसा = चक्षुषा है (पण्हा० ४६१ , उत्तर० ७२६ , ७३४ , ७७९) , अ०माग० में विउसा = विदुषा (हेच० २, १७४ पेज ६८ [भंडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट द्वारा

प्रकाशित 'कुमारपालचरित' परिशिष्टे च सिद्धहेमव्याकरणस्याष्टमाध्यायेन सहितम्' के द्वितीय संस्करण का पेज ४९९। — अनु०]) । — सम्बन्ध : शौर० में **आउसो** = आयुषः है (विक्रमो० ८०, ४), **धणुहो** = धनुषः है (§ २६२ ; बाल० ११३, १७ , शुद्ध है ?) । — सम्बन्ध बहुवचन : अ०माग० में **जोइसं** = ज्योतिषाम् है (ओव० § ३६ ; ए०. बी०.[मी०] बी. तथा डी. हस्तलिपियों के अनुसार यही पाठ पढा जाना चाहिए), **जोइसाम् अयणे** में (विवाह० १४९ ; कप्प० § १०, ओव० § ७७) **जोइसाम्** रूप भी पाया जाता है । -ऊ में समाप्त होनेवाला कर्त्ता एकवचन या तो इस § में या ऊ- वर्ग में वर्णित किया जा सकता है : अ०माग० में **विऊ** = वैदिक **विदुः**[1] (सूय० ८९ ; १४७ ; ३४२ ; ५६० ; ६६५ ; उत्तर० ६४४ और ६९१ ; आयार० २, १६, ५[2]), **धम्मविऊ** = **धर्मविदुः** (आयार० १, ३, १, २), **एगविऊ** = एकविदुः , **धम्मविऊ** = धर्मविदुः, **मग्गविऊ** = **मार्गविदुः** और **पारविऊ** = **पारविदुः** हैं (सूय० ५६० ; ५६५ ; ६६५), **एक्कारसंगविऊ** = **एकादशांगविदुः** है (नायाध० ९६७) , **बारसंगविऊ** = **द्वादशांगविदुः** (उत्तर० ६९१), **चक्खू**, **एगचक्खू** और **तिचक्खू** = **चक्षुः**, **एकचक्षुः**, **द्विचक्षुः** और **त्रिचक्षुः** है (ठाणंग० १८८) ; **धणू** = **धनुः** (हेच० १, २२) ; शौर० में **आऊ** = **आयुः** (विक्रमो० ८१, २० ; **आउओ** = *आयुकः ८२, १३ की तुलना कीजिए) ; शौर० में **दीहाऊ** = **दीर्घायुः** (हेच० १, २० ; मृच्छ० १४१, १६ ; १५४, १५ ; शकु० १६५, १२ ; विक्रमो० ८०, १२ ; ८४, ९ ; उत्तररा० ७१, ८ आदि-आदि) है । — इ- तथा उ- वर्ग से निम्नलिखित रूप निकाले गये हैं : कर्त्ता एकवचन- अ०माग० में **सप्पि** = **सर्पिः** (सूय० २९१ , नपुंसकलिंग), **जोई** = **ज्योतिः** (उत्तर० ३७४ और उसके बाद ; पुलिंग) ; § ३५८[2] की तुलना कीजिए । महा० में **हविं** = **हविः** (भाम० ५, २५) ; महा० में **धणुं** = **धनुः** (हाल ६०३ , ६२० ; रावण० १, १८ , २४ ; ४५) और अ०माग० में **आउं** = **आयुः** हैं (आयार० १, २, १, २) । — कर्म : अ०माग० में **जोइं** = **ज्योतिः** है (उत्तर० ३७५ , ६७७ , १००९ ; नन्दी० १४६), **सजोइं** = **सज्योतिषम्** है (सूय० २७०), **सप्पिं** = **सर्पिः** है (आयार० २, १, ८, ८ ; कप्प० एस. (S.) § १७ ; ओव० § ७३), **चक्खु** = **चक्षुः** है (आयार० १, ८, १, ४), *इसका रूप* **चक्खू** *भी मिलता है (सूय० २२३), यह कर्त्ताकारक* के समान ही है (उवास § ५ . यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए), **परमाउं** रूप भी पाया जाता है (ओव० § ५३ ; समव० ११२) , महा० , अ०माग० तथा शौर० में **धणुं** = **धनुः** (हाल १७७ ; ६३१ , निरया० § ५ , वेणी० ६२, १७), शौर० में **दीहाउं** = **दीर्घायुषम्** है (उत्तररा० १३२, ९) । — करण : अ०माग० में **जोइणा** = **ज्योतिषा** (आयार० २, १६, ८ , सूय० ४६० और ७३१) और **अच्चीए** = **अर्चिषा** है जो **अर्चिस्** का एक रूप है और स्त्रीलिंग बन गया है (ओव० § ३३ और ५६) ; शौर० में **दीहाउणा** रूप पाया जाता है (शकु० ४४, ६ , यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए) । — *अपादान . अ०माग० में* **चक्खूओ** *रूप पाया जाता* है (आयार० २, १५, ५, २) । — सम्बन्ध : अ०माग० में **आउस्स** (सूय० ५०४)

और **चक्खुस्स** (उत्तर० ९२४ और उसके बाद) रूप पाये जाते हैं। — अधिकरण : अ०माग० में **आउम्मि** (सूय० २१२) रूप मिलता है और जै०महा० में **चक्खुम्मि** आया है (आव०एर्त्से० १५, १७)। — कर्ता बहुवचन पुंलिंग : अ०माग० में **वेयविऊ, जोइसंगविऊ** और **विऊ** रूप पाये जाते हैं (उत्तर० ७४३ और ७५६), **धम्मविद्** रूप भी मिलता है (आयार० १, ४, ३, १), **अणाऊ** = **अनायुषः** है (सूय० ३२२) ; नपुंसकलिंग में : **चक्खूइं** रूप मिलता है (हेच० १, ३३) ; अ०माग० में **चक्खू** रूप आया है (सूय० ५४९ ; ६३९)। — करण : **धणूहिं** रूप पाया जाता है (निरया० § २७)। — नीचे दिये गये शब्दों में अन्त में **-स** लगकर बननेवाला वर्ग पाया जाता है : कर्ता — **दीहाउसो** = **दीर्घायु** है (हेच० १, २० ; मालवि० ५५, १३) ; महा० में **अदीहराउसो** रूप काम में आया है (हाल ९५०) ; **धणुहं** = **धनुः** जो वास्तव में कभी कहीं बोले जानेवाले ***धनुषम्** का प्राकृत रूप है (§ २६३ ; हेच० १, २२), इसके साथ साथ महा० के अधिकरण में **धणुहे** पाया जाता है (कर्पूर० ३८, ११)। इनका मूल शब्द **धणुह-** होना चाहिए (प्रसन्न० ६५, ५) ; जै०महा० में **चिराउसा** रूप मिलता है (तीर्थ० ७, ८ ; स्त्रीलिंग)। त्रिविक्रम १, १, ३, ३ के अनुसार **आशिस्** कर्त्ताकारक का रूप प्राकृत में **आसी** = **आशीः** बनता है अथवा **आशिस्** से निकलता रूप **आसीसा** होता है जिसे हेमचन्द्र भी २, १७४ में सिखाता है। यह जै०महा० में भी कर्मकारक में पाया जाता है। इस प्राकृत में **आसीसं** रूप पाया जाता है (एर्त्से० ८०, ११)। इसके अतिरिक्त **लद्धासीसो** = **लब्धाशीः** भी पाया जाता है (एर्त्से० ८४, २५) ; शौर० में करणकारक में **आसीसाए** रूप मिलता है (वेणी० २३, १७), करण बहुवचन में **आसीसाहिं** आया है (मल्लिका० ७९, ३)। इसके साथ-साथ **आसिसा** रूप भी निश्चित है जो दुर्बल वर्ग के विस्तार से बना है : शौर० कर्ता- **आसिसा** है (शकु० ८३, १) ; कर्म- **आसिसं** (मालती० ३५१, ७), सम्ब- **आसिसाए** है (नागा० ८४, १५ ; पाठ में **आसिसं** के स्थान में इसी ग्रन्थ में अन्यत्र मिलनेवाले रूप **आसिसाए** के अनुसार यही रूप पढ़ा जाना चाहिए), सम्बन्ध बहुवचन- **आसिसाणं** है (मालती० बम्बइया संस्करण १०७, १२ ; भण्डारकर के संस्करण पेज ३६३ में इस शब्द की तुलना कीजिए, महावीर० १३३, ५)।

१. पिशल, वेदिशे स्टुडिएन २, २६६। — २. विऊ [पाठ में विदू है] नए धम्मपयं अणुत्तरं शब्द श्लोक ४ के हैं। याकोबी द्वारा अटकल से बनाया गया शब्द विदूणते जो विदुन्वतः के अर्थ में लिया गया है (सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, खण्ड बाईसवाँ, २१२ नोटसंख्या २) भाषाशास्त्र के अनुसार असम्भव है। नते नये के स्थान में (§ २०३) = नयेत्, अशुद्ध रूप है (§ ४९३, नोटसंख्या ४)। — ३. यहाँ सप्पी को काट डालना चाहिए।

§ ४१२—'पुंस' शब्द के प्राकृत में चार वर्ग हैं : (१) **पुं** जो **पुंस-** से निकला है और महा०, अ०माग० तथा जै०महा० में **पुंगव** में पाया जाता है (गउड० ८७ ; उत्तर० ६६६ ; नायाध० १२६२, १२७२, एर्त्से० ४, २५) ; अ०माग० में **पुवेय**

रूप पाया जाता है (सम० ६२ [पाठ में पुंवेद है] ; भग०), पुंवऊ = *पुंवचः भी मिलता है (पण्णव० ३६३) ; (२) पुमांस जो अ०माग० के कर्त्ता एकवचन में पुमं = पुमान् में पाया जाता है (दस० ६२८, ९), (३) उक्त दोनों वर्गों से निकला अथवा आविष्कृत वर्ग पुम– अ०माग० के कर्त्ता एकवचन में पुमे रूप आया है (ठाणंग० ४७९ और ४८२), अ०माग० के कर्म एकवचन में पुमं देखने म आता है (आयार० २, ४, १, ८ और ९ , दस० ६३७, ८), यह रूप इससे व्युत्पन्न शब्दों और समासों में भी पाया जाता है जैसे, अ०माग० में पुमवऊ = *पुंवचः (पण्णव० ३६३ , [पाठ में पुमवेऊ है], ३६८ , ३६९) है, पुमआणमणी = *पुमाज्ञापनी है (पण्णव० ३६३ और उसके बाद ; ३६९), पुमपन्नवणी = *पुंप्रज्ञापनी (पण्णव० ३६४) है, पुमित्थिवेय = पुंस्त्रीवेद (उत्तर० ९६०), पुमत्तं = पुंस्त्वम् (उत्तर० ४२१), पुमत्ताए = पुंस्त्वाय (ओव० § १०२ , ठाणग० ४७९ , ४८२ , ५२३) और पुमवयण = पुंवचन है (पण्णव० ३७० और ३८८ , ठाणग० १७४ [पाठ में पुम्मवयण है]), (४) पुंस्– के विस्तार से बना हुआ वर्ग पुंस– जिसके रूप अ०माग० में पुंसकोइलग = पुंसकोकिलक है (ठाणग० ५६८), नपुंसवेय रूप भी मिलता है (उत्तर० ९६०) । पल्लवदानपत्रों में स्– वर्गों में से केवल भूयो मिलता है (७, ४१) ।

(८) शेष व्यंजनों के वर्ग

§ ४१३— त्–, न्– और स्– वर्ग को छोड़ केवल श्– वर्ग के और उसमें से भी विशेष कर दिश् के नाना रूप प्राचीन रूपावली के अनुसार बने रह गये हैं और इनमें से अधिकांश परम्परा की रीति से बोले जानेवाले वार्तालाप में पाये जाते हैं जैसे, अ०माग० में दिसो दिसं रूप आया है (आयार० २, १६, ६) , अ०माग० और जै०महा० में दिसो दिसिं भी पाया जाता है (पण्हा० १९७ , उत्तर० ७९२ , नायाध० ३४८ ; एर्त्से० १३, ६ , ३८, २६ , ६३,२५) , महा० और जै०महा० में दिसि दिसि रूप मिलता है (विद्ध० ९०, ५ , एर्त्से० ७, २९) , अ०माग० म पदिसो दिसासु आया है (आयार० १, १, ६, २) , कई रूप विरल हैं जैसे, सम्बन्धकारक का महा० का रूप पुव्वादिसो = पूर्वदिशः है (बाल० १७९, २) और माग० मे णिशि रूप मिलता है (मृच्छ० १०, ४ , यह पद्य म आया है) । अन्यथा इक्के दुक्के रूप मिलते हैं (§ ३५५), जैसे अ०माग० में करण एकवचन का रूप वाया = वाचा है (उत्तर० २८ , दस० ६३०, ३२) और कायग्गिरा = कायगिरा (§ १९६ , दस० ६३४, २४) । शेष सभी व्यंजनों के वर्ग प्राय सदा अ– रूपावली में तथा स्त्रीलिंग म आ– अथवा ई– की रूपावली में ले लिये गये हैं । इस नियम के अनुसार वाच् *वाचा के द्वारा महा० म वाआ बन गया है (भाम० ४, ७ , गउड० ६९), अ०माग० में इसका वाया बन जाता है (सूय० ९३१ और ९३६), कर्मकारक में वाअं और अ०माग० में वायं पाया जाता है (गउड० ६, ७ , सूय० ९३२) , करण– महा०,

शौर० और माग० में **वाआए** रूप पाया जाता है (गउड० ६३ ; प्रसन्न० ४६, १४ ; ४७, १ ; माग० में : मृच्छ० १५२, २२), महा० में **वाआइ** भी देखने में आता है (हाल ५७२) ; अ०माग० में **वायाए** रूप मिलता है (दस० ६३१, ३४ ; पण्हा० १३४) ; सम्बन्ध– माग० में **वाआए** पाया जाता है (मृच्छ० १६३, २१) ; अधिकरण– महा० में **वाआइ** पाया जाता है ; कर्त्ता बहुवचन– महा० में **वाआ** और **वाआओ** रूप हैं (गउड० ९३) ; कर्म– अ०माग० में **वायाओ** आया है (आयार० १, ७, १, ३) ; करण– अ०माग० में **वायाहिं** मिलता है (आयार० २, १६, २) ; अधिकरण– महा० में **वाआसु** पाया जाता है (गउड० ६२)। इसके साथ साथ अ०माग० में बहुधा **वई** रूप मिलता है जो = *वची के और *वाची से निकला है। इसमें § ८१[१] के अनुसार **आ** का **अ** हो गया है, इसका : कर्त्ता एकवचन– **वई** है (आयार० पेज १३२, १५ और १७ ; विवाह० ७०) ; कर्म– **वइं** मिलता है (आयार० १, ५, ३, १ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; २, ३, १, २१ ; २, ३, ३, १६ ; पेज १३२, १५ और १७ ; सूय० १६९ [यहाँ **वइं** पढ़िए] और ८६६), **वइ**– भी पाया जाता है (आयार० १, ५, ५, ४ ; १, ७, २, ४ ; २, १३, २२ ; पेज १३३, २ ; सूय० १२८ ; उत्तर० ६४६ ; जीवा० २५ और २७६ ; विवाह० १४३१ ; १४५३ ; १४६२ ; कप्प० § ११८ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए])। — **त्वच्** की रूपावली निम्नलिखित प्रकार है : कर्त्ता एकवचन– अ०माग० में **तया** = *त्वचा है (सूय० ६३९ ; विवाह० १३०८ और १५२९) ; अपादान–अ०माग० में **तयाओ** पाया जाता है (सूय० ६३९) ; सम्बन्ध बहुवचन– अ०माग० में **तयाणं** रूप मिलता है (सूय० ८०६) ; कर्त्ता– अ०माग० में **तयाणि** होता है (§ ३५८)। यह वर्ग बहुधा समासों में पाया जाता है जैसे, अ०माग० में **तयप्पवाल**– = **त्वक्प्रवाल** है (पण्हा० ४०८), **तयासुह** = **त्वक्सुख** है (नायाध० § ३४ ; ओव० § ४८ ; कप्प० § ६०), **तयामन्त** रूप भी मिलता है (ओव० § ४ और १५), **सत्तिया** = **सप्तत्वचः** है (विवाह० १२३ ; कर्त्ता बहुवचन)। **ऋच्** का केवलमात्र एक रूप शौर० में मिलता है अर्थात् **ऋचाइं**, जो कर्म बहुवचन है (§ ३५८)। **भिषज्** का कर्त्ता एकवचन **भिसओ** पाया जाता है (हेच० १, १८), **यकृत्** का सम्बन्ध एकवचन का रूप अ०माग० में **जगयस्स** = ***यकृतस्य** है (विवाह० ८६९), **शरद्** का कर्त्ता एकवचन **सरओ** पाया जाता है (§ ३५५)। — **विद्** का कर्त्ता एकवचन में अ०माग० में **सडंगवी** रूप देखने में आता है (विवाह० १४९ ; कप्प० § १० ; ओव० § ७७), **वेयवी** = **वेदवित्** है (आयार० १, ४, ४, ३ ; १, ५, ४, ३ ; १, ५, ५, २ ; उत्तर० ७४२) ; **परिषद्** का कर्त्ता एकवचन अ०माग० में **परिसा** पाया जाता है जो ***परिषदा** से निकला है (विवाग० ४ ; १३ ; १५ ; ५८; १३८ ; २४२ ; ओव० ; उवास० और यह रूप बहुत अधिक जै०महा० में भी मिलता है : एर्से० ३३, १०), करण–, सम्बन्ध– और अधिकरण कारकों में अ०माग० में **परिसाए** पाया जाता है (कप्प० § ११३ ; ओव० § ५६) ; कर्त्ता बहुवचन–अ०माग० में **परिसाओ** रूप आया है (विवाह० ३०३), करण– **परिसाहिं** है (नायाध०

१०२६), सम्बन्ध- **परिसाणं** पाया जाता है (विवाग० २०१)। **संपद्** का कर्त्ता-कारक **संपआ** है और **प्रतिपद्** का **पडिवआ** पाया जाता है (हेच० १, १५), जै०-महा० में **संपया** और **आवया** रूप मिलते हैं (एर्से० ८१, ३५); अप० में **संपइ** = *संपदी और इसी प्रकार **आवइ** = **आपद्** तथा **विवइ** = **विपद्** हैं (हेच० ४, ३३५ ; ३७२ और ४००); अ०माग० **आवइकालं** = **आपत्कालम्** की तुलना कीजिए (ओव० § ८६); अप० में कर्मकारक का रूप **संपअ** मिलता है (पिंगल १, ८१ ; गौल्दश्मित्त कृत मंगल), महा० में कर्त्ता बहुवचन का रूप **संपआ** पाया जाता है, अ०माग० में **संपया** है (हाल ५१८ ; कप्प० § १३४ और उसके बाद), **आवईओ** रूप भी पाया जाता है (गउड० ९८८)। अ०माग० में **हृद्** का कर्मकारक **हियं** आया है (आयार० १, १, २, ५)। — **क्षुध्** का कर्त्ताकारक में **छुहा** और **खुहा** रूप बनते हैं (§ ३१८)। — **आऊ** के सम्बन्ध में § ३५५ देखिए। — **ककुभ्** का रूप कर्त्ताकारक में **कउहा** हो जाता है (हेच० १, २१)। **गिर्** का कर्त्ताकारक **गिरा** है, इस रीति से **धुर्** का कर्त्ताकारक **धुरा** और **पुर्** का **पुरा** बन जाता है (हेच० १, १६); दाक्षि० में कर्मकारक में **धुरं** पाया जाता है (मृच्छ० १०२, २); कर्त्ता बहुवचन- अ०माग० में **गिराओ** रूप मिलता है (पण्हा० २८७) ; करण- **गिराहिं** है (विवाह० ९४४ ; कप्प० § ४७ ; नायाध० § २३) ; सम्बन्ध- **गिराणं** पाया जाता है (उत्तर० ३५८; [कुमाउनी में इसका रूप **गिरानन्** हो गया है।—अनु०])। **अहर्** (दिन) का कर्मकारक का रूप अ०माग० में **अहो** पाया जाता है (§ ३४२), यह रूप बहुधा निम्नलिखित शब्द के साथ पाया जाता है : **अहो य राओ** अथवा **अहो य राओ य** (§ ३८६)। — बहुत अधिक काम में आनेवाला शब्द **दिश्** सभी प्राकृत बोलियों में **दिसा** रूप ग्रहण कर लेता है। माग० में **दिशा** रूप होता है। ये रूप समासों और रूपावली में भी चलते हैं : कर्त्ता- **दिसा**, कर्म- **दिसं** होता है, करण-, सम्बन्ध- और अधिकरण-कारकों में **दिसाए** रूप मिलता है, अपादान- **दिसाओ** पाया जाता है, अ०माग० में **अहेदिसाओ** और **अणुदिसाओ** रूप भी देखने में आते हैं (आयार० १, १, १, २ ; सूय० ५७४), शौर० में **पुव्वदिसादो** रूप आया है (रत्ना० ३१३, ७) ; कर्त्ता तथा कर्म बहुवचन **दिसाओ** काम में लाया गया है, *करणकारक* ***दिसाहिं*** *है, सम्बन्ध* ***दिसाणं*** *चलता है तथा अधिकरण में* ***दिसासु*** *आया* है, अ०माग० में **विदिसासु** रूप भी मिलता है (ठाणग० २५९ और उसके बाद)। *दिशी शब्द का अ०माग० और जै०महा० में कर्मकारक का रूप बहुधा **दिसिं** पाया जाता है, विशेषतः संयुक्त रूप **दिसो दिसिं** में, अन्य स्थलों में भी यह रूप देखने में आता है जैसे, विवाग० ४ ; ३८ ; कप्प० § २८ ; कप्प० एस. (S.) § ६१ [इस ग्रन्थ में अन्यत्र **दिसं** रूप भी देखिए], **अणुदिसिं** भी पाया जाता है (कप्प० एस. (S.) § ६१), **छद्दिसिं** काम में आया है (विवाह० १४५), **पडिदिसिं** का भी प्रचलन है (ठाणग० १३५ ; टीका में दिया गया है : **इकारस् तु प्राकृतत्वात्**) तथा समासों में **दिसी-** रूप चलता है (विवाह० १६१ ; ओव० § २ ; कप्प० § २७ और ६३ ; उवास० § ३ और ७ ; ओव०एर्से० १४, १०) और कहीं कहीं **दिसि-**

भी इस काम में आता है (उवास० § ५०) ; इसी नियम जै०शौर० में सम्बधकारक बहुवचन का रूप **दिसीणं** है (कत्तिगे० ४०२, ३६७) और इसके साथ साथ **दिसाण** रूप भी पाया जाता है (४०१, ३४२), अधिकरण- कारक में जै०शौर० में **दिसिसु** रूप मिलता है (कत्तिगे० ४०१, ३४१), अप० में **दिसिहिँ** है (हेच० ४, ३४०, २)। — **प्रावृष्** का रूप **पाउसो** बन जाता है (§ ३५८) ; **उपानह्** के स्थान में शौर० में **उवाणह्** वर्ग है (मृच्छ० ७२, ९), कर्त्ता- और कर्म- कारक बहुवचन में अ०माग० में **पाहणाओ** और **वाहणाओ** रूप पाये जाते हैं (§ १४१)।

१. वेबर (भगवती १, ४०४) मूल से **वइ**- की व्युत्पत्ति **वचस्** से बताता है।

—तर और —तम के रूप

§ ४१४—प्राकृत में 'एक से श्रेष्ठ' और 'सब से श्रेष्ठ' का भाव बताने के लिए **-तर, -तम, -ईयस्** और **-इष्ठ** का ठीक वैसा ही प्रयोग किया जाता है जैसा संस्कृत में : महा० में **तिक्खअर = तीक्ष्णतर** है (हाल ५०९) ; जै०महा० में **उज्जलतर = उज्ज्वलतर** (आव०एर्से० ४०, ६), **दढतर = दृढतर** (एर्से० ९, ३५) ; अ०माग० में **पग्गहियतर = प्रगृहीततर** है (आयार० १, ७, ८, ११) तथा **थोवतर = स्तोकतर** है (जीयक० ९२) ; शौर० में **अधिअदर = अधिकतर** है (मृच्छ० ७२, ३ ; ७९, १ ; मालती० २१४, १ ; वृषभ० १०, २१ ; नागा० २४, ५) और **णिहुददर = निभृततर** है (विक्रमो० २८,८)। स्त्रीलिंग में **दिउणदरा = द्विगुणतरा** है (मृच्छ० २२, १३), **दिउणदरी** रूप भी मिलता है (प्रिय० २५, ७) ; जै०महा० और शौर० में **महत्तर** पाया जाता है (एर्से० ; उत्तररा० ११८, ५), माग० में **महत्तल** आया है (शकु० ११८, ५) ; महा० में **पिअअम** काम में आया है (हाल ; रावण०), जै०महा० में **पिययम** रूप बन जाता है (द्वार० ४९८, २६ ; एर्से०), शौर० में इसका रूप **पिअदम** देखने में आता है (विक्रमो० २८, ९ ; ५२, २० ; ५८, ५ ; प्रबोध० ३९, २), अप० में भी **पिअअम** का प्रचलन है (विक्रमो० ६६, १६)। ये सब रूप = **प्रियतम** हैं ; अ०माग० में **तरतम** पाया जाता है (कप्प०) ; अ०माग० और जै०महा० में **कनीयस्** रूप मिलता है (§ ४०९ ; [इस **कनीयस्** से कुमाउनी में **काँसो** और **काँसी** रूप बन गये हैं, नेपाली में **कान्छा** और **कान्छी**]·), शौर० में **कणीअसी** का प्रयोग है (स्त्रीलिंग ; मालवि० ७८, ९) ; अ०माग० में **कणिट्ठग** रूप है (उत्तर० ६२२) ; अ०माग० में **सेयं = श्रेयस्** है (§ ९४), **सेयंस** रूप भी पाया जाता है (§ ४०९) ; पल्लवदानपत्रों में **भूयो** मिलता है (७, ४१), अ०माग० और जै०महा० में इसका रूप **भुज्जो** बन जाता है (§ ९१ ; आयार० १, ५, ४, २ ; १, ६, ३, २ ; २, २, २, ७ ; सूय० ३६१ ; ५७९ ; ७८७ ; ७८९ ; ९७९ ; उत्तर० २१२ ; २३२ ; २३८ ; २३९ ; ३६५ ; ४३४ ; ८४२ ; विवाह० १८ ; २७ ; ३० और उसके बाद ; १४५ ; २३८ और उसके बाद ; ३८७ आदि-आदि ; उवास० ; नायाध० ; ओव० ; कप्प० ; एर्से०), शौर० में **भूओ** पाया जाता है (शकु० २७,

६; ९०, १४; १२३, १३; मालवि० ४८, ७), शौर० में **भूइट्ठ** रूप भी आया है (शकु० २७, ५; मालवि० ७१, ८) = **भूयस** और **भूयिष्ठ** हैं। इनके साथ साथ शौर० में **बहुदर** रूप भी बहुत चलता है (मृच्छ० ३७, २३; शकु० ७३, ३; उत्तररा० ६६, १; चैतन्य० ४२, २; ४३, ५; ४५, ११); अ०माग० में **पेॅज्ज** = **प्रेयस्** (§ ९१; आयार० १, ३, ४, ४; सूय० ८८५; पण्णव० ६३८; विवाह० १२५; १०२६; उत्तर० १९९; उवास०), **पिज्ज**– रूप भी पाया जाता है (उत्तर० ८२२ और ८७६); अ०माग० में **पावीयंसे** = **पापीयान्** है (§ ४०९), जै०महा० में **पाविट्ठ** = **पापिष्ठ** है (कालका०); अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **जेट्ठ** = **ज्येष्ठ** (आयार० २, १५, १५; विवाह० ३३३ और ५११; उत्तर० ६२२ [पाठ में **जिट्ठ** है]; उवास०; कप्प०; नायाध०; द्वार० ४९५, २६; एत्सें०; विक्रमो० ८८, १६; उत्तररा० १२८, १२; अनर्घ० २९७, १३); अ०माग० में **धम्मिट्ठ** = **धर्मिष्ठ** है (सूय० ७५७); जै०महा० में **दप्पिट्ठ** = ***दर्पिष्ठ** है (कालका २७०, ९); शौर० मे **अदिबलिट्ठ** रूप पाया जाता है (प्रबन्ध० ८३, १०)। अ०माग० रूप **हेट्ठिम** के विषय में § १०७ देखिए। द्वित्व रूप यहाँ दिये जाते हैं : अ०माग० में **उत्तरतर** मिलता है (ओव०), **बलियतरं** पाया जाता है (विवाह० ८३९); **जेट्ठयर** और **कणिट्ठयर** रूप भी मिलते हैं (हेच० २, १७२)। एक ध्यान देने योग्य और मार्के का द्वित्व रूप अ०माग० क्रियाविशेषण **भुज्जतरो**, **भुज्जयरो** है जिसमें तर–वाचक रूप **भुज्ज** = **भूयस्** में दूसरी बार **–तर** प्रत्यय जोड़ा गया है, किन्तु साथ ही अन्त में **भुज्जो** = **भूयस्** का **–ओ** रहने दिया गया है। इसके अनुकरण पर[1], जैसा कि बहुत से अन्य स्थानों में **अप्पतरो** का प्रयोग किया जाता है, यह **अप्पतरो** = **अल्पतरम्** और इसका प्रयोग निम्नलिखित संयुक्त शब्दावलि में हुआ है, **अप्पतरो वा भुज्जतरो वा** अथवा **अप्पयरो वा भुज्जयरो वा** (आयार० २, ३, १, १३; सूय० ६२८, ६९९; ७५१, ९८६; विवाह० ४०, ओव० § ६९)। — कभी कभी साधारण शब्द तर–वाचक शब्द के स्थान मे काम में लाया जाता है : महा० में **ओवणाहि चि लहुअं** मिलता है, इसका अर्थ है 'नीचे को पतन से भी शीघ्रतर' (रावण० ६, ७७), **सेउबन्धलहुअं** का अर्थ है 'सेतु बाँधने से भी लघुतर' (रावण० ८ १५); शौर० में **तत्तो वि पिअ त्ति** आया है जिसका अर्थ है 'तुझसे भी प्रियतर' (शकु० ९, १०) **पढुमदंसणादो वि सविसेसं पिअदंसणो** का अर्थ है 'प्रथम दर्शन से भी चारुतर' (विक्रमो० २४, १)।

१. लौयमान, औपपातिक सूत्र में अप्पतरो शब्द देखिए। — २. ३५५ में आऊ।

आ—सर्वनाम

§ ४१५—उत्तमपुरुष का सर्वनाम।

एकवचन

कर्ता—**अहं, अहयं**, जै०महा० में **अहये**, **हं** [**अम्हि, अम्मि, म्मि, अहम्मि**]; माग० में **हगे, हग्गे** [**हके, अहके**]; अप० में **हउँ**।

कर्म—मं, ममं, मइं, मे [मि, मिमं, अम्मि, अम्हं, अम्ह, मम्ह, अहं, अहम्मि, णे, णं] ; अप० में मइँ ।

करण—मए, मइ [ममए, ममाइ, मआइ], मे [मि, ममं, णे] ; अप० मे मइँ ।

अपादान—[मत्तो, ममत्तो, महत्तो, मज्झत्तो, मइत्तो], ममाओ [ममाउ, ममाहि], ममाहिंतो आदि आदि (४१६) ; पै० मे [ममातो, ममातु] ; अप० मे [महु, मज्झु] ।

सम्बन्ध—मम, मह, मज्झ, ममं, महं, मज्झं, मे, मि [मइ, अम्ह, अम्हम्] ; अप० में महु, मज्झु ।

अधिकरण—[मए], मइ [मे, मि, ममाइ], ममम्मि [महम्मि, मज्झम्मि, अम्हम्मि] ; अप० में मइँ ।

बहुवचन

कर्त्ता—अम्हे [अम्ह, अम्हो, मो, भे] ; दाक्षि० मे वअं ; अ०माग० और जै० महा० में वयं भी होता है ; माग० मे [हगे भी] ; पै० मे वयं, अम्फ, अम्हे; अप० में अम्हे, अम्हइँ ।

कर्म—अम्हे, अम्ह [अम्हो], णो, णे ; अप० में अम्हे [अम्हइँ] ।

करण—अम्हेहिं [अम्हाहिं अम्हे, अम्ह], णे ; अप० में अम्हेहिँ ।

अपादान—[अम्हत्तो, अम्हाहिंतो, अम्हासुंतो, अम्हेसुंतो, महत्तो, ममाहिंतो, ममासुंतो, ममेसुंतो ; अप० मे अम्हहँ] ; जै०महा० में अम्हेहिंतो ।

सम्बन्ध—अम्हाणं, अम्हाण, अम्हं, अम्ह, म्ह [अम्हाहँ], अम्हे [अम्हो, ममाणं, ममाण, महाणं, महाण, मज्झाणं, मज्झ, णे], णो, णे ; अप० में अम्हहँ ।

अधिकरण—अम्हेसु अम्हासु [अम्हसु, ममेसु, ममसु, महेसु, महसु, मज्झेसु, मज्झसु] ; अप० मे अम्हासु ।

वर० ६, ४०–५३ ; ११, ९ ; १२, २५ , चंड० १, २६–३१ ; २, २७; ३, १०५–११७ ; ४, ३०१ ; ३७५–३८१ ; क्रम० ३, ७२–८३ ; ५, ४०–४८ ; ९७ ; ११४ ; मार्क० पन्ना ४९ ; ७० ; सिंहराजगणिन् पन्ना ३०–३२ की तुलना कीजिए ।

§ ४१६—व्याकरणकारों द्वारा सिखाये गये रूपों का एक बहुत बड़ा अंश ग्रन्थों मे नहीं मिलता, इसलिए अब तक प्रमाणित नहीं किया जा सका किन्तु इससे इनकी शुद्धता पर सन्देह नहीं किया जा सकता[१] । सिंहराजगणिन् द्वारा दिये गये कुछ रूपों के विषय में सन्देह किया जा सकता है क्योंकि ऐसा लगता है कि ये अन्य रूपावलियों के अनुकरण पर आविष्कृत किये गये है । सिंहराजगणिन् हेमचन्द्र की भाँति ही केवल अपादान एकवचन मे ऊपर दिये गये सभी वर्गों के निम्नलिखित रूप ही नहीं बताता : ममत्तो, ममाओ, ममाउ, ममाहि, ममहिंतो; महत्तो, महाओ, महाउ, महाहि, महाहिंतो; मज्झत्तो, मज्झाओ, मज्झाउ, मज्झाहि, मज्झाहिंतो; मइत्तो, मईओ,

महंउ, महंहि, महंहिंतो ; मम, मह और मज्झ ; अपितु इनके अतिरिक्त और स्त्रीलिंग के रूप ममाअ, ममाआ, ममाइ तथा ममाए रूप बताता है। इसी प्रकार मह, मज्झ तथा मइ वर्गों के नाना रूप देता है, जिनसे अपादानकारक के ३९ रूप पाये जाते हैं। अधिकरण एकवचन में उक्त रूपों के अतिरिक्त अम्हत्थ, अम्हस्सि, अम्हम्मि, अम्हहिं और अम्हे रूप देता है। इनके अतिरिक्त उसने स्त्रीलिंग के रूप दिये हैं, अम्हाअ, अम्हाआ ; अम्हाइ तथा अम्हाए और मम, मह तथा मज्झ वर्गों के भी उक्त सब रूप दे दिये गये हैं अर्थात् ये सब मिलकर ४१ रूप हो जाते हैं। यही दशा द्वितीय पुरुष के सर्वनाम की भी है, जिसमें तुम, तुध, तुह, तुम्ह, तुज्झ, तुज्झ, तुइ और तइ वर्गों के रूप दिये गये हैं। इसकी खोज भविष्य ही करेगा कि इन रूपों में से कितने साहित्य में काम में लाये जाते रहे होंगे।

१. वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा २६ में ब्लौख ने अतिकर दी है। गो०गे०आ० १८९४, ४७८ में कोनो के लेख की तुलना कीजिए।

§ ४१७—एकवचन : कर्ताकारक में सभी प्राकृत बोलियों में, स्वय दक्की में (मृच्छ० ३२, ७ ; ३४, ३५ ; ३५, १), आव० में (मृच्छ० १०१, १७ ; १०३, १० ; १०५, १) और दाक्षि० में (मृच्छ० १०२, २३ ; १०४, १९ ; १०६, १) अहं = अहम् है, माग० में इसके स्थान में हगे आता है (उदाहरणार्थ, मृच्छ० १२, १४ ; १३६, १६ ; १७५, १५ ; ललित० ५६५, १७ , ५६६, ६ और १६ ; शकु० ११३, ५ और ९ , ११४, २ ; मुद्रा० १९३, ८ ; १९४, २ आदि आदि)। वररुचि ११, ९ में यह रूप बताया गया है और इसके साथ हके और अहके रूप भी दिये गये हैं। हेमचन्द्र ने ४, ३०१ में हगे रूप दिया है, सिंहराजगणिन् ने पन्ना ६३ में, क्रमदीश्वर ने ५, ९७ में इसका उल्लेख किया है तथा साथ साथ हके रूप भी दिया है, मार्कडेय ने पन्ना ७५ में हगे और इसके साथ ही हक्के, हके तथा हग्गे रूप दिये हैं। मृच्छकटिक में उल्लिखित तीन स्थलों के अतिरिक्त जो पद्य में हैं, अन्यत्र सभी स्थानों में स्टेन्सलर ने हग्गे रूप दिया है (१२, ५ ; १३, ४ और ८ ; १६, १८ ; २०, १४ ; २१, २० ; ३७, ४ आदि आदि), हास्यार्णव ३१, ३ में भी यही रूप पाया जाता है ; प्रबोधचन्द्रोदय ३२, ६ और १४ में भी यही मिलता है किन्तु इस ग्रथ के ५५, १५ ; ५८, १७ में हग्गो पाठ के स्थान में हक्के पढ़ा जाना चाहिए , पूना के सस्करण में ५८, १७ में हक्के पाया जाता है, जब कि उसमें ५५, १५ में हं रूप दिया गया है, बबइया सस्करण में ५५, १५ में अहं मिलता है, ५८, १७ में हग्गे देखा जाता है, मद्रास के सस्करण में दोनों स्थानों में अहं दिया हुआ मिलता है, मुद्राराक्षस १७८, २ में भी अहं आया है (इस ग्रथ में अन्यत्र हगे भी दिया गया है) ; १८७, १ ; १९३, १ (अन्यत्र हगे भी है), २६७, २ में भी अहं मिलता है ; वेणीसंहार ३५, ४ में भी यह रूप पाया जाता है तथा आलोचनारहित सस्करणों में इसका ही बोलबाला है। गौडबोले द्वारा सपादित मृच्छकटिक की सभी हस्तलिपियों में सारे नाटक में हगे ही आया है, इसलिए इस पुस्तक में यही पढ़ा जाना चाहिए। दोनों रूप शुद्ध हैं क्योंकि ये किसी *अहकं से व्युत्पन्न हैं (§ १४२ और १९४) अर्थात् अहकं से निकले हैं (व्याकरण महाभाष्य एक, ९१,

११)। अशोक के शिलालेखों में **हकं** रूप पाया जाता है, जिसमें माग० में बहुधा चलनेवाला लिंगपरिवर्तन दिखाई देता है (§ ३५७)। अप० रूप **हउँ** भी अपनी व्युत्पत्ति में **अहकं** तक पहुँचता है (हेच० **हउं** ; पिंगल १, १०४ अ ; २, १२१ [इन दोनों पत्रों में **हउ** पाठ है, **हउँ** नहीं। —अनु०] ; विक्र० ६५, ३ [**हइ** और **दइं** के स्थान में यही पढा जाना चाहिए]) तथा महा० में **अहअं** भी इसी से व्युत्पन्न है (हाल ; रावण०) ; जै०महा० में **अहयं** रूप पाया जाता है (आव०एर्त्सें० ७, ३४ ; ३६, ४९ ; एर्त्सें०)। स्वरों के बाद (§ १७५) महा०, अ०माग०, जै०महा० और माग० में **हं** रूप पाया जाता है (रावण० १५, ८८ ; कर्पूर० ७५, २ ; उत्तर० ५७५ और ६२३ ; सम० ८३ ; एर्त्सें० १२, २२ , ५३, ३४ ; मृच्छ० १३६, ११)। शेष चार रूपों में से वररुचि और मार्कंडेय ने केवल **अहम्मि** पाया जाता है, क्रमदीश्वर ने केवल **अम्हि** दिया है, हेमचन्द्र ने केवल एक रूप **म्मि** का उल्लेख किया है। इन चारों रूपों को ब्लौख[1] व्याकरणकारों की नासमझी मानता है। किन्तु यह तथ्य निश्चित है कि स्वयं संस्कृत में **अस्मि** रूप *'मैं' के अर्थ में काम में लाया गया है*[2]। यह प्रयोग **अस्मि** के मौलिक सहायक अर्थ 'मैं हूँ' से व्युत्पन्न हुआ है जैसा बहुधा उद्धृत **रामो' स्मि सर्वं सहे** के अर्थ से स्पष्ट है। बोएटलिंक और रोट के संस्कृत-जर्मन कोश के पेज ५३५ में १ **अस्** के नीचे **अस्ति** पर दिये गये उदाहरणों में इसके प्रयोग की तुलना कीजिए। *यही प्रयोग प्राकृत में भी पाया जाता है :* अ०माग० में **अत्थि णं भन्ते गिहिणो ...ओहिनाणे णं समुप्पज्जइ** पाया जाता है (उवास० § ८३) ; **अत्थि णं भन्ते जिणवयणे...आलोइज्जइ** भी मिलता है (उवास० § ८५) ; **अत्थि णं भन्ते... सिद्धा परिवसन्ति** भी आया है (ओव० § ६२), **तं अत्थि याइं ते कहिं पि** [इसका संपादन **वि** किया गया है] **देवाणुप्पिया परिसए ओरोहे दिट्ठपुव्वे** देखा जाता है (नायाध० १२८४), **तं अत्थि याइं** [इसका सम्पादन **या** किया गया गया है] **इत्थ केइ मे** [इसका सम्पादन **ते** किया गया है] **कहिं पि** [इसका सम्पादन **चि** किया गया है] **अच्छेरए दिट्ठपुव्वे** वाक्यांश मिलता है (नायाध० १३७६) ; शौर० में **अत्थि एत्थ णअरे ' तिण्णि पुरिसा ' सिरिं ण सहन्ति** पाया जाता है (मुद्रा० ३९, २)। इसी प्रकार का प्रयोग **सन्ति** का भी है (आयार० २, १, ४, ५ , सूय० ५८५) और बहुधा **सिया = स्यात्** (जैसे पाली में **सिया** और **अस्स** का है) का भी ऐसा ही प्रयोग किया जाता है (आयार० १, १, २, १ ; १, १, ६, ३ , १, २, ६, १ ; १, ५, ५, २ , २, ५, १, ११ , २, ६, २, २ ; दस० ६१३ २२)। निश्चय ही ठीक इसी भाँति **अम्हि = अस्मि** का प्रयोग भी किया गया है। **अम्मि** और **म्मि** भी नये आविष्कृत रूप नहीं है जैसा अ०माग० रूप **मि** ; **मो** और **मु** (§ ४९८) प्रमाणित करते हैं, यद्यपि भले ही हेमचन्द ने ३, १०५ में दिये गये उदाहरण अशुद्ध पाठ भेद पर आधारित है[3]। **अहम्मि** रूप = **अहं मि** होना चाहिए।

१. वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा, पेज ३८। — २. गो० गे० आ० १८९४, ४७८ मैंकोनो का मत ; याकोबी, कम्पोजिटुम् उन्ट नेबनजात्स (बोन १८९७), पेज ६२, नोटसंख्या २। — ३. ब्लौख, वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा, पेज ३७। हेच० ३,

१०५ में तेण हं दिट्ठा के स्थान में बंबइया संस्करण के पाठ के अनुसार जेण हं विद्धा पढ़ा जाना चाहिए (हाल ४४१ की टीका में वेबर)। किन्तु जेण् अहं (§ १७३) को अलग करके पढ़ना शुद्ध है ।

§ ४१८—कर्मकारक में अप० को छोड़ अन्य सब प्राकृत बोलियों में काम में आनेवाला रूप मं = माम् है (हाल ; रावण० ; उवास० में म- शब्द देखिए ; एर्त्से०; कालका० में अहं शब्द देखिए ; ऋषभ० में म शब्द देखिए ; शौर० में : उदाहरणार्थ, मृच्छ० २, २२ और २५ ; शकु० १६, १० ; विक्रमो० १६, ६ ; माग में : मृच्छ० ११, १ ; २९, २३ ; ३२, ५ और १५)। अप० में मइँ रूप है (हेच० ४, ३७७ ; ४१४,४ ; विक्रमो० ६९, २) । महा०, अ०माग० और जै०महा० में ममं रूप भी पाया जाता है (हाल १६ ; रावण ११, ८४; ठाणग० ४७७; नायाध० में यह शब्द देखिए; पेज ९३२ ; उत्तर० ७९१ ; विवाह० २५७ और १२१५ ; उवास० § ६८ [मम के स्थान में हस्तलिपियों के अनुसार यही रूप पढ़ा जाना चाहिए] ; १४० ; २१९ ; द्वार० ५००, ८ ; एर्त्से० ४३, २९) । माग० में मम (मृच्छ० १२९, ४) के स्थान में जो पद्य में आया है ममँ पढ़ा जाना चाहिए । ममं के अनुकरण में अ०माग० में स्त्रीलिंग का एक रूप ममिं भी बनाया गया है : उसमें ममं वा ममिं वा मिलता है (सूय० ६८०) । क्रम० ३, ७३ के अस्मि और असम्मि के स्थान में अम्हि और अहम्मि पढ़ा जाना चाहिए । महा० और अ०माग में महं विरल है (रावण० १५, ९०; विवाग० २२१) पर यह रूप व्याकरणकारों की दृष्टि से बच गया है, अ०माग० में बहुधा मे होता है जिसका प्रयोग वेद में भी पाया जाता है (आयार० १, १, ६, ५; उत्तर० ३६२ और ७१० ; ठाणग० १५८, ३६० और ३६१ ; कप्प० § १६) । — अप० को छोड़ अन्य सभी प्राकृत बोलियों में करणकारक का रूप मए होता है, अप० में मइँ रूप है (हेच० ४, ३३०, २ ; ३४६ ; ३५६ आदि आदि ; विक्रमो० ५५, १) । जै०महा० में करणकारक के अर्थ मे पाया जाता है (एर्त्से० ७२, १२ ; ८३, ३२ ; माग० में : मृच्छ० ४०, ५ ; माग० में मइ रूप भी है, मृच्छ० ११, १ [यहाँ यह पद्य में आया है]) । — अपादानकारक में अ०माग० और जै०महा० से केवल ममाहिंतो रूप प्रमाणित किया जा सकता है (विवाह० १२४५ ; नायाध० १३२९ ; एर्त्से० ५४, २०) और जै०महा० से ममाओ (आव०एर्त्से० २७, २५ ; द्वार० ४९५, २३) ।— महा० में सम्बन्धकारक में मम का प्रयोग विरल है । हाल के १२३वें श्लोक में इसी ग्रन्थ में अन्यत्र मिलनेवाले रूपों के अनुसार ममं त्ति पढ़ा जाना चाहिए (§ १८२) । इसका परिणाम यह निकलता है कि गउड०, हाल और रावण० में हाल ६१७ के अतिरिक्त मम कहीं नहीं मिलता ; यह महा० में शकु० ५५, १५ में भी मिलता है । महा० में मह, महं, मज्झ, मज्झं और मे काम में आते हैं, अ०माग० और जै०महा० में इनके अतिरिक्त बहुधा मम और ममं भी काम में लाये जाते हैं (विवाग० १२१ और उसके बाद ; उवास० ; भग० ; आव०एर्त्से० १२, २८), शौर० में मम का प्रचलन है (मृच्छ० ९, ७ ; शकु० ९, १३ ; विक्रमो० १६, ५), मह भी पाया जाता है (ललित० ५५४, ७ ; प्रबन्ध० ८३, ६ ; ; १२३, ३ ; वेणी० ११, २५), मे भी काम

में लाया जाता है (मृच्छ० १५, २५ ; शकु० २७, ९ और १० ; विक्रमो० ८, १५), मज्झ भी देखने में आता है, पर मार्क० पन्ना ७० में बताता है कि शौर० के लिए यह रूप निषिद्ध है (कर्पूर० १०, १० ; ५८, १)। यह बोली की परम्परा के विरुद्ध है और मम अथवा मह के स्थान में प्रयुक्त किया गया है ; माग० में मम काम में आता है (मृच्छ १४, १ ; २१, ८ और १२ ; ३०, २५), मह भी चलता है (मृच्छ० ११४, १८ ; वेणी० ३०, १३), मे भी देखने में आता है (मृच्छ० ९, २५ ; १०, ३ और ५ ; वेणी० ३४, २२ ; ३५, २ ; ८ ; १४) ; ढक्की में मम पाया जाता है (मृच्छ० ३१, १ ; ३४, १७), आव० में मह का प्रचलन है (मृच्छ० १०२, २५ ; १०३, २२)। इसी प्रकार दाक्षि० में मह चलता है (मृच्छ १०४, २ और ११), अप० में महु रूप मिलता है (हेच० ४, ३३३ ; ३७०, २ ; ३७९, १; विक्रमो० ५९, १३ और १४), मज्झु भी काम मे आता है (हेच० ४, ३६७, १ ; ३७९, २), जब किसी पद के अन्त में मईं शब्द आता है तो तुक मिलाने के लिए लाचारी मइँ रूप भी देखने में आता है (विक्रमो० ६३, ४)। — जिस प्रकार मज्झ रूप मह्यम् से व्युत्पन्न हुआ है, वैसे ही मह भी उससे निकला है। छंद की मात्राएं ठीक करने के लिए अ०माग० में उत्तरज्झयणसुत्त ४८९ में मे के स्थान मे मि पाया जाता है। जै०महा० मे मुज्झ और मुह अशुद्ध पाठभेद हैं (एर्त्से०)। पै० के यति मं (हेच० ४, ३२३) के स्थान में मद् इमं पढ़ा जाना चाहिए [§ ४१७ की नोटसंख्या ३ में दी हुई शुद्धि अर्थात् तेण हं दिट्ठा के स्थान मे कुमारपालचरित के परिशिष्ट रूप से दिये गये सिद्ध–हेम– शब्दानुशासन के आठवें अध्याय अर्थात् *प्राकृत व्याकरण में के द्वितीय संस्करण में शुद्ध रूप* जेण हं विद्धा दे दिया गया है, किन्तु ४, ३२३ मे अशुद्ध यतिमं ही बना रह गया है। — अनु०]। अधिकरण मे महा० और जै०महा० मे ममम्मि होता है (रावण० ; एर्त्से०) ; शौर० मे मइ मिलता है (मालवि० ४१, १८) ; अप० मे मइँ चलता है (हेच० ४, ३७७)।

१. ये प्रमाण एकवचन के शेष सब कारकों के लिए लागू हैं। इसके अतिरिक्त स्टाइनटाल द्वारा संपादित नायाधम्मकहा मे यह शब्द देखना चाहिए। जहाँ कोई विशेष टिप्पणी न दी गयी हो वहाँ पुराने पाठों में जैसे आयारङ्गसुत्त, सूयगडङ्गसुत्त, उत्तरज्झयणसुत्त और आवश्यक एर्त्सेलुङ्गन मे यही रूप हैं। शौर० और माग० के बहुत कम उद्धरण प्रमाण रूप से दिये गये हैं क्योंकि अधिकांश रूप बार बार आते हैं। शेष सर्वनामों के लिए भी यह लागू है। — २. पिशल, त्सा०डे०डौ०-मौ०गे० ३५, ७१४ में मत।

§ ४१९— कर्त्ता बहुवचन : सब प्राकृत बोलियों में, जिनमे पल्लवदानपत्र भी सम्मिलित हैं (६,४१), अम्हे रूप काम मे लाया जाता है। इसके स्थान मे माग० में अस्मे लिखा जाना चाहिए (§ ३१४) = वैदिक अस्मे : महा० में अम्हे पाया जाता है (गउड० १०७२ ; हाल मे अम्ह शब्द देखिए) ; अ०माग० मे भी इसी का प्रचार है (आयार० २, ६, १, १० , नायाध० § १३७ ; विवाग० २२९ ; सूय० १०१६ ; विवाह० १३४) ; जै०महा० मे यही चलता है (एर्त्से० ३, २८ ; १२, १३ और १९ ;

कालका० २७१, ७); शौर० में इसका ही प्रयोग है (मृच्छ० २०, १८ ; शकु० १६, १२ ; विक्र० ६, १३); माग० में यही काम में आता है (मृच्छ० १५८, २३ ; १६१, १४ और १७ ; १६८, ११ ; वेणी० ३५, २१); अप० में इसका प्रचलन है (हेच० ४, ३७६, १)। अ०माग० में वयं = वयम् भी बहुधा चलता है (आयार० १, ४, २, ५ ; १, ७, १, ५ ; २, १, ९, ११ ; २, २, २, १० ; २, ३, १, १७ ; २, ५, १, १० ; २, ६, १, १० ; सूय० ५८५ ; ६०३ ; ६३३ ; ९३५ ; ९४८ ; ९७२ ; उत्तर० ४३२ ; ४४६ ; ७४८ ; विवाह० ११८० ; दस० ६१३, ११), जै०महा० में भी इसका प्रचार पाया जाता है (कालका० २७०, १)। वररुचि १२, २५ और मार्कंडेय पन्ना ७० में बताते हैं कि शौर० में भी वअं रूप होता है। मृच्छकटिक १०३, ५ में दाक्षि० में भी यह रूप देखा जाता है ; शौर० में यह केवल अशुद्धियों से पूर्ण पाठों में पाया जाता है (मालवि० ४६, १२ ; ४८, १८ में भी)[1]। माग० के विषय में हेमचन्द्र ४, ३०१ में बताता है कि बहुवचन में भी हगे काम में लाया जाता है, जो ४, ३०२ में विक्रान्तभीम से लिए गये एक वाक्यांश [शुणध दाणिं हगे शक्कावयाल-तिस्त-णिवाशी धीवले ॥ —अनु०] को उद्धृत कर के प्रमाणित किया गया है ; अप० में अम्हइँ रूप भी मिलता है (हेच० ४, ३७, ६)। क्रमदीश्वर ५, ११४ में बताया गया है कि पै० में वयं, अम्फ और अम्हे रूप काम में आते हैं। — चंड २, २७ के अनुसार सब कारकों के बहुवचन के लिए मे का प्रयोग किया जा सकता है। — कर्म : महा० में णे = नस्, इसमें अ में समाप्त होनेवाले संज्ञा शब्दों के अन्त में -ए लगता है (§ ३६७ अ) (रावण० ३, १६ ; ५, ४ ; आयार० १, ६, १, ५ [पाठ में ने है] ; सूय० १७४ ; १७६ ; २३१) किन्तु शौर० में णो पाया जाता है (शकु० २६, १२) ; जै० महा० और शौर० में अम्हे भी देखने में आता है (तीर्थ० ५, ३ ; मालती० ३६१, २ ; उत्तररा० ७, ५, वेणी० ७०, ५), माग० में अस्मे है (वेणी० ३६, ५), महा० में अम्ह मिलता है (हाल ३५६) तथा अप० में अम्हे चलता है (हेच० ४, ४२२, १०), हेमचन्द्र ४, ३७६ के अनुसार अम्हइँ भी काम में आता है। — करण : महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में अम्हेहिं रूप पाया जाता है (हाल ५०९ ; नायाध० § १३७ ; आव०एर्से० १६, ६, एर्से० ५, १० ; मृच्छ० २३, २३ ; विद्ध० २७, ४, मालती० २८३, २), महा० में अम्हेहि भी काम में आता है (हाल , रावण), यह रूप पल्लवदानपत्र में भी आया है (६, २९) ; माग० में अस्मेहिं है (मृच्छ० ११, १९ ; २१, ११) ; अ०माग० में णे भी चलता है (आयार० १, ४, २, ३) ; अप० में अम्हेहिँ का प्रयोग होता है हेच० ४, ३७१)। — अपादान : जै०महा० में अम्हेहिंतो पाया जाता है (आव०एर्से० ४७, २०)। — सम्बन्ध : महा० ; जै० महा० और शौर० में अम्हाणं है (हाल ९५१ [पाठ में अम्हाण है] ; एर्से० २, १७, कालका० ; मृच्छ० २, १८ ; १९ ; २४), माग० में अस्माणं चलता है ([पाठों में अम्हाणं है] ; ललित० ५६५, १४ ; मृच्छ० ३१, १५ ; १३९, १३ ; शकु० ११६, २) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० में अम्हं रूप है (हाल ; उत्तर० ३५६ और ३५८ ; विवाग० २२७ और २१८ ; नायाध० § २६ और ११६ ; पेज ४८२ ; ६०९ ;

६१६ ; विवाह० २३३ और ५११ ; आव०एर्त्से० ८, १७ ; १४, १६ ; १७, १७ ; एर्त्से० ६, ३५ ; १२, ३४), महा० और जै०महा० में अम्ह भी काम में आता है (हाल ; आव०एर्त्से० ११, ९ ; १७, ७ ; एर्त्से० ; कालका०)। यह रूप शौर० में भी मिलता है, पर अशुद्ध है (विक्र० ७३, १२), इसके स्थान में पूना संस्करण शुद्ध रूप अम्हे पढ़ा जाना चाहिए और वह भी कर्मकारक में (द्राविड़ी संस्करण में रूप की तुलना कीजिए) माना जाना चाहिए अथवा बम्बइया संस्करण के ११९, ७ के अनुसार अम्हाणं पढ़ा जाना चाहिए। महा० में केवल 'म्ह रूप भी मिलता है (हाल)। अ०माग० और जै०महा० में अम्हं रूप की प्रधानता है। यह रूप पल्लवदानपत्रों में भी पाया जाता है (५, २ ; ७, ४२)। यह संस्कृत के समानान्तर रूप *अस्माम् का जोड़ है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह अस्म- वर्ग का एक रूप है जिसकी समाप्ति अन्त में व्यंजनवाले शब्द की रूपावली की भाँति हुई है और यह सम्बन्धकारक है जब कि अम्हाणं सूचना देता है कि इसका संस्कृत रूप *अस्मानाम् रहा होगा और हेच० ने ४, ३०० में जिस महा० रूप अम्हाहँ और अप० रूप अम्हहँ का उल्लेख किया है (हेच० ४, ३७९ ; ३८० ; ४३९) वह किसी *अस्मासाम् की सूचना देते हैं जिसकी समाप्ति सर्वनाम की रूपावली की भाँति हुई है। अ०माग० रूप अस्माकं के विषय में § ३१४ देखिए। अ०माग० और जै०महा० में अम्हे भी पाया जाता है (सूय० ९६९ ; तीर्थ० ५, ६), शौर० में बहुत अधिक बार णो = नः मिलता है (शकु० १७, ११ ; १८, ८ ; २६, १२ ; विक्र० ५, ११ ; ६, १६ ; १०, ३), अ०माग० में णे रूप चलता (विवाह० १३२ और उसके बाद)। — अधिकरण : शौर० में अम्हेसु रूप पाया जाता है (शकु० २०, १ ; मालवि० ७५, १ ; वेणी० ७०, २)। हेच० ३, ११७ में किसी अज्ञातनाम व्याकरणकार के नाम से उद्धृत और सिंहराजगणिन् द्वारा पन्ना ३२ में उल्लिखित तथा स्वयं हेच० द्वारा ४, ३८१ में अप० बताया हुआ रूप अम्हासु [=अस्मदः। —अनु०] महा० में रावण० ३, ३२ में पाया जाता है।

१. पिशल, त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ३५, ७१६। — २. पिशल, कू० बाइ० ८, १४२ और उसके बाद।

§ ४२०—द्वितीय पुरुष का सर्वनाम।

एकवचन

कर्त्ता— तुमं, तुं, तं [तुह, तुवं] ; ढकी में तुहं ; अप० में तुहुं।

कर्म— तुमं [तुं, तं], ते [तुह, तुवं, तुमे, तुए]; शौर० और माग० में दे भी ; ढकी में तुहं ; अप० में तइँ, पइँ।

करण— तए, तइ, तुए, तुइ [तुमं], तुमए [तुमइ], तुमाइ, तुमे, ते, दे [दि, भे] ; अप० में तइँ, पइँ।

अपादान— तत्तो, तुमाहि, तुमाहिंतो, तुमाओ [तुमाउ, तुमा, तुमत्तो, तइत्तो, तुइत्तो], तुवत्तो [तुहत्तो, तुब्भत्तो, तुम्हत्तो [तुब्भत्तो और तुम्हत्तो

रूपों से कुमाउनी में तु वट (वत) रूप बन गया है। —अनु०], तुज्झत्तो, इनके अतिरिक्त इन सब वर्गों के अन्त में –ओ और –उ लगकर बननेवाले रूप (शौर० और माग० में –दो और –दु लगकर बननेवाले रूप), –हि और –हिंतो वाले रूप, इनके साथ तुमा, तुवा, तुहा, तुब्भा, तुम्हा, तुज्झा, तुम्ह, तुय्ह, तुब्भ [तुज्झ, तहिंतो]; पै० में [तुमातो, तुमातु]; अप० में तुज्झु, तउ, तुध्र]।

संबंध— तव, तुज्झ, तुह, तुहं, तुब्भ, तुब्भं, तुम्ह, तुम्हं, ते, दे [तइ], तु [तुव, तुम], तुमं, तुम्म [तुमे, तुमो, तुमाइ, दि, इ, ए, उब्भ, उय्ह, उम्ह, उज्झ]; शौर० में तुह, दे; माग० में तव, तुह, दे; अप० में तउ, तुज्झु, तुज्झह, तुध्र, तुह।

अधिकरण— तइ, तुमम्मि, तुमे, तुवि, तुइ [तुए, तए, तुमए, तुमाइ, तुम्मि, तुवम्मि, तुहम्मि, तुब्भम्मि, तुम्हम्मि, तुज्झम्मि]; अ०माग० में तुमंसि; शौर० में तुइं, तुइ; अप० में तइँ, पइँ।

बहुवचन

कर्ता— तुम्हे, तुब्भे [तुब्भ, तुम्ह, तुज्झे, तुज्झ, तुय्हे, उय्हे, भे]; अ०माग० में तुब्भे; जै०महा० में तुम्हे, तुब्भे; शौर० और माग० (?) में तुम्हे; अप० में [तुम्हे, तुम्हइँ]।

कर्म— कर्ता जैसा होता है और वो; अ०माग० में भे।

करण— तुम्हेहिं, तुब्भेहिं [तुज्झेहिं, तुय्हेहिं, तुम्मेहिं, उब्भेहिं, उज्झेहिं, उय्येहिं], भे; अ०माग० में तुब्भेहिं, तुमेहिं, तुब्भे, भे; जै०महा० में तुम्हेहिं, तुब्भेहिं; शौर० में तुम्हेहिं; अप० में तुम्हेहिँ।

अपादान—[तुम्हत्तो [इस रूप का कुमाउनी में तुमुँ हाँति हो गया है और कारक बदल गया है। —अनु०], तुब्भत्तो [इसका तुमुँ वट (वत) हो गया है। —अनु०], तुज्झत्तो, तुय्हत्तो, उम्हत्तो, उब्भत्तो, उज्झत्तो, उय्हत्तो, इनके अतिरिक्त इन सब वर्गों के अन्त में –ओ और –उ लगकर बननेवाले रूप (शौर० और मा० में –दो और –दु लगकर बननेवाले रूप), –हि, –हिंतो और –सुंतो वाले रूप]; अप० में तुम्हहँ।

संबंध— तुम्हाणं, तुम्हाण [तुब्भाणं, तुब्भाण, तुज्झाणं, तुज्झाण, तुहाणं, तुहाण, तुवाणं, तुवाण, तुमाणं, तुमाण], तुम्हं, तुम्ह, तुब्भं [तुब्भ, तुज्झं, तुज्झ, तु], भे, वो; अ०माग० में तुब्भं, तुम्हाणं, तुब्भे, भे; जै०महा० में तुम्हाणं, तुब्भं, तुम्ह, तुम्हं; शौर० और माग० में तुम्हाणं; अप० में तुम्हहँ।

अधिकरण—[तुम्हेसु, तुब्भेसु, तुज्झेसु, तुहेसु, तुवेसु, तुमेसु, तुसु [इसका कुमाउनी में तुसुँ और तुमेसु का त्वेसुँ रूप बन गया है], तुम्हसु आदि-आदि, तुम्हासु आदि-आदि, तुज्झिसुं, तुब्भिसुं; अप० में तुम्हासु]।

इस सम्बन्ध में वर० ६, २६–२९ ; चंड० १, १८–२५ ; २, २६ ; हेच० ३, ९–१०४ ; ४, ३६८–३७४ ; क्रम० ३, ५९–७१ ; ५, ११३ ; मार्क० पन्ना ४७–४९ ; ७० ; ७५ ; सिंहराज० पन्ना २६–३० की तुलना कीजिए और § ४१६ ध्यान से देखिए।

§ ४२१—एकवचन : कर्त्ता–ढक्की और अप० को छोड़कर सभी प्राकृत बोलियों में सबसे अधिक चलनेवाला रूप **तुमं** है जो मूल शब्द (वर्ग) **तुम** से निकला है : (महा० में गउड० ; हाल ; रावण० ; अ०माग० में, उदाहरणार्थ, आयार० १,५,५,४ [**तुमं सि** पढ़िए] ; उवास० ; कप्प० ; जै०महा० में, उदाहरणार्थ, आव०एर्त्से० ८, ३३ ; १४, २९ ; एर्त्से० ; कालका० ; शौर० में, उदाहरणार्थ, ललित० ५६१, ५ ; ११ और १५ ; मृच्छ० ४,५ ; शकु० १२,८ ; माग० में, उदाहरणार्थ, ललित० ५६५, १५ ; मृच्छ० १९,८ ; प्रबोध० ५८,१ ; मुद्रा० २६७,१ ; आव० में मृच्छ० ९९,१८ और १९ ; १०१, २३ ; १०३, २ ; दाक्षि० में मृच्छ० १०१, १० और २१ ; १०३, १७ और १८)[१]। अ०माग० में कर्त्ताकारक रूप में **तुमे** आता है, ऐसा दिखाई देता है (नायाध० § ६८ **तुमं** के विपरीत § ७० ; पेज ४४८ और ४५०) जिसका सम्बन्ध **तुमं** से होना चाहिए जैसा माग० रूप **हगे** का सम्बन्ध अहकं से है (§ ४१७)। महा० में **तं** का प्रयोग बहुत अधिक है (गउड० ; हाल ; रावण०), यह रूप अ०-माग० में भी दिखाई देता है (उत्तर० ६३७ ; ६७० ; ६७८ ; ७१२) और जै०महा० में भी (ऋषभ० ; एर्त्से०) किन्तु पद्य में आया है ; इसके साथ साथ बहुत कम **तुं** भी दिखाई देता है (हाल ; शकु० ७८, ११, बोएटलिंक का संस्करण)। ढक्की में **तुहं** रूप पाया जाता है (मृच्छ० ३४, २४ ; ३५, १ और ३ ; ३९, ८), अप० में **तुहुँ** का प्रचार है (हेच० में **तु** शब्द देखिए , पिंगल १,४ आ) जिसकी व्युत्पत्ति **त्वकम्** से है (§ २०६)[२]। पिंगल १,५ आ में **तइँ** दिया गया है (गौल्दश्मित्त **तइं** देता है, पाठ में **तइ** है [अनुवादक के पास प्राकृतपिङ्गलसूत्रम् का १८९४ का बबई से प्रकाशित जो सस्करण है उसमें यह रूप १,५ अ में मिलता है, ५ आ में नहीं, जैसा पिशल ने बताया है। वह पद इस प्रकार है 'तइ इथि णदिहि सँतार देइ जो चाहसि सो लेहि।' —अनु०] ; विक्र० पेज ५३० में बौँल्लें नसेन की टीका की तुलना कीजिए) जिसका व्यवहार कर्त्ता-कारक में हुआ है। —कर्म : उक्त सब प्राकृत बोलियों में **तुमं** का प्रयोग कर्त्ताकारक की भाँति कर्मकारक में भी होता है (शौर० में : मृच्छ० ४,९ ; शकु० ५१,६ ; विक्र० २३, १ ; माग० में : मृच्छ० १२, १० ; मुद्रा० १८३, ६) ; ढक्की में **तुहं** रूप काम में आता है (मृच्छ० ३१, १२) ; अप० में **तइँ** रूप का प्रचलन है (हेच० ४, ३७०) और **पइँ** भी देखने में आता है (हेच० ४, ३७० , विक्र० ५८, ८ ; ६५, ३)। **प** के विषय में § ३०० देखिए। **ते** अ०माग० में कर्मकारक है (उवास० § ९५ और १०२ ; उत्तर० ३६८, ६७७ ; ६९६), शौर० में भी इसका यही रूप है (मृच्छ० ३, १३) और शौर० में **दे** भी काम में आता है (मृच्छ० ५४, ८) तथा माग० में भी इसी का प्रयोग किया जाता है (मृच्छ० १२८, १२ और १४)[३]। — करण : महा० में **तइ**, **तए**, **तुइ**, **तुए**, **तुमए**, **तुमाए**, **तुमाइ** और **तुमे** रूप पाये जाते हैं (गउड० ; हाल ;

रावण०) ; जै०महा० में तए, तुमए और तुमे चलते हैं ; अ०माग० में तुमे आता है (उवास० § १३९ और १६७ में, इसी ग्रन्थ में अन्यत्र आये हुए रूप के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) ; शौर० में तए का प्रचार है (ललित० ५५४, ६ ; ५५५, ५ ; शकु० १२, १२ ; रत्ना २९९, १ और २), तुए भी चलता है (मृच्छ० ७, ५ ; विक्र० २५, ५ ; महावीर० ५६, ३) ; माग० मे तए रूप पाया जाता है (ललित० ५६६, ४), तुए भी काम मे लाया जाता है (मृच्छ० ३१, २३ और २५ ; वेणी० ३४, ३ ; प्रबोध० ५०, ९)। इस सम्बन्ध मे नाटक कभी कुछ और कभी कुछ दूसरा रूप देते हैं ; मृच्छकटिक, विक्रमोर्वशी, वेणीसंहार तथा अधिकांश दूसरे नाटकों में तुए रूप पाया जाता है (विक्र० ४२, ६ में तुए रूप देकर उसका संशोधन किया जाना चाहिए), शकुन्तला और रत्नावली में तए दिया गया है। हस्तलिपियाँ एक ही स्थान में कभी कुछ और कभी कुछ देती हैं, महा० और आव० में भी तुए रूप मिलता है (मृच्छ० १०२, १ ; १०३, २ ; १०५, १), दाक्षि० में भी तुए पाया जाता है (मृच्छ० १०१, २५) और तए रूप भी देखा जाता है (१०५, ४), किन्तु इस स्थान में गौडबोले के संस्करण पेज २९९, ५ शुद्ध रूप तुए दिया गया है। — ते और दे सर्वत्र सम्बन्धकारक मे माने जाने चाहिए। कभी कभी, किन्तु, इसे करणकारक में मानना आवश्यक जान पड़ता है जैसे, शौर० में मृच्छ० ६०, २४ में ण हु दे…साहसं करेंतेण… आचरिदं = न खलु त्वया… साहसं कुर्वता… आचरितम् है अथवा अधिक सम्भव यह भी है कि जैसा शौर० मे मृच्छ० २९, १४ में सुट्ठु दे जाणिदं = सुष्ठु त्वया ज्ञातम् हो, २७, २१ और २८, २४ से तुलना करने पर उक्त वाक्यांश सुट्ठु तुए जाणिदं हो। अप० में तइँ और पइँ काम में आते हैं (हेच० ४, ३७० ; ४२२, १८ ; विक्र० ५५, १८ ; ५८, ९)। कर्मकारक में भी ये ही रूप हैं। — अपादान : महा० मे तुमाहि, तुमाहिंतो और तुमाओ रूप चलते हैं (गउड०; हाल), शौर० में तत्तोत्वत्तः है (शकु० ९,१०), तुवत्तो रूप भी पाया जाता है (मल्लिका० २१९, ८) और इसमें नाममात्र सन्देह नहीं कि यह एकवचन मे है किन्तु यह रूप शौर० बोली के प्रयोग के विपरीत है जिसमे तुम्हाहिंतो रूप चलता है (कर्पूर० ५३, ६ ; विद्ध० ७१, ६ , ११३, ६) , पै० मे तुमातो और तुमात्तु रूप हैं (हेच० ४, ३०७ ; ३२१)। — सम्बन्ध : महा० मे तुह, तुहं, तुज्झ, तुज्झं, तुम्हं, तुम्म, तु, ते और दे रूप काम में आते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०) ; अ०माग० मे तव, ते, तुब्भं और तुहं रूपों का प्रचार है (उत्तर० ४४४ और ५९७ और उसके बाद), तुमं भी पाया जाता है (आयार० १, ३, ३, ४ ; उत्तर० ३५८) ; जै०महा० मे तुह, तुम्ह, तुज्झ, तव और तुज्झं रूप प्रयोग में आते है (आव०एर्त्से० ७, ११ ; २२, ५), तुहं रूप भी चलता है (आव० एर्त्से० ७, ३३ ; १२, १४) , शौर० में तुह काम मे आता है (ललित० ५५४, ५ ; मृच्छ० २२, २५ ; शकु० १५, १ ; विक्र० २६, ९), शौर० मे ते रूप केवल मृच्छ० ३, १६ में मिलता है (इसी ग्रन्थ में अन्यत्र दे भी पाया जाता है ; ८०, २० ; विक्र० २४, ७, अन्यथा सर्वत्र और सदा दे रूप आया है (§ १८५), कहीं-कहीं ते मिलता है

जो रूप अशुद्ध हैं'। बोली के व्याकरण के विरुद्ध तव तथा तुज्झ रूप भी देखने में आते हैं। विक्रमो० २७, २१ में तव का प्रयोग पाया जाता है, किन्तु हस्तलिपियाँ बी. और पी. (B. P.) इस स्थान में तुह रूप देती हैं। यही रूप बंबइया संस्करण ४८, ५ में छापा गया है; मृच्छ० १७, २१ तथा २४, ३ में भी यह रूप आया है। यहाँ शकार के शब्द दुहराये गये हैं; १३८, २३ में भी तव आया है। यहाँ संस्कृत शब्द उद्धृत किये गये हैं; १५१, २१ में भी सम्बन्धकारक में यह आया है। रत्नावली की पहली (= पुरानी) प्रतियों में जहाँ-जहाँ तव अथवा तुह दिये गये थे कापेलर ने वहाँ-वहाँ तुह पाठ पढ़ा है, इस कारण रत्नावली में केवल तुह (२९४, २१; २९९, ३; ३०५,८ ३०९,६, ३१३,१२ और २७; ३१८,२६) और दे रूप हैं। प्रबोधचन्द्रोदय ३७, १४ और ३९, ५ में छपे संस्करणों के तुध और तुअ के स्थान में तुह पढ़ा जाना चाहिए, जैसा बंबइया संस्करण में ३९, ५ के स्थान में छापा गया है। नाटकों में तुज्झ रूप शुद्ध है; मृच्छ० १००, ११ (आव०); १०४, १ (दाक्षि०); १७ (आव०); शकुन्तला ५५, १५ (महा०); नागानन्द ४५, ७ (महा०); शौर० में यह रूप केवल शकु० ४३, ९ में देखा जाता है जो वास्तव में अशुद्ध। इस विषय में ललितविग्रहराज नाटक ५५४, ४; कर्पूर० १०, ९; १७, ५; नागानन्द ७१, ११; कर्णसुन्दरी ५२, १३ तथा अन्य भारतीय संस्करण ध्यान देने योग्य नहीं माने जा सकते। *इसके विपरीत माग० में अ०माग० और जै०महा० की भाँति तव रूप मिलता* है (मृच्छ० १२, १९; १३, ९; १४, १; ११, ३; २२, ४ आदि-आदि; शकु० ११६, ११), ते भी पाया जाता है (मृच्छ० ३१, १७; ११३, १), इस पर ऊपर लिखी बात लागू होती है, अन्यथा दे रूप बहुत अधिक आता है (उदाहरणार्थ, मृच्छ० २१, २२, शकु० ११३, ७, मुद्रा० १८४, २)। इस प्राकृत बोली में तुज्झ रूप अशुद्ध है (मृच्छ० १७६,६, इसके स्थान में गौडबोले द्वारा सम्पादित संस्करण के ४७८, १ में छपे तुए रूप के साथ यही शुद्ध रूप पढ़ा जाना चाहिए; नागा० ६७, १; इसके स्थान में भी कलकतिया संस्करण के ६३, १ के अनुसार ते [दे] पढ़ा जाना चाहिए; प्रबोध० ५८, १७, इस स्थान में *ब्रौकहौस ने केवल उज्झ रूप दिया है और* इसी ग्रन्थ में अन्यत्र पाया जानेवाला रूप तुह पढ़ा जाना चाहिए); ढक्की में तुह रूप चलता है (मृच्छ० ३९, ५), अप० में तउ और तुज्झु रूप काम में आते हैं (हेच० ४, ३६७, १; ३७०, ४, ३७२; ४२५), साथ ही विचित्र रूप तुध्र का भी प्रचलन है (हेच० ४, ३७२), तुज्झह भी देखा जाता है (विक्र० ७२, १०; इस पर बौ ल्लें नसेन की टीका देखिए), तुह भी मिलता है (हेच० ४, ३६१; ३७०, १; ३८३, १; पिंगल १, १२३ अ), तुम्ह भी आया है (पिंगल १, ६० अ), पद्य में जुज्झे = युधि के साथ तुक मिलाने के लिए तुज्झे रूप भी आया है (पिंगल २, ५; [यहाँ जुज्झे तुज्झे सुभं देऊ = (शुभु) 'तुझे शुभ अर्थात् कल्याण देवे' है, जिससे पता चलता है कि यह तुज्झे = तुझे है। —अनु०])। अ०माग० में तुब्भं = तुभ्यम् है, तुह, तुज्झ और तुम्ह रूपों से यह निदान निकलता है कि इनका रूप कभी *तुह्यम् (मह्यम् की तुलना कीजिए) रहा होगा।

इससे **तुम्म, तुय्ह** और **उय्ह** रूप आविष्कृत हुए, जो बहुवचन में दिखाई देते हैं[1]। तुह्य और उय्ह या तो माग० से अथवा माग० से सम्बन्धित किसी प्राकृत बोली से निकलने चाहिए (§ २३६ और ३३१)। — अधिकरण : महा० में **तइ, तुवि तुमम्मि** और **तुमे** काम में आते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०) ; अ०माग० में **तुमंसि** रूप मिलता है (निरया० § १५) ; जै०महा० में **तइ** और **तुमम्मि** रूप काम में आते हैं , शौर० में **तइ** चलता है (विक्र० ३०, ३ ; ८४, ४), **तुइ** भी पाया जाता है (मालवि० ४१, १९ ; वेणी० १३, ८ [कलकत्ते के १८७० के संस्करण के पेज २६, ५ के अनुसार यही रूप पढा जाना चाहिए]) ; अप० में **तइँ** और **प** रूप देखे जाते हैं जैसा कर्म- और करणकारकों में पाये जाते हैं (हेच० ४, ३७०) । ऋषभपंचाशिका और जै०महा० में भी धनपाल ने **पइँ** और **पइं** रूपों का व्यवहार किया है[2]।

१. § ४१८ की नोटसंख्या १. देखिए। — २. विक्रमोर्वशी, पेज ५२८ में बौॅल्लेॅनसेन ने **तूहु** रूप दिया है और पेज ५२९ के नोट में इसे **तुम्हं** से व्युत्पन्न किया है। — ३. पिशल, गो० गे० आ० १८७७, १०६६ ; बे०बाइ० ३, २५० का नोट ; त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ३५, ७१४ । — ४. होएर्नले, उवासगदसाओ, अनुवाद, नोट २६२ । — ५. बोएटलिंक द्वारा संपादित शकुंतला के संस्करण में १०७, १३ में वाक्य के आरम्भ में ही दे रूप अशुद्ध है, यह तथ्य विक्रमोर्वशी १७६ में बौॅल्लेॅनसेन ने ताड लिया था। — ६. यारटेलिग १०२ में कर्न का कुछ दूसरा मत है ; ए० म्युलर, बाइत्रैगे ५५, नोटसंख्या १। — ७. ब्लाख, त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ३३, ४४८ ।

§ ४२२—बहुवचन : कर्त्ता- अ०माग० को छोड़ और सभी प्राकृत बोलियों में काम में आनेवाला रूप **तुम्हे** = ***तुष्मे** है : महा० में यह रूप है (हाल, रावण०) ; जै०महा० में (एत्सें०) ; शौर० में भी है (मृच्छ० २४, १५ ; ७०, १९ ; शकु० १०६, २ ; १०९, ७) ; माग० में यह चलता है (मृच्छ० १६, १९ , १४९, १७) ; यह अप० में भी आया है (हेच० ४, ३६९) । माग० में ***तुस्मे** अथवा **तुय्हे** रूप भी शुद्ध हो सकता है। बहुवचन के अन्य कारकों में यही वर्ग, इस प्राकृत बोली के लिए यह सूचित करते हैं कि इसके ये रूप हैं जिनमें इस समय के संस्करणों में **म्ह** आया है। अ०माग० में सदा **तुब्भे** रूप मिलता है जो = अशोक के शिलालेखों के **तुफे** के (आयार० १, ४, २, ४ ; २, ३, ३, ५ और ७ , सूय० १९२ , १९४ , ७८३ ; ९७२ ; विवाह० १३२ और २३२ , नायाध० [इसमें § १३८ भी सम्मिलित है जिसमें **तुम्हे** के स्थान में इसी ग्रन्थ में अन्यत्र आया हुआ रूप **तुब्भे** पढा जाना चाहिए], उवास० ; कप्प० ; निरया०) । अनादरसूचक सम्बोधन में **तुमाइं** का प्रयोग किया जाता है (आयार० २, ४, १, ८) । जै०महा० में **तुम्हे** के साथ-साथ **तुब्भे** रूप भी चलता है (आव०एर्त्से० १४, २८ और ३० ; ४१, २२ ; एर्त्से० ; कालका०), हेच० ४, ३६९ के अनुसार अप० में **तुम्हइँ** भी होता है [भंडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ के दूसरे संस्करण में यह रूप **तुम्हइं** दिया गया

है, जो शुद्ध नहीं जान पड़ता। — अनु०], क्रम० ५, १३ के अनुसार पै० में तुम्फ, तुप्फ और तुम्हे रूप चलते हैं। — कर्म तुम्हे : महा० में तुम्हे पाया जाता है (रावण० ३, २७); शौर० मे यही रूप मिलता है (मृच्छ० २४, १७; नागा० ४८, १३); जै०महा० में तुम्भे रूप चलता है (द्वार० ४९७ ; १८ ; ४९८, ३८) और तुम्हे भी पाया जाता है (तीर्थ० ५, ३) ; अ०माग० में भी तुब्भे रूप ही देखा जाता है (उवास०) और दूसरा भे' मिलता है जो तुब्भे की ध्वनिबलहीनता के कारण उससे ही निकला है (नायाध० ९३८ ; ९३९ ; उत्तर० ३६३) ; हेच० ४,३६९ के अनुसार अप० में तुम्हे और तुम्हइँ रूप होते हैं। —करण : महा० में तुम्हेहि पाया जाता है (हाल ४२०); अ०माग० में तुब्भेहिं आया है (विवाग० १७ ; उत्तर० ५७९ [पाठ में तुब्भेहिं है]; उवास० ; कप्प० ; नायाध० में यह रूप देखिए ; पेज ३५९ ; ३६१ ; ३६३ ; ४१९ आदि-आदि)। इस प्राकृत मे तुम्हेहिं रूप भी देखा जाता है (नायाध० ४५४, यदि यह पाठभेद शुद्ध हो तो), तुब्भे भी है (सूय० ९३२) और भे का भी प्रचार है (आयार० १, ४, २, ४ ; नायाध० १२८४ और १३७६ [पाठ में ते है]); जै०महा० में तुम्हेहिं मिलता है (एर्त्से०), तुब्भेहिं भी आया है (आव०एर्त्से० ; ११, २६ ; १८, २७ ; एर्त्से०); शौर० में भी तुम्हेहिं है (महावीर० २९, ४ ; विद्ध० ४८, ५); अप० में तुम्हेहिँ रूप हो गया है (हेच० ४, ३७१)। — सम्बन्ध : सब प्राकृत बोलियों में इसका रूप तुम्हाणं पाया जाता है ; महा० मे यह रूप चलता (हाल ६७६ ; पाठ मे तुम्हाण है); अ०माग० में भी इसका प्रचार है (सूय० ९६४) ; जै०महा० में भी यही पाया जाता है (एर्त्से० ; कालका०); शौर० में भी (ललित० ५६८, ५ ; मृच्छ० १७, २३ ; विक्र० ४८, ४ ; मालती० २८५, २); माग० मे यही रूप देखा जाता है (ललित० ५६६, ९ ; शकु० ११८, ४ ; मुद्रा० १७८, ४ ; २५८, ४)। महा० में बहुधा तुम्ह भी काम में आता है (रावण०) ; अ०माग० में प्रधान रूप तुब्भं है (सूय० ९६७ ; १०१७ ; नायाध० § ७९ ; पेज ४५२ और ५९० ; उत्तर० ३५५ ; विवाह० १२२४ ; विवाग० २० और २१ ; उवास० ; इसी प्रकार कप्प० § ७९ में, इसी ग्रन्थ में अन्यत्र आये हुए तुब्भं के साथ, तुम्हं के स्थान में यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) और अ०माग० मे बहुधा भे भी आता है (आयार० १, ४, २, ६ ; २,१,५,५ ; ९, ६; सूय० २८४ ; ७३४ ; ९७२ ; नायाध० ९०७ ; उत्तर० ५० ; विवाह० १३२)। यह रूप जै०महा० में भी है (आव०एर्त्से० २४,८ और १२)। महा० और शौर० मे बहुधा वो = वः भी काम में आता है (गउड० ; हाल ; रावण० ; शकु० २०, ७ ; ५२,१५ ; विक्र० ५१, १६) ; पल्लवदानपत्र में भी यह रूप आया है (७, ४६)। अन्य प्राकृत बोलियों में तथा मृच्छकटिक में मुझे यह रूप नहीं मिला। आवश्यक एर्त्सेलुगन ४१, १८ में केण भे किं गहियं पढ़ा जाना चाहिए। अप० मे तुम्हहँ है (हेच० ४, ३७३)। हेमचन्द्र ४, ३०० के अनुसार मद्दा० में तुम्हाहँ भी पाया जाता है। अधिकरणकारक के किसी रूप के प्रमाण और उद्धरण मुझे नहीं मिले हैं। मार्कण्डेय पन्ना ४८ और उसके बाद में यह उल्लेख

मिलता है कि **तुज्झसुं** और **तुब्भसुं** रूप शाकल्य[1] ने बताये हैं और इनका जनता ने स्वागत नहीं किया। हेमचद्र ४, ३७४ के अनुसार अप० में **तुम्हहँ** रूप चलता है। चंड० २, २६ के अनुसार भे बहुवचन के सभी कारकों में काम में आता है। कर्म-, करण- और सम्बन्धकारकों में इसके प्रमाण मिलते हैं। सिंहराजगणिन् के ग्रन्थ की हस्तलिपियों में ब्भ (ज्झ) के स्थान में ह्ह लिखे जाने के सम्बन्ध में पिशल के डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस का पेज ३ देखिए।

१. भे = संस्कृत शब्द भो के नहीं है (वेबर, भगवती १, ४०४ ; नोटसंख्या ४ ; लौयमान, औपपातिक सुत्त में यह शब्द देखिए)। यह तथ्य ए० म्युलर ने पहले ही देख लिया था (बाइत्रेगे, पेज ५५)। — २. पिशल, डे ग्रामाटिकिस प्राकृतिकिस, पेज २ और उसके बाद।

§ ४२३—**स**- वर्ग में से प्राचीन संस्कृत की भाँति केवलमात्र कर्ता एकवचन पुलिंग और स्त्रीलिंग रूप ही रह गये हैं, प्रत्युत बोलियों के भीतर अन्य कारक भी रह गये हैं। ये रूप कई अंशों में ईरानी भाषाओं[1] से मिलते जुलते हैं। एकवचन : कर्ता पुलिंग में महा०, जै०महा०, जै०शौर०, शौर०, आव०, दाक्षि० और पै० में **सो** रूप है (हाल में **स**- शब्द देखिए ; गउड० ; रावण० ; एर्त्से० ; ऋषभ० में **त**- शब्द देखिए ; कालका० में **तद्** शब्द देखिए ; जै०शौर० के लिए : पव० ३८०, ७ ; ३८१, १६ और २१ ; कत्तिगे० ३९८, ३०२ ; ३९९, ३१२ ; शौर० के लिए : ललित० ५५५, १ ; ५६०, १९ ; मृच्छ० ६, ८ ; शकु० ५२, ५ ; विक्र० १०, २ ; आव० के लिए : मृच्छ० ९९, १६ ; १०१, ६ ; दाक्षि० के लिए : मृच्छ० १००, ५ और ९ ; पै० के लिए : हेच० ४, ३२२ ; ३२३)। कभी-कभी और बहुत कम **स** रूप भी देखने में आता है (हेच० ३, ३ ; पल्लवदानपत्र ७, ४७ ; महा० के लिए : रावण० ११, २२ [किन्तु यहाँ सी. (C) हस्तलिपि के अनुसार **व** = **च** पढ़ा जाना चाहिए] ; अ०-माग० के लिए : आयार० १, ५, ५, ४ [यहाँ **स च्चेव** पढ़ा जाना चाहिए] ; उत्तर० ३६१ [**स एसो** और इसके साथ-साथ **एमो हु सो** ३६२ में आया है] ; जै०महा० के लिए : एर्त्से० ६, ३६ ; कालका २५८, ४) ; शौर० के लिए ; मृच्छ० ४२, ११ [यह पाठ केवल अ (A) हस्तलिपि में पाया जाता है] ; ६३, १८) ; अ०माग० में **से** रूप चलता है (आयार० १, १, १, ४ और उसके बाद ; उवास० ; नायाध० ; कप्प० में **त**[1] शब्द देखिए) ; माग० में **शे** पाया जाता है (ललित० ५६५, ६ ; मृच्छ० १९, १७ ; शकु० ११४, २) ; अप० में **सु** और **सो** रूप चलते हैं (हेच० में बार-बार ये रूप दिये गये हैं)। अ०माग० में आयारंगसुत्त १, १, १, ४ में **सो** रूप अशुद्ध है। यह रूप इसी प्राकृत बोली में अन्यत्र गद्य में भी मिलता है (§ १७)। लिंगपरिवर्तन के अनुसार (§ ३५६ और उसके बाद) अ०माग० में लेखकों ने लिखा है **से दिट्ठं च णे** = तद् दृष्टम् च नः ; **से दुद्दिट्ठं च मे** = तद् दुर्दृष्टम् च यः है (आयार० १, ४, २, ३ और ४) ; माग० में यह वाक्यांश मिलता है **एशे शे दुश्शामके** = एतत् तद् दुश्नामकम् है (मृच्छ० ११, १), **शे मुण्डे** = तन् मुण्डम् है (मृच्छ० १२२, ७), **एशे शे शुवण्णके** = एतत् तद् सुवर्णकम् (मृच्छ०

१६५, ७), शे कम्म = तत् कर्म है (शकु० ११४, ६) ; अप० में सो सुक्खु = तत् सौख्यम् है (हेच० ४, ३४०, १)। — कर्म : अ०माग० में ये (§ ४१८) और ते (§ ४२१) के जोड़ का से रूप मिलता है जो से स' एवं वयन्तं = स तम् एवम् वदन्तम् में आया है (आयार० २, १, ७, ८ ; ९, ६), जब कि से स' एवं वयन्तस्स (आयार० २, १, २, ४ , ६, ४ ; ७, ५ ; ९, २ ; २, ५, १, ११ ; २, ६, १०) में दूसरा से सम्बन्धवाचक है, इसलिए यह वाक्यांश श = स तस्यैवम् वदतः है , अप में सु आता है (हेच० ४, ३८३, २ , पुलिंग में), सो भी चलता है (पिंगल १, ५ अ ; नपुसकलिंग में)। — करण : अ०माग० में से रूप पाया जाता है (सूय० ८३८ ; ८४८ ; ८५४ , ८६०)। — सम्बन्ध : महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में से रूप मिलता है, माग० में यह शे हो जाता है, यह रूप भी मे और ते के समान ही पुलिंग और स्त्रीलिंग दोनों में काम में आता है (वर० ६, ११ ; चड १, १७ ; हेच० ३, ८१ ; क्रम० ३, ४८ , सिंहराज० पन्ना २२ ; शौर० पुलिंग के लिए : मृच्छ० १२, २४ ; शकु० ३७, १० ; विक्र० १५, १० , स्त्रीलिंग : ललित० ५६१, ९ ; मृच्छ० २५, ८ , शकु० २१, २ ; विक्र० ४६, १ ; माग० पुलिंग के लिए : मृच्छ० ३६, १० ; १६१, ७ , स्त्रीलिंग : मृच्छ० १३४, ८ , वेणी० ३४, १२) ; अ०माग० और जै०महा० में छद की मात्राएं पूरी करने के लिए सें रूप भी पाया जाता है (दस० ६३३, १७ ; ६३५, ४ , आव०एत्सें० ८, २ और १६) और अ०माग० में सि भी देखा जाता है (सूय० २८२)[१]। — बहुवचन : कर्ता– अ०माग० में से रूप मिलता है (आयार० १, ४, २, १ [कलकतिया संस्करण में ते है] , सूय० ८५९) ; माग० में शे रूप है (मृच्छ० १६७, १)[२]। — कर्म : जै०शौर० में से रूप पाया जाता है (पव० ३८८, ४ , साथ-साथ कर्त्ताकारक में ते आया है)। — सम्बन्ध : जै०महा० में से रूप है (चड० १, १७ ; हेच० ३, ८१ ; सिंहराज० पन्ना २२ ; कालका० २७३, २९ , § ३४ की तुलना कीजिए) और सिं रूप भी पाया जाता है (वर० ६, १२, हेच० ३, ८१ , सिंहराज० पन्ना २२)। — सबोधन : अ०माग० में से रूप आया है (आयार० १, ७, २, १)। जैसा अथर्ववेद १७, १, २० और उसके बाद ५, शतपथब्राह्मण में (बोएटलिंक और रोट के संस्कृत-जर्मन कोश में पेज ४५२ में स शब्द देखिए), पाली सचे (= यदि) स में और सेंय्यथा से में उसी भाँति अ०माग० से में यदि यह रूप सर्वनाम अथवा सर्वनाम से बने क्रिया विशेषण से पहले आये तो इसके कारण अर्थ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके बाद यदि त– सर्वनाम का त् आये अथवा य का ज् रहे तो ये द्वित्त कर दिये जाते हैं। इसके अनुसार अ०माग० में सेंत्तम् मिलता है (आयार० २, १, १, २ ; ४, ४ ; ५, २ , ५ , २, ३, १, १४ , २, ४, २, ७ और ८ , जीवा० ३६ और उसके बाद ; ३१६ और उसके बाद, विवाह० १६० और ५९६ , पण्णव० ७ और उसके बाद; ६३; ४८०) ; से तं रूप भी देखने मे आता है (आयार० १, २, ५, ५ ; कप्प० टी.एच. (T. H.) § ७–९) ; से तेण अट्ठेणं भी पाया जाता हैं (विवाह० ३४ और उसके बाद : २७ और उसके बाद) , से ज्ज भी है (आयार० १, २, ६, ५ , २, १, १,

१ ; ४ और ११ ; २, १, २, ३ ; ३, ४ और उसके बाद ; २, ३, १, २ और उसके बाद ; २, ७, २, २ और उसके बाद) ; **से ज्जाइं** आया है (आयार० १, २, १, १४ ; २, २ ; ३, १० ; २, ५, १, ४); **से ज्जाण' इमानि** पाया जाता है (आयार० २, २, २, १०) , **से ज्जे इमे** (ओव० § ७० ; ७१ ; ७३ और उसके बाद) ; **से जाओ** चलता है (आयार० २, १, १, ३ ; ओव० § ७२) ; **से जं** (आयार० १, १,१, ४) ; **से किं तम्** (अणुओग० ३५६; नन्दी० ४७१ ; पण्णव० ६२ और ४८०; ओव० § ३० ; कप्प० टी. एच. (T. II.) § ७–९) ; **से के णं** देखा जाता है (नायाध० § १३८) ; **से कहं पयं** भी है (विवाह० १४२) ; **से केइ** मिलता है (सूय० ३०१) और **से किं तु हु** आया है (सूय० ८४६), पाली **सेय्यथा** के नियम के विपरीत अ०माग० में जहां का **ज्** से के बाद कभी द्वित्व नहीं किया जाता; **से** जहाँ बार बार आया है (आयार० १, ६, १, २ ; सूय० ५९३ और उसके बाद ; ६१३ ; ७४७ ; विवाह० १३४ ; १६१ और उसके बाद ; २७० ; ९२९ ; उवास० § १२ और २१० ; ओव० § ५४ ; नायाध० § १३३) । टीकाकार बताते हैं कि **से** का अर्थ **तद्** ; उदाहरणार्थ शिलांक[1] ने आयारंगसुत्त के पेज २३० में बताया है **से–त्ति तच्छब्दार्थे** और पेज ३०० में लिखा है **सेशब्दस् तच्छब्दार्थे स च वाक्योपन्यासार्थः** : यह स्पष्टीकरण चाइल्डर्स[1] और वेबर[2] के स्पष्टीकरण से शुद्ध है [हिन्दी में **जो है सो** का मुहावरा कोई विशेष अर्थ नहीं रखता किन्तु बोलते समय काम में आता है ; उल्लिखित **वाक्योपन्यासार्थः** से उपन्यास की व्युत्पत्ति और उसका शुद्ध प्रयोग स्पष्ट होता है अर्थात् **उप = निकट** और **न्यास न्यस्** से निकला है, जो शब्द कोई अर्थ नहीं रखता तथा वाक्य सजाने के काम में आता है। वह वाक्योपन्यासार्थ है। हिन्दी में उपन्यास कहानी की पुस्तक का वाचक बन गया है। मराठी में अंगरेजी शब्द **नौवेल** का **नवल कथा** रूप **उपन्यास** के लिए काम में आता है। कोश में भी कहा गया है **उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्** , इसका अर्थ है कि उपन्यास भूमिका को कहते हैं। अस्तु, हिन्दी उपन्यास शब्द उस पदार्थ का द्योतक किसी प्रकार नहीं है, जिसके लिए यह प्रयुक्त होता है। वास्तव में यह बिना सोचे समझे बंगला से हिन्दी में ले लिया गया है। —अनु०] । प्राकृत में **त्** और **ज्** का तथा पाली **सेय्यथा** में **य्** का द्वित्तीकरण बताता है कि हमें **से** को अ०माग० का कर्त्ताकारक का रूप **से** नहीं मानना चाहिए। यह तथ्य पाली भाषा में **से** के प्रयोग से असम्भव बन जाता है। यदि यह आशय[2] न भी हो तो ; **से** बहुत करके = वैदिक **सेद्** अर्थात् **सं + इद्** है, जिसका उपयोग ठीक और सब प्रकार से **सं** की भाँति होता है। इसका प्रमाण ऋग्वेद ४,३७,६ में मिलता है : **सेद् ऋभवो यं अवथ यूयम् इन्द्रश् च मर्त्यम्। स धीभिर् अस्तु सनिता मेधसाता सो अर्वता**, जिसमें **सेद् यं सं** = अ०माग० **से ज्जं से** है (= हिन्दी **जो है सो**)। इसका अर्थ यह हुआ कि पाली **सेय्यथा** और **सचे** ९ से अ०माग० रूप **सेत्तं**, **सेज्जं** आदि रूप अधिक अच्छे हैं।

१. वाकरनागल, कू०त्सा० २४, ६०० और उसके बाद। वेद में अधिकरण-कारक का रूप **सस्मिन्** भी पाया जाता है। — २. यह § ४१८, नोटसंख्या

१ में कथित बातों के लिए लागू है। — ३. यह से है, इसलिए बोएटलिंक द्वारा संपादित शकुंतला २५, ६ और (§ ४२१, नोटसंख्या ५) दे पाठभेद अशुद्ध हैं। — ४. शो सम्बन्धकारक एकवचन नहीं हो सकता क्योंकि पेज १६६, २४ के अनुसार दोनों चाण्डाल बोलते हैं। कलकत्ते के छपे संस्करण (कलकतिया संस्करण १८२९, २१६, १० ; शकुंतला का कलकतिया संस्करण १७९२, ३५७, १) और गौडबोले का संस्करण, पेज ४५२,६ मे एशो छपा है, जो प्राचीन कलकतिया संस्करण और गौडबोले के संस्करण मे एते द्वारा अनुवादित किये गये हैं और यह अर्थ शुद्ध है। — ५. अबतक यह तथ्य किसी के ध्यान में नहीं आया था, स्वयं डेलब्रुक के आल्ट इंडिशे सिन्टाक्स, पेज १४० मे इसका उल्लेख नहीं है। — ६. पाली-कोश में स शब्द देखिए। — ७. भगवती १, ४२१ और उसके बाद, जहाँ विवाहपन्नत्ति से कई और उदाहरण दिये गये हैं। — ८. ए० कून, बाइत्रैगे, पेज ९। — ९. वैदिक ध्वनिबल से से की अबाधारिता और उसमें द्वित्तीकरण मनाने का निषेध प्रकट होता है जो § १९६ के अनुसार होना चाहिए था।

§ ४२४—तद्, यद् आदि सर्वनाम जिनका कोई पुरुष नहीं होता आंशिक रूप मे सर्वनाम के विशेष समासिसूचक रूप ग्रहण करते हैं जैसा संस्कृत में होता है और आंशिक रूप मे उनकी रूपावली सशा शब्दों की भाँति चलती है। अधिकरण एकवचन पुलिंग और नपुसकलिंग तथा कर्ता बहुवचन पुलिंग में केवलमात्र सर्वनामों के समासिसूचक रूप एहउं भी मिलता है =*एपकम् (हेच० ४, ३६२)। — कर्म पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुसकलिंग : महा० मे एअं है, अ०माग० और जै०महा० मे एयं पाया जाता है, शौर० तथा माग० में एदं आया है और अप० पुलिंग मे एहु मिलता है (पिंगल १, ८१)। — करणकारक मे महा० में एएन रूप मिलता है (हाल ; रावण०) अ०-माग० मे एएणं है, जै०महा० मे एएण के साथ साथ एइणा रूप भी चलता है (शौर० के लिए : मृच्छ० ४२, १२, विक्र० २१, १४ ; उत्तररा० ७८, ३ ; १६३, ३ ; माग० के लिए : मृच्छ० ११८, ११, १२३, १९ ; १५४, ९), एदिणा रूप बहुत अधिक मिलता है (शौर० के लिए : मृच्छ० ९, ९ ; १८, २ ; शकु० १०, १२ ; विक्र० ५३, १, उत्तररा० १३, ११, मालती० ३१, ४ ; ७३, ३, १००, ३ ; रत्ना० २९३,२१ ; माग० के लिए . मृच्छ० ३९, २५, ४०, ११ ; वेणी० ३६, १), § १२८ देखिए। स्त्रीलिंग में जै०महा० में एयाए के साथ साथ हेमचद्र द्वारा ३, ३२ मे उल्लिखित रूप एईए भी चलता है जो स्त्रीलिंग के वर्ग एई =*एती से निकला है। ये दोनों रूप अपादान–, सम्बन्ध– और अधिकरणकारकों में भी काम मे आते हैं। शौर० और माग० में करण–, सम्बन्ध और अधिकरणकारकों मे केवल एदाए होता है। करण के लिए (शौर० में : मृच्छ० ९४, १६ ; ९५, ८, विक्र० २७, १५ ; ४१, ७ ; रत्ना० २९९, ८, माग० मे : मृच्छ० १७३, ८ ; प्रबोध० ६१, ७) ; सम्बन्धकारक रूप में प्रयोग के लिए (माग० में : मृच्छ० १२३, ३), अधिकरण रूप में प्रयोग के लिए (शौर० में : मृच्छ० ९, ९ ; ४२, ११)। — अपादानकारक के रूप वररुचि ने ६,

२० में **एत्तो**, **एदादो**, **एदादु** और **एदाहि** दिये हैं ; हेमचन्द्र ने ३, ८२ में **एँत्तो**, **एँत्ताहे**, **एआओ**, **एआउ**, **एआहि**, **एआहिंतो** और **एआ** दिये हैं ; क्रमदीश्वर ने ३, ११ में **एत्तो**, **एदो** (?), **एदादु** और **एदाहि** रूप लिखे हैं। इनमें से **एत्तो** = *एततः है (§ १९७)। यह रूप महा०, अ०माग० और जै०महा० में 'यहाँ से', 'वहाँ से' और 'अब' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अ०माग० में भी यह विशुद्ध अपादान के काम में लाया जाता है : **एँत्तो उवसग्गाओ** = एतस्माद् उपसर्गात् है (नायाध० ७६१) ; **एँत्तो अन्नयरं** = एतस्माद् अन्यतरम् है (आयार० २, १, २, ४ ; ६, ४ ; ७, ८ ; २, २, ३, १८ ; २, ६, १, ५)। शौर० में **एत्तो** का इस भाँति का प्रयोग अशुद्ध है। भारतीय संस्करणों में जहाँ कहीं यह देखने में आता है, जैसा मालतीमाधव के बंबइया संस्करण ६९, ९ ; २५५, १ में वहाँ **इमादो** पाठ पढ़ा जाना चाहिए जैसा कलकतिया संस्करण, १८६६ पेज ३७, १३ में प्रथम स्थान में और भण्डारकर के संस्करण में ९२, ३ में पाया जाता है। अ०माग० में **इत्तो** रूप भी देखा जाता है (सूय० ३६० ; उत्तर० ५९९)। **एत्ताहे** किंतु **एत्ता** = एत' वर्ग से निकला है और **ताहे** (§ ४२५) की भाँति स्त्रीलिंग का अधिकरण एकवचन का रूप माना जाना चाहिए। यह महा० में 'इदानीम्' के अर्थ में काम में लाया जाता है (हेच० २, १३४ ; गउड० ; हाल ; रावण०), अप० में इस **एत्तहे** का अर्थ 'यहाँ से' होता है (हेच० ४, ४१९, ६ ; ४२०, ६) और इसका दूसरा अर्थ 'इधर' है (हेच० ४, ४३६)। इसके अनुकरण पर अप० में **तेत्तहे** रूप बना है जिसका अर्थ 'उधर' है (हेच० ४, ४३६)। जै०महा० में **एयाओ** रूप मिलता है (द्वार० ४९५, २७)। — सम्बन्ध : महा० में **एअस्स** होता है ; अ०माग० और जै०महा० में **एयस्स** चलता है ; शौर० में **एदस्स** पाया जाता है (शकु० २९, २ ; विक्र० ३२, ३ ; उत्तररा० ६७, ६) ; माग० में **एदश्श** रूप आया है (ललित० ५६५, ८ ; मृच्छ० १९, ५ ; ७९, १९) तथा **एदाह** भी देखा जाता है (मृच्छ० १४५, ४ ; १६४, ४)। — अधिकरण : हेमचन्द्र ने ३, ६० में **एअस्सिं** रूप दिया है और ३, ८४ में **एअम्मि** आया है, अ०माग० और जै०महा० में **एयम्मि** तथा **एयंमि** रूप मिलते हैं ; अ०माग० में **एयंसि** भी चलता है (सूय० ७९० ; विवाह० ११६ ; ५१३ [पाठ में **एयसि** है, टीका में शुद्ध रूप है] ; १११९) ; शौर० में **एदस्सिं** है (शकु० ७८, १२ ; विक्र० ६, ३ ; २३, १७ ; रत्ना० ३०१, ५ ; प्रिय० १३, १६ ; प्रबोध० ३६, १) ; माग० में **एदश्शिं** मिलता है (ललित० ५६५, ६ ; मृच्छ० १३४, २२ और १३७, ४ ; मुद्रा० १८५, १)। **अअम्मि** और **ईअम्मि** के विषय में § ४२९ देखिए। — बहुवचन : कर्ता— महा०, अ०माग० और जै०महा० में **एए** रूप है ; जै०शौर० और शौर० में **एदे** (पव० ३८६, ८ ; ३८९, ? ; मृच्छ० ८, २ ; शकु० ४१, १ ; मालती० २४३, ३ ; २८४, १०) ; माग० में **एदे** चलता है (मृच्छ० २९, २३ ; ३८, १९ ; ७१, २२) ; एक ध्यान देने योग्य वाक्यांश **एदे अक्खलु** है जो मृच्छकटिक ४०, २ में आया है (यह सभी संस्करणों में है) = **एतानि अक्षराणि** है। अप० में **एइ** का प्रचलन है (हेच० ४, ३३०, ४, ३६३) ; स्त्रीलिंग — महा० में

पआओ है ; अ०माग० और जै०महा० में पयाओ चलता है ; शौर० में पदाओ काम में आता है (चंडको० २८, १० ; मल्लिका० ३३६, ८ और १३), जै०महा० में पया का भी प्रचलन है ; नपुंसकलिंग — महा० में पआइ है और अ०माग० तथा जै०-महा० में पयाइं ; अ०माग० और जै०महा० में पयाणि भी है। (सूय० ३२१; एर्त्से०); शौर० में पदाइं मिलता है (मृच्छ० १२८, ४ ; १५३, ९ और १३) ; माग० में भी पदाइं आया है (मृच्छ० १३२, १६ ; १६९, ६) । — कर्म पुलिंग : अ०माग० तथा जै०महा० में पए रूप है और अप० मे पइ (हेच० ४, ३६३) । — करण पुलिंग और नपुंसकलिंग : महा० और जै०महा० में पएहिं और पएहि रूप हैं तथा शौर० और माग० में पदेहिं (शौर० में : मृच्छ० २४, १ ;प्रबोध० १२,१० ; १४, १० ; माग० में : ललित० ५६५, १३ ; मृच्छ० ११, १२ ; १२२, १९ ; १३२, १५) ; स्त्रीलिंग : अ०माग० और जै०महा० में पयाहिं रूप है। — सम्बन्ध पुलिंग और नपुंसकलिंग : महा० में पआण मिलता है (हेच० ३, ६१ ; गउड० ; हाल); पल्लवदानपत्र में पतेसि आया है (६, २७) ; अ०माग० और जै०महा० में पएसिं तथा पएसि रूप चलते हैं ; जै०महा० में पयाणं भी है ; शौर० मे पदाणं पाया जाता है (मृच्छ० ३८, २२ ; उत्तररा० ११, ४ ; १६९, ३ ; १९७, १०) ; स्त्रीलिंग : महा० में पआण है (हाल ८९), हेमचन्द्र ३, ३२ के अनुसार महा० में पईणं और पआणं रूप भी काम में आते हैं ; अ०माग० और जै०महा० में पयासिं चलता है, जै०महा० में पयाणं भी ; शौर० में पदाणं मिलता है (रत्ना० २९३, १३ ; कर्पूर० ३४, ३ और ४) । — अधिकरण : महा० और अ०माग० रूप आयारंगसुत्त १, २, ५, ३ में आया है ; जै०महा० में पएसु और पएसुं हैं ; शौर० में पदेसुं चलता है (शकु० ९, १२ और १४) और पदेसु भी है (मुद्रा० ७२, ३), काम में लाये जाते हैं। अपादान एकवचन पुलिंग और नपुंसकलिंग अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण एकवचन स्त्रीलिंग तथा सम्बन्ध बहुवचन पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग में दोनों प्रकार के समाप्तिसूचक रूप चलते हैं। हाँ, बोली में इनमें कुछ भिन्नता आ गयी है। तद्, एतद्, यद्, किम् और इदम् के स्त्रीलिंग के वर्ग में अन्त में -आ अथवा -ई लगाया जाता है (हेच० ३, ३२ ; क्रम० ३, ४९) : इनके ता-, ती-, एआ-, एई-, जा-, जी-, का-, की-, इमा- और इमी- रूप होते हैं। किन्तु तद्, यद् और किम् कर्त्ता- और कर्मकारक एकवचन तथा सम्बन्धकारक बहुवचन में केवल आ लगाते हैं (हेच० ३, ३३) ; शौर० और माग० में सभी सर्वनामों में केवल आ लगता है। वर० ६, १ और उसके बाद ; हेच० ३, ५८ और उसके बाद ; क्रम० ३, ४२ और उसके बाद ; मार्क० पन्ना ४५ और उसके बाद, सिंहराज० पन्ना १९ और उसके बाद की तुलना कीजिए।

१. एस० गोल्दश्मित्त, प्राकृतिका, पेज २२।

§ ४२५—सर्वनाम त- । कर्त्ता और कर्म नपुंसकलिंग में महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर०, शौर०, माग०, ढक्की, आव०, दाक्षि० और अप० में तं रूप पाया जाता है (जै०शौर० में : पव० ३८१, २० और ३८५, ६१ ; शौर० में : ललित०

५६१, १२ और ५६२, २३ ; मृच्छ० २, १८ ; शकु० २७, ६ ; माग० में : ललित० ५६५, १९ ; मृच्छ० ४०, ६ ; ढक्की में : मृच्छ० ३१, ४ ; ३२, ३ और ८; ३५, ७; आव० में : मृच्छ० १०२,१; दाक्षि० में : मृच्छ० १०२,१९; अप० में : मृच्छ० १०२, १९ ; अप० में : हेच० ४, ३६०) ; अप० में 'इसलिए' के अर्थ में त्रं भी मिलता है (हेच० ४, ३६० ; § २६८ देखिए और § ४२७ की तुलना कीजिए ; [इस त्रं सर्वनाम से मिलकर जर्मन शब्द दारम् (Darum) है। इसकी तुलना महत्त्वपूर्ण है। —अनु०]) और तं तु शब्द संयोग में तु पाया जाता है (विक्र० ५५, १९)। यह तु § ४२७ में वर्णित जु से जोड़-तोड़ का है। — कर्म पुलिंग और स्त्रीलिंग : सभी प्राकृत बोलियों में तं है। — करण : तेण है, अ०माग० में तेणं पाया जाता है, अप० तें रूप देखने में आता है (हेच० में त- शब्द देखिए) ; हेच० ३, ६९ के अनुसार तिणा रूप भी होता है ; स्त्रीलिंग : महा० में तीए और तीअ रूप आये हैं, अ०माग० और जै०महा० में तीए तथा ताए रूप हैं ; शौर० में ताए चलता है (ललित० ५५५, १ ; मृच्छ० ७९, ३; शकु० ४०, ४ [तए पाठ के स्थान में यही रूप पढ़ा जाना चाहिए, जैसा डी. (D.) हस्तलिपि के अनुसार मृच्छ० ७७, १० में भी यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; विक्र० ४५, २१) ; माग० में ताए का प्रचलन है (मृच्छ १२३, २१) ; पै० में तीए चलता है (हेच० ४, ३२३) और अप० में ताएँ रूप है (हेच० ४, ३७०,२)। — विशुद्ध अपादानकारक के रूप में अ०माग० और जै०महा० में ताओ रूप मिलता है (उदाहरणार्थ, ओव० § २०१ ; उवास० § ९० और १२५ ; आव० एर्त्से० ८, ४८ ; सगर ६, ४)। यह रूप अ०माग० में स्त्रीलिंग में भी चलता है (दस० ६१३, २४)। व्याकरणकारों द्वारा (वर० ६,९ और १० , हेच० ३, १६० ; ३, ६६ और ६७ ; मार्क० पन्ना ४६) बताये गये रूप तत्तो और तओ तथा शौर० और माग० में तदो (क्रम० ३, ५० ; वहाँ तदओ रूप भी दिया गया है), तो और तम्हा का प्रयोग क्रियाविशेषण के रूप में किया जाता है, तम्हा केवल अ०माग० और जै०शौर० में काम में आता है (पव० ३८०, ८ ; ३८१, २० ; ३८२, २३ और २७ ; ३८४, ३६) ; तो जो महा०, अ०माग०, जै०महा० और अप० के अतिरिक्त (हेच० में यह शब्द देखिए), माग० के पद्य में भी चलता है (मृच्छ० ११, ११), स्तंभवत् = अतस् (§ १४२)। इनके साथ साथ अ०माग० तओहिंतो रूप मिलता है (विवाह० १०४७ ; ११८९ ; १२४० और उसके बाद ; १२८२ , १२८८ और उसके बाद ; नायाध० ११७८) और महा०, जै०महा० तथा जै०शौर० में ता भी चलता है (पव० ३९८, ३०३) ; शौर० में भी यह रूप पाया जाता है (ललित० ५५५, २ और ५६१, १५ ; मृच्छ० २, १६ ; १८ और २२ ; ३, २०) ; माग० में देखा जाता है (ललित० ५६५, ८ और १५ , ५६७, १ ; मृच्छ० २०, २१ ; २१, १२) ; ढक्की में भी आया है (मृच्छ० २९, १५ ; ३०, १३ ; ३२,८) ; आव० में है (मृच्छ० १०१, २३ और १०५, २) ; दाक्षि० में भी है (मृच्छ० १०१,१ और ९ ; १०२, १८ ; १०३, १६ ; १०४, १९) ; अप० में इसका प्रचलन है (हेच० ४, ३७०, १)। ता = वैदिक तात्¹ किन्तु मूल से = तावत् बनाया जाता है। अप० में हेच० ४, ३५५ में तहाँ

रूप भी देता है। — सम्बन्ध पुलिंग और नपुसकलिंग : महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर०, शौर० और दक्षी में **तस्स** रूप पाया जाता है और पल्लवदानपत्रों में **तस** प्रयुक्त हुआ है (७,४१ और ४५), माग० में **तश्श** चलता है (मृच्छ० १४, १ और ७; १९, १०; ३७,२५) और **ताह** भी मिलता है (मृच्छ० १३, २५, ३६, १३; ११२, ९; १६४, २); महा० में **तास** भी है (वर० ६, ५ और ११; हेच० ३, ६३; वेताल० पेज २१८ कथासख्या १५); अप० मे **तस्सु**, **तसु**, **तासु** और **तहों** रूप काम मे लाये जाते हैं (हेच० में त- शब्द देखिए); स्त्रीलिंग : महा० में **तिस्सा**, **तीए** और **तीअ** रूप आये हैं; वर० ६, ६; हेच० ३, ६४ के अनुसार **तीआ** और **तीइ** रूप भी होते हैं; अ०माग० और जै०महा० मे **तीसे** है (यह रूप वर० और हेच० में भी मिलता है), **ताए** और **तीए** रूप भी चलते हैं; शौर० में **ताए** (मृच्छ० ७९, ३; ८८, २०; शकु० २१, ८; विक्र० १६, ९ और १५); माग० में भी **ताए** ही चलता है (मृच्छ० १३३, १९ और १५१, ५); पै० में **तीए** है (हेच० ४, ३२३) और अप० मे **तहे** का प्रचलन है (हेच० में त शब्द देखिए), **तासु** भी आया है (यह कर्मकारक में है और **जासु** का तुक मिलाने के लिए पद्य में आया है; पिंगल १, १०९ और ११५)। — अधिकरण पुलिंग और नपुसकलिंग : महा० और जै०महा० में **तम्मि** होता है; अ०माग० में **तंसि** है, **तम्मि** और **तंमि** भी चलते हैं (आयार० १,२,३,६ मे भी); शौर० मे **तस्सिं** पाया जाता है (मृच्छ० ६१, २४; शकु० ७३, ३; ७४, १; विक्र० १५, १२); माग० मे **तश्शिं** चलता है (मृच्छ० ३८, १६; १२१, १९; प्रबोध० ३२, ७), हेच० ३, ११ के अनुसार इस प्राकृत बोली में **तं** रूप भी काम में आता है। जै०शौर मे **तम्हि** रूप अशुद्ध है (कत्तिगे० ४००, ३२२)। इसके पास में ही शुद्ध रूप **तम्मि** भी आया है। क्रम० ५, ५ के अनुसार अप० में **तद्रु** रूप भी है जो इसके जोड के सर्वनाम –**यद्रु** के साथ आता है (§ ४२७)। 'वहाँ' और 'वहाँ को' के अर्थ में **तहिं** का बहुत अधिक प्रचार है (वर० ६, ७, हेच० ३, ६०) और यह प्रचार सभी प्राकृत बोलियों में है। जैसा सस्कृत मे **तत्र** का होता है वैसा ही प्राकृत में **तत्थ** का प्रयोग अधिकरण के रूप में होता है (वर० ६, ७; हेच० २, १६१; हेच० ने **तह** और **तहि** रूप भी दिये है)। स्त्रीलिंग मे **तीए** और **तीअ** रूप मिलते हैं तथा हेच० ३, ६० के अनुसार **ताहिं** और **ताए** भी होते हैं; अ०माग० मे **तीसे** चलता है (ओव० § ८३; नायाध० ११४८)। महा०, अ०माग० और जै०महा० **ताहे** भी जो **तासे** के स्थान मे है (यह **तीसे** का समानार्थी और जोड का है) अधिकरण स्त्रीलिंग माना जाना चाहिए। यह अधिकांश में **जाहे** के साथ आता है और इसका अर्थ 'तब' = **तदा** होता है (वर० ६, ८; हेच० ३, ६५; गउड०; रावण०; एर्त्से० मे **ताहे** और **जाहे** शब्द देखिए; उवास० में **त**– और **ज**– देखिए; नायाध० § १४३; पेज ७६८; ९४४; १०५२; १४२०; १४३५ आदि आदि)। — बहुवचन : कर्त्ता –**ते**, स्त्रीलिंग **ताओ** और नपुसकलिंग **ताइं** होता है तथा स भी प्राकृत बोलियों में ये ही काम मे आते है, अ०माग० और जै०महा० में **ताणि** भी

मिलता है। शौर० और माग० में ते के साथ साथ दे का व्यवहार भी किया जाता है, विशेषतः अन्य सर्वनामों के पीछे[1] : शौर० में एदे दे मिलता है (मृच्छ० ३९, ३ ; उत्तररा० ६८, ८ ; मालती० २४३, ३ [यहाँ एदे क्खु दे है] ; २७३, ४) ; माग० में भी एदे दे मिलता है (मृच्छ० ३८, १९), ये दे भी है (मुद्रा० १८३, २) ; अन्यथा शौर० में ते भी आता है (उत्तररा० ७७, ४ और ५ ; मुद्रा० २६०, १), जैसा कि ताओ भी चलता है (मृच्छ० २५, २० ; २९, ७ ; मालती० ८०, १ ; प्रबोध० १७, ८) और ताइं का भी प्रचार है (उत्तररा० ६०, ५)। — कर्म : ते रूप पाया जाता है, जै०शौर० (पव० ३७९, ३ ; ३८१, २१) और अप० में भी (हेच० ४, ३३६) ; वाक्य के आदि में शौर० में दे अशुद्ध है (उत्तररा० ७२, ५) ; स्त्रीलिंग का रूप अ०माग० में ताओ होता है (निरया० ५९)। — करण : तेहिं है, स्त्रीलिंग में ताहिं होता है जो महा०, अ०माग० और जै०महा० में मिलता है, तेहि और ताहि रूप भी पाये जाते हैं (शौर० पुलिंग में : मृच्छ० २५, १४ ; प्रबोध० १०, ९ ; १२, ११)। — अपादान : अ०माग० में तेब्भो रूप है (सूय० १९ ; क्या यह रूप शुद्ध है ?) ; अ०माग० और जै०महा० में तेहिंतो मिलता है (पण्णव० ३०८ और उसके बाद ; आव०एर्त्से० ४८, १४) और जै०महा० में तेहिं भी होता है (एर्त्से० २२, ५)। — सम्बन्ध : महा० में ताणम् और ताण रूप हैं ; शौर० में केवल ताणं काम में आता है (उत्तररा० ७३, १०), स्त्रीलिंग में भी यह रूप मिलता है (प्रबोध० ३९, १) ; अ०माग० में तेसिं और तेसि चलते हैं, इनके स्त्रीलिंग में तासिं और तासि रूप हैं ; जै०महा० में तेसिं जिसका स्त्रीलिंग का रूप तासिं पाया जाता है और ताणं रूप भी चलता है जो पुलिंग और स्त्रीलिंग दोनों में चलता है ; जै०शौर० में पुलिंग का रूप तेसिं है (पव० ३७९, ५ ; ३८२, ४४) ; अप० में ताण, ताहँ और तहं है (हेच० में त- शब्द देखिए) ; हेमचन्द्र ४, ३०० के अनुसार ताहँ महा० में भी चलता है और ३, ६२ के अनुसार तास बहुवचन के काम में भी आता है। — अधिकरण : तेसु है (हेच० ३, १३५ ; महा० में : रावण० १४, ३३ ; जै०महा० में : एर्त्से० ४, ३) ; शौर० में भी तेसु चलता है (विक्र० ३५, ६ ; मुद्रा० ३८, १० ; १६०, २) और तेसुं भी है (शकु० १६२, १३) ; जै०महा० और शौर० में स्त्रीलिंग का रूप तासु है (एर्त्से० १५, १४ ; मालती० १०५, १) ; अप० में ताहिँ मिलता है (हेच० ४, ४२२, १८)। अ०माग० में ताम् और तेणं के विषय में § ६८ देखिए और अ०माग० से त्तं के विषय में § ४२३।

1. हॉएफर, डे प्राकृत डिआलेक्टो, पेज १०१ ; पिशल, बे०बाइ० १६, १७१ और उसके बाद। — २. विक्रमोर्वशी, पेज १०६ में बौँल्लेनसेन दे की सीमा बहुत संकुचित बाँधी है, क्योंकि उसने बताया है कि यह रूप केवल जे के अनन्तर आता है ; यह सम्बन्धवाचक सर्वनाम के रूप में भी नहीं आता।

§ ४२६—सर्वनाम एत- की मुख्य मुख्य अंगों में त- के समान ही रूपावली की जाती है (सम्बन्धकारक के लिए एतद् देखिए ; हाल ; रावण० में एअ- देखिए ; उवास०, कप्प०, नायाध०, एर्त्से०, कालका० में एय- शब्द देखिए)। कर्ता पुलिंग

एकवचन, महा०, जै०महा०, जै०शौर०, शौर०, आव० और दाक्षि० में एसो रूप है (जै०शौर० में : कत्तिगे० ३९८, ३१४ ; शौर० में : मृच्छ० ६, १० ; शकु० १७, ४ ; विक्र० ७, २ ; आव० में : मृच्छ० ९९, १९ ; १००, २३ ; दाक्षि० में : मृच्छ० १०२, १६), अ०माग० में एसे चलता है, पद्य में एसो भी आया है (उत्तर० ३६१ और उसके बाद), माग० में एशे का प्रचलन है (ललित० ५६५ ,६ और ८ ; ५६७, २ ; मृच्छ० ११, १ ; प्रबोध० ३२, १० ; शकु० ११३, ३ ; वेणी० ३३, १५), ढक्की में एसु पाया जाता है (मृच्छ० ३१, १२ ; ३४, १७ ; ३५, १५), अप० में एहो है (हेच० में एह शब्द देखिए) । स से भेद करने के लिए (§ ४२३) इसके साथ-साथ बहुधा एस (हेच० ३, ३) आता है, जो रूप हेमचन्द्र ३, ८५ के अनुसार स्त्रीलिंग और नपुसकलिंग के लिए काम में आता है : एस मही ; एस सिरं । एस का प्रयोग संज्ञा शब्दों से पहले विशेषण रूप से ही नहीं होता किन्तु पूर्ण संज्ञा शब्द के रूप में भी होता है और वह भी पद्य तथा गद्य दोनों में होता है (उदाहरणार्थ, जै०शौर० में : पव० ३७९, १ ; शौर० में : मृच्छ० ५४, १३ ; विक्र० ८२, १४) । माग० में एश है, पर बहुत विरल है (मृच्छ० १३९, १७) ; ढक्की में : एस रूप मिलता है (मृच्छ० ३६, २३) । इसका स्त्रीलिंग का रूप एसा है (शौर० में : ललित० ५५५, २); मृच्छ० १५, २४ ; विक्र० ७,१३ ; शकु० १४, ६-) ; पै० में (हेच० ४,३२०) ; दाक्षि० में भी यह रूप है (मृच्छ० १०२, २३) ; माग० में एशा है (मृच्छ० १०, २३ और २, ५ ; १३, ७ और २४ ; प्रबोध० ३२, ९) ; अप० में एह (हेच० में यह शब्द देखिए ; पिंगल २, ६४), पल्लवदानपत्र में नपुसकलिंग का रूप एतं है (६, ३०), महा० में एअं है, अ०माग० और जै०महा० में एयं पाया जाता है, शौर०, माग०, आव० और दाक्षि० में एदम् आया है (शौर० में : ललित० ५५५, १८ ; मृच्छ० २, १८ ; विक्र० ६, १ ; कर्मकारक : मृच्छ० ४१, ८ और १४ ; शकु० २५, १ ; विक्र० १३, ४ ; माग० में : कर्त्ता— मृच्छ० ४५, २१ ; १६८, १८ ; १६९, ७ ; कर्म— मृच्छ० २९, २४ ; १३२, २१ ; आव० में : कर्त्ता—मृच्छ० १००, १८ ; दाक्षि० में : कर्म— मृच्छ० १००, १६) ; अप० में एहु = *एषम् (हेच० में एह शब्द देखिए) कर्मकारक में ।

§ ४२७—सर्वनाम ज—, माग० में य— की रूपावली ठीक निश्चयबोधक सर्वनाम त— की भाँति चलती है । कर्त्ता—और कर्म कारक एकवचन नपुसकलिंग में अप० में बहुत अधिक काम में आनेवाले जं (हेच० में जो शब्द देखिए) के साथ साथ जु भी चलता है (हेच० ४, ३५०, १ ; ४१८, २) ; जं जु में (विक्र० ५५, १९ ; § ४२५ में तं तु की तुलना कीजिए) दोनों रूप एक साथ आये है । अप० में इनके अतिरिक्त ध्रुं रूप भी काम में आता है (हेच० ४, ३६० ; § ४२५ में त्रं की तुलना कीजिए ; [ध्रुं और दारुम् भी, जिसकी तुलना त्रं से की गयी थी, तुलना करने योग्य है । —अनु०]) । क्रम० ५, ४९ के अनुसार कर्मकारक एकवचन में ज्जुं रूप भी काम में लाया जाता है और निश्चयबोधक सर्वनाम के लिए द्रुं [पाठक देखें कि यह जर्मन दारुम् का मिलता-जुलता रूप है । —अनु०] । इसका उदाहरण मिलता है : ज्जुं

चित्तेसि द्र ' पावसि = यच् चित्तयसि तत् प्राप्नोषि । अ०माग० जद् अत्थि और माग० यद् इश्चशे में प्राचीन रूप यद् बना रह गया है (§ ३४१)। —हेच० ३, ६९ के अनुसार करणकारक एकवचन में जिणा भी होता है ; अप० में जें रूप है (हेच० ४, ३५०, १) तथा इसके साथ साथ जेण भी चलता है [यह रूप बंगला में चलता है, लिखा जाता है येन और पढ़ा जाता है जेनो । —अनु०] (हेच० में जो शब्द देखिए), पिंगल २, २७२ और २८० में जिणि रूप आया है, इस स्थान में जिण = जिणा पढ़ा जाना चाहिए [यह रूप बाद को हिन्दी में बहुवचन जिन बन गया । —अनु०] । अपादान में जाओ, जओ, जदो, जत्तो और जम्हा के (वर० ६, ९ ; हेच० २, १६०, ३, ६६), जिनका उल्लेख § ४२५ में हो चुका है, के साथ साथ जा = वैदिक यात् (वे० बाइ० १६, १७२) भी है, अप० में जहां भी मिलता है जिसका उल्लेख हेच० ने ४, ३५५ में किया है । — सम्बन्धकारक में माग० में यश्श के (मृच्छ० ११, १० ; १६५, ७) साथ साथ याह रूप भी मिलता है (मृच्छ० ११२, ९), अप० में जासु और जसु रूप है (हेच० में जो शब्द देखिए, पिंगल १, ६८ ; ८१ अ ; ८९ अ ; १३५ आदि-आदि), यह रूप स्त्रीलिंग में भी चलता है (हेच० ४, ३६८ ; पिंगल १, १०९ और १११ तथा उसके बाद), इसके स्थान में महा० में जीअ और जीए (गउड० ; हाल में ज- शब्द देखिए तथा जिस्सा रूप आते हैं (वर० ६, ६ ; हेच० ३, ६४ ; कर्पूर० ४९, ४ और ७ ; ८४, ११), वर० और हेच० के अनुसार जीआ, जीइ और जीसे भी काम में लाये जाते हैं ; अप० में जाहे है जो *जास्से के स्थान में आया है (हेच० ४,३५९) ; शौर० में जाए है (मृच्छ० १७०, २५ ; १७२, ५ ; प्रबोध० ३९, ६) । — अ०माग० में अधिकरणकारक में जंसि = यस्मिन् है, पद्य में जंसी रूप भी पाया जाता है (§ ७५), यह कभी कभी स्त्रीलिंग के लिए भी काम में आता है : जंसी गुहाए आया है (सूय० २७३), यह नई = नदी के लिए (सूय० २९७ में) और नावा = नौः के लिए भी प्रयुक्त हुआ है (उत्तर० ७१६ में) , अप० जस्सम्मि = यस्याम् आया है (पिंगल १, ५२ में) ; अ०माग० में जस्संमि है किन्तु यह सम्बन्धकारक है (विवाह० २६४) । हेच० ३, ६० के अनुसार जाए और जीए के साथ साथ स्त्रीलिंग में जाहिं रूप भी काम में आता है जैसे पुलिंग और नपुंसकलिंग में जहिं जो सभी प्राकृत बोलियों में बहुत अधिक आता है और जिसके अर्थ 'जहाँ और जिधर को' है। अप० में जहीं और जहि रूप भी हैं (§ ७५), क्रम० ५, ५० के अनुसार यट्ट रूप भी चलता है जैसा॰ में तट्ट (§ ४२५) ठीक यह जँचता है कि यट्ट के स्थान में जद्र लिखा जाना चाहिए । जाहे के विषय में § ४२५ देखिए । वर० ६, ७ के अनुसार अधिकरण के स्थान में जत्थ भी काम में आता है ; इसके साथ साथ हेच० २, १६१ में बताया है कि यत्र के अर्थ में जहि और जह रूप भी चलते हैं। कर्त्ता बहुवचन में अप० में साधारण रूप, जे (हेच० जो शब्द देखिए) के साथ-साथ जि भी मिलता है (हेच० ४, ३८७, १) अ०माग० में नपुंसकलिंग में जाइं के साथ साथ याइं भी चलता है (आयार० २, १, ३, ४ ; ५, ५ ; ९, १ ; २, २, २, १० ; २, ३, ३, ८ ; २, ४, १, ८ ; २, ५, १,

१० ; २, ४ ; २, ७, १, १ ; नायाध० ४५० ; १२८४ ; १३७६ की भी तुलना कीजिए), जिसका प्रयोग क्रियाविशेषण के रूप में होता है और **जो** = यद् है और नायाध० ४५० के टीकाकारों के अनुसार आइं समझा जाना चाहिए क्योंकि यह केवल इ पहले (पि, अवि, इद और अत्थि) आता है, जिसका स्पष्टीकरण यावि में य से होता है (§ ३३५)। — अपादान बहुवचन में अ०माग० में **जेहिंतो** रूप पाया जाता है (पण्णव० ३०८ और उसके बाद), सम्बन्ध बहुवचन में महा० और जै०महा० **जाण** और **जाणं** रूप मिलते हैं, जै०महा० में जो कि अ०माग० में सदा ही होता है, **जेसिं** और **जेसि** रूप भी चलते हैं, शौर० में **जाणं** है (उत्तर० ६८, ९) और अप० में जाहँ आता है (हेच० ४, ३५३ ; ४०९) ; स्त्रीलिंग में अ०माग० में **जासिं** है (विवाग० १८९)। अ०माग० **जाम्** और **जेणा** के विषय में § ६८ देखिए ; अ०माग० **सेॅज्जं** और **से जहा** के विषय में § ४२३ देखिए। पल्लवदानपत्र में केवल कर्त्ता एकवचन का रूप **जो** पाया जाता है।

§ ४२८—प्रश्नवाचक सर्वनाम के संस्कृत की भाँति दो वर्ग हैं : क— और कि— । — क— वर्ग की रूपावली त— और ज— की भाँति चलती है (§ ४२५ और ४२७)। अपादानकारक के रूप **काओ**, **कओ**, **कदो**, **कत्तो** और **कम्हा** (वर० ६, ९ , हेच० २, १६० ; ३, ७१ ; क्रम० ३, ४९) त— और ज— की रूपावली के अनुसार विभक्त हो जाते हैं। अप० में कउ—(हेच० ४, ४१६–४१८) और **कहां** (हेच० ४, ३५५) रूप भी हैं, अ०माग० में **कओहिंतो** भी है (जीवा० ३४ और २६३; पण्णव० ३०४; विवाह० १०५० और उसके बाद ; १३४०, १४३३ ; १५२२; १५२६ ; १५२८ ; १६०३ और उसके बाद)। सम्बन्धकारक में वर० ६, ५ ; हेच० ३, ६३ ; क्रम० ३, ४७ और मार्क० पन्ना ४६ में **कस्स** के साथ-साथ **कास** रूप भी दिया गया गया है (क्रम० के संस्करण में **कासो** छपा है) जो अप० में **कासु** (हेच० ४, ३५८, २) और माग० में **काह** के रूप में सामने आता है (मृच्छ० ३८, १२), हेच० ३, ६३ के अनुसार यह स्त्रीलिंग में भी काम में आता है। अधिकरण, महा० में **कम्मि** है और अ०माग० में **कंसि** (आयार० १, २, ३, १) और **कम्हि** है (उत्तर० ४५४ ; पण्णव० ६३७), शौर० में **कस्सिं** मिलता है (मृच्छ० ८१, २ , महावीर० ९८, १४), माग० में **कश्शि** का प्रयोग किया जाता है (मृच्छ० ८०, २१ , प्रबोध० ५०, १३) , सभी प्राकृत बोलियों में **कहिं** और **कत्थ** रूप बहुत अधिक चलते हैं (१९३ , [ये रूप कत्थ—प, कत्ति, कित्थे, कोथा, कुठें रूपों में कुमाउनी, नेपाली (*पर्वतिया*), *गजारी, बगाल, मराठी आदि में बोले जाते हैं तथा* **कहाँ**, **क्णं** आदि रूपों में हिन्दी और गुजराती में चलते हैं। —अनु०], इनका अर्थ 'कहाँ को' और 'कहाँ' होता है, इनके साथ साथ हेच० ने २, १६१ में **कह** और **कहि** रूप दिये हैं जैसा उसने स्त्रीलिंग के लिए ३, ६० में **काए** और **काहिं** रूप दिये हैं। अ०माग० में **काहे** का अर्थ 'कब' है (वर० ६, ८ ; हेच० ३, ६५ ; क्रम० ३, ४४ ; मार्क० पन्ना० ४६ ; विवाह० १५३) जिसका स्पष्टीकरण **ताहे** और **जाहे** की भाँति ही होता है (§ ४२५ और ४२७)। यह अप० काहे में सम्बधकारक के

रूप में दिखाई देता है (हेच० ४, ३५९)। कर्त्ता बहुवचन स्त्रीलिंग में शौर० में बहुधा काओ के स्थान में का का प्रयोग पाया जाता है, जो बोलचाल में मुहावरे की भाँति काम में आता है : का अम्हे [का वअ], यह सम्बन्ध- और अधिकरण-कारकों अथवा सामान्य धातु (infinitive) के साथ आता है (शकु० १६, १२ ; मालवि० ४६, १२ ; ६५, २)। इस दृष्टि से काओ का संशोधन किया जाना चाहिए (§ ३७६)[1] । अप० नपुंसकलिंग काइँ (हेच० में यह शब्द देखिए ; प्रबन्ध० १०९, ५) किं की भाँति काम में आता है, 'क्यों' और 'किस कारण' के अर्थ में इसका प्रयोग क्रियाविशेषण के रूप में होता है, इसी भाँति कहँ भी काम में आता है (हेच० ४, ४२६ ; विक्र० ६२, ११)। सम्बन्ध- महा० में काणं और काण है [कुमाउनी में काणं का कनन् हो गया है। —अनु०] (गउड० में किं देखिए) ; अ०माग० और जै०महा० में कोसिं रूप है। पल्लवदानपत्र में कर्त्ता एकवचन में कोचि में को रूप मिलता है (६, ४०)। — सभी प्राकृत बोलियों में कि- वर्ग के कर्त्ता- और कर्मकारक एकवचन नपुंसकलिंग में किं = किम् पाया जाता है। शौर० किंत्ति (ललित० ५५५, ४) जिसे बोहान्सहोन[2] और कोनो[3] *किंदृति (किदृति) का रूप मानते हैं और जो शकुतला १५, ४ में और कहीं कहीं अन्यत्र भी पाया जाता है, किं ति[4] का अशुद्ध रूप माना जाना चाहिए। करणकारक का रूप किणा (हेच० ३, ६९ ; क्रम० ३, ५५ ; मार्क० पन्ना० ४५) महा० किणा वि (गउड० ४१३) में मिलता है और अ०माग० में 'किस प्रकार से' और 'किसके द्वारा' अर्थ में क्रियाविशेषण रूप में काम में आता है (उवास० § १६७)। इसके अनुकरण पर ही जिणा और तिणा बनाये गये होंगे। अपादानकारक के रूप में हेमचन्द्र ने ३, ६८ में किणो और कीस रूप दिये हैं, हेमचन्द्र २, २१६ में भी किणो आया है, यह रूप क्रमदीश्वर ४, ८३ में महा० की भाँति (गउड० १८२ , हाल में यह शब्द देखिए) प्रश्नसूचक शब्द के काम में लाया गया है[5] । कीस जिसका माग० रूप कीश होता है महा० में देखने में आता है (हाल , रावण० § किन्तु गउड० में नहीं), जै०महा० में यह रूप चलता है (आव०एर्त्से० १८, १४ , एर्त्से०), अ०माग० में भी यह काम में आता है (हाल ; रावण० § १३ ; दस०नि० ६४८, २३ और ३३), शौर० और माग० में यह विशेषकर बहुत अधिक आता है (शौर० के लिए : मृच्छ० २९, ८ , ९५, १८ ; १५१,१२ ; १५२,१२; १६१,१६ , रत्ना० २९०,३० , २९५,१९ , २९९, १ और १५ ; ३०१,२५ , ३०२,५ , ३०३,२३ और ३० ; ३०५, २४ ; ३१०, २९ ; ३१४, ३२ ; ३१६, २३ ; ३१७, ३३ , मालती० २५३, ५ , २६६, ६ आदि-आदि ; माग० के लिए : मृच्छ० ११३, १७ ; १२४, ८ , १२१, २ ; १५१, २४ ; १७०, १६ ; वेणी० ३३, १६), किन्तु कालिदास के ग्रन्थों में यह रूप नहीं है (हेच० ३, ६८ पर पिशल की टीका)। यद्यपि यह कीस रूप बाद को अपादानकारक के रूप में काम में लाया गया जैसे, माग० में कीश कालणादो = कस्मात् कारणात् है (वंश० ४९, ६), किन्तु यह अपने मूल रूप के अनुसार सम्बन्धकारक है और पाली किस्स के समान ही है, यह तथ्य क्रमदीश्वर ने ३, ४६ में दिया है। इसका अर्थ क्रियाविशेषण से सम्बन्ध

रखनेवाला 'किस लिए' है, जैसा मार्कण्डेय ने ४, ८३ में उल्लेख किया है। मृच्छ० ११२, ८ में इसका अर्थ 'क्या' है जो वास्तव में ध्यान देने योग्य है। इसके अनुसार **किणो** सम्बन्धकारक में माना जाना चाहिए। सम्बन्धकारक एकवचन स्त्रीलिंग के रूप वररुचि ६,६ ; हेमचन्द्र ३,६४, क्रमदीश्वर ३, ४६ और मार्कंडेय पन्ना ४६ में **किस्सा, कीसे, कीअ, कीआ, कीइ** और **कीए** रूप दिये गये हैं। इनमें से अन्तिम रूप हेमचन्द्र ने ३,६० में बताया है कि अधिकरणकारक के रूप **कीअ** के स्थान में आता है और हाल ६०४ में भी आया है तथा गउडवहो ११२३ और ११५२ में **कीए** के स्थान में यही रूप पढ़ा जाना चाहिए पर गउडवहो ११४४ में शुद्ध रूप आया है। — अप० में प्रश्न वाचक सर्वनाम **कवण** भी है [इससे हिन्दी रूप **कौन** निकला है। —अनु०], इससे कर्त्ता एकवचन पुलिंग का रूप **कवणु**, स्त्रीलिंग का रूप **कवण**, करण एकवचन नपुंसकलिंग **कवणेण**, सम्बन्ध एकवचन पुलिंग **कवणहें** (हेच० में **कवण** शब्द देखिए) और कर्म एकवचन नपुंसकलिंग में **कवणु** मिलता है (प्रबन्ध० ७०, ११ और १३)। इस सम्बन्ध में संस्कृत **कदपथ, कवाग्नि, कवोष्ण** और प्राकृत **कवट्टिअ** से तुलना कीजिए (§ २४६)।

१. लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ३२० में यह शुद्ध रूप दे गया था ; मालविकाग्निमित्र, पेज १९१ में बौँ ल्लें नसेन का मत अशुद्ध है। — इंडिशे स्टुडियन १४, २६२ में वेबर की दृष्टि से यह तथ्य छूट गया है, शकुंतला के देवनागरी-संस्करण की सभी हस्तलिपियों में उन सभी स्थलों में, जो उसने पेज २६३ में उद्धृत किये हैं, केवल आ है और आओ बोएटलिंक की भटकल है। — २. शाहबाजगढ़ी, १, १७६। — ३. गो०गे०आ० १८९४, ४८०। — ४. ब्लौख, वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा, ३५ में यह शुद्ध रूप में ही दिया गया है। — ५. गउडवहो १८९ की हरिपालकृत टीका से तुलना कीजिए : **किणो इति कस्मादर्थे देशीनिपात** ।

§ ४२९—संस्कृत में 'इदम्' सर्वनाम के भीतर जितने वर्ग सम्मिलित हैं वे सभी प्राकृत बोलियों में बने रह गये हैं। अ- वर्ग बोलचाल के काम में बहुत ही सीमित रह गया है किन्तु **इम**- वर्ग, अप० को छोड़, जिसमें इसका पता तक नहीं रह गया है, अन्य सभी प्राकृत बोलियों में प्रधान रह गया है। अ- और इ- वर्ग से बने निम्न लिखित रूप पाये जाते हैं : कर्त्ता एकवचन पुलिंग में अ०माग० और जै०महा० में **अयं** है (उवास० , नायाध० ; निरया० में यह शब्द देखिए ; कप्प० , कालका० में **इम** देखिए) ; शौर० और ढक्की में **अअं** रूप चलता है (शौर० के लिए : मृच्छ० ३, २४ ; शकु० १३,३ , विक्र० २९,१२ , ढक्की के लिए : मृच्छ० ३४,९ और १२)। यद्यपि शौर० में **अअं** बहुत अधिक देखने में आता है, महा० से यह रूप सर्वथा लुप्त हो गया है। यह केवलमात्र रावणवहो १४, १४ **अहवाअं कअकज्जो** = अथवायं कृतकार्य में देखने में आता है। इसी वाक्यांश को हेमचन्द्र ने भी ३,७३ में उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है, अन्यथा इस रूप के स्थान पर **इमो** ने अपना अधिकार जमा लिया है। माग० में इसका नाममात्र नहीं रह गया है। इस बोली में इसके स्थान में **यहो** काम में

आता है। अवश्य ही हेच० ने ४, ३०२ में **अयं दाव शे आगमे** = शकु० ११४, ११ उद्धृत किया है, किन्तु इस स्थान में केवल द्राविडी और देवनागरी संस्करणों में अअं दिया गया है जो रूप यहाँ तथा सर्वत्र इस बोली के मुहावरे के विरुद्ध जाता है। बंगला संस्करण में **एत्तके** मिलता है और काश्मीरी में **इत्तके** है। अ०माग० में **अयं एया रूवे = अयं एतद्रूपः** वाक्यांश में पूरा अव्यय बन गया है यहाँ तक कि इस बोली में **अयमेयारूवं, अयमेयारूवस्स** और **अयमेयारूवंसि** रूप भी मिलते हैं[१]। पाली के समान ही अ०माग० में भी **अयं** स्त्रीलिंग में भी काम में लाया जाता है : **अयं कोसी = इयं कोशी** है और **अयं अरणी = इयम् (?) अरणिः** है (सूय० ५९३ और ५९४) अथवा यह पुलिंग भी माना जाता है (§ ३५८)। इनके अतिरिक्त **अयं अट्ठी = इदम् अस्थि** है और **अयं दही = इदं (?) दधि** है (सूय० ५९४)। अ०माग० में **अयं तेल्लं = इदं तैलं** (सूय० ५९४) में यह नपुंसकलिंग में आया है अर्थात् **अय-** वर्ग से बनाया गया है। स्त्रीलिंग का रूप **इयम्** केवल शौर० में सुरक्षित रखा गया है : **इअं** रूप है (मृच्छ० ३, ५ और २१ ; शकु० १४, १ ; विक्र० ४८, १२) क्योंकि माग० में सदा **एशा** रूप काम में आता है, इसलिए मृच्छ० ३९, २० (सभी संस्करणों) में **इअं** अशुद्ध पाठभेद है। यहाँ पर ठीक इसके अनन्तर आनेवाले शौर० रूप **इअं** के अनुकरण पर आ गया है और यह **कला** के साथ एक ही संयोग में आया है। नपुंसकलिंग **इदं** महा०, अ०माग० और शौर० में सुरक्षित रह गया है और यह भी केवल कर्त्ताकारक में (कर्पूर० ९२, ६ [ठीक है !] ; सूय० ८७५ [ठीक है !] ; मृच्छ ३, २० [सी. (C.) हस्तलिपि के अनुसार **इमं** के स्थान में यही रूप पढ़ा जाना चाहिए] ; ७, ८ , ४२, ८ , शकु० १५, १ , विक्र० १९, १५ ; ४५, १५ ; ८६, ६) ; निम्नलिखित स्थलों में इसका प्रयोग कर्मकारक में हुआ है (मृच्छ० २४, २१ ; ३८, २३ ; ३९, १४ ; ४२, २ , ६१, २४ ; १०५, ९ ; १४७, १८ ; शकु० ५७, ८ ; ५८, १३)। विक्रमोर्वशी ४०, २० में जो **इदं** रूप आया है उसके स्थान में ए. (A.) हस्तलिपि के अनुसार **एदं** पढ़ा जाना चाहिए और विक्रमोर्वशी ४७, १० के **इदं** के बदले, जहाँ पुलिंग के लिए यह रूप आया है, बंबइया संस्करण ७९, ३ और शंकर पाडुरंग पण्डित द्वारा सम्पादित विक्रमोर्वशी के संस्करण के अनुसार **इमं** पढ़ा जाना चाहिए। माग० में **इदं, तं णिदं** में देखने में आया है जो ललितविग्रहराजनाटक ५६६, २ में मिलता है तथा **तं णेदं** का अशुद्ध रूप है। माग० में कर्त्ता- और कर्म- कारक नपुंसकलिंग में केवल **इमं** रूप है (मृच्छ० १०८, ११ , १६६, २४ , १६९, २२) जो पै० में कर्मकारक के काम में आता है (हेच० ४, ३२३)। — करण : महा० में **एण** रूप है (रावण० १४, ४७) ; अप० में **एं** रूप मिलता है (विक्र० ५८, ११)। — अपादान : महा० में **आ** है जो = वैदिक रूप **आत्** और यह **तावत्** की भाँति आया है[२]। — सम्बन्ध : महा० और जै०महा० में **अस्स = अस्य** है (हेच० ३, ७४ ; क्रम० ३, ५६ ; मार्क० पन्ना ४७ ; कर्पूर० ६,५ ; पार्वती० ३०,१५ ; कक्कुक शिलालेख ४, ५) ; सस्करणों और अन्य हस्तलिपियों में मिलनेवाले **जस्स** के स्थान में वेबर ने हाल ९७९ की टीका में यह रूप अशुद्ध दिया है। विक्रमोर्वशी २१, १ में शौर० में

भी यह रूप अशुद्ध आया है, यहाँ **—सूइदं अस्स** के स्थान मे बी. और पी. (B.P.) हस्तलिपियों के अनुसार और १८३३ के कलकतिया सस्करण मे साग **—सूइदस्स** पढा जाना चाहिए। यह रूप प्रबोधचन्द्रोदय ८,७ मे भी अशुद्ध दिया गया है। यहाँ **जदो स्स** (चारों सस्करणों में) के बदले **जदो से** पढा जाना चाहिए। — अधिकरण : **अस्सि** = **अस्मिन्** है (वर० ६, १५ ; हेच० ३, ७४ ; क्रम० ३,५६ ; मार्क० पन्ना ४७), अ०माग० मे यह पद्य में आया है (आयार० १, ४, १, २ ; सूय० ३२८ ; ५३७ ; ९३८ ; ९४१ ; ९५० ; उत्तर० २२) और गद्य में भी पाया जाता है (आयार० १, १, २, १ ; १, ५, ३, ३ ; २, २, १, २ ; २, २, ९ ; सूय० ६९५ ; विवाह० १६३ ; जीवा० ७९७ ; ८०१), जैसा पल्लवदानपत्र ७, ४६ में[1] **चसि** = **चास्मिन्** है। शौर० वाक्यांश **कणिट्ठमादामह अस्सि** (महावीर० ९८, ४) के स्थान मे बबइया सस्करण २१९, ८ के अनुसार **—मादामहस्स** पढा जाना चाहिए। यह शुद्ध रूप शौर० में पार्वतीपरिणय ५, १० और मल्लिकामारुतम् २१९, २३ मे आया है। — करण बहुवचन : **एहि** है, अ०माग० और ढक्की मे **एहिं** आया है (राय० २४९ ; मृच्छ० ३२, ७), स्त्रीलिंग में **आहि** रूप है। अधिकरणकारक में जै०महा० में **एसु** रूप है (हेच० ३, ७४, तीर्थ० ७, १६)। महा० में सम्बन्धकारक का रूप **एसिं** मिलता है (हाल ७७१)। — अधिकरणकारक के **अअस्मि** और **ईअम्मि** रूप इनके साथ ही सम्मिलित किये जाने चाहिए न कि व्याकरणकारों के (हेच० ३, ८४ ; सिंहराज० पन्ना २२) **एतद्** के साथ। त्रिविक्रम २, २, ८७ और सिंहराज० पन्ना २२ में **ईअम्मि** के स्थान मे इसका शुद्ध रूप **इअम्मि** देते है, जैसा हेमचन्द्र ३,८९ मे **अदस्** के प्राकृत रूप **अअम्मि** और **इअम्मि** देता है [भण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट के सस्करण में इस स्थान पर **अयम्मि** और **ईअम्मि** रूप हैं। —अनु०]। इनमे से **अअम्मि** का सम्बन्ध **अद्** = **अदस्** से भी लगाया जा सकता है और **अअ—** = **अय—** से भी (§ १२१) जैसा कि अ०माग० अधिकरणकारक एकवचन **अयंसि** (उत्तर० ४९८) तथा अ०माग० कर्त्ताकारक एकवचन नपुसकलिंग **अयं** (सूय० ५९४ ; इस विषय पर ऊपर भी देखिए) और कम से कम अर्थ के अनुसार अप० रूप **आअ—** भी प्रमाणित करता है। इस **आअ—** के निम्नलिखित रूप मिलते है : **आएण** = **अनेन**, **आअहों** = **अस्य**, **आअहिं** = **अस्मिन्** और **आअइ** = **इमानि** (हेच० ४, ३६५ ; ३८३, ३)। **इअम्मि** **इद** से सम्बन्धित है अर्थात् इसका सम्बन्ध **इअ—** = **इद्—** वर्ग से है। किसी **इ—**वर्ग का अधिकरणकारक का रूप **इह** है जिसका अर्थ (यहाँ) होता है और = **इत्थ** है (§ २६६ ; वर० ६, १७ ; हेच० ३, ७५ और ७६), अप० में यह पुलिंग और स्त्रीलिंग दोनों रूपों में चलता है = **अस्मिन्** और **अस्याम्**, अप० का **इत्थिँ** रूप जो सब प्राकृत बोलियों में **ऍत्थ** है = वैदिक **इत्था** (§ १०७) है ; और महा०, अ०माग० तथा जै०महा० रूप **ऍण्हि** जिसका अर्थ 'अभी' है (भाम० ४, ३३ ; हेच० २, १३४) और जो हस्तलिपियों में **इण्हि** लिखा गया है और ग्रंथों में भी कहीं कहीं आया है (गउड० ; हाल ; रावण० मे यह शब्द देखिए) वैसा ही अशुद्ध है जैसा **इत्थ** जिसे वररुचि ६, १७ और हेमचन्द्र ३, ७६ में स्पष्ट शब्दों में निषेध करते हैं। इसलिए

प्रबोधचन्द्रोदय ४६, ८ में स्वयं शौर० में और पै० में भी हेच० ४, ३२३ में आये हुए पत्थ के अनुसार उक्त दोनों में पत्थ [यह पत्थ बगला और कुमाउनी देथा, कुमाउनी पथा, पथां आदि का मूल रूप है। —अनु०] पढ़ा जाना चाहिए। माग० में एण्हि [कुमाउनी में ण का ल होकर, इसका रूप पेल (= अभी) हो गया है। —अनु०] केवल पद्य में आता है (मृच्छ० २९, २२ ; ४०, ६), शौर० में यह रूप है ही नहीं। इसके स्थान मे इदाणिं और दाणिं चलते हैं (हेच० ४, २७७ ; § १४४)। इस कारण हास्यार्णव २६, ११ और कर्पूर० ६२, १० तथा भारतीय संस्करणों में बहुधा इनका उपयोग अशुद्ध है। यह शब्द अप० में नहीं पाया जाता। उसमें एवँहि रूप है जिसका अर्थ 'अभी' है [भंडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट वाले संस्करण में एम्वहिं है जो कई कारणों से अशुद्ध लगता है। —अनु०]। देशीनाममाला १, ५० में आया हुआ रूप अज्झो (ब्लोख के कोश के उद्धृत) [जिसका अर्थ पद अर्थात् 'यह' है तथा इसका स्त्रीलिंग का रूप अज्झा [= एषा । —अनु०] जिनके द्वारा अपने सम्मुख उपस्थित व्यक्ति बताया जाता है, सम्बन्धकारक अस्य का *अह्य होकर निकाला गया होगा।

१. स्टाइनत्स, स्पेसिमेन नोटसंख्या ७७। — २. पिशल, बे० बाइत्रैगे १६, १७२। — ३. पिशल, ना० गे० वि० गो० १८९७, २११ और उसके बाद।

§ ४३०—अन वर्ग केवल करणकारक के रूप अणेण मे बचा रह गया है और वह भी अ०माग० के पद्य में (आयार० १, ६, ४, ३), जै०महा० में भी है (एर्से ३०, १४), शौर० में मिलता है (मृच्छ० ९५, २ ; शकु० १६३, ८ ; विक्र० ४१, ११) और माग० में भी पाया जाता है (मृच्छ० १४९, २४ ; मुद्रा० १९२, ३) ; अ०माग० में अणेणं रूप भी देखने में आता है (उत्तर० ४८७)। — सबसे अधिक काम में लाया जानेवाला वर्ग इम- है, जिसका स्त्रीलिंग का रूप इमा- अथवा इमी- होता है (हेच० ३, ३२); शौर० और माग० में केवल इमा- रूप पाया जाता है, जैसा कि कर्त्ता- और कर्म-कारक एक- और बहुवचन में प्राकृत की सभी बोलियों में पाया जाता है। यह एक- और बहुवचन के सभी कारकों में काम में लाया जाता है (गउड० में इदम् शब्द देखिए ; हाल ; रावण० , एर्सें० ; कालका० ; कप्प० ; नायाध० में इम- शब्द देखिए)। कर्त्ता एकवचन : इमो है ; अ०माग० इमे हो जाता है, पद्य में इमो भी देखने में आता है (उत्तर० २४७ ; दस०नि० ६५४, २६; नन्दी० ८४)। स्त्रीलिंग में इमा रूप होता है और इमिआ = *इमिका रूप भी चलता है (हेच० ३, ७३), नपुंसकलिंग में इमं पाया जाता है। शौर० और माग० में श्रेष्ठ लेखकों द्वारा ये रूप, स्वयं नपुंसकलिंग में भी नहीं (§ ४२९), काम में नहीं लाये जाते। बाद के बहुत से नाटकों में शौर० में इमो रूप भी पाया जाता है और इतना अधिक कि इनके संस्करणों की भूल का ध्यान भी छोड़ देना पड़ता है जैसा कि प्रसन्नराघव ११, ११ और १८ ; १२, ५ ; ९ ; १३ ; १४, ९ ; १७, ९ ; ३४, ६ ; ३९, १ ; ४५, १ : १२ ; १४ ; ४६, १ और २ आदि-आदि ; मुकुन्दानन्द भाण १४, १९ और १७ ; १९, १४ ; ७०, १९ ; उन्मत्तराघव ४, १२ ; वृषभानुजा ३३, ९ ; २६,

५ ; ४८, ३ आदि आदि मे मिलता है। ये बोली की परम्परा और व्याकरण की भूलें हैं। अप० में केवल नपुसकलिंग का रूप **इमु** है। अ०माग० में वाक्यांश **इम् पयारूव** में **इमे** का प्रयोग ठीक अर्थ की भाँति किया गया है (§ ४१९), जिस कारण लेखकों द्वारा **इम्' पयारूवा** (कर्त्ता एकवचन स्त्रीलिंग , उवास० § ११३ ; १६७ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए ; इस ग्रन्थ मे अन्यत्र यह रूप देखिए ; १६८]) और **इम्' पयारूवेणं** (उवास० § ७२ में अन्यत्र यह रूप देखिए) का भी प्रयोग किया गया है। इस पर § १७३ मे बताये गये नियम कि अनुनासिक ध्वनि से ध्वनित वर्ण के अनन्तर अनुस्वार का लोप हो जाता है, का भी बहुत प्रभाव पडा है। — कर्म पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुसकलिंग का रूप **इमं** है (पुलिंग : शौर० मे मृच्छ० ४५, १८ ; शकु० १४, २ ; रत्ना० २९७, २३ , नपुसकलिंग § ४२९) ; अप० में नपुंसकलिंग मे **इमु** रूप है (हेच०; क्रम० ५, १०)। — करण पुलिंग और नपुसकलिंग : महा० मे **इमेण** है ; अ०माग० में **इमेणं** और **इमेण** मिलते हैं ; जै०महा० में **इमेण** और **इमिणा** चलते हैं ; शौर० और माग० में केवल **इमिणा** रूप पाया जाता है (शौर० के लिए : मृच्छ० २४, १६ ; शकु० १६, १०; विक्र० २४, १० ; माग० के लिए : वेणी० ३५, १) ; स्त्रीलिंग : महा० मे **इमीए** और **इमीअ** रूप हैं (शकु० १०१, १३) ; शौर० में **इमाए** रूप हैं (मृच्छ० ९०, १६; शकु० ८१, १० ; रत्ना० २९१, २)। विद्धशालभंजिका ९६, ८ में अशुद्ध रूप **इमीअ** मिलता है। यह इसी ग्रन्थ में अन्यत्र मिलनेवाले रूप के अनुसार **इए** पढा जाना चाहिए, जैसा कि **णिज्झाअदि** = **निर्ध्यायति** से पता लगता है। — अपादान : अ०माग० में (सूय० ६२० और ६३५), जै०महा० मे **इमाओ** रूप है, शौर० और माग० में **इमादो** मिलता है (शौर० मे : मृच्छ० १२, २५ ; ७४, २५ ; मुद्रा० ५७, ३ , रत्ना० २९९, ११ ; माग० में : ललित० ५६५, ८), यही रूप स्त्रीलिंग मे भी काम में आता है (अ०माग० में : आयार० १, १, १, ४ , शौर० मे रत्ना० ३१५, १२ ; माग० मे : मृच्छ० १६२, २३)। शौर० **इमाए** के सम्बन्ध मे (विक्र० १७, १) यह वर्णन लागू होता है जो § ३७५ मे किया गया है। — सम्बन्ध **इमस्स** है (शौर० में : १४८, १२ ; शकु० १०८, १ ; विक्र० ४५, ४) ; माग० मे **इमश्श** चलता है (मृच्छ० ३२, १७ ; १५२, ६ ; शकु० ११८, २) ; स्त्रीलिंग : महा० में **इमीए** है और **इमीअ** भी चलता है (कर्पूर० २७, १२) , अ०माग० में **इमीसे** रूप है ; जै०महा० में **इमीए** और **इमाए** का प्रचलन है ; शौर० में **इमाए** आया है (शकु० १६८, १४)। — अधिकरण पुलिंग और नपुसकलिंग : महा० में **इमम्मि** है ; अ०माग० के पद्य में **इमम्मि** मिलता है (उत्तर० १८० ; आयार० २, १६,१२), अ०माग० गद्य में **इमंसि** चलता है (आयार० २, ३, १, २ ; २, ५, २, ७ ; विवाह० १२७५ ; ओव० § १०५) ; शौर० में **इमस्सिं** पाया जाता है (मृच्छ० ६५, ५ ; शकु० ३६, १६ ; ५३, ८ ; विक्र० १५, ४) ; माग० में **इमश्शिं** है (वेणी० ३३, ७) , स्त्रीलिंग : अ०माग० में **इमीसे** है (विवाह० ८१ और उसके बाद ; उवास० § ७४ ; २५३ ; २५७ ; ठाणग० ३१ और ७९ ; सम० ६६) , जै०महा० में **इमाइ** चलता है (ऋषभ० ७ ; इस स्थान

में आये हुए **इमाइं** के स्थान में बंबइया संस्करण के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए, जैसा कि एत्सें० ३५, १८ में **इमाएं** के लिए भी **इमाइ** रूप पढ़ा जाना चाहिए) ; शौर० में **इमस्सि** पाया जाता है (शकु० १८, ५) जिसके स्थान में **इमाए** की प्रतीक्षा की जानी चाहिए। — बहुवचन : कर्त्ता पुलिंग में **इमे** है (शौर० में : मृच्छ० ६९, १८ ; विक्र० ४१, १९ ; माल्ती० १२५, ५ ; माग० में : मृच्छ० ९९, ८) ; स्त्रीलिंग : **इमाओ** रूप आता है (शौर० में : मृच्छ० ७०, १ और ७१, ८ में भी पाठ के **इमा** के स्थान में **इमाओ** पढ़ा जाना चाहिए) ; महा० में **इमा** भी चलता है (कर्पूर० १०१, ४) और **इमीउ** रूप भी मिलता है (कर्पूर० १००, ६) ; नपुंसकलिंग : **इमाइं** होता है (शौर० में : मृच्छ० ६९, १६ ; माल्ती० १२५, ३), *अ०माग० और जै०महा० में* **इमाणि** *रूप भी मिलता है (आयार० २, २, २, १० ;* आव०एर्त्सें० ३१, २१)। — कर्म पुलिंग : **इमे** रूप है ; स्त्रीलिंग में जै०महा० में **इमीओ** मिलता है ; करण पुलिंग और नपुंसकलिंग : महा० में **इमेहि** है ; अ०माग० और शौर० में **इमेहिं** चलता है (सूय० ७७८ ; शकु० ६२, ६ ; विक्र० ४५, ९ ; रत्ना० २९६, २३) ; स्त्रीलिंग में अ०माग० में **इमाहिं** रूप मिलता है (आयार० २, २, ३, १८ ; २, ७, २, ७) — *सम्बन्ध पुलिंग और नपुंसकलिंग में महा० में* **इमाण** है और अ०माग० में **इमेसिं** (हेच० ३, ६१) ; स्त्रीलिंग में महा० में **इमाणं** पाया जाता है और **इमीणं** भी (हेच० ३, ३२) ; अ०माग० में **इमासिं** रूप है (उवास० § २३८) ; शौर० में **इमाणं** मिलता है (शकु० ११९, ३ ; वृषभ० १५, ८)। — अधिकरण : महा० में **इमेसु** है ; शौर० में **इमेसुं** (शकु० ५३, ९ ; विक्र० ५२, १) और **इमेसु** भी देखने में आता है (माल्ती० १२५, १)।

§ ४३१—**एन-** वर्ग केवल कर्मकारक एकवचन में पाया जाता है और वह भी केवल महा०, शौर० और माग० में, *किन्तु इनमें भी बहुत कम देखने में आता है :* पुलिंग– महा० में **एणं** है (रावण० ५, ६) ; शौर० में भी यही रूप है (मृच्छ० ५१, ९), माग० में भी **एणं** है (मुद्रा० २६५, १), स्त्रीलिंग– भी **एणं** है, शौर० में यह रूप चलता है (मृच्छ० २४, २ , शकार की माग० बोली के शब्दों को दुहराने में इस रूप का व्यवहार किया गया है), माग० में (मृच्छ० ३१, १२ ; १२४, १०)। पन्ना ४७ में मार्कंडेय बताता है कि इसके करणकारक एकवचन के रूप भी होते हैं [**एइणा, एएण** वा ५, ७५ । —अनु०] किन्तु ये दोनों रूप नपुंसकलिंग के हैं। *ध्वनिबल (एनं) के प्रभाव अथवा प्राचीन ध्वनिबलहीन रूप एन के प्रभाव के अधीन* महा०, अ०माग० और जै०महा० में **इण** रूप बन गया है, जिसका कर्त्ता– और कर्म– कारक एकवचन नपुंसकलिंग का रूप **इणं** है (वर० ६, १८ ; हेच० ३, ७९ ; क्रम० ३, ५७) जो बहुत चलता है और विशेषकर अ०माग० में (गउड० में **इदम्** शब्द देखिए ; हाल ; एर्त्सें०, कालका० में **इणं** शब्द देखिए ; आयार० १, १, २, २ और ४ ; १, १, ३, ४ , ५, ४ और ६, ३ तथा ७, २ ; १, २, ४, ३ , १, २, ५, ५ ; १, ३, ३, १ ; १, ४, २, २ आदि आदि ; उत्तर० २८१ और उसके बाद ; ३५१ ; ३५५ ; ओव० § ९४)। § ८१ और १७३ की तुलना कीजिए। अ०माग० में **इणं**

रूप कर्मकारक पुलिंग में भी काम में आता है (सूय० १४२ ; ३०७)। सम्भवतः यहाँ **इमं** पढा जाना चाहिए। महा०, अ०माग० और जै०महा० में कर्त्ता— और कर्मकारक नपुसकलिंग में **इणमो** भी काम में लाया जाता है (वर० ६, १८ ; हेच० ३, ७९ ; क्रम० ३, ५७ , मार्क० पन्ना ४७ ; गउड० में **इदम्** शब्द देखिए और **एतत्** भी ; सूय० २५९ ; दस०नि० ६५८, ३० ; ६६१, २७ ; ओव० § १२४ ; आव०एर्से० ७, २१ और २९ ; १३, ११)। दसवेयालियनिज्जुत्ति ६४७, १२ में इसका प्रयोग बहुवचन में भी किया गया है : उसमें **इणमो उदाहरणा** आया है। आवश्यक एर्से लुगन में लौयमान ने **इणम्**— ओ दिया है जिसका शुद्ध होना कठिन है। इस रूप का स्पष्टीकरण अनिश्चित है। इनके अतिरिक्त **इण** के द्वारा यह वर्ग दुर्बल होकर **ण**— और पै० **न** बन गया है, जो कर्मकारक एकवचन पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुसकलिंग कर्मकारक बहुवचन पुलिंग, करणकारक एकवचन और बहुवचन पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुसकलिंग में काम में लाया जाता है (हेच० ३, ७० और ७७)। कर्मकारक एकवचन पुलिंग में **णं** रूप भी मिलता है (महा० मे : गउड० १०७१ ; हाल १३१ ; रावण० में **ण** शब्द देखिए ; अ०माग० में उत्तर० ६०१ और ६७० ; शौर० में : मृच्छ० ६८, ५ ; शकु० १२, २ ; विक्र० १५, १३ ; माग० में : मृच्छ० १६४, ११ ; प्रबोध० ३२, ११ ; ५३, १२ ; अप० में : हेच० ४, ३९६), स्त्रीलिंग में भी **णं** होता है (महा० में : हाल ; रावण० मे **ण** शब्द देखिए ; शौर० मे : शकु० ७७, ९ ; विक्र० १२, १९ ; माग० मे : मृच्छ० १२३, ४ , १३२, २३) ; नपुसकलिंग मे भी **णं** है (महा० में : रावण० में **ण** शब्द देखिए ; शौर० में मृच्छ० ४५, २५ , शकु० ११, १ ; विक्र० ३१, ९ : माग० में : मृच्छ० ९६, १२ ; ढक्की मे : मृच्छ० ३१, ९)। — करणकारक पुलिंग और नपुसकलिंग : महा०, जै०महा० और अप० में **णेण** रूप है (रावण० ; एर्से० में **ण** शब्द देखिए ; आव०एर्से० ११, २१ ; १५, ३१ , १६, १५ ; २८, १० ; द्वार० ५०१, ३ ; पिंगल १, १७), पै० में **नेन** मिलता है (हेच० ४, ३२२)[1] ; स्त्रीलिंग में **णाए** चलता है (हेच० ३, ७० ; एर्से० में **ण** शब्द देखिए) ; पै० में **नाए** होता है (हेच० ४, ३२२)। —बहुवचन : कर्मकारक में **णे** है (हेच० ३, ७७)। — करणकारक पुलिंग और नपुसकलिंग जै०महा० में **णेहिं** है (आव०एर्से० १८, ४ ; एर्से० ३, २८ ; द्वार० ५००, ३१ और ३५ ; ५०५, २७) ; स्त्रीलिंग में **णाहिं** पाया जाता है (हेच० ३, ७०)। ४, ३२२ मे हेमचन्द्र के कथनानुसार यह वर्ग पै० मे करणकारक एकवचन तक ही सीमित है। शौर० और माग० मे यह वर्ग सुसम्पादित और सुआलोचित संस्करणों में केवल कर्मकारक एकवचन में दिखाई देता है ; शकुन्तला के बोएटलिंक के संस्करण ६८, १० और १०८, ८ में पाठभेद **णेण** अशुद्ध है।

1. तत्थ च नेन। कतसिना नेन, तत्थ च नेन कतसिनानेन पढा जाना चाहिए = तत्र च तेन कृतस्नानेन [हेमचन्द्र के भण्डारकर इन्स्टिट्यूटवाले संस्करण में तत्थ च नेन कत- सिनानेन छपा है जो शुद्ध है। —अनु०]। § १३३ की तुलना कीजिए।

§ ४३२—सर्वनाम अदस् की रूपावली वररुचि ६, २३ ; हेच० ३, ८८ और

मार्कंडेय पन्ना ४७ के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से की जाती है : एकवचन– कर्त्ता पुलिंग और स्त्रीलिंग : **अमू** है , नपुंसकलिंग में **अमुं** पाया जाता है ; कर्मकारक में भी **अमुं** रूप मिलता है ; करण– **अमुणा** है ; अपादान– **अमूओ**, **अमूउ** और **अमूहिंतो** हैं ; सम्बन्धकारक **अमुणो** तथा **अमुस्स** रूप चलते हैं ; अधिकरण– **अमुम्मि** पाया जाता है ; बहुवचन : कर्त्ता– **अमुणो** है, जैसा वर० ६, २३ के **अमूओ** के स्थान में भी यही रूप पढ़ा जाना चाहिए (वर० में अन्यत्र यह रूप देखिए), स्त्रीलिंग में *अमूउ* तथा *अमूओ* रूप चलते हैं ; नपुंसकलिंग में **अमूणि** और **अमूइं** पाये जाते हैं , करणकारक **अमूहि** है ; अपादानकारक में **अमूहिंतो** और **अमूसुंतो** रूप मिलते हैं, सम्बन्ध– **अमूणा** और अधिकरण– **अमूसु** हैं । ग्रन्थों में बहुत कम रूपों के प्रमाण मिलते हैं । अ०माग० कर्त्ता एकवचन असौ = **असौ** है (सूय० ७४), **अमुगे** = *अमुकः है (आयार० २, ४, १, ९ ; नन्दी० ३६१ ; ३६३ ; ३६४), जै०महा० में **अमुगो** रूप मिलता है (आव०एर्से० ३४, ३०) ; अप० में कर्मकारक पुलिंग का रूप **अमुं** है (हेच० ४, ४३९, ३) ; शौर० में नपुंसकलिंग का रूप **अमुं** (मृच्छ० ७०,२४) , करणकारक में महा० में **अमुणा** है (कर्पूर० २७,४) ; अ०माग० में अधिकरणकारक का रूप **अमुगम्मि** है = *अमुकस्मिन् है (पण्हा० १३०) ; बहुवचन : कर्त्ता पुलिंग—महा० में **अमी** है (गउड० २४६) । वररुचि ६, २४ और हेच० ३, ८७ के अनुसार तीनों लिंगों में कर्त्ताकारक एकवचन का रूप **अह** भी होता है : **अह पुरिसो, अह महिला, अह वणं** । प्राकृत साहित्य से उद्धृत आरम्भ के दोनों उदाहरण जो हेच० ने प्रमाण के रूप में दिये हैं उनका मूल भी मिलता है = गउडवहो ८९२ और रावणवहो ३,१६, इनमें **अह** = **अथ**, इसी भाँति यह रूप गउडवहो में सर्वत्र आया है (इस ग्रन्थ में **एतत्** देखिए) और हाल में भी (इस ग्रन्थ में **अह** देखिए) और टीकाकार इसे = **अयम् , इयम् , एल, एषा, असौ** मानते हैं, जिससे यह निदान निकलता है कि एक सर्वनाम **अह** मानने की कहीं कोई आवश्यकता नहीं है । क्रमदीश्वर ३, ५८ में कर्त्ताकारक एकवचन का रूप **अहो** दिया गया है जो § २६४ के अनुसार = **असौ** हो सकता है । अप० में कर्त्ता– और कर्मकारक बहुवचन में **ओइ** रूप मिलता है [यह **अह** कुछ अन्य कारणों के प्रभाव से हिन्दी में **यह** और **वह** बन गया है । **ओइ** का कुमाउनी रूप **वी** है । —अनु०] (हेच० ३, ३६४) ; यह = *अये है जो अव– वर्ग से निकला है, जो ईरानी भाषाओं में काम में आता है । —अधिकरण एकवचन **अअम्मि** और **इअम्मि** के विषय में § ४२९ देखिए ।

§ ४३३—शेष सब सर्वनामों की रूपावली § ४२४ तथा ४२५ के अनुसार चलती है । उदाहरणार्थ, अपादानकारक एकवचन में लेखक महा० में **पराहिंतो** = **परस्मात्** लिखते हैं (गउड० ९७३), अ०माग० म **सव्वाओ** = **सर्वस्मात्** है (सूय० ७४३) और *स्त्रीलिंग में भी यही होता है (आयार० १,१,१,४)* , *अ०माग० में स्त्रीलिंग* का रूप **अन्नयरीओ** आया है (आयार० १, १, १, २ और ४) , अधिकरणकारक में जै०महा० में **अन्नम्मि** मिलता है (आव०एर्से० २५, ५ ; सगर १०, १५) , शौर० में **अण्णस्सिं** = **अन्यस्मिन्** (महावीर० ९८,१४, मालती० १११, ७ ; रत्ना० २९८,

२४) ; शौर० में **कदरस्सिं** = **कतरस्मिन्** (अनर्घ० २७१, ९), किन्तु अ०माग० में **कयरंसि** (विवाह० २२७) और **कयरम्मि** रूप पाये जाते हैं (ओव० § १५६ और उसके बाद) ; शौर० में **कदमस्सिं** = **कतमस्मिन्** है (विक्र० ३५, १३) ; शौर० में **अवरस्सिं** = **अपरस्मिन्** (चैतन्य० ४०,१०) ; शौर० मे **परस्सिं** = **परस्मिन्** है (ललित० ५६७,१८), किन्तु अ०माग० में **परंसि** रूप है (सूय० ७५०), इसका रूप जै०शौर० में **परम्मि** है (पव० ३८७,२५); अ०माग० में **संसि** = **स्वस्मिन्** (विवाह० १२५७) तथा इसके साथ साथ अपादानकारक का रूप **साओ** = **स्वात्** है (विवाग० ८४) ; अ०माग० में **अन्नयरे** = **अन्यतरस्मिन्** भी देखने में आता है (ओव० § १५७) । बहुवचन : कर्म—पल्लवदानपत्रों और अ०माग० मे **अन्ने** है और जै०शौर० तथा शौर० मे **अण्णे** = **अन्यान्** है (पल्लवदानपत्र ५, ६ ; ७,४३ ; आयार० १, १, ६, ३ ; १, १, ७, २ ; पव० ३८३, २४ ; बाल० २२९, ९) ; अपादान– अ०माग० में **कयरेहिंतो** = **कतरेभ्यः** (पण्णव० १६० और उसके बाद; विवाह० २६०; २६२; ४६० ; १०५७ और उसके बाद), **सएहिं** = **स्वकेभ्यः** , **सव्वेहिं** = **सर्वेभ्यः** है (§ ३६९) ; सम्बन्ध– अ०माग० और जै०महा० मे **अन्नेसिं** = **अन्येषाम्** (आयार० १, १, १, ४ और ७, १ ; १, ५, ६, १ ; १, ७, २, ३ ; १, ८, १, १६ ; सूय० ३८७ और ६६३ ; नायाध० ११३८ और ११४० ; कप्प० § १४ ; आव०एर्त्से० १४, ७) ; अ०माग० और जै०महा० मे **सव्वेसिं** = **सर्वेषाम्** (आयार० १, १, ६, २ ; १, २, ३, ४ ; १, ४, २, ६ ; १,६,५, ३ ; उत्तर० ६२५ और ७९७ ; आव०एर्त्से० १४,१८) ; अ०माग० और जै०शौर० मे **परेसिं** = **परेषां** (उत्तर० ६२५ और ७९७; पव० ३८५, ६५), किन्तु महा० मे **अण्णाणां** रूप है (मुद्रा० ८३,३ ; कर्पूर० १, २), शौर० में स्त्रीलिंग का रूप भी यही है (प्रिय० २४,८) ; शौर० मे **सव्वाणं** रूप मिलता है (विक्र० ८३, ८) ; **अवराणं** = **अपरेषाम्** है (मृच्छ० ६९, १०) । हेच० ३, ६१ के अनुसार **अण्णेसिं सव्वेसिं** आदि रूप स्त्रीलिंग मे भी काम में लाये जाते हैं और इस नियम के अनुसार जै०शौर० मे **सव्वेहिं इत्थीणं** = **सर्वेषाम् स्त्रीणाम्** है (कत्तिगे० ४०३, ३८४) । अ०माग० और जै०महा० मे नियमित रूप **अण्णासिं** और **सव्वासिं** हैं। अप० मे, अधिकरण बहुवचन का रूप **अण्णाहिँ** है (हेच० ४,४२२, ९ [भंडारकर इन्स्टिट्यूट के सस्करण में यह रूप **अण्णहँ** और **अण्णाहिं** छपा है और ४, ४२२, ८ में है —अनु० ।]) । कति के विषय मे § ४४९ देखिए।

§ ४३४—**आत्मन्** (§ ४०१) और **भवत्** (§ ३९६) संस्कृत की भाँति ही काम में लाये जाते हैं । सर्वनामों जिन रूपों के अन्त मे **ईय** लगता है, उनमें से **मईअ**=**मदीय** का उल्लेख हेच० ने २, १४७ में किया है । इन रूपों के स्थान मे अन्यथा **केर**, **केरअ** और **केरक** काम मे लाये जाते हैं (§ १६७ [इसके उदाहरण हेच० ने **युष्मदीयः तुम्हकेरो** ॥ **अस्मदीयः** । **अम्हकेरो** दिये है । —अनु०] । **कार्य** का **क्कार** रूप बना और इससे अप० में **महार** और **महारउ** = ***महक्कार** निकले । यह रूप सम्बन्धकारक एकवचन के रूप **मह** (§ ४१८) +**कार** से बना (हेच० ४, ३५१ ; ३५८, १; ४३४) , इसका अर्थ **मदीय** है । इसी भाँति **तुहार** = **त्वदीय** (हेच० ४, ४३४),

अम्हार = अस्मदीय (हेच० ३४५ और ४३४) है। अप० में हमार (पिंगल २, १२१) छन्द की मात्राएं ठीक करने के लिए हम्मार भी इसी अम्हार से निकले हैं (पिंगल २,४३)। यह रूप *म्हार (§ १४१) पार करके बना है (§ १३२, हमार), *महार (§ ३५४)। अप० रूप तोहर = युष्माकम् (पिंगल २,२५) छन्द की मात्राएं भग न होने देने के लिए *तोहार के स्थान में आया है और तुम्हार, *तों म्हार (§ १२५), तों हार, तोहार हुआ है (§ ७६ ; ८९ ; १२७), ठीक उसी भाँति जिस प्रकार कूष्माण्डी से कोहण्डी बना है (§ १२७)। –दृश् ,–दृश और –दृक्ष से निकले नाना रूपों के लिए § १२१ ; १२२ ; २४५ ; २६२ देखिए ; ऍत्तिअ, इत्तिअ, ऍत्तिल, ऍत्तुल, तें त्तिअ, तित्तिअ, तें त्तिल, तें त्तुल, जें त्तिअ, जित्तअ, जें त्तिल, जेत्तुल, कें त्तिअ, कित्तिअ, कें त्तिल, कित्तिल के विषय में § १५३ देखिए ; अप० साह = शाश्वत् के विषय में § ६४ और २६२ देखिए ; अ०माग० एवइय और केवइय के विषय में § १४९ देखिए। इयत् के अर्थ में अप० एवड्ड (हेच० ४,४०८) = *अयवड्ड = जै०महा० एवड्ड (§ १४९) जैसे कि केवड्ड (हेच० ४, ४०८) = *कयवड्ड [एवढ़ा, तेवढा रूप मराठी में चलते हैं। —अनु०]। इनके अनुसरण में जेवड्ड तेवड्ड रूप बने हैं (हेच० ४, ३९५, ७ ; ४०७)। मृच्छकटिक १६४, ५ में माग० रूप एवड्ढे के स्थान में एवड्डे पढ़ा जाना चाहिए।

इ—संख्याशब्द

§ ४३५—१ सभी प्राकृत बोलियों में ऍक = एक है (§ ९१), स्त्रीलिंग का रूप ऍक्का है, अ०माग० और जै०महा० में बहुधा एग चलता है। इसकी रूपावली सर्वनामों की भाँति चलती है। इस नियम से महा० में अधिकरण एकवचन का रूप ऍक्कम्मि मिलता है (गउड० १५३ ; ४४१ ; हाल ८२७), सज्ञाशब्दों की रूपावली के अनुसार बना रूप ऍक्के (हाल ८४६) बहुत ही कम काम में आता है ; अ०माग० में एगंसि चलता है (विवाह० १३९४ और उसके बाद) और जै०महा० में एगंमि भी आया है (पण्णव० ५२१ , एर्त्सें० २, २१) ; अ०माग० और जै०महा० में एगम्मि रूप भी है (विवाह० ९२२ और उसके बाद, ९२८; ९३१; १६५८ और उसके बाद ; १७३६ ; १७५२ ; आव०एर्त्सें० १०, २२ ; ११, १२ और १८ ; १७, २२ ; १९, ९ और १८; २२,१० आदि आदि); जै०महा० ऍक्कम्मि भी आया है (आव०एर्त्सें० २७, १९) ; शौर० में ऍक्कस्सिं है (कर्पूर० १९,७) ; माग० में ऍक्कस्सिं हो जाता है (मृच्छ० ८१, १२) ; अप० में ऍक्कहिँ चलता है (हेच० ४, ३५७, २), स्त्रीलिंग में भी यही रूप चलता है (हेच० ४,४२२,९) ; बहुवचन : कर्त्ता पुलिंग में महा० और जै०महा० रूप एक्के है (गउड० ७२१ ; ८६६ ; ९०९ ; कालका० २७१, २२) ; अ०माग० में एगे है (आयार० १,१,२, २; ३,४ ; ४,६ ; सूय० ७४ ; २०४ ; २४० ; ४३८; ५९७; उत्तर० २१९; § १७४ की तुलना कीजिए); सम्बन्ध पुलिंग में अ०माग० रूप एगेसिं है (आयार० १, १, १, १ और २ ; १, १,२,४ ; १, २,१, २ और ४ ; १,२,१,३ आदि-आदि; सूय० ४६ और ८१) और एगेसिं भी चलता है (सूय० १९ ;

३५ ; ७४)। जो रूप अधिक काम में नहीं आते पर कई बार पाये जाते हैं उनमें से नीचे लिखे रूपों का उल्लेख होना चाहिए : करण एकवचन– अ०माग० में **ऍक्केणं** आया है (विवाह० २५८ और उसके बाद), जै०महा० में **एगेणं** पाया जाता है (आव०एर्से० ३३, २४) ; सम्बन्ध– माग० में **एक्काह** चलता है (मृच्छ० ३२, ४)। जै०शौर० और ढक्की साहित्य में **एक्कं** पाया जाता है (कत्तिगे० ४०३, ३७० और ३७७ ; मृच्छ० ३०, ५)। *सब संख्याशब्दों से अधिक* **एक्क–** *वर्ग मिलता है,* अ०माग० और जै०महा० में **एग–** वर्ग भी है ; किन्तु **एक्का** रूप भी मिलता है। अ०माग० और जै०महा० में **एगा–** वर्ग भी पाया जाता है, अप० में **एआ–,एग्गा–, ऍक्कारस** में मिलते हैं, अ०माग० और जै०महा० में **एगारस** होता है, अप० में **एआरह** और **ऍग्गारह** (= ११) और **ऍक्कारसम** (= ग्यारहवाँ) रूप पाये जाते हैं (§ ४४३ और ४४९) ; अ०माग० में **एक्काणउइं** (= ९१) रूप भी है (§ ४४६)। **एक्का–** का आ § ७० के अनुसार स्पष्ट होता है। पल्लवदानपत्र में **अनेक** रूप पाया जाता है (६, १०) जिसमें के क का द्वितीकरण नहीं होता : महा० और शौर० में **अणेअ** रूप मिलता है (गउड० ; हाल ; मृच्छ० २८, ८ ; ७१, १६ ; ७३, ८) ; अ०माग० और जै०महा० में **अणेग** चलता है (विवाह० १४५ ; १२८५ ; नायाध० ; कप्प०; एर्से०; कालका०) ; जै०महा० में **अणेय** का प्रचलन है (एर्से०); अ०माग० में **'णेग** भी दिखाई देता है (§ १७१) ; शौर० में **अणेअसो = अनेकशः** (शकु० १६०, ३) ; अ०माग० में **'णेगसो** भी है।

§ ४३६—२ कर्त्ता– और कर्मकारक में **दो, दुवे, वे** बोला जाता है, नपुंसकलिंग में **दोण्णि, दुण्णि, वेण्णि** और **विण्णि** होता है (वर० ६, ५७, यहाँ **दोणि** पाठ है ; चण्ड० १,१० अ पेज ४१ ; हेच० ३, ११९ और १२० ; क्रम० ३, ८५ और ८६ ; मार्क० पन्ना ४९)[१]। **दो = द्वौ** और **दुवे** तथा **वे = द्वे** (नपुंसक) पुराने द्विवचन हैं किन्तु जिनकी रूपावली बहुवचन की भाँति चलती और इसी भाँति काम में आती थी। कर्त्ता– और कर्मकारक का रूप **दो** महा० में बहुत अधिक चलता है (गउड०; हाल ; रावण०), अ०माग० में भी यही आता है (उवास० में दु शब्द देखिए ; कप्प० में भी यह शब्द देखिए ; वेबर, भग० १, ४२४), जै०महा० में भी (एर्से०)[२]; अप० में भी इसके अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं (पिंगल १, ५) और दाक्षि० में भी (मृच्छ० १०१, १३), शौर० और माग० में अभी तक इसके उदाहरण और प्रमाण नहीं मिले हैं। शौर० **दो वि** (प्रसन्न० ८४,४ ; बाल० २१६,२० ; २४६,५) **दुवे वि** के स्थान *में अशुद्ध रूप हैं, शकुन्तला १०६, १ में शुद्ध रूप* **दुवे वि** *है।* **दो** *सभी लिंगों के काम* में लाया जाता है। स्त्रीलिंग में यह उदाहरणार्थ महा० **दो तिण्णि** [**महिलाओ**] में मिलता है (हाल ५८७), **दो तिण्णि रेहा = द्विया रेखाः** (हाल २०६) ; अ०माग० में **दो गुहाओ = द्वे गुहे, दो देवयाओ = द्वे देवते, दो महाणईओ = द्वे महानद्यौ, दो कत्तियाओ दो मिगसिराओ दो अद्दाओ = द्वे कार्त्तिकेयौ द्वे रोहिण्यौ द्वे मृगसिरसी द्वे आर्द्रे** है (ठाणग० ७३ ; ७५ ; ७६; ७७; ७९; ८१), **दो दिसाओ = द्वे दिशौ** है (कर्मकारक, ठाणग० ५५); नपुंसकलिंग में : महा० में **दो वि दुक्खाइं =**

द्वे अपि दुक्खे (हाल २४) है ; अ०माग० दो दो पयाणि = द्वे द्वे पदे (ठाणंग० २७), दो सयाइं = द्वे शते (सम० १५७), दो खुड्डाइं भवग्गहणाइं समयूणाइं = द्वे क्षुद्रे भवग्रहणे समयोने है (जीवा० १०२७ और ११११०), दो नामधेज्जा = द्वे नामधेये है (आयार० २, १५, १५)। समास के आरम्भ में भी दो आता है : महा० में दोअंगुलअ = द्वांगुलक है (हाल ६२२), अ०माग० और जै०महा० में दोमासिय = द्विमासिक है (आयार० २, १, १, १ ; सूय० ७५८ ; (विवाह० १६६; तीर्थ० ४, ६) ; अ०माग० में दोकिरिया = द्विक्रिया है (विवाह० ५२ ; ओव० § १२२) ; महा० और जै०महा० में दोजीह = द्विजिह्व है (प्रबोध० २८९, १ ; एर्त्से० ८२ ; १७), दोमुह = द्विमुख है (एर्त्से० ३९, २१), दोवयण = द्विवदन है (हेच० १, ९४; एर्त्से० ३९, १३) । ऐसा ही एक शब्द दोघट्ट है (= हाथी : पाइय० ९ ; वर० ४, ३३ पर प्राकृतमंजरी ; एर्त्से० ३५, २८ ; बाल० ५०, १ ; ८६, १२), यह शब्द शौर० में मल्लिकामारुतम् ५५, ७ में आया है और १४४, १० में माग० में है जिसका रूप दो ँघट्ट है, देशीनाममाला ५, ४४ में दुग्घुट्ट रूप आया है और त्रिविक्रम २, १, ३० में दुग्घो ँट्ट दिया गया है ; यह घट्ट–, घुट्ट–, घो ँट्ट (= पीना)[1] से बना है ; दोहृद, दोहळ (§ २२२ और २४४) = *द्विहृद[2] है । ऐसे स्थानों में दो के साथ-साथ बहुधा दु आता है । यह उन समासों से निकला है जिनमें ध्वनिबल पहले वर्ण पर नहीं पड़ता । इस नियम के अनुसार दुउण = द्विगुर्ण है (रावण० ११, ४७); अ०माग० में दुगुण रूप है (आयार० २, २, २, ७ ; सूय० २४१; विवाह० ९६९); आइ = द्विजातिः है (हेच० १, ९४ ; २, ७९) ; अ०माग० और जै०महा० में दुपय = द्विपद है (आयार० २, १, ११, ९ ; उवास० § ४९ ; कालका० २६५, ४ और ५ ; तीन (III) ५११, ३२) ; अ०माग० में दुविह = द्विविध है (ठाणंग० ४४ ; आयार० १, ७, ८, २ ; १, ८, १, १५ ; उवास०), दुखुर = द्विखुर (उत्तर० १०७५ ; टीका देखिए ; जीवा० ७९), दुपक्ख = द्विपक्ष (सूय० ४५६), दु-य-आहेण = द्व्यह्नेन (आयार० २, ५, २, ३ और ४), दु य्-आहं = द्व्यहम् (जीवा० २६१ ; २८६ ; २९५) और दुहत्थ = द्विहस्त (ठाणंग० २०८) है ; जै०महा० में दुगाउय = द्विगव्यूत और दु-य-अंगुल = द्व्यंगुल है (एर्त्से० में दु शब्द देखिए) । महा० दोहाइय और दोहाइज्जइ = द्विधाकृत और द्विधक्रियते (रावण० में दुहा शब्द देखिए), अ०माग० में दोधार = द्विधाकार आया है (ठाणंग० ४०१), अ०माग० में दुहा = द्विधा है (सूय० ३५१ और ३५८) ; महा० दुहाइय रूप भी मिलता है (रावण० ८, १०६), अ०माग० में दुहाकिज्जमाण है (विवाह० ११७) ; अ०माग० में दुहओ = *द्विधातस् (=दो प्रकार का ; दो मार्गों में : आयार० १, ३, ३, ५ ; १, ७, ८, ४ ; उत्तर० २३४ ; सूय० ३५ और ६४० ; ठाणंग० १८६ ; विवाह० १८१ और २८२) आदि आदि । द्वि की नियमित सन्तान बि (§ ३००) और दि हैं जो कुछ शब्दों में सदा दिखाई देते हैं जैसे, द्विज और जै०महा० दिय = द्विज और दिरय = द्विरद है (§ २९८) और यह रूप शौर० तथा माग० में समवाचक संख्याशब्दों को छोड़ सर्वत्र मिलता है

(§ ४४९)। बोएटलिक द्वारा सपादित शकु० ७८, ८ में शौर० का दुधा रूप अशुद्ध है। इसी भाँति दुउणिअ रूप है (मल्लिका० २२४, ५) जो दिउणिद पढ़ा जाना चाहिए। नपुसकलिंग का रूप दो`ण्णि, जो कभी कभी दुण्णि रूप में भी आता है, तिण्णि के अनुकरण पर बना है[४]। यह पुलिंग और स्त्रीलिंग के साथ भी लगाया जाता है जैसे, महा० पुलिंग रूप दो`ण्णि वि भिण्णसरूआ = द्वाव् अपि भिन्नस्वरूपौ है (गउड० ४५०), दो`ण्णि वि बाहू = द्वाव् अपि बाहू (हेच० ३, १४२) ; अ०माग० में दो`न्नि वि रायाणो = द्वाव् अपि राजानौ, दो`न्नि वि राईणं अणीया = द्वाव् अपि राज्ञाम् अनीकौ ( निरया० § २६ और २७ ) तथा दो`न्नि पुरिसजाए = द्वौ पुरुषजातौ है (सूय० ५७५) ; जै०महा० में दुन्नि मुणिसीहा = द्वौ मुनिसिंहौ है (तीर्थ० ४, ४), ते दो`न्नि वि पाया जाता है ( एत्सें० ७८, ३५ ) ; शौर० में दो`ण्णि खत्तिअकुमारा = द्वौ क्षत्रियकुमारौ है (प्रसन्न० ४७,७ ; ४८,४ की तुलना कीजिए) ; स्त्रीलिंग : अ०माग० में दो`ण्णि संगहणगाहाओ = द्वे संग्रहणगाथे (कप्प० § ११८); शौर० में दो`ण्णि कुमारीओ = द्वे कुमार्यौ है (प्रसन्न० ४८, ५)। — दो के करणकारक के रूप दोहिं और दोहि होते है (चंड० १, ७ पेज ४० में), इनका प्रयोग स्त्रीलिंग में भी होता है जैसे, महा० में पंतीहिँ दोहिं = पंक्तिभ्याम् द्वाभ्याम् है (कर्पूर० १०१,१) ; अ०माग० में दोहिं उक्खाहिं = द्वाभ्याम् उखाभ्याम् है (आयार० २, १, २, १), जै०महा० में दोहि वि बाहाहिं = द्वाभ्याम् अपि बाहाभ्याम् (द्वार० ५०७, ३३)। — हेच० ३, ११९ और १३० के अनुसार अपादानकारक के रूप दोहिंतो ओर दोसुंतो है, चड० १, ३ पेज ३९ के अनुसार केवल दोहिंतो है और मार्क० पन्ना ४९ के अनुसार दोसुंतो है। — २–१९ तक के सख्याशब्दों में [बीस से आगे इनमे कुछ नहीं लगता। हेच० के शब्दों में बहुलाधिकाराद् विंशत्यादेर्न भवति। —अनु०], वर० ६, ५९ ; हेच० ३, १२३, हेच० के अनुसार कति (= कई। —अनु०) में भी [कतीनाम् का हेच० ने कइण्हं रूप दिया है। —अनु०], चड० १,६ के अनुसार सब सख्याशब्दो में और क्रम० ३, ८९ के अनुसार केवल २–४ तक मे, –ण्ह और ण्हं लग कर सम्बन्धकारक का रूप बनता है। इस नियम के अनुसार महा०, अ०माग० और जै०महा० में दोण्ह और दोण्हं रूप होते हैं (आयार० २, ७, २, १२ ; ठाणग० ४७ ; ६७ ; ६८ ; कक्कुक शिलालेख १०), स्त्रीलिंग मे भी ये चलते है, अ०माग० मे तासिं दोण्हं (टीका में यही शुद्ध रूप मिलता है ; पाठ मे दुण्हं है) = तयोर् द्वयोः है (उत्तर० ६६१)। इसके विरुद्ध शौर० और सम्भवतः माग० में भी अंत में ण्णं लगाया जाता है। यह रूप लेण बोली ओर पाली की भाँति है[५] : दो`ण्णं (शकु० ५६, १५ ; ७४, ७ [स्त्रीलिंग में] ; ८५, १५ [स्त्रीलिंग में] ; वेणी० ६०, १६ [पाठ के दोह्णिं के स्थान मे इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र आये हुए रूप के अनुसार यही रूप पढा जाना चाहिए]; ६२, ८ ; मालवि० ७७, २० [ग्रन्थ मे अन्यत्र आये हुए रूप के अनुसार यही पढा जाना चाहिए]) ; महा० में भी बहुधा पाठभेद देखा जाता है जिसमें यह शुद्ध रूप भी मिलता है (हाल मे दो शब्द देखिए) और मार्कंडेय पन्ना ४९ मे भी हस्तलिपियाँ

यह रूप देती हैं। जहाँ दोण्णं, तिण्णं = त्रीणाम् के अनुकरण पर बना है, ऐसा दिखाई देता है कि समासिद्यचक –ण्हं राशा के अनुकरण पर बने *दोणं और सर्वनाम के रूप *दोसं के मेल से निकला है। इससे सूचना मिलती है कि कभी *द्वौण्णाम् रूप भी रहा होगा। — अधिकरण में दोसुं और दोसु रूप है (च्ण्ड० १, ३, पेज ३९ में), जै०शौर० में भी ये होते हैं (कत्तिगे० ४०२, ३५९) और स्त्रीलिंग में भी जैसे, महा० में दोसुं दोकन्दलीसुं = द्वयोर् दोःकन्दल्योः है (कर्पूर० ९५, १२), अप० में दुहुँ है (हेच० ४, ३४०, २)।

१. ये उद्धरण, जब कि उनमें स्पष्ट रूप से कोई विशेष नोट न दिया गया हो तो, सब कारकों पर लागू होते हैं। क्रमदीश्वर ३, ८५ में दोण्हि है और ३, ८६ में दोणि दिया गया है। इस ग्रन्थ में वे नहीं पाया जाता। — २. हेमचंद्र ४, १० पर पिशल की टीका ; क्रमदीश्वर ४, ४६ में भी। — ३. त्सूडर्स, ना० गे०वि०गो० १८९८, २ और उसके बाद। — ४. पिशल, कू०त्सा० ३५, १४४। — ५. पिशल, कू०त्सा० ३५, १४४ और उसके बाद।

§ ४३७—दुवे = द्वे सभी प्राकृत बोलियों में कर्त्ता– और कर्मकारक में तथा तीनों लिंगों में काम में लाया जाता है : महा० में यह रूप है (हाल ८४६ ; नपुंसकलिंग) ; अ०माग० में भी आया है (आयार० १, ८, ४, ६ [कर्मकारक में] ; सूय० २९३ [कर्मकारक में] ; ६२० ; ८५३, ९७२ ; उत्तर० २०० ; सम० २३८ ; कप्प० टी.एच. (T. H.) § ४ ; उवास० में दु देखिए) ; स्त्रीलिंग में भज्जा दुवे = भार्या द्वे (उत्तर० ६६०) ; जै०महा० में दुए वि मिलता है (आव०एर्त्सें० ८, ४९), दुवे वि भी आया है (एर्त्सें० २१, ६) ; दुवे जणा देखा जाता है (आव०एर्त्सें० १९, १०) ; दुवे चोरसेणावइणो = द्वौ चोरसेनापती है (एर्त्सें० १३, ४) ; अप० में दुइ चलता है (पिंगल० १, २१ और ४२)। यद्यपि यह इन प्राकृत बोलियों में अर्थात् महा० और अप० में दो रूप की तुलना में, इससे अधिक काम में नहीं आता, किन्तु शौर० और माग० में यही एकमात्र रूप है। इसके अनुसार, शौर० पुलिंग में यही रूप आया है (मृच्छ० २४, १५ , शकु० २४, १ ; ४१, १ ; विक्र० २१, १९ ; मालवि० १७, ८ ; १८, २२ ; ३०, १ ; मालती० ३५८, १ ; विद्ध० ६६, १ ; मल्लिका० २२३, ५ ; २२७, १२ , २५०, १ ; कालेय० २५, २०), स्त्रीलिंग में (विद्ध० ४४, ७), नपुंसकलिंग में (मृच्छ० ६१, १० ; मालवि० ५४, ७) ; नपुंसकलिंग में (मृच्छ० १५३, १८ ; विक्र० १०, २), माग० में यही रूप है (मृच्छ० ८१, १३ ; कर्मकारक नपुंसकलिंग)। शौर० में इससे एक करणकारक दुवेहिं भी बनता है (मृच्छ० ४४, १ ; ५१, २३ ; ३२७, ३ ; मुद्रा० २३२, ८) = *द्वेभिः ; सम्बन्धकारक का रूप दुवेणं भी निकला है। बोएटलिंक की शकुन्तला ३८, ५ , ४७, २३ ; ५३, १९ [किन्तु काश्मीरी संस्करण में दोण्हं दिखाई देता है और बंगला में दोण्णं], मल्लिका० १०२, ६ ; कालेय० २१, १ ; २३, ११) ; अधिकरण का रूप दुवेसु भी बना है (मल्लिका० ३३५, १०)। — पल्लवदानपत्र ६, १४ , २० ; ३१ ; ३९ में वे शब्द पाया जाता है, महा० में यह

कभी-कभी देखने में आता है (हाल ७५२), अ०माग० मे यह समास के आदि में देखा जाता है जैसे, **वेइन्दिय** और **बेन्दिय = द्वीन्द्रिय** है (§ १६२) और **बेदोणिय = द्विद्रोणिक** है (उवास० § २३५) ; जै०शौर० में यह मिलता है (कत्तिगे० ३९९, ३१० ; कर्मकारक) ; यह अप० में भी पाया जाता है (हेच० ४३९ ; पिंगल १, ९ और १८) ; अप० में इसका सक्षिप्त रूप वि भी चलता है (पिंगल १, १५३)। इसका नपुसकलिंग **विण्णि** है (चण्ड० १, १० अ पेज ४१ ; हेच० ३, १२० : अप० में : हेच० ४,४१८,१ ; पिंगल १, ९५)। चण्ड० १,३ पेज ३९ ; १,६ पेज ४० ; १,७ पेज ४०, हेच० ३,११९ के अनुसार वे की रूपावली निम्नलिखित प्रकार से चलती है : करण– **वेहि**, अपादान– **वेहिंतो**, सम्बन्ध– **वेण्हं**, और अधिकरण– **वेसु** तथा **वेसुं** है। अप० में करणकारक **विहिँ** है (हेच० ४, ३६७, ५), सम्बन्धकारक का **विहुँ** होता है (हेच० ४, ३८३, १) और अधिकरण में **वेहिँ** है (हेच० ४, ३७०, ३)। सस्कृत *द्वा*– के स्थान में *बा* है जो अन्य सख्याशब्दों के साथ आता है, उदाहरणार्थ, अ०माग० मे **बारस** (= १२), **बावीसं** (= २२ [यह रूप अर्थात् **बाबीस** गुजराती भाषा मे है। —अनु०]), **बायालीसं** (= ४२) और **बावत्तरिं** (= ७२)। § ४४३ और उसके बाद की तुलना कीजिए।

§ ४३८— ३ का कर्त्ता– और कर्मकारक पुलिंग और स्त्रीलिंग का रूप **तओ** = त्रयः है, नपुसकलिंग मे **तिण्णि** = त्रीणि है, यह **ण्ण** सम्बन्धकारक के रूप **तिण्णं** की नकल पर है। इसके रूप बिना किसी प्रकार के भेद के तीनों लिंगों मे काम में आते है। प्राकृत व्याकरणकारों ने (वर० ६, ५६ , हेच० ३, १२१ ; क्रम० ३, ८५ [पाठ में **तिण्हि** है] ; मार्क० पन्ना ४९) इसका उल्लेख कहीं नहीं किया है और केवल अ०माग० मे मिलता है : अ०माग० पुलिंग मे यह है (ठाणग० ११०; ११२ ; ११८ ; १९७ ; कप्प० मे **तओ** देखिए ; उवास० मे ति शब्द देखिए ; सूय० २९३ (कर्मकारक) और बहुधा) ; छन्द की मात्राएँ ठीक करने के लिए **तउ आयाणा** = त्रीण्य् आदानानि मे **तओ** के स्थान मे **तउ** रूप आया है (सूय० ६५) ; स्त्रीलिंग में **तओ परिसाओ** = **तिस्रः परिषदः** है (ठाणग० १३८ , जीवा० ९०५ ; ९१२ , ९१४ ; ९१७) ; **तओ कम्मभूमीओ** = **तिस्रः**, कर्म– **कर्मभूम्यः** (ठाणग० १६५ ; § १७६ की तुलना कीजिए) , **तओ अन्तरणईओ** = **तिस्रो**'**न्तर्नद्यः** (ठाणग० १७७) , **तओ उच्चारपासवणभूमीओ** आया है (कप्प० एस. (S) § ५५ , कर्मकारक) ; नपुसकलिंग मे **तओ ठाणाणि** = **त्रीणि स्थानानि** (ठाणग० १४३) है और साथ साथ **तओ ठाणाइं** (१५८) भी मिलता है और **तओ ठाणा** देखा जाता है (१६३ और १६५); **तओ पाणागाइं** = **त्रीणि पानकानि** है (ठाणग० १६१ और १६२ ; कप्प० एस. (S) § २५) ; **तओ वत्थाहिं** = **त्रीणि वस्त्राणि** है और **तओ पायाइं** = **त्रीणि पात्राणि** है (ठाणग० १६२)। इसी भाँति **तिण्णि** भी सब प्राकृत बोलियों मे काम मे आता है : महा० में **तिण्णि रेहा** = **तिस्रो रेखाः** और **तिण्णि** (महिलाओं) भी मिलता है (हाल २०६ ; ५८७) ; नपुसकलिंग में भी इसका व्यवहार है (रावण० ९, ९१) ; अ०माग० पुलिंग मे **तिण्णि पुरिसजाए** = ***त्रीन् पुरुषजातान्** है

(सूय० ५७५) ; जामा तिन्नि = यामास् त्रयः है (आयार० १, ७, १, ४) ; तिन्नि आलावगा = त्रय आलापकाः है (सूय० ८१४ और ८१५ [पाठ में तिण्णि है]) ; इमे तिन्नि नामधेज्जा = इमानि त्रीणि नामधेयानि है (आयार० २, १५, १५) ; तिण्णि वि उवसग्गा = त्रयो ऽप्य उपसर्गाः है (उवास० § ११८) ; तिण्णि वणिया = त्रयो वणिजाः है (उत्तर० २३३) ; स्त्रीलिंग में एताओ तिन्नि पयडीओ = एतास् तिस्रः प्रकृतयः है (उत्तर० ९७०) ; तिन्नि लेस्साओ = तिस्रो लेश्याः है (ठाणंग० २६) ; तिन्नि सागरोवमकोडाकोडीओ = तिस्रः सागरोपमकोटाकोट्यः है (ठाणंग० १३३) ; नपुंसकलिंग के उदाहरण (आयार० १, ८, ४, ५ ; पेज १२५, २६ ; सूय० ७७८ ; सम० १५७ ; विवाह० ९० ; कप्प० § १३८ टी. एच. (T. H.) § १) ; जै०महा० स्त्रीलिंग में तिन्नि धूयाओ = तिस्रो दुहितरः (आव०एर्से० १२, १) ; तिन्नि भेरीओ = तिस्रो भेर्यः और तिन्नि वि गोसीसचन्दणमईओ देवयापरिग्गहियाओ = तिस्रो ऽपि गोशीर्षचन्दनमय्यो देवतापरिगृहीताः है (आव०एर्से० ३४, ७ और ८) ; नपुंसक में ताणि तिण्णि वि = तानि त्रीण्य् अपि (एर्से० ३७, ११) ; शौर० पुलिंग में तिण्णि पुरिसा = त्रयः पुरुषाः, एदे तिण्णि वि = एते त्रयो' पि, एदे क्खु तिण्णि वि अलंकारसंजोआ = एते खलु त्रयो 'लंकारसंयोगाः और तिण्णि राआणो = त्रयो राजानः है (मुद्रा० ३९, ३ ; ७२, १ ; १०८, ९ ; २०४, ४), इमे तिण्णि मिअंगा = एते त्रयो मृदङ्गाः, बालतरुणो तिण्णि = बालतरवस् त्रयः (कर्पूर० ३, २ ; ६२, ३) है ; स्त्रीलिंग में तिण्णि आइदीओ = तिस्र आकृतयः (शकु० १३२, ६) ; जै०शौर० नपुंसकलिंग में भी यह रूप चलता है (कत्तिगे० ४०३, ३६३) ; अप० में दो तिण्णि वि = द्वौ त्रयो 'पि और तिण्णि रेहाइं = तिस्रो रेखाः मिलते हैं (पिंगल १, ५ और ५२)। करण-कारक का रूप तीहिं है (वर० ६, ५५ ; चंड० १, ७ पेज ४० ; हेच० ३, ११८ ; क्रम० ३, ८४ ; मार्क० पन्ना ४९ ; गउड० २६५ ; कप्प० § २२७ ; नायाध० १०२६ ; उत्तर० ९८७), अ०माग० और जै०महा० में इस रूप का सम्पादन तिहिं किया गया है (सूय० ९७ ; आयार० २, १, २, १ ; ठाणंग० ११४ ; ११६ ; ११७ ; सम० २३२ ; ओव० § १३६ ; एर्से० ४९, २२), यह ऐसा रूप है जो अवश्य ही छन्द की मात्राएं ठीक बैठाने के लिए पद्य में ठीक है जैसा कि अप० में (हेच० ४, ३४७) ; § ४३९ में चउहिं की तुलना कीजिए। — अपादानकारक तीहिंतो है (चंड० १, ३ पेज ३९ ; हेच ३, ११८ ; मार्क० पन्ना ४९), क्रम० ३, ८४ और मार्क० पन्ना ४९ के अनुसार तीसुंतो भी चलता है। — सम्बन्धकारक के विषय में वर० ६, ५९ ; चंड० १, ६ पेज ४० ; हेच० ३, ११८ और १२३ में तिण्हं और तिण्ह रूप बताये गये हैं और इस नियम के अनुसार अ०माग० तथा जै०महा० में तिण्हं रूप पाया जाता है (ठाणंग० १२५ ; आयार० २, ७, २, १२ ; विवाह० ५३ और १४० ; कप्प० § १४ ; एर्से० २८, २१) ; स्त्रीलिंग में यही रूप चलता है, अ०माग० में पसत्थलेसाण तिण्हं पि = प्रशस्तलेश्यानां तिसृणाम् अपि है (उत्तर० ९८६ और उसके बाद) ; जै०महा०

में तिण्हं परिसाण = तिसृणां परिषदाम् है (काल्का० २७५,३१)। मार्क० पन्ना ३९ में एक रूप तिण्णं = त्रीणाम् बताता है जिसके विषय में ऐसा आभास मिलता है कि इसकी प्रतीक्षा शौर० और माग० में की जानी चाहिए (§ ४३६)। —अधिकरण का रूप महा० में तीसु है (वर० ६, ५५; चड० १,३ पेज ३९; हेच० ३,११८; रावण० ८,५८) और तीसुं भी चलता है (चड० १, ३ पेज ३९) तथा पद्य में छंदों की मात्राएं ठीक करने के लिए तिसु भी देखा जाता है (हेच० ३, १३५)। — समासों के आरम्भ में सभी प्राकृत बोलियों में ति- रूप आता है, अ०माग० में ते- भी आता है = त्रय-, तेइन्दिय ओर तेॅन्दिय = त्रीन्द्रिय (§ १६२) और सब सख्या शब्दो से पहले यही आता है जैसे, तेरह = त्रयोदश, तेवीसं = त्रयोविंशति, तेत्तीसा = त्रयस्त्रिंशत् और तेआलीसा = त्रयश्चत्वारिंशत् आदि आदि (§२५३)। अ०माग० मे तायत्तीसा रूप भी है (= ३३ : कप्प० : ठाणग० १२५) और तावत्तीसा भी आया है (विवाह० २१८) तथा अ०माग० और जे०महा० में ३३ देवता तायत्तीसगा, तावत्तीसया और तावत्तीसगा कहे जाते हैं = त्रयस्त्रिंशका. हैं (कप्प० § १४ ; विवाह० २१५ , २१८ ; २२३ ; काल्का० २७५, ३४)। § २५४ भी देखिए।

§ ४३९—४ कर्त्ता पुलिंग है। चत्तारो = चत्वारः (वर० ६, ५८ ; चड० १, ३ पेज ३९ ; हेच० ३,१२२ , क्रम० ३,८७ ; मार्क० पन्ना ५९ ; शौर० मे : उत्तररा० १२,७)। सब व्याकरणकार बताते हैं कि कर्मकारक मे भी यही रूप चलता है। इस भाँति कर्मकारक में चउरो = चतुरः रूप होगा (चड० १, ३ पेज ३९ ; हेच० ३, १२२, अ०माग० में : उत्तर० ७६८), अ०माग० मे कर्त्ताकारक में भी इसका व्यवहार पद्य मे किया जाता है (हेच० ३, १२२ ; उत्तर० १०३३ , विवाह० ८२)। हेच० ३, १७ में बताता है कि चऊओ और चउओ जो चउ- वर्ग से बने हैं, कर्त्ताकारक मे काम में लाये जाते हैं। शौर० मे प्रबोध० ६८, ७ में कर्त्ताकारक स्त्रीलिंग का रूप सब सस्करणों में चतस्सो सम्पादित किया गया है, इसके स्थान में कम से कम चदस्सो = चतस्रः लिखा जाना चाहिए। जैसा २ और ३ का होता है (§ ४३६ और ४३८), ४ का नपुसकलिंग का रूप भी चत्तारि = चत्वारि बनेगा (वर० ६, ५८ ; चड० १, ३ पेज ३९ , हेच० ३,१२२ ; क्रम० ३,८७ ; मार्क० पन्ना ४९), यह रूप सभी लिंगों के साथ काम में लाया जाता है : पुलिंग- पल्लवदानपत्र में चत्तारि पत्तिभागा = चत्वारः प्रतिभागाः है (६, १८) और अद्धिका चत्तारि = अर्धिकाश् चत्वारः है (६,३९) ; महा० में चत्तारि पकलवइल्ला रूप मिलता है (हाल ८१२) ; अ०माग० में चत्तारि आलावगा = चत्वार आलापकाः है (आयार० २, १, १, ११ ; सूय० ८१२) ; चत्तारि ठाणा = चत्वारि स्थानानि है (सूय० ६८८) ; चत्तारि पुरिसजाया = चत्वारः पुरुषजाता है (सूय० ६२६); इमे चत्तारि थेरा = इमे चत्वारः स्थविराः है (कप्प० टी. एच. (T. H.) § ५ और ११,) ; चत्तारि हत्थी = चत्वारो हस्तिनः है (ठाणग० २३६) ; कर्मकारक में चत्तारि अगणिओ = चतुरो ऽग्नीन् है (सूय० २७४) ; चत्तारि मासे

=चतुरो मासान् (आयार० १, ८, १, २) है ; चत्तारिमहासुमिणे = चतुरो महास्वप्नान् (कप्प० § ७७ ; नायाध० § ४९) है ; जै०महा० में महारायाणो चत्तारि = महाराजाश् चत्वारः है (एर्त्से० ४, ३६) ; माग० में चत्तालि इमे मिलता है (मृच्छ० १५८, ४) ; स्त्रीलिंग में : अ०माग० में इमाओ चत्तारि साहाओ = इमाश् चतस्रः शाखाः है (कप्प० टी. एच. (T. H.) § ५) ; चत्तारि किरियाओ = चतस्रः क्रियाः है (विवाह० ४७) और चत्तारि अग्गमहिसीओ = चतस्रो ऽग्रमहिष्यः (ठाणंग० २२८ और उसके बाद) ; कर्मकारक में चत्तारि संघाडीओ = चतस्रः संघाटीः (आयार० २, ५, १, १) है; चत्तारि भासाओ = चतस्रो भाषाः (ठाणंग० २०३) है ; नपुंसकलिंग में : अ०माग० में चत्तारि समोसरणाणि = चत्वारि समवसरणानि है (सूय० ४४५) ; चत्तारि सयाइं = चत्वारि शतानि है (सम० १५८) ; जै०महा० में चत्तारि अंगुलाणि मिलता है (एर्त्से० ३७, २) । — करणकारक में अ०माग० में सर्वत्र चउहिं आता है (हेच० ३, १७ ; क्रम० ३,८८ ; मार्क० पन्ना ४९ ; विवाह० ४३७ ; ठाणंग० २०७ ; सम० १४ ; उवास० § १८ और २१ ; ओव० § ५६) ; स्त्रीलिंग में भी यही रूप चलता है : चउहिं पडिमाहिं आया है (आयार० २,२,३, १८ ; २,६,१,४ ; २,८,२) ; चउहिं किरियाहिं = चतसृभिः क्रियाभिः है (विवाह० १२० और उसके बाद) ; चउहिं उक्खाहिं = चतसृभिर् उखाभिः है (आयार० २,१,२, १) और चउहिं हिरण्णकोडीहिं -पउत्ताहिं = चतसृभिर् हिरण्यकोटीभि -प्रयुक्ताभिः है (उवास० § १७) । गद्य में चउहिं की प्रतीक्षा होनी चाहिए जो सिंहराजगणिन् ने पन्ना १८ में चऊहि, चउहि और चउहिं के साथ दिया है। हेमचन्द्र ३,१७ में भी चउहि के साथ साथ चऊहि रूप दिया है। § ४३८ में तिहिं की तुलना कीजिए। अपादान— चउहिंतो है (मार्क० पन्ना ४९) और चउसुंतो भी चलता है (क्रम० ३,८८ ; मार्क० पन्ना ४९ ; सिंहराज० पन्ना १८), कहीं चऊसुंतो भी देखा जाता है (सिंहराज० पन्ना १८) । — सम्बन्धकारक में पल्लवदानपत्र में चतुण्हं पाया जाता है (६, १८), महा० , अ०माग० और जै०महा० में चउण्हं आया है (वर० ६,५९ ; चंड० १,६ पेज ४० ; हेच० ३,१२३ [यहाँ चउण्ह भी है] ; क्रम० ३, ८९ ; आयार० २,७,२, १२ ; कप्प० § १० और १४ ; विवाह० १४९ और ७८७ ; एर्त्से० ९,१८), स्त्रीलिंग में भी यही रूप काम में आता है, पयाणं (पयासिं) चउण्हं पडिमाणं = एतासां चतसृणां प्रतिमानाम् है (आयार० २, २, ३, २१ ; २, ५ , १, ९ ; २, ६, १, ७ ; २, ८, ६) और पोरिसीणं चउण्हं = पौरुषीणां चतसृणाम् है (उत्तर० ८९३) । दोण्णं और तिण्णं के अनुकरण पर शौर० और माग० में चदुण्णं की प्रतीक्षा करनी चाहिए और ऐसा आभास मिलता है कि मार्कण्डेय इस रूप को पन्ना ४९ में बताता है। इसके उदाहरण लापता हैं । अधिकरण में अ०माग० और जै०महा० में चउसु रूप है (उत्तर० ७६९; विवाह० ८२; एर्त्से० ४१, ३५), चउसुं रूप भी चलता है (एर्त्से० ४४,८), स्त्रीलिंग में भी यही रूप आता है, चउसु विदिसासु = चतसृषु विदिक्षु है (ठाणंग० २६९ ; जीवा० २२८ ;

विवाह० १२५ और १२७) ; चउसु वि गईसु = चतसृष्व् अपि गतिषु (उत्तर० ९९६)। चऊसु रूप की भी प्रतीक्षा होती है, इसका उल्लेख हेमचन्द्र ने ३, १७ में किया है और चउसु के साथ यह रूप भी दिया है तथा सिंहराजगणिन् ने पन्ना १८ में चऊसुं,चउसुं और चउसु के साथ चऊसु भी दिया है। — समास में स्वरों से पहले चउर् रूप आता है जैसे, भाग० में चउरंस = चतुरस्र (ठाणंग० २० और ४९३ ; उवास० § ७६), चउरंगगुलिं भी आया है (ठाणंग० २७०),चउरिन्दिय मिलता है (ठाणंग० २५ ; १२२ ; २७५ ; ३२२ ; सम० ४० और २२८ ; विवाग० ५० आदि-आदि) ; महा० में चउराननं आया है (गउड०) ; अन्य संख्याशब्दों से पहले भी चउर् आता है जैसे, अ०माग० में चउरम्सिसीइं (=८४; कप्प०)। व्यजनों से पहले आंशिक रूप में चउर् आता है जो नियमित रूप से व्यजनादि शब्द के साथ घुलमिल जाता है जैसे, महा० रूप चउद्दिसं = चतुर्दिशम् है (रावण०), अ०माग० और जै०महा० में चउम्मुह = चतुर्मुख है (ओव० ; एर्सें०) ; शौर० में चदुस्सालअ = चतुःशालक (मृच्छ० ६, ६ ; १६, ११ [पाठ में चदुसाल है] ; ४५, २५), चतुस्समुद्द = चतुःसमुद्र है (मृच्छ० ५५,१६ ; ७८,३ ; १४७,१७), आंशिक रूप से चउ– काम में आता है जैसे, महा० में चउजाम = चतुर्याम है (हाल ; रावण०), चउमुह = चतुर्मुख (गउड०), अ०माग० में चउपय = चतुष्पद (आयार० २, १, ११, ९), इसके साथ साथ चउप्पय भी है (उत्तर० १०७४ ; उवास०), अप० में चउमुह रूप है (हेच० ४, ३३१, 'देसी-भासा' का प्राय बारह सौ वर्ष पहले गर्व करनेवाले,हिन्दी में प्राप्त पहली रामायण के रचयिता 'स्वयंभु' चउमुह सयंभु कहे जाते थे, दूसरे रामायणकार पुष्पदंत ने इनके विषय में लिखा है चउमुह चारि मुहाहिँ जाहिँ। —अनु०]), चउपअ भी पाया जाता है (पिंगल १, ११८), दाक्षि० में चउसाअर है (पद्य में ; मृच्छ० १०१, १२) = चतुःसागर है। § ३४० और उसके बाद की तुलना कीजिए। अन्य संख्याशब्दों के साथ लगाते समय दोनों रूप दिखाई देते हैं : अ०माग० में चउद्दस=चतुर्दशन् है (कप्प० § ७४), इसके साथ साथ पद्य में चउदस काम में आता है (कप्प० § ४६ आ) तथा संक्षिप्त रूप चोॅद्दस भी चलता है (कप्प० ; नायाध०), महा० में चोॅद्दह रूप है, चोद्दसी भी मिलता है, जैसा कि चोॅग्गुण और उसके साथ साथ चउग्गुण = चतुर्गुण है। चोॅव्वार और साथ साथ चउव्वार = चतुर्वार है, आदि आदि (§ १६६ और १४३ और उसके बाद)। अ०माग० में चो रूप देखने में आता है जो केवल समासों और संधियों से पहले ही नहीं आता किन्तु स्वतन्त्र रूप में भी काम में आता है (पिंगल १, ६५ ; § १६६ की तुलना कीजिए)। अप० में नपुंसकलिंग का रूप चारि है (पिंगल १, ६८ ; ८७ ; १०२) जो चत्वारि, *चात्वारि (§ ६५), *चातारि (§ ८७), *चाआरि (§ १८६) रूप ग्रहण कर चारि बना है (§ १६५)। यह समासों में पहले पद के रूप में भी काम में आता है : चारिपाअ = चतुष्पाद और चारिदहा = चतुर्दश (पिंगल १,१०२ ; १०५ ; ११८), जैसा कि चउरो अ०माग० में आता है, चउरोपञ्चिन्दिय = चतुष्पञ्चेन्द्रिय (उत्तर० १०५९)। अ०माग० रूप चउरासीइं और चोरासीइं = चतुरशीति तथा

चउरासीइम = चतुरशीत में **चउर्-** वर्ग दिखाई देता है (कप्प०; सम० १३९-१४२)। चाउर के विषय में § ७८ देखिए।

§ ४४०— ५ की रूपावली निम्नलिखित प्रकार से चलती है : कर्त्ता- और कर्म- कारक— अ०माग०, जै०महा० और शौर० में **पञ्च** है (विवाह० १३८ और १४१; ठाणंग० ३६१ ; कप्प० ; उवास० ; एर्से० ; मुद्रा० २०४, १) ; करण- अ०माग० में **पञ्चहिं** होता है (उत्तर० ३७४ ; विवाह० १२० और उसके बाद ; ठाणंग० ३५३ ; नायाध० ; उवास० आदि आदि), अप० में **पञ्चहिँ** है (हेच० ४, ४२२, १४) ; सम्बध- अ०माग० में **पञ्चण्हं** है (हेच० ३, १२३ ; आयार० २, ७, २, १२ ; सम० १६), अप० में **पञ्चहुँ** है (हेच० ४,४२२, १४) ; अधिकरण- जै०महा० में **पञ्चसु** है (एर्से० भूमिका का पेज एकतालीस), अ०माग० पद्य में **पञ्चे** भी आता है (उत्तर० ७०४)। लास्सन ने अपने ग्रन्थ इन्स्टिट्यूत्सिओने प्राकृतिकाए के पेज ३१९ की नोटसख्या में उल्लेख किया गया है कि रामतर्कवागीश ने अपादानकारक के रूप **पञ्चहिंतो, पञ्चसुंतो** भी दिये हैं, सम्बन्धकारक में **पञ्चण्हं** और अधिकरण में **पञ्चसुं** तथा अधिकरण स्त्रीलिंग का एक रूप **पञ्चासुं** दिया है, त्रिविक्रम ने पेज १२८ में कर्त्ता स्त्रीलिंग का रूप **पञ्चा** दिया है, करण में **पञ्चाहिं** का भी उल्लेख किया है। समासों के पहले पद के रूप में अधिकांश में **पञ्च-** आता है, अ०माग० और जै०महा० में **पञ्चा-** भी मिलता है जो विशेषतः **पञ्चाणउइं** (=९५) में पाया जाता है (ठाणंग० २६१; सम० १५० और १५१ ;कालका० २६३, ११ ; १६ और १७ ; बहुत बार अशुद्ध रूप **पञ्चणउयं** आया है) ; इसी भाँति **पण्चावण्णा** में भी आदि में **पञ्चा** लगा है (=५५ ; हेच० १, १७४, देशी० ६, २७ ; त्रिवि० १, ३, १०५ = बे० बाइ० ३, २४५)। आ का स्पष्टीकरण § ७० के अनुसार होता है। अन्य सख्याशब्दों के साथ **पञ्च** रूप दिखाई देता है जो अ०माग०, जै०महा० और अप० में काम में लाया जाता है, इसका रूप कभी **पण्ण** (**पन्न**), **पण** और **पणु** भी दिखाई देता है (§ २७३)।

§ ४४१— ६ **षष्** का § २११ के अनुसार **छ** हो जाता है। इसकी रूपावली निम्नलिखित प्रकार चलती है : कर्त्ता- और कर्मकारक :— अ०माग० में **छ** है (कप्प० § १२२ ; विवाह० ८४ ; सम० १५९ और १६३ ; उवास०) ; करण- अ०माग० में **छहिं** रूप है (सूय० ३८० और ८४४, सम० २३२ ; ठाणंग० १९४ ; भग० १, ४२५ ; नायाध० ८३३ ; उत्तर० ७६८ और ७७८); सम्बन्ध- अ०माग० और जै०-शौर० **छण्हं** रूप है (हेच० ३, १२३ ; आयार० २, १५, १६ , विवाह० ८२ ; ८९; १२३ ; उत्तर० ७७६ और ९७९ ; जीवा० २७१ ; नायाध० ८३२ ; ८३४ ; ८४४ ; कत्तिगे० ३९९, ३०९), **छण्ह** रूप भी पाया जाता है (हेच० ३,१२३) ; अधिकरण- **छसु** है (ठाणंग० २७ ; उत्तर० ९८७)। स्वराधार शब्दों से पहले कर्त्ताकारक का प्राचीन रूप **षट्** बना रह गया है : अ०माग० में **छप्पि** = **षड् अपि** है (आयार० १, ८, ४, ६ ; निरया० ८१ ; विवाह० ७९८ ; दस० ६३९, २ ; नायाध० ८२८; ८३०; ८३६; ८४५ और उसके बाद), **छच् चेव** आया है (उत्तर०

१०६५), छच् च मिलता है (अणुओग० ३९९ ; जीवा० ९१४ ; जीयक० ६१ ; विवाह० १२३७ ; कप्प० टी. एच. (T. II.) § ७)। लासन ने इन्स्टिट्यूत्सिओने प्राकृतिकाए पेज ३२० में बताया है कि रामतर्कवागीश ने कर्त्ताकारक का रूप छा और स्त्रीलिंग में छाओ दिया है ; करण– छएहिं, स्त्रीलिंग में छआहिं और छाहिं हैं ; अपादान– छआहिंतो है [यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; सम्बन्ध– छअण्णं (इस स्थान में छण्णं आया है) ; अधिकरण– छसु (छासु) और छीसु है। समासों के पहले पद के रूप में छ– का प्रयोग बहुत कम दिखाई देता है, जैसे कि जै०महा० में छखण्ड आया है (एर्त्से० १८,८ ; यह वास्तव में छक्खण्ड के स्थान में अशुद्ध पाठ भेद है), अधिकांश में षट्– का ही प्रयोग मिलता है जो स्वरों से पहले छड् रूप धारण कर लेता है जैसे, छक्खर = षडक्षर (= स्कन्ध : देशी० ३, २६), अ०माग० सड् भी देखने में आता है जो सडंगवी = षडंगविद् में पाया जाता है (विवाह० १४९ ; कप्प० ; ओव०) अथवा छल् आता है जैसे, छळंस = षडश्र (ठाणग० ४९३ ; § २४० देखिए), यह रूप व्यंजनों से पहले आता है जिस प्रक्रिया में व्यंजन नियमित रूप से आपस में घुलमिल जाते हैं (§ २७०), जैसे कि महा० और शौर० में छग्गुण और छग्गुणअ = षट्गुण और षड्गुणक हैं (मुद्रा० २३३, ९ ; अनर्घ० ६७, ११) ; अ०माग० में छद्दिसिं रूप मिलता है (विवाह० ९७ और उसके बाद; १४५) ; अ०माग० में छब्भाय = षड्भाग (उत्तर० १०३६ ; ओव० [पाठ में छब्भाग है]) ; महा० में छप्पअ और जै०महा० में छप्पय रूप मिलते हैं (-चड० ३, ३ ; हेच० १, २५५ ; २, ७७ ; गउड० ; हाल ; कालका०) ; अ०माग० में छत्तल = षड्तल (ठाणंग० ४९५), महा० और अप० में छंमुह = षण्मुख हैं (भाम० २, ४१ ; चंड० ३, ३ और १४ ; हेच० १, २५ और २६५ ; कर्पूर० १, १० ; हेच० ४, ३३१) ; महा० और जै०महा० में छंमास = षण्मास (हाल ; एर्त्से०) है ; अ०माग० में छंमासिय = षण्मासिक (आयार० २, १, २, १) ; महा० और शौर० में छंमासिअ = षण्मासिक (कर्पूर० ४७,१० ; ८२, ८) ; शौर० में छचरण रूप आया है (बाल० ६६७)। इसी भाँति यह रूप संख्याशब्दों से पहले जोड़ा जाता है : अ०माग० छळसीइ है (=८६; सम० १४३; विवाह० १९९); अ०माग०, जै०महा० और अप० में छव्वीसं आया है (=२६ : उत्तर० १०९२ ; एर्त्से०; पिंगल १, ६८) ; अ०माग० में छत्तीसं और छत्तीसा रूप पाये जाते हैं (=३६ : कप्प०; ओव० ; उत्तर० १०४३), छप्पणं भी है (=५६ : § २७३); अ०माग० में छण्णउइं है (सम० १५१); जै०महा० छण्णवइं आया है (कालका० तीन, ५१४, २४)। ४०, ६० और ७० के पहले अ०माग० में छा– जोड़ा जाता है, जिसमें आ § ७० के अनुसार आता है : छायालीसं (=४६ : कप्प०), छावट्ठिं (=६६: सम० १२३), छावत्तरिं (=७६ : सम० १३३) रूप मिलते हैं। — अप० में छह = षष (§ २६३) जो छहवीस में दिखाई देता है (=२६ : पिंगल १, ९५ [गौल्दश्मित्त के अनुसार छव्वीस है] ; ९७ [गौल्दश्मित्त के अनुसार चउव्वीस]) और छह में आया है (= ६ : पिंगल १, ९६)। संस्कृत षोडश से पूरा मिलता जुलता प्राकृत रूप सोळस है और अप० में सोळह (§ ४४३)।

§ ४४२—७ की रूपावली निम्नलिखित प्रकार से चलती है : कर्त्ता– और कर्मकारक– महा०, अ०माग० और जै०महा० में **सत्त** है (हाल ३ ; रावण० १५, २९; आयार० २, १, ११, ३ और १० ; ठाणग० ४४५ ; एर्त्से० १४, ४) ; करण– अ०माग० में **सत्तहिं** है (ठाणंग० ४४६) ; सम्बन्ध– अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में **सत्तण्हं** होता है (हेच० ३, १२३ ; आयार० २, १, ११, ११ ; कप्प० § १४ ; विवाह० २६ और २२२; ठाणग० ४४५; कालका० २७५, ३३, कत्तिगे० ३९९, ३०८), **सत्तण्ह** रूप भी (मिलता है (हेच० ३, १२३) ; अधिकरण– **सत्तसु** है (ठाणग० ४४५ ; उत्तर० ९०४) । सन्धि और समास में यह सख्याशब्द **सत्त–, सत्ता–** और माग० में **शत्त** बन जाता है (मृच्छ० ७९, १३ ; प्रबोध० ५१, ८) । **छत्तवण्ण** और **छत्तिवण्ण = सप्तपर्ण** के विषय में § १०३ देखिए । — ८ की रूपावली निम्नलिखित प्रकार से चलता है : कर्त्ता– और कर्मकारक — अ०माग० में **अट्ठ** है (ओव० ; कप्प० ; उवास०), **अढ** भी चलता है (विवाह० ८२ ; पद्य में ; पाठ में **अठ** है ; § ६७ भी देखिए) ; अप० में **अट्ठाई** रूप है (पिंगल १, ९ और ८३) और **अट्ठाआ** भी आया है (१, ११६ ; [यह पद्य में आया है और तुक मिलने के लिए कृत्रिम रूप लगता है । —अनु० ।]) ; करण– अ०माग० मे **अट्ठहिं** है (उवास० § २७ ; विवाह० ४४७ , उत्तर० ७६८ ; ठाणग० ४७५) ; सम्बन्ध– अ०माग० और जै०महा० में **अट्ठण्हं** रूप है (हेच० ३,१२३; कप्प० § १४ ; विवाह० ४१६ और ४४७ ; एर्त्से० १२, २१), **अट्ठण्ह** भी चलता है (हेच० ३, १२३) ; अधिकरण– अ०माग० में **अट्ठसु** आया है (विवाह० ४१६ और ४१७) । सन्धि और समास मे **अट्ठ–** दिखाई देता है : अ०माग० मे **अट्ठविह = अष्टविध** है (उत्तर० ८९५) , शौर० में **अट्ठपओॅट्ठ = अष्टप्रकोष्ठ** है (मृच्छ० ७३,२) और **अट्ठा–** भी काम में आता है : अ०माग० और जै०महा० में **अट्ठावय = अष्टापद** है (ओव० ; एर्त्से०) । अन्य सख्याशब्दों से पहले **अट्ठ–** रूप जुड़ता है, अ०माग० में **अट्ठहत्तरिं** आया है (= ७८ : सम० १३४ और १३५) ; जै०महा० मे **अट्ठतीसं** मिलता है (= ३८), **अट्ठसट्ठी** (= ६८ : एर्त्से० भूमिका का पेज एकतालीस), इसके विपरीत निम्नलिखित सख्याशब्दों में **अट्ठा–** आया है : **अट्ठारस** और अप० रूप **अट्ठारह** (= १८ : § ४४३) , अ०माग० और जै०महा० रूप **अट्ठावीसं** (= २८), **अट्ठावण्णं** (= ५८), **अट्ठाणउइं** (= ९८) (सम० ७८ ; ७९ ; ११७ ; १५२ ; १५३ ; एर्त्से० भूमिका का पेज एकतालीस) तथा अ०माग० मे **अढ–** भी जुड़ता है, **अढयालीसं** (= ४८ : सम० १११), अ०माग० मे **अढयाल** भी आया है (सम० २१०), **अढसट्ठिं** है (= ६८ : सम० १२६ ; पाठ में बहुधा **अड** आया है) । इसी प्रकार अप० में **अढाइस** रूप भी मिलता है (पिंगल १,१२७, [बौॅल्लेॅनसेन की विक्र० ५४९ में पाठ में यह रूप है, गौल्दश्मित्त ने **अठाइस** दिया है] : १४४ [पाठ मे **अठइस** है, गौल्दश्मित्त ने **अट्ठाईसओ** रूप दिया है जो पाठ में **अटइस पाअओ** है]), **अढआलिस** भी मिलता है (पाठ मे **अठतालीस** है ; = ४८ : पिंगल १,९५), इनके साथ साथ **अट्ठाइस** भी है (= २८ : पिंगल १, ६४ और ८६) तथा **अट्ठासट्ठा** भी देखने में आता है (=

६८ : पिंगल १,१०६) । § ६७ देखिए । — ९ की रूपावली निम्नलिखित प्रकार से चलती है : कर्त्ता- और कर्मकारक- अ०माग० और जै०महा० में नव है (कप्प० § १२८ ; एर्त्से० ४, १४) ; करण- अ०माग० में नवहिं होता है (उत्तर० ९९८) ; सम्बन्ध- अ०माग० में नवण्हं (हेच० ३, १२३ ; आयार० २, १५, १६ ; ओव० § १०४ ; कप्प० ; नायाध०) और नवण्ह भी पाया जाता है (हेच० ३,१२३) । सन्धि और समास के आदि में णव- रूप आता है : णवणवाणण आया है (गउड० ४-२६), अन्य संख्याशब्दों से पहले भी यही रूप लगता है : अप० मे णवदह आया है (= १९ : पिंगल १,१११) ; अ०माग० में णवणउइं मिलता है (= ९९ : सम० १५४) । — १० महा० में दस अथवा दह होता है ; अ०माग०, जै०महा० और शौर० मे दस, माग० तथा ढक्की मे इसका रूप दश हो जाता है (§ २६), इसकी रूपावली निम्नलिखित प्रकार से चलती है : कर्त्ता- और कर्मकारक- महा०, अ०माग० और शौर० रूप दस (कर्पूर० १२,७ ; उवास० ; सम० १६२ ; १६५ ; १६६ , प्रसन्न० १९,५) ; माग० में दश के स्थान में दह (ललित० ५६६, ११) अशुद्ध है ; करण— अ०माग० और जै०महा० में दसहिं रूप है (कप्प० § २२७ ; एर्त्से० ३२,१२), महा० में दसहि भी चलता है (रावण० ११,३१ ; १५,८१), माग० में दशेहिं हैं (मृच्छ० ३२,१८), सम्बन्ध- अ०माग० और जै०महा० में दसण्हं और दसण्ह रूप पाये जाते हैं (हेच० ३, १२३ ; उवास० § २७५ ; एर्त्से० २८, २२), माग० में दशाणं है (मृच्छ० १३३, २० [कुमाउनी में यही रूप चलता है : दसान ; इस बोली में अधिकाश में स, श बोला जाता है, इसलिए गावों में दशाण रूप चलता है । —अनु०]) । अ०माग० में उवासगदसाणं रूप पाया जाता है (उवास० § २ और ९१) । इस सबंध कारक में स्त्रीलिंग का रूप दसा = दशा आया है । अधिकरण- महा० और अ०माग० में दससु है (रावण० ४, ५८ , उवास० पेज १६८, ७), चू०पै० में तससु होता है (हेच० ४, ३२६) । सन्धि और समास मे महा० तथा अप० मे दस- और दह- रूप लगते है, अ०माग०, जै०महा० और शौर० मे दस- तथा माग० में दश- काम मे आता है (§ २६२) , अप० में अन्य संख्याशब्दों के साथ संयुक्त होने पर दह- काम में मे लाया जाता है : एक्कदह (= ११ : पिंगल १, ११४), चारिदह और दहचारि (= १४ : पिंगल १, १०५ तथा ११०), दहपञ्च और दहपञ्चइँ (= १५ : पिंगल १, ४९ ; १०६ ; ११३), दहसत्त (= १७ : पिंगल १, ७९ ; १२२) और णवदह रूप मिलते हैं (= १९ : पिंगल १, १११ ; [पिंगल अर्थात् प्राकृत पिंगलसूत्राणि जैसा पिशल ने माना है विशेष विश्वस्त सामग्री नहीं उपस्थित करता, यह ग्रन्थ छन्द में होने के कारण, इसकी अप० भाषा अनगिनत स्थानों में कृत्रिम बन गयी है, संख्याशब्दों को और भी तोडा मरोडा गया है, उदाहरणार्थ २, ४२ में वाराहा मत्ता जं कण्णा तीआ होतम् को लीजिए । १२ के लिए वाराह रूप किसी प्राकृत में नहीं मिलता । ३ के लिए तीआ भी दुर्लभ है ; दूसरा उदाहरण लीजिए अक्खरा जे छआ में छआ देखिए (२, ४६), सडावण्णवद्धो में सडा का अर्थ छ है, २, १२७ में ९६ को छण्णावेआ कहा गया है, अप० में यह छण्णवइ है, आदि-आदि । इसका कारण पिंगल के ग्रथ का

पन्थ में होना भी एक है, दूसरा कारण यह है कि इसके उदाहरणों में ठीक सम्पादन न होने से भाषा का कोई प्रमाणदण्ड नहीं मिलता, इसलिए पिशल ने § २९ में ठीक ही लिखा है 'यह ग्रन्थ बहुत कम काम का है।' —अनु०])।

§ ४४३—११ १८ तक के सख्याशब्दों के रूप निम्नलिखित प्रकार के होते हैं :— ११ अ०माग० में इसका रूप एक्कारस और इक्कारस हो जाता है (विवाह० ८२ और १६५ ; कप्प० ; उवास०), महा० और अप० मे एआरह है (भाम० २, ४४ ; मार्क० पन्ना १९ ; पिंगल ५, ६६ ; १०९–११२) और एग्गारह भी मिलता है (पिंगल १, ७७ ; ७८ ; १०५ ; १३४), गारहाइँ भी है (२, १११) तथा एकादह भी मिलता है (§ ४४२) ; चू०पै० मे एकातस रूप है (हेच० ४, ३२६)। —१२ का अ०माग, जै०महा० और जै०शौर० में बारस रूप है [स्वयंभू की रामायण (पउमचरिउ) में ११ के लिए इस बारस से मिलता रूप एयारस मिलता है। —अनु०] (आयार० २,१५,२३ और २५ ; पण्णव० ५२ ; विवाह०८२, उत्तर० ६९१ ; उवास० ; कप्प०; एर्से०; कत्तिगे० ४०२, ३६९; ४०३, ३७१ [पाठ में वारस है]) ; स्त्रीलिंग में जै०महा० में बारसी (तीर्थ० ६, ७) है और अ०माग० तथा जै०महा० में दुवालस (§ २४४) तथा महा० और अप० में बारह है (भाम० २, ४४ ; मार्क० पन्ना १९; पिंगल १, ४९ ; ६९ आदि आदि)। —१३ अ०माग० मे तेरस (सूय० ६६९ ; उवास० ; कप्प०), स्त्रीलिंग मे तेरसी (आयार० २,१५, ४ ; कप्प०) है ; महा० और अप० मे तेरह है (भाम० २, ४४ ; मार्क० पन्ना १९; पिंगल १, ९ ; ११ ; ५८, ६६) । —१४ चोॅद्दह है (हेच० १, १७१), अ०माग० और जै०महा० रूप चोॅद्दस है (उवास० ; कप्प०; एर्से०[१]) तथा चउद्दस भी मिलता है (कप्प०), छन्द की मात्राएं ठीक करने के लिए चउद्दस काम में आता है (कप्प० § ४६ आ), अप० में चउद्दह है (पिंगल १,१३३ और १३४), चाउद्दाहा भी आया है (२, ६५) और चारिदहा तथा दहचारि रूप भी चलते हैं (§ ४४२) । —१५ अ०माग० और जै०महा० में पण्णरस [पण्ण–वाले रूप मराठी में चलते हैं। —अनु०] है (§ २७३), अप० मे पण्णरह होता है जैसा वर० और हेच० स्पष्टतया बताते हैं (§२७३), अप० में दहपञ्च और दहपञ्चाइं रूप भी आये हैं (§ ४४२) ।—१६ अ०माग० और जै०महा० में सोळस है, अ०माग० में सोळसय भी देखा जाता है (जीवा० २२८), अप० में सोळह है (पिंगल १,१०३ , १०४ और १०५), सोळा भी आया है (२, ६७ और ९७ [अप० के सोळह और सोळा रूप सोलह और सोला पढे जाने चाहिए, पिंगल के ग्रन्थ में ल के स्थान में सर्वत्र ळ दिया गया है, ळ और ल के उच्चारण में कोई भेद नहीं रखा गया है। —अनु०]) । —१७ अ०माग० और जै०महा० मे सत्तरस है (विवाह० १९८ ; एर्से०), अप० मे दहसत्त है (§ ४४२)। — १८ अ०माग० और जै०महा० में अट्ठारस है। यही रूप पल्लवदानपत्र ६, ३४ में भी मिलता है, अप० में अट्ठारह चलता है (पिंगल १, ७९) । द के स्थान में र के लिए § २४५ देखिए और द् के स्थान मे ल के लिए § २४४ देखिए। उपर्युक्त सख्याशब्दों की रूपावली दशन् के अनुसार चलती है (§ ४४२) अर्थात् उदाहरणार्थ

करणकारक में अप० में एआरहहिँ होता है (पिंगल १, ६६ [पाठ में एआरहहि है]; १०९ और उसके बाद ; बौँल्लेँनसेन, विक्रमोर्वशी पेज ५३८ में एग्गारहहि दिया गया है), अ०माग० में बारसहिं मिलता है (सूय० ७९०; उत्तर० १०३४) ; अप० में बारहहिँ रूप है (पिंगल १, ११३); अ०माग० में चोॅद्दसहिं भी है (जीवा० २२८ ; ओव० § १६, पेज ३१,२१); अ०माग० मे पण्णरसहिं भी आया है (जीवा० २२८) ; सम्बन्ध- अ०माग० में दुवालसण्हं मिलता है (उवास०); अ०माग० में चउद्दसण्हं भी है (विवाह० ९५२), चोद्दसण्हं आया है (कप्प०), पण्णरसण्हं है (हेच० ३ १२३) ; अ०माग० और जै०महा० में सोळसण्हं आया है (विवाह० २२२ ; एर्त्से० २८, २०), अट्ठारसण्हं है (हेच० ३, १२३) और अट्ठारसण्ह भी देखा जाता है (एर्त्से० ४२, २८) ; अधिकरण- पण्णरससु है (आयार० पेज १२५, ३३ ; विवाह० ७३४) ।

१. ये उद्धरण, जहाँ-जहाँ दूसरे उद्धरण न दिये गये हों, वहाँ नीचे आयी हुई संख्याओं के लिए भी उपयुक्त हैं। अधिकांश संख्याशब्द ११–१०० तक अ० माग० द्वारा सप्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं, विशेषतः सन्धि और समास में, इसके बाद इनके उदाहरण और प्रमाण जै०महा० तथा अप० में प्राप्त हैं। अन्य प्राकृत बोलियों में उदाहरणों का अभाव है।

§ ४४४— १९ अ०माग० में एगूणवीसं = एकोनविंशति है (§ ४४५ की तुलना कीजिए ; विवाह० ११४३; नायाध० § १२), अप० में एगूणविंसा है (पिंगल २,२३८) और णवदह भी पाया जाता है (§ ४४२)। इन रूपों के साथ साथ अ०माग० और जै०महा० में अउणवीसइ और अउणवीसं रूप मिलते हैं (उत्तर० १०९१ ; एर्त्से० भूमिका का पेज एकतालीस)। ये दोनों प्रकार के रूप अ०माग० और जै०महा० में अन्य दशकों (त्रिंशत्, चत्वारिंशत, पञ्चाशत = ३०,४०,५० आदि) के साथ-साथ में चलते हैं। इस नियम से : एगूणपन्नासइम (=उनपचासवाँ ; सम० १५३) और अउणापण्ण (= ४९ ; ओव० § १६३ ; विवाह० १५८) साथ साथ चलते हैं ; एगूणसट्ठिं (= ५९ ; सम० ११८) और अउणट्ठिं हैं (कप्प० § १३६ ; इसी ग्रन्थ में अन्यत्र दूसरा रूप भी देखिए) ; एगूणसत्तरिं (= ६९ ; सम० १२६) और अउणत्तरिं दोनों चलते हैं (कप्प० § १७८ [गुजराती ओगणीस् और मारवाडी गुन्नीस (=१९), गुनतीस =२९ आदि रूप इस एगूण- से निकले हैं और उन्नीस, उनतीस आदि में अउण- का उन् आया है। —अनु०])। इनके अतिरिक्त जनता अ०माग० मे अउणतीसं, अउणत्तीसं भी बोलती थी (=२९ : उत्तर० १०९३ ; एर्त्से० भूमिका का पेज एकतालीस), साथ ही अ०माग० एगूणासीइं (=७९ : सम० १३६) और एगूणणउइं भी चलते थे (= ८९ : सम० १४६)। ए० म्युलर[1] और लौयमान[1] के अनुसार अउण- और अउणा- (§ ७०) एकोन से निकले हैं, किन्तु यह मत अशुद्ध है तथा अउण = अगुण जैसा द्विगुण, त्रिगुण इत्यादि में पाया जाता है। महा० में दुउण है और अ०माग० में दुगुण रूप मिलते हैं (§ ४३६), अ०माग० में अणंतगुण भी आया है (विवाह० १०३९)। प्राचीन हिन्दी रूप अगुनीस और

गुनीस (= १९) और गुजराती **ओगणीस** की तुलना कीजिए जो = *अपगुण-विंशति है।

१. बाइत्रेगे, पेज १७। —२. औपपातिक सूत्र में अउणापन्न देखिए।

§ ४४९—१९ ५८ तक के संख्याशब्द अ०माग० और जै०महा० में कर्ताकारक, नपुंसकलिंग में शब्द के अन्त में –अं जोडकर बनाते हैं अथवा अत –आ लगाकर स्त्रीलिंग बनाते हैं, अप० में उ–अ लगाया जाता है तथा ५९-९९ तक के संख्याशब्द नपुंसकलिंग रूप में अन्त में –इं लगाकर बनते हैं अथवा अन्त में –ई जोडकर स्त्रीलिंग बन जाते हैं। शेष कारकों में स्त्रीलिंग एकवचन की भाँति इनकी रूपावली चलती है और संस्कृत की भाँति गिने हुए पदार्थ या तो सम्बन्धकारक बहुवचन में होते हैं अथवा साधारणतः संख्या के कारक में ही बहुवचन में आते हैं। —२० का रूप **वीसइ** = **विंशति** भी होता है (कप्प० ; उवास०), कर्ता– **वीसई** और **वीसइं** हैं (एर्त्से० भूमिका का पेज एकतालीस[१]), अ०माग० में **अउणवीसई** (= १९) आया है और **वीसई** भी (= २०), **एक्कवीसइ** है (= २१) और **पणवीसई** (= २५) तथा **सत्तवीसई** भी (= २७ : उत्तर० १०९१-१०९३ तक), अप० में **चउवीसइ** मिलता है (= २४ : पिंगल १, ८७)। वीसइ रूप विशेष करके २१-२८ तक में जोडा जाता है और **वीसम्** रूप में भी मिलता है (कप्प० ; एर्त्से०) अथवा **वीसा** रूप में दिखाई देता है (हेच० १, २८ और ९२ ; एर्त्से०), अप० में **वीस** रूप आता है (पिंगल १, ९५ ; हेच० ४, ४२३,४), इसके ठीक विपरीत **तीसई** = **त्रिंशत्** है जो अ०माग० में पाया जाता है (उत्तर० १०९३) और **वीसइ** = **विंशति** के साथ साथ जुडा हुआ आया है। इसके बाद अन्य संख्याशब्द आते हों तो इस प्रकार बोले जाते हैं : अ०माग० और जै०महा० में **एक्कवीसं**, **एगवीसा** और **इगवीसं** (= २१ : उत्तर० १०९२; विवाह० १९८; एर्त्से०), **वावीसं** [गुजराती में २२ को वावीस कहते हैं। —अनु०] (= २२ : उत्तर० १०७० ; १०९१ और १०९२ ; विवाह० १९८ ; एर्त्से०), अप० में **वाइस** है (पिंगल १,६८); **तेवीसं** मिलता है (= २३ : उत्तर० १०९२ ; सम० ६६ ; एर्त्से०), अप० में **तेइस** है (पिंगल १, १५०) ; **चउवीसं** है (= २४ : हेच० ३, १३७ ; विवाह० १८० ; उत्तर० १०९२ ; ठाणग० २२), **चउव्वीसं** भी है (विवाह० १९८ ; एर्त्से०), अप० में **चउवीसइ** मिलता है (पिंगल १, ८७ [बंबई के संस्करण में **चउवीसइ** है किन्तु गौल्दश्मित्त ने उक्त रूप ठीक माना है]), **चोवीस** भी आया है (२, २९१) और **चोविस** भी पाया जाता है (२, २७९ [पाठ में **चौविस** है। —अनु०]) ; **पण्णवीस**, **पणुवीसं** और **पणुवी**–[पाठ में **चोवीसा** है। —अनु०] साहि में **पणुवीसा** भी मिलता है (= २५ : § २७३), अप० में **पचीस** रूप है (पिंगल १, १२०) ; **छव्वीसं** मिलता है (= २६ : उत्तर० १०९२; एर्त्से०), अप० में **छहवीस** और **छव्वीस** रूप मिलते हैं (§ ४४१), अ०माग० में **सत्तवीसं** रूप है (= २७ : उत्तर० १०९३) और **सत्तावीसं** भी आया है (विवाह० ८९ और उसके बाद) ; **सत्तावीसा** देखने में आता है (हेच० १, ४) ; अप० में **सत्ताईसा** है (पिंगल १, ५१ ; ५२ और

५८) ; अट्ठावीसं और अट्ठावीसा रूप हैं (विवाह० ८२), अप० में अट्ठाइस और अढाइस रूप हैं (=२८ : § ४४२) ; उनतीस के प्राकृत रूप अउणतीसं और अउणत्तीसं रूप आये हैं (=२९ : § ४४४)। — ३० का रूप तीसं है (कप्प० ; नायाध० ; एर्त्से०) और तीसा भी (हेच० १, २८ और ९२), अप० में तीसा चलता है (पिंगल १,५१ और ६०), यह रूप तीसक्खरा = त्रिंशदक्षरा में भी आया है (१, ५२), तीसं भी है (१, ६१) । इसके बाद आनेवाले संख्याशब्दों के रूप जैसे कि सभी आगे आनेवाले दशकों के होते हैं, ठीक २० के बाद आनेवाले २१-२९ तक के रूपों की भाँति चलते हैं । उनमें केवल ध्वनिनियमों के अनुसार आवश्यक परिवर्तन होते हैं । इसके अनुसार : बत्तीसं (=३२ : विवाह० ८२ ; एर्त्से०) होता है और बत्तीसा भी (कप्प०), अप० में बत्तीस आया है (पिंगल १,६२ और ६९), बत्तीस के लिए महा० में दोसोळह = द्विषोडशन् भी बोला जाता है (कर्पूर० १००,८) ; तेंतीस के तेत्तीसं और तित्तीसं रूप हैं (=३३ : कप्प० : विवाह० १८,२३ ; ३९१ ; उत्तर० ९०९ ; ९९४ ; १००१ ; १०७० ; १०९४ ; एर्त्से०), अ०माग० में तायत्तीसा भी मिलता है, अ०माग० में तावत्तीसग रूप भी है और जै०महा० में तावत्तीसय (§ ४३८) ; –३४ = चोत्तीसं (ओव० ; सम० १००) ; –३५ = पणत्तीसं है (विवाह० २००) ; –३६ = छत्तीसं और छत्तीसा है (कप्प० ; ओव०) ; –३८ = अट्ठत्तीसं (कप्प०) और अट्ठतीसं भी चलता है (एर्त्से०) । — ३९ = चत्तालीसं है (कप्प० ; विवाह० १९९ ; एर्त्से०) और चत्तालीसा भी आया है (विवाह० ८२), चायालीसं भी चलता है (एर्त्से०) जो संक्षिप्त होकर जै०महा० में चालीस बन जाता है और चालीससाहस्स = चत्वारिंशत्साहस्र में आया है (एर्त्से० १०, ३५) तथा अप० में स्वतन्त्र रूप से चालीस है (पिंगल १, १५३ और १५५) । यह ऐसा रूप है जो अ०माग०, जै०महा० और अप० में सर्वत्र देखा जाता है जब कि उसके अनन्तर अन्य संख्याशब्द आते हों जैसे, अप० में इआलीस (=४१ : पिंगल १,१२५) ; –४२ का अ०माग० और जै०महा० में बायालीसं रूप है (विवाह० १५८ ; कप्प० ; नायाध० ; ठाणग० २६२ ; एर्त्से०) ; -४३ = तेआलीसा (हेच० २, १७४) ; जै०महा में तेयालीसं रूप है (एर्त्से०) ; –४४ रूप चउआलीसं और चोयालीसं है, चोयालीसा भी मिलता है (सम० १०८ और १०९; विवाह० २१८; पण्णव०; उसके बाद), अप० में चउआलीस है (पिंगल १, ९० [गौल्दश्मित्त प [पञ्चतालीसा] ; ९७) और चोआलीसह है (पिंगल २, २३८) ; –४५ = अ०माग० पणयालीसा (पण्णव० ५५) और पणयालीसं है (विवाह० १०९ ; ओव०), अप० पचतालीसह (पिंगल १,९३ और ९५) पचआलीसहिँ पढा जाना चाहिए ; –४६ = छयालीसं (कप्प०) ; –४७ = अ०माग सीयालीसं (विवाह० ६५३)[१] ; –४८ = अ०माग० और जै०महा० रूप अढयालीसं है, अढआलीस मिलता है (§ ४४२), अ०माग० में अट्ठचत्तालीसं भी देखा जाता है (विवाह० ३७२); –४९ के लिए माग० में ऍक्कूणपण्ण रूप है (जीवा० ६२) । अ०माग० पद्य में संक्षिप्त रूप चाली (उवास० § २७७, ६) तथा अ०माग०, महा० में चत्ता रूप भी आया है (=४० । —अनु०] उवास०

§ २७७, ६ ; एर्त्सें०), अन्य संख्याशब्दों के साथ संयुक्त होने पर इस प्रकार के रूप आते हैं, जैसे, जै०महा० में चित्ता (एर्त्सें०) और अ०माग० इगयाल में चाल रूप में पाया जाता है (पाठ में इगुयाल है ; विवाह० ११९), जै०महा० में ४२ =बायाल (एर्त्सें०), अप० में बेआल है (पिंगल १, ९५) ; ४५=अ०माग० में पणयाल (सम० १०९) ; पणयालसयसहस्सा (=४५००००० ; उत्तर० १०३४), -४८=अ०माग० में अढयाल (सम० २१० ; पण्णव० ९९ [पाठ में अडयाल है], विवाह० २९० [पाठ में अडयाल है]) । — ५०=पण्णासं, पण्णासा और पन्ना है, ५१-५९ तक के -वन वाले संख्याशब्दों -पण्णं और -वण्णं लगाकर बनाये जाते हैं (§ २७३) । ये संक्षिप्त रूप पञ्चाशत्, पञ्चशत्, *पञ्चशत् और पञ्चत् से व्युत्पन्न हुए हैं (§ ८१ और १४८) ।

१. यह उद्धरण पूरे पाराग्राफ और इसके बाद आनेवाले पाराग्राफों के लिए लागू है । याकोबी ने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे आंशिक रूप में अप्रकाशित मौलिक सामग्री की सहायता से, इस कारण मैं सर्वत्र उनकी जाँच नहीं कर सकता । — २ § ४४६ में सयरी की तुलना कीजिए ।

§ ४४६— ६०=अ०माग० सट्ठिं (सम० ११८ और ११९), संधि और समास में सट्ठि आता है : सट्ठितन्त, रूप मिलता है (विवाह० १४९ ; कप्प० ; ओव०) ; जै०महा० में सट्ठिं और सट्ठी है (एर्त्सें०) ; शौर० में छट्ठिं पाया जाता है (कर्मकारक , मृच्छ० ५४, १६), अधिक सम्भव यह लगता है कि अधिकतर हस्तलिपियों और छपे संस्करणों के अनुसार यह रूप सट्ठिं पढ़ा जाना चाहिए , अप० में सट्ठि है (पिंगल १, १०५ , दूसरे शब्द से संयुक्त होने में भी यही रूप है, १, ६१) । अन्य संख्याशब्दों के साथ संयुक्त होने में -सट्ठिं, -वट्ठिं और -अट्ठिं के साथ बदलते रहता है (§ २६५) : अ०माग० तथा जै०महा० में ५९=एगूणसट्ठिं और अउणट्ठिं, इगसट्ठिं और एगट्ठिं रूप भी हैं , ६२=बासट्ठिं और बावट्ठिं ; ६३=तेसट्ठिं और तेवट्ठिं है ; ६४=चउसट्ठिं और चोसट्ठी (विवाह० ८२) तथा चउवट्ठि- ; ६५= पणसट्ठिं और पण्णट्ठिं (कप्प०) ; ६६ = छावट्ठिं , ६७=सत्तसट्ठिं और ६८= अढसट्ठिं और अट्ठसट्ठि- है (वेबर, भग० १,४२६ , सम० ११८-१२६ ,एर्त्सें०) । —७०=अ०माग० और जै०महा० में सत्तरिं और सत्तरि- है, जै०महा० में -सयरी और सयरि- भी है (सम० १२७ और १२८ ; प्रबन्ध० २७९, १२ ; एर्त्सें०) । र के विषय में § २४५ देखिए । अन्य संख्याशब्दों के साथ संयुक्त होने पर कभी -सत्तरिं, कभी -हत्तरिं, कभी -वत्तरिं और कभी -अत्तरि- रूप आता है : अ०माग० में एगूणसत्तरिं और अउणत्तरिं रूप चलते हैं (=६९ : § ४४४) ; ७१= एक्कसत्तरिं (सम० , पाठ में एक्कसत्तरिं है) , ७२ = बावत्तरिं, जै०महा० में बिसत्तरि- भी है ; ७३ = तेवत्तरिं और ७४=चोवत्तरिं, जै०महा० में चउहत्तरि भी है ; ७५=अ०माग० में पञ्चहत्तरीए (करणकारक , कप्प० § २), पन्नत्तरि भी मिलता है (यह रूप सम० में तीन बार आया है ; इसी ग्रंथ में अन्यत्र पन्नत्तरि रूप भी है) ; जै०महा० में पणसयरी है (प्रबन्ध० २७९, १२) ; ७६ =छावत्तरिं है ;

७७ = सत्तहत्तरिं हैं और ७८ = अट्ठहत्तरिं तथा जै०महा० में अट्ठत्तरि- है (वेबर, भग० १, ४२६ ; २, २४८ ; सम० १२६–१३५ ; एत्सें०)। अप० में पहत्तरि मिलता है (= ७१ : पिंगल १, ९५ ; ९७ ; १००) और छाहत्तरि भी आया है (= ७६ : पाठ में छेहत्तरि है ; २,२३८)। — ८० = अ०माग० में असीइं हैं, जै०महा० में असीई और असीइ- (सम० १३७ ; विवाह० ९४ और ९५ ; एत्सें०)। अन्य संख्याशब्दों के साथ संयुक्त होने पर : अ०माग० में एगूणासीइं है (= ७९) ; जै०महा० में ऍक्कासीई ; अ०माग० में बासीइं ; अ०माग० में तेसीइं, करणकारक में तेयासीए रूप मिलता है (सम०), जै०महा० में तेसीई ; अ०माग० में चउरासीइं, चोरासीइं और चोरासी रूप मिलते हैं ; जै०महा० में चउरासीइ- और चुलसीइ- पाये जाते हैं ; अ०माग० में पञ्चासीइं, छलसीइं, सत्तासीइं और अट्ठासीइं रूप हैं (सम० १३६–१४५ ; कप्प० ; एत्सें०)। अप० में असि (= ८०) भी आया है, बेआसी (= ८२) और अट्ठासि (= ८८ : पिंगल १, ८१ ; ९८ ; २, २३८)। —९० = अ०माग० नउइं और जै०महा० रूप नउई है (सम० १४७ ; एत्सें०)। अन्य संख्याशब्दों के साथ संयुक्त होने पर : अ०माग० में एगूणणउइं (= ८९) और ऍक्काणउइं रूप आये हैं (सम० ; पाठ में एकाणउइं है), बा-, ते-, चउ-, पञ्च- और छण्णउइं तथा छण्णउइं रूप मिलते हैं (विवाह० ८२), सत्ताणउइं और अट्ठाणउइं रूप भी पाये जाते हैं ; जै०महा० में बाणउई, तेणउई, पञ्चणउई और पणणउई तथा छन्नउई रूप देखने में आते हैं (सम० १४६ १५३ ; एत्सें०)। अप० में छण्णवइ है (= ९६ : पिंगल १, ९५)।

§ ४४७—१९ ९९ तक के संख्याशब्दों की रूपावली और रचना के निम्नलिखित उदाहरण पाये जाते हैं : अ०माग० में : कर्त्ताकारक में तेवीसं तित्थकरा = त्रयोविंशतिम् तीर्थकरा है (सम० ६६), बायालीसं सुमिणा तीसं महासुमिणा बावत्तरिं सव्वसुमिणा = द्वाचत्वारिंशत् स्वप्नास् त्रिंशन् महास्वप्ना द्वासप्तति· सर्वस्वप्ना है (विवाह० ९५१ [पाठ में बावित्तरिं है]; नायाध० § ४६ ; कप्प० § ७४), तायत्तीसा लोगपाला = त्रयस्त्रिंशल् लोकपालाः है (ठाणंग० १२५)। — कर्मकारक में वीसं वासाइं = विंशतिं वर्षाणि है (उवास० § ८९ ; १२४ , २६६), पण्णासं जोयणसहस्साइं = पञ्चाशतं योजनसहस्राणि है (ठाणंग० २६६), पञ्चाणउइं (पाठ में पञ्चाणउयं है) जोयणसहस्साइं = पञ्चनवतिं योजनसहस्राणि है (ठाणंग० २६१)। — करण में पञ्चहत्तरीए वासेहिं· ऍक्कवीसाए तित्थयरेहिं···तेवीसाए तित्थयरेहिं = पञ्चसप्तत्या वर्षै · एकविंशत्या तीर्थकरै·· त्रयोविंशत्या तीर्थकरैः है ; तेत्तीसाए, सत्तावन्नाए दन्तिसहस्सेहिं = त्रयस्त्रिंशता, सप्तपञ्चाशता दन्तिसहस्रै· है (निरया० § २४ और २६)। — सम्बन्धकारक में एएसिं तीसाए महासुमिणाणं = एतेषां त्रिंशतो महास्वप्नानाम् है (विवाह० ९५१ , नायाध० § ४६ , कप्प० § ७४) , बत्तीसाए –समसाहस्सीणं चउरासीइए [यहाँ यही पढ़ा जाना चाहिए]सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउहं लोग-

पालाणं = द्वात्रिंशतः –शतसाहस्रीणां चतुरशीत्याः सामानिकसाहस्रीणां त्रयस्त्रिंशतम् त्रयस्त्रिंशकानां चतुर्णां लोकपालानाम् है (कप्प० § १४ ; विवाह० २११ की तुलना कीजिए)। — अधिकरण में **तीसाए निरयावाससयस-हस्सेसु** = त्रिंशति निरयावासशतसहस्रेषु है (विवाह० ८३ और उसके बाद); **एगवीसाए सवलेसु बावीसाए परीसहे** (पद्य में छन्द की मात्राएं ठीक करने के लिए **परीसहेसु** के स्थान में) = एकविंशत्यां शबलेषु द्वाविंशत्यां *परीसहेषु है (उत्तर० ९०७)। — जै०महा० में **पञ्चनउई राईणं** और **राथाणो** आया है (कालका० २६३, ११ और १७)। इन सख्याशब्दों की रूपावली बहुवचन में बहुत कम चलती है। चंड० १, ६ के अनुसार, २–१९ तक सख्याशब्दों की भाँति ही (§ ४३६), सम्बन्धकारक अन्त में –ण्हं लगा कर बनाया जाता है : **वीसण्हं, तीसण्हं** आदि। अ०माग० में **तिन्नि तेवट्ठाइं पावादुयसयाइं** = त्रीणि त्रयः षष्ठानि प्रावादुकशतानि है (सूय० ७७८); **पणुवीसाहि य भावणाहिं** = पञ्चविंशत्या च भावनाभिः है (आयार० पेज १३७, २५); **पञ्चहिं छत्तीसेहिं अणगारस-एहिं** = पञ्चभिः षट्त्रिंशैः अनगारशतैः है (कप्प० § १८२); जै०महा० में **तिण्हं तेवट्ठाणं नयरसयाणं** = त्रयाणां त्रयःषष्ठानां नगरशतानाम् है (एर्से० २८, २१); महा० में **चउसट्ठिसुसुत्तिसु** = चतुःषष्ठ्यां शुक्तिषु है (कर्पूर० ७२, ६)। यह रूपावली अप० में साधारणतया काम में आती है : **पश्चासेहिँ** और **बाई-सेहिँ** रूप मिलते हैं (पिंगल १, ५८ और ६९), **छहवीसउ** आया है (पिंगल १, ९७); **सत्ताईसाइँ** पाया जाता है (पिंगल १, ६०); **पचआलीसहिँ** है (पिंगल १, ९३ और ९५ § ४४५ देखिए); **पहत्तरिउ** (कर्मकारक) और **पहत्तरिहिं** रूप भी चलते है (पिंगल १, ९५ और १००) § । ४४८ की भी तुलना कीजिए।

§ ४४८— **२००** महा० में **सअ** (हाल ; रावण०), अ०माग० और जै० महा० में **सय** रूप है (कप्प० ; ओव० ; उवास० ; एर्से०), शौर० में **सद** चलता है (मृच्छ० ६, ६ ; १५१, २२ ; विक्र० ११,४), माग० में **शद** मिलता है (मृच्छ० १२,५ ; ११६,८ ; १२२,२० ; वेणी० ३३,८)। इसकी रूपावली नपुसकलिंग के रूप में अ– वर्ग की भाँति की जाती है। शेष शतक [दो सौ ; तीन सौ आदि। —अनु०] इस प्रकार बनाये जाते हैं कि १०० के बहुवचन के रूप से पहले इकाई रख दी जाती है : अ०माग० में **२००** = **दो सयाइं, ३००** = **तिण्णि सयाइं, ४००** = **चत्तारि सयाइं** है (सम० १५७ और १५८), **५००** = **पञ्च सया** मिलता है (कप्प० § १४२), **६००** = **छ सयाइं, छ सया** भी पाया जाता है (सम० १५९) और **छस्सया** भी आया है ; अप० में ४०० के लिए **चउसअ** आया है (पिंगल १, ८१)। महा० में **सत्तसअ** एक नपुंसक है (हाल)। —**१०००** के लिए महा०, अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर० और शौर० में **सहस्स** है (गउड० ; हाल ; रावण० ; कप्प० ; उवास० ; एर्से० ; पव० ३८०, १२ ; मृच्छ० ७२, २२ ; प्रबोध० ४, ४ और ५), माग० में **शहश्श** बन जाता है (ललित० ५६६, १० ; वेणी० ३३, ३; ३४, २१ ; ३५, ८)। इसकी रूपावली भी नपुसकलिंग के रूप में अ– वर्ग की भाँति चलती है। अ०माग० में

इसके स्थान में दस सयाई भी बोला जाता था (सम० २६२) अथवा दस सया भी कहते थे (कप्प० § १६६), जैसा कि ११०० के लिए पॅक्कारस सयाई चलता था (सम० १६३) अथवा एक्कारस सया भी कहते थे (कप्प० § १६६), १२०० के लिए बारस सया आता था और १४०० के लिए चउद्दस सया चलता था (कप्प० § १६६) तथा १७२१ के लिए सत्तरस पक्कवीसे योजनसए आया है (=१७२१ योजन; कर्मकारक; विवाह० १९८) । शेष सहस्रक ठीक शतकों की भाँति बनाये जाते हैं : अ०माग० में २००० = दो सहस्साई है (सम० १६३), कर्मकारक में दुवे सहस्से रूप आया है (सूय० ९४०); तिण्णि, चत्तारि, छ और दस सहस्साई मिलता है (सम० १६३–१६५); अउणट्ठिं सहस्सा (=५९००० : कप्प० § १३६); जै०महा० में पुत्ताणं सट्ठी सहस्सा देखा जाता है (=६००००: सगर १, १३) और सट्ठिं पि तुह सुयसहस्सा भी मिलता है (७, ७ ; १०, ४ की तुलना कीजिए ; ११, ५), सम्बन्धकारक में सट्ठीए पुत्तसहस्साणं है (८, ५), ऐसा वाक्यांश साहस्सी = साहस्री के साथ भी आया है जैसे, अ०माग० में चोद्दस समणसाहस्सीओ, छत्तीसं अज्जिआसाहस्सीओ, तिण्णि सयसाहस्सिओ आदि-आदि (कप्प० § १३४–१३७ ; § १६१ और उसके बाद की तुलना कीजिए ; विवाह० २८७) जब शतकों और सहस्रकों का ईकाई के साथ सयोग होता है तो इकाई आदि में लगा दी जाती है और एक समास सा बना दिया जाता है : अट्ठसयं = १०८ है (विवाह० ८३१ ; कप्प० ; ओव०), अट्ठसहस्सं = १००८ (ओव०) । दहाइयां उनके बाद निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त की जाती हैं : तीसं च सहस्साई दोॅण्णिय अउणापण्णे जोयणसए = ३०२४९ योजन है (विवाह० १५८) ; सत्तरस पॅक्कवीसे जोयणसए = १७२१ योजन, चत्तारि तीसे जोयणसए = ४३० योजन ; दस बावीसे जोयणसए = १०२२ योजन ; चत्तारि चउव्वीसे जोयणसए = ४२४ योजन, सत्त तेवीसे जो० = ७२३ यो०; दस तिण्णि इगयाले जो० = १३४१ यो० है, दोॅण्णि जोयणसहस्साई दोॅण्णि य छड़सीए जो० = २२८६ यो० (विवाह० १९८ और १९९), सीयालीसं जो० यणसहस्साई दोॅण्णि य बत्तीसुत्तरे जो० = ३२३२ यो० है (विवाह० १९८) ; बावण्णुत्तरं अडयालीसुत्तरं, चत्तालीसुत्तरं, अट्ठतीसुत्तरं, छत्तीसुत्तरं, अट्ठावीसुत्तरं जोयणसय सहस्सं = १०००५२, १०००४८, १०००४४, १०००३८, १०००३६ और १०००२८ यो० है (जीवा० २४३) तथा च के साथ भी आते हैं जैसे, छक्कोडिसए पणवण्णं च कोडीओ = ६५५ कोटि (विवाह० २००) । ऊपर सर्वत्र कर्मकारक के रूप हैं। १००००० पल्लवदानपत्रों में सतसहस्स लिखा गया है (६, ११ ; ७, ४२ और ४८), अ०माग० में एगं सयसहस्सं बोला जाता है (सम० १६५) अथवा इसे एगा सयसाहस्सी भी कहते हैं (कप्प० § १३६) ; शौर० रूप सुवण्णसदसाहस्सिओ = सुवर्णशतसाहस्रिकः की तुलना कीजिए (मृच्छ० ५८, ४) ; अ०माग० और जै०महा० में लक्खं = लक्षम् है (कप्प० § १८७ ; कक्कुक शिलालेख १२ ; एत्सें०), माग० में यह लक्खे बन जाता है (ललित० ५६६, ११) ।—

१०००००० = अ०माग० में दस सयसहस्साइं है (सम० १६६), माग० में दह [यह दश के स्थान में अशुद्ध रूप है] लक्खाइं मिलता है (ललित० ५६६, ११)। —१०००००० = कोडी (= कोटिः) है (सम० १६७ ; एर्से०)। इनसे भी ऊँचे संख्याशब्द अ०माग० में कोडाकोडी, पलिओवमा, सागरोवमा, सागरोवमाकोडाकोडी आदि-आदि हैं (कप्प० ; ओव० ; उवास० आदि-आदि)।

§ ४४९—क्रमवाचक संख्याएं, जिनके स्त्रीलिंग के रूप के अन्त में जब अन्य नोट न दिया गया हो तब आ आता है, निम्नलिखित हैं : पढम, पुढम, पडुम, पुडुम (§ १०४ और २२१)। अ०माग० में पढमिल्ल रूप भी आता है (विवाह० १०८ ; १७७ और ३८०) और पढमिल्लग रूप भी चलते हैं (नायाध० ६२४) प्रत्यय –इल्ल के साथ (§ ५९५), अप० में पहिल रूप है जो स्त्रीलिंग में पहिली रूप धारण करता है (क्रम० ५, ११ ; प्रबन्ध० ६२,५ ; १५७, ३ [पाठ में पहली है], जैसा भारत की नवीन आर्य भाषाओं में है (बीम्स, कम्पैरेटिव ग्रामर २,१४२; होएर्नले, कम्पैरेटिव ग्रामर § ११८ ; ४०० ; ४०१)। यह शब्द बीम्स के अनुसार न तो *प्राथर से निकाला जा सकता है और न ही होएर्नले के मतानुसार अ०माग० पढमिल्ल और *पढइल्ल तक इसकी व्युत्पत्ति पहुँचायी जा सकती है किन्तु यह अपने रूप से बताता है कि कभी पहले इसका रूप *प्रथिल रहा होगा। — २ का महा० में दुइय, बिइय, बीअ और बिइज्ज रूप होते हैं ; जै०महा० में दुइय और अ०माग० तथा जै०महा० में बिइय तथा बीय रूप होते हैं ; अप० में बीअ है ; अ०माग० में दुच्च, दोच्च भी होते हैं ; शौर० और माग० में दुदिय रूप है तथा पद्य में दुदीय भी पाया जाता है (§ ८२ ; ९१ ; १६५ और ३००)। — ३ का महा० में तइअ रूप होता है, अ०माग० और जै०महा० में तइय ; शौर० में तदिय और अ०माग० में तच्च रूप भी होता है ; अप० में तीअ और स्त्रीलिंग का रूप तइज्जी मिलता है (§ ८२ , ९१ ; १६५ और ३००)। क्रमदीश्वर ने २, ३६ में तिज्ज रूप भी दिया है जो अ०माग० अड्डाइज्ज में देखने में आता है (§ ४५०)। —४ का क्रमवाचक रूप महा०, अ०माग०, जै०महा० और अप० में चउत्थ है (हेच० १, १७१ ; २, ३३ ; हाल , रावण० ; सूय० ६०६ ; आयार० पेज १३२ और उसके बाद ; उवास० ; कप्प० , एर्से० ; कालका० ; पिंगल १, १०५), हेमचन्द्र २, ३३ के अनुसार चउट्ठ भी होता है ; महा० में चोत्थ रूप भी है (§ १६६ ; हेच० १, १७१ ; हाल) ; शौर० और माग० में चदुत्थ काम में आता है (मृच्छ० ६९, २१ और २२ [इस नाटक में अन्यत्र अन्य रूपों की भी तुलना कीजिए], माग० रूप : १६९, ७ ; पाठ में सर्वत्र चउत्थ है), दाक्षि० में चउत्थ है (मृच्छ० १००, ६), शौर० में चदुट्ठ भी पाया जाता है (शकु० ४४, ५)। महा० और जै० महा० में इसका स्त्रीलिंग का रूप चउत्थी और चोत्थी मिलते हैं (हेच० १, १७१ ; एर्से० भूमिका का पेज बयालीस), अ०माग० में चउत्था रूप है (आयार० पेज १३२ और उसके बाद)। अद्धुट्ठ में (= ३½ : § ४५०) एक *तुट्ठ = *तूर्थ (तुर्य और तुरीय की तुलना कीजिए) पाया जाता है। — ५ का सभी प्राकृत बोलियों में पञ्चम रूप बनता है (हाल ; कप्प० ; उवास० ; एर्से० ; शौर० रूप : मृच्छ०

७०, ५ और ६; दाक्षि० रूप : मृच्छ० १००,७ ; अप० में : पिंगल १,५९) । स्त्रीलिंग के रूप के अन्त में -ई जोड़ा जाता है, अ०माग० में -आ आता है (आयार० पेज १३२ और उसके बाद) । — ६ का रूप सभी प्राकृत बोलियों में छट्ठ [यह रूप कुमाउनी बोली में वर्तमान है । —अनु०], स्त्रीलिंग के अन्त में -ई लगता है (वर० २, ४१ ; हेच० १, २६५ ; २, ७७ ; क्रम० २, ४६ ; हाल ; सूय० ६०६ और ६८६ ; विवाह० १६७ ; कप्प० ; उवास० ; ओव० ; एर्त्से० ; शौर० रूप : मृच्छ० ७०, २२ और २३ ; शकु० ४०,९ ; दाक्षि० में : मृच्छ० १००,७ और ८ ; अप० रूप : पिंगल १, ५०), अ०माग० में स्त्रीलिंग मे छट्ठा भी आता है (आयार० २, १, ११, ९), इसका आधार इससे पहले आनेवाले सख्याशब्दों के रूप हैं । माग० रूप सट्ठ (?) जो प्रबन्धचन्द्रोदय के २८, १६ में मिलता है और इस ग्रन्थ के पूना सस्करण ३१, ४ में आया है तथा जिसके स्थान में बंबइया सस्करण ७३, १ में सट्ठ दिया गया है और मद्रास के सस्करण ३६, १३ में केवल सट्ट छपा है, सुधार का छट्ठ पढ़ा जाना चाहिए। इसका एक महा० रूप शकुन्तला १२०, ७ में पञ्चब्भहिअ = पञ्चाभ्यधिक रूप द्वारा व्यक्त किया गया है । — ७ का क्रमवाचक रूप महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर० और अप० में सत्तम है (हाल ; उवास० ; कप्प० ; एर्त्से० ; मृच्छ० ७१, ११ और १२ ; पिंगल १,५९) । — ८ का अ०माग०, जै०महा०, शौर० और दाक्षि० में अट्ठम है (विवाह० १६७ , उवास० ; ओव०; कप्प० ; एर्त्से० ; मृच्छ० ७२, १ ; दाक्षि० मे : मृच्छ० १००, ६) । — ९ का रूप अ०माग० और जै०महा० में नवम है (उवास० , कप्प० ; एर्त्से०), दाक्षि० में णवम है (मृच्छ० १००,८) । — १० का महा०, अ०माग० और जै०महा० मे दसम रूप है (रावण० ; विवाह० १६७ ; उवास० ; एर्त्से०), अ०माग० में स्त्रीलिंग का रूप दस- भी है (कप्प०) । ११-१९ तक अकों के क्रमवाचक रूप क्रमशः अपने-अपने गणनावाचक शब्द में पुलिंग में -म और स्त्रीलिंग में -मी जोड़ने से बनते हैं । इनके उदाहरण इस समय तक केवल अ०माग० और जै०महा० में उपलब्ध हैं । इस भाँति : ११ का रूप अ०माग० में ऍक्कारसम है (सूय० ६९५ ; विवाह० १६७ , उवास० ; कप्प०) । — १२ अ०माग० और जै०महा० में बारसम रूप है (सूय० ६९९ ; विवाह० १६७ ; एर्त्से०), अ०माग० मे दुवालसम रूप भी देखा जाता है (आयार० १, ८,४,७ ; सूय० ६९९ और ७५८) । — १३ अ०माग० में तेरसम रूप बनता है (आयार० २, १५, १२; विवाह० १६७ ; सूय० ६९५ ; कप्प०) । — १४ का चउद्दसम रूप है (सूय० ७५८) और चोॅद्दसम भी होता है (विवाह० १६७) । — १५ का पन्नरसम है (विवाह० १६८) । — १६ का क्रमवाचक सोळसम होता है (विवाह० १६७) । — १८ अ०माग० में अट्ठारसम रूप बनाता है (विवाह० १६७ ; नायाध० १४५० और १४५१) और अढारसम भी होता है (विवाह० १४२९ ; नायाध० १४०४) । — १९ का एगूणवीसम रूप है (नायाध० § ११) और एगूणवीसइम भी है (विवाह० १६०६) । षोडसम के विषय में (= १६ [सोलहवाँ । —अनु०]) § २६५ देखिए । — २० वीसइम अथवा वीस रूप होता है ; ३० का तीसइम

और तीस है ; ४० का चत्तालीसइम है ; ४९ का अउणापन्न है ; ५१ का पन्नपन्नइम है (कप्प०) ; ७२ का बावत्तर रूप है ; ८० का असीइम है और ९७ का सत्तानउय है। यदि एक गणनाशब्द के आगे दूसरा अंक आता हो तो कभी दीर्घ और कभी ह्रस्व रूप काम में लाया जाता है जैसे, २३ जै०महा० में तेवीसइम है (तीर्थ० ४, २) ; २४ का अ०माग० में चउव्वीसइम रूप मिलता है (विवाह० १६७) और चउव्वीस भी होता है (ठाणग० ३१) ; ८४ का चउरासीइम मिलता है, ८५ का पञ्चासीइम है (कप्प०)। वेबर, भगवती १, ४२६ की तुलना कीजिए। कति की रूपावली इस प्रकार से चलती है : अ०माग०, जै०महा० और अप० में कइ रूप आता है (विवाह० २८९ ; ३०१ ; ४१३ और उसके बाद ; ४१६ ; ८५५ ; ८७८ और उसके बाद ; एर्त्से० १७, २१ ; हेच० ४, ३७६,१ ; ४२०,३) ; करणकारक में अ०माग० में कइहिं रूप है (पण्णव० ६६२ ; विवाह० ७४ और ३३२) ; सम्बन्ध में कइण्हं चलता है ([कुमाउनी में कईन रूप है। —अनु०] ; हेच० ३,१२३) ; अधिकरण में अ०माग० और जै०महा० में कइसु है (पण्णव० ५२१ ; ५३० ; विवाह० ७३६ और उसके बाद ; १५३६ ; एर्त्से० ६६, १६)।

§ ४५०—½ को व्यक्त करने के लिए अ०माग० में अद्ध अथवा अड्ढ = अर्ध मिलता है, जैसा संस्कृत में होता है वैसा ही प्राकृत में डेढ़, आढाई आदि बनाने के लिए पहले अद्ध या अड्ढ रूप उसके बाद जो संख्या बतानी होती है उससे ऊँचा गणना-अंक रखा जाता है (§ २९१) : अड्ढाइज्ज, अड्ढ + तिज्ज, *तीज, तिज्ज से व्युत्पन्न होता है = अर्धतृतीय (§ ४४९ ; = २½ ; सम० १५७ ; जीवा० २६८ ; २७० ; ६६० ; ९१७ ; ९८२ ; नायाध० ३४७ ; पण्णव० ५१; ५५ ; ८१; ६११ और उसके बाद ; विवाह० १९९ ; २०२ ; ७३४ ; १७८६ ; नन्दी० १९८ और २००; कप्प०); अद्धुट्ठ, अद्ध + *तूर्थ से बना है = अर्धचतुर्थ (= ३½ , कप्प०) ; अद्धट्ठम = अर्धाष्टम (= ७½ ; आयार० २, १५, ६ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; कप्प० ; ओव०), अद्धनवम (= ८½ , कप्प०) ; अद्धछट्ठेहिं भिक्खासएहिं (= ५५०), अड्ढाइज्जाइं भिक्खासयाइं (= २५०), अद्धुट्ठाइं भिक्खासयाइं (= ३५०) और अद्धपञ्चमाइं भिक्खासयाइं (= ४५० : सम० १५६-१५८) ; अद्धछट्ठाइं जोयणा (= ५½ योजन ; जीवा० २३१) है। इनके विपरीत १½ अंक दिवड्ढ द्वारा व्यक्त किया जाता है (विवाह० १३७ और १११३ ; सम० १५७ ; जीवा० १४१ ; पण्णव० ६८५ और उसके बाद; ६९२; ६९८) जो न तो = अध्यर्ध[1] है और न जैसा इसके शब्दों का क्रम बताता है = द्वितीय + अर्ध है[2], किन्तु = द्विकार्ध है (§ २३०)। इस भाँति दिवड्ढ -सयम् रूप आया है (= १५० ; सम० १५७)।

१. वेबर, भगवती १, ३९८ ; ४०९ ; ४११ ; अर्नेस्ट कून, बाइत्रैगे, पेज ४१। —२. चाइल्डर्स के पाली कोश में यह शब्द देखिए ; बीम्स, कंपैरेटिव ग्रामर १, २३७ और उसके बाद ; ए० म्युलर, बाइत्रैगे, पेज ४७।

§ ४५१—१ × अ०माग० में सइं = सकृत् है (§ १८१), जै०महा० में एक्कवारं = एकवारम् है (कालका० २६६, २५ ; २७४, २१) और एकसिं रूप भी पाया जाता है (सगर ४, ४), यह रूप हेच० २, १६२ में एक्कसि और एक्कसिअं लिखा है और यह = एकदा के बताया है। शेष गुननेवाली संख्याओं के साथ अ०-माग० में खुत्तो = कृत्वः रूप लगता है (§ २०६) : दुक्खुत्तो और दुक्खुत्तो = द्विकृत्वः (ठाणग० ३६४ , आयार० २, १, १, ६) ; तिखुत्तो और तिक्खुत्तो = त्रिकृत्वः (ठाणग० ५ ; ११ ; १७ ; ४१ ; ६० और ३६४ ; आयार० २,१, १, ६ ; २,१५, २० ; अंत० ५ ; ११ ; १७ ; ४१ ; ६० ; विवाह० १२ ; १५६; १६१ आदि-आदि ; उवास० ; कप्प०) ; सत्तक्खुत्तो और सत्तखुत्तो रूप भी मिलते हैं (नायाध० ९१० ; ९२५ और ९४१; जीवा० २६० और ६२१), तिसत्तक्खुत्तो = त्रिसप्तकृत्वः है (ओव० § १३६ ; विवाह० २३० [पाठ में तिसत्तखुत्तो है] ; ४११) ; अणेगसयसहस्सक्खुत्तो = अनेकशतसहस्रकृत्वः है (विवाह० १४५ और १२८५) ; अणन्तखुत्तो भी मिलता है (जीवा० ३०८ ; विवाह० १७७; ४१४ ; ४१६ ; ४१८) ; पवइखुत्तो = *प्रवतिकृत्वः (कप्प०) है। महा० में इस शब्द का रूप हुत्तं है : सअहुत्तं और सहस्सहुत्तं रूप पाये जाते हैं (हेच० २, १५८ ; ध्वन्यालोक ५२, ६)। 'दो बार में' के लिए अ०माग० में दोच्चं और दुच्चं रूप आये हैं (आयार० २, १५, २१ ; विवाह० १६६ ; २३४ और २३५ ; ओव० § ८५ ; उवास०; कप्प०), 'तीन बार में' के लिए तच्चं रूप चलता है (विवाह० १६६; २३४ और २३५ ; उवास०)। '-प्रकार' बताने के लिए प्राकृत में संस्कृत की भाँति काम लिया जाता है, विशेषण मे -विह = -विध से और क्रियाविशेषण में -हा = -धा से : अ०माग० मे दुविह, तिविह, चउव्विह, पञ्चविह, छव्विह, सत्तविह, अट्ठविह, नवविह और दसविह रूप आये है (उत्तर० ८८५-९००), दुवालसवि भी मिलता है (जीवा० ४४ ; विवाह० १५९), सोळसविह देखने में आता है (उत्तर० ९७१; ठाणग० ५९३ [पाठ मे सोळसविधा है]), अट्ठावीसविह भी है (उत्तर० ८७७) और बत्तीसइविह पाया जाता है (विवाह० २३४) ; जै०महा० में तिविह मिलता है (कत्तिगे० ४०२, ३६०) आदि-आदि ; अ०माग० मे दुहा, पञ्चहा और दसहा मिलते है (उत्तर० १०४६ ; ८८९ , ७०४), दुहा, तिहा, चउहा, पञ्चहा, छहा, सत्तहा, अट्ठहा, नवहा, दसहा, संखेज्जहा, असंखेज्जहा और अणंतहा रूप भी पाये जाते हैं (विवाह० ९९७–१०१२)। —अ०माग० और जै०महा० में एगओ है (विवाह० २७७ ; २८२ : ९५० ; आव०एर्त्सें० ४६, २४), यह = एकतः के, बार बार काम मे आनेवाला रूप एगयओ (विवाह० १३७–१४१; १८७; ५१० ; ५१३ ; ९७० ; ९८३ ; ९९६ और उसके बाद ; १४३० और १४३४) = *एकततः है ; दुहओ के विषय मे § ४३६ देखिए। — जैसा कि संस्कृत में चलता है, वैसे ही अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में दुग (ठाणग० ५६८ और ५६९ ; एर्त्सें० ; कत्तिगे० ४०३, ३७१) और दुय मिलते हैं (उत्तर० ९०३) जो = द्विक है ; अ०माग० और जै०महा० में तिय = त्रिक भी पाया जाता है (उत्तर० ९०२ ;

एर्ले०) ; छग्ग = षट्क (उत्तर० १०४) आदि आदि ; इसी प्रकार जै०महा० में सहस्सओ = सहस्रशः है (सगर ६, ५) ; शौर० में अणेअसो तथा अ०माग० में 'णेगसो = अनेकशः हैं (§ ४३५)।

ई–क्रियाशब्द

§ ४५२—प्राकृत में संज्ञाशब्द तो घिसे ही हैं किन्तु क्रियाशब्द इनसे भी अधिक घिसकर बहुत अधिक अपभ्रष्ट हुए हैं। जैसा संज्ञाशब्दों के विषय में कहा जा चुका है (§ ३५५), ध्वनिपरिवर्तन के नियमों के कारण अ– वर्ग की ही धूम है जिसका फल यह है कि रूपावली की दूसरी सारणी अनेप्राकृत कम अपवादों को छोड़ पहले के अनुकरण पर ही बनी है। इससे धातुओं के गण कुछ घुलमिलकर साफ हो गये हैं। आत्मनेपद का भी प्राकृत बोलियों में अंशक्रिया (Participle) का रूप ही अधिक मिलता है ; अन्यथा इसका कुछ प्रयोग महा०, अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में पाया जाता है किन्तु वह भी एकवचन और तृतीय (अन्य) पुरुषवाचक में साधारण वर्तमान काल तक सीमित है, शौर० में पूर्णतया और माग० में प्रायः बिना अपवाद के आत्मनेपद प्रथम (उत्तम) पुरुष सामान्य वर्तमान तक ही सीमित है। शौर० में जो उदाहरण पाये जाते हैं वे व्याकरणसम्मत बोली के उद्गार हैं (§ ४५७)। अनेक क्रियाशब्द जिनकी रूपावली संस्कृत में केवल आत्मनेपद में चलती है, प्राकृत में उनमें परस्मैपद के समाप्तिसूचक रूप मिलते हैं, यही बात अधिकांश में कर्तृवाच्य के विषय में भी कही जा सकती है। महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में अभी तक अपूर्णभूत का रूप आसि अथवा आसी = आसीत् रह गया है जो प्रथम, मध्यम और तृतीय पुरुष एकवचन और तृतीय बहुवचन में काम में लाया जाता है ; अ०माग० में इसके अतिरिक्त अव्ययी रूप भी चलता है (§ ५१५)। व्याकरण के नियमों (§ ५१६) और अ०माग० में सबल और स् –वाला भूत तथा आत्मनेपद के कुछ रूप बहुत काम में लाये गये हैं (§ ५१७), पूर्णभूत केवल अ०माग० में दिखाई देता है (५१८) ; हेतुहेतुमद्भूत एकदम उड़ गया है। ये सब काल अंशक्रियाओं में सहायक क्रियाएं अस् और भू जोड़कर बना लिये जाते हैं [यह परम्परा हिन्दी में भी चली आयी है, (मैं) खड़ा हुआ में खड़ा = स्थित और हुआ = अभूत्, यहाँ पिशल का उद्देश्य प्राकृत की इस शैली से है।—अनु०] अथवा कर्मवाच्य की अंशक्रिया से बनाये गये हैं। परस्मैपद, आत्मनेपद और कर्मवाच्य में सामान्य भविष्यत् का रूप भी पाया जाता है जो क्रिया के साधारण रूप (Infinitive) से बने कृदन्त से बनाया जाता है। यह कर्मवाच्य में भी होता है (§ ५८०), कृदन्त का रूप भी मिलता है, परस्मैपद में वर्तमानकालिक अंशक्रिया और आत्मनेपद में भी यह रूप है तथा कर्मवाच्य में भी, कर्मवाच्य में पूर्णभूतकालिक अंशक्रिया भी मिलती है एवं कर्तव्यवाचक अंशक्रिया भी है, साधारण वर्तमानकाल के नाना प्रकार (Mood), इच्छावाचक (प्रार्थनावाचक भी) और आज्ञावाचक रूप पाये जाते हैं। नाना शब्दों से निकाली गयी क्रियाओं के रूपों में संस्कृत की भाँति प्रेरणार्थक, इच्छार्थक, घनत्ववर्धक और बहु–

संस्कृत अन्य रूप हैं। द्विवचन की जड़ ही उखाड़ दी गयी है। समाप्तिसूचक चिह्न, अप० को छोड़, अन्य सब प्राकृत बोलियों में साधारणतः संस्कृत से मिलते जुलते ही हैं। जहाँ जहाँ संस्कृत से भिन्नता आ गयी है उसका उल्लेख आगे आनेवाले § में किया गया है। प्राकृत की एक मुख्य विशेषता यह है कि अन्य सब कालों से वर्तमानकाल के मूलशब्दों का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है, इनसे नामधातु (क्रियात्मक संज्ञा) और कर्मवाच्य के रूप बनाये जा सकते हैं। संज्ञा निकालने या बनाने के काम में भी इसका उपयोग है।

(अ) वर्तमानकाल

परस्मैपद का सामान्य रूप

§ ४५३—इस रूपावली में प्रथम गण वट्ट- = वर्त- की रूपावली का चित्र दिखाया गया है। संस्कृत में इसकी रूपावली केवल आत्मनेपद में चलती है :

एकवचन	बहुवचन
१ वट्टामि	वट्टामो
२ वट्टसि	वट्टह, जै०शौर०, शौर०, माग० और ढक्की में वट्टध, पै० और चू०पै० वट्टथ, वट्टन्ति
३ वट्टइ, जै०शौर०, शौर०, माग० और ढक्की में वट्टदि रूप है, चू०पै० और पै० में वट्टति	

अप० में साधारण रूपावली इस प्रकार है :

एकवचन	बहुवचन
१ वट्टउँ	वट्टहुँ
२ वट्टसि और वट्टहि	वट्टहु
३ वट्टइ	वट्टहिं

§ ४५४—अप० को छोड़ प्राकृत की अन्य सभी बोलियों में सामान्य समाप्तिसूचक रूप –आमि के साथ साथ व्याकरणकार (वर० ७, ३० , हेच० ३, १५४ ; मार्क० पन्ना ५१, सिंहराज० पन्ना ४७) –अमि भी बताते हैं : जाणमि = जानामि, लिहमि = लिखामि ; सहमि = सहे, हसमि = हसामि है। इसके उदाहरण अप० में भी मिलते हैं : कड्ढमि = कर्षामि (हेच० ४, ३८५), पावमि = *प्रापामि = प्राप्नोमि ; भामभि = भ्रमामि (विक्र० ७१, ७ और ८) ; भणमि = भणामि (पिंगल १, १५३) है। यहाँ स्वर द्वितीय और तृतीय पुरुष के रूप के अनुसार हो गया है। कुछ उदाहरणों में प्रथमपुरुष बहुवचन के अनुसार (§ ४५५) अ स्थान में इ आ गयी है : महा० में जाणिमि = जानामि (हाल ९०२) ; अणुणिज्जिमि = अनुनीये (हाल ९३०), अप० में पुच्छिमि = पृच्छामि, करिमि = *करामि = करोमि (विक्र० ६५, ३ , ७१, ९) है। –म्हि और –म्मि में समाप्त होनेवाले

रूप जो कभी-कभी हस्तलिपियों और छपे संस्करणों में मिलते हैं[१] अशुद्ध हैं जैसे, णिवेदेमि के स्थान में णिवेदेम्हि (नाग० २०, ३ ; २०, १० की तुलना कीजिए), पसादेमि के स्थान में पसादेम्हि आया है (नाग० ४४, ८) और गच्छामि के स्थान में गच्छम्हि और गच्छाह्मि रूप आये हैं (मालवि० ५, ५; वृषभ० २०, १७)। — अप० में रूप के अन्त में -अउँ लगता है : कड्ढउँ = कर्षामि है (हेच० ४, ३८५), किज्जउँ = क्रिये, यहाँ इसका अर्थ करिष्यामि है (हेच० ४, ३८५, ४४५, ३) ; जाणउँ = जानामि है (हेच० ४, ३९१ ; ४३९, ४ [जाणउँ कुमाउनी बोली में जाणुँ हो गया है।—अनु०]); जोइज्जउँ = विलोक्ये, देक्खउँ = द्रक्षामि [कुमाउनी में देखुं रूप है जिसमें द्रक्षामि का अर्थ निहित है।—अनु०] ; झिज्जउँ = क्षीये है (हेच० ४, ३५६ ; ३५७, ४ ; ४२५) ; पावउँ = प्राप्नोमि है [कुमाउनी रूप पुँ है। —अनु०], पकावउँ = *पक्वापयामि = पचामि, जीवउँ = जीवामि, चजउँ (पाठ में तजउ है) = त्यजामि है (पिंगल १, १०४ अ ; २, ६४) ; पिआवउँ (पाठ में पियावउ है) = *पिवापयामि = पाययामि है [कुमाउनी रूप पियूं है। —अनु०] (प्रबन्ध० ७०, ११ और १३)। अप० के ध्वनिनियमों के अनुसार जाणउँ रूप केवल *जानकम् से उत्पन्न हो सकता है (§ ३५२)। *जानकम् के साथ व्याकरणकारों द्वारा दिये गये उन रूपों की तुलना की जानी चाहिए जिनके भीतर अक् आता है जैसे, पचतकि, जल्पतकि, स्वपितकि, पठतकि, अद्धकि और पहकि हैं, इनके साथ औफरेष्ट ने कौषीतकि ब्राह्मण २९, १ से यामकि = यामि ढूँढ निकाला है[३] जो प्रथमपुरुष एकवचन का रूप है। यहाँ यह बात स्वीकार करनी होगी कि जैसे भविष्यत्काल में (§ ५२०), मुख्यकाल-वाचक रूप के समाप्तिसूचक चिह्न के स्थान में सहायककाल वाचक समाप्तिसूचक चिह्न आ गया है[४]।

१. मालविकाग्निमित्र, पेज ३१ में बौँल्लेंनसेन की टीका ; हाल ४१७ पर वेबर की टीका। — २. ब्लौख, वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा, पेज ४७। उत्तरज्झयणसुत्त ७९० में अ०माग० रूप अणुसासंमि जो *अनुशासामि = अनुशास्मि के स्थान में आया है, कठिनता से ही शुद्ध माना जा सकता है। — ३. त्सा० डे०डौ०मौ०गे० ३४, १७५ और उसके बाद। — ४. होएर्नले, कंपैरेटिव ग्रामर § ४९७ में इस रूप में आज्ञावाचक का समाप्तिसूचक चिह्न देखता है।

§ ४५५—द्वितीयपुरुष वर्तमानकाल में अप० में समाप्तिसूचक चिह्न -सि के साथ साथ -हि भी चलता है (§ २६४) : मरहि = *मरसि = म्रियसे, रुअहि = वैदिक रुदसि = रोदिषि, लहहि = लभसे, विसूरहि = खिद्यसे और णीसरहि = निःसरसि है (हेच० ४, ३६८ ; ३८३, १ ; ४२२, २ ;४३९, ४)। माग० में स्वभावतः समाप्तिसूचक चिह्न -शि है : याशि, धावशि, पलाअशि, मलीहिशि और गश्चशि रूप मिलते हैं (मृच्छ० ९, २३ और २४ ; १०, ३)। — तृतीय (= अन्य) पुरुष वर्तमानकाल में अ०माग० और अप० के पद्य में -अइ का -ए बन जाता है (§ १६६) ; शौर०, माग० और ढक्की में समाप्तिसूचक चिह्न -दि है, पै० और चू०

पै० मे -ति : महा०, अ०माग० और जै०महा० में वट्टइ है किन्तु जै०शौर० और शौर० में वट्टदि मिलता है (§ २८९), महा० में वड्ढइ = वर्धते है किन्तु शौर० में वड्ढदि आता है (§ २९१) ; माग० में चिलाअदि = चिरायति है (शकु० ११५, ९) ; ढक्की मे वज्जदि = व्रजति है (मृच्छ० ३०, १०) ; पै० मे लपति और गच्छति रूप मिलते हैं (हेच० ४, ३१९)। — अप० को छोड सभी प्राकृत बोलियों प्रथमपुरुष बहुवचन वर्तमानकाल के रूप के अन्त में -मो आता है, पद्य में -मु तथा -म भी जोडा जाता है जो वर्तमानकाल का सहायक चिह्न है (वर० ७, ४ ; हेच० ३, १४४, १६७ ; क्रम० ४, ७ ; मार्क० पन्ना ५१) : हसामो, हसामु और हसाम रूप हैं। पल्लवदानपत्र ५, ७ के वितराम रूप ,महाभविष्यत्काल के रूप दच्छाम = द्रक्ष्यामः (रावण० ३, ५०) और म्ह = स्मः (§ ४९८) को छोड, -म अभी तक केवल रूपांतर ही प्रमाणित हो सका है तथा यह रूप गद्य के लिए शुद्ध नहीं है। महा० में लज्जामो, वच्चामो और रमामो रूप पाये जाते हैं (हाल २६७ ; ५९० ; ८८८), कामेमो = कामयामः है (हाल ४१७), कर्मवाच्य में मुसिज्जामो = मुष्यामहे है (हाल ३३५) , अ०माग० मे वड्ढामो = वर्धामहे है (कप्प० § ११ और १०६), जीवामो आया है (नायाध० § १३७), आचिट्ठामो = आतिष्ठामः है (सूय० ७३४), इच्छामु रूप भी देखा जाता है (उत्तर० ३७६), उवणेमो = उपनयामः और आहारेमो = आहारयामः है (सूय० ७३४), अच्चेमु और इसके साथ साथ अच्चिमो = अर्चयाम. और अर्चाम हैं (उत्तर० ३६८ और ३६९), भविष्यत्काल में दाहामु = दास्याम. है (उत्तर० ३५५ और ३५८), भूतकाल मे भी वुच्छामु = अवात्स्म (उत्तर० ४१०) है , जै०महा० मे ताळेमो = ताडयाम. है (द्वार० ४९७, १), पेच्छामो = प्रेक्षामहे (आव०एत्सें० ३३, १५) और वच्चामो = व्रजामः (कालका० २६३, १६ , २७२, १८) है, पज्जोसवेमो रूप भी मिलता है (कालका० २७१, ७) , शौर० में पविसामो = प्रविशामः (शकु० ९२, १), जाणामो = जानीमः (§ ५१०), सुमरामो = स्मरामः (मालती० ११३, ९), उवचरामो = उपचराम. (मालती० २३२,२ , पाठ में तुवराम है , इस ग्रन्थ मे ही पाये जानेवाले दूसरे और १८६६ के कलकतिया सस्करण के पेज ९१, १७ मे छपे रूप की तुलना कीजिए), वड्ढामो = वर्धामहे (मल्लिका० १५३, १० , महावीर० १७, ११ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए , बबइया सस्करण ३८, ३ की तुलना कीजिए]), चिन्तेमो = चिन्तयामः (महावीर० १३४, ११), वन्दामो = वन्दामहे और उवहरीमो = उपहरामः है (पार्वती० २७, १२ , २९, १३) , दाक्षि० में चोल्लामो रूप मिलता है (मृच्छ० १०५, १६)। शब्द के अन्त मे -म्ह लगा कर बननेवाला रूप जो कभी कभी पाठ में पाया जाता है जैसे, चिट्ठम्ह (रत्ना० ३१५, १), विण्णवेम्ह, संपादेम्ह, पारेम्ह और करेम्ह (शकु० २७,७ ; ५३,५, ७६, १० , ८०, ५) अशुद्ध है। यह आज्ञावाचक क्रिया से सम्बन्ध रखता है (§ ४७०)। महा० और जै०महा० मे तथा अ०माग० के पद्य मे ध्वनिबलयुक्त अक्षर के पश्चात् आनेवाले वर्ण में आ बहुधा इ हो गया है। फल यह हुआ कि समाप्तिसूचक

चिह्न –इमो बन गया है (§ १०८) : महा० में **जम्पिमो** = जल्पामः (हाल ६५१); महा० और जै०महा० में **णमिमो** = नमामः (गउड० ३५ और ९६९ ; काल्का० २७७, ३०) ; महा० और जै०महा० में **भणिमो** = भणामः (हेच० ३, १५५ ; हाल ; प्रबन्ध० १००,८ ; कालका० २६६,१४), इसके साथ साथ **भणामो** भी चलता है (हाल) ; महा० और अ०माग० मे **वन्दिमो** = वन्दामहे (हाल ६५९ ; नन्दी० ८१) है ; **पचिमो** = पचामः है (मार्क० पन्ना ५१); महा० में **सविमो** = शपामः है (गउड० २४०); महा० में **सहिमो** = सहामहे है, जो रूप **विसहिमो** मे मिलता है (हाल ३७६) और **हसिमो** = हसामः है (भाग० ७, २१) । इसी प्रकार महा० मे **गमिमो** = *गमामः है (हाल ८९२), **जाणिमो**, **ण आणिमो** = *जानामः, **न** *जानामः (हाल), **भरिमो** = *भरामः और **संभरिमो** भी मिलता है (= अपने को स्मरण दिलाना; हाल मे **स्मर्** शब्द देखिए; गउड० २१९), **आलक्खिमो** = आलक्षामहे है (गउड० १८८) तथा इनका उदाहरण पकड़ कर : **पुच्छिमो** = पृच्छामः (हाल ४५३), **लिहिमो** = लिखामः (हाल २४४) और **सुणिमो** = शृणामः है (हाल ५१८ ; बाल० १०१, ५ मे यह शौर० में आया है जो अशुद्ध है)। व्याकरणकार (वर० ७, ४ और ३१ ; हेच० ३, १५५ ; मार्क० पन्ना ५१ ; सिंह-राज० पन्ना ४७) ऐसे रूप भी बताते है जिनके अन्त से –ॲमु, –ॲम, इमु–, इम– लगते हैं : **पढमु**, **पढम**, **पचिमु**, **भणमु**, **भणम**, **भणिमु**, **भणिम**, **सहमु**, **सहम**, **सहिमु**, **सहिम**, **हसमु**, **हसम**, **हसिमु** और **हसिम** । — अप० में साधारण समाप्तिसूचक चिह्न –हुँ है : **लहहुँ** = लभामहे, **चडाहुँ** = आरोहामः और **मराहुँ** = म्रियामहे है (हेच० ४, ३८६ ; ४३९, १) । यही समाप्तिसूचक चिह्न अ– वर्ग के सज्ञाशब्द के अपादानकारक बहुवचन के अन्त में भी लगता है, इस स्थिति में इसकी व्युत्पत्ति **भ्याम्** तक जाती है (§ ३६९)। इस क्रिया के मूल का रूप पूर्ण अन्धकार में है[१] । इन रूपों के साथ **लहिमु** भी पाया जाता है (हेच० ४, ३८६) ।

१. विशेषतः शौर० में जैसे प्रबोधचन्द्रोदय ६८, ८ में **वट्टाम** रूप है, जिसके स्थान में पूना के संस्करण पेज ६९ अ **वसंम** छापा गया है, मद्रास के संस्करण पेज ८४, १५ मे **वसम्ह** आया है और बंबइया संस्करण १३७, ७ में **अहिवट्टह्यो** पाया जाता है । हमे इसका संशोधन कर के **वट्टामो** अथवा **वसामो** पढ़ना चाहिए, **विरएम** = विरचयामः है, जो बोएटलिंक द्वारा सम्पादित शकुन्तला ४९, १७ ; **तुवराम** मालतीमाधव २३२, २ आदि-आदि । — २. अपने ग्रन्थ कंपेरेटिव ग्रामर § ४९७, पेज ३३५ में होएर्नलेका स्पष्टीकरण असम्भव है।

§ ४५६—महा०, अ०माग० और जै०महा० में द्वितीय (= प्रचलित मध्यम) पुरुष बहुवचन के अन्त में समाप्तिसूचक चिह्न छ लगता है, शौर०, माग० और आव० में –ध, अप० में –हु अथवा –ह आता है : **रमह**, **पढह**, **हसह** (वर० ७, ४); **हसह**, **वेवह** (हेच० ३, १९३) ; **पचह**, **संकद** (क्रम० ४, ६) ; **होह** (मार्क० पन्ना ५१) रूप मिलते हैं ; महा० में **ण आणह** = न जानीथ और **दे चिछह** = द्रक्ष्यथ (रावण० ३, १२ और २३) है, **तरह** (= तुम कर सकते : हाल ८९७) ; जै०महा०

में जाणह आया है (कालका० २७३, ४४), कुप्पह = कुप्पथ है और पयच्छह भी पाया जाता है (एर्त्से० १०, २० ; १५, ३६) ; अ०माग मे आइक्खह, भासह और पन्नवेह रूप मिलते हैं (आयार० १, ४, २, ४), भुंजह आया है (सूय० १९४); चयह = वदथ है (कप्प० ; ओव० ; उवास० ; नायाध०), आढाह, परियाणह, अवायह, उवणिमन्तेह रूप भी पाये जाते हैं (नायाध० § ८३); शौर० में पेक्खध = प्रेक्षध्वे (मृच्छ० ४०,२५.; शकु० १४,८) और णेध = नयथ है (मृच्छ० १६१, ९)[1]; माग० मे पेस्कध देखा जाता है (मृच्छ० १५७,१३ ; १५८, २ ; १६२,६), पत्तिआअध = प्रत्ययध्वे (मृच्छ० १६५, ९) ; आव० में अच्छध रूप आया है (मृच्छ० ९९,१६) ; अप० मे पुच्छह और पुच्छहु रूप मिलते हैं (हेच० ४,३६४ ; ४२२, ९) ; इच्छहु और इच्छह भी पाये जाते हैं (हेच० ४, ३८४) तथा पअम्पह = प्रजल्पथ है (हेच० ४, ४२२, ९) । बहुत सम्भव यह है कि सर्वत्र –हु पढा जाना चाहिए । समाप्तिसूचक चिह्न –इत्था के विषय में § ५१७ देखिए। —

सभी प्राकृत बोलियों में तृतीयपुरुष बहुवचन के अन्त में –न्ति लगाया जाता है । महा० में मुअन्ति = *मुचन्ति, रुअन्ति = रुदन्ति और हों न्ति = भवन्ति हैं (हाल १४७) ; जै०महा० में भवन्ति रूप मिलता है और दें न्ति = दयन्ते है (एर्त्से० ३, १४ और १५); अ०माग० मे चयन्ति = त्यजन्ति, थनन्ति = स्तनन्ति और लभन्ति = लभन्ते हैं (आयार० १, ६, १, २) ; शौर० में गच्छन्ति, प्रसीदन्ति और संचरन्ति रूप पाये जाते हैं (मृच्छ० ८, ४ ; ९, १ और ११) ; माग० में अण्णेशन्ति = अन्वेषन्ति और पियन्ति = पिबन्ति हैं (मृच्छ० २९, २३; ११३, २१) ; चू०पै० में उच्छल्लन्ति और निपतन्ति रूप आये हैं (हेच० ४, ३२६) ; अप० में विहसंति = विकसन्ति तथा करन्ति = कुर्वन्ति है (हेच० ४,३६५ ; ४४५, ४)। तथापि अप० मे साधारण समाप्तिसूचक चिह्न हिँ है जिसकी व्युत्पत्ति अन्धकार में है : मउलिअहिँ = मुकुलयन्ति, अणुहरहिँ = अनुहरन्ति, लहहिँ = लभन्ते, णवहिँ = नमन्ति, गज्जहिँ = गर्जन्ते, धरहिं = धरन्ति, करहिँ = कुर्वन्ति, सहहिँ = शोभन्ते हैं, आदि-आदि (हेच० ४, ३६५, १ ; ३६७, ४ और ५ ; ३८२)। कर्मवाच्य में : घेप्पहिँ = गृह्यन्ते (एर्त्से० १५८, १४) । यही समाप्तिसूचक चिह्न अ०माग० अच्छहिं = तिष्ठन्ति में पाया जाता है (उत्तर० ६६७)[2] । यह रूप पद्य में आया है तथा गद्य में आढाई और परिजाणाहिं भी मिलते हैं (विवाग० २१७ ; § २२३ ; ५०० और ५१० की तुलना कीजिए) ।

१. हेमचन्द्र ४, २६८ और ३०२ के अनुसार शौर० और माग० में –ह भी आ सकता है । इस विषय में किन्तु पिशल, कू०बाइ० ८, १३४ तथा उसके बाद देखिए । — २. होएर्नले, कम्पेरेटिव ग्रामर § ४९७, पेज ३३७ में इसका स्पष्टीकरण असम्भव है । — ३. याकोबी, सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट सिरीज ४५, ११४, नोटसंख्या २ के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए । इस संस्करण में पाठ और टीका में अरिथहिं पाठ है, टीकाकार ने दिया है अइरथहि (?) इति तिष्ठन्ति । § ४६१ में अस्सासि की तुलना कीजिए ।

(२) आत्मनेपद का वर्तमानकाल

§ ४५७—रूपावली इस प्रकार है :

एकवचन	बहुवचन
१ वट्टे	नहीं है।
२ वट्टसे	नहीं है।
३ वट्टए, जै०शौर० में वट्टदे	वट्टन्ते

वररुचि ७, १ ; २ और ५ ; हेमचन्द्र ३, १३९ ; १४० और १४५ ; ४, २७४ ; ३०२ और ३१९ ; क्रमदीश्वर ४, २ और ३ ; मार्कण्डेय पन्ना ५० की तुलना कीजिए। वररुचि और हेमचन्द्र स्पष्ट बताते हैं कि समाप्तिसूचक चिह्न –से और ए केवल अ– गण के काम में आते हैं, इसका उल्लेख मार्कण्डेय भी करता है। हेमचन्द्र ४, २७४ के अनुसार शौर० में और ४, ३०४ के अनुसार माग० में भी अ– गण में –दे = –ते समाप्तिसूचक चिह्न भी चलता है, किन्तु उत्तम पाठों में भी इस नियम की पुष्टि नहीं की गयी है। यहाँ तक कि स्वयं हेमचन्द्र ने वेणीसंहार ३५, १७ और ३६, ३ से माग० के जो उदाहरण दिये हैं, उसकी सभी हस्तलिपियाँ और पाठ शुणीअदे = श्रूयते के स्थान में शुणीअदि देते हैं [भण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट के दूसरे संस्करण में जो अनुवादक के पास है ४, ३०२ पेज ५८९, १ में अतो देश्च (४, २७४) 'अले किं एशे महन्दे कलयले सुणीअदे' दिया गया है। इससे पता चलता है किसी हस्तलिपि में यह रूप भी मिलता है। अतो देश्च में भी इस संस्करण में भी अच्छदे ', गच्छदे''', रमदे ', किज्जदे ' उदाहरण दिये गये हैं। —अनु०]। इसमें सन्देह नहीं कि अन्य स्थानों की भाँति (§ २१) यहाँ भी शौर० से हेमचन्द्र का अर्थ जै० शौर० से है। वररुचि १२, २७ और मार्कण्डेय पन्ना ७० में शौर० और माग० में आत्मनेपद का प्रयोग एकदम निषिद्ध करते हैं। फिर भी पद्य में इसके कुछ प्रयोग मिलते हैं और कहीं कहीं शब्दों में बल और प्रधानता देने के लिए भी आत्मनेपद काम में लाया गया है। प्राकृत की नाना बोलियों से निम्नलिखित उदाहरण दिये गये हैं : महा० में जाणे आया है (हाल ९०२), ण आणे भी है (रावण० ३, ४४ ; शकु० ५५, १९), जाणे शौर० में बार-बार मिलता है (शकु० १३१, ९ ; मालवि ६६, ८ ; ललित० ५६४, ४ ; अनर्घ० ६६, ५ , उत्तररा० २२, १३ ; ६४, ७ , विद्ध० ६७, १ ; ९६, १) और ण आणे है जो ग्रन्थ में आये हुए इस रूप के अनुसार ही सर्वत्र जहाँ जहाँ पाठ में कभी कभी ण जाणे आया है, पढ़ा जाना चाहिए (शकु० ७०, ११ ; १२३, १४ ; विक्र० ३५, ५ , मालवि० ३०, ८ ; ३४, ९ ; वेणी० ५९, ५) ; अ०माग० में भी यह रूप मिलता है (उत्तर० ५१२) ; महा० में मण्णे = मन्ये है (गउड० ; हाल , रावण०), यह रूप शौर० में भी आया है (मृच्छ० २२, १३ , मल्लिका० ५६, १ ; ६०, ७ ; ७४, २२ ; ८०, १५ , ८३, ५ ; अनर्घ० ६१, ३ ; ६६, १० ; विद्ध० २०, ६) और अणुमण्णे भी देखा जाता है (शकु० ५९, ११) तथा अ०माग० में मन्ने रूप है (उत्तर० ५७१) और महा० में प्रथम गण के अनुसार

मणे रूप भी होता है (हाल ; रावण० ; हेच० २, २०७)। क्रियाविशेषण रूप से काम में लाया जानेवाला रूप वणे (हेच० २, २०६) भी ऐसा ही है, आदि में यह प्रथमपुरुष एकवचन आत्मनेपद का रूप था और = मणे रहा होगा (§ २५१) अथवा = वने भी हो सकता है (धातुपाठ की तुलना कीजिए, जिसका उल्लेख बोएटलिक और रोट के संस्कृत-जर्मन कोश में 'व' वन् के साथ किया गया है)। एस० गौल्दश्मित्त ने इस रूप को हेच० के अनुसार ठीक किया है (रावण० १४, ४३; त्सा० डे० डौ० मौ० गे० ३२, १०३)। वर० ९, १२ में वले दिया गया है [इसका रूप कुमाउनी में बलि और बली बन गया है, जो एक विस्मयादिबोधक शब्द के काम में आता है। यह शब्द प्राकृत में भी प्रायः इसी रूप में देखा जाता है। —अनु०]। अ०माग० में रमे आया है (उत्तर० ४४५; शौर० में लहे = लभे है (विक्र० ४२,७)। इच्छे रूप भी मिलता है (मृच्छ० २४, २१ ; २५, १०) ; माग० में वाए = वामि और वाद्यामि है तथा गाए = गायामि है (मृच्छ० ७९, १२ और १३)। — (२) महा० में मग्गसे, जाणसे, विज्झसे, लज्जसे और जम्पसे मिलते हैं (हाल ६; १८१ ; ४४१ ; ६३४ ; ९४३), सोहसे भी पाया जाता है (गउड० ३१६) ; अ०माग० में पब्भाससे = प्रभाषसे, अवबुज्झसे = अवबुध्यसे है (उत्तर० ३५८ और ५०३) ; अ०माग० में इच्छसे = इच्छसे भी आया है (मृच्छ० १२३, ५) ; पै० में पयच्छसे = प्रयच्छसे (हेच० ४, ३२३)। — (३) महा० में तणुआअए, पडिच्छए, वच्चए, पेच्छए, दावए, णिअच्छए, पलम्बए, अन्दोलए, लग्गए, परिसक्कए और विकुप्पए रूप मिलते हैं (हाल ५९ ; ७०१ ; १४० ; १६९ ; ३९७ ; ४८९ ; ४०७ ; ५८२ ; ८५५ ; ९५१ ; ९६७), कर्मवाच्य में तीरए = तीर्यते है (हाल १९५; ८०१; ९३२), जुज्जए = युज्यते, झिज्जए = क्षीयते, णिव्वरिज्जए = निर्व्रियते और खिज्जये = क्षीयते हैं (हाल १२ ; १४१ ; २०४ ; ३६२) ; जै०महा० में भुञ्जए = भुंक्ते और निरिक्खए = निरीक्षते मिलते हैं (एत्सें० २५, ३० ; ७०, ७) ; चिन्तए रूप भी आया है (आव०एत्सें० ३६, २५ ; एत्सें० ७०, ३५ ; ७४, १७) ; चिट्ठए = तिष्ठते है और विउव्वए = *विकुर्वते = विकुरुते है (आव०एत्सें० ३६, २६ और २७) ; कर्मवाच्य में मुच्चए = मुच्यते है (एत्सें० ७१ ; ७) ; तीरए = तीर्यते और डज्झए = दह्यते है (द्वार० ४९८, २१ और २२) : अ०माग० में लहए, कीलए और भज्जए रूप मिलते हैं (उत्तर० ४३८ ; ५७० ; ७८९) तितिक्खए = तितिक्षते है और संपवेवए = संप्रवेपते है (आयार० २, १६, ३) ; जै०शौर० में मण्णदे = मन्यते, वन्धदे = वध्नीते, जयदे = जयते, भासदे = भाषते, भुञ्जदे = भुंक्ते और कुव्वदे = *कुर्वते = कुरुते है (कत्तिगे० ३९९, ३१४ ; ४०० , ३२७ ; ३३२ और ३३३; ४०३ , ३८२ और ३८४ ; ४०४, ३९०) ; कर्मवाच्य में : आदीयदे रूप मिलता है (पव० ३८४, ६०), ६० थुव्वदे = स्तूयते, जुज्जदे = जुज्यते और सक्कदे = शक्यते हैं (कत्तिगे० ४०१, ३५१ ; ४०३, ३८० ; ४०४, ३८७) ; दाक्षि० में जाअए = जायते है और वट्टए = वर्तते पाया जाता है (मृच्छ० १००, ३ और ६)। हेच०

४, २७४ में शौर० में अच्छदे, गच्छदे और रमदे रूप देता है तथा ४, ३१९ में पै० रूप लपते, अच्छते, गच्छते और रमते देता है, शौर० में कर्मवाच्य के लिए कज्जदे = क्रियते दिया गया है (४, २७४), पै० में गिय्यते, तिय्यते [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए], रमिय्यते और पढिय्यते रूप दिये गये हैं (४, ३१५) ; ४, ३१६ मे कीरते = क्रियते है। — प्रथमपुरुष बहुवचन मे कभी कभी कामम्हे = कामयामहे जैसे रूप पाये जाते हैं जो अच्छी हस्तलिपियों से पुष्ट नहीं होतीं (हाल ४१७ पर वेबर की टीका)। — तृतीयपुरुष बहुवचन में महा० में गज्जन्ते = गर्जन्ते है (हेच० १, १८७ [अनुवाद देखिए]; ३, १४२), बीहन्ते = *भीयन्ते है और उप्पज्जन्ते = उत्पद्यन्ते है (हेच० ३,१४२), उच्छाहन्ते = उत्साहयन्ते (हाल ६३८) ; अ०माग० में उवलभन्ते रूप मिलता है (सूय० ७५५), रीयन्ते भी आया है (आयार० १, ८, २, १६ ; दस० ६१३,१२), चिट्ठन्ते = तिष्ठन्ते है (आयार० १, ८, ४, १०)। अ०माग० के सभी उदाहरण और जै०महा० के उदाहरण बहुत अधिक अश में पद्य से लिये गये हैं।

§ ४५८—समाप्तिसूचक चिह्न -न्ते के साथ साथ प्राकृत में वैदिक संस्कृत और पाली[1] के समान समाप्तिसूचक चिह्न इरे भी पाया जाता है : पहुप्पिरे = *प्रभुत्विरे (§ २६८) है जो वाक्यांश दोण्णि वि न पहुप्पिरे बाहू = द्वाव् अपि न प्रभावतो बाहू मे आया है ; विच्छुहिरे = *विक्षुभिरे है (हेच० ३,१४२) ; हसेइरे, हसइरे और हसिरे = हसन्ते है ; सहेइरे, सहइरे और सहिरे = सहन्ते है और हुएइरे, हुअइरे, हुइरे, होएइरे, होअइरे तथा होइरे = भवन्ते है (सिंहराज० पन्ना ४६ और ४७)। सिंहराज० पन्ना ४९ में इन समाप्तिसूचक चिह्नों का प्रयोग धातु के ऐच्छिक रूप के लिए भी बताता है : हुज्जइरे, हुज्जाइरे, हुएज्जइरे और हुएज्जाइरे = भवेरन् है और पन्ना ५१ में भविष्यत्काल के लिए भी इनका प्रयोग बताता है : हसेहिइरे और हसिहिइरे = हसिष्यन्ते हैं। हेमचद्र ३, १४२ मे बताता है कि तृतीयपुरुष एकवचन में भी -इरे काम मे लाया जाता है : सूसइरे गामचिक्खल्लो = शुष्यति ग्रामचिक्खल्लः। यही नियम त्रिविक्रम २, २, ४ में बताता है और उसने उदाहरण दिया है : सूसइरे ताण तारिसो कण्ठो = शुष्यति तासां तादृशः कण्ठः।

१. ए०कून, बाइत्रैगे, पेज ९४ ; म्युलर, सिम्प्लिफाइड ग्रामर, पेज ९७ ; विण्डिश, इयूबर डी फैर्बलफोर्मेन मित डेम कारावटेर डेस मेडिउम्स इम आरिशन, इटालिशन उण्ट केल्टिशन। लाइपत्सिख १८८७, जिसमें इस विषय पर अन्य साहित्य का भी उल्लेख है।

(२) ऐच्छिक रूप

§ ४५९—अ०माग० और जै०महा० मे ऐच्छिक रूप असाधारण रूप से बार-बार आया है, महा० में यह बहुत कम पाया जाता है और प्राकृत की अन्य बोलियों में कहीं-कहीं, इक्के दुक्के देखने में आता है। इसकी रूपावली दो प्रकार से चलती है।

महा०, अ०माग० और जै०महा० में साधारण रूपावली चलती है, पै० में भी यही आती है, माग० और अप० में कभी कभी देखी जाती है :

	एकवचन	बहुवचन
१	वट्टे ज्जा, वट्टे ज्ज, वट्टे ज्जामि	वट्टे ज्जाम
२	वट्टे ज्जासि, वट्टे ज्जसि, वट्टे ज्जाहि, वट्टे ज्जहि, वट्टे ज्जासु वट्टे ज्जसु, वट्टे ज्जा	वट्टे ज्जाह, वट्टेज्जह
३	वट्टे ज्जा, वट्टे ज्ज [वट्टे ज्जइ]	वट्टेज्जा, वट्टे ज्ज

इसके साथ साथ इन बोलियों में अर्थात् अ०माग० और जै०महा० में, विशेषतः पद्य में, जै०शौर० में प्राय. सदा, शौर० में बिना अपवाद के तथा माग० और अप० में इसके दुकी निम्नलिखित रूपावली चलती है :

	एकवचन	बहुवचन
१	शौर० वट्टेअं, वट्टे	नहीं मिलता
२	अ०माग० और अप० में वट्टे [अवधी मे वाटे का मूल रूप यही है। —अनु०], अप० मे वट्टि	नहीं मिलता
३	अ०माग०, जै०महा०, जै०शौर०, शौर० और माग० मे वट्टे	अ०माग० और शौर० में वट्टे

ऐच्छिक काल की इन दोनों रूपावलियों को अन्त मे -एयम् लगाकर बननेवाले पहले गण से व्युत्पन्न करना, जैसा याकोबीस ने किया है, ध्वनिशास्त्र के अनुसार असम्भव है। निष्कर्ष स्पष्ट ही यह निकलता है कि अन्त मे ए लगकर बननेवाला प्रथमपुरुष का एकवचन द्वितीय- और तृतीयपुरुष के अनुसरण पर बना है। यह रूप ऐसा है जो तृतीयपुरुष बहुवचन के काम मे भी लाया जाता है। ठीक इसी प्रकार --ऍज्जा और -ऍज्ज वाला रूप भी काम मे लाया जाता है। रूप के अन्तिम स्वर की दीर्घता मूल रूप से चली आयी है। गद्य में जो ह्रस्व पाया जाता है वह ऐसे वर्णों से पहले आता है जिनके ध्वनिबल का प्रभाव उनके पिछले वर्ण पर पड़ता है, जैसे : आगच्छे ज्ज वा चिट्टे ज्ज वा निसीऍज्ज तुयट्टे ज्ज वा उल्लंघे ज्ज वा = आगच्छेद् वा तिष्ठेद् वा निषीदेद् वा शयीत वा उल्लंघेद् वा प्रलंघेद् वा (ओव० § १५० ; विवाह० ११६ की तुलना कीजिए, आयार० १, ७, २, १, —अन्य उदाहरण आयार० २, २, १, ८ ; २, ३, २, ७ आदि-आदि), इसके साथ साथ दीर्घ स्वरवाला रूप भी दिखाई देता है जैसे, अवहरे ज्जा वा विकिखरे ज्जा वा भिन्देज्जा वा अच्छिन्देज्जा वा परिट्ठवे ज्जा वा = अपहरेद् वा विकिरेद् वा भिन्द्याद् वा आच्छिन्द्याद् वा परिष्ठापयेद् वा है (उवास० § २००) अन्यथा यह रूप पद्य में ही काम में आता है। महा० में तो सदा पद्य मे ही इसका व्यवहार किया जाता है। यदि हम अ०माग० रूप कुज्जा = कुर्यात् (§ ४६४), दे ज्जा = देयात् और हो ज्जा = भूयात् की तुलना करें तो स्पष्ट हो जाता है कि कुज्जे ज्जा किसी *कुर्यात्, करेज्जा किसी *करयात् और हुवेज्जा किसी *भवयात् रूप की सूचना देते है। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्त मे -एज्जा लगकर बननेवाला ऐच्छिक रूप -या समाप्तिसूचक चिह्न से

बनेंवाले दूसरी रूपावली से व्युत्पन्न होता है¹। ऍ के स्थान में हस्तलिपियों में बहुत अधिक बार इ पायी जाती है जिसका § ८४ के अनुसार स्पष्टीकरण करना सम्भव नहीं है क्योंकि इसका विकास प्रथमपुरुष एकवचन से नहीं हुआ है अर्थात् –एय संस्कृत में इस रूप में पाया ही नहीं जाता था। अधिक सम्भव तो यह है कि ऍ § ११९ के अनुसार इ से व्युत्पन्न हुआ है और यह इ अशुद्ध है। अ०माग० में भुञ्जे॑ज्जा = *भुञ्जियात् = भुञ्ज्यात् है, करे॑ज्जा = *करियात् = क्रियात् है, इसी प्रकार अ०माग० में जाणिज्जा और जाणे॑ज्जा = जानीयात् है। इसमें जो ए का प्रमुख प्रभाव दिखाई देता है वह प्रथम गण के प्रभाव से हो सकता है। इससे आ– तथा ज्ञ° के द्वित्वीकरण का स्पष्टीकरण होता है। दूसरी रूपावली के प्राचीन रूपान्तरों के अर्थों के तथा प्रार्थना–(Precative) रूपों के विषय में § ४६४, ४६५ और ४६६ देखिए।

1 कू०त्सा० ३६, ५७७। — २ चाहे हम क्रियात् का याकोबी के अनुसार कर्– के वर्तमानकाल के रूप से व्युत्पन्न मानें अथवा पिशल, कू०सा० ३५, १४३ के अनुसार = प्रार्थना –रूप क्रियात् मानें, इसके स्पष्टीकरण में इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। मैं भी ठीक याकोबी के समान ही मत रखता था इसका प्रमाण कू०सा० ३५, १४१ में कर्मवाच्य रूप क्रियते का देना है, याकोबी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। अब केवल यह समानता सिद्ध करना रह गया है, करिज्जइ क्रियते = करेज्जा क्रियात् (कू० सा० ३५, १४३)। —३ पिशल, कू० सा० ३५, १४२ और उसके बाद।

§ ४६० — एकवचन प्रथमपुरुष में अ०माग० में आओसे॑ज्जा वा हणे॑ज्जा वा वन्धे॑ज्जा वा महे॑ज्जा वा तज्जे॑ज्जा वा ताले॑ज्जा वा निच्छोडे॑ज्जा वा निब्भच्छे॑ज्जा वा ववरावे॑ज्जा = आक्रोशेय वा हन्या वा बन्धीया वा मर्थीया वा तर्जयेय वा ताडयेय वा निश्छोटयेय वा निर्भर्त्सयेय वा व्यपरोपयम् है (उवास० २००), पासिज्जा = पश्येयम् है (निरया० § ३), मन्चे॑ज्जा = मुच्येय है (कर्मवाच्य, उत्तर० ६०८), अइवाए जा और अइवायावे॑ जा = अतिपातयेयम् और समणुजाणे॑ज्जा = समनुजानीयाम् है (हेच० ३, १७७)। जै०महा० में लहे॑ज्जा मिलता है (आव०एर्त्से० ८, २८)। महा० में कुप्पे॑ज्ज = कुप्येयम् है (हाल १७)। शौर० में भवेअ रूप मिलता है (विक्र० ४०, २१ पार्वती० ९°, ९) और भवे भी देखने में आता है (शकु० ६५, १०, मालवि० ६७, १०) = भवेयम् है, पहवे = प्रभवेयम् है (शकु० २५, १), लहेअ मिलता है (शकु० १९, ९, ३०, ९, पार्वती २७, १९ २°, ८) और लहे भी आया है (मुद्रा० ३८, २, विक्र० १४, ७१ की तुलना कीजिए) = लभेय है, जीवेअ = जीवेयम् है (मालवि० ५५, ११) और कुप्पे = कुप्येयम् (मालवि० ६७, १०)¹। इसके अन्त में –मि बहुत कम लगता है। महा० में णे॑ज्जामि = नयेयम् (रावण० ३, ५५)। अ०माग० में कर॑ज्जामि = कुर्याम् (विवाह० १२८१)। — (२) द्वितीयपुरुष एकवचन में अन्त में –इज्जा और –ऍज्जा लगकर बननेवाले

रूप विरल है : अ०माग० में उदाहरिज्जा = उदाहरेः (सूय० ९३२); उवदंसेज्जा = उपदर्शयेः है (आयार० १, ५, ५, ४) और विणएज्ज = विनयेः (दस० ६१३, २७)। अ०माग० में साधारणतया समाप्तिसूचक चिह्न –सि लगता है : पयाएज्जासि = प्रजायेथाः है (नायाध० ४२०) ; निवेदिज्जासि = निवेदयेः है (ओव० § २१); संमणुवासेज्जासि = समनुवासयेः , उवलिम्पिज्जासि = उपलिम्पेः और परक्कमेज्जासि = पराक्रामेः हैं (आयार० १, २, १, ५ ; ४, ४ ; ५, ३ ; ६, २ आदि-आदि) ; वत्तेजासि = वर्तेथाः (उवास० § २००) है। इसके साथ साथ अन्त में –ए लगनेवाला रूप भी चलता है : दावे = दापयेः तथा पडिगाहे = प्रतिग्राहयेः हैं (कप्प० एस. (S) § १४ १६)। ये रूप प्रायः सदा ही केवल पद्य में पाये जाते हैं : गच्छे = गच्छेः है (सूय० १७८) ; पमायए = प्रमाद्येः, आइए = *आद्रिये = आद्रियेथाः और संभरे = संस्मरेः हैं (§ २६७ और ३१३ की तुलना कीजिए), चरे = चरेः है (उत्तर० ३१० और उसके बाद ; ३२२ ; ४४० ; ५०४)। कभी-कभी –एज्जासि में समाप्त होनेवाले रूप श्लोकों के अन्त में छन्द की मात्राओं के विरुद्ध, गद्य में आये हुए वाक्यांशों के अनुसार, –ए और –एज्जा में समाप्त होनेवाले रूपों के स्थान में रख दिये जाते हैं[१]। इसके अनुसार आमोक्खाए परिव्वएज्जासि आया है जिसमें छन्दोभग भी है और परिव्वए के स्थान में ऊपर दिया गया रूप आया है (सूय० ९९ ; २०० ; २१६) ; आरम्भं चसुसंवुडे चरेज्जासि में छन्दोभग है और चरे के स्थान में चरेज्जासि है (सूय० ११७) ; नो पाणिणं पाणे समारभेज्जासि मे भी छन्दोभग दोष है और समारभेज्जा के स्थान में ऊपर दिया हुआ रूप आया है (आयार० १, ३, २, ३)। इस विषय मे गद्य मे निम्नलिखित स्थलो की तुलना कीजिए : आयारंगसुत्त १, २, १, ५ ; ४, ४ ; ५, ३ ; ६, २ ; १, ३, १, ४ ; १, ४, १, ३ ; ३, ३ ; १, ५, २, ५ ; ४, ५ ; ६,१, आदि-आदि। –एज्जासि में समाप्त होनेवाला द्वितीयपुरुष एकवचन का रूप जै०महा० में भी है : विलग्गेज्जासि = *विलग्येः है (एर्त्से० २९, १२), आहणेज्जासि रूप मिलता है (आव०एर्त्से० ११, १), वट्टेज्जासि भी पाया जाता है (आव०एर्त्से० ११, ११) और पेच्छेज्जासि भी देखने में आता है (आव०एर्त्से० २३, १८)।

१. पिशल, डी रेसेन्सिओनन डेर शकुन्तला, पेज २२ और उसके बाद ; मालविकाग्निमित्र, पेज २८८ में बौँल्लेंनसेन की टीका। — २. याकोबी ने अपने आयारंगसुत्त के संस्करण में –एज्जासि में समाप्त होनेवाले रूप को नहीं पहचाना है। उसका मत है कि सि अलग किया जा सकता है और यह से = अ– सौ के स्थान में आया है (सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, २२, १७ नोटसंख्या १)। इस विषय पर टीकाकारों ने ग्रंथों में शुद्ध तथ्य दिये हैं।

§ ४६१—अ०माग० में, एज्जासि को छोड़, –एज्जसि भी पाया जाता है। आओसेज्जसि = आक्रोशेः, हणेज्जसि = हन्याः और ववरोवेज्जसि = व्यपरोपयेः है (उवास० § २००)। इसके अतिरिक्त द्वितीयपुरुष एकवचन मे आज्ञावाचक के समाप्तिसूचक चिह्न लगते हैं –हि और महा०, जै०महा० तथा अप० मे विशेषतः

-सु (§ ४६७), जिनसे पहले का स्वर भले ही कभी ह्रस्व और कभी दीर्घ आता हो : महा० में हसेज्जाहि = हसेः (हेच० ३,१७५ ; सिंहराज० पन्ना ५०) ; अ०माग० में वन्देज्जाहि = वन्देथाः , पज्जुवासेज्जाहि = पर्युपासीथाः और उवणियन्तेज्जाहि = उपनियन्त्रयेः है (उवास० १८७) ; जै०महा० में वच्चेज्जसु = व्रजेः है (आव०एर्से० २५,२०), भणेज्जासु = भणेः है (आव०एर्से० २५,३१ और ४३) ; महा० और जै०महा० में करेज्जासु रूप है (हाल १५४ ; १८१ ; ६३४ ; एर्से० ८१, १०), जै०महा० में करेज्जसु आया है (सगर ७, ५), महा० में कुणिज्जासु मिलता है (शुकसप्तति ४८, ४), ये रूप = कुर्याः हैं , अप० में करिज्जसु है (पिंगल १, ३९ ; ४१ ; ९९ ; १४४ आदि-आदि) ; जै०महा० में साहिज्जसु = साधय है, इस साधय का अर्थ कथय है (कालका० २७२, १९) ; महा० में गलिज्जासु = गलेः , पम्हसिज्जासु = प्रस्मरेः तथा परिहरिज्जासु = परिहरेः हैं (हाल १०३ ; ३४८ ; ५२१) ; अप० में सलहिज्जसु = श्लाघस्व, भणिज्जसु = भण और ठविज्जसु = स्थपय हैं (पिंगल १, ९५ ; १०९ ; १४४) । अप० में कर्मवाच्य रूप कर्तृवाच्य के अर्थ में भी काम में लाया जाता है, इसलिए इन रूपों में से अनेक रूप कर्मवाच्य में आज्ञावाचक अर्थ में भी ग्रहण किये जा सकते हैं जैसे, मुणिज्जसु और इसके साथ साथ मुणिआसु (§ ४६७), दिज्जसु (§ ४६६) ; यह इ आने के कारण हैं, इसके साथ साथ देज्जहि रूप भी मिलता है । पिंगल का एक सुसमालोचित और सुसंपादित संस्करण ही इस तथ्य पर ठीक ठीक प्रकाश डाल सकता है कि इस स्थान में इ पढ़ा जाना चाहिए अथवा एँ । हेच० द्वारा ४, ३८७ में -एँ और -इ में समाप्त होनेवाले जिन रूपों को अप० में आज्ञावाचक बताया गया है, इसी भाँति प्राचीन ऐच्छिक रूप भी हैं : करेँ = करे = करेः = कुर्याः है (हेच० ४, ३८७) और इससे करि रूप हो गया (प्रबन्ध० ६३, ७ ; शुकसप्तति ४९, ४) । यह ध्वनिपरिवर्तन § ८५ के अनुसार हुआ । इस नियम से : अप० में : विआरि = विचारयेः, ठवि = स्थापयेः और धरि = धारयेः है, वस्तुतः = *विचारेः, *स्थापेः और *धारेः हैं (पिंगल १, ६८ ; ७१ और ७२) , जोइ = द्योतेः = पश्य है (हेच० ४, ३६४ और ३६८), रोइ = *रोदेः = रुद्याः, चरि = चरेः, मेल्लि का अर्थ त्यजेः है [यह शब्द गुजराती में चलता है। —अनु०] , करि = *करेः = कुर्याः है और कहि = *कथेः = कथयेः है (हेच० ४, ३६८ ; ३८७, १ और ३ ; ४२२, १४) । अ०माग० पद्य में जो अस्सासि रूप मिलता है उसमें भी यही बनावट पायी जाती है (पाठ में असासि है, टीकाकार ने ठीक रूप दिया है) . एवं अस्सासि अप्पाणं है (उत्तर० ११३), टीकाकार ने इसका अर्थ यों बताया है, एवम् आत्मानम् आश्वासय । इस सम्बन्ध में अच्छहिं, आढाहिं और परिजाणाहिं की तुलना § ४५६ में कीजिए । पुण्डे = व्रज (देशी० ६, ५२) ऐच्छिक रूप का स्पष्टीकरण भी ऐसे ही होता है इस सम्बन्ध में धातुपाठ २८, ९० में पुडउत्सर्गे की भी तुलना कीजिए । दुहरी बनावट का एक रूप जिसमें दोनों रूपावलियों का ऐच्छिक रूप रह गया है, हेच० ३, १७५ और सिंहराज गणिन् द्वारा पन्ना ५० में आज्ञावाचक बताया गया हसेज्जे = हसेः है । सिंहराज

गणिन् ऐसे तीन रूप और देता है : हसेइंज्जइ, हसेइज्जसु और हसेइज्जे।

§ ४६२—तृतीयपुरुष एकवचन में पल्लवदानपत्र में करें य्य कारवें ज्जा आया है (६, ४०) ; महा० में जीवें ज्जा = जीवेत् है (हाल ५८८), पअवें ज्ज = प्रतपेत्, धरें ज्ज = ध्रियेत, विहरें ज्ज = विहरेत् और णमें ज्ज = नमेत् हैं (रावण० ४, २८ ; ५४ ; ८, ४) ; जै०महा० में विवज्जें ज्जा = विपद्येत, निरक्खिज्जा = निरीक्षेत और सकें ज्जा = शक्येत् है (एर्त्से० ४३, २२ ; ४९, ३५ और ७९, १), अइक्कमिज्जा = अतिक्रामेत् (कालका० २७१, ७) ; अ०माग० में कुप्पें ज्जा = कुप्येत् और परिहरें ज्जा = परिहरेत् हैं (आयार० १, २, ४, ४ ; ५, ३), करेज्जा = *कर्यात् = कुर्यात् है (आयार० २, ५, २, २ ; ४ और ५; पण्णव० ५७३ ; विवाह० ५७ ; १५२४ ; १५४९ और उसके बाद), करेज्ज भी मिलता है (आयार० २, २, २, १), लभेज्जा = लभेत (कप्प० एस. (S) § १८) ; कर्मवाच्य में : घें प्पें ज्जा = गृह्येत है (पण्हा० ४००) ; पद्य में इस रूप के अन्त में बहुधा ह्रस्व स्वर आते हैं : रक्खें ज्ज = रक्षेत्, विणएँज्ज = विनयेत् और सेवें ज्ज = सेवेत हैं, कर्मवाचक में : मुच्चें ज्ज = मुच्येत है (उत्तर० १९८; १९९ और २४७) पै० में हुवेय्य = भवेत् है (हेच० ४, ३२० और ३२३) ; अप० में चएँज्ज = त्यजेत् है तथा भमेज्ज = भ्रमेत् मिलता है (हेच० ४, ४१८, ६)। सिंहराजगणिन् पन्ना ५१ में हसें ज्जइ रूप भी देता है। –एज्जा और एज्ज में समाप्त होनेवाले रूपों के अतिरिक्त, अ०माग० और जै०महा० में –ए मे समाप्त होनेवाला रूप भी पाया जाता है। यह –ए = –एत् : गिज्झे = गृध्येत्, हरिसे = हर्षेत् और कुज्झे = क्रुध्येत् है (आयार० १, २, ३, १ और २), किणे और किणावए = *क्रीणेत् और *क्रीणापयेत् हैं (आयार० १, २, ५, ३)। यह रूप विशेषकर पद्य में आता है : चरे = चरेत् है (आयार० १, २, ३, ४ ; उत्तर० ११० और ५६७), चिट्ठे = तिष्ठेत् और उवचिट्ठे = उपतिष्ठेत् हैं (उत्तर० २९ और ३०), इनके साथ साथ उवचिट्ठेज्जा और चिट्ठेज्जा रूप मिलते हैं (उत्तर० ३४ और ३५), लभे = लभेत है (उत्तर० १८०) ; कभी कभी एक ही पद्य में दोनों रूप दिखाई देते हैं : अच्छि पि नो पमज्जिया नो वि य कण्डुयए मुणी गायं = अक्ष्य् पि नो प्रमार्जयेत् नो अपि च कण्डूययेन् मुनिर् गात्रम् है (आयार० १, ८, १, १९); जै०महा० में परिक्खए = परीक्षेत, डहे = दहेत् और विनासए = विनाशयेत् हैं (एर्त्से० ३१, २१ ; ३८,१८)। शौर० और माग० में केवल –ए पाया जाता है : शौर० में बार बार भवे = भवेत् के रूप में आता है (मृच्छ० २, २३ ; ५१, २३ ; ५२, १३ ; शकु० २०, ३ और ४ ; ५०, ३ ; ५३, ४ ; विक्र० ९, ३ ; २३, ५ और १६ आदि-आदि), पूरए = पूरयेत् है (मालवि० ७२, १८) और उद्धरे = उद्धरेत् है (विक्र० ६,१६)[१] ; माग० में भवे = भवेत् है (मृच्छ० १६४, ६; १७०, १८ और १९), मूरो = मूपेत् है और खय्ये = *खायेत् = खादेत् है (मृच्छ० ११९, १६ और १७)[१]। एक हों ज्जा रूप को छोड़ (§ ४६६) जै०शौर० में भी ऐच्छिक रूप केवल –ए में समाप्त होता है : हवे = भवेत् (पव० ३८७, २५ ;

कत्तिगे० ३९८, ३०२ ; ३०९ ; ३१२ ; ३१५ ; ४००, ३३६ ; ४०१, ३३८ ; ३४३ ३४५ और उसके बाद आदि आदि) तथा **णासए = नाशयेत्** है (कत्तिगे० ४०१, ३४१)।

१. यह रूप १८३० के कलकतिया संस्करण में अन्यत्र आये हुए रूप, ऐन्स तथा शंकर पाण्डुरंग पण्डित के साथ पढ़ा जाना चाहिए, ६, ७ में **उद्धरेदि** के स्थान पर **समुद्धरे** पढ़ा जाना चाहिए क्योंकि **अवि णाम** केवल ऐच्छिक रूप के साथ (शकु० १३, ९ ; विक्र० १३, १८ ; ४०, २१ ; मालवि० ४४, १ ; महावीर० १७, ९ ; मालती० ५६, २ ; २८९, ४ ; माग० में : मृच्छ० १७०, १८) अथवा भविष्यत्काल के साथ (मालती० ७४, ३ ; १००, १ ; २८४, ९) संयुक्त रहता है जब कोई इच्छा प्रकट करनी होती हो। सामान्य वर्तमानकाल (वेणी० ५८, ७) और आज्ञावाचक रूप (माग० में : मृच्छ० ११४, १६) प्रश्न का निर्देश करते हैं। — २. मृच्छकटिक १२१, ३ की तुलना कीजिए जहाँ **मूशेदि** के साथ-साथ **खज्जे** के स्थान में **खय्येदि** आया है।

§ ४६३—प्रथमपुरुष बहुवचन का रूप केवल पल्लवदानपत्र में पाये जानेवाले रूप **करेय्याम** में देखा जाता है (७, ४१)। जै०महा० के लिए याकोबी (एर्से० भूमिका का पेज सैंतालीस) **पुच्छेज्जामो** और **कहेज्जामो** रूप बताता है। **रक्खेमो** की भाँति ये रूप (एर्से० ५२, १५) ऐच्छिक नहीं हैं (याकोबी, एर्से० में **रक्खइ** देखिए), किन्तु सामान्य का समाप्तिसूचक चिह्न जोड़ा जाता है : अ०माग० में **भवेज्जाह = भवेत** है (नायाध० ९१२ ; ९१५ ; ९१८ ; ९२०), **विहरेज्जाह = विहरेत** है (९१५ ; ९१८), **गच्छेज्जाह = गच्छेत** है (९१६ ; ९१८), **चिट्ठेज्जाह = तिष्ठेत** और **उवागच्छेज्जाह = उपागच्छेत** हैं (९२१) ; जै०महा० में **पायेज्जाह = पाययेत** है (एर्से० ३८, १) और **अॅ** के साथ : **खमेज्जह = क्षमेध्वम्**, **दोॅएज्जह = ढोकध्वम्** और **दुहेज्जह = दुह्यात** हैं (एर्से० २५, २६ ; २६, १६ ; ३७, ३७), **कहेज्जह = कथयेत** (आव०एर्से० ४७, २३), **भरिज्जह = *भरेत** (भरना : कालका० २६५, १०) ; दाक्षि० में : **करेज्जाह** मिलता है (मृच्छ० ९९, २४) ; अप० में **रक्खेज्जह** है (हेच० ४, ३५०, २)। — तृतीयपुरुष बहुवचन में अ०माग० में **आगच्छेज्जा** रूप पाया जाता है (ठाणंग० १२५ : **लोगन्तियदेवा**… **आगच्छेज्जा** है) ; शौर० में **भवे = भवेयुः** (विक्र० २६, २ : **अच्छरा विसज्जिदा भवे** आया है, रंगनाथ : **भवे इत्य् अत्र बहुवचनं एकवचनं च**) ; अ०माग० में **मन्ने = मन्येरन्** (सूय० ५७५ ; ५७६ , ५७८ : **अहा णं एए पुरिसा** [पाठ में **पुरिसे** है] **मन्ने** आया है ; यह रूप अनिश्चित है क्योंकि इससे पहले ५७५ में **जहा णं एस पुरिसे मन्ने** मिलता है), **समभिलोए = समभिलोकयेयुः** है (विवाह० ९२९ : **ते पेच्छागा तं नट्टियं**… **समभिलोएॅ त्ति। हन्त भन्ते समभिलोए**)।

§ ४६४—ऐच्छिक रूप की दूसरी रूपावली की पुरानी बनावट अ०माग० और जै०महा० की कुछ धातुओं में रह गयी है। यह विशेषतः अधिक काम में आनेवाले रूप

अ०माग० **सिया = स्यात्** के विषय में कही जा सकती है (उदाहरणार्थ, आयार० १, १, २, २ ; ६, ३ ; विवाह० ३९ ; ४० ; १४६ और उसके बाद ; आदि-आदि ; कप्प०), **असिया = न स्यात्** रूप भी मिलता है (आयार० १, ५, ५, २) ; अ०-माग० में **कुज्जा = कुर्यात्** (उदाहरणार्थ, आयार० १, २, ६, १ ; उत्तर० २८ ; २९ और १९८ ; दस० ६१३, १५ ; कप्प० आदि-आदि), यह बनावट **पाकुज्जा = प्रादुष्कुर्यात्** में भी देखी जाती है (सूय० ४७४) ; अ०माग० में **बूया = ब्रूयात्** है (उदाहरणार्थ, आयार० १, ४, २, ६ ; १, ५, ५, ३), विशेषतः संयुक्त शब्द **केवली बूया** में (आयार० पेज ७२, ७७ और उसके बाद ; १३२ और उसके बाद), इसके अतिरिक्त अ०माग० पद्य में इक्के दुक्के **हणिया = हन्यात्** काम में आया है (आयार० १, ३, २, ३), इसके साथ साथ **हणिज्जा** (जीवा० २९५ ; उत्तर० १९८) और **हणेॅज्जा** (पण्हा० ३९६ और ३९७) पाये जाते हैं ; जै०महा० में **आहणेज्जासि** (आव०एर्त्सें० ११, १) और अ०माग० में **हणे** मिलता है (आयार० १, २, ६, ५ ; १, ३, २, ३)। द्वितीयपुरुष एकवचन का एक रूप समाप्तिसूचक चिह्न **–हि** लगाकर बनता है और आज्ञावाचक है : अ०माग० और जै०महा० में **पज्जाहि = पयाः** (आयार० २, ५, १, १० ; एर्त्सें० २९, ५)।

§ ४६५—एक प्राचीन ऐच्छिक रूप, अब तक सभी को गोरखधन्धे में डालने-वाला पाली, अ०माग० और जै०महा० **सक्का** है। चाइल्डर्स[1] इसे अंश-क्रिया के रूप **शक्त** से बना मानता था जो बाद को अव्यय बन गया। पिशल[2] इसे अपादानकारक एकवचन का संक्षिप्त रूप समझता था। फ्रांके[3], योहानसोन[4] के साथ सहमत था कि यह रूप प्राचीन कर्त्ताकारक एकवचन स्त्रीलिंग है जो बाद को कर्त्ताकारक बहुवचन तथा नपुंसकलिंग बन गया। यह वास्तव में ठीक = वैदिक **शक्यात्** है और प्राचीनतम हस्तलिपियों में अब भी स्पष्ट ही ऐच्छिक रूप में देखा जाता है। इस निष्कर्ष के अनुसार : **न सक्का न सोउं सद्दा सोयविसयं आगया** वाक्य मिलता है जिसका अर्थ है, 'हम लोग ध्वनियाँ नहीं सुन सकते जो श्रुति के भीतर (गोचर में) आ गयी हों' (*आयार० पेज १३६, १४*) ; *न सक्का रूवं अद्दट्ठुं चक्खुविसयं आगयं आया* है, जिसका अर्थ है, 'मनुष्य उस रूप को नहीं, नहीं देख सकते जो आँख के गोचर में आ गया हो' [अर्थात् नहीं, नहीं = हाँ है। —अनु०] (आयार० पेज १३६, २२ ; पेज १३६,३१ ; पेज १३७,७ और १८ की तुलना कीजिए); **एगस्स दोॅण्ह तिण्ह व संखेज्जाण व पासिउं सक्का दीसन्ति सरीराइं णिओयजीवाण्' अणंन्ताणं** आया है जिसका अर्थ है, 'मनुष्य एक, दो, तीन अथवा गिनती करने योग्य ('णिओयजीवों' के) । शरीर देख सकता है, अनन्त 'णिओयजीवों' के शरीर भी देखे जा सकते हैं।'; **किं सक्का काउं जे जं नेच्छइ ओसदं मुहा पाउं** मिलता है जिसका अर्थ है, 'कोई यहाँ क्या कर सकता है जब तुम योंही औषध पीना नहीं चाहते' (पण्हा० ३२९ ; दस० नि० ६४४, २८ की तुलना कीजिए)। नायाधम्मकहा § ८७ की तुलना कीजिए। जै०महा० में **किं सक्का काउं** आया है = 'कोई क्या कर सके या कर सकता है' (आवएर्त्सें० ३०, १०) ; **न सक्का एएण उवाएणं** = 'इन उपायों से कुछ नहीं

कर सकते' है (आव०एर्त्से० ३५, ११) ; **न या सक्का पाउं सो वा अन्ने वा** ='न तो वह और न अन्य लोग इसे पी सकते हैं (आव०एर्त्से० ४२, ८ ; ४२, २८ में **न वि अप्पणो पिवइ न वि अन्नं सक्केइ जूहं पाउं** की तुलना कीजिए)। **सक्कइ** = शक्यते के साथ ध्वनि की समानता के कारण बाद को इस धातु का सामान्य रूप (infinitive) कर्मवाच्य के अर्थ में काम में आया जाने लगा। इस प्रकार **णो खलु से सक्का केणइ सुवाहुएण वि उरं उरेणं गिण्हित्तए** ='निश्चय ही वह किसी विशाल भुजावाले से भी छाती से छाती मिला सका है (विवाग० १२७) ; **णो खलु से सक्का केणइ...निग्गन्थाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा** = 'वह जैन मत में किसी से डिगाया, हिलाया अथवा उससे अलग न किया जा सका' है (उवास० § ११३) और ऐच्छिक रूप में प्रथमपुरुष एकवचन तथा अन्य वचन में क्रिया के अन्त में -आ जोड कर भी यही अर्थ निकाला गया है, जिसका एक उदाहरण **णो खलु अहं सक्का . चालित्तए** (नायाध० ७६५ और ७००) है। इस सम्बन्ध में उवासगदसाओ § ११९ और १७४ , दसवेयालियसुत्त ६३६, २५ की भी तुलना कीजिए। इसके प्रमाण के रूप में ठीक इसी काम के लिए अ०माग० **चक्किया** का प्रयोग भी किया जाता है जिसके एच्छिक रूप पर नाममात्र सन्देह नहां किया जा सकता। इस प्रकार : **एयंसि णं भन्ते धम्मत्थिकायंसि चक्किया केइ आसित्तए वा चिट्ठित्तए वा**''' = 'हे भदन्त, क्या इस धर्म की काया में कोई बैठा या खड़ा रह सकता है ?' है (विवाह० ५१३ , १११९ , ११२०, १३४६ और १३८९ की तुलना कीजिए) , **एरावई कुणालाए जत्थ चक्किया सिया एगं पायं जले किचा एगं पायं थले किचा एवं चक्किया** = 'जब यह (एक नदी है) जो कुणाल की ऐरावती नदी के बराबर है जहाँ यह (दूसरी पार जा) सकता हो। यह भी हो सकता है कि वह एक पाँव जल में और पाँव जल में रख सकता हो और तब वह (पार) कर सके' है (कप्प० एस. (S) § १२ , § १३ की भी तुलना कीजिए)। § १९५ के अनुसार **चक्किया**, ***चकिया** के स्थान में आया है जो =***चक्यात्** है और महा० धातु **चअइ** (=सकना , किसी काम करने के योग्य होना मे बना है वर० ८, ७० [पाठ के **चअइ** के स्थान मे यही पाठ पढा जाना चाहिए], हेच० ४, ८६ , क्रम० ४, ८६ ; रावण०)= ***चकित** है जिससे अशोक के शिलालेखों का **चघति** जो ***चघति** के लिये काम में आया है तथा जिसमें § २०६ के अनुसार ह-कार आया है, सम्बन्धित है'। मैं **चअइ** =***तकति** रखता हूँ जो **तकि सहने** से सम्बन्ध रखता है (धातुपाठ ५, २ [मुझे ब्रूनो लीबिश द्वारा सम्पादित 'धातुपाठ' में **तक् हसने** मिला है **तकि सहने** देखने में नहीं आया। हिन्दी में तकना का जो अर्थ है उसका स्पष्टीकरण **तक् हसने** से ही होता है। —अनु०] , कीलहौर्न द्वारा सम्पादित २,८२ में पाणिनि ३,१,८७ पर पतञ्जलि का भाष्य देखिए), इसमें दन्त्य वर्ण के स्थान में § २१६ के अनुसार तालव्य वर्ण आ गया है।—इसके अनुसार ऐच्छिक रूप पाली और अ०माग० में भी **लब्भा** = ***लभ्यात्** है, जैसा कि अ०माग० **सव्वे पाणा . न मयदुक्खं च किंचि लब्भा पावेउं** ='किसी

प्राणी को लेशमात्र [= किंचि = कुछ । —अनु०] भी भय और दुख न पाना चाहिए' है (पण्हा० ३६३; अभयदेव ने दिया है : लब्भा योग्यो [१, पाठ में योग्याः है]; न ताइं समणेण लब्भा दट्ठुं न कहेउं न वि य सुमरेउं = 'किसी श्रमण को वह न देखना चाहिए, न उस विषय पर बात करनी चाहिए और उसका स्मरण भी करना चाहिए' है (पण्हा० ४६६ ; अभयदेव लब्भा त्ति लभ्यानि उचितानि) ; दुगंछावत्तिया वि लब्भा उप्पाएउं पाया जाता है (सम्पादन उप्पातेउ है ; पण्हा० ५२६ ; अभयदेव ने= लब्भा उचिता योग्येत्य् अर्थः दिया है) । इसके स्थान में ५३७ और उसके बाद में निम्नलिखित वाक्य आया है : न दुगुंछावत्तियव्वं लब्भा उप्पाएउं = 'उसे जुगुप्सा की भावना उत्पन्न करनी चाहिए' है ।

१. पाली-कोश में पेज ४२० में सक्को शब्द देखिए । — २. वेदिशे स्टुडिएन १, ३२८ । — ३. बे० बाइ० १७, २५६ । — ४. बे० बाइ० २०, ९१ । — ५. मौरिस, जोर्नल ऑफ द पाली टेक्स्ट सोसाइटी १८९१–९३, पेज २८ और उसके बाद जिसमें से पेज ३० में भूल से लिखा गया है कि मैंने हेच० ४, ८६ की टीका में चअइ = त्यजति माना है, जब कि मैंने उक्त स्थल पर केवल हेच० का अनुवाद दिया है और चअइ को अन्य पर्यायवाचक शब्दों से पूर्ण रूप से अलग कर रखा है । कर्न यारटेलिंग, पेज ९६ की तुलना कीजिए । ग्रियर्सन ने एकेडेमी १८९०, संख्या ९६४, पेज ३६९ में भूल की है । वाकरनागल, आल्टइंडिशे ग्रामाटीक, भूमिका का पेज बीस, नोटसंख्या ९ में इसकी तुलना ग्रीक शब्द तेरने से की गयी है ।

§ ४६६—*प्रार्थना के लिए काम में आनेवाले धातु के वे रूप जो इच्छा व्यक्त* करने के अर्थ में काम में लाये जाते थे बहुत ही कम शेष रह गये हैं । ये विशेषकर अ०माग० और जै०महा० में पाये जाते हैं । पल्लवदानपत्र में होज मिलता है (७, ४८) ; महा० में होज्ज (रावण० ३, ३२, ११, २७ , २८ , और १२०) ; अ०-माग० और जै०महा० में होज्जा और होज्ज रूप है, ये सब रूप = भूयात् हैं (ठाणग० ९८ ; विवाह० ७२९ और उसके बाद , दस० ६२०, २७ तथा २८; ६२१, ३६ ; एर्त्से० ३५, १८ , २७, ३७ , ७०, १४) । जै०महा० में प्रथमपुरुष एकवचन में भी धातु का रूप पाया जाता है : चक्कवट्टी होज्जाहं आया है (एर्त्से० ४, २८) और अ०माग० तथा जै०महा० में तृतीयपुरुष बहुवचन में मिलता है : सव्वे वि ताव होज्जा कोहोवउत्ता, लोभोवउत्ता = सर्वे 'पि तावद् भूयासुः क्रोधोपयुक्ताः, लोभोपयुक्ताः (विवाह० ८४ [जहा पाठ में होज्ज है ; वेबर, भाग० १, ४३० की तुलना कीजिए], ९२ और १०९) , केवइया होज्जा = कियन्तो भूयासुः है (विवाह० ७३४ और ७३८, ७५३ और उसके बाद की तुलना कीजिए) ; जै०महा० में किह धूयाओ सुहियाओ होज्ज = कथं दुहितरः सुखिता भूयासुः है (आव०एर्त्से० १०, २३ ; १२, २ की तुलना कीजिए) । अ०माग० और जै०महा० में किन्तु प्रथमपुरुष एकवचन का रूप होज्जामि भी मिलता है (दस० ६२१, ४३ ; एर्त्से० २९, १९) ; जै०महा० में द्वितीयपुरुष एकवचन होज्जासि है (एर्त्से० २९,

१४ ; ३७, ९), हो`ज्जाहि भी आया है ( आव०एर्त्से० १०, ४२ ) और हो`ज्जसु भी देखा जाता है (एर्त्से० २३, ४), जैसा कि ऐच्छिक रूप का वर्तमानकाल का रूप होता है। अ०माग० में होज्जाइ रूप भी पाया जाता है (विवाह० १०४२) और अंश-क्रिया का एक रूप हो`ज्जमाण भी मिलता है जो वर्तमानकाल के काम में आता है ( विवाह० ७३३ और उसके बाद ; १७३६ और उसके बाद ; पण्णव० ५२१ )। जै०-शौर० में हो`ज्जा रूप पाया जाता है (पव० ३८५, ६९ ; पाठ में हो`ज्जं है )। शौर० में जहाँ जहाँ हो`ज्ज रूप आया है (मल्लिका० ८४, १ ; ८७, ५ ; १०९, ४ ; ११४, १४ ; १५६, २०) वह इस बोली की परम्परा के विरुद्ध है। अ०माग० में दे`ज्जा = देयात् है ( आयार० २, १, २, ४ ; ११, ५ ), जिसके स्थान में जै०महा० में द्वितीय-पुरुष एकवचन का रूप दे`ज्ज आया है (आव०एर्त्से० १२, ६), दे`ज्जासि भी चलता है ( एर्त्से० ३७, ९ ), अप० में दे`ज्जहि होता है (हेच० ४, ३८३, ३), दिज्जसु भी मिलता है (पिंगल १, ३६ और १२१ ; २, ११९ ; § ४६१ की तुलना कीजिए), जै०महा० में द्वितीयपुरुष बहुवचन में दे`ज्जह आया है (एर्त्से० ६१, २७)। अ०माग० में संधे`ज्जा = संधेयात् है (सूय० २२३), अहिट्टे`ज्जा = अधिष्ठेयात् है (ठाणंग० ३६८ ) और पहे`ज्जा = प्रहेयात् है (उत्तर० १९९)। अप० रूप किज्जसु संभवतः = क्रियाः है, यदि यह कर्मवाच्य के आज्ञावाचक रूप से उत्तम न माना जाय (§ ४६१ ; ४६७ ; ५४७ ; ५५०)। व्याकरणकार (वर० ७, २१ ; हेच० ३, १६५ और १७८ ; क्रम० ४, २९ और ३० ; सिंहराज० पन्ना ४८) हो`ज्जा और होज्ज को छोड़, ग्रन्थों में थोड़ा बहुत मिलनेवाले रूप हो`ज्जइ, हो`ज्जाइ, हो`ज्जउ, हो`ज्जाउ, हो`ज्जसि और हो`ज्जासि भी सिखाते हैं। क्रमदीश्वर ने ४, २९ में हो`ज्जईअ और होज्जाईअ रूप दिये हैं। सिंहराज० ने होएॅज्ज, होएॅज्जा, हुएॅज्ज, हुएॅज्जा, हुज्ज, हुज्जा, हुज्जइरे, हुज्जाइरे, हुएॅज्जइरे, हुएॅज्जाइरे रूप दिये हैं (§ ४५८) और हेमचन्द्र ३, १७७ तथा सिंहराज० पन्ना ४९ के अनुसार हो`ज्जा और हो`ज्ज वर्तमानकाल, इच्छावाचक, आज्ञावाचक, अपूर्ण वर्तमान, पूर्णभूत, प्रार्थनावाचक भूत, भविष्यत्काल प्रथम- और द्वितीयपुरुष तथा हेतुहेतुमद्भूत में काम में आते हैं। इस भाँति वास्तव में अ०माग० रूप दे`ज्जा का अर्थ अदात् होता है (उत्तर० ६२१) और संयुक्त शब्दवाली केवली बूया (§ ४६४) का बूया ब्रवीति और अब्रवीत् दोनों के अर्थ में प्रयुक्त होता है और इसके द्वारा यह सम्भव दिखाई देता है, भले ही इसका स्पष्टीकरण न हो सके, कि निश्चित रूप से भूतकाल में चलनेवाला अ०माग० चरे (उत्तर० ५३२ ; ५४९ ; ५५२), पहणे (उत्तर० ५६१), उदाहरे (उत्तर० ६७४) और पुच्छे भी (विवाह० १४९ और १५० ; रामचन्द्र के अनुसार = पृष्टवान् है) इसी के भीतर हैं। इनके अतिरिक्त वे रूप जिन्हें व्याकरणकारों ने सामान्य-, अपूर्ण और पूर्णभूत के अर्थों में काम में आनेवाला रूप बताया है जैसे, अच्छीअ [= आसिष्ट, आस्त और आसांचक्रे। —अनु०], गेण्हीअ [= अग्रहीत् , अगृह्णात् और जग्राह। —अनु०], दलिद्दाईअ, मरीअ, हसीअ, हुवीअ और देदीअ (वर० ७,२३ ; हेच० ३,१६३ ; क्रम० ४, २२ ; २३ और २५ ; मार्क० पन्ना ५२) इच्छावाचक वर्तमानकाल के रूप हैं तथा काहीअ, ठाहीअ और

होहीअं (वर० ७, २४ , हेच० ३, १६२ , क्रम० ४, २३ और २४ ; मार्क० पन्ना ५१) भूतकाल के रूप हैं। लास्सन ने अधिकांश में शुद्ध तथ्य पहले ही देख लिया था कि (इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ३५३ और उसके बाद) —ईय में समाप्त होने वाले रूप प्रार्थनावाचक घोषित किये जाने चाहिए। इसके विपरीत अ०माग० रूप अच्छे और अब्भे (आयार० १, १, २, ५) जो इच्छावाचक रूप में = आच्छिन्द्यात् और आभिन्द्यात् के स्थानों में आये हैं, प्राचीन भूतकाल हैं जो वैदिक छेद्म और अभेत् से निकले हैं। यह रूप भी तृतीयपुरुष एकवचन अपूर्ण– और पूर्णभूत[1] का स्पष्टीकरण उतना अन्धकार में ही रखता है जितना इच्छावाचक के अर्थ का[2]।

१. वेबर, भगवती १, ४३०, और उसके बाद ए० म्युलर, बाइत्रैगे, पेज ६०, याकोबी, आयारंगसुत्त की भूमिका का पेज १२, ये दोनों लेखक वेबर के अनुसार करे रूप देते हैं, भले ही यह भगवती २, २०१ के अनुसार स्पष्ट ही करेत्ति के स्थान में अशुद्ध रूप है (हस्तलिपि में करेति है) , भगवती के संस्करण के पेज १७३ में करेइ है। — २. हस्त्यायुर्वेद २, ६०, २ में प्रनूयात् भूतकाल के अर्थ में आया है ; इसके समान अन्य स्थानों में इस रूप के स्थान पर प्रोवाच अथवा अब्रवीत् शब्द आये हैं।

(४) आज्ञावाचक

§ ४६७—इसका रूप नीचे दिया जाता है :

	एकवचन	बहुवचन
१	[वट्टामु, वट्टमु]	अ०माग० और जै०महा० में वट्टामो , महा०,
२	वट्ट, वट्टसु, वट्टेसु, वट्टेहि अ०माग० में वट्टाहि भी, अप० में वट्टु और वट्टहि	शौर०, माग० और ढक्की में तथा जै०महा० में भी वट्टम्ह और वट्टेम्ह वट्टह , शौर० और माग० [ढक्की] में वट्टध और वट्टेध, अप० में वट्टहु और वट्टेहु , चू०पै० वट्टथ
३	वट्टउ , शौर०, माग० और ढक्की में वट्टदु	वट्टन्तु, अप० में वट्टहिँ भी

प्रथमपुरुष एकवचन केवल व्याकरणकारों के ग्रन्थों द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है, जो उदाहरण के रूप में हसामु और पेच्छामु (हेच० ३, १७३), हसमु (भाम० ७,१८ , क्रम० ४,२६ , सिंहराज० पन्ना ५१) देते हैं। इनकी शुद्धता के विषय में बहुत कम सन्देह हो सकता है और न ही अन्त में —सु लग कर बननेवाले और सभी प्राकृत बोलियों में प्रयुक्त होनेवाले द्वितीयपुरुष एकवचन के विषय में कोई सन्देह है, विशेषतः यह महा० में काम में आता है और स्वयं इच्छावाचक रूप में भी (§ ४६१)। अभी तक लोग इसे आत्मनेपद मानते हैं और समाप्तिसूचक चिह्न —सु = संस्कृत —स्व समझते हैं अर्थात् रक्खसु = रक्षस्व लगाते हैं[1]। यह भूल है क्योंकि यह परिस्थिति बताती है कि यह समाप्तिसूचक चिह्न उन क्रियाओं में भी पाया जाता है जिनकी रूपावली संस्कृत में कभी आत्मनेपद में नहीं चलती। इसके अतिरिक्त यह चिह्न शौर० और माग० में

बहुत काम में आता है, जिन बोलियों में आत्मनेपद कम काम में आता है। ये अधिकांश में समाप्तिसूचक चिह्न –सु, –स्सु और –उ तथा वर्तमानकाल के रूप –मि, –सि और –इ के समान हैं। महा० में विरमसु = विरम और रज्जसु = रज्यस्व हैं (हाल १४९), रक्खसु = रक्ष है (हाल २९७), परिक्खसु = परिरक्ष है (रावण० ६, १५), ओसरसु = अपसर है (हाल ४५१) ; महा०, जै०महा० और शौर० में करेसु = कुरु (हाल ४८ ; सगर ३, १२ ; कालका० २७३, ४१ ; रत्ना० २९९, ५ ; ३१६, ६ ; ३२८, २४ ; कर्ण० २१, ७; ३०, ५ ; ३७, २० ; वेणी० ९८, १५; प्रसन्न० ८४, ९ आदि-आदि) ; महा० में अणुणेसु = अनुनय है (हाल १५२ और ९४६) ; शौर० में आणेसु = आनय है (शकु० १२५, ८ ; कर्ण० ५१, १७), अवणेसु = अपनय है (विद्ध० ४८, १०) ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० में मुञ्जसु = भुंग्धि है (हाल ३१६ ; उत्तर० ३६९ ; आव०एर्त्से० १२, १४; मृच्छ० ७०, १२) ; अ०माग० में जासु = याहि (सूय० १७७) ; अ०माग० में कहसु रूप देखा जाता है, शौर० में कधेसु आया है (बाल० ५३, १२; १६४, १७; २१८, १६; कर्ण० ३७, ७ और १२) = कथय ; अ०माग० में सद्दहसु = श्रद्धेहि है (सूय० १५१) ; जै०महा० में खमसु = क्षमस्व है (सगर ३, १२; द्वार० ४९७, १३), वरसु = वृणीष्व (सगर १, १५) और सरसु = स्मर (आव०एर्त्से० ७, ३४) हैं ; महा० और जै०महा० में कुणसु = कुरु (हाल ६०७ और ७७१ ; सगर ६, २ ; ११ और १२ ; कालका० २६६, १६ और २७४, २७) ; माग० में ल≻कशु = रक्ष (चंड० ६९, १) और आगश्चेशु (मृच्छ० ११६, ५) = आगच्छ है, देशु रूप मिलता है (प्रबोध० ५८, ८ ; बबइया संस्करण देसु ; पूना तथा मद्रास का और बबइया बी. (B.) संस्करण देहि), दि≻कशु (प्रबोध० ५८, १८; बबइया संस्करण दिक्खस्सु, पूना संस्करण दिस्जस्स, मद्रासी संस्करण दिक्खेहि, बबइया बी. (B.) संस्करण दिक्खय) = दीक्षय है, धालेशु (प्रबोध० ६०, १० ; बबइया संस्करण धालेस्सु, पूना और बबइया बी.(B.) संस्करण धालेसु और मद्रासी संस्करण धारय = धारय है ; अप० में किज्जसु = कुरु है (कर्मवाच्य जो कर्तृवाच्य के अर्थ में आया है, § ५५० ; पिंगल १,३९ ; २, ११९ और १२०), मुणिआसु आया है, जो छन्द की मात्रा ठीक करने के लिए मुणीअसु के स्थान में आया है और मुण् धातु का कर्मवाच्य है (§ ४८९) तथा कर्तृवाच्य के अर्थ में काम में लाया गया है (पिंगल १, १११ और ११२)। इसके साथ साथ मुणिज्जसु रूप भी पाया जाता है (२, ११९), बुज्झसु = बुध्यस्व है (पिंगल २, १२०)। शौर० में पाठों में अनेक बार अन्त में –स्स लगकर बननेवाले आत्मनेपद के रूप पाये जाते हैं जैसे, उवालहस्स (शकु० ११, ४), अवलम्बस्स (शकु० ११९, १३ ; १३३, ८), पेक्खस्स (प्रबोध० ५६, १४), पटिवज्जस (वेणी० ७२, १९) और परिरम्भसु भी है (विद्ध० १२८, ६) तथा भारतीय संस्करणों में और भी अनेक पाये जाते हैं। इनमें संस्कृताऊपन की छाप देखी जानी चाहिए जो पाठों में से हटा दिये जाने चाहिए। इन संस्करणों के भीतर अन्यत्र शुद्ध रूप भी मिलते हैं। अ०माग० में अन्त में –सु लगकर बननेवाला आज्ञावाचक रूप केवल पद्य में प्रमाणित होता है।

१. लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज १७९ और ३३८ ; वेबर, हाल' पेज ६१ ; याकोबी, औसगेवैल्ते एर्त्सैलुंगन इन महाराष्ट्री § ५४, ब्लौख, वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा, पेज ४३ । — २. रावणवहो के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; ब्लौख की उक्त पुस्तक में पेज ४३ की तुलना कीजिए ।

§ ४६८—धातु का यदि ह्रस्व स्वर में समाप्ति हो तो नियम यह है कि संस्कृत के समान ही इसका प्रयोग द्वितीयपुरुष एकवचन आज्ञावाचक में किया जाता है और यदि उसके अन्त में दीर्घ स्वर आये तो उसमें समाप्तिसूचक चिह्न –हि का आगमन होता है । अ०माग० में –अ में समाप्त होनेवाले धातु अधिकांश में, महा०, जै०महा० और माग० में कभी-कभी अन्त में –हि लगा लेते हैं, जिससे पहले का अ दीर्घ कर दिया जाता है । ऐसा रूप बहुधा अप० में भी पाया जाता है किन्तु इस बोली में आ फिर ह्रस्व कर दिया जाता है । शौर० और माग० में समाप्तिसूचक चिह्न –आहि दिखाई देता है जिसके साथ साथ नवीं श्रेणी के धातुओं में –अ लगता है और इसके अनुकरण पर बने हुए तृतीयपुरुष एकवचन के अन्त में –आदु जोड़ा जाता है । ढक्की और अप० में यह समाप्तिसूचक अ, उ में परिणत हो जाता है (§ १०६) : महा०, अ०माग०, जै०महा०, शौर० और माग० में भण रूप आया है, अप० में यह भणु हो जाता है (हाल १६३ और ४०० ; नायाध० २६० ; आव०एर्त्से० १५, ३ ; शकु० ५०, ९ और ११४, ५ ; पिंगल १, ६२ ; हेच० ४, ४०१, ४), किन्तु दाक्षि०, शौर० और माग० में भणाहि रूप भी चलता है (दाक्षि० में : मृच्छ० १००, ४ ; शौर० और माग० के विषय में § ५१४ देखिए), अप० में भणहि भी है (विक्र० ६३, ४) ; आव० में चिट्ठा = तिष्ठ है, एहि और वाहेहि रूप भी पाये जाते हैं (मृच्छ० ९९, १८ और २० ; १००, १८) ; अ०माग० और शौर० में गच्छ पाया जाता है (उवास० § ५८ और २५९ ; ललित० ५६१, १५ ; शकु० १८, २ ; मृच्छ० ३८, २२ ; ५८, २), माग० में गश्च है (मृच्छ० ३८, २२ ; ७९, १४) किन्तु अ०माग० में गच्छाहि रूप भी है (उवास० § २०४) ; महा० और जै०महा० में पे`च्छ मिलता है ( हाल ७२५ ; आव०एर्त्से० १८, १२ ), शौर० और दाक्षि० में पे`क्ख हो जाता है (शकु० ५८, ७ ; मृच्छ० १७, २० ; ४२, २ ; दाक्षि० में : १००, १४), माग० में पे`स्क है ( मृच्छ० १२, १६ ; १३, ६ ; २१, १५ ), अप० में पे`क्खु मिलता है (हेच० ४, ४१९, ६) और पेक्खहि भी देखा जाता है (पिंगल १, ६१) ; महा० और शौर० में हस आया है (हाल ८१८ ; नागा० ३३, ५), माग० में हश है (मृच्छ० २१, ४) ; माग० में पिव = पिब है (प्रबोध० ६०, ९) और पिवाहि रूप भी मिलता है (वेणी० ३४, २ और १५) , पलित्ताआहि = परित्रायस्व है (मृच्छ० १७५, २२ ; १७६,५ और १०) ; महा० में रुअ है (हाल ८९५) । इसके साथ साथ रुपहि भी पाया जाता है (७८४) और रुअसु रूप भी मिलता है (१४३ ; ८८५ ; ९०९), शौर० में रोद चलता है (मृच्छ० ९५, १२ ; नागा० २४, ८ और १२) = रुदिहि ; अ०माग० में विगिञ्च = *विक्रन्त्य = विक्रन्त है (आयार० १, २, ४, ३ ; उत्तर० १७०), जाणाही = जानीहि (आयार० १, २, १, ५), बुज्झाहि = बुध्यस्व,

वसाहि = वस, हराहि = हर, चन्दाहि = चन्दस्व और अक्कमाहि = आक्राम (चण्ड० § १११ तथा ११४ ; ओव० § ५३ ; उवास० § ५८ और २०४ ; निरया० § २२) ; जैमहा० में विहराहि = विहर है (आव०एत्सें० ११, ६) ; महा०, जैमहा०, अ०माग० और शौर० में करेहि रूप है (हाल २२५ और ९०० ; आव-एत्सें० ११, ४ ; कालका० में कर् शब्द देखिए, ओव० § ४० ; मृच्छ० ६६, १८ ; १२५, १८ ; १२६, १० ; शकु० ७८, १४ ; १५३, १३), माग० में कलेहि है (मृच्छ० ३१, ८ ; १२३, १० ; १७६, ५), अप० में करहि और करहि रूप हैं (पिंगल १, १४९ ; हेच० ४, ३८५) और करु भी देखा जाता है (हेच० ४, ३३०, २) ; दाक्षि० में ओणामेहि = अवनामय है (मृच्छ० १०२, २) ; अ०माग० में पडिकप्पेहि = प्रतिकल्पय, संणाहेहि = संनाहय, उवट्ठावेहि = उपस्थापय और कारवेहि = कारय है (ओव० § ४०), रोएहि = रोचय है (विवाह० १३४) ; जैमहा० में पुच्छेहि = पृच्छ है (कालका० २७२, ३१), मग्गेहि = मार्गय और वियाणेहि = विजानीहि हैं (एत्सें० ५९, ६ , ७१, १२) ; शौर० में मन्तेहि = मन्त्रय और कधेहि = कथय है (ललित० ५५४, ८ ; ५६५, १५), सिढिलेहि = शिथिलय है (शकु० ११, १ ; वेणी० ७६, ४), जालेहि = ज्वालय है (मृच्छ० २५, १८) ; माग० में मालेहि = मारय है (मृच्छ० १२३, १५ ; १६५, २४) और घोसेहि = घोषय है (मृच्छ० १६२, ९) ; ढक्की में पसलु = प्रसर है (पाठ में पसद है ; मृच्छ० ३२, १६) जब कि सभी हस्तलिपियाँ भूल से शब्द के अन्त में -अ देती हैं : गेण्ह रूप आया है (२९, १६ ; ३०, २), पअच्छ मिलता है (३१, ४ ; ७ और ९ ; ३२, ३ ; ८ ; १२ ; १४ ; ३४,२४ ; ३५, ७), आअच्छ भी देखा जाता है (३९, ७), देहि भी चलता है (३२, २३ ; ३६, १५) ; अप० में सुणेहि = शृणु है (पिंगल १, ६२) ; महा०, जैमहा० और शौर० में होहि = *भोधि = वैदिक बोधि = भव है (हाल २५९ और ३७२ ; एत्सें० ११, ३१ और ३०, २४ ; मृच्छ० ५४, १२ ; शकु० ६७, २ , ७०, ९ , विक्र० ८, ८ , १२, १२ ; २३, ६ आदि आदि) । शब्द के अन्त में -ए और -इ लगकर बननेवाले तथाकथित अप० आज्ञावाचक रूप के विषय में § ४६१ देखिए ।

§ ४६९—तृतीयपुरुष एकवचन क्रिया के अन्त में -उ लगकर बनता है, शौर०, माग०, दाक्षि० और ढक्की में -दु जोड़ा जाता है = -तु है : महा० में मरउ = म्रियताम् है (हाल में मर् शब्द देखिए), पअट्टउ = प्रवर्तताम् है (रावण० ३, ५८), देउ = *दयतु (गउड० ५८) ; अ०माग में पासउ = पश्यतु (चण्ड० § १६), आपुच्छउ = आपृच्छतु (उवास० § ६८) और विणेउ = विनयतु है (नायाध० § ९७ और ९८) ; जैमहा० में कीरउ = क्रियताम् और सुव्वउ = श्रूयताम् हैं (एत्सें० १५, ९ , १७, १४) , देउ = *दयतु (कालका० दो ५०८, २९), ठुयउ = स्थापितु हैं (द्वार० ५०३, ३) ; शौर० में पसीददु = प्रसीदतु (ललित० ५६१, ९ ; शकु० १२०, ११), आरुहदु = आरोहतु (उत्तररा० ३२, ६ और ७), कधेदु = कथयतु (शकु० १२०, १८) और सुणादु = शृणोतु हैं (विक्र० ५, ९ ; ७२,

१४ ; ८०, १२ ; वेणी० १२, ५ ; ५९, २३ आदि आदि) , दाक्षि० मे **गच्छदु** रूप आया है (मृच्छ० १०१,१) ; माग० में **मुञ्चदु** = **मुञ्चतु** , **शुणादु** = **शृणोतु** और **णिशीददु** = **निषीदतु** हैं (मृच्छ० ३१, १८ और २१ ; ३७, ३ ; ३८, ९) ; अप० में **णन्दउ** = **नन्दतु** (हेच० ४, ४२२, १४) है, **दिज्जउ** = **दीयताम्** और **किज्जउ** = **क्रियताम्** है (पिंगल १, ८१ अ) , महा०, जै०महा०, अ०माग० और अप० में **होउ**, शौर०, माग० और ढक्की मे **भोदु** = **भवतु** है (महा० के लिए : हाल ;रावण० ; हेच० में **भू** शब्द देखिए ; जै०महा० के लिए : एर्त्से० १८, १२ ; कालका० में **हो** शब्द देखिए , अ०माग० के लिए : कप्प० , नायाध० मे **हो** शब्द देखिए , शौर० के लिए : मृच्छ० ४, २३ ; शकु० २४, १३ ; विक्र० ६, १७ ;माग० के लिए : मृच्छ० ३८, ८ , ७९, १८ ; ८०, ४ ; ढक्की के लिए : मृच्छ० ३०, १४ और १८ ; ३१, १९ और २२ ; ३४, २०) ।

§ ४७०—अ०माग० और आंशिक रूप में जै०महा० मे भी प्रथमपुरुष बहुवचन,आज्ञाकारक के स्थान मे प्रथमपुरुष बहुवचन वर्त्तमानकाल काम में लाया जाता है : अ०माग० मे **गच्छामो "वन्दामो नमंसामो सक्कारेमो संमाणेमो··· पज्जुवासामो** = **गच्छामः · वन्दामहे नमस्याम सत्कारयाम संमानयाम··· पर्युपासाम** है (विवाह० १८७ और २६३ , ओव० § ३८), **गिण्हामो** = **गृह्णाम**, **साइज्जामो** = ***स्वादयाम** = **स्वादयाम** है (ओव० § ८६) और **जुज्झामो** = **युद्धायाम** है (निरया० § २५) ; जै०महा० मे **हरामो** = **हराम** (एर्त्से० ३७, ११), **गच्छामो** = **गच्छाम** तथा **पविसामो** = **प्रविशाम** है (सगर ५, १ और ६) । वर० ७, १९ और हेच० ३, १७६ मे केवल एक रूप **–आमो** बताते हैं : **हसामो** और **तुवरामो** उदाहरण दिये हैं, सिंहराजगणिन् ने पन्ना ५१ में **हसिमो**, **हसेमो** और **हसमो** रूप अतिरिक्त मिलते हैं, ये भी वर्तमानकाल के ही हैं । इसके अनुसार अ०माग० में **भुञ्जिमो** = **भुञ्जाम** है (पद्य में ; उत्तर० ६७५) , जै०महा० में **निज्झामेमो** = **निःक्षामयाम** है (द्वार० ५०५, ९), **करेमो** मिलता है (एर्त्से० २, २७ ; ५, ३५), **पूरेमो** = **पूरयाम** है (सगर ३, १७), अ०माग० मे **होमो** रूप पाया जाता है (उत्तर० ६७८ = दस० ६१३,३४) । आज्ञावाचक का अपना निजी समाप्तिसूचक चिह्न **–म्ह** है जो अ०माग० में प्रमाणित नहीं किया जा सकता है और महा० तथा जै०महा० में विरल है, इस कारण ही वर०, हेच० और सिंहराज० इसका उल्लेख नहीं करते[1] किन्तु इसके विपरीत शौर०, माग० और ढक्की मे एकमात्र यही रूप काम में लाया जाता है । मार्क० पन्ना ७० मे बताता है कि यह शौर० में काम लाया जाना चाहिए । ब्लौख ने मृच्छ०, शकु०, विक्रमो०, माल्ती० और रत्ना० से इस रूप का एक उत्तम संग्रह तैयार किया है[2]। महा० में **अब्भत्थेम्ह** = **अभ्यर्थयाम** है (रावण० ४, ४८) ; जै०महा० **चिट्ठम्ह** = **तिष्ठाम** और **गच्छम्ह** = **गच्छाम** हैं (एर्त्से० १४, ३३ ; ६०, २१)[3] ; शौर० में **गच्छम्ह** रूप चलता है (मृच्छ० ७५, ३ ; शकु० ६७, १० , ७९, ८, ११५, ३ ; विक्र० ६, १४ और १८, १३ ; मालवि० ३०, १२ और ३२, १३ ; रत्ना० २९४, ८ , २०५, ११ ; ३०३, २०; ३१२, २४ आदि आदि), **उवविसम्ह** = **उपविशाम**

(शकु० १८, ९), उवसप्पम्ह = उपसर्पाम (शकु० ७९, ११ ; विक्र० २४, ३ ; ४१, १४ ; नागा० १३, ८ ; बाल० २१६, १), पे`क्खाम = प्रेक्षाम है (मृच्छ० ४२, १४ ; विक्र० ३१, १४ ; ३२, ५ ; रत्ना० ३०३, २९ आदि आदि), करेम्ह = करवाम (शकु० ८१, १५ ; विक्र० ६, १५ ; १०, १५ ; ५३, १४ ; रत्ना० ३०३, २१ ; प्रबोध० ६३, ११ ; वेणी० ९, २३ आदि-आदि), णिवेदेम्ह = निवेदयाम (शकु० १६०, ७ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; मालवि० ४५, १९; रत्ना० २९३, २९ ; ३०९, २६), अदिवाहे`म्ह = अतिवाहयाम ( रत्ना० २९९, ३२ और हो`म्ह = भवाम हैं (शकु० २६, १४ ; विक्र० ३६, १२) ; माग० में अण्णेशम्ह[1] = अन्वेषयाम (मृच्छ० १७१, १८), पिवम्ह = पिबाम (वेणी० ३५, २२) और पलाअम्ह = पलायाम है (चंड० ७२, २) तथा इनके साथ साथ कलेम्ह रूप भी पाया जाता है (मृच्छ० १७१, १९ ; १६८, ७ ; १७०, २१ ; चंड० ६८, १५ ; वेणी० ३६, ६) ; ढक्की में अणुसले`म्ह = अनुसराम है ( मृच्छ० ३०, १३ ; ३६, १९ ) ; ढक्की, माग० और शौर० में कीलेम्ह = क्रीडाम ( मृच्छ० ३०, १८ , ९४, १५ ; १३१, १८ ), ढक्की और माग० में णिवे दे`म्ह में पाया जाता है (मृच्छ० ३६, २२ , १७१, ११) । -मो और -म में समाप्त होनेवाले रूप जो कभी कभी हस्तलिपियों और नाना संस्करणों में देखने में आ जाते हैं, जैसे कि पे`क्खामो ( मालवि० १५, १७ ), माग० रूप पे`स्कामो (मृच्छ० ११९, १), पविसामो (मालवि० ३९, १९ ; इसी नाटक में अन्यत्र पविस्सम्ह भी देखिए ; शंकर पाण्डुरंग पंडित के संस्करण ७५, २ में शुद्ध रूप पविसम्ह आया है ; रत्ना० २९४, १७ , ३०२, २९ ; नागा० २७, ७ ; महावीर० ३५, १७ की तुलना कीजिए), अवक्कमाम (मालवि० ४८, १८ , शुद्ध रूप अवक्कमम्ह मृच्छ० २२, २ में मिलता है), णिचारेम (मालवि० ६२, १३ ; इसी नाटक में अन्यत्र णिवारेह्मि है) और माग० रूप णच्चामो (प्रबोध० ६१, ७ , मद्रासी संस्करण ७८, २२ में शुद्ध रूप णच्चम्ह आया है)[2] आज्ञावाचक के स्थान में उतने ही अशुद्ध हैं जितने कि -म्ह में समाप्त होनेवाले रूप सामान्य वर्तमानकाल के लिए (§ ४५५) । इसका तात्पर्य यह हुआ कि -म्ह यदि क्रियाओं के आज्ञावाचक रूपों में लगता हो तो इसे स्मः (= हम हैं)[3] से व्युत्पन्न करना भूल है । -म्ह = -स्म जो पूर्णभूत में लगता है और णेम्ह = *नेष्म (§ ४७४) केवल आज्ञावाचक रूप के काम में लाये गये वैदिक जेष्म, गेष्म और देष्म की ठीक बराबरी में बैठता है और द्वितीयपुरुष एकवचन भी नेष और पर्षि की तुलना में जोड़ का है (ह्विटनी, § ८९४ सी. (C.) और ८९६ ; बे० बाइ० २०, ७० और उसके बाद में नाइस्सर के विचारों की भी तुलना कीजिए) । अप० में प्रथमपुरुष बहुवचन वर्तमानकाल में जाहुँ = याम है (हेच० ४, ३८६) ।

१. शौर० और माग० में शब्द के अन्त में -म्ह लग कर बननेवाला आज्ञावाचक के रूप बहुत अधिक पाये जाते हैं, व्याकरणकारों ने इस तथ्य को अति संक्षेप में टरका दिया है । इसलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उन्होंने

इस रूप का उल्लेख नहीं किया है जिस पर ब्लौख ने वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा में बहुत फटकार बतायी है। — २. उक्त ग्रन्थ का पेज ४४, खेद है कि अनेक उद्धरण भ्रमपूर्ण हैं और तीनों बोलियों में कुछ भेद नहीं किया गया है। ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं, इस विषय का ध्यान रख कर चुने गये हैं। — ३. याकोबी ने 'औसगेवेल्ते एर्सेलुंगन इन महाराष्ट्री' की भूमिका के पेज ४७ में इस ओर ध्यान ही नहीं दिया है। — ४. हेच० ४, २८९ के अनुसार अपणेश्शम, पिवस्म, कलेस्म आदि-आदि की प्रतीक्षा की जानी चाहिए, किन्तु § ३१४ की तुलना कीजिए। — ५. इस विषय पर अधिक विस्तार ब्लौख की उक्त पुस्तक के पेज ४५ में है। — ६. बौप, फरग्लाइषन्दे ग्रामाटीक एक १, १२० ; बुर्नूफ ए लास्सन, एसैं स्यूर ल पाली (पेरिस १८२६), पेज १८० और उसके बाद ; होएफर, डे प्राकृतिका डिआलेक्टो § १८७ नोटसंख्या तीन, लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए ११७, २ ; थुगमान, ग्रुण्डरिस दो १, १३५४, नोटसंख्या १ ; ब्लौख का उक्त ग्रन्थ, पेज ४६ और उसके बाद।

§ ४७१—आज्ञावाचक द्वितीयपुरुष बहुवचन के रूप में द्वितीयपुरुष बहुवचन सामान्यवर्तमान का प्रयोग किया जाता है : महा० मे **णमह** रूप पाया जाता है (गउड० ; हाल, रावण०, कर्पूर० १, ७), अप० में **नमहु** आता है (हेच० ४, ४४६) और चू०पै० मे **नमथ** (हेच० ४, ३२६), महा० में **रञ्जेह** = **रञ्जयत**, **रएह** = **रचयत** और **देह** = *दयत हैं (हाल ७८०) ; महा० मे **उअह** = *उपत[1] = **पश्यत** है (भाम० ८, १४ ; देशी० १, ९८ ; त्रिवि० २, १, ७५, गउड०, हाल, शकु० २, १४) ; **उवह** रूप भी मिलता है (विद्धराज० पन्ना ४५ ; कर्पूर० ६७, ८ ; प्रताप० २०५, ९ ; २१२, १० ; हाल मे यह रूप देखिए) ; अ०माग० मे **हणह खणह छणह डहह पयह आलुम्पह विलुम्पह सहसकारेह विपरामुसह** = **हत खनत क्षणुत दहत पचत आलुम्पत विलुम्पत सहसात्कारयत विपरामृशत** है (सूय० ५९६ ; आयार० १, ७, २, ४ की तुलना कीजिए), **खमाह** = **क्षमध्वम्** है (उत्तर० ३६६ और ३६७) और **तालेह** = **ताडयत** है (नायाध० १३०५), जै०महा० मे **अच्छह** = **ऋच्छत** है (आव०एर्त्से० १४, २०), **कण्डूयह** मिलता है (एर्त्से० ३६, २१), **चिट्ठह, आइसह** और **गिण्हह** = **तिष्ठत, आदिशत** और **गृह्णीत** हैं (कालका० २६४, ११ और १२), **ठवेह** और **दंसेह** = **स्थापयत** और **दर्शयत** हैं (कालका० २६५, ७ ; २७४, २१) ; शौर० में **परित्ताअध** = **परित्रायध्वम्** है (शकु० १६, १० ; १७, ६ ; विक्र० ५,१७, ५,२, मालती० १३०, ३), माग० में **पलित्ताअध** रूप हो जाता है (मृच्छ० ३२, २५) ; अ०माग० तथा जै०महा० में **करेह** रूप मिलता है (कप्प० ; उवास० ; नायाध० ; कालका० २७०, ४५), अ०माग० में **कुव्वहा** भी होता है (आयार० १, ३, २, १), अप० में **करेहु** (पिंगल १, १२२), **करहु** (हेच० ४, ३४६ ; पिंगल १, १०२ और १०७), **कुणेहु** (पिंगल १, ९० और ११८) और **कुणहु** रूप होते हैं (पाठ में **कुणह** है ; पिंगल १, १६ ; ५३ और ७९), माग० में **कलेध** है (मृच्छ० ३२, १५ ; १२२, २ ; १४०,२३) ; शौर० में **पअत्तध** = **प्रयत-**

ध्वम् है (शकु० ५२, १२), समस्ससध = समाश्वसित है (विक्र० ७, १), अवणेध = अपनयत, होध = भवत और मारेध = मारयत हैं (मृच्छ० ४०, २४ ; ९७, २३ ; १६१, १६) ; माग० में ओशलध = अपसरत है (मृच्छ० ९६, २१ और २३ ; ९७, १ ; १३४, २४ , २५ ; १५७, ४ और १२ आदि आदि , मुद्रा० १५३, ५ ; २५६, ४ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; चंड० ६४,५), सुणाध = शृणुत है (ललित० ५६५, १७ और ५६६, ५ ; मृच्छ० १५८, १९ ; प्रबोध० ४६, १४ और १६) और मालेध = मारयत है (मृच्छ० १६५, २३ ; १६६, १)[1]। ढक्की में रमह (मृच्छ० ३९, १७) रूप क्लौच के अनुसार रमम्ह में सुधारा जाना चाहिए ; अप० में पिअहु = पिबत (हेच० ४, ४२२, २०), ठवहु = स्थापयत और कहेहु = कथयत है (पिंगल १, ११९ और १२२) । दाक्षि० में आअच्छध = आगच्छत है और इसके साथ साथ जत्तेह = यतध्वम् है , करेज्जाह = कुरुत है तथा जोहह रूप भी आया है (मृच्छ० ९९, २४ , १००, ३) । —इसका तृतीय पुरुष सभी प्राकृत बोलियों में –न्तु में समाप्त होता है : महा० में देन्तु = ददयन्तु है (गउड० ४४), णन्दन्तु और विलिहन्तु रूप भी पाये जाते हैं (कर्पूर० १, १ और ४) ; अ०माग० में भवन्तु आया है (विवाह० ५०८), निज्जन्तु = निर्यान्तु और फुसन्तु = स्पृशन्तु है (ओव० § ४७ और ८७) तथा सुणन्तु = शृण्वन्तु है (नायाध० ११३४) ; शौर० में पसीदन्तु = प्रसीदन्तु(मुद्रा० २५३,४), पेक्खन्तु = प्रेक्षन्ताम् (मृच्छ० ४, ३) और होन्तु = भवन्तु हैं (विक्र० ८७, २१) ; माग० में पशीदन्तु = प्रसीदन्तु है (शकु० ११३, ५) ; अप० में पीडन्तु[1] मिलता है (हेच० ४, ३८५) और सामान्य वर्तमान का रूप लेहिं इसके लिए प्रयोग में आया है[4]।

१. हेमचन्द्र २, २११ पर पिशल की टीका । हाल १ पेज २९, नोटसंख्या ४ और हाल २४ में अशुद्ध मत दिया है । — २. शौर० के सम्बन्ध में पिशल, कू०बाइ० ८, १३४ और उसके बाद की तुलना कीजिए । — ३. वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा, पेज ४५ । — ४. यदि ड़े के स्थान में उं पढ़ा जाय तो हमारे सामने सामान्य वर्तमान का रूप उपस्थित हो जाता है ।

§ ४७२—जैसा की § ४५२ में कहा गया है, प्रथम और द्वितीय रूपावलियों के एक साथ मिल जाने से अ– वर्ग की प्रधानता हो गयी है । इसके साथ साथ अप० को छोड़ अन्य प्राकृत बोलियों में ए– वर्ग का विस्तार बहुत बढ़ गया है । वररुचि ७, ३४ और क्रमदीश्वर ४, ३७ ३९ तक में अनुमति देते हैं कि सब कालों में ए का प्रयोग किया जा सकता है, हेमचन्द्र जो ३, १५८ में मार्कडेय पन्ना ५१ से पूरा सहमत दिखाई देता है, इसका आगमन सामान्यवर्तमान, आज्ञावाचक तथा अंशक्रिया वर्तमान परस्मैपद में सीमित कर देता है। भामह ये उदाहरण देता है : हसेइ, हसइ, पढेइ, पढइ ; हसेन्ति, हसन्ति , हसेउ, हसउ ; हेमचन्द्र में हसेइ, हसइ, हसेम, हसेमु, हसेमो , हसेउ,हसउ,, सुणेण, सुणउ ; हसेन्तो, हसन्तो रूप पाये जाते हैं ; क्रमदीश्वर में हसइ, हसेइ ; चवइ, चवेइ दिये गये हैं[1], मार्कडेय में भणइ,

भणेइ ; भणासि, भणेसि उदाहरण देखने में आते हैं। ए- वाले ये रूप सभी गणों में ढेर के ढेर पाये जाते हैं। इनके पास-पास में ही अ- वाले रूप भी मिलते हैं। यद्यपि हस्तलिपियाँ इस विषय पर बहुत डावाडोल हैं तोभी यह निर्णय तो निश्चय रूप से किया जा सकता है। इन ए- वाली क्रियाओं को प्रेरणार्थक और इ के साथ एक पंक्ति में रखना, उसकी सर्वथा भिन्न बनावट इसकी अनुमति नहीं देती। कृ धातु के रूप करइ और करेइ बनाये जाते हैं, जै०शौर०, शौर० और माग० में करेदि है किन्तु इनमें प्रेरणार्थक रूप कारेइ पाया जाता है। शौर० और माग० में कारेदि भी पाया जाता है। जै०शौर० में कारयदि भी मिलता है (कत्तिगे० ४०३, ३८५)। हसइ और हसेइ दोनों रूप काम में लाये जाते हैं किन्तु प्रेरणार्थक में हासेइ मिलता है ; शौर० में मुञ्चदि और मुञ्चेदि रूप देखने में आते हैं किन्तु प्रेरणार्थक का रूप मोआवेदि है, आदि-आदि। इसलिए यह कहना ठीक है कि -ए वर्ण जो प्राकृत में ली गयी क्रियाओं में -अय का रूप है, सीधीसाधी क्रियाओं में भी आ सकता है[1]। ब्लौख के अनुसार रूप जैसे कि शौर० में गच्छेॅम्ह (मृच्छ० ४३, २० ; ४४, १८), ढक्की में गेॅण्हेॅम्ह (मृच्छ० ३६, २४), अणुसलेॅम्ह (मृच्छ० ३०, १३ ; ३६, १९), ढक्की, शौर० और माग० रूप कीलेॅम्ह (मृच्छ० ३०, १८ ; ९४, १५ ; १३१, १८) तथा शौर० में सुवेॅम्ह (मृच्छ० ४६, ९) को निश्चित रूप से अशुद्ध समझना, मैं ठीक नहीं समझता।[2]

१. याकोबी, औसगेवैल्ते एर्त्सेलुंगन इन महाराष्ट्री, § ५३, दो, जहाँ नेमि और देमि एकदम उड़ा दिये जाने चाहिए (§ ४६४)। — २. लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए § १२०, ३। — ३. वररुचि उन्ट हेमचन्द्रा, पेज ४५।

§ ४७३—प्रथम गण की क्रियाएं जिनकी धातुओं के अन्त में -इ अथवा -उ आता है उनकी रूपावली अधिकांश में संस्कृत की भाँति चलती है : जि धातु का रूप महा० में जअइ बनता है (हेच० ४, २४१ ; गउड० ; हाल में जि देखिए ; कर्पूर० २, ६), अ०माग० और जै०महा० में जयइ रूप है (नन्दी० १, २२; एर्त्से०), शौर० में जअदि चलता है (विक्र० ४४, ४ ; मुद्रा० २२४, ४ ; ५ और ६)। आज्ञावाचक में शौर० रूप जअदु चलता है (शकु० ४१, १ ; ४४, ३ ; १३८, ६ ; १६२, १ ; विक्र० २७, ८ ; २८, १४ ; ४४, ३ ; ८७, २० ; ८२ ; ८ और ९; रत्ना० २९६,१ ; ३०५, १५ ; ३२०, १६ ; ३२१, २८ आदि आदि)। जेदु रूप जो बहुधा जअदु के साथ-साथ पाया जाता है, उदाहरणार्थ वेणी० ५९, १३ में जहाँ इसके साथ साथ २९, ११ में जअदु रूप मिलता है इसके अतिरिक्त प्रबोधचन्द्रोदय ३२, १२ में भी माग० येदु आया है तथा पास ही में ४०, ८ में शौर० रूप जअदु दिया गया है और शकु० के देवनागरी संस्करण में भी देखा जाता है (बोएटलिंक द्वारा सम्पादित शकु० २७, १२ ; २९,१७ ; ८९,१५ ; ९०,९ ; १०७,८), शुद्ध नहीं जान पड़ता तथा इसके ठीक प्रमाण नहीं दिये गये हैं[1]। महा०, जै०महा०, अ०माग०, ढक्की और अप० जि की रूपावली नवें गण की भाँति भी चलती है। महा०, जै०महा० ; अ०माग० और अप०

में उक्त रूपावली के साथ-साथ यह पहले गण की रूपावली में चला गया : ढक्की में **जिणादि** रूप है (मृच्छ० ३४, २२); अ०माग० में **जिणामि** आया है (उत्तर० ७०४) ; महा० में **जिणइ** पाया जाता है (वर० ८, ५६ , हेच० ४, २४१ ; सिंहराज० पन्ना ४९), अ०माग० में **पराइणइ** है (विवाह० १२३ और १२४) ; अप० में **जिणइ** चलता है (पिंगल १, १२३ अ) ; महा० में **जिणन्ति** मिलता है (रावण० ३, ४०) ; अ०माग० में **जिणेज्ज** है (उत्तर० २९१), **जिणाहि** भी आया है (जीवा० ६०२ ; कप्प० § ११४ ; ओव० § ५३) और **जिणन्तस्स** = जयतः है (दस० ६१८, १४) , जै०महा० में **जिणिउं** मिलता है (= जित्वा : आव०एर्त्से० २६,४२), अप० में **जिणिअ** है (= जित् : पिंगल १,१०२ अ) । कर्मवाच्य के रूप **जिणिज्जइ** और **जिव्वइ** के विषय में § ५३६ देखिए । मार्क० पन्ना ७१ में शौर० के लिए **जिणइ** रूप देता है, पता नहीं चलता कि वह इसकी अनुमति देता है अथवा निषेध करता है [मार्क० पन्ना ७, ८७ = पन्ना ७१ में मेरे पास की छपी प्रति में **जि** धातु में णकारागम का आदेश है, उदाहरण के रूप में **जिणइ** दिया गया है । —अनु०] । शौर० में **समस्सइअ** रूप मिलता है (शकु० २, ८) । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इसका वर्तमानकाल का रूप ***समस्सअइ** = समाश्रयति रहा होगा । अ०माग० में **जि** की भाँति ही **श्रि** की भी रूपावली नवें गण की भाँति चलती है : **समुस्सिणामि** और **समुस्सिणासि** मिलते हैं (आयार० १, ७, २, १ और २) । — **चि** और **मि** धातु के सधियुक्त रूप पाये जाते हैं (§ ५०२) । –उ और –ऊ में समाप्त होनेवाले धातुओं के विषय में हेच० ४,२३३ में सिखाया है कि इनमें बिना गण के भेद के –उ और –ऊ के स्थान में अव आदेश होता है : **निण्हवइ** और **निह्नवइ** = निह्नुते, **चवइ** = च्यवते, **रवइ** = रौति, **कवइ** = कवते , **सवइ** = सूते और **पसवइ** = प्रसूते हैं । इस नियम से अ०माग० **पसवइ** रूप पाया जाता है (उत्तर० ६४१), **निण्हवेज्ज** भी मिलता है (आयार० १, ५, ३, १), **निण्हवे** आया है (दस० ६३१, ३१), **अणिण्हवमाण** है (नायाध० § ८३) , जब कि कर्मवाच्य में महा० रूप **णिण्हुविज्जन्ति** है (हाल ६५७), शौर० में **णिण्हुवीअदि** पाया जाता है (रत्ना० ३०२, ९) और भूतकालिक अंशक्रिया शौर० में **णिण्हुविदो** है (शकु० १३७, ६) । यह छठे गण की रूपावली के अनुसार है = ***णिण्हुवइ** है करके माना जाना चाहिए , महा० में **पण्हुअइ** = प्रस्नौति है (हाल ४०९ और ४६२ में **पण्हुअइ** रूप देखिए) , अ०माग० और अप० में **रुवइ** आया है (ठाणंग० ४५० , पिंगल २, १८६) । **रुवइ** रूप के साथ-साथ रु की रूपावली छठे गण के अनुसार भी चलती है . **रुवइ** आया है (हेच० ४, २३८) ; महा० में **रुवइ**, **रुवन्ति** और **रुवसु** रूप मिलते हैं (हाल में रुद् देखिए) । **पडिरुवन्ति** भी देखा जाता है (रावण०), कर्मवाच्य में **रुव्वइ** और **रुविज्जइ** रूप काम में आये हैं (हेच० ४, २४९), महा० में **रुव्वसु** भी है (हाल १०) । इससे तथ्य मिला कि प्राकृत में एक नयी धातु **रुव्** भी बन गयी थी जो **धौ** और **स्यम्** की भाँति है (§ ४८२ और ४९७) । इस गौण धातु की रूपावली प्रथम गण में चलती है :

रोवइ मिलता है (हेच० ४,२३८), महा० में रोवन्ति आया है (हाल ४९४); जै०महा० में रोवामि पाया जाता है (द्वार० ५०३,१७)। व्याकरणकार रुद् के इस रूप को अधिक अपनाते हैं क्योंकि इसकी रूपावली औरों के समान ही चलती है (§४९५) तथा यह समान अर्थ में काम में आता है। इसके साथ जिप्सी भाषा के रुवाव और रोवाव की तुलना कीजिए जिनका अर्थ रोना है और अंगरेजी शब्द टु क्राइ (to cry) = रोना और चिल्लाना की भी तुलना कीजिए[1] [क्राइ शब्द लैटिन में कुइरिटारे (उच्चारण किरिटारे) था। अब भी इटालियन में ग्रिदारे, स्पैनिश में ग्रितार तथा पोर्तुगीज में ग्रितार है। अंगरेजी में क्राइ और फ्रेंच में क्रिए (crier) रूप हैं। —अनु०]। — अ०माग० में लुएँज्जा = *लुवेज्जा = लुनीयात् है (विवाह० ११८६), पुवन्ति = प्लुवन्ते है (विवाह० १२३२)। इनकी रूपावली छठे गण के अनुसार चलती है। ४९४, ५०३ और ५११ की भी तुलना कीजिए।

१. रत्नावली पेज ३६९ में कापेलर की टीका ; इस नाटिका में प्रायः सर्वत्र पाठ के जेदु के पास सर्वोत्तम लिपियों में पाया जानेवाला रूप जअद् भी पाया जाता है ; उदाहरणार्थ, मुद्रा० ३८, ४ ; ४६, ४ ; ५४, ६ ; ८४, ७ आदि-आदि की तुलना कीजिए। — २. हाल १४१ पर वेबर की टीका ; हेच० ४, २२६ पर पिशल की टीका।

§ ४७४—अन्त में -इ वाले प्रथम गण के धातु संप्रसारण द्वारा -अय या -ए में परिवर्तन कर देते हैं : णेसि और णेइ = नयसि तथा नयति (हाल ५५३ ; ९३९ ; ६४७), आणेइ रूप भी मिलता है (रावण० ८, ४३) ; अ०माग० और जै०शौर० में नीणेइ = निर्णयति (उत्तर० ५७८ ; एर्त्से० २९, ६) ; जै०महा० में नेइ रूप आया है (एर्त्से० ११, ११), महा० में परिणेइ देखा जाता है (कर्पूर० ७, ४), शौर० में परिणेदि है (विद्ध० ५०, १), आणेदि भी पाया जाता है (कर्पूर० १०९, ८)। इसके अनुसार जै०महा० मे प्रथमपुरुष एकवचन में नेमि आया है (सगर ९, ६), महा० में आणेमि मिलता है (कर्पूर० २६, १), शौर० मे अवणेमि = अपनयामि है, अणुणेमि और पराणेमि रूप भी देखने में आते हैं (मृच्छ० ६, ७ ; १८, २३ ; १६६, १६) ; तृतीयपुरुष बहुवचन में महा० मे णेंत्ति रूप आया है (रावण० ३, १४ ; ५, २ ; ६, ९२)। आज्ञावाचक में जै०महा० और शौर० में णेहि रूप है (एर्त्से० ४३, २४ ; विक्र० ४१, २), अ०माग० और शौर० में उवणेहि = उपनय है (विवाग० १२१ और १२२ ; मृच्छ० ६१, १० ; ६४, २० और २५ ; ९६, १४ ; विक्र० ४५, ९), शौर० मे आणेहि चलता है (विक्र० ४१, १) तथा आणेदु है (शकु० १२५, ८ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; कर्ण० ५१, १७), अवणेदु = अपनय है (विद्ध० ४८, १०), शौर० में णेदु है (मृच्छ० ६५, १९ ; ६७, ७) ; शौर० और माग० में णेंम्ह आया है (मुद्रा० २३३, ५ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; इसी नाटक में अन्यत्र और इसके कलकतिया संस्करण में णेह्म भी मिलता है) ; माग० में (मृच्छ० १७०, १२), जै०महा० में नीणेह पाया जाता है (द्वार० ४९६, ५) ; माग० और शौर० में णेध है (मृच्छ० ३२, १५ ; १६१, ९)। पद्य में जै०महा० में

आणसु (एत्सें० ७८, ९) और अप० में आणहि रूप पाये जाते हैं (हेच० ४, ३४३, २)। *आणअसु, *आणासु, *आणअहि, *आणाहि से इनका स्पष्टीकरण होता है। महा० रूप णअइ (विद्ध० ७, २) और णअन्ति (गउड० ८०३,), शौर० रूप परिणअदु (शकु० ३९, ३), णइअ = *नयिय = नीत्वा (मृच्छ० १५५, ४) परस्मैपद की वर्तमानकालिक अशक्रिया के माग० रूप णअन्ते = नयन् मे (मृच्छ० १६९, १२) संस्कृत की रूपावली दिखाई देती है। डी धातु का उद् के साथ उड्डेइ रूप बनता है जिसका तृतीयपुरुष बहुवचन का रूप उड्डेॅन्ति रूप है (हेच० ४, २३७; हाल २१८; गउड० २३२ [जे. (J) हस्तलिपियों के साथ उड्डिन्ति पढ़ा जाना चाहिए]; ७७०; माग० में : मृच्छ० १२०. १२), परस्मैपद की अशक्रिया उड्डेॅन्त (गउड० ५४३ ; पी. (P) हस्तलिपि के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए)। — लेइ = लयति जो ली धातु का एक रूप है (हेच० ४, २३८ [धातुपाठ में लीङ्श्लेषण है, यह लेइ उसी का प्राकृत है। —अनु०]); महा० में अहिलेइ भी मिलता है (गउड०; रावण०), अहिलेॅन्ति है (हाल), परिलेॅन्त रूप भी पाया जाता है (रावण०) जब कि महा० अल्लिअइ (गउड० ; हाल ; रावण०), जै०महा० अल्लियउ (आव०-एर्त्सें० ४७, १६), अ०माग० उवल्लियइ (आयार० २, २, २, ४), यह समल्लिअइ (रावण०), जै०महा० समल्लियइ (आव०एर्त्सें० ४७, १७) किसी *लीयते रूप की सूचना देते हैं, महा० अशक्रिया आलीअमाण (गउड०) और शौर० णिलीअमाण (विक्र० ८०, २०) बताते हैं कि ये रूप संस्कृत की भाँति हैं (§ १९६)। इसी भाँति दय- (= देना : हेच० में दा शब्द देखिए ; क्रम० ४, ३४) की रूपावली भी चलती है : महा० और जै०महा० में देइ, देॅन्ति, देहि, देसु, देउ, देह और अशक्रिया में देॅन्त- रूप पाये जाते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०;एर्त्सें० ; कालका०); अ०माग० में देइ (निरया० § २१ और २२), देमो (विवाह० ८१९) रूप आये हैं ; जै०शौर० में देदि मिलता है (कत्तिगे० ३९९, ३१९ और ३२० ; ४०२, ३६० ; ३६५ और ३६६) ; शौर० में देमि आया है (रत्ना० ३१२, ३० ; मृच्छ० १०५,९), देसि (मालवि० ५, ८), देदि (मृच्छ० ६६, २ ; १४७, १७ ; विक्र० ४३, १४ ; विद्ध० २९, ७) और देहि रूप आये हैं (यह रूप ठीक संस्कृत के समान है), देहि बार बार मिलता है (उदाहरणार्थ, मृच्छ० ३८, ४ और २३ ; ४४, २४ ; ९४, १७ ; शकु० ९५, ११ ; १११, ६, आदि आदि), देदु रूप भी देखा जाता है (कर्पूर० ३८, १) ; दाक्षि० में देउ पाया जाता है (मृच्छ० १०५, २१) ; शौर० में देॅन्त चलता है (मृच्छ० ४४, १९) , माग० में देमि आया है (मृच्छ० ३१, १७ ; ४५, २ ; ७९, १८ ; १२७, १२ ; १३१, ९ ; १० और १३), देहि रूप भी है (मृच्छ० ४५, १२ ; ९७, २ , १३२, ४), देसु देखा जाता है (प्रबोध० ५८, ८) और देध (मृच्छ० १६०, ११ ; १६४, १४ और १६ ; १७०, ६) पाया जाता है ; ढक्की में देहि मिलता है (मृच्छ० ३२, २३ ; ३६, १५) ; पै० में तेति (हेच० ४, ३१८) और तिय्यते रूप चलते हैं (हेच० ४, ३१५ , यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) , अप० में देसि, देइ, देॅन्ति, देहु रूप आये हैं और देॅन्तहो = ददत है , देॅन्तिहिं = ददतीभिः

(हेच० में दा शब्द देखिए), क्त्वा- वाला रूप करके- सूचक है ; देण्पिणु (हेच० ४, ४४०) आया है तथा देवं है (हेच० ४, ४४१) । *दअइ = दयति रूपावली इस तथ्य की सूचना देती है कि शौर० मे भविष्यत्काल का रूप दइस्सं = दइष्ये होना चाहिए (मृच्छ० ८०, २०), इसलिए दाइस्सं (बोएटलिंक द्वारा सम्पादित शकु० २५, ६ ; कर्पूर० ११२, ५) अशुद्ध है ; दइस्सामो रूप मिलता है (विद्ध० १२१, ३ ; इसमें अन्यत्र अन्य रूप भी देखिए) , इस सम्बन्ध में वर० १२, १४ की तुलना कीजिए ; माग० में दइदशं आया है (मृच्छ० २१, ६ ; ८ और १५; ३२, ९ और २४ ; ३३, २२ ; ३५, ८ ; ८०, १९ ; ८१, ५ ; ९७, ३ ; १२३, २१ ; १२४, ५ और ९) तथा शौर० और माग० मे क्त्वा- वाला रूप दइअ = दयिम = दयित्वा है (मृच्छ० ३२, १९ [अ-दइअ है] ; ३७, १२ ; ५१, १२ ; १६८, २) । दा धातु केवल महा० और जै०महा० रूप दाऊण, दाउं और दिज्जइ (गउड०; हाल ; रावण० ; एर्से०), अ०माग० में सामान्य धातु के रूप दाउं (उवास० ; नायाध०) ; शौर० दीअदि (मृच्छ० ५५, १६ ; ७१, ६ ; यही रूप मृच्छ० ४९, ७ के दिज्जदि के स्थान मे भी पढा जाना चाहिए), दीअदु (कर्पूर० १०३, ७), दादव्व (मृच्छ० ६६, २ ; २५०, १४ , कर्पूर० १०३, ६ ; जीवा० ४३, १२ और १५) ; माग० रूप दीअदि और दीअदु (मृच्छ० १४५, ५) ; महा०, जै०महा० और अ०माग० भविष्यत्काल के रूप दाहं और दासं (§ ५३०), भूतकालिक अश-क्रिया दिण्ण और दत्त रूपों मे शेष रह गया है (§ ५६६) । अ०माग० में अधिकाश मे दलयइ रूप चलता है (§ ४९०), जिसके स्थान मे बहुधा दूसरा रूप दलइ भी पाया जाता है (होएर्नले द्वारा सम्पादित उवास०, अनुवाद की नोटसख्या २८७) ।

§ ४७५—हेच० ४, ६० में भू के निम्नलिखित रूप देता है : होइ, हुवइ, हवइ, भवइ और सन्धियुक्त रूप पभवइ, परिभवइ, संभवइ और उब्भुअइ, जो सूचना देते हैं कि इनका मूल सीधा सीधा रूप *भुवइ रहा होगा । यह मूल रूप भुवदि में दिखाई देता है जिसे हेच० ४, २६९ में हुवदि, भवदि, हवदि, भोदि और होदि के साथ साथ शौर० बोली का रूप बताता है । इसके अतिरिक्त अ०माग० भुवि (§ ५१६) जो भूतकाल का रूप है यह देखा जाता है तथा पै० रूप फुवति में भी यह मिलता है (क्रम० ५, ११५) । वर० ८, १ ; क्रम० ४, ५६ ; मार्क० पन्ना ५३ में होइ और हुवइ रूप बताये गये हैं और वर० ८, ३ तथा मार्क० ५३ में भवइ के सधियुक्त रूप दिये गये हैं जैसे, पभवइ, उब्भवइ, संभवइ और परिभवइ । क्रम० नेहवइ का सन्धियुक्त रूप दिया है जैसे, पहवइ । वर० का सूत्र १२, १२ शौर० के विषय में अस्पष्ट है तथा क्रम० ५, ८१ और मार्क० पन्ना ५३ में भोदि का विधान करते हैं, जब कि मार्क० के मतानुसार शाकल्य होदि की अनुमति देता है और सिंह-राजगणिन् पन्ना ६१ में भोदि, होदि, भुवदि, हुवदि इत्यादि सिखाता है । संस्कृत भवति से ठीक मिलता-जुलता और उसके जोड का रूप भवइ है जो अ०माग० में बहुत प्रचलित है (आयार० २, १, १, १ और उसके बाद ; ठाणग० १५६; विवाह० ११६; १२७ ; ११७; १२६; १२५ और उसके बाद ; नन्दी० ५०१ और उसके बाद ;

पण्णव० ६६६ और ६६७ ; कप्प० एस. (S.) § १४-१६) भवसि है (विवाह० १२४५ और १४०६), भवत्ति रूप भी आया है (विवाह० ९२६ और १३०९ ; ओव० § ७० और उसके बाद कप्प०), भवउ भी देखने में आता है (कप्प०) ; जै०महा० में इसके रूप कम नहीं मिलते : भवइ आया है (आव०एर्त्से० १०, २० ; १३, ३७ ; २०, ११ और उसके बाद), भवन्ति है (एर्त्से० ३, १४), भवसु भी मिलता है (एर्त्से० ११, १०) । इनके साथ साथ अ०माग० और जै०महा० में आरम्भ में –ह वाले रूप भी हैं : जै०महा० मे हवामि आया है (एर्त्से० ३५, १५), अ०-माग० और जै०महा० मे हवइ है (पण्णव० ३२ और ११५ ; नन्दी० ३२९ और ३६१ तथा उसके बाद ; उत्तर० ३४२ ; ३४४ ; ७५४ [इसके पास ही होइ रूप आया है] ; आव०एर्त्से० ३६, ४४) ; अ०माग० मे हवन्ति चलता है (सूय० २५३ और २५५ ; विवाह० १३८ ; पण्णव० ४० ; ४२ ; ९१ ; ७४ ; १०६ ; ११९ आदि आदि ; नदी० ४६१ ; जीवा० २१९ ; ओव० § १३०) ; इसी भाँति इच्छा वाचक में भी भवे॑ज्जा (ओव० § १८२) और द्वितीयपुरुष बहुवचन के रूप भवे॑-ज्जाह (नायाध० ९१२ ; ९१५ ; ९१८ ; ९२०) के साथ-साथ पद्य मे हवे॑ज्ज (सूय० ३४१ ; विवाह० ४२६ ; ओव० § १७१), हवे॑ज्जा (उत्तर० ४५९) और जै०महा० मे हविज्ज रूप आये हैं (एर्त्से० ७४, १८) । गद्य में आवश्यक एर्त्सेलुगन २९, १९ के हवे॑ज्जा के स्थान मे अन्यत्र आये हुए रूप के अनुसार हो॑ज्ज पढ़ा जाना चाहिए। अ०माग० और जै०महा० मे इच्छावाचक रूप भवे भी आया है (विवाह० ४५९ ; उत्तर० ६७८ ; नंदी० ११७ ; एर्त्से०) । शौर० और माग० में प्रथमपुरुष एकवचन का रूप भवेअं. प्रथम–, द्वितीय– और तृतीयपुरुष एकवचन तथा तृतीयपुरुष बहुवचन भवे रूप ही केवल काम मे आते हैं (§ ४६०–४६२) । सन्धियुक्त क्रियाओं में शौर० में पहवे रूप भी पाया जाता है (शकु० २५, १) ; शौर० मे हुवे रूप अशुद्ध है (मालवि० ४, १ और ३) । जै०शौर० में हवदि रूप बहुत अधिक काम में लाया जाता है (पव० ३८०, ९ ; ३८१, १६ ; ३८२, २४ ; ३८४, ५४ और ५८ ; ३८५, ६५ ; ३८६, ७० और ७४ ; ३८७, १८ और १९, ३८८, ५ ; कत्तिगे० ३९८, ३०३ ; ४००, ३३४), हवेदि भी मिलता है (कत्तिगे० ४०१, ३४१ ; हस्तलिपि में हवेइ है), इसके साथ-साथ होदि आया है (पव० ३८१, १८ ; ३८५, ६४ ; ३८६, ६ ; कत्तिगे० ३९९, ३०८ ; ४००, ३२६ ; ३२८ ; ३२९ और ३३० ; ४०२, ३६८ ; ४०३, ३७२ ; ३७६ और ३८१ ; ४०४, ३९१), होमि चलता है (पव० ३८५, ६५), हुन्ति है (कत्तिगे० ४०१, ३५२ [इस हुन्ति का कुमाउनी में हुनि हो गया है । —अनु०]), होन्ति देखा जाता है (कत्तिगे० ४०२, ३६३ और ३६४ ; ४०४, ३८७), सामान्य क्रिया होदुं है (कत्तिगे० ४०२, ३५७ ; हस्तलिपि में होउं है) । इसका इच्छावाचक रूप हवे है (पव० ३८७, २५ ; कत्तिगे० ३९८, ३०२ ; ३९९, ३०९ ; ३१२ ; ३१५ ; ४००, ३३६ ; ४०१, ३३८ और ३४५ तथा उसके बाद आदि आदि) । हेमचन्द्र ने अपने शौर० रूप हवदि और होदि पाये होंगे (§ २१ और २२) । ऊपर दिये गये रूपों को छोड भव– वर्ग के अन्य रूप विरल हैं : माग० में भवामि है (मृच्छ० ११७,

६) ; शौर० में **भविदव्वं** रूप आया है (शकु० ३२, ६ ; कर्पूर० ६१, ११), जिसकी पुष्टि जै०शौर० रूप **भविदव्वं** (कत्तिगे० ४०४, ३८८ ; हस्तलिपि में **भविदविय** है) और शौर० **भविदव्वता** (शकु० १२६, १० ; विक्र० ५२, १३) करते हैं ; सामान्य क्रिया का रूप **भविउं** है (हेच० ४ ; ६०), शौर० और माग० में **भविदुं** होता है (शकु० ७३, ८ ; ११६, १ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए], मालवि० ४७, ७ में अशुद्ध पाठ हैं[1]) । शौर० में **क्त्वा**– वाला रूप **भविअ** बहुत अधिक काम में आता है (मृच्छ० २७, १२ ; ४५, ८ ; ६४, १९ ; ७८, १० , शकु० ३०, ९ ; ११९, ३ और १३ ; १६०, १ ; विक्र० २४, ५ ; २५, १५ आदि आदि) तथा यह रूप माग० में भी आया है (मृच्छ० १६, १६ ; १२४, २३ , १३४, २३ ; १७०, ११), जै०शौर० में **भविय** है (पव० ३८०, १२ ; ३८७, १२), अ०माग० में **भवित्ता** मिलता है (ओव० ; कप्प०), **पाउब्भवित्ताणं** भी आया है (उवास०) । भविष्यत्काल के विषय में § ५२१ देखिए । माग० कर्मवाच्य **भवीयदि** (मृच्छ० १६४, १०) भविष्यत्काल परस्मैपद के काम में आया है (§ ५५०) । महा० रूप **अग्गभवन्तीओ** (गउड० ५८८) **अग्गभरन्तीउ** के स्थान में अशुद्ध रूप है (गउड० पेज ३७६ में इसका दूसरा रूप देखिए) । ऊपर दिये गये अ माग०, जै०महा० और जै०शौर० के रूपों के अतिरिक्त महा० में **हव**– वर्ग का रूप **हवन्ति** मिलता है (गउड० ९०१ ; ९३६ ; ९७६) । उपसर्ग जोड़े जाने पर **भव**– वर्ग की ही प्रधानता देखी जाती है । ब्लौख[1] के संग्रह से, जो उसने शौर० और माग० से एकत्र किया है, मुझे केवल दो उदाहरण जोड़ने हैं, शौर० रूप० **अणुभवन्तो** = **अनुभवन्** (विक्र० ४१, ९) और **अणुभविद्** (कर्पूर० ३३,६) । केवल **प्र**– उपसर्ग के बाद साधारण रूप से **हव**– वर्ग काम में आता है । इसके अतिरिक्त संज्ञारूप **विहव**[2] में ; अन्यथा यह रूप कभी कभी **अनु** के बाद दिखाई देता है, वह भी महा० **अणुहवेइ** (हाल २११), शौर० **अणुहवन्ति** (मालवि० ५१, २२ , प्रबोध० ४४, १३) में । अस्तु, मालविकाग्निमित्र में अन्यत्र **अणुहोन्ति** रूप है और प्रबोधचन्द्रोदय में **अणुभवन्ति** भी है जो पाठ पढ़ा जाना चाहिए । इसी प्रकार शकुंतला ७४, ६ में इसी नाटक में अन्यत्र आये हुए रूप के अनुसार **विहावेदि** के स्थान में **विभावेदि** पढ़ा जाना चाहिए । वररुचि वास्तव में ठीक ही बताता है कि सन्धि के अवसर पर **भव**– का प्रयोग किया जाना चाहिए ।

१. ब्लौख, वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा, पेज ४१ में मृच्छकटिक, शकुन्तला, विक्रमोर्वशी, मालविकाग्निमित्र और रत्नावली से **भू** के शौर० और माग० रूप एकत्र किये गये हैं । इस पर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे देखना चाहिए । — २. इसी ग्रन्थ के पेज ३९ और ४० । — ३. ब्लौख का उपर्युक्त ग्रंथ, पेज ४० ।

§ ४७६—**हुव**– की अर्थात् छठे गण के अनुसार रूपावली, महा० रूप **हुवन्ति** में पायी जाती है (गउड० ९८८ ; हाल २८५) । इसका इच्छावाचक रूप **हुवीय** मिलता है (§ ४६६) और पै० में **हुवेय्य** है (हेच० ४, ३२० और ३२३) । कर्मवाच्य का सामान्य वर्तमान का रूप माग० में **हुवीअदि** आया है (वेणी० ३३, ६

और ७ ; ३५, ८ ; यहाँ यह रूप परस्मैपद भविष्यत्काल के अर्थ में आया है ; § ४७५ में भवीअदि की तुलना कीजिए) और शौर० तथा माग० में इसका प्रयोग विशेषतः भविष्यत्काल में बहुत चलता है (§ ५२१)। एक अशुद्ध और बोली की परम्परा पर आघात करनेवाला परस्मैपद वर्तमानकालिक अशक्रिया का स्त्रीलिंग का रूप शौर० में **हुवन्ती** है तथा ऐसा ही रूप कर्तव्यवाचक अशक्रिया का माग० में **हुविदव्वं** है (*ललित०* ५५५, ५ ; ५६५, १३)। महा०, जै०महा० और अप० असंयुक्त सीधे सादे रूप में प्रधान वर्ग **हुव–** से निकला **हो–** आया है जो कभी कभी अ०माग० में भी आता है और जै०शौर० में बहुत चलता है : **होमि, होसि, होइ, होॅन्ति** और **हुन्ति** रूप मिलते हैं ; आज्ञावाचक में **होहि, होसु, होउ, होमो** और **होन्तु** हैं ; कर्मवाच्य के सामान्य वर्तमानकाल में **होईअइ** और **होइज्जइ** रूप आये हैं ; परस्मैपद में वर्तमान कालिक अशक्रिया में **होॅन्तो** और **हुन्तो** रूप हैं; आत्मनेपद में **होयाणो** मिलता है ; *सामान्यक्रिया में* **होउं** *तथा जै०शौर० में* **होदुं** *चलते हैं ; क्त्वा– वाला रूप* **होऊण** है और कर्तव्यवाचक अशक्रिया अ०माग० तथा जै०महा० में **होयव्व** है[१]। **होॅज्जा** और **होॅज्ज** के विषय में § ४६६ देखिए। उक्त रूपों के अतिरिक्त अ०माग० में प्रार्थनावाचक रूप केवल **होइ** और **होउ** हैं। ये भी वाक्यांश **होउ णं** में पाया जाता है और भूतकाल का रूप **होत्था** का पर्याप्त प्रचलन है। शौर० प्रयोग निम्नलिखित प्रकार के हैं : **होमि, होसि** और **होन्ति**, आज्ञावाचक में **होहि, होॅम्ह, होध** और **होॅन्तु**, माग० आज्ञावाचक में **होध**[२] चलता है; किन्तु शौर०, माग० तथा ढक्की में केवल **भोदि** और **भोदु** रूप देखने में आते हैं[३]। पाठों में अशुद्ध रूप निम्नलिखित हैं : **भोमि, होदि, भोहि, होदु** और **भोॅन्तु**[४]। पै० में **फोति** रूप पाया जाता है (क्रम० ५, ११५)। शौर० और माग० में कर्तव्यवाचक अशक्रिया का रूप **होदव्व** है[१] ; शौर० और जै०शौर० रूप **भविदव्व** के विषय में § ४७५ देखिए और माग० में **हुविदव्व** के सम्बन्ध में ऊपर देखिए। महा० में भूतकालिक अशक्रिया का रूप **हूअ** मिलता है (हेच० ४, ६४ ; क्रम० ४, ५७ ; मार्क० पन्ना ५३) जो **मण्डणीहूअं** में आया है (हाल ८), **अणुहूअ** (हेच० ४, ६४ , हाल २९), **परिहूएण** (हाल १३४ ; इस ग्रन्थ में अन्यत्र आये रूप तथा बम्बइया संस्करण के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए), **पहूअ** (हेच० ४, ६४) तथा अप० **हूआ** (हेच० ४, ३८४) और **हुआ** (हेच० ४, ३५१) में यह रूप आया है। शौर०, ढक्की और दाक्षि० में –**भूदा** मिलता है (उदाहरणार्थ, शौर० में : मृच्छ० ५५, १६ ; ७८, ३ ; शकु० ४३, ९ ; ८०, २ ; विक्र० ३३, १४ ; ५२, २१ ; ५३, १२ [इस ग्रन्थ में –**भूदो** भी है] , ढक्की में : मृच्छ० ३६, २१ ; ३९, १६ ; दाक्षि० में : मृच्छ० १०१, १३), माग० में **किअप्पहूद** = **कियत्प्रभूत** है (वेणी० ३४, १६)। — सिंहराज० पन्ना ४७ में ठीक **थ–** वर्ग की भाँति निम्नलिखित रूप दिये गये हैं : **होअइ, होएइ, हुअइ** और **हुएइ**।

१. इनके उदाहरण § ४६९ में होउ के साथ दिये गये स्थलों और इस क्रिया से सम्बन्धित § में तथा जै० शौर० के उदाहरण § ४७५ में देखिए। इस सम्बन्ध में वेबर, जित्सुंग्सबेरिष्टे डेर कोएनिगलिशन प्रॉयस्सिशन आकाडेमी डेर

विस्सनशाफ्न त्सु बर्लीन, १८८२, ८११ और उसके बाद तथा इंडिशे स्टुडिएन १६, ३९३ की भी तुलना कीजिए। — २. इनके उदाहरण ब्लौख के उपर्युक्त ग्रन्थ के पेज ४१ में हैं। — ३. पिशल, कू० बाइ० ८,१४१ और ऊपर § ४६९ में ; माग० में भोदि आता है, उदाहरणार्थ, मृच्छकटिक १२१, ६ ; १६८, ३ ; ४ और ५, १६८, ६ में होदि अशुद्ध है। — ४. ब्लौख के उपर्युक्त ग्रन्थ का पेज ४१ ; फ्लेक्सिओनेम प्राकृतिकाए, पेज २० और उसके बाद में बुर्कहार्ड ने भी एक संग्रह दिया है। — ५. ब्लौख के उपर्युक्त ग्रन्थ का पेज ४२। भू के रूपों के लिए डेल्यिउस, राडीचेस प्राकृतिकाए में यह शब्द देखिए और तुलना कीजिए।

§ ४७७—जिन धातुओं के अन्त में ऋ और ॠ आते हैं उनके वर्ग के अन्त में अर आ जाता है : **धरइ, वरइ, सरइ, हरइ, जरइ** और **तरइ** रूप बनते हैं (वर० ८, १२ ; हेच० ४, २३४ ; क्रम० ४, ३२)। प्राचीन संस्कृत में कुछ ऐसे धातुओं की रूपावली वैदिक रीति से चलती है अथवा बहुत कम पायी जाती है अथवा केवल व्याकरणकारों द्वारा इनकी परम्परा दी गयी है जैसे, **जृ, धृ, मृ, वृ** और **स्तृ**। प्राकृत बोली में इनकी रूपावली नियमानुसार चलती है। इसके साथ साथ इनकी रूपावली बहुत अधिक ए वर्ग की भाँति भी चलती है। इस नियम से : महा० और जै०महा० में **धरइ** और **धरेमि, धरेइ** और **धरेन्ति** रूप मिलते हैं, वर्तमानकालिक अंशक्रिया में **धरन्त** और **धरेन्त** आये हैं (गउड०, हाल ; रावण० ; एर्त्से०) ; शौर० में **धरामि** = म्रियेॆ हैं (उत्तररा० ८३, ९) ; अप० में **धरइ** (हेच० ४, ३३४ ; ४३८, ३) और **धरेइ** रूप पाये जाते हे (हेच० ४, ३३६), **धरहिँ** भी चलता है (हेच० ४, ३८२), आज्ञावाचक में **धरहि** मिलता है (हेच० ४, ४२१ ; पिंगल १, १४९)। — महा० में **ओसरइ** = **अपसरति** है, **ओसरन्त** = **अपसरत्** और **ओसरिअ** = **अपसृत** है (गउड० ; हाल ; रावण०), आज्ञावाचक में **ओसर** और **ओसरसु** रूप चलते हैं (हाल) ; जै०महा० में **ओसरइ** आया है (एर्त्से० ३७, ३०) ; माग० में **ओश लदि** हो जाता है (मृच्छ० ११५, २३), **ओशलिअ** = **अपसृत्य** है (मृच्छ० १२९, ८) ; जै०महा० और शौर० में आज्ञावाचक रूप **ओसर** = **अपसर** है (एर्त्से० ७१, ३१ ; विक्र० १०, १२)। यह रूप माग० में **ओशल** हो जाता है (प्रबोध० ५८, २ ; मद्रासी संस्करण ७३, ६ के अनुसार यही रूप शुद्ध है), **ओसरम्ह** भी मिलता है (उत्तररा० ६६, ७), जै०महा० में **ओसरह** = **अपसरत** है (कालका० २६९, ६ ; दो, ५०७, १), माग० में आज्ञावाचक रूप **ओशलध** है (§ ४७१) ; महा० में **समोसरइ, समोसरन्त** आदि आदि रूप हैं (गउड० ; हाल ; रावण०), अ०माग० में आज्ञावाचक रूप **समोसरह** है (नायाध० १२३३ और १२३५) ; शौर० में **णिसरदि** आया है (धूर्त० ८, ६) ; महा० और अ०माग० में **पसरइ** का प्रचलन है (रावण० ; विवाह० ९०९), शौर० में यह **पसरदि** हो जाता है (शकु० ३१, १०), माग० में **पशलदि** रूप देखा जाता है (मृच्छ० १०, १५), ढक्की में आज्ञा वाचक रूप **पसलु** है (मृच्छ० ३२, १६), ढक्की में **अणुसलेम्ह** रूप भी आया है (§ ४७२)। इसके साथ साथ शौर० में **अणुसरम्ह** मिलता है (विद्ध० १०५, ५)।

§ २३५ की तुलना कीजिए। — महा० और जै०महा० में **मरामि** = म्रिये है, **मरइ** और **मरन्ति** रूप भी मिलते हैं। आज्ञावाचक में **मर**, **मरसु** तथा **मरउ** रूप आये हैं। वर्तमानकालिक अंशक्रिया में **मरन्त** है (हाल , एर्त्से०) ; अ०माग० में **मरइ** मिलता है (सूय० ६३५ , उत्तर० २१४ , विवाह० ३६३ और उसके बाद), **मरन्ति** भी है (उत्तर० १०९९ और उसके बाद ; विवाह० १४३४), **मरमाण** पाया जाता है (विवाह० ११८५) , शौर० में **मरदि** रूप मिलता है (मृच्छ० ७२, २२ , यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) , माग० में **मलामि** है (मृच्छ० ११८, १३), इस बोली में **मलेदु** और **मलेन्ति** रूप भी आये हैं (मृच्छ० ११४, २१ , ११८, १२) , अप० में **मरइ** और **मरहि** हैं (हेच० ४, ३६८ , ४२०, ५)। महा० में **मरिज्जउ** = **म्रियताम्** है (हाल ९५०) जो कर्मवाच्य के अर्थ में काम में आया है। अ०माग० में सामान्य क्रिया का रूप **मरिज्जिउं** है (दस० ६२४, ४० , § ५८० की तुलना कीजिए), यह कर्तृवाच्य के अर्थ में आया है। अ०माग० में **मिज्जइ** और **मिज्जन्ति** रूप आये हैं (सूय० २७५ , ३२८ ; ३३३ , ५४० ; ५४४) । टीकाकारों ने ठीक ही इन्हें = **मीयते** और **मीयन्ते** के बताया है। — जै०महा० में **वरसु** = वृणुष्व है (सगर १, १५)। — महा० और जै०महा० में **हरइ** मिलता है (गउड० , हाल , रावण० , एर्त्से०), जै०शौर० में **हरदि** है (कत्तिगे ४००, ३३६), महा० में **हरेमि** भी पाया जाता है (हाल ७०५), अ०माग० में इच्छावाचक रूप **हरेज्जाइ** आया है (नायाध० ९१५ और ९१८), माग० में **हलामि** और **हलदि** रूप हैं (मृच्छ० ११, ८ , ३०, २१ और २४) , सभी प्राकृत बोलियों में यह क्रिया सन्धि में बहुत अधिक दिखाई देती है जैसे, महा० में **अहिहरइ** और **पहरइ** रूप हैं (गउड०), जै०महा० में **परिहरामि** है (कालका० २७२, १६), अ०माग० **साहरन्ति** = संहरन्ति है (ठाणग० १५५), **पडिसाहरइ** = प्रतिसंहरन्ति है (विवाह० २३९), **विहरइ** रूप भी मिलता है (कप्प० , उवास० आदि आदि), शौर० में **उवहर** और **उवहरन्तु** रूप आये हैं (शकु० १८, ३ , ४०, ९), **अवहरदि** = अपहरति है (मृच्छ० ४५, २४), माग० में **पलिहलामि** = परिहरामि है (मृच्छ० १२५, १०), **शमुदाहलामि** रूप भी आया है (मृच्छ० १२९, २), **विहलेदि** = विहरति भी है (मृच्छ० ४०, ९), अप० में **अणुहरहिं** और **अणुहरइ** रूप हैं (हेच० ४, ३६७, ४ , ४१८, ८)। — महा० में **तरइ** है (गउड० , हाल) , अ०माग० में **तरन्ति** मिलता है (उत्तर० ५६७), **उत्तरइ** आया है (नायाध० १०६०) और **पच्चुत्तरइ** भी है (विवाह० ९०९) , शौर० में **ओदरदि** = अवतरति है (मृच्छ० ४४, १९ , १०८, २१ , मालती० २६५, ६), आज्ञावाचक में **ओदरम्ह** = अवतराम है (मालती० १००, ३ , प्रिय० १२, ४) , माग० में आज्ञावाचक रूप **ओदल** = अवतर है (मृच्छ० १२२, १४ , १५ और १६), क्त्वा वाला रूप **ओदलिअ** (मृच्छ० १२२, ११) = शौर० रूप **ओदरिय** है (विक्र० २३, १७) , अप० में **उत्तरइ** आया है (हेच० ४, ३३९)। — कृ संस्कृत के अनुसार ही **किरति** रूप बनाता है, महा० **उक्किरइ** आया है (हाल ११९) और **किरन्त**– भी मिलता है (गउड० , रावण०)।

§ ४७८—हेमचन्द्र ४, ७४ के अनुसार **स्मृ** का प्राकृत में **सरइ** बनता है और इस नियम से जै०महा० में **सरामि** पाया जाता है (आव०एर्त्सें० ४१, २०), अ०माग० पद्य में **सरई** रूप मिलता है (उत्तर० २७७), जै०महा० में **सरइ** आया है (आव० ४७, २७), गद्य में **सरसु** भी आया है (आव०एर्त्सें० ७, ३४)। सभी प्राकृत बोलियों में इसका साधारण रूप जिसका विधान वररुचि ने १२, १७ और मार्कण्डेय ने पन्ना ७२ मे किया है तथा शौर० के लिए जिस रूप का विशेष विधान है, वह है **सुमर-** जो **स्मर-** के स्थान मे आया है। इसमें अंशस्वर है (वर० ८, १८ ; हेच० ४, ७४ , क्रम० ४, ४९ ; मार्क० पन्ना ५३)। इसके साथ-साथ गद्य मे बहुत अधिक **ए-** वर्ग **सुमरे-** मिलता है। इस नियम से महा० में **सुमरामि** आया है (रावण० ४, २० [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; २२); जै०महा० में **क्त्वा-** वाले रूप **सुमरिऊण** तथा **सुमरिय** हैं, कर्मवाच्य की भूतकालिक अंशक्रिया में **सुमरिय** [=स्मृतः **क्त्वा-** वाला रूप =**स्मृत्वा** है। —अनु०] चलता है (एर्त्सें०) ; अ०माग० मे आज्ञावाचक रूप **सुमरह** है (विवाह० २३४) ; शौर० में **सुमरामि** आया है (मृच्छ० १३४, १५ ; उत्तररा० ११८, १), **सुमरसि** भी मिलता है (उत्तररा० १२६, ६), शुद्ध रूप में प्रतिपादित **सुमरेसि** है (मृच्छ० ६६, १५ और १८ ; १०३, २० , १०४, १० , १०५, १५ ; विक्र० २३, ९),जैसा कि **सुमरेदि** है (शकु० ७०, ७ , १६७, ८ , मालती० १८४, ४ ; विद्ध० १२५, ११) और आज्ञावाचक में **सुमरेहि** आया है (रत्ना० ३१७, १७), **सुमरेसु** मिलता है (विक्र० १३, ४), **सुमरेध** चलता है (शकु० ५२, १६), **सुमर** भी काम में आता है (मालती० २५१, २ , सभी पाठों में यही है) तथा अप० में **सुवॅरहि** पाया जाता है (हेच० ४, ३८७), इच्छावाचक मे **सुमरि**=**स्मरेः** है (हेच० ४, ३८७, १,) , शौर० में **सुमरामो** आया है (मालती० ११३, ९) , माग० म **शुमलामि**, **शुमलेशि** और **शुमलेदि** रूप मिलते हैं (मृच्छ० ११५, २३ , १२७, २५ , १३४, १३), आज्ञावाचक में **शुमल** और **शुमलेहि** रूप आये है (मृच्छ० १२८, २० , १६८, ११ , १७०, ८) ; कर्मवाच्य की भूतकालिक अंशक्रिया शौर० मे **सुमरिद** है (मालती० २४९, ६ , प्रबोध० ४१, ७), माग० में यह **शुमलिद** हो जाता है (मृच्छ० १३६, १९) , शौर० में कर्तव्यवाचक अंशक्रिया **सुमरिदव्व** है तथा इसका माग० रूप **शुमलिदव्व** है (मृच्छ० १७०, ९)। हेमचन्द्र ४, ७५ में बताता है कि **वि** उपसर्ग लगकर इसका रूप **विम्हरइ** और **वीसरइ** हो जाते हैं, *जिनमें से महा० मे* **वीसरिअ**=**विस्मृत** *आया है* (हाल ३६१ , शकु० ९६, २), जै०महा० में **विस्सरिय** पाया जाता है (आव०एर्त्सें० ७, ३४) , जै०शौर० मे **वीसरिद** है (कत्तिगे० ४००, ३३९ , पाठ में **वीसरिय** है)। मार्कण्डेय पन्ना ५४ में **वीसरइ**, **विसुरइ** और **विसरइ** रूप बताता है। यह महा० **विसरिअ** (रावण० ११, ५८) और भारतीय नवीन आर्यभाषाओं में पाया जाता है[1]। शौर० और माग० मे वही वर्ग है जो दूसरे में है ; उदाहरणार्थ, शौर० में **विसुमरामि** रूप आया है (शकु० १२६, ८), **विसुमरेसि** भी है (विक्र० ४९, १) , माग० मे **विशुमलेदि** मिलता है (मृच्छ० ३७, १२)। विक्रमोर्वशी ८३, २० में

विम्हरिद म्हि आया है जो सभी हस्तलिपियों के विरुद्ध है और बौ`ल्लें`नसेन ने भूल से इसे पाठ में रख दिया है ; बंबइया संस्करण पेज १३३, ९ में शुद्ध रूप **विसुमरिद म्हि**[1] दिया गया है जैसा कि शकुन्तला १४, २ में **विसुमरिद** और वृषभानुजा १४, ६ में भी यही मिलता है। **भरइ** पर § ३१३ देखिए।

१. हेमचन्द्र ४, ७५ पर पिशल की टीका। — २. यह रूप बोएटलिंक ने शकुन्तला ५९, १० में भूल से दिया है। यहाँ पर बंबइया संस्करण १८८३, पेज ६४, ११ के अनुसार कम से कम **विम्हरिओ** होना चाहिए।

§ ४७९—जिन धातुओं के अन्त में **ऐ** रहता है उसकी रूपावली नियमित रूप से संस्कृत की भाँति चलती है (वर० ८, २१ ; २५ और २६ , हेच० ४, ६ ; क्रम० ४, ६५ और ७५) : महा० में **गाअन्ति** रूप है (कालेयक० ३, ८ ; बाल० १८१, ६), **उग्गाअन्ति** = **उद्गायन्ति** है (धूर्त० ४, १४), **गाअन्त-** भी मिलता है (कर्पूर० २३, ४) , जै०महा० मे **गायइ** है (आव०एर्त्से० ८, २९), **गायन्ति** भी मिलता है (द्वार० ४९६, ३६), **गायन्तेहिं** और **गाइउं** रूप भी चलते हैं (एर्त्से० १, २९ , २, २०) ; अ०माग० में **गायन्ति** है (जीवा० ५९३ , राय० ९६ और १८१), **गायन्ता** भी आया है (ओव० § ४९, पाँच) तथा **गायमाणे** भी पाया जाता है (विवाह० १२५३) , शौर० में **गाआमि** मिलता है (मुद्रा० ३५, १), **गाअदि** आया है (नागा० ९, ६), **गाअध** देखा जाता है (विद्ध० १२, ४), आज्ञावाचक रूप भी पाया जाता है जो **ए** वर्ग का है = **गाएध** है (विद्ध० १२२, १० , १२८, ४), **गाअन्तेण** और **गाअन्तो** रूप भी हैं (मृच्छ० ४४, २ और ४) ; माग० में **गाए** और **गाइदं** रूप मिलते हैं (मृच्छ० ७९, १४ ; ११७, ४)। —शौर० में **परित्ताअदि** = **परित्रायते** है (मृच्छ० १२८, ७), **परित्ताअसु** भी आया है (महावीर० ३०, १९ , बाल० १७३, १० , विद्ध० ८५, ५), **परित्ताआहि** पाया जाता है (उत्तररा० ६३, १२), **परित्ताअदु** भी देखा जाता है (रत्ना० ३२५, ९ और ३२) तथा **परित्ताअध** भी भी चलता है (शकु० १६, १० , १७, ६ , विक्र० ३, १७ , ५, २ , मालती० १३०, ३) , माग० मे **पलित्ताअध** और **पलित्ताअदु** रूप आये हैं (मृच्छ० ३२, २५ ; १२८, ६)। — जै०महा० मे **झायसि** = **ध्यायसि** है (एर्त्से० ८५, २३), **झायमाणी** रूप भी आया है (एर्त्से० ११, १९) , अ०माग० में **झियायामि**, **झियायसि**, **झियायइ**, **झियायह** और **झियायमाण** रूप आये हैं (नायाध०) , महा० में **णिज्झाअइ** = **निर्ध्यायति** है (हाल ७३ और ४१३) ; शौर० में **णिज्झाअदि** हो जाता है (मृच्छ० ५९, २४ और ८९, ४ , मालती० २५८, ४), **णिज्झाअन्ति** भी आया है (मृच्छ० ६९, २), **णिज्झाइदो** मिलता है (मृच्छ० ९३, १५) और **णिज्झाइदा** भी देखा जाता है (विक्र० ५२, ११), **संझाअदि** काम में आया है (मृच्छ० ७३, १२)। — शौर० में **णिद्दाअदि** = **निद्रायति** है (मृच्छ० ४६, ५ और ६९, २ ; मालवि० ६५, ८)। — शौर० में **परिमिलाअदि** = **परिम्लायति** (मालती० १२०, २ ; बम्बइया संस्करण ९२, २ तथा मद्रासी संस्करण १०९, ३ के अनुसार यही पाठ पढा जाना चाहिए)। —प्राकृत में उन धातुओं की,

जिनके अन्त में आ रहता है, रूपावली चौथे गण के अनुसार भी चलती है (§ ४८७), इसके विपरीत क्रम से जिन धातुओं के अन्त में –ऐ रहता है, उनकी रूपावली भी कभी-कभी महा०, जै०महा० और अ०माग० में –आ –वाले धातुओं के अनुकरण पर चलती है : महा० में गाइ है (वर० ८, २६ ; हेम० ४, ६ ; हाल १२८ और ६९१), गाउ मिलता है (भाम० ८, २६) और गन्त– चलता है (हाल ५४७) ; जै०महा० में उग्गाइ रूप देखा जाता है (आव०एर्त्से० ८, २८) ; महा० में झाइ = महाकाव्यों के रूप ध्याति के है (वर० ८, २६ ; हेच० ४, ६ ; रावण० ६, ६१), जै०शौर० में इसका झादि हो जाता है (पव० ३८५, ६८)। इसके साथ साथ झायदि भी मिलता है (पव० ३८५, ६५ ; ४०३, ३७२) ; झाउ आया है (भाम० ८, २६) और णिज्झाइ देखा जाता है (हेच० ४, ६) ; अ०माग० में झियाइ (विवाग० २१९ ; उवास० § २८० ; नायाध० ; कप्प०), झियामि (विवाग० ११४ और २२० ; नायाध०), झियासि (विवाग० ११४) और झाइज्ज रूप मिलते हैं (यह रूप पद्य में है ; उत्तर० १४)। इसी प्रकार अ०माग० में झियाइ = क्षायति है तथा इसके साथ साथ झियायन्ति भी चलता है (§ ३२६) ; अ०माग० में गिलाइ = महाकाव्यों के रूप ग्लाति के है (आयार० २, १, ११, १ और २), इसके साथ साथ विगिलाएज्जा भी चलता है (आयार० २, २, ३, २८), महा० में निद्दाइ और मिलाइ मिलते है (हेच० ४, १२ और १८), इससे सम्बन्धित महाकाव्यों का रूप म्लान्ति है। — शौर० में बार बार परित्ताहि रूप देखने में आता है (शकु० १४५, ८ ; प्रबोध० ११, १३, उत्तररा० ६०, ४ और ५, मालती० ३५७, ११) ; माग० में यह रूप पलित्ताहि हो जाता है (मृच्छ० १७५, १९)। शौर० ग्रन्थों में अन्यत्र तथा दूसरा रूप जो इस बोली के साहित्य में प्राय. सर्वत्र ही पाया जाता है शुद्ध रूप परित्ताआहि है। पलाय– के विषय में § ५६७ देखिए।

§ ४८०—प्राचीन –स्क –गण की क्रियाओ इष्, गम् और यम् की रूपावलियाँ सभी प्राकृत बोलियों में संस्कृत की भाँति चलती हैं : इच्छइ, गच्छइ और जच्छइ। माग० रूप साम्यम्मध (§ ४८८) अ०माग० उग्गममाण (पण्णव० ४१) अपने ढंग के निराले है। हेमचन्द्र ने ४, २१५ में इनके साथ अच्छइ भी जोड़ दिया है जिसे उसने आस् और क्रमदीश्वर ने अस् (= होना) धातु का रूप बताया है, किन्तु टीकाकार इसका अनुवाद तिष्ठति करते हैं। इसके ठीक जोड के पाली रूप अच्छति को आस्कोली बताता है कि यह भविष्यत्काल का एक रूप था जो आस् धातु से निकला है। यह कभी *आस्स्यति अथवा आस्यते था[१], चाइल्डर्स[२] और पिशल[३] इसे आस् से निकला बताते हैं तथा इसका पूर्वरूप *आस्कदि देते हैं, जैसा कि आस् से निकला हेमचन्द्र ने भी बताया है। ए० म्युलर का मत है कि यह गम् से निकला है जिसके ग[४] की विच्युति हो गयी है, बाद को ट्रेंकनर और टॉर्प के साथ म्युलर का भी यह मत हो गया था कि आस्[५] से निकल कर यह उसके भूतकाल के रूप *आसीत् से व्युत्पन्न है। ए० कून के विचार से यह अस्[६] अस्पष्ट है, योहान्सोन के मत से अस्[७] के भविष्यत्काल के रूप *अस्स्यति और *अरस्यति से

निकला है। किन्तु यह ठीक ऋच्छति के समान है जो संस्कृत में चौथे गण की रूपावली के -स्क -वर्ग का है और ऋ से निकला है। इस ऋ का अर्थ है 'किसी पर गिरना', 'किसी से टकराना' तथा भारतीय व्याकरणकार इसे ऋछ् धातु बताते हैं और बोएटलिंक तथा रोट ने अपने संस्कृत जर्मन कोश में अच्छ्ं धातु लिखा है। धातुपाठ २८, १५ के कथन से निदान निकलता है इसका अर्थ 'रहना' 'खड़ा रहना' है ; उसमें बताया गया है कि यह इन्द्रियप्रलय और **मूर्तिभाव** के अर्थ में काम में आता था [धातुपाठ में दिया गया है : गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु। —अनु०]। इसकी तुलना ब्राह्मण ग्रन्थों[8] में ऋच्छति और आच्छेत के प्रयोग से की जानी चाहिए। इस क्रिया के निम्नलिखित उदाहरण मिलते हैं : महा० में अच्छसि, अच्छन्ति, अच्छउ तथा अच्छिज्जइ (गउड० ; हाल) ; जै०महा० में अच्छइ, अच्छए, अच्छामो, अच्छसु, अच्छह, अच्छन्तस्स, अच्छिउं, अच्छिय और अच्छियव्व (एर्त्से० ; द्वार० ४९८, १२ ; ५००, ९ ; ५०१, ९ ; आव०एर्त्से० १४, २५ और ३० ; २४, १७ ; २६, २८, २९, २२) ; अ०माग० में अच्छइ (आयार० १, ८, ४, ४ ; उत्तर० ९०२ और उसके बाद), अच्छाहि (आयार० २, ६, १, १० ; विवाह० ८०७ और ८१७) और अच्छेज्ज आये हैं (हेच० ३, १६० ; विवाह० ११६ ; ओव० § १८५), आव० में अच्छध है (मृच्छ० ९९, १६)[9] ; पै० में अच्छति और अच्छते मिलते हैं (हेच० ४, ३१९) ; अप० में अच्छउ रूप पाया जाता है (हेच० ४, ४०६, ३)। अच्छीअ के विषय में § ४६६ देखिए।

१. क्रिटिशे स्टुडिएन डेर स्प्राखविस्सनशाफ्ट, पेज २६५, नोटसंख्या ४९। — २. पाली कोश में अच्छति शब्द देखिए। — ३. ना० गो० वि० गे० १८७५, ६२७ और उसके बाद हेमचन्द्र ४, २१५ पर पिशल की टीका। — ४. बाइत्रैगे, पेज ३६। — ५. सिम्प्लिफाइड ग्रामर, पेज १००। — ६. ए० म्युलर, बाइत्रैगे, पेज ६६। — ७. शाहबाजगढ़ी दो, २३, कू० त्सा० ३२, ४६० नोटसंख्या २। — ८. बोएटलिंक और रोट के संस्कृत-जर्मन शब्दकोश में अच्छ्ं देखिए ; पिशल, ना० गे० वि० गो० १८९०, ५३२। योहान्सोन इस व्युत्पत्ति को अशुद्ध बताता है और स्वयं इस विषय में ग्रीक शब्द ह्रेर्खोन्तइ की ओर ध्यान देता है। — ९. वररुचि १२, १९ के विषय में, कु० बाइ० ८, १४३ और उसके बाद में पिशल का मत देखिए।

§ ४८१—प्रामाणिक संस्कृत के नियमों से भिन्न होकर क्रम् धातु, जैसा कि महाकाव्यों की संस्कृत में भी कुछ कम नहीं पाया जाता, परस्मैपद में ह्रस्व स्वर के साथ रूपावली में दिखाई देता है : महा० में कमन्त–, अक्कमसि, अक्कमन्त–, णिक्कमइ, णिक्खमइ, विणिक्कमइ, विणिक्खमइ और संकमइ रूप हैं (गउड० ; हाल) ; जै०महा० में कमइ आया है (ऋषभ० ३८), अक्कमामो भी है (एर्त्से० ३५, ३६), अइक्कमइ और अइक्कमेज्ज देखने में आते हैं (आव०एर्त्से० ४७,२३; कालका० २७१, २ और ७) ; अ०माग० में कमइ (विवाह० १२४९), अइक्कमइ (विवाह० १३६ और १३७), अइक्कमन्ति (कप्प० एस. (S) § ६३), अवक्कमइ और अवक्कमन्ति

आये हैं (विवाह० ८४५ और १२५२), अवक्कमें ज्जा (आयार० २, १, १०, ६), **निक्खमइ** और **निक्खमन्ति** भी मिलते हैं (विवाह० १४६ ; निरया० § २३; कप्प० § १९), **निक्खमें ज्जा** (आयार० २, १, १, ७ ; २, १, ९, २) तथा **निक्खममाण** देखे जाते हैं (आयार० २, २, ३, २), **पडिणिक्खमइ** और **पडिणिक्खमन्ति** रूप भी पाये जाते हैं (विवाह० १८७ और ९१६ ; नायाध० § ३४ ; पेज १४२७; ओव०; कप्प०), **पक्कमइ** (विवाह० १२४९), **वक्कमइ, वक्कमन्ति** (विवाह० १११ और ४६५ ; पण्णव० २८ ; २९ ; ४१ और ४३ ; कप्प० § १९ और ४६ बी), **विउक्कमन्ति** (विवाह० ४२५) तथा छन्दों की मात्राएं ठीक करने के लिए **कम्मई** = क्राम्यति रूप भी काम में आते हैं (उत्तर० २०९) ; शौर० में **अदिक्कमसि** मिलता है (रत्ना० २९७, २९) ; शौर० और दाक्षि० में **अवक्कमदि** आया है (मृच्छ० ९७, २४ ; १०३, १५) ; शौर० में **णिक्कमामि** (शकु० ११५, ६), **णिक्कमदि** (मृच्छ० ५१, ४ ; विक्र० १६, १), **णिक्कम** (मृच्छ० १६, १० ; शकु० ३६, १२) और **णिक्कमम्ह** रूप देखने में आते हैं (प्रिय० १७, १६ ; नागा० १८, ३ ; रत्ना० ३०६, ३०; कर्पूर० ८५, ७)। मालतीमाधव १८८, २ में **परिक्कामदि** रूप आया है जो अशुद्ध है। इसके स्थान में १८९२ के बबइया सस्करण और मद्रासी सस्करण के अनुसार **परिब्भमदि** अथवा **परिब्भमन्ति** होना चाहिए (उक्त दोनों सस्करणों मे **परिब्भमन्दि** है), उक्त ग्रन्थ के २८५, २ मे **परिक्कमेध** है ; माग० में **अदिक्कमदि** आया है (मृच्छ० ४३, १०) और **अवक्कमम्ह, णिस्कमदि** तथा **णिस्कम** रूप पाये जाते हैं (मृच्छ० २२, २ ; १३४, १ ; १६५, २२ ; १६६, २२) । § ३०२ की तुलना कीजिए ।

§ ४८२—बहुत सी क्रियाएं जिनकी रूपावलियाँ संस्कृत में पहले गण के अनुसार चलती हैं, जैसा कि स्वर बताता है, प्राकृत में छठे गण के अनुसार रूपावली चलाते है। महा० में **जिअइ** = *जीवति जो जीवति के स्थान मे आया है, **जीअन्ति, जिअउ** और **जिअन्त-** रूप आये हैं, किन्तु **जीअसि, जीवें ज्ज** और **जीअन्त-** भी चलते हैं (हेच० १, १०१ ; गउड० , हाल , रावण०) । शौर० और माग० में केवल दीर्घ स्वर आता है । इस नियम से शौर० में **जीआमि** आया है (उत्तररा० १३२, ७ ; १८३१ के कलकतिया सस्करण के पेज ८९, १ के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए), **जीवदि** मिलता है (मृच्छ० १७२, ६ और ३२५, १८), **जीआमो** पाया जाता है (मुद्रा० ३४, १०), **जीवेअं** है (मालवि० ५५, ११), **जीव** देखा जाता है (मृच्छ० १४५, ११ ; शकु० ३३, ७ , ६७, ७) तथा **जीअदु** का प्रचलन है (मृच्छ० १५४, १५) , माग० में **यीअदि, यीवशि, यीव, यीअन्त-** रूप पाये जाते हैं (मृच्छ० १२, २० , ३८, ७, १६१, १९ , १७०, ५ ; १७१, ८ और ९), **यीवेशि** रूप भी आया है (मृच्छ० ११९, २१) । — **घिसइ** = *घर्सति जो घसति = घर्षति के स्थान मे आया है (वर० ८, २८ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]; हेच० ४, २०४ , क्रम० ४, ४६ [पाठ मे **घसइ** है] ; मार्क० पन्ना० ५५) । — **जिमइ** और इसके साथ साथ **जेमइ** तथा **जिम्मइ** के विषय मे § ४८८ देखिए । — अ०माग० में **भिसन्त-** (ओव०), **भिसमीण** (नायाध०), **भिसमाण** (राय०

४७, १०५), विशेष वेगवाचक रूप **भिब्भिसमीण** और **भिब्भिसमाण** (§ ५५६), ये रूप **भिसइ** = *भासंति से जो **भासति** के स्थान में आया है, निकले हैं (§ १०९; हेच० ४, २०३)। — **उद्दिवइ** = *उद्दिपते जो उद्दे्पते के स्थान में आया है (§ २३६)। — महा० में **अल्लिअइ**, **उवल्लिअइ** तथा **समल्लिअइ** में ल का द्वित्तीकरण छठे गण की इसी रूपावली के अनुसार हुआ है। ये रूप = **आलीयते**, **उपालीयते** और **समालीयते** के हैं (§ १९६ और ४७४), अ०माग० में प्रेरणार्थक रूप **अल्लियावेइ** इसी दिशा की ओर इंगित करता है। § १९४ की तुलना कीजिए। **रुह्** में जब उपसर्ग लगाये जाते हैं तब उसकी रूपावली छठे गण के अनुसार चलती है : महा० और जै०महा० में **आरुहइ**, **समारुहइ** और **समारुहिउ** रूप मिलते हैं (गउड०; हाल ; रावण० ; एत्सें०); अ०माग० में **दुरुहइ** = **उद्रोहति** है (§ ११८ ; ओव० ; उवास०; नायाध० और बार-बार यह रूप आया है), विवाहपन्नत्ति में सर्वत्र यही रूप पाया जाता है (उदाहरणार्थ, १२४ ; ५०४ ; ५०६ ; ८२४ और उसके बाद ; ९८० ; ११२८ ; १२३१ ; १३०१ ; १३११ ; १३१७ ; १३२५ और उसके बाद) और इस ग्रन्थ में बहुधा **दुरूहइ** रूप भी आया है जो कठिनता से शुद्ध गिना जा सकता है। **दुरुहेॅज्जा** रूप भी मिलता है (आयार० २, ३, १, १३ और १४) ; जै०महा० में **दुरुहेॅत्ता** है (एत्सें०) ; अ०माग० में **पच्चोरुहइ** तथा **पच्चोरुहन्ति** मिलते हैं (ओव०; कप्प० ; नायाध० [८७० ; १३५४ ; १४५६ में भी] ; विवाह० १७३ और ९४८), **विरुहन्ति** (उत्तर० ३५६) और **आरुहइ** भी पाये जाते हैं (विवाह० १२७३) ; शौर० में **आरुहध** और **अरुह** आये हैं (मृच्छ० ४०, २४ ; ६६, १४ और १७), **आरुहदि** मिलता है (प्रसन्न० ३५, ८) और **आरुहदु** भी है (उत्तररा० ३२, ६ और ७) ; माग० में **आलुह** आया है (नागा० ६८, ३) और **आलुहदु**, **अहिलुह**, तथा **अहिलुहदु** देखे जाते हैं (मृच्छ० ९९, ८ ; ११९, ३ ; ६ ; ९ ; ११ ; १३)। इसकी असयुक्त दशा में रूपावली यों चलती है : महा० और जै०महा० में **रोहन्ति** मिलता है (गउड० ७२७ ; द्वार० ५०३, ७) और इसी प्रकार **आरोहदु** भी आया है (शकु० ३९, १२ ; ९७, १८, विक्र० ३९, २)। — **धौ** (= धोना) का रूप हेमचन्द्र ४, २३८ के अनुसार **धावइ** = संस्कृत **धावति** होता है। किन्तु महा० में इसकी रूपावली छठे गण के अनुसार चलती है : **धुवसि** रूप मिलता है (हेच० २, ११६ = हाल ३६९), **धुअसि** है (हाल), **धुवइ** (हेच० ४, २३८) और **धुअइ** भी आये हैं (हाल), **धुवन्त**– भी है (रावण०)। इन रूपों से एक नये धातु **धुव्** का आविष्कार हुआ जो गौण की भाँति पहले गण के अनुसार रूप धारण करता है अर्थात् इसकी रूपावली रु और **स्तम्** की भाँति चलती है (§ ४७३ और ४९७) ; अ०माग० में **धोवसि**, **धोवइ** (निरया० ७७ ; सूय० ३४४) आये हैं ; ए– वाली रूपावली के अनुसार **धोवेइ** भी होता है (निरया० ७६ और ७७ ; नायाध० १२१९; १२२० और १५०१), **पच्चोवेॅन्ति** भी मिलता है (आयार० २, २, ३, १०) ; जै० महा० में **धोवन्ति** है (आव०एर्त्से० २५, २२) ; शौर० में **धोअदि** है (मृच्छ ७०, ९०), सामान्य क्रिया का रूप **धोइदुं** मिलता है (मृच्छ० ७०, १०), माग० में

धोवेहि तथा भविष्यत्काल में **धोइस्सं** है (मृच्छ० ४५, ७ और २०)। इसी प्रकार पाली में **धोवति** है। — **हिवइ** रूप जिसे हेच० ४, २३८ में **हुवइ** के पास ही रखता है सिंहराजगणिन् पन्ना ४७ में इसका सम्बन्ध **भू** से बताता है। — साधारण रूप **सीअइ**, जै०महा० और अ०माग० **सीयइ**, शौर० **सीददि** और माग० **शीददि** = **सीदति** के साथ साथ हेच० ४, २१९ के अनुसार **सडइ** रूप भी काम में आता था (हेच० ४, २१९ पर पिशल की टीका)। **पसिअ** के विषय में § ८० देखिए और **भण्** के सम्बन्ध में § ५१४ देखिए।

§ ४८३— **घ्रा, पा** और **स्था** वर्तमानकाल का रूप संस्कृत की भाँति ही द्वितीयकरण करते बनाते हैं : **आइग्घइ** = **आजिघ्रति** है (हेच०, ४१३), **जिग्घिअ** = **घ्रात** है (देशी० ३, ४६)। — महा० में **पिअइ, पिअन्ति, पिअउ** और **पिअन्तु** रूप मिलते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०), **पिवइ** भी है (नागा० ४१, ५) और **पिआमो** पाया जाता है (कर्पूर० २४, ९ = कालेयक० १६, १७; यहाँ **पिवामो** पाठ है) ; जै०महा० में **पियइ** आया है (आव०एर्त्सें० ३०, ३६ ; ४२, १२, १८ ; २०; २८ ; ३७), **पियह** = **पिवत** है (द्वार० ४९६, ३५), **पिएइ** भी मिलता है (एर्त्सें० ६९, १) ; अ०माग० में **पियइ** है (विवाह० १२५६), **पिय** आया है (नायाध० १३३२), **पिए** मिलता है (दस० ६३८, २६), **पिएँज्जा** (आयार० २, १, १, २) और **पियमाणे** भी देखे जाते है (विवाह० १२५३) ; शौर० में **पिवदि** रूप है (विद्ध० १२४, ४), **पिअन्ति** आया है (मृच्छ० ७१, १), **पिवदु** (शकु० १०५, १३) और **आपिवन्ति** भी मिलते हैं (मृच्छ० ५९, २४) ; माग० में **पिवामि, पिवाहि** और **पिवम्ह** हैं (वेणी० ३३, ४ ; ३४, २ और १५ ; ३५, २२), **पिअन्ति** (मृच्छ० ११३, २१) और **पिव** भी आये हैं (प्रबोध० ६०, ९) ; अप० में **पिअइ, पिअन्ति** और **पिअहु** रूप आये हैं (हेच० ४, ४१९, १ और ६ ; ४२२, २०)। — **पिज्जइ** के विषय में § ५३९ देखिए। **स्था** का महा०, अ०माग० और जै०महा० में **चिट्ठइ** होता है (हेच० ४, १६ ; हाल ; आयार० १, २, ३, ५ और ६ ; १, ५, ५, १ ; सूय० ३१० और ६१३ ; नायाध० ; कप्प० ; एर्त्सें० ; कालका०) ; जै०महा० में **चिट्ठए** पाया जाता है (आव०एर्त्सें० ३६, २६ ; कालका०); अ०माग में **चिट्ठन्ति** पाया जाता है (सूय० २७४ ; २८२ ; २९१ ; ६१२ और उसके बाद ; कप्प०), **चिट्ठन्ते** है (आयार० १, ८, ४, १०), **चिट्ठेँज्जा** (आयार० २, १, ४, ३ [पाठ में अशुद्ध रूप **चेट्ठेँज्जा** है] ; २, १, ५, ६ ; ६, २ ; २, ३, २, ६ ; विवाह० ११६ और ९२५) आया है, **चिट्ठे** (आयार० १, ७, ८, १६), **चिट्ठं** और **अचिट्ठं** भी मिलते है (आयार० १, ४, २, २) ; महा० में **चिट्ठउ** है (हाल) ; जै०महा० में **चिट्ठह** आया है (कालका०) ; अ०-माग० में सामान्य क्रिया का रूप **चिट्ठित्तए** (विवाह० ५१३ और ११११), इसके साथ साथ दूसरा रूप **ठाइत्तए** भी काम मे आता है (आयार० २, ८, १, २) और कर्तव्यवाचक अशक्रिया **चिट्ठियव्व** है (विवाह० १६२); अ०माग० में **अचिट्ठामो** (सूय० ७३४) और **परिचिचिट्ठइ** रूप आये है (आयार० १,४,२,२), सज्ञा में इसका

रूप मिलता है, सचिट्ठण = अवस्थान [?—अनु०] (विवाह० ८८ और उसके बाद)। जब कि महा० में चिट्ठइ रूप इतना विरल है कि वर०, क्रम० और मार्क० महा० के लिए इसका उल्लेख करते ही नहीं, चिट्ठदि अपवादहीन एकमात्र रूप है (वर० १२, १६, क्रम० ५, ८१ [पाठ में चिट्ठदि है], मार्क० पन्ना ७१, मृच्छ० २७, ४, ४८, २३, ५४, ४ और १०, ५७, ३, ५०, २३, ७२, १० आदि आदि, शकु० ३४, ३, ७१, ११, १५५, १०, विक्र० १०, १२ और १४—२४, ६, ४१, १ और सर्वत्र ही बहुत पाया जाता है), चिट्ठामि आया है (मृच्छ० ६, ८, विक्र० ३३, ४), चिट्ठ है (मृच्छ० ६८, ५, शकु० १२, ४, विक्र० २२, ५), चिट्ठम्ह (प्रिय० १७, ४, मालती० १५५, ५) तथा चिट्ठध भी मिलते हैं (मालती० २४७, ४) और यह क्रिया उपसर्गों के साथ बहुत अधिक काम में आती है जैसे, अणुचिट्ठादि (मृच्छ० १५१, १६, १५५, ५, विक्र० ४१, ६), अणुचिट्ठामि (प्रबोध० ६१,३), अणुचिट्ठ (विक्र० ८३, १), अणुचिट्ठिद (मृच्छ० ५४, २, ६३, १५, विक्र० ८०, १५) और अणुचिट्ठीअदु आदि आदि रूप पाये जाते हैं (मृच्छ० ३, ७, शकु० १, ९, प्रबोध० ३, ५)। आव० में भी ऐसा ही है, चिट्ठ रूप आया है (मृच्छ० ९९, १८), दाक्षि० में चिट्ठउ (मृच्छ० १०४,२) और अणुचिट्ठिदु रूप आये हैं (मृच्छ० १०२, १९), अप० में चिट्ठदि मिलता है (हेच० ४, ३६०)। माग० में भी वर० ११, १४, हेच० ४, २९८, क्रम० ५, ९५ [पाठ में चिट्ठ० है], मार्क० पन्ना ७५ [हस्तलिपि में चिट्टीआ है] के अनुसार चिश्टदि रूप है तथा हस्तलिपियाँ इस ओर संकेत करती है (§ ३०३)। क्रम० ५, ९६ के अनुसार पै० में भी वही रूप है जो माग० में। २१६ और २१७ की तुलना कीजिए। जैसे अन्त में –आ– वाली सभी धातुओं का होता है उसी प्रकार घ्रा और स्था की भी, महा०, जै०महा० और अ० माग० में द्वितीय और चतुर्थ गण के अनुसार रूपावली चलती है महा० और अ० माग० में अग्घाइ महाराष्ट्र के संस्कृत के रूप आघ्राति के (हाल ६४१, नायाध० § ८२, पण्णव० ४२९ और ४३०), महा० में अग्घाअन्त– = आजिघ्रत् है (हाल ५६६, रावण० १३, ८२), अ०माग० में अग्घायइ रूप आया है (आयार० पेज १३६, १७ और २२), इच्छावाचक रूप अग्घाइज्ज मिलता है (नन्दी० ३६३), अ०माग० में अग्घायइ और अग्घायमाण भी पाये जाते है (नायाध० § ८३ और १०४), महा० और जै०महा० में ठाइ = *स्थाति है (वर० ८,२६, हेच० ४,१६, क्रम० ७, ४, ७५, हाल, रावण०, एत्सें०, आव०एर्त्सें० ४१, ८), महा० में णिट्ठाइ (हाल) और संठाइ रूप भी आये हैं (हाल, रावण०), जै०महा० में ठाइ है (आव०एर्सें० २७, २७), अप० में ठन्ति है (हेच० ४, ३९५, ५), अ०माग० में ठाएज्जा आया है (आयार० १, ५, ४, ५), अब्भुट्ठन्ति = अभ्युत्तिष्ठति है (सूय० ७३४), जै०महा० में ठायन्ति है (ऋषभ० २७) जो ठाअन्ति के जोड़ का है। ठाअइ और ठाअउ रूप भी वर० ८,२५ और २६ और क्रम० ४, ७५ और ७६ में मिलते हैं (§ ४८७)। अ– रूपावली के अनुकरण पर उद् के अनन्तर स्वर ह्रस्व हो जाता है। इस नियम से उट्ठइ रूप आया है (हेच० ४, १७),

जै०महा० में उट्ठह आया है (एर्त्सें० ५९, ३०) ; अप० में उट्ठइ मिलता है (पिंगल १, १३७ अ)। साधारणतः ए- वाली रूपावली काम में लायी जाती है : अ०माग० में उट्ठेइ आया है (विवाह० १६१ ; १२४६ ; उवास० § १९३), अब्भुट्ठेइ भी मिलता है (कप्प०) ; जै०महा० में उट्ठेमि (आव०एर्त्सें० ४१, १९), उट्ठेइ (द्वार० ५०३, ३२.), उट्ठेहि (एर्त्सें० ४२, ३) और समुट्ठेहि (द्वार० ५०३, २७ और ३१) रूप है। शौर० में उट्ठेहि (मृच्छ० ४, १४ ; १८, २२ ; ५१, ५ और ११ ; नागा० ८६, १० ; ९५, १८ ; प्रिय० २६, ६ ; ३७, ९ ; ४६, २४ ; ५३, ६ और ९), उत्तेहि (विक्र० ३३, १५), उत्तेदु (मृच्छ० ९३, ५ ; शकु० १६२, १२) और उट्ठेध रूप पाये जाते हैं ; माग० में उट्ठेहि, उट्ठेदु और उट्ठेदि आये हैं तथा उट्ठत्त भी पाया जाता है (मृच्छ० २०, २१ ; १३४, १९; १६९, ५)। § ३०९ की तुलना कीजिए।

§ ४८४—हेमचन्द्र १, २१८ के अनुसार दंश् का रूप डसइ होता है (§ २२२) जो संस्कृत रूप दशति से मिलता है। इस नियम से जै०महा० में डसइ मिलता है (आव०एर्त्सें० ४२, १३) ; अ०माग० में दसमाणे और दसन्तु रूप पाये जाते हैं (आयार० १, ८, ३, ४)। शौर० में अनुनासिक रह गया है और दंसदि काम में आता है (शकु० १६०, १), वर्तमानकाल के रूप से जो कर्मवाच्य की भूतकालिक अंशक्रिया बनी है उसका रूप दंसिदो है (मालवि० ५४, ६)। — अ०माग० मूल धातु में लभ् धातु में अनुनासिक दिखाई देता है। इस बोली में लम्भामि आया है (उत्तर० १०३) तथा शौर० और माग० में भविष्यत्काल और कर्मवाच्य में भी अनुनासिक आता है (§ ५२५ और ५४१)। खाइ = खादति (यह रूप क्रम० ४, ७७ में भी है) और धाइ = धावति के लिए § १६५ देखिए।

§ ४८५—छठे गण की क्रियाओं में जो वर्तमानकाल में अनुनासिक ग्रहण करती हैं, लिप्, लुप्, विद् और सिच् की रूपावली ठीक संस्कृत की भाँति चलती है। लिप् के साथ सम्बन्धित अलिंपइ = आलिम्पति (§ १९६ ; हेच० ४,३९) पाया जाता है। इनमें अ- वर्ग के साथ ए- वर्ग भी काम में लाया जा सकता है, जैसा कि शौर० में सिञ्चम्ह और सिञ्चदि (शकु० १०, ३ ; १५, ३) के साथ साथ सिञ्चेदि भी आया है, (शकु० ७४, ९)। सिच् का रूप सेअइ = *सेचति भी बनता है (हेच० ४, ९६)। मुच् धातु में महा०, जै०महा० और अ०माग० में अधिकांश में किसी प्रकार का अनुनासिक नहीं आता (हेच० ४, ९१) : महा० में मुअसि, मुअइ, मुअन्ति, मुअ, मुअसु और मुअन्त- रूप मिलते हैं (गउड० ; हाल ; रावण० ; शकु० ८५, ३), आमुअइ रूप भी आया है (गउड०) ; जै०महा० में मुयइ (आव०एर्त्सें० १७, ४ ; एर्त्सें० ५२, ८), मुयसु (कालका० २६२, १९) और मुयन्तो रूप आये हैं (एर्त्सें० २३, ३४, यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) ; अ०-माग० में मुयइ है (विवाह० १०४ और ५०८), ओमुयइ मिलता है (आयार० २, १५, २२ ; विवाह० ७९६, ८३५, १२०८ ; १३१७, कप्प०), मुयन्तेसु = मुञ्चत्सु है (नायाध० § ६२ और ६३), विणिम्मुयमाण और मुयमाण देखे

जाते हैं (विवाह० २५४), विणिम्मुयमाणी = विनिर्मुञ्चमाणा है (विवाह० ८२२)। इसी नियम से जै०शौर० में भी मुयदि पाया जाता है (कत्तिगे० ४०३, ३८३)। महा० और जै०महा० में अनुनासिकयुक्त वर्ग भी विरल नहीं है : महा० में मुञ्चइ है (हाल ६१४ ; रावण० ३, ३० ; ४, ९ ; ७, ४९ ; १२, १४), मुञ्चन्ति भी आया है (गउड० २५८), मुञ्चद मिलता है (रावण० १५, ८ ; कर्पूर० १२, ६), मुञ्चन्तो भी है (कर्पूर० ६७, ६ ; ८६, १०) ; जै०महा० में मुञ्च, मुञ्चसु, मुञ्चह (एर्से०), मुञ्च और मुञ्चन्ति रूप मिलते हैं (कालका० २६१, १२ ; २७२, ७) ; शौर० तथा माग० में एकमात्र अनुनासिकयुक्त रूप ही काम में आता है : शौर० में मुञ्चदि (मुद्रा० १४९, ६), मुञ्च (मृच्छ० १७५, २१ ; शकु० ६०, १४ ; रत्ना० ३१६, ४ ; नागा० ३६, ४ ; ३८, ८), मुञ्चदु (विक्र० ३०, २) और मुञ्चध रूप पाये जाते हैं (मृच्छ० १५४, १६ ; १६१, १८) ; माग० में मुञ्चदु, मुञ्चन्ति (मृच्छ० ३१, १८ और २१ ; १६८, १९) तथा मुञ्च आये हैं (प्रबोध० ५०, ६)। ए- वर्ग भी विरल नहीं है : महा० में मुञ्चेसि मिलता है (हाल ९२८) ; शौर० में मुञ्चेदि, मुञ्चेसि (शकु० ५१, ६ ; १५४, १२), मुञ्चेध (मृच्छ० १६१, २५ ; शकु० ११६, ७) और मुञ्चेहि रूप आये हैं (मृच्छ० ३२६, १० ; वृषभ० २०,१५ ; ५९, १२)। — कृत् (= कतरना ; काटना) धातु का अ०माग० में कत्तइ रूप बनता है (सूय० ३६०), जनता की बोली में ओअन्दइ = अपकृन्तति है (हेच० ४, १२५ = आच्छिनत्ति ; § २७५ की तुलना कीजिए)। अ०माग० में इस धातु की रूपावली उपसर्ग वि से संयुक्त होकर अनुनासिक के साथ चौथे गण में चली गयी है : विगिञ्चइ = *विकृन्त्यति है तथा विगिञ्चमाणे रूप भी मिलता है (आयार० १, ३, ४, ३ ; १, ६, २, ४), विगिञ्च भी आया है (आयार० १, ३, २, १ ; उत्तर० १७०), विगिञ्चे ज्ञ भी है (आयार० २, ३, २, ६) ; त्वा- वाला रूप विगिञ्च है (सूय० ५०० और ५०६)। § २७१ में किञ्चि और § ५०७ में णिरञ्छइ की तुलना कीजिए।

§ ४८६—स्पृश् अ०माग० में नियमित रूप से फुसइ = स्पृशति बनता है, फुसन्ति = स्पृशन्ति है, फुसन्तु = स्पृशन्तु तथा फुसमाणे = स्पृशमानः हैं (आयार० १, ६, १, २, ३, २ ; ५, १ ; १, ७, ७, १ ; विवाह० ९७ ; ९८ ; ३५४ ; ३५५ और १२८८ ; ओव०)। इससे ठीक समान रूपवाले फुसइ और फुसइ हैं (= पोंछना : हेच० ४,१०५ ; गउड०, हाल ; रावण०) और दूसरा फुम्मइ है (= भ्रमण करना ; हेच० ४, १६१)[१]। हेमचन्द्र ने ४, १८२ में *फामइ, फंसइ और फरिसइ का उल्लेख करता है, जिनसे पता चलता है कि कभी स्पृशति का रूप *स्पर्शति भी रहा होगा। फासइ अ०माग० रूप संफासे = *संस्पर्शेत् = संस्पृशेत में आया है (आयार० २, १, ३, २ ; ५, ५ ; ९, २, ४ ; ५ और ६ ; १०, २ और ३ ; २, ३, २, १२)। फरिसइ उसी प्रकार बनाया गया है जैसे, फरिसइ = कर्षति, मरिसइ = मर्षति, वरिसइ = वर्षति और हरिसइ = हर्षति बनाये गये हैं (वर० ८, ११ ; हेच० ४, २३५ ; क्रम० ४, ७२)[२]। पुंसइ (= पोंछना :

हेच० ४, १०५) भी इसी प्रकार की रूपावली की सूचना देता है। उप्पुंसिअ और ओप्पुंसिअ रूप मिलते हैं (गउड० ५७ और ७७८ ; इनके साथ साथ ७२३ में ओप्पुसिअ भी है), इस धातु का एक रूप उत्पुंसय- संस्कृत में भी घुस गया है[1]। — त्रुट्, तुट्टइ = त्रुटति के साथ साथ तुट्टइ = त्रुट्यति और तोडइ = *त्रोटति रूप बनाता है (हेच० ४, ११६), ठीक जैसे मिल् के मेल्लइ और महा० में मेल्लीण रूप हैं (§ ५६२), अ०माग० में इसका रूप मेलन्ति मिलता है (विवाह० ९५०), अप० में इसका मेलवि रूप पाया जाता है (हेच० ४, ४२९, १)। — छ और मृ के विषय में § ४७७, सृ के सम्बन्ध में § २३५ तथा फुट्टइ के लिए § ४८८ नोट संख्या ४ देखिए।

१. इसका साधारण मूल-अर्थ 'किसी पदार्थ पर फिसलना या उसकी ओर जाना है' जो अर्थ 'छूने' से बिना कठिनता के निकलता है। इसको प्रोञ्छ से व्युत्पन्न करना (वेबर, हाल में पुस् शब्द देखिए ; एस. गौल्दश्मित्त, त्सा०डे०डौ०मौ०गे० ३२, ९९) भाषाशास्त्र की दृष्टि से असम्भव है। — २. लेक्सिकोग्राफी, पेज ५८ में इसके उदाहरण हैं। इसका सानुनासिक रूप पुंसइ मौलिक नहीं है, जैसा कि एस० गौल्दश्मित्त ने त्सा०डे०डौ०मौ०गे० ३२, ९९ नोटसंख्या २ में मत दिया है किन्तु फंसइ की भाँति इसका स्पष्टीकरण § ७४ के अनुसार किया जाना चाहिए। हाल ७०६ में धन्यालोक ११५, ११ में मा पुसतु के स्थान में मा पुंस रूप देता है।

§ ४८७—चौथे गण का विस्तार प्राकृत में संस्कृत की अपेक्षा अधिक हुआ है। बहुत अधिकसंख्यक धातुओं की रूपावली, जो संस्कृत में या तो कभी नहीं अथवा इसके अनुसार बहुत कम चलते हैं[1], प्राकृत में इस गण के अनुसार चलती है। सभी धातु जिनके अन्त में अ छोड़ कोई दूसरा स्वर आता हो ऐसे वर्ग हेमचन्द्र ४, २४० के अनुसार (वर० ८,२१ और २५ तथा २६ ; क्रम० ४, ६५ ; ७५ और ७६ ; मार्क० पन्ना ५४ की तुलना कीजिए) इस रूपावली का अनुसरण कर सकता है : पाअइ = *पायति और इसके साथ साथ पाइ = पाति भी मिलता है (= बचाना ; रक्षा करना); धाअइ और धाइ = दधाति हैं ; ठाअइ तथा ठाइ और तृतीयपुरुष बहुवचन में ठाअन्ति रूप पाया जाता है, जै०महा० में ठायन्ति है और अप० में थन्ति मिलता है (§ ४८३) ; विक्केअइ और इसके साथ साथ विक्केइ = *विक्रयति[2] है ; होअ-ऊण और इसके साथ साथ होऊण जो हो वर्ग = भव से निकले हैं और जिसके रूप सिंहराजगणिन् पन्ना ४७ के अनुसार होआमि, होअसि और होअइ भी होते हैं, इसी गण के अनुसार रूपावली बनाते हैं (§ ४७६)। उक्त दो प्रकार के रूप कहीं कहीं वेद में देखने में आती है जैसे, उव्वाअइ = वैदिक उद्वायति और उव्वाइ = संस्कृत उद्वाति हैं। — जम्भाअइ और जम्भाइ, जृम्भा से क्रिया रूप में निकले हैं। इस प्रकार की नकल पर अ०माग० में जाइ (सूय० ५४० ; उत्तर० १७०) तथा इसके साथ साथ महा० में जाअइ = जायते जन् धातु से बने हैं। प्राकृत साहित्य में निम्नलिखित उदाहरण मिलते हैं : महा० में माअसि, माअइ, माअन्ति और अमाअन्त रूप पाये

जाते हैं (हाल), जै०महा० में **मायन्ति** आया है (एर्से०), शौर० में णिज्झाअन्त- मिलता है (मालती० १२१,१)। ये रूप मा के हैं जो **माति** और **मियीते** के अतिरिक्त धातुपाठ २६, ३३ के अनुसार **मायते** रूप भी बनाता है। अप० में **माइ** देखा जाता है (हेच० ४, ३५१, १)। — महा० में **वाअइ** है (रत्ना० २९३, ३), **वाअन्ति** और **वाअन्त-** भी मिलते हैं (गउड० ; रावण०), **णिव्वाअन्ति** तथा **निव्वाअन्त-** भी हैं (रावण०) तथा **परिव्वाअइ** (गउड०) और **पव्वाअइ** भी देखे जाते हैं (रावण०), शौर० में **वाअदि** आया है (शकु० ११५, २ ; अन्य रूप भी देखिए), किन्तु इसके साथ-साथ महा० में **वाइ**, **आवाइ** और **णिव्वाइ** रूप पाये जाते हैं (गउड० ; हाल), जै०शौर० में **णिव्वादि** है (पव० ३८८, ६), महा० में **वन्ति** आया है (कर्पूर० १०, २ ; इस नाटक में अन्य रूप देखिए ; धूर्त० ४, २० ; इसमें अन्य रूप भी देखिए) पर साथ साथ **वाअन्ति** भी है (कर्पूर० ११, ४)। — जै०महा० में **पडिहायइ** (आव० ३३, २८) और शौर० रूप **पडिहाअदि** = ***प्रतिभायति** = **प्रतिभाति** (बाल० १३७, ११), इसके साथ साथ **पडिहासि** (विक्र० ७, १८) और **पडिहादि** रूप भी चलते हैं (मृच्छ० ७१, २५ [पाठ में **पडिभादि** है] ; शकु० १२, ७ ; विक्र० १३, २ ; २४, २ ; नागा० ५, ९) ; शौर० में **भादि** आया है (मृच्छ० ७३, १४) और **विहादि** मिलता है (प्रबोध० ५७, २)। — शौर० में **पत्तिआअसि** = **प्रतियासि** है (§ २८१ ; मृच्छ० ८२, ३ ; रत्ना० ३०१, ७ और ३१७, ९ ; नागा० २७, ७ [यही शुद्ध है ; इसी नाटिका में अन्यत्र दूसरा रूप देखिए]), **पत्तिआअदि** मिलता है (नागा० ३०, ३ [कलकतिया संस्करण २९, ८ के अनुसार यही रूप शुद्ध है] ; प्रसन्न० ४६, १४ ; रत्ना० ३०९, २४ ; विक्र० ४१, १० [इसी नाटिका में अन्यत्र मिलनेवाले रूप के अनुसार यही रूप शुद्ध है]) ; माग० में **पत्तिआअशि** है (मृच्छ० १३०, १३), **पत्तिआअदि** (मृच्छ० १६२, २) और **पत्तिआअध** मिलते हैं (मृच्छ० १६५, ९ ; मुद्रा० २५७, ४ [कलकतिया संस्करण २१२, ९ तथा इसी नाटक में अन्यत्र मिलनेवाले रूप के अनुसार यही शुद्ध है]), **पत्तिआअन्ति** (मृच्छ० १६७, १) तथा कर्मवाच्य में **पत्तिआईअदि** भी आये हैं (मृच्छ० १६५, १३)[१]। इसके विपरीत अ०माग०, जै०महा० और महा० में पहले गण के अनुकरण पर इस धातु की रूपावली चलती है : अ०माग० में **पत्तियामि** आया है (सूय० १०१५ ; उवास० § १२ ; नायाध० § १३३ ; विवाह० १३४ ; १६१ ; ८०३), **पत्तियइ** मिलता है (विवाह० ८४५), **पत्तियन्ति** है (विवाह० ८४१ और उसके बाद), इच्छावाचक रूप **पत्तिएँज्जा** है (पण्णव०. ५७७ ; राय० २५०) और आज्ञावाचक रूप **पत्तियाहि** मिलता है (सूय० १०१६ ; विवाह० १३४), जै०महा० में **पत्तियसि** है (एर्से० ५२, २०) तथा **अपत्तिअसेण** भी आया है (तीर्थ० ६, १८) ; महा० में **पत्तिअसि** और **पत्तिअइ** पाये जाते हैं (रावण० ११, ९० ; १३, ४४) ; इसका आज्ञावाचक रूप महा० में **पत्तिअ** है (हाल), महा० में आज्ञावाचक का अशुद्ध रूप **पत्तिहि** भी मिलता है (रावण० ११, ९४ ; इसका इसी ग्रंथ में अन्यत्र शुद्ध रूप **पत्तिअ** मिलता है ; काव्यप्रकाश १९५,२; इसमें भी अन्यत्र शुद्ध रूप **पत्तिअं**

आया है) और महा० में पत्तिसु भी है जो अशुद्ध व्युत्पत्ति = प्रतीहि के आधार पर बने हैं (हाल में अन्यत्र देखिए) । शौर० में पत्तिआमि (कर्पूर० बबइया संस्करण ४२, १२) और पत्तिअसि (वर्ण० १३, ११) रूप अशुद्ध हैं ; पहले रूप के स्थान में कोनो ४०, ९ में पत्तिआमि पढता है । — ण्हाइ = स्नाति है (हेच० ४, १४); अ०माग० में सिणाइ आया है (सूय० ३४४) ; जै०महा० में ण्हामो = स्नामः (आव०एर्त्से० १७, ७) ; माग० में स्णाआमि = स्नामि है (मृच्छ० ११३, २१) । § ३१३ और ३१४ की तुलना कीजिए । अ०माग० में पच्चायन्ति (ओव० § ५६) जन् धातु से संबंधित है (लौयमान में यह शब्द देखिए), इसी भाँति आयन्ति भी मिलता है जैसा कि कप्पसुत्त § १७ में, अन्यत्र आये हुए रूप के अनुसार पढा जाना चाहिए ; प्रथमपुरुष एकवचन में इच्छावाचक रूप पयायेज्जा है (निरया० ५९), द्वितीयपुरुष एकवचन में पयायेज्जासि आया है (नायाध० ४२०) । अ०माग० जाइ = जायते के विषय में ऊपर देखिए । § ४७९ की भी तुलना कीजिए ।

१. लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज ३४३ ; पिशल वे०बाइ० १३, ९ । — २. चिक्केअइ, चिक्केय से निकला रूप माने जाने पर शुद्धतर हो जाता है (§ ५११) । — ३. इस स्थान में अन्यत्र आये हुए रूप के अनुसार पढा जाना चाहिए : यं शक्क पि ण पत्तिआईअदि । पत्तिआएदि रूप उसी भाँति अशुद्ध है जैसे, शौर० रूप पत्तियाएदि जो मृच्छकटिक ३२५, १९ में मिलता है ।

§ ४८८—जिन धातुओं के अन्त में व्यंजन आता और वह य के साथ संयुक्त होता है तो उसमें ध्वनिशिक्षा में (§ २७९–२८६) बताये गये परिवर्तन होते हैं : णच्चइ = नृत्यति , जुज्झइ = युध्यते ; तुट्टइ = त्रुट्यति , मण्णइ = मन्यते , कुप्पइ = कुप्यते , लुब्भइ = लुभ्यति और उत्तम्मति = उत्ताम्यति हैं , णस्सइ अ०माग० और जै०महा० में नासइ, महा० में णासइ = नश्यति (§ ६३) , रूसइ, तूसइ, सूसइ, दूसइ, पूसइ और सीसइ रूप मिलते हैं (भाम० ८, ४६ , हेच० ४, २३६ ; क्रम० ४, ६८), अ०माग० और जै०महा० में पासइ = पश्यति है (§ ६३) । — ए- युक्त शब्द की रूपावली के अनुसार जै०शौर० रूप तूसेदि मिलता है (कत्तिगे० ४००, ३३५) । इस वर्ग में कई धातु संस्कृत से दूर पड गये हैं और उनकी रूपावली चौथे गण के अनुसार चलती है । उदाहरणार्थ, कुक्कइ और फो`क्कइ = *कुक्यति = *कुश्यति = क्रोशति (हेच० ४, ७६)[१] , चलइ = *चल्यति = चलति (वर० ८, ५३ , हेच० ४, २३१) । इसके साथ साथ साधारण रूप चलति भी चलता है ; यह धातु संधि में भी चलता है जैसे, ओअल्लन्ति = अवचलन्ति है, ओअल्लन्त- रूप भी आया है (रावण०), पअल्लइ रूप मिलता है (हेच० ४, ७७) और परिअल्लइ भी देखा जाता है (हेच० ४, १६२) , जिम्मइ = *जिम्यति तथा इसके साथ साथ जिमइ भी चलता है, जेमइ = जेमति है (हेच० ४, २३० ; ४, ११० की तुलना कीजिए) , थक्कइ = *स्थाक्यति है (हेच० ४, १६)[२] ; *मिल्लइ = *मील्यति = मीलति है और यह संधियुक्त क्रिया में भी पाया जाता है : उम्मि-

लइ, णिमिल्लइ, पमिल्लइ और **संमिल्लइ** रूप आये हैं (वर० ८, ५४ ; हेच० ४, २३२ , गउड० , रावण०) , अप० में **उम्मिल्लइ** रूप मिलता है (हेच० ४, ३५४) , माग० मे **शंयम्मध** = *संयम्यत = संयच्छत है (मृच्छ० ११, ३) , शौर० में **रच्चदि** = *रच्यते = रोचते है (विक्र० ३१, ३ ; ४०, १८ , मालवि० १५, १४ ; ७७, २१), अप० म **रच्चइ** आया है (हेच० ४, ३४१, १) । इसके साथ साथ **रोअदि** भी देखने में आता है (मृच्छ० ७, १४ , ४४, ५ , ५८, १४ , शकु० ५४, ४ , विक्र० २४, ७ और ४१, १८), माग० म **लोअदि** है (मृच्छ० १३९, १६ , शकु० १५९, ३) , **लग्गइ** = *लग्यति = लगति है (वर० ८, ५२ , हेच० ४, २३०), शौर० में **ओलग्गन्ति** रूप पाया जाता है (मालवि० ३९, १४), **विलग्गन्तम्** भी है (मृच्छ० ३२५, १४) , माग० में **लग्गदि** आया है (मृच्छ० ७९, १०) , अप० मे **लग्गइ** चलता है (हेच० ४, ४२०, ५ , ४२२, ७), **लग्गिवि** भी मिलता है (हेच० ४, ३९९) , ढक्की म **व्रज्** के **वज्जसि, वज्जदि** और **वज्ज** रूप आये हैं (मृच्छ० ३०, ४ और १० , ३९, १०) , शौर० में **वज्जम्ह** है (प्रसन्न० ३५, १७) और अशुद्ध रूप **वच्चसि** भी आया है (चैतन्य० ५७, २)[४] , माग० में **वय्यॆन्ति** और **पवय्यामि** रूप मिलते ह (मृच्छ० १२०, १२ , १७५, १८) । माग० और अप० म **व्रज्** की रूपावली नव गण के अनुसार भी चलती है माग० म **वञ्ञामि**, **वञ्ञन्दश्श** (ललित० ५६६, ७ और १७) और **वञ्ञदि** = *व्रजाति है (हेच० ४, २९४ ; सिंहराज० पन्ना ६३)[५] , अप० में **वुञ्जइ**, पत्वा– वाले रूप **वुञेप्पि** और **वुञेप्पिणु** मिलते हैं (हेच० ४, ३९२) । अ०माग० म **वयामो** (सूय० २६८) और **वयन्ति** आये हैं (सूय० २७७) ।

१ पिशल, बे० बाइ० १३, १८ और उसके बाद । कई क्रियाओं के सम्बन्ध में हम छठे गण की रूपावली का भान होता है तथा **फुट्टइ** = स्फुटति में तो अवश्य ही ऐसा हुआ है (वर० ८, ५३ , हेच० ४, २३१) । — २ पिशल, बे० बाइ० ३, २५६ । — ३ पिशल, बे० बाइ० ३, २५८ और उसके बाद । — ४ § २०२ की तुलना कीजिए । मृच्छकटिक १०९, १९ में **वज्जिस्सामो** के स्थान मे **वज्झिस्सामो** पढ़ा जाना चाहिए, यह वध्य् धातु का कर्मवाच्य का भविष्यत्काल का रूप है । इस नाटक में अन्यत्र यह रूप देखिए । — ५ मुद्राराक्षस २५६, ५ के श्लोक म, इसकी सम्भावना अधिक है कि परम्परा से प्रचलित रूप **वज्जेह** के स्थान म **वय्येध** पढ़ा जाना चाहिए जैसा कि हिलेब्रान्त का मत है, उसने त्सा० डे० डो० मौ० गे० ३९, १०९ में **वज्जेध** दिया है । **वज्जप** (मल्लिका० १४४, ७) की भी तुलना कीजिए ।

§ ४८९—कुछ धातु जिनकी रूपावली संस्कृत म चौथे गण के अनुसार चलती है, प्राकृत में उनकी रूपावली या तो पहले अथवा छठे गण के अनुसार चलती है । कभी सदा एक ही गण की रूपावली चलती है या कभी विकल्प से । हम साधारण रूप **मण्णइ** = **मन्यते** के साथ साथ **मणइ** = ***मनते** भी बना सकते है (हेच० ४, ७) । इनमें से वर्तमानकाल आत्मनेपद का प्रथमपुरुष एकवचन का रूप **मणे** महा० म बहुत

आया है (§ ४५७)। महा०, अ०माग०, जै०महा० और अप० रूप मुणइ और जै०शौर० मुणदि (वर० ८, २३ ; हेच० ४, ७ ; मार्क० पन्ना ५३ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; अच्युत० ८२ ; प्रताप० २०२, १५ ; २०४, १० ; विक्र० २६, ८ , आयार० १, ७, ८, १३ ; ओव० ; कप्प० ; एर्त्से० ; कालका० ; हेच० ; ४, ३४६ ; पिंगल १, ८५ ; ८६ ; ९० ; ९५ आदि-आदि ; कत्तिगे० ३९८, ३०३ ; ३९९, ३१२ और ३१६ ; ४००, ३३७) तथा ए– वर्ग के अनुसार अ०माग० रूप मुणेयव्व (पण्णव० ३३), जै०शौर० मुणेदव्व (पव० ३८०, ८ ; पाठ में मुणयदव्व है), इसी मन् से व्युत्पन्न होते हैं। इस व्युत्पत्ति के विरुद्ध इसका अर्थ 'जानना' और पाली रूप मुनाति आ खड़े होते हैं। मैं मुणइ का सम्बन्ध काममूत शब्द में वैदिक मूत और संस्कृत मुनि से जोड़ना ठीक समझता हूँ। लैटिन रूप आनिमो मोवेरे की तुलना कीजिए। — जैसा कि कभी कभी महाकाव्यों की भाषा में देखा जाता है शम् प्राकृत में अपने वर्ग के अनुसार पहले गण में रूपावली चलाता है : समइ (हेच० ४, १६७) और उवसमइ रूप मिलते हैं (हेच० ४. २३९)। इसी नियम से महा० में पडिसमइ आया है (रावण० ६, ४४) ; अ०माग० में उवसमइ है (कप्प० एस. (S) § ५९), जै०महा० में उवसमसु (एर्त्से० ३, १३) और पसमन्ति रूप मिलते हैं (आव० १६, २०), माग० में उवशमदि रूप है (हेच० ४, २९९ = वेणी० ३४, ११), इस स्थान में ग्रिल उवसम्मदि पढता है , इस ग्रन्थ में अन्यत्र दूसरा रूप देखिए तथा कलकतिया संस्करण में ७१, ७ की तुलना कीजिए। बहुत बार इसके रूप, संस्कृत के समान ही, चौथे गण में मिलते हैं : महा० में णिसम्मइ, णिसम्मन्ति, णिसम्मसु और णिसम्मन्त– मिलते हैं (गउड०), पसम्मइ और पसम्मन्त– आये हैं (गउड० ; रावण०) और परिसामइ भी देखा जाता है (हेच० ४, १६७)। — श्रम् की रूपावली केवल पहले गण में चलती है : अ०माग० में समइ है (उत्तर० ३८), जै०महा० में उवसमन्ति आया है (आव०एर्त्से० ३५, २९), महा० और जै०महा० में वीसमामि, वीसमसि, वीसमइ, वीसमामो, वीसमसु और वीसमउ रूप मिलते हैं (गउड० , हाल ; रावण० ; एर्त्से० , हेच० १, ४३ , ४, १५९), जै०महा० में वीसममाण आया है [कुमाउनी में इसका रूप बिसॉण और बिसूँण मिलते हैं। —अनु०] , द्वार० ५०१, ५), शौर० में वीसम चलता है (मृच्छ० ९७,१२) और वीसमम्ह पाये जाते हैं (रत्ना० ३०२, ३२), कर्मवाच्य में वीसमीअदु आया है (मृच्छ० ७७, ११), विस्समीअदु भी है (शकु० ३२, ९ , विक्र० ७७, १५)। — विध् (व्यध्) की रूपावली महा०, अ०माग० और जै०महा० में छठे गण के अनुसार चलती है और उसमें अनुनासिक का आगमन हो जाता है : महा० में विधन्ति आया है (कर्पूर० ३०, ६), अ०माग० में विन्धइ मिलता है (उत्तर० ७८८), इच्छावाचक रूप विन्धेज्ज (विवाह० १२२) है ; आविन्धेॅज्ज या पिविन्धेॅज्ज या देखा जाता है (आयार० २, १३, २०)। इसका प्रेरणार्थक रूप आविन्धावेइ भी चलता है (आयार० २, १५, २०), जै०महा० में आविन्ध है (आव०एर्त्से० ३८, ७ ;

१० और ३५), **आविन्धामो** और **आविन्धसु** भी मिलते हैं (आव०एर्त्से० १७, ८ ; ३८, ३३) तथा **ओइन्धेइ** भी आया है (आव०एर्त्से० ३८, ३६)। अ०माग० में इसकी रुपावली पहले गण के अनुसार भी चलती है, **वेहइ** = *वेधति है (सूय० १८६) तथा उद् उपसर्ग जुड़ने पर बिना अनुनासिक के छठे गण के अनुसार रुपावली चलती है : **उव्विहइ** = *उद्विधाति = उद्विध्यति है (नायाध० ९५८ और ९५९; विवाह० १३८८)। — श्लिष् पहले गण के अनुसार **सिलेसइ** = *श्लेषति = श्लिष्यति बताता है (हेच० ४, १९०)।

§ ४९०— दसवें गण की क्रियाएं और इनके नाना तथा प्रेरणार्थक रूप, जहाँ तक उनका निर्माण इस गण के समान होता है, —अब संक्षिप्त रूप दे कर देते हैं : पल्लवदानपत्र में **अभत्थेमि** = अभ्यर्थयामि है (७, ४४) ; महा० में **कहेइ** = कथयति (हाल) है और **कधेत्ति** भी मिलता है (गउड०) ; जै०महा० में **कहेमि** और **कहेहि** रूप आये हैं (एर्त्से०) ; अ०माग० में **कहेइ** (उवास०) और **परिकहेमो** देखे जाते हैं (निरया० ६०) ; शौर० में **कधेहि** = कथय है (मृच्छ० ४, १४ ; ६०, २ ; ८०, १७ ; १४२, ९ ; १४६, ४ ; १५२, २४, शकु० ३७, १६; ५०, १२ ; विक्र० ५१, ११ आदि आदि), **कधेसु** आया है (बाल० ५३, १२ ; १६४,१७ ; २१८,१६), **कधेदु** = कथयतु है (मृच्छ० २८,२; शकु० ५२,७; ११३, १२) ; माग० में **कधेदि** पाया जाता है (शकु० ११७, ५)। — महा० में **गणेइ** = गणयति है, **गणेॅन्ति** भी आया है (रावण०) ; शौर० में **गणेसि** पाया जाता है (शकु० १५६, ५) । — महा० में **चिन्तेसि**, **चिन्तेइ**, **चिन्तेॅन्ति** तथा **चिन्तेउं** रूप आये हैं (गउड०; हाल; रावण०) ; अ०माग० में **चिन्तेइ** मिलता है (उवास०), जै०महा० में **चिन्तेसि** (एर्त्से०) और **चिन्तेन्ति** रूप हैं (आव०एर्त्से० ४३, २१) ; शौर० में **चिन्तेमि** (विक्र० ४०,२०), **चिन्तेहि** (शकु० ५४,७ , विक्र० ४६, ८ ; रत्ना० ३०९, १३) और **चिन्तेमो** रूप मिलते हैं (महावीर० १३४, ११)। — शौर० में **तक्केमि** आया है (मृच्छ० २९, ६ ; ५९,२५ ; ७९, १ और ४ ; ९५, ३ ; शकु० ९, ११ ; ९८, ८ ; ११७, १० ; १३२, ११ तथा बहुत अधिक बार)। इसी प्रकार माग० में भी यही रूप है (मृच्छ० ९९, ११ , १२२, १२ ; १४१, २ , १६३, २२ ; १७०, १७), अप० में **तक्केइ** रूप है (हेच० ४, ३७०, २)। — अ०माग० में **परियावेॅन्ति** = परितापयन्ति है (आयार० १,१,६,२) , शौर० में **संतावेदि** रूप मिलता है (शकु० १२७, ७) । — अ०माग० में **वेढेहि** = वेष्टयति है (विवाह० ४४७ ; नायाध० ६२१ , निरया० § ११), **चेरमो** = चरयामः है (विवाग० २२९) और **वेदेमो** = वेदयामः है (विवाह० ७०)। असंक्षिप्त रूप भी बार-बार पाये जाते हैं किन्तु केवल नीचे दिये गये द्वित्व व्यंजनों से पहले, विशेष कर न्त् से, जैसे अ०माग० में **ताळयन्ति** = ताडयन्ति है (पद्य में , उत्तर० ३६० और ३६५), इसके साथ साथ **ताळेॅन्ति** भी चलता है (विवाह० २३६), **ताळेइ** (नायाध० १२३६ और १३०५) तथा **ताळेह** भी मिलते हैं (नायाध० १३०५), **गोमयन्ता** (जीवा० ८८६) और **पडिसंवेययन्ति** भी देखे जाते हैं (आयार० १, ५, ४, २) ; महा०

में अवअंसअन्ति = अवतंसअन्ति है (शकु० २,१५) ; जै०महा० में **चिन्तयन्तो** तथा **चिन्तयन्ताणं** मिलते हैं (एर्त्से०) ; शौर० में **दंसअन्तीए** = **दर्शयन्त्या** है, **दंसअम्ह**, **दंसइस्सं**, **दंसइस्ससि** तथा **दंसइस्सदि** रूप काम में आते हैं ; माग० में **दंशअन्ते** है और इसके साथ साथ शौर० में **दंसेमि**, **दंसेसि**, **दंसेहि** और **दंसेदुं** है (§ ५५४) ; शौर० में **पआसअन्तो** = **प्रकाशयन्** है (रत्ना० ३१३,३३), इसके साथ साथ महा० में **पआसेइ**, **पआसेन्ति** और **पआसेन्ति** रूप आये हैं (गउड०) ; माग० मे **पयाशें म्ह** (पाठ मे **पयासें म्ह** है) = **प्रकाशयाम** है (ललित० ५६७, १) ; शौर० में **पेसअन्तेण** = **प्रेषयता** है (शकु० १४०,१३) ; शौर० में **आआसअन्ति** = **आयासयन्ति** (वृषभ० ५०, १०)। अन्य स्थितियों में इसका प्रयोग विरल है जैसे कि शौर० में **पवेसआमि** आया है (मृच्छ० ४५, २५), इसके साथ-साथ शौर० में **पवेसेहि** भी मिलता है (मृच्छ० ६८, ५) ; माग० में **पवेशेहि** है (मृच्छ० ११८, ९ और १९) ; शौर० मे **विरअआमि** = **विरचयामि** है (शकु० ७९, १) ; शौर० में *आस्सासअदि* = **आश्वासयति** है (वेणी० १०, ४) ; शौर० में **चिरअदि** = **चिरयति** है (मृच्छ० ५९, २२) ; शौर० मे **जणअदि** = **जनयति** है (शकु० १३१, ८) किन्तु यहाँ पर इसी नाटक में अन्यत्र पाये जानेवाले रूप के अनुसार **जणेदि** पढ़ा जाना चाहिए, जैसे कि महा० मे **जणेइ** (हाल) और **जणेन्ति** रूप पाये जाते हैं (हाल ; रावण०) ; *महा० में* **वण्णआमो** = **वर्णयामः** है (*बाल०* १८२, १०)। अ०माग० और जै०महा० में सदा ऐसा ही होता है विशेष कर अ०-माग० में जिसमें **दलय** बहुत अधिक काम में लाया जाता है, इस **दलय** का अर्थ 'देना' है : **दलयामि** आया है (नायाध० § ९४ ; निरया० § १९ ; पेज ६२, एर्त्से० ६७, २७), **दलयइ** है (विवाग० ३५ , १३२ ; २११ ; २२३ ; नायाध० § ५५ और १२५ ; पेज २६५ ; ४३२ ; ४३९ , ४४२ ; ४४९ ; राय० १५१ और उसके बाद ; आयार० २, १, १०, १ , उवास० ; कप्प० ; ओव० आदि आदि), **दलयामो** मिलता है (विवाग० २३० ; नायाध० २९१), **दलयन्ति** है (विवाग० *८४ और २०९ ; नायाध० § १२०),* **दलएज्जा** *और* **दलयाहि** *भी हैं (आयार०* १, ७, ५, २ ; २, १, १०, ६ और ७ ; २, ६, १, १०), **दलयह** पाया जाता है (निरया० § १९) और **दलयमाणे** आया है (नायाध० § ११३ ; कप्प० § १०३ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए, जैसा कि § २८ मे ए. (A) हस्तलिपि में **दलयइ** आया है])। § ४७४ की तुलना कीजिए।

§ ४९१—संस्कृत मे बिना किसी प्रकार का उपसर्ग जोड़कर संज्ञाशब्दों से क्रियाएं बना दी जाती हैं जैसे, **अंकुर** से **अंकुरति**, **कृष्ण** से **कृष्णति** और **दर्पण** से **दर्पणति** (कील्हौर्न § ४७६ ; ह्विट्नी § १०५४)। क्रिया का इस प्रकार से निर्माण जो संस्कृत में बहुधा नहीं किया जाता प्राकृत म साधारण बात है, विशेषकर महा० और अप० में। अन्त में आ लगकर बननेवाले स्त्रीलिंग संज्ञाशब्द से निकली हुई क्रियाओं, जैसा कि ऐसे सभी अवसरों पर होता है —आ ह्रस्व हो जाता है, की रूपावली पहले गण के अनुसार चलती है। इस नियम से *महा०* **कहा** = (§ ४८७ ; ५०० , ५१० और

उसके बाद) संस्कृत कथा से निकले रूप कहामि, कहसि, कहइ, कहामो, कहह और कहन्ति रूप मिलते हैं। इसलिए ऐसा होता है कि § ४९० में बताये गये रूपों के साथ साथ जिनमें ए = अय आता है, जनता में बोली जानेवाली प्राकृत में –अ –वाले रूपों की भी कमी नहीं है। इस नियम से : महा० में कहेइ आया है (हेच० १, १८७; ४, २ ; हाल ५९) ; अ०माग० में कहाहि मिलता है (सूय० ४२३), कहसु भी पाया जाता है (उत्तर० ७०० और ७०३) ; अप० में कहि = *कथेः = कथयेः है (हेच० ४, ४२२, १४) । — महा० में गणइ, गणन्ति और गणन्तीए रूप मिलते हैं (हाल) ; अप० में गणइ, गणन्ति और गणन्तीएँ हैं (हेच० ४, ३५३ भी है) । — महा० में चिन्तइ और चिन्तन्त– रूप आये हैं (हाल), विइत्तन्ता = विचित्तयन्तः है (गउड०) ; अप० में चिन्तइ है, चिन्तन्ताहँ = चिन्तयताम् है (हेच०) । — महा० में उम्मूलन्ति = उन्मूलयन्ति (हाल) है, उम्मूलन्त– भी आया है (रावण०) । इसके साथ उम्मूलेॅन्ति भी चलता है (रावण०),कामन्तओ = कामयमानः है (हाल), इसके साथ साथ कामेइ भी है (हेच० ४, ४४), कामेमो भी मिलता है (हाल) और कामेॅन्ति देखा जाता है (गउड०), पसाअन्ति = प्रसादयन्ति है, इसके साथ साथ पसाएस्सि और पसाअमाणस्स (हाल) रूप आये हैं, पप्फोडइ और पप्फोडन्ती = प्रस्फोटयति और प्रस्फोटयन्ति हैं (हाल), मउलन्ति = मुकुलयन्ति (हाल), मउलउ आया है (गउड०), मउलन्त– रूप मिलता है (रावण०) । इसके साथ-साथ मउलेइ और मउलेॅन्ति (रावण०) और मउलिन्ता रूप पाये जाते हैं (गउड०) ; अप० में पाहसि = प्रार्थयसि है (पिंगल १, ५ अ ; बौँल्लेॅनसेन द्वारा सम्पादित विक्र० पेज ५३०) । न्त से पहले प्रधानतया अ आता है, जैसे कि अशक्तित रूपों का भी होता है (§ ४९०) । इसलिए यह सम्भव है कि इन रूपों के निर्माण की पूर्ण प्रक्रिया एम हो गयी हो। गणअन्ति = संस्कृत गणयन्ति, यह *गणान्ति रूप के द्वारा गणन्ति हो गया हो, फिर इससे भाषा में गणामि, गणसि और गणइ रूप आ गये। शौर० और माग० में पद्य के अतिरिक्त अन्यत्र ये अ– वाले रूप नहीं मिलते। किसी स्थिति में ए से अ में परिवर्तन माना नहीं जा सकता[1]। प्रेरणार्थक धातु के विषय में अन्य विशेष बातें § ५५१ और उसके बाद में देखिए, संज्ञा से बनी क्रियाओं के सम्बन्ध में § ५५७ और उसके बाद देखिए।

१. वेबर, हाल', पेज ६० ; इस स्थान में किन्तु नोटसंख्या ४ की तुलना कीजिए।

§ ४९२—जिन धातुओं के अन्त में –आ आता है उनकी 'रूपावली या तो संस्कृत की भाँति दूसरे गण में चलती है अथवा चौथे गण के अनुसार की जाती है। उपसर्गों से संयुक्त होने पर ख्या धातु की अ०माग० में दूसरे गण के अनुसार रूपावली की जाती है : अक्खाइ = आख्याति है (विवाह० ९६६) ; अक्खन्ति = आख्यान्ति है (सूय० ४५६ ; ४६५ ; ५२२) ; अघम् = आख्यान् (सूय० ३९७), पच्चक्खामि रूप आया है (उवास०), पच्चक्खाइ भी है (ठाणंग० ११९ ; विवाह० ११९ और ६०७ ; उवास०) ; पच्चक्खामो देखा जाता है (ओव०) । इसी में

अक्खन्तो है (मृच्छ० ३४, २४) किन्तु यह आचक्खन्तो के स्थान मे अशुद्ध पाठान्तर है (§ ४९९)। अधिकाश मे किन्तु ठीक पाली की भाँति अ०माग० में भी यह धातु द्वित्व रूप धारण करता है और अ मे समाप्त होनेवाले धातु की भाँति इसकी भी रूपावली चलती है जैसे घ्रा, पा और स्था की (§ ४८३)[1] : आइक्खामि = =*आचिख्यामि है (सूय० ५७९ ; ठाणग० १४९ ; जीवा० ३४३ ; विवाह० १३० ; १३९ ; १४२ ; ३२५ ; ३४१ ; १०३३) ; आइक्खइ (सूय० ६२० ; आयार० २, १५, २८ और २९ ; विवाह० ९१५ ; १०३२ ; उवास० ; ओव० ; कप्प०) = पाली आचिक्खति ; संचिक्खइ रूप मिलता है (आयार० १, ६, २, २), आइक्खामो है (आयार० १, ४, २, ५), आइक्खन्ति आया है (आयार० १, ४, १, १ ; १, ६, ४, १ ; सूय० ६४७ और ९६९ ; विवाह० १३९ और ३४१ ; जीवा० ३४३), अब्भाइक्खइ और अब्भाइक्खेज्जा (आयार० १, १, ३, ३) तथा अब्भाइक्खन्ति रूप भी पाये जाते ह (सूय० ९६९) ; पच्चाइक्खामि आया है (आयार० २, १५, ५, १), आइक्खे और आइक्खेज्जा (आयार० १, ६, ५, १ ; २, ३, ३, ८ ; सूय० ६६१ और ६६३), पडियाइक्खे (आयार० १, ७, २, २), पडिसंचिक्खे तथा संचिक्खे (उत्तर० १०३ और १०६), आइक्खाहि (विवाह० १५०), आइक्खइ (आयार० २, ३, ३, ८ और उसके बाद ; नायाध० § ८३), आइक्खमाण (ओव० § ५९), पच्चाइक्खमाण (विवाह० ६०७) और संचिक्खमाण रूप काम में आये हैं (उत्तर० ४४०) ।

१. पिशल, बे०बाइ० १५, १२६ । चक्षू की जो साधारण व्युत्पत्ति दी जाती है वह भ्रामक है ।

§ ४९३—अन्त में इ- वाले धातुओं की रूपावली सस्कृत की भाँति चलती है । फिर भी महा० और अ०माग० मे तृतीयपुरुष बहुवचन परस्मैपद के अन्त में एन्ति आता है (गउड० ; रावण० , काल्येक० २, ८ ; आयार० पेज १५, ६), उपसर्गयुक्त धातुओं मे भी यही क्रम चलता है : महा० मे अणुगेन्ति = अनुयन्ति है (रावण०), महा० मे एॅन्ति = आयन्ति है (रावण० ; धूर्त० ४,२० ; कर्पूर० १०,२), महा० और अ०माग० मे उवेन्ति = उपयन्ति है (गउड०, आयार० २,१६,१; सूय० ४६८, दस० ६२७,१२) ; अ०माग० में समुवेन्ति आया है (दस० ६३५,२) । अ०माग० में इसके स्थान में इन्ति भी है (पण्णव० ४३), निइन्ति = नियन्ति है, इसका अर्थ निर्यन्ति है (पण्हा० ३८१ और ३८२), पलिन्ति = परियन्ति है (सूय० ९५ और १३४), संपलिन्ति भी आया है (सूय० ५२), उविन्ति मिलता है (सूय० २५९) तथा उविन्ते भी है (सूय० २७१), समन्निन्ति = समनुयन्ति है (ओव० [§ ३७]) । यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि ए मौलिक है और एकवचन के रूप एमि, एसि तथा एइ के अनुकरण पर बना है, इससे § ८४ के अनुसार इ का स्पष्टीकरण होता है । यदि अ०माग० निइन्ति शुद्ध पाठ हो तो इस स्थिति में यह महा० रूप णिन्ति से अलग नहीं किया जा सकता (गउड० , हाल में यह रूप देखिए , रावण०), विणिन्ति भी मिलता है (ध्वन्यालोक २३७, २ = हाल ९५४), अइन्ति है (गउड०), परिअन्ति

आया है (रावण०) ; ये सब रूप णिइन्ति, *णीन्ति, *विणिइन्ति, *विणीन्ति, *अइइन्ति, *अईन्ति, *परिइन्ति, *परीन्ति से निकले रूप बताये जाने चाहिए। इन्ति जो रूप पाली में भी पाया जाता है[1] *इमो और *इह = संस्कृत इमः और इथ के अनुसार बनाया गया है। अशुक्रिया का रूप जै०महा० में इन्तो है (द्वार० ४९९, २७) ; महा० णिन्त– में भी यह रूप वर्तमान है (गउड०; हाल ; रावण०), विणिन्त में यह है (गउड०), अइन्त– तथा परिन्त में आया है (रावण०) और परिणिन्त में भी है (सरस्वतीकण्ठा० ९,२१)[2] = नियन्त–, विनियन्त, अतियन्त–, परियन्त और परिनियन्त है। इसके णेॅन्ति (गउड० ; हाल ; रावण०), विणेॅन्ति (सरस्वतीकण्ठा० २०६, २५)[3] रूप जिनमें ए पाया जाता है और इसी भाँति ऊपर दिये गये एन्ति, अण्णेन्ति और उवेॅन्ति रूपों में यह ए § ११९ के अनुसार इ से आया है। बहुवचन के रूप *अइमो, *अईह = अतीमः तथा अतीथ, *णीमो और *णीह = नीमः तथा नीथ और *परीमो तथा परीह = परीमः और परीथ आदि के समान रूपों से एक एकवचन का रूप आविष्कृत हुआ : महा० में अईइ = अतीति है (हेच० ४, १६२ ; रावण०), णीसि = *नीषि है (रावण०) ; महा० और जै०महा० में णीइ = *नीति है (गउड० ; हाल ; रावण० ; आव०एर्त्सें० ४१, १३ और २२), महा० में परीइ = *परीति है (हेच० ४, १६२ ; रावण०)[4]। इसका नियमानुसार शुद्ध रूप अ०माग० में एइ मिलता है (आयार० १, ३, १, ३ ; १, ५, १, १ ; ४, ३ ; सूय० ३२८ और ४६०), अचेइ भी आया है (आयार० १, २, १, ३ ; ६, ८ ; १, ५, ६, ३ ; सूय० ५४०), उएइ = उदेति है (सूय० ४६०), उएउ रूप भी आया है (आयार० २, ४, १, १२ ; पाठ में उदेउ है), उवेइ = उपैति (आयार० १, २, ६, १ ; १, ५, १, ? , सूय० २६८ और ५६३) आदि आदि। अ०माग० में पेॅज्जासि (आयार० ?, ६, १, ८) = एयाः है। इसका आज्ञावाचक रूप पेॅज्जाहि है (आयार० २, ५, १, १०)। पत्ता के साथ इ के विषय में § ५६७ देखिए। — शी के रूप अ०माग० में सयइ और आसयइ हैं (कप्प० § ९५) , इच्छावाचक रूप सए मिलता है (आयार० १, ७, ८, १३) और सएॅज्जा है (आयार० २, २, ३, २५ और २६), वर्तमानकालिक अशक्रिया सयमाण है (आयार० २, २, ३, २८)। शौर० में सेरदे रूप (मल्लिका० २९१, ३) भयानक अशुद्धि है।

1. ए०कून० बाइत्रैगे, पेज ९६। — २. ल्यास्सारिआए, कू०त्सा० २८, ४१५ के अनुसार यह शुद्ध है। — ३. ल्यास्सारिआए, कू०त्सा० २८, ४१५ के अनुसार यह शुद्ध है। — ४. इन रूपों के विषय में प्रासंगिक रूप से एस० गोल्दश्मित्त ने त्सा०डे०डी०मौ०गे० ३२, ११० और उसके बाद में तथा ल्यास्सारिआए ने कू०त्सा० २८, ४११ और उसके बाद में लिखा है, जहाँ इस विषय पर अन्य साहित्य का भी उल्लेख है। एक धातु नी जिसका अर्थ 'बाहर निकल जाना' है, असम्भव है। शतपथब्राह्मण के उपनयति (बोएटलिंक, कू०त्सा० २७, २८१) और प्राकृत णीणइ + *निर्णयति (हेच० ४, १६२) से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक धातु नी जिसका अर्थ 'जाना' है तथा जिसका

अ०माग० रूप नए = नयेत् मिलता है (§ ४११, नोटसंख्या २ ; आयार० २, १६, ५) रहा होगा, किन्तु इसका णीइ से कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि इसके नाना रूप तथा समान रूप अईइ और परीइ बताते हैं। यह मानना कि नि, निः के अर्थ में आया है, यही कठिनाई पैदा करता है। इस सम्बन्ध में अधिक उदाहरण तथा प्रमाण प्राप्त नहीं हैं। वेबर, स्सा०डे०डौ०मौ०गे० २६, ७४१ के अनुसार निस् के बलहीन रूप से नि की व्युत्पत्ति बताना, असम्भव रूप है।

§ ४९४—जिन धातुओं के अन्त में –उ और ऊ आता है तथा जो दूसरे गण में हैं प्राकृत में उनकी रूपावली पहले गण के अनुसार चलती है : पण्हअइ = प्रस्नौति है, रवइ = रौति हो जाता है, सवइ = सूते है, पसवइ = प्रसूते हो जाता है तथा अणिण्हवमाण = अनिह्नुवान है। हु की रूपावली छठे गण के अनुसार भी चलती है (§ ४७३)। महा०, जै०महा० और अ०माग० में स्तु की रूपावली नवें गण के अनुसार चलती है : महा० में थुणइ होता है (हेच० ४, २४१ ; सिंहराज० पन्ना ४९), थुणिमो रूप आया है (बाल० १२२, १३) ; अ०माग० में संथुणइ मिलता है, त्वा– वाला रूप संथुणित्ता पाया जाता है (जीवा० ६१२), अभित्थुणन्ति आया है (विवाह० ८३३), अभित्थुणमाण तथा अभिसंथुणमाण रूप भी देखने में आते हैं (कप्प० § ११० और ११३) ; जै०महा० में ए– रूपावली के अनुसार थुणेइ मिलता है (कालका० दो, ५०८, २३), त्वा– वाला रूप थुणिय आया है (कालका० दो, ५०८, २६)। शौर० और माग० में इस धातु की रूपावली पाँचवें गण के अनुसार चलती है : शौर० में उवत्थुणण्ति = *उपस्तुन्वन्ति (उत्तररा० १०, ९ ; २७, ३ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओनेस प्राकृतिकाए, पेज २६४ के नोट की तुलना कीजिए) ; माग० में थुणु पाया जाता है (मृच्छ० ११३, १२ ; ११५, ९)। कर्मवाच्य का रूप थुव्वइ (§ ५३६) बताता है कि कभी इसकी रूपावली छठे गण के अनुसार भी चलती होगी = *थुवइ = संस्कृत *स्तुवति, जै०महा० में इसका त्वा– वाला रूप थोऊण मिलता है (कालका० २७७, ३१ ; दो, ५०७, २५ ; तीन, ५१३, ३) जिसका संस्कृत रूप *स्तोत्वाण रहा होगा। — बहुत अधिक काम में आनेवाले अ०माग० रूप वेमि = ब्रवीमि (§ १६६ ; हेच० ४,२३८ ; आयार० पेज २ और उसके बाद ; ८ और उसके बाद ; सूय० ४५ ; ८४ ; ९९ ; ११७ ; १५९ ; २०० ; ३२२ ; ६२७ ; ६४६ और उसके बाद ; ८६३ ; ९५० ; दस०पेज ६१३ और उसके बाद ; ६१८, १६ ; ६२२ और उसके बाद)। अ०माग० और जै०महा० में इसका तृतीयपुरुष बहुवचन का एक रूप बेन्ति मिलता है (दस०नि० ६५१, ५, १६ और २० ; ६२८, २५ ; ६६१, ८ ; एर्त्से० ४, ५), विन्ति आया है (सूय० २३६) ; अ०माग० में प्रथमपुरुष बहुवचन का रूप बूम है (उत्तर० ७८४ ; पद्य में), आज्ञावाचक रूप बूहि है (सूय० २५९ ; ३०१ ; ५५३)। इच्छावाचक रूप बूया के विषय में § ४६४ देखिए। अप० में इसकी रूपावली छठे गण के अनुसार चलती है : ब्रुवह = ब्रूत (हेच० ४, ३९१) ; अ०माग०-रूप बुइय (§ ५६५) निर्देश करता है कि अ०माग० में उक्त रूपावली चलती थी।

§ ४९५—रुद्, श्वस् और स्वप् धातु सोलहों आने अ– रूपावली में चले गये हैं। रुद् महा० में और अधिकांश में जै०महा० और अप० में भी छठे गण में अपने रूप चलाता है : महा० में **रुआमि, रुअसि, रुअइ, रुअन्ति, रुअ, रुयहि** तथा **रुअसु** रूप आये हैं (हाल ; रावण० ; ध्वन्यालोक १७३, ३ = हाल ९६६), **रुयसि** भी मिलता है (आव०एर्त्से० १३, ३३ ; १४, २७), **रुयइ** है (आव०एर्त्से० १४, २६), **रुयसु** (सगर० ६, ११), **रुयह** (आव०एर्त्से० १४, २८), **रुयन्ती** (आव०एर्त्से० १३, ३३ ; एर्त्से० १५, २४), **रुयन्तीए** (एर्त्से० २२, ३६), **रुयमाणी** (एर्त्से० ४३, १९), **रुयमाणिं** (आव०एर्त्से० १४, २६) रूप पाये जाते हैं। अप० में **रुअहि** = **रोदिषि** है (हेच० ४, ३८३, १) ; **रुअइ** भी आया है (पिंगल १, १३७ अ)। अ०माग०, जै०महा० और अप० में कभी कभी इसकी रूपावली पहले गण के अनुसार चलती है : अ०माग० में **रोयन्ति** है (सूय० ११४) ; जै०महा० में **रोयइ** आया है (आव०एर्त्से० १७, २७), स्त्रीलिंग में अंशक्रिया का रूप **रोयन्ती** है (आव०एर्त्से० १२, ३४) ; जै०महा० और अ०माग० में **रोयमाणा** मिलता है (एर्त्से० ६६, २४ ; उत्तर० १६९ ; विवाह० ८०७ ; विवाग० ७७ ; ११८ ; १५५ ; २२५ ; २३९ और २४०), अप० में **रोइ** = *रोदेः = **रुद्यात्** है (हेच० ४, ३६८), **रोअन्तें** = **रुदता** है (विक्र० ७२, १०)। शौर० और माग० में केवल इसी रूप की धूम है जैसे, शौर० में **रोदसि** है (मृच्छ० ९५, २२), **रोअदि** आया है (मृच्छ० ९५, ५ ; वेणी० ५८, २० [**रोइदि** के स्थान में इसी नाटक में अन्यत्र आये हुए रूप के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए, जैसा कि उत्तररा० ८४, २ में भी है]), **रोअन्ति** मिलता है (वेणी० ५८, १५), **रोद** देखा जाता है (मृच्छ० ९५, १२ , नागा० २४, ८ और १२ , ८६, १० [पाठ में **रोअ** है]), **रोदिदुं** पाया जाता है (शकु० ८०, ८ ; रत्ना० ३१८, २७), ए– रूपावली के अनुसार रूप भी देखने में आते हैं, **रोदेसि** है (मालती० २७८, ७), जो रूप पाठ के **रोदिसि** के स्थान में इसी नाटक में अन्यत्र आये हुए उक्त रूप के साथ पढ़ा जाना चाहिए, यदि हम बम्बइया संस्करण, १८९२, पेज २०७, ३ तथा मद्रासी संस्करण, दो, ६५, ४ के अनुसार इस स्थल में **रोदीअदि** न पढ़ना चाहें तो [दोनों के पाठ में **रोदिअदि** है] ; यही रूप रत्नावली ३१८, ९ और मुद्राराक्षस २६३, ६ में भी है : माग० में **लोद** और **लोदयाणदश** रूप मिलते हैं (मृच्छ० २०, २५ ; १५८, १२)। माग० में मृच्छकटिक १५८, ७ और ९ में पद्य में **लउदि** रूप है जो छठे गण की रूपावली का है ; शौर० में **रुदतु** (?) आया है जो विद्धशालभंजिका ८७, ९ में दोनों संस्करणों में मिलता है, किन्तु निश्चय ही यह अशुद्ध है। § ४७३ की तुलना कीजिए।

§ ४९६—**श्वस्** की रूपावली निम्नलिखित प्रकार से चलती है : महा० में **ससइ** है, (वर्तमानकालिक अंशक्रिया का रूप परस्मैपद में **ससन्त**– है (हाल ; रावण०), **आससइ** (गउड०), **आससस्सु** के स्थान में **आससु** (हाल), **ऊससइ** और **ऊससन्त**– (हेच० १, ११४ ; गउड० ; रावण०), **समूससन्ति, समूससन्त**– (गउड० ; हाल), **णीसमइ** तथा **णीससन्त**– (हेच० ४, २०१ ; गउड ; हाल),

वीससइ (हेच० १, ४३ ; हाल ५११, इस ग्रन्थ में अन्यत्र देखिए) रूप पाये जाते हैं ; अ०माग० मे उस्ससइ आया है (विवाह० ११२), ऊससन्ति है (विवाह० २६ और ८५२ ; पण्णव० ३२० और उसके बाद तथा ४८५), ऊससेज्ज और ऊससमाणे रूप मिलते हैं (आयार० २, २, ३, २७), निस्ससइ और नीससन्ति (विवाह० ११२ और ८५२ ; पण्णव० ३२० और उसके बाद ; ४८५), नीससमाण (विवाह० १२५३ ; आयार० २, २, ३, २७), वीससे (उत्तर० १८१) रूप देखे जाते हैं ; शौर० मे णीससन्ति और णीससदि (मृच्छ० ३९, २ ; ६९, ८ ; ७०, ८ ; ७९, १), वीससामि तथा वीससदि रूप आये हैं (शकु० ६५, १० ; १०६, १), समस्सस=समाश्वसिहि है (विक्र० ७, ६ ; २४, २० ; रत्ना० ३२७, ९ ; वेणी० ७५, २ ; नागा० ९५, १८), समस्ससदु है (मृच्छ० ५३, २ और २३ ; शकु० १२७, १४ ; १४२, १ ; विक्र० ७१, १९ ; ८४, ११ ; रत्ना० ३१९, २८ तथा बार बार ; वेणी० ९३, १६ में भी यह रूप आया है, जो कलकतिया संस्करण २२०, १ के अनुसार इसी रूप में पढा जाना चाहिए), समस्ससध भी मिलता है (विक्र० ७, १) ; माग० में शशदि और शशन्त– आये हैं (मृच्छ० ३८, ८ ; ११६, १७), ऊशशदु आया है (मृच्छ० ११४, २०), शमुश्शशदि पाया जाता है (मृच्छ० १३३, २२) तथा णीशशदु (मृच्छ० ११४, २१) और शमश्शशदु रूप भी काम में आये हैं (मृच्छ० १३०, १७)।

§ ४९७—स्वप् नियमित रूप से छठे गण के अनुसार रूपावली चलाता है : महा० में सुअसि और सुवसि = *सुपसि है (हाल), सुअइ (हेच० ४, १४६ ; हाल), सुवइ (हेच० १, ६४), सुअन्ति (गउड०), सुवसु और सुअह (हाल) रूप मिलते हैं ; जै०महा० मे सुवामि आया है (एर्त्से० ६५, ७), सुयइ (एर्त्से० ७६, ३२), सुयउ (एर्त्से० ५०, १३ , द्वार० ५०३, ३), सुयन्तस्स (एर्त्से० ३७, १२) और सुयमाणो (द्वार० ५०३, ४) रूप पाये जाते हैं ; शौर० मे सुवामि (कर्ण० १८, १९), सुवें म्ह (मृच्छ० ४६, ९) और कर्तव्यवाचक अंशक्रिया में सुविदव्वं (मृच्छ० ९०, २०) रूप मिलते हे , अप० मे सुअहिँ = स्वपन्ति है (हेच० ४, ३७६, २)। गौण धातु सुव् = सुप् है और कभी कभी इसकी रूपावली पहले गण के अनुसार चलती है, ठीक वैसे ही जैसे रोवइ और उसके साथ साथ रुवइ रूप चलता है और धोवइ के साथ धुवइ भी काम मे आता है (§ ४७३ और ४८२) : सोवइ आया है (हेच० १, ४६), जै०महा० में सोवें न्ति है (द्वार० ५०३, २८), सामान्य क्रिया का रूप सोउं है (द्वार० ५०१, ७) ; अप० में कर्तव्यवाचक अंशक्रिया का रूप सोएवा आया है (हेच० ४, ४३८, ३)।

§ ४९८—अ०माग० को छोड और सभी प्राकृत बोलियों मे अस् धातु के प्रथम तथा द्वितीयपुरुष एक– और बहुवचन मे ध्वनिबलहीन पृष्ठाधार शब्दों के रूप में काम में आते हैं, इस कारण एकवचन के रूप मे आदि के अ का लोप हो जाता है (§ १४५) : महा०, जै०महा० और शौर० में एकवचन मे म्हि और सि रूप मिलते हैं , माग० में स्मि (पाठ मे म्हि है) और सि । वर० ७, ७ के अनुसार

प्रथमपुरुष बहुवचन में म्ह, म्हो और म्हु रूप हैं तथा हेच० ३, १४७ ; क्रम० ४, ९ तथा सिंहराज० पन्ना ५० के अनुसार केवल म्ह और म्हो रूप चलते हैं। इसके निम्नलिखित उदाहरण मिलते हैं : महा० म्ह तथा म्हो मिलते हैं (हाल) ; शौर० में म्ह पाया जाता है (शकु० २६, ११ ; २७, ६ ; ५५, १३ ; ५८, ६ ; विक्र० २३, ८ और १४ आदि-आदि)। यह रूप महाकाव्यों के स्म के जोड़ का है। द्वितीयपुरुष बहुवचन का अति विरल रूप महा० में त्थ पाया जाता है (रावण० ३, ३)। अ०माग० में प्रथमपुरुष एकवचन का रूप अंसि है (§ ७४ और ३१३ ; आयार० १, १, १, २ और ४ ; १, ६, २, २ ; १, ६, ४, २ ; १, ७, ४, २ ; १, ७, ५, १ ; सूय० २३९ ; ५६५ और उसके बाद ; ६८९)। ध्वनिबलहीन पृष्ठाधार रूप मि मिलता है (उत्तर० ११३ ; ११६ ; ४०४ ; ४३८ ; ५७४ ; ५९० ; ५९७ ; ५९८ ; ६१५ ; ६२५ ; ७०८ ; कप्प० § ३ और २९)। यह रूप जै०महा० में भी आता है (आव०एर्त्से० २८, १४ और १५ ; एर्त्से० ६५, १० ; ६८, २१), प्रथमपुरुष बहुवचन का रूप मो पाया जाता है (आयार० ११, १२ ; ३, ४ [यहाँ § ८४ के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए])। यह रूप जै०महा० में भी है (आव०एर्त्से० २७, ४)। तृतीयपुरुष एकवचन का रूप सभी प्राकृत बोलियों में अत्थि है, जो माग० में अस्ति बन जाता है। अत्थि जब ध्वनिबलहीन पृष्ठाधार नहीं रहता तब एक और बहुवचन के सभी पुरुषों के काम में लाया जाता है (हेच० ३, १४८ ; सिंहराज० पन्ना ५०)। इस नियम से शौर० में प्रथमपुरुष एकवचन में अत्थि दाव अहं आया है (मुद्रा० ४२, १० ; १५९, १२) ; माग० में अस्ति दाव हगे मिलता है (मुद्रा० १९३, १ ; इसी नाटक में अन्यत्र भी इसके रूप देखिए और उनकी तुलना कीजिए); अ०माग० में तृतीयपुरुष बहुवचन में नत्थि सत्तोववाइया = न सन्ति सत्त्वा उपपादिताः मिलता है (सूय० २८), णत्थि णं तस्स दारगस्स हत्था वा पाया वा कण्णा वा = न स्तो नूनं तस्य दारकस्य हस्तौ वा पादौ वा कर्णौ वा है (विवाग० ११); जै०महा० में जस्स ओट्ठा नत्थि = यस्यौष्ठौ न स्तः है (आव०एर्त्से० ४१, ६), शौर० में अत्थि अण्णाइं पि चन्दउत्तस्स कोवकारणाइं चाणक्के = सन्त्य् अन्यान्य् अपि चन्द्रगुप्तस्य कोपकारणानि चाणक्ये (मुद्रा० १६४, ३ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; इस नाटक में अन्यत्र दूसरे रूप भी देखिए और संवत् १९२६ के कलकतिया संस्करण का पेज १४१, १४ देखिए)। तृतीयपुरुष बहुवचन में कभी कभी सन्ति दिखाई देता है : महा० में सन्ति (गउड०) आया है ; अ०माग० में यह रूप पाया जाता है (उत्तर० २०० ; आयार० १, १, २, २ ; २, १, ४, ५ ; सूय० ५८०) ; जै०शौर० में भी मिलता है (पव० ३८३, ७४ ; ३८५, ६५), माग० में शन्ति है (वेणी० ३४, २१ ; किन्तु इसी नाटक में आये हुए अन्यत्र दूसरे रूप भी देखिए)। वाक्यांश नमो त्थु णं में (हेच० ४,२८३; नायाध० ३८० और ७६० ; ओव० § २० और ८७ ; कप्प० § १६) आशावाचक रूप त्थु मिलता है जो अ०माग० में है। अ०माग० रूप सिया (§ ४६४) इच्छावाचक है। वाक्य के आदि में अत्थि, सन्ति और सिया के प्रयोग के विषय में तथा इसी प्रकार

अम्हि, अस्मि और म्मि के सर्वनाम रूप में प्रयोग के सम्बन्ध में § ४१७ देखिए। इसके अनुसार अस् धातु की रूपावली इस प्रकार से चलती है :

एकवचन

१. अ०माग० में अंसि, मि ; महा०, जै०महा० और जै०शौर० में म्हि, जै०महा० मे मि भी; माग० में स्मि।

२. महा०, जै०महा० और शौर० मे सि; माग० में शि।

३. महा०, जै०महा०, अ०माग०, जै०-शौर० और शौर० मे अत्थि ; माग० में अस्ति।

इच्छावाचक अ०माग० मे सिया ; आशावाचक अ०माग० में रथु।

बहुवचन

१. महा० मे म्हो और म्ह ; शौर० में म्ह ; माग० में स्म ; अ०माग० में मो और मु ; जै०महा० में मो।

२. महा० में त्थ।

३. महा०, अ०माग० और जै०शौर० में सन्ति ; माग० मे शन्ति।

आसन्नभूत आसि के विषय में § ५१५ देखिए।

§ ४९९— शेष संस्कृत धातु जिनके रूप दूसरे गण के अनुसार चलते हैं, वे प्राकृत में अ- रूपावली में चले जाते हैं और उनकी रूपावली पहले गण के अनुसार की जाती है। इस नियम से हम निम्नलिखित रूप पाते हैं : अ०माग० में अहियासए = अध्यास्ते है (आयार० १, ८, २, १५) और = अध्यासित भी है (आयार० १, ७, ८, ८ और उसके बाद) ; अ०माग० में पज्जुवासामि = पर्युपासे है (विवाह० ११६ ; निरया० § ३; उवास०), पज्जुवासइ रूप भी आया है (विवाह० ११७ ; निरया० § ४ ; उवास०), पज्जुवासाहि भी है, साथ ही पज्जुवासेज्जाहि चलता है (उवास०) ; पज्जुवासन्ति भी देखा जाता है (ओव०)। महा० में णिअच्छइ = *निचक्षति = निचष्टे है (हेच० ४, १८१ ; रावण० १५, ४८), णिअच्छामि आया है (शकु० ११९, ७), णिअच्छए, णिअच्छह, णिअच्छन्त- और णिअच्छमाण रूप भी पाये जाते हैं तथा ए- रूपावली के अनुसार भी रूप चलते हैं, णिअच्छेसि है (हाल) ; अवच्छइ, अवअक्खइ, अवक्खइ तथा ओअक्खइ = अवचष्टे हैं (हेच० ४, १८१ ; अवक्खइ वर० ८, ६९ में भी है) ; अ०माग० में अवयक्खइ आया है (नायाध० ९५८) ; शौर० में आचक्ख है (रत्ना० ३२०, ३२), वर्तमानकाल से बनी परस्मैपद की कर्मवाच्य भूतकालिक अंशक्रिया आचक्खिद है जो = *आचक्षित के (शकु० ६३, १५ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए ; ७७, १४ ; १६०, १५), अणाअक्खिद भी मिलता है (विक्र० ८०, ४); माग० मे आचस्कदि (हेच० ४, २९७) और अणाचस्किद रूप आये हैं (मृच्छ० ३७, २१) ; ढक्की में आचक्खन्तो है (मृच्छ० ३४, २४ ; यहाँ यही पाठ पढा जाना जाना चाहिए ; गौडबोले के संस्करण पेज १०१, ४ में इसका दूसरा रूप देखिए); अप० में आअक्खहि (विक्र० ५८, ८ ; ५९, १४ ; ६५, ३) और आअक्खिउ रूप पाये जाते हैं (विक्र० ५८, ११) ; शौर० मे सामान्यक्रिया पच्चाचक्खिदुं है (शकु० १०४, ८)। § ३२४ की तुलना कीजिए। जै०शौर० में पदुस्सेदि (पव० ३८४, ४९)

= प्रद्वेष्टि नहीं है जैसा कि अनुवाद में दिया गया है, किन्तु = प्रदुष्यति है तथा अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० दोस के (§ १२९) स्पष्टीकरण के स्थान में इसका उपयोग किया गया है। **साहइ** = **शास्ते** है (हेच० ४, २); महा० और जै०महा० में **साहामि**, **साहइ**, **साहामो**, **साहन्ति**, और **साहसु** रूप आये हैं (हाल; रावण०; एर्त्से० ; कालका०), **ए**– रूपावली के अनुसार रूप भी मिलते हैं, **साहेमि**, **साहेँन्ति**, **साहेसु**, **साहेहि**, **साहेउ** और **साहेन्ति** आये हैं (हाल; रावण०, एर्त्से०, कालका०); शिष् धातु की रूपावली चौथे गण के अनुसार चलती है : **सीसइ** मिलता है (हेच० ४,२)। अबतक इसके प्रमाण केवल कर्मवाच्य में पाये जाते हैं इसलिए यह = **शिष्यते** है (गउड० ; रावण०) ; अ०माग० में **अणुसासंमी** = *अनुसासामि = **अनुशास्मि** है (उत्तर० ७९०)[1], **अणुसासन्ति** रूप आया है (सूय० ५१७, उत्तर० ३३), कर्मवाच्य में दक्षि० का रूप **सासिज्जइ** है (मृच्छ० १०३, १६); शौर० में **सासी** अदि मिलता है (मृच्छ० १५५, ६) ; माग० में **शाशादि** पाया जाता है (मृच्छ० १५८, २५)। — महा० में **हणइ** = **हन्ति** है (हाल २१४), **णिहणन्ति** रूप भी मिलता है और **ए**– रूपावली के अनुसार **णिहणेमि** भी है (रावण०)। अ०माग० में **हणामि** (विवाह० २५४ और ८५० तथा उसके बाद), **हणइ** है (विवाह० ८४९ और उनके बाद), पद्य में **हणाइ** भी काम में आया है (उत्तर० ६२०), **अभिहणइ** (विवाह० ३४९), **समोहणइ** (विवाह० ११४ ; २१२ और उसके बाद , ४२० ; नायाध० § ९१ और ९६ , पेज १३२५ , कप्प०) रूप पाये जाते हैं। जै०शौर० में **णिहणदि** (कत्तिगे० ४०१, ३३९) है , अ०माग० मे **हणह** (उत्तर० ३६५), **हणन्ति** (सूय० ११०) और **समोहणन्ति** रूप मिलते हैं (राय० ३२ , ४५), **साहणन्ति** = **संघ्नन्ति** है (विवाह० १३७ , १३८ और १४१), पद्य में **विणिहन्ति** भी पाया जाता है (सूय० ३३९), इच्छावाचक रूप **हणिया**, **हणिज्जा**, **हणेॅज्जा** और **हणे** आये हैं (§ ४६७), आज्ञावाचक में **हणह** रूप है (सूय० ५९६ ; आयार० १, ७, २, ४) , जै०महा० में **आहणामि** (आव०एर्त्से० २८, २) और **हणइ** (एर्त्से० ५, ३२) रूप आये हैं, आज्ञावाचक **हण** = **जहि** है (एर्त्से० २, १५), इच्छावाचक में **आहणेज्जासि** मिलता है (आव०एर्त्से० ११, १) , शौर० में **पडिहणामि** = **प्रतिहन्मि** है (मुद्रा० १८२, ७ , इस नाटक में अन्यत्र दूसरा रूप भी देखिए), **विह णन्ति** भी आया है (प्रबोध० १७, १०) , माग० में **आहणेध** मिलता है (मृच्छ० १५८, १८) , अप० में **हणइ** है (हेच० ४, ४१८, ३)।

१. याकोबी ने सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट ४५, १५१ नोटसंख्या १ में **अणुससम्मि** पाठ पढ़ा है जो अशुद्ध है। § ७४ और १७२ की तुलना कीजिए।

§ ५००—प्राकृत बोलियों में संस्कृत के तीसरे गण के अवशेष बहुत ही कम बचे रह गये हैं। दा धातु के स्थान में वर्तमानकाल में **दे**– = **दय**– काम में आता है (§ ४७४), अ०माग० में बहुत अधिक तथा जै०महा० में कभी कभी **दलय**– रूप काम में लाया जाता है (§ ४९०)। — धा धातु का रूप पुराने वर्ग के समान **दधा**– = **दधा**– मिलता है जो सब प्राकृत बोलियों में है किन्तु केवल **सद्** = **श्रद्** के साथ में

तथा इसकी रूपावली बिना अपवाद के अ- रूपावली की भाँति चलती है, जैसा कि कभी कभी वैदिक बोली में भी पाया जाता है और महाकाव्यों की संस्कृत में भी आया है तथा पाली मे भी दहति[1] मिलता है। इस नियम से सद्दहइ = श्रद्धाति (वर० ८, ३३ ; हेच० ४, ९ ; क्रम० ४, ४६ ; सिंहराज० पन्ना ५७) ; महा० में सद्दहिमो = श्रद्दध्मः है (हाल २३), वर्तमानकाल की कर्मवाच्य की पूर्णभूतकालिक अंशक्रिया का रूप सद्दहिअ है (भाम० ८, ३३ ; हेच० १, १२ ; अच्युत० ८) ; अ०माग० में सद्दहामि आया है (विवाह० १३४ और १३१६ ; निरया० ६० ; उवास० § १२ और २१० ; नायाध० § १३२), सद्दहइ मिलता है (विवाह० ८४५ ; पण्णव० ६४ ; उत्तर० ८०५), पद्य में प्राचीन रूप के अनुसार सद्दहाइ है (उत्तर० ८०४) ; जै० शौर० में सद्दहदि मिलता है (कत्तिगे० ३९९, ३११) ; इच्छावाचक रूप सद्दहे (उत्तर० १७०) और सद्दहेंज्जा है (राय० २५० ; पण्णव० ५७७ और ५८३), आज्ञावाचक मे सद्दहसु (सूय० १५१) और सद्दहाहि मिलते हैं (विवाह० १३४ ; राय० २४९ और २५८); जै०महा० मे असद्दहन्तो है (आव०एर्त्से० ३५,४); अ०माग० में सद्दहमाण पाया जाता है (हेच० ४,९ ; आयार० २,२,२,८) । अ०माग० में इन रूपों के अतिरिक्त आडहइ (ओव० § ४४) और आडहन्ति (सूय० २८६) रूप मिलते हैं। § २२२ की तुलना कीजिए। अन्यथा धा धातु की रूपावली –आ मे समाप्त होनेवाली सभी धातुओं के समान (§ ४८३ और ४८७) दूसरे अथवा चौथे गण के अनुसार चलती है : धाइ और धाअइ रूप होते हैं (हेच० ४, २४०) ; महा० में संधन्तेण = संदधता है (रावण० ५, २४) ; अ०माग० और जै०महा० मे यह धातु तालव्यीकरण के साथ साथ (§ २२३) बहुत अधिक काम में आती है : आढामि रूप आया है (आयार० १, ७, २, २ ; विवाह० १२१०), आढाइ भी है (ठाणग० १५६ ; २८५ ; ४७९ और उसके बाद ; विवाग० ४६० और ५७५ ; निरया० § ८ ; १८ ; १९ ; पेज ६१ और उसके बाद ; राय० ७८ ; २२७ ; २५२ ; उवास० § २१५ और २४७ ; नायाध० § ६९ ; पेज ४६० और ५७५ ; विवाह० २२८ और २३४ ; आव० एर्त्से० २७, ३), अ०माग० में आढन्ति है (विवाग० ४५८ ; विवाह० २३९), आढायन्ति आया है (विवाह० २४५ ; नायाध० ३०१ ; ३०२ और ३०५), आढाहिं (विवाग० २१७ ; § ४५६ की तुलना कीजिए), आढाह (नायाध० ९३८) और आढह (विवाह० २३४), आढामाण (विवाह० २४०), आढायमीण (आयार० १, ७, १, १ ; १, ७, २, ४ और ५), अणाढायमीण (आयार० १, ७, १, २) और अणाढायमाण पाये जाते हैं (उवास० [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; इस ग्रन्थ मे अन्यत्र दूसरा रूप भी देखिए ; विवाग० २१७ ; राय० २८२), कर्मवाच्य में अणढाइज्जमाण (विवाह० २३५ ; उवास०) रूप आया है। स्था के समान ही (§ ४८३) धा की रूपावली भी उपसर्ग जुड़ने पर साधारणतः ए- रूपावली के अनुसार चलती है : महा० में संधेइ मिलता है (हाल ७३३ ; रावण० १५, ७६), संधेन्ति (रावण० ५, ५६), संधिन्ति (गउड० १०४१ ; यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए ; इसी काव्य में अन्यत्र दूसरा रूप भी देखिए), विहेसि (गउड०

३३२ ; यहाँ **सम्मेहिच विहेसि** पढ़िए और इसी काव्य में अन्यत्र दूसरा रूप देखिए); अ०माग० में **संधेइ** आया है (आयार० १, १, १, ६), **संधेमाण** भी मिलता है (आयार० १, ६, ३, ३), इच्छावाचक रूप **निहे** है (आयार० १, २, ५, ३ ; १ ; ४, १, ३), **पिहे** भी देखा जाता है (सूय० १२९).; जै०महा० में **अइसन्धेइ** है (आव०एर्त्से० ४६, २५) ; शौर० में **अणुसंधेमि** (कर्पूर० ७०, ३) और **अणुसंधेध** पाये जाते हैं (कर्पूर० २३, १)। अ०माग० में **संधइ** (सूय० ५२७) मिलता है। — **हा** धातु के अ०माग० में **जहासि** (सूय० १७४ और १७६), **जहाई** (सूय० ११८); **जहइ** (ठाणग० २८१), **पजहामि** (उत्तर० ३७७), **विप्पजहामि** (विवाह० १२३७ और १२४२), **विप्पजहइ** (उवास० ; ओव०), **विप्पजहन्ति** रूप मिलते हैं (सूय० ६३३ ; ६३५ ; ९७८), इच्छावाचक रूप **जहे** है (आयार० २, १६, ९), **पयहिज्ज** और **पयहेज्ज** रूप आये हैं (सूय० १२८ और १४७), **पयहे** भी मिलता है (सूय० ४१०), **पजहे** (उत्तर० ४५६) और **विप्पजहे** मिलते हैं (उत्तर० २४४)। आज्ञावाचक **जहाहि** है तथा अशक्रिया **विप्पजहमाण** है (विवाह० १३८५) ; जै०शौर० में **जहादि** और **जहदि** रूप पाये जाते हैं (पव० ३८३, २४ ; ३८५, ६४)। चौथे गण के अनुसार अ०माग० में **हायइ** है (ठाणग० २९४ और उसके बाद ; शौर० में भविष्यत्काल का रूप **परिहाइस्सदि** = **परिहास्यते** मिलता है (शकु० २, १)। — **मा** के विषय में § ४८७ देखिए।

१. पिशल, बे० बाइ० १५, १२१।

§ ५०१—**विहेमि** = **विभेमि** और **विहेइ** = **विभेति** में **भी** प्राचीन रूप उपस्थित करता है (हेच० १, १६९ ; ४, २३८)। **भी** के साथ सम्बन्धित किये गये महा० और जै०महा० रूप **वीहइ** (वर० ८, १९ ; हेच० ३, १३४ और १३६ ; ४, ५३), **वीहन्ते** (हेच० ३, १४२), जै०महा० **वीहसु** (एर्त्से० ८१, ३४) और **ए**- रूपावली के अनुसार महा० में **वीहेइ** (हाल ३११ ; ७७८), जै०महा० में **वीहेहि** (एर्त्से० ३५, ३३ ; ८३, ७), **वीहेसु** (एर्त्से० ८२, २०) वास्तव में **भी** से सम्बन्धित नहीं है किन्तु = ***भीपति** है जो **भीप्** धातु का रूप है। संस्कृत में यह धातु केवल प्रेरणार्थक रूप में काम में लाया जाता है। इसके प्रमाण रूप में अ०माग० में **वीहण** और **वीहणग** शब्द आये हैं (§ २१३ और २६३)। साधारणतः **भी** की रूपावली **ए** में समाप्त होनेवाले धातुओं की भाँति (§ ४७९) चलती है, शौर० और माग० में तो सदा यही होता है। इस नियम से : जै०महा० में **भायसु** हैं (एर्त्से० ३१, १८) ; शौर० में **भाआमि** रूप मिलता है (विक्र० २४, १३ ; ३३, ११), **भाअदि** आया है (रत्ना० ३०१, १८ ; मालवि० ६३, १२) और **भाआहि** भी है, (शकु० ९०, १२ ; मालवि० ७८, २० ; रत्ना० ३००, १० ; प्रिय० १६, १८ ; २१, ५ ; मल्लिका० २९३, १५) ; माग० में **भाआमि** तथा **भाआशि** रूप आये हैं (मृच्छ० १२४, २२ और २३ ; १२५, २१)। महा० में इसकी रूपावली —**आ** में समाप्त होनेवाले धातुओं की भाँति भी चलती है (§ ४७९) : **भाइ** रूप मिलता है (वर० ८, १९ ; हेच० ४, ५३), **भासु** और इसका इसी कवितासंग्रह में अन्यत्र

आनेवाला दूसरा रूप **भाहि** आये हैं (हाल ५८३)। — हु (= हवन करना) अ०-माग० में नवें गण में चला गया है : **हुणामि** और **हुणासि** (उत्तर० ३७५) तथा **हुणइ** रूप मिलते हैं (विवाह० ९, १०) ; द्वित्वीकरण मे भी यही रूपावली चलती है : अ०माग० मे **जुहुणामि** मिलता है (ठाणंग० ४३६ और ४३७)। बोएटलिंक के संक्षिप्त संस्कृत-जर्मन कोश मे **हुन्** (!) शब्द देखिए जिसके भीतर **हुनेत्** भी आया है [कुमाउनी में यह रूप वर्तमान है, सामान्यक्रिया का रूप **हुणीण** है। —अनु०]।

§ ५०२—संस्कृत के पाँचवें गण के अवशेष केवल या प्रायः केवल शौर० में मिलते हैं और उसमें भी यह अनिश्चित है। पाँचवें गण के अधिकांश धातु नवें गण में चले गये हैं परन्तु प्रधानतया –अ और **ए**– रूपावली के अनुसार रूप बनाते हैं : अ०माग० में **संचिणु** रूप मिलते हैं (उत्तर० १७०) ; शौर० में **अवचिणोमि** आया है (मालती० ७२, ५ [१८९२ के बंबइया संस्करण पेज ५३, १ और मद्रासी संस्करण ६१, ३ मे **अवइणुम्मि** पाठ है] ; उन्मत्त० ६, १९), **अवचिणुमो** मिलता है (पार्वती० २७, १४) और **उच्चिणोसि** पाया जाता है (विद्ध० ८१, ९ ; दोनों संस्करणों में यही रूप है ; इसपर भी अनिश्चित है) ; अशुद्ध रूप भी प्रियदर्शिका ११, ४ , १३, १५ और १७ में देखे जाते हैं। इनके विपरीत **चिणइ** रूप भी आया है (वर० ८, २९ , हेच० ४, २३८ और २४१), भविष्यत्काल में **चिणिहिइ** मिलता है (हेच० ४, २४३), कर्मवाच्य में **चिणिज्जइ** है (हेच० ४,२४२,२४३), कर्मवाच्य में **चिणिज्जइ** हैं (हेच० ४, २४२ और २४३) ; **उच्चिणइ** भी पाया जाता है (हेच० ४, २४१), महा० में **उच्चिणसु** और **समुच्चिणइ** (हाल) तथा **विच्चिणन्ति** (गउड०) हैं , अ०माग० में **चिणाइ** (उत्तर० ९३१ , ९३७ ; ९४२ ; ९४८ , ९५२ आदि आदि , विवाह० ११२ , ११३ , १३६ ; १३७), **उवचिणाइ** (उत्तर० ८४२ , विवाह० ११३ , १३६ , १३७), **संचिणइ** (उत्तर० २०५), **उवचिणइ** (विवाह० ३८ और ३९), **चिणन्ति** (ठाणंग० १०७ , विवाह० ६२ और १८२) और **उवचिणन्ति** रूप पाये जाते हैं (ठाणंग० १०८ , विवाह० ६२) ; शौर० में आज्ञावाचक का रूप **अविचिणम्ह** मिलता है (शकु० ७१, ९ ; मालती० १११, २ और ७ [यहाँ यही रूप पढ़ा जाना चाहिए ; इसके दूसरे रूप चैतन्य० ७३, ११ और ७५, १२ मे देखिए [पाठ में **अवचिणुम्ह** है]), कर्मवाच्य मे पूर्णभूतकालिक अंशक्रिया **विचिणिद** है (मालती० २९७, ५), इस धातु के रूप **ए**– रूपावली के अनुसार भी चलते हैं : शौर० में **उच्चिणेदि** मिलता है (कर्पूर० २, ८) और सामान्य क्रिया **अवचिणेदुं** है (ललित० ५६१, ८)। महा०, माग० और अप० मे **चि** की रूपावली पहले गण के अनुसार भी चलती है : **उच्चेइ** रूप मिलता है (हेच० ४, २४१ ; हाल १५९), **उच्चेॅन्ति** भी है (गउड० ५३६), आज्ञावाचक रूप **उच्चेउ** आया है [कुमाउनी में यह रूप **उचे** है। —अनु०] (सिंहराज० पन्ना ४९), सामान्य क्रिया का रूप **उच्चेउं** है (हाल १५९ [कुमाउनी में यह रूप **उचूण** है। —अनु०]) ; माग० में **शचेहि** रूप मिलता है (वेणी० ३५, ९) ; अप० में इच्छावाचक रूप **संचि** है (हेच० ४, ४२२, ४), यही स्थिति **मि** की है, महा० में **णिमेसि** मिलता है (गउड० २९६)। § ४७३ की तुलना कीजिए।

५०३—धु (धू) धातु का रूप महा० में धुणाइ बनाया जाता है (पद्य में; आयार० १, ४, ४, २); महा० और अ०माग० में साधारणतः धुणइ मिलता है (वर० ८, ५६ ; हेच० ४, ५९ और २४१ ; क्रम० ४, ७३ ; गउड० ४३७ ; हाल ५३२ ; रावण० १५, २३ ; विद्ध० ७, २ ; सूय० ३२१), अ०माग० में इच्छावाचक रूप धुणे है (आयार० १, २, ६, ३ ; १, ४, ३, २ ; १, ५, ३, ५ ; सूय० ४०८ और ५५०) ; अ०माग० में विहुणामि भी है (नायाध० ९३८) ; महा० में विहुणइ मिलता है (रावण० ७, १७ ; १२, ६६), महा० और अ०माग० में विहुणन्ति पाया जाता है (गउड० ५५२ ; रावण० ६, ३५ ; १३, ५ , ठाणग० १५५) ; अ०माग० में विहुणे (सूय० ९२१), विहुणाहि (उत्तर० ३११) और निद्धुणे रूप पाये जाते हैं (उत्तर० १७०), क्त्वा— वाले रूप धुणिय और विहुणिय (सूय० १११ और ११३), विहुणिया (आयार० १, ७, ८, २४), संविधुणिय (आयार० १, ७, ६, ५) और निद्धुणित्ताण हैं (उत्तर० ६०५), आत्मनेपद की वर्त्तमानकालिक अंशक्रिया विणिद्धुणमाण है (विवाह० ११, ५३) ; कर्मवाच्य में धुणिज्जइ है (हेच० ४, २४२) ; शौर० में क्त्वा वाला रूप अवधुणिअ आया है (मालती० ३५१, ६) । इस धातु की रूपावली छठे गण के अनुसार भी चलती है : धुवइ रूप है (हेच० ४, ५९), इससे सम्बंधित कर्मवाच्य का रूप धुव्वइ मिलता है (§ ५३६) ; इनके अतिरिक्त ए— वाले रूप भी हैं : महा० में विहुणेन्ति आया है (रावण० ८, ३५) ; शौर० में विधुवेदि मिलता है (मृच्छ० ७१, २०) । हुण, विहूण और विप्पहूण के विषय में § १२० देखिए । — श्रु की रूपावली पाँचवें गण के अनुसार शौर० और माग० में चलती है, किन्तु इसका केवल द्वितीयपुरुष एकवचन का आज्ञावाचक रूप पाया जाता है । इसके अनुसार शौर० में सुणु रूप है (शकु० ७८, ४ ; विक्र० ४२, १२) , माग० में शुणु मिलता है (मृच्छ० १२१, २३ ; वेणी० ३४, १९ [ग्रिल ने अशुद्ध रूप शिणु दिया है]), द्वितीयपुरुष बहुवचन का भी रूप शुणुध पाया जाता है (शकु० ११३, ९) । किंतु शौर० में दोनों स्थानों में दूसरा रूप सुण भी है जैसे रत्नावली ३०४,९ और ३०९, ९ में है , विद्धशालभंजिका ६३, २ में, जिसमें ७२, ५ में इसके विपरीत सुणु है और वहाँ पर इस रूप के साथ-साथ सुणाहि भी पाया जाता है (मृच्छ० १०४, १६ ; शकु० ७७, ६ ; मालवि० ६, ५ ; ४५, १९ ; वृषभ० ४२, ७), प्रथमपुरुष बहुवचन में सुणम्ह देखा जाता है (विक्र० ४१, १७ ; रत्ना० ३०२, ७ ; ३१६, २५), अथवा ए— रूपावली के अनुसार सुणेम्ह चलता है (नागा० २८, ९ ; २९, ७), द्वितीयपुरुष बहुवचन का रूप सुणध भी आया है (शकु० ५८, १२) । इस दृष्टि से शौर० में सर्वत्र सुण पढ़ा जाना चाहिए । स्वयं माग० में भी शुण के स्थान में शुणु रूप वस्तुतःउपन्न होना चाहिए । अ०माग० में द्वितीयपुरुष बहुवचन का रूप शुणाध पाया जाता है (ललित० ५६५, १७ ; ५६६, ५ ; मृच्छ० १५८, १९ ; १६२, १७ ; प्रबोध० ४६, १४ और १७) अथवा शुणेध भी मिलता है (मृच्छ० १५४, ९) और इस प्रकार से शकुंतला ११३, ९ तथा इसके अन्य रूपों और हेमचंद्र ४, ३०२ में शुणध अथवा [जेड. (Z) हस्तलिपि की तुलना

कीजिए] शुणाध पढा जाना चाहिए। निष्कर्ष यह निकलता है कि शौर० और माग० में विशेष प्रचलित रूपावली नवें गण के अनुसार चलती है : शौर० में सुणामि आया है (माल्ती० २८८, १) ; माग० मे शुणामि हो जाता है (मृच्छ० १४, २२) ; शौर० में सुणोमि (वेणी० १०, ५ ; मुद्रा० २४९, ४ और ६) अशुद्ध है। इसके स्थान में अन्यत्र पाया जानेवाला रूप सुणामि या सुणेमि (मुद्रा०) पढ़े जाने चाहिए। शौर० में सुणादि आया है (मालवि० ७१,२; मुकुन्द० १३,१७; मल्लिका० २४४,२), सुणेदि भी है (मृच्छ० ३२५,१९), माग० में शुणादि मिलता है (मृच्छ० १६२,२१)। बोली की परम्परा के विरुद्ध शौर० रूप सुणिमो है (बाल० १०१,५), इसके स्थान में सुणामो शुद्ध है। शौर० मे तृतीयपुरुष एकवचन आज्ञावाचक रूप सुणादु है (मृच्छ० ४०,२१; ७४,५; शकु० २०,१५ ; २१,४ ; ५७,२ ; १५९,१० , विक्र० ५,९ ; ७२, १४ ; ८०, १२ ; ८३, १९ ; ८४, १ ; मालवि० ७८,७ ; मुद्रा० १५९, १२ आदि-आदि)। वास्तव में शौर० में इस रूप की धूम है ; माग० में शुणादु है (मृच्छ० ३७, ३) ; तृतीयपुरुष बहुवचन में शौर० मे आज्ञावाचक रूप सुणन्तु है (मृच्छ० १४२, १०), माग० मे शुणन्त है (मृच्छ० १५१, २३)। महा० में यह वर्ग अ– रूपावली मे ले लिया गया है : सुणइ, सुणिमो, सुणन्ति, सुणसु और सुणहु रूप मिलते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०), इसी भाँति अप० में द्वितीयपुरुष बहुवचन में आज्ञावाचक रूप णिसुणहु पाया जाता है (काल्का० ; २७२, ३७), जै०महा० में सुणई और सुणन्ति आये हैं (काल्का०), सुण मिलता है (द्वार० ४९५, १५) और सुणसु भी है (काल्का० ; एर्से०) ; अ०माग० और जै०महा० मे सुणह मिलता है (जीव० § १८४ , आव०एर्से० ३३, १९) ; अ०माग० मे सुणतु (नायाध० ११३४), सुणमाण (आयार० १, १, ५, २) और अपडिसुणमाण रूप पाये जाते हैं (निरया० § २५)। जै०महा० और अ०माग० में किन्तु ए– रूपावली का बोलबाला है : जै०महा० मे सुणेइ है (आव०एर्से० ३५, ३० , ४२, ४१ ; ४३, २ ; काल्का० , एर्से०) ; अ०माग० मे सुणेमि (ठाणग० १४३), सुणेइ (विवाह० ३२७ ; नन्दी० ३७१ ; ३७२ , ५०४ , आयार० १, १, ५, २ , पेज १३६, ८ और १६ ; पण्णव० ४२८ और उसके बाद), पडिसुणेइ (उवास० ; निरया० , कप्प०) और पडिसुणेन्ति रूप पाये जाते हैं (विवाह० १२२७ ; निरया० ; उवास० , कप्प० [§ ५८ में भी यह रूप अथवा पडिसुणिन्ति पढा जाना चाहिए] आदि आदि)। अ०माग० में इच्छावाचक रूप पडिसुणेज्जा (राय० २५१), पडिसुणिज्जा (कप्प०), पडिसुणे (उत्तर० ३१ और ३३) हैं। तृतीयपुरुष एकवचन आज्ञावाचक के रूप हेमचन्द्र ३,१५८ में सुणउ, सुणेउ और सुणाउ देता है। अ०माग० में सुणेउ पाया जाता है (सूय० २६२), द्वितीयपुरुष बहुवचन सुणेह है (सूय० २४२ , २७२ ; २९७ , ४२३ और उसके बाद ; उत्तर० १)। महा० और जै०महा० में कर्मवाच्य का रूप सुव्वइ है (§ ५३६)। इससे पता चलता है कि कभी इस धातु की रूपावली छठे गण के अनुसार भी चलती रही होगी अर्थात् *सुवइ = *श्रुवति भी काम में आता होगा।

§ ५०४—आप् धातु में प्र उपसर्ग लगने पर इसकी रूपावली पाँचवें गण में चलती है : अ०माग० में पप्पोइ [पाठ में पप्पोत्ति है ; टीका में पपुत्ति दिया गया है] = प्राप्नोति है (उत्तर० ४३०), जै०शौर० में पप्पोदि मिलता है (पव० ३८९, ५) जो पद्य में है। अन्यथा अ०माग० में आप् की रूपावली नवें गण के वर्ग के साथ –अ –वाले रूप में चलती है : पाउणइ = *प्रापुणाति और प्रापुणति है (विवाह० ८४५ ; ओव० § १५३ ; पण्णव० ८४६), पाउणन्ति भी मिलता है (सूय० ४३३ ; ७५९ ; ७७१ ; ओव० § ७४ ; ७५ ; ८१ और ११७) तथा संपाउणन्ति भी देखा जाता है (विवाह० ९२६), इच्छावाचक रूप पाउणेॅज्जा है (आयार० २, ३, १, ११ ; २, ६ ; ठाणंग० १६५ ; ४१६), संपाउणेॅज्जासि भी आया है (पाठ में संपाउणेॅज्जसे है, उत्तर० ३४५) ; सामान्य क्रिया का रूप पाउणित्तए मिलता है (आयार० २, ३, २, ११)। महा०, जै०महा० और जै०शौर० में तथा अ०माग०, शौर० और अप० पद्य में साधारणतः पहले गण के अनुसार रूपावली चलती है : पावइ = *प्रापति है (हेच० ४, २३९)। इस प्रकार महा० में पावसि, पावइ, पावन्ति, पाव और पावउ रूप पाये जाते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०), ए– रूपावली का रूप पावेॅन्ति भी आया है (गउड०) ; अ०माग० में पावइ है (उत्तर० ९३३ ; ९३९ ; ९४४ ; ९५४ आदि आदि ; पण्णव० १३५), इच्छावाचक रूप पाविज्जा आया है (नन्दी० ४०४) ; जै०महा० में पावइ मिलता है (कालका० २७२, ५), पावन्ति आया है (ऋषभ० ४१) और ए– रूपावली के अनुसार पावेइ (एर्सें० ५०, ३४) और पावेॅन्ति रूप मिलते हैं (कालका० २६६, ४ ; एर्सें० ४६, १ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) ; जै०शौर० में पावदि (पव० ३८०, ११ ; कत्तिगे० ४००, ३२६ ; ४०३, ३७०) पाया जाता है ; शौर० में पावन्ति है (विद्ध० ६३, २) ; कृदन्त रूप जै०शौर० में पाविय है (कत्तिगे० ४०२, ३६९) और ए– रूपावली के अनुसार जै०शौर० और शौर० में पावेदि (कत्तिगे० ३९९, ३०७, रत्ना० ३१६, ५) और पावेहि (मालवि० ३०, ११ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) ; अप० में पावमि रूप आया है (विक्र० ७१, ८)। इसी मूल शब्द से भविष्यत्काल बनाया जाता है : शौर० में पावइस्सं मिलता है (शकु० ५४, ३)। हेमचन्द्र ने ३, ४०२ में मुद्राराक्षस १८७, २ उद्धृत किया है, इसमें माग० रूप पावेमि पढ़ा है ; हस्तलिपियों और छपे संस्करणों में आचेमि, जाचेमि और पडिच्छेमि रूप आये हैं। हेमचन्द्र ४, १४१ और १४२ में वावेइ = व्याप्नोति और समावेइ = समाप्नोति का उल्लेख भी है।

§ ५०५—तक्ष् की रूपावली संस्कृत के समान ही पहले गण के अनुसार चलती है : अ०माग० में तच्छन्ति (सूय० २७४) और तच्छिय रूप पाये जाते हैं (उत्तर० ५९६)। — शक् धातु का शौर० रूप सक्कणोमि = शक्नोमि का बहुत अधिक प्रचार है (§ १४० और १९५ ; शकु० ५१, २ ; रत्ना० ३०५, ३३ ; ३१७, १७ ; उत्तररा० ११२, ८) अथवा सक्कुणोमि (मृच्छ० १६६, १३ ; विक्र० १२, १२ ; १५, ३ ; ४६, १८ ; मुद्रा० २४२, ३ ; २४६, १ ; २५३, २ [सर्वत्र यही पाठ पढ़ा

जाना चाहिए]; नागा० १४, ८ और ११ ; २७, १५ आदि आदि) पाया जाता है। अन्य प्राकृत बोलियों में इसकी रूपावली चौथे गण के अनुसार चलती है : सक्कइ = *शक्यति (वर० ८, ५२ ; हेच० ४, २३० ; क्रम० ४, ६०)। इस प्रकार जै०महा० और अप० में सक्कइ रूप मिलता है (एर्त्से० ; हेच० ४, ४२२, ६ ; ४४१, २), जै०महा० में इच्छावाचक रूप सक्के ज्ज है (एर्त्से० ७९, १) और ए- रूपावली के अनुसार जै०महा० में सक्केइ (आव०एर्त्से० ४२, २८), सक्केंति (एर्त्से० ६५, १९) और सक्केह रूप मिलते हैं (सगर० १०, १३ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए])। इच्छावाचक रूप सक्का के विषय में § ४६५ देखिए। स्तृ धातु जिसकी रूपावली संस्कृत में पाँचवें और नवें गण के अनुसार चलती है, प्राकृत में अन्त में ऋ लगनेवाले धातुओं के अनुकरण पर की जाती है : महा० में ओत्थरइ = अवस्तृणोति है और ओ त्थरिअ = अवस्तृत है, वित्थरइ, वित्थरन्त-, वित्थरिउं और वित्थरिअ रूप भी पाये जाते हैं (रावण०), जै०महा० में वित्थरिय = विस्तृत है (एर्त्से०), शौर० में वित्थरन्त- आया है (माल्ती० ७६, ४ ; २५८, ३), अप० में ओ त्थरइ मिलता है (विक्र० ६७, २०)। इन्हीं धातुओं से सम्बन्धित उत्थंघइ भी है (= ऊपर उठाना , ऊपर को फेंकना : हेच० ४, ३६ तथा १४४), कर्मवाच्य की भूतकालिक अंशक्रिया उत्थंघिअ है (रावण० में स्तम्भ शब्द देखिए) = *उत्स्तघ्नोति है (पिशल, बे० बाइ० १५, १२२ और उसके बाद)। § ३३३ की तुलना कीजिए।

§ ५०६ —सातवें गण की रूपावली प्राकृत में एकदम लुप्त हो गयी है। अनुनासिक निबल रूपों से सबल रूपों में चला गया है और मूलशब्द (= वर्ग) की रूपावली -अ अथवा ए- रूप के अनुसार चलती है : छिन्तइ = छिनत्ति है (वर० ८, ३८ ; हेच० ४, १२४ और २१६ , क्रम० ४, ४६ , मार्क० पन्ना ५६), अच्छिन्दइ भी मिलता है (हेच० ४, १२५) ; महा० में छिन्दइ आया है (गउड०) और वोच्छिन्दन्त- रूप भी पाया जाता है (रावण०) , जै०महा० में छिन्दामि और छिन्देइ रूप मिलते हैं (एर्त्से०), कृदन्त (= क्त्वा- वाला रूप) छिन्दित्तु रूप आया है (कालका०) ; अ०माग० में छिन्दामि है (अणुओग० ५२८ ; निरया० § १६) ; छिन्दसि (अणुओग० ५२८), छिन्दइ (सूय० ३३२ , विवाह० १२३ और १३०६ ; नायाध० १४३६ ; उत्तर० ७८९), अच्छिन्दइ और विच्छिन्दइ (ठाणंग० ३६०), वो च्छिन्दसि तथा वो च्छिदइ रूप भी पाये जाते हैं (उत्तर० ३२१ और ८२४), इच्छावाचक रूप छिन्दे ज्जा हैं (विवाह० १२३ और १३०६), छिन्दे है (उत्तर० २१७), अच्छिन्दे ज्जा आया है (आयार० २, ३, १, ९ ; २, ९, २ ; २, १३, १३) और विच्छिन्दे ज्ज भी मिलता है (आयार० २, १३, १३), छिन्दाहि रूप चलता है (दस० ६१३, २७) तथा छिन्दह है (आयार० १, ७, २, ४), वर्तमानकालिक अंशक्रिया छिन्दमाण है (अणुओग० ५२८), कृदन्त पलिच्छिन्दियाणं है (आयार० १, ३, २, ४) , शौर० में कृदन्त का रूप परिच्छिन्दिअ मिलता है (विक्र० ४७, १)। अ०माग० रूप अच्छे के विषय में § ४६६ और ५१६ देखिए। — पीसइ जो *पिंसइ (§ ७६) के स्थान में आया है =

पिनष्टि है (हेच० ४, १८५) ; शौर० में पीसेइ रूप मिलता है (मृच्छ० ३, १ और २१)। — भञ्जइ = भनक्ति (हेच० ४, १०६) ; महा० में भञ्जइ और भञ्जन्त- रूप पाये जाते हैं (हाल ; रावण०) ; जै०महा० में भञ्जिऊण तथा भञ्जेऊण हैं (एर्से०) ; अ०माग० में भञ्जइ और भञ्जए आये हैं (उत्तर० ७८८ और ७८९) ; शौर० में भविष्यत्काल का रूप भञ्जइस्ससि मिलता है (विक्र० २२, २), कृदन्त में भञ्जिअ चलता है (मृच्छ० ४०, २२ ; ९७, २३)। माग० में भय्यदि [पाठ में भञ्जदि है ; कलकतिया संस्करण में भञ्जेदि दिया गया है] (मृच्छ० ११८, १२) कर्मवाच्य माना जाना चाहिए तथा विभय्य [पाठ में विभञ्ज है] (मृच्छ० ११८, २१) इससे सम्बन्धित आज्ञावाचक रूप ; इसके विपरीत शौर० में आज्ञावाचक रूप भञ्जेध है (मृच्छ० १५५, ४) जो कर्तृवाच्य के अर्थ में आया है, जिसके साथ § ५०७ में आये हुए रूप जुञ्जइ की तुलना की जानी चाहिए। — भिन्दइ = भिनन्ति है (वर० ८, ३८ ; हेच० ४, २१६ ; क्रम० ४, ४६ ; मार्क० पन्ना ५६) ; महा० में भिन्दइ और भिन्दन्त- रूप मिलते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०) ; जै०महा० में भिन्दइ आया है (एर्से०) ; अ०माग० में भिन्दइ (ठाणग० ३६० ; विवाह० १३२७), भिन्देन्ति और भिन्दमाणे रूप पाये जाते हैं (विवाह० १२२७ और १३२७), इच्छावाचक रूप भिन्देज्जा है (आयार० २, २, २, ३ ; २, ३, १, ९) ; शौर० और माग० में कृदन्त का रूप भिन्दिअ है (विक्र० १६, १ ; मृच्छ० ११२, १७)। अ०माग० अब्भे के विषय में § ४६६ और ५१६ देखिए।

§ ५०७—भुज् के भुञ्जइ (हेच० ४, ११० ; मार्क० पन्ना० ५६) और उवहुञ्जइ रूप बनते हैं (हेच० ४, १११) ; महा० में भुञ्जसु मिलता है (हाल) ; जै०महा० में भुञ्जइ (एर्से०), भुञ्जई (आव०एर्से० ८, ४ और २४), भुञ्जन्ति (एर्से० ; कालका०), भुञ्जए (आत्मनेपद ; एर्से०), भुञ्जाहि (आव०एर्से० १०, ४०), भुञ्जसु (आव०एर्से० १२, २०), भुञ्जह, भुञ्जमाण, भुञ्जिय और भुञ्जित्ता रूप पाये जाते हैं (एर्से०) ; अ०माग० में भुञ्जइ (उत्तर० १२ ; विवाह० १६३), भुञ्जई (सूय० २०९) ; भुञ्जामो (विवाह० ६२४), भुञ्जह (सूय० १९४ ; विवाह० ६२३), भुञ्जन्ति (दस० ६१३, १८), भुञ्जेज्जा (आयार० २, १, १०, ७ ; विवाह० ५१५ और ५१६) और भुञ्जे रूप देखने में आते हैं (उत्तर० ३७ ; सूय० ३४४), आज्ञावाचक रूप भुञ्ज (सूय० १८२), भुञ्जसु तथा भुञ्जिमो (उत्तर० ३६९ और ६७५), भुञ्जह (आयार० २, १, १०, ७) रूप पाये जाते हैं और भुञ्जमाण भी मिलता है (पण्णव० १०१ ; १०२ [पाठ में भुञ्जेमाण है] ; १०३ [पाठ में भुञ्जेमाण है] , कप्प०) ; जै०शौर० में भुञ्जदे है (कत्तिगे० ४०३, ३८२ ; ४०४, ३९०), शौर० में भुञ्जसु आया है (मृच्छ० ७०, १२), सामान्य क्रिया भुञ्जिदुं है (धूर्त० ६, २१) ; अप० में भुञ्जन्ति आया है और सामान्यक्रिया का रूप भुञ्जणहं और भुञ्जणहिँ हैं (हेच० ४, ३३५ ; ४४१, १)। — युज् का वर्तमानकाल के रूप जुञ्जइ और जुञ्जइ होते हैं (हेच० ४, १०९ [कुमाउनी जुञ्जइ चलाता है और हिन्दी में इसका रूप जुझना है। —

अनु०])। इसके साथ भज्जेध (§ ५०६) और नीचे दिये गये रुध् की तुलना कीजिए। महा० में पउञ्जइउ रूप मिलता है (कर्पूर० ७, १)। महा० में जुज्जए, जुज्जइ (हाल) और जुज्जन्त- (रावण०) कर्मवाच्य के रूप हैं। अ०माग० में जुञ्जइ (पण्णव० ८४२ और उसके बाद ; ओव० § १४५ और १४६) और पउञ्जइ रूप मिलते हैं (विवाह० १३१२ ; नायाध० § ८९)। इच्छावाचक रूप जुञ्जे है (उत्तर० २९) और पउञ्जे भी मिलता है (सम० ८६)। जुञ्जमाण भी आया है (पण्णव० ८४२ और उसके बाद)। कृदन्त रूप उवउञ्जिऊण है (विवाह० १५९१) ; जै०महा० में कृदन्त का रूप निउञ्जिय है (एर्त्से०) ; शौर० में पउञ्जध मिलता है (कर्पूर० ६, ७), कर्मवाच्य का वर्तमानकालिक आज्ञावाचक रूप पउञ्जीअदु है (मृच्छ० ९, ७), जब कि शौर० मे जिस जुज्जदि का बार बार व्यवहार किया जाता है (मृच्छ० ६१, १० ; ६५, १२ ; १४१, ३ ; १५५, २१ ; शकु० ७१, १० ; १२२, ११ ; १२९, १५ ; विक्र० २४, ३ ; ३२, १७ ; ८२, १७ आदि आदि) = युज्यते है। जै०शौर० भविष्यत्काल का रूप अहिउञ्जिस्सदि = अभियोक्ष्यते है (उत्तररा० ६९, ६)। — रुध् का रुन्धइ बनता है (वर० ८, ४९ ; हेच० ४, १३३, २१८ ; २३९ ; क्रम० ४, ५२ ; मार्क० और सिंहराज० पन्ना ५६)। इस प्रकार महा० मे रुन्धसु मिलता है (हाल), अ०माग० में रुन्धइ आया है (ठाणंग० ३६०) ; शौर० मे रुन्धेदि है (मल्लिका० १२६, ३ ; पाठ मे रुन्धेइ है) ; अप० में कृदन्त रूप रुन्धेविणु आया है (विक्र० ६७, २०), रुज्झइ = *रुध्यति भी मिलता है (हेच० २, २१८), इसमें अनुनासिक लगा कर णिरुञ्झइ रूप काम मे आता है (हाल ६१८), जै०शौर० मे भी कृदन्त निरुञ्झित्ता पाया जाता है (पव० ३८६, ७०) जिससे अ०माग० विगिञ्चइ = विकृन्त्यति की पूरी समानता है (§ ४८५)। महा० और अ०माग० मे रुम्भइ है (वर० ८, ४९ ; हेच० ४, २१८ ; क्रम० ४, ५२ ; मार्क० और सिंहराज० पन्ना ५६ ; हाल, रावण० ; उत्तर० ९०२), अ०माग० मे निरुम्भइ आया है (उत्तर० ८३४)। महा० और जै०महा० में कर्मवाच्य का रूप रुब्भइ मिलता है (§ ५४६)। ये रूप किसी धातु *रुभ् के हैं जो वर्ग्य वर्णों में समाप्त होनेवाले धातुओं की नकल पर बने हैं (§ २६६)। —हिंस् का रूप अ०माग० मे हिंसइ है = हिनस्ति है (उत्तर० ९२७ ; ९३५ ; ९४० ; ९४५ ; ९५० आदि आदि), विहिंसइ भी मिलता है (आयार० १, १, १, ४; ५, ५ ; ६, ३) और हिंसन्ति भी आया है (आयार० १, १, ६, ५)।

§ ५०८—कृ के रूप आठवें गण के अनुसार पाये जाते हैं किन्तु केवल अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में। इसमें यह होता है कि निबल मूल शब्द कुरु कुर्व रूप धारण कर लेता है और अ- वर्ग में ले जाया गया है : अ०माग० में कुव्वइ = *कुर्वति है (सूय० ३२१ ; ३१८ [पाठ में कुव्वई है]; ३५९ [पाठ में कुव्वई है] ; ५५० ; ५५१ ; उत्तर० ४३ ; दस० ६१३, १९ [पाठ में कुव्वई है]), पकुव्वइ मिलता है (आयार० १, २, ६२), विउव्वइ आया है (विवाह० ११४, राय० ६० और उसके बाद ; ७९ ; ८२ ; उवास० ; नायाध० ;

कप्प० ; इत्यादि), कुव्वन्ती = कुर्वन्ती है (सूय० २२१ ; २४० ; ३५९ ; ४७२; ६४६ ; विवाह० ४०९), विकुव्वन्ति भी है (विवाह० २१४ और २१५), इच्छावाचक कुव्वेज्जा और कुव्वेज्ज रूप हैं (उत्तर० १९ और २८९), साधारणतः किन्तु कुज्जा रूप चलता है (§ ४६४), आज्ञावाचक कुव्वहा (आयार० १, ३, २, १), आत्मनेपद की वर्तमानकालिक अंशक्रिया कुव्वमाण है (आयार० १, १, ३, १ ; पण्णव० १०४ ; नायाध० ९३०), विउव्वमाण (विवाह० १०३३ और उसके बाद ; १०५४) और पकुव्वमाण भी आये हैं (आयार० १, २, ३, ५ ; १, ५, १, १) ; जै०महा० में कुव्वई रूप आया है (कालका०), कुव्वन्ति है (आव०एर्से० ७, ११), विउव्वइ (आव०एर्से० ३५, ६) और विउव्वए मिलते हैं (आव०एर्से० ३६, २७), कृदन्त विउव्विऊण है , कर्मवाच्य की पूर्णभूतकालिक अंशक्रिया विउव्विय आयी है (एर्से०) ; जै०शौर० में कुव्वदि रूप मिलता है (कत्तिगे० ३९९, ३१३ ; ४००, ३२९ ; ४०१, ३४० ; ४०२, ३५७) । आत्मनेपद का रूप कुव्वदे है (कत्तिगे० ४०३, ३८४) । पाँचवें गण के अनुसार वैदिक रूपावली महा०, जै०महा०, जै०शौर० और अप०में रह गयी है । वैदिक कृणोति का रूप § ५०२ के अनुसार कुणइ बन जाता है (वर० ८, १३ ; हेच० ४, ६५ ; क्रम० ४, ५४ ; मार्क० पन्ना ५९ [कुमाउनी वैदिक कृणो सि का कणोंदा रूप है । —अनु०]) । इस नियम से महा० कुणसि, कुणइ, कुणन्ति, कुण, कुणसु, कुणउ और कुणन्त रूप मिलते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०); जै०महा० में कुणइ (कालका० ; ऋषभ०), कुणन्ति और कुणह (कालका०) , कुणसु (कालका० ; एर्से०; सगर० ६, २ ; ११ ; १२), कुणन्त- तथा कुणमाण- (कालका० ; एर्से०), कुणन्तेण (कक्कुक शिलालेख १५) तथा एक ही स्थान में कुणई मिलता है जो अ०माग० पद्य में आया है (सम० ८५) ; जै०शौर० में कुणदि पाया जाता है (कत्तिगे० ३९९, ३१० और ३१९ ; ४०२, ३५९ और ३६७ ; ४०३, ३७० ; ३७१ ; ३८५ ; ४०४, ३८८ ; ३८९ ; ३९१) ; अप० में कुणहु (पिंगल १, १६ , ५३ ; ७९ [पाठ में कुणह है]) और कुणेहु रूप मिलते हैं (पिंगल १, ९० और ११८) । शौर० और माग० कुण- का व्यवहार कभी नहीं किया जाता (वर० १२, १५ , मार्क० पन्ना ७२) । इसलिए नाटकों में इसका व्यवहार केवल महा० में रचित गाथाओं में ही शुद्ध है जैसे, रत्नावली २९२, ६ ; मुद्राराक्षस ८३, २ ; धूर्तसमागम ४, १९ ; नागानन्द २५, ४ ; ४१, ५; बालरामायण १२०, ६ ; विद्धशालभंजिका ९२, ८ ; कर्पूर० ८, ९ ; १०, १ ; १ ; ५५, ३ ; ६७, ५ आदि आदि ; प्रतापरुद्रीय २१८, १७ ; २२०, १५ ; २८९, १४ इत्यादि में भूल से राजशेखर ने शौर० में भी कुण- का प्रयोग किया है जैसे, बालरामायण, ६९, १३ ; १६८, ७ ; १९५, १३ ; २००, १३ ; विद्धशालभंजिका ३६, २ ; ४८, ९ और ११ ; ८०, १४ ; ८३, ५ ; १२३, १४ । कुणोमि के स्थान में (कर्पूर० बम्बइया संस्करण १०७, ६) कोनो ठीक ही करोम्हि पाठ पढ़ता है (कोनो द्वारा सम्पादित संस्करण ११५, ६) और ऐसी आशा की जाती है कि इसके सुआलोचित संस्करण बालरामायण और विद्धशालभंजिका शौर० का कुण- निकाल डालेंगे । किन्तु

यह रूप बाद के नाटकों में भी मिलता है जैसे, हास्यार्णव ३२, १२ ; ३९, १४ ; चैतन्यचन्द्रोदय ३६, ११ ; ३७, ५ ; ३९, १ और १० ; ४४, १२ ; ४७, ७ ; ८०, १४ ; ९२, १४ ; कर्ण० २२, ८ ; जीवा० ३९, १५ ; ४१, ७ ; ८१, १४ ; ९५, २; माल्लिकामारुतम् ६९, १ ; ३३६, ३ आदि आदि । इनमें बात यह है कि प्रकाशक अथवा सम्पादक की भूल नहीं है, स्वयं लेखक इस अशुद्धि के लिए उत्तरदायी है । एक भीषण भूल शौर० **कुम्मो** = **कुर्मः** है (जीवा० १३, ६) । इसके विपरीत ढक्की रूप **कुलु** = **कुरु** शुद्ध है (मृच्छ० ३१, १६) ।

§ ५०९— ऋ में समाप्त होनेवाली धातुओं के अनुकरण के अनुकरण में अधिकांश में कृ की रूपावली पहले गण के अनुसार चलती है (§ ४७७) : **करइ** रूप पाया जाता है (वर० ८, १३ ; हेच० ४, ६५ ; २२४ ; २३९ ; मार्क० पन्ना ५९), किन्तु महा०, जैंमहा०, अ०माग० और जैंशौर० में प्रायः तथा शौर० और माग० में बिना अपवाद के इसके रूप **ए**- के साथ चलते हैं । अ- वाले निम्नलिखित हैं : पल्लवदानपत्र में इच्छावाचक रूप **करेॅय्य** और **करेॅय्याम** आये हैं (६, ४० ; ७, ४१) ; महा० में **करन्त** मिलता है (रावण०) ; जैंमहा० में **करए** = **कुरुते** है (कालका० दो, ५०६, ५), **करन्ति** भी है (ऋषभ० ३९ और ४०) ; अ०माग० में **करई** है (अनिश्चित है ; राय० २३३), **करन्ति** (सूय० २९७ ; उत्तर० ११०१ ; विवाह० ६२ ; जीवा० १०२ ; पण्णव० ५६ ; ५७४), **पकरन्ति** (उत्तर० १५ ; पण्णव० ५७५), **वियागरन्ति** और **वागरन्ति** (सूय० ५२३ और ६९५) रूप पाये जाते हैं ; जैंशौर० में **करदि** आया है (कत्तिगे० ४००, ३३२); अ०माग० में इच्छावाचक रूप **करे** है (सूय० ३४८ , ३८५ ; ३९३), **निराकरे** मिलता है (सूय० ४४२), **करेॅज्जा** (§ ४६२), **वियागरेॅज्जा** (सूय० ५२५ और ५२७) तथा **वागरेॅज्जा** रूप भी पाये जाते हैं (आयार० २, ३, २, १७) , अप० में **करिमि** (विक्र० ७१, ९), **करउँ** (हेच० ४, ३७०, २), **करइ**, **करदि**, **करन्ति** और **करहिँ** रूप पाये जाते हैं (हेच० में कर् धातु देखिए) । इच्छावाचक रूप **करि** आया है (हेच० ४,३८७,२ ; शुकसप्तति ४९,४ , प्रबन्ध० ६३,७), आज्ञावाचक **करहि** है (हेच० ४, ३८५ , पिंगल १, १४९), **करु** (हेच० ४, ३३०, ३) तथा **करहु** भी आये हैं (हेच० ४, ३४६ ; पिंगल १, १०२ , १०७ ; १२१ [पाठ में **करह** है]), सामान्यक्रिया **करण** है, कृदन्त में **करेवि** और **करेप्पिणु** रूप मिलते हैं (हेच० में कर् धातु देखिए) जो बहुत चलते हैं । — निम्नलिखित **ए**- वाले रूप उक्त रूपों से भी अधिक काम में आये हैं : महा० में **करेॅमि**, **करेसि**, **करेइ**, **करेॅन्ति**, **करेहि**, **करेसु** और **करेॅन्त** रूप आये हैं (हाल , रावण०) ; जैंमहा० में **करेइ** मिलता है (एत्सें० ; कालका० ; आव०एत्सें० ९, १७ , १४, १४), **करेमो** (एत्सें० २, २७ ; ५, ३५ ; कालका० २६४, ११, और १४ , आव०एत्सें० १७, १४ ; सगर० २, १४), **करेॅन्ति** (एत्सें० ; कालका०), **करेहि**, **करेसु** तथा **करेह** (कालका०), **करेन्त**, **करेमाण** ((एत्सें०) रूप पाये जाते हैं , अ०माग० में **करेमि** (ठाणग० १४९ और और ४७६ ; नायाध० § ९४ ; उवास०), **करेइ** (आयार० १, २, ५, ६ ; १, ३,

२, १ ; सूय० ४०३ ; ४०६ ; ८५३ ; विवाह० ९१५ ; ९१७ ; ९३१ ; ९४५ ; निरया० ४९ ; उवास० ; कप्प०), फरेमो (सूय० ७३४), फरेन्ति (आयार० १, ३, २, १ ; राय० १८३ ; जीवा० ५७७ और ५९७ ; उवास०; कप्प०) रूप पाये जाते हैं। आज्ञावाचक वियागरेहि (सूय० ९६२) और करेह हैं (उवास० ; नायाध०; कप्प०), करेमाण आया है (उवास०) तथा वियागरेमाणे और वियागरेइ भी मिलते हैं (आयार० २, २,३,१) । इनसे तुक मिलनेवाला रूप अ०माग० में कज्जन्ति है (उवास० § १९७ और १९८) जो कर्तृवाच्य में आया है ; इसके समान स्थिति में § १८४ में करेन्ति दिया गया है ; जै०शौर० में करेदि दिखाई देता है (पव० ३८४, ५९ ; कत्तिगे० ४००, ३२४ ; ४०२, ३६९ ; ४०३, ३७७ और ३८३) ; शौर० में करेमि आया है (ललित० ५६१, १५ ; मृच्छ० १६, ४ ; १०३, १७ ; १५१, २२; शकु० १६५, ८ ; विक्र० ८२, ५ ; ८३, ५ और ६ आदि-आदि), करेसि है (रत्ना० ३०३, ३९ ; मालती० २६५, २ ; प्रबोध० २४४, २ [पूने का, मद्रासी और बबइया सस्करण के साथ यही रूप पढ़ा जाना चाहिए]), करेदि (ललित० ५६०, ९; मृच्छ० ७३, ११ ; १४७, १८ ; १५१, १९ और २० ; शकु० २०, ५ ; ५६, १६ ; विक्र० ७५, ५), करेमो (शकु० ८०, ५ [यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) । अलंकरेन्ति (मालती० २७३, ५ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; इस नाटक में अन्यत्र दूसरे रूप भी देखिए), करेहि (मृच्छ० ६६, १४ ; ३२५, १८; ३२६, १०), करेसु (रत्ना० २९९, ५ ; ३१६, ६ ; ३२८, २४ ; वेणी० ९८, १५ ; प्रसन्न० ८४, ९ ; कर्ण० २१, ७ ; ३०, ५ ; ३७, २०), करेदु (मालती० ३५१, ५), करेम्ह (शकु० १८, १६ ; विक्र० ६, १५ ; १०, १५ ; ५३, १४ ; प्रबोध० ६३, ११ ; रत्ना० ३०३, २१ ; उत्तररा० १०१, ८), करेध (मालती० २४६, ५) और करेन्त रूप पाये जाते हैं (मृच्छ० ६, १३ ; ४०, २३ ; ६०, २५ ; ६१, २४ ; १०५, १ ; १४८,८) । — माग० में कलेमि (मृच्छ० १२, १५ ; ३१, १७ और २० ; ९७, ४ ; ११३, २३ आदि आदि ; शकु० ११४, ३), कलेशि (मृच्छ० १५१, २५ ; १६०, ३), कलेदि (मृच्छ० ८१, ६ ; १२७, ६ , १३५, २ ; १५८, २५ ; नागा० ६८, ५ [यहाँ यही रूप पढ़ा जाना चाहिए]), कलेहि (मृच्छ० ३१, ८ ; १२३, १० ; १७६, ५), कलेम्ह (मृच्छ० १६७, ११ ; १६८, ७ ; १७०, २१ , वेणी० ३६, ६ ; चड० ७१, १०), कलेध (मृच्छ० ३२, १५ ; ११२, २ ; १४०, २३) और कलेन्तआ रूप आये हैं (सबोधन ; मृच्छ० ३०, ९ ; १०८, १७) ।

§ ५१०—प्राकृत की अधिकाश बोलियों में केवल ज्ञा धातु के भिन्न रूप मिलते हैं जो नवें गण के अनुसार है। § १७० के अनुसार इस धातु के रूप न के बाद आने पर आदि का ज उड़ जाता है : महा० में जाणाइ आया है (कर्पूर० ३५, ८) ; जै० महा० में जाणासि रूप मिलता है है (एर्त्से० ५७, ८) ; अ०माग० में भी जाणासि है (विवाह० १२७१ ; राय० २६७ ; उत्तर० ७४५), अणुजाणाइ आया है (सूय० १, और १६), न याणाइ और जाणाइ (सूय० १६१ और ५२०), परियाणाइ (विवाह० २२८ ; राय० २५२ [पाठ में परिजाणाइ है]), वियाणासि और विया-

णाइ रूप मिलते हैं (उत्तर० ७४५ और ७९१) ; जै०शौर० में **जाणादि** (पव० ३८२, २५ ; ३८८, ४८) और **वियाणादि** रूप हैं (पव० ३८८, २) ; शौर० में **जाणासि** रूप पाया जाता है (मृच्छ० ५७, ९ ; ६५, १० , ८२, १२ , शकु० १३, ५ ; मालती० १०२, ३ ; मुद्रा० ३७, २) ; दाक्षि० में **आणासि** चलता है (मृच्छ० १०१, ८ , ९ और १०) , शौर० में **जाणादि** देखने में आता है (विक्र० ९, ४ ; मालती० २६४, ५ ; महावीर० ३४, १ ; मुद्रा० ३६, ३ ; ४ और ६ , ५५, १ आदि-आदि) ; माग०, शौर० और दाक्षि० में **आणादि** भी मिलता है (मृच्छ० ३७, २५ , ५१, २५ , १०१, ११); शौर० में **विआणादि** आया है (प्रबोध० १३, १९), **जाणादु** है (मृच्छ० ९४, १३ ; मुद्रा० ३६, ७) ; माग० में **याणासि** (वेणी० ३४, १८), **याणादि** (मृच्छ० ११४, १), **आणादि** (मृच्छ० ३७, २५) तथा **विअणादि** और **पच्चभिआणादि** रूप पाये जाते हैं (मृच्छ० ३८, १३ ; १७३, ७) । शौर० और माग० को छोड़ अन्य सब प्राकृत बोलियों में **ज्ञा** अधिकांश में अ- रूपावली के अनुसार चलता है : **जाणइ** है (वर० ८, २३ , हेच० ४, ४७ ; क्रम० ४, ४७) । इस प्रकार : महा० में **जाणिमि, जाणसि, जाणसे, जाणइ, जाणिमो** और **जाणामो, जाण** तथा **जाणसु** रूप आये हैं (हाल), ण के बाद : **आणसि, आणइ, आणिमो** और **आणह** रूप मिलते हैं (हाल ; रावण०) ; जै०महा० में **जाणसि** (द्वार० ५०२, २१), **न याणसि** (एर्त्से० ५२०, १७), **जाणइ** (एर्त्से० ११, २ , कालका० २७७, १०) और **न याणइ** पाये जाते हैं (आव० एर्त्से० २१, १८ ; ३८, ८ ; एर्त्से० ३०, ३ ; ३७, २५) ; अ०माग० में **जाणसि** (उत्तर० ७४५), **जाणइ** (विवाह० २८४ , ३६३ , ९११ ; ११९४ ; ११९८ आदि आदि ; सूय० ४७६ और ५४० , उत्तर० २०२ ; आयार० १, २, ५, ४ ; पण्णव० ३६६ , ४३२ , ५१८ और उसके बाद , ६६६ ; जीवा० ३३९ और उसके बाद), **परिजाणइ** (आयार० पेज १३२, ९ और उसके बाद), **अणुजाणइ** (विवाह० ६०३ और उसके बाद), **समणुजाणइ** (आयार० १, १, ३, ६ ; १, २, ५, २ और ३), **जाणामो** (विवाह० १३३ , १४४ , ११८० , १४०६ ; ठाणंग० १४७ , सूय० ५७८), **जाणह** और **परियाणह** (विवाह० १३२ और २३४) रूप मिलते हैं । इच्छावाचक **जाणे** है (सूय० ३६४) । आज्ञावाचक **जाण** है (आयार० १, ३, १, १) । और **जाणाहि** भी मिलता है (सूय० २४९ और ३०४ ; कप्प० एस. (S.) § ५२) । **वियाणाहि** (पण्णव० ३९), **समणुजाणाहि** (सूय० २४७), **अणुजाणउ** (कप्प० § २८) और **जाणह** भी आज्ञावाचक है (आयार० १, ४, २, ५) । **जाणमाण** भी पाया जाता है (सम० ८२) । जै०शौर० में **जाणदि** है (कत्तिगे० ३९८, ३०२), **वियाणदि** (पव० ३८१, २१) और **जाण** रूप भी मिलते हैं (कत्तिगे० ४०१, ३४२) , शौर० में **जाणामो** [पाठ में अशुद्ध रूप **जाणिमो** है , इसी ग्रन्थ में अन्यत्र आये हुए दूसरे रूप की तुलना कीजिए] (मालती० ८२, ९ ; ९४, ३ ; २४६, २ ; २४८, १ ; २५५, ४ ; विद्ध० १०१, १), **ण आणध** भी है (मालती० २४५, ८) । आज्ञावाचक के **जाण** (कर्पूर० ६३, ८) और **जाणाहि**

रूप (मृच्छ० ४१, २४ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]; १६९, २०; विक्र० १५, १०; ४१, ५; मालती० २३९, १ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), अणुजाणादि (शकु० २६, १२: विक्र० २९, ९) रूप पाये जाते हैं। माग० में याणाहि (मृच्छ० ८०, २१) मिलता है; अप० में जाणउँ (हेच० ४, ३९१; ४३९, ४), जाणइ (हेच० ४, ४०१, ४; ४१९, १), जाणु (पिंगल १ २६ [पाठ में जाण है]) और जाणहु रूप पाये जाते हैं (पिंगल १,१०५; १०६ और १४४)। शौर० और माग० में यह रूपावली अ- वर्ग के अनुसार जाणामो, जाण और जाणाहि तक ही सीमित है, किन्तु ऐसा न माना जाना चाहिए कि ये रूप सबल मूल शब्द से नवें गण के अनुसार बनाये गये हैं और ऐसा ही रूप जाणध भी है। शौर० में जाणसि भाषा की परम्परा के प्रतिकूल है (ललित० ५६०, १८), जाणेदि भी (नागा० ६७,३-) अशुद्ध है। इसके स्थान में इसी ग्रन्थ में अन्यत्र आये हुए दूसरे रूप के अनुसार जाणादि पढ़ा जाना चाहिए, जैसा कि माग० याणदि के स्थान में (हेच० ४, २९२), पच्चहिजाणेदि (मृच्छ० १३२, २४) के लिए पच्चहिजाणादि पढ़ना चाहिए। इसके विरुद्ध जै०महा० में ए- रूप जाणेइ शुद्ध है (कालका० तीन, ५१२, ४)। जै०शौर० वियाणेदि (कत्तिगे० ३९९, ३१६; पाठ में वियाणेइ है) और अप० जाणेहु में (पिंगल १, ५ और १४) भी ए- रूप शुद्ध हैं। जै०शौर० में णादि = ज्ञाति भी आया है (पव० ३८२, २५)।

§ ५११—क्री का रूप किणइ बनता है (वर० ८, ३०; हेच० ४, ५२)। वि उपसर्ग के साथ विक्किणइ हो जाता है (वर० ८, ३१; हेच० ४, ५२; क्रम० ४, ७०; मार्क० पन्ना० ५४)। इस प्रकार: महा० में विक्किणइ मिलता है (हाल २३८); जै०महा० में किणामि (आव०एर्त्से० ३१,९) और किणइ (एर्त्से० २९,२८), कृदन्त किणिय, भविष्यत्काल में किणीहामो (आव०एर्त्से० ३३, १५) रूप देखने में आते हैं, विक्किणामि और विक्किणइ (आव०एर्त्से० ३३, २४ और २६), विक्किणन्ति (आव०एर्त्से० ३१, ७) तथा पडिविक्किणइ भी मिलते हैं (आव० ३३, १५)। अ०माग० में किणइ आया है (ठाणंग० ५१६), इच्छावाचक किणे है, वर्तमान-कालिक अंशक्रिया किणन्त- है (आयार० १, २, ५, ३), शौर० में आज्ञावाचक रूप किणध है (चड० ५१, १०, ११ और १२, ५३, ७), भविष्यत्काल किणिस्सदि है (चड० ५२, ४ और ७), कर्मवाच्य की वर्तमानकालिक अंशक्रिया किणिद है (कर्पूर० ३२, ९; ७३, २), णिक्किणसि (मृच्छ० ६१, १६) और विक्किणिद रूप भी मिलते हैं (मृच्छ० ५०, ४; कर्पूर० ७४, ३, लटक० १३, १५; १८, १०); माग० में किणध और ई- वाला भविष्यत्काल कीणिश्शं (मृच्छ० ३२, १७; ११८, १४; १२५, १०) रूप आये हैं; ढक्की में विक्किणिअ है (मृच्छ० ३०, १०; १२ और १४)। क्री धातु की रूपावली वि उपसर्ग के साथ ई- में समाप्त होनेवाले धातुओं के अनुकरण पर पहले गण में भी चलती है: विक्केइ रूप मिलता है (वर० ८, ३१; हेच० ४, ५२ और २४०; क्रम० ४, ७१; मार्क० पन्ना ५४)। यह रूप महा० में हाल २३८ में अन्यत्र यह रूप भी देखिए। विक्केअइ (हेच० ४, २४०)

विक्रेय का एक रूपभेद है अर्थात् यह य = *विक्रेति है। — पू से पुणइ बनता है (हेच० ४, २४१)। इसी भाँति लू का लुणइ रूप हो जाता है (वर० ८, ५६ ; हेच० ४, २४१ , क्रम० ४, ७३ , मार्क० पन्ना ५७)। इसके अतिरिक्त उ और ऊ में समाप्त होनेवाले धातुओं के अनुकरण पर इन दोनो धातुओं की रूपावली छठे गण के अनुसार भी चलती है अ०माग० मे इच्छावाचक रूप लुपज्जा है (विवाह० ११८६), कर्म वाच्य म पुन्नइ, लुन्नइ तथा इनके साथ साथ पुणिज्जइ और लुणिज्जइ रूप भी मिलते हैं (§५३६)। क्रिणइ में जो दीर्घ ई ह्रस्व बन जाता है इसका स्पष्टीकरण प्राचीन ध्वनिबल क्रीणाति से होता है। यह ठीक उसी प्रकार बना है जैसे पुणइ = पुणाति और लुणइ = लुणाति। महा०, जै०महा०, अ०माग० और अप० जिणइ ढकी जिणादि तथा अ०माग० रूप समुस्सिणाइ के विषय में § ४७३ देखिए और नुणइ के सम्बन्ध में § ४८९।

§ ५१२—अ०माग० अण्हाइ = अश्नाति मे व्यजनों मे समाप्त होनेवाले धातुओं की पुरानी रूपावली सामने आती है (ओव० § ६४ और ६५)। साधारणत बननेवाला रूप अण्हइ है (हेच० ४, ११०)। इन धातुओं की रूपावली सातवें गण के धातुओं के अनुकरण पर और निम्न वर्गों म अ– अथवा ए– रूपावली के अनुसार (§ ५०६ और उसके बाद) चलती है। इस स्थिति पर प्रभाव डालनेवाले दो कारण हैं। एक तो यह कि इन धातुओं के कुछ भाग के भीतर आरम्भसे ही अनुनासिक था, जैसे ग्रन्थ, बन्ध और मन्थ। कुछ भाग में प्राकृत के ध्वनिनियमों के अनुसार अनु नासिक लेना पड़ा, जैसे अण्हइ = अश्नाति, गे॑ण्हइ = गृह्णाति। इस नियम से. गण्ठइ = ग्रन्थाति (§ ३३३ , हेच० ४, १२० , मार्क० पन्ना ५४), शौर० में णिग्गण्ठिद् रूप मिलता है (बाल० १३१, १४)। गे॑ण्हइ = गृह्णाति (वर० ८, १५ , हेच० ४, २०९ , क्रम० ४, ६३), महा० म गे॑ण्हइ, गे॑ण्हन्ति, गे॑ण्ह, गे॑ण्हउ और गे॑ण्हन्त– रूप मिलते हैं (गउड०, हाल, रावण०)। जै०महा० में गेण्हसि आया है (आव०एर्त्से० ४४, ६), गे॑ण्हइ, गिण्हइ और गिण्हए मिलते हैं (कालका०), गे॑ण्हन्ति भी है (आव० ३५, ३), गे॑ण्ह (एर्त्से०, कालका०), गेण्हाहि (आव०एर्त्से० ३१, ११) और गे॑ण्हेसु (एर्त्से०), गे॑ण्हह तथा गिण्हह रूप पाये जाते हैं (आव० ३३, १७ , कालका०), अ०माग० में गे॑ण्हइ (विवाह० ९१६ , १०३२ , १६५९ , उवास०), गे॑ण्हेज्जा (विवाह० २१२ और २१४), गिण्हइ (विवाह० १०३५ , पण्णव० ३७७ और उसके बाद , नायाध० ४४९ , उवास०, निरया०, कप्प० आदि आदि), गिण्हेइ (उवास०), अभि गिण्हइ (उवास०), ओगिण्हइ (विवाह० ८३८), गिण्हह (विवाह० ६२३), गिण्हन्ति (विवाह० २४ , निरया०), गिण्हाहि (नायाध० ६३३) तथा गिण्हह और उवगिण्हइ रूप पाये जाते हैं (विवाह० ३३२), जै०शौर० म गिण्हदि (पव० ३८४, ५९ [पाठ म गिण्णदि है], कत्तिगे० ३९९, ३१०, ४००, ३३५) और गिण्हेदि मिलता है (कत्तिगे० ४००, ३३७), शौर० म गे॑ण्हसि (मृच्छ० ४०, १५), गे॑ण्हदि (मृच्छ० ४५, ९ , ७४, १८ , शकु० ७३, ३ १५९, १३),

गे`ण्हन्ति ( मृच्छ० ७०, २ ), गे`ण्ह (मृच्छ० १६, ३ ; ३८, ४ ; ५५, १ ७५, २ आदि-आदि ; रत्ना० ३०५, ७), गे`ण्हदु ( मृच्छ० ४९, ८ ; ७४, १४ अणुगे`ण्हदु (शकु० ५६, ११ ; मुद्रा० १९, ४), गे`ण्हध ( मृच्छ० ९७, २४ और अणुगे`ण्हन्तु रूप मिलते हैं (मुद्रा० २६२, ५ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जा चाहिए])। कृदन्त रूप गेण्हिअ है (मृच्छ० ४१, १२ ; ५९, ८ ; ७५, ८ ; १०' २ ; १०७, १० ; विक्र० १०, २ ; ५२, ५ ; ७२, १५ ; ८४, २०) । सामान्यक्रिय का रूप गेण्हिदुं है (मृच्छ० ९४, १२) । कर्तव्यवाचक अंशक्रिया गे`ण्हिदव्व ( मृच्छ० १५०, १४ ; विक्र० ३०, ९ ) ; माग० में गेण्हदि ( मृच्छ० १२८, १९ १४५, १७ ), गे`ण्ह (मृच्छ० ४५, २१ ; १३२, १३ ; मुद्रा० २६४, १ ; २६५ १), गेण्हदु (मृच्छ० २२, ३ और ५), गे`ण्हिअ ( मृच्छ० १२, १४ ; १६, १३ और १८ ; ११६, ५ ; १२६, १६ ; १३२, १६ ; चंड० ६४, ८ ) ; ढक्की में गे`ण्ह आया है (मृच्छ० २९, १६ ; ३०, २) ; अप० में गृण्हइ (हेच० ४, ३३६) और गे`ण्हइ रूप मिलते हैं ( पिंगल १, ६० ) । कृदन्त रूप गृण्हे`प्पिणु है (हेच० ४, ३९४ ; ४३८, १) । गृह् धातु की रूपावली अप० में छठे गण के अनुसार भी चलती है : गृह्णन्ति रूप भी पाया जाता है (हेच० ४, ३४१, २) ।

§ ५१३—बन्ध की रूपावली निम्नलिखित प्रकार से चलती है : महा० में बन्धइ (हेच० १, १८७ ; हाल ; रावण० ; प्रचण्ड० ४७, ६) ; णिबन्धइ (रावण०), बन्धन्ति (गउड० ; रावण०), अणुबन्धन्ति (रावण०), बन्धसु (रावण०) और आबन्धन्तीय (हेच० १, ७) रूप आये हैं । भविष्यत्काल में बन्धिहिइ है । कर्मवाच्य में बन्धिज्जइ आया है (हेच० ४, १४७) । ए- वाली रूपावली भी चलती है : बन्धे`न्ति रूप मिलता है (रावण०), सामान्यक्रिया बन्धेउं है (हेच० १, १८१); जै०महा० में बन्धइ, बन्धिऊण और बन्धिय आये हैं (एर्त्से०), बन्धिउं और बन्धिन्तु भी पाये जाते हैं (कालका०) ; अ०माग० में बन्धइ (ठाणंग० ३६० ; विवाह० १०४ ; १३६ ; १३७ ; ३३१ ; ३९१ और उसके बाद, ६३५ और उसके बाद ; १८१० और उसके बाद ; ओव० § ६६ ; पण्णव० ६३८ ; ६५३, ६५७ ; ६६३ आदि आदि), पडिबन्धइ (सूय० १७९), बन्धन्ति (ठाणंग० १०८ ; विवाह० ६६ और १४३५ ; पण्णव० ६३८ ; ६५७ ; ६६३ आदि आदि), बन्धे`ज्जा (विवाह० ४२० और ४२१ ; उवास० § २००) तथा बन्धह रूप देखने में आते हैं (विवाह० २३४ और १२६३) । सामान्यक्रिया का रूप बन्धिउ है (निरया० § १५) ; जै०शौर० में बन्धदे मिलता है (कत्तिगे० ४००, ३२७) ; शौर० में बन्धामि (लटक० १८, २२), अणुबन्धसि (शकु० ८६, १४) और अणुबन्धन्ति रूप आये हैं (उत्तर० ६०, ७), कृदन्त बन्धिअ है (मृच्छ० १५५, ३ ; प्रबोध० १४, १० [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; रत्ना० ३१७, ११), उब्बन्धिअ भी है (रत्ना० ३१५, २८ ; नागा० ३४, १५ ; ३५, ९) । ए- वाले रूप भी मिलते हैं : बन्धेसि पाया जाता है (प्रिय० ४, १६) तथा ओबन्धेदि = अवबध्नाति है (मृच्छ० ८९, ५ ; १५२, २५) ; माग० में कृदन्त का रूप बन्धिअ है (मृच्छ०

१६३, १६), कर्मवाच्य की पूर्णभूतकालिक अशुम्मिया वन्दिद है (मृच्छ० ९
१७)। आज्ञावाचक में ए- वाला रूप पडियन्धेस्य है (शकु० ११३, १२)।
मन्थ् का रूप मन्थइ है (हेच० ४, १२१)। संस्कृत रूप मथति अ०माग०
इच्छावाचक रूप महेॅजा में मिलता है (उवास० § २००), किंतु इस प्र
अन्यत्र आया हुआ दूसरा रूप मन्थेॅज्जा का निर्देश करता है।

§ ५१८—शौर०, माग० और ढक्की में भण् धातु की रूपावली नवें ग
अनुकरण पर चलती है। इस प्रक्रिया में भणामि ०भ-णा-मि रूप में ग्रहण किया ज
चाहिए। द्वितीय- और तृतीयपुरुष एकवचन वर्तमानकाल, तृतीयपुरुष एकव
आज्ञावाचक, द्वितीयपुरुष बहुवचन वर्तमानकाल और आज्ञावाचक में प्रथम० एक०
बहुवचन की भाँति दीर्घ स्वर रहने दिया जाता है। इन रूपों के उदाहरण असाध
रूप से बहुसंख्यक हैं : शौर० में भणामि है (मृच्छ० ५१,७ और १०; ५२,११ ;
५८ ; ५७, ११ ; विक्र० १०, ५ , २२, १८ ; मालवि० २७, १८ ; मुद्रा० ७१,
२ और ८ ; ७२, २ और ४ ; ७३, २ आदि आदि), भणादि भी आया है (मृ
२३,१९ ; ६७,१८ ; ७८,१२ ; ९८,११ ; शकु० ५१,८ , १५८,२ ; विक्र० १६,
४६,५ ; मालवि० १६,१८ ; ६४, २० आदि आदि) तथा भणादु भी पाया जात
(मृच्छ० १८,२५) ; माग० में भणादि (मृच्छ० १३,७), भणाध (मृच्छ० ३२,१
९६, २१ ; ९७, १ ; प्रबोध० ४६, १६ ; चंड० ६४, ६ ; मुद्रा० १५८, १ ; २
६ ; २५८, २ [यही पाठ, उत्तररा० १२३, ७ में शौर० पाठ की भाँति सर्वत्र
जाना चाहिए]), ढक्की में भणादि मिलता है (मृच्छ० ३८,२०)। शौर० और दा
में द्वितीयपुरुष एकवचन आज्ञावाचक में भण (मृच्छ० ८८, ११ , शकु० ५०,
विक्र० ४७, १ ; नागा० ३०, १ ; दाक्षि० के लिए : मृच्छ० १००, ८) अथवा शौ
में भणाहि रूप है (विक्र० २७, ७ , मालवि० ३९, ९ , वेणी० १०, १२ ; १
१८ ; नागा० ४८, ३ ; जीवा० १०, ८) , माग० में भण है (शकु० ११४,
और भणाहि भी आया है (मृच्छ० ८१, १३ और १५ ; १६५, ४)। इनके
साथ इन प्राकृत बोलियों में ए-वाले रूप भी मिलते हैं : दाक्षि० और शौर० में भणे
पाया जाता है (मृच्छ० १०५, ८ , शकु० १३७, १२ [यहाँ यही पाठ पढ़ा ज
चाहिए]) ; माग० में भणेमि है (मृच्छ० २१, ८ ; २० और २२) ; ढक्की में भणे
रूप आया है (मृच्छ० ३९, १६) तथा शौर० में भणेहि देखने में आता है (मृ
६१, १३ ; ७९, ३)। प्राकृत की अन्य बोलियों में भण् की रूपावली नियमित
से -अ पर चलती है ; तो भी जै०महा० में आवश्यक एत्सेंलुगन २०, ४१ और
में साधारणतः चलनेवाले भणइ के साथ साथ भणाइ भी आया है।

अपूर्णभूत

§ ५१९—एकमात्र अपूर्णभूत का रूप जो प्राकृत में एक से अधिक बोलि
बना रह गया है वह अस् धातु का है (= होना)। यह रूप किन्तु केवलमात्र तृ०
में पाया जाता है। आसी अथवा आसि = आसीत् है जो सभी पुरुषों और व

के काम में आता है (वर०.७, २५ ; हेच० ३, १६४ ; क्रम० ४, ११ ; सिंहराज० पन्ना ५४)। इस नियम से अ०माग० में प्र०एक० में के अहं **आसी** आया है (आयार० १, १, १, ३) ; शौर० में अहं खु" **आसि** मिलता है (मृच्छ० ५४, १६)[1] ; शौर० में द्वि०एक० में **तुमं**"'गदा **आसि** आया है (मृच्छ० २८, १४), **तुमं किं मन्तअन्ति आसी** पाया जाता है (मालती० ७१, ४), **तुमं खु" मे पिअसही आसी** (मालती० १४१, ११ और उसके बाद), **किलिन्तो आसी** (उत्तरा० १८, १२), **कीस तुमं** [संस्करण में तुअं है] "' **मन्तअन्ती आसि** (कर्ण० ३७, ७ और उसके बाद)[2] ; तृ०एक० में महा० में **आसि** है (गउड० ; हाल) ; जै०महा० में **आसि** और **आसी** रूप चलते हैं (कक्कुक शिलालेख २ ; द्वार० ४९५, १९ ; ४९९, २० ; ५०४, १९ ; एर्त्से०) ; अ०माग० में **आसी** मिलता है (सूय० ८९६; उवास० § १९७ ; ओव० § १७०), **आसि** भी आया है (उत्तर० ६६० ; जीवा० २३९ और ४५१) ; शौर० में इस रूप की धूम मची हुई है, उदाहरणार्थ **आसि** है (ललित० ५६०, १४ ; ५६८, १ ; मृच्छ० ४१, २१ ; शकु० ४३, ६ ; १०५, १० ; ११७, १२ ; १२९, १३ ; १६२, १३ ; विक्र० ११,२ ; २७, २१ ; ३५, ७ और ९), **आसी** भी है (उत्तररा० २०, १२ ; ७८, ४ ; वेणी० १२, १ और ६) ; ढक्की में **आसि** मिलता है (मृच्छ० ३६, १८) ; अ०माग० में प्र०बहु० में **आसि मो** और **आसी मो**[3] आये हैं (उत्तर० ४०२), **आसि** अम्हे भी पाया जाता है (उत्तर० ४०३) ; महा० में तृ०बहु० में **जे आसि" महानईपवहा** है (गउड० ४४९), **आसि रद्दा** आया है (रावण० १४, ३३), **जे –गों च्छआ आसि**"'**वञ्जुला** भी देखा जाता है (हाल ४२२) ; जै०महा० में **महारायाणो चत्तारि मित्ता आसि** है (एर्त्से० ४, ३६) ; अ०माग० में **उवसग्गा भीमासि** आया है (आयार० १, ८, २, ७), **तस्स भज्जा दुवे आसि** भी मिलता है (उत्तर० ६६०), शौर० में **पसंसत्तीओ आसि** आया है (बाल० २८९, २)। — इसके अतिरिक्त केवलमात्र अ०माग० में एक और रूप **अब्बवी** = *अब्रवीत्* पाया जाता है (हेच० ३, १६२ ; उत्तर० २७९ और २८१ ; सूय० २५९), इसको तृ०बहु० में भी काम में लाया जाता है : **बम्भचारिणो वाला इमं वयणं अब्बवी** आया है (उत्तर० ३५१)। — तथाकथित पूर्णभूतकाल **उदाहरे, चरे, पहणे, पुच्छे, अच्छीअ, गेंण्हीअ** आदि आदि के विषय में § ४६६ देखिए। बॉल्लेनसेन[4] द्वारा प्रतिष्ठित पूर्णभूतकाल अशुद्ध पाठान्तरों और भली-भाँति न समझे हुए रूपों का परिणाम है। § ५१७ भी देखिए।

१. पाली में **आसिं** आने पर भी इस स्थान में ग्रंथ में अन्यत्र पाये जानेवाले दूसरे रूप **आसि** के साथ यह रूप नहीं पढ़ा जाना चाहिए, जैसा कि ब्लौख़ वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा में अनुमान लगता है। — २. हाल ८०५ में **आसि** आया है जिसे वेबर के अनुसार = **आसी.** मानना न चाहिए किन्तु टीकाकारों के अनुसार = **आशीः** समझना चाहिए। — ३. पाठ के **आसी** के स्थान में इसे इस रूप में सुधार लेना चाहिए। इस तथ्य को तुरन्त इसके बाद आनेवाला रूप **आसी** *अम्हे और अन्य स्थानों में* **आसि** *और* **आसी** *का जो प्रयोग किया गया*

है उससे पुष्टि और प्रमाण मिलते हैं। यह रूप लौयमान, वी०त्सा०कु०मौ० ५, १३४ के अनुसार आसीमो अथवा आसीमु नहीं पढ़ा जाना चाहिए किन्तु टीकाकारों के मतानुसार मो माना जाना चाहिए जो सर्वनाम है। — ४. मालविकाग्निमित्र, पेज १८८ और २३०। — ५. ब्लौख, वररुचि उण्ट हेमचन्द्रा, पेज ४६।

पूर्णभूत

§ ५१६—सबल पूर्णभूत के रूप अ०माग० में अच्छे = *आच्छेत् है जो छिद् धातु से निकला है और अब्भे = वैदिक आभेत् है जो भिद् धातु का रूप है (आयार० १, १, २, ५)। ये दोनों रूप इच्छावाचक के अर्थ में काम में लाये जाते हैं (§ ४६६) तथा अ०माग० पद्य में अभू = अभूत् पाया जाता है (उत्तर० ११६), यही रूप उदाहरण से पुष्ट किया जा सकता है जो उक्त स्थान में तृ० बहु० के काम में आया है: अभू जिणा अत्थि जिणा अदुवा वि भविस्सई मिलता है। इसके विपरीत अ०माग० में परस्मैपद पूर्णभूत के अनगिनत रूप ऐसे हैं जो स लगकर बनते हैं और ये भी बहुधा वर्तमानकाल के रूपों से बनाये गये हैं। बहुत ही कम काम में आनेवाला प्र० एक० परस्मैपद का रूप पाली[1] की भांति स्स लगकर बनता है: अकरिस्सं च' अहं आया है (आयार० १, १, १, ५); पुच्छिस्स्' अहं भी है (पद्य में; सूय० २५९)। अकासि = अकार्षीः में द्वि० एक० का रूप दिखाई देता है (सम० ८२); कासी (उत्तर० ४१५) और वयासी = अवादीः में (सूय० ९२४) ऐसा रूप पाया जाता है जो अगमासि के समान पाली रूपों का स्मरण दिलाता है और उनसे सम्बंधित है[2]। ये दोनों रूप तृ० एक० में बहुत काम में आते हैं। इस प्रकार अकासी (आयार० १, ८, ४, ८; २, २, २, ४; सूय० ७४; कप्प० § १४६), अकासि (सूय० १२०, १२३; २९८) मा के बाद कासी भी है (हेच० ३, १६२, सूय० २३४; उत्तर० १४), हेमचन्द्र ३, १६२ और सिद्धराजगणिन् पन्ना ५४ के अनुसार काही रूप और देशीनाममाला १, ८ के अनुसार अकासि रूप पाये जाते हैं। इस अकासि का देशी अर्थ पर्याप्तम् है। ये रूप प्र० एक० में भी काम में आते हैं: जं अहं पुव्वं अकासि वाक्यांश आया है = यद् अहं पूर्वं अकार्षम् है (आयार० १, १, ४, ३); अहम् एयम् अकासि = अहम् एतद् अकार्षम् है (सूय० ६२१) तथा प्र० बहु० में भी इसका प्रयोग किया गया है: जहा वयं धम्मम् अयाणमाणा पावं पुरा कम्मम् अकासि मोहा मिलता है (उत्तर० ४३३ और उसके बाद)। यह अपूर्णभूत आसि के समान ही काम में लाया गया है (§ ५१५)। तृ० एक० के रूप में: वयासी (सूय० ५७८; विवाह० १६५; १२६०; १२६८; ओव०; उवास०; कप्प०), यह बार बार तृ० बहु० के अर्थ में प्रयुक्त होता है (आयार० १, ४, २, ४, सूय० ७८३; विवाह० १३१; १८६; २३६; २३८; ३३२; ८०९; ९५१; अंत० ६१; नायाध० § ६८ और उसके बाद आदि आदि); वयासि रूप

मिलता है (सूय० ५६५ और ८४१ ; ओव० § ५३ और ८४ तथा उसके बाद)।
[illegible]० के अन्य उदाहरण निम्नलिखित हैं : टासी और टाही जो स्था के रूप हैं
[illegible] ३,१६२), पचासी है जो अस् धातु में प्रति लग कर बना है (आयार० १,२,
), अचारी (आयार० १,८,१,२) है, कहेसि है जो कथय- से निकला
[illegible] ३०३ और ३२७)। भू का तृ० एक० भुवि = अभूवीत् है (विवाह०
और ८४४ [पाठ में यहा भुवि है], नदी ५०१ और ५०२ [पाठ में भुवि च
जीवा० २३९ और ४५२ [पाठ में यहा भुवि है]) अथवा वर्तमानकाल के
[illegible] भव- आता है . अहेसि रूप आया है जो *अभविषीत् से निकला है और
[illegible] छन्दप्रक्रिया में *अभइषीत् तथा *अभैषीत् रूप भी बने (§ १६६, हेच० ३,
)। हेमचंद्र के अनुसार यह रूप प्र० और द्वि० एक० में भी काम में लाया जाता
[illegible] इसके उदाहरण मिलते हैं कि इसका प्रयोग तृ० बहु० में भी किया जाता है
[illegible] . तत्थ विहरन्ता पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं आया है (आयार० १, ८,
)। अत्रेसी = *अशायिषीत् का स्पष्टीकरण भी इसी प्रकार होता है (§ ४८७
तुलना कीजिए, आयार० १, २, ६, ५, १, ५, २, १, ३, ४, १, ८, १,
)। यह रूप = अन्वैषी नहीं है किन्तु शी का पूर्णभूत है, इस तथ्य का अनुमान
[illegible] ने पहले ही लगा लिया था। वुच्छामु = अवात्स्म जो वस् (= वास
, रहना) से बना है, उसमें प्र० बहु० दिखाई देता है (उत्तर० ४१०) जो
[illegible] के एक वर्ग *वत्स से बनाया गया है। तृ० बहु० के अंत में इंसु = इषुः
[illegible] है। इस नियम से : परिविचिट्ठिंसु आया है (आयार० १, ४, ४, ४),
[illegible]सु मिलता है (आयार० १, ८, २, ११, सूय० ३०१ [पाठ में पुच्छिसु
), चिणिसु और उवचिणिसु पाये जाते हैं (विवाह० ६२, ठाणग० १०७
१०८ [पाठ में चिणंसु और उवचिणंसु हैं]), वन्धिसु, उदीरिंसु,
[illegible]सु तथा निज्जरिंसु देखने में आते हैं (ठाणग० १०८, विवाह० ६२ [पाठ में
[illegible] के अंत में -इंसु के स्थान में -ऍसु है]), सुज्झिसु और वुज्झिसु
(सूय० ७९०, विवाह० ७९), अयाइसु जो आ- उपसर्ग के साथ जन्
[illegible] है (कप्प० § १७-१९, § ४८७ की तुलना कीजिए), परिणिव्वाइंसु
[illegible] ७९०), भासिंसु और सेविंसु (सूय० ७०४), अतरिंसु (सूय० ४२४,
[illegible] ५६७), हिंसिंसु (आयार० १, १, ६, ५ ; १, ८, १, २, १, ८, ३, ३),
[illegible]सु (आयार० १, ८, १, २, १, ८, ३, ५), लुंचिंसु तथा निहणिंसु
[illegible] १, ८, ३, ११ और १२) एवं कन्दिंसु जो क्रन्द् से बना है, पाये जाते
आयार० १, ८, १, ४, १, ८, ३, १०), विणइंसु = व्यनैषुः है (सूय०
), अभविंसु (सूय० १५७ और ५६१) और भविंसु भी आये हैं (विवाह०
)। साधारण रूप अकरिंसु (ठाणग० १४९), करिंसु (विवाह० ६२ और
, नायाध० § ११८, सूय० ७९० [पाठ में करेंसु है]), उवक्करिंसु
[illegible] १, ८, ३, ११) के साथ-साथ विकुव्विंसु रूप भी पाया जाता है
[illegible] २१४ और २१५) जो वर्तमान वर्ग के कुव्व- से बना है (§ ५०८)।

प्रेरणार्थक निम्नलिखित है : **गिण्हाविंसु** (नायाध० § १२३) ; **पट्ठवइंसु** है जो **प्र** उपसर्ग लगकर **स्था** से बना है (कप्प० § १२८) ; **संपहारिंसु** है **सम्** (सं १) और **प्र** उपसर्ग के साथ **धर्** से निकला है (सूय० ५८५ ; ६२०) ; एक उपधातु या पूर्णभूत **रिक्कासि** है (आयार० १, ८, १, ३) जो किसी *रिक्क्य– से सम्बधित है। तृ० बहु० का यह रूप अन्य पुरुषों के काम में भी लाया जाता है। इस प्रकार प्र० एक० के लिए : **करिंसु वाहं** आया है (ठाणग० ४७६) ; तृ० एक० के लिए **अहिंसिंसु** [पाठ में **आहिंसंसु** है] **या हिंसइ या हिंसिस्सइ** वा मिलता है (सूय० ६८०) ; **पुट्ठो वि नाभिभासिंसु** है (आयार० १, ८, १, ६) ; **आसिंसु** [पाठ में **आसंसु** है] भगवं आया है (आयार० १, ८, २, ६) ; **सेविंसु** भी पाया जाता है (आयार० १, ८, ३, २)। एक प्राचीन संस्कृत रूप **अद्दक्खु** है (विवाह० २३२), **अद्दक्खू** रूप भी आया है (आयार० १, ५, १, ३ ; यह एकवचन भी हो सकता है) = अद्राक्षुः। यह रूप बहुधा तृ० एक० में भी काम में लाया जाता है : **अद्दक्खु** आया है (आयार० १, २, ५, २ ; विवाह० १३०६), **अद्दक्खु** भी है (आयार० १, ८, १, ९), **अद्दक्खू** रूप भी मिलता है (आयार० १, ५, २, १ ; ६, १ ; १, ८, १, १६ और १७)[४]। कप्पसुत्त एस. (S) § में **अदक्खु** रूप आया है जो अशुद्ध पाठान्तर है और **अदट्ठु** के स्थान में आया है जैसा कि इसी ग्रंथ में अन्यत्र मिलता है। इसके अनुकरण में तृ०एक० में काम में आनेवाला **निण्णक्खु** बनाया गया है (आयार० २, २, १, ४ ; ५ और ६) जो निः के साथ **नक्ष्** से सम्बन्धित है।

१. ए० कून, बे०त्राइ०, पेज १११ ; ए० म्युलर, सिम्पलिफाइड ग्रैमर, पेज ११४। — २. ए० कून का उक्त ग्रंथ, पेज ११४ ; ए० म्युलर, उक्त ग्रंथ, पेज ११६। — ३. सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, बाईस, पेज ४४ नोटसंख्या २। — ४. कुछ स्थलों में जहाँ इस शब्द का प्रयोग किया है, यह सन्देह पैदा होने लगता है कि यहाँ पर एक विशेषण *आद्राक्षु तो काम में नहीं लाया गया है जैसा कि दक्खु, अदक्खु = *द्राक्षु और अद्राक्षु है (सूय० १२१)। यह तथ्य निश्चित जान पड़ता है।

§ ५१७—अ०माग० में बहुधा एक तृ०एक० आत्मनेपद का रूप अन्त में **–इत्था** और **इत्थ** लगाकर बनाया जाता है। यह रूप बिना अपवाद के वर्तमानकाल के वर्ग से बनाया जाता है। यह तथ्य तथा दन्त्य की प्रधानता जो पाली भाषा में भी पायी जाती है और जहाँ हमें मूर्धन्य की अपेक्षा करनी चाहिए थी (§ ३०३), हमारे मन में यह शंका उत्पन्न करता है कि क्या हमें यह रूप शुद्धता के साथ **से–** वाले पूर्णभूतकाल से सम्बन्धित करना चाहिए[१] अथवा नहीं ? इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं : **समुप्पज्जित्था** मिलता है जो **पद्** धातु से निकलता है तथा जिसमें **सम्** और **उद्** उपसर्ग लगाये गये हैं (विवाह० १५१ और १७० ; नायाध० § ८१ और ८७ ; पेज ७, ७१ ; उवास०, कप्प० इत्यादि) ; **रोइत्था** रूप आया है जो **रुच्** धातु से बना है (हेच० ३, १४३), **वड्ढित्था** और **अभिवड्ढित्था** हैं जो **वृध्** से सम्बन्धित हैं

(कप्प०); रीइत्था रीयते से बना है (आयार० १,८,१,१ ; १,८,३,१३); पसित्था (आयार० १, ८, ४, १२) ; विहरित्था (आयार० १, ८, १, १२) ; भुजित्था (आयार० १, ८, १, १७ और १८); सेवित्थ और सेवित्था (आयार० १, ८, २, १ ; १, ८, ४, ९) रूप पाये जाते हैं ; अपिइत्थ और अपिवित्था चलते हैं [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] जो **पा** धातु के रूप हैं और भूतकाल का चिह्न अ भी जुड़ा है (आयार० १, ८, ४, ५ और ६) ; अणुजाणित्था (आयार० १, ८, ४, ८), कुव्वित्था वर्तमान के वर्ग कुव्वइ से (§ ५०८) (आयार० १, ८, ४, १५), उदाहरित्था (उत्तर० ३५३ और ४०८), जयित्था, पराजयित्था (विवाह० ५००) और दलयित्था मिलते हैं (विवाह० ५०२)। भू से बना रूप हॊत्था है जो वर्तमानकाल के वर्ग हो = भव से निकला है (§ ४७६) (विवाह० ५ ; १६८ ; १८२ ; ठाणंग० ७९ ; उवास० ; कप्प० ; नायाध० ; ओव० आदि-आदि) । इसके आदि में पद्य से वर्ण आने पर भी यही रूप रहता है, अहॊत्था आया है (उत्तर० ६१९) किन्तु प्रादुः आदि में लगने पर भव- वर्ग से रूप बनता है, पाउब्भवित्था रूप हो जाता है (विवाह० १२०१) । प्रेरणार्थक क्रियाओं के अन्त में -ऍत्था और ऍत्थ जोड़ा जाता है : कारेत्था कारे- से बना है = कारय- (आयार० १, ८, ४, ८), पहारॆत्था, इसमें अधिकांश में -त्थ आता है, जो पहारे- = प्रधारय- से बना है (सूय० १०१२ ; विवाह० १५३ और ८३१ ; विवाग० १२३ ; ओव० § ५० ; नायाध० § ८१ आदि-आदि) किन्तु यापय- से बना जावइत्था रूप भी पाया जाता है (आयार० १, ८, ४, ४) । तृ०एक० के अतिरिक्त अन्य पुरुषों के लिए भी यही रूप काम में लाया जाता है ।[१] इस प्रकार द्वि०बहु० के लिए लभित्थ रूप मिलता है [टीकाकार समादृत यही पाठ है ; पाठ में लभॆत्था है] : जइ मे ण दाहित्थ इह [टीकाकार समादृत यही पाठ है ; पाठ में अह है] एसणिज्जं किम् अज्ज जन्नाण लभित्थ लाभं (उत्तर० ३५९) आया है ; तृ०बहु० के लिए विप्पसरित्था मिलता है (नायाध० ३४९) : बहवे हत्थी...दिसो दिसिं विप्पसरित्था है ; कसाइत्था पायी जाती है जो कशा से बनी क्रिया है (आयार० १, ८, २, ११) ; पाउब्भवित्था रूप भी चलता है (नायाध० § ५९ ; ओव० § ३३ और उसके बाद) : बहवे...देवा अन्तियं पाउब्भवित्था ; यह रूप बहुधा हॊत्था आया है (आयार० २, १५, १६ ; ठाणंग० १९७ ; नायाध० ६२८ ; सम० ६६ और २२९ ; उवास० § ४ ; १८४ ; २३३ ; २३४ ; कप्प० टी. एच. (T.H.) § ५ और ६ ; ओव० § ७७) । —§ ५२० की तुलना कीजिए । प्रार्थनावाचक रूप के विषय में § ४६६ देखिए ।

१. इस रूप की व्युत्पत्ति के विषय में जो नाना अनुमान लगाये गये हैं उनके लिए कू०त्सा० ३२, ४५० और उसके बाद के पेज देखिए ।

पूर्णभूत

§ ५१८—अ०माग० में पूर्णभूत के रूपों में से तृ०बहु० परस्मैपद का आहु =

आहु: बना रह गया है (आयार० १,४,३,१ ; सूय० ७४ [पाठ में आहं है] ; १२२ ; १३४ ; १५० ; ३१६ ; ४६८ ; ५००); उदाहु भी आया है (उत्तर० ४२४) ; आहू (आयार० १, ५, १, ३) और उदाहू रूप भी हैं (सूय० ४५४) । किन्तु अधिक चलनेवाला रूप पाली की भाँति नवनिर्मित आहंसु है (आयार० २, १,४, ५ ; सूय० ३७ ; १६६ ; २०२ ; २४१ ; ३५६ ; ४४५ ; ४५४ ; ४५६ ; ४६३; ४६५; ७७८; ८४२; विवाह० १३० ; १३९ ; १४२ ; १७९ ; ४३८ ; १०३३ ; १०४२ ; ठाणंग० १४९ और ४३८ तथा उसके बाद ; पण्हा० ९५ और १०६ ; जीवा० १२ और १३ ; कप्प० एस. (S.) § २७) । उक्त दोनों रूप अन्य पुरुषों के काम में भी आते हैं । इस प्रकार प्र० एक० के लिए आहंसु का प्रयोग किया गया है : **एवम् आहंसु नायकुलनन्दणो महप्पा जिणो वरवीरनामधेज्जो कहेसी य** (पण्हा० ३०३ और ३२७); इसी भाँति तृ० एक० के लिए भी आहु आया है (सूय० २२७ और ३०१ ; उत्तर० ३६५ और ६४६ ; कप्प०) और उदाहु भी काम में लाया गया है (आयार० १, २, ४, ४ ; सूय० १५९ ; ३०४ ; ३८७ ; ५१८ ; ९७४ ; ९८९ ; ९९२ और उसके बाद ; उत्तर० ७५६) ।

§ ५१९—§ ५१५-५१८ तक में आये हुए रूपों को छोड़ प्राकृत में व्यतीत काल को व्यक्त करने के लिए या तो वर्तमानकाल, विशेषतः कथा-कहानियों में अथवा साधारणतः कर्मवाच्य में भूतकालिक अंशक्रिया को घुमा-फिरा कर काम में लाया जाता है जिससे जिस पुरुष या पदार्थ के विषय में बात कही जाती है वह सकर्मक क्रिया द्वारा और करणकारक में आता है : महा० में **अवलाण ताण···वलिओ अंगेसु···सेओ** का अर्थ है 'उन अबलाओं के अंग पर पसीना चिपका था' (गउड० २१०) ; **किं ण भणिओ सि वालअ गामणिधूआइ** का अर्थ है 'ऐ बालक ! क्या ग्रामणी की लड़की तुझसे नहीं बोली' (हाल ३७०) ; **सीआपरिमट्टेण व वूढो तेण घिणिरन्तरं रोमञ्चो** का अर्थ है 'उसके (शरीर में) निरन्तर रोमाच हुआ मानो उसे सीता ने छुआ हो' (रावण० १, ४२) ; जै०महा० में **पच्छा रन्ना चिन्तियं** का अर्थ है 'बाद को राजा ने सोचा' है (आव०एर्से० ३२, १९) ; **अन्नया भूयदिन्नेण विन्नायं** का अर्थ है 'एक बार भूयदिन्न को जान पड़ा' (एर्से० १, २४) ; अ०माग० में **सुयं मे आउसं तेण भगवया एवम् अक्खायं** का अर्थ है 'मैंने सुना है दीर्घजीविओ ! (कि) भगवान ने यह कहा' (आयार० १, १, १, १) ; **उरालां णं तुमे देवाणुप्पिए सुमिणा दिट्ठा** का अर्थ है 'देवानुप्रिय ! तूने उत्तम सपना देखा है' (कप्प० § ९) ; शौर० में आया है **ता अआणन्तेण एदिणा एव्वं अणुचिट्ठिदं** का अर्थ 'सो, उसने अनजान में इस प्रकार का व्यवहार किया' (मृच्छ० ६३, २४) ; **सुदं खु मए तादकण्णस्स मुहादो** का अर्थ है 'मैंने तात कण्व के मुँह से सुना है' (शकु० १४, १२) ; **सुदं तुए यं मए गाइदं** का अर्थ है 'क्या तूने सुना है जो मैंने गाया है' (मृच्छ० ११६, २०) ; **अध एकदिअश मए लोहिदमश्चके खण्डशो कप्पिदे** का अर्थ है 'एक दिन मैंने रोहू (-रोहित) मछली के टुकड़े-टुकड़े बनाये (काटे) थे' (शकु० ११४, ९) ; अप० में **तुम्हे हिं अम्हे हिं**

जं किअउँ दिट्ठउँ बहुजणेण का अर्थ है 'जो तुमने और हमने किया है, बहुत लोगों ने देखा है' (हेच० ४, ३७१) ; **सवधु करेप्पिणु कधिदु मइँ** का अर्थ है 'मैंने शपथ लेकर कहा है' (हेच० ४, ३९६, ३)। इस भाँति प्राकृत बोली में जहाँ पहले **आसि** (= था) का आगमन होता था वहाँ कर्मवाच्य की आसन्न भूतकालिक अंश-क्रिया से भूतकाल का काम लिया गया।[1] इस प्रकार महा० में **जो सीसम्मि विइण्णो मज्झ जुआणेहि गणवई आसि** का अर्थ है 'वह गणपति जिसने मेरे सर पर नौजवान बिठाये थे' (हाल ३७२) ; जै०महा० में **तया य सो कुम्भयारो···गामं अन्नं गओ आसि** का अर्थ है 'उस समय कुम्हार दूसरे गाँव को चला गया था' (सगर १०, १८), **जं ते सुचिसयं आसि सुद्धिलेण अद्धलक्खं** का अर्थ है 'वह आध लाख जिनका बुद्धिल ने तुझे वचन दिया था' (एर्से० १०, ३४) ; शौर० में **अहं खु रदणछट्ठि उववसिदा आसि** का अर्थ है 'मैंने रत्नषष्ठी का उपवास किया था' (मृच्छ० ५४, १६), शौर० में **तुमं मए सह···गदा आसि** का अर्थ है 'तू मेरे साथ गया था' (मृच्छ० २८, १४), **अज्ज देवी·· अज्जगन्धालीए पादवन्दणं कादुं गदा आसि** का अर्थ है 'आज रानी गाधारी पादवदना करने गयी थी' (वेणी० १२, ६), **पुणो मन्दस्स वि मे तत्थ पच्चुप्पण्णं उत्तरं आसि** का अर्थ है 'यद्यपि मैं मन्द (बुद्धि) भी हूँ तथापि मेरे पास उसका उत्तर तैयार था' (मालवि० ५७, १६), **ताएँ क्खु चित्तफलअं पभादे हत्थीकिदं आसि** का अर्थ है 'मैंने प्रभात (-काल) में ही वह चित्र (फलक) तुम्हारे हाथ में दे दिया था' (मालती० ७८, ३) ; ढक्की में **तस्स जूदिअलस्स मुट्ठिप्पहालेण णासिका भग्गा आसि** का अर्थ है 'उस जुआरी की नाक घूसा मार कर तोड़ दी गयी थी' (मृच्छ० ३६, १८)। अनेक अवसरों पर अंशक्रिया विशेषण के रूप में मान ली गयी थी।

1. फ्कि, सगर, पेज २६।

भविष्यत्काल

§ ५२०—प्राकृत बोलियों में व्यजनों में समाप्त होनेवाले धातुओं के भविष्यत् काल के जिस रूप का सबसे अधिक प्रचार है तथा शौर० और माग० में जिस रूप का एकमात्र प्रचलन है, वह –इ में समाप्त होनेवाले वर्ग का रूप है। किन्तु प्राकृत बोलियों में केवल इसके ही विशुद्ध रूप का व्यवहार नहीं किया जाता वरन् बहुत अधिक प्रचार वर्तमानकाल के वर्ग का है, साथ ही ए– वाला वर्ग भी चलता है। प्र० एक० में अ०माग० और जै०महा० में बहुधा तथा अन्य प्राकृत बोलियों में इक्के दुक्के समाप्तिसूचक चिह्न **–मि** आता है, अधिकांश में उपकाल का समाप्तिसूचक चिह्न **–म** मिलता है जो अप० में धातु के अन्त में –अ के स्थान में उ में ध्वनिपरिवर्तन कर लेता है (§ ३५१)। द्वि०एक० में भविष्यत्काल के अन्त में **–इस्ससि** और माग० में **–इश्शशि** तथा तृ०एक० में **–इस्सइ** लगाया जाता है, शौर० और ढक्की में यह समाप्तिसूचक चिह्न **–इस्सदि** है, माग० में इसका नियमित रूप **–इश्शदि** है, शौर०, माग० और ढक्की में कभी कभी पद्य को छोड़ अन्यत्र एकमात्र उक्त रूप ही काम में

आते हैं। महा०, जै०महा० और अ०माग० में इनके स्थान में द्वि०एक० में –इहिसि और तृ०एक० में –इहिइ, संक्षिप्त रूप –इही और छंद मिलाने के लिए संक्षिप्त रूप –इहि भी आते हैं। यह ध्वनिपरिवर्तन उन धातुओं और वर्गों से निकला है और मिले हुए द्विस्वरों में समाप्त होते हैं। व्याकरणकार प्र०एक० के लिए समाप्तिसूचक चिह्न –इहामि और –इहिमि देते हैं : कित्तइहिमि और इसके साथ साथ कित्तइस्सं = कीर्तयिष्यामि (हेच० ३, १६९) ; सोँच्छिहिमि तथा सोँच्छिहामि श्रु के रूप हैं। गच्छिहिमि तथा गच्छिहामि और इसके साथ साथ गच्छिस्सं गम् से निकले हैं (हेच० ३, १७२) ; हसिहिमि और इसके साथ साथ हसिस्सं और हसिस्सामि रूप मिलते हैं (सिंहराज० पन्ना ५२)। जिन धातुओं और वर्गों के अन्त में दीर्घ स्वर आते हैं उनके लिए –हिमि भी दिया गया है : कृ का काहिमि रूप मिलता है और दा का दाहिमि (हेच० ३, १७० ; सिंहराज० पन्ना ५२), भू का होहिमि रूप है (भाम० ७, १४ ; हेच० ३, १६७ और १६९ ; क्रम० ४, १६), हस् के ए– वर्ग में हसेहिमि और इसके साथ साथ हसेहामि तथा हसेँस्सामि रूप मिलते हैं (सिंहराज० पन्ना ५२)। इन्हीं से सम्बन्धित एक रूप हसेहिइ भी है (भाम० ७, ३३ ; हेच० ३, १५७)। इ– वाले ऐसे रूपों के उदाहरण केवल अप० में पाये जाते हैं : पेँक्खीहिमि = प्रेक्षिष्ये और सहीहिमि = सहिष्ये (विक्र० ५५, १८ और १९)। हेमचन्द्र ४, २७५ के अनुसार तृ०एक० शौर० में –इस्सिदि लगता है : भविस्सिदि, करिस्सिदि, गच्छिस्सिदि आये हैं तथा ४, ३०२ के अनुसार माग० में इश्शिदि जोड़ा जाता है : भविश्शिदि पाया जाता है। दक्षिण भारतीय हस्तलिपियों में बार-बार भविष्यत्काल के अन्त में –इस्सिदि देखने में आता है, किन्तु छपे पाठों में इनका पता नहीं मिलता। हेमचन्द्र में शौर० से जै०शौर० का अर्थ है, किन्तु इसमें भविष्यत्काल के उदाहरणों का अभाव है। प्र०एक० के अन्त में –इस्सामो लगता है, पद्य में विरल किंतु कभी कभी रूप के अन्त में –इस्साम देखा जाता है जैसे, महा० में करिस्साम मिलता है (हाल ८९७)। यह रूप –हामो के दीर्घ स्वरों के अनुसार बना है, पद्य में छन्द की मात्रा ठीक करने के लिए –हामु रूप भी पाया जाता है। व्याकरणकार हसिस्सामो आदि रूपों के साथ हसिहिमो का भी उल्लेख करते हैं (भाम० ७, १५ ; हेच० ३, १६७ ; सिंहराज० पन्ना ५२), हसिहिस्सा और हसिहित्था भी बताते हैं (भाम० ७, १५ ; हेच० ३, १६८ ; सिंहराज० पन्ना ५२), भामह ७, १५ में हसिहामो रूप का भी उल्लेख करता है और सिंहराजगणिन् पन्ना ५२ में हसेहिस्सा, हसेहित्था, हसेँस्सामो, हसेस्सामु, हसिस्सामु, हसेँस्साम, हसेहाम, हसिहाम, हसेहिमो, हसेहिमु तथा हसिहिमु और इनके अतिरिक्त सोँच्छिमो, सोँच्छिमु, सोँच्छिम, सोँच्छिहिमो, सोँच्छिहिमु, सोँच्छिहिम, सोच्छिस्सामो, सोँच्छिस्सामु, सोँच्छिस्साम, सोँच्छिहामो, सोँच्छिहिस्सा और सोँच्छिहित्था हैं (भाम० ७, १७ ; हेच० ३, १७२); गच्छिमो, गच्छिहिमो, गच्छिस्सामो, गच्छिहामो, गच्छिहिस्सा और गच्छिहित्था रूप आये हैं (हेच० ३, १७२), होहिमो, होस्सामो, होहामो, होहिस्सा

तथा **होहित्था** रूप भी मिलते हैं (भाम० ७, १३ और १५ ; हेच० ३, १६८ ; क्रम० ४, १८), **होहिस्सामो** और **होहित्थामो** भी दिये गये हैं (क्रम० ४, १८)। इस सम्बन्ध में § ५२१ ; ५२३ और ५३१ की भी तुलना कीजिए। समाप्तिसूचक चिह्न **–इहिस्सा** की व्युत्पत्ति पूर्ण अंधकार में है[1]। समाप्तिसूचक चिह्न **–हित्था** और **–इहित्था** *द्वि०बहु० में काम में लाने के लिए भी उचित बताये गये हैं :* **होहित्था** आया है (हेच० ३, १६६) ; **सों च्छित्था, सों च्छिहित्था** भी मिलते हैं (भाम० ७, १७, हेच० ३, १७२)। इनके साथ साथ **सों च्छिह, सों च्छिहिह ; गच्छित्था** तथा **गच्छिहित्था** (हेच० ३, १७२) और **गच्छिह, गच्छिहिह ; हसेहित्था** तथा **हसिहित्था** रूप भी हैं (सिंहराज० पन्ना ५२)। इनके साथ साथ **हसेहिह** और **हसिहिह** भी हैं। इन रूपों के उदाहरण अ०माग० में पाये जाते हैं, **दाहित्थ = दास्यथ** (उत्तर० ३५९)। इस रूप के अनुसार यह द्वि०बहु० होना चाहिए और फिर प्र०-बहु० के काम में लाया गया होगा। यदि इसका सम्बन्ध समाप्तिसूचक चिह्न **–इत्था** से हो जिसे भूतकाल बताया है, यह अभी तक अनिर्णीत है। द्वि०बहु० का साधारण समाप्तिसूचक चिह्न **–इस्सह** है जो शौर० और माग० में **–इस्सध** रूप में मिलता है। तृ०बहु० के अन्त में **–इस्सन्ति** लगता है, जै०महा० और अ०माग० में यह रूप बहुत अधिक बार अन्त में **इहिन्ति** और **–हिन्ति** लगाकर बनाया जाता है। सिंहराजगणिन् पन्ना ५१ में **–इरे** चिह्न भी बताता है : **हसेहिइरे** और **हसिहिइरे** मिलते हैं।

१. क्रमदीश्वर के **होहित्थामो** रूप के अनुसार लास्सन, इन्स्टिट्यूत्सिओने प्राकृतिकाए के पेज ३५३ में अपना मत देता है कि **होहिस्सा** और **होहित्था, होहिस्सामो** तथा **होहित्थामो** के संक्षिप्त रूप हैं क्योंकि **होहित्था** द्वि०-बहु० भी है, इसलिए यह स्पष्टीकरण सम्भव नहीं दिखाई देता। **आसि, अहेसि, आहु** और **उदाहु** के बेरोकटोक प्रयोग और व्यवहार की तुलना की जानी चाहिए और साथ ही अन्त में **–इत्था** लगकर बननेवाले तृ०एक० भूत-काल के रूप की भी। ह्रस्व होने के कारण ऊपर **इ** सदा समाप्तिसूचक चिह्न में ले लिया गया है।

§ ५२१—भविष्यत्काल के उदाहरण वर्तमानकाल के वर्गों के क्रम के अनुसार रखे जाते हैं (§ ४७३ और उसके बाद), जिससे भूल-चूक न होने की सुविधा हो जाती है। जै०महा० में जि का भविष्यत्काल **जिणिस्सइ** होता है (एर्से० २२,२९), अ०माग० में **पराजिणिस्सइ** रूप मिलता है (निरया० § ३) ; **नी** धातु का रूप महा० में **णेहिइ = नेष्यति** है (गउड० २२३) ; जै०महा० में **नीणेहिइ** आया है = **निर्णेष्यति** (एर्से० ५२, १३), **नेहिन्ति** भी देखने में आता है (एर्से० २९, १५) ; अ०माग० में **उवणेहिइ** है (ओव० § १०७), **विणेहिइ** (नायाध० § ८७) और **उवणेहिन्ति** रूप हैं (ओव० § १०६) ; किंतु वर्तमानकालिक वर्ग के शौर० में **अणुणइस्सं** (रत्ना० ३१६, १५), **अवणइस्सं** (शकु० १०२,१४ ; १०४,१३), **उवणइस्सं** (शकु० १३७, २), **णइस्सदि** (मृच्छ० ५८, २), **आणइस्सदि** (मालती० १०४, १) और **णइस्सध** रूप पाये जाते हैं (कर्पूर० ११, ८) ; माग०

में णइस्सं है (मृच्छ० १६९, १३)। शौर० दइस्सं और माग० रूप दइरशं रूप के बारे में, जो दय– से निकले हैं, § ४७४ देखिए। — भू के भविष्यतकाल के रूपों में सभी वर्तमानकालिक वर्ग प्रमाणित किये जा सकते हैं, हा, इसके प्रयोग के सबध मे नाना प्राकृत बोलिया भिन्नता दिखाती हैं। महा० और अप० केवल हो– का व्यवहार करती हैं जिसको शौर० और माग० पहचानती ही नहीं। जै०महा० मे भविस्सामि रूप है (द्वार० ५०१,३८); शौर० में भविस्सं आया है (मृच्छ० ९, १२ ; शकु० ५१, १३ ; ८५, ७ ; मालवि० ५२, १९ ; रत्ना० ३१५, १६ ; ३१८, ३१ ; कर्पूर० ८, ७ ; ५२, २), अणुभविस्सं भी मिलता है (मालती० २७८, ९) ; माग० मे भविश्शं पाया जाता है (मृच्छ० ११६,४); शौर० मे भविस्ससि भी है (मृच्छ० ४, ६ ; रत्ना० २९६, २५) ; माग० में भविश्शशि हो जाता है (शकु० ११६, ४) ; अ०माग० और जै०महा० मे भविस्सइ रूप आता है (विवाह० ८४४ ; जीवा० २३९ और ४५२ ; उत्तर० ११६ ; ओव० § १०३ ; १०९; ११४ ; [११५], कप्प० ; द्वार० ४९५, २७ ; ०४, ५ ; एर्सें० ११, ३५ ; कालका० २६८, ३३ ; २७१, १३ और १५) ; शौर० मे भविस्सदि है (मृच्छ० ५, २ ; २०, २४ ; शकु० १०, ३ ; १८, ३ ; विक्र० २०, २० ; मालवि० ३५, २० ; ३७, ५ ; रत्ना० २९१, २ ; २९४, ९ ; मालती० ७८, ९ ; ८९, ८ ; १२५, ३ आदि-आदि) ; माग० में भविश्शदि हो जाता है (प्रबोध० ५०, १४) ; जै०महा० में भविहिन्ति मिलता है (आव०एर्सें० ४७,२०) ; अ०माग० में भविस्सामो आया है (आयार० १, २, २, १ ; सूय० ६०१) ; अ०माग० में भविस्सह भी है (विवाह० २३४) ; शौर० में भविस्सन्ति आया है (मालती० १२६, ३)। हविस्सदि और हविस्सं रूप (मालवि० ३७, १९ ; ४०, २२)[1] अशुद्ध हैं क्योंकि हव– मूलशब्द केवल प्र उपसर्ग के बाद काम मे लाया जाता है, जैसे शौर० पहविस्सं (उत्तररा० ३२,४)। शौर० और माग० मे हुव– वर्ग (= मूलशब्द) भी काम मे आता है : माग० मे हुविश्शम् आया है (मृच्छ० २९, २४ , ३२, १९ ; ४०, १ ; ११८, १७ ; १२४, १२) ; शौर० में हुविस्ससि है (वेणी० ५८, १८) ; शौर० मे हुवस्सदि भी है (मृच्छ० २२, १४ ; २४, ४ ; ६४, १८ ; विक्र० ३६, ६ ; ४६, ४ और ६ ; ५३, २ और १३ ; ७२, १९ ; मालवि० ७०, ६ ; वेणी० ९, २१ ; वृषभ० ४७, ११ आदि आदि) ; माग० में हुविश्शदि होता है (मृच्छ० २१, १४ और १५ , ११७, १५ ; ११८, १६ और १७ ; वेणी० ३३, ३) ; शौर० मे हुविस्सन्ति पाया जाता है (मृच्छ० ३९,४ ; चड० ८६,१४)। हो–वर्ग से निम्नलिखित रूप निकाले गये है : होस्सामि (भाम० ७, १४ ; हेच० ३, १६७ ; १६९ ; क्रम० ४, १६) ; महा० में हो॑स्स मिलता है (वर० ७, १४ ; हेच० ३, १६९ ; क्रम० ४, १७ ; हाल ७४३), अप० मे होसइ आया है (हेच० ४, ३८८ ; ४१८, ४) और होसे भी मिलता है (प्रबंध० ५६, ६ ; § १६६ की तुलना कीजिए) ; हो॑स्सामो, हो॑स्सामु और हो॑स्साम भी देखे जाते हैं (भाम० ७, १३ और १५ ; हेच० ३, १६९ ; क्रम० ४, १८)। इनमें से अधिकांश का हू प से निकला है (§ २६३) : जै०महा० में

होहामि आया है (भाम० ७, १४ ; हेच० ३, १६७ ; क्रम० ४, १६ ; आव० एर्त्से० २६, ३६) ; **होहिमि**[1] (भाम० ७, १४ ; हेच० ३, १६७ ; क्रम० ४, १६) और **होहिस्सं** रूप मिलते हैं (क्रम० ४,१७) ; जै०महा० में **होहिसि** भी है (हेच० ३, १६६ और १७८ , एर्त्से० ६२, ३१), महा० और जै०महा० में **होहिइ** मिलता है (हेच० ३,१६६ और १७८ ; क्रम० ४, १५ ; गउड० ; हाल० ; रावण० ; आव० एर्त्से० ४३, १३ ; एर्त्से० ३७, १), **होही** आया है (एर्त्से० ३, २६ , द्वार० ४९५, १५ ; तीर्थ० ७, १० , कालका० २६५, ४१ ; २७०, ४३) ; दो संयुक्त व्यंजनों से पहले **होहि** रूप आता है : **होहि त्ति** मिलता है (द्वार० ४९५, २४) ; प्र० बहु० में **होहामो, होहामु, होहाम, होहिमो, होहिमु, होहिम, होहिस्सा** और **होहित्था** रूप पाये जाते हैं (भाम० ७,१३ और १५ , हेच० ३,१६७ और १६८), **होहिस्सामो** और **होहित्थामो** भी मिलते हैं (क्रम० ४, १८) ; द्वि० बहु० में **होहित्था** है (हेच० ३, १६६ ; क्रम० ४, १५) ; तृ० बहु० में महा० और जै० महा० रूप **होहिन्ति** है (भाम० ७, १२ ; हेच० ३, १६६ ; क्रम० ४, १५ ; हाल ६७५ ; सगर २, १५)। अ०माग० में **हो॑क्ख**-वर्ग बहुत बार मिलता है : **हो॑क्खामि** आया है (उत्तर० ६३,२०२), **हो॑क्ख** है (उत्तर ६३) तथा **हो॑क्खइ** और **हो॑क्खन्ति** पाये जाते हैं (सम० २४० और उसके बाद)। यह वर्ग विशुद्ध भूल है जिसका आविष्कार किसी पाठांतर **भोप्य** से किया गया है (§ २६५)। § ५२० की भी तुलना कीजिए। हेमचंद्र ३, १७८ के अनुसार प्रार्थनावाचक रूप से भी एक भविष्यत्काल निकाला गया है : **हो॑ज्जाहिमि, होज्जहिमि, हो॑ज्जस्सामि, हो॑ज्जहामि, हो॑ज्जस्सं, होज्जहिसि, होज्जाहिसि** और **होज्जाहिइ** रूप हैं। सिंहराजगणिन् पन्ना ५२ में बताया गया है कि **होज्जेहिइ, हो॑ज्जिहिइ** तथा **हो॑ज्जा-हिइ** रूप भी चलते हैं।

१. ब्लौख, वररुचि उण्ट हेमचंद्रा, पेज ४२ में अन्य उदाहरण दिये गये हैं। — २. ये रूप जो अभी तक उदाहरण रूप में नहीं दिये गये हैं उनकी बोलियों का नाम नहीं दिया गया है।

§ ५२२—जिन धातुओं के अंत में ऋ और ॠ आते हैं उनकी भविष्यत्काल की रूपावली संस्कृत की ही भांति पहले और छठे गण के अनुसार चलती है : शौर० में **अणुसरिस्सं** आया है (विद्ध० ११५, ६), **विसुमरिस्सं** = विस्मरिष्यामि है (शकु० १४, ३), **विसुमरिस्ससि** (शकु० ८९, ७), **विसुमरिस्सध** (शकु० ८६, ६) रूप पाये जाते हैं ; शौर० में **सुमरिस्ससि** है (रत्ना० ३१३,६) ; शौर० में **परिहरिस्सं** (शकु० २५,१) और **परिहरिस्सदि** रूप आये हैं (विक्र० ७९, ७) ; माग० में **पलिहलिश्शदि** हो जाता है (प्रबोध० ४२, ५ ; ४७, ७) ; **विहलिश्शं** भी मिलता है (मृच्छ० ४०, ६) ; अ०माग० में **विहरिस्सइ** (ओव० § ११४ [§ ११५]), **विहरिस्सामो** (आयार० २, २, ३, ३ ; २, ७, १, १ ; विवाह० १७१) और **विहरिस्सह** रूप देखने में आते हैं (विवाह० २३४) ; जै०महा० में **विहरिस्सन्ति** रूप मिलता है (कालका० २६१, ३८) ; शौर० में **मरिस्सदि** आया

है (मृच्छ० ७२, १८) ; माग० में **मलीहिशि** रूप है (पद्य में ; मृच्छ० ९, २४) ; महा० में **अणुमरिहिइ** है (रावण० १४, ५५) ; महा० में **हरिहिइ** भी मिलता है (हाल १४३) ; अ०माग० में **तरिहिन्ति** आया है (उत्तर० २५३) और **तरिस्सन्ति** भी (उत्तर० ५६७ ; सूय० ४२४), **निज्जरिस्सन्ति** भी चलता है (ठाणंग० १०८)। अन्त में ऐ लगनेवाले धातुओं में गै के निम्नलिखित रूप मिलते हैं : अ०माग० में **गाहिइ** = **गास्यति** है (ठाणंग० ४५१) ; महा० में **उग्गाहिइ** आया है (रावण० ११, ८४) ; इसके विपरीत शौर० में **गाइस्सं** पाया जाता है (शकु० २, ८ ; विद्ध० १२२, ११ ; १२८, ४ ; वृस० ८, १६) ; माग० में यह **गाइश्शं** हो जाता है (मृच्छ० ११६, २० ; ११७, ३) ; त्रै का भविष्यत्काल माग० में **पलित्ताइश्शदि** है (मृच्छ० १२, १०)।

§ ५२३—प्राचीन स्क- वर्ग के धातुओं में ऋ का जै०महा० में **अच्छिहिसि** रूप मिलता है (आव०एर्त्सें० ११, ११), जै०महा० में यम् का **पयच्छिस्सामो** रूप आया है (द्वार० ५०३, ४)। **गम्** धातु के रूपों में **गमि**- वर्ग का जोर है, जो शौर० और माग० में तो केवलमात्र एक वर्ग है। हेमचन्द्र ने ४, २७५ में जो शौर० रूप **गच्छिस्सिदि** बताया है, पाठों में उसकी पुष्टि नहीं होती। इस प्रकार जै०महा० में **गमिस्सामि** मिलता है (एर्त्सें० ६०, १९) ; शौर० में **गमिस्सं** आया है (मृच्छ० ८, २४ ; ९, ७ ; १५, १० ; ५४, १९ ; शकु० १७, ४ ; रत्ना० २९३, २४ ; २९६, २६ ; २९७, १२ ; ३१४, २६ ; कर्पूर० ३५, ३ ; १०८, ४ ; १०९, २ ; नागा० ४२, ७ और १५ ; ४३, १० ; जीवा० ४२, १७ और २३ ; ४३, १७ आदि-आदि), **आगमिस्सं** है (कर्पूर० २२, ७ ; १०७. ४) ; माग० में यह **गमिश्शं** हो जाता है (मृच्छ० २०, १० और १४ ; ३२, २ , ९७, १ ; ९८, २ ; ११२, १८) ; शौर० में **गमिस्ससि** मिलता है (मृच्छ० ३, १७ , शकु० २४, १५) ; अ०माग० में **गमिहिइ** आया है (उवास० § १२५ ; विवाह० १७५ ; निरया० § २७) ; अप० में **गमिही** पाया जाता है (हेच० ४, ३३०, २) ; महा० में **समागमिस्सइ** चलता है (हाल ९६२) ; शौर० में **गमिस्सदि** है (मृच्छ० ९४, २ ; शकु० ५६, १४ ; मालती० १०३, ७), **आगमिस्सदि** भी है (उत्तररा० १२३, ७ ; कर्पूर० १०५, ३) ; ढक्की में भी **गमिस्सदि** मिलता है (मृच्छ० ३६, १३) ; अ०माग० और शौर० में **गमिस्सामो** रूप आया है (ओव० § ७८ ; कर्पूर० ३६, ६) ; अ० माग० में **उवागमिस्सन्ति** चलता है (आयार० २, ३, १, २ और उसके बाद)। **गच्छ**- वर्ग से निम्नलिखित रूप बनते हैं : जै०महा० में **गच्छिस्सामि** है (आव०-एर्त्सें० २१, १०), **गच्छिस्सं**, **गच्छिहामि**, **गच्छिहिमि** और **गच्छिहिसि** भी हैं (हेच० ३,१७२) ; अ०माग० में **गच्छिहिइ** आया है (हेच० ३,१७२ ; सिंहराज० पन्ना ५२ ; ओव० § १०० और १०१ , उवास० § ९०), **आगच्छिस्सइ** रूप भी है (उवास० § १८८) ; सिंहराजगणिन् के अनुसार **गच्छेहिइ**, **गच्छिस्सामो**, **गच्छिहामो**, **गच्छिहिमो**, **गच्छिहिस्सा**, **गच्छिहित्था** और **गच्छिहिह** भी हैं (ये रूप अ०माग० के हैं ; आयार० २, ३, ३, ५), **गच्छिहित्था** और **गच्छिहिन्ति** भी

दिये गये हैं (हेच० ३, १७२)। इनके साथ-साथ अ०माग० में भविष्यत्काल का एक रूप **गच्छं** भी देखने में आता है (वर० ७, १६ ; हेच० ३, १७१ ; क्रम० ४, १९ ; सिंहराज० पन्ना ५३ ; ठाणग० १५६ और २८५)। हेमचन्द्र ने **गच्छिमि** रूप भी दिया है जिसकी रूपावली व्याकरणकारों के अनुसार इस प्रकार चलती है : **गच्छिसि, गच्छिइ, गच्छिमो, गच्छिह** और **गच्छिन्ति** है। सिंहराजगणिन् के अनुसार **गच्छेइ** रूप भी है। यह मानना कि **गच्छं** रूप **दच्छं, मोॅच्छं, विच्छं, रोॅच्छं, वेॅच्छं** और **वोॅच्छं** के अनुकरण में बना होगा (§ ५२५ ; ५२६ ; ५२९), सुविधाजनक है, किन्तु यह सर्वथा असम्भव है। इसे **गच्छइ** में आविष्कार किया गया **गच्छ**– धातु माना जाना चाहिए और **गच्छं** का सम्बन्ध ***गच्छस्यामि** और ***गक्ष्यामि** से जोड़ना चाहिए। § ५३१ में **सोच्छं** की तुलना कीजिए।

§ ५२४—पहले गण के जिन धातुओं में आदि वर्ण का द्विकार होता है उनमें से **पा** [**पा** का **पपौ** आदि द्विकारवाले रूप होते हैं। —अनु०] का जै०महा० में **पाहामि = पास्यामि** होता है (आव०एर्त्सें० ४२, २७) ; अ०माग० में **पाहं** (उत्तर० ५९३ [पाठ में **पाहिं** है]), **पाहिसि** (कप्प० एस. (S) § १८) और **पहामो** (आयार० २, १, ५, ५ ; २, १, ९, ६) रूप आये हैं ; महा० में **पाहिन्ति** आया है (रावण० ३, २१, पाठ में अशुद्ध रूप **पाहेॅन्ति** है)। **स्था** का भविष्यत्काल महा० में **ठाहिइ** मिलता है (प्रचण्ड० ४७, ४) ; शौर० में **चिट्ठिस्सं** है (शकु० ३०, ९ ; विक्र० १५, ५ ; नागा० ६९, १४ ; कर्पूर० २२, २) ; माग० में **चिष्ठिश्शं** हो जाता है (चंड० ४२, ११), **अणुचिष्ठिश्शं** भी आया है (मृच्छ० ४०, ११ ; इस नाटक में अन्यत्र दूसरा रूप भी देखिए और § ३०३ भी), शौर० में **चिट्ठिसदि** है (विक्र० ४३, ८) ; अ०माग० और शौर० में **चिट्ठिस्सामो** आया है (नायाध० ९०८ और ९३९ ; विद्ध० ६१,८)। — शौर० में **उट्ठिस्सामो** मिलता है (मृच्छ० २०, २२) जो **उट्ठइ** से निकला है, अ०माग० में **उट्ठेहिन्ति** मिलता है (विवाह० १२८०) जो **उट्ठेइ** से बना है (§ ४८३)।

§ ५२५—महा०, जै०महा० और अ०माग० में **दृश्** का भविष्यत्काल का रूप **दच्छं = द्रक्ष्यामि** है (वर० ७,१६ ; हेच० ३,१७१ ; सिंहराज० पन्ना ५२)। **गम्** (§ ५२३) के लिए जो नियम चलते हैं वे इस पर भी लगते हैं। निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं : महा० में **दच्छामि** (रावण० ११,७७) और **दच्छिमि** (रावण० ११, ८५) आये हैं ; महा० में **दच्छिहिसि** भी है (हाल ८१९ ; रावण० ११, ९३ [सी. हस्तलिपि के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; पेज २८६ नोटसंख्या १ में एच० गौल्दश्मित्त ने अशुद्ध रूप दिया है]) ; अ०माग० में **दच्छिसि** मिलता है (उत्तर० ६७९ = दस० ६१३, ३५, यहाँ ठीक पाठ है) ; जै०महा० में **दच्छिही** रूप है (एर्त्सें० २४, १२) ; महा० में **दच्छिहि** (रावण० १४, ५५), **दच्छाम** (रावण० ३, ५०) और **दच्छिह** (रावण० ३, २३ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए])। इसके साथ साथ अ०माग० में **पासइ = पश्यति** (ओव० § ११५) से निकला रूप **पासिहिइ** भी आया है। शौर०, माग० और ढक्की में उक्त दोनों क्रियाओं का भवि-

ष्यत्काल में पता नहीं मिलता। वे प्र जोड कर ईक्ष् धातु काम में लाते हैं। अन्य प्राकृत बोलियाँ भी इस रूप से ही परिचित हैं। महा० में पेॅच्छिस्सं (हाल ७४३) और पेॅच्छिहिसि (हाल ५६६) पाये जाते हैं ; जै०महा० में पेॅच्छिस्सामो आया है (द्वार० ५०५, २८) ; शौर० में पेक्खिस्सं हो जाता है (मृच्छ० ४, ११ ; ७७, १२ ; ९३, १६ ; शकु० ९०, १५ ; १२५, १५ ; विक्र० ११, २ ; १३, १९ ; प्रबोध० ३७, १३ ; ३८, १ आदि आदि), पेक्खिस्सदि रूप भी मिलता है (रत्ना० ३००, १ ; उत्तररा० ६६, ७) ; माग० में पेक्खिश्शं (मृच्छ० ४०, १०) और पेक्खिश्शदि रूप आये हैं (मृच्छ० १२३, २२) ; ढक्की में पेक्खिस्सं मिलता है (मृच्छ० ३५, १५ और १७) ; अप० में पेक्खीहिमि है (विक्र० ५५, १८)। — वर्तमान काल की भाँति (§ ४८४) भविष्यत्काल में भी लभ् धातु अनुनासिक ग्रहण कर लेता है : शौर० में लम्भिस्सं = लप्स्ये (चैतन्य० ८३, २) पाया जाता है ; शौर० में उवालम्भिस्सं = उपालप्स्ये आया है (प्रिय० १९, १५) ; किन्तु शौर० में लहिस्सं रूप भी देखा जाता है (मृच्छ० ७०, १२) ; शौर० में उवालहिस्सं रूप भी है (शकु० ६१, २ ; १३०, ४) ; अ०माग० में लभिस्सामि है (आयार० २, १, ४, ५) ; जै०महा० में लहिस्सामो मिलता है (एत्सें० १३, ३०)। अ०माग० में सह् का भविष्यत्काल का रूप सक्खामो = महाकाव्य का सक्ष्यामः (आयार० १, ८, २, १४) देखा जाता है। —संक्षिप्त वर्ग खा– और धा– के जो खाद्– और धाव– से निकले हैं, भविष्यत्काल के रूप खाहिइ और धाहिइ बनते हैं (भाम० ८, २७ ; हेच० ४, २२८)। इस प्रकार माग० में खाहिशि (मृच्छ० ११, ११) रूप मिलता है जो पद्य में है और जिसके विपरीत गद्य में खाइश्शं आया है (मृच्छ० १२४, १०)।

§ ५२६—छठे गण के धातुओं में से प्रच्छ् वर्तमानकाल में पुच्छइ = पृच्छति के अनुसार भविष्यत्काल में शौर० में पुच्छिस्सं रूप बनाता है (मृच्छ० ४, २२, ८१, १ और २ तथा १० ; शकु० १९, ३ ; ५०, ४, माल्ती० १३०, १० ; वेणी० ५९, १ ; कर्पूर० ३, ४), यह माग० में पुश्चिश्शं हो जाता है (प्रबोध० ५०, ४ और ६ ; ५३, १२), अ०माग० में पुच्छिस्सामो आया है (आयार० १, ४, २, ६ ; ओव० § ३८)। — स्फुट् के रूप वर्तमानकाल फुट्टइ के अनुसार बनते हैं (§ ४८८ नोटसंख्या १) ; अप० में फुट्टिसु रूप है (हेच० ४,४२२, १२), महा० में फुट्टिहिसि और फुट्टिहिइ रूप मिलते हैं (हाल ७६८, ८२१ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए])। — मुच् का भविष्यत्काल का रूप मोॅच्छं = मोक्ष्यामि होता है (हेच० ३, १७२ ; क्रम० ४, १९, सिंहराज० पन्ना ५३)। उक्त नियम गम् धातु (§ ५२३) पर भी लागू होते हैं। इस प्रकार महा० में मोॅच्छिहिइ (रावण० ४, ४९) और मोॅच्छिहि रूप मिलते हैं (रावण० ३, ३०, ११, १२६)। जै०-महा० में मुश्चिहिइ का भी प्रयोग किया जाता है (द्वार० ५०४, ११), शौर० में मुञ्चिस्सदि आया है (विक्र० ७२, २०) ठीक उसी प्रकार जैसे कि शौर० में सिच् धातु का रूप सिञ्चिस्सं मिलता है (शकु० १५, ४)। मृ के सम्बन्ध में § ५२२ देखिए। क्रमदीश्वर ४, १९ में बताता है कि विश् धातु का विच्छं होता है, जैसा कि

लास्सन ने अपने ग्रन्थ इन्स्टिट्यूत्सिओने प्राकृतिकाए पेज ३५१ में लिखा है। इसके स्थान में वे च्छं की प्रतीक्षा की जानी चाहिए थी। इस विच्छं का सम्बन्ध अन्य व्याकरणकार विद् से जोड़ना अधिक संगत समझते हैं। अब इ- वर्ग के रूपों के उदाहरण, जैसे अ०माग० में अणुपविसिस्सामि और पविसिस्सामि (आयार० २, १, ४, ५), पविसिस्सामो (आयार० १, ८, २, १४); जै०महा० में पविसिहिइ (एर्त्से० २९, १६); माग० में पविशिश्शं और उवविशिश्शं (मृच्छ० ३६, १ ; १२४, ८) दिये जाते हैं।

§ ५२७—चौथे गण के धातु वर्तमानकाल के वर्ग या बहुत ही अधिक प्रयोग करते हैं : महा० में किलम्मिहिसि आया है (गउड० ९५४) और किलम्मिहिइ भी मिलता है (हाल १९६)। ये दोनों रूप किलम्मइ = क्लाम्यति से बने हैं (§ १३६); अ०माग० में सिव्विस्सामि का सम्बन्ध सीव्यति से है (आयार० १, ६, ३, १), महा० में कुप्पिस्सं (हाल ८९८) आया है ; शौर० में कुप्पिस्सदि है (मृच्छ० ९४, ७ और ८ ; उत्तररा० ६६, ९) ; किन्तु शौर० में कुविस्सं रूप भी चलता है (उत्तररा० ३२, ३ ; विद्ध० ७१, ३) ; शौर० में णच्चिस्सं (विद्ध० १२२, ११ ; १२८, ५), णच्चिस्सदि (चैतन्य० ५७, १२) नृत् से सम्बन्धित है ; अ०माग० रूप सज्झिहिइ, रज्जिहिइ, गिज्झिहिइ, मुज्झिहिइ और अज्झोववज्जिहिइ, धातु सज्, रज्, गृध्, मुह् और पद् से बने हैं (ओव० § १११) ; अ०महा० में बुज्झिहिइ बुध् का रूप है (ओव० § ११६), सिज्झिहइ सिध् से बना है (विवाह० १७५ ; निरया० § २७ ; ओव० § ११६), सिज्झिहिन्ति रूप मिलता है (ओव० § १२८) और सिज्झिस्सन्ति भी आया है (आयार० २, १५, १६) ; जै०महा० में सिज्झिही है (एर्त्से० २८, १६ ; ३४, २० ; द्वार० ५०८, ८) ; महा० और शौर० में विवज्जिस्सं वि उपसर्ग के साथ पद् धातु से सम्बन्धित है (हाल ८६५ ; मृच्छ० २५, १५) ; अ०माग० में पडिवज्जिस्सामि आया है (उवास० § १२ और २१०) ; शौर० में पडिवज्जिस्सं मिलता है (मालती० ११७, २५) ; शौर० में पडिवज्जिस्सदि भी देखा जाता है (शकु० ७०, १२ ; नागा० २२, ७) ; अ०माग० में पडिवज्जिस्सामो है (ओव० § ३८) ; महा० में पवज्जिहिसि रूप मिलता है (हाल ६६१) ; अ०माग० में उववज्जिहिइ (विवाह० १७५ ; निरया० § २७ ; ओव० § १०० और १०१), उववज्जिस्सइ (विवाह० २३४), समुप्पज्जिहिइ (ओव० § ११५) और उप्पज्जिस्सन्ति रूप पाये जाते हैं (ठाणंग० ८० और १३३) ; शौर० में संपज्जिस्सदि मिलता है (विक्र० ४३, १३) ; जै०महा० में वच्छिहिसि आया है (एर्त्से० ७७,३३), महा० में वच्चिहिइ है (हाल ९१८) जो वच्चइ का रूप है (§ २०२), किन्तु जै०महा० में पच्चइस्सामि है (आव०एर्त्से० ३२, २७), अ०माग० में पच्चइहिइ (ओव० § ११५) व्रज् से सम्बन्धित हैं ; महा० में मण्णिहिसि (गउड० ९५४ ; हाल ६६३), जै०महा० रूप मन्निस्सइ (एर्त्से० १२,३५), शौर० में मण्णिस्सदि (उत्तररा० ९५, ६ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) रूप देखने में आते हैं ; जै०महा० में विणस्सिहिसि (एर्त्से०

१९, १६) और **विणासिही** रूप मिलते हैं (द्वार० ४९५, १७) ; महा० में **लग्गिस्स** और **लग्गिहिसि** (हाल ३७५ ; २१) तथा **लग्गिहिइ** आये हैं (गउड० ७०) ; माग० में **अणुलग्गिश्श** मिलता है (चड० ४२, १२) ; अप० में **रूसेसु** है जो रुष् धातु का ए- वाला रूप है (हेच० ४, ४१४, ४) । यह वैसा ही है जैसे जै०महा० में **मन्** धातु से ए- वाला रूप **मन्नेही** मिलता है (आव०एर्त्से० १२, १२) । महा० में **श्रम्** धातु से भविष्यत्काल में **विसम्मिहिइ** रूप बनता है जो वर्तमानकाल के वर्ग से दूर चला गया है (हाल ५७६ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए]) । **जन्** का भविष्यत्काल का रूप वर्तमानकाल **जाइ** के अनुसार चलता है और अ०माग० में **आयन्ति** और **पच्चायन्ति** मिलता है (§ ४८७) ; अ०माग० में **पयाहिसि** है (विवाह० ९४६ ; कप्प० § ९ ; नायाध० § २६), **पयाहिइ** भी आया है (ओव० § १०४ ; कप्प० § ७९ ; नायाध० § ५१), **पच्चायाहिइ** आया है (विवाह० ११९० ; ठाणग० ५२३ ; ओव० § १०२) और **आयाइस्सन्ति** रूप भी देखा जाता है (कप्प० § १७) । **शक्** धातु के विषय में § ५३१ देखिए ।

§ ५२८—दसवें गण की क्रियाएं और इनके समान ही बनाये गये प्रेरणार्थक और नामधातु अधिकांश में संस्कृत की ही भाँति भविष्यत्काल बनाते हैं जिसमें नियमानुसार य का लोप हो जाता है : **कित्तइस्सं** और **कित्तइहिमि** = कीर्तयिष्यामि है (हेच० ३, १६९) ; अ०माग० में **दलइस्सइ** (विवाह० १२८८) और **दलइस्सन्ति** रूप मिलते हैं (ओव० § १०८) ; शौर० में **कुट्टइस्सं** है (मृच्छ० १८, ५), **अणुऊलइस्सं** = अनुकूलयिष्यामि है (मालती० २६७, ८), **चूरइस्सं** भी आया है (कर्पूर० २१, २), **वारइस्सादि** और **चिन्तइस्सदि** रूप आये हैं तथा **णिअत्तइस्सदि** = निवर्तयिष्यति है (शकु० ५५, २ , ८७, १ , ९१, ६), **पुलोइस्सदि** (वृषभ० २२, ९), **विणोदइस्सामो** (शकु० ७८, १०) और **विसज्जइस्सध** (शकु० ८६, ५) रूप पाये जाते हैं, **सद्दावइस्स** = *शब्दापयिष्यामि है (मृच्छ० ६०, १), **मोआवइस्ससि** = *मोचापयिष्यसि है (मृच्छ० ६०, १३) , माग० में **गणइश्शं** (शकु० १५४, ६), **मडमडइश्शं**, **ताडइश्श**, **लिहावइश्शं** तथा **दूशइश्शं** रूप मिलते हैं (मृच्छ० २१, २२ , ८०, ५ ; १३६, २१ ; १७६, ६), **वावादइश्शदि** = व्यापादयिष्यति है (वेणी० ३६, ५) । मृच्छकटिक १२८, १४ में **मोडइश्शामि** रूप आया है । जिसके अन्त में मि है । इसके साथ ही इस नाटक के ११३, १ में **मोडइश्शं** है जिसके द्वारा श्लोक के छन्द की मात्राएं ठीक की गयी हैं । इनके विपरीत शौर० रूप **णिक्कामइस्सामि** जो मृच्छकटिक ५२, ९ में आया है, **णिक्कामइस्सं** रूप में सुधार दिया जाना चाहिए । महा०, अ०माग० और जै०महा० में भविष्यत्काल गुणित रूप ए- वाला भी पाया जाता है : महा० में **मारेहिसि** मिलता है (हाल ५, ६७) , जै०महा० में **वत्तेहामि** = वर्तयिष्यामि है (आव० एर्त्से० ४२, २६) , **विणासेहामि** = विनाशयिष्यामि है (द्वार० ४९५, ३१) ; **नासेहिइ** मिलता है (तीर्थ० ५, २०) ; **मेलवेहिसि** = मेलयिष्यसि (आव० एर्त्से० ३०, ८) , **जाणेही** आया है (एर्त्से० १२, २८) ; **निवारेही** देखा जाता है

(एर्से० ८, २१) और कहेहिन्ति भी पाया जाता है (एर्से० २६, ३६); अ०माग० में सेहावेहिइ = *शैक्षापयिष्यति और सिक्खावेहिइ = *शिक्षापयिष्यति है (ओव० § १०७), चेयें स्सामो = चेतयिष्यामः है (आयार० २, १, ९, १ ; २, २, २, १०), सक्कारेहिन्ति, संमाणेहिन्ति और पडिविसज्जेहिन्ति रूप पाये जाते हैं (ओव० § १०८), उवणिमन्तेहिन्ति (ओव० § ११०), सद्दवेहिन्ति (विवाह० १२७६) और णो ल्लवेहिन्ति भी आये हैं (विवाह० १२८०)। बिना प्रत्यय के बने के भविष्यत्काल के रूप (§ ४११) जिनके साथ प्रेरणार्थक रूप भी सम्मिलित हो जाते हैं (§ ५५३) विरल नहीं हैं : शौर० में कधिस्सं आया है (मृच्छ० ८०, २५), महा० में कहिस्सं है (हाल १५७) तथा इसके साथ साथ शौर० में साधारण रूप कधइस्सं भी चलता है (मृच्छ० १९,२ ; शकु० ५१, १२ ; १०५,७), माग० में कधइश्शं और कधइश्शशि रूप मिलते हैं (मृच्छ० १३९, २३ ; १६५, १५), अ०माग० में काराविस्सं = *कारापयिष्यामि = कारयिष्यामि है (आयार० १, १, १, ५); शौर० में खण्डिस्सं = खण्डयिष्यामि है (कर्पूर० १८, ७); महा० में पुलोइस्सं = प्रलोकयिष्यामि है (हाल ७४३); आव० में पलोइस्सं हो जाता है (मृच्छ० १०४,२१); शौर० में वड्ढाइस्सं = *वर्धपयिष्यामि है (शकु० ३७, १०), विण्णविस्सं = विज्ञापयिष्यामि और सुस्सूइस्सं = सुश्रूषयिष्यामि है (मृच्छ० ५८, ११ ; ८८, ११); माग० में मालिश्शशि = मारयिष्यसि है (मृच्छ० १२५, ७); शौर० में तक्किस्सदि = तर्कयिष्यति है (विक्र० ७९, ९ ; इसका रूप अन्यत्र चिन्तिस्सदि है), मन्तिस्सदि भी आया है (रत्ना० २९९,९)। इसके साथ साथ मन्तइस्सदि भी मिलता है (मृच्छ० ५४, १)।

§ ५२९—दूसरे गण की क्रियाओं में जिनके अन्त में –आ आता है, उनमें से ख्या का भविष्यत्काल का रूप अ०माग० में पचाइक्खिस्सामि = *प्रत्याचिक्षिष्यामि है (आयार० २, १, ९, २)। या का अ०माग० में § ४८७ के अनुसार निज्जाइस्सामि रूप पाया जाता है (ओव० § ४० [क्यू. (Q) हस्तलिपि के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; पाठ में निज्जाहिस्सामि है]), जै०महा० में जाहिइ है (एर्से० २९, १२ ; ३९, ५)। वा का अ०माग० में परिणिव्वाहिइ मिलता है (विवाह० १७५ ; नायाध० ३९० [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), परिनिव्वाइस्सन्ति रूप भी है (आयार० २, १५,१६)। स्ना का शौर० में ण्हाइस्सं होता है (§ ४८७ के अनुसार) (मृच्छ० २७, १४)। इ धातु का भविष्यत्काल अ०माग० में एस्सामि है (ठाणंग० १४२), एस्सन्ति रूप भी आया है (सूय० ४५ ; ५६ ; ७१); आ उपसर्ग के साथ महा० में एहिसि रूप है (हाल ३८५), महा० और अ०माग० में एहिइ मिलता है (हाल १३७ ; ७८४ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; ८५५ ; ९१८ ; राय० १०, ७९ ; आयार० २, ४, १, २ [यहाँ भी यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; उवास० § १८७), जै०महा० में एही (एर्से० २४, ११) और एहिन्ति रूप आये हैं (एर्से० २९, १३), अप० में एसी है (हेम० ४, ४१४, ४)। इनके साथ केवलमात्र एक स्थान में महा० में

इच्छावाचक रूप **एहिज्ज** पाया जाता है (हाल १७)। — रुद् का रूप **रो`च्छं** बनता है जो=*रोत्स्यामि है (वर० ७, १६ ; हेच० ३. १७१ ; सिंहराज० पन्ना ५३), क्रमदीश्वर ४, १९ में **रुच्छं** रूप दिया गया है, परन्तु महा० मे **रोइस्सं** है (हाल ५०३), शौर० में **रोदिस्सं** आया है (मृच्छ० ९५, २३ ; नागा० ३, १), **रोदिस्सामो** भी मिलता है (मल्लिका० १५४, २३)। — स्वप् का भविष्यत् का रूप शौर० मे **सुविस्सं** है (मृच्छ० ५०, ४ ; प्रिय० ३४, ३), माग० मे यह **शुविश्शं** हो जाता है (मृच्छ० ४३, १२ ; प्रबोध० ६०, १५)।— विद् का भविष्यत्काल **वे`च्छं**=*वेत्स्यामि है ( वर० ७, १६ ; हेच० ३, १७१ ; सिंहराज० पन्ना ५३ ) किन्तु शौर० में **वेदिस्सदि** आया है ( प्रबोध० ३७, १५ ) और अ०माग० मे **वेदिस्सन्ति** मिलता है (ठाणंग० १०८)। — वच् का रूप **वो`च्छं** बनता है (§ १०४ ; वर० ७, १६ ; हेच० ३,१७१ ; सिंहराज० पन्ना ५३)। इस प्रकार महा० और अ०-माग० में भी **वोच्छं** रूप है (वज्जालग्ग ३२४, १९ ; पण्हा० ३३१ ; ओव० १८४ [पाठ मे **वो`च्छं** है ] ; नन्दी० ९२ [ पाठ मे **वो`च्छं** है] ; जीयक० १,६०) और **वो`च्छामि** भी मिलता है (विवाह० ५९ ; पण्हा० ३३० ; उत्तर० ७३७ और ८९७); किन्तु अ०माग० में **वक्खामो**=**वक्ष्यामः** भी है ( दस० ६२७, २३ ), **पवक्खामि** भी आया है ( सूय० २७८ और २८४ )। क्रमदीश्वर ४, २१ मे **वच्छिहिमि**, **वच्छिमि** तथा **वच्छि** दिये गये हैं। इस ग्रन्थ के ४, २० की भी तुलना कीजिए। **रो`च्छं**, **वे`च्छं** और **वो`च्छं** तथा इस प्रकार से बने सब रूप शौर० और माग० में काम में नहीं लाये जाते जैसा कि मार्कण्डेय ने पन्ना ७० मे शौर० के लिए स्पष्ट रूप से विधान किया है और जिसकी पुष्टि पाठ करते हैं। इनकी रूपावली **गच्छं** के विषय मे जो नियम हैं उनके अनुसार चलती है (§ ५२३)। — दुह् के भविष्यत्काल का रूप **दुहिहिइ** है (हेच० ४, २४५)।

§ ५३०—अ०माग० और जै०महा० मे दा का भविष्यत्काल **दाहामि** होता है (आयार० २, १, १०, १ ; उत्तर० ७४२ , एर्त्सें० ५९, २३ और ३४)[1] और **दाहं** भी मिलता है (वर० ७, १६ , हेच० ३, १७० ; क्रम० ४, १९ ; एर्त्सें० १०, २४), हेमचन्द्र के अनुसार **दाहिमि** भी चलता है ; अ०माग० में **दाहिसि** आया है (आयार० २, १, २, ४ ; २, २, ३, १८ ; २, ५, १, ७ ; २, ६, १, ५) ; जै०-महा० मे **दाही** आया है (आव०एर्त्सें० ४३, २२ ; एर्त्सें०) ; अ०माग० मे **दाहामो** है (आयार० २, ५, १, १०), **दाहामु** (सूय० १७८ ; उत्तर० ३५५ और ३५८) तथा **दाहित्थ** भी आये हैं (उत्तर० ३५९) , जै०महा० में **दाहिन्ति** रूप मिलता है (एर्त्सें० ८०, २२)। शौर० और माग० मे वर्तमानकाल के अनुसार भविष्यत्काल का रूप **देंदि**=*दयन्ति आया है (§ ४७४) जो दय- वर्ग से बनाया गया है (मार्क० पन्ना ७१), शौर० मे **दइस्सं** पाया जाता है (मृच्छ० ८०, २०), माग० मे **दइश्शं** हो जाता है=*दयिष्यामि है (मृच्छ० ३१, ६ ; ८ और १५ ; ३२, ९ और २४ ; ३३, २२ ; ३५, ८ ; ८०, १९ आदि आदि ; § ४७४)। शौर० **दाइस्सं** (कर्पूर० ११२. ५ ; बोएटलिंक द्वारा सम्पादित शकुन्तला २५, ६ ; प्रिय० २३, २४)

के स्थान में **दइस्सं** और **देइस्सन्ति** के लिए (कालेयक २, १३) **दइस्सन्ति** पढ़ा जाना चाहिए। — **धा** का अद् के साथ जो भविष्यत्काल बनता है उसमें प्राचीन दुहरे वर्णवाला वर्ग सुरक्षित रखा गया है (§ ५०० की तुलना कीजिए) : अ०माग० में **सद्दहिस्सइ** मिलता है (नायाध० १११४—१११६)। अन्यथा यह उपसर्गों के साथ संयुक्त होने पर अ०माग० के भविष्यत्काल में –**धइ** और –**हइ** की रूपावली के अनुसार चलता है (§ ५००) : अ०माग० में पद्य में **पेहिस्सामि** मिलता है जो **पिहिस्सामि** के स्थान में आया है जैसा कि कलकतिया संस्करण में दिया गया है (आयार० १, ८, १, १), किन्तु शौर० में यह चौथे गण के अनुसार इसके रूप बनते हैं : **पिहाइस्सं** रूप मिलता है (विद्ध० ७०, ८) ; अ०माग० में **संधिस्सामि** और **परिहिस्सामि** आये हैं (आयार० १, ६, ३, १) ; शौर० में भी **संधिहिसि** रूप पाया जाता है (बाल० २२, १८) ! यह रूप निश्चित ही शौर० बोली की परम्परा के विरुद्ध है और इस स्थान में ****संधिहाइस्ससि** की प्रतीक्षा करनी चाहिए। **हा** का भविष्यत्काल का रूप अ०माग० में **विप्पजहिस्सामो** मिलता है (सूय० ६३३ और ६३५), **भी** के रूप **भाइस्सं** और **भाइस्सदि** पाये जाते हैं (शकु० १४०, ११ ; १३५, १४)।

१. आयारंगसुत्त १, ७, ७, २ में याकोबी ने हस्तलिपि में दो बार **दासामि** पाठ पढ़ा है; २, ५, १, ११ और १३ में **दासामो** और उसके साथ-साथ **दाहामो** पढ़ा है। कलकतिया संस्करण पहले स्थान में **दलइस्सामि** देता है जैसा इस ग्रन्थ में अन्यत्र पाया जाता है। दूसरे स्थल में **दास्सामो** पाठ आया है और तीसरे में **दासामो** आया है।

§ ५३१—पाँचवें गण की क्रियाओं में से **चि** धातु शौर० में भविष्यत्काल का रूप **अवचिणिस्सं** बनाता है (रत्ना० २९९, २५ ; वृषभ० ५८, २० ; चैतन्य० ७३, १०), अ०माग० में **चिणिस्सन्ति** तथा **उवचिणिस्सन्ति** रूप आये हैं (ठाणंग० १०७ और १०८ ; विवाह० ६२)। हेमचन्द्र ४, २४३ के अनुसार कर्मवाच्य का रूप **चिणिहिइ** है, यह रूप भी अनुसार परस्मैपदी है। — व्याकरणकारों के अनुसार **श्रु** का रूप **सोच्छं** होता है (वर० ७, १६ ; हेच० ३, १७१ और १७२, क्रम० ४, १९ ; सिंहराज० पन्ना ५३) जिसकी रूपावली **गच्छं** के अनुसार चलती है (§ ५२३)। यह **सोच्छं** **श्रु** से नहीं बना है परन्तु वैदिक **श्रुप्** का अर्थात् यह ****श्रोक्ष्यामि** के स्थान में नियमित रूप से आया है। **श्रु** का शौर० में भविष्यत्काल का रूप **सुणिस्सं** (मृच्छ० ६०, ७ और ९, शकु० २०, ७, विक्र० २४, ५ ; ३१, १ और ९ ; मालवि० ८३, ३ आदि आदि), **सुणिस्सामो** भी मिलता है (मल्लिका० १२९, ३ ; १३२, ९), माग० में यह **शुणिश्शं** हो जाता है (मृच्छ० २१, २१), जै०महा० में **सुणिस्सइ** पाया जाता है (काल्का० २६५, ४), अ०माग० में ए- वर्ग का रूप **सुणेस्सामि** (ठाणंग० १४३) और **सुणेस्सामो** भी मिलते हैं (ओव० § ३८)। — अ०माग० में **आप्** धातु का भविष्यत्काल का रूप वर्तमानकाल के वर्ग **पाउणइ** से (§ ५०४) **पाउणिस्सामि** मिलता है (आयार० १, ६, ३, १), **पाउणिहिइ**

रूप भी है (उवास० § ६२ ; ओव० § १०० और ११६)[1]। अन्य प्राकृत बोलियाँ इसे वर्तमानकाल के वर्ग **पाव–** से बनाती है : अप० में **पावीसु** रूप आया है (हेच० ४, ३९६, ४) ; शौर० में **पाविस्ससि** मिलता है (कालेयक० ७, ६) ; महा० में **पाविहिसि** है (हाल ४६२ और ५१०) और इस नियम के अनुसार विक्रमोर्वशी ४२, १० में शौर० बोली की परम्परा के विरुद्ध रूप आया है ; यह माग० में **पाविहिशि** हो जाता है (मुद्रा० १७७, ६ [वहेसि के स्थान में यही रूप पढ़ा जाना चाहिए] ; इसी नाटक में अन्यत्र यह रूप भी देखिए तथा स्मा०डे०डौ०मौ०गे० ३९, १२५ देखिए) ; महा० में **पाविहिइ** रूप है (हाल ९१८)। — **शक्** चौथे गण के अनुसार भविष्यत्काल बनाता है (§ ५०५) : महा० में **सक्किहिसि** है (विद्ध० ६४, १ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) ; शौर० में **सक्किस्सामो** आया है (चैतन्य० ७५, १५ ; पाठ में **सक्किस्सम्ह** है) ; जै०महा० में **सक्किस्सइ** मिलता है (कालका० २६५, ११) ; इसका **ए–** वाला रूप भी मिलता है : जै०महा० में **सक्केहिइ** आया है (आव०एर्त्से० ४५, ८), **सक्केही** भी देखने में आता है (द्वार० ५०१, ३९)।

1. इस शब्द के विषय में लौयमान ठीक है। औपपातिक सूत्र में **पाउण** शब्द देखिए। होएर्नले ने *उवासगदसाओ और उसके अनुवाद की नोटसंख्या* १०८ में जो बताया है कि यह वृ धातु से निकला है, वह भूल है।

§ ५३२—**छिद्**, **भिद्** और **भुज्** के भविष्यत्काल के रूप व्याकरणकारों ने निम्नलिखित रूप से बनाये हैं : **छेॅच्छं**, **भेॅच्छं** और **भोच्छं** जो संस्कृत रूप **छेत्स्यामि**, **भेत्स्यामि** और **भोक्ष्यामि** के अनुसार हैं (हेच० ३, १७१ ; सिंहराज० पन्ना ५३)। इसकी रूपावली **गच्छं** के अनुसार चलती है (§ ५२३)। **छिद्** के निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं : अ०माग० में **अच्छिन्दिहिन्ति**, **विच्छिन्दिहिन्ति** और **वोॅच्छिन्दिहिन्ति** रूप पाये जाते हैं (विवाह० १२७७)। **भिद्** के रूप हैं : अ०माग० में **भिदिस्सन्ति** आया है (आयार० २, १, ६, ९), इसके स्थान पर हमें **भिन्दिस्सन्ति** की प्रतीक्षा करनी चाहिए थी, जैसे कि **भिदन्ति** के स्थान पर अधिक उचित **भिन्दन्ति** जान पड़ता है। **भुज्** के रूप हैं : अ०माग० में **भोॅक्खामि** मिलता है (आयार० २, १, ११, १), **भोॅक्खसि** (कप्प० एस. (S) § १८) और **भोॅक्खामो** है (आयार० २, १, ५, ५ ; २, १, ९, ६)। जै०महा० में **भुञ्जिही** (एर्त्से० ६, २६) और इसी प्रकार **भुञ्जिस्सइ** रूप पाये जाते हैं (तीर्थ० ५, १८)। हेमचन्द्र ४, २४८ के अनुसार **संरुन्धिहिइ** कर्मवाच्य के भविष्यत्काल का रूप है ; रूप के अनुसार यह परस्मैपदी है।

§ ५३३—**कृ** धातु का भविष्यत्काल का रूप सभी प्राकृत बोलियों में संस्कृत की भाँति बनाया जाता है : अ०माग० और जै०महा० में **करिस्सामि** आया है (आयार० १, २, ५, ६ ; ठाणंग० १४९ और ४७६ ; दस० ६२७, २४ ; नन्दी० ३५४ ; उत्तर० १ ; एर्त्से० ४६, ७) ; महा०, जै०महा० और शौर० में **करिस्सं** मिलता है (हाल ७४३ और ८८२ , एर्त्से० ११, ३१ ; मुद्रा० १०३, ६ ; नागा० ४३, ७) ; माग० में यह **कलिश्शं** हो जाता है (मृच्छ० ९६, १३) ; अप० में **करीसु**

है (हेच० ४, ३९६, ४) ; महा० में **करिहिसि** मिलता है (हाल ८४४) ; शौर० में **करिस्ससि** पाया जाता है (मृच्छ० ९, १२ ; शकु० ५८, २) ; अप० में **करीहिसि** आया है (विक्र० ५५, १९) ; अ०माग० मे **करिहिइ** देखा जाता है (विवाह० १७५) ; जै०महा० में **करिस्सइ** चलता है (आव०एत्सें० ३२, ११ ; एत्सें० ५,२२); अ०माग० में **करिस्सई** है (दस० ६२७,२४) ; शौर० मे **करिस्सदि** आया है (प्रबोध० ३९, ९ ; ४२, २ ; उत्तररा० १९७, ११) ; माग० में यह **कलिश्शदि** हो जाता है (प्रबोध० ५१, १ ; ५८, १५ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; इस नाटक में अन्यत्र दूसरे रूप भी देखिए] , अ०माग० और जै०महा० में **करिस्सामो** है (उवा० § ९१ और १२८ , ओव० § ३८ ,एत्सें० ३, ११) ,महा० में **करिस्साम** देखा जाता है (हाल ८९७), अ०माग० और शौर० मे **करिस्सन्ति** आया है (विवाह० ६२ ; ओव० [§ १०५] , नागा० ४३, ११) । वर्तमानकाल में ए- वर्ग के प्रयोग के अनुसार (§ ५०९) भविष्यत्काल मे भी इसको काम मे लाया जाता है, बल्कि शौर० और माग० मे तो इसका असंक्षिप्त और बिना सन्धि का रूप चलता है : अ०माग० मे **करे॑स्सं** है (विवाह० १२५५), किन्तु शौर० में **करइस्सं** आया है (मृच्छ० ६०, ११ ; १२०, ८ ; शकु० ५९, १० , ६०, १५ ; ७६, २ ; १४२, २) ; माग० में यह **कलइश्शं** हो जाता है (मृच्छ० ९६, २० ; १२८, ११ और १८ ; १२५, ५ और ८ ; १२७, ६ ; १३४, ८ ; १६५, १ ; चड० ४२, १०), **कलइश्शशि** भी मिलता है (मृच्छ० ३२, १९) ; महा०, जै०महा० और अ०माग० में **करेहिइ** रूप है (हाल ७२४ ; काल्का० २६५, ३ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; ओव० § ११६ [टीकाकार ने **काहिइ** दिया है]), किन्तु शौर० में **करइस्सदि** आया है (प्रबोध० ४२, ८) ; माग० मे यह **कलइश्शदि** हो जाता है (मृच्छ० १४०, ६) , जै०महा० में **करे॑स्सामो** (काल्का० २७४, २६) और **करेहामो** रूप मिलते हैं (एत्सें० २५, २५) ; अ०माग० और जै०महा० मे **करेहिन्ति** पाया जाता है (ओव० § १०५ और १२८ ; आव०एत्सें० ४३, १८), अ०माग० मे यह **करे॑स्सन्ति** है (आयार० २, १५, १६) किन्तु शौर० मे इसका **करइस्सन्ति** रूप हो जाता है (शकु० १२४, ४) । अ०माग० में कुन्न- वर्ग से भी भविष्यत्काल बनाया जाता है (§ ५०८) : **विउव्विस्सामि** मिलता है (विवाह० १३९७ और उसके बाद), **विकुव्विस्सन्ति** भी है (विवाह० २१४ और २१५) । उक्त रूपों के अतिरिक्त महा०, जै०महा० और अ०माग० मे भविष्यत्काल में बहुधा **काहं** = *कर्ष्यामि आया है जिसकी रूपावली गच्छ के अनुसार चलती है (§ ५२३ , वर० ७, १६ , हेच० ३, १७० ; क्रम० ४, १९ ; सिंहराज० पन्ना ५२) । इस प्रकार : महा० और जै०महा० मे **काहं** है (हाल १८७ ; एत्सें० ८०, १८) , जै०महा० **काहामि** भी आया है (एत्सें० ५, २३ ; ८३, ८) , हेमचन्द्र और सिंहराजगणिन् के अनुसार **काहिमि** भी होता है ; महा० और अ०माग० में **काहिसि** मिलता है (हाल ८० , ९० , ६८३ , उत्तर० ६७९ = दस० ६१३, ३५) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० में **काहिइ** भी पाया जाता है (हेच० ३, १६६ ; हाल ४१० और ६८३ , उवास० ५, ४ ; निरया० § २७ , आव०एत्सें०

३२,७) ; जै०महा० और अ०माग० में **काही** भी है (एर्से० ८,२१ ; ७१, ८ ; द्वार० ४९५, १८ [पाठ में **काहिन्ति** है] ; दस० ६१७, २८) ; जै०महा० में **काहामो** है (एर्से० १५, १३ ; ८०, १८ ; सगर ३, १५) और **काहिइ** भी मिलता है (आव० एर्से० ३३, २७) ; अ०माग० में और जै०महा० में **काहिन्ति** आया है (ओव० § १०५ ; उत्तर० २५३ ; आव०एर्से० ४३, ३६) । अप० में **कीसु** आया है (हेच० ४, ३८९) जो सूचना देता है कि इसका कभी **क्रिष्यामि** रूप रहा होगा ।

§ ५३४—अ०माग० में ज्ञा का संस्कृत के अनुसार ही **णाहिसि**=ज्ञास्यसि रूप होता है (सूय० १०६) ; **णाहिइ** (ठाणग० ४५१), **नाहिइ** (दस० ६१७, २८) और **नाही** (दस० ६१७, ३२ और ३४)=ज्ञास्यति है। प्राकृत की सभी बोलियों में अधिक काम में आनेवाला वर्ग वर्तमानकाल से निकला **जाण-** है। इस प्रकार : महा० और शौर० में **जणिस्सं** है (हाल ७४९ ; मृच्छ० ३,२ ; रत्ना० ३०७, २६); महा० में **जाणिहिसि** आया है (हाल ५२८ ; ६४३), अप० में भी यही रूप मिलता है (विक्र० ५८, ११) ; अ०माग० में **जाणिहिइ** मिलता है (ओव० § ११५) ; शौर० में **जाणिस्सदि** है (मालवि० ८७, ९ ; रत्ना० २९९,५ और ७ ; विद्ध० ११४, ५ ; लटक० ६, ६) ; **अब्भणुजाणिस्सदि** आया है (मालवि० ४०, ७), **अहिजाणिस्सदि** भी पाया जाता है (शकु० १०२, १५) ; अ०माग० और शौर० में **जाणिस्सामो** मिलता है (सूय० ९६२ ; विक्र० २३, १८ ; २८, १२) ; माग० में **याणिश्शम्ह** दिखाई देता है जो **याणिश्शामो** के स्थान में अशुद्ध रूप है (ललित० ५६५, ९) । — शौर० में क्री का भविष्यत्काल **किणिस्सदि** है (चंड० ५२, ४ और ७) ; माग० में **किणिश्शं** आया है (मृच्छ० ३२, १७ ; ११८, १४ ; १२५, १०) ; जै०महा० में **किणिहामो** मिलता है (आव०एर्से० ३३, १५)। ग्रह् का शौर० में **गेॅण्हिस्सं** होता है (मृच्छ० ७४, १९ ; ९५, १२ ; रत्ना० ३१६, २२ ; मुद्रा० १०३, ९), **गेॅण्हिस्सदि** पाया जाता है (मृच्छ० ५४, ५ ; ७४, २४ ; कालेयक० ७, ६) और **अणुहिण्हिस्सदि** आया है (पार्वती० ३०, १८) ; अ०माग० में **गिण्हिस्सामो** है (आयार० २, २, ३, २)। जै०महा० रूप **घेॅच्छामो** (आव० एर्से० २३, ६) और **घेॅप्पइ** (§ ५४८) किसी *घृप् धातु से बने हैं जिसका वर्तमानकाल का रूप *घिपइ है (§ २१२) अर्थात् यह **घेॅच्छामो**=*घृप्स्यामः के। बन्ध् का भविष्यत्काल अ०माग० **बन्धिस्सइ** होता है (विवाह० १८१० और उसके बाद), **बन्धिस्सन्ति** भी आया है (ठाणग० १०८) ; शौर० में **अणुबन्धिस्सं** मिलता है (विद्ध० १४, १३) । हेमचन्द्र ४, २४७ के अनुसार कर्मवाच्य में भविष्यत्काल का रूप **बन्धिहिइ** है, रूप के अनुसार यह परस्मैपदी है । भण् धातु नियमित रूप से अ०माग० में **भणिहामि** रूप बनाता है (जीवक० सी. ११) ; महा० और शौर० में **भणिस्सं** है (हाल १२ और ६०४ ; मृच्छ० २१, २४ ; २४, २० ; विद्ध० ७२, २ ; मल्लिका० ८३, ४ [पाठ में **फणिस्सं** है] ; मालती० २६५, १ ; २७६, ७) ; शौर० में **भणिस्ससि** भी मिलता है (मृच्छ० ५८, ८) ; महा० में **भणिहिइ** भी आया है (हाल ८५८ ; ९१८) ; शौर० में **भणिस्सदि** भी है (रत्ना० ३०४, १) ;

जै०महा० में **भणिस्सइ** रूप है (कालका० २७४, १९) ; शौर० में **भणिस्सध** भी चलता है (मालती० २४६, ७) तथा महा० में **भणिहिन्ति** पाया जाता है (गउड० ९९६)। माग० में **ए-** वर्ग से **भणइश्शं** बनाया गया है (मृच्छ० ३२, २०)।

कर्मवाच्य

§ ५३५—कर्मवाच्य प्राकृत में तीन प्रकार से बनाया जाता है। (१) प्राकृत के ध्वनिपरिवर्तन के नियमों के अनुसार **-य** वाला संस्कृत रूप काम में आता है ; इस स्थिति में महा०, जै०महा०, जै०शौर० अ०माग० और अप० में स्वरों के बाद **-य** का **-ज्ज** हो जाता है और पै० में इसकी ध्वनि **-य्य** हो जाती है, शौर० और माग० में यह उड़ा दिया जाता है और यदि इसके बाद व्यंजन हों तो इन व्यंजनों में यह ध्वनि मिला दी जाती है ; अथवा यह **-ईय** हो जाता है जो महा०, जै०महा०, जै०शौर० *अ०माग० और अप० में* **-इज्ज** *रूप धारण कर लेता है तथा शौर० में* **-ईअ** *बन जाता* है, पै० में इसका रूप **-इय्य** हो जाता है। (२) धातु में ही इसका चिह्न लगा दिया जाता है अथवा बहुधा (३) वर्तमानकाल के वर्ग में चिह्न जोड़ दिया जाता है। इस नियम से दा के निम्नलिखित रूप मिलते हैं : महा०, जै०महा०, अ०माग० और अप० में **दिज्जइ** है, जै०शौर० में **दिज्जदि**, पै० में **तिय्यते** तथा शौर० और माग० में **दीअदि** रूप पाये जाते हैं ; **गम्** के रूप महा०, जै०महा० और अ०माग० में **गम्मइ** तथा **गमिज्जइ** मिलते हैं, पै० में ***गमिय्यते**, शौर० में **गमीअदि** और **गच्छीअदि** तथा माग० में ***गश्चीअदि** रूप हैं। शौर० में **-इज्ज** तथा माग० में **-इय्य** वाले रूप (अधिकांश में छपे संस्करणों में **-इज्ज** है) जो पद्य में दिये गये है, शौर० और माग० में अशुद्ध हैं[1]। दाक्षि० में **कहिज्जदि** आया है (मृच्छ० १०३, १५) किन्तु इस स्थान में **कधीअदि** होना चाहिए और **सासिज्जइ** (मृच्छ० १०३, १६) के लिए **सासीअदि** आना चाहिए (१५५, ६)। इस बोली की परम्परा में उक्त अशुद्धियाँ मान्य नहीं की जा सकती (§ २६)। विकृत रूप के कर्मवाच्य के रूप[1] जो रावणवहो में पाये जाते हैं जैसे, **आरम्भन्ते** (८, ८२ ; अशनिया), **रुम्भइ**, **रुम्भन्त** (इस ग्रन्थ में रुध् शब्द देखिए), **ओसुम्भन्त** और **णिसुम्भन्त** (रावणवहो में सुध् शब्द देखिए) अशुद्ध पाठभेद हैं। इनके स्थान में **आरब्भन्ते**, **रुब्भइ**, **रुब्भन्त**, **ओसुब्भन्त** और **णिसुब्भन्त** रूप पढ़े जाने चाहिए। इस प्रकार के रूप बहुधा हस्तलिपियों में पाये जाते हैं। इसी भाँति **उवभुञ्जन्तो** (इण्डिशे स्टुडिएन १५, २४९) अशुद्ध है। इसके स्थान में **उवभुज्जन्तो** पढ़ा जाना चाहिए। **ओच्छुन्दइ** रूप अस्पष्ट है (रावण० १०, ५५)। इसके स्थान में हस्तलिपि सी. (C) में **अप्फुन्दइ** रूप आया है। इच्छावाचक रूप **देज्ज**, **लहेज्ज** और **अच्छेज्ज** ; **पिबेज्ज**, **लहिज्ज** और **अच्छिज्ज** के स्थान में आये हैं (हेच० ३, १६०) और पद्य में छन्द की मात्राएँ ठीक करने के लिए संक्षिप्त रूप माने जाने चाहिए, जैसा कि अ०माग० में कर्मवाच्य भविष्यत्काल में **समुच्छिहिन्ति** रूप मिलता है जो **समुच्छिज्जिहिन्ति** के स्थान में काम में लाया गया है तथा छिद् से बना है (§ ५४९)। वररुचि ७, ८ ; हेमचन्द्र ३, १६० ; क्रमदीश्वर

४, १२ और मार्कडेय पन्ना ६२ में बताते हैं कि बिना किसी प्रकार के भेद के प्राकृत की सभी बोलियों में कर्मवाच्य में *–ईअ* और *–इज्ज लगाकर भविष्यत्काल* बनाया जाता है, पन्ना ७१ में मार्कडेय ने बताया है कि शौर० में केवल *–ईअ* लगता है और वररुचि ७, ९, ८, ५७ — ५९ तथा हेमचन्द्र ४, २४२ — २४९ तक में दिये गये रूपों को शौर० के लिए निषिद्ध बताता है, पन्ना ६२ में मार्कडेय ने शौर० के लिए दुब्भइ [यह रूप मराठी में चलता है। —अनु०], लिब्भइ और गम्मइ रूप भी बताये हैं। सब पाठ इसकी पुष्टि करते हैं। 'अनियमित कर्मवाच्य' के रूपों जैसे, सिप्पइ, जुप्पइ, आढप्पइ, दुब्भइ, रुब्भइ आदि आदि की व्युत्पत्ति कर्मवाच्य के भूतकालिक अंशक्रिया के भ्रमपूर्ण अनुकरण के अनुसार हुई है ऐसा याकोबी[3] ने माना है तथा जिसका अनुमोदन योहान्सोन[4] ने किया है, पूर्णतया अशुद्ध है। § २६६ और २८६ देखिए। वर्तमानकाल इच्छावाचक तथा आज्ञावाचक रूप कर्मवाच्य में आ सकते हैं, इसके अतिरिक्त कर्मवाच्य वर्ग से पूर्णभूतकाल, भविष्यत्काल, सामान्यक्रिया, वर्तमानकालिक और भूतकालिक अंशक्रियाएँ बनायी जाती हैं। समातिसूचक चिह्न नियमित रूप से परस्मैपद के हैं, तो भी *महा०, जै०महा०, जै०शौर०* और *अ०माग०* में *तथा बहुधा* पै० में भी और व्याकरणकारों के मत से सदा ही आत्मनेपद के समाप्तिसूचक चिह्न लगाये जाते हैं, विशेष कर अंशक्रिया के रूपों में।

१ *मालविकाग्निमित्र*, पेज २२३ में *बौँल्लें नसेन की टीका। आगे आने* वाले पाराओं में अशुद्ध रूपों के उदाहरण दिये गये हैं। — २ रावणवहो ८, ८२ नोटसंख्या ४, पेज २५६ में एस० गोल्दश्मित्त की टीका। — ३ कू० त्सा० २८, २४९ और उसके बाद। — ४ कू० त्सा० ३२, ४४६ और उसके बाद में इस विषय पर अन्य साहित्य का उल्लेख भी है।

§ ५३६—भविष्यत्काल की भाँति ही (§ ५२१ और उसके बाद) कर्मवाच्य के उदाहरण भी वर्तमानकाल के वर्गों के अनुसार दिये गये हैं (§ ४७३ और उसके बाद)। जिन धातुओं के अन्त में *–उ* और *–ऊ* रहते हैं उनकी रूपावली गणों के बिना भेद के संस्कृत के छठे गण के अनुसार चलती है (§ ४७३) और इसके बाद उनके कर्मवाच्य के रूप बनते हैं महा० में णिण्हुविज्जन्ति आया है (हाल ६५७), शौर० में णिण्हुवीअदि है (रत्ना० ३०३, ९), ये दोनों रूप ह्नु से बने हैं, रुव्वइ और रुविज्जइ (हेच० २, २४९) आये हैं, महा० में रुव्वसु आया है (हाल १०)। ये रूप रु धातु के हैं, महा० में थुव्वसि = स्तूयसे है (गउड० २९८) और थुव्वइ = स्तूयते है (हेच० ४, २४२, सिंहराज० पन्ना ५४, गउड० २९३), जै०शौर० में थुव्वदे आया है (कत्तिगे० ४०१, ३५१), अ०माग० में थुव्वन्ति [पाठ में थुवन्ति है] = स्तूयन्ते है (विवाह० १२३२), जै०महा० में थुव्वन्त– मिलता है (एर्से० २४, २) और सथुव्वन्त– भी है (आव०एर्से० ७, २६), इनके साथ साथ थुणिज्जई रूप भी पाया जाता है (हेच० ४, २४२), ये रूप स्तु से है, धुव्वइ और धुणिज्जइ रूप हैं, महा० में विहुव्वइ, विहुव्वन्त– और ओधुव्वन्ति मिलते हैं (रावण०), अ०माग० में उद्धुव्वमाणेहिं है (ओव०, कप्प०) जो धू धातु

से बना है, **पुव्वइ** और **पुणिज्जइ** और अप० में **पुणिज्जे** रूप मिलते हैं (पिंगल २,१०७) जो पू से बने हैं। लू के रूप **लुव्वइ** और **लुणिज्जइ** होते हैं। हु के **हुव्वइ** और **हुणिज्जइ** रूप हैं (वर० ८, ५७ ; हेच० ४, २४२ ; क्रम० ४,७४ ; मार्क० पन्ना ५८; सिंहराज० पन्ना ५४)। श्रु के निम्नलिखित रूप मिलते हैं : महा० और जै०महा० में **सुव्वइ, सुव्वन्ति** और **सुव्वमाण** रूप हैं (गउड०; हाल ; रावण० ; आव०एर्त्से० ३७, ४४ ; एर्त्से० ; कालका०), महा० में **सुव्वन्त-** भी है (कर्पूर० ५१, ३) ; अ०माग० में **सुव्वए** (सूय० १५४), **सुव्वई** (सूय० २७७ : पाठ में **सुच्चई** है) आये हैं और **सुव्वन्ति** मिलता है (उत्तर० २८० ; पाठ में **सुच्चन्ति** है) ; इनके साथ-साथ **सुणिज्जइ** रूप भी देखा जाता है (वर० ८, ५७ ; हेच० ४, २४२ ; सिंहराज० पन्ना ५४), **सुणिज्जए, सुणीअइ** और **सुणीअए** का भी उल्लेख है (सिंहराज० पन्ना ५४) ; शौर० में **सुणीअदि** (मृच्छ० २९, २ ; ६४, ६ ; ९७, ७ ; शकु० ५०, १२ ; १३९, ६ ; रत्ना० ३१५, २१ ; प्रबोध० १४, ९ ; कर्पूर० ३, ३ ; २४, ३ ; ४५, ३ ; वृषभ० ४७, १४ ; ५१, ७ आदि आदि), **सुणीयन्ति** (! [यद्यपि पिशल साहब को इस रूप की अनियमितता और विचित्रता पर कुछ आश्चर्य अवश्य होना ही चाहिए था, पर कुमाउनी में इसी से निकला **सुणींनी** रूप बहुत काम में आता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जनता की बोली में इसका यथेष्ट व्यवहार होता रहा होगा। —अनु०] ; ललित० ५५५, २), **सुणीअन्ति** (शकु० ५८,१ ; उत्तररा० १२७, ६ ; प्रबोध० ८, ८ [शौर० में **सुणीअन्ति** अधिक फबता है, **सुणीयन्ति** जै०महा० और अ०माग० का य साथ में लिये हुए हैं यह अनियमित है, इससे पिशल साहब को आश्चर्य हुआ जो ठीक ही है। —अनु०]), **सुणीअदु** भी आया है (विक्र० ४८, ९) ; माग० में **शुणीअदि** है (मृच्छ० ४५, १ ; १६३, २२ ; १६९, १८ ; मुद्रा० १९१, ५ , वेणी० ३५, १८ ; ३६, ३) ; अप० में **सुणिज्जे** मिलता है (पिंगल २, १०७)। जै०महा० में **सुम्मउ** रूप भी मिलता है (एर्त्से० ११, १६), जो § २६१ के अनुसार एक रूप *सुमइ और इसके साथ साथ *सुवइ के अस्तित्व की सूचना देता है। — व्याकरणकारों के अनुसार (वर० ८, ५७ ; हेच० ४, २४२ ; क्रम० ४, ७३ ; मार्क० पन्ना ५८) जि धातु का कर्मणि भावे इसी प्रकार निर्मित होता है तथा हेमचन्द्र ४, २४३ के अनुसार चि का भी : **चिव्वइ** तथा **चिणिज्जइ** रूप मिलते हैं, भविष्यत्काल का रूप **चिव्विहिइ** है। जि के **जिव्वइ** और **जिणिज्जइ** रूप आये हैं। हेमचन्द्र के अनुसार **चिम्मइ** तथा भविष्यत्काल में **चिम्मिहिइ** रूप भी बनते हैं जिसका स्पष्टीकरण जै०महा० **सुम्मउ** की भाँति ही होता है। याकोबी के साथ, जिसकी सारी विचारधारा और मत भ्रमपूर्ण है[1] और योहान्सोन[2] के साथ यह मानना कि यह -उ और -ऊ के अनुकरण पर बने हैं, अशुद्ध है। **चीव्** (धातुपाठ २१, १५ चीवृ आदानसंवरणयोः) का नियमित कर्मवाच्य का रूप **चिव्वइ** है और जिव् का (धातुपाठ १५, ८५ जिवि प्रीणनार्थः) कर्मवाच्य का सम्भावित रूप **जिव्वइ** है। इसका रूप **जिव्व** बताया जाता है। इस विषय पर तभी कुछ कहा जा सकता है जब इसका अर्थ निश्चित रूप से निर्णीत किया जाय। अ०माग०

में **विज्ञन्ति**, **उवचिज्ञन्ति** और **अवचिज्ञन्ति** रूप मिलते हैं (पण्णव० ६२८ और ६२९), शौर० में **विचीअदु** आया है (विक्र० ३०, १५)। — हेमचन्द्र ३, १६० के अनुसार **भू** के कर्मवाच्य के रूप **होईअइ** तथा **होइज्जइ** होते हैं। शौर० में यह रूप **भवीअदि** बोला जाता है और **अणुभवीअदि** (रत्ना० ३१७, ५) में आया है। **अणुहवीअदु** भी मिलता है (नागा० ४, ५), **अणुहुवीअदि** देखा जाता है (कालेयक० ९, २२) और **अभिभवीअदि** भी पाया जाता है (मालती० १३०, ५)। अशक्रिया **अहिभूअमाण** है (शकु० १६, १०)। माग० में **भवीअदि** (मृच्छ० १६४, १०) और **हुवीअदि** मिलते हैं (वेणी० ३३, ६ और ७ ; ३५, ८)। उक्त दोनों रूप परस्मैपद में भविष्यत्काल के अर्थ मे आये हैं (§ ५५०)। **पहुप्पइ** के विषय में § २८६ देखिए। — **नी** का कर्मवाच्य का रूप महा० मे **णिज्जइ** (गउड० ; हाल ; रावण०), जै०महा० मे **नीनिज्जन्त-** (आव०एर्से० २४, ४), शौर० में **णीअदि** (शकु० ७८, ८), **आणीअदि** (विक्र० ३१, ५ ; कर्पूर० २६, ८), **आणीअदु** (कर्पूर० २६, ७), **अहिणीअदु** (शकु० ३, ५) और **अणुणीअमान** रूप आये हैं (मृच्छ० २३, २३ और २५) ; माग० मे **णीअदि** है (मृच्छ० १००, २२)।

१. कू० त्सा० २८, २५५। — २. कू० त्सा० ३२, ४४९। पी० गौल्दश्मित्त, स्पेसिमेन, पेज ७१ का मत भी अशुद्ध है ; ना० गे० वि० गौ० १८७४, पेज ५१३ ; एस० गौल्दश्मित्त, त्सा० डे० डौ० मौ० गे० २९, ४९४।

§ ५३७—जिन धातुओं के अन्त में **ऋ** आता है उनका कर्मवाच्य का रूप वर्तमान के वर्ग से बनता है : महा० मे **धरिज्जइ** है (रावण०), भविष्यत्काल **धरिज्जिहिइ** मिलता है (हाल ७७८ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए), माग० में **धलीअदि** आया है (प्रबोध० ५०, १०) ; महा० मे **अणुसरिज्जन्ति** रूप है (गउड० ६२७) ; महा० मे **णिव्वरिज्जउ** भी मिलता है (हाल २०४) ; महा० तथा अप० में **सुमरिज्जइ**=**स्मर्यते** है (रावण० १३, १६ ; हेच० ४, ४२६), जै०महा० में **सुमरिज्जउ** आया है (एर्से० १५, ३), शौर० मे **सुमरीअदि** मिलता है (मृच्छ० १२८, १)। **ऋ** मे समाप्त होनेवाले धातु या तो संस्कृत के अनुसार कर्मवाच्य बनाते हैं अथवा वे **ऋ** में समाप्त होनेवाले धातुओं के अनुकरण पर बनाये जाते हैं : **क्री** धातु का शौर० मे **कीरन्त** रूप मिलता है (बाल० १९९, १०) किन्तु यह रूप शौर० बोली की परम्परा के विरुद्ध है, जिसमें **किरीअन्त** की प्रतीक्षा की जानी चाहिए थी ; **जीरइ** (यह=**जीर्यति** भी है) और **जरिज्जइ** भी देखे जाते हैं (हेच० ४, २५०), अ०माग० में **निज्जरिज्जई** आया है (उत्तर० ८८५ ; टीका मे यही आदृत पाठ है) ; महा० और जै०महा० मे **तीरइ** है (हेच० ४, २५०, गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्से०), **तीरए** भी है (हाल ; एर्से०, द्वार० ४९८, २१) और महा० में **तीरज्जइ** भी आया है (हेच० ४, २५० ; गउड०)। अ०माग० में **वियरिज्जइ** है (उत्तर० ३५४)। इसके ठीक विपरीत **हृ** -**ऋ** वाली धातु के अनुकरण पर रूप बनाता है : महा० और अ०माग० मे **हीरसि** है (गउड० ७२६, उत्तर० ७११) ; महा० और जै०महा० मे **हीरइ** आया है (वर० ८, ६० ; हेच० ४, २५० ; क्रम ४, ७९ और

और ८० ; मार्क० पन्ना ६२ ; हाल ; रावण० ; आव०एर्त्से० ३५, १३), महा० में **हीरन्ति** (गउड०) और **हीरन्त–** रूप भी देखे जाते हैं (हाल), अ०माग० में **अवहीरन्ति** (विवाह० ८९० ; पण्णव० ३९८ और उसके बाद) तथा **अवहीरमाण** रूप पाये जाते है (विवाह० ८९० ; पण्णव० ४०४) किन्तु शौर० मे **अवहरीआमि** रूप आया है (उत्तररा० ९७,१ ; पाठ मे अवहरिआमि है), **अवहरीअसि** (नागा० ९५, १४), **अवहरीअदि** (धूर्त० १३, ५) और **अवहरीअदु** रूप भी मिलते हैं (मृच्छ० २५, ६), **उद्धरीअदि** पाया जाता है (मालती० २४६, ५) ; माग० में **वाहलीअदु** आया है (प्रबोध० ६३, ४) । क्रम० ४, ७९ और ८० की तुलना कीजिए । इसलिए शौर० मे **हीरसि** रूप अशुद्ध है (बाल० १७४, ९) । पृ धातु का रूप महा० मे **पूरिज्जन्त–** (हाल ११६) पाया जाता है और **अहिऊरिज्जन्ति** = अभिपूर्यन्ते है (गउड० ८७२); जै०महा० मे **आउरिज्जमाण** (एर्त्से० २४, ५) और महा० मे **पूरइ, आऊरमाण** और **परिपूरन्त–** भी आये हैं (रावण०) । **वाहिप्पइ** तथा इसके साथ साथ **वाहरिज्जइ** के विषय में § २८६ और कृ के सम्बन्ध में § ५४७ देखिए ।

§ ५३८— धे में समाप्त होनेवाले धातुओ के कर्मवाच्य के निम्नलिखित रूप हैं : महा० और जै०महा० में **गिज्जन्ति–** है (हाल ६४४ ; कालका० २६४, २) ; जै०महा० मे **गिज्जन्ति** भी है (एर्त्से० ४०, १९) ; अ०माग० मे **परिगिज्जमाण** मिलता है (नायाध० § ११९७) ; पै० में **गिय्यते** आया है (हेच० ४, ३१५) ; शौर० में **णिज्झाईअदि** है (मालवि० ६०, ६) । प्राचीन **स्था–** वर्ग की क्रियाओं के निम्नलिखित रूप हैं : महा० मे **अच्छिज्जइ** है (हाल ८३) ; शौर० मे **इच्छीअदि** है (मुद्रा० ५७, ४) ; माग० में **इश्चीअदि** आया है (शकु० ११८, ६) । जिस प्रकार रम् धातु के **रम्मइ, रमिज्जइ** रूप बनाये जाते हैं (वर० ८, ५९) और पै० मे **रमिय्यते** होता है (हेच० ४, ३१५), वैसे ही **गम्** के रूप महा० और जै०महा० मे **गम्मइ** = **गम्यते** है (वर० ८, ५८ ; हेच० ४, २४९ ; क्रम० ४, १३ ; सिंहराज० पन्ना ५४ ; हाल ; रावण० ; एर्त्से०), अ०माग० में **गम्मन्ति** (ओव० § ५६ ; पेज ६३, १३), **समणुगम्मन्त–** (ओव० [§ ३७]) और **–गम्ममाण** रूप पाये जाते हैं (नायाध० § १०३ और १०५) ; महा० मे **गम्मउ** है (हाल ७१५) तथा भविष्यत्काल का रूप **गमिमहिइ** पाया जाता है (हेच० ४, २४९ ; हाल ६०९), इसका अर्थ कभी कभी कर्तृवाच्य का होता है ; महा० में **गमिज्जन्ति** भी मिलता है (गउड० ८४६ ; यहां यही पाठ पढा जाना चाहिए) ; शौर० में **गमीअदु** आया है (मालती० २८५, ५ ; छपा है **गमिअदु**), **गच्छीअदि** (शकु० २५, २ ; विक्र० २२, १० और १५), **अवगच्छीअदि** (मुद्रा० ५८, ४) तथा **आअच्छीअदि** रूप मिलते हैं (नागा० १९, ११) । मृच्छ० २५, १० में दिये गये शौर० रूप **अणुगच्छिज्जन्ति** के स्थान में शुद्ध पाठ **अणुगच्छीअन्ती** है ; महा० मे **संजमिज्जन्ति** आया है (गउड० २८९) ।— **धौ** (= धोना) का कर्मवाच्य का रूप दसों गण की रूपावली के अनुसार (§ ४८२) बनाया जाता है, महा० में अंशक्रिया **धुव्यन्त–** है (हाल ; रावण०) और **धुव्वमाण** भी (रावण०) ।

§ ५३९— पा (=पीना) के कर्मवाच्य के रूप महा० में पिज्जइ (हाल), पिज्जए (कर्पूर० २४, १२), पिज्जन्ति (गउड०) और पिज्जन्त- मिलते हैं (कर्पूर० १०, ८); शौर० में पिवीअदि आया है (मृच्छ० ७१, ७; विक्र० ९, १९), यही रूप मृच्छ० ८७, १३ में आये हुए पिईअदि तथा विक्रमो० ४८, १५ में भी इसी नाटक में अन्यत्र आये हुए दूसरे रूप के साथ पीअदि के स्थान में उक्त शुद्ध रूप पढ़ा जाना चाहिए। आज्ञावाचक में शौर० में पिवीअदु है (मृच्छ० ७७, ११)। बोली की परम्परा के विरुद्ध शौर० रूप पिज्जन्ति है (शकु० २९, ५) जिसके स्थान में पिवीअन्ति अन्ततः शेष पोथियों के अनुसार (काश्मीरी पोथी में पीअन्ते है) पीअन्ति पढ़ा जाना चाहिए। प्रबोधचन्द्रोदय २८, १५ में माग० रूप पिज्जए भी जो बम्बई, मद्रास और पूने के संस्करणों में आया है, अशुद्ध है। इसके स्थान में शुद्ध रूप पिवीअदि होना चाहिए था। — स्था का शौर० में अणुचिट्ठीअदि मिलता है (मृच्छ० ४, १३), आज्ञावाचक में वाचक में अणुचिट्ठीअदु है (मृच्छ० ३, ७; शकु० १, ९; रत्ना० २९०, २८; प्रबोध० ३, ५; नागा० २, १७)। क्रम० ४, १४ में ठीअइ और ठिज्जइ रूप भी बताता है।

§ ५४०—खन् के साधारण रूप खणिज्जइ (हेच० ४,२४४) और जै०महा० अंशक्रिया खन्नमाण (एत्सें० ३९,७) के अतिरिक्त खम्मइ भी दिया गया है (हेच० ४, २४४; सिंहराज० पन्ना ५६)। इस प्रकार महा० में उक्खम्मन्ति, उक्खम्मन्त- और उक्खम्मिअव्व रूप मिलते हैं (रावण०)। ये रूप जन् के जम्मइ (हेच० ४,१३६) तथा हन् के हम्मइ रूपों से अलग नहीं किये जा सकते (वर० ८,४५; हेच० ४,२४४; सिंहराज० पन्ना ५६)। इनके साथ साथ हणिज्जइ भी मिलता है। इस प्रकार महा० में आहम्मिउं, णिहम्मइ, णिहम्मन्ति और पहम्मन्त- रूप मिलते हैं (रावण०); अ०माग० में हम्मइ (आयार० १, ३, ३, २; सूय० २८९), हम्मन्ति (उत्तर० ६६८ और १००८; पण्हा० २८९ [इसमें टीकाकार का पाठ ठीक है]; सूय० २९४ तथा ४३१) और हम्मन्तु रूप आये हैं (पण्हा० १२९), पडिहम्मेज्जा (ठाणंग० १८८) और विणिहम्मन्ति देखे जाते हैं (उत्तर० १५६६); अ०माग० और जै० महा० में हम्ममाण रूप आया है (सूय० २७८; २९७; ३९३; ६४७; ८६३; पण्हा० २०२; विवाग० ६३; निरया० ६७; एत्सें०); अ०माग० में विहम्ममाण (सूय० ३५०) और सुहम्ममाण मिलते हैं (सूय० २७०)। याकोबी[1] और योहानसोन[2] के साथ यह मानना कि गम् धातु से बने गम्मइ की नकल पर ये रूप बने हैं, सोलह आने असम्भव है। जम्मइ रूप निर्देश करता है कि यह जन्मन् से बना नाम-धातु है। इसका रूप प्राकृत में जम्म- है। इसी प्रकार हन्मन् प्राकृत में हम्म- हो गया है [यह हम्मन् कुमाउनी में वर्तमान है। बच्चों की बोली में 'हम्मा' करेंगे का अर्थ है 'मारेंगे'। —अनु०] और *खन्मन् का प्राकृत रूप खम्म- मिलता है[3]। § ५५० की तुलना कीजिए। खुप्पइ के विषय में § २८६ देखिए।

१. कू०त्सा० २८, २५४। — २. कू०त्सा० ३२, ४४९। — ३. मार्कंडेय पन्ना ५७ में बताया गया है कि खम्महि तथा हम्महि (§ ५५०) कर्तृ-

वाच्य में काम में आते हैं [रम्म- का एक आज्ञावाचक रूप रमकावौ कुमाउनी में कर्तृवाच्य में चलता है। —अनु०]।

§ ५४१—दृश् का कर्मवाच्य नियमित रूप से संस्कृत रूप दृश्यते के अनुसार ही बनाया जाता है : महा० और जै०महा० में दीसइ है (हेच० ३, १६१); सिंहराज० पन्ना ५६ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्सें० ; कालका०) ; महा० में दीसए (कर्पूर० ५४,१०) और अईसन्त- (हाल ; रावण०) आये हैं ; महा० और अ०माग० में दीसन्ति मिलता है (कर्पूर० ४, १० ; दस० ६३१, १२) ; अ०माग० में दिस्सइ है (आयार० १, ७, ३, ३) ; अदिस्समाण (आयार० १, २, ५, ३ ; सूय० ६४६) भी पाया जाता है ; शौर० में दीसदि है (मृच्छ० ५०, २४ ; १३८, २३ ; १३९, ८ , विक्र० ७, ३ ; १०, ४ ; ३९, ६ ; ४०, ६ ; रत्ना० २९५, १० , नागा० ५२, ८ आदि आदि), दीसध (कर्पूर० ३, ८), दीसन्ति (शकु० ९९, १२ ; विद्ध० ७१, ९ ; ११९, १३ ; मालती० २०१, २) और दीसदु रूप पाये जाते हैं (कर्पूर० ५४, ४) ; माग० में यह दीशदि हो जाता है (ललित० ५६५, ८ ; मृच्छ० १३८, २४ ; १३९, १० और ११ ; १४७, ४ और १५ ; १६८, १८) और दीशन्ति भी है (मृच्छ० १४, १०) । — लभ् महा० में लब्भइ = लभ्यते बनाता है (हेच० ४, २४९ ; हाल , रावण० ; मृच्छ० १५३, १७), जो रूप जै०महा० लज्झइ (एर्सें० ६०, १६) के स्थान में पढ़ा जाना चाहिए क्योंकि लज्झइ में पढ़ने में अशुद्धि हो गयी है ; अ०माग० में भविष्यत्काल का रूप लब्भिही है जो कर्तृवाच्य में काम में आता है (दस० ६२४, १४) ; शौर० में लब्भदि मिलता है (शकु० २३, १४) ; इसके साथ-साथ लहिज्जइ भी देखा जाता है (हेच० ४, २४९), यह ठीक अप० की भाँति (पिंगल १, ११७) । शौर० और माग० में वर्तमान काल के सानुनासिक वर्ग से भी इस धातु के रूप बने हैं (§ ४८४ और ५२५) : शौर० में लम्भीअदि (मालती० २१७, ३), लम्भीआमो (मालती० २४०, ४) और उवालम्भीअदि रूप आये हैं (पाठ में उवालम्भिज्जइ है ; मल्लिका० २२८, ८), माग० में आलम्भीअदि (मुद्रा० १९४, २ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए , इस नाटक में अन्यत्र दूसरे रूप देखिए और संवत् १९२६ के कलकतिया संस्करण के पेज १६२, ८ भी) । — महा०, जै०महा० और अ०माग० में वह् का कर्मवाच्य का रूप वुब्भइ है (हेच० ४, २४५ ; क्रम० ४, ७९ [पाठ में वब्भइ है] ; मार्क० पन्ना ६२ , गउड० ; हाल ; एर्सें०), महा० में णिव्वुब्भइ है (रावण०) । हाल २७५ में छपे उज्झसि के स्थान में भी यही रूप अर्थात् वुब्भसि पढ़ा जाना चाहिए (इस सम्बन्ध में वेबर की तुलना कीजिए) तथा दसवेयालियसुत्त ६३५, ८ में अशुद्ध पढ़े हुए रूप वुज्झई के स्थान में भी वुब्भई पढ़ा जाना चाहिए । § २६६ की तुलना कीजिए । हेमचन्द्र ४, २४५ में वहिज्जइ रूप भी बताता है । मार्कण्डेय ने पन्ना ७२ में लिखा है कि शौर० में केवल वहीअदि रूप काम में आता है ।

§ ५४२—छठे गण के धातुओं में से प्रच्छ् निम्नलिखित रूप से कर्मवाच्य बनाता है : महा०, जै०महा० और अ०माग० में पुच्छिज्जइ है ; महा० में पुच्छिज्जन्ती

मिलता है (अंशनिया० ; हाल) ; जै०महा० में पुच्छिज्जामि आया है (एर्त्से०) ; अ०माग० में पुच्छिज्जन्ति है (पण्णव० ३८८) शौर० में पुच्छीअसि पाया जाता है (विद्ध० ११८, ८) और पुच्छीअदि रूप भी आया है (मृच्छ० ५७, १८ ; ७२, २५) । — कृत् का अ०माग० में किच्चइ होता है (उत्तर० १७७) । — महा०, जै०महा० और अ०माग० में मुच् धातु मुच्चइ = मुच्यते होता है : महा० में मुच्चइ, मुच्चन्ति (गउड०), मुच्चन्त- (रावण०) रूप मिलते हैं, जै०महा० में मुच्चामि और मुच्चए आये हैं (एर्त्से०) ; अ०माग० में मुच्चइ (विवाह० ३७), मुच्चए (उत्तर० २४३), मुच्चन्ति (कप्प० ; ओव०), मुच्चे ज्जा (प्र०एक०, उत्तर० ६२४), मुच्चे ज्ज (तृ०एक० ; सूय० १०४ ; उत्तर० २४७), पमुच्चइ और विमुच्चइ रूप मिलते हैं (आयार० १, ३, ३, ५ ; २, १६, १२ [यह धातु हिन्दी में नहीं रह गया है, कुमाउनी मुच्चइ का मुचै तथा मुच्चन्ति का मुचनी रूप चलते हैं । —अनु०]) ; जै०शौर० मे विमुच्चदि रूप आया है (पव० ३८४, ६०) ; किन्तु शौर० में मुञ्चीअदु मिलता है (मुद्रा० २४७, ७ [सस्करणों में छपे मुच्चिज्जदु और मुञ्चदु के स्थान मे यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) जिसके विपरीत भविष्यत्काल का रूप मुच्चिस्सदि है (शकु० १३८, १ ; विक्र० ७७, १६ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) । — लुप् का रूप महा० में लुप्पन्त- है (गउड० ३८४) ; अ०माग० में लुप्पइ और लुप्पन्ति पाये जाते है (सूय० १०४) ; सिच् का जै०महा० में सिच्चन्तो रूप मिलता है (द्वार० ५०४, १०), अ०माग० मे अभिसिच्चमाणी तथा परिसिच्चमाण (कप्प०) और संसिच्चमाण आये हैं (आयार० १, ३, २, २), शौर० मे सिच्चन्ती (मुद्रा० १८२, १ [कलकतिया सस्करण के अनुसार यही पढ़ा जाना चाहिए]) और सिच्चमाणा रूप हैं (मालती० १२१, २) । सिप्पइ के विषय मे § २८६ और सृ के सम्बन्ध में § ४७७ देखिए । छिप्पइ और छिविज्जइ, जिनकी व्युत्पत्ति हेमचन्द्र ४, २५७ में स्पृश् से बताता है, क्षिप् से निकले हैं (§ ३१९) ।

§ ५४३—चौथे गण की क्रियाओ के लिए उनकी विशेषता का परिचय देनेवाले उदाहरण नीचे दिये जाते हैं : महा० में पडिबुज्झिज्जइ = प्रतिबुध्यते है (गउड० ११७२) ; अप० में रूसिज्जइ = रुष्यते है (हेच० ४, ४१८, ४) । दसवे गण की क्रियाएं, प्रेरणार्थक रूप और नामधातु सस्कृत की भाँति कर्मवाच्य बनाते हैं या तो कर्मवाच्य के सार चिह्न का धातु के भीतर में आगमन हो जाता है अथवा वर्ग में बिना -य और -अय के बनाते हैं । प्राकृत के -अ और -ए वाले कर्मवाच्य : कारीअइ, कारिज्जइ, करावीअइ, कराविज्जइ, हासीअइ, हासिज्जइ, हसावीअइ और हसाविज्जइ पाये जाते हैं (वर० ७, २८ और २९ ; हेच० ३, १५२ और १५३ ; सिंहराज० पन्ना ५५ और ५६) । महा० मे छेइज्जन्ति है (गउड० ११९८), शौर० में छेदीअन्ति आया है (मृच्छ० ७१, ४) = छेद्यन्ते है ; महा० में तोसिज्जइ = तोष्यते (हाल ५०८), समत्थिज्जइ = समर्थ्यते है (हाल ७३०), कवलिज्जइ = कवलीक्रियते है (गउड० १७२) तथा पहामिज्जन्त = प्रभ्राम्यमाण है (रावण० ७, ६९) ; जै०महा० में मारिज्जइ = मार्यते है (एर्त्से० ५, ३४), मारिज्जउ

और मारिज्जामि भी मिलते हैं (एर्त्से० ५, २६ ; ३२, २६) ; अ०माग० में आघविज्जन्ति = आख्याप्यन्ते है (नन्दी० ३९८ ; ४२७ ; ४२८ ; ४५१ ; ४५४ ; ४५६ ; ४६५ और उसके बाद), पिडइ = पीडयते है (आयार० १, २, ५, ४) ; शौर० में पबोधीआमि = प्रबोध्ये है (शकु० २९, ९), वावादीअदि = व्यापाद्यते है (मृच्छ० ४१, ७ ; उत्तररा० ९७, १ ; मुद्रा० २५०, २ ; वेणी० ३५, २०), संपधारीअदु = संप्रधार्यताम् है (विक्र० २२, १९), विण्णवीअदि = विज्ञाप्यते (विक्र० ३०, २१), जीवावीअदि = जीव्यते (मृच्छ० १७६, ७), अवदारीअदु = अवतार्यताम् (कर्पूर० २६, ९) और सुक्खवीअन्ति = शोष्यन्ते हैं (वास्तव में *शुष्काप्यन्ते है ; मृच्छ० ७१, ४) ; अप० में ठवीजे = स्थाप्यते है (पिंगल २, ९३ और १०१) । महा० में नामधातुओं में अपवाद मिलते हैं : कज्जलइज्जइ आया है (रावण० ५, ५०) ; वलइज्जइ मिलता है (गउड० १०२८) ; कण्डइज्जन्त है (हाल ६७) तथा मण्डलइज्जन्त- पाया जाता है (गउड० १०३४) । कथय- के कर्मवाच्य के नियमित रूप हैं : महा० में कहिज्जइ है (हेच० ४, २४९), कहिज्जन्ति, कहिज्जउ और कहिज्जन्त- आये हैं (हाल) ; अ०माग० में परिकहिज्जइ है (आयार० १, २, ५, ५ ; १, ४, १, ३) ; दाक्षि० में कहिज्जदि रूप मिलता है (मृच्छ० १०३, १५) ; माग० में कधीयदु है (! ; ललित० ५६६, ९) ; अप० में कहिज्जइ (पिंगल १, ११७) और कहीजे (पिंगल २, ९३ और १०१) पाये जाते हैं । इनके साथ साथ हेमचन्द्र ४, २४९ में कत्थइ रूप भी बताता है जो अ०माग० में पाया जाता है (आयार० १, २, ६, ५) तथा ध्वनिपरिवर्तन के नियमों के अनुसार *कच्छइ होना चाहिए (§ २८०) । बहुत सम्भव है कि इन रूपों का सम्बन्ध कत्थ् से हो । अ०माग० में पकत्थइ (सूय० २३४) = *प्रकथ्यते है । आढप्पइ, आढवीअइ, विढप्पइ, विढविज्जइ और विढप्पीअदि के विषय में § २८६ देखिए ।

§ ५४४—दूसरे गण की क्रियाओं में से या का कर्मवाच्य अप० में जाइज्जइ है (हेच० ४, ४१९, ३) ; माग० में पच्चिआईअदि (§ ४८७) पाया जाता है । -उ और -ऊ में समाप्त होनेवाले धातुओं के विषय में § ५३६ देखिए । रुद् का शौर० में रोदीअदि होता है (§ ४९५), स्वप् का महा० में सुप्पउ = सुप्यताम् है (हाल), शौर० में सुवीअदि पाया जाता है (कर्ण० १८, २०) । वच् का कर्मवाच्य वुच्चइ बनाया जाता है (हेच० ३, १६१ ; § ३३७) : अ०माग० में वुच्चइ है-(उत्तर० ३ ; विवाह०-३४ ; ३५ ; १८२ ; ९२८ ; कप्प० ; ओव० ; उवास० आदि आदि), वुच्चई (उत्तर० २), पवुच्चइ (आयार० १, १, ४, ३ ; ५, १ ; ६, १ ; १, २, २, १ ; ६, २ और ४ ; १, ४, १, २ ; १, ५, ३, ३ ; विवाह० २०२ ; ३७४ और उसके बाद ; ४०९ ; ४४४ ; राय० १४४ और उसके बाद), पवुच्चई (सूय० ३५१) ; वुच्चन्ति (सूय० ९७८ ; ९७९ ; ९९४ और उसके बाद ; दस० ६२९, २२) और वुच्चमाण (सूय० ३९३ ; विवाह० १४९) रूप पाये जाते हैं ; शौर० में वुच्चामि (कर्पूर० ३२, ९), वुच्चसि (शकु० १२, ८), वुच्चदि

(मृच्छ० ७७, १२ ; ७९, २ ; ८७, १२ ; १३८, २ और ३ ; विद्ध० १२८, १ [पाठ में उच्चदि है] , बाल० ९६, १२ [पाठ मे उच्चदि है]) और वुच्चन्ति रूप आये हैं (मृच्छ० २९, ७) , माग० मे उच्चदि है (मृच्छ० ३६, ११)। — दुह् धातु का दुहिज्जइ के अतिरिक्त दुब्भइ रूप भी बताया गया है [इस दुब्भइ का मराठी मे दुभणें धातु है। —अनु०] और लिह् का लिहिज्जइ के साथ साथ लिब्भइ भी मिलता है (हेच० ४, २४५ , क्रम० ४, ७९ ; मार्क० पन्ना ६२ ; इसी प्रकार वर० ८, ५९ में लिब्भइ पढा जाना चाहिए। इस ग्रन्थ में अन्यत्र दूसरे रूप भी देखिए)। इस विषय में § २६६ देखिए। जै०महा० मे दुज्झउ मिलता है (आव० एत्सें० ४३, ११) तथा भविष्यत्काल का रूप दुज्झिहिइ (आव०एत्सें० ४३, २०) है, किन्तु उपर्युक्त दोनों रूप दुब्भउ और दुब्भिहिइ के अशुद्ध पाठान्तर हैं। § ५४१ में लज्झइ और बुज्झइ की तुलना कीजिए। महा० सीसइ तथा दाक्षि० सासिज्जइ के विषय में § ४९९ देखिए और हन् से बने रूप हम्मइ तथा हणिज्जइ के बारे मे § ५४० देखिए।

§ ५४५—दा का कर्मवाच्य, संस्कृत रूप दीयते के अनुसार महा०, जै०महा० और अप० में दिज्जइ होता है (हाल , रावण० , एत्सें० , हेच० ४, ४३८, १ ; पिंगल १, १२१), महा० में दिज्जए भी पाया जाता है (हाल , कर्पूर० ७६, ७ ; ८९, ९), अप० मे दीजे भी आया है (पिंगल २, १०२ और १०५), दिज्जउ (पिंगल २, १०६) कर्तृवाच्य के अर्थ मे है तथा तृ० बहु० दिज्जईं है (हेच० ४, ४२८ , पिंगल २, ५९ [यहा यही पाठ पढा जाना चाहिए]); जै०शौर० मे दिज्जदि मिलता है (कत्तिगे० ४०१, ३४५) , शौर० मे दीअदि आया है (मृच्छ० ५५, १६ , ७१, ६), अशुद्ध रूप दिज्जदि देखा जाता है (मृच्छ० ४९, ७ , कर्पूर० ६१, ९), दिज्जन्तु (कर्पूर० ११३, ८), दिज्जन्दु (विद्ध० १२४, १४) और इनके साथ साथ शुद्ध रूप दीअदु भी मिलता है (कर्पूर० १०३, ७) , माग० में दीअदि और दीअदु पाये जाते हैं (मृच्छ० १४५, ५) , पै० में तिय्यते आया है (हेच० ४, ३१५)।— अ०माग० रूप अहिज्जइ = आधीयते (सूय० ६०३ , ६७४ और उसके बाद) तथा आहिज्जन्ति (आयार० २, १५, १५ , जीवा० १२ ; कप्प०) धा धातु से सम्बन्धित हैं। टीकाकारों ने इनका अनुवाद आख्यायते और आख्यायन्ते किया है। हा का कर्मवाच्य शौर० में परिहीअसि (शकु० ५१, ५), परिहीअदि (मालती० २१२, ४) और परिहीअमाण मिलते हैं (कर्पूर० ७६, १)। हु धातु से सम्बन्धित हुव्वइ और हुणिज्जइ के विषय मे § ५३६ देखिए। पाँचवें गण की धातुओं में से निम्नलिखित धातुओं के कर्मवाच्य के रूप दिये जाते हैं : चि के चिणिज्जइ तथा चिव्वइ होते हैं, अ०माग० में चिज्जन्ति मिलता है और शौर० में चिचीअदु है (§ ५३६)। धु के धुणिज्जइ और धुव्वइ रूप पाये जाते हैं (५३६)। श्रु के रूप सुणिज्जइ और सुव्वइ हैं, जै०महा० में सुम्मउ आया है तथा शौर० में सुणीअदि मिलते हैं, माग० में शुणीअदि हो जाता है (§ ५३६)। अप् का शौर० पावीअदि होता है (विद्ध० ४३, २) तथा अप० में पाविअइ हैं (हेच० ४, ३६६)। शक् के

रूप शौर० में सक्कीअदि (विद्ध० ८७, २ ; चैतन्य० ८४, ५ ; ८५, १३ ; २५८, १६) और माग० मे शक्कीअदि पाये जाते हैं (मृच्छ० ११६, ६)।

§ ५४६—सातवें गण के धातु अधिकांश में संस्कृत की ही भाँति कर्मवाच्य बनाते हैं, वर्तमान वर्ग से बहुत कम : महा० में छिज्जइ छिज्जन्ति और चोच्छिज्जइ आये हैं (रावण०), जै०महा० और अप० मे छिज्जइ रूप है (एर्त्से० ; हेच० ४, ३५७, १ ; ४३४, १) ; शौर० मे छिज्जन्ति मिलता है (मृच्छ० ४१, २), भविष्यत्काल का रूप छिज्जिस्सदि है (मृच्छ० ३,१६) । — महा० और जै०महा० में भज्जइ, भज्जन्ति और भज्जन्त– रूप मिलते हैं (गउड० ; रावण० ; एर्त्से०), महा० में भविष्यत्काल का रूप भज्जिहिसि है (हाल २०२) ; माग० में भय्यदि है तथा आज्ञावाचक भिभय्य है (मृच्छ० ११८, १२ और २१ ; § ५०६ देखिए) । — महा० में भिज्जइ, भिज्जन्ति और भिज्जन्त रूप मिलते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०) ; अ०माग० में भिज्जइ (आयार० १, ३, ३, २); भिज्जउ (विवाह० १२३०) और भिज्जमाण आये हैं (उवास० § १८) ; शौर० में उब्भिज्जदु (कर्पूर० ८३, १) और उब्भिज्जन्ति हैं (विद्ध० ७२, ३ ; पाठ में उब्भिज्जन्दि है) । — महा० में भुज्जन्त और उवहुज्जन्त हैं (गउड०), जै०महा० में भुज्जइ आया है (एर्त्से०) ; अ०माग० में भुज्जइ मिलता है (उत्तर० ३५४) किन्तु भुञ्जिज्जइ भी आया है (हेच०, ४, २४९) ; जै०महा० में परिभुञ्जिज्जइ है (द्वार० ५००, ३६) ; शौर० में भुञ्जीअदि पाया जाता है (शकु० २९, ६) । — महा० में जुज्जन्त– है (रावण०) और इसका अर्थ है 'यह योग्य है ; यह जँचता है' = संस्कृत युज्यते है ; महा० में सदा जुज्जइ मिलता है (हाल ९२४), जुज्जए है (हाल १२), जै०शौर० में जुज्जदे आया है (कत्तिगे० ४०३, ३८०), शौर० में जुज्जदि रूप पाया जाता है (मृच्छ० ६१, १० ; ६५, १२ ; १४१, ३; १५५, २१ ; शकु० ७१, १० ; १२२, ११ ; १२९, १५ ; विक्र० २४, ३ , ३२, १७, ८२, १७ आदि आदि), इसके विपरीत साधारण अर्थ में : शौर० में णिउञ्जीआमि और णिउञ्जीअसि (कर्पूर० १८, ३ और २) ; णिउञ्जअदि (माल्ती० २२, ५ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए ; पेज ३७२ देखिए]) ; पउञ्जीअदि (कर्पूर० १९, ८) और पउञ्जीअदु रूप पाये जाते हैं (मृच्छ० ९, ७) । जुप्पइ के सम्बन्ध में § २८६ देखिए। हेच० ४, २४५ में रुध के रुन्धिज्जइ और रुब्भइ रूप बताता है तथा अनु, उप और सम् उपसर्गों के साथ (४, २४८) : अणु, उव– और सं– –रुज्झइ तथा –रुन्धिज्जइ रूप सिखाता है। महा० रूप परिरुज्झइ का दूसरा उदाहरण नहीं मिलता (गउड० ४३४) ; शौर० में उवरुज्झदि मिलता है (विक्र० ८२, १५ नाटक में अन्यत्र दूसरा रूप देखिए ; बंबइया सस्करण में १३१, १० की तुलना कीजिए)। महा० में रुब्भइ, रुब्भन्त– तथा रुब्भमाण (रावण०) और जै०महा० मे रुब्भइ (आव०एर्त्से० ४१, ९) रुध् के कर्मवाच्य के रूप हैं (§ ५०७)।

§ ५४७—महा० और जै०महा० में कृ का रूप साधारणत. कीरइ होता है (वर० ८, ६० ; हेच० ४, २५० ; क्रम० ४, ७९ , मार्क० पन्ना ६२ ; सिंहराज०

पन्ना ५४) अर्थात् यह हृ के रूप की भाँति है जो ऋ में समाप्त होनेवाली क्रियाओं के अनुकरण पर बनाया गया है (§ ५३७)। इस प्रकार महा० में कीरइ, कीरए, **कीरन्ति, कीरउ** और **कीरन्त-** रूप मिलते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०) ; जै०-महा० में **कीरइ** (एर्त्से० ; आव०एर्त्से० ९, २३ ; १३, २६ ; द्वार० ४९७, ७), **कीरउ** (कालका० २६९, ३७ ; यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए) ; जै०शौर० में **कीरदि** है (कत्तिगे० ३९९, ३२० ; ४०१, ३५०)। अ०माग० में भी कभी कभी यही रूप आया है (विवाह० १३५ और ७९६ ; ओव० § ११६ ; १२७ और १२८), **कीरमाण** (दस० ६२९, ५) तथा **कीरन्त-** (पद्य में ; आयार० १, ८, ४, ८) पाये जाते हैं ; हेच० ने ४, ३१६ में **कीरते** रूप में इसे पै० बताया है और राजशेखर ने इसका व्यवहार किया है (उदाहरणार्थ, बाल० १७६, १६ (**कीरदि**) ; २२४, १७ (**कीरउ**) ; २२८, ८ (**कीरइ**), कर्पूर० बम्बइया संस्करण २२, ४ (**कीरदि**) और बाद के कवियों मे ये रूप मिलते हैं जैसे, बिल्हण, कर्णसुन्दरी ५३, १६ में **कीरदि** आया है; शौर० मे भी यह रूप काम में आता है जो सम्भवतः संस्करणों की भूलें हैं जैसे कि कोनो द्वारा सम्पादित कर्पूर० २२, ४ में (पेज १९, ७) शुद्ध रूप **करीअदि** आया है। हेच० ४, २५० में **करिज्जइ** का उल्लेख करता है और इस प्रकार अप० में **करीजे** (पिंगल २, ९३ ; १०१ ; १०२ और १०५) और **करिज्जसु** रूप मिलते हैं (पिंगल १, ३९ ; ४१ ;९९ ; १४४ ; २, ११९)। हेच० १, ९७ में इसके अतिरिक्त **दुहाकिज्जइ** और **दोहकिज्जइ** में **किज्जइ** = **क्रियते** रूप पाया जाता है तथा हेच० ४, २७४ के अनुसार **किज्जदि** और **किज्जदे** रूप शौर० में काम मे लाये जाने चाहिए। इस प्रकार शौर० में ललितविग्रहराज नाटक ५६२, २४ में **किज्जदु** पाया जाता है अन्यथा यह किसी ग्रन्थ में नहीं दिखाई देता। **किज्जइ** महा० में आया है (रावण० १३, १६) और अप० मे यही साधारण तौर पर चलता है : भविष्यत्काल कर्तृवाच्य के रूप मे (§ ५५०) **किज्जउँ** मिलता है (हेच० ४, ३३८ , ४४५, ३), **किज्जउ** आया है (पिंगल १, ८१ अ) जो कर्तृवाच्य में है और **किज्जहिं** है (यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए ; पाठ मे **किज्जही** आया है [यह रूप पद्य में है इसलिए छन्द की मात्रा ठीक करने के लिए दीर्घ कर दिया गया है। —अनु०] = **क्रियन्ते** है (पिंगल २, ५९)। अप० **किज्जसु** और **करिज्जसु** के विषय मे § ४६१ तथा ४६६ देखिए। अ०माग० गद्य में **कज्जइ** = *कार्यते (आयार० १, २, १ ४ , १, २, २, ३ , ५, १ ; सूय० ६५६ ; ७०४ ; ८३८ और उसके बाद , ठाणग० २९१ , विवाह० ५२ ; ९९; १३६ ; १३७ ; १८२; ३४६ ; ४४४ ; १४०६ ; पण्णव० ६३६ और उसके बाद) का एकच्छत्र राज्य है। **कज्जन्ति** आया है (आयार० १, २, ५, १ , विवाह० ४७ ; ५० ; ५२ ; १३०२ ; ओव० § १२३ और १२५), **कज्जमाण** (सूय० ३६८ ; विवाह० ८४०), **दुहा-कज्जमाण** और **तिहाकज्जमाण** (विवाह० १४१) भी पाये जाते हैं। शौर० मे बिना अपवाद के **करीअदि** काम में लाया जाता है (मृच्छ० १८, ११ ; ६९, १० ; शकु० १९, ६), **अलंकरीअदि** (शकु० १९, ५), **करीअन्ति** (शकु० ७७, ४ ;

रत्ना० २९३, २१) और करीअदु (शकु० ५४, १ ; १६८, १५ ; कर्पूर० २२, ९ ; २६, ३ ; ६३, ६ ; ६८, २ ; ११३, ८ ; विद्ध० ९९, ५) रूप पाये जाते हैं ; माग० में यह कलीअदि हो जाता है (मुद्रा० १५४, ४ ; १७८, ७) और कलीअदु भी मिलता है (मृच्छ० ३१, २१ ; १६०, ६)।

§ ५४८—हेमचन्द्र ४, २५२ के अनुसार ज्ञा के रूप णज्जइ, णाइज्जइ, जाणिज्जइ और णव्वइ बनते हैं ; क्रमदीश्वर ४, ८१ के अनुसार जाणीअइ, आणीअइ, णज्जीअइ, णज्झीअइ, णज्जइ और णव्वइ होते हैं। इनमें से णज्जइ = ज्ञायते है जो महा० में (गउड० ; हाल ; रावण०), जै०महा० में (एत्सें०) और अ०माग० में (उवास० ; निरया०) साधारणतः व्यवहार में आनेवाला रूप है (जै०महा० और अ०माग० में नज्जइ है)। शौर० में जाणीअदि चलता है (रत्ना० ३००, ८ ; ३१८, १२ ; प्रबंध० ४५, १० ; ४७, १० ; कर्पूर० २८, २ ; विद्ध० ११९, ४), जाणीअदु आया है (नागा० ८४, ५) तथा ण (= नहीं) के अनन्तर आणीअदि पाया जाता है (§ १७० ; मृच्छ० ७४, ९ ; ८८, २५ ; मालती० २८५, ५ ; नागा० ३८, ३ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) ; इसके अनुसार ही अप० में जाणीअइ मिलता है (हेच० ४, ३३०, ४)। णव्वइ के स्थान में त्रिविक्रम २, ४, ८४ और सिंहराजगणिन् पन्ना ५६ में णप्पइ रूप दिया गया है जो आढप्पइ तथा विढप्पइ से सम्बन्धित है अर्थात् = ज्ञाप्यते है। इसके अनुसार प्रेरणार्थक क्रियाओं में से जैसे शौर० के आणवेदि और विण्णवेदि से एक मूलधातु *णवइ का आविष्कार हुआ जिसका नियमित कर्मवाच्य का रूप णव्वइ है'। — शौर० में क्री के रूप विक्किणीअदि (कर्पूर० १४, ५) और विक्किणीअन्ति पाये जाते हैं (मुद्रा० १०८, ९ [यहाँ यही रूप पढ़ा जाना चाहिए]) ; पू के रूप पुव्वइ और पुणिज्जइ हैं ; अप० में पुणिज्जे मिलता है , लू के रूप लुव्वइ तथा लुणिज्जइ हैं (§ ५३६) ; ग्रन्थ् का शौर० में गन्थीअन्ति पाया जाता है (मृच्छ० ७१, ३ [पाठ में गत्थीअन्ति है])। ग्रह् के कर्मवाच्य में घिप्पइ (हेच० ४, २५६ ; क्रम० ४, ८२) और गहिज्जइ रूप हैं (सिंहराज० पन्ना ५६) ; शौर० में अणुगहीअदु आया है (विक्र० ३१, १०)। महा०, जै०महा०, अ०माग० और अप० में इसके स्थान में घेप्पइ = पाली घेप्पति है और जिसे भारतीय व्याकरणकार (हेच० ४, २५६ , क्रम० ४, ८२ ; मार्क० पन्ना ६२ ; सिंहराज० पन्ना ५६) तथा यूरोप के विद्वान् ग्रभ् से निकला बताते हैं, किन्तु जो वास्तव में इसके समान ही दूसरे धातु *घृप् से सम्बन्धित है (§ २१२)। इसके महा० में घेप्पइ, घेप्पए, घेप्पन्ति और घेप्पन्त– रूप मिलते हैं (गउड० ; हाल ; रावण० , ध्वन्यालोक ६२, ४ में आनन्दवर्धन , विश्वनाथ, साहित्यदर्पण १७८, ३) ; जै०महा० में घेप्पइ (कालका० २७३, ३७) और घेप्पन्ति आये हैं (एत्सें० ६७, १२ ; आव०एत्सें० ३६, ४२) ; अ०माग० में घेप्पेज्जा है (पण्हा० ४००); अप० में घेप्पइ (हेच० ४, ३४१, १) तथा घेप्पन्ति पाये जाते हैं (हेच० ४, ३६५)। इस रूप का शौर० में अशुद्ध प्रयोग भी मिलते हैं (मल्लिका० १०९, ६ ; १४४, ८)। अ०माग० पद्य में गेज्झई = गृह्यते मिलता है (दस०नि० ६५५, ५

और ६)। क्रमदीश्वर ने ४, ८२ में घेप्पिज्जइ भी दिया है। — बन्ध् का रूप बज्झइ बनता है = बध्यते है (हेच० ४, २४७) ; अ०माग० में बज्झई आया है (उत्तर० २४५) ; जै०शौर० मे बज्झदि है (पव० ३८४, ४७) ; शौर० में बज्झन्ति मिलता है (मृच्छ० ७१, २); हेमचन्द्र मे बन्धिज्जइ भी है।— नवें गण के अनुसार वर्तमान वर्ग से बननेवाले भण् धातु का (§ ५१४) कर्मवाच्य महा० मे भण्णइ = भण्यते है (हेच० ४, २४९ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; क्रम० ४, १३ ; हाल ; रावण०), भण्णउ (गउड० ; रावण० ; शकु० १०१, १६), भण्णमाण (हाल), भण्णन्त- (रावण०), भणिज्जइ (हेच० ४, २४९) और भणिज्जउ रूप आये हैं (हाल) ; अप० मे भणीजे मिलता है (पिंगल २, १०१), सम्भवतः भणिज्जसु भी है (पिंगल १, १०९ ; § ४६१ की तुलना कीजिए) ; जै०महा० मे भण्णइ है (एर्त्से० ; कालका०) ; शौर० में भणीअदि पाया जाता है (मृच्छ० १५१, १२ ; प्रबोध० ३९, ३)। शौर० में भणिज्जन्ती (प्रबोध० ४२, ५ ; पै० में भणिज्जन्ती और महा० में भणिज्जमाण) अशुद्ध है। इसके स्थान में भणीअन्ती आना चाहिए जैसा कि बम्बइया संस्करण ९३, ४ मे दिया गया है (पाठ भूल से भणिअन्ती छपा है)।

१. एस० गौल्दश्मित्त त्सा०डे०डौ०मौ०गे० २९, ४९१ में सौ सैकड़ा अशुद्ध है ; याकोबी, कू०त्सा० २८, २५५ और योहान्सोन कू०त्सा० ३२, ४४९ और उसके बाद।

§ ५४९—अ०माग० में कर्मवाच्य से सम्बन्धित एक भूतकाल पाया जाता है : मुच्चिसु आया है (सूय० ७९०) और प्रायः सभी प्राकृत बोलियों में एक भविष्यत्-काल है जो ठीक इसी प्रकार कर्मवाच्य के वर्ग से बनाया जाता है जैसे, परस्मैपद के वर्तमानकाल के वर्ग से परस्मैपदी भविष्यत्काल बनाया जाता है। इस नियम से : महा० मे पहले गण के कल् का रूप कलिज्जिहिसि (हाल २२५ और ३१३), खद् का खज्जिहिइ (हाल १३८), दह् का डज्जिहिसि (हाल १०५) और डज्जिहिइ (हेच० ४, २४६) और दीसिहिइ (हाल ६१९ ; रावण० ३, ३३ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) और धरिज्जिहिइ (हाल ७७८) रूप आये हैं ; जै०महा० मे उज्झिहिइ (आव०एर्त्से० ३२, २५) तथा खन् से निकला खम्मिहिइ पाये जाते हैं (हेच० ४, २४४)। — अ०माग० में छठे गण में मुच्चिहिइ है (ओव० § ११६ ; नायाध० ३९० [पाठ मे मुच्चिहिंति है] ; विवाह० १७५), मुच्चिस्सन्ति भी आया है (आयार० २, १५, १६), किन्तु साथ ही पमोक्खसि = प्रमोक्ष्यसे है (आयार० १, ३, १, २ ; १, ३, ३४) ; शौर० में मुच्चिस्सदि मिलता है (शकु० १३८, १ ; विक० ७७, १६ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) ; अ०माग० मे उवलिप्पिहिइ पाया जाता है (ओव० § ११२)। जै०-महा० में चौथे गण के खुट्टइ (हेच० ४, ११६) का खोट्टिज्जिहिइ हो जाता है (आव०एर्त्से० ३२, २)। प्रेरणार्थक तथा नामधातु : दसवें गण के रूप अ०माग० में मारिज्जिस्सामि आया है (उवास० § २५६) ; जै०महा० में छिद्रय का छिद्दि-

ज्जिहिइ होता है (आव०एर्त्से० ३३, २), चावाइज्जिस्सइ भी मिलता है (एर्त्से० ४३, २२)। दूसरे गण के धातुओं में हन् का हम्मिहिइ मिलता है (हेच० ४, २४४ ; § ५४० ; ५५० और ५५७ की तुलना कीजिए) ; अ०माग० में पडिहम्मिहिइ रूप आया है (नायाध० § ३०) ; दुब्भिहिइ है (हेच० ४, २४५) तथा जै०महा० में दुज्झिहिइ पाया जाता है (आव०एर्त्से० ४३, २० ; किन्तु § ५४४ की तुलना कीजिए)। — पाँचवें गण के धातुओं में चि के चिव्विहिइ और चिम्मिहिइ रूप मिलते हैं (हेच० ४, २४२ और २४३ ; § ५३६ की तुलना कीजिए) ; महा० में क्षि का झिज्जिहिसि होता है (हाल १५२ और ६२८) ; महा० में समप्पिहिइ भी देखा जाता है (हाल ७३४ और ८०६ ; रावण० ५, ४)। — सातवें गण में महा० में भज् का भज्जिहिसि मिलता है (हाल २०२) ; अ०माग० में छिद् का वो॑च्छिज्जिहिन्ति रूप आया है, व्युद् साथ में है (सूय० १०११ [यह व्युद् = वि + उद् उपसर्गों के हैं। —अनु०]), समुच्छिज्जिहिन्ति के स्थान में छन्द की मात्राएं ठीक करने के लिए समुच्छिहिन्ति आया है (सूय० ८६९) ; शौर० में छिज्जिस्सदि मिलता है (मृच्छ० ३, १६) ; शौर० में अहिउज्जदि है जो अभि उपसर्ग के साथ युज् से बना है (उत्तररा० ६९, ६) ; संरुज्झिहिइ भी आया है (हेच० ४, २४८)। — आठवें गण के अ०माग० में कज्जिस्सइ (विवाह० ४१२) और जै०महा० में कीरिहिइ रूप पाये जाते हैं (आव०एर्त्से० १६, ९)। — नवें गण के बज्झिहिइ (हेच० ४, २४७) और शौर० में बज्झिस्सामो रूप बन्ध् से सम्बन्धित हैं (मृच्छ० १०९, १९ ; § ४८८, नोटसंख्या ४ देखिए) ; जै०महा० में *घृप् का रूप घो॑प्पिहिइ (आव०एर्त्से० ७, ५)।

§ ५५०—कर्मवाच्य कभी कभी परस्मैपद के अर्थ में काम में लाया जाता है। ऐसी क्रियाओं को वेबर ने लैटिन के 'डेपोनेण्टिआ' से समानता दी है'। इस प्रकार : महा० में गम्मिहिसि आया है (हाल० ६००)', गम्मसु अनिश्चित है (हाल ८१९), सम्भवतः यह प्रेरणार्थक रूप में काम में लाया गया है ; महा० में गसिज्झिहिइ आया है (हाल ८०४) ; महा० में दीसिहिसि भी है (रावण० १५, ८६) किंतु इस स्थान में हस्तलिपि (C) में दक्खिहिसि फलतः दच्छिहिसि है (§ ५२५) ; महा० में पिज्जइ आया है (हेच० ४, १० ; हाल ६७८) ; महा० में भण्णिहिसि मिलता है (हाल ९०२), हम्मइ = हन्ति है (वर० ८, ४५ ; हेच० ४, २४४ ; क्रम० ४,४६ ; मार्क० पन्ना ५७ ; सिंहराज० पन्ना ५६ ; § ५४० की तुलना कीजिए)। आत्मनेपद की वर्तमानकालिक अंशक्रिया का रूप अ०माग० में विहम्ममाण रूप आया है (उत्तर० ७८७) ; अ०माग० में भविष्यत्काल हम्मिहन्ति है (ठाणंग० ५१२) ; अ०माग० में लब्भिही पाया जाता है (दस० ६२४, ३४) ; अप० में दिज्जउ और किज्जउ रूप मिलते हैं (§ ५४५ ; ५४७; § ४६१ और ४६६ की तुलना कीजिए)। भविष्यत्काल मुख्यतया कर्तृवाच्य के अर्थ में काम में लाया जाता है। इसमें बहुधा पद्य में छन्द की मात्राएं ठीक करने के लिए भी इसका प्रयोग किया गया होगा। यह तथ्य बहुत मनहर है कि माग० और अप० में कर्मवाच्य का वर्तमानकाल कभी-

कभी परस्मैपद के भविष्यत्काल के काम में लाया जाता है अर्थात् 'मैं बनाऊँगा' के स्थान में 'मैं बनाया जाऊँगा' बोला जाता है। मार्कण्डेय पन्ना ७५ में बताया गया है कि माग० में परस्मैपदी भविष्यत्काल के रूप **भविस्सदि** और **भुवीअदि** हैं। इस प्रकार माग० में **भुवीअदि** (मृच्छ० १६४, १०) और **हुवीअदि** (वेणी० ३३, ६ और ७ ; ३५, ८) का अर्थ 'वह होगा' है, **वावादीअशि** का अर्थ है 'तुझे मारना चाहिए' (मृच्छ० १६७, २५), **पिवाशीअशि** (यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; वेणी० ३४, ६) का अर्थ 'कि तुझे प्यासा रहना चाहिए' है ; अप० में **किज्जउँ** का अर्थ है 'मैं बनाऊँगा' (हेच० ४, ३३८ ; ४४५, ३)।

१. वेबर, हाल, पेज ६४, किन्तु इस स्थान में सभी उदाहरण अशुद्ध हैं। इसी भाँति एस० गौल्दश्मित्त, त्सा० डे० डौ० मौ० गे० २९, ४९२ में **समप्पिहिइ** और **दीसिहिसि** को छोड़ और रावणवहो १५, ८६ पेज ३२५ में नोटसंख्या १० के सब उदाहरण अशुद्ध हैं। — २. हाल ६०९ में वेबर की टीका।

§ ५५१—प्रेरणार्थक संस्कृत की भाँति ही प्रेरणार्थक वर्धित धातु (= वृद्धिवाला रूप) में **–ए–** = संस्कृत **–अय** के आगमन से बनता है : **कारेइ** = **कारयति** है और **पाढेइ** = **पाठयति**, **उवसामेइ** = **उपशामयति** और **हासेइ** = **ह्रासयति** हैं (वर० ७, २६ ; हेच० ३, १४९ ; क्रम० ४, ४४ ; सिंहराज० पन्ना ५५)। § ४९० की तुलना कीजिए। **–आ** में समाप्त होनेवाले धातुओं में **–वे–** = संस्कृत **–पय** का आगमन होता है : महा० में **णिव्वावेन्ति** = **निर्वापयन्ति** है (गउड० ५२४ ; [इसका प्रचलन कुमाउनी में है। —अनु०]), शौर० में **णिव्ववेदि** है (मालती० २१७, ५), भविष्यत्काल में **णिव्वावइस्सं** मिलता है (मालती० २६६, १), कर्मवाच्य में भूतकालिक अंशक्रिया का रूप **णिव्वाविद** है (मृच्छ० १६, ९) ; अ०माग० में **आघावेइ** = **आख्यापयति** है (ठाणंग० ५६९) ; माग० में **पत्तिआवइदशं** मिलता है (मृच्छ० १३९, १२)। यह **प्रति** उपसर्ग के साथ या धातु से बना है (§ २८१ और ४८७), पल्लवदानपत्र में **अणुवट्ठावेति** = **अनुप्रस्थापयति** है (७, ४५) ; अ०माग० में **ठावेइ** = **स्थापयति** है (निरया० § ४ ; कप्प० § ११६) ; जै०महा० में **ठावेमि** आया है (एर्त्से० ४३, ३२) ; शौर० में **समवत्थावेमि** = **समवस्थापयामि** (विक्र० २७, ६) और **पज्जवत्थावेहि** = **पर्यवस्थापय** है (विक्र० ७, १७), **पट्ठाविअ** (कृदन्त ; मृच्छ० २४, २) और **पडिट्ठावेहि** मिलते हैं (रत्ना० २९५, २६) ; माग० में **स्तावेमि**, **स्ताविअ** (कृदन्त), **स्तावइदशं** (मृच्छ० ९७, ५ ; १२३, ११ ; १३२, २० ; १३९, २) और **पस्टाविअ** (कृदन्त ; मृच्छ० २१, १२) पाये जाते हैं ; अप० में **पट्ठाविअइ** रूप है (कर्मवाच्य ; हेच० ४, ४२२, ७) ; अ०माग० में **ण्हावेह** = **स्नापयत** है (विवाह० १२६१)। **ज्ञा** का प्रेरणार्थक रूप वर्तमानकाल के वर्ग से निकला है : जै०महा० में **जाणावेइ** (हेच० ३, १४९ ; एर्त्से०) और **जाणावियं**, **जाणाविउं** (कालका०) रूप मिलते हैं ; महा० में **जाणावेउं** (हाल) आया है। उपसर्गों के साथ ये रूप ठीक संस्कृत की भाँति धातुओं के स्वर ह्रस्व करके बनाये जाते हैं : अ०माग० और जै०महा० में **आणवेइ** आया है

(निरया० ; कप्प० ; एर्त्से) ; अ०माग० में आणवेमाण (सूय० ७३४) और पण्णवेमाण रूप मिलते हैं (ओव० § ७८) ; शौर० में आणवेसि (मृच्छ० ९४, ९), आणवेदि (ललित० ५६३, २१ और २९ ; ५६४, २३; ५६८, ११ ; मृच्छ० ४, १९ ; ७, ३ ; १६, २ तथा बार बार यह रूप मिलता है) और आणवेदु पाये जाते हैं (मृच्छ० ३, ७ ; शकु० १, ८ ; नागा० २, १६ आदि आदि), किन्तु आणाविदव्वं (मृच्छ० ५८, १३) आया है और इसके साथ साथ विण्णइदव्वा भी मिलता है (५८, १२), इसलिए इनके स्थानों में गौडबोले १६७, ८ के अनुसार आणविदव्वं और विण्णवेमि (मृच्छ० ७८, १०) रूप पढ़े जाने चाहिए, विण्णवेदि (मृच्छ० ७४, ६ ; ९६, ५ ; शकु० १३८, १० ; विक्र० १२, १३ आदि-आदि), विण्णवेमो (यहाँ § ४५५ के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; शकु० २७, ७), विण्णवेहि (मृच्छ० २७, १४ ; ७४, २१, विक्र० १६, २०, मालती० २१८, १), विण्णविस्सं, विण्णइदव्वा (मृच्छ० ५८, ११ और १२) ; विण्णविदं (यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; विक्र० ४८, ८) और विण्णवीअदि रूप पाये जाते हैं (विक्र० ३०, २१) ; माग० में आणवेदि (शकु० ११४, १) और विण्णाविअ आये हैं (कृदन्त, मृच्छ० १३८,२५ ; १३९,१) । महा०, जै०महा० और अ०माग० में ज्ञा की भाँति ही अन्य धातु भी, जो –आ– में समाप्त होते हैं, अपने स्वर ह्रस्व कर देते हैं । इस प्रकार यहाँ पर बहुधा अपना स्वर ह्रस्व करनेवाला धातु स्था लीजिए : महा०, जै०महा० और अ०माग० में ठवेइ रूप मिलता है (गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्त्से० ; काल्का० ; उवास०; कप्प० आदि आदि ; हेच० १, ६७ की तुलना कीजिए) , महा० में ठविज्जन्ति (गउड० ९९५), उट्ठवेसि (हाल ३९०) और संठवेहि रूप मिलते हैं (गउड० ९९७) ; अ०माग० में उवट्ठवेह (नायाध० § १३०) आया है ; अप० में ठवेहु है (पिंगल १, ८७ , १२५ और १४५)। — महा० में णिम्मवेसि = निर्मापयसि है (गउड० २९७) , अ०माग० में आघवेमाण = आख्यापयमान (ओव० § ७८), आघविय = आख्यापित (पण्हा० ३७६ , ४३१ , ४६९) और आघविज्जन्ति = आख्याप्यन्ते हैं (नन्दी० ३९८ , ४२७ , ४२८ , ४५१ ; ४५४ , ४५६; ४६५ और उसके बाद), सामान्यक्रिया का रूप आघवित्तए है (नायाध० § १४३) । –इ और –ई में समाप्त होनेवाला कई धातुओं के रूप भी संस्कृत की भाँति बनाये जाते हैं : शौर० कर्मवाच्य जआवीअसि = जाप्यसे है (शकु० ३१, ११) ; अ०माग० में ऊसवेह आया है (विवाह० ९५७), उस्सवेह (कप्प० § १००) = उच्छ्रापयत है , शौर० में भाआवेसि से भी सम्बन्धित है (§ ५०१ ; मृच्छ० ९१, १९) । अ०माग० में किणावेइ (ठाणग० ५१६), किणावए (आयार० १, २, ५, ३) तथा किणावेमाण, क्री के रूप हैं और वर्तमानकाल के वर्ग से बने हैं , शौर० में विचिण्णावेदि (यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; मुद्रा० ५४, १) चि से सम्बन्धित है ; अ०माग० में अल्लियावेइ (नायाध० ४३४) मिलता है जो ली का रूप है ।

§ ५५२— –वे– अक्षर = संस्कृत –पय– प्राकृत बोलियों में प्रेरणार्थक रूप बनाने के काम में –आ, –इ और –ई में समाप्त होनेवाले धातुओं के अतिरिक्त अन्य

धातुओं के लिए भी प्रयुक्त होता है जिनके अन्त मे दूसरे स्वर, द्विस्वर और व्यंजन आते हों। इसका आगमन –अ में समाप्त होनेवाले धातुओं के वर्तमानकाल के वर्ग में नियमित रूप से होता है, जो दीर्घ कर दिया जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि इस प्रक्रिया मे –आ मे समाप्त होनेवाले धातुओं के अनुकरण ने भी कुछ सहायता पहुँचायी होगी। –ए– = –अय– से बननेवाले प्रेरणार्थकों से ये अल्पतर हैं। इस नियम से : **हसावेइ** (वर० ७, २६ ; हेच० ३, १४९ ; सिंहराज० पन्ना ५५), **हसाविय** रूप (हेच० ३, १५२) आये हैं, महा० मे **हसाविअ** रूप भी पाया जाता है (हेच० ३, १५३ = हाल १२३) ; अ०माग० मे **पच्** धातु से **पयावेमाण** बनाया गया है (सूय० ६०९); महा० में **रमावेंन्ति** और **सहावेंन्ति** आये है (हाल ३२५ और ३२७) ; आव० में **क्लृप** का **कप्पावेमि** रूप है (मृच्छ० १०५, ३) ; शौर० में **घडावेहि** है (मृच्छ० ९५, २१), महा० में **विहडाविअ** आया है जो **घट्** से बना है (गउड० ८) ; शौर० में **जीवावेहि** (उत्तररा० ६३, १४), **जीआवेसु** (विद्ध० ८४, ४), **जीवावेदु** (मृच्छ० ३२६, ३), **जीवावीअदि** (मृच्छ० १७६, ६), **जीवाविअ** (कृदन्त ; मालती० २१५, १) और **जीवाविदा** (मृच्छ० १७३, ४ ; १७७, १६) रूप पाये जाते हैं ; माग० में **यीवाविदा** मिलता है (मृच्छ० १७१, १४) ; अ०माग० में **दलावेइ** (विवाग० १६८) आया है ; अ०माग० में **समारम्भावेइ** (आयार० १, १, २, ३ ; १, १, ३, ५) और **समारम्भावेज्जा** मिलते हैं (आयार १, १, २ ६ ; १, १, ३, ८) ; शौर० मे **नि णिवत्तावेमि** देखा जाता है (मृच्छ० ७७, १५) ; माग० मे **पलिवत्तावेहि** चलता है (मृच्छ० ८१, १७ और १९) ; शौर० मे **चड्ढावेमि** काम मे आता है (कर्ण० २१, ८) ; शौर० मे **धोवावेदि** भी है (मृच्छ० ४५, ९) ; जै०महा० मे **अभि** और **उप** उपसर्गों के साथ **गम्** से निकला रूप **अब्भुवगच्छाविअ** पाया जाता है (आव०एर्त्सें० ३०, ९) ; अ०माग० में **पा** से बना **पियावए** है (=पीना : दस० ६३८,२६) । अ०माग० में **निच्छुभावेइ** आया है (नायाध० ८२३ ; ८२४ ; १३१३) जिसका सम्बन्ध **निच्छुभइ** से है और जो **नि** उपसर्ग के साथ **क्षुभ्** धातु से निकला है (नायाध० १४११ ; विवाह० ११४ ; पण्णव० ८२७ ; ८३२ ; ८३४) ; शौर० में **इष्** धातु का **प्रति** उपसर्ग के साथ **पडिच्छावीअदि** रूप आया है (मृच्छ० ६९, १२) ; शौर० में **प्रच्छ्** का रूप **पुच्छावेदि** है (विद्ध० ४२, ४) ; जै०महा० मे **मेलवेहिसि** आया है (आव०एर्त्सें० ३०, ८ ; शौर० में **मोआवेमि** और **मोआवेहि** हैं (शकु० २७, ११ ; २४ [! —अनु०], २) ; महा० मे **मोआविअ** पाया जाता है, ये रूप **मुच्** के हैं ; माग० मे **लिख्** से बना **लिहावेमि** मिलता है (मृच्छ० १३३, १) । — शौर० मे **लोहावेदि** भी है (शकु० ६१, ३) । — अ०माग० मे **वेढेइ** § ३०४ और ४८० से सम्बन्धित **वेढावेइ** रूप है (विवाग० १७०) । — महा० में **रुआवेइ**, **रुआविअ** और **रोआविअ** रूप मिलते हैं (हाल), शौर० में **रोदाविद** हो जाता है। उक्त दोनों बोलियों के रूप **रुद्** के हैं (मृच्छ० २१, १) । — **दा** का जै०महा० एक दुहरा रूप है **दवावेइ** जिसका अर्थ 'अवसर देना' होता है (एर्त्सें०) । शौर०में **गुणाविदा** आया है (मालवि० ३१, ८) । — अ०

माग० में छिन्दावए है (दस० ६३८, ३०)। — कराचेइ, कराविअ और कारा-वेइ रूप पाये जाते हैं (वर० ७, २७ ; हेच० ३, १४९ ; १५२ ; १५३ ; क्रम० ४, ४४) ; अ०माग० में कारवेमि है (उवास० § १३ ; १४ और १५), कारवेइ भी आया है (कप्प० § ५७ और १००) ; जै०महा० में कारवेइ (एर्त्से० ३०, ७) और काराविय मिलते हैं (एर्त्से०) । जै०महा० में गेण्हावेमि भी देखने में आता है (आव०एर्त्से० ३४, १९) ।

§ ५५३ — -ए के स्थान में कुछ प्राकृत बोलियों में -वे पाया जाता है, विशेषत अप० में, जिसमें कभी-कभी -आ -वा आते हैं । इन अवसरों पर नाम-धातुओं की भाँति रूप बनते हैं अथवा इनकी रूपावली उन धातुओं की भाँति बनती है जो मूल में ही संक्षिप्त कर दिये गये हों और जिनमें द्विस्वर से पहले नियमित रूप से स्वर ह्रस्व कर दिये गये हों । इस प्रकार यह रूप निकला (§ ४९१) । इस प्रकार : हसावइ है (हेच० ३, १४९ ; सिंहराज० पन्ना ५५) ; घडावइ आया है (हेच० ४, ३४०) और उग्घाडइ मिलता है (हेच० ४, ३३), इसके साथ साथ शौर० में घडावेहि पाया जाता है (मृच्छ० ९५, २१) ; विप्पगालइ = विप्रगालयति है (हेच० ४, ३१) ; उद्दालइ = उद्दालयति है (हेच० ४, १२५) ; पाडइ = पातयति है (हेच० ३, १५३) । इस रूप के साथ साथ महा० में पाडेइ भी देखा जाता है (रावण० ४, ५०), माग० में पाडेमि मिलता है (मृच्छ० १६२, २२) ; भ्रम् का भमावइ रूप है (हेच० ३, १५१) ; अप० में उत्तारहि है (विक्र० ६९, २) तथा इसके साथ साथ शौर० में ओदारेदि (उत्तररा० १६५, ३) और पदारेदि (यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए , प्रबोध० १५, १०) पाये जाते हैं ; जै०महा० और अप० में मारइ रूप है (हेच० ३,१५३ ; एर्त्से० ५,३२ ; हेच० ४, ३३०,३) और इसके साथ साथ महा० में मारेसि, मारेहिसि (हाल) और मारेइ रूप मिलते हैं (मुद्रा० ३४, १०) ; शौर० में मारेध (मृच्छ० १६१, १६ , १६५, २५) , माग० में मालेमि (मृच्छ० १२, ५ , १२३, ३), मालेहि (मृच्छ० १२३, ५ ; १२४, २ और १७ ; १६५, २४), मालेदु (मृच्छ० १२५, ८) और मालेध रूप पाये जाते हैं (मृच्छ० १६५, २३ ; १६६, १ , १६८, ८ , १७१, १८) ; माग० मे मालन्तं के स्थान मे (मृच्छ० १२३, २२) मालेन्तं पढा जाना चाहिए ; अप० में मारेइ आया है (हेच० ४, ३३७), हारावइ भी है (हेच० ४, ३१) , अप० में चाहइ मिलता है (पिंगल १, ५ अ), इसके साथ साथ आव० मे चाहेहि देखा जाता है (मृच्छ० १००, १८) ; माग० में चाहेशि हो जाता है (मृच्छ० १२२, १५) ; मिल् (§ ४८६) का मेलवइ रूप पाया जाता है (हेच० ४, २८) । इसके साथ साथ जै०महा० में मेलवेहिसि आया है (§ ५२८) , नश् धातु के नासवइ और नासइ रूप मिलते हैं ; अ०माग० में वेदन्ति (पण्णव० ,७८६ और उसके बाद) आया है, वेयन्ति = वेदयन्ति है (जीवा० २८१ और उसके बाद) ; निम्मवइ = निर्मापयति है (हेच० ४, १९), इसके साथ साथ महा० मे णिम्मवेसि है (गउड० २९७) ; धा के (§ २८६ और ००) रूप आढवइ और विढवइ मिलते हैं ;

महा० में ठवइ (गउड० ९८०) और संठन्ती मिलते हैं (हाल ३९); पट्ठवइ और पट्ठावइ भी हैं (हेच० ४, ३७) ; अप० मे परिठवहु और संठवहु मिलते हैं (पिंगल १, १० और ८५), इनके साथ साथ ठावेइ तथा ठवेइ रूप भी चलते हैं (§ ५५१) ; करावइ देखा जाता है (हेच० ३, १४९); विण्णवइ आया है (हेच० ४, ३८), इसके साथ साथ शौर० में विण्णवेदि देखने मे आता है (§ ५५१), लू धातु का प्र उपसर्ग के साथ पलावइ रूप मिलता है (हेच० ४, ३१)।

§ ५५४—हेमचन्द्र ४, ३२ मे बताता है कि दृश् धातु के प्रेरणार्थक रूप दावइ, दंसइ, दक्खवइ और दरिसइ होते हैं। इनमें से दावइ (सिद्दराज० पन्ना ५७ मे भी) पाया जाता है ; महा० मे दावन्तेण आया है (हाल)। –ए –वाले रूप इससे अधिक चलते हैं : महा० में दावेमि है (रत्ना० ३२२, ५ ; तं ते दावेमि घनिक ने दशरूप ४२, ६ की टीका में दिया है जो छपे संस्करणों में तं तं दंसेमि छपा है), दावेइ, दावे`न्ति, दावए, दावेह, दावे`न्ती और दाविअ रूप मिलते हैं (हाल ; रावण०), दाविज्जउ (रत्ना० ३२१, ३२) और दाविआइँ रूप भी मिलते हैं (कर्पूर० ५६, ७) ; जै०महा० में दाविय (एर्त्से०), दाविअ और दाविज्जसु पाये जाते हैं (ऋषभ० १०, ४९) ; शौर० मे दाविद मिलता है (मुद्रा० ४४, १) । यह शब्द = मराठी दवणें के। इसकी व्युत्पत्ति दी से बताना अशुद्ध है। दावेइ और दावइ, दृप् संदीपने से बने दर्पयति और दर्पति के स्थानों में आये हैं (धातुपाठ ३४, १४) और § ६२ के अनुसार इसका यह रूप हुआ है। इसी धातु से संस्कृत शब्द दर्पण भी बना है (= आरसी ; आयना) और महा० में अद्दाअ, अ०माग० और जै०महा० अद्दाग और अद्दाय (= आरसी) ; § १९६ जहाँ इस प्रकार पढा जाना चाहिए = *आदापक = *आदर्पक । अ०माग० दंसन्ति = दर्शयन्ति मे दंसइ वर्तमान है (सूय० २२२), महा० मे दंस.न्ति = दर्शयन्तीम् है (गउड० १०५५) ; इसका –ए वाला रूप बहुत दिखाई देता है : महा० मे दंसि.न्ति आया है (गउड० १०५४); जै०महा० मे दंसेइ और दंसेह रूप मिलते हैं (एर्त्से०; कालका०) ; शौर० मे दंसेमि (मृच्छ० ७४, १६ ; मालती० ३८, ९), दंसेसि (मृच्छ० ९०,२१ ; शकु० १६७, १०), दंसेहि (रत्ना० ३२१, २०) और दंसेदुं रूप आये हैं (मुद्रा० ८१, ४) ; द्विस्वरों से पहले (§ ४९०) : दंसअन्तीए और दंसअम्ह रूप पाये जाते है (प्रबोध० ४२, ७ ; उत्तररा० ७७, ३ ; ११३, २) ; भविष्यत्काल के रूप दंसइस्सं (शकु० ६३, ९ ; रत्ना० ३११, ४), दंसइस्ससि (शकु० ९०, १०) और दंसइस्सदि मिलते हैं (मालती० ७४, ३ ; ७८, ७) ; माग० में दंसअन्ते पाया जाता है (शकु० २१४, ११)। — दरिसइ (हेच० ३, १४३ में भी आया है [इसी स्थान के नोट में दरसइ पाठांतर भी मिलता है। —अनु०]), यह शब्द जै०महा० मे दरिसेइ बोला जाता है (एर्त्से०)। मार्कंडेय पन्ना ७४ में दिया गया है कि यह आव० में विशेष चलता है, उक्त बोली में इसका रूप दरिसेदि है। मृच्छकटिक के जिस भाग में पात्र आव० बोली मे नाटक खेलते हैं, उसमें ७०, २५ में विदूषक काम मे लाता है : दरिसअन्ति ; १००, ४ में दाक्षि० मे रूप आया है : दरिसेसि —

दक्खवइ जो सिंहराजगणिन् ने पन्ना ५७ म दक्खावइ दिया है दक्खइ का प्रेरणार्थक रूप है और = मराठी दाखविणें तथा गुजराती दाखवनु[3], अप० म देक्खावहि (विक्र० ६६, १६) देक्खइ का प्रेरणार्थक रूप है। दक्षिण भारतीय नाटकों की हस्तलिपियाँ दक्खइ रूप देती हैं, किन्तु नागरी हस्तलिपियां और आंशिक रूप से दक्षिणभारतीय हस्तलिपियाँ भी देक्खइ पाठ देती हैं[4]। हेमचन्द्र ४, १८१ म यह रूप भी देता है तथा यह रूप अप० में बार बार काम में लाया गया है (हेच० में देक्खहि शब्द देखिए, पिंगल १, ८७ अ), शौर० के लिए अशुद्ध है जिसमें पेक्खदि का प्रचार है। दक्खइ और देक्खइ अशोक के शिलालेखों म मिलते हैं। दक्खइ रूप सिंहली भाषा में दकिनव में सुरक्षित है। देक्खइ को सभी नवीन भारतीय आर्य-भाषाएं मये जिप्सियों की भाषा क काम मे लाती है[5]। दोनों रूपों की व्युत्पत्ति *द्रक्षति से है जो अमूदृक्ष, ईदृक्ष, एतादृक्ष, कीदृक्ष, तादृक्ष और सदृक्ष म वर्तमान है[6]। भविष्यत्काल[8] स इसकी व्युत्पत्ति निकालने का प्रयास इसम एँ आने के कारण जो इ से निकला है व्यर्थ हो जाता है, नाना भाँति से इस रूपों क स्पष्टीकरण[9] का यत्न भी असम्भव है। इसी प्रकार पेक्खइ के अनुकरण पर देक्खइ का रूप बना है, यह कहना भी भूल है[10]। अ०माग० रूप देहइ के विषय म § ६६ देखिए। भ्रम् के प्रेरणार्थक रूपों में भामेइ और भमावइ के साथ-साथ हेमचन्द्र ३, १५१ के अनुसार भमावेइ भी चलता है, ४, ३० में भमाडइ और भमाडेइ भी मिलते है, जिसकी तुलना मे रूप के विचार से इसी भ्रमण के अर्थ में आनेवाला ताडइ ठीक बैठता है (हेच० ४, ३०)। गुजराती में भी प्रेरणार्थक की बनावट ठीक ऐसी ही है[11]। हेमचन्द्र ४, १६१ में भम्मडइ, भमडइ और भम्माडइ रूप भी सिखाता है, जो उसके विचार से उपसर्ग और प्रत्यय से रहित स्वय भ्रम् के स्थान म भी आये हैं। — प्रेरणार्थक के भविष्यत्-काल क विषय में विशेष रूप से § ५२८ भी देखिए तथा कर्मवाच्य के सम्बन्ध मे § ५४३ देखिए।

१ जू०आ० १८७२, २०, २०४ में गार्रेज का मत। — २ वेबर, त्सा० डे०डौ०मौ०गै० २६, २७१, २८, ४२४, हाल ३१५ की टीका। — ३ हेमचन्द्र ४, ३२ पर पिशल की टीका। — ४ पिशल, गौ०गे०आ० १८७३, ४६ और उसके बाद, विक्रमोर्वशीय, पेज ६१६ और उसके बाद, डी रेसेन्सिओनन डेर शकुतला, पेज ११ और उसके बाद। — ५ पिशल, डे कालिदासाए शाकुन्तलि रेसेन्सिओनिबुस, पेज २० और उसके बाद, कू०बाइ० ७, ४५३ और उसके बाद, ८, १४४ और उसके बाद। — ६. पिशल, कू०बाइ० ७, ४५८, ८, १४६; योहान्सोन, कू०त्सा० ३२, ४६३, वीम्स०, कम्पैरेटिव ग्रैमर १,१६१, पौट, त्सिगौयनर २, ३०४, मिक्लोशिश, इयूबर डी मुण्डआर्टेन उण्ट डी व्लाण्डरुगन डेर त्सिगौयनर आयरोपाज ७, ४३। — ७ वेबर, कू०बाइ० ७, ४८६, इस विद्वान् ने किन्तु भगवती १, ४१४, ३ में अशुद्ध मत दिया है; इण्डिशे स्टुडिएन ३, १५०, हाल १ पेज २६०, कू०बाइ० ७, ४८६, इण्डिशे स्टुडिएन १४, ६९ और उसके बाद में 'एक प्राचीन किन्तु इस पर भी द्विकार स रहित

इच्छावाचक रूप' इसके भीतर देखता है। — ८. म्यूर, ओरिजिनल सँस्कृट टेक्स्ट्स् २, २३ नोटसंख्या ४० में चाइल्डर्स का मत ; कू०वाइ० ७, ४५० और उसके बाद ; चाइल्डर्स के पाली कोश में पस्सति देखिए ; पिशल, कू०-वाइ० ७, ४५९ ; ८, १४७। — ९.पी० गौल्दश्मित्त, ना०गे०वि०गो० १८७४, ५०९ और उसके बाद ; योहान्सोन, कू०त्सा० ३२, ४६३ और उसके बाद ; शाहबाजगढ़ी २, २४। — १०. बीम्स, कम्पैरेटिव ग्रैमर १, १६२ ; किन्तु ३, ४५ और उसके बाद की तुलना कीजिए। — ११. बीम्स, कम्पैरेटिव ग्रैमर ३, ८१ ; होएर्नले, कम्पैरेटिव ग्रैमर, पेज ३१८ और उसके बाद।

इच्छावाचक

§ ५५५—इच्छावाचक रूप संस्कृत की भाँति ही बनाया जाता है : अ०माग० मे **दिगिच्छन्त = जिघत्सत्**- (आयार० १, ८, ४, १०) ; **जुगुच्छइ** और **जुउच्छइ** (हेच० २, २१ ; ४, ४) = **जुगुप्सते** हैं ; महा० मे **जुउच्छइ** तथा **जुउच्छसु** रूप आये हैं (रावण०) ; अ०माग० में **दुगुच्छइ**, **दुगुंछइ**, **दुउच्छइ** और **दुउंछइ** मिलते हैं (हेच० ४, ४ ; § ७४ और २१५ की तुलना कीजिए), **दुगुंछमाण** (आयार० १, २, २, १ ; सूय० ४७२ और ५२५), **दुगंछमाण**, **दुगंछणिज्ज** (उत्तर० १९९ और ४१०) तथा **अदुगुच्छिय** रूप आये हे (आयार० २, १, २, २) ; शौर० मे **जुगुच्छेदि** और **जुगुच्छत्ति** (माल्ती० ९०, ५ ; २४३, ५), **जुउच्छिद** (अनर्घ० १४९, १० ; बाल० २०२, १३), **अदिजुउच्छिद** (मल्लिका० २१८, ७ और १२) तथा **जुगुच्छणीअ** रूप पाये जाते हैं (विद्ध० १२१, १० ; यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए) ; माग० में **अदियुउश्चिद** (मल्लिका० १४३, ४ और १५ ; यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए) है ; **चिइच्छइ** (हेच० २, २१ ; ४, २४०) = **चिकित्सित** है ; अ०माग० मे **तिगिच्छई** (उत्तर० ६०१), **तिगिच्छिय** (उत्तर० ४५८), **वितिगिच्छिय** (ठाणग० १९४), **वितिगिच्छामि** (ठाणग० २४५), **वितिगिंछइ** (सूय० ७२७ और उसके बाद) और **वितिगिंछिय** (विवाह० १५०) रूप मिलते हैं, शौर० में **चिकिच्छिदव्व** आया है (शकु० १२३, १४)। § ७४ और २१५ की तुलना कीजिए। माग० मे **पिवाशीअशि** है (वेणी० ३४, ६ ; § ५५० की तुलना कीजिए) ; शौर० में **बुभुक्खिद = बुभुक्षित** है (वृषभ० १९, ५) ; **लिच्छइ = लिप्सते** है (हेच० २, २१), अ०माग० और जै०महा० में **सुस्सूसइ** (दस० ६३७, ३० और ३२ ; एर्त्से० ३१, १३) = **शुश्रूषते** है ; अ०माग० में **सुस्सूसमाण** मिलता है (दस० ६३६, ६ और १० ; ओव०), शौर० मे **सुस्सूसइस्सं** (मृच्छ० ८८, ११), **सुस्सूसइदुं** (मालवि० २९, १२) और **सुस्सूसिदव्व** (मृच्छ० ३९, २३) ; माग० में **शुश्शूशिद** पाया जाता है (मृच्छ० ३७, ११)।

घनत्ववाचक

§ ५५६—घनत्ववाचक रूप संस्कृत के समृद्धिकाल की संस्कृत की भाँति बनाया

जाता है। व्यंजनों के द्विकार के साथ स्वर भी गुणित हो जाते हैं : *चाकम्मइ = *चाक्रम्यते के स्थान में चकम्मइ रूप हो जाता है (हेच० ४, १६१)। — अ०माग० में क्षुभ् योक्षुब्भमाण आया है (पण्हा० १६९ और २१० ; ओव० ; कप्प०)। — अ०माग० मे जागरइ = जागर्ति है, जागरमाणीए (विवाह० ११६), जागरन्ति (आयार० १, ३, १, १), जागरमाणस्स (विवाह० १७०), पडिजागरेॅज्जा (दस० ६३६, ६) और पडिजागरमाणी रूप पाये जाते हैं (उवास० ; कप्प०) ; महा० मे जग्गन्ति (दृता० ५, १२), जग्गेसु आये हैं (हाल ३३५), पडिअग्गिअ = *प्रतिजगृत है (गउड०) ; शौर० मे जग्गेध है (मृच्छ० ११२, ३) ; अप० में जग्गेवा मिलता है (हेच० ४, ४३८, ३) ; अ०माग० में प्रेरणार्थक रूप जग्गावई है (१, ८, २, ५) ; महा० में जग्गाविअ पाया जाता है (रावण० १०, ५६) ; अ०माग० में भिब्भिसमीण *भेमिसमीण, *भेब्भिसमीण के स्थान मे आया है जो भिसइ = भासति के रूप हैं (§ ४८२ ; नायाध० § १२२ ; जीवा० ४८१ [पाठ में भिज्झमाण है] ; ४९३ [पाठ मे भिज्झिमाण है] ; ५४१ [पाठ में भिज्झिसमाणी है]), भिब्भिसमाण भी मिलता है (जीवा० १०५ ; नायाध० § १२२ में दूसरा रूप भी देखिए) ; अ०माग० लालप्पई (सूय० ४१४) तथा लालप्पमाण रूप मिलते हैं (आयार० १,२, ३, ३ ; १, २, ६, १)। निम्नलिखित रूपों में द्विकार व्यजनों के भीतर अनुनासिक आया है : महा० मे चंकम्मन्त- (हाल), चंकम्मिअ (रावण०) और चंकमिअ (कर्पूर० ४७, १६) आये है ; जै०महा० मे चंकमियव्व (आव०एर्त्से० २३, १२) = सस्कृत चंक्रम्यते है , ढुंढुल्लइ (हेच० ४, १६१ और १८९) और ढंढल्लइ (हेच० ४, १६१) भी पाये जाते है, ढंढोलइ भी आया है (हेच० ४, १८९)। डुण्डुण्णन्तो के स्थान मे (काव्यप्रकाश २७१, ५ = हाल ९८५) विश्वसनीय हस्तलिपियों तथा टीकाकारों द्वारा समादृत पाठों में, जिसमे ध्वन्यालोक ११६, ७ की टीका भी सम्मिलित है, ढुंढुल्लन्तो दिया गया है। इस पाठान्तर की पुष्टि अलंकारशास्त्रों के अन्य लेखक, जिनके ग्रन्थ अभी नहीं छपे हैं, अपने ग्रन्थों में उद्धृत श्लोकों में भी करते है।

नामधातु

§ ५५७—नामधातु सस्कृत की भाँति बनाये जाते है। जिस प्रक्रिया मे या तो क्रियाओं के समाप्तिसूचक चिह्न (१) सीधे नामो अर्थात् सज्ञाओं मे जोड दिये जाते हैं, (२) अन्त मे -अ = सस्कृत -य वाली सज्ञाओं मे इस अन्तिम स्वर का दीर्घीकरण कर दिया जाता है अथवा (३) क्रियाओं के समाप्तिसूचक चिह्न प्राकृत के प्रेरणार्थक के चिह्न -ए-, -वे-और -व-में लगाये जाते हैं। इनमे से प्रथम श्रेणी के नामधातु प्राकृत में सस्कृत से अधिक है : महा० मे अप्पिणामि = *अर्पणामि है (निरया० § २३ , नायाध० १३१३ ; पाठ में अप्पणामि है) ; जै०महा० मे अप्पिणइ है (आव०एर्त्से० ४४, ३) जो अर्पण से बना है ; अ०माग० मे पच्चप्पिणामि = *प्रत्यर्पणामि है जो प्रत्यर्पण[1] से बना है (निरया० § २०), पच्चप्पिणइ

(विवाग० २२२ ; राय० २३१ ; कप्प० § २९ ; ओव० § ४२ ; ४४ ; ४६ [इन सब मे यही पाठ पढा जाना चाहिए]), **पच्चप्पिणामो** (निरया० § २५), **पच्चप्पिणन्ति** (विवाह० ५०३ और ९४८ ; जीवा० ६२५ और ६२६ ; उवास० § २०७ ; कप्प० § ५८ और १०१ ; नायाध० § ३३ और १०० ; पेज ६१० ; निरया० § ४ और २४), **पच्चप्पिणेज्जा** (पण्णव० ८४४ ; ओव० § १५०), **पच्चप्पिणाहि** (ओव० § ४० ; ४१ ; ४३ ; ४५ ; निरया० § २२ ; कप्प० § २६), **पच्चप्पिणह** (विवाग० २२२ ; विवाह० ५०३ और ९४८, जीवा० ६२५ और ६२६ ; कप्प० § ५७ और १०० ; निरया० २० ; २१ ; २४ ; उवास० § २०६), **पच्चप्पिणिज्जइ** (निरया० § २५) और **पच्चप्पिणित्ता** (नायाध० ६०७ ; ६१० ; ६१४) रूप पाये जाते हैं ; **खम्मइ** = *खन्मति, **जम्मइ** = *जन्मति तथा **हम्मइ** = *हन्मति है (§ ५४०) ; महा० मे दुःख से **दुक्खामि** रूप बना है (रावण० ११, १२७), जैसे **सुख**[1] से **सुहामि** बना है ; **धवलइ** मिलता है (हेच० ४, २४) ; **निर्माण** से **निम्माणइ** रूप निकला है (हेच० ४, १९ ; क्रम० ४, ४६ ; मार्क० पन्ना ५४) ; अप० में **पडिबिम्बि** आया है (हेच० ४, ४३९, ३) ; अप० में **पमाणहु** = **प्रमाणयत** है (पिंगल १, १०५) ; **पहुप्पइ** = *प्रभुत्वति है (§ २८६) ; महा० मे **मण्डन्ति** पाया जाता है (गउड० ६७) ; **मिश्र** से **मिस्सइ** बना है (हेच० ४, २८) ; **विक्रेय** से **विक्केअइ** निकला है (हेच० ४, २४०), अप० मे **शुष्क** से **सुक्कहिं** रूप आया है (हेच० ४, ४२७, १)। अन्य उदाहरण § ४९१ में देखिए और § ५५३ की तुलना कीजिए।

१. लौयमान ने **पच्चप्पिण्** में वर्तमान वर्ग का रूप **प्रत्य्-अर्प** ढूँढ निकाला है। याकोबी, कू० त्सा० ३५, ५७३, नोटसंख्या २ में इणइ क्रिया का चिह्न है अर्थात् उसका भी मत वही है जो लौयमान का है। **पच्चप्पिण** रूप की कोई संज्ञा नहीं पायी जाती, यह मेरे स्पष्टीकरण के विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं समझी जा सकती। — २. ये और इस प्रकार के अन्य रूप **दुक्खआमि** तथा **सुहआमि** (§ ५५८) के संक्षिप्त रूप भी समझे जा सकते हैं।

§ ५५८—सस्कृत की भाँति प्राकृत में भी नामधातु का निर्माण –अ– = सस्कृत –य– जोडने से होता है। महा०, जै०महा० और अ०माग० मे –आअ– वर्ण कम बार संक्षिप्त भी कर दिये जाते हैं : महा० में **अत्थाअइ** और **अत्थाअन्ति** = *अस्तायते और *अस्तायन्ते जो **अस्त** के रूप हैं (गउड० ; रावण०) ; महा० मे बार-बार काम मे आनेवाले रूप **अत्थमिअ** से (गउड० ; रावण०) जो = **अस्तमित** है, **अत्थमइ** (रावण०) और एक संज्ञा **अत्थमण** का आविष्कार किया गया है (हाल ; रावण०) ; अ०माग० में **अमरायइ** पाया जाता है (आयार० १, २, ५, ५) ; महा० में **अलसाअइ** और **अलसाअन्ति** रूप पाये जाते हैं (हाल) ; महा० में **उम्हाइ**, **उम्हाअन्त** और **उम्हाअमाण** पाये जाते हैं (गउड०)। ये ऊष्माय– से बने हैं ; शौर० मे **कुरवआअदि** = **कुरवकायते** है (मृच्छ० ७३, १०) ; **गरुआइ** और **गरुआअइ** रूप भी मिलते हैं (= गुरु बनना ; गुरु के समान आचरण

दिखाना : हेच० ३, १३८) ; माग० में **चिलाअदि** = **चिरायति** है (शकु० ११५, ९) ; महा० में **तणुआइ**, **तणुआअइ** और **तणुआअए** = *तनुकायति है (= दुबला पतला बनना : हाल) ; महा० में **धूमाइ** आया है (हाल) ; अ०माग० में **मम** से **ममायमाण** और **अममायमाण** रूप बने हैं (आयार० १, २, ३, ३ ; १,२, ५, ३) ; **लोहिआइ** और **लोहिआअइ** भी मिलते हैं (हेच० ३, १३८) ; महा० में **संझाअइ** आया है (गउड० ६३२) ; शौर० में **संझाअदि** है (मृच्छ० ७३, १२) = **संध्यायते** है ; शौर० में **सीदलाअदि** = **शीतलायति** है (मालती० १२१, २), महा० में **सुहाअइ** (हाल) और शौर० में **सुहाअदि** (शकु० ४९, ८) = **सुखायति** है। उन बहुसंख्यक नामधातुओं का उल्लेख विशेष रूप से करना है जो किसी ध्वनि का अनुकरण करते हैं अथवा शरीर, मन और आत्मा की किसी सशक्त हलचल आदि को व्यक्त करते हैं। नवीन भारतीय आर्य भाषाओं में भी इनका प्राधान्य है, संस्कृत में इनमें से अनेक पाये जाते हैं, किन्तु इनमें कुछ मूलरूप में हैं जिनमें इनकी व्युत्पत्ति पायी जाती है[1]। इस जाति का परिचायक एक उदाहरण **दमदमाइ** अथवा **दमदमाअइ** है (हेच० ३, १३८) जिसका अर्थ है 'दमादम करना'। यह ढोल या दमामे की ध्वनि का अनुकरण है = मराठी **दमदमणें**[1]। कभी-कभी ये प्रेरणार्थक की भाँति बनाये जाते हैं। इस प्रकार : शौर० में **कडकडाअन्त**– आया है (मालती० १२९, ४)। — शौर० में **कुरुकुराअसि** (यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए ; इसी प्रहसन में अन्य रूप भी देखिए ; हास्या० २५, ७), **कुरुकुराअदि** (मृच्छ० ७१, १६ ; रत्ना० ३०२, ८), **कुरुकुराअन्त**– (कर्पूर० १४, ३ ; ७०, १) ; **कुरुकुरिअ** (= देखने की प्रबल इच्छा, सुध, धुन : देशी० २, ४२ [यह शब्द **कुरकुरि** रूप में कुमाउनी में चलता है। —अनु०])। इसके अनुसार हेमचन्द्र के उणादिगण-सूत्र १७ में **कुरुकुर** दिया गया है ; अ०माग० में **किडिकिडियाभूय** मिलता है (विवाग० २०१ और २८२ [यहाँ पाठ में **किडिकिडिभूय** है])। — अ०माग० में **कुडकुवमाण** मिलता है (विवाग० २०१), जै०महा० में **खलखलइ** आया है (एर्से० [इसकी सज्ञा का रूप **खलखल** कुमाउनी में पाया जाता है। —अनु०]); अ०माग० में **गुमगुमायन्त**– आया है (कप्प० § ३७), **गुमगुमन्त**– मिलता है (ओव० § ४), **गुमगुमाइय** भी देखने में आता है (ओव० § ५) ; शौर० में **घुमघुमाअदि** पाया जाता है (जीवा० ४३, ३)[1], अ०माग० में **गुलगुलेन्त** (हाथियों की चिग्घाड़ : ओव० § ४२) और **गुलगुलेन्त** (उवास० § १०२) आये हैं; अ०-माग० और जै०महा० में **गुलुगुलाइय** मिलता है (पण्हा० १६१ [पाठ में **गुलगुलाइय** है], विवाह० २५३ ; ओव० § ५४ पेज ५९, ७ ; एर्से०) ; जै०महा० में **घुरुघुरन्ति** आया है (= गुर्राना : एर्से० ४३, १०), माग० में **घुलघुलाअमाण** पाया जाता है (मृच्छ० ११७, २३) जिसमें संस्कृत रूप **घुरुघुर** (हेच० शब्दानुशासन) ; **टिरिटिल्लइ** जिसका अर्थ वेश बदलकर भ्रमण करना है (हेच० ४, १६१) ; महा० में **थरथरेइ** (हाल १८७ ; इस ग्रंथ में अन्यत्र आये हुए इस रूप के साथ यहाँ भी यही पढ़ा जाना चाहिए ; ८५८) और **थरथरेन्ति** आये हैं (हाल

१६५ [आर. (R) हस्तलिपि के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) ; जै० महा० में **थरथरन्ती** रूप है (आव०एर्त्से० १२, २५ ; पाठ में **थरहरन्ति** है) ; शौर० में **थरथरेदि** मिलता है (मृच्छ० १४१, १७ ; गौडबोले द्वारा सम्पादित संस्करण के ३८८, ४ के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) । **थरथराअन्त**– भी है (माल्ती० १२४, १) = संस्कृत **थरथरायते**, मराठी **थरथरणें**, उर्दू [= हिंदी । —अनु०] **थरथराना**[1] और गुजराती **थरथरवुं** है । अ०माग० में **धगधगन्त** पाया जाता है जिसका अर्थ **जाज्वल्यमान** है, **धगधगाइय** भी है (कप्प० § ४६) ; शौर० में **धगधगआमाण** आया है (जीवा० ८९, २) ; जै०महा० और अ०माग० में **धमधमेॅन्त**– है (एर्त्से० ; उवास०) ; शौर० में **धमधमाअदि** आया है (नागा० १८, ३), जै०महा० में **फुरफुरन्त**– मिलता है (एर्त्से० ८५, ५) ; शौर० में **फुरफुरा-अदि** पाया जाता है (मृच्छ० १७, १९) ; अ०माग० में **मघमघेॅन्त**– है (ओव० § २ , नायाध० § २१ [पाठ में **मघमघिन्त** है] ; राय २८ और १११ ; जीवा० ५४३ ; सम० २१०), **मघमघन्त**– भी आया है (कप्प० [यहाँ भी पाठ में **मघ-मघिन्त** है] ; राय० ६० और १९० ; जीवा० ४९९ ; विवाह० ९४१) ; महा० में **महमहइ** आया है (हेच० ४, ७८ ; हाल) ; जै०महा० में **महमहिय** (पाइय० १९७) = मराठी **मघमघणें** और गुजराती **मघमघवुं**[1] है [यह रूप कुमाउनी में भी है । —अनु०] ; अ०माग० में **मसमसाविज्जइ** (विवाह० २७० और ३८३) ; अ०-माग० और जै०महा० में **मिसिमिसन्त**–, **मिसिमिसेॅन्त**–, **मिसिमिसिन्त**– (ओव० ; नायाध० ; कप्प० ; राय० ४४ ; आव०एर्त्से० ४०, ६) रूप मिलते हैं, साधारणतः **मिसिमिसिमाण** अथवा **मिसिमिसेमाण** का प्रचार है (विवाग० १२१ और १४४ ; नायाध० ३२४ ; ४५६ , ६१२ , ६५१ , ११७५ , विवाह० २३६ ; २३७ ; २५१ ; २५४ , ५०५ , १२१७ आदि आदि , निरया० ; उवास०) । इसका अर्थ टीकाकारों ने देदीप्यमान दिया है और यह शब्द **मिषमिषायते** रूप में संस्कृत में भी ले लिया गया है ; शौर० में **सिलसिलाअदि** आया है (जीवा० ४३, ३) ; महा० में **सिमिसिमन्त**– है (हाल ५६१), शौर० में **सिमिसिमाअन्त**– (बाल० २६४, २) ; महा० में **सुरसुरन्त** (हाल ७४) = मराठी **सुरसुरणें** है [हिन्दी में **सुरसुराना**, **सुरसुराहट** और **सुरसुरी** इसी के रूप हैं । —अनु०], जे महा० में **सुलुसुलेॅन्त** रूप है (एर्त्से० २४, २९) । — दीर्घ स्वरवाले रूप महा० में **धुकाधुकइ**[2] (हाल ५८४) = मराठी **धुकधुकणें** और अ०माग० **हराहराइय** हैं (पण्हा० १६३) । शौर० रूप **सुसुआअदि** (मृच्छ० ४४, ३) जिसका अर्थ 'सु सु करना' है और **सा** तथा **का** से बनाये गये शौर० **सासाअसि** और माग० **काका असि** (मृच्छ० ८०, १४ और १५) की भी तुलना कर ।

१. बीम्स, कम्पेरैटिव ग्रैमर ३, ८९ और उसके बाद ; रसाखारिआए गो० गे० आ० १८९८, ७६५ और उसके बाद, इसमें प्राकृत उदाहरण, विशेष कर हाल और औसगेवेल्ते महाराष्ट्री एर्त्सेलुंगन से संग्रहीत किये गये हैं । — २. हेमचन्द्र ३, १३८ पर पिशल की टीका । — ३. कप्पसुत्त० § ३६ पेज १०५

पर याकोबी की टीका ; त्साखारिआए, गो० गे० आ० पेज ४६६ नोटसंख्या २ की तुलना कीजिए। — ४. मृच्छकटिक १४१, १७ पेज ३०९ में स्टेन्सलर की टीका। — ५. हेमचन्द्र ४, ७८ पर पिशल की टीका ; कप्पसुत्त० § ३२ पेज १०४ में याकोबी के मत की तुलना करें। — ६. हाल ७४ पर वेबर की टीका। — ७. हाल ५८४ पर वेबर की टीका।

§ ५५९—प्रेरणार्थक के ढग से बनाये हुए नामधातु निम्नलिखित हैं : अ० माग० में उच्चारेइ (प्रेरणार्थक) या पासवणेइ या खेलेइ या सिंघाणेइ या वन्तेइ या पित्तेइ या आया है (विवाह० ११२) ; अ०माग० में उवक्खडेइ = *उपस्कृतयति है (नायाध० ४२५ और ४४८), उवक्खडिन्ति (नायाध० ८५६), उवक्खडेज, उवक्खडिए (आयार० २, २, २, २), उवक्खडेउ (उवास० § ६८), उवक्खडेह (नायाध० ४८३), बार बार उवक्खडावेइ (विवाग० १२४ ; १३३ ; १९५ ; २०४ ; २०५ ; २३१ और २३३ ; नायाध० ४३० ; ६३२ ; ७३४ ; ७३६ ; १४३२ ; १४९६), उवक्खडाविन्ति, उवक्खडावें न्ति (कप्प० § १०४ ; नायाध० § ११४) और उवक्खडावेत्ता रूप पाये जाते हैं (नायाध० § ११४ ; पेज ४२५ ; ४४८ ; ४८२ ; विवाह० २२८) ; अ०माग० में ण्हाणेइ = *स्नानयति है (जीवा० ६१०), ण्हाणें न्ति भी मिलता है (विवाह० १२६५) ; तेअवइ = *तेजपयति है जो तेअ = तेजः से निकला है (हेच० ४, १५२) ; जै०महा० में दुक्खावेइ मिलता है जो दुक्खामि का प्रेरणार्थक है (§ ५५७) ; दुहावइ = *द्विधापयति है (फाड़ना ; दो टुकड़े करना : हेच० ४, १२४) ; जै०महा० में धीराविअ आया है (सगर ८, १४) ; अ०महा० में पिणद्धेइ है (नायाध० ७७५ [पाठ मे पिणद्धइ है] और ७७९) ; शौर० में पिणद्धाविद मिलता है (शकु० ७४, १) ; महा० में विउणेइ (पाठ में विउणेइ है ; हाल ६८५) = द्विगुणयति है ; महा० मे भस्मन् से निकला रूप भसणेमि आया है (यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए ; हाल ३१२) ; अ०माग० मे मइलिन्ति (पण्हा० १११) और मइलिय (विवाह० ३८७) मिलते है , महा० मे मइलेइ, मइलें न्ति, मइलन्त और मइलिजइ पाये जाते है जो मइल (= काला)[१] के रूप है ; महा० में लहुएइ = लघयति है (गउड० ११४८) , महा० में सच्चवइ = सत्यापयति है (हेच० ४, १८१ ; ब्लेत्शि राढीसैंस पेज ११ में उद्धृत क्रम० १४ ; सस्करण मे ४, ६६ है और अशुद्ध पाठ सच्छर है), सच्चविअ (पाइय० ७८ ; गउड० ; हाल ; रावण०; शकु० १२०, ७) ; शौर० में सद्दामेमि = शब्दापयामि है (मृच्छ० ५०, २४), सद्दावेसि (शकु० १३८, २) भी है ; अ०माग० मे सद्दावेइ मिलता है (कप्प० ; ओव० ; नायाध० ; निरया० आदि आदि) ; शौर० में सद्दावेदि आया है (मृच्छ० ५४, ८ ; १४१. १६), सद्दावेहि (मृच्छ० ५४, ५), सद्दावइस्स (मृच्छ० ६०, १) तथा सद्दावीअदि रूप मिलते हैं (मृच्छ० १५०, १७) ; जै०महा० और अ०माग० में सद्दावें त्ता, सद्दावित्ता और सद्दाविय पाये जाते हैं (एत्सें० ; कप्प० आदि-आदि), ये रूप सद्देइ = शब्दयति के प्रेरणार्थक हैं ; अ०माग० मे सिक्खावेइ

(नायाध० १४२१ और उसके बाद) और शौर० में सिक्खावेहि (रत्ना० २९३, १७) शिक्षा से निकले हैं ; शौर० में शीतल से सीदलावेदि निकला है (उत्तररा० १२१, ७) ; शौर० में सुक्खवीअन्ति आया है (मृच्छ० ७१, ४) और माग० में शुस्कावइदशं (मृच्छ० १३३, १५) शुष्क से बने हैं ; महा० में सुख से सुहावेसि, सुहावेइ और सुहावेन्ति मिलते हैं (गउड० ; हाल), शौर० सुहावेदि पाया जाता है (मल्लिका० २०१, १७)।

१. त्साखारिआए नाo गोo विo गेo १८९६, २६५ और उसके बाद की तुलना कीजिए जिसमें विद्वान लेखक ने मुदिल से मइल की व्युत्पत्ति बतायी है। § ५९५ की नोटसंख्या ५ भी देखिए।

धातुसधित संज्ञा

(अ) अंशक्रिया

§ ५६०—परस्मैपदी वर्तमानकालिक अंशक्रिया वर्तमानकाल के वर्ग से बनायी जाती है जिसके अन्त में सबल समाप्तिसूचक चिह्न –अन्त् का वर्धित समाप्तिसूचक चिह्न –अन्त जोड़ा जाता है और इसका रूप –अ में समाप्त होनेवाले धातु के समान चलता है (§ ३९७ ; ४७३—५१४)। बोली के हिसाब से, विशेष कर अ०माग० में, बहुसंख्यक ऐसे रूप मिलते हैं जिनमें संस्कृत रूप दिखाई देते हैं (§ ३९६), कभी कभी एक धातुवाले संज्ञा की भाँति भी बनाया जाता है (§ ३९८)। स्त्रीलिंग का रूप सभी श्रेणियों के लिए –अन्ती में समाप्त होता है : अ०माग० में असन्तीए = असत्याम् (ओव० § १८३), जै०महा० में सन्ती मिलता है (एर्लें० ८, २२), किन्तु सती-साध्वी के अर्थ में, महा० में सई (हाल) = सती और 'छिनाल' असई (हाल) = असती ; अ०माग० में पञ्जन्ति = *पश्यन्तीम् है (§ ५६१ की तुलना कीजिए ; दस० ६३५, १०), विणिमुयन्ति = विनिमुञ्चन्तीम् है (जीवा० ५४२) और अणुहोन्ती = अनुभवन्ती है (पण्णव० १३७) ; महा० में अपावन्ती = अप्राप्नुवती है (हाल ४८३) ; शौर० में हुवंती, पेक्खंती और गच्छंती मिलते हैं (ललित० ५५५,५ ; ५६०, ११ ;५६१,१४), पसंसन्तीओ = प्रशंसन्त्यः (बाल० २८९,२), उद्दीवन्ती, भणन्ती और पढन्तीए रूप आये हैं (मृच्छ० २,२२; ४१,२०; ४४,२) आदि-आदि। वररुचि ७,११ और हेमचन्द्र ३,१८२ के अनुसार स्त्रीलिंग का रूप पहले गण की निर्बल क्रियाओं से बनाया जा सकता है : हसई = *हसती = हसन्ती है और वेवई=*वेपती=वेपमाणा है (हेमचन्द्र ३,१८२ सूत्र है 'ई च स्त्रियाम्'। —अनु०]। परस्मैपदी भविष्यत्कालिक अंशक्रिया के रूप निम्नलिखित हैं : अ०माग० में आगमिस्सं (कर्ता- नपुंसकलिंग और कर्मकारक पुलिंग ; आयार० १, ३, ३, २) और भविस्सं = भविष्यत् है (कप्प० § १७) किन्तु यह रूप भविष्य से भी सम्बन्धित किया जा सकता है जैसे कि जै०महा० में भविस्सचक्कवट्टी (एर्लें० १२, २५) और शौर० में भविस्सकुट्टणि रूप मिलते हैं (विद्ध० ५१, ११ ; कर्पूर० १३, २)। यही

समाप्तिसूचक चिह्न प्रेरणार्थक (§ ५५१–५५४), इच्छावाचक (§ ५५५), धनत्व-वाचक (§ ५५६) और नामधातुओं की परस्मैपदी अशक्रियाओं में आता है (§ ५५७–५५९)।

§ ५६१—आत्मनेपदी वर्तमानकालिक अशक्रिया बिना गणों के भेद के वर्तमानकाल के वर्ग से (§ ४७३–५१४) अधिकांश में अन्त में -**माण**=संस्कृत **मान** जोड़कर बनाया जाता है (वर० ७, १० ; हेच० ३, १८१)। अ०माग० में यह विशेषकर बहुत चलता है, इस बोली में इसके सामने परस्मैपदी वर्तमानकालिक अश क्रिया बहुत दब गयी है[1]। यह रूप अ०माग० में बहुधा परस्मैपदी पूर्ण क्रिया के साथ पाया जाता है। इस प्रकार के उदाहरण **अडमाणे अडइ** है (विवाह० १९१); **फुसमाणे फुसइ** (विवाह० ३५४ और ३५५) मिलता है ; **पच्चक्खाइ पच्चक्खमाणे** (विवाह० ६०७) है ; **हणमाणे हणइ, सद्दहइ असद्दहमाणे, संवेल्लमाणे संवेल्लेइ** मिलते हैं (विवाह० ८४९ और उसके बाद ; १२१५ ; १३२५); **पेहइ पेहमाणे** आया है (पण्णव० ४३५); **वितिगिच्छमाणे विगिञ्छइ** देखा जाता है (आयार० १, ३, ४, ३); **पासमाणे पासइ, सुणमाणे सुणेइ** और **मुच्छमाणे मुच्छइ** रूप पाये जाते हैं (आयार० १, १, ५, २ और ३), **आइक्खमाणा आइक्खइ** भी मिलता है (ओव० § ५९)। पाली भाषा की भाँति अ०माग० और जै०महा० में भी **अस्** से एक आत्मनेपदी वर्तमानकालिक अशक्रिया **समाण** बनायी गयी है (आयार० २, १, १, १ और उसके बाद ; ठाणग० ५२५ और ५२६ ; विवाग० १३ ; ११६ ; २३९ ; पण्हा० ६७ ; विवाह० २६३ ; २७१ ; १२७५ ; १३८८ ; पण्णव० ४३६ ; उवास० ; कप्प० ; निरया० ; एत्सें० ; सगर ४, ९ ; आव०एत्सें० २९, १६ ; ३५, २५ आदि आदि)। **पमाण** = **प्रविशन्** (देशी० १, १४४) है = **अयमाण** है, अ०माग० में **पॅज्जमाण** आया है (उवास० § ८१ ; २१५ , २६१ ; विवाग० २२९; नायाध० ४८७ ; ४९१ ; ५१८ ; ५७५ ; ७५८ ; ७६० आदि आदि ; विवाह० १२-०७) = **पद्यमाण** है ; § ५६० में **पॅज्जन्ति** की तुलना कीजिए। — **हॅज्जमाण** (§ ४६६) का सम्बन्ध प्रार्थनावाचक से है।

1. वेबर, भगवती १, ४३२।

§ ५६२—यही समाप्तिसूचक चिह्न आत्मनेपदी भविष्यत्कालिक अशक्रिया में आता है : अ०माग० में **एस्समाण** आया है (ठाणग० १७८) जो प्रेरणार्थक है (§ ५५१–५५४), इच्छावाचक भी है (§ ५५५), धनत्ववाचक (§ ५५६) और नामधातु भी (§ ५५७–५५९)। कर्मवाच्य में आंशिक रूप से परस्मैपद का समाप्तिसूचक चिह्न काम में लाया जाता है, विशेषतः शौर० और माग० में और आंशिक रूप से आत्मनेपद का समाप्तिसूचक चिह्न लगता है, विशेषकर अ०माग० में (§ ५३५–५४८)। — **माण** के स्थान में कभी कभी अ०माग० में **मीण** काम में लाया जाता है : **आगममीण** है (आयार० १, ६, ३, २ ; १, ७, ४, १ ; १, ७, ६, २ ; १, ८, ७, १); **समणुजाणमीण** (आयार० १, ६, ४, २ ; १, ७, १, ३) आया है ; **आढायमीण** (आयार० १, ७, १, १ ; १, ७, २, ४ और ५) ; **अणाढायमीण** (आयार० १,

७, १, २) ; अपरिग्गहमीण पाया जाता है (आयार० १, ७, ३, १) ; असमायमीण मिलता है (आयार० १, ७, ३, २) ; आसाएमीण = आस्वादयमाण है (आयार० १, ७, ६, २) ; अणासायमाण भी आया है (आयार० २, ३, २, ४); निकायमीण (सूय० ४०५), भिसमीण (नायाध० § १२२ ; जीवा० ४८१ और ४९३ [टीकाकार द्वारा आदृत पाठ भिसमाण है ; § ५४१ में भिसमाणी की तुलना कीजिए [इसका रूप *भिसयाणि बनकर कुमाउनी में भिसौणि हो गया है । —अनु०]) ; भिब्भिसमीण रूप भी मिलता है (§ ५५६) । यह रूप जो अशोक के शिलालेखों में पाया जाता है[1] वह भी आयारंगसुत्त तक ही सीमित है और कई स्थलों में इसका दूसरा रूप का अन्त –माण में होता है । § ११० की तुलना कीजिए । —समाप्तिसूचक चिह्न –आण विरल है = संस्कृत –आन : अ०माग० में ब्रुयाब्रुयाणा = ब्रुवन्तो ब्रुवन्तश्च है (सूय० ३३४) । विहम्ममाण = विघ्नन् के स्थान में विहम्माण आया है (उत्तर० ७८७) । यदि हम इसे *विहन्माण के स्थान में न रखना चाहें तो (§ ५४० और ५५० की तुलना कीजिए), चक्कममाण के स्थान में चक्कमाण आया है (नायाध० § ४६–५०), जैसा कि कप्पसुत्त § ७४, ७६ ; ७७ में मिलता है किन्तु वहाँ भी § ७४ और ७६ में दूसरा रूप चक्कमाण मिलता है । –आण के स्थान में महा० में –ईण है जो मेलीण में पाया जाता है (हाल ७०२) और मिल् के मेलइ का रूप है (§ ४८६) । संस्कृत आसीन की तुलना कीजिए जो रूप प्राकृत में भी पाया जाता है ।

१. ब्यूलर०, त्सा०डे०डौ०मौ०गे० ४६, ७२, इसका स्पष्टीकरण किन्तु शुद्ध नहीं है । § ११० देखिए ।

§ ५६३—वररुचि ७,११ के अनुसार स्त्रीलिंग का समाप्तिसूचक चिह्न –माणा है किन्तु हेमचन्द्र ३, १८२ के अनुसार यह –माणी है । अ०माग० में सर्वत्र समाप्तिसूचक चिह्न –माणी का ही प्राधान्य है : समाणी, संलवमाणी, आहारेमाणी, अभिसिंचमाणी और उद्धुव्वमाणीहिं रूप हैं (कप्प०) ; भुञ्जमाणी, आसाएमाणी और उवदंसेमाणी आये हैं (उवास०) ; पच्चणुभवमाणी, परिहायमाणी और उद्धुव्वमाणीहिं मिलते हैं (ओव०) ; विसट्टमाणि (ठाणंग० ३१२), रोयमाणी (विवाग० ८४ ; विवाह० ८०७), सूयमाणीए (विवाह० ११६), देहमाणी (विवाह० ७९४ और ७९५), विणिम्मुयमाणी (विवाह० ८२२), पॅज्जमाणीओ (निरया० ५९), दुरुहमाणी (दस० ६२०, ३३), जागरमाणीए (विवाह० ११६), पडिजागरमाणी (कप्प० ; उवास०), डज्झमाणीए और दिज्जमाणि (उत्तर० २८४ और ३६२), धिक्कारिज्जमाणी और थुक्कारिज्जमाणी (नायाध० ११७५) रूप भी पाये जाते हैं । जै०महा० में यही स्थिति है : समाणी है (काल्का० २६०, २९ ; एर्त्सें० ३६, १४ ; ५३, ५ में समाणा रूप अशुद्ध है) ; करेमाणीओ और पेहमाणीओ आये हैं (आव०एर्त्सें० ११, १४ ; १७, १०) ; पडिच्छमाणी, झायमाणी, पलोएमाणी, कुणमाणी, खणमाणीए, निरुडमाणी और रुयमाणी मिलते हैं (एर्त्सें० ८, १४ ; ११, १९ ; १७, ८ ; २३, १३ ; ३९, ७ ; ४३, १९), करेमाणी भी पाया जाता है (द्वार० ५०३, ३०) । वेबर ने महा० से हाल के निम्नलिखित उदा-

हरण दिये हैं : **पसूअमाणाए** (१२३), **भण्णमाणा** (१४५), **जम्पमाणा** (१९८), **मज्जमाणाए** (२४६), **वेअमाणाए** (३१२) किन्तु **जमामाणीए** भी है (३८९)। आर. (R) हस्तलिपि के पाठ में केवल १९८ में **–माणा** मिलता है अन्यथा सर्वत्र **माणीए** आया है, स्वय १४५ में भी जहाँ **भणमाणीए** पढा जाता है, भुवनपाल की हस्तलिपि के पाठ में (इण्डिशे स्टुडिएन १६, और उसके बाद) सर्वत्र ही **–माणी** और **–माणीए** मिलता है, जैसा कि एस. (S) और टी. (T) हस्तलिपियों में भी अधिकांश में पाया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि –ई– वाला रूप आर[1]. (R) और भुवनपाल की हस्तलिपियों में ही अर्थात् दोनों जैनहस्तलिपियों के पाठों में ही नहीं मिलता, ऐसा नहीं है, यह विशेषता उनमें ही नहीं पायी जाती। महा० की जै०महा० और अ०माग० से अन्य कई बातों में जो मेल है, उन्हें देखकर महा० के लिए भी –ई शुद्ध माना जाना चाहिए, न कि –आ। अन्य महा० ग्रंथों से उदाहरण नहीं मिलते। शौर० में स्त्रीलिंग का रूप सदा –आ में समाप्त होता है : **णिवत्तमाणा, वत्तमाणा** और **वत्तमाणाए** (विक्र० ५, ११ ; ३५, ११ और १२) रूप आये हैं ; **अपडिवज्जमाणा** (विक्र० ५२, १४) मिलता है ; **अहिभूअमाणा, थाउलीअमाणा** तथा **अहिणन्दीअमामाणा** रूप पाये जाते हैं (शकु० १६, १० ; १७, १२ ; ७९, १०); **पार्थीअमाणा** है (विक्र० २८, १) ; **अणुणीअमाणा** चलता है (मृच्छ० २३, २३ और २५) और **सिच्चमाणा** मिलता है (मालती० १२१, २)। पै० में **चिन्तयमाणी** देखा जाता है (हेच० ४, ३१०)।

१. वेबर, हाल २^२ भूमिका का पेज उनतीस ; हाल १२३ की टीका की तुलना कीजिए।

§ ५६४—कर्मवाच्य की भूतकालिक अंशक्रिया संस्कृत की भाँति ही शब्द के अन्त में –त और –न प्रत्यय लगाकर बनायी जाती है। संस्कृत से केवल इतना ही भेद कहीं कहीं पर देखने में आता है कि प्राकृत में कुछ स्थलों पर सीधे धातु में ही –त जोड दिया जाता है, किन्तु संस्कृत में यह इ– वर्ग में लगाया जाता है : **ओहट्ट** (= हास : देशी० १, १५३) = *अपहरत = अपहसित (§ १५५) , **तुट्ट** (= तोडा हुआ, त्रुटित : देशी० २, ७४ ; § ५६८ की तुलना कीजिए) , **लट्ठ** (= अन्यासक्त , मनोहर ; प्रिय वचन बोलनेवाला : देशी० ७, २६) = *लष्ट = लषित है। यह **लट्ठ** शब्द अ०माग० में **लाढ** है जो § ६६ और ३०४ के अनुसार बना है (आयार० २, ३, १, ८ ; सूय० ४०१ ; उत्तर० ७६ ; ४५३ ; ४५४) जिसका अर्थ टीकाकारों ने **साधु, साध्वनुष्ठाने तत्पर, सदनुष्ठानतया** प्रधान तथा इसी प्रकार के अन्य अर्थ बताये हैं। संस्कृत **राढा** की तुलना कीजिए। महा० में **तुरथ** (पाइय० २२५ ; रावण० ११, ८८ और ९०), **उत्तुरथ** (गउड० ५३८) और **पउरथ** रूप आये हैं (हाल ; रावण०), जै०महा० में **पघुरथ** (आव०एर्त्से० २३, ७ ; २५, ७) तथा **पउरथ** रूप मिलते हैं (एर्त्से०) ; महा० में **परिउरथ** (रावण० ४, ५०) पाया जाता है जिसके स्थान में सी. (C) हस्तलिपि में **परिउरथ** (देशी० ६, १३) पढा जाना चाहिए अथवा **परिघुरथ** रूप होना चाहिए (गउड० ५४०) जो **घस्** (= वास करना) से निकला

है = *वस्त, अ से फिर दूसरी बार इसका उ में परिवर्तन हुआ है (§ १०४ और ३०३)। इसके साथ साथ महा० का नियमित रूप उसिअ = उषित पाया जाता है (गउड० ४८४ और ९३३) और वर्तमानकाल के वर्ग से महा० में वसिअ (पाइय० २२५ ; गउड० ; हाल) तथा उव्वसिअ और पवसिअ भी आये हैं (हाल); शौर० में यह उववसिद हो जाता है (मृच्छ० ५४, १६)। — महा० में णिअत्थ = *निवस्त है (कर्पूर० ४६, १२), यह वस् से बना है (=कपड़े पहनना), अ०माग० में पणियत्थ = *प्रनिवस्त है (ओव० § [३८])। जै०महा० में नियत्थिय (एर्त्से० ५९, ३१) = निवस्त्रित है। § ३३७ की तुलना कीजिए। जै०महा० में तुट्ट = त्रुटित है (एर्त्से० ७१, २८), अप० में तुट्टउ है (हेच० ४, ३५६)। — अ०माग० में अणालत्त = *अनालस है (उवास० § ५८); जै०महा० में संलत्त मिलता है (एर्त्से०)। — अप० में तिन्त = तिमित है (हेच० ४, ४३१, १ ; [यह शब्द तिनो रूप में कुमाउनी में प्रचलित है। —अनु०])। — महा० में गुत्थ = *गुत्फ = गुफित (हाल ६३ ; कर्पूर० ६९, ८ ; ७३, १०)[1] ग्रह् सामान्यक्रिया (§ ५७४) और कृदन्त की भाँति –ई– वाले रूप नहीं बनाता है बल्कि –इ– वाले बनाता है (हेच० १, १०१): महा० में गहिअ रूप है (गउड० ; हाल ; रावण० ; शकु० १२०, ६); जै०महा० में गहिय मिलता है (उवास० ; ओव० ; कप्प० ; नायाध०); जै०शौर० और शौर० में गहिद पाया जाता है (पव० ३८९, १ ; मृच्छ० ३, २३ ; १५, ५ ; ५०, २) ; ५३, १० ; शकु० ३३, १४ ; ४०, ४ ; ९६, ९ ; विक्र० १९, १६ ; ३१, १३ ; ८०, १५ और २०); माग० में गहिद (मृच्छ० १६, १४ ; १७ और २१ ; १३३, ७ ; १५७, ५) तथा गिहिद (मृच्छ० ११२, १०) रूप पाये जाते हैं। नाटकों के पाठों में बहुत अधिक बार गहीद और गिहीद रूप पाये जाते हैं जो केवल पद्य में शुद्ध हैं जैसे अ०माग० में गहीद (मृच्छ० १७, १ ; १७०, १५)।

[1] हाल ६३ पर वेबर का मत भिन्न है।

§ ५६५—सभी प्राकृत बोलियों में परस्मैपदी आसन्न भूतकालिक अंशक्रिया बार बार वर्तमानकाल के वर्ग से बनायी जाती है। वर्तमानकाल के वर्ग के क्रमानुसार निम्नलिखित हैं : तविअ (हेच० २,१०५) और शौर० में संतप्पिद आये हैं (मृच्छ० ७, १८ ; ८, १६), ये चौथे गण के हैं और साधारण रूप से तत्त = तप्त है ; अ०माग० में तसिय और इसके साथ साथ तत्थ = त्रस्त है (विवाह० १२९१) ; शौर० में जाणिद = ज्ञात (ललित० ५६१, ३ ; मृच्छ० २८, ८) ; महा० असहिअ = असोढ है (गउड०) ; अ०माग० में जट्ठ = इष्ट (= यज्ञदत्त : उत्तर० ७५३) ; अप० में जिणिअ मिलता है (§ ४७३) ; शौर० में अणुभविद (कर्पूर० ३३, ६) = अनुभूत है, महा० में वाहरिअ = व्याहृत (शकु० ८८, १) ; महा० में ओसरिअ = अवसृत है (गउड० ; हाल ; रावण०), समोसरिअ भी मिलता है (गउड० ; हाल) ; अ०माग० और जै०महा० में समोसरिय = समवसृत है (हाल ; विवाग० १५१ ; उवास० ; निरया० ; आव०एर्त्से० ३१, २२ ; § २३५

की तुलना कीजिए) ; माग० में **णिश्शलिदश्श = निःसृतस्य** है (ललित० ५६६, १५) ; शौर० में **सुमरिद** तथा माग० मे **शुमलिद = स्मृत** ; महा० मे **वीसरिअ, विसरिअ**, जै०महा० मे **विस्सरिय**, जै०शौर० में **वीसरिद** और शौर० रूप **विसुमरिद = विस्मृत** है (§ ४७८) ; माग० में **गाइद** रूप आया है (मृच्छ० ११७, ४) ; शौर० में **णिज्झाइद** मिलता है (मृच्छ० ९३, १५ ; विक्र० ५२, ११) ; जै० महा० में ऋ से **अच्छिय** बना है (आव०एर्त्से० २६, २८ ; एर्त्से० ३३, ३०) ; महा० मे **इच्छिअ** रूप है (हाल ; रावण०) ; अ०माग० और जै०महा० मे **इच्छिय** हो जाता है (उत्तर० ७०२ ; विवाह० १६१ और ९४६ ; ओव० § ५४ ; उवास० ; कप्प० ; आव०एर्त्से० ३९, ६ ; कालका० २७४, २६ ; एर्त्से०) ; शौर० में **इच्छिद** आया है (विक्र० २०, १९) ; अ०माग० और जै०महा० मे **पडिच्छिय** मिलता है (ओव० § ५४ ; विवाह० १६१ और ९४६ ; आव०एर्त्से० ३९, ६) ; यह रूप शौर० में **पडिच्छिद** हो जाता है (मृच्छ० ७७, २५ ; १६१, ५ ; शकु० ७९, ९ ; मालती० १४०, ९ ; २५०,५) । ये दो इष् से बने हैं न कि ईप्स् धातु से (§ ३२८) ; **जिग्घिअ = घ्रात** है (देशी० ३, ४६) ; शौर० में **अणुचिट्ठिद** पाया जाता है (मृच्छ० ५४, २ ; ६३, २५ ; विक्र० ८०, १५ ; मालवि० ४५, १४ ; ७०, ३ ; मुद्रा० २६६, ३) ; महा० मे **पुच्छिअ** है (हाल), जै०महा० में यह **पुच्छिय** हो जाता है (एर्त्से० ; सगर २, ८), शौर० मे **पुच्छिद** बन जाता है (मृच्छ० २८, २१ ; मालवि० ६, १०) । इसके साथ साथ अ०माग० मे **पुट्ठ** रूप पाया जाता है (उत्तर० ३१ और ११३) ; शौर० मे **णिण्हुविद** मिलता है (शकु० १३७, ६) ; महा० मे **णच्चिअ** और **पणच्चिअ** है जो **नृत्** से बने हैं (हाल), अ०माग० मे **पडियाइक्खियं** है (कप्प० ; ओव० § ८६) तथा इसके साथ साथ **पच्चक्खाअ** रूप भी चलता है = **प्रत्याख्यात** है (ओव० § ५७) ; अ०माग० मे **बुइय** आया है (आयार० १, ८, १, २० ; १, ८, २, १ ; उत्तर० ५०९) = *ब्रुवित है, **अहाबुइय = *यथाब्रुवित** है (सूय० ५३१) । ये वर्तमानकाल के वर्ग **बुव–** से बने हैं (§ ४९४) ; **दुहिअ = दुग्ध** है (देशी० १, ७) ; अप० में **हणिय = हत** है (पिंगल १, ८५ ; १४६ अ [यह **हणिय** कुमाउनी मे **हाणिय** रूप मे वर्तमान है । —अनु०] , इसके साथ साथ **हत्त** भी चलता है (§ १९४) , शौर० में **आचक्खिसद** पाया जाता है (§ ४९९) ; महा०, अ०माग०, जै०महा० और शौर० मे **आढत्त** रूप आया है (पाइय० २४० ; हेच० २, १३८ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; इनमें रभ् देखिए ; ठाणग० ५११ ; विवाह० ३४ और ४२३ ; पण्णव० ९४० , राय० ७८ ; एर्त्से० ; द्वार० ४९६, १२ ; ४९८, १४ और ३७ ; सगर ४, ५ , ७, ११ ; तीर्थ० ६, २० ; ७, ३ और १५ ; आव०एर्त्से० १२, २४ , ४४, २ ; मल्लिका० २२३, १२ ; २५२, १३) ; महा० मे **समाढत्त** है (हाल) ; महा०, जै०महा० और शौर० मे **घिढत्त** मिलता है (हेच० ४, २५८ ; गउड० ; रावण० ; एर्त्से० ; मृच्छ० २, २३ ; अनर्घ० २७५, ७ ; २९०, २), अप० मे **घिढत्तउँ** है (हेच० ४, ४२२, ४) । ये सब दध्– के रूप हैं जो **धा** से निकला है = **धत्त** जो द्वित के स्थान मे आया है, यदि हम इसे

प्रेरणार्थक की ओर खींचें तो (§ २८६)। § २२२ की तुलना कीजिए। यह *घत्त, बहुत सम्भव है, अ०माग० निधत्त (इसका दूसरा रूप अन्यत्र निहत्त पाया जाता है ; ठाणग० ४९६) और इसका टीकाकार द्वारा आदृत अर्थ निकाचित (?) और निश्चित है ; जढ भी मिलता है (=त्यक्त : हेच० ४, २५८), अ०माग० में विजढ भी आया है (उत्तर० १०४५ ; १०४७ ; १०५२ ; १०५५ ; १०५८ ; १०६६ ; १०७१ ; १०७४ ; १०७७ ; १०९५ ; जीवा० २३६ और उसके बाद), विप्पजढ देखा जाता है (आयार० १, ६, १, ६ ; निरया० § १६ ; विवाग० २३९ ; नायाध० ४३५ ; ४४२ ; ११६७ ; १४४४ ; विवाह० ४५४ ; अणुओग० ५० और ५९६ [यहाँ पाठ में विप्पजह्न है])। ये सब वर्तमानकाल के रूप जहइ से बने हैं (§५००), इस प्रकार *जाढ और उसके ह्रस्व रूप के लिए § ६७ के अनुसार जढ् धातु का आविष्कार हुआ, अ०माग० में विप्पजहिय भी आया है (नायाध० १४४८) ; अ०माग० में तच्छिय है (उत्तर० ५९६) ; जै०महा० में वित्थरिय = विस्तृत है (एर्त्से०) , शौर० में विचिणिद = विचित है (मालती० २९७, ५) ; अप० में पाविअ देखने में आता है (हेच० ४, ३८७, १) ; अप० में भज्जिअ भी मिलता है (पिंगल १, १२० अ) ; अ०माग० और जै०महा० में विउव्विय (ओव० ; नायाध० ; आव०एर्त्से० ३०, १८) और वेउव्विय भी पाये जाते हैं (आयार० पेज १२७, १४ ; द्वार० ५०७, २८) जो विउव्वइ से बने हैं (§ ५०८) ; विकुर्वित की तुलना करें ; महा० में जाणिअ है (हेच० ४, ७), शौर० में जाणिद आया है (मृच्छ० २७, २१ ; २८, १७ और २४ ; २९, १४ ; ८२, १५ ; १४८, २३ ; १६६, ९ ; मुद्रा० १८४, ४ , विद्ध० २९, २), अणभिजाणिद मिलता है (मृच्छ० ५२२, २) और पच्चभिआणिद पाया जाता है (उत्तररा० ६१, ७ ; ६२, ७) ; माग० में याणिद हो जाता है (ललित० ५६६, ८) ; अप० में जाणिउ मिलता है (हेच० ४, ३७७ ; ४२३, १ ; विक्र० ५५, १ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए])। महा० में णाअ रूप आया है (रावण०), जै०महा० में नाय हो जाता है (एर्त्से०; कालका०), शौर० में सधि- समास में णाद = ज्ञात है, जैसा कि अब्भणुण्णाद आया है (शकु० ८४, ११ ; विक्र० १२, १४ ; २९, १३ ; ३९, २० ; ४६, ३ ; ८४, २ ; मुद्रा० ४६, ८), विण्णाद (मृच्छ० ३७, २१ ; शकु० ७३, ५ ; १६८, १५ ; विक्र० २९, २१ ; ८०, ४ ; मालवि० ४६, १६ ; ४७, ३), अविण्णाद (मालवि० ३४, ७) और पडिण्णाद रूप भी पाये जाते हैं (मालवि० १३, ९ ; ८५ २) ; शौर० में क्री से बने किणिद और विक्किणिद रूप मिलते हैं (§ ५११)। णिअ = नीत तथा सन्धिवाले रूपों के विषय में § ८१ देखिए। ख्या और ध्या के विषय में § १६५, आअ के सम्बन्ध में § १६७, छड तथा उसके स- सन्धि रूपों के सम्बन्ध में § ६६, उव्वीट के बारे में § १२६, *वुत्त, वूढ तथा इनके स- सन्धि रूपों के लिए § ३३७, अन्त में —डा लगकर बननेवाली अ०माग० और माग० की अशक्रिया के सम्बन्ध में § २१९, उसढ, निसढ, विसढ और समोसढ के लिए § ६७ और प्रेरणार्थक, इच्छावाचक, घनत्ववाचक तथा नामधातुओ के विषय में § ५११–५५९ देखिए। स्त्रीलिंग के अन्त

मे -था लगता है, केवल अप० में -ई जोड़ा जाता है जैसे, रुद्धी = रुद्धा और दिट्ठी = दृष्टा हैं (हेच० ४, ४२२, १४ ; ४३१, १)।

§ ५६६— -न प्रत्यय केवल उन स्थलों पर ही जिनमें संस्कृत में इसका प्रयोग किया जाता है, काम में नहीं लाया जाता किन्तु प्राकृत बोलियों में इसका प्रयोग क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो गया है[1] : खण्ण (= छेद : देशी० २, ६६ [यह खण्ण कुमाउनी में खड और खड्ड तथा हिन्दी में खड्ड और खड्डा बन गया है ; गड्डा प्राकृत रूप है जो संस्कृत गर्तक से निकला है। —अनु०]) ; अ०माग० और जै०-महा० में खत्त भी उक्त खण्ण के साथ साथ चलता है (देशी० २, ६६ ; विवाग० १०२ ; एर्त्से०[2] [खत्त कुमाउनी में खत्त ही रह गया है ; इसका अर्थ है ढेर, इसे कुमाउनी में खत भी कहते हैं ; देशी प्राकृत में खड्डा रूप भी है जो खान का पर्यायवाची है। —अनु०]), अ०माग० में उक्खत्त भी मिलता है (विवाग० २१४), महा० में उक्खाअ (हाल), उक्खअ (गउड० ; रावण०) और समुक्खअ रूप पाये जाते हैं (हाल) ; वररुचि १, १० ; हेमचन्द्र १, ६७ की तुलना कीजिए ; जै०महा० में खय (एर्त्से०) और खणिय रूप मिलते हैं (एर्त्से०), उक्खय भी आया है (एर्त्से०) ; शौर० में उक्खणिद पाया जाता है (उत्तररा० १००, ७ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए)। — महा० और शौर० में *चुक्क से चुक्क रूप बना है (पाइय० १९१ ; हाल ; रावण० ; विद्ध० ६३, १) जो चुक्कइ का रूप है (हेच० ४, १७७), शौर० में चुक्कदि मिलता है (विद्ध० ९३, २) जो भारतीय नवीन आर्यभाषाओं में साधारणतः प्रचलित है[3] और स्वयं धातुपाठ में चुक्क [= व्यथने। —अनु०] के रूप में मिलता है[4]। — महा० में छिक्क मिलता है (= छुआ हुआ : पाइय० ८५ , हेच० २, १३८ ; हाल ४८१ [आर. (R) हस्तलिपि के अनुसार यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) = *छिक्क जो *छिक् धातु से बना है, यह *छिक् धातु *छिप् और छिवइ[5] का कव्यसह रूप है। — महा०, जै०महा० और अ०माग० में डक्क है (= काटा गया : हेच० २, २ , हाल में दश शब्द देखिए , एर्त्से० ; पण्हा० ६५ और ५३७ ; ठाणंग० ४३१) = *दक्क, इसका दूसरा अर्थ 'दाँतों से पकड़ा हुआ' भी है (देशी० ४, ६)। — प्राकृत में दिण्ण रूप है जो जै०महा० और अ०माग० में दिन्न हो जाता है। यह *दिद्न से निकला है जिसमें प्राचीन द्विकार का स्वर इ[6] भी आया है। यह प्राकृत की सभी बोलियों में बहुत चलता है (वर० ८, ६२ ; हेच० १, ४६ ; २,४३; पाइय० १८४) : महा० में यह मिलता है (गउड० ; हाल ; रावण०) , जै०महा० में इसका प्रचलन है (कक्कुक शिलालेख ११ और १५[7]; आव०एर्त्से० १७, २० , २७,१३ ; एर्त्से०, कालका० ; ऋषभ), अ०माग० में चलता है (उवास०; कप्प० , ओव० आदि आदि) ; जै०शौर० में पाया जाता है (कत्तिगे० ४०२, ३६३ ; ३६४ और ३६६) ; शौर० में आया है (मृच्छ० ३७, ८ ; ४४, ३ ; ५१, २३ ; शकु० ५९, ७ , १५९, १२ ; विक्र० ४८, २ ; रत्ना० २९१, १) ; माग० में है (मृच्छ० ११३, २० ; ११७, ७ , १२६, ७ ; शकु० ११३, ८) ; अप० में भी इसका खूब प्रचलन है (विक्र० ६७,१९ , हेच० में दा शब्द देखिए)। हेमचन्द्र १,४६ में दत्त

रूप का भी विधान करता है और यह रूप पल्लवदानपत्र ७, ४८ में दता = दत्ता में मिलता है अन्यथा केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में पाया जाता है जैसे, दत्तजस (पल्लवदानपत्र ६, २१), देवदत्तो (हेच० १, ४६) ; शौर० में सोमदत्तो पाया जाता है (विक्र० ७, २)*। — महा० में वुड्ड, आवुड्ड, णिवुड्ड (हाल ३७ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) और विणिवुड्ड रूप मिलते हैं (गउड० ४९०) जो ब्रुड और ब्रुड् से बने हैं, इससे निकले नामधातु वुड्डइ, आउड्डइ और णिउड्डइ हैं (हेच० ४, १०१ ; वर० ८, ६८ की तुलना कीजिए)। — *भुल्ल के स्थान में मुल्ल आया है (कर्पूर० ११३, ६)। इसका सम्बन्ध भारतीय नवीन आर्यभाषाओं में बहुत चलनेवाले भुल्लइ से है (हेच० ४, १७७)। — महा० में उम्मिल्ल (गउड० ; हाल ; रावण०), णिमिल्ल (गउड० ; रावण०) और ओणिमिल्ल (रावण०) = *उन्मील्ल, णिमिल्ल और ओणिमिल्ल हैं जो मील् धातु से बने हैं। — प्राकृत की मुख्य बोलियों में मुच् से मुक्त रूप होकर मुक्क बना है, जो बार बार देखा जाता है (हेच० २, २) : महा० में मुक्क, अवमुक्क, आमुक्क, उम्मुक्क, पामुक्क, पडिमुक्क और परिमुक्क मिलते हैं (गउड० ; हाल ; रावण०) ; जै०महा० में मुक्क (आव०एत्सें० २३,२१ ; एत्सें० ; ऋषभ० ; कालका०), आमुक्क (आव०एत्सें० ३८, १२), पमुक्क और परिमुक्क (एत्सें०) तथा विमुक्क पाये जाते हैं (एत्सें० ; ऋषभ०); अ०माग० में मुक्क (उत्तर० ७०६ और ७०८ ; उवास० ; कप्प०), उम्मुक्क (पण्णव० १३६ ; उत्तर० १०३७), विणिमुक्क (उत्तर० ७५५), विप्पमुक्क (विवाह० १८६ ; २६३ ; ४५५ ; १३५१ [पाठ में अविप्पमुक्क है] ; उत्तर० १ ; पण्णव० १३४ और ४८३), विमुक्क (पण्णव० १३४ ; १३६ ; १३७ ; ८४८) रूप मिलते हैं ; शौर० में मुक्क (मृच्छ० ७१, ९ ; १०९, १९ ; विक्र० ४३, १५ ; ४७, २ ; प्रबोध० ४५, ११; बाल० २४, ९ ; १९५, ९ ; २०२, १६ , २०४, १९ आदि आदि), पमुक्क (बाल० २४६, १३ ; उत्तररा० ८४, २) और विमुक्क आये हैं (बाल० १७०, १४ ; २०३, १४ ; २१०, २ ; प्रसन्न० ३५,२ ; वेणी० ६२,७ ; ६३, ११ और १२ ; ६५, ८ ; ६६, ९) ; माग० में मुक्क पाया जाता है (मृच्छ० २९, १९ और २० ; ३१, २३ और २५ ; ३२, ५ ; १३६, १६ ; १६८, ४ ; प्रबोध० ५०, १४ ; ५६, १०) ; ढक्की में भी मुक्क ही मिलता है (मृच्छ० ३१, २४ ; ३२, १) ; अप० में मुक्काहँ है (हेच० ४, ३७०, १)। हेमचन्द्र ने २, १२ में मुत्त का उल्लेख किया है जो अशुद्ध है और शौर० में पमुत्त में वर्तमान है (उत्तररा० २०, १२)। मुक्ता (= मोती) का रूप सदा ही मुत्ता होता है और मौक्तिक का नित्य मोत्तिय ९ ; शौर० में मुक्क-मोत्तिय (बाल० १९५, ९) की तुलना कीजिए। — रग्ग (हेच० २, १०) = *रग्ण = संस्कृत रक्त है, इसी से सम्बन्धित रग्गअ है (= कौसुम्भ वस्त्र : पाइय० २६१ ; देशी० ७, ३) ; उदाहरण केवल रत्त के मिलते हैं : महा०, जै०महा० और शौर० में यह रूप आया है (हाल ; एत्सें० ; मृच्छ० ७१, ३ ; ७३, १२ ; शकु० १३४, १३ ; मालवि० २८, १७ ; ४५, ११) ; महा० में लत्त भी पाया जाता है (मृच्छ० १२९, १ ; नागा० ६७, ६)। — रिक्क = *रिक्ण

जो **रिच्** से बना है (पाइय० २१८ ; देशी० ७, ६ = स्तोक ; बहुत घम : हाल) ; अइरिक्क रूप मिलता है (हाल) और **पइरिक्क** तथा **पविरक्क** = *प्रविरिक्‍ण है (गउड० ; हाल ; रावण०) ; महा० और जै०महा० में **विरिक्क** मिलता है (गउड० ; आव०एर्त्से० ४७, २१ ; एर्त्से०), देशीनाममाला ६, ७१ के अनुसार इसके अर्थ 'विशाल' और 'एकान्त' हैं [देशीनाममाला के पूना संस्करण ६, ७१ में विरिक्क के स्थान में **पइरिक्क** शब्द मिलता है, इसमें दिया गया है **पइरिक्कं च विसाले एगन्ते तह य सुण्णम्मि** । इतना ही नहीं, छठे वर्ग का श्रीगणेश ॥ **अथ पादिः** ॥ से किया गया है और इस सारे वर्ग में पवर्ग अर्थात् क्रम से **प** से **म** तक देशी शब्द दिये गये हैं । हेमचन्द्र ने ७, ६४ में **विरिक्क** शब्द भी दिया है और लिखा है **फाडिए विरिक्कं** अर्थात् विरिक्क का अर्थ 'फाड़ना' है वैसे टीका में **विरिक्कं पाटितम्** है । —अनु०] ; **अणरिक्क** और **अवरिक्क** भी पाये जाते हैं (= बिना शुभ अवसर [देशीनाममाला में **खणरहिये अवरिक्कअणरिका** है, इसके अर्थ के लिए १, २० में उदाहरण रूप में उद्धृत श्लोक की तुलना कीजिए । —अनु०] ; देशी० १, २०) ; उक्त रूपों के साथ साथ महा० में **रित्त** = **रिक्त** है (पाइय० २१८ ; देशी० ७, ६ = थोड़ा : हाल) और अइरित्त रूप भी चलता है (रावण० १४, ५१ ; इसी काव्य में अन्यत्र **अइरिक्क** भी है) । — महा० में **रुण्ण** आया है (वर० ८, ६२ ; हेच० १, २०९ ; गउड०, हाल ; रावण०), **ओरुण्ण** और **परुण्ण** भी हैं (रावण०) किन्तु शौर० में **रुदिद** है (शकु० ३३, ४ ; रत्ना० ३१४, ३२ ; उत्तररा० २०, १२ ; चंड० ९५, १० ; वृषभ० ५०, ५ ; धूर्त० ११, १२) । महा०, जै०-महा०, अ०माग० और शौर० में **लुक्क** मिलता है जो **लुञ्च्**[११] का रूप है (= फटा हुआ ; अलग फेंका हुआ ; उपाड़े हुए बालवाला ; अलग किया हुआ और छिपाया हुआ) = ***लुक्त** है (हेच० २, २ ; हाल ; रावण० ; एर्त्से० ; कप्प० ; विद्ध० २७, ४) ; **उल्लुक्क** पाया जाता है (= टूटा हुआ : देशी० १, ९२) ; महा० और शौर० में **णिलुक्क** मिलता है (हाल ; रावण० ; विद्ध० ५१, ७) ; जै०महा० में **निलुक्क** हो जाता है (आव०एर्त्से० २३, १४) । इस बोली में इसके नामधातु **लुक्कइ**, **उल्लुक्कइ** और **निलुक्कइ** भी देखने में आते हैं (हेच० ४, ५५ और ११६), जै०महा० में **निलुक्कन्तेहिं**, **निलुक्कन्तो** भी आये हैं (आव०एर्त्से० २३, १७ और १९) । — महा० में **लिहक्क** है (= नष्ट : हेच० ४,२५८ ; गउड०), इसके साथ साथ ***लिक्क** भी आया है = ***श्लिक्त** है (§ २१०), इसके नामधातु **लिहक्कइ** और **लिक्कइ** भी मिलते हैं (हेच० ४, ५५) । — महा० में **सिच्** धातु का रूप **सिक्क** = **सिक्त** पाया जाता है (कर्ण० १४, १४), इसके साथ साथ साधारण रूप **सित्त** = **सिक्त** भी चलता है । — **सक्क** = ***ष्वष्क**[११] है जो **ओसक्क** में मिलता है (= खिसकना ; अपसरण : पाइय० १७८ ; देशी० १, १४९), इसके साथ साथ महा० में **परिसक्किअ** भी देखा जाता है (हाल ६०८) । — अ०माग० में **सों ह्न** = **सूद + न** = **सूदित**, **सों ह्नय** है (§ २४४) । — **जुण्ण** और उसके संधियुक्त रूपों के लिए § ५८, **णुमण्ण** के विषय में § ११८, **उव्वें ह्न** के सम्बन्ध में § १०७ और **हुण** तथा उसके संधियुक्त रूपों

के लिए § १२० देखिए। स्त्रीलिंग का रूप –आ में समाप्त होता है, केवल अप० में कभी कभी इसके अन्त में –ई देखी जाती है जैसे टिप्पणी (हेच० ४, ४०१, ३)।

१. प्राकृत में –न प्रत्यय के अधिक विस्तार के विषय में एस० गौल्दश्मित्त, प्राकृतिका पेज ८, नोटसंख्या २ तथा योहानसोन, शाहबाजगढ़ी १, १८५ में ठीक निर्णय देते हैं। अन्यथा, जैसा कि योहानसोन ने पहले ही बता रखा है, एस० गौल्दश्मित्त की सभी व्युत्पत्तियाँ, जो इस सम्बन्ध में अपने काम की हैं, अशुद्ध हैं, स्वयं पी० गौल्दश्मित्त की जिनका उल्लेख ना० गे० वि० गो० १८७४, ५२० और उसके बाद के पेजों में है। पिशल, बे० बाइ० ६, ८५ और उसके बाद के पेज की तुलना करें। — २. याकोबी ने महाराष्ट्री एर्त्सेलुंगन में यह शब्द = राज्ञ दिया है जो अशुद्ध है; § ९० भी देखिए। — ३. हेमचन्द्र ४, १७७ पर पिशल की टीका। — ४. हाल ४६५ पर वेबर की टीका। — ५. हाल ४८१ पर वेबर की टीका अशुद्ध है। — ६. पिशल, बे० बाइ० १५, १२६। — ७. हेमचन्द्र १, ४६ पर पिशल की टीका। — ८. हेमचन्द्र ४, १७७ पर पिशल की टीका। — ९. मृच्छकटिक २९, २० पर स्टेन्सलर की टीका, हेमचन्द्र २, २ पर पिशल की टीका। § ६१ अ की तुलना कीजिए। — १०. हाल ४९ पर वेबर की टीका अशुद्ध है। — ११ हाल ६०८ पर वेबर की टीका।

§ ५६७—**पला** के साथ **इ** धातु की रूपावली संस्कृत की भाँति पहले गण के अनुसार चलती है : महा० में पलाअइ (रावण० १५, ८ ; सी. (C) हस्तलिपि के साथ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए), **पलाअन्त-** (गउड०, हाल), **पलाइअव्व** (रावण० १४, १२, इस काव्य में ही अन्यत्र आये हुए दूसरे रूप के अनुसार यह पाठ पढ़ा जाना चाहिए), **विवलाअइ, विवलाअन्ति, विवलाअन्त-** और **विवलाअमाण** रूप भी पाये जाते हैं (गउड०, हाल, रावण०), जै०महा० म **पलायइ** मिलता है (आव०एर्त्से० १९, २२, एर्त्से०), **पलायमाण** (आव०एर्त्से० १८, १ ; एर्त्से०), **पलायसु** (एर्त्से० ९, ३७) और **पलाइउं** रूप भी आये हैं (आव०एर्त्से० १९, १६), शौर० में **पलाइदुकाम** आया है (मल्लिका० २२५, ११) ; माग० में **पलाअशि** है (मृच्छ० ९, २३, ११, ७, १३२, ३), आज्ञावाचक म **पलाअम्ह** मिलता है (चड० ७३, २), वर्तमानकालिक अंशक्रिया **पलाअन्ती** है (मृच्छ० १६, २२), कृदन्त **पलाइअ** देखा जाता है तथा भविष्यत्काल का रूप **पलाइदशं** आया है (मृच्छ० १२२,१३, १७१,१५)। –ऐ तथा –आ में समाप्त होनेवाले धातुओं के अनुकरण पर (§ ४७९ और ४८७) इसका संक्षिप्त रूप भी मिलता है : माग० में **पलामि** (मृच्छ० २२, १०) और **पलाशि** (मृच्छ० ११, २१) मिलते हैं, ढक्की में **पलासि** आया है (मृच्छ० ३०, ७), महा० में **विवलाइ** है (गउड० ९३४)। इसके अनुसार साधारण रूप महा० में **पलाइअ** (हाल, रावण०), शौर० में **पलाइद** (विक्र० ४६, ५) और माग० में **पलाइद** (मृच्छ० १२, १९) = संस्कृत में **पलायित** है, किन्तु इन रूपों के साथ साथ संक्षिप्त रूप **पला** एक कर्मवाच्य में भूतकालिक अंशक्रिया बनती है जिसका रूप महा० में **पलाअ** = *पलात और **विवलाअ** = *विपलात है

(रावण०), जै०महा० में यह पलाय हो जाता है (आव०एर्त्से० २३, १५ ; ३२, ५ ; एर्त्से०) । इससे ही सम्बन्धित पलाअ भी है (= चोर : देशी० ६, ८) । § १२९ और २४३ की तुलना कीजिए । जै०महा० में अशक्रिया में –न प्रत्यय भी लगता है : पलाण रूप पाया जाता है (एर्त्से०) जिसके आ के स्थान में दक्की में ई दिखाई देती है और जो पपलीणु = प्रपलायित में आया है (मृच्छ० २९, १५ ; ३०, १) जैसे कि वर्तमानकालिक अशक्रिया –मीण और –ईण में समाप्त होती है (§ ५६२) ।

§ ५६८—प्राकृत में कुछ धातुओं की भूतकालिक अशक्रिया कर्मवाच्य में अन्त में –त लगाकर बनती है। संस्कृत में ऐसा नहीं होता । उसमें से रूप –न लगाकर बनाये जाते हैं : महा० में खुडिअ (हेच० १, ५३ ; गउड० ; हाल ; रावण०) मिलता है, शौर० में खुडिद है (मृच्छ० १६२, ७ ; अनर्घ० १५७, ९ ; उत्तररा० ११, १० [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]) = *क्षुदित = संस्कृत क्षुण्ण[1] ; महा० उक्खुडिअ (हाल ; रावण०) आया है ; खुट्ट भी मिलता है (= चूर चूर किया हुआ [खोया ; त्रुटित ; टूटा हुआ । —अनु०] ; देशी० २, ७४), इसके साथ साथ जै०-महा० में खुत्त भी पाया जाता है तथा महा० में खुण्ण (पाइय० २२२ ; हाल ४४५)। खुण्ण (मढ़ा हुआ : देशी० २, ७५) और आव० का खुदिद (= भगा दिया गया : मृच्छ० १००, १२)[2] दूसरी धातुओं से निकले हैं। छइअ (= छाया हुआ : हेच० २, १७ ; त्रिवि० १, ४, २२) = *छदित है । इसे व्याकरणकारों ने = स्थगित बनाया है[3] । इसके साथ साथ छन्न = संस्कृत छन्न के हैं [छइअ कुमाउनी में प्रचलित है। —अनु०] । — विद्दाअ (हेच० १, १०७) तथा जै०महा० रूप विद्दाय (आव० एर्त्से० १७, ३२) = *विद्रात = संस्कृत विद्राण है । — अ०माग० का अमिलाय (कप्प० § १०२) = *अम्लात = संस्कृत अम्लान है । महा० का लुअ (हेच० ४, २५८ ; देशी० ७, २३ ; रावण०) = *लूत = संस्कृत लून है ।

1. पिशल, बे०बाइ० १५, १२५ और उसके बाद । — २. मृच्छकटिक १००, १२ पेज २८८ में स्टेन्सलर की टीका । — ३ पिशल, बे०बाइ० १५, १२५।

§ ५६९—अ०माग० रूप पुट्ठवं = स्पृष्टवान् में एक परस्मैपदी भूतकालिक अशक्रिया पायी जाती है (आयार० १, ७, ८, ८) किन्तु कर्मवाच्य के अर्थ में अन्यथा यह रूप केवल बाद के लेखकों और आलोचनाहीन संस्करणों में देखा जाता है : शौर० में किदवन्तो [!], सुदवन्देण [!], भुत्तवन्तेण और उत्तवन्तो पाये जाते हैं (जीवा० ४०, २६ ; ४२, १५ ; ५३, ११ , ८७, ३) , भणिदवन्तो, गदिदवन्तो और चलिदवन्तो भी हैं (चैतन्य० ३८, १३ , १२८, ५ ; १३०, १८) ; पेंक्खिदवन्तो [पाठ में पेंक्सिदवन्तो है] , आअदवन्तो, आदिवाहिदवन्दो [!] और अणुभूदवन्दो भी मिलते हैं (मल्लिका० १५५, १८ , २०९, १ ; २२२, १२) ; संपादिअवन्दो [!] और पेक्खिदवन्तो भी आये हैं (अद्भुत० ५८, १० ; ११९, २५) ; माग० में गदिदवन्तो [!] और गिलिअवन्ते रूप मिलते हैं (चैतन्य० १५०, ५ और ६) , स्त्रीलिंग का रूप शौर० में पडिच्छिदवदी (विद्ध० ४३, ६) और णीदवदी (मल्लिका० २५९, ३) आये हैं ।

§ ५७०—कर्तव्यवाचक अंशक्रिया जिसके अन्त में -तव्य जोड़ा जाता है बहुत बार वर्तमानकाल के वर्ग से बनायी जाती है : हसेअव्व और हसिअव्व = हसितव्य है (हेच० ३, १५७ ; क्रम० ४, ३९) ; अ०माग० और जै०महा० में होयव्व = भवितव्य है (कप्प० ; एर्त्से०), शौर० तथा माग० में यह होदव्व हो जाता है, जै०शौर० और शौर० में भविदव्व भी मिलता है, माग० में हुविदव्व भी है (§ ४७५ और ४७६) ; जै०महा० में अच्छियव्व (द्वार० ५००, ९ ; ५०१, ८) आया है ; शौर० में अवगच्छिदव्व मिलता है (मृच्छ० ६६, ३) ; अ०माग० में चिट्ठियव्व (विवाह० १६३) और शौर० में अणुचिट्ठिदव्व रूप देखा जाता है (मुद्रा० ५०, ४) ; अ०माग० में पुच्छियव्व = प्रष्टव्य है (सूय० ९८६ ; ९८९ ; ९९२), पुच्छेयव्व भी मिलता है (कप्प०) ; शौर० में पुच्छिदव्व (शकुं० ५०, ५ ; हास्या० २७, १३) आया है ; अ०माग० में विकृत् धातु से विगिञ्चियव्व बना है (§४८५; दस०नि० ६४६, ३) ; महा० में रूसिअव्व है (हाल) ; अ०माग० में पश् धातु से पासियव्व निकला है (पण्णव० ६६७ ; कप्प०) ; शौर० में संतप्पिदव्व पाया जाता है (मृच्छ० ९४, ३) और णच्चिदव्व भी है (प्रिय० १९, ११ और १२ ; २६, ६ ; २७, ५ ; कर्पूर० ४, १) ; अ०माग० में परितावेयव्व = परितापयितव्य है और उद्दवेयव्व = उद्द्रावयितव्य है (आयार० १, ४, १, १), दमेयव्व = दमयितव्य है (उत्तर० १९) ; शौर० में सुमराइदव्व (प्रिय० १४, ७) मिलता है ; शौर० में आसिदव्व भी है (प्रिय० १४, ३) ; जै०महा० में सोयव्व = स्वप्तव्य है (आव०एर्त्से० ३९, १६) ; शौर० मे यह सुधिदव्व बन जाता है और सुइदव्व भी (मृच्छ० ९०, २० ; शकु० २९, ७) ; शौर० में दादव्व (चैतन्य० ८४, ६ और १३ ; जीवा० ४३, १०) और सुणिदव्व रूप हैं (मुद्रा० २२७, ६) और इसके साथ-साथ सोदव्व भी आया है (शकु० १२१, १०), महा० मे यह सोअव्व हो जाता है (रावण० २, १०) तथा जै०महा० मे सोयव्व (आव०एर्त्से० ३३, १९) ये सब रूप श्रु के हैं ; अ०माग० मे भिन्दियव्व आया है (पण्हा० ३६३ और ५३७) ; अ०माग० में भुञ्जियव्व भी मिलता है (विवाह० १६३) किन्तु इसके साथ-साथ भोत्तव्व भी चलता है (हेच० ४, २१२ ; क्रम० ४, ७८) ; अ०माग० मे जाणियव्व (पण्णव० ६६६ ; कप्प०) तथा परिजाणियव्व पाये जाते हैं. (आयार० १, १, १, ५ और ७ ; शौर० रूप जाणिदव्व हो जाता है (प्रिय० २४,१६) ; माग० में इसका रूप याणिदव्व है (ललित० ५६५, ७) ; जै०शौर० में णादव्व है (कत्तिगे० ४०१, ३५२ ; पाठ में णापव्व है) ; जै०शौर० मे मुणेदव्व भी आया है (पव० ३८०, ८ ; पाठ में मुणेयव्व है) ; शौर० में गेँण्हिदव्व मिलता है (मृच्छ० १५०, १४ ; विक्र० ३०, ९) जब कि घेत्तव्व (वर० ८, १६ ; हेच० ४, २१०) का विधान है ; अ०माग० में परिघेँत्तव्व (आयार० १, ४, १, १ ; १, ५, ५, ४ ; सूय० ६४७ और उसके बाद ; ६९९ ; ७८३ ; ७८९) और ओघेँत्तव्व (कप्प०) आये हैं जो *घृप् के रूप हैं (§ २१२) । हेमचन्द्र ४, २११ के अनुसार वच् की कर्तव्यवाचक अंशक्रिया का रूप वोँत्तव्व होना चाहिए तथा इस विधान के अनुसार शौर०

मे विक्रमोर्वशी २३, १५ में यही रूप मिलता है। इस कारण कि शौर० में वच् की सामान्यक्रिया का रूप कभी वोत्तुं नहीं बोला जाता किन्तु सदा वत्तुं रहता है (§ ५७४) इसलिए बम्बइया संस्करण ४०, ९, पिशल द्वारा सम्पादित द्राविडी संस्करण ६३०, १४ = पण्डित का संस्करण ३९, ४ के अनुसार वत्तव्व पढा जाना चाहिए, मृच्छकटिक १५३, १५ मे भी यही रूप है तथा जै०महा० और अ०माग० मे भी यही पाया जाता है (एर्लें० ; सूय० ९९४ और ९९६ ; विवाह० १३९ और २०४ ; कप्प० ; ओव०) । महा० मे इसका रूप वोत्तव्व होना चाहिए। — वररुचि ८, ५५ तथा हेमचन्द्र ४, २१२ के अनुसार रुद् की कर्तव्यवाचक अशक्रिया का रूप रोत्तव्व बनाया जाना चाहिए। किन्तु उदाहरण रूप मे महा० मे रोइअव्व मिलता है (हाल)। कृ का रूप महा० मे काअव्व आया है (वर० ८, १७ ; हेच० ४, २१४ ; हाल ; रावण०), अ०माग० और जै०महा० मे यह कायव्व हो जाता है (आयार० २, १, १०, ७ ; दस० ६३०, ११ ; एर्लें०), जै०शौर० और शौर० में कादव्व है (पव० ३८६, ११ [पाठ मे कायव्व है] ; ललित० ५५४, ६ ; मृच्छ० १६६, ४ ; ३२७, १ ; विक्र० ४८, १३ ; प्रबोध० ११, ७ ; प्रिय० ११, १०), माग० रूप कादव्व = कर्तव्य है (§ ६२)। मुच् के विषय मे हेमचन्द्र ४, २१२ मे सिखाता है कि मोत्तव्व = मोक्तव्य है। — अप० मे इसके समाप्तिसूचक चिह्न -इएव्वउँ, -एव्वउँ और -एवा हैं : करिएव्वउँ = कर्तव्यम् है ; मरिएव्वउँ = मर्तव्यम् है और सहेव्वउँ = सोढव्यम् है ; सोएवा = स्वप्तव्यम् तथा जग्गेवा = जागर्तव्यम् हैं (हेच० ४, ४३८ ; क्रम० ५, ५२ की तुलना कीजिए)। इसका मूल या बुनियादी रूप -एव्व माना जाना चाहिए जिससे -एवा निकला है और -एव्वउँ में -क प्रत्यय लगा कर नपुसकलिंग कर्ता- और कर्मकारकों का -कम् बन जाता है। -एव्व = संस्कृत -एय्य, इसका य का प्रमाणित ढग से अप० में व मे परिवर्तन हो जाता है (§ २५४)। वैदिक रूप स्तुषेय्य और बहुत सम्भव है कि शयथेय्य अशक्रिया के अर्थ में आये है ; दिदृक्षेय की तुलना कीजिए। क्रमदीश्वर ५, ५५ के अनुसार -एव्वउँ का प्रयोग सामान्यक्रिया के लिए भी किया जाता है।

§ ५७१—महा०, जै०महा० और अ०माग० मे -अणीय का रूप -अणिज्ज होता है, कर्मवाच्य के रूप के अनुसार (§ ५३५, § ९१ की तुलना कीजिए), शौर० और माग० मे -अणीअ हो जाता है : अ०माग० में पूयणिज्ज आया है (कप्प०, ओव०), शौर० और दाक्षि० मे यह पूअणीअ हो जाता है (मृच्छ० २८, ७ ; १०१, १३), अ०माग० मे वन्दणिज्ज मिलता है (उवास० ; कप्प०), शौर० में वन्दणीअ रूप हो जाता है (मृच्छ० ६६, १७), महा०, अ०माग० और जै०महा० में करणिज्ज चलता है (हाल, आयार० २, ३, ३, १६, २, ४, २, ५ ; एर्लें०), शौर० मे इसका रूप करणीअ हो जाता है (विक्र० ३६, ८ ; नागा० ४, १५), शौर० में करणिज्ज अशुद्ध है (शकु० २, ५, विक्र० ४३, ६)। इन नाटकों मे अन्यत्र करणीअ दिया गया है जो शुद्ध है ; जै०महा० में सारक्खणिज्ज (आव०एर्लें० २८,१६ और १७) = संरक्षणीय है, शौर० मे रक्खणीअ मिलता है (शकु० ७४, ८) ;

अ०माग० में दरिसणिज्ज आया है (आयार० २, ४, २, २ , ओव०) और दंसणिज्ज भी मिलता है (उवास० ; ओव०), शौर० म यह दंसणीअ हो जाता है (शकु० १३२, ६ ; नागा० ५२, ११)। किन्तु अ०माग० मे आयारगसुत्त २, ४, २, २ मे दरिसणिज्जं के ठीक अनन्तर दरिसिणीए (! , कलकतिया सस्करण मे शुद्ध रूप दरिसणीए दिया गया है) तथा § ४ में दरिसणीयं आया है और सूयगडग ५६५ मे दरिसणिय [?] पाया जाता है और जै०महा० मे दंसणीओ (एर्से० ६०, १७) तथा महा० में दूसहणीओ हैं (हाल ३६५ [यहाँ पर इस उदाहरण का प्रयोजन समझ मे नहीं आता है ; दश् धातु के रूपों के साथ उक्त सह् के रूप की सगति नही बैठती। खेद है कि निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित गाथासतशती में उक्त स्थान पर इस सम्बन्ध का शब्द ही नहीं मिला तथा वेबर द्वारा सम्पादित हाल देखने में नहीं आया। —अनु०])। उक्त नियम के विरुद्ध शौर० तथा माग० मे बहुधा ऐसे रूप मिलते हैं जिनके अन्त में –इज्ज लगता है जैसे, माग० में पलिहलणिज्ज मिलता है (प्रबोध० २९, ८), किन्तु बम्बइया सस्करण ७४, २, पूनेवाले सस्करण पेज ३२ तथा मद्रास मे प्रकाशित सस्करण पेज ३७ मे शुद्ध रूप पलिहलणीअ दिया गया है, जैसा कि शौर० में भी परिहरणीअ पाया जाता है (शकु० ५२, १५)। मालविकाग्निमित्र ३२, ५ में सभी हस्तलिपियों मे शौर० रूप साहणिज्जे दिया गया है किन्तु इसी नाटक के सभी अन्य स्थलों पर हस्तलिपियाँ डाँवाडोल है, कहीं कुछ और कहीं कुछ लिखती हैं (मालवि० पेज २२३ में बौ`ल्लें`नसेन का टीका)। निष्कर्ष यह निकला कि हस्तलिपियों के जो रूप नियम से थोडे भी हटे हुए है वे अशुद्ध हैं, जैसा कर्मवाच्य म हुआ है। ये शुद्ध किये जाने चाहिए। वर्तमानकाल के वर्ग से बने रूप अ०माग० में विप्पजहणिज्ज (नायाध० § १३८) और शौर० में पुच्छणीअ हैं (मृच्छ० १४२, ६)।

§ ५७२— –य मूलत सस्कृत की भाँति काम में लाया जाता है : कज्ज का रूप माग० में कय्य है = कार्य है जो सभी प्राकृत बोलियों में बहुत काम मे आता है, जै०महा० में दुल्लंघ = दुर्लध्य है (सगर ३, १६), दुज्झ = दोह्य है (देशी० १, ७), जै०शौर० में णेय तथा जै०महा० रूप नेय = ज्ञेय है (पव० ३८१, २०, एर्से०), अ०माग० में पे`ज्ज = पेय है (उवास०, दस० ६२९, १), कायपिज्ज = काकपेय (दस० ६२८, ४८ , यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए), जब कि पिज्ज (= पानी . देशी० ६, ४६ , इस ग्रथ की भूमिका का पेज ७ की तुलना कीजिए , त्रिवि० २, १,-३०) = *पिब्य है जो वर्तमानकाल के वर्ग पिब से निकाला गया है ; अ०माग० मे भव्व = भाव्य है (कप्प० § १७ और २२), अ०माग० म आणप्प और विन्नप्प = आज्ञाप्य और विज्ञाप्य हैं (सूय० २५३ और २५६), अ०माग० में वच्च = वाच्य है (सूय० ५५३ और उसके बाद [यह वच्च कुमाउनी एकवच्चा, द्विवच्चा, तिर्वच्चा आदि मे वर्तमान है। —अनु०]), अ०माग० मे वो`ज्झ है जो *वह्य से निकला है और = वाह्य है ( § १०४ , नायाध० § ६५ ), यह भी वर्तमान काल के वर्ग से निकला है, जैसे कि महा०, अ०माग० और शौर० गे`ज्झ है (हेच० १,

७८, कर्पूर० २९, ४ ; ८१, ४ ; जीवा० ५०० ; बाल० ७५, १९), महा० में हत्थ गेॅज्झ = हस्तग्राह्य है (रावण० १०, ४३), महा० में दुग्गेज्झ भी मिलता है (रावण० १, ३ ; साहित्यदर्पण ३३२, १३ = काव्यप्रकाश ३२०, ८ [सर्वोत्तम हस्त लिपियों के अनुसार दुःगंज्झं के स्थल में छपे सम्करण में भी यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए], यह बहुत अधिक उद्धृत किया जाता है ; सरस्वती० १५५, ३ [पाठ में दुग्गेॅज्झं है] ; अच्युत० ६२ [पाठ में दुग्गज्झ है]), शौर० में अणुगेॅज्झ आया है (मृच्छ० २४, २१), माग० में दुग्गेॅय्ह मिलता है (चड० ४२, ८ ; पाठ में दुग्गेॅज्ज है, इसी ग्रथ में अन्यत्र दुग्गेअ भी आया है), अप० में दुग्गेॅज्झ (एर्त्सें० ७६, १९) = *गृह्य जो वर्तमानकाल के वर्ग गृह्- (§ ५१२) के रूप हैं।

सामान्यक्रिया

§ ५७३—अन्त में -तुं लगाकर सामान्यक्रिया बनायी जाती है। इस सम्बन्ध में संस्कृत और प्राकृत में यह भेद है कि प्राकृत में बहुत अधिक बार समाप्तिसूचक चिह्न स्वय विशुद्ध वर्ग में ही अथवा वर्तमानकाल के वर्ग में इ जोड़कर लगाया जाता है। इस प्रकार वर्तमानकाल के वर्ग में : जै०महा० में गाइउं रूप है (एर्त्सें०), शौर० में गाइदुं आया है तथा ये दोनों = गातुम् है (मुद्रा० ४३, २), शौर० में गच्छिदुं (शकु० ६२, ११), अणुगच्छिदुं (मुद्रा० २६१, २) और इसके साथ साथ गमिदुं रूप हैं (वृषभ० १९, ११) और सब प्राकृत बोलियों में काम में आनेवाला गन्तुं भी है, जै०महा० में पिविउं (आव०एर्त्सें० ४२, ८) तथा इसके साथ साथ पाउं मिलता है (आव०एर्त्सें० ४२, ८, ४५, ६), अ०माग० में भी ये ही रूप हैं (आयार० १, १, ३, ७), महा० में भी ये ही चलते हैं (हाल, रावण०) और शौर० में पादुं आया है (शकु० १०५, १४), शौर० में अणुचिट्ठिदुं मिलता है (मृच्छ० १०२, १९), साथ साथ ठादुं रूप भी है (नागा० १४,९) तथा जै०महा० में उट्ठिउं आया है (आव०एर्त्सें० ३३, १४), माग० में खादुं है (मृच्छ० १२३, ७) जो *खाअदि = खादति से निकले *खादि से बना है। इसके साथ साथ जै०महा० में खाइउं (एर्त्सें०) और शौर० में खादिदुं रूप हैं (विक्र० २५, १९), जै०महा० में णिह-णिउं = निखातुम् है जो खन् से बना है (एर्त्सें० ६६, २), हसेउं आया है जो ए-वर्ग का है और इसके साथ साथ हसिउं भी है, महा० में पुच्छिउं पाया जाता है (सरस्वती० १४, १७), शौर० में पुच्छिदुं (मृच्छ० ८८, २० ; मालवि० ५, ४ और १७) और माग० में पुश्चिदुं (चड० ४२, ९) = प्रष्टुम् है, महा० में पडिमुञ्चिउं मिलता है (रावण० १४, २), इसके साथ साथ मोत्तुं = मोक्तुम् है (हेच० ४, २१२), महा० में णच्चिउं है (हाल), इसके साथ ही ए- रूपावली का रूसेउं भी है (हाल)। भू धातु की सामान्यक्रिया के सम्बन्ध में § ४०१ तथा ४०२ देखिए। दसवें गण की क्रियाएं तथा इसके अनुसार बने हुए प्रेरणार्थक रूप और नामधातु से सामान्यक्रिया बनाने के लिए पहले वर्तमानकाल के वर्ग में -ए या -वे लगाकर उसमें -तुम् जोड़ देते हैं : महा० में जाणावेउं है और णिव्वाहेउं = निर्वा-

छयितुं है, पासाएउं = प्रसादयितुम् और लंघेउं = लंघइतुम् है (हाल) ; अ०माग० में वारेउं=वारयितुम् है (सूय० १७८) ; परिकहेउं = परिकथयितुम् है (ओव० § १८३) ; परिभाएउं = परिभाजयितुम् मिलता है (नायाध० § १२४), जै०शौर० में चालेदुं = चालयितुम् है (कत्तिगे० ४००, ३२२) ; शौर० में कामेदुं = कामयितुम् है (माल्ती० २३५, ३) तथा कारेदुं (मुद्रा० ४६, ९) और धारेदुं भी आये हैं (मृच्छ० १६६, १४ ; ३२६, १२), दंसेदुं = दर्शयितुम् है (मुद्रा० ८१, ४) ; माग० में अग्गीकलावेदुं, शोशावेदु, शोधावेदुं, पॉस्टावेदुं और लुणावेदुं रूप पाये जाते हैं (मृच्छ० १२६, १० , १४०, ९)। अपक्षिप्त रूप विरल ही मिलता है : शौर० में णिअत्ताइदुं = निवर्तयितुम् है (विक्र० ४६, १७), ताडयिदुं (मालवि० ४४, १६), सभाजइदुं (शकु० ९८, ८) और सुस्सूसइदुं रूप भी पाये जाते हैं (मालवि० २९, १२) , माग० में मालइदुं आया है (मृच्छ० १६४, १९)। इसके विपरीत अ– वर्ग से निकाले गये रूप प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं (§ ४९१) : महा० में धारिउं है (हाल), शौर० में यह धारिदुं हो जाता है (विक्र० १५, ३ ; ४०, ७) ; शौर० में मारिदुं है (मृच्छ० १६०, १४ , शकु० १४६, ८), यह रूप माग० में मालिदुं हो जाता है (मृच्छ० १७०,२)। इसके साथ साथ मालेदुं मिलता है (मृच्छ० १५८, २४), जै०महा० में मारेउं रूप है (एर्से० १, २५) ; महा० में वण्णिउं = वर्णयितुम् है तथा वेञ्जारिउं = वितारयितुम् मिलता है (हाल) ; अ०माग० में सवेदिउं आया है (आयार० पेज १३७, १८) ; जै०महा० में चिन्तिउं, पडिवोहिउं और वाहिउं रूप मिलते हैं (एर्से०), शौर० में कधिदुं (शकु० १०१,९ , १४४,१२) है, अवत्थाविदुं = अवस्थापयितुं है। (उत्तररा० ११२, ९), णिवेदिदुं भी पाया जाता है (शकु० ५१, ३) , माग० में पदितदुं = प्रार्थयितुम् है (ललित० ५६६, ८)।

§ ५७४—दूसरी रूपावली के उदाहरण निम्नलिखित हैं : शौर० में पच्चाचक्खिदुं = प्रत्याचष्टुम् है (शकु० १०४,८) , शौर० में अवचिणेदु रूप मिलता है (ललित० ५६१, ८) और इसके साथ साथ महा० में उच्चेउं आया है (हाल) , जै०महा० में पावेउं = प्राप्तुम् है (एर्से०) , शौर० में सुणिदु पाया जाता है (विक्र० २६, ५ ; मुद्रा० ३८, २ , वेणी० ९९, ६ , अनर्घ० ६१, ६ , ११०, ४), इसके साथ साथ महा०, अ०माग० और जै०महा० में सोउं चलता है (हाल , आयार० पेज १३६, १४ , एर्से० में कृदन्त अर्थ में है § ५७६) , शौर० में भुञ्जिदुं मिलता है (धूर्त० ६, २१) और इसके साथ साथ महा० और अ०माग० में भोत्तुं = भोक्तुम् है (वर० ८, ५५ , हेच० ४, २१२ , क्रम० ४, ७८ की तुलना कीजिए , नायाध० § १२४ , दस० नि० ६४९, १६), अ०माग० में उब्भिन्दिउं आया है (दस० ६२०, १५) इसके साथ साथ भेत्तुं रूप भी है (दस० ६३४, ९) , शौर० में जाणिदुं है (ललित० ५६७, १८ , शकु० ११९, २ , रत्ना० ३०९, २२), इसके साथ साथ जै०महा० में नाउं चलता है (एर्से० , कृदन्त के अर्थ में § ५७६), शौर० में चिण्णादुं भी मिलता है (विक्र० २४, १३) , अ०माग० में गिण्हिउं है (निरया० § २० ,

कृदन्त के अर्थ में § ५७६), जै०महा० में गे`ण्हिउं हो जाता है (एत्सें०), शौर० में गेण्हिदुं रूप आया है (मृच्छ० ९४, १२,), महा० में गहिउं मिलता है (हाल)। इसके साथ साथ महा० में घेत्तुं भी है (वर० ८, १६ ; हेच० ४, २१० , रावण०)। ये रूप *घ से सम्बन्धित हैं (§ २१२) ; शौर० में अणुगन्धिदुं है (मालवि० ६, १८) और इसके साथ साथ महा० में घन्धेउं रूप पाया जाता है (हेच० १, १८१ में एक उद्धरण)। रुद् की सामान्यक्रिया महा० में रोत्तुं है (वर० ८, ५५ , हेच० ४, २१२ ; क्रम० ४, ७८ की तुलना कीजिए ; हाल), किन्तु शौर० में रोदिदुं आया है (शकु० ८०, ८) ; वररुचि ८, ५५ के अनुसार विद् धातु का वे`त्तुं रूप होता है ; वच् का महा०, अ०माग० और जै०महा० में वो`त्तुं मिलता है (हेच० ४, २११ ; हाल ; एत्सें० ; दस० नि० ६४६, २१), किन्तु शौर० में वत्तुं पाया जाता है (शकु० २२, २ ; ५०, ९ ; विक्र० ३०, २ ; ४७, १) , स्वप् का महा० रूप सो`त्तुं है (हाल)=स्वप्तुम् , जै०महा० में सोउं हो जाता है (द्वार० ५०१, ७)। ये रूप *सोतुं से सोवइ हो कर निकले हैं (§ ४९७) ; महा०, जै०महा० और अ०माग० में कृ का रूप काउं = कर्तुम् है (§ ६२ ; वर० ८, १७ , हेच० ४, २१४; गउड०; हाल ; रावण० ; एत्सें० ; आव०एत्सें० ३०, १० ; दस० नि० ६४४, २८), महा० में पडिकाउं मिलता है (हाल), शौर० में कादुं पाया जाता है (ललित० ५६१, १३ ; मृच्छ० ५९, २५ ; शकु० २४, १२ ; विक्र० २९, १४ ; कर्पूर० ४१, ६ ; वेणी० १२, ६) और करिदुं भी है (शकु० १४४, १२) ; माग० में भी कादुं है (मृच्छ० १२३, ७)।

§ ५७५—संस्कृत से सर्वथा भिन्न रूप से ऋ- वर्ग के रूप बनाये जाते हैं : महा० और जै०महा० में मरिउं = मर्तुम् है (हाल ; एत्सें०), शौर० में यह रूप मरिदुं हो जाता है (रत्ना० ३१६, ५ ; ३१७, १५ , चड० ९३, ९) ; जै०महा० में परिहरिउं (एत्सें० ५८, २४), शौर० में विहरिदुं (विक्र० ५२, ६) रूप हैं और इनके साथ साथ महा० में वाहत्तुं = व्याहर्तुम् है (रावण० ११, ११६) ; जै०महा० में समाकरिसिउं = समाक्रष्टुम् है (द्वार० ४९८, ३१) , महा० में उक्खिविउं = उत्क्षेप्तुम् है (हाल), शौर० में खिविदुं पाया जाता है (विक्र० २५, १६), णिक्खिविदुं भी आया है (मृच्छ० २४, २२) ; महा० और जै०महा० में दहिउं है (रावण० , एत्सें०), शौर० में यह रूप दहिदुं हो जाता है (शकु० ७२, १२) = दग्धुम् है , जै०महा० में संधिउं = संधातुम् है जो वर्तमानकाल के रूप *संधइ से निकला है (§ ५००), शौर० में अणुसंधिदुं मिलता है (मृच्छ० ५, ४) , शौर० में रमिदुं = रन्तुम् है तथा अहिरमिदुं = अभिरन्तुम् है (मृच्छ० २८, ४ ; ७५, २)।

§ ५७६—अ०माग० में -तुम् वाला रूप थोडा बहुत विरल है। ऊपर के § में जो उदाहरण दिये गये हैं उनके सिलसिले में नीचे कुछ और दिये जाते हैं : जीविउं मिलता है (आयार० १, १, ७, १) ; अदट्ठुं, अग्घाउं और अणासाउं मिलते हैं (आयार० पेज १३६, २२ और ३१ ; पेज १३७, ७) , अणुसासिउं भी

आया है (सूय० ५९) ; दाउं = दातुम् है (आयार० २, १, १०, ६ ; २, ५, १, १० ; उवास० § ५८ ; नायाध० § १२४) ; अणुप्पदाउं=अनुप्रदातुम् है (उवास० § ५८) = जै०शौर० दादुं (कत्तिगे० ४०३, ३८० : पाठ में दाउं है) ; भासिउं = भाषितुम् है और पविउं = प्लवितुम् है (सूय० ४७६ ; ५३१ ; ५८०) । उक्त सामान्यनियाओं में से अधिकांश पद्य में आये हैं । बहुत अधिक बार यह रूप कृदन्त में काम में लाया जाता है : उज्झिउं, उज्झित्वा के अर्थ में आया है (सूय० ६७६) ; इस अर्थ में तरिउं है (सूय० ९५०) ; गन्तुम् आया है (सूय० १७८ ; आयार० २, ४, २, ११ और १२ ; कप्प० एस. (S) § १०) ; दट्ठुं = द्रष्टुम् है (आयार० १, ४, ४, ३ ; सूय० १५०) ; निद्देट्ठुं = निर्देष्टुम् (दस० नि० ६४३, ३८) ; लद्धुं = लब्धुम् है (आयार० १, २, ४, ४ ; १, २, ५, ३ ; पेज १५, ३२ ; सूय० २८९ और ५५० ; उत्तर० १५७ ; १५८ ; १६९ ; १७० ; दस० ६३१, २६ ; ६३६, २०) ; भित्तुं = भेत्तुम् है (कप्प० § ४०) ; काउं = कर्तुम् है (सूय० ८४ ; दस० नि० ६४३, ३४), पुरओकाउं भी आया है (नन्दी० १४६ ; कप्प० एस. (S) § ४६ और ४८ ; ओव० § २५ और १२६) ; आहन्तुं मिलता है (आयार० १, ८, ३, ४) ; परिघेत्तुं पाया जाता है (पण्हा० ४८९ और ४९५), गहेउं भी है (सूय० २९६) । यह रूप इस अर्थ में मुख्यतया पद्य में काम में लाया गया है किन्तु यह अ०माग० तक ही सीमित नहीं है । इसका जै०महा० में भी बार बार उपयोग पाया जाता है । महा० में यह कम पाया जाता है और यह यह कृदन्त के काम में लाया जाता है[1] । हेमचन्द्र इस अर्थ में दट्ठुं, मोत्तुं (२, १४६), रमिउं (३, १३६) और घेत्तुं देता है (४, २१०) । जै०महा० के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं गन्तुं है (आव०एर्त्से० ७, ३१ ; एर्त्से० ५, २२ ; कालका० दो, ५०८, १८) ; दट्ठुं मिलता है (आव०एर्त्से० २४, ४ ; कालका० तीन, ५१०, ३१ और ३८) ; जिणिउं = जेतुम् है (आव०एर्त्से० ३६, ४२), कहिउं = कथयितुम् है (एर्त्से० ७, १०) ; कड्ढेउं पाया जाता है (एर्त्से० ७४,३०) ; ठविउं = स्थापयितुं है (एर्त्से० ७, ५) ; विहेउं = विधातुम् है (कालका० में यह शब्द देखिए) ; सोउं = श्रोतुम् है (एर्त्से० २,९ ; ११,३४ ; १२,५ ; कालका० में यह शब्द देखिए) ; काउं है (आव० एर्त्से० ७,१७) ; नाउं = ज्ञातुम् है (एर्त्से० १२, ११) ; घेत्तुं = *घृप्तुम् है (आव० एर्त्से० २२, २९ ; २३, ७ ; ३१, ७) । महा० में निम्नलिखित रूप है : पलीविउं = प्रदीपयितुम् है ; भणिउं, भरिउं, मोॅत्तुं, वलिउं, लहिउं और पाविउं रूप पाये जाते हैं (हाल ३३ ; २९८ ; ३०७ ; ३३४ ; ३६० ; ३६४ ; ४८४ ; ४९० ; ५१६ ; ५९५) ; जाणिउं = ज्ञातुम् है (रावण० १४, ४८) । इस रूप की व्युत्पत्ति हम अन्त में –ऊण लगकर बननेवाले कृदन्त से भी निकाल सकते हैं (§ ५८६) अर्थात् काउं को काऊण से सम्बन्धित कर सकते हैं जिसमें अ की विच्युति हो गयी है जैसे, अप० रूप पुत्तें = पुत्रेण है । अप० में भी इसी के समान अर्थपरिवर्तन होने के कारण (§ ५७९) यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि वास्तव में इन बोलियों में सामान्य-निया कृदन्त के काम में भी लायी जाती रही होगी जैसे कि इसके ठीक विपरीत कृदन्त

भी सामान्यक्रिया के स्थान में काम में लाया जाता था (§५८५, ५८८; ५९०)।

१. वेबर, भगवती १, ४३३, हाल १ पेज ६६।

§ ५७७—संस्कृत की भाँति प्राकृत में भी काम और मनस् शब्द से पहले सामान्यक्रिया के अन्त में केवल –तु लगता है : अ०माग० में **आश्विसविउकाम** = **आश्लेषुकाम** है, **गिण्हिउकाम** = ग्रहीतुकाम और **उद्दालेउकाम** = **उद्दालयितुकाम** हैं (निरया० § १९), **जीविउकाम** रूप पाया जाता है (आयार० १, २, ३, ३), **वासिउकाम** = **वर्षितुकाम** है (ठाणग० १५५), **पाउकाम** (पा = पीने से बना है : नायाध० १४३०), **जाणिउकाम** और **पासिउकाम** आये हैं (पण्णव० ६६६ और ६६७), **संपाविउकाम** मिलता है (कप्प० § १६, ओव० § २०; दस० ६३४, ३९), जै०महा० में **पडिबोहिउकाम** = **प्रतिबोधयितुकाम** है (एर्से० ३, ३७), **कड्ढिउकाम** भी देखा जाता है (द्वार० ५०६, ३६), शौर० में **जीविदुकाम** (मुद्रा० २३३, ३), **वत्तुकाम आलिहिदुकाम** (शकु० १३०, ११, १३३, ११), **विण्णविदुकाम** (महावीर० १०३, ९) तथा **सिक्खिदुकाम** (मृच्छ० ५१, २४) आये हैं, **पमज्जिदुकाम** = **प्रमार्ष्टुकाम** है (विक्र० ३८, १८), **दट्ठुकाम** भी पाया जाता है (मालती० ७२, २; ८५, ३), महा० में **ताडिउमणा** = **ताडियुतुमनाः** है (कर्पूर० ७०, ७)। –क प्रत्यय आने पर यह स्वतन्त्र रूप से भी काम में लाया जाता है : **आलेद्धुअं** = ***आलेग्धुकं** = **आलेढुम्** है (§ ३०३; हेच० १, २४, २, १६४); अ०माग० में **थलद्धुयं** = ***अलब्धुकम्** है। यह कृदन्त के अर्थ में आया है (दस० ६३६, १९)। इस अन्तिम रूप से यह अधिक सम्भव ज्ञात होता है कि कृदन्त के स्थान में काम में लाये गये और अन्त में –**ट्टु** या –**इत्तु** लगाकर बनाये गये रूप अ०माग० और जै०महा० में मूल रूप में सामान्यक्रियाएं हैं अर्थात् इनकी व्युत्पत्ति –**त्वा** से सम्बन्धित नहीं है और यह –**त्वा** नियमित रूप से प्राकृत में –**त्ता** रूप में दिखाई देता है (§ ५८२)। इस प्रकार अ०माग० में • **कट्टु** = **कर्तुं**– है जिसका अर्थ है **करना** (हेच० २, १४६, आयार० १, ६, ३, २, २, १, ३, २, ११, १, २, २, २, ३, २, ३, १, ९, २, २१, २, १५ और १६, सूय० २८८ और ३५८, भग०[१], उवास०, कप्प०, ओव०, दस० ६३१, २९, ६४१, ३७ आदि आदि), **पुरओकट्टु** आया है (ओव०), –**अवहट्टु** = **अपहर्तुं**– है (आयार० २, ६, २, १, सूय० २३३, ओव०; भग०), **अभिहट्टु** पाया जाता है (आयार० २, ६, २, २), **आहट्टु** (आयार० १, २, ४, ३, १, ७, २, १, २ और ३, १, ७, ७, २, १, ८, २, १२, २, १, १, ११, २, १, २, ४, २, १, ५, ५, ६, ४), **समाहट्टु** (सूय० ४१०), **अप्पाहट्टु** (सूय० ५८२), **नीहट्टु** (आयार० २, १, १०, ६, २, ६, २, २) और **उद्धट्टु** रूप आये हैं (आयार० २, ३, १, ६, सूय० २२२ और २४३), **साहट्टु** = **संहर्तुं**– है (आयार० २, ३, १, ६, विवाह० २३७ और २५४, विवाग० ९०, १२१, १४४, १५७, उवास०, कप्प०, ओव०, निरया० आदि आदि), **अट्टु** = **अट्टुं** है (कप्प० एस. (S) § १९, यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए), **वन्दित्तु** भी देखा जाता है (कप्प०),

चइत्तु = त्युक्तु- है (उत्तर० ४५ और ४११) ; सदंन्तु आया है (दस० ६१४, २७) ; पविसित्तु = प्रवेष्टु- है (दस० ६३१, ५) ; आहयते का रूप आहत्तु मिलता है (आयार० १, ४, १, ३ ; टीका मे = आदाय, गृहीत्वा) ; तरित्तु = तरितु- है और खवित्तु = क्षपयितु- है (दस० ६३६, ३ और ४) ; पमजित्तु = प्रमार्ष्टु- है (दस० ६३०, २०) ; विणएत्तु आया है (आयार० १, ५, ६, २) ; उवसंकमित्तु चलता है (आयार० १, ७, २, १ और ३ ; १, ७, ३, ३) ; हा से बने विजहइ का रूप वियहित्तु पाया जाता है (§ ५०० ; आयार० १, १, ३, २) ; सुणित्तु = श्रोतु- है (दस० ६४२, १६) ; दुरूहित्तु भी आया है (सूय० २९३) ; छिन्दित्तु, भुञ्जित्तु मिलते हैं (दस० ६४०, २१ ; ६४१, ३६) ; जाणित्तु पाया जाता है (आयार० १, २, १, ५ ; १, २, ४, २ ; १, ४, १, ३ ; १, ५, २, २ ; १, ६, २, १ ; दस० ६३०, ३४) । — जै०महा० मे गन्तु आया है (कालका० दो, ५०६, ३४) ; कहित्तु है (एर्त्से० १०, ३८) ; पणमित्तु है और ठवित्तु = स्थापयितु- है, वन्दित्तु आया है (कालका० २६०, ११ ; २६८, ४ ; २७६, ७) ; उत्तरित्तु मिलता है (कालका० ५०६, २५ ; ५११, ७) ; जाणित्तु है, पयडित्तु = प्रकटयितु- है और थुणित्तु = स्तोतु- है (कालका० तीन, ५१४, १६ ; १७ और २०), विणिहत्तु = विनिधातु- है (एर्त्से० ७२, २३) । उक्त सब रूप प्रायः निरपवाद पद्य में आये हैं । त का द्वित्त इसलिए किया गया है कि अ०माग० की सामान्यक्रिया के अन्त में -त्तए = -तवे आता है (§ ५७८) जो यह फिर से प्रकट हो गया है । इस रूप का कृदन्त के समासिसूचक चिह्न -त्ता = -त्वा के आधार पर स्पष्टीकरण होना कठिन है । इससे अधिक उचित तो यह जान पड़ता है कि इन पर उन शब्दो का प्रभाव पड़ा हो जिनमें ध्वनिपरिवर्तन के नियमो के अनुसार द्वित्त आया है जैसे, कट्टु और साहट्टु अथवा इनमें ध्वनिबल का स्थान इधर से उधर खिसक गया हो । § ५७८ की तुलना कीजिए ।

१. वेबर, भगवती १, ४३३ और उसके बाद ।

§ ५७८—अ०माग० मे सामान्यक्रिया का सब से अधिक काम मे आनेवाला रूप वह है जो -त्तए अथवा -इत्तए में समाप्त होता है । सामान्यक्रियाएं जैसे पायए (आयार० २, १, १, २ ; २, १, ९, १ और २ ; २, १, १०, ७ ; २, २, २, १ ; २, ६, १, १० ; २, ७, २, ४ ; ५ और ६ ; नायाध० § १४४ ; ओव० § ९६) = वैदिक पातवे है, इसके साथ साथ पिवित्तए भी मिलता है (ओव० § ८० और ९८), भोत्तए (आयार० ; नायाध० ऊपर देखिए ; ओव० § ९६ ; सूय० ४३०) = वैदिक *भोक्तवे, इसके साथ साथ भुञ्जित्तए रूप भी आया है (ओव० § ८६), वत्थए (आयार० २, २, २, १० ; कप्प० एस. (S) § ६२) = वैदिक वस्तवे [अ०माग० में किन्तु यह वस् = 'रहने' से सम्बन्धित है] निश्चित रूप से प्रमाणित करते हैं कि इन्हें वेबर[1] के साथ कि ये अन्त मे -त्वाय लगकर बननेवाले वैदिक कृदन्त से निकले हैं कर के न मानना चाहिए, वरन् ए० म्युलर[2] के अनुसार इन्हे मानना चाहिए कि ये लेण बोली और पाली में मिलनेवाली वैदिक सामान्यक्रिया से निकले हैं जिसके अन्त में -तवे

आता है और जिसमें समाप्तिसूचक चिह्न वर्ग में इ- और ई- जोड़कर लगाया जाता है। ये रूप हैं अचितवे, चरितवे, स्रवितवे और हवीतवे[1]। तु का द्वित्वीकरण बताया है कि अन्तिम वर्ग में ध्वनिबल है (§ १९४)। इस कारण और भी शुद्ध यह होगा कि इस सामान्यक्रिया का मूल आधार -तवइ लिया जाय जिसपर वेद में दुगुना ध्वनिबल है। अ०माग० इत्तए (कप्प० एस. (S) § २७) इसलिए = वैदिक एत वई माना जाना चाहिए। इसी भाँति पायवे = पातवइ है, गमित्तए की तुलना में वैदिक गमितवई है, पिणिधत्तए की (ओव० § ७९) वैदिक दातवइ है। यह सामान्यक्रिया मुख्यतः वर्तमानकाल के वर्ग से बनायी जाती है होत्तए रूप मिलता है किन्तु इसके साथ साथ पाउब्भवित्तए भी आया है (विवाह०, नायाध०) जो भू से बने हैं, विहरित्तए देखा जाता है (भग०, उवास०, कप्प०, नायाध० आदि आदि), सुमरित्तए, सरित्तए आये हैं (आयार० पेज १३५, १७ और २०), तरित्तए है (आयार० १, २, ३, ६), उत्तरित्तए भी आया है (नायाध० १३२९, ओव० § ९६), परिव्वइत्तए पाया जाता है (उवास० § ९५), गच्छित्तए (ओव० § ७९), आगच्छित्तए (ठाणग० १५८) और उवागच्छित्तए रूप मिलते हैं और इनके साथ-साथ गमित्तए भी चलता है (आयार० १, २, ३, ६, भग०), चिट्ठित्तए पाया जाता है (विवाह० ५१३, कप्प०), इसके साथ साथ ठाइत्तए रूप भी आया है (आयार० २, ८, १ और उसके बाद, कप्प०), सद् धातु का नि के साथ निसीत्तए रूप मिलता है (विवाह० ५१३), अणुलिम्पित्तए है (ओव० § ७९), पुच्छित्तए काम में आया है (भग०, नायाध०), पासित्तए पाया जाता है (नायाध०), कहइत्तए का चलन है (आयार० पेज १३५, ६), दूतय- से दूइज्जित्तए बना है (कप्प०, ठाणग० ३६५), परिट्ठावित्तए आया है (कप्प०), अभिसिञ्चावित्तए मिलता है (निरया०), पूरइत्तए का प्रचार है (आयार० १, ३, २, २), आस्थापय- से आघवित्तए बना है (नायाध०), धारित्तए काम में आया है (आयार० १, ७, ७, १, २, ५, २, ५), धारेत्तए भी है (आयार० २, ५, २, ३), वसित्तए आया है (आयार० २, २, ३, १४ और १८), इसी के रूप आसइत्तए और सइत्तए पाये जाते हैं (विवाह० ५१३), पडिसुणेत्तए है (आयार० २, ५, २, १०), धुणित्तए (सूय० १३९) आया है, भंजित्तए (उवास०), भिन्दित्तए (विवाह० १२२८) मिलते हैं, वि के साथ कृ का रूप विउव्वित्तए बना है (भग०) तथा इसके साथ साथ करित्तए और करेत्तए रूप पाये जाते हैं (ओव० § ७९ और ८, नायाध०, भग०, कप्प०), गिण्हित्तए और गेण्हित्तए (भग०, निरया०, ओव० § ८६) तथा जागरित्तए मिलते हैं (कप्प०)।

1. भगवती १, ४३४, पन्नारत्ताए अशुद्ध पाठभेद है। — २ याकोबी, पेज ६१। — ३ डेलब्रुक, आल्ट इंडिशे वेर्बुम § २०३।

§ ५७९—हेमचन्द्र ४, ४४१ के अनुसार अप० की सामान्यक्रिया के समाप्तिसूचक चिह्न -अण, -अणहँ, -अणहिं और -एवँ हैं। क्रमदीश्वर ५,५५ में -एवि,

–एप्पि, –एप्पिणु, अणं, –अउं और एव्वउं बताता है। अन्त में –अन वाली संज्ञा की तुलना कीजिए जिनके अन्त में –अणहँ लगने से उसका रूप संबंध बहु० का बन जाता है, –अणहिँ लगने से अधिकरण एक० हो जाता है अथवा करण बहु० बन जाता है। इस प्रकार : चॅन्छण = एष्टुम् है जो इष् से बना है (= चाहना : हेच० ४, ३५३); करण = फर्तुम् है (हेच० ४, ४४१, १); यह –क प्रत्यय के साथ भी आया है जो अक्खाणउँ = आख्यातुम् में पाया जाता है, यह वास्तव में = आख्यानकम् है (हेच० ४, ३५०, १); भुञ्जणहँ और भुञ्जणहिँ भी मिलते हैं (हेच० ४, ४४१, १) तथा लुहणं भी पाया जाता है (क्रम० ५, ५५)। देवं = दातुम् में समाप्तिसूचक चिह्न –एवं देखा जाता है (हेच० ४, ४४१, १)। यह रूप स्पष्ट ही वर्तमानकाल के वर्ग दे– = दय– (§ ४७४) तथा निकाले गये समाप्तिसूचक चिह्न –व से बनाया गया है। यह –वं –वन से आया है जो वैदिक वने से सम्बन्धित है, जिससे यह अप० का देवं वैदिक दावने का समरूपी हो सकता है। इन उदाहरणों के विषय में निश्चित निदान तभी निकाला जा सकता है जब अधिक उदाहरण प्राप्त हो सकें। –तु वाली एक सामान्यक्रिया भञ्जिउ है (हेच० ४, ३९५, ५), जो भञ्ज् के कर्मवाच्य के वर्ग से कर्तृवाच्य के अर्थ में बनाया गया है। यह अप० में अन्यत्र भी पाया जाता है (§ ५५०)। यदि हम पूना की एक हस्तलिपि के अनुसार भंजिउ = भञ्जिउ पाठ उचित न समझें तो। सामान्यक्रिया का यह रूप कृदन्त के अर्थ में भी काम में लाया जाता है (हेच० ४, ४३९) जैसा कि इसके ठीक विपरीत कृदन्त के कई रूप सामान्यक्रिया के स्थान में काम में लाये जाते हैं (§ ५८८)। क्रमदीश्वर ने ५, ५५ में लहउं (पाठ में लहतुं है) भी दिया है।

§ ५८०—प्राकृत में कर्मवाच्य की एक अपनी अलग सामान्यक्रिया है[1] : महा० में दीसइ = दृश्यते से दीसिउं रूप बनाया गया है (रावण० ४, ५१, ८, २०), घेप्पइ = *घृप्यते से घेप्पिउं निकला है (रावण० ७, ७१), हन् धातु के रूप हम्मइ से आहम्मिउं बनाया गया है (§ ५४०, रावण० १२, ४५), जै०महा० में दिज्जइ = दीयते से दिज्जिउं निकला है (एर्त्से० ६, ७)। इनके साथ अ०माग० रूप मरिज्जिउं भी रखा जाना चाहिए जो म्रियते से निकला है (दस० ६२४, ४०), साथ ही साधारण व्यवहार का रूप मरिउं भी चलता है, शौर० में मरिदुं है (§ ५७५)। अप० रूप भंजिउ के विषय में § ५७९ देखिए।

1. एस० गौल्दश्मित्त, त्सा० डे० डौ० मौ० गे० २८, ४९१ और उसके बाद के पेज।

कृदन्त (–त्वा और –य वाले रूप)

§ ५८१—संस्कृत में –त्वा और –य अन्त में आने पर कृदन्त के प्रयोग में जो भेद माना जाता है वह प्राकृत में नहीं मिलता। ये प्रत्यय क्रियाओं में समान रूप से जोड़ दिये जाते हैं, भले ही उनमें उपसर्ग लगा हो अथवा वे बिना किसी उपसर्ग के हों। महा० में –त्वा का प्रयोग किसी दशा में नहीं किया जाता और शौर०, माग०

तथा ढक्की में दोनों प्रकार के कृदन्त कृ धातु के **कदुअ** और **गम्** के **गदुअ** रूपों तक ही सीमित है, वररुचि० १२, १० ; क्रमदीश्वर ५, ७४ और ७५ ; मार्कण्डेय पन्ना ६८ के अनुसार इन रूपों का व्यवहार शौर० में नित्य ही किया जाना चाहिए और इस विधान के साथ सब ग्रन्थ मिलते हैं। इस प्रकार : शौर० रूप **कदुअ** है (मृच्छ० ७२, ६ ; ७४, ६ और ९ ; ७७, २५ ; ७८, ९ ; ९५, ८ ; शकु० २०, ६ ; ३३, ३ ; ५४, २ , ७७, १३ ; १४०, ६ ; विक्र० १५, ८ ; ४४, १० ; ४५, २० ; ५२, ११ और २१ ; ८४, २ आदि-आदि) , शौर० में **गदुअ** मिलता है (मृच्छ० २, १७ ; ५१, ४ ; ५३, १५ ; ७४, २४ आदि आदि ; शकु० २३, ७, ; विक्र० १६, १८ ; ३०, ३) । हेमचन्द्र ४, २७२ और सिंहराजगणिन् पन्ना ६१ में शौर० में **करिअ** तथा **करिदूण**, **गच्छिअ** और **गच्छिदूण** काम में लाने की अनुमति देते हैं जिनमें से **करिअ** और **गच्छिअ** निकृष्ट हस्तलिपियों और पाठों में मिलते हैं तथा **करिदूण** जै०शौर० रूप ज्ञात होता है (§ २१) । **करिअ** और **गच्छिअ** का व्यवहार सन्धि में शुद्ध माना जाता है अथवा नहीं, यह सन्देहात्मक है : **आअच्छिअ** आया है (रत्ना० ३०८, ३०) ; **आगच्छिअ** मिलता है (वेणी० ३५, २१) ; **समागच्छिअ** पाया जाता है (मुद्रा० ४४, ५) ; **अलंकरिअ** भी आया है (मृच्छ० १५०, १३) । इनके अतिरिक्त **आअदुअ** भी देखा जाता है (चैतन्य० १२८, १३ ; मल्लिका० २२५, १) ; **आगदुअ** आया है (मल्लिका० १५३, २४ ; १७७, २१) ; **णिगदुअ** मिलता है (मल्लिका० २१५, ५ ; २२६, १० ; २२९, १५ और २०) । ये रूप बाद के तथा निकृष्ट पाठों में पाये जाते हैं । उक्त दोनों रूप माग० के भी अपने हैं । **कदुअ** लीजिए (मृच्छ० १९, ६ ; ८१, १३ , १०८, १७ ; ११५, २ आदि आदि ; शकु० १३३, ७ ; मुद्रा० १९३, ८ आदि आदि) , माग० में **गदुअ** भी मिलता है (मृच्छ० ४०, १० [गौडबोले के संस्करण के अनुसार यही पढ़ा जाना चाहिए] ; ४३, १२ ; ११८, २२ ; १३६ ; २१ , १६४, १० ; शकु० ११६, ९ आदि-आदि) । इसी भाँति ढक्की में भी है (मृच्छ० ३६, २२) । मृच्छकटिक १३२, २५ में माग० रूप **गच्छिअ** दिया गया है, इसके स्थान में अन्ततः इसी नाटक में आया हुआ दूसरा रूप **गश्चिअ** पढ़ा जाना चाहिए ; १२७, ५ में सब हस्तलिपियों में **गडिअ** मिलता है । यह रूप = -गत्य रखा जाना चाहिए । हेमचन्द्र की हस्तलिपियों में भी ४, २७२ और ३०२ में मूर्धन्यीकरण की अनुमति पायी जाती है [हेमचन्द्र ४, २७२ इस प्रकार है : कृ-गमो **डडुअः** ॥ २७२ ॥ इसकी व्याख्या यह है : **आभ्यांपरस्य क्त्वाप्रत्ययस्य डित् अडुअ इत्यादेशो वा भवति** ॥ कडुअ । गडुअ । ··· । [यही सूत्र और उदाहरण ४, ३०२ में माग० के सम्बन्ध में भी उद्धृत किये गये हैं । —अनु०] । इनके अनुसार कडुअ और गडुअ रखे जाने चाहिए क्योंकि त्रिविक्रम और सिंहराजगणिन् **कदुअ** और **गदुअ** रूप सिखाते हैं, इसलिए हेमचन्द्र में हस्तलिपि की भूल मालूम पड़ती है । [भण्डारकर इन्स्टिट्यूट की पी० हस्तलिपि में **अडुअ** के स्थान में **अदुअ** आया है और **कडुअ** के स्थान में **कदुअ** दिया गया है । **गडुअ** के स्थान में भी **गदुअ** पाया जाता है । —अनु०] । ये रूप ***कृदुवा** और ***गदुवा** से व्युत्पन्न हैं जिनमें अंश-स्वर

और अन्तिम स्वर् आ निकल हो गया है (§ ११३ और १३९)। फाऊण, आअच्छिऊण, आगन्तूण तथा इनके समान अन्य रूपों के विषय में § ५८४ देखिए।

१. पिशल, कू० त्साइ० ८, १४०। — २. पिशल, उक्त पत्रिका। मालविकाग्निमित्र ६७, १५ की इ हस्तलिपि में शुद्ध रूप गदुअ दिया गया है।

§ ५८२— –त्वा प्रत्यय जो प्राकृत में –त्ता रूप ग्रहण कर लेता है और अनुस्वार के अनन्तर –ता बन जाता है अ०माग० में कृदन्त का सबसे अधिक काम में आनेवाला रूप है; जै०शौर० में भी इसका बार-बार व्यवहार किया जाता है और जै०महा० में यह विरल नहीं है[१]। साधारणतः समाप्तिसूचक चिह्न वर्तमानकाल के वर्ग में लगाया जाता है; फुटकर बातों में वही सब बातें इसके लिए भी लागू हैं जो सामान्यक्रिया के विषय में कही गयी हैं। इस प्रकार : अ०माग० में **वन्दित्ता** आया है (हेच० २, १४६; ओव० § २०; नायाध०; उवास०; भग० आदि आदि); **वसित्ता** है (आयार० १, ४, ४, २); **चइत्ता** = *त्यजित्वा है (आयार० १, ४, ४, १; १, ६, २, १; ओव० § २३; उत्तर० ४५०; ५१७; ५४१); **अवक्कमित्ता** (आयार० २, १, १, २) पाया जाता है; **गन्ता** = पाली गन्त्वा है (ओव० § १५३) किन्तु इसके साथ साथ **आगमेत्ता** रूप आया है (आयार० १, ५, १, १; १, ७, २, ३), **अणुगच्छित्ता** (कप्प०), **उवागच्छित्ता** (विवाह० २३६[२]; ओव०; कप्प०; निरया०), **निग्गच्छित्ता**, **पडिनिग्गच्छित्ता** रूप पाये जाते हैं (निरया०); **वन्ता** = **वान्त्वा** है (आयार० १, ३, १, ४, १, ६, ५, ५; २, ४, २, १९; सूय० ३२१); **भवित्ता** आया है (विवाह० ८४४; ओव०; कप्प०; उवास० आदि आदि); **जिणित्ता** है (सूय० ९२९); **उवणेॅत्ता** = *उपनीत्वा है (सूय० ८९६); **पिवित्ता** है (आयार० २, १, ३, १); **उट्ठित्ता** (निरया०), **अब्भुट्ठित्ता** (कप्प०), **पासित्ता** (राय० २१, सूय० ७३४; ओव० § ५४; पेज ५९, १५, उवास०; नायाध०, निरया०, कप्प०) मिलते हैं, **निज्झाइत्ता** = *निध्यात्वा है (आयार० १, १, ६, २); **मुयित्ता** (विवाह० ५०८), **ओमुयित्ता** (कप्प०) **मुच्** से बने हैं, **प्रच्छ्** से सम्बन्धित **आपुच्छित्ता** (उवास०) और **अणापुच्छित्ता** आये हैं (कप्प०), **लुम्पित्ता**, **विलुम्पित्ता**[३] (आयार० १, २, १, ३; १, २, ५, ६; सूय० ६७६ और ७१६ तथा उसके बाद के § की तुलना कीजिए) मिलते हैं, **अणुलिम्पित्ता** भी है (जीवा० ६१०); **मत्ता** = **मत्वा** है (आयार० १, १, ५, १, १, ३, १, ३, सूय० ४०३ और ४९३ [सर्वत्र यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]), **उत्तासइत्ता** = *उत्त्रासयित्वा है (आयार० १, २, १, ३); **विच्छड्डइत्ता**, **विगोवइत्ता** और **जणइत्ता** आये हैं (ओव०); **आमन्तेॅत्ता** पाया जाता है (सूय० ५७८), **आफालित्ता** = *आस्फालयित्वा है (सूय० ७२८); **पगप्पइॅत्ता** = *प्रकल्पयित्वा है (सूय० ९३५); **ठवेॅत्ता** = **स्थापयित्वा** है (आयार० २, ७, १, ५; पेज १२०, १६; उवास०); **सिक्खावेॅत्ता** और **सेहावेॅत्ता** = *शिक्षापयित्वा तथा *दीक्षापयित्वा है; **सद्दावित्ता** = *शब्दापयित्वा है (कप्प०; निरया०); **अणुपालित्ता** और **निवेसित्ता** मिलते हैं

(कप्प०) ; अहित्ता = *अधीत्वा = अधीत्य है (सूय० ४६३) ; विदित्ता आया है (आयार० १, १, ५, १ ; १, २, ६, २) ; स्तु का संथुणित्ता रूप मिलता है (जीवा० ६१२) ; हन्ता है (आयार० १, २, १, ३ ; ५, ६ ; सूय० ३५८ ; ६७६ ; ७१६ और उसके बाद के § ; कप्प०) ; परिहित्ता आया है (सूय० २३९), परिपिहें त्ता (आयार० २, २, ३, २७), परिपिहित्ता (कप्प०) और पडिपिहित्ता (सूय० ७२८ ; पाठ में पडिपेहित्ता है) परि उपसर्ग के साथ धा के रूप हैं और परि, प्रति + पी के ; जहित्ता चलता है (उत्तर० ७५३) ; विप्पजहित्ता भी है (आयार० पेज १२५, १ ; उत्तर० ८८१), ये दोनों हा से बने हैं ; हु का रूप हुणित्ता है (विवाह० ९१०), आप् का प्र उपसर्ग के साथ पउणित्ता रूप आया है (सूय० ७७१ ; विवाह० १३५ ; २३५ ; ९६८ ; ९६९ ; पण्णव० ८४६ ; नायाध० १२२५ ; ओव० , कप्प० ; उवास० आदि आदि) ; सुणित्ता (उवास०) और पडिसुणित्ता पाये जाते हैं (कप्प० ; निरया०) ; अविधूणित्ता है (सूय० ८५९) ; छें त्ता और भें त्ता मिलते हैं (आयार० १, २, १, ३ ; १, २, ५, ६ ; सूय० ६७६ और ७१६ तथा उसके बाद के §) ; विउव्वित्ता है (भग० ; कप्प०), इसके साथ साथ करें त्ता और करित्ता आये हैं (आयार० २, १५, ५ ; ओव० ; कप्प० ; निरया०) ; ज्ञा से जाणित्ता (आयार० १, ३, १, १ ; ३, १ ; ४, २ ; १, ६, ५, २ ; दस० ६३०, ४०), अपरियाणित्ता (ठाणंग० ४२) और वियाणित्ता रूप पाये जाते हैं (दस०नि० ६३५, १४ ; ओव० ; कप्प०) ; क्री से किणित्ता बना है (सूय० ६०९) ; अभिगिण्हित्ता (आयार० २, १५, २४), ओगिण्हित्ता (ओव०) तथा पगिण्हित्ता (नायाध०) ग्रह् के रूप है । जै०महा० में नीचे दिये उदाहरण देखने में आते हैं : गत्ता (आव०एर्त्से० ४२, ७) और चडित्ता आये हैं (आव०एर्त्से० २९, १), करिसित्ता = कृष्ट्वा है (आव०एर्त्से० २८, २) ; लंघित्ता आया है (एर्त्से०) , वन्दित्ता (कालका० , एर्त्से०), मेलित्ता (कालका०), उट्ठेत्ता (आव०एर्त्से० १०, ४१), ण्हाइत्ता (आव०एर्त्से० ३८, २) और उरत्ता रित्वा पाये जाते हैं, उल्लेत्ता = आर्द्रयित्वा है , ठवित्ता, भुञ्जावित्ता, मारें त्ता, वेढेत्ता (एर्त्से०) और पडिग्गाहेत्ता मिलते हैं , पायेंत्ता = पायित्वा है, वाहित्ता भी है (आव०एर्त्से० ९, ३ ; ३०, ९ , ३८, ६), विन्तवित्ता आया है (कालका०), नेवच्छें त्ता = *नेपथ्ययित्वा है (आव०एर्त्से० २६, २७) , आहणित्ता पाया जाता है (आव०एर्त्से० २९, ५) , पच्चक्खाइत्ता = *प्रत्याख्यायित्वा है (एर्त्से०), सुणेत्ता (आव०एर्त्से० ७, ३३ , एर्त्से०), भुञ्जित्ता (एर्त्से०), जाणित्ता (कालका०) और गिण्हित्ता रूप पाये जाते हैं (सगर २, १७ , कालका०) । — हेमचन्द्र ४, २७१ के अनुसार शौर० में अन्त में –त्ता लगकर बननेवाले रूप भी चल सकते हैं जैसे, भो त्ता = भुक्त्वा , हो त्ता = भूत्वा, पढित्ता = पठित्वा और रन्ता = रन्त्वा हैं । साधारण शौर० के लिए ये रूप एकदम नये हैं । इसके विपरीत जै० शौर० में इनका बहुत अधिक प्रचार है ; हेमचन्द्र का नियम जै०शौर० के लिए ही बनाया गया होगा (§ २१) । इस प्रकार : चत्ता = त्यक्त्वा है (पव० ३८५,

६४ ; कत्तिगे० ४०३, ३७४) ; णमंसित्ता = नमस्यित्वा है (पव० ३८६, ६) ; आलोचित्ता = *आलोचयित्वा है (पव० ३८६, ११) ; निरुम्भित्ता = निरुध्य (पव० ३८६, ७०) है ; णिहणित्ता = निहत्य है (कत्तिगे० ४०१, ३३९) ; जाणित्वा = ज्ञात्वा है (पव० ३८५, ६८ ; कत्तिगे० ४०१, ३४० ; ३४२ ; ३५०) ; वियाणित्वा = विज्ञाय है (पव० ३८७, २१) और बन्धित्ता = बद्ध्वा है (कत्तिगे० ४०२, ३५५)। अ०माग० रूप दिस्सा, दिस्सं और दिस्स = दृष्ट्वा तथा पदिस्सा = *प्रदृष्ट्वा के विषय में § ३३४ देखिए।

१. याकोबी का यह कथन (कुर्स० § ६१) कि यह कृदन्त जै०महा० में बहुत कम काम में आता है, भ्रामक है। महाराष्ट्री एर्सेलुंगन के कुछ रूप ऐसे स्थलों में आये हैं जो अ०माग० में लिये गये हैं ; किन्तु इनको छोड कर भी अन्य रूप यथेष्ट रह जाते हैं, जैसा कि ऊपर दी गयी सूची से प्रमाणित होता है और उक्त सूची अनायास बढ़ायी जा सकती है। — २. हस्तलिपियाँ बहुत अधिक बार वर्तमानकाल की क्रिया के बाद केवल २ त्ता लिख कर कृदन्त का रूप बताती है (वेबर, भग० १, ३८३)। इसलिए इनमें उवागच्छन्ति २ त्ता उवागच्छित्ता पढ़ा जाना चाहिए। विवाहपन्नति के सम्पादक ने यह न समझने के कारण उवागच्छन्तित्ता, निगच्छन्तित्ता, वद्धन्तित्ता, एडन्तित्ता (२३६), संपेहेइत्ता (१५२), पासइत्ता (१५६), दुरुहेइत्ता (१७२), इतना ही नहीं, विप्पजहामि के अनंतर २ त्ता आने पर विप्पजहामित्ता दिया है (१२३१ ; १२४२ और उसके बाद), अणुप्पविसामि १२४२ और उसके बाद २ त्ता आने पर उसने अणुप्पविसामित्ता कर दिया है आदि-आदि। इसी भाँति पाउणत्तित्ता आया है (सूय० ७७१)। ऐसे रूप इस व्याकरण में चुपचाप सुधार दिये गये हैं। — ३. इन तथा इन्हीं प्रकार के अन्य रूपों में टीकाकार बहुधा अकर्मक कर्ता देखते हैं जिनके अन्त में संस्कृत में तृ लगाया जाता है, ये आयारंगसुत्त और सूयगडंगसुत्त में पाये जाते हैं। कई अवसरों पर शंका होने लगती है कि संभवत टीकाकार ठीक हों, किन्तु ऐसा मानने में ध्वनि का रूप कठिनाइयाँ उपस्थित कर देता है। — ४. हेमचन्द्र ४, २७१ पर पिशल की टीका।

§ ५८३—अन्त में -त्ता लगकर बननेवाले कृदन्त को छोड अ०माग० में कृदन्त का एक और रूप पाया जाता है जिसके अन्त में -त्ताणं लगता है, इससे सूचना मिलती है कि यह रूप वैदिक *त्वानम्[1] से निकला है : भवित्ताणं (नायाध० ; भग०), पाउब्भवित्ताणं (उवास०) आये हैं ; वसित्ताणं मिलता है (कप्प० § २२७) ; अणुपरियट्टित्ताणं = *अनुपरिवर्तित्वानम् है (ओव० § १३६ ; भग०); अभिनिवट्टित्ताणं है (सूय० ५९३ और उसके बाद) ; दुरुहित्ताणं चलता है (ओव० § ७९, दो और तीन), चइत्ताणं = *त्यजित्वानम् है (ओव० § १६९ ; उत्तर० १२ ; २१७ ; २९४ ; ५३९ ; ५७६) ; पश्य- का रूप पासित्ताणम् मिलता है (विवाह० ९४२ ; १३२२ ; निरया० § ७ ; नायाध० § २२ ; २३ , २४ ; ४४ ; ४६;

और उसके बाद ; कप्प० § ३ ; ५ ; ६ ; ३१ ; ३२ ; ४७ ; ७० ; ७४ और उसके बाद ; ८७ ; पेज ९६ ; नदी० १६९) ; चिट्ठित्ताणं आया है जो पद्य में छंद की मात्राएं मिटाने के लिए चिट्ठित्ताणं के स्थान में आया है (दस० ६२२, २८) ; आपुच्छित्ताणं मिलता है (कप्प० एस § ४८) ; स्पृश् का रूप फुसित्ताणं पाया जाता है (ओव० § १३१ और १४० ; भग०), संपज्जित्ताणं (भग०), उवसंपज्जित्ताणं (कप्प० एस. § ५० ; ओव० § ३०, छ ; भग० ; उवास०) आये हैं ; झूसित्ताणं (ठाणग० ५६), पडिवज्जित्ताणं (आयार० २, १, ११, ११), आयामेत्ताणं (सूय० ६८१) और विद्दित्ताणं रूप मिलते हैं (आयार० १, ७, ८, २) ; संपिहित्ताणं = *संपिधित्वानम् = संपिधाय है (सम० ८१ ; पाठ में संपहित्ताणं है) ; संविधुणित्ताणं (ओव० § २३) ; फरेत्ताणं (दस० ६१४, २७), ओगिण्हित्ताणं (कप्प० एस. § ९ ; उवास०), पगिण्हित्ताणं और संगिण्हित्ताणं (नायाध०) रूप पाये जाते हैं । जै०महा० रूप चइत्ताणं आया है (कालका० २७२, ११) । यह रूप पद्य में एक अ०माग० उद्धरण में मिलता है ।

१. यूरोपियन व्याकरणकारों द्वारा चलाया गया रूप पीत्वानम् (बेनफे, फौलस्टैण्डिगेस ग्रामाटीक इत्यादि § ९१४, चार, ३ ; वेबर, भगवती १, ४२३ ; ह्विटनी १ § ९९३, का आधार, जैसा कि वाकरनागल ने आल्ट इंडिशे ग्रामाटीक के भूमिका के पेज २४, नोटसंख्या ३ में बताया है पाणिनि ७, १, ४८ में कलकत्तिया संस्करण के टीकाकार की छापने में अशुद्धि रह जाना है । काशिका में इसका शुद्ध रूप पीत्वीनम् दिया गया है । णं शब्द के अन्त में लगाया हुआ नहीं है जैसा कि वेबर ने हाल १ पेज ६६ और उसके बाद के पेज में दिया है, इस विषय पर आज कुछ लिखना व्यर्थ है । याकोबी तथा कुछ अंश में लौयमान द्वारा सम्पादित अ०माग० पाठों में शब्द से अलग छापा गया णं सर्वत्र ही पहले आनेवाले कृदन्त के साथ ही जोड़ा जाना चाहिए । यह तथ्य स्टीवनसन ने कल्पसूत्र पेज १४३ में पहले ही ताड़ लिया था ।

§ ५८४— -त्ताणं के स्थान में भारतीय व्याकरणकार -तुआणं भी देते हैं जो *तुयाणं = *त्वानम् से निकला है (§ १३९), अनुनासिक लुप्त होने पर इसका रूप तुआण हो जाता है : आउआणं मिलता है (हेच० १, २७) ; हसेउआणं, हसिउआणं और घेत्तुआणं रूप आये हैं (सिंहराज० पन्ना ५८ और ५९) ; काउआण भी है (हेच० १, २७ , सिंहराज० पन्ना ५९) । सोउआण और भेत्तुआण मिलते हैं (हेच० २, १४६) , हसेउआण, हसिउआण, वोत्तुआण, मोत्तुआण, रोत्तुआण, भोत्तुआण तथा दट्ठुआण पाये जाते हैं (सिंहराज० पन्ना ५८ और ५९) ; घेत्तुआण आया है (हेच० ४, २१० ; सिंहराज० पन्ना ५९) । किन्तु उक्त रूपों के उदाहरण और कोई प्रमाण नहीं मिलते । इसके विपरीत एक प्रत्यय जिसके रूप -तूणं, -ऊणं और विशेषकर तूण और ऊण, जै०शौर० में -दूण जो स्वयं शौर० में भी वर्तमान है पै० में -तून महा०, जै०महा०, जै०शौर० तथा पै० में साधारणतः सब से अधिक व्यवहार में आनेवाला कृदन्त बनाते हैं, अ०माग० में भी विशेषतः पद्य में

यह देखा जाता है (§ ५८५ और ५८६)। हेमचन्द्र ४, २७१ और २७२ के अनुसार –दूण शौर० में भी वर्तमान होना चाहिए ; उसने इसके निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं : **भोदूण, होदूण, पढिदूण, रन्दूण, करिदूण** और **गच्छिदूण**। किन्तु वास्तव में अनेक नाटकों में शौर० तथा माग० रूप अन्त में –तूण और –ऊण लग कर बने पाये जाते हैं (–दूण वाले विरल ही मिलते हैं, –ऊण की भी यही आशा करनी चाहिए)। इस प्रकार शौर० में **आअच्छिऊण, पेक्खिऊण, कारिऊण** मिलते हैं (ललित० ५६१, १ ; २ और ५), **काऊण** (विक्र० ४१, ११ ; ८४, ८ ; मालती० २३६, २ [पाठ में **काउण** है] ; मद्रासी संस्करण में **कादूण** है), **आगन्तूण** (मालती० ३६३, ७ , पाठ में **आगअन्तूण** है ; मद्रासी संस्करण में **आगन्दूण** है), **घे॑त्तूण** (कर्पूर० ७, ६ ; मल्लिका० ५७, १९ ; १५९, ९ [पाठ में **घक्कूण** है]; १७७, २१ ; १९१, १६ [पाठ में **घे॑क्कूण** है]; २१९, १३ [पाठ में **घक्कूण** है]; २२९, ८ [पाठ में **घे॑क्कूण** है]) और **घेऊण** (मालती० १४९, ४) ; इस नाटक में अन्यत्र **घेत्तूण** भी आया है ; मद्रासी संस्करण में **घत्तूण** है), **दट्ठूण** (चैतन्य० ३८, ७), **दाऊण** (जीवा० १८, २) आदि आदि रूप मिलते हैं ; माग० में **पविशिऊण** पाया जाता है (ललित० ५६६, ७)। बहुत से नाटकों के भारतीय संस्करणों में जैसे चैतन्यचन्द्रोदय, मल्लिकामारुतम्, कालेयकुतूहलम् और जीवानद में पग पग पर इस प्रकार के रूप मिलते हैं। पद्य में ये शुद्ध हैं जैसे, माग० में **घे॑त्तूण** (मृच्छ० २२, ८) और निश्चय ही आव० और दाक्षि० में **भेत्तूण** भी ठीक है (मृच्छ० ९९, १७ ; १००, ५) तथा दाक्षि० में **हन्तूण** (मृच्छ० १०५, २२ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए)। अन्यथा ये रूप सर्वोत्तम पाठों और हस्तलिपियों के प्रमाणानुसार शौर० और माग० में अशुद्ध हैं। मालतीमाधव २३६, २ बी. (B) हस्तलिपि में भी **कदुअ** रूप शुद्ध है। सोमदेव और राजशेखर बोलियों की मिलावट करके उनमें गड़बड़ी पैदा कर देते हैं (§ ११ और २२)। अन्त में –दूण लगकर बननेवाला कृदन्त जै०शौर० में है : **कादूण, णेदूण, जाइदूण, गमिदूण, गहिदूण** और **भुञ्जाविदूण** रूप पाये जाते हैं जिनके स्थान में पाठों में बहुधा अशुद्ध रूप –दूण के लिए –ऊण वाले रूप दिये गये हैं (§ २१)। इस सम्बन्ध में भी हेमचन्द्र ने जो कुछ कहा है वह शौर० के बदले जै०शौर० के लिए लागू है।

§ ५८५—समाप्तिसूचक चिह्न **तूणं** और –**ऊणं** उदाहरणार्थ पल्लवदानपत्र में भी पाया जाता है। उसमें **कातूणं** = ***कर्त्वानम्** (६, १० और २९) = अ०माग० और जै०महा० रूप **काऊणं** है (दस०नि० ६४५, २५ , आव०एत्सें० ९, १८ , २७, १८ ; ३१, १४ और १५ , एत्सें० ७२, ४ , ७८, ३)। इसके साथ साथ जै०महा० में **चिउव्विऊणं** भी आया है (आव०एत्सें० ३१, १३) ; पल्लवदानपत्र में **नातूणं** = ***ज्ञात्वानम्** है (६, ३९) = अ०माग० और जै०महा० रूप **नाउणं** है (ओव० § २३ ; एत्सें० ८५, १२) , महा० में **उच्चारिऊणं** आया है (गउड० २६०), **रो॑त्तूणं** (हाल ८६९) और **घे॑त्तूणं** रूप भी पाये जाते हैं (विज्जालग्ग ३२४, २५) ; अ०माग० में **उवउञ्जिऊणं, होऊणं** (विवाह० ५५० और १२८१), **नमिऊणं, पच्च-**

घेऊणं (दस०नि० ६४३, ३३ और ३५), **बन्धिऊणं** (सूय० २७४ ; २९२) रूप मिलते हैं ; जै०महा० में **गन्तूणं** (एर्त्से० ६९, २४ ; ७५, ३१ ; ७६, १० ; ७७, ३२ ; ७८, ९ और ११ ; द्वार० ५०६, १६) है ; **भरेऊणं** (आव०एर्त्से० ९, १३), **होऊणं** (एर्त्से० ७७, १४), **पट्ठविऊणं** और **दाऊणं** (एर्त्से० ६९, ३०), **दट्ठूणं** (आव०एर्त्से० ९, ११ ; १३, ३ ; २५, १७ और ३९ ; एर्त्से० ७९, ६ और २१ ; ८२, १८), **परिभमिऊणं** (एर्त्से० ७४, ३४), **जम्पिऊणं** है और **पयम्पिऊणं** = *प्रजल्पित्वानम् है (एर्त्से० ८३, २ ; ७९, १५ ; ८५, २८), **विहेऊणं** = *विधयित्वानम् = विधाय है (कालका० २६७, १६), **निसुणिऊणं** (एर्त्से० ७७, १८) आया है । इनके साथ साथ **सोऊणं** (कालका० २६०, १७), **छिन्दिऊणं** (आव०एर्त्से० ३७, ४०) और **भुञ्जिऊणं** चलते हैं (द्वार० ५००, ३६) । **–ऊणं** वाला रूप जो प्राचीनतर माना जाना चाहिए, कभी कभी **–ऊण** के एकदम पास में देखा जाता है और पद्य में **च** से पहले आता है जैसे, जै०महा० में **मणिऊण आपुच्छिऊण** '' **गन्तूणं च** (द्वार० ४९६, १८), **भञ्जिऊणं च** '' **गिण्हिऊण** (द्वार० ५००, २९) आये हैं । पद्य में छन्द की मात्राएं ठीक करने के लिए जै०महा० में **निमन्तिऊणं गन्तूण** (एर्त्से० ८०, २३) और **पेच्छिऊण कुरुरोहसिऊणं** मिलते हैं (एर्त्से० ८२, ८) । सामान्यक्रिया के अर्थ में **मद्दिऊणं** = *म्रदित्वानम् (आव०एर्त्से० १२, ८) आया है, गद्य में ११, २ में इसके स्थान में **मद्दिउं** = **मर्दितुम्** है ।

§ ५८६—अन्त में **–ऊण** लगकर बननेवाला कृदन्त का रूप ही महा० और जै०महा० में सबसे अधिक चलता है । यह अ०माग० में भी पाया जाता है और जै० शौर० में भी जिसमें इसकी ध्वनि **–दूण** हो जाती है (§ ५८४) । इसके लिए वही नियम चलते हैं जो सामान्यक्रिया के हैं । इस नियम से महा० में **जेऊण** मिलता है (हेच० ४, २४१ ; गउड० ११९७ ; रावण० ८, ७४), इसके साथ साथ जै०महा० में **जिणिऊण** आया है (हेच० ४, २४१ , एर्त्से० २२, १६), **णिज्जिणिऊण** भी है (एर्त्से० ८२, १३) , महा० और जै०महा० में **होऊण** है (गउड० , हाल ; एर्त्से० , द्वार० ४९५, ३०), हेमचन्द्र ४, २४० के अनुसार **होअऊण** भी होता है ; अ०माग० और जै०महा० में **चइऊण** = *त्यजित्वान है (उत्तर० ३० ; २७७ ; ३०३ ; ५५२ , एर्त्से०), **हसेऊण** आया है (हेच० ३, १५७ , क्रम० ४, ३९) । इसके साथ साथ महा० और जै०महा० में **हासिऊण** भी पाया जाता है (क्रम० ४, ३९ ; हाल ; रावण० ; सरस्वती० १३५, १२ , एर्त्से०), महा० में **विहसिऊण** भी है (गउड०) , महा०, जै०महा० और अ०माग० में **गन्तूण** चलता है (गउड० ; रावण० , एर्त्से० , आव०एर्त्से० १९, ३ , जीव० § १६८ और १६९) ; महा०, अ०माग० और जै०महा० में **दट्ठूण** (हेच० ४, २१३ , गउड० ; हाल ; रावण० ; कर्पूर० ७४, ७ ; आयार० २, ३, १, ६ , आव०एर्त्से० २४, ११ ; द्वार० ४९८, २४ , एर्त्से० , कालका०) देखा जाता है , अ०माग० में **वज्जिऊण** है (पण्णव० १०४) ; महा० और जै०महा० में **पा** धातु का रूप **पाऊण** आया है (= पीना :

गउड० ; मुद्रा० ८३, २ ; द्वार० ४९६, २८) ; महा० में चोटूण पाया जाता है (रावण०) ; अ०माग० और जै०महा० में चन्दिऊण मिलता है (कप्प० टी. एच. (T. H.) १३, ९ ; सगर २, ८ ; ११, १२ ; कालका०) ; अ०माग० में लद्धूण = *लब्ध्वान है (सूय० ८४६ और ८४८) ; जै०महा० में आपुच्छिऊण आया है (एत्सें० ; द्वार० ४९६, १८) ; महा० और जै०महा० में मो`त्तूण = *मुक्त्वान है (हेच० ४, २१२ और २३७ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; विद्ध० ११, ८ ; एत्सें० ; कालका० ; द्वार० ४९७, १८ ; ४९८, ३८ ; सगर ७, १३) ; जै०महा० में मरिऊण है (सगर ११, ७ और ९) ; अ०माग० में विद्धूण = विद्ध्वान है (सूय० ९२८) ; महा० में पडिवज्जिऊण = *प्रतिपाद्यित्वान = प्रतिपद्य है (हाल) ; महा० में उद्वेऊण (गउड०) : अवहत्थिऊण, पव्वालिऊण, आफालिऊण (हाल) रूप मिलते हैं, उअऊहेऊण = उपगूह्य है तथा णिअमेऊण = नियम्य है (रावण०) ; जै०महा० में सम्माणिऊण (एत्सें०), ढक्केऊण (द्वार० ४९९, ८) और रञ्जिऊण रूप आये हैं (कक्कुक शिलालेख ११) ; भेसेऊण = *भेषयित्वान है (कालका०), ठविऊण है (सगर १, १० ; एत्सें०), ठाइऊण = *स्थागयित्वान (आव०एत्सें० ३०, ४) है ; महा०, दाक्षि० और जै०महा० में हन्तूण आया है (हेच० ४, २४४ ; रावण० ; मृच्छ० १०५, २२ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए], एत्सें०) । इसके साथ साथ महा० में आहणिऊण रूप भी मिलता है (मृच्छ० ४१, १६), जै०महा० में हणिऊण देखा जाता है (आव०एत्सें० १७, ३१) ; महा० में रोत्तूण (भाम० ८, ५५ ; हेच० ४, २१२ ; रावण०), महा० में रोऊण रूप भी है (हाल), जब कि जै०महा० में रु धातु का रूप (§ ४७३) रोविऊण बनता है (सगर ७, ११) ; वो`त्तूण है ( भाम० ८, ५५ ) , महा० में वच् का रूप वो`त्तूण मिलता है (हेच० ४, २११ ; रावण०) ; जै०महा० में पिहेऊण है (सगर १०, १७) ; महा०, जै०महा० और अ०माग० में दाऊण (भाम० ४, २३ ; गउड० ; काव्यप्रकाश ३४३, ३ ; द्वार० ५००, १९ ; एत्सें० ७८, १ ; पण्हा० ३६७) है ; महा० में धुणिऊण चलता है (रावण० ६, २०) ; जै०महा० में पाविऊण है (एत्सें०) ; महा० और जै०महा० में सोऊण है (भाम० ४, २३ ; हेच० ३, १५७ ; ४, २३७ ; गउड० ; हाल ; रावण० ; एत्सें० ; कालका० ; सगर ७, ८ ; ११, १२ ; आव०एत्सें० १८, २० ; ३१, २३) । इसके साथ साथ सुणिऊण पाया जाता है (हेच० ३, १५७) ; जै०महा० में छे`त्तूण ( एत्सें० ) और छेदिऊण रूप मिलते हैं ( कालका० दो, ५०७, ११ ) ; जै०महा० में भञ्जिऊण और भञ्जेऊण आये हैं ( एत्सें० ) ; आव०, दाक्षि० और जै०महा० में भे`त्तूण मिलता है (मृच्छ० ९९, १७ ; १००, ५ ; एत्सें०), जै०महा० में भिन्दिऊण भी आया है (सगर ३, १ ; ६ और १८) ; अ०माग० में भो`त्तूण काम में आता है (वर० ८, ५५ ; हेच० ४, २१२ ; ओव० § १८५), जै०महा० में उवभुञ्जिऊण भी है (एत्सें०) ; पल्लवदानपत्र में कातूण आया है (१०१, ९), जै०शौर० में कादूण (§ २१ और ५८४), महा० और जै०महा० में काऊण हो जाता है (भाम० ४, २३ ; ८, १७ ; हेच० २, १४६ ; ४, २१४ ;

गउड० ; हाल ; रावण० ; एर्त्से० ; कालका० ; द्वार० ४९९, ३९ आदि आदि), शौर० में भी यह रूप काम मे आता है, पर उसमें यह रूप अशुद्ध है (§ ५८४), जै०-महा० में विउव्विऊण रूप भी चलता है (द्वार० ५०७, ४० ; एर्त्से०) ; महा० और जै०महा० में गहिऊण है (गउड० २८२ ; विज्जालग्गइ २६, ९ ; एर्त्से० ; द्वार० ५०२, १ ; कक्कुक शिलालेख १७ ; कालका० दो, ५०५, २९) । इसके साथ साथ जै०महा० रूप गेण्हिऊण भी है (आव०एर्त्से० ४३, ७ ; एर्त्से०) ; महा० जै०महा० और अ०माग० मे घेत्तूण रूप पाया जाता है (वर० ८, १६ ; हेच० २, १४६ ; ४, २१० , गउड० , हाल ; रावण० ; एर्त्से० ; कालका० ; सगर ५, १४ ; नायाध० ९६० ; पण्हा० ३६७) । यह रूप माग० पद्य में भी मिलता है (मृच्छ० २१, ८) और शौर० मे भी पाया जाता है किन्तु इस बोली मे अशुद्ध है (§ ५८४), अ०माग० मे परिघेत्तूण भी है (पण्हा० ४८७) और महा० में घेऊण देखा जाता है (भाम० ४, २३ ; सरस्वती० १८०,४), इसमें हाल १३० मे आये हुए घेत्तूण के अन्य रूप के स्थान में यह दिया गया है किन्तु ३४७, ९ मे घेत्तूण आया है (प्रिय० ३३, १५) ; शौर० मे यह रूप अशुद्ध है § ५८४) । ये रूप *घृप् से निकले हैं ; महा० में णाऊण और जै०महा० मे नाऊण (हेच० ४, ७ ; रावण० ११, २१ ; द्वार० ४९६, १६ ; एर्त्से० , कालका०) है । इसके साथ साथ महा०, जै०महा० और अ०माग० मे जाणिऊण रूप भी चलता है (हाल , कालका० ; आव०एर्त्से० ८, २३ , पण्हा० ३९४), जै०महा० में वियाणिऊण भी आया है (एर्त्से०) , महा० मे आवन्धिऊण भी है (रावण० १२, ६०), अ०माग० में वन्धिऊण हो जाता है (सूय० २८५) । — पै० मे हेमचन्द्र के अनुसार कृदन्त के अन्त में -तून लगता है : समप्पेतून = *समर्पयित्वान् है (२, १६४), तन्तून, रन्तून, हसितून, पढितून, कढितून (४, ३१२), नट्ठून, नत्थून, नट्ठून, दत्थून रूप मिलते हैं जो नश् और दश् से बने हैं (४, ३१३) , वररुचि १०, १३ और मार्कण्डेय पन्ना ८७ के अनुसार पै० मे -तूनं लगता है, उदाहरण हैं : दातूनं, कातूनं, घेत्तूनं, हसितूनं और पतितूनं । सिंहराजगणिन् पन्ना ६४ और ६५ में उक्त दोनों समाप्तिसूचक चिह्नों की अनुमति देता है । उसके उदाहरण हैं ' हसितूनं,' हसितून, दट्ठून और दत्थून । रुद्रट के काव्यालंकार के २, १२ पेज १४, ११ की टीका में नमिसाधु ने एक और उदाहरण आगत्तून दिया है । काव्यकल्पलतावृत्ति के पेज ९ में अमरचन्द्र ने गन्तून दिया है ।

§ ५८७— -त्ता = -त्वा के साथ-साथ अ०माग० और जै०शौर० मे भी, पर बहुत विरल, -च्चा पाया जाता है, अ०माग० में -त्ताणं के साथ साथ -च्चाणं और -च्चाण भी देखे जाते हैं । -च्चा को वैदिक -त्या से सीधे व्युत्पन्न करने का प्रयास ठीक नहीं है, क्योंकि वैदिक -त्या छन्द की मात्राएं ठीक करने के लिए -त्व के स्थान मे आता है जब कि -च्चा में गद्य में भी आ सदा बना रहता है और स्वय पद्य में कभी ह्रस्व नहीं किया जाता, शायद ही इक्के दुक्के ऐसे रूप मिलें तथा सब प्रकार के व्यंजनान्त धातुओं में भी लगाया जाता है । यह -*त्या -त्वा से बना है और -*त्वान और -*त्वानं से -*त्यानं रूप मे आया है, जो वैसे भी अ०माग०

मे पाया जाता है (§ २८१ और २९९)। इस प्रकार : अ०माग० मे होॅच्चा = *भूत्या = भूत्वा है (सूय० ८५९); अ०माग० और जै०शौर० में ठिच्चा = *स्थित्या है (सूय० ५६५; विवाह० ७३९ और ९२७; कत्तिगे० ४०२, ३५५); अ०माग० में सुठिच्चा आया है (सूय० ९३८; ९४१; ९५०); अ०माग० मे चिच्चा है (सूय० ११७ और ३७८; उत्तर० ५१५; कप्प० § ११२) और चेॅच्चा भी (आयार० १, ६, २, २; २, १५, १७; ओव० § २३); ये *त्तियत्तया = त्यक्त्वा से बने हैं; पेॅच्चा = पीत्त्वा है (आयार० २, १, ४, ५) और अपिच्चा = अपीत्वा (सूय० ९९४)। अ०माग० मे पेॅच्चा (आयार० १, १, १, ३) और पिच्चा (सूय० २८) = *प्रेत्या = प्रेत्य है। — अ०माग० मे अभिसमेॅच्चा = *अभिसमेत्या = अभिसमेत्य है (आयार० १, १, ३, २ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]; १, ७, ६, २; ७, १); वच्चा रूप आया है (सूय० ५६५ और उसके बाद)। वास्तव मे इसका शुद्ध रूप वुच्चा है (सूय० ७८३ [कुमाउनी मे एक-वचा, द्वि-वचा और तिर (त्रि)-वचा मे जिसका अर्थ 'कह कर' है, वचा का प्रयोग बना है। —अनु०]) = *वत्तया = उक्त्वा है; दा धातु का रूप दच्चा है (विवाह० २२७); हा का हिच्चा (= छोड कर : सूय० ३३० और ३४५; आयार० १, ४, ४, १; १, ६, २, १; १, ६, ४, १), हेच्चा भी है (आयार० १, ६, ४, ३) और पद्य में छन्द की मात्राए ठीक करने के लिए हेॅच्च रूप भी मिलता है (सूय० १४४); श्रु का सोॅच्चा बनता है (हेच० २, १५; आयार० १, १, १, ४; १, १, २, ४; १, ५, ३, १; १, ६,४,१; १,७,२,३; २,४,१,१; सूय० १५८; १८१; २९८; ३२२ आदि आदि; दस० ६३१, १८; ओव०; कप्प०; उवास०), यह रूप जै०शौर० में भी पाया जाता है (पव० ३८६, ६) तथा जै०महा० में भी (काल्का०; सुच्चा भी देखा जाता है), अ०माग० मे सोच्चं भी है जो सोच्चं इदं (§ ३४९; आयार० २; १६, १) मे आया है; भुज् का भोॅच्चा होता है (हेच० २, १५; आयार० २, १, ४, ५; २, १, ९, ४, २, १, १०, ३; सूय० १९४; २०२; २०३; २२६; विवाह० २२७; कप्प०); अभोॅच्चा मिलता है (सूय० ९९४)। पद्य मे छद की मात्राए ठीक करने के लिए अभोॅच्च भी पाया जाता है (आयार० १, ८, १, १०); अ०माग० और जै०शौर० मे कृ का रूप किच्चा आया है (आयार० २, ३, १, १४; २, ३, २, ९; सूय० २६, भग०; उवास०; ओव०; कप्प०; पव० ३७९, ४; कत्तिगे० ४०२, ३५६ और उसके बाद और ३७५ और उसके बाद); ज्ञा के अ०माग० में णच्चा और नच्चा रूप मिलते हैं (हेच० २, १५; आयार० १, ३, २, १ और ३; १, ६, १, ३ और ४; १, ७, ८, १ और २५; १, ८, १, ११ और १४ तथा १५; २, १, २, ५ और उसके बाद; सूय० १५५; २२८; २३७; दस० ६२९, ५; ६३१, ३५; ६३२, ३५)। समाप्तिसूचक चिह्न -च्चाण और च्चाणं अ०माग० हिच्चाणं (सूय० ८६), हेॅच्चाणं (सूय० ४३३) और णच्चाणं (सूय० ४३) में तथा पद्य में छद की मात्रा ठीक करने के लिए हेॅच्चाण (सूय० ५५१), नच्चाण (सूय० १८८), सोॅच्चाण (दस० ६३४, ४१; ६३७, १६) और चिच्चाण

में वतमान है (सुय० ३७८ और ४०८)। गद्य में चेॅच्छाण (आयार० १, ७, ६, ५) को शुद्ध सिद्ध करना कठिन है। कलकतिया संस्करण में इसके स्थान में चेॅच्चा रूप दिया गया है। अ०माग० वुज्झा = बुद्ध्वा के विषय में § २९९ देखिए।

§ ५८८—अप० में वैदिक कृदन्त के समाप्तिसूचक चिह्न –त्वी (डेल्ब्रुक, आल्ट इण्डिशे वैर्बुम् § २२१) और –त्वीनम् जैसे इष्ट्वीनम् और पित्वीनम् में (पाणिनि ७, १, ४८ और इस पर काशिका, ऊपर § ५८३ के नोट की तुलना कीजिए) बने रह गये हैं। –त्वी का ध्वनिपरिवर्तन –प्पि में अनुनासिक के बाद आने पर अनुनासिक –पि में (§ ३००) हो गया है जो पहले दीर्घ स्वरों के, बाद को ह्रस्व स्वरों के बाद भी –वि बन गया, इस नियम के अनुसार –त्वीनम्, –प्पिणु, –पिणु तथा –विणु हो गया (हेच० ४, ४३९ और ४४०, क्रम० ५, ५३), उक्त समाप्ति सूचक चिह्न अधिकांश में वर्तमानकाल के वर्ग अथवा मूल में जोड़े जाते हैं। इस नियम से जिणेॅप्पि (हेच० ४, ४४२, २) और जेॅप्पि आये हैं (हेच० ४, ४४०) जो जि के रूप हैं, ध्ये का झाइवि बना है (हेच० ४, ३३१), दय– से देॅप्पिणु = *देत्वीनम् बना है (हेच० ४, ४४०), गम्पि = *गन्त्वी = वैदिक गत्वी है, गमेॅप्पि, गम्पिणु और गमेप्पिणु भी मिलते हैं (हेच० ४, ४४२ क्रम० ५, ५९), पेॅक्खेवि देखा जाता है (हेच० ४, ३४०, २) पेॅक्खिवि (हेच० ४, ४३०, ३, यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) और पेॅक्खेविणु मिलते हैं (हेच० ४, ४४४, ४), देॅक्खिवि चलता है (हेच० ४, ३५४), छर्द् का रूप छड्डेविणु है (हेच० ४, ४२२, ३), मेॅल्लवि आया है (हेच० ४, ३५३), मेॅल्लेॅप्पिणु भी है (हेच० ४, ३४१, १)। ये दोनों रूप मेल्लइ के हैं (= छोड़ना हेच० ४, ९१, ४३०, ३), मिल् का मेलवि है (हेच० ४, ४२९, १), चुम्बिवि, विछोडवि पाये जाते हैं (हेच० ४, ४३९, ३ और ४), भणिवि काम में आता है (हेच० ४, ३८०, १, यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) पिअवि आया है जो *पिबत्वी = वैदिक पीत्वी है (हेच० ४, ४०१, ३) मारेॅप्पि मिलता है (क्रम० ५, ६०), लग्गिवि है (हेच० ४, ३३९), बुड्डवि चलता है (हेच० ४, ४१५), लाइवि = *लागयित्वी है (हेच० ४, ३३१, ३७६, २), लेवि (हेच० ४, ३९५, १ ४४०), लेॅप्पिणु (हेच० ४, ३७०, ३, ४०४) और लेविणु (हेच० ४, ४४१, २) ला के रूप हैं, ग्रह् के रूप ग्रॉप्पि और ग्रॉप्पिणु हैं (हेच० ४, ३९१, क्रम० ५, ५८), रुन्धेविणु है (विक्र० ६७, २०), कृ के करेॅप्पि, करप्पि (क्रम० ५, ५९), करेवि (हेच० ४, ३४०, २) और करेॅप्पिणु मिलते हैं (हेच० ४, ३९६, ३), रम् धातु के रूप रमेवि, रमेॅप्पि और रमेप्पिणु हैं (क्रम० ५, ५३), लुणेप्पि आया है (क्रम० ५, ५७), व्रज् धातु से वुज्जेॅप्पि और वुज्जेप्पिणु बने हैं (§ ४८८, हेच० ४, ३९२), गृण्हेॅप्पिणु (हेच० ४, ३९४, ४३८, १), गेण्हेप्पि तथा गेॅण्हेप्पिणु रूप मिलते हैं (क्रम० ५, ६२)। अन्त में –ऊण लगकर बननेवाले रूप जैसे सोऊण और हसिऊण (पिंगल १, ६१, अ और ६२ अ) अप० नहीं प्रत्युत महा० हैं, इनके ठीक विपरीत रूप जैसे लंघेवि, पेॅच्छवि, निसुणेवि, चलेवि और जाणेवि जो

जै०महा० में पाये जाते हैं (एर्त्से० ७८, २१ ; ८१, १९ और २४ ; ८४, ५) इस बोली से नाममात्र का सम्बन्ध नहीं रखते। ये अप० से सम्बन्धित हैं। अप० में कृदन्त का यह रूप सामान्यक्रिया के अर्थ मे भी काम में लाया जाता है : **संवरेवि** मिलता है (हेच० ४, ४२२, ६), **जेॅप्पि** आया है, **चएॅप्पिणु** = *त्यजित्वीनम्* है, **लेविणु** और **पालेवि** पाये जाते हैं (हेच० ४, ४४१, २) ; **लहेवि, लहेॅप्पि** और **लहेॅप्पिणु** चलते हैं (क्रम० ५, ५५)। अब और देखिए कि सामान्यक्रिया **भञ्जिउ** कृदन्त के स्थान म बैठी है (§ ५७९)। अन्त में **–तुम्** और **–तु** लगकर बननेवाली सामान्यक्रिया के विषय में जो कृदन्त के अर्थ मे काम मे लायी जाती है § ६७६ और ५७७ देखिए।

§ ५८९— अन्त में **–इअ** = **–य** लगकर बननेवाले कृदन्त महा० में बहुत विरल है क्योंकि महा० मे समाप्तिसूचक चिह्न **–ऊण** काम में लाया जाता है। गउडवहो और रावणवहो में इसका एक उदाहरण भी नहीं आया है। हाल मे इसका एक मात्र उदाहरण **संमीलिअ** है (१३७), इसलिए यहाँ पर **संमीलिअदाहिणअं** = **संमीलितदक्षिणक** लिया जाना चाहिए तथा **सम्मीलिअ** क्रियाविशेषण माना जाना चाहिए जो इसके पास ही मे आनेवाले **सुइरं** और **अविअण्हं** का समानान्तर रूप है [यहाँ भी वेबर द्वारा सपादित तथा भट्ट मथुरानाथ शास्त्री द्वारा सपादित और निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित गाथासप्तशती मे पाठभेद है। वेबर के **अविअण्हं** के स्थान मे बम्बई के सस्करण में **अवि पहं** मिलता है। —अनु०]। **पाडिअ** (८८०) वेबर के अनुसार 'क्रियात्मक सज्ञा' नहीं, किन्तु टीकाकारों के अनुसार कर्मवाच्य की भूतकालिक अंशक्रिया मानी जानी चाहिए। इसी भाँति **अणुणीअ** (१२९) भी वेबर के मत के विरुद्ध और टीकाकारों के अनुसार **अणुणीअपिओ** पढा जाना चाहिए। काव्यप्रकाश ७२, १० = हाल ९७७ में **वलामोडिअ** के स्थान मे श्रेष्ठ हस्तलिपियों के अनुसार **वलमोडीइ** (§ २३८) पढना चाहिए, जैसा कि राजानकानन्द ने अपने काव्यप्रकाशनिदर्शन मे दिया है, दूसरी श्रेष्ठ हस्तलिपि में, जो काव्यप्रकाशनिदर्शन की प्रात है, **वलामोडेसण** रूप दिया है। हाल ८७९ मे जिसमे वेबर ने पहले (हाल १ परिशिष्ट सख्या ४४) काव्यप्रकाश ६८, ५ और साहित्यदर्पण १०२, २० के अनुसार **पेॅक्खिअ उण** छापा था, अब इसके स्थान में शुद्ध रूप **पेक्खिऊण** दिया है, यही रूप काव्यप्रकाश के सर्वोत्तम हस्तलिपियों में पाया जाता है तथा सरस्वतीकण्ठाभरण ४८, २१ में भी मिलता है। दशरूप ९१, ९ में धनिक के श्लोक में **णिज्झाअणेहमुद्धं** पढा जाना चाहिए अर्थात् **णिज्झाअ** = **निध्यति** है। इन कारणों से वेबर ने हाल १ पेज ६७ मे जो उदाहरण सगृहीत किये हे, उनमें से केवल काव्यप्रकाश ८२, ९ का **गहिअ** रहा रह जाता है, किन्तु इसके स्थान मे भी सर्वोत्तम हस्तलिपियों के अनुसार **लहिअ** पढा जाना चाहिए। इनके साथ **विणिज्जिअ** = **विनिर्जित्य** है जो कर्पूरमजरी ८, ६ में आया है और **वज्जिअ** = **वर्ज्य** है जो बालरामायण १५७, ४ में है, जब कि १०, १० में आनेवाला **ओत्थरिअ** जिसका अनुवाद सम्पादक ने **अवतीर्य** किया है = **अवस्तृत** है क्योंकि यहाँ **ओत्थरिअराहु–** **राहुओत्थरिअ** के स्थान में लिया गया है, जैसा कि अन्यत्र भी पाया जाता है (§ ६०३)। हेमचन्द्र २, १४६ के उदाहरण

भमिअ तथा रमिअ किस बोली के हैं और ४, २१० में गेण्हिअ किस बोली से आया है, कुछ पता नहीं लगता। वररुचि ४, २३ और ८, १६ में महा० के लिए समाप्ति सूचक चिह्न –य का कोई विधान नहीं आया है। इस विषय में भी फिर अशुद्ध रूप आये हैं और विशेष कर राजशेखर इस बात का दोषी है कि वह बोली की परम्परा के विरुद्ध जाता है।

§ ५९०—जै०महा० में भी प्राचीन आवश्यक एर्त्सेंलुगन के पाठों में अन्त में –य लग कर बननेवाला कृदन्त विरल है, इसके विपरीत महाराष्ट्री एर्त्सेंलुगन की नवीन तर कहानियों में इसका बार बार प्रयोग हुआ है। किन्तु यहाँ भी समाप्तिसूचक चिह्न –ऊण और –त्ता की अपेक्षा प्रयोग में पीछे रह गया है, जैसा अ०माग० में जहाँ यह रूप –त्ता और –त्ताणं की अपेक्षा बहुत कम काम में आता है। अ०माग० में विशेष कर बहुत से कृदन्त रूप साधारण व्यवहार में आते हैं जिनके अन्त में –य आता है और जो संस्कृत की भाँति सीधे धातु से ही बनाये जाते हैं। पच को छोड (§ ५८४) और कडुअ, गडुअ के अतिरिक्त (§ ५८१) शौर०,माग० और ढक्की में –य वाले रूपों की ही धाक है (वर० १२, ९, § ५८१ की तुलना कीजिए) जिनमें प्राय सदा विशुद्ध अथवा वर्तमानकाल के वर्ग के अन्त में –इ का आगमन होता है। अ०माग० और जै०महा० में श्लोकों में समाप्तिसूचक चिह्न बहुधा –या आता है (§ ७३)। जै०शौर० में भी –या विरल नहीं है। कुछ वर्गों के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं **णइअ** = *णयिय = **नीत्वा** (मृच्छ० १५५, ४) किन्तु **आणीअ** (मालती० २३६, ३; प्रसन्न० ४१, २) भी मिलता है, **अवणीअ** = **अपनीय** है (वेणी० ६६, २१), शौर० में **समस्ससइअ** = *समाश्रयिय = **समाश्रित्य** है (शकु० ९, ८), शौर० में **दय–** का रूप **दइअ** है (मृच्छ० ५१, १२) और **दे–** से **देइअ** बना है (मुद्रा० २०३, ७), शौर० और माग० में **भविअ** आया है, जै०शौर० में **भविय** हो जाता है (§ ४७५), अ०माग० में **विणिक्कस्स** = **विनिकृष्य** है (सूय० २८०), शौर० में **ओदरिअ** = **अवतीर्य** है (विक्र० २३, १७), माग० में यह **ओदलिअ** हो जाता है (मृच्छ० १२२, ११), माग० में **अणुशलिअ** = **अनुसृत्य** है (प्रबोध० ५१, १२), **ओशलिअ** = **अपसृत्य** है (मृच्छ० १२९, ८), शौर० में **परिहरिअ** (मृच्छ० १३६, ८), माग० में **पलिहलिअ** (प्रबोध० २८, १६, ६१, १२) = **परिहृत्य** है, जै०महा० में **सुमरिय** (एर्त्से०) और शौर० में **सुमरिअ** पाये जाते हैं (मृच्छ० ८, १५, शकु० ६३, १४), जै०महा० में **पेच्छिय** (सगर ४, २ और ११, एर्त्से०) तथा **पिच्छिय** रूप मिलते हैं (कालका०), शौर० में **पेक्खिअ** (मृच्छ० ४१, ६, १० और २२, ७३, २, ७८, २५, शकु० १८, १०, विक्र० १५, १६) और माग० में **पेस्किअ** रूप पाये जाते हैं (मृच्छ० ९६, २३), अ० माग० में **पेहिया**, **संपेहिया** तथा **समुपेहिया** आये हैं (§ ३२३), अ०माग० में **उवलब्भ** है (आयार० १, ६, ४, १) और **लभिय** भी आया है (आयार० १, ७, १, २, २, ४, १, २) किन्तु शौर० में **लम्भिअ** पाया जाता है (§ ४८४, ५२५, ५४१, चैतन्य० १२५, १०, १३२, १७, १३४, ९), अ०माग० में

निक्खम्म = निक्रम्य है (आयार० १, ६, ४, १) किन्तु शौर० में **निक्कमिअ** रूप चलता है (प्रिय० ३४, ३) ; अ०माग० मे **विउक्कम्म** = व्युत्क्रम्य है (आयार० १, ७, १, २) किन्तु शौर० में **अदिक्कमिअ** = अतिक्रम्य है (रत्ना० २९५, ९) ; अ०माग० में **पक्खिप्प** = प्रक्षिप्य है (सूय० २८० और २८२) ; अ०माग० में **पासिय** है (आयार० १, ३, २, ३) ; छन्द की मात्राए ठीक करने के लिए अ०-माग० और जै०महा० में (§ ७३) **पासिया** रूप मिलता है (उत्तर० ३६१ ; एर्से० ३८, ३६) और अ०माग० मे **पस्स** (उत्तर० २२२ ; २३९ ; २४०), **अणुपस्सिया** (सूय० १२२) और **संपस्सिय** पाये जाते हैं (दस० ६४२, ११) ; अ०माग० और जै०महा० में **परिच्चज्ज** (आयार० १, ३, ३, ३ ; उत्तर० ५६१ ; एर्से०) आया है, जै०महा० में **परिच्चइय** भी मिलता है (एर्से०) और शौर० रूप **परिच्चइअ** (मृच्छ० २८, १० ; रत्ना० २९८, १२) = परित्यज्य है[1] ; अ०-माग० मे **समारब्भ** (सम० ८१) है, जै०महा० में **आरब्भ** आया है (एर्से०) तथा शौर० मे **आरम्भिअ** मिलता है (शकु० ५०, २) ; अ०माग० मे **अभिकंख** = अभिकांक्ष्य है (आयार० २, ४, १, ६ और उसके बाद) ; अ०माग० में **अभिरुज्झ** = अभिरुह्य है (आयार० १, ८, १, २), किन्तु आव०, दाक्षि० और शौर० मे **अहिरुहिअ** है (मृच्छ० ९९, १९ ; १०३, १५ , विक्र० १५, ५), माग० में **अहिलुहिअ** मिलता है (मृच्छ० ९९, ४ , १२१, ११ ; १६४, ३) ; अ०माग० मे **पविस्स** = प्रविश्य है (आयार० १, ८, ४, ९) किन्तु शौर० मे **पविसिअ** है (मृच्छ० १८, १० ; २७, ३ , ९३, २ ; शकु० ७०, ७ ; ११५, ६ ; १२५, १२ ; विक्र० ७५, ४), यह माग० में **पविशिअ** हो जाता है (मृच्छ० १९, १० ; २९, २४ ; ३७, १० ; ११२, ११ ; १२५, २२ ; १३१, १८) ; जै०शौर० में **आपिच्छ** है (पव० ३८६, १), जै०महा० में **आपुच्छिय** आया है (द्वार० ४९५, ३१, चिन्तिऊण और पणमिउणम् के बीच में है) और **अणापुच्छिय** भी मिलता है (आव०एर्से० ११, २३) ; शौर० मे **सिक्खिअ** है (मृच्छ० ४१, ६) ; अ०माग० में **शम्** से **निसम्म** बना है (आयार० १, ६, ४, १ ; पण्ण०) ; शौर० मे **श्रम्** का रूप **विस्समिअ** है (मालती० ३४, १); जै०महा० मे **पडिवज्जिय** = प्रतिपद्य है (एर्से०) ; अ०माग० में **पडियच्च** से सम्बन्धित *पडिउच्च से **पडुच्च** रूप बना है (§ १६३ ; २०२ ; विवाह० २९ ; ३५ ; ९९ ; १११ ; १२७ ; १२८ ; १३६ ; २७२ आदि-आदि ; ठाणग० १८५ ; १८६ ; आयार० १, ५, ५, ५ ; सूय० ३३२ ; ७७६ ; उत्तर० १०१९ ; १०४४ ; १०४७ ; १०५१ और उसके बाद ; नन्दी० ३९५ और उसके बाद ; जीवा० ३३, ११८ और उसके बाद ; अणुओग० १४ ; १५ ; १५४ और उसके बाद ; २३५ और उसके बाद; दस०नि० ६४४, १७ ; ६४९, ९ आदि आदि), पद्य में **पडुचा** रूप भी पाया जाता है (सूय० २६६ ; दस०नि० ६४४, १३) ; शौर० में **पट्ठाविअ** और **ठाविअ** रूप आये हैं (मृच्छ० २४, २ ; ५९, ७) ; जै०महा० में **आरोविय** (एर्से०) और **समारोविय** मिलते हैं (द्वार० ५०३, ३३) ; शौर० में **वज्जिअ** = वर्जयित्वा है (शकु०

५२, ११ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]; मालती० ९८, ६ ; रत्ना० ३१६, १६ ; नागा० २४, ४); ढक्की में यह रूप पाया जाता है (मृच्छ० ३०, ५) ; शौर० में **चोरिअ** और **वावादिअ** काम में आते हैं (मृच्छ० ३७, १४ ; ४०, २२) ; माग० में **पवेशिअ** आया है (मृच्छ० १४०, १४ [गौडबोले के संस्करण के अनुसार यही पढ़ा जाना चाहिए] ; १५८, २२) और **ओह्वालिअ** = **अपहार्य** है (मृच्छ० ९६, २४) । अ०माग० में **अणुपालिया** = **अनुपाल्य** है (उत्तर० ५८२) जो सामान्य-क्रिया के अर्थ में काम आया है ।

१. इनसे त्यज् के कृदन्त के उदाहरणों की पूरी पुष्टि हो जाती है ; जै०-शौर० में **चत्ता** (§ ५८२), अ०माग० में **चइत्ता** (§ ५८२), अ०माग० में **चइत्ताणं** भी (§ ५८३), अ०माग० और जैन०महा० में **चइऊण** (§ ५८६), अ०माग० में **चिच्चा**, **चे॑च्चा**, **चिच्चाण**, **चे॑च्चाण** (§ ५८७), अप० में **चएॅप्पिणु** (§ ५८८), अ०माग० और जै०महा० में –**चज्ज**, जै०महा० में **चइय** और शौर० में –**चइअ** रूप आये हैं (§ ५९०)। इस सूची में एक और रूप अ०माग० में सामान्यक्रिया **चइत्तु** है जिसका व्यवहार कृदन्त रूप में किया जाता है ।

§ ५९१—दूसरे गण के उदाहरण नीचे दिये गये हैं : अ०माग० में **समेच्च** = **समेत्य** (आयार० १, ८, १, १५) ; जै०महा० में **स्तु** का रूप **थुणिय** मिलता है (कालका० दो, ५०८, २६) ; शौर० में **श्वस्** का **नीससिअ** रूप है जिसमें **निस्** उपसर्ग लगा है (मृच्छ० ४१, २२) ; अ०माग० में **आहच्च** = **आहत्य** है (आयार० १, २, ४, ६ ; १, १, ७, ४ ; १, ७, २, ४ ; २, ६, २, ३), किन्तु शौर० में **आहणिअ** मिलता है (रत्ना० का १८७१ का कलकतिया संस्करण पेज ४६, १०) ; जै०-शौर० में **आदाय** (पव० ३८६, ६) तथा अ०माग० में **समादाय** है (आयार० १, २, ६, ३) और **पडिसंधाय** रूप मिलते हैं (सूय० ७२०), **पणिहाय** = **प्रणिधाय** है (उवास० § १९२) ; अ०माग० में **जहाय** है (उत्तर० ६३५ और ९१४) ; वि और प्र उपसर्ग के साथ **हा** का रूप **विप्पजहाय** मिलता है (सूय० २१७ और ६२८; विवाह० १४६) ; शौर० में **णिम्माय** (ललित० ५५४, १३) अशुद्ध है, इसके स्थान में ***णिम्माइअ** शुद्ध रहेगा ; अ०माग० में **धुणिय** (सूय० १११ ; दस० ६३७, २१), **विहुणिया** (आयार० १, ७, ८, २४ ; सूय० ५४), **विहुणिय** (सूय० ११३) और **संविधुणिय** रूप आये हैं (आयार० १, ७, ६, ५) ; शौर० में **ओधुणिअ** (अद्भुत० ५२, १२ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) और **अवधुणिय** (माल्ती० ३५१, ६ ; वेणी० ६१, ५ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; ६३, ९) ; जै०-महा० में **सुणिय** (एर्से० ; कालका०), शौर० में **सुणिअ** (मृच्छ० १४८, १० ; शकु० ६२, ११ ; ७०, ११ ; विक्र० २६,१ ; रत्ना० ३०२, ७ ; प्रिय० २९, १७), माग० में **शुणिअ** (मृच्छ० ३७, १० ; ३८, २०) रूप चलते हैं और ढकी **पडिस्सुदिअ** = **प्रतिश्रुत्य** है (मृच्छ० ३५, ५) जो अन्ततः **पडिशुणिअ** ध्वनित होना चाहिए (इसी नाटक में इसका दूसरा रूप भी देखिए) ; यह रूप अधिकांश हस्तलिपियों

और गौडबोले के सस्करण में भी नहीं पाया जाता। अ०माग० और जै०शौर० मे **पप्प** = **प्राप्य** है (आयार० १, २, ३, ६ ; ठाणग० १८८ ; उत्तर० १०१७ और १०१९, पण्णव० ५२३ ; ५४० ; ५४१ ; ६६५ ; ६६७ ; ७१२ , ७८१ ; दस०नि० ६४९, ५ ; ८ और ११ [पाठ में **पप्पा** है] ; ६५३, १ ; पत्र० ३८४, ४९) किन्तु जै०-शौर० में **पाविय** भी है (कत्तिगे० ४०२, ३६९), जैसे कि शौर० मे **समाविअ** देखा जाता है (रत्ना० ३२३, २) ; शौर० में **भञ्जिअ** है (मृच्छ० ४०, २२ ; ९७, २३ ; शकु० ३१, १३ ; चैतन्य० १३४, १२) , अ०माग० मे **छिन्दिय** आया है (आयार० २, १, २,७), **छिन्दियछिन्दिया** और **भिन्दियभिन्दिया** रूप भी मिलते हैं (विवाह० ११९२) ; शौर० मे **परिच्छिन्दिअ** है (विक्र० ४७, १), यह अ०माग० मे **पालि च्छिन्दिय** मिलता है (§ २५७) ; शौर० मे **भिन्दिअ** (विक्र० १६, १) और **भेदिअ** है (मृच्छ० ९७,२४ ; § ५८६ की तुलना कीजिए), माग० में भी **भिन्दिअ** है (मृच्छ० ११२, १७) ; अ०माग० मे **भुञ्जिय** चलता है (आयार० १, ७, १, २ ; २, ४, १, २ ; सूय० १०८), शौर० में **भुञ्जिअ** है (चैतन्य० १२६,१० , १२९,१०), अ०माग० में **अभिजुञ्जिय** आया है (सूय० २९३ , ठाणग० १११ ; ११२ ; १९४ ; विवाह० १७८) ; जै०महा० में **निउञ्जिय** मिलता है (एर्त्से०) , अ०माग० में **परिन्नाय** (आयार० १, १, २, ६ और उसके बाद ; १, २, ६, २ और ५, सूय० २१४ [पाठ में **परिण्णाय** है]) और **परिजाणिया** है (सूय० ३८० और ३८१), **जाणिय** (दस० ६४१, २४) तथा **वियाणिया** भी मिलते हैं (दस० ६३१, ३५ ; ६३७, ५ ; ६४२, १२) ; शौर० में **जाणिअ** (रत्ना० ३१४, २५ ; प्रिय० १५, १५ ; वृषभ० ४६, ७) और **अजाणिअ** (शकु० ५०, १३ , मुद्रा० २२६,७, इस नाटक मे अन्यत्र दूसरा रूप भी देखिए), माग० म **याणिअ** हो जाता है (मृच्छ० ३६, १२) ; शौर० में **वन्धिअ** (मृच्छ० १५५, ३ ; प्रबोध० १४, १० [पूना और मद्रास के संस्करणों के अनुसार यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; रत्ना० ३१७, ११), **उब्बन्धिअ** भी है (रत्ना० ३१५, २८ , चड० ९२, ११ ; नागा० ३४, १५), माग० मे **वन्धिअ** है (मृच्छ० १६३, १६), जै०महा० मे **गे ण्हिय** (द्वार० ५०७, ४), शौर० और आव० में **गे ण्हिअ** (मृच्छ० ४१, १२ , ५९, ८ , १०५, २ [आव० में], १०७, १० ; शकु० १३६, १५ , विक्र० १०, २ ; ५२, ५ , ७२, १५ , ८४, २० ; मालती० ७२, ७ ; रत्ना० ३०३, २०), माग० में **गे ण्हिअ** है (मृच्छ० १२, १४ ; २०, ३ और १० , १६, १२ और १८ , ११६,५ , १२६, १६ ; १३२, १६ ; शकु० ११६, २ ; चड० ६४, ८), जै०शौर० और जै०महा० में **गहिय** चलता है (कत्तिगे० ४०३, ३७३ ; एर्त्से०) किन्तु अ०माग० और जै०महा० में अधिकाश में **गहाय** (आयार० १, ८, ३, ५ ; २, ३ , १, १६ और १७ ; २, ३, २,२ ; २, १०, २२ ; सूय० १३६; ४९१ ; ७८३ ; १०१७ ; विवाह० २२९ ; ८२५ ; ८२६ , उवास० ; निरया० ; आव०एर्त्से० १७, १० ; ३५, १२ , ३७, ३१ , ४६, २ , एर्त्से०) = संस्कृत **प्रहाय** है (बोएटलिङ्क के सक्षिप्त संस्कृत-जर्मन कोश में यह शब्द देखिए), यह **प्रहाय** वास्तव में प्राकृत का संस्कृत अनुवाद है, क्योंकि कृदन्त रूप गहाय नामधातु *गहाअइ,

*गहाइ (§ ५५८) = *ग्रहायति है ; संधियुक्त रूप में अ०माग० में अभिणिगिज्झ = अभिनिगृह्य भी मिलता है (आयार० १, २, ३, ४), परिगिज्झ = परिगृह्य है (आयार० १, २, ३, ३ और ५) तथा रूपों के द्वित्तार जैसे, अयगिज्झिय, निगिज्झिय (कप्प०) तथा परिगिज्झिय हैं (आयार० २, १, ६, २ ; २, ३, १, १५ ; २, ३, ३, १ — ३ ; ओव०) ।

§ ५९२ —अन्त में –त्ताणं, –त्ताण और इनके साथ साथ –त्ता और –चाणं, –चाण तथा इनके साथ साथ –च्चा लग कर बननेवाले कृदन्त के साथ साथ अ०माग० में अन्त में –याणं, –याण और साथ साथ –य तथा पद्य में छन्द की मात्राएं ठीक करने के लिए –या[1] लग कर बनाया जानेवाला कृदन्त भी मिलता है : आवीलियाण, परिपीलियाण और परिस्सावियाण पीड् तथा स्रु के रूप हैं (आयार० २, १, ८, १) ; उद् उपसर्ग के साथ सिच् का रूप उस्सिञ्चियाणं है (आयार० २, १, ७, ८) ; संसिञ्चियाणं सिच् का रूप है जिसमें सं[2] उपसर्ग जोड़ा गया है (आयार० १, २, ३, ५) ; समुपेहियाणं पद्य में छन्द की मात्राएं ठीक करने के लिए समुप्पेहियाणं के स्थान में आया है । यह ईक्ष् धातु से बना है जिससे पहले समुत्प्र उपसर्गावली आयी है जैसे, समुपेहिया है (§ ३२३ और ५९० ; एर्से० ३८, ३६ ओ आवश्यकनिर्युक्ति १७, ४१ के एक उद्धरण में आया है)[3] ; लद्धियाण = लब्ध्वा है (उत्तर० ६२७) ; आरुसियाणं = आरुष्य है (आयार० १, ८, १, २) ; तक्कियाणं = तर्कयित्वा (आयार० १, ७, २, ४) ; परिवज्जियाण = परिवर्ज्य है (आयार० १, ८, १, १२ और १८) ; ओअत्तियाणं = अपवर्त्य (आयार० २, १, ७, ८) ; पलिच्छिन्दियाणं = परिच्छिद्य है (आयार० १, ३, २, १) ; पलिभिन्दियाणं = परिभिद्य (सूय० २८२) ; अभिजुञ्जियाणं = अभियुज्य है (आयार० १, २, ३, ५) और अकियाणं = अकृत्वा है (ओव० § १४२) ।

१. –याणं को –त्ताण से व्युत्पन्न बताने में ध्वनिसम्बन्धी अजेय कठिनाइयाँ सामने आ जाती हैं । ऐसे अवसरों पर भी याकोबी आयारंगसुत्त के अपने संस्करण में सर्वत्र णं को शब्द से भिन्न स्वतन्त्र रूप से देता है जो ढंग अशुद्ध है, –याण वाले रूप से इसका प्रमाण मिलता है । — २. बी. हस्तलिपि के अनुसार यही पढ़ना चाहिए जिसकी पुष्टि टीकाकारों के अर्थ संसिच्य से होती है । १, ३, २, १ में संसिचमाण की तुलना कीजिए । — ३. याकोबी, महाराष्ट्री एर्सेलुंगन, पेज १५८ ।

§ ५९३—अ०माग० में कई शब्दों के अन्त में समासिमूलक चिह्न –आए लगता है और ये रूप कृदन्त के काम में लाये जाते हैं : आयाए मिलता है (आयार० १, ६, २, १ और २ ; २, १, ३, ६ और उसके बाद ; २, १, ९, २ ; विवाह० १३६ ; निरया० § १७ और १९) = आदाय है ; समायाए है (आयार० १, ५, ३, ५) ; निसाए (भग० ; कप्प०), निस्साए (भग०) = पाली निस्साय = संस्कृत *निश्राय है, जो श्रि के रूप हैं (§ ५९१ में गहाय की तुलना कीजिए) ; संखाए = संख्याय है तथा इसके साथ-साथ उट्ठाय भी आया है (आयार० १, ८,

१, १) ; समुट्ठाए चलता है (आयार० १, २, २, १ ; १, २, ६, १) ; प्र उपसर्ग के साथ ईक्ष् का रूप पेहाए मिलता है (§ ३२३) ; अणुपेहाए (§ ३२३), उवेहाए (आयार० १, ३, ३, १) और संपेहाए (§ ३२३)[१] रूप देखे जाते हैं क्योंकि ये रूप कर्मकारक से सम्बन्धित पाये जाते हैं जैसे, एगं अप्पाणं संपेहाए (आयार० १, ४, ३, २), आउरं लोगं आयाए (आयार० १, ६, २, १), इस कारण इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इनका अर्थ क्रियात्मक है। किन्तु बहुत अधिक अवसरों पर इनके रूप सज्ञात्मक हैं, जैसे कि बार-बार आनेवाले उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठाए उट्ठित्ता (उवास० § १९३ ; निरया० § ५ ; ओव० § ५८ और ६० ; विवाह० १६१ और १२४६) तथा उट्ठाए उट्ठेन्ति इत्यादि में (ओव० § ६१)। टीकाकार उट्ठाए रूप में स्त्रीलिंग *उट्ठा[२] का करणकारक एक० देखते हैं ; इसके अर्थ और शब्द के स्थान के अनुसार यह रूप यही हो सकता है[३]। इसी भाँति, उदाहरणार्थ, अणाणाए पुट्ठा = अनाज्ञया (इसका अर्थ यहाँ पर अनाज्ञानेन है) स्पृष्टाः है (आयार० १, २, २, १) और ऐसे स्थलों पर, जैसे अट्टं एयं तु पेहाए अपरिन्नाए कन्दइ (आयार० १, २, ५, ५) नाममात्र भी सन्देह का स्थान नहीं रह जाता कि अपरिन्नाए = अपरिज्ञया है = अपरिज्ञाय नहीं, जैसा कि टीकाकार इसका अर्थ देना चाहते हैं[४], जब कि इसके पास ही आया हुआ पेहाए इसी भाँति निस्सन्देह कृदन्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु अपने रूप के अनुसार यह = प्रेक्षया है। इन कारणों से मेरा विश्वास है कि ये सब रूप मूल में अन्त में -आ लग कर बननेवाले स्त्रीलिंग के करणकारक के रूप हैं, जो क्रिया के रूपों में भी काम में लाये जाते थे। इसकी पुष्टि से ऐसे स्थल जैसे कि अन्नमन्नवितिगिंछाए पडिलेहाए (आयार० १, ३,३, १) जिसमें अन्नमन्न संधि बताती है कि वितिगिंछाए का रूप सज्ञा का है, जब कि इसके बगल में आनेवाले पडिलेहाए का अर्थ क्रियात्मक लिया जा सकता है, जो निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है निग्गन्था पडिलेहाए बुद्धवुत्तम् अहिट्ठगा (दस० ६२६, २३), यद्यपि यह अन्यथा बहुधा निश्चय ही सज्ञा के काम में भी आता है (उदाहरणार्थ, आयार० १, २, ६, २ ; १, ५, १, १ ; १, ७, २, ३), जब कि हम किसी किसी अवसरों पर सदिग्ध रह जाते हैं (आयार० १, २, ५, ५ ; १, ५, ६, २)। पडिलेहित्ता (आयार० २, २, १, २ और उसके बाद) अथवा पडिलेहिया (आयार० १, ७, ८, ७ ; २, १, १, २ [पाठ में पडिलेहिय है]), जब कृदन्त रूप में काम में आते हैं तब इन शब्दों की आकृति के अनुसार इनका अर्थ 'परिष्कार करना', 'पोंछना' होता है ; किन्तु इस पडिलेहित्ता का दूसरा तथा मूल से निकाला हुआ अर्थ 'साहस करना', 'सहाय करना' भी हो सकता है (आयार० १, १, ६, २ ; १, ७, ८, २०)। पेहाए और संपेहाए का स्पष्टीकरण भी अन्य किसी प्रकार से नहीं किया जा सकता। कृदन्त रूप जैसे आयाए और नीसाए इसी प्रकार के नमूनों के आधार पर ही बनाये जा सके होंगे। -ए = -य की समानता किसी प्रकार नहीं की जा सकती[५]। अ०माग० शब्द अणुवीइ (आयार० १, १, ३, ७ ; १, ४, ३, १ ; १, ६, ५, ३ ; २, २, ३, ३ ; २, ४, १, ३ ; २, ४, २, १९ ; २, ७, १, २ ;

२, ७, २, १ और ८ ; पेज १३३, ८ और १० ; १३४, ५ और उसके बाद ; सूय० ४७४ ; ५३१ ; दस० ६२९, १५ ; ६३०, १ ; दस०नि० ६६१, ३ [पाठ में अणुवीई है]) और नहीं के अर्थ में अ के साथ अणणुवीइ रूप आया है (आयार० पेज १३३,९ और १० ; १३४,६ और उसके बाद)। इसका अर्थ टीकाकारों ने अनुचिन्त्य, अनुविचिन्त्य तथा विचार्य किया है। इन्हीं ग्रन्थों में अन्यत्र इसके जो नाना रूप बार बार आये हैं जैसे, अणुवीयि, अणुवीयी, अणुवीति और अणुचितिय बताते हैं कि यहाँ कृदन्त से कोई प्रयोजन नहीं है। अणुवीइ क्रियाविशेषण है जो = *अणुवीति और इसका अर्थ है 'मूल से', 'बड़ी सावधानी के साथ' तथा इसका सम्बन्ध वैदिक वीति[5] के साथ है।

१. याकोबी कभी संपेहाए कभी सपेहाए और कभी स पेहाए लिखता है, कभी-कभी तो एक ही § में ये नाना रूप[6] देता है, १, ४, ३, २ में जहाँ दसवीं पंक्ति में संपेहाए है और चौदहवीं में स पेहाए। हस्तलिपियाँ इन रूपों के विषय में डाँवाडोल हैं, उदाहरणार्थ १, २, २, ४ की तुलना कीजिए। पद्य में सर्वत्र, जहाँ ह्रस्व मात्रा की आवश्यकता है, संपेहाए रूप आया है, पर इसे सँपेहाए पढ़ना चाहिए। — २. वेबर, भगवती १, ४३५, नोटसंख्या २। — ३. होएर्नले, उवासगदसाओ और उसके अनुवाद की नोटसंख्या २८६ में अपना मत देता है कि यह रूप पुलिंग उट्ठ का सम्प्रदान एकवचन है। — ४. कलकतिया संस्करण में अपरिन्नाय आया है, किन्तु टीकाकारों द्वारा आदृत पाठ, याकोबी वाला अपरिन्नाए ही है। — ५. ए० म्युलर, बाइत्रैगे पेज ६३। — ६. पिशल, वेदिशे स्टुडिएन १, २९५ और उसके बाद की तुलना कीजिए ; गेल्डनर उक्त ग्रन्थ के २, १५६ और उसके बाद में लिखता है कि वीति नये शोध की माँग करता है।

§ ५९४— अप० में -य का -इ हो जाता है (हेच० ४, ४३९) जो प्राकृत -इअ में से अ की विच्युति होने के अनन्तर व्युत्पन्न हुआ है : दइ = शौर० दइय है, जो दय- से बना है (पिंगल १, ५अ [बौं ल्लें नसेन की विक्र० पेज ३३० की तुलना कीजिए] ; ३८ ; ३९ , ८६अ ; १२२), इसका संक्षिप्त रूप भी मिलता है (§ १६६] जो दे है (पिंगल १, ३३) , परिहरि, पसरि रूप मिलते हैं (पिंगल १, १२०अ ; १४३ अ) ; गा का गइ रूप मिलता है (= जाना ; पिंगल २, ६४) ; भइ = *भवि = शौर० और माग० भविअ जो भू से निकला है (पिंगल २, २८३); चलि मिलता है (पिंगल २, ८८) ; यलि है (इंडिशे स्टुडिएन १५, ३९४ , प्रबन्ध० १५९, १) ; करिप्पि = -कुर्य है (पिंगल १, १२३ अ) जो वर्तमानकाल के वर्ग से बना है ; मारि = -मार्य = मारयित्वा है (हेच० ४, ४३९, १) ; संचारि और विचारि रूप आये हैं (पिंगल १, ४३ ; १०७), ला का लइ हो गया है (= लाना : पिंगल १, ३७ ; ८६ अ ; १०७ और १२१) ; करि आया है (हेच० ४, ३५७, ४ ; पिंगल १, ८१ ; ८२ ; ८६) ; ज्ञा का जाणि रूप मिलता है (पिंगल १, ११९)। ठवि के साथ साथ (पिंगल १, १०२ और १०७)

ओ=शौर० ठविअ = -स्थाप्य है थप्पि रूप भी पाया जाता है (पिंगल १, १२३ अ ; १३७ अ) जो द्विकारवाला रूप माना जाना चाहिए। यह द्विकार पद्य में छन्द की मात्राए केवल मिलाने के लिए भी आ सकता है जैसा कि जि के रूप जिण्णि = *जिणिअ मे हुआ है (§ ४७३) और श्रु से बने सुण्णि = शौर० सुणिअ म भी यही प्रक्रिया दिखाई देती है (पिंगल २, ११२ , २४२) । यदि -इअ वाले रूप जैसे कड्ढिअ, लइअ (पिंगल १, १०७ , १२१), निसुणिअ, सुणिअ (सरस्वती कण्ठाभरण १४०, १ , २१६, ९) शुद्ध हं अथवा नहीं, इसका निर्णय आलोचनायुक्त पाठ ही कर सकेंगे। मुक्ति (पिंगल १, ११६ अ) यह सूचना देता है कि इसका रूप कभी *मुक्त्य रहा होगा, इसका अर्थ यह हुआ कि यह मुक्त्वा और -मुच्य का दूसरा रूप है।

(चार) शब्दरचना

§ ५९५—संस्कृत के उपसर्गों के अतिरिक्त प्राकृत में बहु संख्यक उपसर्ग ऐसे हं, इनमें विशेष कर तद्धित उपसर्ग, जिनका संस्कृत म अभाव है। कुछ ऐसे उपसर्ग भी हे, जो संस्कृत में कम काम में लाये जाते है और प्राकृत में उनका बोलबाला है। इस वर्ग म ल- उपसर्गों का विशेष प्रचार है। व्याकरणकार (वर० ४, २५ , चड० २, २० और पेज ४५ , हेच० २, १५९ , क्रम० २, १४० , मार्क० पन्ना ३६) बताते हैं कि -आल, -आलु, -इल्ल और -उल्ल प्रत्यय मत् और वत् के अर्थ में काम मे लाये जाते हैं। इस नियम से महा० में सिहाल = शिखावत् है (गउड०), अ० माग० म सद्दाल = शब्दवत् (भाम० ४, २५ , हेच० २, १५९ , ओव०), धणाल = धनवत् है (भाम० ४, २५), जडाल = जटावत् है (चड० , हेच०), जोण्हाल = ज्योत्स्नावत् है (हेच० [इस जोण्हाल से हिन्दी म जुन्हाई और कुमाउनी म जुन्हालि = चाँदनी निकले हं। —अनु०]), फडाल = *फटावत् है (चड० , हेच०) , रसाल = रसवत् (हेच०), णिद्दाल = *निद्रावत् (क्रम०), सद्धाल = श्रद्धावत् (चड०) तथा हरिसाल = हर्षवत् (मार्क०) हैं। — नीचे दिये गये अ०माग० रूपों में बिना अर्थ मे किसी प्रकार के परिवर्तन के आल + क आया है महालय = महत् (आयार० २, १, ४, ५ , उवास० , ओव०; भग०), इसका रूप स्त्रीलिंग मे महालिया है (उवास० , ओव०) , पमहालिय और स्त्रीलिंग म पमहालिया आवे है (§ १४९), स्त्रीलिंग मे केमहालिया भी मिलता है (§ १४९ , जीवा० २१६ तथा २२० और उसके बाद), अ०माग० और जै०महा० म महइमहालय है (आयार० २, ३, २, ११ , २, ३, ३, १३ , उवास० , नायाध० , एर्से०) तथा इसका स्त्रीलिंग अ०माग० म महइमहालिया मिलता है (उवास० , ओव० , निरया०) । यह रूप धनत्ववाचक है। इसम दूसरा स्त्रीलिंग देखना (लौयमान, औपपात्तिक सुत्त), जैसा कि स्वयं लौयमान ने लिखा है सम्भव नहीं है क्योंकि यह शब्द पुलिंग और नपुसकलिंग के काम में भी आता है। मीसालिअ (हेच० २, १७०) *मीसाल = मिश्र के धर्मवाचक म भूतकालिक अंशक्रिया का रूप है। —

निम्नलिखित रूपों में –आलु आया है जो स्वयं संस्कृत में वर्तमान है (ह्विटनी § ११९२; १२२७) : णिद्दालु = निद्रालु है (भाम० ; क्रम०) ; ईसालु = ईर्ष्यालु है (हेच० ; मार्क०), णेहालु = स्नेहल है (चंड०; हेच०), दआलु = दयालु है (हेच०)। क: स्वार्थे लग कर महा० में लज्जालुआ (हेच० ; हाल), संकालुअ (गउड०) और सद्धालुअ रूप बने हैं (हाल) । — प्राकृत बोलियों में –इल्ल का प्राधान्य है जो इल के स्थान में आया है (§ १९४) । इससे बने रूप निम्नलिखित हैं : विआरिल्ल (भाम०), सोहिल्ल (रुद्र०, हेच०), घणइल्ल (क्रम०), गुणिल्ल (मार्क०), छाइल्ल, जमइल्ल (हेच०), फलिल्ल (चड०) रूप पाये जाते हैं, महा० में कंटइल्ल, केसरिल्ली, तुप्पिल्ल, थलइल्ल और णेउरिल्ल मिलते हैं (गउड०), माणइल्ल, राइल्ल, लोहिल्ल, सोहिल्ल और हरिल्ली भी हैं (हाल); महा० और अ०माग० में तणइल्ल पाया जाता है (= तिनकों से भरा : गउड० ; जीवा० ३५५) ; अ०माग० में *कण्टइल्ल* आया है (पण्हा० ६१ ; दस०नि० ६६०, १४), पद्य में छन्द की मात्रा घटाने के लिए कंटइल भी देखा जाता है (सूय० २९३), तूणइल्ल आया है (अणुओग० ११८ ; पण्हा० ४६५ ; ५१३ ; ५२२ ; ओव० कप्प०), नियडिल्ल = निकृतिमत् (उत्तर० ९९०), माइल्ल = मायाविन् (सूय० २३३ , ठाणग० ५८२) और थमाइल्ल रूप पाये जाते हैं (आयार० १, ८, ४, १६), सशाओं में भी यह प्रत्यय लगता है, –ता प्रत्यय लगाये गये नियडिल्लया तथा माइल्लया इसके उदाहरण हैं (ठाणग० ३२८ ; विवाह० ६८७ ; ओव० ; § २१९ की तुलना कीजिए) ; अरिसिल्ल = अर्शस, कसिल्ल = कासवत् और सासिल्ल = श्वासिन् हैं (विवाग० १७७), गण्ठिल्ल = ग्रन्थिल (विवाह० १३०८), भासिल्ल = भाषिन् (उत्तर० ७९१) और भाइल्लग = भागिन् है (ठाणग० १२०) ; जै०महा० में कलंकिल्ल = कलंकिन् है (कालका०), मार्ग से सत्थिल्लय बना है (एर्सें०), गोट्ठिल्लय = गौष्ठिक है (आव०एर्सें० ३६, ३७) । राजशेखर और बाद के लेखक –इल्ल का व्यवहार केवल महा० में ही नहीं करते, जैसे कि मुत्ताहलिल्ल (कर्पूर० २, ५ ; १००, ५), थोरत्थणिल्ल और चन्दलिल्ल (कर्पूर० ८१, ४ ; ८८, २), किन्तु भाषा की परम्परा के विरुद्ध स्वयं शौर० में भी इसे काम में लाते हैं, जैसे कोदूहलिल्ल (बाल० १६८, ३) , लच्छिल्ल और किवाइल्ल आये हैं (कालेयक० २, ८ ; ९, ७) ; तत्तिल्ल मिलता है (मल्लिका० ७७,१२), महा० में भी है (हेच० २,२०३, हाल) और दाक्षि० में मिलता है (मृच्छ० १०१, २१) । जैसे तत्तिल्ल में (देशी० ५, ३ [यह तत्तिल्ल तत्त = तत्त + इल्ल है, तत्त का अर्थ 'गरम', 'काम में तेज' है, इस कारण इस देशी प्राकृत रूप का अर्थ 'तत्पर' है । कुमाउनी में इसका रूप तितिर हो गया है, इस बोली में जो तेज–तर्रार होता है उसे 'तितिर' कहते हैं याने तत्तिल्ल है कहते हैं । —अनु०]) । –इल्ल लगा है वैसे ही अन्य प्रादेशिक बोलियों में भी यह देखा जाता है, जैसे फणइल्ल में (= तोता : पाइय० १२५ ; देशी० २, २१) जो फण से बना है ; गोइल्ल = गोमन् है (देशी० २, ९८ ; [कुमाउनी में इसका रूप गोर हो गया है और अर्थ 'गाय बैलों की प्रचुरता' है । —अनु०]),

महा० और शौर० मे छइल्ल (= चतुर ; विदग्ध : पाइय०, १०१ ; देशी० ३, २४ ; हाल ; कर्पूर० १, २ ; ४ ; ८ [शौर०] ; ७६, १० [शौर०] ; बालेयक० ३, ७) जिसे वेबर[1] ठीक ही छद् से सम्बन्धित बताता है तथा जो अप० छइल्ल से (= सुन्दर : हेच० ४, ४१२) सर्वथा भिन्न है क्योंकि जैसा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएं सिद्ध करती है, यह *छविल्ल से निकला है अर्थात् इसका सम्बन्ध छवी से है (= सुन्दरता : पाइय० ११३) = संस्कृत छवि है, जब कि छाइल्ल (= प्रदीप ; सदृश ; ऊन ; सुरूप : हेच० २, १५९ ; देशी० ३, ३५) जो छाया से सम्बन्धित है, त्रिविक्रम इसे २, १, ३० मे छइल्ल से सम्बन्धित बताता है जो अशुद्ध है। -इल्ल का एक अर्थ 'वहाँ उत्पन्न अथवा वहाँ पाया जानेवाला' है (तत्रभवे ; भवे हैं : चंड० २, २० पेज ४५ ; हेच० २, १६३ ; मार्क० पन्ना ३७), गामिल्ल (= किसान : चंड०), गामिल्लिआ (= किसान की स्त्री : हेच०), अ०माग० मे गामेल्लग रूप पाया जाता है (विवाग० ३१) ; महा० मे घरिल्लअ (= घर का स्वामी : हाल) मिलता है ; घरिल्ली भी है (= गृहिणी : देशी० २,१०६) और महा०, जै०महा० में तथा विशेषतः अ०माग० मे बिना उस शब्द का अर्थ बदले जिसमे यह -इल्ल जुड़ता है इसका प्रयोग किया जाता है (स्वार्थे : हेच० २,१६४)। इस प्रकार महा० मे मूइल्लअ = मूक है (हाल) ; अ०माग० मे बाहिरिल्ल = बाहिर है (जीवा० ८७९ ; विवाह० १९८ और १८७६ तथा उसके बाद ; ठाणग० २६१ और उसके बाद) ; महा० में अबाहिरिल्ल आया है (हाल) ; अन्धिल्लग = अन्ध है (पण्हा० ७९) और पल्लविल्ल = पल्लव है (हेच० २, १६४)। इसमें सर्वप्रथम स्थान विशेषणों का है जो संख्या, काल और स्थान बताते हैं और आंशिक रूप मे क्रियाविशेषणों से बनते हैं। इस प्रकार अ०माग० मे आदिल्ल = आदि है (विवाह० ४६३ ; ८५८ ; ९२३ ; १११८ ; १३३० ; जीवा० ७८८ और १०४२ ; पण्णव० ६४२ और ६४६), आदिल्लग रूप भी पाया जाता है (विवाह० १५४७) ; अ०माग० मे पढमिल्ल = प्रथम है (विवाह० १०८ और १७७), पढमिल्लग भी मिलता है (नायाध० ६२४) ; अ०माग० मे उवरिल्ल चलता है (ठाणग० ३४१ ; अणुओग० ४२७ और उसके बाद ; जीवा० २४० और उसके बाद ; ७१० ; नायाध० ८६७ ; पण्णव० ४७८ ; सम० २४ ; ३६ और १४४ ; विवाह० १०२ ; १९८ ; २२४ ; ३९२ ; ४३७ ; १२४० ; १३३१ और उसके बाद ; १७७७ ; ओव०), इसका अर्थ 'उत्तरीय' (वस्त्र) है, महा० मे अवरिल्ल, वरिल्ल हैं (§ १२३), सव्वउवरिल्ल (जीवा० ८७८ और उसके बाद), सव्वुप्परिल्ल भी मिलते हैं (जीवा० ८७९); अ०माग० मे उत्तरिल्ल है (ठाणग० २६४ और उसके बाद ; ३५८ ; जीवा० २२७ और उसके बाद; नायाध० १४५२ ; १५१८ ; १५२१ ; पण्णव० १०३ और उसके बाद ; ४७८ ; राय० ६८ और ७१ ; विवाह० १३३१ और उसके बाद), दाहिणिल्ल और दक्खिणिल्ल = दक्षिण हैं (§ ६५), पुरस्तात् का रूप पुरत्थिमिल्ल[1] है (ठाणग० २६४ और उसके बाद ; ४९३ ; जीवा० २२७ और उसके बाद ; ३४५ ; पण्णव० ४७८ ; राय० ६७ और ७२ और उसके बाद ; सम० १०६ ; १०८ ; ११३ और उसके बाद ;

विवाग० १८१ ; विवाह० १३३१ और उसके बाद), *प्रत्यस्तम् का रूप पच्च-त्थिमिल्ल[4] आया है (ठाणंग० २६४ और उसके बाद ; जीवा० २२७ और उसके बाद ; पण्णव० ४७८ ; सम० १०६ और ११३ तथा उसके बाद ; विवाग० १८१ ; विवाह० १३३१ और उसके बाद ; १८६९), उत्तरपच्चत्थिमिल्ल भी है (ठाणग० २६८) ; अ०माग० और जै०महा० में मज्झिल्ल = मध्य है (ठाणग० ३४१ ; जीवा० ७१० ; विवाह० १०४ ; १२२ ; १२४० और उसके बाद ; आव० एर्से० ४६, २९ ; एर्से०) ; अ०माग० और जै०महा० में मज्झिमिल्ल = मध्यम है (अणुओग० ३८३) ; अ०माग० में हेट्ठिल्ल चलता है (§ १०७) ; अ०माग० और जै०महा० में पुच्चिल्ल मिलता है (उत्तर० ७६४ और ७७० ; आव०एर्से० ८,४६), पुरिल्ल भी आया है (वर० ४, २० की टीका देखिए ; चड० २,२० पेज ४५ ; हेच० २, १६३ और १६४ ; मार्क० पन्ना ३७ ; देशी० ६, ५३), यह रूप पुरा तथा पुरस् का है, पुरिल्लदेव (= असुर : देशी० ६, ५५ ; वे०बाइ० १३, १२ में त्रिविक्रम), पुरि-ल्लपहाणा (= साँप का दाँत : देशी० ६,५६) इसका दूसरा शब्दार्थ प्रधान है और अ०माग० में पच्छिल्ल (विवाह० १११८ और १५२०) तथा पच्छिल्लय मिलते हैं (विवाह० १५९३ और उसके बाद)। अ०माग० में रइल्लिय = रजोयुक्त है (विवाह० ३८७),[5] देशी प्राकृत में थेणिल्लिअ (= हृत ; भीत : देशी० ५, ३२ ; § ३०७ की तुलना कीजिए) है। ये रूप क्रमशः रजस् और स्तेन से निकले नामधातुओं के कर्मवाच्य में भूतकालिक अंशक्रिया के रूप हैं[6]। अ०माग० में आणिल्लिय = आनीत है (विवाह० ९६१)। इसका स्पष्टीकरण इससे होता है कि आणिअ = आनीत विशेषण और संज्ञा के काम में भी आता है (देशी० १, ७४)। जैसा कि उदाहरणों से पता लगता है, इनमें वर्ग का अन्तिम स्वर –इल्ल से पहले आंशिक रूप में लुप्त हो जाता है और आंशिक रूप में बना रहता है। — –उल्ल भी उसी अर्थ में काम में आता है जिस अर्थ में –इल्ल, किन्तु बहुत कम प्रयोग में आता है : विआरुल्ल = विकारवत् है (भाम० ४, २५ ; चड० २, २० पेज ४५ ; हेच० २, १५९) ; मंसुल्ल = मांसवत् और दप्पुल्ल = दर्पिन् हैं (हेच० २, १५९) ; उपहार का रूप उवहारुल्ल मिलता है (क्रम० २, १४० ; पाठ में उवहारुण्णं है) ; आत्मन् से अप्पुल्ल रूप बनाया गया है (भाम० ४, २५ ; चड० २, २० पेज ४५ ; हेच० २, १६३ ; मार्क० पन्ना ३६ [हस्तलिपि में अणुल्लो है]) ; पिउल्लअ = प्रिय, मुहुल्ल = मुख और हत्थुल्ला = हस्तौ हैं (हेच० २, १६४) ; महा० में छउल्ल (हाल) और इसके साथ साथ छइल्ल मिलता, थणुल्लअ = स्तन है (गउड०) ; अ०माग० में पाउ-ल्लाइं = पादुके है (सूय० २५३) ; अ०माग० और जै०महा० में फग्गुल्ल = फल्गुर है (विवाग० १७७ ; एर्से०) ; अप० में चुडुल्लअ = चूडक है (हेच० ४, ३९५, २ ; ४३०, २), कुडुल्ली = कुटी (हेच० ४, ४२२, १४, ४२९, ३ ; ४३१, २) ; बाउल्ल = वाचाल है (देशी० ७,५६)। — निम्नलिखित रूपों में –अल्ल के स्थान में –अल्ल वर्तमान है : महा० में पॅक्कल्ल = पक्क (हेच० २, १६५ ; हाल), जै०-महा० में पॅक्कल्लय आया है (एर्से०), पक्कल्ल भी मिलता है (हेच०) ; मालती-

माथव ३४८, १ की तुलना कीजिए ; अप० में एकल रूप भी देखा जाता है (प्रबन्ध० १२१, १०); महा० और अ०माग० मे महल्ल = महत् है (गउड० ; प्रबन्ध० ११३, ३ ; आयार० २, ४, २, ११ और १२), अ०माग० मे महल्लय है (आयार० २, ४, २, १०) । इसका स्त्रीलिंग रूप महल्लिया है (आयार० २, १, २, ७), सुमहल्ल भी पाया जाता है (विवाह० २४६) ; अ०माग० में अन्धल्ल = अन्ध है (पण्हा० ५२३), इसके साथ साथ अन्धल रूप भी चलता है (हेच० २, १७३); महा० में पार्श्व के रूप पासल्ल और पासल्लिय है (गउड०) ; नवल्ल = नव है (हेच० २, १६५) ; मूअल्ल और इसके साथ-साथ मूअल = मूक है (देशी० ६, १३७), जिनसे सम्बन्धित महा० रूप मूअल्लिअअ (रावण० ५, ४१ ; यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) नामधातु है । माग० मे भी पिसल्ल = पिशाच का स्पष्टीकरण सम्भवतः शुद्ध *पिसाअल्ल = पिशाच + अल्ल से हो सकती है जो पिशाचालय से निकला हो (§ २३२)। सुहल्ली और सुहेल्ली के विषय में § १०७ देखिए । माग० मे गामेलुअ (मृच्छ० ८७, १) = ग्राम्य, ग्रामीण है जिसमे -एलुअ अर्थात् एलु + क प्रत्यय आया है ।

१. हाल ७२० की टीका । इसके पास में ही नीचे दिया हुआ रूप छउल्ल मिलता है । — २. हेमचन्द्र ४, ४१२ पर पिशल की टीका । — ३. ग्रन्थों में बहुधा अशुद्ध रूप पुरच्छिमिल्ल मिलता है और इसके आधारभूत शब्द पुरत्थिम के स्थान में पुरच्छिम पाया जाता है । — ४. ग्रन्थों के पाठों में बहुधा पच्चत्थिमिल्ल और पच्चच्छिमिल मिलते हैं। इस शब्द का पश्चात् से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि पश्चात् का प्राकृत रूप पच्छिल्ल है । § १४९ और होएर्नले, उवासगदसाओ में पच्चत्थिम देखिए । — ५. इसके पास में ही आनेवाला रूप मइलिय = कठिनमलयुक्त शुद्ध ही जान पड़ता है, क्योंकि इसका सम्बन्ध अ०माग० मइलिन्ति तथा महा० मइलेइ से है (§ ५५९)। — ६. उदाहरणार्थ, संस्कृत तुन्दिलित की तुन्दिल से तुलना कीजिए और इनसे अ०माग० रूप तुन्दिल्ल की (उत्तर० २२९) । ल का द्विकार ध्वनिबल पर निर्भर है। उक्त उदाहरण इस बात का निश्चय कर देते हैं जैसे, कुडिल्ल = कुटिल (पाइय० १५५), कुडिल्लअ और कोडिल्ल भी मिलते हैं (देशी० २, ४०), तुन्दिल्ल = तुन्दिल तथा गण्ठिल्ल = ग्रंथिल हैं (उत्तर० २२९ ; विवाह० १३०८) ।

§ ५९६—कुछ प्राकृत बोलियों में तृन् प्रत्यय रूप से बार बार -इर पाया जाता है (वर० ४, २४ ; हेच० २, १४५ ; क्रम० २, १३८ ; मार्क० पन्ना ३६), यह धातु के भाव को मनुष्य का 'स्वभाव', 'कर्तव्य' यह बताने के काम में लाया जाता है । उसने जिस धातु के अन्त में यह प्रत्यय लगता हो उसका भली-भाँति पालन किया है[१] । इस प्रकार महा० में अग्घाइरी (स्त्रीलिंग) आया है जो आ उपसर्ग के साथ घ्रा धातु से बना है (हाल), अन्दोलिर है (गउड०) इसका स्त्रीलिंग अन्दोलिरी बनता है (हाल), अलज्जिर आया है (हाल), अवलम्बिरी भी देखा जाता है

(स्त्रीलिंग), उल्लचिरि, उल्लाविरी मिलते हैं (स्त्रीलिंग ; हाल) , **उद्** उपसर्ग के साथ **श्वस्** का रूप **ऊससिर** है (हेच०), **गमिर** आया है (हेच० ; क्रम०) ; महा० में **घोलिर** मिलता है (गउड० ; हाल ; रावण०), बाद के लेखकों ने इसका शौर० में भी प्रयोग किया है (मल्लिका० १०९, ९; १२२, १२), महा० में **परिघोलिर** भी पाया जाता है (गउड०) ; महा० और अप० में **जम्पिर** तथा अ०माग० में **अयम्पिर** जल्प् से बने हैं (§ २९६) ; अ०माग० में **झुसिर** और **अज्झुसिर** रूप हैं (§ २११) ; महा० में **णच्चिरी** (स्त्रीलिंग) है जो **णच्चइ = नृत्यति** से बना है (हाल) ; **नमिर** भी देखा जाता है (हेच०) ; अ०माग० में **परि** उपसर्ग के साथ **ष्वष्क्** का रूप **परिसक्किर** है (नायाध० ; § ३०२ की तुलना कीजिए), महा० में **प्र** उपसर्ग के साथ **ईर्ष्** का रूप **पे॑च्छिर** हो गया है तथा इसका स्त्रीलिंग **पे॑च्छिरी** भी मिलता है (हाल ; सर्वत्र यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) ; महा० और अप० में **भ्रम्** का **भमिर्** मिलता है (भाम० ; हेच० ; मार्क० ; गउड० ; हाल ; रावण० ; हेच० ४, ४२२, १५) ; **रोनिर** आया है (हेच०), महा० में **रोइरी** और **रुइरी** रूप हैं जो **रु** से बने हैं (हाल) ; महा० में **लम्बिर** (गउड०), **लसिर** (रावण०) और **लज्जिर** (हेच०) मिलते हैं, इसका स्त्रीलिंग **लज्जिरी** भी पाया जाता है (हाल) ; महा० और अप० में तथा राजशेखर की शौर० में भी **वे॑ल्लिर** और **उव्वे॑ल्लिर** मिलते हैं (§ १०७) ; महा० और जै०महा० में **वेपते** का **वेविर** रूप है (हेच० ; गउड० ; हाल , रावण० ; एर्त्से०), बाद के लेखकों ने इसका प्रयोग शौर० में भी किया है (मल्लिका० ११९, २ , १२३, १५) ; **सहिर** आया है (मार्क०), स्त्रीलिंग **सहिरी** भी है (हाल) ; **हसिर** मिलता है (भाम० ; हेच०), महा० में स्त्रीलिंग **हसिरी** भी है (गउड० ; हाल) ; **अपडिच्छिर** (= मूढमतिः देशी० १, ४३) **प्रति** उपसर्ग के साथ **इष्** से बना है। बहुत विरल यह **–इर** तद्धित प्रत्यय के काम में भी आता है जैसा महा० म **गव्विर** और स्त्रीलिंग **गव्विरी गर्व** से निकले हैं (हाल) । **–इक** के स्थान में **–उक** प्रत्यय के विषय में § ११८ और १६२ [ऊसुग] तथा ३२६ [झुक्ञ] देखिए।

१. हेमचन्द्र २, १४५ पर पिशल की टीका। वेबर, हाल[1] पेज ६८ की तुलना कीजिए।

§ ५९७— **–त्व** जो प्राकृत में **–त्त** हो जाता है (§ २९८) अ०माग० और जै०महा० में काम में आता है। यह अ०माग० में बहुधा सप्रदानकारक में **–त्ताए** रूप में आता है (§ ३६१ और ३६४) . **पीणत्त** मिलता है, **पुप्फत्त = पुष्पत्व** है (हेच० २, १५४) ; अ०माग० में **मूलत्त, कन्दत्त, खन्दत्त, तयत्त, सालत्त, पवालत्त, पत्तत्त, पुप्फत्त, फलत्त** और **बीयत्त** रूप पाये जाते हैं (सूय० ८०६) ; **आणुगामियत्त** भी आया है (ओव० § ३८ पेज ४९ ; विवाह० १६२) ; **देवत्त** चलता है (उत्तर० २३५ ; मग० ; उवास० ; ओव० ; कप्प०) ; **नेरइयत्त = नैरयिकत्व** है (विवाग० २४४ ; उवास० ; ओव०) , **माणुस्सत्त** देखा जाता है (उत्तर० २३४ और उसके बाद) ; **पुमत्त = पुंस्त्व** है (§ ४१२), **दस्युत्त = *दस्युत्व** (सूय०

८१२ ; § ८११ की तुलना कीजिए) ; **सामित्त**, **भट्टित्त** और **महत्तरगत्त** = **स्वामित्व**, **भर्तृत्व** और महत्तरकत्व है (पण्णव० ९८ ; १००, ; १०२ ; ११२); जै०महा० में **उज्जुगत्त** और **वंकत्त** = ऋजुकत्व तथा **वक्रत्व** हैं (आव०एर्से० ४६, ३१ और ३२) ; **मणुयत्त** = मनुजत्व, **मिच्छत्त** = **मिथ्यात्व** तथा **सीयत्त** = **शीतत्त्व** हैं (कालका०), **असोयत्त** = **अशौचत्व** है (एर्से०) । **मउअत्तया** = *मृदुकत्वता में –त्व में **ता** प्रत्यय जोड़ा गया है (हेच० २, १७२) । अनेक बार, विशेषतः महा० और शौर० में वैदिक –**त्वन** = प्राकृत **त्तण** है, अप० में इसका –**प्पण** हो जाता है (§ २९८ और ३०० ; वर० ४, २२ ; हेच० २, १५४ ; क्रम० २, १३९ ; मार्क० पन्ना ३५) । इस प्रकार महा० में **अमरत्तण** आया है (रावण०), **अलसत्तण**, **असहत्तण**, **आउलत्तण**, **गरुअत्तण**, **चिरजीवित्तण**, **णिउणत्तण** (हाल), **णिद्दत्तण**, **तुच्छत्तण**, **दारुणत्तण**, **दीहत्तण** (गउड०) रूप पाये जाते हैं ; **पिअत्तण** मिलता है (हाल) ; **पीणत्तण** है (भाम० ; हेच० ; गउड० ; रावण०), **महुरत्तण** भी पाया जाता है (गउड० ; हाल) ; आ– वर्ग के उदाहरण : **महिलत्तण** है (गउड० ; हाल) ; **वेसत्तण** = *वेश्यात्वन (हाल); इ– और ई– वर्ग के उदाहरण : **असइत्तण** मिलता है (हाल) ; **सुअइत्तण** है (गउड०) ; **मइत्तण** = *मतित्वन है (गउड०) और **दूइत्तण** = *दूतीत्वन है (हाल) ; **उ**– वर्ग के उदाहरण : **तरुत्तण** आया है (गउड०) ; अ०माग० में **तक्करत्तण** = *तस्करत्वन है (पण्हा० १४७) ; **तिरिक्खत्तण** = *तिर्यक्षत्वन है (उत्तर० २३४) ; **आयरियत्तण** = *आचार्यत्वन है, इसके साथ-साथ **आय-रियत्त** भी चलता है (उत्तर० ३१६) ; जै०महा० में **पाडिहेरत्तण** = *प्रातिहार्य-त्वन है (आव०एर्से० १३, २५), **धम्मत्तण** = *धर्मत्वन (कालका० २५०, १२), **सावयत्तण** = *श्रावकत्वन (द्वार० ५०६, २८), **तुरियत्तण** = *त्वरि तत्त्वन (आव०एर्से० ४२, २१ ; ४३, ३) रूप आये हैं, **परवसत्तण** भी मिलता है (एर्से०) ; शौर० में **अण्णहिअत्तण** = *अन्यहृदयत्वन (विद्ध० ४१, ८ और ९ ; नागा० ३३, ६), **पज्जाउलहिअअत्तण** = *पर्याकुलहृदयत्वन (कर्ण० १९, १०), **सुण्णहिअअत्तण** = *शून्यहृदयत्वन (मृच्छ० २७, १९ ; प्रिय० २०, ४ ; नागा० २१, ६) रूप मिलते हैं, **अहिरामत्तण** आया है (विक्र० २१; १) ; **णिसंसत्तण** = *नृशंसत्वन है (रत्ना० ३२७, १८) ; **णिउणत्वन** = *निपुणत्वन है (ललित० ५६१, १) ; **दूदत्तण** = *दूतत्वन है (जीवा० ८७, १३) रूप पाये जाते हैं ; **वालत्तण** आया है (ललित० ५६१, २ [पाठ में **वालत्तण** है] ; उत्तररा० १२१, ४ ; मुद्रा० ४३, ५) ; **बम्हत्तण** (रत्ना० ३०८, ५) और **बम्हणत्तण** भी आये हैं (प्रसन्न० ४६, १२) ; **सहाअत्तण** = *सहायत्वन है (शकु० ५९, १० ; जीवा० ३९, १५ ; ७८, २) ; **अणुजीवित्तण** मिलता है (महावीर० ५४, १९) ; **घरणित्तण** है (बाल० ५४, १७) ; **उचिदकारित्तण** काम में आया है (अनर्घ० ३१५, १०) ; **भअवदित्तण** पाया जाता है (मालती० ७४, ३) ; **मेधावित्तण** है (रत्ना० ३२०, ३२) ; **लज्जालुइत्तण** (महावीर० २९, ६), **सरसकइत्तण**

(स्त्रीलिंग), उल्लविरि, उल्लाविरी मिलते हैं (स्त्रीलिंग , हाल) , उद् उपसर्ग के साथ श्वस् का रूप ऊससिर है (हेच०), गमिर आया है (हेच० , क्रम०), महा० में घोलिर मिलता है (गउड० , हाल , रावण०), बाद के लेखकों ने इसका शौर० में भी प्रयोग किया है (मल्लिका० १०९, ९; १२२, १२), महा० में परिघोलिर भी पाया जाता है (गउड०) , महा० और अप० में जम्पिर तथा अ०माग० में अयम्पिर जल्प् से बने हैं (§ २९६) , अ०माग० में झुसिर और अझुसिर रूप हैं (§ २११) , महा० में णच्चिरी (स्त्रीलिंग) है जो णच्चइ = नृत्यति से बना है (हाल) , नमिर भी देखा जाता है (हेच०) ; अ०माग० में परि उपसर्ग के साथ ष्वष्क् का रूप परिसक्किर है (नायाध० , § ३०२ की तुलना कीजिए), महा० में प्र उपसर्ग के साथ ईर्ष् का रूप पेॅच्छिर हो गया है तथा इसका स्त्रीलिंग पेॅच्छिरी भी मिलता है (हाल , सर्वत्र यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए) , महा० और अप० में भ्रम् का भमिर् मिलता है (भाम० , हेच० ; मार्क० ; गउड० ; हाल , रावण० , हेच० ४, ४२२, १५) , रोविर आया है (हेच०), महा० में रोइरी और रुइरी रूप हैं जो रु से बने हैं (हाल) , महा० में लम्बिर (गउड०), लसिर (रावण०) और लज्जिर (हेच०) मिलते हैं, इसका स्त्रीलिंग लज्जिरी भी पाया जाता है (हाल) , महा० और अप० में तथा राजशेखर की शौर० में भी वेॅल्लिर और उव्वेॅल्लिर मिलते हैं (§ १०७) , महा० और जै०महा० में वेपते का वेविर रूप है (हेच० , गउड० , हाल , रावण० , एर्त्से०), बाद के लेखकों ने इसका प्रयोग शौर० में भी किया है (मल्लिका० ११९, २ , १२३, १५) , सहिर आया है (मार्क०), स्त्रीलिंग सहिरी भी है (हाल) , हसिर मिलता है (भाम० , हेच०), महा० में स्त्रीलिंग हसिरी भी है (गउड० , हाल) , अपडिच्छिर (= मूढमतिः देशी० १, ४३) प्रति उपसर्ग के साथ इष् से बना है। बहुत विरल यह –इर तद्धित प्रत्यय के काम में भी आता है जैसा महा० में गव्विर और स्त्रीलिंग गव्विरी गर्व से निकले हैं (हाल) । –इक के स्थान में –उक प्रत्यय के विषय में § ११८ और १६२ [ऊसुग] तथा ३२६ [झरुअ] देखिए।

१ हेमचन्द्र २, १४५ पर पिशल की टीका। वेबर, हाल[१] पेज ६८ की तुलना कीजिए।

§ ५९७— –त्व जो प्राकृत में –त्त हो जाता है (§ २९८) अ०माग० और जै०महा० में काम में आता है। यह अ०माग० में बहुधा सम्प्रदानकारक में –त्ताए रूप में आता है (§ ३६१ और ३६४) पीणत्त मिलता है, पुप्फत्त = पुष्पत्व है (हेच० २, १५४) , अ०माग० में मूलत्त, कन्दत्त, खन्दत्त, तयत्त, सालत्त, पवालत्त, पत्तत्त, पुप्फत्त, फलत्त और बीयत्त रूप पाये जाते हैं (सूय० ८०६) , आणुगामियत्त भी आया है (ओव० § ३८ पेज ४९ , विवाह० १६२) , देवत्त चलता है (उत्तर० २३५ , भग० , उवास० , ओव० , कप्प०) , नेरइयत्त = नैरयिकत्व है (विवाग० २४४ , उवास० ; ओव०) , माणुसत्त देखा जाता है (उत्तर० २३४ और उसके बाद) , पुमत्त = पुस्त्व है (§ ४१२), कक्खत्त = ०कक्षत्व (सूय०

बाद बहुत बार -अ = -क भी देखने में आता है (हेच० ४, ४२९ और ४३०)। इस प्रकार : कण्णडअ = कर्ण है (हेच० ४, ४३२) ; दव्वडअ = द्रव्य है (शुक० ३२, ३); दिअहड = दिवस है (हेच० ४, ३३३ ; ३८७, २) ; दूअडअ = दूत (हेच० ४, ४१९, १) ; देसड (हेच० ४, ४१८, ६), देसडअ (हेच० ४, ४१९, ३) = देश हैं ; दोसड = दोष है (हेच० ४; ३७९, १) ; माणुसड = मानुष है (प्रबन्ध० ११२, ८) ; मारिअड = मारित (हेच० ४, ३७९, २) ; मित्तड = मित्र है (हेच० ४, ४२२, १) ; रण्णडअ = अरण्य है (हेच० ४,३६८ [मारिअड का मारवाडी में मारयोड़ो रूप है, यह ड्यो अन्य क्रियाओं में भी जोडा जाता है। रण्णडअ का मराठी में रानटी रूप है। — अनु०]) ; रूअडअ = रूपक है (हेच० ४, ४१९, १) ; हत्थड और हत्थडअ = हस्त है (हेच० ४, ४२९, १ ; ४४५, ३) ; हिअड = *हृद = हृद् है (क्रम० ५, १५ और १७ ; हेच० ४, ४२२, १२), हिअडअ भी मिलता है (हेच० ४, ३५०, २ [हिन्दी में हत्थड और हिअडअ आये हैं ; बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'दु- हत्थड़' का प्रयोग किया है और हिअडा या हियडा प्राचीन हिन्दी मे बार बार आया है। —अनु०])। मणिअड = मणि में (हेच० ४,४१४,२) -क + -ट है = *मणिकट माना जाना चाहिए क्योंकि इसमें जो पदच्छेद है वह इसका प्रमाण है, इसलिए इसमें -अड प्रत्यय नहीं है। स्त्रीलिंग के अन्त में -डी आता है (हेच० ४, ४३१) : णिद्दडी = निद्रा है (हेच० ४, ४१८, १) ; सुंअत्तडी = श्रुतवार्ता है (हेच० ४, ४३२)। संस्कृत मे जिन शब्दों का स्त्रीलिंग -इ और -ई लगकर बनता है उनके अन्त में अप० में -अडी भी दिखाई देता है : गोरडी = गौरी है (हेच० में यह शब्द देखिए और गोरि भी); बुद्धडी = बुद्धि (हेच० ४, ४२४) ; भुम्हडि = भूमि (§ २१०); मब्भीसडी, मा भैषी. से बना है (हेच० ४, ४२२, २२) , रत्तडी = रात्रि है (हेच० ४, ३३०, २) ; विभन्तडी = विभ्रान्ति है (हेच० ४, ४१४, २) ; -क के साथ भी यह रूप आता है : धूलडिआ = *धूलकटिका = धूलि है (हेच० ४, ४३२)। संस्कृत का ध्यान रखते हुए यहाँ -अड प्रत्यय नहीं, मध्यमस्थ प्रत्यय दिखाई देता है। -ड तो अप० बोली की अपनी विशेषता है, दूसरे प्रत्ययों के साथ -क रूप में भी जोडा जाता है। बाहबलुल्लड = बाहाबल तथा बाहबलुल्लडअ में -उल्ल की यही स्थिति है (§५९५; हेच० ४, ४३०, ३) अर्थात् अन्तिम उदाहरण में -उल्ल + -ड + -क आये हैं।

§ ६००—सब व्याकरणकारों का मत है कि प्राकृत में तद्धित प्रत्यय -मत् और -वत् के अर्थ में -इत्त भी काम मे आता है (वर० ४, २५ [यहाँ -इन्त के स्थान में यही रूप पढ़ा जाना चाहिए] ; चंड० २,२० पेज ४५ ; हेच० २,१५९ ; क्रम० २, १४० ; मार्क० पन्ना ३६) : कव्वइत्त तथा माणइत्त काव्य और मान से बने हैं (चंड० , हेच०) ; रोष का रूप रोसइत्त है (भाम० ४, २५ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] ; क्रम०) ; पाणइत्त प्राण से बना है (भाम० ४, २५ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए])। कः स्वार्थे आगमन के साथ कालिदास ने शौर० में भी इसका प्रयोग किया है। पुंलिंग में -इत्तअ और स्त्रीलिंग में -इत्तिआ लगता है :

(कर्ण० ३१, १) देखे जाते हैं ; पहुत्तण = *प्रभुत्वन है (मालवि० १४, ३ ; ३०, ५) ; भीरुत्तण आया है (प्रसन्न० ४५, ५) ; माग० में अणिच्चत्तण = *अनित्यत्वन है (मृच्छ० १७७, १०) ; महुरत्तण और सुलहित्तण = *मधुरत्वन और *सुरभित्वन है (प्रबोध० ६०, १२ और १३) ; शव्वण्णत्तण = *सर्वज्ञत्वन है (प्रबोध० ५१, ६ ; ५२, ६) ; शुघलिणित्तण = *सुगृहिणीत्वन है (वेणी० ३५, १) ; अप० में पत्तत्तण = *पत्रत्वन (हेच० ४, ३७०, १) ; वड्डत्तण और वड्डप्पण = *वड्रत्वन है (हेच० ४, ३६६) ; सुहडत्तण = *सुभटत्वन (कालका० २६०, ४४) और गहिलत्तण = *ग्रहिलत्वन है (पिंगल १, २ अ) ।

§ ५९८—संस्कृत से भी अधिक प्राकृत में शब्दों के अंत में, बिना अर्थ में नाममात्र परिवर्तन के, –क प्रत्यय लगाया जाता है (हेच० २, १६४ ; मार्क० पन्ना ३७) । पल्लवदानपत्रों, पै०, चू०पै०, कभी कभी शौर० और माग० में यह –क ही बना रहता है । अ०माग०, जै०महा० और जै०शौर० में इसके स्थान में –ग और –य रहते हैं। अन्य प्राकृत बोलियों में –क का –अ हो जाता है । भिन्न भिन्न § में इसके असख्य उदाहरण दिये गये हैं । कभी कभी दो –क एक शब्द में जोड़े जाते हैं जैसे, बहुअय (हेच० २, १६४), अन्य प्रत्ययों के बाद भी यह लगाया जाता है (§ ५९५), इनके अतिरिक्त क्रियाविशेषण के अन्त में भी यह पाया जाता है जैसे, इहयं (हेच० २, १६४) तथा यह सामान्यक्रिया में भी लगता है जैसे, आलेद्धुअं (§ ३०३ और ५७७), अ० में अलद्धुयं रूप है (§ ५७७) । कभी कभी तथा किसी किसी प्राकृत बोली में वर्ग अथवा मूल का स्वर इससे पहले दीर्घ कर दिया जाता है (§ ७०) । –क के साथ साथ किसी किसी बोली में –ल, –ह (§ २०६) और –इक तथा अ० माग० में –इय लगाये जाते हैं जैसे, पल्लवदानपत्र में वधनिक = वर्धनक है (६, ९) ; अ०माग० में मच्चिय = *मर्त्यिक = मर्त्यक है (आयार० १, २, ५, ४ ; १, ३, २, १ ; सूय० ३५१) , अ०माग० में तुम्बवीणिय = तुम्बवीणक (ओव०) ; माग० में भालिक = *भारिक = भारवत् है (मृच्छ० ९७, १९ और २०) ; महा० में सव्वंगिअ = सर्वांगीण है (हेच० २, १५१ ; रावण०) । — पारक्क में –क्क आया है (हेच० २, १४८), राइक्क = राजकीय में –इक्क मिलता है (हेच० २, १४८) ; गोणिक्क (= गोसमूह : देशी० २, ९७ ; त्रिवि० १, ३, १०५)[१], चर्चा से बना चच्चिक्क है (= शरीर को सुगंधिपूर्ण पदार्थों से मण्डित या चर्चित करना : हेच० २, १७४ ; त्रिवि० १, ४, १२१), देशीनाममाला ३, ४ के अनुसार यह विशेषण भी है जिसका अर्थ 'मंडित'[२] है ; महिसिक्क मिलता है (महिषीसमूह : देशी० ६, १२४)[३] ।

१. पिशल, बे० बाइ० ३, २४३ । — २. पिशल, बे० बाइ० १३, १२ । — ३. पिशल, गो० गे० आ० १८८१, पेज १३२० और उसके बाद का पेज ।

§ ५९९—जैसे –क, वैसे ही अप० में –ड = संस्कृत –ट भी अंत में जोड़ दिया जाता है, किन्तु शब्द के अर्थ में कुछ भी हेरफेर नहीं होता । इस –ड के

बाद बहुत बार -अ = -क भी देखने में आता है (हेच० ४, ४२९ और ४३०)। इस प्रकार : कण्णडअ = कर्ण है (हेच० ४, ४३२); दव्वडअ = द्रव्य है (शुक० ३२, ३); दिअहड = दिवस है (हेच० ४, ३३३ ; ३८७, २); दूअडअ = दूत (हेच० ४, ४१९, १) ; देसड (हेच० ४, ४१८, ६), देसडअ (हेच० ४, ४१९, ३) = देश है ; दोसड = दोष है (हेच० ४, ३७९, १); माणुसड = मानुष है (प्रबन्ध० ११२, ८) ; मारिअड = मारित (हेच० ४, ३७९, २) ; मित्तड = मित्र है (हेच० ४, ४२२, १) ; रण्णडअ = अरण्य है (हेच० ४, ३६८ [मारिअड का मारवाडी में मारयोड़ो रूप है, यह ज्यों अन्य क्रियाओं में भी जोडा जाता है। रण्णडअ का मराठी में रानटी रूप है। — अनु०]) ; रूअडअ = रूपक है (हेच० ४, ४१९, १) ; हत्थड और हत्थडअ = हस्त हैं (हेच० ४, ४२९, १ ; ४४५, ३) ; हिअड = *हृद = हृद् है (क्रम० ५, १५ और १७ ; हेच० ४, ४२२, १२), हिअडअ भी मिलता है (हेच० ४, ३५०, २ [हिन्दी में हत्थड और हिअडअ आये हैं ; बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'दु- हत्थड़' का प्रयोग किया है और हिअडा या हियडा प्राचीन हिन्दी में बार-बार आया है। —अनु०]) । मणिअड = मणि में (हेच० ४,४१४,२) -क + -ट है = *मणिकट माना जाना चाहिए क्योंकि इसमें जो पदच्छेद है वह इसका प्रमाण है, इसलिए इसमें -अड प्रत्यय नहीं है। स्त्रीलिंग के अन्त में -डी आता है (हेच० ४, ४३१) : णिद्दडी = निद्रा है (हेच० ४, ४१८, १) ; सुअत्तडी = श्रुतवार्ता है (हेच० ४, ४३२)। संस्कृत में जिन शब्दों का स्त्रीलिंग -इ और -ई लगकर बनता है उनके अन्त में अप० में -अडी भी दिखाई देता है : गोरडी = गौरी है (हेच० में यह शब्द देखिए और गोरि भी); बुद्धडी = बुद्धि (हेच० ४, ४२४) ; भुम्हडि = भूमि (§ २१०); मव्भीसडी, मा भैषी. से बना है (हेच० ४, ४२२, २२) ; रत्तडी = रात्रि है (हेच० ४, ३३०, २) ; विभन्तडी = विभ्रान्ति है (हेच० ४, ४१४, २) ; -क के साथ भी यह रूप आता है : धूलडिआ = *धूलस्फटिका = धूलि है (हेच० ४, ४३२)। संस्कृत का ध्यान रखते हुए यहाँ -अड प्रत्यय नहीं, मध्यमस्थ प्रत्यय दिखाई देता है। -ड तो अप० बोली की अपनी विशेषता है, दूसरे प्रत्ययों के साथ -क रूप में भी जोडा जाता है। बाहबलुल्लड = बाहाबल तथा बाहबलुल्लडअ में -उल्ल की यही स्थिति है (§ ५९५; हेच० ४, ४३०, ३) अर्थात् अन्तिम उदाहरण में -उल्ल + -ड + -क आये हैं।

§ ६००—सब व्याकरणकारों का मत है कि प्राकृत में तद्धित प्रत्यय -मत् और -वत् के अर्थ में -इत्त भी काम में आता है (वर० ४, २५ [यहाँ -इन्त के स्थान में यही रूप पढा जाना चाहिए] ; चंड० २,२० पेज ४५ ; हेच० २,१५९ ; क्रम० २, १४० ; मार्क० पन्ना ३६) : कव्वइत्त तथा माणइत्त काव्य और मान से बने हैं (चंड० , हेच०) ; रोष का रूप रोसइत्त है (भाम० ४, २५ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए] ; क्रम०) ; पाणइत्त प्राण से बना है (भाम० ४, २५ [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए]) । फः स्वार्थे आगमन के साथ कालिदास ने शौर० में भी इसका प्रयोग किया है। पुंलिंग में -इत्तअ और स्त्रीलिंग में -इत्तिआ लगता है :

पओहरवित्थारइत्तअ = पयोधरविस्तारयुक्त है (चन्द्रशेखर की तुलना कीजिए) ; उम्मादइत्तअ = उन्मादिन् अथवा उन्मादकारिन् है (इत्तकशब्दो मतुबर्थः ; चन्द्रशेखर) ; उच्छाहइत्तअ = उत्साहशालिन् है (मतुबर्थे इत्तकशब्दः ; चन्द्रशेखर) ; आआसइत्तिया = आयासकारिणी (चन्द्रशेखर) है ; संतावणिव्वाणइत्तिया = संतापनिर्वाणकारिणी है ; बहुमाणगुणइत्तअ = बहुमानगुणयुक्त है (चन्द्रशेखर की तुलना कीजिए) ; पिअणिवेअणइत्तअ = प्रियनिवेदक (चन्द्रशेखर) ; संतावणिव्वावइत्तअ = संतापनिर्वापक है (चन्द्रशेखर) (शकु० ११, ३ ; २१, ८ ; ३५, ७ ; ३६, १२ ; ५१, १२ ; ५५, १ ; ७९, १४ ; ८६, ५ ; १४०, १४) ; इच्छिदसंपादइत्तअ = इष्टसंपादयिता है (रगनाथ ; विक्र० २०, १९) ; जुवदिवेसलज्जावइत्तअ = युवतिवेषलज्जायितृक है (काटयवेम ; मालवि० ३३, १७) ; अहिलासपूरइत्तअ = अभिलाषपूरयितृक है (काटयवेम ; मालवि० ३८, १४) तथा असोअविआसइत्तअ = अशोकविकासयितृक है (काटयवेम ; मालवि० ४३, ३) । बोएटलिंक[1] के अनुसार ही इसका मूल रूप –यित्र और –यित्रक माना जाना चाहिए न कि भारतीयों और बेन्फे[2] के अनुसार –यितृ और –यितृक । यह नामधातु और प्रेरणार्थक क्रियाओं के रूप बनाता है । वित्थारइत्तअ = *विस्तारयित्रक जो विस्तारय से बना है ।

१. शकु० ९, २० की पेज १६१ पर टीका । विक्रमोर्वशी पेज २४४ में बौँल्लेंनसेन की टीका की तुलना कीजिए ; पिशल, डे कालिदासाए शाकुन्तलि रेसेन्सिओनिबुस, पेज ३३ और उसके बाद । — २. गो०गे०आ० १८५६ पेज १२१६ । बेन्फे ने बताया है कि इसका मूल रूप हेतुक है क्योंकि इसका आधार किसी हस्तलिपि में भूल से लिखा गया अशुद्ध रूप –इतुअ था, इस भ्रम की की ओर लास्सन ने अपने ग्रन्थ इन्स्टिट्यूत्सिओनेस आदि के पेज १३४ के नोट में अपना अनुमान बता दिया था । शकुन्तला ३६, १२ (पेज १८०) में चन्द्रशेखर के मत उत्साहहेतवः इति शंकरास्य/शानम् की तुलना कीजिए ।

§ ६०१—सरल वर्गों के साथ –मत् और –वत् के रूप मन्त् और –वन्त् हो जाते हैं तथा ये § ३९७ के अनुसार –मन्त और वन्त बन जाते हैं (वर० ४, २५ ; चंड० २, २० पेज ४५ , हेच० २, १५९ ; क्रम० २, १४० ; मार्क० पन्ना ३७) । प्रत्यय के उपयोग के विषय में संस्कृत और प्राकृत एक दूसरे से सदा सपूर्णतया नहीं मिलते । इस प्रकार अ०माग० में आयारमन्त- है (दस० ६२३, ३३) किन्तु संस्कृत रूप आचारवन्त्– है ; अ०माग० का चित्तमन्त– (आयार० २, १, ७, २ ; पेज १३३, ३३ ; १३६, ३) = संस्कृत रूप चित्तवन्त्– है ; अ०माग० में वण्णमन्त–, गन्धमन्त–, रसमन्त– और फासमन्त– = वर्णवन्त्–, गन्धवन्त्–, रसवन्त्– और स्पर्शवन्त्– के हैं (आयार० २, ४, १, ४ ; सूय० ५६५ ; जीवा० २६ ; पण्णव० ३७९ ; निवाह० १४४) ; अ०माग० में विज्जामन्त– = विद्यावन्त्– है (उत्तर० ६२०) ; सीलमन्त–, गुणमन्त– और वइमन्त– = शीलवन्त्–, गुणवन्त्– और वाग्वन्त्– हैं (आयार० २, १, ९, १) ; पुप्फमन्त– = पुष्पवन्त्–, बीय

मन्त = वीजवन्त्–, *मूलमन्त्–* = मूलवन्त्– और सालमन्त– = शालावन्त्– हैं (ओव०) ; अप० में **गुणमन्त–** आया है (पिंगल १, १२२ अ ; २, ११८), **धणमन्त–** मिलता है (पिंगल २, ४५ और ११८), **पुणमन्त–** है (पिंगल २,९४) । यह रूप पद्य में छन्द की मात्राएं ठीक करने के लिए **पुण्णमन्त–** के स्थान में आया है (चड० ; हेच०) = **पुण्यवन्त्–** है । अन्य रूपों के लिए संस्कृत से मिलती जुलती रचना अभी तक सिद्ध नहीं की जा सकी है जैसे, कि अ०माग० में **पन्नाणमन्त–** = *प्रज्ञानमन्त् है (आयार० १, ४, ४, ३ ; १, ६, ४, १), **पुत्तमन्त** = *पुत्र मन्त् है और **हरियमन्त** = *हरितमन्त् है (ओव०) । **धणमण** है (चड० २, २० ; पेज ४५ ; हेच० २, १५९) = *धणमन्त्–, *धणमन् में **मण** प्रत्यय में (?) मूल रूप –**मन्त्** ही पाया जाता है जो § ३९८ के अनुसार आया है । — **भत्तिवन्त–** = **भक्तिमन्त्** है (हेच० २, १५९) ।

§ ६०२—अ०माग० में कृत् प्रत्यय –**इम**[1] द्वारा बहुत से विशेषण बनाये जाते हैं जो आंशिक रूप से वर्तमान वर्ग से बनते हैं तथा जो यह व्यक्त करते हैं कि धातु में जो अर्थ निहित है उससे कुछ हो रहा है, हो सकता है अथवा होना चाहिए । ये रूप –बार में समाप्त होनेवाले जर्मन विशेषणों से मिलते हैं [जर्मन में उदाहरणार्थ **गांग–** शब्द में –बार जोड़ने से **गांगवार** बनता है, **गांग** गम् धातु का रूप है, इसका अर्थ है गम्य, गमनशील इसमें –बार लगने से इसका अर्थ दूसरा हो जाता है ; पाठक **गांग** और **गंगा** के अर्थों की तुलना करें । —अनु०] । इस प्रकार : **गन्थिम**, **वेढिम**, **पूरिम** और **संघाइम** रूप ग्रन्थ्, वेष्टयू, पूरय और संघातय से सम्बन्धित हैं (आयार० २, १२, १, २, १५, २० ; नायाध० २६९, विवाह० ८२३ ; जीवा० ३४८ ; नन्दी० ५०७ आदि आदि ; § ३०४ और ३३३ की तुलना कीजिए) ; **उब्भेइम** = **उद्भिद्** है (दस० ६२५, १३), **खाइम**, **साइम** रूप **खाद्** और **स्वादय** के हैं (सूय० ५९६ ; विवाह० १८४, दस० ६३९, १४ ; उवास० ; नायाध० ; ओव०, कप्प०), **पाइम पाचय–** से बना है (आयार० २, ४,२,७); **पूइम**, **अपूइम**, **माणिम** और **अमाणिम** रूप **पूजय–** और **मानय–** के हैं (दस० ६४१, १४ और १५), **खाद्** से **खाद्य** बन कर **बहुखज्जिम** रूप है (आयार० २, ४, २, १५) ; **निस्** उपसर्ग के साथ **वर्तय–** का रूप **बहुनिवट्टिम** है (आयार० २, ४, २, १४ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए], दस० ६२८, ३१) ; **लाइम**, **भज्जिम** रूप आये हैं (आयार० २, ४, २, १५, दस० ६२८, ३४) ; **वन्दिम**, **अवन्दिम** भी है (दस० ६४१, १२), **वाहिम** मिलता है (आयार० २, ४, २, ९), **वुसिम वदाय–** का रूप है (सूय० ५११), **वेहिम** है (दस० ६२८, ३०); **पुरसंतारिम**, **सपाइम** हैं (आयार० २, ३, १, १३ और १४) । अ०माग० में **पुरस्तात्** और *प्रत्यस्तम क्रियाविशेषणों से **पुरत्थिम** = *पुरस्तिम निकला है (भग०, कप्प०, नायाध० ; उवास०) और **पच्चत्थिम** = *प्रत्यस्तिम है (भग० ; उवास०) । जै०महा० में भी **पुरत्थिम** पाया जाता है जो **उत्तरपुरत्थिम** में है (आव०एर्त्सें० १४, १०) । इनसे भी नये रूप **पुरत्थिमिल्ल** और **पच्चत्थिमिल्ल** निकले हैं (§ ५९५) । — हेमचन्द्र ४, ४४३ के अनुसार किसी का अपना विशेष

गुण बताने के लिए -आणअ प्रत्यय जोड़ा जाता है : मारणअ, बोॅल्लणअ, वज्जणअ और भसणअ = मारणशील, भाषणशील, वादनशील [वज्ज = वाय-] और भाषणशील है[1] । ये संस्कृत में -अन में समाप्त होनेवाले उन विशेषणों से मिलते हैं (हिटनी § ११५०) जिनमें + क : स्वार्थे भी अन्त में जोड़ा जाता है[2] ।

१. होएर्नले, याकोबी, लौयमान और स्टाइनटाल -इमन् में समाप्त होनेवाली संज्ञा भी बताते हैं, पर उनका यह मत अशुद्ध है । इनमें से अधिकांश विशेषण नपुंसक लिंग में संज्ञा के काम में भी आते हैं । — २. हेमचन्द्र ४, ४४३ पर पिशल की टीका की तुलना कीजिए ।

§ ६०३—प्राकृत और संस्कृत रचनापद्धति में केवल यही भेद है कि प्राकृत में विशेष वाक्यांश सदा विशुद्ध व्याकरणसम्मत क्रम से एक दूसरे के बाद नहीं आते (मार्क० पन्ना ६५)[1] । यह तथ्य महा० में विशेष रूप से देखा जाता है, जिसका मुख्य कारण छन्द की मात्राएं ठीक करना है । इस प्रकार महा० में धवलकओवबीअ मिलता है जो कअधवलोववीअ = कृतधवलोपवीत है (गउड० १) ; कासारविरलकुमुआ = विरलकुमुदकासाराः है (गउड० २७१) ; विरहकरवत्तदूसहफालिज्जन्तम्मि = दुःसहविरहकरपत्रस्फाल्यमाने है (हाल १५३) ; दरलम्बिगोॅच्छककच्छुसच्छहं = दरलम्बिकपिकच्छुगुच्छसदृशम् है (हाल ५३३) ; कञ्चुआभरणमेॅत्ताओ = कञ्चुकमात्राभरणाः है (हाल ५४६) ; मुहलघणपअविज्जन्तअं = मुखरघनपीयमानपयसम् है (रावण० २, २४) ; संखोहुव्वत्तणिन्तरअणमऊहं = संक्षोभोद्वृत्तरत्ननिर्यन्मयूखम् है (रावण० ५, ४०) ; कअणिज्झरदसदिसं = निर्झरीकृतदशदिशम् है (रावण० ८, २७)[2] ; अ०माग० में पच्छन्नपलास = पलाशप्रच्छन्न है (आयार० १, ६, १, २) ; अ०माग० में लोहागरधम्ममाणधमधमेॅन्तघोसं = ध्मायमानलोहाकरधमधमायमानघोषम् है (उवास० § १०८)[3] ; अ०माग० में तडिविमलसरिस = विमलतडित्सदृश है (कप्प० § ३५) ; अ०माग० में उडुवइपडिपुण्णसोमवयणे = प्रतिपूर्णोडुपतिसौम्यवदनः है (ओव० पेज २९, १३) ।

१. कल्पसूत्र § ३५, पेज १०४ में याकोबी की टीका ; भण्डारकर, ट्रैन्जैक्शन्स ऑफ द सेकण्ड सेशन ऑफ द इंटरनैशनल कौंग्रेस ऑफ ओरिएंटेलिस्टस् (लन्दन १८७६), पेज ३१२, नोटसंख्या ६ ; एस० गौल्दश्मित्त, रावणवहो, पेज २०६, नोटसंख्या ७ । होएर्नले, उवासगदसाओ और अनुवाद की नोटसंख्या २०१ । टीकाकार इसे प्राकृते पूर्वनिपातानियमः से समझाते हैं, हाल ५४६ की टीका में एक टीकाकार ने उक्त विधान वररुचि का बताया है और टीकाकारों ने इसका उपयोग समय असमय में किया है जो हम एस० गौल्दश्मित्त, रावणवहो, पेज ३२९ में संग्रहीत उद्धरणों में (पूर्व [नि] पातानियम देखिए) प्रमाण पा सकते हैं । — २. इस रूप में ही यह शुद्ध है, एस० गौल्दश्मित्त, रावणवहो, पेज २५१, नोटसंख्या ३ । — ३. पेज ४० में अभयदेव की टीका की तुलना कीजिए ।

शुद्धि-पत्र

आवश्यक निवेदन

[इस शुद्धिपत्र में हम संस्कृत और प्राकृत शब्दों को मोटे अक्षरों में देना चाहते थे, क्योंकि ग्रन्थ के भीतर सर्वत्र यही किया गया है। किन्तु प्रेसवालों का कहना है कि इससे एक पेज में शुद्धिपत्र का एक ही कालम आ सकता है। इससे शुद्धिपत्र का कलेवर बहुत बढ़ जायगा। अतः पाठक पारा, पृष्ठ और पंक्ति देखकर मोटे अक्षरों से मोटे में और पतले अक्षरों से पतले में शुद्धि करने की कृपा करें। जिन अशुद्धियों में मोटे और पतले अक्षर साथ ही आ गये हैं, उनमें गड़बड़ न हो, इसलिए दोनों प्रकार के अक्षर बरते गये हैं। —अनु०]

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	८	१५	लू	ल्ह
६	९	६	दिवे	दिवें
६	९	१२	'–भ	सभ
६	९	१२	स्क–भ	स्कभ
७	१०	२१	इसी प्रकार से···'लाइप्त्सिख १८८६), पक्ति २४ के अन्त तक*	
१०	१५	२२	गुम्भिके	गुमिके
१०	१५	२३	कॉचीपुरा	काचीपुरा
१०	१५	२४	आत्ते°	आत्तेय°
,,	,,	,,	अत्ते°	अत्तेय°
,,	१६	१८	वह	यह
,,	,,	१९	आल्ट-इण्डिसे	आल्ट इण्डिशे
११	१७	८	यथार्धम्	यथार्थम्
११	१७	२२	रयणाई	रयणाइ
,,	,,	२५	पेॅकीअसि	पेॅक्खीअसि
१२	१८	११	Ema	.ema
,,	१९	७	गीजिआ	गीदिआ
,,	,,	११	वीणम्	वीणाम्
,,	,,	,,	'उन्मत्त' 'राघव'	उन्मत्त-' राघव
,,	,,	२८	पीटॅसबुर्गर	पीटर्सबुर्गर
,,	,,	,,	होफडिस्टर	होफडिस्टर
१३	२०	२९	मल्यशेसर	मलयशेपर
१४	२२	१५	लेसों	लेखकों
,,	,,	,,	जोपरि-हरिउं	जो परि-हरिउ
,,	२३	१	सारवारि-आए	सासा-रिआए

* उक्त अशुद्ध रूप के स्थान पर यह शुद्ध रूप पढ़िये :—इसी प्रकार पाली लिखापेति, (और इस रूप का प्रयोग प्राकृत मे बार बार आता है) (§ ५५२) अशोक के शिलालेखों का लिखावित जैन महाराष्ट्री लिहाविय (औसगेवैल्ते एर्त्सेलुगन इन महाराष्ट्री ६३, ३१; सपादक, हरमान याकोबी, लाइपत्सिरव १८८६) का प्रतिशब्द है।

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४	अनु० नोट		साखा–	रसाखा–
१६	२७	१३	अववाइ- असुत्त	ओववाइ- असुत्त
,,	२८	४	,,	,,
१७	२९	१२	अस्त	अत
,,	,,	१७	लसियपुव्वो	लूसियपुव्वो
१७	२९	१८	अलद्धपुव्वो	अलद्धपुव्वो
,,	,,	२३	पडिसेवमाने	पडिसेवमाणे
,,	,,	२७	सूयगडग–	सूयगडग–
,,	,,	३२	हो जाते है	हो जाता है
,,	,,	३३	मे च्छ	मेच्छ
,,	,,	३४	अधेमागधी	अर्धमागधी
,,	३०	२	या ऊण	या—ऊण
,,	,,	२७	जैनाकृति;	जैनाकृतिः
१८	३३	३	आं हो जाना	आम् हो जाना
,,	,,	५	पडुपन्न	पडुप्पन्न
,,	,,	१२	कुव्वइ	कुव्वइ
,,	,,	१३	और त्ताए	और–त्ताए
१९	३४	१	इण्डिरोस्टू–	इण्डिशेस्टू–
,,	,,	१३	आयाँगसुत्त	आयारंगसुत्त
,,	,,	१४,१६	सूयगडग–	सूयगडग–
,,	,,	१९	सतवाँ	सातवाँ
,,	,,	,,	विवाग- पन्नति	विवाह- पन्नत्ति
,,	३५	३	उत्तरज्झयण	उत्तरज्झयण
,,	,,	१४	स्प्राग्त	स्प्राग्ले
,,	,,	१४	राड पेज	राड के पेज
,,	,,	१६	य श्रुति	य–श्रुति
,,	,,	२०	आकोडमी	आकाडेमी
,,	,,	२६	उवग्गी	उवग्गी
,,	३६	५	हयर्नले	होएर्नले
,,	,,	६	उवासद- साओ	उवासग- दसाओ
,,	,,	९	विय्लिओ- टेका	विब्लि- ओटेका

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०	,,	१३	हैं और जिनसे	हैं जिनसे
,,	३७	१६	महाराष्ट्री, रसुर	महाराष्ट्री- रसुर
,,	,,	१७	कहानियाँ) प्राकृत	कहानियाँ प्राकृत
,,	,,	१८	के लिए हुआ	के लिए) हुआ
२१	३८	७	गुत्वावलि	गुर्वावलि
,,	,,	८	कतिगेया–	कत्तिगेया–
,,	,,	२५	कुघति	कुव्वदि
,,	,,	२६	कुघदे	कुव्वदे
,,	३९	२	आपृच्छ	आपृच्छय
,,	,,	३	आसाध्य	आसाद्य
,,	,,	४	गहियें	गहिय
,,	,,	१०	भुजाविऊण	भुजाविऊण
,,	,,	२३	जैन महाराष्ट्री	जैन– महाराष्ट्री
२२	४०	१०	बराबर है,	बराबर है)
,,	अनु० नोट		वक्नुचः	वक्नुच
,,	४०	३६	अदिट्ठपुव्व	अदिट्ठपुव्व
,,	,,	,,	अस्सुदपुव्व	अस्सुदपुव्व
,,	,,	,,	रूव ।' मू	रूवम्
,,	४२	१	एण्हि	एण्हिं
,,	,,	,,	पाठ एहणि	पाठ एहणिं
,,	,,	२	छुट्टा	छुट्टा
,,	,,	,,	हक्वारिदो	हक्कारिदो
,,	,,	३	एण्हि	एण्हि
,,	,,	८	सामदेव	सोमदेव
,,	,,	१३	दुहराई गई	दोहराई गई
,,	,,	३२	मिह	गिह
,,	४३	२२	एन्सेण्ट	एन्शेण्ट
,,	,,	२५	कुन्सपाईरेगे	कुन्स पाईरेगे
,,	४४	५	स्सुबर्मिन	स्सु बर्मिन
,,	,,	,,	बुर्ग हार्ड,	बुर्कहार्ड,

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	,,	६	फिलेबिस ओनेस	फ़ेबिस-ओनेस
,,	,,	७	ऐनाऐर	येनाऐर
२३	४५	११	क्शवध	वंशवध
,,	४६	१	एकमत है।	एयमत हैं।
२३	४६	११	ज्जेॅव्व	ज्जेव
,,	,,	,,	निमुण्डाः	निर्मुण्डाः
,,	४६-४७	३६	उसमें आउत्ते	आवुत्ते
२४	४७	३	दामाद था है	दामाद का शाकारी प्राकृत में है
,,	,,	१७	शाकारी,	शाकारी
,,	,,	१९	तालव्य	तालव्य
,,	,,	२७	बली गें	बोली में
२४	४८	१२	लगाये	लगायी
,,	४९	६	डाएलैक्स	डाएलैक्ट्स
२५	,,	११	ढकविभाषा,	ढक्कविभाषा
,,	,,	२६	इस प्रकार	अतः
,,	५०	६	अणुसलेय	अणुसलॅग्ह
,,	,,	९	तलीद	तल्दि
,,	,,	१३	उअरोधेण	अउरोधेण
,,	,,	१८	जस	जस
,,	,,	२०	शमविशय	शमविशम
,,	,,	२१	समविसय	समविसम
,,	,,	३४	लुद्ध्	लुद्धु
,,	,,	३५	विप्पदीउपादु	विप्पदीवुपादु
,,	५१	१	प्रावृत्तः	प्रावृतः
,,	,,	७	बध्घे	बद्धे
,,	,,	८	बध्घो	बद्धो
२६	५२	१०	पॅच्छदि	पेॅच्छदि
२७	५३	३४	-पण्ड्ये-	पाण्डये
,,	५४	४	यस्यात्	यस्मात्
,,	५५	३२	ल्ड	ल्ळ
,,	५६	२८	पतिपात-यछम्	पटिपात-यछम्
,,	,,	३०	युण्डआर्टन	गुण्डआर्टन
,,	५७	१	दूर	घूर
,,	,,	३	एण्डशौ-	दण्डशौ
२७	५७	१३	गेशिट	गेशिटे
२८	५८	११	सकार	शकार
,,	,,	२१	एहुट्जे	एहुजे
,,	,,	३६	पउमरिसी त्ररिउ	पउमसिरी-चरिउ
,,	५९	३	मज्जाऐ	मज्जारो
२९	६०	३	उदय	उदय-
,,	,,	२९	निक्ली है	निकला है
,,	,,	३१	द गौल्द-स्मित्त	गौल्दस्मित्त
,,	६१	९	रिचार्ड स्गित्त	रिचार्ड स्मित्त
,,	,,	२३	हेमचन्द्र,	हेमचन्द्रा,
,,	,,	२९	काटालोगो-सम	काटालो-गोरुम
३०	६२	६	-त्रिका	-तिका
,,	,,	१५	प्रसश	प्रशंसा
३१	६५	३२	कुट	कुर
,,	६६	२९	जुडा	जूडा
,,	,,	३१	दंस दशंन दशनयोः	दंस् दशं् दंसनयोः
,,	,,	३३	पेल्ना	पेल्ना,
,,	,,	,,	(रैल),	(रैल)
,,	,,	,,	बाड्	वाड्
,,	,,	,,	अप्लाव्ये	आप्लावे
३१	६७	१८	लौयमन	लौयमान
,,	,,	२५	नाखिरि-खटन	नाखरि-ख्टन
,,	,,	२९	होल्त्समान	हौल्त्समान
३२	६९	३६	इ यूवर	यूबर
३३	७०	११	टीकाकर	टीकाकार
,,	,,	२४	सम्यावय्	सम्भावम्

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४	अनु०	नोट	खाखा–	स्खाखा–
१६	२७	१३	अववाइ- अमुत्त	ओववाइ- असुत्त
,,	२८	४	,,	,,
१७	२९	१२	अस्त	अंत
,,	,,	१७	लसियपुव्वो	लूसियपुव्वो
१७	२९	१८	अलद्धपुव्वो	अलद्धपुव्वो
,,	,,	२३	पडिसेवमाने	पडिसेवमाणे
,,	,,	२७	सूयगटग–	सूयगडग–
,,	,,	३२	हो जात है	हो जाता है
,,	,,	३३	मे च्छ	मेच्छ
,,	,,	३४	अधेमागधी	अर्धमागधी
,,	३०	२	या ऊण	या—ऊण
,,	,,	२७	जैनाकृति;	जैनाकृतिः
१८	३३	३	आं हो जाना	आम् हो जाना
,,	,,	५	पडुपन्न	पडुप्पन्न
,,	,,	१२	कुव्वइ	कुव्वइ
,,	,,	१३	और त्ताए	और–त्ताए
१९	३४	१	इण्डिरोस्टू–	इण्डिरोस्टू–
,,	,,	१३	आयोणसुत्त	आयारंगसुत्त
,,	,,	१४,१६	सूयगडग–	सूयगडग–
,,	,,	१९	सतवाँ	सातवाँ
,,	,,	,,	विवाग- पन्नति	विवाह- पन्नत्ति
,,	३५	३	उत्तरज्झवण	उत्तरज्झयण
,,	,,	१४	स्प्राख	स्प्राखे
,,	,,	१४	खड पेज	खड के पेज
,,	,,	१६	य श्रुति	य–श्रुति
,,	,,	२०	आकोडमी	आकाडेमी
,,	,,	३६	उसकी	उनकी
,,	३६	५	हयर्नले	होएर्नले
,,	,,	६	उवासद- साओ	उवासग- दसाओ
,,	,,	९	विवलिओ- टेका	विवलि- ओटेका

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०	,,	१३	हैं और जिनसे	हैं जिनसे
,,	३७	१६	महाराष्ट्री, त्सुर	महाराष्ट्री- त्सुर
,,	,,	१७	कहानियाँ) प्राकृत	कहानियाँ प्राकृत
,,	,,	१८	के लिए हुआ	के लिए) हुआ
२१	३८	७	गुर्त्वावलि	गुर्वावलि
,,	,,	८	कतिगेया–	कत्तिगेया–
,,	,,	२५	कुधति	कुव्वदि
,,	,,	२६	कुधदे	कुव्वदे
,,	३९	२	आपृच्छ	आपृच्छय
,,	,,	३	आसाध्य	आसाद्य
,,	,,	४	गहियँ	गहिय
,,	,,	१०	भुजाविऊण	भुंजाविऊण
,,	,,	२३	जैन महाराष्ट्री	जैन– महाराष्ट्री
२२	४०	१०	बराबर है,	बराबर है)
,,	अनु०	नोट	वक्नुचः	वक्नुच
,,	४०	३६	अदिट्ठपुव्व	अदिट्ठपुव्व
,,	,,	,,	अस्सुदपुव्व	अस्सुदपुव्व
,,	,,	,,	रूव।' म्	रूवम्
,,	४२	१	एण्हि	एण्हिं
,,	,,	,,	पाठ पहणि	पाठ पहुणिं
,,	,,	२	छुट्टा	छुहा
,,	,,	,,	हक्वारिदो	हक्कारिदो
,,	,,	३	एण्हि	एण्हि
,,	,,	८	सामदेव	सोमदेव
,,	,,	१३	दूहराई गई	दोहराई गई
,,	,,	३२	म्हि	म्हि
,,	४३	२२	एन्सेन्ट	एन्शेण्ट
,,	,,	२५	कून्सबाईत्रेगे	कून्स बाईत्रेगे
,,	४४	५	त्सुबर्लिन	त्सु बर्लिन
,,	,,	,,	बुर्क हार्ड,	बुर्कहार्ड,

पा सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	,,	६	फ्लिविस ओनेस	फ्लेविस-ओनेस
,,	,,	७	ऐनाऐर	येनाऐर
२३	४५	११	कशावध	कसावध
,,	४६	१	एकगत है।	एकमत हैं।
२३	४६	११	ज्जेॅव्व	ज्जेव
,,	,,	,,	निमुण्डाः	निर्मुण्डाः
,, ४६	४७	३६	उसमें आउत्ते	आयुत्ते
२४	४७	३	दामाद का है	दामाद का शाकारी प्राकृत में है
,,	,,	१७	शाकारी,	शाकारी
,,	,,	१९	ताल्व्य	तालव्य
,,	,,	२७	बली में	बोली में
२४	४८	१२	लगाये	लगायी
,,	४९	६	डाएलैक्स	डाएलैक्ट्स
२५	,,	११	ढकविभाषा,	ढकविभाषा
,,	,,	२६	इस प्रकार	अत.
,,	५०	६	अणुसलेय	अणुसलेॅग्ह
,,	,,	९	तलीद	तलदि
,,	,,	१३	उअरोघेण	अउरोघेण
,,	,,	१८	जस	जस
,,	,,	२०	शमविशय	शमविशम
,,	,,	२१	समविसय	समविसम
,,	,,	३४	इद्ध	इद्धु
,,	,,	३५	विप्पदीउपादु	विप्पदीवुपादु
,,	५१	१	प्रावृत्त	प्रावृत
,,	,,	७	बध्ये	बद्धे
,,	,,	८	बध्यो	बद्धो
२६	५२	१०	पॅच्छदि	पेॅच्छदि
२७	५३	३४	पाण्ड्ये-	पाण्डये
,,	५४	४	यस्यात्	यस्मात्
,,	५५	३२	ल्ड	ल्ळ
,,	५६	२८	पतिपात-यछम्	पटिपातयछम्

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	,,	३०	युण्डआर्टन	गुण्डआर्टन
,,	५७	१	घूर	घूर
,,	,,	३	एण्डशौ-	एण्डशौ
२७	५७	१३	गेशिष्ट	गेशिष्टे
२८	५८	११	सकार	शकार
,,	,,	२१	एहुट्ले	एहुजे
,,	,,	३६	पउमरिसी त्ररिउ	पउमसिरी-चरिउ
,,	५९	३	मज्जाऐ	मज्जारो
२९	६०	३	उदय	उदय–
,,	,,	२९	निक्ली है	निक्ला है
,,	,,	३१	द गौल्द स्मित्त	गौल्दस्मित्त
,,	६१	९	रिचार्ड स्मित्त	रिचार्ड स्मित्त
,,	,,	२३	हेमचन्द्र,	हेमचन्द्रा,
,,	,,	२९	काटालोगो सम	काटालोगोरुम
३०	६२	६	त्रिका	तिका
,,	,,	१५	प्रसश	प्रशसा
३१	६५	३२	कुट	कुर
,,	६६	२९	जुड़ा	जूड़ा
,,	,,	३१	दस दर्शन दशनयो	दस् दर्श् दसनयोः
,,	,,	३३	पेल्ना	पेल्ना,
,,	,,	,	(रेल),	(रेल)
,,	,,	,,	बाड्	वाड्
,,	,,	,,	अप्लाव्ये	आप्लावे
३१	६७	१८	लैयमन	लैयमान
,,	,,	२५	नाखिरि खटन	नाखरि खूटन
,,	,,	२९	होल्त्समान	हौल्त्समान
३२	६९	३६	इ यूवर	यूवर
३३	७०	११	टीकाकर	टीकाकार
,,	,,	२४	सम्यावय्	सम्भावयम्

पा सं	पृ सं	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	७१	२९	कौपल्वे ये	कौत्रेल ये
,,	,,	३२	द मामाटि विस	डे मामा निकिस
३४	७३	२१	चउन्वीसम्	चउवीसम् २४
,,	७५	४	सोराद्धार–	सारोद्धार–
३५	,,	२	नाममाला',	नाममाला,
,,	,,	,,	धनपाल।	धनपाल'।
३५	७५	६	वाइ नेगे	बाइत्रैगे
,,	७६	१	तद्भव है	तद्भव हैं
३६	७८	८	हेमचन्द्र	हेमचन्द्र।
,,	,,	,,	पार्ट नन्	पार्ट थन्।
,,	,,	३१	अच्छिरुल्लो	अच्छिद्द रुल्लो
,,	,,	३४	तद एव	तद् एव
,,	,,	३५	अवहाकिय	अवडाहिय
,,	७९	३०	सारगधर	शार्ङ्गधर
,,	,,	३३	९८) में	९८ में)
,,	८०	१७	क साथ	के साथ
,,	८१	१२	मेत्तकोश	मत्तकोश
३७	८२	७	बौन्नाए आडेरनुम	बौन्नाए आ ड्रेनुम
,,	,,	,,	१८, ३९	१८३९
,,	,,	१०	सद्धावि अदि	सद्धावि अदि
,,	,,	२५	जू यरनन्दिन्	जूमर नन्दिन्
,,	८३	१४	बैंगोल,	बैंगोल।
,,	,,	,,	प्रथमभाग'	प्रथमभाग।
,,	,,	,,	ग्रैमर	ग्रैमर।
३९	८५	१८	भत्तृ'	भर्तृ
४०	८६	८	'पंगल प्रौकोत सुर्वे भाषा व्याकरनम्।'	पगल प्रकोत सुर्वे भल व्याकरा
,,	,,	९	पगल प्रौकोत सुर्वे भौषा व्याकरणुम्	पिंगलप्राकृत सर्वस्वभाषा व्याकरणम्
,,	८८	१	जी०एन० पत्रिका	ना०को०गो० डे०वि०गो०
,,	,,	३	काटयवेम	काटवेम
,,	,,	११	वसन्तराज शाकुन 'नेक्स्ट	'वसन्तराज शाकुन– नेक्स्ट
,,	,,	,,	टेक्स्टप्रोब्लन	टेक्स्ट प्रोबन'
,,	,,	१२	लाइत्सिख	लाइप्त्सिख
,,	,,	१४	मार्थमाटिक	माथेमाटिक
४१	८९	२१	प्रार्थितनामा	प्रथितनामा
,,	,,	३४	का एक संस्करण	का संस्करण
४२	९२	१२	आ१८८८	आ० १८८८
४३	९३	२०	बेनारी	बेनारी
,,	,,	,,	विरसन	विरसन
,,	,,	२१	ऱसाइट्ठग	ल्साइट्सग
४५	९५	२	ल	ळ
,,	,,	,,	ल्द	ळ्ह
,,	,,	४	,,	,,
,,	,,	१३	गोल्डश्मित्त	गोल्दश्मित्त
,,	,,	,,	ओ को	ओं को
,,	,,	१६	हेच १,१,	हेच० १,१,
,,	,,	१८	में, कृष्ण पण्डित,	में कृष्ण पण्डित,
,,	,,	,,	में, कल्प चूर्णा	में कल्प चूर्णी,
,,	,,	२०	सभादपुट्ठे	सभारपुट्ठे
,,	,,	,,	दि ये गि	दि ये वि
,,	,,	,,	दुर्गति	दुर्गति
,,	,,	२१	णत्थि अश्मि, इसमें	णत्थि, इसमें

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	,,	२३	ह्वन्ति	ह्नअन्ति
,,	,,	२५	अड अः	अउ अः
४६	,,	४	द्विज	द्वित्व
४७	९६	५	गृण्हइ= गृह्णाति	गृण्हइ= गृह्णाति
,,	,,	,,	गृह्णान्ति	गृह्णन्ति
,,	,,		६-४, ३७०, ४)	-४, ३७०, ४)।
,,	,,	१०	त ठ	तठ
,,	,,	१२	'ई' और 'उ'	'इ' और 'उ'
,,	,,	१८	डोयन्दोश	डौयत्दोश
,,	,,	,,	आल्टाट्रम	आल्टरट्रूम
,,	,,	२०	ज्मुस	ट्मुस
,,	,,	२१	वेप्टल	बेष्टल
,,	,,	,,	प्रौव्लेम्नेडेर	प्रौब्लेम डेर
,,	,,	,,	इलाइशर	श्लाइशर
४८	९६	२	द्यत	घत
४९	९७	२	(हाल=२२)	(हाल,२२)
,,	,,	,,	द्यय	घय
,,	,,	५	गागधी	मागधी
,,	,,	१९	अधिकृतान	अभिकृतान्
,,	९८	२	वियड	विगड
४५	९८	२	वियॅड	वियड
,,	,,	५	याथाकृत	यथाकृत
,,	,,	११	कअऊ	कअउ
,,	,,	१९	पञ्चक्ली–	पचक्खी–
,,	,,	२१	द्विद्याकृत	द्विधाकृत
,,	,,	,,	दुहाद्वय	दुहाइय
,,	९९	१३	पणहावा॰	पण्हावा॰
,,	,,	१४	ओवे॰ :	ओव॰ :
,,	,,	२०-२१	आन्धकवण्हि	अन्धगवण्हि
५०	,,	१	ईं हो	इ हो
,,	१००	८	पर गिद्धि	पर भी गिद्धि
,,	,,	१८	विंछुभ	विन्छुभ
५१	१०१	६	णिहुड	णिहुद
,,	,,	१०	एर्त्सें);	एर्त्सें॰);
,,	१०२	२२	कुणईं	कुणइ
५२	१०२	४	ढढ	दिढ
,,	,,	९	द्वारा॰	द्वारा॰
,,	१०३	१	एर्त्सें)	एर्त्सें॰)
,,	,,	३	मसिंण	मसिण
,,	,,	२६	कण्हट	कण्ह
,,	,,	२९	,,	,,
,,	१०४	१८	रूप है।	रूप है।
,,	,,	१९	कृश्नसित	कृष्णसित
,,	,,	२३	बढिढ	वड्ढि
५३	१०५	१०	दाक्षिणात्य में	दाक्षिणात्या में
,,	,,	२२	धरणिवट्ठ	धरणीवट्ठ
,,	,,	२४	है;	है,
,,	,,	२६	वेणी॰ ६४, १८) में	वेणी॰ ६४, १८)। वेणीसंहार में
,,	,,	३७	बिइपै;	बिहपै;
,,	१०६	२	बहरसइ	बहस्सइ
,,	,,	४	विहरसइ	बिहस्सइ
,,	,,	७	विह्प्पदि	बिहप्पदि
५४	१०७	४	मिअतण्हा	मिअतिण्हा
५४	१०७	५	मअतिण्हआ	मअति-ण्हिआ
,,	,,	१०	मेअलाछण	मअलाछण
,,	,,	,,	मयलाछेण	मयलाछण
,,	,,	१५	दाक्षिणात्य,	दाक्षि-णात्या,
,,	,,	२८	औल	पौल
,,	,,	३३	मअल क्षणो	मअल्छणो
५६	१०८	९	जामातृ शब्द	जामातृ-शब्द
,,	,,	१७	अम्मपिउ–	अम्मापिउ-

पा सं	पृ स.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	७१	२९	कौविल्वे क	कौविल्वे
,,	,,	३२	द मामाटि किस	डे ग्रामा टिकिस
३४	७३	२१ २४	चउवीसम्	चउव्वीसम्
,,	७५	४	सोराद्धार–	सारोद्धार–
३५	,,	२	नाममाला’,	नाममाला,
,,	,,	,,	धनपाल।	धनपाल’।
३५	७५	६	नाइ चैगे	बाइत्रैगे
,,	७६	१	तद्भव है	तद्भव हैं
३६	७८	८	हेमचन्द्र	हेमचन्द्र।
,,	,,	,,	पार्ट वन्	पार्ट वन्।
,,	,,	२१	अच्छिदल्लो	अच्छिद्द ल्लो
,,	,,	२४	तद एव	तद् एव
,,	,,	२५	अवद्यकिय	अवद्याहिय
,,	७९	३०	सारगधर	शार्ङ्गधर
,,	,,	३३	९८) में	९८ में)
,,	८०	१७	क साथ	के साथ
,,	८१	१२	मेलकोश	मलकोश
३७	८२	७	बौत्राए आडेरनुम	बौत्राए आग्नेरनुम
,,	,,	,,	१८, ३९	१८३९
,,	,,	१०	सद्यावि अदि	सद्यावि अदि
,,	,,	२५	जू यरनन्दिन्	जूसर नन्दिन्
,,	८३	१४	वेगौल,	वेंगौल।
,,	,,	,,	प्रथमभाग’	प्रथमभाग।
,,	,,	,,	ग्रेमर	ग्रेमर।
३९	८५	१८	भत्तृ’	भत्तृ
४०	८६	८	‘पिंगल प्रीत्रोच मुर्ग भापा व्याकरनम्।’	पगल प्रकोत मुर्ग मल वकरन

पा स	पृ सं	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	,,	९	पगल प्रीकोत मुर्ग भौपा व्याकरणुम्	पिंगलप्राकृत सर्वस्वभाषा व्याकरणम्
,,	८८	१	जी०एन० पत्रिका	नाक्को०गो० डे०गि०गो०
,,	,,	३	काटयवेम	काटनेम
,,	,,	११	वसन्तराज शाकुन ’नेक्स्ट	‘वसन्तराज शाकुन– नेक्स्ट
,,	,,	,,	टेक्स्टग्रोत्न	टेक्स्ट ग्रोस्न’
,,	,,	१२	लाइत्सिख	लाइपत्सिख
,,	,,	१४	मार्थमाटिक	मार्थमाटिक
४१	८९	२१	प्रार्थितनामा	प्रथितनामा
,,	,,	३४	का एक संस्करण	का संस्करण
४२	९२	१२	आ१८८८	आ० १८८८
४३	९३	२०	वेनारी	बेनारी
,,	,,	,,	विरसन	विल्सन
,,	,,	२१	·साइट्ठग	‘साइट्ठग
४५	९५	२	ल	ळ
,,	,,	,,	ल्ह	ळ्ह
,,	,,	४	,,	,,
,,	,,	१३	गौल्डस्मित्त	गौल्दस्मित्त
,,	,,	,,	ओ को	ओं को
,,	,,	१६	हेच १,१,	हेच० १,१,
,,	,,	१८	में, कृष्ण पण्डित,	में कृष्ण पण्डित,
,,	,,	,,	में, कल्प चूर्णी	में कल्प चूर्णी,
,,	,,	२०	सआदपुट्ठे	सआरपुट्ठे
,,	,,	,,	दि ये वि	हि ये वि
,,	,,	,,	दुअंति	हुअंति
,,	,,	२१	णत्थि अत्थि, इसमें	णत्थि, इसमें

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६७	१३१	४	स्नज्	स्रज्
,,	,,	,,	स्रष्ट	सृष्ट
,,	,,	५	उसढ	ऊसढ
,,	,,	८	निसढ	णिसढ
,,	,,	२३	समोसढ्ढ	समोसढ्ढ
६८	१३२	५	आसरहे,	आसरहे
,,	,,	६	ऽश्वरथम्,	ऽश्वरथस्
,,	,,	९	पढिगया	पढिगया
६९	,,	११	१४)। मागधी	१४), मागधी,
,,	,,	१५	पिट्ठओ	पिट्ठाओ
,,	१३३	७	घ्रुणतः	घ्राणतः
,,	,,	८	चक्खुओ	चक्खूओ
,,	,,	१८	बामादो	वामादो
७०	,,	२	मइक	मयिक
,,	,,	६	सव्वरय-णामइ	सव्वरयणा-मइय
,,	१३४	१०	अर्द्ध	अर्ध
,,	१३५	२	नाहीकमल	णाहीकमल
,,	,,	१५	पित्ताग	पिळाग
७१	,,	२	निग्घणया	निग्घिणया
,,	१३६	१०	हण्डे,	हण्डे
,,	,,	,,	,,	,,
,,	,,	११	रेग्रन्थि–	रे ग्रन्थि–
,,	,,	१२	पुत्रक्	पुत्रक
,,	,,	१३	हृदयक्	हृदयक
,,	,,	३०	हाधिक्	हा धिक्
,,	,,	,,	,,	,,
७२	१३७	१८	निहि,	णिहि,
,,	,,	२१	–ह्नीँ	–हिँ
७३	,,	५	धृतमत	धितमत.
,,	,,	,,	धीमओ	धिइमओ
७३	१३७	६	मईय	मईम
,,	,,	७	°अमति मत्कः	ॐअमति मत्काः
,,	१३८	१	शोणीय	शोणीअ
,,	,,	२	साहिया	साहीया
७४	,,	८	अश्वादिगण	अश्वादि-गण
,,	१३९	९	दर्शिन	दर्शिन्
,,	१४०	६	श + – =प	श + – प
,,	,,	२१	छलस	छळस
,,	१४१	८	पाणिसि	पाणिखि
,,	,,	,,	स् + म	प् + म
,,	,,	१६	प्रक्ष्य	प्लक्ष
,,	,,	२३	विचिकि-त्सती	विचिकि त्सति
,,	,,	३०	दोगुछि	दोगुछि
,,	,,	३४	पढिदुगुछि	पढिदुगछि
७४	१४२	२१	मज्जा	मज्जा
,,	,,	२२	मज्जिका	मज्जिका
,,	,,	३६	मागुस्	माग्नुम्
७५	१४३	३	वींस	वीसा
,,	,,	४	तींस,	तीसम्
७६	१४३	२	ह हो तो	ह हों तो
,,	१४४	३	चउआल्सा	चउआलीसा
७६	१४५	५	साहद्दु	साहट्टु
,,	,,	८	में,	में
,,	,,	१७	ऋपिकेष	रिपिकेश
७७	१४६	४	जिहिहिइ	जिहिइ
,,	,,	७	वितारयसे	वितार्यसे
,,	,,	२०	अन्नीति	अनीति
,,	,,	२१	अणउढय	अणउदय
,,	१४७	१	बेत्सेन बैरगैंसं	वेत्सेनबैरगैर्स
७८	,,	१३	चाउकोण	चाउक्कोण
,,	,,	१४	चाउघण्ट	चाउग्घण्ट
,,	,,	३०	मोप	मोस
,,	,,	३४	परयामोस	मायामोस
७८	१४८	१	रू	रु

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	१०९	१०	तद्विघटना	तट्टि घडना
,,	,,	१८	अग्गाविइ-	अग्गाविइ-
,,	,,	,,	भाई रामाण	भाइसमाण
,,	,,	१९	पिइगाइमो	पिइमाइमो
५६	११०	२४	महारिशि	महारिसि
,,	,,	२५	रायरिशि	रायरिसि
,,	,,	२७	माहणरिशि	माहणरिसि
,,	,,	,,	बह्मर्षि	ब्रह्मर्षि
,,	,,	२९	महरिशि	महरिसि
,,	,,	,,	सत्तरिशि	सत्तरिसि
,,	,,	,,	(विद्ध०	(विद्ध०
,,	,,	३२	निकाला	निकला
५८	११२	२	ऋ	ऋ
,,	,,	४	ऋ	ऋ
,,	११३	१०	उत्तूर्थ	—उत्तूर्थ
,,	,,	१९	बार्टोलोमाए का	बार्टोलो माए-
	११४	३	(अ)द्विस्वर ऐ ओ औ	(अ) द्विस्वर ऐ और औ
६०	,,	६	चन्द्र०	चण्ड०
,,	,,	१२	वेजई के	वेजयीके
,,	,,	१८	एकाग्र्य	ऐकाग्र्य
,,	११५	१३	सैल	सइल
६१	११६	१६	में शामिल किया गया	में किया गया
,,	,,	२१	ने दैव्व,	ने दॅव्व,
,,	,,	,,	दै ॅव	दइव्व
,,	,,	,,	और दइव	और दइव्व
,,	,,	३०	कैदव	कॅदव
,,	,,	३२	और कभी अ-	और कभी
६१	११७	१२	में वॅरि	में वॅरि
,,	,,	२०	जैत्त	जेत्त
,,	,,	२०	भैॅर	भेर—
,,	,,	२१	मेॅर	मेर—
,,	,,	३४	वॅसम्पा-अण	वेसम्पाअण
६१अ	११८	३	सौंदर्य्य	सौदर्य्य
,,	,,	१२	ओवम्य	ओवम्म
,,	११९	१५	—थ्युअक्ष	थ्युअक्ष
,,	,,	१८	दोॅव्वल	दोॅव्वल
,,	,,	२४	एत्से०;	एत्सें०;
,,	,,	२८	जैनमहाराष्ट्री	जैनमहा-राष्ट्री
,,	,,	,,	शौरसेनी से	शौरसेनी में
,,	,,	३६	कोत्द	कोत्थुह
,,	१२१	१	विद्ध०	विद्ध०
,,	,,	२६	ओ के स्थान	ओॅ के स्थान
६२	,,	१	श ष और	श—ष—और
,,	१२२	३१	वत्सदि	मस्सादि
६३	१२३	१८	कीलिस्सइ	किलिस्सइ
,,	१२४	१८	१६४, ६)	१६४, ६),
६४	,,	२	श्वश्रु	श्वश्रू
,,	,,	५	जासी	जासी
,,	१२५	७	मिरसइ	मिस्सइ
,,	,,	११	विश्रामयति	विश्राम्यति
,,	१२६	३	उससइ,	ऊससइ,
,,	,,	१६	उस्सुव	उस्सुअ
,,	,,	२४	दूःसह	दूसह
,,	,,	३०	मणसिला	मणासिला
६५	१२७	२०	पायाहिण	पयाहिण
,,	,,	२७	दक्खिण	दक्खिणा
६६	१२८	२	ई ऊ	ई, ऊ
,,	,,	४	कुए	कुइ
,,	,,	६	कुटिन्	कुटिन्
,,	,,	१७	दृक्षति	दृक्षति०
६६	१२८	२०	देहयाणि	देहमाणी
,,	१३०	४	निच्चुब्भई	निच्चुब्भइ
,,	,,	१४	सेदि	भेदि

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६७	१३१	४	स्तज्	सृज्
,,	,,	,,	स्तष्ट	सृष्ट
,,	,,	५	उसढ	ऊसढ
,,	,,	८	निसढ	णिसढ
,,	,,	२३	समोसड्ढ	समोवड्ढ
६८	१३२	५	आसरहे,	आसरहे
,,	,,	६	ऽश्वरथस्,	ऽश्वरथस्
,,	,,	९	पढिगया	पडिगया
६९	,,	११	१४)। मागधी	१४), मागधी,
,,	,,	१५	पिट्ठओ	पिट्ठाओ
,,	१३३	७	घ्रुणतः	घ्राणतः
,,	,,	८	चक्खुओ	चक्खूओ
,,	,,	१८	बामादो	वामादो
७०	,,	२	मइक	मयिक
,,	,,	६	सव्वरय-णामइ	सव्वरयणा-मइय
,,	१३४	१०	अर्द्ध	अर्ध
,,	१३५	२	नाहीकमल	णाहीकमल
,,	,,	१५	पित्ताग	पिळाग
७१	,,	२	निग्घणया	निग्घिणया
,,	१३६	१०	हण्डे,	हण्डे
,,	,,	,,	,,	,,
,,	,,	११	रेग्रन्थि–	रे ग्रन्थि–
,,	,,	१२	पुत्रक्	पुत्रक
,,	,,	१३	हृदयक्	हृदयक
,,	,,	३०	हाधिक्	हा धिक्
,,	,,	,,	,,	,,
७२	१३७	१८	निहिं,	णिहिं,
,,	,,	२१	–ही॑	–हिँ
७३	,,	५	धृतमतः	भितमतः
,,	,,	,,	धीमओ	धिइमओ
७३	१३७	६	मईयं	मईम
,,	,,	७	°अमति-मस्कः	॰अमति-मत्काः
,,	१३८	१	शोणीयं	शोणीअ
,,	,,	२	साहिया	साहीया
७४	,,	८	अश्वादिगण	अश्र्वादि-गण
,,	१३९	९	दर्शिन	दर्शिन्
,,	१४०	६	श + – = प	श + – प
,,	,,	२१	छलस	छलंस
,,	१४१	८	पाणिसि	पाणिषि
,,	,,	,,	स् + म	ष् + म
,,	,,	१६	प्लक्ष्य	प्लक्ष
,,	,,	२३	विचिकि-त्सती	विचिकि-त्सति
,,	,,	३०	दोगुछि	दोगुंछि
,,	,,	३४	पडिदुगुंछि	पडिदुगछि
७४	१४२	२१	मज्जा	मजूजा
,,	,,	२२	मज्जिका	मङ्जिका
,,	,,	३६	मागुस्	माग्नुम्
७५	१४३	३	वींस	वीसा
,,	,,	४	तींस,	तीसम्
७६	१४३	२	ह हो तो	ह हों तो
,,	१४४	३	चउआलसा	चउआलीसा
७६	१४५	५	साहद्दु	साहट्टु
,,	,,	८	में,	में
,,	,,	१७	रूपिकेप	रिपिकेश
७७	१४६	४	ज्जिहिहिइ	ज्जिहिइ
,,	,,	७	वितारयसे	वितार्यसे
,,	,,	२०	अन्नीति	अनीति
,,	,,	२१	अणउदय	अणउदय
,,	१४७	१	वेसेन-वेरगेंसं	वेस्सेननैरगैर्स
७८	,,	१३	चाउकोण	चाउक्कोण
,,	,,	१४	चाउघण्ट	चाउग्घण्ट
,,	,,	३०	मोप	मोस
,,	,,	३४	परयामोस	मायामोस
७८	१४८	१	रू	रु

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	,,	६	स्पाय	श्राप
,,	,,	८	मागधी	मागधी
,,	,,	२१	पुट	पुट्ठ
,,	,,	२२	पृथक्त्व	पृथक्त्व
,,	,,	२७	पुत	पुथु
,,	,,	२९	पृथग्जन	पृथग्जन
,,	,,	३२	पिहप्प तथा पिहं	पिहप्पिहं
,,	,,	,,	मिलते हैं।	मिलता है।
७९	१४९	७	उत्पनादि	उत्पातादि
,,	,,	९	भ (घन्)	-अं (घन्)
,,	,,	१४	गभीरक्खण	गभीरागण
,,	,,	१५	करीष	करीष
८०	,,	३	उत्पात	उंत्पात
,,	,,	,,	उक्ख	उक्खअ
,,	,,	,,	उक्ख्य	उक्खय
,,	,,	४	समुपअ	समुक्खअ
,,	,,	५	कुल्लाल	कुंल्लाल
,,	,,	७	नि सास	निं सास
,,	,,	८	वराकी	वंराकी
,,	,,	९	श्यामाक	श्यामांक
,,	,,	,,	श्यामअ	सामअ
,,	१५०	१४	अलिय	अलीअ
,,	,,	१५	,,	,,
,,	,,	१७	अलियत्तण	अलिअत्तण
,,	,,	२०	अवलीदत्त	अंवलीदत्
,,	,,	२१	ओसियत्त	ओसिअन्त
,,	,,	,,	प्रसीद	प्रंसीद
,,	,,	,,	पसीय	पसीअ
,,	,,	२५	करिप्	करिस
,,	,,	३१	शिरिस	सिरिस
,,	,,	३२	सिरीष	सिरीस
,,	१५१	११	विरुप	विरूप
,,	,,	,,	विरुअ	विरुव
८०	१५१	१२	चविला	चविळा

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८१	,,	३	जैनमहाराष्ट्र	जैनमहाराष्ट्री
,,	,,	,,	अमागम्या	अमागास्या
,,	,,	१४	कुमारि	कुमारी
,,	,,	,,	माल्णी०	माल्नि०
,,	,,	,,	अर्धमागधी	मागधी
,,	१५२	५	मारजार	मार्जार
,,	,,	१०	मज्जारिया	मज्जारिआ
,,	,,	१५	नीत्	नीर्त
,,	,,	१८	रावण०);	रावण०) है;
,,	,,	१९	उण्णिय	उण्णिअ
,,	,,	२१	निणिय	णीणिय
,,	,,	२२	णइअ	णीअ
,,	,,	२४	पच्चणीद	पच्चाणीद
,,	,,	३२	तूणीय्	तूणींर्व
,,	,,	३५	मृणित	मींढित
,,	,,	,,	विलिय	विव्विय
,,	१५३	३	सरीसृप	सरीसृर्प
,,	,,	७	सीसिव	सिरीसिव
,,	,,	८	सीसव	सरीसव
,,	,,	८	एन	एनं
,,	,,	,,	वेदना	वेदनां
८२	,,	६	कलभ	कळभ
,,	,,	,,	कलाभ	कळाभ
,,	,,	७	कलाय	कलाद
,,	,,	१३	लादिर	लंादिर
,,	,,	२१	बलाका	बंलाका
,,	१५४	१	सूंक्ष्म	• सूक्ष्म
,,	,,	१४	तदिय	तदिअ
,,	,,	२६	आया है])	आया है]),
,,	,,	,,	द्वितीयं	द्विती'य
,,	,,	१७	तृतीयं •	तृती'य
,,	,,	१८	के लिए महाराष्ट्री	के महाराष्ट्री
८२	१५४	२६	°द्वित्य	ॐद्वितिय

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८२	१५४	२६	°तृत्य	*तृतिय
,,	,,	,,	°द्विइअ	*विइअ
,,	,,	२७	दिअ	बीअ
,,	,,	,,	तिअ	तीअ
,,	,,	२८	नाराअ	णाराअ
,,	,,	३०	पडिन्	पडिण
८३	१५६	२७	बाउण,	बाऊण,
८४	१५७	१२	दुप्पेक्स	दुप्पॅक्स
,,	,,	१३	दुम्भेॅज	दुब्भेॅज्ज
,,	,,	१८	सेॅत्त	छेॅत्त
,,	,,	२१	सेत्त	सेॅत्त
टिप्पणी	,,	३	मालिच्छ	मलिच्छ
८४	१५८	२४	शणिचर	सणिचर
,,	,,	२६	शणिच्छर	सणिच्छर
,,	,,	२७	सणिअचर	*सणिअचर
,,	१५९	१	पिण्डपात्रिक से ।	पिण्डपात्रिक से,
,,	,,	२	नेयानुय	नेयाउय
,,	,,	७	शौण्डग्-	शौण्डग-
,,	,,	८	सौन्दर्य्य	सौन्दर्य
,,	,,	१०	सोॅण्डज्ज	सोॅन्दज्ज
,,	,,	१८	पौस	पौष
,,	,,	२३	सुडिका	शुडिका
,,	,,	२४	शुद्धोअणि	सुद्धोअणि
,,	,,	२५	सुवण्णिय	सुवण्णिअ
,,	,,	२६	°सुवर्णिक	*सुवर्णिक
,,	,,	२७	°सुगन्धत्वन	*सुगन्धत्वन
८५	१६०	१	(हाल४६)।	(हाल४६),
,,	,,	२	गओ-त्ति	गओॅत्ति
,,	,,	,,	-१७,६)।	१७,६),
,,	,,	३	३८०,७)।	३८०,७)- होता है।
,,	,,	७	माया चारोव्व	माया चारोॅव्व
,,	,,	८	-भारोव्व	भारोॅव्व

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८५	१६०	११	ब्रह्मणो-ज्जेॅव्व	बम्हणो-जेॅव्व
,,	,,	१८	हिअअ	हिअअ
,,	,,	३५	६२४, ३३)।	६२४, ३३) है।
,,	,,	३६	-जुओॅ	जुओ
,,	१६१	६	३२)।	३२) है।
,,	,,	,,	अलोलो	अलोलोॅ
,,	,,	८	उज्जणिय-नीम्	उज्जयि-नीम्
,,	,,	१४	६)।	६) है।
,,	,,	१६	प्रिये*	प्रिये
,,	,,	,,	पिएॅदिहई	पिएॅदिहइ
८६	१६२	९	मेढ	मेॅढ
,,	,,	१२	मेंढण	मेढ्
टिप्पणी	,,	३	मिलिन्द-पन्हों-	मिलिन्द-पन्हो
८७	१६३	१३	रुक्षपति	रूक्षयति
,,	,,	१६	वेटित	वेठित
,,	,,	२०	४४६)	४४६),
,,	,,	२३	सोॅग्य	सोॅम
,,	१६४	५	रात्रि	रात्री
,,	,,	७	रात्रिभोजन	रात्रीभोजन
,,	,,	८	ओव०)।	ओव०) है।
८८	,,	४	आधायेमाण	आघवेमाण
,,	,,	५	आख्यापन	आख्यापना
,,	१६५	४	शमरशशदु	समरससदु और मागधी में शमरशशदु
,,	,,	३२	अत्थग	अत्थग्घ
८९	१६६	२	कान्स्य	कांस्य
,,	,,	७	गौंण	गौण
,,	,,	८	पेक्खुण	पेॅक्खुण
,,	,,	१०	*प्रेॅखुण	प्रेङ्खुण
,,	,,	२०	स्थान्	स्थान्

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८९	१६६	२२	बाहु	बाहू
,,	,,	२५	फेँमुअ	*केँमुअ
९०	१६७	४	नीडादि	नीडादि
,,	,,	१४	एव	एवम्
,,	,,	२१	वीलावण	वीळावण
,,	,,	२७	खणु	खाणु
,,	१६८	४	जुवणग	जोॅव्वणग
,,	,,	५	जुव—	जुव
,,	,,	,,	जुअ—	जुअ
,,	,,	२०	स्थानें का	स्थानें के
,,	,,	२३	थूलं	थूल
,,	१६९	४	लाज	लाजाः
,,	,,	५	अर्धमामधी के	अर्धमागधी में
,,	,,	६	सेवा	सेवां
९१	१६९	१	–एँज्जा	–एँज्जा–
,,	,,	३	देज्जा	देॅज्जा
,,	,,	४	*भुञ्जयन्	*भुञ्जियात्
,,	,,	,,	*भुञ्ज्यात्	भुञ्ज्यात्
,,	,,	१०	कथ्यते	कथ्येते
,,	,,	१३	विशेषण	विशेषणों
,,	,,	,,	*करण्य	*करर्ण्य
,,	१७०	५	*पाण्य	पार्ण्य
,,	,,	१०	पाणिअ	पाणीअ
,,	,,	१९	नामधिज	नामधेॅज्ज
,,	,,	२३	पेॅज्जय्	पेॅज्जम्
,,	,,	२७	वेण्णि	वेॅण्णि
,,	,,	३३	वर्पाळ	,वर्पाल
,,	१७१	१	कपाळ	कंपाल
,,	,,	३	श्रोतम्	स्रोतस्
,,	,,	६	श्रोतस् का	स्रोतस्
,,	,,	१५	मण्डूय,	मण्डूय,
९२	,,	४	घरसामिणी	घरसामिणि
,,	,,	५	च्चेअ	च्चिअ
,,	,,	६	हीरा	हीरा्
९२	१७२	३	होॅंजति	होॅंज ति
,,	,,	४	सहसे ति	सहसेति
,,	,,	९	त्यागी इति	त्यागीति
,,	,,	,,	चाई त्ति	चाइ त्ति
,,	,,	१५	वणमाला	वणमाल
,,	,,	१६	आणव्व	आणव्व,
,,	,,	,,	कीर्ति इव,	कीर्तिर् इव,
,,	,,	१७	वणइथियणि	वणइत्थियणि
,,	,,	२३	कीलिव	कीलिय
,,	,,	२५	१४)।	१४) है।
,,	,,	२८	पिय पब्मट्ठ	पियपभट्ठ
,,	१७३	२	असदेशीया	अस्मद्देशीया
,,	,,	३	देसीय	देशीय
,,	,,	,,	देसीयेॅव्व	देशीयेॅव्व
९३	,,	५	दि अक्षर है।	दि अक्षर है।
,,	,,	८	१७४)।	१७४) है।
,,	,,	९	मार्य्येति	भार्येति
,,	,,	,,	सुपेति	स्नुपेति
,,	,,	१४	वीरिएइ	वीरिए इ
,,	,,	,,	परक्कमेइ	परक्कमे इ
९४	,,	४	माया	मया
,,	१७४	४	खु और हु	खु का हु
,,	,,	२६	म य हु	मा य हु
,,	१७५	१७	विपमा हु	विसमा हु
,,	,,	२५	शप्पणीया	शप्पणीआ
,,	,,	३१	वह	उसने
,,	१७६	१	पृथवी खलु	पृथिवी खलु
९५	,,	२	एव, ऍव्व	येव, येॅव्व
,,	,,	५	अइरेणजेव्व	अइरेण ज्जेव
,,	,,	७	दीअदि जेॅव	दीअदि जेॅव्व
,,	,,	८	सम्पत्तत्त	सम्पज्जत
,,	,,	,,	सम्पजदि ज्जेॅव्व	सम्पजदि-ज्जेॅव
,,	१७७	१	सतप्यत्त	सतप्यत
,,	,,	२	तव य्येव	तव य्येॅव्व

पा. सं.	पृ. सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९५	१७७	३	सव्वस्स	सव्वस्स
			य्येॅव्व	य्येव
,,	,,	५	मुद्दे ज्जेॅव,	मुद्दे ज्जेव,
,,	,,	,,	मुज्जोदएँ	मुज्जोदए
			ज्जेॅव्व	ज्जेव
,,	,,	१३	तूरातोॅ	तूरातोॅ
			य्येॅव्व	य्येव
९६	,,	३	ठिअग्हि	ठिअ ग्हि
,,	,,	४	रोदिता सः	रोदिताः साः
,,	,,	९	असद्दायि	असद्दायि
			न्यास्मि	न्यस्मि
,,	,,	१०	विरहु-	विरहु-
			क्कठित	क्कठिद
,,	,,	१२	निवृत्ता	निवृताः
,,	१७८	१०	पिदर त्ति	पिअदर त्ति
नोट	,,		गेल्तैं	गेल्तैं
,,	,,	१७	वौल्लैन-	बौॅल्लेॅन
			सेन	सेॅन
९७	,,	१४	इत्थियवेय	इत्थिवेय
,,	१७९	१	इत्थि	इत्थि
			ससग्गि	ससग्गी
,,	,,	८	इत्थीरदन	इत्थीरदण
,,	,,	१६	पुढवीनाढ	पुढवीनाध
,,	,,	२४	१०,२);	१०,२) है;
,,	,,	२५	जाउणअड	जउणअड
,,	,,	,,	जाऊणाअड	जउणअड
,,	,,	२६	जाऊणा-	जउणा-
		•	सगअ	सगअ
,,	,,	३०	मुत्त दाय	मुत्तदाम
९८	,,	१३	श्रीघर	श्रीघर
,,	,,	,,	सिरिधर	सिरिघर
,,	,,	२०	सिरिज-	सिरिज
			सवम्मय	सवम्म
,,	,,	२६	खण्ड दास	खण्डदास
,,	,,	२७	चारु दत्त	चारुदत्त

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९८	१७९	३३	ओव०)।	ओव०),
,,	१८१	३	सस्सिरिय	सस्सिरिअ
,,	,,	११	९६२)।	९६२) हैं,
,,	,,	१२	अहिरीयाण	अहिरीमाणे
,,	,,	१५	ओहरिआमि	ओहरियामि
,,	,,	१७	हिरियामि	हिरिआमि
,,	,,	१८	,,	,,
,,	,,	२१	वोल्लेन-	वोॅल्लेॅन-
			सेन	सेॅन
९९	,,	४	),—	),–
,,	,,	१०	चायिणाम्	त्रायिणाम्
९९	१८२	७	श्रियः	श्रियाः
,,	,,	१३	इत्तिउ	इत्थिउ
,,	,,	२५	इत्थिपु	इत्थिसु
,,	,,	२७	.अभिशार्यं	अभिसार्यं-
१००	१८३	३	भल्ली	भल्लि
,,	,,	६	मह्यागतानि	मह्यागतानि
,,	,,	,,	महीहिं	महिहिं
,,	,,	१७	कंट्ठठिअ	कंट्ठठिअ
			दीसा	वीसा

पेज १८३ पारा १०१ के ऊपर "कुछ अन्य स्वर" शीर्षक छूट गया है, उसे पाठक सुधार ले।

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०१	१८३	१०	उत्तम	उत्तर्म
,,	१८४	५	कृपण	कृपर्ण
,,	,,	१३	नगिण	निगिण
,,	,,	२०	पृद्यत	पृशर्त
,,	,,	२४	मध्यम	मध्यर्म
,,	१८५	१५	शिय्या	शेॅय्या
,,	,,	१६	निसेज्जा	निसेॅज्जा
१०२	१८६	१५	ईस त्ति	इस त्ति
,,	,,	१६	इसी स	इसीस
,,	,,	१७	ईंसमपि	ईंसम् पि
,,	,,	,,	ईसी सः	ईसीस
,,	,,	२०	ईसिज्जल	ईसिजल

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०२	१८६	२०	ईसिर भिण्ण	ईसिर अभिण्ण
,,	,,	२१	ईसदिट्ठत	ईसदिट्ठत्त
,,	,,	२२	ईसदट्टः	ईसदट्ट
,,	,,	२३	ईसिमनरण	ईसिमंनरण
,,	,,	२४	ईस	ईस
,,	,,	२५	ईसुम्मि-उजन्त	ईसुम्मि-उजन्त
,,	,,	,,	ईसुम्मि-णन्दन	ईसुम्मि ण्णन्दम्
,,	,,	२७	ईसवि-आसम्	ईसिवि-आसम्
,,	,,	२८	ईसि-परिमन्ता	ईसि-परिस्सन्ता
,,	,,	२९	ईसिमउ-लिद,	ईसिमउ-लिद,
,,	,,	२९-३०	ईसनसगण	ईसनमसण
,,	,,	३३	ईसिमिणि दामुदिद	ईसिमिणि दामुदिद
,,	,,	३५	(१)	(१)
,,	१८७	४	समुपण्णा	समुप्पण्णा
,,	,,	५	ईसिस	ईसीस
,,	,,	१३	ईसद् विलम्ब	ईसद् विलम्ब
,,	,,	१४	कडुअ	कदुअ
,,	,,	२३	ईसत्ल	*ईसत्ल
,,	,,	२४	ईसि	ईसिय
१०३	,,	१०	किरसा	किस्सा
,,	१८८	२४	छत्तपर्ण	छत्रपर्ण
,,	,,	२६	सत्तवर्ण	सत्तवण्ण
,,	१८९	९	कुणप	कुणप
,,	,,	१०	विटप	विटप
,,	,,	१४	अधिणइ	अप्पिणइ
१०४	,,	१२	४ और ६);	४ और ६) है।

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०४	१९०	३	पगुम	गुपुम
,,	,,	१७	६,४३)।	६,४३) है।
,,	,,	२०	*उम्मुग्ना	*उम्मग्ना

(पृ. १९० तक * के स्थान पर ° चिह्न है, जिसे पाठक सुधार लें।)

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०४	,,	२२	*अवमान-निमग्नित	*अवमग्न निमग्नित
,,	,,	,,	ओमुग्गानि-मग्गिय	ओमुग्ग-निमुग्गिय
,,	,,	२९	*मुन्चुम	*मुत्तुम
,,	,,	३०	मज्याति	*मज्याति
,,	१९१	३	मशाण	मशाण
,,	,,	५	मगाणअ	मशाणअ
,,	,,	७	ध्वनि	ध्वनि
१०५	१९२	२	सव्वन्न	शव्वन्न
१०६	,,	५	सोअणस्सु	सुअणस्सु
,,	१९३	३	वसु,	वस्सु,
,,	,,	६	पिव	पिब
,,	,,	७	पीवत	पिबत
,,	,,	१०	इच्छयथा	इच्छय था
,,	,,	११	कुणट्टु	कुणेट्टु
,,	,,	१५	जेत्थु तेत्थु	जे॑त्थु ते॑त्थु
,,	,,	१८	(§१०७)	§१०७–
१०७	१९४	१	जो उत्कर	उत्कर
,,	,,	२	(=खींचता है)	×
,,	,,	३	वविअर	वदिअर
,,	,,	१८	दिंप	दिंफ
,,	,,	२३	विली	वीली
,,	,,	२६	चेवेल्लिर	चे वे॑ल्लिर
,,	,,	२७	*उद्विल्म	*उद्विल्ल
,,	,,	३०	वेल्हइ	वे॑ल्हइ
,,	,,	३१	उव्वेल्हइ,	उव्वे॑ल्हइ
,,	,,	,,	णिव्वेल्हइ	णिव्वे॑ल्हइ
,,	,,	,,	सवेल्हइ	सवे॑ल्हइ
,,	,,	३३	उव्वेल्लत	उव्वे॑ल्लत

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०७	१९४	३५	विल्ल	विल्ल
,,	१९५	९	हेट्टा	हे॔ट्टा
,,	,,	११	,,	,,
,,	,,	१२	हेट्ठ	हे॔ट्ठ
,,	,,	,,	हेट्ठम्	हे॔ट्ठम्
,,	,,	१३	हेट्ठिम	हे॔ट्ठिम
,,	,,	१४	हेट्ठेण	हे॔ट्ठेण
,,	,,	,,	हेट्ठओ	हे॔ट्ठओ
,,	,,	१५	हेट्ठतो	हे॔ट्ठतो
,,	,,	१६	हेट्ठम्मि	हे॔ट्ठम्मि
,,	,,	,,	हेट्ठयम्मि	हे॔ट्ठयम्मि
,,	,,	१७	हेट्ठट्ठिअ	हे॔ट्ठट्ठिअ
,,	,,	१८	पाठ है])।	पाठ है])है।
,,	,,	२०	हेट्ठिम	हे॔ट्ठिम
,,	,,	२१	हेट्ठिमय	हे॔ट्ठिमय
,,	,,	२३	हेट्ठिल्ल	हे॔ट्ठिल्ल
	१९६	७	§ १०७	§ १०८
१०८	,,	६	येषा	ये॔षा
,,	,,	,,	यासा	यासा
,,	,,	,,	केषा	के॔षा
,,	,,	७	इम	इमं
,,	,,	,,	अन्येषा	अन्ये॔षा
,,	,,	,,	अन्यासाम्	अन्यांसाम्
,,	,,	९	एषाम्	एषांम्
,,	,,	,,	परेषाम्	परेषाम्
,,	,,	१०	सर्वेषाम्	सर्वेषाम्
,,	,,	११	जपियो	जंपिमो
,,	,,	१२	नमामः	नंमामः
,,	,,	,,	मिलता और	मिलता है और
,,	,,	१४	पृच्छामः	पृच्छांमः
,,	,,	,,	लिखामः	लिखांमः
,,	,,	१५	*श्रुणामः	*श्रुणांमः
,,	,,	१९	-आमो	-अमो
,,	,,	२०	साहाय्य	साहाय्य
	१९७	१२	§ १०८	§ १०९
१०९	१९७	२५	सिम्बल	शिम्बल
,,	१९८	२	कूर्पास	कूर्पांस
	,,	७	§ १०९	§ ११०
११०	,,	२	इ हो जाता है	ई हो जाता है
,,	,,	४	आढायमान	आढायमीण
,,	,,	९	ट होकर	ढ होकर
,,	,,	,,	ड रह गया	ढ हो गया
	,,	१६	§ ११०	§ १११
१११	,,	९	जलो॔ल्लअ	जलो॔ल्लअम्
	१९९	१८	§ १११	§ ११२
११२	,,	१३	बार,	बार,
,,	२००	११	उत्कर्षिक	उत्कर्षिक
,,	,,	१२	उत्कृष्ट .	उत्कृष्ट
	,,	१८	§ ११२	§ ११३
११३	२००	८	यथा	यंथा
,,	,,	,,	तथा	तंथा
	२०१	३३	§ ११३	§ ११४
११४	,,	३	अनुनासिक	अनुनासिक भी
,,	२०२	१३	हिट्ठम	हे॔ट्ठम्
,,	,,	१४	हेट्ठा	हे॔ट्ठा
,,	,,	१६	एवम्,	एवम्
,,	,,	,,	एतत्,	एतत्
,,	,,	,,	तथैतद्,	तथैतद्
,,	,,	,,	अवितथम्,	अवितथम्
,,	,,	१७	एवम्,	एयम्
,,	,,	,,	एयम्,	एयम्
,,	,,	,,	तहम्,	तहम्
,,	,,	,,	अवितहम् और	अवितहम्
,,	,,	२४	सोच्च	सो॔च्च
,,	,,	२५	इ, ई और उ, ऊ	इ, ई और उ ऊ
	२०३	१	§ ११४	§ ११५

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०२	१८६	२०	ईसिर भिण्ण	ईसिर अभिण्णे
,,	,,	२१	ईसद्विग्गत	ईसद्विगत्त
,,	,,	२२	ईसतदष्टः	ईसतदष्ट
,,	,,	२३	ईसिगचरण	ईसिसचरण
,,	,,	२४	ईस	ईस
,,	,,	२५	ईसुम्मि-उजन्त	ईसुम्मि-उजन्त
,,	,,	,,	ईसुम्मि पन्दन	ईसुम्मि ण्णदम्
,,	,,	२७	ईसवि-आसम्	ईसिवि आसम्
,,	,,	२८	ईसि परिसन्ता	ईसि परिस्सन्ता
,,	,,	२९	ईसिमउ-ल्दि,	ईसिमउ-ल्दि,
,,	,,	२९ ३०	ईसन्मसृण	ईसन्मसृण
,,	,,	३३	ईसिणि दामुदिद	ईसिणि दामुदिद
,,	,,	३५	(१)	(!)
,,	१८७	४	समुपण्णा	समुप्पण्णा
,,	,,	५	ईसिस	ईसीस
,,	,,	१३	ईसद् विलम्ब	ईसद् विलम्ब
,,	,,	१४	कडुअ	कडुअ
,,	,,	२३	ईसत्क	*ईसत्क
,,	,,	२४	ईसि	ईसिय
१०३	,,	१०	किरसा	किस्सा
,,	१८८	२४	छत्तपर्ण	छत्रपर्ण
,,	,,	२६	सत्तवर्ण	सत्तवण्ण
,,	१८९	९	कुणप	कुणप
,,	,,	१०	विटप	विटप
,,	,,	१४	अपिणइ	अप्पिणइ
१०४	,,	१२	४ और ६);	४ और ६) है।

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०४	१९०	३	पुग	पुपुग
,,	,,	१७	६,४१)।	६,४१) है।
,,	,,	२०	*उन्मुग्ना	*उन्ममा
(पृष्ठ १९० तक * के स्थान पर ° चिह्न है, जिसे पाठक सुधार लें।)				
१०४	,,	२२	*अवमान-निमग्नित	*अवमग्न निममित
,,	,,	,,	ओमुग्गानि गगिय	ओमुग्ग-निमुग्गिय
,,	,,	२९	*युन्तुम	*युतुम
,,	,,	३०	मज्याति	*मज्याति
,,	१९१	३	मसाण	मशाण
,,	,,	५	मसाणअ	मशाणअ
,,	,,	७	घ्वनि	ध्वनि
१०५	१९२	२	सब्बन्त	शब्बन्त
१०६	,,	५	सोअणस्सु	सुअणस्सु
,,	१९३	२	वसु,	वस्सु,
,,	,,	६	पिब	पिब
,,	,,	७	पीवत	पिवत
,,	,,	१०	इच्छयथा	इच्छय था
,,	,,	११	कुणहु	कुणेहु
,,	,,	१५	जॅत्थु तॅत्थु	जॆत्थु तॆत्थु
,,	,,	१८	(§१०७)	§१०७—
१०७	१९४	१	जो उत्कर	उत्कर
,,	,,	२	(=खींचता है)	×
,,	,,	३	वविअर	वदिअर
,,	,,	१८	ढिंक	दिंक
,,	,,	२३	विली	वीली
,,	,,	२६	चेवेल्लिर	चे वे ल्लिर
,,	,,	२७	*उद्विलम	*उद्विल्न
,,	,,	३०	वेल्लइ	वे ल्लइ
,,	,,	३१	उव्वेल्लइ,	उव्वे ल्लइ
,,	,,	,,	णिव्वेल्लइ	णिव्वे ल्लइ
,,	,,	,,	सवेल्लइ	सवे ल्लइ
,,	,,	३३	उव्वेल्लत	उव्वे ल्लत

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२७	२१८	१४	*स्थुल्ला	*स्थुल्ना
,,	,,	१५	*थोर	थोर
,,	,,	१७	स्थुल	स्थूल
,,	२१९	८	णगोली	णगोलि
,,	,,	१९	मुल्ल	थुल्ल,
,,	,,	२०	*तबुल्ल,	*तबुल्ल, तवोॅल्ल
,,	,,	२५	कोम्हडी,	कोॅम्हडी,
,,	,,	२६	कोहली	कोहळी
,,	,,	२७	कोहलिया	कोहळिया
,,	,,	२८	कोहलें	कोहळे
,,	,,	,,	गलोई	गळोई
,,	,,	२९	*गडोच्ची	*गडोॅच्ची
	२२०	३	§ १२७	§ १२८
१२८	,,	८	बोलिएॅण	बोॅल्लिएॅण
,,	,,	१३	अम्हेहिं	अम्हेॅहिं
,,	,,	,,	तुम्हेहि	तुम्हेॅहिं
,,	,,	१९	एइना	एइणा
,,	,,	२०	एदिना	एदिणा
,,	,,	,,	एएणा	एएण
	,,	३१	§ १२८	§ १२९
१२९	२२१	८	फलवान	भयकर
,,	,,	९	वेळ	वेळु
नोट	,,	२१	वलाइ,	वलाइ,
,,	,,	,,	म्युलर;	म्युलर,
	,,	२४	§ १२९	§ १३०
१३०	२२२	१०	धिप्पइ (	धिप्पइसे (
,,	,,	,,	) स्तिप्	) जो स्तिप्

सशोधित पारा १३१ से पहले २२२ पृष्ठ में 'अशस्वर' या 'स्वरभक्ति' शीर्षक छूट गया है, पाठक सुधार ले ।

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	२२२	१३	§ १३०	§ १३१
१३१	,,	८	मिल्ता	मिल्ती
,,	,,	७	निव्वाबओ	निव्वावओ
,,	,,	११	किणराणाम्	किणराणम्
१३१	२२२	१२	किंपुरिसाणाम्	किंपुरिसाणम्
,,	,,	,,	सोभा	सो भा-
,,	२२३	६	ध्य का ज	ध्य का ज्झ
	,,	१२	§ १३१	§ १३२
१३२	,,	५	अभिक्खणाम्	अभिक्खणम्
,,	,,	६	गरहइ	गरहइ
,,	,,	२०	तरसइ	तरासइ
,,	,,	२१	परावर्हा	परावर्हि
,,	२२४	१०	सल्हणिज्ज	शलाहणिज्ज
,,	,,	१३	सलाहणीय	शलाहणीय
	२२५		§ १३२	§ १३३
१३३	,,	९	सियोशिण	सियोसिण
,,	,,	१६	तुषिणिय	तुसिणीय
,,	,,	२३	नगिणिन	नगिणिण
,,	,,	,,	नगिणिय	नागणिय

१३४ से १४० तक पारा छूट गये हैं, जिनका अनुवाद शुद्धि पत्र के अन्त में दिया गया है ।

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	२२६	६	और दर्शन	और आगम
	,,	७	§ १३३	§ १४१
१४१	,,	१५	उद्वर्हति	उद्वर्हति
,,	२२७	१	अलावु	अलाबु
,,	,,	५	अलाऊ	अलाउ
,,	,,	७	अलावू	अलाबू
	,,	८	§ १३४	§ १४२
	२२८	२९	§ १३५	§ १४३
१४३	,,	६	अन्ते वि	अन्ने वि
,,	२२९	२०	अर्धमागधी	मागधी
,,	,,	३१	जीविय	जीविअ
,,	,,	३५	ल्भेयम्	*लभेयम्
,,	२३०	१०	महुमहणेणव्व	महुमहणेणव्व
,,	,,	११	दावं	दावं

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११५	२०३	६	प्रत्यागुनुत्	प्रत्याश्रुत
,,	,,	१३	वदेटइ	वद्देटअ
,,	,,	१५	वद्देटर)	वद्देटर
,,	,,	२०	३०, ४)।	३०, ४),
,,	,,	३५	वाक्रनागल	वाकरनागल
,,	,,	३६	आल	आल्ट
	२०४	१	§ ११५	§ ११६
	,,	२३	§ ११६	§ ११७
११७	२०५	६	कीजिए])।	कीजिए])है।
,,	,,	९	इप्वासस्थान	इष्वासस्थाने
	२०५	२३	§ ११७	§ ११८
११८	,,	५	सोना	सोया
,,	२०६	५	गुमन्न	गुमन्त
,,	,,	१४	निछिय	विछिअ
	२०७	१२	§ ११८	§ ११९
११९	,,	५	आगमिप्यत	आगमिष्यन्त
,,	,,	८	धम्मे ल	धम्मे ल्ल
,,	२०८	२०	तेत्तीसम्	ते त्तीसम्
	,,	२६	§ ११९	§ १२०
१२०	२०९	५	ट्रिव	ष्ठीव
,,	,,	९	दुत्थ=	दुत्थः
	२१०	१	§ १२०	§ १२१
१२१	,,	५	कीदिय,	कीदिस,
,,	,,	१३	एरि सअ	एरिसअ
,,	,,	२६	कोरस	केरिस
,,	२११	२	एरस	एरिस
,,	,,	११	वयम्य	वयस्य
,,	,,	२०	बौ ल्लेनसेन	बौ ल्लें न-से न
	२११	२२	§ १२१	§ १२२
१२२	,,	५	एद्दह	ऍद्दह
,,	,,	१२	में आमेळ	में आपीड का आमेळ
,,	२१२	११	निपीडय	निपीड्य
नोट	,,	२२	लास्सन,	लास्सन ने

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	२१२	२७	§ १२२	§ १२३
१२३	,,	४	शौर	शौर-
,,	२१३	८	गरुदा	गरुअदा
,,	,,	,,	अगरुदा	अगरुअदा
,,	२१४	३४	उभओ कुलेण	उभयओ-कुलेणं
,,	२१५	१	उनयस्	उर्वयस्
,,	,,	२	भ्रुयका	भ्रुवका
,,	,,	१०	बौल्लेनसेन	बौ ल्लें न से न
	,,	१८	§ १२३	§ १२४
१२४	,,	३	पुलिस	पुलिश
,,	,,	१७	-सोत्तम	-सो त्तम
,,	,,	१८	पुलिसोत्तम	पुलिशो त्तम
	२१६	२४	§ १२४	§ १२५
१२५	,,	७	तों ड	तोंड
,,	,,	९	मों ड	मोंड
,,	२१७	३	पोक्खरिणी	पो क्खरिणी
,,	,,	४	पोक्खरणी	पो क्खरणी
,,	,,	७	साथ पुस्करिनी	साथ में पुस्करिनी
,,	,,	८	पो डरिय	पोंडरिय
,,	,,	२१	मोत्ता	मो त्ता
	,,	२८	§ १२५	§ १२६
१२६	,,	६	रागमए	णामए
,,	,,	७	समाणस्स	समाणस्स,
,,	२१८	११	नू पुरवत्	नूपुरवत्
,,	,,	,,	) से आया	) भी आया
,,	,,	१८	णू वुराइ,	णूवुराइ
	,,	२०	§ १२६	§ १२७
१२७	,,	६	एत्सें०)।	एर्त्से०) है।
,,	,,	१३	*टोण्ण	*तों ण्ण
,,	,,	,,	*टोण्णीर	*तों ण्णीर
,,	,,	,,	तथा	तथा थों ण्ण।
,,	,,	१४	*तुल्ल,	*तुल्ल
,,	,,	,,	*तुल्लीर	*तुल्लीर

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२७	२१८	१४	*स्थुल्ला	*स्थुल्ना
,,	,,	१५	*थोर	थोर
,,	,,	१७	स्थूल	स्थूर्ल
,,	२१९	८	णगोली	णगोलि
,,	,,	१९	मुल्ल	थुल्ल,
,,	,,	२०	*तंबुल्ल,	*तनुल्ल, तबो`ल्ल
,,	,,	२५	कोम्हडी,	को`म्हडी,
,,	,,	२६	कोहली	कोहळी
,,	,,	२७	कोहलिया	कोहळिया
,,	,,	२८	कोहळें	कोहळे
,,	,,	,,	गलोई	गळोई
,,	,,	२९	*गडोच्ची	*गडो`च्ची
	२२०	३	§ १२७	§ १२८
१२८	,,	८	बोल्लिएँण	बो`ल्लिएँण
,,	,,	१३	अम्हेहिं	अम्हे`हिं
,,	,,	,,	तुम्हेहि	तुम्हे`हि
,,	,,	१९	एइना	एइणा
,,	,,	२०	एदिना	एदिणा
,,	,,	,,	एएणा	एएण
,,	,,	२१	§ १२८	§ १२९
१२९	२२१	८	फलवान	भयकर
,,	,,	९	वेळ	वेळु
नोट	,,	२१	वलाह,	वलाह,
,,	,,	,,	म्युलर;	म्युलर,
,,	,,	२४	§ १२९	§ १३०
१३०	२२२	१०	धिप्पइ (	धिप्पइसे (
,,	,,	,,	) स्तिप्	) जो स्तिप्

संशोधित पारा १३१ से पहले २२२ पृष्ठ में 'अक्षस्वर' या 'स्वरभक्ति' शीर्षक छूट गया है, पाठक सुधार लें।

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	२२२	१३	§ १३०	§ १३१
१३१	,,	८	मिल्ता	मिल्ती
,,	,,	७	निव्वासओ	निव्वासओ
,,	,,	११	किणराणाम्	किणराणम्
१३१	२२२	१२	किंपुरिसा-णाम्	किंपुरिसा-णम्
,,	,,	,,	सोभा	सो भा-
,,	२२३	६	ध्य का ज्ज	ध्य का ज्झ
	,,	१२	§ १३१	§ १३३
१३२	,,	५	अभिक्खणाम्	अभिक्खणम्
,,	,,	६	गरहइ	गरहइ
,,	,,	२०	तरसइ	तरासइ
,,	,,	२१	परावहीं	परावहिँ
,,	२२४	१०	सल्हणिज्ज	शलाहणिज
,,	,,	१३	सलाहणीअ	शलाहणीय
	२२५		§ १३२	§ १३३
१३३	,,	९	सियोशिण	सियोसिण
,,	,,	१६	तुषिणिय	तुसिणीय
,,	,,	२३	नगिणिन	नगिणिण
,,	,,	,,	नगिणिय	नागणिय

१३४ से १४० तक पारा छूट गये हैं, जिनका अनुवाद शुद्धि पत्र के अन्त मे दिया गया है।

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	२२६	६	और दर्शन	और आगम
	,,	७	§ १३३	§ १४१
१४१	,,	१५	उद्वृहंति	उद्वुहंति
,,	२२७	१	अलावु	अलाबु
,,	,,	५	अलाऊ	अलाउ
,,	,,	७	अलाबू	अलावू
	,,	८	§ १३४	§ १४२
	२२८	२१	§ १३५	§ १४३
१४३	,,	६	अन्ते वि	अन्ने वि
,,	२२९	२०	अर्धमागधी	मागधी
,,	,,	३१	जीविर्य	जीविअं
,,	,,	३५	लभेयम्	*लभेयम्
,,	२३०	१०	महुमहणे-णव्व	महुमहणेण व्व
,,	,,	११	दावं	दावं

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	२३०	२६	§ १३६	§ १४४
१४४	,,	१	प्रत्यय	अव्यय
,,	२३१	११	एण्हिम्,	ऍण्हिम्,
,,	,,	,,	एत्ताहे	ऍत्ताहे
,,	,,	१६	इयाणिं	इयाणि
,,	,,	१७	लिटराटूर-	लिटेराटूर-
	,,	२०	§ १३७	§ १४५
१४५	,,	२	प्रत्यय	अव्यय
,,	,,	१२	किलते	किलतें
,,	,,	१४	दृष्टा सि	दृष्टासि
,,	,,	,,	दिट्ठा सि	दिट्ठासि
,,	२३२	४	श्रान्तो सि	श्रान्तोसि
,,	,,	,,	क्लान्तो सि	क्लान्तोसि
,,	,,	५	एषोसि	एषासि
,,	,,	१३	नूर्न	नूर्नम्
	,,	१५	§ १३८	§ १४६
१४६	,,	४	वाएँ	वाए
,,	,,	,,	एँ चिण्हें	ए चिण्हें
,,	,,	५	कोहें	कोहं
,,	,,	६	दइएँ‡	दइए‡
,,	,,	,,	दइवें	दइवँ
,,	,,	७	पहारें	पहारँ
,,	,,	,,	भमतें	भमतँ
,,	,,	८	रुएँ	रुए
,,	,,	,,	सहजें	सहजं
	,,	२९	§ १३९	§ १४७
	२३३	२३	§ १४०	§ १४८
१४८	,,	२	कलत्र	कॅलत्र
,,	,,	५	पिउरिसआ	पिउस्सिआ
,,	,,	६	पिउरिसया	पिउस्सिया
,,	२३४	४	पेज में	पेजों में
,,	२३४	२०	प्रत्यय	अव्यय
१४८	२३४	२४	उंपरि	उर्परि
,,	२३५	२२	स्नु षा	स्नुषा
,,	,,	२३	स्नुषात्व	सुनुषात्व

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४८	२३५	२८	एत्तो,	ऍत्तो,
	२३६	२०	§ १४१	§ १४९
१४९	,,	६	निस्सेणा	निस्सेणी
,,	,,	१६	केच्चिरेण	केचिरेण रूप
	,,	२५	§ १४२	§ १५०
१५०	,,	४	साथ नूणं	साथ णूणं
,,	,,	६	अन्तगदो	अत्तगदो
,,	,,	७	: नूण	: णूण
,,	,,	१६	अवपत	अँवपत
,,	,,	२१	यादा	मादा
,,	,,	२५	सज्ञाशब्दों	सज्ञा शब्दों
	२३८	३२	§ १४३	§ १५१.
१५१	२३९	६	अर्भितर	अभ्भितर
,,	,,	११	तिलदिच	तिलिदिच
,,	,,	१५	पडिनीय	पडिणीय
,,	,,	२४	रायण्ण	*रायण्ण
,,	,,	२६	वीइक्कत्त	वीइक्कत
,,	,,	२९	थीणा	थीण
,,	,,	३०	ठीणा	ठीण
,,	,,	३१	ठिण्ण	थिण्ण
,,	,,	,,	ठिण्णअ	थिण्णअ
	२४०	५	§ १४४	§ १५२
१५२	,,	६	त्वरित	त्वरित
,,	,,	१७	सुअहि	सुअहिँ
,,	२४१	६	तूण	तूण
	,,	१३	§ १४५	§ १५३
१५३	२४२	८	*कयत्य	कयत्थ
	,,	२०	§ १४६	§ १५४
१५४	,,	११	अवश्याय	अवश्या
	२४३	३३	§ १४७	§ १५५
१५५	२४४	१	ओज्झाओ	ओँज्झाओ
,,	,,	१४	उपहस्त	*उपहस्त
,,	,,	२०	पहोयारइ	पहोयारेइ
,,	२४५	८	फौसवोल	फौसबोल्ल
,,	,,	११	*ओक	*ओँक

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	२४५	१८	§ १४८	§ १५६
१५६	,,	११	दूदिअलाव-माण	यूदिअला-यमाण
,,	२४६	४	गुणट्ठि।	गुणट्ठि
,,	,,	४	आयार० (	(आयार०
,,	,,	१७	असुभ अ-प्पिय	असुभ अ-प्पिय
,,	,,	,,	अकंत-वग्गुहिँ	अकंत-वग्गूहि
,,	,,	३२	मतिऋद्धि-गौरव	मत्यर्द्धि-गौरव
,,	,,	३३	बहुज्झित-	बहूज्झित-
,,	२४७	६	धवलअंसुआ	धवलअंसुअ
	,,	१५	§ १४९	§ १५७
१५७	,,	१०	सर्वंका	सर्वं का
,,	,,	१५	सघउ-वरिल्ल	सव्वउ-वरिल्ल
,,	,,	१६	सघुप्परिल्ल	सव्वुप्परिल्ल
,,	,,	१८	अयरिय–	आयरिय–
,,	,,	१९	हेट्ठिमउ-वरिय	हेट्ठिमउ-वरिम
,,	,,	२०	वाताधनो-दधि	वातघनो-दधि
,,	,,	२१	वायधन-उदहि	वायवन-उदहि
,,	,,	,,	कंठसूत्रो-रस्थ	कंठसूत्रो-रःस्थ
,,	२४८	६	प्रवचनोर-द्यातक	प्रवचनो-पघातक
,,	,,	,,	पवयणउव-द्दोयग	पवयणउव-घायग
,,	,,	,,	संयमो-पद्यात	संयमोपघात
,,	,,	,,	संजमउव-द्याय	संजमउव-घाय
१५७	२४८	७	मेंवसंतो०	में वसंतो
,,	,,	६	वसंतोत्सवो-पायण	वसंतोत्सवो पायन
,,	,,	,,	वसंतुरसव	वसंतुस्सव
	,,	१०	§ १५०	§ १५८
१५८	२४९	४	गंधोद्धूत	गंधोद्धुत
,,	,,	६	मंदमारुतो-द्वेलित	मंदमारुतो द्वेल्लित
,,	,,	११	देमूण	देसूण
	,,	२६	§ १५१	§ १५९
१५९	,,	४	पीणा	पीना
,,	,,	५	प्रकटो–	प्रकटोरु–
,,	,,	७	एकोरुकः	एकोरुक;
	२५१	१	§ १५२	§ १६०
१६०	२५१	२६	थाणिय	यणिय
,,	,,	,,	-जोणिय-त्थीओ	-जोणियइ-त्थीओ
	,,	३३	§ १५३	§ १६१
१६१	२५२	४	कुसुम-ओत्थअ	कुसुमों-त्थअ
,,	,,	१४	=माला	=माल
	,,	३२	§ १५४	§ १६२
१६२	२५३	६	बहूस्थिक	बहुस्थिक
,,	,,	,,	कपि-कच्छूग्नि	कपि-कच्छ्वग्नि
,,	,,	१०	बहूवश्य	बह्वश्य
,,	,,	११	बद्वृद्धि	बह्वृद्धि
,,	,,	१६	चक्खु-इन्दिय	चक्खि-न्दिय
,,	,,	१७	-त्सर्पिणि	-त्सर्पिणी
,,	,,	२०	उच्चसी-अक्खर	उव्वसी-अक्खर
	,,	३२	§ १५५	§ १६३
१६३	२५४	२	अभ्युगत	अभ्युपगत
,,	,,	६	शौर० :	शौर०
,,	,,	१८	अध्यासंते	अध्यास्यंते

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६३	२५४	२२	पचक्खअ	पचक्खाअ
,,	,,	२३	पडिउद्या-रेयछ	पडिउद्या-रेयव्व
,,	,,	३१	पडंसुअ	पडंसुआ
,,	,,	,,	प्रत्यादान	*प्रत्यादान
	२५५	७	§१५६	§१६४
१६४	,,	१७	णिसिअइ	णिसिअर
,,	,,	१९	गोल्लाउर	गोल्लाऊर
१६४	२५५	१९	गोदापुर	गोदापूर
,,	,,	२५	ब्यंजन	व्यंजन
	,,	३५	§१५७	§१६५
१६५	२५६	६	काळायस होता है	=कालायस है
,,	,,	२२	) बनाये गये हैं;	×
,,	,,	२८	पादपीढ	पादपीठ
,,	,,	३०	जब मार्कण्डेय के	जब कि मार्कण्डेय के
,,	२५७	१०	उडीण	उदीण
,,	,,	१६	होहि	होही
,,	,,	१७	जणेहि	जणेही,
,,	,,	,,	निवारेहि	निवारेही
,,	,,	१८	छी	एही
	,,	२८	§१५८	§१६६
१६६	,,	५	थइर	*थइर
,,	२५८	२४	गर्जयति	गर्जति
,,	,,	३१	चतुर्विंशति,	चतुर्विंशति
,,	२५९	३	चतुर्दशम्	चतुर्दशम
१६६	२६०	७	बदुर	*बदुर
,,	,,	,,	बदुरी	*बदुरी
	,,	२३	§१५९	§१६७
१६७	,,	५	अंधारिय।	अंधारिय है।
,,	२६१	१२	मालारी	=मालारी
,,	,,	२०	१२७७)।	१२७७) है।

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६७	२६१	२६	कीजिए)।	कीजिए) है।
,,	,,	२९	सातंवाहन	सातवाहन
	२६२	४	§१६०	§१६८
१६८	,,	६	*इंद्र-गोपाल	*इंद्र-गोपात्म
,,	,,	१४	रूप भी है,	रूप भी है=
	२६३	७	§ १६१	§ १६९
१६९	,,	५	अग्गिटोम	अग्गिट्ठोम
१६९	२६३	५	शिवस्कंद-वर्मा-	शिवस्कंद-बर्मा
,,	,,	७	आरक्ख-धिकते	आरखा-धिक्ते
,,	,,	,,	इतिअपि	इति अपि
,,	,,	,,	चापि ट्टीयम्	चापिट्टियाम्
,,	,,	८	आपिट्टीअं	आपिट्टीयम्
,,	,,	९	खल्वस्ये	खल्वस्मे
,,	,,	११	ण अ ये	ण अ मे
,,	,,	,,	अस्य	अस्य्
,,	,,	१५	अमुश्चाय	अमुश्चत्य्
,,	,,	१७	केसव	केसवो
,,	,,	२०	आर्या	अर्या
,,	,,	२१	एजमा-णीयो	ऐंजमाणीयो
,,	,,	,,	पासइ	पासइ
,,	,,	२३	दिशा	दिश
	,,	३२	§ १६२	§ १७०
१७०	२६४	२	णायी	णामी
,,	,,	७	(हाल , ६४७)।	(हाल ६४७) है।
,,	,,	२०	अवतरित	अवतरति
,,	२६५	२	५१०)।	५१०) है।
,,	,,	५	= नेति	= नैति
,,	,,	६	ओहसिया	ओहसिआ
	,,	१३	§१६३	§१७१
	,,	३५	§१६४	§१७२

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७२	२६६	१२	ऐत्थोवरए	ऍत्थोवरए
,,	,,	२१	तिरिक्को-	तिरिक्खे-
,,	,,	२३	१६)।	१६) है।
,,	,,	२८	अनुशासंति	अनुशासति
,,	,,	२६	अपसपमिः	अपसर्पामः
,,	,,	३३	अद्धाणु- गच्छइ	अद्धाअणु- गच्छइ
,,	,,	,,	पंथाणु	पंथाअणु
१७२	२६६	३४	५६)।	५६) है।
	,,	३६	§१६५	§१७३
१७३	२६७	१०	अनेलिषं	अनेलिसं
,,	,,	२४	चत्वारों'	चत्वरो'
,,	,,	,,	तरद्वीपाः	न्तरद्वीपा
,,	,,	२६	दलाम्य	दलाम्य्
,,	२६८	६	उवेंति	उवें न्ति
,,	,,	,,	अंतकर	अंतकरो
,,	,,	६	इयम्	इमम्
,,	,,	१३	नो-	नो
	,,	२६	§१६६	§१७४
१७४	,,	३	अप्पू	अप्प्यु
,,	,,	६	तंसि,	तंसि
,,	,,	,,	तस्मिन्न,	तस्मिन्न
,,	,,	,,	*अप्पेके	*अप्येके
	२६६	२३	§१६७	§१७५
१७५	,,	३	'णेलिपं	'णेलिस
,,	,,	४	स्पर्शान्	स्पर्शान्
,,	,,	७	उपसांतो	उपशांतो
,,	,,	६	इणयो	इणमो
,,	,,	१३	'त्यु णं	'त्यु णं
,,	२७०	६	'भिद्दुआ	'भिद्दुआ
,,	,,	,,	अनभिद्रुताः	अभिद्रुताः
,,	,,	८	सूलाहि'	सूलाहिं'
,,	,,	६	वियापुरुयाः	'वियापुरुया'
,,	,,	१५	जंसी- भिदुग्गे	जंसी'भि- दुग्गे
१७५	२७०	२८	अकारिणो'	अकारिणो
	,,	३२	'अपनिहिति' शीर्षक छूट गया है, इसे पाठक जोड़ लें।	
	,,	३३	§१६८	§१७६
१७६	२७१	१०	केरिकात्ति	केरिकत्ति
,,	,,	३३	काममें	काम में
१७६	२७२	५	२५), अ०	२५); अ०
	,,	१८	'स्वर साम्य' शीर्षक छूट गया है, पाठक सुधार लें।	
	,,	१८	§१६९	§१७७
१७७	,,	२	नकली	नकल
	२७३	१६	§१७०	§१७८
	२७४	४	§१७१	§१७९
	,,	३५	§१७२	§१८०
१८०	२७५	१६	तिहि	तिहिँ
१८०	२७५	२३	सीलुम्मूलि- आइँ	सीलुम्मूलि- आइँ
,,	,,	२६	दिसाणाँ	दिसाणँ
,,	,,	,,	णिमीलि- आइँ	णिमीलि- आइँ
,,	,,	२६	दिण्णाइँ	दिण्णाइँ
,,	,,	,,	जाइँ	जाइँ
	२७६	११	§१७३	§१८१
	२७७	२	§१७४	§१८२
१८२	,,	४	प्रसदितेन	प्रकदितेन
,,	,,	२०	यड्डेणं,	यड्डेणं
,,	,,	,,	यड्डेण,	यड्डेण
,,	,,	२४	आनुपूर्व्येन	आनुपूर्व्येण
,,	,,	२७	आया;	आया है;
,,	२७८	१६	घणाइं	घणाइं
,,	,,	२४	दहिं	दहिँ
,,	२७६	५	तें जनेना	तें जनेन
	,,	६	§१७५	§१८३
	२८०	४	§१७६	§१८४

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८४	२८०	१	श और स्	श् और स्
,,	,,	११	करतल	करअल
,,	,,	२१	रतिधर	रतिघर
,,	२८१	११	एण्हिँ	एण्हि
,,	,,	१३	तस्सि	तस्सिं
,,	,,	१५	५); वि=	५): वि=
,,	,,	१८	करके	करके
,,	,,	२४	चाहिए])	चाहिए])
			का	इसका
नोट	,,	३६	जोँ घणाईँ	जोँव्वणाईँ
,,	,,	,,	ओवणाइँ	ओँव्वणाइँ
	,,	६	§१७७	§१८५
१८५	,,	७	या दाव	मा दाव
,,	,,	,,	या तावत्	मा तावत्
,,	,,	१६	दइददा	दइद्दा
,,	२८२	१७	खु द	खु दे
,,	,,	२०	साअद	साअद
,,	,,	२१	स्वय	स्वयं
	२८४	७	§१७८	§१८६
१८६	,,	८	जुआल	जुअल
	,,	२२	§१७९	§१८७
१८७	,,	७	पिवइ	पियइ
,,	,,	८	=सरित्)	=सरित् हैं।
,,	२८५	१२	*सृतुनि	*सृतुनि
	,,	२२	§१८०	§१८८
१८८	,,	२	और म	और भ
,,	,,	१०	सौरभ	सैरिभ
	२८६	२१	§१८१	§१८९
१८९	,,	६	पमुक्खाण	पमुत्ताण
	२८७	३	§१८२	§१९०
१९०	,,	४	सुख	सुख
,,	,,	५	मठ-पै०	मठ
,,	,,	८	तातिस	तातिस
	,,	१८	§१८३	§१९१
१९१	,,	७	पाल्क	पाल्ठक

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९१	२८७	८	काट	काठ
,,	,,	१६	सट	सठ
,,	२८८	५	मेरव	मेख
,,	,,	१६	/ इन	इन
,,	,,	,,	आभास	आभास
	२८९	५	§ १८४	§ १९२
१९२	,,	३	फ और ह	फ, ह
	,,	२६	§ १८५	§ १९३
१९३	२९०	४	— च्छोभ	— च्छोभँ
,,	,,	१३	वख्खयल	वख्खयथल
,,	,,	,,	व०ख०	व० ख०
,,	,,	,,	वक्खत्यल	वक्खत्थल
,,	,,	१६	सुट्ठु=सु ठु	सुट्ठु=सुष्ठु
,,	,,	२६	दिट्ठि	दिट्ठिं
,,	,,	,,	सिणिध	सिणिध्ध
,,	,,	२७	उम्भिमण	उब्भिमण
,,	,,	३२	), ख्ख	),उख्खत्त
,,	,,	३३	पा मोँ-रुखाण,	पा मोँ-रसाण
,,	,,	३५	सव्वम्भ तगिल्ल	सव्वम्भत रिल्ल
,,	,,	३६	अवद्धा	अवद्ध
,,	२९१	३	इ ङिका	इ ङिका
	,,	७	§ १८६	§ १९४
१९४	,,	६	कथा	कथा
,,	,,	७	निजित	निर्जित
,,	,,	११	णाल्लइ	णोँल्लइ
,,	,,	,,	स्फुटति	स्फुटति
,,	,,	१२	फुट्टि	फुट्टि
,,	,,	,,	स्फुटे	स्फुटे•
,,	,,	१४	*स्फिटति	*स्फिटति
,,	,,	१५	साल्लइ	सोँल्लइ
,,	,,	१६	परमुहत्त	परमुहत्त
,,	,,	१७	परशहत	परशुहत
,,	,,	१९	भत्त	भत्त

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९४	२६१	२१	लेप्दुक	लेष्टुक
,,	,,	२५	ह्रदक	*ह्रदक
,,	२६२	२	चचिका	चर्चिक
,,	,,	,,	चचिक	चर्चिक
,,	,,	८	=अले	=-अलं
,,	,,	१४	=दुकूल	दुकूलं
	,,	२८	§१८७	§१९५
१९५	२६३	३	शु॑क्ल्त	शुक्लित
,,	,,	७	पोंम्मराअ	पोॅम्मराअ
	,,	१८	§ १८८	§ १९६
१९६	,,	८	परिअग्ग-हिद	परिग्ग-हिद
,,	२६४	६	अखंडअ	अखंडिअ
,,	,,	१०	आया	समा
,,	,,	,,	आल्लवइ	अल्लिवइ
,,	,,	११	पंति	पंति
,,	,,	१२	ऊघ्वभुज	ऊर्ध्वभुज
,,	,,	१५	कायाग्ग-रा	कायग्गिरा
,,	,,	,,	कायागरा	कायगिरा
,,	,,	१६	तेलोंक	तेल्लोॅक
,,	,,	२१	पचजनाः	पञ्चजनाः
,,	,,	२३	प्रम्मुक	पम्मुक
,,	,,	२५	परव्वस	परव्वस
,,	,,	२७	पलव्वद्दा	पल्व्वद्दा
,,	,,	२८	अणुव्वस	अणुव्वस
,,	,,	,,	पव्वाअइ	पव्वाअइ
,,	,,	३०	मेत्तप्फल	मेॅत्तप्फल
,,	,,	३५	कीजिए);	कीजिए) है;
,,	२६५	१६	रागदास	रागदोस
,,	,,	२०	कुदिट्ठि	सुदिट्ठि
,,	,,	२२	साद्दट्ठ	सदिट्ठि
,,	,,	२६	अद्दन	अद्दाग
,,	,,	२७	दावइ	दावई
,,	,,	३२	बलाव-कार	बलक्कार

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	२६५	३५	§१८९	§१९७
१९७	२६६	४	इतिः	इतः
,,	,,	२१	कॉप्प	कोॅप्प
,,	,,	२२	२६०);	२६०) कुप्प से
	,,	३१	१९०	§१९८
१९८	२६७	७	अटति	अटति का ट का ढ
१९८	२६७	९	§१९१	§१९९
१९९	,,	२	व का ब्व	व का ब
	,,	३१	§ १९२	§ २००
२००	२६८	१४	१६);	१६) है;
		१८	४६,११);	४६, ११) है;
,,	,,	२७	इत्याद्यपि	इत्याद् अपि
	,,	२८	§ १९३	§ २०१
	२९९	३२	§ १९४	§ २०२
२०२	३००	१६	अत्मक	—आत्मक
,,	,,	३०	परगअ,	मरगअ,
	३०१	३४	§ १९५	§ २०३
२०३	३०२	७	मेच्छदि	मेॅच्छदि
,,	,,	१६	पारितोः	पारितो
	३०३	२६	§ १९६	§ २०४
२०४	३०३	५	सुव्वुति;	सुकृति;
	३०५	१	§ १९७	§ २०५
	,,	१३	§ १९८	§ २०६
२०६	३०६	१२	निकला है	निकले हैं
,,	,,	२०	ह्विटनी §(११९९	(ह्विटनी § ११९९)
,,	३०७	३	फलिह	फळिह
,,	,,	७	फलिहमय	फळिहमय
,,	,,	८	पालिय	पाळिय
,,	,,	९	पालिया-मय	पाळियामय
,,	,,	११	पालिअ	पळिअ
,,	,,	,,	पलिह-गिरि	पळिहगिरि

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१६	३२७	,,	चेदे	चेडे
,,	,,	६	विधत्त	विद्त्त
	,,	६	§२१२	§२२०
२२०	,,	२०	पडिदिणं	पइदिणं
,,	,,	,,	पडदियहं	पइदियहं
,,	,,	२१	पडसमयं	पइसमयं
,,	३२७	२२	पडयरिसं	पडवरिसं
	३२८	८	§२१३	§२२१
२२१	,,	५	दंक्रिंश	दंक्रिदशं
,,	,,	२०	६२ है)।	६२)में भी है।
,,	,,	२४	णिसीद	णिसीध
,,	,,	२७	अनिरुजूद्ध	अणिरुजूद
,,	३२६	६	नियूंधित	* निर्यूंधित
,,	,,	११	सादिल,	सढिल,
	,,	२०	§२१४	§२२२
२२२	३३०	६	डहअ	टहह
,,	,,	२३	उड्डू अ	डड्डुअ
,,	३३१	७	है, वियड्ड	वियड्ड
,,	३३२	१२	द्वि-कार	द्विकार
	३३३	६	§२१५	§२२३
२२३	,,	१७	आडिय	आढिअ
	३३४	१	§२१६	§२२४
२२४	३३५	१	आत्मानः	आत्मनः
	,,	३०	§२१७	§२२५
२२५	,,	४	गुणगण-युत्त	गुणगण-युक्त
	३३६	६	§२१८	§२२६
२२६	,,	२५	हस्तलिपि-वी	हस्तलिपि-वी
,,	,,	२६	क्लिणीय	क्लिणीयं
,,	,,	२७	कीळणीअ-अ	क्लिणीअ-अ
,,	३३७	६	शिलालेख-एक	शिलालेख-आइ
	,,	३४	§२१६	§२२७
२२७	३३८	१	सियसंध-वमो	सियसंद-वमो
	,,	१६	§२२०	§२२८
	,,	२७	§२२१	§२२६
२२६	,,	६	केपेशु	केशेपु
२२६	३३६	६	विपकन्या	विपकन्यका
२२६	३३६	१०	सहस्रा	शहस्रा
	,,	१८	§२२२	§२३०
२३०	३४०	२	*अवक-शिक	*अवकाशिक
	,,	३०	§२२३	§२३१
२३१	३४१	२६	छागला	छागल
	३४२	१०	§२२४	§२३२
२३२	,,	३	कौटिल्ये	कौटिल्ये
,,	,,	४	वैकल्ये	वैकल्ये
,,	,,	६	मे	से
नोट	,,	२०	आउ-ट्टेन्ति	आउट्टेन्ति
,,	,,	२२	आउ-ट्टित्तए	आउट्टित्तए
,,	,,	२३	विउट्टण	विउट्टन
	,,	२५	§२२५	§२३३
	३४४	१	§२२६	§२३४
२३४	,,	२	गयां	गया।
	,,	१६	§२२७	§२३५
२३५	३४५	१२	सरति	संरति
,,	,,	१३	सरति	सरंति
२३६	,,	४	यम्मिदेन	यम्निदेण
,,	,,	५	याणादि	याणदि
,,	,,	७	जाआ	जाया
,,	,,	१२	थ्यार	आर
,,	,,	१४	जाणमाशि	जाणाशि
,,	३४६	१	जन्मान्तर—	जन्मान्तर-
,,	,,	६	उयूहिच्न	उयूहिअ

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३६	३४६	१६	*उद्वेप जो	*उद्वेप है जो
२३८	"	२	है, ड	है; ड
"	"	"	नहीं; ट	नहीं, ट
"	३४७	१२	यूक्क	माग० यूक्क
"	"	२१	मोव्हिअ	मोव्हिआ
"	"	२६	वल्मोडि	वल्मोडि
२४०	३४८	७	है :	हैं : हेच०
"	३४९	२	उड्डु	उड्डु
"	"	७	विभाग	विभाजन
"	"	८	आमेलिय	आमेलिय
"	"	१४	निगड	निगळ
"	"	१७	३२,६ है;	३२, ६;
"	"	३२	वटआगल	वळआगल
"	३५०	६	कीलेड	कीळड्
"	"	१९-२०	न्वेळ्-ल्वेकण	न्वॅव्ल्वावे-ऊण
"	"	२१	न्वेड्डु	न्वॅड्डु
"	"	"	न्वेड्डड्	न्वॅड्डड्
"	"	२३	तार्टीमाग	तार्टिअमाग
"	"	२४	है;	हैं;
"	३५१	६	पेड्डु	पॅड्डु
"	"	१२	पीडि-दन्त—	पीडिन्नन्त-
"	"	१९	परिपीळेव	परिपीळॅव
"	"	३१	वेळम्य	वेळाय
	३५२	२२	§२२४	§२४२
२४२	३५३	२	मोप्ट	मोप्ट
	"	१०	§२२५	§२४३
२४३	"	९	वेल्लू	वेॅल्लू
	"	३३	§ २२६	§ २४४
२४४	३५४	३	माग०	अ० माग०
"	"	७	विदुव	विदुर्
"	"	८	विधुर्ता	०विदुर्ता
"	"	१६	या कोर्वा	याकोर्वा
२४४	३५४	१६	है जो	है ,जो
"	"	२४	वाउड	वाउळ
"	"	३०	कयं वग	कयंवग
"	३५५	४	पणोल्लिअ	पणोॅल्लिअ
"	"	"	णोॅल्ला-हिंनि,	णोॅल्लावे-हिंति,
"	"	५	णोल्ला-विय	णोॅल्लाविय
"	"	१९	पडिवेसी	पडिवेसि
"	"	२०	पलिवेसी	पलिवेसि
"	"	३५	अनेलिस	अणेलिस
"	"	३६	(§ १२१)	(§ १०१) है।
"	३५६	३	मृद+न,	मृद्+न,
"	"	"	मृद	मृद्
	"	१८	§२३७	§ २४५
२४५	"	४	एक सत्तरिं	एकसत्तरिं
"	"	५	चनत्तरिं	चोनत्तरिं
"	३५७	८	एगारह०	ऍगारह०
"	"	९	एकदह	ऍकदह
"	"	१६	अनेलिस,	अणेलिस,
"	३५८	२७	*पादस्य	*पादस्य
	"	३५	§२३८	§ २४६
२४६	३५९	१७	अगिंउंतअ	अगिंउंतअ
"	"	२६	अगिउंतअ	अगिंउंतअ
	३५९	३३	§ २३९	§ २४७
	३६०	९	§ २४०	§ २४८
२४८	"	३	आर्यीज्य	०आर्यीज्य
"	३६१	१	वर्णायर्पीण,	वणियपाण,
"	"	"	निडिय	मिडिम
"	"	"	निटय	निटय
"	"	८	मिमिण	महा० मिमिण
२५०	"	६	अर०	अर० में
२५१	३६२	५	भैंवर	भवँइ

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५१	३६२	११	अणिंउंतअ	अणिँउंतअ
,,	,,	१२	चानुण्डा	चामुण्डा
,,	,,	१२	यमुना।	यमुना है।
,,	३६३	७	स्यनि	स्थाने
२५२	३६४	४	में।	में
,,	,,	७	)अप०	और।अप०में
,,	,,	,,	दाक्षि०	दाक्षि० में
,,	३६५	१८	अङ्गलीयक	अङ्गुलीयक
,,	,,	२१	कोसेॅञ्ज	कोसेॅञ्ज
,,	,,	२२	गेवेञ्ज	गेवेॅञ्ज
,,	,,	२८-२९	है इसका	है जब इसका
,,	,,	३२	यधस्तं	यहस्तं
,,	,,	३५	याणिय्यादि	याणिय्यदि
२५३	३६६	४	—यसो	—यसो
,,	,,	५	—संजुत्तो	—संजुत्तो
,,	,,	६	संयुक्त :	संयुक्तः
,,	,,	,,	(७,४७)।	(७,४७) है।
,,	,,	८	वाजपेय	वाजपेय
,,	,,	९	नैयिकान्	*नैयिकान्
,,	,,	१०	—प्प- दायिनो	-प्पदायिनो
,,	,,	१२	आपिस्याम्	आपिष्ट्याम्
,,	,,	१८	कीजिए)।	कीजिए) है।
,,	,,	२०	कारेॅय्य	करेॅय्य
,,	,,	२१	कारेय्याम	करेॅय्याम
,,	,,	२३	गोलसर्म- जस,	गोल्स- मजस,
,,	,,	२४	अगिसयं- जस्स,	अगिस- मजस्स,
,,	,,	२५	३७),	३७) में,
२५४	३६७	६	पद्य	गद्य
,,	,,	११	२५०)	२५०) जैसा
,,	,,	१६	सून क	सून्क
,,	,,	२०	-एँम्वउँ,	एँम्वउँ,
,,	,,	२०	-इएँव्वउ,	-इएँव्वउँ,
,,	,,	,,	जगोघा	जगोॅव्वा
,,	,,	२१	करिएँव्वउँ	करिएँव्वउँ
,,	,,	२२	सहेव्वउँ	सहेॅव्वउँ
,,	,,	२६	हितय	हितप
,,	,,	३०	गोविन्त	गोपिन्त
,,	,,	,,	केसव	केसप
,,	,,	३१	ग्राल्टइं- डिशे	ग्राल्ट इंडिशे
,,	,,	,,	क्नू न	कून
,,	,,	३२	सिम्प्ली	सिम्प्लि
२५५	३६८	,,	*छायारवा	*छायाखा
टिप्पणी (अनु०)	,,	१	जोठी	जाँठी
,,	,,	,,	जेठा	जेठी
२५६	३६९	२	-लाविदहि- युगे	-लायिदंहि- युंगे
,,	,,	,,	-प्रमुर-	-म्रसुर-
,,	,,	४	विग्गंहला-	विग्गहला-
,,	,,	६	पूलिदः	पूलिद
,,	,,	८	महारन्त-	महारत्न-
,,	,,	९	रामले	शामले
,,	,,	,,	लुहिलघिअं	लुहिलप्पिअं
,,	,,	१०	पलिणाये	पलिणामे
,,	,,	११	परिणायो	परिणामो
,,	,,	१७	(एस०)	(सिंह०)
,,	,,	१८	एस० ने पै०	सिंह० ने पै०
,,	,,	२७	राच—,	राच–,
,,	,,	,,	तमरुक	टमरुक
२५७	३७०	३	हलिद्द	हालिद्द
,,	,,	१६	करुण	करुणा
,,	,,	२७	वारुणी	वारुणी
,,	३७१	६	रुक्ष;	रुक्ष,
,,	,,	१२	लाधा	लादा
,,	,,	१३	)ग्रौर—रादा	×

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५७	३७१	१८	कप्प०)	कप्प०),
,,	,,	२२	चालीसा–	चालीस-
,,	,,	२७	पल्लिउञ्जय	पलिउञ्जण
,,	,,	२८	अनल्लिउञ्ज-माण	अपल्लिउञ्ज-माण
,,	,,	३४	परिच्छिय	परिच्छिद्दय
,,	३७२	१	पर्युत्सुब्ध	पर्युत्तुब्ध
,,	,,	३५	चलण	चळण
,,	,,	,,	,,	,,
२५८	३७३	१२	र के स्थान-पर उ	र के स्थान-पर ड
,,	,,	१६	*कलवीर	*कळवीर
,,	,,	,,	कलवीर से	कलवीर से,
,,	,,	२५	सस्करण	संस्करण में
२५९	३७४	१४	सलाडुक	शलाडुक
२६०	,,	१०	णंगोली	णंगोलि-
,,	३७५	११	ललाडि =	ललाडे
२६१	,,	५	एवॅः	एवैः
,,	३७६	६	–अनु०])।	-अनु०]),
,,	,,	८	इस यँ	इस यँ
,,	,,	१०	जामँहि	जामहिँ
,,	,,	,,	मामहिं	तामहिँ
,,	,,	१६	ओराइय	ओहायइ
,,	,,	२६	भूमा	भुमा
,,	,,	३०	भुमहा	भमुहा
२६२	३७७	१७	१२) में,	१२);
,,	,,	२८	जैंद्दह	जे`द्दह
२६३	३७८	१३	विण्ग	वीहण
,,	,,	२०	३७६)—अ०	३७६)।—अ००
,,	,,	२७	जो पै०	पै०
,,	,,	२५	कारणि	कारणि
२६४	३७९	२	निःमरित	निःसरति
,,	,,	११	जै० महा०	जै० शौ०
,,	,,	१७	दिभहउ	दिभहड

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६४	३७९	२१	—हत्तरि	–हत्तरि
,,	३८०	१४	–आहो	–आहोँ
२६५	,,	५	तिनि	तिन्नि
,,	,,	१३	*अगुणा-अट्ठिं	*अगुण अट्ठि
,,	,,	१४	*पण्णट्ठिं,	पण्णअट्ठिं,
,,	३८१	१४	यह शब्द-पाहण्ड	यह शब्द-माग० में-पाहण्ड
२६६	,,	१	नहीं यह	न ही
,,	३८२	१३	नहीं	न ही
२६७	,,	८	संवडि	सवदि
,,	३८३	१६	चेन्ध	चे`न्ध
,,	,,	२७	ब्रह्मण्यक	ब्राह्मण्यक
,,	,,	२८	रूप है	रूप हैं
,,	३८४	६	*श्लेष्याण	*श्लेष्माण
२६८	३८५	११	ब्राम्ये	ब्राम्मे
,,	,,	२०	बौ`पि	ब्रो`प्पि
,,	,,	,,	ब्रौं विणु	ब्रो`प्पिणु
,,	,,	२२	५)।	५) हैं।
२६९	३८६	३	स्थान बहुधा	स्थान पर-बहुधा
,,	,,	२६	वंभ	वंफ
,,	३८७	४	रत	स्त
,,	,,	,,	रट	स्ट
२७०	,,	२७	द्–(११)+	-(११) द्+
,,	३८८	२	–(१२) द्	–(१२) द्
,,	,,	३	द्+र = द	द्+र = द
,,	,,	४	द्+म	द्+भ
,,	,,	६	द्+य	द्+र
,,	,,	८	उवन्ना	उवग्ग
,,	,,	१८	मोग्गर	गोग्गर
,,	,,	२१	मन्दुभ	दुन्दुभ
,,	,,	२२	उम्मउ	उम्मट
,,	,,	,,	उम्मोय	उम्मोम

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७०	३८८	२५	उत्थित्त	उत्क्षिप्त
,,	,,	२८	खुच	खुज्ज
२७१	३९०	६	निणिज्झइ	विणिज्झइ
,,	,,	८	रिट्टु	पिट्ठु
,,	,,	१०	सेन्तर	सेनार
,,	,,	१२	नोट संख्या १	नोट संख्या १ ;
२७२	,,	५	कोञ्च	कोँञ्च
,,	,,	,,	कौञ्च	क्रौञ्च
२७३	,,	२	पण्णारह	पण्णरह
,,	३९१	१	एक्कावन्नं	ऍक्कावन्नं
,,	,,	८	१३३)।	१३३) हैं।
,,	,,	२२	कि 'ञ्ञ,	कि 'ञ्ज,
,,	,,	२४	दत्य	दंत्य
,,	,,	२६	पं–वंजा	पं० -वंजा
,,	,,	२८	आज्ञापयति	आज्ञापयति
,,	,,	२९	पच आली-सहि	पचआलीस-सहिँ
,,	,,	३०	माना जाता है।	माना जाता है,
२७४	,,	२	अ० माग०	माग०
२७५	३९२	९	लिम्क	लिदक
,,	,,	११	विलोज्जति	विलोइज्जति
,,	,,	१३	हुवति	हुवती
,,	,,	१३	भवन्ति	भवन्ती
,,	,,	१४	देशन्तर	देशान्तर
,,	,,	१६	में नये सस्क-रणों से उद्द	में उद्द
,,	,,	,,	मम्खन्दि	भम्खन्दि
,,	,,	२९	ओलोआली	ओलोअन्ती
,,	,,	३१	पञ्चरत्तव्य-न्दरे	पञ्चरत्तभ-न्दरे
,,	३९३	२	मुकुन्दातन्द	मुकुन्दानन्द
,,	,,	६	चिन्दाउल	चिन्दाउलं
,,	,,	,,	यासान्दिए	वासन्दिए

पा.सं	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७५	३९३	१०	मन्दि	रमन्दि
,,	,,	३०	न्त लिखती है	न् त लिख-ती है
,,	३९४	६	ताप्यति	तापयति
,,	,,	१०	अपक्कृतन्ति	अपक्रन्तति
२७६	,,	७	ऋ बुण्ण	ऋ का बुण्ण
,,	,,	९	नग्न = नग्न	नग्ग=नग्न
,,	३९५	४	णाण	नाण
,,	,,	६	होता है।	होते हैं।
,,	,,	९	मणोज्ञ	मणोँज्ञ
,,	,,	१२	केवल ज्ञ को ही	केवल ज्ञ ही
,,	,,	,,	अहिच	अहिज्ञ;
,,	,,	१३	सव्वण	सव्वण्ण
,,	३९६	२	यज्ञसेनी	याज्ञसेनी
२७७	३९७	१४	आत्प	आप्त
,,	,,	१६	छुग्म	छम्म
२७८	,,	७	मम्यण	मम्मण
,,	३९८	२	पज्जुण	पज्जुण्ण
,,	,,	५	विट्ठज्जुण	धिट्ठज्जुण्ण
२७९	,,	१	अर्धस्वर से	अर्धस्वरों से
,,	,,	११	अख्यानक	आख्यानक
,,	,,	,,	अख्याति	आख्याति
,,	,,	१४	आधावेइ	अघावेइ
,,	,,	२०	रज्य	रज्ज
,,	,,	२३	लोट्टइ	लोँट्टइ
,,	,,	२५	–द्रयट्ठ	–द्र्य
,,	,,	२७	अप्येगे	अप्पेगे
,,	,,	,,	*आपेके,	*अप्येके,
,,	,,	,,	अप्येगइया	अप्पेगइया
,,	,,	२८	*आपेकत्या	*अप्येकत्याः
,,	,,	,,	अप्येकचे	अप्पेकचे
,,	३९९	१	मुण्डइ	मुप्पउ

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८०	३६६	१६	जै०महा० नेवच्छिय में	जै०महा० में नेवच्छिय
,,	,,	२१	-च्छेत्ता	-च्छेँत्ता
,,	४००	२	*मद्य	मद्य
,,	,,	८	३८६)।	३८६) हैं।
,,	,,	,,	ताल्व्यकरण	ताल्व्यीकरण
,,	,,	६	तियक्त	*तियक्त
,,	,,	११	चेच्चरण	चेँच्चाण
,,	,,	,,	*तिक्त्वा	*तिङ्क्त्वा
,,	,,	,,	*तिक्त्वा	*तीक्त्वा
२८१	,,	४	आघात्य के।	अघात्य के,
,,	,,	१३	*पत्तेयबुद्ध=	पत्तेयबुद्ध=
,,	४०१	७	ताहिय	तहिय
२८२	,,	१४	कञ्का	कञ्चका
,,	४०२	२	कञ्ञा	कञ्जा
,,	,,	४	बम्हञ्ञ	बम्हञ्ञ
,,	,,	७	अव्वम्हण्ण	अब्बम्हण्ण
,,	,,	,,	अब्राह्मण	अब्राह्मण्य
२८३	,,	५	अहिमञ्ञु	अहिमञ्ञु
,,	,,	१३	हाल की टीका	वेबर की टीका
२८४	४०३	३	मज्जा	मज्जाआ
,,	,,	५	-कुलीकद-म्हि	-कुली कद-म्हि
,,	,,	,,	कृतास्मि	कृतास्मि,
,,	,,	६	प० अवहा-यहि	प० अवहा-वेहि
,,	,,	११	इसीसे	यह
,,	,,	१८	रूप है	रूप हैं
,,	,,	२०	पय्यन्दे	पय्यदे
,,	,,	,,	अयय्यन्ददा	अयय्यददा
,,	,,	२१	अशम्पर	स्वरभक्ति
,,	,,	२६	सोण्डीरदा	सोँण्डीरदा
२८४	४०३	३१	तीर्यते,	तीर्यते
,,	४०४	,,	बताया है	बताता है
,,	,,	१	यह सुय्य	यहाँ सुय्य
,,	,,	८	मोनास वेरिष्टे	मोनात्स वेरिष्टे
२८५	,,	४	पल्लाण	पल्लाण
,,	,,	५	साँकुमार्य	सौकुमार्य
,,	,,	१०	पल्ल्ह	पल्लट्ट
,,	,,	२३	*प्रलहस्त	*प्रहुलस्त
,,	,,	,,	ह्रस्	हूलस्
,,	४०५	२	सीके	सी के
,,	,,	५	रा० प०	शा० प०
२८६	,,	४	ववसाय	ववसाअ
,,	,,	५	कक्ष्य	कक्ख
,,	,,	८	पित्तिन्ज	पित्तिज्ज
,,	,,	६	विनिय	*विनीय
,,	,,	१०	*अप्पूह	*अप्यूह
,,	,,	११	उह्	ऊह्
,,	,,	२१	१०८ धा	१०८) धा
,,	,,	२५	*आघस हों,	*आघस हो,
,,	,,	,,	आग्रस हैं,	आग्रस है,
,,	४०६	२	*सिंक्	*सिक्
,,	,,	७	सीप	दीप
,,	,,	१२	प्यन्त	प्पन्त
,,	,,	२४	जिसके	जिसका
,,	,,	२८	खत्	खन्
,,	,,	२६	वेस्टरगार्ज	वेस्टरगार्ड
,,	,,	३४	रूप है।	रूप है,
,,	,,	,,	*प्रभुत्यति से बनी क्रिया	*प्रभुत्यति की क्रिया
,,	४०७	१	प्रभुत्यति	*प्रभुत्यति
,,	,,	४	अपभावयति	*अपभावयति से है।
,,	,,	१०	हर् अम्या	हर्-अम्या

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८७	४०७	२	हो उसका लोप	हो लोप
,,	,,	६	कक्कोड	कक्कोळ
,,	४०८	१२	निघृेण	निघृंण
,,	,,	१३	अजिघ्रति,	आजिघ्रति,
,,	,,	१४	अग्घइ	अग्घाइ
,,	४०९	६	प्र दायिनः	प्रदायिनः
,,	,,	,,	पतिभागो	पतीभागो
,,	,,	१२	बृ=ब्ब	ब्र=ब्ब
,,	,,	१९	भातृकाणाम्	भ्रातृकाणाम्
,,	,,	२४	सिवखं-दवमो	सिवखंद-वमो
२८८	४१०	१७	मुद्धः	मुद्ध
२८९	,,	१७	केवट्ठअ	केवट्टअ
,,	४११	२०	अणुगरिव-ट्ठमाण	अणुगरिव-ट्टमाण
,,	,,	२३	निवट्टएज्ञा	निवट्टऍज्ञा
,,	,,	२६	नाना रूप	नाना अ० माग० रूप
,,	,,	३२	उव्वतइ	उव्वत्तइ
,,	४१२	११	समाहट्टु=	समाहट्टु,
,,	,,	१४	गर्त्ता	गर्ता
२९०	४१३	६	बल्कि	किंतु
,,	,,	१३	सत्थवाह	शत्थवाह
२९१	,,	१५	छड्डिज्जड	छड्डिज्जउ
,,	४१४	१७	प्रमर्द्दिन्	प्रमर्दिन्
,,	,,	३३	अट्टरंत्त	अट्टरत्त
२९२	४१५	२	दुट्टइ	ड्डट्टइ
,,	,,	३	तुड्डइ	तुट्टई
,,	,,	१३	में पुरथक	में माग० पुरथक
,,	,,	१९	रापुत्ताक	शपुत्ताक
२९३	४१६	४	अत्यभोदि	आत्यभोदी
,,	४१७	२	जन्तु	जत्तु
,,	,,	,,	तन्तु	तत्त
२९३	४१७	४	१७ में अत्त	१७ में माग० अत्त
,,	,,	१२	महामेत्त-पुरिस	महामे॓त्त-पुरिस
,,	,,	१७	रूप है।—	रूप है—
२९४	४१८	५	छिद्रित्	छिद्रित
२९५	,,	१	रूपों में य	रूपों में म
,,	,,	३	घुल मिल जाता है।	घुल मिल जाते हैं।
,,	,,	१८	ताम्रशिखा	ताम्रशिख
,,	,,	२३	(§१३७या अम्ब);	(§१३७) या अम्ब;
,,	,,	२४	सेधाम्ल्दा-लिकाम्नः	सेधाम्ल्दा-लिकाम्लैः
२९६	४१९	३	ल्किदयन्ति	क्लिदयन्ति
,,	,,	२३	जम्भिदुं	जम्भिदुं
,,	,,	२४	जम्यसि	जम्भसि
,,	,,	३२	पजम्भइ	पजम्भह
,,	४२०	३३	जप्पत्ति	जप्पन्ति
,,	,,	३	जप्पहती	जप्पन्ती
,,	,,	४	),—जप्पिणि	),-जप्पिणि
,,	,,	६	४ के जै० महा० रूप	४ के रूप
,,	,,	१०	परिप्पवत्त	परिप्पवन्त
,,	,,	,,	परिप्ल्वंत	परिप्ल्वन्त-
,,	,,	२०	पगब्भि—	पगब्भि-
,,	,,	२८	वम्भिअ,	वम्भीअ,
२९७	४२१	२	मुकडिया	मुकडिय
,,	,,	६	ज्ज=ज	ज्ज=ञ्ञ :
,,	,,	,,	वलइ	जलइ
२९८	,,	५	पीनत्वन;	*पीनत्वन;
,,	,,	१२	द्विजाधन	द्विजाधम
,,	४२२	१	(एत्सें०);	(एत्सें) है;

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६६	४२२	५	साथ साथ	साथ-साथ
			चत्तर	महा०शौ० में चत्तर
”	”	२१	४६)।	४६);
”	”	२६	गरुल्द्धय	गरुळद्धय
”	”	”	३७),	३७) है,
”	”	२७	किन्नु	कितु
”	”		गरुल्ज्झय	गरुळज्झय
”	”	३०	ध्वुनि	*ध्वुनि
”	”	३१	बुभा	बुज्झा
३००	४२३	४	अप० में-—प्पया	अप० में —प्पण
”	”	७	गम्मि	गम्पि
”	”	६	रपेवि	रमेवि
”	”	११	विणि	विणि
”	”	१४	ब्रारस,	वारस,
”	”	”	*नारह	वारह*
”	”	१७	वीय	बीअ
”	”	२०	विसंतवा	विसंतवा
”	”	२१	द्विशातर	द्विपंतर
”	”	”	१७७)।	१७७) है।
अनुवा०	टिप्प०	१	*वे=दो	*वे=दो
३००	४२४	४	स्व =	न्व =
”	”	६	अग्गे-सिद्ग्व	अग्गे-सिद्ग्व
”	”	”	धग्गत्तरि	धग्गन्तरि
”	”	७	मग्गत्तल	मग्गन्तल
”	”	६	एपं स्य्	एवं न्य्
”	”	”	किं स्य्	किं न्य्
३०१	”	१६	जै० महा०-मं,	जै० महा०-में
”	४२५	६	दुमग	दुघरत
”	”	६	नमधर	नमधर
”	”	१८	रिन्दुभ	विन्दुय
”	”	२३	अभन्भि	अभशिभ

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०१	४२५	३३	निच्छोलि-ऊण	निच्छोळि-ऊण
३०२	४२६	६	चकुक	चउक
”	”	१२	चदुकिका	चदुकिआ
”	”	२१	ओसकत्त	ओसकन्त
”	”	२६	संकुलि	संकुलि
”	”	२६	दिया गया	दिये गये
”	”	३०	सुक्कँहि	सुक्कहिँ
”	४२७	३	णिच्चण	णिक्कण
”	”	४	निष्क्रय	निष्कृप
”	”	६	निक्खमि-न्ताए	निक्खमि-त्तए
”	”	१२	निक्खण	निक्खमण
”	”	२३	क्व पाठ	क पाठ
”	”	२६	णिकिदे	णिक्कीदे
”	”	”	णिकिदं	णिक्कीदं
”	”	”	है और-निष्क्रीतम्;	और निष्क्रीतम् है;
”	”	३२	णिस्कीद,	णिक्कमदि
३०३	४२८	१	अग्गिट्टोम	अग्गिट्टोम
”	”	३	द्दट्ठि	दिट्ठि
”	”	१७	दरट्ठूण,	दरट्ठूण,
”	४२६	२	ब्राक्दौस	ब्रौकहौस
”	”	६	ष:	ष :
”	”	१२	रिश्चि	रिश्चि
”	”	१५	पृट्ठो'	पृट्ठो
”	”	”	'गुट्ठम्	'गुट्ठम्
”	”	१६	शुरदु	शुरड
”	”	१७	”	”
”	”	१८	शौट्रिकं	शौट्रिकं
”	”	१६	शौ ि कं	शौण्ट्रिकं
”	”	२०	शौट्रिकं	शौ ट्रिकं
”	”	”	शौट्रिकं	शौट्रिकं
”	”	२१	शौट्रिकं	शौट्रिकं
अनु०	टिप्प०	२	गंड	गेड

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०३	४३०	१०	रूप भी है	भी है
,,	,,	११	१६४)।	१६४),
,,	,,	११	आलेंद्दं	आलेंद्दुं
,,	,,	१७	*आले-ग्युकम्	*आले-ग्धुकम्
,,	,,	,,	*आलेग्घुम	*आलेग्घुम्
,,	४३१	४	उव्वेढेच्च	उव्वेढेंच्च
,,	,,	,,	निव्वेढेच्च	निव्वेढेंच्च
,,	,,	५	परिवेढित	परिवेढिय
,,	,,	१५	वेढिय	वेढिम
,,	,,	२२	चलते हैं],	चलते हैं-अनु०],
,,	,,	२८	लेट्ठु	लेंट्ठु
३०४	४३२	४	लेलु	लेळु
,,	,,	६	कोंहलुअ	कोंळहुअ
,,	,,	,,	कोष्ठुक	क्रोष्ठुक
,,	,,	,,	कुल्ह	कुळ्ह
,,	,,	,,	कोष्टं	क्रोष्ट
,,	,,	७	कोलूहाहल	कोळ्हाहल
,,	,,	,,	*कोटाफल	*कोटाफल
,,	,,	१०	समवस्टष्ट	समवसृष्ट
३०५	,,	८	शप्प	शष्प
,,	४३३	२	फारसी	हिंदी
,,	,,	१४	स्पष्ट है प्प का	स्पष्ट है कि प्प का
,,	,,	१८	दुप्पेच्छ	दुप्पेंच्छ
,,	,,	,,	दुप्पेक्ख	दुप्पेंक्ख
,,	,,	२०	णिप्पिवात	णिप्पिवास
,,	,,	,,	निष्पच	निष्पन्न
,,	,,	२८	३४);	३४) हैं;
,,	,,	३०	निष्कन्द,	निष्कन्द है,
,,	४३४	१	शम्पक्नल	शम्पक्तल
,,	,,	८	दुप्पेंक्खे	दुप्पेंक्खे
,,	,,	९	पुस्य	पुस्स

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०६	४३४	५	खंधकोंडिस	खंदकोंडिस
,,	४३५	१	तिरछरिणी	तिरक्करिणी
,,	,,	१२	पुरकेड	पुरेकड
,,	,,	२०	नक्कसिश	नक्कसिरा
,,	,,	२५	परिक्खन्त	परिक्खलन्त
,,	,,	२७	मस्करित्	मस्करिन्
		३३	हप्तिस्कन्धं	हस्तिस्कन्धं
अनु.टिप्प.	,,	१	णिक्व	णिम्ख
३०७	४३६	३	अत्यं	अत्य
,,	,,	११	निस्तुस	निस्तुप
,,	,,	२२	थणिल्लिअं	थेणिल्लिअं
,,	,,	२३	बंगाला	बंगला
,,	,,	३४	अर्थसंगत	अर्थ संगत
३०८	४३७	१६	थम्बम्भ	थम्भ
,,	,,	१८	मुहत्थम्भ	मुहथम्भ
,,	४३८	२५	हादुनि,	हाड्नि,
,,	,,	,,	हाटा,	हांटा,
,,	,,	२८	कट्ट	कट्ट
,,	,,	२९	हद्	हट्
,,	,,	२९	'अस्त होता है'	'अस्त' होता-है
,,	,,	३०	पींत,	मींत,
,,	,,	३४	हित्य	हित्थ में
,,	४३९	३	मिलता है] है।	मिलता-है।
	,,	,,	है [न	है न
,,	,,	१०	में भी	में भी इसका एक रूप
,,	,,	१५	निषटुल	विसंस्तुल
३०९	,,	३	ओस्टहौक	ओस्टहौफ
,,	,,	४	अनु प्रस्था-नित	अनुप्रस्था-नित
,,	,,	८	उट्टेर,	उट्ठर,
,,	,,	१०	प्रनलित है	प्रचलित है

पा सं.	पृ सं	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०९	४४०	१६	४, ५,- देशी०	४, ५,- [देशी०
,,	,,	१७	थाणिज्जो[	थाणिज्जो।
,,	,,	२६	जो॑वणत्थ	जो॑व्वणत्थ
,,	,,	२७	एसे०	एत्तें०
,,	,,	२८	२६, १४) है।	२६, १४) है,
,,	,,	,,	वयस्थ	वय स्थ
,,	४४१	१९	स्थार	स्थग्
३१०	,,	५	तत्थ स्तेहिं	तत्थस्तेहिं
,,	४४२	५	हनूछे	हश्छे
,,	४४३	१	जैसे— मस्तिए	जैसे– मस्तिए
३११	,,	१४	४८६) है।	४८६) हैं।
,,	,,	२६	वफ्फइ	वणप्फइ
,,	४४४	२२	बुहस्पति	बुहस्पदि
३१२	४४५	३२	श्लेप्मन्	श्लेप्मन्
,,	,,	,,	श्लेष्मन	*श्लेष्मन्
,,	४४६	२	उडम्मि	उउमि
,,	,,	४	स्थलों में—	स्थलों में–
,,	,,	,,	सिं	—सि
,,	,,	५	लेलुसि	लेळु सि
,,	,,	११	महा०,	महा०,
३१३	४४७	६	-विति	विन्ति
,,	,,	९	ण्हाइस	ण्हाइस्स
,,	,,	१९	श्रास्नान	श्रस्नान
,,	,,	२५	प्रस्तुत	प्रस्नुत
,,	४४८	११	जै०- महा० से	जै० महा० में
,,	,,	१६	स्नु पा	स्नुपा
,,	,,	,,	ण्हुला	ण्हुसा
,,	४४९	४	कुलहिं	कुलाहिं
,,	,,	६	पर मिं	पर—मि
,,	,,	८	दिया गया है	दी गयी है
,,	,,	१०	यो=स्य	मो=स्म

पा.सं	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१३	४४९	१२	स्मर है,	स्मर हैं,
,,	,,	१६	सुमरइ,	सुमरइ,
,,	,,	१९	मरइ	भरइ
,,	,,	२१	मरिय	भरिय
,,	,,	,,	मलइ	भलइ
,,	,,	२४	विभरइ	विंभरइ
३१४	,,	२	स्य	स्म
,,	,,	,,	स्ह रूप	स्ह रूप
,,	४५०	२	विणु	निश्णु
,,	,,	,,	ष ये लिए	ष म केलिए
,,	,,	९	तुण्णीअ	तुण्हीअ
,,	,,	,,	डुण्णाक	तूर्ष्णीक
,,	,,	१४	आदि है	आदि हैं
३१५	,,	५	णस्सइ	नस्सइ
,,	,,	६	नरसामो	नस्सामो
,,	,,	११	६१) है।	६१) हैं।
,,	,,	,,	शौर	ग्रौर
,,	,,	१२	६४) है	६४) हैं
,,	,,	१३	विस्समीअद्	विस्समीअट्
,,	,,	१५	२३) शुश्शूशिदे	२३), माग० म शुश्शूशिदे
,,	४५१	१	असु	असु
,,	,,	,,	मसु	मसु
,,	,,	,,	श्र=स्स	श्ल=स्स
,,	,,	५	परिश्रक्ष्ण	परिश्लक्ष्ण
,,	,,	१२	से॑म्म,	से॑म्म,
,,	,,	२६	शसदि,	शशादि,
,,	४५२	६	पद्ले भी सरल	पइले भी स्स सरल
,,	,,	२५	स्य का स्स	स्य का स्स
,,	,,	३३	स्म	स
,,	४५३	७	सरस्सइ	सरस्सई
,,	,,	१३	कु० स्था०	कू० स्था०
३१६	,,	३	स्मीर	स्मीर
,,	,,	४	अप्तरस	अप्सरस

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१६	४५३	६	प्सा	स्प
,,	,,	१२	मिलती। भिन्न	मिलती-कि भिन्न
३१७	४५४	१३	मूल	मूल
३१८	,,	८	छुणत्तं	छुणन्तं
,,	,,	६	*क्षणत्तम्	*क्षणन्तम्
,,	४५५	१२	अरे शै	अरे श
,,	,,	१४	कशै	कश
,,	,,	१७	तशै	तश
३१९	,,	१	हर्शा	ख़्शा
,,	,,	६	णिःखत्ती-कद	णिक्खत्ती-कद
,,	,,	१०	हर्शम	ख़् शम
,,	,,	११	हर्शीर	ख़् शीर
,,	४५६	२	हर्शिव्	ख़् शिव्
,,	,,	४	खिवति	खिवसि
,,	,,	६	पक्खिवइ	पक्खिवह
,,	,,	,,	पक्खिवेज्जा	पक्खिवेॅज्जा
,,	,,	२४	हशुद्र	ख़् शुद्र
,,	,,	२५	हशुस्त	ख़् शुस्त
,,	,,	२६	५५६ रूप	५५६) रूप
,,	,,	३२	छोभ	–च्छोभ
,,	,,	३३	उच्छुमइ	उच्छुभइ
,,	,,	२६	सक्खइ	सिक्खइ
,,	४५७	२	सिक्खत्त	सिक्खन्त
,,	,,	५	असिहशन्त	असिग्र्शन्त
३२०	,,	२	उशन्	उक्षन्
,,	,,	३	उहशन्	उख़् शन्
,,	,,	७	(उवास० रूप	(उवास०) रूप
,,	,,	८	रूप बहुत कुमाउनी	रूप कुमाउनी
,,	,,	६	दक्खिण	दच्छिण
,,	,,	१३	महशि	मख़् शि
३२०	४५७	२३	उर्वाश	उर्वाख़् श्
,,	४५८	३	कप्परुख	कप्परुक्ख
,,	,,	८	गोविस्से	गेविस्से
,,	,,	,,	वौर्टस	वौर्टएन्डेस
३२१	,,	६	ऐक्ष्वाक	ऐक्ष्वाक
,,	,,	१३	छुरमड्डि–	छुरमड्डि–
,,	,,	१६	अइउज्झइ	अइडज्झइ
,,	,,	२१	क्षारिय	छारिय
,,	,,	,,	क्षरित	क्षारित
,,	,,	२४	पेच्छइ	पेॅच्छइ
,,	,,	,,	पेक्खदि	पेॅक्खदि
३२३	४६०	२	स्वरबना	स्वर बना
,,	,,	४	ईस्	ईक्ष्
,,	,,	११	प्रेत्तेते	प्रेक्षेत
*३२४	४६१	७	दशः	दक्षः
,,	,,	४	ईक्ष	इक्ष्
,,	,,	७	यके	यह्के
,,	,,	१६	पेॅशिक-य्यन्दि	पेॅशिक्यं-दि
,,	४६२	५	–करिअदि	–करीअदि
,,	,,	१२	चहिए।	चाहिए:
,,	,,	१४	लश्करी	लश्करो
,,	,,	१५	) को	ह्को
,,	,,	१६	शब्दों से:	शब्दों में:
३२६	४६३	१	प्राचीन ज्ज	प्राचीन ज़्ज़
,,	,,	,,	यह ज्ज	यह ज़् ज़
,,	,,	६	अवक्षर	*अयक्षर
,,	,,	१३	पज्झरिश्च	पज्झरिअ
,,	,,	१४	झत्अ	झरअ
,,	,,	१७	क्षालक*	*क्षलक*
,,	,,	२०	झियायत्ति	झियायन्ति
,,	,,	२३	विज्झइ	विज्झाइ
,,	,,	२६	समिज्झइ	समिज्झाइ
,,	,,	३२	झामत्त	झामन्त

*नोट—§ ३२४ में जहाँ 'क' से पहले : है वहाँ ह् पढ़िए।

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२६	४६४	२	माग० के झिज्झइ	माग० झिज्जइ
,,	,,	७	झिज्झउ	झिज्झउँ
,,	,,	१७	फेकना	फेंकना
,,	,,	१६	ट्इ = * नि.क्षीय्यति	=*नि क्षीट्य ति
,,	,,	३३	फिलोलोजी,	फिलोलोगी
,,	,,	३४	त्साखरि- आए	त्साखारि- आए
३२७	४६५	५	चिकिच्छि दन	चिकिच्छि- दव्व
,,	,,	७	चिकिप्सा,	चिकित्सा,
,,	,,	६	बौॅलेॅन सेन	बौॅल्लेॅन सेॅन
,,	,,	१५	बीभत्स है।	बीभत्स हैं।
३२७अ	४६६	८	उत्सुंक	उत्सु क
,,	,,	१३	*उच्छूव- सिर	*उच्छूवसिर
,,	,,	१६	तम्सक्किणा	तस्सक्किणो
,,	,,	१७	शक्किण॰	शक्किन
,,	,,	२२	उत्सरित	उत्सारित
,,	,,	३०	उत्सन्न	उच्छन्न
,,	,,	,,	उच्छादित	उच्छादिद
,,	,,	३४	महा० में	महा०, शौर० में
,,	४६७	२०	त्सारवरि- आए	त्साखारि आए
३२८	४६८	१८	घृप्स्याम	*घृप्स्याम
३२६	४६६	१८	जै० महा० का	जै० शौर० का
,,	,,	२०	दुग्गिन्न	दु ग्गिन्न
,,	४७०	२	दुस्सत्त	दुम्मन्त
,,	,,	,,	दु पत्त	दुम्मन्त
,,	,	५	इमदे	इणका
,,	,,	६	गुम्मैर	गुम्मैद

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३०	४७०	४	अवरॅह	अवरण्ह
,,	,,	६	पुव्वह	पुव्वण्ह
,,	,,	,,	पूर्वाह्न	पूर्वाह्ण
,,	,,	८	पुव्वावरह	पुव्वावरण्ह
,,	,,	१०	पच्चावरह	पच्चावरण्ह
,,	,,	११	मज्झह	मज्झण्ह
,,	,,	१४	मध्यदिन	मध्यंदिन
,,	,,	२६	बम्हचेइ	बम्हचेर
,,	४७१	७	पल्हत्थ इ	पल्हत्थइ
३३२	४७२	३	हद	ह्रद
,,	,,	५	ह्रव	ह्व
,,	,,	१२	जिभिन्दिउ	जिब्भिन्दिउ
,,	,,	१६	म भलदा	मैंभलदा
३३३	,,	३	मट्टिया	मट्टिआ
,,	,,	,,	मृतिका	मृत्तिका
,,	४७३	२३	आसद्दहन्त	असद्दहन्त
,,	,,	२७	सद्दण	सद्दहण
,,	,,	२६	तलियण्ट	तालियण्ट
,,	,,	,,	वृत्त	वृन्त
,,	४७४	४	गण्ठिच्छेय	गण्ठिच्छेअ
,,	,,	१४	गण्ठिय	गण्ठिम
,,	,,	१६	सगन्य	सगन्ध
,,	,,	२३	कन्दरिअ	कन्दरिअ
,,	,,	३१	उजोअ,	उज्झोअ,
,,	,,	३६	गडली	गडरिनाल्लु
,,	४७५	५	*स्तम्	स्तप्
३३४	,,	१३	सामग्गय	सामग्गअ
,,	,,	,,	तस	तस
,,	,,	,,	न्यस्त	न्यस
,,	,,	,,	अपने उत्त स्थान	अपने- स्थान
,,	४७६	२	कालका०)- जो अपने	कालका०) अपने
,,	,,	११	दिग्गं	दिग्धं
३३५	,,	२	अमाचारो	अमापारो

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३५	४७६	६	जून	जूव
,,	,,	११	आर्यभापा	आर्षभापा
,,	,,	२८	*याथात-ध्यीयम	*याथात-थीयम्
,,	४७७	३	यावत्ः	यावत्;
,,	,,	,,	*यावन्कथा-	यावत्कथा-
,,	,,	८	उप्ह	उप्ह
३३६	,,	३	इदो	इदों
,,	,,	,,	यम	मम
,,	,,	४	सघस्स	सव्वस्स
,,	,,	८	टयेँब	जेँव्व
,,	,,	१६	अप० रूप-जिवँ	अप०-जिवँ
,,	,,	२३	अभाव	प्रभाव
,,	४७८	१५	निकलने	निकालने
,,	,,	२४	जिसका	जिसपर
,,	,,	२७	येव	मेव
,,	४७९	६	क्लान्त	क्लात्त
३३७	,,	१	आदिवर्ण-उ में	आदिवर्ण-में
,,	,,	६	वक्त	*वक्त
,,	,,	,	बम्यते	*वम्यते
,,	,,	१०	वुत्थं	वुत्थ
,,	,,	१२	५६४)² -और	५६४)² से निकला है-और
३३९	४८१	२	आकरिंसु	अकरिंसु
३४०	,,	६	(गउड०-और	(गउड०५,०, और
,,	,,	,,	संधि या-गउडवहो	सधि या-समास में-.गउडवहो
,,	,,	,,	रावणहो-समास	रावणहो में अधिकतर
,,	,,	१५	विद्युत	विद्युत्
,,	,,	२८	दुरूप	दुरुव
३४१	४८२	७	जद् अ०-माग० में	अ० माग० में जद् अत्थि
,,	,,	१०	समासों मे	संधि मे
,,	,,	१२	तवट्ठोवउत्ता	तदट्ठोवउत्त
,,	,,	,,	तदध्य-वसिताः,	तदध्य-वसिताः,
,,	,,	१३	तदर्थे-पियुक्ता.	तदर्थो-पयुक्ताः
,,	,,	१६	तत्स्पर्श-त्वाय है	तत्स्पर्श-त्वाय हैं
,,	,,	२३	रूपों का	रूपों को
,,	,,	२६	दुरप्प्य	दुरप्प
,,	,,	,,	एत्सें० (;	एत्सें०);
,,	४८३	१०	कारिस्सामि	करिस्सामि
३४२	,,	२	अत्तो	अन्तो
,,	,,	२०	अन्तं	अन्तं
,,	,,	,,	अंतो,	अतो
३४३	४८४	१	मौलिक र्	मौलिक र् और
,,	,,	२	बनकर	बनना
,,	,,	३	-अन्तरिक्ष,	अन्तरिक्ष,
,,	४८५	३	पुणर् एइ	पुणर् एइ
,,	,,	६	अत्तोमुह	अन्तोमुह
,,	,,	२२	किन्तु (हस्त-लिपि	किन्तु हस्त-लिपि
,,	,,	,,	में हस्तलिपि	मे (हस्तलिपि
,,	,,	,,	(J)	J
,,	,,	३३	अपुणगम-णाअ	अपुणागम-णाअ
३४४	४८६	२०	अन्तोअ-न्तेपुरिया	अन्तोअन्ते-पुरिय
३४५	,,	१	अ के समास	अ में समास
,,	,,	७	पतिभागो	प्रतीभागो
,,	४८७	२	के पद्य	में पद्य
,,	,,	६	कुञ्जारो	कुञ्जरो

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४५	४८७	७	साणो	सागरो
"	"	२१	६); जै० शौर०	६); शौर०
"	"	२३	तालेमो;	ताळेमो;
३४५	४८८	२	अहेगामिनी	अहेगामिणी
"	"	४	अहेसिर	अहेसिरं
"	"	६	अहे-	अहे
३४६	"	४	मकड्ड	मकड्ड
"	"	६	धाराहास	धाराहरु
"	"	१०	निलासिती:	विलासिनीः
"	"	"	सल्लइव	सल्लइउ
"	"	"	सात्थकी:	साल्लकीः
"	"	११	लुद्द	लुद्दु
३४७	४८९	२	वर्ण हो	वर्ण हों
"	"	१०	णहवट्ट	णहवट्ठ
"	"	११	नमः पृष्ठः	नमः पृष्ठ
"	"	१२	तव लोव	तवलोव
"	"	"	तपलोप	तपोलोप
"	४९०	४	मणषिला	मणाषिल्ला
"	"	११	परे-	पुरे-
"	"	"	३४५	३४५)
"	"	१४	गया है :	गया है) :
"	"	१६	महीजउ- ब्रात	महीरज- उद्घात
३४८	"	४	मशिरां	यशिरा
"	"	१४	इअम्	इअ
"	"	१५	इदानीम् में	इदानीम्
"	४९१	३	वधूनान्	वधूनाम्
"	"	१०	सुरहिम	सुरहिम्
"	"	१५	चित्तमत्तम्	चित्तमन्तम्
"	"	१८	विम्हरिय	विस्मरियं
"	"	२२	विपर्यतात	विपर्यातातम्
"	"	२३	सक्लम्	शक्लम्
"	"	२८	नन्धो	वन्धो
३४९	"	४	दिया जाता है	दिये जाते हैं
३४९	४९१	५	बना रहता है	बने रहते हैं
"	"	"	भत्ते,	भन्ते,
"	"	६	"	"
"	"	"	"	"
"	"	"	"	"
"	"	"	"	"
"	४९२	१	"	"
"	"	३	एवं	एवम्
"	"	८	उपचरकों	उपचरको
"	"	१०	अम्हहाणम्	अम्हाणम्
"	"	१५	१८१ म्	१८१) म्
"	"	१७	इदं श्रुत्वेदम्	इदं=श्रुत्वेदम्
"	"	२५	दे दिये हैं	दे दिया है
"	"	३५	शेष हैं,	शेष है,
"	४९३	१५	मारं	मारं
"	"	१६	पूर्णसदिग्ध	पूर्ण असंदिग्ध
३५०	"	५	*यौवन-स्मिन् यौवने	*यौवनस्मिन्=यौवने
"	"	६	लोगंसि	लोगंसि,
"	"	९	इचावाचक	इच्छावाचक
"	"	१०	कुप्येम्	कुप्येयम्
"	४९४	१	कअर्थान	कअर्वाण
"	"	"	करवंण	कअर्वंण
"	"	७	दुःखा ना-न्च	दुःखाना च
"	"	८	सुमद्प्प-	सुमद्प्प-
"	"	२०	कर्त्ताकारक	कर्ताकारक
"	"	२६	जुञ्जन्ति	जुंजन्ति
"	"	"	*अप्पेके	*अप्येके
"	४९५	२	तालयन्ति	ताळ्यन्ति
"	"	३	"	"
"	"	६	मूलके	मूळके
"	"	७	दर्गे	दर्गें

शुद्धि-पत्र

पा.स.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५०	४६५	७	उद्धचचूडः	उर्द्ध_चचूडः
,,	,,	८	णनतलिँ	णनतळिँ
,,	,,	११	अभिरुज्झं	अभिरुज्झ
,,	,,	,,	निहरिउसु	विहरिंसु
,,	,,	१२	आरुतियाणँ	आरुसियाणँ
,,	,,	,,	व्यहापुर	व्यहापुर्
,,	,,	२८	वट्ठीभिर्	वड्ढीभिर्
३५१	,,	१	थं, उ	थं, अप० में उ
,,	४६६	१६	करित्वीनम्	*करित्वीनम्
,,	,,	२१	देउन्तु	देउत्तु
,,	,,	२२	शू न्यं	शून्य
,,	,,	,,	ग्रन्थु	गन्थु
,,	,,	२४	समविसय=	समविसम=
,,	,,	,,	समविपय	समविपमम्,
,,	,,	२५	दशासुवण्ण	दशासुवण्ण
,,	,,	२६	है (मृच्छ०	हैं (मृच्छ०
३५२	,,	२	कर्त्ता कारक	कर्ताकारक
,,	,,	६	रुअडउ=	रुअडउँ=
,,	,,	,,	कुडुम्बउ	कुडुम्बउँ
,,	४६७	२	सार्कम्	साकम्
,,	,,	,,	वहा सज्ञा	वह सज्ञा
,,	,,	३	अक्खा णउँ	अक्खणउँ
३५३	,,	४	(§३४१	§३४१
,,	,,	५	अन्न, म्	अन्न-म्
,,	,,	६	अण्ण म् अण्णेण	अण्ण-म्- अण्णेण
,,	,,	१३	अण्ण म्- अण्णाण	अण्णा म्- अण्णाण
,,	,,	१७	कर्त्ताकारक	कर्ताकारक
,,	,,	२४	ऍक्कड	ऍक्कउँ
,,	४९८	१	एक्क म् एक्के	ऍक्क म् ऍक्के
,,	,,	८	चित्तामदित	चित्तानदित
,,	,,	११	गजादयोः	गजादय
,,	,,	१२	आइएँहिं=	आइएहिं=

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५३	४९८	१७	कामघेणु	कामधेणु
,,	,,	२०	आणारियाण	अणारियाणं
,,	,,	२४	एपो' मि	एपो' ग्निः
,,	,,	३१	दर्घाघ्न्	दीर्घाघ्वन्
,,	४९९	५	एमाहेण	एगाहेण
,,	,,	११	बद्गु	वहु
,,	,,	१३	बद्गु	वहु
,,	,,	१४	बद्धस्यिक	बहुस्यिक
,,	,,	३४	सिप्लिफा- इड	सिप्लिफाइड
३५४	५००	१५	अ०माग० में और	अ० माग० और जै० महा० में
३५५	५०३	३	श् और स मे	श् और स् में
,,	,,	१५	आउ	आऊ
,,	,,	१८	मनसा	मणसा
,,	,,	१०	रूप भी है	रूप मी हैं
,,	५०४	५	तेउ वाउ	तेऊ वाऊ
३५६	५०५	६	-त्योदयाहित	त्योदयाहित
,,	,,	२२	वाओ	वओ
,,	,,	२६	समान है	समान हैं
३५७	,,	२	पुलिंग	पु लिंग
,,	,,	५	,,	,,
,,	,,	७	स्थानानि है।	स्थानानि हैं।
,,	५०६	४	कर्प	कर्म
,,	,,	१२	पुलिंग	पुंलिंग
,,	,,	१३	एयान्ति	एयावन्ति
,,	,,	१४	कर्प समारम्भाः	कर्मसमारम्भा
,,	,,	१७	जनगाः	जणगा
,,	,,	२३	ध्वनि मापन	ध्वनि-मापन
,,	,,	२६	हो तो अन्यथा	हो तो हो अन्यथा

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५७	५०६	२६	—णप्पश्रोगा	—णप्पश्रोगा
,,	,,	३५	भुज्जमाणा-णि	भुञ्जमाणा-णि
,,	५०७	११	नियमभवने	नियय भवणे
,,	,,	१४	पुलिंग	पुंलिंग
,,	,,	१५	माग० में भी	माग० में ही
,,	,,	१७	अमलणन्ति के	आमल-णन्ति के
,,	,,	२४	पुलिंग	पुंलिंग
,,	,,	२६	पवहणंच	पवहणं
३५८	५०८	२	३५)—अ	३५)—अ
,,	,,	३	पुलिंग	पुंलिंग
,,	,,	,,	जन्मो	जम्मो
,,	,,	४	वमने	वम्मो
,,	,,	८	भाषाओं में अ—	भाषाओं में अधिकांश में अ—
,,	,,	१२	पेंम्पं	पेंम्मं
,,	,,	१३	रोमम्	रोमं
,,	,,	१४	पुलिंग	पुंलिंग
,,	,,	२६	निलज्जिमा	निल्लज्जिमा
,,	५०९	३	पुलिंग	पुंलिंग
,,	,,	२०	रुक्खाइ	रुक्खाइं
,,	,,	३०	पुलिंग	पुंलिंग.
,,	,,	३२	वीहिणिवा	वीहिणिं वा
,,	५१०	१५	पुलिंग	पुंलिंग
,,	,,	१७	अट्टी	अट्ठी
,,	,,	२२	होनेवाले	होनेवाली
३५९	५११	२	मत देता है।	मत देता है,
,,	,,	१९	४४५,४)।	४४५,४),
,,	,,	१४	खलाम्	खलान्
३६०	५१२	१	हरतयो:,	हस्तयोः
,,	,,	६	आअछन्ति	आअच्छन्ति
,,	,,	१०	विं...	वि...
३६०	५१२	१०	पिवम्ह-आवाम्	पिवम्ह=आ-वाम्
,,	,,	१४	पट्टण-ग्रामयोः	पट्टन-ग्रामयोः
,,	,,	१५	ट्टे	द्दे
३६१	,,	६	एक संप्रदान	संप्रदान
,,	,,	१२	अपुनराग-मनाय	अपुनर्ग-मनाय
,,	,,	१५	रावणवहो	रावणवहो
,,	५१३	८	तयत्याए	तयत्ताए
,,	,,	९	विउट्टत्ति	विउट्टन्ति
,,	,,	१०	फलत्त्वाय	फलत्वाय
,,	,,	११	विवर्तत्ते	विवर्तन्ते
,,	,,	१३	-नुगीमिक-त्वाय	-नुगामिक त्वाय
,,	,,	१४	वहाए	वहाए
,,	,,	,,	बधाय	वधाय
,,	,,	१६	वह्टवाए	वहट्टयाए
,,	,,	२०	—विणा-साअ	विणा-शाअ
,,	,,	,,	विनासाय	विनाशाय
,,	,,	२१	देव-नागरी—,	देव-नागरी–,
,,	,,	,,	द्राविडी—	द्राविडी–
,,	,,	२८	असुसंक्ख-णाअ	असुसंरक्ख-णाअ
,,	,,	३५	—अप्पेगे	अप्पेगे
,,	,,	,,	—अचाए	अचाए
,,	,,	३६	वहत्ति	वहन्ति
,,	,,	,,	मंसाए - अप्पेगे	मंसाए वह-न्ति अप्पेगे
,,	५१४	१	वहत्ति	वहन्ति
,,	,,	२	णहारुणीए	ण्हारुणीए
,,	,,	,,	अट्ठिमि	अट्ठिमि
,,	,,	६	णहरुणीये	ण्हारुणीये
,,	,,	८	पुलिंग	पुंलिंग

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६१	५१४	९	विनड्डाए	किड्डाए
,,	५१५	६	पुलिंग	पुंलिंग
३६३	,,	१	,,	,,
,,	५१५	५	कर्म० पुत्ते;	कर्म० पुत्तं;
,,	,,	७	पुत्तें हैं।	पुत्तँ हैं।
,,	,,	८	पद्य में - अन्यथा;	पद्य में,- अन्यथा
,,	,,	९	पुत्ताअ;	पुत्ताअ
,,	,,	१०	[पुत्ततो];	[पुत्तत्तो];
,,	,,	११	पुत्ता;	पुत्ता; जै०-शौर०
,,	,,	१४	अप०- [पुत्तसु],	अप० पुत्तस्सु [पुत्तसु],
,,	५१६	१८	फलाइँ	फलाइं
,,	५१७	१	उपरि-लिखित	उपरि लिखितं
,,	,,	९	एवमादि-केहि	एवमादी-केहि
,,	,,	,,	विजयबुद्द-वर्मन्	विजयबुद्ध-वर्मन्०
,,	,,	१०	,,	,,
३६४	,,	१२	कत्ता	कन्ता
,,	,,	१३	दड्डा	दड्ढा
,,	,,	२०	गामा=	गाम=
,,	,,	२१	ग्रामाः;	ग्रामः;
,,	५१८	१९	पओगेण	प्रयोगेण
,,	,,	३४	—त्ता	-त्त=
,,	,,	३४	-त्वा	—त्व
,,	५१९	४	चर्मशिरा-त्वाय	चर्मसिरा-त्वाय
३६५	,,	३४	*-अत'	*-आतः
,,	,,	३५	—आआ	-आओ
,,	५२०	४	बताया है।	बताया है,
,,	,,	१६	देहत्वनात्	*देहत्वनात्
,,	,,	१८	वला	बला

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६४	५२०	२५	णायपुत्त	नायपुत्ता
,,	,,	३२	कलणा	कालणा
,,	५२१	७	चिया बीं	चिया, बीं
,,	,,	८	रवाहि भी आया है	×
,,	,,	११	धीराहि=	रवाहि, धीराहि=
,,	,,	११	दन्तोद्यो-तात्,	दन्तोद्द्यो-तात्,
,,	,,	१९	—हिंण्तो	-हिंतो
,,	,,	२१	छेप्पाहिंतो	छेँप्पाहिंतो
,,	,,	२६	जलाहितो	जलाहिंतो
,,	,,	२७	पादहिंतो	पादाहिंतो
,,	,,	२८	स्तवभरात्	स्तनभरात्
,,	,,	३१	मिलते हैं।	मिलते हैं:
,,	५२२	३	नहीं	न ही
,,	,,	८	हित्तो	हिन्तो
,,	,,	९	पुत्ततो	[पुत्तत्तो]
३६६	५२३	३	कनलस्य	कनकस्य
,,	,,	,,	कल्वह	कव्वह
,,	,,	७	कृदत्तहों	कृदन्तहों
,,	,,	,,	कृतात्तस्य;	कृतान्तस्य;
,,	,,	८	कत्तहों	कन्तहों
,,	,,	,,	कत्तस्य;	कान्तस्य;
,,	,,	९	णासत्त-अहों	णासन्त-अहों
,,	,,	११	कत्तहों,	कन्तहों,
,,	,,	,,	*कत्तस्यः	*कन्तस्यः
,,	,,	१६	कत्तस्सु	कन्तस्सु
,,	,,	,,	कात्तस्य	कान्तस्य
३६६अ	,,	७	—उम्रम्मि.	-उरम्मि
,,	,,	९	हत्तव्वम्मि	हन्तव्वम्मि
,,	,,	,,	हत्तव्वे	हन्तव्वे
,,	,,	१२	-पुखरे	—पुरवरे
,,	,,	१४	कए'	कए

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६६अ	५२३	१५	कए	'कए
,,	,,	,,	कृते'—यानि	कृते-'कृते यानि
,,	५२४	१	विहुत्ये	विहुहत्ये
,,	,,	६	मस्तक	मस्तके
,,	,,	८	बहुव काम	बहुत कम
,,	,,	१२	प्रमादे	प्रासादे
,,	,,	२७	ह अशुद्ध	ह के अशुद्ध
,,	,,	३५	शून्यगारे	शून्यागारे
,,	५२५	७	इमांसि	इमंसि
,,	,,	१८	जलत्ते	जलन्ते
,,	,,	२६	लाभे सत्ते	लाभे सन्ते
,,	,,	२७	सत्ते	सन्ते
,,	,,	३०	लिद्धे	लद्धे
,,	,,	३४	श्मशाण	श्मशान
,,	,,	३५	मरणत्त	मरणन्ते
,,	५२६	६	—ससि	सगं—
,,	,,	,,	अभ्भि-त्तरओ	अभ्भिन्त-रओ
,,	,,	६	-घट्ठमट्टे—।	घट्ठमट्ठे—,
,,	,,	८	-वट्टीए	वट्टिए
,,	,,	१२	-प्पमाणाहि	-प्पमाणाहिं
,,	,,	१६	हुदहिं	हदहिँ
,,	,,	१७	पटमहिं	पदमहिँ
,,	,,	,,	समपाआहेँ	समपाअहिँ
,,	,,	१८	चित्त	चित्ते
,,	,,	२१	बतायी है	बताया है
,,	,,	२५	अधि करण-कारक	अधिकरण कारक
,,	,,	२८	ग्रहे;	ग्रहे;
,,	,,	२९	अपश्याम्मि	अपश्यम्मि
,,	,,	,,	सेविते'	सेविते
,,	,,	,,	पथ्ये	'पथ्ये
,,	,,	३५	सेदुसीम-त्तम्मि	सेदुसीमन्त-म्मि

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६६अ	५२६	३५	सेतुर्सीमत्ते	सेतुसीमन्ते
,,	५२७	७	गच्छत्तम्मि	गच्छन्तम्मि
,,	,,	१३	पिएँ	पिएँ
,,	,,	१४	पिएँ	प्रिये
२६६-अ	५२८	१४	आदि-आदि);	आदि-आदि है;
,,	,,	१६	मय	मम
,,	,,	२५	उण्णेर्हं	उण्णे
२६७	५२९	२	विश्रब्धाः	विसब्धाः
,,	,,	२०	भस्दाल-का हो	भस्दाल-वाहो
,,	,,	२४	प्राणनाओ	माणनाओ
,,	५३०	२१	दसवेयलिय-	दसवेयालिय
,,	,,	२३	कोलचु-ण्णाइँ	कोलचुण्णाइँ
,,	५३१	१४	-वणशतानि	-पणशतानि
२६७-अ	५३२	८	समणयाह-	समणमाह—
,,	,,	,,	वणीपगे	वणीमगे
,,	,,	११	एतद् पान्	एतद् पान
,,	,,	२४	कलत्तेअ	कलत्ते अ
,,	,,	३०	पुंलिंग का	पुंलिंग के
,,	५३३	१२	गअ नीरक्ष-कान्	गअ=नीरक्ष-कान्
,,	,,	१४	विपक्षाद्	विपक्षान्
,,	,,	१५	कवन्धा	कवन्धा
२६८	,,	६	-सद्भावैर	सद्भावैर्
,,	,,	७	काञ्चनशि-लात्	काञ्चनशिला
,,	,,	८	तलैरिछ्ला-	तलैश्छिला-
,,	,,	११	तिलकैर	तिलकैर्
,,	५३४	१	सत्तेहिं	सन्तेहिं
,,	,,	२	अकत्तेहिं	अकन्तेहिं
,,	,,	१५	विप्रती-याम्यां	विप्रतीपाभ्या
,,	,,	१६	उज्जाणव-णेहिं,	उज्जाणवणे-हिं,

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६८	५३४	१६	गिनसत्तेहिं	णिवसन्तेहिं
,,	,,	१७	निवसद्यिः	निवसद्भिः
३६६	,,	७	वापुदवि	वा पुदवि-
,,	,,	,,	काइएहिंतो	काइएहिंतो
,,	,,	१४	गोदासे-हिंतो,	गोदासेहिंतो
,,	,,	,,	छुलुएहिंतो	छुलुएहिंतो
,,	५३५	२	हैं जिसके	है जिसके
,,	,,	५-६	निग्गच्छत्ति	निग्गच्छन्ति
,,	,,	१४	-हुँ और	-हु और
,,	,,	१४	-म्याम्	ग्याम् से
,,	,,	१६	संतो	सु तो
३७०	,,	६	५५,१३)=	५५,१३=
,,	,,	८	प्रेमणाम्	प्रेम्णाम्,
,,	५३६	१	अहं	अहँ
,,	,,	७	महब्भउहँ	महब्भडहँ
३७१	,,	१६	कम्येशु	कम्मेशु
,,	,,	२०	तथा संबंध-कारक	तथा-संबंध कारक
,,	,,	२१	और अधि-करण	और-अधि-करण
,,	५३७	४	डुंगरिहि	डुंगरिहिँ
३७२	,,	५	कीजिए)।	कीजिए),
३७४	५३८	६	मालाएँ	मालाएँ
,,	,,	२६	जैसे पट्टिका	पट्टिका
,,	,,	२८	सीमाम्	सीमाम्-(६, २८)
३७५	५३६	२४	है। कुछ	कुछ
,,	,,	३०	निकली है	निकला है
,,	,,	३३	णिद्दए	णिद्दएँ
,,	,,	३४	मच्चिट्ठएँ	मज्झिट्ठएँ
,,	५४०	१२	पडो लिकोदा	पदोलिकादो
,,	,,	१४	१३) है।	१३)।
,,	,,	२३	-स्याः समान	-स्याः के समान
,,	,,	२६	(— रण हैं	(उच्चारण हैं

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७५	५४०	२६	जम्मिरहे,	जम्मिरहेँ,
,,	,,	३१	तिसहें	तिसहेँ =
,,	,,	३१-३२	मूणालिअहे	मुणालिअहेँ
,,	५४१	६	पद्योलिआए	पदोलिआए
,,	,,	१५	गाम में	काम में
,,	,,	२५	सउत्तले	सउन्तले
,,	,,	,,	अणुसुये	अणुसूए
,,	५४२	८	अय्यो	अम्मो
३७६	,,	३	=देवदाओ;	=शौर० में शौर० में देवदाओ
,,	,,	६	चतुर्विधाः	चतुर्विधा
,,	,,	,,	है। वर्गणाः	वर्गणाः है।
,,	,,	१०	धण्णउ	धण्णाउ
,,	,,	१२	स्नीकाः	स्त्रीकाः
,,	,,	१६	अप्पत्तणि-	अप्पत्तणि
,,	,,	१७	दिशाः	दिशः
,,	,,	२१	सरत्तपवहा	सरन्तपवहा
,,	,,	,,	उढाः	ऊढाः
,,	५४३	१	नवाहि	नावाहि
,,	,,	२	जत्तिनो	जत्ति नो
,,	,,	१०	कामु आ-विअ	कामुआ विअ
,,	,,	१६	इन्दमूइपर्यो	इन्दभूइ-पमों-
,,	,,	१८	-साहय्य	साहस्सय
,,	५४४	१	अणत्ताहिं	अणन्ताहिं
,,	,,	,,	विइत्ताहिं	विइकन्ताहिं
,,	,,	२	व्यतिका-त्तासु	व्यतिका-न्तासु
,,	,,	७	अन्तोसाल-	अन्तोसाला-
,,	,,	१४	-च्छाआसु=	-च्छाआसु
,,	,,	१६	बनानेवाला	बनानेवाले
३७७	५४५	६	अग्गिहिंतो	अग्गीहिंतो
,,	,,	१७	अग्गीहिँ,	अग्गीहिँ,
,,	,,	२०	अग्गीओ];	अग्गीओ]; अप०
,,	,,	२६	अग्गिहों	अग्गिहों

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७७	५४५	३०	में के बहु-वचन	में बहुवचन
३७८	५४६	२४	वाउहँ,	वाउहॅ,
,,	,,	२५	वाऊसू ,	वाऊसु,
,,	,,	,,	वाऊनूँ,	वाऊसुॅ,
,,	,,	२६	वाऊहिँ	वाउहिँ
३७९	५४८	१६	गहावइणा	गाहावइणा
,,	,,	१८	दधिका	दधि का
,,	,,	१९	सदध्रा	सदध्ना
,,	५४९	१	उदके:	उदधे:
,,	,,	२	दध्रः	दध्नः
,,	,,	३	हिंसादे	हिसादेः
,,	,,	५	इसोः	इक्षोः
,,	५५०	६	वस्तुतः	वस्तुनः
,,	,,	३१	पत्यै	पत्यौ
,,	५५१	५	तमि	त मि
,,	,,	१०	मेरुमि	मेरुं मि
,,	,,	१२	लेलुंसि	लेलुं सि
,,	,,	१३	उरौ	ऊरौ
,,	,,	२०	आस्मिन् के	–ष्मिन् हैं
,,	,,	२१	कलिहिं	कलिहिँ
,,	५५२	३	पट्ट	पहु
३८०	,,	२	के पास पास	के पास
,,	,,	६	रिउ	रिऊ
,,	,,	६	गीयरईणो	गीयरइणो
,,	,,	१२	हयम्	हय म्
,,	,,	१४	गुरु	गुरू
,,	,,	१५	३) है।	२) है,
,,	,,	,,	पाया जाता-है	पाये जाते-हैं
,,	,,	२२	-इ और -उ	-ई और -ऊ
,,	,,	२८	द्वो वायू	द्वौ वायू
,,	५५३	२	भवत्तादयो	भवदत्तादयो
,,	,,	६	(पद्य में है।	पद्य में है।
,,	,,	२०	श्रुपय	श्रुपय॰
३८१	५५४	२१	वीहणि=	वीहीणि=
,,	,,	,,	व्रहीन्	व्रीहीन्
,,	,,	२४	असुइं	असूइं
,,	,,	२५	पण्डूइ	पण्डूइँ
,,	,,	२८	दारुणि	दारुणि
,,	,,	३०	*म्लेच्छा-म्मिनि	*म्लैच्छानि
,,	,,	३४	लागू होते;	लागू होते हैं
,,	५५५	२	आइहिं	आईहिं
,,	,,	७	अक्षिभ्याम्	अक्षिभ्याम्
,,	,,	८	सिसुहिँ	सिसूहिँ
,,	,,	९	वग्नुमिः	वग्नुभिः
,,	,,	२१	मे तरुसु	में=तरुसु
,,	,,	३१	उदहिण	उदहीण
,,	,,	३३	अइण	आईणं
,,	,,	३५	मे च्छूणं	में इच्छूणं
,,	५५६	१	भिक्सूण	भिक्खूणं
,,	,,	१२	ऊऊसु	उऊसु
,,	,,	१४	*दुष्ट	दुष्ट
,,	,,	१५	जन-तिहिँ	जन कि-तिहिँ
,,	,,	१७	मुयलगुण-	सयलगुण-
३८२	,,	३	वहूय॰	वध्व्यः
,,	,,	६	,,	,,
,,	,,	७	समणा ण	समणाणं
,,	,,	१०	आयवणाहि	आयवणाहि
,,	,,	११	वहुभिर्॰	वहीभिर्
,,	,,	१३	वहूभिः	वहीभिः
,,	,,	,,	कुब्राभिः ,	कुब्जाभिः
,,	,,	१५	विमाहरिसु	विमाहरीसु
,,	,,	१	वहूरिसु	वहूरीसु
३८३	५५७	२	-ई और -उ	-ई और -ऊ
,,	,,	,,	दोनें-वाले	दोनें वाली-पुंलिंग-[illegible] की

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८३	५५७	२	पहले ह्रस्व	पहले -ई, -ऊ ह्रस्व
,,	,,	५	गामणिणी	गामणिणो
,,	,,	६	खलपु	खलपुं
,,	,,	८	खलवउ,	खळवउ,
,,	,,	,,	खलवओ,	खळवओ,
,,	,,	९	खलवुणो	खळवुणो
,,	,,	,,	खलवू	खळवू
,,	,,	१०	ग्रामण्यः है	ग्रामण्यः हैं
,,	,,	११	अशोक श्री	अशोकश्रीः
,,	,,	१५	अग्गाणी	अग्गणी
३८४	,,	५	इन स्त्री-लिग	उन स्त्री-लिंग
३८५	,,	३	णइअ,	णईअ,
,,	५५८	७	महयाः	मह्याः
,,	,,	२७	एक। - वन्दीअ	एक; - वन्दीअ
,,	,,	,,	ललि- अंगुलीक	ललि- अंगुलीअ
,,	,,	२८	ललिवा गुल्या	ललिता-गुल्या
,,	,,	२९	राजश्रिआ	राजश्रिया
,,	,,	३३	गिरिणई=	गिरिणईअ=
,,	,,	,,	गिरिनियाः	गिरिनद्या
,,	५५९	८	भणतीए	भणतीए
,,	,,	१५	वाराणस्या	वाराणस्यां
,,	,,	२०	-इएँ	-इएँ
,,	,,	२३	गणन्तिएँ	गणन्तिएँ
३८६	,,	१३	कोसिओ	कोसीओ
,,	५६०	३	गंगा-सिन्धूओ	गंगा-सिन्धूओ
,,	,,	८	-हें	-हेँ
,,	५६१	८	करिअरोह	करिअरोरु
,,	,,	,,	करिकरोह	करिकरोरु
३८७	,,	१०	गौदी-ओ	गौ०गी-दीओ

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८७	५६१	१५	कुलमहूओ	कुलवहूओ
,,	,,	१८	सहनशीलः,	सहनशीलाः
,,	,,	,,	वल्लीओ	वल्लीओ
,,	५६२	१०	है। अन्य शेष	है। शेष
,,	,,	१५	वायणीहि	वामणीहि
,,	,,	२१	सखीनाम्	सखीनाम्
,,	,,	२५	वंधूनाम्	वधूनाम्
,,	,,	३३	स्यलीपु	स्थालीपु
३८८	५६३	२	आपिट्टयाम	आपिट्टयाम्
,,	,,	१०	गिउ-बुद्धिणा	णिउण-बुद्धिणा
३८९	,,	६	कीरूपा-वली	की स्त्रीलिंग कीरूपावली
,,	,,	११	बना	बने
३९०	५६४	२८	दाता	दादा
,,	,,	३१	उवदसे-त्तारो	उवदंसे-त्तारो
,,	,,	३५	भट्टालं	भत्तालं
,,	५६५	५	भत्तणो	भत्तुणो
,,	,,	२०	पन्नत्तारौ	पन्नत्तारो
,,	,,	२१	*प्रज्ञासारः	*प्रज्ञसारः
,,	,,	३४	दायोरेहि	दायारेहिं
नोट	५६६	४	भवत्त	भवन्त
,,	,,	६	नाया-धम्कहा	नाया-धम्मकहा
३९१	,,	८	पिउरस्स;	पियरस्स;
,,	,,	२६	जमादा	जामादा
,,	५६७	१२	जामादुना	जामादुणा
,,	,,	२२	जामादु-णो	जामा-दुणो
,,	५६८	२	अम्मा-पियरे	अम्मा-पियरो
३९२	,,	१३	जो	तो
,,	,,	१४	जिसकी	जिसके
,,	५७०	२१	स्वह	स्वसृ

पा सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६३	५७०	१	रूपावली	रूपावली के
,,	,,	७	सूयगडग-सुत	सूयगडग सुत्त
,,	५७१	८	गादी	गावी
,,	,,	१२	गाउओ	गउओ
३६४	,,	२	ियमित	नियमित
३६५	,,	७	मारू	मरू
,,	५७२	१	मारुत्	मरुत्
,,	,,	३	जग्रँ	जग्र
,,	,,	२०	विज्जुए	विज्जूए
३६६	,,	५	जानम्	जानन्
,,	५७३	१४	मइया	महया
,,	,,	,,	मइता	महता
,,	,,	३६	गुणवदी	गुणवदो
,,	५७४	३२	मूलमत्तो	मूलमन्तो
,,	,,	,,	कन्दमत्तो	कन्दमन्तो
,,	,,	,,	स्वन्धमत्तो	खन्धमन्तो
,,	,,	,,	तयामत्तो	तयामन्तो
,,	,,	,,	सालमत्तो	सालमन्तो
,,	,,	,,	पवाल मत्तो	पवाल मन्तो
,,	,,	३५	भअवत्तो	भअवन्तो
,,	,,	३६	किदवन्तो	किदवन्तो (जीव ४०, २६)
,,	,,	,,	किदवत्ता	किदवन्ता
,,	५७५	४	परिग्गहा वत्ती	परिग्गहा वन्ती
,,	,,	५	एयावत्ति	एयावन्तो
,,	,,	१७	आउसत्तो	आउसन्त
,,	,,	१८	आवसन्तो	आउसन्ते
,,	,,	२६	१४६ के	१४६) के
३६७	५७६	१	अणुसा सत्तो	अणुसा सन्तो
		२	वि[illegible]	[illegible]
३६७	५७६	६	चुल्लहि यवन्ते	चुल्लहि मवन्ते
,,	,,	१८	मन्तअत्ते	मन्तअन्ते
,,	,,	२१	परिव्म मत्तो	परिव्म मन्तो
,,	,,	२३	जगत्तो	जगन्तो
,,	,,	२५	भणत्त	भणन्त
,,	,,	२६	दीसत्त	दीसन्त
,,	,,	२७	धणमत्त	धणमन्त
,,	,,	२८	डहडहत्ते	डहडहन्ते
,,	,,	२६	कोरूप	का रूप
,,	,,	३१	महत्त	महन्त
,,	,,	३२	पिज्जत्त	पिज्जन्त
,,	,,	३३	अणु णिज्जत्त	अणु णिज्जन्त
,,	,,	,,	अवलम्बि ज्जत्त	अवलम्बि ज्जन्त
,,	,,	,,	पआसत्त	पआसन्त
,,	,,	३४	प्रकाश्य त्तम्	प्रकाश्य न्तम्
,,	,,	३५	समा रम्भत्त	समा रम्भन्त
,,	,,	,,	किणत्त	किणन्त
,,	,,	,,	क्रीणत्तम्	क्रीणन्तम्
,,	,,	,,	गिणहत्तम्	गिण्हन्त
,,	,,	३६	गृह्णत्तम्	गृह्णन्तम्
,,	५७७	२	जग्पत्त	जम्पन्त
,,	,,	,,	जल्पत्त	जल्पन्त
,,	,,	२	श्वसत्त	श्वसन्त
,,	,,	३	उद्वहत्तम्	उद्वहन्तम्
,,	,,	५	मालत्त	मालन्त
,,	,,	,,	मारयत्तम्	मारयन्तम्
,,	,,	,,	जीवत्तम्	जीवन्तम्
,,	,,	६	अलिहत्त	अलिहन्त
,,	,,	,,	अर्हत्त	अर्हन्त
		११	अण	अणु

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६७	५७७	१२	जम्मत्तेण	जम्मन्तेण
,,	,,	१३	कुणत्तेण	कुणन्तेण
,,	,,	१६	करेॅत्तेण	करेॅन्तेण
,,	,,	१९	अहिण्ड- त्तेण	आहिण्ड- न्तेण
,,	,,	२०	पवसत्तेण	पवसन्तेण
,,	,,	२१	रोअन्ते	रोअन्तें
,,	,,	२२	-हिम- वत्ताओ	-हिम- वन्ताओ
,,	,,	२३	आरम्भ- त्तस्स	आरम्भ- न्तस्स
,,	,,	२४	रमत्तस्स	रमन्तस्स
,,	,,	२५	वोॅच्छि- न्दत्तस्स	वोॅच्छि- न्दन्तस्स
,,	,,	२७	भगवत्तस्स	भगवन्तस्स
,,	,,	२८	वसत्तस्स	वसन्तस्स
,,	,,	,,	चयत्तस्स	चयन्तस्स
,,	,,	२९	-हिमवत्तस्स	-हिमवन्तस्स
,,	,,	,,	कहत्तस्स	कहन्तस्स
,,	,,	३१	सारक्ख- त्तस्स	सारक्ख- न्तस्स
,,	,,	३२	कारेॅत्तस्स	करेॅन्तस्स
,,	,,	३३	कुणत्तस्स	कुणन्तस्स
,,	,,	३४	चिन्त- न्तस्स	चिन्तअ- न्तस्स
,,	५७८	१	हणुमतस्स	हणुमन्तस्स
,,	,,	२	वञ्ञदश्श	वञ्ञंदश्श
,,	,,	३	अलिहत्तश्श	अलिह- न्तश्श
,,	,,	,,	णच्चत्तस्स	णच्चन्तस्स
,,	,,	,,	नृन्यतः	नृत्यतः
,,	,,	४	मेॅल्लत्तहोॅ	मेॅल्लन्तहोॅ
,,	,,	,,	देॅत्तहोॅ	देॅन्तहोॅ
,,	,,	,,	जुज्झत्तहो	जुज्झन्तहोॅ
,,	,,	५	करत्तहो	करन्तहोॅ
,,	,,	७	रूअत्तम्मि	रूअन्तम्मि

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६७	५७८	९	जलत्ते	जलन्ते
,,	,,	१०	सत्ते	सन्ते
,,	,,	,,	हिमवत्ते	हिमवन्ते
,,	,,	११	अरहत्तसि	अरहन्तंसि
,,	,,	१२	अभिनि- क्खमत्तम्मि	अभिनि- क्खमन्तम्मि
,,	,,	१३	महत्ते	महन्ते
,,	,,	,,	महतिँ	महति
,,	,,	१४	पवसत्तेॅ	पवसन्तेॅ
,,	,,	१६	चृम्भमाण	जृम्भमाण
,,	,,	२०	पडत्ता	पडन्ता
,,	,,	,,	निवडत्ता	णिवडन्ता
,,	,,	,,	पन्तः	पतन्तः
,,	,,	२१	भिन्दत्ता	भिन्दन्ता
,,	,,	,,	जाणत्ता	जाणन्ता
,,	,,	२२	सीलमत्ता	सीलमन्ता
,,	,,	२३	जम्पत्ता	जम्पन्ता
,,	,,	,,	वायता	वायन्ता
,,	,,	,,	गायत्ता	गायन्ता
,,	,,	२४	रक्खत्ता	रक्खन्ता
,,	,,	२६	पूरयत्ता	पूरयन्ता
,,	,,	,,	उज्जोॅएन्ता	उज्जोएॅन्ता
,,	,,	,,	करेन्ता	करेॅन्ता
,,	,,	२७	उद्योतन्तः	उद्द्योतयन्तः
,,	५७९	२	फुकिञ्जन्ता	फुक्किज्जन्त
,,	,,	४	फासअन्ताइं	फासमन्ताइं
,,	,,	११	विणितेहिं	विणिन्तेहिं
,,	,,	१२	ओवयन्तेहिं	ओवयन्तेहिं
,,	,,	१६	सद्भि	सद्भिः
,,	,,	२२	गाअत्तेहिं	गाअन्तेहिं
,,	,,	२३	पविशत्तेहिं	पविशन्तेहिं
,,	,,	२४	वलद्भि	वलद्भिः
,,	,,	२५	एॅत्ताणं	एॅन्ताणं
,,	,,	,,	चिन्तत्ताणं	चिन्तन्ताण
,,	,,	२६	अरहत्ताणं	अरहन्ताणं
,,	,,	३४	णयन्ताणं	णमन्ताणं

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३९७	५७९	३५	गिस्कय- न्ताणं	णिक्कम- न्ताण
,,	५८०	१	णवन्तहँ	णवन्ताहँ
,,	,,	४	कीलन्तेसु	कीळन्तेसु
,,	,,	३	आयुष्यन्तः	आयुष्मन्तः
३९८	,,	७	धगवो	मगवो
,,	,,	५	-वरिअह- णुयं	वरिअह- णुमं
,,	,,	६	अंस	अस
,,	,,	१७	मयवअ- आणं	मव- याणं
,,	,,	२१	अर्हत्	अर्हन्
४००	५८३	१३	देवरत्ता	देवरन्ना
,,	५८४	३	लाडय- निस-	लाटय- विसय-
४०१	,,	१९	अत्ताणं	अत्ता ण
,,	५८५	७	आत्तओ	अत्तओ
,,	५८६	२४	अनयाए	अणायाए
४०२	५८७	१९	दृटवर्मा	दृढवर्मा
,,	,,	२०	सिवखन्द- वमो	मिवखन्द- वमो
,,	५८८	४	-कर्मणाः	—कर्माणः
,,	,,	७	—कखरो- मायः	कखरो- मृण्यः
,,	,,	१०	—संकरा- प्पेमा	संकन्त- प्पेँमा
,,	,,	१२	—कलदील- दामे	कलनील- दामे
४०३	,,	१	मधवन्	मघवन्
,,	,,	,,	मघोणो	मघोणो
,,	,,	३	मघव	मघव
,,	,,	८	जुनाणो	जुवाणे
४०४	५८९	४	प्रेँमन्	प्रेमन्
,,	५९२	६	—सजुत्ता	—सजुत्त
,,	,,	,,	संयुत्ता	सयुत्त
,,	,,	२०	कर्मन	कर्मन्
४०५	५९३	२	सिहि	सिहीं
,,	,,	८	नाणी	नाणीं=
,,	,,	१४	तवस्सि	तवस्सिं
,,	,,	३६	णिणाइणो	पिणाइणो
,,	५९४	११	अमानिनः	अमायिनः
,,	,,	१६	—चारिस्स=	—चारिस्स
,,	,,	३५	दण्टिमोणो	दण्डिणो
,,	,,	१६	पच्छिणो	पिच्छिणो
,,	५९५	१	आगारिणो	अगारिणो
,,	,,	१९	अटटत्तभा- सिणो	अव्वत्तभा- सिणो!
,,	,,	२७	प्राणिणः	प्राणिनः
,,	,,	३३	मत्तीहि	मन्तीहि
,,	५९६	१०	हस्तीपु	हस्तिपु
४०६	,,	२	सस्खीणो	सक्खिणो
,,	,,	३	ससकी	श ॅकी
४०७	३९७	४	-आ,	अ,
४०९	५९८	१०	-संकरामणा	-सकन्तमणा
,,	,,	,,	-संकाच- मनाः	-संक्रान्त- मना.
,,	५९९	१	कणीयान्	कनीयान्
,,	,,	२६	रजस	रजस्
,,	६००	२	पुरूडेण	पुरूरवेण
,,	,,	२०	स्नोतसि	स्रोतसि
,,	,,	२६	चन्दे=	छन्दे=
,,	,,	,,	चन्दसि	छन्दसि
,,	,,	३२	आसरामणा	आसाचम:
,,	,,	३४	मृगशिरसि	मृगशिरसी
,,	६०१	१०	वचेस्	वचस्
४१०	,,	११	धराहरेहि	धराहरेहिं
४११	६०२	१४	एगचक्खू	एगचक्खु निचक्खू
,,	,,	२६	चक्खु	चक्खुं
,,	६०३	५	धम्मविद्	धम्मविद्
४१४	६०७	४	दृढतर	दृढयर
,,	६०८	८	वोँट्ठ	जेँट्ठ

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१४	६०८	२०	अप्पतरो	अप्पयरो
,,	,,	२४	ओवाणाहि	ओवअणाहि
४१५	,,	३	अहये	अहयं
,,	६०९	१८	अम्हेसुंती	अम्हेसुंतो
,,	,,	,,	महत्तो	ममत्तो
४१६	,,	७	ममहिंतो;	ममाहिंतो;
,,	,,	७	मसाओ	महाओ
४१७	६११	४	दंइं	हंइं
,,	,,	२०	परिसत्ति	परिवसन्ति
,,	,,	२६	सत्ति	सन्ति
४१८	६१२	११	ममँ	ममा
,,	६१३	१६	मद्	यद्
४२०	६१६	२०	उय्येहिं],	उय्हेहिं],
४२१	६१८	१७	करेंत्तेण	करेन्तेण
,,	,,	२३	तत्तोत्त्वत्तः	तत्तो=त्वत्तः
,,	,,	२८	तुम्दं	तुम्ह
,,	६२०	२	तुह्य	तुम्ह
४२२	६२२	२	तुम्हहँ	तुम्हासु
,,	,,	५	हह	इह
४२३	६२३	२	ये	मे
,,	६२४	२६	सेंद्	सेंद्
,,	,,	,,	सं +	से +
,,	,,	३१	यूयंम्	यूयंम्
,,	,,	,,	इंन्दश्	ईन्दश्
,,	,,	,,	घीमिरे	धीमिर्
,,	,,	३२	अंर्वता	अंर्वता
,,	,,	,,	सेंद्	सेंद्
,,	,,	,,	यं	यं
,,	,,	,,	सेजं	सेंजं
४२७	६३३	४	इद	इइ
,,	,,	,,	के य	के य्
४२८	,,	१५	कश्शि	कश्शिं
,,	६३५	१३	कवोष्ण	कोष्ण
४३२	६४२	२२	एल	एप
४३३	६४३	२४	सव्वेहिं	सव्वेसिं
,,	,,	२६	अण्णाहिं	अण्णाहिँ

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३४	६४४	१३	केवड्ड	केवडु
,,	,,	१५	जेवड्ड	जेवडु
,,	,,	१५	तेवड्ड	तेवडु
४३६	६४५	१४	द्विया	द्वित्रा
,,	,,	१६	दोकत्ति-याओ	दोकत्ति-याओ दो-रोहिणीओ
,,	६४६	५	द्वांगुलक	द्व्यंगुलक
,,	,,	८	द्विजिद्द	द्विजिह्व
,,	,,	१९	आइ	दुआइ
,,	६४७	१७	द्वाभ्यामू	द्वाभ्याम्
४३७	६४८	६	द्वे	द्वे
४३८	६४९	१६	पाणागाइं	पाणगाइं
,,	,,	१७	वत्थाहिं	वत्थाइं
,,	,,	१९	(महिलाओं)	(महिलाओ)
,,	६५०	४	'प्य	'प्य्
,,	६५१	१०	तेत्तीसा	तेत्तीस
,,	,,	१३	त्रयस्त्रि-शका:	त्रयस्त्रि-शकाः
४३९	,,	१५	पक्लवइ-इल्ला	पकलवइ-इल्ला
,,	६५२	१९	—कोटीभि	—कोटीभि:
,,	,,	२५	चतुर्ण्ह	चतुण्हं
,,	६५३	४	चऊसु	×
,,	,,	६	चउरंग-गुलि	चउरं-गुलि
,,	,,	६	चउरम्मि-सीइ	चउरा-सीइं
४४१	६५५	१०	छक्खर	छट्टक्खर
,,	,,	१२	छल्	छळ्
४४२	६५६	३३	अट्ठाइस	अट्ठाइस
,,	६५७	२६	चारिदह	चारिदह
४४३	६५८	६	एकादह	एअदह
४४४	६५९	४	अउणवी-सइ	अउणवी-सई
४४५	६६०	८	वीसइ	वीसइ
		१२	च-वीस	चउवीस

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४५	६६०	१२	-बीसइ	बीसइ
,,	,,	२१	सत्तावीसं	सत्तावीसं
,,	६६१	३	अउणतीसं	अउणत्तीसं
,,	,,	१५	पणत्तीसं	पणतीसं
,,	,,	१७	-३६=	-४०=
,,	,,	२०	-रसाहस्स	-रसाहस्स
,,	,,	२१	छयायालीसं	छायालीसं
,,	,,	२४	ऍगपणपण्ण	ऍगूणपण्ण
,,	६६२	२	विचारा	विचारा
,,	,,	१०	पञ्चशत्	*पञ्चाशत्
,,	,,	,,	*पञ्चाशत्	*पञ्चाशत्
४४६	,,	,,	चउवट्ठि-;	चउवट्ठि-;
,,	६६३	,,	छलासीइं	छळसीइं
४४७	,,	३	-विंशतिम्	-विंशतिम्
,,	,,	५	सर्वस्वप्ना	सर्वस्वप्नाः
,,	,,	८	सहास्सइं	सहस्साइं
,,	,,	१३	दन्तिसह-स्सेहिं	दन्तिसह-स्सेहि
,,	,,	१६	-समसाह-	-सयसाह-
,,	,,	१७	-त्तीसगाणा	-त्तीसगाण
,,	,,	,,	चउहं	चउण्ह
,,	६६४	६	*परीसहेपु	*परीषहेपु
४४८	६६५	५	एक्वीसे	एक्वीसे
,,	,,	८	सद्दस्से	सहस्से
,,	,,	१४	अज्ञिआसा-	अज्ञियासा-
,,	,,	१६	वहाइयां	वहाइयां
,,	,,	२५	जो० यण	जोयण
,,	,,	,,	दोण्णिय*	नीचे नोट देखें।
४४९	६६६	२	पदुम	पदुम
,,	,,	,,	पुदुभ	पुदुम
,,	,,	८	*डायर	*प्रथर
,,	,,	२६	*तूर्थ	*तुर्थ
४५०	६६८	४	तिम्न,	तिइञ,

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५०	६६८	४	तिम्र	*तिम्र
,,	,,	८	*तूर्थ	*तुर्य
,,	,,	१३	जोयणा	जोयणाइं
४५१	६६९	१२	-सहस्स कद्दुत्तो	-सहस्स कपुत्तो
,,	,,	१३	अणन-	अणन्त-
,,	,,	२२	दुवालसवि	दुवालसविह
,,	,,	२८	अणंतद्दा	अणंतद्धा
,,	,,	३३	*एकतः	*एककतः
४५३	६७१	६	औ	और
,,	,,	,,	चू०पै०	चू०पै०वट्टय,
,,	,,	७	वट्टय,वट्टन्ति	वट्टन्ति
,,	,,	१०	वट्टउं	वट्टइँ
,,	,,	१२	वट्टहिं	वट्टहिँ
४५५	६७४	१४	श्रणामः	*श्रुणामः
,,	,,	१७	पदमु,	पदमु,
,,	,,	,,	पदभ,	पदम,
टिप्प०	,,	४	अहिव-ट्ठओ	अहिव-ट्ठओ
४५६	,,	२	छ	-ह
,,	६७५	५	अग्गयह,	अग्गायह,
,,	,,	,,	-मत्तेह	-मन्तेह
,,	,,	१७	प्रसीदन्ति	पसीदन्ति
,,	,,	१९	पिबन्ति	पिबन्ति
,,	,,	२५	सहहिँ	सोहहिँ
,,	,,	२८	आदाइ	आदाहि
टिप्पणी	,,	६	अत्थिहिं	अत्थिहिं (?)
,,	,,	,,	अइत्तहि(?)	×
४५७	६७७	१५	पब्भासते	पभासते
,,	,,	२२	णिउरिज्जए	णिव्वुरिज्जए
,,	,,	२३	भुञ्जए	भुंजए
,,	,,	२८	भज्जए	भंजए
,,	,,	३१	जयदे	जायदे
,,	,,	,,	जयते	जायते

* नोट—दोण्णि य तेवट्ठे जोयणसए=४७२६७ योजन (विवाह० ६५३), उत्तर के साथ, जैसे तिण्णिजोयणा सहस्साइं दोण्णि य बत्तीसुत्तरे

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५७	६७७	३४	जुज्यते	युज्यते
,,	६७८	२	कल्मदे	किल्मदे
,,	,,	६	कामयामेहं	कामयामहे
४५८	,,	३	प्रभावती	प्रभवती
,,	,,	६	हुएइरे	हुएइरे
४५९	६७९	२५	चिट्टे ज्ज	चिट्ठे ज्ज
,,	,,	,,	वा=	वा पलंघे-ज्ज वा=
,,	,,	२६	तिष्टेद्	तिष्ठेद्
,,	,,	३४	*कुर्यात्	*कुर्वयीत्,
,,	६८०	५	भुज्जे ज्जा	मुञ्जे ज्जा
४६०	,,	३	वन्धीयां	बध्नीयां
,,	,,	४	मन्थीयां	मथ्नीयां
,,	,,	६	सचे ज्जा	मुच्चे ज्जा
,,	,,	८	लंघे ज्जा	लंघे ज्ज
,,	,,	११	लेहअं	लहेअं
टिप्प०	६८१	५	अ–सौ	असौ
४६१	६८२	५	भणे ज्जासु	भणे ज्जसु
,,	,,	१३	स्थपय	स्थापय
,,	,,	१७	दें ज्ञहि	दें ज्जहि
,,	,,	१९	एँ	एँ
,,	,,	,,	,,	,,
,,	,,	२१	करे	करें
,,	,,	२४	वस्तुतः	वस्तुतः
,,	,,	३१	अश्वास्य	आश्वासय
,,	६८३	१	हसेइज्जइ	हसेइज्जहि
४६२	,,	१२	विणएँज्ज	विणएँज्ज
,,	,,	२६	अच्छि वि	अच्छि वि
,,	,,	,,	अद्य् पि	अद्यअपि
,,	,,	२७	प्रमार्जयेत्	प्रमार्जयेत्
,,	,,	२८	परिक्लपऐ	परिक्लप्ए
४६३	६८४	१०	दो एज्जइ	दोएँ ज्जइ
,,	,,	,,	दौकध्यम्	दौकेध्यम्
,,	,,	१३	रक्गेज्जइ	रक्खें ज्जइ
,,	,,	१६	एकवचन	एकवचनं
,	-			मरो

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६३	६८४	१९	समभिलोक-	समभिलोक-
४६४	६८५	५	पाकुब्बा	पाउकुब्बा
,,	,,	८	चूया	बूया
४६५	,,	१७	नेच्छइ	नेॅच्छइ
,,	६८६	२८	*चक्ति	*चकति
,,	६८७	५	लब्भा	लब्भ
४६६	,,	११	लोभोप- पुक्ताः	लोभोप- युक्ताः
,,	,,	१२	कियत्तो	कियन्तो
,,	६८८	१५	पहें ज्जा	पहें ज्ज
,,	,,	,,	संभवतः	संभवतः
,,	६८९	१	होहीअं	होहीअ
,,	,,	६	छेद्य	छेद्य
४६७	,,	३	अ० माग०	१अ० माग०
,,	,,	५-६	वट्टेम्ह वट्टह;	वट्टें म्ह। २ वट्टह;
,,	,,	८	वट्टन्तु,	३ वट्टन्तु
,,	,,	१५	स्व	स्व
,,	६९०	११	मुञ्जसु	मुञ्जसु
,,	,,	२४	दावअ	दावअ)
,,	,,	२८	मुणिज्सु	मुणिज्जसु
,,	,,	३२	पडिवज्जस	पडिवज्जस्स
४६८	६९१	१६	चिठ्ठा	चिट्ट
,,	,,	२२	पेॅस्क	पेॅरक
,,	६९२	२२	*मोधि	*भोधि
४६९	,,	५	विगयतु	विनयतु
,,	,,	९	कधेदु	कधेदु
४७०	६९३	४	संमानयाम	सम्मानयाम
,,	,,	५	पर्युपा- साम हे	पर्युपा- सामहे
,,	,,	६	स्वाधाम	*स्वादामहे
,,	,,	,,	रराधाम हे	स्वादामहे
,,	,,	७	युद्धयाम हे	युद्धयामहे
,,	,,	१२	निन्मामेमो	निन्भामेमो
,,	,,	२१	अच्छयें म्ह	अच्छयें म्ह
	६९४	१	उपसरमि	उपसर्पामि

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७०	६६४	२	पेॅक्साम	पेॅक्साम्ह
,,	,,	,,	प्रेॅच्छाम हे	प्रेॅच्छामहे
,,	,,	८	होॅम्ह,	होॅम्ह
,,	,,	१०	पलायाम हे	पलायामहे
,,	,,	१३	कीलेम्ह	कीळेम्ह
,,	,,	१७	पेॅक्खामो	पेक्खामो
,,	,,	३२	चाम	जाम
टिप्पणी	६६५	७	कलेॅस्म	कलोॅस्म
४७१	,,	१२	तालेह	ताळेह
४७२	६६६	८	हसेॅत्ति	हसेॅन्ति
,,	,,	९	सुणेण,	सुणेउ,
,,	६६७	१	भणासि	भणसि
,,	,,	१५	कीलेॅम्ह	कीळेम्ह
४७३	६६८	११	जिणद्	जिणदि
,,	,,	२९	प्रस्नोॅति	प्रस्नौति
,,	,,	३५	स्वम्	स्वप्
४७४	६९९	१	–इ	–ई
,,	,,	१०	णेत्ति	णेॅन्ति
,,	७००	६	उड्डेह	उड्डेइ
,,	,,	७	उड्डेॅत्ति	उड्डेॅन्ति
,,	,,	३६	देॅत्तहो	देॅन्तहोॅ
,,	,,	,,	ददत	ददतः
,,	,,	,,	देॅत्तिहिं	देॅन्तिहिं
,,	७०१	९	दयिम	*दयिय
४७५	,,	१०	नेहवइ	ने हवइ
,,	७०२	२	भवत्ति	भवन्ति
,,	,,	१७	होॅज्ज	होॅज्जा
,,	,,	३०	होत्ति	होॅन्ति
,,	७०३	६	त्त्वा-	क्त्वा-
,,	,,	११	पाउब्भ- विताणं	पाउब्भ- वित्ताणं
,,	,,	२२	अणुहवेइ	अणुहवइ
,,	,,	२४	अणुहोॅत्ति	अणुहोॅन्ति
४७६	,,	२	हुवीय	हुवीअ
,,	७०४	५	हुवत्ती	हुवन्ती

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७६	७०४	८	होॅत्ति	होॅन्ति
,,	,,	११	होयाणो	होमाणो
,,	,,	२८	–भूदा	–भूद
४७७	७०५	२	ग्रर	–अर
,,	,,	२२	–संहरन्ति	–संहरति
४७९	७०८	३	गाअत्ति	गाअन्ति
,,	,,	६	गायत्तेहिं	गायन्तेहिं
,,	,,	२६	णिड्डाअदि	णिद्दाअदि
४८०	७१०	११	अच्छियर्थ	अच्छियव्वं
टिप्प.	,,	८	हेरवेॅन्तइ	एरवोॅन्तइ
४८१	,,	६	अइक्कमेज्ज	अइक्कमेॅज्ज
,,	,,	८	अइक्कमत्ति	अइक्कमन्ति
,,	७११	३	निक्ख- मेॅज्जा	निक्ख- मेज्ज
,,	,,	,,	निक्खमाण	निक्खममाण
४८२	७१२	३१	स्वम्	स्वप्
४८३	७१३	७	पिवत	पिबत
,,	,,	२०	चिट्ठत्ति	चिट्ठन्ति
,,	,,	२१	चिट्ठत्ते	चिट्ठन्ते
,,	,,	२८	अचिट्ठामो	आचिट्ठामो
,,	७१४	१०	अणु चिट्ठादि	अणु चिट्ठदि
,,	,,	२१	घ्रा	घ्रा
,,	७१५	८	उत्तेहि	उत्थेहि
,,	,,	,,	उत्तेदु	उत्थेदु
,,	,,	१०	उट्ठत्त	उट्ठन्त
४८५	७१६	४	मुञ्चत्ति	मुञ्चन्ति
,,	,,	७	,,	,,
,,	,,	१७	कत्ताइ	कन्ताइ
४८६	,,	८	*स्पर्शयति	*स्पर्शति
४८७	७१८	२	मियीते	मिमीते
,,	,,	३२	–अत्तेण	–अन्तेण
टिप्प.	७१९	४	शाचक	*शाचक्क
४८८	,,	४	कुप्यते	कुप्यति
,,	,,	,,	उत्तम्मति	उत्तम्मइ
,,	,,	१७	*स्पाक्यति	*स्पक्यति

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८८	७२०	१७	वञ्जन्दरश	यञ्जन्दरश
,,	,,	२०	वयत्ति	वयन्ति
टिप्पणी	,,	१०	वद्धोर	यज्ञोध
,,	,,	,,	वन्नए	यन्नए
४८९	७२१	३२	विधन्ति	विन्धन्ति
,,	७२२	२	ओइन्धेइ	ओइन्धइ
,,	,,	५	*उद्धाति	*उद्धिंपति
४९०	,,	४	कधेति	कहेंन्ति
,,	,,	१०	कधेदि	कथेदि
,,	,,	२२	वेदेहि	वेदेइ
,,	,,	२३	वेरमो	वरेमो
,,	,,	२८	सोमयन्ता	सोभयन्ता
,,	७२३	६	पभामेन्ति	पभासेंन्ति
४९१	७२४	६	विद्दरात्ता	विद्दन्तन्ता
,,	,,	१०	विचित्त-यन्तः	विचिन्त-यन्तः
,,	,,	१६	पप्फोडती	पप्फोडन्ती
४९२	,,	५	अवम्	आवम्
,,	७२५	१६	आइक्खइ	आइक्खह
४९३	,,	६	परियति	परियन्ति
,,	,,	१६	परिअन्ति	*परिन्ति
,,	७२६	३	इमः	इमः
,,	,,	८	विणेंन्ति	विर्णेन्ति
,,	,,	१३	अतीति	*अतीति
४९४	७२७	२	प्रस्नोति	प्रस्नौति
,,	,,	६	अभित्थुण-माए	अभित्थुण-माणा
,,	,,	,,	अभिसंथुण-माण	अभिसंथु-णमाणा
४९५	७२८	८	रुयामणि	रुयामाणि
,,	,,	१३	रोयमाणा	रोयमाण
,,	,,	२८	लोदयाण-	लोदमाण-
,,	,,	२९	लउदि	लुअदि
४९८	७३०	२१	सत्ति	सन्ति
,,	,,	२३	हस्तो	हस्तौ
,,	,,	२६	सत्ति	सन्ति

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४९८	७३०	२९	सत्ति	सन्ति
,,	,,	३२	शत्ति	शन्ति
,,	७३१	१	अग्मि	अग्मि
,,	,,	१०	सत्ति	सन्ति
,,	,,	,,	शत्ति	शन्ति
,,	,,	४	अध्यासित	अध्यासीत
४९९	,,			
,,	७३२	६	साहेन्ति	साहेंन्ती
,,	,,	२०	समोहणत्ति	समोहणन्ति
,,	,,	२१	संघ्नत्ति	संघ्नन्ति
५००	७३४	१	सम्मेहि	खम्मेहि
		८	जहाइं	जहाइ
,,	,,	१०	ए में	ऐ में
५०१	,,			
५०२	७३५	१७	कर्मवाच्य—२३३),	×
,,	,,	२५	अचिणम्ह	अवचिणम्ह
,,	,,	३०	अवचिणेदु	अवचिणेदु
५०३	७३७	१४	शुणन्त	शुणन्तु
,,	,,	१५	सुणहु	सुणह
,,	,,	२०	सुणतु	सुणन्तु
५०४	७३८	५	प्रापुणति	*प्रापुणति
,,	,,	१८	पावत्ति	पावन्ति
,,	,,	७	संपाउणत्ति	संपाउणन्ति
,,	,,	१८	पावत्ति	पावन्ति
,,	,,	१९	पावेंत्ति	पावेंन्ति
५०६	७३९	३	छिन्तइ	छिन्दइ
,,	,,	१३	आच्छि-न्देज्जा	आच्छि-न्देंज्ज
,,	७४०	६	अज्झिअ	मज्झिअ
,,	,,	१२	भिनन्ति	भिनत्ति
५०७	,,	१५	भुञ्जत्ति	भुञ्जन्ति
,,	,,	१६	भुञ्जणहा	भुञ्जणहँ
,,	७४१	२	पउञ्जइउ	पउञ्जइउं
५०८	७४२	१	कुव्वन्ती	कुव्वन्ति
,,	,,	,,	कुर्वन्ती	कुर्वन्ति
,,	,,	१४	कृणीति	कृणोति
५१०	७४४	३	व	वू
,,	७४५	६	याणासि	याणाशि

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५११	७४७	६	लुगर	लुणइ
,,	,,	,,	लुणंति	लुणाति
,,	,,	११	नुणइ	मुणइ
५१३	,,	८	बन्धिन्तु	बन्धित्तु
,,	,,	१४	वन्धिउ	बन्धिउ–
,,	,,	२०	अवबन्धाति	अवबध्नाति
,,	७४९	२	-बन्धेबव	-बन्धेध
५१५	७५०	१८	महानई-	महाणई-
५१६	७५२	४	कहेसि	कहेसी
,,	७५३	४	*रिक्रय	*रिक्नय
टिप्पणी	,,	६	अद्राक्षु	*अद्राक्षु
,,	,,	,,	१२१	१५१
५१७	,,	५	से	स्–
,,	७५४	१८	जावइत्था	जावइत्थ
,,	,,	२१	लभेंत्था	लभेंत्थ
५१८	७५५	६	आदसु	आहंसु

§५१८ के बाद 'परोक्षभूत' शीर्षक छूट गया है, पाठक सुधार लें।

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५१९	,,	१८	तादकण्णास-मुहादो	तादकण्णस्स मुहादो
,,	,,	२०	एँकदिअश	एँकदिअशं
,,	७५६	१	बहुजणेण	बहुअजणेण
,,	,,	१३	गया था	गयी थी
५२०	७५७	१३	इसेहिमि	हसेहिमि
,,	,,	२४	सेंच्छि-हिस्सा	सोंच्छि-हिस्सा
,,	७५८	१५	-इस्सत्ति	-इस्सन्ति
,,	,,	२६	-हहित्ति	-हहिन्ति
,,	,,	,,	-हित्ति	-हिन्ति
५२१	,,	४	पणजि-णिस्सइ	पएजि-णिस्सइ
,,	,,	५	निर्नैष्यति	निर्णेष्यति
,,	७५९	१२	दोॅस्स	दोॅस्सं
,,	,,	२६	ह प	ह् और प्
,,	७६०	२०	दोम्राहिसि	दोम्राहिसि
५२२	,,	३	सिमुमा-रिम्मॅ	निसुम-रिमं
५२२	७६०	११	मरिस्सइ	मरिस्ससि
,,	७६१	५	अन्त में–ऐ–	अन्त में–ऐ
५२३	,,	१९	उवागमि-स्सत्ति	उवागमि-स्सन्ति
५२५	७६२	३५	पास्यति	पश्यति
५२७	७६४	२२	उप्पाज्जि–	उप्पज्जि-
,,	,,	२४	वच्छिहिसि	वच्चिहिसि
,,	७६५	२	लग्गिस्स	लग्गिस्सं
,,	,,	३	अणुल-ग्गिश्श	अणुल-ग्गिश्शं
५२८	,,	६	अनुकल-	अनुकूल-
,,	,,	७	वारइस्सादि	वारइस्सदि
,,	,,	,,	निअत्त-	णिअत्त-
,,	,,	८	पुलो-इस्सदि	पुलोअ-इस्सदि
,,	,,	१०	सद्दावइस्स	सद्दावइस्सं
,,	,,	२३	˘एसें०	एसें०
,,	,,	,,	जाणेही	जणेही
५३०	७६७	१०	*दयन्ति	*दयति
,,	७६८	२	अद्	अद्
,,	,,	१२	*संधिहा-	*संधा–
५३२	७६९	६	भिन्दत्ति	भिन्दन्ति
,,	,,	११	भुज्जिही	भुञ्जिही
५३३	७७०	३०	गच्छं	गच्छं
,,	७७१	६	क्रिप्यामि	*क्रिप्यामि
५३५	७७२	२२	रुम्भन्त,	रुम्भन्त
५३८	७७६	११	गम्मन्ति	गम्मन्ती
५३९	७७७	४	पिईअदि	पीईअदि
,,	,,	७	रिम्रत्ति	रिम्रन्ति
,,	,,	८	रिवीअत्ति	रिनीअन्ति
,,	,,	९	पीअत्ति	पीअन्ति
५४०	,,	३	उक्त-म्मत्ति,	उक्त-म्मन्ति,
,,	,,	७	गिदम्मत्ति	गिदम्मन्ति
टिप्पणी	,,	२	गम्मदि	गम्मइ
,,	,,	,,	इम्मदि	इम्मइ

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४२	७७८	२	पुच्छिज्जई	पुच्छिज्जइ
,,	७७९	८	मुचत्ति	मुचन्ति
,,	,,	१३	मुचिन्नदु	मुच्चिज्जदु
५४४	७८१	११	मुज्झइ	मुज्झई
५४५	,,	५	दिज्जइँ	दिज्जहिँ
,,	,,	१४	आरव्यायत्ते	आख्यायन्ते
,,	,,	२२	अप्	आप्
५४६	७८२	११	उभिज्जदु	उब्भिज्जदु
,,	,,	२७	-सज्झइ	-रुज्झइ
५४७	७८३	२६	*कार्यते	*कर्यते
५४८	७८४	४	ज्ञायते	ज्ञायते
,,	७८५	१२	भणिज्जन्ती	भणिज्जन्दी
५४९	,,	५	खद्	खाद्
,,	,,	६	डज्ञिहिसि	डज्झिहिसि
,,	,,	,,	डज्ञिहिइ	डज्झिहिइ
,,	,,	९	उज्झिहिइ	डज्झिहिइ
,,	,,	२०	घोँप्पिहिइ	घेँप्पिहिइ
५५१	७८८	१४	विण्णाविअ	विण्णविअ
५५२	७८९	१८	शौर० में नि	शौर० में
,,	,,	३५	दवाएइ	दवावेइ
,,	,,	,,	अवसर देना-	दिलवाना
५५३	७९०	२२	हारावइ	हारवइ
,,	७९१	१	संठन्ती	संठवन्ती
५५४	,,	१७	दसिन्तिँ	दसिन्ति
,,	७९२	१०	*द्रक्षति	*दक्षति
,,	,,	१८	ताडइ	तमाडइ
,,	,,	२०	भामाडइ	भमाडइ
५५५	७९३	८	जुगुच्छत्ति	जुगुच्छन्ति
,,	,,	१९	सस्सुसइ	सुस्सूसइ
५५६	७९४	२	चकम्मइ	चकम्मइ
		४	जागरत्ति	जागरन्ति
,,	,,	७	जग्गत्ति	जग्गन्ति
,,	,,	११	*भेमिस-मीण,	*भेमिस-मीण,
५५८	७९६	२०	कुस्कुरि	कुरकुरि
,,	,,	२४	खलक्खलइ	खलक्खलेइ
	७	२	थरहरन्ति	थरहरन्ती

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५५९	७९८	२५	सद्दामेमि	सद्दावेमि
,,	,,	२८	सद्दावइस्स	सद्दावइस्सं
	७९९	१०	धातु सधित- संज्ञा	नामधातु
५६२	८००	७	मीण	-मीण
,,	८०१	३	अणासा-यमाण	अणासाय-मीण
,,	,,	४	निकायमीण	निकाममीण
,,	,,	१०	ब्रुवन्ती	ब्रुवन्तो
५६३	,,	११	धुकारि-	थुकारि-
,,	८०२	२	जमामाणीए	जम्पमाणीए
५६४	,,	१०	प्रधान	प्रधान
,,	८०३	१३	*गुत्फ	*गुप्त
५६५	८०४	१३	इत्र	इष
,,	८०५	१४	भंञ्जिअ	भञ्जिअ
,,	,,	३१	खा	खाअ
,,	,,	,,	घा	धाअ
,,	,,	३२	धड	छूढ
,,	,,	,,	उव्वीट	उव्वीढ
,,	,,	३४	-डा	-ड
५६६	८०७	७	*मुल्ल	*भुल्ल
,,	,,	,,	मुल्ल	भुल्ल
,,	,,	११	*उमील्ल	*-मील्ल
,,	,,	,,	णिमिल्ल और	×
,,	,,	,,	ओणिमिल्ल	×
,,	,,	१३	पामुक्क	पमुक्क
,,	८०८	२	पविरक	पविरिक्क
,,	,,	३४	सूद	सूद्
५६८	८१०	८	खुत्त	खुत्त
५७०	८११	३०	णापव्व	णायव्व
५७२	८१३	८	पिब से	पिव-से
५७३	८१५	१७	वेव्भारिउ	वेआरिउं
५७४	,,	४	*से	*धूप् से
५७७	८१८	१२	प्रमाष्ठुं-	प्रमाष्टुं-
,,	,,	,,	दट्ठकाम	दट्ठुकाम
,,	,,	१८	-ट्ठ	-ट्ठु
,,	,,	२५	पुरओकट्टु	पुरओकट्टु

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५७७	८१८	२५	अयहट्टु	अवहट्टु
,,	,,	२६	अभिहट्टु	अभिहट्टु
,,	,,	२७	आहट्टु	आहट्टु
,,	,,	२६	समाहट्टु	समाहट्टु
,,	,,	,,	अप्पाहट्टु	अप्पाहट्टु
,,	,,	,,	नीरट्टु	नीहट्टु
,,	,,	३०	उद्धट्टु	उद्धट्टु
,,	,,	३१	साहट्टु	साहट्टु
,,	८१६	१	सहेत्तु	सहेॅत्तु
,,	,,	२	आहयते	आहयते
,,	,,	४	पमजित्तु	पमज्जित्तु
,,	,,	१७	त का	त् का
,,	,,	,,	द्वित्त	द्वित्व
,,	,,	२२	साहट्टु	साहट्टु
५७८	,,	७	*मोत्तवे,	मोत्तवे,
,,	,,	११	लेण	लेण
,,	८२०	१८	निसीत्तए	निसीइत्तए
५७६	,,	२	-आणहँ	-अणहँ
,,	८२१	१	अण	-अणं
,,	,,	६	अक्खाणउँ	अक्खणउँ
,,	,,	७	भुञ्जाणहँ	भुञ्जणहँ
,,	,,	८	लुहणं	लहण
५८०	,,	३	हत्	हन्
५८२	८२३	२४	मत्ता	मन्ता
,,	,,	२६	उत्तासइन्ता	उत्तासइत्ता
,,	८२४	६	पउणित्ता	पाउणित्ता
,,	,,	२१	गत्ता	गन्ता
,,	,,	२२	कुप्ट्वा	कृष्ट्वा
,,	,,	२७	विन्त वित्ता	विन्न वित्ता
टिप्प०	८२५	६	बद्धन्तित्ता,	बन्धन्तित्ता,
,,	,,	१४	पाउणत्तित्ता	पाउणन्तित्ता
,,	,,	१७	तृ	—तृ
५८३	८२६	२	चिट्ठित्ताणं	चिट्ठिताण
टिप्प०	,,	१	पीवानम्	पीत्वानम्
५८४	,,	२	जो*	जो—*
,,	,,	,,	=*	=—*
,,	,,	३	तुआण	—तुआण
५८४	८२६	१०	तूण	—तूण
,,	,,	,,	ऊण	—ऊण
,,	८२७	१८	भेन्तूण	भेत्तूण
५८५	,,	१	तूर्ण	—तूणं
,,	,,	,,	—ऊपां	,—ऊण
५८६	८२८	११	हासिऊण	हसिऊण
,,	८२६	८	विद्वान्	*विद्वान्
,,	,,	६	*प्रतिपाद्यि-	*प्रतिपद्यि-
,,	,,	१२	सम्मणिऊण	सम्माणेऊण
,,	८३०	२१	तन्तून	गन्तून
,,	,,	,,	कदितून	कधितून
,,	,,	२२	नट्ठून,	दट्ठून,
,,	,,	२७	आगत्तून	आगन्तून
५८७	,,	५	आ	—आ
,,	,,	८	—*त्वानऔर	×
,,	८३१	३३	त्वाणं	—त्वाणं
५८८	८३२	११	गत्वीं	गत्वी
,,	,,	२१	मारेॅप्पि	मरेॅप्पि
५८६	८३३	१६	बलमोडेसण	बलामोडेण
,,	,,	२१	निध्यति	निध्याति
,,	,,	२५	वर्ज्य	—वर्ज्य
,,	,,	२७	राहुओत्थ-रिअ	राहुओॅत्थ-रिअ
५६०	८३५	२५	निसम्म	निसम्म
टिप्प०	८३६	१	त्यज्	त्यज्
५६५	८४१	१६	एमहालिय	एमहालय
,,	८४२	१६	ससिल्ल	सासिल्ल
,,	८४४	१३	मघाण	प्रघाण
,,	,,	१८	अमीत•	आनीत
,,	,,	२३	विकाश्वत्	विकारवत्
,,	,,	३२	चुडल्लअ	चुडुल्लअ
,,	,,	३४	-निम्न-	-यल्ल निम्न-
टिप्प०	८४५	८	माइलिय	मइलिय
५६६	,,	६	प्रा	घा
,,	८४६	१०	ईस्	ईक्ष्
५६७	,,	६	पुंसत्व	पुंस्त्व
,,	८४७	३	वक्तत्व	वक्तृत्व

पा.सं.	पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५६७	८४७	२२	*त्वरितत्तन	*त्वरितत्वन
,,	,,	२५	पन्नाउन्त–	पन्नाउंल–
,,	,,	३३	अणुजी-वत्तन	अणुजी-वित्तण
५६८	८४८	६	आलेॅद्दुअ	आलेॅद्धुअं
,,	,,	१४	*मर्यिक	*मर्यिंक
५६६	,,	१	–त	–ट
,,	८४६	१८	सुवत्तडी	सुअवत्तडी
,,	,,	२१	बुद्धडि	बुद्धडी
,,	,,	२२	मॅपीः	मैपीः
,,	,,	२४	*धूलक-टिका	*धूलटिका
६००	,,	५	रोपइत्त	रोसइत्त
,,	,,	७	कः स्वार्थे	कः स्वार्थे के
,,	,,	८	पुलिंग	पुंलिंग
,,	८५०	१०	युवतिवेरा-	युवतिवेप-
नीट	८५०	८	शंकरास्या-	शंकरस्य-
६०१	,,	५	थायारमन्त	थायारमन्त-
,,	,,	६	थाचारवन्त-	थाचारवन्त्-
,,	,,	११	गुणवन्त-	गुणवन्त्-
,,	,,	१२	पुष्फवन्त-	पुष्फमन्त-
,,	८५१	१	=मूलमन्त-	मूलमन्त
,,	,,	८	धणमण में	धणमण
,,	,,	६	*धण मन्त्–	*धणमन्त्
,,	,,	,,	प्रत्यय में	प्रत्यय का
६०२	,,	८	वेष्टपूरय	वेष्ट, पूरय
,,	,,	१८	रूप आये	रूप भी आये
,,	८५२	१	लिए–थाणाथ	लिए–अप० में -थाणाथ
,,	,,	२	वज्ज	वज्ज-
,,	,,	४	क : स्वार्थे	कः स्वार्थे
६०३	,,	६	–भेॅत्ताओ	–मेॅत्ताओ
,,	,,	१०	–पयसमु	–पयसम्

§ १३४. २) एक व्यंजन य है जो अर्धमागधी और जैनशौरसेनी को छोड़ अन्य प्राकृत बोलियों में अशस्वर 'इ' के बाद छूट जाता है: अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री चेइय=पाली चेतिय=चैत्य (आयार० २,२,१,७,२,३,३,१,२,१०,१७,२,१५,२५, सूय० १०१४, ठाणङ्ग० २६६ समव० १०१; २३३; पण्णहा ० ५२१; विवाह० ५;१६४, ६३४, राय ० १५४ जीय ० ६; उवास०, ओज०; कप्प०; निरया०, तीर्थ० ६,२४, एर्से०, कालका०), अर्धमागधी चियत्त=*तियक्त=त्यक्त, कियाइ=व्याति (§२८०), अर्धमागधी तेणिय=स्तैन्य (§३०७), अर्धमागधी बालिय=बाल्य (विवाह० १३२), अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री वहिया=बाह्यात् (आयार० १,१,७,१; सूय० ६५४, उवास०; ओव०; कप्प०; आव० एर्से० १४,१०), अर्धमागधी वियग्घ=व्याघ्र (पण्हा० २०), शौरसेनी दिट्ठिआ=दिष्ट्या (हेमचंद्र २,१०४, मृच्छ० ६८,२,७४,११; शकु० ५२,१०;१६७,७, विक्रमो० ,१०,२०,२६,१५,४६,४,७५,२ आदि आदि); हिओ=ह्यम् (देशी० ८,६७, पाइय० २११, त्रिवि० १,३,१०५; वे० बाई० ३,२५१), शौरसेनी हिओ (मालवि० ५१,७, प्रियद० १६,१२), यही शब्दों के पूरे वर्गों के साथ हुआ है जैसे उस पूर्वकालिक क्रिया के साथ जिसमें–य लगता है जैसे, अर्धमागधी पासिय, जैनमहाराष्ट्री पे`च्छिय, शौरसेनी पे`क्खिअ, मागधी पे`श्किअ, ढक्की पडिम्मुडिय, ( ५६०, ५६१ ), सभावना सूचक धातु के रूप–या में समाप्त होते हैं। जैसे अर्धमागधी में सिया=स्यात्, हणिया=हन्यात्, भुञ्जे`ज्जा=भुञ्ज्यात् और करे`ज्जा=*कर्यात् (§४५६), ऐसे ही कृदंत विशेषणों में –इज्ज लगता है जैसे करणिज्ज, रमणिज्ज (§६१,५७१), सख्या शब्दों में भी इसका प्रयोग होता है, जैसे महाराष्ट्री में विइअ और विइज्ज, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में विइय, महाराष्ट्री तइअ, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री तइय, शौरसेनी तथा मागधी तदिअ और अपभ्रंश में तइज्जी (§८२,६१ और ४४६)। अशस्वर इ सयुक्ताक्षर र्य में बहुधा आता है। इस प्रकार के शब्दों को वररुचि ३,२०, हेमचंद्र २,१०७ और क्रमदीश्वर २,८१ में आकृतिगण चौर्यसम में शामिल करते हैं। इन सब में र्य से पहले अधिकाश वैयाकरणों के अनुसार दीर्घ स्वर रहता है। इस प्रकार : अर्धमागधी आरिय=आर्य (आयार० १,२,२,३ १,२,५,२ और ३, १,४,२,५, सूय० ५४,२०४,३६३ और ६१४, पण्णव० ५६ और उसके बाद, समव० ६८, विवाह० १२४६, उत्तर० १०६ और ५०६, ओव०), अणारिय (आयार० १,४,२,४, सूय० ५६,६८,२०८,२१०,४३७,४३६; ६२३,६३१ और ६३५, समव० ६८ उत्तर० ५११ और ६६०), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री आयरिय=आचार्य (हेमचंद्र १,७३; आयार० २,१,१०, १,२,३, ३,३ तथा इसके बाद, समव० ८५, ठाणग० १५७,२८६, नन्दी ५१२ और उसके बाद, दसवे० ६३३,४१,६३४,१६ और उसके बाद, एर्से०, कालका०), आइरिय (चंड १,५ पृष्ठ ४०, हेमचंद्र १,७३,२,१०७), शौरसेनी आचारिअ (चैतन्य० ४५,५,=६,१२,१२७,१३), मागधी आचाळिअ (प्रबध० २८,१४,२६,७,५८,१७, ६१,५,६२,१,२,६, चैतन्य० १४६,१७६ और १६, १५०,२,३ और १३), महाराष्ट्री और शौरसेनी चोरिअ=चौर्य (सभी वैयाकरण, हाल चैतन्य० ८१,१), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री भारिया=भार्या (हेमचन्द्र० २,१०७, सूय० १७६, उवास०, कप्प०, एर्से०), अर्धमागधी और जैनशौरसेनी वीरिय=वीर्य (सूय० ३५१,३६०,

ौर ४४२; विवाह० ६७; ६८ और १२५; उवास०; ओव०; कप्प०; पव०
२; ३८१, १९ और ३८६, १); महाराष्ट्री और शौरसेनी वेरूलिअ, अर्धमागधी
ा महाराष्ट्री वेरूलिय=वैडूर्य (§ ८०); अर्धमागधी सूरिय (हेमचन्द्र २,
ूय० ३०६ ; ३१० और ३१२ ; विवाह० ४५२ ; १०४० ; १२७३ ;
; ओव० § १६३ ; कप्प०), असूरिय (सूय० २७३) ; सोरिअ=शौर्य
० ३, २०; हेमचन्द्र २, १०७ ; क्रम० २, ८१)। हेमचन्द्र २, १०७ में
ल्लिखित उदाहरण भी दिये गये हैं, धेरिअ=स्थैर्य, गम्भीरिअ, गहीरिय=
ार्य और ह्रस्व स्वर के बाद सुन्दरिअ=सौन्दर्य, वरिअ=वर्य, बम्हचरिअ=
र्य। अर्धमागधी के अनुसार मोरियपुत्त=मौर्यपुत्र (सम० १२३ और १५१ ;
) जैन महाराष्ट्री मोरियवंस=मौर्यवंश (आव० एर्त्से० ८,१७) मागधी में
अ=मौर्य (मुद्रा० २६८, १)। ह्रस्व स्वर के बाद र्य ध्वनिवाले शब्दों में अ के
में अर्धमागधी में इ आता है। जैसे : तिरियं=तिर्यक् (आयार० १, १,५,२ और
, २, ५, ४ ; सूय० १९१ ; २७३ ; ३०४ ; ३९७ ; ४२८ ; ९१४ और ९२१;
), तिरिया (हेमचन्द्र २, १४३), अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी
य (भग० ; उवास० ; ओव० ; एर्त्से० , पव० ३८०, १२ ; ३८३, ७० और
) ; अर्धमागधी परियाय=पर्याय (विवाग० २७० ; विवाह० २३५ ; ७९६
८४५ ; उवास० ; ओव० ; कप्प०), इसके साथ साथ बहुधा परियाय शब्द
मलता है। अर्धमागधी विप्परियास=विपर्यास (सूय० ४६८ ; ४९७
९४८)।

(§ १३५.२) इस पाराग्राफ में र्य के अतिरिक्त रेफयुक्त संयुक्त व्यजनों के उदा-
दिये जाते हैं यं (§ १३४) : पल्लवदानपत्र में परिहरितवं=परिहर्त्तव्यम्
, ३६) ; महाराष्ट्री किरिआ, अर्धमागधी और जैनशौरसेनी किरिआ=क्रिया
रुचि ३, ६० ; हेमचन्द्र २, १०४ ; गउड ; सूय० ३२२ ; ४१२ ; ४४५ और
० ; भग० ; नायाध० ; ओव० ; पव० ३८१, २१ ; ३८६, ६ और १० ;
त्तगे० ४०३, ३७३ और ३७४) ; अर्धमागधी दरिसण=दर्शन (हेमचन्द्र २,
५ मार्क० पृ० २९ ; सूय० ४३ ; भग० ; ओव०), दरिसि=दर्शिन् (नन्दी०
८, भग० ; उवास० ; कप्प०) दरिसणिज्ज=दर्शनीय (पण्णव० ९६ ; ११८
र १२७ ; उवास०, ओव०, नायाध० ; भग०) ; दरिसइ जैन महाराष्ट्री दरिसेइ,
ावन्ती और दाक्षिणात्या दरिसेदि=दर्शयति (§ ५५४) ; आअरिस (हेमचन्द्र
, १०५ ; मार्क० पृष्ठ २९), अर्धमागधी आदरिस (ओव०)=आदर्श ; महाराष्ट्री
ौर अर्धमागधी फरिस=स्पर्श (वररुचि ३, ६२ ; मार्क० पृष्ठ २९ ; पाइय० २४० ;
ाल० ; रावण० ; आयार० १, १, ७, ४ ; नायाध० ओव०) ; अर्धमागधी फरिसग=
पर्शक (कप्प०), दुप्परिस=दुःस्पर्श (पण्हा० ५०८) ; फरिसइ=स्पर्शयति
हेमचन्द्र ४, १८२) ; मरिसइ=मर्षयति (वररुचि ८, ११ ; हेमचन्द्र ४,
२३५) ; महाराष्ट्री अमरिस=अमर्ष (हेमचन्द्र २, १०५ ; गउड० ; रावण०) ;
महाराष्ट्री और शौरसेनी आमरिस=आमर्ष (अच्युत० ५३ ; उत्तररा० २०, ११),

मागधी **आमलिश** (मल्लिका० १४४, ११); शौरसेनी **परामरिस** (हेमचन्द्र २, १०५ ; मृच्छ० १५, ६ ; ७०, १), **मरिसेदु** मृच्छ० ३, १९ ; मालवि० ८६, ८) **मरिसेहि** (मालवि० ३८, ४ ; ५५, १२) ; मिलाइए शकुन्तला २७, ६ ; ५८, ९ और ११ ; ७३, ६ ; ११५, २) ; महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **वरिस=वर्ष** (हेमचन्द्र २, १०५ ; गउड० ; हाल ; ओव० ; कक्कुक शिलालेख १९ ; आव० एत्सें० १३, २५ ; १४, १२ ; एत्सें० ; रिसभ ; बाल रा० २७६, २ ; वेणी० ६५, ३ ; मल्लिका० २२५, २ ; २५९, ६); अर्धमागधी **वरिसा=वर्षा** (हेमचन्द्र २, १०५, निरया० ८१); **वरिसन=वर्षण** (मार्कण्डेय पृ० २९); शौरसेनी **वरिसि=वर्षिन्** (वेणी ६०, ६ ; कर्पू० ७१, ६), ; अर्धमागधी और अपभ्रंश **वरिसइ** (वररुचि ८, ११ ; हेमचन्द्र ४, २३५ ; दसवे० नि० ६४८, १० ; पिङ्गल १, ६२); अपभ्रंश **वरिसेइ** (विक्रमो० ५५, २); जैनमहाराष्ट्री **वरिसिउं=वर्षयितुम्** (आव० एत्सें० ४०, ४) ; शौरसेनी **वरिसिदुं** (मालवि० ६६, २२) ; **वरिसन्त** – (प्रबन्ध ४, ३ ; चण्डकौ० १६, १८) ; मागधी **वलिश** (वेणी० ३०, ४) ; अर्धमागधी **सरिसव=सर्षप** (पण्णव० ३४ ; ३५ ; नायाध० § ६१ ; विवाह० १४२४ और उसके बाद का पृष्ठ ; १५२६ ; ओव० § ७३); महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी **हरिस = हर्ष** (वररुचि ३, ६२ ; हेमचन्द्र २, १०५ ; क्रमदी० २, ५, ९ ; गउड० ; हाल० ; रावण० ; निरया० ; ओव० ; कप्प० एत्सें० ; कालका० ; रत्ना० ३००, २१ ; मुद्रा० २६३, ६ ; वेणी० ६२, १२ ; ६९, ७) ; अर्धमागधी **लोमहरिस** (पण्णव० ९०) ; शौरसेनी **सहरिस** (मृच्छ० ७१, १९ ; वेणी० ६५, ७ ;) **हरिसइ=हर्षति** (हेमचन्द्र ४, २३५) ; अर्धमागधी **हरिसे=हर्षेत्** (आयार० १, २, ३, २) ; शौरसेनी **हरिसाविद** (बाल० २४२, ६) ; अर्धमागधी **वइर=वज्र** (सूय० ८३४ ; ठाणङ्ग० २६५ ; विवाह० ४९९ ; १३२६ ; उत्तर० ५८९ ; १०४१ ; कप्प०) ; **वइरामय=वज्रमय** (§ ७०)। **सिरी=श्री**, **हिरी=ह्री** के विषय में (वररुचि ३, ६२ ; चण्ड० ३, ३० पृ० ५० ; हेमचन्द्र २, १०४ ; क्रमदी० २, ५७; मार्क० पृ० २९) ; इन शब्दों के विषय में § ९८ और § १९५ देखिए ।

§ १३६—ऐसा एक व्यंजन ल है (वररुचि ३, ७ और ६२ ; हेमचन्द्र २, १०६ ; क्रमदी० २, ५९ और १०४ ; मार्क० पृष्ठ २९) : महाराष्ट्री **किलम्मइ=क्लाम्यति** (हेमचन्द्र २, १०६ ; गउड० ; रावण०); अर्धमागधी **किलामेज्ज=क्लाम्येत्** (आयार० २, १, ७, १), शौरसेनी **किलम्मदि** (शकु० १२३, ८; मालती० १३५, ५; मल्लिका० ६९, ७ ; १२३, ११४; १५९, ८ [पाठ में **किलम्मइ** है]), महाराष्ट्री और अपभ्रंश **किलामिअ=०क्लामित** (गउड० ; रावण० ; विक्रमो० ६०, १६), महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी में **किलन्त=क्लान्त** (सब व्याकरणकार ; गउड० ; रावण० ; विवाह० ११०८ ; राय० २५८ ; कप्प० ; एत्सें० ; उत्तर० १८, १२ [पाठ में **किलिन्त** है]; मृच्छ०, १३, ७ और १० [पाठ में **किलिन्ते** है]; इस शब्द को गोडबोले में भी देखिए) ; जैन-

महाराष्ट्री और शौरसेनी किलमन्त एर्त्सें० ; मालती० ८१, १), शौरसेनी किलम्मिद = *क्लामित (कर्ण० ४७, १२; [पाठ में किलिम्मिद है]), अदिकिलम्मिद (मालती० २०६, ४); जैनमहाराष्ट्री किलिस्सइ=क्लिश्यति (एर्त्सें०), अर्धमागधी संकिलिस्सइ = संक्लिश्यति (ओव०), शौरसेनी अदिकिलिस्सदि (मालवि० ७, १७), किलिस्सन्त (रत्ना० ३०४, ३०), जैनमहाराष्ट्री किलिट्ठ (सब व्याकरणकार; एर्त्सें०), अर्धमागधी संकिलिट्ठ (ओव०), असंकिलिट्ठ (दसवे० ६४२, ४१), शौरसेनी किलेस=क्लेश (सब व्याकरणकार; मृच्छ० ६८, ८ और १०; ललित० ५६२, २२); महाराष्ट्री और शौरसेनी किलिण्ण=क्लिन्न (हेमचन्द्र १, १४५; २, १०६; गउड०; मुकुन्द० १५, १), अपभ्रंश किलिन्नउ (हेमचन्द्र० ४, ३२९), इसके साथ साथ किण्णउ भी मिलता है, मिलाइए (§ ५९); अर्धमागधी किलीव=क्लीव (आयार० २, १, ३, २); अर्धमागधी गिलाइ, विगिलाइ= ग्लायति, विग्लायति (हेमचन्द्र २, १०६; विवाह० १७०), गिलाण (हेमचन्द्र २,१०६; सूय० २०० और २१५; ओव०; कप्प०); अर्धमागधी मिलाइ (हेमचन्द्र २, १०६; ४, १८, आयार० १,१, ५, ६); महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी मिलाण=म्लान (सब व्याकरणकार; एर्त्सें०; गउड०; हाल०; मृच्छ० २, १६; विक्रमो० २६, १३; चैतन्य० ७३, ९), शौरसेनी मिलाअन्त (मालती० २४९, ४), मिलाअमाण (विक्रमो० ५१, १०; मालवि० ३०, ७), शौरसेनी पम्मलाअदि (मालती० १२०, २) के स्थान में मद्रास के संस्करण के १०५, ३ और बम्बई के १८९२ के संस्करण के पृष्ठ ९२, २ के अनुसार परिमिलाअदि (§ ४७९); मिलिच्छ, अर्धमागधी मिलक्खु और इसके साथ साथ अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश मेच्छ, अर्धमागधी मिच्छ=म्लेच्छ (§ ८४ और § १०५); सिलिम्ह=श्लेष्मन् (हेमचन्द्र २, १०६); अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री सिलिट्ठ=श्लिष्ट (सब व्याकरणकार; ओव०; कप्प०; आव० एर्त्सें० ३८, १० और १२), असिलिट्ठ (आव० एर्त्सें० ३८,८); शौरसेनी सुसिलिट्ठ (मृच्छ० ७१, १३; मालती० २३४, ३), दुस्सिलिट्ठ (महावी० २३, १९), अर्धमागधी सिलेस=श्लेष (हेमचन्द्र २, १०६; विवाह० ६५८); अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री सिलोग=श्लोक (सूय० ३७०; ४९७ और ९३८; अणुयोग० ५५७; दसवे० ६३७, ३१ और ४४; ६३८, ८; ६४१, ७; ओव०; एर्त्सें०) अर्धमागधी सिलोय (सूय० ४०५; ४१७ और ५०६), शौरसेनी सिलोअ (हेमचन्द्र २, १०६; ललित० ५५४, १३; मुद्रा० १६२, ६; विद्ध० ११७, १३; कर्ण० ३०, ३ और ५); सुइल (हेमचन्द्र २, १०६), अर्धमागधी सुक्किल=शुक्ल (हेमचन्द्र २, १०६ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]; ठाणङ्ग० ५६९; जीवा० २७; ३३; २२४; ३५०; ४५७; ४६४; ४८२; ५५४; ९२८ और ९३८; अणुओग०; २६७; उत्तर० १०२१; १०२४ और १०४१; ओव०; कप्प०); जैनमहाराष्ट्री में सुक्किलिय (आव० एर्त्सें० ७, १६) मिलता है।

१. भारतीय संस्करण बहुधा सुकिल्ल लिखते हैं (उदाहरणार्थ, ठाणङ्ग० ३३९; ३४५ ; ३४८ ; ३४९ ; ४०६ और ५६८ ; विवाह० ४३६ ; ५३२ ; ५३५; ५४४ ; १०३३ ; १३२२ ; १३२३ ; १४२१ ; १४५१ और १४५६; पण्णव० ८ ; ११ और उसके बाद के पृष्ठ ; ४६ ; २४१ ; ३७९ ; ३८० ; ४८१ और ५२५ ; पण्हा० १६७ ; समव० ६४ ; राय० ५० ; ५५ ; १०४ ; ११० ; १२० (सुकिल्ल) आदि, आदि। कभी-कभी ये दोनों रूप एक साथ ही पाये जाते हैं, जैसे ठाणङ्ग० ५६८ में सुकिल रूप है, किन्तु ५६९ में सुक्किल रूप दिया गया है, अणुओग० २६७ में सुक्किल रूप है; किन्तु २६९ में सुकल्लिल्ल रूप है। हेमचन्द्र २, १०६ के अनुसार इसका शुद्ध रूप सुक्किल होना चाहिए और यही रूप § १९५ के अनुसार भी होना चाहिए।

§ १३७—अंशस्वर इ, अ के स्थान पर जो व, म्ल् से विकसित हुआ है (§ २९५) उसके बाद भी आता है : अम्बिर = आम्र (हेमचन्द्र २, ५६; देशी० १,१५); महाराष्ट्री तम्बिर = ताम्र (हेमचन्द्र २, ५६; हाल० ५८९ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए]); महाराष्ट्री आअम्बिर = आताम्र (गउड०; हाल०); तम्बिर (= भुना गेहूँ; देशी० ५, ५); अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री अम्बिल = अम्ल (हेमचन्द्र २,१०६ ; आयार० १,५,६,४ ; २,१,७,७ ; २,१,११,१ ; ठाणङ्ग० २० ; पण्णव० ८ ; १० ; १२ और उसके बाद के पृष्ठ ; विवाह० १४७ और ५३२ ; जीवा० २२४ ; उत्तर० १०२१ ; दसवे० नि० ६५६, २९ ; कप्प० ; आव० एर्से० २४,१८); अर्धमागधी अणम्बिल (आयार० २,१,७,७), अच्चम्बिल (दसवे० ६२१,१४); अम्बिलिआ (= इमली; पाइय० १४५); अर्धमागधी आयम्बिल = आचाम्ल[1] (विवाह० २२३ नायाध० १२९२; ओव०; द्वार० ४९८,२), आयम्बिलय = आचाम्लक (ठाणङ्ग० ३५२; ओव० [पाठ में आयम्बिलिए])। मागधी तिक्ताविलकेण (मृच्छ० १६३,१९), के स्थान में गोडबोले के संस्करण के पृष्ठ ४४२ के अनुसार तिक्तम्बिलकेण पढ़ा जाना चाहिए।

१. टीकाकार इस शब्द का इसी प्रकार का अर्थ करते हैं। इस शब्द के संबंध में लौयमान द्वारा संपादित औपपातिक सूत्र में आयम्बिलिय शब्द की जो व्युत्पत्ति दी गई है, वह असंभव-कल्पनामात्र है तथा वेबर ने इण्डिशे स्टूडिएन १६,३०५ के नोट संख्या १२ में जो लिखा है, वह भी काल्पनिक समझा जाना चाहिए।

§ १३८—शौरसेनी और मागधी में ई अंशस्वर कर्मवाच्य में ईअ—रूपमें पाया जाता है, उदाहरणार्थ : पढीअदि = पाली० पठीयते = पठ्यते, इसके विपरीत महाराष्ट्री अर्धमागधी जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी में पढिज्जइ रूप पाया जाता है, यह पालीरूप पठीयते के समान है। § ५३५ और उसके बाद के पारा कृदन्त और विशेषण—अणिय प्रत्यय लगाकर बनाते हैं, जैसे : शौरसेनी करणीअ, मागधी कलणीअ = करणीय, शौरसेनी में रमणीअ तथा मागधी का लमणीअ =

रमणीय ; इसके विपरीत महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैनशौरसेनी में
करणिज्ज तथा रमणिज्ज=*करण्य और *रमण्य है (§ ९१ ; १२४ तथा
५७१), महाराष्ट्री तथा अर्धमागधी में इनके अन्त में—मीण प्रत्यय लगता है,
जो संस्कृत प्रत्यय—मान के समान है। इस प्रकार अर्धमागधी में आगममीण
रूप मिलता है (§ ११० और § ५६२)। महाराष्ट्री और शौरसेनी में यह अद्धस्वर
कभी इ कभी ई हो जाता है, उदाहरणार्थ : शौरसेनी अच्छरिअ, जैनमहाराष्ट्री
अच्छरिअ=आश्चर्य (वररुचि १२, ३०, शौरसेनी के लिए ; हेमचन्द्र १, ५८;
२, ६७ मार्क० पृष्ठ २२ ; गउड० ; मृच्छ० १७२, ६ ; मालवि० ६९, २; ८५, ८ ;
विक्रमो० ९, १२ ; प्रबन्ध० ४, १ ; मालती० २५, १ ; ललित० ५६२, १९ आदि-
आदि[1] ; पाइअ० १६५ ; कालका०) ; मागधी मे अश्चलिअ (ललित० ५६५,
११ [पाठ में अश्चलिय है] ; ५६६, ३ ; वेणी० ३४, ६), शौरसेनी में अच्छरीय
भी मिलता है (हेमचन्द्र; मृच्छ० ७३, ८ ; शकु० १४, ४; १५७, ५; रत्ना० २९६,
२५; ३००, ७ और ११; ३०६, १; ३१२, २३; ३२२, २३ आदि-आदि) ; महाराष्ट्री,
अर्धमागधी में अच्छेर भी होता है (भामह १, ५; ३, १८ और ४० ; हेमचन्द्र १,
५८, २, ६७; क्रमदी० १, ४ और २, ७९ ; मार्क० पृष्ठ २२ ; हाल ; पण्हा० ३८०
[पाठ में अच्छर दिया गया है]), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री मे अच्छेरय पाया
जाता है (नायाध० ७७८ और उसके बाद तथा १३७६; कप्प०; आव० एर्त्से० २९,
२३; एर्त्से०; कालका०), अर्धमागधी में अच्छेरग है (पण्हा० २८८), हेमचन्द्र के
अनुसार अच्छरिज्ज भी होता है; यह रूप बताता है कि कभी कहीं आश्चर्य रूप भी
चलता होगा और अच्छअर भी मिलता है, जो कहाँ से कैसे आया, कुछ पता नहीं
चलता। महाराष्ट्री विलोल (गउड० ५७९; [यहाँ यही पाठ पढा जाना चाहिए])
=प्लोष, पिलुट्ठ=प्लुष्ट के (हेमचन्द्र २, १०६) साथ एक रूप पीलुट्ठ भी
पाया जाता है (देशी० ६, ५१)। महाराष्ट्री और शौरसेनी मे जीआ पाया जाता है
(वररुचि ३, ६६; हेमचन्द्र २, ११५; क्रमदी० २, ६१; मार्क० पृष्ठ ३०); यह शब्द
ज्या से नहीं निकला, बल्कि जीवा का प्राकृत रूप है। पल्लवदानपत्र में आपिट्टियं=
आपित्याम् (६, ३७) के स्थान पर आपिट्टीयं खुदा मिलता है, शिलालेखों में
बहुधा इ के स्थानपर ई पाई जाती है; यहाँ भी ऐसा ही हुआ है।

1. नाटकों के बहुत-से संस्करणों में अचरिय अथवा अचरिअ पाया
जाता है, किन्तु यह रूप अशुद्ध है। § ३०१ से तुलना कीजिए।

§ १३९—संयुक्ताक्षरों में यदि एक अक्षर ओष्ठ्य अथवा व हो, तो स्वरभक्ति में
बहुधा उ आ जाता है : महाराष्ट्री उद्धुमाइ = *उद्धुमाति (वररुचि ८, ३२; हेमचन्द्र
४, ८), उद्धुमाअ=उद्ध्मात (गउड०; रावण०) उद्धुमाइअ (रावण०) रूप हैं।
खुलह=कुल्फ (देशी० २, ७५; पाइअ० २५०; § २०६ भी मिलाइए); अर्धमागधी में
छउम=छद्मन् (हेमचन्द्र २, ११२), यह नियम विशेष करके छउमत्थ = छद्मस्थ
में देखा जाता है (आयार० १, ८, ४, १५; ठाणङ्ग० ५०; ५१ और १८८; विवाह०
७८ और ८०; उत्तर० ११६; ८०५ और ८१२; ओव०; कप्प०); तुवरइ =त्वरते

था है (वररुचि ८, ४, हेमचन्द्र ४, १७०), महाराष्ट्री और शौरसेनी में तुवर = त्वरस्व है (हाल, शकु० ७७, ३ और ७९, ६), शौरसेनी में तुवरदि है (मृच्छ० ९७, ९, विक्रमो० ९, १२), त्वरदु भी पाया जाता है (मृच्छ० १६०, १४, शकु० ६४, ११, रत्ना० ३१३, ७ तुअरदु भी देखने में आता है (मालवि० ३९, ११), तुवरम्ह भी है (रत्ना० २९३, ३१), तुवरन्त भी देखने में आता है (मालती० ११९, ४,), तुवरावेदि आया है (मालती० २४, ४), तुअरावेदि भी मिलता है (मालवि० ३३, ७, ३९, १३), तुअरावेदु भी देखा जाता है (मालवि० २७, १९), तुवराअन्ति का भी प्रचलन या (मालती० ११४, ५), मागधी में तुअलदु चलता था, (मृच्छ० १७०, ५), तुवलेदि भी है (मृच्छ० १६५, २४), अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में दुवार = द्वार (हेमचन्द्र २, ११२, मार्क० पृष्ठ ३१, पाइअ० २३५, आयार० २, १, ५, ४ और उसके बाद के पृष्ठ, विवाह० १२६४, नायाध०, आव० एर्से० २५, ३४, एर्से०, कालका०, मालती० २३८, ६, मुद्रा० ४३, ८ [इस पुस्तकम जो दार शब्द आया है, वहाँ भी यही रूप पढ़ा जाना चाहिए], रत्ना० ३०३, २, ३०९, १०, ३१२, २२, मालवि० २३, ६, ६२, १८, ६५, ७, बाल० ३५, ६, प्रियद० ३७, ९, ३८, ७), दुआर भी देखने में आता है (मृच्छ० ३९, ३, ५०, २३, ७०, ९, ७२, १३, ८१, २५, शकु० ११५, ५, विद्ध० ७८, ९, ८३, ७), दुआरअ भी पाया जाता है (मृच्छ० ६, ६, ४४, २५, ५१, १०, ६८, २१, और ९९, १८, महावी० १००, ६), मागधी में दुवाल रूप पाया जाता है (प्रबोध० ४६, १२), दुआल भी है (मृच्छ० ४३, ११, चैतन्य० १५०, १), दुआलअ भी चलता था (मृच्छ० ४५, २, ७९, १७), अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में दुवालस = द्वादश है (§ २४४), महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी में दुवे, अपभ्रंश दुइ = द्वे हैं (§ ४३७), महाराष्ट्री, अर्ध मागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी पउम = पाली पदुम, संस्कृत पद्म (वररुचि ३, ६५, हेमचन्द्र २, ११२, क्रमदी० २, ६२, मार्क० पृष्ठ ३१, अच्युत० ३६, ४४, ९० और ९४ [पाठ में पदुम है], ठाणङ्ग० ७५ और उसके बाद, उवास०, ओव०, कप्प०, एर्से०, कालका०, प्रियद० १३, १६ [पाठ में पदुम है]), शौरसेनी में पउमराअ = पद्मराग (मृच्छ० ७१, १), अर्धमागधी और शौरसेनी में पउमिणी = पद्मिनी (कप्प०, मृच्छ० ७७, १३), अर्धमागधी में पउमावई = पद्मावती (निरया०), शौरसेनी में पदुमावदी रूप मिलता है (प्रियद० २४, ८), शौरसेनी में पुरुव = पूर्व है (मृच्छ० ३९, २३, ८९, ४, नागा० ४९, १०), अर्धमागधी में रिउव्वेय = ऋग्वेद (ठाणङ्ग० १६६, विवाह० १४९ और ७८७, निरया० ४४, कप्प०), महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री मं सुमरइ शौरसेनी रूप सुमरदि और मागधी शुमलदि = स्मरति है (§ ४७८), अर्धमागधी रूप सुवे (चण्ड० ३, ३०, पृष्ठ ५०, हेमचन्द्र २, ११४), सुए (आयार० २, ५, १, १०, उत्तर० १०३, दसवे० ६३९, १५), शौरसेनी सुवो (मुकुन्द० १४, १८) = श्व । अंतस्वर उ सर्वत्र ही स्त्रीलिंग के विशेषण में — उ ही रहता है (वररुचि ३, ६५, चण्ड० ३, ३० पृष्ठ

५०; हेमचन्द्र २, ११३; क्रमदी० २, ६२; मार्क० पृष्ठ ३० और उसके बाद), जैसे,
गुरुवि (सब व्याकरणकार) = **गुर्वी**, **गरुइ** रूप **गरुअ** = **गुरुक** से निकला है
(§ १२३), इस हिसाब से हेमचन्द्र २, ११३ की—**गुरुवी**; **तणुवी** = **तन्वी**
(सब व्याकरणकार), महाराष्ट्री रूप **तणुई** (हाल०) **लहुई** = **लघ्वी** है (सब
व्याकरणकार), महाराष्ट्री और शौरसेनी में **लहुई** रूप का प्रचलन है (गउड०;
मृच्छ० ७३, ११), **मउवी** = **मृद्वी** है (सब व्याकरणकार), महाराष्ट्री में **मउई**
चलता है (गउड०); **बहुवी** = **बह्वी** है (सब व्याकरणकार); **साहुई**
= **साध्वी** (मार्क०) । **पृथु** का स्त्रीलिंग का रूप **पुहुवी** है, यह उसी दशा में
होता है, जब इसका प्रयोग विशेषण के स्थान पर किया जाता है (हेमचन्द्र १,
१३१; २, ११३), इसके विपरीत महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश में
पुढवी और **पुहई**, अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री, जैनशौरसेनी और शौरसेनी में **पुढवी**
का प्रयोग पृथ्वी के अर्थ में होता है (§ ५१ और ११५)। इसी प्रकार पूर्वकालिक क्रिया
के प्रयोग का खुलासा होता है, जैसे शौरसेनी, मागधी और ढक्की **कदुअ** = **कृत्वा**
गदुअ = **गत्वा**, ये रूप ***कदुवा**=***गदुवा** (§ ५८१), होकर बने हैं और जो
पूर्वकालिक रूप - **तुअण** और **तुआण** - में समाप्त होते हैं, जैसे **काउआणं**,
काउआण ये बराबर हैं = **कर्त्वानम्** के (§ ५८४); जब संयुक्ताक्षर से पहले **उ**
अथवा **ओ** से आरम्भ होनेवाला शब्द आता है, तब अंशस्वर **उ** आ जाता है । इस
प्रकार, **मुरुक्ख** = **मूर्ख** (§ १३१, हेमचन्द्र २, ११२), मार्कण्डेय के अनुसार यह
प्रयोग प्राच्या भाषा का है, जो विदूषक द्वारा बोली जानी चाहिए, प्रसन्नराघव ४८, १
में शौरसेनी में यह प्रयोग मिलता है । [पाठ में **मुरुख** रूप मिलता है], जब कि और
सब स्थानों में इसके लिए **मुक्ख** रूप काम में लाया गया है, (उदाहरणार्थ : शौरसेनी में
मृच्छ० ५२, ११ और १५, ८१, ४ कर्पूर० १३, ३, प्रियद० १८, ५ और १४, १८, १
और ८; चैतन्य० ८२, ७, मागधी : मृच्छ० ८१, १७ और १९ ; प्रबन्ध० ५०, १३),
पैशाची में **सुनुसा** = **स्नुषा** (हेमचन्द्र ४, ३१४), इस पर शेष प्राकृत भाषाओं के
सुण्हा और **सोण्हा** आधारित हैं (§ १४८), **सुरुग्घ** = **स्रुघ्न** (हेमचन्द्र २,
११३), अर्धमागधी **दुरुहइ** = ***उद्रुहति** है (§ ११८, १४१ और ४८२) ।

§ १४० अ और इ के बीच में अंशस्वर कोई नियम नहीं मानता, बल्कि
डाँवाडोल रहता है । उदाहरणार्थ : **कसण**, **कसिण**=**कृष्ण** (§ ५२); महाराष्ट्री
और शौरसेनी में **वरहि** - पाया जाता है, अर्धमागधी और शौरसेनी में यह **वरहिण**
हो जाता है (§ ४०६) = **बर्हिन्**, इसके साथ साथ **वरिह** = **बर्ह** भी मिलता है
(हेमचन्द्र २, १०४), अपभ्रंश में **बरिहिण**=**बर्हिन्** मिलता है (हेमचन्द्र ४, ४२२,
८); **सणेह** = **स्नेह** (हेमचन्द्र २, १०२), अपभ्रंश **ससणेही** रूप देखने में
आता है (हेमचन्द्र ४, ३६७, ५), **सणिद्ध**=**स्निग्ध** है (हेमचन्द्र २, १०९),
किन्तु **स्नेह** का रूप महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में **सिणेह**=**स्नेह** है । वररुचि
और हेमचन्द्र इसका उल्लेख नहीं करते, यद्यपि नाटकों में केवल यही एक रूप देखने
में आता है और अन्यत्र भी यह बहुधा पाया जाता है (क्रमदी० २, ५८ ; मार्क०

पृष्ठ २६, गउड०, हाल, रावण०, एत्सें०, मृच्छ० २७, १७, २८, १०, शकु० ९, १४ ; ५६, १५, ९०, १२, १३२, १, मालवि० ३९, ६, मालती० ९४, ६, उत्तर० ६८, ८, रत्ना० ३२७, १३), शौरसेनी में णिस्सिणेह आया है मृच्छ० २५, २१), महाराष्ट्री अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री और शौरसेनी में सिणिद्ध= स्निग्ध (हेमचन्द्र २, १०९, गउड०, ओव०, कप्प०, एत्सें०, मृच्छ० २, २२, ५७, १० [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए], ५९, २४, ७२, ७, शकु० ५३, ८, ८४, ११, १३२, ११, मालवि० ५, १०, ६०, ६), महाराष्ट्री में सिणिद्ध मिलता है (विक्रमो० ५१, ७, ५३, ५), अर्धमागधी म ससिणिद्ध=सस्निग्ध है (आयार० २, १, ६, ७, ४९ [यहाँ पाठ में ससणिद्ध है], कप्प०)। इन रूपों के साथ साथ महाराष्ट्री अपभ्रंश में णेह पाया जाता है तथा अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में नेह, अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री रूप निद्ध तथा महाराष्ट्री णिद्ध = स्निग्ध (§ ३१३)। अ और उ के बीच म पुहवी, पुहई, पुढवी और पुहुवी में अंशस्वर स्थिर नहीं है (§ १३९), अर्धमागधी सुहुम (§ १३१) और अर्धमागधी सुहम (हेमचन्द्र २, १०१, सूय० १७४) रूप मिलते हैं, शौरसेनी में सक्कणोमि और सक्कुणोमि = शक्नोमि है (§ ५०५)। अर्ह्, अर्ह और अर्हन्त में (हेमचन्द्र २, १०४ और १११) नाना प्राकृत भाषाओं में कभी अ कभी इ और कभी उ देखने में आता है अर्धमागधी अरह (सूय० ३२१, समवय० १११, उवास०, ओव०, कप्प), अर्धमागधी और जैन शौरसेनी में अर्हन्त—पाया जाता है (सूय० ३२२, ठाणङ्ग० २८८, विवाह० १ और १२३५, ओव०, कप्प०, पन्न० ३६९, ३ और ४ [यहाँ पाठ मे अरिहन्त शब्द मिलता है] ३८३, ४४, ३८५, ६३), अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और महाराष्ट्री में अरिहइ भी आया है (आयार० १, ३, २, २, सूय० १७८; दसवे०६३१, ८, एत्सें०, शकु० १२०, ६), शौरसेनी मे अरिहदि पाया जाता है (शकु०२४, १२, ५७, ८ ५८, १३, ७३,८, रत्ना० ३२३, १), मागधी में अलिहदि (शकु० ११६, १), शौरसेनी में अरिह = अर्ह है (वररुचि ३, ६२, मुकुन्द० १७, ४), अरिहा = अर्हा (क्रमदी० २, ५९), अर्धमागधी और जैनमहाराष्ट्री में महरिह= महार्ह (विवाग० १२८, राय० १७४, ओव०, एत्सें०), जैनमहाराष्ट्री में जहारिह = यथार्ह है (एत्सें०, कालका०), शौरसेनी में महारिह रूप मिलता है (शकु० ११७, ७), मागधी में महालिह (शकु० ११७, ५), मागधी में अलिहन्त—भी देखा जाता है (प्रबंध० ४६, ११, ५१, १२, ५२, ७, ५४, ६, ५८, ७ ५९, ९, ६०, १३, मुद्रा० १८३, २ [यहाँ यही पाठ पढ़ा जाना चाहिए] लटक० १२, १३, १४, १९, अमृत० ६६, २), जैनमहाराष्ट्री में अरुह मिलता है (हेमचन्द्र० २, १११ द्वार० ५०२, २७, इस ग्रंथ में इसके साथ-साथ अर्हन्ताण तथा अरिहन्ताण रूप भी पाये जाते हैं)। शकुन्तला के देवनागरी और द्राविडी संस्करणों में (बोएटलिङ्क के संस्करण में १७, ७ और ८ देखिए) और मालविकाग्निमित्र (३३, १, ६५, २२) तथा द्राविडी हस्तलिपियों पर आधारित प्रियदर्शिका के ३४, २० में शौरसेनी में अरुहदि शब्द का प्रयोग किया गया है, जो अवश्य ही अशुद्ध है।—अरहन्त—रूप भी मिलता है (हेमचन्द्र २, १११)।

प्राकृत शब्दों की वर्णक्रम-सूची

(शब्दों के साथ दिये गये अंक पाराग्राफों के हैं।)

अ

अ १८४
अइमुक २४६
अइमुतअ २४६
अइराहा ३५४
अईइ ४९३
अउण, अउणा १२८; ४४४
अकरिस्स ५१६
अकस्मात् ३१४
अकस्माद्दण्ड ३१४
अकसि, अकासी ५१६
अक्खन्तो ८८; ४९१; ४९९
अगड २३१
अग्गि १४६
अग्गालिअ १०२
अगुअ १०२
अच्छइ ५७; ४८०
अच्छरा ३२८; ४१०
अच्छरिअ, अच्छरिय, अच्छरीअ १३८७
अच्छेरहिं ३२८; ३७६; ४१०
अच्छिय ५६५
अच्छिवडण ९
अच्छे ५१६
अच्छेर १३८
अजम २६१
अज्जुआ १०५
अज्जू १०५
अटइ १९८
अट्ठ २९०
अट्ठि २०८
अड १४९
अढ ६७; ४४२; ४४९
अण ७७
अणणुवीइ ५९३
अणमिलिअ ७७
अणरामअ ७७
अणवदग्ग २५१
अणवयग्ग २५१
अणालत्त ५६४
अणिउन्तअ २४६; २५१
अणिट्ठुभय ११९
अणुवीइ ५९३
अणुव्वस १९६
अणुसेटि ६६
अणेलिस १२०
अण्णउत्थिय ५८
अण्णण्ण १३०
अण्णत्त २९३
अण्णत्तो १९७
अहग २३१
अतेण ३०७
अत्त = आत्मन् २७७; ४०१
अत्तो १९७
अत्थ=अत्र २९३
अत्थ=अर्थ २९०
अत्थग्घ ८८
अत्थमवम् २९३
अत्थमइ ५५८
अत्थमण १४९; ५५८
अत्थाह ८८
अत्थि=अस्ति १४५
अत्थि (पादपूर्ति के लिए) ४१७
अदक्खु ५१६
अदस् ४३२
अदिमोत्तअ २४६

अट्ठु १५५
अद्क्खु ५१६
अद्दाअ, अद्दाग, अद्दाय १९६ ; ५५४
अद्दुट्ठ २९० ; ४५०
अध ३४५
अन ४३०
अनमतग्ग २५१
अन्त ३४३
अन्त ३४२
अन्ताओ ३४२
अन्तावेइ ३४३
अन्तेउर ३४४
अन्तेउरिआ ३४४
अन्तेण ३४२
अन्तो अन्तेउर ३४४
अन्तोउवरिं ३४३.
अन्तोवास २३०
अन्तोहिंतो ३४२ ; ३६५
अन्तोहुत्त ३४३
अन्धार १६७
अन्नेसी ५१६
अपुणा ३४३
अप्पु १७४
अप्प = आत्मन् २७७ ; ४०१
अप्पतरो ४१४
अप्पयरो ४१४
अप्पाहइ २८६
अप्पिणइ ५५७
अप्पुल्ल ५९५
अप्पेगइय १७४
अप्पेगे १७४
अप्सरस् (इस शब्द की रूपावली) ४१०
अब्बवी ५१५
अब्भङ्ग २३४
अब्भोङ्गय, अब्भङ्गिद २३४
अब्भङ्गेइ २३४
अम्भे ५१६
अभू ५१६
अमोॅच्च ५८७
अमिलाय ५६८
अम्ब = आम्ल २९५
अम्ब = आम्र २९५
अम्बणु २९५
अम्बिर १३७; २९५
अम्बिल १३७; २९५
अम्मयाओ ३६६ ब
अम्मो ३६६ ब
अम्हार ४३४
अय्युआ १०५
अलचपुर ३५४
अलद्धुय ५७७
अलसी २४४
अलाहि ३६५
अल्ल १११; २९४
अवअज्झइ ३२६
अवज्झाअ २८; १२३
अवरि १२३
अवरिल्ल १२३
अवरोॅप्पर १९५; ३११
अवह २१२
अवहोआस १२३
अवि १४३
अस् (=होना) १४५; ४९८
असाकम् ३१४
अह = अधः ३४५
अहा ३३५
अहित्ता ५८२
अहिमज्जु २८३
अहिमण्णु २८३
अहिवण्णु २५१
अहे = अधः ३४५
अहेवि ५१६

अहो = अधः ३४५
अहो य राओ ३८६; ४१३

आ

आअ = आगत १६७
आअम्ब २९५
आअम्बिर १३७
आइक्खइ ४९२
आइत्तु ५७७
आइरिय १५१
आउ = आपस् ३५५
आउटण् २३२
आउसन्तारो ३९०
आउसन्तो ३९६
आऊ तेऊ वाऊ ३५५
आओ = आपस् ३५५
आचक्खदि ३२४
आउहइ २२२
आढत्त २२३, २८६, ५६५
आढप्पइ २२३, २८६
आढवइ २२३, २८६
आढवीअइ २८६
आढाइ २२३, ५००
आढिअ २२३
आणमणी २४८
आणाल ३५४
आणिल्लिय ५९५
आत्मन् (इसकी रूपावली) ४०१
आद ८८, २७७, ४०१
आदु ११५
आप् (इसकी रूपावली) ५०४
आबुड्ड ५६६
आमेल १२२
आमोद २३८
आय ८८, २७७; ४०१
आयम्बिल १३७
आर १६५
–आर १६७
आलिद्ध ३०३
आलेॅड्डुअ ३०३; ५७७
आलेॅद्धुर् ३०३
आव ३३५
आवइ २५४
आवज्ज १३०; २४६
आवन्ती ३३५
आवेड १२२
आवेढ ३०४
आवेधण ३०४
आसघ २६७
आसघइ २६७
आसघा २६७
आसि, आसी=आसीत् (सभी पुरुषों में एकवचन और बहुवचन में काम में लाया जाता है।) ५१५
आसिअओ २८
अहसु ५१८
आहित्थ ३०८
आहु ५१८
आहेवच ७७

इ

इ (रूपावली) ४९३
इ=इति ९३
इअ, इय ११६
इइ ११६
इ १८४
–इ सु ५१६
इ गाल १०२
इ गाली १०२
इच्च् १७४
इड्गा ३०४
इटा ३०४
इण् १७३
इचो १९७

इत्थिया १४७
इत्थी १४७
इदम् ४२९
इदाणिं १४४
इध २६६
इन्दीव १६८
इन्दीवत्त १६८
इयाणि १४७
इर १८४
इव १४३
इसि १०२
इहरा २१२; २५४

ई

ईस १०२
ईसत्थ ११७, १४८
ईसासट्ठाण ११७
ईसि १०२
ईसिं १०२
ईसिय १०२
ईसीस १०२
ईसीसि १०२

उ

उअह ४७१
उक्केर १०७
उक्कोस ११२
उक्कोसेण ११२
उक्खल ६६; १४८
उक्खा १९४
उक्खुडिअ ५६८
उच्छिल्ल २९४
उच्छु ११७
उच्छूढ ६६
उज्जोवेमाण २४६
उज्झ ३३५; ४२०
उज्झाअ १५५
उट्ट ३०४
उट्ठाए ५९३
उट्ठुभइ, उट्ठुभन्ति १२०
उड्डुस २२२
उड्डास २२२
उड्ड ३००
उण १८४; ३४२
उणा ३४२
उणाइ ३४२
उणो ३४२
उत्तूह ५८
उत्थल्लइ ३२७ अ
उत्थल्लिअ ३२७ अ
उदाहु ५१८
उदीन १६५
उद्ध ८३, ३००
उप्पिं १२३; १४८
उब्भ = ऊर्ध्व ३००
उब्भ = * तुभ्य ३३५, ४२०
उभओ १२३
उभओ पास, उभओ पासिं १२३
उम्बर १६५
उम्मिल ५६६
उम्मुग्गा १०४
उम्ह ३३५; ४२०
उरअड ३०७
उराल २४५
उलूक १११
उवक्खडाविंइ ५५९
उवक्खडेइ ५५९
उवह ४७१
उव्विण्ण २७६
उव्विवइ २३६
उव्वीध १२६
उव्वुण्ण २७६
उव्वुत्थ ५६४
उव्वेल्लिर १०७

उमु ११७

ऊ

ऊआ ३३५
ऊसढ ६७
ऊसलइ ३२७ अ
ऊसलिअ ३२७ अ
ऊसव ३२७ अ
ऊसार १११
ऊसुअ ३२७ अ
ऊहट्ठ १५५
ऊहसिअ १५५

ए

एआ ४३५
एक्क ५९५
एक्कल्ल ५९५
ऍक ४३५
ऍक्कल्ल, एक्कलय ५९५
ऍकसिम्बली १०९
ऍकार ३०६
एग ४३५
ऍच्छणा ५७९
ऍज्जन्ति ५६०
ऍज्जमाण ५६१
एत ४२६
ऍत्तिअ १५३
ऍत्थ १०७
ऍद्दह १२२
ऍद्दहमेॅत्त २६२
एन ४३१
एम् १४९
एमहालय, एमहालिआ १४९; ५९५
एमहिड्डिय १४९
एमाइ १४९
एमाण ५६१
एमेव १४९
एरावण २४६
एरिस १२१; २४५
एवइक्खुत्त १४९
एवइ १४९
एवड्ड, एवड्डग १४९
एसुहुम १४९
एह १६६; २६२; २६३

ओ

ओ १५५
ओअन्दइ २७५; ४८५
ओआअ १५०
ओआअव १६५
ओॅकणी ३३५
ओॅक्खल ६६ ; १४८
ओॅग्गाल १९६
ओॅज्झर ३२६
ओज्झाअ १५५
ओणविय २५१
ओणिमिल्ल ५६६
ओम १५४
ओमुग्गनिमुग्गिय १०४ ; २३४
ओरालिय २४५
ओलि १५४
ओॅल्ल १११
ओव, ओवा १५०
ओवाअअ १६५
ओवास २३०
ओवाहइ २२१
ओसकइ ३०२
ओसढ २२३
ओसह २२३
ओसा १५४
ओसाअ १५४
ओहट्ठ ५६५
ओहल ६६ ; १४८
ओहाइअ २६१ ; २८६
ओहामइ २१६ ; २८६

ओदामिय २८६
ओदावइ २८६
ओदि १५४
ओदुअ २८६
ओदुप्पन्त २८६

क

क ४२८
कअली २४५
कइअव २५४
कइवाइं २५५
कउध २०९
कउह २०९
कसाल १६७
कच्च २८४
कच्छभ, कच्छभी २०८
कज्जइ ५४७
कञ्चुइज्ज २५२
कट्टु ५७७
कडसी २३८
कडे २१९
कढइ २२१
कणइल्ल ५९५
कणवीर २५८
कणेर २५८
कणेरदत्त २५८
कणेरु ३५४
कण्ठदीणार ३६
कण्ह (=काला) ५२
कण्ह (=कृष्ण) ५२
कत्त १४८
कत्तो १९७
कत्थ २९३
कत्थइ ५४३
कदुअ ११३ ; १३९ , ५८१
कन्तु २८३
कन्द = स्कन्द ३०६
कफाड २०८
कभल्ल २०८
कमन्ध २५०
कम्म २९५
कम्भार १२०
कम्मार १६७
कम्मुणा १०४ , ४०४
कम्हार १२०
कयन्ध २५०
करली २४५
करसी २३८
करीले ५४७
करेणु ३५४
करेॅप्पि, करेॅप्पिणु ५८८
कलम्ब २४४
कल्लेर १४९
कवट्टिअ २४६
कसट १३२
कसण ५२ ; १४०
कसिण ५२ , १३३ ; १४०
कहावण २६३
काउ ५७४
काउअ २५१
काटु ५७४
कायसा ३६४
कासी ५१६
काह ५३३
काहल , काहली २०७
कहावण २६३
काहिइ ५३३
काही ५१६ , ५३३
कि ४२८
किच्चा २९९ ; ५८७
किच्चि २७१
किज्जइ ५४७
किण्ह ५२
किध १०३

फ़िर् २५९
किरइ ५४७
किसल १५०
कीसु ५३३
कुअरी २५१
कुक्खि ३२१
कुच्छिमई ३२१
कुज्ज २०६
कुडिल्ल, कुडिल्लअ (नोट सख्या ६) २३२ ; ५९५
कुडुल्ली ५९५
कुणिम १०३ ; २४८
कुण्टी २३२
कुप्पल २७७
कुम्पल २७७
कल्ह २४२
कुहाड २३९ ; २५८
कृ (रूपावली) ५०८ ; ५०९
कृत (रूपावली) ४८५
कृप्पि ५८८
के १४९
केचिर १४१
केढव २१२
केत्तिअ १५३
केँत्थु १०७
केँद्दह १२२
केमहालिया १४९ ; ५९५
केमहिड्डिअ १४९
केर १७६
केरअ ; केरक १७६
केरिस १२१ ; २४५
केल १६६
केलअ, केलक १७६
केलिरा २२१
केली १६६
केवट्ट १४९
केवचिर, केवच्चिर १४९
केसुअ ७६
केह १६६ ; २६२
कोँञ्ज २०६
कोडिल्ल (नोट सख्या ६) २३२ ; ५९५
कोढ ६६
कोढि ६६
कोढिय ६६
कोप्पि ५९४
कोल्हाहल २४२ ; ३०४
कोल्हुअ २४२ ; ३०४
कोहण्डी १२७
कोहलिया १२७
क्खु ९४
क्रम् (रूपावली) ४८१
क्री (रूपावली) ५११

ख

खण ३२२
खण्ण ५६६
खण्णु ९० ; ३०९
खत्त ५६६
खमा ३२२
खम्भ ३०६
खम्मइ ५४०
खल्लिहडउ ११० ; २०७ ; २४२
खल्लिड ११०
खसिअ २३२
खहयर, खहचर २०६
खाइ १६५
खाणु ३०९
खिड्डिणी २०६
खोल २०६
खु ९४; १४८
खुज्ज २०६
खुट्ट ५६४, ५६८
खुडिअ, खुडिद २२२; ५६८

खुड्डिअ २०६
खुण्ण ५६८
खुत्तो २०६
खुप्पइ २८६
खुड्डु १३९, २०६
खेडअ ३११
खेडिअ ३११
खे॑ड्डु ९०; २०६
खे॑ड्डुई ९०; २०६
खे॑ड्डा १२२
खळ्दि २०६
खेळ्लइ २०६
खोखुब्भमाण ५५६
खोदअ ३११
ख्या (रूपावली) ४९२

ग

गइ ५९४
गउअ १५२; २९३
गच्छ ५२३
गढ २११
गढइ २१२
गढिय २२१
गण्ठइ ३३३
गण्ठि ३३३
गण्ठिल्ल (नोट सख्या ६) ५९५
गडुअ ११३; १३९; ५८१
गन्थइ ३३३
गन्थिम ३३३
गब्भिण २४६; ४०६
गमे॑प्पि, गमे॑प्पिणु ५८८
गमेसइ २६१
गम्पि ५८८
गरुअ, गरुय १२३
गरुक २९९
गरुळ २४०
गळोई १२७
गवाणी १६५
गहर ९; १३२
गहाय ५९१
गहिय, गहिद ५६४
गाईं ३९३
गाउअ ६५; ८०
गाण १६५
गाणी १६५
गामिल्ल ५९५
गामिल्लिआ ५९५
गामेणी १६१
गामेल्लुअ ५९५
गामेल्लग ५९५
गायरी ६२
गार १४२
गारव ६१ अ
गाव (= गयन्ति) २५४
गावी ३९३
गिन्दु १०७
गिम्भ २६७
गिम्ह ३१४
गिहिद ५६४
गुछ ७४
गुडाह २०६
गुत्थ ५६४
गृण्हे॑प्पिणु ५८८
गेज्झ १०९; ५७२
गेज्झइ ५४८
गे॑न्दुअ १०७
गेरुअ ६०; ११८
गेहि ६६
गो (रूपावली) ३९३
गोइल्ल ५९५
गोण ३९३
गोणिक ५९८
गोणी ३९३

गोथूम २०८
गोळ २४४
गोळ्हा २४२
गोळ्हाफल २४२
ग्रह् (रूपावली) ५१२

घ

घडुक १५०
घत्त २८१
घरिल्ल, घरिल्ली ५९५
घरोल १६८
घरोलिआ १६८
घरोली १६८
घाअन २०९
घिंसु १०१; १०५
घिसइ १०३; २०९; ४८२
घेऊण ५८६
घेॅच्छामो २१२; ५३४
घेॅत्तव्व २१२; ५७०
घेॅत्तुआण, घेॅत्तुअ २१२; ५८४
घेॅत्तु २१२; ५७४
घेॅत्तूण ५८४, ५८६
घेॅत्तूण ५८६
घेॅप्पइ १०७; २१२; १८६; ५४८
घेॅप्पिउ ५८०
घेॅप्पिज्जइ ५४८
घा (रूपावली) ४८३

च

चइऊण ५८६
चइत्त २८१
चइत्ता ५८२
चइत्तु ५७७
चउक्क ३०२
चक्काअ १६७
चक्किआ ४६५
चक्खइ २०२
चक्ख् (रूपावली) ४९९
चच्चर २९९
चच्चिक्क ५९८
चच्छइ २१६
चत्तारि (सभी लिंगों में) ४३९
चन्दिमा १०३
चरण २५७
चलण २५७
चविडा ८० ; २३८
चविळा ८० ; २३८
चाउण्डा २५१
चिक्खल्ल २०६
चिच्चा ५८७
चिच्चाण २९९ ; ५८७
चिट्ठइ २१६ ; ४८३
चिन्ध २६७
चिन्धाल २६७
चिमिढ २०७ ; २४८
चिम्मइ ५३६
चियत्त १३४ ; २८०
चिलाअ २३०
चिव्वइ ५३६
चिहुर २०६
चीअ १६५
चीवन्दण १६५
चुक्क ५६६
चुच्छ २१६
चुल्ल ३२५
चुल्लोडअ ३२५
चेइअ १३४
चेॅच्चा ५८७
चेॅच्चाण २९९ ; ५८७
चो, चोॅ १६६

छ

छ, छ-(=षट्) २११ ; ४४१
छइअ ५९८
छइल्ल ५९५

छउल्ल ५९५
छट्ठ २११
छण २२२
छत्तिवण्ण १०३
छमा ३२२
छमी २११
छर ३२८
छरु ३२७
छळ् २११ ; २४०
छल्लुय १४८
छट्ट २६३
छाअ ३२८
छाइल्ल ५९५
छाण १६५
छाल २३१
छाली २३१
छाव २११
छाहा २०६; २५५
छाही २०६; २५५
छिक्क १२४; ५६४
छिड्ढ २९४
छिप्प २११
छिप्पाल २११
छिप्पालुअ २११
छिप्पिण्डी २११
छिप्पीर २११
छिरा २११
छिल्ल २९४
छिवाडी २११
छिहइ २११
छिहा २११
छीय १२४
छीयमाण १२४
छुई २११
छुहा २११
छूट ६६
छे`च्छं ५३२
छे`प्प २११

ज

जउणा २५१
जॅउणा २५१
जट्ट ५६५
जट्ठि २५५
जढ ६७; ५६५
जत्तु २९३
जत्तो १९७
जत्थ २९३
जम्पइ २९६
जम्पण २९६
जम्पिर २९६
जम्मइ ५४०
जहिट्ठिल ११८
जहुट्ठिल ११८
जा = यात् ४२७
जाणि ५९४
जिघ १०३
जिब्भा ३३२
जिव १४३; ३३६
जिव्वइ ५३६
जिह १०३
जीआ ३३८
जीहा ६५
जुण्ण ५८
जुप्पइ २८६
जुम्म २७७
जुवल २३१
जुहिट्ठिल ११८
जुआ ३३५
जूव २३०
जूह २३१
जे १८५; ३३६
जॅ १६६

जे`त्तिअ १५३
जे`द्दह १२२; २६२
जेप्पि ५८८
जेव ९५; ३३६
जेवँ ३३६
जेव्व ९५; ३३६
जेह १६६; २६२
जोएदि २४६
जोगसा ३६४
जोडं, जोदो ९
जोणिया १५४
जो`ण्हा ३३४
जेव, जे`व्व ९५; ३३६
झा (रूपावली) ५१०

झ

झडिल २०९
झत्थ २०९
झम्पइ ३२६
झम्पणी ३२६
झम्पिअ ३२६
झय २९९
झरइ ३२६
झरुअ २११; ३२६
झला २११
झाम ३२६
झामिय ३२६
झामेइ ३२६
झारुआ २११
झिज्जइ ३२६
झियाइ १३४; २८०; ३२६
झीण ३२६
झुणि २९९
झुसिर २११
झसणा २०९
झुसित्ता २०९
झुसिय २०९
झो`ण्डुअ १०७
झोडइ ३२६
झोडिअ ३२६
झो`ण्डलिआ ३२६

ट

टगर २१८
टिम्बरु १२४; २१८
टुट्टइ २९२
टुण्टुण्णन्तो ५५६
टुअर २१८

ठ

ठड्ढ ३३३
ठम्भ ३०८
ठवि ५९४
ठिच्चा ५८७
ठीण १५१
ठेर १६६; ३०८

ड

डक्क २२२; ५६६
डड्डाडी २२२
डण्ड २२२
डम्भिअ २२२
डर २२२
डरइ २२२
डसइ २२२
डहइ २२२
डोल २२२
डोला २२२
डोलिअ २२२
डोहल २२२; २४४

ढ

ढक्क २२१
ढक्कइ, ढक्केइ २२१
ढङ्क २१३; २२३
ढङ्कुणी २२१
ढङ्किरयाम् २२१

दड्डुण १०७; २१२; २६७
दज्जइ, दज्जदि २१२
दढलइ ५५६
दय्यदि २१२
दिक्क २१३
दिक्कुण २६६
दिल्ल १५०
ढुढुल्लइ ५५६
ढेङ्की २१३; २२३
ढेक्कुण १०७; २१२; २६७
ढेल्ल १५०

ण

णइअ ५९०
णगल २६०
णङ्गुल २६०
णङ्गूल २६०
णङ्गोल १२७; २६०
णचा ५८७
णच्चाण ५८७
णज्जिइ ५४८
णडाल २६०; ३५४
णप्पइ ५४८
ण १५०
णमोक्कार ३०६
णलाड २६०; ३५४
णवइ २५१
णवयार ३०६
णवर, णवर १८४
णवरि १८४
णव्वइ ५४८
णव्वीअइ ५४८
णहअर ३०१
णाइज्जइ ५४८
णाउँ १५२
णाउण ५८६
णाक्ख १९४
णालिअर १३९
णाहल २६०
णाहिइ ५३४
णिअत्थ ५६४
णिअन्धण २०१
णिउर १२६
णिक्कमइ, णिक्कमदि ३०२
णिक्ख ३०६
णिक्खमइ ३०२; ४८१
णिघस २०२; २०६
णिज्झरइ ३२६
णिज्झोडइ ३२६
णिट्ठुहिअ १२०
णिडाल २६०; ३५४
णिण्णार १६७
णिण्हग २३१
णिद्द ३१३
णिब्बुड्ढ ५६६
णिमइ ११८; २६१
णिमिल्ल ५६६
णिमेळ १२२
णिम्म १४९
णियमसा ३६४
णिलाड २६०; ३५४
णिसढ ६७
णिहस २०६
णिहाअ २०६
णिहित्त २८६
णिहिप्पन्त २८६
णिहेलण २०६; २६६
णीइ ४९३
णीम २४८
णीमी २६१
णीसणिआ, णीसणीआ १४५
णुमइ ११८; २६१
णुमज्जइ ११८

णुमण्ण ११८
णेउर, णेउल १२६
णेद् १७४
णेयाउय ६०; ११८
णेलच्छ ६६
णेह ३१३
णो॑ल्लइ २४४
णोहल २६०
ण्हारु २५५
ण्हारुणी २५५
ण्हाविय २१०; ३१३
ण्हाविया २१०
ण्हुसा १४८; ३१३

त

त ४२५
तइअ, तइज, तइय, तदिअ ८२; ९१; १३४; ४४९
तच्च २८१; २९९
तट्ट ३०८
तत्तिल्ल ५९५
तत्तु २९३
तत्तो १९७
तत्थ २९३
तत्थभवं २९३
तमाडइ ५५४
तम्ब = ताम्र २९५
तम्ब = स्तम्भ ३०७
तम्बकिमि २९५
तम्बरत्ति २९५
तम्बवण्णी २९५
तम्बसिह २९५
तम्बा २९५
तम्बिर १३७; २९५
तम्बिरा १३७
तम्बोल १२७
तरच्छ १२७
तलवो॑ण्ट ५३
तलार १६७
तळाव २३१
तलिम २४८
तव = स्तव ३०७
तहिंय २८१
ता = तात ४२५
ताठा ७६; ३०४
ताम २६१
तामहिँ २६१
तालवे॑ण्ट ५३
तालवो॑ण्ट ५३
ताला १६७
तालियण्ट ५३
तावत्तीसा २५४
ति, त्ति ९२; १४३
तिक्ख ३१२
तिक्खाविलक १३७
तिक्खालिअ ३१२
तिगिच्छई २१५
तिगिच्छय, तिगिच्छग २१५
तिगिच्छा २१५
तिगिच्छिय २१५
तिण्णि, तिन्नि (सभी लिङ्गों में एक ही रूप रहता है) ४३८
तिण्ह ३१२
तिध २०३
तिन्त ५६४
तिग्म २७७
तिरिच्छि १५१
तिलिच्छि १५१
तिह १०३
तीअ १६५
तीय १४२
तुट्ट ५६४
तुडिय २२२; २५८

तुन्दिल्ल (नोट संख्या ६) ५९५
तुरुक्क ३०२
तुहं २०६
तुहार ४३४
तुहुं २०६
तूथिके ५८
तूह ५८
तेअवइ ५५९
तेइच्छा २१५
तेउ = तेजस् ३५५
तेण ३०७
तेणिय १३४; ३०७
तें दृह १२२; २६२
तें ल्लों क १९६
तेह १६६; २६२
तो १४२
तोण १२७
तोणीर १२७
तोहर ४३४
त्व– ४२०-४२२

थ

थड्ड ३३३
थप्पि ५९४
थम्भ ३०८
थरथरेइ, थरथरेदि २०७
थरु ३२७
थह ८८
थाउँ २५१
थाणु ३०९
थाह ८८
थिप्पइ १३०; २०७
थिप्पइ २०७
थिया १४७
थी १४७
थीण १५१
थुल्ल १२७
थुवअ १११
थुवइ ५३६
थूण १३९
थूभ २०८
थूभिया २०८
थूभियागा २०८
थूह २०८
थेण ३०७
थेणिल्लिअ १२९; ३०७; ५९५
थें प्पइ २०७
थेर १६६
थेरासण १६६
थेव १३०; २०७
थोणा १२७
थोर १२७
थोव २३०

द

दइ ५९४
दइअ ५९०
दइस्सं ५३०
दश् (रूपावली) ४८४
दंसइ ५५४
दक्खइ ५०४
दक्खवइ ५५४
दक्खिणन्ता २८१
दक्खु (नोट सं० ४) ५१६
दग १४१
दचा ५८७
दच ५६६
दम्मिळ २६१
दम्मिळी २६१
दर २२२
दविड २६१
दविळ २६१
दसार ३३२
दह २६२; ३५४

दरिउं, दरिदु ५७४
द्रा = तावत् १५०
दा ५००
दाघ २६६
दाढा ७६; ३०४
दाढि— ७६
दाणि १४४
दार २९८
दाव १८५
दावइ २७५; ५५४
दावेइ ५५४
दाह, दाहामि ५२०
दाहिण ६५
दि = द्वि २९८
दिअ २९८
दिअह २६४
दिआहम २९८
दिगिछा ७४
दिण्ण, दिन्न ५६६
दिवड्ढ २३०; ४५०
दिव्वासा २९७
दिसो ३५५
दिस्स ३३४
दिस्सम् ३३४
दिस्सा ३३४
दिहि २१२
दीजे ५४५
दीसिउ ५८०
दीहर १३२; ५५४
दु १८५
दु— = दुस् ३४०
दुअल्ल ९०; १२६
दुउछइ ७४
दुगछा ७४; १२३
दुगछइ ७४
दुगुछा ७४
दुग्ग ३२९
दुग्गावी १४९
दुग्गे`ज्झ ५७२
दुज्झ ३३१
दुब्भइ २६६; ५४४
दुब्भि १४८
दुरुहइ ११८; १३९; १४१; ४८२
दुवालस २४४
दुस्सील ३२९
दुहवी ३३१
दुहावइ ५५९
दुहिअ ५६५
दुहितृ (रूपावली) ३९२
दुहल २६४
दुहव ६२; २३१
दे = ते १८५
दे = (दइअ, दा का रूप) १६६; ५९४
देइअ ५९०
देउल १६८
देउलिया १६८
दे`क्खइ ५५४
दे`प्पिणु ५८८
देर ११२
देव ५७९
देवाणुप्पिय १११
देहइ ६६
दोगछि— ७४
दोग्ग २१५
दोण्णि, दोन्नि (सभी लिंगों में आता है) ४३६
दोधार १६७
दोप्पदी ६१अ
दोस १२९
दोसाकरण १२९
दोसाणिय २१५
दोसिणा १३३; २१५
दोसिणी २१५

दोहळ २२२; २४४
द्रम्म २६८
द्रह २६८; ३५४
द्रेहि ६६

घ

घअ २९९
घट्टज्जुण २७८
घणुह २६३
घम्मुणा १०४; ४०४
घा (रूपावली) ५००
घाइ १६५
धॉरी २९२
धिप्पइ २०९
धि—र—अत्थु ३५३
धीदा, धीआ ६५; १४८; ३९२
धुणि २९९
धुव्वइ ५३६
धूआ, धूदा, धूया ६५; १४८; २१२; ३९२
ध्रु २६८

न

नए (नोट सं० २) ४११
(नोट सं० ४) ४९३
नक्क ३०६
नगिण १३३
नग्गलिय २६०
नच्चाण ५८७
नमोॅक्कार १९५; ३०६
नवकार २९१
निगिण १०१; १३३
निज्जुढ २२१
निण्णक्खु ५१६
निभेलण २०६; २६६
निम्बोलिया १६७; २४७
नियत्थिय ५६४
नियाग २५४
निरगण २३४
निग्रढ २२३
निसिरइ २३५
निसीढ २२१
निस्साए ५९३
निस्सेणी १४९
नी 'बाहर जाना'
नी 'जाना' (नोट सं० ४) ४९३
नीम २४८
नीसाए ५९३
नेवच्छेॅत्ता ५८२

प

पइ-(=प्रति) २२०
पइँ ३००
पउत्थ ५६४
पउम १३९
पएसो ३६
पओगसा ३६४
पओस, पदोस १२९
पगब्भई २९६
पत्ति-, पत्तिणी ७४
पगुरण २१३
पचीस २७३
पच्चत्थिम ६०२
पच्चत्थिमिल्ल ५९५
पच्चप्पोणइ ५५७
पच्चूस २६३
पच्चूह २६३
पच्चोसक्कइ ३०२
पच्छित्त १६५
पच्छी ३१३
पच्छेकम्म— ११२
पजर २०४
पज्झरइ २२६
पटिमा २१८
पट्टि, पिट्टी, पुट्टी ५३, ३५८

पडइ २१८
पडसुआ ११५
पडाआ, पडागा, पडाया २१८
पडायाण १६३; २५८
पडिलेहाए ५९३
पडीण १६५
पडुच्च १६३; २०२; ५९०
पडुच्चिय १६३
पडुप्पन्न १६३
पडोयार १६३
पढम, पढुम २२१
पण (= पञ्च) २७३
पणियत्थ ५६४
पणुवीस १०४; २७३
पणुवीसा २७३
पण्ण (= पञ्च) २७३
पत्तिअइ, पत्तीयइ,
पत्तिआअदि २८१, ४८७
पत्तेय २८१
पत्थी २९३
पदिस्सा ३३४
पपलीणु ५६७
पब्भार (नोट सं० ४) २७०
पम्हुसइ २१०
परव्वस १९६
परसुहत्त १९४
परिउत्थ ५६४
परिघेत्तव्व ५७०
परिच्छूढ ६६
परिज्झसिय २०९
परिविट्टेत्त ५८२
परियाग २५४
परियाल २५७
परिवुत्थ ५६४
परिसक्कइ ३०२
परिसण्ट ३१५
परिहिस्सामि ५३०
परोप्पर १९५; ३११
पल्लत्थ १३२
पलाअ ५६७
पलाण ५६७
पलाइ २६२
पलि = परि २५७
पलिउच्छूढ ६६
पलिल २४४
पलीवेइ २४४
पल्लक २८५
पल्लट्ट १३०; २८५
पल्लट्टइ १३०; २८५
पल्लत्थ २८५
पल्लाण २८५
पल्हत्थ २८५
पल्हत्थइ २८५
पल्हत्थरण २८५
पवट्ठ १२९
पसिण १३३
पसुहत्त १९४
पसेढि ६६
पहुच्चइ २८६; २९९
पहुडि २१८
पहुप्पइ २८६
पा = पीना (रूपावली) ४८३
पाइक १६५; १९४
पाउणित्ता ५८२
पाउरण १०४
पाउरणी १०४
पाउल्ल ५९५
पाइलिउत्त २९२
पाडिक्क २६३
पाडिहेर १७६
पाणिअ, पाणीय ९१
पाणु १०५

पुव्वइ ५३६
पुव्वि १०३
पुदयक २९२
पुसिअ १०१
पुहई, पुहवी ५१; ११५; १३९
पुहुवी १३९
पुह १४२; २८६
पेऊस १२१
पेच्चा ५८७
पेढ १२२
पेढाल १२२
पेरन्त १७६
पेॅक्खदि ३२४
पेहाए ३२३, ५९३
पेहिया २२३; ५९०
तेहिस्सामि ५३०
पेहुण ८९
पोॅप्फल, पोॅप्फली १४८
पोम्म १३९, १६६; १९५
पोर- १७६
पोरेवच्च ३४५
पोसह १४१

फ

फण् २००
फणस २०८
फणिह २०६
फरअ २५९
फरसु २०८
फरुस २०८
फलग, फलय, २०६
फलह, फलहग २०६
फलिह २०८
फलिइ २०६, २३८
फलिहा २०८
फलिहि २०८
फाडेइ २०८
फालिय २०६
फालिहद्द २०८
फासुय २०८
फुसिय १०१; २०८

ब

बइस्स ३००
बन्द्र २६८
बन्ध् (रूपावली) ५१३
बप्प ३०५
बप्फ ३०५
बम्भ- २६७
बम्भचेर १७६
बम्भण २५०, २६७
बम्हचेर १७६
बलसा ३६४
बहप्पद, बहप्पदि, बहप्फइ ५३; २१२
बहवे ३४५, ३८०; ३८१; ३८२
बहस्सइ ५३; २१२
बहिणिआ २१२
बहिणी २१२
बहिणुएॅ २१२
बहिं १८१
बहु (रूपावली) ३८०; ३८२
बहुअय ५९८
बहेडअ ११५
बार ३००
बारह ३००; ४४३
बाह ३०५
बाहिं १८१
बाहिंहिंतो ३६५
बि- = द्वि- ३००
बिअ १६५
बिइअ, बिइज्ज, बिइय ८२; ९१; १३४; १६५; ३००; ४४९
बिराल २४१
बिहप्पदि ५३; २१२

मुह ३५४; ५६४
मुहइ ३५४
मुवि ५१६
भू (रूपावली) ४७५; ४७६
मेच्छ ५३२
मेत्तूण ५८६
मेंमल २०९
मोॅघा २११; ५८७
मोॅच्छ ५३२
मोंहा १२४; १६६; २५१
म्हास २६८

म

म- ४१५-४१९
मउअत्तया ५९७
मउड १२३
मउर १२३
मउल १२३
मघमघन्त २६६; ५५८
मघमवेॅन्त २६६, ५५८
मचोणो ४०३
मचइ २०२
मच्चिअ ५९८
मज्झण्ण १४८, २१४
मज्झत्थ २१४
मज्झत्थदा २१४
मड २१९
मढइ २९४
मणसिला ७४, ३४७
मणसिला ३४७
मणाम २४८
मणासिला ७४, ३४७
मणे ४५७, ४८९
मणोसिला ३४७
मदगल १९२; २०२
मन्तक्ख २८३
मन्तु २८३
मन्यु १०५
मम्मण २५१
मम्हण १४८
मरइ ३१३
मरगअ २०२
मरढी ६७; ३५४
मरहट्ठ ३५४
मरिज्जिउ ५८०
मल्हइ २४४; २९४
महइमहालय ५९५
महइमहालिया ५९५
महआस ७४
महमेॅत्थ २९३
महल्ल ५९५
महल्लअ ५९५
महाणुभाग २३१
महार ४३४
महालय ५९५
महालिआ ५९५
महिसिक्क ५९८
महेसि ५७
माउक्क २९९
माउच्छा १४८
माउसिया १४८
माउसिआ १४८
मातृ-(रूपावली) ३९२
मादुच्छअ १४८
मादुच्छिआ १४८
माहण २५०
माहणत्त २५०
माहुलिङ्ग २०७
मि १४५, ३१३, ४९८
मिजा ७४, १०१
मिण्ठ २९३
मिंढ ८६
मिरिय १७७

मिरीइ १७७
मिलक्खु १०५; २३३
मिव ३३६
मीसालिअ ६४; ५९५
मुध ५६६
मुच् (रूपावली) ४८५
मुणइ ४८९
मुरव २५४
मुरवी २५४
मुरुक्ख ११३; १३९; १९५
मूअल्ल ५९५
मूअल्लिअअ ५९५
मेडम्भ ५९५
मेॅंटि २२१
मेॅण्ठ २९३
मेॅंटी ८६
मेॅंढ ८६
मेॅंढी ८६
मेॅच्च १०९
मेच्छपुरिस २९३
मेरा १७६
मेल्लीण ५६२
मो ३१३
मोॅच्छं ५२६
मोॅट्टिअ २३८
मोड १६६; २३८
मोॅत्तव्व ५७०
मोॅत्तूण ५८६
मोर १६६
मोह=मयूख १६६
म्हि १४५; ४९८

य

य ४५; १८४; १८७
य- ४२७
यम्पिदेण २९६
प्रति+य (रूपावली) ४८७
याणि १४३
येव ३३६
य्येव ३३६

र

रअण १३२
रइल्लिय ५९५
रग्ग ५६६
रमाधि २०२
रण्ण १४२
रदण १३२
रयणि १४१
रयण्ण ९९; २५१
रग, रह=दश २४५
रहट्ट १४२
रहस्स=ह्रस्व ३५४
राइफ ५९८
राइण्ण १५१
राउल १६८
राएसि ५७
राजन्, (रूपावली) ३९९; ४००
रायगह ६५
रिउव्वेय १३९; १९५
रिफ ५६६
रिक्कासि ५१६
रिनाइ ५६, ३५८
रिट्ठ १४२
रुइल २५७
रुक्ख (वृक्ष) ३२०
रुण्ण ५६६
रुद् (रूपावली) ४९५
रुप्पि- २७२
रुप्पिणी २७७
रुम्भइ २६२; ५४६
रुम्मइ २६६; ५०७
रुव्वइ ५३६
रुह् (रूपावली) ४८२

रोऊण ५८६
रोॅच्छं ५२९
रोॅत्तव्व ५७०
रोॅत्तुं ५७४
रोॅत्तूण ५८६

ल

लइ ५९४
लइराण ३१२
लच्छी ३१२
लट्ठ ५६४
लट्ठि २५५
लट्ठिआ २५५
लट्ठी २५५
लडाल २६०
लण्ह ३१५
लदण १३२
लभा ४६५
लभ् (रूपावली) ४८४
ललाड २६०
लहिआण ५१२
लाउ १४१
लाउत्त १६८
लाउल १६८
लाऊ १४१
लाढ ५६४
लाढा २५७
लिब्भइ २६६; ५४४
लिम्ब २४७
लिम्बडअ २४७
लीण ५७
लुअ ५६८
लुक्क ५६६
लुक्ख २५७
लुव्वइ ५३६
लूह २५७
लेहु ३०४
लेहुअ ३०४
लेहुफ ३०४
लेहुम्ह ३०४
लेण १५३
लेॅप्पिणु ५८८
लेलु ३०४
लेवि, लेविणु ५८८
लोढ ३०४
लोण १५४
ल्हसुन २१०
ल्हिक्क ५६६
ल्हिक्कइ २१०

व

व १४३
वअंस १४२
वइर=वज्र १३५
वक्क=वाक्य २७९
वक्कमइ १४२
वग्गुहिं ९९
वग्गूहिं ३८१
वङ्क ७४
वचाह २०६
वच्चइ २०२
वच्चा ५८७
वजर २५१
वज्जदि १०४; २७६; ४८८
°वट्ट ५३
°वट्टिं २६५
वट्टिद १४२
वडिस, वडिसग, वडिराय १०३
वड्ढि ५२
वढ २०७
वणप्फइ, वणप्फदि ३११
वणस्सइ ३११
वणीमग २४८
°वत्तरिं २६५

वत्तव्व ५७०
°वत्तिय २८१
वग्गए ५७८
वन्द्र २६८
वम्मह २५१
वम्हल १४२
वयासी ५१६
वलि ५९४
वसहि २०७
वाउत्त १६८
वाउय २१८
वाउल २१८
वाग ६२
वागल ६२
वाणवन्तर २५१
वाणारसी ३५४
वालणसी ३५४
वावड, वाउड २१८
वाहित्त २८६
वाहिप्पइ २८६
वि १४३
विअ १४३, ३३६
विअण १५१
विअणा ८२
विउव्वित्तए ५७८
विउव्विय ५६५
विओल १६६
विओसिरे २३५
विक्केअइ ५५७
विगिञ्चइ ४८५
विगिञ्चियव्व ५७०
विच्च २०२
विच्छ ५२६
विच्छिय ५०
विच्छुअ, विच्छुय ५०
विच्छूढ ६६
विज्जढ ६७; ५६५
विजज्झार २१६
विज्जं २११
विज्जुला, विज्जुली २४४
विज्झाइ ३२६
विंचुअ ५०; ३०१
विंछिअ ५०
विंछुअ ५०
विडिम १०३; २४८
विड्डु २४०
विढत्त २२३; २८६; ५६५
विढप्पइ २२३; २८६
विढवइ २२३; २८६
विढविज्जइ २८६
विणिउड्ड ५६६
वितिगिच्छा २१५
वितिगिच्छामि २१५
वितिगिंछइ ७४; २१५
वितिगिंछा ७४; २१५
विद्दाअ ५६८
विद्धि ५२
विप्पजढ ६७; ५६५
विप्पजहाय ५११
विप्पहूण १२०
विपदहत्थ २८५
विब्भल ३३२
विभरइ ३१३
विब्भार २६६
विभासा २०८
विय १४३; ३३६
विरुव ८०
विलिअ १५१
विव ३३६; ३३७
विवलहत्थ २८५
विसढ ६७
विसेढि ६६

विइ २६३
विइरिय २०७
विइल २०६; ३३२
विइसन्ति २०६
विइडुअ ९; २७५
विइूण १२०
वीमसा २५१
वीली १०७
वीसु १५२
वुचइ ३३७, ५४४
वुचत्थ ३३७
वुचा ५८७
वुच्चामु ५१६
वुनइ १०४; २३७; ४८८
वुने`प्पि ५८८
वुड्ढि ५२
वुण्ण २७६
वुत्त ३३७
वुत्थ ३०३; ३३७; ५६४
वुब्भइ २६६; ३३७, ५४१
वूढ ३३७
वूहए ७६
वेउव्विय ५६५
वे`च्छ ५२९
वेट १२२, २४०
वेडिस १०१
वेडुज्ज २४१
वेढ ३०४
वेढइ ३०४
वेढण ३०४
वेढिम ३०४
वे`ण्ट ५३
वे`त्तु ५७४
वे`त्तूण ५८६
वे`ब्भार २६६
वेभार २६६
वेर=वज्र १६६
वेरुलिअ; वेरुलिय ८०
वेलु २४३
वे`ल्ल १०७
वे`ल्लइ १०७
वे`ल्लरी १०७
वे`ल्ला १०७
वे`ल्लि १०७
वे`ल्लिर १०७
वेसमण २६१
वो`क्कत्थ ३३७
वो`च्छ ५२९
वो`ट्ट ५३
वो`त्तव्व ५७०
वो`त्तु ५७४
वो`त्तूण ५८६
वो`द्रह २६८
वोसिरइ २३५
व्रास २६८
व्व १४३

श

शक् (रूपावली) ५०५
शम् (रूपावली) ४८९
शि १४५; ४९८
शुणहक २०६
शोण १७६
श्रि (रूपावली) ४७३
श्रु (रूपावली) ५०३
श्वस् (रूपावली) ४९६

स

स– ४२३
सअढ २०७
संल्लत्त ५६४
सक ५६६
सक्कअ, सक्कद, सक्कय ७६
सक्कइ ३०२

सक्कणोमि, सक्कुणोमि	१४०; ५०५	समिला	२४७
सखा	४६५	समुपेहिया	३२३; ५९०
सङ्कल, सङ्कला	२१३	समुपेहियाणं	५९२
सङ्कलिय	२१३	समोसढ	६७
सङ्कुला	२१३	संपेहिया	३२३; ५९०
संघअण	२६७	सम्पेहाए	३२३; ५९३
संघदि	२६७	सम्पेहिया	३२३; ५९०
सचार	२६७	सम्मरण	३१३
सच्चवइ	५५९	सरअ, सरय	३५५
सज्झस	२११	सरदुव	२५१
सजइ	२२२	सलिला	२४४
सड्ढा	३३३	सव्वन्नित्र	५९८
सढा	२०७	स उत्थ	२९३
सढिल	११५	सस्सिरिअ	१९५
सणण्हय	१४८	सहिअ	१५०
सणिचर	८४	सहुँ	२०६
सणिच्छर	८४	सामच्छ	२८१
सण्डेय	२१३	सामत्थ	२८१, ३३४
सण्ह	३१५	सामरी	८८; २०९, २५१
सत्तरि	२४५	सामली	८८
सत्तावीस जोअणो	९	सायवाहण	२४४
सद्दहइ	३३३	सालवाहण	२४४
सद्धा	३३३	सालाहण	२४४
सद्धि	१०३	सालिवाहण	२४४
सन्ति	४१७	साह	६४, २६२
सदह	३०८	साहइ	२६४
सदाव	२७५	साहट्टु	५७७
सधिउ	५७५	साहार	१६७
सधिस्सामि	५२०	सि	१४५; ४९८
समच्छरेहिं	३२८	सिक	५६६
समणाउसो	३९६	सिङ्कल	२१३
समर	२५०	सिंघ	२६७
समस्सइअ	५९०	सिंघल	२६७
समाढत्त	२२३,२८६	सिंघली	२६७
समाण	५६१	सिङ्घाडग	२०९
समिज्झाइ	३२६	सिंघाण	२६७

सिञा १०१
सिणाण १३३
सिप्प २११
सिप्पइ २८६
सिप्पी २८६
सिप्पीर २११
सिमिण १३३; १७७; २४८
सिम्पइ २८६
सिम्बली १०९
सिम्भ– २६७
सिम्भिय २६७
सिय ४१७
सिरि = श्री ९८
सिरिहा २०६
सिविण, सिविणअ १३३; १७७; २४८
सिव्वी ९
सिहइ ३११
सीभर २०६; २६६
सीया १६५
सीह ७६
सीहर २०६; २६६
सुए १३९
सुक्क = शुष्क ३०२
सुक्किल १३६; १९५
सुत्तविअन्ति ५४३
सुग्ग ३२९
सुणह २०६
सुण्णि ५९४
सुण्हा=सास्ना १११
सुण्हा=स्नुषा १३९; १४८; २६३; ३१३
सुमुसा १३९; १४८; २६३; ३१३
सुन्देर १०६
सुन्मि १४८
सुमिण १३३; १७७; २४८
सुम्मत्त ५३६
सुयराप ३४५
सुविण १३३; १७७; २४८
सुवे १३९
सुवो १३९
सुव्वइ ५३६
सुसा ३१३
सुसाण १०४; ३१२
सुसुमार ११७
सुहल्ली १०७
सुहवी २३१
सुहेॅल्ली १०७
सूहव ६२; २३१
से, सेँ ४२३
सेॅज्जा १०१
सेढि ६६
सेफ— २६७; ३१२; ३१५
सेॅम्भ २६७
सेॅम्भा २६७
सेॅम्भिय २६७
सेर ३१३
सोअमल्ल १२३; २८५
सोऊण ५८६
सोॅग्घ ५८७
सोॅच्चा २९९; ५८७
सोॅच्चाण ५८७
सोॅच्छ ५३१
सोणार ६६
सोॅण्हा १३९; १४८; २६३; ३१३
सोॅत्तु ५७४
सोॅत्थि १५२
सोमार, सोमाल १२३
सोॅल ५६६
सोॅलइ २४४
स्तृ (रूपावली) ५०५
स्था (,,) ४८३
स्तम्भ् (,,) ४८६
स्मृ (,,) ४७८

स्वप् (,,)	४९७	हिच्चा	५८७
ह		हिच्चाणं	२९९; ५८७
हउँ	१४२; ४१७	हिज्जो	१३४
हगे, हग्गे	१४२; २०२; ४१७	हिट्ट	१०७
हडप्प	५०; १५०; १९४; २२२	हिट्ठिम	१०७
हणुँआ	२५१	हितप	५०; १९१; २५४
हत्त	१९४	हितपक	५०; १९१; २५४
°हत्तरि, °हत्तरिं	२६४	हित्थ	३०८
हद्दी	७१	हित्था	३०८
हद	२७५	हित्थाहिड	३०८
ह दि	२७५	हिय	१५०
हभो	२६७	हिर	३३८
हमार	४३४	हिरि=ही	९८
हम्मइ	५४०	हीरइ	५३७
हम्मइ (जाना)	१८८	हु	९४, १४८
हरडइ	१२०	हुट्ट	३३८
हरय	१३२	हुत्त	२०६
हरिअन्द	३०१	हुल्ह	३५४
हरे	३३८	हुव्वइ	५३६
हळअ, हळक	५०, २४४	हूण	१२०
हळद्दा	११६	हे˘च्च, हे˘च्चा	५८७
हळद्दी	११५	हे˘च्चाण	५८७
हला	३७५	हे˘ट्ठ	१०७
हलि	३७५	हे˘ट्ठा	१०७
हलिआर	३५४	हे˘ट्ठिम	१०७
हलिच्चन्द	३०१	हे˘ट्ठिल्ल	१०७
हलुअ	३५४	हे˘ल्लि	१०७
हले	३७५	होअऊण	५८६
हव्वं	३३८	हो˘क्ख-	५२१
हव्वाए	३३८	हो˘च्चा	५८७
हस्स = ह्रस्व	३५४	हो˘जमाण	५६१
हिअ	१५०	होसे	५२१
हिओ	१३४	हस्स=हुस्व	३५४

अनुक्रमणिका का

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
			अति–४९३
६७	६ (स्तम्भ १)	अर्हद्द–४९३	अगासि–५१६
६७	११ (,,)	अकसि, अकासि–५१६	अग्गि–१४६
६७	१४ (,,)	अग्गि–१४६	अच्छरिअ, अच्छरिय अच्छरीअ–१३८
६७	१९ (,,)	अच्छरिअ, अच्छरिय अच्छरीअ–१३८७	अनिट्ठुभय–१२०
६७	८ (स्तम्भ २)	अनिट्ठुभय–११९	अणेलिस–१२१
६७	१२ (,,)	अणेलिस–१२०	अण्हग–२३१
६७	१७ (,,)	अह्ग–२३१	अभवी–५१५
६८	३३ (स्तम्भ १)	अब्भवी–५१५	अब्भगिय, अब्भगिद–२३४
६८	३५ (,,)	अब्भीङ्गय, अब्भङ्गिद–२३४	अम्मयाओ–३६६ आ
६८	१० (स्तम्भ २)	अम्मयाओ–३६६ व	अम्मो–३६६ आ
६८	११ (,,)	अम्मो–३६६ व	अवहोआस, अवहोवास–१२३
६८	२५ (,,)	अवहोआस–१२३	आडहइ–२२२
६९	१७ (स्तम्भ १)	आउहइ–२२२	आदु–१५५
६९	२९ (,,)	आदु–११५	आलेद्धु–३०३
६९	४ (स्तम्भ २)	आलेँद्धुर–३०३	इदानीं–१४४
७०	४ (स्तम्भ १)	इदाणि–१४४	इयाणिं–१४४
७०	८ (,,)	इयाणि–१४७	ईसिय–१०२
		ईमिय–१०२	
७०	१९ (,,)		उच्च–३३५, ४२०
७०	२३ और २४ (स्तम्भ २) के बीच	०	एँज्जन्ति–५६०
७१	२२ (स्तम्भ १)	एँज्जन्ति–५६०	एलिक्ख–१२१
७२	१ और २ (स्तम्भ२) के बीच	०	एलिस–१२१, २४४
		०	एवइखुत्तो–१४९
७२	२ (स्तम्भ २)	एवद्दक्खुत्त–१४९	ओणिमिल्ल–५६६
७१	१८ (स्तम्भ २)	अणिमिल्ल–५६६	ओहट्ठ–५६४
७१	३३ (,,)	ओहट्ठ–५६५	ओहामद–२६१, २८६
७१	३६ (,,)	ओहामद–२१६, २८६	
७२	१७ और १८ (स्तम्भ १) के बीच	०	कड–२११

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७२	६ (स्तम्भ २)	कम्मुटा–१०४, ४०४	कम्मुणा–१०८, ४०४
७३	३ और ४ (स्तम्भ १) के बीच	०	कीरइ–५४७
७३	१६ (स्तम्भ १)	कल्ह–२४२	कुल्हू–२८२
७३	२२ (,,)	के॑च्चिर–१४१	के॑च्चिर–१४९
७३	१२ और १३ (स्तम्भ २) के बीच	०	कोहल–१९३
७३	१३ (स्तम्भ २)	कोहल्या–१२७	कोहली–१२७
७४	५ (स्तम्भ १)	खुडुहु–१३९, २०६	खुडह–१३९, २०६
७४	११ (,,)	खलदि–२०६	खेलदि–२०६
७४	१२ (,,)	खेल्लइ–२०६	खेल्लइ–२०६
७४	१८ (,,)	गउअ–१५२, २९३	गउअ–१५२, ३९३
७४	३ और ४ (स्तम्भ २) के बीच	०	गहिअ–५६४
७४	१७ (स्तम्भ २)	गान (=गयन्ति)–२५४	गाव=गायन्ति–२५४
७४	३२ (स्तम्भ २)	गो (रूपावली)–२९३	गो (रूपावली)–३९३
७५	८ और ९ (स्तम्भ १) के बीच	०	घरिल्लअ–५९५
७५	१८ और १९ (स्तम्भ १) के बीच	०	घेत्तुआण–२१२, ५८४
७५	२३ (स्तम्भ १)	घे॑घइ–१०७, २१२, १८६, ५४८	घे॑प्पइ–१०७, २१२ २८६, ५४८
७५	३६ (,,)	चस्य (रूपावली)–४९९	चउ (रूपावली)–४९९
७६	२० (,,)	छिन्न–१९४, ५६४	छिन्न–१९४, ५६६
७६	३५ और ३६ (स्तम्भ १) के बीच	०	छुहिअ–२११
७६	६ (स्तम्भ २)	जट्ट–५६५	जट्ट–५६५
७६	१९ और २० (स्तम्भ २) के बीच	०	जाम–२६१ जामहि–२६१ जाला–१६७ जि–१५०, २०१ जि (रूपावली)–४७३ जिग्विअ–५६५ जिग्घि–५८८ जिण्णि–५९४

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७६	३५ (स्तम्भ २)	जे-१८५, ३३६	जे-२५०, ३३६
७७	२१ और २२ (स्तम्भ १) के बीच	०	झरअ-३२६
७७	३० (स्तम्भ १)	झियाइ-१३४, २८०, ३२६	झियइ-१३४, २८०, ३२६
७८	६ (स्तम्भ १)	ढिड्कुण-२६६	ढिङ्कुण-२६७
७८	७ (,,)	ढिल्लू-१५०	ढिल्ल-१५०
७८	१३ और १४ (स्तम्भ १) के बीच	०	णक्ख-१९४ णङ्गल-२६०
७८	२० (स्तम्भ १)	णज्जिइ-५४८	णज्जइ-५४८
७८	१ (स्तम्भ २)	णाल्अिर-१३९	णालिअर-१२९
७८	१९ (,,)	णिमइ-११८, २६१	णिमइ-११८, २६८
७९	३६ (स्तम्भ १)	तरच्छ-१२७	तरच्छ-१२३
८०	३३ (,,)	थिया-१४७	थिय-१४७
८०	३ (स्तम्भ २)	थूण-१३९	थूण-१२९
८०	५ (,,)	थूभिया-२०८	थूभिय-२०८
८०	१२ और १३ (स्तम्भ २) के बीच	०	थेरोसण-१६६
८०	२५ (स्तम्भ २)	दक्खिणन्ता-२८१	दक्खिणत्ता-२८१
८०	३०, ३१ (,,)	दम्मिल, दम्मिली-२६१	दमिल, दमिली-२६१
८१	२ (स्तम्भ १)	द्वान्वावत्-१५०	दावावत्-१५०
८१	२० (स्तम्भ २)	देउलिया-१६८	देउलिय-१६८
८२	२९ (स्तम्भ १)	नवकार-२९१	नवकार-२५१
८२	३१ (,,)	निज्जुढ-२२१	निज्जूढ-२११
८३	५ और ६ (स्तम्भ १) के बीच	०	पडिलेहित्ता-५९३ पडिलेहिया-५९३
८३	२१ और २२ (स्तम्भ १) के बीच	०	पदुम-१६३, २०२, ५९० पदोस-१२९
८३	३१ (स्तम्भ १)	परिपिहेंत्त-५८२	परिपिहेत्ता-५८२
८३	११ (स्तम्भ २)	पल्लक-२८५	पल्लङ्क-२८५
८३	३८ (स्तम्भ २)	पाणीय-९१	पाणिय-९१
८४	११ (स्तम्भ १)	पावउण-१६५	पावडण-१६५
८४	११ और १४	पुद्म-२१३	पुद्म-२२१
	(स्तम्भ २) के बीच	पुदुम-२१३	पुदुम-२२१
		पुदुवी-९१, ११८, १३९	पुढवी-९१, ११८, १३९

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८५	११ (स्तम्भ १)	पेठाल–१२२	पेढाल–१२२
८५	१६ (,,)	तेहिस्सामि–५३०	पेहिस्सामि–५३०
८५	३५ और ३६ (स्तम्भ १) के बीच	०	पड्ग–२०६
८५	३३ (स्तम्भ २)	८२	८१
८६	२४ (स्तम्भ १)	मन्ते–१६५, ३६६ ब	भन्ते–१६५,३६६ अ
८६	३० (,,)	मयन्तारो–२९०	मयन्तारो–३९०
८६	३१ (,,)	भयसा–३६४	मयसा–३०४
८६	१० (स्तम्भ २)	मारिअ–२८४	मारिआ–२८४
८६	२४ (,,)	मिसिका–२०९	मिसिगा–२०९
८६	३३,३४,३५ (,,)	मुमआ, मुमगा, मुमया–१२४, २६१	मुमआ, मुमगा, मुमया–१२४,२०१
८६	३५ और ३६ (स्तम्भ २) के बीच	०	मुमा–१२४, २०१
८६	३७ (स्तम्भ २)	मुह्ट–३५४, ५६४	मुह्ल–३५४, ५६६
८७	९ (स्तम्भ १)	मोच्छ–५३२	मोच्च–५३२
८७	१५ (स्तम्भ २)	महल्लअ–५९५	महल्लय–५९५
८७	१९ (,,)	महाल्लिआ–५९५	महालिया–५९५
८८	१३ (स्तम्भ १)	मेढम्म–५९५	मेढम्म–१६६
८८	३१ (स्तम्भ २)	रुप्पि–२७२	रुप्पि–२७७

सहायक ग्रन्थों और शब्दों के संक्षिप्त रूपों की सूची

अ

अंतग०=अंतगडदसाओ, कलकत्ता, संवत् १९३१ ।

अच्युत० = अच्युतशतक, मदरास, १८७२ ।

अणुओग० = अणुओगदारसुत्त, राय धनपतिसिंहजी बहादुर, कलकत्ता, संवत् १९३६ ।

अणुत्तर०=अणुत्तरोववाइअ सुत्त, कलकत्ता, संवत् १९३१ ।

अद्भुत०=अद्भुतदर्पण, सम्पादक परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई १८९६ (काव्यमाला-संख्या ५५)।

अनर्घ०=अनर्घराघव, सम्पादक दुर्गाप्रसाद और परब, बंबई १८८७ ई० (काव्यमाला-संख्या ५)।

अ० माग०=अर्धमागधी ।

अमृतोदय, सम्पादक शिवदत्त और परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १८९७ ई० (काव्यमाला-संख्या ५९)।

आ

आव०=आवन्ती ।

आव० एर्त्से०-आवश्यक एर्त्सेलुंगन, सम्पादक लौयमान लाइप्त्सिग, १८९७ ई० ।

आयार० = आयारंग सुत्त, सम्पादक हरमान याकोबी, लन्दन, १८८२ ई० । मैंने १९३६ संवत् में छपे कलकत्ता के संस्करण का भी उपयोग किया है ।

आर्कि० स० वेस्ट० इंडि०=आर्कियोलॉजिकल सर्वे औफ वेस्टर्न इंडिया ।

इ

इ० आल्ट०=इंडिशे आल्टर टूम्स कुंडे ।

इ० ऐण्टी०=इंडियन ऐण्टीक्वेरी ।

इ० फो०=इंडोगैर्मानिशे फौर शुङ्गन ।

इ० स्टूडी० = इंडिशे स्टूडीएन ।

इ० स्ट्रा०=इंडिशे स्ट्राइफन ।

इन्स्टि० लिं० प्रा०=इन्स्टिट्यूत्सी ओनेस लिंगुआए प्राकृतिकाए (प्राकृत भाषा के नियम)।

उ

उत्तर०=उत्तरज्झयणसुत्त, राय धनपतसिंह बहादुर, कलकत्ता, संवत् १९३६ ।

उत्तररा०=उत्तररामचरित, सम्पादक : ताराकुमार चक्रवर्त्ती, कलकत्ता, १८७० ई०। मैंने कलकत्ता के १८३१ के संस्करण तथा वहीं से १८६२ में प्रकाशित प्रेमचन्द्र तर्कवागीश के संस्करण का भी उपयोग किया है।

उन्मत्तरा०=उन्मत्तराघव, सम्पादक : दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १८८९ (काव्यमाला संख्या १७)

उवास० = उवासगदसाओ, सम्पादक : होएर्नले, कलकत्ता १८९०।

ऋ

ऋषभ० = ऋषभपञ्चाशिका, सम्पादक : योहान क्लाट्, त्सा. डे. डौ. मौ. गे. ३३, ४४५ और उसके बाद के पृष्ठों में प्रकाशित। इसके अतिरिक्त मैंने दुर्गाप्रसाद और परब द्वारा सम्पादित बम्बई, १८९० ई० में प्रकाशित संस्करण से सहायता ली है।

ए

एपि० इंडिका = एपिग्राफिका इंडिका।

एर्सें० = औसगे वैल्ते एर्सें लुगन इन महाराष्ट्री, सम्पादक : हरमान याकोबी, लाइप्सिख, १८८६ ई०।

ओ

ओ० एस० टी० = ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, सम्पादक : रैमजे म्यूर, लन्दन।

ओव० = ओववाइयसुत्त, राय धनपतिसिंह बहादुर, कलकत्ता, संवत् १९३६। इस ग्रन्थ में निम्नांकित संस्करण से भी उद्धरण लिये गये हैं—दास औपपातिक सूत्र... सम्पादक : ए० लौयमान लाइप्सिख, १८८३ ई०।

क

कंसव० = कंसवध, सम्पादक : दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८८८ (काव्यमाला संख्या ६)।

कक्कु० शिला० = कक्कुक शिलालेख (दे० § १०)।

कत्तिगे० = कत्तिगेयाणु पेक्खा (दे० § २१)।

कप्पसु० = कप्पसुत्त, दे०—कल्पसूत्र।

कर्णसु० = कर्णसुंदरी, सम्पादक : दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १८८८ (काव्यमाला-संख्या ७)।

कर्पू० = कर्पूरमञ्जरी, सम्पादक स्टनकोनो (मिला० § २२, नोट सं० ७)।

कल्पल० = प्राकृत कल्पलतिका।

कल्पसूत्र = सम्पादक : हरमान याकोबी, १८७९ : दे०—कप्पसु०।

काटा० काटालो० = काटालोगुस् काटालागुरुम्, संकलनकर्त्ता औफरेष्ट-औफ्रेष्ट।

कालका० = कालकाचार्यकथानकम्, सम्पादक : हरमान याकोबी (त्साइटुङ्ग देर मौर्गेन लैण्डिशन गेजेल्शाफ्ट ३४, २४७ और उसके बाद के पेज)। लौयमान द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक के खण्ड दो और तीन उपर्युक्त पत्रिका के खण्ड ३७, ४९३ तथा उसके बाद के पृष्ठों में छपे हैं।

कालेयक०—कालेयकुतूहलम्, १८८२।
कू० रसा० = कून्स त्साइट श्रिफ्ट फ्यूर फर्ग्लाइशें डे स्प्राख फोर्शुङ (मानवों की भाषाओं की तुलनात्मक शोध की—कून नामक भाषाविद् द्वारा सम्पादित और प्रकाशित पत्रिका)।
कू० बाइ० = कून्स बाइत्रैगे (कून के निबन्ध)।
✓क्रमदी० = क्रमदीश्वर का प्राकृत-व्याकरण।

ग

–गउड० = गउडवहो, सम्पादक : शङ्कर पाण्डुरङ्ग पण्डित, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १८८७।
गो० गे० आ० = गोएटिङ्गिशे गेलेर्ते आन्त्साइगेन, गोएटिङ्गन (जर्मनी का एक नगर) से निकलनेवाली एक उच्च पत्रिका।

च

✓चण्ड० = चण्ड का प्राकृत-व्याकरण।
चण्ड० कौ० = चण्डकौशिकम्, सम्पादक : जगन्मोहन शर्मन्, कलकत्ता, सवत् १९२४।
चूलि० पै० = चूलिका पैशाची।

ज

जि० ए० वि० = जित्सुगस् बेरिष्टे डेर कैजरलिशन आकादेमी डेर विस्सनशाफ्टन इन वीन (विएना)।
जीवा० = जीवाभिगमसुत्त, अहमदाबाद, सवत् १९३९।
जीवानं० = जीवानन्दन, सम्पादक दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १८९१ (काव्यमाला-सख्या २७)।
जूर० आशी० = जूरनाल आशियाटिक (पेरिस की एशियाटिक सोसाइटी की त्रैमासिक पत्रिका)।
जै० म० = जैनमहाराष्ट्री।
जै० शौ० = जैन शौरसेनी।
जोर्न० ए० सो० बं० = जोर्नल औफ द एशियैटिक सोसाइटी औफ बैंगौल, कलकत्ता।
जोर्न० बॉ० ब्रां० रौ० ए० सो० = जौर्नल औफ द बॉम्बे ब्राच औफ द रौयल एशियैटिक सोसाइटी, बबई।
जौर्न रौ० ए० सो० = जोर्नल औफ द रौयल एशियैटिक सोसाइटी, लदन।

ठ

ठाणंग० = ठाणगसुत्त

ड

डे० ग्रा० प्रा० = डे ग्रामाटिक्सि प्राकृतिक्सि, व्रातिस्लावा १८७४ ई०।

ढ

ढ = ढक्की

उत्तररा०=उत्तररामचरित, सम्पादक : ताराकुमार चक्रवर्त्ती, कलकत्ता, १८७० ई०। मैंने कलकत्ता के १८३१ के संस्करण तथा वहीं से १८६२ में प्रकाशित प्रेमचन्द्र तर्कवागीश के संस्करण का भी उपयोग किया है।

उन्मत्तरा०=उन्मत्तराघव, सम्पादक : दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १८८९ (काव्यमाला संख्या १७)

उवास० = उवासगदसाओ, सम्पादक : होएर्नले, कलकत्ता १८९०।

ऋ

ऋषभ० = ऋषभपञ्चाशिका, सम्पादक : योहान क्लाट, त्सा. डे. डौ. मौ. गे. ३३, ४४५ और उसके बाद के पृष्ठों में प्रकाशित। इसके अतिरिक्त मैंने दुर्गाप्रसाद और परब द्वारा सम्पादित बम्बई, १८९० ई० में प्रकाशित संस्करण से सहायता ली है।

ए

एपि० इंडिका = एपिग्राफिका इंडिका।

एर्त्सें० = औसगे वैल्ते एर्त्सें लुगन इन महाराष्ट्री, सम्पादक : हरमान याकोबी, लाइप्सिख, १८८६ ई०।

ओ

ओ० एस० टी० = ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, सम्पादक : रैमजे म्यूर, लन्दन।

ओव० = ओववाइयसुत्त, राय धनपतिसिंह बहादुर, कलकत्ता, संवत् १९३६। इस ग्रन्थ में निम्नांकित संस्करण से भी उद्धरण लिये गये हैं—दास औपपातिक सूत्र... सम्पादक : ए० लौयमान लाइप्सिग, १८८३ ई०।

क

कंसव० = कंसवध, सम्पादक : दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८८८ (काव्यमाला संख्या ६)।

कक्कु० शिला० = कक्कुक शिलालेख (दे० § १०)।

कत्तिगे० = कत्तिगेयाणु पेक्खा (दे० § २१)।

कप्पसु० = कप्पसुत्त, दे०—कल्पसूत्र।

कर्णसु० = कर्णसुन्दरी, सम्पादक : दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १८८८ (काव्यमाला-संख्या ७)।

कर्पू० = कर्पूरमञ्जरी, सम्पादक : स्टेनकोनो (मिला० § २२, नोट सं० ७)।

कल्पल० = प्राकृत कल्पलतिका।

कल्पसूत्र = सम्पादक : हरमान याकोबी, १८७९, दे०—कप्पसु०।

काटा० काटालो० = कातालोगुस् कातालोगोरुम्, संकलनकर्त्ता थेओडोर औफरेष्ट।

कालका० = कालकाचार्यकथानकम्, सम्पादक : हरमान याकोबी (त्साइटश्रिफ्ट डेर डौएचन मोर्गेनलेण्डिशन गेज़ेलशाफ्ट खण्ड ३४, २४७ और उसके बाद के पेज)। लौयमान द्वारा प्रकाशित उस पुस्तक के खण्ड दो और तीन उपर्युक्त पत्रिका के खण्ड ३७, ४९३ तथा उसके बाद के पृष्ठों में छपे हैं।

शालेयक०—शालेयकुनूएलम्, १८८२ ।
कू० त्सा० = कून्स त्साइट श्रिफ्ट फ्यूर फर्ग्लाइशें न्डे स्प्राख फौर्शुङ्ग (भाषाओं की तुल-
नात्मक शोध की—कून नामक भाषाविद् द्वारा सम्पादित और प्रकाशित पत्रिका)।
कू० बाइ० = कून्स बाइत्रैगे (कून के निबन्ध)।
क्रमदी० = क्रमदीश्वर का प्राकृत व्याकरण।

ग

गउड० = गउडवहो, सम्पादक : शंकर पाण्डुरङ्ग पण्डित, निर्णयसागर प्रेस, बबई, १८८७।
गो० गे० आ० = गोएटिंगिशे गेलेर्ते आन्त्साइगेन, गोएटिङ्गन (जर्मनी का एक नगर)
से निकलनेवाली एक उच्च पत्रिका।

च

चण्ड० = चण्ड का प्राकृत-व्याकरण।
चण्ड० कौ० = चण्ड कौशिकम्, सम्पादक : जगन्मोहन शर्मन्, कलकत्ता, संवत् १९२४।
चूलि० पै० = चूलिका पैशाची।

ज

जि० ए० वि० = जित्सुंगस् बेरिष्टे डेर कैजरलिशन आकादेमी डेर विस्सनशाफ्टन
इन वीन (विएना)।
जीवा० = जीवाभिगमसुत्त, अहमदाबाद, संवत् १९३९।
जीवानं० = जीवानन्दन, सम्पादक : दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर प्रेस, बबई,
१८९१ (काव्यमाला संख्या २७)।
जूर० आशी० = जूर्नाल आशियाटिक (पेरिस की एशियाटिक सोसाइटी की त्रैमासिक
पत्रिका)।
जै० म० = जैनमहाराष्ट्री।
जै० शौ० = जैन शौरसेनी।
जोर्न० ए० सो० बं० = जोर्नल औफ द एशियैटिक सोसाइटी औफ बैंगौल, कलकत्ता।
जोर्न० बॉ० ब्रां० रौ० ए० सो० = जौर्नल औफ द बोंबे ब्रांच औफ द रौयल एशियै-
टिक सोसाइटी, बबई।
जौर्न रौ० ए० सो० = जोर्नल औफ द रौयल एशियैटिक सोसाइटी, लदन।

ठ

ठाणंग० = ठाणंगसुत्त

ड

डे० ग्रा० प्रा० = डे ग्रामाटिकिस् प्राकृतिकिस्, ब्रातिस्लावा १८७४ ई०।

ढ

ढ = ढक्की

त

तीर्थ० = तीर्थंकल्प = अलीजेंड ओफ द जैन स्तूपा ऐट मथुरा, विएना, १८९७ ई०।
त्रिवि = त्रिविक्रम।
त्सा० डे० डौ० मौ० गे० = त्साइटुग डेर डौयत्शन मोर्गेन लैंडिशन गेजेल शाफ्ट (जर्मन प्राच्यविद्या-विशारदों की सभा की पत्रिका), बर्लिन।
त्सा० वि० स्प्रा० = त्साइटुग फ्यूर डी विस्सनशाफ्टन डेर स्प्राखे (भाषाविज्ञान की पत्रिका)।

द

दसवे० = दसवेयालियसुत्त, सम्पादक : ए० लौयमान, त्सा० डे० डौ० मौ० गे० खण्ड ४६, पृष्ठ ५८१ और उसके बाद के पृष्ठों में प्रकाशित।
दसवे० नि० = दसवेयालिय निज्जुत्ति। इसके प्रकाशन के विषय में 'दसवेयालिय सुत्त' देखिए।
दाक्षि० = दाक्षिणात्या।
दूताङ्गद = सम्पादक : दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर प्रेस, बबई, १८९१ ई० (काव्यमाला संख्या २८)।
देशी० = देशी नाममाला (हेमचन्द्र), सम्पादक : पिशल, बबई-सरकार द्वारा प्रकाशित।
द्वारा० = टी, जैना लेगेंडे फौन डेम उण्टर गाङ्गे द्वारवती'ज (जैन मंदिर में चित्रित द्वारावती के डूबने की एक कहानी)।

ध

धनंज० = धनञ्जय विजय, सम्पादक : शिवदत्त और परब, निर्णयसागर प्रेस, बबई, १८९५ (काव्यमाला-संख्या ५४)
धूर्त० = धूर्त-समागम, सम्पादक : कापेलर, येना, जर्मनी।
ध्वन्या० = ध्वन्यालोक, सम्पादक : दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर प्रेस, बबई, १८९१ ई० (काव्यमाला-संख्या २५)।

न

नंदी० = नदीसुत्त, प्रकाशक : राय धनपतिसिंहजी बहादुर, कलकत्ता, संवत् १९३६।
नागा० = नागानन्द, सम्पादक : गोविन्द भैरव ब्रह्मे तथा शिवराम महादेव पराजपे, पूना, १८९३ ई०। इसके साथ-साथ मैंने १८७३ ई० में छपे जीवानन्द विद्यासागर के संस्करण से भी सहायता ली है।
ना० गे० वि० गो० = नाख्रिष्टन फौन डेर 'कोएनिगलिशन गेजेल्शाफ्ट डेर विस्सन (गोएटिंगन की राजकीय ज्ञानपरिषद् की पत्रिका)। शाफ्टन त्सु गोएटिंगन
नायाध० = नायाधम्मकहा, राय धनपतिसिंहजी बहादुर, कलकत्ता, संवत् १९३३ इसमें पन्ने नहीं दिये गये हैं, पाराग्राफ दिये गये हैं। जहाँ यह नहीं है, वहाँ

पी० स्टाइन्टाल द्वारा लाइपत्सिस के विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक के पद से दिये गये प्रारंभिक भाषण में छपे सस्करण 'नायाधम्मकहा' के नमूने से दिये गये है ।

निरया० = निरयावलियाओ, बनारस, सवत् १९४१ । इसमें भी पाराग्राफो की सख्याएँ दी गई है। जहाँ ये सख्याएँ नहीं दी गई हैं, वहाँ के उद्धरण वान एस वारन् के निरयावलियासुत्त से लिये गये हैं, जो आमस्टरडाम में १८७९ मे छपे सस्करण से लिये गये है ।

प

पण्णव० = पण्णवणा, बनारस, सवत् १९४० ।

पण्हा० = पण्हावगारणाइ, कलकत्ता, सवत् १९३३ ।

पल्लवदानपत्र = (दे० § १०)

पव० = पवयणसार (दे० § २१)

पाइय० = पाइयलच्छी, सम्पादक : ब्यूलर, गोएटिङ्गन, १८७८ ई० ।

पार्वती प० = पार्वती परिणय, सम्पादक : मगेश रामकृष्ण तेलग, निर्णयसागर प्रेस, बबई, १८९२ ई० । इसके साथ-साथ मने विएना मे १८८३ मे छपे ग्लेजर के सस्करण से भी सहायता ली है ।

पिङ्गल० = प्राकृतपिङ्गलसूत्राणि, सम्पादक . शिवदत्त और परब, निर्णयसागर प्रेस, बबई, १८८४ ई० (काव्यमाला-सख्या ४१) ।

-**पै०** = पैशाची ।

प्रचंड० = प्रचण्डपाण्डव, सम्पादक : कार्ल काप्पेलर स्ट्रासबुर्ग, १८८५ । इसके साथ-साथ मैंने बम्बई निर्णयसागर प्रेस मे १८८७ में छपे (काव्यमाला-सख्या ४) के सस्करण का भी उपयोग किया है, जिसके सम्पादक दुर्गाप्रसाद और परब थे ।

प्रताप० = प्रतापरुद्रीय, मदरास, १८६८ (तेलुगु-अक्षर) ।

प्रबोध० = प्रबोधचन्द्रोदय, सम्पादक ब्रौक हौस लाइप्त्सिख, १८३५—१८४५ ई० इसके साथ साथ पूना मे छपे १८५१ ई० के सस्करण से भी मैंने सहायता ली है तथा बबई मे १८९८ ई० में छपे वासुदेव शर्मन् द्वारा सम्पादित सस्करण से भी मदद ली है । इसका एक और भी सस्करण, जिसका सम्पादन सरस्वती तिरु वेंकटाचार्य ने किया है, मद्रास से १८८४ ई० मे छपा है। इससे भी सहायता ली है। यह तेलुगु अक्षरो मे छपा है ।

प्रसन्न० = प्रसन्न राघव, सम्पादक . गोविन्ददेव शास्त्री, बनारस, १८६८ ई० ।

-**प्रा०** = प्राकृत ।

प्रा० कल्प = प्राकृतकल्पलतिका, ऋषिकेश शास्त्री के उद्धरणों पर आधारित एक प्राकृत-व्याकरण । कलकत्ता, १८८३ ई० । इसके पृष्ठो का हवाला दिया गया है।

प्रिय द० = प्रियदर्शिका, सम्पादक : विष्णु दाजी गदरे, बबई, १८८४ ई० । इसके साथ ही मैंने जीवानन्द विद्यासागर के उस सस्करण से भी सहायता ली है, जो कलकत्ता म सवत् १९२१ मे छपा है ।

प्रो० ए० सो० बं० = प्रोसीडिंग्स औफ द एशियैटिक सोसाइटी औफ बैंगोल, कलकत्ता।

ब

बालरा० = बालरामायण, सम्पादक : गोविन्ददेव शास्त्री, बनारस, १८६९ ई० ।

बे० को गे० वि० = बेरिष्टे डेर कोऐंगलिशन जेक्सिशन गेजेल शाफ्ट डेर विस्स शाफ्टन ।

बे० बाई० या बे० बाइत्रैगे० = बेत्सेन बैर्गैर्स बाइत्रैगेत्सूर कुंडे डेर इंडोगैरमानिशन श्प्राखन (भारोपा-भाषाओं के ज्ञान पर बेत्सेन बैर्गैर के निबन्ध) ।

बो० रो० = बोएटलिंक उण्ट रोट, संस्कृत-जर्मन-कोश ।

भ

भग० = भगवती की एक प्राचीन खण्डित प्रति, सम्पादक : वेबर, बर्लिन, १८६६; १८६७ ।

भर्तृहरिनिर्वेद = सम्पादक : दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १८९२ ई० (काव्यमाला-संख्या २९) ।

भा० = भामह (काव्यालंकार) ।

म

मल्लिका० = मल्लिकामारुतम्, सम्पादक : जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८७८ ई० ।

-महा० = महाराष्ट्री ।

महावी० = महावीरचरित, सम्पादक : ट्राइथेन, लन्दन १८४८ ई० । इसके साथ-साथ निर्णयसागर प्रेस, बंबई में १८९२ में छपी ऐयर रङ्गाचार्य और परब द्वारा सम्पादित प्रति का भी उपयोग किया गया है ।

-माग० = मागधी ।

मार्क० = मार्कण्डेय (प्राकृतसर्वस्व) ।

मालती० = मालतीमाधव, सम्पादक : भंडारकर, बंबई, १८७६ ई० । इसके साथ ही मैंने निम्नलिखित संस्करणों से भी सहायता ली है—कैलासचन्द्र दत्त द्वारा सम्पादित, कलकत्ता से १८६६ ई० में प्रकाशित ग्रन्थ; मंगेश रामकृष्ण द्वारा सम्पादित, बंबई में १८९२ ई० में छपा संस्करण तथा तेलुगु-अक्षरों में छपा एक संस्करण, जिसका नामवाला आवरण-पृष्ठ मेरी प्रति में नहीं है ।

मालवि० = मालविका, सम्पादक : बॉल्लें नसेंन, लाइप्त्सिग, १८७९ ई० । इसके साथ ही मैंने बुल्लैर्ग के संस्करण से भी सहायता ली है, जो बोन में १८४० में छपा तथा शङ्कर पाण्डुरङ्ग पण्डित द्वारा सम्पादित, बंबई, १८८९ ई० में प्रकाशित इसके दूसरे संस्करण से भी सहायता ली है ।

मुकुन्द० = मुकुन्दमाण, सम्पादक : दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १८८९ ई० (काव्यमाला संख्या १६) ।

मुद्रा० = मुद्राराक्षस, सम्पादक : काशीनाथ त्र्यंबक तैलङ्ग, बंबई १८८४ ई० । इसके अतिरिक्त कलकत्ता, १८३१ ई० में प्रकाशित संस्करण और तारानाथ तर्कवाचस्पति

द्वारा सम्पादित सस्करण, जो कलकत्ता म सवत् १९२६ म छपा, काम में लाये गये है।

मृच्छ० = मृच्छकटिक, सम्पादक स्टन्सलर, गौ, १८४७ ई०। इसके साथ साथ मैने निम्नाकित सस्करणो से भी सहायता ली है—राममयशर्मा तर्करत्न द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, शकाब्द १७०२ और नारायण बालकृष्ण गोडबोले द्वारा सम्पादित मूल्यवान् सस्करण, बबइ, १८९६ ई०।

य

ये० लि० = येनाएर लिटेरादूरत्साइटुग।

र

रत्ना० = रत्नावली, सम्पादक काप्पेलैर, जो अट्टो बेटलिङ्क द्वारा सम्पादित ऑस्कृत क्रेस्टोमाथी के दूसरे सस्करण म छपा है, सेंटपीटर्सबुर्ग, १८७७, पृष्ठ २९० और उसके बाद के पृष्ठो म।

राम० = रामतर्कवागीश।

रायपसे० = रायपसेणियसुत्त, प्रकाशक राय धनपतिसिंहजी बहादुर, कलकत्ता, सवत् १९३६।

रावण० = रावणवह या सेतुबन्ध जीग फ्रीड गौल्दश्मित्त स्ट्रासबुर्ग, १८८०। इसके साथ ही मैंने बबई, १८९५ में प्रकाशित (काव्यमाला-सख्या ४७) तथा शिवदत्त और परब द्वारा सम्पादित सस्करण से सहायता ली है।

रुक्मिणी० = रुक्मिणी परिणय, सम्पादक शिवदत्त और परब, निर्णयसागर प्रेस, बबइ १८९४ (काव्यमाला सख्या ४०)।

ल

लटक० = लटकमेलक, सम्पादक दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर प्रेस, बबई, १८८९ (काव्यमाला-सख्या २०)।

ललित = ललितविग्रहराज नाटक, सम्पादक कीलहौर्न, गोएटिंगिशे नारिख्टन (गौएटिंगन के समाचार) म प्रकाशित, १८९३ ई०, पृष्ठ ५५२ और उसके बाद के पृष्ठो मे छपा।

व

वर० = वररुचि का सस्करण, कौवल द्वारा सम्पादित।

विक्रमो० = विक्रमोर्वशी, सम्पादक एफ बौ ल्लें नसे न, सटपीटर्सबुर्ग, १८४६ ई०।

विजय० = विजयबुद्धवर्मन के दानपत्र के शिलालेख (§ १०)।

विद्या० = विद्यापरिणय, सम्पादक शिवदत्त और परब, निर्णयसागर प्रेस, बबइ, १८९३ (काव्यमाला-सख्या ३९)।

विद्ध० = विद्धशालभञ्जिका, सम्पादक भास्कर रामचन्द्र अर्ते, पूना, १८८६। इसके साथ-साथ मैने कलकत्ता म १८७३ में छपे जीवानन्द विद्यासागर के सस्करण का भी उपयोग किया है।

विवाग० = विवागसुय, राय धनपतिसिंहजी बहादुर, कलकत्ता, सन् १९३
विवाह० = विवाहपन्नत्ति, बनारस, सन् १९३८।
वी० रसा० कु० मा० = वीनरत्साहट ग्रिफ्ट फ्यूर डि कुंडे डेस मोर्गेन ल
वृषभ० = वृषभानुजा, सम्पादक : शिवदत्त और परब, निर्णयसागर प्रेस,
(काव्यमाला-संख्या ४६)।
वेणी० = वणीसंहार, सम्पादक : यूलिउस ग्रिल, लाइप्सिग, १८७१। इ
मैंने कलकत्ता मे १८७० में छपे हुए केदारनाथ तर्करत्न के संस
मदद ली है।
वेदि० स्टु० = वेदिशे स्टुडिएन, लेखक : पिशल और गेल्डनेर।

श

शकु० = शकुन्तला, सम्पादक : पिशल, कील, १८७७।
शुक० = शुकसप्तति, साधारण संस्करण, सम्पादक : रिचार्ड स्मित्त लाइप्सि
शौर० = शौरसेनी।

स

संस्कृ० = संस्कृत।
सगर० = सगर की कथा का जैनी रूप। रिचार्ड पिक का संस्कृत के अ
विश्वविद्यालय के विद्वानों और विद्यार्थियों के सम्मुख अभिभाषण, कील,
समवा० = समवायङ्गसुत्त, बनारस, १८८० ई०।
सरस्वती० = सरस्वतीकण्ठाभरण, सम्पादक : बरुआ, कलकत्ता १८८३ ई०
साहित्य० = साहित्यदर्पण, सम्पादक रोएर, कलकत्ता १८५३ ई०।
सिंह० = सिंहराजगणिन्।
सुभद्रा० = सुभद्राहरण, सम्पादक दुर्गाप्रसाद और परब, निर्णयसागर
१८८८ (काव्यमाला संख्या ९)।
सूय० = सूयगडङ्गसुत्त, बम्बई, संवत् १९३६।
से० = सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट।

ह

हा० = हाल की सत्तसई, वेबर का संस्करण, लाइप्सिग, १८८१ ई०। मिल
साथ ही मैंने दुर्गाप्रसाद और परब का १८८९ में निर्णयसागर प्रे
प्रकाशित संस्करण (काव्यमाला-सं० २१) से भी सहायता ली है।
हास्या० = हास्यार्णव, सम्पादक कापेलर।
हिं० = हिंदी।
हेच० = हेमचन्द्र = सिद्धहेमचन्द्र, विशेषकर आठवाँ अध्याय (प्राकृतव्या